हिंदी विश्वकोश

औरकिड (Orchids)

बाएं ओर डेंड्रोबियम फार्मेरी (Dendrobium Farmeri), बीच में फाइअस मैकुलाटा (Phaius Maculata) और दाहिनी ओर वैनिला प्लेनिफोलिया (Vanilla Planifolia) तथा उसके विविध अंग।

हिंदी विश्वकोश

खंड २

इलेक्ट्रानिकी से काहिरा तक

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

संपादक

धीरेंद्र वर्मा भगवतशरण उपाध्याय

गोरखप्रसाद (दिवंगत) फूलदेवसहाय वर्मा

हिंदी विश्वकोश के संपादन एवं प्रकाशन का संपूर्ण व्यय

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने वहन किया

मूल्य

साधारण संस्करण १२॥) विशेष संस्करण १५)

संशोधित मूल्य,
रु ७५ ००,

संशोधित मूल्य,
रु ३० ००,

प्रथम संस्करण

शकाब्द १८८४ सं० २०१९ वि० १९६२ ई०

भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी

में मुद्रित

संपादकसमिति

परामर्शमंडल के सदस्य

संपादकसहायक

चित्रकार

संपादकीय प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का यह दूसरा खंड आपके हाथो मे है। इसके प्रकाशन मे अत्यधिक समय लग गया है। आशा थी कि यह खड सन् १९६१ के अत तक प्रकाशित हो जायगा, परतु कई अनिवार्य कारणो से इसकी छपाई वीच वीच मे वद कर देनी पडी। विलब का प्रधान कारण विश्वकोश मे प्रयुक्त होनेवाली प्राविधिक शब्दावली तथा वैज्ञानिक चिह्नो आदि के सवंध में नागरीप्रचारिणी सभा तथा शिक्षा मंत्रालय में समान दृष्टिकोण का अभाव था। सभा सर्वथा भारतीय चिह्नो का नागरी में उपयोग करना चाहती थी और शिक्षा मंत्रालय वैज्ञानिक लेखो मे अंतरराष्ट्रीय चिह्नो के रोमन लिपि मे उपयोग का हिमायती था। अत मे नागरी और रोमन दोनो लिपियो मे अतरराष्ट्रीय चिह्नो का उपयोग करना निश्चित हुआ। इस सवध के पत्रव्यवहार मे प्राय छ महीने लग गए और सारे वैज्ञानिक लेखो का इस दृष्टि से फिर से सपादन करना पडा। दूसरा अत्यत दु खद कारण विश्वकोश के विज्ञानानुभाग के सपादक डा० गोरखप्रसाद का निधन था। सन् १९६१ की ५ मई को उनका आकस्मिक निधन हुआ जिससे विश्वकोश की प्रगति मे अचानक रुकावट आ गई, जो विज्ञानानुभाग के नए सपादक प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा की जुलाई, १९६१ मे की गई नियुक्ति तक बनी रही। विश्वकोश के प्रधान सपादक डा० धीरेंद्र वर्मा ने नववर, १९६१ के आरभ मे त्यागपत्र दे दिया और डा० भगवतशरण उपाध्याय को उनके दायित्वो का भार भी वहन करना पडा। इसके अतिरिक्त प्रेस ने भी कुछ ढिलाई दिखाई जिससे विश्वकोश के प्रकाशन मे विलव होना स्वाभाविक था। जैसे तैसे कठिनाइयो को पारकर यह खड प्रस्तुत हुआ।

इस वीच विश्वकोश के प्रशासन मे भी कुछ परिवर्तन हुए--(१) पुराना परामर्शमडल वहुत वडा था, जिससे उसकी वैठके आवश्यकतानुसार जल्दी जल्दी नही हो पाती थी। इससे सभा और शिक्षा मत्रालय ने एक नया परामर्शमडल सगठित करना आवश्यक समझा। नए परामर्शमडल के सदस्यो की नामावली इस खड के आरभ मे दी हुई है। (२) दूसरा परिवर्तन सपादकसमिति के सगठन मे हुआ जिसे सभा तथा शिक्षा मत्रालय ने समिलित रूप से सपन्न किया। उसके सदस्यो की नामावली भी इस खड के आरभ में दी हुई है।

विश्वकोश के प्रथम खड का देश में स्वागत हुआ और पत्रपत्रिकाओं मे उसकी पर्याप्त प्रशसा हुई, साथ ही, अनेक सुझाव भी आए जिनपर संपादको ने वडे आदर और लगन से विचार किया। कुछ सुझाव स्वीकार कर विषयसामग्री मे उनके अनुकूल सशोधन भी हुए। पर पत्रपत्रिकाओ मे जो एकाध मत व्यक्त किए गए उनके सदर्भ में कुछ वक्तव्य यहाँ आवश्यक है।

दिवगत नगेंद्रनाथ वसु के हिंदी विश्वकोश के सवध मे साधारणत एक भ्रामक धारणा वन गई है। सभवत. इस धारणा को वनाने में विश्वकोश के प्रथम खड का प्राक्कथन भी कुछ अश तक सहायक हुआ है। यह प्रकृत्या विश्वकोश नही, शब्दकोश और विश्वकोश दोनो है जिसमे उपसर्गो तक के सयोग से वननेवाले विभिन्न शब्दो का समावेश हुआ है। विश्वकोश विषयप्रवण होता है, शब्दार्थप्रवण नही। हमारे और वसु महोदय के लक्ष्य मे ही आधारिक भिन्नता है, अत उस सदर्भ मे हमारे प्रयास को नही देखना चाहिए।

यही भ्राति ऐसे आलोचको मे भी दिखाई पडेगी जो शब्दकोश और विश्वकोश के मौलिक अतर को नही समझ सके है। इसी कारण उन्होने 'आँत', 'अँगूठा', 'आँसू' जैसे शब्दो को भी विश्वकोश मे देखने की आशा की है। कुछ लोगो ने 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' को हमारे आदर्श मानने का अभिप्राय भी गलत समझा है। उसे आदर्श मानने का अर्थ केवल इतना है कि हमने उस विश्वकोश के विषयसचयन की दृष्टि, उसका वर्णक्रमीय सगठन तथा साधारण व्यवस्था अपनाई है। उसकी सामग्री का हमने अनुवाद नही किया और इसीलिये ब्रिटैनिका के पहले खड की सामग्री, खोजने पर भी, हमारे पहले खड में नही मिलेगी। इतना ही नही, वल्कि ब्रिटैनिका ने प्राच्य देशो के जिन विषयो को अज्ञानवश अथवा महत्वहीन समझकर छोड दिया है उन्हें, यदि हमने आवश्यक समझा है तो, अपने कोश में स्थान दिया है, जो एक प्रकार से विश्वकोश के सदर्भ में सुधार भी है।

अनेक विषय, जो विश्वकोश के प्रथम खड में नहीं मिले या आगे के खडो में नही मिलेंगे, उनके प्रति हम श्रद्धावान् है, पर दस खडो की परिमिति के कारण विवश है। उनके सबध की सामग्री का उपयोग हम तभी कर सकते है जब हमारी योजना की सीमा और खडो की सख्या बढ जाय। तथापि बहुत विनीत होकर हम स्वीकार करते है कि इस दिशा में, जैसे अन्य दिशाओ में भी, त्रुटियाँ रह गई है और आगे भी रह सकती है, यद्यपि उनके उन्मूलन के लिये हम निरतर प्रयत्नशील है। हमारे प्रथम खड का पहला सस्करण समाप्तप्राय है और हम उसके दूसरे सस्करण को अधिकाधिक परिष्कृत और उपादेय बनाने के मार्गोपाय की खोज में है।

विश्वकोश का निर्माण अनन्य मेधाओ के सयोग और सैकडो वर्षो के परिश्रम का परिणाम होता है। हम तो यहाँ उसका केवल लघु आरभ कर रहे है, बीज बो रहे है, जो, हम आशा करते है, अगले वर्षो मे महत्तर मेधाओ के सक्रिय सयोग से हिंदी के लिये वटवृक्ष बन सकेगा। हमें सतोष है कि अनेक सस्थाएँ, जैसा प्राप्त पत्रो से प्रकट है, हमारे विश्वकोश की पद्धति तथा प्रक्रिया को प्रमाण और आदर्श रूप में ग्रहण कर रही है। पत्रपत्रिकाओ और विद्वानो के पत्रो से प्राप्त सुझावो और टिप्पणियो का हम स्वागत करते है और आशा करते है कि उनके सुझावो से हमारा मार्ग नि शूल तथा प्रशस्त होगा।

प्रस्तुत खड के निर्माण में भी पूर्ववत् विषयो के अधिकारी तथा मूर्धन्य विद्वानो का सहयोग मिला है। सपादक उनकी गवेषणाओ तथा खोजो का उपयोग कर उनके चिरऋणी है। उनके नामो की सूची सलग्न है। इससे विश्वकोश के विषयो के प्रतिपादन की प्रामाणिकता स्वत सिद्ध है।

विज्ञानानुभाग के सपादक डा० गोरखप्रसाद का निधन हमारे लिये अत्यत कष्टकर हुआ। उनकी प्रतिभा और प्रयास का समुचित उल्लेख हम शब्दत नही कर पाएँगे। हमारी प्रगति में तो उनकी मृत्यु बडी हानिप्रद सिद्ध हुई ही, हिंदी क्षेत्र में विज्ञान के विषय निर्माण में भी उससे बडी क्षति हुई। इसी प्रकार हमारे परामर्श-मडल और सपादकसमिति के अध्यक्ष दिवगत पडित गोविंदवल्लभ पत के वरद हस्त का हट जाना भी हमारे लिये अत्यत दारुण हुआ है। विश्वकोश की प्रगति में उनका आशीर्वाद सहायक था।

शिक्षा मत्रालय, विशेषकर शिक्षामत्री डा० कालूलाल श्रीमाली और उसके सयुक्त सचिव, श्री रमाप्रसन्न नायक, आई० सी० एस०, ने जिस स्नेह से विश्वकोश के कार्य में सहायता की है, उसका आभारोल्लेख करते हमें बडी प्रसन्नता होती है। नागरीप्रचारिणी सभा के अवैतनिक प्रधान मत्री और विश्वकोश के सयोजक मत्री, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, ने इस खड के प्रकाशन में बडी तत्परता बरती और प्रत्येक प्रकार से सहायता की है। हमारे नवोदित राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद ने जो विश्वकोश का समर्पण स्वीकार किया और उसकी प्रगति में निरतर जो अनुराग दिखाते रहे इससे उनके प्रति हम विशेष आभारी है और आशा करते है कि उनके आशीर्वाद से यह राष्ट्रीय प्रकाशन सदा शक्ति पाता रहेगा।

द्वितीय खंड के लेखक

अं० प्र० स० — **अंबिकाप्रसाद सक्सेना**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गवर्नमेंट सायन्स कालेज, लश्कर, ग्वालियर।

अ० कु० वि० — **अवनींद्रकुमार विद्यालंकार**, पत्रकार, इतिहास सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली–१।

अ० गो० झिं० — **अनंत गोपाल झिंगरन**, डेप्युटी डाइरेक्टर, जिऑलाजिकल सर्वे ऑव इंडिया, कलकत्ता।

अ० दे० वि० — **अत्रिदेव विद्यालंकार**, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

अ० मो० — **अरविंद मोहन**, एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

अ० ला० लू० — **अवतिलाल लूवा**, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

आ० वे० — **आस्कर वेरक्रूसे**, एस० जे०, एल० एस० एस०, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर, सेंट अल्वर्ट्स सेमिनरी, राँची।

इ० अ० — **इकबाल अहमद**, भूतपूर्व प्राध्यापक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

उ० शं० प्र० — **मेजर उमाशंकर प्रसाद**, ए० एम० सी० (आर०), एम० बी० बी० एस०, डी० एम० आर० डी० (इंग्लैंड), डी० एम० आर० टी० (इंग्लैंड), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

उ० श० श्री० — **उमाशंकर श्रीवास्तव**, एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, प्राणिशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

उ० सिं० — **उजागर सिंह**, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ए० दा० दा० — **एरचशाह दारबशाह दारूवाला**, बी० एस-सी०, बी० एस-सी० (टेक०), पी-एच० डी० (टेक०, बाबे), पी-एच० डी० (मैंचेस्टर), ए० आर० आई० सी०, ए० एम० आइ० आइ० केमि० ई०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट सेंट्रल टेक्सटाइल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

ओ० क० — **ओंप्रकाश कपूर**, एम० ए०, एल-एल० बी०, प्राध्यापक, मनोविज्ञान विभाग, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

ओ० ना० उ० — **ओंकारनाथ उपाध्याय**, एम० ए०, असिस्टैंट मैनेजर, डेमडिमा टी इस्टेट, पश्चिमी बंगाल।

ओ० प्र० क० — देखिए ओ० क०।

क० त्रि० — **कमलापति त्रिपाठी**, वित्तमंत्री, उत्तरप्रदेश सरकार लखनऊ।

क० दे० मा० — **कपिलदेव मालवीय**, एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०, नगर स्वास्थ्याधिकारी, मेरठ।

क० दे० व्या० — **क० दे० व्यास**, होम सायंस विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

क० प० त्रि० — **करुणापति त्रिपाठी**, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्य शास्त्री, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

क० प्र० सिं० — **कपिलदेवप्रसाद सिंह**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (कैंटब), प्राध्यापक, गणित विभाग, सायन्स कालेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना–५।

क० स० — **कन्हैयालाल सहल**, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष हिंदी विभाग, बिड़ला आर्ट्स कालेज, पिलानी (राजस्थान)।

का० ना० सिं० — **काशीनाथ सिंह**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० प्र० — **कार्तिकप्रसाद**, बी० एस-सी०, सी० ई०, सुपरिटेंडिंग इंजीनियर, पी० डब्ल्यू० डी० (उत्तरप्रदेश), मेरठ।

का० बु० — **कामिल बुल्के**, एस० जे०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट ज़ेवियर्स कालेज, मनरेसा हाउस, राँची।

का० स० भा० — **कामेश्वरसहाय भार्गव**, डी० फिल०, पी-एच० डी० (लंदन), प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

कि० अ० र० — **किजिचेरी चैकू अब्दुर रहीम**, ऐस्ट्रोफिज़िकल लेबॉरेटरी, कोडैकानल, मद्रास।

कृ० द० वा० — **कृष्णदत्त वाजपेयी**, एम० ए०, अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

कृ० दे० — **कृष्णदेव**, एम० ए०, अधीक्षक, पुरातत्व विभाग, भूपाल।

कृ० प्र० सिं० — **कृष्णदेवप्रसाद सिंह**, द्वारा रा० लो० सिं०।

कृ० ब० — **कृष्णबहादुर**, एम० एस-सी०, डी० फिल०, डी० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

कृ० ब० स० — **कृष्णबहादुर सक्सेना**, असिस्टैंट प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद।

कृ० स० मा० — **कृष्णसरन माथुर**, एम० डी०, एफ० आर० सी० पी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, डिपार्टमेंट ऑव मेडिसिन, सरोजिनी नायडू मेडिकल कालेज, आगरा।

कै० ना० सि०	कैलाशनाथ सिंह, द्वारा रा० लो० सि०।
कै० श० अ०	कैलाशशरण अग्रवाल द्वारा डा० सो० म०।
कै० जा० डा०	कैटनाक जॉन डामनिक, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
खा० च०	खानचंद, द्वारा धी० द०।
खु० च० गो०	खुशालचंद गोरावाला, पुस्तकालयाध्यक्ष, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
ग० प्र० श्री०	गणेशप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।
गि० श० मि०	गिरिजाशंकर मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
गो० क०, गो० ना० क०	महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी० लिट्०, (भूतपूर्व अध्यक्ष, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, वाराणसी), सिगरा, वाराणसी।
गो० ना० धा०	(स्व०) गोपीनाथ धावन, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
गो० प्र०	(स्व०) गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), भूतपूर्व संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
गो० वि० ध०	गोलोकविहारी धल, एम०ए० (पटना), एम० ए० (लंदन), अध्यक्ष, संस्कृत एवं उड़िया विभाग, पुरी कालेज, जगन्नाथपुरी।
गो० कृ० गो०	गोरकृष्ण गोस्वामी, शास्त्री, आयुर्वेदशिरोमणि, श्री राधारमण जी मंदिर, वृंदावन, मथुरा।
चं० प्र०	चंद्रिकाप्रसाद, डी० फिल० (आक्सफोर्ड), रीडर, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।
चं० ब० सि०	चंद्रबली सिंह, एम० ए०, अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी।
चं० भा० पां०	चंद्रभान पांडेय, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
चं० म०	चंद्रचूड़मणि, एम० ए०, लेखक एवं पुराविद्, साहित्यसहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
ज० कृ०	जयकृष्ण, बी० एस-सी०, सी० ई० (आनर्स), पी-एच० डी० (लंदन), एम० आई० ई० (इंडिया), प्रोफेसर, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।
ज० गो० श्री०	जगेश्वर गोपाल श्रीखंडे, पी-एच० डी० (लंदन), एम० एस-सी०, ए० आर० आइ० सी०, निदेशक, सेंट्रल रिसर्च इन्स्टिट्यूट फॉर विलेज इंडस्ट्रीज़, वर्धा।
ज० ना० स०	जगदीशनारायण सक्सेना, बी० एस-सी०, एल-एल० एम०, लेक्चरर, विधि विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
ज० मि०	जगदीश मित्तल, चित्रकार, गगनमहल रोड, हैदराबाद।
ज० मि० त्रे०	जगदीश मित्र त्रेहन, डेप्युटी स्टैटर्ड्स आफिसर (रोड्स विंग), मिनिस्ट्री ऑव ट्रैंसपोर्ट ऐंड कम्युनिकेशन, नई दिल्ली।
ज० रा० सि०	जयराम सिंह, एम० एस-सी०, (ए-जी०), पी-एच० डी०, लेक्चरर, कृषि महाविद्यालय, वाराणसी।
ज० सि०	जगन्नाथ सिंह, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (वाशिंगटन स्टेट), सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
जि० कु० मि०	जितेंद्रकुमार मित्तल, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, सहायक प्रोफेसर, विधि विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
झ० ला० श०	झम्मनलाल शर्मा, एम०ए०, डी० एस-सी०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, नैनीताल।
ता० म०	श्रीमती तारा मदन, एम० ए०, अध्यक्षा, राजनीतिशास्त्र विभाग, सावित्री गर्ल्स कालेज, अजमेर।
ती० रा० म०	तीरथराम महेंद्र, चेयरमैन, सेंट्रल इंडिया सेंटर ऑव दि इन्स्टियूशन ऑव इंजीनियर्स।
तु० ना० सि०	तुलसीनारायण सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
त्रि० पं०	त्रिलोचन पंत, एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
थि० डी०	थियोडोर डीन, प्राध्यापक, ऐग्रिकल्चर इंस्टिट्यूट, इलाहाबाद।
द० श०	दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट०, रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
दा० दा० ख०	कैप्टेन दामोदरदास खन्ना, अध्यक्ष, सैनिक शास्त्र विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
दु० च० स०	दुर्गाचरण सक्सेना, एम० ए०, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, सी० जी० (लंदन), लेक्चरर, औद्योगिक अर्थशास्त्र, एच० बी० टेकनालाजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।
दे० र० भ०	देवीदास रघुनाथराव भवालकर, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
दे० रा० सिं०	देशराज सिंह, एम० ए०, भूतपूर्व लेक्चरर, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।
दे० रा० से०	देवराज सेठ, स्क्वैड्रन लीडर, एयर हेडक्वार्टर्स, नई दिल्ली।
दे० श० मि०	देवीशंकर मिश्र, एम० एस-सी०, एम० ए०, साहित्यरत्न, प्रधान संपादक, प्राणिशास्त्र, २, हुसेनगंज, लखनऊ।
दे० सिं०	देवेंद्र सिंह, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, एम० डी० (मेडिसिन), रीडर, मेडिसिन, गांधी

मेडिकल कालेज तथा चिकित्सक, हमीदिया हॉस्पिटल, भूपाल।

[द्वा]० प्र० गु० **द्वारिकाप्रसाद गुप्त**, हिंदू इटरमीडिएट कालेज, नगीना (उ० प्र०)।

[द्वि]० ना० मि० **द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'**, एम० ए०, रीडर, सस्कृत विभाग, सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

[ध]० कु० **धर्मेंद्रकुमार**, एम० बी० बी० एस०, एम० एस०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, एनाटमी विभाग, मेडिकल कालेज, वारगल (आ० प्र०)।

[धी]० ना० म० (स्व०) **धीरेंद्रनाथ मजूमदार**, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

[धी]० व० **धीरेंद्र वर्मा**, एम० ए०, डी० लिट०, प्रोफेसर एव अध्यक्ष, भाषाविज्ञान और हिंद-ईरानी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

न० क० **नवरत्न कपूर**, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व सपादकसहायक, हिंदी विश्वकोश, लेक्चरर, हिंदी विभाग, रणवीर गवर्नमेंट डिग्री कालेज, सगरुर, पजाब।

न० कि० प्र० सि० **नवलकिशोरप्रसाद सिंह**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

न० प्र० **नर्मदेश्वरप्रसाद**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

न० प्र० सि० देखिए न० कि० प्र० सि०।

न० मे० **नरेश मेहता**, एम० ए०, ९९ ए, लूकरगज, इलाहाबाद।

न० ला० **नन्हेलाल**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

न० ला० गु० **नरेंद्रलाल गुप्त**, प्राध्यापक, रुडकी विश्वविद्यालय, रुडकी।

ना० गो० श० (स्व०) **नारायण गोविंद शब्दे**, डी० एस-सी० (नागपुर), डी० एस-सी० (एडिन०), एफ० एन० ए० एस० सी०, एफ० आई० ए० एस-सी०, (भूतपूर्व गणित प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर, विदर्भ महाविद्यालय, अमरावती, तथा सायस कालेज, नागपुर)।

ना० सि० **नामवर सिंह**, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, सागर विश्वविद्यालय, लोलार्ककुड, वाराणसी।

ना० सु० ना० **ना० सु० नागेंद्रनाथ**, प्रिंसिपल, सायस कालेज, पटना।

नृ० कु० सि० **नृपेंद्रकुमार सिंह**, एम० एस-सी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प० उ० **कुमारी पद्मा उपाध्याय**, एम० ए०, प्रिंसिपल, आर्य कन्या पाठशाला इटर कालेज, खुर्जा।

प० च० **परशुराम चतुर्वेदी**, एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील, बलिया।

प० नं० **परमानद**, एम० ए०, अवकाश प्राप्त सचिव, माध्यमिक शिक्षा परिषद् तथा विश्वविद्यालय अनुदान समिति, उत्तरप्रदेश, ३६, चैथम लाइस, इलाहाबाद—२।

प० मा० ना० **परमेश्वरन पिल्लइ माधवन नायर**, ऐस्ट्रोफिजिकल लेबॉरेटरी, कोडैकानल, मद्रास।

प० श० **परमात्माशरण**, एम० ए०, पी-एच० डी० (लदन), एफ० आर० हिस्ट० एस०, प्राध्यापक, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

पृ० ना० पु० **पृथ्वीनाथ पुष्प**, एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कालेज, पुछ (कश्मीर)।

पृ० ना० भा० **पृथ्वीनाथ भार्गव**, एम० एस-सी०, डी० फिल०, एफ० आइ० सी० एम०, रीडर, ऑर्गेनिक केमिस्ट्री, कॉलेज ऑव सायन्स, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी, वाराणसी।

पृ० पु० देखिए पृ० ना० पु०।

प्यौ० अ० बा० **प्यौत्र अलेक्सीविच बारान्निकोव**, ओरिएटल इस्टीट्यूट, एकेडमी ऑव साइसेज, फ्लैट १२४, एस–पेरोवस्काया रोड ४।२, लेनिनग्राद डी ८८, यू० एस० एस० आर०।

प्र० कु० जा० **प्रशातकुमार जायसवाल**, एम० ए०, रिसर्च स्कालर, का० हिं० वि० वि०, सिद्धगिरि, वाराणसी।

प्र० कु० से० **प्रफुल्लकुमार सेठ**, एम० कॉम०, एल-एल० बी० पी-एच० डी०, असिस्टैंट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, सागर युनिवर्सिटी, सागर।

प्र० प्र० **प्रह्लाद प्रधान**, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्य शास्त्री, वेदशास्त्री, अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, उत्कल विश्वविद्यालय, कटक।

प्र० व० **प्रमीला वर्मा**, लेक्चरर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

प्रि० र० रा० **प्रियदारजन राय**, एम० ए०, एफ० एन० आई०, ५०।१, हिंदुस्थान पार्क, बालीगज, कलकत्ता।

प्री० दा० **प्रीतमदास**, प्रोफसर, मेडिकल कालेज, कानपुर।

प्रे० चं० अ० **प्रेम चद्र अग्रवाल**, असिस्टैंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

प्रे० ना० श० **प्रेमनाथ शर्मा**, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

फू० स० व० **फूलदेवसहाय वर्मा**, एम० एस-सी०, ए० आई० आई० एस-सी० (भूतपूर्व औद्योगिक रसायन प्रोफेसर एव प्रिंसिपल, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी) सपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

ब० सिं० देखे ब० सिं०

ब० उ० **बलदेव उपाध्याय**, एम० ए०, साहित्याचार्य, भूतपूर्व रीडर, सस्कृत-पालि-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० ना० प्र०	बद्रीनारायण प्रसाद, एफ० आर० एस० ई०, पी-एच० डी० (एडिन०), एम० एस-सी०, एम० बी०, डी० टी० एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर फार्माकॉलोजी तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, पटना, निदेशक, औषध अनुसंधान प्रतिष्ठान, पटना), अबुल बास लेन, पटना।
ब० ना० सिं०	बद्रीनारायण सिंह, प्राध्यापक, भौतिकी विभाग दिल्ली युनिवर्सिटी, दिल्ली।
ब० नि०	बलराज निजआवन, पी-एच० डी०, एफ० आर० एम०, एफ० एन० आइ०, नैशनल मेटालर्जिकल लेबॉरेटरी, जमशेदपुर–७।
ब० प्र० रा०	बच्चाप्रसाद राय, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ब० सिं०	बलवंत सिंह, एम० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी। (वनस्पति और आयुर्वेद संबंधी लेख)
ब० सिं०	देखें ब० सिं०। (भूगोल संबंधी लेख)
बा० कृ० कि०	बालकृष्ण किमोठी, एम०एस-सी०, ए० टी० आई०, आइ० जी० टस्ट० टेक०, डेवलपमेंट ऑफिसर (मार्केटिंग), डाइरेक्टरेट ऑव इंडस्ट्रीज, (उ० प्र०), कानपुर।
बा० कृ० गु०	बालकृष्ण गुप्त, एम० आर० आइ० एम० ए० (लंदन), एम० ए० आइ० आर० टेक० (भारत), एम० आइ० मेक० ई० (लंदन), पुन्य अधिकारी, मर्केंटाइल डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑव इंडिया, रजिस्ट्रार ऑव शिपिंग, कलकत्ता डिस्ट्रिक्ट, कमिश्नर फॉर दि पोर्ट ऑव कैलकटा, मेंबर, एग्जाम कमिटी (ट्रैन्सपोर्ट), मिनिस्ट्री ऑव एजुकेशन, मैकाजन हाउस, हेस्टिंग्ज, कलकत्ता–२२।
बा० ना०	बालेश्वर नाथ, बी० एस-सी०, सी० ई० (आनर्स), एम० आइ० ई०, सेक्रेटरी, सेंट्रल बोर्ड ऑव इरिगेशन ऐंड पावर, कर्जन रोड, नई दिल्ली।
बा० रा० स०	बाबूराम सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट्०, उपाध्यक्ष, पारिभाषिक शब्दावली, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली।
बै० ना० प्र०	बैजनाथप्रसाद, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
बै० पु०	बैजनाथ पुरी, एम० ए०, बी० लिट०, डी० फिल०, प्रोफेसर, भारतीय इतिहास और संस्कृति, नैशनल अकैडेमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी।
ब्र० रा० चौ०	ब्रजराज चौहान, बी० ए० (ऑनर्स), एम० ए०, एल-एल० बी०, अध्यक्ष पोस्ट ग्रैजुएट विभाग, डिपार्टमेंट ऑव सोशिऑलोजी, एम० बी० कालेज, उदयपुर।
भ० दा० व०	भगवानदास वर्मा, बी० एस-सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर, भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन ऐंटि-[illegible] लिट०), सहायक संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
भ० प्र० श्री०	भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, अलीगढ़।
भ० श० वा०	भगवतीशरण [illegible], ८ [illegible], लखनऊ।
भ० श० उ०	भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल०, संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
भा० स०	भाऊ समर्थ, जे० जे० आर्ट (बंबई), [illegible], नागपुर–४।
भि० ज० का०	भिक्षु जगदीश काश्यप, एम० ए०, त्रिपिटकाचार्य, प्रोफेसर और अध्यक्ष, पालि विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
भी० गो० दे०	भीमराव गोपाल देशपांडे, बी० ए०, प्रवक्ता, मराठी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, बी० २१/२८, कमच्छा, वाराणसी।
भी० ला० आ०	भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
भी० श० त्रि०	भीमशंकर त्रिवेदी, लखनऊ।
भू० मु० मु०	भूदेवकुमार मुखोपाध्याय, एम० ए० (अंग्रेजी, अर्थशास्त्र), प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
भृ० ना० प्र०	भृगुनाथप्रसाद, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० रीडर, प्राणिशास्त्र विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
भो० ना० श०	(स्व०) भोलानाथ शर्मा, एम० ए०, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली।
भो० श० व्या०	भोलाशंकर व्यास, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
म० गु०	मन्मथनाथ गुप्त, संपादक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली।
म० द० श०	महेश्वरदयालु शर्मा, एम० ए०, डिप० टी० ई० एफ० एल० (लंदन), विशेष कार्याधिकारी, शिक्षा, १६ अशोक मार्ग, लखनऊ।
म०ना० गु०	देखिए, म० गु०।
म० ना० मे०	महाराजनारायण मेहरोत्रा, एम० ए०, लेक्चरर, जिऑलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
म० ला० श०	मथुरालाल शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०, प्रोफेसर इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
मि० च० पा०	मिथिलेश चंद्र पांड्या, एम० ए०, भूतपूर्व प्राध्यापक, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।
मु० म० अ०	मुहम्मद मजहर असगर असारी, एम० ए०, डी०

फिल०, सहायक प्रोफेसर, आधुनिक भारतीय इतिहास, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग ।

मु० म० (कुमारी) मुगल महमूद, एम० ए०, ६ ड्रमड रोड, इलाहाबाद ।

मु० मो० दे० मुकुंद मोरेश्वर देसाई, एम०ए० (अंग्रेजी एवं फ्रेंच), रिटायर्ड रीडर (अंग्रेजी), का० हिं० वि० वि० पुराना डी०।७ क्वार्टर्स, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी ।

मु० रा० मुद्राराक्षस, एम० ए० (ऑनर्स), दुगावाँ, लखनऊ ।

मु० ला० श्री० मुरलीधरलाल श्रीवास्तव, डी० एस-सी०, एफ० एन० एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

मु० स्व० व० मुकुंदस्वरूप वर्मा, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल आफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

मु० ह० मुहम्मद हबीब, बी० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास, राजनीति, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, बदरबाग, अलीगढ ।

मो० च० मोतीचंद्र, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), डाइरेक्टर, प्रिंस आव वेल्स म्यूज़ियम, बंबई-१ ।

मो० या० मोहम्मद यासीन, एम०ए०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

मो० ला० गु० मोहनलाल गुजराल, एम०बी० बी०एस० (पंजाब), एम० आर० सी० पी० (लंदन), डाइरेक्टर प्रोफेसर, उच्चस्तरीय फार्माकॉलोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ ।

मो० सिं० मोती सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रिंसिपल, डिग्री कालेज, गाजीपुर ।

मो० सै०
मो० सै० उ० मोहम्मद सैयदउद्दीन, भूतपूर्व प्रोफेसर, वनस्पति विभाग, ओस्मानिया युनिवर्सिटी, हैदराबाद ।

य० र० मे० वाइ० आर० मेहता, इकॉनोमिक बोटैनिस्ट (रबी सीरियल्स), नवाबगंज, कानपुर ।

यो० अ० योगेश अटल, एम० ए०, असिस्टैंट प्रोफेसर ऑव सोशिऑलोजी, इन्स्टिट्यूट ऑव सोशल सायंसेज, आगरा युनिवर्सिटी, आगरा ।

र० कु० श्रीमती रत्नकुमारी, एम० ए०, डी० फिल०, प्रधानाचार्या, आर्य कन्या इंटर कालेज, बेली ऐवेन्यू, प्रयाग ।

र० कु० मि० रमेशकुमार मिश्र, एम० ए०, एल-एल० एम०, रीडर, ला कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

र० च० क० रमेशचंद्र कपूर, डी० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग ।

र० जै० रवींद्र जैन, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (अवकाश पर आस्ट्रेलिया मे विश्वविद्यालय के प्राध्यापक) ।

र० मो० रमेशमोहन, एम० ए०, पी-एच० डी० (लीड्ज), कार्यकारी प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

र० श० पा० रमाशंकर पांडेय, बी० एस-सी०, एम० ए०, एल-एल० बी०, संपादकसहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी ।

र० स० ज० रजिया सज्जाद जहीर, एम०ए०, (भूतपूर्व लेक्चरर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय), वजीर मंजिल, वजीर हसन रोड, लखनऊ ।

रा० अ० राजेंद्र अवस्थी, एम० ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

रा० अ० द्वि० रामअवध द्विवेदी, एम० ए०, डी० लिट०, रिटायर्ड रीडर (अंग्रेजी), का० हिं० वि० वि०, प्रिंसिपल संत विनोबा कालेज, देवरिया ।

रा० कु० रामकुमार, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, रीडर, गणित विभाग, रुडकी विश्वविद्यालय, रुडकी ।

रा० कु० स० रामकुमार सक्सेना, एम० एस-सी०, डी० एस-सी० (पेरिस), एफ० एन० आई०, अवकाशप्राप्त प्रोफेसर ऑव बॉटेनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालम, इलाहाबाद ।

रा० कृ० मे० रामकृष्ण मेहरा, असिस्टैंट प्रोफेसर, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।

रा० गो० च० राय गोविंदचंद, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व प्रिंसिपल, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, कुशस्थली, वाराणसी ।

रा० च० पा० रामचंद्र पांडेय, एम० ए०, एल-एल० बी०, आयकर अधिकारी एवं सहायक मृत्युकर नियंत्रक, लखनऊ ।

रा० चं० शु० रामचंद्र शुक्ल, एम० एड०, पी० डिप०, प्राध्यापक, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

रा० चं० स० रामचंद्र सक्सेना, एम० एस-सी०, (भूतपूर्व लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, का० हिं० वि० वि०), भदैनी, वाराणसी ।

रा० च० रामाचरण, बी० एस-सी० टेक० (शेफील्ड), डा० टेकनीक० (प्राहा), भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, ग्लास टेकनॉलोजी विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

रा० च० मे० रामचरण मेहरोत्रा, एम० एस-सी०, डी० फिल० (इलाहाबाद), पी-एच० डी० (लंदन), एफ० आर० आई० सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर ।

रा० दा० ति० रामदास तिवारी, एम० एस-सी०, डी० फिल०,

श० स्व०	शंकर स्वरूप, असिस्टैंट प्रोफेसर, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
श० च०	शशधर चैटर्जी, एम० एस-सी०, रीडर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शा० ला० का०	शांतिलाल कायस्थ, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० न० श०	शिवानंद शर्मा, एम० ए०, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सेंट ऐंड्र्यूज कालेज, गोरखपुर।
शि० ना० ख०	शिवनाथ खन्ना, एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०, आयुर्वेदरत्न, लेक्चरर, सोशल ऐंड प्रिवेंटिव मेडिसिन विभाग, कालेज ऑव मेडिकल सायन्सेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० मं० सिं०	शिवमंगल सिंह, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० मो० व०	शिवमोहन वर्मा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० श० मि०	शिवशरण मिश्र, एम० डी० (ऑनर्स), एफ० आर० सी० पी०, प्रोफेसर ऐंड हेड ऑव दि डिपार्टमेंट ऑव मेडिसिन, लखनऊ युनिवर्सिटी, लखनऊ।
शु० ते०	कुमारी शुभदा तेलंग, प्रिंसिपल, वसंत कालेज फॉर-वीमेन, राजघाट, वाराणसी।
श्या० च० दु०	श्यामाचरण दुबे, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
श्या० सु० श०	श्यामसुंदर शर्मा, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
श्री० अ०	श्रीधर अग्रवाल, एम० बी० बी० एस०, एम० एस-सी० (पैथॉलोजी), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।
श्री० कृ०	श्रीकृष्ण, सी० ई० (ऑनर्स), एम० आइ० ई०, म्यूनिसिपल इंजीनियर, दिल्ली नगर निगम, टाउन हाल, दिल्ली—६।
श्री० कृ० ला०	श्रीकृष्ण लाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
श्री० ध० अ०	देखिए श्री० अ०
श्री० ना० मे०	श्रीनाथ मेहरोत्रा, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।
श्री० स०	श्रीकृष्ण सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन एवं मनोविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
स० प्र० टं०	सतप्रसाद टंडन, एम० एस-सी०, डी० फिल०, असिस्टैंट प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
स०	सद्गोपाल, डी० एस-सी०, एफ० आई० आई० सी०, एफ० आइ० सी०, उपनिदेशक (रसायन), भारतीय मानक संस्था, मानक भवन, ९, मथुरा रोड, नई दिल्ली।
स० घो०	सत्येश्वर घोष, प्राध्यापक तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
स० च०	श्रीमती सरोजिनी चतुर्वेदी, एम० ए०, द्वारा श्री सुभाषचंद्र चतुर्वेदी, एम० ए०, पी० सी० एस०, डिप्टी कलेक्टर, लखनऊ।
स० दे० वि०	सत्यदेव विद्यालंकार, पत्रकार तथा लेखक, ४० ए, हनुमान लेन, नई दिल्ली।
सद्०	देखिए स०।
स० पा० गु०	सत्यपाल गुप्त, एम० बी० बी० एस०, एफ० आर० सी० एस० (एडिन०), डी० आर० एम० एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, आफ्थैल्मॉलोजी विभाग, चीफ आई सरजन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।
स० प्र०	सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०, एफ० ए० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय (ऐल्यूमिनियम)।
	सरयूप्रसाद, एम० ए०, एम० एस-सी०, डी० एस-सी०, एफ० एन० ए० एस-सी०, एफ० आइ० सी०, रीडर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (ईथर)
स० ला० गु०	सदनलाल गुप्त, असिस्टैंट सुपरिटेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस, ऐशबाग, लखनऊ।
स० वि०	देखिए स० दे० वि०।
सा० जा०	कुमारी सावित्री जायसवाल, एम० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी, वाराणसी।
सी० बा० जो०	सीताराम बालकृष्ण जोशी, इंजीनियर, जोशी वाडी, मनमाला टैंक रोड, माहिम, मुंबई।
सी० रा० जा०	सीताराम जायसवाल, एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी० (मिशीगन), रीडर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सु० कु० अ०	सुरेंद्रकुमार अग्रवाल, एल-एल० एम०, सहायक प्रोफेसर, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सु० कु० सिं०	सुरेंद्रकुमार सिंह, एम० ए०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी।
सु० पा०	सुधाकर पांडेय, एम० काम०, प्रकाशन मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
सु० प्र० सिं०	सुरेंद्रप्रताप सिंह, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
सु० सिं०	सुरेश सिंह (कुँवर), सदस्य, विधान परिषद् (उ० प्र०), कालाकांकर, प्रतापगढ़।

फलकसूची

संकेताक्षर

अ०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश
ई०	ईसवी
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उप०	उपनिषद्
किलो०	किलोग्राम
जि०	जिला
द०	दक्षिण
दे०	देशांतर
प०	पश्चात्, पश्चिम
पू०	पूर्व
फा०	फारेनहाइट
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत
याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
सं०	संख्या, संपादक, संस्करण, संस्कृत
सं० ग्रं०	संदर्भ ग्रंथ
सें०, सेंटी०	सेंटीग्रेड
सें० मी०	सेंटीमीटर
हा० ओ० सि०	हार्वर्ड ओरिएंटल सिरीज
हिं०	हिंदी
हि०	हिजरी

हिंदी विश्वकोश

खंड २

इलेक्ट्रानिकी विज्ञान तथा इंजीनियरी की वह शाखा है जिनके अंतर्गत इलेक्ट्रानीय युक्तियों एवं उनके उपयोगों से संबद्ध विषयों का अध्ययन किया जाता है। इलेक्ट्रान-सिद्धांत तथा प्रथम इलेक्ट्रान-युक्तियाँ प्रारंभ में भौतिकी के वैज्ञानिकों द्वारा ही विकसित की गई थीं। बाद में अत्यधिक उन्नति हो जाने के कारण इलेक्ट्रानिकी अध्ययन का एक पूर्णतः भिन्न विषय हो गई। फिर भी आजकल यह वैद्युत् इंजीनियरी की एक शाखा समझी जाती है। सन् १८८७ में हर्ट्स ने हर्ट्सियन तरंगों की खोज की तथा १८९५ में रट्जन ने एक्स-रे नली का आविष्कार किया। लगभग १८९२ में मारकोनी ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि बिना तार के ही वैद्युत् संचारण संभव है। १९०२ में फ्लेमिंग द्वारा दो विद्युदग्रवाले वाल्व का तथा १९०६ में डी फॉरेस्ट द्वारा तीन विद्युदग्र-वाले वाल्व का आविष्कार हुआ। इन सब मूल अनुसंधानों ने अन्य बहुत से वैज्ञानिकों के कार्य को उत्साहित किया और इन्हीं सामूहिक आविष्कारों तथा उन्नतियों का फल है कि आज इलेक्ट्रानिकी एक महत्वपूर्ण विषय हो गई है।

इलेक्ट्रानीय युक्तियाँ वे युक्तियाँ हैं जिनमें निर्वात में, या किसी गैस में, अथवा किसी अर्धचालक में इलेक्ट्रान के चालन का उपयोग किया जाता है। इसके उदाहरण इलेक्ट्रान-नली तथा ट्रानजिस्टर हैं। इन इलेक्ट्रानीय युक्तियों के अध्ययन में न केवल इलेक्ट्रान-नलियों तथा अन्य संबद्ध यंत्रों का अध्ययन होता है वरन् इन नलियों से संबद्ध परिपथों का भी अध्ययन किया जाता है।

इलेक्ट्रानीय युक्तियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है उष्मायनिक तथा प्रकाश-विद्युतीय। इस विभाजन का आधार यह है कि इन युक्तियों के लिये इलेक्ट्रान धारा किस विधि से प्राप्त होती है। इलेक्ट्रान युक्तियों को और भी विभाजित किया जा सकता है, जैसे उच्च-निर्वात-युक्ति तथा गैसमय युक्ति। उच्च-निर्वात-युक्ति वह युक्ति है जिसमें इलेक्ट्रान का चालन निर्वात में होता है। गैसमय युक्ति में इलेक्ट्रान का चालन अल्प-दाब के गैस में होता है। अंत में इलेक्ट्रान युक्तियों को उनके उपयोग के आधार पर भी विभाजित किया जा सकता है। इस लेख में इन युक्तियों का क्रमानुसार वर्णन किया जायगा। गत कुछ वर्षों में इलेक्ट्रानिकी इतना अधिक विस्तृत हो गई है कि वर्तमान लेख में केवल मूल सिद्धांतों तथा प्रमुख उपयोगों का ही वर्णन संभव है।

उष्मायनिक उत्सर्जन—यदि किसी धातु के टुकड़े को उच्च ताप तक तप्त किया जाय तो उसमें से इलेक्ट्रान बाहर निकलते हैं। यदि धातु का टुकड़ा
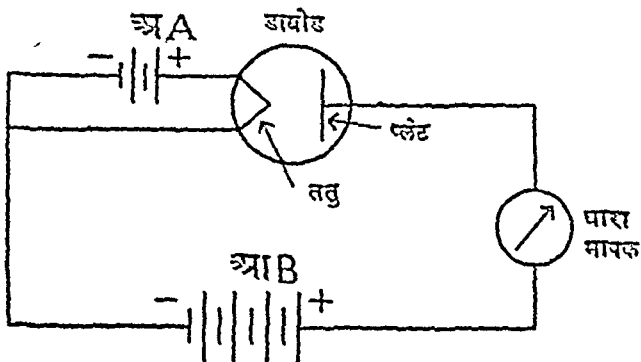
चित्र १

(अथवा तार या तंतु) निर्वात में रखा हो, जिनमें इलेक्ट्रानों की मुठभेड़ वायु के अणुओं से न हो सके और साथ ही कोई विद्युतीय अथवा चुंबकीय क्षेत्र उपस्थित न हो, तो जब तक इलेक्ट्रान किसी दूसरी वस्तु से न टकरा जायँ वे सीधी रेखा में चलते हैं। यदि एक दूसरा विद्युदग्र (प्लेट) उसी निर्वात में उपस्थित हो और उसे किसी धन विभव पर रखा जाय तो इलेक्ट्रान इसी विद्युदग्र पर एकत्र होंगे और यदि तार द्वारा चित्र १ की तरह दोनों विद्युदग्रों में संबंध स्थापित कर दिया जाय तो इस परिपथ में विद्युद्धारा का प्रवाह होने लगेगा। इस प्रकार के निर्वातित काच के लट्टू (बल्ब) को इलेक्ट्रान नली कहते हैं। उपर्युक्त नली में केवल दो विद्युदग्र रहते हैं, अतएव उसे द्विविद्युदग्र नली (या डायोड) कहते हैं। चित्र १ में बैटरी अ (A) तथा आ (B) का उपयोग क्रमानुसार तंतु को तप्त करने एवं प्लेट को धन विभव पर रखने के लिये किया गया है।

जब तंतु ठंढा होता है तो परिपथ में विद्युद्धारा का प्रवाह नहीं होता। जैसे जैसे तंतु को तप्त किया जाता है वैसे वैसे धारा की मात्रा बढ़ती है। रिचार्डसन के नियम के अनुसार परिपथ में धारा की मात्रा प्रधानतः तंतु के ताप पर निर्भर रहती है (देखें उष्मायन)। विद्युद्धारा कुछ सीमा तक प्लेट विभव पर भी निर्भर रहती है। यदि प्लेट पर ऋणात्मक विभव लगा दिया जाय तो धारा का प्रवाह नहीं होगा, क्योंकि तब इलेक्ट्रान ऋणात्मक विद्युत् क्षेत्र के कारण प्रतिकर्षित होकर तंतु की ओर चले जायँगे, और यदि प्लेट-विभव पर्याप्त धनात्मक न हो तो तंतु से निकले कुछ इलेक्ट्रान प्लेट पर न पहुँच सकने के कारण तंतु के चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। इस इलेक्ट्रानसमूह को अवकाशावेश (स्पेस चार्ज) कहते हैं। प्लेट विभव बढ़ाने पर अवकाशावेश कम हो जाता है और पर्याप्त ऊँचे विभव पर प्लेट सारे
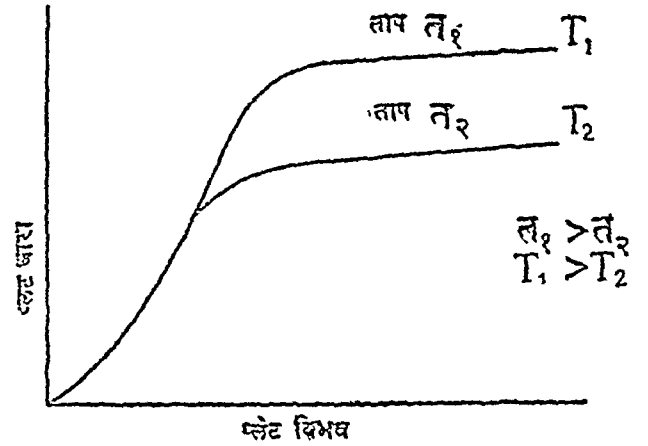
चित्र २

इलेक्ट्रानों को आकर्षित कर लेता है। इस समय विद्युद्धारा संतृप्ति की अवस्था में रहती है। इसके बाद प्लेट-विभव और अधिक बढ़ाने से प्लेट धारा में कोई अंतर नहीं होता। चित्र २ में दो तंतु वाल्व के लिये प्लेट धारा पर प्लेट-विभव का प्रभाव दिखाया गया है।

डायोड—उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि किसी नली में विद्यु-

चित्र ३

द्धारा का प्रवाह केवल एक दिशा में ही हो सकता है। इसी से डायोड नली का मुख्य उपयोग ऋजुकारी (रेक्टिफायर) की तरह प्रत्यावर्ती

धारा को दिष्ट धारा में परिवर्तित करने के लिये होता है। चित्र ३ में डायोड एक अर्ध-तरंग-ऋजुकारी की तरह काम करता है। प्रत्यावर्ती धारा के अर्धचक्र में जब प्लेट धनात्मक रहता है तभी नली में धारा का प्रवाह होता है, दूसरे अर्धचक्र में धारा का प्रवाह नहीं होता। चित्र ४ की प्रथम पंक्ति में धारा की मूल दशा तथा पंक्ति ३ में ऋजुकृत दशा दिखाई गई है। एक अन्य डायोड का उपयोग करके प्रत्यावर्ती धारा के दूसरे अर्धचक्र का भी उपयोग किया जा सकता है (पंक्ति ३)। इस प्रकार के परिपथ को

चित्र ४

पूर्ण-तरंग-ऋजुकारी कहते हैं। लगभग सभी इलेक्ट्रानीय उपकरणों में दिष्ट धारा की आवश्यकता को पूरा करने के लिये ऋजुकारी का प्रयोग होता है।

ग्रिड नियंत्रित इलेक्ट्रान नली—सन् १९०६ में डी फॉरेस्ट ने इलेक्ट्रान नली में, प्लेट और तंतु के मध्य, जाली के आकार का एक तीसरा विद्युदग्र, जिसे ग्रिड कहते हैं, और रखा। ग्रिड इस आकार का होता है कि इलेक्ट्रान इसके भीतर से निकलकर प्लेट पर पहुँच जाते हैं। ग्रिड को कोई विभव देकर प्लेट-धारा को भली भाँति नियमित किया जा सकता है। कुछ लोगों का कथन है कि इस नियंत्रण-ग्रिड के आविष्कार का ही यह फल है कि हम आज इलेक्ट्रानिकी को इस विकसित रूप में देखते हैं।

वह नली जिसमें तीन विद्युदग्र होते हैं—तंतु (ऋणाग्र), ग्रिड और प्लेट (धनाग्र)—ट्रायोड कहलाती है। ट्रायोड का यह लाक्षणिक गुण होता है कि ग्रिड-विभव के थोड़े से परिवर्तन से ही प्लेट-धारा में उससे कहीं अधिक परिवर्तन हो जाता है (देखें इलेक्ट्रान नली)। यदि ग्रिड तंतु की अपेक्षा अधिक ऋणात्मक हो और प्लेट ऊँचे धन विभव पर न हो, तो धारा का कोई प्रवाह नहीं होगा। ग्रिड विभव का क्रम ऋणात्मक रखें यदि धीरे धीरे धनात्मक किया जाय तो प्लेट-धारा बढ़ेगी और अंत में संतृप्ति की अवस्था धारण कर लेगी। ट्रायोड के व्यवहार को कई लेखाचित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। तीन चर (वेरिएबुल्स) द्वारा इसके गुण का वर्णन करते हैं, जैसे प्रवर्धन-गुणांक (एम्प्लिफिकेशन फैक्टर), प्लेट-प्रतिरोध (प्लेट रेज़िस्टैंस) तथा अन्योन्य चालकत्व (म्यूचुअल कंडक्टैंस)।

टेट्रोड तथा पेंटोड—कुछ ऐसी भी उष्मायन नलियाँ बनी हैं जिनमें एक के बदले दो या तीन जालियाँ (ग्रिड) होती हैं। ऐसे चार तथा पाँच विद्युदग्रवाली नलियों को क्रमानुसार टेट्रोड और पेंटोड कहते हैं। यदि इन जालियों का विभव ठीक प्रकार से निर्धारित किया जाय तो ये नली के व्यवहार को भिन्न प्रकार से परिवर्तित कर देती हैं। ऐसा होते हुए भी प्रत्येक परिपथ के मूल सिद्धांत वे ही रहते हैं।

ट्रायोड के उपयोग (१) **प्रवर्धक**—ट्रायोड नली का मुख्य उपयोग प्रवर्धक परिपथ में होता है। इस परिपथ में आदा (इनपुट) की वोल्टता

चित्र ५

के थोड़े परिवर्तन से प्रदा (आउटपुट) धारा में अत्यधिक परिवर्तन होता है। इस प्रकार का एक परिपथ चित्र ५ में दिखाया गया है। प्रायः यह आवश्यक होता है कि एक के बाद एक करके कई प्रवर्धकों का एक साथ प्रयोग किया जाय। इन प्रवर्धकों का संबंध प्रतिरोधक-संधारित्र द्वारा या ट्रांसफार्मर द्वारा किया जाता है।

विभिन्न प्रकार के प्रवर्धकों का वर्गीकरण वर्ग क (A), वर्ग ख (B) तथा वर्ग ग (C) में किया गया है। इनके उपयोग का अलग अलग क्षेत्र होता है।

(२) **मूर्छक तथा परिरापक**—ट्रायोड का उपयोग प्रारंभ में रेडियो संकेत के परिरापक के रूप में था। रेडियो संकेतों की ऊर्जा को लंबी दूरी तक विकिरण करने के लिये आवश्यक है कि परिपथ का श्रव्य आवृत्ति से कहीं अधिक आवृत्ति पर विकिरण किया जाय। इसी से संकेत का संचारित करने के लिये उच्च वाहक आवृत्ति की मूर्छना (मॉड्युलेशन) श्रव्य आवृत्ति द्वारा कर दी जाती है। मूर्छना आयाम मूर्छना अथवा आवृत्ति-मूर्छना द्वारा की जाती है। वाहक की आयाम-मूर्छना चित्र ६ में दिखाई गई है।

चित्र ६

ग्राही परिपथ द्वारा प्राप्त की गई संकेत का फिर से श्रव्य करने के लिये श्रव्य आवृत्ति को वाहक आवृत्ति से अलग करना पड़ता है। इस क्रिया को परिरापण कहते हैं।

(३) **दोलक**—ट्रायोड का एक मुख्य उपयोग दोलक परिपथ में है। यदि किसी प्रवर्धक परिपथ के प्रदा का कुछ अंश उसके आदा में लगा दिया जाय, तो बिना किसी प्रत्यावर्ती आदा के परिपथ में विद्युत् दोलन सदा से चलती रहेगी। और यदि प्रदा का आदा परिपथ किसी आवृत्ति

चित्र ७

के लिये अनुनादित हो तो यह परिपथ उसी आवृत्ति पर दोलन करता रहेगा। चित्र ७ में इसी प्रकार का एक परिपथ दिखाया गया है, जिसमें दोलन की आवृत्ति प्लेट-परिपथ द्वारा निर्धारित होती है। प्लेट-धारा ट्रांसफार्मर के पूर्ववर्ती में होकर बहती है। यह परवर्ती में एक विद्युद्वाहक बल प्रेरित करती है, जिसके फलस्वरूप सी बैटरी के ग्रिड-अभिनति (बायस) के अतिरिक्त एक अन्य विभव ग्रिड पर लग जाता है। प्रेरकत्व तथा धारिता के परिमाण द्वारा ही परिपथ के दोलन की मूल आवृत्ति निर्धारित होती है।

इस प्रकार के इलेक्ट्रान-नली-दोलकों के नाना प्रकार के उपयोग होते हैं। ये रेडियो-प्रेषित्र के मूल अंग होते हैं और वाहक-आवृत्ति का उत्पादन करते हैं। दोलक श्रव्य-आवृत्ति के भी बनाए जा सकते हैं।

गैसयुक्त नली—यदि एक नली में कम दाब पर कोई गैस भरी हो और उसके विद्युदग्रों में उचित विभवांतर स्थापित कर दिया जाय, तो नली में उद्दीप्ति-निरावेश स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था में धारा-घनत्व कम होता है, परंतु उसकी अपेक्षा विभवांतर अधिक होता है। धारा का प्रवाह नली में उपस्थित गैसीय आयनों द्वारा होता है। ऐसी उद्दीप्ति-निरावेश-नली का उपयोग कई प्रकार से किया जा सकता है। इस प्रकार

का एक उपयोग शिथिलनदोलक (रिलैक्सेशन ऑसिलेटर) मे होता है। यदि दो विद्युदग्रवाली एक गैसीय नली का सबध चित्र ८ की तरह किया जाय तो सधारित्र का विभव ऐसी आवृत्ति से दोलन करेगा जो सधारित्र
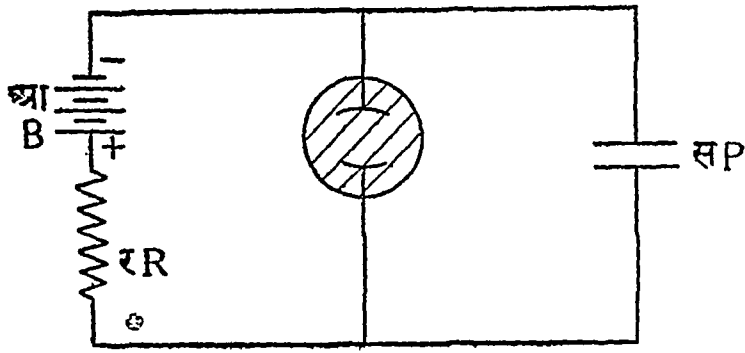
चित्र ८

के धारित्र और प्रतिरोधक के मान पर निर्भर होगा। इस प्रकार की उद्दीप्ति-निरावेश-नली विद्युदग्रो के एक क्रातिक विभवातर, वि$_क$ (V_a), तक पूर्णतया अचालक होती है। तदुपरात उसमे निरावेश स्थापित हो जाता है। निरावेश फिर तभी लुप्त होता है जब विभवातर कम होकर वि$_क$ (V_a) से नीचे विभव वि$_ल$ (V_b) पर पहुँच जाता है।

चित्र ८ मे बैटरी आ (B), प्रतिरोधक र (R) द्वारा, सधारित्र स (P) को चार्ज करती है। विभव वि$_क$ (V_a) पहुँचने पर नली चालक हो जाती है और सधारित्र से उसमे बहुत अधिक विद्युद्धारा प्रवाहित होती है। बहुत ही कम समय मे सधारित्र का विभव कम होकर वि$_ल$ (V_b) तक पहुँच जाता है और निरावेश बद हो जाने पर सधारित्र फिर से चार्ज होने लगता है। दो निरावेशो के बीच के समय को प्रतिरोधक र (R) द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। इसी प्रकार का एक परिपथ ऋणाग्र-किरण-दोलन-लेखी (कैथोड रे ऑसिलॉस्कोप, देखे ऋणाग्र-किरण दोलन-लेखी) मे किसी तरग के आकार का निरीक्षण करने के लिये प्रयुक्त होता है।

किसी गैसयुक्त नली के एक विद्युदग्र को उष्मायन-ऋणाग्र बना दिया जाय तो इलेक्ट्रान धारा की उपस्थिति के कारण निरावेश दूसरी ही प्रकृति का होगा। इसमें बहुत कम विभवातर पर ही अधिक धारा का प्रवाह हो सकता है। इस प्रकार की नली डायोड अथवा ट्रायोड दोनो ही हो सकती है। डायोड का प्रयोग ऋजुकारी की भाँति होता है और लगभग सभी उच्च क्षमतावाले परिपथो मे डायोड गैसयुक्त होता है और उसमे पारद-वाष्प भरा रहता है। इस प्रकार की नली की कार्यनिष्पत्ति पूर्ण निर्वातनली से कही अधिक होती है, क्योकि इसमें से अधिक धारा का प्रवाह होने पर भी विभव मे बहुत कम वोल्ट का अतर पडता है।

गैसयुक्त नली मे निरावेश का नियत्रण बहुत कम सीमा तक ग्रिड द्वारा किया जा सकता है, इस प्रकार की ग्रिड-नियन्त्रित, तप्त ऋणाग्रवाली निरावेश नली को "थायरेट्रान" कहते है। थायरेट्रान मे ग्रिड धनाग्र को ऋणाग्र

चित्र ९

से इस प्रकार परिरक्षित कर लेता है कि जब तक ग्रिड का एक उचित विभव न हो जाय, निरावेश स्थापित नही हो सकता। निरावेश स्थापित होते ही विद्युद्धारा पर ग्रिड का कोई प्रभाव नही होता और ग्रिड-विभव कम करने से भी निरावेश नही रोका जा सकता। इसके लिये प्लेट-विभव कम करने की आवश्यकता होती है।

यदि थायरेट्रान किसी प्रत्यावर्ती-धारा-परिपथ से सबद्ध हो तो यह केवल अर्धचक्र मे ही चालक रहेगा, उसके अत मे वह अचालक हो जायगा। यदि ग्रिड-विभव क्रातिक विभव से कम कर दिया जाय तो भी दूसरे चक्र मे निरावेश नही स्थापित होगा। इस प्रकार की नली का उपयोग-"नियत्रण परिपथो" मे अधिक विद्युद्धारा को नियन्त्रित करने के लिये होता है।

थायरेट्रान गैस-डायोड की तरह "रिलैक्सेशन ऑसिलेटर" मे भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार का एक परिपथ चित्र ९ मे दिया गया है।

प्रकाश-सवेदी नली एवं युक्तियां—यदि कुछ धातुओ पर बहुत छोटे तरग-दैर्घ्य का प्रकाश पडे तो उनमे से इलेक्ट्रान बाहर निकल आते है (देखें **प्रकाश-विद्युत्**)। इलेक्ट्रान की सख्या प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर रहती है। कुछ ऐसे भी धातु बनाए जा सकते है जो दृश्य प्रकाश के लिये भी सवेदी होते है। यदि एक प्रकाश-विद्युत्-ऋणाग्र तथा एक अन्य विद्युदग्र (धनाग्र) किसी निर्वात नली मे रख दिए जायँ तो इस सयोजन को प्रकाश-विद्युन्नली कहते है। यदि धनाग्र को धन विभव पर रखा जाय तो ऋणाग्र पर प्रकाश

चित्र १०

पडने से धारा का प्रवाह होने लगेगा। इस प्रकार के प्रकाश-विद्युद्धारा की मात्रा बहुत कम होती है। परतु फोटो-नली मे भर देने से धारा की मात्रा बढाई जा सकती है। फोटो-नली को किसी भी उपयोग मे लाने के लिये प्रकाश-विद्युद्धारा का किसी ट्रायोड इत्यादि द्वारा प्रवर्धन करना अत्यावश्यक होता है। इस कार्य के लिये एक साधारण परिपथ चित्र १० में दिया गया है। प्रकाश-विद्युद्धारा के कारण प्रतिरोधक र (R) में विभवातर स्थापित हो जाता है जो ट्रायोड द्वारा प्रवर्धित होता है। इस परिपथ की प्रदा-वोल्टता का प्रयोग किसी गणक, योजित्र या अन्य किसी युक्ति को चलाने के लिये किया जाता है। प्रकाश-नली के कुछ उपयोगो का वर्णन निम्नलिखित है

(१) **योजित्र क्रिया**—किसी प्रकाश-नली के ऋणाग्र पर पडते हुए प्रकाश को नियन्त्रित करके योजित्रो और यात्रिक युक्तियो के व्यवहार को नियन्त्रित किया जा सकता है। इसका उपयोग उद्योग मे बनी हुई वस्तुओ की सख्या की गणना करने के लिये बहुत होता है। इसी प्रकार के और भी बहुत से कार्य प्रकाश-नली द्वारा लिए जाते है।

(२) **ध्वनि पुनरुत्पादन**—चलचित्र-फिल्म पर बने ध्वनिपथ को श्रव्य ध्वनि मे परिवर्तित करने के लिये उस पथ पर एक नियत किरणावलि डालते है। पारगमित प्रकाश एक प्रकाश-नली के ऋणाग्र पर पडता है और इसकी तीव्रता में परिवर्तन उसी प्रकार से होते है जिस प्रकार से ध्वनिपथ मे ध्वनि के परिवर्तन अकित रहते है। इसी कारण प्रकाश-नली-धारा ध्वनि-परिवर्तनो के पूर्णतया समान होती है। इस विद्युद्धारा से किसी लाउड-स्पीकर को चलाने के पहले इसको प्रवर्धित करना आवश्यक होता है।

(३) **प्रतिलिपि (फैक्सिमिली) प्रणाली**—इस प्रणाली का प्रयोग

किसी चित्र अथवा इसी प्रकार की अन्य किसी वस्तु को एक जगह से दूसरी जगह, तार या रेडियो द्वारा, संचारित करने के लिये करते हैं। प्रथम बार सन् १९२५ में इसका प्रयोग आरंभ हुआ था। इसमें एक किरणावलि चित्र-फिल्म के प्रत्येक भाग से होकर जाती है। पारगमित प्रकाश की तीव्रता फिल्म के घनत्व पर निर्भर रहती है और एक प्रकाश-नली पर पड़ने पर उसी प्रकार के विद्युत् आवेगों का प्रवाह होता है। इन आवेगों को तार या रेडियो द्वारा दूर तक के ग्राही केंद्रों को भेज दिया जाता है, जहाँ एक प्रकाश नली द्वारा फिर से चित्र तैयार हो जाता है।

प्रकाश-वैद्युत् युक्तियों का उपयोग दूरवीक्षण (टेलीविज़न) में भी बहुत होता है।

अन्य इलेक्ट्रानीय युक्तियों को तीन मुख्य भागों में विभाजित करके उनका वर्णन नीचे संक्षेप में किया गया है

(क) इलेक्ट्रानीय उपकरणिकाएँ—निर्वात नली, थायरेट्रान तथा प्रकाश-नली में इलेक्ट्रान के उत्पादन तथा नियंत्रण की सहायता से इलेक्ट्रानिकी ने लगभग सभी विषय के वैज्ञानिकों को उनके कार्य के लिये अगणित उपकरणिकाएँ प्रस्तुत की है। उनमें से कुछ का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। कुछ अन्य प्रमुख उपकरणिकाओं का वर्णन नीचे किया जा रहा है

(१) दाव प्रमापी—० ०५ से लेकर 10^{-3} सेंटीमीटर तक की दाव नापने के लिये तापीय युग्म प्रमापी का प्रयोग किया जाता है। इस प्रमापी में दो विभिन्न धातुओं के तार की संधि का संबंध एक तंतु से कर दिया जाता है। तंतु को नियत वोल्टता-स्रोत से तप्त किया जाता है। इसका ताप आसपास के वातावरण की उष्मीय चालकता पर निर्भर रहता है और उष्मीय चालकता गैस की दाव पर। तापीय युग्म द्वारा उत्पन्न वोल्टता को नापकर गैस की दाव का अनुमान लगाया जा सकता है।

10^{-3} से 10^{-7} सेंटीमीटर तक की दाव को नापने के लिये आयनीकरण प्रमापी का प्रयोग किया जाता है। यह एक ट्रायोड होता है, जिसमें तंतु, ग्रिड तथा प्लेट का प्रयोग किया जाता है। तंतु से निकले इलेक्ट्रान और गैस-अणुओं में मुठभेड़ होने पर, गैस के अणु आयनों में विभाजित हो जाते हैं। धन आयनों के ऋणात्मक प्लेट की ओर जाने के कारण आयन-धारा का प्रवाह होता है। यह धारा गैस-दाब पर निर्भर रहती है और इसको नापने से दाव का अनुमान किया जाता है।

(२) इलेक्ट्रानीय गणक तथा संगणक—बहुत से परिपथ विद्युत्स्पंदों की गणना करने के लिये बनाए गए हैं। ऐसे परिपथों का उपयोग नाभिकीय इंजीनियरी में बहुत होता है। इनका मूल सिद्धांत यह होता है कि परिपथ के आदा में कई स्पंदों को लगाने पर प्रदा में एक स्पंद बनता है। इन प्रदा स्पंदों से एक यांत्रिक गणक चलाया जाता है। इस प्रकार का एक परिपथ चित्र ११ में दिया है।

गणक (काउंटर) का सिद्धांत संगणक (कैलक्युलेटर) बनाने के लिये भी प्रयुक्त होता है। ये दो प्रकार के होते हैं आंकिक (डिजिटल) तथा अनुरूप (ऐनालॉग)। आंकिक संगणक में संख्याओं को साधारण अंकों
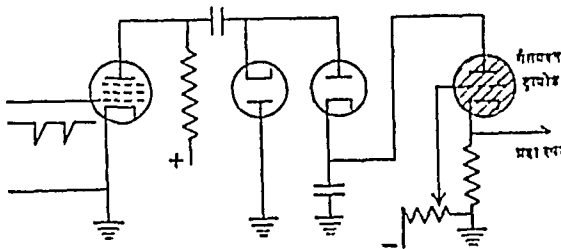
चित्र ११

में रखकर कार्य होता है, परंतु अनुरूप संगणक में संख्याओंको किसी भौतिक मात्रा में रूपांतरित करके काय होता है।

(३) इलेक्ट्रानीय निमेषमान—मैरीसन के सन् १९२७ के आविष्कार के पश्चात से सूक्ष्मता से समय नापने के लिये इलेक्ट्रानीय निमेषमान का प्रयोग होता है। इस यंत्र से समय इतनी सूक्ष्मता से नापा जा सकता है कि एक दिन में १/१००,०००,००० भाग से कम का अंतर पड़ता है। इसमें मणिभ (क्रिस्टल)-नियंत्रित इलेक्ट्रान-नली-दोलक का उपयोग होता है। स्फटिक मणिभ-पट्ट (क्वार्ट्ज क्रिस्टल प्लेट) की आवृत्तियों का ताप, वायु-दाव तथा आर्द्रता से प्रभावित न होने देने के लिये उसको पात्र की नली में बंद करके नियत ताप पर रखा जाता है। आवृत्ति विभाजन-परिपथ द्वारा धारा-संख्या ६० चक्र प्रति सेकंड की आवृत्ति उत्पन्न की जाती है और उससे समकालिक (सिंक्रोनस) मोटर चलाई जाती है। अंत में इस मोटर द्वारा घड़ी की सुइयाँ चलती हैं।

(४) हाइड्रोजन-आयन-सांद्रण-मापी (पी एच मीटर)—रसायन शास्त्र में शुद्ध विश्लेषण के लिये हाइड्रोजन-आयन-सांद्रण (पी-एच मान) का यथार्थ ज्ञान बहुत महत्वपूर्ण होता है। किसी घोल का पी एच मान दो इलेक्ट्रोडों का विभवांतर नापने से ज्ञात किया जा सकता है। इस घोल में एक निर्देश विद्युदग्र होता है और दूसरा विद्युदग्र ऐसा होता है जो हाइड्रोजन-आयन से प्रभावित होता है (देखें रासायनिक उपकरण)। इन विद्युदग्रों के बीच बहुत ही कम विभवांतर स्थापित होता है। इसे नापने में एक प्रवर्धक का भी प्रयोग किया जाता है।

(ग) संचार में इलेक्ट्रानिकी—इलेक्ट्रानिकी के आविष्कार का पहले प्रयोग का बहुत अधिक महत्व संचार के क्षेत्र में था। रेडियो, दूरवीक्षण, राडार इत्यादि इसी आविष्कार के फल हैं। ये सब आधुनिक मानव जीवन के मुख्य अंग हो गए हैं।

(१) रेडियो-प्रेषी—श्रव्य ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक संचारित करने के लिये रेडियो प्रेषी का प्रयोग किया जाता है। चित्र १२ में आयाम-मूर्च्छित रेडियो-प्रेषी का रेखाचित्र दिया गया है। ध्वनिग्राह द्वारा
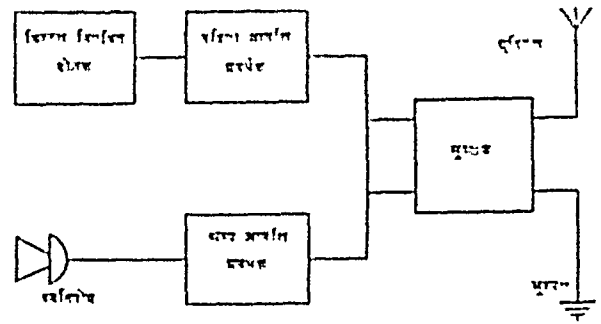
चित्र १२

उत्पन्न श्रव्य आवृत्ति का पहले प्रवर्धन किया जाता है और फिर इससे रेडियो-आवृत्ति-वाहक की मूर्च्छना (मॉड्युलेशन) करते हैं। मूर्च्छना के पहले रेडियो आवृत्ति का भी प्रवर्धन करना आवश्यक होता है। मूर्च्छना के प्रदा को एरियल द्वारा संचारित कर दिया जाता है। आयाम-मूर्च्छित रेडियो प्रेषी के अतिरिक्त आवृत्ति-मूर्च्छित रेडियो प्रेषी का भी उपयोग किया जाता है।

(२) रेडियो संग्राही—रेडियो-प्रेषी द्वारा संचारित संकेतों को फिर से श्रव्य बनाने के लिये रेडियो-संग्राही की आवश्यकता होती है। एक आधुनिक संग्राही का सांकेतिक चित्र चित्र १३ में दिया गया है। एरियल द्वारा प्राप्त संकेत को समस्वरित (ट्यूनड) प्रवर्धक से प्रवर्धित करके उसकी वाहक आवृत्ति को एक अन्य अंतःस्थ आवृत्ति में बदल देते हैं। यह काय आवृत्ति-परिवर्तित्र द्वारा होता है। अंतःस्थ आवृत्तिप्रवर्धन के बाद वियोजक द्वारा श्रव्य आवृत्ति को वाहक आवृत्ति से अलग कर दिया जाता है। इसे एक बार फिर प्रवर्धित किया जाता है। प्रवर्धक के उत्पाद को लाउडस्पीकर में लगा देने से रेडियो-संकेत श्रव्य हो जाता है। (देखें रेडियो, रेडियो संग्राही)।

(३) दूरवीक्षण—दूरवीक्षण द्वारा किसी चित्र का संचालन एक स्थान से दूसरे स्थान तक वैद्युत् संकेतों के रूप में होता है। इस उपकरण का विशेष उपयोग जनता के मनोरंजन तथा शिक्षा के लिये होता है। चित्र

को वैद्युत सकेत मे परिवर्तित करने के लिये विशेष प्रकार की प्रकाश-नली (जैसे इमेज ऑर्थीकॉन तथा विडीकॉन) का प्रयोग किया जाता है। सग्राही

चित्र १३

केंद्र पर विद्युत् सकेतो को फिर से सचारित चित्र मे बदलने के लिये एक अन्य प्रकार की नली "काइनॉस्कोप" का प्रयोग किया जाता है (देखे दूरवीक्षण)।

(४) **राडार**—सन् १९२२ मे टेलर ने यह देखा कि यदि कोई जहाज रेडियो तरग के पथ में आ जाता है तो ऊर्जा का कुछ अश परावर्तित होकर रेडियो-प्रेपी पर लौट आता है। आधुनिक युग मे इस प्रेक्षण का उपयोग राडार के रूप में होता है। किसी वायुयान, पनडुब्बी (सबमैरीन) तथा जलयान की स्थिति का पता लगाने तथा इनके नौतरण मे राडार बहुत अधिक सहायता करता है। राडार में एक प्रेषी अत्यत शक्तिशाली तथा अल्प कालिक स्पदो को सचारित करता है। किसी पदार्थ से परावर्तित होकर ऊर्जा का कुछ अश प्रेषी पर वापस आ जाता है। इस प्रतिध्वनि के वापस आने तक के समय के अतर को नापकर परावर्तक की दूरी का ज्ञान हो सकता है। अनुदिक एरियल का प्रयोग करके परावर्तक की दिशा का भी ज्ञान हो सकता है (देखे **राडार**)।

(ग) **उद्योग में इलेक्ट्रानिकी**—उद्योग में इलेक्ट्रानिकी के इतने अधिक उपयोग हैं कि उन सबको गिनाना कठिन है। कुछ उपयोगो का वर्णन उदाहरण के लिये नीचे किया जा रहा है।

(१) **प्रेरण-तापन (इडक्शन हीटिंग)**—उद्योग मे वस्तुओ को तप्त करने के लिये विद्युत् का बहुत प्रयोग होता है। इस विधि से कार्य बहुत स्वच्छ होता है तथा खुली हुई ज्वाला उपस्थित नही रहती। धातुओ को तप्त करने की विधि को प्रेरण-तापन तथा अचालक वस्तुओ को तप्त करने की विधि को पारविद्युत्-तापन कहते हैं। इन दोनो विधियो के लिये उच्च आवृत्ति की प्रत्यावर्ती धारा की आवश्यकता होती है। तप्त की जानेवाली धातु के टुकडे के चारो ओर (चित्र १४) एक कुडली लपेट कर उसमे प्रत्यावर्त्ती धारा का प्रवाह करते हैं। विद्युत्-प्रवाह से उत्पन्न चुबकीय स्पद

चित्र १४

(फ्लक्स) वायु मे से तथा कुडली एव कुडली के समीप उपस्थित धातु मे से भी होकर जाता है। धारा के उत्क्रमण से स्पद में भी परिवर्तन होता है, जिसके कारण धातु मे वोल्टता प्रेरित हो जाती है। इस वोल्टता के कारण धातु मे अधिक मात्रा में भँवर धारा का प्रवाह होने लगता है (चित्र १५)। तब धातु के प्रतिरोध के कारण ताप उत्पन्न हो जाता है।
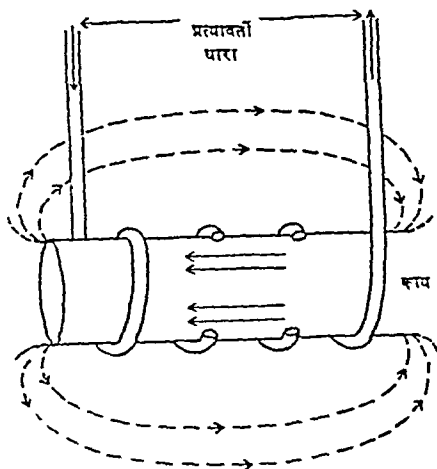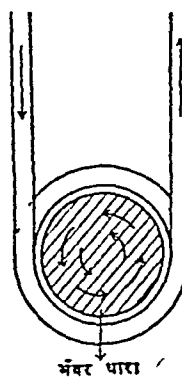
चित्र १५

(२) **पारवैद्युत तापन**—विद्युत् से अचालक पदार्थो को तप्त करने के लिये १००० किलोसाइकिल या १ मेगासाइकिल से अधिक आवृत्ति की शक्ति की आवश्यकता होती है। क्योकि वस्तु मे होकर धारा प्रवाहित नही हो सकती, इसलिये वस्तु को उच्च वोल्टतावाले धातु के प्लेटो के बीच में रखा जाता है (चित्र १६)। विद्युत् क्षेत्र के तीव्र परिवर्तन के कारण अचालक वस्तु की अणु-सरचना मे भी वैसे ही परिवर्तन होने लगते हैं। अणुओ के बीच में घर्षण होने के कारण वस्तु में सब ओर समान ताप उत्पन्न हो जाता है। इस विधि से अचालक वस्तुओ की मोटी चादरो को बहुत थोडे समय में तप्त किया जा सकता है।

(३) **प्रतिरोध संधान**—धातु के दो टुकडो में उच्च विद्युद्धारा (१००० से १,००,००० ऐंपियर) प्रवाहित करने से उनको सधानित (वेल्ड) किया जा सकता है, अर्थात् जोडा जा सकता है। सधान मशीन मे एक सधान परिवर्तक (ट्रैंसफार्मर) रहता है, जो २२० या ४४० वोल्ट की विद्युत् को दो विद्युदग्रो के बीच में १ से १० वोल्टवाली मे परिवर्तित कर देता है और साथ ही साथ उच्च विद्युद्धारा देता है। सधान करने के लिये यह आवश्यक है कि धारा का प्रवाह अल्प समय के लिये ही हो। इसी से एक सस्पर्श-कर्ता-परिपथ का प्रयोग किया जाता है। यह युक्ति परिपथ को शीघ्र शीघ्र जोडती और तोडती रहती है।
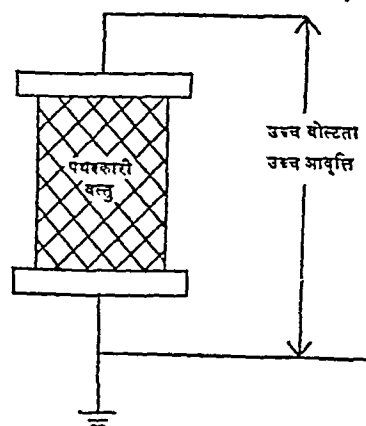
चित्र १६

सस्पर्श-कर्ता-परिपथ मे "इग्नीट्रॉन" नामक इलेक्ट्रान-नली का प्रयोग करते हैं। इग्नीट्रान एक विशेष प्रकार की गैस-युक्त नली होती है, जो उच्च विद्युद्धारा को सँभाल सकती है। इसका उपयोग थायरेट्रान नली के समान होता है।

उद्योग में प्रयुक्त होनेवाली अन्य बहुत-सी इलेक्ट्रानीय उपकरणिकाओं के लिये **उद्योग में इलेक्ट्रानिकी** शीर्षक लेख देखें।

ट्रैंजिस्टर—इलेक्ट्रान-नली की ही भाँति एक अन्य युक्ति ट्रैंजिस्टर का आविष्कार ब्रेटन, वार्डीन एवं शॉकले ने हाल में किया है। इसमें दो विभिन्न प्रकार के मणिभ (अधिकतर जर्मेनियम तथा सिलीकन के) रहते हैं। एक में एक इलेक्ट्रान का बाहुल्य तथा दूसरे में एक इलेक्ट्रान की न्यूनता रहती है। जब कोई धन विभव कम इलेक्ट्रानवाले मणिभ की ओर लगाया जाता है, तो इलेक्ट्रान का प्रवाह अधिक इलेक्ट्रानवाले मणिभ से कम इलेक्ट्रानवाले मणिभ की ओर होने लगता है। इस प्रकार हमें एक बहुत छोटे आकार में दो विद्युदग्रोवाली इलेक्ट्रान नली (डायोड) की क्रिया प्राप्त होती है। बधिरों का श्रवण-सहायक (हियरिंग एड), पाकेट रेडियो इत्यादि इसी की देन हैं। आजकल इसको प्रयोग में लानेवाले नवीन परिपथों पर गवेषणा कार्य पर्याप्त तत्परता से हो रहा है।

इन सब उपयोगों के अध्ययन से प्रत्यक्ष है कि वर्तमान वैज्ञानिक युग की श्रेष्ठतम देन इलेक्ट्रानिकी और उसकी उपकरणिकाएँ हैं। आजकल रॉकेट तथा प्रक्षेप्यास्त्र को नियनित करनेवाले परिपथों की उन्नति करने में भी बहुत खोज हो रही है। इन्हीं कुछ परिपथों का प्रयोग रॉकेट या कृत्रिम उपग्रहों द्वारा प्राप्त सूचनाओं को प्रसारित कर पुन प्राप्त करने में किया जाता है।

सं०ग्रं०—एफ० ई० टर्मन इलेक्ट्रॉनिक ऐंड रेडियो इजीनियरिंग (१९५५), जी० एम० शूट इलेक्ट्रॉनिक्स इन इडस्ट्री (१९५६), आर० एस० ग्लास्गो प्रिंसिपुल्स ऑव रेडियो इजीनियरिंग (१९३६), एम० सीली इलेक्ट्रॉनिक्स (१९५१)। [श० स्व०]

इलेक्ट्रानीय वाद्ययंत्र

ऐसे यत्रों को कहते हैं, जिनमें विद्युत् शक्ति से वाद्ययत्रों की सी ध्वनि उत्पन्न की जाती है। ये यत्र दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो दूसरे वाद्ययत्रों के कपन का वर्धन (ऐंप्लिफिकेशन) करते हैं, और दूसरे वे जो स्वय विद्युत्तरगों का जनन करके, वर्धन के पश्चात् उन्हें ध्वनि में परिवर्तित कर देते हैं।

पहले प्रकार के यत्र वायलिन अथवा सरोद ऐसे वाद्ययत्रों की ध्वनि-पेटिकाओं पर लगाए जाते हैं। इनसे वाद्ययत्रों के यांत्रिक कपन को (वायु कपनों को नहीं) ट्रासडचूसर द्वारा विद्युत्कपन में परिवर्तित किया जाता है। वर्धन के पश्चात् यह विद्युत्कपन उद्घोपित्र (लाउडस्पीकर) द्वारा ध्वनि में रूपातरित किया जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि टेप रेकार्डर को इलेक्ट्रानीय वाद्ययत्र नहीं कहा जाता, क्योंकि इसमें दूसरे वाद्ययत्रों की ध्वनि माइक्रोफोन द्वारा सग्रह कर ली जाती है और इच्छानुसार सुनी जा सकती है। टेप रिकार्डर अपनी ध्वनि नहीं उत्पन्न करता।

दूसरे प्रकार के यत्रों का सर्वप्रथम उदाहरण डडेल ने १९०० ई० में आविष्कृत किया। इसे गायक चाप (सिंगिंग आर्क) कहते हैं। जब वैद्युत् दिष्ट धारा (डी० सी०) के आर्क के पार्श्व में एक प्रेरक (इडक्टेंस) और वैद्युत् धारित्र (कैपेसिटी) जोड दिए जाते हैं तो आर्क में से एक ध्वनि प्रस्फुटित होती है, जिसकी आवृत्ति

आ=१/२π√(प्रे×धा) $N = 1/2\pi\sqrt{(I \times C)}$,

जहाँ प्रे(I)=प्रेरक, धा(C)=धारित्र। प्रेरक या धारित्र के बदलने से ध्वनि का तारत्व बदल जाता है।

सन् १९०० के बाद से अब तक कई प्रकार के इलेक्ट्रानीय वाद्ययत्रों का निर्माण हो चुका है। इनमें से कुछ का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। रेडियो वाल्व के आविष्कार के कारण पूर्ण स्वरतालिका सहित वाद्ययत्रों का निर्माण सभव हो गया है। एक तालिका के दबाने से एक निश्चित आवृत्ति के दोलक का सबध उद्घोपित्र (लाउडस्पीकर) से हो जाता है। इस विधान में प्रत्येक सुर के लिये कम से कम एक रेडियो वाल्व अलग से चाहिए। अतएव यह वाद्ययत्र व्यापारिक दृष्टि से सफल नहीं हो सका। इसका प्राथमिक मूल्य अधिक और परिपालन कठिन था। आजकल ट्रैंजिस्टरों के आविष्कार से यह समस्या सरल हो गई है, क्योंकि ट्रैंजिस्टर माप में छोटे होते हैं, उनमें बहुत कम विद्युत्शक्ति की आवश्यकता होती है और वे बहुत टिकाऊ होते हैं। वाद्यध्वनि के तीन गुण होते हैं तारत्व (पिच), उद्घोपता (लाउडनेस) तथा लक्षण (टिंबर)। लक्षण बहुत कुछ आवर्तक (हारमोनिक्स) और दूसरे सुरों के मिश्रण तथा विद्युत्परिपथ (सरकिट) पर निर्भर रहता है। इसका उल्लेख नीचे नहीं किया जायगा।

लीओ थेरेमिन नामक एक रूसी के बनाए वाद्ययत्र का नाम उसी के नाम पर थेरेमिन प्रसिद्ध है। इसमें दो उच्चावृत्ति (हाई फ्रीक्वेंसी) दोलक प्रयुक्त होते हैं। एक दोलक की आवृत्ति स्थिर रखी जाती है और दूसरे की आवृत्ति हाथ या धातु की छडी खुले हुए धारित्र के समीप ले जाने से बदली जा सकती है। सामान्यत यह धारित्र एक स्टैंड के सबसे ऊपरवाले हिस्से में लगाया जाता है (चित्र देखें)।

थेरेमिन
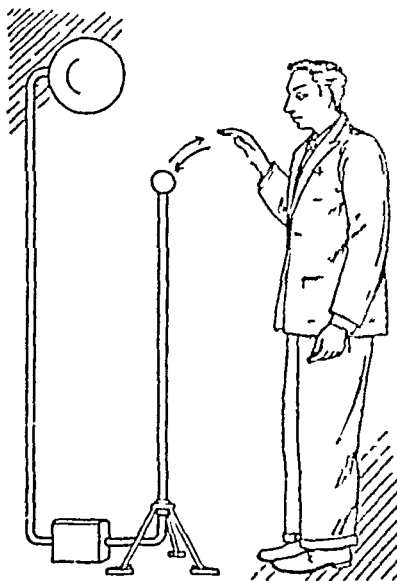
हाथ या छडी के हिलने से विद्युद्धारिता में परिवर्तन होता है और फलस्वरूप इस दोलक की आवृत्ति भी ऊपर दिए समीकरण के अनुसार बदल जाती है। इन दोनों आवृत्तियों को मिलाने से जो ध्वनि-आवृत्ति उत्पन्न होती है उसका वर्धन करके लाउडस्पीकर में लगा दिया जाता है। स्पष्ट है कि ध्वनि का तारत्व लगातार सपूर्ण श्रव्य क्षेत्र तक बदला जा सकता है। हाथ या छडी को एक स्थान पर स्थिर रखने से एक ही सुर तथा दूसरे स्थान पर स्थिर रखने से दूसरा सुर निकलता है। इस प्रकार इस यत्र से अत्यत मधुर सगीत उत्पन्न किया जा सकता है। इसके पश्चात् इस यत्र का एक नया रूप आविष्कृत हुआ है, जिसमें प्रत्येक सुर के लिये एक तालिका (की) दबानी पडती है। तालिका दबने पर एक नियत धारित्र का सबध परिवर्तनशील दोलक से हो जाता है और तारत्व क्रमानुसार सगीतस्वर के सुरों में बदला जा सकता है।

सन् १९३० में जर्मनी की टेलीफुकेन कपनी ने ट्राटोनियम नामक यत्र का निर्माण किया। इसमें ध्वनि का तारत्व और उद्घोपता दोनों बदली जाती हैं। यह बाजा एक तार पर उँगली चलाकर बजाया जाता है। जिस स्थान पर तार दबाया जाता है उसके अनुसार ध्वनि का तारत्व निकलता है और जितनी अधिक दाब से तार दबाया जाता है उतनी ही अधिक उद्घोपता होती है। इस यत्र में एक ग्रिड-उद्दीप्त-वाल्व (ग्रिड-ग्लो-ट्यूब) आवृत्ति उत्पन्न करता है। ग्रिड के विभव (पोटेंशियल) के अनुसार आवृत्ति होती है। तार विद्युत्प्रतिरोधक धातु का बना होता है और एक चालक धातु-पट्टिका के थोडा ऊपर तना रहता है। नियत्रित स्थानों पर तार दबाने से पट्टिका का विभव क्रमानुसार बदलता है, साथ ही पट्टिका भी अपने स्थान से उँगली की दाब के अनुसार हिल जाती है। पट्टिका के सचलन से ध्वनि की उद्घोपता बदलती है। इस यत्र से सतोपजनक सगीत सुना जा सकता है।

सन् १९३५ में लारेंस हैमाड ने अमरीका में हैमाड आरगन का आविष्कार किया। इसमें स्वरतालिका का प्रयोग होता है और गिरजाघर के आरगनों की भाँति ध्वनिकपन उत्पन्न किया जा सकता है।

हाल ही में सश्लिष्ट वाग्ध्वनि उत्पन्न करने में बहुत प्रगति हुई है। निकट भविष्य मे यह सभव है कि सश्लिष्ट वाक्सगीत (गायन) के यत्र भी बनने लगे, पर ऐसे यत्र बहुत ही जटिल होंगे। [व० ना० सिं०]

इलेर्दा का युद्ध

इटली के इतिहास मे बडे महत्व का था। यह ४६ ई० पू० मार्च ६ और जुलाई २ के बीच लडा गया था। इसके नायक प्रजातात्रिक दल के नेता जूलियस सीजर और अभिजातवर्ग के नेता पापेइ थे। सीजर ने अपने दो महीनो के अभियान में समूचे इटली पर अधिकार कर लिया। फिर भी वह इटली का स्वामी न हो सका क्योकि पापेइ की शक्ति ग्रीस आदि पूरबी देशो में बडी थी और वह इटली को मिस्र, सिसिली और सार्दीनिया से जानेवाली रसद काट सकता था, फिर उसकी स्पेनी सेनाएँ इटली और गाल दोनो के लिये भीषण खतरे की थी। सो सीजर पहले स्पेन की ओर बढा। वहाँ पापेइ स्वय तो नही था पर उसके शक्तिमान सेनापति अफ्रानियस और पेत्रियस विशाल सेनाओ के साथ सनद्ध थ। इलेर्दा के सिकोरिस नदवर्ती कस्बे मे उनकी सेनाएँ पडाव डाले जमी थी। सीजर ने हमला किया पर उसे अपने मुँह की खानी पडी। फिर तो रक्तपात छोड चालो की लडाई शुरु हुई। दाँवपेच चलने लगे और अत मे अफ्रानियस की सेनाओ को घेर, उसे जलविहीन कर सीजर ने सधि करने पर मजबूर किया। चालो और बातो की लडाई मे इलेर्दा के युद्ध के समान ससार का सभवत कोई दूसरा युद्ध नही। राजनीतिक दृष्टि से भी इसने पापेइ को यूरोप से काट दिया और उसे एशियाई देशो की शरण लेते हुए अपनी मौत की ओर प्रयाण करना पडा। [ओ०ना०उ०]

इलकल

नवीन मैसूर राज्य मे बीजापुर जिले (पहले बबई राज्य) के हुनगुद तालुका मे हुनगुद से ८ मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित एक छोटा नगर है। (१५° ५७' उ० अक्षाश एव ७६° ७' पूर्व देशातर)। १८५१ ई० मे इसकी जनसख्या ७,०४१ थी जो सौ वर्षो (१९५१) मे क्रमिक गति से बढकर २०,७४७ हो गई। यह नगर जिले के बडे व्यापारिक नगरो में से एक है और यहाँ बुनाई एव रँगाई का उद्योग प्रमुख है। यहाँ से निर्यात की जानेवाली वस्तुओ मे रेशमी तथा सूती कपडे और कृषि की उपजे मुख्य हैं। दक्षिणी स्त्रियो के पहनावे के उद्योग के लिये भी यह प्रसिद्ध है। यहाँ आधुनिक ढग से निर्मित वासकरी, बसवन्ना एव व्याकोबा के तीन मदिर बहुत ही प्रसिद्ध हैं। यहाँ पौष पूर्णिमा को प्रतिवर्ष बडा मेला लगता है। [का०ना०सिं०]

इल्मेनाइट

एक खनिज है, जो प्रधानत लौह टाइटेनेट है। अनेक उद्योगो में टाइटेनियम के उपयोग की वृद्धि होने के कारण इल्मेनाइट के खनन तथा उत्पादन की ओर विश्व के अनेक शक्तिशाली राष्ट्रो का ध्यान आकर्षित हुआ है। यद्यपि इल्मेनाइट आग्नेय एवम् परिवर्तित शिलाओ का नितात सामान्य भाग है, तथापि भारत में समुद्रतटीय बालू के निक्षेपो के अतिरिक्त कोई भी निक्षेप ऐसा नही है जहाँ आर्थिक एव वाणिज्य की दृष्टि से खननकार्य लाभप्रद हो। दक्षिण भारत में तटीय बालू के लगभग १०० मील लबे भूखड मे, पश्चिमी तट पर क्विलन के उत्तर मे नदीकारिया से कन्याकुमारी तक तथा पूर्वी तट पर किनारे किनारे तिरूनेलवेली जिले मे लिपुरूम तक, इल्मेनाइट अधिक मात्रा में पाया जाता है। इल्मेनाइट बालू के साहचर्य में रयूटाइल, जिरकन, सिलीमेनाइट तथा मोनाजाइट आदि खनिज के रूप मे मिलता है। कुछ कम महत्व की इल्मेनाइटयुक्त तटीय बालू मालाबार, रामनाथपुरम्, तजोर, विशाखपतनम्, रत्नगिरि तथा गजाम जिलो में भी मिली है।

त्रावनकोर में इल्मेनाइटयुक्त तटीय बालू को खोदकर समीप के साद्रण कारखानो को भेज दिया जाता है, जहाँ ९५ प्रतिशत शुद्धता का इल्मेनाइट प्राप्त किया जाता है।

इल्मेनाइट का उपयोग आजकल टाइटेनियम श्वेत नामक श्वेत तैल रग के निर्माण मे किया जाता है। टाइटेनियम श्वेत 'सफेदा' (लेड सल्फेट) से भी अधिक श्वेत होता है। इसका और इसके यौगिको का उपयोग तैल रगो के अतिरिक्त कागज, चर्म, सूती कपडे, रबर, प्लैस्टिक आदि अनेक उद्योगो मे होता है। धात्विक टाइटेनियम का उपयोग विशेष प्रकार के इस्पात के निर्माण मे किया जाता है।

उत्पादन—विश्व मे इल्मेनाइट उत्पादन की दृष्टि से भारत का स्थान दूसरा है। अनुमानित आँकडो के अनुसार इसका समस्त भाडार ३५ करोड टन के लगभग आँका गया है। भारत मे उत्पादित इल्मेनाइट का अधिकाश विदेशो को निर्यात कर दिया जाता है। गत पाँच वर्षो मे भारत के इल्मेनाइट का उत्पादन इस प्रकार रहा है

वर्ष	उत्पादन (टनो मे)	मूल्य (रुपए मे)
१९५३	२,१५,२५६	६२,०५,१३८
१९५४	२,४०,५१३	७६,८०,०००
१९५५	२,५०,७७४	१,३१,६०,०००
१९५६	३,३५,५६०	१,७८,१२,०००
१९५७*	२,६६,०००	१,६८,१२,०००

* अस्थायी

[वि० सा० दु०]

इवलिन, जॉन

(१६२०-१७०६)—इनका जन्म सरे प्रदेश के एक ऐसे कुलीन परिवार में हुआ था जिसके वशज दीर्घकाल से इग्लैंडके नरेशो तथा विधान के सबल समर्थक रहे। राजभक्ति की इस वशपरपरा के अनुसार ही युवक इवलिन को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय छोडने के साथ ही सन् १६४२ मे भयकर गृहयुद्ध की भडकती अग्निज्वाला में चार्ल्स प्रथम की विजय के लिये कूदना पडा। परतु वर्ष के अतिम चरण में उन्होने स्वदेश को छोडकर हालैंड को प्रस्थान किया। कई वर्षो तक वे यूरोप के विभिन्न देशो मे भ्रमण करते रहे और इस यात्रा से उपलब्ध अनुभवो का प्रयोग उन्होने अपनी प्रसिद्ध 'डायरी' में यथास्थान किया। डायरी का आरभ १६४२ से हुआ और १७०६ तक की प्रसिद्ध घटनाओ का इसमें उल्लेख है। सन् १६५२ ई० में वे स्वदेश लौटे और सेज कोर्ट नामक स्थान पर स्थायी रूप से बस गए। यही पर 'सिल्वा' तथा 'स्कल्प्चुरा' नामक दो ग्रथो मे उन्होने अपने बागबानी तथा गृह-निर्माण-कला सबधी गहन ज्ञान का परिचय दिया। सन् १६६० मे वे 'रायल सोसायटी' के सदस्य हुए और कुछ समय तक इसके स्थानापन्न मत्री भी रहे। १६८५ से १६८७ तक 'कमिश्नर आॅव प्रीवी सील' के सम्मानित पद को भी उन्होने सुशोभित किया और १६९५ से १७०३ ई० तक ग्रीनविच हास्पिटल के कोषाध्यक्ष भी रहे।

जॉन इवलिन प्रसिद्ध डायरी लेखक सैमुएल पेप्स के घनिष्ठ मित्रो मे थे परतु उनका स्वभाव तथा चरित्र पेप्स महोदय से बिलकुल भिन्न था। इनके व्यक्तित्व मे उत्कट राजभक्ति, विशुद्ध धार्मिकता तथा विवेकशील दार्शनिकता का सुखद सम्मिश्रण था। चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल मे भी, जब कि अनैतिकता का बोलबाला था और कामिनी तथा सुरा की भोगलिप्सा प्राय सक्रामक रोग सी हो गई थी, इवलिन महोदय ने अपने को व्याधिमुक्त ही रखा। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और वे शुद्ध मनोरजन तथा सामाजिक जीवन की विविधता एव बहुरसता के हार्दिक प्रेमी थे। उनकी डायरी मे वह रस तथा रग नही है जो सैमुएल पेप्स की सफल लेखनी ने सचारित किया है, परतु उसमे इग्लैड के एक तूफानी युग के विभिन्न पहलुओ के विशद चित्र अकित हैं। 'डायरी' में उनके महान् व्यक्तित्व के साथ ही प्रकाड पाडित्य का साक्षात्कार होता है। पेप्स महोदय की तरह उन्होने अपने अनुभवो को विशृंखल नही छोडा है, अपितु कुशल कलाकार के समान एक अश को दूसरे से गुफित कर दिया है। परतु उनकी गद्यशैली सरल तथा स्पष्ट होते हुए भी रसहीन तथा कई स्थलो पर शुष्क प्रतीत होती है।

स०ग्र०—ए० डॉब्सन डायरी आॅव जॉन इवलिन, तीन जिल्दो में, १९०६। [वि० रा०]

इशिई, किकुजिरो, वाइकाउंट

(१८६६—) जापानी राजनयज्ञ, जिसका जन्म चिबा मे हुआ। तोकियो विश्वविद्यालय से अतर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन कर वह पेरिस स्थित जापानी दूतावास मे नियुक्त हुआ। वहाँ उसने अग्रेजी और फ्रेंच सीख जापानी-फ्रासीसी व्यावसायिक सबध दृढ किया। धीरे धीरे वह देश के उच्च से उच्चतर पदो पर चढता गया और यूरोप और अमरीका मे वह जापान का राजदूत रहा। जापान का हित अनेक रूपो मे इशिई ने साधा।

वाइकाउट किकुजिरो का सबसे महान् कार्य, जिसके लिये देश उसका ऋणी है, १९१७ ई० के बीच 'भद्रजनीय एकरारनामा' था। इसका दूसरा

नाम 'लैंसिंग-इशिई पैक्ट' है, जिसमें उसका सक्रिय सहयोग घोपित है। जापानियो के निरतर अभिसक्रमण से जो कैलिफोर्निया के नगर एशियाई वाशिदो से भरे जा रहे थे उनसे अमरीका की रक्षा करना इस सबध का मतव्य था। इशिई राष्ट्रसघ (लीग ऑव नेशस) का जापानी प्रतिनिधि भी हुआ, फिर एक बार उसबकी असेंबली का और दो दो बार उसकी परिषद् (कौंसिल) का वह अध्यक्ष हुआ। [ओ० ना० उ०]

इश्तर बाबुल, असुर और सुमेर की मातृदेवी। गैरसामी सुमेरी सभ्यता के ऊर, उरुख आदि विविध नगरो मे उसकी पूजा नना, इन्नन्ना, नीना और अनुनित नामो से होती थी। इनके अपने अपने विविध मदिर थे। इनका महत्व अन्य देवियो की भाँति अपने देवपतियो के छायारूप के कारण न होकर अपना निजी था और इनकी पूजा अपनी स्वतत्र शक्ति के कारण होती थी। ये आरभ मे भिन्न भिन्न शक्तियो की अधिष्ठात्री देवियाँ थी पर बाद में अक्कादी-बाबुली काल में, ईसा से प्राय ढाई हजार साल पहले, इनकी समिलित शक्ति को "इश्तर" नाम दिया गया। इश्तर का प्राचीनतम अक्कादी रूप 'अश-दर' था जो उस भाषा के अभिलेखो मे मिलता है। अक्कादी में इसका अर्थ अनूदित होकर वही हुआ जो प्राचीनतर सुमेरी इन्नन्ना या इन्नीनी का था—'स्वर्ग की देवी।' सुमेरी सभ्यता में यह मातृदेवी सर्वथा कुमारी थी। फिनीकी में उसका नाम अस्तार्ते पडा। उसका सबध वीनस ग्रह से होने के कारण वही रोमनो में प्रेम की देवी वीनस बनी। इस मातृदेवी की हजारो मिट्टी, चूने-मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ प्राचीन बाबिलोनिया और असूरिया, वस्तुत समूचे ईराक मे मिली है, जिससे उस प्रदेश पर उस देवी की प्रभुता प्रगट है।

स० ग्र०—एस० लैंग्डन तम्मुज ऐंड इश्तर (ऑक्सफोर्ड, १९१४)। [भ० श० उ०]

इश्पीरिंटू सैंटू सेरगाइप को छोडकर ब्राजील का लघुत्तम राज्य है (क्षेत्रफल १७,३१२ वर्गमील)। इसके उत्तर मे बाहिया, पूर्व में अटलाटिक महासागर तथा दक्षिण-पश्चिम में रिवो तथा मिनास जेरास के राज्य है। इसके पश्चिमी भाग में ब्राजील के पठार का अग्र भाग है जहाँ ७,००० फुट तक ऊँची पर्वतीय श्रेणियाँ मिलती है। इसके पूर्वी भाग में तटीय मदान है जिसमें दलदली तथा बलुई भूमि भी मिलती है। इसकी जलवायु उष्ण कटिबधीय है, परतु समुद्र के प्रभाव से पर्याप्त सम हो गई है। इस राज्य में सघन वन है जिनमें मूल्यवान लकडी तथा जडी बूटियाँ पाई जाती हैं। यह कृषिप्रधान राज्य है जहाँ कहवा, गन्ना, कपास, तबाकू तथा उष्ण प्रदेशीय फल पदा होते हैं। यहाँ कहवे के बहुत से उद्यान हैं। केरल प्रदेश की भाँति इसके तटीय मैदान मे भी 'मोनाजाइट' बालू पाया जाता है जिसमें थोरियम पर्याप्त मात्रा में मिलता है। सन् १८९० ई० में इसकी जनसख्या केवल १,३५,९९७ थी, परतु सन् १९५० ई० में ८,६१,५६२ हो गई। इसकी राजधानी विक्टोरिया है, जिसकी जनसख्या लगभग २०,००० है। [लें० रा० सिं०]

इष्टि वैदिक याग विशेष। यज्ञ वैदिक आर्यो के दैनिक तथा वार्षिक जीवन में प्रधान स्थान रखता है। 'इष्टि' 'यज्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। फलत इसका अर्थ 'यज्ञ' है। ऐतरेय ब्राह्मण में इष्टि पाँच भागो में विभक्त है—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम। परतु स्मृति और कल्पसूत्रो में स्मार्त तथा श्रौत कर्मो की समिलित सख्या २१ मानी गई है जिनमें पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ प्रत्येक सात प्रकार के माने जाते हैं। प्रत्येक अमावास्या तथा पूर्णिमा के अनतर होनेवाली प्रतिपदा के याग सामान्य रूप से 'इष्टि' कहलाते है जिनमें पहला 'दर्श' तथा दूसरा 'पौर्णमास' कहलाता है। [ब० उ०]

इसबगोल एक पौधा है जिसको सस्कृत में स्निग्धजीरक तथा लैटिन में प्लैंटेगो ओवेटा कहते है। इसबगोल नाम एक फारसी शब्द से निकला है जिसका अर्थ है घोडे का कान, क्योकि इसकी पत्तियाँ कुछ उसी आकृति की होती है।

इसबगोल के पौधे एक से दो हाथ तक ऊँचे होते है, जिनमें लबे किंतु कम चौडे, धान के पत्तो के समान, पत्ते लगते है। डालियाँ पतली होती हैं और इनके सिरो पर गेहूँ के समान बालियाँ लगती हैं, जिनमें बीज होते हैं। इस पौधे की एक अन्य जाति भी होती है, जिसे लैटिन में प्लैंटेगो ऐंप्लेक्सिकैनलिस कहते हैं। पहले प्रकार के पौधे मे जो बीज लगते हैं उनपर श्वेत झिल्ली होती है, जिससे वे सफेद इसबगोल कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के पौधे के बीज भूरे होते हैं। श्वेत बीज ओषधि के विचार से अधिक अच्छे समझे जाते है। एक अन्य जाति के बीज काले होते हैं, किंतु उनका व्यवहार औषध में नही होता।

इस पौधे का उत्पत्तिस्थान मिस्र तथा ईरान है। अब यह पजाब, मालवा और सिंध में भी लगाया जाने लगा है। विदेशी होने के कारण प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रथो में इसका उल्लेख नही मिलता। आधुनिक ग्रथो में ये बीज मृदु, पौष्टिक, कसैले, लुआबदार, आँतो को सिकोडनेवाले तथा कफ, पित्त और अतिसार मे उपयोगी कहे गए है।

यूनानी पद्धति के अरबी और फारसी विद्वानो ने इसकी बडी प्रशसा की है और जीर्ण आमरक्तातिसार (अमीबिक डिसेंट्री), पुरानी कोष्ठबद्धता इत्यादि में इसे उपयोगी कहा है। इसबगोल की भूसी बाजार में अलग से मिलती है। सोने के पहले आधा या एक तोला भूसी फाँककर पानी पीने पर सवेरे पेट स्वच्छ हो जाता है। यह रेचक (पतले दस्त लानेवाला) नही होता, बल्कि आँतो को स्निग्ध और लसीला बनाकर उनमें से बद्ध मल को सरलता से बाहर कर देता है। इस प्रकार कोष्टबद्धता दूर होने से यह बवासीर में भी लाभ पहुँचाता है। रासायनिक विश्लेषण से बीजो में ऐसा कोई विशिष्ट रासायनिक पदार्थ नही मिला जो विशेष गुणकारी हो। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इससे उत्पन्न होनेवाला लुआब और न पचनेवाली भूसी, दोनो, पेट में एकत्रित मल को अपने साथ बाहर निकाल लाते हैं। [भ० दा० व०]

इसहाक यहूदियो के आदि पैगबर हजरत इब्राहिम के पुत्र। इनकी माँ का नाम सारा था। सुमेर के प्राचीन नगर ऊर में इनका जन्म हुआ। इनके जन्म के समय सुमेर में नरबलि की प्रथा थी। लोग अपने पुत्र की बलि कर यज्ञ की अग्नि में उसे आहुति के रूप में चढाते थे। इनके पिता इब्राहिम ने भी इनकी बलि चढाने का आयोजन किया। 'तौरेत' के अनुसार जिस समय इब्राहिम ने हवन की वेदी पर लकडियाँ चुनने के बाद अपने पुत्र इसहाक का अपने हाथ से वध कर आग में डालने के लिये खड्ग उठाया उसी समय, कहते हैं, परमात्मा ने स्वय प्रकट होकर उनका हाथ रोक लिया और उनकी निष्ठा की प्रशसा और उन्हें पुत्रबलि से विरत करते हुए पीछे की ओर सकेत किया। इब्राहिम ने जो पीछे मुडकर देखा तो झाडी मे एक मेढे को फँसा हुआ पाया। उन्होने ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार पुत्र की जगह यज्ञ में मेढे की बलि चढाई।

इसहाक के दो बेटे थे—याकूब और ईसाउ। याकूब का ही दूसरा नाम इसरायल था जिसके कारण यहूदी जाति 'बनी इसरायल' अर्थात् 'इसरायल की सतति' के नाम से मशहूर हुई। बाइबिल के अनुसार इसहाक ने ही उस समय के खानाबदोश समाज में खेती का धधा प्रारभ किया।

स० ग्र०—बाइबिल (पुराना अहदनामा), विश्वभरनाथ पाडे यहूदी धर्म और मामी सस्कृति (१९५५)। [वि० ना० पा०]

इसाइया यहूदी धर्म के चार महान् नबियो में से एक। ये अमोज के बेटे और जूदा के राजा अमाजिआ के भतीजे थे। इसाइया ने ७३५ ई० पू० से ६८१ ई० पू० तक यहूदी जाति के भविष्य के सबध में भविष्यवाणियाँ की। असूरिया के आक्रमणो के समय इसाइया ने यहूदियो को शत्रुओ के आक्रमण का सामना करने के लिये प्रोत्साहित और कटिबद्ध किया। इसाइया से प्रोत्साहन पाकर पराक्रमी शत्रुओ के विरुद्ध यहूदी कमर कसकर उठ खडे हुए, यद्यपि अत मे वे पराजित हुए। इसाइया को इसीलिये 'दृढविश्वासी पैगबर' के नाम से पुकारा जाता है। यहूदी जाति को इसाइया ने बारबार चेतावनी दी कि आध्यात्मिक सत्ता सासारिक सत्ता से कही अधिक शक्तिशाली है और उच्च विचार अत में पाशविक शक्ति के ऊपर हावी होगे। इसाइया में न केवल उच्च और दृढ

विश्वास था, वरन् वह एक ऊँचे दरजे के व्यावहारिक नीतिज्ञ भी थे। इसाइया की गणना ससार के महान् से महान् पुरुषो मे की जाती है। उनके के जीवन का अत उनका महान् वलिदान है। आरे से इसाइया के शरीर के दो टुकडे कर दिए गए किंतु उन्होने दैवी शक्ति के ऊपर भौतिक शक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार नही किया।

पैगवर इसाइया के जीवन और कार्यो के वृत्तात 'ओल्ड टेस्टामेंट' अर्थात् 'पुराने अहदनामे' में सकलित हैं। पुराने अहदनामे के इस भाग को 'इसाइया की पुस्तक' के नाम से पुकारा जाता है। इसाइया की पुस्तक को विद्वान् लोग यहूदी धर्म का एक महान् स्मारक मानते हैं। इस पुस्तक को मुख्यतया दो भागो मे बाँटा जा सकता है। एक भाग में यहूदी जाति के निर्वासन काल के पहले का वृत्तात है और दूसरे में निर्वासनकालीन जीवन का। कुछ आलोचको के अनुसार इसाइया की पुस्तक मे यदाकदा ऐसे अश भी दिखाई देते है जिन्हे वाद मे सपादको, भाष्यकारो या टीकाकारो ने जोड दिया है। अनेक विद्वान् खोजियो के अनुसार चौथी सदी ई० पू० में इसाइया की पुस्तक वर्तमान थी किंतु उस समय उसमे पहले से लेकर २५वे अध्याय तक का ही भाग था। टीकाकारो के अनुसार २६वे से लेकर ३९वें अध्याय तक का भाग वाद में किसी समय जोडा गया।

इसाइया अपने उपदेशो मे हर प्रकार की वुराई की निंदा करते है, चाहे वह वुराई यहूदियो के देश जूदा मे रही हो या दूसरे देशो मे। इसाइया के अनुसार वुराई का दड अवश्य मिलेगा, चाहे उसका दोषी यहूदी धर्म का प्रतिपालक हो या अन्य धर्मावलवी। इसाइया मूर्तिपूजा को वुरा वताते हैं और यह्वे को चढाए जानेवाले अटूट भोगो और वलियो की निंदा करते हैं। इसाइया की दृष्टि मे यह्वे न्याय और रहम करनेवाला है। इसाइया सदाचरण को धार्मिक जीवन की वुनियाद मानते हैं। वह रिश्वत देने और लेने को गुनाह वताते हैं। वह न्याय और सत्य को जीवन का आधार मानते और रक्तपात से घृणा करते हैं। वह अभिमानी और ऐश्वर्यशाली लोगो को पसद नही करते और कहते है कि प्रत्येक अभिमानी और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति का सिर एक दिन नीचा होगा। उनकी यह्वे की कल्पना सजा देनेवाले क्रोधी ईश्वर की कल्पना नही है, वरन् वह रहम करनेवाला और अनत शाति देनेवाला ईश्वर है।

इसाइया का जन्म यहूदी जाति के इतिहास मे एक ऐसे काल मे हुआ जब यहूदी जाति वावुल के शासको द्वारा पराजित होकर निर्वासन में विपत्तियो से भरा हुआ अपना जीवन विता रही थी। इसाइया ने इस दुख भरे समय में अपनी जाति को आश्वासन दिया और यह्वे के प्रति उसकी आस्था को वनाए रखा। उन्होने भविष्यवाणी की कि ज़रथुस्त्री सम्राट् कुरु की वढती हुई शक्ति के हाथो वावुल की अभिमानी सत्ता पराजित होगी और उसका मान भग होगा। इसाइया की भविष्यवाणी पूरी उतरी।

स० ग्र०—एच० ग्रेज हिस्ट्री ऑव दि ज्यूज (१९१०), एफ० जे० पोक्स विब्लिकल हिस्ट्री ऑव हिब्रूज (१९०८), जे० स्किमर, इसाइया (१८९८)। [वि० ना० पा०]

इसिपत्तन वर्तमान सारनाथ, वाराणसी, वौद्ध पालि साहित्य में 'इसिपत्तन' के नाम से प्रसिद्ध है। वुद्धत्व लाभ करने के उपरात भगवान् वुद्ध ने यही आकर अपना सर्वप्रथम उपदेश दे धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। इस कारण, यह पुनीत भूमि आज भी सारे वौद्ध जगत् के लिये तीर्यस्थान वन गई है। इसका नाम 'इसिपत्तन' क्यो पडा, इसपर कई व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। कहते हैं, पूर्वकाल में आकाशमार्ग से जाते कुछ सिद्ध योगी निर्वाण प्राप्त कर यही गिर पडे, जिससे इस स्थान का नाम 'ऋषि के गिरने का स्थान' अर्थात् 'इसिपत्तन' पडा। अधिक सभव है कि ऋपियो का 'पत्तन' (नगर) होने के कारण यह 'इसिपत्तन' के नाम से विख्यात हुआ। इस स्थान से सवधित एक जातक कथा में यहाँ निवास करनेवाले मृगाधिपति सुवर्ण शरीरधारी वोधिसत्व का उल्लेख मिलता है, जिन्होने अपने ज्ञान से वाराणसी के राजा को धर्मोपदेश कर जीवहिंसा का परित्याग कराया। फिर उन्ही के नाम से यह स्थान सारगनाथ या सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। [भि० ज० का०]

इसीअस् (ई० पू० ४२० से ई० पू० ३५०), प्राचीन यूनानी वाग्मी और वकील। इसके जीवन के सवध मे निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। जन्मस्थान तक के विषय मे भी अभी दुविधा वनी है। कुछ विद्वान् कहते है कि इसका जन्म एथेस मे हुआ था एव अन्य लोगो की समति मे यह खल्किदिके प्रदेश मे उत्पन्न हुआ था, केवल शिक्षा प्राप्त करने के लिये एथेस आया था और तत्पश्चात् वही वस गया था। एथेस मे इसने इसोक्रेतिज से शिक्षा पाई। किंतु परदेसी होने के कारण उसने एथेस के राजनीतिक जीवन मे भाग नहीं लिया।

अपनी जीविका के लिये इसने अन्य व्यक्तियो के सहायतार्य कानूनी अथवा न्यायाधिकरण सवधी वक्तृताएँ लिख देने का व्यवसाय चुना। कहते हैं, इसीअस् ने सव मिलाकर ५० भाषण लिखे थे, जिनमे से इस समय १० पूर्णरूपेण और २ आशिक रूप मे उपलब्ध है। अन्य लोगो के मतानुसार ११ भापण पूरे और केवल एक अधूरा मिलता है। इन सव भाषणों का सवध उत्तराधिकार सवधी अभियोगो से है जिस विपय मे इसीअस् विशेष योग्यता रखता था। परिणामत ये भापण ई० पू० चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध के एथेस के उत्तराधिकार के कानूनो के स्वरूप को समझने मे वहुत अधिक सहायक होते हैं।

इसके अतिरिक्त इसीअस् के भाषणो की एक विशेषता यह थी कि वह जटिल से जटिल समस्या को भी अत्यत स्पष्ट रूप मे व्यक्त कर सकता था। उसकी भापा सरल होती थी पर कही कही वह कवित्व से अनुरजित शव्दो का भी प्रयोग करता था, एव यदाकदा वोलचाल के साधारण प्रयोगो को भी स्वीकार कर लेता था, इस कारण वह मनोवाछित प्रभाव उत्पन्न करने मे प्राय सफल हुआ करता था। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये इसीअस् भावनाओ को प्रेरित नही करता था प्रत्युत सवल युक्तियो से काम लेता था। न तो वह अपने भापणो मे अपने वादार्थियो के चरित्र का आभास प्रस्तुत करता था और न अपने राजनीतिक विचारो को ही अभिव्यक्त करता था। उसका मुख्य लक्ष्य वौद्धिक प्रभाव उत्पन्न करने की ओर था और यह प्रभाव उसकी अवशिष्ट रचनाओ मे आज भी विद्यमान है। प्राचीन काल के सर्वश्रेष्ठ वक्ता दिमॉस्थिनीस् ने आरभ मे इसीअस् से ही वक्तृत्व कला की शिक्षा ग्रहण की थी।

स०ग्र०—आर० सी० जैव् : ऐटिक आरेटर्स फ्रॉम अतिफॉन टू इसीअस्, १८९३। [भो० ना० श०]

इसोक्रेतिज़ (ई० पू० ४३६-३३८) एथेंस निवासी वक्ता, शिक्षक शैलीकार और लेखक जिन्होने प्रोदिकस, प्रोतागोरस, गोर्गियास एव सुकरात से शिक्षा प्राप्त की थी। इनके पिता थियोदोरस सपन्न व्यक्ति थे, पर उनकी मृत्यु के पश्चात् पेलोपोनेसस के युद्ध मे इनकी सपत्ति नष्ट हो गई। अतएव इन्होने जीविका के लिये शिक्षक की वृत्ति स्वीकार कर ली। कुछ समय इन्होने कियोस मे शिक्षक का कार्य किया। उस समय की शिक्षा अधिकाश में कानूनी और राजनीतिक वक्तृता देने की शिक्षा होती थी। वाणीदोष एव स्नायविक शैथिल्य के कारण यह स्वय सक्रिय वक्ता नही वन सके पर दूसरो के लिये इन्होने वहुत सी वक्तृताएँ लिखी। ई० पू० ३९२ के आसपास इन्होने एथेस में एक विद्यालय स्थापित किया जो निरतर विकसित होता गया। अपने शिष्यो प्रशिष्यो के द्वारा उनका प्रभाव देशकाल मे दूर दूर तक फैला। कहते हैं, ९८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने आत्मघात द्वारा शरीर त्यागा।

एथेंस के शिक्षको मे इसोक्रेतिज का नाम अमर है। इनके शिक्षा-सिद्धातो में आदर्शवाद, व्यावहारिकता और दार्शनिक विचारो का सतुलित समिश्रण था। इन्होने उन सोफिस्त शिक्षको की निंदा की है जो अपने शिष्यो के प्रति लवे चौडे दावे करते हैं पर वास्तव मे कर कुछ भी नही पाते। इसके अतिरिक्त केवल निष्क्रिय दार्शनिक, अथवा केवल स्वार्थसाधक व्यवहारकुशल व्यक्ति का जीवन भी उनका आदर्श नही था। वे सर्वागीण विकास के पोषक थे। उनके सामाजिक और राजनीतिक विचार भी अपने समय की दृष्टि से अधिक प्रगतिशील थे। उनका जातिप्रेम नगरराष्ट्र तक सीमित न था, प्रत्युत वह आजीवन समस्त ग्रीक जाति की एकता के लिये प्रयत्नशील रहे। आरभ मे उनकी इच्छा यह थी कि सव नगरराष्ट्र आपस मे मिलकर सघटित हो जायँ, पर अत मे उनका विचार यह वन गया कि यदि कोई सशक्त

शासक समस्त ग्रीक जगत् को अपने शासन के आधीन कर ले और फारस का दमन करे तो भी ठीक है। फिलिप के ऐसे शासक के रूप में सफल होने पर उनको संतोष हुआ।

इसोक्रेतिज की बहुत सी रचनाएँ, वक्तृताएँ और पत्र उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ का विषय शिक्षणकला है, कुछ का राजनीति और कुछ का ग्रीक संस्कृति। एक दो रचनाएँ आत्मकथात्मक भी हैं। प्रमुख रचनाओं के नाम अंतिदोसिस, पानेगिरिकस, अरेओपागितिकस, ऐवागोरस, पाना-थेनाइकस, और फिलिप्पस हैं। उनकी शैली की विशेषताएँ गंभीरता, सुस्वनता, स्वरांत और स्वरादि शब्दों को पास पास न आने देना, इत्यादि हैं। उनका शब्दचयन भी शुद्ध एवं निर्दोष है। सिसरो के माध्यम से वे यूरोप की आधुनिक गद्यशैली तक को प्रभावित किए हुए हैं। इसोक्रेतिज के समान सफल शिक्षक बहुत कम हुए हैं। कहते हैं, कारिया नगर की रानी आर्तेमिरिया ने जब अपने पति की स्मृति में एक व्याख्यान प्रतियोगिता का आयोजन किया तो उसमें भाग लेनेवाले सब वक्ता इसोक्रेतिज के शिष्य थे।

सं०ग्रं०—नौर्लिन ऐंड वान् हुक: इसोक्रेतिज की रचनाएँ, अंग्रेजी अनुवाद सहित, लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी, आर० सी० जेब्: ऐटिक ओरेटर्स फ्रॉम अंतिफॉन टु इसीअस, १८९३। [भो० ना० श०]

इस्पात शब्द इतने विविध प्रकार के परस्पर अत्यधिक भिन्न गुणों वाले पदार्थों के लिये प्रयुक्त होता है कि इस शब्द की ठीक ठीक परिभाषा करना वस्तुतः असंभव है। परंतु व्यवहारतः इस्पात से लोहे तथा कारबन की मिश्रधातु ही समझी जाती है (दूसरे तत्व भी साथ में चाहे हों अथवा न हों)। इसमें कारबन की मात्रा साधारणतया २ प्रति शत से अधिक नहीं होती। अयस्क (ओर) से अधिक से अधिक धातु प्राप्त करने के लिये अवकारक वस्तु, कारबन, बहुतायत से मिलाई जाती है। कारबन बाद में इच्छित मात्रा तक आक्सीकरण की क्रिया द्वारा निकाल दिया जाता है। इससे साथ के दूसरे तत्वों का भी, जिनका अवकरण हुआ रहता है और जो आक्सीकर-णीय होते हैं, आक्सीकरण हो जाता है। किसी अन्य तत्व की अपेक्षा कारबन, लोहे के गुणों को अधिक प्रभावित करता है, इससे अद्वितीय विस्तार में विभिन्न गुण प्राप्त होते हैं। वैसे तो कई अन्य साधारण तत्व भी मिलाए जाने पर लोहे तथा इस्पात के गुणों को बहुत बदल देते हैं, परंतु इनमें कारबन ही प्रधान मिश्रधातुकारी तत्व है। यह लोहे की कठोरता तथा पुष्टता समानुपातिक मात्रा में बढ़ाता है, विशेषकर उचित उष्मा उपचार के उपरांत।

धातुकार्मिक व्यवहार में 'विशुद्ध धातु' शब्द का उपयोग ऐसे व्यापारिक मेल की धातु के लिये भी होता है जिसमें प्रधानतः वे ही गुण (जैसे, रंग, विद्युच्चालकता इत्यादि) होते हैं जो शुद्ध रासा-यनिक धातु में होते हैं। इनमें शेष जो अशुद्धता होती है या तो उसे दूर करना कठिन होता है, अथवा धातु में कोई विशेष गुण प्राप्त करने के लिये उसे जान बूझकर मिलाया जाता है। इस प्रकार मिलाए जानेवाले तत्वों को मिश्रधातुकारी तत्व कहते हैं।

साधारण इस्पात में, चाहे वह जिस विधि द्वारा बनाया गया हो, कारबन तथा मैंगनीज ० १० से १ ५० प्रतिशत, सिलिकन ० २० से ० २५ प्रतिशत, गंधक तथा फासफोरस ० ०१ से ० १० प्रतिशत तथा ताँबा, ऐल्यू-मिनियम और आरसेनिक न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं। प्रायः हाइ-ड्रोजन, आक्सिजन तथा नाइट्रोजन भी अल्प मात्रा में रहते हैं। इस जाति के इस्पात कई प्रकार के काम में आते हैं। यद्यपि सभी इस्पात मिश्रधातु ही हैं, तथापि साधारण बोलचाल में इस्पात को एक सरल (अमिश्र) धातु ही माना जाता है। ऊपर दिए हुए विश्लेषण से यदि किसी तत्व की मात्रा अधिक हो, अथवा इस्पात में दूसरे तत्व, जैसे निकल, क्रोमियम, वैनेडियम, टंग्स्टन, मालिब्डीनम, टाइटेनियम आदि भी हों, जो सामान्यतः इस्पात में नहीं होते, तो विशेष या मिश्रधात्वीय इस्पात बनता है। यांत्रिक गुणों की वृद्धि के लिये ही सामान्यतः यह मिलावट की जाती है। इस्पात की कुछ विशेषताएँ, जो मिश्रधातुकारी तत्वों द्वारा प्रभावित होती हैं, इस प्रकार हैं :

(क) यांत्रिक गुणों में वृद्धि

(१) तैयार इस्पात की पुष्टता में वृद्धि।

(२) किसी निम्नतम कठोरता या पुष्टता पर चिमड़ेपन (टफनेस) अथवा सुघट्यता (प्लैस्टिसिटी) में वृद्धि।

(३) उस अधिकतम मोटाई में वृद्धि जिसे बुझाकर वांछित सीमा तक कड़ा किया जा सकता हो।

(४) बुझाकर कठोरीकरण की क्षमता में कमी।

(५) ठंढी रीति से कठोरीकरण की दर में वृद्धि।

(६) खरादने इत्यादि की क्रिया सुगमता से कर सकने के विचार से कड़ाई को सुरक्षित रखकर सुघट्यता में कमी।

(७) घिसाव प्रतिरोध अथवा काटने के सामर्थ्य में वृद्धि।

(८) इच्छित कठोरता प्राप्त करते समय ऐंठने या चटकने में कमी।

(९) ऊँचे या निम्न ताप पर भौतिक गुणों में उन्नति।

(ख) चुंबकीय गुणों में वृद्धि

(१) प्रारंभिक चुंबकशीलता (पर्मिएबिलिटी) तथा अधिकतम प्रेरण (इंडक्शन) में वृद्धि।

(२) प्रसाही (कोअर्सिव) बल, मंदायन (हिस्टेरीसिस) तथा विद्युत् (वाट) हानि में कमी (चुंबकीय अर्थ में कोमल लोहा)।

(३) प्रसाही बल तथा चुंबकीय स्थायित्व (रिमैनेंस) में वृद्धि।

(४) सभी प्रकार के चुंबकीय गुणों में कमी।

(ग) रासायनिक निष्क्रियता में वृद्धि

(१) आर्द्र वातावरण में मोरचा लगने में कमी।

(२) उच्च ताप पर भी रासायनिक क्रियाशीलता में कमी।

(३) रासायनिक वस्तुओं द्वारा आक्रमण में कमी।

लोहा दो प्रकार के अति उपयोगी समसापीय (आइसामेट्रिक) रवों के रूप में रहता है : (१) ऐल्फा लोहा, जिसके ठोस घोल को 'फेराइट' कहते हैं, और (२) गामा लोहा, जिसका ठोस घोल 'ऑस्टेनाइट' है। शुद्ध लोहे का ऐल्फा रूप लगभग ९१०° सें० से कम ताप पर रहता है, अधिक ताप पर गामा रूप रहता है। इन दोनों रूपों के लोहों में विविध मिश्रधातुकारी तत्वों की घुलनशीलता अति भिन्न है। व्यापारिक कारबन-इस्पात, धातु-कार्मिक विचार से, लौह-कारबाइड का फेराइट में एक विक्षेपण (डिस्पर्शन) है, जिसमें लौह कारबाइड का अनुपात कारबन की मात्रा पर निर्भर रहता है।

कारबन इस्पात के मोटे टुकड़ों को ऐसी विधियों तथा दरों से एक सीमा तक ठंढा किया जा सकता है कि फेराइट में सीमेंटाइट के संभव वितरणों में से कोई भी वितरण उपलब्ध हो जाय। संरचना तथा उष्मा-उपचार के विचार से कारबन-इस्पात के अपेक्षाकृत ऐसे छोटे नमूने सरलता से चुने जा सकते हैं जिनमें साधारण ताप पर प्रायः महत्तम यांत्रिक गुण हों।

अकठोरीकृत इस्पात के दो अवयवों में दूसरा कारबाइड कला (फेज) है। कारबाइड की मात्रा, जो कारबन के अनुपात पर निर्भर रहती है, इस्पात के गुणों को बदलती है। विक्षेपण (डिस्पर्शन) में कारबाइड के कणों के रूप तथा उसकी सूक्ष्मता से यह और भी अधिक बदलती है। इस्पात को कठोर करने में तथा पानी चढ़ाते समय, मिश्रधातुकारी तत्व की उपस्थिति अंत में प्राप्त पदार्थ को एकदम बदल सकती है। फलतः, संरचना और इसलिये इस्पात के गुण, जो इसी पर अत्यधिक आधारित हैं, ऑस्टेनाइट की संरचना तथा दाने के परिमाण पर निर्भर हैं।

बुझाए हुए इस्पात कारबन के मात्रानुसार विभिन्न कठोरतावाले होते हैं। कठोरता के लिये केवल कारबन पर ही निर्भर होने में इस्पात को एकाएक बुझाना पड़ता है। इससे या तो दूसरी बुराइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं अथवा बहुत भीतर तक कठोरीकरण नहीं हो पाता है। कुछ उच्च मिश्रधात्वीय इस्पातों में साधारण ताप पर ही अपेक्षाकृत धीरे धीरे ठंढा कर, यह कठोरीकरण कुछ अंशों में प्राप्त किया जा सकता है।

बुझाए हुए तथा कठोरीकृत इस्पातों में आंतरिक तनाव होता है, जो फिर से गरम करके दूर किया जाता है। इस क्रिया को पानी चढ़ाना (टेंपरिंग) कहते हैं।

मिश्रधातुकारी तत्वो का प्रभाव—ऑस्टेनाइट रूपातरण मे कारवन के अतिरिक्त अन्य मिश्रधातुकारी तत्व सामान्यत सुस्ती पैदा करते है। कोवल्ट छोड अन्य तत्वो की उपस्थिति मे बुझाने पर अधिक गहराई तक कठोरीकरण होता है। साधारणतया सभी मिश्रधात्वीय इस्पातो तथा वहुत से कारवन-इस्पातो मे इच्छित गुणो का अच्छा सयोग उचित उष्मा-उपचार से प्राप्त होता है।

कारवन—सादे कारवन-इस्पात में, कारवन की मात्रा को ० १ प्रतिशत से १ ० प्रतिशत तक या अधिक वढाने पर तनाव-पुष्टता वढती है। वुझाए हुए कारवन-इस्पात में तनाव-पुष्टता अत्यधिक वढ जाती है, जैसे १ प्रतिशत कारवन पर १५० टन वर्ग इच तक। वुझाए हुए तथा पानी चढाए (टेंपर किए) इस्पात की शक्ति पानी चढाने के तापक्रम पर निर्भर रहती है।

ऐल्यूमिनियम—धातु के दानो के परिमाण (ग्रेन साइज) को नियत्रित करने के लिये थोडी मात्रा मे ऐल्यूमिनियम, ३ पाउड प्रति टन तक, पिघले हुए इस्पात मे मिलाया जाता है। सतह की अत्यधिक कठोरतावाले भागो में १ ३ प्रतिशत तक ऐल्युमिनियम रहता है।

वोरन—वोरन-इस्पात आधुनिक विकास है। कुछ निम्न मिश्र-धात्वीय इस्पातो मे ० ००३ प्रतिशत जैसी कम मात्रा मे वोरन मिलाए जाने पर कठोर हो जाने की क्षमता वढती है तथा यात्रिक गुणो की उन्नति होती है।

क्रोमियम—अकेले अथवा दूसरे मिश्रधातुकारी तत्वो से सयोजित क्रोमियम, इस्पात का घर्षण-अवरोध तथा कठोर हो सकने की क्षमता वढाता है। अधिक मात्रा मे, १२ से १४ प्रतिशत तक होने पर, यह अकलुप (स्टेनलेस) इस्पात का आवश्यक तत्व है। इसी अथवा इससे भी अधिक मात्रा मे (२० प्रति शत तक) क्रोमियम रहने पर, निकल और कभी कभी दूसरे तत्वो के साथ मिलकर, तरह तरह के उष्मा प्रतिरोधक इस्पात तथा विभिन्न प्रकार के ऑस्टेनाइट इस्पात वनते है जो मोर्चे तथा अम्ल की क्रिया के प्रति अत्यधिक अवरोधकता के लिये प्रसिद्ध है। क्रोमियम घर्षण-अवरोध की उन्नति करता है, इसलिये २ प्रति शत कारवन के साथ १२ प्रतिशत तक क्रोमियम कुछ विशेष तरह के यत्रो तथा ठप्पो के लिये इस्पात वनाने मे उपयुक्त होता है। पृष्ठ-कठोरीकरण (केस-हार्डनिंग) तथा नाइट्राइडिंग के लिये इस्पात मे क्रोमियम प्राय २ प्रतिशत से कम ही होता है। सीधे कठोरीकृत छर्रो (वाल वेयरिंग) तथा कुचलने की मशीनवाले गोलो के इस्पात मे क्रोमियम की मात्रा अधिक होती है।

कोवल्ट—कोवल्ट से, कुछ उच्च वेगवाले यात्रिक इस्पातो की काटने की क्षमता वढती है। कुछ उष्मा-प्रतिरोधक इस्पातो मे, जैसे गैस टर्विन इजन के ढले हुए ब्लेडो मे, यह प्रयुक्त होता है। अधिक मात्रा में यह ऐसे इस्पात का आवश्यक अग होता है जो उन अति कठिन परिस्थितियो को सहन करने के लिये वनते है जिनमे गैस टर्विन के ब्लेड कार्य करते है। इन उपयोगो मे कोवल्ट मिलाने से इस्पात को उष्मा-अवरोधक गुण, सतह पर चिप्पड (स्केल) न वनने देने तथा धीरे धीरे माप मे स्वत परिवर्तन (क्रीप) को रोकने की क्षमता मिलती है। स्थायी चुवक की मिश्रधातुओ मे भी कोवल्ट पर्याप्त मात्रा मे रहता है।

ताँवा—विना ताँवा के इस्पात की तुलना मे ताँवा की थोडी भी मात्रा वाले इस्पात मे सक्षारण-अवरोध अधिक होता है। गृहनिर्माण के लिये प्रयुक्त अथवा ऐसे ही दूसरे प्रकार के नरम इस्पातो में लगभग ० ६ प्रतिशत तक ताँवा रहता है।

मैंगनीज—इस्पात का ठोसपन वढाने के लिये तथा वची हुई गधक से मिलकर, सल्फाइड के कारण, भुरभुरापन रोकने के लिये ० ५ से १ ० प्रतिशत तक मैंगनीज मिलाया जाता है।

१ ० प्रतिशत से १ ८ प्रतिशत तक, मैंगनीज इस्पात के तनाव-पुष्टता तथा कठोरता मे वृद्धि करता है। १३ प्रतिशत मैंगनीज-इस्पात का एक अलग ही वर्ग है। ऐसा इस्पात ठोकने-पीटने से कडा हो जाता है, अर्थात् सुघट्य तनाव (प्लैस्टिक स्ट्रेन) पडने पर स्वय कडा हो जाता है। किसी साधारण उष्मा-उपचार द्वारा इसका कठोरीकरण नही होता। यह अधिकतर ढलाई के लिये प्रयुक्त होता है। ड्राम (ड्रेजर) के ओष्ठ, चट्टान तोडनेवाली मशीनो के जवडे, रेल की पटरियो की सधि (क्रास-ओवर) तथा अन्य विशेप मार्ग सवधी कार्यो मे, जहाँ घिसाई की विशेप आशका रहती है, इसका उपयोग होता है।

मालिब्डीनम—इस्पात मे मालिब्डीनम शक्ति, कठोर हो सकने की क्षमता तथा धीरे धीरे स्वत परिवर्तन के प्रति अवरोध वढाता है। उच्च तापक्रम पर कार्य करने के लिये इस्पात की कठोरता सुरक्षित रखने मे भी मालिब्डीनम सहायक है। इसलिये कुछ उच्च वेग इस्पातो मे टग्स्टन के एक अश के वदले इसी का उपयोग होता है। उदाहरण के लिये ५ ५ प्रतिशत मालिब्डीनम और ६ प्रतिशत टग्स्टन का एक उच्चवेग इस्पात है, जो प्रामाणिक १८ प्रतिशत टग्स्टन इस्पात की तुलना मे उपयोगी और सस्ता होता है।

निकल—इस्पात मे मिलाने के लिये (मैंगनीज को छोड) सवसे अधिक उपयोग इसी का होता है। पिघले हुए लोहे मे यह सभी अनुपातो मे घुल जाता है तथा ठढा होने पर ठोस घोल वनाता है। ५ प्रतिशत तक रहने पर यह इस्पात का चिमडापन तथा तनाव-पुष्टता वढाता है। यह कठोर हो सकने की क्षमता को भी वढाता है, जिससे पानी मे वुझाने की जगह तेल मे वुझाकर कठोरीकरण सभव है। फटने तथा ऐंठने की प्रवृत्ति को भी कम करता है, जिससे वडी नाप के ऐसे इस्पात को भी अच्छी तरह कठोर किया जा सकता है।

कुछ पृष्ठ-कठोरीकरण इस्पातो मे १ ० से ५ ० प्रति शत तक निकल रहता है। नाइट्राइडिंग इस्पातो मे साधारणत निकल की मात्रा अधिक से अधिक ० ४ प्रति शत तक ही सीमित है। (नाइट्राइडिंग इस्पात के वाहरी पृष्ठ को कडा करने की एक रीति है। साधारणत अमोनिया गैस मे इस्पात को ५००-५५५° सेटीग्रेड तक तप्त करने से यह कार्य सिद्ध होता है।)

वहुत से सक्षारण-अवरोधक तथा 'स्टेनलेस' ऑस्टेनाइटमय इस्पातो मे निकल का अश ८ प्रतिशत तथा इससे अधिक होता है। प्रसिद्ध १८ ८ क्रोमियम-निकल-इस्पात तथा उससे मिलते जुलते इस्पात भी इसी वर्ग मे समिलित है। कुछ अति नवीन प्रकार के इस्पातो मे निकल की मात्रा अधिक होती है, जैसे २० प्रतिशत या इससे भी अधिक। ये उच्च ताप तथा अत्यधिक दवाव की स्थितियो मे कार्य करने के लिये उपयुक्त होते हैं, उदाहरणत, गैस टर्विन के स्थिर तवे (डिस्क) तथा ब्लेड। ३६ प्रतिशत निकल का इस्पात, जो 'इनवार' नाम से प्रसिद्ध है, अपने अति निम्न प्रसार-गुणाक के कारण यथार्थदर्शी घडियो, स्वरित्र (ट्यूनिंग फोर्क) तथा वहुत से वैज्ञानिक उपकरण वनाने में उपयुक्त होता है।

कोलवियम—क्रोमियम इस्पात या १८ ८ क्रोमियम-निकल प्रकार के इस्पात को स्थिर करने के लिये १ प्रतिशत अथवा ऐसी ही मात्रा तक कोलवियम का उपयोग होता है। यह टाइटेनियम के सदृश ही कार्य करता है।

सिलिकन—मैंगनीज की भाँति सिलिकन सभी इस्पातो मे प्रारभ से ही, अथवा इस्पात वनाते समय मिलावट के कारण, रहता है। इसकी उपस्थिति से इस्पात का अनाक्सीकरण होना प्राय निश्चित सा हो जाता है। सिलिकन मे, अधिक मात्रा मे रहने पर, इस्पात की शक्ति तथा कठोर हो सकने की क्षमता वढाने की तथा आतरिक तन्यता कम करने की प्रवृत्ति होती है। सिलिकन-मैंगनीज के कमानीवाले इस्पात मे इसकी मात्रा १ ५ प्रतिशत से २ प्रतिशत तक रहती है, जिसमे मैंगनीज की मात्रा लगभग ० ६–१ ० प्रतिशत होती है। सिलिकन-क्रोमियम से वने इजनो के वाल्वो के इस्पात मे सिलिकन की मात्रा ३ ७५ प्रतिशत होती है। निकल-क्रोमियम-टग्स्टन वाल्वो के इस्पात मे इसकी मात्रा १ ०-२ ५ प्रतिशत होती है।

गंधक—जैसा विदित है, इस्पात मे गधक का होना साधारणतया उपद्रवप्रद है। मिश्रधातुकारी तत्व के रूप मे इसका उपयोग केवल स्वच्छदता से कटनेवाले इस्पात में होता है।

सिलिनियम—यह तत्व गधक के सदृश ही कार्य करता हे।

टाइटेनियम—थोडी मात्रा मे मिलाने से यह इस्पात की स्थिरता वढाता है, और कहते हैं, इसके कारण दाने (ग्रेन) का परिमाण अधिक सूक्ष्म होता है।

टग्स्टन—२० प्रतिशत तक की मात्रा में टग्स्टन उच्चवेग-इस्पात का आवश्यक अवयव है, इसलिये कि यह इस्पात को उष्मा उपचार के वाद

अत्यधिक कठोरता प्रदान करता है, जो ऊँचे ताप पर भी स्थिर रह जाती है। गर्म-ठप्पा-इस्पात तथा दूसरे गर्म कार्य के लिये उपयुक्त इस्पात में भी इसका उपयोग होता है। इसमे इसकी मात्रा २ प्रतिशत से लगभग १० प्रतिशत तक होती है।

वैनेडियम—इस्पात में वैनेडियम, फेरो-वैनेडियम के रूप में मिलाया जाता है। यह शक्तिशाली स्वच्छकारक वस्तु है। इससे इस्पात की स्थिरता तथा सफाई बढती है तथा उष्मा उपचारित कारबनमय और मिश्र-धात्वीय इस्पात के यात्रिक गुण उन्नत होते है। हवा में कठोरीकरण के गुण तथा काटने की क्षमता बढाने के लिये १½ प्रतिशत तक वैनेडियम उच्चवेग यात्रिक इस्पात में प्रयुक्त होता है। एक प्रकार के प्रसिद्ध उच्चवेग इस्पात में वैनेडियम ४ ५ जैसे ऊँचे अनुपात मे रहता है।

जिरकोनियम—कुछ उच्च क्रोमियम, क्रोमियम-निकल तथा ग्रॉस्टेनाइटमय १८ ८ प्रकार के इस्पात मे, मुक्त कटने के गुण देने के लिये, थोडी मात्रा में यह तत्व गधक के साथ प्रयुक्त होता है।

निम्न-मिश्र-धात्वीय,उच्च-तनाव-पुष्ट, भवन-निर्माण इस्पात—प्रामाणिक ब्योरे के अनुसार इन इस्पातो की अतिम तनाव-पुष्टता ३७-४३ टन प्रति वर्ग इच है, तथा त्रोटनविंदु (वह सीमा जिसपर छड टूटता है) १⅛″×१⅛″ मोटी छड के लिये २३ टन प्रति वर्ग इच है। ये इस्पात मोटे तौर पर निम्नलिखित वर्गो में रखे जा सकते है

(१) सिलिकन इस्पात,
(२) मैगनीज़ इस्पात,
(३) ताँबे की थोडी मात्रा के साथ मैंगनीज़ इस्पात।
(४) मैगनीज़, क्रोमियम तथा ताँबे की मिलावट का इस्पात,

वर्ग १ सिलिकन इस्पात की, जिसकी मौलिकता अमरीकी है, अतिम तनाव-पुष्टता ३७ ७-४२ ४ टन प्रति वर्ग इच तथा निम्नतम त्रोटनविंदु २० १ टन प्रति वर्ग इच है। इसकी तनाव-पुष्टता कारबन की ऊँची मात्रा के कारण उत्पन्न होती है (० ४% तक)।

वर्ग २ इस समूह के इस्पात अधिकतर मैंगनीज की मात्रा (लगभग १ २५%) पर निर्भर है।

वर्ग ३ सामान्यत ० २५% से ० ५% तक ताँबे की मिलावट होने पर वर्ग (२) के समान ही इस वर्ग की भी साधारण प्रकृति होती है। मैंगनीज के साथ ताँबे की मात्रा सक्षारण-प्रतिरोध बढाती है, जो नर्म इस्पात की अपेक्षा ३०-४०% अधिक हो जाती है।

वर्ग ४ इस वर्ग के इस्पात में मैंगनीज, क्रोमियम तथा ताँबा मिश्रित रहता है। इसमें ऊँचा त्रोटनविंदु तथा साथ ही उन्नत सक्षारण-अवरोध मिलता है।

वायुयान तथा मोटरगाडियो के इजन का इस्पात—मोटरगाडियो की क्रैंक धुरी सदैव पीटकर ही तैयार की जाती है तथा ४५-६५ टन प्रति वर्ग इच की साधारण सीमा तक तनाव-पुष्टता प्राप्त करने के लिये उष्मा-उपचारित होती है। आवश्यक इस्पात का चुनाव पुरजे की प्रधान मोटाई पर निर्भर है। छोटी क्रैंक धुरी के लिये ० ४०% कारबन इस्पात, बिना निकल के या १ ०% निकल सहित, अथवा निम्न-मिश्रधात्वीय मैंगनीज-मालिब्डीनम इस्पात को प्राथमिकता दी जाती है। भारी क्रैंक धुरियाँ निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात की बनती है, जो ५५-६५ टन प्रति वर्ग इच तनाव-पुष्टता के लिये उष्मा-उपचारित रहती है। निकल-क्रोमियम इस्पात में, जो पानी चढाई हुई अवस्था में उपयुक्त होता है, पानी चढाने पर भुरभुरापन बचाने के लिये मालिब्डीनम की मिलावट एक मानक प्रचलन है।

हवाई इजन की क्रैंक धुरी के लिये नाइट्राईडिंग इस्पातो का उपयोग प्रचलित है। ये क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात होते हैं जो ६०-७० टन प्रति वर्ग इच तनाव-पुष्टता तक उष्मा-उपचारित किए जाते हैं।

मोटर में सबधक दडो (कनेक्टिंग रॉड) को मध्यम कारबन या मैंगनीज-मालिब्डीनम इस्पात से, जो ४५-६५ टन प्रति वर्ग इच तनाव-पुष्टता तक उष्मा-उपचारित होते है, पीटकर बनाया जाता है। हवाई इजन के सबधक दड के लिये ३ ५% निकल इस्पात, ५५-६५ टन प्रति वर्ग इच तनाव-पुष्टता देने के लिये उपचारित, तथा निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात, ६५-७० टन प्रति वर्ग इच तनाव-पुष्टता तक उपचारित, अनुकूल है।

मोटर के वाल्वो के लिये ३ ५% सिलिकन और ८ ५% क्रोमियम वाले इस्पात का उपयोग होता है तथा कभी कभी ऑस्टेनाइटमय इस्पात, जिसमें १३% क्रोमियम, १३% निकल, २ ५% टग्स्टन तथा ० ४% कारबन होता है, निष्कासक (एग्ज़ॉस्ट) वाल्व के लिये प्रयुक्त होता है।

क्रैंक धुरी तथा टैपट पृष्ठ-कठोरीकृत इस्पात से बनाए जाते है, जिसमें ५ % निकल इस्पात अथवा ४ % निकल और १ ३ % क्रोमियम-वाले इस्पात का प्रयोग होता है।

दाँतीदार चक्रो का विनाश थकान (फैटीग) से उतना नही होता जितना घिसने के कारण। ये अधिकतर पृष्ठ-कठोरीकृत इस्पात से बनाए जाते हैं जैसे ० २०-० २८% कारबन सहित २ प्रति शत निकल-मोलिब्डेनम इस्पात, ३% निकल इस्पात अथवा ५% निकल इस्पात।

गैस टर्बिन इस्पात—इस कार्य में प्रयुक्त सामग्री मोटे तौर पर तीन श्रेणियो में विभक्त की जा सकती है। इनमें से पहला फेरिटिक (फर्लिटिक) या अन्-ग्रास्टेनाइटमय वर्ग कहा जा सकता है, जिसमें वे मिश्र धातुएँ हैं जो उदाहरणत ६००° सें० अधिकतम ताप तक कार्य के लिये अनुकूल है।

दूसरी श्रेणी में वे मिश्र धातुएँ है जिनका विकास प्रधानत चिप्पड न बनने देने की ऊँची क्षमता के लिये हुआ है तथा जिनकी भार सँभालने की क्षमता पर अधिक ध्यान नही दिया गया है। इस वर्ग में आनेवाले इस्पातो की रासायनिक सरचना में अधिक अतर है। फेरिटिक तथा आस्टनाइटमय दोनो प्रकार की मिश्र धातुएँ इसी में है। कम शक्ति के अतर्दह इजन में वाल्व-इस्पात के रूप में प्रयुक्त होनेवाले सादे ६% क्रोमियम इस्पात से लेकर ढाले अथवा पीटकर बनाए गए ६५% निकल और १८% क्रोमियमवाली मिश्र धातुओ तक, जो नमक के घोलवाले उष्मको में तथा अन्य सक्षारक परिस्थितियो मे उच्च ताप पर प्रयोग के लिये उपयुक्त होती हैं, इस वर्ग में समिलित है।

तीसरी श्रेणी में वे आस्टेनाइटमय मिश्र धातुएँ आती है जो ६००° सें० से ऊपर के ताप पर धीरे धीरे होनेवाले स्वत परिवर्तन के विरुद्ध ऊँची प्रतिरोधक शक्ति के लिये ही बनाई गई है। इस स्थिति में मोरचा तथा चिप्पड न बनने देने की अच्छी क्षमता भी आवश्यक है। इस तृतीय वर्ग का आधारभूत पदार्थ प्रसिद्ध १८% क्रोमियम और ८% निकलवाला 'स्टेनलेस' इस्पात है, परतु कुछ नवीन तथा श्रेष्ठ मिश्र धातुएँ अति जटिल प्रकृति की है। इनमें लोहा केवल अल्प मात्रा में ही एक अशुद्धि के रूप में रहता है।

वाष्प टर्बिन के लिये इस्पात—आधुनिक वाष्प टर्बिन, परिशुद्ध मशीन किए हुए ऐसे अगो से बनी रहती है जिन्हें उच्च ताप पर अत्यधिक तनाव तथा बहुधा कठिन सक्षारण की स्थिति सहन करनी पडती है तथा जो लबी अवधि तक लगातार कार्य में लगे रहते है। टर्बिन की धुरी पीटकर बनाए गए, तेल में बुझाकर कठोर किए गए तथा कुछ पानी उतारे हुए कारबन इस्पात की होती है, जिसमें कारबन लगभग ० ४% तथा मैंगनीज़ ० ५ से १ ०% तक होता है। उच्च दबाववाले टर्बिन की धुरी आतरिक तनाव रहित किए तथा पानी चढे कारबन-मालिब्डीनम-वैनेडियम इस्पात से बनती है। टर्बिन के सिलिंडर के लिये प्राय सादा कारबनवाले अथवा कारबन-मैंगनीज़ वाले (मैंगनीज़ १ ४-१ ८ %) इस्पात का उपयोग होता है। केवल उन सिलिडरो के लिये जो अति उच्च ताप पर कार्य करते है ० ५% मालिब्डीनम इस्पात की आवश्यकता पडती है। ब्लेड के लिये विविध स्टेनलेस इस्पात तथा ऊँची निकल मिश्रधातुएँ प्रयुक्त हुई है। आजकल सबसे अधिक प्रयुक्त होनेवाला पदार्थ १३% क्रोमियम-निम्न-कारबन इस्पात है।

बायलर—आजकल के बायलर ६००° सें० तक ताप तथा ३,२०० पाउड प्रति वर्ग इच से अधिक दाब पर कार्य करते है। ढोल (ड्रम) सरल कारबन-इस्पात, अथवा ३% निकल, ० ७% क्रोमियम और ० ६% मालिब्डीनमवाले इस्पात से लवगित (रिवेट) करके, अथवा वेल्ड करके, अथवा तप्त पीटकर बनाए जाते है। बायलर की नलियाँ प्राय कारबन-इस्पात, अथवा क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात की ठोस खिची हुई होती है।

दाबसह बरतन—आधुनिक रासायनिक उद्योग में रासायनिक-क्रिया कराने तथा विभिन्न गैसो को रखने के लिये दाबसह बरतनो की आवश्य-

कता पडती है। इन बरतनो के लिये उपयुक्त पदार्थ तीन वर्ग के होते हैं कारवन इस्पात, मिश्रधातु इस्पात तथा स्टेनलेस इस्पात। सामान्यत मध्यम तनाव-पुष्ट इस्पात, जिनमे मैंगनीज की मात्रा १ ५ से १ ८% तक तथा ० २५% कारवन रहता है तथा जिनकी तनाव-पुष्टता ३७ से ४५ टन प्रति वर्ग इच तक होती है, मध्यम तथा उच्च दाव पर कार्य के लिये दाबसह बरतनो मे उपयुक्त होते हैं।

रासायनिक उद्योग में इस्पात—सदैव विकसित होती हुई नई रासायनिक विधियो के कारण तथा उन विशेष, नवीन परिस्थितियो का सामना करने के लिये जो इन विधियो मे उपस्थित होती हैं, विभिन्न प्रकार के इस्पात तथा अन्य धातुओ का उपयोग होता है। रासायनिक उद्योग मे माल रखने के बरतनो, अनेक मशीनो और वहुत प्रकार के निर्माण-बरतनो तथा नलियो आदि के लिये नरम इस्पात ही अत्यधिक प्रयुक्त होता है। क्रोमियम तथा क्रोमियम-निकल आस्टेनाइटमय सक्षारण-अवरोधक इस्पात का उपयोग रासायनिक उद्योग मे बहुत है। प्रचलित इस्पात की रासायनिक सरचना में १८% क्रोमियम, ८% निकल तथा लगभग ० १८% कारवन रहता है तथा इसे टाइटेनियम या नियोवियम की सहायता से स्थायीकृत कर दिया जाता है। परतु ऐसे इस्पात का सक्षारण-अवरोध २ ५-३% मालिब्डीनम मिलाने से अत्यधिक वढ जाता है। रासायनिक उद्योग में उच्च ताप पर कार्य के लिये २५% क्रोमियम तथा २०% निकलवाला इस्पात व्यवहृत होता है।

औजार तथा ठप्पे के लिये इस्पात—आधुनिक उत्पादन-विधियो का विकास औजार वनाने मे काम आनेवाल ऐसे इस्पात की उन्नति पर ही बहुत कुछ निर्भर रहा है जो उत्तरोत्तर कठिन परिस्थितियो में भी कार्य कर सकें।

वैंसे तो औजारी इस्पात अगणित प्रकार के है, पर इन्हे सुविधापूर्वक इन सात समूहो मे बाँटा जा सकता है

(१) सादे कारवन औजारी इस्पात,
(२) निम्न-मिश्रधात्वीय औजारी इस्पात,
(३) तेल मे बुझाकर कठोर किया जानेवाला औजारी मैंगनीज इस्पात,
(४) आघात-प्रतिरोधक औजारी इस्पात,
(५) उच्चकारवन उच्चक्रोमियम मिश्रधातु,
(६) उच्च वेग इस्पात तथा गरम ठप्पे का इस्पात,
(७) निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात।

ऊपर दिए हुए एक या अधिक मौलिक गुण, इनमे से प्रत्येक समूह मे अधिक अश तक पाए जाते हैं।

सादा कारवन औजारी इस्पात—एक वार पानी में बुझाकर इसका पृष्ठ कठोर, कोमल तथा साधारण कठोरता का वनाया जा सकता है।

निम्न-मिश्रधात्वीय औजारी इस्पात—कारवनवाले औजारी इस्पात में ० २ से ० ५% तक वैनेडियम की उपस्थिति दानेदार होना रोकती है तथा कठोरीकरण की क्षमता को लाभदायक सीमा तक वढाती है। १ ५% क्रोमियम मिलाने से कठोरीकरण की क्षमता तथा घर्षण-अवरोध वढता है और यदि मैंगनीज़ ० ५ तथा ० ७५% के वीच मे स्थिर रखा जाय तो यह तेल मे बुझाकर कठोरीकरण योग्य इस्पात हो जाता है। १ २% कारवन तथा १ ३% टग्स्टन वाला इस्पात, जो प्राय धातुकट आरी के फल (हैकसॉ ब्लेड) के लिये प्रयुक्त होता है, इसका एक अच्छा उदाहरण है।

तेल में बुझाकर कठोरीकरण योग्य मैंगनीज औजारी इस्पात—तेल मे बुझाकर कठोरीकृत प्रामाणिक इस्पात में ० ८-१ ०% कारवन तथा १ ०-२ ०% मैंगनीज रहता है।

आघात प्रतिरोधक इस्पात—इस प्रकार के इस्पातो में से सरलतम इस्पात मे ० ६% कारवन, ० ६% मैंगनीज तथा ० ४-१ ४% क्रोमियम रहता है। जिसमें अधिक क्रोमियम रहता है वह मोटे यत्रो के लिये उपयुक्त होता है।

उच्चकारवन, उच्चक्रोमियम मिश्रधातु—प्रामाणिक मिश्रधातु मे २ २-२ ४% कारवन तथा १२-१४% क्रोमियम रहता है। इसमें उच्च घर्षण-अवरोध तथा उच्च सक्षारण-अवरोध का गुण होता है। यह तेल मे बुझाकर कठोर किया जा सकता है, परतु १% मालिब्डीनम की मिलावट इसे वायु मे कठोरीकरण योग्य मिश्रधातु बना देती है।

उच्च वेग तथा गर्म ठप्पे के लिये उपयुक्त इस्पात—ऊँचे ताप पर कार्य करते समय अच्छी कठोरता तथा काटने की धार सुरक्षित रखने की क्षमता ही उच्चवेग इस्पात का मुख्य गुण है। अधिक उपयोग मे आनेवाले इस प्रकार के इस्पात में लगभग ० ७५% कारवन, १८% टग्स्टन, ४% क्रोमियम तथा १ ५% वैनेडियम रहता है।

निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात—० ३-० ६% कारवन, ४% निकल, १ ३% क्रोमियम तथा ० ३% मालिब्डीनम सहित इस्पातो मे अत्यधिक चिमडापन (टफनेस) होता है।

चुवकयुक्त यत्रो के वहुत से ऐसे कार्यो मे जहाँ पहले केवल विद्युत्चुबक ही व्यवहृत होते थे, अव नवीन खोजो के कारण, स्थायी चुवक सफलतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं। चुवक-इस्पात दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—वह जो मॉर्टेनसिटिक इस्पात होता है तथा वह जिसमे अवक्षेपण की विधि द्वारा चुवकीय कठोरता उत्पन्न की जाती है। मॉर्टेनसिटिक इस्पात क्रोमियम इस्पात (कारवन ० ९%, क्रोमियम ३ ५%), टग्स्टन इस्पात (कारवन ० ७%, क्रोमियम ० ३% तथा टग्स्टन ६%) तथा कोवल्ट इस्पात (३५% कोवल्ट, १% कारवन, ५-९% क्रोमियम, लगभग १% टग्स्टन और १ ५% मालिब्डीनम) को मिलाकर वनाया जाता है। अवक्षेपण द्वारा कठोरीकृत मिश्रधातुओ मे ऐल्यूमिनियम, निकल, कोवल्ट तथा ताँवा, कुछ टाइटेनियम, नियोवियम या मालिब्डीनम के साथ, रहते हैं।

१९०० ई० तक, साधारण उपयोग मे, लोहा ही अकेले 'नरम' लौह-चुवकीय वस्तु था। तत्पश्चात् अनेक मिश्रधातुओ का प्रवेश हुआ, जिनमें समुचित उष्मा-उपचार से, ऊँची प्रारभिक चुवकशीलता (परमिएविलिटी) तथा निम्न मदायन (हिस्टेरीसिस) हानि उत्पन्न होती है। इन्हे पार-मिश्रधातु कहते है। निकल-लोहा की वहुत सी मिश्रधातुएँ, जिनमे दूसरी धातुओ की अल्प प्रतिशत मे ही मिलावट रहती है, इस क्षेत्र मे अति श्रेष्ठ ठहरी है। इन मिश्रधातुओ मे ३५-९०% निकल रहता है तथा इनमे मिलाई जानेवाली प्रधान धातुएँ मालिब्डीनम, क्रोमियम तथा ताँवा है।

इजीनियरी मे ऐसे इस्पात तथा मिश्रधातुओ के अनेक उपयोग है, जो यात्रिक तनाव सह सके या सहारा दे सके, परतु आसपास मे चुवकीय क्षेत्र की वृद्धि न करें। इनकी चुवक-प्रवृत्ति (ससेप्टिविलिटी) को लगभग शून्य तथा चुवकशीलता को लगभग इकाई तक पहुँचना चाहिए। इस कार्य मे प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ निम्नलिखित है (१) आस्टेनाइटमय मिश्रधातु ढलवाँ लोहा तथा इस्पात, (२) तापसमकारी मिश्रधातु जिनमे प्रधानत निकल (३०-३६%), और लोहा (५९-७०%) रहता है तथा साथ मे कभी कभी मैंगनीज या क्रोमियम (५%) होता है, तथा (३) निश्चुवकीय इस्पात (कारवन ० ४५%, मैंगनीज ८ ५-९ ५%, निकल ७ ५-८ ५%, क्रोमियम ३ ०-३ ५%)। (हृ० कें० त्रि०)

इस्फहान ईरान का एक प्रसिद्ध नगर तथा उसकी पूर्वकालीन राजधानी है। इसका प्राचीन नाम इस्पहान था। यह जायें देहरूद के किनारे समुद्रतट से ५,३७० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह मोटर की सडको द्वारा तेहरान, कर्मान तथा शीराज से मिला हुआ है। कदाचित् स्वस्थ जलवायु, उर्वरा मिट्टी तथा जल की प्रचुरता के कारण प्राचीन काल से ही यह महत्वपूर्ण स्थान है। यह नगर २० वर्गमील के क्षेत्र में फैला है, परतु इसके अधिकाश भाग जीर्ण शीर्ण अवस्था मे है। इसका वाजार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह तीन मील लवा नगर के हृदयस्थल में एक रेखा मे उत्तर-दक्षिण फैला हुआ है। 'चहल सितून' (चालीस स्तभ तथा 'हश्त विहिश्त' (आठ स्वर्ग) यहाँ के ऐतिहासिक स्मारक है, इनमें ईरानी सस्कृति तथा वास्तुकला का परिचय मिलता है। इसकी जनसख्या लगभग १,९२,००० है। [लि० रा० सिं०]

इस्माइल, सर मिर्जा, अमीनुल्मुल्क जन्म २३ अक्टूबर, सन् १८८३ ई०। मैसूर और सेंट्रल कालेज बँगलोर में शिक्षा हुई। १९०८ में महाराजा मैसूर के सहायक सचिव और कुछ काल बाद मैसूर के दीवान नियुक्त हुए। बवई विश्वविद्यालय के वाइस चासलर भी रहे। लदन मे होनेवाली पहली और दूसरी राउड टेबुल काफ्रेसो मे समिलित हुए थे। सर मिर्जा भारत के शिक्षा सबधी चितको में से थे। नागपुर, अलीगढ, आगरा, बनारस, पटना, ढाका आदि विश्वविद्यालयो के उनके दीक्षात भाषणो से उनकी शिक्षा सबधी योग्यता का पता चलता है। मैसूर लौटने से पहले वे जयपुर राज्य के दीवान रहे। १९५६ ई० मे उनका देहात हुआ। [र० स० ज०]

इस्माइलिया स्वेज थलडमरूमध्य में तिम्सा झील के उत्तर-पश्चिमी तट पर मिस्र का एक नगर है जो भूमध्यसागर से ५० मील तथा काहिरा से ९३ मील दूर है। इसे सन् १८६३ ई० मे स्वेज नहर की खुदाई के समय खेदिव इस्माइल ने बसाया था, अत इसका नाम इस्माइलिया पड गया। इसकी गलियो तथा मकानो की स्वच्छता तथा क्रम में आधुनिकता की गहरी छाप है। यह तीन ओर उद्यानो तथा एक ओर झील से घिरा हुआ है। स्वेज नहर के किनारे पर 'के मोहमत अली' (मोहम्मद अली का घाट) है, जहाँ नहर की खुदाई के समय फरदीनाँ दि लेपेस महोदय निवास करते थे। घाट के अत मे जलकल है जो पोर्ट सईद को मीठा जल पहुँचाता है। इस नगर मे बहुत से सरकारी कार्यालय, गोदाम तथा सास्कृतिक भवन हैं। इसकी जनसख्या लगभग १५,५०० है। [लि० रा० सि०]

इस्लाम उस धर्म का नाम है जिसकी स्थापना हज़रत मुहम्मद ने मक्का मे अपने १० वर्ष के शातिपूर्ण उपदेशो (६१२-६२२ ई०) तथा १० वर्ष तक मदीना के इस्लामी गणराज्य के नियत्रण (६२२-६३२) की अवधि मे की थी। इस अवधि में बहुत ही थोडे रक्तपात के द्वारा समस्त अरब प्रदेश इस्लाम धर्म का अनुयायी बन गया। इस्लाम का शाब्दिक अर्थ है परित्याग, विसर्जन या आज्ञाकारिता।

इस्लाम के प्रमुख तत्वो का सक्षिप्त विवेचन निम्नाकित है। इस्लाम का आधार कुरान या पैगबर का 'इलहाम' है जिसे उन्होने सपादित कर कुरान के माध्यम से प्रकाशित किया। उस इलहाम (ईश्वरीय प्रेरणा के क्षणो में पैगबर द्वारा कहे गए वचन) के अतिरिक्त स्वय उनके द्वारा उपदिष्ट बात भी लिपिबद्ध नही होनी चाहिए। इसी कारण 'हदीस' तक, जो स्वय पैगबर के वचन थे, और जो इस्लामी पद्धति का एक भाग है तथा जिसकी मान्यता के सबध मे काफी मतभेद है, पैगबर की मृत्यु के लगभग एक शताब्दी बाद तक लिपिबद्ध नही किए गए।

(१) इस्लाम धर्म की प्रमुख विशेषता उसका कट्टर एकेश्वरवाद है। यह समस्त मुसलमानो के लिये 'कलमा' मे इस प्रकार सनिहित किया गया है—"अल्लाह (ईश्वर) के अतिरिक्त और कोई देवता नही है और मुहम्मद उसी के पैगबर है।" इस एकेश्वरवादी सिद्धात के अतर्गत दो परपराएँ विकसित हुई—(१) भौतिकवादी, और (२) रहस्यवादी। पहली परपरा, जहाँ तक सभव हो सकता है, कुरान के शाब्दिक अर्थ को मान्यता देते हुए ईश्वर के सिंहासन, चौकी, चेहरे इत्यादि की शब्दावली में कुरान को व्यक्त और स्वीकार करती है। रहस्यवादी इसके विपरीत कुरान की शब्दावली का ध्वन्यात्मक तथा असासारिक अर्थ लगाते हैं। उनके लिये अल्लाह एक अनिवार्य सत्ता (वजीबुल-वुजूद) है और वे अपने समस्त सिद्धातो को कुरान की नीचे लिखी जैसी अनेक उक्तियो पर आधारित करते है—"वह (अल्लाह) प्रथम भी है और अतिम भी, वह दृश्य भी है और वास्तविक भी, और वह पूर्ण ज्ञानवान् भी है।" "हमारा आदि और अत दोनो अल्लाह में ही है।" एक रहस्यवादी के लिये ईश्वर (अल्लाह) सृष्टि का समष्टीकरण है। "सब अच्छे नाम उसी के लिये है", यह कुरान का मत है, अत मुसलमान को अल्लाह के पर्यायवाची शब्द, जैसे फारसी के 'खुदा' या तुर्की के 'तेंगिरी' शब्द के प्रयोग में कोई आपत्ति नही है।

(२) अरब के किसी भी धार्मिक या आर्थिक आदोलन मे इस्लाम का आधार खोजना सभव नही है। फिर भी जीवन के सिद्धात तथा ससार के इतिहास के अनुरूप स्वय को ढालने में इस्लाम को कोई कठिनाई नही हुई। कुरान का सिद्धात है, "ईश्वर पहले निर्माण करता और फिर निर्देश करता है"। प्रत्येक जीव को उसका निर्देश (हिदायत) अपनी चेतना या अनुभव द्वारा ज्ञानप्राप्ति की शक्ति के रूप में प्राप्त होता है।

किंतु समाज में रहनेवाले व्यक्तियो को ईश्वर अपना निर्देश अत-प्रेरणा (वही) द्वारा देता है। और 'वही' को व्यक्ति के दिशाज्ञान के लिये व्यक्त करता है। कुरान में कुल पैगबरो का उल्लेख नही है किंतु मुसलमानी विश्वास के अनुसार पैगबरो की सख्या १,२४,००० है।

(३) पैगबर के मतानुसार ईश्वरीय एकता का मतलब है सामाजिक समानता और भाईचारा। पैगबर के इस सिद्धात के सबध में अनेक कठिनाइयाँ हुई। जनमत के पक्ष में होने के कारण वे अरब में प्रचलित अनैतिक कुरीतियो को समाप्त कर सके, किंतु मदीना के गणतत्र की स्थापना के समय हुई लडाइयो में मनुष्य के भाईचारे का सिद्धात केवल मुसलमानो के भाईचारे के सिद्धात तक सीमित रह गया। पैगबर ने विवाह, उत्तराधिकार, न्यायालय के समक्ष गवाही आदि के सबध में स्त्रियो को विशेषाधिकार प्रदान किए, जो समकालीन किसी भी अन्य जाति की स्त्रियो को प्राप्त न थे। किंतु पूर्ण समानता असभव थी। पैगबर दासप्रथा से घृणा करते थे। युद्ध में पराजितो को उन्होने कभी दास नही बनाया। उनका निर्देश था कि किसी दास को मुक्त कर देना मुसलमान के लिये सर्वश्रेष्ठ कामो मे से एक है। किंतु वे इस प्रथा का अत न कर सके। मृत्यु से पूर्व अपने अनुयायियो से उन्होने अनुरोध किया कि वे अपने दासो को अपने समान ही रहन सहन प्रदान करें।

(४) एक ईश्वर में विश्वास करने के सिद्धात का एक पहलू यह भी है कि दलित मानव समाज की मुक्ति के लिये प्रयत्न किया जाय। कुरान की दलित व्यक्तियो की परिभाषा में ये लोग आते है—'फकीर (ऐसे व्यक्ति जो जीविकोपार्जन करने मे असमर्थ हैं), मसाकीन (ऐसे व्यक्ति जिन्हें अस्थायी आवश्यकता हो), यात्री, अपाहिज तथा ऐसे व्यक्ति जो आवश्यकता होते हुए भी आत्मसमान के कारण सहायता नही माँगते। पैगबर ने गरीबी को दूर करने के लिये प्रयत्न किए। उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियो तथा राज्य के कार्यसचालन के लिये पैगबर ने कर न लेकर सहायता की माँग की। इस सबध में यमन के प्रशासक को उन्होने यह आदेश दिया—"धनवान से लेकर गरीबो में बाँट दो।"

(५) गैरमुस्लिम जातियो से क्या बर्ताव हो इस सबध मे पैगबर के सिद्धात स्पष्ट हैं। आनेवाली सदियो मे मुसलमान प्रशासको द्वारा किए गए अत्याचारो के लिये पैगबर कदापि उत्तरदायी नही ठहराए जा सकते। "तुम्हारे लिये तुम्हारी आस्था (दीन), मेरे लिये मेरी आस्था"—कुरान स्पष्टत धार्मिक स्वतत्रता में विश्वास करता है। ऐसे व्यक्तियो के लिये जिनपर अनुचित रूप से आक्रमण हुआ है, कुरान आत्मरक्षा के सिद्धात का प्रतिपादन करता है। इसके अतिरिक्त पैगबर ने अरब राज्य के शासक के नाते नियमित रूप से एक निश्चित धनराशि वहाँ दी और मुस्लिम सस्थाओ से केंद्रीय राज्य के व्यय के लिये प्राप्त की और उन सस्थाओ के आतरिक मामलो में उन्होने हस्तक्षेप नही किया। जजिया नामक कर, जो गैरमुसलमानो पर उनके मुसलमान न होने के कारण लागू किया जाने लगा था, पैगबर के समय में नही था। अरबेतर प्रदेशो मे इस्लामी क्राति के विकास का कारण जानने के लिये यह समझना आवश्यक है कि उस समय के प्रत्येक सभ्य देश मे मनुष्य समाज दो वर्गो में विभाजित था। विभाजन का आधार या तो दासप्रथा थी या जातिप्रथा। वस्तुत एक वर्ग तो शासको का था, जिसके पास धन एव सस्कृति के अधिकार सुरक्षित थे और दूसरा वर्ग था शोषितो का, जिनको धर्म एव सस्कृति के अधिकार अप्राप्य थे। अत इस्लाम का विकास अति शीघ्र हुआ, किंतु शीघ्र ही यह भी शासकवर्ग का सिद्धात होकर रह गया, फलस्वरूप ७१५ ई० के लगभग इस्लाम का विस्तार अवरुद्ध हो गया। इस समय के बाद से यह केवल कुछ ही देशो में विकसित हो सका और भारतवर्ष एक ऐसा ही अपवाद है। मनुष्य जाति की भविष्य की समस्याएँ धर्म के आधार पर नही सुलझाई जा सकेंगी। "एक के बाद कोई पैगबर नही होगा", यह मुहम्मद का कथन है।

स०ग्र०—मौलाना अबुल कलाम आजाद तरजुमानुल कुरान।

[मु० ह०]

इस्लामाबाद काश्मीर की एक प्राचीन नगरी है जो पूर्वकाल मे काश्मीर घाटी की राजवानी भी रह चुकी है। यह झेलम के दाहिने तट पर श्रीनगर से ३४ मील की दूरी पर स्थित है। यों तो इसके निकट वहुत से सोते हैं, परतु अनतनाग नामक उष्ण जल के सोते की पवित्रता सर्वोपरि है तथा इसी के नाम पर हिंदू लोग इस्लामाबाद को अनतनाग कहते हैं। हो सकता है इसका प्राचीन नाम अनतनाग ही रहा हो जिसे मुसलमानो ने इस्लामाबाद का नाम दे दिया हो। यहाँ अनतचतुर्दशी पर वडा प्रसिद्ध मेला लगता है। यह नगरी पूर्वकाल में वडी उन्नति पर थी तथा अपने शाल, दुशालो के लिये इसकी यथेष्ट प्रसिद्धि थी, परतु आज यह अवनतावस्था में है। यहाँ कुछ लोग शाल आदि के शिल्प मे अव भी लगे हुए हैं, परतु अधिकाश लोगो के जीविकोपार्जन का मुख्य आधार कृषि है। इसकी जनसख्या सन् १९०१ ई० में ९,३९० थी। [लि० रा० सिं०]

इस्लामी विधि या शरियत उस कानून का नाम है जो मुसलमानो के विभिन्न वर्गो तथा उपवर्गो से विकसित हुआ है। शरियत सवधी विज्ञान को फिक (न्यायशास्त्र) कहते हैं। इस सवध मे सभी न्यायशास्त्री एकमत हैं कि कुरान तथा पैगवर के अधिकृत वचन (हदीस) ही शरियत के मूलाधार हैं, किंतु इजमा-इ-उम्मत (जनमत), राय (धारणा या युक्ति), इस्तिहसान (जनहित), इस्तिसलाह (सुधार) तथा उर्फ (रिवाज) आदि की वैधानिक मान्यता के सवध में उनमे मतभेद है। सुन्नी न्यायशास्त्र की चार प्रमुख पद्धतियो—हनफी, मालिकी, शाफई तथा हवली—की स्थापना महान् अब्बासी खलीफाओ के शासनकाल (७५०-८४२) में हुई थी। इसके पश्चात् यह मान लिया गया था कि इजतिहाद या नवीन अर्थप्रतिपादन का द्वार वद हो गया है और पीछे आनेवाले युग के वडे लेखको—जैसे मरघिनान के इमाम वुरहानुद्दीन (मृत्यु सन् ११९०)—ने इस सहज क्रम को स्वीकार किया। जिन वातो पर न्यायशास्त्रियो का मतैक्य था उनको उन्होंने ज्यो का त्यो लिपिवद्ध कर दिया, किंतु जिन विषयो पर न्यायपडित असहमत थे वहाँ उन्होंने विभिन्न न्यायशास्त्रियो (फिक) के व्यक्तिगत विचारो को अलग अलग लिपिवद्ध किया और निर्णय न्यायाधीश या काजी पर छोड दिया। सुन्नी काजी इस वात के लिये स्वतत्र था कि किसी भी मान्य न्यायशास्त्री के विचारानुसार निर्णय दे अथवा नही।

इस्लामी शरियत की पुस्तको के वर्ण्य विषय को तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है—इवादत (प्रार्थना या अभ्यर्थना), मुआमिलात (असैनिक विषय), तथा उकूवात (दड)।

मुसलमानी असैनिक विधि युक्ति और सहज वुद्धि पर आधारित होने के कारण निस्सदेह मध्य युग की प्रचलित पद्धतियो में सर्वश्रेष्ठ थी। पश्चिमी अफ्रीका से चीन की सीमा तक व्याप्त इस्लाम की एकरूपता भी इसके लिये वरदान सिद्ध होती थी। एक काजी का निर्णय, देशो की सीमा की परवाह न करके सभी मुसलमान काजियो द्वारा मान्य होता था। यहाँ तक कि ये निर्णय गैरमुसलमान शासको द्वारा मुसलमान प्रजा के लिये नियुक्त किए गए काजियो तक को स्वीकार होता था।

शरियत के धर्म सवधी सिद्धातो को मुसलमानी धार्मिक चेतना ने भौतिक और अधार्मिक कहकर अस्वीकार कर दिया। अपराध सवधी शरियत की विधि, जिनमें हुदूद अर्थात् कुरान मे दी गई दडव्यवस्था भी शामिल है, लोकप्रिय न हो सकी, और यह दडव्यवस्था असभव सी सिद्ध हुई क्योकि व्यावहारिक रूप से गवाही के कानून को मानकर शरियत-अपराध को सिद्ध कर पाना असभव था।

मध्ययुग मे शरियत की विधि उर्फ (रिवाज) तथा राजकीय विधि (जवावित, आइन, तोरह) मे विरोध रहा, व्यवहार में शरियत की विधि उपर्युक्त दोनो प्रकार की विधियो के अधीन रहती थी। राजनीतिक सस्थाओ और सामाजिक विधि पर भी शरियत मौन थी।

किसी भी मुसलमान राष्ट्र के लिये यह संभव नही हो सका है कि वह शरियत को आधुनिक आवश्यकताओ और सस्थाओ, जैसे वैंक, वीमा, राष्ट्रीय ऋण, श्रमिको के मुआविजे आदि के अनुरूप ढाल सके। प्रगतिवादी मुसलमान राष्ट्रो ने यूरोप की विधि पर आधारित विधियो को स्वीकार कर लिया है। किंतु व्यक्तिगत विधि, जैसे उत्तराधिकार तथा विवाह की नियमावली अभी तक अछूती छोड दी गई है। [मु० ह०]

इस्लामी संस्थाएँ मुसलिम जगत् में प्रचलित सस्थाओ को तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है विशुद्ध धार्मिक सस्थाएँ, धर्मनिरपेक्ष सस्थाएँ तथा अशत धार्मिक सस्थाएँ।

इस्लाम की विशुद्ध धार्मिक सस्थाओ के ये पाँच अरकान या स्तभ हैं ईश्वर में विश्वास, नित्य पाँच वक्त की नमाज, जीवन में एक वार मक्का की तीर्थयात्रा, रोजा तथा ककात या आय का २॥ प्रति शत दान। प्रार्थना में सामूहिकता के तत्व को इस्लाम ईसाई मत से भी अधिक मान्यता प्रदान करता है। मसजिद के अदर अव भी पैगवर द्वारा प्रतिपादित वर्गरहित समाज सुरक्षित रह सका है। प्रत्येक शुक्रवार और विशेष रूप से प्रत्येक ईद की नमाज पर प्रत्येक मुसलमान की उपस्थिति वाछित होती है।

मुसलमानो की सवसे प्रमुख धर्मनिरपेक्ष सस्था उनकी विशिष्ट प्रकार की राजतत्रात्मक शासनप्रणाली है। शासक अपने पुत्र या अपने भाई को अपना उत्तराधिकारी घोषित करता था, किंतु यह नियुक्ति शासक की मृत्यु के पश्चात् राज्य के उच्च पदाधिकारियो की स्वीकृति के पश्चात् ही कार्यान्वित हो सकती थी। दूसरे, राज्य के किसी भी पदाधिकारी को शासक पदच्युत कर सकता था। तीसरे, राजकीय कर्मचारियो के विवाह और उत्तराधिकार सवधी विषय शरियत से नियत्रित न होकर राजकीय नियमो या जवावित द्वारा नियत्रित होते थे। यद्यपि अयोग्य मुसलमान शासको का दु खद अत हुआ, तथापि मध्यकालीन योग्य मुसलमान शासको की शक्तियाँ किसी भी जाति के अन्य शासको से अधिक थी।

इस्लाम राजतत्र और पुरोहित प्रथा दोनो का विरोधी है। किंतु राज्य को कुछ आशिक धार्मिक कर्तव्यो का पालन करना होता है और इसके लिये राजा अपने इच्छानुसार धार्मिक विद्वानो की नियुक्ति करता था और उनको निकाल भी सकता था। ऐसे कर्मचारियो मे प्रमुख काजी हुआ करते थे। इनकी नियुक्ति मुकदमो की सख्या के अनुसार विभिन्न क्षेत्रो मे हुआ करती थी। काजी केवल मुकदमो का निर्णय करता था, वह अभियोग नही लगा सकता था। अत शासक अमीर-इ-अदल नामक कर्मचारी की नियुक्ति करता था जिसका कर्तव्य अपराधियो के विरुद्ध अभियोग लगाना होता था। सामाजिक नैतिकता, जैसे सही नाप तौल की इकाइयो की व्यवस्था आदि, की सुरक्षा के लिये मुहतसिव नामक कर्मचारियो की नियुक्ति होती थी। सद्र नामक कर्मचारी धार्मिक विषयो, जैसे मसजिद और खैराती सस्थाओ आदि की देखभाल करते थे। इस्लाम और रोम की न्यायपद्धति का एक अन्य विशिष्ट पदाधिकारी मुफ्ती (न्यायवेत्ता या न्यायशास्त्री) होता था। सैद्धातिक रूप से कोई भी मुसलमान किसी भी मामले मे अपनी राय (फतवा) दे सकता है। किंतु इस नियम मे राज्य ने हस्तक्षेप करके यह घोषित किया कि यह अधिकार केवल विद्वानो को ही प्राप्त था और वास्तव मे इसका तात्पर्य यह था कि राज्य या तो अपने पक्ष के फतवो को स्वीकार करेगा या उन फतवो को स्वीकार करेगा जो विशुद्ध रूप से तटस्थ प्रकृति के होगे।

उपर्युक्त सभी पदाधिकारी वाह्य विद्वान् (उल्मा-इ-जाहिरी) माने जाते थे और यह विश्वास किया जाता था कि इन पदाधिकारियो ने अपनी आत्मा को राज्य के हाथो वेच दिया है और ये सव भ्रष्ट और वेईमान हैं। इस प्रकार भारत के मुसलमान और हिंदू दोनो ही उन महात्माओ का आदर करते रहे हैं जो राज्य के कार्यो से तटस्थ रहे। किंतु भारत मे इस्लाम के प्रादुर्भाव की छ लवी शताब्दियो मे एक भी ऐसा महान् काजी अवतरित न हो सका जिसको आनेवाली पीढियाँ याद रखती। [मु० ह०]

इस्सस का युद्ध यह युद्ध ईरान और सिकदर के वीच हुआ था। सीरिया में फरात नदी से थोडी दूर पर मिरियाद्रस के पास अलेक्जांद्रिया था, वहीं उत्तर की ओर इस्सस के मैदान मे दारा की फौजे खडी थी और दक्खिन की ओर अपने रिसालो और पैदलो के साथ मकदूनिया का राजा सिकदर डटा था। दारा की सेनाएँ देली की धारा के दोनो ओर चलकर ग्रीक सेना पर हमले के लिये वढी। इधर सिकदर ने दारा की हरावल पर हमला किया। हरावल टूट गई। ईरानी मार्गे और उसकी सेना वडी सख्या में मारी गई। दियोदोरस और प्लूतार्क ने यह सख्या १ लाख १० हजार वताई है। मृत मकदूनियाई सैनिको की सख्या साढे चार सौ ही वताई जाती है जिसे स्वीकार करना कठिन है। इस्सस का युद्ध ३३३ ई० पू० के अक्टूबर मे हुआ था।

फ्लेमिश जोडाई की अपेक्षा इग्लिश जोडाई अधिक मजबूत होती है, परतु फ्लेमिश जोडाई से अधिक सपाट दीवार बनती है। उदाहरणत, यदि ईंटे ९ इच लबी है और ९ इच मोटी दीवार बनानी है तो दो पट्टो के बीच मे न्यूनाधिक गारा रखकर दीवार की मोटाई ठीक ९ इच कर दी जा सकती है, परतु ईंटो की वास्तविक लबाई न्यूनाधिक रहती है (यद्यपि कहने के लिये उनकी लबाई ९ इच होती है)। अब ९ इच की दीवार जोडने पर जहाँ पट्टे रहेगे वहाँ ईंटो की छोटाई बडाई के अनुसार दीवार भीतर घुस जायगी या बाहर निकल पडेगी। फ्लेमिश जोडाई मे पट्ट अधिक और तोडे कम रहते है। इसी से फ्लेमिश जोडाई अधिक सपाट
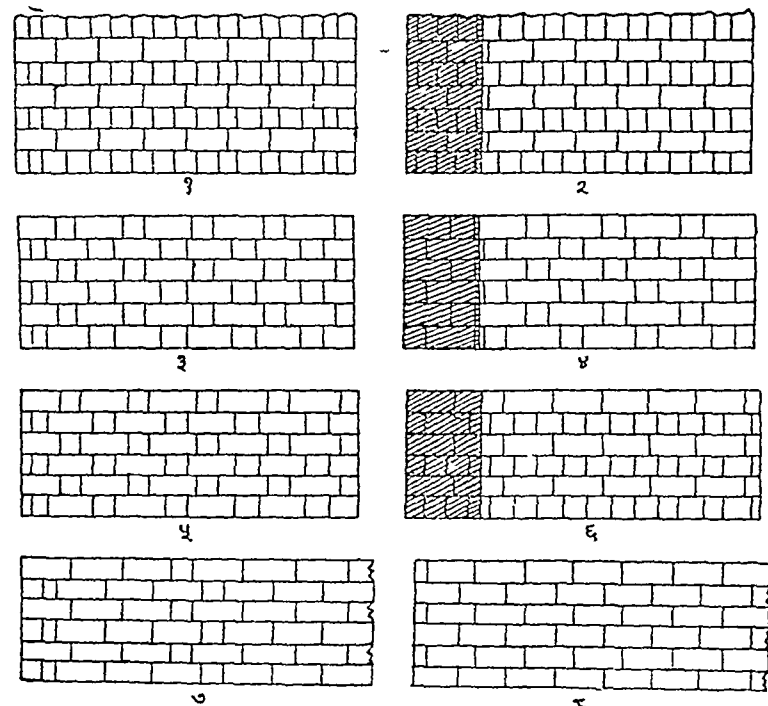
ईंट की चिनाई

१–२ इग्लिश रीति, सामने से और पीछे से, ३–४ द्विगुण फ्लेमिश रीति, सामने से और पीछे से, ५–६ एकल फ्लेमिश रीति, सामने से और पीछे से, ७ हाते की भीत, ८ केवल पट्टे।

होती है। हाते की चहारदीवारी के लिये भी इसी कारण तीन रद्दे पट्टो के और तब केवल एक रद्दा तोडो का रखा जाता है। इससे दीवार अवश्य कुछ कमजोर बनती है, परतु ऐसी दीवार पर अधिक बोझ नही रहता कि विशेष मजबूती की आवश्यकता पडे। दीवार पर पलस्तर करना हो तो भी दीवार यथासभव सपाट ही बननी चाहिए, अन्यथा अधिक मसाला खर्च होता है।

ईंट के काम मे सुव्यवस्थित एकरूपता केवल ईंट की नास कोर ठीक होने पर ही नही निर्भर रहती, बल्कि जोड की नाप पर भी निभर होती है, क्योकि यदि प्रत्येक रद्दे के बीच के मसाले की ऊँचाई आपस मे ठीक मेल नही खाएगी तो ईंटे सच्ची रहकर ही क्या करेगी? ईंट के काम मे जोड की मोटाई नियत्रित रखने के लिये चार रद्दे की मोटाई पहले से निर्धारित कर दी जाती है। उदाहरणत यदि ईंट की ऊँचाई २¾ इच है और गारे के जोड की ऊँचाई को चौथाई इच रखना है तो यह नियम बना दिया जा सकता है कि जोडाई के कार्य मे प्रत्येक चार रद्दो की ऊँचाई ठीक १२ इच रहे। [श्री० कृ०]

ईंट का भट्ठा ईंटो को भट्ठे मे पकाया जाता है। भट्ठे तीन प्रकार के होते है

(१) खुले भट्ठे, जैसे पजावे,
(२) अर्ध अनवरत,
(३) अनवरत (लगातार)।

इनमे से अतिम के कई विभाग किए जा सकते है, जैसे घेरेदार, आयताकार, ऊपर हवा खीचनेवाला, नीचे हवा खीचनेवाला, इत्यादि।
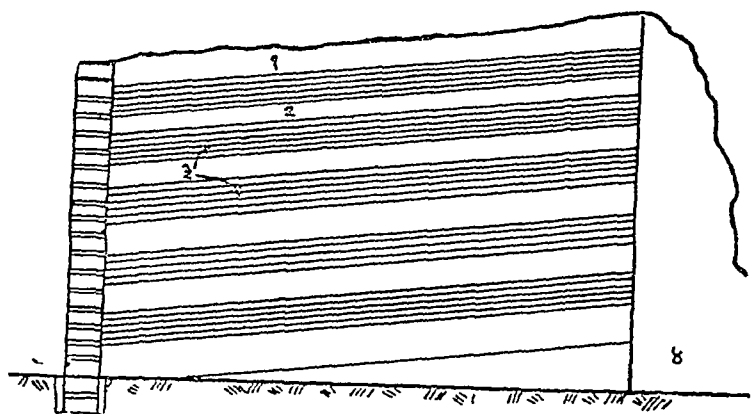
खुला भट्ठा

१-२ जलावन, ३ कच्ची ईंटे, ४ ढालू फर्श।

खुला भट्ठा—गीली मिट्टी से बनाई, सुखाई, फिर ताप का पूर्ण असर आने के लिये एक दूसरे से थोडी थोडी दूरी पर इकट्ठी की गई कच्ची ईंटो के समूह को ढेर (अग्रेजी मे क्लैंप) कहते है। अच्छी रीति से बने ढेर मे एक आयताकार या समलब चतुर्भुजाकार फर्श होता है जो लबाई के अनुदिश ढालू होता है। निचला सिरा भूमि को एक फुट गहरा खोदकर बनाया जाता है और ऊपरी सिरा जमीन को पाटकर ऊँचा कर दिया जाता है। ढाल ६ मे १ की होती है। फर्श पर दो फुट मोटी तह किसी तुरत आग पकड लेनेवाले पदार्थ की, यथा सूखी घास, फूस, लीद, गोबर, महुए की सीठी आदि की, रख दी जाती है। इसके ऊपरी सिरे पर कच्ची सुखाई ईंटो की पाँच छ कतारे रख दी जाती है। फिर ईंटो और जलावन को एक के बाद एक करके रखा जाता है। ज्यो ज्यो ढेर ऊँचा होता जाता है, जलावन के स्तर की मोटाई धीरे धीरे कम कर दी जाती है। सब कुछ भर जाने के बाद ढेर पर गीली मिट्टी छोप दी जाती है जिससे भीतर की उष्मा यथासभव भीतर ही रहे। ढेर को पूर्णतया जलने मे छ से लेकर आठ सप्ताह तक लग जाते है और इसके ठढा होने मे भी इतना ही समय लगता है। इस रीति मे जलावन पर्याप्त कम लगता है, परतु ईंटे बढिया मेल की नही बन पाती, अत यह ढग अत मे लाभप्रद नही सिद्ध होता।

अर्ध अनवरत भट्ठे—अर्ध अनवरत भट्ठे चक्राकार अथवा आयताकार बनाए जाते है और वे अशत या पूर्णत भूमि के ऊपर रह सकते है।
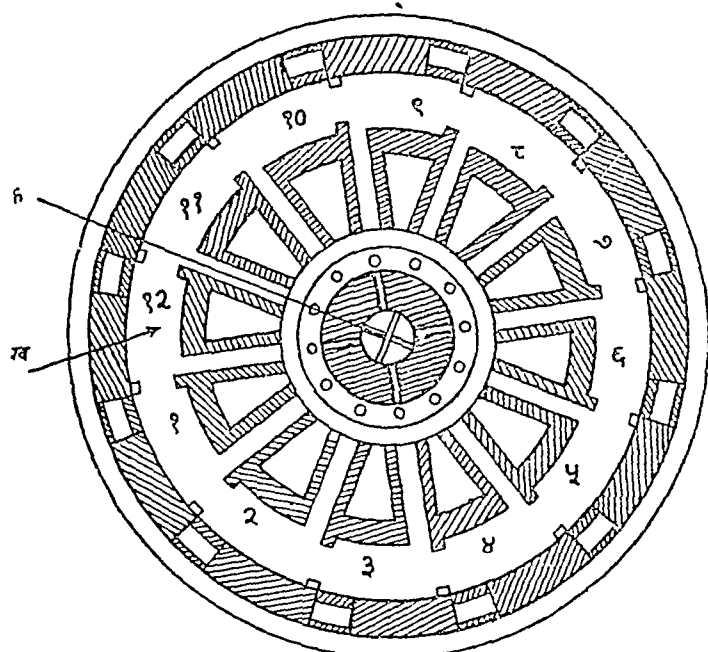
अनवरत भट्ठा—अनुविक्षेप (प्लैन)

१-१२ विविधि कक्ष, क चिमनी, ख ईंट

जलावन के लिये लकडी (चाहे सूखी चाहे गीली), वडे इजनो की भट्ठियो से झरा अधजला पत्थर का कोयला या लकडी का कोयला प्रयुक्त हो सकता है। दोनो ओर मुंह वना रहता है जो निकालने और भरने के काम आता है। आग प्रज्वलित करने के वाद इन मुंहो को पहले रोडो और ढोको से और वाद मे गीली मिट्टी से भली भाँति ढक दिया जाता है जिसमें भीतर की गरमी भीतर ही रहे।

अनवरत भट्ठे—अनवरत भट्ठे कई प्रकार के होते हैं। कुछ भूमि के नीचे वनाए जाते है और वे खाई भट्ठे (ट्रेंच किल्न) कहलाते हैं। कुछ अंशत भूमि के ऊपर और अंशत नीचे वनाए जाते है। खाई भट्ठो में अगल वगल दीवार वनाने की आवश्यकता नही पडती। 'वुल' का भट्ठा इसी प्रकार का भट्ठा है।
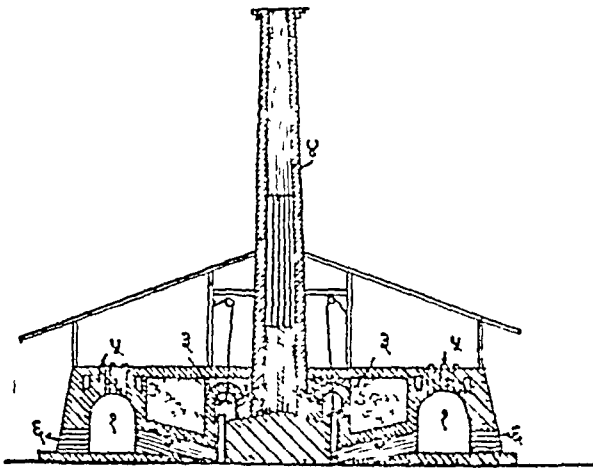
अनवरत भट्ठा—ऊर्ध्वाधर काट (सेक्शन)

१ वलयाकार कोष्ठ जिनमें ईंटें रखी और पकाई जाती हैं, २ गसो के लिये मार्ग जो कोष्ठो को चिमनी से मिलाते हैं, ३ लोहे का मदक (डैंपर), ४ चिमनी, ५ कोयला झोंकने के छिद्र, ६ कोष्ठों के द्वार।

वुल का भट्ठा वडे परिमाण में लगातार ईंट उत्पादन के लिये उपयुक्त है। इसमें आग का घेरा वरावर वढता रहता है। जसे जसे आग आगे वढती है, वैसे वैसे भट्ठे के विभिन्न कक्ष तप्त होते है। प्रत्येक कक्ष में निकालने और भरने के लिये एक एक द्वार रहता है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक कक्ष में एक धुआँकस (फ्लू) होता है जिससे हवा घुसती है। एक अन्य धुआँकस वायु की निकासी के लिये होता है जो भीतर ही भीतर चलकर एक केंद्रीय चिमनी से जा मिलता है। वायु ग्रहण करनेवाले धुआँकस में एक मदक (डैंपर) होता है जिससे वायुप्रवाह मनोनुकूल नियंत्रित हो सकता है। निकासीवाले धुआँकस में भी मदक लगा रहता है जिसे इच्छानुसार खोला या वद किया जा सकता है। कक्षो का क्रम ऐसा रहता है कि ठढे हो रहे अथवा गरम कक्षों से तप्त हवाएँ दूसरे कक्षों में भेजी जा सकें। इस प्रकार चिमनी द्वारा निकल जाने के पहले गरम हवा की आँच का उपयोग ईंटो को सुखाने, गरम करने अथवा आंशिक रूप में पकाने के लिये किया जा सकता है। हर समय प्रत्येक कक्ष में एक न एक क्रिया होती रहती है, जिससे कच्ची ईंटो के वोझे जाने से लेकर पकी ईंटो के निकालने तक के कार्य का क्रम विधिवत् वरावर चालू रहता है।
[श्री० कृ०]

ईक्विक चिली में स्थित एक नगर एवं वदरगाह है। यह तारापका प्रदेश की राजधानी है जो वालपेरैजो से ८२० मील उत्तर, २०° १२' १५' अक्षाश दक्षिण तथा ७०° ११' १५' देशातर पश्चिम पर स्थित है। यहाँ की जनसख्या सन् १९५२ ई० मे ३९,५७६ थी। यहाँ समुद्रतट उत्तर-दक्षिण दिशा मे है तथा नगर एक सँकरे समतल मैदान पर, समुद्र एवं खडी पहाडी के वीच वसा हुआ है। नगर की ओर उन्मुख एक नीचा वजर द्वीप, सेरानो या ईक्विक है, जो पत्थर के १,५०० फुट लवे पुल द्वारा नगर से सवद्ध है। यह द्वीप दक्षिण से आनेवाले झझावातो से वदरगाह की रक्षा करता है। नगर आयताकार है और सडकें नीची हैं। व्यापारिक दृष्टि से ईक्विक वहुत महत्वपूर्ण है। यहाँ से आयोडीन तथा सोडियम नाइट्रेट निर्यात किया जाता है। व्यापारिक दृष्टि से इस वदरगाह का चिली मे दूसरा स्थान है। यह नगर सन् १८३० ई० तक पेरू के मछुओ की वस्ती था, किंतु चिली द्वारा सन् १८७७ ई० में अधिकृत कर लिया गया।
[स्या० सु० श०]

ईख ऊख या गन्ना वस्तुत घास की जाति का पौधा है जो साधारणत दस वारह फुट लवा होता है, परतु ८२ फुट तक लवे पौधे भी देखे गए हैं। ईख में वांस की तरह गाठें होती हैं। प्रत्येक गाठ पर खड्ग की भाति दो दो पत्तियाँ होती हैं। मोटाई में साधारण ईख लगभग एक इच व्यास की होती है, परतु तीन इच व्यास तक की ईख भी उगाई गई है। तने में सफेद गूदा रहता है, जो मीठे रस से भरा रहता है। तने को पेरकर रस निकाला जाता है, जिससे गुड और चीनी वनती है। तना वाहर से हरा, पीला, वैंगनी या लाल होता है। ईख की जन्मभूमि दक्षिण-पूर्वी एशिया कही जाती है। भारत के प्राचीन ग्रथो में भी ईख का वर्णन 'शर्करा' नाम से पाया जाता है। यो तो ईख का उत्पादन भारत के प्राय सभी भागो में होता है, परतु उत्तर प्रदेश, विहार, पूर्वी पजाव, ववई और मद्रास में ईख की खेती अधिक मात्रा में की जाती है। उत्तर प्रदेश में तो ईख की फसल अधिकांश किसानो की आय का मुख्य साधन है। यहां प्रति वर्ष लगभग ३० लाख एकड भूमि में ईख वोई जाती है जो सपूर्ण भारत के ईख के क्षेत्रफल का ६० प्रति शत है। इसी कारण यहाँ लगभग १२ लाख टन गुड और खाड के अतिरिक्त १० लाख टन चीनी वनाई जाती है, जो समस्त भारत मे वनाई जानवाली चीनी का लगभग ५० प्रति शत है।

ईख की फसल वोआई के १०-१२ महीने पश्चात् तैयार होती है। वोने के लिये ईख के टुकडो या पैंडो का ही वीज के रूप में प्रयोग किया जाता है। ऐसे प्रत्येक पैंडे पर तीन तीन कलियाँ या आँखें होनी चाहिए। प्रति एकड खेत की वोआई के लिये १४-१५ हजार स्वस्थ एव नीरोग तीन तीन आँखवाले पैंडो की आवश्यकता होती है, जो ४० से ६० मन तक ईख से प्राप्त किए जा सकते हैं।

ईख की उन्नतिशील जातियो को ही वोना चाहिए, क्योंकि देशी और अन्य पुरानी जातियो की अपेक्षा प्राय उनकी उपज अधिक होती है। उनमें चीनी या गुड का पडता अधिक वैठता है और रोग भी कम लगते हैं। उत्तर प्रदेश में विभिन्न क्षेत्रो मे वोई जानेवाली ईख की मुख्य मुख्य जातियाँ को० ३१२, को० ४२१, को० शा० २४५, को० शा० ३२१, को० ४५३, को० ३५६, को० ३१३, को० शा० १०९ और को० ५२७ हैं। इनमें से को० ३१२, को० ४२१, को० शा० ३२१ और को० ४५३ जातियो की खेती अव वद कराई जा रही है, क्योंकि इनमे अव अनेक प्रकार के रोग एव अवगुण पैदा होने लगे हैं। इनके स्थान पर कुछ नई नई जातियाँ, जैसे को० शा० ५१०, को० शा० ४४३, को० शा० ४१६, को० ८५६, को० ८४६ और को० ९५१ इत्यादि, जो पुरानी जातियो की अपेक्षा उत्तम सिद्ध हो चुकी हैं, गत ४-५ वर्षों में सचालक, ईख अनुसधान, शाहजहापुर द्वारा प्रचलित की गई हैं।

ईख के लिये यो तो दोमट या दोमट मटियार भूमि सवसे उत्तम होती है, परतु कुछ जातियाँ हलकी दोमट में और कुछ पानी रुकनेवाली नीची भूमि में भी सफलता से उगाई जा सकती है। वोआई अधिकतर फरवरी-मार्च मे की जाती है, परतु पिछले ५-६ वर्षों मे सितवर-अक्टूवर की वोआई की प्रथा वढती जा रही है। इस ऋतु मे वोई हुई ईख की उपज १०-१५ प्रति शत अधिक होती है और उसमे चीनी या गुड का पडता लगभग ०.५ प्रति शत अधिक वैठता है।

साधारणत ईख को लगभग १२० पाउड प्रति एकड नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है जो आधा गोवर की खाद, कपोस्ट या हरी खाद और आधा रासायनिक खाद के रूप मे देना उचित होता है। फास्फोरस-वाली खादें इस प्रदेश के कुछ ही क्षेत्रो में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। पूर्वोक्त

दो को बोआई के पूर्व ५० से ७५ पाउड प्रति एकड फास्फोरिक ऐसिड साथ देना चाहिए, परतु ईख की फसल बोने के पूर्व हरी खाद की फसल इसे डालने से ईख की उपज पर प्राय सभी क्षेत्रो मे अच्छा प्रभाव डता है।

उत्तर प्रदेश मे ईख की फसल के लिये तीन चार सिंचाइयाँ अनिवार्य होती हैं। सितवर अक्टूवर मे बोई हुई ईख को जनवरी में एक बार अधिक सीचने की आवश्यकता होती है। तराई और भाट (कछार) जमीनो मे केवल एक दो सिंचाई से ही काम चल जाता है। फसल बोने के एक सप्ताह के भीतर एक हलकी गोडाई और गर्मियो मे प्रत्येक सिंचाई के पश्चात् कम से कम एक गोडाई करने से फसल का जमाव और उत्पादन अच्छा होता है। वर्षा ऋतु मे आवश्यकतानुसार ईख पर मिट्टी चढाना और मेडो को बाँधना चाहिए, जिससे अच्छी वढी हुई फसल के गिरने की आशका कम रहे।

ईख मे 'काना' और 'उकठा' रोग विशेष हानिकारक होते है। नीरोग और स्वस्थ बीज बोने से और चार सालवाला या कम से कम तीन साल-वाला फसल चक्र अपनाने से न केवल फसले बीमारियो से सुरक्षित रहती हैं वल्कि भूमि की उर्वरा शक्ति भी नष्ट नही होती और बराबर अच्छी उपज मिलती रहती है। कँसुआ (कीडे) और दीमको से फसलो को बचाने के लिये २० प्रति शत 'गामा-बी० एच० सी०' के घोल को ४ पाउड प्रति एकड के हिसाब से १५० गैलन पानी मे मिलाकर बोआई के समय पेडो पर छिडकना चाहिए। इसी प्रकार फसल का जमाव सुधारने के लिये एरीटान (तीन प्रति शत) के ०.५ प्रति शत घोल (एक पाउड एरीटान, २० गैलन पानी) मे बोआई के पूर्व पैडो को डुबा लेना चाहिए।

फसल की कटाई का काम प्राय अक्टूबर नववर से मार्च अप्रैल तक चलता है। बोई हुई फसल काटने के बाद उसकी पेडी की फसल एक साल या अधिक से अधिक दो फसल तक लेने से किसानो को विशेष लाभ होता है। परतु पेडी मे खाद, सिंचाई, गोडाई और अन्य देखरेख उसी प्रकार करनी चाहिए जैसे नई बोई ईख मे।

उत्तर प्रदेश मे ईख की खेती का खर्च लगभग ५००-६०० रुपए और उपज ४५० मन प्रति एकड होती है। ईख का भारत सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य एक रुपया सात आना प्रति मन है। अनुमान किया जाता है कि इस प्रदेश मे कुल ७० करोड मन ईख हर साल पैदा की जाती है जिसमें से लगभग ५१ प्रति शत उपज गुड बनाने के काम मे, ३१ प्रति शत चीनी बनाने मे और शेष १८ प्रति शत खँडसारी के काम मे, चूसने के काम मे और बोवाई मे प्रयुक्त होती है।

चीनी मिलो मे ईख के रस से चीनी के अतिरिक्त टाफी, लेमन ड्राप और शुगरक्यूब इत्यादि बनाए जाते है और शीरे से शराब, स्पिरिट और पेट्रोल मे मिलाने के लिये ऐलकोहल आदि। ईख की खोई से कागज और दफ्ती बनती है। शीरे के साथ खोई को एक विशेष ढग से मिलाकर पशुओ के लिये चारा भी तैयार किया जाने लगा है। जिन मिलो मे रस की सफाई के लिये गधक का प्रयोग होता है उनके गाढे रस को छानने से बची सिट्ठी (प्रेस मड) बहुमूल्य खाद होती है जिसे ईख की फसल मे डालने से उपज मे विशेष वृद्धि होती है। [ज० गो० श्री०]

ईजियन सागर

यह भूमध्य सागर की एक भुजा है जिसके पश्चिम मे यूनान और पूर्व मे टर्की हैं। यह डार्डेनेल्स और बॉसपोरस जलसयोजको द्वारा मारमारा और काला सागर से जुडा है। 'ईजियन' शब्द का सबध ईजी नगर से अथवा ईजिया (अमेजन की रानी) से, अथवा ईजियस (थीसियस के पिता) से बताया गया है। सरचना की दृष्टि से यह सागर एक प्राचीन ध्वस्त स्थलखड है जो लगभग पूर्णतया निमज्जित हो गया है। इसके चारो ओर नवीन भजित पर्वत हैं जो स्वय थोडी मात्रा मे निमज्जित हैं। इन दशाओ के फलस्वरूप यह सागर द्वीपो से भरा है और इसमे यथाक्रम गहरी और उथली द्रोणियाँ है। यहाँ कुछ ज्वालामुखी द्वीप भी स्थित हैं। द्वीपो मे गेहूँ, अगूर, अजीर, मुनक्का, गोद, शहद, मोम, कपास और रेशम का उत्पादन होता है।

[रा० ना० मा०]

ईजियाई सभ्यता

जो सभ्यता १२वी सदी ई० पू० से पहले दोरियाई ग्रीको के ग्रीस पर आक्रमण के पूर्व क्रीत और निकटवर्ती द्वीपो, ग्रीस की सागरवर्ती भूमि, उसके मिकीनी-केंद्रीय प्रातो तथा इतिहासप्रसिद्ध त्राय मे विकसित हुई और फैली उसे पुराविदो ने 'ईजियाई सभ्यता' नाम दिया है। पुरातात्विक अनुसधानो और खुदाइयो से क्रीत, मिकीनी और लघुएशिया के त्राय नगर मे जिन खडहरो के दर्शन हुए हैं वे मिस्री, सुमेरी और सैंधव सभ्यता के समकालीन माने जाते हैं। वहाँ की सभ्यता उन्ही सभ्यताओ की भाँति कास्ययुगीन थी, लौहयुग की पूर्ववर्ती। इन सभी स्थानो मे प्रासादो और भवनो के खडहर मिले हैं। क्रीतीय सभ्यता का प्राचीनतम केंद्र और उस राज्य की राजधानी ग्रीस के दक्षिण के उस द्वीप के उत्तरी तट पर बसा क्नोसस था। क्नोसस के राजमहल के भग्नावशेष से प्रगट है कि उसमे समृद्धि का निवास था और उसमे भव्य भित्तिचित्रो से अलकृत बडे बडे हाल और ऊपरी मजिलो मे जाने के लिये चक्करदार सोपानमार्ग (जीने) थे। स्नानागारो और अन्य कमरो मे नल लगे थे जिनमे निरतर जल प्रवाहित होता रहता था। यह सभ्यता अपने मिनोस उपाधिधारी राजाओ के नाम से 'मिनोई' या मिकीनी नगर से सबधित होने के कारण मिकीनी भी कहलाती है।

ईजियाई सभ्यता का आरभ ई० पू० तृतीय सहस्राब्दी के आरभ से सभवत कुछ पूर्व ही हो चुका था और उसका अत ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य के लगभग हुआ। वैसे तो उस सभ्यता का आधार स्थानीय प्रस्तरयुगीन सभ्यता है, पर पुराविदो का अनुमान है कि उसके निर्माताओ का रक्त और भाषा का सबध एक ओर तो पश्चिमी बास्को से था, दूसरी ओर बर्बरो और प्राचीन मिस्रियो से। उनके मिस्रियो सरीखे कटिवसन तथा शेष भाग की नग्नता से पडितो का अनुमान है कि वे सभवत मिस्र से ही जाकर क्रीत द्वीप मे बस गए थे। चित्राक्षरो मे लिखे भ्रात मिस्री नाविक के वृत्तात से भी इस अनुमान की आशिक पुष्टि होती है। क्रीत के उन प्राचीन निवासियो का उत्तर की यूरोपीय श्वेत जातियो से किसी प्रकार का रक्तसबध परिलक्षित नही होता। पहले ईजियाइयो ने शुद्ध धातु, ताँबे आदि का उपयोग किया, फिर मिश्रित धातु काँसे का, जो ताँबे और टिन के मिश्रण से बनता था। यह टिन भारत से जाता था जहाँ उसके सस्कृत नाम 'बग' से बगाल प्रसिद्ध हुआ। वही से यह मिश्रित काँसा बाबुल और मिस्र भी गया था। ईजियाई सभ्यता मे लिपि का भी प्रयोग होता था पर भारतीय सैंधव लिपि की ही भाँति वह भी अभी तक पढी नही जा सकी है। वह पढ ली जाय तो उस सभ्यता का और भी गहरा रहस्य खुले।

इस सभ्यता के प्रकाशन का श्रेय पुरातात्विक विज्ञान के जनक श्लीमान और सर आर्थर ईवास को है। श्लीमान ने होमर के महाकाव्य 'ईलियद' मे वर्णित त्राय को खोद निकाला और उसके बाद ईवास ने क्नोसस को खोदकर मिनोस के राजमहलो का उद्धार किया। सर आर्थर ने ईजियाई सभ्यता को नौ स्तरो मे विभाजित किया है—प्राचीन मिनोई युग, मध्य मिनोई युग, उत्तर मिनोई युग। फिर उनमे से प्रत्येक के अपने अपने तीन तीन—प्रथम, द्वितीय और तृतीय—युग हैं। मिस्री सभ्यता के स्तरो से मिलान करके इस सभ्यता के युगो की उनसे समसामयिकता और भी पुष्ट कर ली गई है। लगता है, १४०० ई० पू० के लगभग इस महान् और समृद्ध नागरिक सभ्यता का अत हुआ जब एशियाई ग्रीको के भीषण आक्रमणो और भूचाल ने मिलकर उसे मिटा दिया।

प्राचीन और मध्य मिनोई युगो में धातुओ का उपयोग प्रभूत मात्रा मे हुआ। काँसे और ताँबे की ही कटारे और तलवारे बनती थी। जीवन ऊँचे स्तर का था और बर्तन बनाने के लिये मिट्टी की जगह धातुएँ काम मे लाई जाने लगी थी। सोने और चाँदी के बर्तन भी खुदाइयो मे मिले है। मिट्टी के बर्तन बनते अवश्य थे, परतु उनकी काया अधिकतर धातु के बर्तनो की नकल में ही सिरजी जाती थी। मिट्टी के बर्तनो की कला स्वय ऊँचे दर्जे की थी। ईजियाई द्वीपो मे क्रीत ने सबसे पहले भाडो को चित्रित करना शुरू किया। दूसरी विशिष्ट प्रगति प्राचीन मिनोई युग के प्रथम चरण मे हुई जिसमे विभिन्न प्रकार के भाड बनने लगे। सुराहियाँ टोंटीदार या चोचनुमा बनने लगी, फिर उनमें अत्यत आकर्षक दमखम दिए

जाने लगे। फिर तो अगले प्राचीन युग में घुमावदार भाडो की वाढ सी आ गई।

यही युग त्राय नगर की दूसरी वस्ती का था, द्वितीय त्राय का। श्लीमान ने छ छ त्राय एक के नीचे एक लघुएशिया में खोद निकाले है। प्राचीन मिनोई सभ्यता के तृतीय चरण के समानातर प्रमाण त्राय की खुदाइयो में मिले है। वहाँ भी वहुमूल्य धातुओ की वनी वस्तुएँ—सोने की पिन और जजीरे, सोने चाँदी के वर्तन मिले है जिससे उन्हे पुराविदो ने 'प्रियम का खजाना' नाम उचित ही दिया है। वहाँ के वर्तनो में प्रधान काले रग के और उलूकशीर्ष है। इसी प्रकार क्रीत और त्राय के नीचे के द्वीपो में भी उसी सभ्यता के विखरे हुए चिह्न, कलात्मक वर्तन आदि मिले है। वहाँ भी शवसमाधियो की शैली प्रधान सभ्यता के अनुरूप है। क्रीती और इन द्वीपो की शवसमाधियो में दफनाई मूर्तियो की शैली प्राय वही है जो मिस्री कब्रो की मूर्तियो की है।

प्राचीन मिनोई युग के अतिम चरण की विशेषता पत्थर की कोर-कर वनाई वस्तुओ मे है। पत्थर में कढे हुए फूल और समुद्री जीवो के अभिप्राय तव की कला में विशेष प्रयुक्त हुए। इनके निर्माण में प्रधानत सगमरमर या चूना मिट्टी का उपयोग हुआ है। जहाँ तक धातु के वर्तनो का प्रश्न है, लगता है, त्राय के सुनारो ने वावुली धातुकर्म की नकल की थी। वही डिजाइने वाद मे पत्थर और मिट्टी के वर्तनो पर वनी। मिस्र ने भी इसी शैली का कालातर मे उपयोग किया। वर्तनो का इतना आकर्षक निर्माण उस प्राचीन काल के दो आविष्कारो का विस्मयकारक परिणाम था। भाड कला के इतिहास मे निश्चय उन आविष्कारो का असाधारण महत्व है। ये थे कुम्हार के आवाँ (भट्ठी) और चक्के या पहिए के आविष्कार। सभवत इसका आविष्कार पूरव मे हुआ, एलाम में, या भारत की सिंधु घाटी मे, या दोनो में, शायद ४००० ई० पू० से भी पहले। क्रीत और त्राय के जीवन में सभवत उनका आयात प्राचीन मिनोई युग के अतिम चरण में हुआ। चित्रलिपि से कुछ मिलती लिखावट क्रीत के ठीकरो पर खुदी हुई है। गीली मिट्टी में लिखावट प्राय वैसे ही सपन्न हुई है जैसे वावुल और सुमेर में हुआ करती थी, परतु उनके तौर तेवर मिस्री लिखावट से मिलते जुलते है। अभी तक यह लिखावट पढी नही जा सकी। वास्तु का आरभ हो गया था। क्नोसस के महलो के पूर्ववर्ती पत्थर के मकानो के खडहर उसी युग के है।

मिनोस राजाओं का राज्य—मिनोई राजाओ की राजधानी क्रीत के उत्तरी तट पर वसे क्नोसस मे थी। मध्य मिनोई युग मे मिनोस राजाओ ने प्राय समूचे क्रीत और निकटवर्ती द्वीपो पर अधिकार कर लिया। फाइस्तस और आगिया त्रियादा के महल भी क्नोसस के राजाओ के ही वनवाए माने जाते है। लोकपरपराओ और अनुश्रुतियो में फाइस्तस का वर्णन उपनिवेश के रूप में हुआ है।

क्नोसस के राजप्रासाद का निर्माण नवप्रस्तरयुगीन भग्नावशेषो के ऊपर हुआ है। क्नोसस के प्रासादो के भग्नावशेष क्रीत के उत्तरी तट पर कादिया के आधुनिक नगर के निकट ही है। वहाँ के पश्चिमी प्रवेशद्वार की विशालता और फाइस्तस के गैलरीनुमा रगप्रागण, जो पत्थर के वने है, वास्तुकला की प्रगति में उस प्राचीन काल में एक आदर्श प्रस्तुत करते है। क्नोसस के उत्तरी और फाइस्तस के दक्षिणी राजमहल प्राय एक ही समय वने थे। क्रीत के दक्षिणी तट पर फाइस्तस के महलो के खडहर है और उनके पास ही आगिया त्रियादा के राजप्रासाद के भग्नावशेष भी है, यद्यपि वे वने उत्तर-मिनोई-युग में थे।

लगता है, क्नोसस के महल युगो तक वनते और आवश्यकतानुसार वदलते चले आए थे। राजाओ की वढती हुई समृद्धि, कला की प्रगति और सुरुचि के परिष्कार के अनुकूल समय समय से उनमें परिवर्तन होते गए। इस प्रकार के परिवर्तन कुछ मध्ययुग में भी हुए थे, परतु पिछले युग मे तो इन महलो के रूप ही वदल डाले गए। जिस रूप में उनके खडहर आज पुराविदो के प्रयत्न से प्रस्तुत हुए है उनसे प्रगट है कि इन महलो में असाधारण वडे वडे हाल थे, घुमावदार सोपानमार्ग थे, ढलान पर उतरनेवाले लवे कक्ष थे, और वाहरी प्रासाद से सलग्न भवन थे—और फिर दूर, क्रीती सभ्यता का नागरिक विस्तार पश्चिम के पर्वतो के ऊपर तक चला गया था। प्रधान राजप्रासाद अपनी उच्चस्तरीय जीवनसुविधाओ के साथ अत्यत आधुनिक लगता है। उन सुविधाओ का एक प्रधान अग उनकी गदे जल की नालियाँ है। मिस्री फराऊनो और पेरिक्लीजकालीन एथेस के कोई मकान उसके जोड के न थे। हाँ, यदि प्रासादनिर्माण की शालीनता मे इसका कोई पराभव कर सकता है तो वे निनेवे के असुरवनिपाल के सचित्र प्रासाद है। फिर भी दोनो मे काफी अतर है। जहाँ असुरवनिपाल के महल सूने है और ठढे तथा जाडो के लिये असुविधाजनक लगते है वहाँ मिनोई राजप्रासाद गरम और आरामदेह है और उनकी चित्रित दीवारो से लगता है कि उनमे भरापूरा जीवन लहरें मारता था। उनके भित्तिचित्रो से प्रगट है कि क्नोसस के महलो के भीतर राजा का दरबार भरा रहता था, और उसमें नर और नारी परिचारको की सख्या वडी थी। राजा और उसके दरवारी सभी प्रसन्न और जीवन को निर्वध भोगते हुए चित्रित हुए है। चित्रो की आकृतियाँ अनेक वार कठोर और निश्छद रूढिगत सी हो गई है, कुछ भोडी भी है, परतु उनकी रेखाएँ वडी सवल है। उनके खाके निश्चय असाधारण कलावतो ने खीचे होगे। भित्तिचित्रो से प्रमाणित है कि दरवार के आमोदप्रमोदो मे नारियाँ उसी स्वच्छदता से भाग लेती थी जैसे पुरुष। नर और नारी दोनो समान अधिकार से सामाजिक जीवन में भाग लेते थे, और प्रतीत तो ऐसा होता है कि राजमहल और समाज के जीवन में नारी का ही प्रभुत्व अधिक था। इसमें सदेह नही कि उस प्राचीन जगत् मे क्रीत की सभ्यता ने जितने अधिकार नारी को दिए, पुरुष का समवर्ती जो स्थान उसे दिया वह तव के जीवन मे कही और सभव न था।

भित्तिचित्रो मे नारी की त्वचा श्वेत और पुरुष की रक्तिम चित्रित हुई है, प्राय मिस्री रीति के अनुसार। दरवारी दाढी मूँछ मुडाकर चेहरे साफ रखते थे और केश लवे, जिन्हें वे नारियो की ही भाँति वेणियो मे सजा लेते थे। अनेक वार तो साँडो की लडाई देखते लडको में लडकियो का पहचानना कठिन हो जाता है और यदि उनकी त्वचा रूढिगत रगो से स्पष्ट न कर दी गई होती तो दोनो का दर्शन नितात समान होता। नारियो मे परदा न था, यह तो उस काल के चित्रित दृश्यो से अनुमित हो ही जाता है, वैसे भी खिडकियो मे विना घूँघट के वैठी नारियो की आकृतियो से उनकी इस अनवगुठित स्थिति का प्रकाश होता है। नारियाँ गर्दन और वाहुओ को निरावृत रखती थी, हारो से ढक लेती थी, वस्त्र कटि पर कस लेती थी, और नीचे अपने घाँघरे की चूनटें आकर्षक रूप से पैरो पर गिरा लेती थी। पिछले युग के चित्रो मे नारियाँ, कम से कम राजमहल की, मस्तक पर किरीट भी पहने हुए है। पुरुषो का वेश उनसे भिन्न था, अत्यत साधारण। वे कटि से नीचे जाँघिया पहनते थे, अनेक वार मिस्री चित्रो के पुरुषो की घुटनो तक पहुँचनेवाली तहमत की तरह, किंतु रगो के प्रयोग से चमत्कृत। मिस्री पुरुषो की भाँति उनके शरीर का ऊर्ध्वार्ध नगा रहता था, और जब तव वे कोनदार टोपी पहनते थे। पुरुषो के केश वेणीवद्ध या खुले ही कमर तक लटकते थे या जव तव वे उनमें गाँठ लगा सिर के ऊपर वाँध लेते थे। क्नोसस के पुरुष भी पिछले युग के खत्तियो की भाँति पैरो मे ऊँची सैंडिल या वूट पहनते थे। मिनोई सभ्यता की नरनारियो का रगरूप प्राय आज के इटलीवालो का सा था। उनके नेत्र और केश काले थे, नारियो का रग सभवत धूमिलश्वेत और पुरुषो का चटख ताम्र।

जीवन सुखी, आमोदमय और प्रसन्न था। लोग नर-पशु-युद्ध देखते और उनमें भाग लेते थे। परतु उनके पास सभवत रक्षा के साधन कम थे, कम से कम कवच खुदाइयो मे नही मिला है। तलवार का उपयोग वे निश्चय करते थे।

आमोद के जीवन मे स्वाभाविक ही धर्म की कठोर रूढियाँ समाज को आतकित नही कर पाती और मिनोई समाज मे भी उनका अभाव था। परतु उनके देवता थे, यद्यपि उनको स्पष्टत पहचान पाना कठिन है। फिर भी यह स्पष्टत कहा जा सकता है कि लोगो का विश्वास वृक्षो, चट्टानो, नदियो आदि से सवधित देवताओ मे था और कम से कम एक विशिष्ट सर्प-देवी की मातृपूजा वे अवश्य करते थे। इस प्रकार की मातृदेवी की आकृतियाँ जो सर्प धारण करती है वहाँ चित्रित मिली है।

महलो के भित्तिचित्रो से तो प्रगट ही है कि चित्रकला विशेष रूप से कलावतो द्वारा विकसित हुई थी, और उनमे रगो का प्राधान्य एक तक्नीक का आभास भी देता है। पत्थर को कोरकर मूर्ति वनाने अथवा

उसकी पृष्ठभूमि से उभारकर दृश्य लिखने की कला ने निःसदेह एशियाई देशो के अनुपात मे प्रश्रय नही पाया था, और उनकी उपलब्धि अत्यत न्यून सख्या मे हुई है। आगिया त्रियादा से मिले कुछ उत्कीर्ण दृश्य निश्चय ऐसे हैं जिनकी प्रशसा किए बिना आज का कलापारखी भी न रह सकेगा।

अतिम युग—पिछले युगो मे ईजियाई सभ्यता के निर्माताओ ने राजनीतिक दृष्टि से अनेक सफल प्रयत्न किए। आसपास के समुद्रो और द्वीपो पर उन्होने अपना साम्राज्य फैलाया और प्रमाणत उनका वह साम्राज्य ग्रीस और लघुएशिया (अनातोलिया) पर भी फैला जहाँ उन्होने मिकीनी, त्राय आदि नगरो के चतुर्दिक् अपने उपनिवेश बनाए। परतु सभवत साम्राज्यनिर्माण उनके बूते का न था और उन्होने उस प्रयत्न मे अपने आपको ही नष्ट कर दिया। यह सही है कि ग्रीस के स्थल भाग पर उनका अधिकार हो जाने से उनकी आय बढ गई पर उपनिवेशो की सँभाल स्वय बडे श्रम का कार्य था जिसका निर्वाह कर सकना उनके लिये सभव न हुआ। परिणामत जब बाहर से आक्रमणकारी आए तब आमोदप्रिय मिनोई नागरिक उनकी चोटो का सफल उत्तर न दे सके और उन्हे आत्मसमर्पण करना पडा। परतु विजेताओ को यह निष्क्रिय आत्मसमर्पण स्वीकार न था और उन्होने उसे नष्ट करके ही दम लिया।

यह कहना कठिन है कि ये आक्रमणकारी कौन थे। इस सबध मे विद्वानो के अनेक मत हैं। कुछ उन्हे मूल ग्रीक मानते हैं, कुछ एकियाई, कुछ दोरियाई, कुछ खत्ती, कुछ अनातोलिया के निवासी। परतु प्राय सभी, कम से कम आशिक रूप मे, यह मानते हैं कि आक्राता आर्य जाति के थे और सभवत उत्तर से आए थे जो अपने मिनोई शत्रुओ को नष्ट कर उनकी ही बस्तियो मे बस गए। नाश के कार्य मे वे प्रधानत प्रवीण थे क्योकि उन्होने एक ईट दूसरी ईट पर न रहने दी। आक्राता धारावत् एक के बाद एक आते गए और ग्रीक नगरो को ध्वस्त करते गए। फिर उन्होने सागर लाँघ क्रीत के समृद्ध राजमहलो को लूटा जिनके ऐश्वर्य के कुछ प्रमाण उन्होने उनके स्थलवर्ती उपनिवेशो मे ही पा लिए थे। और उन्होने वहाँ के आकर्षक जनप्रिय मुदित जीवन का अत कर डाला। क्नोसस और फाइस्तस के महलो मे सदियो से समृद्धि सचित होती आई थी, रुचि की वस्तुएँ एकत्र होती आई थीं, उन सबको, आधार और आधेय के साथ, इन बर्बर आक्राताओ ने अग्नि की लपटो मे डाल भस्मसात् कर दिया। सहस्राब्दियो क्रीत की वह ईजियाई सभ्यता समाधिस्थ पडी रही, जब तक १९वी सदी मे आर्थर ईवास ने खोदकर उसे जगा न दिया।

होमरिक काव्य—होमर ने अपने ईलियद मे जिस त्राय के युद्ध की कथा अमर कर दी है वह त्राय उसी मिनोई-ईजियाई सभ्यता का एक उपनिवेश था, राजा प्रियम् की राजधानी, जिसके राजकुमार पेरिस ने ईजियाई सभ्यता को नष्ट करनेवाले एकियाई वीरो मे प्रधान अगामेम्नन के भाई मेनेलाउ की भार्या हेलेन को हर लिया था। होमर की उस कथा का लघुएशिया के उस ईजियाई उपनिवेश त्राय की नगरी के विध्वस से सीधा सबध है और उसकी ओर सकेत कर देना यहाँ अनुचित न होगा। उस त्राय नगरी को श्लीमान ने खोद निकाला है, एक के ऊपर एक बसी त्राय की छ नगरियो के भग्नावशेषो को, जिनमे से कम से कम सबसे निचली दो होमर की कथा की त्राय नगरी से पूर्व के हैं।

महाकवि होमर स्वय सभवत ई० पू० ९वी सदी मे हुआ था। उसके समय मे अनत एकियाई वीरगाथाएँ जातियो और जनो मे प्रचलित थी जिनको एकत्र कर एकरूपीय शृखला मे अपने मधुर गेय भावस्रोत के सहारे होमर ने बाँधा। ये गाथाएँ कम से कम तीन चार सौ वर्ष पुरानी तो उसके समय तक हो ही चुकी थी। इन्ही गाथाओ मे सभवत एकियाई जातियो का ग्रीस के ईजियाई उपनिवेशो और स्वय क्रीत के नगरो पर आक्रमण वर्णित था जिसका लाभ होमर को हुआ। कुछ आश्चर्य नही जो एकियाई जातियो ने ही ईजियाई सभ्यता का विनाश किया हो। परतु एकियाई जातियो के बाद भी लगातार उत्तर से आनेवाली आर्य ग्रीक जातियो के आक्रमण ग्रीस पर होते रहे। उन जातियो मे विशिष्ट दोरियाई जाति थी जिसने सभवत १२वी सदी ई० पू० मे समूचे ग्रीस को लौहायुधो द्वारा जीत लिया और सभ्यता की उस प्राचीन भूमि पर, प्राचीन नगरो के भग्नावशेषो के आसपास, और उसी प्रकार क्वाँरी भूमि पर भी, उनके नगर बसे जो प्राचीन ग्रीस के नगरराज्यो के रूप मे प्रसिद्ध हुए और जिन्होने पेरिक्लीज और सुकरात के ससार का निर्माण किया।

स० ग्र०—एच० आर० हाल दि एशेंट हिस्ट्री ऑव् दि नियर ईस्ट मेथुएन ऐंड को०, लिमिटेड, लदन, १९५०, भ० श० उपाध्याय दि एशेंट वर्ल्ड, हैदराबाद, १९५४; एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खड १, १९५६, श्लीमास एक्स्कैवेशस, १८९१, एच० आर० हाल दि ओल्डेस्ट सिविलाइजेशन ऑव ग्रीस, १९०१, ईजियन आर्कियालोजी, १९१५।
[भ० श० उ०]

ईतियस

ईतियस रोमन जनरल जो पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ५वी सदी ई० के मध्य मरा। ईतियस रोमनेतर परिवार से आया था और धीरे धीरे अपनी योग्यता से जनरल बन गया। पहले वह गोथराज अलारिक के यहाँ अमानत बनकर रहा फिर हूणराज रूआस के यहाँ। उन्ही का सैन्यसगठन उनसे सीख उसने उन्हे परास्त भी किया। कुछ काल बाद उसे रोम के षड्यत्रो का शिकार भी होना पडा, पर बाद मे उसका दबदबा पश्चिमी साम्राज्य से खूब बढा। उसने अपने सैन्य-सचालन का परिचय भी गाल मे अत्तिला और उसके हूणो को हराकर दिया। पश्चिमी रोमन साम्राज्य एक जमाने तक बहुत कुछ ईतियस के ही बाहुबल और बुद्धि पर टिका रहा था। [ओ० ना० उ०]

ईथर

ईथर अथवा ईथर सलफ्यूरिकस (जिस नाम से यह चिकित्सा के क्षेत्र मे विख्यात है) एथिल ऐलकोहल और सलफ्यूरिक अम्ल के योग से बनाया जाता है। एथिल और ईथर दोनो ही शब्द लैटिन ईथर अथवा यूनानी एथीन शब्दो से निकले हैं, जिनका अर्थ ज्वलन या जलाना है। यह कहना कठिन है कि सबसे पहले ईथर किसने तैयार किया। १३वी शती का रसायनज्ञ, रेमड लली, इसके बनाने की विधि से परिचित था। बाद को बेसिल वैलेंटाइन और वेलेरियस कॉर्डस के लेखो मे भी ईथर और उसके गुणधर्मो का उल्लेख पाया जाता है। पर ईथर नाम इस द्रव्य को बाद मे ही मिला। वस्तुत १७३० ई० मे जर्मनी के फ्रोबेन ने इसको ईथरियस स्पिरिटस नाम दिया।

रसायनशास्त्र की वर्तमान शब्दावली मे उस वर्ग के समस्त यौगिको को ईथर कहा जाता है जो पानी के अणु के दोनो हाइड्रोजनो को ऐलकिल मूलको द्वारा प्रतिस्थापित करके बनते हैं। पानी के अणु का यदि एक ही हाइड्रोजन ऐलकिल मूलक द्वारा प्रतिस्थापित हो तो ऐलकोहल वर्ग के यौगिक बनते हैं—

हा–औ–हा	मू–औ–हा	मू–औ–मू
H–O–H	R–O–H	R–O–R
पानी	ऐलकोहल	ईथर
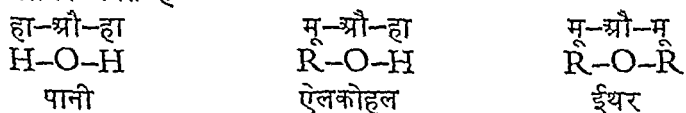
यहाँ मू (R) का अर्थ है कोई ऐलकिल मूलक, जैसे का हा$_{३}$ (CH_3), का$_{२}$हा$_{५}$ (C_2H_5), का$_{३}$हा$_{७}$ (C_3H_7) इत्यादि। इस रचना के अनुसार हम ईथरो को डाइ-ऐलकिल आक्साइड भी कह सकते हैं। यदि किसी ईथर के अणु मे दोनो ऐलकिल मूलक एक ही हो, अर्थात् मू-मू (R–R), तो इन्हे सरल ईथर कहा जाता है, पर यदि दोनो मूलक भिन्न भिन्न हो तो इन्हे मिश्रित ईथर कहते हैं। कुछ सरल ईथरो के क्वथनाक नीचे दिए जाते हैं—

ईथर	सूत्र		क्वथनाक
द्विमेथिल ईथर	का हा$_{३}$–औ–का हा$_{३}$	$CH_3–O–CH_3$	– २३ ६°
द्वि एथिल ईथर	का$_{२}$हा$_{५}$–औ–का$_{२}$हा$_{५}$	$C_2H_5–O–C_2H_5$	+३४ ६°
द्विप्रोपिल ईथर	का$_{३}$हा$_{७}$–औ–का$_{३}$हा$_{७}$	$C_3H_7–O–C_3H_7$	+९० ७°
द्वि-नार्मल-ब्यूटिल ईथर	का$_{४}$हा$_{९}$–औ–का$_{४}$हा$_{९}$	$C_4H_9–O–C_4H_9$	+१४१°
द्वि-आइसो एमिल ईथर	का$_{५}$हा$_{११}$–औ–का$_{५}$हा$_{११}$	$C_5H_{11}–O–C_5H_{11}$	+६०-६१° (१०मि मी)

हमारा साधारण प्रचलित ईथर द्विएथिल ईथर है और यह एथिल ऐलकोहल और सलफ्यूरिक अम्ल के योग से तैयार किया जाता है। प्रसिद्ध रसायनज्ञ विलियममन ने सर्वप्रथम उन सब अभिक्रियाओ का विस्तृत

उत्पन्न किया जिसके द्वारा ऐलकोहल ईथर में परिणत हो जाता है। पहले तो ऐलकोहल सलफ्यूरिक अम्ल से संयुक्त होकर एथिल हाइड्रोजन सलफेट बनाता है—

का,हा,ओहा+हा,हा,गंओ,→का,हा,हा,गंओ,+हा,ओ।

$$C_2H_5OH + H_2SO_4 \rightarrow C_2H_5HSO_4 + H_2O$$

(एथिल हाइड्रोजन सलफेट)

यह एथिल हाइड्रोजन सलफेट ऐलकोहल के दूसरे अणु से संयुक्त होकर ईथर देता है और सलफ्यूरिक अम्ल फिर मुक्त हो जाता है—

का,हा,हा,गंओ,+का,हा,ओहा→का,हा, ओ का,हा,+हा,गंओ,

$$C_2H_5HSO_4 + C_2H_5OH \rightarrow C_2H_5 O C_2H_5 + H_2SO_4$$
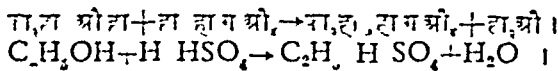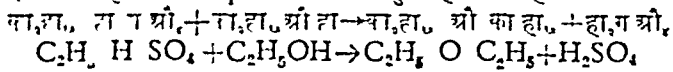
इस प्रकार अभिक्रिया दो पदों में समाप्त होती है। ऐलकोहल में जब सांद्र सलफ्यूरिक अम्ल मिलाया जाता है तो उष्मा उत्पन्न होती है और मिश्रण गरम हो उठता है। बाहर से गरम करके ताप और ऊँचा किया जाता है और ऐसा करने पर ईथर का आसवन आरंभ होता है। साथ ही साथ ममके में ऐलकोहल की धार सतत पड़ती जाती है। उष्मा इस प्रकार नियमित रखते हैं कि ताप १३०° सें० के निकट स्थायी बना रहे। जब सलफ्यूरिक अम्ल के आयतन का पाँच गुना ऐलकोहल क्रिया कर चुकता है, तो ताप १४०° सें० तक बढ़ा देते हैं। इस प्रकार जो ईथर मिलता है उसमें कुछ ऐलकोहल, कुछ सलफ्यूरिक अम्ल और कुछ पानी भी मिला होता है। कैलसियम क्लोराइड मिलाकर पानी अलग कर दिया जाता है और दो तीन बार पुनः आसवन करके शुद्ध ईथर प्राप्त कर लिया जाता है।

ईथर (द्विएथिल ईथर) निरंग, पारदर्शक, वाष्पशील द्रव है, इसका बाजार भी काफी ऊँचा है। इसमें एक विशिष्ट गंध होती है। इसकी वाष्प को अधिक देर तक सूँघा जाय तो निश्चेतना या मूर्च्छा आ जाती है। यदि शरीर के किसी अंग पर ईथर डाला जाय तो वह शीघ्र उड़ जाता है और ठंडा प्रतीत होती है। इसका स्वाद आरंभ में तो जलता सा पर बाद में ठंडा सा प्रतीत होता है। १५° सें० ताप पर इसका आपेक्षिक घनत्व ०.७२ है, अर्थात् यह पानी से हलका है। ३४.६° पर यह उबलता है, और हवा इसकी भाप से ढाई गुनी भारी होती है। यदि द्रव को –१२६° सें० तक ठंडा किया जाय तो यह जमकर हिम बन जाता है। ईथर पानी के साथ अल्प मिश्रय है और इसका १२ प्रति शत के लगभग पानी में घुल जाता है। ईथर में भी पानी थोड़ा विलेय है। ईथर बहुत अधिक ज्वलनशील है। इसकी वाष्प तत्काल आग पकड़ लेती है, अतः इसे आग से दूर रखना चाहिए। जब यह जलता है तो इसकी ज्वाला पीत-श्वेत रंग की होती है। भारतवर्ष की ग्रीष्मऋतु के ताप पर यह उड़ जाता है, अतः इसे शीत कमरों में रखना आवश्यक है।

वसा, मज्जा और तेलों के घोलने के लिये ईथर बहुत ही अच्छा विलायक है और इस गुण के कारण ईथर का उपयोग रसायनशालाओं में विलायक के रूप में बहुत किया जाता है। तेलहनों की खली को यदि ईथर द्वारा धुला लिया जाय, तो खली का समस्त तेल ईथर में घुल जायगा और आसवन करके ईथर और तेल अलग किए जा सकेंगे। ईथर में आयोडीन, गंधक, फासफरस, एवं स्ट्रिकनिन आदि ऐलकलायड भी विलेय हैं।

ईथर का उपयोग हिममिश्रण तैयार करने में भी किया जाता है। ठोस कार्बन डाइआक्साइड और ईथर के मिश्रण द्वारा अति नीचा ताप उत्पन्न हो सकता है।

यदि मनुष्य अथवा पशुओं को ईथर का सेवन कराया जाय, तो आरंभ में तो मानस उत्तेजना प्रतीत होती है पर थोड़ी देर में ही तंद्रा आने लगती है और धीरे धीरे चेतना लुप्त होने लगती है। इस गुण के कारण शल्यचिकित्सा के प्रारंभिक काल में ईथर का उपयोग संवेदनाहारी या निश्चेतक के रूप में किया जाने लगा था। बाद में यह पता लगा कि इस काम के लिये क्लोरोफार्म अधिक उपयोगी है। सन् १७९५ में डाक्टर पियर्सन ने ईथर वाष्पों का प्रयोग दमा के रोगों के उपचार में किया। ईथर द्वारा निश्चेतना उत्पन्न की जा सकती है इस संबंध में ऐतिहासिक प्रयोग गॉर्डन (१८३२), मिचेल (१८३२) जैक्सन (१८३३) एवं लंग (१८३४) के हैं। डाक्टर मॉर्टन ने १८४६ में पहली बार ईथर का प्रयोग दाँत निकालने में किया। इस प्रयोग की सफलता का समाचार लंदन में १७ दिसंबर, १८४६ को पहुँचा और २२ दिसंबर को डा० रॉबिन्सन और लिस्टन ने शल्यकर्म में ईथर के प्रयोग को दोहराया। एक वर्ष तक शल्यकर्म में ईथर के उपयोग की धूम रही। इसके बाद ही एडिनबरा के सर जे० वाइ० सिंपसन ने क्लोरोफार्म में ईथर से भी अच्छे निश्चेतक गुणों का अनुभव किया। [स० प्र०]

ईथेलवर्ट

इंग्लैंड के प्रसिद्ध प्राचीन लेखक बीड ने इयोरमेनृक के बेटे केंट के राजा ईथेलवर्ट का उल्लेख किया है। ईथेलवर्ट ५०७ ई० में गद्दी पर बैठा और संभवतः हंबर तक उसके राज्य का विस्तार था। इस अंग्रेज राजा का महत्व इंग्लैंड में इसके शासनकाल में ईसाई धर्म के प्रचार से है। पेरिस की राजकुमारी ईसाई बेर्ता से उसने विवाह किया और उसी के प्रभाव से ५९७ में जब ओगस्तीन थेनेट में उतरा तब राजा ने उसके प्रति सहिष्णुता का बर्ताव किया और उसका उपदेश सुनकर स्वयं ईसाई हो गया। एक दूसरा ईथेलवर्ट ईथेलवाल्ड का बेटा, पश्चिमी सैक्सनों का भी राजा था, जो केंट की गद्दी पर ८६५ ई० में बैठा। उसे भी एक जमाने तक डेनों से युद्ध करना पड़ा था। [ओ० ना० उ०]

ईथेलरेड प्रथम

(८६६–७१) वेसेक्स और केंट का राजा, जिसका सारा जीवन डेनों से लड़ते बीता। उसके गद्दी पर बैठने के साल ही डेनों ने अपनी एक बड़ी सेना ईस्ट ऐंग्लिया में उतार दी और दो साल बाद जो स्वयं ईथेलरेड के साथ उनका युद्ध शुरू हुआ वह ८७१ ई० में उसके मरने पर भी खत्म नहीं हुआ। कभी हार कभी जीत उसके हिस्से पड़ी और अंत में संभवतः लड़ाई में खाई चोट से ही ईथेलरेड की जान गई। [ओ० ना० उ०]

ईथेलरेड द्वितीय

(ल० ९६८–१०१६ ई०) इंग्लैंड का राजा, दूसरा लोकप्रिय नाम ईथेलरेड 'अप्रस्तुत' (दि अनरेडी), राजा एडगर का पुत्र। भाई एडवर्ड की हत्या के बाद ९७८ ई० में गद्दी पर बैठा। एक साल बाद ही डेनों के आक्रमण शुरू हो गए। ईथेलरेड उन्हें धन दे देकर लौटाता रहा। उनके आक्रमणों का फिर तो ताँता बँध गया और उन्होंने एग्ज़िटर और नारविच के आसपास का सारा जनपद रौंद डाला।

ईथेलरेड का राज्यकाल विशेषतः इन डेनी आक्रमणों के लिये ही विख्यात है। १०१३ से इन आक्रमणों ने राजनीतिक रूप लिया और उनकी मात्र लूट खसोट बंद हो गई। धीरे धीरे उत्तरी इंग्लैंड पर डेनों का अधिकार हो गया और लंदन पर भी हमले शुरू हुए। १०१६ में ईथेलरेड की मृत्यु हुई। उसकी रानी एमा ने इंग्लैंड के डेन विजेता कैन्यूट महान् से विवाह कर लिया। एमा का ईथेलरेड के साथ विवाह स्वयं एक विशिष्ट घटना थी क्योंकि उससे इंग्लैंड और नारमंडी के बीच जो संबंध कायम हुआ उसने नारमनों द्वारा इंग्लैंड की विजय का द्वार खोल दिया। [ओ० ना० उ०]

ईथेल्स्टान

(ल० ८९४–९४० ई०) इंग्लैंड का सैक्सन राजा, प्रसिद्ध अल्फ्रेड का प्रसादप्राप्त पोता और एडवर्ड दि एल्डर का बेटा। ईथेल्स्टान ने अपनी बहन का विवाह नार्थंब्रिया के राजा से किया और उस राजा के मरते ही वह नार्थंब्रिया को दबोच बैठा। अब उसे इंग्लैंड के दूसरे राजाओं ने अपना अधिराज मान लिया। फिर उसने नार्थंब्रिया के मृत राजा के विद्रोही भाई गुथफ्रिथ को देश से निकालकर डेनी फौजों को यार्क से हटाया और वेल्स तथा कार्नवाल के लोगों को अपनी अपनी हदों में रहने को मजबूर किया। ९३४ ई० में स्काटलैंड पर हमला कर उसे परास्त किया।

ईथेल्स्टान ब्रिटेन का पहला राजा था जिसने समूचे देश पर प्रभुता का दावा किया, जो दावा अधिकांश में युक्तिसंगत था। उसी ने पहले पहल इंग्लैंड को यूरोप के अन्य देशों की राजनीति के घने संपर्क में खींचा और वहाँ के राजकुलों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर इंग्लैंड की शक्ति बढ़ाई। इस प्रकार विवाहों द्वारा फ्रांस, आस्ट्रिया, जर्मनी आदि उसके राजकुल से संबंधित हो गए। नार्वे से उसने अपना दौत्य संबंध इतना घना जोड़ा कि वहाँ का अगला राजा उसी के राजकुल में पला। ईथेल्स्टान ने विवाह

नही किया, इससे उसके कोई सतान न थी। उसके जमाने का कानून वडी मात्रा मे मिलता है जिससे स्वय राजा की अनुपातविरोधी दडनीति के विपरीत प्रतिक्रिया प्रकट होती है। उदाहरणात उसने १२ साल के वालको को चोरी के लिये प्राणदड देना वडा वेजा समझा और इस सबध में आयु की अवधि और ऊँची कर दी। [ग्रो० ना० उ०]

ईद का शाब्दिक अर्थ सामयिक स्थितिपरिवर्तन है। व्यवहार मे इस शब्द का प्रयोग दो प्रमुख मुसलमानी प्रार्थना के त्योहारो के लिये होता है—ईदुल फित्र (वकरीद), जो दसवी जिलहिज्ज को मनाई जाती है, तथा ईदुज्जुहा जो रमजान के व्रत के महीने के वाद पहले 'शावान' को मनाई जाती है। इन प्रार्थनाग्रो मे दो 'रकत' और धर्मोपदेश होते है। जहाँ तक सभव हो, ईद की नमाज नगर के किसी खुले हुए स्थान पर सपन्न की जाती है, अन्यथा यह नमाज मस्जिद मे भी हो सकती है।

प्रत्येक मुसलमान को, यदि सभव हो, जीवन मे एक बार ईदुल फित्र के अवसर पर मक्का की तीर्थयात्रा करनी चाहिए। मुसलमानो का विश्वास है कि हज के कुछ रिवाज पैगवर इब्राहीम के समय से प्रचलित हैं जिनमे एक यह है कि प्रत्येक हाजी 'मिना' के ऊपर एक पशु की वलि दे। जो मुसलमान हज करने नही जाते वे अपने घरो पर ही पशुवलि देते हैं। नियमानुसार उनको वलिपशु का मास गरीवो को वाँट देना चाहिए।

शिया मुसलमान एक तीसरी ईद भी मनाते है जिसका नाम ईद-इ-गदीर है। यह नाम मक्का और मदीना के वीच स्थित एक तालाव के नाम पर आधारित है। उनका विश्वास है कि उक्त तालाव पर आकर पैगवर ने कहा था, "जिस किसी का भी पूज्य मै हूँ उसका पूज्य अली भी है"। [मु० ह०]

ईदर ववई राज्य के माहेकाथ एजेंसी मे स्थित एक राजपूत रियासत थी। (स्थिति अक्षाश २३° ६' से २४° २९' तक उत्तर और देशातर ७२° ४५' से ७३° ३९' तक पूर्व)। इसका क्षेत्रफल १६६९ वर्गमील था। इसकी सीमा उत्तर मे सिरोही तथा उदयपुर, पूर्व मे डूँगरपुर, दक्षिण तथा पश्चिम मे ववई तथा वडौदा राज्य थी। इस राज्य के दक्षिण-पश्चिम भाग मे वालुकानिर्मित समतल क्षेत्र है, परतु अन्य भाग ऊँचे नीचे तथा पहाडियो एव जगलो से भरे हैं। प्रदेश की जलवायु गरम है। राज्य मे सावरमती, हथमती, मेशवा, पाजन, वात्रक आदि नदियाँ वहती हैं। राज्य का इतिहास आठवी शताब्दी से उपलब्ध है। यहाँ वसनेवालो मे अधिकाश कोली हैं। पहाडी क्षेत्रो को छोडकर राज्य की भूमि साधारणत उपजाऊ है। लगभग १७ प्रति शत भूमि कृषि के काम मे लगी है। सन् १८९९ ई० तथा १९०० मे घोर अकाल के समय राज्य को वहुत क्षति उठानी पडी थी। सन् १९५१ ई० मे ईदर प्रदेश की जनसख्या १,१९,१३८ थी। यह देशी रियासत अव ववई राज्य मे मिला दी गई है।

ईदर (अथवा भारत राष्ट्रीय ऐटलस के अनुसार इदार) नगर भारत के आधुनिक ववई राज्य के सावर-कथा जिले मे अहमदावाद नगर से ६४ मील उत्तर-पूर्व मे स्थित है। (स्थिति अक्षाश २३° ५०' उत्तर तथा देशातर ७३° ४' पूर्व)। यह नगर इलदुर्ग के नाम से भी प्रख्यात है। पहले यह नगर ईदर रियासत की राजधानी था। नगर चारो ओर से ईटो की दीवार से घिरा है जिसमे भीतर जाने के लिये पत्थर का एक द्वार वना हुआ है। आसपास चट्टानो मे निर्मित गुफा मदिर हैं जो कम से कम ४०० वर्ष पुराने आँके गए हैं। नगर में राजमहल के अतिरिक्त अन्य कई सुदर भवन हैं। [श्या० सु० श०]

ईदिपस ग्रंथि मनोविश्लेषण के जन्मदाता डाक्टर सिगमड फ्रायड ने पुत्र की अपनी माता के प्रति कामवासना (सेक्स) की ग्रथि को 'ईदिपस ग्रथि' की सज्ञा दी। प्राचीन ग्रीक लोककथाओ तथा सोफोक्लीज द्वारा लिखित "ईदिपस रेक्स" के अनुसार ईदिपस थीविज के राजा लेउस और रानी जोकास्ता का पुत्र था। ईदिपस के जन्म के पूर्व ही एक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी कि यह अपने पिता का हत्यारा होगा। इसलिये जन्म लेते ही इसे राजा लेउस ने राज्य से निकाल दिया। ईदिपस का उद्धार पडोस के राजा के द्वारा हुआ जिसके यहाँ उसका राजकुमारो जैसा लालन पालन हुआ। वडे होने पर इसने भी ज्योतिषी से परामर्श किया जिसने उसे यह चेतावनी दी कि वह अपनी मातृभूमि छोड कर चला जाय क्योकि उसके भाग्य में अपने पिता का हत्यारा और अपनी माता का पति होना लिखा है। ईदिपस राज्य छोड चल पडा लेकिन मार्ग मे ही उसे राजा लेउस मिला जिसे उसने एक हल्की मुठभेड में ही मार डाला। वह थीविज पहुँचा जहाँ उसने दैत्य स्फिक्स पर विजय प्राप्त की जिसके आतक से थीविजवासी पीडित थे। कृतज्ञ थीविजवासियो ने उसे वहाँ का राजा निर्वाचित किया तथा जोकास्ता का हाथ उसके हाथो मे दे दिया। वहुत वर्षो तक शाति और समानपूर्वक राज्य करते हुए उसे जोकास्ता से दो पुत्र और दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। कुछ समय उपरात थीविज़ मे भीषण महामारी फैली। थीविजवासियो ने ज्योतिषी से परामर्श किया जिसने कहा कि जव तक लेउस के हत्यारे को थीविज़ से निष्कासित नही किया जायगा तव तक महामारी का प्रकोप शात नही हो सकता। इधर ईदिपस को भी अपनी माता और पिता का रहस्य ज्ञात हो गया। पश्चात्तापवश उसने अपनी आँखें फोड ली तथा उसके पुत्रो ने उसे थीविज से निष्कासित कर दिया। जोकास्ता ने आत्मग्लानिवश फाँसी लगाकर आत्महत्या कर ली।

फ्रायड के अनुसार ईदिपस की यह कथा हर मनुष्य के अतर मे छिपी हुई कामवासना की एक ग्रथि का साकेतिक प्रतिनिधान करती है। मनुष्य की प्रथम कामवासना का लक्ष्य माता और प्रथम हिंसा और घृणा के भाव का लक्ष्य पिता होता है। इसी कामवासना की भावग्रथि को इन्होने "ईदिपस ग्रथि" के नाम से सवोधित किया। मनुष्य के जीवन पर इसके प्रभावो की चर्चा करते हुए इन्होने कहा कि यही ग्रथि हमारे नैतिक, धार्मिक और सामाजिक नियमो और प्रतिवधो की पृष्ठभूमि मे कार्यरत है। पाप और अपराध की भावना का जन्म इसी से हुआ। अपने को किसी प्रकार का स्वत आघात पहुँचाने, आत्महत्या करने या अपने को स्वत दडित करने के भाव इसी के कारणवश उत्पन्न होते हैं। इनके अनुसार मनुष्य के विकास की जड मे यह ग्रथि ही है क्योकि विकास के प्रारभ मे मनुष्यो ने सर्वप्रथम अपने ऊपर केवल दो प्रतिवध लगाए। पहला, अपने जन्मदाता या पिता की हत्या न करना और दूसरा, अपनी जननी या माता से विवाह न करना। यही दो प्रथम नैतिक और धार्मिक नियम हैं।

किसी भी प्रकार की मानसिक विकृतावस्था और मुख्यतया मनोदौर्वल्य (साइकोन्यूरोसिस) का भी मूल कारण इन्होने इसी ग्रथि को माना। इनका कथन था कि यह ग्रथि सामान्य और असामान्य दोनो ही प्रकार के व्यक्तियो मे पाई जाती है, अतर केवल इतना है कि एक ने उसपर विजय प्राप्त कर ली है और इसलिये वह सामान्य है जवकि दूसरा उसका दास है और इसलिये वह असामान्य है। विभिन्न समूहो, जातियो और समाजो के आपसी मतभेद तथा सघर्षो का मूल कारण भी उनके अपने माता पिता के प्रति स्थापित प्रत्ययो की भिन्नता ही है, ऐसा इनका विचार था।

एक ही वस्तु के प्रति प्रेम और घृणा के विपरीत भावो के विद्यमान होने का कारण भी इन्होने 'ईदिपस ग्रथि' को ही माना। हमारा सवेगात्मक जीवन, मौलिक रूप मे, एक ही वस्तु के प्रति इस प्रकार के विपरीत भावो के समावेश से अपरिचित था। सर्वप्रथम ऐसे भावो की उत्पत्ति सभवत मातापिता के प्रति हमारे सवेगात्मक सवधो से ही होती है क्योकि इनका प्रवलतम रूप मातापिता के प्रति भावो मे ही पाया जाता है।

माता के प्रति प्रेम और पिता के प्रति घृणा के भावो को कभी कभी "धनात्मक (पाजिटिव) ईदिपस ग्रथि" तथा पिता के प्रति प्रेम और माता के प्रति घृणा को "ऋणात्मक (नेगेटिव) ईदिपस ग्रथि" कहा जाता है। इस ग्रथि का एक स्वरूप पुत्री का पिता के प्रति कामवासना की भावना मे भी पाया जाता है जिसे "एलेक्ट्रा ग्रथि" भी कहा जाता है।

फ्रायड के इस कथन के विरोध मे कि 'ईदिपस ग्रथि' सार्वभौमिक है, इसका आधार जन्मजात है तथा यह एक ही स्वरूप मे हर मनुष्य मे पाई जाती है, नव-फ्रायडीय तथा अन्य आधुनिक सिद्धातो ने कहा कि इसका आधार सस्कृति माना जाता है, यही इसके स्वरूप का विभिन्न व्यक्तियो मे निर्धारण करती है। फेनिचल के अनुसार व्यक्ति के अपने पारिवारिक अनुभव ही उसकी इस ग्रथि की उत्पत्ति और उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करते है। ऐडलर ने इस ग्रथि को मौलिक या जन्मजात

नही माना वरन् उसने कहा कि यह माता के अधिक लाड प्यार का अप्राकृतिक परिणाम है। जुग के अनुसार यह ग्रथि मनुष्य की पुनर्जन्म की मौलिक इच्छा का साकेतिक प्रतिनिधान करती है अर्थात् मनुष्य की मौलिक इच्छा अपने जन्मस्थान मे लौट जाने की होती है। रैंक ने जुग की इस काल्पनिक उडान को स्वीकार करते हुए भी यह कहा था कि इस ग्रंथि का सार बालक के अपने मातापिता के प्रति सपूर्ण सबधो मे है। पारिवारिक सबधो की महत्ता को स्वीकार करते हुए हार्नी ने इसे दो स्थितियो पर आधारित बताया। पहली परिस्थिति मातापिता की उत्तेजक कामवासनाएँ हैं और दूसरी, दूसरो पर आश्रित रहने की आवश्यकताओ तथा माता-पिता के प्रति हिंसात्मक भावनाओ के मानसिक द्वद्व से उत्पन्न चिंता की स्थिति है। फ्रोम ने पितापुत्र के बीच इस सघर्ष का आधार काम-वासना न मानकर पितृप्रधान समाजो की अधिकार प्राप्त करने की भावना माना है।

सलिवन, टाम्सन आदि अन्य विद्वानो ने भी परिवार के अतर्गत पार-स्परिक सबधो को ही इस ग्रथि का आधार माना है। [ओ० क०]

ईनिड सयुक्त राज्य अमरीका के ओकलाहोमा राज्य का चौथा बडा नगर हे। यह समुद्रतल से १,२६६ फुट की ऊँचाई पर विचिता नगर से दक्षिण-पश्चिम मे ६५ मील दूर स्थित है। रेल द्वारा ओकला-होमा नगर इससे केवल ८८ मील दूर है। इसकी केंद्रीय स्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह न केवल एक बडा रेलवे जकशन है, वरन् प्रातीय मार्ग तथा अतर्प्रातीय मार्ग भी इसकी बगल से जाते हैं। यहाँ नगर-पालिका का एक हवाई हड्डा भी है। यहाँ कई अन्न उच्चालित्र (ग्रेन एलिवेटर) हैं, जिनमे एक दो करोड बुशेल का भाडार रखा जा सकता है। सर्वप्रथम सन् १६०७ ई० मे इसके निकट प्राकृतिक गैस का पता चला था और सन् १९१६ ई० मे मिट्टी के तेल की सफल खोज हुई, जिसने इस नगर को अत्यत समृद्धिशाली बना दिया है। आज यह एक बडा औद्योगिक केंद्र है जहाँ मिट्टी के तेल को शुद्ध करने के कारखाने है तथा ट्रैक्टर, कृषि सबधी अन्य मशीने, रेलवे इजन तथा मालगाडियाँ बनाई जाती हैं। यह शिक्षा का भी एक बडा केंद्र है, शिक्षा सस्थाओ मे फिलिप्स विश्वविद्यालय (सन् १९०७ ई० में स्थापित) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ईनिड का शिलान्यास सन् १८९३ मे हुआ था तथा उसी वर्ष इसे नगर की श्रेणी भी प्राप्त हो गई थी। सन् १९०० में इसकी जनसख्या केवल ३,४४४ थी, सन् १९५० में ३६,०१७ हो गई। [लि० रा० सिं०]

ईनियस ताक्तिकस सभवत स्तीफालस का निवासी जो ई० पू० ३६७ में आर्कादी सघ का सेना-पति था। इसने युद्ध विद्या के सबध में अनेक ग्रथो की रचना की थी जिनका सारसग्रह पिर्हस ने किया था। दुर्गरक्षा सबधी इसकी रचना नष्ट होने से बच गई है। इस ग्रथ से पता चलता है कि उन दिनो दुर्गो की रक्षा, बाह्य शत्रुओ की अपेक्षा आतरिक विरोधी गुटो से की जानी अधिक आव-श्यक थी। भाषा की दृष्टि से भी इस अवशिष्ट रचना का इसलिये महत्व है कि इसमे अत्तिका की भाषा से बाहर की यूनानी भाषा का स्वरूप देखने को मिलता है जिससे पश्चात्कालीन जनसामान्य की भाषा के तत्वो का कुछ पता चलता है। [भो० ना० श०]

ईनिस आफ्रिसिज और अफ्रोदीती का पुत्र। होमर के 'ईलियद' मे उसका त्राय के बीरो मे उल्लेख है। लातीनी कवि वर्जिल ने उसी पर अपना प्रसिद्ध काव्य 'ईनिद' लिखा। ग्रीक और लातीनी पर-परा के अनुसार, कहते है, त्राय के विध्वस के पश्चात् उसने गृहदेवताओ और वृद्ध पिता को पीठ पर लिया और पुत्र का हाथ पकड भगदड मे बाहर की राह ली। उसकी पत्नी उसी भगदड मे खो गई। फिर वह सागर की राह फिरता रहा। अत मे तूफान ने उसे अफ्रीकी तीर पर डाल दिया। ईनिस के सबध की घटनाएँ तो अधिकतर पुराण ही है पर उन्होने यूरोप के प्राचीन साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और उसके चरित को लेकर मध्यकाल मे अनेक यूरोपीय भाषाओ मे रोमाचक कथाएँ भी प्रस्तुत हुई है। [भ० श० उ०]

ईरान पश्चिमी एशिया का एक राजतत्र है जो १९३५ ई० के पूर्व पर्सिया (फारस) कहा जाता था। २,००० ई० पूर्व मे इसका नाम आर्याना था। इसके दक्षिण में फारस एव ओमान की खाडियाँ तथा अरब सागर, पश्चिम मे ईराक एव तुर्की, उत्तर में रूस एव कैंसपियन सागर तथा पूरब मे पाकिस्तान एव अफगानिस्तान हैं। यह उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व दिशा मे १४०० मील लबा तथा उत्तर से दक्षिण ८७५ मील चौडा है।

स्थिति—२५° उत्तर अक्षाश से ४०° उत्तर अक्षाश, ४४° पूर्व देशातर से ६३° ३०' पूर्व देशातर। क्षेत्रफल १६,४०,००० वर्ग किलोमीटर (६,२९,००० वर्ग मील), जनसख्या (१९५६ ई०) १,९६,४४,८२१। ईरान का अधिक भाग मरुस्थल है। अत जनसख्या प्राय सर्वत्र विरल है, जिसका औसत घनत्व केवल ३३ प्रति वर्ग मील है। प्रमुख नगरो मे १० नगरो की जनसख्या एक लाख से अधिक है। वे हैं तेहरान (१५,१३,१६४), टेब्रीज (२,९०,१९५), इस्फहान (२,५४,८७६), मेसेद (२,४२,१६५), अबादान (२,२६,१०३), शिराज (१,६६,०९९), करमनशाह (१,२५,१८१), अह्वाज(१,१९,८२८), रश्त (१,०९,४९३) एव हमादान (१,००,०००)। तेहरान यहाँ की राजधानी है, फारसी राज्यभाषा है।

मरुस्थल में भूमि कई प्रकार की है और वहाँ के देशवासियो ने इनको विशेष नाम दिए हैं। बजरी या बालू के कडे पृष्ठ को दश्त कहते हैं, बिना जल या वनस्पति के क्षेत्रो को लुट कहते है और काले कीचड के दलदलो को, जिनपर बहुधा नमक की पपडी बँध जाती है, कबीर कहते हैं। कबीरो से यात्रियो को बहुत डर लगता है, क्योकि ऊपर से दृढ दिखाई पडने-वाली पपडी के नीचे बहुधा गहरा दलदल रहता है जिसमे यात्री डूबकर मर जाते हैं।

ईरान आल्प्स्-हिमालय-भजतत्र (फोल्ड सिस्टम) के अतर्गत है। इसकी उत्तरी एव दक्षिणी सीमा पर क्रमानुसार एलबुर्ज एव जैंग्रस पर्वत-श्रेणियाँ हैं जो पश्चिम में आर्मीनिया की गाँठ में मिलती हैं। ईरान तीन प्राकृतिक खडो मे विभक्त है

(१) एलबुर्ज पर्वत—यह परतदार चट्टानो का बना है, जिसमें अनेक ज्वालामुखी पहाड हैं। ईरान की डेमावेंड नामक सर्वोच्च चोटी की ऊँचाई १८,६०० फुट है।

(२) मध्य का पठार—पर्वतो से घिरा यह विस्तृत पठार प्राचीन मणिभ चट्टानो का बना है। इसकी ऊँचाई ४,००० फुट है। इसका पूर्वी भाग अधिक चौडा है जहाँ मरुस्थल पर दलदल मिलते हैं। यहाँ सिस्तान एव जाज मुरियन द्रोणी (बेसिन) की ऊँचाई केवल १,००० फुट है।

(३) जैंग्रस पर्वत—उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को फैला यह पर्वत ईरान की दक्षिण-पश्चिमी सीमा निर्धारित करता है। इस्फहान के पश्चिम लूरीस्तान एव बख्तियारी प्रदेश मे इसके सर्वोच्च भाग की ऊँचाई १४,००० फुट है।

ईरान के आधे से अधिक भाग (३,५०,००० वर्ग मील) का जल-परिवाह आतरिक है। आतरिक परिवाह के क्षेत्र मे पूर्व मे दश्त-ए-लुट, सिस्तान एव जाज मुरियन नामक द्रोणियाँ हैं, पश्चिम मे उर्मिया झील (२०,००० वर्ग मील) एव मध्य मे दश्त-ए-कबीर है। उत्तर में सफीद रूद, गारगन एव अत्रक नामक नदियाँ कैंसपियन सागर में गिरती हैं। दक्षिण-पश्चिम मे ईरान की एकमात्र नाव चलाने योग्य नदी कारूँ बख्ति-यारी पर्वत से निकलकर शत-अल-अरब की सहायक बनती है।

ईरान की जलवायु, कैंसपियन तटीय भाग को छोड, अति विषम है। अत्यधिक तापातर (४०° फा०), अल्पवृष्टि एव अति प्रचड वायु, पर्वता-वृत पठारो एव द्रोणी की जलवायु की विशेषताएँ हैं। वर्षा जाडे मे रूम-सागर से आनेवाले चक्रवात से होती है। कैंसपियन प्रातो मे सर्वाधिक वर्षा (लगभग ५०") होती है। पठार के उत्तर-पश्चिमी भाग मे वर्षा लगभग १२", मध्य मे ६" तथा दक्षिण-पूर्व में हुसेनाबाद एव सिस्तान मे केवल २" होती है। फारस की खाडी के तटस्थ क्षेत्र मे वर्षा १०" होती है। जाडे मे पर्वतो पर तुषारपात होता हे। ग्रीष्म ऋतु मे सिस्तान मरुस्थल मे बालू एव धूलयुक्त अति प्रचड वायु लगभग ७० मील प्रति घटे के वेग से प्राय १२० दिन तक चलती है। यह प्रदेश आँधियो का देश कहा जाता है जो "१२० दिन की आँधी" के लिये कुख्यात है।

कैसपियन प्रातो मे ३,००० फुट की ऊँचाई तक रूमसागरीय जलवायु-तुल्य वनस्पति मिलती है। इमारती लकडी मजनदेरन, गिलान, फार्स एव कुर्दिस्तान प्रातो मे प्राप्त होती है। मध्य ईरान के पठार एव पहाडियाँ वृक्षविहीन है। बबूल करमन, करमनशाह एव खुरासान मे मिलता है। दक्षिणी ईरान मे खजूर की प्रचुरता है। जैतून के पेड 'रूदबर' मे प्राप्त है।

ईरान फल की उपज के लिये प्रसिद्ध है। खरबूजा, तरबूज, अगूर, खूबानी, चेरी, बेर एव सेब साधारणत सभी जगह उपजाए जाते है। टेब्रीज एव मेगेद के सतालू (शफतालू), इस्फहान के खरबूजे एव चेरी, डेमावेड के सेब, नताज की नाशपाती तथा करमनशाह के अजीर विशेष प्रसिद्ध है।

यहाँ की अस्थायी (खानाबदोश) जातियो एव कृषको का मुख्य व्यवसाय ऊन के लिये भेड पालना है। ऊन दरी एव कालीन बनाने के काम आता है। अज़रबैजान एव खुरासान के प्रात घोडा, गधा, भेड एव बकरे के लिये विख्यात है। ईरान मे परिवहन की असुविधा के कारण तेल के अतिरिक्त अन्य खनिजो का विकास नही हुआ है। १९४८ ई० मे खनिज तेल की सचित निधि ९,४०० लाख टन निर्धारित की गई थी। इसका उत्पादन १९५७ ई० मे ३५० लाख टन था। तेल का प्रमुख क्षेत्र दक्षिण-पश्चिम ईरान मे खूजिस्तान है जहाँ मस्जिद-ए-सुलेमान, हफ्त केल, आगा जरी, गच सारन, नफ्त सफीद, एव लाली नामक छ खाने है। इनके निकट अबादान मे ससार का सबसे बडा तेल शुद्ध करने का कारखाना है, जिसकी
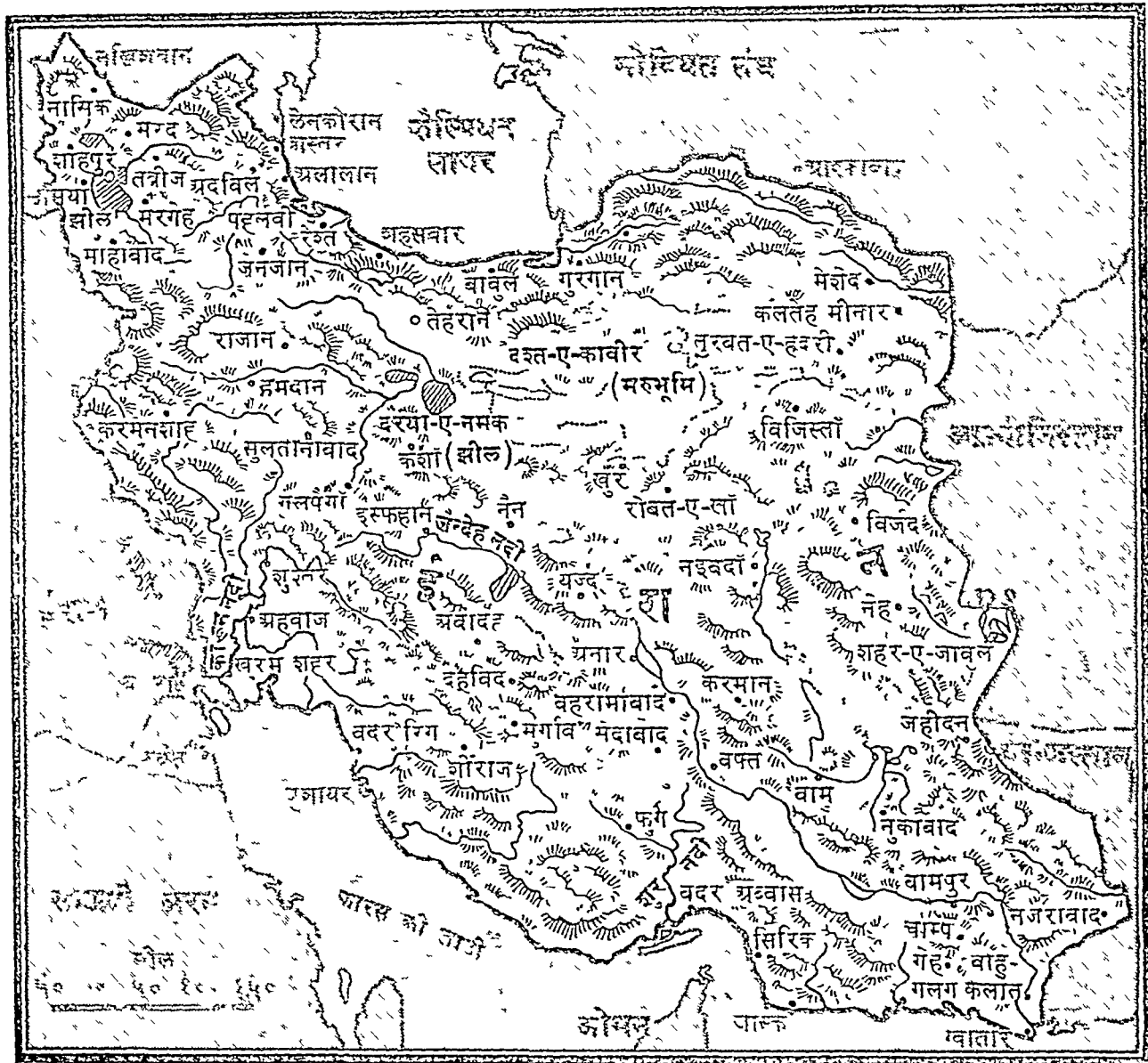
ईरान

कैसपियन प्रातो के अतिरिक्त, शेष ईरान मे नदियो एव कनातो या करेजो (अर्थात् सोतो और नालो) द्वारा सिंचाई करके खेती होती है। फारस की खाडी के तटस्थ मैदान मे शुष्क कृषि प्रचलित है। गेहूँ, जौ, बाजरा, कोदो, कुटकी, जवारी एव मक्का प्राय सभी भागो मे होते है। चावल के लिये कैसपियन क्षेत्र प्रसिद्ध है। पठारी भाग की मुख्य उपज गेहूँ एव मक्का है। रूई विशेषत कैसपियन तट तथा खुरासान, इस्फहान, एव येज्द प्रातो मे होती है। तबाकू उर्मिया, काशान एव इस्फहान जिलो में उपजाया जाता है। अफीम के उत्पादन पर १९५६ ई० से प्रतिबध लगाया गया है। गिलान, मज़नदेरन, येज्द एव काशान क्षेत्र मे रेशम के कीडे पाले जाते है।

क्षमता ५,००,००० बैरल शुद्ध तेल प्रतिदिन है। पश्चिम ईरान मे, ईराकी सीमा के निकट, तेल का दूसरा क्षेत्र नफ्त-ए-शाह है। यहाँ का तेल करमनशाह मे शुद्ध किया जाता है। अन्य खनिजो मे कोयला तेहरान एव मज़नदेरन मे, लोहा करमन, समनन, इस्फहान, एव अनारक मे, ताँबा अब्बासाबाद एव ज़ेजन मे, सीसा अनारक मे, तथा फीरोजा निशापुर मे मिलते हैं। कुछ सखिया, सज्जी, मैंगनीज़, शैल लवण, गधक, राँगा आदि भी प्राप्त है।

ईरान मे प्रधानत शिल्पकला एव कुटीर उद्योग का विकास हुआ है। बहुमूल्य दरियाँ, कालीन, रेशमी वस्त्र एव धातुशिल्प के लिये यह प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। हाल मे तैल कारखानो के अतिरिक्त चीनी, सीमेंट,

और रेशमी, सूती एव ऊनी वस्त्रो के कारखाने भी खोले गए है। सूती एव ऊनी वस्त्र उद्योग का प्रमुख केंद्र इस्फहान है, जो रुई एव कच्चे ऊन के उत्पादन क्षेत्र में स्थित है। सूती वस्त्र उद्योग के अन्य केंद्र शाही, मज़नदेरन, वहशहर, कस्विन, करमन, मेशेद, एव येज्द है। टैब्रीज एव कस्विन ऊनी वस्त्र उद्योग के अन्य केंद्र है। रेशम उद्योग चालूस एव रेश्त में तथा जूट उद्योग शाही एव रेश्त मे विकसित है। करमन दरी बुनने का प्रमुख केंद्र है। इसके अन्य केंद्र टेब्रीज़, सुलतानावाद, तेहरान, शिराज़, हमादान, खुर्रमावाद, विजार, सैन्ना एव कशान है। चीनी की मिले तेहरान एव कैसपियन क्षेत्र में है। दियासलाई टेब्रीज, जजान, तेहरान एव इस्फहान में वनती है। तेहरान आधुनिक उद्योग का केंद्र है जहाँ काच, शस्त्र एव कारतूस, रसायन, प्लैस्टिक, सावुन, सिगरेट, कृपियंत्र एव अर्क चुआने के कारखाने है। १९५५-५६ ई० में ईरान ने १,२६,००० कवल, २० लाख मीटर ऊनी, ४०० लाख मीटर सूती एव ६० लाख मीटर रेशमी वस्त्रो का उत्पादन किया।

ईरान के मुख्य आयात चीनी, चाय, सूती वस्त्र, इस्पात, मशीन, मोटर गाडियाँ, टायर एव रसायन है। यहाँ के मुख्य निर्यात पेट्रोल, दरियाँ, एव कालीन, रुई, सूखे एव ताजे फल, ऊन, चमडा, तेलहन आदि है।

[न० कि० प्र० सि०]

ईरान का इतिहास

ईरान (फारस अथवा पर्शिया) की सवसे पहली सभ्यताओ ने जहाँ जन्म लिया उस भूभाग को इतिहास 'एलाम' के नाम से पुकारता है। दक्षिण जागरूस से बहती हुई कारूँ नदी तरह तरह की उपजाऊ मिट्टी लाकर एलाम को सरसब्ज बनाती हुई ईरान की खाडी में गिरती है। एलाम मे ठीक उस समय अनेक शहर आवाद हुए जिस समय सिंधु नदी के किनारे मोहनजोदडो की सभ्यता अपने विकासपथ पर अग्रसर हो रही थी। दौलत और तिजारत, सामाजिक सस्थाएँ, राज और शासनप्रवध, विद्या और कलाकौशल दोनो जगह एक साथ फले फूले और दोनो जगह की सभ्यताएँ साथ साथ उन्नति करने लगी। पश्चिम में तख्ते जमेशीद (पर्सुपोलिस), शूश, काशान और निहावद, उत्तर मे अस्त्रावाद और अनाव जैसे वहुत से प्राचीन ईरानी शहरो की खुदाई से ताँवा, पीतल, काँसा, सोना, जवाहिरात और मिट्टी के ऐसे वर्तन मिले है जिनसे उस जमाने की ईरानी सस्कृति और उसकी उन्नति की मजिलो का पता चलता है। एलाम मे शूश और अनजान के राजकाजी सवध और वहाँ की राजकीय सस्थाएँ हडप्पा और मोहनजोदडो के राजकाजी सवधो और सस्थाओ से वेहद मिलती जुलती है।

एलाम का राज्यशासन पुरोहितो के हाथो में था। एलाम मे सब देवी देवताओ के ऊपर एक सवसे वडे देवता की सत्ता मे लोग विश्वास करते थे। एलाम मे सूरज और चाँद की, जल और स्थल के देवताओ की, प्रेम की देवी और सतानोत्पत्ति की देवी की पूजा होती थी। मातृदेवी भी पूजी जाती थी। वहाँ कुछ पशुओ और वृक्षो को भी पवित्र मानकर पूजा जाता था, जैसे वृपभ, नाग, सिंह आदि। हर घर और हर गाँव मे एक छोटा-सा मदिर होता था जहाँ इन देवताओ की मिट्टी या पत्थर की छोटी छोटी मूर्तियाँ होती थी। इनके अतिरिक्त वहुत वडे वडे मदिर होते थे जो 'जगूरात' या 'सिग्गुरात' कहलाते थे। ये विल्कुल किले की तरह होते थे और इनमें वेशुमार दौलत और लाखो मन गल्ला जमा रहता था। सिंधु सभ्यता की तरह एलाम का समाज भी पुराने रीति रिवाजो के तग साँचो में जकडा हुआ था। किसी को उससे वाहर निकलने या नई वात करने की अनुमति न थी।

उस समय एलाम की प्राचीन ईरानी सभ्यता पर एक भयानक आफत टूट पडी। उत्तर से आर्य आक्रमणकारियो ने, घोडो पर सवार लोहे के हथियार लिए, धावा वोल दिया। उन्होने एलाम को रौदकर अपने अधीन कर लिया। धीरे धीरे पुराने ईरानियो और नए आक्रमणकारियो की नस्लें एक दूसरे में घुल मिलकर एक हो गई। ये आर्य ही आधुनिक ईरानियो और भारतवासियो, दोनो के पूर्वज थे। उनकी नस्ल एक थी, वोली एक थी, धर्म एक था और सस्कृति एक थी।

आर्यो के ईरान में वस जाने के वाद उनपर वहाँ की परिस्थितियो का पूरा पूरा प्रभाव पडा। ईरान मे तरह तरह के भूभाग है—कही पहाड और कही रेगिस्तान, कही नदियो की घाटियाँ और बीच के मैदान, जो मनुष्यो, पशुओ और हरियाली से भरे हुए है, और कही सैकडो मील लवे रेतीले मैदान, जिनमे दूर दूर तक न कोई जानदार दिखाई देता है और न कोई घास का तिनका, जहाँ सिवाय हवा की साँय साँय के कोई आवाज सुनाई नही देती। उजाले और अँधरे, नेकी और वदी की शक्तियाँ वहाँ साफ अलग अलग काम करती दिखाई देती है।

ईरान के पैगवर जरतुश्त के सुधारो से पहले ईरानियो का जो धर्म था वही कुछ परिवर्तनो के साथ वाद के हखामनीषी और सासानी युगो में भी प्रचलित रहा। ईरानियो का यह धर्म भारत के आर्यो के वैदिक धम से विशेप मिलता जुलता था। इससे भी अधिक ध्यान देने की वात यह है कि जरतुश्त ने ईरानी धर्म को जो नया रूप दिया उसके हर पहलू से यह स्पष्ट है कि वह और वैदिक धर्म दोनो एक ही खानदान से है। आर्यो का धर्मग्रथ 'वेद' और जरतुश्त की पुस्तक 'अवस्ता' दोनो यही घोपणा करती है कि ईश्वर एक है।

आज से तीन हजार वर्ष पूर्व के ईरानी अपने को आर्य कहते थे। अवस्ता मे भी उन्हे आर्य कहकर पुकारा गया है। प्रसिद्ध ईरानी सम्राट् दारा (५२१-४८५ ई० पू०) ने अपनी समाधि पर जो शिलालेख अकित करवाया है उसमे अपने को 'आर्यो मे आर्य' लिखा है। छठी शताब्दी के ईरान के सासानी सम्राट् भी अपने को आर्य कहते थे। ईरानी अपनी वोली को 'आर्यन' या 'अर्वन' और अपने देश को 'आर्याना' या 'आइर्याना' कहते थे, जिसका अर्थ है 'आर्यो का निवासस्थान'। प्रचलित ईरान शब्द इसी आर्याना का अपभ्रश है।

अवस्ता और ऋग्वेद दोनो मे वरुण को देवताओ का अधिराज माना गया है। वेदो मे उसे 'असुर विश्ववेदस' या 'असुर मेधा' कहा गया है। अवस्ता मे उसे 'अहुर मज्दा' नाम से पुकारा गया है। वैदिक 'असुर' (ईश्वर) ही अवस्ता का 'अहुर' है और ईरानी 'मज्दा' का वही अर्थ है जो सस्कृत 'मेधा' का। वैदिक 'मित्र' देवता ही अवस्ता का 'मिथ्र' है। अवस्ता मे ठीक उन्ही शब्दो मे मिथ्र की स्तुति की गई है जिन शब्दो मे ऋग्वेद मे मित्र की। सस्कृत मे मिथ्र का अर्थ सूर्य भी है। ईरानी भी सूर्य के रूप मे मिथ्र की पूजा करते थे। इद्र का नाम ज्यो का त्यो अवस्ता मे मौजूद है।

ईरानी धर्मग्रथो मे प्रारभ के जिस समाज की कल्पना है वह भारतीय सतयुग की कल्पना से मिलती है। ईरानी पौराणिक कथाओ के अनुसार 'यिम' (वैदिक=यम) मानव जाति का पहला सम्राट् था। यिम आर्यो की प्राचीन पुण्य भूमि 'आर्यनम वाइजो' पर शासन करता था। आर्यो की उस पुण्य भूमि मे—'न कष्ट था न क्षोभ, न मूर्खता थी न हिंसा, न गरीबी थी न छलकपट। लोग न वेडौल थे, न कुरूप। बुराई उन्हे छू न सकती थी। चारो ओर सुगधित वृक्षो के उद्यान थे और घरो मे स्वर्णस्तभ थे। लोगो के पास अगणित सुदर और अच्छे पशु थे।'

ईरानी यिम को ही मानव जाति का सृजनकर्ता मानते है। वाद में वह मृत्यु का देवता माना जाने लगा। यिम मनुष्य के कर्मो की सख्ती से जाँच करता है और पापात्माओ को दड देता है। एक दूसरी पौराणिक कथा के अनुसार अहुर मज्दा की प्रेरणा से सवसे पहले मश्य और मश्यो नामक ससार के पहले स्त्री पुरुष पैदा हुए। इनके वेटे गय मारेतान ने अहुर मज्दा की शिक्षाओ पर ध्यान दिया। गय मारेतान का पुत्र हावश्यघ पहला आदमी था जिसने मनुष्य जाति के ऊपर शासन किया। हावश्यघ का एक नाम पिशदादि भी है। पिशदादि ने लोहा ईजाद किया और सिंचाई के लिये नहरें वनवाई। उसके पूर्व यिम के समय मे सोना, चाँदी, जहाज, गन्ना और चीनी वनाने का ज्ञान लोगो को हो चुका था।

पिशदादि का पुत्र तरुम उन्यि भी वडा कीर्तिवान् राजा हुआ। उसने ईरान के आर्यपूर्व निवासियो से ३० अक्षरोवाली लिपि सीखकर सारे देश में उसका प्रचार किया। उसने समाज को चार वर्गो में वाँटा (१) पुरोहित, (२) योद्धा, (३) किसान और (४) कारीगर। ईरानियो का पवित्र सदरा और जनेऊ (जुन्नार) यिम के समय से ही प्रचलित हुआ।

ईरान के आर्यो ने प्राचीन मागियो से प्रभावित होकर अग्निपूजा को धर्म का सवसे महत्वपूर्ण अग वना दिया। उनकी वेदी पर अव अग्नि सदा प्रज्वलित रहने लगी। अग्नि पवित्र थी, इसलिये फूंककर जलाना उसे अपवित्र करना और पाप था। अग्नि के वाद पानी का महत्व था। नदी में

कोई गदी वस्तु साफ करना भी अपराध समझा जाने लगा। पानी के बाद धरती पवित्र समझी जाती थी। मुर्दा सबसे अधिक अपवित्र वस्तु माना जाता था। इसलिये मुर्दो को न तो पवित्र अग्नि मे जलाया जाता था, न पवित्र नदी मे बहाया जाता था और न पवित्र धरती मे गाडा जाता था। मुर्दो को गिद्ध और कुत्तो के लिये छोड दिया जाता था। साराश यह कि ईसा से एक हजार वर्ष पहले की मिलीजुली ईरानी जाति में तरह तरह के सैकडो देवी देवता पूजे जाते थे, रूढियाँ और कर्मकाड बढ गए थे और तरह तरह के बेजा और बुरे रिवाज फैलते जा रहे थे।

ईरानी जाति के उस सकट काल मे ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व स्पिताम कुल मे महात्मा जरतुश्त का जन्म हुआ। ज़रतुश्त के पिता का नाम पौरुशाश्व और माँ का दुग्धोवा था। जरतुश्त ने घरबार छोडकर तीस वर्ष तक उषीदारण्य पर्वत पर तपस्या की तब सत्य का प्रकाश उनके अतर मे उदय हुआ। बहुत से देवी देवताओ की जगह जरतुश्त ने एक परमात्मा की पूजा का उपदेश दिया। सारे मानव समाज को उसी एक परमात्मा की सतान और आपस मे भाई बताया। पृथ्वी पर सच्चे धर्म की स्थापना के लिये ज़रतुश्त ने अपने को अहुरमज्द का सदेशवाहक बताया। ज़रतुश्त ने सबसे अधिक बल सच्चाई और पवित्र जीवन बिताने पर दिया। ज़रतुश्त के उपदेशो ने राजा विस्तास्प को काफी प्रभावित किया और वह जरतुश्त का अनुयायी बन गया। शाहनामा के अनुसार बलख की लडाई मे तूरानियो ने ७७ वर्ष की उम्र मे अहुरमज्द की प्रार्थना मे लीन जरतुश्त की हत्या कर डाली।

आर्यों के धर्मग्रथ वेद और जरतुश्त की पुस्तक अवस्ता मे से किसी मे मदिरो या मूर्तियो के लिये कोई जगह नही है। हर गृहस्थ का, चाहे वह राजा हो या साधारण व्यक्ति, यह कर्तव्य है कि वह हर समय अपने घर मे अग्नि प्रज्वलित रखे और उसमे यज्ञ करता रहे। वेदो मे जिसे यज्ञ कहा गया है उसी को अवस्ता मे 'यस्न' कहा गया है। वेदो और अवस्ता के धर्म ऐसे लोगो के धर्म है जो जीवन को खुशी और उमग के साथ देखते थे। दोनो उच्च जीवन और नेकी के सिद्धातो के सच्चे खोजी थे। दोनो यह मानते थे कि ईश्वरीय प्रकाश सबको अनत सुख के लक्ष्य तक पहुँचा देता है।

राजनीतिक दृष्टि से यह वह समय था जब ईरान असुरिया के साम्राज्य के अधीन था। पहली बार सन् ६६४ ई० पू० मे एक ईरानी सरदार युवक्षत्र ने असुरिया पर आक्रमण किया। युवक्षत्र हारा। उसने ईरान लौटकर अपनी हार के कारणो पर विचार किया। हर ईरानी सरदार या कुलपति अपने साथ अपनी अलग अलग फौज ले जाते थे। युद्ध के सचालन मे इससे बडी कठिनाई पडती थी। युवक्षत्र ने कुलो और रियासतो की जगह अब समस्त देश की एक सुसगठित सेना तैयार की। कई वर्ष की तैयारी के बाद युवक्षत्र ने बाबुल के राजा के सहयोग से असुरिया की राजधानी निनेवे पर आक्रमण किया। दो वर्ष के लगातार युद्ध के बाद युवक्षत्र ने असुरिया पर विजय प्राप्त की। इस विजय के परिणामस्वरूप आर्मीनिया, सुरिया, कप्पादोशिया, फलस्तीन, असुरिया, पार्थिया, बाल्हीक, सोग्दियाना, उरार्तु, आदि असुरिया साम्राज्य के देशो पर ईरानियो का आधिपत्य स्थापित हो गया। ४० वर्ष राज करने के बाद सन् ५९३ ई० पू० मे युवक्षत्र की मृत्यु हुई।

युवक्षत्र की मृत्यु के बाद ईरान के आधिपत्य के लिये युवक्षत्र के बेटे इश्तवेगु और दक्षिण ईरान के प्रात पर्सु के हखामनीषी वश के राजा कुरु मे भयकर युद्ध हुआ जिसमे विजय कुरु के हाथो रही। पर्सु के रहनेवाले पारसी कहलाते थे। इसी से बाद मे फारस, पारस और पर्शिया शब्द बने। पर्सु के रहनेवाले भी जरतुश्ती धर्म के माननेवाले थे और अपने को शेष ईरानियो की तरह आर्य कहते थे।

हखामनीषी वश का गौरव कुरु के सम्राट् बनते ही कीर्ति के शिखर पर जा पहुँचा। कुरु वीर, नेक, दयावान, उदार, बुद्धिमान और प्रजा का सच्चा हितचितक था। १४ वर्ष तक कुरु अपने विजय युद्धो मे व्यस्त रहा। उसने तातारियो से ईरान को पूरी तरह स्वतत्र किया, लीदिया और बाबुल पर आधिपत्य किया और भूमध्य सागर तक अपनी विजयपताका फहराई। पराजितो के साथ उसका व्यवहार बडी उदारता का होता था। बाबुल मे हजारो यहूदी परिवार निर्वासित अवस्था मे पडे हुए थे। कुरु ने उन्हें वापस फलस्तीन भेजा। जुरुसलम के टूटे हुए यहूदी मदिर का कुरु ने फिर से निर्माण कराया। अपने समय की व्याकुल दुनिया के एक बडे भाग पर कुरु ने शाति की स्थापना की। उसकी सारी प्रजा सुखी और समृद्ध थी। उस देश मे जहाँ एक एक पुरुष की कई कई पत्नियो की प्रथा थी, कुरु ने केवल एक ही विवाह किया। कासदिनी उसकी एकमात्र प्यारी पत्नी थी जिससे उसे दो बेटे और तीन बेटियाँ हुई।

मृत्यु से पूर्व कुरु ने पूर्वी प्रातो का शासन अपने छोटे बेटे बरदिय को सौप दिया। उसका बडा बेटा कबुजिय अपने पिता की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी बना। कबुजिय अपने पिता की तरह वीर और परिश्रमी तो था किंतु वह अभिमानी, शक्की और दुष्ट स्वभाव का था। उसने गुप्त रूप से अपने भाई की हत्या करवा दी और इस भेद को छिपाए रखा। उसके बाद ५२५ ई० पू० मे उसने मिस्र पर चढाई करके उसे विजय कर लिया। अत मे भाई की हत्या ने उसे आत्मग्लानि से भर दिया। सन् ५२२ ई० पू० मे उसने सात बडे बडे ईरानी सरदारो को बुलाकर उनसे भाई की हत्या का पाप स्वीकार करके आत्महत्या कर ली।

ईरानी सरदारो ने मिलकर हखामनीषी कुल के एक योग्य सरदार दारा को कबुजिय का उत्तराधिकारी चुना। दारा कुरु से भी अधिक बुद्धिमान और योग्य शासक सिद्ध हुआ। शाति स्थापना के बाद दारा ने सात वर्ष ईरानी साम्राज्य का सगठन और उसका शासनप्रबध ठीक करने मे लगाए। उसने सारे साम्राज्य को बीस प्रातो मे विभाजित किया। हर प्रात पर एक एक गवर्नर नियुक्त किया गया जिसे 'क्षत्रप' कहते थे। हर प्रात की मालगुजारी निश्चित कर दी गई। उचित स्थानो पर फौजी छावनियाँ डाली गई। साम्राज्य भर मे पक्की सडको का जाल पूर दिया गया ताकि सेनाओ और डाक के आने जाने मे सुगमता हो। हर प्रात मे क्षत्रप के साथ एक एक सेनापति और एक एक मत्री नियुक्त किया गया। क्षत्रप और सेनापति दोनो एक दूसरे से स्वतत्र थे और सीधे सम्राट् से आज्ञा लेते थे। मत्री उनके कामो की रिपोर्ट सम्राट् को देता था। अपने नाम से दारा ने सोने चाँदी के सिक्के ढलवाए जिससे व्यापार मे सुविधा हो। जनता को अधिक से अधिक समृद्ध बनाने का दारा ने पूरा पूरा प्रयत्न किया। ३६ वर्ष तक राज्य करने के बाद ६३ वर्ष की अवस्था मे ४८६ ई० पू० मे दारा की मृत्यु हुई। दारा की गणना ससार के बडे से बडे उदार, दक्ष और दयावान सम्राटो में की जाती है।

दारा के बाद उसका बेटा क्षयार्षा गद्दी पर बैठा। मिस्र के विद्रोह को दबाने के लिये उस क्षयार्षा ने मिस्र पर हमला किया। उसके बाद क्षयार्षा की यूनानियो के साथ कई लडाइयाँ हुई जिनमे थर्मापिली की लडाई इतिहास मे प्रसिद्ध है। २० वर्ष तक राज्य करने के बाद क्षयार्षा का धोखे से वध कर डाला गया।

क्षयार्षा की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक सात सम्राट् गद्दी पर बैठे। कभी कभी ईरानियो और यूनानियो मे लडाइयाँ हुई लेकिन यूनान के एक बडे भाग पर और भूमध्य सागर के एशियाई किनारे के सब इलाको पर ईरानियो का अधिकार रहा। यह स्थिति उस समय तक कायम रही जब ३३१ ई० पू० मे अरबेला के मैदान मे सिकदर महान् ने दारा तृतीय को हराकर कुरु का राजमुकुट अपने सर पर रखा। यूनानी इतिहासलेखक स्वीकार करते है कि वीरता और साहस मे ईरानी यूनानियो से एक इच पीछे नही थे। किंतु यूनानियो के नए सैनिक सगठन, अच्छे हथियारो और सिकदर के असाधारण व्यक्तित्व के आगे ईरानियो को सर झुकाना पडा। यूनानी सेनाओ ने सरकारी कोषागारो और महलो की लूट के बाद ईरानी कला के बहुमूल्य नमूने भी नष्ट कर दिए। अकेले शूश नगर की लूट मे सिकदर को ७३६० मन सोना और ३२,८४५ मन चाँदी मिली थी।

ईरान विजय के नौ वर्ष के भीतर ही सिकदर की बाबुल में मृत्यु हो गई। सिकदर के एशियाई क्षेत्रो पर उसके सेनापति सेल्यूकस का अधिकार हो गया। सेल्यूकस के उत्तराधिकारी ईरान पर लगभग १४० वर्षो तक शासन करते रहे। अत मे १७४ ई० पू० मे ईरान के एक प्रात पार्थिया के राजा मित्रदत्त प्रथम ने यूनानियो को सारे ईरान से निकाल बाहर कर दिया। पार्थी सम्राटो ने चार सौ वर्षो से ऊपर अर्थात् २३६ ई० तक ईरान पर राज किया। भारत के साथ उनका घनिष्ठ सबध था। वे अपने को अहुरमज्द के सेवक या प्रतिनिधि भी कहते थे।

में उसने टर्की को पूरी तरह पराजित किया और ईरान का वह सब भाग वापस ल लिया जिसपर तुर्की ने कब्जा कर लिया था। सन् १७३८ मे उसने दिल्ली पर आक्रमण की तैयारी की। रास्ते मे पहले उसने कधार पर और फिर काबुल पर कब्जा किया और अत मे दिल्ली पर आक्रमण किया। दिल्ली से लौटकर नादिर शाह ने बुखारा और खीव पर आधिपत्य किया। सन् १७४७ मे अपनी हत्या से पहले नादिर शाह ने ईरान के रुतबे को फिर एक बार ऊँचा कर दिया।

नादिर शाह की मृत्यु के बाद ईरान गृहयुद्धो और इंग्लिस्तान और फ्रास की साजिशो का केंद्र बन गया। सन् १९०६ मे ईरान मे शाह के अतर्गत वैधानिक सरकार की स्थापना हुई। ३१ अक्तूबर, सन् १९२५ को ईरान की पार्लमेटी मजलिस ने अपने प्रधान मत्री रजा खाँ को ईरान का बादशाह घोषित किया। ईरान के वर्तमान नरेश (१९६०) रजा शाह पहलवी रजा खाँ के बेटे हैं। ईरान के रेगिस्तानी इलाके मे तेल का अतहीन जखीरा है। उसी तेल के लोभ मे यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियो ने ईरान को अपने प्रभाव मे जकड रखा है। ईरानी देशभक्त इस जकड से छूटने के प्रयत्नो मे लगे हुए हैं।

अरबो की ईरान विजय से लेकर अब तक ईरान की सास्कृतिक आत्मा बार बार अपनी महानता का परिचय देती रही है। पूर्वी ईरान, विशेषकर खुरासान बौद्ध धर्म का शताब्दियो तक केंद्र रहा है। तसव्वुफ अथवा इसलामी वेदात के फूल सबसे पहले इसी इलाके मे खिले। प्रारभ के प्रसिद्ध सूफी इब्राहीम अजम, अहमद खजरविया, अबूअली शकीक, हातम आसम, यहिया बिन मआज, बायजीद बिस्तामी और अबूबक्र शिबली सब खुरासान के ही रहनेवाले थे। फाराबी, इब्न सीना, अबू रेहान, अलबेरूनी जैसे प्रसिद्ध विचारक और दार्शनिक सब उसी इलाके के थे। इसी इलाके मे तूस के रहनेवाले अल गिजाली ने, जो इसलाम का सबसे बडा विद्वान् माना जाता है, तसव्वुफ के ऊपर अगणित विद्वत्तापूर्ण पुस्तके लिखी। इसी प्रदेश मे अब्दुल रहमान नूरुद्दीन जामी, फरीदुद्दीन अत्तार और अब्दुल मज्द सनाई हुए जिनकी आध्यात्मिकता की छाप सारे एशिया पर लगी। यही सतो के सरताज मौलाना जलालउद्दीन रूमी हुए जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मसनवी' ससार के आध्यात्मिक साहित्य मे अपना विशेष स्थान रखती है।

यह स्वाभाविक था कि ईरान का वही हिस्सा जो भारत के धार्मिक विचारो से ओतप्रोत था इसलाम के आगमन के बाद ईरानी सस्कृति की बेदारी और इसलामी तसव्वुफ का सबसे बडा केंद्र साबित हुआ। बलख का ही रहनेवाला खालिद, जो बलख के बौद्ध पुरोहितो के खानदान का था, अब्बासी खलीफाओ का 'बरामिकी वजीर' बना। उसने बहुत सी सस्कृत पुस्तको का अरबी मे अनुवाद करवाया। इस तरह हम देखते हैं कि राज्य-परिवर्तन और धर्मपरिवर्तन के बावजूद ईरान ने अपनी सास्कृतिक ऊँचाई को कायम रखी।

स०ग्र०---एशियाटिक रिसर्चेज की जिल्दें, जेम्स डारमेस्टर दि सीक्रेट बुक ऑव दि ईस्ट, भाग १४, दि जेद अवस्ता, एम० एन० धल्ला जोरोआस्ट्रियन सिविलाइजेशन, जेनेद ए० रागोजिन बेबीलोन ऐंड पर्शिया, क्लीमेट हुआर्ट एशेट पर्शिया ऐंड ईरानियन सिविलाइजेशन, गिबन डिक्लाइन ऐंड फाल ऑव रोमन एपायर, पी० केरशास्प स्टडीज इन एनशेट पर्शियन हिस्ट्री, ई० जी० ब्राउन ए लिटररी हिस्ट्री ऑव पर्शिया, सर जे० मैलकम दि हिस्ट्री ऑव पर्शिया (१८१५), सर विलियम म्यूर हिस्ट्री ऑव दि कैलीफेट, इट्स राइज, डिक्लाइन ऐंड फाल, विश्वभरनाथ पाडे जरथुस्त्री धर्म और ईरानी सस्कृति (१९५२)।

[वि० ना० पा०]

ईरानी चित्रकला जिन विद्वानो ने ईरानी वस्त्रो, मीनाकारी चौको और चित्रो का अध्ययन किया है उन्हे पता है कि ईरानी अपनी नक्काशी के लिये ससार मे प्रसिद्ध हैं। ईरान मे बने कालीन रगो के सतुलन और अलकरण के प्रत्यावर्तन के लिये प्रसिद्ध हैं तथा वहाँ की प्राचीन कला के मुख्य अभिप्राय ज्यामितिक और पशुरुप हैं। हखमनी युग की ईरानी कला पर असूरिया का प्रभाव स्पष्ट है, पर ससानी युग से ईरानी कला अपना एक निजस्व रखती है। रगामेजी तथा चित्राकन मे ईरानी कला का सतुलन अरब, मगोल और तैमूरी अभियानो के बावजूद अपना निजस्व बनाए रखता है।

मनीखी चित्रित पुस्तको के जो अश नष्ट होने से बच गए हैं उनसे पता चलता है कि उस कला का मुस्लिम युग की आरभिक कला से सीधा सबध है। इस्लाम के आदेश से ईरान मे भी मूर्ति का निर्माण रुक गया, पर अरबो की विजय से उस देश का सबध दूसरे देशो से बढा और कला के क्षेत्र मे भी अनेक अतर्राष्ट्रीय प्रभाव उसकी कला पर पडे। एशिया पर मगोल विजय के बाद सुदूर पूर्व का रास्ता खुल गया और ईरानी कला पर चीनी कला क प्रभाव स्पष्ट रीति से पडने लगा। तैमूरी सुल्तानो मे तो अपने दरबार में अच्छो से अच्छे चित्रकारो को एकत्र करने की होड सी लगने लगी। इस विदेशी सत्ता का प्रभाव ईरान के जनजीवन पर अच्छा नही पडा, फिर भी यह अजीब बात है कि इन विदेशियो के अधीन ईरानी कला की आशातीत उन्नति हुई, जो ईरान के राष्ट्रीय शाह सफावियो के समय मे रुक सी गई। इसका यही कारण हो सकता है कि जब तक देश मे जीवन था, कला और युद्ध साथ साथ चले, पर शक्ति के समाप्त होने पर एकता के साथ ह्रास के लक्षण भी साफ साफ दीख पडने लगे।

आरभिक युग मे ईरानी कला का सबध मनीखी धर्म से था पर २९० ई० मे उस धर्म के सस्थापक मनि, जो चित्रकार भी थे, मार डाले गए और उनकी चित्रित पुस्तके जला दी गई। पर कला इन सब घटनाओ से मरती नही। मुस्लिम युग के आरभिक काल मे धर्म से कला का सबध टूट गया पर कुछ चित्रकार रईसो और सुल्तानो के आश्रय मे अपनी कलासाधना करते रहे। सभव भी यही था क्योकि इस युग मे चित्रो की सामग्री, यानी चटकदार रग, सोना और कागज इतने महँगे थे कि उनका उपयोग केवल राजाश्रित चित्रकार ही कर सकते थे। चित्रो को सुदरतापूर्वक बनाने मे भी इतनी मेहनत पडती थी कि साधारण जन उसका मेहनताना भरने मे असमर्थ थे। ईरानी चित्रकला रेखाओ की मजबूती और मोर मुरक के लिये प्रसिद्ध है, उसमे साया देने की क्रिया का अभाव हे तथा चेहरे की बनावट तीन चौथाई चश्मी मे दिखलाई जाती है। शरीर का अधिक भाग ढका होने से उसकी विशेषता दिखलाने के प्रयत्न का अभाव दीख पडता है। इन चित्रो की पृष्ठभूमि वासती सूर्य की प्रभा से अनुप्राणित रहती है और सैरे मे सुपुष्पित वृक्षो, पहाडियो और बहते हुए नालो का अकन रहता है।

ईरानी चित्रकला का असली इतिहास अब्बासी युग (७५०--१२५८) से आरभ होता है। इस युग की चित्रित पुस्तको का लेखन अब्बासियो की राजधानी बगदाद मे हुआ। इसमे सदेह नही कि इस चित्रकला के परिवर्धन मे ईरानियो का बडा हाथ था, पर उसमे पूर्व के ईसाई चित्रकारो की कारीगरी भी स्पष्ट है। आरभ मे वैद्यक, ज्योतिष और भौतिक शास्त्र के ग्रथो को चित्रित करने की आवश्यकता पडी। इस वर्ग की चित्रित पुस्तके अधिकतर १२वी सदी की हैं। इनमे राशियो तथा जलयत्रो को चित्रित करनेवाली पुस्तके थी जिनमे अल जजरी लिखित यत्रशास्त्र तथा दियोसकारिदेस मुख्य हैं। एक उल्लेखनीय बात यह है कि दियोस-कारिदेस (छठी सदी की प्राचीन चित्रित और अलकृत पुस्तके, जिनके आधार पर मध्यकाल तक अलकृत प्रतिलिपियाँ बनती रही) की चित्रित पुस्तको मे वनस्पतियो के चित्र तो यूनानी ढग के हैं पर मानव आकारो का अकन, रगामेजी और वेशभूषा मनीखी चित्रो और बीजानतीनी कुट्टमित भूमि की याद दिलाते हैं। इन वैज्ञानिक पुस्तको के लिखवाने और चित्रण कराने का श्रेय तो रईसो को है पर इब्न मुकफ्फा के कलीला व दिम्ना और हरीरी के मकामात को चित्रित कराने का श्रेय दूसरो को है। पहली पुस्तक सस्कृत के पचतत्र का अनुवाद है और दूसरी मे अबूजैद के चतुराई भरे कारनामो के किस्से हैं। इन पुस्तको की जो भी हस्तलिखित प्रतियाँ बच गई हैं उनसे पता चलता है कि सादगी होने पर भी उनकी रेखाओ मे जान है। वैसे उनके रग साधारण हैं। इनके चित्रो से १२वी सदी के अरब जीवन पर काफी प्रकाश पडता है। कुछ विद्वानो ने यह भी सुझाया है कि इनमे से कुछ पुस्तके शायद महमूद गजनवी (९९८--१०३०) के राज्यकाल मे गजनी मे लिखी गई क्योकि वही फिरदौसी ने शाहनामा लिखकर ईरान की प्राचीन विभूति को पुन जागरित किया था। पर यह धारणा निर्मूल है। ठीक बात तो यह है कि १२वी सदी की अब्बासी कला का इराक और ईरान मे एक ही रूप था।

ईरान के इतिहास की यह एक अजीब घटना है कि मगोल अभियानो ने उसकी सस्कृति और अर्थव्यवस्था को नष्ट करके भी कला को बडा प्रोत्साहन

दिया। १४वीं सदी जिस तरह ईरानी काव्य का स्वर्ण युग है उसी तरह चित्रकला का भी। तैमूर के वंशजों के युग में चित्रकला परिणति को प्राप्त हुई पर सफावी युग में उसकी प्रगति रुक सी गई। १४वीं सदी की ईरानी चित्रकला को मंगोल शैली कहा गया है, क्योंकि उसमें मंगोलो की आकृतियो, वेशभूषा और रहन सहन का चित्रण है। पर वास्तविकता यह है कि इस नवीन शैली का उद्गम चीन था तथा इस शैली ने ईरानी शैली को एक नई दिशा दी। पशुपक्षियो तथा वृक्षो के अकन में नवीनता इस शैली की विशेषता है।

प्रसिद्ध मंत्री और इतिहासकार रशीदुद्दीन (१२४६–१३१८) ने तबरीज के बाहर एक उपनगर बनवाया और वहाँ अपनी पुस्तको के चित्रण के लिये बहुत से चित्रकार रखे। १३०६ और १३१२ के बीच बने जामि-उत्तवारीख के चित्रो से पता चलता है कि उनमें बाइबिल, मुहम्मद के जीवन और बौद्ध घटनाओ के अकन भिन्न भिन्न शैलियो के द्योतक हैं। मंगोल इतिहास संबंधी चित्रो में चीनी प्रभाव स्पष्ट है। रशीदुद्दीन की मृत्यु के बाद अरब साहित्य की अनेक पुस्तको का चित्रण, जिनमें दमोत का शाहनामा भी है, शैलीगत आधारो पर शायद १३३० में हुआ। इसके चित्रो से यह विदित होता है कि इस युग में ईरानी शैली धीरे धीरे अपना निजस्व स्थापित करती जा रही थी।

१३८१ और १३९२ के बीच ईरान पर तैमूर के खूनी आक्रमण हुए। उनके साथ ही ईरानी संस्कृति पर चीन का प्रभाव बढा। तैमूर ने समरकद में बहुत से कलाकार इकट्ठे कर लिए थे जिससे कला की उन्नति मे कोई अवरोध नहीं पडा। तैमूरी युग के चित्र प्रारंभिक चित्रो से कहीं प्रशस्त हैं। जमीन और आसमान दिखलाने की प्रथा, भिन्न भिन्न खडों में आकृतियो और घटनाओं का प्रदर्शन तथा सैरे का वास्तविक अकन इस शैली की विशेषताएँ हैं। शाहनामा, लैलामजनूँ, कजवीनी की तारीख–ए–गुजीदा, इस्कंदरनामा इत्यादि के चित्रो से आरंभिक तैमूरी युग के चित्रो की शैली का पता चलता है।

शाहरुख की मृत्यु (१४४७) के बाद उस समय कला और साहित्य के प्रसिद्ध उन्नायको में हेरात के सुल्तान हुसैन इब्न बैकरा (मृत्यु १५०६) का नाम आता है। वास्तव में हेराती शैली के सस्थापक सुल्तान हुसैन के मंत्री अली शीर नवाई थे। चित्रो की माँग होने से बहुत से चित्रकार हेरात में इकट्ठा हो गए, जिनमें बिहजाद का स्थान मुख्य था। हेरात के चित्र-कारो ने कोई नई शैली न चलाकर प्रचलित ईरानी शैली को खूब माँजा। बिहजाद की कला के बारे में अभाग्यवश विद्वानो में मतैक्य नहीं है। जो चित्र बिहजाद के माने जाते हैं वे उनकी कृतियाँ हैं अथवा नहीं, इसपर भी कुछ विद्वान् बहुत खोज के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रंगामेजी, नक्काशी और सैरा के आलेखन मे वे बेजोड थे तथा युद्ध का चित्रण उनकी विशेषता थी।

सफावी युग ईरान की चित्रकला का राष्ट्रीय युग कहा जा सकता है। सफावी शैली का रुख रूढि की ओर था। इस युग के पहले ही ईरानी शैली काफी मँज चुकी थी इसलिये चित्रकारो ने इसमें कोई नवीनता लाने की आवश्यकता नहीं समझी। अब उनका ध्यान सब ओर से हटकर आलेखन और विषयवासना की ओर लग गया। फिरदौसी, निजामी और सादी के काव्यो के चित्रण की माँग बढ गई थी। सफावी शाह ईरान के ही थे, इसलिये उनकी कलम में कुछ प्राचीन रूढियो की आशा की जा सकती है, पर वास्तव में चित्रकला में इस रूढि के चिह्न कम ही मिलते हैं। तहमास्पकालीन चित्रो में पशुपक्षियो से अलकृत हाशिए की प्रथा चल पडी। चित्रकारो का ध्यान राजसी दृश्यो से हटकर कभी कभी देहाती दुनिया पर भी पडने लगा। तत्कालीन वेशभूषा और रस्म रिवाज के अध्ययन के लिए ये चित्र अपनी विशेषता रखते हैं। प्रसिद्ध चित्रकारो में मीर सय्यद अली, मीरक और सुल्तान मुहम्मद, जो पशुओ के चित्रण में प्रसिद्ध थे, के नाम लिए जा सकते हैं। शाह तहमास्प के अंतिम दिनो में (१५७६) ईरानी चित्रकार धीरे धीरे पुस्तकचित्रण की प्राचीन प्रथा से विलग होने लगे तथा अच्छे चित्रकार शबीह बनाने और वनभोजन इत्यादि के अकन में लग गए। चित्रकला और लिपिकला के सबधविच्छेद से कला ने एक नया रूप ग्रहण किया जिसके फलस्वरूप ईरानी कपडो में भी शबीहो की नकल होने लगी।

बाद को सफावी चित्रकला पुस्तक आलेखन से बिलकुल अलग हो गई पर साथ ही साथ वह रूढिगत भी होती गई। चित्रकार स्याहकलम चित्र बनाने लगे और सस्ते पडने से उनकी जनता में माँग काफी बढ गई। इस शैली के आचार्य रिज़ा अब्बासी माने गए हैं जो शाह अब्बास प्रथम (१५८७-१६२९) के समकालीन थे। १७वीं सदी में ईरानी कला पर यूरोपीय प्रभाव भी पडा पर वह प्रभाव परिसीमित ही रहा। अलकरण में यूरोपीय चित्रो से कुछ अश नकल करके उनके चारो ओर ईरानी दृश्य और आकृतियाँ भर दी जाती थी।

शाह अब्बास द्वितीय के बाद ईरानी कला का क्रमश ह्रास होने लगा तथा चित्रकार पुरानी चित्रित पुस्तको की नकल में अथवा स्याह-कलम तसवीरें बनाने में अपना समय लगाने लगे। १९वीं सदी म तो यूरोप से प्रभावित ईरानी चित्रकला की अपनी कोई हस्ती नही रह जाती।

ईरानी सुलेख-करीब दो हजार वर्षो से लेखनकला ईरान की राष्ट्रीय भावनाओ और रसानुभूति की द्योतक रही है। मध्य युग में सुलेखन कला चित्रकारो तथा नक्काशो की कलाओ का मुख्य अग बन गई। चित्रकला और सुलेखन कला का चोली दामन जैसा साथ हो गया, यहाँ तक कि ईरान के अनेक चित्रकारो ने अपनी कला सीखने के पहले सुलेखन कला यानी खुशकती का अभ्यास किया। ईरान के प्राचीन इतिहास में लेखन की शैलियाँ अनेको बार बदली, पर सुलेखन का सिद्धात कभी नही बदला।

हखमनी युग में कीलाक्षरो की सुदरता रगो के उपयोग से बढाई गई तथा ससानी युग में जरथुस्त्र के वचन झिल्लियो पर सुवर्णाक्षरो में लिखे गए। मनीखियो ने अपने धर्मग्रथ एक विशेष लिपि में अच्छे से अच्छे कागज पर रगीन स्याहियो से लिखे। ईरानी में अरबो के आने के बाद अरबी लिपि का प्रचार हुआ और कुरान के सिद्धातो के अनुसार रस-प्रदायक खुशकत पर विशेष ध्यान दिया गया। अरबी के अनेक बडे बडे विद्वानो ने खुशकती पर अपने सिद्धात प्रकट किए। १९वीं सदी के अत में चौबीस तरह की भिन्न भिन्न लिपियाँ थी जिनमें रयासी, जिसके तेरह भेद थे, मुख्य थी। इस लिपि का प्रवर्तक एक ईरानी था। १०वीं सदी की ईरानी सुलिपि के उदाहरण कम मिलते हैं और जो मिलते भी हैं उनमें कूफी लिपि की बहुलता पाई जाती है, फिर भी ईरानी शैली में अपना निजस्व मिलता है। कूफी लिपि की मोर मुरक और उतार चढाव आलकारिक दृष्टि से महत्व के हैं और उसकी इस विलक्षणता का उपयोग ईरानियो ने अपने ढग से किया। पर इसका यह अर्थ नही कि सीधी सादी पर सुदर लिपि का उपयोग ११वीं सदी में नही होता था।

सेलजुक साम्राज्य की स्थापना के युग में सुलिपिकारो के सामने लिपि लिखने के अनेक तरीके वर्तमान थे पर उन सबका यही उद्देश्य था कि लेखों की सामग्री चाहे कुछ भी हो, उनकी सुदरता आकर्षक हो तथा अक्षरो की सजावट मिल जुलकर नक्काशी का रूप धारण कर ले। इन लिपियो में कूफी का मुख्य स्थान था पर १२वीं सदी के अत में नस्खी लेखनविधि का आरभ हुआ। इस लेखनविधि की खास बात यह थी कि उसने कूफी लिपि के ठोसपन को दूर करके नाजुक मोर मुरको को स्थान दिया। सुल्स लिपि का उद्देश्य अक्षरो के बढाव चढाव में आलकारिकता बढाना था। इस युग में खुशकती की प्रतियोगिता बढी। १२वीं सदी के प्रसिद्ध खुशकतनवीस नज्मुद्दीन अबूबक्र मुहम्मद का कहना है कि उसे ७० लिपियो को अलकारिक ढग से लिखने का अभ्यास था। उसने खुशकती पर एक पुस्तक भी लिखी जिसमें नस्खी, सुल्स, रिका और मुहक्क लिपियो की लेखनशैली का वर्णन है। सुल्तान तुगरिल ने स्वय खुशकती की शिक्षा पाकर अपने हाथो से कुरान की दो प्रतिलिपियाँ कीं।

१४वीं सदी में खुशकती की ओर उन्नति हुई तथा नस्खी और कूफी का उपयोग मस्जिदों को सजाने में किया गया। ईरानी सूफियो ने तो लिपि को परमात्मा के ज्ञान का साधन ही मान लिया और उसी उद्देश्य से अनुप्राणित होकर उस युग के कुछ सुलिपिको ने अपने खतो की ऐसी योजना निकाली कि वे सूफी मत के प्रतिबिंब से बन गए। मगोल युग में काशान खुशकत-नवीसी का प्रधान केंद्र बना रहा।

नस्तलीक लिपि के परिवर्धन से तैमूरी युग को हम ईरानी खुशकतनवीसी का स्वर्णयुग कह सकते हैं। तैमूर का एक मंत्री अमीर बद्रुद्दीन स्वय

ईरानी चित्रकला (देखे पृष्ठ २९)

मसनवी की एक पुस्तक का सुसज्जित चित्र, १६वी सदी का पूर्वार्ध
(स्वर्गीय किर्कर मिनैशा के सग्रह से)

ईरानी चित्रकला (देखें पृष्ठ २६)
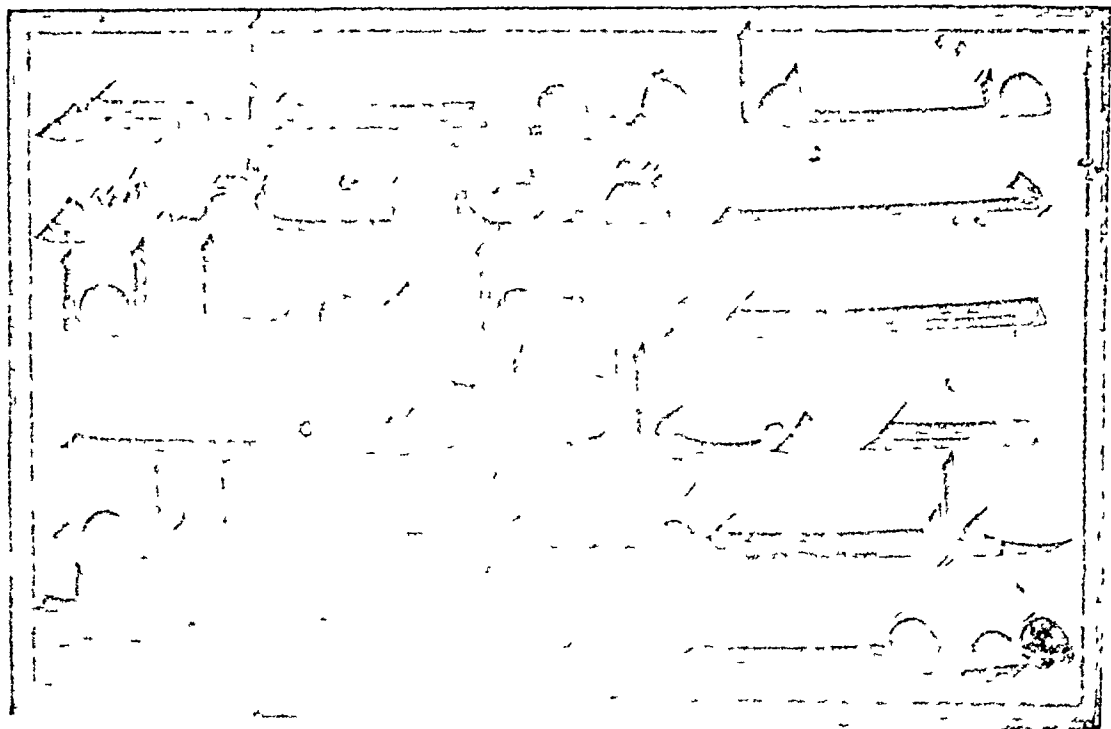
ऊपर चित्रकला और लिपिकला का समन्वय लिए एक पृष्ठ

नीचे नवीं-दसवीं सदी में लिखी गई कुरान का एक पृष्ठ (लंबाई १२ इंच)

(चेनिन बशीर के संग्रह से)

खुशकतनवीस था तथा सुल्तान के पोते इब्राहीम मिर्जा और बायसुगुर (१३९९-१४३३) इस फन मे माहिर थे। नस्तलीक लिपि अप्रयास ही आगे बढी। उसमे एक ऐसी सस्कृति के दर्शन होते है जो आज तक ईरानी लिपि मे बनी है। तैमूरी युग मे दीवानी और दश्ती नाम की दो और लिपियाँ चली तथा तुग्रा का प्रयोग मस्जिदो के अभिलेखो के लिये किया गया।

कहा जाता है कि नस्तलीक चलाने का श्रेय तबरीज के मीर अली को है जो तैमूरी की नौकरी मे थे। उनके पुत्र अब्दुल्ला ने उस लिपि की और उन्नति की। अब्दुल्ला के दो शागिर्द थे—मौलाना जफर अल्तबरीजी और मौलाना अजहर तबरीजी (मृ० १४७५-७६)। मौलाना अजहर ने, जो स्वय बडे सैलानी भी थे, इस लिपि का खूब प्रचार किया। उनके प्रधान शिष्य सुल्तान अली इब्नमुहम्मद अल-मशहदी, जो हेरात के सुल्तान हुसेन मिर्जा (१४७०-१५०६) की सेवा मे थे, अपनी शैली के लिये विख्यात थे। ट्रास-आक्सियाना के कुछ खुशकतनवीसो ने नस्तलीक को एक नई दिशा देनी चाही, पर सुल्तान अली के प्रयत्न से उनकी कुछ न चल पाई। १५०७ मे हिरात के उजबेगो के हाथ पड जाने पर सुल्तान अली ने विजेताओ की सेवा स्वीकार कर ली और मीर अली अल-हुसेनी बुखारा चले गए जहाँ उन्होने मीर अली की नस्तलीक शैली की नीव डाली।

१४२० मे शीराज मे महमूद इब्न मुर्तजा अल-कातिब अल-हुसैनी नस्तलीक के प्रसिद्ध लेखक हुए। एक दूसरे शीराजी याकूब इब्नहसन ने १४५४ मे हिदुस्तान आकर खुशकतनवीसी पर तुहफात-उल-मुहिब्बीन नामक एक ग्रथ लिखा।

सफावी युग मे ईरानी खुशकतनवीसी में कोई हेर फेर नही हुआ पर इसमे सदेह नही कि खुशकतनवीसो ने सफावी युग की चित्रकला और वास्तु पर काफी प्रभाव डाला। तबरीज के शाह महमूद नैशापुरी (मृ० १५४५) शाह इस्माईल के अधीन प्रसिद्ध खुशकतनवीस थे। इनके हाथ की लिखी शाहनामा और खमसे की प्रतियाँ अब भी मौजूद हैं। बाबा शाह इस्फहानी (मृ० १६०३-४) इस युग के प्रसिद्ध सुलिपिक थे। वे तुर्की से हिरात मे आकर बसे और वहाँ से तबरीज मे। शाह अब्बास प्रथम के समय के उच्च कोटि के सुलेखको मे अली रिजा अब्बासी (जो चित्रकार रिजा अब्बासी से भिन्न है) का अपना स्थान था।

१७वी सदी के मध्य मे हाज्जी खलीफा (१६०८-५७) ने खुशकतनवीसी पर कश्फअज-जुनून लिखकर ईरानी सुलेखन के इतिहास और सिद्धातो पर प्रकाश डाला। इसी युग म नस्तलीक लिपि के एक रूप शिकस्ता का जन्म हुआ।

१८-१९वी सदी में ईरानी चित्रकला तो रूढिवाद के चक्कर मे पडकर अपना अस्तित्व खो बैठी पर सुलेखन कला की माँग बनी रही। १८वी सदी मे शफीआ के प्रयत्न से शिकस्ता की भी सुलिपियो मे गणना होने लगी। १९वी सदी मे भी मिर्जा अली मुहम्मद-ए-बाब (१८२१-५०) ने बाबी सप्रदाय चलाया तथा खत्त-ए-बदी यानी 'नई लेखनशैली' को जन्म दिया जिसका सबध आर्मीनी अक्षरो से है जिसे कुछ बाबी ही समझ सकते थे। बाद मे बहाइयो ने खत्तए-तजीली यानी 'दर्शक लिपि' चलाई जिसका लघुलिपि होने से अधिक प्रचार नही हुआ। पर बहाई खुशकतनवीसो का ध्यान शिकस्ता नस्तलीक की ओर अधिक था तथा प्रसिद्ध बहाई सुलेखक मुश्की कलम के खतो की आज दिन भी माँग है।

ईरान मे खुशकतनवीसी आरभिक काल से ही धार्मिक भावनाओ का चेतन अथवा अचेतन रूप मे प्रतीक थी। समयातर म लिपि ने मत्र-शक्ति का रूप ग्रहण कर लिया। तथा उसका प्रभाव ईरानी कला के सब अगो पर पडने लगा। लिपि केवल अलकारिकता के लिये ही नही रह गई, वह अपनी शान शौकत, तरलता और सुदरता मे अपने निजस्व के लिये भी प्रसिद्ध हो गई, जिसके फलस्वरूप अभिलेख सब कलाओ के अग बन गए। वास्तु के अलकरण मे अभिलेखो के उत्खनन से उनके बडे पैमाने मे होने से अधिक सजीवता और सफाई आई जो कागज के परिमित पैमाने पर सभव नही थी। इमारतो पर स्थान काफी होने से कूफी की अलकारिकता बढाने का सुयोग लेखको को मिला, पर इमारती लिखाई होने से उसमें इमारती उपयोग की सीमाएँ आ गईं और इसी वजह से ऐसे अक्षरो की कल्पना की गई जो चतुष्कोणो मे ठीक से बैठ सके तथा अलकरणो मे घुलमिल जा सके। [मो० च०]

ईरानी भाषा भारत-यूरोपीय भाषा परिवार की शाखा हिंद-ईरानी की उपशाखा, ईरानी, भारतीय उपशाखा की भाँति ही महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल मे यह प्राचीन फारसी (पारसी) के रूप मे एक राजकीय भाषा थी और अवेस्ती के रूप मे धार्मिक भाषा। मध्य ईरानी के काल मे दो प्रभूत जनभाषाएँ विकसित हुई, पूर्व प्रदेश मे सोग्दी और पश्चिमी प्रदेश मे पहलवी। इनके अतिरिक्त फारसी बहुत समय तक एशिया के बडे भूभाग मे सस्कृति की भाषा रही।

प्राचीन फारसी ईरान के दक्षिण-पश्चिमी कोने की भाषा थी। इसका परिचय हमे कीलाक्षरो मे खुदे हुए हखमानी बादशाहो के अभिलेखो से मिलता है। इनकी लिपि सभवत अक्कदी लिपि से सबद्ध है। सबसे पुराना अभिलेख अरिय-रम्न (६१०-५८० ई० पू०) का बताया जाता है, किंतु सबसे महत्व के लेख बादशाह दारा (५२०-४८६ ई० पू०) के है जो उसके साम्राज्य में सर्वत्र पाए जाते है। इनमे भी बिहिस्तून का अभिलेख सर्वप्रसिद्ध है। प्राचीन फारसी के अतिरिक्त ये लेख अन्य दो भाषाओ (एलमी और बेबीलोनी) मे भी पाए जाते है।

अवेस्ती धर्मग्रथ की भाषा है। अवेस्ता अहुरमज्द के उपासक पारसी लोगो का धर्मग्रथ है। इसमे भिन्न भिन्न कालो मे रचित उपासना और प्रार्थना के सूक्त पाए जाते हैं। ऋग्वेद की भाँति अवेस्ता भी श्रुति-परपरा पर ही निर्भर थी और यह पहलवी वर्णमाला मे सासानी बादशाहो के समय मे लेखबद्ध की गई। विद्वान् इसके प्राचीन भागो का काल ईसा पूर्व आठवी सदी निर्धारित करते है। यह ईरान के पूर्वी भाग की भाषा थी। प्राचीन ईरानी का अवेस्ती और प्राचीन फारसी को छोडकर हमे और कोई लेख नही मिलता।

मध्य ईरानी के दो समुदाय है एक पश्चिमी और दूसरा पूर्वी। पश्चिमी मध्य ईरानी को पहलवी कहते हैं। इस शब्द का सबध पहलवीक् जाति से समझा जाता है। यह सासानी साम्राज्य (२२६ ई० पू०—६५२ ई०) की राजभाषा थी और इसमे लिखित बहुत से धार्मिक तथा अन्य ग्रथ मिलते हैं। इनकी लिपि अरमीनी से प्रभूत तथा प्रभावित मालूम होती है।

मध्य ईरानी की कई भाषाओ के अभिलेख और पुस्तके अभी ५०-६० वर्ष पूर्व तुर्फान (पूर्वी तुर्किस्तान) मे प्राप्त हुई है। इनमे पारथी भाषा उल्लेखनीय है। मध्यकालीन फारसी भी इसी समुदाय की है। इसमे सासानी बादशाहो के अभिलेख मिलते है। यही भाषा पजद नाम से अवेस्ती धर्म की पुस्तको के लिय भी प्रयोग मे आई है।

मध्य ईरानी के पूर्वी समुदाय मे पूर्वी तुर्किस्तान मे प्राप्त हुए साहित्य की भाषाएँ हैं। इनमें बुखारा और समरकद के क्षेत्र की प्राचीन भाषा सोग्दी है जो एशिया के मध्यवर्ती विस्तृत क्षत्र की भाषा रही होगी। यह मगोलिया से लेकर तिब्बत के सीमाप्रात तक फली हुई थी। इसमे बौद्ध धर्मग्रथ (बहुधा चीनी भाषा से अनूदित), ईसाई धर्मग्रथ (सीरियाई भाषा से अनूदित तथा मौलिक) और मनीची ग्रथ मिलते है। सबसे पुराने ग्रथो का समय ईसवी चौथी शती होगा।

सोग्दी के अतिरिक्त इस समुदाय की दूसरी महत्व की भाषा खोतानी है। इसे सक भी कहते है। इसमे बहुत से धर्मग्रथ आठवी से १०वी शती के लिखे हुए प्राप्त हुए है। इनम बहुत से बौद्धधर्म सबधी है। लिपि सबकी ब्राह्मी है और शब्दावली मे प्राकृत के बहुत से शब्द मिलते हैं।

आधुनिक ईरानी की सबसे महत्वपूर्ण भाषा फारसी है। यह अरबी लिपि मे लिखी जाती है। यह अफगानिस्तान से लेकर पश्चिम के काफी बडे भूप्रदेश मे सस्कृति की प्रतिनिधि भाषा है। इसमे आठवी शती ईसवी से लेकर प्रभूत साहित्य का सृजन हुआ है।

गठन की दृष्टि से पामीरी, कुर्दी, बलोची और पश्तो भी ईरानी उपशाखा के अतर्गत है।

विस्तार की दृष्टि से हिद-ईरानी शाखा की तीन भाषाओ ने महत्व प्राप्त किया—सस्कृत, पालि और फारसी, और ये तीनो सभ्यता और सस्कृति की प्रचारक रही। ईरानी उपशाखा मे फारसी सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाषा है।

स०ग्र०—ए० मेडए ले लॉग दु मॉद (पेरिस, १९५२)।

[बा० रा० स०]

ईरी झील, उत्तरी अमरीका की बड़ी झीलों में सबसे दक्षिणवाली है, जो अक्षांश ४१° ३०′ उ० एवं ४२° ५२′ उत्तर तथा देशांतर ७८° ५३′ प० एवं ८२° २५′ पश्चिम के बीच, ह्यूरन तथा ओंटेरियो झीलों के मध्य स्थित है। इसके उत्तरी किनारे पर कनाडा की सीमा, दक्षिण-पूर्व में न्यूयार्क, पेनसिलवेनिया तथा ओहायो, पश्चिम में मिचिगन तथा ओहायो राज्यों की सीमा पड़ती है। इसकी अधिकतम लंबाई उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक २४५ मील, औसत चौड़ाई ५० मील (२८ से ५८ मील तक), तथा क्षेत्रफल ६,६०० वर्ग मील है। यह झील समुद्र की सतह से ५७३ फुट की ऊँचाई पर तथा ह्यूरन झील की सतह से ८ फुट नीचे है। इसके जल की अधिकतम गहराई २१० फुट, तथा औसत गहराई १०० फुट है। इसमें डिट्रायट नदी मिलती है तथा ओंटेरियो झील को छोड़कर अन्य सभी बड़ी झीलों का जल इसमें आता है। इनके सिवाय उत्तर से ग्रैंड नदी, पश्चिम से मॉमी, सैंडस्की एवं ह्यूरन तथा दक्षिण से कुयाहोगा नदियाँ मिलती हैं। ईरी के जल का निकास नायागरा नदी के द्वारा होता है जो ओंटेरियो झील में गिरती है। ईरी झील बड़ी झीलों में से सबसे छिछली और यातायात के लिये भयावह है क्योंकि नायागरा जलप्रपात दिन प्रति दिन पीछे की ओर हटता जा रहा है।

इस झील का व्यापारिक महत्व नहर के निकल जाने से बहुत बढ़ गया है, जो पूर्व से पश्चिम जाने की मुख्य साधन है। नायागरा जलप्रपात के पास अटलांटिक सागर से सीधे आने में जलप्रपात के कारण जो असुविधा थी उसको वेलंड नहर दूर कर देती है। ईरी के तट पर सुंदर बंदरगाहों में बफ़ैलो, ईरी, क्लीवलैंड, सैंडस्की तथा टोलेडो प्रमुख हैं, परंतु बड़े जहाजों के लिये ये उपयुक्त नहीं हैं। [श्या० सु० श०]

ईरुला यह शब्द तमिल भाषा के ईरुल (=श्याम) शब्द से निकला है। दक्षिण भारत में नीलगिरि की पहाड़ियों पर निवास करनेवाली एक अत्यधिक श्यामवर्ण आदिम जाति का नाम ईरुला है। इसके विपरीत 'बडागा' सबसे सुंदर वर्णवाली आदिम जाति है। ईरुला लोग अपनी बोलचाल में अपभ्रंश तमिल का प्रयोग करते हैं तथा एक प्रकार के विष्णुपूजक हैं। इस जाति में विवाह के समय एक भोज देने के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष प्रथा नहीं है। इनके यहाँ मृतकों को गाड़ने की प्रथा है, गाड़ते समय शव को पद्मासनावस्था में एवं मस्तक को उत्तर की ओर करके रखा जाता है। ये लोग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, किंतु भविष्यवक्ता के रूप में इनका बड़ा आदर होता है। [श्या० सु० श०]

ईल फ्रांस की एक नदी है। इसका उद्गम जूरा की उत्तरी तलहटी में बेसल से दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह उत्तर-उत्तर-पूर्व की दिशा में राइन के समांतर बहती हुई स्ट्रासबुर्ग से नौ मील नीचे बाईं ओर से राइन में प्रवेश करती है। इसकी लंबाई १२३ मील है। यह संकरी वोसजेस घाटी में बहनेवाली छोटी छोटी नदियों का जल ग्रहण करती है। कोलमार के समीप लाडहोफ से आगे (राइनवाले) संगम पर्यंत ५६ मील की दूरी तक यातायात के योग्य है। ऊपरी ऐलसेस के मुख्य नगर, जैसे मालहाउज, कोलमार, श्लेस्टाट तथा स्ट्रासबुर्ग इसी नदी के तट पर बसे हैं। यह दो प्रमुख नहरों राइन-मार्न तथा राइन-रोन, को जल प्रदान करती है। ये दोनों नहरें स्ट्रासबुर्ग के समीप से निकाली गई हैं। [श्या० सु० श०]

ईलियद यूरोप के आदिकवि होमर द्वारा रचित महाकाव्य। इसका नामकरण इलियन नगर (ट्राय) के युद्ध के वर्णन के कारण हुआ है। समग्र रचना २४ पुस्तकों में विभक्त है और इसमें १५६९३ पंक्तियाँ हैं।

संक्षेप में इस महाकाव्य की कथावस्तु इस प्रकार है : इलियन के राजा प्रियाम के पुत्र पारिस ने स्पार्टा के राजा मेनेलाउस की पत्नी परम सुंदरी हेलेन का उसके पति की अनुपस्थिति में अपहरण कर लिया था। हेलेन को पुनः प्राप्त करने तथा इलियन को दंड देने के लिये मेनेलाउस और उनके भाई अगामेम्नन ने समस्त ग्रीक राजाओं और सामंतों की सेना एकत्र करके इलियन के विरुद्ध अभियान आरंभ किया। परंतु इस अभियान के उपर्युक्त कारण, और उसके अंतिम परिणाम, अर्थात् इलियन के विध्वंस का प्रत्यक्ष वर्णन इस काव्य में नहीं है। इसका आरंभ तो ग्रीक शिविर में काव्य के नायक एकिलीज के रोष से होता है। अगामेम्नन ने सूर्यदेव अपोलो के पुजारी की पुत्री को बलात्कारपूर्वक अपने पास रख छोड़ा है। परिणामतः ग्रीक शिविर में महामारी फैली हुई है। भविष्यद्रष्टा काल्कस ने बतलाया कि जब तक पुजारी की पुत्री को नहीं लौटाया जायगा तब तक महामारी नहीं रुकेगी। अगामेम्नन बड़ी कठिनाई से इसके लिये प्रस्तुत होता है पर इसके साथ ही वह बदले में एकिलीज के पास से एक दूसरी बेटी ब्रिसेइस को छीन लेता है। एकिलीज इस अपमान से क्षुब्ध और रुष्ट होकर युद्ध में न लड़ने की प्रतिज्ञा करता है। वह अपनी मीरमिदन (पिपीलिका) सेना और अपने मित्र पात्रोक्लस के साथ अपने डेरों में चला जाता है और किसी भी मनुहार को नहीं सुनता। परिणामतः युद्ध में अगामेम्नन के पक्ष की किरकिरी होने लगती है। ग्रीक सेना भागकर अपने शिविर में शरण लेती है। परिस्थितियों से विवश होकर अगामेम्नन एकिलीज के पास अपने दूत भेजता है और उसके रोष के निवारण के लिये बहुत कुछ करने को तैयार हो जाता है। परंतु एकिलीज़ का रोष दूर नहीं होता और वह दूसरे दिन अपने घर लौट जाने की घोषणा करता है। पर वास्तव में वह अगामेम्नन की सेना की दुर्दशा देखने के लिये ठहरा रहता है। किंतु उसका मित्र पात्रोक्लस अपने पक्ष की इस दुर्दशा को देखकर खीझ उठता है और वह एकिलीज से युद्ध में लड़ने की आज्ञा प्राप्त कर लेता है। एकिलीज़ उसको अपना कवच भी दे देता है और अपने मीरमिदन सैनिकों को भी उसके साथ युद्ध करने के लिये भेज देता है। पात्रोक्लस इलियन की सेना को खदेड़ देता है पर स्वयं अंत में वह इलियन के महारथी हेक्तर द्वारा मार डाला जाता है। पात्रोक्लस के निधन का समाचार सुनकर एकिलीज शोक और क्रोध से पागल हो जाता है और अगामेम्नन से संधि करके नवीन कवच धारण कर हेक्तर से अपने मित्र का बदला लेने युद्धक्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। एकिलीज के युद्ध आरंभ करते ही पासा पलट जाता है। वह हेक्तर को मार डालता है और उसके पैर को अपने रथ के पिछले भाग में बाँधकर उसके शरीर को युद्धक्षेत्र में घसीटता है जिससे उसका सिर धूल में लुढ़कता चलता है। इसके पश्चात् पात्रोक्लस की अंत्येष्टि बड़े ठाट बाट के साथ की जाती है। एकिलीज़ हेक्तर के शव को अपने शिविर में ले आता है और निर्णय करता है कि उसका शरीर खंड खंड करके कुत्तों को खिला दिया जाय। हेक्तर का पिता इलियन् का राजा प्रियाम उसके शिविर में अपने पुत्र का शव प्राप्त करने के लिये उपस्थित होता है। उसके विलाप से एकिलीज़ को अपने पिता का स्मरण हो आता है और उसका क्रोध दूर हो जाता है और वह करुणा से अभिभूत होकर हेक्तर का शव उसके पिता को दे देता है और साथ ही साथ १२ दिन के लिये युद्ध भी रोक दिया जाता है। हेक्तर की अंत्येष्टि के साथ इलियद की समाप्ति हो जाती है।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में इलियद के अंत में एक पंक्ति इस आशय की मिलती है कि हेक्तर की अंत्येष्टि के बाद अमेजन (स्त्रितनी) नामक नारी योद्धाओं की रानी पैंथेसिलिया प्रियाम की सहायता के लिये आई। इसी संकेत के आधार पर स्मर्ना के क्विंतुस नामक कवि ने १४ पुस्तकों में इलियद का पूरक काव्य लिखा था। आधुनिक समय में श्री अरविंद घोष ने भी अपने जीवन की संध्या में मात्रिक वृत्त में इलियन नामक ईलियद् को पूर्ण करनेवाली रचना का अंग्रेजी भाषा में आरंभ किया था जो पूरी नहीं हो सकी। नवम पुस्तक की रचना के मध्य में ही उनको चिरसमाधि की उपलब्धि हो गई।

ईलियद में जिस युग की घटनाओं का उल्लेख है उसको वीरयुग कहते हैं। श्लीमान और डेर्फेल्ट की ट्राय नगर की खुदाई के पश्चात् इस युग की सत्यता निर्विवाद सिद्ध हो चुकी थी। ई० पू० १३वीं और १२ शताब्दियाँ उस युग का काल मानी जाती हैं। पर ईलियद के रचनाकाल की सीमाएँ ई० पू० नवीं और सातवीं शताब्दियाँ हैं। होमर की रचनाओं से संबंध रखनेवाली समस्याएँ अत्यंत जटिल हैं। एक समय होमर के अस्तित्व तक पर संदेह किया जाने लगा था। पर अब स्थिति अधिक अनुकूल हो चली है, यद्यपि अब भी होमर के महाकाव्य एक विकासक्रम की चरम परिणति माने जाते हैं जिनमें एक लोकोत्तर प्रतिभा का कौशल स्पष्ट लक्षित होता है।

ईलियद में महाकाव्य की दृष्टि से सरलता और कविकर्म का अभूतपूर्व सामजस्य है। नीति की दृष्टि से असाधारण काम और क्रोध के विध्वसकारी परिणाम का प्रदर्शन जैसा इस काव्य मे हुआ है वैसा अन्यत्र मुश्किल से मिलेगा। इसके पुरुष पात्रो मे अगामेम्नन, एकिलीज, पात्रोक्लस, मेनेलाउस, प्रियाम, पारिस और हेक्तर उल्लेखनीय हैं। स्त्री पात्रो मे हेलेन, हेकुवा, आद्रोमाकी इत्यादि महान् हैं। युद्ध मे मनुष्य और देवता सभी भाग लेते है, कही मनुष्य गुणो मे देवताओ से ऊँचे उठ जाते है तो कही देवता लोग मानवीय दुर्बलताओ के शिकार होते दृष्टिगोचर होते ह एव परिहास के पात्र वनते हैं। भारतीय महाकाव्यो के साथ इलियद की अनेक वाते मेल खाती है, जिनमे हेलेन का अपहरण और इलियन का दहन सीताहरण और लकादहन से स्पष्ट सादृश्य रखते हैं। सभवत इसी कारण मेगस्थनीज को भारत में होमर के महाकाव्यो के अस्तित्व का भ्रम हुआ था।

होमर के अनुवाद वहुत है परतु उसका अनुवाद, जैसा प्रत्येक उच्च कोटि की मौलिक रचना का अनुवाद हुआ करता है, एक समस्या है। यदि अनुवादक सरलता पर दृष्टि रखता है तो होमर के कवित्व को गँवा वैठता है और कवित्व को पकडना चाहता है तो सरलता काफूर हो जाती है।

सं० ग्र०—मूलमात्र मुनरो और एलेन का आक्सफोर्ड का सस्करण। सानुवाद लोएव क्लासिकल लाइब्रेरी का सस्करण। सुलभ सस्ते अनुवाद रिव्यू (पैंग्विन और राउज़ (मैंटर) के सस्करण।

आलोचना गिल्वर्ट मरे, ऐशेंट ग्रीक लिटरेचर, नौर्वुड राइटर्स ऑव ग्रीस, वाउरा ऐशेंट ग्रीक लिटरेचर।) [भो० ना० श०]

ईलियन्

(अथवा ईलियानुस् ताक्तिकुस्) ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी का एक यूनानी विद्वान् जो रोम मे रहता था और जिसने युद्धविद्या के सिद्धात (ताक्तिके थियोरिया) नामक ग्रथ की रचना की थी। यह ग्रथ हाद्रियान् अथवा त्राजान नामक रोमन सम्राट् को समर्पित किया गया था। इसमे व्यायाम और युद्ध सवधी उन सिद्धातो का प्रतिपादन किया गया है जो सिकदर के ग्रीक उत्तराधिकारियो द्वारा व्यवहृत होते थे। इस ग्रथ मे पूर्वाचार्यो के मतो का विवेचनात्मक वर्णन और व्यायाम सवधी सूक्ष्म विवरण मिलता है। इसका अनुवाद अरवी मे भी हुआ और अरवो के ऊपर इसका पर्याप्त प्रभाव पडा। स्पेन और हालैंड की १६वी शताव्दी की युद्धविद्या पर भी इस रचना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। [भो० ना० श०]

ईवाँ तृतीय

मास्कोवी का ग्राड ड्यूक। जन्म २२ जनवरी, १४४०, मृत्यु २६ अक्तूवर, १५०५। पिता वासिली द्वितीय के जीवनकाल में ही सहशासक घोषित किया गया, जिससे अन्य राजकुमार उसका स्थान न छीन सके। रूस के इतिहास मे यह अत्यधिक प्रसिद्ध है और "ईवाँ महान्" के नाम से विख्यात है। इसने मास्कोवी के राज्य का विस्तार कर उसे पहले से तीन गुना कर दिया।

१४७१-७८ की दो लडाइयो मे इसने नोवगोरोदे को जीता। हैप्सवर्ग पवित्र रोमन सम्राट् द्वारा दी 'राजा' की उपाधि अस्वीकृत करते हुए इसने कहा, "अपने देश मे हम अपने पूर्वजो के समय से प्रभुत्वसपन्न रहे हैं और ईश्वर से हमें प्रभुत्वशक्ति प्राप्त हुई है।" धमकी या युद्ध द्वारा उसने यारस्लावी (१,४६३), रोस्तोव (१४७४) और त्रवेर (१४८५) हस्तगत कर लिये। १४८० मे तातार को खिराज देना वद कर तातारो की दासता का जुआ उसने उतार फेंका।

रूसी जाति का प्रथम सरदार तो यह पहले से ही था, वीजातीनी साम्राज्य के अतिम शासक के भाई थामस पालो ओलोगस की कन्या सोफिया (जोए) के साथ दूसरा विवाह कर मास्को की प्रतिष्ठा और उसकी अधिसत्ता मे उसने वृद्धि की और वीजातियम के द्विशीर्ष गृद्ध (ईगल) को मास्को के राजचिह्न मे स्थान देकर ग्रीक ईसाई धर्म का सरक्षक होने का अपना दावा स्थापित किया। इस विवाह के फलस्वरूप मास्को मे पूर्वी दरवारी ढग और शानशौकत को स्थान मिला और राजा प्रजा से दूर हो गया। वह अपने को 'ओतोक्रात्' (स्वेच्छाचारी) कहता था और विदेशी पत्रव्यवहार मे अपने को 'जार' लिखता था।

रूस का प्रवेश वाल्टिक सागर मे हो जाय, इस दृष्टि से उसने लिथुआनिया लेने का प्रयत्न किया, किंतु स्वीडन और पोलैंड के कारण उसका यह प्रयत्न सफल नही हुआ। दक्षिण में उसने अपना राज्य वोल्गा के मध्य तक फैलाया और तातारो को हराया। सरदारो की सत्ता घटाकर ईवाँ ने रूसी विधि (कानून) का सहिताकरण किया। [अ० कु० वि०]

ईवाँ (भीषण) चतुर्थ

मास्कोवी का जार, वासिल तृतीय का पुत्र, जन्म २५ अगस्त, १५३०, मृत्यु १७ मार्च, १५८४। तीन साल की अवस्था मे ही राजा घोषित। पहले माता, फिर सरदारो की अभिभावकता रही। १४ वर्ष की आयु मे राज्यसत्ता ग्रहण की। वचपन मे अपने प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण सरदारो से इसको घृणा हो गई थी, इससे इसने अपना सलाहकार निम्न वर्ग के योग्य व्यक्तियो को चुना।

आतरिक सुधार और वाहरी सफलता के साथ इसका शासन आरभ हुआ। जार और सरदारो मे शुरू से मतभेद रहा। प्रिंस कुरवस्की के पोलैंड भाग जाने से उनके प्रति इसका सदेह और अधिक वढ गया। राजद्रोह के प्रयत्नो को उत्पीडन, फाँसी और कारादड द्वारा कुचलने की इसने कोशिश की। १५५० मे राष्ट्रीय परिषद् (जेमस्की सोवोर) का पहला अधिवेशन वुलाया। काजम के खानो को १५५२ मे हराया, अस्त्राखान (१५५४) पर अधिकार किया, लिवोनिया और इस्तोनिया की विजय की और लिथुआनिया की विजय के लिये सेना भेजी, किंतु पोलैंड और स्वीडन के विरोध के कारण सफलता नही मिली। कज्जाको की सहायता से साइवेरिया जीत लिया गया।

ईवा चतुर्थ का व्यक्तित्व राजनीतिक वुद्धिमत्ता, सभ्यता और वर्वरता, क्रूरता और अनैतिकता का अद्भुत मिश्रण था। सकटो और दु खो के कारण पत्नी और पुत्र की मृत्यु के वाद विशेष रूप से यह क्रूर, शक्की और उन्मत्त हो गया। नोवगोरोद को राजद्रोह के सदेह मात्र से धूलिसात् करना, राज्य के उत्तराधिकारी एव प्रिय पुत्र ईवा को अनियत्रित गुस्से मे मार डालना, इसके पागलपन के उदाहरण हैं। १५६४-१५८० के मध्य दो वार इसन सिहासन छोडने की इच्छा प्रगट की, किंतु अनुरोध करने पर राजा वना रहा। [अ० कु० वि०]

ईवाल, योहान

(१७४३-१७८१) डेनमार्क के सबसे महान् कवि। कोपेनहेगेन मे जन्म। १५ साल की उम्र मे शादी कर ली और सेना मे भरती हो गए। सप्तवर्षीय युद्ध से लौटकर फिर उन्होने पढा लिखा। २३ वर्ष की उम्र मे उन्होन अपन वादशाह के मरने पर जो मरसिया लिखा वह असाधारण सुदर माना जाता है। उनका नाट्यकाव्य 'आदम ओग ईवा' डेनमार्क की सुदरतम रचनाओ मे से है। ईवाल ने ही पहला मौलिक दु खात नाटक लिखा है। उसके वाद अगले १० वर्षों में वे एक से एक सुदर रचनाएँ प्रकाशित करते गए। १७७९ ई० मे उन्होने अपनी सवसे सुदर रचना गेय नाटिका 'फिसकेर्ने' लिखी जिसमे डेनमार्क का राष्ट्रीय गान प्रस्तुत हुआ। इसने और 'वालदेर की मृत्यु' ने उनकी ख्याति डेनमाक की सीमाओ के वाहर पहुँचा दी। उनकी शैली मे वडी ताजगी और रवानी है और उन्होने डेनमार्क के साहित्य को कुछ वह दिया है जो वर्ड्सवर्थ ने अग्रेजी को और गेटे तथा शिलेर ने जर्मन साहित्य को। घोडे से गिरकर वे पगु हो गए और अत मे क्षय रोग के ग्रास वने। [ओ० ना० उ०]

ईशानवर्मन्

यह कन्नौज का मौखरी नृपति था। उसके पहले के तीन राजा अधिकतर उत्तरयुगीन मागध गुप्तो के सामत नृपति रहे थे। ईशानवर्मन् ने उत्तर गुप्तो का आधिपत्य कन्नौज से हटाकर अपनी स्वतत्रता घोषित की। उसकी प्रशस्ति मे लिखा है कि उसने आध्रो को परास्त किया और गौडो को अपनी सीमा के भीतर रहने को मजवूर किया। इसमे सदेह नही कि यह प्रशस्ति मात्र प्रशस्ति है क्योकि ईशानवर्मन् के आध्रो अथवा गौड राजा के सपर्क मे आने की सभावना अत्यत कम थी। गौडो और मौखरियो के वीच तो स्वय उत्तरकालीन गुप्त ही थे जिनके राजा कुमारगुप्त ने, जैसा उसके अभिलेख से विदित है, ईशानवर्मन् को परास्त कर उसके राज्य का कुछ भाग छीन लिया था। [ओ० ना० उ०]

ईशावास्य उपनिपदो में यही उपनिपद् सर्वप्रथम गिना जाता है। इस उपनिपद् के आरभ में यह वाक्य आता है—'ईशावास्यमिद सर्वम्', और इसी आद्य पद के कारण यह ईशोपनिपद् अथवा ईशावास्योपनिपद् के नाम से विख्यात है। यह शुक्लयजुर्वेद की मत्रसहिता का ४०वाँ अध्याय है। उपनिपद् सामान्यत ब्राह्मणो के अतर्गत 'आरण्यक' के भाग हैं, परतु यही एक उपनिपद् ऐसा है जो ब्राह्मणो से भी पूर्ववर्ती माने जानेवाले सहिताभाग का अश है। इस दृष्टि से यह आद्य उपनिपद् होने का गौरव धारण करता है। इस उपनिपद् में केवल १८ मत्र हैं जिन्हें वेदात का निचोड मानने में किसी प्रकार का मतभेद नही है।

इस उपनिपद् का तात्पर्य ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति है अथवा ज्ञान-कर्म-समुच्चय के द्वारा, इस विपय में आचार्यो मे पर्याप्त मतभेद है। इस मतभेद को दूर करने के लिये आदिम दोनो मत्र नितात जागरूक हैं। प्रथम मत्र में इस जगत् को त्याग के द्वारा भोगने तथा दूसरे के धन पर लोभदृष्टि न डालने का उपदेश है (तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम्) और दूसरे मत्र में इसी प्रकार निष्काम भाव से कर्म करने तथा जीवन बिताने का स्पष्ट उपदेश है

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविपेच्छत समा । एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।' इस मत्र का स्पष्ट तात्पर्य निष्काम कर्म की उपासना है। श्रीमद्भगवद्गीता का जीवनदर्शन इसी मत्र के विपुल भाष्य पर आश्रित माना जाता है। इसके अनतर आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है (मत्र ४) तथा एकत्व दृष्टि रखनेवाले तत्ववेत्ता के जीवन्मुक्त स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है (मत्र ५)। इस उपनिपद् में सभूति तथा असभूति, विद्या तथा अविद्या के परस्पर भेद का ही स्पष्ट निदर्शन है। अत में आदित्यगत पुरुप के साथ आत्मा की एकता प्रतिपादित कर कर्मी और उपासक को ससार के दु खो से कैसे मोक्ष प्राप्त होता है, इसका भी निर्देश किया गया है। फलत लघुकाय होने पर भी यह उपनिपद् अपनी नवीन दृष्टि के कारण उपनिपदो में नितात महनीय माना गया है। [ब० उ०]

ईश्वर शब्द भारतीय दर्शन तथा अध्यात्म शास्त्रो में जगत् की सृष्टि, स्थिति और सहारकर्ता, जीवो को कर्मफलप्रदाता तथा दु खमय जगत् से उनके उद्धारकर्ता के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। कभी कभी वह गुरु भी माना गया है। न्यायवैशेपिकादि शास्त्रो का प्राय यही अभिप्राय है—एको विभु सर्वविद् एकबुद्धिसमाश्रय । शाश्वत ईश्वराख्य । प्रमाणमिष्टो जगतो विधाता स्वर्गापवर्गादि।

पातजल योगशास्त्र मे भी ईश्वर परमगुरु या विश्वगुरु के रूप मे माना गया है। इस मत मे जीवो के लिये तारकज्ञानप्रदाता ईश्वर ही है। परतु जगत् का सृष्टिकर्ता वह नही है। इस मत में सृष्टि आदि व्यापार प्रकृति-पुरुप के सयोग से स्वभावत होते हैं। ईश्वर की उपाधि प्रकृष्ट सत्त्व है। यह पड्विंशतत्त्व रूप पुरुपविशेप के नाम से प्रसिद्ध है। अविद्या आदि पांच क्लेश, शुभाशुभ कर्म, जाति, आयु और भोग का विपाक तथा आशय या सस्कार ईश्वर का स्पर्श नही कर सकते। पचविंशतत्त्व रूप पुरुपतत्व से वह विलक्षण है। वह सदा मुक्त और सदा ही ऐश्वर्यसपन्न है। निरीश्वर साख्यो के मत मे नित्यसिद्ध ईश्वर स्वीकृत नही है, परतु उस मत में नित्येश्वर का स्वीकार न होने पर भी कार्येश्वर की सत्ता मानी जाती है। पुरुप विवेकख्याति का लाभ किए बिना ही वैराग्य के प्रकर्प से जब प्रकृतिलीन हो जाता है तब उसे कैवल्य-लाभ नही होता और उसका पुन उद्भव अभिनव सृष्टि में होता है। प्रलयावस्था के अनतर वह पुरुप उद्बुद्ध होकर सवप्रथम सृष्टि के ऊर्ध्व में बुद्धिस्वरूप में प्रकाश को प्राप्त होता है। वह सृष्टि का अधिकारी पुरुप है और अस्मिता समाधि मे स्थित रहता है।

योगी अस्मिता नामक सप्रज्ञात समाधि में उसी के साथ तादात्म्य लाभ करते हैं। उनका ऐश्वरिक जीवन अधिकार सपद् रूपी जीवन्मुक्ति की ही एक विशेप अवस्था है। प्रारब्ध की समाप्ति पर उसकी कैवल्यमुक्ति हो जाती है। नैयायिक या वैशेपिकसमत ईश्वर आत्मरूपी द्रव्य है और वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसपन्न परमात्मा के नाम से अभिहित है। उसकी इच्छादि शक्तियाँ भी अनत हैं। वह सृष्टि का निमित्त कारण है। परमाणु-पुज सृष्टि के उपादान कारण हैं।

मीमासक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नही करते। वे वेद को अपौरुपेय मानते हैं और जगत् की सामूहिक सृष्टि तथा प्रलय भी स्वीकार नही करते। उक्त मत मे ईश्वर का स्थान न सृष्टिकर्ता के रूप मे है और न ज्ञानदाता के रूप में।

वेदात में ईश्वर सगुण ब्रह्म का ही नामातर है। ब्रह्म विशुद्ध चिदानद-स्वरूप निरुपाधि तथा निर्गुण है। मायोपहित दशा में ही चैतन्य को ईश्वर कहा जाता है। चैतन्य का अविद्या से योग होने पर वह जीव हो जाता है। वेदात में विभिन्न दृष्टिकोणो के अनुसार ब्रह्म, ईश्वर तथा जीवतत्त्व के विपय में अवच्छेदवाद, प्रतिबिंबवाद, आभासवाद आदि मत स्वीकार किए गए हैं। उनके अनुसार ईश्वरकल्पना मे भी भेद है।

शैव मत में शिव को नित्यसिद्ध ईश्वर या महेश्वर कहा जाता है। वह स्वरूपत चिदात्मक है और चित्-शक्ति-सपन्न हैं। उनमे सब शक्तियाँ निहित हैं। बिंदुरूप माया को उपादान रूप में ग्रहण कर शिव शुद्ध जगत् का निर्माण करते है। इसमे साक्षात्कर्तृत्व ईश्वर का ही है। तदुपरात शिव माया के उपादान से अशुद्ध जगत् की रचना करते हैं, किंतु उसकी रचना साक्षात् उनके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत अनतादि विद्येश्वरो द्वारा परपरा से होती है। ये विद्येश्वर साख्य के कार्येश्वर के सदृश हैं, परमेश्वर के तुल्य नही। विज्ञानाकल नामक चिदणु माया तत्त्व का भेद कर उसके ऊपर विदेह तथा विकरण दशा में विद्यमान रहते हैं। ये सभी प्रकृति तथा माया से आत्मस्वरूप का भेदज्ञान प्राप्त कर कैवल्य अवस्था मे विद्यमान रहते हैं। परतु आणव मल या पशुत्व के निवृत्त न होने के कारण ये माया से मुक्त होकर भी शिवत्वलाभ नही कर पाते। परमेश्वर इस मल के परिपक्व होने पर उसके अनुसार श्रेष्ठ अधिकारियो पर अनुग्रह का सचार कर उन्हें बैंदव देह प्रदान कर ईश्वर पद पर स्थापित कर सृष्टि आदि पचकृत्यो के सपादन का अधिकार भी प्रदान करता है। ऐसे ही अधिकारी ईश्वर होते हैं। इनमे जो प्रधान होते हैं वे ही व्यवहारजगत् में ईश्वर कहे जाते हैं। यह ईश्वर माया को क्षुब्ध कर मायिक उपादानो से ही अशुद्ध जगत् का निर्माण करता है और योग्य जीवो का अनुग्रहपूर्वक उद्धार करता है। ये ईश्वर अपना अपना अधिकार समाप्त कर शिवत्वलाभ करते हैं। निरीश्वर साख्य के समस्त कार्येश्वर और यहाँ के मायाधिष्ठाता ईश्वर प्राय एक ही प्रकार के हैं। इस अश मे द्वैत तथा अद्वैत शैव मत में विशेप भेद नही है। भेद इतना ही है कि द्वैत मतो में परमेश्वर सृष्टि का निमित्त या कर्ता है, उसकी चित्शक्ति कारण है और बिंदु उपादान है। कार्येश्वर भी प्राय उसी प्रकार का है—ईश्वर निमित्त रूप से कर्ता है, वामादि नौ शक्तियाँ उसकी कारण हैं तथा माया उपादान है। अद्वैत मत में निमित्त और उपादान दोनो अभिन्न हैं, जैसा अद्वैत वेदात मे है।

वैष्णव सप्रदाय के रामानुज मत मे ईश्वर चित् तथा अचित् दो तत्त्वो से विशिष्ट है। ईश्वर अगी है और चित् तथा अचित् उसके अग हैं। दोनो ही नित्य हैं। ईश्वर का ज्ञान, ऐश्वर्य, मगलमय गुणावली तथा श्रीविग्रह सभी नित्य है। ये सभी अप्राकृत सत्त्वमय हैं। किसी किसी मत में वह चिदानदमय है। गौडीय मत मे ईश्वर सच्चिदानदमय है और उसका विग्रह भी वैसा ही है। उसकी शक्तियाँ अतरग, बहिरग और तटस्थ भेद से तीन प्रकार की हैं। अतरग शक्ति सत्, चित्, आनद के अनुरूप सधिनी-सवित् तथा ह्लादिनीरूपा है। तटस्थ शक्ति जीवरूपा है। बहिरगा-शक्ति मायारूपा है। उसका स्वरूप अद्वय ज्ञानतत्त्व है। परतु ज्ञानी की दृष्टि से उसे अव्यक्तशक्ति ब्रह्म माना जाता है। योगी की दृष्टि से उसे परमात्मा कहा जाता है तथा भक्त की दृष्टि से भगवान् कहा जाता है, क्योकि उसमें सब शक्तियो की पूर्ण अभिव्यक्ति रहती है। इस मत में भी कार्यमात्र के प्रति ईश्वर निमित्त तथा उपादान दोनो ही माना जाता है। ईश्वर चित्, अचित्, शरीरी और विभु है। उसका स्वरूप, धर्मभूत ज्ञान तथा विग्रह सभी विभु हैं। देश, काल तथा वस्तु का परिच्छेद उसमें नही है। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसपन्न है। वात्सल्य, औदार्य, कारुण्य, सौंदर्य आदि गुण उसमें सदा वर्तमान हैं।

श्री सप्रदाय के अनुसार ईश्वर के पाँच रूप हैं। पर, व्यूह, विभव, अतर्यामी और अर्चावतार। परमात्मा के द्वारा माया शक्ति में ईक्षण करने पर माया से जगत् की उत्पत्ति होती है। वासुदेव, सकर्पण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध वस्तुत परमात्मा के ही चार रूप हैं। ये चार व्यूह श्रीसप्रदाय के

अनुसार ही गौडीय सप्रदाय में भी माने जाते हैं। वासुदेव षाड्गुण्य विग्रह है परतु सकर्षणादि मे दो ही गुण है। इस मत के अनुसार भगवान् के पूर्ण रूप स्वय श्रीकृष्ण हैं और उनके विलास नारायणरूपी भगवान् है। भगवान् के विलास परमात्मा है। विलास में स्वरूप एक ही रहता है, परतु गुणो की न्यूनता रहती है। प्रकाश मे स्वरूप तथा गुण दोनो ही समान रहते हैं।

गीता के अनुसार ईश्वर पुरुषोत्तम या उत्तम पुरुष कहा जाता है। वही परमात्मा है। क्षर और अक्षर पुरुषो से वह श्रेष्ठ है। उसके परमधाम में जिसकी गति होती है उसका फिर प्रत्यावर्तन नही होता। वह धाम स्वयप्रकाश है। वहाँ चद्र, सूर्य आदि का प्रकाश काम नही देता। सब भूतो के हृदय मे वह परमेश्वर स्थित है और वही नियामक है।

प्राचीन काल से ही ईश्वरतत्त्व के विषय मे विभिन्न ग्रथो की रचना होती आई है। उनमे से विचारदृष्टि से श्रेष्ठ ग्रथो में उदयनाचार्य की न्यायकुसुमाजलि है। इस ग्रथ में पाँच स्तवक या विभाग है। इसमें युक्तियो के साथ ईश्वर की सत्ता प्रमाणित की गई है। चार्वाक, मीमासक, जैन तथा बौद्ध ये सभी सप्रदाय ईश्वरतत्त्व को नही मानते। न्याय-कुसुमाजलि मे नैयायिक दृष्टिकोण के अनुसार उक्त दर्शनो की विरोधी युक्तियो का खडन किया गया है। उदयन के बाद गगेशोपाध्याय ने भी तत्त्वचितामणि में ईश्वरानुमान के विषय मे आलोचना की है। इसके अनतर हरिदास तर्कवागीश, महादेव पुणतावेकर आदि ने ईश्वरवाद पर छोटी छोटी पुस्तके लिखी हैं।

रामानुज सप्रदाय में यामुन मुनि के सिद्धित्रय में ईश्वरसिद्धि एक प्रकरण है। लोकाचार्य के तत्त्वत्रय मे तथा वेदातदेशिक के तत्त्वमुक्ता-कलाप, न्यायपरिशुद्धि आदि मे भी ईश्वरसिद्धि विवेचित है। यह प्रसिद्धि है कि खडनखडकार श्रीहर्ष ने भी 'ईश्वरसिद्धि' नामक कोई ग्रथ लिखा था। शैव सप्रदाय में नरेश्वरपरीक्षा प्रसिद्ध ग्रथ है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी का स्थान भी अति उच्च है। इसके मूल मे उत्पला-चार्य की कारिकाएँ है और उनपर अभिनवगुप्तादि विशिष्ट विद्वानो की टिप्पणियाँ तथा व्याख्याएँ है। बौद्ध तथा जैन सप्रदायो ने अपने विभिन्न ग्रथो से ईश्वरवाद के खडन का प्रयत्न किया है। ये लोग ईश्वर को नही मानते थे किंतु सर्वज्ञ को मानते थे। इसीलिये ईश्वरतत्त्व का खडन कर सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये इन सप्रदायो द्वारा ग्रथ लिखे गए। महापडित रत्नकीर्ति का 'ईश्वर-साधन-दूषण' और उनके गुरु गौडीय ज्ञानश्री का 'ईश्वरवाददूषण' तथा 'वार्तिक शतश्लोकी' व्याख्यान प्रसिद्ध है। ज्ञानश्री विक्रमशील विहार के प्रसिद्ध द्वारपडित थे। जैनो में अकलक से लेकर अनेक आचार्यो ने इस विषय की आलोचना की है। सर्वज्ञसिद्धि के प्रसग मे बौद्ध विद्वान् रत्नकीर्ति का ग्रथ महत्त्वपूर्ण है। मीमासक कुमारिल ईश्वर तथा सर्वज्ञ दोनो का खडन करते है। परवर्ती बौद्ध तथा जैन पडितो ने सर्वज्ञखडन के अश मे कुमारिल की युक्तियो का भी खडन किया है।

[गो० क०]

बाइबिल में कही भी ईश्वर के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन तो नही मिलता किंतु मनुष्यो के साथ ईश्वर के व्यवहार का जो इतिहास इसमें प्रस्तुत किया गया है उसपर ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके स्वरूप के विषय मे ईसाइयो की धारणा आधारित है।

(१) बाइबिल के पूर्वार्ध का वर्ण्य विषय ससार की सृष्टि तथा यहूदियो का धार्मिक इतिहास है। उससे ईश्वर के विषय मे निम्नलिखित शिक्षा मिलती है एक ही ईश्वर है—अनादि और अनत, सर्वशक्तिमान और अप्रतिकार्य, विश्व का सृष्टिकर्ता, मनुष्य मात्र का आराध्य। वह सृष्ट ससार के परे होकर उससे अलग है तथा साथ साथ अपनी शक्ति से उसमे व्याप्त भी रहता है। कोई मूर्ति उसका स्वरूप व्यक्त करने मे असमर्थ है। वह परमपावन होकर मनुष्य को पवित्र बनने का आदेश देता है, मनुष्य ईश्वरीय विधान ग्रहण कर ईश्वर की आराधना करे तथा ईश्वर के नियमा-नुसार अपना जीवन बितावे। जो ऐसा नही करता वह परलोक मे दडित होगा क्योकि ईश्वर सब मनुष्यो का उनके कर्मो के अनुसार न्याय करेगा।

पाप के कारण मनुष्य की दुर्गति देखकर ईश्वर ने प्रारभ से ही मुक्ति की प्रतिज्ञा की थी। उस मुक्ति का मार्ग तैयार करने के लिये उसने यहूदी जाति को अपनी ही प्रजा के रूप मे ग्रहण किया तथा बहुत से नबियो को उत्पन्न करके उस जाति में शुद्ध एकेश्वरवाद बनाए रखा। यद्यपि बाइबिल के पूर्वार्ध मे ईश्वर का परमपावन न्यायकर्ता का रूप प्रधान है, तथापि यहूदी जाति के साथ उसके व्यवहार के वर्णन में ईश्वर की दयालुता तथा सत्यप्रतिज्ञता पर भी बहुत ही बल दिया गया है।

(२) बाइबिल के उत्तरार्ध से पता चलता है कि ईसा ने ईश्वर के स्वरूप के विषय मे एक नए रहस्य का उद्घाटन किया है। ईश्वर त्रियेक है, अर्थात् एक ही ईश्वर मे तीन व्यक्ति हैं—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा। तीनो समान रूप से अनादि, अनत और सर्वशक्तिमान हैं क्योकि वे तत्वत. एक है। ईश्वर के आभ्यतर जीवन का वास्तविक स्वरूप है—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा का अनिर्वचनीय प्रेम। प्रेम से ही प्रेरित होकर ईश्वर ने मनुष्य को अपने आभ्यतर जीवन का भागी बनाने के उद्देश्य से उसकी सृष्टि की थी किंतु प्रथम मनुष्य ने ईश्वर की इस योजना को ठुकरा दिया जिससे ससार में पाप का प्रवेश हुआ। मनुष्यो को पाप से मुक्त करने के लिये ईश्वर ईसा में अवतरित हुआ (दे० अवतार) जिससे ईश्वर का प्रेम और स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। ईसा ने क्रूस पर मरकर मानव जाति के सब पापो का प्रायश्चित्त किया तथा मनुष्य मात्र के लिये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जो कोई सच्चे हृदय से पछतावा करे वह ईसा के पुण्यफलो द्वारा पापक्षमा प्राप्त कर सकता है और अनतकाल तक पिता-पुत्र-पवित्र आत्मा के आभ्यतर जीवन का साझी बन सकता है (दे० मुक्ति)। इस प्रकार ईश्वर का वास्तविक स्वरूप प्रेम ही है। मनुष्य की दृष्टि से वह दयालु पिता है जिसके प्रति प्रेमपूर्ण आत्मसमर्पण होना चाहिए। बाइबिल के उत्तरार्ध में ईश्वर को लगभग ३०० बार पिता कहकर पुकारा गया है।

(३) बाइबिल के आधार पर ईसाइयो का विश्वास है कि मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर भी ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अपूर्ण होते हुए भी यह ज्ञान प्रामाणिक ही है। ईसाई धर्म का किसी एक दर्शन के साथ अनिवार्य सबध तो नही है, किंतु ऐतिहासिक परिस्थितियो के फल-स्वरूप ईसाई तत्वज्ञ प्राय अफलातून अथवा अरस्तू के दर्शन का सहारा लेकर ईश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं। ईश्वर का अस्तित्व प्राय कार्य-कारण-सबध के आधार पर प्रमाणित किया जाता है।

ईश्वर निर्गुण, अमूर्त, अभौतिक है। वह अपरिवर्तनीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान अनत और अनादि है। वह सृष्टि के परे होते हुए भी इसमे व्याप्त रहता है, वह अतर्यामी है। ईसाई दार्शनिक एक ओर से सर्वेश्वर-वाद तथा अद्वैत का विरोध करते हुए सिखलाते हैं कि समस्त सृष्टि (अत जीवात्मा भी) तत्वत ईश्वर से भिन्न है, दूसरी ओर वे अद्वैत को भी पूर्ण रूप से ग्रहण नही कर सकते, क्योकि उनकी धारणा है कि समस्त सृष्टि अपने अस्तित्व के लिये निरतर ईश्वर पर निर्भर रहती है।

सं० ग्रं०—ती० दनीलू (T Danielou) गॉड ऐंड दि वेज़ ऑव नोइग, न्यूयार्क, १९५७, ई० लीरॉय ल प्रोब्लेम द द्यू, (E Leroy. Le Probleme De Dieu) पेरिस, १९२९। [का० बु०]

ईश्वरकृष्ण एक प्रसिद्ध साख्य दर्शनकार, जिनका काल विवाद-ग्रस्त है डा० तकाकुसू के अनुसार उनका समय ४५० ई० के लगभग और डा० वि० स्मिथ के अनुसार २४० ई० के आसपास होना चाहिए। यह प्राय निश्चित है कि वे बौद्ध दार्शनिक वसुबधु के गुरु के समकालीन एव प्रतिपक्षी थे। ईश्वरकृष्णकृत 'साख्य-कारिका' साख्य दर्शन पर उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन एव लोकप्रिय ग्रथ है।

'कारिका' में ईश्वरकृष्ण अपने को क्रमश आसुरि एव पचशिखा के द्वारा साख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल का शिष्य बताते है। वह मूलत अनीश्वरवादी है। उनके अनुसार आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दु खो से उनके निराकरण के उपायो की खोज आरभ होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्द यथार्थ ज्ञान के स्रोत हैं। इन ज्ञानस्रोतो से 'प्रकृति' और 'पुरुष' की नित्यता एव मूलत्व सिद्ध होता है। मूल 'प्रकृति' की सूक्ष्मता से उसका प्रत्यक्ष ज्ञान असभव है, किंतु अपनी 'विकृति' (परिणाम) महत् आदि के रूप मे वह बोधगम्य है। 'परिणाम', चूँकि उत्पन्न होता है, अनित्य, असम तथा गतियुक्त है, ईश्वरकृष्ण के अनुसार सुख-दु ख-मोह का स्वभाव 'प्रकृति' का है, पुरुष का नही। अत मोक्ष 'प्रकृति विकृति' का होता है, पुरुष का नही। सत्व, रज तथा तम त्रिगुण प्रकृति के हैं और क्रमश सात्विकता, क्रिया तथा जडता के कारण। इन गुणो का कार्य दीपक की

तरह मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। ईश्वरकृष्ण 'पुरुष' को अचेतन प्रकृति का 'विपर्यय' बताते हैं, अत 'पुरुष', 'प्रकृति' की अचेतन क्रियाओ का चेतन द्रष्टा (साक्षी) है, कर्ता नही। 'पुरुष' का अस्तित्व शरीरसघात के परार्थत्व, अधिष्ठान और मोक्ष प्रकृति से सिद्ध है। साथ ही, जन्म मरण एव उपकरणो के असाम्य और एक साथ प्रकृति के अभाव से 'पुरुष' का अनेकत्व भी सिद्ध है। साराश मे, पुरुप की सासारिक अवस्था प्रकृति की क्रियाओ के प्रति उसकी मोहदृष्टि तथा 'कैवल्य' (मोक्ष) की अवस्था प्रकृति से 'निवृत्ति' या प्रकृति के स्व-स्वरूप का पृथकत्व ज्ञान है।

स० ग्र०—ईश्वरकृष्ण 'साख्यकारिका', 'कारिका' पर वाचस्पति मिश्र की टीका, जे० एन० मुकर्जी साख्य ऑर दि थियरी ऑव रियलिटी, ई० एच० जान्स्टन अर्ली साख्य, एस० सी० वनर्जी० दि साख्य फिलॉसफी, रिचर्ड गेस दि साख्य फिलॉसफी। [श्री० स०]

ईश्वरचंद्र विद्यासागर (१८२०–१८९१), मेदिनीपुर जिले के वीरसिंह गाँव मे अति निर्धन परिवार मे जन्म, पिता का नाम ठाकुरदास वद्योपाध्याय था। तीक्ष्णबुद्धि पुत्र को गरीब पिता ने विद्या के प्रति रुचि ही विरासत में प्रदान की थी। नौ वर्ष की अवस्था में वालक ने पिता के साथ पैदल कलकत्ता जाकर सस्कृत कालेज में विद्यारभ किया। शारीरिक अस्वस्थता, घोर आर्थिक कष्ट तथा गृहकार्य के बावजूद ईश्वरचद्र ने प्राय प्रत्येक परीक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त किया। १८४१ में विद्यासमाप्ति पर फोर्ट विलियम कालेज मे पचास रुपए मासिक पर मुख्य पडित की नियुक्ति मिली। तभी 'विद्यासागर' उपाधि से विभूपित हुए। लोकमत ने दानवीर सागर का सवोधन दिया। १८४६ में सस्कृत कालेज में सहकारी सपादक नियुक्त हुए, किंतु मतभेद पर त्यागपत्र दे दिया। १८५१ मे उक्त कालेज में मुख्याध्यक्ष वने। १८५५ में असिस्टेंट इस्पेक्टर, फिर पाँच सौ रुपए मासिक पर स्पेशल इस्पेक्टर। १८५८ ई० मे मतभेद होने पर फिर त्यागपत्र दे दिया। फिर साहित्य तथा समाजसेवा मे लगे। १८८० ई० में सी० आई० ई० का समान मिला।

आरभिक आर्थिक सकटो ने उन्हें कृपण प्रकृति की अपेक्षा दयासागर ही वनाया। विद्यार्थी जीवन मे भी इन्होने अनेक विद्यार्थियो की सहायता की। समर्थ होने पर वीसो निर्धन विद्यार्थी, सैकडो निस्सहाय विधवाओ, तथा अनेकानेक व्यक्तियो को अर्थकष्ट से उवारा। वस्तुत उच्चतम स्थानो में समान पाकर भी उन्हें वास्तविक सुख निर्धनसेवा में ही मिला। शिक्षा के क्षेत्र में वे स्त्रीशिक्षा के प्रवल समर्थक थे। श्री वेथ्यून की सहायता से गर्ल्स स्कूल की स्थापना की जिसके सचालन का भार उनपर था। उन्होने अपने ही व्यय से मेट्रोपोलिस कालेज की स्थापना की। साथ ही अनेक सहायताप्राप्त स्कूलो की भी स्थापना कराई। सस्कृत अध्ययन की सुगम प्रणाली निर्मित की। इसके अतिरिक्त शिक्षाप्रणाली में अनेक सुधार किए। समाजसुधार उनका प्रिय क्षेत्र था, जिसमें उन्हें कट्टरपथियो का तीव्र विरोध सहना पडा, प्राणभय तक आ बना। ईश्वरचन्द्र विधवाविवाह के प्रवल समर्थक थे। शास्त्रीय प्रमाणो से उन्होने विधवा विवाह को वैध प्रमाणित किया। पुनर्विवाहित विववाओ के पुत्रो को १८६५ के ऐक्ट द्वारा वैध घोषित करवाया। अपने पुत्र का विवाह विधवा से ही किया। सस्कृत कालेज मे अव तक केवल ब्राह्मण और वैद्य ही विद्योपार्जन कर सकते थे, अपने प्रयत्नो से उन्होने समस्त हिंदुओ के लिये विद्याध्ययन के द्वार खुलवाए। साहित्य के क्षेत्र में वँगला गद्य के प्रथम प्रवर्तको में थे। उन्होने ५२ पुस्तको की रचना की, जिनमें १७ सस्कृत मे थी, ५ अग्रेजी भापा में, शेष वँगला मे। जिन पुस्तको से उन्होने विशेष साहित्यकीर्ति अर्जित की वे हैं, 'वैतालपचविशति', 'शकुतला' तथा 'सीतावनवास'। इस प्रकार मेधावी, स्वावलवी, स्वाभिमानी, मानवीय, अध्यवसायी, दृढप्रतिज्ञ, दानवीर, विद्यासागर, त्यागमूर्ति ईश्वरचद्र ने अपने व्यक्तित्व और कार्यक्षमता से शिक्षा, साहित्य तथा समाज के क्षेत्रो मे अमिट पदचिह्न छोडे। वे जुलाई १८९१ में दिवगत हुए। [रा० ना०]

ईसप जनप्रिय नीतिकथाकार। इनकी कथाओ के पात्र मनुष्य की अपेक्षा पशुपक्षी अधिक हैं। इस प्रकार की कथाओ को 'वीस्ट फेवुल्स' कहा जाता है। परतु ईसप नाम का कोई व्यक्ति कभी था, इस विपय में वहुत कुछ सदेह है। तथापि हीरोदोतस एव कतिपय अन्य लेखको के साक्ष्य के अनुसार ईसप के जीवन की कथा इस प्रकार की थी ई० पू० छठी शताव्दी के मध्य मे ईसप सामॉस द्वीप के निवासी इयाद्‌मन् के दास थे, परतु वे विदेशी दास जिनके विषय मे यह निश्चित पता नही था कि फ्रयाके, फ्रिगिया अथवा इथियोपिया देशो मे से उनका जन्म कहाँ हुआ था। वे अत्यत कुरूप थे। देल्फी मे उनपर देवमदिर के स्वर्णचपक की चोरी का आरोप लगाया गया और उनको पर्वतशिखर से धक्का देकर मृत्युदड दिया गया। पर प्रो० गिल्वर्ट मरे को इस कथा पर विश्वास नही है।

जो कथाएँ ईसप के नाम से प्रचलित हैं उनका वर्तमान रूप उतना पुराना नही है जितना उपर्युक्त कथा के अनुसार होना चाहिए। पाँचवी शताव्दी ई० पू० से ईसप और उनकी कथाओ की चर्चा चल पडी थी। अरिस्तोफानिज, जेनोफन्, प्लेटो और अरस्तू की रचनाओ में इसके सकेत मिलते हैं। सुकरात ने अपने अतिम समय में कुछ कथाओ को पद्यवद्ध किया था, ऐसा भी कहा जाता है। पर वास्तविकता यह है कि ईसवी सन् के पूर्व इन कथाओ के जो सकलन हुए थे वे अव उपलव्ध नही होते। इस समय जो प्राचीनतम सकलन उपलव्ध होते हैं वे फेद्रुस और आवियनुस द्वारा लातीनी भापा मे तथा वाव्रियस द्वारा ग्रीक भाषा मे प्रस्तुत किए गए थे। ये सभी लेखक ईसवी सन् के आरभ के पश्चात् हुए हैं। इसके पश्चात् इन कथाओ का अनुवाद यूरोप की आधुनिक भाषाओ मे होने लगा। इन अनुवादो में जयाँ द ला फौन्ताई का पद्यवद्ध फ्रेंच अनुवाद अत्यधिक प्रसिद्ध है।

आधुनिक समय मे ईसप की कहानियो के दो सग्रह फ्रास और जर्मनी में मूल ग्रीक रूप में प्रकाशित हुए हैं। इनमे से ऐमील शाँव्री (पेरिस, १९२७) सस्करण मे ३५८ कथाएँ हैं तथा टायव्नर की ग्रीक ग्रथमाला में प्रकाशित हाल्म के सस्करण में ४२६। ग्रीक सस्करण शनै शनै परिवर्धित होकर इस रूप को प्राप्त हुए हैं।

ईसप् की कथाएँ पचतत्र की कथाओ के समान मनोरजन के साथ नीति और व्यवहारकुशलता की शिक्षा देती है। यत्र तत्र इनमें हासपरिहास का भी पुट पाया जाता है। जातक कथाओ के साथ भी इनका पर्याप्त साम्य पाया जाता है। कुछ लेखक भारतीय कथाओ को ही ईसप की कथाओ का आधार मानते हैं, अन्य आलोचक इस मत को नही मानते। ईसप की कथाओ का अनुवाद हिंदी, सस्कृत एव अन्य भारतीय भापाओ में भी हो चुका है।

स० ग्र०—शाँव्री का मूल ग्रीक सस्करण, १९२७, हाल्म का मूल ग्रीक सस्करण १८८९, ईसप नीतिकथा (सस्कृत अनुवाद)।

[भो० ना० श०]

ईसाई धर्म (१) अनुयायियो की सख्या तथा विस्तार की दृष्टि से ईसाई धर्म ससार का सबसे महत्वपूर्ण धर्म हैं। आजकल मानव जाति के लगभग ३५ प्रति शत लोग ईसाई हैं। विस्तार के विपय मे ध्यान देने की बात यह है कि एशिया में उत्पन्न होते हुए भी ईसाई धर्म का ऐतिहासिक विकास प्रधानतया पश्चिम में हुआ है, फलत वह एशिया मे अपेक्षाकृत कम प्रचलित है। एशिया की आवादी के केवल तीन प्रति शत व्यक्ति ईसाई हैं। अन्य महाद्वीपो के आँकडे इस प्रकार हैं यूरोप के ७८, अमरीका के ८३, अफ्रीका के १४ तथा ओशिएनिया के ४० प्रति शत लोग ईसाई हैं। भारत में ईसाइयो की सख्या लगभग एक करोड है।

(२) प्रवर्तन—ईसा के जीवनकाल मे ही उनके शिष्यो को उनके ईश्वरत्व का आभास यद्यपि मिल गया था तथापि क्रूस पर ईसा की मृत्यु के कारण शिष्यो का यह विश्वास विचलित होने लगा था। फिर जब पुनरुत्थान के कारण उनका विश्वास ईसा के ईश्वरत्व में जमा तव वे पूर्णरूपेण समझने लगे कि ईसा सव मनुष्यो के लिये मुक्ति का द्वार खोलकर एक विश्वधर्म का प्रवर्तन करने आए हैं। स्वर्गारोहण के पूर्व ईसा का आदेश पाकर उनके शिष्य ससार भर मे मुक्ति के इस शुभ सदेश का प्रचार करने लगे। इस प्रकार ईसाई धर्म का जन्म हुआ। (इस धर्म के सगठन, इतिहास तथा विभिन्न सप्रदायो के सिंहावलोकन के लिये दे० गिरजा, गिरजे का इतिहास)।

(३) ईसाइयो का धर्मग्रथ वाइविल है। ईसा ने यहूदी धर्मग्रथ में वर्णित मसीह होने का दावा किया है, अत ईसाई धर्म यहूदी धर्म का विकास

माना जा सकता है। वास्तव म ईसाइयो ने यहूदियो का समूचा धर्मग्रंथ श्रुति मानकर अपनी बाइबिल के पूर्वार्ध के रूप में अपनाया है। बाइबिल के उत्तरार्ध मे ईसा की जीवनी, उनकी शिक्षा का निरूपण तथा ईसाई धर्म का प्रारंभिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। (विशेष विवरण के लिये दे० बाइबिल)।

(४) ईसाई धर्म के सिद्धातो मे ईसा का ईश्वरत्व सबसे महत्वपूर्ण है। ईसाइयो का मूलभूत विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य जाति के पापो का प्रायश्चित्त करने तथा मनुष्यो को मुक्ति के उपाय दिलाने के उद्देश्य से ईसा में अवतरित हुआ। फलस्वरूप ईसाई भक्ति, पूजनपद्धति, साधना, आदि सब के सब ईसा पर केंद्रीभूत है। इस प्रकार ईसा ईसाई धर्म के प्रवर्तक मात्र नही, बल्कि उसके प्राण भी है। ईसाई अवतारवाद की विशेषता यह है कि ईसा के ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनो की ही वास्तविकता पर बल दिया जाता है (दे० अवतार)। एक ओर ईसा ईश्वर होने के नाते आराधना तथा पूर्ण आत्मसमर्पण के अधिकारी बन जाते है, दूसरी ओर, वास्तविक मनुष्य होने के नाते वह भक्तो के अत्यधिक निकट होकर कोमल भक्ति के पात्र भी हैं। तीस साल तक साधारण किंतु निष्पाप मानव जीवन बिताकर उन्होने जो सद्गुणो का जीता जागता उदाहरण उपस्थित किया है वह अत करण को प्रेरित किए बिना नही रह सकता। क्रूस पर उनके दारुण दु खभोग का ध्यान भक्तो के हृदय पर गहरा प्रभाव डालकर उन्हे (भक्तो को) जीवन की कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करने में समर्थ बना देता है (दे० भक्ति)।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में ईसाई सिद्धात को अन्यत्र स्पष्ट किया गया है (दे० ईश्वर)। ईसाई दृष्टि से सृष्टि का किसी निश्चित समय में प्रारभ हुआ था। दृश्य विश्वमडल तथा मनुष्य की सृष्टि के पूर्व ईश्वर ने स्वर्गदूतो (फरिश्तो) की सृष्टि की थी। इनमें से कुछ पतित होकर नरक मे डाले गए जो नरकदूत कहलाते है, उनका नेता शैतान है (दे० स्वर्गदूत, शैतान)।

मनुष्य की सृष्टि इसीलिये हुई थी कि वह कुछ समय तक ससार मे रहने के बाद स्वर्ग मे ईश्वर के आनद का भागी बन जाए। प्रथम मनुष्य के विद्रोह से ससार मे पाप का प्रवेश होने के कारण मुक्ति का मार्ग बद हुआ। साई ने मानव जाति के पापो का प्रायश्चित्त किया तथा सबको उस ईश्वरीय कृपा का अधिकारी बनाया, जिसके द्वारा मनुष्य परमगति प्राप्त कर सकता है (दे० मुक्ति, स्वर्ग)। जो मनुष्य अपने पापो के लिये पछतावा करने से इनकार करेगा वह नरक मे जायगा (दे० नरक)। ईसाइयो के अनुसार मनुष्य की अमर आत्मा एक ही बार मानव शरीर धारण कर ससार में जीवन व्यतीत करती है। उनका कहना है कि कयामत के दिन सब मनुष्य सशरीर जी उठेगे तथा ईसा उनका न्याय करने के लिये स्वर्ग से उतरेगे।

(५) ईसाई धर्म में कर्मकाड की उपेक्षा नही होती। पूजनपद्धति का केंद्र खीस्तयाग (होली मास) है जिसमे रहस्यात्मक ढग से क्रूस का बलिदान ठहराया जाता है (दे० यज्ञ)। विभिन्न सस्कार भी होते हैं जिनमें से बपतिस्मा सभी ईसाई सप्रदायो में प्रचलित है (दे० सस्कार)। ईसाइयो मे पर्व भी होते हैं (दे० पर्व)। यह सब होते हुए भी स्मरणीय है कि ईसा ने नैतिकता को ही धार्मिक जीवन का आधार माना है, अत ईसाई धर्म मे मूसा के दस नियमो का अत्यत महत्वपूर्ण स्थान है (दे० मूसा)। ईसा के अनुसार उन नियमो का सार यह है कि मनुष्य ईश्वर से सर्वाधिक प्रेम रखे और अन्य सब मनुष्यो को प्यार करे।

स० ग्र०—के० ऐडम दि क्राइस्ट ऑव फेथ, लडन, १९५७, एम० शेरेन डी मिस्टेरिन डेस क्राइस्टेंटम्स (M Scheeren Die mysterien des chris teentums) १९२५। [का० बु०]

ईसाई धर्मयुद्ध, क्रूसेड अथवा क्रूश युद्ध पश्चिमी यूरोप-निवासी ईसाइयो ने १०९५ और १२९१ के बीच अपने धर्म की पवित्र भूमि फिलिस्तीन और उसकी राजधानी जुरुसलम मे स्थित ईसा की समाधि का गिरजाघर मुसलमानो से छीनने और अपने अधिकार मे करने के प्रयास मे जो युद्ध किए उनको क्रूश युद्ध अर्थात् क्रास के निमित्त युद्ध कहा जाता है। इतिहासकार ऐसे सात क्रूशयुद्ध मानते है।

ईसाई मतावलबियो की पवित्र भूमि और उसके मुख्य स्थान साथ के मानचित्र मे दिखाए गए है। यात्रा की प्रमुख मजिल जुरुसलम नगर मे वह बडा गिरजाघर था जिसे रोम के प्रथम ईसाई सम्राट् कोस्तातीन महान् की माँ ने ईसा की समाधि के पास बनवाया था।

यह क्षेत्र रोम के साम्राज्य का अग था जिसके शासक चौथी सदी से ईसाई मतावलबी हो गए थे। सातवी सदी में इस्लाम का प्रचार बडी तीव्र गति से हुआ और पैगबर के उत्तराधिकारी खलीफाओ ने निकट और दूर के देशो पर अपना शासन स्थापित कर लिया। फिलिस्तीन तो पैगबर की मृत्यु के १० वर्ष के भीतर ही उनके अधीन हो गया था।

मुसलमान ईसा को भी ईश्वर का पैगबर मानते है। साथ ही, अरब जाति में सहिष्णुता भी थी, इससे ईसाइयो को अपनी पवित्र भूमि के स्थलो की यात्रा मे कोई बाधा या कठिनाई नही हुई।

११वी सदी मे यह स्थिति बदल गई। मध्य एशियाई तुर्क जाति की इतनी जनवृद्धि हुई कि वह और फैली और इस्लाम धर्म ग्रहण करने से उसकी शक्ति बहुत बढ गई। उसकी एक शाखा ने सुलतान महमूद के नेतृत्व मे भारत पर आक्रमण किया और उसका पश्चिमोत्तर भाग दबा लिया। एक दूसरी शाखा ने (जो अपने एक सरदार सेल्जुक के नाम से प्रसिद्ध है) कई देशो के अनतर फिलिस्तीन पर भी कब्जा किया और जुरुसलम और वहाँ के पवित्र स्थान १०७१ ई० मे उसके अधीन हो गए। इस समय से ईसाइयो की यात्रा कठिन और आशकापूर्ण हो गई।

दूसरी ओर पश्चिमी यूरोप मे नार्मन जाति की शक्ति का विकास हुआ। नार्मन इग्लैंड के शासक बन गए, फ्रास के एक भाग पर वे पहले से ही छाए हुए थे, १०७० के लगभग उन्होने सिसिली द्वीप मुसलमानो से जीता और उससे मिला हुआ इटली का दक्षिणी भाग भी दबा लिया। फलस्वरूप भूमध्यसागर, जो उत्तरी अफ्रीका के मुसलमान शासको के दबाव मे था, इस समय के ईसाइयो के लिये खुल गया।

इटली के कई स्वतत्र नगर (जिनमे से वेनिस, जेनोआ और पीसा प्रमुख थे) वाणिज्य में कुशल थे और अब और भी उन्नतिशील हो गए। उनकी नौसेना बढी और ईसाइयो को अपनी पवित्र भूमि के लिये नया मार्ग भी उपलब्ध हो गया।

पर ईसाई जगत् मे प्रबल फूट भी थी। ३९५ ई० मे रोमन साम्राज्य दो भागो मे बँट गया था। पश्चिमी भाग, जिसकी राजधानी रोम थी, ४७६ मे उत्तर की बर्बर जातियो के आक्रमण से टूट गया। पर पोप का प्रभाव स्थिर रहा और इन जातियो के ईसाई हो जाने पर बहुत बढ गया। यहाँ तक कि पश्चिमी यूरोप पर पोप का निर्विवाद आधिपत्य था। इसके शासक पोप से आशीर्वाद प्राप्त करते थे और यदि पोप अप्रसन्न होकर किसी शासक का बहिष्कार करता, तो उसे कठिन प्रायश्चित्त करना होता था और प्रचुर धन दड के रूप मे पोप को देना पडता था। इस क्षेत्र के शासको मे से एक सम्राट् निर्वाचित होता था जो पोप का सहकारी माना जाता था और पवित्र रोमन सम्राट् कहलाता था।

ईसाई जगत् के पूर्वी भाग की राजधानी कुस्तुतुनियाँ (कोस्तातीन नगर) में थी और वहाँ ग्रीक (यूनानी) जाति के सम्राट् शासन करते थे। पूर्वी यूरोप के अतिरिक्त उनका राज्य एशिया माइनर पर भी था। तुर्कों ने एशिया माइनर के अधिकाश पर कब्जा कर लिया था, केवल राजधानी के निकट का और कुछ समुद्रतट का क्षेत्र सम्राट् के पास रह गया था। सम्राट् ने इस सकट मे पश्चिमी ईसाइयो की सहायता माँगी। रोम का पोप स्वय ही पवित्र भूमि को तुर्कों से मुक्त कराने का इच्छुक था। एक प्रभावशाली प्रचारक (आमिया निवासी पीतर सन्यासी) ने फ्रास और इटली मे धर्मयुद्ध के लिये जनता को उत्साहित किया। फलस्वरूप लगभग छ लाख क्रूशधर प्रस्तुत हो गए। ईसाई जगत् के पूर्वी और पश्चिमी भागो मे धार्मिक मतभेद इतना था कि १०५४ में रोम के पोप और कोस्तातीन नगर के पात्रिआर्क (जो पूर्वी ईसाइयो का अध्यक्ष था) ने एक दूसरे को जातिच्युत कर दिया था। पश्चिम का उन्नतिशील राजनीतिक दल (अर्थात् नार्मन जाति) पूर्वी सम्राट् को, जो यूनानी था, निकम्मा समझता था। उसकी धारणा थी कि इस साम्राज्य मे नार्मन शासन स्थापित होने पर ही तुर्कों से युद्ध में जीत हो सकती है। इन विरोधो तथा मतभेदो का क्रूश युद्धो के इतिहास पर गहरा प्रभाव पडा।

प्रथम क्रूश युद्ध १०९६–१०९९—इस युद्ध मे दो प्रकार के क्रूशधरो ने भाग लिया। एक तो फ्रास, जर्मनी और इटली के जनसाधारण जो लाखो

की सख्या में पोप और सन्यासी पीतर की प्रेरणा से (वहुतेरे) अपने वाल-वच्चो के साथ गाडियो पर सामान लादकर पीतर और अन्य श्रद्धोन्मत्त नेताओ के पीछे पवित्र भूमि की ओर मार्च, १०९६ मे थलमार्ग से चल दिए। वहुतेरे इनमे उद्दड थे और विधर्मियो के प्रति तो सभी द्वेषरत थे। उनके पास भोजन सामग्री और परिवहन साधन का अभाव होने के कारण वे मार्ग में लूट खसोट और यहूदियो की हत्या करते गए जिसके फलस्वरूप वहुतेरे मारे भी गए। इनकी यह प्रवृत्ति देखकर पूर्वी सम्राट् ने इनके कोस्तातीन नगर पहुँचने पर दूसरे दल की प्रतीक्षा किए विना वास्फोरस के पार उतार दिया। वहाँ से वढकर जब वे तुर्को द्वारा शासित क्षेत्र में घुसे तो, मारे गए।

दूसरा दल पश्चिमी यूरोप के कई सुयोग्य सामतो की सेनाओ का था जो अलग अलग मार्गो से कोस्तातीन पहुँचे। इनके नाम इस प्रकार है — (१) लरेन का ड्यूक गाडफ्रे और उसका भाई वाल्डविन, (२) दक्षिण फ्रास स्थित तूलू का ड्यूक रेमो, (३) सिसिली के विजेता नार्मनो का नेता वोहेमो (जो पूर्वी सम्राट् का स्थान लेने का इच्छुक भी था)। इनकी यात्रा के मार्ग मानचित्र मे दिखाए गए है। पूर्वी सम्राट् ने इन सेनाओ को मार्गपरिवहन इत्यादि की सुविधाएँ और स्वय सैनिक सहायता देने के वदले इनसे यह प्रतिज्ञा कराई कि साम्राज्य के भूतपूर्व प्रदेश, जो तुर्को ने हथिया लिए थे, फिर जीते जाने पर वे सम्राट् को दे दिए जायँगे। यद्यपि इस प्रतिज्ञा का पूरा पालन नही हुआ और सम्राट् की सहायता यथेष्ट नही प्राप्त हुई, फिर भी क्रूशधर सेनाओ को इस युद्ध मे पर्याप्त सफलता मिली।

(कोस्तातीन से आगे इन सेनाओ का मार्ग मानचित्र में अकित है।) सर्वप्रथम उनका सामना होते ही तुर्को ने निकाया नगर और उससे सबधित प्रदेश सम्राट् को दे दिए। फिर सेना ने दोरीलियम स्थान पर तुर्को को पराजित किया और वहाँ से अतिओक मे पहुँचकर आठ महीने के घेरे के वाद उसे जीत लिया। इससे पहले ही वाल्डविन ने अपनी सेना अलग कर के पूर्व की ओर आर्मीनिया के अतर्गत एदेसा प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया।

अतिओक से नववर १०९८ में चलकर क्रूशधर सेनाएँ मार्ग में स्थित त्रिपोलिस, तीर, एकर तथा सिजरिया के शासको से दड लेते हुए जून, १०९९ में जुरूसलम पहुँची और पाँच सप्ताह के घेरे के वाद जुलाई, १०९९ में उसपर अधिकार कर लिया। उन्होने नगर के मुसलमान और यहूदी निवासियो की (उनकी स्त्रियो और बच्चो के साथ) निर्मम हत्या कर दी।

इस विजय के वाद क्रूशधरो ने जीते हुए प्रदेशो में अपने चार राज्य स्थापित किए (जो मानचित्र में दिखाए गए है)। पूर्वी रोमन सम्राट् इससे अप्रसन्न हुआ पर इन राज्यो को वेनिस, जेनोआ इत्यादि समकालीन महान् शक्तियो की नौसेना की सहायता प्राप्त थी जिनका वाणिज्य इन राज्यो के सहारे एशिया में फैलता था। इसके अतिरिक्त धर्मसैनिको के दो दल, जो मठरक्षक (नाइट्स टेंप्लर्स) और स्वास्थ्यरक्षक (नाइट्स हास्पिटलर्स) के नाम से प्रसिद्ध है, इनके सहायक थे। पादरियो और भिक्षुओ के समान ये धर्मसैनिक पोप से दीक्षा पाते थे और आजीवन ब्रह्मचर्य रखने तथा धर्म, असहाय स्त्रियो और वच्चो की रक्षा करने की शपथ लेते थे।

द्वितीय क्रूश युद्ध ११४७–११४९—सन् ११४४ में मोसल के तुर्क शासक इमाद उद्दीन जगी ने एदेसा को ईसाई शासक से छीन लिया। पोप से सहायता की प्रार्थना की गई और उसके आदेश से प्रसिद्ध सन्यासी सत वर्नार्ड ने धर्मयुद्ध का प्रचार किया।

इस युद्ध के लिये पश्चिमी यूरोप के दो प्रमुख राजा (फ्रास के सातवें लुई और जर्मनी के तीसरे कोनराड) तीन लाख की सेना के साथ थलमार्ग से कोस्तातीन होते हुए एशिया माइनर पहुँचे। इनके परस्पर वैमनस्य और पूर्वी सम्राट् की उदासीनता के कारण इन्हे सफलता न मिली। जर्मन सेना इकोनियम के युद्ध मे ११४७ मे परास्त हुई और फ्रास की अगले वर्ष लाउदी-सिया के युद्ध मे। पराजित सेनाएँ समुद्र के मार्ग से अतिओक होती हुई जुरूसलम पहुँची और वहाँ के राजा के सहयोग से दमिश्क पर घेरा डाला, पर विना उसे लिए हुए ही हट गई। इस प्रकार यह युद्ध नितात असफल रहा।

तृतीय क्रूशयुद्ध ११८९–११९२—इस युद्ध का कारण तुर्को की शक्ति का उत्थान था। सुलतान सलाहउद्दीन (११३७–११९३) के नेतृत्व में उनका वडा साम्राज्य वन गया जिसमें उत्तरी अफ्रीका मे मिस्र, पश्चिमी एशिया मे फिलिस्तीन, सीरिया, अरव, ईरान तथा इराक समिलित थे। उसने ११८७ मे जुरूसलम के ईसाई राजा को हत्तिन के युद्ध मे परास्त कर वदी कर लिया और जुरूसलम पर अधिकार कर लिया। समुद्रतट पर स्थित तीर पर उसका आक्रमण असफल रहा और इस वदर का वचाव ११८८ में करने के वाद ईसाई सेना ने दूसरे वदर एकर को सलाहउद्दीन से लेने के लिये उसपर अगस्त, ११८९ में घेरा डाला जो २३ महीने तक चला। सलाह-उद्दीन ने घेरा डालनेवालो को घेरे मे डाल दिया। जब ११९१ के अप्रैल मे फ्रास की सेना और जून मे इग्लैंड की सेना वहाँ पहुँची तब सलाह-उद्दीन ने अपनी सेना हटा ली और इस प्रकार जुरूसलम के राज्य मे से (जो ११९९ मे स्थापित चार फिरगी राज्यो मे प्रमुख था) केवल समुद्रतट का वह भाग, जिसमें ये वदर (एकर तथा तीर) स्थित थे, शेष रह गया।

इस युद्ध के लिये यूरोप के तीन प्रमुख राजाओ ने वडी तैयारी की थी पर वह सहयोग न कर सके और पारस्परिक विरोध के कारण असफल रहे।

प्रथम जर्मन सम्राट् फ्रेडरिक लालमुहा (वार्वरोसा), जिसकी अवस्था ८० वर्ष से अधिक थी, ११८९ के आरभ मे ही अपने देश से थलमार्ग से चल दिया और एशिया माइनर में तुर्की क्षेत्र मे प्रवेश करके उसने उसका कुछ प्रदेश जीत भी लिया, पर आर्मीनिया की एक पहाडी नदी को तैरकर पार करने में डूवकर जून, ११९० में मर गया। उसकी सेना के बहुत सैनिक मारे गए, वहुत भाग निकले, शेष उसके पुत्र फ्रेडरिक के साथ एकर के घेरे में जा मिले।

दूसरा फ्रास का राजा फिलिप ओगुस्तू अपनी सेना जेनोआ के वदर से जहाजो पर लेकर चला, पर सिसिली मे इग्लैंड के राजा से (जो अव तक उसका परम मित्र था) विवादवश एक वर्ष नष्ट करके अप्रैल, ११९१ मे एकर पहुँच पाया।

इस क्रूशयुद्ध का प्रमुख पात्र इग्लैंड का राजा रिचर्ड प्रथम था, जो फ्रास के एक प्रदेश का ड्यूक भी था और अपने पिता के राज्यकाल मे फ्रास के राजा का परम मित्र रहा था। इसने अपनी सेना फ्रास मे ही एकत्र की और वह फ्रास की सेना के साथ ही समुद्रतट तक गई। इग्लैंड का समुद्री वेडा ११८९ मे ही वहाँ से चलकर मारसई के वदर पर उपस्थित था। सेना का कुछ भाग उसपर और कुछ रिचर्ड के साथ इटली होता हुआ सिसिली पहुँचा, जहाँ फ्रास नरेश से अनवन के कारण लगभग एक वर्ष नष्ट हुआ था। वहाँ से दोनो अलग हो गए और रिचर्ड ने कुछ समय साइप्रस का द्वीप जीतने और अपना विवाह करने मे व्यय किया। इस कारण वह फ्रास के राजा से दो महीने वाद एकर पहुँचा (तीनो राजाओ की सेनाओ का मार्ग मानचित्र में दिखाया गया है)। एकर के मुक्त हो जाने पर राजाओ का मतभेद भडक उठा। फ्रास का राजा अपने देश लौट गया। रिचर्ड ने अकेले ही तुर्को के देश मिस्र की ओर वढने का प्रयास किया जिसमे उसने नौ लडाइयाँ लडी। जुरूसलम से ६ मील तक बढा पर उसपर घेरा न डाल सका। वहाँ से लौटकर उसने समुद्र तट पर जफ्फा में सितवर, ११९२ में सलाहउद्दीन से सधि कर ली जिससे ईसाई यात्रियो को विना रोक टोक के यात्रा करने की सुविधा दे दी गई और तीन वर्ष के लिये युद्ध को विराम दिया गया।

युद्धविराम की अवधि के उपरात जर्मन सम्राट् हेनरी षष्ठ ने फिर आक्रमण किया और उसकी सहायता के लिये दो सेनाएँ समुद्री मार्ग से भी आईं। पर सफलता न मिली।

चतुर्थ क्रूशयुद्ध १२०२–१२०४—इस युद्ध का प्रवर्तक पोप इन्नोसेत तृतीय था। उसकी प्रवल इच्छा ईसाई मत के दोनो सप्रदायो (पूर्वी और पश्चिमी) को मिलाने की थी जिसके लिये वह पूर्वी सम्राट् को भी अपने अधीन करना चाहता था। पोप की शक्ति इस समय चरम सीमा पर थी। वह जिस राज्य को जिसे चाहता दे देता था। उसकी इस नीति को उस समय नौसेना और वाणिज्य में सवसे शक्तिशाली राज्य वेनिस और नार्मन जाति की भी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त था। पोप का उद्देश्य इस प्रकार ईसाई जगत् में एकता उत्पन्न करके मुसलमानो को पवित्र भूमि से निकाल देना था। पर उसके सहायको का लक्ष्य राजनीतिक और आर्थिक था।

ईसाई मतावलंबियों की पवित्र भूमि और उसके मुख्य स्थल (देखे पृ० ३७)

ईसाई धर्मयुद्ध (देखे पृष्ठ ३७)

नार्मन अधीन देश

पूर्वी साम्राज्य

तुर्कों द्वारा पराजित

प्रथम ईसाई धर्मयुद्ध (क्रूश युद्ध) से संबंधित मानचित्र (देखे पृ० ३८)

ईसाई धर्मयुद्ध (देखे पृष्ठ ३७)

टैटिसवन
लियो
मारसेइ
जेनोआ
पीस
कालासागर
एड्रियानोपल
फ़िलाडेलफ़िया आइकोनियम
लाउदिसिया
कार्थेज
मेसिना
ट्यूनिस
सिसिली
साइप्रस
अंतिओक
क्रीत
तीर
दमिश्क
दामिएता
जफ्फा
जुरूसलम
मंसूरा
काहिरा

---- सम्राट फ्रेड्रिक का मार्ग
---- अंग्रेजी बेडे का मार्ग
---- फ्रांसीसी सेना का मार्ग
सलाहउद्दीन का राज्य
+ सम्राट फ्रेड्रिक के डूबने का स्थान
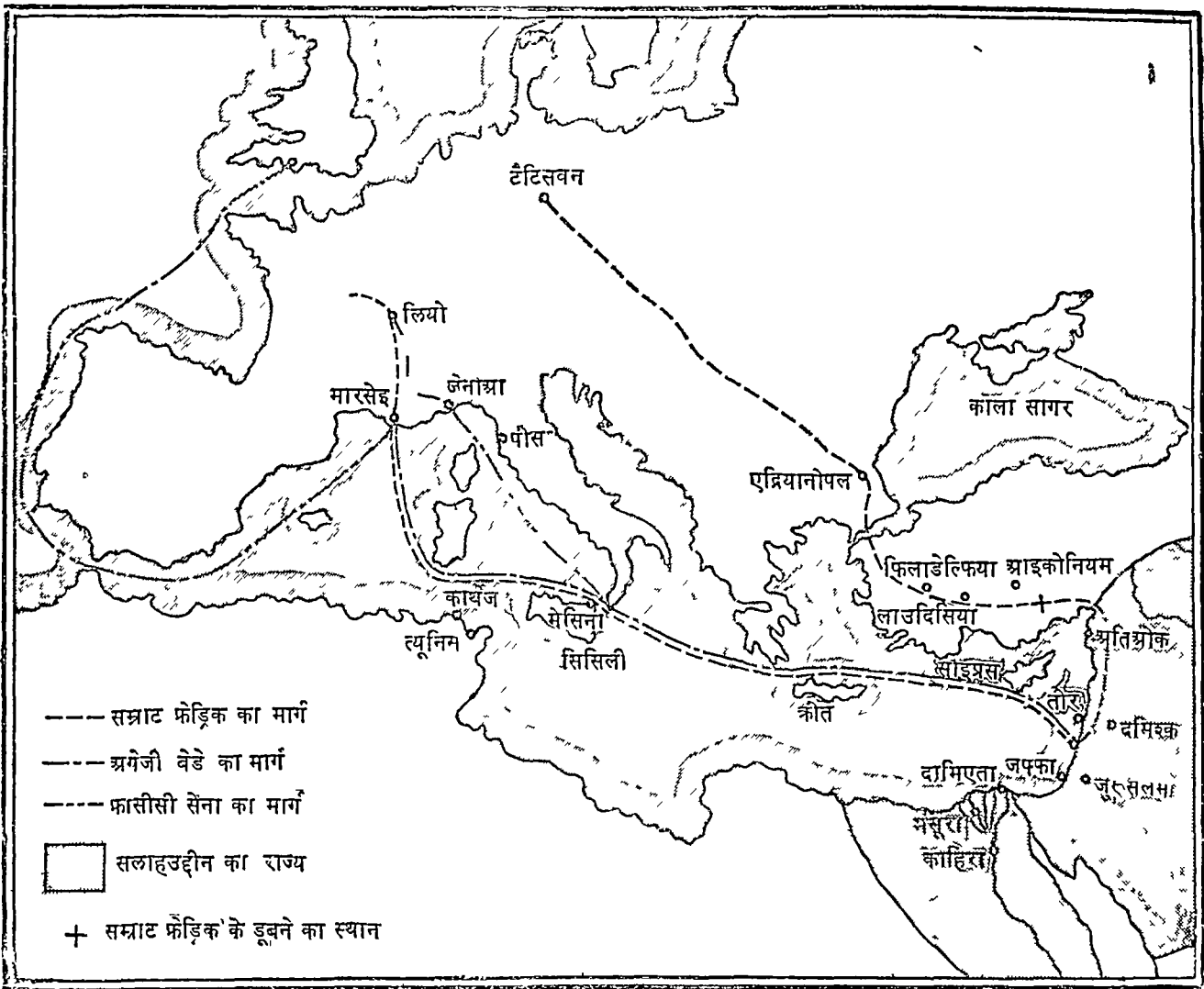
तृतीय ईसाई धर्मयुद्ध
(देखे पृ० ३८)
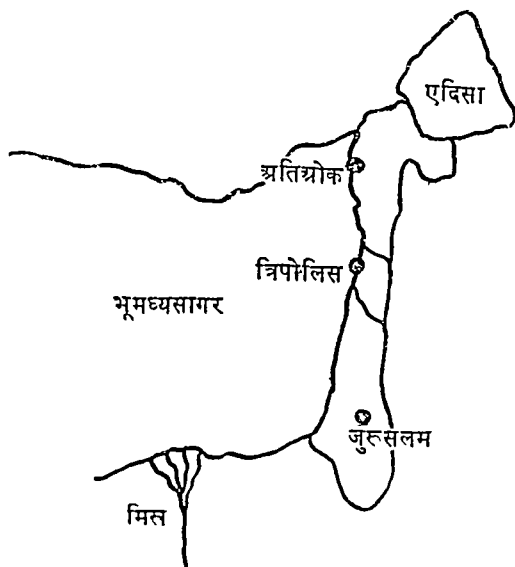
प्रथम ईसाई धर्मयुद्ध (क्रूस युद्ध) के बाद क्रूसधरों द्वारा जीते हुए प्रदेशों में स्थापित चार राज्य (देखे पृ० ३८)
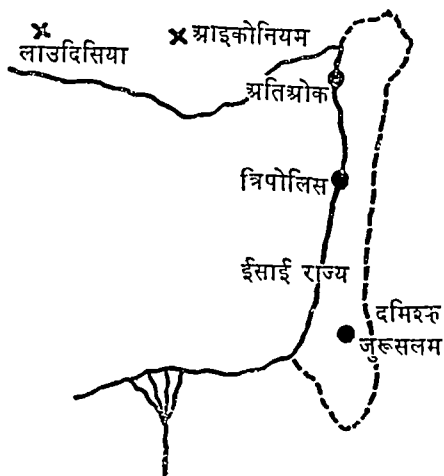
द्वितीय ईसाई धर्मयुद्ध (देखे पृ० ३८)

सन् १२०२ में पूर्वी सम्राट् ईज़ाकस को उनके भाई आलेक्सियस ने धोखा करके हटा दिया था और स्वयं सम्राट् बन बैठा था। पश्चिमी सेनाएँ समुद्र के मार्ग से कोस्तातीन पहुँचीं और आलेक्सियस को हराकर ईज़ाकस को गद्दी पर बैठाया। उसकी मृत्यु हो जाने पर कोस्तातीन पर फिर घेरा डाला गया और विजय के बाद वहाँ बाल्डविन को, जो पश्चिमी यूरोप में फ्लैंडर्स (बेल्जियम) का सामत था, सम्राट् बनाया गया। इस प्रकार पूर्वी साम्राज्य भी पश्चिमी फिरंगियों के शासन में आ गया और ६० वर्ष तक बना रहा।

इस क्रांति के अतिरिक्त फिरंगी सेनाओं ने राजधानी को भली प्रकार लूटा। वहाँ के कोष से धन, रत्न और कलाकृतियाँ लेने के अतिरिक्त प्रसिद्ध गिरजाघर संत सोफिया को भी लूटा जिसकी छत में कहा जाता है कि एक सम्राट् ने १८ टन सोना लगाया था।

बालकों का धर्मयुद्ध (१२१२)—सन् १२१२ में फ्रांस के स्तेफाँ नाम के एक किसान ने, जो कुछ चमत्कार भी दिखाता था, घोषणा की कि उसे ईश्वर ने मुसलमानों को परास्त करने के लिये भेजा है और यह पराजय बालकों द्वारा होगी। इस प्रकार बालकों के धर्मयुद्ध का प्रचार हुआ, जो एक विचित्र घटना है। ३०,००० बालक बालिकाएँ, जिनमें से अधिकांश १२ वर्ष से कम अवस्था के थे, इस काम के लिये ७ जहाजों में फ्रांस के दक्षिणी बंदर मारसई से चले। उन्हें समुद्रयात्रा पैदल ही संपन्न होने का विश्वास दिलाया गया। दो जहाज तो समुद्र में समस्त यात्रियों समेत डूब गए, शेष के यात्री सिकंदरिया में दास बनाकर बेच दिए गए। इनमें से कुछ १७ वर्ष उपरांत संधि द्वारा मुक्त हुए।

इसी वर्ष एक दूसरे उत्साही ने २०,००० बालकों का दूसरा दल जर्मनी में खड़ा किया और वह उन्हें जेनोआ तक ले गया। वहाँ के बड़े पादरी ने उन्हें लौट जाने का परामर्श दिया। लौटते समय उनमें से बहुतेरे पहाड़ों की यात्रा में मर गए।

पाँचवाँ क्रूशयुद्ध १२२८–२९—में सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने मिस्र के शासक से संधि करके, पवित्र भूमि के मुख्य स्थान जुरूसलम बेथलेहम, नजरथ, तीर और सिदोन तथा उनके आसपास के क्षेत्र प्राप्त करके अपने को जुरूसलम के राजपद पर अभिषिक्त किया।

छठा क्रूशयुद्ध १२४८–५४—कुछ ही वर्ष उपरांत जुरूसलम फिर मुसलमानों ने छीन लिया। जलालउद्दीन, ख्वारिज्मशाह, जो खीवा का शासक था, चंगेज़ खाँ से परास्त होकर, पश्चिम गया और ११४४ में उसने जुरूसलम लेकर वहाँ के पवित्र स्थानों को क्षति पहुँचाई और निवासियों की हत्या की।

इसपर फ्रांस के राजा लुई नवें ने (जिसे संत की उपाधि प्राप्त हुई) १२४८, और ५४ के बीच दो बार इन स्थानों को फिर से लेने का प्रयास किया। फ्रांस से समुद्रमार्ग से चलकर वह साइप्रस पहुँचा और वहाँ से १२४९ में मिस्र में दमिएता ले लिया, पर १२५० में मंसूरा की लड़ाई में परास्त हुआ और अपनी पूरी सेना के साथ उसने पूर्ण आत्मसमर्पण किया। चार लाख स्वर्णमुद्रा का उद्धारमूल्य चुकाकर, दमिएता वापिस कर मुक्ति पाई। इसके उपरांत चार वर्ष तक उसने एकर के बचाव का प्रयास किया, पर सफल न हुआ।

सप्तम क्रूश युद्ध १२७०–७२—जब १२६८ में तुर्कों ने अंतिओक ईसाइयों से ले लिया, तब लुई नवें ने एक और क्रूशयुद्ध किया। उसको आशा थी कि उत्तरी अफ्रीका में ट्यूनिस का राजा ईसाई हो जायगा। वहाँ पहुँचकर उसने कार्थेज १२७० में लिया, पर थोड़े ही दिनों में प्लेग से मर गया। इस युद्ध को इसकी मृत्यु के बाद इंग्लैंड के राजकुमार एडवर्ड ने, जो आगे चलकर राजा एडवर्ड प्रथम हुआ, जारी रखा। परंतु उसने अफ्रीका में और कोई कार्यवाही नहीं की। वह सिसली होता हुआ फिलिस्तीन पहुँचा। उसने एकर का घेरा हटा दिया और मुसलमानों को दस वर्ष के लिये युद्ध-विराम करने को बाध्य किया।

एकर ही एक स्थान फिलिस्तीन में ईसाइयों के हाथ में बचा था और वह अब उनके छोटे से राज्य की राजधानी था। १२९१ में तुर्कों ने उसे भी ले लिया।

धर्मयुद्धों का प्रभाव—इन धर्मयुद्धों के इतिहास में इस बात का ज्वलंत प्रमाण मिलता है कि धार्मिक अंधविश्वास और कट्टरता को उत्तेजित करने से मनुष्य में स्वयं विचार करने की शक्ति नहीं रह जाती। कट्टरता के प्रचार से ईसाइयत जैसे शांतिपूर्ण मत के अनुयायी भी कितना अत्याचार और हत्याकांड कर सकते हैं, यह इससे प्रगट है। जो धर्मसैनिक यात्रियों की चिकित्सा के लिये अथवा मंदिर की रक्षा के लिये दीक्षित हुए, वे यहाँ के वातावरण में संसारी हो गए। वे महाजनी करने लगे।

इन युद्धों से यूरोप को बहुत लाभ भी हुआ। बहुतेरे कलहप्रिय लोग इन युद्धों में काम आए जिससे शासन का काम सुगम हो गया। युद्धों में जाने-वाले यूरोपीय पूर्व के निवासियों के संपर्क में आए और उनसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा, क्योंकि इनके रहन सहन का स्तर यूरोप से बहुत ऊँचा था। वाणिज्य को भी बहुत प्रोत्साहन मिला और भूमध्यसागर के बंदरगाह विशेषत वेनिस, जेनोआ, पीसा की खाड़ी की उन्नति हुई।

पूर्वी साम्राज्य, जो ११वीं शताब्दी में समाप्त होने ही को था, ३०० वर्ष और जीवित रहा। पोप का प्रभुत्व और भी बढ़ गया और साथ ही राजाओं की शक्ति बढ़ने से दोनों में कभी कभी संघर्ष भी हुआ। [प० न०]

ईसाई समाजवाद

समाजवादियों का उद्देश्य है निजी संपत्ति पर नियंत्रण और आत्माभिव्यक्ति के अवसरों में वृद्धि। किंतु इसके साधन क्या हों, हिंसाप्रधान या अहिंसामूलक, समाजवादी व्यवस्था की रूपरेखा क्या हो, समाजपरिवर्तन की प्रक्रिया और उसका तर्क क्या हो—इन और अन्य संबद्ध प्रश्नों पर समाज-वादी विचारधाराओं में मतवैभिन्य है। किंतु समाजवादी विचारधाराओं के सामान्य उद्देश्यों की प्रतिष्ठा ईसाई मत के कुछ आधारभूत सिद्धांतों से हो सकती है। ईसा की शिक्षा है कि ईश्वर समस्त प्राणियों का स्रष्टा और परमपिता है, मनुष्यों में भाईचारे का संबंध है, गरीबी और शोषण के साथ साथ संपत्तिसंचय नैतिक पतन है, संपत्ति की ओर उचित प्रवृत्ति यह है—उसका त्याग और समाजकल्याण के लिये उसका अमानत की भाँति प्रयोग, और हिंसाप्रमुख साधनों का निराकरण।

रोमन साम्राज्य में राजधर्म की मान्यता मिलने के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक ईसाई नैतिकता सामाजिक संगठन और व्यवहार की आधार-शिला थी। वह संघर्ष और प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग और सेवा पर बल देती थी। किंतु १५वीं शताब्दी के मध्य के उपरांत वैज्ञानिक और यांत्रिक विकास के फलस्वरूप आधुनिक सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। दृष्टिकोण गुणात्मक के स्थान पर परिमाणात्मक हो गया। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में संगठन ने दीर्घकाय रूप लिया। सभी कार्य, धार्मिक हो या शैक्षिक, आर्थिक हो या राजनीतिक, नौकरशाही द्वारा संपन्न होने लगे। प्रत्यक्ष जगत् के स्थान पर आज का संसार व्यापक और निर्वैयक्तिक है। उसकी नैतिकता धार्मिक नहीं है, सुखवादी या उपयोगितावादी है। धन इस सुख का साधन है और वही आज जीवन का मानदंड है। इसीलिये जीवन और आज की विचारधाराएँ संघर्षप्रमुख हैं। ईसाइयत और समाज-वाद के बीच एक विशाल खाई है।

प्राचीन काल से ही अनेक संन्यासप्रमुख ईसाई संप्रदायों ने बहुत कुछ समाजवादी सिद्धांतों को अपनाया। किंतु फ्रांसीसी राजक्रांति के बाद, विशेष रूप से १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, पश्चिम के अनेक देशों में ईसाई समाजवादी विचारधारा और संगठन का प्रादुर्भाव हुआ। इसका प्रमुख कारण यह था कि उद्योगीकरण के दुष्परिणाम प्रकट होने लगे थे। ईसाई नैतिकता की उपेक्षा हो रही थी और समाज सुखवाद की ओर अग्रसर हो रहा था। दूसरी ओर ईसाई धर्मावलंबी, विशेष रूप से संगठित चर्च, सामाजिक बुराइयों की ओर से उदासीन थे। ईसाई समाजवाद का उद्देश्य यह था कि ईसाई लोग समाजवादी दृष्टिकोण को अपनाएँ और समाजवाद ईसाई नैतिकता से अनुप्राणित हो।

ईसाई समाजवाद के नेता थे, फ्रांस में दलामने, इंग्लैंड में मारिस और किंग्सले, जर्मनी में फॉन केटलर, आस्ट्रिया में कार्ल ल्यूगा और अमेरिका में जोशिया स्ट्राग, रिचर्ड एली, जार्ज हेरन इत्यादि। इन आंदोलनों द्वारा यह प्रयास हुआ कि चर्च और समाजवाद में परस्पर सहयोग हो और सामा-जिक जीवन का संचालन प्रतियोगिता नहीं वरन् सहयोग के आधार पर हो। ईसाई समाजवादी इस बात के पक्ष में थे कि आर्थिक जीवन का संगठन जन-तंत्रवादी हो। इनके प्रयास से समाजवादी विचारधारा जनप्रिय बनी।

आदर्श समाजवाद की रूपरेखा कैसी हो, इसमें ईसाई समाजवादियो को विशेष अभिरुचि न थी। उनको विश्वास था कि मजदूरो के अतिरिक्त यदि मध्य वर्ग के मनुष्यो को भी ठीक प्रकार से सामाजिक परिस्थिति से परिचित कराया जाय तो वह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के सुधार मे हाथ बँटाएँगे।

किंतु १९वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे ईसाई समाजवाद की जनप्रियता घटने लगी। पश्चिमी देशो के मजदूर ट्रेड यूनियन आदोलन से अधिक प्रभावित हुए। आधुनिक सभ्यता प्रत्यक्षवाद (एपेरिसिज्म), धर्मनिरपेक्षता (सेक्युलेरिज्म) और सुखवाद (हेडनिज्म) पर आधारित है। ईसाई समाजवादियो मे आतरिक मतभेद भी था। कुछ की अभिरुचि प्रमुख रूप से ईसाई धर्म मे थी और कुछ की समाजवाद मे। रूस मे साम्यवादी राज्य की स्थापना के बाद अन्य समाजवादी विचारधाराओ का प्रभाव कम हो गया। पश्चिम में आज ईसाई धर्म और प्रचलित बौद्धिक मानसिकता में अतर बढ रहा है।

स० ग्र०—काफर्मन, एम० क्रिश्चियन सोशलिज्म, नीटी, एफ० एस० कैथलिक सोशलिज्म, रैवने, सी० ई० क्रिश्चियन सोशलिज्म। [गो० ना० धा०]

ईसा मसीह

ईसा इब्रानी शब्द येशूआ का विकृत रूप है, इसका अर्थ है मुक्तिदाता। यहूदी धर्मग्रथ में मशीअह ईश्वर-प्रेरित मुक्तिदाता की पदवी है, इसका अर्थ है अभिषिक्त, यूनानी भाषा मे इसका अनुवाद ख्रीस्तोस है। इस प्रकार ईसा मसीह पश्चिम मे येसु ख्रीस्त के नाम से विख्यात हैं।

तासितस, सुएतोन तथा फ्लावियस योसेफस जैसे प्राचीन रोमन तथा यहूदी इतिहासकारो ने ईसा तथा उनके अनुयायियो का तो उल्लेख किया है किंतु उनकी जीवनी अथवा शिक्षा का वर्णन नही किया। इस प्रकार की सामग्री हमे बाइबिल में ही मिलती है, विशेषकर चारो सुसमाचारो (गास्पेलो) मे जिनकी रचना प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुई थी। सुसमाचारो का प्रधान उद्देश्य है ईसा की शिक्षा प्रस्तुत करना, उनके किए हुए चमत्कारो के वर्णन द्वारा उनके ईश्वरत्व पर विश्वास उत्पन्न करना, तथा मृत्यु के बाद उनके पुनरुत्थान का साक्ष्य देना। किंतु वे इन विषयो के साथ साथ ईसा की जीवनी पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

बाइबिल के अनुसार ईसा की माता मरिया गलीलिया प्रात के नाज़रेथ गाँव की रहनेवाली थी। उनकी सगाई दाऊद के राजवशी यूसुफ नामक बढई से हुई थी। विवाह के पहले ही वह कुँवारी रहते हुए ही ईश्वरीय प्रभाव से गर्भवती हो गई। ईश्वर की ओर से सकेत पाकर यूसुफ ने उन्हें पत्नीस्वरूप ग्रहण किया, इस प्रकार जनता ईसा की अलौकिक उत्पत्ति से अनभिज्ञ रही। विवाह सपन्न होने के बाद यूसुफ गलीलिया छोडकर यहूदिया प्रात के बेथलेहेम नामक नगरी मे जाकर रहने लगे, वहाँ ईसा का जन्म हुआ। शिशु को राजा हेरोद के अत्याचार से बचाने के लिये यूसुफ मिस्र भाग गए। हेरोद ४ ई० पू० में चल बसे अत ईसा का जन्म सभवत ६ ई० पू० में हुआ था। हेरोद के मरण के बाद यूसुफ लौटकर नाज़रेथ गाँव मे बस गए। बढने पर ईसा ने यूसुफ का पेशा सीख लिया और लगभग ३० साल की उम्र तक उसी गाँव में रहकर वे बढई का काम करते रहे।

ईसा के अतिम दो तीन वर्ष समझने के लिये उस समय की राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थिति ध्यान में रखनी चाहिए। समस्त यहूदी जाति रोमन सम्राट् तिबेरियस के अधीन थी तथा यहूदिया प्रात में पिलातस नामक रोमन राज्यपाल शासन करता था। यह राजनीतिक परतन्त्रता यहूदियो को बहुत अखरती थी। वे अपने धर्मग्रथ में वर्णित मसीह की राह देख रहे थे क्योकि उन्हे आशा थी कि वह मसीह उनको रोमियो की गुलामी से मुक्त करेंगे। दूसरी ओर, उनके यहाँ पिछली चार शताब्दियो मे एक भी नबी प्रकट नही हुआ, अत जब सन् २७ ई० में योहन बपतिस्ता यह सदेश लेकर बपतिस्मा देने लगे कि 'पछतावा करो, स्वर्ग का राज्य निकट है तो', यहूदियो मे उत्साह की लहर दौड गई और वे आशा करने लगे कि मसीह शीघ्र ही आनेवाला है।

उस समय ईसा न अपने औजार छोड दिए तथा योहन से बपतिस्मा ग्रहण करने के बाद अपने शिष्यो को वह चुनने लगे और उनके साथ समस्त देश का परिभ्रमण करते हुए उपदेश देने लगे। यह सर्वविदित था कि ईसा बचपन से अपना सारा जीवन नाज़रेथ मे बिताकर बढई का ही काम करते रहे। अत उनके अचानक धर्मोपदेशक बनने पर लोगो को आश्चर्य हुआ। सब ने अनुभव किया कि ईसा अत्यत सरल भाषा तथा प्राय दैनिक जीवन के दृष्टातो का सहारा लेकर अधिकारपूर्वक मौलिक धार्मिक शिक्षा दे रहे हैं।

ईसा यहूदियो का धर्मग्रथ (ईसाई बाइबिल का पूर्वार्ध) प्रामाणिक तो मानते थे किंतु वह शास्त्रियो की भाँति उसकी निरी व्याख्या ही नही करते थे, प्रत्युत उसके नियमो मे परिष्कार करने का भी साहस करते थे। 'पर्वत-प्रवचन' में उन्होने कहा—'मैं मूसा का नियम तथा नबियो की शिक्षा रद्द करने नही, बल्कि पूरी करने आया हूँ।' वह यहूदियो के पर्व मनाने के लिये राजधानी जुरुसलेम के मदिर में आया तो करते थे, किंतु वह यहूदी धर्म को अपूर्ण समझते थे। वह शास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित जटिल कर्मकाड का विरोध करते थे और नैतिकता को ही धर्म का आधार मानकर उसी को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते थे। ईसा के अनुसार धर्म का सार दो बातो में है, एक तो मनुष्य का परमात्मा को अपना दयालु पिता समझकर समूचे हृदय से प्यार करना तथा उसी पर भरोसा रखना, दूसरे, अन्य सभी मनुष्यो को भाई बहन मानकर किसी से भी बैर न रखना, अपने विरुद्ध किए हुए अपराध क्षमा करना तथा सच्चे हृदय से सबका कल्याण चाहना। जो यह भ्रातृप्रेम निबाहने में असमर्थ हो वह ईश्वरभक्त होने का दावा न करे, भगवद्भक्ति की कसौटी भ्रातृप्रेम ही है।

जनता इस शिक्षा पर मुग्ध हुई तथा रोगियो को चगा करना, मुर्दो को जिलाना आदि उनके चमत्कार देखकर उसने ईसा को नबी के रूप में स्वीकार किया। तब ईसा ने धीरे धीरे यह प्रकट किया कि मैं ही मसीह, ईश्वर का पुत्र हूँ, स्वर्ग का राज्य स्थापित करने स्वर्ग से उतरा हूँ। यहूदी अपने को ईश्वर की चुनी हुई प्रजा समझते थे तथा बाइबिल में जो मसीह और स्वर्ग के राज्य की प्रतिज्ञा है उसका एक भौतिक एव राष्ट्रीय अर्थ लगाते थे। ईसा ने उन्हें समझाया कि मसीह यहूदी जाति का नेता बनकर उसे रोमियो की गुलामी से मुक्त करने नही प्रत्युत सब मनुष्यो को पाप से मुक्त करने आए हैं। स्वर्ग के राज्य पर यहूदियो का एकाधिकार नही है, मानव मात्र इसका सदस्य बन सकता है। वास्तव में स्वर्ग का राज्य ईसा पर विश्वास करनेवालो का समुदाय है जो दुनिया के अत तक उनके सदेश का प्रचार करता रहेगा। अपनी मृत्यु के बाद उस समुदाय के सगठन और शासन के लिये ईसा ने बारह शिष्यो को चुनकर उन्हें विशेष शिक्षण और अधिकार प्रदान किए।

स्वर्ग के राज्य के इस आध्यात्मिक स्वरूप के कारण ईसा के प्रति यहूदी नेताओ में विरोध उत्पन्न हुआ। वे समझने लगे कि ईसा स्वर्ग का जो राज्य स्थापित करना चाहते हैं वह एक नया धर्म है जो जुरुसलेम के मदिर से कोई सबध नही रख सकता। अततोगत्वा उन्होने (सभवत सन् ३० ई० में) ईसा को गिरफ्तार कर लिया तथा यहूदियो की महासभा ने उनको इसीलिये प्राणदड दिया कि वह मसीह तथा ईश्वर का पुत्र होने का दावा करते हैं। रोमन राज्यपाल ने इस दडाज्ञा का समर्थन किया और ईसा को क्रूस पर मरने का आदेश दिया।

ईसा की गिरफ्तारी पर उनके सभी शिष्य विचलित होकर छिप गए थे। उनकी मृत्यु के बाद उन्होने राज्यपाल की आज्ञा से उनको क्रूस से उतारकर दफना दिया। दफन के तीसरे दिन ईसा की कब्र खाली पाई गई, उसी दिन से, आस्थावानो का विश्वास है, वह पुनर्जीवित होकर अपने शिष्यो को दिखाई देने और उनके साथ वार्तालाप भी करने लगे। उस समय ईसा ने अपने शिष्यो को समस्त जातियो में जाकर अपने सदेश का प्रचार करने का आदेश दिया। पुनरुत्थान के ४०वे दिन ईसाई विश्वास के अनुसार, ईसा का स्वर्गारोहण हुआ।

यद्यपि ईसा की आकृति का कोई भी प्रामाणिक चित्र अथवा वर्णन नही मिलता, तथापि बाइबिल मे उनका जो थोडा बहुत चरित्रचित्रण हुआ है उससे उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली होने के साथ ही अत्यत आकर्षक सिद्ध हो जाता है। ईसा ३० साल की उम्र तक मजदूर का जीवन बिता चुकने के बाद धर्मोपदेशक बने थे, अत वह अपने को जनसाधारण के अत्यत निकट पाते थे। जनता भी उनकी नम्रता और मिलनसारिता से आकर्षित होकर उनको घेरे रहती थी, यहाँ तक कि उनको कभी कभी भोजन करने तक की फुरसत नही मिलती थी। वह बच्चो को विशेष रूप से प्यार करते थे तथा उनको अपने पास बुला बुलाकर आशीर्वाद दिया करते थे। वह प्रकृति के सौदर्य पर मुग्ध थे तथा अपने उपदेशो मे पुष्पो, पक्षियो आदि का उपमान के रूप

सलीब लिए हुए ईसा मसीह

ईसा मसीह के जीवन को अपनी कल्पना और प्रतिभा से तूलिका द्वारा जीवत करन का काम प्रधानत· चित्रकार एल ग्रेको द्वारा सपन्न हुआ है। एल ग्रेको के ईसा मसीह पूर्णत्व की प्रतिमा है—पुरुषोत्तम के आदर्श। इसीसे लियो व्रास्टीन ने इस चित्र के वारे मे लिखा था—"इसे साधारणत 'सलीब लिए हुए ईसा मसीह' (क्राइस्ट वियरिंग दि क्रॉस) कहा जाता है, किंतु अधिक उचित होगा कि इसे 'सलीव का आलिंगन करते हुए ईसा मसीह' (क्राइस्ट एब्रेसिंग दि क्रॉस) कहा जाय।"

यह चित्र सन् १५८७—१६०४ मे तैयार हुआ था। इसका आकार ४२$\frac{१}{६}$"×३४$\frac{५}{८}$" है। आजकल यह प्रदो, माद्रिद मे सुरक्षित है।

में प्राय उल्लेख करते थे। वह धन-दौलत की साधना मे बाधा समझकर धनियो को सावधान किया करते थे तथा दीन दुखियो के प्रति विशेष रूप से आकर्षित होकर प्राय रोगियो को स्वास्थ्य प्रदान कर अपनी अलौकिक शक्ति को व्यक्त करते थे, ऐसा लोगो का विश्वास है। वह पतितो के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करनेवाले पतितपावन थे तथा शास्त्रियो के धार्मिक आडबर के निदक थे। एक बार उन्होने उन धर्मपाखडियो से कहा—"वेश्याएँ तुम लोगो से पहले ईश्वर के राज्य में प्रवेश करेंगी।" वह पिता परमेश्वर को अपने जीवन का केंद्र बनाकर बहुधा रात भर अकेले ही प्रार्थना में लीन रहते थे।

सहृदय और मिलनसार होते हुए भी वह नितात अनासक्त और निर्लिप्त थे। आत्मसयमी होते हुए भी उन्होने कभी शरीर गलानेवाली घोर तपस्या नही की। वह पाप से घृणा करते थे, पापियो से नही। अपने को ईश्वर का पुत्र तथा ससार का मुक्तिदाता कहते हुए भी अहकारशून्य और अत्यत विनम्र थे। मनुष्यो मे अपना स्नेह वितरित करते हुए भी वह अपना सपूर्ण प्रेम ईश्वर को निवेदित करते थे। इस प्रकार ईसा मे एकागीपन अथवा उग्रता का सर्वथा अभाव है, उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से सतुलित है।

स० ग्र०—सी० बुल्के मुक्तिदाता, राँची, १९५६, एल० डि ग्रैडमेसन जीसस क्राइस्ट, लडन, १९३०, जे० लेब्रेटन दि लाइफ ऐड टीचिंग ऑव जीसस क्राइस्ट, लडन, १९३५, वी० टेलर दि लाइफ ऐड मिनिस्ट्री ऑव जीसस, लडन, १९५५। [का० बु०]

ईसिस जादू, कपट, शक्ति और ज्ञान की प्रसिद्ध मिस्री देवी। केब (पृथ्वी) और नुत (आकाश) की कन्या, शक्तिमान देव ओसिरिस की भगिनीजाया, और देव होरस (सूर्य) की माता। गाय उसकी पुनीत पशु थी और अपने मस्तक पर वह गोशृग भी धारण करती थी। फिली, वेहवेत आदि मिस्री नगरो के विशाल मदिर इसी देवी ईसिस की मूर्तियो की प्रतिष्ठा के लिये बने थे।

नए राजवश के अत्यकाल से विशेषत ईसिस की महिमा बढी और देश में सर्वत्र उसकी पूजा लोकप्रिय हो गई। मिस्र के समूचे देश में तो वह पूजी ही गई, उनकी महिमा का प्रचार धीरे धीरे ग्रीस और रोम मे भी हुआ। स्वय मिस्र मे उसके मदिरो मे छठी सदी ईसवी के मध्य काल तक भक्तो की भीड लगी रहती थी। पर तभी उस मदिर के कपाट सदा के लिये बद कर दिए गए और ईसिस की पूजा ससार से उठ गई। प्राचीन मिस्री अभिलेखो मे, ओसिरिस की पत्नी होने के नाते, उसके साथ ही उसका भी उल्लेख तो हुआ ही है, स्वय अपने अधिकार से भी उस देश के धार्मिक इतिहास मे ईसिस का जितना प्रभुत्व रहा है उतना अन्य देवियो का दूसरे देशो में नही रहा।

स० ग्र०—ई० ए० डब्ल्यू० बज गॉड्स् ऑव द इजिप्शस, खड २, अध्याय १३। [भ० श० उ०]

ईसकिलस (ई० पू० ५२५–ई० पू० ४५६) यूनानी भाषा के प्राचीनतम नाटककार जिनके नाटक इस समय उपलब्ध हैं। इनकी अपेक्षा प्राचीनतर नाटककार थैस्पिस का नाममात्र ज्ञात है पर उनका कोई नाटक नही मिलता। इनका जन्म एथेस के समीप इलुसिस नामक स्थान में एक सभ्रात परिवार में हुआ था। ईसकिलस ने फारस के साथ होनेवाले युद्धो मे भाग लिया था और आर्तेमिसियुम, सलामिस और प्लातइया नामक स्थानो पर सग्राम किया था। मराथन नामक स्थान पर ईसकिलस और उसके दो भाइयो ने ऐसा लोकोत्तर पराक्रम प्रदर्शित किया कि एथेस ने उनके चित्र अकित करने का आदेश दिया। सिराकूस के राजा हिएरन प्रथम के निमत्रण पर उन्होने दो बार सिराकूस की यात्रा की। ई० पू० ४८४ मे उनको प्रथम पुरस्कार मिला, ई० पू० ४६८ मे प्रथम पुरस्कार उनको न मिलकर युवा सोफॉक्लेस को मिला, पर ई० पू० ४६७ और ई० पू० ४५८ मे पुन उनके नाटको पर विजयोपहार प्राप्त हुए। इसके पश्चात् ई० पू० ४५६ मे वे पुन सिसिली की यात्रा पर गए और वही उनकी मृत्यु हुई। कहते है, आकाश मे उडती हुई चील के पजो से छूटकर एक कछुआ उनके सिर पर गिरा जिसके कारण उनका प्राणात हुआ। एक समय उनपर इल्युसिस की देवी देमेतर के रहस्य को उद्घाटित कर देने का अपराध आरोपित किया गया था, पर वे अपने को इस से मुक्त करने में सफल हो गए।

ईसकिलस ने सर्वप्रथम यूनानी दु खात नाटको को उनका विशिष्ट रूप प्रदान किया। आरभ मे यह नाटक डियीरब नामक गीत के रूप मे प्रस्तुत किए जाते थे। थैस्पिस नामक कलाकार ने गायकमडली (कोरस) मे से एक पात्र को पृथक् अभिनेता के रूप मे प्रस्तुत किया। ईसकिलस ने एक दूसरे अभिनेता की सृष्टि कर गीत को नाटक के रूप मे परिणत कर दिया। इस प्रकार ईसकिलस दु खातनाटक (त्रागेदी = ट्रेजेडी) के सुव्यवस्थित रूप के जन्मदाता माने जाते है। उन्होने नत्तर (अथवा एक अन्यमत के अनुसार नब्बे) नाटको की रचना की थी। आजकल इनमे से केवल सात मिलते हैं और कुछ अन्य नाटको की बिखरी हुई पक्तियाँ यत्रतत्र उद्धृत मिलती हैं।

हिकैतिदेस (शरणार्थिनी बालाएँ) यूरोपीय साहित्य का आजकल उपलब्ध होनेवाला प्राचीनतम नाटक माना जाता है। मिस्र देश मे ईगिप्तुस और दनाउस दो भाई राज्य करते थे। प्रथम भाई के ५० पुत्र थे और दूसरे के ५० पुत्रियाँ। ईगिप्तुस के पुत्र दनाउस की पुत्रियो के साथ बलात् विवाह करना चाहते थे परतु यह उनकी इच्छा के विरुद्ध बात थी। अत राजकुमारियाँ भागकर अपने पिता के सहित समुद्र पार पैलास्गुस के आर्गस नामक राज्य मे चली गई। यद्यपि पैलास्गुस उनको शरण देने में आनाकानी करने लगे तथापि आर्गस की प्रजा ने अपने मतदान द्वारा उन्हे शरण देने के लिये विवश कर दिया। इसके उपरात ईगिप्तुस के पुत्रो ने उनका पीछा किया और पैलास्गुस की सभा मे अपने दूत भेजे। यद्यपि उन्होने युद्ध की धमकी दी, तथापि पैलास्गुस ने शरणार्थिनियो को लौटाना स्वीकार नही किया। इस कथा की पूर्ति के लिये ईसकिलस ने 'ईगिपतिइ' और 'दनाइदेस' नामक दो नाटक और लिखे थे जो अब नही मिलते। इस प्रकार के तीन नाटको के गुच्छको को 'त्रिलोगी' कहा जाता था।

'पैर्साए' नामक नाटक मे सालामिस के युद्ध में खैरखैस और उसकी पारसीक सेना के पराजय का वर्णन है। दरियुस के पुत्र सम्राट् खैरखैस मराथन नामक स्थान पर यूनानियो के द्वारा अपने पिता की पराजय का प्रतीकार करने के लिये दलबल सहित यूनान और विशेषकर एथेस को दड देने के लिये अपने शत्रुओ पर चढाई करते हैं। फारस की राजधानी सूसा में राजमाता अतोस्सा को दु स्वप्न दिखलाई देते हैं। वे देवपूजा की तैयारी करती है। कुछ समय पश्चात् युद्ध मे पराजित और दुर्विताडित सैनिक और खैरखैस लौटकर घर आते है। ईसकिलस ने इस नाटक की रचना सालामिस की विजय के उपलक्ष मे की थी। इस नाटक मे प्लातइया के युद्ध मे पारसीको की पराजय की भविष्यवाणी भी मिलती है। ईसकिलस को इन युद्धो का प्रत्यक्ष अनुभव था। इस नाटक का अभिनय एथेसवासियो तथा अन्य यूनानियो को बहुत प्रिय था।

'हैपता ऐपि थेबास' (थेबेस नगर पर सात योद्धाओ की चढाई) में लाइयुस और इदिपस के शापग्रस्त परिवार के विनाश का वर्णन है। थेबेस के राजा एतेओक्लेस का भाई पोलीनेइकेस सात योद्धाओ के साथ थेबेस नगर पर चढाई करता है, नगर के सातो द्वारो पर युद्ध होता है और दोनो भाई परस्पर युद्ध करते हुए मारे जाते हैं। इदिपस के शापग्रस्त परिवार की कथा यूनानी साहित्य मे अत्यत प्रसिद्ध है।

'ओरेस्तेइया' भी एक अन्य शापग्रस्त परिवार से सबध रखनेवाले तीन नाटको की लडी है। यद्यपि इस प्रकार के नाटको के अनेक त्रितय (त्रिलोगियाँ) यूनानी नाटककारो द्वारा रचे गए थे, पर भाग्य की बात, उनमे से, मानो उदाहरणस्वरूप, ईसकिलस की यही त्रिलोगी इस समय अवशिष्ट है। इसमे अगामेम्नन, खोएफोरोए और यूमेनिदेस इन तीन नाटको का समावेश है। प्रथम नाटक मे ट्राय की विजय के पश्चात् लौटे हुए राजा अगामेम्नन की उनकी पत्नी द्वारा की गई हत्या का वर्णन है। दूसरे नाटक मे निर्वासन से गुप्त रूप से लौटे हुए अगामेम्नन के पुत्र ओरेस्तेस अपने मित्र पिलादेस और अपनी बहन एलैक्त्रा की सहायता से अपनी माता के जार इगिस्थुस को अपनी माता के सहित मार डालते हैं। इसपर 'ऐरीनियेस' (स्व-कुल-घात से उत्पन्न हुई कृत्याएँ) उनका पीछा करती हैं और वे उनसे त्राण पाने के लिये भागने लगते है। तीसरे नाटक मे एथेस नगर में कृत्याओ के शमन का वर्णन है। कुछ आलोचको के मत मे यह ईसकिलस की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

प्रोमेथियुस देस्मोतेस (प्रमथ वधन) नामक नाटक मे मानवो को अग्नि प्रदान करनेवाले प्रोमेथियुस नामक देवता को ज़ेउस (द्यौस) की आज्ञा से शकस्थान में समुद्र की एक चट्टान पर कीलो से विजडित कर दिया जाता है। परतु उसके प्राण नही निकलते। यह नाटक विचारप्रधान है। शेली ने इस नाटक का पूरक 'प्रोमेथियुस अनबाउड' नामक नाटक अग्रेजी भाषा मे लिखा है। स्वय ईसकिलस ने इस विषय पर तीन नाटक लिखे थे पर शेष दो नाटक अब नही मिलते। आलोचको का कहना है कि इस नाटक मे यूनानी त्रागेदी की कला मूर्तिमती हो उठी है। इन सात नाटको के अतिरिक्त ईसकिलस के बहुत से नाटको के नाम और बिखरी हुई पक्तियाँ यूनानी साहित्य में यत्र-तत्र मिलती हैं।

ईसकिलस ने दु खात नाटक के स्वरूप को व्यवस्थित किया। उनको प्रभावशाली दृश्यो और ऐश्वर्यशाली वेशभूषा से प्रेम था। उन्होने जिन पात्रो की सृष्टि की है उनमे से अधिकाश चरित्र सबधी महत्ता और शक्ति से समन्वित हैं। उनकी भाषा और शैली भी विषय के अनुरूप गौरवशालिनी है। ईसकिलस के नाटको में समसामयिक जनस्वातत्र्य की भावना उभरती हुई दृष्टिगोचर होती है।

स० ग्र०—मूल नाटक, सिज्विक द्वारा सपादित, ऑक्सफोर्ड का सस्करण। अग्रेजी अनुवाद सहित लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी का सस्करण, दो जिल्दो में (वियर स्मिथ द्वारा सपादित एव अनूदित), गिलबर्ट मरे के पद्यानुवाद भी अच्छे माने जाते हैं। समालोचना, गिलबर्ट मरे ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर, ईसकिलस, नौर्वुड, राइटर्स ऑन ग्रीस, बाउरा ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर इत्यादि। [भो० ना० श०]

ईस्ट इंडिया कंपनी

जब १४९८ ई० में वास्को दा गामा ने केप ऑव गुड होप द्वारा भारतयात्रा के लिये नया समुद्री मार्ग खोज निकाला, तब ससार के इतिहास मे एक क्रातिकारी परिच्छेद खुला। अब यूरोपीय देशो का भारत तथा पूर्वी द्वीपो से परोक्ष सपर्क सभव हो गया। स्वभावत, सुदृढ नाविक शक्ति के कारण इस मार्ग पर सर्वप्रथम पुर्तगाल का एकाधिकार स्थापित हुआ, किंतु, शीघ्र ही पहले हालैंड और बाद मे इग्लैंड ने पुर्तगाल का गतिरोध आरभ कर दिया।

इग्लैंड की ईस्ट इडिया कपनी की स्थापना, स्पेनी आर्मादा की पराजय के बाद, रानी एलिजाबेथ के आज्ञापत्र द्वारा (३१ दिसबर, १६००) 'दि गवर्नर ऐंड मर्चेंट्स ऑव लडन ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इडीज़' के नाम से हुई। इसी आज्ञापत्र द्वारा उक्त कपनी को व्यावसायिक एकाधिकार भी प्राप्त हुआ। कपनी के विकास के साथ साथ इग्लैंड में उसके व्यावसायिक एकाधिकार के विरुद्ध असगठित और सुसगठित प्रयास हुए। अतत रानी ऐन तथा लार्ड गोडोल्फिन की मध्यस्थता द्वारा आतरिक विरोधो का समाधान होकर 'दि युनाइटेड कपनी ऑव मर्चेंट्स ऑव इग्लैंड ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इडीज़' के रूप में नए विधान के साथ ईस्ट इडिया कपनी का पुनर्निर्माण हुआ। एक प्रकार से इसी को कपनी का यथोचित श्रीगणेश कहना उपयुक्त होगा।

१६वी शताब्दी से, अतर्राष्ट्रीय व्यवधान की अनुपस्थिति में, यूरोपीय देशो के पारस्परिक सपर्क व्यावसायिक और औपनिवेशिक प्रतिद्वद्विता के कारण सघर्ष और सधियो से ही परिचालित होते रहे। इनकी व्यापारिक सस्थाओ की समृद्धि इनके व्यापारिक एकाधिकार पर आधारित थी। यह एकाधिकार (क) शाही फर्मानो द्वारा हासिल किया जा सकता था, शाही अनुमति से, या शक्तिप्रदर्शन द्वारा। जब मुगल साम्राज्य सशक्त था तब ये आज्ञापत्र बादशाह तथा राज्याधिकारियो को प्रसन्न कर प्राप्त होते रहे, उनकी अवनति पर फिर ये शक्तिप्रदर्शन द्वारा प्राप्त किए जाने लगे। (ख) इसे प्राप्त करने का दूसरा साधन यूरोपीय प्रतिद्वद्वियो पर अधिकार जमा लेना था। दोनो ही साधन अनिवार्य थे। किंतु, स्पष्टत भारत म व्यावसायिक एकाधिकार की सार्थकता उसे ही उपलब्ध हो सकती थी जिसकी सामुद्रिक शक्ति सर्वोपरि हो। अस्तु, व्यवसाय के मूल में सघर्ष अनिवार्य था, शक्ति का भी, कूटनीति का भी।

ईस्ट इडिया कपनी के आगमन तक भारत में पुर्तगाली सूर्य अस्ताचल की ओर अग्रसर हो चुका था। पहले हालैंड, फिर हालैंड तथा इग्लैंड की समिलित नाविक शक्ति के समक्ष उसे नतमस्तक होना पडा। जब भारतीय तट के निकट कपनी ने पुर्तगाली बेडे को पराजित किया (१६१२) तब मुगल दरबार मे पुर्तगाली प्रभाव का ह्रास प्रारभ हो गया, और कपनी के मानवधन के साथ उसे सूरत में व्यावसायिक केंद्र खोलने का अधिकार भी प्राप्त हुआ। १६५४ मे पुर्तगाल को कपनी के अधिकारो को स्वीकार करना पडा, १६६१ मे उसने डचो के विरुद्ध सहायता देना भी अगीकार कर लिया।

कपनी को अब डचो के विरुद्ध लोहा लेना था। सर्वप्रथम कपनी का मुख्य ध्येय हिंदेशिया में ही अपना व्यवसाय केंद्रित करना था, जहाँ डच पहले से ही सशक्त थे। एब्रीयना के हत्याकाड (१६२३) के बाद यह विचार त्यागकर उसने भारत की ओर रुख किया, जहाँ डच शक्ति क्षीण थी। यूरोप में क्रामवेल कालीन एग्लो डच युद्ध, तथा लुई १४वें के हालैंड पर आक्रमण से हालैंड की सामुद्रिक शक्ति का ह्रास प्रारभ हो गया। १७५९ में क्लाइव ने डच बेडे को पूर्णत पराजित कर दिया।

अब कपनी के अतिम प्रतिद्वद्वी फ्रासीसी ही शेष रहे। डूप्ले के नेतृत्व मे उनके सशक्त और महत्वाकाक्षी होने के अतिरिक्त, एक मुख्य कारण यह भी था कि औरगजेब की मृत्यु के पूर्व ही गृहयुद्धो और शिवाजी के उत्कर्ष ने मुगल साम्राज्य को लडखडा दिया था। औरगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य तीव्र गति से पतनोन्मुख हो चला था। तज्जनित भारतव्यापी अव्यवस्था ने दोनो प्रतिद्वद्वियो के कार्यक्षेत्र को सुलभ और विस्तृत हो जाने दिया। आस्ट्रियाई उत्तराधिकार के युद्ध के सिलसिले मे भारत में प्रथम कर्नाटक युद्ध छिड गया। यद्यपि इससे दोनो कपनियो की स्थिति मे विशेष फर्क नही पडा, किंतु कर्नाटक पर फ्रासीसी विजय से यह अत्यत महत्वपूर्ण निष्कर्ष स्थापित हो गया कि यूरोपीय युद्धनीति तथा युद्धसज्जा की अपेक्षा भारतीय युद्धनीति तथा युद्धसज्जा हेय थी। और दक्षिण भारतीय राजनीतिक परिस्थिति इतनी खोखली थी कि उसपर विदेशी आधिपत्य सभव था। अस्तु, द्वितीय कर्नाटक युद्ध मे दोनो ओर से भारतीय राजनीति और राज्यो मे स्वार्थप्रसार के लिये हस्तक्षेप प्रारभ हो गया। इसी भित्ति पर डूप्ले ने फ्रासीसी साम्राज्यस्थापित करने की कल्पना की थी, किंतु उसकी असफलता पर साम्राज्य स्थापना के स्वप्न को साकार किया क्लाइव के योगदान से अग्रेजो ने। नाजुक परिस्थिति में डूप्ले के फ्रास सरकार द्वारा प्रत्यावाहन ने फ्रासीसी महत्वाकाक्षाओ पर तुषारपात कर दिया। अतत लाली की असफलता, चद्रनगर की पराजय और वाडीवाश की हार ने फ्रासीसी प्रतिद्वद्वी की रीढ तोड दी। उनके शेष प्रभाव को वेलेज़ली ने ध्वस्त कर दिया।

भारत में ईस्ट इडिया कपनी का यथोचित विकास टामस रो के आगमन से आरभ हुआ, जब उसके व्यावसायिक केंद्र सूरत, आगरा, अहमदाबाद तथा भडोच में स्थापित हुए। तत्पश्चात् बडी योजनापूर्ण विधि से अन्य केंद्रो की स्थापना हुई। मुख्य केंद्र समुद्री तटो पर ही बसे। उनकी किलेबदी भी की गई। इस प्रकार मुगल दस्तदाजी से वे दूर रह सकते थे। सकट के समय उन्हें समुद्री सहयोग सुलभ था। शाति के समय वे वही से वाछित दिशाओ में बढ सकते थे। इस तरह मसूलीपटम (१६११), बालासोर (१६३१), मद्रास (१६३९), हुगली (१६५१), बबई (१६६९), तथा कलकत्ता (१६९८) के केंद्रो की स्थापना हुई। बबई, कलकत्ता, मद्रास विशाल व्यावसायिक केंद्र होने के अतिरिक्त, कपनी के बडे महत्वपूर्ण राजनीतिक तथा शक्तिकेंद्र भी बने। इनकी समृद्धि और शक्तिवर्धन से भारतीय व्यवसायियो ने भी, जिनके लिये आयात निर्यात के बडे लाभप्रद द्वार खुल गए थे, पूर्ण सहयोग दिया। वस्तुत अग्रेजो और भारतीय व्यवसायियो का गठबधन कपनी की प्रगति मे बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

वैसे तो शाहजहाँ कालीन गृहयुद्ध तथा शिवाजी के उन्नयन से फैली अनिश्चितता ने कपनी को स्पष्ट कर दिया था कि व्यापारिक सुरक्षा के लिये शक्तिसचय आवश्यक है, लेकिन उनकी साम्राज्यवादी धारणा का प्रथम प्रस्फुटन १६८८ में हुआ, जब कपनी ने प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया कि "हमारी लगान वृद्धि पर ध्यान देना उतना ही आवश्यक है जितना कि व्यवसाय पर, वही हमारी सेना का पालन करेगी, जब बीसियो दुर्घटनाएँ हमारे व्यवसाय में बाधा डालेंगी, वही भारत मे हमे राष्ट्र का रूप देंगी। उसके बगैर हम केवल बहुसख्यक अनधिकारी प्रवेशक मात्र ही रहेंगे "

किंतु, उनकी साम्राज्यवादी महत्वाकाक्षा असामयिक प्रमाणित हुई जब वे मुगल राज्य से दडित और अनादृत हुए। उनका सकट तीव्र था, यदि मुगल राज्य द्वारा उनकी पुन स्थापना न हुई होती। परिस्थिति ने उन्हे फिर शातिप्रिय बना दिया। १७१७ मे मुगल सम्राट् द्वारा कपनी के सूरमान दूतमडल को बडे महत्वपूर्ण व्यावसायिक अधिकार प्राप्त हुए।

यद्यपि दक्षिण मे डूप्ले की साम्राज्यवादी योजनाओ से कपनी को दिशाज्ञान हुआ और फ्रासीसी पराजय से उनकी सैन्यशक्ति का सिक्का जमा, तथापि उनके साम्राज्य का बीजारोपण बगाल से ही हुआ। मराठो के आक्रमणो ने पहले ही बगाल की सेना को क्षीण, खजाने को खोखला, और आतरिक व्यापार को विच्छिन्न कर दिया था। अयोग्य सिराजुद्दौला अपने उद्दड स्वभाव और दरबारियो के विश्वासघात से मजबूर हो गया। अतत षड्यत्रकुशल क्लाइव ने, जगत्सेठ और अमीचद के षड्यत्र मे योगदान दे, प्लासी के युद्ध मे (१७५७) सिराज को परास्त कर अग्रेजी साम्राज्य की नीव मे पहली ईंट डाल दी। इसके बाद का बगाल का कुछ वर्षो का इतिहास कालिख से लिखा गया जिसमे अनैतिकता का ताडव हुआ। नवाब मीरकासिम ने कपनी का गतिरोध किया, किंतु बक्सर के युद्ध मे मीरकासिम, अवध के नवाब, तथा मुगल बादशाह की समिलित शक्ति की पराजय हुई। फलस्वरूप बगाल, बिहार, उडीसा, अवध और दिल्ली कपनी के प्रभुत्व मे आ'गए। किंतु, कूटनीतिज्ञ क्लाइव अभी साम्राज्य का उत्तरदायित्व सँभालने को तैयार न था, अस्तु उसने मुगल बादशाह से बगाल की दीवानी (१७६५) हस्तगत करके ही सतोष किया, जिससे बगाल के शासन में हस्तक्षेप करने का कपनी को वैध अधिकार प्राप्त हो गया।

किंतु अग्रेजी साम्राज्य का वास्तविक सस्थापक और उद्धारक हेस्टिंग्स ही था। जैसा पनिक्कर का कथन है, यदि पेशवा बाजीराव ने दक्षिण को असगठित रख, अपने पार्श्व और पृष्ठ को अरक्षित छोड दिल्ली की ओर अभियान न किया होता तो मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी अग्रेजो की अपेक्षा मराठे ही होते, किंतु, मराठो की पानीपत की पराजय (१७६१) से मराठा सगठन को मर्मातक आघात पहुँचा। दूसरी ओर मराठा, निजाम, हैदरअली और नवाब कर्नाटक की व्यक्तिगत स्वार्थपरता और पारस्परिक वैमनस्य ने अग्रेजो के विरुद्ध उनका सयुक्त मोर्चा नही बनने दिया। यही कपनी का सबसे बडा सौभाग्य था। हेस्टिंग्स ने दूरदर्शितापूर्वक पहले तो नवाब अवध को मित्र बनाकर मराठो के विरुद्ध अपनी सीमारेखा सुदृढ की, फिर रुहेला युद्ध मे अवध को मराठो का दुश्मन बना दिया। तब विकट परिस्थिति मे असीम धैर्य और साहस के साथ मराठो की शक्ति पर सफल आघात किया और हैदरअली की मृत्यु के बाद उसके पुत्र टीपू को सधि करने पर मजबूर किया। शासकीय दृष्टिकोण से भी उसने दीवानी के आडबर को त्याग कृषिशासन, न्यायशासन, तथा चुगी शासन को व्यवस्था की रूपरेखा दी।

मेधावी न होते हुए भी उसका उत्तराधिकारी कार्नवालिस अनुशासन, ईमानदारी और चारित्रिक दृढता मे अछूता था। उसने मनोयोग से शासन का सरक्षण किया। इस्तमरारी बदोबस्त की स्थापना कर दुखी बगाल को समृद्ध बनाया तथा भ्रष्ट ब्रिटिश नौकरशाही को परिष्कृत कर उसे वह प्रतिष्ठा दी जिसके कारण 'ब्रिटिश नौकरशाही के इस्पाती ढाँचे' की नीव पडी। उसने टीपू की शक्ति को बहुत कुछ तोड दिया। पिट्स इडिया ऐक्ट द्वारा पार्लमेंट ने कपनी की नीति और व्यवधान मे हस्तक्षेप करने का अधिकार अपने हाथ मे ले लिया।

साम्राज्यवादी वेलेजली ने ब्रिटिश साम्राज्य का युद्ध और नीति से खूब प्रसार किया। टीपू नष्ट हो गया। पेशवा के वेलेज़ली के सरक्षण मे आने से ओवन के कथनानुसार अब 'भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य' की अपेक्षा, ब्रिटिश साम्राज्य का भारत हो गया। फिर मराठा सरदारो को अलग अलग पराजित कर उन्हे सहायक सधि करने के लिये मजबूर किया। अवध का विस्तार घटाकर, उसे अपने प्रभुत्व के अतगत कर लिया। सहायक सधि वेलेजली के साम्राज्यवादी प्रसारण का अद्भुत यत्र था, जिसमे फ्रासीसी प्रभाव का भी भारत से समूल उच्छेद हो गया। फिर मराठो की रही सही शक्ति भी लार्ड हेस्टिंग्स ने तोड दी।

अब साम्राज्यप्रसार मे कपनी को पीछे मुडकर देखने की आवश्यकता नही थी। गुरखो की पराजय से कपनी की उत्तर सीमात रेखा हिमालय के चरणो तक जा पहुँची। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद, सिक्खो को पराजित कर पजाब को ब्रिटिश साम्राज्य मे समिलित कर लिया गया। अफगानो के युद्ध से उत्तर पश्चिमी सीमा फिर पहाडो से जा टकराई। पूरा बर्मा कपनी का अधिकृत हुआ और उत्तरपूर्वी सीमात रेखा सुदृढ हुई।

इधर १८१३ के चार्टर ऐक्ट से चीनी व्यापार को छोड भारतीय व्यापारिक अधिकार कपनी से ले लिए गए। १८३३ के चार्टर ऐक्ट से वह अधिकार भी अपहृत हो गया। अब कपनी विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक सस्था थी। कपनी के साम्राज्यवादी प्रसार के इतिहास मे लार्ड बेंटिक का काल मलयानिल के झोके के समान है जब आधुनिक भारतीयता के जनक राजा राममोहन राय के सहयोग से भारत के सास्कृतिक जागरण का सूत्रपात ब्रह्मसमाज से आरभ हुआ, और अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक सुधार हुए।

कपनी का अतिम साम्राज्यवादी स्तभ था लार्ड डलहौजी, जिसने अपनी विजयो तथा व्यपगत सिद्धात (डॉक्ट्रिन ऑव लैप्स) के विस्तृत प्रयोग से अनेक राज्यो, राजसी पदवियो तथा पेंशनो का लोप कर दिया। तज्जनित असतोष १८५७ की राज्यक्राति की महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि बना। इसके अतिरिक्त उसने अनेक महत्वपूर्ण शासकीय सुधारो से भारत के आधुनिकीकरण मे योगदान दिया, जैसे ग्राड ट्रक रोड का पुनर्निर्माण, रेल, टेलिग्राफ, पोस्ट आफिस, तथा केंद्रीय लेजिस्लेटिव काउसिल की स्थापना। उसी के प्रयत्नो से विमेन्स कालेज तथा रुडकी इजीनियरिंग कालेज की स्थापना हुई।

कपनी के शासन का १८५७ की राज्यक्राति मे अत हुआ। कपनी के साम्राज्यवाद के विरुद्ध पहले भी अनेक विस्तृत, असगठित छिटपुट प्रयत्न हो चुके थे, किंतु सन् '५७ के विस्फोट ने अति तीव्र रूप धारण किया। इतिहासकारो मे इस विद्रोह की प्रकृति के सबध मे तीव्र मतभेद होते हुए भी, इतना तो निश्चित है कि अग्रेजी सत्ता को निकालने के लिये भारतीयो का यह प्रथम सामूहिक प्रयत्न था जिसको विशेषतया अवध मे विस्तृत जनसहयोग प्राप्त था। यह भी एक विचित्र सयोग था कि अन्य भागो मे व्याप्त सघर्ष के अग्रणी प्राय अवधवासी ही थे। अस्तु, निस्सदेह यह ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध भारतीय सघर्ष का श्रीगणेश था, भारतीय इतिहास का रक्तरजित पृष्ठ। कपनी के शासन का अत १८५८ मे हुआ जब ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भारतीय साम्राज्य की बागडोर अपने हाथो मे सँभाली।

१७५६ से १८५७ के कपनी के साम्राज्यवादी शोषण के इतिहास मे, सास्कृतिक पक्ष छोटा होते हुए भी निस्सदेह महत्वपूर्ण है। जैसा पनिक्कर का कथन है, बर्क, विलियम जोन्स, तथा मेकाले सास्कृतिक चेतना के वे ब्रिटिश प्रतीक हैं जिनसे प्रेरित होकर राजा राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, ईश्वरचद्र विद्यासागर, तथा दयानद सरस्वती ऐसे भारतीय नररत्नो के योग से सास्कृतिक पुनर्जागरण सभव हो सका, राष्ट्रीय आत्मसमान जागा, और आधुनिक भारतीयता ने जन्म लिया।

स० ग्र०—एस अहमद खाँ दि ईस्ट इडिया ट्रेड इन दि ट्वेल्फ्थ सेंचुरी इन इट्स पोलिटिकल ऐंड इकोनोमिक ऐस्पेक्ट्स, डब्ल्यू फोस्टर दि इगलिश फैक्टरीज इन इडिया १६१८–१६६९। [रा० ना०]

ईस्टर यहूदियो, ग्रीक-रोमनो और ईसाइयो तीनो का विशिष्ट त्यौहार, जो अधिकतर अप्रैल में पडता है। शब्द का मूल सभवत नोर्स ओस्तारा अथवा इयोस्त्रे मे है, जिसका अर्थ बसत का त्यौहार है। ग्रीक यह त्यौहार बसत सपात के समय २१ मार्च को मनाया करते थे, जब शीत ऋतु के बाद प्रकृति ऋतुमती होती थी। यहूदियो की धर्मपुस्तक बाइबिल की पुरानी पोथी (एग्जोडस १२) मे लिखा है कि इस्रायलियो के मिस्री प्रवास मे किस तरह एक रात 'मौत का फरिश्ता' उनके आवासो के ऊपर से गुजर गया और अपने इस आचरण द्वारा उनके प्रथमजात शिशुओ की मृत्यु से रक्षा की। इसी मौत से नजात पाने का त्यौहार यहूदी अपने साल के पहले महीने निसान मे मनाते है। ये अपने इस त्यौहार को 'पेसाख' कहते है।

परतु ईस्टर का सर्वाधिक महत्व ईसाई धर्म मे है। ईसाइयो का विश्वास है कि ईसामसीह शूली पर चढा दिए जाने के बाद मरकर भी जी उठे थे। उनका जी उठना यहूदियो के इस त्यौहार के दिन ही सभव हुआ था, तभी जब जुरुसलम मे वे अपना पेसाख मना रहे थे। इसी कारण पेसाख ईस्टर का पर्याय ही बन गया। हजरत ईसा के जी उठने मे कैथोलिक ईसाई सप्रदाय का विशेष विश्वास उस धर्म की आधारभूत मान्यताओ मे से है।

पूर्व और पश्चिम के समस्त ईसाई परिवार ईस्टर का यह त्यौहार बडे उत्साह मे मनाते हैं। यह ईसामसीह के पुनर्जन्म के तुल्य है जिससे ईस्टर का त्योहार भी उसी महत्व का माना जाता है जिस महत्व का बडा दिन।

ईस्टर की तिथि निश्चित करना ईसाई चर्चो के लिये सामान्य बात नही है। इस सवध मे पिछली सदियो मे निरतर विवाद होते रहे हैं। विवाद का कारण यह है कि इस तिथि के अकन का प्रारभ यहूदी तिथिक्रम मे हुआ है जो चाद्रमासिक है। चाद्रमासिक होने से—यद्यपि पडता वह निसान मास की पूर्णिमा को ही है, पर वह पूर्णिमा हर साल स्वाभाविक ही उसी एक ही दिन नही पडती—ईस्टर की तिथि निश्चित करने में अक्सर कठिनाई पड जाया करती है। [भ० श० उ०]

उंडुकार्ति

उंडुकार्ति (अपेडिसाइटीज) उडुक (अपेडिक्स) के प्रदाह (इनफ्लैमेशन) को कहते हैं। उडुक आत्र के एक छोटे से विभाग का नाम है जो क्षुद्रात्र और वृहदात्र के सगम स्थान के नीचे की ओर से निकला रहता है। इसकी लवाई लगभग ८ सेंटीमीटर और आधार स्थान पर इसका व्यास ६ मिलीमीटर होता है। यह उदर के निचल भाग मे दाहिनी ओर स्थित रहता है। मनुष्य के शरीर मे यह अग कोई कार्य नही करता।

उडुकार्ति का अर्थ है उडुक का जीवाणुओ द्वारा सक्रमित होकर शोथयुक्त हो जाना। वहुत से रोगियो के शरीर मे साधारणतया रहनेवाले जीवाणु ही उडुक मे शोथ उत्पन्न कर देते हैं। कभी कभी जीवाणु गले और टासिलो से रक्त के द्वारा भी वहाँ पहुँच जाते हैं। शाकाहारियो की अपेक्षा आमिषभोजियो मे यह रोग अधिक होता है और इस कारण हमारे देश की अपेक्षा यूरोप और अमरीका मे इसका प्रकोप अधिक है। यह रोग किसी भी आयु के व्यक्ति को हो सकता है, किंतु दो वर्ष की अवस्था से पूर्व वहुत असाधारण है। तीस वर्ष की आयु के पश्चात् भी यह कम होता है। कहा जाता है कि विपुच्छ कपि (एप) जाति के वानरो मे भी यह रोग होता है।

उडुक
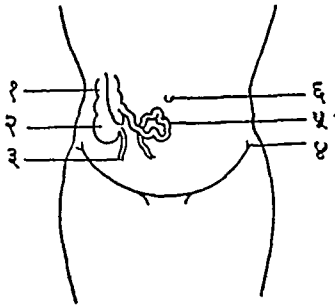
१ वृहदात्र, २ अधात्र, ३ उडुक, ४ पेडू, ५ क्षुद्रात्र, ६ नाभि।

उडुकार्ति में उदर मे पीडा होती है। प्राय पीडा प्रभातवेला मे नाभि के चारो ओर प्रारभ होती है और वहाँ से उडुक प्रात में आती हुई प्रतीत होती है। प्रारभ में एक या दो वमन हो सकते हैं। किंतु वमन निरतर नही होते। ज्वर शीघ्र ही आरभ हो जाता है, किंतु वहुत अधिक नही होता। उदर उडुक प्रात मे कठोर हो जाता है और वहाँ के चर्म को दवाने से रोगी को पीडा होती है।

उडुकार्ति में विशेष भय उडुक के विदार (फटने) का रहता है, अथवा वह कोथ (गैंग्रीन) युक्त हो जाता है। उसके चारो ओर पूय (पीव) भी वन सकता है।

यदि किसी व्यक्ति को यह रोग होने का सदेह हो तो उसको विरेचक ओषधियाँ नही देनी चाहिए, और न उसको कुछ खाने को ही देना चाहिए। उदर की मालिश भी न होनी चाहिए। जब तक कोई डाक्टर न देख ले तब तक पीडा कम करने के लिये कोई ओषधि देना भी उचित नही है। रोग का पूर्ण निदान हो जाने के एक या दो दिन के भीतर उसका शल्यकर्म करवा देना चाहिए। शल्यकर्म की सलाह इसलिये दी जाती है कि विदार या कोथ उत्पन्न हो जाने से रोगी के लिये जीवन और मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। शल्यकर्म करके उडुक को निकाल दिया जाता है।

यदि किसी कारण शल्यकर्म न किया जा सके तो शोथयुक्त स्थान पर उष्मस्वेद (फोमेटेशन, भीगे गरम कपडे से सेंक) किया जाय, पेनिसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसीन के इजेक्शन दिए जायँ और रोगी को शय्या में पूर्णतया निश्चल करके रखा जाय। उपद्रवो की तुरत पहचान के लिये रोगी को सावधानी से देखते रहना चाहिए। रोग के अत्यत तीव्र न होने पर, सभव है, पूर्वोक्त चिकित्सा से वह एक सप्ताह मे आरोग्यलाभ कर ले। किंतु एक मास के भीतर उसको शल्यकर्म करवा देना चाहिए जिससे रोग के पुनराक्रमण का डर न रहे। कभी कभी यह चिकित्सा करने पर भी उडुक के चारो ओर पूय वन जाता है। ऐसी अवस्था में पूय निकाल देना आवश्यक होता है।

यदि रोगी सावधान नही रहता तो उसको रोग के वार वार आक्रमण हो सकते हैं। इसलिये रोगी को शल्यकर्म करवा के रोग के भय को सदा के लिये दूर कर देना उचित है। [प्री० दा०]

उक्रेनी भाषा और साहित्य

उक्रेनी भाषा और साहित्य उक्रेनी भाषा, उक्रेनी जनता की भाषा है जो मूलत सोवियत सघ के उक्रेनी सोवियत समाजवादी प्रजातत्र मे रहती है। इसका विकास प्राचीन रूसी भाषा से हुआ। यह स्लैवोनिक भाषाओ की पूर्वी शाखा में है जिसमें इसके अतिरिक्त रूसी एव वेलोरूसी भाषाएँ समिलित हैं। इस भाषा के वोलनेवालो की सख्या ३ करोड २८ लाख से अधिक है। इसकी वोलियो के तीन मुख्य समूह हैं—उत्तरी उपभाषा, दक्षिण-पश्चिमी उपभाषा और दक्षिण-पूर्वी उपभाषा। आधुनिक साहित्यिक उक्रेनी का विकास दक्षिण-पूर्वी उपभाषा के आधार पर हुआ। उक्रेनी भाषा रूपरचना और वाक्य-विन्यास मे रूसी भाषा के निकट है।

उक्रेनी भाषा का विकास १२वी सदी से प्रारभ हुआ। इस काल से उक्रेनी जनता ने अनेक लोककथाओ और लोकगीतो की रचना की। इसी काल से वीरगाथाएँ, पौराणिक कथाएँ एव धार्मिक रचनाएँ विकसित होने लगी। प्राय इन कृतियो के रचयिताओ के नाम अज्ञात हैं। १६वी शताब्दी से नाटको का भी विकास हुआ। १६वी शताब्दी के मध्य से उक्रेनी साहित्य में यथार्थवादी धारा विकसित होने लगी। व्यगात्मक रचनाएँ एक प्रसिद्ध व्यगलेखक स्कोवोरोटा (१७२२-१७९४ ई०) लिखने लगे। सुप्रसिद्ध कवि और गद्यकार इ० प० कोत्लारेव्स्की (१७६९-१८३८ई०) ने नव उक्रेनी साहित्य की स्थापना की। इन्होने साहित्य और जीवन का दृढ सवध रखा, उक्रेनी साहित्य की सभी शैलियो पर वहुत प्रभाव डाला तथा आधुनिक साहित्यिक भाषा की नीव रखी।

तरास ग्रिगोर्येविच शेवचेंको (१८१४-१८६१ ई०) महान् क्रातिकारी जनकवि थे। उन्होने उक्रेनी साहित्य मे आलोचनात्मक यथार्थवाद की स्थापना की। अपनी कृतियो मे वे जार के विरुद्ध क्रातिकारी किसान आदोलन की भावनाएँ और विचार प्रकट करते थे। उनकी अनेक कविताएँ अत्यत लोकप्रिय हैं। उस समय के प्रसिद्ध गद्यकारो मे पनास मिरनी और नाटककारो में इ० कार्पेको-कारिय हैं। सुप्रसिद्ध कवि, नाटककार और गद्यकार के रूप मे इ० य० फ्राको (१८५६-१९१६) विख्यात हैं, जिन्होने अपनी वहुसख्यक रचनाओ में उक्रेनी जनता के जीवन का विस्तारपूर्ण वर्णन किया है। सुप्रसिद्ध कवयित्री लेस्या उक्राइन्का (१८७१-१९१३) और कवि कोत्स्यूबिस्की ने (१८६४-१९१३) अपनी कविताओ मे उक्रेनी जनता के क्रातिकारी सघर्ष का चित्रण किया।

अक्तूवर, सन् १९१७ की महान् समाजवादी क्राति के वाद उक्रेनी साहित्य का विकास और भी अधिक होने लगा। इस काल के सबसे प्रसिद्ध कवि पावलो तिचीना और मैक्सीम रिलस्की हैं, एव नई पीढी के कवि गोचारेंको, पेर्वोमैस्की आदि हैं। नाटक के क्षेत्र में सबसे बडी देन अलेक्सद्र कोर्नेचुक (जन्म १९०५ ई०) की है। उपन्यासकारो और कहानीकारो में नतान रिवाक (जन्म १९१३) एव वदिम सोवको (जन्म १९१२) सबसे अधिक विख्यात हैं। इस काल से उक्रेनी साहित्य समाजवादी यथार्थवाद के आधार पर विकसित होने लगा। गद्यकार और कवि आधुनिक सोवियत उक्राइना का और उसके वीरतापूर्ण अतीत इतिहास का चित्रण करते थे।

सन् १९४१-४५ के महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध के वाद उक्रेनी साहित्य में और भी अधिक नए कवि और लेखक पैदा हुए। वर्तमान उक्रेनी कवि, जैसे पावलो तिचीना, मैक्सीम रिलस्की, मिकोला वज़्हान, अद्रै मलिश्को, सोस्यूरा आदि अपनी कविताओ मे मजदूरो और किसानो के जीवन का

चित्रण करते तथा विश्वख्याति के लिये सघर्ष और विभिन्न देशो की जनता की मैत्री की भावनाएँ प्रकट करते है। उक्रेनी नाटककार, जैसे कोर्नेचुक, गोरको, दमित्रेंको आदि सामाजिक, ऐतिहासिक और व्यगात्मक नाटको की रचना करते है। इन नाटको का प्रदर्शन सोवियत सघ के बहुसख्यक थियेटरो में किया जाता है। उक्रेनी गद्य का विकास भी तेजी से हो रहा है। ओनेस गोचार, नतान रिवाक, पेत्रो पन, स्तेलमह आदि अपने उपन्यासो और कहानियो में सोवियत जनता की युद्धकालीन बहादुरी का और साम्यवादी समाज के निर्माण के लिये मजदूरो, किसानो और बुद्धिजीवियो के वीरतापूर्ण परिश्रम का वर्णन करते है। उक्रेनी लेखक सोवियत सघ के सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लेते है।

उक्रेनी लेखको की अनेक कृतियाँ सोवियत सघ की अन्य अनेक भाषाओ तथा विदेशी भाषाओं में अनूदित हो रही है और समस्त सोवियत सघ तथा विदेशो में लोकप्रिय हो गई है। साथ ही सोवियत सघ की अन्य भाषाओ के साहित्य तथा विदेशी साहित्यो की रचनाएँ उक्रेनी भाषा में अनूदित और प्रकाशित हो रही है। इनमें प्राचीन एव अर्वाचीन भारतीय साहित्य की अनेक कृतियाँ भी सम्मिलित है।

स० ग्र०—उक्रेनी साहित्य का इतिहास, खड १ कीएव १९५४, रूसी में, सोवियत कालीन उक्रेनी साहित्य का इतिहास, मास्को, १९५४, रूसी में, उक्रेनी साहित्य का इतिहास, दो भाग, कीएव, १९५५-५६, उक्रेनी में, आधुनिक उक्रेनी साहित्यिक भाषा, सपादक बुलाखोस्की, दो भाग, कीएव, १९५१, उक्रेनी-रूसी शब्दकोश, सपादक ई० म० किरिचेंको, भाग १, कीएव, १९५३। [प्यो० अ० बा०]

उग्रसेन

उग्रसेन (महापद्म) नद वश का प्रथम सम्राट् था जिसे पुराणो में 'सवक्षत्रातक' तथा 'एकराट्' कहा गया है। 'महाबोधि वश' मे उसकी सज्ञा उग्रसेन मिलती है। उसने इक्ष्वाकुओ, पाचालो, काशी जनपदवासियो, कालिगो, अश्मको, कुरुओ, चेदियो, शूरसेनो तथा वीतिहोत्रा जनो को परास्त कर एक बडा साम्राज्य स्थापित किया था। उसकी विशाल सेना के विषय मे सुनकर सिकदर को मगध पर आक्रमण करने का साहस नही हुआ।

२ उग्रसेन (पालक्क) का नाम समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान के सबध में अन्य नरेशो के साथ परिगणित है। उसे समुद्रगुप्त ने परास्त किया था।

३ उग्रसेन (पारीक्षित) के नाम का उल्लेख वैदिक अनुक्रमणी म परीक्षित के चार पुत्रो की श्रेणी में जनमेजय, भीमसेन और श्रुतसेन के साथ मिलता है (वैदिक इडेक्स, प्रथम भाग, पृ० ५२०)। [चि० म०]

उच्च न्यायालय

इस देश मे उच्च न्यायालयो की स्थापना का श्रेय अग्रेजी सरकार को है। सन् १८६१ में इनकी स्थापना से पूर्व इस देश मे दो प्रकार के न्यायालय कार्य कर रहे थे। प्रथम प्रकार के न्यायालयो की स्थापना विभिन्न वर्षो मे प्रेसीडेंसी नगरो, अर्थात् कलकत्ता, मद्रास और बबई मे सीधे इग्लैंड के सम्राट् द्वारा हुई थी। ये न्यायालय उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के नाम से विख्यात थे। दूसरे प्रकार के न्यायालय ईस्ट इडिया कपनी द्वारा बगाल, मद्रास, बबई तथा अन्य प्रातो में स्थापित किए गए थे। सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालत कपनी के उच्चतम न्यायालय थे। इन न्यायालयो के अतर्गत व्यवहार विषयक (सिविल) एव दाडिक (क्रिमिनल) अधीन न्यायालय (सबार्डिनेट कोर्ट) कार्य करते थे। उच्चतम न्यायालयो का केवल प्रारभिक क्षेत्राधिकार (ओरिजिनल जुरिस्डिक्शन) था, जिसका विस्तार प्रेसीडेंसी नगरो तक ही सीमित था, यद्यपि इन न्यायालयो ने विभिन्न समयो पर प्रातो में भी अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग किया था। इनकी कार्यप्रणाली अग्रेजी न्यायालयो की कार्यप्रणाली के समान थी और ये विवादो में अधिकतर अग्रेजी कानूनो का प्रयोग करते थे।

कपनी की सदर अदालतो का अपीलीय क्षेत्राधिकार (अपेलेट जुरिस्डिक्शन) था। सरकार द्वारा बनाए विभिन्न विनियमो तथा हिंदू एव मुस्लिम कानूनो के अनुसार ये न्यायालय अपने निर्णय देते थे। अधिकतर इनकी कार्यप्रणाली भी सरकारी विनियमो द्वारा निश्चित की जाती थी।

इस प्रकार भारत में दो प्रकार के समवर्ती तथा स्वतत्र न्यायालय कार्य कर रहे थे। कभी कभी इनके निर्णय प्रतिकूल भी होते थे और प्रजा को दो अधिकारक्षेत्रो का भाजन बनना पडता था। इन दो प्रकार के न्यायाधीशो के सबध भी परस्पर अच्छे नही थे। उच्चतम न्यायालय कपनी के कामो मे बहुधा हस्तक्षेप भी करते थे। असमान कानूनो एव प्रणालियो के प्रयोग से न्यायव्यवस्था में एक प्रकार का उलझाव पैदा हो गया था। इसलिये न्यायव्यवस्था को सुदृढ, सगठित एव सुचारु रूप से चलाने के लिये इन समकक्ष न्यायालयो का विलयन करके एक ही प्रकार के उच्च न्यायालय स्थापित करने का निश्चय किया गया।

उच्च न्यायालयों की स्थापना—६ अगस्त, १८६१ को ब्रिटिश ससद (पार्ल्यामेंट) ने भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम (इडियन हाईकोर्ट ऐक्ट) के द्वारा उच्चतम एव सदर न्यायालयो का विलयन करके उच्च न्यायालयो की स्थापना की। भारतीय न्यायव्यवस्था के इतिहास मे यह एक महान् एव उत्कृष्ट प्रयास था जिसकी सफलता वर्तमान उच्च न्यायालयो की असाधारण कार्यक्षमता के द्वारा प्रकट होती है। इस अधिनियम ने इग्लैंड की महारानी को अधिकार दानपत्रो (लेटर्स पेटेंट) द्वारा कलकत्ता, मद्रास, बबई तथा अन्य भागो मे उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार दिया। प्रत्येक न्यायालय मे एक मुख्य न्यायाधिपति (चीफ जस्टिस) एव अधिकतम १५ अवर न्यायाधीश (प्युनी जज) कार्य कर सकते थे। इन न्यायाधीशो की नियुक्ति बैरिस्टरो, प्राधिकारियो, जिला न्यायाधीशो, सदर अमीन अथवा लघुवाद न्यायालयो (स्माल काज कोर्टस्) के न्यायाधीशो एव वकीलो मे से होती थी। सभी न्यायाधीशो की सेवाएँ अग्रेजी सम्राज्ञी की इच्छा पर निर्भर करती थी।

अधिनियम ने उच्च न्यायालयो को व्यवहार विषयक (सिविल), दाडिक (क्रिमिनल), नौकाधिकरण (ऐडमिरल्टी) एव उपनौकाधिकरण, वसीयत सबधी, वसीयत रहित एव वैवाहिक, प्रारभिक एव अपीली दोनो प्रकार के, क्षेत्राधिकार दिए। व्यवहार विषयक एव दाडिक प्रारभिक क्षेत्राधिकार साधारण प्रारभिक क्षेत्राधिकार एव असाधारण प्रारभिक क्षेत्राधिकार मे विभाजित था। यह उल्लेखनीय है कि प्रारभिक क्षेत्राधिकार पूर्ववर्ती उच्चतम न्यायालयो से तथा अपीली क्षेत्राधिकार पूर्ववर्ती सदर अदालतो की देन है।

इन क्षेत्राधिकारो के अतिरिक्त उच्च न्यायालयो को प्रेसीडेंसियो मे न्यायव्यवस्था सबधी वे सभी अधिकार प्राप्त थे जो अधिकार दानपत्रो द्वारा स्वीकृत हुए हो। पूर्व न्यायालयो के अन्य अधिकार भी उच्च न्यायालयो को दिए गए। ये न्यायालय अधीन न्यायालयो पर अधीक्षण (सुपरिटेडेस) का अधिकार रखते थे।

उच्च न्यायालयो को पूर्ववर्ती दोनो प्रकारो के न्यायालयो के न्यायाधीशो की सेवाएँ प्राप्त थी। उच्चतम न्यायालयो के न्यायाधीश अग्रेजी कानूनो से परिचित थे तथा सदर अदालतो के न्यायाधीश भारत की प्रथाओ, स्वभाव एव कानूनो से परिचित थ। इस प्रकार असमान कानूनो एव प्रणालियो के समावेश से पूर्व असमानता द्वारा प्रदत्त दोष लगभग समाप्त हो गए थे।

१८६१ के अधिनियम के अतर्गत जारी किए गए १४ मई, १८६१ के अधिकार दानपत्र के द्वारा कलकत्ते में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। इस अधिकार दानपत्र के अशुद्ध होने के कारण २८ दिसबर, १८६५ को एक नया अधिकार दानपत्र जारी किया गया। २६ जून, १८६२ को जारी किए गए अधिकार दानपत्रो के द्वारा बबई एव मद्रास में उच्च न्यायालयो की स्थापना की गई। इन अधिकार दानपत्रो के स्थान पर १८६५ मे नए दानपत्र जारी किए गए। इन तीनो उच्च न्यायालयो को अधिनियम द्वारा वर्णित समस्त अधिकार प्राप्त थे।

१७ मार्च, १८६६ को जारी किए गए अधिकार दानपत्र द्वारा उत्तर-पश्चिमी प्रातो के लिये आगरा मे उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। १८७५ में यह न्यायालय आगरे से इलाहाबाद लाया गया। प्रेसीडेंसी उच्च न्यायालयो की भाँति इस न्यायालय को साधारण प्रारभिक व्यवहार विषयक क्षेत्राधिकार एव नौकाधिकरण अथवा उपनौकाधिकरण क्षेत्राधिकार प्राप्त नही थे। २६ जुलाई, १९४८ को अवध मुख्य न्यायालय (अवध चीफ कोर्ट) को इस न्यायालय में मिला दिया गया।

९ फरवरी, १९१६ को अधिकार दानपत्र द्वारा पटना में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। यद्यपि इसका क्षेत्राधिकार इलाहाबाद उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार के समान था, तथापि इस न्यायालय को नौकाधिकरण क्षेत्राधिकार भी प्राप्त हुआ। २१ मार्च, १९१९ के अधिकार दानपत्र के द्वारा लाहौर मे तथा २ जनवरी, १९१६ के अधिकार दानपत्र द्वारा नागपुर में उच्च न्यायालयो की स्थापना हुई। इनके अधिकार इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अधिकारो के समान थे। भारत के विभाजन के पश्चात् लाहौर न्यायालय के पाकिस्तान मे चले जाने के कारण पूर्वी पजाब के लिये १९४७ में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। १९४८ मे उडीसा एव असम में उच्च न्यायालय स्थापित किए गए। इनका क्षेत्राधिकार क्रमश कलकत्ता एव पटना उच्च न्यायालयो के क्षेत्राधिकार के समान रखा गया। आज भारत मे विभिन्न प्रातो के पुनगठन के पश्चात् सभी प्रातो में उच्च न्यायालय सफलतापूर्वक कार्य कर रहे है।

भारत सरकार अधिनियम, १९३५ (गवर्नमेंट ऑव इडिया ऐक्ट, १९३५) के द्वारा परिवर्तन—इस अधिनियम द्वारा उच्च न्यायालयो के गठन एव रचना मे कुछ परिवर्तन किए गए। प्रत्येक न्यायाधीश को ६० वर्ष की आयु तक कार्य करने का अधिकार दिया गया। १८६१ के अधिनियम द्वारा निर्मित विभिन्न श्रेणियो के न्यायाधीशो के चुनाव का नियम समाप्त कर दिया गया। इन परिवर्तनो के अतिरिक्त उच्च न्यायालयो के व्यय सबधी मामलो मे कार्यकारिणी अथवा विधान सभा को हस्तक्षेप करने का अधिकार नही दिया गया, केवल राज्यपाल को ही यह अधिकार मिला।

भारतीय सविधान में उच्च न्यायालय—भारत की वर्तमान न्यायव्यवस्था मे उच्च न्यायालयो का एक विशेष स्थान है। सविधान मे प्रदत्त मल अधिकारो (फडामेटल राइट्स्) की सुरक्षा की दृष्टि से इन न्यायालयो का मान और भी बढ गया है। प्रत्येक उच्च न्यायालय पहले की भाँति एक अभिलेख न्यायालय (कोर्ट ऑव रेकर्ड) है तथा उसे अपने अवमान (कटेंप्ट) के लिये दड देने की शक्ति दी गई है।

उच्च न्यायालयो का गठन समय समय पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधिपति तथा अन्य न्यायाधीशो पर निर्भर करता है। राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से, राज्य के राज्यपाल से तथा राज्य के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति को छोडकर अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति की दशा मे उस राज्य के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करता है। उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिये सबधित व्यक्ति का भारतीय राज्यक्षेत्र में कम से कम १० वर्ष तक न्यायिक पद पर कार्य करना आवश्यक है, अथवा उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयो का निरतर कम से कम १० वर्ष तक अधिवक्ता रहना आवश्यक है। प्रत्येक न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु तक कार्य कर सकता है।

उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को सबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा स्वय ही पदत्याग सकता है। इसके अतिरिक्त कोई न्यायाधीश अपने पद से तब तक नही हटाया जा सकता जब तक सिद्ध कदाचार, अथवा असमर्थता के लिये ऐसे हटाए जाने के हेतु प्रत्येक सदन की समस्त सदस्यसख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करनवाल सदस्यो मे से कम से कम दो तिहाई के बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन के राष्ट्रपति के समक्ष ससद के प्रत्येक सदन द्वारा उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश न दिया हो।

कोई व्यक्ति जो इस सविधान के प्रारभ के पश्चात् उच्च न्यायालय के स्थायी न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है, उच्चतम न्यायालय या अन्य उच्च न्यायालयो के अतिरिक्त भारत के किसी न्यायालय अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत या कार्य नही कर सकता।

राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से एक उच्च न्यायालय से किसी दूसरे उच्च न्यायालय को किसी न्यायाधीश का स्थानातरण कर सकता है। राष्ट्रपति को कार्यकारी मुख्य न्यायाधिपति तथा अपर एव कार्यकारी न्यायाधीशो की नियुक्ति करने का अधिकार है।

वर्तमान उच्च न्यायालयो का क्षेत्राधिकार तथा उसमे प्रशासित विधि तथा उस न्यायालय में न्यायप्रशासन के सबध में उसके न्यायाधीशो की अपनी अपनी शक्तियाँ, जिनके अतर्गत न्यायालय के नियम बनाने तथा उस न्यायालय की बैठको और उसके सदस्यो के अकेले अथवा खड न्यायालयो (डिवीज़न कोर्ट्स्) मे बैठने का विनियमन करने की कोई शक्ति भी है, वैसी ही रखी गई है, जैसी सविधान के प्रारभ से ठीक पहले थी। परतु राजस्व (रेवेन्यू) सबधी, अथवा उसको सगृहीत करने मे आदिष्ट अथवा किए हुए किसी कार्य सबधी विषय में उच्च न्यायालयो में से किसी के प्रारभिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग, जिस किसी निर्बधन के अधीन सविधान के प्रारभ से ठीक पहले था, वह निर्बधन ऐसे क्षेत्राधिकार के प्रयोग पर आगे लागू नही किया गया।

प्रत्येक उच्च न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार मे सविधान के भाग ३ द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारो मे से किसी को प्रवर्तित कराने के लिये, तथा किसी अन्य प्रयोजन के लिये किसी व्यक्ति या प्राधिकारी के प्रति, या समुचित मामलो में किसी सरकार को ऐसे निदेश (डिरेक्शन) या आदेश (आर्डर्स) या लेख (रिट), जिनके अतर्गत बदीप्रत्यक्षीकरण (हेवियस कार्पस), परमादेश (मैंडेमस्), प्रतिषेध (प्राहिबिशन), अधिकार-पृच्छा (को-वारट्स) तथा उत्प्रेषण (सरशियोरराई) के प्रकार के लेख भी है, अथवा उनमें से किसी को जारी करने की शक्ति रखता है। यह शक्ति उच्चतम न्यायालय को इस सबध में प्रदत्त शक्ति के समकक्ष है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय को अधीन न्यायालयो और न्यायाधिकरणो के अधीक्षण की शक्ति दी गई है। विशेष मामलो को उच्च न्यायालय को हस्तातरण करने का अधिकार है।

ससद को विधि द्वारा किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का विस्तार अथवा अपवर्जन किसी सघ राज्यक्षेत्र में या राज्यक्षेत्र से कर सकने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त ससद को विधि द्वारा दो या अधिक राज्यो के लिये अथवा दो या अधिक राज्यो और एक सघ राज्यक्षेत्र के लिये एक उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार है।

यह उल्लेखनीय है कि उच्च न्यायालयो के समस्त क्षेत्राधिकारो में अपीली क्षेत्राधिकार बहुत विस्तृत एव महत्वपूर्ण है।

[जि० कु० मि०]

उच्चाटन

उच्चाटन एक प्रकार का मत्रप्रयोग है जो प्रेत, पिशाच, डाकिनी आदि के निवारण या नियत्रण के हेतु किया जाता है। अधविश्वासी लोग मानते है कि प्रेत या डाकिनी के उत्पात या कुदृष्टि से रोग उत्पन्न होते है और ऐसा विश्वास होता है कि इनके निवारण (उच्चाटन) से रोगो का शमन और दु ख का निवारण हो सकता है। यह विश्वास अत्यत प्राचीन और सार्वभौम है। विज्ञान के प्रसार से यह हटता तो जाता है, परतु कितने ही देशो मे यह अब तक प्रचलित है। दूसरे के मन को अन्यत्र लगा देना, उसे अन्यमनस्क कर देना भी उच्चाटन की एक क्रिया मानी जाती है।

उच्चाटन की विविध क्रियाएँ है। इनका प्रयोग विना मत्र के किया जाता है और मत्र के साथ भी। उच्चाटन मत्र अनेक प्रकार के है। विधिपूर्वक इनका प्रयोग करना अनेक लोगो का व्यवसाय है। ये लोग दावा करते है कि मत्र के द्वारा भूत, प्रेत और पिशाच भगाए जा सकते है और डाकिनी को नियत्रित तथा निष्क्रिय किया जा सकता है।

स० ग्र०—मत्र महोदधि, मत्रमहार्णव। [म० ला० श०]

उच्चारण

किसी भाषा के बोलने के ढग को साधारणतया उच्चारण कहते है। भाषाविज्ञान मे उच्चारण के शास्त्रीय अध्ययन को ध्वनिविज्ञान सज्ञा दी जाती है। भाषा के उच्चारण की ओर तभी ध्यान जाता है जब उसमे कोई असाधारणता होती है, जैसे (क) बच्चो का हकलाकर या अशुद्ध बोलना, (ख) विदेशी भाषा को ठीक न बोल सकना, (ग) अपनी मातृभाषा के प्रभाव के कारण साहित्यिक भाषा के बोलने की शैली का प्रभावित होना, आदि।

उच्चारण के अतर्गत प्रधानतया तीन बाते आती है (१) ध्वनियो, विशेषतया स्वरो में ह्रस्व दीर्घ का भेद, (२) बलात्मक स्वराघात, (३) गीतात्मक स्वराघात। इन्ही के अतर से किसी व्यक्ति या वर्ग के उच्चारण में अतर आ जाता है। कभी कभी ध्वनियो के उच्चारणस्थान में भी कुछ भेद पाए जाते है।

उच्चारण के अध्ययन का व्यावहारिक उपयोग साधारणतया तीन क्षेत्रों में किया जाता है (१) मातृभाषा अथवा विदेशी भाषा के अध्ययन अध्यापन के लिये, (२) लिपिहीन भाषाओं को लिखने के निमित्त वर्णमाला निश्चित करने के लिये, (३) भिन्न भिन्न भाषाओं के उच्चारण की विशेषताओं को समझने तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये।

यद्यपि संसार की भिन्न भिन्न भाषाओं के उच्चारण में समानता का अंश अधिक पाया जाता है किंतु साथ ही प्रत्येक भाषा के उच्चारण में कुछ विशेषताएँ भी मिलती हैं, जैसे भारतीय भाषाओं की मूर्धन्य ध्वनियाँ ट ठ ड् आदि, फारसी अरबी की अनेक संघर्षी ध्वनियाँ जैसे ख़ ग़ ज़ आदि, हिंदी की बोलियों में ठेठ ब्रजभाषा के उच्चारण में अर्धविवृत स्वर ऐं औं, भोजपुरी में शब्दों के उच्चारण में अंत्य स्वराघात।

भाषाओं के बोले जानेवाले रूप अर्थात् उच्चारण को लिपिचिह्नों के द्वारा लिखित रूप दिया जाता है किंतु इस रूप में उच्चारण की समस्त विशेषताओं का समावेश नहीं हो पाता है। वर्णमालाओं का आविष्कार प्राचीन काल में किसी एक भाषा को लिपिबद्ध करने के लिये हुआ था, किंतु आज प्रत्येक वर्णमाला अनेक संबद्ध अथवा असंबद्ध भाषाओं को लिखने में प्रयुक्त होने लगी है जिनमें अनेक प्राचीन ध्वनियाँ लुप्त और नवीन ध्वनियाँ विकसित हो गई हैं। फिर, प्राय वर्णमालाओं में ह्रस्व दीर्घ, बलात्मक स्वराघात, गीतात्मक स्वराघात आदि को चिह्नित नहीं किया जाता। इस प्रकार भाषाओं के लिखित रूप से उनकी उच्चारण संबंधी समस्त विशेषताओं पर प्रकाश नहीं पड़ता।

प्रचलित वर्णमालाओं के उपर्युक्त दोष के परिहार के लिये भाषाविज्ञान के ग्रंथों में रोमन लिपि के आधार पर बनी हुई अंतरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि (इंटर्नेशनल फोनेटिक स्क्रिप्ट) का प्राय प्रयोग किया जाने लगा है। किंतु इस लिपि में भी उच्चारण की समस्त विशेषताओं का समावेश नहीं हो सका है। इनका अध्ययन तो भाषा के 'टेप रिकार्ड' या 'लिंग्वाफोन' की सहायता से ही संभव होता है।

भाषा के लिखित रूप का प्रभाव कभी कभी भाषा के उच्चारण पर भी पड़ता है, विशेषतया ऐसे वर्ग के उच्चारण पर जो भाषा को लिखित रूप के माध्यम से सीखता है, जैसे हिंदीभाषी 'वह' को प्राय 'वो' बोलते हैं, यद्यपि लिखते 'वह' हैं। लिखित रूप के प्रभाव के कारण अहिंदीभाषी सदा 'वह' बोलते हैं।

प्रत्येक भाषा के संबंध में आदर्श उच्चारण की भावना सदा वर्तमान रही है। साधारणतया प्रत्येक भाषाप्रदेश के प्रधान राजनीतिक अथवा साहित्यिक केंद्र के शिष्ट नागरिक वर्ग का उच्चारण आदर्श माना जाता है। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि इसका सफल अनुकरण निरंतर हो सके। यही कारण है कि प्रत्येक भाषा के उच्चारण में कम या अधिक मात्रा में अनेकरूपता रहती ही है।

किसी भाषा के उच्चारण का वैज्ञानिक अध्ययन करने या कराने के लिये ध्वनिविज्ञान की जानकारी आवश्यक है। प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान की सहायता से उच्चारण की विशेषताओं का अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण संभव हो गया है। किंतु उच्चारण के इस वैज्ञानिक विश्लेषण के कुछ ही अंशों का व्यावहारिक उपयोग संभव हो पाता है। [धी० व०]

उच्चालित्र अथवा एलिवेटर उन यंत्रों को कहते हैं जो अनाज, अन्य माल तथा यात्रियों को नीचे ऊपर पहुँचाते हैं।

धान्य के उच्चालित्र—अनाज के उठाने और रखने की यांत्रिक रीतियों में से एक, जो अब भी सर्वाधिक प्रयोग में आती है, डोलवाले उच्चालित्र की है। इसमें मोटे गाढ़े या कैनवस के पट्टे पर १० से १८ इंच की दूरी पर धातु के छोटे छोटे डोल बँधे रहते हैं। पट्टा ऊर्ध्वाधर अथवा प्राय ऊर्ध्वाधर रहता है। ऊपरी तथा निचले सिरों पर एक एक बड़ी घिरनी या पहिया रहता है, जिसपर पूर्वोक्त पट्टा चढ़ा रहता है। पट्टा और घिरनी के बीच पर्याप्त घर्षण के लिये पट्टे पर रबर चढ़ा रहता है। उच्चालित्र के नीचेवाले भाग में बने एक गढे में से चलते हुए पट्टे के डोल अनाज उठा लेते हैं और उसे ऊपरी सिरे पर ले जाकर गिरा देते हैं। जैसे ही अनाज उच्चालित्र के ऊपरी सिरे पर पहुँचता है, अपकेंद्र बल उसे एक वृहदाकार कीप में फेंक देता है। यहाँ से पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण उसे बड़े व्यास के नलों तथा ढालू नलियों द्वारा संग्रह के उपयुक्त खत्तों या भाडों में पहुँचा देता है।

अनाज को किसी भी बेड़ी अथवा खड़ी दिशा में ले जाने की नई रीति यह है कि वायुधारा का प्रयोग किया जाय। इसमें धातु की दृढ़ पखियोंवाला पखा रहता है। इसी पर अनाज डाला जाता है। पखा वायु की धारा के साथ अनाज को भी आगे ढकेल देता है। पखों का प्रयोग मुख्यत कृषि के फार्मों पर अथवा ऐसे छोटे कामों के लिये होता है जहाँ उठाऊ यंत्र की आवश्यकता रहती है। पखे के प्रयोग में हानि यह है कि वह धूल उड़ाता है, उसमें भठ जाने की प्रवृत्ति रहती है तथा उसकी पखियाँ अनाज के दानों को बहुधा तोड़ देती हैं।

छोटे या सकुचित स्थानों में अथवा थोड़ी दूरी के लिये पेंच के रूपवाले उच्चालित्र का व्यवहार किया जाता है। खोखले गोल बेलन के भीतर कुंतलाकार एक फल होता है। इस फल के घूमने के साथ साथ अनाज भी आगे बढ़ता है। अनाज की क्षैतिज गति के लिये तो यह ठीक काम देता है, किंतु खड़ी अथवा प्राय खड़ी दिशा में अनाज को चढ़ाने के लिये इसमें बहुत बल लगाने की आवश्यकता होती है और इसलिये यह अनुपयोगी सिद्ध हुआ है।

पिछले कई वर्षों से, नौकाओं तथा जहाजों और, इससे भी अभिनव काल में, रेलों से अनाज उतारने तथा ऊपर नीचे पहुँचाने के लिये हवा से काम लिया जाता है। लचीले नलों से काम लेकर इस विधि का प्रयोग विविध कार्यों में किया जा सकता है। यद्यपि इसके उपयोग में अधिक बल की आवश्यकता होती है और अनाज की गति सीमित होती है, तो भी अन्य उच्चालित्रों की अपेक्षा इसमें अनेक गुण हैं।
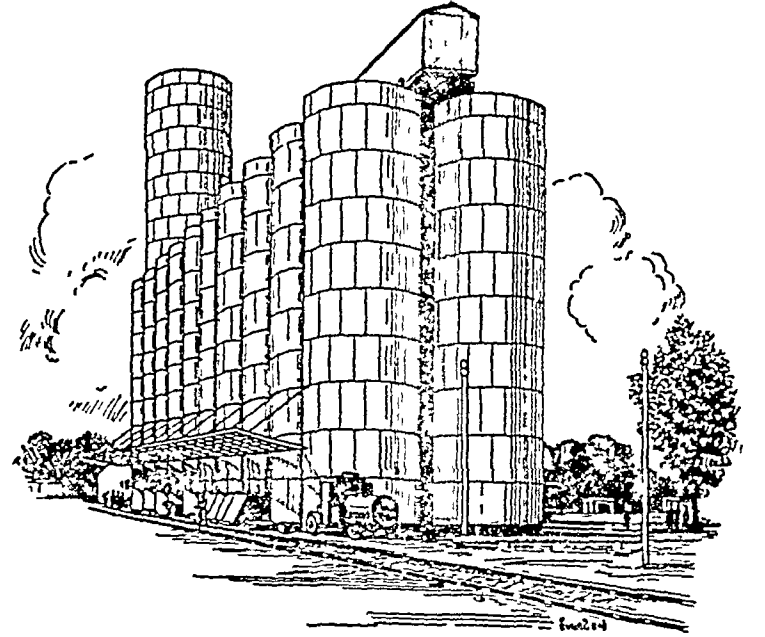
हापुड का अन्न उच्चालित्र तथा संग्रहभांड

हवा से चलनेवाली मशीनों का हृदय एक पंप होता है जो या तो पिस्टन के आगे पीछे चलने से अथवा केवल वेगपूर्वक घूमते रहने से काम करता है। यह यंत्र उन नलों से, जिनका मुख अनाज के भीतर डूबा रहता है, वायु निकाल लेता है। तब नलों के मुख से, जिनमें अनाज के साथ अतिरिक्त वायु के प्रवेश के लिये अलग मार्ग रहता है, हवा तथा अनाज साथ साथ ऊपर चढ़ते हैं।

अनाज के उठाने-रखने की मशीनों से काम लेते समय अनाज की धूलि से विस्फोट होने की आशंका पर ध्यान रखना आवश्यक है।

माल तथा यात्रियों के उच्चालित्र—इस वर्ग के यंत्रों में माल तथा यात्रियों को पहुँचाने का कार्य अविराम न होकर रुक रुककर होता रहता है। इस प्रकार का उच्चालित्र भार को समय समय पर ऊपर नीचे करता रहता है। भार रखने के लिये एक चौकी तथा उसे ऊपर नीचे चलाने के लिये रस्सी या जलसचालित (हाइड्रॉलिक) यंत्र होता है। चौकी एक चौकोर या गोल घर में ऊपर नीचे चलती है जिसे कूपक (शैफ्ट) कहते हैं।

रस्सी से चलनेवाले माल के उच्चालित्रों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (१) लघुकार्यक्षम तथा (२) गुरुकार्यक्षम। लघुकार्यक्षम उच्चालित्र २० से ३० मन की सामर्थ्य के, २५ फुट प्रति मिनट की गतिवाले तथा ३५ फुट ऊँचाई तक कार्य करनेवाले होते हैं। इन उच्चालित्रो के सब भागो की रचना साधारण आवश्यकता से कही अधिक दृढ होती है और इनमे वटन दवाने पर कार्य करनेवाले स्थिर-दाव-नियत्रक, भवन के प्रत्येक तल पर तथा चलनेवाली चौकी में भी, लगे रहते हैं। यदि नीचे उतरते समय गति अत्यधिक हो जाय तो यान में स्वत चालित गति-नियत्रक-सुरक्षा-यत्र काम करने लगते हैं। चौकी के प्रारभिक और अतिम स्थानो पर सीमा स्थिर करनेवाले खटके तथा सुरक्षा के अन्य उपाय भी रहते हैं। ऐसे यत्रो की एक विशेषता यह है कि चौकी को चलानेवाला यत्र उच्चालित्र के पेंदे के पास रहता है। इसलिये ऊपर किसी अवलव या छत की आवश्यकता नही होती।
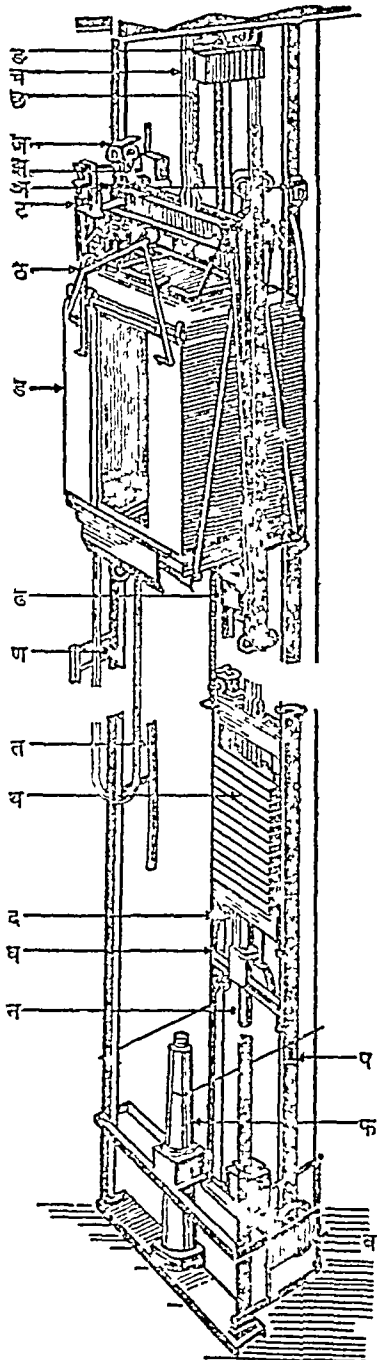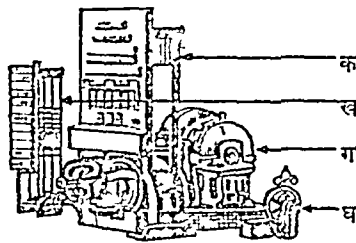
यात्रियो के लिये उच्चालित्र

क वेग नियत्रक, ख तल्ला नियत्रक, ग मोटर, घ सयामक, ङ मार्ग परिवतन करनेवाली घिरनी, च उत्तोलित करनेवाली रज्जु, छ इस्पात का वना सचालक पट्टा, ज मार्गदर्शक वलन, झ रोकनेवाला विजली का वटन (स्विच), ञ सीमा निर्धारक स्विच, ट समतल करनेवाला स्विच, ठ द्वार-परिचालक, ड यान का उव्वा, ढ यानरक्षक, ण यान मार्गदर्शक पटरियाँ, त रोकनेवाले स्विच का क्रम, थ प्रतिभार, द मार्ग-दर्शक वेलन, ध प्रतिभार की मार्गदर्शक पटरियां, न प्रतिभार सघातसह, प अतिम सीमा की स्विच, फ यान के डव्वे का सघातसह, व तनाव घटाने वढाने की घिरनी।

रस्सीवाले गुरुकार्यक्षम उच्चालित्र विशेषकर मोटर ट्रको पर काम करने के लिये वनाए जाते हैं। वे इतने पुष्ट वनाए जाते हैं कि भार से होनेवाले सव प्रकार के झटके आदि सह सकें। इनके सव नियत्रक (कट्रोल) पूर्ण रूप से स्वयचालित होते हैं और इनका प्रयोग ट्रक का ड्राइवर अथवा अन्य कोई कर्मचारी कर सकता है। यातायात मार्ग के कुछ स्थानो पर, सिर से ऊपर लगे और वटन दवाने पर कार्य करनेवाले नियत्रको से, यह वात सभव हो जाती है। जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ ऐसा प्रवध भी रहता है जिसके द्वारा कोई अनुचर भी नियत्रण कर सकता है। जहाँ भवन वहुत ऊँचा हो तथा माल शीघ्र चढाने की आवश्यकता हो वहाँ के लिये रस्सी की सहायता से कार्य सपादित करनेवाले उच्चालित्र विशेष उपयोगी होते हैं।

जलचालित उच्चालित्र—जलचालित उच्चालित्रो का उपयोग नीचे भवनो में होता है जहाँ वोझ वहुत भारी रहता है और तीव्र गति की आवश्यकता नही रहती। इन उच्चालित्रो के कार्य मे दाव में पडे द्रव से काम लिया जाता है। ऐसे उपकरणो के निर्माता दावा करते हैं कि जलचालित उच्चालित्र की चौकी पर भारी वोझ लादने पर चौकी नीचे की ओर नही भागती क्योकि उसका आधार तेल का एक असपीडनीय स्तभ होता है। वे इस प्रकार के यत्रो मे निम्नाकित अन्य गुण भी वताते हैं इनके लिये किसी छत की आवश्यकता नही पडती, इनका कूपक मार्ग खुला और इसलिये सुप्रकाशित रहता है, चौकी विना झटके के चलना आरभ करती और रुकती है, जहाँ रोकना चाहे ठीक वही रुकती है, और मशीन को अच्छी दशा मे वनाए रखने मे व्यय कम होता है।

यात्रियो के लिये वने उच्चालित्रो की रचना भी वोझ ढोनेवाले उच्चालित्रो की ही तरह होती है। केवल इनमें सुरक्षा की कुछ अधिक युक्तियाँ रहती हैं तथा इनके रूप और यात्रियो की सुख सुविधा पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

स० ग्र०—डी० ओ० हेंज मैटीरियल हैंडलिंग इक्विपमेंट, (चिल्टन कपनी, फिलाडेल्फिया), इम्मर मैटीरियल हैंडलिंग (मैक्ग्रा हिल वुक कपनी इकारपोरेटेड)। [न० ला० गु०]

उज्जयिनी

उज्जयिनी (मध्यप्रदेश का आधुनिक उज्जैन) सवधी प्रथम उल्लेख वौद्धो के पालि साहित्य से प्राप्त होते हैं। वुद्ध और उनसे कुछ पूर्वकाल के भारत के सोलह महाजनपदो में अवति का विशिष्ट स्थान था और उज्जयिनी उसकी राजधानी थी। ईसा की छठी सदी पूर्व में उत्तर भारत की राजनीतिक अधिसत्ता और साम्राज्य शक्ति पर अधिकार करने की दौड मे मगध और अवति परस्पर प्रतियोगी थे। गौतम वुद्ध का समकालीन उज्जयिनीराज चड प्रद्योत महासेन अपनी सैनिक शक्ति के लिये प्रसिद्ध था और वत्सराज उदयन से होनेवाले उसके सघर्षो के वर्णन से वौद्ध साहित्य भरा पडा है। उज्जयिनी के अनेक राजाओ के मगध पर भी आक्रमण करने का उल्लेख मिलता है। परतु मगध की वढती हुई शक्ति के सामने अत में अवतिराज को झुकना पडा और शिशुनाग ने उसे आत्मसात कर मगध में मिला लिया। तथापि उज्जयिनी की निजी महत्ता समाप्त नही हुई। उसकी स्थिति पश्चिम और दक्षिण भारत से मध्यदेश की ओर आनेवाले मार्गो पर पडती थी और यह उसकी व्यापारिक एव राजनीतिक विशेषता वनाए रखने में सहायक हुआ। मौर्यकाल में उज्जयिनी एक प्रातीय राजधानी थी और प्राय वहाँ राजकुमारो को ही प्रातीय शासक वनाकर भेजा जाता था। अशोक स्वय राजगद्दी पाने के पूर्व वहाँ का प्रातीय उत्तरदायित्व सँभाल चुका था। ईसा की पहली सदी पूर्व में उज्जयिनी मालव गणतत्र की राजधानी थी। पडितो का विचार है कि वहाँ के गणमुख्य विक्रमादित्य ने ५७ ई० पू० में शको की विजय कर एक सवत् चलाया, जिसे आजकल विक्रम सवत् माना जाता है। कालातर

में पश्चिमी भारत पर अधिकार करलेनेवाले शक क्षत्रपो से मध्यदेशीय राजाओ के जो युद्ध हुए उनमे भी उज्जयिनी और उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्रो का महत्व वना रहा। चद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने तो उसे अपनी दूसरी राजधानी ही वना लिया। गुप्तो की वादवाली कुछ सदियो मे उज्जयिनी का राजनीतिक स्थान वहुत महत्वपूर्ण नही रहा। परतु परमार वश और विशेपत राजा भोज ने उज्जयिनी और धारा नगरी की कीर्ति को एक वार और पुनरुज्जीवित किया। पुन वह कला, विद्या और सस्कृति का केंद्र वन गई, परतु उसका यह गौरव अल्पकालिक था और शीघ्र ही समाप्त हो गया। पठान सल्तनत, मुगलकाल अथवा परवर्ती अग्रेजी युग मे उसका कोई विशेष राजनीतिक महत्व नही रहा। [वि० पा०]

उटकमंड दक्षिण भारत के मद्रास राज्य में समुद्रपृष्ठ से ७,२३० फुट की ऊँचाई पर और कालीकट से ५५ मील की दूरी पर स्थित एक स्वास्थ्यवर्धक पर्वतीय नगर तथा मद्रास की ग्रीष्मकालीन राजधानी है। यहाँ की जनसख्या सन् १९५१ ई० मे ४१,३७० थी। यह नगर चारो ओर से ७,००० फुट तक ऊँची पहाडियो से घिरा हुआ है। यहाँ की कृत्रिम झील देखने योग्य है। दक्षिण भारत का मुख्य क्षय निवारक केंद्र, वनस्पति उद्यान तथा राजकीय सिनकोना केंद्र यहाँ है। यह स्थान आखेट, मछली मारने तथा मोटर चलाने की सुविधा के लिये प्रसिद्ध है। आसपास पर्याप्त मात्रा मे चाय, कहवा, सिनकोना तथा यूकलिप्टस के वगीचे है। यहाँ का लारेस मेमोरियल स्कूल बहुत प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना सन् १८५८ ई० में की गई थी। यहाँ यूरोपीय सैनिको के बच्चो को शिक्षा दी जाती रही है। [श्या० सु० श०]

उठान इन दिनो जव कभी किसी सडक मे मोड आता है तो उस मोड पर सडक के फर्श को मोड की वाहरी ओर ऊँचा उठाकर सडक को ढालू वनाया जाता है। इसी प्रकार रेल के मार्ग मे भी मोड पर वाहरी पटरी भीतरी से थोडी ऊँची रखी जाती है। सडक की सतह का, या रेल के मार्ग का, मोड पर इस प्रकार ढालू वनाया जाना उठान (सुपर एलिवेशन) कहलाता है।

मोड पर चलती हुई गाडी पर जो वल काम करते है वे है (१) अपकेद्र वल (सेंट्रिफ्युगल फोर्स) जिसका वाहर की ओर क्षैतिज तथा त्रैज्य प्रभाव पडता हे, (२) गाडी का भार, जो ऊर्ध्वाधर नीचे की ओर कार्य करता है और (३) सडक के फर्श की प्रतिक्रिया जो ऊपर की ओर काम करती है। अपकेद्र वल का सतुलन सडक की सतह का घर्षण करता है और यदि इस घर्षण का वल यथेष्ट न हो तो गाडी वाहर की ओर फिसल जायगी। उठान इस फिसलने की प्रवृत्ति को रोकने मे सहायता करती है।

उठान का प्रयोग रेल के मार्गो पर दीर्घकाल से किया जा रहा है, किंतु जहाँ तक सडको का प्रश्न है, पहले गाडियो की मद गति के कारण इसकी आवश्यकता नही पडती थी। आजकल मोटर गाडियो की तीव्र गति के कारण सडक की उठान एक आधुनिक विकास है।

आवश्यक उठान उस महत्तम गति पर निर्भर रहती है जिसपर गाडियो के चलने की आशा की जाती है, अर्थात् उनके कल्पित वेग पर। उठान निम्नलिखित सूत्र के अनुसार निश्चित की जाती है

$$उ = वे^2/१५\ त्रि$$

$$\theta = V^2/15\,r$$

यहाँ उ(θ) = उठान, वे(V) = मील प्रति घटो मे वेग और त्रि(r) = मोड की त्रिज्या, फुट मे।

सही उठानवाली सडक पर कल्पित गति से यात्रा करनेवाली गाडी सुगमता से तथा सुरक्षित ढग पर, फिसलने की प्रवृत्ति के विना, चलेगी। यदि कोई मोटरकार सडक पर कल्पित गति से तेज चलेगी तो सडक का घर्षण उसे फिसलने से बचाएगा। यदि कोई रेलगाडी कल्पित गति से तेज चलती है तो वगल की दाव को पहियो के वाहर निकले पार्श्व (फ्लैंजेज) सँभाल लेते हैं।

उठानवाला कोई भी मोड केवल उस गति से यात्रा करने के लिये सुखद होता है जिसके लिये सडक वनाई जाती हे। किंतु सडक पर तो अनेक प्रकार की गाडियाँ, तीव्र तथा धीमी दोनो प्रकार की गतियो से चलती हैं। धीमी चाल से चलनेवाली गाडियो को, जैसे वैलगाडियो और अन्य जानवरो से खीची जानेवाली सवारियो को, जो कल्पित गति से कही कम गति पर चलती है, अधिक उठान से असुविधा होती है। इस कारण भारत मे इडियन-रोड कांग्रेस के मानको के अनुसार उठान की सीमा १५ मे १ (अर्थात् १५ फुट चौडी सडक मे १ फुट) नियत कर दी गई है। दूसरे देशो मे यद्यपि १० में १ तक की उठान की अनुमति होती है, तो भी साधारणत उठान १५ मे १ से अधिक नही होती।

सं०ग्र०—एच० क्रिसवेल ' हाईवे स्पाइरेल्स, सुपर-एलिवेशन ऐंड वर्टिकल कर्व्स, द्वितीय सस्करण (लदन, १९४८), एच० सी० आइव्ज हाईवे कर्व्स (चतुर्थ सस्करण, चैपमैन ऐंड हाल, लदन), टी० एफ हिकरसन हाईवे कर्व्स ऐंड अर्थवर्क (मैकग्रॉ हिल बुक कपनी, न्यूयार्क), एल० आइ० ह्यूज अमेरिकन हाईवे प्रैक्टिस, खड १ (जान विली ऐंड सस, न्यूयार्क)। [ज० मि० त्रे०]

उडिपि नवीन मैसूर राज्य के कन्नड जिले में (पहले मद्रास प्रात मे) उडिपि तालुके का प्रमुख नगर है (स्थिति, १३° २१' उ० अक्षाश एव ७४° ४५' पूर्वी देशातर)। यहाँ भारतप्रसिद्ध कृष्णमदिर है जिसके सस्थापक १३वी सदी के प्रसिद्ध वैष्णव सुधारक श्री माधवाचार्य माने जाते है। १९०१ ई० मे इस स्थान की जनसख्या ८,०४१ थी जो १९३१ ई० मे वढकर १८,८३३ हो गई। १९४१ ई० मे कुछ कमी हो गई थी, परतु १९५१ ई० की जनगणना में जनसख्या २०,४५१ हो गई। यहाँ आठ प्राचीन मठ है। परियाय नामक प्रसिद्ध पर्व पर प्रत्येक दूसरे वर्ष जनवरी में यहाँ वडी धूमधाम रहती है। [का० ना० सिं०]

उड़िया भाषा तथा साहित्य ओडिसा की भाषा और जाति दोनो ही अर्थो मे 'उडिया' का प्रयोग होता है, किंतु वास्तव में ठीक रूप 'ओडिया' होना चाहिए।

इसकी व्युत्पत्ति का विकासक्रम कुछ विद्वान् इस प्रकार मानते है ओड्रविषय, ओड्रविष, ओडिष, आडिषा या ओडिशा। सवसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र मे उड्रविभाषा का उल्लेख मिलता है—'शवराभीरचाडाल सचलद्राविडोड्रजा। हीना वनेचराणा च विभाषा नाटके स्मृता।'

भाषातात्विक दृष्टि से उडिया भाषा में आर्य, द्राविड और मुडारी भाषाओ के समिश्रित रूपो का पता चलता है, किंतु आज की उडिया भाषा का मुख्य आधार भारतीय आर्यभाषा है। साथ ही साथ इसमे सथाली, मुडारी, शवरी, आदि मुडारी वर्ग की भाषाओ के और ओरॉव, कुई(कधी) तेलुगु आदि द्राविड वर्ग की भाषाओ के लक्षण भी पाए जाते है।

इसकी लिपि का विकास भी नागरी लिपि के समान ही ब्राह्मी लिपि से हुआ है। अतर केवल इतना है कि नागरी लिपि की ऊपर की सीधी रेखा उडिया लिपि मे वर्तुल हो जाती है और लिपि के मुख्य अश की अपेक्षा अधिक जगह घेर लेती है। विद्वानो का कहना है कि उडिया मे पहले तालपत्र पर लौह लेखनी से लिखने की रीति प्रचलित थी और सीधी रेखा खीचने मे तालपत्र के कट जाने का डर था। अत सीधी रेखा के बदले वर्तुल रेखा दी जाने लगी और उडिया लिपि का क्रमश आधुनिक रूप आने लगा।

उडिया साहित्य को काल और प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से बाँटा जा सकता है १ आदियुग (१०५०-१५५०), २ मध्ययुग (१५५०-१८५०), (क) पूर्व मध्ययुग—भक्तियुग या धार्मिक युग या पचसखा युग, (ख) उत्तर मध्ययुग-रीति युग या उपेद्रभज युग, ३ आधुनिक युग या स्वातत्र्य काल, (१८५० से वर्तमान समय तक)

१ आदियुग—

आदियुग मे सारलापूर्व साहित्य भी अतर्भुक्त है, जिसमे 'वौद्धगान ओ दोहा', गोरखनाथ का 'सप्तागयोगधारणम्', 'मादलापाजि', 'रुद्रसुधानिधि' तथा 'कलाश चौतिशा' आते है। 'वौद्धगान ओ दोहा' भाषादृष्टि, भावधारा तथा ऐतिहासिकता के कारण उडीसा से घनिष्ट रूप मे सवधित है। 'सप्तागयोगधारणम्' के गोरखनाथकृत होने मे सदेह है। 'मादलापाजि' जगन्नाथ मदिर मे सुरक्षित है तथा इसमे उडीसा के राजवश और जगन्नाथ मदिर के नियोगो का इतिहास लिपिवद्ध है। किंवदती के अनुसार गगवंश के प्रथम राजा चोड गगदेव ने १०४२ ई० (कन्या २४ दिन, शुक्ल दशमी दशहरा के दिन) 'मादलापाजि' का लेखन प्रारभ किया था, किंतु

दूसरा मत है कि यह मुगलकाल में १६वी शताब्दी में रामचद्रदेव के राजत्व काल मे लिखवाई गई थी। 'रुद्रसुधानिधि' का पूर्ण रूप प्राप्त नही है और जो प्राप्त है उसका पूरा अश छपा नही है। यह शैव ग्रथ एक अवधूत स्वामी द्वारा लिखा गया है। इसमे एक योगभ्रष्ट योगी का वृत्तात है। इसी प्रकार वत्सादास का 'कलाश चौतिशा' भी सारलापूर्व कहलाता है। इसमें शिवजी की वरयात्रा और विवाह का हास्यरस में वर्णन है।

वस्तुत सारलादास ही उडिया के प्रथम जातीय कवि और उडिया साहित्य के आदिकाल के प्रतिनिधि है। कटक जिले की झकडवासिनी देवी चडी सारला के वरप्रसाद से कवित्व प्राप्त करने के कारण सिद्धेश्वर पारिडा ने अपने को 'शूद्रमुनि' सारलादास के नाम से प्रचारित किया। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध है १ 'विलका रामायण', २ महाभारत और ३ चडीपुराण। कुछ लोग इन्हे कपिलेंद्रदेव (१४३५–१४३७) का तथा कुछ लोग नरसिहदेव (१३२८–१३५५ ई०) का समकालीन मानते है।

इस युग का अर्जुनदास लिखित 'रामविभा' नामक एक काव्य ग्रथ भी मिलता है तथा चैतन्यदास रचित 'विष्णुगर्भ पुराण' और 'निर्गुणमाहात्म्य' अलखपथी या निर्गुण सप्रदाय के दो ग्रथ भी पाए जाते है।

२ **मध्ययुग** के दो विभाग है—

(क) पूर्वमध्ययुग अथवा भक्तियुग तथा (ख) उत्तरमध्ययुग अथवा रीतियुग।

पूर्वमध्ययुग मे पचसखाओ के साहित्य की प्रधानता है। ये पचसखा है—वलरामदास, जगन्नाथदास, यशोवतदास, अनतदास और अच्युतानददास। चैतन्यदास के साथ सख्य स्थापित करने के कारण ये पचसखा कहलाए। वे पच शाखा भी कहलाते है। इनके उपास्य देवता थे पुरी के जगन्नाथ, जिनकी उपासना शून्य और कृष्ण के रूप में ज्ञानमिश्रा योगप्रधान भक्ति तथा कायसाधना द्वारा की गई। पचसखाओ में से प्रत्येक ने अनेक ग्रथ लिखे, जिनमे से कुछ तो मुद्रित है, कुछ अमुद्रित और कुछ अप्राप्य भी।

१६वी शताब्दी के प्रथमार्ध मे दिवाकरदास ने 'जगन्नाथचरितामृत' के नाम से पचसखाओ के जगन्नाथदास की जीवनी लिखी तथा ईश्वरदास ने चैतन्यभागवत लिखा। सालवेग नामक एक मुसलमान भक्तकवि के भी भक्तिरसात्मक अनेक पद प्राप्त है।

इसी युग मे शिशुशकरदास, कपिलेश्वरदास, हरिहरदास, देवदुर्लभदास तथा प्रतापराय की क्रमश 'उषाभिलाष', 'कपटकेलि,' 'चद्रावलिविलास,' 'रहस्यमजरी' और 'शशिसेणा' नामक कृतियाँ भी उपलब्ध है।

रीतियुग मे पौराणिक और काल्पनिक दोनो प्रकार के काव्य है। नायिकाओ मे सीता और राधा का नखशिख वर्णन किया गया है। इस युग का काव्य शब्दालकार, क्लिष्ट शब्दावली और शृगाररस से पूर्ण है। काव्यलक्षण, नायक-नायिका-भेद आदि को विशेष महत्व दिया गया। उपेंद्रभज ने इसको पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, अत इस युग का नाम भजयुग पड गया, किंतु यह काल इसके पहले शुरू हो गया था। उपेंद्रभज के पूर्व के कवि निम्नाकित है

धनजयभज—ये उपेद्रभज के पितामह और घुमसर के राजा थे। इनकी कृतियाँ है रघुनाथविलास काव्य, त्रिपुरसुदरी, मदनमजरी, अनगरेखा, इच्छावती, रत्नपरीक्षा, अश्व और गजपरीक्षा आदि। कुछ लक्षणग्रथ और चौपदीभूषण आदि सगीत ग्रथ भी है।

दीनकृष्णदास (१६५१–१७०३)—व्यक्तित्व के साथ साथ इनका काव्य भी उच्च कोटि का था। 'रसकल्लोल', 'नामरत्नगीता', 'रसविनोद', 'नावकेलि', 'अलकारकेलि', 'आर्तत्राण', 'चौतिशा' आदि इनकी अनेक कृतियाँ प्राप्य है।

वृदावती दासी, भूपति पडित तथा लोकनाथ विद्यालकार की क्रमश 'पूर्णतम चद्रोदय', 'प्रेमपचामृत 'तथा' एक चौतिशा' और 'सर्वागसुदरी', 'पद्मावती परिणय', 'चित्रकला', 'रसकला' और 'वृदावन-विहार-काव्य', नाम की रीतिकालीन काव्यलक्षणो से युक्त कृतियाँ मिलती है।

उपेंद्रभज (१६८५–१७२५)—ये रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि है। इनके कारण ही रीतियुग को भजयुग भी कहा जाता है। शब्दवैलक्षण्य, चित्रकाव्य एव छद, अलकार आदि के ये पूर्ण ज्ञाता थे। इनकी अनेक प्रतिभाप्रगल्भ कृतियो ने उडिया साहित्य में इनको सर्वश्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित किया है। 'वैदहीशविलास', 'कलाकउतुक', 'सुभद्रापरिणय', 'व्रजलीला', 'कुजलीला' आदि पौराणिक काव्यो के अतिरिक्त लावण्यवती, कोटि-ब्रह्माड-सुदरी, रसिकहारावली आदि अनेक काल्पनिक काव्यग्रथ भी है। इन काव्यो में रीतिकाल के समस्त लक्षणो का सपूर्ण विकास हुआ है। कही कही सीमा का अतिक्रमण कर देने के कारण अश्लीलता भी आ गई है। इनका चित्रकाव्य 'वधोदय', चित्रकाव्य का अच्छा उदाहरण है। 'गीताभिधान' नाम से इनका एक कोशग्रथ भी मिलता है जिसमें कात, खात आदि अत्य अक्षरो का नियम पालित है। 'छदभूषण' तथा 'पड्ऋतु' आदि अनेक कृतियाँ और भी पाई जाती है।

भजकालीन साहित्य के वाद उडिया साहित्य में चैतन्य प्रभावित गौडीय वैष्णव धर्म और रीतिकालीन लक्षण, दोनो का समन्वय देखने मे आता है। इस काल के काव्य प्राय राधाकृष्ण-प्रेम-परक है और इनमें कही कही अश्लीलता भी आ गई है। इनमें प्रधान है सच्चिदानद कविसूर्य (साघुचरणदास) भक्तचरणदास, अभिमन्युसामत सिंहार, गोपालकृष्ण पट्टनायक, यदुमणि महापात्र तथा वलदेव कविसूर्य आदि।

इस क्रम में प्रधानतया और दो व्यक्ति पाए जाते है (१) व्रजनाथ वडजेना और (२) भीमभोई। व्रजनाथ वडजेना ने 'गुडिचाविजे' नामक एक खोरता (हिंदी) काव्य भी लिखा था। उनके दो महत्वपूर्ण ग्रथ है 'समरतरग' और 'चतुरविनोद'। भीमभोई जन्माघ थे और जाति के कध (आदिवासी) थे। वे निरक्षर थे, लेकिन उनके रचित 'स्तुर्तिचिंतामणि', 'ब्रह्मनिरूपण गीता' और अनेक भजन पाए जाते है। उडिया में वे अत्यत प्रख्यात है।

३ **आधुनिक युग** यद्यपि व्रिटिश काल से प्रारभ होता है, किंतु अग्रेजी का मोह होने के साथ ही साथ प्राचीन प्रातीय साहित्य और सस्कृत से साहित्य पूरी तरह अलग नही हुआ। फारसी और हिंदी का प्रभाव भी थोडा वहुत मिलता है। इस काल के प्रधान कवि राधानाथ राय है। ये स्कूल इस्पेक्टर थे। इनपर अग्रेजी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। इनके लिखे 'पार्वती', 'नदिकेश्वरी', 'ययातिकेशरी' आदि ऐतिहासिक काव्य है। 'महामात्रा' प्रथम अमित्राक्षर छद में लिखित महाकाव्य है, जिसपर मिल्टन का प्रभाव है। इन्होने मेघदूत, वेणीसहार और तुलसी पद्यावली का अनुवाद भी किया था। इनकी अनेक फुटकल रचनाएँ भी है। आधुनिक युग को कुछ लोग राधानाथ युग भी कहते हैं।

वगाल से राजेंद्रलाल मित्र द्वारा चलनेवाले 'उडिया एक स्वतत्र भाषा नही है' आदोलन का करारा जवाव देनेवालो में उडिया के उपन्याससम्राट् फकीरमोहन प्रमुख है। गद्य उपन्यास मे ये वेजोड है। 'लछमा', 'मामु', 'छमाण आठगुठ' आदि उनके उपन्यास है। 'गल्पस्वल्प' नाम से दो भागो मे उनके गल्प भी है। उनकी कृति 'प्रायश्चित्त' का हिंदी में अनुवाद भी हुआ है। पद्य में 'उत्कलभ्रमण', 'पुष्पमाला' आदि अनेक ग्रथ है। उन्होने छादोग्यउपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि का पद्यानुवाद भी किया है।

इस काल के एक और प्रधान कवि मधुसूदन राय है। पाठ्य पुस्तको के अतिरिक्त उन्होने भक्तिपरक कविताएँ भी लिखी है। इनपर रवीद्रनाथ का काफी प्रभाव है।

इस काल मे काव्य, उपन्यास और गल्प के समान नाटको पर भी लोगो की दृष्टि पडी। नाटककारो मे प्रधान रामशकर राय है। उन्होने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक गीतिनाट्य, प्रहसन और यात्रा आदि भिन्न भिन्न विषयो पर रचनाएँ की है। 'काचिकावेरी', 'वनमाला', 'कसवध', 'युगधर्म' आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ है।

राधानाथ युग के अन्य प्रसिद्ध कवि है गगाधर मेहेर, पल्लीकवि नदकिशोरवल, (प्रावधिक और सपादक) विश्वनाथ कर, व्यगकार गोपालचद्र प्रहराज आदि।

इसके उपरात गोपवधुदास ने सत्यवादी युग का प्रवर्तन किया। इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ 'धर्मपद', 'वदीर आत्मकथा', 'कारा कविता' आदि है। नीलकठ दास तथा गोदावरीश मिश्र आदि इस युग के प्रधान साहित्यिक है। पद्मचरण पट्टनायक और कवयित्री कुतलाकुमारी सावत छायावादी साहित्यकार और लक्ष्मीकात महापात्र हास्यरसिक हैं।

सत्यवादी युग के बाद रोमांटिक युग आता है। इसके प्रधान कवि मायाधर मानसिंह हैं। उनके 'धूप', 'हेमशस्य', 'हेमपुष्प' आदि प्रधान ग्रंथ हैं।

कालिंदीचरण पाणिग्राही, वैकुंठनाथ पट्टनायक, हरिहर महापात्र, शरच्चंद्र मुखर्जी और अन्नदाशंकर राय ने 'सबुज कवित्व' से सबुज युग का श्रीगणेश किया है। 'वासंती' उपन्यास इनके सम्मिलित लेखन का फल है।

इसके बाद प्रगतियुग या अत्याधुनिक युग आता है। सच्चिदानंद राउत राय इस युग के प्रसिद्ध लेखक हैं। इनकी रचनाओं में 'पल्लीचित्र', 'पाडुलिपि' आदि प्रधान हैं। आधुनिक समय में औपन्यासिक गोपीनाथ महांति, कान्हुचरण महांति, नित्यानंद महापात्र, कवि राधामोहन गडनायक, क्षुद्रगाल्पिक, गोदावरीश महापात्र, महापात्र नीलमणि साहु आदि प्रसिद्ध हैं। [प्र० प्र०]

उड़ीसा भारत के सोलह राज्यों में से एक राज्य है। यह भारत के पूर्वी तट पर स्थित है। इसके उत्तर में बिहार, दक्षिण में आंध्र, पूर्व में पश्चिम बंगाल तथा पश्चिम में मध्यप्रदेश की सीमाएँ पड़ती हैं। इसके दक्षिण-पूर्व में बंगाल की खाड़ी है। इनकी स्थिति अक्षांश १७° ५०′ एवं २२° ३४′ उत्तर तथा देशांतर ८१° २७′ एवं ८०° २९′ पूर्व के बीच है। राज्य का संपूर्ण क्षेत्र उष्ण कटिबंध में पड़ता है, इसका उत्तरी छोर कर्क रेखा से केवल एक अंश ही कम है। उड़ीसा का वर्तमान क्षेत्रफल ६०,१३६ वर्ग मील है तथा सन् १९५१ ई० के जनगणनानुसार राज्य की जनसंख्या १,४६,४५,९४६ थी। उड़ीसा की नई राजधानी भुवनेश्वर है, जिसका निर्माणकार्य चल रहा है। इसके पहले राजधानी कटक थी। राज्य की भाषा उड़िया है तथा शिक्षितों की संख्या केवल १५.८ प्रति शत है।

भौगोलिक दृष्टि से उड़ीसा को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं उत्तरी पठार, पूर्वी घाट, मध्य क्षेत्र तथा तटीय मैदानी प्रदेश। प्रत्येक की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं।

उत्तरी प्रदेश में मयूरभंज, क्योंझर, सुंदरगढ़ तथा ढेनकानाल (केवल उसका पाललाहरा तहसील) ये जिले पड़ते हैं। यह एक ऊँचा नीचा प्रदेश है, साधारणत: इसकी ढाल उत्तर से दक्षिण की ओर है। यह ऊँची नीची पहाड़ियों से कई छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त है, जहाँ छोटी छोटी सैकड़ों धाराएँ नदियों तक बहती हैं। मैदान से एकाएक खड़ी पहाड़ियों का पाया जाना साधारण बात है। इस प्रदेश की सबसे ऊँची चोटी (मनकादचा ३,६३९ फुट) सुंदरगढ़ जिले के बोनाई तहसील में है। ये पहाड़ियाँ मध्य भारत की पर्वतशृंखलाओं के बढ़े हुए भाग हैं। इनकी ढालू भूमि घने, उष्ण कटिबंधीय जंगलों से ढकी हुई है। इन पहाड़ियों की तलहटी में बड़े बड़े मैदान हैं जहाँ धान से लेकर मोटे अन्न तक की कृषि होती है।

पूर्वी घाट भी उच्च पठारी प्रदेश है, जहाँ उड़ीसा की सबसे ऊँची चोटियाँ स्थित हैं। यहाँ पठार पर्याप्त बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है, जो पहाड़ियों तक जंगलों से घिरा हुआ है। देवमाली पहाड़ी, जिसकी दो जुड़वाँ चोटियाँ (५,४८६ फुट) उड़ीसा की सबसे ऊँची चोटियाँ हैं, कोरापुट नगर से स्पष्ट देखी जा सकती हैं। पूर्वी घाट की ढाल घने जंगलों से आच्छादित है। इस प्रदेश में कोरापुट, कालाहंडी, गंजाम तथा फुलबानी जिले तथा महानदी के दाहिने तट की ओर का क्षेत्र आता है।

मध्यक्षेत्र उत्तरी पठार तथा पूर्वी घाट के बीच में पड़ता है जिसमें बोलांगीर, संबलपुर तथा ढेनकानाल जिले पड़ते हैं। इस प्रदेश में भी छोटी छोटी पहाड़ियाँ इधर उधर छिटकी हुई हैं, परंतु राज्य के कुछ सबसे उपजाऊ क्षेत्र भी इसी प्रदेश में पड़ते हैं, जैसे बरगढ़ मैदान। इस प्रदेश में बहने
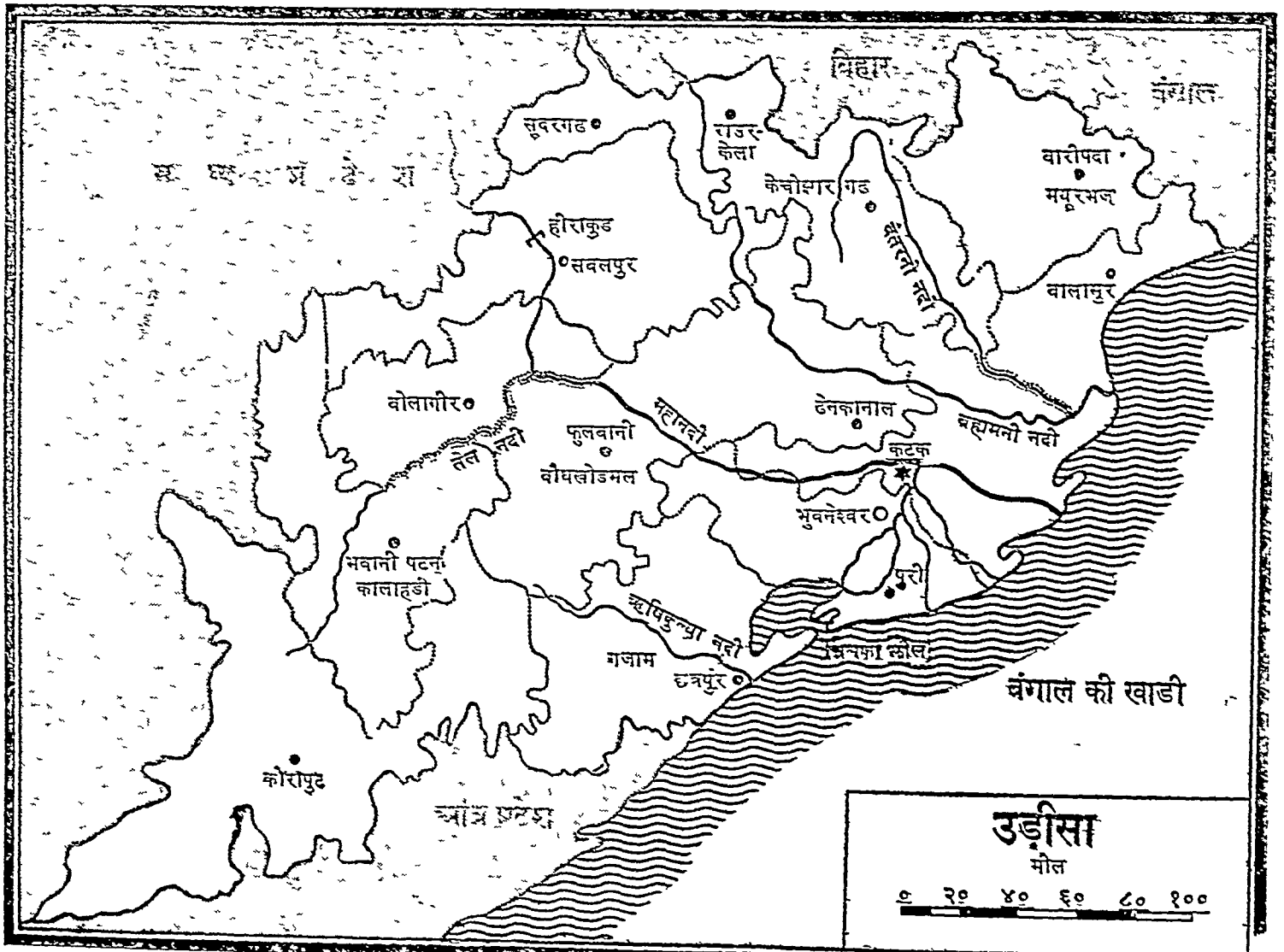
वाली मुख्य नदियाँ महानदी तथा उसकी सहायक है। ग्रामो के आस पास ताड के कुजो का पाया जाना यहाँ की विशेषता है।

तटीय मैदान सामुद्रिक जलवायु का क्षेत्र है, जो पश्चिम वगाल तथा मद्रास राज्य के बीच स्थित है। इस प्रदेश का अधिकाश भाग उडीसा की नदियो द्वारा विछाई गई दोमट मिट्टी से वना डेल्टा की तरह का मैदान है। यह क्षेत्र राज्य का सबसे उपजाऊ एव घनी आवादी का क्षेत्र है, जिसमें आम, नारियल तथा ताड के घने कुज और धान के विस्तृत खेत मिलते है। इन खेतो मे नदियो तथा नहरो द्वारा सिंचाई का पूरा प्रवध है। तट के समीप की भूपट्टी दलदली है, तथा तट के किनारे किनारे वालू के टीले अथवा ढूहे अच्छी तरह देखे जा सकते है। डेल्टा के मध्य का भाग, प्राय ३,००० वर्ग मील का क्षेत्र, प्रति वर्ष वाढ का शिकार होता रहता है।

नदियाँ—राज्य की मुख्य नदियाँ महानदी तथा ब्राह्मणी है, जो उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पूर्व प्राय एक दूसरे के समातर वहती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई छोटी छोटी नदियाँ हैं, जिनमे सालदी, वूरावलाग तथा स्वर्ण-रेखा राज्य के उत्तरी भाग में वहती है और ऋषिकुल्या, वशधारा, नागवल्ली, इद्रावती, कोलाव तथा मचकुद दक्षिण मे गजाम तथा कोरापुट जिलो में वहती है। महानदी सबसे वडी नदी है, जिसकी लवाई ५३३ मील है। इसका आधा भाग मध्य प्रदेश में पडता है। इस नदी की द्रोणी का क्षेत्रफल ५१,००० वर्ग मील है तथा वर्षाकाल के मध्य में पानी का वहाव १,६०,००० घन फुट प्रति सेकड रहता है। कुछ स्थलो पर इस नदी का पाट एक मील से भी वडा हो जाता है। यह वगाल की खाडी में कई शाखाएँ वनाती हुई फाल्सपाइट पर गिरती है। उडीसा की तीन प्रमुख नदियो के एक साथ मिल जाने के कारण डेल्टा प्रदेश मे शाखाओ तथा धाराओ का एक जाल सा विछा हुआ है।

भूविज्ञान—वैज्ञानिक दृष्टि से उडीसा राज्य के वारे में वहुत कम जान-कारी है। प्राक पुरातन युग में उडीसा का वह भाग जहाँ आज पूर्वी घाट प्रदेश है, नीचा तथा समतल मैदान था और वहाँ महानदी तथा ब्राह्मणी नदियाँ पूर्व की ओर वहती थी। सपूर्ण प्रदेश चौरस अथवा कुछ ऊँचा नीचा था जिसमे यत्रतत्र पहाडियाँ खडी थी। दूसरे चरण में गोडवाना परतो का जमाव हुआ जो छोटा नागपुर से क्योझर, फूलवानी से दक्षिण गजाम तथा कोरापुट से अत मे मद्रास तक, एक पेटी के उठने का- कारण वनी। इस उठे हुए प्रदेश के पूर्व में एक असमतल क्षेत्र है, जिसके वीच वीच में पहाडियाँ हैं। यह क्षेत्र तट से कुछ मील हटकर तट के समातर है। इस क्षेत्र ने भी कई वार थोडा थोडा उठकर अपनी यह ऊँचाई प्राप्त की है। तटीय प्रदेश का विकास भी केवल नदियो द्वारा डेल्टा वनाने की क्रिया से ही नही, वल्कि स्वत ऊपर उठने के कारण भी हुआ है। चिल्का झील के आस पास कुछ सीप, घोघे इत्यादि के अवशेष पाए गए हैं, जिससे इसके कभी ऊँचे रहने का प्रमाण मिलता है।

मिट्टी—उडीसा की मिट्टी के विभिन्न प्रकारो की पूरी छानवीन नही की गई है। उत्तरी पठारी क्षेत्र मे लाल मिट्टी पाई जाती है। इस क्षेत्र मे कणाश्म (ग्रैनाइट) का वाहुल्य है, जिससे मिट्टी में वालू का अश अधिक रहता है, तथा चिकनी मिट्टी (क्ले) केवल इतनी ही है जो जल को कुछ रोक सके। पूर्वी घाट के क्षेत्र की मिट्टी अधिकतर लेटराइट है। लौह-आक्साइड का अधिक प्रति शत होना इस मिट्टी का मुख्य लक्षण है। लेट-राइट मिट्टी का जमाव केवल कुछ इच नीचे तक ही सीमित है, परतु कही कही कई फुट तक भी है, विशेषकर उच्च स्थानो पर। मध्य पठार की मिट्टी कई प्रकार की है, जैसे कुछ तो चट्टानो के समीप ही उन्ही से निर्मित तथा दूसरी जो पर्याप्त दूरी से हवा एव पानी द्वारा लाई गई है। काली, रूईवाली मिट्टी गजाम जिले के उत्तर-पूर्वी भाग में और महानदी के दोनो किनारो पर पाई जाती है। गर्मी मे इसमें दरारें पड जाती है तथा वर्षाकाल में यह चिप-चिपी हो जाती है। यह लाल मिट्टी से अधिक उर्वरा है। मध्य क्षेत्र के अन्य भागो मे कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती है। तटीय प्रदेश की मिट्टी दोमट स्वभाव की है।

जलवायु—उडीसा मे उष्णप्रदेशीय समुद्री जलवायु है। मोटे तौर पर उडीसा में तीन ऋतुएँ कही जा सकती है, शरद, ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु। शरद् ऋतु नववर मास से फरवरी मास तक रहती है, ग्रीष्म ऋतु मार्च से प्रारभ होती है और वर्षा के प्रारभ अर्थात् जून मास मे शेष होती है। वर्षा ऋतु अक्टूवर मास तक रहती है। वर्षा उत्तरी जिलो में प्राय ६० इच होती है, जव कि दक्षिणी जिलो में केवल ५० इच तक ही होती है। सन् १९५६ ई० में कुछ स्थानो पर १०० इच तक वर्षा हुई थी।

उडीसा की जनसख्या का विश्लेपण वडा मनोरजक है। सन् १९५१ ई० के जनगणनानुसार यहाँ की कुल जनसख्या १,४६,४५,९४६ थी, जिसमें पुरुषो की सख्या केवल ७२,४२,८९२ रही और स्त्रियो की सख्या ७४,०३,०५४ थी। राज्य में जनसख्या का घनत्व प्रति वर्ग मील २४४ है, जव कि सपूर्ण भारत का औसत घनत्व ३१२ है।

उडीसा विशेष रूप से ग्रामीण राज्य है। इसमें केवल एक महा-नगर कटक तथा ३८ साधारण नगर हैं, जव कि ग्रामो की सख्या ५०,९८४ है। इस प्रकार नगर की समस्त जनसख्या केवल ४०६ प्रति शत है। राज्य में स्थित मुख्य नगर कटक (जनसख्या १,०२,५०५), ब्रह्मपुर (६२,३४३) तथा पुरी (४९,०५७) है।

खनिज—उडीसा विस्तृत रूप से लौह अयस्क का भाडार है। यहाँ के लौह अयस्क मे लोहे की मात्रा ६० प्रति शत से अधिक है। लौह अवसाद की दृष्टि से राज्य में सुदरगढ, क्योझर तथा मयूरभज जिले प्रमुख है। इनके अतिरिक्त हाल की खोजो से कटक तथा मयूरभज जिलो मे अन्य अवसादो का पता चला है, जिनमें पर्याप्त मात्रा मे लौह अयस्क है। उडीसा भारत मे मैंगनीज़ का २०% उत्पादन करता है, जो क्योझर, सुदरगढ, वोलाँगीर तथा कालाहाँडी जिलो में उपलव्व है। क्रोमाइट के विस्तृत अवसाद भी क्योझर, ढनकानाल तथा कटक जिलो में है। तालचेर जिले में पर्याप्त मात्रा मे कोयले का भाडार है। गगपुर में डोलोमाइट (कैल्सियम-मैंगनीसियम कार्वोनेट) और चून का पत्थर (लाइम स्टोन) प्रचुर मात्रा में पाए जाते है।

राज्य मे प्राय २४,००० वर्ग मील में वन फैले हुए है, अर्थात् राज्य के पूरे भूक्षेत्र का ४०% भाग वन के अतर्गत है। उडीसा में पाए जानेवाले विभिन्न प्रकार के काष्ठो में व्यापारिक दृष्टि से साखू, पिसाल, साघन, रोज-वुड, गवर, वधन तथा हल्दू मुख्य है। वैसे केदू की पत्तियो की वाहर वडी माँग रहती है, क्योकि वे वीडी वनाने के काम आती है। वाँस की भी भर-मार है जो वहुत उपयोगी होता है। इससे राज्य में कागज वनाने की मिलें खुली है। वन से प्राप्त अन्य उपयोगी वस्तुओ में सर्पगधा, जिससे पागलपन की औषधि वनती है, लाक्ष (लाह) इत्यादि हैं।

विशाल उद्योग धधो की दृष्टि से उडीसा पिछडा हुआ है। महानदी को वाँधकर उससे उत्पन्न की गई विद्युत् तथा उसके जल का उपयोग किया जायगा। राज्य के मुख्य उद्योग धधो मे हाल ही मे प्रारभ किया गया राउर-केला स्थित लोहे तथा इस्पात का विशाल कारखाना है जहाँ उत्पादन प्रारभ हो गया है। इसके अतिरिक्त कागज, चीनी तथा सीमेंट वनाने के कारखाने हैं। यहाँ का करघा उद्योग सवसे मुख्य घधा है जिसमें पर्याप्त लोग लगे है। यहाँ पीतल तथा अन्य धातुओ के गहने वनाने एव खरादने इत्यादि का काम उच्च कोटि का होता है। हाथीदाँत तथा सीग पर कारीगरी करना भी यहाँ का एक अच्छा कुटीरउद्योग है। सीग से प्राय ३० प्रकार की वस्तुएँ वनाई जाती है।

ग्रामीण जीवन की अधिकता होने के कारण यहाँ के आवागमन के साधन अच्छे नही है। सपूर्ण राज्य में केवल १२,७४२ मील लवी सडकें और केवल ७८३ मील लवी रेलवे लाइनें है।

आधुनिक उडीसा की औद्योगिक योजनाओ में हीराकुड तथा राउर-केला प्रमुख है। हीराकुड वाँध के वन जाने से राज्य की भयानक महानदी पर नियत्रण पा लिया जायगा, वाढ की रोक थाम होगी और १,४०,००० एकड भूमि की सिंचाई भी होगी। हीराकुड राज्य की औद्योगिक उन्नति का केंद्रविंदु है। राउरकेला स्थित इस्पात के कारखाने में भी उत्पादन प्रारभ हो गया है। वाँध के समीप ही ऐल्यूमिनियम का एक कारखाना खोला जा रहा है।

भारत के स्वतत्र होने के पश्चात् उडीसा की निम्नलिखित देशी रियासतें उडीसा राज्य मे मिला दी गई—पटना, अलीगढ, अथमालिक, खाइपाडा, रेराखोल, रनपुर, वमरा, दसपाला, हिंडोल, नरसिंगपुर, नयागढ़, नील-गिरि, पालाहारा, सोनपुर, तालचेर तथा टिगिरिया।

उड़ीसा के मंदिर (देखे पृ० ५३)
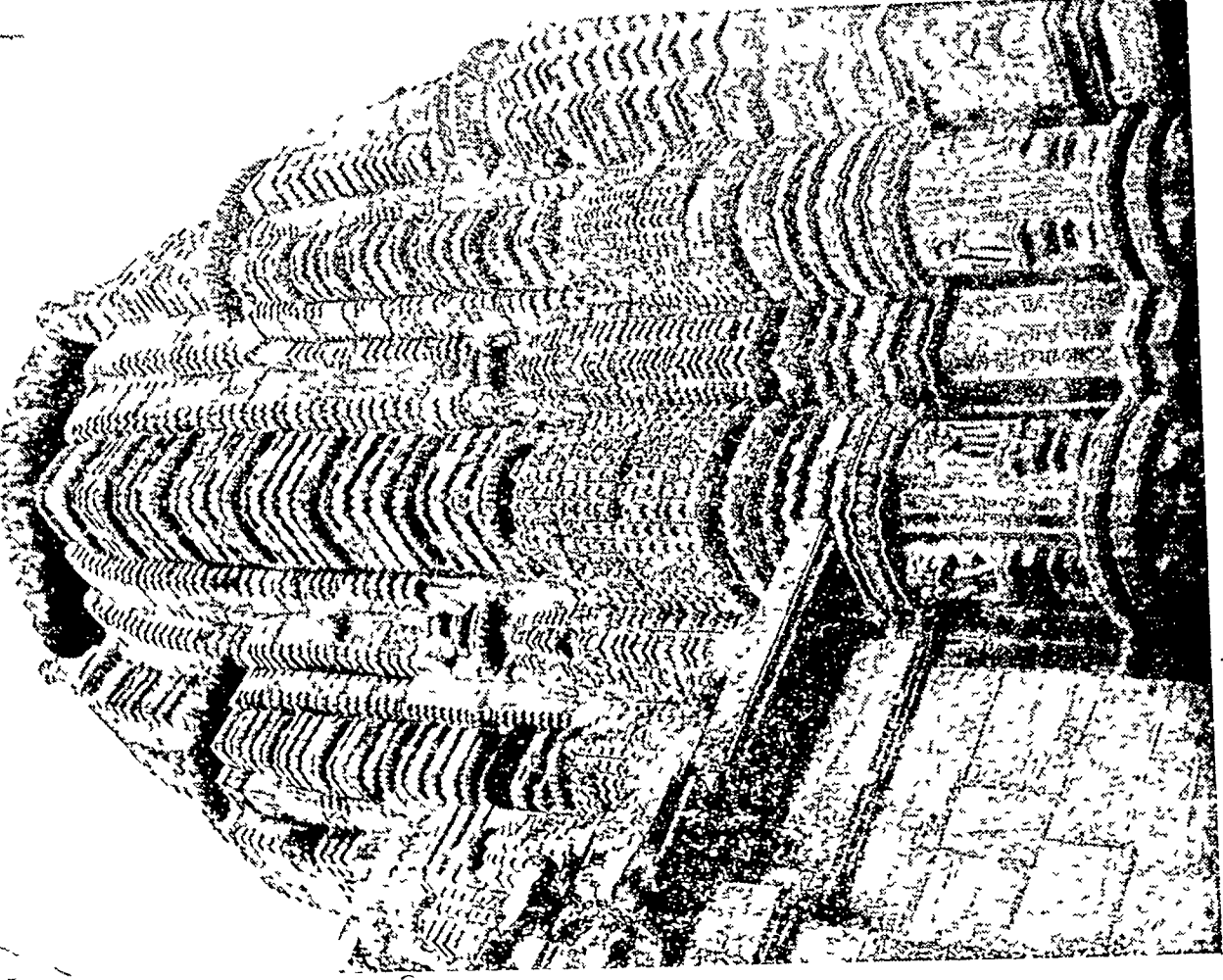
अपने सौंदर्य के लिये स्तुत्य भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)
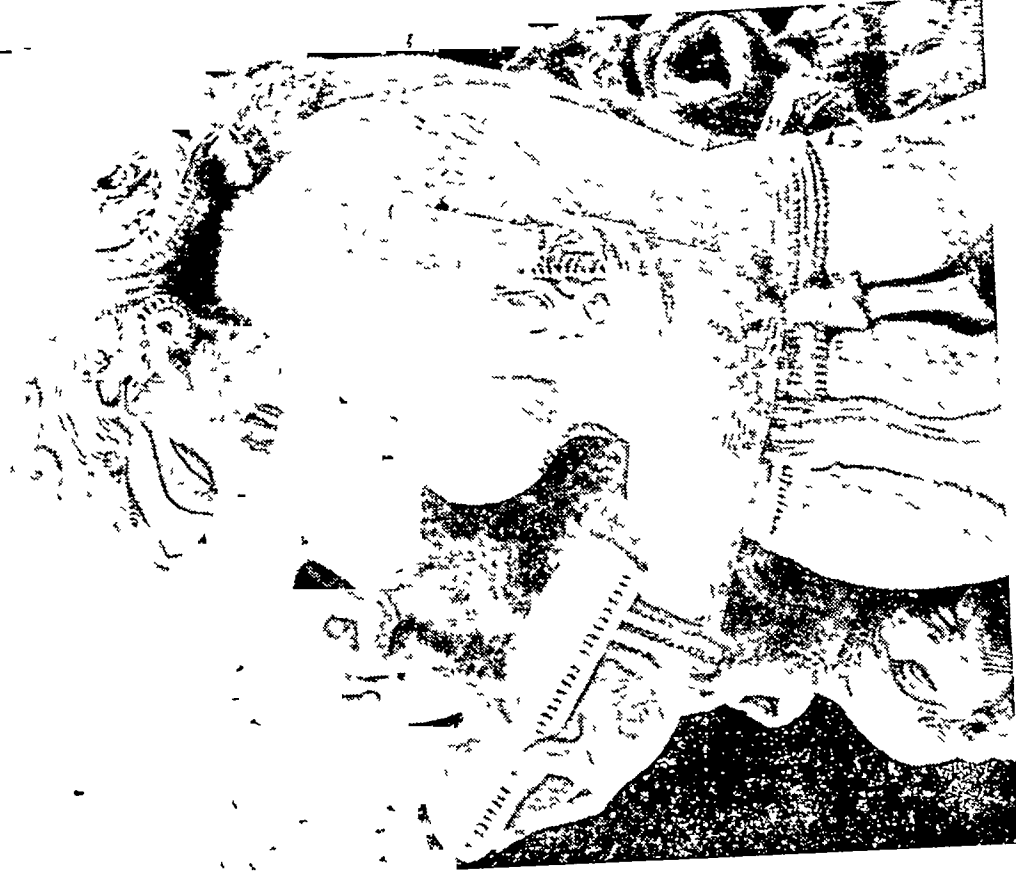
अप्रतिम शिल्प का आदर्श—'पत्रलेखन'
उत्तर मध्य कालीन मूर्तिकला
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)

उड़ीसा के मंदिर (देखें पृष्ठ ५३)
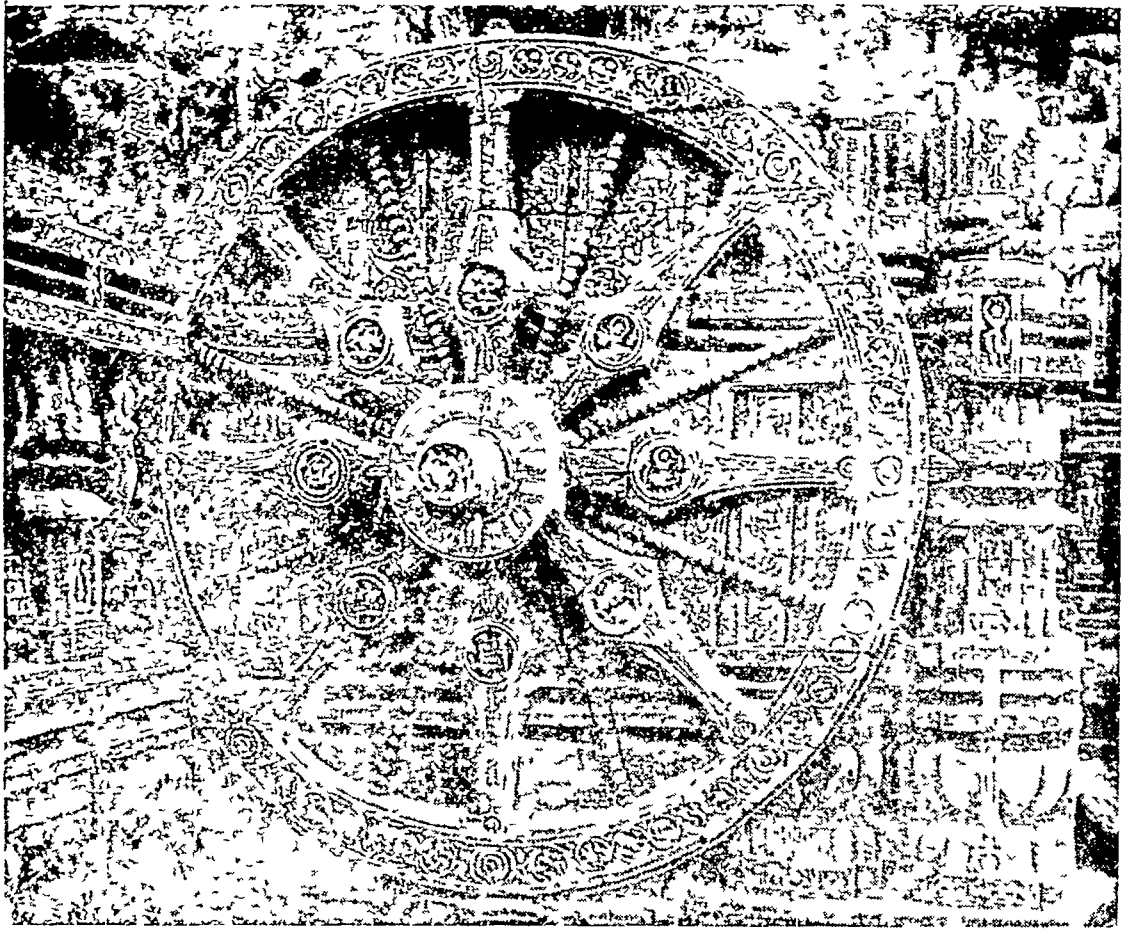
पुरी जिले के कोणार्क के सूर्य मंदिर के एक चक्र का फोटो (१२४०–८० ई०)
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)
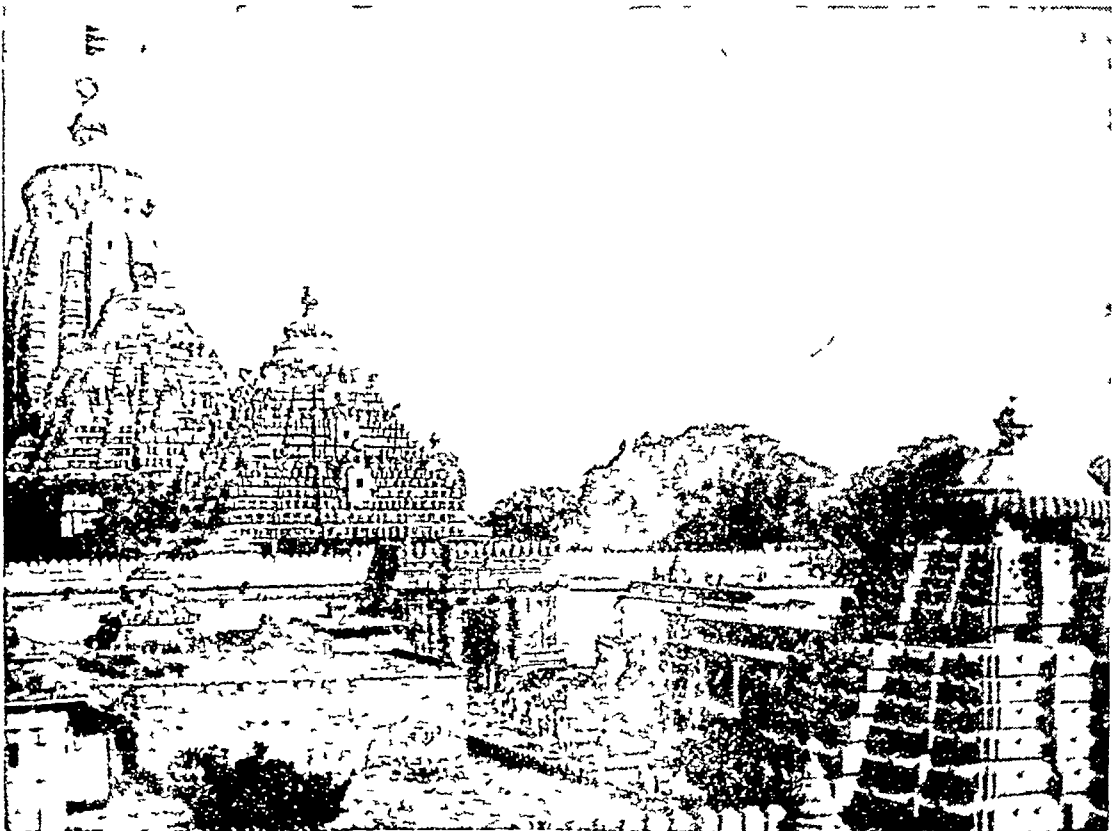
पुरी, उड़ीसा का जगन्नाथ मंदिर

संक्षिप्त इतिहास—उडीसा अथवा उत्कल का वर्णन उत्तरकालीन दिक साहित्य से ही चला आता है। अशोक के आक्रमण का जिस वीरता और बलिदान से कलिंगवासियो ने सामना किया था वह उनके शालीन इतिहास का गौरव है। उसी से प्रेरित होकर अशोक ने हिंसा त्याग बौद्ध-धर्म मे दीक्षा ली थी। प्राचीन कलिंगवासी ईसा से पहले जैन राजा खारवेल के समय से ही सामुद्रिक यात्राओ तथा सुदूर देशो मे उपनिवेश और विशाल साम्राज्य स्थापित करने मे अग्रगण्य रहे हैं। वैभव के उन दिनो में तेजस्वी कलिंग राजाओ का विशाल साम्राज्य दक्षिण में गोदावरी से लेकर उत्तर मे गगा तक फैला हुआ था। परतु सन् १५६८ से १७५१ ई० तक उडीसा मुसलमानो के अधीन मुगल साम्राज्य का एक अग था। सन् १८०३ ई० मे अग्रेजो द्वारा विजित होने के पूर्व आधी शताब्दी तक यह भूभाग मराठा शक्तियो से प्रभावित होता रहा।

अग्रेजो द्वारा विजित होने के बाद यह बगाल प्रात में मिला लिया गया। परतु उडीसावासी, जिन्हे अपनी प्राचीन सस्कृति, सभ्यता तथा भाषा पर गर्व रहा है,सदैव ही राजनीतिक कारणो के लिये उडीसा प्रदेश को विभाजित करने का विरोध करते रहे हैं। इसके फलस्वरूप सन् १९३६ ई० के प्रथम अप्रैल को उडीसा को एक पृथक् प्रात का रूप दिया गया।

उडीसा अपने छह जिलो (कटक, बालासोर, पुरी, सभलपुर, गजाम तथा कोरापुट) के साथ सन् १९३६ ई० से पृथक् प्रात रहा है, परतु सन् १९४८ ई० मे २३ और १९४९ ई० मे एक देशी रियासत को इसमे मिलाकर नए उडीसा राज्य का सघटन किया गया। छोटी छोटी देशी रियासतो को तो पडोस के जिलो में मिला दिया गया और जो बडी रियासते थी उन्हे नए जिलो का रूप दे दिया गया। इस प्रकार अब उडीसा राज्य तेरह जिलो में विभाजित है। [श्या० सु० श०]

मदिर—उडीसा के मदिरो की ख्याति बडी है और इस ख्याति का कारण उसकी विशिष्ट तथा विशद निर्माण कला है। ये मदिर अधिकतर १२वी-१३वी सदी के बने हुए हैं और भारतीय वास्तु कला मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी मूर्तियो का उभार, तक्षण की सजीवता तथा भग और छदस् भारतीय कला मे अपना सानी नही रखते। उडीसा के मदिरो का एक महान् केंद्र भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर का विख्यात शिवमदिर ९वी शताब्दी के मध्य मे उत्कल के तेजस्वी राजा ललातेदु केशरी के राज्यकाल में ही निर्मित किया गया तथा पुरी के विख्यात जगन्नाथमदिर का निर्माण १२वी शताब्दी मे अनगभीमदेव द्वितीय ने कराया था। १३वी शताब्दी के मध्य महाराज नरसिंहदेव के द्वारा कोणार्क के विश्वविख्यात सूर्यमदिर का निर्माण हुआ। उस समय सागर का जल इस विशाल एव भव्य मदिर का पादप्रक्षालन करता था, परतु आज सागर उस स्थान को छोडकर कुछ पूर्व हट गया है। फिर भी इस मदिर की शिल्पकला आज भी दर्शको को बरबस अपनी ओर खीच लेती है। वहाँ के मदिर अधिकतर शिवके हैं। उडीसा के मदिरो के साधारणत निम्नलिखित भाग होते हैं—विमान, जगमोहन, नाटचमडप, गर्भगृह तथा भोगमडप। इनके विमानो की ऊँचाई गगनचुबी होती है। भुवनेश्वर का लिंगराज मदिर अपने सौदर्य के लिए स्तुत्य है। इनके अतिरिक्त पुरी का जगन्नाथ मदिर और कनारक का कोणार्क-सूर्यमदिर बडे प्रसिद्ध हैं। जगन्नाथपुरी का मदिर तो कला की सूक्ष्म दृष्टि से उडीसा-शैली का अवसान प्रमाणित करता है परतु कनारक का मदिर वास्तु का अपूर्व रत्न है। उसके अश्व, चक्र, ग्रह आदि अद्भुत वेग और सजीवता के परिचायक ह। जगन्नाथ और कनारक के मदिरो के बहिरग पर सैकडो कामचित्र उभारे हुए हैं। इस दृष्टि से इनकी और खजुराहो के मदिरो की कलादृष्टि समान है। सभवत इस प्रकार के अर्ध नग्न चित्रो का कारण वज्रयान तथा तत्रयान का प्रभाव है। वज्रयान का आरभ उडीसा मे ही श्रीपर्वत (महेन्द्र पर्वत) पर हुआ था। उडीसा के मदिरो के काल परिमाण के बाद इस प्रकार के नग्न चित्रो की चलन भारतीय वास्तु और मदिरो से उठ गई। उडीसा के मदिरो के विमान उत्तर भारत की शिल्प कला मे प्रमाण बन गए और उत्तराखड में बनने वाले बाद के मदिरो की नगर शैली उनसे ही प्रसूत हुई।

स०ग्र०—आर डी बनर्जी हिस्ट्री ऑव ओरिसा, बी सी मजुमदार ओरिसा इन दि मेकिंग। [भ० श० उ०]

उड्डयन, नागरिक

सेना द्वारा सचालित उडानो को छोडकर अन्य सभी प्रकार की उडानो को नागरिक उड्डयन के ही अतर्गत माना गया है। इसमे जो कार्य व्यवहार मे आते हैं वे ये हैं यात्रियो का व्यावसायिक यातायात, माल और डाक, व्यापार या शौक के लिये निजी हैसियत से की गई उडाने तथा सरकारी उद्देश्यो की पूर्ति के लिये किया गया इसका उपयोग।

दो अमरीकी बधु आरविल राइट तथा विल्बर राइट आज के प्रचलित नागरिक एव सैन्य उड्डयन के जनक माने जाते हैं। १९०३ मे ही इन बधुओ ने पहले पहल ऐसी यात्रा की थी जिसमे वायुयान इजनयुक्त और हवा से भारी था। हवाई उड्डयन मे अन्य कई देशो मे भी, विशेषत फ्रास मे, इस दिशा मे प्रयोग किए जा रहे थे। १९१० तक हवाई यातायात को अधिकाश देशो मे व्यावहारिक रीति से अपना लिया गया था। शीघ्र प्रथम विश्वयुद्ध सामने आया। इसने वैज्ञानिक एव प्राविधिक प्रयोगो को उन्नत होने की पर्याप्त प्रेरणा दी और युद्ध का अत होते होते यातायात के हवाई साधन भली भाँति दृढ हो चुके थे।

इसके बाद तीव्र प्रगति हुई। १९१९ के अत तक लदन और पेरिस के बीच वायुचर्याएँ चालू हो गई। यूरोप के कुछ अन्य बडे नगरो के साथ भी इस प्रकार का सपर्क स्थापित हुआ। रूस मे लेनिनग्राड और मास्को के बीच नियमित चर्याएँ चालू हुई। सयुक्त राज्य, अमरीका, की व्यावसायिक प्रगति कुछ मद थी, तथापि वायुचर्याएँ सिएटल (वाशिंगटन) और विक्टोरिया (ब्रिटिश कोलबिया) तथा की-वेस्ट (फ़्लोरिडा) और हैवैना (क्यूबा) मे सचालित की जाने लगी।

१९१९ से १९३९ तक की प्रगति द्रुत रही। विभिन्न देशो के बीच वायुमार्गो का जाल धीरे धीरे घना हुआ तथा फ्रेच, ब्रिटिश एव डचो ने अफ्रीका एव सुदूरपूर्व में स्थित अपने उपनिवेशो तक के लिये लबे वायुमार्ग स्थापित किए। जर्मनी ने दक्षिणी अमरीका में हवाई यातायात का सपर्क स्थापित किया तथा ब्रैज़ील, अर्जेटाइना तथा कुछ अन्य लातीनी अमरीकी देशो मे अपने वायुयानो का घना जाल फैलाया। १९२९ मे सयुक्त राज्य, अमरीका, ने मियामी से दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी किनारे, चिली, तक एक वायुमार्ग स्थापित किया। १९३१ मे जर्मनी एव ब्रैजील के बीच जर्मनी की एक ज़ेपलिन चर्या स्थापित हुई (गैस भरे और इजनयुक्त विशेष रूप के हवाई जहाज को जेपलिन कहते हैं)। १९३५ मे प्रशात महासागर के आर पार पानी मे भी तैर सकनेवाले वायुयान की चर्या तथा १९३६ मे अध महासागर (ऐटलैंटिक) पार जानेवाली जेपलिन की चर्या चालू की गई। १९३९ में उत्तरी एव दक्षिणी अध महासागर के आर पार जानेवाली नियमित उडानें होने लगी। व्यापारिक वायुमार्गो ने तब समूचे जगत् को चारो ओर से घेर लिया।

फिर द्वितीय महायुद्ध सामने आया। इसने भी प्राविधिक उन्नति को बढावा दिया और उड्डयन विषयक ज्ञान की बहुत वृद्धि हुई। अखिल विश्व के पैमाने पर सैनिक हवाई यातायात के कार्यो का होना उस समय की एक बहुत बडी अनिवार्यता थी। उड्डयन को अब बहुत अधिक बल मिला। १९४५ मे युद्ध समाप्त हुआ। उसके बाद के कुछ वर्षो मे व्यावसायिक हवाई यातायातो तथा तत्सबधी उपयोगी वस्तुओ म बहुत बडे परिवर्तन हुए और दुनिया मे वायुमार्गो का विराट् विस्तार देखने मे आया। परिवहन की क्षमता बढ गई, गति मे तीव्रता आई और यात्राओ का विस्तार लबा होने लगा। इजनचालित वायुयानो के बदले टरबाइन चालित, फिर जेट चालित वायुयान बने। अक्टूबर, १९५८ मे सयुक्त राज्य, अमरीका, से ब्रिटेन और फ्रास तक, अध महासागर को पार करके जानेवाली पहली जेट सर्विस का उद्घाटन हुआ। इस प्रकार व्यावसायिक उड्डयन ने अब जेट युग मे प्रवेश कर लिया है।

भारत में नागरिक उड्डयन—भारत मे वायुचर्याओ के चलाए जाने की चर्चा भारत सरकार द्वारा बहुत पहले, १९१७ में ही, प्रारभ की गई थी। प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होते ही, सितबर, १९१९ मे सरकार ने भारत भर मे डाक पहुँचाने का पूरा उत्तरदायित्व एक यातायात कपनी को सौंप देने का निश्चय किया, परतु कुछ कार्य न हो सका। एक साल

वाद हवाई अड्डे स्थापित करने और ववई-कलकत्ता तथा कलकत्ता-रगून की चर्याओ के लिये सुविधाएँ देने की ओर सरकार की प्रवृत्ति हुई। एक भारतीय वायुमडली (एयर वोर्ड) स्थापित हुई। सब कुछ होने पर भी सरकार ने नीतिनिर्धारण करने के अतिरिक्त और कुछ न किया।

वाद के कुछ वर्षों में ब्रिटेन, फ्रास और हालैंड ने भारत के बाहर सुदूर-पूर्वी उपनिवेशो मे हवाई चर्याएँ स्थापित की। इन प्रगतियो ने भारत सरकार को भी सोचने को वाध्य किया और भारत मे सहायक चर्याएँ चलाने की आवश्यकता का उसने अनुभव किया। परिणामत भारतीय व्यापारियो से वातचीत आरभ की गई। इन वार्ताओ के फलस्वरूप टाटा एयरलाइन और इडियन नैशनल एयरवेज़ की चर्याओ का विकास हुआ। इन कपनियो ने डाक ढोने के लिये एक इजनवाले हल्के वायुयानो द्वारा कार्यसचालन आरभ किया। भारत सरकार द्वारा १९३८ में वनाई गई राजकीय हवाई डाक योजना से इस उद्योग में विस्तार को बढावा मिला। वडे वायुयानो का उपयोग होने लगा और नई नई चर्याएँ खुली।

तव द्वितीय विश्वयुद्ध आया। इडियन एयरलाइन का उपयोग सामरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये किया जाने लगा। राजकीय वायुसेना के यातायात समादेश (कमैंड) के वायुमार्गों के अतर्गत वहुत से मार्गों पर इन सेवाओ का उपयोग उधार मिले (लीज़-लेंड) वायुयानो, विशेषत डकोटा विमानो, द्वारा किया गया। पूर्वोक्त एयरलाइनो को वायुसेना के विमानो का सचालन, उनको ठीक रखने एव निर्वहन का कार्य सौंपा गया। इससे उन्हे एकदम आधुनिक ढग के वायुयानो को उपयोग मे लाने का सुअवसर प्राप्त हुआ और वहुत से लोगो ने इन कार्यो मे प्रशिक्षित होकर निपुणता प्राप्त कर ली।

अगस्त, १९४५ में युद्ध समाप्त होने पर एयरलाइनो पर से सरकारी नियत्रण हट गया और वे पुन व्यावसायिक स्तर पर आ गई। युद्धोत्तर वर्षो मे भारतीय नागरिक उड्डयन के क्षेत्र में सबसे मुख्य वात दिखाई दी—भारतीय यात्रियो मे हवाई यात्रा की चेतना का समुन्नत विकास। हवाई उद्योग मे तीव्रता आ गई जिससे देश के प्रमुख उद्योगपति पर्याप्त सख्या में वायु यातायात के उद्योग की ओर अग्रसर हुए। १९४७ की जनवरी तक वायु यातायात की अनुज्ञप्ति मडली (लाइसेंसिग वोर्ड) को विभिन्न उपयोगी वायुमार्गो के लिये १२२ आवेदनपत्र प्राप्त हुए। अत मे वोर्ड ने एयर इडिया (जिसने टाटा एयरलाइस का स्थान लिया), इडियन नैशनल एयरवेज तथा एयर सर्विसेज़ ऑव इडिया आदि पुरानी चालू कपनियो के अतिरिक्त निम्नलिखित ११ नई कपनियो को अस्थायी अनुमतिपत्र प्रदान किए डेकन एयरवेज़, डालमिया जैन एयरवेज़, भारत एयरवेज, एयरवेज (इडिया), ओरिएट एयरवेज़, मिस्त्री एयरवेज़, अविका एयर लाइस और जुपिटर एयरवेज।

इस प्रकार बहुत से सचालको को अनुमतिपत्र दे देने से, वह भी ऐसी दशा में जब कि अनेक मार्गो मे व्यापार की सभावनाएँ वहुत सीमित थी, एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिससे अवाछनीय प्रतिद्वद्विता आरभ हो गई जो अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा असगत और अहितकर थी। इसने इस उद्योग के लिये वडी गभीर कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी। कुछ कपनियो का दिवाला निकल गया। शेष ने सरकार पर इस वात के लिये जोर दिया कि वह उड्डयन को अनुप्राणित रखने के लिये वित्तीय सहायता कुछ छूट के रूप मे दे। अब यह स्पष्ट हो गया कि इस उद्योग को ऐसी आर्थिक सहायता की आवश्यकता है जिससे उसका विस्तार होता रहे। यह भी स्पष्ट हो गया कि अव इस उद्योग के पास खुले वाजार में धन उगाहने की क्षमता नही रह गई। इन सभी वातो को दृष्टि में रखकर सरकार ने एक समिति नियुक्त की जो इस निष्कर्ष पर पहुँची कि सभी हवाई कपनियाँ राज्य द्वारा अधिकृत एक विशाल निगम (कॉरपोरेशन) मे अतर्भुक्त कर ली जायँ। मई, १९५३ मे ससद ने एयर कॉरपोरेशन सवधी एक अधिनियम पारित किया तथा अगस्त, १९५३ मे इडियन एयरलाइस कॉरपोरेशन स्थापित हो गया।

पहले साल तो कॉरपोरेशन को व्यवस्था एव सचालन सवधी अनेक समस्याओ का सामना करना पडा। वायुमार्गो का पहलेवाला ढर्रा अब ठीक नही जान पडता था। अत उसके पुनरीक्षण की आवश्यकता हुई। यात्रिक पक्ष मे भी अनेक उलझनें उत्पन्न हुई और इस वात की आवश्यकता हुई कि नए सक्षम कारखाने स्थापित किए जायँ। उधर व्यापारिक पक्ष में पर्याप्त सख्या मे नए टिकटघर स्थापित करने तथा पुराने भवनो को नया करने की आवश्यकता थी। वुकिंग एजेंटो के पूरे ढाँचे को वहुत कुछ वदलना पडा और विदेशी कपनियो और सरकारो से नवीन अतर्देशीय समझौते करने पडे।

इन सभी समस्याओ का सफलतापूर्वक सामना किया गया और प्रगति के पथ पर पहला पग आगे बढा। १९५३-५४ मे इडियन एयरलाइस कॉरपोरेशन ने तीन लाख यात्रियो और ३८,००० टन माल का परिवहन किया जिससे तीन करोड से अधिक की आय हुई। दूसरे वर्ष इसे दृढ वनाने के लिये राष्ट्रीयकरण की योजनाएँ जोर पकडने लगी। अलग अलग वायुमार्गो की व्यवस्था के स्थान पर समूचे ढाँचे की सघटित नियत्रणशैली अपनाई गई। केंद्र मे दृढ सचालन सस्था की स्थापना हुई। पूरा सचालन-क्षेत्र तीन भागो में बाँटा गया और दिल्ली, ववई तथा कलकत्ता इसके नए केंद्र हुए। कॉरपोरेशन के तृतीय वर्ष में प्रवेश करने के साथ ही सगठन एव हिसाव किताव के सचालन की कार्यपद्धतियाँ भी एक निश्चित रूप में सुस्थिर की गई। जहाजी वेडो मे भी आठ हेरोन नामक और तीन स्काईमास्टर नामक वायुयानो को रखकर उन्हे समृद्ध वनाया गया। वाइकाउट वायुयानो के प्रयोग की योजना ने भी मूर्त रूप धारण किया। स्काईमास्टर की रात्रिचर्या भी स्थापित हुई। इडियन एअर कॉ० ने आसाम के वाढग्रस्त क्षेत्रो के लिये सामान पहुँचाने के कार्य में महत्वपूर्ण भाग लिया। १९५६-५७ में व्यापार समृद्धतर हुआ और वायुयानो की सख्या वढाने की आवश्यकता हुई। अत पाँच वाइकाउटो के लिये एक साथ आर्डर भेजा गया। लवे वायुमार्गो में इनका उपयोग करने का निश्चय था। इजीनियरो एव सचालन के विविध अग के लोगो को प्रशिक्षित करने की एक सर्वागपूर्ण योजना उपस्थित की गई। पर्याप्त चालको एव इजीनियरो को प्रशिक्षण के निमित्त ब्रिटेन भेजे जाने के लिये चुना गया। १० अक्टूवर को दिल्ली-कलकत्ता मार्ग पर वाइकाउट की पहली उडान हुई। इसके वाद ही सभी लवे मार्गो पर वाइकाउट विमान चालू किए गए।

१९५७-५८ में इ० ए० कॉ० ने और भी प्रगति की तथा राष्ट्रहित मे अधिक भाग लिया। महामारी एव दैवी विपत्तियो से ग्रस्त क्षेत्रो के लिये ओषधियाँ आदि ढोने के अतिरिक्त काश्मीर जानेवाले मालो को भी ढोने का काम इसने किया। सवसे वढकर इ० ए० कॉ० ने 'नेफा' (उत्तर-पूर्वी सीमा क्षेत्र) प्रदेश में सहायतार्थ सामान गिराने का काम किया। इसी वर्ष दिल्ली मे वाइकाउटो के लिये छाजन (डॉक) वनकर पूरा हो चुका था। सगठन मे भी काफी सुधार हुआ।

इडियन एयरलाइस कॉरपोरेशन की पाँच वर्षो की क्रमिक प्रगति का विवरण निम्नाकित सारणी से स्पष्ट हो जायगा

वर्ष	यात्री	कुल व्यय (लाखो मे)	कुल आय (लाखो में)
१९५३-५४	२,८७,१२२	५१३ ७९	४३४ ३१
१९५४-५५	५,७७,५८३	७८२ ६२	६६२ ४७
१९५५-५६	५,००,३६३	९२८ ००	८०८ ६०
१९५६-५७	५,७१,१०६	९७० १४	८६१ ३५
१९५७-५८	५,६९,५७३	१०२९ १४	९२६ ०७

अतर्राष्ट्रीय समझौते—युद्धकालीन हवाई यातायात के विराट् विस्तार एव विस्तार की तात्कालिक सभावनाओ तथा दूरदर्शिता ने यह आवश्यक वना दिया कि आकाश के उपयोग एव उड्डयन सवधी नियमो को सुस्थिर करने के लिये अतर्राष्ट्रीय समझौता किया जाय। इस उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर नववर, १९४४ मे ५४ देशो के प्रतिनिधि शिकागो (अमरीका) मे एकत्रित हुए। इसके परिणामस्वरूप चार समझौतो पर हस्ताक्षर किए गए जिनका विवरण नीचे दिया जाता है

१ अतर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन की शर्तें ४ अप्रैल, १९४७ से लागू हुई। इनके अतर्गत निम्नलिखित वातो का समावेश था (क) उड्डयन-कला के विधिवत् सचालन मे सुविधा एव सहयोग प्रदान करना तथा इसके प्राविधिक नियमो एव कार्यविधि मे अधिक से अधिक सामजस्य स्थापित करने

उड्डयन, नागरिक (देखें पृष्ठ ५३)

उड्डयन, नागरिक (देखे पृष्ठ ५३)

(इंडिया एयर लाइन्स के सौजन्य से प्राप्त)
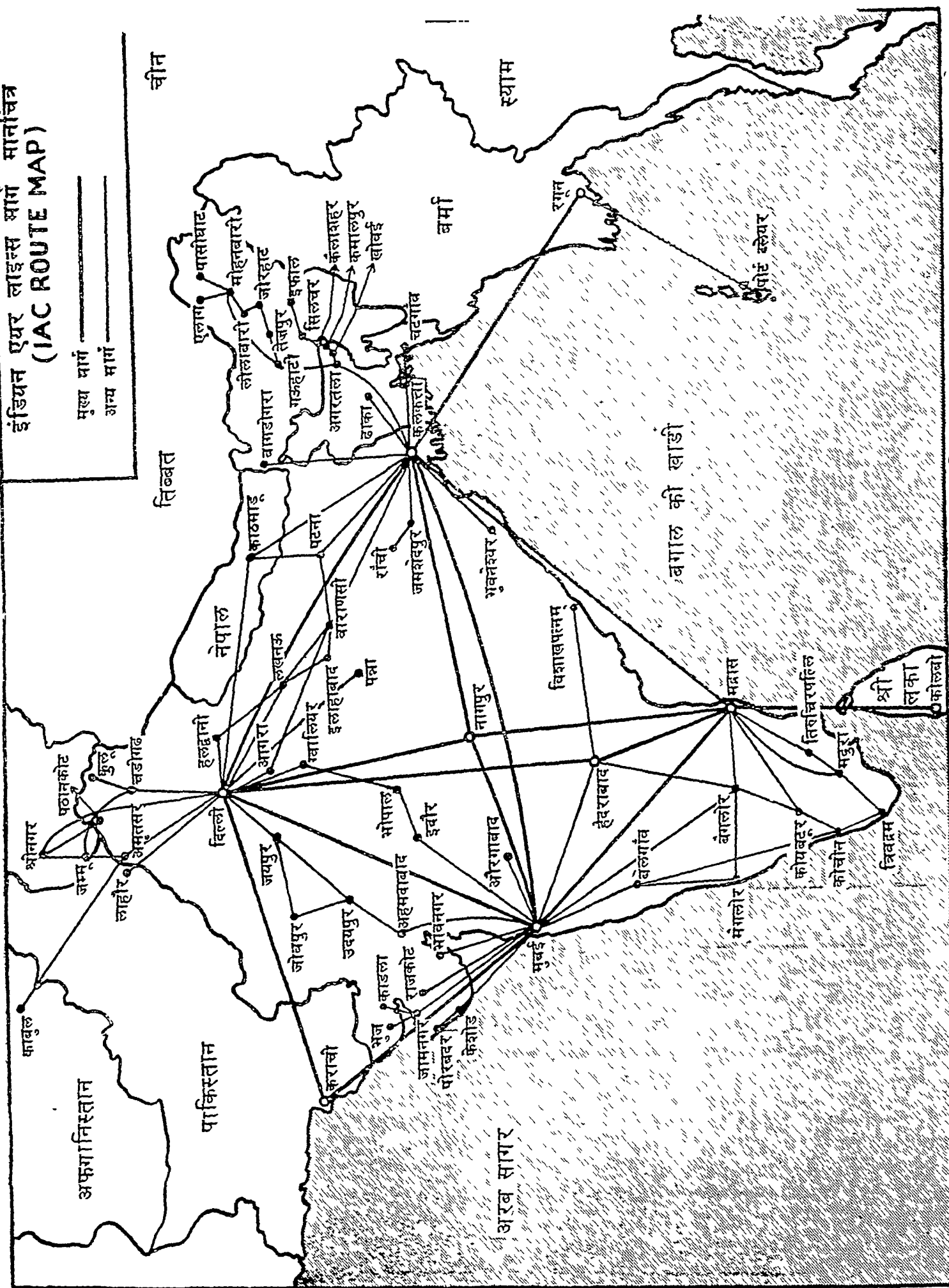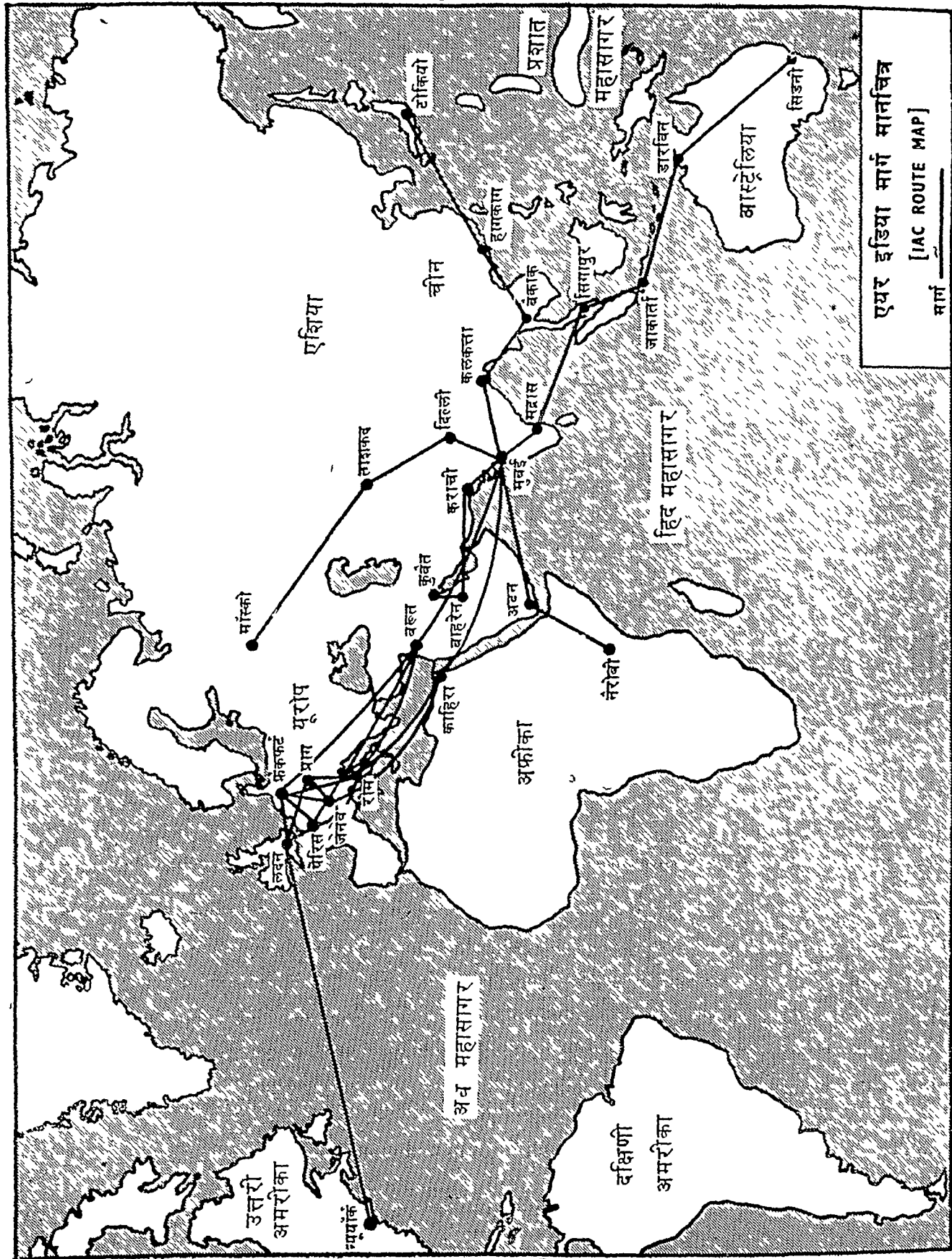
के लिये प्रयत्नशील होना, (ख) नागरिक उड्डयन के सभी पहलुओ में समता लाने के लिये एक स्थायी सघटन, अतर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सघ (आई० सी० ए० ओ०) की स्थापना करना, (ग) आई० सी० ए० ओ० के अतर्गत कुछ समितियाँ स्थापित हुईं जो नागरिक उड्डयन की विविध शाखाओ का काम देखती थी। ये समितियाँ थी एयर नैविगेशन कमीशन, एयर ट्रैंसपोर्ट कमिटी और लीगल कमिटी।

आई० सी० ए० ओ० का सचिवालय और स्थायी हेडक्वार्टर मॉण्ट्रियल (कैनाडा) मे स्थापित हुआ।

२ अतर्राष्ट्रीय हवाई यातायात समझौते के आधार पर अनुसूचित अतर्राष्ट्रीय वायुसेनाओ के लिये 'पाँच' स्वतत्रताओ का बहुमुखी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ (क) देशो से होकर गुजरने की स्वतत्रता, (ख) आकस्मिक आवश्यकतावश रुक सकने की स्वतत्रता, (ग) अपने देश से यात्रियो या सामान को किसी सदस्य राष्ट्र मे ले जाने की स्वतत्रता, (घ) किसी सदस्य देश से यात्रियो और सामान को स्वदेश लाने की स्वतत्रता, (ङ) किसी एक सदस्य देश से अन्य सदस्य देशो को यात्री अथवा माल ले जाने अथवा उतारने की स्वतत्रता।

वायुयानो के अन्य व्यापारिक उपयोग—बहुत से कार्य ऐसे है जो वायुयानो द्वारा अन्य साधनो की अपेक्षा बहुत शीघ्र एव कम व्यय मे सपन्न हो सकते है। कैनाडा मे वायुयान का उपयोग बहुत पहले ही हुआ था और वहाँ सर्वक्षण (सरवे) के कार्य एव दावाग्नि से सुरक्षा के लिये इसका उपयोग बहुत दिनो से हो रहा है। अमरीका मे भी कृषि के सबध में हानिकारक कीडो को मारने के लिये चूर्ण छिडकने का कार्य वायुयान द्वारा आरभ से ही हो रहा है। रूस तथा अर्जेटाइना मे वायुयानो का उपयोग टिड्डियो के सहार कार्य मे होता रहा है। अन्वेषको ने कच्ची धातु का पता चुबकत्वमापी यत्रो को साथ लेकर वायुयानो से लगाया है। विदेशो मे किसान और फार्मवाले वायुयान को खेती का साधारण उपकरण समझते है। तेल के रक्षक वायुयान पर चढकर पाइप लाइनो की देखरेख किया करते है। बिजली की कपनियाँ भी उच्चशक्तिवाली लाइनो का निरीक्षण इसी प्रकार करती है।

अमरीका और रूस मे लाखो एकड भूमि पर वायुयानो द्वारा रासायनिक चूर्ण छिडककर जगली घास पात से उसकी रक्षा की जाती है। इन देशो में धान बोने और खेतो मे रासायनिक खाद डालने का काम भी वायुयानो से लिया जाता है।

भारत मे भी वायुयानो का उपयोग बहुत लाभप्रद कार्यो मे किया गया है, उदाहरणत बाढपीडितो की सहायता, ऐसे दुर्गम क्षेत्रो मे, जहाँ वायुमार्ग से ही जाया जा सकता हो, आवश्यक माल पहुँचाना, विपत्तिग्रस्त लोगो का उद्धार आदि कार्य है। अभी हाल मे तैल क्षेत्रो का पता लगाने के लिय भी वायुयान का उपयोग किया गया है। आस्ट्रेलिया मे इसका उपयोग रोगी तक डाक्टरो को तुरत पहुँचाने के लिये किया गया है, जो इस बहुमुखी कार्यवाले यत्र का एक नवीन पक्ष है।

ससार के प्रमुख देशो की अतर्राष्ट्रीय वायुचर्या के सन् १९५७ के आँकडे निम्नाकित है

महत्वपूर्ण अतर्राष्ट्रीय वायुचर्याएँ (१९५७ में)

एयर लाइन	देश	यात्री सख्या × मील	कर्मचारी
१—पैन अमेरिकन	सयुक्त राज्य	३,८७,६०,००,०००	२४,९४४
२—बी० ओ० ए० सी०	ब्रिटेन	१,३२,०४,३४,५६५	१९,४०७
३—के० एल० एम०	हालैंड	१,२१,८२,७८,१३३	१७,१२६
४—एयर फ्रास	फ्रास	१,१२,५०,७१,१४८	१९,४४६
५—एस० ए० एस०	स्कैंडिनेविया	९२,७३,६५,७०४	१०,९६३
६—टी० डब्ल्यू० ए०	सयुक्त राज्य	६९,९९,४५,०००	१९,८५१
७—ब्रिटिश यूरोपियन एयरवेज़	ब्रिटेन	६५,४३,०७,३६८	११,००९
८—स्विस एयर	स्विट्ज़रलैंड	५३,०८,३६,२९७	४,७१३
९—क्वाण्टाज़	आस्ट्रेलिया	३६,४९,७४,३७०	६,२६६
१०—सैबीना	बेलजियम	३०,१९,७५,३७७	८,४८३
११—लुफ्ट हासा	प० जर्मनी	२८,४०,४५,२३७	४,९४०
१२—एयर इडिया इटरनैशनल	भारत	२३,५०,८७,९२९	४,२३९
१३—ट्रास कैनाडा	कैनाडा	२३,०७,७७,५९७	९,७२६
१४—अलिटालिया	इटली	२१,२४,१३,८८७	३,०५५
१५—कैनेडियन पैसिफिक	कैनाडा	२०,७६,७४,८५४	२,२४०
१६—पैनाग्रा	सयुक्त राज्य	१६,८६,४१,०००	१,३४७
१७—जापान	जापान	१४,५६,६१,९५४	१,९०३
१८—आइबेरिया	स्पेन	१३,३४,७०,२५०	२,८३६
१९—नार्थ वेस्ट	सयुक्त राज्य	१२,७४,७६,५३९	५,९२५
२०—साउथ ऐफ्रिकन	दक्षिणी अफ्रीका	१२,६१,३४,१३७	२,२६५

स०ग्र०—एडवर्ड पी० वार्नर अर्ली हिस्ट्री ऑव एयर ट्रासपोर्टेशन, (१९३७), एम० आर० देखनी एयर ट्रासपोर्ट इन इडिया (१९५३), आइ० सी० ए० ओ० तथा ब्रिटिश मत्रालय एव अमरीकी राजकीय विभाग द्वारा प्रकाशित नागरिक उड्डयन के बुलेटिन। [दि० रा० से०]

उतथ्य जन्म आगिरस कुल मे। उनकी भार्या भद्रा बडी रूपवती थी जिसे वरुण ने छिपा लिया था। जब नारद की मध्यस्थता से भी वरुण ने भद्रा को लौटाना स्वीकार नही किया, तब उतथ्य ने सरस्वती को सूख जाने और ब्रह्मर्षि देश को अपवित्र हो जाने का अभिशाप दे दिया। इसपर वरुण ने भद्रा को लौटा दिया। [च० म०]

उत्कीर्णन लकडी, हाथीदाँत, पत्थर आदि को गढ छीलकर अलकृत करने या मूर्ति बनाने को उत्कीर्णन या नक्काशी करना (अग्रेजी मे कार्विंग) कहते है। पत्थर के उत्कीर्णन का वर्णन अन्यत्र दिया है (देखे **मूर्तिकला और स्थापत्य**)। यहाँ काष्ठ उत्कीर्णन पर प्राविधिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। उत्कीर्णन के लिये लकडी को सावधानी से सूखने देना चाहिए। एक रीति यह है कि नई लकडी को बहते पानी मे डाल दिया जाय, जिसमे उसका सब रस बह जाय और तब उसे सूखने के लिये छोड दिया जाय। साधारणत लकडी का हवादार जगह मे छोड देना काफी होता है। शीशम, बाँफ (ओक) और देवदार पर उत्कीर्णन अच्छा होता है, अखरोट, चदन आदि घने रेशेवाली लकडियो पर सूक्ष्म उत्कीर्णन किया जा सकता है। मोटा काम प्राय सभी लकडियो पर हो सकता है। उत्कीर्णन के लिये छोटी बडी अनेक प्रकार की चपटी और गोल रुखानियो तथा छुरियो का प्रयोग किया जाता है। काम को पकडने के लिये बाँक (वाइस) भी हो तो सुविधा होती है। काठ की एक मुँगरी (हथौडा) भी चाहिए। कोने अँतरे मे लकडी को
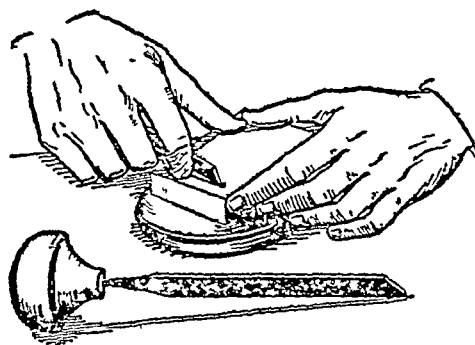
सूक्ष्म उत्कीर्णन करने का ढग

चिकना करने के लिये टेढी रेती भी चाहिए। बारीक काम मे रुखानी को ठोका नही जाता। केवल एक हाथ की गदोरी से दबाया जाता है और दूसरे हाथ की अँगुलियो से उसके अग्र को नियत्रित किया जाता है। उत्कीर्णन का काम सरल है। अभ्यास से कोई भी व्यक्ति साधारण उत्कीर्णन सीख सकता है। नवसिखुए के लिये दस बारह औजार पर्याप्त होगे। उत्कीर्णन के लिये बने यत्रो को बढिया इस्पात का होना चाहिए

और उन्हें छुरा तेज करने की सिल्ली पर तेज करके अंतिम धार चमडे की चमोटी पर रगडकर चढानी चाहिए। अतीदण यत्रो से काम स्वच्छ नही बनता और लकडी के फटने या टूटने का डर रहता है। गोल रुखानियो को नतोदर पृष्ठ की ओर से तेज करने के लिये बेलनाकार सिल्लियाँ मिलती हैं या मामूली सिल्लियाँ भी घिसकर वैसी बनाई जा सकती हैं।

यो तो थोडा बहुत उत्कीर्णन सभी जगह होता है, परतु काश्मीर की बनी अखरोट की लकडी की उत्कीर्ण वस्तुएँ बडी सुदर होती है। चीन और जापान के मदिरो में काष्ठोत्कीर्णन के आश्चर्यजनक सूक्ष्म और सुदर उदाहरण मिलते हैं।

स०ग्र०—पी० एन० हैसलक वुड कार्विंग (१९०८), ऐल्फ्रेड मैस्केल वुड स्कल्पचर (१९११), इलीनर रो प्रैक्टिकल वुड कार्विंग (१९३०)।

उत्खनन

इमारती पत्थरो को खोदकर निकालने की क्रिया को उत्खनन कहते हैं। उस स्थान को जहाँ से पत्थर निकाले जाते हैं पाषाण खान कहते हैं। पाषाण खान (क्वैरी) साधारणतया खुले स्थान में ही बनाई जाती है।

इमारती पत्थरो में ग्रैनाइट, बैसाल्ट, बालू के पत्थर, चूने के पत्थर, स्लेट और सगमरमर मुख्य हैं। ग्रैनाइट शब्द के अतर्गत साधारणतया हलके रग की सभी आग्नेय शिलाएँ मानी जाती हैं। इन शिलाओ की रचना क्वार्ट्ज, फेल्स्पार, अभ्रक और हॉर्न ब्लेंड नामक खनिजो से होती है। बैसाल्ट प्राय काले रग की शिलाएँ होती हैं। ये ट्रैप भी कहलाती हैं। इनमें फेल्सपार और पाइरॉक्सीन खनिजो की प्रचुर मात्रा होती है। इन शिलाओ में कई प्रकार के भग होते हैं, जिनसे इन्हें खोदने में सुविधा होती है। ये सामान्यत कडी होती हैं। ग्रैनाइट शब्द के अतर्गत ही नाइस नामक कायातरित शिलाओ को भी गिन लिया जाता है। अभ्रकादि खनिज के समातर तलो में व्यवस्थित होने से इनमें अनेक दुर्बल धरातल बन जाते है, जिनके कारण इन्हें खोदने में सुकरता हो जाती है। भगो की उपस्थिति में इसे और भी सरलता से खोदा जा सकता है। बालुकाश्म (सैंडस्टोन) एव चने का पत्थर (लाइम स्टोन) जलज शिलाएँ हैं। अत इनमे स्वाभाविक रूप मे स्तर होते है। स्तरो की उपस्थिति के कारण इनका खोदना और इन्हें सिल्लियो का रूप देना अत्यत सरल हो जाता है। कायातरण के प्रभाव से चूने के पत्थर सगमरमर की शिलाओ में परिवर्तित हो जाते हैं, परतु उनकी स्तररचना नष्ट हो जाती है। सगमरमर की शिलाओ को तोडने के लिये भगो का सहारा लेना पडता है। स्लेट भी कायातरित शिला है। इसमें समातर तडकन होती है, अत इसकी अत्यत पतली परतें निकाली जा सकती हैं।

किसी भी पत्थर को खोद निकालने के पूर्व उसकी कठोरता, शक्ति, खनिज रचना, रध्रता और चिकना करने पर प्राप्त चमक और सुदरता की परीक्षा की जाती है। खोदने के स्थान पर पत्थरो में अत्यधिक भग, दरार अथवा ऐसे अन्य दुर्बल धरातल नही होने चाहिए जिनसे पुष्ट और बडी सिल्लियाँ न मिल सकें, परतु यदि ऐसे धरातल हो ही नही तो भी कठिनाई पडेगी। तब खोदे हुए पत्थरो को चारो ओर से घिसने का व्यय बढ जायगा। पत्थरो में अत्यधिक तथा अनियमित अपक्षय (वायु और जल से कटान) भी नही होना चाहिए।

पत्थरो की कठोरता, दुर्बल धरातलो की उपस्थिति, सिल्लियो की माप और खदान की विस्तृति पर खोदने की क्रिया का निर्णय किया जाता है। छोटी पाषाण खान में प्राय सभी कार्य हाथ से किया जाता है। विस्फोट क्रिया द्वारा चट्टानें तोडी जाती हैं। भगो की अनुपस्थिति में निश्चित दूरी पर खडे छिद्र बनाए जाते हैं और उनमे विस्फोट किया जाता है। जलज शिलाओ म स्तरो के समातर क्षतिज छिद्र बनाकर विस्फोट किया जाता है। साधारणत खदान सीढीनुमा बनाई जाती है। बहुत बडी पाषाण खानो में अधिकाधिक कार्य मशीनो से लिया जाता है।

भारतवर्ष में इमारती पत्थरो के उत्खनन का कार्य बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। दक्षिण भारत के ग्रैनाइट आदि पत्थरो से बने प्रागैतिहासिक काल के मदिर अभी तक विद्यमान हैं। आध्र तथा मैसूर राज्यो में इस प्रकार के पत्थरो की खदानें आजकल भी हैं। इनसे पत्थर निकालकर विदेशो को भेजे जाते हैं। महाराष्ट्र और आसपास के क्षेत्रो में बैसाल्ट अथवा ट्रैप नामक लावा की शिलाओ का प्रयोग इमारती पत्थरो के रूप मे किया जाता है। अजता तथा एलोरा की गुफाएँ इन्ही पत्थरो मे खोदी गई हैं। विंध्य श्रेणी के बलुआ पत्थर दीर्घ काल से हमारी मूल्यवान् निधि रहे हैं। गगा और यमुना के किनारे खडे विशाल घाट तथा मदिर ही नही वरन् अनेक प्राचीन अशोकस्तभ भी इन्ही से निर्मित हुए हैं। इन पत्थरो की मुख्य खदाने कैमूर, चुनार, भरतपुर, फतेहपुर सीकरी आदि स्थानो में स्थित हैं। समस्त उत्तर भारत में अशोककाल से लेकर आज तक इमारती पत्थरो में विंध्य श्रेणी के बलुआ पत्थरो का योगदान सबसे अधिक रहा है। गोडवाना युग के बलुआ पत्थर बिहार, उडीसा एव मध्यप्रदेश में तथा महासरट (जूरैसिक) युग के पत्थर कच्छ मे निकाले जाते हैं। कायातरित बलुआ पत्थरो की शिलाएँ अलवर तथा अजमेर मे खोदी जाती हैं। सौराष्ट्र में कई स्थानो पर पाषाण खाने हैं, इनमे 'पोरबदर पत्थर' की खान सबसे मुख्य है। बीजापुर, वारगल, बूँदी, उदयपुर, मध्यप्रदेश, आध्र तथा मद्रास राज्यो में भी इस प्रकार के पत्थर निकाले जाते हैं। स्लेट की खदानें कुमायूँ, गढवाल, मडी, चबा, काँगडा आदि पर्वतीय प्रदेशो में बहुलता से मिलती हैं। आध्र के करनूल जिले में भी स्लेट शिलाएँ अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं। रेवारी तथा गुडगाँव में भी स्लेट मिलती है। सगमरमर शिलाओ के लिये जोधपुर के निकट मकराना की पाषाण खानें दीर्घकाल से प्रसिद्ध हैं। आगरे का ताजमहल एव कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल मकराना सगमरमर का ही बना है। राजस्थान में अलवर, जयपुर, नाथद्वारा, राजनगर, रामालो आदि सगमरमर के अन्य प्रसिद्ध क्षेत्र हैं। दक्षिण भारत में चीतलदुर्ग, मैसूर, सेलम और मदुराई जिले तथा मध्यप्रदेश में जबलपुर, छिंदवाडा और महाराष्ट्र में नागपुर और सिवनी जिले सुदर सगमरमर के लिये प्रसिद्ध हैं। असाधारण रग के सगमरमर पत्थरो के लिये गुजरात मे हरिकुबा, रेवाकाठा और साडारा तथा आध्र मे कुर्नूल, कृष्णा और गुटुर जिले प्रसिद्ध हैं।

[वि० का० दा०]

उत्तमौजा

उत्तर वैदिक परपरा में जहाँ सृजय पाचालो के साथ सबद्ध दिखलाए गए है, महाभारत में उत्तमौजा को पाचाल तथा सृजय दोनो ही कहा गया है। महाभारत के पात्रो में उत्तमौजा एक पराक्रमी राजा था जिसे 'युद्धविशारद' और 'वीर्यवान्' कहा गया है और जिसने पाडवो की ओर से युद्ध किया था। [च० म०]

उत्तर पुराण

महापुराण का उत्तरार्ध। यह जिनसेन के पट्टशिष्य गुणभद्राचार्य की प्रौढ रचना है। इसमें लगभग साढे नौ हजार श्लोक हैं जिनमें तेईस तीर्थंकरो तथा अन्य शलाकापुरुषो के चरित्र काव्यरीति मे वर्णित है। स्पष्ट है कि यह आदिपुराण की अपेक्षा विस्तार मे नि सदेह बहुत ही न्यून है, परतु कला की दृष्टि से यह पुराण आदिपुराण का एक उपयुक्त पूरक माना जा सकता है। उत्तरपुराण की समाप्तितिथि का पूरा परिचय नही मिलता, परतु इसकी समाप्ति शक स० ८२० (८९८ ई०) से पहले अवश्य हो गई होगी, क्योकि गुणभद्र के शिष्य लोकसेन के कथनानुसार उक्त सवत् में इस ग्रथ का पूजामहोत्सव निष्पन्न किया गया था। विद्वानो का अनुमान है कि महापुराण का यह पूजामहोत्सव लोकसेन ने अपने गुरु के स्वर्गवासी होने पर किया होगा। गुणभद्र बडे ही विनीत तथा गुरुभक्त थे। काव्यकला में वे अपने पूज्य गुरुदेव के सुयोग्य शिष्य थे। उत्तरपुराण की कथाओ में जीवधर की कथा बडी प्रसिद्ध है जिसका वर्णन अनेक कवियो ने सस्कृत और तमिल में काव्यरूप से किया है। [ब० उ०]

उत्तर प्रदेश

गणतत्र भारत का एक राज्य है, जो २३° ५२' उ० से ३१° १८' उ० अक्षाशो और ७७° ३' पू० से ८४° ३९' पूर्व देशातर रेखाओ के मध्य उत्तरी खड में स्थित है। इसके उत्तर में नेपाल और तिब्बत दक्षिण में मध्य प्रदेश, पूर्व में बिहार और पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में क्रमश हिमाचल प्रदेश, पजाब, दिल्ली और राजस्थान हैं। इसका कुल क्षेत्रफल १,१३,४०९ वर्ग मील (भारत के राज्यो में बबई, मध्य

डी-सी, या डैकोटा

डी-सी, या स्काइमास्टर

वाइकाउंट

एफ-२७ या फ्रेंडशिप
(इंडियन एयर लाइन्स के सौजन्य से प्राप्त)
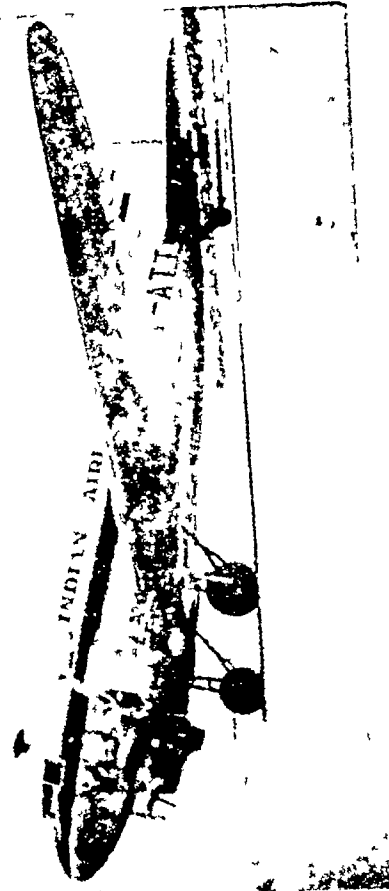
इंडियन एयर लाइन्स के वायुयान डैकोटा प्रदायक (feeder) मार्गों पर चलता है, वाइकाउंट मुख्य मार्गों पर चलता है।
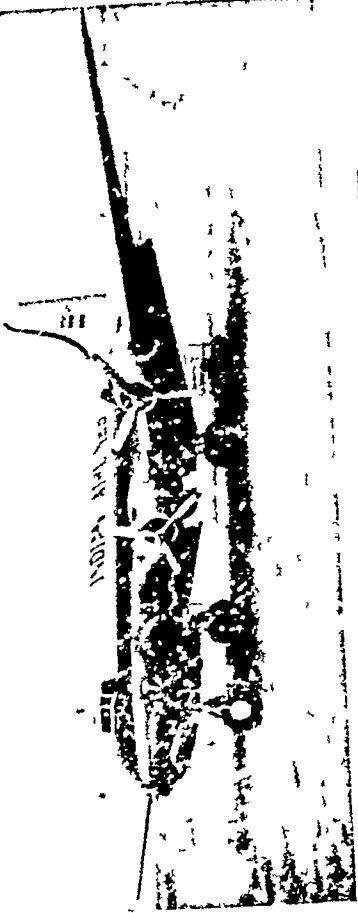
स्काइमास्टर से रात्रि की वायु डाक सेवा का कार्य लिया जाता है, फ्रेंडशिप प्रदायक मार्गों पर डैकोटा विमानों का स्थान अब ले रहा है।

उत्खनन तथा उत्तर प्रदेश (देखे पृष्ठ ५६)

बुलंद दरवाजा, फतेहपुर सिकरी, जिला आगरा, उत्तर प्रदेश

उत्खनन

ऊपर वाईं ओर मैंगेनीज की खान, ऊपर दाईं ओर मार्बल राक्स, जबलपुर—चट्टान की दरारें भली प्रकार विकसित हैं, जिनसे उत्खनन सरल हो जाता है, नीचे वाईं ओर कोयले का उत्खनन, नीचे दाहिनी ओर अग्नि मृत्तिका के निक्षेप का उत्खनन। इस चित्र मे एक विभग (fault) भी दिखाई पड रहा है।

प्रदेश और राजस्थान के वाद चतुर्थ स्थान) और जनसख्या ७,३६,५०,००० (१९६१) (भारत के राज्यो में प्रथम स्थान) है। वर्तमान उत्तर प्रदेश अपनी पूर्ववत् क्षेत्रीय सीमा के अतर्गत स्थित आगरा और अवध के सयुक्त प्रात, रामपुर, टिहरी-गढवाल और बनारस की देशी रियासतो तथा अन्य राज्यो के छोटे छोटे टुकडो का समिलन होने से वना है। इस प्रकार पहले के सयुक्त प्रात मे कुल ६,२७६ वर्ग मील क्षेत्र और १३,२५,००० आवादी समिलित हो गई है। राज्य-पुनर्गठन-अधिनियम के अतर्गत उत्तर प्रदेश मे कोई क्षेत्रीय परिवर्तन नही हुआ। इस राज्य का नाम २६ जनवरी, १९५० ई० (गणतत्र दिवस) से 'सयुक्त प्रात' से वदलकर 'उत्तर प्रदेश' कर दिया गया। राज्य की राजभाषा हिंदी है। [वर्तमान लेख में, जहाँ कहीं वर्ष स्पष्ट रूप से नही वताया गया है, वहाँ आँकडे सन् १९५१ के अनुसार दिये गये हैं।]

प्राकृतिक दशा—भौगोलिक दृष्टि से इस प्रदेश को तीन वडे प्राकृतिक भागो में विभाजित किया जा सकता है

१ उत्तर का हिमालय पर्वतीय प्रदेश—एक दीवार की भाँति उत्तरी सीमा पर पूर्व-पश्चिम फैला हुआ है। इसमे निम्नलिखित भाग समिलित हैं . (क) सवसे उत्तर मे वृहत् हिमालय की श्रेणियाँ हैं जिनकी औसत ऊँचाई २०,००० फुट से अधिक है और जिनमें गगनचुवी शिखर नदादेवी, धौलागिरि आदि स्थित हैं। (ख) वृहत् हिमालय के दक्षिण में मध्य हिमालय की श्रेणियाँ हैं जो औसत में १२,००० फुट ऊँची हैं। (ग) उनके दक्षिण में वाह्य हिमालय (अथवा सिवालिक) की श्रेणियाँ हैं, जिनकी औसत ऊँचाई ५,००० फुट तक है, इनकी ऊँची श्रेणियो पर नैनीताल, मसूरी, अल्मोडा, रानीखेत आदि शैलावास (हिल स्टेशन) हैं। इन वाह्य हिमालय की श्रेणियो के वीच मे लवी 'दून' घाटियाँ स्थित हैं जो अपनी स्वास्थ्यप्रदता और उपजाऊपन के लिये ससारप्रसिद्ध है। इन दून घाटियो को 'उत्तर प्रदेश का उद्यान' भी कहा जाता है। इन घाटियो के दक्षिण मे फैली हुई पादश्रेणियाँ सिवालिक के ही अग हैं। इनके ठीक नीचे भावर प्रदेश है जो नदियो द्वारा लाए हुए अवसादो के एकत्र होने से वना है। इसमें नदियाँ भूपृष्ठ के नीचे नीचे वहती हैं।

२ दक्षिण का पठारी प्रदेश—इसको सरचना, प्राकृतिक दशा, मिट्टी, जलवायु के अनुसार दो भागो मे विभाजित किया जाता है—प्रथम, मध्य भारत का पश्चिमवाला पठारी भाग, जो वुदेलखड के पठार का एक भाग है और नीस नामक चट्टानो से निर्मित है। झाँसी इस भाग का केंद्र है। द्वितीय, जो पूर्व में विंध्याचल की श्रेणियो से (सोन के उत्तर में) और प्राचीन चट्टानो से (सोन के दक्षिण) वना है और जिसके उत्तर स्थित गगा के मैदानी भाग मे मिर्जापुर वसा है। इसे मिर्जापुर का पठार कह सकते हैं। यह भाग ऊँची नीची, छिन्न भिन्न, एकल पहाडियो और अत्यत छोटी घाटियो से वना है।

३ गंगा का मैदान—इस भाग मे उत्तर प्रदेश का अधिकाश भाग आता है। यह मैदान गगा और उसकी सहायक यमुना, रामगगा, घाघरा आदि नदियो से वना है और समतल, सुप्रवाहित तथा प्रधानतया कृषीय है। इस मैदान को निम्नलिखित उपविभागो में विभक्त किया जा सकता है (क) ऊपरी गगा का मैदान जो इलाहावाद के समीप तक और ४०" वार्षिक वर्षारेखा के पश्चिम मे स्थित कहा जा सकता है। साधारणतया इसका धरातल ४०० फुट (इलाहावाद) से ७०० फुट (मेरठ)–८०० फुट (सहारनपुर) तक है। इस भाग का अधिकाश ससारप्रसिद्ध गगा-यमुना-दोआव में पडता है। गगा की तलहटी में जैसे जैसे हम ऊपर चढते जाते है, वर्षा की मात्रा कम होती जाती है। अत ४०"-३०" वर्षावाले प्रदेश को मध्य का मैदानी भाग और ३०" से कम वर्षावाले पश्चिमी, अपेक्षाकृत शुष्क भाग को पश्चिम का मैदानी भाग कहते हैं। (ख) मध्य गगा का मैदान इसका अर्ध भाग इलाहावाद से पूर्व उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो में पडता है और शेष अर्ध भाग विहार मे पटना नगर तक पहुँचता है। इस भाग में गगा की सहायक नदियाँ–घाघरा, गडक, सोन आदि—वहुत जल लाती हैं। इन नदियो की तलहटियाँ उनके द्वारा एकत्र मिट्टी के कारण अत्यत छिछली हो गई है, अत वर्षा ऋतु में नदियो का मार्गपरिवर्तन होता रहता है और भीषण वाढ आ जाया करती है। अत मध्य गगा की तलहटी मे अनेक छिछली झीलें, दलदल तथा लवणपात्र हैं। ये या तो नदियो के पुराने छोडे हुए मार्ग के कारण झील के रूप में हैं अथवा नदियो के वीच दलदल के रूप में। गगा नदी के दक्षिण की तग पट्टी की भूमि अधिक सूखी है और यहाँ दलदल वहुत कम है।

तराई—गगा के मैदान और उत्तर के हिमालय पादपर्वतीय एव भावर प्रदेश के मध्य एक सँकरी पट्टी है, जिनका धरातल मैदानी भाग से अपेक्षाकृत ऊँचा है, परतु जल की निकासी वहुत ही कुव्यवस्थित है। जो नदियाँ भावर प्रदेश में धरातल के नीचे चली जाती हैं वे इस भाग में धरातल पर आ जाती हैं। तराई का भाग वहुधा लवी मोटी घास एव जगलो से ढका रहता है। यह भाग आर्द्र, अस्वास्थ्यकर एव मच्छरो से भरा है, अत यहाँ आवादी कम है। तराई और मैदान की मिलनरेखा पर नगरो की एक पक्ति मिलती है, जिसपर सहारनपुर, पीलीभीत, खीरी, वहराइच, गोरखपुर आदि वस गए हैं। इन्हे आधार मानकर अव सरकार तथा जनता द्वारा तराई में फसल उगाने, लकडी काटने आदि के आर्थिक प्रयत्न किए जा रहे हैं।

जलप्रणाली—राज्य की मुख्य नदी गगा है जिसमे वाईं ओर से रामगगा, गोमती और घाघरा अथवा सरयू और दाईं ओर से यमुना आ मिलती हैं। गगा नदी टेहरी-गढवाल जिले के देवप्रयाग नामक स्थान पर अलकनदा और भागीरथी के मिलने से वनती है और हरिद्वार के पास मैदान में उतरकर राज्य की दक्षिण-पूर्वी दिशा में वहती है। यमुना नदी इसके दाएँ हिमालय से निकलकर इस प्रदेश की पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमा के पास से वहती है और इलाहावाद में गगा से मिल जाती है। अत ऊपरी गगा की तलहटी का एक वडा भाग गगा-यमुना के दोआव से वना है। दक्षिण के पठारी भागो से चवल, सिंध, वेतवा और केन आदि नदियाँ यमुना से मिलती हैं। रामगगा गढवाल से निकलती है और रुहेलखड में वहकर कन्नौज के पास गगा से मिल जाती है। गगा के उत्तरी हिस्से को घाघरा दो भागो मे वाँटती है और यह अपनी सहायक नदियो–शारदा, राप्ती–के साथ वहुत जल लाती है। घाघरा इस राज्य के वाहर पटना के समीप गगा से मिल जाती है। सरयू पार क्षेत्र को राप्ती दो भागो मे विभाजित करती है। गोमती नदी अपनी सहायक सई नदी के साथ घाघरा-गगा के दोआव में वहती है और गाजीपुर जिले में सैदपुर के पास गगा से मिल जाती है। पूर्वोक्त नदितयाँ पूर्वी जिलो में वहुत छिछली हो गई हैं और वहुधा मार्गपरिवर्तन करती रहती हैं। इनमे वरसात मे भीषण वाढ आती रहती है। यमुना और उसकी दक्षिणी सहायक नदियो, विशेषतया चवल, ने वहुत सी भूमि को काट छाँटकर ऊबड खावड वना दिया है और मिट्टी का कटाव वहुत अधिक हुआ है।

भूविज्ञान—उत्तर का पर्वतीय प्रदेश भूवैज्ञानिक दृष्टि से वडा जटिल है और इसमें पृथ्वी के इतिहास के कैंव्रियन युग से प्रादिनूतन युग तक के सव युगो के नमूने विद्यमान हैं। इन पर्वतो का आतरक (हीर) ठोस, मणिभ और रूपातरित चट्टानो का बना हुआ है, जिनमें प्राचीन अजीवाश्मप्रद (अनफॉसिलीफेरस) अवसाद शिलाएँ भी समिलित है। वाह्य हिमालय तृतीय युगीन अवसादीय नदीनिक्षेपो (डिपाज़िट्स) से वने हैं। हिमालय की पादश्रेणियो मे वालू और वजरी अधिक मिलती हैं। ये नदियो के अवसादीय निक्षेपो के कालातर मे उठ जाने के कारण पर्वत हो गए हैं। ये हिमालय प्रदेशीय पर्वत नए भजमय (फोल्डेड) पर्वत हैं। हिमालय को उठानेवाली शक्तियाँ अव भी गतिशील हैं, इसलिये पृथ्वी के इन दुर्वल भागो में पडे स्थानो मे भूकप की आशका वरावर वनी रहती है। मिर्जापुर का पठारी प्रदेश अपेक्षाकृत अति प्राचीन है और नदियो द्वारा कट छँट गया है। सोन के उत्तरवाला भाग विंध्य समतल अवसाद शैलो से वना है, जिसमे वलुआ पत्थर, जवगिला (शेल) और चूने के पत्थर मुख्य हैं। सोन के उस पार का प्रदेश पूर्वी सतपुडा की श्रेणियो से युक्त है जिनमें आग्नेय एव परिवर्तित शिलाएँ विद्यमान हैं। वुदेलखड क्षेत्र मे चट्टानें प्राचीन मणिभ ग्रैनाइट और नीस की वनी हुई हैं। गगा का मैदानी भाग तथा दून घाटी मुख्यत जलोढ (एलूवियम) से वनी हुई है। गगा के मैदान में लगभग ३००० फुट तक जलोढ जमी हुई है, जिससे नीचे की भूरचना छिप गई है। पुराना जलोढवाला भाग, जो वाढ से रक्षित रहता है, वाँगर कहलाता है। नई जलोढवाला वाढपीडित क्षेत्र खादर कहलाता है।

खनिज पदार्थ—अधिकाश भाग जलोढ निर्मित होने के कारण खनिजो की दृष्टि से उत्तर प्रदेश विशेष महत्वपूर्ण नही है। शेष भागो मे भी अभी तक राज्य के खनिज साधनो का पूर्ण रूप से अनुसधान नही हो सका है।

हिमालय प्रदेश मे कुछ पुराने लौहखनन के स्थानो के अवशेष मिलते है। नई खोजो मे गढवाल जिले में जिप्सम, अल्मोडा एव कुमायूँ पर्वतो में मग्नेसाइट और गढवाल तथा अल्मोडा में ताँबे के निक्षेपो का पता चला है। हिमालय में अनुमानत खनिज तैल का अमित भाडार है जिसकी खोज फलदायक सिद्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त हिमालय के विभिन्न भागो में चना पत्थर और स्लेट अधिक मात्रा में प्राप्य हैं। दक्षिणी पठारी प्रदेश में कुछ लोहा और कोयला (मिर्जापुर जिला के सिंगरौली क्षेत्र में) मिलता है, परतु अभी आर्थिक रूप में इसका उत्पादन सभव नही हो सका है। यहाँ भी पुराने लौहखनन के अवशेष मिलते हैं। यहाँ चूने का पत्थर बहुत मात्रा में है, जिसके कारण चुर्क में सीमेंट का एक बडा कारखाना चल रहा है। इन स्थानो से चूना भी खूब मिलता है। विंध्य श्रेणियो का बलुआ पत्थर इमारतो के निर्माण के लिये बहुत उपयुक्त है और इसका उपयोग राज्य में खूब होता है। इसकी कई खदानें केवल मिर्जापुर जिले में ही चलती हैं। मैदानी भाग में आर्थिक महत्व का ककड मिलता है, जो सडक बनाने के उपयोग में आता है। इससे चूना भी बनता है। इसके तथा बालू और मिट्टी के अतिरिक्त मैदानी भाग मे आर्थिक महत्व की अन्य सामग्री शोरा है, जो कही कही मिट्टी के पृष्ठ पर प्रस्फुटन (एफ्लोरेसेंस) के रूप में मिलता है। दक्षिण के कुछ चूना पत्थर विभिन्न रगो के होते है और उनसे सजावट का काम लिया जाता है। झाँसी जिले की चरखारी तहसील (पहले के चरखारी देशी राज्य) में पहले कुछ हीरे भी निकाले गए थे।

जलवायु—साधारणतया उत्तर प्रदेश की जलवायु उष्ण और शुष्क है। उत्तर का हिमालय पर्वतीय प्रदेश अपेक्षाकृत ठढा है और वर्षा यहाँ मैदानी भाग से अधिक होती है। यहाँ ताप का औसत ५५° फा० और वर्षा का ६०″ से अधिक रहता है। तराई मे ४०″ से ८०″ तक वर्षा होती है जिसका अधिकाश जुलाई अगस्त में बरसता है। वर्षा पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है। जनवरी में ताप ६०° फा० से ६५° फा० और

औसत गर्मी में ८०° फा० मे अधिक रहता है। मैदानी भाग गर्मी मे शुष्क उष्ण, वर्षा में आर्द्र उष्ण और जाडे में ठडा एव शुष्क रहता है। ग्रीष्म ऋतु मे ताप बहुधा ११५° फा० तक चला जाता है और दस बजे दिन से पाँच बजे शाम तक भीषण लू के रूप मे पछुआ हवा बहती रहती है।

इलाहाबाद से पश्चिम जाने पर जौ, गेहूँ, बाजरा, ज्वार के खेत अधिक मिलते है और पूरब बढने पर आर्द्रताप्रिय शस्यो (धान आदि) की खेती बढती जाती है। सपूर्ण प्रदेश मे जाडे की ऋतु (नवबर से फरवरी तक) बडी सुहावनी होती है। कभी कभी पाला पडता है और शीतलहरी दौड जाती है। वर्षा ऋतु की वर्षा बगाल की खाडी के पावस से होती है। दक्षिणी पठारी प्रदेश मे वार्षिक वर्षा का औसत २०"–४०" रहता है और जनवरी का ताप ५५° फा० से ६५° तक रहता है। यहाँ चट्टानी धरातल एव शस्यहीन चट्टानी मिट्टी के कारण गर्मी की ऋतु बहुत गरम और सूखी रहती है।

मिट्टी, वर्षा की विषमता और सिंचाई—उत्तर प्रदेश के मैदानी भाग एव दून घाटी की मिट्टी जलोढ होने के कारण उपजाऊ है। नदियो के किनारे के पास खादर मिट्टी रहती है। बाँगर में अच्छे जलनिकासवाली दोमट मिट्टी पाई जाती है जिसके नीचे अधिकतर ककड की परतें होती हैं। राज्य मे दोमट (लोम), मटियार (क्ले) और भूर या बलुआ तथा इनके मिश्रण से बनी कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। मटियार तथा करैल मिट्टी पूर्वी भाग के निम्न भागो मे मिलती है और धान के लिये उपयुक्त है। दोमट अपेक्षाकृत ऊँचे भागो में मिलती है और सीचने पर अत्यत उपजाऊ होती है। दून घाटी की दोमट और मटियार मिट्टियाँ चाय तथा धान के लिये अत्यत उपजाऊ हैं। कुमायूँ क्षेत्र में चट्टानी मिट्टी मिलती है, पर कही कही ढालो पर उपजाऊ मिट्टी मिलती है। अल्मोडा जिले मे जगली प्रदेश की भूरी मिट्टी फलो के पौधो के लिये अत्यत उपजाऊ हैं। दक्षिण के पठारी भागो मे तथा मध्य मैदान के फतेहगढ, कानपुर तथा इलाहाबाद जिलो में राकर, काबर, परवा और मार मिट्टियाँ पाई जाती हैं जो बुदेलखड के पठारी भागो की मिट्टी हैं। ये मिट्टियाँ अपेक्षाकृत उपजाऊ तथा शुष्क होती है। अपेक्षाकृत शुष्क भागो में एक प्रकार की क्षारीय मिट्टी मिलती है जिसे रेह कहते हैं। यह मिट्टी भूमि को ऊसर बनाती है। गगा-घाघरा-दोआब मे ऊसर मिट्टी की अपेक्षाकृत प्रचुरता है।

कुछ भागो मे मिट्टी का अपक्षरण बडे वेग से जारी है और कई फुट मिट्टी की तहे कट गई है। फलत बडे बडे खड्ढ बन गए हैं। चबल, बेतवा, यमुना और गोमती की घाटी में इनके उदाहरण बडी सख्या मे मिलते हैं।

उत्तर प्रदेश कृषिप्रधान राज्य है, अत इसका भाग्य वर्षा की मात्रा, निश्चितता और समयानुकूलता पर निर्भर रहता है। परतु न तो वर्षा की मात्रा और न समयानुकूलता ही निश्चितप्राय है, अत कभी सूखा से, कभी भीषण वर्षा एव बाढ तथा मिट्टी के कटाव से शस्यहानि होती है। कभी फसलो का न बोया जाना, अथवा खडी फसलो का नाश आदि के रूप मे भी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। साधारणतया प्रति पाँच वर्ष में वर्षा समयानुकूल और पर्याप्त मात्रा मे होती है। इस अनिश्चितता से यहाँ के किसान बडे दु खी रहते हैं।

अत सिंचाई उत्तर प्रदेश की कृषि के लिये अत्यत आवश्यक है। इससे कृषि की निश्चितता बढ जाती है। उत्तर प्रदेश सिंचाई के लिये ससार-प्रसिद्ध है। यहाँ कुओ, तालाबो, नलकूपो (ट्यूब वेल) एव नहरो से अनेक स्थानो मे सिंचाई होती है। भारत के सभी राज्यो से अधिक एकड (१९५५–५६ मे १,२३,३५,००० एकड) मे यहाँ सिंचाई होती है, परतु यह कुल बोई जानेवाली भूमि का केवल २९ ४ प्रति शत है। चालू योजनाओ के पूरी होने पर १६,२०,००० एकड और भूमि की सिंचाई की सुविधा प्राप्त हो जायगी। १९५१ के पहले भारत के कुल २,५०० नलकूपो मे से २,३०० केवल उत्तर प्रदेश मे थे, तो भी ये पर्याप्त न थे। उस वर्ष ३,०९५ पाताल कुएँ बनवाने की योजना प्रारभ हुई, जिनमे से १९५५ तक २,३५२ तैयार हो चुके थे। जलोढ मिट्टी के निक्षेप, समतल मैदान तथा कम गहराई पर ही पानी मिलने के कारण कुएँ कम खर्च मे बन जाते हैं, अत कुओ से भी प्रदेश के प्रत्येक भाग में सिंचाई होती है। किसान कुओ से पानी निकालने के लिये चरसा या पुरवट, ढेकली तथा रहट का प्रयोग करते हैं। नहरो से केवल ४४,६३,००० एकड में ही सिंचाई होती है। ये नहरें राज्य की बडी नदियो से निकाली गई हैं। इनमे प्रमुख नहरे गगा की उत्तरी और दक्षिणी नहरें, यमुना की पूर्वी यमुना नहर और आगरा नहर तथा शारदा नहर है। शारदा नहर को बढाकर जौनपुर तथा आजमगढ जिले को भी सीचने के लिये नहरे खोदी जा रही है।

सिंचाई की सुविधा प्रदान करने मे पूर्वी उत्तर प्रदेश ब्रिटिश काल मे भुला सा दिया गया था। नहरो तथा नलकूपो का सारा प्रबध पश्चिमी जिलो के लिये किया गया था। अत पूर्वी जिले अब तक इस दुरगी राजनीति के शिकार होकर पीडित है, जब कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश आर्थिक एव अन्य दृष्टियो से अधिक समृद्ध है। यही नही, प्रत्येक वर्ष आनेवाली प्रलयकरी बाढो से भी रक्षा का कोई विशेष प्रबध पूर्वी जिलो के लिये नही हुआ है। सतोष का विषय है कि अब राज्य सरकार इधर भी ध्यान देने लगी है।

बहुधधी योजनाएँ—राज्य मे सैकडो छोटे बाँधो के बाँधने, कुएँ खोदने, रहट लगाने आदि कामो के अतिरिक्त बहुधधी योजनाएँ भी चालू की गई हैं, जिनमे मिरजापुर की रेणु (रिहड) योजना सर्वप्रमुख है। इससे सारे पूर्वी उत्तर प्रदेश एव लखनऊ तक के इलाको को बिजली दी जायगी तथा दस लाख एकड भूमि में सिंचाई होगी। ललितपुर (झाँसी) का बाँध, कर्मनाशा पर नौगढ का बाँध, चद्रप्रभा बाँध आदि अपेक्षाकृत छोटी योजनाएँ है।

जगल—राज्य मे कुल १,०५,५४,७६० एकड मे जगल लगे हुए हैं (१९५५–५६) जो राज्य की १४ ३ प्रति शत भूमि मे हैं। राज्य के जगल बडे सपन्न और विभिन्न प्रकार के है। तराई के घने जगलो से साखू की बडी मूल्यवान् लकडी मिलती है। राज्य मे शीशम के वृक्ष भी, जो कुर्सी मेज आदि के लिये बडे उत्तम होते है, अधिक पाए जाते है। बिखरे जगलो तथा मैदानी भागो मे महुआ के वृक्ष अधिकता से मिलते हैं। कुर्सी आदि बनाने योग्य लकडी देनेवाले अन्य कई प्रकार के वृक्ष भी राज्य में मिलते हैं। उत्तर के हिमालय के पहाडी प्रदेश मे चीड सदृश नरम लकडीवाले घने वन है। मैदानो के फलवाले बागो मे आम, अमरूद, बेर आदि तथा हिमालय के क्षेत्रो मे सेब, नासपाती, खूबानी आदि उगाए जाते है। मैदानो के जगल खेती के लिये काट डाले गए हैं, जिससे मिट्टी का अपक्षरण बढ गया है। अब राज्य सरकार उचित स्थानो पर जगल लगा रही है।

जीवजतु—विभिन्न नस्लो के पशु, जैसे बकरियाँ, भेडें, घोडे, खच्चर, गदहे, आदि करोडो की सख्या मे राज्य मे पाए जाते है। हिंसक जीव, बाघ, चीते आदि पहाडी खोहो तथा तराई भागो मे बहुत मिलते हैं। नीलगाय, बदर और हिरन भी बहुतायत से मिलते है। शिकारी चिडियो मे जगली बत्तख, चाहा, जगली मुर्गी और मोर प्रमुख हैं। १९५१ मे अनुमानत २,३५,००,००० गाय बैल, ९२,००,००० भैंसे, १६,००,००० भेडें, ५२,००,००० बकरियाँ, ४,००,००० घोडे और टट्टू, ३,००,००० खच्चर और गदहे, ३६,००० ऊँट तथा ८,००,००० सूअर थे।

कृषि—उत्तर प्रदेश कृषिप्रधान है और यहाँ साल मे मुख्यत दो फसले काटी जाती हैं (१) खरीफ अर्थात् धान, मक्का, ज्वार, सावाँ आदि जो वर्षा के प्रारभ मे बोई जाती है और अक्टूबर से दिसबर तक मे काटी जाती हैं, (२) रबी, अर्थात् गेहूँ, जौ, चना, मटर जो अक्टूबर या नवबर मे बोई जाती है और मार्च अप्रैल में काटी जाती है। कृषि में कुल जनसख्या के ७४ प्रति शत लोग लगे हुए हैं। पर कुल ग्रामीण जनसख्या का ८६ प्रति शत कृषक है। अधिकाश जनता के खेतिहर होते हुए भी कृषि की हालत अच्छी नही है। १९५५–५६ मे ४,१६,७०,४५१ एकड अर्थात् ५६ प्रति शत भूमि मे खेती हुई। इसमे कुल बोई भूमि की २९ ४ प्रति शत सीची गई और ७० ६ प्रति शत असिचित रही। कुल बोई भूमि के २५ प्रति शत से भी कम मे दो फसले उपजाई गई। राज्य मे खाद्य फसलो की कुल उपज लगभग १,१९,००,००० टन हुई। इनमे सर्वप्रथम स्थान गेहूँ का है, जो ९९,६४,७७९ एकड मे २३,२३,००० टन हुआ। द्वितीय फसल धान है जो ९२,९७,५४३ एकड मे ३१,९०,००० टन हुआ। राज्य मे अन्य खाद्यान्नो मे महत्वानुसार क्रमश जौ, ज्वार, बाजरा, चना, मडुआ, कोदो, सावाँ, मक्का आदि का स्थान है। दालो मे चना, अरहर, मसूर, मूँग और उर्द आदि प्रमुख है।

गेहूँ मध्य तथा पश्चिमी जिलो में और धान पूर्वी जिलो में अधिक होता है। राज्य में व्यापारिक फसलें केवल ३४,७१,५६६ एकड भूमि अर्थात् कुल कर्पित भूमि के ७ प्रति शत से भी कम में उगाई गईं। व्यापारिक फसलो में गन्ना, तेलहन (तीसी, सरसो, मूँगफली, रेंड, तिल) तथा कपास और जूट प्रमुख हैं। गन्ना मुख्यत पूर्वी जिलो एव पश्चिम के सिंचित जिलो में, कपास पश्चिम के जिलो में, चाय उत्तर के पहाडी जिलो तथा दून घाटी में और जूट तराई में होता है। स्थानीय रूप से मसाले और तवाकू मुख्य है। यह राज्य भारत का सबसे वडा अफीम उत्पन्न करनेवाला है। फल और तरकारियाँ सर्वत्र, विशेषकर नगरो के पास, उगाई जाती हैं। खाद्यान्नो में कुल कर्पित भूमि के ९३ प्रति शत से भी अधिक भूमि पर खाद्यान्न फसलें उगाकर भी राज्य खाद्यान्नो की कठिनाई अनुभव करता है। इसके प्रमुख कारण सिंचाई की कमी, पुराने ढग की खेती, अनुपयुक्त बीज, छोटे अनार्थिक चक, किसानो की ऋणग्रस्तता तथा उत्साह की कमी, जिनसे प्रति एकड उपज कम होती है, खाद्यान्नो की चोरवाजारी, वितरण की अवैज्ञानिक रीति आदि हैं।

राज्य में जोतने योग्य भूमि लगभग, ४,२०,५७,००० एकड है जिसमें कुल ४,१६,७०,००० एकड जोती जा रही है। ऐसी भूमि जो जोतने योग्य वनाई जा सकती है ५,२८,३७,००० एकड है, अत अभी लगभग १,१६,६२,००० एकड भूमि खेती के योग्य वन सकती है, जिसमे से केवल सुधार द्वारा लगभग ७७,००,००० एकड भूमि उपजाऊ वनाई जा सकती है। इसमें से १० लाख एकड वजर,ऊमर या अपक्षारित होने से अनुपजाऊ हो गई है।

उद्योग धधे—राज्य में प्रमुख उद्योग चीनी, धातु तथा इजीनियरी (सूती, ऊनी और जूट के) कपडे, चमडा, काच, रासायनिक उद्योग, आटा, चावल तथा तेल की मिलो आदि के हैं। सन् १९५३ में राज्य में १,६४६ रजिस्टर्ड कारखाने थे, जिनमें २,०६,७४० व्यक्ति काम करते थे। ५८१ व्यापारिक सघ थे, जिनकी सदस्यसख्या २,३१,३९८ थी। पूर्वोक्त धधो के अतिरिक्त वडे उद्योगो में शक्ति ऐल्कोहल (पावर ऐल्कोहल), वनस्पति घी, रजन और तारपीन (रेजिन और टरपेंटाइन), लालटेन वनाने, कागज तथा तत्सवधी उद्योग, ढरकी (वाविन), स्टार्च, कृपि के औजार, खैर, दियासलाई, सिमेंट तथा लकडी के उद्योग, सिगरेट और लाख (लाह) आदि के उद्योग प्रमुख हैं। कानपुर न केवल राज्य का, प्रत्युत कलकत्ता और ववई के वाद देश का, सर्वप्रमुख औद्योगिक केंद्र है जहाँ सूती कपडो की ३४ मिलें, चमडे की १७ तथा अन्य विभिन्न उद्योगो की कई मिलें हैं। राज्य में काच तथा चूडियो के ८६, लोहा, इस्पात तथा काँसा ढालने के ५१, जूट के ३, दियासलाई के ४, खोखले वरतनो के ४०, चीनी के ८६, कागज तथा गत्ते के ६, चमडे के २२, वनस्पति घी के ५, सावुन के २५ वडे, तेल के १५० वडे एव २५० छोटे, मदिरा के १३, इजीनियरी के ९६ तथा रासायनिक उद्योग के १५ वडे एकक (यूनिट) थे। राज्य सरकार ने मिर्जापुर जिले में चुर्क में सिमेंट का कारखाना खोला है, जिसकी प्रति दिन उत्पादन की क्षमता ७०० टन है। वहाँ ऐल्युमिनियम का कारखाना खोलने की भी योजना है। राज्य में कानपुर के अतिरिक्त आगरा तथा रामपुर के चमडे के काम, वाराणसी मे जरी के कपड और वनारसी साडी, वाराणसी, मिर्जापुर तथा मुरादावाद के पीतल के धधे, शाहजहाँपुर तथा नैनीताल के मदिरा के कारखाने, लखनऊ तथा सहारनपुर के कागज के कारखाने, भदोही के कालीन के तथा आगरा के दरी के धधे, लखनऊ के चिकन के कार्य, अलीगढ का धातु एव ताले का धधा, वरेली एव सहारनपुर का फर्नीचर का कार्य, मिर्जापुर का लाख एव वर्तन का व्यापार, चुनार और खुर्जा के मिट्टी एव चीनी मिट्टी के वर्तनो के कार्य, फिरोजावाद और वहजोई के चूडियो के धधे प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त सभी वडे नगरो तथा अधिकाश छोटे नगरो में आटा, चावल तथा तेल की मिलें और विस्कुट एव अन्य खाद्यान्न पदार्थो के कारखाने चलते हैं।

इन वडे उद्योगो के अतिरिक्त यह राज्य घरेलू एव कुटीर उद्योगो के लिये भी प्रसिद्ध है। इनमें हाथ करघे के कपडे (मऊ), रासायनिक पदार्थ, टिन के वर्तन, लोहे के ट्रक, प्लास्टिक के सामान, कारवन कागज, फलो का सरक्षण, साइकिल, धातु के यथार्थमापी यत्र, कैंची तथा छुरी, वटन, हड्डी की खाद, आदि के उद्योग दिनानुदिन वढ रहे हैं। विभाजन के वाद मेरठ एव वरेली में सभी प्रकार के खेलो के सामान वनने लगे है।

यातायात के साधन—उत्तर प्रदेश में यातायात के साधन समृद्ध है। राज्य में रेलो का घना जाल विछा हुआ है और प्रत्येक वडा नगर एक या दो रेलवे लाइनो का जकशन है। घाघरा के उत्तर (सरयू पार मैदान तथा घाघरा दोआव पूर्व में) मीटर गेज (उ० पू० रे०) लाइन है, प्राय शेष भाग में वडी (ब्रॉड गेज) लाइने हैं। गगा और इसकी सहायक नदियो मे नावें चला करती हैं। आगरा और गगा की नहरो में भी नावें चलती हैं। १९५६ मे अनुमानत ११,६७४ मील पक्की एव ३४,४८१ मील कच्ची सडकें थी। राज्य सरकार की वसे मुख्य सडको पर चलने लगी हैं। राज्य सरकार ने सात यातायात क्षेत्र वनाए है जो मेरठ, वरेली, आगरा, कानपुर, लखनऊ, इलाहावाद और गोरखपुर क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुमायूँ क्षेत्र वरेली में और देहरादून मेरठ में मिला दिया गया है। सभी प्रमुख नगरो के पास हवाई अड्डे भी स्थापित किए गए है। पर्यटक उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये सरकार ने पहाडी मार्गो, नगरो एव अन्य आकर्पण-प्रधान केंद्रो में यातायात के साधन वढा दिए है। नगरो एव उपनगरो के वीच में, जैसे वाराणसी मुगलसराय, इलाहावाद नैनी आदि मे, नगर-परिवहन-सेवाएँ प्रारभ हो गई है।

व्यापार—यातायात के साधनो एव कृषि तथा उद्योगो के विकास के साथ साथ राज्य का व्यापार वढ रहा है। यहाँ का निर्यात मुख्यत खेती की उपजें हैं, जैसे गेहूँ, तेलहन, दलहन, राई आदि, इनके अतिरिक्त चीनी, शीरा, लकडी और जगल की अन्य उपज, जैसे रँगने के सामान, घी, तवाकू आदि है। मुख्य आयात सूती, ऊनी, रेशमी कपडे, मशीने, धातु के सामान, अन्य तैयार माल, नमक और प्रति दिन की वस्तुएँ हैं। राज्य के प्रमुख व्यापारिक केद्र कानपुर, इलाहावाद, आगरा, वाराणसी, मिर्जापुर, हापुड, मेरठ, मुरादावाद, गोरखपुर तथा कुछ अन्य नगर हैं।

जनसख्या—१९५१ की जनगणना के अनुसार राज्य की कुल जनसख्या ६,३२,१५,७४२ थी, अत जनसख्या का प्रति वर्ग मील घनत्व ५५७ था। इस प्रकार उत्तर प्रदेश का भारत के राज्यो मे कुल जनसख्या में प्रथम तथा प्रति वर्ग मील घनत्व मे पचम स्थान है। यह राज्य भारत के केवल ९ प्रति शत क्षेत्र पर वसा है, परतु देश की कुल जनसख्या का १८ प्रति शत, अर्थात् लगभग पाँचवाँ भाग, यहाँ रहता है। यहाँ १८७२ से लेकर अव तक (केवल १९११ एव १९२१ की जनगणनाओ के ह्रास को छोडकर) जनसख्या एव घनत्व दोनो की निरतर वृद्धि होती रही है। १८७२ में जनसख्या ४,२७,८०,२९२ थी और प्रति वर्ग मील घनत्व ३७७ था, जो आज ५५७ तक पहुँच गया है। १९०१–२१ के वीच में अकाल, महामारी तथा अन्य कई कारणो से जनसख्या का ह्रास हुआ। १९२१ से पहले और १९२१ के वाद के दशको में जनसख्या की कुल वृद्धि में वहुत अतर है। १९२१ से पहले सर्वाधिक वृद्धि दर (६ ०५ प्रति शत) १८८१–१८९१ दशक में हुई, परतु १९२१ के वाद यह वृद्धिदर ६ ४४ प्रति शत (१९२१–३१ में), १२ ७१ प्रति शत (१९३१–४१ में) और ११ १६ प्रति शत (१९४१–५१ मे) रही। पिछले दशको में अपेक्षाकृत कम वृद्धिदर के कारण १९०१–५१ के वीच राज्य की जनसख्या में कुल वृद्धि केवल ३० प्रति शत ही हुई जव कि सपूर्ण देश में इस काल में आवादी ५१ ६ प्रति शत वढी है।

राज्य के विभिन्न प्राकृतिक भागो, जिलो, तहसीलो आदि में भी वृद्धि-दर, प्रति वर्ग मील घनत्व आदि में वहुत अतर है। इस विपमता के लिये क्षेत्रो की विभिन्न प्राकृतिक दशाएँ, वर्पा, मिट्टी, सिंचाई के साधनो में अतर, कृपि की भिन्न भिन्न उपजें तथा औद्योगिक एव अन्य प्रकार के विकास में विपमता आदि उत्तरदायी है। मैदानी भाग में पूर्व में वलिया से लेकर पश्चिम में मुजफ्फरनगर तक का क्षेत्र घना वसा है। साधारणतया पूरव से पश्चिम में घनत्व घटता जाता है। इसी प्रकार मध्य से उत्तर तथा दक्षिण में भी, दोनो ओर पहाडी क्षेत्र होने के कारण, घनत्व घटता जाता है। हिमालय प्रदेश में घनत्व केवल १३० और दक्षिण के पठारी भाग में २४८ प्रति वर्ग मील है, जव कि मैदान के पश्चिमी भाग में ६५७, मध्य में ७१७ और पूर्वी भाग में ८५० है। घनत्व की विपमताओ का कारण मैदानो में कृपियोग्य भूमि एव सुविधाओ की अधिकता तथा पहाडी भागो में इनकी कमी है। मैदान के पश्चिमी भाग में सिंचाई का सुप्रवध एव

पूर्वी भाग मे वर्षा की अधिकता (४०" से अधिक वार्षिक) ऐसे घनत्व के लिये उत्तरदायी है। निम्नाकित तालिका से घनत्व एव कृषि की सुविधाओ के परस्पर सबध का विवरण स्पष्ट है

	कुल भूमि के अनुपात मे कुल जोती भूमि का प्रति शत	कुल जोती भूमि का प्रति शत	
		सिंचाई	दो फसली भूमि
भू मैदानी भाग	६८ ६	३६ ०	२८ २
मध्य मैदानी भाग	६१ ६	२६ ०	२२ ७
पश्चिमी मैदानी भाग	६६ ६	३१ ४	२० ५
हिमालय प्रदेश	४१ ०	१४ १	६ ६
दक्षिण का पठारी भाग	१० ४	१० ४	१३ १

राज्य के विभिन्न जिलो की जनसख्या के घनत्व मे भी बहुत अतर है। सर्वाधिक घने बसे जिले लखनऊ (१,१५६ व्यक्ति प्रति वर्ग मील), बलिया (१,०१०), बनारस (१,००७), और देवरिया (१,००७) हैं, जो मैदानी भाग मे विशेषत पूर्वी भाग मे, स्थित हैं। लखनऊ का घनत्व लखनऊ नगर की जनसख्या के कारण बढ गया है। न्यूनतम घने बसे जिले हिमालय प्रदेश के टेहरी-गढवाल (६१), गढवाल (११४), नैनीताल (१२७), अल्मोडा (१४१), तथा उनसे कुछ ही अधिक घनत्ववाले झाँसी क्षेत्र के जिले हैं जो पठारी भाग मे स्थित हैं। इसी प्रकार १६०१–५१ के बीच प्रति वर्ग मील घनत्व की कुछ वृद्धि मैदान के पूर्वी भाग मे (२२७), मध्य मे (१४३), पश्चिमी भाग मे (१३६), दक्षिणी पठार मे (५८) एव हिमालय प्रदेश मे न्यूनतम (४५) हुई है।

राज्य की ८६ ४ प्रति शत जनसख्या ग्रामीण है और केवल १३ ६ जनता नगरो मे रहती है। राज्य की कुल नागरिक जनसख्या लगभग ८६,२६,००० हे, जो ४८६ नगरो मे रहती है। इसमे से ४५ ३ प्रति शत एक लाख से अधिक जनसख्यावाले नगरो मे तथा २३ २ प्रति शत एक लाख से तीस हजार तक की जनसख्यावाले नगरो मे रहती हैं। अत कुल मिलाकर ६८ ५ प्रति शत नागरिक जनता बडे नगरो मे तथा शेष छोटे नगरो मे रहती है। साधारण जनसख्यावाले नगर उत्तर प्रदेश में प्रत्येक अन्य राज्य से अधिक है। राज्य का सबसे बडा नगर कानपुर (जनसख्या ६,४७,७६३) सन् १६६१ की जनसख्या के अनुसार है, जिसकी वृद्धि तीव्र गति से हुई है। १६वी शताब्दी मे (१८४० तक) यह साधारण गाँव था, परतु रेलवे के आगमन के कारण यह उत्तर प्रदेश की सबसे बडी मडी और सर्वप्रमुख औद्योगिक केद्र हो गया है। १६६१ की जनगणना के अनुसार राज्य के अन्य बडे नगर लखनऊ (जनसख्या ६,६२,१६६), आगरा (५,५६,१०८), वाराणसी (५,७३,५५८), इलाहाबाद (४,३३,२७२) हैं, जिनका इतिहास अपेक्षाकृत पुराना है। आगरा एव लखनऊ मध्ययुगीन काल मे प्रशासनिक केद्र तथा वाराणसी और प्रयाग (इलाहाबाद) सदा से धार्मिक एव सास्कृतिक केद्र रहे हैं। ये पाँच बडे नगर 'कवाल' (KAVAL) नगर कहलाते हैं, यह शब्द इन नगरो के नामो के प्रथम अग्रेजी अक्षरो को सयुक्त करने से बना है।

इनमे सन् १६६० से नगरनिगम (कॉरपोरेशन) स्थापित हो गए हैं और इनकी उन्नति के लिये इनमे विभिन्न योजनाएँ चालू हैं। इन नगरो में उद्योग एव व्यापार निरतर बढ रहे हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी मैदानी भाग मे मेरठ (जनसख्या २,३३,१८३), बरेली (२,०८,०८३), मुरादाबाद (१,६१,८५४), सहारनपुर (१,४८,४३५), अलीगढ (१,४१,६१८), रामपुर (१,३४,२७७), मथुरा (१,०५,७७३) एव शाहजहाँपुर (१,१०,१६३), एक लाख जनसख्या से ऊपरवाले ये आठ नगर है। पूर्वी उत्तर प्रदेश मे बनारस के अतिरिक्त केवल गोरखपुर बडा नगर (१,३२,४३६) है। उत्तर के पहाडी जिलो मे केवल देहरादून (१,४४,२१६) तथा दक्षिण के पठारी भाग मे केवल झाँसी (१,२७,३६५) बडे नगर हैं। राज्य की कुल नागरिक जनसख्या की ४६ १ प्रति शत जनता पश्चिमी मैदानी भाग मे, २६ १ प्रति शत मध्य भाग मे एव १५ प्रति शत पूर्वी मैदानी भाग मे रहती है। हिमालय प्रदेश एव दक्षिण के पठारी भाग मे केवल ६ ४ एव ३ ४ प्रति शत नागरिक जनता रहती है। अत पूर्व से पश्चिम मैदानी भाग में शहरी आबादी बढती जाती है, जब कि जनसख्या का घनत्व ठीक इसके विपरीत बढता है। विद्युच्छक्ति एव सिंचाई के साधनो की व्यवस्था के कारण उद्योग धधो एव कृषि का विकास अधिक सभव हो सका जिससे इस क्षेत्र मे औद्योगिक एव व्यापारिक केंद्र अधिक उन्नति कर गए हैं। राज्य के अधिकाश नगर औद्योगिक नही, प्राय पूर्णतया व्यापारिक एव प्रशासनिक केद्र मात्र हैं। अत राज्य मे औद्योगिक बस्ती बहुत कम है और वृद्धि की प्रचुर सभावना है।

यहाँ नगरो की स्थापना के कारण भी विभिन्न हैं। कुछ तो प्रारभ से ही धार्मिक केद्र थे, जैसे बनारस, इलाहाबाद आदि, कुछ विभिन्न प्रशासको द्वारा बसाए गए, जैसे बहराइच, बाराबकी, रायबरेली, जायस, सलोन, डलमऊ, रुद्रपुर, गोरखपुर आदि और कुछ भर राजाओ द्वारा बसाए गए। कुछ राजपूतो द्वारा बसाए गए, जैसे कन्नौज, चउपला (मुरादाबाद में), कोइल (अलीगढ), हापुड और सरधना (मेरठ), बुलदशहर, इटावा, बदायूँ, उन्नाव, ललितपुर आदि, कुछ अफगानो तथा दिल्ली के शाहशाहो द्वारा, जैसे एटा, सफीपुर, पुरवा (उन्नाव), बिस्वाँ (सीतापुर), उतरौला (गोडा), शम्साबाद, साकित (एटा), खुर्जा, अबेहटा (सहारनपुर) बिसौली (बदायूँ), लहरपुर (सीतापुर), सिकदरपुर (बलिया), मुहम्मदाबाद (गाजीपुर), सरायमीर (आजमगढ), जौनपुर आदि, और कुछ मुगलो द्वारा बसाए गए, जैसे मुगलसराय, अकबरपुर, मिरजापुर, जलालाबाद, शाहाबाद, मुरादाबाद, जहाँगीराबाद। अन्य नगर या तो मुगलो द्वारा बसाए गए अथवा प्राचीन स्थानो पर विकसित किए गए। रेलो के आने से कुछ पुराने नगर, जो नदियो के किनारे स्थित थे और नदियो के आवागमन के कारण प्रसिद्ध व्यापारिक केद्र थे, रेलो पर न पडने के कारण समाप्त हो गए अथवा ह्रासप्राय होने लगे। नई सुविधाएँ पाकर कुछ कानपुर की तरह उदित हो उठे। इस प्रदेश मे उद्योगो एव व्यापार की वृद्धि के साथ साथ नगरो की वृद्धि की अधिकाधिक सभावना है।

शिक्षा, सस्कृति और अन्य प्रगति के कार्य—उत्तर प्रदेश शिक्षा का महान् केद्र है। यहाँ सात बडे विश्वविद्यालय विभिन्न भागो मे, इलाहाबाद, वाराणसी, गोरखपुर, लखनऊ, अलीगढ, आगरा एव रुडकी मे स्थित हैं। मेरठ एव कानपुर मे भी विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रयास जारी है। रुद्रपुर मे ग्रामीण विश्वविद्यालय और वाराणसी, रुडकी एव प्रयाग मे इजीनियरिंग कालेज, आगरा, लखनऊ एव कानपुर मे मेडिकल कालेज हाल मे ही खुल गए हैं। कानपुर तथा वाराणसी मे एक एक कृषि विद्यालय भी हैं। देहरादून मे सर्वे ऑव इडिया तथा वन विभागीय खोज केद्र, लखनऊ मे केद्रीय ओषधि अनुसधान सस्था (सेंट्रल ड्रग रिसर्च इस्टिट्यूट) एव राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान (नेशनल बोटैनिकल गार्डेस), कानपुर में शर्करा औद्योगिक सस्था (शुगर टेकनॉलॉजी इस्टिट्यट) एव रुडकी में केंद्रीय भवन निर्माण अनुसधान सस्था (सेंट्रल बिल्डिग रिसर्च इस्टिट्यट) स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त राज्य सरकार ने विभिन्न केद्रो पर प्रौद्योगिक केद्र—चमडे, हाथकरघे, बढईगिरी, तथा अन्य कार्यों के सिखाने के लिये प्रशिक्षण पाठशालाएँ—खोल रखी हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय विकास सेवाखडो (नेशनल एक्स्टेंशन सर्विस) और पचायतो तथा रबी एव खरीफ आदोलन द्वारा कृषि एव गाँवो के विकास के प्रयत्न किए जा रहे हैं, जिनसे लोग खेती आदि के नए ढग अपनाकर अधिकाधिक उत्पादन करे। [रा० लो० सिं०]

उत्तरमीमांसा

भारतीय दर्शनो मे से एक। उत्तरमीमासा को शारीरिक मीमासा और वेदातदर्शन भी कहते हैं। ये नाम बादरायण के बनाए हुए ब्रह्मसूत्र नामक ग्रथ के हैं। मीमासा शब्द का अर्थ है अनुसधान, गभीर विचार, खोज। प्राचीन भारत मे वेदो को परम प्रमाण माना जाता था। वेद वाङ्मय बहुत विस्तृत है और उसमे यज्ञ, उपासना और ज्ञान सबधी मत्र पाए जाते हैं। वे मत्र (सहिता), ब्राह्मण और आरण्यक-उपनिषद् नामक भागो मे विभाजित किए गए हैं। बहुत प्राचीन (भारतीय विचारपद्धति के अनुसार अपौरुषेय) होने के कारण वेदवाक्यो के अर्थ, प्रयोग और परस्पर सबध समन्वय का ज्ञान लुप्त हो जाने से उनके सबध मे अनुसधान करने की आवश्यकता पडी। मत्र और ब्राह्मण भागो के अतर्गत वाक्यो का समन्वय जैमिनि ने अपने ग्रथ

मीमासासूत्र (पूर्वमीमासादर्शन) में किया। मन्त्र और ब्राह्मण वेद के पूर्वभाग होने के कारण उनके अर्थ और उपयोग की मीमासा का नाम पूर्व-मीमासा पडा। वेद के उत्तर भाग आरण्यक और उपनिषद् के वाक्यो का समन्वय बादरायण ने ब्रह्मसूत्र नामक ग्रथ मे किया अतएव उसका नाम उत्तरमीमासा पडा। उत्तरमीमासा शारीरिक मीमासा भी इस कारण कहलाता है कि इस शरीरधारी आत्मा के लिये उन साधनो और उपासनाओ का सकेत है जिनके द्वारा वह अपने ब्रह्मत्व का अनुभव कर सकता है। इसका नाम वेदातदर्शन इस कारण पडा कि इसमे वेद के अतिम भाग के वाक्यो के विषयो का समन्वय किया गया है। इसका नाम ब्रह्ममीमासा अथवा ब्रह्मसूत्र इस कारण पडा कि इसमे विशेष विषय ब्रह्म और उसके स्वरूप की मीमासा है, जब कि पूर्वमीमासा का विषय यज्ञ और धार्मिक कृत्य है।

उत्तरमीमासा मे केवल वेद (आरण्यको और उपनिषदो के) वाक्यो के अर्थ का निरूपण और समन्वय ही नही है, उसमे जीव, जगत् और ब्रह्म सबधी दार्शनिक समस्याओ पर भी विचार किया गया है। एक सर्वागीण दर्शन का निर्माण करके उसका युक्तियो द्वारा प्रतिपादन और उससे भिन्न मतवाले दर्शनो का खडन भी किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह भाग बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है।

समस्त ब्रह्मसूत्र मे चार अध्याय है और प्रत्येक अध्याय मे चार पाद है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के प्रथम चार सूत्र और दूसरे अध्याय के प्रथम और द्वितीय पादो मे वेदात दर्शन सबधी प्राय सभी बातें आ जाती है। इनमें ही वेदात दर्शन के ऊपर जो आक्षेप किए जा सकते है वे और वेदात को दूसरे दर्शनो मे—पूर्वमीमासा, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, पाशुपत दर्शनो में जो उस समय प्रचलित थे—जो त्रुटियाँ दिखाई देती है वे आ जाती है।

समस्त ग्रथ सूक्ष्म और दुरूह सूत्रो के रूप मे होने के कारण इतना सरल नही है कि सब कोई उसका अर्थ और सगति समझ सकें। गुरु लोग इन सूत्रो के द्वारा अपने शिष्यो को उपनिषदो के विचार समझाया करते थे। कालातर में उनका पूरा ज्ञान लुप्त हो गया और उनके ऊपर भाष्य लिखने की आवश्यकता पडी। सबसे प्राचीन भाष्य, जो इस समय प्रचलित और प्राप्य है, श्री शकराचार्य का है। शकर के पश्चात् और आचार्यो ने भी अपने अपने सप्रदाय के मतो की पुष्टि करने के लिये और अपने मतो के अनुरूप ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे। श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री निंबार्काचार्य और श्री वल्लभाचार्य के भाष्य प्रख्यात है। इन सब आचार्यो के मत, कुछ अशो मे समान होते हुए भी, बहुत कुछ भिन्न है।

स्वय बादरायण के विचार क्या है, यह निश्चित करना और किस आचार्य का भाष्य बादरायण के विचारो का समर्थन करता है और उनके अनुकूल है, यह कहना बहुत कठिन है क्योकि सूत्र बहुत दुरूह है। इस समस्या के साथएक यह समस्या भी सबद्ध है कि जिन उपनिषद् वाक्यो का ब्रह्मसूत्र मे समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है उनके दार्शनिक विचार क्या है। बादरायण ने उनको क्या समझा है और भाष्यकारो ने उनको क्या समझा है ? वही भाष्य अधिकतर ठीक समझा जाना चाहिए जो उपनिषदो और ब्रह्मसूत्र दोनो के अनुरूप हो। इस दृष्टि से श्री शकराचार्य का मत अधिक समीचीन जान पडता है। कुछ विद्वान् रामानुजाचार्य के मत को अधिक सूत्रानुकूल बतलाते है।

उत्तरमीमासा का सबसे विशेष दार्शनिक सिद्धात यह है कि जड जगत् का उपादान और निमित्त कारण चेतन ब्रह्म है। जैसे मकडी अपने भीतर से ही जाल तानती है, वैसे ही ब्रह्म भी इस जगत् को अपनी ही शक्ति द्वारा उत्पन्न करता है। यही नही, वही इसका पालक है और वही इसका सहार भी करता है। जीव और ब्रह्म का तादात्म्य है और अनेक प्रकार के साधनो और उपासनाओ द्वारा वह ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करके जगत् के कर्मजजाल से और बारबार के जीवन और मरण से मुक्त हो जाता है। मुक्तावस्था मे परम आनद का अनुभव करता है।

[भी० ला० आ०]

उत्तररामचरित महाकवि भवभूति का प्रसिद्ध सस्कृत नाटक है, जिसके ७ अको मे राम के उत्तर जीवन की कथा है। जनापवाद के कारण राम न चाहते हुए भी गर्भवती सीता का परित्याग कर देते है। सीतात्याग के बाद विरही राम की दशा का तृतीय अक मे करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो काव्य की दृष्टि से इस नाटक की जान है। भवभूति ने इस दृश्यकाव्य में दापत्य प्रणय के आदर्श रूप को अकित किया है। कोमल एव कठोर भावो की रुचिर व्यजना, रमणीय और भयावह प्रकृति चित्रो का कुशल अकन इस नाटक की विशेषताएँ है। उत्तररामचरित मे नाटकीय व्यापार की गतिमत्ता अवश्य शिथिल है और यह कृति नाटकत्व की अपेक्षा काव्यत्व और गीति नाटयत्व की अधिक परिचायक है। भवभूति की भावुकता और पाडित्यपूर्ण शैली का चरम परिपाक इस कृति में पूर्णत लक्षित होता है।

उत्तररामचरित पर अनेक टीकाएँ उपलब्ध है जिनमें घनश्याम, वीरराघव, नारायण और रामचद्र बुधेंद्र की टीकाएँ प्रसिद्ध है। इसके अनेक भारतीय सस्करण प्रकाशित हो चुके है। इनमें अधिक प्रचलित निर्णयसागर सस्करण है, जिसका प्रथम सस्करण सन् १८९९ में बबई से प्रकाशित हुआ था। इसके और भी अनेक सपादन निकल चुके है। इनमें प्रसिद्ध सस्करण ये है सी० एच० टानी द्वारा अग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित (कलकत्ता, १८७१), फ्रेंच अनुवाद सहित फेलीनेव (Félix Néve) द्वारा ब्रूसेल्स तथा पेरिस से १८८० में प्रकाशित, डॉ० बेल्वेलकर द्वारा केवल अग्रेजी अनुवाद तथा भूमिका के रूप में हार्वर्ड ओरिएटल सीरीज़ में सपादित (१९१५ ई०)।

[भो० श० व्या०]

उत्तरा मत्स्य के विराट् नरेश की कन्या और अभिमन्यु की पत्नी, वह अपने सौदर्य तथा ललित कलाओ के लिये विख्यात थी। महाभारत के अत में उत्तरा के पुत्र परीक्षित को हस्तिनापुर का राज्य मिला। उसने युद्ध में शस्त्र ग्रहण कर अनेक वीरो को पराजित किया था।

[च० म०]

उत्तराखंड प्राचीन काल में भारतवर्ष के चार खड दिशाओ के अनुरूप किए जाते थे। यह उत्तराखड भारतवर्ष का उत्तरी प्रदेश था। वाराहमिहिर तथा राजशेखर ने अपने ग्रथो में इस खड के प्रदेशो का विस्तृत वर्णन किया है। महाभारत के सभापर्व मे भी अर्जुन की दिग्विजय के प्रसग में इन देशो का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारत का उत्तराखड, राजशेखर के अनुसार, पृथूदक से उत्तर दिशा में पडता है। पृथूदक की वर्तमान पहचान 'पिहोवा' से है जो थानेश्वर से पद्रह मील पश्चिम की ओर है। उत्तरापथ के जनपदो मे शक, केकय, वोक्काण, हूण, वनायुज, कबोज, वाह्लीक, पह्लव, लिपाक, कुलूत, कीर, तगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूख, हूहुक, सहुड, हसमार्ग, रमठ, करकठ आदि का उल्लेख मिलता है (काव्यमीमासा पृ० ९४)। इनमें सब जनपदो की पहचान तथा स्थिति निश्चित रूप से निर्णीत नही हो सकती है, तथापि अनेक जनपद अनुसधान के द्वारा निश्चित किए जा सकते है। इनमे से कुलूत काँगडा के पास का कुलू है जिसकी प्राचीन राजधानी नगरकोट थी और आजकल जिसका मुख्य नगर सुल्तानपुर है। कीर जनपद किरथार पहाड के उत्तर में दक्षिणी अफगानिस्तान का एक प्रात था जहाँ नवी और दसवी शताब्दी मे शाहिवशी राजा राज करते थे। तुरुष्क देश से तात्पर्य पूरबी तुर्किस्तान से है। तुषार या तुखार वक्षु नदी (आमू दरिया) की ऊपरी घाटी का प्रदेश है जिसमें बल्ख और बदख्शाँ समिलित थे। हिंदूकुश पर्वत के उत्तर पश्चिम में वक्षु की शाखा बल्ख नदी के दोनो ओर की भूमि वाह्लीक जनपद में मानी जाती थी। इसी प्रकार काबोज जनपद वक्षु नदी के उस पार स्थित था जिसे आजकल पामीर का ऊँचा पठार कहते है। कनिंघम के अनुसार सिंधु नदी के किनारे भबूर नामक स्थान था जिसका निर्देश तोलेमी ने भी किया है। तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष की विस्तृत उत्तरी सीमा एक ओर तो शकस्थान (ठेठ मगोल देश का पश्चिमी जनपद) को और दूसरी ओर वनायुज (अरब) को स्पर्श करती थी और मध्य एशिया के समस्त प्रात इसी सीमा के अतर्गत माने जाते थे। फलत शकस्थान से लेकर कन्याकुमारी तक यह प्राचीन भारतवर्ष फैला हुआ था। नि सदेह यह व्याख्या सर्वमान्य नही।

[व० उ०]

उत्तरी अमरीका क्षेत्रफल (९३,५४,६११ वर्ग मील) तथा जनसख्या (२४,८१,७६,०००—१९५६) के आधार पर उत्तरी अमरीका ससार का तृतीय बडा महाद्वीप है। यह ८° उत्तर अक्षाश से ८२ उत्तर अक्षाश तक एक त्रिभुज की भाँति फैला हुआ है जिसका

आधार उत्तर में तथा शीर्ष दक्षिण में है। इसकी उत्तर-दक्षिण लबाई लगभग ४,६०० मील तथा पूर्व-पश्चिम चौडाई लगभग ४,००० मील है। इस महाद्वीप की समुद्रतल से औसत ऊँचाई २,००० फुट है। यहाँ कैनाडा, सयुक्तराज्य एव मेक्सिको का ही वर्णन किया जायगा।

इस महाद्वीप को, पूर्व से पश्चिम, चार प्रमुख प्राकृतिक विभागो में विभाजित किया जा सकता है :

१ **ऐटलाटिक तटीय प्रदेश**—यह तट उत्तर मे आर्कटिक सागर से प्रारभ होकर दक्षिण में फ्लोरिडा तक पूर्वी पर्वतीय प्रदेश के पूर्व, ऐटलाटिक महासागर के किनारे फैला हुआ है। इसका लबा तथा सँकरा तटीय मैदान न्यूयार्क के दक्षिण मे फ्लोरिडा तक अपेक्षाकृत अधिक चौडा है पर उत्तर की ओर सकीर्ण होता गया है। सरचना तथा भूतत्व के आधार पर इसके दो विभाग हैं, पूर्वी और पश्चिमी, जो प्रपातरेखा द्वारा पृथक् होते हैं। पूर्वी भाग की ऊँचाई २००-३०० फुट तक है पर पश्चिमी भाग लगभग १,००० फुट ऊँचा है। पूर्वी पर्वतीय प्रदेश से निकलकर अध महासागर में गिरनेवाली नदियो में—सस्केहाना, पोटोमैक, डिलावेर, जेम्स आदि सबमें—प्रपात है। इन प्रपातो में से उनको जो, अपनी नदी पर समुद्र से निकटतम है एक कल्पित रेखा से मिलाया जा सकता है जिसे प्रपातरेखा कहते है। इन नदियो में प्रपातरेखा तक सामुद्रिक जहाज आते हैं, अत यहाँ फ़िलाडेलफ़िया, बाल्टीमोर, वाशिंगटन, रिचमाड आदि नगर एव बदरगाह विकसित हो गए हैं। पूर्वी भाग नदियो द्वारा लाई गई नरम मिट्टी से बना है, अत इसकी शिलाएँ तृतीयक (टर्शियरी) युगीन हैं। पश्चिमी भाग प्राचीन युग में पूर्वी पर्वतीय प्रदेश का ही अग था, जो कालातरिक आवरणक्षय (डेन्युडेशन) होने के कारण विषम मैदान में परिणत हो गया है। इसकी चट्टानें कार्बनप्रद युगीन अथवा इनसे भी पुरानी हैं। कहीं कहीं, विशेषतया मैसाचूसेट्स के उत्तर में, तटरेखा विकट एव अत्यत सँकरी है जिनके पास अनेक निमज्जित घाटियाँ खाडियो के रूप में तथा पहाडियाँ भूनासिकाओ (प्रोमाटोरीज़) एव द्वीपो के रूप में स्थित हैं।

२ **पूर्वी पर्वतीय प्रदेश**—ऐटलाटिक के तटीय मैदान तथा मध्यवर्ती वृहत् मैदान के मध्य में उत्तरी अमरीका का प्राचीन भूभाग स्थित है। इसे सेंट लारेंस नदी की घाटी दो भागो में विभाजित करती है—उत्तरी तथा दक्षिणी। इस घाटी से लेकर उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में हडसन की खाडी तथा उत्तर सागर तक फैला हुआ अत्यत विषम सरचना का क्षेत्र है जिसे लारेंशिया का पठार कहते हैं। यह भाग उत्तरी अमरीका का प्राचीनतम भूभाग है जिसके दक्षिण तथा पश्चिम में कालातर में कई स्थलखड परस्पर जुड गए। इस प्रकार आधुनिक महाद्वीप का निर्माण हुआ। अन्य सिद्धातो के अनुसार वर्तमान लारेंशिया पठार उस वृहत्तर स्थलखड का एक अग मात्र है जो पुराकल्प (पैलिओज़ोइक एरा) में दक्षिण में टेक्सास राज्य तथा पश्चिम में रॉकी पर्वतो तक फैला हुआ था और जिसके मध्यकल्पयुगीन (मेसोज़ोइक) महासागर में निमज्जित होने से महासागरीय निक्षेप हुआ। प्रातिनूतनकालिक (प्लाइस्टोसीन) हिमयुग का सूत्रपात्र भी इसी स्थलखड से हुआ। ऐसा होते हुए भी, विचाराधीन भाग अमरीका के अन्य भागो की अपेक्षा कालातरिक आवरणक्षय से बचा रहा। हिमयुगीन अपक्षरण के तथा निक्षेप के कारण यहाँ की भूमि ऊबड खाबड, मिट्टीविहीन तथा अनुपजाऊ है। कुछ अच्छी मिट्टीवाले भागो एव खनिज स्थानो पर आबादी है।

सेंट लारेंस नदी के दक्षिणवाला भाग ऐपालैचियन पर्वतीय प्रदेश कहलाता है जो प्राचीनतम ऐपालैचिआ नामक स्थलखड का भाग है। यह उत्तर-पूर्व में न्यूफाउडलैड से लेकर दक्षिण-पश्चिम में ऐलाबैमा तथा एक शाखा द्वारा आरकैंज़ैस तक फैला हुआ है। इस भाग को अपेक्षाकृत शात पडे लारेंशियन क्षेत्र की अपेक्षा तोड फोड, उत्थान पतन, अतिनिक्षेप एव अति आवरणक्षय के कई युग देखने पडे। कैंब्रियनपूर्व युग में ऊँचे पर्वतो का निर्माण हुआ जो लगातार आवरणक्षय के कारण मध्यकल्प (मेसोज़ोइक एरा) में अवशिष्ट मात्र रह गए। तृतीयक कल्प (टर्शियरी एरा) में पुन इनका उत्थान हुआ और पठार के ऊँचे भाग पर्वत बन गए। इन पर्वतीय भागो की ऊँचाई कहीं भी ७,००० फुट से अधिक नहीं है और न तो ये क्रमबद्ध पर्वतश्रेणी के रूप में है। इनके बीच में नदियो ने गहरी तथा चौडी घाटियाँ बना ली है। इसका उत्तरी भाग, जो न्यू इग्लैंड राज्य में पडता है, अपेक्षाकृत समुद्र से अधिक निकट, कटा छँटा और बीहड है। दक्षिण में ऐलेघनी पठार है जिसका निर्माण समतलीय शिलाओ, बलुआ पत्थरो, शेलो एव चूना पत्थरो से हुआ है। तत्पश्चात् कबरलैंड का पठार उसके दक्षिण में है और ऐलाबैमा तक फैला हुआ है। मिसौरी का ओज़ार्क पठार तथा आरकैंज़ैस का आचिटा पर्वत इन्हीं के भाग हैं जो एक दूसरे से सबधित हैं। दक्षिण पूर्व में पर्वतपदीय पठार है जो समुद्रतट तक चला गया है।

३ **मध्यस्थित वृहत् मैदान**—पूर्वी एव पश्चिमी पर्वतीय भागो (२ तथा ४) के मध्य, उत्तर में उत्तरी महासागर तथा दक्षिण मे मेक्सिको की खाडी के तट तक १२,५०,००० वर्ग मील में फैला हुआ यह समतल मैदान है, जिसमें अनेक नदियो की चौडी घाटियाँ स्थित हैं। लगभग सपूर्ण मैदान समतलीय शिलाओ से सरचित है और अपेक्षाकृत नदियो की विकृति एव विखडन आदि भूतात्विक हलचलो से बचा रहा है जिनके कारण कई प्रवाहप्रणालियो ने अपने विशाल मैदान निर्मित किए हैं। पूर्वी मैदानी भाग पुराकल्पयुगीन शिलाओ से निर्मित है, परतु पश्चिमी भाग मध्यकल्प तथा तृतीयक कल्प में निर्मित हुए हैं। पूर्व एव पश्चिमी पर्वतीय भागो के तृतीयक कल्पयुगीन उत्थान के साथ इनमें भी उत्थान हुआ, परतु कुछ भागो को छोडकर अधिकाश समतल मैदानी भाग हैं। पूर्वी मैदान गडमृदीय निक्षेप के कारण अधिक समतल हो गया है। मध्य-पश्चिमी भागो में गिरिपाद निक्षेप हुआ है। उत्तर-पूर्व में हिमयुगीन अपक्षरण तथा निक्षेप का अत्यधिक प्रभाव पडा है, जिससे अधिक झीलें आदि बन गई हैं।

४ **पश्चिमी पर्वतीय क्षेत्र**—मध्यवर्ती मैदान के पश्चिम रॉकी पर्वतो से लेकर पश्चिम में प्रशात महासागरीय तट तक उत्तर से दक्षिण अनेक पर्वतप्रणालियो तथा पठारो का अत्यत विषम क्षेत्र है, जिसे उत्तरी अमरीका का कार्डिलेरा भूभाग कहते हैं। यद्यपि इन विभिन्न प्रणालियो में उत्पत्ति, सरचना एव आयु में पारस्परिक अतर है, तथापि पूर्वी पर्वतीय प्रदेश की अपेक्षा य नए हैं और नवकल्पयुग में भजित हुए हैं। अत ये अधिक ऊँचे और विषम हैं। इनके विभिन्न भागो में ज्वालामुखी पर्वत तथा उनके उद्गार तत्व भी प्राप्य हैं। ओरिज़ोबा और पोपाकाटापेट्ल (मेक्सिको), माउट सैनफ्रैंसिस्को (एरीज़ोना), शास्ता (कैलिफ़ोर्निया) रेनियर (वाशिंगटन), रैंजेल (अलास्का) आदि मुख्य ज्वालामुखी पर्वत हैं। कोलबिया पठार भारतीय लावा पठार की भाँति ज्वालामुखी से निकली हुई लावा चट्टानो से निर्मित है। इसके अतिरिक्त इस भाग में विशाल अतर्पर्वतीय एव गिरिपाद (पीडमौंट) पठार तथा नदियो की अत्यत गहरी घाटियाँ (कनियन) वर्तमान हैं।

पूर्व से पश्चिम, विचाराधीन भूभाग के पाँच भौगोलिक विभाग हैं— १ पूर्व में रॉकी पर्वतप्रणाली का क्षेत्र औसत रूप में १,२०० मील लबा तथा २०० मील चौडा है। इसकी उत्तरी तथा दक्षिणी प्रणालियो के बीच ग्रेट डिवाइड या वायोमिंग बेसिन है, जिसके द्वारा आवागमन की सुविधा प्राप्त होती है। इन पर्वतो में कई समातर श्रेणियाँ है जिनके मध्य नदियो की घाटियाँ स्थित हैं। २ रॉकी क्षेत्र के पश्चिम में विषम धरातलीय अतर्पर्वतीय तथा गिरिपाद पठारो का विशाल क्षेत्र है, जिनमें उत्तर से दक्षिण अलास्का पठार, कोलबिया पठार, ग्रेट बेसिन, कौलोरेडो पठार तथा मेक्सिको पठार हैं। कौलोरेडो तथा उसकी सहायक नदियो ने लगभग ६,००० फुट से अधिक गहरी घाटियाँ (कैनियन) बना ली हैं। ३ इन पठारो के पश्चिम (अलास्का पठार के दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व) पुन पर्वतीय श्रेणियाँ है जो उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में स्थित अलास्का से दक्षिण में स्थित मेक्सिको तक चली गई है। उत्तर में तथा उत्तर-पश्चिम में इनका नाम अलास्का पर्वतश्रेणी, पश्चिमी कनाडा में कस्केड, पश्चिमी सयुक्त राज्य में सियरा नेवादा, तथा दक्षिण और मेक्सिको में सियरा मादरी है। अलास्का पर्वतश्रेणियो में उत्तरी अमरीका के सर्वोच्च ११ शिखर वर्तमान हैं जिनमें माउट मैकिनले (२०,३०० फुट) सर्वोच्च है। ४ इन पर्वतश्रेणियो के पश्चिम, तथा समुद्रतटीय पर्वतो के मध्य, कई सँकरी उपजाऊ घाटियाँ हैं, जिनमें पगेट साउड तथा कैलिफ़ोर्निया की घाटियाँ क्रमश १५० तथा ५०० मील लबी हैं। इन घाटियो के पश्चिम (अलास्का के दक्षिण) प्रशात-महासागर-तटीय

श्रेणियाँ (कोस्टल रेंजेज़) फैली हुई है। (५) इनके पश्चिम प्रशात महासागर का अत्यत सँकरा तटीय क्षेत्र स्थित है जहाँ विशेषकर ब्रिटिश कोलविया के पास, छोटे छोटे द्वीप तथा खाडियाँ और फियोर्ड्स स्थित है। जिन स्थानो पर मैदान कुछ अधिक चौडा है, वहाँ मल्लाहो आदि के आवास मिलते हैं।

मेक्सिको में मध्यवर्ती पठार के पूर्व और पश्चिम, सियरा मादरी की पूर्वी तथा पश्चिमी श्रेणियाँ फैली है जो टेहुआटेपेक में जाकर भारत की नीलगिरि श्रेणियो की तरह एकवद्ध हो जाती है। फलत पठार दक्षिण में सँकरा तथा उत्तर में चौडा हो गया है। पूर्वी क्षेत्र समुद्र से दूर है, अत तटीय मैदान चौडा है पर पश्चिमी तट पर्वतो के समुद्र से सटे होने के कारण सँकरा है। पठार की ढाल मेक्सिको की खाडी की ओर है।

जलप्रणाली—भूतल की सरचना तथा विकास की अतर्विषमता के कारण कई प्रवाहप्रणालियाँ विकसित हुई हैं। ससार की सबसे लबी नदी मिसिसिपी-मिसौरी (४,१५० मील) का विकास कई भूभागो के विकास के साथ सवद्ध है। पूर्वी पर्वतीय भागो से निकलनेवाली इसकी सहायक नदी ओहायो (१,३०० मील) मध्य कल्पयुगीन है जब कि पश्चिमी सहायक नदियाँ मिसौरी (२,७०० मील), आरकँजास तथा रेड नदी तृतीयक युगीन है। दक्षिणी तटीय भागो के विकसित होने पर मिसिसिपी की लवाई लगभग दूनी हो गई। उत्तर में प्रातिनूतन हिमयुगीन निक्षेप के कारण कई नदियाँ मिसीसिपी मे आत्मसात हो गई और अब वे शीर्ष नदियो के रूप में ही वर्तमान है। मिसिसिपी मेक्सिको की खाडी में अत्यत विशाल डेल्टा बनाती है। उक्त खाडी में गिरनेवाली दूसरी प्रसिद्ध नदी रॉयो ग्राडे है जो रॉकीज़ से निकलती है और अपने निचले प्रवाह मे मेक्सिको की सीमारेखा वनाती है। कॉर्डिलेरा की विभिन्न श्रेणियो से निकलकर प्रशात महासागर मे गिरनेवाली नदियो में यूकन, कोलविया एव कौलोरैडो प्रमुख है। यूकन पश्चिमोत्तर कैनाडा तथा अलास्का में प्रवाहित होकर वेरिंग जलडमरूमध्य के दक्षिण नॉर्टन साउड में गिरती है। कोलविया नदी, कैनाडा के ब्रिटिश कोलविया के रॉकीज पर्वत से निकलकर २,२०,००० वर्ग मील के वेसिन से वहती हुई, प्रशात महासागर में गिरती है। स्नेक तथा स्पोकेन इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ है। कौलोरेडो नदी रॉकीज़ से निकलकर उत्तरी अमरीका के सबसे अधिक सूखे राज्यो ऊटा, एरीजोना, दक्षिणी कैलिफोर्निया एव मेक्सिको के कुछ भागो से वहती हुई कैलिफोर्निया की खाडी मे गिरती है। इसका खड्ड (कैनियन) कही कही ६,००० फुट से भी अधिक गहरा है। उत्तरी सागर मे गिरनेवाली सर्वप्रमुख नदी मैकेंजी (२,३०० मील) है जो अनेक झीलो से होकर आती है। इसका मुहाना कई महीनो तक बर्फ से ढका रहता है। नेल्सन, अल्वानी, फोर्ट जाज आदि कई छोटी नदियाँ उत्तर मे हडसन की खाडी में गिरती है। सेंट लारेंस नदी वडी झीलो से प्रवाहित होती हुई उत्तर-पूर्व मे सेंट लारेंस की खाडी में गिरती है। इसके मुहाने पर भी महीनो तक वर्फ जमी रहती है। पूर्वी पर्वतीय प्रदेश से निकलकर पूर्व में अध महासागर में गिरनेवाली नदियाँ—सस्केहाना, पोटोमक, डिलावर, जेम्स आदि—अत्यत छोटी है। उपर्युक्त समुद्रगामी जलप्रणालियो के अतिरिक्त उत्तरी अमरीका मे एक विशाल अतर्मुखी जलप्रणाली है जो शुष्क ग्रेट वेसिन में मिलती है। इसके अतिरिक्त उत्तरी अमरीका में अनेक झीलें है, जिनमें सुपीरियर (३१,८२० वर्ग मील), ह्यूरन (२३,००० वर्ग मील), मिशिगन (२२,४०० वर्ग मील), ईरी (९,९५० वर्ग मील), और ऑटेरियो (७,५४० वर्ग मील) आदि पाँच वृहत् झीलो के अतिरिक्त, साल्ट लेक, विनिपेग, ग्रेट स्लेव, ग्रेट वेयर आदि झीलें प्रमुख हैं। सेंट लारेंस नदी तथा पाँच वडी झीलें देशाभ्यतर जलपथो के लिये सुप्रसिद्ध है।

जलवायु—उत्तरी अमरीका की जलवायु पर चार वातो का विशेष प्रभाव पडता है—(१) अक्षाशीय स्थिति, (२) पर्वतो का उत्तर-दक्षिण फैलाव, (३) नियतवाही हवाएँ और समुद्र की धाराएँ तथा (४) उत्तरी प्रशात एव उत्तरी ऐटलाटिक की हवा के कम दवाव के केंद्र। उच्च अक्षाशो में स्थित होने के कारण कैनाडा का दो-तिहाई भाग वर्ष के अधिकाश महीनो में वर्फ से ढका रहता है। पर्वतो के उत्तर-दक्षिण फैले रहने के कारण उत्तरी-दक्षिणी हवाएँ मध्य भाग में वेरोक वहती हैं जिससे महाद्वीप का अधिकाश जाडे में अधिक ठढा हो जाता है, परतु ग्रीष्म में इसका प्रभाव अच्छा होता है, क्योकि मेक्सिको की खाडी से चलनेवाली हवाएँ कैनाडा के उत्तरी भाग तक पहुँच जाती हैं। पर पूर्व-पश्चिम आकर वर्षा करनेवाली हवाओ या सामुद्रिक धाराओ का प्रभाव इन तटीय पर्वतो के कारण अतर्प्रांत में नही पडने पाता। जाडे मे सपूर्ण कैनाडा, अलास्का, न्यूफाउडलैंड तथा मध्यवर्ती मैदान के अर्धोत्तरी भाग का ताप ३२° फा० से कम रहता है। मेक्सिको खाडी के तटीय भागो तथा मेक्सिको में ४८°-६४° फा० का ताप रहता है। अत जाडे में महाद्वीप का कोई भाग अधिक गरम नही रहता। ग्रीष्म ऋतु में केवल उत्तरसागरीय तट तथा उसके निकटवर्ती भागो को छोडकर सपूर्ण महाद्वीप में ३२° फा० से अधिक ताप रहता है। अत महाद्वीप के अधिकाश में जनवरी-जुलाई के माध्यमिक तापो का अतर ४०° फा० से अधिक तथा उत्तर में ७०° फा० से भी अधिक पड जाता है। ४०° उत्तरी अक्षाश के उत्तरवाले पश्चिमी तट के भागो में गरम जलधाराओ का प्रभाव पडता है, लेकिन समकक्ष पूर्वी तट का जल लैब्राडोर की ठढी जलधारा के कारण जम जाता है। दक्षिण मे पश्चिमी तटो पर कैलिफोर्निया की ठढी धारा चलती है और समकक्ष पूर्वी तटो पर मेक्सिको की गरम धाराएँ।

इसी प्रकार पर्वतीय स्थिति, चक्रवातीय पथ, समुद्र से निकटता, हवाओ की दिशा आदि का प्रभाव वर्षा पर पडता है। ४०° उत्तरी अक्षाश से उत्तर भागो में पश्चिमी तट पर वाष्पयुक्त पश्चिमी हवाओ के कारण प्रचुर वर्षा हो जाती है पर समकक्ष पूर्वी तट वर्षाविहीन रहता है। ३०-४०° उत्तरी अक्षाशो में पश्चिमी तट पर जाडे में पछुवाँ हवाओ द्वारा वर्षा होती है, परतु गर्मी में यह भाग उत्तर-पूर्वी व्यापारिक हवाओ में पडने के कारण शुष्क रह जाता है। ३०° उत्तरी अक्षाश के दक्षिण का पश्चिम-तटीय भाग साल भर इन हवाओ के प्रभाव में रहने के कारण मरुस्थल है, पर ये ही हवाएँ समकक्ष पूर्वी क्षेत्रो—फ्लौरिडा और मेक्सिको—में प्रचुर वर्षा करती है। मेक्सिको की खाडी से हवाएँ मिसिसिपी की घाटी में ग्रीष्मकाल में प्रवेश करती हैं। उनसे खाडी के निकटवर्ती स्थानो में अधिक वर्षा होती हे और भीतरी स्थानो मे वर्षा की मात्रा दूरी के अनुसार कम होने लगती है। उत्तरी अमरीका में अधिक वर्षावाले (४०″-८०″ वार्षिक) क्षेत्र दक्षिण-पूर्वी मेक्सिको, सयुक्त राज्य के ऐटलाटिक तटीय राज्य, मेक्सिको की खाडी के तटवर्ती पूर्वी राज्य, ब्रिटिश कोलविया, यूकन के पश्चिमतटीय भाग तथा अलास्का के दक्षिणी तट हैं। २०″ से ४०″ तक वर्षा मेक्सिको के अन्य शेष भाग, टेक्सास, मिसिसिपी घाटी के राज्यो तथा विनिपेग झील से पूर्व स्थित कैनाडा के राज्यो में होती है। २०″ से कम वर्षा के क्षेत्र के अतर्गत रॉकी पर्वत की पूर्वी ढाल पर स्थित पठारी मैदान, पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश के मध्यवर्ती पठार, ग्रेट वेसिन, कैलिफोर्निया का रेगिस्तानी भाग, कैनाडा के सस्केचवान, अलवर्टा, मेकेंजी, पूर्वी ब्रिटिश कोलविया, यूकन पठार के पश्चिमी तथा उत्तरी प्रात और अलास्का का उत्तरी भाग समिलित है।

वनस्पति, जीवजतु—महाद्वीप में टुड्रा से लेकर उष्ण कटिबध तक सभी प्रकार की जलवायु मिलने के कारण सभी प्रकार की वनस्पतियाँ मिलती है। उत्तरी सागर के तटीय भागो में टुड्रा वनस्पति तथा दक्खिन में भोजपत्र, चिनार एव नम्रा (विलो) आदि उगते है। इसके दक्षिण में लगभग ३,००० मील लवा और ६० मील चौडा भाग कोणधारी वनो (सरो, देवदारु, पोपलर इत्यादि के वृक्षो) से आच्छादित है। पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र के उत्तरी भागो में कोणधारी तथा दक्षिण में पतझडवाले वृक्ष (ओक, चेस्टनट, एल्म, मेपुल आदि) है। पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश के उत्तरी भागो में सरो, देवदारु आदि तथा दक्षिणी भागो में डगलस फर, रेड सीडर (रक्त देवदारु) आदि मुख्य है। मेक्सिको क्षेत्र में उष्ण कटिवधीय (महोगनी आदि के) वन मिलते है। पर्वतीय भागो में पर्वतीय वनस्पतियाँ प्राप्य हैं। इन पर्वतीय भागो को छोडकर अधिकाश शुष्क पठारी भागो में मरु तथा अर्वमरु वनस्पतियाँ (सेंहुड, नागफली इत्यादि) मिलती है। मध्यवर्ती मैदान के पूर्वी भागो में लबी घासें तथा पश्चिमी भागो मे छोटी घासें प्रमुख वनस्पति है। कृषि तथा चरागाहो की वृद्धि के साथ मनुष्य के विनाशकारी कार्यो द्वारा प्राकृतिक वनस्पति का अत्यधिक ह्रास हुआ है।

उत्तरी अमरीका के पशुपक्षी यूरेशिया के पशुपक्षियो से अधिक मिलते जुलते है। छछूंदर, शल्यक (आर्माडिलो), साही, प्रेअरी कुत्ता, रॉकी

पर्वतीय बकरी आदि पशु तथा वाल्टिमोर काचन (ओरिओल), काउ वर्ड, रालभाश (फ्लाइ कैचर), कैलिफोर्निया वटेर (क्वेल) आदि पक्षी उत्तरी अमरीका की विशेषताएँ है। कुछ पक्षी दक्षिण अमरीकी पक्षियो से भी मिलते जुलते है।

जनसख्या—उत्तरी अमरीका की कुल जनसख्या २२,११,५५,००० है जिसमे सयुक्त राज्य १७,३६,४६,००० (१९५७), कैनाडा १,६०,८०,००० (१९५६) तथा मेक्सिको ३,१४,२६,००० (१९५६) है। अत प्रति वर्ग मील जनघनत्व सयुक्त राज्य मे ५६ ७, कैनाडा में ४ २ और मेक्सिको मे ४१ ३ है। इन भूभागो में जनसख्या का वितरण अत्यत विषम है। अलास्का में लगभग पौने तीन वर्ग मील पर एक मनुष्य, और नेवादा मे प्रति वर्ग मील पर दो मनुष्य है तथा दूसरी ओर मैसाचुसेट्स और रोड आइलैंड आदि राज्यों में प्रति वर्ग मील ५५० से भी अधिक मनुष्य निवास करते है। सयुक्त राज्य में १००° पश्चिमी देशातर रेखा के पश्चिम स्थित राज्यो मे घनत्व कम है। कैनाडा की ९० प्रति शत जनसख्या दक्षिणी भाग (ऐटलाटिक तट), सेंट लारेंस की घाटी, वडी झीलो के भूभाग तथा प्रेअरीज प्रदेश मे स्थित है। अत उत्तरी अमरीका का मध्य-उत्तर-पूर्वी भाग ससार के चार सर्वाधिक घने आवाद क्षेत्रो मे से एक है। मेक्सिको मे जनसख्या का वितरण अपेक्षाकृत कम विषम है, परतु आवादी कर्क रेखा के दक्षिणस्थित सँकरे भाग तथा आनावाक नामक पठार पर पाई जाती है। उत्तरी अमरीका की जनसख्या की वृद्धि में ससार के अन्य देशो की अपेक्षा वाहर से व्यक्तियो के आने का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। कृषि, उद्योग तथा यातायात की वृद्धि के साथ साथ वितरण की विषमता कम हो रही है।

१९५० ई० में सयुक्त राज्य की ६४ प्रति शत जनता २,५०० निगमित नगरो मे थी, जो पर्याप्त वडे नगर है। कैनाडा (१९४१) मे ५६ ३ प्रति शत तथा मेक्सिको (१९३०) मे केवल ३३ ५ प्रति शत जनसख्या नगरो मे निवास करती थी। शहरी जनसख्या का अनुपात दिनानुदिन वढ रहा है।

नगर—जनसख्या की वृद्धि के साथ साथ महाद्वीप में नगरो का विकास भी दिनानुदिन होता जा रहा है। दस लाख से अधिक जनसख्यावाले नगर महाद्वीप में १५ है जिनमे से कैनाडा में १ (मौंट्रियल १६,२०,७५८) मेक्सिको मे १ (मेक्सिको सिटी २२,३४,७७५), एव सयुक्त राज्य में १३ है न्यूयार्क (१,२९,११,९९४), शिकागो (५४,९५,३६४), लॉस ऐजिल्स (४३,६७,९११), फिलाडेलफिया (३६,७१,०४८), डिट्रायट (३०,१६,१९७), वोस्टन (२३,६७,९८६), सैन फ्रैंसिस्को (२२,४०,७६७), पिट्सवर्ग (२२,१३,२३६), सेंट लुई (१६,८१,२८१), क्लीवलैंड (१४,६५,५११), वाल्टिमोर (१३,३७,३७३), मिनियापोलिस-सेटपाल (११,१६,५०९) तथा वफेलो (१०,८९,२३०)। ये सभी नगर वडे निगमित क्षेत्र है जिनमे प्रधान नगर पर आश्रित आसपास के उपनगरो की भी जनसख्या समिलित है। इनमें से अधिकाश नगर उद्योगप्रधान तथा व्यापारिक है। सयुक्त राज्य के १४ वडे निगमित नगरो मे से, जहाँ देश की लगभग ३०% जनता रहती है, १० उद्योगप्रधान उत्तर-पूर्वी भाग में, २ पश्चिमी तट पर, तथा दो मध्य के कृषिप्रधान मैदान मे स्थित है। इन १४ मे से न्यूयार्क, फिलाडेलफिया, वोस्टन एव वाल्टिमोर, जो ऐटलाटिक तट पर हैं, और लास ऐजिल्स एव सैन फ्रैंसिस्को, जो पश्चिमी तट पर है, सर्वप्रमुख वदरगाह एव औद्योगिक नगर है। शिकागो, पिट्सवर्ग, सेट लुई, डिट्रायट, क्लीवलैंड तथा वफेलो देश के भीतरी भाग में मुख्य सग्राहक, वितरक एव औद्योगिक नगर है। इसी प्रकार महाद्वीप मे पाँच लाख से अधिक तथा दस लाख से कम आवादीवाले नगर १९ है जो सभी सयुक्त राज्य मे है। सब मिलाकर एक लाख से अधिक जनसख्यावाले नगर १२७ है, जिनमे से मेक्सिको मे १०, कैनाडा मे ११ एव सयुक्त राज्य में १०६ हैं।

निवासी तथा भाषाएँ—सयुक्त राज्य (१९५०) में ८९ ५% श्वेत जाति के तथा १०% हब्शी है। कैनाडा मे ९८% श्वेत और केवल १ १ हब्शी तथा रेड इडियन है। मेक्सिको मे मेस्तीजो (मिश्रित श्वेत-रेड इडियन) ६०%, इडियन २९% एव स्वच्छ श्वेत वर्णवाले केवल १०% है। सयुक्तराज्य में श्वेत और काले का भेदभाव अधिक है। सयुक्त राज्य में ७८ ६% जनता अग्रेजी, ४ २०% जर्मन तथा शेष अन्य यूरोपीय भाषाएँ बोलती है। कैनाडा मे ६६ १% अग्रेजी, १९ ६% फ्रेच, १३ २% अग्रेजी फ्रेच दोनो तथा १ १% लोग इडियन तथा अन्य भाषाएँ वोलते है। मेक्सिको मे अधिकतर लोग स्पेनिश तथा केवल ६% लोग इडियन भाषाएँ व्यवहार में लाते है।

कृषि—उत्तरी अमेरीका की कृषि जलवायु, मिट्टी, धरातल और वाजार, नए आविष्कारो आदि तथा यातायात के साधनो द्वारा प्रभावित हुई है। इस महाद्वीप में कृषिक्षेत्र विभिन्न प्राकृतिक एव मानसिक सुविधाओ के कारण उसी प्रकार भू-भाग-विशेष मे केद्रित है जिस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र। यहाँ की खेती व्यापारिक ढग पर वडे पैमाने पर होती है, अत अधिकाधिक लाभ उठाने एव प्रतिद्वद्वितापूर्ण वाजारो मे सुविधा प्राप्त करने के लिये यहाँ विशेष प्रकार की खेती उन विशेष क्षेत्रो मे होती है जहाँ सभी सुविधाएँ सर्वाधिक उपलब्ध है। उदाहरणत कैनाडा के प्रेअरीज़ और सयुक्त राज्य के मिसिसिपी मैदान के उत्तर-पश्चिमी भाग मे गेहूँ, मध्यवर्ती भाग मे मक्का तथा दक्षिणी भागो मे कपास आदि फसलो के लिये श्रेष्ठतम जलवायु एव धरातल तथा मिट्टी पाई जाती है, वाजार भी समीप है, मशीनो से कार्य हो सकता है, अत ये क्षेत्र इन फसलो के लिये ससारप्रसिद्ध है। यद्यपि इन क्षेत्रो में अन्य फसलो की भी खेती होती है, पर सवधित क्षेत्र की मुख्य फसल के नाम पर ही उन्हे सवोधित किया जाता है।

इस महाद्वीप ने ससार को तीन मुख्य फसले प्रदान की है—मक्का, तवाकू और आलू। प्रथम उपनिवेशियो को जगल काटने, मिट्टी को उपजाऊ वनाने, पानी की सुविधा प्राप्त करने, कीडो तथा अन्य प्राकृतिक आपत्तियो का सामना करने मे वडी कठिनाई झेलनी पडी थी। मजदूरो की कमी के कारण कृषि के नए नए औजारो का आविष्कार हुआ। फलत आज यहाँ २० प्रति शत से कम ही लोग कृषि में लगे है (सयुक्त राज्य मे केवल १६ ५%)। महाद्वीप के मध्यवर्ती वडे मैदान के उत्तरी भाग मे ग्लेशियर द्वारा विछाई हुई नरम एव उपजाऊ मिट्टी, दक्षिणी भाग मे नदियो द्वारा लाई हुई जलोढ मिट्टी तथा प्रेअरीज़ के घास के मैदान की काली मिट्टी अत्यत उपजाऊ है। इसके अतिरिक्त यहाँ खाद का अधिकाधिक प्रयोग होता है। खतो के चक वहुत वडे वडे (कैनाडा मे लगभग १/४ वर्ग मील, सयुक्त राज्य मे १६०-५०० एकड) है, अत मशीनें आसानी से प्रयुक्त होती है। देशी तथा विदेशी वाजार निश्चितप्राय एव वडे है, अत किसान को विक्री की निश्चितता रहती है। इसलिये इस महाद्वीप मे गेहूँ, मक्का, जई, कपास, मास और दूध की वनी वस्तुओ का उत्पादन ससार मे सर्वाधिक होता है। पानी की असुविधावाले पश्चिमी क्षेत्रो में सिंचाई तथा अन्य कार्यो के लिये विशाल वहुधधी योजनाएँ कार्यान्वित की गई है, जिससे कैलिफोर्निया जैसा मरुसदृश भूभाग सयुक्त राज्य का उद्यान हो गया है। कैलिफोर्निया के इन सिंचित क्षेत्रो, मिशिन झील के पास के क्षेत्र एव दक्षिणी तटीय भाग मे सयुक्त राज्य के मुख्य फल उगाए जाते है।

खनिज साधन—यह महाद्वीप खनिज सपत्ति मे वहुत समृद्ध है। शक्ति के प्रमुख खनिज—कोयला एव तेल—की न केवल मात्रा विशाल है, कोटि भी उच्च है, साथ ही औद्योगिक विकास के लिये इनका वितरण भी अत्यत सुविधापूर्ण है। यह महाद्वीप ससार का सवसे वडा कोयले एव मिट्टी के तेल का उत्पादक है। प्रति वर्ष ६० करोड टन कोयला उत्पन्न होता है और ससार के मिट्टी के तेल का ५७% यही निकलता है। चीन के वाद कोयले का भाडार यही सर्वाधिक है। यह ससार के ८०% से भी अधिक ऐंथ्रासाइट कोयले का उत्पादन करता है। यहाँ विटूमिनस एव लिग्नाइट कोयले के भी विशाल भाडार पाए जाते है। कैनाडा के विभिन्न क्षेत्रो—नोवा स्कोशिया, न्यू व्रजविक एव पश्चिमी रॉकी क्षेत्रो में, और सयुक्त राज्य के पूर्वी पर्वतीय प्रदेश मे (जहाँ अधिकाश उद्योग-धधे विकसित है) अधिकाश कोयला मिलता है। शेष कोयला मैदानी दक्षिणी तटीय भाग, पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश, अलास्का तथा मेक्सिको मे मिलता है। ससार का ३०% तेल भाडार यहाँ है। तेल कैनाडा के ओंटेरियो प्रात, मेक्सिको के पूर्वी तट तथा सयुक्त राज्य मे दक्षिणी और मध्यवर्ती भाग एव कैलिफोर्निया तथा अलास्का मे प्राप्य है। प्राकृतिक गैस मे भी सयुक्त राज्य तथा कैनाडा धनी है। इन खनिज शक्तियो के अतिरिक्त उत्तरी अमरीका जलविद्युत् शक्ति मे भी समृद्धिशाली है और ससार के कुल विकसित जलविद्युत् का ४० प्रति शत इसी महाद्वीप मे है। यूरेनियम का भी यहाँ समुचित भाडार है।

इनके अतिरिक्त उत्तरी अमरीका ससार के लोहा, चाँदी, निकेल, गधक, फॉस्फेट, ऐस्बेस्टस, ताँवा, सीसा एव जस्ता का सबसे वडा उत्पादक एव उपभोक्ता है। कैनाडा के कई क्षेत्रो के अतिरिक्त वडी झीलो के प्रदेश में, जहाँ झीलो द्वारा सर्वाधिक सस्ता यातायात साधन प्राप्य है, लौह-भाडार है जहाँ से महाद्वीप का ८०% लोहा निकलता है। कैनेडियन शील्ड में ससार का ३३% सोना, ८५% निकेल एव ५०%कोवाल्ट के अतिरिक्त पिचब्लेंड (जिससे ससार का ४०% रेडियम मिलता है), चाँदी, प्लैटिनम, ताँवा, तथा अन्य कई धातुएँ निकलती है। महाद्वीप मे सोना कैनाडा के ओटेरियो एव क्वेवेक प्रात और सयुक्त राज्य के कैलिफोर्निया, कौलोरैडो, नेवादा एव-अलास्का क्षेत्रो में मिलता है, ताँवा मैकेंजी की घाटी, क्वेवेक प्रात, सयुक्त राज्य के पश्चिमी राज्यो एव सुपीरियर झील के दक्षिण में मिलता है, सीसा, जस्ता एव चाँदी सयुक्त राज्य के पश्चिमी तथा मध्य-दक्षिणी राज्यो और मेक्सिको मे उपलब्ध है। ससार का ७५% गधक केवल लूइज़ियाना एव टेक्सास में निकाला जाता है। फास्फेट पश्चिमी क्षेत्रो एव फ्लोरिडा तथा आसपास के क्षेत्रो मे प्राप्त होता है। ऐल्युमिनियम (सयुक्त राज्य मे ससार का केवल ३%), मैंगनीज़ तथा मॉलिब्डेनम को छोडकर अन्य धातु तथा खनिज, जैसे हीरा एव अन्य मणियाँ, प्लैटिनम, ऐंटिमनी, पारा आदि की इस महाद्वीप मे केवल सीमित पूर्ति हो पाती है और कुछ को पूर्णतया आयात करना पडता है। प्राप्य खनिज साधनो का महाद्वीप ने सर्वाधिक विकास एव उपयोग किया है।

उद्योग धधे तथा औद्योगिक क्षेत्र—उत्तरी अमरीका कृषि, जगल काटने एव लकडी पैदा करने, मछली मारने, खनिज खोदने के अतिरिक्त उद्योग-धधो के लिये भी सुप्रसिद्ध है। उपनिवेशियो ने यहाँ पूर्वी तट पर आकर छोटे छोटे व्यवसाय करना आरभ किया और शनै शनै सेंट लारेंस की घाटी, वडी झीलो के प्रदेश, एव मध्यवर्ती वडे मैदानो में व्यवसायो की उन्नति हुई। सयुक्त राज्य एव कैनाडा के औद्योगिक क्षेत्र एक दूसरे से मिले हुए हैं। इनमे वडी झीलो, रेलो, सडको एव समूहो द्वारा सस्ते यातायात का साधन, पास ही मे प्राप्य लोहा एव कोयला, घनी आवादी, कृषि सवधी एव वानस्पतिक कच्चे मालो की सुविधा, वडे स्थानीय वाजार तथा वडे वदरगाहो द्वारा जुडा हुआ अतर्राष्ट्रीय वाजार, स्थायी सरकारी सुरक्षा, प्रलयकर महायुद्धो से सुरक्षा, सुदक्ष श्रमिक एव अधिकाधिक पूँजी की सुविधा और उद्योगो के पूर्वारभण के सवेग आदि के कारण ससार के वडे से वडे उत्पादक तथा औद्योगिक क्षेत्र विकसित हो गए हैं। कैनाडा के (१) समुद्रप्रातीय क्षेत्र, (२) क्वेवेक-ओटेरियो-मॉण्ट्रियल क्षेत्र, सयुक्त राज्य के (३) ईरी-क्लीवलैंड-वफेलो क्षेत्र, (४) पिट्सवर्ग-यग्स्टाउन क्षेत्र, (५) न्यू इग्लैंड स्टेट्स क्षेत्र तथा न्यूयार्क-पेन्सिलवेनिया के विभिन्न औद्योगिक क्षेत्र जो विशेष उद्योगो मे सलग्न है, (६) मध्यवर्ती ऐटलाटिक तटीय क्षेत्र, (७) दक्षिण का वर्जीनिया-ऐलावैमा क्षेत्र, (७) मिशिगन क्षेत्र (शिकागो-गैरी) तथा (८) सिनसिनाटी-इडियानापोलिस क्षेत्र उत्तर अमरीका के प्रमुख औद्योगिक क्षेत्र हैं। इनमे लोहे एव इस्पात, धातु एव मशीन, इजीनियरिंग, मोटर तथा साइकिल, जहाज, सूती, ऊनी तथा अन्य कपडे, खाद्य पदार्थ, कागज, फर्नीचर आदि के तथा विभिन्न अन्य सैकडो उद्योग विकसित हैं। ये औद्योगिक क्षेत्र विशेष उद्योगो के लिये लब्धप्रतिष्ठ है, उदाहरणत डिट्रायट मोटर-कारो के लिये, पिट्सवर्ग इस्पात के लिये, न्यू इग्लैंड राज्य विशेष प्रकार के कपडो के लिये, दक्षिणी ऐलावैमा क्षेत्र लोहा, इस्पात एव मोटे तथा मध्यम श्रेणी के कपडो के लिये तथा सेंट लारेंस नदी की घाटी कागज के व्यवसाय के लिये। इनके अतिरिक्त ऊँचे मैदानी क्षेत्रो में से डेनवर औद्योगिक क्षेत्र, पश्चिमी तट पर लॉस ऐजिलस क्षेत्र, एव सैनफ्रान्सिस्को-सिएटल-पोर्टलैंड क्षेत्र मे उद्योग विकसित हो रहे है और ये पश्चिम की माँगो की पूर्ति कर रहे है। डेनवर मे लोहे, इस्पात एव अन्य धातुओ के कार्य, पश्चिमतटीय क्षेत्रो मे फर्नीचर, कागज, मछली के व्यवसाय तथा लॉस ऐजिलस में वायुयान तैयार करने, फिल्म वनाने एव फलो सवधी व्यवसाय पनप रहे है। कैनाडा के वैंकूवर क्षेत्र मे भी इसी प्रकार के उद्योग विकसित हो रहे हैं। मेक्सिको में टैपिको एव वेराक्रूज नगरो के निकट सूती कपडो एव डुरेंगो, टोरेन और मोटरे में लोहे एव इस्पात के उद्योग विकसित है।

यातायात के साधन—उत्तरी अमरीका मे यातायात के आधुनिक साधन वहुत सुविकसित और समृद्ध हैं। महाद्वीप के यातायात एव उसके साधन तीन प्रमुख वातो द्वारा प्रभावित हुए है। प्रथम, इस महाद्वीप मे यूरोपीय जनसख्या अटलाटिक महासागर के तट पर धीरे धीरे वढती गई और जैसे जैसे स्थानाभाव हुआ, महाद्वीप के भीतर पश्चिम की ओर विकसित होती गई। द्वितीय, लोगो को प्राकृतिक अडचनो का सामना करना पडा, परतु पूर्वी पर्वतीय प्रदेश मे कुछ नदियो की घाटियाँ ऐसी थी जिनमे होकर महाद्वीप के भीतरी भागो मे प्रवेश करना सरल था। अत ऐटलाटिक समुद्रतट से सेंट लारेंस नदी की घाटी, हडसन-मोहाक नदी की घाटी सस्क्वेहाना एव पोटोमैक नदियो की घाटियाँ—तथा मेक्सिको की खाडी की दिशा से मिसीसिपी-मिसौरी की घाटियो से होकर जनसख्या का प्रवेश प्रारभ हुआ। वर्तमान तट से आरभ होनेवाली रेलें तथा पक्की सडकें देश के भीतरी भागो मे इन्ही मार्गो से होकर जाती है और पुन पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश के नीचे दर्रों को पार करती हुई ऐटलाटिक तट तथा प्रशात महासागरीय तट को एक दूसरे से मिलाती हैं। तृतीय, जहाँ जहाँ जनसख्या का घनत्व अधिक है, वहाँ वहाँ आवागमन के साधन अधिक विकसित हैं। कैनाडा के उत्तरी क्षेत्र, अलास्का के छोटे छोटे एकाकी नगर एव पश्चिमी सयुक्त राज्य मे बसी वस्तियाँ आधुनिक वायुयान सेवाओ से लाभ उठाती हैं। कृषि, खनिज एव औद्योगिक उन्नतिवाले क्षेत्रो मे रेलो, सडको तथा हवाई जहाजो के मार्गों का घना जाल विछा हुआ है। कैनाडा का दक्षिण-पूर्वी घना वसा क्षेत्र तथा सयुक्त राज्य का उद्योगप्रधान उत्तर-पूर्वी क्षेत्र ससार के सर्वाधिक विकसित क्षेत्र हैं जहाँ यातायात के साधन सर्वाधिक विकसित हैं।

उत्तरी अमरीका मे न केवल समुद्री मार्गो द्वारा, प्रत्युत सेंट लारेंस तथा पाँच वडी झीलो एव मिसिसिपी-मिसौरी द्वारा यातायात होता है। वडी झीलें नहरो द्वारा जोड दी गई हैं जिनमें हजारो जहाज चला करते हैं। ससार की २९% रेलें, ३५% समुद्री जहाज, ४८% हवाई जहाज तथा ७०% मोटरें केवल सयुक्त राज्य (अमरीका) मे हैं। पैनामा नहर (१९०७) ने अमरीका के सवध सुदूर पूर्व एव दक्षिणी अमरीका से वढा दिए हैं।

कैनाडा की ट्रैंस काटिनेंटल रेलवे, कैनेडियन पैसिफिक रेलवे, कैनेडियन नेशनल रेलवे तथा सयुक्त राज्य की उत्तरी पैसिफिक रेलवे, यूनियन पैसिफिक रेलवे, सेंट्रल पैसिफिक रेलवे तथा दक्षिणी पैसिफिक रेलवे ससार की सर्वाधिक लवी रेलो में से है जो एक छोर से दूसरे छोर को मिलाती हैं। इसी प्रकार सडको का भी जाल सा विछा हुआ है। उत्तरी अमरीका का कोई भी क्षेत्र, जहाँ मनुष्य के लिये कुछ भी आर्थिक साधन प्राप्य हैं, हवाई मार्गो से अछूता नही है। अलास्का तथा कैनाडा के उत्तरी भाग में, जो वहुत ही ठढे हैं, वायुयान की अनिवार्य सेवाएँ हैं। आज राजनीतिक परिस्थितिवश ध्रुव प्रदेशो मे भी हवाई मार्ग स्थापित हो गए हैं।

व्यापार—पूर्वोक्त साधनो के विकसित होने के कारण महाद्वीप में वडे वडे सग्रहण तथा वितरण केंद्र स्थापित हो गए हैं जो समुद्रतट पर स्थित वदरगाहो द्वारा सुविधापूर्वक आयात निर्यात करते है। पूर्वी तट पर वोस्टन, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया एव वाल्टिमोर, मेक्सिको की खाडी के तट पर न्यू ओरलियस एव गैलवेस्टन, पश्चिमी तट पर लॉस ऐजिल्स, सैन फ्रासिस्को,वैंकूवर आदि तथा वडी झीलो पर फोर्ट विलियम, पोर्ट आर्थर, शिकागो, क्लीवलैंड, ईरी, वफेलो तथा वडी झीलो एव सेंट लारेंस की नहरें जुड जाने से क्वेवेक, ओटेरियो आदि वडे वदरगाह वन गए हैं।

उत्तरी अमरीका अपने अपार खनिज तथा कृषि सवधी एव औद्योगिक साधनो के विकसित होने के कारण व्यापार मे वहुत वढा चढा है। यह महाद्वीप उष्ण, शीतोष्ण तथा शीत, तीनो कटिवधो मे फैला हुआ है। यहाँ विभिन्न प्रकार की मिट्टी और जलवायु उपलब्ध हैं। अत यहाँ अनेक प्रकार की उपजें होती हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ के लोग स्थानीय, देशी तथा विदेशी वाजारो के लिये व्यापारिक फसलें उगाते हैं। विभिन्न कृषि एव वानस्पतिक क्षेत्रो में लोग वस्तुविशेष के उत्पादन मे विशेष योग्यता प्राप्त कर लेते हैं—जैसे, प्रेअरीज़ मैदान मे गेहूँ मे, मक्का क्षेत्र में मक्का में, गव्यशाला क्षेत्र (डेयरी वेल्ट) में दूध के वने सामान में, कपास क्षेत्र में कपास में तथा कैनाडा के उत्तरी कोणधारी वनो में लकडी तथा उससे वने सामानो मे, अपनी केवल एक प्रकार की वस्तुओ की विक्री करने के कारण उन्हें अपनी आवश्यकता की हजारो वस्तुएँ खरीदनी पडती हैं। अत व्यापार की मात्रा इस महाद्वीप में सर्वाधिक है। इस महाद्वीप के लोगो ने

न केवल वानस्पतिक एव कृषीय साधनो का, प्रत्युत सामुद्रिक (मछली आदि), खनिज तथा औद्योगिक सभी साधनो का, अधिकाधिक विकास किया है। फलत यहाँ का निवासी ससार का सबसे बडा विक्रेता, सबसे बडा उपभोक्ता एव सबसे धनी खरीदार है।

सयुक्त राज्य के निवासियों का जीवनस्तर ससार मे उच्चतम है, यहाँ का अतर्देशीय व्यापार इस देश के अतर्राष्ट्रीय व्यापार से दस गुना और समग्र ससार के अतर्राष्ट्रीय व्यापार से तीन गुना बडा है। १८९० ई० तक यह देश अधिकाशत कच्चे माल विदेशो को भेजता था, परतु अब दिनानुदिन पक्के माल का निर्यात बढता जा रहा है। इस देश ने दो महायुद्धो में अपनी महाद्वीपीय शाति का लाभ उठाकर बहुत से बाजारो पर अपना अधिकार जमा लिया है। १९०० ई० में विदेशी व्यापार २,००,००,००,००० डालर का हुआ और १९५० में यह व्यापार बढकर १०,२७,५०,००,००० डालर का हुआ। निर्यात की वस्तुओ में महत्व के क्रमानुसार मशीनें, कपास, सूती कपडे, गेहूँ, आटा, मोटरकार आदि, लोहा, इस्पात, इस्पात के सामान, पेट्रोलियम तथा उससे सबधित अन्य सामान, तबाकू, मास आदि हैं। आयात में कॉफी, ऊन तथा ऊनी कपडे, धातुएँ, कागज, रबर, चीनी, चाय, पेट्रोलियम, ऊर्णाजिन (फर), फल, खनिज, कच्चा लोहा, रत्न आदि प्रमुख हैं। कैनाडा इसका मुख्य स्रोत है।

कम आबादी रहते हुए भी कैनाडा ससार के देशो में प्रसिद्ध व्यापारिक देश है। निर्यात में वानस्पतिक वस्तुओ—कई प्रकार के कागज, लकडी की लुग्दी आदि—में प्रथम तथा कृषीय उपज—गेहूँ तथा आटे—में इसका द्वितीय स्थान है। ऐल्युमिनियम, निकेल, मछली तथा तत्सबधी वस्तुओ, ऊर्णाजिन (फर), ताँबा एव अन्य धातुओ तथा कुछ पक्के माल, मोटरकार, बिजली के सामान आदि का निर्यात होता है। आयात वस्तुओ में पक्के मालो, मशीनो आदि का प्रमुख स्थान है तथा पेट्रोलियम, कोयला, कच्चा लोहा, इस्पात, सूती कपडे, पेय वस्तुएँ (कॉफी, चाय), चीनी, रबर आदि का भी आयात होता है। सयुक्त राज्य तथा ब्रिटेन देश इसके सबसे बडे विक्रेता एव खरीदार हैं।

मेक्सिको छोटा सा उष्ण कटिबधीय और अपेक्षाकृत अविकसित देश है, अत यहाँ व्यापार भी अधिक नही है। इसके निर्यात में कच्चे माल—चाँदी, ताँबा, मिट्टी का तेल आदि—है तथा आयात में खाद्यान्न एव मशीनें, लोहे एव इस्पात की वस्तुएँ, वस्त्र, पेय पदार्थ तथा चीनी आदि हैं। दक्षिण अमरीका के देशो से उत्तरी अमरीका का व्यापार बढ रहा है।

उत्तरी अमरीका मे सयुक्त राज्य तथा कैनाडा अपेक्षाकृत नए बसे भूभाग हैं, परतु मेक्सिको की सभ्यता मिस्र देश की तरह प्राचीन है। लगभग ३,००० वर्ष पहले मेक्सिको घाटी में उच्च सभ्यता के लोग रहते थे जो पत्थर, हड्डी, मिट्टी आदि की निर्मित वस्तुओ का प्रयोग करते थे। उसके बाद की 'मय' सभ्यता अत्यत उच्च मानी जाती है। मय जाति के लोगो को कृषि तथा सिंचाई के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, शिल्प, स्थापत्य आदि कलाओ का भी प्रचुर ज्ञान था। तदनतर मध्यकालीन नहुआ, टॉल्टेक, ऐज्टेक आदि लोगो की सभ्यता वहाँ प्रचलित थी। १९२५ ई० में मेक्सिको के फोल्सम नगर के पास पुरातात्विक 'फोल्सम कप्लेक्स' की उपलब्धि से प्राचीनतम मानव का पता चलता है। दक्षिण-पश्चिमी सयुक्त राज्य में सात स्तरोवाली प्यूब्लो सस्कृति के अवशेष भी उपलब्ध हैं।

खोजो से पता चलता है कि अलास्का-साइबेरिया के मध्य स्थित बेरिंग जलडमरुमध्य के द्वारा साइबेरिया से मानव का अमरीका में आगमन हुआ। बर्फीला तथा बीहड मार्ग होने पर भी सर्वाधिक सुगम रास्ता यही था। बेरिंग जलडमरूमध्य के दोनो ओर के निवासी शरीररचना, रग, रूप, भाषा तथा रीति रिवाजो में भी पर्याप्त मिलते जुलते हैं। अमरीका के इडियन जाति के लोग एशिया की मगोल जातियों से, विशेषकर उत्तर-पूर्वी साइबेरिया के निवासियो से, सर्वथा मिलते जुलते हैं। चौडा चेहरा, उभरी हुई गाल की हड्डियाँ तथा भूरा रग उनकी विशेषता है। एस्किमो लोग भी इन्ही की एक उपजाति है। लबा सिर, चौडा चेहरा, पतली नाक, तथा मगोल आँखें इनकी विशेषताएँ हैं। इडियन लोग जैसे जैसे दक्षिण बढते गए, उनका रग काला तथा लबाई कम होती गई।

यद्यपि ८वी एव १२वी सदियो के बीच यूरोप के कुछ निवासी उत्तरी अमरीका में पहुँच गए थे तथापि औपनिवेशिक काल १४९२ ई० के बाद ही प्रारभ हुआ। मेक्सिको, दक्षिण-पश्चिमी सयुक्त राज्य तथा मध्य अमरीका में स्पेनवालो ने सेंट लारेंस की घाटी तथा मिसिसिपी के मुहाने पर फ्रेंच लोगो ने और मध्यवर्ती ऐटलाटिक तटो पर अग्रेजो ने अधिकार जमाया। इटालियन, जर्मन, डच आदि यूरोपियनो ने भी अपनी अपनी बस्तियाँ स्थापित की। महाद्वीप में इनके प्रवेश के साथ साथ अधिक मारे जाने के कारण रेड इडियनो का ह्रास होता गया। यूरोपियनो ने इसी औपनिवेशिक काल में दास के रूप में हब्शियो को लाकर बसाया। एशिया निवासी सबसे बाद में इस महाद्वीप मे पहुँचे हैं। [का० ना० सिं०]

उत्तरी सागर

पूरब मे यूरोप महाद्वीप और पश्चिम में ग्रेट ब्रिटेन से घिरा है। इकोसिना (१९२१) के अनुसार इसकी गहराई और क्षेत्रफल क्रमानुसार ३०८ फुट और २,२२,००० वर्ग मील है। इस प्रकार यह एक उथला सागर है। इसका नितल उस महाद्वीपीय निधाय (कांटिनेंटल शेल्फ) का एक भाग है जिसके ऊपर ब्रिटिश द्वीपसमूह स्थित है। इस निधाय की ढाल (प्रवणता) उत्तर से दक्षिण तक प्राय एक समान है। डॉगर बैंक्स नामक समुद्र में निमग्न बालू का मैदान उत्तरी सागर के मध्य मे स्थित है। इग्लैंड के समुद्रतट के समीप इस सागर की गहराई ६५ फुट है जो पूर्व की ओर बढकर १३० फुट हो जाती है। इस सागर की सामान्य लवणता ३४ से ३५ प्रति सहस्र है।

मछलियाँ—उत्तरी सागर सूक्ष्म जीवो और पौधो मे विशेष रूप से धनी है। इसलिये मछलियाँ इधर प्रचुर मात्रा में, अपने भोजन की खोज मे, आकर्षित होती हैं। फलत उत्तरी सागर विश्व का एक महत्वपूर्ण मत्स्य-उत्पादक क्षेत्र है। मत्स्य के प्राप्तिस्थानो मे डॉगर बैंक्स (शीतकाल मे) और महाद्वीपीय समुद्रतट के समीप स्थित उथले समुद्र (ग्रीष्मकाल में) प्रमुख हैं। पकडी जानेवाली मछलियो में हेरिंग का अनुपात सबसे अधिक रहता है, इसके बाद क्रमानुसार हैडक, कॉड, प्लेन, ह्वाइटिंग, मैकेरल इत्यादि आती हैं। [रा० ना० मा०]

उत्तानपाद

मनु और शतरूपा के पुत्र, उनकी पत्नी सुनृता के ध्रुव, कीर्तिमान् और वसु हुए। पुराणो मे उत्तानपाद की एक और पत्नी सुरुचि बतलाई गई है जिनका पुत्र उत्तम था। ध्रुव के तप और 'अमृतत्व' प्राप्त करने से इस राजा के गौरव की अभिवृद्धि हुई। [च० म०]

उत्पत्ति पुस्तक

बाइबिल के प्रथम ग्रथ का नाम इसीलिये उत्पत्ति (जेनेसिस) रखा गया है कि इसमें ससार तथा मनुष्य की उत्पत्ति (अध्याय १–११) और बाद में यहूदी जाति की उत्पत्ति तथा प्रारभिक इतिहास (अध्याय १२–५०) का वर्णन किया गया है। इस ग्रथ की बहुत सी समस्याओ का अब तक सर्वमान्य समाधान नही हुआ है, फिर भी ईसाई व्याख्याता प्राय सहमत हैं कि उत्पत्ति पुस्तक में निम्न-लिखित धार्मिक शिक्षा दी जाती है—"केवल एक ही ईश्वर है जिसने काल के प्रारभ में, किसी भी उपादान का सहारा न लेकर, अपनी सर्वशक्ति-मान् इच्छाशक्ति मात्र द्वारा विश्व की सृष्टि की है। बाद मे ईश्वर ने प्रथम मनुष्य आदम और उनकी पत्नी हेवा की सृष्टि की, और इन्ही दोनो से मनुष्य जाति का प्रवर्तन हुआ (दे० आदम)। शैतान की प्रेरणा से आदम और हेवा ने ईश्वर की आज्ञा का उल्लघन किया, जिससे ससार मे पाप, विषयवासना तथा मृत्यु का प्रवेश हुआ (दे० आदिपाप)। ईश्वर ने उस पाप का परिणाम दूर करने की प्रतिज्ञा की और अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार ससार को एक मुक्तिदाता प्रदान करने के उद्देश्य से उसने अब्राहम को यहूदी जाति का प्रवर्तक बना दिया (दे० अब्राहम)।"

यद्यपि उत्पत्ति पुस्तक की रचनाशैली पर सुमेरी-बाबुली महाकाव्य एनूमा-एलीश तथा गिलमेश की गहरी छाप है और उसके प्रथम रचयिता ने उसमें अपने से पहले प्रचलित सामग्री का उपयोग किया है जिसका उद्गम स्थान मेसोपोटेमिया माना जाता है, तथापि उत्पत्ति पुस्तक की मुख्य धार्मिक शिक्षा मौलिक ही है। उस ग्रथ की रचना पर मूसा (१५वीं शताब्दी ई० पू०) का प्रभाव सबसे महत्वपूर्ण प्रतीत होता है किंतु उनकी मिश्रित शैली से स्पष्ट है कि मूसा के बाद परवर्ती परिस्थितियो से प्रभावित होकर अनेक लेखको ने उस प्राचीन सामग्री को नए ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। ग्रथ का वर्तमान रूप सभवत आठवीं शताब्दी ई० पू० का है। इनकी

व्याख्या करने के लिये दो तथ्यो को ध्यान मे रखना चाहिए (१) समस्त बाइबिल की भाँति उत्पत्ति पुस्तक का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर धार्मिक ही है। रचयिताओ ने अपने समय की भौगोलिक तथा वैज्ञानिक धारणाओ का सहारा लेकर स्पष्ट करना चाहा है कि ईश्वर ही विश्व तथा उसके समस्त प्राणियो का सृष्टिकर्ता है। अत उस ग्रथ में विश्व के प्रारभ का समय अथवा विज्ञान के अनुसार विश्व का विकासक्रम ढूँढना व्यर्थ है। (२) उत्पत्ति पुस्तक मे प्राय प्रतीको तथा रूपको का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, आदम की उत्पत्ति का वर्णन करने के लिये सृष्टिकर्त्ता को कुम्हार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उस प्रतीकात्मक रचनाशैली का ध्यान रखे बिना उसकी धार्मिक शिक्षा समझना नितात असभव है। अत मध्यपूर्व की प्राचीन भाषाओ तथा उनकी साहित्यिक शैलियो के अनुशीलन के बाद ही उत्पत्ति पुस्तक के प्रतीको तथा रूपको का आवरण हटाकर उसमे प्रतिपादित धार्मिक शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है।

स० ग्र०—ए कैथोलिक कमेंटरी ऑन होली स्क्रिप्चर, लदन १९५३, एच० जे० जॉनसन दि बाइबिल ऐंड दि अर्ली हिस्ट्री ऑव मैनकाइड, लदन १९४३, बी० वाटेर ए पाथ थ्रू जेनेसिस, लदन, १९५७।

[का० बु०]

उत्पल काश्मीर का राजकुल जिसने लगभग ८५५ ई० से ल० ९३९ ई० तक राज किया। अतिम करकोट राजा के हाथ से अवतिवर्मन् ने शासन की बागडोर छीन उत्पल राजवश का आरभ किया। इस राजकुल के राजाओ मे प्रधान अवतिवर्मन् और शकरवर्मन् थे। इस कुल के अतिम राजा उन्मत्तावती के अनौरसपुत्र सूरवर्मन द्वितीय ने केवल कुछ महीने राज किया। उत्पल राजकुल का अत मत्री प्रभाकरदेव द्वारा हुआ जिसके बेटे यश कर को चुनकर ब्राह्मणो ने काश्मीर का राजा बनाया।

[ओ० ना० उ०]

उत्पलाचार्य प्रत्यभिज्ञादर्शन के एक आचार्य। ये काश्मीर शैवमत की प्रत्यभिज्ञा शाखा के प्रवर्तक सोमानद के पुत्र तथा शिष्य थे। इनका समय नवम शती का अत और दशम शती का पूर्वार्ध था। इन्होने प्रत्यभिज्ञा मत को अपने सर्वश्रेष्ठ प्रमेयबहुल ग्रथ 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका' द्वारा तथा उसकी वृत्तियो मे अन्य मतो का युक्तिपूर्वक खडन कर उच्च दार्शनिक कोटि मे प्रतिष्ठित किया। इनके पुत्र तथा शिष्य लक्ष्मणपुत्र अभिनवगुप्त के प्रत्यभिज्ञा तथा क्रमदर्शन के महा-महिम गुरु थे। उत्पल की अनेक कृतियाँ है जिनमे इन्होने प्रत्यभिज्ञा के दार्शनिक रूप को विद्वानो के लिये तथा जनसाधारण के लिये भी प्रस्तुत किया है। इनके मान्य ग्रथ है—(क) स्तोत्रावली (भगवान् शकर का स्तुतिपरक सरस सुबोध गीतिकाव्य), (ख) सिद्धित्रय (अजड प्रमातृ-सिद्धि, ईश्वरसिद्धि (वृत्ति के साथ) और सबधसिद्धि (टीका के साथ), (ग) शिवदृष्टिव्याख्या, यह इनके गुरु सोमानद के 'शिवदृष्टि' ग्रथ का व्याख्यान है जिसका प्रणयन, भास्करी के अनुसार, 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' से पूर्ववर्ती है, (घ) ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका, अपनी 'वृत्ति' नामक लघ्वी तथा 'विवृत्ति' नामक महती व्याख्या के साथ, उत्पलाचार्य का पाडित्य-पूर्ण युक्तिसवलित गौरवग्रथ है जिसपर अभिनवगुप्त ने 'विमर्शिणी' और 'विवृत्तिविमर्शिणी' नामक नितात प्रख्यात टीकाएँ लिखी है। इसी ग्रथ ने इस दार्शनिक मतवाद को 'प्रत्यभिज्ञा' जैसी मार्मिक सज्ञा प्रदान की है।

[ब० उ०]

उत्पाद बौद्ध दर्शन के अनुसार भौतिक तथा मानसिक अवस्थाओं मे एक क्षण भी स्थिर रहनेवाला कोई तत्व नही है। सभी चीजें प्रदीपशिखा की तरह अनवरत अविच्छिन्न रूप से प्रवाहशील है। तो भी, चूंकि हमारा ज्ञान स्थिर कल्पनाओ से बना होता है, उस अनित्यस्वरूप की व्याख्या शब्दो से करना कठिन है। अत बुद्ध के मौलिक अनित्यवाद ने आगे चलकर क्षणिकवाद का रूप ग्रहण कर लिया। इस 'क्षण' की कल्पना अत्यत सूक्ष्म की गई। इसमें उत्पाद, स्थिति, भग के क्षण माने गए। उत्पाद-स्थिति-भग, इन तीन क्षणो का एक चित्तक्षण या रूपक्षण माना गया। आगे चलकर दार्शनिको ने बताया कि परमतात्विक दृष्टि में उत्पाद-स्थिति-भग के तीन क्षण हो ही नही सकते, सत्ता की प्रवाहशीलता तो अविच्छिन्न है।

[भि० ज० का०]

उत्प्रेरण (कैटैलिसिस) रासायनिक क्रिया के उस त्वरण को कहते हैं जो किसी स्वय न बदलनेवाले रासायनिक पदार्थ से उत्पन्न होता है।

सर्वप्रथम सन् १८३५ मे, बर्जीलियस ने कुछ रासायनिक क्रियाओ की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिनमे कतिपय बाह्य पदार्थों की उपस्थिति में क्रिया की गति तो तीव्र हो जाती थी किंतु बाह्य पदार्थ उस क्रिया में कोई भाग नही लेता था। उदाहरणार्थ यदि इक्षु शर्करा (केन शुगर) को अम्लो की उपस्थिति मे गरम करें तो वह बडी शीघ्रता से ग्लूकोस तथा फ्रुक्टोस में परिवर्तित हो जाती है। इस क्रिया में अम्ल कोई भाग नही लेता। वह पुन काम में लाया जा सकता है। बर्जीलियस ने इस क्रिया को 'उत्प्रेरण' की सज्ञा दी तथा उन पदार्थो को 'उत्प्रेरक' (कैटालिस्ट अथवा 'कैटालिटिक एजेंट') के नाम से पुकारा जिनकी उपस्थिति में क्रिया वेग से होने लगती है। ओस्टवाल्ड ने उत्प्रेरक पदार्थो की परिभाषा इस प्रकार दी है "उत्प्रेरक उस पदार्थ को कहते हैं जो किसी रासायनिक क्रिया के वेग को बदल दे, परतु स्वय क्रिया के अत मे अपरिवर्तित रूप मे वर्तमान रहे।" उत्प्रेरक क्रिया के अत मे अपरिवर्तित रहता है, अत उसे पुन काम में लाया जा सकता है। अधिकाश क्रियाओ में उत्प्रेरक प्रतिक्रिया की गति को बढा देता है। ऐसे उत्प्रेरको को धनात्मक उत्प्रेरक कहते हैं, परतु कुछ ऐसे भी उत्प्रेरक हैं जो रासायनिक क्रिया की गति को मद कर देते हैं। ऐसे उत्प्रेरक ऋणात्मक उत्प्रेरक कहलाते हैं।

उत्प्रेरण की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

१ क्रिया के अत में उत्प्रेरक अपरिवर्तित बच रहता है। उसके भौतिक सगठन में चाहे जो परिवर्तन हो जायँ, परतु उसके रासायनिक सग-ठन मे कोई अतर नही होता।

२ उत्प्रेरक पदार्थ की केवल थोडी मात्रा ही पर्याप्त होती है। उत्प्रेरक की यह विशेषता इस तथ्य पर निर्भर है कि वह क्रिया के अत मे अपरिवर्तित रहता है। परतु कुछ ऐसी क्रियाओ में जिनमें उत्प्रेरक एक माध्यमिक अस्थायी यौगिक बनता है, उत्प्रेरक की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

३ उत्प्रेरक उत्क्रमणीय प्रतिक्रियाओ में प्रत्यक्ष और विपरीत दोनो ओर की क्रियाओ को बराबर उत्प्रेरित करता है, अत उत्प्रेरक की उपस्थिति से प्रतिक्रिया की साम्य स्थिति मे कोई परिवर्तन नही होता, केवल साम्य-स्थापन के समय मे ही अतर हो जाता है।

४ उत्प्रेरक नई क्रिया को प्रारभ कर सकता है। यद्यपि ओस्टवाल्ड ने सर्वप्रथम यह मत प्रगट किया था कि उत्प्रेरक नई क्रिया प्रारभ नही कर सकता, तो भी आधुनिक वैज्ञानिको का यह मत है कि उत्प्रेरक नई क्रिया को भी प्रारभ कर सकता है।

५ प्रत्येक रासायनिक क्रिया मे कुछ विशिष्ट उत्प्रेरक ही कार्य कर सकते है। अभी तक वैज्ञानिको के लिये यह सभव नही हो सका है कि वे सभी रासायनिक क्रियाओ के लिये किसी एक ही उत्प्रेरक को काम में लाएँ। यह आवश्यक नही कि किसी एक क्रिया का उत्प्रेरक किसी दूसरी क्रिया को भी उत्प्रेरित करे।

प्राय सभी उत्प्रेरित क्रियाओ को दो भागो मे बाँटा जा सकता है (१) समावयवी उत्प्रेरित क्रियाएँ (समावयवी उत्प्रेरण), (२) विषमा-वयवी उत्प्रेरित क्रियाएँ (विषमावयवी उत्प्रेरण)।

समावयवी उत्प्रेरण—इन क्रियाओ में उत्प्रेरक, प्रतिकर्मक तथा प्रतिफल सभी एक ही अवस्था मे उपस्थित होते हैं। उदाहरणार्थ, सल्फ्यू-रिक अम्ल बनाने की वेश्म विधि में सल्फर डाइआक्साइड, भाप तथा आक्सिजन के सयोग से सल्फ्यूरिक अम्ल बनता है तथा नाइट्रिक आक्साइड द्वारा यह क्रिया उत्प्रेरित होती है। इस क्रिया मे प्रतिकर्मक, उत्प्रेरक तथा प्रतिफल इसी गैसीय अवस्था मे रहते हैं।

विषमावयवी उत्प्रेरण—इन क्रियाओ मे उत्प्रेरक, प्रतिकर्मक तथा प्रतिफल विभिन्न अवस्थाओ में उपस्थित रहते हैं। यथा, अमोनिया बनाने की हावर-विधि में नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन की सयोगक्रिया को फेरिक आक्साइड उत्प्रेरित करता है। सूक्ष्म निकल की उपस्थिति में वानस्पतिक तेलो का हाइड्रोजनीकरण इस प्रकार की क्रियाओ का एक अन्य उदा-हरण है।

कुछ पदार्थ अपनी उपस्थिति से रासायनिक क्रिया के वेग पर प्रभाव नही डालते, परतु कुछ दूसरे उत्प्रेरको की क्रिया को प्रभावित करते हैं। इनमे से उन पदार्थों को जो उत्प्रेरको की क्रियाशीलता को बढा देते है, उत्प्रेरक-वर्धक तथा उन पदार्थों को जो उत्प्रेरको की क्रियाशीलता कम कर देते है, उत्प्रेरकविरोधी या उत्प्रेरक विष कहते हैं।

आत्म उत्प्रेरक—कुछ प्रतिक्रियाएँ ऐसी भी ज्ञात है जिनमे प्रतिक्रया से ही उत्पन्न कोई पदार्थ प्रतिक्रिया के लिये उत्प्रेरक का कार्य करता है। उदाहरणार्थ, एथिल ऐसिटेट के जलविच्छेदन मे जो ऐसीटिक अम्ल प्राप्त होता है, वही एस्टर के जलविच्छेदन की क्रिया को उत्प्रेरित करता है।

उत्प्रेरण के सिद्धात—यद्यपि उत्प्रेरण को समझने समझाने के लिये बहुत पहले से अध्ययन होते चले आ रहे हैं, तथापि इस विषय मे अभी अतिम निष्कर्ष नही निकला है। वैज्ञानिक इसपर एकमत है कि सभी उत्प्रेरक एक ही सिद्धात के अनुसार क्रिया नही करते। उत्प्रेरण की व्यवस्था के लिये दो सिद्धात काम मे लाए जाते हैं। (१) मध्यवर्ती यौगिक सिद्धात, (२) अधिशोषण सिद्धात।

१ मध्यवर्ती यौगिक सिद्धात—यह उत्प्रेरण की व्याख्या के लिये एक रासायनिक सिद्धात है। इसके अनुसार उत्प्रेरक पहले प्रतिकर्मको में से एक के साथ क्रिया करके एक मध्यवर्ती अस्थायी यौगिक बनाता है, फिर वह मध्यवर्ती अस्थायी यौगिक दूसरे प्रतिकर्मको से क्रिया करके प्रतिफल देता है तथा उत्प्रेरक पुन अपनी पूर्वावस्था मे आ जाता है। इसके अनुसार प्रतिकर्मको 'क' तथा 'ख' की सयोजन क्रिया उत्प्रेरक 'ग' की उपस्थिति में निम्नलिखित प्रकार से प्रकट की जाती है

क+ग=क ग (अस्थायी मध्यवर्ती यौगिक),
क ग+ख=क ख+ग,
क+ग=क ग।
क्रिया के अत तक यही क्रम चलता रहता है।

मध्यवर्ती यौगिक सिद्धात के द्वारा कुछ क्रियाओ के उत्प्रेरण की व्याख्या सरल है। परतु अधिकाश विषमावयवी क्रियाओ तथा उत्प्रेरक वर्धको अथवा विषो की क्रियाओ को समझाना कठिन या असभव सा है।

२ अधिशोषण सिद्धात—यह उत्प्रेरण की व्याख्या के लिये भौतिक सिद्धात है। इस सिद्धात के अनुसार प्रतिकर्मक उत्प्रेरक के तल पर घनीभूत हो जाते हैं। इस प्रकार उत्प्रेरक तल पर प्रतिकमको की सांद्रता बढ जाने से मात्रा-अनुपाती-नियम के अनुसार क्रिया का वेग बढ जाता है।

अब उपर्युक्त दोनो सिद्धातो को मिलाकर एक नया सिद्धात प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार उत्प्रेरक पदार्थ के तल पर कुछ सक्रिय केंद्र होते है। इन केंद्रो म अणुओ या परमाणुओ को अधिशोषित करने की क्षमता होती है। अत धातु के तल पर प्रतिकर्मको के घनीभूत होने से सांद्रता तो बढती ही है, जिसके कारण क्रियावेग में वृद्धि होती है, साथ ही इन सक्रिय केंद्रो पर प्रतिकर्मक इनके साथ अस्थायी यौगिक भी बना लेते हैं, जो मध्यवर्ती यौगिक सिद्धात के अनुसार उत्प्रेरण का कार्य करते है।

एजाइमो द्वारा उत्प्रेरण—एजाइम जटिल कार्बनिक पदार्थ होते हैं जो पौधो या प्राणियो से प्राप्त किए जाते है। ये अधिकाश प्रतिक्रियाओ मे अत्युत्तम उत्प्रेरक सिद्ध हुए हैं। पेड पौधो मे होनेवाली लगभग सभी क्रियाओ में एजाइम उत्प्रेरक का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे शरीर में होनेवाली क्रियाओ, विशेपतया भोजन के पाचन मे भी एजाइम उत्प्रेरक का काम करते है।

उपयोग—औद्योगिक तथा रासायनिक क्रियाक्षेत्र मे उत्प्रेरक बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए है। नाइट्रोजन का स्थिरीकरण उत्प्रेरित क्रियाओ का एक साधारण उदाहरण है। पेड पौधो के लिये स्थायी नाइट्रोजन की उपलब्धि नाइट्रेट या अमोनिया के रूप मे होती है। नाइट्रोजन के ये दोनो ही रूप उत्प्रेरको की सहायता से निर्मित होते रहते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के समय लगभग समस्त विश्व मे मोटर आदि वाहनो को चलाने मे जो ईंधन काम मे लाया जाता था वह सब उत्प्रेरको की सहायता से ही तैयार किया जाता था। उत्प्रेरण द्वारा पेट्रोलियम से बहुत से ऐसे पदार्थ बनाए जाते थे जो ईंधन के रूप मे काम में लाए जाते थे। इसके अतिरिक्त उत्प्रेरित क्रियाओ का अन्य महत्व भी है, उदाहरणत ब्यूटाडाईन तथा स्टाइरीन से सश्लिष्ट रबर बनाने, गधकाम्ल के निर्माण, तथा सूक्ष्म खडित निकल की उपस्थिति मे वानस्पतिक तेलो के हाइड्रोजनीकरण द्वारा वनस्पति घी के निर्माण में, इत्यादि।

स०ग्र०—ग्लास्टन टेक्स्ट बुक ऑव फिज़िकल केमिस्ट्री, ऐडवाटेज इन कैटैलिसिस, मेहरोत्रा, आर० सी० भौतिक रसायन की रूपरेखा। [रा० दा० ति०]

उत्प्लव (बॉय, buoy) उन पिंडो का नाम है जो समुद्रतल से बँधे रहते है और समुद्रपृष्ठ पर उतराते रहकर जहाजो को मार्ग की विपत्तियो या सुविधाओ की सूचना देते रहते हैं। उदाहरणत, उत्प्लव सकीर्ण समुद्रो की नौपरिवहन योग्य सीमा सूचित करते है, या यह बताते है कि मार्ग उपयुक्त है, या यह कि उसके अवरोध कहाँ है, जसे पानी के भीतर डूबी हुई विपत्तियाँ या बिखरे हुए चट्टान, सुरग या टारपीडो के स्थल, तार भेजने के समुद्री तार, या लगर छोडकर चले गए जहाजो के छूटे हुए लगर। कुछ उत्प्लवो से यह भी काम निकलता हे कि लगर डालने के बदले जहाज को उनसे बाँध दिया जा सकता है। इनको नौबध उत्प्लव (मूरिंग बॉय) कहते हैं। उद्देश्य के अनुसार उत्प्लवो के आकार और रग मे अतर होता है। ये काठ के कुदे से लेकर इस्पात की बडी बडी सरचनाएँ हो सकती है, जिनमे जहाज बाँधे जाते हैं। उत्प्लव को अंग्रेजी मे 'बॉय' कहते हैं और लश्करी हिंदी मे इसे 'बोया' कहा जाता है। अंग्रेजी शब्द बॉय उस प्राचीन अंग्रेजी शब्द से व्युत्पन्न है जिससे आधुनिक अंग्रेजी शब्द बीकन (beacon, आकाशदीप) की भी उत्पत्ति हुई है। परतु अब बॉय का अर्थ हो गया है उतराना, और उत्प्लव शब्द का भी अर्थ है वह जो उतराता रहे।

जब उत्प्लव नौपरिवहनोपयुक्त सकीर्ण समुद्री मार्ग को सूचित करते है तब ये दक्षिणबाहु उत्प्लव (स्टारबोर्ड हैंड बॉय) या वामबाहु उत्प्लव (पोर्ट-हैड बॉय) या मध्यवाही उत्प्लव (मिड-चैनल बॉय) नाम से अभिहित होते हैं। दक्षिणबाहु उत्प्लव का अभिप्राय है मुख्य प्रवाह की दिशा मे चलनेवाले या बदरगाह, नदी, अथवा मुहाने मे समुद्र की ओर से प्रवेश करनेवाले नौपरिवाहक की दाहिनी ओर पडनेवाला उत्प्लव, तथा वामबाहु उत्प्लव का अर्थ है पूर्वोक्त परिस्थितियो मे बाईं ओर पडनेवाला उत्प्लव। जिस उत्प्लव का शीर्ष पानी के ऊपर शकु (कोन) के आकार का दिखाई पडता है उसे शक्वाकार उत्प्लव कहा जाता है और वह सर्वदा दक्षिणबाहु उत्प्लव होता है। जिस उत्प्लव का शीर्ष पानी के ऊपर चिपटा दिखाई देता है उसे मजूषाकार (कैन) उत्प्लव कहते हैं और वह सर्वदा वामबाहु उत्प्लव ही होता है। जिन उत्प्लवो का सिर पानी के ऊपर गुंबदाकार दिखाई पडता है उन्हें गोलाकार (स्फेरिकल) उत्प्लव कहते हैं और ये मध्यभूमि के छोर को सूचित करते हैं। वे उत्प्लव जो विस्तृत आधार पर खडे रहते हैं और बहुत ऊँचे होते है स्तभ उत्प्लव (पिलर बॉय) कहलाते है। अन्य विशेष उत्प्लवो, जैसे घटोत्प्लव, प्रकाशोत्प्लव, स्वय-ध्वनिकर-उत्प्लव, सीटी उत्प्लव आदि, की भाँति ये स्थितिविशेष के परिचायक होते है। ये समुद्र तट पर या बदर पहुँचने के पहलेवाले मार्ग मे रहते हैं। इसके अतिरिक्त जिन उत्प्लवो मे केवल एक मस्तूल पानी के ऊपर दिखाई पडता है वे दडोत्प्लव (स्पार-बॉय) कहे जाते हैं। कुछ उत्प्लवो के शीर्ष पर विशेष चिह्न भी बने रहते हैं जिनसे समुद्री मार्ग के अन्य ब्योरो या विशेषताओ का पता चलता है। इसी तरह इनपर अकविशेष या नामविशेष भी अकित हो सकता हे। सुगम मार्ग की सूचना देनेवाले उत्प्लवो पर साधारणत आडी या बेडी धारियाँ भी अकित रहती है। हरे रग मे रँगे उत्प्लव से पता चलता है कि यहाँ कोई जहाज नष्ट हो गया है। छोटे जहाजो के पास में प्राय सरक्षक उत्प्लव (वाच बॉय) लगर डाले पडे रहते हैं। इसी प्रकार 'मत्स्योत्प्लव' (डैन बॉय) सूचित करता है कि यह मछली मारने का क्षेत्र है, जहाँ जालो का खतरा है। समुद्र मे शत्रु द्वारा डाले गए विस्फोटक सुरगो के क्षेत्र की सीमा भी वह बता सकता है।

उत्प्लव साधारणतया इस्पात से बनाए जाते हैं। सर्वप्रथम लगभग १८७८ ई० मे उत्प्लवो मे तैलोत्पादित गैस के प्रकाश की व्यवस्था की गई। स्वयचालित रुक रुककर प्रकाश देनेवाले यत्र का उपयोग १८८३ ई० में किया गया। भयावह क्षेत्र, समुद्री तार तथा अन्य विपत्तियो को

सूचित करने के लिये भी उत्प्लवो का उपयोग किया जाता है। सक्रामक रोगग्रस्त यात्रियोंवाले पृथक्कृत जहाजो के रुकने का स्थान निरोधायन-उत्प्लवो (क्वारेंटाइन बॉयो) से मिलता है। यही आदेशपत्र की प्रतीक्षा में खडे जहाज टिकते हैं। कभी कभी अधिकारी लोग गोलदाजी तथा
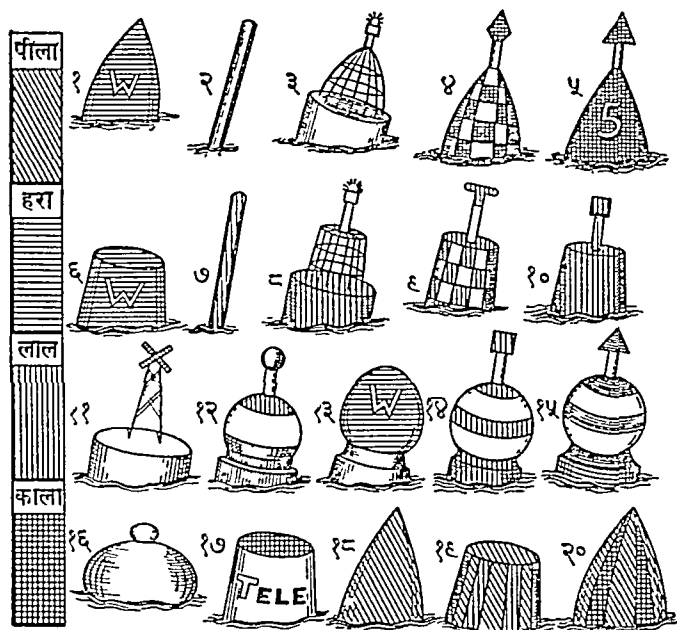
विविध प्रकार के उत्प्लव

१ (हरा) भग्नपोत सूचक उत्प्लव, २ वल्ली उत्प्लव, ३-५ दक्षिण उत्प्लव (जहाज को इस प्रकार चलाना चाहिए कि ये दाहिने हाथ की ओर पडें), ३ प्रकाशवाहक उत्प्लव, ४ और ५ (काला या चितकबरा) दक्षिण उत्प्लव , ६ भग्नपोत सूचक उत्प्लव, (हरा रग, W श्वेत रग मे), ७ (लाल) भग्नपोत सूचक वल्ली उत्प्लव, ८-१० वाम उत्प्लव, ११ स्तभ उत्प्लव, मध्यमार्गदर्शी उत्प्लव, १२ आशकासूचक एकल उत्प्लव, १३ उभय-पार्श्व भग्नपोत उत्प्लव (हरा) (जहाज चाहे दाहिने से, चाहे बाएँ से निकल सकता है), १४-१५ मध्यक्षेत्र उत्प्लव, १६ नौबध उत्प्लव, १७ समुद्री तार सूचक उत्प्लव (काला रगा, अक्षर श्वेत), १८ रोग सूचक (पीला) उत्प्लव (यहाँ वह जहाज बाँधा जाता है जिसपर कोई छुतहे रोगवाला व्यक्ति रहता है), १९ विपत्तिक्षेत्र (पीला तथा लाल), २० नदीमुख तथा पक-क्षेत्र उत्प्लव (काला और पीला)।

बमबाजी के अभ्यास के लिये भी कुछ क्षेत्र नियत कर लेते है, उसके लिये वे विशेष चिह्न के उत्प्लवो (स्पेशल मार्क बॉयो) द्वारा क्षेत्र को अकित करते हैं।

वर्तमान शताब्दी में तरलीकृत ऐसेटिलीन गैस के प्रयोग से उत्प्लवो में प्रकाश लगाने मे विशेष उन्नति हुई है। जहाँ धारा अत्यधिक तीव्र रहती है, जैसे हुगली नदी में, वहाँ की सूचना देने के लिये ऐसे उत्प्लव का कभी कभी उपयोग किया जाता है, जिसमें प्रकाश और घट दोनो रहते हैं। छोटे छोटे प्रकाशपूर्ण उत्प्लवो का उपयोग समुद्र में तार बिछानेवाले जहाज तार की अस्थायी स्थिति दिखाने के लिये करते हैं।

नौबध उत्प्लव बहुत से बदरो में रहते है जिनका उद्देश्य यह रहता है कि जहाज नियत स्थानो पर ही रुकें, अन्यत्र नही, और उन्हें लगर न डालना पडे। ऐसे उत्प्लवो का उपयोग उस समय भी होता है जब जहाज माल उतारने के लिये घाट पर नही बाँधे जाते तथा उस समय भी जब आवश्यकता पडने पर उन्हें लगर उठाना पडता है। नौबध उत्प्लवो का रूप पथप्रदर्शक उत्प्लवो से प्राय भिन्न होता है तथा उनका रग भी भिन्न होता है। बडे बडे जहाजो के लिये बने नौ बध उत्प्लवो में बहुधा पाँच तक भूमि-साँकल होते हैं, जिनमें दोनो सिरो पर लगे पेंच मुख्य साँकल को दृढता से भूमि में बाँध देते हैं। बडे बडे उत्प्लवो में जिन जजीरो का उपयोग किया जाता है वे ३½ इच से ३¾ इच तक मोटी तथा ६०० से ७२० फुट तक लबी होती हैं। [वा० कृ० गु०]

उदयन १.

चद्रवश का राजा और सहस्रानीक का पुत्र। वत्स का नृपति, जिसकी राजधानी कौशावी थी। कौशावी इलाहाबाद जिले में नगर से प्राय ३५ मील पश्चिम बसी थी, जहाँ आज भी यमुना के तीर कोसम गाँव में उसके खडहर हैं।

उदयन सस्कृत साहित्य की परपरा में महान् प्रणयी हो गया है और उसकी उस साहित्य मे स्पेनी साहित्य के प्रिय नायक दोन जुआन से भी अधिक प्रसिद्धि है। बार बार सस्कृत के कवियो, नाट्यकारो और कथा-कारो ने उसे अपनी रचनाओ का नायक बनाया है और उसकी लोकप्रियता के परिणामस्वरूप गाँवो मे लोग निरतर उसकी कथा प्राचीन काल में कहते रहे हैं। महाकवि भास ने अपने दो दो नाटको—स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगधरायण—मे उसे अपने कथानक का नायक बनाया है। वत्सराज की कथा गुणाढ्य की बृहत्कथा और सोमदेव के कथासरित्सागर में भी वर्णित है। इन कृतियो से प्रकट है कि उदयन वीणावादन में अत्यत कुशल था और अपने उसी व्यसन के कारण उसे उज्जयिनी में अवतिराज चडप्रद्योत महासेन का कारागार भी भोगना पडा। भास के नाटक के अनुसार वीणा बजाकर हाथी पकडते समय छद्मगज द्वारा अवतिराज ने उसे पकड लिया था। बाद मे उदयन प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता के साथ हथिनी पर चढकर वत्स भाग गया। उस पलायन का दृश्य द्वितीय शती ईसवी पूर्व के शुगकालीन मिट्टी के ठीकरो पर खुदा हुआ मिला है। एक ऐसा ठीकरा काशी विश्वविद्यालय के भारत-कला-भवन में भी सुरक्षित है। कला और साहित्य के इस परस्परावलबन से राजा की ऐतिहासिकता पुष्ट होती है।

वत्सराज उदयन नि सदेह ऐतिहासिक व्यक्ति था और उसका उल्लेख साहित्य और कला के अतिरिक्त पुराणो और बौद्ध ग्रथो में भी हुआ है। उदयन बुद्ध का समकालीन था और उसने तथा उसके पुत्र बोधी दोनो ने तथागत के उपदेश सुने थे। बौद्ध ग्रथो मे वर्णित कौशावी के बुद्ध के आवास पुनीत घोषिताराम से कौशावी की खुदाई मे उस स्थान की नामाकित पट्टिका अभी मिली है। उदयन ने मगध के राजा दर्शक की भगिनी पद्मावती और अग के राजा दृढवर्मा की कन्या को भी, वासवदत्ता के अतिरिक्त, सभवत व्याहा था। बुद्धकालीन जिन चार राजवशो—मगध, कोशल, वत्स, अवति—में परस्पर दीर्घकालीन सघर्ष चला था उन्ही में उदयन का वत्स भी था, जो कालातर में अवति की बढती हुई सीमाओ में समा गया।

इधर हाल में जो प्राचीन के प्रति भारत का पुनर्जागरण हुआ है उसके परिणामस्वरूप उदयन को नायक बनाकर भारत की प्राय सभी भाषाओ में नाटक और कहानियाँ लिखी गई हैं। इससे प्रकट है कि वत्सराज की साहित्यिक महिमा घटी नही और वह नित्यप्रति साहित्यकारो में आज भी लोकप्रिय होता जा रहा है। [भ० श० उ०]

उदयन २.

न्याय-वैशेपिक दर्शन के मूर्धन्य आचार्य। ये मिथिला के निवासी थे जहाँ, 'करियौन' नामक ग्राम में, इनके वशज आज भी निवास करते हैं। ये अक्षपाद गौतम से आरभ होनेवाली प्राचीन न्याय की परपरा के अतिम प्रौढ नैयायिक माने जाते हैं। अपने प्रकाड पाडित्य, अलौकिक शेमुपी तथा प्रौढ तार्किकता के कारण ये 'उदयनाचार्य' के नाम से ही प्रख्यात हैं। इनका आविर्भावकाल दशम शतक का उत्तरार्ध है। इनकी 'लक्षणावली' का रचनाकाल ९०६ शक (९८४ ई०) ग्रथ के अत में निर्दिष्ट है। इन्होने प्राचीन न्यायग्रथो पर विवेचक भाष्य लिखने के अतिरिक्त अनेक मौलिक ग्रथो की भी रचना की है जिनमें इनकी मौलिक सूझ तथा उदात्त प्रतिभा का पदे पदे परिचय मिलता है। इनकी प्रख्यात कृतियाँ ये है—(१) किरणावली-प्रशस्तपादभाष्य की टीका, (२) तात्पर्यपरिशुद्धि—वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित 'न्यायवार्तिक' की व्याख्या तात्पर्यटीका का प्रौढ व्याख्यान जिसका दूसरा नाम 'न्यायनिबध' है, (३) लक्षणावली—जिसमें वैशेपिक दर्शन का सार सकलित है, (४)

उदयपुर (देखें पृष्ठ ८२)

दरबार हॉल, पिछोला

विजय स्तंभ, चित्तौड

फतेह महल, चित्तौड
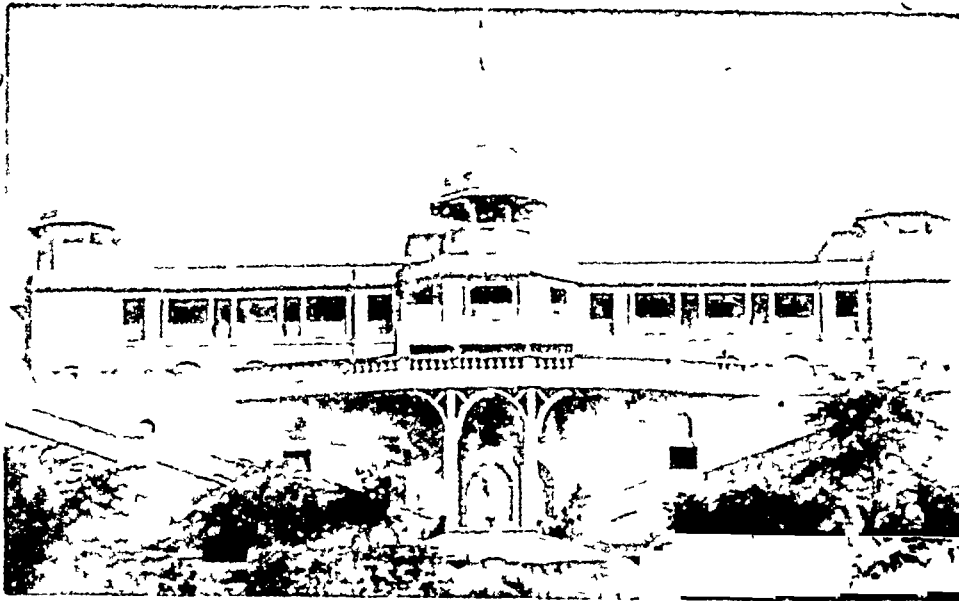
लक्ष्मीविलास महल, उदयपुर

जगनिवास, उदयपुर

कीर्ति स्तंभ, चित्तौड
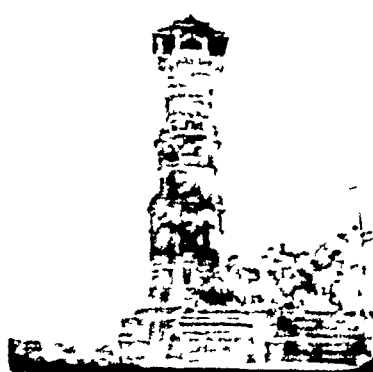
फतेहपुरी महल, चित्तौड

बोधसिद्धि—जो न्यायसूत्र की वृत्ति है जिसका प्रसिद्ध अभिधान 'न्यायपरिशिष्ट' है, (५) आत्मतत्वविवेक—जिसमें बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के सिद्धातो का विस्तार से खडन कर ईश्वर की सिद्धि नैयायिक पद्धति से की गई है। यह उदयन की कृतियो में विशेष प्रौढ तथा तर्कबहुल माना जाता है। रघुनाथ शिरोमणि, शकर मिश्र, भगीरथ ठक्कुर तथा नारायणाचार्य आत्रेय जैसे विद्वानो की टीकाओ की सत्ता इस ग्रथ की गूढार्थता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। परतु उदयन की सर्वश्रेष्ठ कृति है (६) 'न्यायकुसुमाजलि' जिसमें ईश्वर की सिद्धि नाना उदात्त तर्को और प्रौढ युक्तियो के सहारे की गई है। ईश्वरसिद्धि विषयक ग्रथो मे यह सस्कृत के दार्शनिक साहित्य में अनुपम माना जाता है। ध्यान देने की बात है कि न्यायमत में जगत् के कर्तृत्व से ईश्वर की सिद्धि मानी जाती है। बौद्ध नितात निरीश्वरवादी हैं। षड्दर्शनो मे भी ईश्वरसिद्धि के अनेक प्रकार हैं। इन सब मतो का विस्तृत समीक्षण कर आचार्य उदयन ने अपने मत का प्रौढ प्रतिष्ठापन किया है। इनके विषय में यह किवदती प्रसिद्ध है कि जब इनके असमय पहुँचने पर पुरी में जगन्नाथ जी के मदिर का फाटक बद था, तब इन्होने ललकारकर कहा था कि निरीश्वरवादी बौद्धो के उपस्थित होने पर आपकी स्थिति मेरे अधीन है। इस समय आप मेरी अवज्ञा भले ही करें। ऐश्वर्य मद मत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे। उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थिति ॥ सुनते हैं कि फाटक तुरत खुल गया और उदयन ने जगन्नाथ जी के सद्य दर्शन किए। जगन्नाथ मदिर के पीछे बनने के कारण किवदती की सत्यता असिद्ध है।

स०ग्र०—सतीशचद्र विद्याभूषण हिस्ट्री ऑव इडियन लाजिक (कलकत्ता, १९२१), दिनेशचद्र भट्टाचार्य हिस्ट्री ऑव नव्य न्याय इन मिथिला (मिथिला सस्कृत इस्टिट्यूट, दरभगा, १९५८)। [ब० उ०]

उदयपुर राजपूताना का एक देशी राज्य था, अब यह राजस्थान का एक जिला है, उदयपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर भी है।

राज्य—२३° ४९' से २५° २४' उत्तरी अक्षाशो एव ७३° १' से ७५° ४९' पूर्वी देशातरो के मध्य स्थित उदयपुर राज्य (क्षेत्रफल १३,१७० वर्गमील), राजस्थान की वह पुण्य भूमि है जहाँ परपरावद्ध राजपूत गरिमा अक्षुण्ण रूप में समाविष्ट है। इसे मेवाड भी कहते हैं (मेवाड सस्कृत शब्द मेदपाट का अपभ्रश है, जो मेडो अथवा मेत्रो जातिवालो के देश के लिये प्रयुक्त होता है)।

अरावली पर्वत के दक्षिणी छोर पर यह राज्य एक पठार पर विस्तृत है, जो आद्यकल्पिक कठोर चट्टानो द्वारा निर्मित है। इसकी ढाल उत्तर-पूर्व की ओर है। उत्तर एव पूर्व मे राज्य का दो-तिहाई भाग अपेक्षाकृत समतल है जहाँ स्थान स्थान पर एकाकी पथरीली श्रेणियाँ एव बजर भूखड वर्तमान हैं। दक्षिण-पश्चिमी भाग अधिक बीहड, पठारी एव दुर्गम है जिसे बनास नदी की शीर्ष नदियो ने अत्यत छोटी छोटी सँकरी विषम घाटियो के रूप मे काट छाँट डाला है, इन्हे चप्पन कहते हैं। इस क्षेत्र मे भील लोग निवास करते हैं और स्थानातरणशील कृषि मे लगे हैं। राज्य में अनेक कृत्रिम एव प्राकृतिक तालाब तथा झीलें हैं, जिनमे जयसमद या ढेबर (२१ वर्ग मील), राजसमद, उदयसागर, पचोला आदि प्रमुख हैं। कठोर क्वार्टजाइट पत्थर के कारण तालाबो से पानी रसकर बाहर नही निकलता। औसत वार्षिक वर्षा (१०"–२५") की मात्रा अनिश्चित रहती है। यहाँ की मुख्य फसलें ज्वार, बाजरा, गेहूँ, जौ, चना, कपास, तबाकू, तेलहन तथा दलहन हैं। बकरियाँ तथा ऊँट भी पाले जाते हैं। दक्षिण-पश्चिम में थोडा चावल भी होता है।

७२८ ई० मे बप्पा रावल ने मेवाड राज्य को स्थापित किया था। इस राज्य के गौरवशाली राजाओ ने अनवरत स्वातत्र्य युद्ध मे रत रहकर जातीय गौरव की रक्षा की है। ये गुहलौत वशीय शिशोदिया क्षत्रिय हैं और अपना अवतरण सूर्यवशी रामचद्र से मानते हैं। ये रावल, राणा या महाराणा कहलाते हैं। राज्यो मे सम्मिलन के बाद उदयपुर राज्य राजस्थान मे मिल गया है और उदयपुर मात्र एक जिला रह गया है (क्षेत्रफल ६,२१५ वर्ग मील आबादी ११,६१,२३२ १९५१)।

उदयपुर नगर—बबई से ६६७ मील उत्तर उदयपुर-चित्तौर रेलवे के अग्रिम छोर के पास स्थित उदयपुर नगर मेवाड के गर्वीले राज्य की राजधानी है। (जनसख्या १९५१ मे ८९,६२१)। नगर समुद्रतल से लगभग दो हजार फुट ऊँची पहाडी पर प्रतिष्ठित है एव जगलो द्वारा घिरा है। प्राचीन नगर प्राचीर द्वारा आबद्ध है जिसके चतुर्दिक् रक्षा के लिये खाईं खुदी है।

पहाडी के ऊर्ध्व शिखर पर नाना प्रकार के प्रस्तरो से निर्मित महाराणा का प्रासाद, युवराजगृह, सरदारभवन एव जगन्नाथमदिर दर्शनीय हैं। इनका प्रतिबिंब पचोला झील मे पडता है। झील के मध्य मे यज्ञमदिर एव जलवास नामक दो जलप्रासाद हैं।

१५६८ ई० मे अकबर द्वारा चित्तौर के विजित होने पर महाराणा उदयसिंह ने अरावली की गिर्वा नामक उपत्यका मे उदयपुर नगर बसाया। आज यह राजस्थान में जयपुर, जोधपुर और बीकानेर के बाद सबसे बडा नगर है। यह नगर उन्नतिशील है, इसकी जनसख्या ४७,८६३ (१९०१ की) से घटकर ३५,११६ (१९११ की) हो गई थी, पर बाद मे बढने लगी, १९४१ मे जनसख्या ५९,६५८ हुई और १९५१ मे ८९,६२१ हो गई। नगर के ५० प्रति शत से अधिक व्यक्ति पेशेवर एव प्रशासनिक कार्यो तथा लगभग ३८ प्रति शत व्यक्ति उद्योग एव व्यापार मे लगे हैं। उदयपुर मे सोना, चाँदी, हाथीदाँत, जरी, बेलबूटे एव तलवार, खजर आदि बनाने के उद्योग हैं। यह क्षेत्र का प्रमुख शैक्षणिक एव सास्कृतिक केंद्र है।

उदयपुर से दो मील दक्षिण एकलिंगगढ की चोटी पर एक प्रसिद्ध किला है। पास ही मे सज्जननिवास बाग, सज्जनगढ, राजप्रासाद आदि दर्शनीय हैं। [का० ना० सिं०]

उदयसिंह ये मेवाड के राणा साँगा के पुत्र और राणा प्रताप के पिता थे। मेवाड की ख्यातो मे इनकी रक्षा की अनेक अलौकिक कहानियाँ कही गई हैं। पिता के मरने के बाद इनका जन्म हुआ था और तभी गुजरात के बहादुरशाह ने चित्तौड नष्ट कर दिया था। इनकी माता कर्णवती द्वारा हुमायूँ को राखीबद भाई बनाने की बात इतिहासप्रसिद्ध है। शैशव मे ही उदयसिंह को कर्तव्यपरायण धाय पन्ना के साथ वलवीर से रक्षा के लिये जगह जगह शरण लेनी पडी थी। १५४१ ई० मे वे मेवाड के राणा हुए और कुछ ही दिनो बाद अकबर ने मेवाड की राजधानी चित्तौड पर चढाई की। हजारो मेवाडियो की मृत्यु के बाद जब लगा कि गढ अब न बचेगा तब जयमल और पत्ता आदि वीरो के हाथ मे उसे छोड उदयसिंह अरावली के घने जगलो मे चले गए। वहाँ उन्होने नदी की बाढ रोक उदयसागर नामक सरोवर का निर्माण किया था। वही उन्होने अपनी नई राजधानी उदयपुर बसाई। चित्तौड के विध्वस के चार वर्ष बाद उदयसिंह का देहात हो गया। [ओ० ना० उ०]

उदयादित्य मालवा का राजा था जिसने जयसिंह के बाद राजधानी धारा से मालवा पर राज किया। चालुक्यो से सघर्ष पहले से ही चल रहा था और उसके आधिपत्य से मालवा अभी हाल ही अलग हुआ था जब उदयादित्य ल० १०५९ ई० में गद्दी पर बैठा। मालवा की शक्ति को पुन स्थापित करने का सकल्प कर उसने चालुक्यराज कर्ण पर सफल चढाई की। कुछ लोग इस कर्ण को चालुक्य न मानकर कलचुरि लक्ष्मीकर्ण मानते हैं। इस सबध मे कुछ निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। इसमे सदेह नही कि उदयादित्य ने कर्ण को परास्त कर दिया। उदयादित्य का यह प्रयास परमारो का अतिम प्रयास था और ल० १०८८ ई० मे उसकी मृत्यु के बाद परमार वश की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती गई। उदयादित्य को अभिलेखो मे भोज का 'बधु' कहा गया है। कुछ आश्चर्य नही जो वह परमारो की दूसरी शाखा का रहा हो। उदेपुर और नागपुर के अभिलेखो मे इसका उल्लेख राजा भोज के उत्तराधिकारी के रूप में हुआ है। [ओ० ना० उ०]

उदरपाद (गैस्ट्रोपोडा) मोलस्का समुदाय मे सबसे अधिक विकसित जतु हैं। इनके शरीर सममित नही होते। प्रावार (मैंटल) दो टुकडो मे विभाजित नही रहता, इसलिये खोल भी दो पार्श्वीय कपाटिकाओ का नही वरन् एक ही असममित कपाटिका का बना हुआ रहता है। यह कपाटिका साधारणत सर्पिल आकृति में कुडलीकृत होती है। इसके भीतर स्थित जतु के शरीर का पृष्ठीय भाग भी, जिसमे आतरग (विसरा) का अधिकाश भाग रहता है और जिसे आतरग कुब्ज कहते हैं, सर्पिल आकृति मे कुडलीकृत रहता है। शरीर ऊपर से नीची दिशा में चपटा

रहता है। प्रावारीय गुहा में दो गलफड स्थित रहते है। वहुतो में केवल एक ही गलफड होता है। अधिकाश में एक शिर भी होता है जिसमें आकर्षणाग स्थित रहते हैं। शिर के पीछे अच्छी प्रकार से उन्नत एक औदरिक पैर रहता है। पैर का औदरिक तल चपटा, चौडा और वहुत फैला रहता है। वक्त्र गुहा में एक विशेष अवयव रहता है जिसको दतवाही (ओडोटोफोर) कहते हैं। यह नन्हें नन्हें दाँतो के सदृश अवयव का आधार होता है। वृक्क केवल एक होता है। चेतासहति में छ जोडी चेतागुच्छ पाए जाते हैं। उदरपाद एकलिंगी या उभयलिंगी हो सकते है। क्रमिवर्धन में रूपातरण का दृश्य भी देखने में आता है।

उदरपाद अधिकतर पानी में रहते हैं। इनकी आदिम जातियाँ समुद्रो में रहती हैं। ये समुद्र के पृष्ठ पर रेंगती हैं, कुछ कीचड या वालू में घर वनाती हैं या चट्टानो में छेद करती हैं। कुछ ऐसे भी उदरपाद है जो समुद्र के पृष्ठ पर उलटे रहकर तैरते है, विशेषकर टेरोपॉड और हेटेरोपॉड, जिनके पैर मछली के पक्षो (फिन्स) के समान होते हैं, खुले समुद्र के पृष्ठ पर तैरते देखे जाते है।

उदरपाद समुद्र में १८,००० फुट की गहराई तक पाए जाते है। वहुतेरे उदरपाद मीठे जल में भी रहते है। पलमोनेट नामक उदरपाद स्थल और ऊँचे ऊँचे पहाडो पर भी पाए जाते हैं। निम्न कैंब्रियन युग के वहुतेरे जीवाश्मभूत उदरपादो का भी पता चला है।

घोघा (स्नेल), मयर (स्लग), पैरैला, एपलीशिया तथा ट्राइटन उदरपादो के मुख्य उदाहरण है। घोघा और मयर मनुष्य के भोजन के लिये उपयुक्त होते हैं। कुछ जतु उद्यानो में पौधो को हानि पहुँचाते हैं। अनेक उदरपादो के खोलो से अलकार, यत्र तथा वरतन वनते है। कौडियो का पहले मुद्रा या सिक्के के रूप में प्रयोग होता था। शख, जो मदिरो मे वजाया जाता है, एक विशेष उदरपाद की खोल है।

सरचना—मोलस्का समुदाय के जतुओ का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि उदरपादो के पूर्वज के सारे शरीर की गठन सममित थी। अन्नस्रोतस सीधा, गुदद्वार पीछे की ओर, दो गलफड जिनमें सूत्र अक्ष के दोनो ओर रहते थे, प्रावार गुहा पीछे की ओर और दो वृक्क होते थे परतु वर्तमान उदरपादो में, विशेषकर स्ट्रेप्टोन्यूरा गोत्र के उदरपादो में, केवल एक खोल रहती है जो सर्पिल आकृति में कुडलीकृत होती है। आतरग कुव्व के अतिरिक्त केवल एक वृक्क और एक गलफड होता है। प्रावारगुहा एव गुदद्वार अग्रभाग में रहते है। यह साथ के चित्रो से विदित होगा।
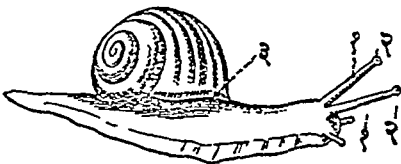
घोघा, एक उदरपाद

१ स्पर्शश्रृग, २ आँख, ३ श्वासछिद्र (पल्मोनेरी ऑरिफिस)
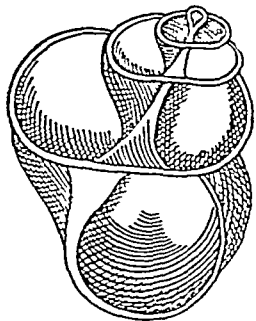
विशेषज्ञो का मत है कि उदरपादो की इस असममित रचना का कारण केवल ऐसे खोल का विकास है जो एक टुकडे में हो और शरीर के सारे अवयवो और औदरिक मासल पैरो को भी अच्छी तरह ढककर उनकी रक्षा कर सकें। ऐसी खोल कुतलवलयित ही हो सकती है। इसके वनने के लिये यह आवश्यक था कि प्रावार गुहा, गलफड और मलोत्सर्गक छिद्र, ये सभी जतु के शिर के पास खोल के द्वार पर आ जायँ। यह तभी हो सकता है जव प्रावार गुहा और उसके भीतर के सव अवयव अपना पुराना पीछेवाला स्थान छोडकर आगे आ जायँ, और उदरपादो के विकास में ऐसा हुआ भी है। इससे जतु के एक ओर की वृद्धि होती है, दूसरी ओर की रुक जाती है। वहुधा दाहिनी ओर की वृद्धि रुक जाती है और वाईं ओर की वढती है। परिणाम यह होता है कि प्रावार गुहा तथा अन्य सव अवयव, जो इसमे स्थित रहते है, दाहिनी ओर घूमते हुए आगे वढते है। अत में गुदद्वार मुख के वाईं ओर आ जाता है। इस सारी घटना को ऐंठन (टॉर्शन) कहते हैं। इसमें शरीर अपने ही स्थान पर रहता है, परतु अन्य कोमल अवयव अपने स्थान से पृष्ठ-उदर-रेखा पर लव अक्ष के परित घूमकर १८०° तक हट जाते हैं। इसी तरह की ऐंठन दिगत अक्ष के परित भी होती है जिससे आतरग कुव्व पीठ पर आ जाता है। ये वातें साथ के चित्र से भली भाँति समझ मे आ जायँगी।

घोघे का कवच

काट (सेक्शन)
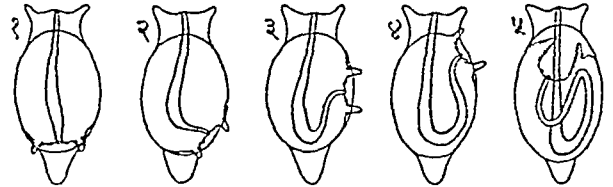
उदरपादो में प्रावार गुहा और आत्रनाल का घूम जाना

चित्र १ मे शरीर के सव अवयव प्राय सममित हैं, २, ३ और ४ मे इनके दाहिने तथा सामने की ओर स्थानातरण की क्रमिक अवस्थाएँ दिखाई गई हैं, ५ में गुदा घूमते घूमते फिर वाईं ओर पहुँच गई है। यही अतिम अवस्था है।

विस्थापन का फल—(१) अवयवो के विस्थापन के कारण अन्य स्रोतस फदेदार हो जाते है और आतरग कुव्व पीठ पर आ जाता है, (२) फुफ्फुस-आतरग विकृत होकर द्विपाद की आकृति का हो जाता है, (३) दाहिनी ओर का फुफ्फुस-आतरग-योजी आँतो के ऊपर और वाईं तरफ का योजी आँत के नीचे हो जाता है, (४) युग्म अवयवो में कमी हो जाती है—स्ट्रेप्टोन्यूरा गोत्र के उदरपादो में केवल एक वृक्क और एक गलफड पाया जाता है।

यूथिन्यूरा गोत्र के उदरपादो में ऐठन की विपरीत क्रिया 'अनैठन' होती है। इससे प्रावार गुहा, गुदद्वार, वृक्क तथा गलफड दाहिनी ओर से पीछे की ओर खिसकने लगते हैं और फुफ्फुस-आतरग-योजी अपने विकृत रूप को छोडकर सीधी हो जाती है। परतु प्रत्येक अवयव एकल ही रहता है। खोल छोटा हो जाता या पूर्णतया लुप्त हो जाता है। पल्मोनेटा (भू-घोघो) में इस क्रिया में थोडा अतर आ जाता है—खोल वना रहता है और फुफ्फस-आतरग-पाश (लूप) छोटा हो जाता है।

खोल—उदरपादो के खोल वहुधा कुतलवलयित होते हैं, परतु पैटेला जैसे उदरपादो के खोल शकु (कोन) की आकृति के होते हैं। यदि कुतलवलयित खोलो मे शीर्ष से लेकर खोल के मुख तक कुतल (छल्ले) घडी की सुइयो के चलने की भाँति रहते हैं तो खोल को दक्षिणावर्त (डेक्स्ट्रल) कहते है, इसके विपरीत यदि कुतल (छल्लो) का घुमाव घडी की सुइयो के चलने की दिशा से उलटी ओर होता है तो उसको वामावर्त (सिनिस्ट्रल) कहते है। वामावर्त खोल वहुत कम पाए जाते है।

यदि कुतल (छल्ले) केंद्रीय अक्ष के लव समतल में रहने के वदले तिरछे वने रहते हैं तो खोल लवा, नुकीला और गावदुम होता है, परतु यदि उनमें तिरछापन नही होता तो खोल चपटे कहलाते हैं। खोल के मुख का किनारा परितुड (पेरिस्टोम) कहलाता है। यह या तो सपूर्ण होता है या एक तरफ कटा हुआ, जहाँ से निनाल (साइफन) निकलता है। खोल का मुख साधारणत एक ढक्कन से वद रहता है जो पैर से चिपटा रहता है। भूमि पर रहनेवाले उदरपादो में ढक्कन नही होता। उनका मुख जाडे मे एक चिपचिपे लसदार पदार्थ से वद रहता है।

वहुधा कौडियो (साइप्रिया मोनाटा) में प्रावार का किनारा, जिसपर वहुत सी स्पर्शिकाएँ (टेटेकल) भी होती है, खोल के मुख के वाहर निकलकर उसको ढक लेता है।

लेपीजिया नामक उदरपाद में प्रावार खोल को पूर्णतया ढक लेता है। इसकी खोल पूर्ण रूप से विकसित न होने के कारण जंतु के शरीर को नही ढक सकती।
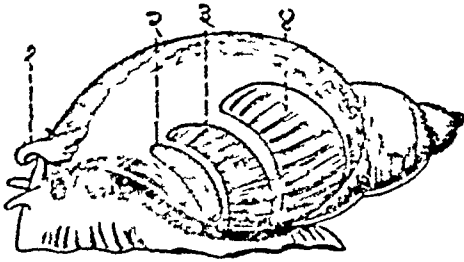
कोमल श्रग्णवलिक (बक्सिनम अंडेटम), एक उदरपाद

(कवच हटाने के पश्चात् गधाग (ऑस्फ्रेडियम) को ढकनेवाले प्रावार को हटाकर उसके नीचे के भाग दिखाए गए हैं)
१ निनाल (साइफन), २ गधाग (ऑस्फ्रेडियम), ३ गलफड (क्लोम), ४ श्लेष्मिक ग्रथियाँ।

डोरिस तथा ईओलिस नामक उदरपादो में खोल नही रहता। उन उदरपादो में भी खोल नही रहता जो खुले समुद्र में बहते और तैरते रहते हैं।

मार्जारलोम (ईओलिस) नामक समुद्रीय मृदुमयर

इसका पृष्ठ अनेक पतले दड सदृश प्रवर्धों से ढका हुआ होता है।

लीमैक्स नामक उदरपादो में भी खोल नाममात्र ही रहता है। अधिकतर प्रावार ही इसको ढके रहता है।

पाद—इस वर्ग के जतुओ के भिन्न भिन्न वशो में पैर का विकास भिन्न भिन्न है। साधारणत पैर मासल और थोडा बहुत लबा तथा अपेक्षाकृत चौडा होता है। नीचे का तल चिकना तथा चौरस होता है। इन्ही से पेशी ततुओ की सिकुडन द्वारा जतु रेंगता है। अधात्र (सीकम) में पैर के ऊपर तथा तल पर पक्ष्म होते हैं। बहुधा पैर में ग्रथि होती है जिससे एक लिबलिबा पदार्थ निकलता है। उससे मार्ग चिकना हो जाता है और रेंगने में सुगमता होती है।

उदरपाद का लाक्षणिक पैर तीन भागो का होता है। अग्रपाद, जो कुछ उदरपादो में छेद करने के काम आता है, मध्यपाद और पश्चपाद। चलने में मध्यपाद महत्वपूर्ण होते हैं। मिटिलस नामक उदरपादो में पैर बहुत छोटे होते हैं।

एप्लीजिया नामक उदरपादो के पैर के पार्श्ववर्ती भाग मछली के पक्ष के समान तरने के काम में आते हैं। टेरोपॉड और हेटेरोपॉड नामक उदरपाद अपने पैर से खुले समुद्र के पानी में तैरते तथा बहते हैं।

सिर—उदरपादो में सिर खूब विकसित होता है। यह शरीर से ग्रीवा के समान एक अग द्वारा जुडा रहता है। मुख सिर के अग्रभाग पर कुछ नीचे की ओर स्थित रहता है। बहुतों में मुख के बाहर निकलनेवाला एक अग लबी सूँड सा होता है। सिर के पृष्ठ पर एक या दो जोडी पतली स्पर्शिकाएँ (टेंटेकल) होती हैं। स्पर्शिकाओ की जड के पास आँखें होती हैं। स्पर्शिकाओ की पहली जोडी छोटी होती है और सूँघने का काम करती है। पल्मोनेटा (भू-घोघो) में आँखें स्पर्शिकाओ की दूसरी जोडी के सिरे पर स्थित रहती हैं।
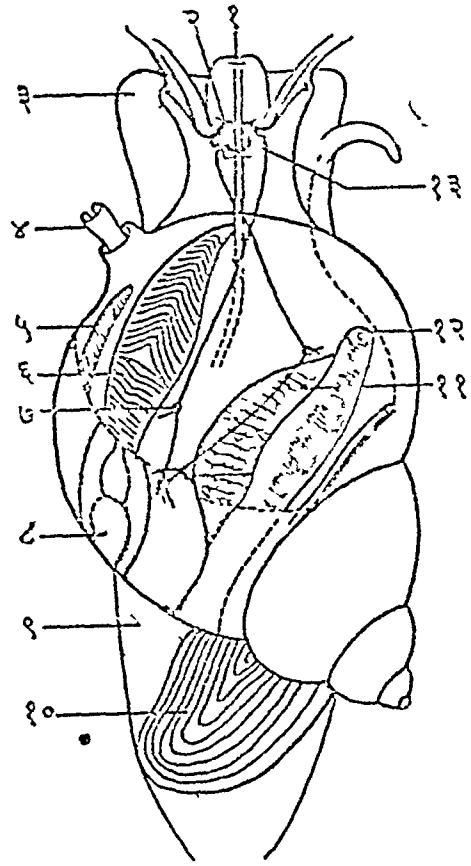
छतेदार गलफडवाला (कोम गिल्ड) घोघा

[प्रावार गुहा (मैंटल कैविटी) और ऊपर का प्रकवच दोनो को पारदर्शी मानकर, छतेदार गलफडवाले घोघे के अग, ऊपर से देखने पर]

१ मुँह, २ मस्तिष्क गुच्छिका (ब्रेन गैंग्लिअन), ३ और ९ पैर, ४ निनाल (साइफन), ५ गधाग (ऑस्फ्रेडियम), ६ एक क्लोम (गलफड), ७ तीन गुच्छिकाओ में से एक, ८ हृदयावरण में हृदय, १० ढापन (ओपरक्यूलम)।

प्रावार—शरीर की दीवार की उस परत को प्रावार (मैंटल) कहते हैं जिसमे बाहरी कडी खोल (कवच) का निर्माण करनेवाली ग्रथियाँ
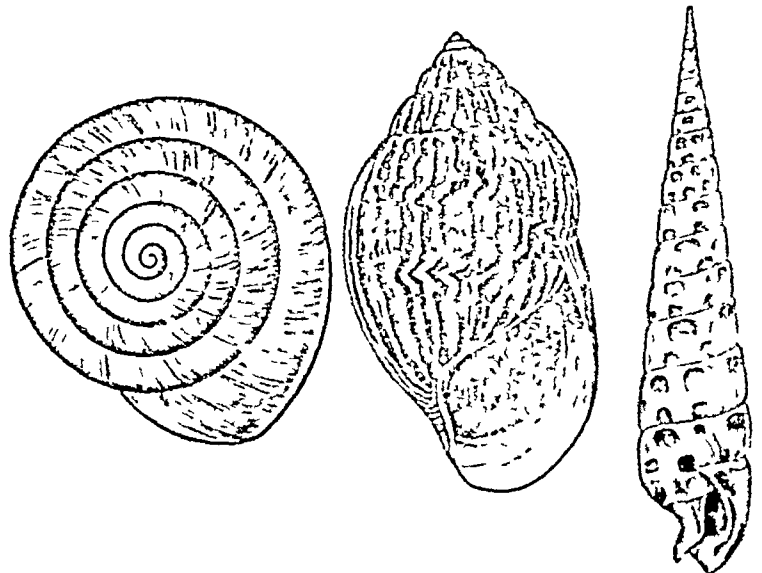
उदरपादो के कवच
तीन विभिन्न रूप।

रहती है। यह जतु की दाहिनी ओर रहता है। प्रावार और वास्तविक शरीर के बीच एक गुहा रहती है जिसको प्रावारीय गुहा कहते हैं। जिन उदरपादो में खोल कुतलवलयित होता है उनमें प्रावारीय गुहा शरीर के अग्र भाग में होती है। इस गुहा में गुदद्वार, वृक्क और गलफड रहते हैं। प्रावारीय गुहा का बाहरी मुख चौडा होता है। प्रावार के एक किनारे नल की आकृति का वह अग रहता है जिसे साइफन कहते हैं, इसमें ताजा पानी साँस लेने के लिये आता है और निकल भी जाता है। बहुधा कौडियो मे प्रावार का किनारा, जिसपर बहुत से स्पर्शशृग भी रहते हैं, खोल के मुख के बाहर निकलकर खोल को ढक लेता है।
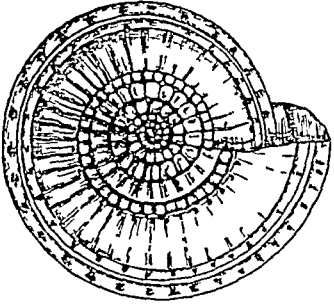
रम्य सूर्यक (सोलेरियम पर्सपेक्टिवम) नामक उदरपाद (नीचे से)

एफीज़िया नामक उदरपाद में प्रावार कवच को पूर्णतया ढक लेता है। इसमे कवच पूर्णतया विकसित नही होता, इसलिये जतु के शरीर को नही ढक सकता।

श्वास सस्थान—साधारणतया गलफड दो होते हैं, परतु अधिकतर बाईं ओर वाला गलफड ही पूर्ण विकसित जतु में कार्यशील रहता है। जिन उदरपादो में दो गलफड रहते हैं उनमें प्रत्येक गलफड के अक्ष मे दोनो ओर गलफड-सूत्र लगे रहते हैं और उनका एक सिरा शरीर से जुडा रहता है। एक गलफडवाले उदरपादो में, जैसे ट्राइटन मे, गलफड के अक्ष के एक ही ओर सूत्र होते हैं और गलफड का पूरा अक्ष शरीर से जुडा रहता है।
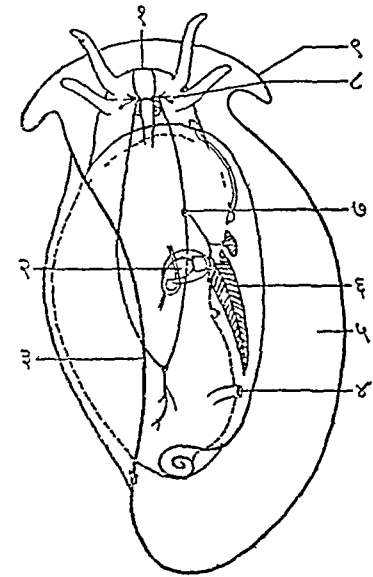
आवृत क्लोम (टेक्टिब्रैंक) घोघा

ऊपर से देखते हुए १ मुँह, २ हृदयावरण में हृदय, ३ पृष्ठ पर द्विरावृत्त, बायाँ परिपाद (एपिपोडियम), ४ आँतो का द्वार, ५ और ६ दाहिना परिपाद, ६ गलफड, जिसके सन्मुख गघाग (ऑस्फ्रेडियम) दिखाई पडता है, ७ अनुद्वेष्टित (अनट्विस्टेड) तत्रिका पाश पर की दो गुच्छिकाओ (गैंग्लिआ) में से एक, ८ गुच्छिकाओ सहित तत्रिका वलय।

न्यूडीब्राउखो में गलफड नही होते, श्वसनकार्य द्वितीयक गलफड द्वारा सपन्न होता है। यह इयोलिस नामक उदरपादो में समूचे पृष्ठतल पर विस्तृत रहता है और डोरिस नामक उदरपादो के गुदद्वार के चारो ओर वलय के रूप में रहता है। पैटेला में भी असली गलफड नही होते, जो रहते हैं वे केवल अवशेष स्वरूप है। इसमे भी श्वसन द्वितीयक गलफड से होता है। पलमोनेटा में श्वसन फुफ्फुसीय कोष द्वारा होता है। पानी में रहनेवाले पल्मोनेटो में फुप्फुसीय कोप श्वसनेंद्रिय का काम देता है।

पाचन सस्थान—बहुत से उदरपादो में सूँड के समान एक अग होता है जो आवश्यकतानुसार बाहर निकल आता है। वक्त्रगुहा में फीते जैसा एक विशेष अवयव होता है जिसपर बहुत से छोटे छोटे दाँत आडी पक्तियो में क्रम से लगे रहते हैं। इस विशेष अवयव को घर्षक (रैड्युला) कहते हैं। यह घर्षक वक्त्रगुहा के धरातल पर स्थित एक गद्दी पर लगा रहता है। मासपेशियो की क्रिया द्वारा यह आगे पीछे या ऊपर नीचे चल सकता है। गद्दी, मासपेशियो तथा घर्षक इन सबको समिलित रूप से दतवाही (ओडोटोफोर) कहते हैं। यह रेती की तरह भोजन को रेतकर उसको सूक्ष्म कणो में परिणत कर देता है। लाला ग्रथियाँ और यकृत सब उदरपादो में पाए जाते हैं। उदर मे मणिभ लैंस (क्रिस्टेलाइन लेंज़) होता है। शाकाहारियो में आँतें लबी एव भजित (फोल्डेड) होती हैं, क्योकि खाने का सब पौष्टिक पदार्थ चूसकर ग्रहण करने में अधिक स्थान की आवश्यकता पडती है। मासाहारियो में आँत छोटी और सीधी होती है।

हृदय—हृदय अन्य मोलस्को की भाँति परिहार्द गुहा में हृदयावरण से ढका रहता है। परिहार्द गुहा शरीरगह्वर का ही भाग है जो वृक्कगुहा से भी सबधित रहती है। साधारणतया उदरपादो में, जैसे ट्राइटन में, हृदय में एक अलिंद (ऑरिकिल) और एक निलय (वेंट्रिकिल) होता है लेकिन
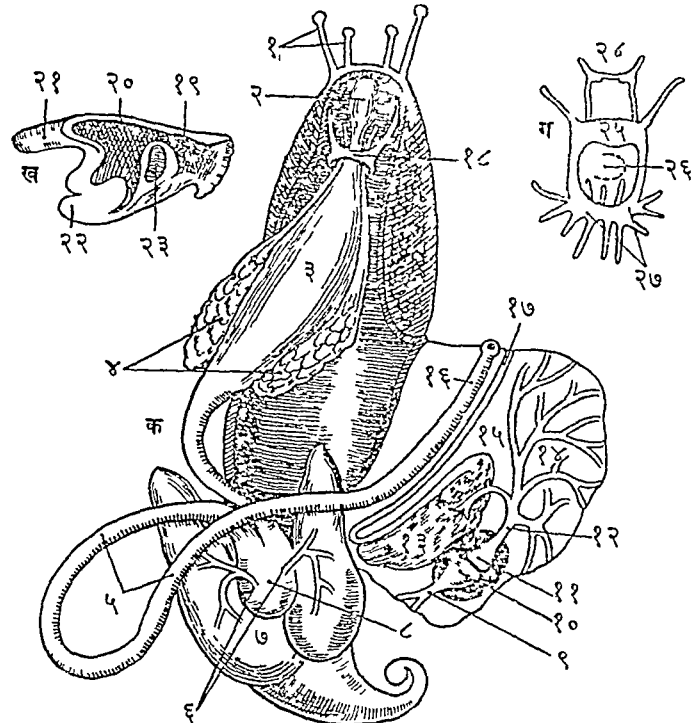
बागो में पाए जानेवाले घोघे (स्नेल) की रचना

क—ऊपर की ओर से काट, फेफडे की छत दाहिनी ओर फैलाई हुई है। १ स्पर्शिकाएँ (टेंटेकिल्स), २ मुखपुज (बकल मास), ३ अन्नग्रह (क्रॉप), ४ लार ग्रथियाँ, ५ आँतें, ६ पित्तवाहक नलियाँ, ७ यकृत, ८ आमाशय, ९ महाधमनी (एओर्टा), १० निलय (वेंट्रिकल), ११ अलिंद (ऑरिकिल्), १२ फुफ्फुस शिरा, १३ वृक्क, १४ तथा १५ फुफ्फुस, १६ गुदा, १७ मूत्रवाहिनी, १८ मस्तिष्क। ख—मुखपुज (दाहिने भाग का आधा निकाल दिया गया है)। १९ जबडा, २० घर्षक (रैडुला), २१ ग्रासनली (गलेट), २२ घर्षक स्यून, २३ उपास्थि (कार्टिलेज)। ग—तत्रिका वलय (पीठ की ओर से)। २४ मुख गुच्छिकाएँ (बकल गैंग्लिआ), २५ मस्तिष्क, २६ ग्रास नली, २७ प्रतिपृष्ठ गुच्छिकाएँ (वेंट्रल गैंग्लिआ)।

हैलिटोसिस नामक उदरपादो में दो अलिंद और एक निलय होता है। ओपिस्थोब्रैंकिया में हृदय गलफड के आगे रहता है और प्रोसोब्रैंकिया मे बगल मे या पीछे।

वृक्क—वृक्क साधारणतया दो ग्रथिल नलियो या कोष्ठको के रूप मे पृष्ठतल पर होता है। यह परिहार्दि गुहा से भी सवद्ध रहता है और सीधे या गवीनी द्वारा वाहर खुलता है। दोनो वृक्क या तो वरावर होते हैं या गुदद्वार के दाहिनी ओरवाला वृक्क वाई ओरवाले से वडा होता है। वहुतो में एक ही वृक्क होता है। कुछ उदरपादो मे जनद (गोनेड) वृक्क मे खुलते हैं। वृक्क के द्वारा शरीर के रक्त के सारे विषाक्त पदार्थ वाहर निकलते हैं।

तत्रिकातत्र—परजीवी उदरपादो को छोडकर अन्य उदरपादो में तत्रिकातत्र भली भाँति विकसित होता है। इसमें तत्रिकारज्जु (नर्व-कॉर्ड्स), योजिकाओ द्वारा जुडी गुच्छिकाएँ (गैंग्लिया) और ज्ञानेद्रियाँ समिलित हैं। ज्ञानेद्रियो मे आँखे, स्थित्यग (स्टैटोसिस्ट्स, जिनसे जीव को अपने शरीरसतुलन का पता चलता है) और घ्राणेद्रियाँ (आसफ्रेडिया) समिलित हैं। इनके अतिरिक्त शरीर के विभिन्न भागो मे अन्य सवेदक क्षेत्र रहते हैं परतु उनका कार्य कम स्पष्ट है।

आँखें शिर से निकले स्पर्शश्रृगो पर अथवा उनकी जड पर रहती हैं। वे प्याली के आकार की होती हैं। रगयुक्त रूपाधार (रेटिना) वाली परत वाहर रहती है और इसलिये सदा समुद्रतल के स्पर्श मे रहती है। ऐसी आँखे डोकोग्लोसा मे होती हैं। कुछ उदरपादो मे ताल (लेंज) भी होता है, कुछ मे कार्निया भी। घ्राणेद्रियाँ प्रावार गुहा मे रहती हैं और इनका कार्य वस्तुत यह पता लगाना है कि जल साँस लेने योग्य है अथवा नही।

जनन सस्थान—स्ट्रेप्टोन्यूरा नामक उदरपाद प्राय एकलिंगी होता है और एथिन्यूरा उभयलिंगी। एकलिंगी जतुओ मे जननसस्थान उभयलिंगियो से अधिक सरल होता है। इसमें जनद (गोनैड) पृष्ठतल पर आमाशय कुब्ब मे स्थित होता है और प्रजनन प्रणाली शरीर के दाहिनी ओर वाहर खुलती है। नर मे शिश्न नालीदार तथा अकुचनशील (नॉन-कॉन्ट्रैक्टाइल) होता है। हेलिक्स जैसे उभयलिंगी उदरपाद मे जनन सस्थान वडा जटिल होता है—इसमे प्रजनन ग्रथि (ओवोटेस्टिस) श्वेत रग की होती और आमाशय कुब्ब के शिखर पर स्थित होती है। पुवीज और स्त्रीवीज ओवोटेस्टिस के एक ही पुटक मे वनते है। परिपक्व पुवीज प्राय वारहो मास मिलते हैं परतु स्त्रीवीज समय समय पर वनते हैं। पुवीज एव स्त्रीवीज दोनो ही एक साथ उभयलिंगी प्रजनन प्रणाली से होकर ऐलव्यूमिन ग्रथि मे चले जाते है। उभयलिंगी वाहिनी (डक्ट) के अतिम सिरे पर शुक्रपात्र (रिसेप्टिक्युलम सेमिनिस) होता है जिसमे पुवीज भरे रहते है। इसी मे ससेचन (फर्टिलाइजेशन) होता है। ससेचन के वाद पुस्त्रीवीज चौडी वाहिनी मे जाते है जो सीधे वाहर जाकर खुलती है। इसके भीतर पुस्त्रीवीज कैल्सियम कारवोनेट के एक खोल से ढक जाते है। पूर्वोक्त चौडी वाहिनी का अतिम सिरा योनि कहलाता है। योनि मोटी और मासल होती है। योनि मे श्लैष्मिक ग्रथि, शुक्रधानी छिद्र और शर-स्यून (डार्ट सैक) खुलता है। पुवीज पुवीजवाहिनी से होकर शिश्न मे जाते हैं जहाँ से एक पतली लवी नलीनुमा कशाभ (फ्लैजेलम) निकलता है। इसमें वहुत से पुवीजो पर एक तरह का खोल चढ जाता है। इस तरह से शुक्र भर (स्पर्मेटोफोर) वनते हैं। योनि और शिश्न दोनो एक जननद्वार (जेनिटल ऐट्रियम) मे खुलते हैं। यह शरीर के दाहिनी ओर खुलता है। उभयलिंगियो मे (जैसे कुतलावर अर्थात् हेलिक्स मे) ससेचन प्राय परससेचन ही होता है, यद्यपि स्वयससेचन के उदाहरण भी मिलते है।

कृष्ण मृदुमथर (व्लैक स्लग्स) का एक जोडा

ये अभी वृक्ष की शाखा पर है और चिपचिपा पदार्थ तैयार कर रहे हैं, जिसकी सहायता से वे शीघ्र ही वायु मे मैथुन के लिये लटकनेवाले है (आगामी चित्र देखे)।

जव दो घोघे एक दूसरे के सामने आकर मिलते हैं तो दोनो के जननद्वार खुल जाते हैं। नर तथा नारी जननछिद्र भी खुल जाते है। तव नारी घोघे के जननछिद्र से शर (डार्ट) निकलकर दूसरे घोघे को छेदते है, जिससे वे उत्तेजित हो जाते हैं। दोनो घोघो का आपस मे ससेचन होता है। इस क्रिया मे एक घोघे का शिश्न दूसरे घोघे की योनि में चला जाता है। एक घोघे के शुक्रभर दूसरे घोघे के पुवीजकोष मे पहुँचकर फट जाते हैं, जिससे पुवीज वाहर निकल आते है और शुक्रपात्र मे पहुँचकर स्त्रीवीज से मिलकर ससेचन क्रिया समाप्त करते है।

ससेचन मई तथा जून के महीने में होता है। ससेचित समूह जुलाई मे वाहर निकलते हैं। जुलाई तथा अगस्त मे ससेचन क्रिया के वाद घोघे अपने ससेचित समूह को, जिसमे भ्रूण के लिये खाद्य पदार्थ भी होता है, मिट्टी मे किसी वडे छेद या गड्ढे मे वाहर निकाल देते हैं। लगभग २५ दिनो मे वच्चे अडे के वाहर निकल आते हैं।

पैंटेला मे ससेचन वाहर पानी मे होता है, परतु अन्य सव उदरपादो मे शरीर के भीतर होता है। ससेचित अडसमूह लसदार पदार्थ मे लिपटे रहते हैं। इनके छोटे छोटे पिंड या मालाएँ पानी मे तैरती हुई या समुद्री पौधो से उलझी हुई पाई जाती हैं।

कृष्ण मृदुमथर का सभोग

चिपचिपे पदार्थ के तार की सहायता से वायु मे लटककर और डाल तथा टहनियो की वाधा से मुक्त होकर वे स्वच्छदता से सभोग करते हैं। प्रत्येक मे नारी और पुरुष दोनो अग होते है और प्रत्येक मथर दूसरे को ससेचित करता हे।

स्ट्रेप्टोन्यूरा के ससेचित समूह खाद्य पदार्थ के साथ चमडे जैसे खोल में वद रहते हैं। एक खोल में केवल एक ही भ्रूण पूर्ण विकसित होता है। शेष इसके खाने मे काम आते हैं।

पलमोनेटा के अडसमूह कैल्सियम कारवोनेट के खोल मे वद रहते हैं जो भूमि के किसी वडे छेद मे छोड दिए जाते हैं। कुछ समुद्री तथा मीठे जल के उदरपादो का विस्तार घोघे के शरीर के भीतर उसकी स्त्रीवीज-प्रणाली मे होता है। विक्सन नामक उदरपादो में डिभ दो तरह के पाए जाते हैं मडलाकार तथा पट्टिका रूप। तरुण उदरपादो में द्विपार्श्वीय सममिति होती हे, परतु पूर्ण विकसित अवस्था मे वे असममित हो जाते हैं।

वर्गीकरण—उदरपादो को निम्नलिखित गोत्रो मे विभाजित किया गया है

गोत्र १ **स्ट्रेप्टोन्यूरा (प्रोसोब्रैंकिया)** इस गोत्र के जतुओ मे विमोटन होता है। नाडी सस्थान के फुफ्फुसावरण-आतरग-रज्जु अग्रेजी अक 8 की आकृति के होते हैं। कवच और उसका ढक्कन होता है। प्रावार गुहा आगे होती है।

अनुगोत्र १ **एसपीडो ब्रैंकिएटा (डायोटोकार्डिया)** इस अनुगोत्र के उदरपादो मे दो अलिंद और दो गलफड होते है जिनमे अक्ष के दोनो ओर सूत्र होते है। पुवीज एव स्त्रीवीज वृक्क द्वारा वाहर निकलते हैं।

ट्राइब १. रीपीडोग्लोसा—इस ट्राइब के जतुओ मे घर्पक की एक पक्ति में बहुत से दाँत होते है। उदाहरण—ट्रोकस, टरबो, हालिहोटिस।

ट्राइब २ डोकोग्लोसा—इस ट्राइब के जतुओ में घर्पक की एक पक्ति में केवल दो चार लबे दाँत होते है जिनके द्वारा यह पत्थर से चिपटे हुए शैवाल (ऐलगी) को काटता है। आँखो मे दृष्टिमडल नही होता। आमाशय गुहा कोनदार होती है। उदाहरण—पेटेला।

अनुगोत्र २ पेक्टीनो ब्रैकिया (मोनोटोकार्डिया) इन जतुओ में एक अलिद और एक गलफड होता है जिसके अक्ष के एक तरफ सूत्र होते है। एक गधाग होता है।
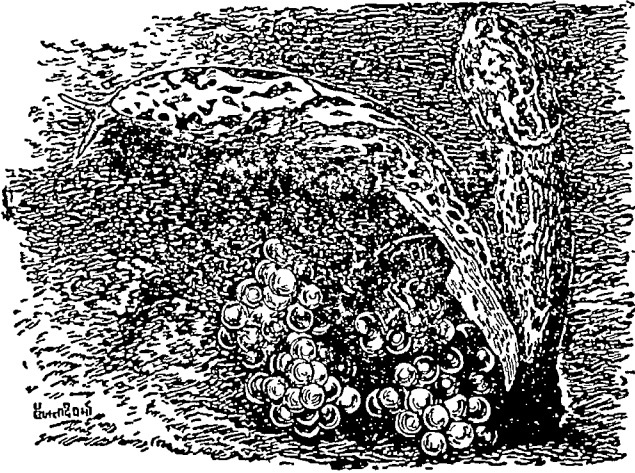
तत्काल दिए हुए अडोसहित कृष्ण मृदुमथर

ट्राइब १ रेकीग्लोसा—ये हिंस्र जतु हैं। इनमें साइफन होता है। घर्पक में केवल तीन दाँत एक पक्ति में होते हैं। उदाहरण—बक्सिनम। यह ६०० फुट तक समुद्र की गहराई में पाया जाता है। यह मासाहारी है और बहुत तेजी से शिकार को पैर से पकडता है। सूँड बहुत बडी होती है। यह अपने अडे सैकडो की सख्या में देता है। प्रत्येक अडे में एक कडी वस्तु का खोल होता है। गधाग के अक्ष के दोनो तरफ सूत्र होते है।

ट्राइब २ टीनीओग्लोसा—घर्पक में सात दाँत प्रत्येक पक्ति में होते है। उदाहरण—कौडी (साइप्रीया मोनाटा), वरमेट्स, ट्राइटन, ऐंपलेरिया (अलवण उदरपाद)।

ट्राइब ३ टॉक्सीग्लोसा—घर्पक मे केवल दो लबे दाँत एक पक्ति में होते है। उदाहरण—कोनस।

गोत्र २ युथीन्यूरा (आपिस्थोब्रैंकिया) इन उदरपादो में आमाशय योजक 8 की आकृति मे ऐंठे नही होते। ये उभयलिंगी हैं। गलफड हृदय के पीछे होता है। कवच छोटा होता है, भीतर रहता है या एकदम होता ही नही।

अनुगोत्र १ टैक्टीब्रैंकिया—इनमे सदा कवच रहता है। गलफड और प्रावार गुहा भी होती है। उदाहरण—अकीसिया। यह समुद्री पौधो को खाती है। बच्चे लाल रग के होते हैं और गहरे पानी में रहते है। प्रौढ हरे रग के होते है और ज्वारभाटा के बीच मे रहते है।

अनुगोत्र २. न्यूडीब्रैंकिया—इनमें कवच, गलफड और प्रावार गुहा कुछ भी नही होता। श्वसन द्वितीयक गलफड से होता है। उदाहरण—डोरिस, ईओलिस।

डोरिस को समुद्री नीबू (सी लेमन) भी कहते हैं। यह जतु छोटा, चपटा और आलसी स्वभाव का होता है। यह पत्थर में चिपटे हुए स्पज को खाता है। प्रावार रगीन और कडा होता है। रग उन जगहो से बहुत मिलता जुलता है जहाँ यह अपना आहार ग्रहण करता है। शिर में एक जोडी स्पर्शशृग होते हैं। श्वसन द्वितीयक गलफड से होता है जो गुदद्वार के चारो तरफ रहता है।

ईओलिस की पीठ पर छोटे छोटे खोखले उभार (सिरेटिया) होते हैं जो बाहर खुलते भी है। इनका सबध पाचक ग्रथियो से भी होता है। यह हाइड्रा तथा कुसुमाभ (सी ऐनीमोनि) खाते हैं। अधिकाश आहार पच जाता है और मल गुदद्वार से बाहर निकल जाता है। नेमाटोसिस्ट (विषैले डक) नही पचते, वे उभारो मे भर जाते हैं। समुद्र में इयोलिस जब कभी किसी मछली या अन्य किसी शत्रु से तग आकर उत्तेजित हो जाता है तो इन नेमाटोसिस्टो को तुरत बाहर फेककर दुश्मन् को डको से व्यग्र कर देता है। इओलिस इस तरह से अपनी रक्षा कर लेता है। इसके शरीर का रग भी बहुत भडकीला होता है जिसे देखकर अनुभवी शत्रु भाग जाते हैं।

गोत्र ३ पलमोनेटा—ये भी उभयलिंगी उदरपाद होते हैं। इनमें खोल होता है परतु ढक्कन नही होता। गलफड भी नही होता। श्वसन प्रावार गुहा से होता है जो फुफ्फुस (लग) का काम देती है। नाडी सस्थान असममित होता है। वृक्क एक ही होता है। उदाहरण—घोंघा (लैंड स्नेल), मथर (स्लग)।

अनुगोत्र १ बैसोमैटोफोरा—आँखे छोटी और स्पर्शशृग के पास होती हैं। उदाहरण—लुमनीआ, प्लैनॉर्बिस।

अनुगोत्र २. स्टाइलॉमैटॉफोरा—आँखे स्पर्शशृ गो के सिरे पर होती है। उदाहरण—हेलिक्स। [रा० च० स०]

उदायिभद्र मगध महाजनपद के शक्तिशाली राजा अजातशत्रु का पुत्र और उत्तराधिकारी। उसका उल्लेख उदायिन्, उदायी अथवा उदयिन और उदयभद्र जैसे कई नामो से मिलता है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उदायिभद्र अपने पिता अजातशत्रु की ही तरह स्वय भी पितृघाती था और पिता को मारकर गद्दी पर बैठा था। उस अनुश्रुति का तो यहाँ तक कथन है कि अजातशत्रु से लेकर चार पीढियो तक मगध साम्राज्य में उत्तराधिकारियो द्वारा अपने पूर्ववर्तियो के मारे जाने की परपरा ही चल गई थी। परतु जैन अनुश्रुति उदयभद्र को पितृघाती नही मानती। कथाकोश मे उसे कुणिक (अजातशत्रु) और पद्मावती का पुत्र बताया गया है। परिशिष्टपर्वन् और त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित् जसे कुछ अन्य जैन ग्रथो मे यह कहा गया है कि अपने पिता के समय में उदायिभद्र चपा का राज्यपाल (गवर्नर) रह चुका था और अपने पिता की मृत्यु पर उसे सहज शोक हुआ था। तदुपरात सामतो और मत्रियो ने उससे मगध की राजगद्दी पर बैठने का आग्रह किया और उसे स्वीकार कर वह चपा छोडकर मगध की राजधानी गया।

राजा की हैसियत से उदायिभद्र का सबसे मुख्य कार्य था मगध की नई राजधानी पाटलिपुत्र का विकास करना। परिशिष्टपर्वन् की सूचना है कि उसी ने सबसे पहले मगध की राजधानी राजगृह से हटाकर गगा और सोन नदियो के सगम मे पाटलिपुत्र बसाकर वहाँ स्थापित की। इस बात का समर्थन वायुपुराण से भी होता है। उसका कथन है कि उदयभद्र ने अपने शासन के चौथे वर्ष में कुसुमपुर नामक नगर बसाया। कुसुमपुर अथवा पुष्पपुर पाटलिपुत्र के ही अन्य नाम थे। परतु ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ के दुर्ग का विकासकार्य अजातशत्रु के समय में ही प्रारभ हो चुका था। [वि० पा०]

उदारतावाद शब्द का प्रयोग, साधारणतया व्यापक रूप से मान्य, कुछ राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धातो, साथ ही, राजनीतिक कार्यो एव कार्यक्रमो के लिये किया जाता है। अपने व्यापक अर्थ मे यह उन बौद्धिक आदोलनो का भी परिणाम है जो १६वी शताब्दी से ही सामाजिक जीवन के सगठन में व्यक्ति के अधिकारो के पक्ष में, उसके स्वतत्र आचरण पर प्रतिबधो के विरुद्ध, कार्यशील रहे है। १६८९ में लाक ने लिखा, 'किसी को भी अन्य के स्वास्थ्य, स्वतत्रता या सपत्ति को हानि नही पहुँचानी चाहिए।' अमरीकी स्वतत्रता के घोषणापत्र (१७७६) ने और भी प्रेरक शब्दो में 'जीवन, स्वतत्रता तथा सुखप्राप्ति के प्रयत्न' के प्रति मानव के अधिकारो का एलान किया है। इस सिद्धात को फ्रास के 'मानव अधिकारो के घोषणापत्र' (१७९१) ने यह घोषित कर और भी सपुष्ट किया कि अपने अधिकारो के सबध में मनुष्य स्वतत्र तथा समान पैदा होता है, समान अधिकार रखता है। उदारतावाद ने इन विचारो को ग्रहण किया, परतु व्यवहार में बहुधा यह अस्पष्ट तथा आत्मविरोधी हो गया,

क्योकि उदारतावाद स्वय अस्पष्ट पद होने से अस्पष्ट विचारो का द्योतक है। १६वी शताब्दी मे उदारतावाद का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। जो भी हो, राष्ट्रीयतावाद के सहयोग से इसने इतिहास का पुनर्निर्माण किया। यद्यपि यह अस्पष्ट था तथा इसका व्यवहारिक रूप स्थान स्थान पर बदलता रहा, इसका अर्थ, साधारणतया, प्रगतिशील ही रहा। नवे पोप पियस ने जब १८४६ ई० मे अपने को 'उदार' घोषित किया तो उसका वैसा ही असर हुआ जैसा आज किसी पोप द्वारा अपने को कम्युनिस्ट घोषित करने का हो सकता है।

१६वी शताब्दी के तीन प्रमुख आदोलन राष्ट्रीय स्वतत्रता, व्यक्तिगत स्वतत्रता तथा वर्गस्वतत्रता के लिये हुए। राष्ट्रीयतावादी, जो मच पर पहले आए, विदेशी शासन से मुक्ति चाहते थे। उदारतावादी अपनी ही राष्ट्रीय सरकारो के हस्तक्षेप से मुक्ति चाहते थे। समाजवादी कुछ देर बाद सक्रिय हुए। वे इस बात का आश्वासन चाहते थे कि शासन का सचालन सपत्तिशाली वर्ग के हितसाधन के लिये न हो। उदारतावादी आदोलन के यही तीन प्रमुख सूत्र थे जिन्हे बहुधा भावनाओ एव नीतियो की आकर्षक उलझनो मे तोड मरोडकर बट लिया जाता था। ये सभी सूत्र, प्रमुखत महान् फ्रासीसी राज्यक्राति (१७८६-६४) की भावनाओ और रूसो जैसे महापुरुषो के विचारो की गलत सही व्याख्याओ से अनुप्राणित थे।

इस प्रकार, उदारतावाद, भिन्न प्रसगो मे भिन्न भिन्न अर्थ रखता था। किंतु सर्वत्र एक धारणा समान थी, कि सामतवादी व्यवस्था के अनिवार्य रूप समाज के अभिजात नेतृत्व सबधी विचार उखाड फेके जायँ। नव अभिजात वर्ग—मध्यवर्ग—विकासशील औद्योगिक केंद्रो के मजदूर वर्ग के सहयोग से इस क्राति को सपन्न करे। (मध्यवर्ग धनोपार्जन के निमित्त राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतत्रता चाहता था। इसी बीच औद्योगिक क्राति की प्रगति ने ऐसे धनोपार्जन के लिये अभूतपूर्व अवसर प्रस्तुत कर दिए।) बाद मे इसके सहयोगी मजदूर वर्ग, जो सामाजिक स्वतत्रता तथा उत्पादित धन पर समाज का सामूहिक स्वत्व चाहते थे, अलग हो जायँ। किंतु अभी उन्हे एक साथ रहना था। नि सदेह उनके मूल विचार, कुछ अश तक, एक दूसरे से प्रभावित थे, परस्पर निबद्ध।

१६वी शताब्दी के समूचे पूर्वार्ध मे यूरोप के उन्नत देशो के व्यापारी आर्थिक उदारतावाद मे विश्वास रखते थे जिसके अनुसार व्यापार मे अनियत्रित प्रतिस्पर्धा ही सर्वोत्तम एव सबसे अधिक न्याययुक्त पद्धति मानी जाती थी। इसके सिद्धातो का प्रतिपादन पहले ऐडम स्मिथ (१७२३-६०) ने अपनी 'राष्ट्रो का धन' (दि वेल्थ आँव नेशस) नामक पुस्तक मे, फिर फ्रास मे फिजियोक्रेटो एव उनके अनुयायियो ने, किया। व्यक्तिगत व्यापारियो तथा व्यक्तिगत राज्यो की इस अनियत्रित प्रतिस्पर्धा का परिणाम, कुछ समय के लिये, अत्यधिक लाभकर ही हुआ, यद्यपि यह लाभ अविकसित विदेशो के स्वार्थ तथा स्वदेशी कृषि को हानि पहुँचाकर हुआ।

१६वी शताब्दी के मध्य मे इग्लैंड के उदारतावादी, पुराने 'ह्विग' दल के उत्तराधिकारी होते हुए भी, नागरिक तथा धार्मिक स्वतत्रता के परपरागत उपासक आभिजात्यो से पूर्णतया भिन्न थे। इग्लैंड मे तो पहले 'उदार' शब्द से कुछ विदेशी आभास भी पाया जाता था, क्योकि इसका स्पष्ट सबध फ्रास तथा स्पेन के क्रातिकारी आदोलनो से था। किंतु १८३० के पश्चात् लार्ड जान रसेल के समय से, इस शताब्दी के उत्तरार्ध मे ग्लैड्स्टन के समय तक, यह शब्द इग्लैड मे भी चालू हो गया तथा समानित माना जाने लगा। जान स्टुअर्ट मिल की प्रसिद्ध पुस्तिका 'स्वतत्रता' द्वारा इसे सैद्धातिक मर्यादा भी मिली। इससे इस विचार ने प्रश्रय पाया कि मानव व्यक्तित्व मूल्यवान् है और कि, अच्छी अथवा बुरी, सभी प्रकार के राज्य नियत्रण से मुक्त व्यक्तिगत शक्ति का स्वतत्र आचरण ही प्रगति का मूल कारण है।

राजनीतिक क्षेत्र मे इसकी उपलब्धि वैधानिकता तथा ससदीय लोकसत्ता की दिशा मे हुई और आर्थिक क्षेत्र मे स्वतत्र व्यापार (लेसे फेयर) के नकारात्मक कार्यक्रम में, जिसकी मान्यता यह थी कि कार्य प्रारभ करने का अधिकार राज्यनियत्रण से निर्बध व्यक्ति को ही प्राप्त है। किंतु सामाजिक आवश्यकताओ ने परिवर्तन अनिवार्य कर दिया। जे० एस० मिल ने उदारतावादी विचारधारा को और भी व्यापक बनाया, जिसके अतर्गत अब राज्य लोकहित में नियत्रण लगाने के अधिकार से वचित नही रहा। प्राचीन कट्टर व्यक्तिवादी विचारधारा को अधिकाश तिरस्कृत कर दिया गया। एल० टी० हाबहाउस, तथा जे० ए० हाबसन की रचनाओ मे समाजवादी प्रभाव, विशेषकर फेबियनो का, स्पष्ट लक्षित होने लगा, जो स्वय उदार विचारधारा के ऊपर टी० एच० ग्रीन जैसे पूर्ववर्ती लेखको के प्रभाव का परिचायक था। और अब व्यक्तिवाद एव समाजवाद के बीच एक असतुलन स्थापित हो गया है।

उदारतावाद की दो विचारधाराओ के बीच फँस जाने के कारण इधर भविष्य का उसका मार्ग कुछ स्पष्ट नही है। समय समय पर इसने अपनी सजीवता का परिचय दिया है। जैसे, ब्रिटेन मे १६०६-११ के बीच, जब रूढ उदारतावाद के विरोध के बावजूद सामाजिक बीमा से सबधित कानून बना डाला गया, अथवा, द्वितीय महायुद्ध के बाद भी, जब विलियम बेवरिज ने एक लोकहितकारी राज्य की रूपरेखा तैयार कर डाली। किंतु जनशक्ति को प्रभावित करने मे उदारतावाद नि शक्त है, इस दिशा में इसकी असफलता अनेक बार प्रमाणित हो चुकी है। जर्मनी मे नात्सीवाद के सामने इसकी भयकर असफलता सिद्ध हो चुकी है। वस्तुत पुन सगठन के लिय जनता मे उत्साह उत्पन्न कर उसे सगठित कर सकने मे इसकी भयकर अयोग्यता प्रमाणित हुई है। सामाजिक प्रगति के साथ उदारतावाद डग नही भर सका है। फिर भी इसके मूल सिद्धात अनुसधान तथा विचार की स्वतत्रता, भाषण एव विचारविनिमय की स्वतत्रता अभी भी अपेक्षित है, क्योकि इनके बिना तर्कसमत विचार तथा कार्य सभव नही हो सकते। [ही० ना० मु०]

उदासी (१) विरक्त, उदासीन, प्रपचो से ऊपर (उत्) बैठा हुआ (आसीन), त्यागी पुरुष; (२) सन्यासी, (३) नानकशाही साधुओ का एक भेद। उदासी सप्रदाय के अनुयायियो का विश्वास है कि उसका मूल प्रवर्तन ॐकार से हुआ था और उससे ७३वी पीढी में उदासी श्रीचद्र जी हुए जिन्होने इसको विशेष रूप से सगठित और सुव्यवस्थित किया। ये गुरु नानकदेव के पुत्र थे और इन्होने अपने सुदीर्घ काल के विरक्त जीवन मे अधिकतर कदाचित् नग्न वेश में ही भ्रमण करते हुए इसका प्रचार किया। उदासी लोग इनकी १६वी पीढी मे बनखडी जी (सन् १७६३-१८६३) का होना बतलाते हैं जिन्होने सन् १८२३ ई० में सिंध के अतर्गत साधुबेला तीर्थ की स्थापना की। तब से वह इनका प्रधान केंद्र बन गया और पीछे सिंध के पाकिस्तान मे पड जाने के कारण बनखडी जी की ४थी पीढी मे वर्तमान साधु गणेशदास जी ने सन् १९४६ में उसे काशी के भदैनी मुहल्ले मे स्थानातरित कर दिया। सप्रदाय के अनुयायी विशेष कर सिंध और पजाब मे ही पाए जाते रहे हैं। उत्तर प्रदेश मे इनके प्रमुख स्थान हरद्वार, काशी एव वृदावन में हैं। इसकी एक उपशाखा का पश्चिमी बिहार के अतर्गत 'भक्तगिरि' नाम से पाया जाना भी कहा जाता है जिसका पूरा विवरण उपलब्ध नही है। उज्जैन मे भी इसके अनुयायियो का एक अखाडा है और एक दूसरे का त्र्यबक नासिक में भी होना कहा जाता है किंतु ऐसे केंद्रो मे प्राय कुभ के ही समय विशेष जागृति रहा करती है।

उदासी सप्रदाय के साधु सासारिक बातो की ओर से विशेष रूप से तटस्थ रहते आए हैं और इनकी भोली भाली एव सादी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण इन्हें सिख गुरु अमरदास तथा गोविंदसिंह ने जैन धर्म द्वारा प्रभावित और अकर्मण्य तक मान लिया था। परतु गुरु हरगोविंद के पुत्र बाबा गुरुदित्ता ने सप्रदाय के सगठन एव विकास मे सहयोग दिया और तब से इसका अधिक प्रचार भी हुआ। इसकी चार प्रधान शाखाओ में (१) फूल साहिबवाली बहादुरपुर की शाखा, (२) बाबा हसन की आनदपुर के निकटवर्ती चरनकौल की शाखा, (३) अलमस्त साहब की पुरी नामक नैनीताल की शाखा, तथा (४) गोविंदसाहब की शिकारपुरवाली शाखा प्रसिद्ध है और ये एक दूसरी से स्वतत्र भी जान पडती है। विलियम कुक ने इस सप्रदाय को नानकशाही पत का नाम देकर उसके मुख्य गुरुद्वारे का देहरा मे होना बतलाया है फिर उन्होने यह भी कहा है कि पूर्वी भारत के अतर्गत इसकी ३७० गद्दियो का पाया जाना कहा जाता है। सप्रदाय के लोग अधिकतर मालवा, जालधर, फीरोजपुर, काशी एव रोहतक मे ही पाए जाते हैं और उनमे से बहुत से भ्रमणशील रूप मे ही दीख पडते हैं।

उदासियो के अखाडो अथवा सप्रदाय की विविध शाखाओ को भी प्राय 'धुनी' वा 'धुआँ' का नाम दिया जाता है। इसके अनुयायियो मे यह भी प्रसिद्ध है कि इसके काबुल स्थित किसी केंद्र मे अब भी एक ऐसी धुनी जल

रही है जिसे स्वय श्रीचद्र जी ने प्रज्वलित किया था। उदासी लोग या तो 'नागा' हुआ करते हैं जिनके नामो के आगे 'दास' वा 'शरण' की उपाधि लगी रहती है या वे 'परमहस' होते हैं और उनके नामो के साथ 'आनद' शब्द जुडा रहता है, किंतु इस नियम का पालन कदाचित् सर्वत्र नही दीख पडता। नागा लोगो के पहनावे का वस्त्र बहुत कम रहा करता है, वे अपने शरीर पर भस्म का प्रयोग भी अधिक करते हैं तथा बडे बडे बाल और 'सेली' रखा करते हैं। जहाँ उनकी श्वेत, लाल वा काली लँगोटी की जगह परमहसो का पहनावा गैरिक वस्त्रो का रहा करता है और वे अधिक सादे और मुडितमुड भी रहते हैं, वहाँ भस्म धारण करना और कभी कभी रुद्राक्ष की माला पहनाना भी इन दोनो वर्गो के साधुओ में पाया जाता है। भस्म वा विभूति के प्रति इस सप्रदाय के अनुयायियो की बडी श्रद्धा रहती है और वे इसे प्राय बडे यत्न के साथ सुरक्षित भी रखा करते हैं। दीक्षा के समय गुरु इन्हें नहलाकर भस्म लगा दिया करता है और इन्हें अपना चरणोदक देता है जिसका ये पान कर लेते हैं। तत्पश्चात् इन्हे कोई नया नाम दिया जाता है और दीक्षामत्र द्वारा दीक्षित कर दिया जाता है। उदासियो का प्रिय मत्र "चरण साधु का धो धो पीयो। अरप साधु को अपना जीयो" है। ये, एक दूसरे से भेट होने पर, साधारणत "ॐ नमो ब्रह्मणे" कहकर अभिवादन करते हैं। ये लोग सिखो के पूज्य 'आदिग्रथ' को विशेष महत्व देते हैं और घटा घडियाल बजाकर उसकी आरती किया करते हैं। इनके यहाँ हिंदुओ के अनेक व्रत एव त्योहारो का भी प्रचलन हो गया है, किंतु इनका एक विशिष्ट उत्सव श्री चद्र जी की जयती के रूप में भी मनाया जाता है।

उदासियो की दार्शनिक विचारधारा दशनामियो से बहुत मिलती जुलती है और वह, इसी कारण, ज्ञानप्रधान भी कही जा सकती है। परतु दशनामी लोग जहाँ अपने को प्राय "स्मार्त" मानते हैं वहाँ उदासी अपने को "श्रौत" कहा करते हैं। इनकी काशी, वृदावन एव हरद्वार जैसे कुछ स्थानो में पृथक् पाठशालाएँ चलती हैं जहाँ अधिकतर सस्कृत भाषा मे रचित धार्मिक ग्रथो का अध्यापन होता है। इनकी वृदावनवाली पाठशाला का एक नाम 'वृदावन श्रौत मुनि आश्रम' प्रसिद्ध है। यद्यपि दशनामी साधुओ की भाँति ये लोग शिव को अधिक महत्व नही देते, फिर भी किंतु ये प्राय 'त्रिपुड' धारण करते हैं और वैसे ही कमडलु भी रखते हैं। इनके यहाँ स्त्री उदासी अथवा उदासिनियो की सख्या अत्यत कम दीख पडती है। इस सप्रदाय के अनुयायियो पर समय पाकर अन्य अनेक सप्रदायो का न्यूनाधिक प्रभाव पड चुका है और ये कतिपय सुधारो की ओर भी आकृष्ट होते जान पडते हैं।

'उदासी' नाम के साथ कुछ अन्य सप्रदाय भी मिलते हैं, जैसे 'उदासी कबीर' आदि, किंतु उनसे इनका कोई प्रत्यक्ष सबध नही है।

स०ग्र०—जी० एस० घुरये इडियन साधूज', दि पापुलर बुक डिपो, बबई, १९५३, विलियम कुक ए ग्लॉसरी ई० भा० भा० ४, परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सतपरपरा (लीडर प्रेस, प्रयाग, स० २००८), सीताराम चतुर्वेदी जयसाधुवेला (साधुवेला आश्रम, २५६, भदैनी, बनारस, वि० २००९)। [प० च०]

उदुमालपेट

मद्रास प्रात के कोयबटूर जिले में स्थित, उदुमालपेट नामक ताल्लुके का मुख्य केंद्र है (स्थिति १०° ३६' उ० अक्षाश और ७७° १५' पूर्वी देशातर)। इस ताल्लुके मे उदुमालपेट ही एक नगर है, इसके अतिरिक्त ८६ गाँव हैं। यह नगर मैदानी तथा पहाडी दोनो क्षेत्रो की सेवा करता है, अत यहाँ अनाज तथा लकडी की प्रसिद्ध मडियाँ हैं। नगर में कपास का भी व्यापार होता है। यहाँ के निवासी अधिकतर व्यापारी वर्ग के हैं, जिनमे कमाटी, नाटुकोट्टाई, चेट्टी तथा मुसलमान मुख्य हैं। यहाँ की जनसख्या १९५१ ई० में २३, ३०९ थी। [ह० ह० सिं०]

उद्गाता

का अर्थ है, उच्च स्वर से गानेवाला। सोमयज्ञो के अवसर पर साम या स्तुति मत्रो के गाने का कार्य 'उद्गाता' का अपना क्षेत्र है। उसके लिये उपयुक्त मत्रो का सग्रह 'साम सहिता' में किया गया है। ये ऋचाएँ ऋग्वेद से ही यहाँ सगृहीत की गई हैं और इन्ही ऋचाओ के ऊपर साम का गायन किया जाता है। साम गायन की पद्धति बडी शास्त्रीय तथा प्राचीन होने से कठिन भी है। साम पाँच अगो मे विभक्त होता है जिनके नाम हैं—(१) प्रस्ताव, (२) उद्गीथ, (३) प्रतिहार, (४) उपद्रव तथा (५) निधन। इनमे उद्गीथ तथा निधन के गायन का कार्य उद्गाता के अधीन होता है और प्रस्ताव तथा प्रतिहार के गाने का काम क्रमश 'प्रस्तोता' तथा 'प्रतिहर्ता' नामक ऋत्विजो के अधीन रहता है जो उद्गाता के सहायक माने जाते हैं। गान मुख्यतया चार प्रकार के होते हैं—(१) (ग्रामे) गेय गान (=प्रकृति गान या वेय गाथ), (२) अरण्य गान (३) ऊह गान तथा (४) ऊह्य गान। इन समग्र गानो से पूर्ण परिचय रखना उद्गाता के लिये नितात आवश्यक होता है। [ब० उ०]

उद्दंडपुर

बिहार प्रात मे वर्तमान बिहार नाम का कस्बा जो बख्तियारपुर से राजगिरि जानेवाली रेलवे की छोटी लाइन पर पडता है। यह नालदा से ६–७ मील की दूरी पर है। नालदा की ही भाँति यहाँ भी बौद्धो का विशाल मठ था जहाँ के विहार मे अनेक भिक्षु रहते और बौद्ध दर्शन का मनन करते थे। कुछ लोगो ने इसे भी छोटा मोटा बौद्ध-विद्यालय ही माना है। यहाँ भी प्राचीन टीलो की खुदाई से अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इस विहार का व्यय बगाल के पाल राजाओ की दी हुई देवोत्तर सपत्ति से चलता था। कन्नौज के प्रतीहारो ने इसे एक बार पालो से छीन लिया था पर कन्नौज की गद्दी के लिये परस्पर जूझते भोज द्वितीय और महिपाल की अनवधानता से लाभ उठाकर पालनरेश नारायणपाल ने इसे फिर जीत लिया। बख्तियार खिलजी ने नालदा के बौद्ध विहार का नाश करते समय उद्दडपुर का भी अत कर दिया। [ओ० ना० उ०]

उद्दक रामपुत्त

गृहत्याग करने के बाद सत्य की खोज मे घूमते हुए बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम विख्यात योगी उद्दक रामपुत्त के आश्रम मे पहुँचे। उद्दक रामपुत्त रूपावचर भूमि से ऊपर उठ, अपने समकालीन योगी आलार-कालाम की भाँति, अरूपावचर भूमि की समापत्ति प्राप्त कर विहार करते थे। सिद्धार्थ गौतम ने उस योगप्रक्रिया मे शीघ्र ही सिद्धि का लाभ कर लिया और उसके ऊपर की बाते जाननी चाही। जब उद्दक और कुछ न बता सके तब सिद्धार्थ ने उनका साथ छोड दिया। बुद्धत्व लाभ करने के बाद भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम उद्दक रामपुत्त और आलार-कालाम को उपदेश देने का सकल्प किया, किंतु तब वे जीवित न थे। [भि० ज० का०]

उद्दालक

उपनिषद् युग के श्रेष्ठ तत्ववेत्ताओ मे मूर्धन्य चितक। ये गौतम गोत्रीय अरुणि ऋषि के पुत्र थे और इसीलिये 'आरुणि' के नाम से विशेष प्रख्यात हैं। ये महाभारत में धौम्य ऋषि के शिष्य तथा अपनी एकनिष्ठ गुरुसेवा के निमित्त आदर्श शिष्य बतलाए गए हैं (महाभारत, आदिपर्व)। आरुणि के अध्यात्म विचारो का विस्तृत विवेचन छादोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदो में रोचक ढग से किया गया है। तत्ववेत्ताओ के इतिहास मे आरुणि का पद याज्ञवल्क्य के ही समकक्ष माना जाता है जो इनके शिष्य होने के अतिरिक्त उपनिषत्कालीन दार्शनिको मे नि सशय सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्यो के विषय मे आरुणि की मान्यता है कि निद्रा का मुख्य हेतु 'श्रम' है और निद्रा की दशा में जीव आत्मा के साथ ऐक्य धारण कर लेता है (छादोग्य ६।८।१)। मृत्युकालीन चेतना के विषय मे आरुणि का कथन है कि जब मनुष्य मरता है, तब उसकी वाक् मन मे अतर्लीन हो जाती है, अनतर मन प्राण मे, प्राण तेज मे तथा अत में तेज देवता मे अतर्लीन हो जाता है (छा० ६।१५)। इस सिद्धात को याज्ञवल्क्य ने यही से ग्रहण कर विस्तार से प्रतिपादित किया है। तत्वज्ञान के विषय मे आरुणि के सिद्धात को हम 'प्रत्ययवादी अद्वैत' का नाम दे सकते हैं, क्योकि इनकी दृष्टि में अद्वैत ही एकमात्र सत् तथा तथ्य है। आरुणि के सिद्धात का शखनाद है तत्वमसि वाक्य जिसे इन्होने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक मनोरजक दृष्टातो के द्वारा समझाया तथा प्रमाणित किया। "इद सर्व तत् सत्य स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो"—आरुणि के अद्वैतवाद का यह महनीय मत्र है (छा० ६।११,१२)। मूल तत्व 'सत्' रूप है, असद्रूप नही, क्योकि असत् से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नही हो सकती। यह सत् अपने मे से पहले अग्नि को, पीछे जल को तथा अत मे पृथ्वी को इसी क्रम से उत्पन्न करता है। सृष्टि का यह 'त्रिवृत्करण' तत्व आरुणि का स्वोपज्ञ सिद्धात है। विश्व के प्रत्येक द्रव्य मे ये तीनो तत्व विद्यमान रहते हैं। सब पदार्थ असत् हैं। पदार्थो की अपेक्षा तत्वो (पृथ्वी

जल, तेज) की सत्यता सर्वथा मान्य है और इन तत्वो की अपेक्षा सत्यतर है वह सत् जो इनका मूल कारण है (छा० ६।३–४)। यह सत् विश्व के समस्त प्रपचो मे अनुस्यूत तथा आधारस्थानीय सूक्ष्म तत्व है (छा० ६।१२)। इसका पूर्ण ज्ञान आचार्य के द्वारा दी गई शिक्षा के द्वारा और श्रद्धा के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'—गुरु के द्वारा उपदिष्ट पुरुष ही परम तत्व को जानता है, आरुणि का यह उपदेश गुरुतत्व की आधारशिला है। आत्मा विश्व के प्रत्येक पदार्थ में उसी प्रकार व्याप्त रहता है, जिस प्रकार उस जल के प्रत्येक कण में लवण व्याप्त रहता है जिसमें वह डाला जाता है (छा० ६।१३)। उद्दालक आरुणि का यह अध्यात्मदर्शन आत्मा की अद्वैतता तथा व्यापकता का पूर्ण परिचायक है।

स०ग्र०—आर० डी० रानाडे कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलॉसफी, पूना, १९२६, राधाकृष्णन् इडियन फिलॉसफी, भाग १, लदन। [व० उ०]

उद्धव पौराणिक परपरा के अनुसार द्वापरकालीन यदुवशी उद्धव जो सत्यक के पुत्र और श्रीकृष्ण के अत्यत प्रिय सखाओ में थे। बालक उद्धव श्रीकृष्ण की मूर्ति भी बनाकर उसके साथ खेलने में तन्मय हो जाते तथा कलेवा करना तक भूल जाया करते। ये परम सुदर थे और आकृति एव वेशभूषादि तक में श्रीकृष्ण से बहुत मिलते जुलते थे। ये प्राय उनके साथ रहा करते, उनकी धारण की हुई माला पहन लेते तथा उनके छोडे हुए वस्त्रादि तक ग्रहण कर लेते। इनका एक अन्य नाम देवश्रवा था और इन्होने बृहस्पति से नीतिशास्त्र की शिक्षा पाई थी। बडे होने पर इन्हें वृष्णिवशियो में माननीय परामर्शदाता का स्थान मिला था और ये श्रीकृष्ण के अतरग परिकरो में भी गिने जाते थे।

गोकुल से मथुरा चले जाने पर श्रीकृष्ण ने इन्हें नद, यशोदा एव व्रजगोपियो का समाधान करने के लिये भेजा था और व्रज मे आकर इन्होने इसमे अपना महीनो का समय दिया था। गोपियो के साथ इनकी जो बातचीत हुई उसका प्रसग लेकर एक विपुल भ्रमर-गीत-साहित्य की रचना हो गई है। जब श्रीकृष्ण द्वारका गए तो वहाँ पर भी उद्धव उनके साथ बराबर रहे और वहाँ पर जब श्रीकृष्ण ने इनसे यदुवशियो के भावी नाश तथा स्वय अपने अत की ओर भी सकेत किया और प्रभास क्षेत्र के लिये चल पडे तब ये विरहकातर हो उठे और उनके पीछे हो लिए। श्रीकृष्ण ने सरस्वती के तट पर अश्वत्थ के नीचे बैठ इन्हें एकात मे बहुत समझाया और विषम स्थिति के कारण, अधीर न होने का उपदेश दिया। उन्होंने इनसे कहा कि तुम पूर्वजन्म मे वसु थे और यज्ञ के समय मेरे लिये तुमने बडी आराधना की थी। तुम्हारा वह कार्य पूरा हो चुका और मैं तुम्हे आज विवेकपूर्ण 'भागवत ज्ञान' का मर्म बतला रहा हूँ। श्रीकृष्ण ने इन्हें फिर ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी, अवधूतोपाख्यान जैसे कई अध्यात्म सबधी इतिहास सुनाए, योगसाधना के रहस्य बतलाए और कहा कि अब तुम जाकर बदरिकाश्रम मे रहो। उद्धव वहाँ से चलकर जब उदासमना हो यमुना के तट पर घूम रहे थे तब इन्हे विदुर मिले। यहाँ पर इन दोनो मे फिर एक बार श्रीकृष्ण के सबध मे बाते चली और विदुर के चले जाने पर ये प्रेमविह्वल होकर रोने लगे। अत मे उद्धव बदरिकाश्रम चले गए और वहाँ पर तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए उन्होने वृद्धावस्था में शरीर छोडा। उद्धव सरलहृदय, किंतु महात्मा थे। स्वय श्रीकृष्ण ने इनके विषय मे एक बार कहा था—"मेरे इस लोक से चले जाने पर उद्धव ही मेरे ज्ञान की रक्षा कर सकेंगे क्योकि वे मुझसे गुणो मे तनिक भी कम नही हैं।" (भाग० ३।४।३०–१)।

स०ग्र०—'भाग०' (३।१–४), (१०।४६–७), (११।६–२९), महाभारत, आदिपर्व (२०।१–१८) और 'ब्रह्मवैवर्त' (अ० ९१ एव ९२)। [प० च०]

उद्धार समुद्र पर दुर्घटना के समय लोगो की जान बचाने या माल बचाने को कहते है। भूमि पर अग्नि से जान अथवा माल बचाने को भी उद्धार (सैलवेज) कह सकते है, परतु इस सबध में यह शब्द बहुत प्रचलित नही है। समुद्र पर उद्धार के दो विभाग हैं (१) नागरिक, (२) सैनिक।

नागरिक उद्धार—जान और माल के उद्धार के लिये ब्रिटिश सरकार ब्रिटिश जहाजो से पारितोषिक दिलाती है और इसलिये मामला बहुधा कचहरियो तक पहुँचता है। इग्लैड में नाविक कचहरियो (ऐडमिरैल्टी कोर्ट) में ये मामले तय किए जाते है। वहाँ की परिभाषा है कि समुद्र की जोखिम से जान या माल बचाना उद्धार है। भूमि पर अग्नि से जान या माल बचाने पर सरकार पारितोपिक नही दिलाती, हाँ, मालिक से सविदा (एकरार) हो गया हो तो बात दूसरी है। नियम है कि बचाए गए माल से पहले उद्धार का पारितोपिक देकर ही शेष धन अन्य विषयो पर व्यय किया जा सकता है। जब बचाया गया माल पारितोपिक के लिये पर्याप्त नही होता तो ब्रिटिश सरकार मरकैंटाइल मैरीन फड से अशत या पूर्णतया पारितोषिक दिला सकती है। साथ ही यह भी नियम है कि जहाज का जो अधिकारी जान बचाने में सहायता नही करता वह दडनीय है। जो सेवा कर्तव्य (ड्यूटी) के रूप मे की जाती है उसके लिये पारितोपिक नहीं मिलता। जहाजो के सभी कर्मचारियो का कर्तव्य है कि यात्रियो और माल को बचाएँ।

पारितोपिक की मात्रा इसपर निर्भर रहती है कि बचाया गया माल कितनी जोखिम मे था, उसका मूल्य क्या है, बचानेवाले ने कितनी जोखिम उठाई, कितना परिश्रम किया, कितनी चातुरी अथवा योग्यता की आवश्यकता थी, कितने मूल्य के यत्रो का उपयोग किया गया, इत्यादि। असावधानी से काम करने पर पारितोपिक अशत या पूर्णतया रोक लिया जा सकता है। यदि एक जहाज दूसरे को बचाता है तो बचानेवाले जहाज के मालिको को पारितोपिक का लगभग तीन चौथाई मिलता है। शेष का लगभग एक तिहाई कप्तान को मिलता है। इसके बाद बचा भाग अधिकारियो और कर्मचारियो में उनकी स्थिति के अनुसार बाँट दिया जाता है। परतु जहाँ बचानेवाले जहाज को कोई क्षति पहुँचती है वहाँ मालिको को अधिक मिलता है।

सैनिक उद्धार—युद्धकाल में वैरी से अपने देश के जीते गए जहाज को छीन लाने तथा इसी प्रकार से अन्य जोखिम के कामो के लिये पारितोपिक मिल सकता है, जिसके लिये ब्योरेवार नियम बने है। पारितोपिक जहाज के मूल्य के आठवे या छठे भाग तक मिल सकता है।

स०ग्र०—टी० जी० कारवर ट्रीटिज़ ऑन दि लॉ रिलेटिंग टु कैरेज ऑव गुड्स बाइ सी (सातवाँ सस्करण, १९२५)।

उद्यान विज्ञान (हार्टिकल्चर) मे फल, सब्जी तथा फूल, सभी का उगाना समिलित है। इन पादपो के उगाने की कला के अतर्गत बहुत सी क्रियाएँ आ जाती हैं, जिनके सबध मे निम्नलिखित शीर्षको के अतर्गत प्रकाश डाला जायगा

प्रजनन—उद्यानविज्ञान में सबसे महत्व का कार्य है अधिक से अधिक सख्या मे मनचाही जातियो के पादप उगाना। उगाने की दो विधियाँ हैं—लैंगिक (सेक्शुअल) और अलैंगिक (असेक्शुअल)।

लैंगिक—बीज द्वारा फूल तथा तरकारी का उत्पादन सबसे साधारण विधि है। यह लैंगिक उत्पादन का उदाहरण है। फलो के पेड़ो मे इस विधि से उगाए पौधो में अपने पिता की तुलना मे बहुधा कुछ न कुछ परिवर्तन देखने में आता है। इसलिये पादपो की नवीन समुन्नत जातियो का उत्पादन (कुछ गौण विधियो को छोडकर) लैंगिक विधि द्वारा ही सभव है।

पादपो के अकुरित होने पर निम्नलिखित का प्रभाव पडता है बीज, पानी, उपलब्ध आक्सिजन, ताप और बीज की आयु तथा परिपक्वता।

अकुरण के सहायक—अधिकाश बीज उचित रीति से बोने पर बडी सरलता से अकुरित होते है, किंतु कुछ ऐसी जाति के बीज होते हैं जो बहुत समय में उगते हैं। प्रयोगो मे देखा गया है कि एनज़ाइमो के घोलो में बीजो को कई घटे भिगो रखने पर अधिक प्रति शत बीज अकुरित होते है। कभी कभी बीज के ऊपर के कठोर अस्थिवत छिलको को नरम करने तथा उनके त्वक्छेदन के लिये रासायनिक पदार्थो (क्षीण अम्ल या क्षार) का भी प्रयोग किया जाता है। झडबेरी (ब्लैकबेरी) या रैस्पबेरी आदि के बीजो के लिये सिरका बहुत लाभ पहुँचाता है। सल्फ्यूरिक अम्ल, ५० प्रति शत अथवा सांद्र, कभी कभी अमरूद के लिये प्रयोग किया जाता है। दो तीन से लेकर बीस मिनट तक बीज अम्ल में भिगो दिया जाता है। स्वीट पी के बीज को, जो शीघ्र नही जमता, अर्धसांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल मे ३० मिनट तक रख सकते है। यह उपचार बीज के ऊपर के कठोर छिलके को नरम करने के लिये या फटने मे सहायता पहुँचाने के लिये किया जाता है। परतु प्रत्येक दशा में उपचार के बाद बीज को पानी से भली भाँति धो डालना

आवश्यक है। जिन बीजों के छिलके इतन कठोर होते हैं कि साधारण रीतियों का उनपर कोई प्रभाव नहीं पडता उनके लिये यांत्रिक सहायता लेनी चाहिए। बहुधा रेतने, कुतरने या छेद करने का भी प्रयोग (जैसे वैजती =कैना में) किया जाता है। बोए जान पर बीज सतोषप्रद रीति से उगें, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह जानना आवश्यक है कि किस बीज को किस समय बोना चाहिए। कुछ बीजों के उगने में बहुत समय की आवश्यकता होती है या वे विशेष ऋतु में उगते हैं और इससे पहले कि वे उगना प्रारभ करें, लोग बहुधा उन्हें निकम्मा समझ बैठते हैं। इससे बचने के लिये एक ही बार नहीं, अपितु थोडा थोडा करके किस्तों मे बीज बोना चाहिए।

अलैंगिक या वानस्पतिक प्रजनन—पौधा बेचनेवालो (नर्सरीवालो) तथा फलो की खेती करनेवालो के लिये वानस्पतिक विधियो से प्रजनन बहुत उपयोगी सिद्ध होता है, मुख्य रूप से इसलिये कि इन विधियो से वृक्ष सदा वाछित कोटि के ही उपलब्ध होते हैं। इन विधियो को तीन वर्गो में विभक्त किया जा सकता है

कर्तन—पादप के ही किसी भाग से, जैसे जड, गाँठ (रिज़ोम), कद, पत्तियो या तने से, अँखुए के साथ या बिना अँखुए के ही, नए पादप उगाना कर्तन (कटिंग) लगाना कहलाता है। रोपने पर इन खडो में से ही जडें निकल आती हैं और नए पादप उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक से अधिक पादपो को उगाने की प्राय यही सबसे सस्ती, शीघ्र और सरल विधि है। टहनी के कर्तन लगाने को माली लोग 'खूँटी गाडना' कहते हैं। कुछ लोग इसे 'कलम लगाना' भी कहते हैं, परतु कलम शब्द का प्रयोग उसी सबध में उचित है जिसमें एक पादप का अग दूसरे की जड पर चढाया जाता है।

दाबा (लेयरेज) में नए पादप तभी जड फेंकते हैं जब वे अपने मूल वृक्ष से सबद्ध रहते हैं। इस विधि द्वारा पादप प्रजनन के तीन प्रकार हैं (१) शीर्ष दाब (टिप लेयरिंग)—इस प्रकार मे किसी टहनी का शीर्ष स्वय नीचे की ओर झुक जाता है और भूमि तक पहुँचने पर उसमे से जडे निकल आती हैं। इसके सबसे सुदर उदाहरण रैस्पबेरी और लोगनबेरी हैं। (२) सरल दाब—इसके लिये टहनी को झुकाकर उसपर आवश्यकतानुसार मिट्टी डाल देते हैं। इस प्रकार से अनेक जाति के पादप बडी सरलता से उगाए जा सकते हैं। कभी कभी डालो को बिना भूमि तक झुकाए ही उनपर किसी जगह एक आध सेर मिट्टी छोप दी जाती है और उसे टाट आदि से लपेटकर रस्सी से बाँध दिया जाता है। इसको 'गुट्टी बाँधना' कहते हैं। मिट्टी को प्रति दिन सीचा जाता है। (३) मिश्र दाब (कपाउड लेयरिंग) में पादप की प्रधान डाली को झुकाकर कई स्थानो पर मिट्टी डाल देते हैं, बीच बीच में थोडा थोडा भाग खुला छोड देते हैं। अगूर की तरह की लताओ के प्रजनन के लिये लोग इसी ढग को प्राय अपनाते हैं।

उपरोपण (ग्रैफ्टेज)—इसमे चढ कलम (ग्रैफ्टिंग), भेट कलम (इनार्चिंग) और चश्मा (बडिंग) तीनो समिलित हैं। माली लोग चढ कलम और भेट कलम दोनो को साटा कहते हैं। इन लोगो में चश्मा के लिये चश्मा शब्द ही प्रचलित है। चश्मा शब्द फारसी चश्म से निकला है, जिसका अर्थ आँख है। इन तीनो रीतियो में एक पौधे का कोई अग दूसरे पौधे की जड पर उगता है। पहले को उपरोपिका (सायन) कहते हैं, दूसरे को मूल वृत (रूट स्टाक)। उपरोपण में प्रयुक्त दोनो पौधो को स्वस्थ होना चाहिए। कलम की विधि केवल ऐसे पादपो के लिये उपयुक्त होती है जिनमें ऊपरी छिलकेवाली पर्त और भीतरी काठ के बीच एक स्पष्ट एधास्तर (कैंबिअम लेयर) होता है, क्योंकि यह विधि उपरोपिका और मूल वृत के एधास्तरो के अभिन्न सयोग पर निर्भर है। कलम लगाने का कार्य वैसे तो किसी महीने में किया जा सकता है, फिर भी यदि ऋतु अनुकल हो और साथ ही अन्य आवश्यक परिस्थितियाँ भी अनुकूल हो, तो अधिक सफलता मिलने की सभावना रहती है। यह आवश्यक है कि जुडनेवाले अग चिपककर बैठें। उपरोपिका का एधास्तर मूल वृत के एधास्तर को पूर्ण रूप से स्पर्श करे। वसत ऋतु के प्रारभ में यह स्तर अधिकतम सक्रिय हो जाता है, इस ऋतु में उसके अँखुए बढने लगते हैं और किशलय (नए पत्ते) प्रस्फुटित होते हैं। जिन देशो में गर्मी के बाद पावस (मानसून) से पानी बरसता है वहाँ प्राय गर्मी की शुष्क ऋतु के बाद बरसात आते ही क्रियाशीलता का द्वितीय काल आता है। इन दोनो ऋतुओ में क्षत सर्वाधिक शीघ्र पूरता है तथा मूल वृत एव उपरोपिका का सयोग सर्वाधिक निश्चित होता है। पतझडवाले पादपो में कलम उस समय लगाई जाती है जब वे सुप्तावस्था में होते हैं।

कलम लगाने की विधियाँ

१ **शिरोबधन** (स्प्लाइस या ह्विप ग्रैफ्टिंग)—यह कलम लगाने की सबसे सरल विधि है। इस विधि में उपरोपिका तथा मूलवृत के लिये एक ही व्यास के तने चुने जाते हैं (प्राय $\frac{1}{4}$ इच से $\frac{1}{2}$ इच तक के)। फिर दोनो को एक ही प्रकार से तिरछा काट दिया जाता है (चित्र देखें)। कटान की
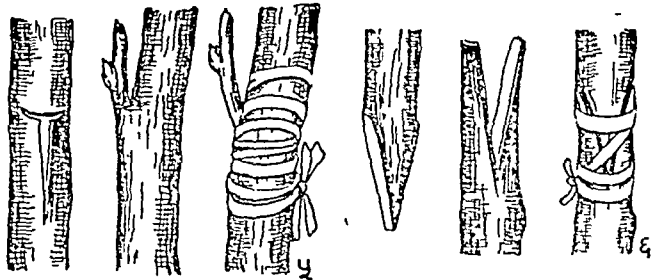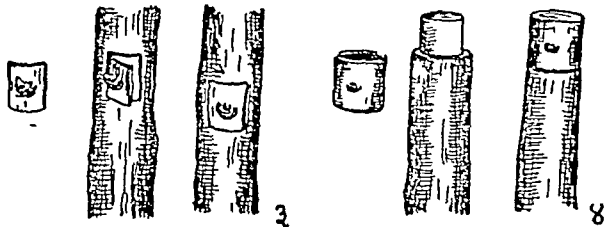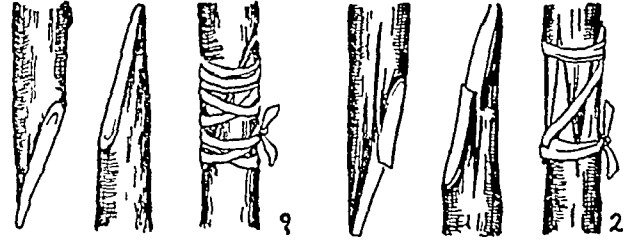
उपरोपण और अक्षिबधन

१ शिरोबधन, २ शिर तथा जिह्वाबधन, ३ पैबद, ४ अँगूठीनुमा चश्मा, ५ उपरोपिका बधन, ६ काठी कलम, ७ साधारण चश्मा।

लबाई लगभग $1\frac{1}{2}$ इच रहती है। फिर दोनो को दृढता से बाँधकर ऊपर से मोम चढा दिया जाता है। बाँधने के लिये माली लोग केले के पेड के तने के छिलके से $\frac{1}{2}$ इच चौडी पट्टी चीरकर काम में लाते हैं, परतु कच्चे (बिना बटे) सूत से भी काम चल सकता है।

२. शिर तथा जिह्वावंधन (ह्विप और टग ग्रैफ्टिग) ऊपर की विधि से ही प्रारभ होता है किंतु तिरछा काटने के बाद उपरोपिका और मूल वृत दोनो को, किनारे से आध इच हटकर डेढ इच तक चीर दिया जाता है। तब दोनों को एक दूसरे मे इस प्रकार घुसेड दिया जाता हे कि एक की जिह्वा दूसरे की चीर मे घुस जाय (चित्र देखें)। ये दोनो विधियाँ जडो की कलम बाँधने में प्रयुक्त होती है, इस रीति में बीज से उगाए पौधे की जड को या जड के एक भाग को मूल वृत की तरह प्रयुक्त किया जाता है।

३ काठी कलम (सैडल ग्रैफ्टिंग)—कलम लगाने की एक विधि काठी कलम है जिसका प्रयोग कभी कभी किया जाता है, विशेषकर ऐसे वृक्षो के लिये जिनके ततु (टिशू) स्थूल और मृदुल होते हैं, उदाहरणार्थ पपीते का वृक्ष। इसमे मूल वृत का सिरा दोनो ओर से छील दिया जाता है, जिससे वह पच्चड (वेज) के सदृश हो जाता है, और उसी के अनुसार उपरोपिका मे गड्ढा काट देते हें जिसमे वह भाग मूल वृत के सिर पर कसकर बैठ सके।

४ बगली कलम (साइड ग्रैफ्टिग)—ऐसी कलम मूल वृत के सिरे को बिना काटे ही बाँधी जाती है। मूल वृत उपरोपिका की अपेक्षा बहुत बडा हो सकता हे। इसमें उपरोपिका के निचले भाग को पच्चड के आकार मे छीलते हैं, एक ओर की छिलाई दूसरी ओर की अपेक्षा कुछ अधिक दूर तक की जाती हे। फिर मूल वृत की बगल मे २० अश का कोण बनाते हुए एक चीरा लगाया जाता है जो इतना गहरा होता है कि उपरोपिका का पच्चड उसमे घुस सके।

चश्मा—चश्मा बाँधने का साधारण रूप ढाल या टी बडिंग है। टी बडिंग नाम इसलिये पडा है कि छिलका अग्रेजी अक्षर टी के आकार मे चीरा जाता है। यह रीति चकोतरा या उसी तरह के अन्य फलो के चश्मे बाँधने के प्रयोग मे आती है। फूलो मे गुलाब के साथ ऐसी ही क्रिया की जाती है। उपरोपिका की लकडी परिपक्व तथा वर्तुलाकार होनी चाहिए, पर पुरानी नही। मूल वृत की छाल मे एक ऊर्ध्वाधर चीर लगा दी जाती हे, जो १ इच से १।। इच तक लबी होती है। केवल छाल ही कटे, लकडी नही। फिर इस चीर के सिरे पर आधे इच की एक क्षैतिज (बेंडी) चीर लगाई जाती है। तदनतर चाकू के फल द्वारा उपरोपिका की छाल मे से १ इच या १।। इच लबा ढाल के आकार का टुकडा निकाल लेते हैं जिसके बीच मे कलिका (बड) रहती है। यह टुकडा कलिका से थोडा ही अधिक चौडा रखा जाता है। अब मूल वृत के छिलके के नीचे, टी आकार की चीर मे, कलिका को बैठाकर दृढता से बाँध दिया जाता है जिससे सधि मे हवा या पानी न घुस सके। यदि दो सप्ताह तक अँखुआ हरा रह जाता है तो यह मान लिया जा सकता हे कि अब कलिका और मूल वृत के जुड जाने की सभावना है।

अँगूठीनुमा चश्मा (रिंग बडिग)—बेर (जूजुब) के साथ इस विधि का प्रयोग विशेष रूप से होता हे। उपरोपिका की लकडी पर से पुष्ट कलिका सहित ½ इच या ⅔ इच चौडा छल्ला लकडी से कुछ ढीला करके एक ओर सरकाकर उतार लिया जाता है। फिर मुख्य पादप का सिरा काटकर थोडी दूर का छिलका उखाड देते हैं। अब कलिकावाले छल्ले को धीरे से मूल वृत की लकडी पर इस प्रकार सरका देते है कि उसका सिरा मूल वृत के छिलके से चारो ओर सटकर बैठ जाय।

पैवद (पैच बडिग)—पैवद ढालनुमा चश्मे की ही भाँति लगाई जाती है, अतर केवल इतना होता है कि इसमे छिलके का वह भाग, जिसमे कलिका रहती है, चौकोर काटा जाता हे और मूल वृत के छिलके से ठीक इसी के आकार का एक टुकडा निकाल दिया जाता हैं। फिर रिक्त स्थान पर कलिकावाला टुकडा बडी सावधानी से बाँध दिया जाता है।

फोर्कर्ट की विधि—यह विधि पैवद लगाने की ही तरह है। केवल इस विधि मे पैवद लगभग एक इच लबी और उसकी तिहाई चौडी होती है, और मूल वृत का छिलका कुछ दूर तक इसपर चढा दिया जाता हे।

विभाजन—इस विधि के अतर्गत वे रीतियाँ है जिनमे पैतृक पादक के एक अग को काटकर अलग लगाया जाता हे, जो आगे चलकर एक पूर्ण पादप के रूप मे पनप जाता है। इसका प्रयोग कदवाले पादपो के लिये होता है, जैसे वैजती (कैना) की जडवाली गाँठे (रिजोम), केले की जड से निकले पौधे, लिली के कद (बल्ब), इत्यादि।

भेट कलम (इनआर्चिग)—इस विधि को माली लोग साटा कहते है। प्राय सभी कलमी आम इसी प्रकार लगाए जाते है। अमरूद, नारगी तथा इसी तरह के अन्य फलो की कलमे भी ऐसे ही लगाई जाती हे। इनमे एक अच्छे वृक्ष से उपरोपिका ली जाती है और उसे बीजू (बीज से उत्पन्न) पौधे पर लगा दिया जाता है। किंतु इस विधि मे डालो के सयुक्त होने की अवस्था तक उपरोपिका को पितृवृक्ष के सहारे रहना पडता है। इस विधि मे बीजू पादप को चुने हुए अच्छे वृक्ष के पास इस प्रकार रख देते है कि बीजू पादप की टहनी अच्छे वृक्ष मे से किसी उतनी ही मोटी टहनी से सरलता से बाँधी जा सके। इसके लिये पहले मूल वृक्ष की टहनी में से एक तरफ से १।। या २ इच लबा परत छीलकर निकाल दिया जाता है। साथ मे लकडी भी कट जाय, परतु व्यास की एक तिहाई से अधिक गहराई तक न काटी जाय। यह काम खूब तेज छुरी से करना चाहिए। उपरोपिका की टहनी को भी उसी प्रकार छीलना चाहिए। उद्देश्य यह है कि दोनो टहनियो को सटाने पर दोनो छीले भाग पूरी लबाई तक ठीक एक के ऊपर एक पडे, छिलका छिलके पर, काठ काठ पर। तब दोनो को बडी सावधानी से कसकर बाँध दिया जाता है और उनको बिना हिलाए डुलाए दो तीन महीने तक छोड दिया जाता है। इतने समय तक बीजू पेड की (जो बहुधा गमले मे रहता है) वैसी ही सेवा की जाती है जैसी इसके स्वतत्र रहने पर की जाती। यह खर्चीली विधि है और इसका उपयोग तभी करना चाहिए जब अन्य विधियो से काम न चले।

उपयुक्त भूमि का चुनाव—घरेलू उद्यान के लिये तो मकान के पास की भूमि ही उद्यानभूमि हो सकती है। साधारणत फूलो के उद्यान और हरियाली (लॉन) को सामने रखा जाता है, जहाँ वे सबको दिखाई पडे, और फल तथा तरकारी के उद्यानो को बगल मे या पीछे की ओर रखा जाता है।

व्यापारिक उत्पादन के लिये भूमि का चुनाव कई बातो पर निर्भर है। १ मिट्टी—अधिकाश फसलो के लिये दोरसी मिट्टी ही उपयुक्त मानी जाती है। जिस मिट्टी में चिकनी मिट्टी (क्ले) और बालू तथा सडा घास पात रहे उसे दोरसी मिट्टी (लोम) कहते हैं। फलो के लिये पानी की निकासी और दोरसी मिट्टी की पर्याप्त गहराई दोनो बहुत आवश्यक हैं। ऐसी मिट्टी कम से कम छ फुट की गहराई तक रहे। २ सिचाई—फल, तरकारी आदि की अधिकाश फसलो को खूब पानी चाहिए। यदि वर्षा प्राय हर महीने मे होती हो तो बात दूसरी है, अन्यथा सिंचाई की आवश्यकता पडेगी। इसलिये उपयुक्त भूमि का सस्ते तथा प्रचुर पानी के पास होना नितात आवश्यक है। ३ बाजार—उपज को खपाने के लिये उपयुक्त बाजार का पास होना भी अत्यावश्यक है, अन्यथा फसल का चुनाव बडी सावधानी से करना पडेगा, जिसमे दूर तक भेजने पर भी वे खराब न हो और घाटा न पडे। ४ परिवहन के लिये कम से कम दो विभिन्न साधनो की सुविधा होनी चाहिए।

रोपण योजना—खेत मे तरकारियाँ साधारणत सीधी पक्तियो मे रोपी जाती है। फूल अनियमित या नियमित (अर्थात् ज्यामितीय आकार की) क्यारियो में, या दीवारो की जड के पास रोपे जाते है। प्रत्येक प्रकार के पादप के लिये अन्य पादपो से समुचित दूरी आवश्यक है, क्योकि बहुत पास पास लगाने पर वे स्वस्थ नही रह पाते। फलो के पादपरोपण मे वस्तुत प्रति एकड वृक्षो की एक निश्चित सख्या होती है जिससे महत्तम लाभ प्राप्त होता है। इसके लिये **फलो की खेती** शीर्षक लेख देखें।

पौधो के बीच दूरी—वार्षिक फूलो के लिये उनकी परस्पर दूरी ६ से १२ इच तक होती है, भाडो के लिये दूरी उनकी बाढ पर निर्भर हे। तरकारियो में मूली, गाजर जैसी फसल के लिये एक पादप से दूसरे पादप की दूरी ६ इच की तथा पक्तियो की परस्पर दूरी ९ से १२ इच तक की होनी चाहिए। मिर्चा जैसे छोटे पादप के लिये १ से २ फुट की दूरी दोनो दिशाओ मे चाहिए। कुछ बडे पौधो के लिये, जैसे टमाटर, बैंगन आदि, ३ फुट की दूरी चाहिए और लौकी, कद्दू तथा ककडी जैसी लताओ के लिये दोनो दिशाओ में ५ से १० फुट का अतर होना चाहिए।

छँटाई (प्रूनिग)—इसके अतर्गत लता तथा टहनियो को आश्रय देने की रीति और उनकी काट छाँट दोनो ही बाते आती है। पहली बात के सहारे पादपो को इच्छानुसार रूप दिया जा सकता है। आलकारिक पादपो

के लिये छँटाई करनेवाले की इच्छा के अनुसार शक्वाकार (गावदुम), छत्राकार (छतरीनुमा) आदि रूप दिया जा सकता है और कभी कभी तो उन्हें हाथी, घोडे आदि का रूप भी दे दिया जाता है, परतु फलो के वृक्षो को साधारणत कलश या पुष्पपात्र का रूप दिया जाता है और केंद्रीय भाग को घना नही होने दिया जाता। छँटाई का उद्देश्य यह होता है कि पादप के प्राय अनावश्यक भाग निकाल दिए जायँ जिससे बचा हुआ भाग अधिक उत्पादन कर सके या अधिक सुदर, पुष्ट और स्वस्थ हो जाय। कुछ फूलो मे, जैसे गुलाब में, जड और टहनियो की छँटाई इसलिये की जाती है कि अधिक फूल लगे। कुछ मे पुरानी लकडी इसलिये छाँट दी जाती है कि ऐसी नई टहनियाँ निकलें जिनपर फूल लगते है। छँटाई मे दुर्वल, रोगग्रस्त और घनी टहनियो को छाँटकर निकाल दिया जाता है।

कर्षण—कर्षण (कल्टिवेशन) शब्द का प्रयोग यहाँ पर दो भिन्न कर्मो के लिये किया गया है एक तो उस छिछली और वार वार की जानेवाली गोडाई या खुरपियाने के लिये जो घास पात मारने के उद्देश्य से की जाती है, और दूसरे उस गहरी जोताई के लिये जो प्रति वर्ष इसलिये की जाती हे कि भूमि के नीचे घास पात तथा जडे आदि दव जायँ। तरकारी और फूल की खेती मे साधारणत जोताई की वडी आवश्यकता रहती है। भारत की अधिकाश जगहो मे फलो के उद्यान मे भूमि पर घास उगना वाछनीय नही है और इसलिये थोडी वहुत गोडाई आवश्यक हो जाती है। इसमे कोई सदेह नही कि गोडाई या खुरपियाने का प्रधान उद्देश्य अवाछित घास पात का निर्मूलन ही होता है। अब चूँकि कर्षण का प्रथम उद्देश्य अनावश्यक घास पात का निर्मूलन है, इसलिये यह तभी करना चाहिए जव वे छोटे हो और उन्होने अपनी जडे गहरी न जमा ली हो। यह कर्षण छिछला होना चाहिए ताकि तरकारी, फूल या फलो की जडो को हानि न पहुँचे। शुष्क ऋतु मे प्रत्येक सिंचाई के वाद एक वार हलका कर्षण और निराना (वीडिंग) अच्छा है। इसके साथ ही फलो की उद्यान भूमि को, कम से कम गर्मी मे और फिर एक वार वरसात मे, पलटनेवाले हल से अवश्य जोत देना चाहिए। जोताई किस समय की जाय, यह भी कुछ महत्वपूर्ण है। यदि अधिक गीली भूमि पर जोताई की जाय तो अवश्य ही इससे भूमि को हानि पहुँच सकती है। हलकी (वालुकामय) मिट्टी की अपेक्षा भारी (चिकनी) मिट्टी मे ऐसी हानि अधिक होती है। साधारणत जोताई वही अच्छी होती है जो पर्याप्त सूखी भूमि पर की जाय, परतु भूमि इतनी सूखी भी न रहे कि वडे वडे चिप्पड उखडने लगें। फलो के उद्यान और तरकारी के खेतो मे विना जोते ही विशेष रासायनिक पदार्थो के छिडकाव से घास पात मार डालना भी उपयोगी सिद्ध हुआ है।

अतर्कृषि—यदि पादपो की परस्पर दूरी ठीक है तो फलो के नए उद्यान मे वहुत सी भूमि ऐसी पडी रहेगी जो वर्षो तक फलवाले वृक्षो के काम में न आएगी। इस भूमि मे शीघ्र उत्पन्न होनेवाले फल, जैसे पपीता, या कोई तरकारी पैदा की जा सकती हे।

सिंचाई—भिन्न भिन्न प्रकार के पादपो को इतनी विभिन्न मात्राओ मे पानी की आवश्यकता होती है कि उनके लिये कोई व्यापक नियम नही बनाया जा सकता। कितना पानी दिया जाय और कब दिया जाय, यह इसपर निर्भर है कि कौन सा पौधा है और ऋतु क्या है। गमले में लगे पौधो को सूखी ऋतु में प्रति दिन पानी देना आवश्यक है। सभी पादपो के लिये भूमि को निरतर नम रहना चाहिए जिससे उनकी वाढ न रुके। फलो को भी समुचित विकास के लिये निरतर पानी की आवश्यकता रहती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि भूमि में नमी की मात्रा इतनी कम कभी न हो कि पौधे मुरझा जायँ और फिर पनप न सकें। अच्छी सिंचाई वही है जिसमें पानी कम से कम मात्रा मे खराव जाय। यह खरावी कई कारणो से हो सकती है ऊपरी सतह पर से पानी के वह जाने से, अनावश्यक गहराई तक घुस जाने से, ऊपरी सतह से भाप वनकर उड जाने से तथा घासपात द्वारा आवश्यक पानी खिंच जाने से। पक्तियो मे लगी हुई तरकारियो को वगल की नालियो द्वारा सीचना सरल है। छोटे वृक्ष थाला बनाकर सीचे जा सकते है। थाले इस प्रकार आयोजित हो कि पादपो के मूल तक की भूमि सिंच जाय। जैसे जैसे वृक्ष वढते जायँ थालो के वृत्त को वढाते जाना चाहिए। वडे से वडे वृक्षो की सिंचाई के लिये नालियो की पद्धति ही कुछ परिवर्तित रूप मे उपयोगी होती हे।

वुद्धिमत्तापूर्ण सिंचाई के लिये वृक्षो तथा भूमि की स्थिति पर ध्यान रखना परम आवश्यक है। विशेष यत्रो से, जैसे प्रसारमापी (टैंसिग्रोमीटर) तथा जिप्सम परिचालक इष्टिकाओ (जिप्सम कडक्टैंस ब्लॉक) को भूमि के भीतर रखकर, भूमि की आर्द्रता नापी जा सकती है। भूमि की नमी जानने के लिये पेचदार वर्मा (ऑगर) का भी उपयोग हो सकता है। यदि खेत में घास पात उग रहे हो तो उनकी दशा से भी भूमि की नमी का अनुमान किया जा सकता है।

खाद—पादपो को उचित आहार मिलना सवसे महत्व की वात है। फल और तरकारी अन्य फसलो की अपेक्षा भूमि से अधिक माना मे आहार ग्रहण करते है। फलवाले वृक्ष तथा तरकारी के पादपो को अन्य पादपो के सदृश ही अपनी वृद्धि के लिये कई प्रकार के आहार अवयवो की आवश्यकता होती है जो साधारणत पर्याप्त माना में उपस्थित रहते हैं। परतु कोई अवयव पादप को कितना मिल सकेगा यह कई वातो पर निर्भर है, जैसे वह अवयव मिट्टी में किस खनिज के रूप में विद्यमान है, मिट्टी का कितना अश कलिल (कलायड) के रूप में है, मिट्टी मे आर्द्रता कितनी है और उसकी अम्लता (पी एच) कितनी है। अधिकाश फसलो के लिये भूमि मे नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटैसिअम डालना उपयोगी पाया गया है, क्योकि ये तत्व विभिन्न फसलो द्वारा न्यूनाधिक मात्रा मे निकल जाते है। इसलिये यह देखना आवश्यक है कि भूमि के इन तत्वो का सतुलन पौधो की आवश्यकता के अनुसार ही रहे। किसी एक तत्व के वहुत अधिक मात्रा में डालने से दूसरे तत्वो में कमी या असतुलन उत्पन्न हो सकता है, जिससे उपज में कमी आ सकती है।

नाइट्रोजन—भारतीय भूमि के लिये खाद के सवसे महत्वपूर्ण अग नाइट्रोजन तथा वानस्पतिक पदार्थ हैं। यह स्मरण रहे कि भूमि भूमि में अतर होता है, इसलिये इस सवध में कोई एक व्यापक नुसखा नही वताया जा सकता जिसका प्रयोग सर्वत्र किया जा सके। नाइट्रोजन देनेवाली कुछ वस्तुएँ ये है —(क) जीवजनित (ऑर्गैनिक) स्रोत गोवर, लीद, मूत्र, कूडा कर्कट आदि की खाद, खली तथा हरी फसलें जो खाद के रूप में काम में आ सकती है, जैसे सनई, तिनपतिया (क्लोवर) मूँग, ढेंचा आदि। (ख) अजीवजनित स्रोत यूरिआ, जिसमें ४० प्रति शत नाइट्रोजन होता है, अमोनियम सल्फेट (२० प्रति शत नाइट्रोजन), अमोनियम नाइट्रेट (३५ प्रति शत नाइट्रोजन), कैल्सिअम नाइट्रेट (१५ प्रति शत नाइट्रोजन) तथा सोडियम नाइट्रेट (१६ प्रति शत नाइट्रोजन)। साधारणत भूमि में प्रति एकड ५० से १२ पाउड तक नाइट्रोजन सतोपजनक होने की गाशा की जा सकती है।

फास्फोरस—यह सभव है कि फास्फोरस भूमि मे पर्याप्त मात्रा मे रहे, परतु पादपो को केवल धीरे धीरे प्राप्त हो। देखा गया है कि कभी कभी जहाँ अन्य फसलें वहुत ही निकम्मी होती थी, वहाँ फलो का उद्यान भूमि में विना ऊपर से फास्फोरसमय पदार्थ डाले, वहुत अच्छी तरह फूलता फलता है, सभवत इसलिये कि फल के वृक्षो को फास्फोरस की आवश्यकता धीरे धीरे ही पडती है। खादो मे तथा सभी प्रकार के जीवजनित पदार्थो में कुछ न कुछ फास्फोरस रहता है। परतु फास्फोरसप्रद विशेष वस्तुएँ ये हैं—अस्थियो का चूर्ण (जिसमे २० से २५ प्रति शत फास्फोरस पेंटाक्साइड, रहता है), वेसिक स्लैग (१५ से २० प्रति शत फास्फोरस पेंटाक्साइड) और सुपर फास्फेट जिसका प्रयोग वहुतायत से होता है। इसमें १६ से ४० प्रति शत फास्फोरस पेंटाक्साइड रहता है। उन मिट्टियो में, जो फास्फोरस को स्थिर (फिक्स) कर लेती है, पहली वार इतना फास्फोरसमय पदार्थ डालना चाहिए कि स्थिर करने पर भी पौधो के लिये कुछ फास्फोरस वच रहे, परतु जो मिट्टियाँ फास्फोरस को स्थिर नही करती उनमे अधिक मात्रा में फास्फोरसमय पदार्थ नही डालना चाहिए, अन्यथा सतुलन विगड जायगा और अन्य अवयव कम पड जायँगे।

पोटैसिअम—जिस भूमि मे सुलभ पोटैसिअम की मात्रा वहुत ही कम होती है उसमें पोटैसिअम देने पर दर्शनीय अतर पडता है, जो उपज की वृद्धि से स्पष्ट हो जाता है। पोटैसिअम सल्फेट तथा पोटैसिअम क्लोराइड ही साधारणत खाद के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनमे से प्रत्येक में लगभग ५० प्रति शत पोटैसिअम आक्साइड होता है। पोटैसिअम नाइट्रेट मे ४४ प्रति शत पोटैसिअम आक्साइड होता है, साथ में १३ प्रति शत नाइट्रोजन

भी रहता है। जीवजनित खादो मे भी ५० प्रति शत या अधिक पोटैसिग्रम ऑक्साइड हो सकता है। [थि० डी०]

उद्योग में आकस्मिक दुर्घटनाएँ

औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप आधुनिक काल मे विशालकाय मशीनो और यत्रो का अधिकाधिक उपयोग होने लगा है। मशीनो की गति का मनुष्य सामना नही कर सकता। तेज दौडते हुए पहिए, भीमकाय भट्ठियाँ और उनमे पिघलाए जानेवाले गर्म द्रव, भारी क्रेनें, और ऐसी ही अन्य कई चीजो से सुविकसित औद्योगिक केंद्र सचालित होते हैं। कही भी थोडी सी भूल चूक से, अथवा मशीनो के एकाएक खराब हो जाने से, पुर्जो के टूट जाने, अथवा विस्फोटक पदार्थों मे आग लग जाने आदि से कई ऐसी आकस्मिक दुर्घटनाएँ घट जाती हैं जिनका पहले से कोई अनुमान भी नही किया जा सकता। ऐसी उद्योग सबधी अप्रत्याशित और आकस्मिक घटनाएँ, जिनसे कार्यकर्ताओ को शारीरिक हानि पहुँचे और वे स्थायी या अस्थायी काल के लिये अयोग्य हो जायँ, अथवा मर जायँ, औद्योगिक दुर्घटनाएँ कहलाती हैं। घरेलू नौकरो की दुर्घटनाएँ और खेत पर काम करते समय लगनेवाली चोटो या होनेवाली शारीरिक हानियो को औद्योगिक दुर्घटना मे समिलित नही किया जाता। जब कोई घटना लाभ के लिये किया जानेवाला काम करते समय घटती है तभी वह औद्योगिक दुर्घटना की श्रेणी मे आती है।

शारीरिक हानि को उसकी गभीरता के आधार पर पाँच भागो मे विभक्त किया जा सकता है (१) मृत्यु, (२) स्थायी पूर्ण अयोग्यताएँ, यथा दोनो आँखो से अधा हो जाना, दोना हाथो अथवा पैरो का टूट जाना, आदि, (३) स्थायी आशिक अयोग्यताएँ, यथा एक आँख या एक हाथ या एक पैर का खराब हो जाना, (४) अस्थायी पूर्ण अयोग्यताएँ, (५) अस्थायी अयोग्यताएँ, जो प्राथमिक उपचार अथवा कुछ दिनो के डाक्टरी इलाज से ठीक होने योग्य हो।

बडे बडे उद्योगो मे साख्यिकी (स्टैटिस्टिक्स) द्वारा यह अनुमान लगाया जाता है कि किसी भी दुर्घटना द्वारा उस उद्योग को समय की दृष्टि से कितनी हानि हुई है। इस प्रकार समय और मूल्य का सबध जोडकर उद्योग को होनेवाली सपूर्ण आर्थिक हानि आँक ली जाती है। मत्यु के कारण भी उद्योग को समय की दृष्टि से पर्याप्त हानि होती है, क्योकि उस व्यक्ति की सेवाएँ बाद में कभी भी प्राप्त नही हो सकती। उसके स्थान पर किसी नए व्यक्ति को रखना पडता है जिसे उस स्थान पर ठीक से कार्य करने मे कुछ समय लग ही जाता है। इसी प्रकार स्थायी रूप से अयोग्य हुए व्यक्तियो के कारण भी समय नष्ट होता है। दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियो के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी अपना काम छोडकर उनकी सेवा सुश्रूषा के लिये अथवा मशीनो के सुधार के लिये समय देते है, जो किसी भी प्रकार उत्पादनवृद्धि में सहायक नही होता। कभी कभी उनकी मानसिक स्थिति भी स्थिर नही रह पाती और इसलिये भी उनकी कार्यक्षमता का ह्रास होने लगता है। इन सबका परिणाम उत्पाद्य वस्तुओ की मात्रा मे कमी ही होता है और इसलिये समय की हानि को मूल्य के साथ जोडना उचित हो जाता है।

दुर्घटना से होनेवाली आर्थिक हानि मे इलाज के लिये होनेवाला व्यय और बीमा का व्यय भी जोड लिया जाता है। १९५३ मे अमरीका मे लगभग ३ अरब डालर का व्यय इन औद्योगिक दुर्घटनाओ के कारण हुआ, जो प्रत्येक श्रमिक पर समान रूप से वितरित करने पर औसतन ४५ डालर होता है।

दुर्घटनाओ का तुलनात्मक परीक्षण करने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ आधारभूत कसौटियाँ स्थिर की जायँ। "अमरीकन स्टैंडर्ड्स ऐसोसिएशन" ने अपने प्रतिमान जेड १६ १ द्वारा दो प्रकार की शारीरिक-हानि-दर-मापन का माध्यम सुझाया है। ये हैं (१) किसी निश्चित अवधि मे दुर्घटनाओ की आवृत्ति, और (२) दुर्घटना की गभीरता। प्रथम प्रकार की गणना के लिये १०,००,००० काम करने के घटो की अवधि मे घटनेवाली दुर्घटनाओ को लिया जाता है। दूसरी प्रकार की गणना द्वारा इतने ही घटो मे हुई कुल हानि का अनुमान लगाया जाता है। यह हानि समयहानि के माध्यम से आँकी जाती है जिसका वर्णन हम ऊपर कर आए हैं।

उद्योगो मे दुर्घटनाओ को कम करने के लिये प्रत्येक दुर्घटना का विश्लेषण किया जाता है। दुर्घटना के कारणो की जानकारी होने पर भविष्य मे उन कारणो को न पनपने देने की चेष्टाएँ की जाती हैं। इस दिशा मे सतर्कता और सावधानी बरती जाती है। इन कारणो और कारको मे निम्नलिखित मुख्य है

१ दुर्घटना किस चीज से हुई, अर्थात् दुर्घटना का माध्यम (एजेसी), २ मशीन या औजार का भागविशेष, जो दुर्घटना के लिये उत्तरदायी हो, ३ दुर्घटनास्थल, वातावरण एव मशीन की स्थिति, ४ कार्यकर्ता ने सावधानी एव सतर्कता के नियमो का पालन किया या नही, ५ दुर्घटना के लिये स्वय दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति का दायित्व, ६ दुर्घटना का प्रकार (किस प्रकार हानि पहुँची)।

इनके अतिरिक्त दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति पुरुष है अथवा स्त्री, उसके कार्य की स्थिति, उसका मानसिक सतुलन आदि कारण भी विश्लेपित किए जाते हैं।

दुर्घटनाओ से होनेवाली मानवहानि, मृत्यु अथवा स्थायी अस्थायी अयोग्यताओ पर जितनी सहानुभूति के साथ २०वी शती के प्रारभ से विचार किया जाने लगा है, उतना पहले कभी नही किया गया। सुरक्षा के लिये यत्न, उचित प्रशिक्षण और श्रमिको की सुखसुविधा के लिये सहकार, ये सब नए किंतु आवश्यक चरण हैं। इनके मूल मे कतिपय कारण हैं। औद्योगिक प्रगति की बढती हुई परपरा से प्रभावित होकर सामान्य जन अपने परपरागत उद्योगो को छोडकर इन बडे उद्योगो की ओर आकृष्ट हुए। जनसख्या का अधिकाश यही केद्रित होने लगा। इधर उद्योगो पर समाज का अवलबन बढता ही चला गया और इससे उनका विकास और विस्तार करना आवश्यक हो गया। श्रमिको की माँग भी बढने लगी। किंतु जिन उद्योगो मे मानवहानि का भय हो, उसमे कोई श्रमिक तब तक जाना पसद नही करेगा जब तक उसे सामाजिक सुरक्षा का समुचित आश्वासन न मिले। मशीनो के साथ वह दिन और रात जूझता है, केवल इसलिये कि उसके बाल बच्चो का पोषण हो सके। यदि कार्य करने से ही उसकी मृत्यु हो जाय अथवा वह अयोग्य हो जाय, तो उसके परिवार के पोषण का कौन उत्तरदायी होगा? यही प्रश्न उसे अपने जीवन को सकट मे डालने से रोकता है। जब तक उद्योगपति उसे यह आश्वासन न दे दे कि उसको ऐसी किसी भी दुर्घटना की स्थिति मे सामाजिक सुरक्षा के कतिपय अधिकार प्राप्त होगे, तब तक वह ऐसे कार्यो मे हाथ लगाकर जोखिम मोल नही लेगा। इस प्रकार उद्योगो का यत्रीकरण, उनकी विषमता और जटिलता, उद्योगो मे जनसख्या के अधिकाश का केंद्रीकरण, समाज का उद्योगो पर पराश्रय, श्रमिको की माँग तथा जीवन पर सकट लानेवाले उद्योगो मे काम न करने की इच्छा आदि ही ऐसे मुख्य कारण हैं, जिन्होने उद्योगपतियो और राज्य सरकारो को यह बात सोचने के लिये बाध्य किया कि सामाजिक सुरक्षा (सोशल सिक्योरिटी) के लिये कतिपय नियम बनाए जायँ और साथ ही दुर्घटनाओ की स्थितियो और उनकी आवृत्तियो को कम करने की भरसक चेष्टाएँ की जायँ, ताकि श्रमिक उद्योगो मे नि सकोच आना पसद करे। कार्यस्थल के परिसर और कार्य करने की कुशल व सतर्क रीतियो से दुर्घटनाओ की सभावनाएँ कम हो सकती हैं और इसीलिये यह चेष्टा की जाती है कि अच्छे वातावरण मे श्रमिक कार्य कर सके। उन्हे कार्यक्षम बनाने तथा सावधानी से काम करने के लिये उचित प्रशिक्षण की योजना भी उद्योगो का एक विशेष कार्य हो गई है।

पहले उद्योगपतियो को यह विश्वास सा था कि सावधानी से और स्वय को सकट से बचाते हुए कार्य करने से उत्पादन की मात्रा पर कुप्रभाव पडता है, किंतु अब यह विचार बदल गया है। अनुभव के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ठीक प्रकार से कार्य करना कुशलता और जीवनरक्षा दोनो ही दृष्टियो से लाभप्रद है।

सरकारी और निजी, दोनो ही क्षेत्रो मे इस ओर जागरूकता बढती जा रही है और कई समितियाँ एव राजकीय विभाग इसी ओर अपना कार्यक्षेत्र विस्तारित भी कर रहे हैं। कतिपय मजदूर सघ (ट्रेड यूनियने) भी इस दिशा में अपने प्रयासो द्वारा दुर्घटनाओ को कम करने तथा दुर्घटनाग्रस्त लोगो की सेवा शुश्रूषा अथवा मृतक के परिवार के भरण पोषण आदि के प्रबध का कार्य करते रहते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन की "रायल सोसायटी फॉर दि प्रिवेंशन ऑव ऐक्सिडेंट्स" का निर्माण इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति के लिये किया गया। सुरक्षा के छ सिद्धातो का उल्लेख यह सोसायटी इस प्रकार करती है

१ व्यवस्थापको की ओर से सुरक्षा के लिये सबल प्रयास होना चाहिए, २ प्रत्येक व्यक्ति को इस ओर सचेत करने का यत्न आदोलन द्वारा किया जाना चाहिए, ३ दुर्घटनाओ के आँकडे और विवरण पजीकृत करने चाहिए, ४ निरीक्षण, जाँच और कार्यसुरक्षा के विश्लेषण का अध्ययन करना आदोलन का आवश्यक अग होना चाहिए, ५ सगठन का अधिकाश कार्य कार्य-सुरक्षा-समिति को सौंप देना चाहिए, ६ इस सगठन का अत्यत महत्वपूर्ण कार्य प्रचार द्वारा कार्यकर्ताओ और व्यवस्थापको को इस दृष्टि से शिक्षित करना होना चाहिए।

इस सोसायटी ने अपने अनुसधान द्वारा विभिन्न प्रकार की दुर्घटनाओ को वर्गीकृत किया। उन वर्गों में होनेवाली दुर्घटनाओ की आवृत्ति का प्रति शत निम्नलिखित है

	कारण	प्रति शत दुर्घटना
१	माल ढोने से	२७ ८
२	शक्तिचालित मशीनो से	१६ ४
३	लोगो के गिर जाने से	१३ ३
४	हाथ के औजारो के उपयोग से	८ ८
५	किसी वस्तु के गिर जाने से	८ ७
६	किसी वस्तु से टकरा जाने से	७ ३
७	गर्म धात्विक द्रव या गर्म वस्तु के स्पर्श से	४ २
८	यातायात (रेलवे के अतिरिक्त)	३ ३
९	रेल यातायात	१ ६
१०	विविध	८ ६

भारत में औद्योगीकरण के प्रारभ के वर्षो में दुर्घटनाएँ अधिक हुआ करती थी, क्योकि उस समय श्रमिक अधिक कुशल नही था। सन् १८८४ में दुर्घटना के कारण अयोग्य हुए व्यक्तियो को हानिमूल्य देने का प्रश्न उठाया गया, पर कार्यकर्ताओ के हानिमूल्य का अधिनियम (वर्कमेंस कपेंसेशन ऐक्ट) १९३३ में जाकर ही पारित हो सका। १९३४ के फैक्टरी ऐक्ट द्वारा इस दिशा में और अधिक व्यवस्थाएँ हुई। फिर भी औद्योगिक दुर्घटनाओ की साख्यिकी अधिक विश्वसनीय नही है। स्वय श्रमिको के अबोध और अशिक्षित होने के कारण तथा मजदूर सघो के सुसगठित न होने के कारण, हानिमूल्य की प्राप्ति के लिये अधिक चेष्टाएँ भी नही की जाती और की जाने पर भी सफलता सभी में समान रूप से नही मिल पाती। उद्योगपति भी इस स्थिति का लाभ उठाते है। अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को टाल देने की प्रवृत्ति व्यवस्थापको में प्राय पाई जाती है। इसीलिये श्रमिको का शोषण करने मे भी वे अधिक सकोच नही करते।

दुर्घटनाजन्य मृत्यु की दर १९३९ की तुलना में १९५७ मे कुछ कम हुई। १९५७ में प्रति एक हजार व्यक्तियो में से ० ०९ श्रमिक मरे, जब कि १९३९ में ० १३ व्यक्ति मरे थे। किंतु अन्य दुर्घटनाओ में, जो स्थायी और अस्थायी अयोग्यता के कारण होती है, प्रति वर्ष वृद्धि ही हुई है। नीचे की तालिका इसे स्पष्ट करती है

वर्ष	मृत्यु के अतिरिक्त दुर्घटनाओ की कुल सख्या	प्रति एक हजार व्यक्ति पर औसत
१९३९	३५,७८५	२० ४३
१९४५	६६,७८१	२६ ४०
१९५४	९३,७६५	३६ २१
१९५६	१,२८,१७७	४४ ४७

विभिन्न कारण जिनके कारण दुर्घटनाएँ हुई, उनके प्रति शत निम्नलिखित है

	दुर्घटना के कारण	१९५० में प्रति शत	१९५६ मे प्रति शत
१	मशीनो द्वारा	२३ ७०	२४ ४०
२	वस्तुओ के गिर जाने से	१६ ४९	१३ २४
३	माल ढोने से	१० ३५	११ ३७
४	यातायात	१ १८	१ ४४
५	गर्म धात्विक द्रव या गर्म पदार्थ से	५ ६५	४ ७०
६	हाथ के औजारो के उपयोग मे	९ ८२	७ ५७
७	लोगो के गिर जाने से	६ २१	५ ७३
८	किसी चीज से टकरा जाने से	७ ६५	१२ ४७
९	विविध	१२ ९५	१९ ०८

द्वितीय पचवर्षीय योजना और आगामी पचवर्षीय योजनाओ में औद्योगीकरण तथा यत्रीकरण पर जो बल दिया जा रहा है (या दिया जानेवाला है), उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उद्योग सबधी समस्याएँ और दुर्घटनाओ की सभावनाएँ बहुत बढ जायँगी। इन्हें रोकने के लिये उचित प्रशिक्षण तथा उद्योगपतियों के हार्दिक सहकार की परम आवश्यकता है। सामाजिक सुरक्षा के प्रति जागरूकता और सहानुभूतिपूर्ण विचार तथा उत्तरदायित्व का भाव होना औद्योगिक विकास के लिये अपरिहार्य है। कार्यकर्ताओ के लिये राज्य बीमा अधिनियम (एम्लायीज़ स्टेट इश्योरेंस ऐक्ट, १९४८) द्वारा कतिपय सुविधाएँ राज्य ने प्रदान की है। परतु इस दिशा मे अधिक गभीरता से विचार करने और ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। [यो० अ०]

उद्योग में इलेक्ट्रानिकी इलेक्ट्रानिकी (इलेक्ट्रानिक्स) विज्ञान का वह विभाग है जिसमें इलेक्ट्रान नलियो का अथवा उसी प्रकार के उपकरणो का उपयोग होता है। (देखें इलेक्ट्रान नली)। इलेक्ट्रान नलियोवाले यत्रो का उपयोग बढिया मेल का माल उत्पन्न करने के लिये या साधारण मशीनो की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से काम करने के लिये होता है। कुछ अन्य उपयोग ऐसे है जिनके लिये कोई सतोषजनक वैकल्पिक रीति नही है, जैसे इस्पात की चलती हुई तप्त छडो का ताप नापना, लगातार शीघ्रता से चलती हुई वस्तुओ का गिनना अथवा उनकी उत्तमता की परीक्षा करना। इलेक्ट्रानीय युक्तियो में से महत्वपूर्ण उपयोग ये है—प्रत्यावर्ती विद्युद्धारा (आलटर्नेटिंग करेंट) को दिष्ट (डाइरेक्ट) धारा मे बदलना, शीघ्र और नियत्रित सीमा तक धातुओ और अधातुओ को तप्त करना, वेग, ताप, दाब, स्राव, तनाव, रग आदि का विविध औद्योगिक क्रियाओ मे नियत्रण और मोटाई, रग, समय, आर्द्रता, ताप, वेग, विकिरण आदि का नापना।

आजकल के कई अतिप्रचलित यत्र भी बिना इलेक्ट्रानिकी के बन नही पाते, जैसे रेडियो, दूरवीक्षण (टेलिविजन), ध्वनिचित्र (बोलता सिनेमा), प्रतिदीप्ति प्रकाश (फ्लुओरेसेंट लाइट), जन-व्याख्यान-प्रबध (पब्लिक ऐड्रेस सिस्टम), टेलीफोन आदि। ये सब युक्तियाँ इलेक्ट्रानिकी की ही देन है। क्रमश पिछले २५ वर्षों मे औद्योगिक उपकरणो में इलेक्ट्रान-नली-युक्त यत्रो का उपयोग मोटरो के उत्तम कार्यकरण में, धातुओ को जोडने मे, बहुमूल्य धातुओ के पिघलाने मे तथा "विद्युतीय चक्षु" (इलेक्ट्रिक आई) द्वारा नियत्रण करने मे किया जा रहा है। दस वर्षो के यात्रिक युद्ध (मिकैनिकल वारफेयर) ने इलेक्ट्रानिकी की युक्तियो का जलयानो, वायुयानो तथा टैंको मे अधिकाधिक प्रयोग कराया है। इनके अतिरिक्त युद्ध मे प्रयुक्त प्रचुर सामग्री उन कलो के द्वारा तैयार की गई जिनमें इलेक्ट्रानिकी का प्रयोग किया गया था। युद्ध के पश्चात् युद्ध में प्रयुक्त सामगी की आवश्यकता कम हो गई, परतु ये औद्योगिक उपकरण रह गए।

इलेक्ट्रानिकी के कुछ औद्योगिक उपयोगो के विषय मे सक्षेप में नीचे लिखा जा रहा है

उद्योग में उपयुक्त कुछ ऋजुकारी—ऋजुकारक, उद्योग मे जिनसे प्रत्यावर्ती विद्युद्धारा दिष्ट धारा मे बदली जाती है, बहुधा उपयोग मे लाए जाते है। वे प्राय निम्नलिखित मे से एक प्रकार के होते है उच्चविभव कैथोड़ान युक्त ऋजुकारी, उष्मित ऋणाग्र गैस नली ऋजुकारी, आरगन

युक्त द्विध्रुवी ऋजुकारी, टुगर ऋजुकारी, पारद-वाष्प-युक्त ऋजुकारी, फैनोट्रान, थाइरेट्रान ऋजुकारी, पारा ताल ऋजुकारी (मरक्यूरी पूल रेक्टिफायर्स), काच नली पारद चाप ऋजुकारी, स्थिर टैंक पारद चाप ऋजुकारी, इगनिट्रान ऋजुकारी, इत्यादि।

अधिक शक्ति के ऋजुकारी मे बहुकला ऋजुकारी परिपथो (पॉलीफेज़ सर्किट्स) का उपयोग एककला ऋजुकारी परिपथो के उपयोग की अपेक्षा अनेक कारणो से अधिक लाभदायक होता है। प्रथम कारण यह है कि आजकल अधिकतर विद्युतीय शक्ति का उत्पादन तथा वितरण त्रि-कला-शक्ति के रूप मे होता है। द्वितीय कारण यह है कि बहुकला ऋजुकारी के द्वारा उत्पन्न वोल्टता एककला ऋजुकारी द्वारा उत्पन्न वोल्टता की अपेक्षा अधिक सम (असमतारहित) होती है।

उपर्युक्त उच्चशक्ति ऋजुकारी मे या तो अनेक धनाग्रो (ऐनोड) के लिये एक ही ऋणाग्र रहता है या अनेक धनाग्र ऋजुकारी, जिनके ऋणाग्र जुडे रहते है, प्रयोग मे लाए जाते है। दोनो ही प्रकार के (उष्म तथा शीतल) ऋणाग्र प्रयोग में लाए जाते हैं।

प्रतिरोध द्वारा जोड़ने में इलेक्ट्रानिकी नियत्रण—धातु के दो टुकडो को, उनमे अत्यधिक विद्युद्धारा (१,००० से १०,००० अपीयर तक) प्रवाहित करके जोडा अथवा सगलित किया जा सकता है। इसके लिये धातु के इन टुकडो को वेल्डिग मशीन के दो विद्युदग्रो के रूप मे होना चाहिए। वेल्ड करने के लिये धारा सेकड के केवल एक छोटे भाग तक ही प्रवाहित होनी चाहिए। स्पर्शक (स्विच) ऐसा हो जो विद्युतीय परिपथ को एकदम जोड तथा खोल सके। ऐसा घटे मे सौ बार करना पडता है। यद्यपि चुबकीय स्पर्शक इस कार्य मे लाए जाते है, तो भी अब इगनेट्रान स्पर्शक तथा अन्य इलेक्ट्रान नली द्वारा सचालित उपकरण का प्रयोग उत्तम वेल्ड के लिये विशेष रूप से किया जा रहा है। इनमें वेल्ड कम समय मे होता है और स्पर्शक कोलाहल कम होता है। इसमें व्यय भी कम पडता है। वेल्ड इगनेट्रान के अतिरिक्त वेल्ड टाइमर तथा समक्रमिक (सिनक्रोनस कट्रोल) का भी प्रयोग हो रहा है।

वेल्ड मशीन मे प्रत्यावर्ती-धारा-स्रोत से शक्ति इगनेट्रान द्वारा प्राप्त होती है। इन इगनेट्रानो का नियत्रण अन्य नली-नियत्रित परिपथो के द्वारा होता है। वेल्ड उष्मा का नियत्रण एक डायल घुमाकर करने के लिये थाइरेट्रान का प्रयोग किया जाता है। अत्युत्तम वेल्ड के लिये समक्रमिक नियत्रणो का प्रयोग किया जाता है।

मोटर तथा जनित्र की चाल का इलेक्ट्रानिक नियंत्रण—मोटर की चाल का नियत्रण कागज के मिलो मे विशेष रूप से किया जाता है, क्योकि चाल पर ही कागज की मोटाई निर्भर रहती है। इन यत्रो मे एक्साइटर के क्षेत्र की प्रवाहित धारा में परिवर्तन किया जाता है, जो जनित्र के लिये नियत्रक क्षेत्र का उत्पादन करता है। यह जनित्र एक प्राइम मूवर द्वारा चालित होता है। जनित्र का आर्मेचर अपना उत्पादन उस मोटर को देता है जिसकी चाल का नियत्रण करना होता है। एक दिष्ट-धारा-जनित्र इस मोटर द्वारा चलाया जाता है, वह अपनी चाल के समानुपात मे वोल्टता उत्पन्न करता है। यदि यह वोल्टता पूर्वनिश्चित वोल्टता से भिन्न होती है तो एक नियामक (रेगुलेटर) को सक्रिय कर देती है। यह नियामक इक्साइटर के क्षेत्र मे ऐसा परिवर्तन ला देता है कि मोटर की चाल पूर्वनिश्चित मान पर आ जाय। इस नियामक मे अनेक नलियो का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इलेक्ट्रानिकी की सहायता से मोटर की चाल का नियत्रण अति सूक्ष्म मान तक किया जा सकता है।

उच्च आवृत्ति से गरम करने के औद्योगिक उपयोग—अत्यधिक शक्तिशाली उच्च आवृत्ति उत्पादक का उपयोग पारविद्युत् (डाइइलेक्ट्रिक) तथा प्रेरण (इडक्शन) द्वारा गरम करने मे बहुत किया जा रहा है। जब किसी पारविद्युत् को सधारित्र के दो पट्टो के बीच में रखा जाता है और सधारित्र को एक शक्तिशाली उच्च आवृत्ति उत्पादक से सबद्ध कर दिया जाता है, तो एक हानिधारा (लॉस करेट) के कारण पारविद्युत् का ताप बढ जाता है और वह पिघलने लगता है। इस प्रकार का नियम प्रेरण द्वारा गरम करने के लिये भी है। ये युक्तियाँ साधारण गरम करने की अपेक्षा अधिक लाभदायक है।

इनके अतिरिक्त उद्योग मे इलेक्ट्रानिकी के अनेक उपयोग है, जैसे विभिन्न प्रकार के स्विच तथा योजित्र (रिले) मे नलियो का उपयोग, जन-व्याख्यान-व्यवस्था, प्रकाश तथा उष्मा का नियत्रण, इत्यादि। सर्वोमिकेनिज्म मे भी इलेक्ट्रानिकी का उपयोग होता है। [ग० प्र० श्री०]

उद्योग में ऐल्कोहल

उद्योग मे मेथिल तथा एथिल ऐल्कोहल का प्रमुख स्थान है। कुछ समय पहले तक व्यापारिक मात्रा मे मेथिल ऐल्कोहल केवल लकडी के शुष्क आसवन द्वारा ही प्राप्त किया जाता था। इस विधि मे लकडी को लोहे के बडे बडे बकयत्रो (रिटॉर्टो) मे, जिनमे शीतक लगे रहते है, हवा की अनुपस्थिति मे ५००° सेंटीग्रेड पर गर्म करने से निम्नलिखित पदार्थ बनते है

(क) काष्ठ गैस—यह गैसो का मिश्रण तथा एक उपयोगी ईंधन है। इसमें मिथेन, कारबन मोनोक्साइड और हाइड्रोजन की मात्रा अधिक तथा एथेन, एथिलीन और ऐसिटिलीन की मात्रा कम होती है।

(ख) एक द्रव-स्रव (डिस्टिलेट) जो स्थिर होने पर दो परतो में अलग हो जाता है। ऊपरवाले द्रव परत को पाइरोलिगनस अम्ल कहते है, इसमे ऐसिटिक अम्ल १०% तक, मेथिल ऐल्कोहल २ से ४% तक तथा अन्य पदार्थ, जैसे ऐसिटोन आदि अतिन्यून मात्रा मे होते हैं। नीचे की काली परत को काष्ठ तारकोल कहते है, इसमें फिनोल श्रेणी के तथा कुछ दूसरे यौगिक रहते हैं।

(ग) लकडी का कोयला जो बकयत्रो मे बच रहता है।

पाइरोलिगनस अम्ल मे से ऐसिटिक अम्ल कैल्सियम ऐसिटेट के रूप मे अलग कर लिया जाता है, अब जो द्रव बच रहता है उसमे से चूने की बरी द्वारा सारा जल सुखाकर उसका प्रभाजित आसवन कर ऐल्कोहल और ऐसीटोन अलग कर लेते हैं। इस काष्ठ स्पिरिट मे शुद्ध मेथिल ऐल्कोहल ७० से ८०% तक होता है। इस विधि मे व्यय अधिक तथा ऐल्कोहल की प्राप्ति बहुत कम होती है। अत उद्योग के लिये ऐल्कोहल सश्लेषण विधि द्वारा तैयार करते है। पचास या इससे अधिक वायुमडल दाब पर जल-गैस को किसी उपयुक्त उत्प्रेरक (जिक आक्साइड+क्रोमियम आक्साइड, या जिक आक्साइड+ताम्र आक्साइड) के साथ ४००° सें० पर गर्म करने से मेथिल ऐल्कोहल बनता है।

मेथिल ऐल्कोहल तीव्र विषैला पदार्थ है। अत इसका मुख्यतम उपयोग एथिल ऐल्कोहल को अपेय बनाने के लिये होता है। लाह और रेज़िन के लिये, जिनका उपयोग वार्निश तथा पॉलिश के उद्योग मे होता है, यह एक उपयुक्त विलेयक है। इसका आक्सीकरण करने से फार्मैल्डिहाइड बनता है जिसका उपयोग बेकलाइट बनाने मे होता है। डाइमेथिल ऐमाइन, कृत्रिम रग, ओषधि तथा सुगधित पदार्थो के निर्माण मे भी इसका अधिक उपयोग होता है।

एथिल ऐल्कोहल—इसको तैयार करने की दो विभिन्न विधियाँ है

(१) सश्लेषण विधि—एथिलीन गैस को सांद्र सल्फ्युरिक अम्ल में शोषित कराने से एथिल हाइड्रोजन सल्फेट बनता है जो जल के साथ उबालने पर उद्विघटित (हाइड्रोलाइज़) होकर एथिल ऐल्कोहल देता है। इस विधि का प्रचलन अभी अधिक नही है।

(२) किण्वीकरण विधि—इसके द्वारा किसी भी शक्करमय पदार्थ (गन्ने की शक्कर, ग्लुकोस, शीरा, महुए का फूल आदि) या स्टार्चमय पदार्थ (आलू, चावल, जौ, मकई आदि) से ऐल्कोहल व्यापारिक मात्रा में बनाते हैं। साधारणत ऐल्कोहल शीरे से, जो शक्कर और चुकदर के मिलो में व्यर्थ बचा पदार्थ है, बनाया जाता है। शीरे मे लगभग ३० से ३५ प्रति शत तक गन्ने की शक्कर तथा लगभग इतना ही ग्लुकोस और फ्रुक्टोस घुला रहता है। शीरे में उतना ही जल मिलाया जाता है जितने से उसका आपेक्षिक घनत्व १०३ से लेकर १०४ तक हो जाता है। जीवाणुओ तथा अन्य अनावश्यक किण्वो की वृद्धि रोकने के लिये इस घोल में सल्फ्यूरिक अम्ल की कुछ बूंदे डाल देते हैं। अब इसमे थोडा सा यीस्ट डालकर इसे ३०°-४०° सेंटीग्रेड ताप पर रख देते है। लगभग ४०-५० घटो मे किण्वीकरण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार से शीरे की लगभग ९५% शक्कर विच्छिन्न होकर ऐल्कोहल और कारबन-डाइ-आक्साइड मे परिवर्तित हो जाती है।

स्टार्चमय पदार्थो को पहले छोटे छोटे टुकडे कर या पानी के पीसकर तप्त भाप मे उबालते है। स्टार्चमय पदार्थ लेई की तरह हो

है, इसे हलवा (अंग्रेज़ी मे मैश) कहते है। मैश मे थोडा माल्ट निष्कर्ष मिलाकर ५५°-६०° सेंटीग्रेड ताप पर रख देते हैं। माल्ट निष्कर्ष में विद्यमान डायस्टेस-एजाइम द्वारा स्टार्च का उद्विघटन होकर माल्टोस बनता है। इस क्रिया मे लगभग आध घटा लगता है और जो द्रव इस प्रकार मिलता है उसे क्वाथ (अंग्रेजी में वर्ट) कहते हैं। क्वाथ को उवालकर इसमें विद्यमान डायस्टेस को नष्ट कर देते है, इसे २०° सें० ताप तक ठढा कर इसमे यीस्ट डालते है और फिर इसे २०°-३७° सें० के वीच रख छोडते हैं। यीस्ट मे विद्यमान माल्टेस-एजाइम माल्टोस को उद्विघटित कर ग्लूकोस मे परिवर्तित करता है। इस ग्लूकोस को फिर ज़ाइमेस-एज़ाइम द्वारा विघटित कर ऐल्कोहल प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से ऐल्कोहल वनाने मे ३-४ दिन लगते हैं।

किण्वीकरण के वाद जो द्रव मिलता है उसे धोवन (वाश) कहते है, इसमे ऐल्कोहल लगभग १०-१५% तक होता है, इसका प्रभाजित आसवन करने पर जो द्रव मिलता है उसमें लगभग ६५ ६% ऐल्कोहल होता है, इसको रेक्टिफायड स्पिरिट कहते हैं। प्रभाजित आसवन के लिये कई प्रकार के भभके उपयोग मे आते हैं। भारत तथा इग्लैंड में कॉफे भभके का अधिक प्रचलन है, इसके द्वारा एक ही वार के आसवन से रेक्टिफायड स्पिरिट प्राप्त हो जाता है। एक गैलन शीरे से लगभग ० ४ गैलन रेक्टिफायड स्पिरिट प्राप्त होता है। इस रेक्टिफायड स्पिरिट मे ऐल्कोहल के अतिरिक्त थोडी मात्रा में ऐसिटैल्डिहाइड, ग्लिसरीन, सकसिनिक अम्ल और फ्यूज़ेल तेल अशुद्धि के रूप मे रहते हैं। इन अशुद्धियो को अलग करने के लिये इसको पहले लकडी के कोयले के छन्ने द्वारा छानते हैं और फिर प्रभाजित आसवन द्वारा प्रथम, द्वितीय और अतिम स्रव-अश प्राप्त करते हैं जिनमें क्रमश ऐसिटैल्डिहाइड, रेक्टिफायड स्पिरिट तथा फ्यूजल तेल रहता है।

रेक्टिफायड स्पिरिट से जलरहित विशुद्ध ऐल्कोहल वनाने की साधारण विधि यह हे कि इसमे थोडा वरी का चूना डाल देते है, एक दो दिन के बाद ऐल्कोहल को निथारकर आसवन पात्र मे रखकर सोडियम या कैल्सियम के ताजे कटे छोटे छोटे थोडे से टुकडे डालकर इसे तुरत आसवित करते हैं। ग्राहक पात्र मे हवा से जलवाष्प न जा सके इसके लिये उसमें कैल्सियम क्लोराइड से भरी हुई एक नली लगा दी जाती है। व्यापारिक विधि में रेक्टिफायड स्पिरिट मे वेजीन मिलाकर वेजीन, ऐल्कोहल और जल तीनो के समक्वाथी त्रय-मिश्रण को गर्म करते हैं। ऐल्कोहल मे जितना जल रहता है वह सव इस त्रय-मिश्रण के रूप में ६४ ६° सें० पर वाहर निकल जाता है। मिश्रण मे अव केवल वेजीन और ऐल्कोहल रह जाता है। इस द्वय-मिश्रण के ६८ ३° सें० पर आसवित होकर निकल जाने पर विशुद्ध ऐल्कोहल ७८ ३ सें० पर आसवित होता है।

साधारणत पेय ऐल्कोहल पर भारी कर लगाया जाता है। उद्योग-विस्तार के लिये औद्योगिक ऐल्कोहल का सस्ता मिलना आवश्यक है। इसलिये उसपर कर या तो नही लगता है या वहुत कम। लोग उसे पी न सके, इस उद्देश्य से प्रत्येक देश मे करमुक्त ऐल्कोहल में कुछ ऐसे विषैले और अस्वास्थ्यकर पदार्थों को मिलाते है जिससे वह अपेय हो जाय किंतु अन्य कार्यो के लिये अनुपयुक्त न होने पाए। अधिकाश देशो में रेक्टिफायड स्पिरिट में ५ से १० प्रति शत तक मेथिल ऐल्कोहल और ० ५% पिरीडीन मिला देते है और उसे मेथिलेटेड स्पिरिट कहते है। मेथिल ऐल्कोहल के कारण ही मेथिलेटेड स्पिरिट नाम पडा है। किंतु आजकल वहुत से विकृत ऐल्कोहलो मे मेथिल ऐल्कोहल विलकुल नही रहता। भारत में विकृत स्पिरिट मे साधारणत ० ५% पिरीडीन और ० ५% पतला रवर स्राव रहता है।

सभी प्रकार की मदिरा मे एथिल ऐल्कोहल होता है। कुछ प्रचलित आसुत (डिस्टिल्ड) मदिराओ के नाम ह्विस्की, व्राडी, रम, जिन और वॉडका हैं। इनको क्रमानुसार जौ, अगूर, शीरा, मकई और नीवारिका से वनाते हैं और इनमे ऐल्कोहल क्रमानुसार ४०,४०,४०,३५-४० और ४५ प्रति शत होता है। वियर, वाइन, शैंपेन, पोर्ट, शेरी और साइडर कुछ मुख्य निरासुत मदिराएँ है, वियर जौ से तथा और दूसरी सव अगूर से वनाई जाती है, इनमें ऐल्कोहल की मात्रा ३ से २० प्रति शत तक होती है।

मदिरा तथा अन्य ऐल्कोहलीय द्रवो म ऐल्कोहल की मात्रा ज्ञात करने की विधि को ऐल्कोहलमिति कहते है। इसके लिये एक तालिका तैयार कर ली जाती है जिसमें विभिन्न आपेक्षिक घनत्वो के ऐल्कोहलीय द्रवो मे विभिन्न तापो पर ऐल्कोहल की प्रति शत मात्रा दी रहती है। अज्ञात ऐल्कोहलीय द्रव का आपेक्षिक घनत्व हाइड्रोमीटर से तथा ताप तापमापी से ज्ञात कर तालिका की सहायता से उस द्रव मे उपस्थित ऐल्कोहल की प्रति शत मात्रा ज्ञात कर ली जाती हे। कर लगाने की सुविधा के लिये एक निश्चित प्रति शत के ऐल्कोहलीय द्रव को प्रामाणिक मान लिया गया है, इसको प्रूफ स्पिरिट कहते है, इसमे मात्रा के अनुसार ४६ ३% तथा आयतन के अनुसार ५७ १% ऐल्कोहल रहता है। अन्य ऐल्कोहलीय द्रवो की सान्द्रता प्रूफ स्पिरिट के आधार पर व्यक्त की जाती है।

ऐल्कोहलीय किण्वीकरण मे ऐल्कोहल के अतिरिक्त निम्नलिखित मूल्यवान् पदार्थ भी उपजात (वाइ प्रॉडक्ट) के रूप मे प्राप्त होते हैं

१ कारवन-डाइ-आक्साइड—किण्वीकरण के समय यह गैस अधिक मात्रा में निकलती है। साधारणत इसे ठढा कर ठोस में परिवर्तित करके शुष्क हिम के नाम से वाजार में वेचते हैं। इसका उपयोग वहुत ठढक पैदा करने के लिये होता है।

२ एर्गाल या टार्टार—शक्करयुक्त पदार्थो का किण्वीकरण जिस पात्र मे होता है उसकी भीतरी दीवारो पर एक मटमैले रग की कडी पपडी जम जाती है। इसको एर्गाल या टार्टार कहते है। इसमे मुख्य रूप से पोटैसियम हाइड्रोजन टारटरेट रहता है जिससे टारटरिक अम्ल अधिक मात्रा में बनाई जाती है।

३ वाश के आसवन के प्रथम अश ऐसिटैल्डिहाइड तथा दूसरे उडनशील एस्टर होते हैं।

४ फ्यूज़ेल तेल—यह अधिक अणुभार वाले ऐल्कोहलो का मिश्रण होता है। इसमे से आइसो अमाइल ऐल्कोहल को प्रभाजित आसवन द्वारा पृथक् कर लेते हैं, क्योकि यह एक उत्तम विलेयक है।

५ निर्जीव धोवन—आसवन द्वारा ऐल्कोहल को धोवन (वाश) मे से अलग करने के वाद जो शेप द्रव तलछट के रूप में वच रहता है उसे निर्जीव धोवन कहते है। स्टार्चमय पदार्थों की चर्वी तथा प्रोटीन का अधिकाश भाग अविघटित रूप मे निर्जीव धोवन मे रहता है, इसलिये यह जानवरो के पौष्टिक चारे के लिये उपयोग मे आता है।

उद्योग मे एथिल ऐल्कोहल की उपयोगिता इसकी अत्युत्तम विलेयक शक्ति के कारण है। इसका उपयोग वार्निश, पालिश, दवाओ के घोल तथा निष्कर्प, ईथर, क्लोरोफार्म, आयडोफार्म, कृत्रिम रग, पारदर्शक साबुन, इत्र तथा फल की सुगधो का निष्कर्प तथा अन्य रासायनिक यौगिक वनाने में होता है। पीने के लिये विभिन्न मदिराओ के रूप मे, घावो को धोने मे जीवाणुनाशक के रूप मे तथा प्रयोगशाला मे घोलक के रूप में इसका उपयोग होता है। पीने की ओपधियो मे यह डाला जाता है और मरे हुए जीवो को सरक्षित रखने में भी इसका उपयोग होता है। रेयान ऐसिटेट उद्योग के लिये ऐसीटिक अम्ल की पूर्ति मैंगनीज पराक्साइड तथा सल्फ्यूरिक अम्ल की उपस्थिति में ऐल्कोहल का आक्सीकरण करके होती है, क्योकि यह क्रिया शीघ्र होती है और इससे ऐसीटिक अम्ल तथा ऐसिटाल्डिहाइड प्राप्त होते हैं। स्पिरिट लैंप तथा स्टोव में और मोटर इजनो में पेट्रोल के साथ इसको ईधन के रूप में जलाते हैं। इसके अधिक उडनशील न होने के कारण मोटर को चलाने में कठिनाई न हो इस उद्देश्य से इसमें २५% ईथर या पेट्रोल मिलाते है। [वैं० ना० प्र०]

उद्योग में प्रतियोगिता

आर्थिक जीवन स्वतत्रता में ही पनप सकता हे। शासन का हस्तक्षेप, चाहे वह कितना ही सद्भावनात्मक क्यो न हो, आर्थिक विकास के लिये वाछनीय नही है। आर्थिक स्वतत्रता के अतर्गत आपसी प्रतियोगिता द्वारा उद्योगो का नियत्रण स्वचालित रूप से हो जाता है तथा योग्यतम उत्पादक ही औद्योगिक क्षेत्र मे रह पाते हैं।

प्रतियोगिता का नियम—त्रिकोणीय प्रतियोगिता—क्रेताओ के वीच आपसी प्रतियोगिता, विक्रेताओ के वीच आपसी प्रतियोगिता तथा क्रेताओ और विक्रेताओ के वीच प्रतियोगिता—औद्योगिक नियत्रण में सहायक

होती है। क्रेताओं के बीच आपसी प्रतियोगिता में वृद्धि होने पर मूल्य में वृद्धि होती है। मूल्य में वृद्धि होने पर लाभ में वृद्धि होती है। बढ़े हुए लाभ वर्तमान उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने तथा नए उत्पादकों को उत्पादन प्रारंभ करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। परिणामत उद्योगपतियों में आपसी प्रतियोगिता बढ़ जाती है और मूल्य घट जाता है। मूल्य घटने पर अयोग्य उत्पादक औद्योगिक क्षेत्र छोड़ देते हैं और उत्पादन कम होने लगता है। उत्पादन कम होने पर मूल्य फिर बढ़ने लगता है। इस प्रकार प्रतियोगिता का चक्र चलता रहता है तथा योग्यतम उत्पादकों को ही औद्योगिक क्षेत्र में टिकने देता है। प्रतियोगिता न केवल अयोग्य उत्पादकों को बाहर कर देती है वरन् अन्य कुशल उत्पादकों को भी अपनी कार्यक्षमता एक आदर्श स्तर पर बनाए रखने को बाध्य करती है।

प्रतियोगिता का औचित्य—प्रतियोगिता का शाब्दिक अर्थ दो या अधिक व्यक्तियों या समूहों द्वारा एक ही वस्तु या ध्येय को प्राप्त करने का यत्न है। औद्योगिक क्षेत्र में यह वांछित वस्तु क्रेताओं द्वारा किया जानेवाला क्रय है, जिसे प्राप्त करने का प्रत्येक उद्योगपति प्रयत्न करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वह अपने प्रतियोगी की अपेक्षा उत्पादन व्यय कम करने का तथा अधिक उत्तम वस्तुओं के निर्माण का प्रयत्न करता है। वह अपने प्रतियोगी की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ तथा सेवाएँ प्रदान करने का भी यत्न करता है। संक्षेप में कहें तो वह अपनी कार्यक्षमता बढ़ाता है। यही औद्योगिक प्रतियोगिता का औचित्य है।

अनुचित प्रतियोगिता—कभी कभी उद्योगपति अपनी कार्यक्षमता को नहीं बढ़ाता, बल्कि विज्ञापन द्वारा अन्य उद्योगपतियों के ग्राहकों को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार अन्य उत्पादकों को औद्योगिक क्षेत्र से बाहर निकालने के उद्देश्य से वह अपनी वस्तुओं को उत्पादनव्यय से भी नीची कीमत पर बेचता है। ऐसा करने में उसका उद्देश्य यह होता है कि वह अन्य उत्पादकों का उत्पादन बंद हो जाने पर अपनी वस्तुओं को मनमानी कीमत पर बेच सके। इस प्रकार की प्रतियोगिता का औचित्य बहुत ही संदेहास्पद है।

प्रतियोगिता में बाधाएँ—सामाजिक परंपराएँ तथा शासन का नियंत्रण स्वतंत्र औद्योगिक प्रतियोगिता में बाधा उत्पन्न करते हैं। भारतवर्ष में कुछ धंधों का जातिविशेष द्वारा ही अपनाया जा सकना औद्योगिक प्रतियोगिता को सीमित कर देता है। कभी कभी राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए शासन भी उद्योगों का प्रारंभ करने या वस्तुओं का उपभोग करने पर नियंत्रण लगा देता है। उद्योगों का प्रमाणीकरण तथा उपभोग की वस्तुओं के मूल्य तथा परिमाण का नियंत्रण ऐसे कुछ उपाय हैं जो त्रिकोणीय औद्योगिक प्रतियोगिता के किसी न किसी पक्ष को नियंत्रित करते हैं।

प्रतियोगिता तथा आर्थिक नियोजन—आर्थिक नियोजन का उद्देश्य देश की शीघ्र आर्थिक प्रगति करना तथा साधनों के अपव्यय को रोकना है। प्रतियोगिता के अंतर्गत विकास की गति बहुत मंद होती है तथा साधनों का अपव्यय और श्रमजीवियों का शोषण होता है। अत आर्थिक नियोजन के साथ औद्योगिक प्रतियोगिता को बहुत कुछ सीमित करना आवश्यक हो जाता है।

प्रतियोगिता में अनेक दोष होते हुए भी अनुभव यही प्रदर्शित करता है कि स्वतंत्र औद्योगिक प्रतियोगिता के अंतर्गत ही औद्योगिक कार्यक्षमता को उच्चतम स्तर पर बनाए रखा जा सकता है। [प्र० कु० से०]

उद्योतकर न्यायशास्त्र के आचार्य (६३५ ई०)। गौतम के न्यायशास्त्र पर वात्स्यायन का भाष्य था। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने अपने प्रमाणसमुच्चय में इस भाष्य की बड़ी आलोचना की। उद्योतकर ने वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिक लिखकर न्यायशास्त्र की दृष्टि से बौद्धों का खंडन किया। इनके वार्तिक पर वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका लिखकर बौद्धों के तर्कपंक से उद्योतकर की वाणी का उद्धार किया। [रा० पा०]

उद्रोध का अर्थ है 'रोक'। नदी के आर पार ऐसा बाँध या रोक जिसके कारण नदी में एक ओर जल का तल ऊँचा हो जाय और जिसके ऊपर से अतिरिक्त जल बह सके, उद्रोध (अंग्रेजी में वीयर, तामिल में अनई कट्टू) कहलाता है (देखें अनई कट्टू)। मछुए लोग नदी में मछली पकड़ने के लिये लकड़ियों की जो दीवार खड़ी कर लेते हैं वह भी कहीं कहीं वीयर ही कहलाती है। परंतु सामान्यत इस शब्द का इंजीनियरी में ही प्रयोग होता है। जहाँ उद्देश्य यह रहता है कि जल को पूर्णतया या प्राय पूर्णतया रोककर जलाशय बना लिया जाय वहाँ डैम या बराज शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसे हिंदी में बाँध या बँधारा कहते हैं। उदाहरणत रेड(रेणु) बाँध (रेहेंड डैम) में बरसाती पानी रोक रखा जायगा। उद्रोधों की बनावट कई प्रकार की होती है और उनका निर्माण इंजीनियरी के सिद्धांतों पर निर्भर है। पृथुशीर्ष (ब्रॉड क्रेस्टेड), अर्थात् सपाट मुँडेर के उद्रोध बहुधा ऐसे होते हैं कि उनके ऊपर से गिरता हुआ पानी कुछ दूरी तक एक सी ऊँचाई में बहकर नीचे गिरता है। इनके विभिन्न रूप और आकार होते हैं। एक और प्रकार का उद्रोध 'मापीय' (सपोलिटी) नाम से विख्यात है। इसके द्वारा पानी के बहाव की मात्रा नापी जाती है। जहाँ इसकी चौड़ाई संकुचित होती है वहाँ इसकी तलहटी अधिक ढालू (एक भाग पड़ी और चार भाग खड़ी के अनुपात में) कर दी जाती है। इस प्रकार चौड़ाई की कमी की पूर्ति अधिक गहराई से हो जाती है, और कहीं भी पानी आवश्यकता से अधिक ऊपर उठने नहीं पाता।

एक और प्रकार का उद्रोध आप्लावित उद्रोध (ड्राउंड वीयर), अर्थात् डूबा हुआ उद्रोध कहलाता है। इसके द्वारा पानी में एक उछाल (हाइड्रॉलिक जंप) पैदा हो जाती है और जिस ओर पानी बहकर जाता है उस ओर पानी की सतह पहलेवाली सतह से कुछ ऊँची हो जाती है, जिसके कारण पानी के बहाव में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है। निमग्न उद्रोध (सबमर्ज्ड वीयर) भी इसी प्रकार के होते हैं। इनके द्वारा उस ओर जिधर पानी बहकर जाता है जल दूसरी ओरवाली सतह से काफी ऊँचा उठ जाता है। पानी की मात्रा की माप के लिये तीक्ष्णशीर्ष उद्रोध (शार्पक्रेस्टेड वीयर) अर्थात् धारदार उद्रोध काम में आते हैं। इनकी ऊपरी सतह की काट (सेक्शन) समतल या गोलार्ध या अन्य वक्र के आकार की होने की जगह पैनी धार के तुल्य होती है। यह धार बहुधा किसी धातु की होती है। जलाशयों में से, अथवा अन्य जलसंबंधी व्यवस्थाओं में से, अतिरिक्त जल के निकास के लिये परिवाह उद्रोध (वेस्ट वीयर) भी बनाए जाते हैं।

साधारण चौड़ी सपाट मुँडेर का उद्रोध गंगा नदी पर नरौरा में बना हुआ है जहाँ से 'लोअर गंगा नहर' निकली है। यह उद्रोध ३,८०० फुट लंबा है और १८७८ ई० में बना था। उद्रोध उत्तर रेलवे के राजघाट नरोरा रेलवे स्टेशन से गंगा के बहाव की दिशा में ४ मील पर है। नदी की तलहटी के औसत स्तर से पानी को दस फुट की ऊँचाई पर रोकने के लिये यह उद्रोध बनाया गया है और इससे निम्न (लोअर) गंगा नहर में ५,६७० घन फुट जल प्रति सेकंड जाता है। अनुमान किया जाता था कि बाढ़ के समय जलस्तर तीन फुट और ऊँचा हो जायगा, जिससे २ लाख घन फुट प्रति सेकंड की निकासी होगी। परंतु १९२४ की बाढ़ में स्तर साधारण से सवा छ फुट ऊँचा हो गया और उद्रोध पर से ३,९०,००० घन फुट प्रति सेकंड जल पार हुआ। केवल उद्रोध के बनाने में १९,०३,८९५ रु० खर्च हुआ था, परंतु उद्रोध में बने जलद्वार के बनाने में ८,१५,५३१ रु० तथा बगली भीत बनाने में ९४,७३७ रु० अतिरिक्त व्यय हुआ। एक और उद्रोध का उदाहरण दिल्ली के समीप यमुना नदी पर ओखला में है, जहाँ से आगरा नहर का उद्गम हुआ है। ऐसे ही बहुत से उद्रोध भिन्न भिन्न नदियों पर बने हुए हैं और उनसे सिंचाई के लिये पानी का निकास हुआ है।

जहाँ नदी में उद्रोध बनाए जाते हैं वहाँ साथ ही ऐसा आयोजन भी किया जाता है कि यदि पानी को नदी में ही निकालने की आवश्यकता हो तो उद्रोध के निचले भाग में बने अधोद्वारों (अंडर-स्लूसेज़) द्वारा निकाला जा सके। कभी कभी बाढ़ के समय उद्रोध के ऊपर से होकर पानी निकलता है और साथ ही नीचे के भागों द्वारा भी उसकी निकासी की व्यवस्था की जाती है। कहीं कहीं उद्रोध की पक्की दीवार के ऊपर पानी की कमी के समय तख्ते के पाट खड़े किए जाते हैं जिनके कारण पानी की सतह और भी ऊँची हो जाती है और इस प्रकार नहरों में पानी साधारण से अधिक मात्रा में पहुँचाया जा सकता है।

पानी के बहाव को उद्रोध द्वारा रोकना पानी के मार्ग में बाधा डालना है। पानी बाधाओं से बच निकलने का मार्ग ढूँढ़ता है और ऐसे मार्गों की

रोक थाम करना भी उद्रोध की अभिकल्पना (डिजाइन) के साथ विचार मे रखा जाता है। फिर, यदि बाढ के समय पानी बहुत अधिक आ जाय तो उद्रोध तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश की स्थिरता पर क्या प्रभाव पडेगा इसपर भी ध्यान रखना आवश्यक है। [वा० ना०]

उन्नाव का मराठी तथा उर्दू मे भी यही नाम है। हिंदी मे इसे वनबेर भी कहते हैं। सस्कृत मे इसे सौबीर तथा लैटिन मे जिजिफस सैटिवा कहते हैं।

यह पौधा बेर की जाति का है और पश्चिम हिमालय प्रदेश, पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रात, अफगानिस्तान, बलोचिस्तान, ईरान इत्यादि मे पाया जाता है। इसकी झाडी काँटेदार, पत्ते बेर के पत्तो से कुछ बडे तथा नुकीले, फल छोटी बेर के बराबर और पकने पर लाल रग के होते हैं। उत्तरी अफगानिस्तान का उन्नाव सर्वोत्कृष्ट होता है।

इस ओषधि का उपयोग विशेषकर हकीम करते हैं। इनके मतानुसार इसके पत्ते विरेचक होते है तथा खाज, गले के भीतर के रोग और पुराने घावो मे उपयोगी है। परतु ओषधि के काम में इसका फल ही मुख्यत प्रयुक्त होता है जो स्वाद मे खटमीठा होता है। यह कफ तथा मूत्रनिस्सारक, रक्तशोधक तथा रक्तवर्धक कहा गया है। खाँसी कफ और वायु से उत्पन्न ज्वर, गले के रोग, यकृत और तिल्ली की वृद्धि मे विशेष लाभदायक माना गया है। [भ० दा० व०]

उन्नाव भारतवर्ष मे उत्तर प्रदेश राज्य की लखनऊ कमिश्नरी मे स्थित एक जिला तथा एक नगर है। नगर कानपुर से १० मील उत्तर-पूर्व है। यहाँ की जनसख्या सन् १९५१ ई० मे २५,२४० थी।

उन्नाव जिला क्षेत्रफल मे १,७६२ वर्ग मील है। यह गगा के उत्तर दोमट मिट्टी का मैदान है। यह कई उपजाऊ खडो में विभाजित है तथा इसके बीच बीच मे उद्यान हैं। सपूर्ण क्षेत्र मे छोटी छोटी नहरो का जाल बिछा हुआ हे। ये नहरे सिंचाई के काम आती हैं। उपजाऊ खडो के बीच बीच मे बजर तथा ऊसर भूमि भी है। जिले मे गगा ही ऐसी नदी है जिसमे यातायात सभव हे। सई नदी इसकी उत्तर-पूर्वी सीमा पर है। जिले की जनसख्या सन् १९५१ मे १०,६७,०५५ थी। [श्या० सु० श०]

उन्मत्तावंती (९३७-३९ ई०) यह कश्मीर के प्रसिद्ध उत्पल राजवश का अतिम औरस राजा था, अपने समूचे राजकुल मे क्रूरतम। उसकी क्रूरता की कहानी इतिहासप्रसिद्ध है और उसका वर्णन कल्हण ने अपनी राजतरगिणी में विशद रूप से किया है। क्रूरता के कार्य उसे असाधारण आह्लाद प्रदान करते थे। गर्भवती स्त्रियो के बच्चो को मार डालने मे उसे असाधारण आनद मिलता था। उसके पहले कश्मीर की दशा आतरिक युद्धो और पदाधिकारियो की बेईमानियो से क्षतविक्षत हो रही थी। उन्मत्तावती के पिता पार्थ ने विरक्त होकर जयद्रविहार मे रहना आरभ किया था। अस्वाभाविक पुत्र उन्मत्तावती ने विरक्त पिता की भी हत्या कर डाली और अपने सारे भाइयो को मरवा डाला। परतु बहुत काल तक वह भी राज न कर सका और केवल दो वर्ष के क्रूर शासन के बाद राज्य का अधिकार उसके अनौरस पुत्र सूरवर्मन् के हाथ में चला गया। [ओ० ना० उ०]

उपकला (एपिथीलियम) एक अत्यत महीन और चिकनी झिल्ली है जो शरीर के भीतरी समस्त अगो के बाह्य पृष्ठो को आच्छादित किए हुए है। इसी का दूसरा रूप शरीर के कुछ खोखले विवरो के भीतरी पृष्ठ को ढके रहता है, जिसे अतर्कला कहा जाता है।

उपकला शरीर का एक विशिष्ट ऊतक है जो अगो का आच्छादन करके उनकी रक्षा करता है। इसके अक्षुण्ण रहने से जीवाणु भीतर प्रवेश नही कर पाते। यह कला समस्त पाचनप्रणाली, मुख से लेकर मलद्वार तक को, आच्छादित किए हुए है। यही कला इसके भीतरी पृष्ठ को आच्छादित करती हुई ग्रथिक उपकला का रूप ले लेती है और प्रणाली की भित्तियो मे घुसकर पाचक रसोत्पादक ग्रथियाँ बन जाती है। शरीर में जितनी भी प्रणालियाँ या नलिकाएँ है, जैसे श्वासनाल तथा प्रणालिकाएँ, रक्तवाहिनियाँ, रसवाहिनियाँ आदि सब उपकला से आच्छादित हैं। इसकी कोशिकाएँ एक दूसरे के अत्यत निकट रहती हैं। इसके विशेष प्रकार ये हैं (१) शल्की उपकला, जिसकी कोशिका षट्कोणी या अष्टकोणी होती है। सारा चर्म इस प्रकार की उपकला से ढका हुआ है। (२) स्तभाकार उपकला, जिसके कोषाणु स्तभ के समान होते हैं। आमाशय तथा आत्र का भीतरी पृष्ठ इसी उपकला से ढका हुआ है। (३) ग्रथिक उपकला, जो आत्र की भित्तियो मे रक्तग्रथियो मे रूपातरित हो जाती है। यह स्तभाकार कला का ही एक रूप है। (४) रोमिकामय उपकला, जिसकी कोशिकाएँ स्तभाकार उपकला के ही समान होती है, किंतु उनके चपटे सिरे से, जो प्रणाली की ओर रहता है, सूक्ष्म बाल सरीखे ततु निकले रहते हैं। ये क्रिया करते समय उसी प्रकार लहराते हैं, जैसे खेत मे लगे गेहूँ या जौ की बाले वायुप्रवाह से लहराती हैं। इस क्रिया का प्रयोजन प्रणाली में प्रविष्ट पदार्थो को बाहर निकालना होता है। यह उपकला समस्त वसा प्रणाली को भीतर से आच्छादित किए हुए है। (५) सवेदनिक उपकला, जिसका काम सवेदना को ले जाना है। यह भी स्तभाकार उपकला का एक रूप है। भीतरी कर्ण, जिह्वा के स्वादकोष, तथा कही कही चर्म मे, इस उपकला के कोशिका समूह मिलते हैं। [मु० स्व० व०]

उपचर्या रोगी की सेवाशुश्रूषा को कहते हैं। अग्रेजी का नर्स शब्द नर्चर शब्द से निकला हैं जिसका अर्थ है पोषण। नर्स वह स्त्री होती है जो शिशु का पोषण करती है—माँ भी एक प्रकार से नर्स है, वह पुरुष भी नर्स हे जो शिशुओ की अथवा रोगी की देखभाल करता है।

उपचर्या शब्द से क्रियाशीलता झलकती है। यह उपकार का काम है और ऐसे व्यक्ति के लिये किया जाता है जो स्वय उसे अपने लिये नही कर सकता। यो तो उपचर्या एक व्यवसाय है, परतु इसमे ऐसी चरित्रवान् स्त्रियो की आवश्यकता रहती है जो ईश्वरीय नियमो में दृढ निष्ठा रखती हो और जो सत्य सिद्धातो पर अटल रहे तथा परिणाम की चिंता किए बिना, कैसी भी परिस्थिति क्यो न हो, वही करे जो उचित हो।

उपचर्या का इतिहास—उपचर्या का इतिहास वेदों के प्राचीन काल से आरभ होता है, जब रुग्ण व्यक्ति की देखभाल तथा शुश्रूषा का कार्य समाज मे बडे आदर की दृष्टि से देखा जाता था। चरक ने लगभग १,००० ई० पू० में लिखा था कि उपचारिका को शुद्ध आचरण की, पवित्र, चतुर और कुशल, दयावान, रोगी के लिये सब प्रकार की सेवा करने मे दक्ष, पाकशास्त्र में गुणी, रोगी के प्रक्षालन तथा स्नान कराने, मालिश करने, उठाने तथा टहलाने मे निपुण, बिछावन बिछाने और स्वच्छ करने मे प्रवीण, तत्पर, धैर्यवान, रोग से पीडित की परिचर्या मे कुशल और आज्ञाकारी होना चाहिए। यशस्वी यूनानी चिकित्सक हिप्पॉक्रैटीज़ (४६०-३७० ई० पू०), जिसे औषधशास्त्र का पिता माना जाता है, रोगी की ठीक प्रकार से देखभाल की महत्ता जानता था, और वह यह भी भली भाँति जानता था कि अच्छी उपचर्या कैसे की जानी चाहिए। आरभ कालीन ईसाई चर्चसघ के समय स्त्रियाँ अपने घर द्वार छोडकर रोगियो तथा सकटग्रस्त लोगो की सेवाशुश्रूषा करने अथवा उन्हे देखने भालने जाया करती थी।

अर्वाचीन उपचर्या की नीव फ्लोरेंस नाइटिंगेल ने डाली। ये धनी घर की लडकी थी, परतु आलसी जीवन से असतुष्ट होकर उन्होने उपचर्या का अध्ययन किया और लदन मे रोगियो के लिये एक उपचर्या भवन खोला। १८५४ ई० मे क्रीमिया मे युद्ध छिडने पर और युद्धसचिव के कहने पर वे ३४ वर्ष की आयु मे ही ३८ नर्सो के दल के साथ सेवाशुश्रूषा के लिये युद्धस्थल में गई थी। स्वास्थ्य विज्ञान के सिद्धातो को उन्होने अस्पताल के प्रबध मे भी लागू किया और उसके लिये जो भी कठिनाइयाँ या अडचनें उनके मार्ग मे आई उनका उन्होने वीरता और समझदारी से निरतर सामना किया, यहाँ तक कि मिलिटरी कमसरियट अधिकारियो के विरोध का भी उन्हें सामना करना पडा। वे यह समझने लगे थे कि मिस नाइटिंगेल भयानक आगतुक है, जो सैनिक-व्यवस्था के अनुशासन को भग करने के लिये आई है। परतु उनके प्रबध के फलस्वरूप बैरक के अस्पतालो मे मृत्युसख्या, जो पहले ४२ प्रति शत थी, घटकर जून, १८५५ मे २ प्रति शत रह गई। फ्लोरेंस नाइटिंगेल क्रीमिया में १८५६ तक अर्थात् ब्रिटिशो द्वारा तुर्की खाली

उपचर्या (देखे पृष्ठ ८८)

उपचारिकाए उपकरणो से परिचित हो रही है

अस्पताल में रोगी बालको की सेवा
(नर्सिग जर्नल ऑव इडिया के सौजन्य से प्राप्त)

उपचर्या (देखे पृष्ठ ८८)
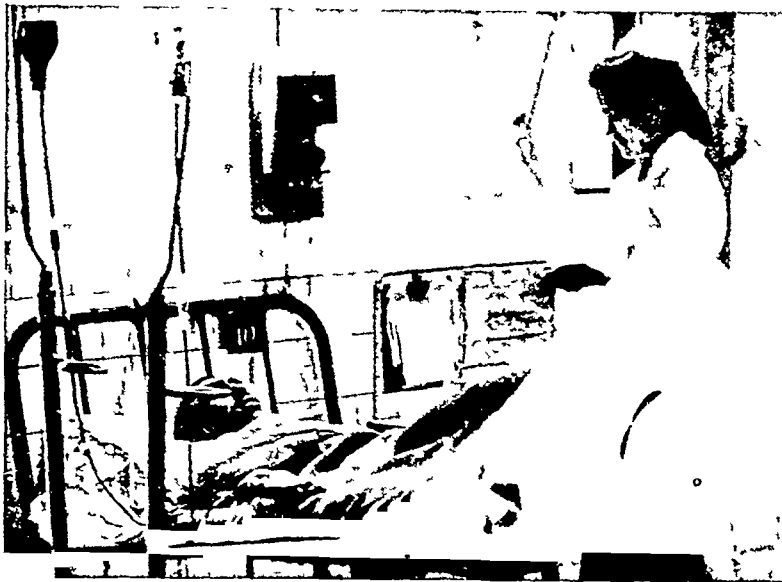
उपचारिका के तत्वावधान में रुधिराधान (blood transfusion)

ग्राम में हेजे के रोगी वच्चे की उपचर्या
(नर्सिग जर्नल ऑव इडिया के सौजन्य से प्राप्त)

किए जाने तक रही। उन्होने वहाँ जो काम किया वह उस युग की आश्चर्यजनक कहानी बन गया। लागफेलो ने तो उस कथा को कविता में भी गाया। ब्रिटिश सरकार ने एक युद्धपोत को आदेश दिया कि वह उस वीर स्त्री को घर वापस लाए। लदन ने इस महिला के राजसी स्वागत की तैयारियाँ की। किंतु शीलवश वह एक तेज फ्रासीसी जहाज से घर लौटी। वहाँ से इग्लैंड गई और अपने घर चपचाप पहुँच गई। उनके आने का समाचार उनके पहुँच जाने के बाद लोगो में फैला। सन् १८६० मे उनके प्रयास से लदन मे नर्सो के लिये एक पाठशाला खुली, जो इस प्रकार की पहली पाठशाला थी।

भारत मे उपचर्या के प्रथम शिक्षणालय मद्रास मे सन् १८५४ मे और बबई मे १८६० मे खुले। १८८५ मे लेडी डफरिन फड की स्थापना हुई थी, जिसकी सहायता से कई अस्पतालो के साथ उपचर्या के शिक्षणालय खोले गए और उनमे भारत की स्त्री नर्सो के प्रशिक्षण का श्रीगणेश हुआ। अब तो देश के प्राय सभी बडे अस्पतालो मे नर्सो के प्रशिक्षण की व्यवस्था है, जिनके द्वारा सामान्य उपचर्या के डिप्लोमा दिए जाते हैं। कुछ केद्रो मे धात्री कर्म (मिडवाइफरी) के प्रशिक्षण और डिप्लोमा की भी व्यवस्था है। उपचर्या महाविद्यालयो मे स्नातको को बी० एस-सी० की उपाधि दी जाती है तथा मेट्रनो (=माता) और सिस्टर (=बहन) अनुशिक्षको को वार्डनो के सबध मे सक्षिप्त शिक्षा (रिफ्रेशर कोर्स) की व्यवस्था की जाती है।

नर्सों के दायित्व—फ्लोरेस नाइटिंगेल के समय से लेकर अब तक चिकित्सा विज्ञान मे बहुत उन्नति हुई है, जिससे उपचर्या विज्ञान मे भी आमूल परिवर्तन हो गए हैं। अब यह धार्मिक व्यवस्थापको के प्रोत्साहन से सचालित एव अनभिज्ञ व्यक्तियो द्वारा दया-दाक्षिण्य-प्रेरित सेवा मात्र नही रह गया है, अब तो यह आजीविका का एक साधन है, जिसके लिये विस्तृत वैज्ञानिक पाठ्यक्रम का अध्ययन और शिक्षण आवश्यक होता है। ऐसे अधिकाश पेशो से, जिनमे निजी कौशल तथा वैज्ञानिक प्रशिक्षण से सफलता मिल जाती है, इसमे विशेषता यह है कि सफल उपचारिका के लिये कौशल तथा समीचीन ज्ञान के अतिरिक्त प्रेम तथा करुणा का भाव, दु ख दर्द को शात तथा दूर करने का उत्साह और माँ का सा हृदय भी चाहिए।

अपने रोगी के प्रति उपचारिका के दायित्व की आधुनिक भावना मे केवल शारीरिक सुख देने, चिकित्सा करने तथा औषधोपचार के अतिरिक्त इसकी भी अपेक्षा रहती है कि उसे रोग का तथा वह रोग किसी रोगी को किस प्रकार प्रभावित करता है, इसका भी स्पष्ट ज्ञान हो। समय समय पर जो नवीन लक्षण उभरें उनके प्रति उसे अत्यत सजग रहना चाहिए। किस प्रकार के उपचार से रोगी को लाभ होगा, इसका उसे ज्ञान होना चाहिए तथा प्रत्येक रोगी के लिये अलग अलग किस प्रकार की देखभाल अपेक्षित है तथा उसकी उपचर्या किस प्रकार की जाय, इन सबका उसे स्पष्ट पता होना चाहिए। नर्स को अपना दायित्व पूरी तरह निभाने के लिये अपने रोगियो की मन स्थिति से भी परिचित होना आवश्यक है। रोगी की देखभाल करने मे केवल रोग पर दृष्टि रखना ही पर्याप्त नही है, वरन् रोगी को ऐसा व्यक्ति समझना चाहिए जो उपचारिका से यह अपेक्षा करता है कि वह उसे सुरक्षा दे, उसे समझे तथा उसपर ममता रखे।

अत रोगो की रोकथाम मे और उनसे पीडित लोगो की देखभाल मे नर्स का योग बहुत ही महत्वपूर्ण रहता है। वह चिकित्सा के लिये सहायिका तथा सहयोगिनी है। उसके बिना चिकित्सक को रोगी की सहायता करने मे भारी अडचनें पड सकती हैं। कभी कभी तो वह डाक्टर से भी अधिक महत्व की हो जाती है।

आज व्यक्तिविशेष अथवा राष्ट्र के स्वास्थ्य को यथार्थत उन्नत बनानेवाले चिकित्सा सबधी सामाजिक तथा निरोधक कार्यक्रम मे चिकित्सक के साथ साथ समुचित योग देकर नर्सें निस्सदेह क्रियात्मक योगदान करती हैं।

उपचर्या व्यवसाय मे मुख्यत स्त्रियाँ ही काम करती हैं। वे आज सतोषपूर्वक यह कह सकती हैं कि उनका काम समानित काम है, क्योकि उनका जीवन दूसरो का जीवन उपयोगी तथा सुखी बनाने मे लगा रहता है। उनको इस व्यवसाय मे स्वाभाविक रूप से आनद और आत्मतोष मिलता है क्योकि वे एक परदु खापहारी तथा समानपूर्ण काम मे सलग्न रहती हैं।

नर्स की वर्दी—नर्सो को विशेष वस्त्र (वर्दी, समवेश) दिया जाता है। ऐसा स्वच्छता के लिये, उन्हे सुविधापूर्वक पहचानने के लिये तथा उनके वेशसौष्ठव के लिये किया जाता है। उनकी वर्दी औपचारिक पहनावा है, इसमे सफेद फ्राक, सफेद टोपी, एप्रन तथा पेटी और सफेद जूते तथा मोजे होते हैं। आभूषण के रूप मे केवल घडी उनके पास रहती है। उपचर्या के बदलते रूप के अनुसार नई नर्सें सफेद फ्राक के स्थान पर सफेद साडी पहनना पसद करती हैं। यह वेश सादा तो है ही, पहननेवालियो के लिये और जिनकी शुश्रूषा मे वे लगी रहती हैं उनके लिये भी प्रभावोत्पादक होता है।

विशेष दक्षता—आधुनिक उपचर्या कार्य कई वर्गो मे बाँटा जा सकता है। साधारणत प्रत्येक नर्स एक वर्ग की विशेषज्ञ होती है। नर्सो के काम के बडे बडे वर्ग ये हैं सामाजिक तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य उपचर्या, अस्पताल मे उपचर्या, उद्योगक्षेत्रीय उपचर्या, धात्री उपचर्या तथा निजी चिकित्साक्षेत्र मे उपचर्या। उपचर्या के कितने ही उपविभाग भी हैं, उदाहरणार्थ अस्पताल मे चिकित्साप्रकार के अनुसार उपचर्या के ये विभाग और हो जाते हैं—बालक की उपचर्या, हृद्रोग उपचर्या, अस्थिकर्म उपचर्या, क्षय उपचर्या, गर्भ विषयक उपचर्या, सामान्य औषधोपचारिक तथा शल्य चिकित्सकी उपचर्या, मस्तिष्क रोगो की उपचर्या, छूत के रोगो की उपचर्या इत्यादि।

स्वस्थ राष्ट्र के निर्माण मे नर्स को बहुत महत्वपूर्ण कार्य करना पडता है। रोग की अनुपस्थिति को ही स्वास्थ्य नही कहते, स्वास्थ्य तो निश्चित रूप से रहने का अर्थात् उस स्थिति का नाम है जिसमें पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक हृष्टता हो। रोगी को अस्पताल मे स्वास्थ्यलाभ करने के उपरात पुन पहले जैसे अस्वच्छ वातावरण मे ही लौटा देना स्वस्थ राष्ट्र के निर्माण की दिशा मे कोई प्रगति नही मानी जा सकती। चतुर्दिक् स्वस्थता की भावना नर्सो को लोगो तक पहुँचानी पडेगी और उन्हे यह समझाना पडेगा कि यदि स्वच्छता रखी जाय तो दु ख का अधिकाश भाग अपने आप दूर हो जायगा। नर्सें ही लोगो को स्वस्थ जीवन व्यतीत करने का मार्ग अच्छी तरह बता सकती हैं। उन्हे रोगी और उसके परिवार को उन बातो की शिक्षा और बुद्धि देनी चाहिए जिससे वे नर्स के विदा हो जाने के बाद भी अपना घर द्वार अच्छा रख सके।

बालक उपचर्या की नर्स को नए आगतुक का प्राय सपूर्ण दायित्व उठाना पडता है और इसीलिये उसे बालक के जन्म लेने पर अपना काम नही आरभ करना होता, वरन् उसका काम उसके जन्म से नौ महीने पहले से ही आरभ हो जाता है। जन्म से पूर्व, जन्म के समय, शैशव, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था मे, वह जैसे भी और जहाँ भी हो, घर मे, स्कूल मे, अस्पताल मे, गली मे, मैदान मे, सभी जगह उसे बालक की सँभाल करनी पडती है। उसे माता पिता की सहायता करनी होती है और यह देखना होता है कि बालक सभी कठिनाइयो को पार कर जाय। उसे शिक्षक, परामर्शदाता तथा मित्र की हैसियत बरतनी होती है। बालक उपचर्या की प्रत्येक नर्स को बच्चो की देखभाल के विशेष ज्ञान और अधिक कौशल की आवश्यकता होती है ताकि वह उनकी वैज्ञानिक उपचर्या कर सके।

बच्चे के लिये वह समय सबसे अधिक सकट का होता है जब उसे अस्पताल मे लाया जाता है। वह अपनी माँ को छोडकर एक नए ससार मे पहुँचता है, जहाँ वह यह नही जानता कि उसके साथ क्या किया जानेवाला है। उसका क्षुब्ध मानसिक सतुलन तथा विकल मनोवेग उसे बीमारी से कही अधिक सत्रस्त करते हैं। ऐसी दशा मे औषधोपचार से भी बढकर अस्पताल में उसकी निजी देखभाल का महत्व है। बालक उपचर्या की नर्स का ही यह मुख्य कार्य होता है कि वह बच्चे का विश्वास प्राप्त कर ले और उसे सब बाते पहले से ही साफ साफ बता दे जिससे वह चिकित्सक द्वारा चिकित्सा तथा होनेवाले कार्यो के लिये तैयार हो जाय। बच्चे को पहले से बिना बताए ही यदि आकस्मिक रूप मे कुछ किया जाता है तो वह निश्चय ही उसका विरोध करता है।

हृद्रोग उपचर्या की नर्स के विशेष उत्तरदायित्व होते हैं और वैसा ही उसका प्रशिक्षण होता है। हृदय के बहुत से रोगी आरभिक पीडा शात हो जाने के उपरात अपने रोग के सबध मे आवश्यक सावधानी नही बरतते। जो नर्स रोगी का उल्लेखनीय विश्वास तथा अपने ऊपर पूर्ण निर्भरता प्राप्त कर ले, जो रोगी की शारीरिक मुद्राओ का अभिप्राय समझे

जो अपनी रहन सहन को इस प्रकार ढाल सके कि रोगी को परेशानी न हो, वही नर्स हृदुपचर्या के लिये योग्य और सफल सिद्ध हो सकती है।

मानसिक रोगियो की सँभाल के लिये नर्स मे बहुत अधिक कौशल की अपेक्षा होती है। रोगियो के बीच नर्स को बहुत सावधानी से अपना काम करना पडता है। उसका व्यवहार और उसकी आत्मीयतापूर्ण देखभाल निश्चय ही रोगी के लिये किसी भी औषधि से अधिक उपयोगी होती है। नर्स को रोगी के सबध मे प्रत्येक प्रकार का ज्ञान होना चाहिए और उन बातो का तो उसे अवश्य ही भली प्रकार पता होना चाहिए, जिससे रोगी का मानसिक सतुलन बिगड जाता है। रोगियो के साथ उसे धैर्य, सहानुभूति और कौशल से इस प्रकार व्यवहार करना पडता है, मानो वे उसके मित्र और प्रियजन हो, क्योकि मानसिक रोगी साधारण सी बात से ही उद्विग्न हो उठते है और थोडी सी भी उद्विग्नता चिकित्सा और उपचार से हुए समस्त लाभ को एक क्षण मे नष्ट कर सकती है।

ये नर्सो की विशेष दक्षता के कुछ उदाहरण हैं। प्रत्येक विशेष क्षेत्र मे नर्स के कुछ विशेष कर्तव्य रहते हैं। उसकी उपचर्या का लाभ तभी हो सकता है जब उसे स्थिति का सपूर्ण ज्ञान हो। किंतु स्थिति चाहे जैसी हो, जब नर्स को उसका दायित्व सौंप दिया जाता है तो उसे माता और मित्र के समान तथा डाक्टर के निर्देशो के अनुसार रोगी की शुश्रूषा करनेवाले सच्चे सेवक की भाँति काम करना पडता है। [कृ० स० मा०]

उपनयन हिंदुओ के स्मार्त सस्कारो मे से एक सस्कार उपनयन है। 'उपनयन' का अर्थ है विद्याभ्यास और नैतिक विनय के लिये पिता अथवा उसके अभाव मे किसी अभिभावक द्वारा बालक को 'आचार्य के समीप ले जाना'। यह मुख्यत शैक्षणिक सस्कार है। इसके माध्यम से बालक जातीय ज्ञान और आचार विचार में दीक्षित होकर सामाजिक कर्तव्यो का पालन करने के योग्य बनता है। यह एक प्रकार से बालक का दूसरा जन्म है। माता पिता से बालक का भौतिक जन्म होता है। आचार्य से उसका बौद्धिक तथा नैतिक। उपनयन से सस्कृत बालक की सज्ञा 'द्विज' (दो जन्मवाला) होती है। उपनयन के लिये बालक की अवस्था वर्णक्रम से ब्राह्मण के लिये पाँच वर्ष, क्षत्रिय के लिये छ, वैश्य के लिये आठ वर्ष श्रेष्ठ मानी जाती है। इसी प्रकार अतिम अवस्था क्रमश सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष है। अतिम अवस्था तक उपनयन न होने से बालक 'व्रात्य' (समाज से पतित और बहिष्कृत) हो जाता है और व्रात्यष्टोम द्वारा शुद्ध होकर ही पुन समाज मे प्रवेश के लिये अधिकारी हो सकता है। उपनयन मे आचार्य का चुनाव बहुत ही महत्वपूर्ण माना गया है, वह उच्च कोटि का विद्वान् और चरित्रवान् होना चाहिए। जिसका उपनयन अविद्वान् करता है वह अधकार से और अधिक अधकार में प्रवेश करता है (तमसो वा एष तम प्रविशति यमविद्वानुपनयते। श्रुति)। शौनक के अनुसार बालक का उपनयन बहुश्रुत, कुलीन, शीलवान् और तपस्वी द्विजश्रेष्ठ ही कर सकता है। आचार्य पद के लिये वृत्तिहीन का वरण नही करना चाहिए, मज्जा से अपवित्र हाथ रक्त से शुद्ध नही होता (न याजयेत् वृत्तिहीन वृणुयान्च न त गुरुम्। नहि मज्जाकरो दिग्धो रुधिरेण विशुध्यत ॥ हारीत)।

उपनयन सस्कार के लिये उपयुक्त ऋतु और समय का चुनाव आवश्यक है। ब्राह्मण बालक के लिये वसत ऋतु, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म, वैश्य के लिये शरत् और रथकार (=शिल्पी) के लिये वर्षा उपयुक्त मानी गई है, (बौधायन गृह्यसूत्र, २-५-६)। ये ऋतुएँ वर्णगत स्वभाव के प्रतीक हैं। सस्कार के बहुत से आनुषगिक और आवश्यक अग है। उपनयन के एक दिन पहले से बालक सस्कार के लिये तैयार किया जाता है। घर मे श्री, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा और सरस्वती की पूजा होती है। दूसरे दिन प्रात काल माता के साथ और साथियो के सहित अतिम भोजन करता है। इसके पश्चात् स्नान से पवित्र होकर बालक उपनयन के लिये प्रस्तुत होता है। तब उसको कठोर ब्रह्मचारी जीवन के उपकरण दिए जाते हैं। सबसे पहले शरीर के गुप्त अग ढकने के लिये कौपीन, फिर कौपीन बाँधने के लिये नैतिक प्रतीक मेखला, यज्ञ का प्रतीक ब्रह्मसूत्र (जनेऊ), विस्तर के लिये अजिन (मृगचर्म), भयनिवारण और सयम का प्रतीक दड प्रदान किया जाता है। इसके पश्चात् कतिपय प्रतीकात्मक कृत्य होते है। इनमे सर्वप्रथम हृदयस्पर्श है। ब्रह्मचारी का हृदयस्पर्श करते हुए आचार्य कहता है, "मैं अपनी इच्छाशक्ति मे तुम्हारा हृदय धारण करता हूँ" (पारस्कर गृह्यसूत्र, २-२-१८)। इसके पश्चात् अश्मारोहण होता है जो आचार मे दृढता का द्योतक है। दृढता का आश्वासन पाकर आचार्य ब्रह्मचारी को अपने सरक्षण मे लेता और उससे पूछता है, "तुम्हारा क्या नाम है?" ब्रह्मचारी उत्तर देता है, "मैं अमुक हूँ।" आचार्य पूछता है, "तुम किसके छात्र हो?" ब्रह्मचारी कहता है, "आपका"। आचार्य समाधान करता है, "तुम इद्र के ब्रह्मचारी हो, अग्नि तुम्हारा गुरु है, मैं तुम्हारा आचार्य हूँ।" इसके अनतर आचार्य ब्रह्मचारी को आचार सबधी आदेश देता है। तदुपरात सर्वप्रसिद्ध सावित्री (गायत्री) मत्र का उपदेश करता है "सविता (सबको उत्पन्न करनेवाले) के सर्वश्रेष्ठ प्रकाश का हम ध्यान करें, वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे।" गायत्री मत्र के उपदेश के पश्चात् ज्ञान और तपस्या के प्रतीक पवित्र अग्नि को नित्य हवन के लिये प्रदीप्त करता है। उपनीत ब्रह्मचारी को अपना पोषण समाज मे भिक्षाचरण के द्वारा करना चाहिए। आजकल उपनयन के दिन केवल औपचारिक रूप से ब्रह्मचारी भिक्षा माँगता है। सस्कार में जो परवर्ती परिवर्तन हुआ है उसके अनुसार एक और अभिनय होता है। ब्रह्मचारी विद्याध्ययन के लिये काशी अथवा काश्मीर जाने का स्वाँग करता है। उसके मामा वा बहनोई उसको विवाह का प्रलोभन देकर वापस लाते हैं।

इस सस्कार के अत मे त्रिरात्र व्रत का अनुष्ठान होता है। यह व्रत तीन रात्रि के बदले कभी बारह दिन अथवा बारह मास तक चलता है। आधुनिक युग मे तो यह विधान मात्र है, इसका पालन नही होता। किंतु नियमत ब्रह्मचारी का कठोर जीवन यही से प्रारभ होता है। इस व्रत का अवसान मेधाजनन नामक कृत्य में होता है। मेधाजनन का उद्देश्य है, ब्रह्मचारी मे मेधा अथवा प्रतिभा उत्पन्न करना। इस सबध मे शौनक का कथन है, "जगत् को धारण करनेवाली सावित्री (सूर्य की पुत्री) स्वय मेधारूपिणी है, विद्या मे सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले द्वारा मेधा पूजनीया है (या सावित्री जगद्धात्री सैव मेधास्वरूपिणी। मेधा प्रसिद्धये पूज्या विद्या सिद्धिमभीप्सिता ॥ शौनक)।

शैक्षणिक परिस्थितियो के बदलने के कारण उपनयन के प्रयोजनो और आदर्शो में भी परिवर्तन होता आया है। आजकल यह सस्कार औपचारिक रूप मे ही सुरक्षित है। परतु प्राचीन काल मे यह वास्तविक था और ब्रह्मचर्याश्रम के प्रारभ मे एक बहुत ही अनुकूल वातावरण उत्पन्न करता था। ससार के सभी धर्मो और जातियो मे यह सस्कार किसी न किसी रूप में पाया जाता है। परतु जहाँ अन्यत्र किसी न किसी शारीरिक कार्य—अगच्छेदन, बलपरीक्षा आदि—के बिना जाति के अधिकारो मे प्रवेश पाना असभव है, हिंदुओ में जातीय जीवन मे प्रवेश के लिये प्रवेशपत्र शैक्षणिक है। (विस्तृत विवरण के लिये 'सस्कार' देखिए)।

स०ग्र०——म० म० पी० वी० काणे हिस्ट्री आव हिंदू धर्मशास्त्र, राजबली पाडेय हिंदू सस्कार सामाजिक धार्मिक अध्ययन, श्रीमती स्टेवेंसन राइट्स ऑव दि ट्वाइस बॉर्न। [रा० ब० पा०]

उपनिवेश (कालोनी) किसी राज्य के बाहर की उस दूरस्थ बस्ती को कहते हैं जहाँ उस राज्य की जनता निवास करती है। किसी पूर्ण प्रभुसत्ता सपन्न राज्य (सावरेन स्टेट) के लोगो के अन्य देश की सीमा में जाकर बसने के स्थान के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता है। इस अर्थ में अधिकतर यूरोपीय देशो के 'उपनिवेश' लदन मे स्थित हैं। परतु साधारणत अधिक सकुचित अर्थ मे ही इस शब्द का प्रयोग होता है, विशेषकर निम्नलिखित दशाओ में (क) एक राज्य के निवासियो की अपने राज्य की भौगोलिक सीमाओ के बाहर अन्य स्थान पर बसी बस्ती को तब उपनिवेश कहते हैं, जब वह स्थान उस राज्य के ही प्रशासकीय क्षेत्र मे आता हो, अथवा (ख) कोई स्वतत्र राष्ट्र, जो किसी अन्य (प्रधान) राष्ट्र की राष्ट्रीयता, प्रशासन, तथा आर्थिक एकता से घनिष्ट सबध रखता हो। उदाहरणार्थ, प्रथम श्रेणी के अतर्गत त्यूतनिक उपनिवेश हैं जो बाल्टिक प्रातो में स्थित है तथा इसी प्रकार के उपनिवेश बालकन प्रायद्वीप मे भी

हैं। दूसरी श्रेणी के उपनिवेश—और यही अधिक प्रचलित प्रयोग है—अफ्रीका अथवा आस्ट्रेलिया में अंग्रेजो के हैं।

उपनिवेश बनाने अथवा बसाने की प्रवृत्ति तथा ढग अनेक प्रकार के हैं, जैसे, राज्य की सीमा बढाने का लोभ, व्यापार बढाने की इच्छाएँ, धन-वृद्धि का लोभ, दुष्कर कार्य करने की प्रवृत्ति, बढती हुई जनसख्या के भार को कम करने की इच्छा, राजनीतिक पदलोलुपता, विवशता, विद्रोहियो को देश से दूर रखने तथा प्रधानत साघातिक एव भीषण अपराधियो को देश से निष्कासित करने की आवश्यकता आदि मुख्य कारण ही उपनिवेश-वाद को प्रोत्साहन देते रहे हैं। साधारण रूप में यह एक प्रवासी प्रवृत्ति का ही विकसित रूप है तथा उपनिवेश को एक प्रकार से प्रवासियो का स्थायी तथा व्यवस्थित रूप कहा जा सकता है। [श्या० सु० श०]

इतिहास—उपनिवेशो की स्थापना ने विभिन्न समयो एव क्षेत्रो मे विभिन्न रूप धारण किए हैं। फिनीशियाइयो द्वारा भूमध्यसागर के तटवर्ती भागो मे स्थापित उपनिवेश अपनी मातृभूमि के व्यापारकेद्रो के रूप मे कार्य करते थे। विभिन्न ग्रीक समुदायो को उपनिवेश की स्थापना करने के लिये आर्थिक समस्याओ ने बाध्य किया जो सब, एथेस के उपनिवेशो को छोडकर, मातृभूमि से स्वतत्र थे। रोम ने साम्राज्यरक्षा के लिये अपने नागरिको के छोटे छोटे उपनिवेशो की स्थापना विजित विदेशियो के बीच की थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया के भूभाग भारतीय बस्तियो से भरे पडे थे, किंतु हिंदेशिया ऐसे क्षेत्र, जो किसी समय वृहद् भारत के अग थे, मातृभूमि से सर्वथा स्वतत्र थे।

१४वी शताब्दी तथा उसके अनतर यूरोप एशिया से आगे बढ गया तथा वाणिज्य एव अन्वेषण द्वारा अटलाटिक, हिद और प्रशात महासागरो के आर पार उसने अपना अधिकार बढा लिया। १६वी शताब्दी मे मध्य तथा दक्षिण अमेरिका मे स्पेन के साम्राज्य की स्थापना हुई। पुर्तगाल ने ब्राजील, भारत के पश्चिमी समुद्रतट तथा मसालोवाले पूर्वी द्वीपसमूहो मे अपना अड्डा जमाया। इन्ही का अनुकरण कर, फ्रास, इग्लैंड एव हालैंड ने उत्तरी अमेरिका तथा पश्चिमी द्वीपसमूह में उपनिवेशो की तथा अफ्रीका के समुद्रतट पर, भारत तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया मे व्यापारिक केद्रो की स्थापना की। डेनमार्क तथा स्वीडन निवासी भी, इन लोगो से पीछे नही रहे। किंतु मुख्य औपनिवेशिक शक्तियाँ इग्लैंड, फ्रास तथा हालैंड की ही सिद्ध हुई। इन तीनो के साम्राज्य मे 'सूर्य कभी नही अस्त होता था' तथा एशिया और अफ्रीका, मानव सभ्यता के आदि देश, के अधिकाश भागो पर, इनका अधिकार हो गया।

औद्योगिक क्राति तथा आर्थिक रीतियो के नवीनतम रूपो के ढूंढ निकालने के साथ ही पश्चिम के राष्ट्रो मे साम्राज्य के लिये छीना झपटी चलती रही। यह एक लबी कहानी है जिसका वर्णन यहाँ नही किया जा सकता। किंतु इसका ज्ञान आवश्यक है कि जहाँ कही भी विस्तार की सभावना थी, पूंजीवाद अपने नए साम्राज्यवादी रूप मे सामने आया। इसीलिये जर्मनी, १९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे, ससार मे अपने अस्तित्व के लिये भूमि चाहता था, अर्थात् दूसरे शब्दो मे, उपनिवेश की लूट खसोट मे हिस्सा बँटाना चाहता था। इटली ने भी इस दौड मे भाग लिया। रूस, सारे उत्तरी तथा मध्य एशिया मे फैलकर, ब्रिटेन को भयभीत करने लगा। संयुक्त राज्य अमरीका तक प्रत्यक्ष रूप से, जैसे फिलीपाइस मे तथा अन्य बहुत से क्षेत्रो पर, अप्रत्यक्ष रूप से शासन करने लगा। जापान ने पश्चिमी साम्राज्यवादियो से शिक्षा प्राप्त की तथा पहले कोरिया फिर सपूर्ण पूर्वी एशिया पर, अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा। महान् देश भारत, जो अंग्रेजो के प्रत्यक्ष अधिकार मे था, तथा चीन, जो नाममात्र के लिये स्वतत्र किंतु वस्तुत कई शक्तियो की गुलामी मे जकडा हुआ था, उपनिवेश प्रथा के मूर्त उदाहरण हैं। इतिहास के इस रूप की अन्य विशेषताएँ अफ्रीका के भीतरी भागो में प्रवेश, लाभदायक दासव्यापार की विभीषिका, उसकी भूमि का बँटवारा और प्रतिस्पर्धा साम्राज्यवादियो द्वारा उसके साधनो का निर्दय शोषण आदि हैं।

इसमे कोई सदेह नही कि भौगोलिक अनुसधान तथा उपनिवेशो की स्थापना के लिये बहुत से लोगो में दुस्साहसिक कार्य के प्रति अनुराग तथा इसकी क्षमता आवश्यक थी, किंतु उपनिवेशस्थापन के पीछे दुस्साहस ही प्रमुख शक्तिस्रोत के रूप मे नही था। व्यापारिक लाभ सबसे बडा कारण था तथा राज्यविस्तार के साथ व्यापार का विस्तार होने के कारण क्षेत्रीय विजय आवश्यक थी। बहुधा दूरस्थ उपनिवेशो के लिये यूरोप मे युद्ध होते थे। इस तरह हालैंड ने पुर्तगाल को दक्षिण-पूर्वी एशिया के पूर्वी द्वीपसमूह से निकाल बाहर किया। इग्लैंड ने कैनाडा, भारत तथा अन्य स्थानो से फ्रास को निकाल बाहर किया। जर्मन युद्धविशेषज्ञ फान मोल्तके ने एक बार कहा था कि "पूर्वी बाजार ने इतनी शक्ति सचय कर ली है कि वह युद्ध मे सैन्य सचालन करने मे भी समर्थ है।" जब मैक्सिम द्वारा बदूक का प्रसिद्ध आविष्कार हुआ, अन्वेषक स्टैन्ली (जिन्होंन अपने पूर्ववर्ती डा० लिविंग्स्टन का पता अफ्रीका मे लगाया) ने कहा था, "यह एक आग्नेयास्त्र है जो मूर्तिपूजको को दबाने मे अमूल्य सिद्ध होगा।" साम्राज्य के समर्थको, (यथा रुडयार्ड किपलिग) द्वारा "श्वेतो की जिम्मेदारी" के रूप मे एक पुराण-रुड दर्शन (मिथ्) ही प्रस्तुत कर लिया गया। 'नेटिव' शब्द का प्रयोग "नियम-रहित निम्नतर जाति" जिनका भाग्य ही श्वेतो द्वारा शासित होना था, के अपमानजनक अर्थ में होने लगा।

विकासशील पूंजीवादी शक्तियो को विस्तार एव सचय के लिये निकास की आवश्यकता थी। अविकसित देशो के कच्चे मालो की उन्हे आवश्यकता थी। उन्हे ऐसे देशो की आवश्यकता अपने उत्पादित मालो के बाजार के रूप मे थी, और ऐसे क्षेत्रो के रूप मे थी जहाँ अतिरिक्त पूंजी लगाई जा सके तथा उससे अकल्पित लाभ, अधीन देशो के मजदूरो का सरलता से शोषण हो सकने के कारण, निश्चित किया जा सके। प्रत्येक शक्तिस्रोत ऐसे क्षेत्रो के एकमेव सनियत्रक और एकाधिकारी होना चाहते थे। कभी कभी उपनिवेश खरीदे भी गए, कभी तलवार के बल तथा धोखे से, जैसे भारत मे, जीते गए, कभी ऋण वसूलनेवाले अभियान का अत, अधिकार के रूप मे हुआ, कभी धर्मप्रचारको के ऊपर आक्रमण अथवा हत्या ही, जैसे चीन में, विदेशी बस्ती की स्थापना का कारण बतलाई गई। कारण शक्तियो के बीच उपनिवेश के लिये आपसी स्पर्धा एव ईर्ष्या के विभिन्न असख्य युद्ध विश्वयुद्ध से भी दुगुने व्यापक रूप मे हुए हैं।

१९वी शताब्दी मे, उपनिवेशो की स्वतत्रता का आदोलन प्रारभ हुआ तथा कनाडा ऐसे 'श्वेत' उपनिवेशो ने, स्वशासन का अधिकार प्राप्त कर लिया। किंतु इससे यह सोचना गलत होगा कि सब ब्रिटिश उपनिवेशो का अत, धीरे धीरे अहिंसात्मक सघर्ष अथवा अन्य विधियो द्वारा होकर, भारत ऐसे देशो की स्वतत्रता प्राप्त हुई। अभी भी ब्रिटेन साइप्रस तथा केनिया ऐसे क्षेत्रो मे कट्टरता के साथ जमा हुआ है। अलजीरिया पर अपना नियत्रण बनाए रखने के लिये फ्रास औपनिवेशिक युद्ध मे सलग्न है तथा पुर्तगाल गोआ छोडने से इनकार कर रहा है। वस्तुत औपनिवेशिक आकाक्षाएँ अभी भी किसी प्रकार मृत नही हैं तथा एशिया एव अफ्रीका में, अतर्राष्ट्रीय दाँव घातो मे स्पष्टत लक्षित हैं। इन्ही छलप्रपचो के विरुद्ध एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्रो द्वारा पचशील का प्राय समर्थन किया जाता है, जिसकी घोषणा बादुग समेलन (१९५५) मे की गई थी। स्वशासन का स्थान ले सकने योग्य कोई अन्य समतुल्य व्यवस्था राजनीति मे नही है और आज उपनिवेश तथा उपनिवेशवाद पूर्णत असामयिक तथा अग्राह्य हो चुके हैं। [ही० ना० मु०]

उपनिषद्

उपनिषद् भारतीय तत्वज्ञान तथा धर्म का वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना ज्ञानधाराएँ प्रवाहित होती हैं। उपनिषद् वेद का अतिम भाग है और साथ ही वेद के मौलिक रहस्यो का प्रतिपादक भी और इसीलिये वह 'वेदात' के नाम से भी प्रख्यात है। वैदिक धर्म के मौलिक सिद्धातो के प्रतिपादक तीन प्रमुख ग्रथ माने जाते हैं जो 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से सुविख्यात है। इसमे उपनिषद् ही मुख्य हैं, क्योकि इसके अन्य दोनो ग्रथ, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषदो के ऊपर आश्रित होने के कारण ही इतने मान्य समझे जाते हैं। उपनिषदो को प्रातिभ-चक्षु-सपन्न भारतीय मनीषियो की विमल प्रतिभा तथा अपरोक्ष दृष्टि से साक्षात्कृत आध्यात्मिक तथ्यो की विशाल राशि कहा जा सकता है।

१७वी सदी में दाराशिकोह ने अनेक उपनिषदो का मूल सस्कृत से फारसी मे अनुवाद कराया था तथा १९वी सदी के मान्य जर्मन तत्ववेत्ता

शोपेनहावर ने अपनी गुरुत्रयी मे अफलातून तथा काट के साथ ही उपनिषदो को स्थान दिया और अपने दार्शनिक तत्वो का प्रासाद इन्ही के आधार पर खडा किया। आजकल समस्त सभ्य भाषाओ मे उपनिषदो के अनुवाद, व्याख्यान तथा अनुशीलन सैकडो की सख्या में उपलब्ध हैं।

नाम तथा सख्या—उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से निष्पन्न होता है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं विवरण=नाश होना, गति=पाना या जानना तथा अवसादन=शिथिल होना। उपनिषद् मुख्यत 'ब्रह्मविद्या' का द्योतक है, क्योकि इस विद्या के अभ्यास से मुमुक्षुजनो की ससार उत्पन्न करनेवाली अविद्या नष्ट हो जाती है (विवरण), वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है (गति), जिससे मनुष्यो के गर्भवास आदि सासारिक दु ख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं (अवसादन)। गौण रूप में उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रथो का वाचक माना जाता है। फलत उपनिषद् वे तत्वप्रतिपादक ग्रथ है जिनके अभ्यास से मनुष्य को 'ब्रह्म' तथा परमात्मा का साक्षात् अनुभव प्राप्त होता है।

उपनिषदो की पूर्ण सख्या के निश्चय में मतभेद है। 'मुक्तिकोपनिषद्' (प्रथम अध्याय) मे उपलब्ध उपनिषदो की सख्या १०८ बतलाई गई है जिनमे १० उपनिषद् ऋग्वेद से सबद्ध हैं, १९ शुक्लयजुर्वेद से, ३२ कृष्णयजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से। नारायण, नृसिंह, रामतापनी तथा गोपाल—इन चार उपनिषदो मे पूर्व तथा उत्तर भेद से दो-दो खड है। इस प्रकार उपनिषदो की सख्या ११२ है। अडयार लाइब्रेरी (मद्रास) ने लगभग ६० नवीन उपनिषदो का एक सग्रह प्रकाशित किया है जिसमे छागलेय, वाष्कल, आर्षेय तथा शौनक नामक चार उपनिषदो का भी समावेश है जो दाराशिकोह के अध्यवसाय से फारसी मे अनूदित हुए थे। विषय की गभीरता तथा विवेचन की विशदता के कारण १३ उपनिषद् विशेष मान्य तथा प्राचीन माने जाते हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, (५) मुडक, माडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छादोग्य, (१०) बृहदारण्यक, इन दस के ऊपर आदि शकराचार्य ने अपने भाष्य का निर्माण किया। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, कौषीतकि तथा मैत्रायणी उपनिषद् भी शकर के द्वारा प्रमाण कोटि मे रखे जाने तथा शारीरिक भाष्य मे उद्धृत किए जाने के कारण प्रामाणिक माने जाते हैं। अन्य उपनिषद् तत्तद् देवता विषयक होने के हेतु तात्रिक माने जा सकते हैं। ऐसे उपनिषदो मे शैव, शाक्त, वैष्णव तथा योग विषयक उपनिषदो की प्रधान गणना है। रचना की दृष्टि से कुछ उपनिषद् गद्यात्मक है, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्यपद्यात्मक।

रचनाकाल—उपनिषदो के कालक्रम, विकास तथा पारस्परिक सबध को दिखलाने के लिये अनेक विद्वानो ने गहरी छानवीन की हे जिनमे जर्मन विद्वान् डा० डॉसन तथा भारतीय विद्वान् डा० बेल्वेलकर और रानडे के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० डॉसन ने उपनिषदो के विकासक्रम मे चार स्तरो का पता लगाया है—१ गद्यात्मक उपनिषद् जिनका गद्य ब्राह्मणो के गद्य के समान सरल, लघुकाय तथा प्राचीन है—बृहदारण्यक, छादोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि तथा केन, २ पद्यात्मक उपनिषद् जिनका पद्य वैदिक मत्रो के अनुरूप सरल, प्राचीन तथा सुबोध है—कठ, ईश श्वेताश्वतर तथा महानारायण, ३ अवातर गद्योपनिषद्—प्रश्न, मैत्री (=मैत्रायणी) तथा माडूक्य, ४ आथर्वण उपनिषद्—ब्रह्मविद्या, योगतत्व, आत्मबोध आदि अनेक अवातरकालीन उपनिषदो की गणना इस श्रेणी में है।

डा० बेल्वेलकर तथा रानडे ने उपनिषदो के विभाजन के लिये एक नई पद्धति निकाली है। भाषा तथा प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उपनिषदो को तीन श्रेणी मे विभक्त करना उपयुक्त प्रतीत होता है—१ प्राचीनतम श्रेणी जिसके भीतर छादोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुडक एव माडूक्य रखे जा सकते हैं जो तत्तत् वेदो के आरण्यको के अश होने से नि सदेह प्राचीन हैं, २ अवातरकालीन—श्वेताश्वतर, कौषीतकि तथा मैत्री, और इन दोनो के बीच की श्रेणी में ३ कठ उपनिषद् को रखना उचित है। उपनिषदो की भौगोलिक स्थिति मध्यदेश के कुरु पाचाल से लेकर विदेह (मिथिला) तक फैली हुई है। उपनिषत्काल का आरभ बुद्ध से पर्याप्त पूर्व है।

तत्वज्ञान—उपनिषदो के ऋषियो ने जीव, जगत् तथा ईश्वर के विषय मे बडी ही मौलिक स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। ब्रह्म या परमात्मा का साक्षात्कार ही साधक के जीवन का मुख्य लक्ष्य है। अध्यात्मवेत्ता ऋषियो ने इस नानात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्विक दृष्टि से किया। यह मौलिक तत्व 'ब्रह्म' शब्द के द्वारा सकेतित किया जाता है। ब्रह्म के दो रूप हैं—१ सविशेष अथवा सगुण रूप तथा २ निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप जिनमें प्रथम रूप को 'अपर ब्रह्म' (या ईश्वर) तथा द्वितीय को 'परब्रह्म' नाम से अभिहित करते हैं। सगुण ब्रह्म के लिये पुलिंग विशेषणो का प्रयोग किया गया है जैसे सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगध सर्वरस आदि। निर्गुण ब्रह्म के लिये नपुसक लिंगी निषेधात्मक विशेषणो का प्रयोग किया गया है जैसे बृहदारण्यक (३।८।८) मे गार्गी को उपदेश देते समय वह अक्षर ब्रह्म अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अस्नेह, अच्छाय आदि विशेषणो के द्वारा वर्णित है। 'नेति नेति' का भी यही तात्पर्य है कि वह परब्रह्म निषेधमुखेन ही वर्णित किया जा सकता है। उपनिषद् के मत मे इस विश्व में अद्वैत सत्ता का ही पूर्ण साम्राज्य है तथा उस तत्व को छोडकर नानात्मक जगत् का नितात अभाव है (**नेह नानास्ति किञ्चन**)। आत्मा तथा परब्रह्म मे पूर्ण ऐक्य है और इस ऐक्य का प्रतिपादक महनीय मत्र है—**तत्त्वमसि** जिसे आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को नाना दृष्टातो की सहायता से व्यावहारिक रूप में समझाया था (छादोग्य)। केनोपनिषद् (१।५) ने निष्प्रपच ब्रह्म का बडा ही सजीव वर्णन किया है जिसे वाणी कह नही सकती, परतु जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसे ही ब्रह्म जानो। यह नही, जिसकी तुम उपासना करते हो—

> यद् वाचाऽनभ्युदित येन वागभ्युद्यते।
> तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥

इस **परब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति** उपनिषदो का लक्ष्य है। ब्रह्म का ज्ञान योग के साधनो के द्वारा भली भाँति हो सकता है और तब साधक अनत आनद का अनुभव कर अपने जीवन को धन्य बनाता है। यही 'रहस्यवाद' उपनिषदो का हृदय है और अन्य सिद्धात साधन मात्र हैं।

स० ग्र०—डॉसन फिलॉसफी ऑव उपनिषद्स, अग्रेजी अनुवाद, १९०६, गफ फिलॉसफी ऑव उपनिषद्स, लदन, १८८२, बेल्वेलकर तथा रानडे हिस्ट्री ऑव इडियन फिलॉसफी, भाग २, पूना, रानडे कास्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलॉसफी, पूना, १९२६, राधाकृष्णन् इडियन फिलॉसफी, भाग १, लदन १९३०, दासगुप्त हिस्ट्री ऑव इडियन फिलॉसफी, खड १, कैंब्रिज, १९२५। [ब० उ०]

उपन्यास

अर्नेस्ट ए० बेकर ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए उसे गद्यबद्ध कथानक के माध्यम द्वारा जीवन तथा समाज की व्याख्या का सर्वोत्तम साधन बताया है। यो तो विश्वसाहित्य का प्रारभ ही सभवत कहानियो से हुआ और वे महाकाव्यो के युग से आज तक के साहित्य का मेरुदड रही हैं, फिर भी उपन्यास को आधुनिक युग की देन कहना अधिक समीचीन होगा। साहित्य मे गद्य का प्रयोग जीवन के यथार्थ चित्रण का द्योतक है। साधारण बोलचाल की भाषा द्वारा लेखक के लिये अपने पात्रो, उनकी समस्याओ तथा उनके जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि से प्रत्यक्ष सबध स्थापित करना आसान हो गया। जहाँ महाकाव्यो में कृत्रिमता तथा आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है, आधुनिक उपन्यासकार जीवन की विशृखलताओ का नग्न चित्रण प्रस्तुत करने में ही अपनी कला की सार्थकता देखता है।

यथार्थ के प्रति आग्रह का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि कथा साहित्य से अपौरुषेय तथा अलौकिक तत्व, जो प्राचीन महाकाव्यो के विशिष्ट अग थे, पूर्णतया लुप्त हो गए। कथाकार की कल्पना अब सीमाबद्ध हो गई। यथार्थ की परिधि के बाहर जाकर मनचाही उडान लेना उसके लिये प्राय असभव हो गया। उपन्यास का आविर्भाव और विकास वैज्ञानिक प्रगति के साथ हुआ। एक ओर जहाँ विज्ञान ने व्यक्ति तथा समाज को सामान्य धरातल से देखने तथा चित्रित करने की प्रेरणा दी वही दूसरी ओर उसने जीवन की समस्याओ के प्रति एक नए दृष्टिकोण का भी सकेत किया। यह दृष्टिकोण मुख्यत बौद्धिक था। उपन्यासकार के ऊपर कुछ नए उत्तरदायित्व आ गए थे। अब उसकी साधना कला की समस्याओ तक ही सीमित न रहकर व्यापक सामाजिक जागरुकता की अपेक्षा रखती थी। वस्तुत आधुनिक उपन्यास सामाजिक चेतना के क्रमिक विकास की कलात्मक

अभिव्यक्ति है। जीवन का जितना व्यापक एवं सर्वांगीण चित्र उपन्यास में मिलता है उतना साहित्य के अन्य किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं।

सामाजिक जीवन की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ ही साथ आधुनिक उपन्यास वैयक्तिक चरित्र के सूक्ष्म अध्ययन की भी सुविधा प्रदान करता है। वास्तव में उपन्यास की उत्पत्ति की कहानी यूरोपीय पुनरुत्थान (रिनैसाँस) के फलस्वरूप अर्जित व्यक्तिस्वातंत्र्य के साथ लगी हुई है। इतिहास के इस महत्वपूर्ण दौर के उपरांत मानव को, जो अब तक समाज की इकाई के रूप में ही देखा जाता था, वैयक्तिक प्रतिष्ठा मिली। सामंतवादी युग के सामाजिक बंधन ढीले पड़े और मानव व्यक्तित्व के विकास के लिये उन्मुक्त वातावरण मिला। यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों ने मानव चरित्र के अध्ययन के लिये भी एक नया दृष्टिकोण दिया। अब तक के साहित्य में मानव चरित्र के सरल वर्गीकरण की परंपरा चली आ रही थी। पात्र या तो पूर्णतया भले होते थे या एकदम गए गुजरे। अच्छाइयों और त्रुटियों का संमिश्रण, जैसा वास्तविक जीवन में सर्वत्र देखने को मिलता है, उस समय के कथाकारों की कल्पना के परे की बात थी। उपन्यास में पहली बार मानव चरित्र के यथार्थ, विशद एवं गहन अध्ययन की संभावना देखने को मिली।

अंग्रेजी के महान् उपन्यासकार हेनरी फील्डिंग ने अपनी रचनाओं को गद्य में लिखे गए व्यंग्यात्मक महाकाव्य की संज्ञा दी। उन्होंने उपन्यास की इतिहास से तुलना करते हुए उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण कहा। जहाँ इतिहास कुछ विशिष्ट व्यक्तियों एवं महत्वपूर्ण घटनाओं तक ही सीमित रहता है, उपन्यास प्रदर्शित जीवन के सत्य, शाश्वत और सर्वदेशीय महत्व रखते हैं। साहित्य में आज उपन्यास का वस्तुतः वही स्थान है जो प्राचीन युग में महाकाव्यों का था। व्यापक सामाजिक चित्रण की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य है। लेकिन जहाँ महाकाव्यों में जीवन तथा व्यक्तियों का आदर्शवादी चित्र मिलता है, उपन्यास, जैसा कि फील्डिंग की परिभाषा से स्पष्ट है, समाज की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार के लिये कहानी साधन मात्र है, साध्य नहीं। उसका ध्येय पाठकों का मनोरंजन मात्र भी नहीं। वह सच्चे अर्थ में अपने युग का इतिहासकार है जो सत्य और कल्पना दोनों का सहारा लेकर व्यापक सामाजिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है।

सं० ग्रं०—ई० एम० फोर्स्टर : ऐस्पेक्ट्स ऑव दि नावेल, राल्फ फॉक्स : दि नावेल ऐंड दि पिपुल, पर्सी लुवक : दि क्राफ्ट ऑव फिक्शन, एडविन म्योर : दि स्ट्रक्चर ऑव दि नावेल। [तु० ना० सिं०]

उपपत्ति

प्रकरण से प्रतिपादित अर्थ के साधन में जो युक्ति प्रस्तुत की जाती है उसे 'उपपत्ति' कहते हैं—'प्रकरण प्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्ति उपपत्ति'। ज्ञान के साधन मे उपपत्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। आत्मज्ञान की प्राप्ति मे जो तीन क्रमिक श्रेणियाँ उपनिषदों में बतलाई गई हैं उनमें मनन की सिद्धि उपपत्ति के ही द्वारा होती है। वेद के उपदेश को श्रुतिवाक्यों से प्रथमतः सुनना चाहिए (श्रवण) और तदनंतर उनका मनन करना चाहिए (मनन)। युक्तियों के सहारे ही कोई तत्व दृढ और हृदयंगम बनाया जा सकता है। बिना युक्ति के मनन निराधार रहता है और वह आत्मविश्वास नहीं उत्पन्न कर सकता। मनन की सिद्धि के अनंतर निदिध्यासन करने पर ही आत्मा की पूर्ण साधना निष्पन्न होती है। 'मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' की व्याख्या में माधुरी उपपत्ति को हेतु का पर्याय मानती है। [ब० उ०]

उपपुराण

जो ग्रंथ पंचलक्षणात्मक महापुराणों से विषयों के विन्यास तथा देवीदेवताओं के वर्णन में न्यून हैं, परंतु उनसे बहुश साम्य रखते हैं वे 'उपपुराण' नाम से अभिहित किए जाते हैं। इनकी यथार्थ संख्या तथा नाम के विषय में बहुत मतभेद है। उपपुराणों की सूची कूर्म पुराण (१।१३-२३), गरुड पुराण (१।२२३।१७-२०), देवीभागवत (१।३), पद्मपुराण (१।११५), ब्रह्मवैवर्त (४।१३३), स्कंद (५।३।१, ७।१।२) तथा सूतसंहिता (१।१३।१८) में दी गई है। इन सूचियों की तुलना करने पर अत्यंत अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। बहुत से मान्य महापुराण भी (जैसे कूर्म, स्कंद, ब्रह्म, ब्रह्मांड तथा श्रीमद्भागवत) तथा रामायण भी उपपुराणों में गिने गए हैं। ऐसी स्थिति में उपपुराणों की निश्चित संख्या तथा अभिधान गंभीर गवेषणा की अपेक्षा रखते हैं। पूर्वोक्त सूचियों को मिलाने से उपपुराणों की संख्या ३२ तक पहुँच जाती है, परंतु बहुमत उपपुराणों की संख्या को १८ तक सीमित रखने के पक्ष में है। लोकप्रिय उपपुराणों के नाम ये हैं—(१) आदित्य (या सौर), (२) उशनस् (या औशनस), (३) कपिल, (४) कालिका, (५) कुमार, (६) गणेश, (७) गौतम, (८) दुर्वासा, (९) देवीभागवत, (१०) नंदी, (११) नृसिंह, (१२) महेश्वर, (१३) मारीच, (१४) शिवधर्म, (१५) सांब, (१६) सनत्कुमार, (१७) विष्णुधर्मोत्तर तथा (१८) कल्कि।

महापुराण तथा उपपुराण की विभेदक रेखा इतनी क्षीण है कि कभी कभी किसी पुराण के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करना नितांत कठिन होता है। सांप्रदायिक आग्रह भी किसी निश्चय पर पहुँचने में प्रधान बाधक सिद्ध होते हैं। शक्ति के उपासक 'देवीभागवत' को और विष्णु के भक्त 'श्रीमद्भागवत' को महापुराण के अंतर्गत मानते हैं, परंतु मत्स्य आदि पुराणों मे निर्दिष्ट विषयसूची का अनुशीलन श्रीमद्भागवत को ही महापुराण के अंतर्निविष्ट सिद्ध करता है। शिवपुराण तथा वायुपुराण के स्वरूप के विषय मे भी इसी प्रकार मतभेद है। कतिपय आलोचक एक ही पुराण को प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा से शिवपुराण और वक्ता की अपेक्षा से 'वायुपुराण' मानते हैं, परंतु अन्यत्र वायुपुराण को महापुराणों के अंतर्गत मानकर 'शिवपुराण' को निश्चित रूप से उपपुराण माना गया है। शिवपुराण भी दो प्रकार का उपलब्ध है। एक लक्षश्लोकात्मक तथा द्वादश संहिताओं में विभक्त बतलाया जाता है। परंतु श्री वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'शिवपुराण' में केवल ७ संहिताएँ और २४ सहस्र श्लोक उपलब्ध होते हैं। गणपति की उपासना के प्रतिपादक 'गणेशपुराण' के अतिरिक्त 'मुद्गलपुराण' भी 'गणेशाथर्वशीर्ष' के भाष्यानुसार उपपुराण है। सांबपुराण सूर्य की उपासना का प्रतिपादक है तथा कालिकापुराण भगवती काली के नाना अवतारों तथा पूजा अर्चना का विवरण प्रस्तुत करता है। 'विष्णुधर्मोत्तर' में पुराण के सामान्य विषयों के अतिरिक्त नृत्य, संगीत, स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, मूर्तिविधान तथा मंदिरनिर्माण का भी विवरण मिलता है जो कला की दृष्टि से नितांत रोचक, उपयोगी तथा उपादेय है।

सं० ग्रं०—ज्वालाप्रसाद मिश्र : अष्टादश पुराणदर्पण (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई), विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग १, कलकत्ता १९२७, हज़रा : दि उपपुराणाज़, प्रथम भाग, कलकत्ता। [ब० उ०]

उपमन्यु

उपनिषद् काल के जिन ऋषियों के नाम वैदिक साहित्य में मिलते हैं उनमें आरुणि, उद्दालक, याज्ञवल्क्य के समान ही उपमन्यु का नाम भी विख्यात है। वे गोत्र के प्रवर्तक थे और कुछ वैदिक मंत्रों के ऋषि भी थे जिससे उनके बृहत् ज्ञान का पता चलता है। [च० म०]

उपमान

किसी अज्ञात वस्तु को किसी ज्ञात वस्तु की समानता के आधार पर किसी नाम से जानना। जैसे किसी को मालूम है कि नीलगाय गाय जैसी होती है, कभी उसने जंगल मे गाय जैसा पशु देखा और समझ गया कि यही नीलगाय है। यह ज्ञान गाय के ज्ञान से हुआ। किंतु शब्दज्ञान से इसमें भेद है। शब्दज्ञान में शब्द सुनकर बोध होता है, उपमान में समानता से बोध होता है। न्यायशास्त्र में इसे अलग प्रमाण माना गया है किंतु बौद्ध, वैशेषिक आदि दर्शन इसे अनुमान के अंतर्गत मानते हैं। [रा० च० पा०]

उपयोगितावाद

एक आचार सिद्धांत, जिसकी एकांतिक मान्यता है कि आचरण एकमात्र तभी नैतिक है जब वह अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करता है। राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में इसका संबंध मुख्यतः बेंथम (१७४८–१८३२) तथा जान स्टुअर्ट मिल (१८०६-७३) से रहा है। परंतु इसका इतिहास और प्राचीन है, ह्यूम जैसे दार्शनिकों के विचारों से प्रभावित, जो उदारता को ही सबसे महान् गुण मानते थे तथा व्यक्तिविशेष के व्यवहार से दूसरों के सुख में वृद्धि ही उदारता का मापदंड समझते थे।

उपयोगितावाद के सबध मे प्राय कुछ अस्पष्ट ओछी धारणाएँ हैं। इसके आलोचको का कहना है कि यह सिद्धात सुदरता, शालीनता एव विशिष्टता की उपेक्षा कर केवल उपयोगिता को महत्व देता है। पूर्वपक्ष का इसपर यह आरोप है कि यह केवल लौकिक स्वार्थ को महत्व देता है। किंतु ऐसी आलोचना सर्वथा समुचित नही कही जा सकती।

उपयोगितावाद अनेक सापेक्ष विचारो को महत्व देता है। जैसे, आनद ही सबसे वाछनीय वस्तु है, और यह जितना अधिक हो उतना ही श्रेयस्कर है। इसका एक भ्रामक निष्कर्ष यह है कि दुख ही सबसे अवाछनीय वस्तु है, और यह जितना कम भोगना पडे उतना ही अच्छा है। इससे यह निर्दिष्ट है कि नैतिक अभिकर्ता का किसी भी परिस्थिति मे ऐसा ही आचरण सदाचार माना जायगा जो स्वेच्छया किया गया हो, जो सवधित लोगो के लिये महत्तम सुख की सृष्टि करता हो अथवा कर सकने की सभावना रखता हो और जहाँ पर दुख अवश्यभावी है वहाँ उसे यथासभव कम से कम करने का प्रयत्न करता हो।

ऐसे विचारो मे निहित भावो की विवेचना एकपक्षीय नही हो सकती, फिर भी आनद भी तुच्छ तथा दुख भी महान् हो सकता है और कोई यह सिद्ध नही कर सकता कि आनद नित्य श्रेय तथा दुख नित्य हेय है। यह भी स्पष्ट है कि 'सुख' की ठीक ठीक परिभाषा करना, यदि असभव नही तो, कठिन अवश्य है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने एक बार प्रसिद्ध घोषणा की कि 'सुख कौन चाहता है ? केवल अग्रेज।' अधिकाश भारतीय विचारो में जोर निरासक्ति पर ही दिया गया है, जिससे आनद का माप क्षणस्थायी एव सुख कुछ निसार प्रतीत होता है। वास्तव मे उपयोगितावाद का पूर्णत तर्कसमत एव स्थायी अनुयायी होना कुछ सरल नही, फिर भी सिद्धात तथा व्यवहार में सामजस्य स्थापित करने के प्रयत्न के कारण और जीव-तत्व के लिये स्वस्थ तथा नैतिक अच्छाई का मार्ग निर्दिष्ट करनेवाले आनद को मनुष्य के स्वाभाविक मार्गदर्शन के रूप मे प्रतिष्ठित करने के कारण उपयोगितावाद कुछ आकर्षण रखता है, और एतदर्थ समान्य भी है।

बेथम ने लिखा है, "प्रकृति ने मनुष्य को दो प्रभुओ, सुख एव दुख, के शासन मे रखा है। केवल इन्ही को यह सूचित करने की शक्ति प्राप्त है कि हमें क्या करना चाहिए तथा हम क्या करेंगे। इनके सिंहासन के एक ओर उचितानुचित निर्धारण का मान बँधा है दूसरी ओर कार्य कारण का चक्र।" कोई भी इस कथन मे त्रुटि निकाल सकता है। वस्तुत उपयोगितावादियो की सबसे बडी त्रुटि उनकी दार्शनिक पकड की कमजोरी मे ही रही है। परतु उनके द्वारा वास्तविक सुधारो को जो महत्व दिया गया, तत्कालीन परिस्थितियो मे वह सामाजिक चिंतन के क्षेत्र में निसदेह नया कदम था। दूरदर्शी तथा कुशल व्यवस्थापको द्वारा ही समाजकल्याण सपन्न हो सकता है, ऐसी कल्पना की गई। बेथम के शब्दो मे, व्यवस्थापक ही वुद्धि तथा विधि (कानून) द्वारा सुख रूपी पट बुन सकता है।

बेंथम ने न केवल इग्लैंड वरन् यूरोप के अन्य देशो के विचारो को भी अत्यत प्रभावित किया। जेलो के सुधार मे, न्यायव्यवहार को सरल करने में अमानुषिक परिणामहीन दड व्यवस्था हटाने मे, बेथम से बडी सहायता प्राप्त हुई। जब उसे निश्चय हो गया कि ससदीय सुधार के विना वैधानिक सुधार असभव है तब वह उस ओर आकर्षित हुआ। उपयोगितावाद के आर्थिक उद्देश्यो का निरूपण, जो मुख्यत निबध व्यापार पर वैधानिक नियत्रणो की समाप्ति से सवधित है, रिकार्डो के साहित्य में अत्यत सुदर ढग से हुआ है। सिद्धात निरूपण की अपेक्षा, जो उपयोगितावादियो का विशेष इष्ट कभी न रहा, आजकल राजनीतिक कार्यक्रमो को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। किंतु इस दर्शन की स्थायी देन नैतिकता तथा सामाजिक अगो के कार्य मे प्रत्यक्ष सबध का सिद्धात है। [ही० ना० मु०]

उपरिगामी पुल

जब रेल या सडक के दो रास्ते एक दूसरे को काटकर पार करते हैं तब सुविधा और सुरक्षा के लिये एक रास्ते के ऊपर पुल बनाकर दूसरे रास्ते को उसके ऊपर से ले जाया जाता है। ऐसे पुल को उपरिगामी पुल या ऊपर का पुल कहते हैं। रेलवे लाइन पार करने के लिये तो बहुत स्थानो मे उपरिगामी पुल बने रहते हैं, क्योंकि इस प्रबध से लाइन पार करनेवालो के कारण रेलगाडियो को रुकना नही पडता।

आधुनिक परिवहन मे यह आवश्यक हो गया है कि गाडियाँ बिना चाल धीमी किए अपनी यात्रा जारी रखें। इसलिये विदेशो में साधारण सडको के चौराहो पर भी अब उपरिगामी पुल अधिकाधिक सख्या में बनाए जाते हैं। ऐसे पुलो की अभिकल्पना (डिजाइन) में कई कठिन और विशेष प्रकार की समस्याएँ खडी हो जाती हैं, उदाहरणत सडको की ढाल कितनी रखी जाय, नीचेवाली सडक से पुल कितना ऊँचा रहे, भविष्य में सडक चौडी करनी पडे तो उसके लिये अभी से कैसी व्यवस्था रखी जाय, कितनी दूर तक सडक स्पष्ट दिखाई पडती रहे, एक सडक से आडी सडक पर पहुँचने का क्या उपाय किया जाय, मुडने के लिये सडक में वक्रता कितनी रखी जाय, इत्यादि। फिर इसपर भी ध्यान रखना पडता है कि वास्तुकला की दृष्टि से सरचना सुदर दिखाई पडे।
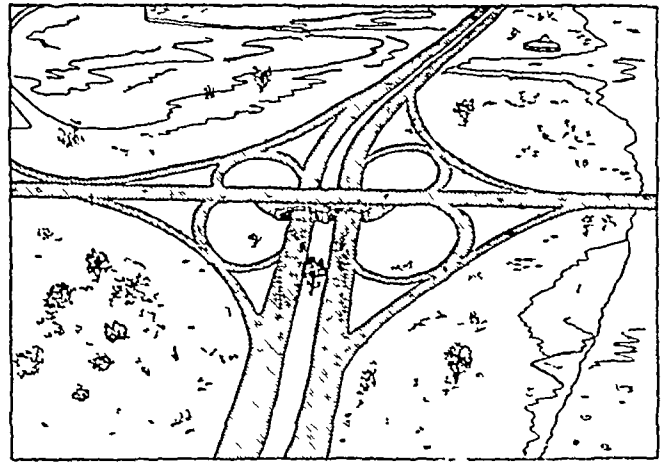
जलेब चौराहा

वाशिंगटन (अमरीका) मे माउट वर्नन मेमोरियल हाइवे और यूनाइटेड स्टेट्स रूट नवर १ (१४वी सडक) का चौराहा अच्छी अभिकल्पना का सुदर उदाहरण है। प्रत्येक ओर से गाडी बिना रोक टोक के सीधे जा सकती है, या चौराहे से पहले ही बाई ओर जानेवाली शाखा पकडकर बाएँवाली सडक पर पहुँच सकती है, या चौराहे के आगे बढकर बाई ओर जानेवाली शाखा पकडकर और प्राय गोल चक्कर लगाकर दाहिनी ओर की सडक पर पहुँच सकती है (चित्र देखे)। इस प्रबध से बगल से आनेवाली गाडियो के भिड जाने का डर बिलकुल नही रहता। चारो कोनो पर चार गोल चक्कर पडने के कारण चौराहा जलेब (क्लवर) की तरह जान पडता है और इसीलिये इसे जलेब चौराहा (क्लवर लीफग्रेड सेपरेशन) कहते हैं। [सी० बा० जो०]

उपलेता

गुजरात राज्य के मध्य सौराष्ट्र जिले में उपलेता सब डिवीजन का प्रमुख नगर है (पहले गोडल राज्य के गोडल इलाके का नगर था)। (स्थिति २१° ४४' उ० अक्षाश एव ७०° २०' पूर्वी देशातर) यह जूनागढ से १९ मील उत्तर-पश्चिम एव धोराजी नगर से १० मील दूर, भादर नदी की सहायक मोज नदी के पश्चिमी तट पर, अत्यत सुरम्य स्थान पर स्थित है। यहाँ के निवासियो मे मेहमान जाति एव बनिए मुख्य हैं जिनका धधा साधारणत व्यापार है। अत यह नगर गुजरात के सपत्तिशाली नगरो मे गिना जाता है। भावनगर-गोडल-पोरबदर रेलवे का एक स्टेशन भी यहाँ है, अत व्यापारिक सुविधाएँ यहाँ प्राप्त हैं। इस नगर की जनसख्या १९०१ ई० मे ६,४२९ थी जो १९५१ ई० मे बढकर २२,७३६ हो गई। यहाँ के निवासियो मे लगभग ४० प्रति शत लोग व्यापार मे लगे हैं। [का० ना० सिं०]

उपवास

भोजन किए बिना रह जाने को उपवास कहते हैं, यह कई प्रकार का होता है। एक प्रकार का उपवास धार्मिक होता है, जो एकादशी, सक्राति तथा ऐसे ही पर्वों के दिनो पर किया जाता है। ऐसे उपवासो में दोपहर को दूध की बनी हुई मिठाई तथा शुष्क और हरे

दोनो प्रकार के फल खाए जा सकते है। कुछ निर्जल उपवास होते है। इनमे दिन भर न तो कुछ खाया जाता है और न जल पिया जाता है। रोगो में भी उपवास कराया जाता है, जिसको लघन कहते है। आजकल राजनीतिक उपवास भी किए जाते है जिन्हे 'अनशन' कहते है। इनका उद्देश्य सरकार की दृष्टि को आकर्पित करना और उससे वह कार्य करवाना होता है जिसके लिये उपवास किया जाता है। कभी कभी भोजन न मिलने पर परवश होकर भी उपवास करना पडता है।

इन सब प्रकार के उपवासो का शरीर पर समान प्रभाव पडता है। एक वार भोजन ग्रहण करने पर कुछ घटो तक तो शरीर को खाए हुए आहार से शक्ति मिलती रहती है, किंतु उसके पश्चात् शरीर मे सचित आहार के अवयवो—प्रोटीन, कार्वोहाइड्रेट और स्नेह या वसा—का शरीर उपयोग करने लगता है। वसा और कार्वोहाइड्रेट परिश्रम करने की शक्ति उत्पन्न करते है। प्रोटीन का काम शरीर के टूटे फूटे भागो का पुनर्निर्माण करना है। किंतु जव उपवास लवा या अधिक काल तक होता है तो शक्ति उत्पादन के लिये शरीर प्रोटीन का भी उपयोग करता है। इस प्रकार प्रोटीन ऊतकनिर्माण (टिशू फॉर्मेशन) और शक्त्युत्पादन दोनो काम करता है।

शरीर मे कार्वोहाइड्रेट दो रूपो मे वर्तमान रहता है ग्लूकोस, जो रक्त में प्रवाहित होता रहता है, और ग्लाइकोजेन, जो पेशियो और यकृत में सचित रहता है। साधारणतया कार्वोहाइड्रेट शरीर को प्रति दिन के भोजन से मिलता है। उपवास की अवस्था मे जव रक्त का ग्लूकोस खर्च हो जाता है तव सचित ग्लाइकोजेन ग्लूकोस मे परिणत होकर रक्त में जाता रहता है। उपवास की अवस्था मे यह सचित कार्वोहाइड्रेट दो चार दिनो मे ही समाप्त हो जाता है, तव कार्वोहाइड्रेट का काम वसा को करना पडता है और साथ ही प्रोटीन को भी इस कार्य में सहायता करनी पडती है।

शरीर मे वसा विशेष मात्रा मे त्वचा के नीचे तथा कलाओ मे सचित रहती है। स्थूल शरीर मे वसा की अधिक मात्रा रहती है। इसी कारण दुवले व्यक्ति की अपेक्षा स्थूल व्यक्ति अधिक दिनो तक भूखा रह सकता है। शरीर को दैनिक कर्मो और उष्मा के लिये कार्वोहाइड्रेट, वसा और प्रोटीन, तीनो पदार्थों की आवश्यकता होती है, जो उसको अपने आहार से प्राप्त होते है। आहार से उपलब्ध वसा यकृत मे जाती है और वहाँ पर रासायनिक प्रतिक्रियाओ से वसाम्ल और ऐसिटो-ऐसीटिक-अम्ल में परिवर्तित होकर रक्त मे प्रवाहित होती है तथा शरीर को शक्ति और उष्मा प्रदान करती है। उपवास की अवस्था में शरीर की सचित वसा का यकृत द्वारा इसी प्रकार उपयोग किया जाता है। यह सचित वसा कुछ सप्ताहो तक कार्वोहाइड्रेट का भी स्थान ग्रहण कर सकती है। अतर केवल यह है कि जव शरीर को आहार से कार्वोहाइड्रेट मिलता रहता है तव ऐसिटो-ऐसीटिक-अम्ल यकृत द्वारा उतनी ही मात्रा मे सचालित होता है जितनी की आवश्यकता शरीर को होती है। कार्वोहाइड्रेट की अनुपस्थिति मे इस अम्ल का उत्पादन विशेप तथा अधिक होता है और उसका कुछ अश मूत्र मे आने लगता है। इस अश को कीटोन कहते है। कीटोन का मूत्र मे पाया जाना शरीर मे कार्वोहाइड्रेट की कमी का चिह्न है और उसका अर्थ यह होता है कि कार्वोहाइड्रेट का कार्य अव सचित वसा को करना पड रहा है। यह उपवास की प्रारभावस्था मे होता है। रुग्णावस्था मे जव रोगी भोजन नही करता तव शरीर के कार्वोहाइड्रेट के चयापचय को जानने के लिये मूत्र मे किटोन की जाँच करते रहना आवश्यक है।

उपवास की लवी अवधि मे सचित वसा के समाप्त हो जाने पर उष्मा और शक्ति के उत्पादन का भार प्रोटीन पर आ पडता है। शरीर के कोमल भाग का प्राय ७५ प्रति शत अश प्रोटीन से वना हुआ रहता है। उपवास की अवस्था मे यही प्रोटीन ऐमिनो-अम्लो मे परिवर्तित होकर रक्त मे प्रवाहित होता है। सभी अगो के प्रोटीनो का सचालन समान मात्रा में नही होता है। लवे उपवास मे जव तक मस्तिष्क और हृदय का भार प्राय ३ प्रति शत कम होता है, तव तक पेशियो का ३० प्रति शत, यकृत का ५५ प्रति शत और प्लीहा का ७० प्रति शत भार कम हो जाता है। शारीरिक ऊतको (टिशूज) से प्राप्त ऐमिनो-अम्लो के मुख्य दो कार्य है (१) अत्यावश्यक अगो को सुरक्षित रखना और (२) रक्त में ग्लूकोस की अपेक्षित माता को स्थिर रखना।

प्रोटीन नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ होते है। अतएव जव शरीर के प्रोटीन को उपर्युक्त काम करने पडते है तव मूत्र का नाइट्रोजनीय अग वढ जाता है। उपवास के पहले सप्ताह मे यह अश प्रति दिन मूत्र के साथ लगभग १० ग्राम निकलता है। दूसरे और तीसरे सप्ताह मे इसकी मात्रा कुछ कम हो जाती है। यदि इस नाइट्रोजनीय अग को वाहर निकालने मे वृक्क असमर्थ होते है तो वह अश रक्त मे जाने लगता है और व्यक्ति मे मूत्ररक्तता (यूरीमिया) की दशा उत्पन्न हो जाती है। इसको व्यक्ति की अतिम अवस्था समझना चाहिए।

शरीर मे कार्वोहाइड्रेट और वसा के समान प्रोटीन का सचय नही रहता। शरीर एक जीवित यत्र है। इसकी रचना का आधार प्रोटीन है। इस यत्र की यह विशेपता है कि इसके सामान्य भागो के प्रोटीन उपवास-काल मे भी आवश्यक अगो की रक्षा करते रहते है। शारीरिक यत्र का सुचारु रूप से कार्य करते रहना शरीर मे वननेवाले रसायनो, किण्वो (एनजाइम्स) और हार्मोनो पर निर्भर रहता है। ये उपवास की अवस्था मे भी वनते रहते है। इनके निर्माण के लिये शरीर के सामान्य भाग अपना प्रोटीन ऐमिनो-अम्ल के रूप मे प्रदान करते रहते है, जिससे ये रासायनिक पदार्थ वनते रहे और शरीर की क्रिया मे वाधा न पडे।

स्वस्थ शरीर के लिये प्रोटीन की दैनिक मात्रा प्राय निश्चित है। एक युवक के लिये प्रति दिन प्रत्येक किलोग्राम शारीरिक भार के अनुपात मे लगभग एक ग्राम प्रोटीन आवश्यक है और यह आहार से मिलता है। गर्भवती स्त्री तथा वढते हुए शिशु, वालक अथवा तरुण को ५० प्रति शत अधिक मात्रा मे प्रोटीन की आवश्यकता होती है। इससे अधिक प्रोटीन आहार मे रहने से शरीर को उसका विश्लेषण करके वहिष्कार करना पडता है, जिससे यकृत और वृक्क का कार्य व्यर्थ ही वढ जाता है। प्रोटीन शारीरिक यत्र की मरम्मत के काम मे आता है। अतएव रोगोत्तर तथा उपवासोत्तर काल में आहार मे प्रोटीन वढा देना चाहिए। इन सब वातो का पता नाइट्रोजन सतुलन के लेखे जोखे से लगाया जा सकता है। यह काम जीव-रसायन-प्रयोगशाला मे किया जाता है। यदि मूत्र के नाइट्रोजन की मात्रा भोजन के नाइट्रोजन के वरावर हो तव इसे नाइट्रोजन-सतुलन-अवस्था कहते है। यदि मूत्र का नाइट्रोजन भोजन के नाइट्रोजन से कम हो तव इसको 'धनात्मक नाइट्रोजन सतुलन' कहते है। इससे यह समझा जाता है कि आहार के नाइट्रोजन (अर्थात् प्रोटीन) मे से शरीर केवल एक विशिष्ट मात्रा को ग्रहण कर रहा है। यदि, इसके विपरीत, मूत्र का नाइट्रोजन अधिक हो, तो इसका अर्थ यह है कि शरीर अपने प्रोटीन से वने नाइट्रोजन का भी वहिष्कार कर रहा है। इस अवस्था को 'ऋणात्मक नाइट्रोजन सतुलन' कहते है। उपवास की अवस्था मे 'ऋणात्मक प्रोटीन सतुलन' और उपवासोत्तर काल मे, आहार मे प्रोटीन पर्याप्त मात्रा मे रहने पर, 'धनात्मक प्रोटीन सतुलन' रहता है।

रोग के दिनो मे हमारे देश मे भोजन प्राय वद करके वार्ली, सावूदाना आदि ही दिया जाता है। इससे रोगी को तनिक भी प्रोटीन नही मिलता, जिससे अगो के ह्रास की पूर्ति नही हो पाती। अतएव शीघ्र पचनेवाली प्रोटीन भी किसी न किसी रूप मे रोगी को देना आवश्यक है। वढते हुए वालको और वच्चो मे प्रोटीन और भी आवश्यक है।

उपवास मे कुछ दिनो तक शारीरिक क्रियाएँ सचित कार्वोहाइड्रेट पर, फिर विशेष सचित वसा पर और अत मे शरीर के प्रोटीन पर निर्भर रहती है। मूत्र और रक्त की परीक्षा से उन पदार्थो का पता चल सकता है जिनका शरीर उस समय उपयोग कर रहा है। उपवास का प्रत्यक्ष लक्षण है व्यक्ति की शक्ति का निरतर ह्रास। शरीर की वसा घुल जाती है, पेशियाँ क्षीण होने लगती है। उठना, वैठना, करवट लेना आदि व्यक्ति के लिये दुष्कर हो जाता है और अत मे मूत्ररक्तता (यूरीमिया) की अवस्था मे चेतना भी जाती रहती है। रक्त मे ग्लूकोस की कमी से शरीर क्लात तथा क्षीण होता जाता है और अत मे शारीरिक यत्र अपना काम वद कर देता है।

१९४३ की अकालपीडित वगाल की जनता का विवरण वडा ही भयावह है। इस अकाल के सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण वडे ही रोमाचकारी है। किंतु उसका वैज्ञानिक अध्ययन वडा शिक्षाप्रद था। वुभुक्षितो के सवध में जो अन्वेषण हुए उनसे उपवास विज्ञान को वडा लाभ हुआ। एक दृष्टात यह है कि इन अकालपीडित भुखमरो के मुँह मे दूध डालने से

यह गुदा द्वारा जैने का तैना तुरत बाहर हो जाता था। जान पडता था कि उनकी अँतडियो में न पाचनरस बनता था और न उनमे कुछ गति (स्पदन) रह गई थी। ऐसी अवस्था में शिराओ (वेन) द्वारा उन्हें भोजन दिया जाता था। तब कुछ काल के बाद उनके आमाशय काम करने लगते थे और तब भी वे पूर्वपाचित पदार्थो को ही पचा सकते थे। धीरे धीरे उनमें दूध तथा ठोस आहारो को पचाने की शक्ति आती थी।

इसी प्रकार गत विश्वयुद्ध में जिन देशो में खाद्य वस्तुओ पर बहुत नियत्रण था और जनता को बहुत दिनो तक पूरा आहार नही मिल पाता था उनमें भी उपवासजनित लक्षण पाए गए और उनका अध्ययन किया गया। इन अध्ययनो से आहार विज्ञान और उपवास सबधी ज्ञान मे विशेष वृद्धि हुई। ऐसी अल्पाहारी जनता का स्वास्थ्य बहुत क्षीण हो जाता है। उसमें रोग प्रतिरोधक शक्ति नही रह जाती। गत विश्वयुद्ध में उचित आहार की कमी से कितने ही बालक अधे हो गए, कितने ही अन्य रोगो के ग्रास बने।

उपवास पूर्ण हो या अधूरा, थोडी अवधि के लिये हो या लबी अवधि के लिये, चाहे धर्म या राजनीति पर आधारित हो, शरीर पर उसका प्रभाव अवधि के अनुसार समान होता है। दीर्घकालीन अल्पाहार से भी शरीर में वे ही परिवर्तन होते हैं जो पूर्ण उपवास में कुछ ही समय मे हो जाते हैं। उपवास तोडने के भी विशेष नियम है। अनशन प्राय फलो के रस से तोडा जाता है। रस भी धीरे धीरे देना चाहिए, जिससे पाचकप्रणाली पर विशेष भार न पडे। दो तीन दिन थोडा थोडा रस लेने के पश्चात् आहार के ठोस पदार्थो को भी ऐसे रूप मे प्रारभ करना चाहिए कि आमाशय आदि पर, जो कुछ समय से पाचन के अनभ्यस्त हो गए हैं, अकस्मात् विशेष भार न पड जाय। आहार की मात्रा धीरे धीरे बढानी चाहिए। इस अवधि में शरीर विशेष अधिक मात्रा में प्रोटीन ग्रहण करता है, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

स०ग्र०—सैमसन राइट अप्लायड फिजिऑलॉजी (ऑक्सफोर्ड यनिवर्सिटी प्रेस), सी० एच० बेस्ट और एन० बी० टेलर दि फिजिओलॉजिकल बेसिस ऑव मेडिकल प्रैक्टिस (बेलियर, टिंडल और कॉक्स, लदन)।
[ब० ना० प्र०]

उपवेद प्रत्येक वेद के साथ एक उपवेद का सबध प्राचीन ग्रथो मे स्थापित किया गया है, परतु इस तथ्य के विषय में कि कौन उपवेद किस वेद के साथ यथार्थत सबद्ध है, विद्वानो में ऐकमत्य नही है। मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद' के अनुसार वेदो के समान ही उपवेद भी क्रमश चार हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, सगीतवेद तथा अर्थशास्त्र। इनमें (१) आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है, परतु सुश्रुत इसे अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं। आयुर्वेद के आठ स्थान माने जाते हैं—सूत्र, शारीर, ऐद्रिय, चिकित्सा, निदान, विमान, विकल्प तथा सिद्धि एव इसके प्रवक्ता आचार्यो में मुख्य हैं—ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विन्, धन्वतरि, भरद्वाज, आत्रेय, अग्निवेश। आत्रेय द्वारा प्रतिपादित तथा उपदिष्ट, अग्निवेश द्वारा निर्मित सहिता को चरक ने प्रतिसस्कृत किया। इसलिये 'चरकसहिता' को दृढबल ने 'अग्निवेशकृत' तथा चरक प्रतिसस्कृत तन्त्र' अगीकार किया है। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट आयुर्वेद के त्रिमुनि हैं। कामशास्त्र का अतर्भाव आयुर्वेद के भीतर माना जाता है।

यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है जिसका सर्वप्राचीन ग्रथ विश्वामित्र की रचना माना जाता है। इसमे चार पाद हैं—दीक्षापाद, सग्रह पाद, सिद्धि पाद तथा प्रयोगपाद ('प्रस्थानभेद' के अनुसार)। इस उपवेद में अस्त्र-शस्त्रो के ग्रहण, शिक्षण, अभ्यास तथा प्रयोग का सागोपाग वर्णन किया गया है। 'कोदडमडन' धनुर्विद्या का बडा ही प्रामाणिक ग्रथ माना जाता है।

सगीतवेद सामवेद का उपवेद है जिसमें नृत्य, गीत तथा वाद्य के सिद्धात एव प्रयोग, ग्रहण तथा प्रदर्शन का रोचक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस वेद के प्रधान आचार्य भरतमुनि हैं जिन्होंने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य के साथ सगीत का भी प्रामाणिक वर्णन किया है। कोहल ने सगीत के ऊपर एक मान्य ग्रथ लिखा था जिसका एक अश 'तालाध्याय' आज उपलब्ध है। मातग के 'बृहद्देशी', नारद के 'सगीतमकरद', शार्ङ्गदेव के 'सगीतरत्नाकर' आदि ग्रथो की रचना के कारण यह उपवेद अत्यत समृद्ध है।

अर्थशास्त्र अथर्ववेद का उपवेद है। राजनीति तथा दडनीति इसी के नामातर हैं। बृहस्पति, उशना, विशालाक्ष, भरद्वाज, पराशर आदि इसके प्रधान आचार्य हैं। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' नितात प्रसिद्ध है। 'शिल्पशास्त्र' की भी गणना इसी उपवेद के अतर्गत है।

स०ग्र०—*मधुसूदन सरस्वती प्रस्थानभेद आनदाश्रम*, पूना, १९०६।
[ब० उ०]

उपसंहार (पुश्तलेख, अंत्यलेख) सामान्यत किसी रचना (विशेष रूप से गद्य अथवा नाटकीय) के अत मे प्रस्तुत किया जानेवाला वह हिस्सा जिसमें सपूर्ण कृति का सार, उसका अभिप्राय और स्पष्टीकरण (कभी कभी निबध के लिये प्रसगेतर लेकिन तत्सबधी आवश्यक, अतिरिक्त सूचनाएँ) समाविष्ट हो। मूलत इसका उपयोग नाटको मे होता था जिनमे प्राय नाटक के अत मे नाटक का सूत्रधार अथवा कोई पात्र नाटक के बारे में श्रोताओ की धारणा को अनुकल बनाने के लिये एक सक्षिप्त वक्तव्य करता था। शेक्सपियर के एकाध नाटको मे इसका उपयोग क्षमायाचना के रूप मे भी हुआ है। बेन जानसन के नाटको मे इस प्रकार के उपसहारो का महत्व-पूर्ण स्थान है। उसके नाटको में इस पद्धति के नियमित व्यवहार का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि वह प्राय श्रोताओ के सामने नाटक के दोषो को छुपाने के लिये ही इनकी योजना करता था। १६६० तक आते आते जब नाटको की परपरा का ह्रास होने लगा तो इनका महत्व बहुत ज्यादा हो गया—यहाँ तक कि प्राय नाटककार अथवा नाट्यनिर्देशक प्रसिद्ध कवियो से यह भाग लिखवाने लगे। इस स्थिति की अच्छी समीक्षा ड्राइडन ने अपने विख्यात निबध 'डिफेंस ऑव एपीलोग' में की है। वर्तमान समय के नाटककारो ने इसे इतना महत्व नही दिया। वर्तमान साहित्य में इसने नाटको की अपेक्षा विचारात्मक और विवेचनात्मक गद्य साहित्य में अपनी उपयोगिता अधिक सिद्ध की है। अध्ययनात्मक और गवेषणात्मक निबधो मे वैज्ञानिको, दार्शनिको और अन्य विचारको ने इसका पर्याप्त उपयोग किया है। कोश साहित्य और वैधानिक अथवा गणनाप्रधान आलेखो में नए तथ्यो को बिना समूची पुस्तक को बदले अतिरिक्त पृष्ठो में सामग्री का आकलन कर सकना सहज हो गया है। सामान्यत उपसहार का उपयोग विवेचनात्मक साहित्य में अधिक होता है और अत्यलेख अथवा पुश्तलेख का उपयोग कोश अथवा अन्य तकनीकी साहित्य में। [मु० रा०]

उपसाला स्वीडेन का एक प्रदेश है तथा उस प्रदेश की राजधानी का भी यही नाम है। उपसाला नगर मालर झील की जल-यातायात योग्य एक शाखा के तट पर, जिसका नाम फैरिस नदी है, स्टॉकहोम नगर से ४१ मील उत्तर की ओर स्थित है। इस नगर का फैरिस नदी तथा मालर झील की जलप्रणाली द्वारा स्टॉकहोम से सीधा सबध है। यहाँ की जनसख्या सन् १९४३ ई० मे ४०,०५३ थी। आधुनिक नगर उस प्राचीन उपसाला से सबद्ध है जो आधुनिक नगर से प्राय दो मील उत्तर की ओर बसा हुआ था। नगर का यह प्राचीन भाग नदी के पश्चिमी किनारे की ढाल पर स्थित है। इस उपसाला नगर का वर्णन नवी शताब्दी के लेखो में मिलता है, उस समय के लोगो के स्वर्णजटित मदिर के लिये यह विख्यात था। यहाँ स्वीडेन के गिरजाघरो के एकमात्र प्रधान धर्माचार्य का निवास स्थान है। सन् १७०२ ई० मे विनाशकारी अग्नि द्वारा नगर के अधिकाश भाग नष्ट हो गए थे।

उपसाला प्रदेश का क्षेत्रफल २,०७६ वर्ग मील है। इसकी जनसख्या सन् १९५० ई० में १,५४,७६१ थी। यह स्वीडेन के मध्य-पूर्व में स्टॉकहोम से दक्षिण मे सटा हुआ है। इसकी तटीय सीमा बाल्टिक सागर तथा बोथीनिया की खाडी द्वारा प्रक्षालित होती रहती है। यह प्रदेश खनिज पदार्थो की दृष्टि से धनी है। यहाँ की अधिकाश जनसख्या कृषि करने, जगल काटने, मत्स्य उद्योग तथा लौह उद्योग में सलग्न है।

[श्या० सु० श०]

उपादान

किसी वस्तु की तृष्णा से उसे ग्रहण करने की जो प्रवृत्ति होती है, उसे उपादान कहते है। प्रतीत्यसमुत्पादन की दूसरी कडी तण्हापच्चया उपादान—इसी का प्रतिपादन करती है। उपादान से ही प्राणी के जीवन की सारी भाग दौड होती है, जिसे भव कहते है।

तृष्णा के न होने से उपादान भी नही होता, और उपादान के निरोध से भव का निरोध हो जाता है। यही निर्वाण के लाभ की दिशा है।

[भि० ज० का०]

उपाधि

न्यायशास्त्र के पारिभाषिक शब्द अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर साथ रहनेवाली वस्तुओ मे एक को हेतु और दूसरे को साध्य माना जाता है। कभी कभी अन्वय-व्यतिरेक मे दोष हो जाने के कारण हम वास्तविक हेतु की जगह दूसरे को हेतु मान लेते है। ऐसा हेतु उपाधि कहलाता है। पारिभाषिक शब्दो मे जो हेतु साध्य का व्यापक हो और साधन का व्यापक न हो उसे उपाधि कहते है। पर्वत मे धुआँ है क्योकि वहाँ आग है, यहाँ आग से धुएँ का अनुमान नही हो सकता क्योकि धुएँ के विना भी आग सभव है। यदि यहाँ आग से गीली लकडी से युक्त आग का तात्पर्य हो तो धुएँ के अनुमान मे आग की जगह वास्तविक हेतु "गीली लकडी से युक्त आग" होगी। गीली लकडी से युक्त होना साध्यभूत धूम का व्यापक है और साधनभूत वह्नि का व्यापक नही है, अत यही उपाधि है। क्योकि उपाधिभूत हेतु के कारण ही आग और धुएँ का सबध हो सकता है, आग के कारण नही, इसलिये सोपाधिक हेतु से साध्य का अनुमान नही किया जा सकता। हेतु का सोपाधिक होना व्याप्यत्वासिद्ध दोष कहलाता है।

वेदातशास्त्र में शुद्ध और अनत चैतन्य को दूषित और सीमित करनेवाले माया, अविद्या, प्रकृति आदि तत्व को उपाधि कहते है। [रा० च० पा०]

उपाध्याय

(सस्कृत—उप+अधि+इण घञ्) इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—"उपेत्य अधीयते अस्मात्" जिसके पास जाकर अध्ययन किया जाय, वह उपाध्याय होता है। उपाध्याय ब्राह्मणो के एक वर्ग की सज्ञा भी है। मनुस्मृति के अनुसार वेद के एक भाग एव वेदाग को वृत्ति लेकर पढानेवाले शिक्षक को उपाध्याय कहते थे। "एक-देश तु वेदस्य वेदागान्यपि वा पुन। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थं उपाध्याय स उच्यते (मनु २।१४१)। यह आचार्य की अधीनता मे शिक्षण कार्य किया करता था। सभवत एक आचार्य के अधीन दस उपाध्याय शिक्षण कार्य करते थे ('उपाध्यायान् दशाचार्य मनु २,१४६)। याज्ञवल्क्य (१,३५), वशिष्ठ (३,२१) और विष्णु (२८,२) के अनुसार भी वृत्ति लेकर अध्यापन करनेवाले शिक्षक की 'उपाध्याय' सज्ञा थी। वृत्ति लेकर पढाना ब्राह्मणो के आदर्श के अनुरूप नही समझा जाता था, इसलिये सभवत उपाध्याय के सबध मे नीतिकार ने कहा है—'उपाध्यायश्च वैद्यश्च ऋतुकाले वरस्त्रिय। सूतिका दूतिका नौका कार्यान्ते ते च गप्पवत्।"

बौद्ध साहित्य मे भी उपाध्याय (उपज्झाय) के सबध मे अनेक निर्देश उपलब्ध है। महावग्ग (१—३१) के अनुसार उपसपन्न भिक्षु को बौद्ध ग्रथो की शिक्षा उपाध्याय द्वारा दी जाती थी। पढने का प्रार्थनापत्र भी उसी की सेवा मे प्रस्तुत किया जाता था (महावग्ग १—२५ ७)। इत्सिग के विवरण से ज्ञात होता है कि जब उपासक प्रव्रज्या लेता था, तब उपाध्याय के समुख ही उसे श्रम की दीक्षा दी जाती थी। दीक्षाग्रहण के पश्चात् ही उसे 'त्रिचीवर' भिक्षापात्र और निशीदान (जलपात्र) प्रदान करता था। उपसपन्न भिक्षु को 'विनय' की शिक्षा उपाध्याय द्वारा ही दी जाती थी। केवल पुरुष ही नही, स्त्रियाँ भी उपाध्याय होती थी। पतजलि ने उपाध्याया की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'उपेत्याधीयते अस्या सा उपाध्याया।'

उपाध्याय सस्था का विकास सभवत इस प्रकार हुआ। धार्मिक सस्कार करने तथा धर्मतत्व का उपदेश देने का कार्य पहले कुल का मुख्य पुरुष वा कुलवृद्ध करता था। यही उपाध्याय होता था। प्राय सब जातियो मे यही पाया जाता है। भारतीय आर्यो मे कुलपति ही उपाध्याय होता था। यहूदियो में 'अब्राहम आइजे' आदि कुलपति उपाध्याय का काम करते थे। अरब लोगो मे शेख यह काम करता था। आज भी वह उस समाज का नेता तथा धार्मिक कृत्यो और मामलो मे प्रमुख होता है। रोमन कैथोलिक और ग्रीक सप्रदाय मे उपाध्याय का अधिकार मानने की प्रथा है।

[अ० कु० वि०]

उपासना

परमात्मा की प्राप्ति का साधनविशेष। 'उपासना' का शब्दार्थ है अपने इष्टदेवता के समीप (उप) स्थिति या बैठना (आसन)। आचार्य शकर की व्याख्या के अनुसार 'उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँचकर तैलधारा के समान समानवृत्तियो के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमे स्थिर रहने को उपासना कहते है' (गीता १२।३ पर शाकर भाष्य)। उपासना के लिये व्यक्त तथा अव्यक्त दोनो आधार मान्य है, परतु अव्यक्त की उपासना मे अधिकतर क्लेश होता है और इसीलिये गीता (१२।५) व्यक्तोपासना को सुलभ, सद्य फलदायक तथा सुबोध मानती है। जीव वस्तुत शिव ही है, परतु अज्ञान के कारण वह इस प्रपच के पचडे मे पडकर भटकता फिरता है। अत ज्ञान के द्वारा अज्ञान की ग्रथि का उन्मीलन कर स्वशक्ति की अभिव्यक्ति करना ही उपासना का लक्ष्य है जिससे जीव की दु ख प्रपच से सद्य मुक्ति सपन्न होती है (अज्ञान ग्रथिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्ष—परमार्थसार, कारिका ६०)। उपासना के साधारणतया दो मार्ग उपदिष्ट है—ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश कर जब परमतत्व का साक्षात्कार सपन्न होता है, तब उस उपासना को ज्ञानमार्गीय सज्ञा दी जाती है। भक्ति-मार्ग मे भक्ति ही भगवान् के साक्षात्कार का मुख्य साधन स्वीकृत की जाती है। भक्ति ईश्वर मे सर्वश्रेष्ठ अनुरक्ति (सा परानुरक्तिरीश्वरे—शाडिल्य-सूत्र) है। सर्वसाधारण के लिये ज्ञान मार्ग कठिन, दुर्गम तथा दुर्बोध होता है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयो वदन्ति—कठ० १।३।१४)। भागवत (१०।१४।४) ने ज्ञानमार्गीय उपासना को भूसा कूटने के समान विशेष क्लेशदायक बतलाया है। अधिकारी भेद से दोनो ही मार्ग उपादेय तथा स्वतत्र रूप से फल देनेवाले है।

उपासना में गुरु की बडी आवश्यकता है। गुरु के उपदेश के अभाव मे साधक अकर्णधार नौका के समान अपने गतव्य स्थान पर पहुँचने मे कथमपि समर्थ नही होता। गुरु 'दीक्षा' के द्वारा शिष्य में अपनी शक्ति का सचार करता है। दीक्षा का वास्तविक अर्थ है उस ज्ञान का दान जिससे जीव का पशुत्वबधन कट जाता है और वह पाशो से मुक्त होकर शिवत्व प्राप्त कर कर लेता है। अभिनवगुप्त के अनुसार दीक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है

दीयते ज्ञानसद्भाव क्षीयते पशुबधना।
दान-क्षपणसयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।
(तत्रालोक, प्रथम खड, पृ० ८३)।

श्रीवैष्णवो की उपासना पाँच प्रकार की मानी गई है—अभिगमन (भगवान् के प्रति अभिमुख होना), उपादान (पूजार्थ सामग्री), इज्या (पूजा), स्वाध्याय (आगम ग्रथो का मनन) तथा योग (अष्टाग योग का अनुष्ठान)। [ब० उ०]

उपेंद्र भंज

उडिया साहित्य के ये महान् कवि सन् १६८५ ई० से १७२५ ई० तक जीवित रहे। उनके पिता का नाम नीलकठ एव दादा का नाम धनजय भज था। दो साल राज्य करने के बाद नीलकठ अपने भाई घनभज के द्वारा राज्य से निकाल दिए गए। नीलकठ के जीवन का अतिम भाग नयागढ मे व्यतीत हुआ था। उपेंद्र भज के बारे मे यह कहा जाता है कि इसने नयागढ के निवासकाल मे 'ओडगाँव' के मदिर मे विराजित देवता श्रीरघुनाथ जी को 'रामतारक' मत्रो से प्रसन्न किया था और उनके ही प्रसाद से उन्होने कवित्वशक्ति प्राप्त की थी। सस्कृत भाषा मे न्याय, वेदात, दर्शन, साहित्य तथा राजनीति आदि सीखने के साथ ही उन्होने व्याकरण और अलकार शास्त्र का गभीर अध्ययन किया था। नयागढ के राजा लड्डुकेश्वर माधाता ने उन्हें 'वीरवर' उपाधि से भूषित किया था। पहले उन्होने बाणपुर के राजा की कन्या के साथ विवाह किया था, किंतु थोडे ही दिनो बाद उनके मर जाने के कारण नयागढ के राजा की बहन को उन्होने पत्नी रूप में ग्रहण किया। उनका दापत्य जीवन पूर्ण रूप से अशात रहा। उनके जीवन काल मे ही द्वितीय पत्नी की भी मृत्यु हो गई। कवि स्वय चालीस वर्ष की आयु मे नि सतान अवस्था मे मरे।

उपेंद्र भज रीति युग के कवि है। वह लगभग पचास काव्यग्रथो के निर्माता है। इनमे से बीस ग्रथ प्रकाशित हुए है। उनके लिखित काव्यो मे लावण्यवती, कोटिब्रह्माडसुदरी, और वैदेहीशविलास सुप्रसिद्ध है। उडिया साहित्य मे रामचद्र छोटराय से लेकर यदुमणि तक २०० वर्ष पर्यत

जिन रीतियुग का प्राधान्य रहा उपेंद्र भज उसी के सर्वाग्रगण्य कवि माने जाते हैं। उनकी रचनाओं में महाकाव्य, पौराणिक तथा काल्पनिक काव्य, सगीत, अलकार और चित्रकाव्य अतर्भुक्त हैं। उनके काव्यो में वर्णित विवाहोत्सव, रणसज्जा, मत्रणा तथा विभिन्न त्योहारो की विधियाँ आदि उत्कल की बहुत सी विशेषताएँ मालूम पडती हैं। उनकी रचनाशैली नैषध की सी है जिसमें उपमा, रूपकादि अलकारो का प्राधान्य है। अक्षर-नियम और शब्दपाडित्य से उनकी रचना दुर्बोध लगती है। उनके काव्यो में नारी-रूप-वर्णन में बहुत सी जगहों पर अश्लीलता दिखाई पडती है। परतु वह उस समय प्रचलित विधि के अनुसार है। उस समय के काव्यो में शृ गार का ही प्राचुर्य रहता था।

दीनकृष्ण, भूपति पडित और लोकनाथ विद्याधर आदि विशिष्ट कविगण उपेद्र के समकालीन थे। उन सब कवियो ने राजा दिव्यसिंह के काल में ख्याति प्राप्त की थी। उपेद्र के परवर्ती जिन कवियो ने उनकी रचनाशैली का अनुसरण किया उनमे अभिमन्यु, कविसूर्य बलदेव और यदुमणि प्रभृति माने जाते हैं। आधुनिक कवि राधानाथ और गगाधर ने भी बहुत हद तक उनकी वर्णनशैली अपनाई।

उडिया साहित्य मे उपेंद्र एक प्रमुख सस्कारक थे। सस्कृतज्ञ पडितो के साथ प्रतियोगिता मे उतरकर उन्होंने बहुत से आलकारिक काव्यो की भी रचना की। धर्म और साहित्य के बीच एक सीमा निर्धारित करके उन्होंने धर्म से सदैव साहित्य को अलग रखा। उनकी रचनाओ मे ऐसे बहुत से देवताओ का वर्णन मिलता है पर प्रभु जगन्नाथ का सबसे विशेष स्थान है। वैदेहीश विलास उनका सबसे बडा काव्य है जिसमें प्रत्येक पक्ति का प्रथम अक्षर 'ब' ही है। इसी प्रकार 'सुभद्रा परिणय' और 'कला कउतुक' काव्यो की प्रत्येक पक्ति यथाक्रम 'स' और 'क' से प्रारभ हुई है। उनके रस-पचक काव्य मे साहित्यिक रस, दोष और गुणो का विवेचन किया गया है। अवनारसतरग एक ऐसा काव्य है जिसमे किसी भी स्थान पर मात्रा का प्रयोग नहीं हुआ है। शब्दप्रयोग के इस चमत्कार के अतिरिक्त उनकी इस रचना मे और कोई मौलिकता नहीं है। उनके काव्यो मे वर्णन की एकरूपता का प्राधान्य है। पात्रपात्रियो का जन्म, शास्त्राध्ययन, यौवनागम, प्रेम, मिलन और विरह सभी काव्यों में प्राय एक से हैं। उनके काल्पनिक काव्यो मे वैदेहीश विलास सर्वश्रेष्ठ है।

उन्होंने 'चौपदीभूषण', 'चौपदीचद्र' प्रभृति कई सगीतग्रथ भी लिखे हैं जो उडीसा प्रात मे बडे जनप्रिय हैं। उनकी सगीत पुस्तको मे आदिरस और अलकारो का प्राचुर्य है। कवि की कई पुस्तकें मद्रास, आध्र, उत्कल और कलकत्ता विश्वविद्यालयो मे पाठ्य रूप में गृहीत हैं। वैदेहीश विलास, 'कोटिब्रह्माडसुदरी', लावण्यवती, प्रेमसुधानिधि, अवनारसतरग, कलाक-उतुक, गीताभिधान, छदमजरी, बजारबोली, चउपदी हारावली, छाद भूषण, रसपचक, रामलीलामृत, चौपदीचद्र, सुभद्रापरिणय, चित्रकाव्य-बधोदय, दशपोड, यमकराज चउतिशा और पचशायक प्रभृति उनकी कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। [गो० वि० ध०]

उपोसथ

वौद्ध भिक्षुओ तथा भिक्षुणियो की पाक्षिक दोष-स्वीकार-सभा को 'उपोसथ' कहते हैं (सस्कृत उपवसथ=सोमयाग का दिन)। प्रारभ मे बौद्ध सघ मे उपोसथ के चार दिन हुआ करते थे—प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा और अमावास्या। पीछे चार से घटाकर दो दिन नियत कर दिए गए—पूर्णिमा और अमा-वास्या। उस दिन विहार की सीमा के भीतर रहनेवाले भिक्षुओ को उपोसथ सभा मे उपस्थित होना पडता था। सभा का सभापति 'पातिमोक्ख-सुत्त' का पाठ करता था और प्रत्येक भिक्षु को अपने विहित दोषो को प्रस्था-पित करने की आज्ञा देता था। यदि प्रस्थापनो के द्वारा दोष साधारण कोटि के सिद्ध होते, तो दोष के स्वीकार मात्र से वह भिक्षु दोषमुक्त माना जाता था। अन्यथा उसे सभा छोडना तथा भिक्षुसमिति के द्वारा विहित दड भोगना पडता था। उपासको (बौद्ध गृहस्थो) को इन दिनो अष्टशीलो का पालन करने की प्रतिज्ञा करनी पडती और भिक्षुओ को भोजन कराना पडता था। पातिमोक्खसुत्त विनयपिटक के अतर्गत है और इसमें भिक्षुओ के पालन के निमित्त २२७ नियमो का वर्णन है। 'भिक्षुणी-पातिमोक्ख' में भिक्षुणियो के पालनार्थ ऐसे ही नियमो का निर्देश है तथा कतिपय नियम और भी जोडे गए हैं। [व० उ०]

उवांगी

अथवा मोबागी विषुवत रेखीय अफ्रीका मे बहनेवाली कागो की सहायक नदी है। इसकी अधिकतम लबाई १,४०० मील है। यह कई धाराओ में ०°२२' एव ०°३०' दक्षिण अक्षाशो और १७° ४०' एव १७° ५०' पूर्व देशातरो के भीतर कागो मे मिलती है। बोमू तथा यूले नामक नदियो के मिलने से उवागी बनती है। आगे चलकर कूमा नदी उवागी में आकर मिलती है। सगम से नीचे दक्षिण की ओर उवागी मे एक बडा घुमावदार मोड है, उसके बाद जहाँ नदी पर्वतो के मध्य से होकर निकलती है वहाँ जोगो या ग्रेनफेल नामक लघु जलप्रपात (रैपिड्स) हैं। इस कारण यातायात के लिये उवागी अयोग्य है, केवल बाढ के दिनो मे छोटी छोटी नौकाएँ चल सकती हैं। जोगो से ऊपर की ओर यूले, बोमू सगम तक नदी यातायात के योग्य है। [श्या० सु० श०]

उभयचर

(ऐंफिबिया) यह पृष्ठवशीय प्राणियो का एक बहुत महत्वपूर्ण वर्ग है जो वर्गीकरण के अनुसार मत्स्य और सरीसृप वर्गो के बीच की श्रेणी मे आता है। इस वर्ग के कुछ जतु सदा जल पर, कुछ थल पर तथा कुछ जल और थल दोनो पर रहते हैं। यह पृष्ठवशियो का प्रथम वर्ग है, जिसने जल के बाहर रहने का प्रयास किया था। फलस्वरूप नई परिस्थितियो के अनुकूल इनकी रचना में प्रधानतया तीन प्रकार के अतर हुए—(१) इनका शारीरिक ढाँचा जल मे तैरने के अतिरिक्त थल पर भी रहने के योग्य हुआ। (२) क्लोम दरारो के स्थान पर फेफडो का उत्पादन हुआ तथा रक्तपरिवहन में भी सबधित परिवर्तन हुए। (३) ज्ञानेद्रियो मे यथायोग्य परिवर्तन हुए, जिससे ये प्राणी जल तथा थल दोनो परिस्थितियो का ज्ञान कर सके। उभयचर के कुछ विशेष लक्षण निम्न-लिखित हैं इनकी त्वचा पर किसी प्रकार का बाह्य ककाल, जैसे शल्क, बाल इत्यादि नही होते और त्वचा आर्द्र होती है। मीनपक्षो के स्थान पर दो जोडी पाद होते हैं। इनमे दो नासाद्वार होते हैं, जो मुखगुहा द्वारा फेफडो से सबद्ध रहते हैं। हृदय मे तीन वेश्म होते हैं। ये असमतापी जीव होते है। इनमे एक विशेष प्रकार का मध्यकर्ण पाया जाता है जिससे इन्हे वायुध्वनियो का ज्ञान होता है।

उभयचर वर्ग मे लगभग २,५०० प्रकार के विभिन्न प्राणी समिलित हैं, जिनको चार गणो में विभाजित किया जाता है सपुच्छा (कॉडेटा), विपुच्छा (सेलियशिया), अपादा (ऐपोडा) और आवृतशीर्ष (स्टी-गोसिफेलिया)।

सपुच्छा—इसके अतर्गत न्यूट तथा सैलामेडर आते हैं। इनका शरीर लबा और सिर तथा धड के अतिरिक्त पूँछ भी होती है। बहुधा अग्र तथा पश्चपाद लगभग बराबर होते हैं। अधिकतर जलक्लोम तथा क्लोम दरारें आजीवन रहती हैं, परतु कुछ मे ये वयस्क अवस्था में लुप्त हो जाती हैं और श्वसन केवल फेफडो द्वारा ही होता है। ये प्राचीन काल मे खटी युग (क्रिटेशस) तक पाए गए हैं। यद्यपि इनका साधारण आकार इनके पूर्वजो से मिलता जुलता है, फिर भी इनकी उत्पत्ति पर अधिक प्रकाश अभी तक सभव नही हो सका है।

नेकट्यूरस—यह एक प्रकार का सपुच्छा है जिसको पानी का कुत्ता भी कहते हैं। यह लगभग १२ इच तक लबा होता है और अमरीका की नदियो में पाया जाता है। इसमें फेफडे तथा तीन चौडी जलश्वसनिकाएँ
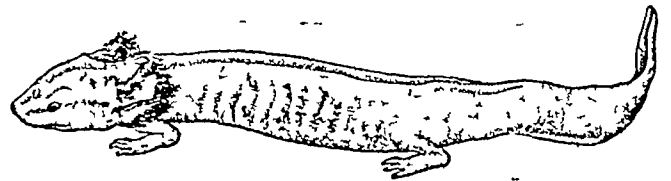
प्लव पुच्छ (नेकट्यूरस)

पाई जाती हैं तथा दोनो ही स्थायी रूप से आजीवन रहती है। छोटी छोटी मछलियाँ, शख तथा पानी के अन्य कीडे मकोडे इसका मुख्य आहार हैं। इसकी एक विशेषता यह भी है कि मादा पत्थरो के नीचे अडे देती है और उनकी देखभाल स्वय करती है। **प्रोटियस** भी नेकट्यूरस से मिलता जुलता

जीव है जो यूरोप में पानी की गहरी खाइयो इत्यादि मे रहता है। इसी कारण इसकी त्वचा में रंगो का अभाव रहता है। इसकी आँखें त्वचा से ढकी रहती हैं।
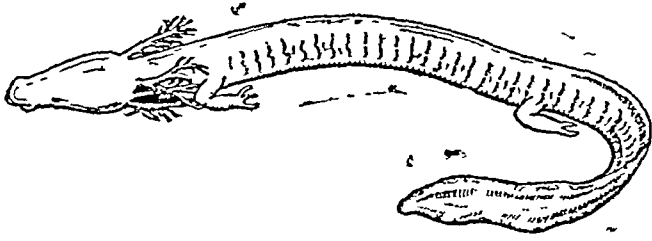
गुहासर्पिका (प्रोटियस)

सैलामैंडरो में ऐंफियूमा को छोडकर क्रिप्टोब्रेंकस, एवीस्टोमा, ट्राइटन और प्लीथोडोल इत्यादि में प्रौढ अवस्था में किसी में जलश्वसनिकाएँ नही होती हैं। क्रिप्टोब्रेंकस लगभग २ फुट लंबा साँडे के आकार का उत्तरी अमरीका की नदियो में पाया जानेवाला जीव है। अन्य सैला-

उभयत.श्वासी (ऐंफियूमा)
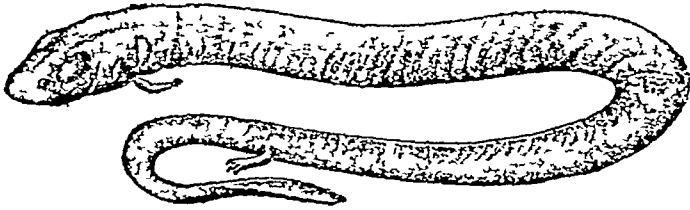
मैंडरो की अपेक्षा इसके शरीर की त्वचा मे अनेक झुर्रियाँ सी होती हैं। पूर्वी चीन तथा जापान में पाई जानेवाली इसकी जाति, मेगालोबैट्रेकस ५¾ फुट से भी अधिक लंबी होती है। एवीस्टोमा उत्तरी अमरीका का एक सैलामेंडर है जो प्रौढ अवस्था मे थल पर ही रहता है। इसमे यह विशेषता है कि इसके डिंभ, जिनको ऐक्स्लॉट्ल कहते हैं और जिनमें वाह्य जल-

नर सरटिका (ट्राइट्यूरस)
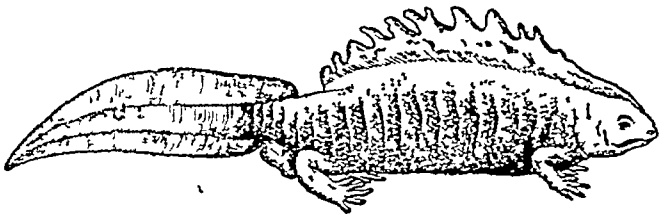
श्वसनिकाएँ रहती है, वयस्क अवस्था के पहुँचने के पहले ही लैंगिक रूप से पूर्णतया परिपक्व हो जाते हैं। प्राणियो के इस प्रकार वयस्क अवस्था में लैंगिक रूप से परिपक्व होने की क्रिया को नियोटनी कहते हैं। ट्राइट्यूरस, जिसको साधारणतया न्यूट भी कहते हैं, उत्तरी अमरीका, यूरोप और

मत्स्यसर्पिका (साइरिन)

पूर्वी एशिया में मिलता है। यह अधिकतर सदा स्थल पर ही रहता है और थलीय जीवन का इतना आदी हो जाता है कि किसी समय भी जल में नही जाता। इसी कारण इसमें जलश्वसनिकाएँ तथा श्लोम दरारें नही होती और इसका श्वसन केवल फेफडो द्वारा ही होता है। कुछ मादा न्यूट्स का रंग जननकाल में वहुत चटकीला हो जाता है और पीठ पर एक लंबी शिखररूपी त्वचा की पट्टी वढ जाती है। ऐंफियूमा कागो के दलदलो तथा धान के खेतो मे पाया जाता है। यह लगभग ३ फुट तक लंबा, ईल मछली से मिलता जुलता प्रतीत होता है। इसी कारण वहाँ के निवासी इसको कांगो की ईल भी कहते हैं। परंतु इनमें गलफडो के अतिरिक्त फेफडे, जलश्वसनिका तथा पाद वर्तमान रहते हैं। केवल प्लीथोडोन, जो आकार में छिपकली के समान ६ इंच लंबा होता है, स्थलीय होने पर भी फेफडा रहित होता है। प्लीथोडोन मे बहुधा मादा अपने अंडो की रक्षा करती है। सपुच्छा समूह के कुछ जीव पतले, लंबे तथा पश्चपाद अथवा पलकरहित होते हैं। इनको साइरेन कहते हैं। ये मध्य अमरीका के गंदे तालाबों तथा गड्ढो मे पाए जाते हैं और तीन जोडी जलश्वसनिकाओ द्वारा साँस लेते हैं।
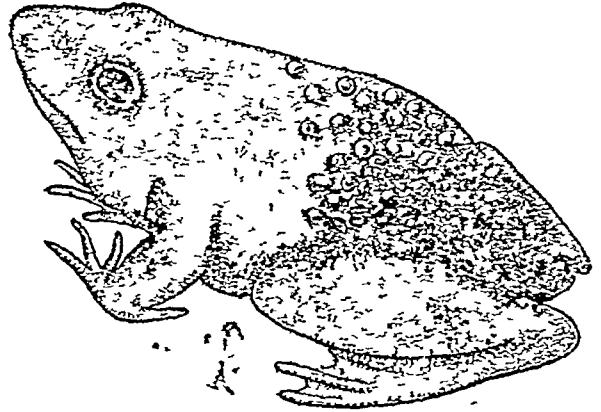
पाइपा मेढक की मादा

विपुच्छा पुच्छरहित उभयचर हैं। इनके अंतर्गत मेढको तथा भेको (बडे मेढको) की १,७०० से भी अधिक जातियाँ संमिलित हैं। इनमे ग्रीवा नही होती। अग्रपाद छोटे तथा पश्चपाद लंबे होते हैं, जो इनके तैरने तथा छलाँग मारने मे सहायक होते हैं। इस समूह के कुछ प्राणी केवल जल या थल और कुछ दोनो मे रहते हैं, कुछ, जैसे हाइला, पेडो पर भी पाए जाते हैं। वे जो सदा थल पर रहते हैं, अंडे देने के समय पानी में अवश्य चले जाते हैं। डिंभ अवस्था मे पूँछ होती है जो वयस्क होने पर लुप्त हो जाती है। पुच्छ-कशेरुको के जुडने से एक पुच्छदंड बनता है, जो धड के पीछे के भाग में स्थापित रहता है। विपुच्छो मे ससेचन क्रिया केवल न्यूज़ीलैंड के साँड भेक (बुल-फ्रॉग) को छोडकर शरीर के वाहर ही होती है और इनके भ्रूणविकास मे एक महत्वपूर्ण रूपातर होता है।
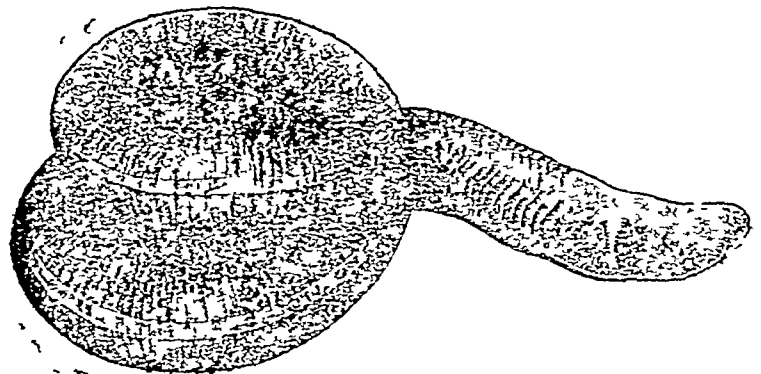
इकथियोपिस

पुच्छरहित उभयचर दुनिया के लगभग प्रत्येक भाग मे पाए जाते हैं, परंतु वहुत अधिक गर्मी तथा सर्दी होने पर मिट्टी के भीतर घुस जाते हैं और तव इन के शरीर की सारी क्रियाएँ शिथिल हो जाती हैं। जीवन के इस विभेदन को ग्रीष्म या शीतनिष्क्रियता कहते हैं। ये जीव वहुधा २ से लेकर ५ इंच तक लंबे होते हैं, परंतु पश्चिमी अफ्रीका का राना गोलिअथ नामक भेक लगभग १२ इंच तथा दक्षिणी अमरीका का साँड भेक ८ इंच लंबा होता

है। इसके विपरीत क्यूबा देश का पेड पर रहनेवाला भेक (फाइलोबेटिस) केवल ½ इच का ही होता है। कुछ विपुच्छो मे अडो की रक्षा करने के अनेक साधन पाए जाते हैं। यूरोप का नर **ऐलिटीज मेढक** अडो को अपने पश्चपाद में चिपकाकर इधर उधर लिए फिरता है तथा अफ्रीका के **पाइपा** की मादा अडो को अपनी पीठ की त्वचा पर छोटे छोटे गड्ढो में रखकर उनकी रक्षा करती है।

अपादा—इनको सिसिलिअस अथवा जिमनोफाइओना भी कहते हैं। ये अधिकतर उष्ण कटिबध में पाए जाते हैं। ये पादरहित, लगभग एक फुट लबे, कृमि रूपी उभयचर हैं, जो भूमि के अदर बिलो मे रहते हैं। कदाचित् इन परिस्थितियो के कारण इनमें पादो के साथ पादमेखला का भी लोप हो जाता है और नेत्र अत्यत छोटे तथा कार्यहीन हो जाते हैं। अन्य उभयचरो से ये इस बात मे भिन्न होते हैं कि इनमें त्वचा के नीचे छोटे छोटे शल्क होते हैं। पूंछ बहुत छोटी तथा श्वसन केवल फेफडो द्वारा और ससेचन आतरिक होता है। इकथियोफिस भारतवर्ष मे तथा साइफोनॉप्स अमरीका मे पाए जाते हैं और अडे देने के उपरात उनके चारो ओर लिपटकर उनकी रक्षा करते हैं।

स्टीगोसिफेलिया—उभयचरो की कुछ जातियाँ, जो आज से लाखो वर्ष पूर्व पाई जाती थी परतु अब नही मिलती, इस समुदाय मे समिलित हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनके कपाल और हनु भी अस्थियो से ढके रहते थे। कुछ प्राणी, जैसे डिपलोकॉलस, छोटे सैलामैंडरो के समान तथा इओग्राइनस १५ फुट तक लबे होते थे। ये सदा जल में ही रहा करते थे। स्टीगोसिफेलिया के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उभयचर वर्ग की उत्पत्ति सभवत किसी प्राचीन मत्स्यरूपी प्राणी से हुई होगी, जो पहले जल मे रहते रहे होगे। परतु खटी युग मे जल के जगह जगह पर सूख जाने के कारण इन प्राणियो को थल पर चलने तथा वायु मे श्वास लेने का प्रयास करना पडा। फलस्वरूप इनमें अनेकानेक शारीरिक परिवर्तन हुए और एक नए वर्ग का प्रारभ हुआ। [ह० श० चौ०]

उभयलिंगी

जीव या पादप उसे कहते हैं जो एक ही समय अथवा विभिन्न समयो पर स्त्री तथा पुरुष दोनो प्रकार की प्रजनन-कोशिकाएँ उत्पन्न करता है। इसके स्पष्ट उदाहरण जतुओ तथा पादपो, दोनो मे मिलते हैं, जैसे केचुओ मे तथा कई प्रकार की काइयो मे। यहाँ नर और मादा प्रजनन अग एक ही व्यक्ति में काम करते हैं। यद्यपि जतुओ और पौधो के जीवनचक्रो मे महान् अतर है तब भी उन पौधो को उभयलिंगी कहते हैं, जिनमे नर और मादा दोनो प्रकार के फूल लगते हैं, जैसे कुम्हडा, खीरा इत्यादि में। जतु ससार में नर और मादा अग अधिकतर विभिन्न व्यक्तियो मे रहते हैं।

जतुओ मे उभयलिंगी दो प्रकार के होते है—(१) कार्यकारी तथा (२) अकार्यकारी। अकार्यकारी उभयलिंगत्व कई रूपो का होता है। नर भेक (टोड) मे अडकोष के अतिरिक्त एक अविकसित अडाशय भी होता है। कुछ कठिनियो (क्रस्टेशिया) या तिलचट्टो के अडकोषो मे अकार्यकारी अडे भी रहते हैं। मीनवेधियो (हैगफिश) मे ऐसे व्यक्तियो से लेकर जिनके कपूरा में एक अड होता है, ऐसे व्यक्ति तक होते हैं जिनके अडाशय के भीतर कपूरा का एक भाग होता है।

कार्यकारी उभयलिंगत्व के उदाहरण ऐसे व्यक्ति हैं जो प्रजनन के विचार से (जेनेटिकली) एक लिंग (सेक्स) के हैं, परतु उनके जननपिंड (गोनैड्स) से निकली हुई उपज बदलती रहती है, उदाहरणत कुछ घोघो (स्नेल्स) और शुक्तियो (आयस्टर्स) मे ऐसे मादा जीव होते हैं जो पहले शुक्राणु उत्पन्न करते हैं और पीछे अडे।

लाइमैक्स मैक्सिमस नामक मृदु मथर प्रथम मादा, फिर क्रमानुसार उभयलिंगी, नर उभयलिंगी और फिर मादा का कार्य करता है। अभी तक पता नही चल सका है कि किस कारण इस प्रकार लिंगपरिवर्तन होता है। कुछ समूहो मे पूरा जीव ही बदल जाता है, उदाहरणत कुछ समपाद (आइसोपाड) क्रस्टेशिया के डिभ (लार्वा), जब तक वे स्वतत्र जीवन व्यतीत करते हैं, नर रहते हैं, परतु अन्य क्रस्टेशिया पर परोपजीवी होने के पश्चात् वे मादा हो जाते हैं। दूसरी ओर, परिस्थिति मे बिना कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दिखाई पडे ही, ट्राइसोफिस ऑरेटस नामक सामुद्रिक मछली पारी पारी से शुक्राणु और डिंबाणु उत्पन्न करती है।

उभयलिंगियो मे स्वयसेचन अत्यत असाधारण है, जिसका कारण यह होता है कि नर तथा मादा युग्मक (गैमीट) विभिन्न समयो पर परिपक्व होते हैं, या उनके शरीर की आतरिक सरचना ऐसी होती है कि स्वयसेचन असभव होता है।

कार्यकारी उभयलिंगत्व प्रजीवो (प्रोटोज़ोआ) से लेकर आद्य रज्जुमतो (कारडेट्स) तक, अर्थात् केवल निम्न कोटि के जतुओ में, होता है, परतु उच्च कोटि के कशेरुक-दडियो में यह गुणधर्म प्राय अज्ञात है। ऐसा सभव जान पडता है कि विशेष परिस्थितियो से उभयलिंगत्व उत्पन्न होता है। यह भी अनुमान किया जाता है कि उभयलिंगत्व वशनाश से सुरक्षा करता है।

मनुष्यो में वास्तविक उभयलिंगी नही देखे गए हैं, यद्यपि अगो का कुविकास यदाकदा दोनो लिंगो की विद्यमानता का आभास उत्पन्न करता है। कभी कभी तो परिस्थिति ऐसी रहती है कि नवजात शिशु के लिंग (सेक्स) का पता ही नही चलता।

स०ग्र०—आर० गोल्डश्मिट मिकैनिज्म ऐंड फिजिऑलोजी ऑव सेक्स डिटर्मिनेशन (१९२३), एम० जे० डी० ह्वाइट ऐनिमल साइटॉलोजी ऐंड एवोल्यूशन (१९४५)।

उभाड़दार छपाई

ऐसी छपाई जिसमें अक्षर उभडे हुए रहते हैं उभाडदार छपाई या समुद्भरण (एमबॉसिंग) कहलाती है। यह छपाई पीतल के ठप्पे से होती है जिसमें अक्षर धँसे रहते हैं। छपाई साधारणत हाथ से चालित, पेच के प्रयोग से दाब उत्पन्न करनेवाले, छोटे प्रेसो से की जाती है। ठप्पे को अपने नियत स्थान पर नीचे कस दिया जाता है। ठप्पे पर आकर पडनेवाली पीठिका पर गत्ता चिपका दिया जाता है। फिर प्रेस के हैंडल को जोर से चलाया जाता है। इससे ठप्पे और पीठिका के बीच गत्ता इतने बल से दबता है कि उसका कुछ भाग ठप्पे के गड्ढो मे घुस जाता है और गत्ता ठप्पे के अनुसार रूप ले लेता है। अतर इतना ही होता है कि जहाँ ठप्पे मे गड्ढा रहता है वहाँ गत्ता उभडा रहता है। अब छपाई हो सकती है। इसके लिये ठप्पे पर विशेष (बहुत गाढी) स्याही लगा दी जाती है और फिर उसे कागज से रगडकर पोछ दिया जाता हे। इस प्रकार ठप्पे का सपाट भाग पूर्णतया स्वच्छ हो जाता है, केवल गड्ढे मे स्याही लगी रह जाती है। फिर उस कागज को जिसपर छपाई करनी रहती है ठप्पे पर उचित स्थान पर रखकर प्रेस के हैंडल को जोर से चलाया जाता है। जब गत्ता ऊपर से कागज को दबाता है तो गत्ते के उभडे भाग कागज को ठप्पे के गड्ढो मे धँसा देते हैं। हैंडल को उलटा घुमाकर कागज को सँभालकर उठा लेने पर उसपर उभाडदार छपाई दिखाई देती है। इसी प्रकार एक एक करके सब कागज छाप लिए जाते हैं। जहाँ इस प्रकार की छपाई बहुत करनी होती है वहाँ ऐसी मशीन का उपयोग किया जाता है जिसमे स्याही लगाने, पोछने और गत्तेवाली पीठिका को चलाने का काम अपने आप होता रहता है।

जलचालित शक्तिशाली प्रेसो मे पुस्तक के मोटे आवरणो पर इसी सिद्धात पर उभडी या धँसी और स्याहीदार या बिना स्याही की छपाई की जाती है। समुद्भरण के अतर्गत केवल छपाई ही नही है, धातु की चादर, प्लैस्टिक, कपडे आदि पर भी उभडी हुई आकृतियाँ इसी सिद्धात पर बनी विशेष मशीनो द्वारा छापी जाती हैं। एक बेलन पर छिछला उत्कीर्णन खुदा रहता है। दूसरे बेलन पर गत्ता या नमदा रहता है, या उसपर पहले के अनुरूप ही उभडा उत्कीर्णन रहता हे। मशीनो मे ये दोनो बेलन एक दूसरे को छूते हुए घूमते रहते हैं। इन दोनो के बीच डाली गई चादर आदि पर उभाडदार आकृतियाँ बन जाती हैं।

सोने के आभूषणो पर उभाडदार उत्कीर्णन करने के लिये सोने के पत्र को लाख (चपडा) और तारपीन आदि के रूपद (अर्ध-लचीले) मिश्रण पर रखकर पीठ की ओर से विविध यत्रो द्वारा ठोकते हैं। फिर पत्र को उलटकर आवश्यक स्थानो पर सामने से उत्कीर्णन करते हैं।

[स० ला० गु०]

उमर खय्याम

सगीतमय फारसी रुबाइयो के प्रसिद्ध रचयिता अबुल फतह उमर बिन इब्राहीम अल खय्यामी अथवा खय्याम (खेमा सीनेवाले) के विषय में यद्यपि यूरोप एव एशिया के अनेक उच्च कोटि के विद्वान् लगभग १०० वर्ष से शोधकार्य में सलग्न हैं किंतु अभी

तक निश्चित रूप से उसकी जन्म एव मृत्युतिथि भी निर्धारित नही हो सकी हैं। समकालीन ग्रथो से केवल यह पता चल सका है कि ४६७ हि० (१०७४-७५ ई०) में वह सल्जूक सुल्तान जलालुद्दीन मलिकशाह की वेधशाला का उच्च अधिकारी नियुक्त हो गया था। ५०६ हि० (१११२–१३ ई०) में उसके शिष्य तथा फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् निज़ामी उरुज़ी समरकदी ने उससे वल्ख में भेट की। ५०५ हि० (११११–१२ ई०) अथवा ५०७ हि० (१११३–१४ ई०) मे "तारीखुल हुकमा" का लेखक अवुल हसन वेहकी, वाल्यावस्था में उससे मिला। ५०८ हि० (१११४–१५ ई०) में उसने सुल्तान मुहम्मद विन मलिकशाह के शिकार के लिये लग्नकुडली तैयार की। ५३० हि० (११३५–३६ ई०) के पूर्व उसका शिष्य निज़ामी कानन के पुष्पो से ढकी हुई उसकी कब्र के दर्शनार्थ पहुँचा था। उसके प्राय चार वर्ष पहले उसकी मृत्यु हो चुकी थी। इन मुख्य तिथियो के प्रसग में उल्लिखित विभिन्न घटनाओ के आधार पर इस वात का अनुमान लगाया गया है कि उसका जन्म ४४० हि० (१०४८–४९ ई०) एव मृत्यु ५२६ हि० (११३१–३२ ई०) में हुई। उत्तर-पूर्व फारस के खुरासान प्रात का नीशापुर नगर, जो मध्ययुग में रमणीयता एव समृद्धि के साथ साथ विद्वानो एव उच्च कोटि के विद्यालयो के लिये विख्यात था, उसकी जन्मभूमि था।

उमर खय्याम अपने जीवनकाल मे ही ज्योतिषी, वैज्ञानिक एव दार्शनिक के रूप मे प्रसिद्ध हो गया था। १०७४–७५ ई० मे सुल्तान जलालुद्दीन मलिकशाह की वेधशाला मे उसने 'अल तारीख अल जलाली' अथवा जलाली पचाग तैयार कराया। उसकी वैज्ञानिक रचनाओ में उसके बीजगणित 'रिसालह फी वराहीन अल जब्र वल मुकावला' का अनुवाद फिट्ज़ेराल्ड के रुवाइयो के अग्रेज़ी भाषातर के आठ वर्ष पूर्व १८५१ ई० मे फ्रासीसी अनुवाद सहित पेरिस से प्रकाशित हो चुका था, यद्यपि यूरोप के विद्वानो में इस ग्रथ की चर्चा १७४२ ई० से ही प्रारभ हो गई थी। उसकी अन्य वैज्ञानिक रचनाओ मे युक्लिड के 'मुसादरात' सिद्धातो से सवधित उसकी शोधपूर्ण प्रस्तावना, गणित सवधी ग्रथ 'मुश्किलात-अल-हिसाव' एव चाँदी सोने के आपेक्षिक भार सवधी ग्रथ 'मीजानुल हिकम व रिसालह मारेफ मेकदारिज्ह्व' अधिक प्रसिद्ध हैं। वहुत से विद्वानो का मत है कि वू अली सीना के ग्रथो के समान उसकी दर्शनशास्त्र सवधी रचनाएँ भी कम महत्व की नही हैं। उसने 'रिसालए कौन व तकलीफ', 'रिसालए फी कुल्लियातिल वुजूद', 'रिसालए मौजू इल्मे कुल्ली व वुजूद' एव 'रिसालए औसाफ' या 'रिसालतुल वुजूद' नामक अपनी रचनाओ मे अद्वैतवाद तथा 'एक एव अनेक' के सिद्धातो की वडे विद्वत्तापूर्ण ढग से मीमासा की है। राजदरवारो मे वह चिकित्सक के रूप मे भी विख्यात था। उसके कुछ अरवी शेर भी मिलते हैं किंतु उसे अधिक प्रसिद्धि फारसी रुवाइयो के के कारण ही मिली।

उसकी रुवाइयो की प्राचीनतम प्रामाणिक हस्तलिखित पोथी, जिसका अभी तक पता चल सका है, इस्तवोल की १४५६–५७ ई० की पोथी है जिसमें १३१ रुवाइयाँ हैं। इस्तवोल मे ही १४६०–६१ ई० की नकल की हुई एक पोथी में ३१५ रुवाइयाँ, आक्सफोर्ड के वॉडलियन पुस्तकालय की १४६०–६१ ई० की एक पोथी मे १५८ रुवाइयाँ, वियेना की १५५० ई० की पोथी मे ४८२ रुवाइयाँ वांकीपुर (पटना) के खुदावख्श पुस्तकालय की पोथी मे ६०४ और १८९४ ई० में लखनऊ से प्रकाशित सस्करण मे ७७० रुवाइयाँ हैं। ८९७ ई० मे रूसी विद्वान् ज़ोकोवोस्की ने उमर खय्याम की वास्तविक रुवाइयो की छानवीन प्रारभ की और निकोला के १८६७ ई० के फ्रासीसी सस्करण की ४६४ रुवाइयो में ८२ को अन्य फारसी कवियो की वताया है। जिस प्रकार उसकी रुवाइयो के आधार पर उसके जीवन से सवधित अनेक घटनाएँ गढ ली गई हैं, उसी प्रकार अन्य फारसी कवियो की रुवाइयाँ भी उसके नाम पर थोप दी गई हैं और उसकी दर्शन-शास्त्र एव अन्य गभीर विषयो मे सवधित रुवाइयाँ 'भूलती भटकती' अन्य कवियो की रचनाओ में समिलित हो गई हैं। अग्रेज विद्वान् ई० डी० रोस, फ्रासीसी पडित क्रिस्तेन ज़ेन तथा प्रोफेसर व्राउन ने विद्वत्तापूर्ण शोध द्वारा शुद्ध रुवाइयो का पता लगाने का प्रयत्न किया है। एशिया एव यूरोप के अन्य विद्वानो की इस सवध मे रचनाएँ अभी तक प्रकाशित होती जा रही हैं किंतु उसकी प्रामाणिक रुवाइयो की वास्तविक सख्या अभी तक निर्धारित नही हो सकी है।

ससार की लगभग सभी भाषाओ मे उसकी रुवाइयो के पद्य अथवा गद्य अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। प्राचीनतम अग्रेजी पद्यानुवाद फिट्ज़ेराल्ड ने १८५९ ई० मे प्रकाशित कराया था। १८६७ ई० मे निकोला ने फ्रासीसी सस्करण निकाला। १८६८ ई० में फिट्ज़ेराल्ड के अग्रेज़ी अनुवाद का दूसरा सस्करण प्रकाशित हुआ। इसके वाद के अनुवादो के सस्करणो का जिनमें सचित्र सस्करण भी समिलित है, अनुमान लगाना ही असभव है। १८९८ ई० में ई० हेरीन एलेन ने फिट्ज़ेराल्ड के भाषातर को मूल रुवाइयो से मिलाकर यह सिद्ध कर दिया कि फिट्ज़ेराल्ड ने मूल की चिंता न करके कही कही दो दो, तीन तीन रुवाइयो का भाव एक में और कही मूल की आत्मा मे प्रविष्ट होकर केवल काव्यमय व्याख्या कर दी है।

उमर खय्याम की रुवाइयो मे वसत, सुरा-सुदरी-उपभोग, सरक, विहार, प्रेम, रति एव विषयवासना के जो भाव स्फुटित हैं तथा जो व्यग्य प्राप्य हैं उनके आधार पर कुछ विद्वानो ने उसे नास्तिक, जडवादी अथवा केवल रसिक, कामुक या मौजी जीव वताया है किंतु उसके अन्य गभीर ग्रथो एव समकालीन राजनीतिक तथा सामाजिक उथल पुथल की पृष्ठभूमि मे यदि उसकी रुवाइयो का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात हो जायगा कि वह वडे उच्च कोटि एव स्वतत्र विचारो का सूफी था और परपराओ, रूढियो, अधविश्वासो एव धर्माधता का विरोध करने मे उसे ईश्वर का भी कोई भय न था।

स० ग्र०—(फारसी तथा अरवी)—उरुजी समरकदी 'चहार मकाला', शहरजोरी, 'नुज़हतुल अरवाह', शेख नजमुद्दीन दायह 'मिरसादुल एवाद', इब्ने असीर 'तारीखे कामिल', जमालुद्दीन किफ्ती 'अख्वारुल उल्मा', जकरिया कजवीनी 'आसारुल वेलाद', रशीदुद्दीन फजलुल्लाह 'जामे उत्तवारीख', मौलाना खुसरो अन्न कोही 'फिरदौसुत्तवारीख', हाजी खलीफा 'कश्फुज्जुनून', अहमद विन नसुल्लाह ठट्ठवी 'तारीखे अलफी'। (उर्दू) सैयद सुलेमान नदवी 'खय्याम और उसके सवानेह व तसानीफ पर नाकेदाना नजर'। (अग्रेजी) व्राउन 'लिट्ररी हिस्टरी ऑव परशिया', अरवेरे, ए० जे० 'क्लैसिकल पर्शियन लिटरेचर', 'इनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम' तथा अनुवादो की प्रस्तावनाएँ। (हिंदी) मैथिलीशरण गुप्त 'रुवाइयाते उमर खय्याम' (सचित्र), केशवप्रसाद पाठक 'रुवाइयाते उमर खय्याम' (सचित्र)। [सै० अ० अ० रि०]

उर:शूल (ऐन्जाइना पेक्टोरिस) एक रोग है जिसमें हृदोपरि या अधोवक्षास्थि (प्रिकॉर्डियल, सवस्टर्नल) प्रदेश मे ठहर ठहरकर हलकी या तीव्र पीडा के आक्रमण होते हैं। पीडा वहाँ से स्कध तथा वाईं वाँह मे फैल जाती है। आक्रमण थोडे ही समय रहता है। ये आक्रमण परिश्रम, भय, क्रोध तथा अन्य ऐसी ही मानसिक अवस्थाओ के कारण होते हैं जिनमे हृदय को तो अधिक कार्य करना पडता है, किंतु हृत्पेशी मे रक्त का सचार कम होता है। आक्रमण का वेग विश्राम तथा नाइट्रोग्लिसरिन नामक ओषधि से कम हो जाता है।

इस रोग का विशेष कारण हृद्धमनी का काठिन्य होता है, जिससे हृदय को रक्त पहुँचानेवाली इन धमनियो का मार्ग सकुचित हो जाता है। अति रक्तदाव (हाइपरटेंशन), मधुमेह (डायाविटीज़), आमवात (रूमैटिज्म) या उपदश (सिफलिस) के कारण उत्पन्न हुआ महाधमनी का प्रत्यावहन (रिगर्जिटेशन), पेप्टिक व्रण, अत्यवटुता अथवा अवटु-न्यूनता, पित्ताशय के रोग, पीलीसायथीमिया, अभिलोपनी-घनास्त्रयुक्त धमन्यार्ति (थ्रावो-ऐंजाइटिस ऑवलिटरैंस) तथा परिधमन्यार्ति रोगो से ग्रस्त रोगियो मे उर शूल अधिक होता है। स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो में यह रोग पाँच गुना अधिक पाया जाता है। [मु० स्व० व०]

उरग पृष्ठवशी जतुओ का एक वर्ग है। सर्प, छिपकली, कछुआ, घडियाल ये सभी उरग वर्ग के जतु हैं। वर्तमान काल में तो इस वर्ग के जतु वहुत महत्वपूर्ण नही रह गए हैं और इनकी सख्या भी अधिक नही है, किंतु मध्यकल्प नामक भूतकाल मे (देखे हिंदी विश्वकोश खड १ पृष्ठ ९२ का चित्र) ये नि सदेह पृथ्वी पर के सवसे अधिक महत्वपूर्ण जतु थे। इनमें से वहुतो की नाप वर्तमान काल के हाथी की नाप से वडी थी।

है। इसके विपरीत क्यूबा देश का पेड पर रहनेवाला भेक (फाइलोबेटिस) केवल ½ इच का ही होता है। कुछ विपुच्छो मे अडो की रक्षा करने के अनेक साधन पाए जाते हैं। यूरोप का नर ऐलिटीज मेढक अडो को अपने पश्चपाद में चिपकाकर इधर उधर लिए फिरता है तथा अफ्रीका के **पाइपा** की मादा अडो को अपनी पीठ की त्वचा पर छोटे छोटे गड्ढो में रखकर उनकी रक्षा करती है।

अपादा—इनको सिसिलिअस अथवा जिमनोफाइओना भी कहते है। ये अधिकतर उष्ण कटिबंध में पाए जाते हैं। ये पादरहित, लगभग एक फुट लबे, कृमि रूपी उभयचर हैं, जो भूमि के अदर बिलो में रहते है। कदाचित् इन परिस्थितियो के कारण इनमे पादो के साथ पादमेखला का भी लोप हो जाता है और नेत्र अत्यत छोटे तथा कार्यहीन हो जाते हैं। अन्य उभयचरो से ये इस बात मे भिन्न होते है कि इनमे त्वचा के नीचे छोटे छोटे शल्क होते हैं। पूंछ बहुत छोटी तथा श्वसन केवल फेफडो द्वारा और ससेचन आतरिक होता है। इकथियोफिस भारतवर्ष मे तथा साइफोनॉप्स अमरीका मे पाए जाते है और अडे देने के उपरात उनके चारो ओर लिपटकर उनकी रक्षा करते है।

स्टीगोसिफेलिया—उभयचरो की कुछ जातियाँ, जो आज से लाखो वर्ष पूर्व पाई जाती थी परतु अब नही मिलती, इस समुदाय में समिलित है। इनकी विशेषता यह है कि इनके कपाल और हनु भी अस्थियो से ढके रहते थे। कुछ प्राणी, जैसे डिपलोकॉलस, छोटे सैलामैडरो के समान तथा इओगाइनस १५ फुट तक लबे होते थे। ये सदा जल में ही रहा करते थे। स्टीगोसिफेलिया के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उभयचर वर्ग की उत्पत्ति सभवत किसी प्राचीन मत्स्यरूपी प्राणी से हुई होगी, जो पहले जल में रहते रहे होगें। परतु खटी युग मे जल के जगह जगह पर सूख जाने के कारण इन प्राणियो को थल पर चलने तथा वायु में श्वास लेने का प्रयास करना पडा। फलस्वरूप इनमे अनेकानेक शारीरिक परिवर्तन हुए और एक नए वर्ग का प्रारभ हुआ। [ह० श० चौ०]

उभयलिंगी

जीव या पादप उसे कहते है जो एक ही समय अथवा विभिन्न समयो पर स्त्री तथा पुरुष दोनो प्रकार की प्रजनन-कोशिकाएँ उत्पन्न करता है। इसके स्पष्ट उदाहरण जतुओ तथा पादपो, दोनो मे मिलते है, जैसे केचुओ में तथा कई प्रकार की काइयो में। यहाँ नर और मादा प्रजनन अग एक ही व्यक्ति में काम करते है। यद्यपि जतुओ और पौधो के जीवनचक्रो मे महान् अतर है तब भी उन पौधो को उभय-लिंगी कहते है, जिनमे नर और मादा दोनो प्रकार के फूल लगते है, जैसे कुम्हडा, खीरा इत्यादि में। जतु ससार में नर और मादा अग अधिकतर विभिन्न व्यक्तियो में रहते है।

जतुओ मे उभयलिंगी दो प्रकार के होते हैं—(१) कार्यकारी तथा (२) अकार्यकारी। अकार्यकारी उभयलिंगत्व कई रूपो का होता है। नर भेक (टोड) मे अडकोप के अतिरिक्त एक अविकसित अडाशय भी होता है। कुछ कठिनियो (क्रस्टेशिया) या तिलचट्टो के अडकोपो में अकार्यकारी अडे भी रहते है। मीनवेधियो (हैगफिश) मे ऐसे व्यक्तियो से लेकर जिनके कपूरा में एक अड होता है, ऐसे व्यक्ति तक होते है जिनके अडाशय के भीतर कपूरा का एक भाग होता है।

कार्यकारी उभयलिंगत्व के उदाहरण ऐसे व्यक्ति है जो प्रजनन के विचार से (जेनेटिकली) एक लिंग (सेक्स) के है, परतु उनके जननपिंड (गोनैड्स) से निकली हुई उपज बदलती रहती है, उदाहरणत कुछ घोघो (स्नेल्स) और शुक्तियो (आयस्टर्स) में ऐसे मादा जीव होते है जो पहले शुक्राणु उत्पन्न करते है और पीछे अडे।

लाइमैक्स मैक्सिमस नामक मृदु मथर प्रथम मादा, फिर क्रमानुसार उभयलिंगी, नर उभयलिंगी और फिर मादा का कार्य करता है। अभी तक पता नही चल सका है कि किस कारण इस प्रकार लिंगपरिवर्तन होता है। कुछ समूहो मे पूरा जीव ही बदल जाता है, उदाहरणत कुछ समपाद (आइसोपाड) क्रस्टेशिया के डिंभ (लार्वा), जब तक वे स्वतत्र जीवन व्यतीत करते है, नर रहते है, परतु अन्य क्रस्टेशिया पर परोपजीवी होने के पश्चात् वे मादा हो जाते है। दूसरी ओर, परिस्थिति मे बिना कोई उल्लेख-नीय परिवर्तन दिखाई पडे ही, ट्राइसोफिस ऑरेटस नामक सामुद्रिक मछली पारी पारी से शुक्राणु और डिंबाणु उत्पन्न करती है।

उभयलिंगियो में स्वयसेचन अत्यत असाधारण है, जिसका कारण यह होता है कि नर तथा मादा युग्मक (गैमीट) विभिन्न समयो पर परिपक्व होते है, या उनके शरीर की आतरिक सरचना ऐसी होती है कि स्वयसेचन असभव होता है।

कार्यकारी उभयलिंगत्व प्रजीवो (प्रोटोज़ोआ) से लेकर आद्य रज्जुमतो (कारडेट्स) तक, अर्थात् केवल निम्न कोटि के जतुओ में, होता है, परतु उच्च कोटि के कशेरुक-दडियो में यह गुणधर्म प्राय अज्ञात है। ऐसा सभव जान पडता है कि विशेष परिस्थितियों से उभयलिंगत्व उत्पन्न होता है। यह भी अनुमान किया जाता है कि उभयलिंगत्व वशनाश से सुरक्षा करता है।

मनुष्यों में वास्तविक उभयलिंगी नही देखे गए है, यद्यपि अगो का कुविकास यदाकदा दोनो लिंगो की विद्यमानता का आभास उत्पन्न करता है। कभी कभी तो परिस्थिति ऐसी रहती है कि नवजात शिशु के लिंग (सेक्स) का पता ही नही चलता।

स०ग्र०—आर० गोल्डश्मिट मिकैनिज्म ऐंड फिज़िऑलोजी ऑव सेक्स डिटर्मिनेशन (१९२३), एम० जे० डी० ह्वाइट ऐनिमल साइटॉ-लोजी ऐंड एवोल्यूशन (१९४५)।

उभाड़दार छपाई

ऐसी छपाई जिसमें अक्षर उभडे हुए रहते हैं उभाडदार छपाई या समुद्भरण (एमबॉसिंग) कहलाती है। यह छपाई पीतल के ठप्पे से होती है जिसमें अक्षर धँसे रहते है। छपाई साधारणत हाथ से चालित, पेच के प्रयोग से दाब उत्पन्न करनेवाले, छोटे प्रेसो से की जाती है। ठप्पे को अपने नियत स्थान पर नीचे कस दिया जाता है। ठप्पे पर आकर पडनेवाली पीठिका पर गत्ता चिपका दिया जाता है। फिर प्रेस के हैंडल को जोर से चलाया जाता है। इससे ठप्पे और पीठिका के बीच गत्ता इतने बल से दबता है कि उसका कुछ भाग ठप्पे के गड्ढो में घुस जाता है और गत्ता ठप्पे के अनुसार रूप ले लेता है। अतर इतना ही होता है कि जहाँ ठप्पे में गड्ढा रहता है वहाँ गत्ता उभडा रहता है। अब छपाई हो सकती है। इसके लिये ठप्पे पर विशेष (बहुत गाढी) स्याही लगा दी जाती है और फिर उसे कागज से रगडकर पोछ दिया जाता है। इस प्रकार ठप्पे का सपाट भाग पूर्णतया स्वच्छ हो जाता है, केवल गड्ढे में स्याही लगी रह जाती है। फिर उस कागज को जिसपर छपाई करनी रहती है ठप्पे पर उचित स्थान पर रखकर प्रेस के हैंडल को जोर से चलाया जाता है। जब गत्ता ऊपर से कागज को दबाता है तो गत्ते के उभडे भाग कागज को ठप्पे के गड्ढो में धँसा देते हैं। हैंडल को उलटा घुमाकर कागज को सँभालकर उठा लेने पर उसपर उभाडदार छपाई दिखाई देती है। इसी प्रकार एक एक करके सब कागज छाप लिए जाते है। जहाँ इस प्रकार की छपाई बहुत करनी होती है वहाँ ऐसी मशीन का उपयोग किया जाता है जिसमें स्याही लगाने, पोछने और गत्तेवाली पीठिका को चलाने का काम अपने आप होता रहता है।

जलचालित शक्तिशाली प्रेसो मे पुस्तक के मोटे आवरणो पर इसी सिद्धात पर उभडी या धँसी और स्याहीदार या बिना स्याही की छपाई की जाती है। समुद्भरण के अतर्गत केवल छपाई ही नही है, धातु की चादर, प्लैस्टिक, कपडे आदि पर भी उभडी हुई आकृतियाँ इसी सिद्धात पर बनी विशेष मशीनो द्वारा छापी जाती है। एक बेलन पर छिछला उत्कीर्णन खुदा रहता है। दूसरे बेलन पर गत्ता या नमदा रहता है, या उसपर पहले के अनुरूप ही उभडा उत्कीर्णन रहता है। मशीनो में ये दोनो बेलन एक दूसरे को छूते हुए घूमते रहते है। इन दोनो के बीच डाली गई चादर आदि पर उभाडदार आकृतियाँ बन जाती है।

सोने के आभूषणो पर उभाडदार उत्कीर्णन करने के लिये सोने के पत्र को लाख (चपडा) और तार्पीन आदि के रूपद (अर्ध-लचीले) मिश्रण पर रखकर पीठ की ओर से विविध यत्रो द्वारा ठोकते है। फिर पत्र को उलटकर आवश्यक स्थानो पर सामने से उत्कीर्णन करते है। [स० ला० गु०]

उमर खय्याम

सगीतमय फारसी रुबाइयो के प्रसिद्ध रचयिता अबुल फतह उमर बिन इब्राहीम अल खय्यामी अथवा खय्याम (खेमा सीनेवाले) के विषय मे यद्यपि यूरोप एव एशिया के अनेक उच्च कोटि के विद्वान् लगभग १०० वर्ष से शोधकार्य में सलग्न है किंतु अभी

तक निश्चित रूप से उसकी जन्म एव मृत्युतिथि भी निर्धारित नही हो सकी है। समकालीन ग्रथो से केवल यह पता चल सका है कि ४६७ हि० (१०७४-७५ ई०) में वह सल्जूक सुल्तान जलालुद्दीन मलिकशाह की वेधशाला का उच्च अधिकारी नियुक्त हो गया था। ५०६ हि० (१११२-१३ ई०) मे उसके शिष्य तथा फारसी के प्रसिद्ध विद्वान् निजामी उरुज़ी समरकदी ने उससे वल्ख में भेंट की। ५०५ हि० (११११-१२ ई०) अथवा ५०७ हि० (१११३-१४ ई०) में "तारीखुल हुकमा" का लेखक अबुल हसन वेहकी, बाल्यावस्था में उससे मिला। ५०८ हि० (१११४-१५ ई०) मे उसने सुल्तान मुहम्मद विन मलिकशाह के शिकार के लिये लग्नकुडली तैयार की। ५३० हि० (११३५-३६ ई०) के पूर्व उसका शिष्य निजामी कानन के पुष्पो से ढकी हुई उसकी कब्र के दर्शनार्थ पहुँचा था। उसके प्राय चार वर्ष पहले उसकी मृत्यु हो चुकी थी। इन मुख्य तिथियो के प्रसग में उल्लिखित विभिन्न घटनाओ के आधार पर इस बात का अनुमान लगाया गया है कि उसका जन्म ४४० हि० (१०४८-४९ ई०) एव मृत्यु ५२६ हि० (११३१-३२ ई०) मे हुई। उत्तर-पूर्व फारस के खुरासान प्रात का नीशापुर नगर, जो मध्ययुग में रमणीयता एव समृद्धि के साथ साथ विद्वानो एव उच्च कोटि के विद्यालयो के लिये विख्यात था, उसकी जन्मभूमि था।

उमर खय्याम अपने जीवनकाल में ही ज्योतिषी, वैज्ञानिक एव दार्शनिक के रूप मे प्रसिद्ध हो गया था। १०७४-७५ ई० मे सुल्तान जलालुद्दीन मलिकशाह की वेधशाला मे उसने 'अल तारीख अल जलाली' अथवा जलाली पचाग तैयार कराया। उसकी वैज्ञानिक रचनाओ मे उसके बीजगणित 'रिसालह फी बराहीन अल जब्र वल मुकाबला' का अनुवाद फिट्ज़ेराल्ड के रुबाइयो के अंग्रेजी भाषातर के आठ वर्ष पूर्व १८५१ ई० मे फ्रासीसी अनुवाद सहित पेरिस से प्रकाशित हो चुका था, यद्यपि यूरोप के विद्वानो में इस ग्रथ की चर्चा १७४२ ई० से ही प्रारभ हो गई थी। उसकी अन्य वैज्ञानिक रचनाओ मे युक्लिड के 'मुसादरात' सिद्धातो से सबधित उसकी शोधपूर्ण प्रस्तावना, गणित सबधी ग्रथ 'मुश्किलात-अल-हिसाब' एव चाँदी सोने के आपेक्षिक भार सबधी ग्रथ 'मीजानुल हिकम व रिसालह मारेफ मेकदारिज्ह्व' अधिक प्रसिद्ध है। बहुत से विद्वानो का मत है कि बू अली सीना के ग्रथो के समान उसकी दर्शनशास्त्र सबधी रचनाएँ भी कम महत्व की नही है। उसने 'रिसालए कौन व तकलीफ', 'रिसालए फी कुल्लियातिल वुजूद', 'रिसालए मौजू इल्मे कुल्ली व वुजूद' एव 'रिसालए औसाफ' या 'रिसालतुल वुजूद' नामक अपनी रचनाओ मे अद्वैतवाद तथा 'एक एव अनेक' के सिद्धातो की बडे विद्वत्तापूर्ण ढग से मीमासा की है। राजदरबारो मे वह चिकित्सक के रूप मे भी विख्यात था। उसके कुछ अरबी शेर भी मिलते है किंतु उसे अधिक प्रसिद्धि फारसी रुबाइयो के के कारण ही मिली।

उसकी रुबाइयो की प्राचीनतम प्रामाणिक हस्तलिखित पोथी, जिसका अभी तक पता चल सका है, इस्तबोल की १४५६-५७ ई० की पोथी है जिसमें १३१ रुबाइयाँ है। इस्तबोल मे ही १४६०-६१ ई० की नकल की हुई एक पोथी मे ३१५ रुबाइयाँ, आक्सफोर्ड के बॉडलियन पुस्तकालय की १४६०-६१ ई० की एक पोथी में १५८ रुबाइयाँ, वियेना की १५५० ई० की पोथी मे ४८२ रुबाइयाँ बाँकीपुर (पटना) के खुदाबख्श पुस्तकालय की पोथी मे ६०४ और १८९४ ई० मे लखनऊ से प्रकाशित सस्करण मे ७७० रुबाइयाँ है। ८९७ ई० मे रूसी विद्वान् ज़ोकोवोस्की ने उमर खय्याम की वास्तविक रुबाइयो की छानबीन प्रारभ की और निकोला के १८६७ ई० के फ्रासीसी सस्करण की ४६४ रुबाइयो मे ८२ को अन्य फारसी कवियो की बताया है। जिस प्रकार उसकी रुबाइयो के आधार पर उसके जीवन से सबधित अनेक घटनाएँ गढ ली गई है, उसी प्रकार अन्य फारसी कवियो की रुबाइयाँ भी उसके नाम पर थोप दी गई है और उसकी दर्शनशास्त्र एव अन्य गभीर विषयो से सबधित रुबाइयाँ 'भूलती भटकती' अन्य कवियो की रचनाओं मे समिलित हो गई है। अंग्रेज विद्वान् ई० डी० रोस, फ्रासीसी पडित क्रिस्तेन जेन तथा प्रोफेसर ब्राउन ने विद्वत्तापूर्ण शोध द्वारा शुद्ध रुबाइयो का पता लगाने का प्रयत्न किया है। एशिया एव यूरोप के अन्य विद्वानो की इस सबध मे रचनाएँ अभी तक प्रकाशित होती जा रही है किंतु उनकी प्रामाणिक रुबाइयो की वास्तविक सख्या अभी तक निर्धारित नहीं हो सकी है।

ससार की लगभग सभी भाषाओ मे उसकी रुबाइयो के पद्य अथवा गद्य अनुवाद प्रकाशित हो चुके है। प्राचीनतम अंग्रेज़ी पद्यानुवाद फिट्ज़ेराल्ड ने १८५९ ई० मे प्रकाशित कराया था। १८६७ ई० मे निकोला ने फ्रासीसी सस्करण निकाला। १८६८ ई० में फिट्ज़ेराल्ड के अंग्रेज़ी अनुवाद का दूसरा सस्करण प्रकाशित हुआ। इसके बाद के अनुवादो के सस्करणो का जिनमे सचित्र सस्करण भी समिलित है, अनुमान लगाना ही असभव है। १८९८ ई० मे ई० हेरीन एलेन ने फिट्ज़ेराल्ड के भाषातर को मूल रुबाइयो से मिलाकर यह सिद्ध कर दिया कि फिट्ज़ेराल्ड ने मूल की चिंता न करके कही कही दो दो, तीन तीन रुबाइयो का भाव एक मे और कही मूल की आत्मा मे प्रविष्ट होकर केवल काव्यमय व्याख्या कर दी है।

उमर खय्याम की रुबाइयो मे वसत, सुरा-सुदरी-उपभोग, सरक, विहार, प्रेम, रति एव विषयवासना के जो भाव स्फुटित है तथा जो व्यग्य प्राप्य है उनके आधार पर कुछ विद्वानो ने उसे नास्तिक, जडवादी अथवा केवल रसिक, कामुक या मौजी जीव बताया है किंतु उसके अन्य गभीर ग्रथो एव समकालीन राजनीतिक तथा सामाजिक उथल पुथल की पृष्ठभूमि मे यदि उसकी रुबाइयो का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात हो जायगा कि वह बडे उच्च कोटि एव स्वतत्र विचारो का सूफी था और परपराओ, रुढियो, अधविश्वासो एव धर्माधता का विरोध करने मे उसे ईश्वर का भी कोई भय न था।

स० ग्र०—(फारसी तथा अरबी)—उरुज़ी समरकदी 'चहार मकाला', शहरजोरी, 'नुजहतुल अरवाह', शेख नज्मुद्दीन दायह 'मिरसादुल एबाद', इब्ने असीर 'तारीखे कामिल', जमालुद्दीन किफ्ती 'अख्बारुल उलमा', जकरिया कजवीनी 'आसारुल बेलाद', रशीदुद्दीन फज़लुल्लाह 'जामे उत्तवारीख', मौलाना खुसरो अब्र कोही 'फिरदौसुत्तवारीख', हाजी खलीफा 'कश्फुज्ज़ुनून', अहमद बिन नसुल्लाह ठट्‌ठवी 'तारीखे अलफी'। (उर्दू) सैयद सुलेमान नदवी 'खय्याम और उसके सवानेह व तसानीफ पर नाकेदाना नजर'। (अंग्रेज़ी) ब्राउन 'लिट्ररी हिस्टरी ऑव परशिया', अरबेरे, ए० जे० 'क्लैसिकल पर्शियन लिटरेचर'; 'इनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम' तथा अनुवादो की प्रस्तावनाएँ। (हिंदी) मैथिलीशरण गुप्त 'रुबाइयाते उमर खय्याम' (सचित्र), केशवप्रसाद पाठक 'रुबाइयाते उमर खय्याम' (सचित्र)। [सै० अ० अ० रि०]

उर:शूल (ऐन्जाइना पेक्टोरिस) एक रोग है जिसमे हृदोपरि या अधोवक्षास्थि (प्रिकॉर्डियल, सबस्टर्नल) प्रदेश मे ठहर ठहरकर हलकी या तीव्र पीडा के आक्रमण होते है। पीडा वहाँ से स्कध तथा बाई बाँह मे फैल जाती है। आक्रमण थोडे ही समय रहता है। ये आक्रमण परिश्रम, भय, क्रोध तथा अन्य ऐसी ही मानसिक अवस्थाओ के कारण होते है जिनमें हृदय को तो अधिक कार्य करना पडता है, किंतु हृत्पेशी मे रक्त का सचार कम होता है। आक्रमण का वेग विश्राम तथा नाइट्रोग्लिसरिन नामक ओषधि से कम हो जाता है।

इस रोग का विशेष कारण हृद्धमनी का काठिन्य होता है, जिससे हृदय को रक्त पहुँचानेवाली इन धमनियो का मार्ग सकुचित हो जाता है। अति रक्तदाव (हाइपरटेंशन), मधुमेह (डायाबिटीज), आमवात (रूमैटिज्म) या उपदश (सिफलिस) के कारण उत्पन्न हुआ महाधमनी का प्रत्यावहन (रिगर्जिटेशन), पेप्टिक व्रण, अत्यवटुता अथवा अवटुन्यूनता, पित्ताशय के रोग, पौलीसायथीमिया, अभिलोपनी-घनास्रयुक्त धमन्यार्ति (थ्रावो-ऐंजाइटिस ऑबलिटरैंस) तथा परिधमन्यार्ति रोगो से ग्रस्त रोगियो मे उर शूल अधिक होता है। स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे यह रोग पाँच गुना अधिक पाया जाता है। [मु० स्व० व०]

उरग पृष्ठवशी जतुओ का एक वर्ग है। सर्प, छिपकली, कछुआ, घडियाल ये सभी उरग वर्ग के जतु है। वर्तमान काल मे तो इस वर्ग के जतु बहुत महत्वपूर्ण नही रह गए है और इनकी सख्या भी अधिक नही है, किंतु मध्यकल्प नामक भूतकाल मे (देखे हिंदी विश्वकोश खड १ पृष्ठ ९२ का चित्र) ये नि सदेह पृथ्वी पर के सबसे अधिक महत्वपूर्ण जतु थे। इनमें से बहुतो की नाप वर्तमान काल के हाथी की नाप से बडी थी।

उरगवश की उत्पत्ति कार्वनप्रद युग मे उभयचर वर्ग के ग्रावृतशीर्ष ग्रनुवर्ग (स्टेगोसिफेलिया ऐफिविया) से हुई ग्रौर गिरियुग (पर्मियन), रक्ताश्म (ट्राइऐसिक) तथा महासरट (जुरैसिक) युगो मे इनका वहुत विकास हुग्रा। ग्राद्य उरगो का विकास दो दिशाग्रो मे पृथक् पृथक् हुग्रा। कुछ ग्राद्य उरग स्तनधारी जतुग्रो के सदृश होते गए ग्रौर खटीयुग (क्रिटेशस युग) में ग्राद्य स्तनधारी जतुग्रो मे परिणत हो गए ग्रौर कुछ से उरगवर्ग ग्रौर पक्षिवर्ग के जतु उत्पन्न हुए। रक्ताश्म (ट्राइऐसिक) ग्रौर महासरट (जुरैसिक) युगो मे उरगवश के जतु वडी ग्रधिकता से पृथ्वी पर फैले हुए थे। इनमें से ग्रधिकाश सूखी भूमि पर रहनेवाले थे, परतु कुछ जल मे रहनेवाले ग्रौर कुछ उडनेवाले भी थे। उरगो के ग्रधिकाश समूह लुप्त हो चुके हैं, केवल पाँच गण वर्तमान काल में पाए जाते है। ये हैं १—गोधिकानुगण (लैसरटिलिया), २—ग्रह्यनुगण (ग्रोफिडिया), ३—परिवर्मिगण (किलोनिया), ४—मकरगण (क्रोकोडिलिया), ५—पल्ल्याभगण (रिंगकोसिफेलिया) जिसमे केवल स्फानदत प्रजाति (स्फीनोडॉन) ग्रव जीवित है।

उरगवर्ग की परिभाषा कठिन है, क्योकि ग्राद्य उरग ग्रावृतशीर्ष-ग्रनुवर्ग (स्टेगोसिफेलिया) के सदृश थे, इनसे वे विकसित हुए ग्रौर पीछे के उरगो मे से कुछ स्तनधारियो के सदृश हो गए ग्रौर कुछ पक्षियो के। शेप वर्तमानकाल के ग्रौर कुछ भूतकाल के उरग (जो लुप्त हो चुके हैं) विकसित हुए। इस कारण कुछ विद्वानो की यह धारणा है कि उरग वर्ग तोडकर तीन स्वतत्र वर्ग का निर्माण करना चाहिए। ये हैं

१—ग्राद्यसरट वर्ग (प्रोटोसॉरिया), जिनमे उभयचर (ऐफिविया) सदृश उरग रखे जायँ, २—थेरीप्सिडा, जिनमे स्तनधारी सदृश उरग ग्रौर स्तनधारी जतु रखे जायँ, ग्रौर ३—पक्षिसरीसृप, जिनमे विशिष्ट उरग तथा पक्षिवर्ग रखे जायँ। परतु इसमें सदेह नही कि यह वर्गीकरण पुराने वर्गीकरण से भी कम सतोपजनक है।

लक्षण—उरगो का एक वडा लक्षण यह है कि उनके चर्म के ऊपर वाह्यत्वकीय शल्क (एपिडर्मल स्केल्स) होते हैं। कुछ भूतकालीन उरग (जो लुप्त हो चुके हैं) ऐसे भी थे जिनके शरीर पर वाह्यत्वकीय शल्क नही थे ग्रौर कछुग्रो की पीठ ग्रौर उदर पर की खाल पर वाह्यत्वकीय शल्क नही होते। परतु ग्रधिकाश उरगो मे यह चिह्न ग्रवश्य मिलता है। उरगो
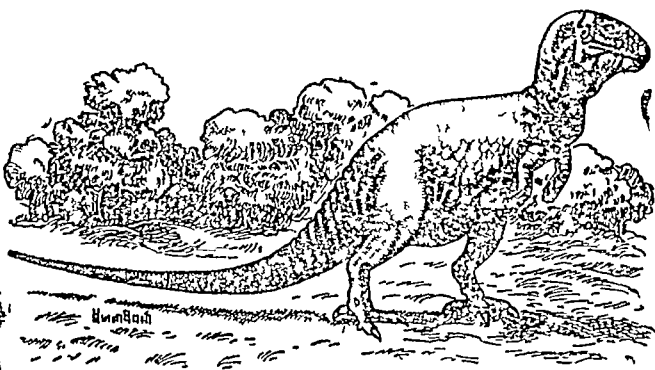
राज दैत्यसरट (टिरैनोसॉरस रेक्स)

का चर्म सूखा होता है, क्योकि इनमें ग्रथियाँ वहुत कम होती हैं ग्रौर ये विशेप स्थानो पर ही पाई जाती हैं। ग्रातरत्वक मे ग्रौर कभी-कभी वाह्यत्वक के निचले स्तरो मे रग कोष्ठ पाए जाते हैं जिनके कारण चर्म रँगा हुग्रा दिखाई पडता है। कुछ सर्पो ग्रौर छिपकलियो मे चर्म रग वदलने की शक्ति पाई जाती है। यह शक्ति गिरगिट में ग्रधिक मात्रा मे विकसित है। उरग का हृदय उभयचरो के हृदय के सदृश होता है, परतु कई लक्षणो में उससे भिन्न होता है। उभयचरो के हृदय के सदृश उरगो का हृदय तीन कोष्ठो में विभाजित होता है दाहिना ग्रौर वायाँ।

ग्रलिंद (ग्रॉरिकिल) ग्रौर निलय (वेंट्रिकिल)—मकरो ग्रौर परिवर्मिगण (किलोनिया) मे निलय भी दो कोष्ठो मे विभाजित होता है, किंतु दूसरे उरगो में नही। रोहिणी मूल (केलिस ग्रार्टीरिग्रोसस), जो उभयचरो मे पाया जाता है, उरगो मे नही होता ग्रौर इनमे ग्रम्युदरीय महाधमनी (वेंट्रल एग्रॉरटा) तीन स्वतत्र स्कधो मे विभाजित हो जाता है जो उभयचर में नही होता। ये हैं (१) दाहिनी ग्रौर वाई दैहिक महाधमनी (सिस्टेमिक एग्रॉरटा), (२) फुफ्फुस धमनी (पल्मोनेरी ग्रारटरी)। उभयचर के सदृश उरगो में दोनो दैहिक महाधमनियाँ विद्यमान रहती हैं ग्रौर उनके सयोग से ग्रम्युदरीय महाधमनी की उत्पत्ति होती है, किंतु उरगो मे सिर, ग्रीवा ग्रौर हाथ में रक्त पहुँचानेवाली सव महाधमनियाँ दाहिनी देह से ही निकलती हैं।

वर्गीकरण—उरगो के वर्गीकरण में खोपडी के शख (टेंपोरल) प्रदेश की सरचना को वडा महत्व दिया जाता है। ग्रावृतशीर्ष ग्रनुवर्ग नामक ग्राद्य उभयचरो में, जिनसे उरगो का विकास हुग्रा, शख प्रदेश की सव हड्डियाँ एक दूसरी से मिली हुई थी ग्रौर उनके वीच कोई भी विच्छेद नही था। ग्राद्य उरगो मे भी यही ग्रवस्था वनी रही। सवसे ग्राद्य उरग मूलसरटगण (कॉटिलोसॉरिया) ग्रौर वर्तमान युग के उरगो, परिवर्मिगण, मे यह ग्रवस्था मिलती है। इस प्रकार के उरगो को जिनके शख प्रदेश की छदि की सरचना सपूर्ण हो ग्रछिद्रकरोटी (ऐनैप्सिडा) उपजाति या महागण मे रखा जाता है। इसी प्रकार उरगो का सपूर्ण वर्ग चार वडे समूहो मे विभाजित किया जाता है। ये हैं ग्रछिद्रकरोटी (ऐनैप्सिडा), युक्तछिद्रकरोटी (सिनैप्सिडा), चतुश्छिद्रकरोटी (डायप्सिडा), द्विछिद्रकरोटी (पैरैप्सिडा)।

ग्रछिद्रकरोटी—ये उरग ग्राद्य उभयचर से वहुत विभिन्न नही थे ग्रौर कभी-कभी इनको सपूर्ण रूप से पृथक् करना कठिन हो जाता है। इस वर्ग के उरग पृथ्वी पर कार्वनप्रद, गिरि ग्रौर रक्ताश्म युगो में रहते थे ग्रौर ये ग्रव लुप्त हो चुके हैं। इन उरगो में ग्रणुसरट (माइक्रोसॉरिया), चित्रपाद (सीमूरियामोर्फा), ग्रौर मूलसरट (कॉटिलोसॉरिया) समिलित हैं। इनमे इनके पूर्वज ग्रावृतशीर्ष ग्रनुवर्गो के शख प्रदेश की सव हड्डियाँ विद्यमान थी। विद्वानो की यह धारणा है कि यह समूह वास्तव में वहूद्भव (पालिफाइलेटिक) है ग्रौर इसका विकास पृथक् पृथक् उनके पूर्वजो से हुग्रा। कुछ विद्वान् ग्रनुसरटगण को ग्रव भी ग्राद्य उभयचर (ग्रावृतशीर्ष ग्रनुवर्ग) या गहनदत गण (लैविरियोडाटा) में ही समिलित करते हैं। ये उरग १ फुट से ६ या ७ फुट तक लवे थे ग्रौर पेट के वल रेंगते थे, क्योकि इनके हाथ पैर चलने में ग्रधिक सहायता देने के योग्य नही थे। चित्रपाद प्रजाति (सिमौरिया) गिरियुग का वहुत पुराना उरग है। इसकी खोपडी में ग्रतराशखक (इटरटेंपोरल) हड्डी पाई जाती है जो ग्रावृतशीर्ष ग्रनुवर्ग मे विद्यमान थी, किंतु चित्रपाद प्रजाति के ग्रतिरिक्त ग्रन्य सव उरगो से लुप्त हो गई है। इसी प्रकार चित्रपाद प्रजाति की त्रिवेणी (टेरिगाइड) हड्डी चतुष्कोण (क्वाड्रेट) के नीचे से होकर जाती है ग्रौर उसके पीछे ग्रग्रगडास्थि (क्वामोसैल) से मिलती है। इन हड्डियो का ऐसा पारस्परिक सवध भी शेप उरगो मे नही पाया जाता। चित्रपाद प्रजाति की ग्रपेक्षा मूलसरटगण (कॉटिलोसॉरिया) की खोपडी की सरचना ग्रधिक उरगो के सदृश है।

परिवर्मिगण (किलोनिया)—इस समूह के कुछ प्रतिनिधि ग्राज भी विद्यमान हैं, जैसे कछुग्रा। कछुग्रा की गणना भी विद्वान् ग्रछिद्रकरोटी मे ही करते हैं, क्योकि इसकी खोपडी मे शख प्रदेश की हड्डियाँ ग्रावृतशीर्ष ग्रनुवर्ग की हड्डियो के समान हैं, ग्रर्थात् शख छदि पूर्ण है ग्रौर कोई शख विवरक (टेंपोरल फॉसा) विद्यमान नही है। परतु इस धारणा के विरुद्ध यह वात पाई जाती है कि कछुग्रो की खोपडी की हड्डियाँ ग्रछिद्रकरोटियो की खोपडी की हड्डियो की ग्रपेक्षा सख्या मे कम हैं। कई हड्डियाँ लुप्त हो गई हैं। कछुग्रो की खोपडी में उपरिशखक (सुप्राटेंपोरल), उत्तरपार्श्विका (पोस्टपाराइएटैल) ग्रौर चिपिट (टैवुलर) हड्डियाँ नही होती, जो ग्रन्य ग्रछिद्रकरोटियो मे पाई जाती हैं। पृथक् पृथक् उत्तरललाट (पोस्टफ्रॉण्टल) की ग्रौर उत्तरनेत्रगुहा (पोस्टग्रॉविटल) की हड्डियो के स्थान पर केवल एक हड्डी होती है ग्रौर नास्य (नैसैल), ग्रग्रललाट (प्रिफ्रॉण्टल) ग्रौर ग्रश्रु ग्रस्थि नामक तीन हड्डियो की जगह पर भी केवल एक हड्डी होती है। इन कारणो से कुछ विद्वान् परिवर्मिगण को ग्रछिद्रकरोटिवर्ग मे स्थान देने के विरुद्ध हैं। उनकी धारणा यह है कि कछुग्रो की खोपडी की हड्डियो का विन्यास ग्राद्य नही, उत्तरजात है।

बहुत सी खोपड़ियों की हड्डियाँ, जिनका आद्य परिवर्मिगणों में लोप हो गया, फिर से उत्पन्न हो गई, जैसे परिवर्मिगण और पोटोक्नेमिस में।
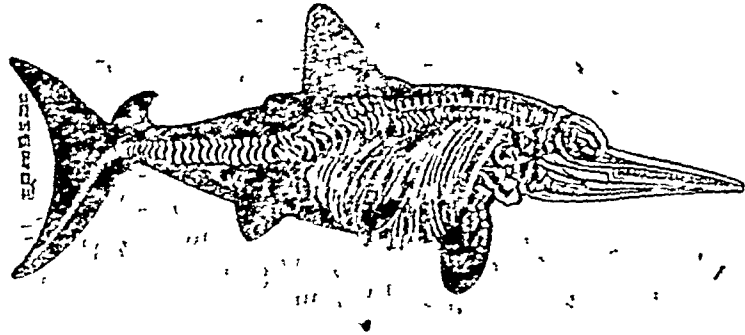
मीनमरट (इक्थियोसॉर, एक सामुद्रिक उरग) का जीवाश्म

इस जाति के जीव ८ से १० फुट लंबे होते थे। यह जीवाश्म महासरट मस्थान (जूरैसिक) शिलाओं में पाया गया था। इसका संपूर्ण कंकाल खनिज में तथा मांस कोयले में परिवर्तित हो गया था।

कछुए—कछुओं में कई एक अन्य विशेषताएँ मिलती हैं। इनका शरीर एक हड्डी के प्रावर के भीतर होता है। यह प्रावर ऊपर की ओर चर्म से ढका रहता है जो मृदुकश्यपवंश (ट्राइओनिकिडी) और अप्रावरानुगण (आथीसी) के अतिरिक्त अन्य कछुओं में शृंगवत् कठोर होता है। इनके जबड़ों में दाँत नहीं होते और नाक का छिद्र एक ही होता है। प्रावर (या कठोर कोष) के दो भाग होते हैं, एक पृष्ठीय और दूसरा प्रतिपृष्ठीय। पृष्ठीय भाग को पृष्ठवर्म (कैरेपेस) कहते हैं और प्रतिपृष्ठ भाग को उदरवर्म (प्लैस्ट्रान)। पृष्ठवर्म के ऊपर के चर्म पर कठोर पट्ट होते हैं जिनका विन्यास पृष्ठवर्म की हड्डियों के विन्यास पर आधारित होता है। पृष्ठवर्म कई एक हड्डियों के योग से बना रहता है। बीच में एक पंक्ति ८ छोटी छोटी हड्डियों की होती है जिसे तंत्रिकापट्ट (न्यूरल प्लेट्स) कहते हैं। प्रथम तंत्रिकापट्ट के आगे एक घाटापट्ट (न्यूकैल प्लेट) होता है और आठवें तंत्रिकापट्ट के पीछे एक कटीपट्ट (पाइगैल प्लेट) होता है। तंत्रिकापट्ट के दोनों ओर ८ पर्शुपट्ट (कॉस्टैल प्लेट्स) होते हैं जो वक्ष कशेरुकाओं की पसलियों से जुड़े होते हैं। ये पसलियाँ पर्शुपट्टों से परे पृष्ठवर्म के किनारे के प्रांत पट्टों से मिलते हैं। साधारणतः यह प्रांतपट्ट संख्या में ११ जोड़ी होते हैं। पृष्ठवर्म के तंत्रिकापट्ट नीचे स्थित वक्षकशेरुकाओं के चेताशल्य (न्यूरल स्पाइन्स) में सायुज्यित (फ्यूज्ड) होते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रावर का दूसरा भाग उदरवर्म है। यह प्रांतपट्ट से स्वयं जुड़ा होता है अथवा स्नायुओं के द्वारा जुड़ा रहता है। पृष्ठवर्म की भाँति यह भी कई एक आंतरत्वक (डर्मल) हड्डियों के जोड़ से बना होता है। ये हैं एक मध्य अंतरुदरवर्म (एंटोप्लैस्ट्रन) और चार जोड़ी अन्य हड्डियाँ—उपर्युदरवर्म (एपिप्लैस्ट्रा), अधोदरवर्म (हाइपोप्लैस्ट्रा), द्वितीदरवर्म (हाइपोप्लैस्ट्रन) और पश्चोदरवर्म (ज़िफिप्लस्ट्रन)। यह माना जाता है कि अंतरुदरवर्म अन्य कशेरुकदंडियों के अंतराक्षक (इंटक्लैविकल) के अनुरूप है और उपर्युदरवर्म उनके अक्षक के। कुछ कछुओं में संपूर्ण उदरवर्म एक सततपट्ट के रूप में होता है, जैसा भूमि पर रहनेवाले टेस्ट्यूडिनिडी जाति के कछुओं में पाया जाता है। पृष्ठवर्म तथा उदरवर्म दोनों ही के ऊपर के सींग के समान कठोर अधिचर्मीय वर्म नीचे स्थित हड्डियों के ठीक ठीक अनुरूप नहीं होते। साधारणतः पृष्ठतल पर एक मध्य पंक्ति पाँच कशेरुका वर्मों की होती है, दाएँ और बाएँ एक एक पंक्ति चार पर्शुवर्मों की होती है, और किनारे किनारे २४ अथवा २५ प्रांतवर्म होते हैं, जिनका अगला घाटा (न्यूकैल) और पिछला कटी (पाइगैल) या पुच्छोपरि (सुप्राकॉडैल) कहलाता है। प्रतिपृष्ठतल पर ६ जोड़े वर्म होते हैं, जिनके नाम हैं (आगे से पीछे की ओर) गल (ग्यूलर), अंस्यक (ह्यूमरल), अंस (पेक्टोरैल), उदरीय (ऐब्डॉमिनैल), ऊरु (फेमोरैल) और गुद (ऐनल)। गल के आगे साधारणतः एक अंतरागल होता है और प्रांत के नीचे कुछ अंध प्रांत होते हैं जिनकी संख्या निश्चित नहीं होती है।

कछुओं के पृष्ठ में अन्य उरगों की अपेक्षा कम कशेरुकाएँ होती हैं। साधारणतः ८ ग्रैव (सर्विकल), १० वक्षीय (थोरैसिक), २ त्रिक (सैक्रैल) और कुछ थोड़ी सी पुच्छीय (कॉडैल्स) होती हैं, जिनकी संख्या बदला करती है।

कछुए अंडे कम देते हैं, परंतु समुद्री कछुए स्थलचर कछुओं की अपेक्षा अधिक अंडे देते हैं। जलचर कछुए अपने अंडों को किनारों के समीप मिट्टी अथवा बालू में गाड़ देते हैं। कछुए धीरे धीरे बढ़ते हैं और इनकी आयु भी अधिक होती है। कुछ कछुए बारह वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर अंडे देना आरंभ करते हैं।

अधिकांश कछुए वनस्पति खाते हैं, किंतु कुछ चर्मप्रावार (मोलस्क्स), मछली इत्यादि भी खाते हैं। कछुए स्थलचर होते हैं, नदी और पोखरों में पाए जाते हैं, और समुद्र में भी तट के निकट रहते हैं। ये अधिकतर गरम देशों में ही मिलते हैं। कछुओं और अन्य उरगों के शरीर की संरचना में बहुत अंतर पाया जाता है और ऐसे अंतर सबसे प्राचीन उत्तररक्ताश्मयुग के कछुओं में भी पाए गए हैं।

कछुओं का वर्गीकरण—कछुए दो उपगणों में विभाजित किए जाते हैं—(१) आथीसी और (२) थिकोफोरा।

आथीसी—इन कछुओं की कशेरुकाएँ और पसलियाँ स्वतंत्र होती हैं पृष्ठवर्म से जुड़ी नहीं होतीं। चर्म पर सींग के समान कठोर पट्ट नहीं होते और बाहु तथा पाद क्षेपणी सदृश तथा बिना नखों के होते हैं। ये समुद्री प्राणी हैं और हिंद, प्रशांत तथा अंध महासागर के उष्ण कटिबंध प्रदेश में पाए जाते हैं।

थिकोफोरा—इन कछुओं की कशेरुकाएँ तथा पसलियाँ पृष्ठवर्म से जुड़ी होती हैं। यह समूह कई एक कुलों में विभाजित है। केलिडिडीकुल के कछुओं की पूँछें लंबी होती हैं और इनकी अँगुलियाँ जालयुक्त (वेब्ड) होती हैं। ये बड़े प्रचंड होते हैं। केलिड्रा उत्तरी अमरीका में पाया जाता है और खाया भी जाता है। टेस्ट्यूडिनिडी कुल के कछुए ऑस्ट्रेलिया और पपुएशिया को छोड़ अन्य सब प्रदेशों में पाए जाते हैं। इनमें स्थलचर और जलचर दोनों प्रकार के कछुए शामिल हैं। कछुआ, बटागर, हरदेला और चायबसिया भारत में पाई जानेवाली जातियों के नाम हैं। टेस्ट्यूडो पालिफीमस उत्तरी अमरीका में पाया जाता है। इनमें कुछ बड़े डौल के होते हैं, जिनके कवच ५५ इंच व्याम तक के होते हैं। गालापागस, ऐलडीब्रा इत्यादि स्थानों के कछुए १५० वर्ष या इससे भी अधिक समय तक जीवित रहते हैं। केलोनाइडी कुल के सब कछुए समुद्री होते हैं। हरा कछुआ
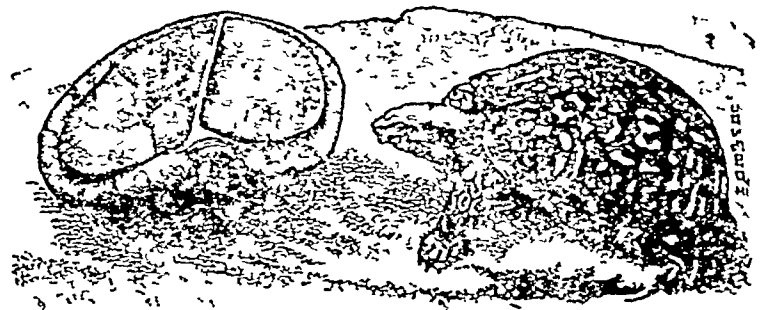
सिस्टडो कैरोलिना नामक पेटीरूपी कच्छप (बॉक्स टर्टल)

(केलोन मिडास) अंध, हिंद तथा प्रशांत महासागरों में पाया जाता है। यह वनस्पति खाकर रहता है। इसके मांस, वसा तथा कवच के भीतर के संयोजी ऊतक का झोल (सूप) बनाया जाता है। श्येनचंचु कश्यप (केलोन इंब्रिकेटा) के सींग सदृश अधिचर्मीय वर्म से चश्मों के कूर्म कवचवाले फ्रेम बनते हैं, यद्यपि अब प्लैस्टिकों के कारण इसका प्रचलन कम हो गया है। ये सब कछुए और इनके अतिरिक्त अन्य कई कुल क्रिप्टोडिरा वर्ग में रखे जाते हैं।

प्लिउरोडिरा वर्ग के सब कछुए मीठे जल में रहनेवाले हैं। पोडोक्नेमिस एक्सपैंसा खाने के काम में आता है और इसके अंडों से तेल निकाला जाता है। यह दक्षिण अमरीका में पाया जाता है। ट्रायोनिकीडी वर्ग के कछुए एशिया, अफ्रीका और उत्तरी अमरीका की नदियों में पाए जाते हैं। यह छिछले पानी में मिट्टी में रहते हैं। ट्रायोनिक्स फेरॉक्स संयुक्त राज्य

(अमरीका) मे पाया जाता है। कहा जाता है, इसका मास हरे कछुए के मास से अधिक स्वादिष्ट होता है।

मकरगण (क्रोकोडीलिया)-- ये चतुश्छिद्र करोटि अनुवर्ग (डायप्सिडा) मे रखे जाते है। ये नदी मे रहते है और इनमे कुछ बहुत विशालकाय होते है। इनके शरीर के ऊपर शल्क होते है जो अधिचर्म के सीग के समान कठोर होने से बनते है। इनके पृष्ठ पर और कुछ कुछ के उर के ऊपर भी शल्को के नीचे हड्डी के पट्ट होते है। इनके कशेरुकदड मे साधारणत ९ ग्रैव (सर्विकल), ११ (या १२) पृष्ठीय (डार्सल), ३ (या ४) कटिदेशीय (लबर), २ त्रैक (क्रैसैल), और ३५ (या अधिक) पुच्छीय (कॉडैल) कशेरुकाएँ होती है। खोपडी की पृष्ठीय और पार्श्वीय हड्डियो मे छोटे छोटे गढे होते है। प्रौढ जतुओ मे पार्श्विका और ललाटकीय अस्थियाँ एक एक होती है, युग्मित नही। उपजभ (मैक्सिले), अग्रहनु (प्रिमैक्सिले) और तालव्य अस्थि (पैलाटाइस) में, और बहुतो मे त्रिवेणी (टेरिगायड्स) मे भी पट्ट होते है जिनके बीच मे मिलने से हड्डियो का एक कठोर पट्ट बन जाता है और इस कारण नाक का आत्रिक छिद्र बहुत दूर पीछे, खोपडी के आधार पर, होता है।

कर्णपटह गुहा (टिंपैनिक कैविटी) से ग्रसनी (फैरिंग्स) मे पटहपूर नाल (यूस्टेकियन कैनैल्स) जाते है और आसपास की हड्डियो मे वायु के मार्ग (एयर पैसेजेज़) जाते है।

घडियाल--घडियाल (क्रोकोडाइलस) हिंस्र और प्रचड जतु है और बडी बडी नदियो मे रहते है। इनमे कुछ मनुष्य के लिये भी भयकर और घातक है। ये बहुत दिनो तक जीवित रहते है और जीवन भर बढते रहते है। ये ध्वनि भी पैदा करते है। अडे ये बालू मे देते है या किनारे के छोटे छोटे गढो मे।

आद्य घडियाल समुद्री थे और महासरट युग के पश्चात् ही मीठे पानी में रहनेवाले घडियाल मिलते हैं। परामकर (पैरासुकिया) गण और मेसोसुकिया उपगण के उरग वर्तमान काल के घडियालो के सदृश थे, परतु ये लुप्त हो चुके है। वर्तमान युग के घडियाल, जो सब युसूकिया उपगण मे स्थान पाते है, नक्र (ऐलिगेटर), कुभीर (केमैन), मकर प्रजाति (क्रोकोडाइलस), गगामकर प्रजाति (गैवियैलिस), ऑस्टिओलीमस और टोमिस्टोमा है। वर्तमान काल के घडियाल कई कुलो मे विभाजित किए जाते है। गैविऐलिडीकुल का गगामकर उत्तरी भारत की बडी नदियो में पाया जाता है। यह मछली खाता है और मनुष्य के लिये हानिकर नही है।

गगामकर के जीवाश्म (फॉसिल्स) शिवालिक पहाड की अतिनूतन युग की चट्टानो मे मिलते है। मकर कुल के घडियालो के जीवाश्म उत्तर खटीयुत युग और उसके पश्चात् की शिलाओ मे मिलते है। यूरोप में ये प्रातिनूतन युग तक रहते थे, पर अब ये यूरोप से लुप्त हो चुके है। मकर प्रजाति अफ्रीका, दक्षिणी एशिया, उत्तरी आस्ट्रेलिया और उष्ण अमरीका मे पाई जाती है। नक्र का सिर छोटा और चौडा होता है। यह चीन और उत्तरी अमरीका में पाया जाता है। कुभीर मध्य और दक्षिणी अमरीका मे मिलता है।

घडियालो की गणना चतुश्छिद्रकरोटि अनुवर्ग मे होती है। इनकी खोपडी मे दो पार्श्वशखक खात (लैटरल टैंपोरल फॉसी) और दो पार्श्वशखक वीथिकाएँ (आरकेड्स) होती है। नील नदी (उत्तरी अफ्रीका) का घडियाल मनुष्य पर आक्रमण करता है और अवसर प्राप्त होने पर मनुष्य को खाता है। इसी कारण नील के आसपास रहनेवाले लोग इससे बहुत भयभीत रहते है। प्राचीन काल के मिस्रनिवासी इस भयकर जीव की पूजा करते थे और इसको सूर्योदय का प्रतीक मानते थे। कुछ शहरो मे तो ये पाले भी जाते थे और सोने के गहनो से विभूषित किए जाते थे। मृत्यु के पश्चात् शव सुगधमय ओषधियो मे रखकर भूगर्भ स्थित समाधिस्थान मे गाड दिया जाता था, जिस प्रकार वहाँ के राजा लोग गाडे जाते थे। यह घडियाल लगभग १८ फुट लबा होता है।

भारत से आस्ट्रेलिया तक बडी नदियो के ज्वार-नद-सगमो मे एक घडियाल पाया जाता है जो नील के घडियाल से भी अधिक भयकर और हिंसक है। यह कभी कभी स्थल से दूर समुद्र में तैरता मिलता है। यह २० फुट लबा होता है।

भारत, मलाया और लका की नदियो में एक और घडियाल (मगर) पाया जाता है जो साधारणत १२ फुट से बडा नही होता और डरपोक होता है।

गोधिकानुगण (लैसरटिलिया)--छिपकलियो (लिज़ार्ड्स) की खोपडियो में केवल एक पार्श्वशखक खात होता है और यह अब भी भलीभाँति निश्चित नही है कि यह खात युक्तछिद्रकरोटी (सिनैप्सिडा) के खात के समजात (होमोलोगस) है, अथवा यह चतुश्छिद्र करोटियो के ऊपरी पार्श्वशखक खात के समान है। यदि यह चतुश्छिद्र करोटियो के ऊपरी पार्श्वशखक खात के समजात माना जाता है, तो इसके नीचे की दो हड्डियाँ जिनसे शखकवीथिका बनती है, पश्चनेत्रकोटरीय (पोस्ट ऑर्बिटल) और अग्रगडास्थि (स्क्वैमोसैल) मानी जायँगी। परतु यदि यह स्वीकार किया जाय कि यह खात युक्तछिद्रकरोटियो के शखक खात के समान है, तो पार्श्वशखक वीथिका की हड्डियाँ गडिकीय (जूगल) और चतुष्क गडिकीय (क्वाड्रेटोजूगल) मानी जायँगी। कई विद्वानो की यह धारणा है कि छिपकलियो का विकास न्यूज़ीलैंड के स्फानदत (स्फेनॉडॉन) नामक उरग के सदृश किसी चतुश्छिद्रकरोटि उरग से हुआ। छिपकलियो के आद्य पूर्वजो की खोपडी में चतुश्चिछद्र करोटियो के समान दो पार्श्वशखक खात और दो पार्श्वशखक वीथिकाएँ प्रस्तुत थी, किंतु चतुष्कगडिकीय हड्डी, जो गडिका और चतुष्कोणास्थि (क्वाड्रेट) के बीच में थी, क्रमश छोटी होती गई और अत मे लुप्त हो गई। इसी कारण वर्तमान काल की छिपकलियो की खोपडी मे गडिकास्थि और चतुष्कोणास्थि एक दूसरे से पृथक् है और निचला शखकखात, नीचे की ओर वीथिका न होने के कारण, खुला हुआ है।

कुछ प्राणिविज्ञ इस विचार को स्वीकार नही करते। उनकी धारणा यह है कि छिपकलियो का विकास किसी ऐसे उरग से हुआ जिसकी खोपडी मे एक ही पार्श्वशखक खात था और जो गिरि-कार्बनप्रद-युगीय तनुसरट प्रजाति (आरेओसेलिस) अथवा महासरट युगीय पार्श्वसरट (प्लिउरोसॉरस) के समान था। उस आद्य पूर्वज की खोपडी मे एक ही चौडी पार्श्वशखक वीथिका थी जो नीचे की ओर क्रमश सकीर्ण होती गई। छिपकली की खोपडी के शखक खात के पीछे की दो अस्थियो के विषय मे भी मतभेद है। उनमे से बाह्य हड्डी, जो गडिका (जूगल) की ओर है, अग्रगडास्थि (स्क्वैमोसैल) समझी जाती है। कुछ इसको परिचतुष्कोणास्थि (पैरा-

बाइपेड कैनिकुलेटस नामक केवल दो पैरो की कृमि-छिपकली
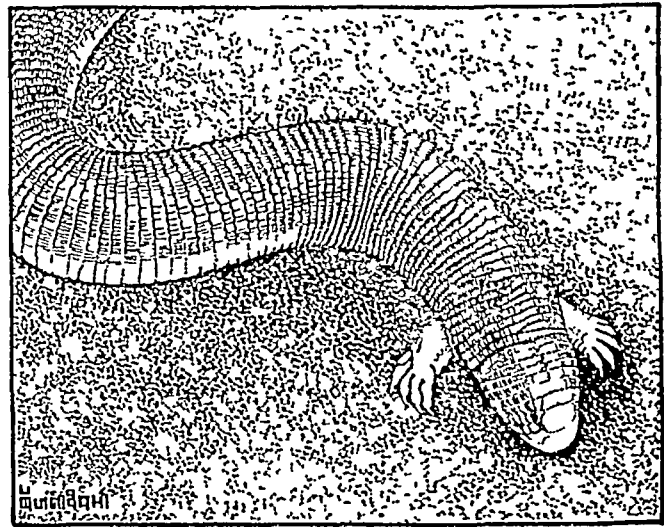
यह मेक्सिको मे पाई जाती है। कुल लबाई १० इच होती है।

क्वाड्रेट) कहते है, कुछ इसको पूर्वाग्रगडास्थि (प्रोस्क्वैमोसैल) समझते है और कुछ चतुष्कयुगीय (क्वाड्रेटो जूगल)। दूसरी हड्डी को, जो भीतर की ओर है, अधिकाश प्राणिविज्ञ उपरिशखक (सुप्राटेपोरल) कहते है,

उभयचर (देखे पृष्ठ ९८)

ऊद

वृष मेढ़क (bull frog) की बेंगची (tadpole)

चित्तीदार सैलैमैडर (Salamander)

उरग (देखे पृष्ठ १०१)
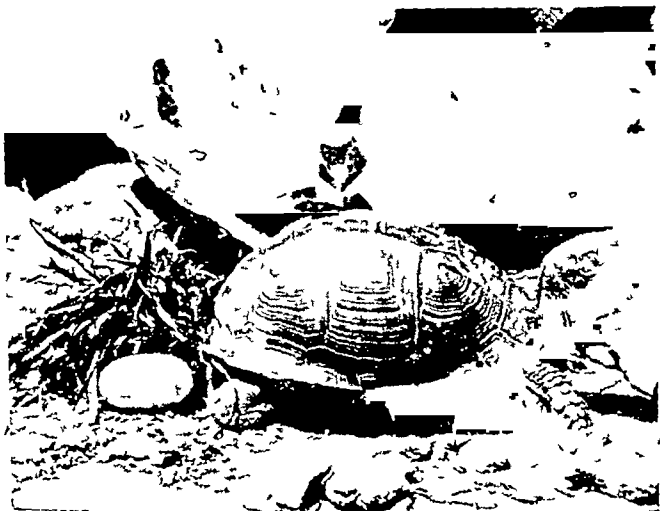
मादा कछुआ और उसका अडा

साधारण जल सर्प--मादा और बच्चे
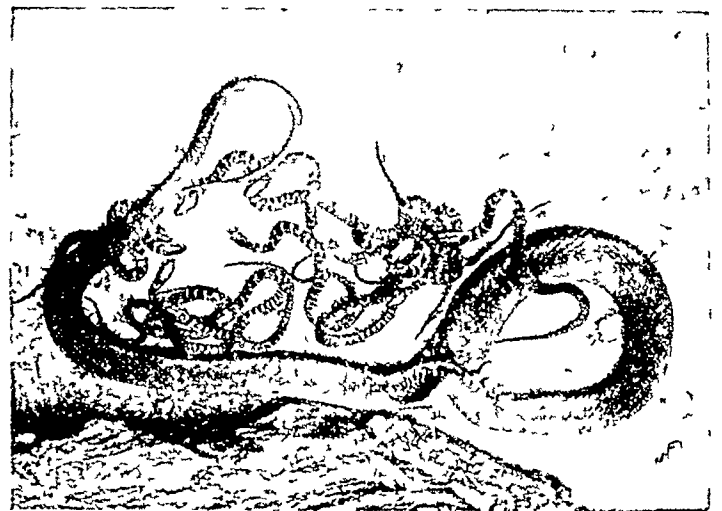
(अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्टरी के सौजन्य से प्राप्त)

ऊपर बाईं ओर मगर का सिर, दाहिनी ओर हीला नामक लगभग दो फुट लंबी छिपकली, जो निउ मेक्सिको के अरिज़ोना प्रदेश में पाई जाती है, नीचे बाईं ओर मगर पानी में उतर रहा है, दाहिनी ओर गिर्रागट। (अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्टरी के सौजन्य से प्राप्त)

उत्तर प्रदेश के देहातो में वेदार प्रजाति (वैरैनस) के वच्चो को विपखोपडा कहते है और यह कहा जाता है कि ये विपैले होते है और इनके काटने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यह असत्य है। विपगोधिका (हीलोडर्मा) के अतिरिक्त, जो मेक्सिको और ऐरिजोना में पाई जाती है, किसी भी छिपकली में आज तक विपग्रथियाँ नही पाई गई है।

भारत और मलाया में ऐसी कुछ छिपकलियाँ पाई जाती है जो थोडी दूर तक उड सकती है, जैसे ड्रेको वॉलैंज। इनके शरीर के दोनो ओर चर्म झिल्लीमय पल्लव (फ्लैप्स) के रूप में विस्तृत रहता है, जिसकी सहायता से ये ६० फुट या कुछ अधिक दूर तक विसर्पी (ग्लाइडिंग) उड्डयन कर सकती है। अमरीका के उष्ण प्रदेशो मे तृणाजन (इग्वैनिडी) कुल की कुछ छिपकलियाँ होती है जिनको वैसिलिस्क कहते है। प्राचीन काल मे लोगो का विचार था कि ये छिपकलियाँ वडी विपैली होती है। यह धारणा भी असत्य है।

सर्प—सर्पो की विशिष्ट आकृति, जिसके कारण ये तुरत पहचान लिए जाते है, यह है कि इनके वाहु तथा पाद नही होते। ये पतले और लवे होते है। इनकी आँखो में पृथक् पृथक् पलक तथा इनके शरीर में कर्णपटह गुहा और त्रिक नही होते। कशेरुक दो ही श्रेणी में विभाजित किए जाते है, पुच्छीय तथा अग्रपुच्छीय। जाइगोपॉफिसीज के अतिरिक्त इनमें सधियोजन (आर्टिकुलेशन) के लिये चापस्फान और चापखात होते है। द्विवेण्यस्थियाँ (शेवरन वोन्स) नही होती, परतु पुच्छकशेरुक के अनुप्रस्थ प्रवर्धो की अवरोही शाखाएँ पुच्छीय वाहिकाओ से वही सवध रखती है जो द्विवेण्यस्थियाँ।

सर्पो की खोपडी मे कई विशेपताएँ पाई जाती है। इसमे अतर्नेत्रकोटरीय पट (इटरऑप्टिकल सेप्टम) और उपरित्रिवेणी (एपिप्टेरिगॉएड) अस्थि नही होती। खोपडी की अगली और मध्य की पार्श्वभित्तियाँ पार्श्विका और ललाट के प्रवर्ध (प्रोसेस) से वनती है। इसमें कलातराल (फाटानेल्स) और खात (फॉसी) नही है। गडिका (जूगल) और चतुष्कयुगीय (क्वाड्रेटो जूगल) नही होते और पश्च ललाट तथा अग्र गडास्थि (स्त्रवैमोसैल) नही मिलते। अधर हनु (जॉ) की हनूच्छाखाएँ (रेमाइ) एक दूसरे के सगम (सिंफिसिस) पर सायुज्यित नही होती, केवल लचीली स्नायुओ (लिगैमेट्स) से वँधी होती है। पार्श्विका एक होती है, जिसके दाहिने और वाएँ प्रवर्ध खोपडी के तल पर एक दूसरे से जुडे होते है।

अधर हनु मे केवल छ हड्डियाँ होती है, किंतु कॉरोनॉएड कभी कभी नही होती। अधिकाश विपहीन सर्पो में उपजभ (मैक्सिली), तालव्यास्थि (पैलाटाइन्स), त्रिवेणी (टेरिगाएड्स) और दतास्थि (डेंटरीज) पर दाँत होते है। चतुष्कोणास्थि अग्रगडास्थि से सधिवद्ध (आर्टिकुलेटेड) होती है, स्वय खोपडी से नही जुडी होती। जेनोपेल्टिस और अजगर (पाइथन) में अग्रगडास्थि खोपडी की पार्श्वभित्ति में लगी होती है और चतुष्कोणास्थि स्वय खोपडी से लगी प्रतीत होती है, परतु अन्य साँपो में नही। पृदाकुवश (वाइपेरिडी) में उपजभ छोटे होते है और अग्रललाट से गतिशील विधि से सधिवद्ध होते है। दोनो उपजभो में एक एक विप के दाँत होते है। जव मुँह वद रहता है तो विपदत पीछे की ओर मुडे रहते है और मुँह की छत के साथ साथ रहते है।

सर्पो मे वाँह और असमेखला नही होती और अधिकाश मे पाद और श्रोणिप्रदेश भी नही होते। परतु अजगर कुल (वोइडी), अवसर्पवश (टिफ्लापिडी) और जेनोपेल्टिडी में श्रोणिप्रदेश और पाद के अवशेषक मिलते है।

सर्पो का आहार—साँप अपने आहार को समूचा निगल जाता है। यह मेढक और छोटे छोटे कृतक (रोडेंट्स) इत्यादि को खाता है। इसके दाँत केवल शिकार को पकडे रहने के काम आते है। विपधर सर्पो में उपजभ-दतो पर आगे की ओर एक खाँच (ग्रूव) होता है। पृदाकुवश (वाइपेरिडी) में उपजभ दतो पर खाँच नही होता, परतु पूरा दाँत खोखला और ऊपर और नीचे की ओर खुला होता है, एक अवश्चर्म पिचकारी (हाइपोडर्मिक सिरिंज) की सुई के समान। ऊपरी और निचले जवडे मे ओष्ठग्रथियाँ होती है। ऊपरी ओष्ठ ग्रथियो मे से दोनो ओर की अतिम ग्रथियाँ विपधर साँपो में विपग्रथियाँ वन जाती है। पृदाकुवश मे विपग्रथि की नाली विपदत की जड पर खुलती है, और अन्य विपधरो में मुँह मे। जिह्वा लवी और पतली होती है और अग्र दो भागो में विभाजित रहता है। इसमे ज्ञानेंद्रियाँ वहुत होती है और यह स्पर्शांग का काम देती है। अवस्कर (क्लोएका) में मूत्राशय नही होता। यह धड और पूँछ की सधि पर होता है। वायाँ फेफडा दाहिने की अपेक्षा छोटा होता है और अधिकाश विषधर साँपो मे केवल एक ही फेफडा होता है। अजगर अपने शिकार को शरीर की लपेट में दवाकर लवा और पतला कर मार डालता है और तव उसे निगलता है। कुछ विपैले साँप शिकार को विप से मारने के वाद निगलते हैं, परतु अधिकाश साँप शिकार को जीवित ही निगल जाते है। आँख की पलके एक दूसरे से सायुज्यित होती है, इसी कारण साँप पलकहीन दिखाई पडते हैं।

सर्पों की श्रेणियाँ—साँप तीन श्रेणियो में विभाजित किए जाते है। एक श्रेणी मे अधसर्पवश (टिफ्लॉपिडी), अजगर (वोइडी), लेप्टोफिलोपिडी, अनिलिडी, यूरोपेल्टिडी और ज़ेनोपेल्टिडी कुल रखे जाते है। वोइडी कुल दो उपकुलो में विभाजित होता है—उपकुल वोइनी और पाइथोनिनी। दूसरी श्रेणी में अविषाहि (कोल्यूब्रिडी), कृष्णसर्प (इलैपिडी), जलसर्प (हाइड्रोफिडी) कुल रखे जाते है। अविषाहि कुल (कोलुब्रिडी) कई उपकुलो मे विभाजित होता है। ये है ऐक्रोकॉर्डिनी, कॉलुब्राइनी, डैसिपेलिटनी, ऐग्लिसेफालिनी, हौमालोप्सिनी, डिप्साडोमॉर्फिनी और एलाकिस्टोडाटिनी। तीसरी श्रेणी में वाइपेरिडी और क्रोटैलिडी कुल आते है।

अधसर्प कुल (टिफ्लापिडी) के सर्प विल मे रहते है और नई और पुरानी दुनिया के उष्ण प्रदेशो मे पाए जाते है। ये कदाचित् ही १४ इच से अधिक लवे होते है। इनके जवडो मे दाँत नही के वरावर होते। ये कीटो के डिंभ और दीमक खाते है और वहुधा दीमको के घोसलो मे रहते है। श्रोणिप्रदेश और पाद के अवशेषक चर्म के नीचे छिपे पाए जाते है। अधसर्प जाति (टिफ्लोपस) सवसे वडी जाति है। ये सब विपहीन होते है।

लेप्टोफिलोपिडी कुल के साँप टिफ्लोपिडी की भाँति बिल मे रहनेवाले है और छोटे तथा चमकीले होते है। दाँत केवल नीचे के जवडे मे होते है। श्रोणिप्रदेश के अवशेप टिफ्लोपिडी के श्रोणिप्रदेश के अवशेष की अपेक्षा वडे होते है। लेप्टोफिलॉपस जाति एशिया, अफ्रीका, अमरीका और पश्चिमी हिंद-द्वीप-समूह में पाई जाती है।

अजगरवश (पाइथानिनी) के साँप विशालकाय और विषहीन होते है। अजगर (पाइथन) एशिया, मलाया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया मे मिलता है। वोइनीवश के साँप भी वडे वडे और विषहीन होते है।
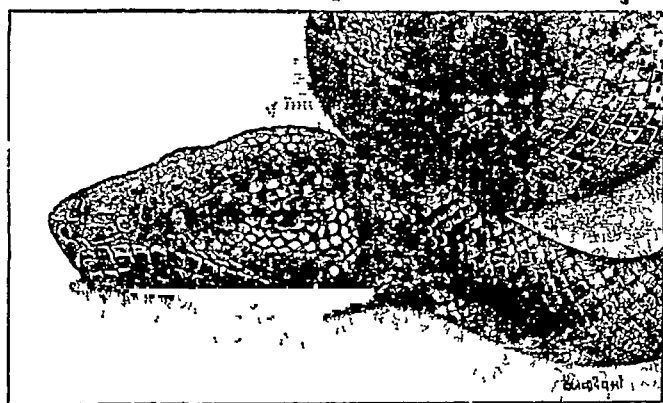
कोरेलस कूकियाइ नामक वृक्षवासी अजगर का सिर

यह अजगर पतला तथा अत्यत क्रोधी होता है। इसका निवास दक्षिण अमरीका का उष्ण कटिवध है। इसकी लवाई लगभग ७ फुट होती है।

वोआ कस्ट्रिक्टर ८–१० फुट और कभी-कभी १५ फुट लवा होता है। यह दक्षिणी एशिया, उष्ण अमरीका, उत्तरी अफ्रीका और न्यूगिनी में पाया जाता है।

ऐनिलिडी जाति के साँप सख्या मे बहुत कम है, केवल लगभग छ जातियाँ। श्रोणिप्रदेश और पाद के अवशेष बहुत छोटे होते है। ये लगभग एक गज लबे होते है और बिल मे रहते है। ये दक्षिणी अमरीका, लका, मलय द्वीपसमूह और इडोचाइना मे पाए जाते है। ये विषहीन होते है। इलिसिआ चमकदार, मूंगे के रग का लाल होता है और उष्ण अमरीका मे पाया जाता है। यूरोपेल्टिडी जाति के साँप ऐनिलिडी के समान होते है, परतु इनके शरीर मे श्रोणि और पाद के अवशेष नही होते। ये भी विषहीन होते है। ज़ेनोपेल्टिडी मे केवल एक जाति है जो दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे पाई जाती है। ये साँप विषहीन है।

कोलब्रिडीकुल के साँप सख्या मे बहुत है—२५० प्रजाति और एक हजार जाति से अधिक। ऐक्रोकॉर्डिनी, कोलुब्रिनी, डेसिपेल्टिनी, और ऐल्लिसेफेलिडी जातियो के साँप विषहीन है। हॉमालॉप्सिनी के साँपो मे विषग्रथि और विषदत होते है। परतु इनका विष बहुत शक्तिशाली नही होता। यह दक्षिणी एशिया, मलय द्वीपसमूह, न्यूगिनी और उत्तरी आस्ट्रेलिया मे पाए जाते है। डिप्साडोमॉर्फिनी के साँप विषैले होते है, परतु इनके विष के दाँत जबडो (जभो) मे पीछे की ओर होते है। ये नई और पुरानी दुनिया के गरम देशो मे पाए जाते है। एलाकिस्टोडाटि मे एक ही जाति है। इसके विष का दाँत भी पीछे की ओर होता है। एलापाइडी के सर्प सब सर्पो से अधिक विषैले है। कालानाग (कोब्रा), करैत, मावा, कृष्णसर्प (ब्लैक स्नेक), चित्र सर्प (टाइगर स्नेक) और डेथ ऐडर सब इसी कुल मे आते है। ३० प्रजातियो और १५० जातियो से अधिक के सर्प पुरानी दुनिया मे मिलते है। माइक्रूरस (ईलैप्स) अमरीका के सयुक्त राष्ट्र और उष्ण अमरीका मे मिलता है। एलापाइडी जाति के सर्पो के मुंह में दो विष के दाँत होते है, जो छोटे होते है और ऊपरी जबडे (उपरिक जभ) मे आगे की ओर होते है। विषग्रथि बहुत बडी होती है और विष बहुत शक्तिशाली होता है। हाइड्रोफिलिडी जाति के साँप समुद्री है और सब विषधर है। ये बहुधा समुद्र के किनारे से लगभग एक सहस्र मील तक की दूरी पर झुड के झुड मिलते है। इनकी पूंछ चप्पू (पैंडल) की भाँति होती है।

[वाइपेरिडी कुल के सर्प पुरानी दुनिया मे मिलते है। इनके विषदत बहुत बडे होते है। ऐडर (यूरोप), रसेल का वाइपर (भारत), सीगदार वाइपर (अफ्रीका का मरुस्थल), पफ ऐडर (अफ्रीका), गैबून वाइपर और गैडा वाइपर (राइनोसरस वाइपर) सब इसी कुल के सर्प है। इनका धड बहुत मोटा होता है और सिर चपटा और त्रिकोणाकार।

क्रौटैलिडी मे पिट वाइपर्स समिलित है। इनके सिर के दोनो ओर आँख और नाक के छिद्रो के बीच एक छिद्र होता है। ये नई और पुरानी दुनिया दोनो मे पाए जाते है। नई दुनिया मे लगभग ५० जातियाँ और पुरानी दुनिया मे लगभग ३० जातियाँ पाई जाती है। ये साँप अफ्रीका में नही मिलते। कुछ पिट वाइपर्स जो छोटे और पतले होते है, वृक्षो पर रहते है। अमरीका के रैटल स्नेक, उष्ण-अमरीका का बुश मास्टर और फेयर ड लास इसी कुल मे आते है। इन सब सर्पो के विषदत बडे बडे होते है।

पिट वाइपर नामक सर्प का सिर

यह रैटल स्नेक जाति का सर्प उत्तरी या दक्षिणी अमरीका मे पाया जाता है।

पाइथन रेटिकुलेटस दुनिया का सबसे बडा साँप है, जो पूर्वी भारत, मलाया, बर्मा, हिंदचीन और फिलिपाइन्स मे मिलता है। यह ३४ फुट तक लबा होता है। पाइथन मालरस २५ फुट तक लबा होता है और यह भारत, मलाया और जावा में मिलता है। उष्ण दक्षिणी अमरीका का ऐनाकॉण्डा (युनेक्टेस म्युरिनस) २५ फुट और कुछ इच लबा होता है। अफ्रीका का रॉक पाइथन (पाइथन सिबी) २० फुट लबा होता है और आस्ट्रेलिया का पाइथन ऐमिथिस्टिनस लगभग इतना ही लबा होता है। बोआ कास्ट्रिक्टर (कास्ट्रिक्टर) नई दुनिया मे पाया जाता है। यह ऐनाकॉण्डा से छोटा और देखने मे बहुत सुदर होता है। यह १५ फुट तक लबा होता है।

कोलुब्रिडी कुल मे ऐसे भी साँप है जो विषैले होते है, परतु ये हानिकारक नही होते, क्योकि इनका विष शक्तिशाली नही होता और इनके विष के दाँत (एक या अनेक) जबडे मे पीछे की ओर होते है जिससे वह भली भाँति काट नही सकते। इनके काटने से इनका शिकार स्तभित हो जाता है, जिससे उसे निगलने मे सुभीता होता है। क्रिसोपिलिआ ऑर्नाटा इसी प्रकार का एक साँप है जो भारतवर्ष, बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और दक्षिणी चीन मे मिलता है। यह साँप एक गज से छोटा होता है। इसका धड मोटा होता है और पसलियो के फैलने से चौडा और चपटा हो जाता है। यह छिपकलियाँ खाता है और डरने पर उडकर बहुत दूर पहुँच सकता है। उष्ण अमरीका का एक साँप सिउडो-बोआ क्लीलिया है। यह विषैले साँपो पर आक्रमण करता है, उनको दबाकर मार डालता है और अपने से कुछ ही छोटे वाइपरो तक को निगल जाता है। विषधर साँपो के काटने का इसपर कुछ भी प्रभाव नही पडता। डिसफॉलिडस टाइपस दक्षिणी अफ्रीका का इसी कुल का एक साँप है, परतु इसका विष शक्तिशाली है और इसके काटने से मनुष्य मर जाता है।

यूरोप मे सब विषधर साँप वाइपेरिडी कुल के है और ये सख्या मे बहुत कम है। वाइपेरा ऑसिनाइ आस्ट्रिया मे बहुत पाया जाता है। इसका विष अन्य वाइपर्स के विष के समान शक्तिशाली होता है, परतु यह काटता नही है और इसको बच्चे बहुधा पकड लेते है।

भारतवर्ष और मलाया मे वाइपर बहुत कम पाए जाते है। वाइपर की उत्पत्ति अफ्रीका मे हुई होगी। वहाँ सबसे अधिक सख्या मे नाना प्रकार के वाइपर पाए जाते है। यूरोप के वाइपरो को इन्ही का उत्तरी फलाव समझा जाता है। स्यूडोसिरैस्टीज पर्सिकस वालू का वाइपर है जो फारस मे पाया जाता है। एकिस वाइपर अरब और भारत मे मिलता है। भारतवर्ष और मलाया मे रसेल का वाइपर (रसेल्स वाइपर) पाया जाता है। यह साँप भयानक विषधर है। एलापाइडी कुल के साँप, जिनमे कालानाग (कोब्रा) और करैत आते है, एशिया भर मे पाए जाते है और आस्ट्रेलिया और अफ्रीका मे भी। भारत और मलाया का सबसे भयकर सर्प फणिराज (किंग कोब्रा—नेजा हैना) है। यह दुनिया का सबसे बडा विषधर साँप है। यह केवल विषहीन सर्पो का ही आहार करता है। यह बारह तेरह फुट तक लबा होता है और बलवान तथा फुर्तीला। इसका विष बहुत शक्तिशाली होता है और यह शत्रु को देखते ही आक्रमण करता है। इसमे सदेह नही कि यह दुनिया का सबसे भयकर जगली जतु है।

फणिराज (किंग कोब्रा) के अतिरिक्त पूरे एशिया मे केवल एक अन्य कोब्रा पाया जाता है। यह साधारण नाग (कोब्रा) भारत, मलाया, चीन और फिलिपाइन्स में मिलता है। इस साँप की केवल एक जाति (नेजा नेजा) है, परतु इसकी बहुत सी उपजातियाँ है। नाग (कोब्रा) पाँच छ फुट लबा होता है और इसके सर पर फन (हुड) होता है। इसका तीसरा अध्योष्ठीय वर्म (सुप्रालेबियल शील्ड) आँखो से और नास्या वर्म
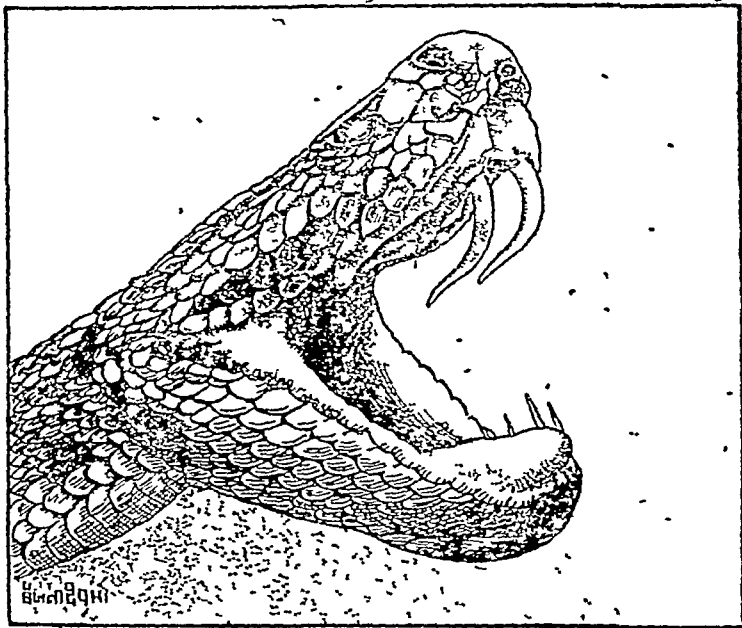
(नेज़ल शील्ड) से मिला रहता है, जिससे यह सुगमता से पहिचाना जा सकता है। करैत भारत, वर्मा मलय द्वीपसमूह, तथा दक्षिणी चीन मे पाया जाता है। यह अधिकतर साँप खाता है, परतु मेढक, छिपकली और छोटे छोटे स्तनधारी भी इसके अहार है। इसकी छ सात जातियाँ मिलती है जो सव वगारस प्रजाति के अतर्गत है। करैत का कशेरुक (वर्टेब्रल) शल्क पार्श्व शल्क की अपेक्षा वहुत कडा होता है, जिससे यह सुगमता से पहिचाना जा सकता है। हेमिवगारस, कैलोफिस और डॉलिओलोफिस भी विपधर साँप है जो एशिया मे पाए जाते है, परतु काटते वहुत कम है। एशिया में रैटल स्नेक नही होते, परतु ऐगकिस्ट्रोडॉन और ट्रिमरिस्यूरस, जो क्रोटैलिडी कुल के सदस्य है, यहाँ मिलते है।

गार्टर सर्प और कोरल सर्प अफ्रीका मे मिलते है। ये छोटे और चमकीले होते है और विपधर होते हुए भी कम काटते है। पूरे अफ्रीका में नाग (कोव्रा) मिलते है। इनकी आठ या अधिक जातियाँ मिलती है। नेजा नाइग्रिकॉलिस अपना विप आठ फुट तक फेक सकता है और वहुधा अपने शिकार की आँखो मे विप पहुँचा देता है। नेजा हाइई मिस्र देश मे पाया जाता है और नेजा निविआ दक्षिणी अफ्रीका मे। सेपेडॉन हेमाकेड्स सवसे छोटा नाग (कोव्रा) है। यह भी विप फेक सकता है, किंतु छ फुट से अधिक दूर नही। मावा (डेंड्रैस्पिस) अफ्रीका का सवसे अधिक प्रसिद्ध साँप है। इसका विप विशेष रूप से घातक है, और यह वडी फुर्ती से आक्रमण करता है। यह वहुत पतला होता है। हरे मावा छ से आठ फुट तक लवे होते हैं और काले मावे १२ फुट तक। ये पेडो पर रहते हैं। अफ्रीका के वाइपर्स मे सवसे अधिक भयानक वाइटिस गैवोनिका है। यह वडे डरावने आकार का होता है। यह चार फुट लवा होता है और इसका व्यास ७ इच होता है। इसका सिर मनुष्य की चार अगुलियो की चौडाई के वरावर होता है। इसके विप के दाँत लवे होते हैं और विप अत्यत घातक, जिससे इसके काटने से प्राणी उसी समय मर जाता है। इसके विप मे हीमोटाक्सिन और न्यूरो टाक्सिन दोनो होते है, जिससे रक्त का नाश होता है और तत्रिकाकेंद्र भी शिथिल हो जाते है, विशेषकर साँस मे सहायक मासपेशियो का वाहिकाप्रेरक तत्र। साधारण वाइपरो मे केवल हीमोटॉक्सिन ही होता है, न्यूरोटॉक्सिन नही होता या कम होता है। कहते है वाइटिस नैसिकॉर्निस का विप वाइटिस गैवॉनिका के विष से भी अधिक घातक होता है। यह नदी के किनारे पाया जाता है और इस कारण इसको रिवर जैक कहते है। अफ्रीका में इनके अतिरिक्त भी वहुत से विपैले साँप मिलते है।

सयुक्त राज्य (अमरीका) के विषधर साँप कई प्रकार के है। वहाँ रैटल स्नेक, कॉपरहेड, वाटर मौकासिन और कोरल स्नेक पाए जाते है। रैटल स्नेक, कॉपरहेड और मौकासिन ये तीनो प्रकार के सर्प पिट वाइपर है और क्रॉटैलिडी कुल मे रखे जाते है। रैटल स्नेक तुरत पहिचाने जा सकते है। इनकी पूँछ का अतिम भाग कुछ जुडी हुई अँगूठियो के आकार का होता है। यहाँ कायभित्ति के अदर कुछ छोटे छोटे असवद्ध पुच्छकशेरुक होते हैं जो पूँछ हिलाने पर एक विशेष ध्वनि उत्पन्न करते है। कोरल स्नेक नाग (कोव्रा) और करैत के समान विषैले माने जाते है। इनके विप का प्रभाव तत्रिका केंद्र पर पडता है। माइक्रूरस फलविअस एक प्रकार का कोरल स्नेक है, यह अधिकतर छोटे सापो और छिपकलियो को खाता है। रैटल स्नेक वहुत प्रकार के मिलते है, किंतु अधिकाश प्रजातियाँ क्रॉटैलस की जातियाँ हैं। क्रॉटैलस ऐडामैंटिअस नौ फुट तक लवा होता है। इसका सिर तीन इच चौडा होता हे और विप के दाँत तीन चार इच लवे। छ फुट जतु का भार छ से आठ सेर तक होता है। इसकी गणना दुनिया के अत्यत घातक सर्पो मे है। क्रॉटैलस हॉरिडस भी इसी प्रकार का एक घातक साँप है किंतु उत्तरी क्रॉटैलस हारिडस वहुत कम आक्रमण करता है। दक्षिण के ये साँप वडे होते है और भयानक भी। मध्य और दक्षिणी अमरीका मे केवल एक जाति का रैटल स्नेक मिलता है,परतु पिट वाइपर वहुतायत से मिलते है। ये सव वोथ्रॉप्स प्रजाति मे आते है। वुशमास्टर की एक जाति पाई जाती है जिसको लैकिसिस कहते है। यह जतु १२ फुट लवा होता है। वोथ्राक्स ऐट्रॉक्स का विष बडी शीघ्रता से प्रभाव डालता है। यह रक्तकोशाओ तथा रक्त की नालियो को नष्ट करता है और घाव के चारो ओर के अगो को गला डालता है।

आस्ट्रेलिया के सर्प अधिकाश विपैले है। दुनिया के अन्य भागो मे विपहीन सर्प विपधरो की अपेक्षा वहुत अधिक है, परतु आस्ट्रेलिया मे दशा इसके विपरीत है। यहाँ के कई एक एलापाइन्स नामक सर्प इतने छोटे है और इनके विपदत इतने छोटे है कि ये वहुत कम हानि पहुँचाते है। परतु यहाँ के वडे सर्प अत्यत विपैले है। स्यूडेकिस पारफीरिऐकस एक घातक सर्प है, परतु इसका विप औरो की अपेक्षा कम शक्तिशाली है। नोटेकिस स्क्यूटेटस आस्ट्रेलिया का सवसे भयकर और घातक सर्प है। इसका विप दुनिया के अन्य सव सर्पो के विप से अधिक शक्तिशाली और घातक है, परतु यह कम मात्रा में वनता है, क्योकि इस साँप की विपग्रथियाँ वहुत छोटी होती है। आकैथोफिस ऐंटार्क्टिकस, जिसको आस्ट्रेलिया मे डेथ ऐडर कहते है, वाइपर की भाँति का साँप है। यह दो फुट लवा होता है, परतु इसका सिर वडा होता है और इसके विप के दाँत नोटेकिस स्क्यूटेट्स के विपदत से वडे होते है। यह भी वहुत घातक साँप है।

सर्पो की उत्पत्ति—ऐसा माना जाता है कि सर्पो की उत्पत्ति विल मे रहनेवाली छिपकलियो से हुई है। यदि यह धारणा सत्य है, तो यह मानना पडेगा कि सर्पो मे शखकछदि (कनपटी की छत) एकदम लुप्त हो गई और सव शखक खात खुल गए है। जो हड्डी चतुष्कोणास्थि को कपाल से मिलाती है वह अग्रगडास्थि (स्क्वैमोसैल) है, या उपरिशखक (सुप्राटेपोरैल) या चिपिटास्थि (टैवुलर)।

युक्तछिद्रकरोटी (सिनैप्सिडा) और चतुश्छिद्रकरोटी (डाइऐप्सिडा)—अछिद्रकरोटी महागण (ऐनैप्सिडा) से युक्तछिद्रकरोटी और चतुश्छिद्रकरोटी उत्पन्न हुए। युक्तछिद्रकरोटी का एक मुख्य प्रतिनिधि है थीरोमॉर्फा जिसकी खोपडी में एक शखक खात नेत्रकोटरपश्च (पोस्ट ऑर्विटल) और गडिका (जूगल) के वीच था। शीतसरट (पेलिकोसॉरिया) और डाइनोसेफालिया में यही दशा वर्तमान है। परतु पश्चात् के युक्तछिद्रकरोटियो में यह खात ऊपर की ओर फैलता गया, यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा पार्श्विका हो गई। यह दशा द्विश्वदतगण (डाइसिनोडॉन्शिया) और स्तनिदतगण (थीरियोडॉन्शिया) मे मिलती है और उन स्तनधारियो में भी जो स्तनिदतगण से विकसित हुए। स्तनिदतगण का स्तनधारियो में विकास होने मे शखक खात वहुत वडा हो गया और अग्रललाट, पश्चललाट, नेत्रकोटरपश्च और चतुष्कयुगीय क्रमश लुप्त हो गए। चिपिटास्थि लुप्त हो गई या पार्श्विका से सायुज्यित हो गई। पश्चपार्श्विकाएँ, अतरापार्श्विका के रूप में शेप रह गई जो वहुधा अध्यनुकपाल से सायुज्यित हो जाती है। पश्च शख-खात का अभिलोपन हो गया और पार्श्विक तथा अग्रगडास्थि अधिक फैल गई। मीनसरट गण (इक्थियोसॉरिया) मे भी एक ही शखक खात था। ये मछली के सदृश उरग थे जो समुद्र मे रहते थे और लुप्त हो चुके है। ये रक्ताश्म युग से खटीयुत युग तक जीवित रहे। इनके जीवाश्म भारत, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, यूरोप, अमरीका और अफ्रीका मे मिलते है। इनमे से वडे ३० या ४० फुट तक लवे थे। इनके वाहु पाद फ्लिपरो (तैरने मे सहायक अगो) के सदृश थे और इनकी हड्डियाँ विचित्र थी। लवी हड्डियाँ (प्रगडिका, ह्यूमरस, ऊर्विका (फीमर), वहिष्प्रकोष्ठिका (रेडियस) इत्यादि छोटी और चौडी थी। किसी किसी में ८ या ९ अँगुलियाँ थी और अगुलास्थि (फैलेंजेज़) वहुत सी। ललाट वीथिका (टेंपोरैल आरकेड), अग्रगडास्थि (स्क्वैमोसैल), उपरिशखक (सुप्राटेपोरैल) और चतुष्कयुगीय (क्वाड्रेटोजूगल) की वनी थी। उपरिशखक खात (सुप्राटेपोरैल फासा) की सीमा पार्श्विका (पैराइटल), अग्रगडास्थि (स्क्वैमोसैल), पश्चललाट (पोस्टफ्राटल) से वनी थी। तुड (स्नाउट) लवा था और नेत्रकोटर (ऑर्विट) वडे वडे।

चतुश्छिद्रकरोटियो मे दो शखक खात और दो पार्श्वशखक वीथिकाएँ (लटरैल टेंपोरैल आर्केड्स) होती है। इनमे पल्ल्याभगण (रिंकोसिफेलिया), मकरगण (क्रोकोडिलिया), भीमसरटगण (डाइनोसॉरिया), सॉरिस्किया और ऑर्निथिस्किया इत्यादि आते हैं। सवसे आद्य चतुश्छिद्रकरोटि जो अभी तक मिला है वह उलूखलदत (यगिना) प्रजाति है, जो दक्षिणी अफ्रीका के गिरियुगीन स्तरो मे पाया गया है। यह न्यूजीलैंड के स्फानदत

(स्फीनोडॉन) से मिलता-जुलता है। पल्याभगण का प्रतिनिधित्व करनेवाला यह स्फानदत आज भी जीवित है, शेष सब लुप्त हो चुके हैं।

भीमसरट—भीमसरटगण रक्ताश्म युग से खटीयुत युग तक जीवित रहे और अब सब लुप्त हो चुके हैं। इनके जीवाश्म यूरोप, एशिया, अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया और मैडेगैस्कर मे मिलते हैं। कॉम्सॉग्नाथस विल्ली के बराबर था, और मेगालोसॉरस हाथी के बराबर। मेगालोसॉरस यूरोप और अमरीका मे रहता था। ऐटलैटोसॉरस ११५ फुट लबा था और ब्राण्टोसॉरस ६० फुट। इग्वैनोडॉन लगभग ३० फुट लबा था। स्टेगोसॉरस का सिर बहुत छोटा था और बाहु बहुत छोटी परतु शक्तिशाली। पृष्ठनितबास्थि (इलियम) आगे दूर तक फैली थी। इसके शरीर पर बेडी हड्डियो का कवच था। यह २८ फुट लबा था।

उडनेवाले उरग—टेरोसॉरिया उडनेवाले उरग थे। इनके जीवाश्म (फौसिल) अवरमहासरट युग (लोअर लायस) से खटीयुत (क्रिटेशस) युग तक मिलते हैं। अपने बाह्य लक्षणो मे ये पक्षियो के समान थे, परतु इनके पर नही थे। इनकी बाहु बडी थी और अत प्रकोष्ठिकी अँगुली (अल्नर डिजिट) बहुत लबी थी जिसपर चर्म की झालर (पाटेजियल एक्सपैंशन) आधारित थी। [मु० ला० श्री०]

उरगपुर

चोड साम्राज्य की तीन राजधानियो मे से पहली उरगपुर थी। एक समय उरगपुर पल्लवो के अधिकार मे था और जब उनकी चालुक्यो से शत्रुता चल रही थी तब, जैसा चालुक्य अभिलेख (एपिग्रैफिया इडिका, खड १०,पृ० १००-१०६) से प्रगट है, चालुक्यराज विक्रमादित्य प्रथम ने काची पर तो अधिकार कर ही लिया, महामल्ल के कुल का नाश करता हुआ वह उरगपुर तक जा पहुँचा था। कालिदास ने उरगपुर को, पाड्यो की राजधानी कहा है (रघु० ६ ५९)। करिकालचोड ने पाड्यो का आधिपत्य हटाकर उरगपुर को वीरान कर दिया। उसी नगर के निकट से चोलो की शक्ति का उत्कर्ष ८५० ई० से पहले विजयालय ने किया था। उरगपुर का वर्तमान प्रतिनिधि त्रिचनापल्ली के पास उरय्युर है। [ओ० ना० उ०]

उरद

को सस्कृत मे माष या बलाढ्य, बँगला मे माष कलाई, गुजराती मे अडद, मराठी मे उडीद, पजाबी मे माँह तथा लैटिन मे फेसिओलस रेडिएटस कहते हैं।

इसका द्विदल पौधा लगभग एक हाथ ऊँचा होता है और भारतवर्ष मे सर्वत्र ज्वार, बाजरा और रुई के खेतो मे और अकेला भी बोया जाता है। इससे मिलनेवाली दाल भोजन और ओषधि, दोनो रूपो में उपयोगी है। बीज की दो जातियाँ होती हैं (१) काली और बडी, जो वर्षा के आरभ मे बोई जाती है और (२) हरी और छोटी, जिसकी बोआई दो महीने पश्चात् होती है।

इसकी हरी फलियो की भाजी तथा बीजो से दाल, पापड, बडे इत्यादि भोज्य पदार्थ बनाए जाते हैं। आयुर्वेद के मतानुसार इसकी दाल स्निग्ध, पौष्टिक, बलकारक, शुक्र, दुग्ध, मास और मेदवर्धक, वात, श्वास और बवासीर के रोगो मे हितकर तथा शौच को साफ करनेवाली है।

रासायनिक विश्लेषणो से इसमें स्टार्च ५६ प्रति शत, अल्बुमिनाएड्स २३ प्रति शत, तेल सवा दो प्रति शत और फास्फोरस ऐसिड सहित राख साढे चार प्रति शत पाई गई है। [भ० दा० व०]

उरबाना

सयुक्त राज्य अमरीका के ओहायो राज्य का एक नगर तथा सैंपेन काउटी की राजधानी है (जनसख्या १९५० मे ८४,३९१)। उरबाना सर्वप्रथम १७९७ ई० मे ग्रीन ब्रीयर के कर्नल विलियम वर्ड द्वारा बसाया गया, बाद मे उन्होने अपनी भूमि इस प्रतिबध पर नगर के लिये बेचना आरभ किया कि उससे प्राप्त धन का उपयोग जनोपयोग के लिये किया जाय। यह गाँव १८०५ ई० में बसा तथा १८६७ ई० में नगर बना। यही उरबाना विश्वविद्यालय भी स्थित है। [सु० कु० सिं०]

उरार्तू

वर्तमान आर्मीनिया का प्राचीन असूरी नाम। उस देश के नाम की ध्वनि आज भी उसके पर्वत अरारात के नाम मे ध्वनित है। यह महत्व की बात है कि स्वय उरार्तू के निवासी अपने कीलाक्षरोवाले अभिलेखो मे अपने को 'खल्दिनी' कहते हैं। विद्वानो का मत है कि अधिकतर वहाँ के रहनेवाले पश्चिम से आकर आराक्सिज नदी की घाटी मे बस गए थे जो न तो जाति से सामी ही थे, न आर्य ही। उरार्तू के राजाओ से बढती हुई असूरी शक्ति का बार बार सघर्ष हुआ और बार बार उरार्तू को पराभूत होना पडा। उरार्तू के राज्य का ऐतिहासिक आरभ एक हजार ई० पू० के आसपास माना जा सकता है।

उरार्तू के राजाओ मे सबसे शक्तिमान् इस्पुइनिस का बेटा मेनुआस हुआ। उसके जीवन का सबसे प्रधान कार्य 'शमीराम्सू' नामक नहर का निर्माण था जिससे उस देश मे मीठे पेय जल का प्रादुर्भाव हो सका। उसके पुत्र अर्गिस्तिस प्रथम ने अपने १४ वर्षो के शासन और युद्धो का वृत्तात वान की शिला पर खुदवाया। उरार्तू का दूसरा शक्तिमान् राजा ८वी सदी ई० पू० मे रूसस प्रथम हुआ जो असूरिया के राजा सारगोन द्वितीय का प्रबल शत्रु था।

७१४ ई० पू० मे कोहकाफ के दर्रो से निकलकर किमेरियो ने उरार्तू पर प्रबल आक्रमण किया और रूसस को मजबूर होकर आत्महत्या कर लेनी पडी। रूसस के पोते रूसस द्वितीय ने किमेरियो को अपनी सेवा में भर्ती कर असूरिया से युद्ध किया फिर उन्हें लघु एशिया के पश्चिमी भागो की ओर भगा दिया। छठी सदी ई० पू० में मीदी आर्यो ने उरार्तू को रौद डाला।

खल्दी सभवत पश्चिमी लघु एशिया की ओर से आए थे और स्वय प्राचीन ईजियाई सभ्यता से प्रभावित थे। आर्य ग्रीको को उन्होने पहले स्वय प्रभावित किया और जब उनके देश उरार्तू पर उस अरमीनी जाति ने विजय पाई, जिसने उसे उसका पिछला नाम आर्मीनिया दिया, तब खल्दी अपना वह देश छोड पहाडो मे जा बसे। उरार्तू का उल्लेख बाइबिल मे भी हुआ है। उसी के अरारात पर्वत के शिखर से, बाइबिल के अनुसार, जलप्रलय के अवसर पर हजरत नूह की जीवो के जोडो से भरी नौका जा लगी थी। [भ० श० उ०]

उरुवेला

पालि मे उरुका अर्थ बालू है, और वेला का नदी-तट। गया और बुद्ध गया के बीच नेरजरा (वर्तमान फल्गु) नदी का जो विस्तृत बालुकामय तट है वही पालि साहित्य मे उरुवेला के नाम से प्रसिद्ध है। बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम ने बुद्धत्व लाभ करने के पूर्व दीर्घ काल तक यहाँ रहकर कठिन तपस्या का प्रयोग किया था। इसी उरुवेला के पास सेनानी कस्बा था जहाँ रहनेवाली कन्या सुजाता ने बोधिसत्व को खीर-पायस—अर्पण किया था। जब बुद्ध कपिलवस्तु से लौट राजगृह की ओर जा रहे थे तब उरुवेला मे निवास करनेवाले सैकडो जटाधारी साधुओ को अपने योगबल से परास्त कर उन्होने अपने धर्म मे दीक्षित किया था। [भि० ज० का०]

उर्दू भाषा और साहित्य

उर्दू भारतवर्ष की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे से एक है। इसका विकास मध्ययुग मे उत्तरी भारत के उस क्षेत्र मे हुआ जिसमे आज पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली और पूर्वी पजाब समिलित हैं। इसका आधार उस प्राकृत और अपभ्रश पर था जिसे शौरसेनी कहते थे और जिससे खडी बोली, ब्रजभाषा, हरियानी और पजाबी आदि ने जन्म लिया था। मुसलमानो के भारत मे आने और पजाब तथा दिल्ली में बस जाने के कारण इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा मे फारसी और अरबी शब्द भी समिलित होने लगे और धीरे धीरे उसने एक पृथक् रूप धारण कर लिया। मुसलमानो का राज्य और शासन स्थापित हो जाने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था कि उनके धर्म, नीति, रहन सहन, आचार विचार का रग उस भाषा मे झलकने लगे। इस प्रकार उसके विकास मे कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ समिलित हो गई जिनकी आवश्यकता उस समय की दूसरी भारतीय भाषाओ को नही थी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में बोलचाल मे खडी बोली का प्रयोग होता था। उसी के आधार पर बाद मे उर्दू का साहित्यिक रूप निर्धारित हुआ। इसमे काफी समय लगा अत देश के कई भागो मे थोडे थोडे अतर के साथ इस भाषा का विकास अपने अपने ढग से हुआ।

उर्दू का मूल आधार तो खडी बोली ही है किंतु दूसरे क्षेत्रो की बोलियो का प्रभाव भी उसपर पडता रहा। ऐसा होना ही चाहिए था, क्योकि

आरभ में इनकी बोलनेवाली या तो बाजार की जनता थी अथवा वे सूफी-फकीर थे जो देश के विभिन्न भागो में घूमकर अपने विचारो का प्रचार करते थे। इसी कारण इस भाषा के लिये कई नामो का प्रयोग हुआ है। अमीर खुसरो ने उनको 'हिंदी', 'हिंदवी' अथवा 'जबाने देहलवी' कहा था, दक्षिण में पहुँची तो 'दकिनी' या 'दक्खिनी' कहलाई, गुजरात में 'गुजरी' (गुजराती उर्दू) कही गई, दक्षिण के कुछ लेखको ने उसे 'जबाने-अहले-हिंदुस्तान' (उत्तरी भारत के लोगो की भाषा) भी कहा। जब कविता और विशेषतया गजल के लिये इस भाषा का प्रयोग होने लगा तो इसे 'रेख़ता' (मिली जुली बोली) कहा गया। बाद में इसी को 'ज़बाने उर्दू', 'उर्दू-ए-मुअल्ला' या केवल 'उर्दू' कहा जाने लगा। यूरोपीय लेखको ने इसे साधारणत 'हिंदुस्तानी' कहा है और कुछ अग्रेज लेखको ने इसको 'मूर्स' के नाम से भी सबोधित किया है। इन कई नामो से इस भाषा के ऐतिहासिक विकास पर भी प्रकाश पडता है।

उद्गम की दृष्टि से उर्दू वही है जो हिंदी, देखने में केवल इतना ही अतर मालूम देता है कि उर्दू में अरबी फारसी शब्दो का प्रयोग कुछ अधिक होता है। इसकी लिपि देवनागरी से भिन्न है और कुछ मुहावरो के प्रयोग ने इसकी शैली और ढांचे को बदल दिया है। परतु साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो इसके विकास की पृष्ठभूमि, साहित्यिक परपराएँ और रूप सब एक अन्य सांचे में ढले हुए हैं। यह सब कुछ ऐतिहासिक कारणो से हुआ है जिसका ठीक ठीक अनुमान उसके साहित्य के अध्ययन से किया जा सकता है। परतु इससे पहले एक बात की ओर और ध्यान देना चाहिए। उर्दू तुर्की भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है वह बाजार जो शाही सेना के साथ साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता रहता था। वहाँ जो मिली जुली भाषा बोली जाती थी उसको उर्दूवालो की भाषा कहते थे, क्रमश वही भाषा स्वय उर्दू कही जाने लगी। इस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग १७वी शताब्दी के अत से मिलता है।

उर्दू का प्रारभिक रूप या तो सूफी फकीरो की बानी मे मिलता है या जनता की बोलचाल मे। भाषा की दृष्टि से उर्दू के विकास मे पजाबी का प्रभाव सबसे पहले दिखाई पडता है, क्योकि जब १५वी और १६वी सदी में इसका प्रयोग दक्षिण के कवि और लेखक साहित्यिक रचनाओ के लिये करने लगे तो उसमें पजाबीपन पर्याप्त मात्रा में पाया जाता था। १७वी और १८वी शताब्दी में ब्रजभाषा का गहरा प्रभाव उर्दू पर पडा और बडे बडे विद्वान् कविता मे 'ग्वालियरी भाषा' को अधिक शुद्ध मानने लगे, किंतु उसी युग में कुछ विद्वानो और कवियो ने उर्दू को एक नया रूप देने के लिये ब्रज के शब्दो का बहिष्कार किया और फारसी-अरबी के शब्द बढाने लगे। दक्षिण में जिस उर्दू का प्रयोग किया जाता था, उत्तरी भारत में उसे नीची श्रेणी की भाषा समझा गया क्योकि वह दिल्ली की बोलचाल की उस भाषा से भिन्न थी जिसमें फारसी साहित्य और सस्कृति की झलक थी। बोलचाल में यह भेदभाव चाहे कुछ अधिक दिखाई न दे किंतु साहित्य में शैली और शब्दो के विशेष प्रयोग से यह विभिन्नता बहुत व्यापक हो जाती है और बढते बढते अनेक साहित्यिक स्कूलो का रूप धारण कर लेती है, जैसे 'दकन स्कूल', 'दिल्ली स्कूल', 'लखनऊ स्कूल', 'बिहार स्कूल' इत्यादि। सच यह है कि उर्दू भाषा के बनने में जो सघर्ष जारी रहा उसमें ईरानी और हिंदुस्तानी तत्व एक दूसरे से टकराते रहे और धीरे धीरे हिंदुस्तानी तत्व ईरानी तत्व पर विजय पाता गया। अनुमान लगाया गया है कि जिस भाषा को उर्दू कहा जाता है उसमें लगभग ८५ प्रति शत शब्द वे ही हैं जिनका आधार हिंदी का कोई न कोई रूप है। शेष १५ प्रति शत में फारसी, अरबी, तुर्की और अन्य भाषाओ के शब्द समिलित हैं जो सास्कृतिक कारणो से मुसलमान शासको के जमाने मे स्वाभाविक रूप में उर्दू में घुल-मिल गए थे। इस समय उर्दू पाकिस्तान के अनेक क्षेत्रो में, उत्तरी भारतवर्ष के कई भागो में, काश्मीर और आध्र प्रदेश में बहुत से लोगो की मातृ-भाषा है।

इस बात की ओर सकेत किया जा चुका है कि मुसलमान भारतवर्ष में आए तो यहाँ के जीवन पर उनका प्रभाव पडा और वे स्वय यहाँ की स्थिति से प्रभावित हुए। उन्होने यहाँ की भाषाएँ सीखी और उनमें अपने विचार प्रकट किए। सबसे पहले लाहौर के ख्वाजा मसऊद साद सलमान (११६६ ई०) का नाम मिलता है जिन्होने हिंदी में अपना काव्यसग्रह एकत्र किया जो दुर्भाग्य से आज प्राप्त नही होता। उसी समय में कई सूफी-फकीरो के नाम मिलते हैं जो देश के कोने कोने मे घूम फिरकर जनता में अपने विचारो का प्रचार कर रहे थे। इस बात का अनुमान करना कठिन नही है कि उस समय कोई बनी बनाई भाषा प्रचलित नही रही होगी इसलिये वे बोलचाल की भाषा मे फारसी अरबी के शब्द मिलाकर काम चलाते होगे। इसके बहुत से उदाहरण सूफियो के सबध मे लिखी हुई पुस्तको मे मिल जाते हैं। जिन लोगो की कविताएँ अथवा वाक्य मिले हैं उनमें से कुछ के नाम ये हैं बाबा फरीद शकरगज (मृ० १२६२ ई०), शेख हमीदउद्दीन नागौरी (मृ० १२७४ ई०), शेख शरफुद्दीन बू अली कलदर (मृ० १३२३ ई०), अमीर खुसरो (मृ० १३२४ ई०), शेख सिराजउद्दीन (मृ० १३५६ ई०), शेख शरफुद्दीन यहिया मनेरी (मृ० १३७० ई०), मखदूम अशरफ जहाँगीर (मृ० १३५५ ई०), शेख अब्दुलहक (मृ० १४३३ ई०), सैयद गेसूदराज़ (मृ० १४२१ ई०), सैयद मुहम्मद जौनपुरी (मृ० १५०४ ई०), शेख बहाउद्दीन बाजन (मृ० १५०६ ई०) इत्यादि। इनके वचन और दोहरे इस बात का पता देते हैं कि एक ऐसी भाषा बन रही थी जो जनसाधारण समझ सकता था और जिसका रूप दूसरी बोलियो से भिन्न था।

ऊपर के कवियो मे अमीर खुसरो और गेसू दराज उर्दू साहित्य के प्रारभिक इतिहास में बहुत महत्व रखते हैं। खुसरो की हिंदी रचनाएँ, जिनका कुछ अश दिल्ली की खडी बोली में होने के कारण उर्दू कहा जाता है, देवनागरी में भी प्रकाशित हो चुकी है, परतु गेसू दराज के लेखो और कविताओ की खोज अभी जारी है। इस समय तक 'मेराजुल-आशिकीन', 'चक्की-नामा', 'तिलावतुल वजूद', 'मेराजनामा' प्राप्त हो चुकी हैं, इन सब में सूफी विचार प्रकट किए गए हैं। गेसू दराज़ दिल्ली निवासी थे परतु उनका ज्यादा समय दक्षिण में बीता, वही उनकी मृत्यु हुई और इसी कारण उनकी भाषा को दक्किनी उर्दू कहा जाता है। सच यह है कि उर्दू, जिसने दिल्ली के आसपास एक भाषा का रूप ग्रहण किया था, सेनाओ, सूफी फकीरो, सरकारी कर्मचरियो और व्यापारियो के साथ देश के अन्य भागो मे पहुँची और उचित वातावरण पाकर बढी और फैली।

उर्दू के साहित्यिक रूप के प्रारभिक विकास के चिह्न सबसे पहले दक्षिण और गुजरात में दिखाई पडते हैं। गेसूदराज के अतिरिक्त मीरानजी शमसुल-उश्शाक, बुरहानुद्दीन जानम, निज़ामी, फिरोज़, महमूद, अमीनुद्दीन आला ने ऐसी रचनाएँ छोडी हैं जो प्रत्येक उर्दू साहित्य के इतिहास में स्थान प्राप्त कर सकती हैं। बहमनी राज्य के पतन के पश्चात् जब दक्षिण में पाँच राज्य बने तो उर्दू को उन्नति करने का और अवसर मिला। जनता से सपर्क रखने के लिये बादशाहो ने भी उर्दू को ही मुख्य स्थान दिया। गोलकुडा और बीजापुर मे साहित्य और कला कौशल की उन्नति हुई। दिल्ली से नाता तोडने और अपनी स्वाधीनता प्रकट करने के लिये उन्होने फारसी के विरुद्ध इस देशी भाषा को अपनाया और साहित्यकारो का साहस बढाया। बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह ने अपनी सुविख्यात रचना 'नौरस' १६वी शताब्दी के अत में प्रस्तुत की। इसमें ब्रज और खडी बोली का मेल है, फारसी अरबी के शब्द भी बीच बीच में आ जाते हैं। परतु इसका पूरा ढाँचा एकमात्र हिंदुस्तानी है। इसके समस्त गीत भारतीय सगीत के आधार पर लिखे गए हैं। इसकी भूमिका फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान् 'जहूरी' ने फारसी में लिखी जो 'सेहनस्र' (तीन गद्य) के नाम से आज भी महत्व रखती है। बीजापुर के अन्य दूसरे बादशाह भी स्वय कवि और कवियो के सरक्षक थे। इनमें 'आतशी', 'मुकीमी', 'अमीन', 'रुसतमी', 'खुशनूद', 'दौलतशाह' के नाम स्मरणीय हैं। बीजापुर के अतिम दिनो में उर्दू का महान् कवि 'नुसरती' पैदा हुआ जिसने श्रृगार और वीर रस में श्रेष्ठ कविताएँ लिखी।

बीजापुर की ही भाँति गोलकुडा में भी बादशाह और जनता सब अधिकतर उर्दू ही में लिख रहे थे। मुहम्मद कुली कुतुबशाह (मृ० १६११ ई०) स्वय उर्दू, फारसी, और तेलुगू में कविताएँ लिखता और कवियो को प्रोत्साहन देता था। उसके काव्यसग्रह में भारत के मौसमो, फलो, फूलो, चिडियो और त्यौहारो का विचित्र वर्णन मिलता है। उसके बाद जो और बादशाह हुए वे भी अच्छे कवि हुए और उनके सग्रह भी विद्यमान हैं, प्रसिद्ध कवियो और लेखको में 'वजही', 'गौव्वासी', 'इब्ने निशाती' 'गुलामअली' इत्यादि महत्व रखते हैं। इस प्रकार दक्षिण में उर्दू के इस

पहले साहित्यिक रूप ने कुछ ऐसी रचनाओ को जन्म दिया जो साहित्य और चिंतन दोनो की दृष्टि से सराहनीय हैं। इन रचनाओ में कुलियाते कुली-कुवतशाह, कुतुब मुशतरी (वजही), सबरस (वजही), फूलबन (इब्ने-निशाती), सैफुल-मुलूक व वदीउल जमाल (गौव्वासी), मनोहर मधु-मालती (नुसरती), चद्रवदन व महयार (मुकीमी) इत्यादि उर्दू की श्रेष्ठ रचनाओ में गिनी जाती हैं।

१७वी शताव्दी की समाप्ति के पूर्व उर्दू गुजरात, अरकाट, मैसूर और मद्रास मे पहुँच चुकी थी। गुजरात मे इसकी उन्नति अधिकतर सूफी कवियो के हाथो हुई जिनमे शेख बाजन, शाहअलीज्यु और खूब मुहम्मद चिश्ती की रचनाएँ बहुत महत्व रखती हैं।

क्योकि उर्दू की परपराएँ वन चुकी थी और लगभग तीन सौ वर्षो में उनका सगठन भी हो चुका था इसलिये जब सन् १६८७ ई० मे मुगलो ने दक्षिण को अपने राज्य मे मिला लिया तव भी उर्दू साहित्य के सोते नही सूखे वल्कि काव्यरचना ने और तीव्र गति से उन्नति की। १७वी शताब्दी के अत और १८वी शताब्दी के आरभ मे 'वली' दक्खिनी, (१७०७ ई०), 'वहरी', 'वजदी', 'वली' वेलोरी, 'सेराज' (१७६३ ई०), 'दाऊद', और 'उजलत' जैसे कवियो ने जन्म लिया। इनमे भी 'वली' दक्खिनी, 'वहरी' और 'सेराज' की गणना उर्दू के बहुत वडे कवियो मे होती है। 'वली' को तो उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच की कडी कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि दिल्ली की बोलचाल की भाषा उर्दू थी परतु फारसी के प्रभाव से वहाँ के पढे लिखे लोग अपनी सास्कृतिक आवश्यकताएँ फारसी से ही पूरी करते थे। वे समझते थे कि उर्दू से इनकी पूर्ति नही हो सकती। 'वली' और उनकी कविता के उत्तरी भारत मे पहुँचने से यह भ्रम दूर हो गया और सहसा उत्तरी भारत की साहित्यिक स्थिति मे एक क्रातिकारी परिवर्तन हो गया। थोडे ही समय मे दिल्ली सैकडो उर्दू कवियो की वाणी से गूँज उठी।

अव उर्दू के दिल्ली स्कूल का इतिहास आरभ होता है। यह बात स्मरणीय है कि यह सामत काल के पतन का युग था। मुगल राज केवल अदर से ही दुर्बल नही था वरन् बाहर से भी उसपर आक्रमण होते रहते थे। इस स्थिति से जनता की बोलचाल की भाषा ने लाभ उठाया। अगर राज्य प्रवल होता तो न नादिरशाह दिल्ली को लूटता और न फारसी की जगह जनता की भाषा मुख्य भाषा का स्वरूप धारण करती। इस समय के कवियो मे 'खाने आरजू', 'आबरु', 'हातिम' (१७८३ई०), 'यकरग', 'नाजी', 'मजमून', 'तावाँ' (१७४८ ई०) 'फुगाँ' (१७७२ ई०), 'मजहर जाने जानाँ', 'फायेज' इत्यादि उर्दू साहित्य मे बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। दक्षिण में प्रवध काव्यो और मरसियो (शोक कविताओ) की उन्नति हुई थी, दिल्ली मे गजल का बोलवाला हुआ। यहाँ की प्रगतिशील भाषा हृदय के सूक्ष्म भावो को प्रकट करने के लिये दक्षिणी भाषा की अपेक्षा अधिक समर्थ थी इसलिये गजल की उन्नति स्वाभाविक जान पडती है। यह बात भी याद रखने योग्य है कि इस समय की कविताओ मे श्रृगार रस और भक्ति के विचारो को प्रमुख स्थान मिला। सैकडो वर्ष के पुराने समाज की बाढ रुक गई थी और जीवन के सामने कोई नया लक्ष्य नही था इसलिये इस समय की कविता में कोई शक्ति और उदारता नही दिखलाई पडती। १८वी शताब्दी के समाप्त होने से पहले एक ओर नई नई राजनीतिक शक्तियाँ सिर उठा रही थी जिनसे मुगल राज्य निर्बल होता जा रहा था, दूसरी ओर वह सभ्यता अपनी परपराओ की रोगी सुदरता की अतिम वहार दिखा रही थी। दिल्ली मे उर्दू कविता और साहित्य के लिये ऐसी स्थिति पैदा हो रही थी कि उसकी पहुँच राजदरबार तक हो गई। मुगल वादशाह शाहआलम (१७५६–१८०६ ई०) स्वय कविता लिखते थे और कवियो को आश्रय देते थे। इस युग मे जिन कवियो ने उर्दू साहित्य का सिर ऊँचा किया वे हैं 'मीर दर्द' (१७८४ ई०), 'मिर्जा सौदा' (१७८५ ई०), 'मीर तकी मीर' (१८१० ई०) और 'मीर सोज'। इनके विचारो की गहराई और ऊँचाई, भाषा की सुदरता तथा कलात्मक निपुणता प्रत्येक दृष्टि से सराहनीय है। 'दर्द' ने सूफी विचार के काव्य में, 'मीर' ने गजल में और 'सौदा' ने लगभग समस्त क्षेत्रो मे उर्दू कविता की सीमाएँ विस्तृत कर दी।

परतु दिन बहुत बुरे आ गए थे। ईस्ट इडिया कपनी का दवाव वढता जा रहा था और दिल्ली का राजसिंहासन डाँवाडोल था। विवश होकर शाह आलम ने अपने को कपनी की रक्षा मे दे दिया और पेशन लेकर दिल्ली छोड प्रयाग मे वदियो की भाँति जीवन विताने लगे। इसका फल यह हुआ कि वहुत से कवि और कलाकार अन्य स्थानो को चले गए। इस समय कुछ नए नए राजदरबार स्थापित हो गए थे, जैसे हैदराबाद, अवध, अजीमाबाद (पटना), टाँडा, फर्रुखाबाद इत्यादि। इनकी नई ज्योति और जगमगाहट ने बहुत से कवियो को अपनी ओर खीचा। सबसे अधिक आकर्षक अवध का राजदरबार सिद्ध हुआ, जहाँ के नवाब अपने दरबार की चमक दमक मुगल दरबार की चमक दमक से मिला देना चाहते थे। दिल्ली की स्थिति खराव होते ही 'फुगाँ', 'सौदा', 'मीर', 'मीर हसन', (१७८७ ई०) और कुछ समय वाद 'मुसहफी', (१८२५ ई०) 'इशा' (१८१७ ई०), 'जुरअत' और अन्य कवि अवध पहुँच गए और वहाँ काव्यरचना का एक नया केंद्र बन गया जिसको 'लखनऊ स्कूल' कहा जाता है।

सन् १७७५ ई० मे लखनऊ अवध की राजधानी बना। उसी समय से यहाँ फारसी अरबी की शिक्षा वडे पैमाने पर आरभ हुई और अवधी के प्रभाव से उर्दू मे एक नई मिठास उत्पन्न हुई। क्योकि यहाँ के नवाब शिया मुसलमान थे और वह शिया धर्म की उन्नति और शोभा चाहते थे इसलिये यहाँ की काव्य रचना मे कुछ नई प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई जो लखनऊ की कविता को दिल्ली की कविता से अलग करती हैं। उर्दू साहित्य के इतिहास में दिल्ली और लखनऊ स्कूल की तुलना वडा रोचक विषय वनी रही है, परतु सच यह है कि सामती युग की पतनशील सीमाओ के अदर दिल्ली और लखनऊ मे कुछ बहुत अतर नही था। यह अवश्य है कि लखनऊ मे भाषा और जीवन के बाह्य रूप पर अधिक जोर दिया जाता था और दिल्ली में भावो पर। परतु वस्तुत दिल्ली की ही साहित्यिक परपराएँ थी जिन्होने लखनऊ की बदली हुई स्थिति मे यह रूप धारण किया। यहाँ के कवियो मे 'मीर', 'मीर हसन', 'सौदा', 'इशा', 'मुसहफी', 'जुरअत', के पश्चात् 'आतिश' (१८४७ ई०), 'नासिख' (१८३८ ई०) 'अनीस' (१८७४ ई०), 'दबीर' (१८७५ ई०), 'वजीर' 'नसीम', 'रश्क', 'रिंद' और 'सबा' ऊँचा स्थान रखते हैं। लखनऊ मे मरसिया और मसनवी को विशेष रूप से उन्नति करने का अवसर मिला।

लखनऊ और दिल्ली स्कूलो के वाहर भी साहित्यरचना हो रही थी और ये रचनाएँ राजदरबारो के प्रभाव से दूर होने के कारण जनसाधारण के भावो के निकट थी। इस सबध मे सबसे महत्वपूर्ण नाम 'नजीर' अकबराबादी का है। उन्होने रुढिवादी विचारो से नाता तोडकर हिंदुस्तानी जनता के दिलो की धडकन अपनी कविताओ में वद की। उनकी शैली और विचारधारा दोनो मे भारतीय जीवन की सरलता और उदारता मिलती है।

पश्चिमी सपर्क के फलस्वरूप १६वी शताब्दी के मध्य मे भारतवर्ष की दूसरी भाषाओ की तरह उर्दू मे भी नई चेतना का आरभ हो गया और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनो के कारण नई विचारधारा का उद्भव हुआ। किंतु इससे पहले दिल्ली की मिटती हुई सामती सभ्यता ने 'जौक' (१८५२ ई०), 'मोमिन' (१८५५ ई०), 'गालिब', (१८६६ ई०) 'शेफता' (१८६६) और 'जफर' जैसे कवियो को जन्म दिया। इनमे विशेष रूप से गालिब की साहित्यिक रचनाएँ उस जीवन की शक्तियो और त्रुटियो दोनो की प्रतीक हैं। उनकी महानता इसमे है कि उन्होने अपनी कविताओ मे हार्दिक भावो और मानसिक स्थितियो, दोनो का समन्वय एक विचित्र शैली में किया है।

उर्दू गद्य का विकास नए युग से पहले ही हो चुका था परतु उसकी उन्नति १६वी शताब्दी मे हुई। दक्षिण मे 'मेराजुल आशिकीन' और 'सबरस' (१६३४ ई०) के अतिरिक्त कुछ धार्मिक रचनाएँ मिलती हैं। उत्तरी भारत मे 'तहसीन' की 'नौ तरजे मुरस्सा' (१७७५ ई०) का नाम लिया जा सकता है। अग्रेजो ने अपनी सुविधा के लिये फोर्ट विलियम कालेज (१८०० ई०) स्थापित किया और गद्य में कुछ पुस्तके लिखवाईं जिसके फलस्वरूप उर्दू गद्य की उस नई शैली का विकास हुआ जो पचास वर्ष बाद पूर्णतया प्रचलित हुई। यहाँ की रचनाओ मे मीर अम्मन की 'वागोवहार', हैदरी की 'आराइशे महफिल', अफसोस की 'वागे उर्दू' विला की 'वेताल पचीसी', जवान की 'सिहासन वत्तीसी', निहालचद की 'मजहवे इश्क' उच्च कोटि की रचनाएँ हैं। १६वी सदी के आरभ मे ही 'इशा' ने 'रानी केतकी की कहानी' और 'दरियाए लताफत' लिखी

थी। लखनऊ मे सबसे महत्वपूर्ण और कथासाहित्य मे सुविख्यात पुस्तक 'फिसानए अजायव' १८२४ ई० मे लिखी गई, इसके लेखक रजव अली वेग 'सुरूर' हैं। अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार के कारण नए पाठ्यक्रम वन रहे थे। इसके लिये १८४२ ई० मे देहली कालेज मे 'वर्नाक्युलर ट्रासलेशन सोसाइटी' की स्थापना हुई जहाँ रामायण, महाभारत, लीलावती, धर्मशास्त्र इत्यादि के अतिरिक्त विभिन्न विपयो की लगभग डेढ सौ पुस्तको के उर्दू अनुवाद हुए। इस प्रकार उर्दू गद्य भी उन्नति करता रहा और इस योग्य हुआ कि नई चेतना का साथ दे सके।

उर्दू साहित्य मे नवजागृति के वास्तविक चिह्न १८५७ के विद्रोह के वाद ही से मिलते हैं। इसके ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक कारण स्पष्ट है। इन कारणो से जो नई चेतना उत्पन्न हुई उसी ने नए कवियो और साहित्यकारो को नई स्थिति के अनुकूल लिखने का अवसर दिया। इसमें सबसे पहला नाम सर सैयद (१८१७–१८९७ ई०) का लिया जा सकता है। उन्ही के नेतृत्व मे हाली, (१८८७–१९१४ ई०), आजाद (१८३३–१९१० ई०), नज़ीर अहमद (१८३४–१९१२ ई०) और शिवली (१८५७–१९१४ ई०) ने उर्दू गद्य और पद्य में महान् रचनाएँ की और अंग्रेजी साहित्य से प्रेरणा लेकर अपने साहित्य को समय के अनुकूल वनाया। वहुत से छापेखाने खुल गए थे, पत्रपत्रिकाएँ निकल रही थी, नए पुराने का सघर्ष चल रहा था, इसलिये इन लोगो को अपने नए विचार प्रकट करने और उन्हे फैलाने मे वडी सुविधा हुई। इसी युग में 'सरशार', 'शरर' और मिर्जा रुसवा का नाम भी लिया जा सकता है, जिन्होंने उपन्यास साहित्य मे वहुमूल्य वृद्धि की। इस युग को हर प्रकार से आलोचना का युग कहा जा सकता है, जो कुछ लिखा जा रहा था उसको इतिहास अपनी कसौटी पर परख रहा था। इन महान् लेखको ने आलोचना, निवध, उपन्यास, जीवनी, कविता के रूप मे जो कुछ लिखा हे वही आज के नए साहित्य का आधार है। इस युग की महानता यह है कि साहित्यकार ही नवचेतना के अग्रदूत और नेता वन गए थे। राजनीतिक दृष्टि से ये लोग क्रातिकारी नही थे, किंतु इन्ही की विचारधारा ने वाद के लेखको को प्रेरणा दी।

२०वी सदी का आरभ होने से वहुत पहले राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो चुकी थी और उसकी झलक इन साहित्यकारो की कृतियो में भी मिल जाती है, परतु इसका पूरा विकास 'इकवाल' (१८७३–१९३८ ई०), 'चकवस्त' (१८८२–१९२६), 'प्रेमचद' (१८८०–१९३६ ई०), इत्यादि की कविताओ और लेखो मे हुआ। यह भी याद रखना चाहिए कि इसी के साथ साहित्य की पुरानी परपराएँ भी चल रही थी और 'अमीर' (१८९९), 'दाग' (१९०५), 'जलाल' (१९१०), और दूसरे कवि भी अपनी गजलो से पढनेवालो को मोहित कर रहे थे। किसी न किसी रूप में यह धारा अव तक चली जा रही है। इस शताव्दी के उल्लेखनीय कवियो में 'सफी', दुर्गासहाय 'सुरूर', 'साकिव', 'महशर', 'अजीज', 'रवाँ', 'हसरत', 'फानी', 'जिगर', 'असर' और लेखको मे हसन निज़ामी, राशिदुल खैरी, सुलैमान नदवी, अव्दुलहक, रशीद अहमद, मसूद हसन, मौलाना आज़ाद और आविदहुसेन हैं।

वर्तमान काल मे साहित्य की सीमाएँ और विस्तृत हुई है और हर विचार के लेखक अपने अपने ढग से उर्दू साहित्य को दूसरे साहित्यो के वरावर लाने मे लगे हुए हैं। कवियो मे 'जोश', 'फिराक', 'फैज', 'मजाज़', 'हफीज़', 'सागर', 'मुल्ला', 'रविश', 'सरदार', 'जमील' और 'आज़ाद' के नाम उल्लेखनीय है, तो गद्य मे कृष्णचद्र, 'अश्क', हुसेनी, 'मिटो', हायतुल्लाह, इसमत, अहमद नदीम, ख्वाज़ा अहमद अव्वास अपना महत्व रखते है। २०वी शताव्दी मे आलोचना साहित्य की वडी उन्नति हुई। इसमे नियाज, फिराक 'ज़ोर', कलीम, मजनूं, सुरूर, एहतेशाम हुसैन, एजाज हुसैन, मुमताज हुसैन, इवादत इत्यादि ने बहुत सी बहुमूल्य पुस्तकें लिखी।

२०वी शताव्दी में साहित्यिक स्कूलो के झगडे समाप्त होकर विचारधाराओ के आधार पर साहित्यरचना होने लगी थी। अंग्रेजी साहित्य और शिक्षा के प्रभाव से छायावादी कविता को वढावा मिला। फिर प्रजातत्र और राष्ट्रीयता की भावना ने प्रगतिशील आदोलन को जन्म दिया जो १९३६ ई० से आरभ होकर किसी न किसी रूप में अव तक चल रहा है। इस वीच में 'मार्क्स' और 'फ्रायड' ने भी लेखको को भिन्न भिन्न समूहो मे वाँटा। कुछ लेखक मुक्त छद मे भी कविताएँ लिखने लगे किंतु इस प्रकार के समस्त प्रयोग अभी तक अपनी जडें बहुत गहरी नही कर सके है।

सं० ग्र०—(अंग्रेजी) ग्रैहम वेली उर्दू लिटरेचर, एस० एम० अव्दुल्ला स्पिरिट ऐंड सव्सटैंस ऑव उर्दू प्रोज ऐंड दि इन्फ्लुएस ऑव सर सय्यद, ए० लतीफ इन्फ्लुएस ऑव इग्लिश ऑन उर्दू लिटरेचर, अव्दुलकादिर फेमस उर्दू पोएट्स ऐंड राइटर्स, रामवावू सक्सेना हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर, (उर्दू) मुहम्मद हुसेन आजाद आवेहयात, शमशुल्लाह कादिरी उर्दू ए कदीम, सैय्यद जामिन अली उर्दू जवान व अदव, गार्सा द तासी खुतवाते गार्सा द तासी, अव्दुलकादिर सरवरी जदीद उर्दू शायरी, रामवावू सक्सेना तारीखे अदव उर्दू (अनुवादक, मिर्जा मुहम्मद असकरी), अली सरदार जाफरी तरक्की पसद अदव, हामिद हसन कादिरी दास्ताने तारीखे उर्दू, नसीरउद्दीन हाशमी दकन मे उर्दू, नूरुलहसन हाशमी दिल्ली का दबिस्ताने शायरी, नसीरुद्दीन हाशमी मदरास में उर्दू, अव्दुलहक मुकदमाते अव्दुलहक (दो भाग), अव्दुल लैस सिद्दीकी लखनऊ का दविस्ताने शायरी, एहतेशाम हुसेन हिंदुस्तानी लसानियात का खाका।

[सै० ए० हु०]

उर्फी शीराज़ी शीराज़ निवासी, उर्फी का नाम मुहम्मद, उपाधि जमालुद्दीन तथा तखल्लुस 'उर्फी' था। उसका जन्म ९६४ हि० (१५५७ ई०) अथवा ९६३ हि० (१५५६ ई०) में हुआ। उसका पिता जैनुद्दीन वलवी शीराज़ में एक उच्च पद पर नियुक्त था। उसने तत्कालीन प्रचलित ज्ञानो के साथ साथ चित्रकला की भी शिक्षा प्राप्त की और अपने पिता के उच्च पद के अनुरूप अपना तखल्लुस उर्फी रक्खा। २० वर्ष की अवस्था में ही चेचक के कारण कुरूप हो जाने पर भी उसके पिता के उच्च पद एव उसकी प्रतिभा ने उसे स्वाभिमानी वना दिया था। परिणामस्वरूप युवावस्था मे ही अपने समकालीन प्रसिद्ध ईरानी कवियो से टक्कर लेने के कारण उसे ईरान त्याग कर भारतवर्ष आना पडा। उस समय केवल अकवर का ही दरवार विदेशी कलाकारो को आकर्पित नही करता था अपितु अकवर के उच्च पदाधिकारी भी कलाकारो को आश्रय देने में ईरान के शाह तहमास्प सफवी (शासनकाल १५२४ ई०—१५७६ ई०) एव शाह अव्वास सफवी (शासनकाल १५८८ ई०—१६२९ ई०) से कम न थे। उन लोगो की सहृदयता ने उसे भारतगमन के लिये प्रेरित किया और समुद्र के मार्ग से १५८५ ई० में अहमदनगर और वहाँ से १० मार्च, १५८५ ई० को फतहपुर सीकरी पहुँचा जहाँ अकवर के दरवार के प्रसिद्ध कवि शेख अवुल फैज़ 'फैजी' के सेवको मे समिलित हो गया और उन्ही के साथ नववर १५८५ ई० में अकवर के शिविर में अटक पहुँचा। कुछ समय उपरात वह अकवर के एक अन्य अमीर मसीहुद्दीन हकीम अवुल फतह का आश्रित हो गया। १५८९ ई० में हकीम की मृत्यु हो गई और वह अव्दुर्रहीम खानखाना के आश्रितो में समिलित हो गया। फारसी के सभी प्रसिद्ध कवि खानखाना के दरवार की शोभा थे, फलत उर्फी की कला को क्रमश और अधिक परिमार्जित तथा उन्नत होने का अवसर मिलता रहा। खानखाना उसके प्रति विशेष उदारता प्रदर्शित करता था। वाद मे वह अकवर के दरवारी कवियो मे समिलित हो गया। शाहजादा सलीम से, जो जहाँगीर के नाम से सिंहासनारूढ हुआ, उसे वडा प्रेम था। किंतु उर्फी अधिक दिनो जीवित न रहा। शव्वाल, ९९९ हि० (१ अगस्त, १५९१ ई०) में ३५ अथवा ३६ वर्ष की अल्पावस्था मे आमातिसार के कारण लाहौर में उसकी जीवनलीला का अत हो गया।

भारतवर्ष में भी उसके स्वाभिमान मे कोई कमी न हुई। उसकी कुशाग्र वुद्धि, वाक्पटुता एव व्यगप्रियता ने लोगो को उससे रुष्ट कर दिया था। यद्यपि उसकी असामयिक मृत्यु के कारण उसकी प्रतिभा का पूर्ण विकास न हो सका, तथापि कवि के रूप मे उसने अपने जीवनकाल में ही ईरान तथा भारतवर्ष दोनो मे लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। उसकी अधिक प्रसिद्धि का कारण उसके कसीदे थे जिनकी जोरदार भाषा, नवीन तथा मौलिक वाक्याशो की रचना, प्रकरणो की क्रमवद्धता तथा नए अलकारो एव नवीन उपमाओ ने उसे एक नई रचनाशैली का आविष्कारक

बना दिया। उर्फी की गजलो को अधिक प्रसिद्धि न प्राप्त हो सकी किंतु उसको अपनी गजलो पर ही गर्व था। गजलो में दार्शनिक विचारो तथा उच्च आदर्शो की काव्यमय अभिव्यक्ति उसकी रचना की मुख्य विशेषता है। उसके स्वतत्र भावप्रकाशन एव उसकी धार्मिक उदारता ने उसकी गजलो को बडा रोचक बना दिया है।

उसकी रचनाएँ सर्वप्रथम १५८७-८८ ई० में सकलित हुईं। इस सकलन में २६ कसीदे, २७० गजलें एव ३२० शेरो के किताआत तथा ३८० शेरो की रुबाइयाँ थी। उसने कुछ मसनवियो तथा सूफी मत के आत्मा-सबधी सिद्धातो की व्याख्या करते हुए 'नफसिया' नामक गद्य की एक पुस्तक की भी रचना की थी।

स० ग्र०—(फारसी) अबुल फज़ल आईने, अकबरी, भाग १ (कलकत्ता, १८७३ ई०), अकबरनामा, भाग ३ (कलकत्ता, १८८६ ई०), अब्दुल बाकी निहावदी मआसिरे रहीमी, भाग ३ (कलकत्ता, १९२७ ई०), अलाउद्दौला कज़वीनी नफायसुल मआसिर, रज़ा पुस्तकालय, (रामपुर, हस्तलिपि), बदायूनी, अब्दुल कादिर—मुनतखबुत्तवारीख भाग २, ३ (कलकत्ता १८६९ ई०), फैज़ी, शेख अबुल फैज़ी—लताइफे फैज़ी (लखनऊ विश्वविद्यालय, हस्तलिपि), औहदी, तकी अरफात (खुदाबख्श लाइब्रेरी, पटना), (उर्दू) शिब्ली नोमानी शेरुल अजम (आजमगढ, १९४५ ई०), (अग्रेज़ी) मुहम्मद अब्दुल गनी ' ए हिस्ट्री ऑव पर्शियन लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर ऐट दि मुगल कोर्ट (भाग ३, (इलाहाबाद, १९३० ई०)। [सै० अ० अ० रि०]

उर्मिला सीरध्वज जनक की कन्या और सीता की छोटी बहन। वे लक्ष्मण की पत्नी थी जिनका प्रेम और आत्मत्याग सराहनीय था। लक्ष्मण के राम का अनुगमन करने पर उर्मिला को कुछ कम नही सहना पडा। अगद और धर्मकेतु उनके पुत्र थे जिन्होने आगदि एव लक्ष्मणावती नगर बसाए। साहित्य में उनकी उपेक्षा की ओर रवीद्रनाथ ठाकुर ने अपने प्रसिद्ध निबध 'काव्येर उपेक्षिता' मे सकेत किया था। पिछले काल के हिंदी काव्य मे उर्मिला का बारबार उल्लेख हुआ है। [च० म०]

उर्वशी एक नितात रूपसी अप्सरा। उर्वशी का कथानक ऋग्वेद (१०।७५) तथा शतपथ ब्राह्मण में विस्तार के साथ निबद्ध है। श्रीमद्भागवत (११।४), विष्णुपुराण तथा पद्मपुराण (अवति खड, अ० ८) आदि पुराणो में यही कथा कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है। पुराणो का कहना है कि बदरिकाश्रम मे तपस्या करनेवाले नरनारायण ऋषि की उग्र तपस्या को भग करना उर्वशी के अलौकिक सौंदर्य तथा पराक्रम का एक बहुश स्तुत्य कार्य था। परतु वेदो में उर्वशी का सबध राजा पुरुरवा के साथ अमिट रूप से निश्चित किया गया है।

उर्वशी और पुरुरवा का आख्यान वेदयुग की एक रोमाचक प्रणयगाथा है। दिव्य होने पर भी उर्वशी ने राजा पुरुरवा के साथ प्रणयपाश में बद्ध पृथ्वीतल पर रहना अगीकार किया था, परतु इसके लिये राजा को तीन शर्तें माननी पडी थी कि वह सदा घृत का ही आहार किया करेगी, उसके प्यारे दोनो मेष सदा उसकी चारपाई के पास बँधे रहेगे, जिससे कोई उन्हे चुरा न सके। तीसरी बात तो सबसे विकट थी कि यदि वह किसी भी अवस्था मे राजा को नग्न देख लेगी, तो वह एक क्षण में वहाँ से गायब हो जायगी। पुरुरवा ने इन्हे स्वीकार कर लिया और दिव्य प्रेयसी के सग आनदविभोर होकर अपना जीवन बिताने लगा, परतु गधर्वो को उर्वशी की अनुपस्थिति में स्वर्ग नीरस तथा निर्जीव प्रतीत होने लगा। फलत उन लोगो ने उन शर्तो को तोड डालने के लिये एक छल की रचना की। रात के समय उन्होने उर्वशी के पास से एक मेष को चुरा लिया। मेष की करुणाजनक बोली सुनते ही उर्वशी ने चोर को पकडने के लिये राजा को ललकारा, जो तुरत ही आकाश मे मेष की रक्षा के लिये दौड पडा। उसी समय गधर्वो ने बिजली चमका दी। राजा का नग्न शरीर उर्वशी के सामने स्पष्ट ही प्रगट हो गया। वह राजा को छोडकर बाहर निकल पडी। राजा उसके विरह मे विपण्ण होकर पागल की तरह भूमडल में घूमने लगा। अततोगत्वा कुरुक्षेत्र के एक जलाशय मे उसने हसियो को पानी पर तैरते हुए देखा और उनमे हसी का रूप धारण करनेवाली अपनी प्रेयसी को पहचाना। उसे लौट आने की विनम्र प्रार्थना की, परतु उर्वशी किसी प्रकार भी राजा के पास लौट आने के लिये तैयार नहीं हुई। राजा की दयनीय दशा देखकर गधर्वो के हृदय मे सहानुभूति उत्पन्न हुई। और उन्होने उसे अग्नि विद्या का उपदेश दिया जिसके अनुष्ठान से उसे उर्वशी का अविच्छिन्न समागम प्राप्त हुआ। इसी कथा को कुछ भेद के साथ कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशी' का आधार बनाया। [ब० उ०]

उल्का वह पिंड है जो रात मे आकाश मे गिरते तारे के समान जान पडता है। इसका अधिकाश हमारे वायुमडल में ही भस्म हो जाता है। जो अश बचकर भूमि तक पहुँचता है उसे उल्कापिंड कहते हैं (देखे **उल्कापिंड**)। प्राचीन चीनी साहित्य मे उल्काओ की चर्चा कई स्थानो पर है। ऋग्वेद (४।४।२७, १०,६८,४), अथर्ववेद (१९, ९, ९), महाभारत आदि मे भी उल्काओ की चर्चा है। यूरोप के प्राचीन साहित्य मे कही कही इनका उल्लेख मिलता है। पहले यूरोप के वैज्ञानिक समझते थे कि उल्काएँ वायुमडल में से ही गिरती हैं, परतु सन् १८३३ से माना जाने लगा कि वे पृथ्वी के बाहर से आती हैं। सन् १८३३ के १३ नवबर को उल्काओ की एक झडी लग गई। यह झडी पूर्वी उत्तर अमरीका से रात भर देखी गई। अनुमान किया गया कि दो लाख से ऊपर उल्काएँ गिरी। उनमे से अधिकाश बडी चमकीली थी, परतु भूमि तक सभवत कोई भी उल्का नही गिर पाई, सब वायुमडल में ही भस्म हो गईं। कई लोगो ने देखा कि सब उल्काएँ आकाश के एक बिंदु से चलती हुई जान पड रही थी। सभी उल्का झडियो और उल्का बौछारो मे यह विशेषता देखी जाती है। आकाश के जिस बिंदु से उल्काएँ चलती जान पडती हैं उसको उल्कामूल (रेडियंट) कहते हैं। जिस तारामडल मे किसी उल्का झडी या बौछार का मूल रहता है उसी के अनुसार उस उल्का-झडी का नाम पड जाता है, उदाहरणत सिंहवाली (लिओनिड्स), वीणावाली (लायरिड्स), इत्यादि।

समझा जाता है कि किसी एक बौछार की उल्काएँ समातर रेखाओ पर चलती हैं, परतु पर्स्पेक्टिव के नियमो के अनुसार वे एक बिंदु से—उल्का मूल से—फैलती हुई जान पडती हैं।

सिंहवाली उल्का बौछारे कई बार देखी जा चुकी हैं, साधारणत ३३-३३ वर्षो के अतर पर और सदा अक्टूबर या नवबर मास में। देवयानी-वाली उल्काएँ (ऐंड्रोमीड्स) भी कई बार देखी गईं। उनके बारे मे पता चला कि उनका प्रकाशमूल ठीक उसी मार्ग पर चलता था जिसपर बीला नामक धूमकेतु।

इनके अतिरिक्त उल्का बौछारो मे वीणा, ययाति (पर्सियस) मृग (ओरायन) तथा मिथुन (जेमिनी) वाली उल्काएँ उल्लेखनीय हैं। वीणा की प्रमुख उल्काएँ २० अप्रैल, १८०३ और २१ अप्रैल, १९२२ को दिखाई पडी थी, परतु उल्काओ की बहुलता रहने पर भी उनमे चमक की कमी थी। ययातिवाली उल्काओ का समय प्राय जुलाई के अत से अगस्त के आरभ तक है और इन्ही को लेकर सर्वप्रथम यह सिद्ध किया गया कि उल्कामूल में भी अन्य आकाशीय पिडो के समान दैनिक गति होती है। मृग और मिथुन की उल्काओ के समय क्रमानुसार अक्टूबर के अतिम पक्ष और दिसबर के प्रथम पक्ष है। १९२६ ईसवी में जियाकोबिनी ज़ीनर धूमकेतु से एक साधारण उल्का बौछार निकली, और १९३३ ईसवी मे इस बौछार का अवलोकन शताब्दी का सबसे प्रमुख दृश्य था जो साढे पाँच घटे तक दिखाई पडता रहा।

उल्कामूल की कक्षाएँ—अनेक उल्काएँ एकाकी जान पडती हैं—वे किसी उल्का बौछार से सबद्ध नही जान पडती। इसके अतिरिक्त बौछार या झडी के रूप मे बार बार लौटनेवाली उल्काएँ कुछ समय मे मिट जाती हैं। देवयानीवाली उल्काएँ कई बार अच्छा प्रदर्शन करने के बाद मिट गईं। जान पडता है, अतरिक्ष मे रोडो और कणो के समूह हैं जो निश्चित कक्षा मे चलते रहते हैं और जब कभी पृथ्वी अपनी कक्षा मे चलते चलते उनके पास पहुँच जाती है तो उल्का झडी लग जाती है। परतु रोडो का समूह बृहस्पति आदि बडे ग्रहो के आकर्षण से विचलित हो जाता है, उनकी

कक्षा वदल जाती है। तब उनसे और पृथ्वी से मुठभेड नही होती और उस उद्गम से उल्का झडी नही लगती। फिर, समूह के रोडो में परस्पर आकर्षण इतना कम रहता है कि प्रत्येक वार जब वे पृथ्वी या अन्य ग्रह के पास पड जाते है तो निकटवाले रोडो के अधिक खिंचने के कारण समूह कुछ फैल जाते है और अत में वे बहुत तितर वितर हो जाते हैं। अनुमान किया जाता है कि रोडो का समूह धूमकेतुओ के सिरो के भाग है। धूमकेतु के सिर भी रोडो के समूह ही—परतु घने समूह—होते है (देखें **केतु**)। एक ही उल्कामूल से निकलनेवाली उल्का वौछारो को हम उल्काश्रेणी कह सकते हैं।

उल्काओ की सख्या—अवलोकन से पता चला है कि रात के पहले भाग की अपेक्षा पिछले भाग में अधिक उल्काएँ दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि सायकाल से अर्ध रात्रि तक पृथ्वी के घूर्णन और वार्षिक गति के सयोजन से उत्पन्न द्रष्टा का वेग कम रहता है और अर्ध रात्रि के बाद अधिक। वर्ष के जनवरी-जुलाई के महीनो की अपेक्षा जुलाई-जनवरी में अधिक उल्काएँ दिखाई पडती है, क्योकि उधर उल्काएँ है ही अधिक। औसतन प्रति दिन लगभग दो करोड उल्काएँ इस वायुमडल में गिरती है और उनमें से कम से कम एक इस पृथ्वी पर पहुँचती है। साधारणत उल्का की ऊँचाई लगभग ५०-६० मील होती है। उल्का की चमक के विषय में विशेष प्रचलित मत यह है कि इसके गैस पदार्थ वायुमडल मे स्थित विजली से, या गति के कारण उत्पन्न घर्षणताप से अथवा अन्य कारणवश अयनित (आयोनाइज) होकर भासित (फॉस्फोरेंट) होते है। साधारण उल्का के द्रव्यमान और आयतन की मापें इतनी कम निकलती है कि उनपर विश्वास नही होता। चमक मे प्रथम और द्वितीय श्रेणी की उल्काओ के व्यास दशमलव एक इच से कम और द्रव्यमान कुछ मिलिग्राम मात्र पाए गए है, किंतु इनका आकार चारो ओर की तप्त गैस और उद्भासन (इर्रेडियेशन) के कारण वडा दिखाई पडता है। इनके ठोस पदार्थो मे लोहे, निकल और पत्थर की मात्रा अधिक रहती है। इनके वर्णक्रम (स्पेक्ट्रा) के फोटोग्राफो के अध्ययन से पता चला है कि इनमें हाइड्रोजन, कैल्सियम, मैगनीसियम, कार्वन, हीलियम और सोडियम भी पाए जाते हैं। उल्का के गिरते समय कुछ क्षणो तक एक पतली धीमी ध्वनि सुनाई पडने का भी प्रमाण मिला है। उल्का की मध्यमान गति लगभग १४ मील प्रति सेकेंड होती है। आजकल रेडियो तरगो की प्रतिध्वनि को आकाशवाणी यत्र पर सुनकर दिन में भी उल्काओ का अध्ययन किया जाने लगा है।

अग्निगोले—अग्निगोले (फायरवाल) भी उल्का ही हैं, परतु वे साधारण उल्का से बहुत वडे होते है। फिर, वडे होने के कारण ही वे अधिक समय तक भस्म होने से बचे रहते है और पृथ्वी तक पहुँच जा सकते है। इसके अतिरिक्त, जब वे द्रष्टा के वेग की दिशा में चलते हुए पीछे से आते है और आगे निकल जाते है तो उनका सापेक्ष वेग हमारे वायुमडल में कम रहता है और इस प्रकार वे सैकडो मील तक दिखाई पडते रहते है। जब वे पृथ्वीपृष्ठ से थोडी ही ऊँचाई पर से जाते है तब उनकी हरहराहट अथवा गर्जन बहुधा वडा प्रचड होता है। थोडी ऊँचाई से जाने के कारण ऐसा भी सभव है कि वे क्षितिज के एक ओर से आएँ और दूसरी ओर निकल जायें। अग्निगोले चद्रमा के समान वडे दिखाई पड सकते हैं। कुछ अग्निगोले देखते देखते फूट पडते है। अग्निगोलो का एक असाधारण समूह ९ फरवरी, १९१३ को कैनाडा में दिखाई पडा था। वहाँ से लगभग ६ हजार मील चलने के वाद भी अन्यत्र दिखाई पडा और फिर आगे निकल गया। गोले चार पांच समूहो मे बँटे थे और प्रत्येक समूह में पचास साठ अग्निगोले थे। कैनाडा मे उनकी ऊँचाई लगभग ३५ मील थी। लोगो को वादल के गडगडाने के समान शब्द सुनाई पडा, कुछ मकान भी थर्रा गए।

उल्काओ का प्रेक्षण—उल्काओ के प्रेक्षण में अव्यवसायी ज्योतिषी वडी सहायता कर सकते हैं—और करते भी है, कारण यह है कि इन प्रेक्षणो में बहुत समय लगता है और लाखो प्रेक्षणो के वाद कोई उपयोगी बात ज्ञात होती है। ऐसे ज्योतिषियो की कई परिषदें यूरोप आदि देशो मे बनी है। उल्का दिखाई पडने पर सावधानी से तारो के सापेक्ष उसका आदि और अत लिख लिया जाता है या नकशे में अकित किया जाता है, चमक, रग, समय आदि भी लिख लिया जाता है। अब फोटोग्राफी से भी काम लिया जा रहा है। तेज प्लेट या फिल्म पर लगभग एफ/४ के लेंज से प्रकाशदर्शन (एक्स्पोजर) देने से काम चल जाता है। एक ही प्लेट पर कई घटो का प्रकाशदर्शन दिया जाता है। दो दूरस्थ स्थानो से एक ही समय पर प्रेक्षण करने से उल्काओ की दूरी भी जानी जा सकती है।

उल्काओ की उत्पत्ति—उल्काओ की उत्पत्ति का प्रश्न सबसे जटिल है। पूर्वोक्त वार्ता से यह निश्चित है कि कुछ उल्काओ की उत्पत्ति धूमकेतुओ से हुई है। किंतु यह भी पता चला है कि अग्निगोलो की उत्पत्ति इस सौर मडल से वाहर की है। इन सभी उल्काओ के पदार्थ भी सौरमडल के अन्य सदस्यो के पदार्थ के समान ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार यह सौरमडल वना है उसी प्रकार ये उल्काएँ भी इस या अन्य किसी सौरमडल में वनी या वनती रहती है तथा एक मडल से दूसरे मडल मे भी वे सभवत जा सकती हैं। (अधिक जानकारी के लिये देखें उल्कापिंड।) [कं० प्र० सिं० तथा ना० सु० ना०]

उल्कापिंड

आकाश मे कभी कभी एक ओर से दूसरी ओर अत्यत वेग से जाते हुए अथवा पृथ्वी पर गिरते हुए जो पिंड दिखाई देते है उन्हे उल्का और साधारण बोलचाल में टूटते हुए तारे अथवा लूका कहते हैं (देखे **उल्का**)। उल्काओ का जो अश वायुमडल में जलने से वचकर पृथ्वी तक पहुँचता है उसे उल्कापिंड कहते हैं। प्राय प्रत्येक रात्रि को उल्काएँ अनगिनत सख्या मे देखी जा सकती है, किंतु इनमें से पृथ्वी पर गिरनेवाले पिंडो की सख्या अत्यत अल्प होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से इनका महत्व बहुत अधिक है क्योकि एक तो ये अति दुर्लभ होते है दूसरे आकाश मे विचरते हुए विभिन्न ग्रहो इत्यादि के सगठन और सरचना (स्ट्रक्चर) के ज्ञान के प्रत्यक्ष स्रोत केवल ये ही पिंड है। इनके अध्ययन से हमें यह भी बोध होता है कि भूमडलीय वातावरण मे आकाश से आए हुए पदार्थ पर क्या क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इस प्रकार ये पिंड खगोल विद्या और भूविज्ञान के बीच सपर्क स्थापित करते हैं।

सक्षिप्त इतिहास—यद्यपि मनुष्य इन टूटते हुए तारो से अत्यत प्राचीन समय से परिचित था, पर आधुनिक विज्ञान के विकासयुग में मनुष्य को यह विश्वास करने में बहुत समय लगा कि भूतल पर पाए गए ये पिंड पृथ्वी पर आकाश से आए हैं। १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध में डी० ट्रौयली नामक दार्शनिक ने इटली में अल्वारेतो स्थान पर गिरे हुए उल्कापिंड का वर्णन करते हुए यह विचार प्रकट किया कि वह खमडल से टूटते हुए तारे के रूप में आया होगा, किंतु किसी ने भी इसपर ध्यान नही दिया। सन् १७६८ ई० मे फादर वासिले ने फ्रास में लूस नामक स्थान पर एक उल्कापिंड को पृथ्वी पर आते हुए स्वत देखा। अगले वर्ष उसने पेरिस की विज्ञान की रायल अकैडमी के अधिवेशन में इस वृत्तात पर एक लेख पढा। अकेडमी ने वृत्तात पर विश्वास न करते हुए घटना की जाँच करने के लिये एक आयोग नियुक्त किया जिसके प्रतिवेदन में फादर वासिले के वृत्तात को भ्रमात्मक वताते हुए यह मतव्य प्रगट किया गया कि विजली गिर जाने से पिंड का पृष्ठ कुछ इस प्रकार कॉच सदृश हो गया था जिससे वासिले को यह भ्रम हुआ कि वह पिंड पृथ्वी का अश नही है। तदनतर जर्मन दार्शनिक क्लाडनी ने सन् १७९४ ई० में साइवीरिया से प्राप्त एक उल्कापिंड का अध्ययन करते हुए यह सिद्धात प्रस्तावित किया कि ये पिंड खमडल के प्रतिनिधि होते हैं। यद्यपि इस वार भी यह विचार तुरत स्वीकार नही किया गया, फिर भी क्लाडनी को इस प्रसग पर ध्यान आकर्षित करने का श्रेय मिला और तब से वैज्ञानिक इस विषय पर अधिक मनोयोग देने लगे। सन् १८०३ ई० में फ्रास में ला ऐगिल स्थान पर उल्कापिंडो की एक बहुत वडी वृष्टि हुई जिसमें अनगिनत छोटे वडे पत्थर गिरे और उनमें से प्राय २-३ हजार इकट्ठे भी किए जा सके। विज्ञान की फ्रासीसी अकैडमी ने उस वृष्टि की पूरी छानवीन की और अत में किसी को भी यह सदेह नही रहा कि उल्कापिंड वस्तुत खमडल से ही पृथ्वी पर आते हैं।

वर्गीकरण—उल्कापिंडो का मुख्य वर्गीकरण उनके सगठन के आधार पर किया जाता है। कुछ पिंड अधिकाशत लोहे-निकल या मिश्रधातुओ से वने होते हैं और कुछ सिलिकेट खनिजो से वने पत्थर सदृश होते हैं। पहले वर्गवालो को धात्विक और दूसरे वर्गवालो को आश्मिक उल्कापिंड कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पिंडो में धात्विक और आश्मिक पदार्थ प्राय,

समान मात्रा में पाए जाते हैं, उन्हे धात्वाश्मिक उल्कापिंड कहते हैं। वस्तुत पूर्णतया धात्विक और पूर्णतया आश्मिक उल्कापिंडो के वीच सभी प्रकार की अत स्थ जातियो के उल्कापिंड पाए जाते हैं जिससे पिंडो के वर्ग का निर्णय करना वहुधा कठिन हो जाता है।

सरचना के आधार पर तीनो वर्गो मे उपभेद किए जाते हैं। आश्मिक पिंडो में दो मुख्य उपभेद हैं जिनमे से एक को कौड्राइट और दूसरे को अकौंड्राइट कहते है। पहले उपवर्ग के पिंडो का मुख्य लक्षण यह है कि उनमें कुछ विशिष्ट वृत्ताकार दाने, जिन्हे कौंड्रूल कहते हैं, उपस्थित रहते हैं। जिन पिंडो मे कौंड्रूल उपस्थित नही रहते उन्हे अकौंड्राइट कहते है।

धात्विक उल्कापिंडो मे भी दो मुख्य उपभेद हैं जिन्हे क्रमश अष्टानीक (आक्टाहीड्राइट) और षष्ठानीक (हैक्साहीड्राइट) कहते हैं। ये नाम पिंडो की अतर्रचना व्यक्त करते हैं, और जैसा इन नामो से व्यक्त होता है, पहले विभेद के पिंडो मे धात्विक पदार्थ के वध (प्लेट) अष्टानीक आकार मे और दूसरे में षष्ठानीक आकार मे विन्यस्त होते हैं। इस प्रकार की रचना को विडमानस्टेटर कहते हैं एव यह पिंडो के मार्जित पृष्ठ पर वडी सुगमता से पहचानी जा सकती है (देखे चित्रफलक)।

धात्वाश्मिक उल्कापिंडो मे भी दो मुख्य उपवर्ग हैं जिन्हें क्रमानुसार पैलेसाइट और अर्धधात्विक (मीज़ोसिडराइट) कहते हैं। इनमें से पहले उपवर्ग के पिंडो का आश्मिक अग मुख्यत औलीवीन खनिज से वना होता है जिसके स्फट प्राय वृत्ताकार होते हैं और जो लौह-निकल धातुओ के एक तत्र मे समावृत रहते हैं। अर्धधात्विक उल्कापिंडो मे मुख्यत पाइरौक्सीन और अल्प मात्रा मे एनौर्थाइट फेल्सपार विद्यमान होते हैं।

सगठन—पूर्व प्रकरण मे यह उल्लेख किया जा चुका है कि धात्विक और आश्मिक अगो की प्रधानता के आधार पर उल्कापिंड वर्गीकृत किए जाते हैं। किंतु इन पिंडो मे रासायनिक तत्वो और खनिजो के वितरण के सवध मे कोई सुनिश्चित आधार प्रतीत नही होता। उल्कापिंडो के तीन मुख्य वर्गो के अतिरिक्त अनेकानेक उपवर्ग हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना पृथक् विशेष खनिज समुदाय है। अभी तक प्राय २५ नए वर्गो का पता लगा है और प्राय प्रति दो वर्ष एक नए उपवर्ग का पता लगता रहा है। कठिनाई इस वात की है कि अध्ययन के लिये उपलब्ध पदार्थ अत्यत अल्प मात्रा मे होते हैं।

अभी तक उल्कापिंडो मे केवल ५२ रासायनिक तत्वो की उपस्थिति प्रमाणित हुई है जिनके नाम निम्नलिखित हैं

*ऑक्सीजन	*गधक	*प्लैटिनम	*लोहा
*आर्गन	गैलियम	*फास्फोरस	वग (राँगा)
आर्सेनिक	जरमेनियम	वेरियम	*वैनेडियम
इडियम	जिरकोनियम	वेरीलियम	*सिलिकन
*इरीडियम	*टाइटेनियम	*मैंगनीज	सीज़ियम
ऐंटिमनी	टेलूरियम	*मैगनीशियम	सीरियम
*ऐल्युमिनियम	*ताम्र	मौलिवडेनम	सीस (सीसा)
*कार्वन	थूलियम	यशद (जस्ता)	*सोडियम
कैडमियम	*नाइट्रोजन	रजत (चाँदी)	स्कैंडियम
*कैल्सियम	*निकल	*रुथेनियम	स्वर्ण (सोना)
*कोवल्ट	पारद	स्वीडियम	स्ट्रौशियम
*क्रोमियम	*पैलेडियम	*रेडियम	*हाइड्रोजन
*क्लोरीन	*पोटैसियम	लीथियम	*हीलियम

इन ५२ तत्वो मे से केवल ८ प्रचुर मात्रा मे पाए जाते है, जिनमें हालो सवसे प्रमुख है। अन्य सात मे क्रमानुसार ऑक्सिजन, सिलिकन, मैगनीशियम, गधक, ऐल्युमिनियम, निकल और कैल्सियम हैं। इनके अतिरिक्त २० अन्य तत्व पर्याप्त मात्रा मे पाए जाते है एव उनकी उपस्थिति का पता साधारण रासायनिक विश्लेषण द्वारा १९२६ से पूर्व ही लग चुका था। ऊपर दी गई सारणी में इन २८ (८+२०) तत्वो के पूर्व तारे का चिह्न अकित है। अवशिष्ट २४ तत्व अत्यत अल्प मात्रा मे विद्यमान हैं एव उनकी उपस्थिति वर्णक्रम-दर्शकी (स्पेक्ट्रोग्रैफिक) विश्लेषण से सिद्ध की गई है।

खनिज सरचना की दृष्टि से उल्कापिंडो और पृथ्वी मे पाई गई शैल राशियो के लक्षणो में कई अतर होते हैं। साधारणतया भूमडलीय शैल राशियो मे स्वतत्र धातु रूप मे लोहा तथा निकल अत्यत दुर्लभ होते है, किंतु उल्कापिंडो में ये धातुएँ शुद्ध रूप में वहुत प्रचुरता से एव प्राय अनिवार्यत पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त कई ऐसे खनिज हैं जो भूमडलीय शैलो में नही पाए जाते, पर उल्कापिंडो मे मिलते हैं। इनमे से प्रमुख ओल्डेमाइट (कैल्सियम का सल्फाइड) और श्राडवेरसाइट (लोहे और निकल का फॉस्फाइड) हैं। ये दोनो खनिज नमी और ऑक्सीजन की वहुलता में स्थायी नही होते और इसी कारण भूमडलीय शैलो मे नही मिलते। इनकी उपस्थिति से यह वोध होता है कि उल्कापिंडो की उत्पत्ति ऐसे वातावरण मे हुई जहाँ भूमडल की अपेक्षा आक्साइडीकरण की परिस्थितियाँ न्यून रही होगी।

आश्मिक उल्कापिंडो मे साधारणतया पाइरोक्सीन और औलीविन की प्रचुरता एव फेल्सपार का अभाव होता है, जिससे उनका सगठन भूमडल की अतिभास्मिक (अल्ट्रावेसिक) शैलो के सदृश होता है।

उत्पत्ति—उल्कापिंडो की उत्पत्ति का विषय वहुत ही विवादास्पद है। इस विषय पर अनेक मत समय समय पर प्रस्तावित हुए हैं, जिनमे से कुछ मे इन्हे पृथ्वी, चद्रमा, सूर्य और धूमकेतु आदि का अश माना गया है। एक अति मान्य मत के अनुसार इनकी उत्पत्ति एक ऐसे ग्रह से हुई जो अव पूर्णतया विनष्ट हो गया है। इस विचार मे यह कल्पना की जाती है कि आदि मे प्राय मगल के आकार का एक ग्रह रहा होगा जो किसी दूसरे वडे ग्रह के अत्यत समीप आ जाने पर, अथवा किसी दूसरे ग्रह से टकराकर, विनष्ट हो गया, जिससे अरवो की सख्या मे छोटे वडे खड वने जो उल्का रूप मे खमडल मे विचर रहे हैं। इस मत के अनुसार धात्विक उल्का उस कल्पित ग्रह का केंद्रीय भाग तथा आश्मिक उल्का ऊपरी पृष्ठ निरूपित करते है। यद्यपि इस उपकल्पना से उल्कापिंडो के अनेक लक्षणो की व्याख्या हो जाती है, फिर भी अनेक वाते अनवूझी पहेली रह जाती हैं। उदाहरणार्थ, कुछ धात्विक उल्कापिंडो मे अष्टानीक रचना होती है जो साधारणतया ८००° सेंटीग्रेड ताप पर नष्ट हो जाती है। ऐसा विश्वास है कि उस कल्पित ग्रह के विखडन के समय अवश्य ही उसमे अधिक ताप उत्पन्न हुआ होगा। फिर भी यह समझ मे नही आता कि यह अष्टानीक रचना विनष्ट होने से कैसे वची। इसी प्रकार यह शका भी वनी रहती है कि अकौड्राइट आश्मिक उल्का मे लोहा कहाँ से आया और कौंड्राइट आश्मिक उल्का मे कौड्रूल कैसे वने।

एक अन्य मत मे यह प्रस्तावित किया गया है कि उल्कापिंडो की उत्पत्ति ग्रहो के साथ साथ ही हुई, अथवा यो कहना चाहिए कि सौरमडल एव समस्त खमडलीय पदार्थो की उत्पत्ति उल्कापिंडो से ही हुई। इस कल्पना के अनुसार आदि विश्व उल्कापिंडो से परिपूर्ण था एव कालातर में वे पिंड विभिन्न पुजो मे एकत्रित होते गए तथा उनके अधिकाधिक घनीकरण से क्रमानुसार गैसमय नीहारिका, नक्षत्र एव ग्रह उत्पन्न हुए। इस कल्पना की एक वडी त्रुटि यह प्रतीत होती है कि खमडल मे उपस्थित उल्कापिंड इतनी दूर दूर छितराए हुए हैं तथा उनका पारस्परिक आकर्षण इतना क्षीण है कि उनके एकत्र होकर वडी राशि वनने मे अत्यधिक समय लगेगा। किंतु इसमें कोई सदेह नही कि एक वार पर्याप्त वडे आकार की राशि वन जाने के वाद वह अपनी सत्ता वनाए रख सकेगा और कालातर मे और अधिक पिंडो को अपने मे मिलाकर अपने आकार की वृद्धि भी कर सकेगा। सभव है, उपर्युक्त विधियो में अशत सशोधन करने से इनकी उत्पत्ति की वास्तविक विधि निर्धारित हो सके।

भारतीय सग्रह—उल्कापिंडो का एक वृहत् सग्रह कलकत्ते के भारतीय सग्रहालय (अजायवघर) के भूवैज्ञानिक विभाग मे प्रदर्शित है। इसकी देखरेख भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण सस्था के निरीक्षण मे होती है। प्रचलित नियमो के अनुसार देश मे कही भी गिरा हुआ उल्कापिंड सरकारी सपत्ति होता है। जिस किसी को ऐसा पिंड मिले उसका कर्तव्य है कि वह उसे स्थानीय जिलाधीश के पास पहुँचा दे जहाँ से वह भारतीय भूवैज्ञानिक

सर्वेक्षण विभाग को भेज दिया जाता है। इस प्रकार धीरे धीरे यह सग्रह अपने ढग का अनोखा हो गया है। इसके अतिरिक्त इस सग्रह मे विदेशो से भी प्राप्त नमूने रखे गए हैं। एशिया भर में यह सग्रह सबसे बडा है और विश्व के अन्य सग्रहो में भी इसका स्थान अत्यत ऊँचा है, क्योकि एक तो इसमें अनेक भाँति के नमूने हैं और दूसरे अनेक नमूने अति दुर्लभ जातियो के हैं। सब मिलाकर इसमें ४६८ विभिन्न उल्कापात निरूपित है, जिनमें से १४६ धात्विक और ३१६ आश्मिक वर्ग के हैं।

इस सग्रह की सबसे बडी भारतीय आश्मिक उल्का इलाहाबाद जिले के मेडुआ स्थान से प्राप्त हुई थी (देखे चित्रफलक)। वह ३० अगस्त, १९२० को प्रात ११ बजकर १५ मिनट पर गिरा था। उसका भार प्राय ५६,६५७ ग्राम (४,८६८ तोले) है और दीर्घतम लबाई १२ इच है। दूसरा स्थान उस पिंड का है जो मलाबार में कुट्टीपुरम ग्राम मे ६ अप्रैल, १९१४ को प्रात काल ७ बजे गिरा था। इसका भार ३८,४३७ ग्राम (३,२९५ तोले) है। इस सग्रह में रखे हुए उल्कापिंडो का विवरण भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के मेमॉयर सख्या ७५ में विस्तारपूर्वक दिया हुआ है।

स०ग्र०—एच० एच० निनिगर आउट ऑव दि स्काई (डेनवर, १९५२), ई० एफ० एफ० क्लाडनी यूबेर फायेर-मीटिओरे, उड यूबेर डी मिट डेनसेल्बेन हेराउबगेफालेनेन मासेन (विएना, १८१९), ए० एल० कूलसन मेमायर ऑव दि जिओलॉजीकल सर्वे ऑव इडिया, ग्रथ ७५ (कलकत्ता १९४०)। [अ० गो० भि०]

उल्हासनगर बबई राज्य के थाना (ठाणे) जिले में स्थित उल्हासनगर राज्य का नवीनतम बडा नगर है। यह नगर सरकार के पुनर्स्थापन विभाग द्वारा शरणार्थियो को बसाने के लिये स्थापित किया गया है। यह थाना जिले के सबसे बडे औद्योगिक नगर कल्याण से दो मील की दूरी पर उल्हास नदी के किनारे बसाया गया है। इस नगर मे ९०,००० शरणार्थियो को बसाने की योजना बनी थी और १९५१ ई० की जनगणना के समय इस नगर की जनसख्या ८०,८६१ थी (४२,१९४ पुरुष एव ३८,६६७ स्त्रियाँ)। यहाँ की जनसख्या के ५० प्रति शत से अधिक लोग विविध सेवाओ एव साधनो द्वारा तथा लगभग २९ प्रति शत लोग व्यापार द्वारा जीविकार्जन करते है। १९५१ ई० मे यह बबई राज्य का १२वाँ सबसे बडा नगर था। [का० ना० सिं०]

उशना प्रख्यात वैदिक ऋषि तथा राजनीति के आचार्य। वेद तथा पुराणो में इनका चरित्र चित्रित है। ऋग्वेद में उशना कवि (४।२६।१) तथा काव्य (१।५१।१०, ४।१६।२) विशेषण के साथ अभिहित किए गए हैं तथा कुत्स और इद्र के साथ इनका उल्लेख बहुश उपलब्ध होता है। ब्राह्मणो (पचविंश ७।५।२०, शाखायन श्रौत सूत्र १४।२७।१) के अनुसार देव-दानव-युद्ध के अवसर पर इन्होने असुरो का पौरोहित्य किया था। पुराणो के अनुसार स्वायभू मन्वतर मे ये भृगुपुत्र कवि के पुत्र (उपनाम 'काव्य') बतलाए गए है। प्रियव्रत राजा की कन्या ऊर्जस्वती इनकी स्त्री थी। भागवत (स्कद ७, अ० ५) के अनुसार ये दैत्यो के पुरोहित थे और इनकी अनुपस्थिति मे जब वे जगल मे तपस्या करने गए थे तब इनके दोनो पुत्रो—शड और मर्क—ने हिरण्यकशिपु का पौरोहित्य किया था। भृगुवश में उत्पन्न होने से ये 'भार्गव' भी कहे जाते हैं। कौटिल्य ने उशना का उल्लेख प्राचीन अर्थशास्त्रवेत्ता आचार्यो मे किया है। [ब० उ०]

उशाक तुर्की के कुटैहवा विलायत का एक नगर है जो स्मरना तथा कोनिया से रेल द्वारा सबद्ध है (जनसख्या १९५० मे १९,९४६)। यह अपने भारी कालीनो के लिये, जिसे तुर्की कालीन कहते हैं, विख्यात है। यही पर तुर्की सेना ने ग्रीक सेनापति ट्रीकोदपियस को कैद किया था। [सु० कु० सिं०]

उशिज ऋग्वेद के ऋषि कक्षीवान् की शूद्रा माता। इसकी पुत्रप्राप्ति की कथा कुछ पुराणो और महाभारत में कही गई है जिसके अनुसार यह कलिंग की रानी की क्वाँरी दासी थी। पुत्रप्राप्ति के लिये राजा द्वारा रानी को दीर्घतमा ऋषि को आत्मसमर्पण करने के निर्देश पर रानी ने उशिज को अपने स्थान पर कर दिया था। इस प्रकार जो पुत्र हुआ वह कक्षीवान् कहलाया। कक्षीवान् का इसी से वेदो मे मातृनाम कक्षीवान् औशिज चला। [ओ० ना० उ०]

उशीनर उशीनरो का प्रदेश मध्यदेश था। कौषीतकि उपनिषद् में उशीनर मत्स्यो, कुरु पाचालो एव वशो की श्रेणी मे परिगणित हुए हैं। महाभारत के अनुसार उशीनरो ने यमुना की पार्श्ववर्ती नदियो के किनारे यज्ञ किया था (महा०, ३,१३०,२१)। पाणिनि ने अपने कई सूत्रो मे उशीनर देश का उल्लेख किया है (अष्टाध्यायी, २, ४, २०, ४, २, ११८)। उसकी राजधानी भोजनगर थी (महा० ४, ११८, २)। महाभारत तथा जातक कथाओ में उशीनर और उनके पुत्र शिवि का उल्लेख मिलता है। [च० म०]

उषवदात ऋषभदत्त, शक क्षहरात राजवश के द्वितीय नरेश नहपान का जामाता और सामत। नहपान की पुत्री और उसके जामाता—दोनो के नाम हिंदू थे, क्रमश दक्षमित्रा और उषवदात (ऋषभदत्त)। शको ने इस प्रकार भारत मे बसकर हिंदू धर्म को अगीकार कर लिया था, ये नाम इसके उदाहरण हैं। उषवदात का राज्यकाल तो स्पष्ट विदित नही है क्योकि उसके स्वामी और सबधी स्वय नहपान की शासनतिथियो के सबध मे विद्वानो के अनेक मत हैं। साधारणत नहपान का राज्यकाल पहली और दूसरी सदी ईसवी मे रखा जाता है। इससे प्राय इसी काल उषवदात का भी समय होना चाहिए। उषवदात के अनेक लेख मिले हैं जिनमे से एक मे उसे स्पष्टत शक कहा गया है। उसके अभिलेख नासिक के पाडुलेण, पूना जिले के जुन्नार तथा कार्ले में मिले हैं। उसके समय मे मालवो के आक्रमण महाराष्ट्र पर हो रहे थे जिन्हें रोकने का प्रयत्न उत्तमभद्र कर रहे थे। उत्तमभद्रो की सहायता के लिये स्वामी नहपान ने उषवदात को भेजा था जिसमे उषवदात ने विजय प्राप्त कर सम्राट् नहपान का आधिपत्य आधुनिक अजमेर के निकट तक फैला दिया था। अजमेर के पास पुष्कर क्षेत्र में उषवदात ने अनेक दान किए थे। इससे अधिक उस हिंदूधर्मा शक के विषय मे इतिहास को कुछ ज्ञात नही। [भ० श० उ०]

उषस्, उषा यह आर्यो की प्रधान देवी पूर्वाकाश की परम ज्योति है। ऋग्वेद मे सख्या, मार्मिकता और मधुरता में जितने सूक्त इस देवी की स्तुति मे कहे गए हैं उतने किसी की स्तुति में नही कहे गए। प्राय बीस समूचे सूक्तो मे उसकी स्तुति हुई है और ऋग्वेद की समूची सहिता मे तीन सौ बार से भी अधिक उसका नामोल्लेख हुआ है। आर्य ऋषियो के प्रणय को वह आलोडित करती है, मधुर से मधुर गायन की उन्हे प्रेरणा देती है। वह आकाश की कन्या है। (दुहितर्दिव), प्रकाश की रानी है, ज्योतिर्मयी देवी (विभावरी राया)। गृहपत्नी की भाँति वह प्रात काल सारे जीवो को निद्रा और प्रमाद से मुक्त कर अपने नित्य पथो पर भेजती है। सहसा सुषुप्त जीवन स्पदित हो उठता है और जाग्रत मानव क्रियावान् हो उठते हैं, पशु गतिमान् और पक्षी उषा के स्पर्श से आकाश में पख मारने लगते हैं। उषा सारे प्राणियो की साँस और जीवन है। प्रात काल वह यज्ञोन्मुख आर्यो की हविषा लेने के लिये देवताओ का आवाहन करती है क्योकि उसके आने से ही प्रात कालीन यज्ञ का समारभ होता है।

आर्य ऋषियो ने उषा को अत्यत आकर्षक पार्थिव तरुणी के रूप में भी अभिव्यक्त किया है। उनका कहना है कि पूर्वाकाश मे वह नर्तकी की भाँति अपना वक्ष खोले, पेशवाज पहने नाचती आती है। ज्योतिर्मय वसनो से मडित वह रजतपथ पर चढी नित्यप्रति प्राची दिशा मे प्रगट होती है। अपने उसी समान वर्ण से शोभायमान वह मर्त्यो के जीवन से नित्य एक दिन चुरा लेती है, काट लेती है, जैसे बधिक पक्षी को अश अश कर काटता है (ऋ० १, ९२, १०—पुन पुनर्जायमाना पुराणी समान वर्णमभि शुम्भमाना। श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायु ॥) [भ० श० उ०]

उष्ट्रगण (टाइलोपोडा) पागुर करनेवाले खुरवाले पशु है। इनके पैरो मे उँगलियाँ केवल दो होती है और पैर के नीचे गद्दी होती है। इनके सीग नही होते, गर्दन लवी और पूँछ छोटी होती है।

उष्ट्र मुख्यत दो प्रकार के होते है। एक प्रकार मे मेरुदड के ऊपर एक अथवा दो कूवड होते है। ये एशिया तथा अफ्रीका मे वास करते है। दूसरे प्रकार मे कूवड नही होता। ये दक्षिण अमरीका मे पाए जाते है।

कूवडवाले उष्ट्र मरुस्थल के निवासी होते है। इनमे एक कूवडवाले उष्ट्र प्रधानत अरव देश मे, और पूरव की ओर इराक, ईरान तथा वलूचिस्तान होते हुए भारत मे राजस्थान तक मिलते है, और अफ्रीका मे सहारा मरुस्थल और उसके उत्तर के प्रातो मे फैले हुए है। ये कही भी जगली नही होते। इनके शरीर पर छोटे और भूरे रग के वाल होते है। पूँछ के किनारे वाल अधिक लवे होते है। इनके कान छोटे होते है और ग्रीवा ३ फुट लवी होती है। कधा भूमि से ७ फुट ऊँचा होता है। अग्रेजी भाषा मे इनको "ड्रॉमिडरी" कहते है।

दो कूवडवाले उष्ट्र विशेषत मध्य एशिया के मरुस्थल मे वास करते है। ये पश्चिम मे कालासागर से पूरव की ओर सारे चीन मे और हिमालय पर्वतश्रेणी के उत्तर से साइवीरिया की सीमा तक विस्तृत है। कुछ यूरोप मे स्पेन देश के पहाडी अचलो मे पाए जाते है। ये शीतप्रधान देश के निवासी है और पहाडियो तथा चट्टानो पर रहते है। इस कारण इनके पैर की गद्दी अधिक कठोर होती है। इनका शरीर "ड्रॉमिडरी" की अपेक्षा वलिष्ठ पर छोटा होता है। इनके वाल भूरे रग के तथा वडे वडे होते है। अग्रेजी भाषा मे इनको "वैक्ट्रियन कैमेल" कहते है। ये भी जगली नही होते, पर चीन के पश्चिमी प्रातो मे कुछ ऐसे जगली उष्ट्र पाए जाते है। भूतत्वविदो का सिद्धात है कि इन जगली उष्ट्रो के शरीर की गठन यूरोप की एक प्राचीन तथा लुप्त उष्ट्र जाति से वहुत मिलती जुलती है।

एशियाई उष्ट्रो के कर्णछिद्र लवे वालो से ढके रहते है और पलको के वाल भी लवे होते है। मुँह लवा होता है और दोनो ओष्ठ कुछ लटके रहते है। वक्षस्थल के नीचे उभडा हुआ कठोर चर्म होता है जिसपर शरीर का भार रखकर उष्ट्र भूतल पर वैठता है। ऐसा ही कठोर चर्म चारो पैरो के घुटनो पर भी होता है। इनके प्रत्येक पैर के नीचे केवल एक गद्दी होती है।

मरुनिवासी होने के कारण एशियाई उष्ट्रो मे कुछ विशेषताएँ होती है, जिनके कारण वे ऐसे स्थान मे वास करने योग्य होते है। इनके आमाशय के दो विशेष कोष्ठो मे छोटी छोटी थैलियाँ वनी होती है जिनका मुँह मासपेशियो द्वारा इच्छानुसार प्रसारित या सकुचित किया जा सकता है। उष्ट्र इन थैलियो मे प्राय दो गैलन अतिरिक्त जल भर लेता है और ४-५ दिनो तक उसी जल पर जीवन धारण करने मे समर्थ होता है। पलको के वडे वाल उडती हुई वालू को आँखो मे जाने से रोकते है। कान के वडे वाल भी इसी प्रकार उपयोगी होते है। नासिका का छिद्र वहुत पतला और अर्धचद्राकार होता है। आँधी के समय उष्ट्र भूमि पर वैठ जाता है, मस्तक नीचा करके भूमि पर फैला देता है तथा नासिका के छिद्रो को वद कर लेता है। इनकी घ्राणशक्ति प्रवल होती है। वहुत दूर से ही इनको जलाशय का पता लग जाता है। मस्तक की ऊँचाई के कारण इनकी दृष्टि वहुत दूर तक पहुँचती है, और भूमि के ताप का प्रभाव भी मस्तक पर कम पडता है। सहस्रो वर्ष से मरुस्थल मे रहने के कारण इनके शरीर का विधान इतना भिन्न हो गया है कि वगाल जैसे अधिक जलसिक्त स्थान की जलवायु को ये सहन नही कर सकते। वहाँ शीघ्र ही इनकी मृत्यु हो जाती है।

मरुनिवासी मनुष्य उष्ट्रो की इन विशेषताओ से पूरा लाभ उठाते है। वहाँ कोई भी परिवहनसाधन सुलभ नही होता, केवल उष्ट्र ही मनुष्य की सहायता कर पाता है। उष्ट्रो की शक्ति और सहनशीलता सराहनीय है। ये १५-२० मन का भार सरलतापूर्वक वहन करते है। दृष्टात से ज्ञात है कि एक उष्ट्र एक यात्री तथा ६ मन से अधिक भार लेकर ट्युनिसिया से ६०० मील दूर ट्रिपोली तक केवल ४ दिन मे पहुँचा। ७-८ दिनो तक ये १३५-१५० मील प्रति दिन की गति से चलते है। इसी कारण अग्रेजो ने इन्हे मरुस्थल के जहाज का नाम दिया है। ऐतिहासिक युग से आधुनिक युग तक मरुप्रदेशो मे वाणिज्य तथा व्यवसाय उष्ट्रो के ही द्वारा होता है। इन प्रदेशो मे वैल की भाँति उष्ट्र हल मे जोते जाते है और कुएँ से जल खीचते है। इनके मल को सुखाकर ईंधन के रूप मे व्यवहृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त उष्ट्र मनुष्य के भोजन के भी साधन है। इनका दूध मनुष्य सेवन करते है और इनके मास का भी रुचिपूर्वक आहार करते है। इनके वाल से चित्रकारो की तूलिका, कवल तथा ऊनी कपडे वनते है। अस्थियो से अनेक प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ वनती है।

वक्ट्रिया का दो कूवड वाला ऊँट
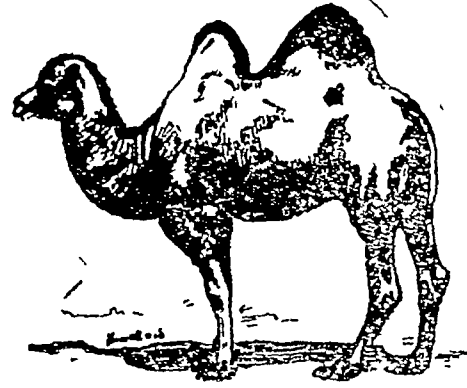
उष्ट्र पूर्णत शाकाहारी पशु है। मरुस्थल मे उपजे पेड पौधो का ही ये भोजन करते है। शरीर वडा होते हुए भी उष्ट्र वहुत अल्पभोजी होते है। इनके मेरुदड के ऊपर का कूवड केवल एक प्रकार की सचित चर्वी है। भोजन न मिलने पर यह चर्वी रक्त द्वारा शोषित होती रहती है और उस काल मे कूवड ढीला और सकुचित हो जाता है।

यद्यपि आदिम काल से उष्ट्र मनुष्य के अधीन है, तथापि इनकी मानसिक वृत्तियो का कोई विकास नही हुआ। ये न तो अपने मालिक या रखवाले से कोई प्रेमभाव रखते है और न वुद्धि का ही कोई परिचय देते है। चलते समय एक ही दिशा मे चलते रहेगे। यदि खाद्यपदार्थ से आकृष्ट होकर दिशा वदल दी तो उसी दिशा मे चलते रहेगे। निवासस्थान से कोई सवध नही होता। इनकी प्रकृति उग्र होती है।

एशियाई उष्ट्र दो प्रकार के होने पर भी आपस मे सतानोत्पादन करते है। ऐसी सतान मे कूवड एक ही होता है, पर वाल लवे होते है। माता पिता की अपेक्षा ऐसी सतान अधिक परिश्रमी होती है।

उष्ट्रो की आयु ४०-५० वर्ष होती है। साधारणत २ वर्ष मे इनको एक वच्चा पैदा होता है, और सारे जीवन मे एक उष्ट्र को प्राय १२ वच्चे होते है। गर्भ ११ महीने का होता है। एक दिन का वच्चा घूमने फिरने लगता है। एक सप्ताह मात्र मे वच्चा ३ फुट ऊँचा हो जाता है। तीन वर्ष की अवस्था होने पर मनुष्य इन्हे शिक्षा देने लगते है। १६-१७ वर्ष मे ये पूर्ण वृद्धि प्राप्त करते है।

कूवडविहीन उष्ट्र आकार मे छोटे होते है। ये ऊँचाई मे तीन फुट और लवाई में ४ फुट के होते है। इनकी गर्दन प्राय २ फुट लवी होती है। इनके प्रत्येक पैर के नीचे दो पृथक् पृथक् गद्दियाँ होती है। इनके कान कुछ लवे और नोकीले होते है। इनके आमाशय मे जलकोष नही होता। पूँछ अधिक से अधिक ६ इच लवी होती है।

अमरीकी उष्ट्र भी दो प्रकार के होते है। एक प्रकार के उष्ट्र दक्षिणी अमरीका के पैटागोनिया और टियेरा-डिल-फिउगो प्रातो के पहाडी अचलो मे वास करते है। इनके वाल हल्के लाल रग के होते है। ये जगली पशु है, पर मनुष्य ने इन्हे पकडकर पालतू वना लिया है। इनको अग्रेजी भाषा मे "गुआनाको" कहते है। पालतू गुआनाको के भी दो भेद है। एक प्रकार के गुआनाको वडे होते है, जिनको वहाँ के देशवासी लामा कहते है। ये मनुष्य की सवारी के लिये तथा भारवाहक रूप मे प्रयुक्त होते है। इनके वाल श्वेत रग के होते है और इनकी प्रकृति नम्र होती है। शत्रु द्वारा आक्रात होने पर लामा खाद्यपदार्थ उगलकर शत्रु के मुँह पर फेकता है।

दूसरे प्रकार के गुआनाको कुछ छोटे होते है। इनके वाल घने, लवे और श्वेत रग के होते है। वहाँ के देशवासी इनको "अलपाका" कहते है। ये केवल ऊन के लिये पाले जाते है।

लामा और अलपाका आपस मे सतानोत्पादन करते है, पर ऐसी सतानो मे उत्पादन शक्ति नही होती।

दूसरे प्रकार के अमरीकी उष्ट्र के लिये "विकुनिया" नाम प्रचलित है। ये गुआनाको की अपेक्षा छोटे होते है। ये दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी

तट पर ईक्वेडर, चिली, पेरू तथा वोलिविया प्रातो की आडीज पर्वतश्रेणी के उच्च शिखर पर वास करते है। शिकारी लोग इनका शिकार करते है। ये पूर्णत जगली पशु है। इनके वाल हल्के वादामी रग के होते है।

एशियाई उष्ट्रो की भाँति अमरीकी उष्ट्र भी शाकाहारी होते है। इनका भी दूध और मास मनुष्य खाते है। चमडे से जूता इत्यादि वनता है और वालो से ऊनी कपडे।

भूवैज्ञानिको ने पता लगाया है कि प्राय दो करोड वर्ष पूर्व उष्ट्र वश का जन्म उत्तरी अमरीका मे हुआ। उस समय इनका आकार पाँच उँगलियो से युक्त खरगोश के वरावर था। क्रमानुसार विकास द्वारा लगभग एक लाख वर्ष पूर्व ये आधुनिक आकार के दो उँगलीवाले पशु वने। इस वीच इनके आकार में वहुत परिवर्तन हुआ। इन विभिन्न वशजो के ककाल अमरीका की चट्टानो में मिले है। आधुनिक आकार के उष्ट्रो के ककाल यूरोप तथा एशिया में पाए गए है।

एक लाख वर्ष पूर्व उष्ट्रो की जन्मभूमि अमरीका के भूखड मे भारी परिवर्तन हुआ। वहाँ की जलवायु मे वहुत अतर हो गया। इस कारण उष्ट्रगण अपनी जन्मभूमि को त्याग कर उत्तर और दक्षिण दिशा मे फैल गए। इनकी एक शाखा उत्तर पश्चिम प्रातो से होती हुई एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका पहुँची और दूसरी शाखा पनामा के स्थल-डमरू-मध्य होती हुई दक्षिण अमरीका पहुँची।

आधुनिक युग मे लामा को यूरोप तथा आस्ट्रेलिया मे पालने का प्रयत्न किया गया, पर सफलता नही मिली। इसी प्रकार एशियाई उष्ट्रो को अमरीका मे पालने का प्रयास किया गया, पर अमरीका निवासियो ने इस योजना को प्रोत्साहन नही दिया। वस्तुत अमरीका जैसे प्रदेश में उष्ट्रो की कोई आवश्यकता नही है। [श० च०]

उष्णदेशीय आयुर्विज्ञान

उष्ण देशो के उन विशेष रोगो की चिकित्सा का विज्ञान है, जो अन्य देशो में नही होते। ये व्याधियाँ इन देशो मे विशेष रूप से ऐसे कारणो पर निर्भर है जो इनके प्रसरण मे सहायक है अथवा वे रोग है जो स्वच्छता के अभाव, शिक्षा के निम्न स्तर तथा लोगो की निम्न आर्थिक अवस्था से सवद्ध है। इस प्रकार के रोगो मे पोषक तत्वो की कमी के कारण उत्पन्न रोग तथा कुछ सक्रामक रोग है। यद्यपि कुछ द्वैपिता (मैलिगनैनसी) तथा चिरकालिक विह्रसन (क्रॉनिक डिजेनरेशन) वाले रोग इसके अतर्गत आते है, तथापि जनस्वास्थ्य की दृष्टि से उनका स्थान गौण है।

उष्णदेशीय आयुर्विज्ञान उन व्याधियो पर विशेष ध्यान देता है जो समशीतोष्ण किंतु अधिक उन्नत देशो मे आभ्यतरिक (दवी हुई) रहती है, परतु यक्ष्मा (तपेदिक) उपदश आदि व्याधियो पर, जो विश्व में समान रूप से फैली हुई है, विशेष ध्यान नही देता, यद्यपि ये ही रोग इन देशो मे होनेवाली अधिकाश मृत्युओ का कारण होते है।

पूर्वोक्त उष्णदेशीय व्याधियो की कसौटी कामचलाऊ ही है। क्योकि कुछ व्याधियाँ, जो अव उष्ण देशो के लिये आभ्यतरिक है, पहले यही उग्र रूप मे पाई जाती थी। उदाहरण के लिये जूडी (मलेरिया) को लीजिए। यह १९वी शताब्दी में उत्तरी सयुक्त राज्य, अमरीका, मे पाया जाता था और अव वहाँ के लिये आभ्यतरिक व्याधि है। उष्णदेशीय आयुर्विज्ञान मे इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

प्रगति--उष्णदेशीय आयुर्विज्ञान का विकास अधिकतर इन देशो मे विदेशियो के आ वसने तथा वाणिज्य के साथ हुआ है। प्रारभ में इन देशो में जानेवाले यात्रियो तथा यहाँ पर नियुक्त अधिकारियो की स्वास्थ्य-सुरक्षा के निमित्त नियुक्त किए गए प्रवधको को ही यहाँ के निवासियो के स्वास्थ्य की देखभाल भी सौंप दी गई। १८७५ से १९२५ ई० तक का काल उष्ण जलवायुवाले देशो के कई रोगो के कारणो तथा प्रसार के विशद अध्ययनके लिये अपूर्व है।

१८९७ ई० में रोवाल रॉस नामक वैज्ञानिक ने जूडी के अडकोशा (ऊसाइट) का ऐनाफलाइन जाति की स्त्री मच्छर में उपस्थिति का पता लगाया। उसके १७ वर्ष वाद अल्फासी-लायरन नामक वैज्ञानिक ने इसी रोग के परोपजीवियो की उपस्थिति मानव रुधिर में पाई। शताब्दी के अत मे इन तथ्यो के साथ साथ इसी प्रकार की अन्य खोजे भी हुई, जिनसे कालज्वर (काला आजार), अफ्रीकी निद्रारोग, तनुसूत्र आदि रोगो के कारणो का पता लगाया गया।

वैक्सीन तथा रोगाणुनाशी (ऐटीवायटिक) ओषधियो के आविष्कार ने इस प्रकार के रोगो के प्रसरण को अवरुद्ध कर दिया है।

विशालतर पैमाने पर इन देशो की व्याधियो के प्रभावो को क्षीण करने तथा इनके प्रसार की रोकथाम करने के लिये सभी देशो के सयुक्त प्रयासो के साथ साथ उन वैज्ञानिको के प्रयत्नो की भी आवश्यकता है जो विज्ञान की नवीनतम खोजो के अनुसार महत्तम सफलतादायक है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सगठित विश्व स्वास्थ्य सस्था (वर्ल्ड हाइ-जीन ऑरगैनाइजेशन) इस ओर कार्यरत है। अपनी सर्वप्रथम वैठक में ही इस सस्था ने मलेरिया के उन्मूलन के लिये एक अतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम स्वीकृत किया था।

उष्णदेशीय निवासियो की स्वास्थ्यसुरक्षा की देखभाल के साथ साथ उनके शिक्षा तथा आर्थिक स्तर को ऊपर उठानेवाले कार्यक्रमो की भी आवश्यकता है।

स० ग्र०--जी० सी० शैटक डिजीजेज ऑव ट्रॉपिक्स (१९५१), पी० एच० मैनसन मैनसन्स ट्रॉपिकल डिजीजेज (१९५०), मैकी, हटर और वर्थ ए मैनुअल ऑव ट्रॉपिकल मेडिसिन (१९५५)। [दि० सि०]

उष्मा

(अग्रेजी मे हीट) की प्रकृति का अध्ययन तथा पदार्थो पर उसका प्रभाव जितना मानव हित से सवधित है उतना कदाचित् और कोई वैज्ञानिक विषय नही। उष्मा से प्राणिमात्र का भोजन वनता है। वसत ऋतु के आगमन पर उष्मा के प्रभाव से ही कली खिलकर फूल हो जाती है तथा वनस्पति क्षेत्र में एक नए जीवन का सचार होता है। इसी के प्रभाव से अडे से बच्चा बनता है। इन कारणो से यह कोई आश्चर्य की वात नही कि पुरातन काल मे इस वलवान्, प्रभावशील तथा उपयोगी अभिकर्ता से मानव प्रभावित हुआ तथा उसकी पूजा और अर्चना करने लगा। कदाचित् इसी कारण मानव ने सूर्य की पूजा की। पृथ्वी पर उष्मा के लगभग सपूर्ण महत्वपूर्ण प्रभावो का स्रोत सूर्य है। कोयला, तेल, पेट्रोल, जिनसे हमे उष्मा प्राप्त होती है, प्राचीन युगो से सचित धूप का प्रतिनिधित्व करते है।

इतिहास--उष्मा के सामान्य प्रभावो का स्पष्टीकरण करने के हेतु अग्नि-परमाणुओ का आविष्कार किया गया, जो पदार्थ के रध्रो के वीच प्रचड गति से दौडते हुए तथा उसके अणुओ को तितर वितर करते हुए माने गए थे। विचार था कि इसके फलस्वरूप ठोस पदार्थ द्रव मे तथा द्रव वाष्प मे परिवर्तित होते है।

विज्ञान के आरभिक युग से लेकर वर्तमान शताब्दी के प्रारभ तक उष्मा की प्रकृति के सवध मे दो प्रतिद्वद्वी परिकल्पनाएँ साधारणतया चली आई है। एक तो हे उपिक सिद्धात (कैलोरिक थ्योरी) जिसके अनुसार उष्मा को एक अति सूक्ष्म लचीला द्रव माना गया था जो पदार्थो के रध्रो में प्रवेश करके उनके अणुओ के वीच के स्थान को भर लेता है। दूसरा है प्राचीन यूनानियो द्वारा चलाया गया सिद्धात जिसमें उष्मा के आधुनिक सिद्धात का अकुर पाया जाता है। इसके अनुसार उष्मा पदार्थ के कणो के द्रुत कपन के कारण होती है, अत इस मत के अनुसार उष्मा का कारण गति है। इस सिद्धात के पोषक वहुत दिनो तक अल्प मत मे रहे।

प्रेक्षण पर आधारित सिद्धात की रचना मे प्रथम प्रयत्न लार्ड बेकन ने किया तथा वे इस परिणाम पर पहुँचे कि उष्मा गति है। इग्लैंड में उनके अनुयायियो के मत से यह "गति" पदार्थ के अणुओ की थी। परतु यूरोप के अधिकतर वैज्ञानिको के मतानुसार यह एक अतिसूक्ष्म तथा लचीले द्रव के कणो की मानी गई जो पदार्थ के रध्रो मे अत प्रविष्ट होकर उसके कणो के वीच स्थित माना गया था।

उपिक सिद्धात--उपिक सिद्धात के अनुसार उष्मा का कारण एक अति लचीले स्वप्रतिकर्षक तथा सर्वव्यापी द्रव की क्रिया था। इस द्रव के गुण ये माने गए यह अति लचीला था तथा इसके कण परस्पर प्रतिकर्पण करते थे। इस द्रव को "कैलरिक" नाम दिया गया। प्रतिकर्पण गुण के कारण जलने पर यह द्रव उष्मा तथा प्रकाश उत्पन्न करता हुआ माना गया। "कैलरिक" के कण परस्पर तो प्रतिकर्पक थे परतु साधारण पदार्थ के कणो

से आकर्षित होते माने गए। विभिन्न पदार्थों के कण उसे विभिन्न बल से आकर्षित करते थे। यह द्रव अनाश्य तथा अजन्मा माना गया।

उपिक सिद्धात के अनुसार पदार्थ "कैलरिक" की वृद्धि से उष्ण होता था तथा उसके ह्रास से शीतल। पदार्थ पर उष्मा के भिन्न भिन्न प्रभावो को कैलरिक सिद्धात के अनुसार स्पष्टीकरण के प्रयत्न होते रहे। कुछ का तो स्पष्टीकरण सरलता से हो गया परतु कुछ के लिये अन्य अनेक कल्पनाएँ करनी पडी।

घर्षण द्वारा उष्माजनन की घटना मानव को आदिकाल से ज्ञात है। कैलरिक सिद्धात के अनुसार इसके स्पष्टीकरण के प्रयत्न किए गए, परतु वे सतोषप्रद न हो सके।

उष्मागतिकी—घर्षण द्वारा उष्मा के उद्भव में एक विशेषता यह है कि पदार्थो का जितना अधिक घर्षण किया जाता है उतनी अधिक मात्रा मे उष्मा निकलती है, अत इस रीति से अनत मात्रा मे उष्मा मिल सकती है। इसका स्पष्टीकरण कैलरिक मत से नही हो सकता जिसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ मे सीमित मात्रा मे उष्मा-द्रव रहता है। वस्तुत यह कार्य तथा उससे उत्पन्न उष्मा के विषय मे जूल ने महत्वपूर्ण प्रयोग किए तथा वह यह सिद्ध करने मे सफल हुए कि कार्य तथा उष्मा मे तुल्यता है। जब कार्य किया जाता है तब उष्मा की उत्पत्ति होती है। यदि कार्य तथा उष्मा का मान क्रमानुसार का (W) तथा उ (H) है तो का=जू उ (W=JH) यहाँ जू (J) स्थिर है तथा इसे उष्मा का यात्रिक तुल्याक कहते है। अत जू (J) कार्य की वह मात्रा है जिससे एक कैलरी उष्मा उत्पन्न हो। इसका मान ४ १८×१०^{७} अर्ग प्रति कैलरी है।

काउट रूमफोर्ड ने इस विषय मे यह सुझाव दिया था कि कार्य से उष्मा-जनन का कारण गति है। अब प्रश्न उठता है "किसकी गति ?"

गतिज सिद्धात—पदार्थ की रचना अणुओ तथा परमाणुओ से हुई है। पदार्थ के तीन रूप होते है (१) ठोस, द्रव तथा गैस। यदि कोई ठोस पदार्थ उष्ण किया जाय तो उसके ताप मे वृद्धि होती है। एक निश्चित ताप पर पहुँचकर यह गलने लगता है तथा द्रव रूप मे परिवर्तित हो जाता है। और अधिक उष्ण करने से द्रव की तापवृद्धि होती है तथा एक दूसरे निश्चित ताप पर इसका वाष्पीकरण आरभ हो जाता है। जब सपूर्ण द्रव वाष्प मे परिवर्तित हो जाता है तब इसे गैस कहते है।

गतिज सिद्धात के अनुसार पदार्थ के अणु शाश्वत गति की अवस्था मे रहते है। अणु की गति पदार्थ के ताप पर निर्भर रहती है। पदार्थ जितना अधिक उष्ण होता है उतनी ही अधिक प्रचड गति उसके अणुओ मे होती है। ठोस पदार्थ मे अणु एक मध्यक स्थिति के चारो ओर प्रदोलन करता है। तापवृद्धि से अणुप्रदोलन मे वृद्धि होती है तथा अत मे प्रदोलन इतना प्रचड हो जाता है कि अणु अपने स्थान से पृथक् होकर इधर उधर अन्य अणुओ के स्थानो पर चला जाता है तथा अपनी नवीन स्थिति मे प्रचडता से प्रदोलन करने लगता है। इस अवस्था मे अणुओ की परस्पर आकर्षण शक्ति, जो उनको अपने स्थानो पर रखती है, इतनी मद हो जाती है कि तनिक सी ठेस लगने से पदार्थ का रूप परिवर्तित हो जाता है। इस अवस्था को पदार्थ की तरल अवस्था कहते है। अतएव तरल अवस्था मे अणुओ मे दोलन के साथ साथ रैखिक गति भी होती है। ठोस अवस्था के अणुओ मे दोलन क्रिया को प्रचड करने मे तथा उनमे रैखिक गति उत्पन्न करने मे उष्मा की आवश्यकता होगी। यह उष्मा गलन की गुप्त उष्मा के तुल्य होती है।

अब यदि हम द्रव पदार्थ का क्रमश तापन करे तो आणविक ऊर्जा मे वृद्धि होगी तथा द्रवपृष्ठ के निकट आते हुए किसी अणु की गति इतनी तीव्र हो सकती है कि वह आसपास के अन्य अणुओ के आकर्षण का निराकरण करके द्रव को छोडकर उसके ऊपर के स्थान मे चला जाय। इस प्रकार प्रक्षिप्त अणुओ का एक सतत स्रोत द्रव से निकलता रहेगा। इसे हम वाष्पीकरण कहते है तथा अतत जब सपूर्ण अणु द्रव को छोड देते है तो वह गैस मे परिवर्तित हो जाता है।

गैस अवस्था मे अणु सरल रेखाओ मे चलते है तथा परस्पर टकराने पर उनकी गति तथा दिशा में परिवर्तन होता है। दो अनुगामी टक्करो के बीच का मुक्त पथ सरल रेखीय तथा अति न्यून होता है। इस पथ पर चलते हुए द्रव अवस्था से गैस अवस्था मे परिवर्तन होने के लिये अणुओ को अपने पारस्परिक आकर्षण के विरुद्ध पृथक् होना पडता है। इसके लिये कार्य की आवश्यकता होती है तथा यह कार्य वाष्पीकरण की गुप्त उष्मा के तुल्य होता है।

विकिरण-उष्मा का तरगवाद—घर्षण तथा सघट्टन (टकराने) से वस्तुओ की इद्रियग्राह्य शक्ति का लोप हो जाता है तथा उष्मा का जनन होता है। यह कल्पना है कि इन घटनाओ मे गति का क्षय नही होता वरन् वह केवल सपूर्ण वस्तु से उसके प्रत्येक कण मे स्थानातरित होती है। अत जब एक गतिशील वस्तु घर्षण अथवा सघट्टन द्वारा रोकी जाती है तो वस्तु की मौलिक दृश्य गति का अत नही होता, परतु वह उस वस्तु के अदृश्य अणुओ तथा परमाणुओ मे चली जाती है।

किसी तप्त वस्तु से कुछ दूरी पर हमे उष्णता का आभास होता है। यह उष्मा वस्तु से हम तक कैसे आई ? सूर्य पृथ्वी के समस्त उष्मिक प्रभावो का स्रोत है। सूर्य से प्रकाश तथा उष्मा दोनो ही आते है। प्रकाश व्योम (ईथर) मे तरगगति के कारण होता है, ऐसी कल्पना है। इस कल्पना की पुष्टि मे प्रमाण है। इसी प्रकार उष्मा भी व्योम मे तरगगति के कारण होती है। विकिरण उष्मा, उदाहरणतया धातु के एक तप्त खड से उत्सर्जित उष्मा तथा प्रकाश के आचरण यथार्थत एक समान होते है। इन दोनो मे वास्तविक अतर, जिसका उपलभन हो सकता है, यह है कि प्रकाश मे विकीर्ण उष्मा के समस्त लक्षणों के अतिरिक्त दृष्टि की अनुभूति प्रभावित करने का लक्षण भी होता है।

अत प्रकाश के समान विकीर्ण उष्मा भी व्योम मे तरगगति के कारण मानी जाती है। एक तप्त पदार्थ के अणु तीव्र गति की अवस्था मे होते है अथवा किसी द्रुत-आवर्ती विक्षोभ के केंद्र होते है तथा वे व्योम मे तरगे प्रदीप्त करते है जो हमारे तथा तप्त वस्तु के मध्य प्रकाशगति से चलती है। जब वे हमारे ऊपर गिरती है तो शरीर द्वारा शोषित हो जाती है तथा हमारे शरीर के अणुओ मे तदनुरूप गति का कारण होती है। इस प्रकार हमे उष्णता का बोध होता है। अत उष्णता का बोध तप्त पदार्थ से अपसारित व्योमतरगो के कारण उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार दीप्त पदार्थ से चक्षु तथा एक ध्वनित वस्तु से वायुतरगो द्वारा कान प्रभावित होता है।

किसी स्थान पर स्थित पदार्थ व्योम के सतत क्षोभ का स्रोत माना जाता है। पदार्थ का प्रत्येक कण कपन करते हुए व्योम मे तरगो का जनन करता है। अत हम सदैव चारो ओर से आती हुई विकिरणतरगो मे डूबे रहते है। इन तरगो द्वारा हमे दृष्टि तथा उष्मा का बोध होता है। यदि यह तरग निश्चित आवृत्तिसीमाओ के बीच की है तो उससे चक्षु प्रभावित होता है तथा इसे हम प्रकाशतरग कहते है। यह तरग हमारे शरीर के अणुओ मे विक्षोभ भी उत्पन्न कर सकती है और इस कारण हमे उष्णता का बोध कराती है। मद कपन की तरगे चक्षुओ को प्रभावित नही करती, वे केवल शरीर को उष्ण करती है। इन्हे अवरक्त किरणे (इनफ्रा-रेड रेज) कहते है। द्रुत कपन की तरगे चक्षु को प्रभावित कर प्रकाश का बोध देती है, उनसे उष्णता का बोध नही के समान होता है। इन्हे हम दृश्य प्रकाशतरग कहते है।

इस सबध मे अग्रलिखित लेख भी देखे उष्मागतिकी, उष्मामिति, उष्मायन, ऊर्जा, क्वाटम यात्रिकी, क्वाटम साख्यिकी, तापमापन, ताप-विद्युत्, वाष्पायन, विकिरण। [प्रे० ना० श०]

---

१ **मापनी**—शीतोष्णता का अनुभव प्राणियो की स्पर्शेद्रिय का स्वाभाविक गुण है। इस अनुभव को मात्रात्मक रूप मे व्यक्त करने के लिये एक पैमाने की आवश्यकता पडती है जिसको तापक्रम (स्केल ऑव टेपरेचर) कहते है। अपेक्षाकृत अधिक गरम प्रतीत होनेवाली वस्तु के विषय में कहा जाता है कि उसका ताप (टेपरेचर) अधिक है। पदार्थों मे तापवृद्धि का कारण यह होता है कि उनमे ऊर्जा (एनर्जी) के एक विशेष रूप, उष्मा की वृद्धि हो जाती है। उष्मा सदैव ऊँचे तापवाले पदार्थों से निम्न तापवाले पदार्थो की ओर प्रवाहित होती है और उसकी मात्रा पदार्थ के द्रव्यमान (मास) तथा ताप पर निर्भर रहती है।

२ **तापक्रम**—छूने से ताप का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह मात्रात्मक और विश्वसनीय नही होता। इसी कारण इस कार्य के लिये यात्रिक उप-

करण प्रयुक्त होते हैं जिनको तापमापी अथवा थर्मामीटर कहते हैं। सर्व-साधारण में जिन थर्मामीटरों का प्रचार है उनमें शीशे की एक छोटी खोखली घुंडी (बल्ब) होती है जिसमें पारा या अन्य द्रव भरा रहता है। बल्ब के साथ एक पतली नली जुडी रहती है। तापीय प्रसरण (थर्मल एक्सपैंशन) के कारण द्रव नली में चढ जाता है और उसके यथार्थ स्थान से ताप की डिग्री का बोध होता है। इस प्रकार के थर्मामीटर १६५४ ई० के लगभग फ्लोरेन्स में टस्कनी के ग्रैंड ड्यूक फर्डिनैंड ने प्रचलित किए थे। तापक्रम निश्चित करने के लिये इन थर्मामीटरों को सर्वप्रथम पिघलते हुए शुद्ध हिम (बरफ) में रखकर नली में द्रव की स्थिति पर चिह्न लगा देते हैं। इस चिह्न को हिमांक कहते हैं। फिर थर्मामीटर को प्रामाणिक दाब पर उबलते शुद्ध पानी में रखते हैं और इसी प्रकार क्वथनांक का चिह्न बना देते हैं। सेंटीग्रेड पैमाने में हिमांक को शून्य मानते हैं और इसके और क्वथनांक के बीच की दूरी को १०० बराबर भागों में बाँट देते हैं जिनमें से प्रत्येक को डिग्री कहते हैं। आजकल इस पैमाने को सेलसियस पैमाना कहते हैं। फारेनहाइट मापक्रम में हिमांक को ३२° और रोमर में शून्य डिग्री मानते हैं किंतु फारेनहाइट में पूर्वोक्त हिमांक और जल के क्वथनांक की दूरी १८० भागों में और रोमर में ८० भागों में विभक्त की जाती है।

यदि दो भिन्न द्रवों से थर्मामीटर बनाकर उपर्युक्त विधि से अंकित किए जायँ तो हिमांक और क्वथनांक को छोडकर अन्य तापों पर सामान्यत उनके पाठ्यांकों में भेद पाया जायगा। अत केवल उष्मागतिकी (उसे देखें) पर आधारित पैमाने को प्रामाणिक मानते हैं और थर्मामीटरों के अंकों को उसी के अनुसार शुद्ध कर लेते हैं। इस पैमाने को परम ताप (ऐब्सोल्यूट टेंपरेचर) अथवा केल्विन मापक्रम भी कहा जाता है और इसके पाठ्यांक अंग्रेजी में T से व्यक्त किए जाते हैं। यहाँ तथा उष्मागतिकी शीर्षक लेख में परम ताप को पा या T से सूचित किया गया है। यह कार्नो चक्र पर आधारित है और इसका शून्य परम शून्य होता है जिसका मान — २७३ २° सें० है और जिससे न्यूनतर ताप संभव नहीं हो सकता।

पूर्वोक्त शीशे-के-भीतर-द्रव वाले तापमापियों की उपयोगिता सीमित ही होती है। ३००° सें० से ऊपर प्राय विद्युतीय प्रतिरोध और ताप-विद्युतीय (थर्मोइलेक्ट्रिक) थर्मामीटर प्रयुक्त होते हैं। अति उच्च ताप के मापनार्थ केवल विकिरण सिद्धांतों पर आधारित उत्तापमापियों (पायरोमीटरों) का प्रयोग होता है। शून्य डिग्री सेंटीग्रेड से नीचे गैस थर्मामीटर, विद्युतीय प्रतिरोध थर्मामीटर, हीलियम-वाष्प-दाब थर्मामीटर, और परम शून्य के निकट चुंबकीय प्रवृत्ति (मैगनेटिक ससेप्टिबिलिटी) पर आधारित थर्मामीटर प्रयुक्त होते हैं। इन सब तापमापियों के अंक या तो आदर्श गैस थर्मामीटरों से मिलाकर शुद्ध किए जाते हैं अथवा इनके शोधन के लिये उष्मागतिकी के सिद्धांतों का आश्रय लिया जाता है। (विशेष विवरण के लिये **तापमापन** शीर्षक लेख देखें।)

३ **अवस्थापरिवर्तन**—उष्मा के प्रभाव से पदार्थों की अवस्था में परिवर्तन किया जा सकता है और कुछ अस्थायी यौगिकों को छोडकर सब का अस्तित्व गैस, द्रव और ठोस इन तीनों रूपों में संभव है। सामान्य वायुमंडलीय दाब पर द्रव का ठोस अथवा वाष्प में परिवर्तन निश्चित तापों पर होता है जिनको हिमांक और क्वथनांक कहते हैं। उपर्युक्त दाब पर यदि एक ग्राम पदार्थ का अवस्थापरिवर्तन किया जाय तो उष्मा की एक निश्चित मात्रा या तो उत्पन्न अथवा शोषित होती है। इसको गुप्त उष्मा (लेटेंट हीट) कहते हैं। ताप की उचित वृद्धि होने पर सब ठोस द्रव में बदल जाते हैं और इसी प्रकार गैसों को निम्नलिखित विधियों से द्रवों में और उसके उपरांत ठंडा करने पर ठोसों में बदला जा सकता है। ठोस के रूप में बदली जानेवाली अंतिम गैस हीलियम है जिसको ठोस बनाने के लिये द्रव को ठंडा करने के साथ ही ऊपर अत्यधिक दाब भी लगाना पडता है।

प्रत्येक गैस का अपना एक क्रांतिक ताप (क्रिटिकल टेंपरेचर) होता है। यदि गैस का ताप इससे कम हो तो केवल दाब बढाने से ही उसे द्रव बनाना संभव होता है, अन्यथा सर्वप्रथम ठंडा करके उसका ताप क्रांतिक ताप से नीचे ले आते हैं। द्रव के रूप में बदली जानेवाली अंतिम गैसें वायु, हाइड्रोजन और हीलियम हैं। वायु को क्रांतिक ताप से नीचे ठंडा करने के लिये जूल-टामसन-प्रभाव का उपयोग करते हैं। यदि कोई उच्च दाब की गैस महीन छेदों में से होकर कम दाब वाले भाग में निकाली जाय तो वह प्राय ठंडी हो जाती है। इसी को जूल-टामसन-प्रभाव कहते हैं। इसकी मात्रा बहुत कम होती है। उदाहरणार्थ यदि छेद के दोनों ओर दाब की मात्रा क्रमानुसार ५० वायुमंडल और १ वायुमंडल हो तो साधारण ताप की हवा केवल ११ ७° सें० ठंडी होती है। किंतु एक बार ठंडी होनेवाली गैस ऊपर उठकर आनेवाली गैस को ठंढा कर देती है। जब गैस के इस ठंडे अंश पर जूल-टामसन-प्रभाव पडता है तो यह और अधिक ठंडी हो जाती है। यह क्रिया बारबार करने से अंतत गैस इतनी ठंडी हो जाती है कि उसका ताप क्रांतिक ताप से नीचे चला जाता है और वह केवल दाब के प्रभाव से ही द्रव में बदल जाती है। वायु के द्रवण (लीक्विफैक्शन) की दो मशीनें लिंडे और क्लॉड-हाईलैंड के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम उपकरण में केवल उपर्युक्त विधि का ही प्रयोग होता है, किंतु दूसरे में इस विधि के अतिरिक्त गैस का कुछ अंश एक इंजिन के पिस्टन को चलाता है। अत काम करने के कारण यह अंश स्वत ठंढा हो जाता है।

साधारण ताप पर हाइड्रोजन और हीलियम ये दोनों गैसें जूल-टामसन-प्रभाव के कारण गरम हो जाती हैं, परंतु ताप उचित मात्रा में कम होने पर सामान्य गैसों की तरह ही ठंढी होती है। अत इन गैसों को पहले ही इतना ठंढा कर लेना आवश्यक है कि इस प्रभाव का लाभ उठाया जा सके। डेवर ने १८९८ में हाइड्रोजन को द्रवित वायु से ठंढा करने के पश्चात् लिंडे की उपर्युक्त विधि से द्रव में परिणत किया। ओन्स ने इसी विधि से १९०८ में अंतिम गैस हीलियम का द्रवण किया, किंतु जूल-टामसन-प्रभाव का उपयोग करने से पूर्व इसको द्रव हाइड्रोजन से ठंढा कर लिया गया था।

वायुमंडलीय दाब पर हीलियम का क्वथनांक ४° पा (T) है। दाब घटाकर वाष्पन करने से ० ७° पा (T) तक पहुँचा जा सकता है। इस से भी कम ताप की उत्पत्ति स्थिरोष्म विचुंबकन (ऐडियाबैटिक डिमैगनेटिजेशन) द्वारा की जा सकती है। इस विधि में विशेष समचुंबकीय (पैरामैगनेटिक) लवण प्रयुक्त होते हैं। ऐसे एक लवण को चुंबकीय ध्रुवों के बीच हीलियम गैस से भरी नली में लटकाया जाता है। यह नली स्थिर ताप के हीलियम द्रव से घिरी रहती है। चुंबकीय क्षेत्र स्थापित करने पर चुंबकन-उष्मा (हीट ऑव मैगनेटिजेशन) को हीलियम द्रव खींच लेता है, अत ताप स्थिर रहता है। अब नली की हीलियम गैस निकाल ली जाती है जिससे लवण का हीलियम द्रव से उष्मिक पृथक्करण (इनसुलेशन) हो जाता है। इसके उपरांत चुंबकीय क्षेत्र हटा लेते हैं। लवण का विचुंबकन हो जाता है और इस कार्य में उष्मा व्यय होने से वह स्वत ठंढा हो जाता है। इस प्रकार ताप को लगभग ० ००१° पा तक घटाया जा सकता है। नाभिकीय विचुंबकन (न्यूक्लियर डिमैग्नेटिजेशन) द्वारा इससे भी निम्न ताप की प्राप्ति हो सकती है।

४ **तापीय प्रसरण**—तापवृद्धि होने पर प्राय सब वस्तुओं के आकार में वृद्धि होती है जिसको तापीय प्रसरण कहते हैं। यदि शून्य ताप पर आयतन आ$_०$ (V_0) हो तो प° ($t°$) पर सन्निकटत आयतन निकालने के लिये निम्नलिखित सूत्र लागू होता है ‘

$$आ_प = आ_० (१ + प्राप)।$$

$$V_t = V_0 (1 + \beta t)।$$

प्रा (β) को प्रसरण गुणांक कहते हैं। ताप में अधिक वृद्धि होने पर इस सूत्र में **प** (t) के उच्च घात (पावर) भी आते हैं। ठोसों में पूर्वोक्त प्रकार का सूत्र लंबाई के प्रसरण के लिये भी होता है जिसके गुणांक को प्र (α) से व्यक्त करते हैं और रेखीय प्रसरणगुणांक कहते हैं। यह प्रा (β) का १/३ होता है।

गैसों और द्रवों का प्रसरण गुणांक बहुत बडा होता है, अत उसका मापन अपेक्षाकृत सरल है। गैसों में दाब और आयतन दोनों का प्रसरण होता है। यदि दाब स्थिर हो तो पूर्वोक्त सूत्र आयतन पर पूर्ण रूप से लागू होता है। आयतन स्थिर होने पर इसी सूत्र में आ (V) के स्थान पर **दा** (**P**) लिखकर दाब दा का सूत्र बन जाता है। प्रा (β) दोनों सूत्रों में एक ही है और इसका मान सब आदर्श गैसों में १/२७३ के लगभग होता है। सब गैसें क्रांतिक ताप से बहुत ऊँचे ताप पर आदर्श गैसें होती हैं, किंतु यदि इनका क्वथनांक निकट न हो और दाब अधिक न हो तो सामान्यत ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन और हीलियम को आदर्श गैसें कहते हैं। सब आदर्श गैसों पर निम्नलिखित सूत्र लागू होता है

$$दा\ आ = क्ष\ पा,$$

$$PV = RT,$$

जिसमें दा (P) दाव और आ (V) आयतन है। पा (T) परम ताप है जिसकी मात्रा सेंटीग्रेड ताप मे २७३ जोडने पर प्राप्त होती है। ग्न (R) को गैस नियताक कहते हैं। एक ग्राम-अणु (ग्राम-मॉलिक्यूल) गैस के लिये इसकी मात्रा लगभग दो कलरी अथवा ८ ३ जूल होती है।

ठोसो का प्रसरणगुणाक बहुत कम होता है, अत इनके मापन मे विशेष विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। मणिभ (क्रिस्टल) बहुत छोटे होते हैं, अत उनके प्रसरण का मापन और भी दुष्कर होता है। एक उपकरण मे क्रिस्टल पट्टिका और सिलिका की पट्टिका के बीच मे प्रकाशीय व्यतिकरण धारियाँ (ऑप्टिकल इटरफियरेन्स फ्रिजेज) उत्पन्न की जाती हैं। तापवृद्धि से धारियाँ स्थानातरित हो जाती हैं जिनके मापन से गुणाक निकाला जा सकता है। उच्च समिति (सिमेट्री) के क्रिस्टलो को छोडकर अन्य क्रिस्टलो के प्रसरणगुणाक दिशा के अनुसार भिन्न होते हैं। ठोसो के सबध में ग्रीनाइज़न का यह नियम है कि "प्रत्येक धातु का प्रसरणगुणाक उसकी स्थिर दाबवाली विशिष्ट उष्मा का समानुपाती होता है।"

५ कलरीमिति—एक ग्राम पानी का ताप १४ ५° सें० से १५ ५° सें० तक बढाने में जितनी उष्मा की आवश्यकता होती है उसे एक कलरी कहते हैं। अन्य ताप पर पानी की १° तापवृद्धि के लिये इससे कुछ भिन्न मात्रा की आवश्यकता होती है, पर दोनो का अतर कभी भी १/२ प्रति शत से अधिक नही होता। किसी १ ग्राम वस्तु मे १° सें० ताप-परिवर्तन करनेवाली उष्मा को उसकी विशिष्ट उष्मा (स्पेसिफिक हीट) कहते हैं। विशिष्ट उष्मा वि (S) की किसी वस्तु के द्रव्यमान द्र (m) ग्राम का ताप प (t) डिग्री सें० बढाने मे द्र वि प (mSt) कलरियाँ व्यय होती है। किसी वस्तु की विशिष्ट उष्मा ज्ञात करने के लिये सर्वप्रथम उसको ऊँचे ताप तक गरम करते हैं और फिर उसको एक आशिक रूप से पानी भरे बरतन (कलरीमापी) मे डाल देते हैं। वस्तु के ठडी होने मे जितनी कलरियाँ मिली उनको कलरीमापी और पानी द्वारा प्राप्त कलरियो के बराबर रखकर विशिष्ट उष्मा की गणना कर लेते हैं।

विशिष्ट उष्मा निकालने की एक अन्य विधि यह भी है कि पदार्थ के ऊपर इतनी भाप को प्रवाहित करे कि उसका ताप बढकर भाप के ताप के बराबर हो जाय। यदि इस विधि मे द्र (m) ग्राम भाप सघनित (कनडेन्स) होती है तो उसके पानी बनने मे द्र × गु (m×L) कलरी प्राप्त होती हैं (गु (L) =गुप्त ताप)। इसको पदार्थ द्वारा शोपित उष्मा के बराबर रखकर विशिष्ट उष्मा की गणना कर लेते है।

विशिष्ट उष्मामापन की उत्तम विधि विद्युतीय होती है। इसमें पदार्थ को विद्युतीय उपायों से उष्मा दी जाती है और ताप का मान भी विद्युतीय तापमापियो द्वारा ही जाना जाता है। ठोस पदार्थो के लिये यह विधि सर्वप्रथम गेडे ने १९०२ मे प्रचलित की थी। नर्न्स्ट और उसके सहयोगियो ने इसको निम्न ताप पर विशिष्ट उष्मामापन के लिये प्रयुक्त किया और सैद्धातिक दृष्टि से अत्यत महत्वपूर्ण फल प्राप्त किए।

तापवृद्धि के समय बाह्य स्थिति के अनुसार पदार्थो की विशिष्ट उष्मा के अनेक मान होते हैं। एक तो स्थिर आयतनवाली विशिष्ट उष्मा होती है जो उसकी आतरिक ऊर्जा से सबधित रहती है। मापन क्रिया के समय आयतन में परिवर्तन होने के कारण आयतनवृद्धि के लिये काम (कर्म) करना पडता है और तापवृद्धि के साथ साथ कुछ उष्मा की इस काम के लिये भी आवश्यकता होती है। काम की मात्रा दाब के आश्रित है और यदि यह दाब स्थिर न हो तो यह मात्रा भी परिवर्तित होगी। इसीलिये स्थितियो मे भेद होने के कारण विशिष्ट उष्मा के अनेक मान होते है, किंतु सुविधा के लिये केवल दो पर ही विचार किया जाता है। एक का सबध स्थिर आयतन और दूसरे का स्थिर दाब से है और इनको क्रमानुसार वि$_{आ}$ (C_v) और वि$_{दा}$ (C_p) लिखा जाता है। ठोसो और द्रवो मे तापीय प्रसरण अपेक्षाकृत कम होता है, अत विशिष्ट उष्मा के अनेक मान लगभग बराबर होते हैं किंतु गैसों में इनमे बहुत अतर होता है। बहुपरमाण्वीय अणुओ मे विशिष्ट उष्मा को अणुभार से गुणा करने पर उनकी आणव उष्मा (मॉल्युक्युलर हीट) और एक परमाणुक अणुओ मे विशिष्ट उष्मा को परमाणुभार से गुणा करने पर उनकी पारमाण्वीय उष्मा (ऐटोमिक हीट) प्राप्त होती है। इन दोनो को अंग्रेजी मे C और हिंदी मे वी से व्यक्त करते हैं। वैज्ञानिक

साहित्य मे इनको केवल विशिष्ट उष्मा भी लिखा गया है। इस सबध में आदर्श गैसो मे यह सूत्र लागू होता है

वी$_{दा}$—वी$_{आ}$=ग्न

$$C_p - C_v = R$$

यहाँ पर ग्न (R) पूर्ववर्णित गैस नियताक है।

६ विशिष्ट उष्मा के सिद्धात—१८१९ मे ड्यूलाग और पेटिट ने यह नियम प्रतिपादित किया कि सब ठोस तत्वो की स्थिर आयतनवाली पारमाण्वीय उष्मा एक ही होती है और उसका मान ५ ९४ कलरी/ग्राम-परमाणु×डिग्री से० होता है। शीघ्र ही प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध हुआ कि हल्के तत्व—कार्बन, बोरन और सिलिकन—इस नियम के अपवाद हैं। पूर्ववर्णित नर्न्स्ट के प्रयोगो से यह ज्ञात हुआ कि ताप कम होने पर यह नियम किसी भी ठोस पर लागू नही होता और ताप घटने पर सब तत्वो की पारमाण्वीय उष्मा घटती जाती है, यहाँ तक कि परम शून्य के निकट लगभग शून्य हो जाती हैं।

किसी समुदाय की ऊर्जा के व्यजक मे जितने वर्ग (स्क्वेयर) पद आते है उनकी सख्या उस समुदाय की स्वतत्रता सख्या (डिग्रीज़ ऑव फ्रीडम) कहलाती है। एकपरमाणुक आदर्श गैसो मे यह सख्या ३ प्रति अणु और ठोस तत्वो मे यह ६ प्रति परमाणु होती है। मैक्सवेल–वोल्ज़मान की सांख्यिकी के अनुसार ठोस पदार्थो की औसत उष्मिक ऊर्जा

$$\frac{१}{२}(\text{ग्न}/\text{ऐ}) \text{ पा} = \frac{१}{२}\text{बो पा}। \quad \frac{१R}{२N}T = \frac{१}{२}kT$$

प्रति स्वतत्रता सख्या होती है। यहाँ ऐ (N) ऐवेगैड्रो सख्या है और यह ग्राम-परमाणु मे परमाणुओ की सख्या के बराबर होती है। बो (k) बोल्ज़मान नियताक है। अत ऐ (N) परमाणुओ की ऊर्जा

$$\text{ऊ} = ६\times\tfrac{१}{२}\text{ ग्न पा} = ३\text{ ग्न पा} \quad [E = 6\times\tfrac{1}{2}RT = 3\,RT]$$

और वी$_{आ}$ = ताऊ/तापा = ३ग्न = ३ × १ ९८ = ५ ९४ कलरी।

$$C_v = dE/dT = 3\,R = 3\times1\,98 = 5\,94 \text{ Calories}।$$

इस प्रकार ड्यूलांङ्ग और पेटिट का सिद्धात सिद्ध हो जाता है।

निम्न ताप पर पूर्वोक्त नियम की विफलता को आइस्टाइन ने १९०७ मे प्लाक के क्वाटम सिद्धात के आधार पर समझाने का प्रयास किया। इस सिद्धात के अनुसार कोई भी स (ν) आवृत्तिवाला दोलक ऊर्जा का शोपण अथवा उत्सर्जन केवल प्लस ($h\nu$) बडलो अर्थात् क्वाटमो मे ही करता है। प्ल (h) को प्लाक नियताक कहते हैं और इसका मान ६ ६×१०$^{-२७}$ अर्ग सेकड होता है। इस सिद्धात से यह सिद्ध होता है कि पारमाण्वीय दोलको की उष्मिक ऊर्जा

$$\tfrac{१}{२}\text{ प्लस}/\left(\text{ई}^{\text{प्लस}/\text{बोपा}}-१\right) \qquad \left[\tfrac{1}{2}h\nu/\left(e^{h\nu/kT}-1\right)\right]$$

प्रति स्वतत्रता सख्या अथवा

$$\text{प्लस}/\left(\text{ई}^{\text{प्लस}/\text{बोपा}}-१\right) \qquad \left[h\nu/\left(e^{h\nu/kT}-1\right)\right]$$

प्रति दोलक होती है। आइस्टाइन ने सब परमाणुओ की आवृत्तियाँ एक ही मानकर पारमाण्वीय उष्मा की गणना की और प्रायोगिक परिणामो को मोटे रूप से समझाया।

आइस्टाइन ने स्वय ही स्वीकार किया था कि उसका सब परमाणु की एक ही आवृत्ति मानना उचित नही था। डिबाई ने सपूर्ण ठोस को अविरत (कटिनुअस) मानकर गणना की कि यह ठोस कुल कितने प्रकार से दोलन कर सकता है। अविरत ठोस मे यह सख्या अनत होती है और इस कारण पारमाण्वीय उष्मा भी अनत ही होनी चाहिए। इससे बचने के लिये डिबाई ने यह निराधार कल्पना की कि एक विशिष्ट आवृत्ति से ऊपर किसी दोलन की सभावना नही। यह आवृत्ति ऐसी होती है कि उससे नीचेवाली समस्त आवृत्तियो की कुल सख्या ३ ऐ (3N) होती है। प्रति आवृत्ति की औसत ऊर्जा

$$\text{प्लस}/\text{ई}^{\text{प्लस}/\text{बोपा}}-१ \qquad [h\nu/e^{h\nu/kT}-1]$$

लेने और सब आवृत्तियो की ऊर्जा को जोडने पर तत्व की पारमाण्वीय ऊर्जा निकल आती है। इससे अवकलन (डिफरेन्सिएशन) द्वारा पारमाण्वीय उष्मा की गणना कर लेते है।

बहुत समय तक डिवाई का सिद्धात प्रायोगिक परिणामो को समझाने में सफल रहा, किंतु कुछ समय पश्चात् उसकी यथार्थता कम हो गई। वॉर्न ने ठोस के मणिभ स्वरूप को ध्यान मे रखा और दोलन वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) को ऐसी आवृत्ति पर समाप्त किया जिसके तरगदैर्घ्य का सबध मणिभ की वनावट से है। यह समाप्ति मणिभ की वनावट पर आधारित होने के कारण डिवाई की आवृत्ति समाप्ति से श्रेष्ठ है। वॉर्न के सिद्धात का व्लैकमैन, कैलरमैन इत्यादि ने विकास किया और इसके द्वारा प्रायोगिक परिणामो की सफलतापूर्वक व्याख्या की।

भारतीय वैज्ञानिक चद्रशेखर रमण ने यह सिद्धात प्रतिपादित किया कि किसी भी उष्मिक दोलन को सपूर्ण ठोस का दोलन मानना त्रुटिपूर्ण है। उनके अनुसार कोई भी उष्मिक दोलन केवल कुछ परमाणु समुदाय का दोलन होता है और प्रत्येक दोलन का यह रूप होता है कि उनमे निकटस्थ मणिभ कोशिकाओ (क्रिस्टल सेलो) मे ऊर्जा की मात्रा वरावर होती है। विश्वेश्वर-दयाल ने रमण के सिद्धात द्वारा अनेक ठोसो की पारमाणवीय उष्मा की गणना की और उनका प्रायोगिक फलो से मेल सिद्ध किया। सिद्धातत भिन्न होने पर भी रमण और वॉर्न के सिद्धातो द्वारा गणना की हुई पार-माणवीय उष्मा के मान मे विशेष अतर नही पाया जाता।

गैसो की आणव उष्मा की गणना करने के लिये उसको तीन भागो में विभक्त किया जाता है जिनका सवध क्रमानुसार सरल गति, घूर्णन और दोलन से होता है। यदि किसी गैस अणु में स (n) परमाणु हो तो उसकी कुल स्वतत्रता सख्या ३ स (3n) होती है जिसमे तीन सरल गति से, दो या तीन घूर्णन से और शेष दोलन से सबधित है। सरल गति से उत्पन्न आणव उष्मा प्रति स्वतत्रता सख्या $\frac{1}{2}$ वो ($\frac{1}{2}$k) होती है। यदि अणु-भार और ताप बहुत कम न हो तो यही प्रभाव घूर्णन का भी होता है, परतु इनके कम होने पर घूर्णन के प्रभाव की क्वाटम साख्यिकी द्वारा गणना की जाती है। दोलन का प्रभाव ठोसो के सवध मे वर्णित आइस्टाइन सिद्धाता-नुसार किया जाता है। इस सवध मे प्रयुक्त दोलन आवृत्तियो की गणना रमण प्रभाव और अवरक्त (इनफ्रा-रेड) आवृत्तियो के अध्ययन द्वारा की जाती है।

७ उष्मा का स्थानातरण—पदार्थो मे तीन विधियो से उष्मा का स्थाना-तरण होता है जिनको (१) चालन (कडक्शन), (२) सवहन (कन्वे-क्शन) और (३) विकिरण (रेडियेशन) कहते हैं। विकिरण मे विद्यु-च्चुवकीय तरगो के रूप मे उष्मा एक पदार्थ से दूसरे की ओर यात्रा करती है। ये तरगे प्रकाश की तरगो के ही समान होती है, किंतु इनका तरगदैर्घ्य बडा होता है। इनका विवरण **विकिरण** शीर्षक लेख में अन्यत्र दिया गया है। सवहन मे द्रव अथवा गैस के गरम अश गतिशील होकर उष्मा का अन्यत्र वहन करते है। इस विधि का उपयोग पानी अथवा भाप द्वारा मकानो को गरम रखने मे किया जाता है। चालन में पदार्थो के भिन्न खडो मे आपेक्षिक गति (रिलेटिव मोशन) नही होती, केवल उष्मा एक कण से दूसरे में स्थानातरित होती रहती है।

चालन के सवध मे यह नियम है कि उष्मासचारण की दर तापप्रवणता (टैपरेचर ग्रेडिएट) की समानुपाती होती है। यदि किसी पट्टिका की मोटाई सर्वत्र य(x) सेटीमीटर हो और उसके आमने सामनेवाली सतहो का क्षेत्रफल क्ष(A) वर्ग सेटीमीटर और उनके ताप क्रमा-नुसार प१ और प२ (t_1 and t_2) डिग्री सें० हो तो उनके वीच एक सेकड में सचारित होनेवाली उष्मा की मात्रा मा(Q) निम्नलिखित सूत्र से मिलेगी

$$\text{मा}=\text{चा क्ष}\frac{\text{प}_1-\text{प}_2}{\text{य}}\,।\; Q=KA\frac{t_1-t_2}{x}$$

इस सूत्र के नियताक चा (K) को पदार्थ की उष्मिक चालकता कहते है। यह सूत्र उसी समय लागू होता है जब उष्मासचारण धीर (स्टेडी) और सतहो के अभिलववत् हो। ऐसी अवस्था मे सतहो के समातर वीच की तहो मे उष्मा के प्रवाह की दर एक ही होती है। ऐसा न होने पर कुछ उष्मा तापवृद्धि में भी व्यय होती है जिसकी दर एक अन्य विसरणता (डिफि-ज़िविटी) नामक गुणाक पर निर्भर रहती है जो चा/घ वि (K/pS) के वरावर होती है। घ(p) घनत्व और वि (S) विशिष्ट उष्मा है)।

धातुओ की उष्मिक चालकता वहुत अधिक होती है। इनके सवध में वीडमैन-फ्रेंज का नियम वहुत महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार एक ही ताप पर सब धातुओ की उष्मिक और विद्युतीय चालकता का अनुपात एक ही होता है।

८ उष्मागतिकी—जूल के प्रयोगो ने यह सिद्ध किया कि उष्मा ऊर्जा का ही एक रूप है और वह अपनी मात्रा के अनुपात में ही काम कर सकती है। इसी को उष्मागति का प्रथम नियम कहते है। इसके अनुसार विना लगातार ईंधन जलाए किसी उष्मिक इजन से निरतर काम नही लिया जा सकता। किंतु उष्मा की मात्रा तो चारो ओर अनत है और इसलिये यह सभावना हो सकती है कि हम चारो ओर के पदार्थो की उष्मा निकालकर उसको काम में परिवर्तित करते रहे और इस प्रकार विना व्यय के इजन चला सके। अनुभव यह वतलाता है कि ऐसा होना सभव नही और यही दूसरे नियम का विषय है।

यह नियम उन परिवर्तनो पर लागू होता है जिनमें एक चक्र (साइकिल) के उपरात समुदाय पुन अपने मूल रूप में आ जाता है। इसका यह अर्थ है कि हम केवल ऐसे परिवर्तनो पर विचार करेंगे जिनमें उष्मा कर्म मे परि-वर्तित होती है और इसके अतिरिक्त कोई अन्य परिवर्तन नही होता। इस नियम के अनुसार यदि कोई पदार्थ और उसके परिपार्श्व सव एक ही ताप पर हो तो उनकी उष्मा को काम में नही वदला जा सकता। ऐसा करने के लिये कम से कम दो भिन्न तापवाले पदार्थो की आवश्यकता होती है और उनसे ताप के अतर के कारण ही काम करने के लिये उष्मा प्राप्त हो सकती है। इस नियम के मूल में यह तथ्य है कि अणुओ की उष्मिक गति अनियमित होती है और इजन के पिस्टन की सुनियमित। जैसे ताश के पत्तो को वारवार फेंटकर उनका नियमित विन्यास करना असभव सा ही है, ऐसे ही अणुओ की अनियमित उष्मिक गति का भी स्वत पिस्टन की नियमित गति में परिवर्तित होना अतिदुष्कर है। इजन जो भी उष्मा काम में परिवर्तित करते है उसका कारण यह है कि इसके साथ ही साथ उनमे कर्म करनेवाले पदार्थ कुछ उष्मा भट्टी से सघनित्र (कडेन्सर) में स्थानातरित कर देते है। इस कारण इसकी आणविक गति की अनियमितता वढ जाती है और कुल समुदाय की अनियमितता का ह्रास नही होता।

आचार्यो ने उष्मागतिकी के दूसरे नियम के अनेक रूप दिए है जो मूलत एक ही हैं, जैसे

"ऐसे उष्मिक इजन का निर्माण करना सभव नही जो पूरे चक्र में काम करते हुए केवल एक ही पिंड से उष्मा ग्रहण करे और काम करनेवाले समुदाय मे विना परिवर्तन लाए उस सपूर्ण उष्मा को काम में वदल दे" (प्लाक–केल्विन)।

"विना वाहरी सहायता के कोई भी स्वत काम करनेवाली मशीन उष्मा को निम्नतापीय पिंड से उच्चतापीय में नही ले जा सकती, अर्थात् उष्मा ठढे पिंड से गरम में स्वत नही जा सकती" (क्लाजिउस)।

कार्नो ने, जो उष्मा के असली स्वरूप से अनभिज्ञ था, एक आदर्श इजन की कल्पना करके उसकी दक्षता (एफिशेन्सी) की गणना की। इसका इजन पूर्णरूपेण उत्क्रमणीय (रिवर्सिविल) है। इसका यह अभिप्राय है कि किसी समुदाय की कार्यप्रणाली उलट देने पर उसके समस्त कार्यो की दिशा भी उलट जाती है, अर्थात् यदि सीधी विधि में उष्मा शोषित होती है तो विपरीत विधि में उतनी ही मात्रा उत्सर्जित होगी और यदि सीधी विधि मे उत्सर्जित हुई तो विपरीत विधि में उतनी ही शोषित होती है। उत्क्रमणीय परिवर्तन वे ही होते हैं जिनमे निरतर साम्यावस्था (ईक्विलि-व्रियम) रहती है।

कार्नो के इजन का विवरण देने से पूर्व यह वतलाना आवश्यक है कि जिन परिवर्तनो मे वाहरी उष्मा का आवागमन नही होता उनको स्थिरोष्म (ऐडियावैटिक) कहते है। इनके कारण यदि आयतन मे वृद्धि होती है तो दाव के विपरीत काम करने के कारण समुदाय ठढा हो जाता है और इसके विपरीत आयतन मे कमी होने से समुदाय गरम हो जाता है। यदि वाहरी उष्मा के सपर्क से समुदाय का ताप स्थिर रहे तो परिवर्तन को सम-तापीय (आइसोथर्मल) कहते है।

कार्नो के इजन में ऐसे सिलिंडर की कल्पना की गई है जिसमें कोई आदर्श गैस भरी होती है और जिसकी दीवारो और पिस्टन में से उष्मा

का चालन नही हो सकता। किंतु उसकी पेंदी पूर्णतया चालक होती है। इसके साथ एक टोपी भी होती है जो पेंदी पर ठीक बैठ सकती है और दीवारो की तरह पूर्णतया पृथक्कारी (इनसुलेटर) होती है। एक ताप पा, (T_1) की भट्ठी और ताप पा, (T_2) के सघनित्र की भी व्यवस्था रहती है। ये अवयव चित्र १ मे प्रदर्शित है।
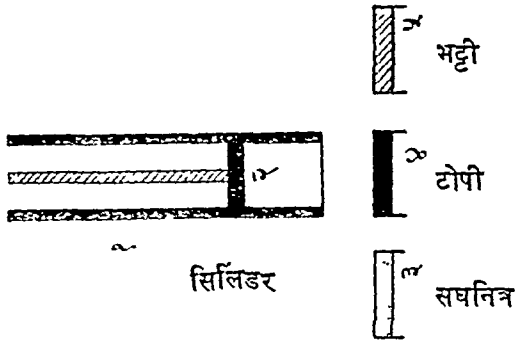
चित्र १ कार्नो इजन के भाग

कार्नो का चक्र निम्नलिखित क्रियाओ द्वारा पूरा किया जाता है।

(क) सिलिंडर को भट्ठी ५ पर बैठा दिया जाता है और पिस्टन को धीरे धीरे बाहर खीचते जाते हैं जिससे गैस और भट्टी का ताप निरतर बराबर पा, (T_1) रहता है। यह क्रिया समतापीय है। गैस की प्रारभिक स्थिति चित्र (२) के बिंदु क (A) से प्रकट है और वह समताप-रेखा क ख (A B) से होती हुई अत में स्थिति ख (B) में पहुँच जाती है। इस क्रिया मे ताप स्थिर रखने के लिये गैस भट्ठी से उष्मा मा, (Q_1) लेती है और चित्र के क्षेत्रफल क ख ख' क' (A B B'A') के बराबर पिस्टन पर काम करती है।
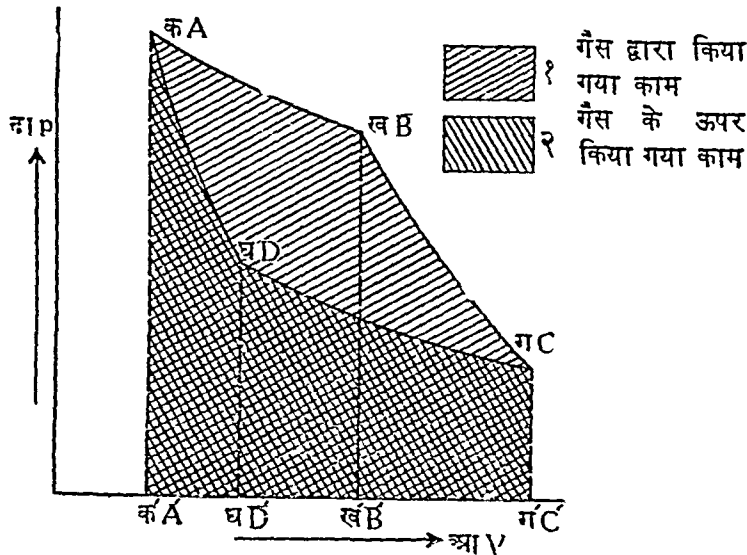
चित्र २. कार्नो इजन का सूचक चित्र

(ख) अब सिलिंडर का भट्ठी से सपर्क तोडकर उसकी पेंदी पर टोपी बैठा दी जाती है। पिस्टन अब भी धीरे धीरे बाहर खिंचता जाता है। उष्मापृथक्करण (हीट इन्सुलेशन) होने के कारण यह क्रिया स्थिरोष्म है और गैस ख (B) से स्थिरोष्म रेखा ख ग (B C) पर होती हुई स्थिति ग (C) पर पहुँच जाती है। अब ताप पा, (T_1) से गिरकर पा, (T_2) हो जाता है और गैस पिस्टन पर ख ग ग' ख' (B C C' B') काम करती है।

(ग) अब टोपी हटाकर सिलिंडर को सघनित्र [ताप पा, (T_2)] पर बैठा दिया जाता है। पिस्टन धीरे धीरे भीतर की ओर जाता है और गैस समतापीय-रेखा ग घ (C D) से होकर बिंदु घ (D) पर पहुँच जाती है। इस विधि मे गैस मा, (Q_2) उष्मा सघनित्र को देती है और पिस्टन उसपर ग ग' घ' घ (C C' D' D) काम करता है।

(घ) सघनित्र से सिलिंडर को हटाकर उसपर पुन टोपी बैठा दी जाती है। पिस्टन धीरे धीरे अदर की ओर जाता है और गैस स्थिरोष्म मार्ग घ क (D A) से होकर आदि स्थान क (A) पर पहुँचती है। पिस्टन गैस पर कार्य घ घ' क' क (D D' A' A) करता है और गैस का ताप बढकर पुन पा, (T_1) हो जाता है। इस प्रकार कार्नो का चक्र पूर्ण होता है। इसके परिणाम ये होते हैं

(१) गैस द्वारा किए हुए काम मे से उसपर हुए काम को घटाकर कुल चक्र मे क ख ग घ (A B C D) के बराबर काम होता है।

(२) भट्ठी गैस को उष्मा मा, (Q_1) देती है जिसमें से वह सघनित्र को उष्मा मा, (Q_2) देकर शेष को क ख ग घ (A B C D) कार्य करने मे व्यय करती है।

इस चक्र की समस्त क्रियाएँ साम्यावस्था मे होने के कारण उत्क्रमणीय (रिवर्सिबिल) हैं। इसकी

$$\text{दक्षता} = \frac{\text{प्राप्त काम}}{\text{भट्ठी से प्राप्त उष्मा}} = \frac{\text{मा}_1 - \text{मा}_2}{\text{मा}_1} \left(\frac{Q_1 - Q_2}{Q_1}\right)$$

कार्नो ने सिद्ध किया कि किसी भी इजन की दक्षता उत्क्रमणीय इजन से अधिक नही हो सकती और सिलिंडर के भीतर कोई भी पदार्थ क्यो न काम करे समस्त उत्क्रमणीय इजनो की दक्षता एक ही होती है। इसी को कार्नो प्रमेय कहते हैं। कार्नो के प्रमाण का आधार यह है कि यदि कोई अन्य इजन उत्क्रमणीय इजन से अधिक दक्ष हो तो इन दोनो को उचित रूप से जोडकर कम तापवाले सघनित्र से बिना अन्य परिवर्तन किए उष्मा निकालकर काम कराना सभव हो सकता है। यह उष्मागतिकी के द्वितीय नियम के अनुसार सभव नही।

६ परम तापक्रम—(ऐब्सोल्यूट स्केल ऑव टेंपरेचर)—कार्नो इजन की दक्षता उसके सिलिंडर मे भरे हुए पदार्थ और उसकी अवस्था पर आश्रित नही होती और केवल भट्ठी तथा सघनित्र के तापो पर निर्भर रहती है। इस कारण लार्ड केल्विन ने सुझाव दिया कि इसी को तापमापन का आधार बनाना उचित होगा। इस नवीन मापक्रम मे भट्ठी से कार्नो इजन द्वारा शोषित उष्मा मा, (Q_1) और सघनित्र को दी हुई उष्मा मा, (Q_2) इन दोनो का अनुपात उनके ताप थ, (θ_1) और थ, (θ_2) के अनुपात के बराबर होता है। अर्थात्

$$\text{मा}_1/\text{मा}_2 = \text{थ}_1/\text{थ}_2$$
$$Q_1/Q_2 = \theta_1/\theta_2$$

यदि भट्ठी शुद्ध पानी के क्वथनाक पर और सघनित्र हिमाक पर हो तो उन दोनो के तापो का अतर १००° परम माना जाता है, अर्थात्

$$\frac{\text{मा}_1 \text{ (क्वथनाक)}}{\text{मा}_2 \text{ (हिमाक)}} = \frac{\text{थ}_0 + १००}{\text{थ}_0}, \frac{Q_1 \text{ (क्वथनाक)}}{Q_2 \text{ (हिमाक)}} = \frac{\theta_0 + 100}{\theta_0}$$

यहाँ पर थ, (θ_0) परम मापक्रम मे हिमाक का मान है। यदि मा, (Q_2) शून्य हो तो थ, (θ_2) भी शून्य होता है। इसी को परम शून्य (ऐब्सोल्यूट जीरो) कहते हैं। इस ताप पर सघनित्र को रखने से भट्ठी की सपूर्ण उष्मा काम करने मे व्यय होगी अत यह स्पष्ट है कि इससे निम्न ताप सभव नही हो सकता। अतर्राष्ट्रीय निश्चय के अनुसार अब केवल हिमाक को २७३ १६०° मानकर ही परम डिग्री का मान निर्धारित किया जाता है।

कार्नो का इजन आदर्श मात्र है, व्यावहारिक नही। अत यह मापक्रम भी व्यावहारिक नही हो सकता। परतु सिद्धातानुसार आदर्श गैसो के मापक्रम का ताप पूर्वोक्त उष्मागतिकी अथवा परम पैमाने के ताप के बराबर होता है, अत आदर्श गैस मापक्रम को काम मे लाया जाता है। किंतु इसकी प्रामाणिकता उष्मागतिकी मापक्रम पर ही आधारित है।

अधिक जानकारी के लिये **उष्मागतिकी** शीर्षक लेख देखे।

स० ग्रं०—जे० सी० मैक्सवेल थ्योरी ऑव हीट, ११वाँ सस्करण, १८९४, पी० एस० एप्स्टाइन थर्मोडायनामिक्स (१९३७), आर० एच० फाउलर और ई० ए० गुगेनहाइम स्टैटिस्टिकल थर्मोडायनामिक्स (१९३९), जे० जीन्स. दि डायनैमिकल थ्योरी ऑव गैसेज (१९२१), साहा और श्रीवास्तव हीट। इस सबध मे अग्रलिखित लेख भी इस विश्वकोश मे देखे **उष्मागतिकी, उष्मामिति, उष्मायन, ऊर्जा, क्वांटम यांत्रिकी, क्वांटम सांख्यिकी, तापमान, तापविद्युत्, वाष्पायन, विकिरण**। [वि०द०]

उष्मागतिकी प्रारभ मे उष्मागतिकी विज्ञान की वह शाखा थी जिसमें केवल उष्मा के कार्य मे परिणत होने अथवा कार्य के उष्मा मे परिणत होने का विवेचन किया जाता था। परतु अब इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। अब इसमे ताप सबधी लगभग सभी बातो का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणत यदि हम निकल जैसे किसी चुबकीय पदार्थ की एक छड को एक कुडली के भीतर रखे और इस कुडली में बिजली की धारा प्रवाहित कराकर एक चुबकीय क्षेत्र स्थापित करे तो छड की लबाई मे थोडा अतर आ जायगा, वह थोडा गर्म हो जायगा, और उसकी विशिष्ट उष्मा में भी अतर हो जायगा। ऐसे ही यदि नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन का मिश्रण लेकर हम उसमे एक उत्प्रेरक छोड दें तो इस मिश्रण मे नाइट्रोजन, हाइड्रोजन तथा अमोनिया एक विशेष अनुपात में रहेंगे। ताप मे परिवर्तन होने से इस अनुपात में भी परिवर्तन होता है, और यह परिवर्तन उस उष्मा से सबधित रहता है जो अमोनिया के सश्लेषण की क्रिया मे ताप को अपरिवर्तित रखने के लिये उस मिश्रण से निकालनी आवश्यक होती है। ऐसी ही अन्य बातो का अध्ययन भी अब उष्मागतिकी के अतर्गत होता है जिससे इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है।

१९वी शताब्दी के मध्य मे उष्मागतिकी के दो सिद्धातो का प्रतिपादन किया गया था, जिन्हे उष्मागतिकी के प्रथम एव द्वितीय सिद्धात कहते हैं। २०वी शताब्दी के प्रारभ मे दो अन्य सिद्धातो का प्रतिपादन किया गया है जिन्हे उष्मागतिकी का शून्यवाँ तथा तृतीय सिद्धात कहते हैं।

उष्मागतिकी का शून्यवाँ सिद्धात—ताप—उष्मागतिकी के अध्ययन मे एक नई भावना का समावेश होता है। वह ताप की भावना है। यदि किसी पिंड (बॉडी) के गुणधर्म इस बात पर निर्भर न रहें कि वह कितना गरम अथवा ठढा है तो उसका पूरा परिचय पाने के लिये उसके आयतन अथवा उसके घनत्व के ज्ञान की ही आवश्यकता होती है। जैसे यदि हम कोई द्रव लें तो यात्रिकी मे यह माना जाता है कि उसके ऊपर दाब बढाने पर उसका आयतन कम होगा। दाब का मान निश्चित करते ही आयतन का मान भी निश्चित हो जाता है। इस तरह इन दो चर राशियो में से एक स्वतत्र होती है और दूसरी आश्रित अथवा परतत्र।

परतु प्रत्यक्ष अनुभव से हम जानते है कि आयतन यदि स्थिर हो तो भी गरम या ठढा करके दाब को बदला जा सकता है। इस प्रकार दाब तथा आयतन दोनो ही स्वतत्र चर राशियाँ हैं। आगे चलकर आवश्यकतानुसार हम अन्य चर राशियो का भी समावेश करेंगे।

और आगे बढने के पहले हम ऐसी दीवारो की कल्पना करेंगे जो विभिन्न द्रवो को एक दूसरे से अलग करती हैं। ये दीवारे इतनी सूक्ष्म होगी कि इन द्रवो की पारस्परिक अतक्रिया को निश्चित करने के अतिरिक्त उन द्रवो के गुणधर्म के ऊपर उनका अन्य कोई प्रभाव नही होगा। द्रव इन दीवारो के एक ओर से दूसरी ओर न जा सकेगा। हम यह भी कल्पना करेंगे कि ये दीवारे दो तरह की हैं। एक ऐसी दीवारें जिनसे आवृत द्रव में बिना उन दीवारो अथवा उनके किसी भाग को हटाए हम कोई परिवर्तन नही कर सकते, और उन द्रवो में हम विद्युतीय या चुबकीय बलो द्वारा परिवर्तन कर सकते हैं क्योकि ये बल दूर से भी अपना प्रभाव डाल सकते है। ऐसी दीवारो को हम 'स्थिरोष्म' दीवारे कहेंगे।

दूसरे प्रकार की दीवारो को हम 'उष्मागम्य' (डायाथर्मानस) दीवारें कहेंगे। ये दीवारे ऐसी होगी कि साम्यावस्था मे इनके द्वारा अलग किए गए द्रवो की दाब तथा आयतन के मान स्वेच्छ नही होगे, अर्थात् यदि एक द्रव की दाब एव आयतन और दूसरे द्रव की दाब निश्चित कर दी जाय तो दूसरे द्रव का आयतन भी निश्चित हो जायगा। ऐसी अवस्था मे पहले द्रव की दाब एव आयतन दा$_1$ (p_1) और आ$_1$ (V_1) तथा दूसरे द्रव्य की दाब एव आयतन दा$_2$ (p_2) और आ$_2$ (V_2) मे एक सबध होगा जिसे हम निम्नाकित समीकरण द्वारा प्रकट कर सकते है

$$\text{फ}\,(\text{दा}_1, \text{आ}_1, \text{दा}_2, \text{आ}_2) = 0 \qquad (१)$$
$$f\,(p_1,\ V_1,\ p_2,\ V_2) = 0 \qquad (1)$$

यह समीकरण उन द्रवो के तापीय सबध का द्योतक है। दीवार का उपयोग केवल इतना है कि पदार्थ एक ओर से दूसरी ओर नही जा सकता। अनुभव द्वारा हम यह भी जानते है कि यदि एक द्रव के साथ अन्य द्रवो की तापीय साम्यावस्था हो तो स्वय इन द्रवो में आपस में तापीय साम्यावस्था होगी। इसी को उष्मागतिकी का शून्यवाँ सिद्धात कहते हैं।

यदि तापीय साम्यावस्थावाले तीन द्रवो के दबाव तथा आयतन क्रमश (दा$_1$, आ$_1$), (दा$_2$, आ$_2$) तथा (दा$_3$, आ$_3$) (p_1, V_1), (p_2, V_2) तथा (p_3, V_3) हो तो इनमें समीकरण (१) की भाति निम्नलिखित समीकरण होगे

$$\text{फ}_1\,(\text{दा}_1, \text{आ}_1, \text{दा}_2, \text{आ}_2) = 0,\ \text{फ}_2\,(\text{दा}_2, \text{आ}_2, \text{दा}_3, \text{आ}_3) = 0,\ \text{फ}_3\,(\text{दा}_3, \text{आ}_3, \text{दा}_1, \text{आ}_1) = 0, \qquad (२)$$
$$f_1\,(p_1,\ V_1,\ p_2,\ V_2) = 0,\ f_2\,(p_2,\ V_2,\ p_3,\ V_3) = 0,\ f_3\,(p_3,\ V_3,\ p_1,\ V_1) = 0, \qquad (2)$$

परतु उष्मागतिकी के शून्यवें सिद्धात के अनुसार इन समीकरणो में केवल दो ही स्वतत्र है, अर्थात् पहले दोनो समीकरणो की तुष्टि के फलस्वरूप तीसरे की तुष्टि भी अवश्यभावी है। यह तभी सभव है जब इन समीकरणो का रूप इस प्रकार हो

$$\text{फ}_1\,(\text{दा}_1, \text{आ}_1) = \text{फ}_2\,(\text{दा}_2, \text{आ}_2) = \text{फ}_3\,(\text{दा}_3, \text{आ}_3)\,। \qquad (३)$$
$$f_1\,(p_1,\ V_1) = f_2\,(p_2,\ V_2) = f_3\,(p_3,\ V_3)\,। \qquad (3)$$

इनमें से किसी एक द्रव का उपयोग तापमापी के रूप में किया जा सकता है और उस द्रव के फलन के मान को हम प्रायोगिक ताप की भाँति प्रयुक्त कर सकते हैं। यदि पहले द्रव को तापमापी माना जाय तथा उसके फलन का मान ज (t) हो तो दूसरे द्रव के लिये हमें जो समीकरण मिलेगा अर्थात् फ$_2$ (दा$_2$, आ$_2$) = ज, [f_2 (p_2, V_2) = t] वह दूसरे द्रव का दशा-समीकरण (इक्वेशन ऑव स्टेट) कहा जायगा।

यो तो द्रव के किसी भी गुण का उपयोग तापमापी के लिये किया जा सकता है परतु दा (p) तथा आ (V) के जिस सबध का उपयोग किया जाय वह जितना ही सरल होगा उतना ही ताप नापने में सुगमता होगी। हम जानते है कि समतापीय अवस्था में अल्प दाबवाली गैस की दाब एव आयतन का गुणनफल अचर होता है। अतएव दाआ = टमा ($pV = R\theta$) को ताप नापने के लिये उपयोग में लाया जा सकता है और इस सबध का उपयोग किया भी जाता है। परतु यदि (दाब × आयतन) अचर हो तो (दाब × आयतन)$^{\frac{1}{2}}$ अथवा (दाब^2 × आयतन^2) भी अचर होगा। किंतु इनका उपयोग नही किया जाता। दाआ = टमा ($pV = R\theta$) का उपयोग करने में क्या लाभ है यह आगे चलकर प्रकट होगा।

२ **उष्मागतिकी का प्रथम सिद्धात, ऊर्जा एव उष्मा**—उष्मागतिकी के शून्यवें सिद्धात में ताप की भावना का समावेश किया जाता है। यात्रिकी में, विद्युत् या चुबक विज्ञान में अथवा परमाणवीय विज्ञान में, ताप की भावना की कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती। उष्मागतिकी के प्रथम सिद्धात द्वारा उष्मा की भावना का समावेश होता है। जूल के प्रयोग द्वारा यह सिद्ध होता है कि किसी भी पिंड को (चाहे वह ठोस हो या द्रव या गैस) यदि स्थिरोष्म दीवारो से घेर कर रखें तो उस पिंड को एक निश्चित प्रारभिक अवस्था से एक निश्चित अतिम अवस्था तक पहुँचाने के लिये हमें सर्वदा एक निश्चित मात्रा में कार्य करना पडता है (ऊर्जा शीर्षक लेख देखें)। कार्य की मात्रा पिंड की प्रारभिक तथा अतिम अवस्थाओ पर ही निर्भर रहती है, इस बात पर नही कि यह कार्य कैसे किया जाता है। यदि प्रारभिक अवस्था मे दाब तथा आयतन के मान दा$_0$ (p_0) तथा आ$_0$ (V_0) है तो कार्य की मात्रा अतिम अवस्था की दाब तथा आयतन दा (p) तथा आ (V) पर निर्भर रहती है, अर्थात् कार्य की मात्रा दा (p) तथा आ (V) का एक फलन है। यदि कार्य की मात्रा का (W) है तो हम लिख सकते हैं कि

$$\text{का} = \text{ऊ} - \text{ऊ}_0 \qquad (४)$$
$$W = U - U_0 \qquad (4)$$

यह समीकरण एक राशि ऊ की परिभाषा है जो केवल उस पिंड की अवस्था पर ही निर्भर रहती है न कि इस बात पर कि वह पिंड उस अवस्था में किस प्रकार पहुँचा है। इस राशि को हम उस पिंड की आतरिक ऊर्जा कहते हैं। यदि कोई पिंड एक निश्चित अवस्था से प्रारभ करके विभिन्न

अवस्थाओं मे होते हुए फिर उसी प्रारभिक अवस्था मे आ जाय तो उसकी आतरिक ऊर्जा में कोई अतर नही होगा, अर्थात्

$$\oint \text{ता ऊ} = ० \quad (५)$$
$$\oint dU = 0 \quad (5)$$

और ताऊ (dU) एक यथार्थ अवकल (परफेक्ट डिफरेन्शियल) है।

यदि कोई पिंड एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाय तो ऊ—ऊ$_०$—का, ($U—U_0—W$) का मान सर्वदा शून्य के बराबर नही होगा। यदि प्रत्येक अवस्था के लिये ऊ (U) का मान ज्ञात कर लिया गया है तो यह अतर ज्ञात किया जा सकता है। यदि पिंड की दीवारो का कोई भाग उष्मागम्य है तो सर्वदा इस अतर के बराबर उष्मा उस पिंड को देनी पडेगी। यदि उष्मा की मात्रा मा (Q) है तो

$$\text{मा} = \text{ऊ} — \text{ऊ}_० — \text{का} \quad (६)$$
$$Q = U — U_0 — W \quad (6)$$

इस समीकरण में मा (Q) उन्ही एकको मे नापा जायगा जिसमे का (W), परतु यदि हमने मा (Q) का एकक पहले ही निश्चित कर लिया है तो हम इस समीकरण द्वारा इन दोनों एकको का अनुपात ज्ञात कर सकते हैं। इस प्रकार जूल के प्रयोग द्वारा हम उष्मा का यात्रिक तुल्याक निकाल सकते हैं। इस प्रयोग में मा (Q) शून्य के बराबर होता है और ऊ—ऊ$_०$ ($U—U_0$) का मान उष्मा के एकको में ज्ञात किया जाता है।

समीकरण (६) उष्मागतिकी के प्रथम सिद्धात का गणितीय रूप है। इसमें का (Q) वह कार्य है जो बाहर से उस पिंड पर किया जाता है। यदि यह पिंड स्वय कार्य करे जिसका परिणाम तोका ($đW$) हो और किसी प्रक्रम (प्रोसेस) में निकाय की आतरिक ऊर्जा जिस परिमाण में बढे वह ताऊ (dU) हो तो जितनी उष्मा उस निकाय को दी जायगी वह तोमा ($đQ$) होगी और

$$\text{तोमा} = \text{ताऊ} + \text{तोका} \quad (७)$$
$$đQ = dU + đW \quad (7)$$

इसमे तोमा ($đQ$) और तोका ($đW$) मे ता (d) को तो ($đ$) इस कारण कर दिया गया है कि ये यथार्थ अवकल नही हैं।

और आगे बढने के पहले हम एक ऐसे प्रक्रम का वर्णन करेंगे जिसका उपयोग उष्मागतिकी में बहुत किया जाता है। इसे प्राय स्थैतिक (क्वैसी-स्टैटिक) प्रक्रम कहते हैं। यदि किसी निकाय अथवा समुदाय (सिस्टम) के आयतन को एक अत्यणु परिमाण ताआ (dV) से परिवर्तित करें तो इसका ताप भी थोडा परिवर्तित हो जायगा। साम्यावस्था प्राप्त होने पर इसके
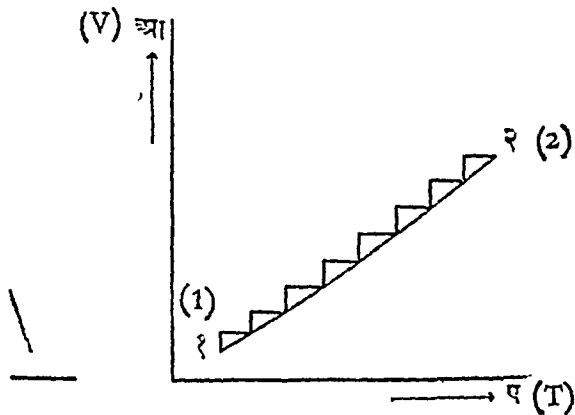
चित्र १ आ–पा (V-T) चित्र

आयतन में मान लें हम थोडा और अत्यणु परिवर्तित करे। इस तरह हम धीरे धीरे अवस्था १ से अवस्था २ मे पहुँच जायेंगे। यदि हमारे परिवर्तनो का परिमाण धीरे धीरे शून्य की ओर बढे तो अत मे १ से २ तक परिवर्तन का वक्र सतत (कटिनुअस) हो जायगा और इस वक्र का प्रत्येक बिंदु साम्यावस्थाओ का द्योतक होगा। ऐसे परिवर्तन को प्राय स्थैतिक परिवर्तन कहते हैं। ऐसे प्रक्रम का यह भी लक्षण है कि विस्थापनो, किए गए कार्य एव अवशोषित उष्मा के चिह्नो को उलटकर इस निकाय को अवस्था २ से उसी वक्र के पथ पर लौटाकर अवस्था १ में लाया जा सकता है। इसी कारण इन प्रक्रमो को उत्क्रमणीय प्रक्रम कहते हैं। जो प्रक्रम उत्क्रमणीय नही होते उन्हें अनुत्क्रमणीय प्रक्रम कहते हैं।

यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि यदि किसी निकाय की दाब दा (p) हो तो एक उत्क्रमणीय प्रक्रम मे यह जो कार्य करेगा वह दाताआ (pdV) के बराबर होगा। अतएव उष्मागतिकी के प्रथम सिद्धात को हम इस तरह भी लिख सकते हैं

$$\text{तो मा} = \text{ता ऊ} + \text{दा ता आ} \quad (८)$$
$$đQ = dU + pdV \quad (8)$$

३ उष्मागतिकी के प्रथम सिद्धात के उपयोग—यदि हम आयतन एव ताप को स्वतत्र चर राशियाँ माने तो

$$\text{तोमा} = \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} \text{तापा} + \left[\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} + \text{दा}\right] \text{ताआ} \quad (९)$$

$$đQ = \left(\frac{\partial U}{\partial t}\right)_v dt + \left[\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_t + p\right] dV \quad (9)$$

जहाँ त ≡ ∂।

अतएव अचर आयतन पर विशिष्ट उष्मा वि$_{\text{आ}}$ (C_v) का मान होगा :

$$\text{वि}_{\text{आ}} = \left(\frac{\text{तोमा}}{\text{तापा}}\right)_{\text{आ}} = \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} \quad (१०)$$

$$C_v = \left(\frac{đQ}{dt}\right)_v = \left(\frac{\partial U}{\partial T}\right)_v \quad (10)$$

इसी प्रकार अचर दाब पर विशिष्ट उष्मा का मान होगा

$$\text{वि}_{\text{दा}} = \left(\frac{\text{तोमा}}{\text{तापा}}\right)_{\text{दा}} = \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} + \left[\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} + \text{दा}\right]\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \quad (११)$$

$$C_p = \left(\frac{dQ}{dt}\right)_v = \left(\frac{\partial U}{\partial T}\right)_v + \left[\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_t + p\right]\left(\frac{\partial V}{\partial t}\right)_p \quad (11)$$

अतएव

$$\text{वि}_{\text{दा}} - \text{वि}_{\text{आ}} = \left[\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} + \text{दा}\right]\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \quad (१२)$$

$$C_p - C_v = \left[\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_t + p\right]\left(\frac{\partial V}{\partial t}\right)_p \quad (12)$$

जूल-टामसन के प्रयोग मे गैस एक पाइप मे लगे डाट के एक ओर से दूसरी ओर जाती है। इसमे बाहर से गैस को उष्मा नही मिलती। एक ओर से एक पिस्टन दाब दा$_१$ (p_1) पर गैस को दबाता है। दूसरी ओर गैस दाब दा$_२$ (p_2) वाले एक पिस्टन को पीछे ढकेलती है। यदि गैस का आयतन प्रारभ मे आ$_१$ (V_1) हो तथा अत में आ$_२$ (V_2), तो पहले पिस्टन द्वारा गैस पर कार्य दा$_१$आ$_१$ (p_1V_1) होता है तथा दूसरे पिस्टन को ढकेलने के लिये स्वय गैस को दा$_२$ आ$_२$ (p_2V_2) कार्य करना पडता है। इस प्रकार गैस को कुल दा$_२$आ$_२$—दा$_१$ आ$_१$ ($p_2V_2—p_1V_1$) कार्य करना पडता है। समीकरण (८) के अनुसार

$$० = (\text{ऊ}_२ - \text{ऊ}_१) + (\text{दा}_२\text{आ}_२ - \text{दा}_१\text{आ}_१),$$
$$0 = (U_2 - U_1) + (p_2V_2 - p_1V_1)$$

अथवा

$$\text{ऊ}_२ + \text{दा}_२\text{आ}_२ = \text{ऊ}_१ + \text{दा}_१\text{आ}_१ \quad (१३)$$
$$U_2 + p_2V_2 = U_1 + p_1V_1 \quad (13)$$

यदि हम ऊ+दाआ=पू ($U+pV=H$) रखे तो राशि पू (H) जूल-टामसन प्रयोग में अचर रहती है। राशि पू (H) को पूर्णोष्मा (टोटल हीट) कहते हैं।

यदि हम किसी निकाय का आयतन न बढने दें तो इसके द्वारा किया गया कार्य शून्य के बराबर होगा। ऐसी अवस्था मे जो भी उष्मा उसको मिलेगी उससे उसकी आतरिक ऊर्जा बढेगी। अर्थात् समीकरण (६) या (८) के अनुसार

$$\int_1^2 \text{तोमा} = \text{ऊ}_2 - \text{ऊ}_1, \text{ क्योंकि ताआ} = 0 \qquad (१४)$$

$$\int_1^2 đQ = U_2 - U_1, \text{ क्योंकि } dV = 0 \qquad (14)$$

परतु यदि दाव एक समान रहे और आयतन आ, (V_1) से वढकर आ, (V_2) हो जाय तो निकाय दा (आ$_2$—आ$_1$) $[P(V_2 - V_1)]$ के वरावर कार्य करेगा और

$$\int_1^2 \text{तोमा} = \text{ऊ}_2 - \text{ऊ}_1 + \text{दा}(\text{आ}_2 - \text{आ}_1) = \text{पू}_2 - \text{पू}_1 \qquad (१५)$$

$$\int_1^2 đQ = U_2 - U_1 + P(V_2 - V_1) = H_2 - H_1 \qquad (15)$$

अर्थात् किसी समदाव प्रक्रम में किसी निकाय को जो उष्मा मिलती है वह उसकी पूर्णोष्मा की वृद्धि के वरावर होती है।

रासायनिक क्रियाओ द्वारा प्राप्त होनेवाली उष्मा के विपय मे हेस का नियम भी प्रथम सिद्धात का ही एक दूसरा रूप है, यद्यपि इसका प्रतिपादन हेस ने उष्मागतिकी के सिद्धात के पहले ही सन् १८४० ई० में किया था।

४ उष्मागतिकी का द्वितीय सिद्धात एट्रापी—उष्मागतिकी के द्वितीय सिद्धात द्वारा भी एक नई भावना का समावेश होता है। यह एट्रापी की भावना है। अन्य भावनाओ की अपेक्षा अधिक अमूर्त होने के कारण इसका वोध भी अधिक कठिन है। उष्मागतिकी के द्वितीय सिद्धात का वर्णन कई प्रकार से किया जाता है।

क्लाजिउस तथा लार्ड केलविन के शब्दो मे इस सिद्धात का विवरण **उष्मा** शीर्पक लेख मे दिया जा चुका है।

इस सिद्धात के अध्ययन में हम अभी सिद्ध करेंगे कि—

"प्रत्येक उष्मागतिकी निकाय की प्रत्येक अवस्था के लिये दो लाक्षणिक गुणधर्म (कैरैक्टेरिस्टिक प्रॉपर्टी) होते हैं, एक परम ताप **पा** (T) जो केवल प्रायोगिक ताप **प** (t) पर निर्भर करता है, दूसरा एट्रापी **ए** (S) जिसको इस प्रकार निश्चित किया जाता है कि यदि किसी प्राय स्थैतिक प्रक्रम में इस निकाय को परिमाण **तोमा** $(đQ)$ में उष्मा मिले तो

$$\text{तोमा} = \text{पाताए} \quad (đQ = TdS)$$

होता है। ससार में होनेवाले वास्तविक प्रक्रमो में, जो स्वभावत अनुत्क्रमणीय होते है, एट्रापी की वृद्धि होती है।" अतएव दूसरे सिद्धात का वर्णन उपर्युक्त कथन से भी किया जा सकता है।

पहले हम केलविन तथा क्लाजिउस के कथनो की समतुल्यता सिद्ध करेंगे। इसके लिये हम यह सिद्ध करेंगे कि यदि केलविन का कथन असत्य हो तो क्लाजिउस का कथन भी असत्य होगा। इसी तरह यदि क्लाजिउस का कथन असत्य हो तो केलविन का कथन भी असत्य होगा।

यदि केलविन का कथन असत्य हो अर्थात् यदि उष्मा को किसी चक्रीय प्रक्रम मे सपूर्णत कार्य में परिवर्तित करना सभव हो तो घर्पण द्वारा इस कार्य को पुन उष्मा मे परिवर्तित करके किसी अन्य निकाय में पहुँचाया जा सकता है, चाहे यह दूसरा निकाय किसी भी ताप पर हो। इस प्रकार उष्मा को निम्न तापवाले निकाय से उच्च तापवाले निकाय में ले जाना सभव होगा। इस तरह क्लाजिउस का कथन भी असत्य सिद्ध हो जायगा।

यह सिद्ध करने के पहले कि यदि क्लाजिउस का कथन असत्य हो तो केलविन का कथन भी असत्य होगा, हम इस वात का अध्ययन करेंगे कि उष्मा को कार्य में कैसे परिवर्तित करते हैं। इसके लिये हम उस चक्रीय परिवर्तन का अध्ययन करेंगे जिसे कार्नो चक्र (कार्नो साइकिल) कहते हैं।

कार्नो चक्र—कार्नो चक्र का वर्णन **उष्मा** शीर्पक लेख में सक्षेप में किया गया है। कल्पना करें कि एक निकाय है जिसकी अवस्था दो चर राशियो **दा** (p) तथा **आ** (V) द्वारा निश्चित की जा सकती है। यह भी मान लें कि तापो **प**$_1$ (t_1) तथा **प**$_2$ (t_2) पर उष्मा के दो वहुत वडे स्रोत अथवा कुड है जिनकी उष्माधारिता अनत है। **प**$_1$ (t_1) तथा **प**$_2$ (t_2) किसी भी प्रायोगिक तापक्रम पर नापे गए है और हम मान लेंगे कि **प**$_2$ (t_2) से **प**$_1$ (t_1) अधिक है। हम यह भी कल्पना करेंगे कि निकाय, जो तरल है, एक वेलनाकार पात्र के भीतर हे और उसपर किसी पिस्टन द्वारा दवाव पड रहा है। पिस्टन तथा वेलन के पार्श्व उष्मा के चालक नही है, किंतु वेलन की पेंदी उष्मा की चालक है। एक ऐसी टोपी भी है जो वेलन की पेंदी में लगाई जा सकती है और जो उष्मा की चालक नही है। पहले हम वेलन को ताप **प**$_1$ (t_1) वाले स्रोत पर रखते है। इस तरह तरल निकाय का ताप भी **प**$_1$ (t_1) हो जायगा। मान लीजिए इसकी अवस्था **दा–आ** $(p\text{-}V)$ रेखाचित्र में विदु **क** द्वारा निश्चित हो रही है। अव मान लीजिए कि तरल निकाय प्राय-स्थैतिक प्रक्रम से फैल रहा है। ऐसी दशा में पिस्टन की दाव के विरुद्ध तरल निकाय कुछ कार्य करेगा और स्रोत से कुछ उष्मा ग्रहण करेगा जिसका परिमाण मान लेते है कि **मा**$_1$ (Q_1) है। इस प्रक्रम में तरल निकाय का ताप एक समान रहेगा और इस परिवर्तन को **दा–आ** $(p\text{-}V)$ रेखाचित्र
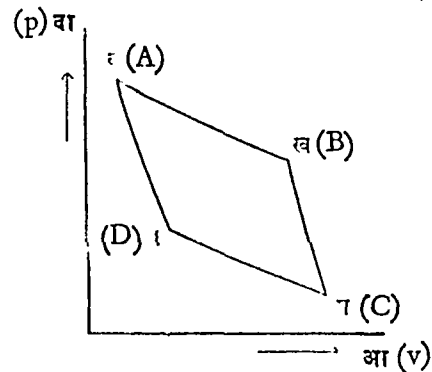
चित्र २ दा–आ $(p\text{–}V)$ रेखाचित्र में कार्नो चक्र

में समतापीय वक्र **क ख** द्वारा दिखलाया जा सकता है। अव वेलन की पेंदी पर हम टोपी लगा देते है जिससे तरल निकाय में उष्मा का प्रवेश न हो सके। तव हम तरल निकाय को प्राय स्थैतिक प्रक्रम से और फैलने देते है जिससे इसका ताप **प**$_2$ (t_2) हो जाता है। **दा–आ** $(p\text{-}V)$ रेखाचित्र में इस परिवर्तन को स्थिरोष्म वक्र **ख ग** द्वारा दिखलाया जा सकता है। अव कुचालक टोपी उतारकर हम वेलन को ताप **प**$_2$ (t_2) वाले स्रोत पर रखते है और प्राय स्थैतिक प्रक्रम से इसका सपीडन करते है। इससे तरल निकाय पर पिस्टन द्वारा कुछ कार्य होगा और कुछ उष्मा तरल निकाय से स्रोत में जायगी जिसका परिमाण, मान लेते है, **मा**$_2$ (Q_2) है। **दा–आ** $(p\text{-}V)$ रेखा चित्र में यह परिवर्तन समतापीय वक्र **ग घ** द्वारा दिखलाया जा सकता है। विदु **घ** इस तरह चुना जाता है कि वह उसी स्थिरोष्म वक्र पर हो जिस पर **क** है। अव टोपी लगाकर फिर प्राय स्थैतिक प्रक्रम से तरल निकाय का सपीडन किया जाता है जिससे इसका ताप फिर **प**$_1$ (t_1) हो जाय और तरल निकाय अपनी प्रारभिक अवस्था में आ जाय।

इस चक्रीय परिवर्तन का फल केवल यह हुआ है कि **प**$_1$ (t_1) तापवाले स्रोत में से परिमाण **मा**$_1$ (Q_1) में उष्मा ली गई है। इसमें कुछ भाग कार्य में परिणत हुआ है और परिमाण **मा**$_2$ $(Q)_2$ में उष्मा ताप **प**$_2$ (t_2) वाले स्रोत में चली गई है। क्योंकि इस चक्र के सभी परिवर्तन प्राय स्थैतिक है, अतएव इस चक्रीय परिवर्तन मे जो कार्य होता है वह $\int$ **दाताआ** $[\int p dV]$ के वरावर होता है जो क्षेत्र **कखगघ** के क्षेत्रफल के वरावर होता है। यदि यह कार्य **का** (W) के वरावर है तो प्रथम सिद्धात के अनुसार

$$\text{का} = \text{मा}_1 - \text{मा}_2 \qquad (१६)$$

$$W = Q_1 - Q_2 \qquad (16)$$

कार्नो चक्र की वडी विशेषता यह है कि इसके सारे परिवर्तन प्राय-स्थैतिक है। अतएव इसे उलटी दिशा, अर्थात् **क घ ग ख** दिशा में भी पूरा किया जा सकता है। इस प्रक्रम में तरल निकाय के ऊपर परिमाण **का** (W) में कार्य किया जायगा, ताप **प**$_2$ (t_2) वाले स्रोत से तरल निकाय परिमाण **मा**$_2$ (Q_2) में उष्मा लेगा और ताप **प**$_1$ (t_1) वाले स्रोत मे परिमाण **मा**$_1$ (Q_1) में उष्मा देगा।

पहले हम यह सिद्ध करेंगे यदि **का** (W) धन राशि हो तो **मा**$_1$ $(Q)_1$ तथा **का**$_2$ (Q_2) भी धन राशियाँ होगी। पहले मान लेते है कि **का**$_2$ (Q_2)

धन राशि नही है। अर्थात् ताप प२ (t_2) वाले स्रोत से परिमाण मा२ (Q_2) मे उष्मा ली गई है, उसमे उष्मा पहुँचाई नही गई है। अब दोनो स्रोतो को उस समय तक एक दूसरे को स्पर्श करने दिया जा सकता है जब तक परिमाण मा२ (Q_2) मे उष्मा स्रोत प१ (t_1) से स्रोत प२ (t_2) में पहुंच जाय। इन सब परिवर्तनो का फल यह होगा कि स्रोत प१ (t_1) से कुछ उष्मा लेकर उसे संपूर्णतया कार्य में परिणत कर दिया गया है। परतु वह केलविन के कथन के विरुद्ध है। अतएव मा२ (Q_2) धन राशि है। क्योकि मा१=मा२+का ($Q_1=Q_2+W$), अत मा१ (Q) भी धन राशि है।

अब बडी सुगमता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि यदि क्लाज़िउस का कथन असत्य हो तो केलविन का कथन भी असत्य होगा। क्योकि यदि किसी चक्रीय परिवर्तन से ताप प२ (t_2) वाले स्रोत से ताप प१ (t_1) वाले स्रोत मे परिमाण मा१ (Q_1) मे उष्मा पहुँचना सभव हो तो कार्नो चक्र की सहायता से ताप प१ (t_1) वाले स्रोत से उष्मा मा१ (Q_1) लेकर इसमे से कार्य का (W) किया जा सकता है तथा शेष मा२=मा१−का ($Q_2=Q_1-W$) ताप प२(t_2) वाले स्रोत मे पहुँचाई जा सकती है। इस पूरे परिवर्तन का फल यह होगा कि किसी अन्य परिवर्तन के विना ही परिमाण मा१−मा२=का ($Q_1-Q=W$) मे ताप प२ (t_2) वाले स्रोत की उष्मा को कार्य मे परिणत कर दिया गया है। यह केलविन के कथन के विरुद्ध है, अर्थात् यदि क्लाजिउस का कथन असत्य हो तो केलविन का कथन भी असत्य होगा।

किसी चक्रीय परिवर्तन मे जितना कार्य किया जाय उसका ऊँचे तापवाले स्रोत से ली गई उष्मा के साथ जो अनुपात है उसे उस चक्र की कार्यक्षमता (एफिशेसी) कहते है। अर्थात् कार्यक्षमता=का/मा१ (W/Q_1)

अब हम सिद्ध करेंगे कि कार्नो चक्र की कार्यक्षमता सबसे अधिक होती है और केवल तापो प१ तथा प२ (t_1 तथा t_2) पर ही निर्भर रहती है। मान लेते हैं कि कोई अनुत्क्रमणीय चक्र ऐसा है जिसकी कार्यक्षमता कार्नो चक्र से अधिक है। हम दो तरल निकाय लेते है जिनमे एक तापो प१ (t_1) तथा प२ (t_2) के बीच कार्नो चक्र पूरा करता है तथा दूसरा अनुत्क्रमणीय चक्र कार्नो चक्र मे तरल निकाय ताप प१ (t_1) वाले स्रोत से उष्मा मा१ (Q_1) लेकर कार्य का (W) करता है और शेष मा२=मा१−का′ ($Q_2=Q_1-W'$) को ताप प२ (t_2) वाले स्रोत को दे देता है। अनुत्क्रमणीय चक्र ताप प१ (t_1) वाले स्रोत से उष्मा मा१′ (Q_1') लेकर कार्य का′ (W') करता है और शेष मा′२=मा१′−का′ ($Q_2'=Q_1'-W'$) को ताप प२ (t_2) वाले स्रोत को दे देता है। हम इन चक्रो का ऐसा नियत्रण करेंगे कि मा१=मा१′ ($Q_1=Q_1'$), अतएव का′ > का ($W'>W$) क्योकि हमने मान लिया है कि अनुत्क्रमणीय चक्र अधिक कार्यक्षम है। अब हम इन दोनो को एक साथ चलाते है और अनुत्क्रमणीय चक्र का उपयोग उत्क्रमणीय चक्र को विपरीत दिशा में चलाने मे करते हैं। इस प्रकार ताप प२ (t_2) वाले स्रोत से मा२−मा२′ ($Q_2-Q'_2$) परिमाण मे उष्मा कार्य का′−का ($W'-W$) में परिणत हो जायगी और यह केलविन के नियम के विरुद्ध है। अतएव कोई अनुत्क्रमणीय चक्र कार्नो चक्र की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम नही हो सकता।

यदि दोनो ही चक्र उत्क्रमणीय हो तो इसी प्रकार हम सिद्ध कर सकते हैं कि न तो पहला दूसरे से अधिक कार्यक्षम है, न दूसरा पहले से। अर्थात् दोनो की कार्यक्षमता बराबर है और यह कार्यक्षमता किसी तरल निकाय पर निर्भर नही रहती, केवल स्रोतो के तापो पर निर्भर रहती है। अतएव

मा१/मा२=फ(प१, प२)। (१७)

$$Q_1/Q_2=f(t_1, t_2) \quad (17)$$

अब हम तापो प१, प२ (t_1, t_2) तथा प३ (t_3) पर तीन स्रोत लेते है। एक कार्नो चक्र स्रोत प१ (t_1) से उष्मा मा१ (Q_1) लेता है और स्रोत प२ (t_2) को उष्मा मा२ (Q_2) देता है। दूसरा कार्नो चक्र स्रोत प२ (t_2) से उष्मा मा२ (Q_2) लेता है और उष्मा मा३ (Q_3) स्रोत प३ (t_3) को देता है। अतएव

मा१/मा२=फ(प१, प२), मा२/मा३=फ (प२, प३)। (१८)

$$Q_1/Q_2=f(t_1, t_2), \quad Q_2/Q_3=f(t_2, t_3) \quad (18)$$

एक तीसरा कार्नो चक्र ऐसा है जो स्रोत प१ (t_1) से उष्मा मा१ (Q_1) लेता है और स्रोत प३ (t_3) को उष्मा मा३ (Q_3) देता है, अतएव

मा१/मा३=फ (प१, प३)। (१९)

$$Q_1/Q_3=f(t_1, t_3) \quad (19)$$

समीकरणो (१८) तथा (१९) के कारण

फ(प१,प२)=फ(प१,प३)/फ(प२,प३)। (२०)

$$f(t_1, t_2)=f(t_1, t_3)/f(t_2, t_3) \quad (20)$$

जो प१, प२, प३ ($t_1\ t_2\ t_3$) के सभी मानो के लिये ठीक है। इस समीकरण के बाईं ओर प३ (t_3) नही है। अतएव दाहिनी ओर भी प३ (t_3) को नही होना चाहिए। यह तभी होगा जब फ (प१, प२) [$f(t_1, t_2)$] फलन का स्वरूप निम्नलिखित हो

फ(प१,प२)=फी(प१)/फी(प२)। (२१)

$$f(t_1, t_2)=g(t_1)/g(t_2) \quad (21)$$

इसमे फी (प) [$g(t)$] प्रायोगिक ताप का फलन है, जिसका मान हम धनात्मक ले सकते है, क्योकि मा१ (Q_1) तथा मा२ (Q_2) धन राशियाँ है। ताप के इस फलन को अथवा इसके किसी गुणज (मल्टिपुल) को हम परम ताप के बराबर मान सकते हैं। अर्थात् पा=अ फी (प), [$T=\alpha g(t)$], जिसमे पा (T) परम ताप है। इस प्रकार

मा१/मा२=पा१/पा२ (२२)

$$Q_1/Q_2=T_1/T_2 \quad (22)$$

इस परम ताप की विशेषता यह है कि इसका मान किसी पदार्थ के गुणो पर निर्भर नही रहता। इसी कारण उष्मागतिकी मे इसी पैमाने का उपयोग किया जाता है। इसका आकार निश्चित करने के लिये इस तापक्रम में भी हम पानी के हिमाक तथा क्वथनाक के बीच का अतर १०० के बराबर मानेगे। यदि इन विंदुओ का मान पा० (T_0) तथा पा१०० (T_{100}) है तो

$$\frac{\text{मा}_{100}}{\text{मा}_0}=\frac{\text{पा}_{100}}{\text{पा}_0}=\frac{\text{पा}_0+100}{\text{पा}_0}\text{।} \quad (२३)$$

$$\frac{Q_{100}}{Q_0}=\frac{T_{100}}{T_0}=\frac{T_0+100}{T_0}. \quad (23)$$

यदि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मा१०० (Q_{100}) तथा मा० (Q_0) का मान ज्ञात कर लिया जाय तो पा० (T_0) का मान निकाला जा सकता है। इस तरह यह ज्ञात किया गया है कि पा० (T_0)=२७३ १६

कार्नोचक्र मे मा१ (Q_1) तथा मा२ (Q_2) का अनुपात पा१ (T_1) तथा पा२ (T_2) के अनुपात के बराबर है,

अर्थात् मा१/मा२=पा१/पा२। ($Q_1/Q_2=T_1/T_2$)

अतएव मा१/पा१−मा२/पा२=० ($Q_1/T_1-Q_2/T_2=0$)

अर्थात् Σ(मा/पा)=०, ($\Sigma(Q/T)=0$), (२४)

जिसमें मा (Q) निकाय द्वारा ली गई उष्मा का परिमाण है और यदि निकाय उष्मा लेता है तो यह धन होगा, यदि निकाय उष्मा देता है तो यह ऋण होगा।

अब यह दिखलाना सरल है कि आदर्श गैस-तापमापी पर नापा ताप वही है जो परम-ताप-क्रम का ताप (आदर्शगैस-तापमापी के लिये **तापमान** शीर्षक लेख देखें)। आदर्श गैस का समीकरण है

दा आ=भ थ, (२५)

$$pV=R\theta, \quad (25)$$

जिसमें थ (θ) आदर्श गैस तापक्रम पर ताप है और भ (R) एक अचर है। यदि कार्नोचक्र मे जो तरल प्रयुक्त हो रहा है वह एक आदर्श गैस है तो मा१ (Q_1) उस कार्य के बराबर होगा जो आदर्श गैस विंदु क से ख तक फैलने में करती है। यदि गैस का आयतन विंदुओ क, ख, ग, तथा घ पर क्रमानुसार आ१, आ२, आ३ (V_1, V_2, V_3) तथा आ४ (V_4) है तो

$$मा_१ = \int_{आ_१}^{आ_२} दा\ ता\ आ = भ्क\ थ_१ \int_{आ_१}^{आ_२} \frac{ता\ आ}{आ} = भ्क\ थ_१\ लघु_{ई} \frac{आ_२}{आ_१} \quad (२६)$$

$$Q_1 = \int_{V_1}^{V_2} pdV = R\theta_1 \int_{V_1}^{V_2} \frac{dV}{V} = R\theta_1\ log_e \frac{V_2}{V_1} \quad (26)$$

इसी प्रकार

$$मा_२ = भ्क\ थ_२\ लघु_{ई} \{ आ_३/आ_४ \} । \quad (२७)$$

$$Q_2 = R\theta_2\ log_e \{ V_3/V_4 \} \quad (27)$$

क्योकि विंदु ख तथा ग एक ही स्थिरोष्म पर है, अतएव

$$थ_१\ आ_२^{गा-१} = थ_२\ आ_३^{गा-१}, \quad (\theta_1 V_2^{\gamma-1} = \theta_2 V_3^{\gamma-1},)$$

अर्थात्

$$थ_१/थ_२ = (आ_३/आ_२)^{गा-१} । (\theta_1/\theta_2 = (V_3/V_2)^{\gamma-1}) (२८)$$

इसी प्रकार क तथा घ भी एक ही स्थिरोष्म पर है, अतएव

$$थ_१\ आ_१^{गा-१} = थ_२\ आ_४^{गा-१} \quad (\theta_1 V_1^{\gamma-1} = \theta_2 V_4^{\gamma-1})$$

अर्थात् $थ_१/थ_२ = (आ_४/आ_१)^{गा-१} = (आ_३/आ_२)^{गा-१}$

$\theta_1/\theta_2 = (V_4/V_1)^{\gamma-1} = (V_3/V_2)^{\gamma-1}$

अर्थात् $आ_४/आ_१ = आ_३/आ_२$ । $(V_4/V_1 = V_3/V_2)$

अतएव $आ_३/आ_४ = आ_२/आ_१$ । $(V_3/V_4 = V_2/V_1)$ (२९)

समीकरणो (२६), (२७) एव (२९) की सहायता से

$$मा_१/मा_२ = थ_१/थ_२ । \quad (Q_1/Q_2 = \theta_1/\theta_2) \quad (३०)$$

अब समीकरणो (२२) तथा (३०) की सहायता से

$$थ_१/थ_२ = पा_१/पा_२ । \quad (\theta_1/\theta_2 = T_1/T_2) \quad (३१)$$

आदर्श गैस-तापमापी मे भी पानी के हिमाक तथा क्वथनाक में १००° का अतर है। अतएव आदर्श गैस-तापमापी के ताप एव परम तापक्रम के ताप एक ही है। दा आ=भ्क थ ($pV = R\theta$) का उपयोग करने का यही लाभ है।

अब हम कल्पना करेगे कोई निकाय एक चक्रीय परिवर्तन पूरा करता है। इस परिवर्तन में यह निकाय कई स्रोतो से उष्मा ग्रहण करता है या उनको उष्मा देता है। इन स्रोतो के ताप $पा_१, पा_२, \ , पा_म (T_1, T_2 \quad T_m)$ है। विनिमय की गई उष्मा का परिमाण क्रमश $मा_१, मा_२, \ , मा_म$ $(Q_1, Q_2 \quad Q_m)$ है। जो निकाय उष्मा लेता है उसे हम धन मानेंगे तथा जो देता है उसे ऋण। अब हम सिद्ध करेगे कि

$$\sum_{य=१}^{य=म} \frac{मा_य}{पा_य} \leqslant ० । \quad \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} \leqslant 0 \quad (३२)$$

बराबरी का चिह्न उस दशा मे लागू होता है जब निकाय द्वारा पूरा किया गया चक्रीय परिवर्तन उत्क्रमणीय हो।

इसको सिद्ध करने के लिये हम यह कल्पना करेगे कि इन म (m) स्रोतो के अतिरिक्त एक और स्रोत है जिसका ताप $पा_०$ (T_o) है और इस स्रोत और उपर्युक्त स्रोतो के बीच कार्नो चक्र $क_१, क_२, \ , क_म$ $(W_1, W_2, \ W_m)$ क्रमानुसार कार्य करते है जिनके फलस्वरूप उपर्युक्त स्रोतो मे उष्मा क्रमानुसार परिमाण $मा_१, मा_२, \ , मा_म$ $(Q_1, Q_2, \ Q_m)$ में पहुँच जाती है। समीकरण (२२) के अनुसार य वें (x_{th}) कार्नो चक्र द्वारा य वें (x_{th}) स्रोत में $मा_य$ (Q_x) परिमाण में उष्मा पहुँचाने के लिये ताप $पा_०$ (T_o) वाले स्रोत मे से य वाँ चक्र जितनी उष्मा लेगा उसका परिमाण होगा

$$मा_{य,०} = \frac{पा_०}{पा_य} मा_य । \quad Q_{x,o} = \frac{T_o}{T_x} Q_x \quad (३३)$$

इस प्रकार ताप $पा_०$ वाले स्रोत से जो कुल उष्मा ली जायगी उसका परिमाण

$$मा_० = \sum_{य=१}^{य=म} मा_{य,०} = पा_० \sum_{य=१}^{य=म} \frac{मा_य}{पा_य} \quad (३४)$$

$$Q_o = \sum_{x=1}^{x=m} Q_{x,o} = T_o \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} \quad (34)$$

होगा। निकाय न (n) के तथा म (m) कार्नो चक्रो के चक्रीय परिवर्तन पूरा करने के फलस्वरूप म (m) स्रोतो में उतनी ही उष्मा पहुँच जायगी जितनी प्रत्येक में से निकाय न (n) ने ग्रहण की थी। क्योकि न (n) तथा $क_१, क_२,$ $(W_1, W_2,$) आदि इन चक्रीय परिवर्तनो को पूरा करके अपनी प्रारभिक अवस्था में पहुँच जायँगे, इसलिये इन चक्रीय परिवर्तनो का फल केवल यह होगा कि ताप $पा_०$ (T_o) वाले स्रोत का परिमाण $मा_०$ (Q_o) की उष्मा कार्य में परिवर्तित हो गई। यदि $मा_०$ (Q_o) धन राशि हो तो यह फल केलविन के नियम के विरुद्ध होगा। अतएव $मा_० \leqslant ०$, ($Q_o \leqslant 0$) अर्थात्

$$\sum_{य=१}^{य=म} \frac{मा_य}{पा_य} \leqslant ० । \quad \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} \leqslant 0 \quad (३५)$$

यदि निकाय न (n) द्वारा पूरा किया गया चक्र उत्क्रमणीय हो तो यह उस चक्रीय परिवर्तन को उलटी दिशा मे पूरा कर सकता है। ऐसी दशा में प्रत्येक $मा_य$ (Q_x) का चिह्न वदल जायगा। अर्थात् तव हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि

$$\sum_{य=१}^{य=म} -\frac{मा_य}{पा_य} \leqslant ० । \quad \sum_{x=1}^{x=m} -\frac{Q_x}{T_x} \leqslant 0$$

$$अर्थात् \sum_{य=१}^{य=म} \frac{मा_य}{पा_य} \geqslant ० । \quad \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} \geqslant 0 \quad (३६)$$

(३५) तथा (३६) की असमताएँ एक साथ सभी ठीक हो सकती हैं जब

$$\sum_{य=१}^{य=म} \frac{मा_य}{पा_य} = ० । \quad \sum_{x=1}^{x=m} \frac{Q_x}{T_x} = 0 \quad (३७)$$

अतएव चक्र यदि उत्क्रमणीय हो तो समीकरण (३७) ठीक होगा और यदि अनुत्क्रमणीय हो तो असमता (३२) लागू होगी।

यदि स्रोतो की सख्या परिमित होने के स्थान पर अपरिमित हो तथा इनमें प्रत्येक से निकाय अत्यणु परिमाण में उष्मा ग्रहण करे तो हमें सकलन के स्थान पर समाकलन का प्रयोग करना पडेगा और हमें यह फल मिलेगा कि

$$\oint \frac{तो\ मा}{पा} \leqslant ०, \quad (३८)$$

$$\oint \frac{d\ Q}{T} \leqslant 0, \quad (38)$$

जिसमें समानता का चिह्न उत्क्रमणीय चक्र के लिये है और असमानता का चिह्न अनुत्क्रमणीय चक्र के लिये है।

यदि दा-आ (p-V) रेखाचित्र ३ मे क एव ख दो विंदु निकाय की साम्यावस्थाओ के सूचक है तो निकाय क से ख विंदु तक साधारणतया कई उत्क्रमणीय पथो द्वारा ले जाया जा सकता है। मान लेते है कि क१ख एव क२ख ऐसे दो पथ हैं। अतएव क१ख२क एक उत्क्रमणीय चक्र है और इस चक्र के लिये समीकरण (३८) के कारण

$$\oint \frac{तो\ मा}{पा} = ० । \quad \oint \frac{d\ Q}{T} = 0$$

इस समाकलन को दो खडो में विभाजित किया जा सकता है। एक क१ख पथ से दूसरा ख२क पथ से। अर्थात्

$$\left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा} \right)_१ + \left(\int_{ख}^{क} \frac{तोमा}{पा} \right)_२ = ० ।$$

$$\left(\int_{क}^{ख} \frac{đQ}{T}\right)_1 + \left(\int_{ख}^{क} \frac{đQ}{T}\right)_2 = ०$$

चित्र ३

अतएव $\left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा}\right)_१ = \left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा}\right)_२$ । (३९)
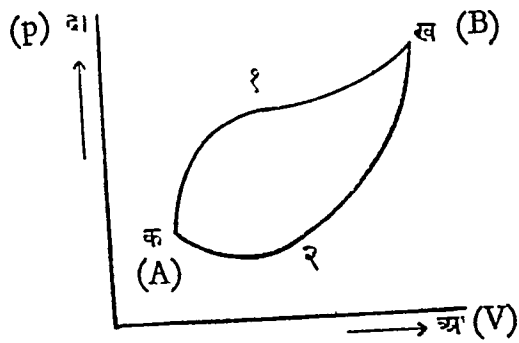
$$\left(\int_{क}^{ख} \frac{đQ}{T}\right)_1 = \left(\int_{क}^{ख} \frac{đQ}{T}\right)_2 \qquad (39)$$

अर्थात् समाकलन ∫तोमा/पा (∫ đQ/T) का मान पथ पर नही निर्भर रहता, केवल क एव ख दोनो अवस्थाओ पर ही निर्भर रहता है। अतएव इस समीकरण की सहायता से हम निकाय के नए लाक्षणिक गुणधर्म को निश्चित कर रहे है जिसे एट्रापी कहते है।

अतएव

$$एं_ख - एं_क = \int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा} । \quad S_B - S_A = \int_A^B \frac{đQ}{T} \qquad (४०)$$

एक अत्यणु उत्क्रमणीय परिवर्तन के लिये, जिसमें निकाय उष्मा **तोमा** (đQ) ताप **पा** (T) पर ग्रहण करता है, इस एट्रापी की वृद्धि **ताए** (dS) होगी जहाँ

$$\left.\begin{array}{l} पा\ ताए = तोमा । \\ TdS = đQ \end{array}\right\} \qquad (४१)$$

उष्मागतिकी के पहले सिद्धात के कारण

तोमा=**ताऊ**+**दा ताआ** ($đQ = dU + p\,dV$) ,

अतएव
$$\left.\begin{array}{l} पा\ ताए = ताऊ + दा\ ताआ \\ T\,dS = dU + p\,dV \end{array}\right\} \qquad (४२)$$

यदि कोई चक्र अशत उत्क्रमणीय एव अनुत्क्रमणीय हो तो असमता (३८)

चित्र ४

लागू होगी और

$$\left(\int_{ख}^{क} \frac{तोमा}{पा}\right)_उ + \left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा}\right)_{अनु} < ० \qquad (४३)$$

$$\left(\int_{B}^{A} \frac{đQ}{T}\right)_r + \left(\int_{A}^{B} \frac{đQ}{T}\right)_u < ० \qquad (43)$$
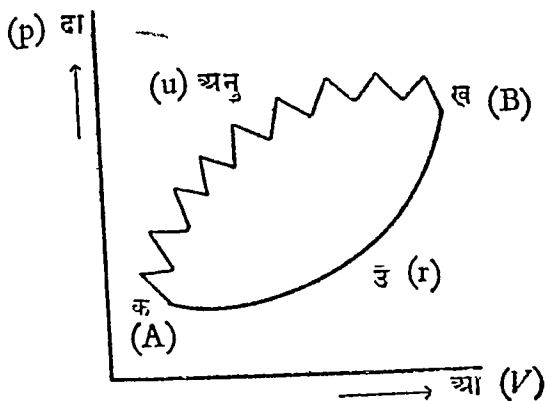
जिसमे क उ ख (ArB) उत्क्रमणीय पथ है तथा ख अनु क (BuA) अनुत्क्रमणीय पथ है। असमता (४३) की सहायता से

$$० > \left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा}\right)_{अनु} - \left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा}\right)_उ$$

$$० > \left(\int_{A}^{B} \frac{đQ}{T}\right)_u - \left(\int_{A}^{B} \frac{đQ}{T}\right)_r$$

अर्थात् $$० > \left(\int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा}\right)_{अनु} - [एं_ख - एं_क] \qquad (४४)$$

$$० > \left(\int_{A}^{B} \frac{đQ}{T}\right)_u - (S_B - S_A) \qquad (44)$$

(४०) तथा (४४) की सहायता से हम देखते है कि

$$एं_ख - एं_क \geqslant \int_{क}^{ख} \frac{तोमा}{पा} \qquad (४५)$$

$$S_B - S_A \geqslant \int_A^B \frac{đQ}{T} \qquad (45)$$

तथा
$$\left.\begin{array}{l} पा\ ताएं \geqslant (ता\ ऊ + दा\ ताआ) \geqslant (तापू - आ\ तादा) \\ T\,ds \geqslant (dU + p\,dV) \geqslant (dH - V\,dp) \end{array}\right\} \qquad (४६)$$

जिसमे समता का चिह्न उत्क्रमणीय परिवर्तन के लिये लागू है एव असमता का चिह्न अनुत्क्रमणीय परिवर्तन के लिये।

५. उष्मागतिकीय विभव तथा मैक्सवेल के सबध—यदि निकाय पूर्णत पृथक् हो तो उसके लिये **तोमा**=० (đ Q=०)। अतएव ऐसे निकाय के लिये

$$\left.\begin{array}{l} ताए \geqslant ०, \\ dS \geqslant ०, \end{array}\right\} \qquad (४७)$$

अर्थात् किसी भी पृथक् निकाय मे स्वभावत जो भी परिवर्तन होते है उनके फलस्वरूप एट्रापी बढती ही है, घटती नही, और इस निकाय की वह अवस्था सबसे अधिक स्थायी होती है जिसमे एट्रापी का मान सबसे अधिक रहता है।

परतु सभी निकाय ऐसे नही होते जिनका बाह्य सपर्क कुछ भी न हो। अतएव हम ऐसे निकायो का भी विवेचन करेंगे जो पूर्णतया पृथक् न हो। असमता (४६) को हम एक और प्रकार से लिख सकते है। वह है

$$\left.\begin{array}{l} दा\ ताआ \leqslant पा\ ताएं - ताऊ\ , \\ p\,dV \leqslant T\,dS - dU \end{array}\right\} \qquad (४८)$$

समतापीय प्रक्रमो के लिये (४८) इस प्रकार भी लिखा जा सकता है

$$\left.\begin{array}{l} दा\ ताआ \leqslant -ता(ऊ - पा\ ए) = -ताफा \\ p\,dV \leqslant -d(U - TS) = -dF \end{array}\right\} \qquad (४९)$$

जिसमे **फा**=**ऊ**–**पाए** ($F = U - TS$)। **फा** (F) को स्वतत्र ऊर्जा कहते है। असमता (४९) का यह अर्थ है कि कोई निकाय नियत ताप पर उत्क्रमणीय परिवर्तनो मे उतना ही कार्य कर सकता है जितनी कमी उसकी स्वतत्र ऊर्जा मे होती है। अनुत्क्रमणीय परिवर्तनो मे कार्य की मात्रा स्वतत्र ऊर्जा मे कमी की मात्रा से कम होती है। असमता (४९) को यो भी लिखा जा सकता है

$$ताफा \leqslant -(दा\ ताआ) । \quad dF \leqslant -(p\,dV,) \qquad (५०)$$

अर्थात् नियत ताप तथा नियत आयतन पर वास्तविक (अतएव अनुत्क्रमणीय)

परिवर्तनो म स्वतत्र ऊर्जा कम होती है तथा निकाय की वह अवस्था सबसे अधिक स्थायी होती है जिनमें स्वतत्र ऊर्जा सबसे कम होती है।

यदि किसी निकाय का न केवल ताप ही नियत रहे अपितु इसका दबाव भी नियत रहे, तो असमता (४६) से हम एक अन्य असमता प्राप्त कर सकते हैं। वह है

$$\left.\begin{array}{l} 0 \leqslant -\text{ता}(\text{ऊ}-\text{पा ए}+\text{दा आ})=-\text{ताफू} \\ 0 \leqslant -d\,(U-TS+pV)=-dG \end{array}\right\} \quad (५१)$$

जिसमें फू = ऊ—पाए + दाआ ($G=U-TS+pV$)। फू (G) को स्वतत्र पूर्णोष्मा अथवा गिब्ज़ की स्वतत्र ऊर्जा कहते हैं, फा(F) को हेल्महोल्ट्स की स्वतत्र ऊर्जा कहते हैं। असमता (५१) का अर्थ यह है कि समतापीय एव समदाबीय वास्तविक परिवर्तनो में गिब्ज़ की स्वतत्र ऊर्जा कम होती है और वह अवस्था सबसे अधिक स्थायी होती है जिसमें गिब्ज़ की स्वतत्र ऊर्जा सबसे कम रहती है।

अब तक हम उष्मागतिकीय निकायो से सबधित आठ राशियो की चर्चा कर चुके हैं। ये हैं दा, आ, पा, ए (p, V, T, S) एव ऊ, पू, फा (U, H, F) और फू (G)। इनमें पिछली चार राशियो की विमितियाँ (डाइमेन्शन्स) वे ही हैं जो ऊर्जा की। इन चारो राशियो को उष्मागतिकीय विभव कहते हैं। किसी भी उष्मागतिकीय निकाय की प्रत्येक अवस्था के लिये प्रथम चार राशियो का एक निश्चित मान होता है जो उस पथ पर निर्भर नही करता जिससे निकाय उस अवस्था को प्राप्त हुआ है। इसी तरह पिछली चार राशियों के भी निकाय की प्रत्येक अवस्था के लिये निश्चित मान होते हैं। अर्थात् ताऊ (dU), तापू (dH), ताफा (dF) तथा ताफू (dG) चारो यथार्थ अवकल हैं तथा उत्क्रमणीय परिवर्तनो के लिये इनका मान निम्नाकित समीकरणो द्वारा प्रकट होता है

$$\text{ताऊ}=\text{पा ताए}-\text{दा ताआ}\text{ । } dU=T\,dS-p\,dV, \quad (५२)$$

$$\text{तापू}=\text{ताऊ}+\text{दा ताआ}+\text{आ तादा}=\text{पा ताए}+\text{आ तादा}, \quad (५३)$$

$$dH=dU+p\,dV+V\,dp=T\,dS+V\,dp \quad (53)$$

$$\text{ताफा}=\text{ताऊ}-\text{पा ताए}-\text{ए तापा}=-\text{दा ताआ}-\text{ए तापा}, \quad (५४)$$

$$dF=dU-T\,dS-S\,dT=-p\,dV-S\,dT \quad (54)$$

$$\text{ताफू}=\text{ता ऊ}-\text{पा ताए}-\text{ए तापा}+\text{दा ताआ}+\text{आ तादा} =\text{आतादा}-\text{ए तापा} \quad (५५)$$

$$dG=dU-T\,dS-S\,dT+p\,dV+V\,dp =V\,dp-S\,dT \quad (55)$$

समीकरण (५२) मे एट्रापी ए (S) तथा आयतन आ (V) स्वतत्र चर राशियाँ हैं तथा इनसे हमें निम्नलिखित फल मिलते हैं

$$\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तए}}\right)_{\text{आ}}=\text{पा}, \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{ताआ}}\right)_{\text{ए}}=-\text{दा},$$

$$\left(\frac{\partial U}{\partial S}\right)_V=T, \left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_S=-p$$

परतु

$$\frac{\text{त}}{\text{तआ}}\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तए}}\right)=\frac{\text{त}}{\text{ताए}}\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{ताआ}}\right),$$

$$\frac{\partial}{\partial V}\left(\frac{\partial U}{\partial S}\right)=\frac{\partial}{\partial S}\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right),$$

अतएव

$$\left(\frac{\text{तपा}}{\text{तआ}}\right)_{\text{ए}}=-\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तए}}\right)_{\text{आ}}\text{ ।} \quad (५६)$$

$$\left(\frac{\partial T}{\partial V}\right)_S=-\left(\frac{\partial p}{\partial S}\right)_V \quad (56),$$

इसी प्रकार समीकरणो (५३), (५४) तथा (५५) से हमें तीन अन्य फल मिलते हैं

$$\left(\frac{\text{तपा}}{\text{तदा}}\right)_{\text{ए}}=\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तए}}\right)_{\text{दा}}, \quad (५७)$$

$$\left(\frac{\partial T}{\partial p}\right)_S=\left(\frac{\partial V}{\partial S}\right)_p, \quad (57)$$

$$\left(\frac{\text{तए}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}}=\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}}, \quad (५८)$$

$$\left(\frac{\partial S}{\partial V}\right)_T=\left(\frac{\partial p}{\partial T}\right)_V, \quad (58)$$

एव

$$\left(\frac{\text{तए}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}}=-\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}}\text{ ।} \quad (५९)$$

$$\left(\frac{\partial S}{\partial p}\right)_T=-\left(\frac{\partial V}{\partial T}\right)_p \quad (59)$$

समीकरणो (५६), (५७), (५८) तथा (५९) में जो सबध दिखाए गए हैं उन्हें मैक्सवेल के सबध कहते हैं।

समीकरण (५४) से

$$\left(\frac{\text{तफा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}}=-\text{ए ।} \quad (६०)$$

$$\left(\frac{\partial F}{\partial T}\right)_V=-S \quad (60)$$

अतएव

$$\text{फा}=\text{ऊ}-\text{पाए}=\text{ऊ}+\text{पा}\left(\frac{\text{तफा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}},$$

$$F=U-TS=U+T\left(\frac{\partial F}{\partial T}\right)_V,$$

अर्थात्

$$\left.\begin{array}{l} \text{ऊ}=\text{फा}-\text{पा}\left(\frac{\text{तफा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} \\ =-\text{पा}^2\left(\frac{\text{त}}{\text{तपा}}\ \frac{\text{फा}}{\text{पा}}\right)_{\text{आ}} \end{array}\right\} \quad (६१)$$

$$\left.\begin{array}{l} U=F-T\left(\frac{\partial F}{\partial T}\right)_V \\ =-T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\ \frac{F}{T}\right)_V \end{array}\right\} \quad (61)$$

समीकरण (६१) को गिब्ज़-हेल्महोल्ट्स-सबध कहते हैं।

इसी प्रकार पू तथा फू के बीच भी गिब्ज़-हेल्महोल्ट्स-सबध प्राप्त किया जा सकता है। समीकरण (५५) से

$$\left(\frac{\text{तफू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}}=-\text{ए ।} \quad \left(\frac{\partial G}{\partial T}\right)_p=-S \quad (६२)$$

अतएव

$$\text{फू}=\text{ऊ}+\text{दाआ}-\text{पाए}=\text{पू}-\text{पाए} =\text{पू}+\text{पा}\left(\frac{\text{त फू}}{\text{त पा}}\right)_{\text{दा}},$$

$$G=U+pV-TS=H-TS =H+T\left(\frac{\partial G}{\partial T}\right)_p$$

अथवा

$$\left.\begin{array}{l} \text{पू}=\text{फू}-\text{पा}\left(\frac{\text{तफू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \\ =-\text{पा}^2\left(\frac{\text{त}}{\text{तपा}}\ \frac{\text{फू}}{\text{पा}}\right)_{\text{दा}} \end{array}\right\} \quad (६३)$$

$$\left.\begin{array}{l} H=G-T\left(\frac{\partial G}{\partial T}\right)_p \\ =-T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\ \frac{G}{T}\right)_p \end{array}\right\} \quad (63)$$

समीकरणो (६१) एव (६३) की सहायता से समीकरणो (५४) तथा (५५) को निम्नलिखित प्रकार से भी लिखा जा सकता है-

$$\text{ता}\left(\frac{\text{फा}}{\text{पा}}\right) = -\frac{\text{ऊ}}{\text{पा}^2}\,\text{तापा} - \frac{\text{दा}}{\text{पा}}\,\text{ताआ}, \qquad (\text{६४})$$

$$d\left(\frac{F}{T}\right) = -\frac{U}{T^2}\,dT - \frac{p}{T}\,dV \qquad (64)$$

तथा

$$\text{ता}\left(\frac{\text{फू}}{\text{पा}}\right) = -\frac{\text{पू}}{\text{पा}^2}\,\text{तापा} + \frac{\text{आ}}{\text{पा}}\,\text{तादा}। \qquad (\text{६५})$$

$$d\left(\frac{G}{T}\right) = -\frac{H}{T^2}\,dT + \frac{V}{T}\,dp \qquad (65)$$

अतएव

$$\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} = \text{पा}^2\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा पा}}\right)_{\text{आ}} \text{ तथा } \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}} = -\text{पा}^2\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा पा}}\right)_{\text{दा}} \qquad (\text{६६})$$

$$\left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_T = T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\frac{p}{T}\right)_V \text{ तथा } \left(\frac{\partial H}{\partial p}\right)_T = -T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\frac{V}{T}\right)_p \qquad (66)$$

६ **जूल-टामसन-प्रभाव**—हम पहले देख चुके है कि जूल-टामसन-प्रयोग में पूर्णोष्मा पू का मान नियत रहता है। यदि हम ताप तथा दाव को स्वतंत्र चर राशियाँ मानें तो

$$\text{तापू} = \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}}\text{तापा} + \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}}\text{तादा}$$

$$dH = \left(\frac{\partial H}{\partial T}\right)_p dT + \left(\frac{\partial H}{\partial p}\right)_T dp$$

अतएव जूल-टामसन-प्रयोग के लिये

$$\text{०} = \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}}\text{तापा} + \left(\frac{\text{तपू}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}}\text{तादा}।$$

$$0 = \left(\frac{\partial H}{\partial T}\right)_p dT + \left(\frac{\partial H}{\partial p}\right)_T dp$$

अतएव

$$\left(\frac{\text{तपा}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पू}} = -\frac{(\text{तपू}/\text{तदा})_{\text{पा}}}{(\text{तपू}/\text{तपा})_{\text{दा}}}।$$

$$\left(\frac{\partial T}{\partial p}\right)_H = -\frac{(\partial H/\partial p)_T}{(\partial H/\partial T)_p}$$

समीकरण (५३) के अनुसार

$$\left(\frac{\text{तपू}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} = \text{पा}\left(\frac{\text{तएं}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} = \left(\frac{\text{तोमा}}{\text{तापा}}\right)_{\text{दा}} = \text{वि}_{\text{दा}}। \qquad (\text{६७})$$

$$\left(\frac{\partial H}{\partial T}\right)_p = T\left(\frac{\partial S}{\partial T}\right)_p = \left(\frac{dQ}{dT}\right)_p = C_p. \qquad (67)$$

तथा समीकरण (६६) के अनुसार

$$\left(\frac{\text{तपू}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}} = -\text{पा}^2\left(\frac{\text{त}}{\text{तपा}}\,\frac{\text{आ}}{\text{पा}}\right)_{\text{दा}}।$$

$$= \text{आ} - \text{पा}\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \qquad (\text{६८})$$

$$\left(\frac{\partial H}{\partial P}\right)_T = -T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\frac{V}{T}\right)_p. \qquad (68)$$

$$= V - T\left(\frac{\partial V}{\partial T}\right)_p$$

अतएव

$$\left(\frac{\text{तपा}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पू}} = \frac{\text{पा}(\text{तआ}/\text{तपा})_{\text{दा}} - \text{आ}}{\text{वि}_{\text{दा}}}। \qquad (\text{६९})$$

$$\left(\frac{\partial T}{\partial P}\right)_p = \frac{T(\partial V/\partial T)_p - V}{C_p} \qquad (69)$$

आदर्श गैस के लिये पा(तआ/तपा)$_{\text{दा}}$ − आ = ०, [$T(dV/dT)_p - V = 0$] अतएव आदर्श गैस पर जूल-टामसन-प्रयोग का कोई असर नही पडेगा। जिन गैस के लिये समीकरण (६९) की दाईं ओर की राशि धन होगी वह इस प्रयोग में ऊँची दाव से नीची दाव की ओर जाने पर ठंडी हो जायगी। जिस गैस के लिये दाईं ओर की राशि ऋण होगी वह ऊँची दाव से नीची दाव की ओर जाने पर गरम हो जायगी। हाइड्रोजन तथा हीलियम साधारण ताप पर इस प्रयोग में गरम हो जाती है, परतु ताप पर्याप्त कम कर देने से ये भी ठंडी होती है।

७ **दोनो विशिष्ट उष्माओ का अंतर**—समीकरण (१२) मे हमने दोनो विशिष्ट उष्माओ का अंतर निकाला है। परतु इस अंतर के व्यंजक में (तऊ/तआ)$_{\text{पा}}$ ($\partial U/\partial V)_T$ एक ऐसी राशि है जिसका मान साधारणतया प्रयोग द्वारा ज्ञात नही किया जा सकता है। अब हम इस अंतर को ऐसी राशियो के रूप मे रखेंगे जिनका मान प्रयोग द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। समीकरण (६६) के अनुसार

$$\left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{पा}} = \text{पा}^2\left(\frac{\text{त}}{\text{तपा}}\,\frac{\text{दा}}{\text{पा}}\right)_{\text{आ}}$$

$$= \text{पा}\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} - \text{दा}।$$

$$\left(\frac{dU}{dV}\right)_T = T^2\left(\frac{\partial}{\partial T}\frac{p}{T}\right)_V$$

$$= T\left(\frac{\partial p}{\partial T}\right)_V - p$$

अतएव

$$\text{वि}_{\text{दा}} - \text{वि}_{\text{आ}} = \text{पा}\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}}\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}}$$

$$= \text{डढआदापा}, \qquad (\text{७०})$$

$$C_p - C_V = T\left(\frac{\partial p}{\partial T}\right)_V\left(\frac{\partial V}{\partial T}\right)_p$$

$$= \alpha\beta VpT \qquad (70)$$

जिसमें ड (α) प्रसार गुणाक है तथा ढ (β) दवाव वढने का गुणाक है। गैसो के लिये सूत्र (७०) इस रूप में है कि वि$_{\text{दा}}$ (C_p) एव वि$_{\text{आ}}$ (C_V) का अंतर ज्ञात किया जा सके। परतु द्रवो के लिये अथवा ठोस पदार्थों के लिये यह उपयुक्त रूप में नही है। इनके लिये हम इसको निम्नलिखित रूप में रखते है

$$\left(\frac{\text{तदा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}} = -\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{दा}} \Big/ \left(\frac{\text{तआ}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}} = \text{ड}/\text{ग} \qquad (\text{७१})$$

$$\left(\frac{\partial p}{\partial T}\right)_V = -\left(\frac{\partial V}{\partial T}\right)_p \Big/ \left(\frac{\partial V}{\partial p}\right)_T = \alpha/\gamma \qquad (71)$$

जिसमें $\text{ग} = -\frac{\text{१}}{\text{आ}}\left(\frac{\text{तआ}}{\text{तदा}}\right)_{\text{पा}}$ = सपीड्यता।

($\gamma = -\frac{1}{V}\left(\frac{\partial V}{\partial p}\right)_T$ = सपीड्यता)

अतएव

$$\text{वि}_{\text{दा}} - \text{वि}_{\text{आ}} = \text{पा आ ड}^2/\text{ग}। \qquad (\text{७२})$$

$$C_p - C_V = TV\alpha^2/\gamma \qquad (72)$$

८ **आदर्श गैस की एंट्रापी**—समीकरणो (४०) एव (४२) की सहायता से किसी अवस्था में आदर्श गैस की एंट्रापी का क्या मान होगा, यह निकाला जा सकता है। समीकरण (४२) में

$$\text{ताऊ} = \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तपा}}\right)_{\text{आ}}\text{तापा} + \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{प}}\text{ताआ}$$

$$= \text{वि}_{\text{आ}}\text{तापा} + \left(\frac{\text{तऊ}}{\text{तआ}}\right)_{\text{प}}\text{ताआ}$$

$$dU = \left(\frac{\partial U}{\partial T}\right)_V dT + \left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_T dV$$

$$= C_V\,dT + \left(\frac{\partial U}{\partial V}\right)_T dV$$

समीकरण (६६) की सहायता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि आदर्श गैस के लिये उपर्युक्त व्यंजक में दाईं ओर का दूसरा पद शून्य के बराबर है।

अतएव
$$\text{ताए} = \text{वि}_{\text{दा}} \frac{\text{तापा}}{\text{पा}} + \frac{\text{दा}}{\text{पा}}\text{ताआ}$$
$$= \text{वि}_{\text{दा}} \frac{\text{तापा}}{\text{पा}} - \text{भ} \frac{\text{तादा}}{\text{दा}} \text{ ।}$$
$$dS = C_V \frac{dT}{T} + \frac{p}{T}\, dV$$
$$= C_P \frac{dT}{T} - R \frac{dp}{p}$$

अत
$$\left.\begin{array}{l} \text{ए} = \text{वि}_{\text{दा}}\, \text{लघु पा} - \text{भ लघु दा} + \text{ए}_{\circ}\,, \\ S = C_P \log T - R \log p + S_{\circ} \end{array}\right\} \quad (७३)$$
जिसमे ए (S) परमशून्य ताप पर एंट्रापी का मान है।

९ रासायनिक विभव—अभी तक अपने विवेचन में हमने यह मान लिया है कि दाव, आयतन, ताप आदि राशियो में ही परिवर्तन होता है। पदार्थ की मात्रा में कोई परिवर्तन नही होता है। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि पदार्थ की मात्रा में परिवर्तन करने से हमारे सूत्रो में क्या परिवर्तन होते हैं। हम किलोग्राम-अणु को पदार्थ की मात्रा का एकक चुनेंगे और निकाय में पदार्थ की मात्रा को इस एकक में द्र (n) द्वारा निर्देशित करेंगे। हमारी चर राशियां दो प्रकार की हैं। एक वे जिनका मान पदार्थ की मात्रा पर निर्भर नही रहता, जैसे ताप अथवा दाव। ये तीव्रात्मक कही जाती हैं। दूसरी प्रकार की राशियो का मान पदार्थ की मात्रा पर निर्भर रहता है, जैसे आयतन तथा एंट्रापी। ये विस्तारात्मक चर राशियाँ कही जाती हैं। इसी प्रकार यदि किसी चुबकीय पदार्थ को एक चुवकीय क्षेत्र में रखा जाय तो चुवकीय क्षेत्र तीव्रात्मक चर राशि होगा और चुवकीय-घूर्ण विस्तारात्मक चर राशि। यदि हम पिछले सूत्रो का निरीक्षण करें तो हम देखेंगे कि प्रत्येक तीव्रात्मक चर राशि एक विस्तारात्मक चर राशि से संबद्ध है। इनको सयुग्मी चर राशियाँ कहते हैं। दाव एव आयतन सयुग्मी चर राशियाँ हैं। इसी प्रकार ताप और एंट्रापी तथा चुवकीय क्षेत्र और चुवकीय घूर्ण सयुग्मी चर राशियाँ हैं।

किसी निकाय की ऊर्जा उसके पदार्थ की मात्रा पर निर्भर रहती है। अतएव निकाय की ऊर्जा में परिवर्तन न केवल उसको गर्म करने अथवा उसपर कार्य करने से होगा, अपितु उसके आयतन तथा एंट्रापी को नियत रखकर उसमें पदार्थ की मात्रा में परिवर्तन करने से भी होगा। यदि आ$_1$ (V), ए$_1$ (s), ऊ$_1$ (u), पू$_1$ (h), फ$_1$ (f), तथा फू$_1$ (g), किसी निकाय के एक किलोग्राम-अणु के क्रमानुसार आयतन, एंट्रापी, ऊर्जा, पूर्णोष्मा, हेल्महोल्ट्स की स्वतंत्र ऊर्जा तथा गिब्ज़ की स्वतंत्र ऊर्जा हैं तो

$$\text{आ} = \text{द्र आ}_1,\ \text{ए} = \text{द्र ए}_1,\ \text{ऊ} = \text{द्रऊ}_1,\ \text{पू} = \text{द्र पू}_1,\ \text{तथा फू} = \text{द्र फू}_1 \quad (७४)$$
$$V = nV,\ S = n\,s,\ U = nu,\ H = nh,\ \text{तथा } G = ng \quad (74)$$

एव
$$\left.\begin{array}{l} \text{ता ऊ} = \text{पा ताए} - \text{दा ताआ} + \text{रा ताद्र}\,, \\ d\,U = T\,dS - p\,dV + \mu\,dn \end{array}\right\} \quad (७५)$$
$$\left.\begin{array}{l} \text{तापू} = \text{पा ताए} + \text{आ तापा} + \text{रा ताद्र}\,, \\ dH = T\,dS + V\,dp + \mu\,dn \end{array}\right\} \quad (७६)$$
$$\left.\begin{array}{l} \text{ताफा} = -\text{ए तापा} - \text{दा ताआ} + \text{रा ताद्र}\,, \\ dF = -S\,dT - p\,dV + \mu\,dn \end{array}\right\} \quad (७७)$$
$$\left.\begin{array}{l} \text{ता फू} = -\text{ए तापा} + \text{आ तादा} + \text{रा ताद्र}\,। \\ dG = -S\,dT + V\,dp + \mu\,dn \end{array}\right\} \quad (७८)$$

रा (μ) को रासायनिक विभव कहते हैं और उपर्युक्त समीकरणो से प्रगट है कि रा (μ) तथा द्र (n) सयुग्मी चर राशियाँ हैं। रासायनिक विभव का मान निम्नांकित समीकरण में प्रगट है

$$\text{रा} = \left(\frac{\text{त ऊ}}{\text{त द्र}}\right)_{\text{ए, आ}} = \left(\frac{\text{त पू}}{\text{त द्र}}\right)_{\text{ए, दा}} = \left(\frac{\text{त फा}}{\text{त द्र}}\right)_{\text{पा, आ}} = \left(\frac{\text{त फू}}{\text{त द्र}}\right)_{\text{पा, दा}} \text{।} \quad (७९)$$
$$\mu = \left(\frac{\partial U}{\partial n}\right)_{S\ V} = \left(\frac{\partial H}{\partial n}\right)_{S\ p} = \left(\frac{\partial F}{\partial n}\right)_{T\ V} = \left(\frac{\partial G}{\partial n}\right)_{T\ p} \quad (79)$$

उपर्युक्त समीकरण के अंतिम पद से रा (μ) का मान तुरत निकाला जा सकता है।
$$\text{फू} = \text{ऊ} - \text{पा ए} + \text{दा आ} = \text{द्र ऊ}_1 - \text{द्र पा ए}_1 + \text{द्र दा आ}_1$$
$$G = U - TS + pV = nu - nTs + npV$$

अतएव
$$\text{ताफू} = \text{ताद्र}\ (\text{ऊ}_1 - \text{पा ए}_1 + \text{दा आ}_1) + \text{द्र}\ (\text{ताऊ} - \text{ए}_1\ \text{तापा} - \text{पा ताए}_1 + \text{दा ताआ}_1 + \text{आ}_1\ \text{तादा})$$
$$= \text{ताद्र}(\text{ऊ}_1 - \text{पा ए}_1 + \text{दा आ}_1) + \text{द्र}\,(\text{आ}_1\,\text{तादा} - \text{ए}_1\ \text{तापा})$$
$$dG = dn(u - TS + pV) + n(du - s\,dT - T\,ds + p\,dV + V\,dp)$$
$$= dn(u - Ts + pV) + n(V dp - s\,dT)$$

तथा
$$\text{रा} = \left(\frac{\text{त फू}}{\text{त द्र}}\right)_{\text{दापा}} = \text{ऊ} - \text{पा ए}_1 + \text{दा आ}_1 = \text{फू}_1 \quad (८०)$$
$$\mu = \left(\frac{\partial G}{\partial n}\right)_{P\ T} = u - TS + pV = g \quad (80)$$

अर्थात् रासायनिक विभव एक किलोग्राम-अणु की गिब्ज़-ऊर्जा के बराबर होता है। समीकरण (८०) तभी ठीक होता है जब निकाय में एक ही तरह का पदार्थ हो। यदि निकाय मे कई तरह के पदार्थ हो तो समीकरणो (७५),(७६),(७७) एव (७८) की जगह निम्नलिखित समीकरण होगे

$$\left.\begin{array}{l} \text{ताऊ} = \text{पा ताए} - \text{दा ताआ} + \sum_{\text{च}} \text{रा}_{\text{च}}\ \text{ताद्र}_{\text{च}} \\ dU = T\ dS - p\ dV + \Sigma_i\, \mu_i\, dn_i \end{array}\right\} (८१)$$
$$\left.\begin{array}{l} \text{तापू} = \text{पा ताए} + \text{आ तादा} + \sum_{\text{च}} \text{रा}_{\text{च}} \text{ताद्र}_{\text{च}} \\ dH = T\,dS + V\,dp + \Sigma_i\, \mu_i\, dn_i \end{array}\right\} (८२)$$
$$\left.\begin{array}{l} \text{ताफा} = -\text{ए तापा} - \text{दा ताआ} + \sum_{\text{च}} \text{रा}_{\text{च}} \text{ताद्र}_{\text{च}} \\ dF = -S\,dT - p\,dV + \Sigma_i\, \mu_i\, dn_i \end{array}\right\} (८३)$$
$$\left.\begin{array}{l} \text{ताफू} = -\text{ए तापा} + \text{आ तादा} + \sum_{\text{च}} \text{रा}_{\text{च}}\ \text{ताद्र}_{\text{च}} \\ dG = -S\,dT + V\,dp + \Sigma_i\, \mu_i\, dn_i \end{array}\right\} (८४)$$

अतएव
$$\text{रा}_{\text{च}} = \left(\frac{\text{त ऊ}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{ए, आ, द्रछ}} = \left(\frac{\text{त पू}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{ए, दा, द्रछ}}$$
$$= \left(\frac{\text{त फा}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{पा, आ, द्रछ}} = \left(\frac{\text{त फू}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{पा, दा, द्रछ}} \quad (८५)$$
$$\mu_i = \left(\frac{\partial U}{\partial n_i}\right)_{S\ V\ n_j} = \left(\frac{\partial H}{\partial n_i}\right)_{S\ P\ n_j} \quad (85)$$
$$= \left(\frac{\partial F}{\partial n_i}\right)_{T\ V\ n_j} = \left(\frac{\partial G}{\partial n_i}\right)_{T\ P\ n_j}$$

इन समीकरणो से भी मैक्सवेल के सबधो की तरह सबध प्राप्त किए जा सकते हैं। उदाहरणत
$$\left.\begin{array}{l} \dfrac{\text{तआ}}{\text{तद्र}_1} = \dfrac{\text{तरा}_{\text{च}}}{\text{तदा}} \\ \dfrac{\partial V}{\partial n_i} = \dfrac{\partial \mu_i}{\partial p} \end{array}\right\} \quad (८६)$$

समीकरण (८५) में अंतिम समीकरण बहुत महत्वपूर्ण है। यदि किसी निकाय में प्रत्येक प्रकार के पदार्थ की मात्रा दूनी कर दी जाय तो फू का मान भी दूना हो जायगा। वस्तुत
$$\left.\begin{array}{l} \text{फू}\ (\text{ठ द्र}_1, \text{ठ द्र}_2, \ ) = \text{ठ फू}\ (\text{द्र}_1, \text{द्र}_2, \ )\ । \\ G\ (qn_1,\ qn_2,\ ) = qG\ (n_1,\ n_2\ ) \end{array}\right\} \quad (८७)$$

परतु इसका अर्थ यह है कि फू (G) पदार्थ मात्राओ का एक घात का समघात फलन है। अतएव आयलर के प्रमेय की सहायता से
$$\left.\begin{array}{l} \text{फू} = \sum_{\text{च}} \text{द्र}_{\text{च}} \left(\dfrac{\text{त फू}}{\text{त द्र}_{\text{च}}}\right)_{\text{पा, दा, द्र छ}} \\ = \sum_{\text{च}} \text{रा}_{\text{च}} \text{द्र}_{\text{च}}\ । \\ G = \Sigma_i\, n_i \left(\dfrac{\partial G}{\partial n_i}\right)_{T,\ P,\ n_j} \\ = \Sigma_i \mu_i n_i \end{array}\right\} \quad (८८)$$

समीकरण (८८) के अवकलन से

ताफू = $\sum_{च}$ रा$_{च}$ ताद्र$_{च}$ + $\sum_{च}$ द्र$_{च}$ तारा$_{च}$ ।

$$dG = \Sigma_i \mu_i dn_i + \Sigma_i n_i d\mu_i$$

इसमे से समीकरण (८४) को घटाने से

ए तापा — आ तादा + $\sum_{च}$ द्र$_{च}$ तारा$_{च}$ = ० । (८९)

$$S\,dT - V dp + \Sigma_i n_i d\mu_i = 0$$

समीकरण (८९) गिब्ज़-ड्यूहेम-सबध कहलाता है।

१० **साम्यावस्था के प्रतिबध**—जितने वास्तविक परिवर्तन होते है वे कम स्थायी स्थितियो से अधिक स्थायी स्थितियो की ओर होते हैं। असमताओ (४६), (५०), तथा (५१) को ध्यान मे रखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचे है कि साम्यावस्था मे

निश्चित ऊ (U) तथा आ (V) के लिये ए (S) अधिकतम होता है। (९०)
निश्चित पू (H) तथा दा (p) के लिये ए (S) अधिकतम होता है। (९१)
निश्चित पा (T) तथा आ (V) के लिये फा (F) न्यूनतम होता है। (९२)
निश्चित पा (T) तथा दा (p) के लिये फू (G) न्यूनतम होता है। (९३)

असमता (४६) को ध्यान में रखते हुए (९०) तथा (९१) को दूसरी तरह भी लिखा जा सकता है।

निश्चित ए (S) तथा आ (V) के लिये ऊ (U) न्यूनतम होता है। (९४)
निश्चित ए (S) तथा दा (p) के लिये पू (H) न्यूनतम होता है। (९५)

क्योकि ए (S) की अपेक्षा पा (T) की जानकारी अधिक सुगमता से हो सकती है, अतएव (९४) एव (९५) की अपेक्षा (९२) तथा (९३) अधिक उपयोगी है। यदि पा (T) तथा आ (V) स्वतत्र चर राशियाँ है तो साम्यावस्था में

ताफा = ० । ($dF = 0$) (९६)

यदि पा (T) तथा दा (p) स्वतत्र चर राशियाँ हो तो साम्यावस्था में

ताफू = ० । ($dG = 0$) (९७)

११ **आदर्श गैसो के मिश्रण में रासायनिक साम्यावस्था—द्रव्यमाना क्रिया नियम**—यदि हम दो गैसो को मिलाएँ तो मिश्रण की एट्रापी वही नहीं होती जो उनकी अलग अलग एट्रापियो के जोडने से प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि मिलाने पर उन गैसो का पारस्परिक विसार होता है जो एक अनुत्क्रमणीय परिवर्तन होता है। समीकरण (७३) मे थोडा परिवर्तन करके हम मिश्रण की एट्रापी निकाल सकते है। मिश्रण का दबाव डाल्टन के नियम के अनुसार

दा = $\sum_{च}$ दा$_{च}$ । $p = \Sigma_i p_i$ (९८)

और दा$_{च}$ = द्र$_{च}$ भ्र पा/आ । $p_i = n_i RT/V$

अतएव दा = द्र भ्र पा/आ, द्र = $\sum$ द्र$_{च}$ (९९)

$$p = n\frac{RT}{V}, \quad n = \Sigma_{ni} \qquad (99)$$

और दा$_{च}$ = (द्र$_{च}$/द्र) दा । $p_i = (n_i/n)p$ (१००)

अतएव द्र$_{च}$ ए$_{च}$ = द्र$_{च}$ वि$_{दा_{च}}$ लघु पा — द्र$_{च}$ भ्र लघु दा$_{च}$ + द्र$_{च}$ ए$_{च०}$
= द्र$_{च}$ {ए$_{च}$ (पा, दा) + भ्र लघु (द्र/द्र$_{च}$)} (१०१)

$$n_i S_i = C_{pi} \log T - n_i R \log p_i + n_i S_{i0}$$
$$= n_i \left\{ S_i(T,p) + R \log \frac{n}{n_i} \right\}$$

अतएव

फू = पू — पाए
= $\sum_{च}$ द्र$_{च}$ {(पू$_१$)$_{च}$ (पा) — पाए$_{च}$ (पा, दा) — भ्रपा लघु (द्र/द्र$_{च}$)}
= $\sum_{च}$ द्र$_{च}$ {(फू$_१$)$_{च}$ (पा, दा) — भ्र पा लघु (द्र/द्र$_{च}$)} (१०२)

$$G = H - TS$$
$$= \Sigma_i n_i \left\{ (h_i(T) - TS_i(T,p) - RT \log \frac{n}{n_i} \right\}$$
$$= \Sigma_i n_i \left\{ g_i(T,p) - RT \log \frac{n}{n_i} \right\} \qquad (102)$$

समीकरणो (८८) तथा (१००) की तुलना से हम देख सकते हैं कि

रा$_{च}$ = (फू$_१$)$_{च}$ (पा, दा) — भ्र पा लघु (द्र/द्र$_{च}$) । (१०३)

$$\mu_i = g_i(T,p) - RT \log \frac{n}{n_i}$$

समीकरण (८०) के स्थान पर मिश्रण में रा$_{च}$ (μ_i) तथा (फू$_१$)$_{च}$ (g_i) मे उपर्युक्त सबध होता है। अब हम मान लेगे कि रासायनिक क्रिया किसी विशेष ताप तथा दाब पर होगी। इसलिये साम्यावस्था मे ताफू = ० ($dG = 0$)। समीकरण (१०२) की सहायता से

ता फू = $\sum_{च}$ ता द्र$_{च}$ {(फू$_१$)$_{च}$ (पा, दा) — भ्र पा लघु (द्र/द्र$_{च}$)
— भ्र पा $\sum_{च}$ द्र$_{च}$ ता (लघु द्र/द्र$_{च}$)

$$dG = \Sigma_i dn_i \{g_i(T,p) - RT \log n/n_i\}$$
$$- RT \Sigma_i n_i d(\log n/n_i)$$

उपर्युक्त पदसहति मे अतिम पद शून्य के बराबर होगा। ताद्र$_{च}$ (dn_i) उन अणुओ की सख्या के अनुपात में होगे जो उस रासायनिक क्रिया मे भाग ले रहे है। यदि इन अणुओ की सख्या स$_१$, स$_२$, स$_३$, ($\nu_1, \nu_2, \nu_3,$) है तो

$\sum_{च}$ स$_{च}$ {(फू$_१$)$_{च}$ (पा, दा) — भ्र पा लघु (द्र/द्र$_{च}$) = ० (१०४)

$$\Sigma_i \nu_i \{g_i(T,p) - RT \log (n/n_i)\} = 0 \qquad (104)$$

अथवा

$\Pi \left(\frac{द्र_{च}}{द्र}\right)^{स_{च}}$ = ट, (१०५)

जहाँ लघु ट = $-\frac{१}{भ्र पा}$ $\sum_{च}$ स$_{च}$ (फू$_१$)$_{च}$ (दा पा)।

$$\Pi_i \left(\frac{n_i}{n}\right)^{\nu_i} = K, \qquad (105)$$

जहाँ $\log K = -\frac{1}{RT} \Sigma_i \nu_i g_i (p,T)$

इस नियम का प्रतिपादन नार्वे के गुल्डबर्ग तथा वाग नामक दो वैज्ञानिको ने सन् १८६७ ई० मे किया था। इस समीकरण को आणविक भिन्नो के रूप में हम यो लिख सकते है

$\Pi_{च}$ ग$_{च}$$^{स_{च}}$ = ट, जिसमे ग$_{च}$ = $\frac{द्र_{च}}{द्र}$ । (१०६)

$\Pi_i C_i^{\nu_i} = K$, जिसमे $C_i = \frac{n_i}{n}$ (106)

इन समीकरणो मे वे स$_{च}$ (ν_i) धन होते है जो अणु रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होते है और जो लुप्त होते है वे ऋण होते है। समीकरणो (१०५) तथा (५५) की सहायता से

$\frac{त\ लघु\ ट}{तदा} = -\frac{१}{भ्र पा} \sum_{च}$ स$_{च}$ $\frac{त(फू_१)_{च}\ (दा, पा)}{तदा}$

$= -\frac{१}{भ्र पा} \sum_{च}$ स$_{च}$ (आ$_१$)$_{च}$ $= -\frac{\Delta (आ_१)}{भ्र पा}$ । (१०७)

$$\frac{\partial \log K}{\partial p} = -\frac{1}{RT} \Sigma_i \nu_i \frac{\partial g_i(p,T)}{\partial p}$$
$$= -\frac{1}{RT} \Sigma_i \nu_i V_i = -\frac{\Delta(V)}{RT} \qquad (107)$$

इसमे (आ$_१$)$_{च}$ (V_i) एक किलोग्राम-अणु का दाब दा (p) पर आयतन है। अतएव दा (आ$_१$)$_{च}$ = भ्र पा, ($pV_i = RT$) तथा

$\frac{त\ लघु\ ट}{त\ दा} = -\left(\sum_{च}(स_१)_{च}\right) / दा = \frac{त}{त\ दा}\left(लघु\ दा^{-\sum_{च} स_{च}}\right)$

$$\frac{\partial \log K}{\partial p} = -\frac{\Sigma_i \nu_i}{p} = \frac{\partial}{\partial p}\left(\log p^{-\Sigma_i \nu_i}\right)$$

अथवा $\frac{त}{त\ दा}\left(लघु\ टदा^{\sum_{च} स_{च}}\right) = ०$ (१०८)

$$\frac{\partial}{\partial p}\left(\log K p^{\Sigma_i \nu_i}\right) = 0 \qquad (108)$$

समीकरण (१०८) के समाकलन से

$$\text{ट दा}^{\Sigma_\text{च} \text{स}_{१\text{च}}} = \text{ग}, \qquad (१०९)$$

$$Kp^{\Sigma_i v_i} = C \qquad (109)$$

जिसमें ग (C) दाब के ऊपर निर्भर नही रहता। समीकरण (१०६) मे

$$\text{ग}_\text{च} = \text{द्र}_\text{च}/\text{द्र} = \text{दा}_\text{च}/\text{दा}। \qquad (C_i = n_i/n = p_i/p)$$

अतएव $\Pi_\text{च} (\text{दा}_\text{च}/\text{दा})^{\text{स}_\text{च}} = \text{ट}।$ $\quad [\Pi_i (p_i/p)^{\nu_i} = K]$

अर्थात् $$\text{ट}_\text{दा} = \Pi_\text{च} \text{दा}_\text{च}^{\text{स}_\text{च}} = \text{ट दा}^{\Sigma_\text{च} \text{स}_\text{च}} = \text{ग} \quad । \qquad (११०)$$

$$K = \Pi_i p_i^{\nu_i} = Kp^{\Sigma_i \nu_i} = C \qquad (110)$$

इससे प्रकट है कि $\text{ट}_\text{दा}$ (K_p) दबाव पर निर्भर नही है।
इसी प्रकार समीकरणों (१०५) तथा (५५) की सहायता से

$$\frac{\text{त लघु ट}}{\text{तपा}} = \frac{१}{\text{भ्क पा}^२} \Sigma_\text{च} \text{स}_\text{च} (\text{फू}_१)_\text{च} - \frac{१}{\text{भ्क पा}} \Sigma_\text{च} \text{स}_\text{च} \frac{\text{त}(\text{फू}_१)_\text{च}}{\text{त पा}}$$

$$= \frac{१}{\text{भ्क पा}^२} \Sigma_\text{च} \text{स}_\text{च} \{(\text{फू}_१)_\text{च} + \text{पा}(\text{ए}_१)_\text{च}\}$$

$$= \frac{१}{\text{भ्क पा}^२} \Sigma\, \text{स}_\text{च} (\text{पू}_१)_\text{च} = \frac{\Delta\, \text{पू}_१}{\text{भ्क पा}^२} \qquad (१११)$$

$$\frac{\partial \log K}{\partial T} = \frac{1}{RT^2} \Sigma_i \nu_i\, g_i - \frac{1}{RT} \Sigma_i\, \nu_i \frac{\partial g_i}{\partial t}$$

$$= \frac{1}{RT^2} \Sigma_i\, \nu_i\, (g_i + Ts_i)$$

$$= \frac{1}{RT^2} \Sigma\, \nu_i\, h_i = \frac{\Delta h}{RT^2} \qquad (111)$$

समीकरण (१०५), (१०७) तथा (१११) वहुत महत्वपूर्ण है। समीकरण (१०५) से यह स्पष्ट है कि ट(K) के मान में वृद्धि होने से उन सघटनो के सान्द्रण मे वृद्धि होती है जिनके $\text{स}_\text{च}$ (ν_i) धन होते है। समीकरण(१०७) से यह स्पष्ट है कि ताप को निश्चित रखते हुए दाव में वृद्धि की जाय तो रासायनिक क्रिया उस ओर चलेगी जिधर आयतन में कमी होगी। इसी प्रकार समीकरण (१११) से यह स्पष्ट है कि दाव को निश्चित रखते हुए ताप में वृद्धि हो तो रासायनिक क्रिया उस ओर चलेगी जिधर सघटको में अधिक उष्मा होगी। इस प्रकार समीकरण (१०७) तथा (१११) एक वहुत व्यापक नियम को स्पष्ट करते है जिसे लशाटल्ये-नियम कहते है और जो यह है

"यदि किसी उष्मागतिकी निकाय की वाह्य अवस्थाओ मे परिवर्तन किया जाय तो निकाय की साम्यावस्था उस दिशा मे परिवर्तित होगी जिससे वाह्य परिवर्तनो के मानो मे कमी होगी।"

१२ **क्लाजिउस-क्लेपिराँ-समीकरण तथा पानी का विंदु**—अव हम इस वात पर विचार करेगे कि यदि कोई सघटन गैस, द्रव आदि कई कलाओ (फेजेज़) में किसी निकाय में हो तो इन कलाओ में पारस्परिक सवध क्या होता है। यदि सघटक गैस तथा द्रव दो अवस्थाओ में हो और निकाय में इसकी कुल द्रव्यमात्रा नियत हो तो

$$\text{द्र} = \text{द्र}_\text{गैस} + \text{द्र}_\text{द्रव}। \quad (n = n_\text{गैस} + n_\text{द्रव}) \qquad (११२)$$

जिसमे $\text{द्र}_\text{गैस}$ ($n_\text{गैस}$) तथा $\text{द्र}_\text{द्रव}$ ($n_\text{द्रव}$) किलोग्राम-अणु एकको मे गैस तथा द्रव अवस्थाओ में निकाय में विद्यमान सघटक की मात्रा है। अतएव

$$\delta\, \text{द्र}_\text{गैस} + \delta\, \text{द्र}_\text{द्रव} = ०। \quad (\delta n_\text{गैस} + \delta n_\text{द्रव} = 0) \qquad (११३)$$

इसी प्रकार

$$\text{फू} = \text{द्र}_\text{गैस} (\text{फू}_१)_\text{गैस} + \text{द्र}_\text{द्रव} (\text{फू}_१)_\text{द्रव} \qquad (११४)$$

$$G = n_\text{गैस} (g)_\text{गैस} + n_\text{द्रव} (g)_\text{द्रव} \qquad (114)$$

ताप तथा दाव को नियत रखकर साम्यावस्था मे

$$\delta\text{फू} = \delta\text{द्र}_\text{गैस} (\text{फू}_१)_\text{गैस} + \delta\text{द्र}_\text{द्रव} (\text{फू}_१)_\text{द्रव}। \qquad (११५)$$

$$\delta G = \delta n_\text{गैस}\, g_\text{गैस} + \delta n_\text{द्रव}\, g_\text{द्रव} \qquad (115)$$

समीकरणो (११३) तथा (११४) के कारण

$$(\text{फू}_१)_\text{गैस} (\text{पा, दा}) = (\text{फू}_१)_\text{द्रव} (\text{पा दा})। \qquad (११६)$$

$$g_\text{गैस} (T,p) = g_\text{द्रव} (T,p) \qquad (116)$$

यदि हम पानी तथा उसके वाष्प की साम्यावस्था का अध्ययन कर रहे है तो हम गैस के स्थान पर भाप एव द्रव के स्थान पर जल लिखेंगे। यदि हम ताप को पा (T) से पा+तापा ($T+dT$) करें जिससे सतृप्त भाप की दाव दा+तादा ($p+dp$) हो जाय तो

$$(\text{फू}_१)_\text{भाप} (\text{पा + तापा, दा + तादा}) = (\text{फू}_१)_\text{जल} (\text{पा + तापा, दा+तादा}) \qquad (११७)$$

$$g_\text{भाप} (T+dT, p+dp) = g_\text{जल} (T+dT, p+dp) \qquad (117)$$

परतु $\text{फू} (\text{पा + तापा, दा + ता दा})$

$$= (\text{फू}_१)(\text{पा, दा}) + \left(\frac{\text{तफू}_१}{\text{तपा}}\right)_\text{दा} \text{ता दा} + \left(\frac{\text{तफू}_१}{\text{तदा}}\right)_\text{प} \text{तापा}$$

$$= \text{फू}_१ (\text{पा, दा}) - \text{ए तादा} + \text{आ तापा}। \qquad (११८)$$

$$g(T+dT, p+dp) = g(T,p) + \left(\frac{\partial g}{\partial T}\right)_p dp + \left(\frac{\partial g}{\partial p}\right)_T dT$$

$$= g(T, p) - S\, dp + V\, dT$$

अतएव समीकरणो (११६), (११७) तथा (११८) की सहायता से

$$-\text{ए}_\text{भाप} \text{ तापा} + \text{आ}_\text{भाप} \text{ ता दा} = -\text{ए}_\text{जल} \text{ तापा} + \text{आ}_\text{जल} \text{ तादा},$$

$$-S_\text{भाप}\, dT + V_\text{भाप}\, dp = -S_\text{जल}\, dT + V_\text{जल}\, dp$$

अर्थात् $$\left(\frac{\text{तादा}}{\text{तापा}}\right)_\text{सतृप्ति} = \frac{\text{ए}_\text{भाप} - \text{ए}_\text{जल}}{\text{आ}_\text{भाप} - \text{आ}_\text{जल}}$$

$$= \frac{\text{गु}}{\text{पा}\, (\text{आ}_\text{भाप} - \text{आ}_\text{जल})} \qquad (११९)$$

$$\left(\frac{dp}{dT}\right)_\text{सतृप्ति} = \frac{S_\text{भाप} - S_\text{जल}}{V_\text{भाप} - V_\text{जल}}$$

$$= \frac{L}{T\, (V_\text{भाप} - V_\text{जल})} \qquad (119)$$

जिसमे $\text{गु} = \text{पा}\, (\text{ए}_\text{भाप} - \text{ए}_\text{जल})$

$[L = T\, (S_\text{भाप} - S_\text{जल})]$=पानी की गुप्त उष्मा

समीकरण (११९) क्लाज़िउस-क्लेपिराँ-समीकरण कहलाता है। इसे समीकरण (५८) में दिए मैक्सवेल के सवध से भी स्थापित किया जा सकता है, परतु उपर्युक्त प्रतिपादन अधिक सतोषजनक है।

यदि किसी निकाय मे पानी ठोस, तरल एव गैस इन तीनो ही अवस्थाओ में वर्तमान हो तो समीकरण (११६) की भाँति हम यह सिद्ध कर सकते है कि

$$(\text{फू}_१)_\text{हिम} = (\text{फू}_१)_\text{जल}। \; g_\text{हिम} = g_\text{जल} \qquad (१२०)$$

एव $$(\text{फू}_१)_\text{हिम} = (\text{फू}_१)_\text{भाप}। \; (g_\text{हिम} = g_\text{भाप}) \qquad (१२१)$$

परतु (१२०) तथा (१२१) समीकरणो का अर्थ है—

$$(\text{फू}_१)_\text{जल} = (\text{फू}_१)_\text{भाप}। \; (g_\text{जल} = g_\text{भाप}) \qquad (१२२)$$

और निर्देशाक ज्यामिति के एक प्रमेय के अनुसार समीकरण (१२२) का वक्र समीकरणो (१२०) एव (१२१) के वक्रो के उभयनिष्ठ विंदु से होकर गुजरेगा। इस विंदु को पानी का त्रिगुण विंदु कहते है।

समीकरण (११९) द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि ताप वढने से सतृप्त भाप की दाव कितनी वढती है। हिम तथा पानी की साम्यावस्था से भी इसी तरह का समीकरण निकाला जा सकता है, जिसके द्वारा यह ज्ञात किया जा सकता है कि दाव से गलनाक में क्या परिवर्तन होता है।

१३ **गिब्ज़ का कला नियम**—ऊपर हमने यह मान लिया है कि निकाय में एक ही प्रकार का सघटक है। अव हम कल्पना करेगे कि सघटको की सख्या १, २ , स के वरावर है तथा कलाओ की सख्या १,२ क के वरावर है। अतएव पूरे निकाय के लिये

$$\text{फू} = \sum_{\text{च}=१}^{\text{च}=\text{स}} \sum_{\text{छ}=१}^{\text{छ}=\text{क}} (\text{फू}_१)_{\text{चछ}} (\text{द्र})_{\text{चछ}} \qquad (१२३)$$

$$G = \sum_{i=1}^{i=\text{स}} \sum_{j=1}^{j=\text{क}} g_{ij}\, n_{ij} \qquad (123)$$

इसमें $(\text{फू}_१)_{\text{चछ}}$ $[g_{ij}]$ सघटक च (i) का कला छ (j) मे गिब्ज़ की स्वतत्र ऊर्जा प्रति किलोग्राम-ग्रणु है तथा $\text{द्र}_{\text{चछ}}$ (n_{ij}) निकाय में इसके किलोग्राम-ग्रणुग्रो की सख्या है। साम्यावस्था मे $\delta\,\text{फू} = ०$ $(\delta G = 0)$ होता है। ग्रतएव

$$\sum_{\text{च}=१}^{\text{च}=\text{स}} \sum_{\text{छ}=१}^{\text{छ}=\text{क}} (\text{फू}_१)_{\text{चछ}}\, \delta\,\text{द्र}_{\text{चछ}} = ० \text{।} \qquad (१२४)$$

$$\sum_{i=1}^{i=\text{स}} \sum_{j=1}^{j=\text{क}} g_{ij}\, \delta n_{ij} = 0 \qquad (124)$$

परतु प्रत्येक सघटक की मात्रा नियत है। ग्रतएव

$$\sum_{\text{छ}=१}^{\text{छ}=\text{क}} \delta\,\text{द्र}_{\text{चछ}} = ०,\ \text{च} = १, २, \quad \text{स} \text{।} \qquad (१२५)$$

$$\sum_{j=1}^{j=\text{क}} \delta n_{ij} = 0, \quad i = 1, \ 2, \ \text{स} \text{।} \qquad (125)$$

समीकरणो (१२४) तथा (१२५) से लाग्राज के ग्रनिर्धारित गुणाक विधि की सहायता से

$$\left.\begin{array}{l} (\text{फू}_१)_{\text{च१}} = (\text{फू}_१)_{\text{च२}} \quad = (\text{फू}_१)_{\text{चक}},\ \text{च} = १, २, ३, \ , \text{स} \text{।} \\ g_{i1} = g_{i2} \qquad = g_{i\text{क}}, \qquad i = 1, 2, \qquad \text{स} \end{array}\right\} \quad (१२६)$$

समीकरण (१२६) मे समीकरणो की कुल सख्या **स** (क–१) है। ग्रव हम चर राशियो की सख्या पर विचार करेगे। साम्यावस्था मे प्रत्येक कला मे सघटको के ग्रनुपातो का ही महत्व है। ग्रतएव इन चर राशियो की सख्या **क**(स–१) है। इनमे ताप तथा दाव को मिलाने से चर राशियो की कुल सख्या **क**(स–१)+२ है। इन राशियो पर समीकरण (१२६) द्वारा निर्देशित **स**(क–१) प्रतिवध है। यदि स्वतत्र चर राशियो की सख्या **म** है तो

$$\begin{aligned} \text{म} &= \text{क}\ (\text{स} - १) + २ - \text{स}(\text{क} - १) \\ &= \text{स} - \text{क} + २, \end{aligned} \qquad (१२७)$$

ग्रर्थात् $\text{म} + \text{क} = \text{स} + २$ । (१२८)

समीकरण (१२७) ग्रथवा (१२८) गिब्ज़ के कलानियम को प्रकट करते है। निकाय की मुक्तता की कोटि **म**, कलाग्रो की सख्या **क** तथा सघटको की सख्या **स** में उपर्युक्त समीकरण होते है।

१४—उष्मागतिकी के द्वितीय सिद्धात के ग्रन्य उपयोग—उष्मागतिकी के द्वितीय सिद्धात के जो उपयोग ऊपर दिए गए है उनके ग्रतिरिक्त इसके ग्रौर भी उपयोग है जिनका विवेचन स्थानाभाव के कारण नही किया जा सकता। उदाहरणत, तनु विलयनो के रसाकर्षणीय दाव, विलयनो मे रासायनिक साम्यावस्था, विलायक एव विलयन की वाष्पदावो के ग्रतर, द्रवो द्वारा गैसो के ग्रवशोषण, चुवकीय क्षेत्र मे चुवकीय पदार्थो की विशिष्ट उष्मा ग्रादि के ग्रध्ययन के लिये भी इसका उपयोग किया जाता है। सबसे निम्न ताप प्राप्त करने के लिये स्थिरोष्म ग्रचुवकनविधि (ऐडियावैटिक डीमैग्नेटिज़ेशन) का उपयोग किया जाता है। इसका भी ग्रध्ययन उष्मागतिकी द्वारा किया जा सकता है। इसके ग्रतिरिक्त समीकरण (६१) की सहायता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि गैल्वनीय कोशिकाग्रो का विद्युद्वाहक वल निम्नलिखित समीकरण से प्रकट किया जा सकता है

$$\text{द्यु} - \text{पा}\left(\frac{\text{तद्यु}}{\text{तपा}}\right)_{\text{ग्र}} = \frac{\Delta\,\text{ऊ}}{\text{यो फे}} \qquad (१२९)$$

$$E - T\left(\frac{\partial E}{\partial T}\right)_{v} = \frac{\Delta U}{ZF} \qquad (129)$$

जिसमें **द्यु** (E) कोशिका का विद्युद्वाहक वल है, Δऊ (ΔU) रासायनिक क्रिया मे प्राप्त उष्मा है, **यो** (Z) सयोजकता है, तथा **फे** (F) फैराडे सख्या है।

१५—उष्मागतिकी का तृतीय सिद्धात—यात्रिकी के ग्रध्ययन से दाव तथा ग्रायतन के साथ हमारा परिचय होता है। उष्मागतिकी के शून्यवें सिद्धात से ताप, प्रथम सिद्धात से उष्मा एव द्वितीय सिद्धात से एट्रापी, स्वतत्र ऊर्जा ग्रादि निकाय की विशिष्टताग्रो का समावेश होता है। तृतीय सिद्धात द्वारा किसी नई विशिष्टता का समावेश नही होता। इसके द्वारा केवल ए (S), फा (F), फू (G) ग्रादि का मान निश्चित हो जाता है।

यदि किसी रासायनिक क्रिया में ऊ (U) तथा फा (F) मे परिवर्तन क्रमश Δऊ (ΔU) तथा Δफा (ΔF) हो तो समीकरण (६१) के ग्रनुसार

$$\Delta\,\text{ऊ} = \Delta\,\text{फा} - \text{पा}\,\frac{\text{त}}{\text{त पा}}(\Delta\,\text{फा}) \text{।} \qquad (१३०)$$

$$\Delta U = \Delta F - T\frac{\partial}{\partial T}(\Delta F) \qquad (130)$$

नेर्न्स्ट ने यह देखा कि प्राय रासायनिक क्रियाग्रो मे Δऊ तथा Δफा $(\Delta U$ तथा $\Delta F)$ में वहुत कम ग्रतर होता है। इसका कारण यह है कि

त(Δफा)/त पा $\left[\frac{\partial}{\partial T}(\Delta F)\right]$ का मान वहुत कम होता है।

ग्रतएव नेर्न्स्ट ने यह सिद्धात रखा कि ज्यो ज्यो हम परमशून्य ताप की ग्रोर वढते है त्यो त्यो त(Δफा)तपा $\left[\frac{\partial}{\partial T}(\Delta F)\right]$ का मान कम होता जाता है ग्रौर परमशून्य ताप पर इसका मान शून्य के वरावर होगा। समीकरण (१३०) के ग्रनुसार परमशून्य ताप पर यदि त(Δफा)/तफा $[\partial(\Delta F)/\partial T]$ का मान कोई परिमित सख्या हो तो Δऊ (ΔU) तथा Δफा (ΔF) एक दूसरे के वरावर होगे। परतु नेर्न्स्ट के सिद्धात के ग्रनुसार

$$\text{सीमा}_{\text{पा}\to ०}\frac{\text{त}}{\text{तपा}}(\Delta\,\text{ऊ}) = \text{सीमा}_{\text{प}\to ०}\frac{\text{त}}{\text{तपा}}(\Delta\,\text{फा}) = ०, \quad (१३१)$$

$$\lim_{T\to 0}\frac{\partial}{\partial T}(\Delta U) = \lim_{T\to 0}\frac{\partial}{\partial T}(\Delta F) = 0, \qquad (131)$$

क्योकि समीकरण (१३०) के ग्रवकलन से

$$\frac{\text{त}}{\text{तपा}}(\Delta\,\text{ऊ}) = \frac{\text{त}}{\text{तपा}}(\Delta\,\text{फा}) - \frac{\text{त}}{\text{तपा}}(\Delta\,\text{फा}) - \text{पा}\frac{\text{त}^२}{\text{तपा}^२}(\Delta\,\text{फा})$$

$$= - \text{पा}\frac{\text{त}^२}{\text{तपा}^२}(\Delta\,\text{फा}) = ०, \text{ यदि } \text{पा} = ० \text{।}$$

$$\frac{\partial}{\partial T}(\Delta U) = \frac{\partial}{\partial T}(\Delta F) - \frac{\partial}{\partial T}(\Delta F) - T\frac{\partial^2}{\partial T^2}(\Delta F)$$

$$= T\frac{\partial^2}{\partial T^2}(\Delta F) = ०, \text{ यदि } T = ०$$

क्योकि $\left(\frac{\text{तफा}}{\text{तपा}}\right)_{\text{ग्रा}} = -\text{एं},$

$$\left(\frac{dF}{dT}\right)_{v} = - S,$$

ग्रतएव समीकरण (१३१) का ग्रर्थ यह है कि परमशून्य ताप पर Δएं$=०$ $(\Delta S = 0)$। यह सिद्धात नेर्न्स्ट ने सन् १९०६ ई० मे प्रतिपादित किया था। इसके पश्चात् प्लाक ने सन् १९१२ ई० मे यह कहा कि परमशून्य ताप पर न केवल Δएं$=०$ $(\Delta S = 0)$, ग्रपितु ए$=०$ $(S = 0)$। तृतीय सिद्धात को कभी कभी नेर्न्स्ट का उष्मा प्रमेय भी कहते है।

१६—तृतीय सिद्धात के उपयोग—तृतीय सिद्धात द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि परमशून्य ताप पर प्रसरण गुणाक शून्य के वरावर होता है तथा ताप के साथ दाव के वढने का गुणाक भी शून्य के वरावर होता है। इसी प्रकार यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि परम शून्य ताप पर,

नियत दाव पर तथा नियत आयतन पर विशिष्ट उष्माएँ वि$_{दा}$ (C_p) तथा वि$_{आ}$ (C_v) दोनो ही शून्य के बराबर होती हैं। परतु सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि किसी भौतिक क्रिया द्वारा परमशून्य ताप पर पहुँचना असभव है। हम जानते हैं कि निम्न ताप पर ताप कम करने की सबसे अच्छी विधि स्थिरोष्म विचुबकन (ऐडियाबैटिक डीमैग्नेटिजेशन) है। परतु हम सिद्ध कर सकते हैं कि इस विधि से भी परमशून्य ताप पर पहुँचना असभव है। इसके लिये हम **पा—ए** ($T—S$) रेखाचित्र मे निकाय की अवस्था का निर्देशन करेंगे। यह चित्र ५ मे किया गया है।

नियत ताप पर चुबकीय पिंड को चुबकीय क्षेत्र मे रखने से एट्रापी कम हो जाती है जैसा इस रेखाचित्र में **पू**=० (H=0) एव **पू**=**पू**$_०$ ($H=H_o$) के वक्रो द्वारा दिखाया गया है। इस रेखाचित्र द्वारा हम देख

चित्र ५ पा-ए लेखाचित्र

सकते हैं कि यदि ताप **पा**$_१$ (T_1) तथा पू=पू$_०$ ($H=H_o$) से चुबकीय क्षेत्र शून्य कर दें तो हम ताप **पा**$_२$ (T_2) पर पहुँचेंगे।

ताप पा$_२$ (T_2) ऐसा है कि पू=० (H=0) की अवस्था में एट्रापी का वही मान है जो ताप **पा**$_१$ (T_1) पर अवस्था **पू**=**पू**$_०$ ($H=H_o$) मे। यदि शून्य ताप पर एट्रापी शून्य न होकर **ए**$_०$ (S_o) के बराबर होती तो हम शून्य ताप पर पहुँच सकते, परतु तृतीय सिद्धात के अनुसार यह असभव है।

१७—द्वितीय सिद्धात का स्वयताथ्यिक प्रतिपादन—ऊपर हमने द्वितीय सिद्धात का वह प्रतिपादन किया है जो क्लाजिउस आदि के अनुसार है। इसके अतिरिक्त कैराथियोडोरी ने स्वयताथ्यिक प्रतिपादन दिया है। कैराथियोडोरी का प्रमेय यह है कि **दा-आ** (p-V) लेखाचित्र में निकाय की अवस्था के निर्देश विंदु के आसपास ऐसे अनेक विंदु हैं जिन तक उत्क्रमणीय-स्थिरोष्म-प्रक्रम द्वारा पहुँचना असभव है। इस प्रमेय से आरभ करके परमताप एव एट्रापी की भावना तक पहुँचा जा सकता है।

स०ग्र०—गुगेनहाइम थर्मोडाइनैमिक्स, विल्सन थर्मोडाइनैमिक्स ऐंड स्टैटिस्टिकल मिकैनिक्स, सोमरफेल्ड थर्मोडाइनैमिक्स ऐंड स्टैटिस्टिकल मिकैनिक्स, फर्मी थर्मोडाइनैमिक्स। [रा० नि० रा०]

उष्मामिति

उष्मामिति किसी रीति से उष्मा की मात्रा के मापन को उष्मामिति कहते हैं। उष्मामिति उष्मा के किसी प्रभाव पर आधारित होती है। उष्मामापन की साधारणतया निम्नलिखित पद्धतियाँ हैं.

(क) तापपरिवर्तन अथवा तापमानीय उष्मामिति,
(ख) अवस्थापरिवर्तन अथवा गुप्त ताप उष्मामिति।

प्रथम पद्धति में वे रीतियाँ हैं जिनमे ताप परिवर्तित होता है तथा मापन तापपरिवर्तन पर निर्भर होता है। अतत यह पद्धति केवल ताप के अवलोकन में परिणत हो जाती है। अत इन विधियो में तापमान एक मुख्य उपकरण है। इस पद्धति में रेनो की मिश्रण विधि तथा ड्यूलांग और पेती की शीतलीभवन विधि है।

दूसरी पद्धति में वे विधियाँ समिलित है जो ठोसो के द्रवण अथवा वाष्पो के सघनन पर निर्भर हैं। इनमे हिम तथा वाष्प उष्मा मान समिलित है। द्रवण तथा वाष्पीकरण पर निर्भर होने के कारण इन प्रयोगो में ताप स्थिर रहता है, अतएव इनमें तापमापन की कोई आवश्यकता नही होती।

(क) ताप-परिवर्तन-उष्मामिति में जल का तापन एक नियत ताप तक किया जाता है तथा इस जल की मात्रा से उष्मा की मात्रा ज्ञात की जाती है।

उष्मा का एकक—उष्मा का एकक उष्मा की वह मात्रा है जो एक एकक मात्रा जल के ताप मे १° की वृद्धि करती है। यदि द्रव्यमान का एकक १ ग्राम हो तथा तापातर १° सें० हो तो उष्मा के एकक को एक कलरी कहते हैं। १ ग्राम द्रव्यमान के जल के ताप में १° से० वृद्धि करने के लिये प्रत्येक ताप पर उष्मा की आवश्यक मात्रा समान नही होती। अत वैज्ञानिको ने १° सें० का पूर्वोक्त तापातर १४.५° सें० से १५.५° सें० तक माना है। अत एक कलरी उष्मा की वह मात्रा है जो १४.५° सें० के एक ग्राम जल के ताप को बढाकर १५.५° से० कर दे। विभिन्न तापो पर एक डिगरी ताप बढाने के लिये आवश्यक उष्मा की मात्रा में अतर वहुत कम होता है, अत साधारण प्रयोगो में किसी भी ताप पर १ ग्राम शुद्ध जल के ताप मे १° से० की वृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा की मात्रा को १ कलरी मान सकते हैं।

अग्रेजी पद्धति मे १ पाउड शुद्ध जल के ताप में १° फारेनहाइट वृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा को उष्मा का एकक माना गया है। इसे उष्मा का अग्रेजी एकक (ब्रिटिश थर्मल यूनिट बी० टी-एच० यू०) कहते हैं।

१ पाउड=४५३.६ ग्राम तथा १° फा०=$\frac{५}{९}$° सें०।
अत १ ब्रिटिश थर्मल यूनिट=४५३.६×$\frac{५}{९}$
=२५२ कैलरी

उष्माधारिता—किसी वस्तु की उष्माधारिता उष्मा की वह मात्रा है जो १° सें० तापवृद्धि के लिये उस वस्तु को देनी पडती है, अथवा १° सें० तापपतन द्वारा उससे प्राप्त होती है।

विशिष्ट उष्मा—जल की उष्माधारिता की तुलना मे किसी पदार्थ की उष्माधारिता को उस पदार्थ की विशिष्ट उष्मा कहते हैं। अर्थात्, पदार्थ के किसी द्रव्यमान की किसी तापवृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा की मात्रा तथा समान द्रव्यमान के जल की उसी तापवृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा की निष्पत्ति को उस पदार्थ की विशिष्ट उष्मा कहते हैं। १ ग्राम जल की १° सें० तापवृद्धि के लिये आवश्यक उष्मा १ एकक उष्मा होती है अत १ ग्राम पदार्थ की उष्माधारिता उस पदार्थ की विशिष्ट उष्मा होती है, यदि द्रव्यमान **द्र** (m) की किसी वस्तु का ताप **थ** ($\theta°$) से **था** ($\theta'°$) तक बढाने के लिये आवश्यक उष्मा की मात्रा **मा** (Q) हो तो पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार विशिष्ट उष्मा **वि** (S) निम्नलिखित सूत्र में प्राप्त होगी

$$\text{वि}=\frac{१}{\text{द्र}}\,\frac{\text{मा}}{(\text{था}-\text{थ})} \qquad (१)$$

$$S=\frac{1}{m}\,\frac{Q}{\theta'-\theta} \qquad (1)$$

इसमें **वि** (S) ताप **थ** (θ) तथा **था** (θ') के बीच मध्यक उष्मा है। किसी ताप **थ** (θ) पर विशिष्ट उष्मा ज्ञात करने के लिये **था** (θ') को **थ** (θ) के अति निकट लिया जाता है, अत **था—थ** ($\theta'-\theta$) के स्थान पर **ताथ** ($d\theta$) तथा तत्सबद्ध उष्मा की मात्रा **तामा** (dQ) मानकर

$$\text{वि}=\frac{१}{\text{द्र}}\,\frac{\text{तामा}}{\text{ताथ}} \qquad (२)$$

$$S=\frac{1}{m}\,\frac{dQ}{d\theta} \qquad (2)$$

इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु की उष्माधारिता उस वस्तु के द्रव्यमान तथा विशिष्ट उष्मा का गुणनफल है। इसे उस वस्तु का जल-तुल्याक भी कहते हैं।

गैसो की विशिष्ट उष्मा—साधारणतया विशिष्ट उष्मा की परिभाषा करते समय उन परिस्थितियो का निर्देशन आवश्यक है जिनमें तापपरिवर्तन हुआ हो। उदाहरणतया, यदि सपीडन से किसी गैस के ताप में वृद्धि हो तो **ताथ**≠० ($d\theta\neq0$), परतु **तामा**=० (dQ=0)। अतएव विशिष्ट उष्मा **वि** (S) शून्य होगी। पुन यदि

एक गैस में परिमित मात्रा मे उष्मा दी जाय और उसका प्रसरण इस प्रकार हो कि उसका ताप स्थिर रहे तो इस परिस्थिति में ताथ=० ($d\,\theta=0$) तथा तामा=० ($d\,Q=0$)। अतएव विशिष्ट उष्मा अत्युच्च होगी। गैस का प्रसरण इस प्रकार भी कराया जा सकता है कि कुछ मात्रा में उष्मा तो उसे दी जाय परन्तु फिर भी उसके ताप का पतन हो, तब ताथ ($d\theta$) के ऋण होने के कारण उसकी विशिष्ट उष्मा का मान भी ऋण होगा। इससे यह प्रतीत होता है कि गैस की विशिष्ट उष्मा का मान $+\infty$ से $-\infty$ के अतर्गत कुछ भी हो सकता है तथा यह मान परिस्थितियो से सबधित है। इस कारण गस की विशिष्ट उष्मा के विषय मे तापपरिवर्तन की परिस्थितियो का निर्देशन अत्यत आवश्यक है। अत गैस के विषय में दो विशिष्ट उष्माएँ होती हैं (१) स्थिर दाब विशिष्ट उष्मा, वि$_{दा}$ (C_p) तथा (२) स्थिर आयतन विशिष्ट उष्मा, वि$_{आ}$ (C_v)।

द्रव तथा ठोस पदार्थों में सपीडन न्यून होने के कारण साधारण प्रयोगो मे आयतन परिवर्तन न्यून तथा नगण्य होते हैं। अत एक ही विशिष्ट उष्मा रह जाती है। प्रत्येक ताप पर ठोस तथा द्रव की एक निश्चित विशिष्ट उष्मा होती है तथा ताप के साथ इसकी वृद्धि होती है।

तापपरिवर्तन उष्मामिति—इस पद्धति मे निम्नलिखित रीतियाँ है

(क) मिश्रण विधि,

(ख) शीतलीभवन विधि।

(क) **मिश्रण विधि** द्वारा रेनो ने परम परिशुद्ध फल ज्ञात किए।

यदि दो पदार्थ क तथा ख के द्रव्यमान द्र$_१$ (m_1) तथा द्र$_२$ (m_2), ताप थ$_१$ (θ_1) तथा थ$_२$ (θ_2) तथा विशिष्ट उष्माएँ वि$_१$ (S_1) तथा वि$_२$ (S_2) हो और यदि वे एक दूसरे के साथ रखे जायँ तो उष्मा एक से दूसरे मे जायगी तथा फलस्वरूप थ$_१$ तथा थ$_२$ के अत स्थ एक सामान्य ताप थ (θ) होगा। परिणामत यदि उष्मा का नियमन क तथा ख ही मे हो तो क द्वारा दी गई उष्मा ख द्वारा ली गई उष्मा के तुल्य होगी—

अत द्र$_१$वि$_१$ (थ$_१$ − थ) = द्र$_२$वि$_२$ (थ − थ$_२$) (३)

$$m_1 S_1 (\theta_1 - \theta) = m_2 S_2 (\theta - \theta_2) \quad (3)$$

अब यदि क जल की कोई मात्रा है तो परिभाषानुसार वि$_२$ (s_2) का मान १ होगा तथा ख की विशिष्ट उष्मा निम्नलिखित समीकरण से ज्ञात होगी

$$\text{वि}_१ = \frac{\text{द्र}_२ (\text{थ} - \text{थ}_२)}{\text{द्र}_१ (\text{थ}_१ - \text{थ})} \quad (४)$$

$$S_1 = \frac{m_2 (\theta - \theta_2)}{m_1 (\theta_1 - \theta)} \quad (4)$$

यहाँ वि$_१$ (S_1) ताप थ (θ) तथा थ$_१$ (θ_1) के अतर्गत मध्यक उष्मा है। यहाँ हमने यह माना है कि ताप के समीकरण की अवधि मे क तथा ख न तो अन्य वस्तुओ से उष्मा लेते हैं, न उन्हे देते हैं। व्यवहार मे यह अवस्था असभव है। सामान्यतया अन्य वस्तुओ से उष्मा का नियमन होता है। ऐसी त्रुटियो को दूर करने अथवा कम करने की विशेष रीतियाँ हैं।

उष्मामापी—उष्मामापन के प्रयोगो का मुख्य उपकरण ताँबे, पीतल अथवा चाँदी की पतली चद्दर का बना उष्मामापी होता है। यह एक बडे बरतन के भीतर कुचालक आधारो पर रखा जाता है। उष्मामापी मे मापे हुए द्रव्यमान का जल भरा जाता है, जिसमे निश्चित ताप की तप्त वस्तु डाली जाती है तथा एक सूक्ष्म तापमापी से तापपरिवर्तन पढा जाता है। जल को (दूर अथवा कम) चलाने के लिये उसमें ताँबे का मुडा हुआ विचालक रहता है। विकिरण द्वारा उष्मा का क्षय दूर अथवा कम करने के लिये उष्मामापी के बाहरी तल तथा बडे बर्तन के भीतरी तल पर पालिश की जाती है।

किसी तप्त पदार्थ को उष्मामापी के जल में डालने पर जल के अतिरिक्त उष्मामापी, विचालक तथा तापमापी का पारा भी तप्त पदार्थ की उष्मा लेते है तथा उनके ताप मे भी वृद्धि होती है। अत इनकी उष्माधारिताओ का लेखा लेना भी आवश्यक है। यदि उष्मामापी का द्रव्यमान द्र$_१$ (m_1) ग्राम हो तथा विशिष्ट उष्मा वि$_१$ (S_1) हो तो उसकी १° सें० तापवृद्धि के हेतु द्र$_१$वि$_१$ (m_1S_1) कैलरी की आवश्यकता होगी। द्र$_१$वि$_१$ (m_1S_1) को उष्मामापी का जलतुल्याक कहते हैं, क्योकि द्र$_१$वि$_१$ (m_1S_1) ग्राम जल के ताप मे भी १° सें० की वृद्धि होगी। अब यदि द्र$_१$, द्र$_२$, द्र$_३$ (m_1, m_2, m_3) ग्राम उष्मामापी, तापमापी का पारा तथा विचालक के द्रव्यमान हो तथा वि$_१$, वि$_२$, वि$_३$ (S_1, S_2, S_3) उनकी विशिष्ट उष्माएँ, तो उष्मामापी तथा उपसाधनो का जलतुल्याक ज (w) निम्नलिखित समीकरण से मिलेगा

ज = द्र$_१$वि$_१$ + द्र$_२$वि$_२$ + द्र$_३$वि$_३$ (५)

$$W = m_1 S_1 + m_2 S_2 + m_3 S_3 \quad (5)$$

पारे की सहति द्र$_२$ अति न्यून होती है तथा यदि विचालक तथा उष्मामापी एक ही धातु के बने हो तो

ज = (द्र$_१$ + द्र$_३$) वि$_१$

$$W = (m_1 + m_3) S_1$$

अतएव समीकरण (३) निम्नलिखित होगा

द्र$_१$ वि$_१$ (थ$_१$ − थ) = (द्र$_२$ + ज) (थ − थ$_२$) + क्ष (६)

$$m_1 S_1 (\theta_1 - \theta) = (m_2 + W)(\theta - \theta_2) + R \quad (6)$$

इसमे क्ष (R) विकिरण तथा उष्माचालन के कारण होनेवाले उष्माक्षय का शोधन है।

क्ष (R) का मान निकालने के लिये सदर्भ ग्रथो मे से किसी एक को देखिए।

यदि उष्माक्षय के शोधन के कारण तापवृद्धि △थ हो तो

द्र$_१$ वि$_१${थ$_१$ − (थ + △थ)} = (द्र$_२$ + ज) (थ + △थ − थ$_२$) (७)

$$m_1 S_1 \{\theta_1 - (\theta + \triangle\theta)\} = (m_2 + W)(\theta + \triangle\theta - \theta_2) \quad (7)$$

तापातर की वृद्धि से विकिरण शोधन मे भी वृद्धि होती है, इस कारण उचित यह है कि उष्मामापी मे जल की मात्रा इतनी अधिक ली जाय कि ताप में अधिक वृद्धि न हो, परतु ऐसा करने से प्रयोग की सूक्ष्मता घट जाती है। इसके प्रतिकार के लिये सूक्ष्म तापमापी का व्यवहार आवश्यक हो जाता है।

(ख) **शीतलीभवन विधि**—इस कल्पना पर निर्धारित है कि जब कोई वस्तु किसी समावृत्त मे शीतल होती है तो समय की अवधि ता स में उसके द्वारा उत्सारित उष्मा ता मा (dQ) (१) वस्तु के समावृत्त पर, (२) ताप के आधिक्य पर, (३) उसके तल की प्रकृति पर, तथा (४) तल के क्षेत्रफल पर निर्भर करती है। अत

तामा = क फ (थ) तास (८)

$$dQ = A f(\theta)\, dt \quad (8)$$

इस समीकरण मे क (A) वस्तु के तल पर, अर्थात् उसके क्षेत्रफल तथा विकिरण शक्ति पर निर्भर है, तथा फ (थ) [$f(\theta)$] ताप के आधिक्य का अज्ञात फलन है जो प्रत्येक वस्तु के लिये सम होगा। अत यदि न्यूटन का शीतलीभवन नियम यथार्थ है तो यह फलन केवल तापातर थ (θ) है। यदि तास (dt) अवधि मे वस्तु तापातराल ताथ ($d\theta$) से शीतल होती है तो

तामा = द्रवि ताथ। (९)

$$dQ = m\, S\, d\theta \quad (9)$$

द्र (m) वस्तु की सहति तथा वि (S) विशिष्ट उष्मा है। अत

द्र वि ताथ = क फ (थ) तास (१०)

$$m\, s\, d\theta = A f(\theta)\, dt \quad (10)$$

अतएव तापातर थ$_१$ (θ_1) से थ$_२$ (θ_2) तक शीतल होने का समय स (t) निम्नलिखित होगा

$$\text{स} = \frac{\text{द्र वि}}{\text{क}} \int_{\text{थ}_२}^{\text{थ}_१} \frac{\text{ता थ}}{\text{फ(थ)}} = \frac{\text{द्र वि}}{\text{क}} \Big[\text{फा(थ}_१) - \text{फा(थ}_२) \Big]$$

$$t = \frac{m\, S}{A} \int_{\theta_2}^{\theta_1} \frac{d\theta}{f(\theta)} = \frac{m\, S}{A} \Big[F(\theta_1) - F(\theta_2) \Big]$$

यदि एक अन्य वस्तु जिसका द्रव्यमान द्र′ (m') हो तथा विशिष्ट उष्मा

वि' (S') हो तो एक ही समावृत्त में तथा समताप प्रसार के लिये उसके शीतल होने का समय

$$स' = \frac{द्र'\ वि'}{क'}\left[फा(थ_1) - फा(थ_2)\right]$$

$$t' = \frac{m' S'}{A'}\left[\ F(\theta_1) - F(\theta_2)\ \right]$$

अतएव $$\frac{स}{स'} = \frac{द्र\ वि}{द्र'\ वि'} \times \frac{क'}{क}।$$

$$\frac{t}{t'} = \frac{m\ S}{m' S'} \times \frac{A}{A'}$$

यदि दोनो वस्तुओ के तल के क्षेत्रफल समान हो तो क=क' ($A = A'$) तथा

$$\frac{द्र\ वि}{द्र'\ वि'} = \frac{स}{स'}। \qquad (११)$$

$$\frac{mS}{m'S'} = \frac{t}{t'} \qquad (11)$$

अर्थात् दोनो वस्तुओ की उष्माधारिताएँ उन अवधियो की निष्पत्ति है जो उन वस्तुओ को ताप के समान परास (रेज) द्वारा शीतल होने में लगती है।

यदि द्र$_1$ (m_1) तथा द्र$_2$ (m_2) द्रव्यमान के दो द्रव पदार्थ क्रमश उष्माधारिता ज (W) के उष्मामापी में रखे जायँ तथा यह उष्मामापी ०° सें० ताप के एक वरतन के मध्य लटकाया जाय और तब शीतलीभवन की दर का अवलोकन किया जाय तो

$$\frac{ज + द्र\ वि}{स} = \frac{ज + द्र'\ वि'}{स'} \qquad (१२)$$

$$\frac{W\ m\ S}{t} = \frac{W\ m'\ S'}{t} \qquad (12)$$

यदि इनमे एक द्रव जल हो तो दूसरे द्रव की विशिष्ट उष्मा का मान ज्ञात किया जा सकता है।

इस रीति से परिशुद्ध फल नही मिलते। इसका केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है।

अवस्थापरिवर्तन अथवा गुप्त ताप उष्मामिति (क) **हिम-द्रवण-विधि**—ब्लैक ने प्रथम वार इस विधि का प्रयोग किया। हिम के एक वडे टुकडे मे छोटा सा छेद वनाकर उसके मुख को हिम के छोटे टुकडे से वद किया जाता है। इस प्रकार एक हिम से घिरा हुआ मडल वन जाता है। ज्ञात द्रव्यमान की वस्तु को एक निश्चित ताप तक तप्त कर तथा हिम-मडल के जल को सावधानी से सोखकर तप्त वस्तु को उसके भीतर तुरत डाल दिया जाता है और उसके मुख को लघु हिम खड से ढक दिया जाता है। यह वस्तु उष्मा देकर तुरत हिम के द्रवाक पर आ जाती है तथा इससे निश्चित मात्रा में हिम का द्रवण होता है। पूर्व तौले हुए एक स्पज से इस जल को सोखकर स्पज को पुन तौल लेते है तथा द्रवित हिम का द्रव्यमान ज्ञात कर लेते है। यदि वस्तु का आरभिक ताप थ (θ), उसका द्रव्यमान द्र (m) तथा विशिष्ट उष्मा वि (S) हो तो उसके द्वारा दी हुई उष्मा की मात्रा द्र वि थ ($m\ S\ \theta$) होगी। परिणामत

$$द्र\ वि\ थ = गु\ द्रा$$
$$m\ S\ \theta = L\ W$$

यहाँ गु (L) हिमद्रवण की गुप्त उष्मा तथा द्रा (W) द्रवित हिम का द्रव्यमान है।

बुन्सेन का हिम-उष्मामापी—हिमद्रवण से आयतन का ह्रास होता है। इस सिद्धात पर आधारित बुन्सेन का हिम उष्मामापी द्रवो तथा ठोस पदार्थों की विशिष्ट उष्मा ज्ञात करने का एक अत्यत सुग्राही उपकरण है। यदि पदार्थ कम मात्रा में उपलब्ध हो तब भी उसकी विशिष्ट उष्मा ज्ञात की जा सकती है (देखें चित्र २)।

सपूर्ण उपकरण के चारो ओर शुद्ध हिम भर देते है। नली क में कुछ शुद्ध जल रखते है। जब सपूर्ण उपकरण 0° सें० ताप पर हो जाता है

चित्र २ बुन्सेन का हिम-उष्मामापी

तो दिए हुए ठोस पदार्थ को एक स्थिर ताप ता° ($T°$) सें० तक तप्त करके तुरत नली क के जल में डाल देते है। यदि ठोस का द्रव्यमान तथा विशिष्ट उष्मा क्रमानुसार द्रा (M) तथा वी (s) हो तो 0° सें० तक शीतल होने में वह द्रा वी ता ($M\ s\ T$) कलरी उष्मा देगा जिससे उस नली के चारो ओर के कुछ हिम का द्रवण होगा। अत केश-नली का पारा भीतर की ओर चलेगा। इसके पाठ से आयतनह्रास ज्ञात हो जायगा। माना कि यह ह्रास आ (v) घन सें० मी० है। यदि हिम का विशिष्ट घनत्व घ (d) हो तो १ ग्राम हिम के द्रवण से आयतन में १/घ—१ [$1/d - 1$] घ० सें० मी० की कमी होगी। माना कि यह य (λ) है। अत द्रवित हिम का द्रव्यमान = आ/य (v/λ) ग्राम। यदि हिम द्रवण की गुप्त उष्मा गु (L) हो तो

$$द्रा\ वी\ ता = (आ/य)\ गु। \qquad (१३)$$
$$M\ s\ T = (v/\lambda)\ L \qquad (13)$$

इस उपकरण को उपयोग मे लाने के लिये बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। इसमें जो पारा तथा जल रहता है उनका शुद्ध तथा वायुरहित होना अति आवश्यक है। वाहर के हिम का भी शुद्ध होना आवश्यक है।

(ख) **वाष्पीकरण विधि**—इस विधि में पदार्थ को एक मडल में तुला के पलडे पर रखकर उसमें १००° ताप का जलवाष्प तब तक भरते रहते है जब तक उस पलडे की तौल स्थिर न हो जाय। दोनो तौलो के अतर से सघनित वाष्प की मात्रा ज्ञात हो जाती है। यदि पदार्थ का द्रव्यमान, ताप तथा विशिष्ट उष्मा द्र (m), थ (θ) तथा वि (S) हो, सघनित वाष्प का द्रव्यमान द्रा (M) और जलवाष्प की गुप्त उष्मा गु हो तो

$$द्रवि\ (१००-थ) = द्रा\ गु।$$
$$m\ s\ (100-\theta) = M\ L$$

इसके लिये जौली के जलवाष्प उष्मामापी का उपयोग होता है।

चित्र २ जॉली का जलवाष्प-उष्मामापी।

गैसो की विशिष्ट उष्मा—गैस की स्थिर आयतन विशिष्ट उष्मा का मान जॉली के विभिन्नक जलवाष्प उष्मामापी से ज्ञात किया जाता है।

यह जलवाष्प उष्मामापी से कुछ भिन्न होता है। तुला की एक भुजा से धातु के एक सूक्ष्म तार द्वारा शुद्ध तथा शुष्क गैस से भरा हुआ एक गोला (बल्ब) लटकाया जाता है तथा दूसरी भुजा से इसके समरूप दूसरा गोला, जिसे निर्वात कर दिया जाता है। ये दोनो गोले एक ही मडल मे रहते हैं। अब पहले बताई गई रीति से गैस की विशिष्ट उष्मा ज्ञात की जाती है। (ब्योरे के लिये देखिए प्रेस्टन की पुस्तक)।

स्थिर चाप विशिष्ट उष्मा का मान ज्ञात करने के लिये रेनो के उपकरण का प्रयोग किया जाता है। लुसाना ने इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रयोग किए हैं।

सं०ग्रं०—प्रेस्टन थ्योरी ऑव हीट, साहा ट्रीटिज़ ऑव हीट।

[प्रे० ना० श०]

उष्मायन प्राय सभी लोग इस बात से परिचित हैं कि धातुओ में विद्युच्चालकता (इलेक्ट्रिकल कडक्टिविटी) स्वतत्र इलेक्ट्रानो की गति के कारण होती है। स्वतत्र इलक्ट्रानो से हमारा अभिप्राय उन इलेक्ट्रानो से है जिनका अन्य किसी अणु (ऐटम) अथवा परमाणु (मॉलिक्यूल) से सबध नही होता। किंतु ये इलेक्ट्रान धातु के धरातल का व्यतिक्रमण नही कर सकते, क्योकि धातु के धरातल पर गुरुत्वाकर्षण के समान बल होता है। धरातल को पार करने के लिये इलेक्ट्रान को उतना कार्य करना पडता है जितना उन्हे गुरुत्वाकर्षण के समान इस बल को पार करने मे लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन इलेक्ट्रानो की गतिज उर्जा (काइनेटिक इनर्जी) इतनी अधिक होनी चाहिए कि वे चालक के इस धरातल-बल को पार कर सकें। साधारण ताप पर इक्लेट्रान की गतिज ऊर्जा इतनी अधिक नही होती कि वे बिना किसी बाह्य ऊर्जा की सहायता के धातु के धरातल से बाहर आ सकें। यह बाह्य ऊर्जा या तो आपाती विकिरण (इनसिडेंट रेडिएशन) के रूप मे मिल सकती है या अत्यत वेगगामी कणो द्वारा प्राप्त हो सकती है जो इन धातुओ के धरातल पर प्रहार करे। परतु यदि किसी प्रकार चालक का ताप बढा दिया जाय, जिससे स्वतत्र इलेक्ट्रानो को उतनी ऊर्जा मिल सके जितनी उनको धातु के धरातल से बाहर लाने के लिये आवश्यक है तो वह क्रिया हो जाती है जिसे उष्मायनिक उत्सर्जन (थर्माइग्रोनिक एमिशन) कहते हैं।

धरातल के क्षेत्रफल के प्रत्येक एकक से निकले हुए इलेक्ट्रानो की सख्या निम्नलिखित समीकरण से प्रदर्शित की जा सकती है.

$$\text{धा} = \text{अ}\ \text{ट}^2\ \text{ई}^{-\text{व}/\text{ट}}$$

$$\left[E = a\ T^2\ e^{-\omega/T}\right]$$

जिसमे **धा** (E) = इलेक्ट्रान धारा अपीयर मे,

ट (T) = उस पदार्थ का निरपेक्ष (ऐब्सोल्यूट) ताप जो इलेक्ट्रान उत्सर्जित करता है,

व (ω) = कार्यमात्रा जो एक इलेक्ट्रान के उस कार्य (वर्क) के बराबर होती है जो उसको धातु के धरातल से बाहर आने के लिये करना पडता है,

अ (a) = नियताक जो उत्सर्जक (एमिटर) के गुणो पर निर्भर रहता है,

ई (e) = नेपरीय लघुगणको का आधार।

साधारण पदार्थो मे १०००° क (K) के ताप के आसपास विशेष मात्रा मे इलेक्ट्रानो का उत्सर्जन होता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है जिसका ध्यान उन पदार्थो के चुनाव मे रखना पडता है जो उत्सर्जक के रूप मे प्रयुक्त होते हैं, क्योकि इस ताप पर नष्ट होनेवाले पदार्थो का उपयोग नही किया जा सकता। दूसरी बात जो ध्यान में रखी जाती है वह उत्सर्जक का जीवन है। केवल वे ही पदार्थ उत्सर्जक के रूप मे प्रयोग मे लाए जा सकते हैं जिनका जीवन लगभग १,००० घटो का हो। इन विचारो को ध्यान मे रखते हुए यदि उन पदार्थो की खोज की जाय जो उत्सर्जक के रूप मे प्रयोग मे लाए जा सकते हैं तो बहुत ही कम सख्या मे पदार्थ मिलेगे। व्यापारिक रूप में इलेक्ट्रान नलियो (ट्यूब) मे प्रयोग मे लाए जानेवाले उत्सर्जक या तो आक्साइड लेपित उत्सर्जक होते हैं अथवा टग्स्टन या थोरियम युक्त टग्स्टन के होते हैं।

अब हम उन बातो पर विचार करेगे जिनपर उष्मायनिक उत्सर्जन निर्भर रहता है।

उष्मायनिक उत्सर्जन की ताप पर निर्भरता—एक निश्चित ताप पर उष्मायनिक धारा का पट्टिक वोल्टता (प्लेट वोल्टेज) के साथ का परिवर्तन चित्र १ से प्रदर्शित किया जा सकता है। इस चित्र से यह देखा जा सकता है कि उष्मायनिक धारा ओम के सिद्धात के अनुसार नही बदलती। पहले तो यह पट्टिक वोल्टता के बढने पर धीरे धीरे बढती है, फिर कुछ तेजी से और अत मे स्थिर हो जाती है। इसको सतृप्त धारा (सैचुरेटेड करेट) कहते हैं। इस प्रकार की वक्र रेखाएँ विभिन्न निश्चित तापो पर प्राप्त हो सकती हैं।

चित्र १ पट्टिक धारा—पट्टिक वोल्टता की वक्र रेखा

ताप के प्रभाव का अध्ययन करने के लिये पट्टिक वोल्टता को इतना बढा दिया जाता है कि सतृप्त धारा बहने लगे। फिर उत्सर्जक का ताप परिवर्तित किया जाता है और सतृप्त धारा विभिन्न तापो पर नापी जाती है। जब सतृप्त धारा के इस मान को तापो के विभिन्न मानो के साथ रेखाचित्र के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो चित्र २ मे दी हुई वक्र रेखा प्राप्त होती है। निम्न तापो पर उष्मायनिक उत्सर्जन प्राय नगण्य ही होता है। उष्मायनिक उत्सर्जन लगभग १०००° क के आसपास आरभ होता है और फिर ताप बढने के साथ शीघ्रता से बढता है।

चित्र २. पट्टिक धारा—निरपेक्ष ताप की वक्र रेखा

उत्सर्जक के क्षेत्रफल, स्वभाव और धरातल पर उत्सर्जन की निर्भरता—उत्सर्जक के क्षेत्रफल की वृद्धि के साथ उत्सर्जन की मात्रा भी बढती जाती है। यदि क्षेत्रफल अधिक हो तो उष्मायनिक धारा भी अधिक होती है।

शुद्ध पदार्थों मे उष्मायनिक उत्सर्जन केवल उच्च तापो पर ही होता है। ऐसा देखा गया है कि अशुद्धियो की उपस्थिति उत्सर्जन पर प्रभाव डालती है। क्षारीय धातु उत्सर्जक के रूप मे अधिक क्रियाशील होती है।

सन् १९०८ मे वेनल्ट ने एक महत्वपूर्ण खोज की। उसने यह देखा कि जब इलेक्ट्रान नली मे प्रयुक्त उत्सर्जक को क्षारीय आक्साइड से लेपित किया जाता है तो उष्मायनिक उत्सर्जन बहुत अधिक बढ जाता है। निम्न

तापो और निम्न वोल्टता पर इस प्रकार के उत्सर्जक बहुत ही उपयोगी होते है। आजकल अधिकतर इलेक्ट्रान नलियो, ऋणाग्र किरण (कैथोड रे) नलियो तथा गैस नलियो मे आक्साइड लेपित उत्सर्जक ही प्रयोग मे लाए जाते है।

गैस का उष्मायनिक उत्सर्जन पर प्रभाव—यदि गैस की थोडी सी मात्रा निर्वात नली मे पहुँचा दी जाय तो उष्मायनिक उत्सर्जन काफी बढ जाता है। उदाहरण के लिये हाइड्रोजन की न्यूनतम मात्रा भी एक निर्वात नली मे पहुँचने पर उष्मायनिक धारा को $१०^५$ गुना बढा सकती है। इसके दो कारण है। एक तो आयनीकरण (आयोनाइजेशन) है जो इलेक्ट्रानो की मुठभेड के कारण होता है। दूसरा कारण अधिशोषण (ऐडसॉर्पशन) है। उच्च ताप पर उत्सर्जक से निकले इलेक्ट्रानो को इतनी गतिज ऊर्जा प्राप्त हो जाती है कि वे गैस के परमाणुओ को मुठभेडो द्वारा आयनो मे परिवर्तित कर देते है। ये आयन गैस के दूसरे परमाणुओ को मुठभेडो द्वारा आयनो मे परिवर्तित कर देते है। इस प्रकार इलेक्ट्रानो की सख्या मे अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। अधिशोषित अणु अथवा परमाणु विद्युत की एक द्विगुण सतह धातु के धरातल पर बना लेते है, जो या तो उत्सर्जन में सहायक होती है या उसको कम कर देती है। सहायक होना अथवा न होना उन परमाणुओ के स्वभाव पर निर्भर रहता है।

उष्मायनिक धारा पर पट्टिक वोल्टता का प्रभाव—उष्मायनिक धारा तभी वह सकती है जब उत्सर्जक और उसको चारो ओर घेरे हुए वेलन के बीच धन विभव (पोटेंशियल) जारी रखा जाता है। इलेक्ट्रान ऋण आवेशित कण है। इस कारण वे वेलन की ओर खिच जाते है जो धन विभव पर रहता है। इस कारण ऐसा लग सकता है कि थोडे ही धन विभव पर काफी उष्मायनिक धारा वह सकती है। परतु यह देखा गया है कि अधिक धारा प्रवाहित करने के लिये अधिक धन विभव की आवश्यकता होती है। इसका कारण यह है कि भ्रमण करते हुए इलेक्ट्रानो के कारण उत्सर्जक के पास अतरण आवेश (स्पेस चार्ज) उत्पन्न हो जाता है। यह अतरण आवेश उत्सर्जित इलेक्ट्रानो को पीछे फेक देता है। इस अतरण आवेश के प्रभाव को उचित उच्च विभव द्वारा हटाया जा सकता है।

शीत उत्सर्जन (कोल्ड एमिशन)—यदि धन विभव को पर्याप्त अधिक बढा दिया जाय तो निम्न ताप पर भी उत्सर्जन हो सकता है। इस प्रकार के उत्सर्जन को शीत उत्सर्जन कहते है। इस ठढे उत्सर्जन के लिये १०,००० वोल्ट प्रति सेटीमीटर के अभिक्षेत्र (फील्ड) की आवश्यकता होती है।

जैसा पहले ही बताया जा चुका है, टग्स्टन, थोरियम युक्त टग्स्टन तथा आक्साइड लेपित उत्सर्जक ही प्राय इस कार्य मे प्रयुक्त होते है। इन उत्सर्जको के निम्नाकित गुण है

टग्स्टन—टग्स्टन अत्यधिक उच्च ताप पर ही कार्य मे लाया जा सकता है। इस कारण यह शुद्ध अवस्था मे यदाकदा ही प्रयोग में लाया जाता है। उत्सर्जक के रूप मे इसका उपयोग तभी किया जाता है जब उच्च ताप पर कोई अन्य उत्सर्जक कार्य मे नही लाया जा सकता। इसका प्रयोग अधिकतर उन नलियो मे होता है जिनमें पट्टिक वोल्टता ३,५०० वोल्ट से अधिक होती है।

थोरियम युक्त टग्स्टन—इस प्रकार के उत्सर्जक से, उसी ताप पर, शुद्ध टग्स्टन की अपेक्षा कही अधिक उत्सर्जन होता है। इसका कारण यह है कि थोरियम की उपस्थिति के कारण सतह का व्यतिक्रमण करने के लिये इलेक्ट्रान को जो कार्य करना पडता है वह पर्याप्त कम हो जाता है। नली मे कुछ गैस के रह जाने के कारण रासायनिक विषाक्तता (पॉयजनिग) उत्पन्न हो जाती है। यदि धन आयन के टक्कर और रासायनिक विषाक्तता के प्रभावो को ध्यान मे रखा जाय तो देखा जाता है कि थोरियम युक्त टग्स्टन के उत्सर्जक आक्साइड लेपित उत्सर्जक की अपेक्षा अधिक टिकाऊ होते है।

आक्साइड लेपित उत्सर्जक—इस प्रकार के उत्सर्जक वेरियम और स्ट्रौशियम के आक्साइडो के मिश्रण को उपयुक्त धातु के धरातल पर पोतकर बनाए जाते है। साधारणतया निकल धातु ही इस कार्य मे लगाई जाती है। कभी कभी निकल की कोई मिश्रधातु भी प्रयुक्त होती है। यदि इस प्रकार की सतह उचित रूप से बनाई और सक्रिय की जाय तो ११५०° क पर पर्याप्त मात्रा मे इलेक्ट्रान उत्सर्जन होता है। इस प्रकार के उत्सर्जन का कारण अभी पूर्ण रूप से स्पष्ट नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्सर्जन धातु के उन स्वतत्र कणो से होता है जो आक्साइड लेप की सतह पर रहते है।

आक्साइड लेपित उत्सर्जक निर्वात नलियो मे अधिक प्रयुक्त होते है। इसका कारण यह है कि आक्साइड लेपित उत्सर्जक अन्य प्रकार के उत्सर्जको की तुलना मे प्रत्येक वाट उष्मा शक्ति के लिये अधिक उत्सर्जन देता है तथा अन्य उत्सर्जको की तुलना मे प्रति वर्ग सेटीमीटर अधिक अपीयर देता है। आक्साइड लेपित उत्सर्जको का एक विशेष लाभदायक गुण यह भी है कि इससे अत्यधिक इलेक्ट्रानो का उत्सर्जन एक ही समय मे हो सकता है, चाहे यह समय कुछ माइक्रो सेकड ही क्यो न हो (१ माइक्रो सेकड = एक सेकड का लाखवाँ भाग)।

प्रायोगिक उत्सर्जक की आकृति—प्रयोग मे लाए जानेवाले उत्सर्जक प्राय दो प्रकार के होते है। पहले प्रकार के उत्सर्जक ततु (फिलामेंट) के रूप मे बने रहते है, जिनमे विद्युद्द्वारा प्रवाहित करके अधिक ताप तक गरम किए जाते है। दूसरे प्रकार के उत्सर्जक वे होते है जो परोक्ष रूप से गरम किए जाते है। ये धातु की पतली चादर के बेलन के रूप में होते है। (बेलन प्राय आक्साइड लेपित निकल का होता है।) यह बेलन बाह्य पृथक्कृत (एक्सटर्नेली इनसुलेटेड) टग्स्टन धातु के ततुओ से गरम किया जाता है, जिसे तापक (हीटर) कहते है।

गौण (सेकडरी) उत्सर्जन—बहुत पहले से यह ज्ञात है कि यदि किसी धातु को इलेक्ट्रान की धारा से प्रताडित किया जाय तो एक गौण प्रकाश उत्पन्न होता है। इसी को गौण उत्सर्जन कहते है। इसका उष्मायनिक नलियो में बहुत ही महत्व है क्योकि यह अनिच्छित प्रभाव के रूप में नली मे प्रकट हो जाता है। प्राथमिक (प्राइमरी) इलेक्ट्रान से प्रताडित होने पर गौण इलेक्ट्रानो की सख्या प्राथमिक इलेक्ट्रानो की गति पर और उस वस्तु के स्वभाव तथा दशा पर निर्भर रहती है जो प्रताडित की जाती है। यह विशेष प्रकार का प्रभाव चित्र ३ में प्रदर्शित किया गया है। यदि

चित्र ३ वोल्टता के परिवर्तन के साथ गौण रूप में उत्सर्जित इलेक्ट्रानो की सख्या का परिवर्तन

पूर्ववर्ती इलेक्ट्रानो की गति अत्यधिक न्यून हो तो गौण उत्सर्जन नही होता। गौण इलेक्ट्रानो मे प्राय ९० प्रति शत ऐसे होते है जिनका वेग प्राथमिक इलेक्ट्रानो से बहुत कम होता है। तथापि कुछ गौण इलेक्ट्रान ऐसे भी उत्सर्जित होते है जिनका वेग प्राथमिक इलेक्ट्रानो से अधिक होता है और कई प्रति शत ऐसे होते है जिनका वेग प्राथमिक इलेक्ट्रानो के वेग के बराबर होता है।

पृथक्कारी (इनसुलेटर) से गौण उत्सर्जन—पृथक्कारी से होनेवाला गौण उत्सर्जन कभी कभी धातुओ के उत्सर्जन से अधिक लाभदायक होता है। इसका एक उल्लेखनीय और सर्वविदित उदाहरण नली के काच की दीवारो को इलेक्ट्रान के प्रताडन द्वारा विद्युद्युक्त होना है। दूसरा उदाहरण है ऋणाग्रकिरण नलियो के प्रतिभास पट्टो का विद्युन्मय होना।

वर्तमान काल में प्रयोग में लाई जानेवाली विभिन्न प्रकार की सग्रह नलियो (स्टोरेज ट्यूब्स) मे पृथक्कारी से गौण उत्सर्जन का उपयोग किया जाता है। (ग० प्र० श्री०)

उष्मारसायन के अंतर्गत रासायनिक क्रियाओ मे क्षेपित या शोषित ऊर्जा का अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक पदार्थ में एक विशिष्ट अंतर्निहित (इंट्रिंजिक) ऊर्जा होती है। उदाहरण के लिये यदि क्रिया

क+ख → ग+घ

में भाग लेनेवाले पदार्थों **क, ख, ग** तथा **घ** की अंतर्निहित ऊर्जा क्रमानुसार **का, खा, गा** तथा **घा** द्वारा व्यक्त की जाय, तो इन ऊर्जाओ के निम्नलिखित सबध सभव हैं

(का+खा) = (गा+घा) ,
(का+खा) > (गा+घा) ,
(का+खा) < (गा+घा) ।

प्रथम अवस्था में प्रतिकारको की ऊर्जा का योगफल क्रियाफलो की ऊर्जा के योगफल के बराबर है, अतएव प्रतिक्रिया मे न तो उष्मा का क्षेपण होगा न शोषण। परतु वस्तुत बहुत कम क्रियाओ में ऐसा होता है। द्वितीय अवस्था मे प्रतिकारको की कुल ऊर्जा, (**का+खा**), क्रियाफलो की कुल ऊर्जा, (**गा+घा**), से अधिक है, अतएव ऊर्जानित्यत्व (कॉनजर्वेशन ऑव एनर्जी) सबधी नियम के अनुसार इस प्रतिक्रिया मे (**का+खा**) — (**गा+घा**) के बराबर उष्मा क्षेपित होगी। इसी प्रकार तृतीय अवस्था में (**गा+घा**) — (**का+खा**) के बराबर ऊर्जा शोषित होगी। जिन क्रियाओ मे उष्मा का क्षेपण होता है, वे उष्माक्षेपक (एक्सोथर्मिक) कहलाती हैं और जिनमें उष्मा का शोषण होता है, उन प्रति क्रियाओ को उष्माशोषक (एडोथर्मिक) कहते हैं।

उष्मारासायनिक समीकरण—साधारणतया किसी प्रतिक्रिया मे क्षेपित या शोषित उष्मा को उसके समीकरण द्वारा व्यक्त कर देते हैं। उदाहरण के लिये

हा₂ (गैस)+क्लो₂ (गैस)=२ हा क्लो (गैस)+४४,००० क०
H_2 (गैस)+Cl_2 (गैस)=2 HCl (गैस)+44,000 *Calories*

द्वारा प्रकट होता हे कि १ ग्राम-अणु (२ ग्राम) हाइड्रोजन गैस तथा १ ग्राम-अणु (७१ ग्राम) क्लोरीन गैस के सयोजन से जब २ ग्राम-अणु (७३ ग्राम) हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गैस बनती है, तो ४४,००० कलरी उष्मा क्षेपित होती है। इसी प्रकार निम्नाकित समीकरण देखिए

हा₂ (गैस)+आ₂ (गैस)=२ हाआ (गैस)—११,८६० क०
H_2 (गैस)+I_2 (गैस)=2 HI (गैस)—11,860 *Cal*

द्वारा यह प्रकट होता है कि यदि २ ग्राम हाइड्रोजन तथा २५४ ग्राम आयोडीन गैस के सयोजन से २५६ ग्राम हाइड्रोजन आयोडाइड गैस बनाई जाय तो इस प्रतिक्रिया मे ११,८६० कलरी उष्मा शोषित होगी।

यह तो स्पष्ट है कि किसी भी क्रिया में क्षेपित या शोषित उष्मा की मात्रा उसमे भाग लेनेवाले पदार्थों की भौतिक अवस्था पर निर्भर रहेगी, इसीलिये साधारण उष्मारासायनिक समीकरणो मे पदार्थो की भौतिक अवस्था भी लिख दी जाती है। भौतिक अवस्था का जो प्रभाव प्रतिक्रिया—उष्मा पर पडता है वह निम्नाकित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

हा₂ (गैस)+½ औ₂ (गैस)=हा₂औ (भाप)+५८,००० क०
H_2 (गैस)+$\frac{1}{2}$ O_2 (गैस)=H_2O (भाप)+58,000 *Cal*
तथा हा₂ (गैस)+½ औ₂ (गैस)=हा₂औ (द्रव)+६८,५०० क०।
H_2 (गैस)+$\frac{1}{2}$ O_2 (गैस)=H_2O (द्रव)+68,500 *Cal*

द्वितीय समीकरण मे उष्मा की क्षेपित मात्रा प्रथम समीकरणो की अपेक्षा अधिक है क्योकि इसमे १८ ग्राम भाप के द्रवित होने में क्षेपित उष्मा की मात्रा भी समिलित है।

जिन प्रतिक्रियाओ मे प्रतिकारको के आयतन मे भी परिवर्तन होता है, उनके लिये प्रतिक्रिया—उष्मा इस बात पर भी निर्भर होगी कि प्रतिक्रिया स्थिर आयतन पर की गई है अथवा स्थिर दाब पर। यदि प्रतिक्रिया करते समय आयतन स्थिर रखा जाय, तो मडल (सिस्टम) को बाह्य दाब के विरुद्ध कुछ कार्य नही करना पडता। अतएव स्थिर आयतन पर प्रतिक्रिया की यथार्थ ऊर्जा क्षेपित या शोषित होती है। परतु यदि क्रिया करते समय दाब को स्थिर रखते हुए आयतन को बढने या घटने दिया जाय, तो प्रतिक्रिया—उष्मा का यथार्थ मान ज्ञात नही होगा। उदाहरण के लिये आयतन बढने मे मडल बाह्य दाब के विरुद्ध कार्य करता हे, जिसमे ऊर्जा व्यय होगी, अतएव यदि प्रतिक्रिया उष्माक्षेपक है तो इस अवस्था मे क्षेपित उष्मा की मात्रा कम हो जायगी। साधारणत प्रतिक्रियाओ की उष्मा स्थिर आयतन पर ही नापी जाती है।

उष्मारसायन के दृष्टिकोण से प्रतिक्रियाओ को प्राय कई वर्गो मे बाँट लेते हैं और प्रतिक्रिया के स्वभाव के अनुकूल प्रतिक्रिया—उष्मा को नाम दे दिया जाता है—जैसे **विलयन-उष्मा** (हीट ऑव सोल्युशन), **तनुकरण-उष्मा** (हीट ऑव डाइल्यूशन), **उत्पादन-उष्मा** (हीट ऑव फॉर्मेशन), **दहन-उष्मा** (हीट ऑव कबश्चन) तथा **शिथिलीकरण-उष्मा** (हीट ऑव न्यूट्रैलाइज़ेशन)।

विलयन-उष्मा—किसी विलेय को विलायक मे घोलने पर प्राय उष्मा का क्षेपण या शोषण होता है। जो लवण जल से क्रिया करके जलयोजित (हाइड्रेटेड) लवण बनाते हैं उनके घुलने पर अधिकतर उष्मा का क्षेपण होता है। अन्य लवणो के घुलने मे क्षेपित उष्मा की मात्रा बहुत कम होती है और प्राय इन लवणो के घुलने की क्रिया मे उष्मा शोषित भी होती है। किसी पदार्थ के एक ग्राम-अणु को विलायक मे घोलने पर क्षेपित या शोषित ऊर्जा की मात्रा को विलयन-उष्मा कहते हैं।

इसके अतिरिक्त साद्र विलयन को तनु करने मे भी उष्मा मे परिवर्तन होता है और इसे विलयन की तनुकरण-उष्मा कहते हैं। तनुकरण-उष्मा की मात्रा विलयनो की तनुता के साथ कम होती जाती है और अधिक तनु विलयनो के लिये इसे शून्य माना जा सकता है। ऐसे तनु विलयनो को उष्मारसायन मे 'जलीय' कहते हैं। उदाहरण के लिये पोटैसियम नाइट्रेट जल मे विलीन होकर अति तनु विलयन बनाता है, तो उसकी विलयन-उष्मा ८,५०० कलरी होती है। इस तथ्य को निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं

पोनाऔ₃+जल=**पोनाऔ**₃ (जलीय)—८,५०० क०
KNO_3+जल=KNO_3 (जलीय)—8,500 *cal*

उत्पादन-उष्मा—अवयव तत्वो के सयोग से किसी यौगिक के एक ग्राम-अणु बनने मे जितनी उष्मा शोषित या क्षेपित होती है, उसे उस यौगिक की उत्पादन-उष्मा कहा जाता है। उदाहरण के लिये निम्नाकित समीकरणो द्वारा स्पष्ट है कि कार्बन डाइऑक्साइड **काऔ**₂ (CO_2), मेथेन, **काहा**₄ (CH_4) तथा नाइट्रिक अम्ल **हानाऔ**₃ (HNO_3) की उत्पादन-उष्मा क्रमानुसार ९४४, १८८ तथा ४२४ कलरी है:

का+औ₂ = काऔ₂ + ९४४ क०
$C+O_2 = CO_2 + 944$ *cal*
का+२हा₂ = काहा₄ + १८८ क०
$C+2H_2 = CH_4 + 188$ *cal*
½हा₂ + ½ना₂ + 3/2औ₂= हानाऔ₃ + ४२४क०
$\frac{1}{2}H_2 + \frac{1}{2}N_2 + \frac{3}{2}O_2 = HNO_3 + 424$ *cal*

उत्पादन उष्मा ऋणात्मक भी हो सकती है, जैसे

का + २ग = काग₂ — २२,००० क०
$C + 2S = CS_2 - 22,000$ *cal*

अवयव तत्वो से जिन यौगिको के बनने में उष्मा क्षेपित होती है उन्हें **उष्माक्षेपक यौगिक** कहते हैं और जिन यौगिको के बनने मे उष्मा शोषित होती है उन्हे **उष्माशोषक यौगिक** कहते हैं। अधिकतर यौगिक उष्माक्षेपक होते हैं, जैसे हाइड्रोजन क्लोराइड, जल, हाइड्रोजन सलफाइड, सलफर डाइऑक्साइड, कार्बन डाइऑक्साइड, लेड क्लोराइड आदि सब उष्माक्षेपक यौगिक हैं। उष्माशोपक यौगिको के उदाहरण हाइड्रोजन आयोडाइड, कार्बन डाइसलफाइड, ऐसेटिलीन, ओज़ोन आदि दिए जा सकते हैं।

उष्माशोपक यौगिक उष्माक्षेपक यौगिको की अपेक्षा बहुत कम स्थायी होते हैं और सुगमता से अपने अवयवीय तत्वो मे विच्छेदित हो जाते हैं। उष्माक्षेपक और उष्माशोषक यौगिको के स्थायित्व का उपर्युक्त भेद उनमे अंतर्निहित ऊर्जा के अतर के कारण होता है। उदाहरण के लिये १ ग्राम-अणु कार्बन तथा १ ग्राम-अणु आक्सिजन के सयोग से जब १ ग्राम-अणु कार्बन डाइऑक्साइड बनता है, तो ९४,३०० कलरी उष्मा क्षपित होती

है। स्पष्ट है कि अपने अवयव तत्वो की अपेक्षा १ ग्राम-अणु कार्बन डाइ-ऑक्साइड मे ९४,३०० कलरी ऊर्जा कम होगी। इसी प्रकार कार्बन डाइसलफाइड जैसे उष्माशोषक यौगिक में अपने अवयव तत्वो की अपेक्षा २२,००० कलरी ऊर्जा अधिक होगी। यदि समस्त तत्वो की अर्तनिहित ऊर्जा को शून्य मान लिया जाय, तो उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यौगिको की अर्तनिहित ऊर्जा उनकी उत्पादन उष्मा के बराबर होगी, परतु यदि उत्पादन ऊर्जा ऋणात्मक है तो अर्तनिहित ऊर्जा धनात्मक होगी और इसके विपरीत यदि उत्पादन उष्मा धनात्मक हो, तो अर्तनिहित ऊर्जा ऋणात्मक होगी। उदाहरणत कार्बन डाइऑक्साइड तथा कार्बन डाइसलफाइड की अर्तनिहित ऊर्जाएँ क्रमानुसार —९४,३०० तथा +२२,००० कलरी के बराबर होगी।

दहन-उष्मा—किसी तत्व या यौगिक की १ ग्राम-अणु मात्रा को ऑक्सिजन मे स्थिर आयतन पर पूर्णतया जलाने से उष्मा की जो मात्रा क्षेपित होती है, उसे उस तत्व या यौगिक की दहन-उष्मा कहते है।

उदाहरण के लिये निम्नलिखित समीकरण से स्पष्ट है कि मेथेन की दहन-उष्मा २,१२,८०० कलरी है।

का हा४+२ औ२=का औ२+२ हा२ औ+२,१२,८०० क०

$$CH_4+2\,O_2=CO_2+2\,H_2O+2{,}12{,}800\ cal$$

कार्बन को ऑक्सिजन में जलाने पर दो यौगिको का बनना सभव है—

का+औ२ = काऔ२ + ९४,३०० क०,

$$C+O_2 = CO_2 + 94{,}300\ cal$$

का+½औ२ = काऔ + २६,००० क०।

$$C+\tfrac{1}{2}O_2 = CO + 26{,}000\ cal$$

यह बात ध्यान देने योग्य है कि कार्बन की दहन-उष्मा ९४,३०० कलरी है, २६,००० कलरी नही, क्योकि प्रथम क्रिया में ही कार्बन पूर्णतया जलता या आक्सीकृत होता है। दूसरी क्रिया में कार्बन, कार्बन मोनोक्साइड में परिवर्तित हो गया है, परतु अभी उसका दहन पूर्ण नही हुआ क्योकि कार्बन मोनोक्साइड का और दहन करके उसे कार्बन डाइऑक्साइड में आक्सीकृत किया जा सकता है।

दहन-उष्मा ज्ञात करने के लिये एक विशेष प्रकार के कलरीमापक का उपयोग किया जाता है जिसे बम-कलरीमापक (बॉम्ब कैलोरिमीटर) कहते है। वैज्ञानिक बरथेलो ने इसे सर्वप्रथम १८८१ मे बनाया था। यह गनमेटल इस्पात का बना रहता है और बेलन के आकार का होता है। इसके आतरिक तल पर एक विशेष प्रकार का इनामल चढा रहता है, जिससे उसपर ऑक्सिजन की कोई क्रिया नही होती। ढक्कन ढ को दृढता से बद करने के लिये इसमें मजबूत पेंच लगे रहते है। जिस पदार्थ की दहन-उष्मा निकालना हो उसकी एक निश्चित मात्रा प्लैटिनम की प्याली 'प' में ले ली जाती है और बम में लगभग २०–२५ वायुमडलीय दाब पर ऑक्सिजन भर लेते है। इसके बाद बम को दृढता से बद करके उसे साधारण कलरीमापक में रखते है। साधारण कलरीमापक में जल की एक निश्चित मात्रा ले ली जाती है और प्रयोग द्वारा पहले ही यह निर्धारित कर लिया जाता है कि इस कलरीमापक मे जल के ताप को १° सेंटीग्रेड बढाने के लिये कितनी उष्मा की आवश्यकता होती है। बाह्य कलरीमापक में जल का ताप नाप लिया जाता है। अब प्लैटिनम के तारो अ तथा अ द्वारा लोहे के एक महीन तार त में विद्युत् प्रवाहित करते है। विद्युत्प्रवाह से तार त गरम होकर लाल हो जाता है और इससे प्याली प में रखा पदार्थ आक्सीकृत होने

चित्र १ बरथेलो का बम-कलरी मापक

लगता है। लोहे के तार के जलने में तथा आक्सीकरण की इस क्रिया में उष्मा क्षेपित होती है, जिसकी मात्रा बाह्य कलरीमापक में उपस्थित जल के ताप मे वृद्धि से ज्ञात कर ली जाती है। इस प्रयोग से प्राप्त उष्मा-मात्रा में से लोहे के ज्वलन में क्षेपित उष्मा को घटाकर पदार्थ के दहन द्वारा क्षेपित उष्मा की मात्रा ज्ञात की जा सकती है। स्पष्ट है कि इस प्रयोग में मडल का आयतन स्थिर रहता है, अतएव इस विधि से किसी पदाथ की दहन-उष्मा निर्धारित की जा सकती है।

शिथिलीकरण-उष्मा—एक ग्राम-तुल्य मात्रा क्षार को एक ग्राम-तुल्य मात्रा अम्ल द्वारा शिथिल (न्यूट्रैलाइज़) करने पर उष्मा की जो मात्रा क्षेपित होती है उसे शिथिलीकरण-उष्मा कहते है। यदि अम्ल तथा क्षार इतने तनु विलयनो में लिए जायें कि वे पूर्णतया आयनो में विघटित हो तो शिथिलीकरण की क्रिया केवल हाइड्रोजन तथा हाइड्रॉक्सिल आयनो के सयोग से अविघटित जल अणु बनने की क्रिया होगी। अतएव तनु विलयनो में सब प्रबल (स्ट्रॉङ्ग) अम्लो द्वारा प्रबल क्षारो के शिथिलीकरण की उष्मा समान होगी। प्रयोग द्वारा इस उष्मा का मान १३,७०० कलरी आता है। अत प्रबल अम्लो द्वारा प्रबल क्षार के शिथिलीकरण को निम्नलिखित समीकरणो द्वारा व्यक्त कर सकते है

हामू + धाऔहा = धामू + हा२औ

$$HX + MOH = MX + H_2O$$

अम्ल क्षार लवण

जहाँ मू कोई मूलक है और धा कोई धातु है,

अर्थात् हा⁺ + मू⁻ + धा⁺ + औहा⁻ = धामू + हा२औ

$$H^+ + X^- + M^+ + OH^- = MX + H_2O$$

अर्थात् हा⁺ + औहा⁻ = हा२औ।

$$H^+ + OH^- = H_2O$$

परतु यदि अम्ल या क्षार दुर्बल हो, तो वह तनु विलयन में भी पूर्णतया विघटित न होगा। अतएव ऐसे अम्लो या क्षारो की शिथिलीकरण उष्मा १३,७०० कलरी न आएगी। उदाहरण के लिये अमोनियम हाइड्रॉक्साइड की आयनीकरण-उष्मा (१ ग्राम-अणु के आयनीकरण की उष्मा)–१,५०० कलरी है, अतएव अमोनियम हाइड्रॉक्साइड तथा किसी प्रबल अम्ल (जैसे हाक्लो) की शिथिलीकरण उष्मा (१३,७००–१,५००)=१२,२०० कलरी होगी।

प्रयोग द्वारा शिथिलीकरण उष्मा को निर्धारित करने के लिये साधारणत एक थरमस फ्लास्क या ड्यूअर फ्लास्क का उपयोग किया जाता है। ड्यूअर फ्लास्क में क्षार के तनु विलयन की एक निश्चित मात्रा लेकर फ्लास्क को स्थिर तापवाले जल में डुबाकर रखते है, जिससे विकिरण (रेडिएशन) द्वारा फ्लास्क के भीतर विलयन के ताप में अतर न हो। अब तनु विलयन में अम्ल की समतुल्य मात्रा लेकर उसका ताप क्षार के ताप के बराबर स्थिर कर लेते है। अम्ल का ताप स्थिर हो जाने पर उसे शीघ्रता से क्षार में मिला देते है। काच के एक विलोडक (स्टरर) द्वारा विलयन को चलाकर उसका उच्चतम ताप नाप लिया जाता है। अब यदि मिश्र विलयन की मात्रा, उसकी विशिष्ट-उष्मा (स्पेसिफिक हीट), ताप, प्रयुक्त फ्लास्क की उष्मा-धारिता (हीट-कैपैसिटी) ज्ञात हो, तो शिथिलीकरण क्रिया में क्षेपित उष्मा की मात्रा सुगमता से ज्ञात की जा सकती है। इसी विधि द्वारा लवणो की विलयन-उष्मा भी सुगमता से निकाल सकते है।

हेस का नियम—उष्मा-रसायन का सबसे प्रमुख नियम स्विस वैज्ञानिक जरमेन हेनरी हेस ने सन् १८४० में प्रतिपादित किया था। इस नियम के अनुसार किसी रासायनिक क्रिया में क्षेपित या शोषित उष्मा की मात्रा मध्यवर्ती क्रियाओ पर निर्भर नही रहती, अर्थात् एक ही क्रिया को यदि एक से अधिक विधियो द्वारा पूरा किया जा सके, प्रतिकारक तथा क्रियाफल प्रत्येक क्रिया में पूर्णतया एक हो और उन सबकी अवस्थाएँ भी समान हो, तो विभिन्न विधियो में जो कुल उष्मा-परिवर्तन होगा, वह हर एक विधि के लिये समान होगा।

इस नियम की सत्यता सलग्न चित्र २ से स्पष्ट है। मान ले, पदार्थ 'अ' को आ में परिवर्तित करने के लिये मार्ग आ क अ तथा आ ख अ द्वारा जाने

पर क्रमानुसार क$_1$ तथा क$_2$ कलरी उष्मा क्षेपित होती है। यदि क$_1$ का मान क$_2$ से अधिक है, तो मार्ग आ क अ द्वारा आ को अ मे परिवर्तित कर और पुन अ को आ में मार्ग अ ख आ द्वारा बदलकर (क$_1$–क$_2$) कलरी उष्मा उत्पादित की जा सकती है। परतु यह ऊर्जा-अविनाशता नियम के विरुद्ध होगा, क्योकि विना किसी कार्य के मडल (सिस्टम) मे उष्मा उत्पादित करना असभव है, अर्थात् (क$_1$–क$_2$) का मान सदैव शून्य होगा, अत क$_1$ सदैव क$_2$ के बरावर होगा।

चित्र २.

इस नियम की सत्यता देखने के लिये निम्नाकित उदाहरण को ले सकते हैं। अमोनिया तथा हाइड्रोजन क्लोराइड गैसो की प्रतिक्रिया से अमोनियम क्लोराइड विलयन दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है

प्रथम विधि

नाहा$_3$ (गैस) + हाक्लो (गैस) = नाहाक्लो (गैस) + ४२,१०० क०

NH_3 (गैस) + HCl (गैस) = NH_4Cl (गैस) + 42,100 Cal

नाहा$_4$क्लो (गैस) + जल = नाहा$_4$क्लो (जलीय) − ३,९०० क०

NH_4Cl (गैस) + जल = NH_4Cl (जलीय) − 3,900 Cal

ना हा$_3$ (गैस) + हाक्लो (गैस) + जल = नाहा$_4$ क्लो (जलीय) + ३८,२०० क०

NH_3 (गैस) + HCl (गैस) + जल = NH_4Cl (जलीय) + 38,200 Cal.

द्वितीय विधि

ना हा$_3$ (गैस) + जल = ना हा$_3$ (जलीय) + ८,४०० क०

NH_3 (गैस) + जल = NH_3 (जलीय) + 8,400 Cal.

हा क्लो (गैस) + जल = हा क्लो (जलीय) + १७,५०० क०

HCl (गैस) + जल = HCl (जलीय) + 17,500 Cal

नाहा$_3$ (जलीय) + हा$_4$क्लो (जलीय) = नाहा$_4$क्लो (जलीय) + १२,३०० क०

NH_3 (जलीय) + HCl (जलीय) = NH_4Cl (जलीय) + 12,300 Cal.

नाहा$_3$ (गैस) + हाक्लो (गैस) + जल = नाहा$_4$क्लो (जलीय) + ३८,२०० क०

NH_3 (गैस) + HCl (गैस) + जल = NH_4Cl (जलीय) + 38,200 Cal

उपर्युक्त उदाहरण से हेस के नियम की सत्यता स्पष्ट हो जाती है।

हेस का नियम उष्मा-रसायन मे बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसकी सहायता से प्रत्यक्ष रूप से न की जा सकनेवाली प्रतिक्रियाओ मे होनेवाले उष्मा-परिवर्तनो को भी परोक्ष रूप से निकाला जा सकता है। उदाहरण के लिये साधारणत कार्वनिक यौगिको की उत्पादन-उष्मा प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा नही निकाली जा सकती, परतु कार्वनिक यौगिक तथा इसके अवयव तत्वो की दहन-उष्मा को निर्धारित करके यौगिक की उत्पादन-उष्मा हेस के नियम से निकाल सकते है।

उदाहरण के लिये मेथेन, कार्वन तथा हाइड्रोजन की दहन-उष्मा क्रमानुसार २,१२,८००, ९४,४०० तथा ६८,४०० कलरी आती हैं, अर्थात्

काहा$_4$ + २औ$_2$ = काऔ$_2$ + २हा$_2$औ + २,१२,८०० क० (१)

$CH_4 + 2O_2 = CO_2 + 2H_2O$ + 2,12,800 Cal

का + औ$_2$ = काऔ$_2$ + ९४,३०० क० (२)

$C + O_2 = CO_2$ + 94,300 Cal.

हा$_2$ + $\frac{1}{2}$औ$_2$ = हा$_2$औ + ६८,४०० क० (३)

$H_2 + \frac{1}{2}O_2 = H_2O$ + 68,400 Cal

द्वितीय समीकरण मे तृतीय समीकरण का दुगना जोडकर प्रथम समीकरण को घटाने पर निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होगा

का + औ$_2$ + २हा$_2$ + औ$_2$ − काहा$_4$ − २औ$_2$ = काऔ$_2$ + २हा$_2$औ − काऔ$_2$ − २हा$_2$औ + (९४,३०० + २ × ६८,४०० − २,१२,८००)

$C + O_2 + 2H_2 + O_2 - CH_4 - 2O_2 = CO_2 + 2H_2O - CO_2 - 2H_2O + (94,300 + 2 \times 68,400 - 2,12,800)$

अर्थात् का + २हा$_2$ = का हा$_4$ + १८,३०० क०

$C + 2H_2 = CH_4$ + 18,300 Cal

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मेथेन की उत्पादन-उष्मा १८,४०० कलरी है। इस प्रकार हेस के नियम के अतर्गत उष्मारासायनिक समीकरणो को गणित के समीकरणो की भाँति गुणा कर, विभाजित कर, जोड कर या घटा कर अभीष्ट प्रतिक्रिया का समीकरण तथा उस क्रिया मे होनेवाले उष्मा-परिवर्तन के मान का पता लगा लेते है।

तालिका १

प्रत्यक्ष संश्लेषण विधि से कुछ पदार्थों की उत्पादन-उष्मा

यौगिक	किलोकलरी/ग्राम-अणु	यौगिक	किलोकलरी/ग्राम-अणु
हा$_2$औ (H_2O) (द्रव)	−६८ ३१७ ± ० ०१०	हाफ्लो (HFl) (गैस)	−६४ २
काऔ$_2$ (CO_2) (गैस)	−९४ ०५२ ± ० ०११	हाक्लो (HCl) (गैस)	−२२ ०६३ ± ० ०१२
सिऔ$_2$ (SiO_2) (क्वार्ट्ज)	−२१० ३ ± ० ३	बोक्लो$_3$ (BCl_3) (गैस)	−९७ ५ ± ० ३
ऐ$_2$औ$_3$ (Al_2O_3)	−४०० ३ ± ० ३	हाब्रो (HBr) (गैस)	−८ ७०७ ± ० १३०
वऔ$_2$ (SnO_2)	−१३८ ८ ± ० १	टा$_3$ब्रो$_4$ (Tl_3Br_4) (द्रव)	−१४८ १ ± ० ३
थोऔ$_2$ (ThO_2)	−२९३ २ ± ० २	ऐना (AlN)	−५७ ४ ± १ ३

तालिका २

परोक्ष विधियो से प्राप्त कुछ पदार्थों की उत्पादन उष्मा

यौगिक	किलोकलरी/ग्राम-अणु	यौगिक	किलोकलरी/ग्राम-अणु
*एक्लो (EtCl) (गैस)	–२६ २ ±० ५	सि (ओए*)₄ Si(OEt)	–३३० २
*एब्रो (EtBr) (गैस)	–१५ ३ ±० ५	का हा₃ का ओ क्लो (CH_3COCl)	–६५ १
का हा₄ (CH_4) (गैस)	–१७ ८८९	का हा₃ का ओ ना हा₂ (CH_3CONH_2)	–७८ ७
का₂हा₆ (C_2H_6) (गैस)	–२० २३६	का हा₃ का ओ ओ ए* (CH_3COOEt)	–११४ ९
का₆हा₆ (C_6H_6) (गैस)	१९ ८२	कै मे₂* ($CdMe_2$)	१६ ७±० ५
बोक्लो₃ (BCl_3) (द्रव)	–१० २६	पा फे₂* ($HgPh_2$)	६५ ४±२

*(यहाँ ए=एथिल, मे=मेथिल तथा फें=फेनिल, कार्वनिक मूलको के लिये प्रयुक्त है। अन्य चिह्नो के लिये देखें लेख आवर्त नियम, हिंदी विश्वकोश, प्रथम खड)

उष्मारसायन के औद्योगिक उपयोग––रासायनिक क्रियाओ से प्राप्त ऊर्जा ही हमारे उद्योगो को चलाने का साधन रही है। आज कृत्रिमग्रहो के युग में जब मानव चद्रमा तथा अन्य ग्रहो की यात्रा मे प्रयत्नशील है तो ऐसे ईंधनो की खोज आवश्यक हो गई है जिनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म मात्रा अधिकतम ऊर्जा दे सके। बोरन यौगिक इस ओर बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहे है, क्योकि समान मात्रा में कार्बन यौगिको से उनकी दहन-उष्मा अधिक होती है और वे हमे अधिक ऊर्जा देने में सफल होते है।

उष्मारसायन के अन्य उपयोग बहुत काल से होते आए हैं। उदाहरण के लिये प्रथम तालिका में ऐल्यूमिनियम ऑक्साइड (ऐ₂ औ₃) की उत्पादन-उष्मा सबसे अधिक दिखाई गई है। इसी गुण का उपयोग गोल्डश्मिट की उष्मन विधि (थर्मिट प्रोसेस) मे किया गया है। ऐल्यूमिनियम ऑक्साइड की उत्पादन-उष्मा इतनी अधिक होने के कारण प्रतिक्रिया,

८ ऐ + ३ लो₃ औ₄ → ९लो + ४ ऐ₂ औ₃

$$8\,Al + 3\,Fe_3O_4 \rightarrow 9\,Fe + 4\,Al_2O_3$$
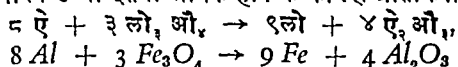
में इतनी अधिक उष्मा क्षेपित होती है कि मडल का ताप लगभग ३,०००° सेंटीग्रेड तक पहुँच जाता है और लोहा तक पिघल जाता है। इस प्रकार टूटी हुई रेल की पटरियो या भारी मशीनो के टूटे हुए भागो को उपर्युक्त क्रिया की सहायता से पिघलाकर जोडा जा सकता है। [रा० च० मे०]

ऊजमाल मेक्सिको का एक नगर है जो यूकटान प्रात में मेरिडा से ६० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह प्राचीन नगर पूर्वऐतिहासिक काल में माया राज्य की राजधानी था। यहाँ नगर के प्राचीन गौरव के सूचक मदिर, मीनार तथा अन्य बहुत से भग्नावशेष अब भी पाए जाते है। पुरातत्व के अन्वेषण एव अध्ययन के लिये यहाँ पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। नगर तुतुलएक्सस्यू जाति के काल (१००० ई०) में बहुत उन्नति पर था। माया राज्य के पतन के साथ इस नगर का भी पतन हो गया। [ह० ह० सिं०]

ऊटाह ३७° और ४२° उत्तरी अक्षाश तथा १०१°–३' और ११४°–३' पश्चिमी देशातरो के बीच सयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी भागो में स्थित एक पर्वतीय राज्य है। इसका सपूर्ण क्षेत्रफल ८४,९१६ वर्ग मील है, जिसमें से २,५७० वर्ग मील जलाशय है। १९५० ई० की जनगणना के अनुसार यहाँ की जनसख्या ६,८८,८६२ है। इसकी ५९ ७ प्रति शत जनसख्या नगरो में रहनेवाली है।

भौतिक दृष्टि से इसको पश्चिम की वृहत् उपत्यका तथा पूर्व के पठारी भागो में बाँटा जा सकता है। कई शताब्दी पूर्व यह वृहत् उपत्यका १९,००० वर्ग मील क्षेत्र में जलमग्न थी। इसे भूतत्ववेत्ता बोनेकिले झील कहते हैं। पर्वतो के किनारो पर अब भी सागरतट के अलग अलग १७ स्तर स्पष्ट-दृष्टिगोचर होते हैं। इसके पूर्वी भागो में, जहाँ वौसैंच पर्वतो में प्रवाहित सरिताओ से सिंचाई सभव है, सबसे घनी आबादी पाई जाती है। इस क्षेत्र की सरिताएँ सागरतट तक नही पहुँच पाती। ये खारे पानी की झीलो में परिणत हो जाती है या वाष्पीकरण के कारण शुष्क हो जाती है। ग्रेट साल्ट लेक इस क्षेत्र की सबसे बडी खारे पानी की झील है।

वौसैंच पर्वतो के पूर्व मे सरिताओ द्वारा कटा फटा पठारी भाग है, जिसके उत्तर में युइटा पर्वत हे। यह ऊटाह का सर्वोच्च पर्वत तथा सयुक्त राज्य में पूर्व-पश्चिम दिशा मे विस्तृत अकेला पर्वत है। किंग्स पीक (१३,४९८) इस राज्य की सर्वोच्च चोटी है। युइटा के दक्षिण मे पठार की अधिकतम ऊँचाई ९,००० से ११,००० फुट तक है। यद्यपि ये क्षेत्र वनस्पति से आच्छादित हैं फिर भी आबादी के लिये काफी ऊँचे हैं। यहाँ पठारो के बीच, नदी घाटियो मे ही आबादी पाई जाती है।

१९४५ ई० मे १९ ६ प्रति शत भूमि पर कृषि होती थी। यह पूर्ण रूप से सिंचाई पर ही आश्रित थी। इस प्रदेश की मुख्य फसलें गेहूँ, जौ, जई, आलू, चुकदर तथा अल्फाल्फा घास है। १९४९ ई० मे ऊटाह का पाँच खनिज पदार्थो––ताँवा, सीसा, चाँदी, सोना और जस्ता––के उत्पादन मे उच्च स्थान था। सयुक्त राज्य मे ताँवा और चाँदी के उत्पादन मे इसका द्वितीय, सोना और सीसा में तृतीय तथा जस्ते के उत्पादन मे सातवाँ स्थान है। १९५० ई० के बाद मिसिसिपि से पश्चिम सभी राज्यो में ऊटाह का स्थान कोयले के उत्पादन में प्रथम रहा है। इनके अतिरिक्त यहाँ नमक, जिप्सम और यूरेनियम भी निकाला जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद यहाँ औद्योगिक प्रगति वडी तेजी से हुई। १९४७ में यहाँ ७७२ औद्योगिक सस्थान थे, जिनमे १३,८४३ मनुष्य कार्य करते थे। खाद्य पदार्थों से सबधित उद्योगो के बाद यहाँ धातु उद्योग का द्वितीय स्थान है। धातु उद्योग मे सबसे महत्वपूर्ण लोहा इस्पात उद्योग है, जिसका उत्पादन १९५० ई० में १८,००,००० टन था। इसके अलावा और दूसरे उद्योग, जैसे पेट्रोलियम, रासायनिक पदार्थ, शीशे के सामान और मशीनो के उद्योग यहाँ स्थापित है।

यूनियन पैसिफिक रेलवे इस क्षेत्र की प्रथम रेलवे है तथा अब भी महत्वपूर्ण है। इसकी शाखाएँ प्राय सभी खनिज और व्यावसायिक केंद्रो को मिलाती हैं। १९५० ई० में यहाँ २,१३३ मील लबी रेलवे लाइनें तथा ५,४५४ मील लबी सडके थी। (सुं० कु० सिं०)

ऊतक परीक्षा निदान के लिये जीवित प्राणियो के शरीर से ऊतक (टिशू) को अलग कर जो परीक्षण किया जाता है उसे ऊतक परीक्षा (बाइऑप्सी) कहते है। अर्बुद के निदान की अन्य विधियाँ उपलब्ध न होने पर, सभावित ऊतक के अपेक्षाकृत एक बडे टुकडे का सूक्ष्म अध्ययन ही निदान की सर्वोत्तम रीति है। शल्य चिकित्सा मे इसकी महत्ता अधिक है, क्योकि इसके द्वारा ही निदान निश्चित होता है तथा शल्य चिकित्सक को आँख वदकर इलाज करने के वदले उचित इलाज करने का मार्ग मिल जाता है।

ऊनक-परीक्षा-विधि रोग के प्रकार और शरीर मे उसकी स्थिति पर निर्भर रहती है। जब अर्बुद सतह पर स्थित रहता है तब यह परीक्षा अर्बुद को काटकर की जाती है। किंतु जब वह गहराई पर स्थित रहता है तब ऊनक का एक छोटा टुकडा पोली सुई द्वारा चूसकर अलग किया जा सकता है। यह 'सुई-ऊनक-परीक्षण' (नीडिल वाइऑप्सी) कहलाता है। ऊतक के इस तरह अलग करने के बाद विकृति-विज्ञान-परीक्षक (पैथालोजिस्ट) उसे हिम के समान जमाकर और उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुप्रस्थ काट लेकर, कुछ मिनटो में ही निदान कर लेता है। स्तवग्रंथि अर्बुद जैसे रोगो में, निदान की तुरत आवश्यकता होने के कारण, यही विधि उपयोग मे लाई जाती है, अन्यथा साधारणत ऊतक का स्थिरीकरण करके और उसे सुखाकर मोम मे जमा दिया जाता है। इसके बाद उसमे एक इष्टिका (ब्लाक) काट ली जाती है। इस इष्टिका के सूक्ष्म अनुप्रस्थ काट (सेक्शन) लेकर, उन्हे उपयुक्त रगो से रजित किया जाता है। इस विधि मे साधारणत १ से ३ दिन लगते है।

कुछ चिकित्सक ऊनक परीक्षण के विपक्ष मे हैं, क्योकि उनकी यह आशका है कि ग्रंथियो के काटने से रोग शिराओ तथा लसीका तत्रो द्वारा फैल जाता है, किंतु यह सिद्ध हो चुका है कि ऊतक परीक्षा द्वारा रोग बढने की सभावना प्राय नही रहती। (श्री० अ०)

ऊतक संवर्धन

ऊतक संवर्धन (टिशू कल्चर) वह क्रिया है जिससे विविध शारीरिक ऊतक अथवा कोशिकाएँ किसी वाह्य माध्यम में उपयुक्त परिस्थितियो के विद्यमान रहने पर पोषित किए जा सकते हैं। यह भली भाँति ज्ञात हे कि शरीर की विविध प्रकार की कोशिकाओ मे विविध उत्तेजनाओ के अनुसार उगने और अपने समान अन्य कोशिकाओ को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। यह भी ज्ञात है कि जीवो में एक आतरिक परिस्थिति भी होती है (जिसे क्लाउड वर्नार्ड का मीलू अभ्यतर कहते हैं) जो सजीव ऊतक की क्रियाशीलता को नियत्रित रखने में वाह्य परिस्थितियो की अपेक्षा अधिक महत्व की है। ऊतक-सवर्धन-प्रविधि का विकास इस मौलिक उद्देश्य से हुआ कि कोशिकाओ के कार्यकारी गुणो के अध्ययन की चेष्टा की जाय और यह पता लगाया जाय कि ये कोशिकाएँ अपनी वाह्य परिस्थितियो से किस प्रकार प्रभावित होती हैं और उनपर स्वय क्या प्रभाव डालती है। इसके लिये यह आवश्यक था कि कोशिकाओ को अलग करके किसी कृत्रिम माध्यम मे जीवित रखा जाय जिससे उनपर समूचे जीव का प्रभाव न पडे।

यद्यपि ऊतक सवर्धन मे सफलता पाने की प्रथम चेष्टा १८८५ ई० मे की गई थी, तथापि सफलता १९०६ ई० मे मिली, जब हैरिसन ने एक सरल प्रविधि निकाली जिससे कृत्रिम माध्यम मे आरोपित ऊतक उगता और विकसित होता रहता था। इसके बाद से प्रविधि अधिकाधिक यथार्थ तथा समुन्नत होती गई । पोषक माध्यम की सरचना भी अधिक उपयक्त होती गई है। अब तो शरीर के प्राय प्रत्येक भाग से कोशिकाओ और ऊतको का सवर्धन सभव है और उनको आश्चर्यजनक काल तक जीवित रखा जा सकता है।

काच मे (अर्थात् शरीर से पृथक्) पोषित की जा सकनेवाली कोशिकाएँ अनेक है, जैसे धारिच्छद कोशिकाएँ (एपिथिलियल सेल्स), ततुवट (फाइब्रोब्लास्ट्स), अस्थि तथा उपास्थि (कार्टिलेज), तत्रिका (नर्व), पेशी (मसल्) और लसीकापर्व (लिफनोड्स) की कोशिकाएँ, प्लीहा (स्प्लीन), प्रजन ग्रथियाँ (गोनद), गर्भकला (एडोमेट्रियम), गर्भकमल (प्लैसेटा), रक्त, अस्थिमज्जा (बोन मैरो) इत्यादि।

कोशिकाओ के कार्यकरण तथा सरचनात्मक गुणो के अध्ययन के अतिरिक्त, ऊतक-सवर्धन-प्रविधि प्रयोगात्मक जीवविज्ञान और आयुर्विज्ञान के प्राय सभी क्षेत्रो मे उपयोगी सिद्ध हुई है, विशेष कर कोशिका तत्व (साइटॉलोजी), औतिकी (हिस्टॉलोजी), भ्रूण तत्व (एंब्रिऑलोजी), कोशिकाकायिकी (सेल फिज़ियॉलोजी), कोशिका-व्याधि-विज्ञान (सेल पैथॉलोजी), प्रातीकारिकी (इम्म्यूनॉलोजी) और अर्वुदो तथा वाइरसो के अध्ययन मे। इस प्रविधि से निम्नलिखित विषयो के अध्ययन मे सहायता मिली है रुधिर का बनना, कार्यकरण तथा रोगो की उत्पत्ति, कोशिका के भीतर होनेवाली प्रकिण्वीय (एनजाइमैटिक) तथा उपापचयी (मेटावोलिक) रासायनिक प्रतिक्रियाएँ, अग-सचालन-क्रिया, कोशिका-विभाजन तथा भेदकरण (डिफरेंसिएशन), कोशिका की अतिसूक्ष्म रचनाएँ, जैसे विभेदाभ जाल (गोलगी ऐपारेटस) तथा कणभसूत्र (मिटोकॉण्ड्रिया), कोशिका पर विकिरण, ताप, भौतिक अथवा रासायनिक आघात अथवा जीवाणुओ के आक्रमण, उनसे उत्पन्न पदार्थो की क्रिया के कारण होनेवाली क्षति, अर्बुदवाली तथा साधारण कोशिकाओ का अतर और साधारण कोशिकाओ से अर्बुदवाली कोशिकाओ का बनना।

ऊतक-सवर्धन के लिये प्रयुक्त प्रविधियाँ अनेक प्रकार की हैं, जैसे वे जिनमे लटकते हुए विंदु बोतल, नलिका, काच की छिछली तश्तरी अथवा अन्य विशेष बरतन का उपयोग होता है। सवर्धन के लिये प्रयुक्त माध्यम विविध प्रकार के हैं, जैसे रक्तप्लाविका (प्लैज़्मा), लसी (सीरम), लसीका, शरीरक्रिया के लिये उपयुक्त लवण घोल (जैसे टाइरोड, रिंगर-लॉक, आदि के घोल)। ऊतक-सवर्धन के लिये माध्यम चुनते समय जीव की कोशिका के असामान्य पर्यावरण का सूक्ष्म ज्ञान अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त इसका भी निर्णय कर लेना आवश्यक है कि प्रत्येक जाति की कोशिका के लिये पर्यावरण मे क्या क्या बाते आवश्यक हैं। उपयुक्त पर्यावरण स्थापित करने के लिये यह भी नितात आवश्यक है कि माध्यम तक अन्य किसी प्रकार के जीवाणु न पहुँचे, क्योकि जिस माध्यम मे कोशिकाएँ पाली जाती हैं वह अन्य जीवाणुओ के पनपने के लिये भी अति उत्तम होता है, चाहे वे जीवाणु रोगोत्पादक हो या न हो। इन जीवाणुओ की वृद्धि अवश्य ही सवर्धनीय कोशिकाओ को मार डालेगी। हाल मे सल्फोनामाइडो और पेनिसिलिन के समान जीवाणुद्वेपियो से इस प्रकार के सक्रमण को दवाए रखने मे बडी सहायता मिली है।

माध्यम मे उगते हुए ऊतको मे उपापचयी परिवर्तन होते रहते हैं और यदि उपापचय से उत्पन्न पदार्थ माध्यम मे एकत्र होते रहेंगे तो कोशिकाओ के लिये वे घातक हो सकते हैं। इसलिये उच्छिष्ट पदार्थो की मात्रा के हानिकारक सीमा तक पहुँचने के पहले ही माध्यम को बदल देना आवश्यक है।

ऊतक-सवर्धन के विषय मे ऊपर केवल थोडी सी बाते दी जा सकी हैं। इसका ध्यान रखना आवश्यक हे कि ऊतक-सवर्धन केवल कुछ जीववैज्ञानिक क्रियाओ को समझने मे एक सहायक विधि है। न तो इसे मूल्यरहित मानकर इसकी उपेक्षा की जा सकती है और न इसे जीवप्रक्रियाओ को समझने के लिये जादू की छडी माना जा सकता हे। [श्री० ध० अ०]

ऊद

ऊद मासभक्षी वर्ग का ढाई तीन फुट लबा स्तनधारी जीव है जो अपना अधिक समय पानी मे ही बिताता है। यह जल और स्थल दोनो पर बडी खूबी से तैर और चल लेता है। इसकी कई जातियाँ यूरोप तथा एशिया मे फैली हुई हैं जहाँ ये नदियो, झीलो, और बडे तालाबो के किनारे कई मुँहवाले बिल बनाकर रहती हैं।

ऊद का शरीर लबा, टाँगे छोटी, सर चपटा और थूथन चौडा होता है। इसकी आँखे छोटी, मूँछे घनी और कान छोटे तथा गोलाकार होते हैं। पैरो की उँगलियाँ बत्तखो की तरह जालपाद होती हैं और पजो मे तेज नाखून रहते हैं। इसके शरीर का ऊपरी भाग कत्थई लिए भूरा और नीचे का सफेद रहता है। शरीर के बडे बालो के नीचे छोटे और घने बालो की एक तह रहती है जिसका रग सफेदी लिए रहता हे। नर का भार १०-१२ सेर और मादा का लगभग ८ सेर रहता है। नर मादा से कुछ बडा होता है।

ऊद

ऊद की लुट्रा लुट्रा नाम की जाति ससार मे सबसे अधिक सख्या में पाई जाती है। उत्तरी अमरीका मे इसका स्थान लुट्रा कैनाडेन्सिस तथा दक्षिणी

अमरीका, अफ्रीका और एशिया के दक्षिणी भागो में अन्य जातियाँ ले लेती है, परतु इनकी आकृति तथा स्वभाव मे अधिक भेद नही होता।

ऊद बहुत खिलाडी जीव है, जो पानी के भीतर मछलियो की तरह तैर लेते है। ये प्राय ५-७ के समूह में रहते है और पानी मे घेरा डालकर मछलियो का शिकार करते है। इनका मुख्य भोजन तो मछली ही है, परतु ये पानी की चिडियाँ, छोटे जानवर, घोघे, कटुए तथा कीडे मकोडो से भी अपना पेट भरते है। मादा अपने बिल में मार्च अप्रैल में दो तीन बच्चे जनती है जिनकी आँखें कुछ दिनो बाद खुलती है। ये बच्चे बहुत आसानी से पालतू हो जाते है और अपने मालिक के पीछे पीछे कुत्तो की तरह फिरा करते है।

ऊद की एक जाति इनहाइड्रा लुट्रिस प्रशात महासागर के उत्तरी भागो में कैलिफोर्निया से अलास्का तक पाई जाती है। ये समुद्री ऊद लगभग ५ फुट लबे होते है और इनका ऊर्णाजिन (फर) ससार मे सबसे सुदर माना जाता है। इसी कारण इनका इतना शिकार हुआ कि यदि समय से इनके शिकार पर प्रतिबध न लग गया होता तो अब तक इनका लोप हो गया होता।

समुद्री ऊद भूमि पर बहुत कम जाते है और बहुधा अपनी अगली टाँगो को सीने पर रखकर पानी में चित होकर तैरते रहते है। इनका भी मुख्य भोजन मछली है। [सु० सिं०]

ऊदल कालिंजर और महोबा के चदेल राजकुल में राजा परमर्द्दि की सरक्षा में बडे भाई आल्हा के साथ बडा हुआ था। बाद दरबारी षड्यत्र के शिकार बन, राजा से रुष्ट होकर, दोनो भाई गहडवाल राजा जयचद के दरबार मे कन्नौज चले गए। कुछ दिनो बाद जब दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज ने चदेलो पर चढाई की तब ऊदल स्वदेशप्रेम से आकृष्ट होकर महोबा पहुँचा और युद्ध मे विकट मार करता स्वय मारा गया। उसकी और उसके भाई आल्हा की वीरता की बडी विशद और वीरत्वपूर्ण कहानी जगनिक ने अपने 'आल्हा' महाकाव्य में लिखी है। यह सही है कि यह महाकाव्य अपने उपलब्ध रूप मे प्रामाणिक नही है और उसमे प्रक्षिप्त अश लगातार जुडते आए हैं, फिर भी ऊदल की मूलभूत शौर्यव्यजित कथा मे कोई सदेह नही (देखिए 'आल्हा')। [ना० सिं०]

ऊन पालतू भेडो से प्राप्त किया जाता है। कपास के बाद इसी का सर्वाधिक महत्व है। इसके रेशे गर्मी के कुचालक होते है। सूक्ष्मदर्शक यत्र से रेशे की सतह असमान आकार की, एक दूसरे पर चढी हुई कोशिकाओ (सेल्स) से निर्मित दिखाई देती है। विभिन्न नस्लो की भेडो मे इन कोशिकाओ का आकार और स्वरूप भी भिन्न भिन्न होता है। महीन ऊन में कोशिकाओ के किनारे, मोटे ऊन के रेशो की अपेक्षा, अधिक निकट होते है। गर्मी और नमी के प्रभाव से ये रेशे आपस मे गुँथ जाते है। इनकी चमक कोशिकायुत स्केलो के आकार और स्वरूप पर निर्भर रहती है। मोटे रेशे मे चमक अधिक होती है। रेशे की भीतरी परत (मेडुल्ला) को महीन किस्मो में तो नही, किंतु मोटी किस्मो मे देखा जा सकता है। मेडुल्ला मे ही ऊन का रगवाला अश (पिगमेंट) होता है। मेडुल्ला की अधिक मोटाई रेशे की सकुचन शक्ति को कम करती है। कपास के रेशे से इसकी यह शक्ति एक चौथाई अधिक है।

सभवत बुनने के लिये ऊन का ही सर्वप्रथम उपयोग प्रारभ हुआ। ऊनी वस्त्रो के टुकडे मिस्र, बैबिलोन और निनेवेह की कब्रो, प्राथमिक ब्रिटेन निवासियो के झोपडो और पेरू वासियो के अशावशेषो के साथ मिले हैं। रोमन आक्रमण से पूर्व भी ब्रिटेन वासी इनका उपयोग करते थे। विचेस्टर फैक्ट्री की स्थापना ने इसकी उपयोगविधि का विकास किया। विजेता विलियम इसे इग्लैंड तक लाया। हेनरी द्वितीय ने कानून, वस्त्रहाट, और बुनकारी सघ बनाकर इस उद्योग को प्रोत्साहित किया। किंतु १८वी शती के सूती वस्त्रोद्योग ने इसकी महत्ता को कम कर दिया। सन् १७८८ मे हार्टफोर्ड (अमरीका) में जल-शक्ति-चालित ऊन फैक्ट्री प्रारभ हुई। इनके अतिरिक्त रूस, न्यूज़ीलैण्ड, अर्जेंटाइना, आस्ट्रेलिया, चीन, भारत, दक्षिण अफ्रीका और ग्रेट ब्रिटेन उल्लेखनीय ऊन उत्पादक देश है। सन् १९५७ में विश्व में २,९०,००,००,००० पाउड ऊन उत्पन्न हुआ था।

ऊनी रेशो की किस्में—भेडो की नस्ल का ऊन के स्वरूप, लबाई, रेशे के व्यास, चमक, मजबूती, बुनाई और सिकुडन आदि पर बहुत असर पडता है। ऊन के रेशे पाँच वर्गो में बाँटे जा सकते है
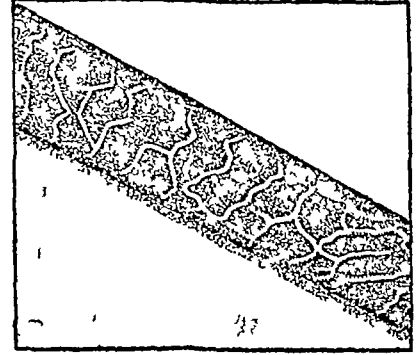
ऊन का रेशा
सूक्ष्मदर्शी से देखने पर।

१ महीन ऊन, २ मध्यम ऊन, ३ लबा ऊन, ४ वर्णसकर ऊन, और ५ कालीनी ऊन।

ऊन के स्वरूप को जलवायु, भूमि और भोजन काफी प्रभावित करते है।

महीन ऊन—मेरिनो भेडो से ही यह ऊन प्राप्त होता है। मेरिनो भेडो की प्रमुख जातियाँ अमरीकी, आस्ट्रेलियाई, फ्रासीसी, सैक्सनी, स्पेनी, दक्षिण अफ्रीकी और दक्षिण अमरीकी है। मेरिनो ऊन अपनी कोमलता, बारीकी, मजबूती, लचीलेपन, उत्कृष्ट कताई और नमदा बना सकने के गुणो के कारण विशेष प्रसिद्ध है। मेरिनो ऊन के रेशो की लबाई डेढ से ढाई इच तक और बारीकी औसतन १७ से २१ माइक्रोन (१ माइक्रोन = १/१००० मिलीमीटर) होती है। फलालेन, उच्च कोटि के हाथ के बुने वस्त्र, सूट, तथा महीन बनावट की पोशाके मेरिनो ऊन से ही बनती हैं।

मध्यम ऊन—यह ऊन ब्रिटेन की नस्ल की भेडो से प्राप्त होता है। लबे ऊन की लबाई और मोटाई, तथा महीन ऊन की बारीकी और घनत्व के बीच का यह ऊन है। यह बहुत घना और शुष्क होता है। इसके रेशो की लबाई २ से ५ इच तक होती है और इन्हे आसानी से काता जा सकता है। इनकी बारीकी २४ से ३२ माइक्रोन तक होती है। इसके रेशे मेरिनो ऊन के रेशो से बहुत हल्के होते है, क्योकि बिलकुल खुले में रहने के कारण इनमे बालू और चरबी बहुत कम रहती है। रेशो की व्यासवृद्धि के साथ उनका नमदा बनाने का गुण कम होता जाता है। इसका उपयोग स्त्रियो की पोशाकें, ट्वीड, सर्ज, फलालेन, कोट तथा ओवरकोट के कपडे और कबल बनाने में अधिक होता है।

लबा ऊन—सभी नस्लो मे सबसे बडे कद की भेडे, जिनका मास खाने के काम में आता है, लबा ऊन पैदा करती हैं। इनके रेशे महीन और मध्यम ऊन के रेशो की अपेक्षा खुले और एक दूसरे से अलग होते है। इनकी लबाई १० से १४ इच तक और मोटाई ४० माइक्रोन तक होती है। इस नस्ल की भेडे अधिक वर्षावाले क्षेत्रो मे तेजी से बढती हैं। इस किस्म का ऊन लिंकन, कौस्टवोल्ड, लीसेस्टर, और रोमनी मार्श नाम से विख्यात है। लिंकन ऊन की लटें चौडी और उनका बाहरी हिस्सा घुँघराला होता है। इसमें चरबी कम होने के कारण सिकुडन भी कम होती है और यह कुछ मोटा होता है। इस नस्ल की एक भेड १० से १४ पाउड तक ऊन देती है। इस ऊन मे चमक भी अच्छी होती है। इसका अधिकतर सादे ऊनी कपडे, ट्वीड, सर्ज, तथा कोट के कपडे बनाने में उपयोग होता है।

वर्णसंकर ऊन—मध्यम महीन कोटि का यह ऊन मेरिनो या रैमबुले नस्ल और लबे ऊनवाली भेडो की वर्णसकर नस्ल से प्राप्त होता है। इस ऊन में मेरिनो ऊन की बारीकी और कोमलता तथा लबे ऊन की लबाई दोनो होती हैं। इस किस्म के कुछ ऊनो के रग काफी अच्छे होते है और लोच भी पूरी होती है। इस ऊन का उपयोग मोजा, बनियाइन आदि,

स्त्रियो तथा पुरुषो के पहनने के सभी प्रकार के ऊनी कपडो तथा मध्यम श्रेणी के नमदे वनाने मे किया जाता है।

कालीनी ऊन या मिश्रित ऊन—इस प्रकार का ऊन दुनिया के सभी भागो मे उन भेडो से प्राप्त होता है जो अव भी पुरातन परिस्थितियो में रहती है। ये अधिकतर एशियाई देशो मे पाई जाती हैं। ये रेगिस्तानी हिस्सो मे भी मिलती है, जहाँ उन्हे दीर्घ काल तक विना खाए या अल्पाहार पर निर्भर रहना पडता है। ऐसे समय मे ये भेडे अपनी पूँछ मे सचित चरवी से अपनी प्राणरक्षा करती हैं। जिन भेडो के पिछले हिस्सो मे चरवी जमा रहती हे उनकी पूँछ ३ इच तक लवी होती है और उनके दोनो चूतडो पर चरवी की मोटी तह जमा रहती है। इनकी तौल २०० पाउड तक तथा इनमे चरवी की मात्रा ३० से ४० पाउड तक होती है। इन भेडो के शरीर पर लवे वालो की एक परत होती है और इसके नीचे वास्तविक ऊन होता है, जो निम्न ताप, तेज हवा, अत्यधिक शुष्कता, अति वर्षा, और कुहरे से भेडो की रक्षा करता है। पूर्वोक्त दोनो प्रकार के रेशे प्रमुखत कालीन वुनने के काम मे आते हैं। इस प्रकार की भेडो के ऊन मे एक तीसरी तरह का छोटा, मोटा, एव लहरदार रेशा पाया जाता है, जिसे केप कहते हैं। यह ऊन सामान्यतया कालीन और रग (मोटा कवल) इत्यादि वनाने के काम मे आता हे। कभी कभी इसमे अन्य प्रकार का ऊन मिलाकर मोटा और सस्ते किस्म का ओवरकोट का कपडा और ट्वीड तैयार किया जाता है।

ऊन का सूक्ष्म स्वरूप—यदि ऊन को सूक्ष्मदर्शक यत्र से देखा जाय तो उसकी सतह विविध आकार की कोशिकाओ (सेलो) से वनी हुई दिखाई पडती है, जो सीढी की तरह एक दूसरे पर चढी हुई जान पडती है। विभिन्न नस्लो की भेडो मे इनका आकार और स्वरूप भिन्न भिन्न होता है। महीन किस्म के ऊनो मे इन कोशिकाओ के किनारे मोटे किस्म के ऊनो की अपेक्षा अधिक निकट होते हैं। इन्हे सूक्ष्मदर्शक यत्र से ही देखा जा सकता है। खाली आँखो से ये नही दिखलाई पडते। गर्मी और नमी के प्रभाव से ये रेशे आपस मे सिमटकर नमदे की तरह हो जाते है। इन रेशो की चमक उपर्युक्त सेलो के आकार और स्वरूप पर निर्भर रहती है। मोटे किस्म के रेशे मे चमक अधिक होती हे। सेलो के पूर्वोक्त सीढीनुमा स्वरूप के कारण रेशो की मजवूती वढ जाती है। रेशे की भीतरी परत, जिसे मेडुल्ला कहते हैं, महीन किस्मो मे तो नही दिखाई पडती, किंतु मोटे किस्मो में इसे देखा जा सकता है। मेडुल्ला मे ही ऊन का रगवाला अश होता है। रेशे की चिपकने की शक्ति मेडुल्ला की मोटाई पर निर्भर रहती है। जैसे जैसे यह वढती जाती है, वह अधिक टूटने योग्य होता जाता है।

ऊन के भौतिक गुण—

ऊर्मिलता (क्रिप)—ऊन के रेशे छड की तरह विलकुल सीधे न होकर लहरदार होते हैं। उसके इसी घुँघरालेपन को ऊर्मिलता कहते हैं। रेशो की लवाई (महीन किस्मो मे) डेढ इच से (मोटी किस्मो मे) १५ इच तक होती है। ऊन के रेशो के व्यास और उनकी ऊर्मिलता मे घनिष्ठ सवध होता हे। ऊन का रेशा जितना ही वारीक होता है उसमे ऊर्मियो (क्रिपो) की सख्या उतनी ही अधिक होती है। १ सेटीमीटर में १२ से २३ तक ऊर्मियाँ होती है। ऊन के रेशो की विशिष्टता आँकने मे उसकी ऊर्मियो का महत्वपूर्ण स्थान है।

लचक (रेजिलिएसी)—ऊन के रेशो मे खीचने के वाद पुन पूर्वस्वरूप मे लौट आने का गुण होता है, इसी को लचक कहते हैं। यदि ऊन के ढेर को दवाकर पुन छोड दिया जाय तो वह अपना पूर्व आयतन प्राप्त कर लेता है। ऊन का यह गुण उसकी ऊर्मियो और उसकी कोशिकाओ के कारण होता है। ऊन के रेशो की लवाई उन्हे खीचकर विना तोडे लगभग ३० प्रति शत तक वढाई जा सकती है। लचीलेपन से ऊनी रेशे अपना स्वरूप वनाए रखते है और झुर्रियो तथा घिसावट से अपनी रक्षा करते हैं।

नमदा वनाना—ऊन पर यदि गर्मी, नमी और दवाव डाला जाय तो उसके रेशे सिमटकर आपस मे मिल जाते हैं। सामान्यतया ऊनी रेशो मे आपस मे विकर्पण होता है किंतु पूर्वोक्त परिस्थिति मे विपरीत क्रिया होती है। उनका यह गुण विभिन्न प्रकार के ऊनो मे भिन्न भिन्न होता है। इस गुण के कारण ऊन का उपयोग हैटो, जूतो के ऊपरी हिस्सो और फर्श पर विछाने के नमदो, तथा कपन और ध्वनिनिरोधक नमदो के वनाने मे किया जाता है।

चमक (लस्टर)—चमक की दृष्टि से ऊनो मे यथेष्ट भिन्नताएँ पाई जाती हैं। चमक चाँदी, काच और रेशम सी, तीन प्रकार की होती है। चाँदी की या हल्की चमक महीन या अधिक ऊर्मियोवाले मेरिनो ऊन मे होती है। काच जैसी चमक सवसे अधिक सीधे और चिकने वालो मे होती है। रेशम सी चमक लवे रेशे और लवी लहरोवाली ऊन मे होती है।

रग—ऊन के स्वाभाविक रग सफेद, काले और भूरे हैं। वहुधा पालतू भेडो का ऊन सफेद रग का ही होता है। रगीन ऊन सबसे अधिक पुरातन नस्ल की उन भेडो से प्राप्त होता है जो कालीन वुनने लायक किस्म का ऊन पैदा करती हैं।

घनत्व—ऊन प्राकृतिक रेशो मे सवसे अधिक हल्का होता है। इसका घनत्व १ ३ ग्राम प्रति घन सेटीमीटर है।

वैद्युत गुण—ऊन विजली का हीन चालक है और इसे रगडने से इसमें सुगमता से स्थिर विद्युत् पैदा हो जाती है, जो ऊन को साफ करने, एक दूसरे से अलग करने और शुष्क कार्यकरण मे वाधा उपस्थित करती है।

उष्मा का सरक्षण—ऊन का उष्मा को सरक्षित रखने का गुण उसके रेशे की वनावट—ऊर्मियो—के कारण है, जिनकी वजह से उसमे हवा के छोटे छोटे कोष्ठ वन जाते हैं। स्थिर वायु उष्मा-अवरोधक होती है और क्योकि ऊनी कपडे अनगिनत रेशो से वनते हैं जिनके भीतर स्थिर वायु एकत्र रहती है, वे भी उष्मा के वहुत अच्छे अवरोधक होते हैं। ऊन में जलवाष्प सोखने का भी आश्चर्यजनक गुण है। ऊन मे जलवाष्प की मात्रा उस समय के वायुमडल मे जलवाष्प की दाव पर निर्भर रहती है। ऊन जब जलवाष्प सोखता है तव गर्मी निकलती है। यह गर्मी उसमे घुसनेवाली हवा को गर्म रखने के लिये पर्याप्त होती है। इसके अतिरिक्त ऊनी रेशो मे ऊर्मियो के कारण जो लचक होती है उसके फलस्वरूप भीतर का कपडा शरीर से चिपकने नही पाता और शरीर तथा उस कपडे के वीच हवा की एक पतली परत उत्पन्न हो जाती है जो उष्मा के अच्छे सरक्षक का कार्य करती है।

कठोरता—ऊन का यह गुण ऐठन को रोकता है। इसीलिये यह कताई के लिये वहुत महत्व का है। शुष्क ऊन की कठोरता पानी से सतृप्त ऊन की अपेक्षा १५ गुनी अधिक होती है। इसीलिये ऊन की मिलो के कताई विभाग मे ठीक से कताई करने के लिये और ऊन मे १५ से १८ प्रति शत तक नमी बनाए रखने के लिये, अपने यहाँ के वातावरण मे ७० से ८० प्रति शत तक नमी रखनी पडती है।

ऊन की रासायनिक रचना और उसके रासायनिक गुण—रासायनिक दृष्टि से ऊन मे कार्वन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन और गधक आपस मे मिले हुए प्रोटीन या केराटीन के रूप मे पाए जाते हैं। इसकी रासायनिक रचना वहुत जटिल होती है। इस प्रोटीन मे अम्लीय और क्षारीय दोनो प्रकार के गुण होने के कारण इसका स्वरूप द्विगुणीय है। इसका जलीय विश्लेषण करने से कई प्रकार के एमिनो ऐसिड निकलते हैं। किसी रीएजेट द्वारा ऊन की रासायनिक सरचना मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन किए जाने से ऊनी रेशे के भौतिक गुण नष्ट हो जाते है। सामान्यतया आक्सिडाइजिग और रिड्यूसिग एजेट, प्रकाश और क्षार, ऊन के सिस्टीन लिंकेज पर आक्रमण करते हैं अत ऊनी रेशो के धवलीकरण (व्लीचिग) और उनके क्लोरिनेशन के समय सावधानी वरतनी चाहिए।

निम्न ताप का प्रभाव—४० से ६० डिग्री फारेनहाइट तक के ताप पर सभी वसामय (चरवीवाले) पदार्थ जम जाते हैं, अत वे ऊन को विना किसी प्रकार की हानि पहुँचाए यात्रिक विधि से आसानी से अलग किए जा सकते हैं।

पानी और वाष्प की प्रक्रिया—ठढा या गरम पानी और वाष्प की क्रिया ऊनी सामग्री के स्वरूप और उसके द्वारा रग की ग्राह्यता मे परिवर्तन ला देती है। पानी मे ऊनी रेशा फूलता है अर्थात् उसका व्यास वढ जाता है, किंतु सूखने पर वह पुन पूर्ववत् हो जाता है। १२० डिग्री सेटी-

ग्रेड पर दवाव के साथ पानी में उवाले जाने पर वह घुल जाता है। शुष्क या नम वाष्प के ससर्ग में ऊन क्षीण होता जाता है। यह क्षीणता समय तथा दवाव के साथ वढती जाती है। ताप की वृद्धि के साथ साथ ऊन कोमल होता जाता है और तव शीतल जल भी उसे पूर्वस्थिति में नही ला सकता। इसी तथ्य पर ऊनी उपकरणो की अतिम प्रक्रियाएँ आधृत हैं।

अम्लो की प्रक्रिया—हल्के अम्लो का ऊन पर कोई घातक प्रभाव नही होता, किंतु तीव्र अम्ल उसे कमजोर वना देते हैं, या कभी कभी रेशो को घुला भी देते है।

क्षारो की क्रिया—क्षार ऊन को पीत, कठोर और नमदा जैसा वना देते हैं। सोडियम कार्वोनेट के तीव्र या गरम तथा हल्के घोल से ऊन नष्ट हो जाता है। हल्का कास्टिक सोडा भी ऊन को नष्ट कर देता है। कास्टिक क्षार के गरम घोल मे तो ऊन पूर्णतया घुल जाता है।

क्लोरीन और हाइपोक्लोराइट की क्रिया—यद्यपि शुष्क स्थिति मे क्लोरीन, व्रोमीन, और आयोडीन का ऊन पर विशेष प्रभाव नही पडता तो भी नमी में वे ऊन के साथ मिलकर हेलोमिन्स वनाते है। तभी ऊन के प्रोटीन का आक्सीकरण शुरू हो जाता हे। क्लोरीन के समस्त यौगिक ऊन के डाइसल्फाइड लिंकेज को आक्रात कर उसकी सतह को विघटित करने लगते हैं।

रगग्राह्यता—ऊन क्षार और अम्ल दोनो प्रकार से काम करनेवाला (ऐंफोटेरिक) रेशा है, इसलिये वह सभी प्रकार के रगो मे रँगा जा सकता है। ऊन को रँगने के लिये सवसे महत्वपूर्ण रग अम्ल और क्रोम हैं। कुछ वैट रग भी उपयोगी है।

फॉरमैल्डिहाइड की क्रिया—फॉरमैल्डिहाइड के उपयोग के दो लाभ हैं

१—क्षार और अम्ल की क्रिया के विरुद्ध सरक्षण और

२—कीटाणुओ से मुक्ति।

फॉरमैल्डिहाइड के २ ५ प्रति शत घोल मे एक घटे तक रखने पर ऊन कीटाणुरहित हो जाता है। फॉरमैल्डिहाइड से कवल तथा वस्त्र कीटाणु-विहीन किए जाते हैं। [ए० दा० दा०]

भारत में ऊन

वेदो में धार्मिक कृत्यो के समय ऊनी वस्त्रो का वर्णन मिलता है, जो इस वात का दृढ प्रमाण है कि प्रागैतिहासिक काल मे भी लोग ऊन को जानते थे तथा उसका व्यवहार करते थे। मनु ने वैश्यो के यज्ञोपवीत के लिये ऊन को श्रेयस्कर माना है। ऋग्वेद मे गडरियो के देवता पश्म की स्तुति है, जिसमे ऊन श्वेतन करने तथा कातने का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतवासी ऊन के प्रयोग, कताई तथा विनाई से आदिम काल से ही परिचित थे। भेड को 'अवि' कहा जाता है जिसका अर्थ है रक्षा करनेवाली। महाभारत में इस वात का उल्लेख मिलता है कि कावोज (वदख्शाँ और पामीर) के लोगो ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर को सुनहली कढाई के ऊनी वस्त्र (ऊर्ण) भेंट मे दिए थे। व्रिटिश शासनकाल के आरभिक दिनो मे पजाव, कश्मीर और तिव्वत के पश्मीनें की वडी ख्याति थी।

भारत में भी मेरिनो जाति के मेढे मँगाए गए है और उनका मिलाप देशी भेडो से कराया जा रहा है। काश्मीर में इस प्रकार उत्पन्न सतति को "काश्मीरी मेरिनो" कहते हैं और पूना मे इसी ढग से उत्पन्न की जानेवाली जाति को "दक्षिणी मेरिनो" कहा जाता है। उत्तर प्रदेश में, जहाँ पहाडो पर मेरिनो (रैमवुले) का मेल रामपुर वुशायर जाति की भेडो से कराया जा रहा है, अभी तक कोई जाति निर्धारित नही की गई है।

पश्मीना, जो ससार में पशुओ से प्राप्त रेशो मे से सवसे अच्छा रेशा माना गया है, कश्मीर और तिव्वत में पाई जानेवाली वकरियो से प्राप्त होता है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि ससार मे लगभग ५ करोड मन ऊन पैदा होता है। इसमें से ४२ ८ प्रति शत ऊन मेरिनो, ४६ प्रति शत वर्णसकर (क्रॉसव्रेड) और ११ २ प्रति शत कालीनी ऊन होता है। आधुनिकतम अनुमान के अनुसार भारत अपनी ४ करोड भेडो से लगभग पौने नौ लाख मन ऊन प्रति वर्ष पैदा करता है। कुल ऊन का ५ प्रति शत से अधिक ऊन, जिसका मूल्य १२० करोड रुपए होता है, विदेशो को भेजा जाता है। देश की ऊनी कपडा मिलो को, जो अच्छी किस्म का कपडा वनाती है, वाहर से मँगाए गए १६ लाख मन कच्चे या अर्धविकसित ऊन पर निर्भर रहना पडता है। इसका मूल्य विदेशी मुद्रा में लगभग ११० करोड रुपए पडता है। कृषि पदार्थो के निर्यात व्यापार में ऊन का स्थान आठवाँ है, जवकि पशु तथा पशुजन्य पदार्थो के व्यापार में खाल के साथ इसका भी प्रथम स्थान है। उत्तर प्रदेश में २४ करोड भेडो से ५ लाख मन ऊन पैदा होता है। ऊन उत्पादन मे राजस्थान और पजाव सर्वप्रथम हैं, इनके वाद उत्तर प्रदेश का स्थान है। समुद्री वदरगाहो द्वारा देश में आयात होनेवाला अधिकाश ऊन आस्ट्रेलिया और इग्लैंड से आता है। ये दोनो देश अपने कुल निर्यात का क्रमानुसार १६ ५ और १२ १ प्रति शत ऊन भारत भेजते हैं। भूभागो द्वारा ऊन तिव्वत, नेपाल, सिक्किम, भूटान, ईरान, पश्चिमी तथा पूर्वी अफगानिस्तान और उत्तरी अफगानिस्तान, मध्य एशिया और तुर्किस्तान से आता है। तिव्वत तथा आसपास के देशो से सवसे अधिक प्रति शत (३१ १० प्रति शत) ऊन आता है। इसके वाद अफगानिस्तान और ईरान का स्थान है जहाँ से २५ १ प्रति शत ऊन आता है। व्यापारिक नियमो तथा देश की भीतरी माँग के अनुसार प्रति वर्ष ऊन की मात्रा तथा प्रति शत अनुपात मे परिवर्तन हुआ करता है।

हमारे ऊन का सवसे वडा ग्राहक इग्लैंड है। अधिकाश ऊन काठियावाड और ट्रावकोर के वदरगाहो से वाहर भेजा जाता है। द्वितीय महायुद्ध में अमरीका भारतीय ऊन वहुत अधिक खरीदने लगा था। पर्याप्त मात्रा में भारतीय ऊन खरीदनेवाले अन्य देशो में आस्ट्रेलिया और फ्रास भी हैं। स्थलीय मार्गो से आयात किए गए ऊन का कुछ भाग विदेशो को निर्यात कर दिया जाता है।

प्रति पशु ऊन की उपज जाति, स्थान की प्राकृतिक वनावट, वर्षा और चरागाहो की उपलव्धता के अनुसार वदला करती है। क्योकि भारत के विभिन्न भागो मे पूर्वोक्त वातो मे वडा अतर पाया जाता है, इसलिये विभिन्न स्थानो के ऊन में भी वहुत अतर पाया जाता है। एक वार की ऊन की कटाई में प्रति भेड कितना ऊन प्राप्त होता है, इसके वारे में अभी तक यद्यपि पर्याप्त प्रेक्षण नही किए गए हैं, फिर भी यह अनुमान किया जाता है कि भारत के विभिन्न भागो में एक भेड से प्रति वर्ष ६ छटाँक से लेकर २ सेर तक ऊन प्राप्त होता है। सवसे अधिक ऊन राजस्थान और काठियावाड की भेडो से प्राप्त होता है। उत्तर प्रदेश के कुछ पहाडी भागो पर किए गए आरभिक प्रयोगो से यह ज्ञात हुआ है कि पहाडी क्षेत्रो मे प्रति भेड प्रति कटाई १२ छटाँक ऊन प्राप्त होता है। इस देश में भेड का ऊन साधारणतया वर्ष मे दो वार उतारा जाता है, परतु कुछ स्थानो में वर्ष मे तीन वार भी उतारा जाता है। वसत ऋतु मे उतारा गया ऊन अन्य ऋतुओ मे उतारे गए ऊन की अपेक्षा अधिक होता है। विभिन्न ऋतुओ मे उतारे गए ऊन के रग मे भी वडा अतर पाया जाता है। वसत का ऊन अधिक सफेद होता है और पत झड ऋतु का ऊन हल्का पीला होता है। रगीन ऊन, जैसे काले और कत्थई, में ऋतु के अनुसार रग मे ऐसा कोई परिवर्तन नही दिखाई पडता।

गुणो के आधार पर विशेषज्ञ ऊन को विभिन्न श्रेणियो में वाँटते हैं। रेशे की लवाई, ऊर्मिलता, कोमलता और ऊन की चमक कुछ ऐसे महत्वपूर्ण गुण हैं जिनका छाँटनेवाले विशेष ध्यान रखते हैं। इनमें से अधिकाश गुण एक दूसरे से सवधित हैं। अन्य देशो मे ऊन छाँटना एक कला हो गई है। ऊन को सैंकडो वर्गो में वाँटा जाता है। परतु यह वात हमारे भारतीय ऊन पर लागू नही होती। अधिकाश भारतीय ऊन अपने व्यापारिक नामो से छाँटे जाते हैं, जो भौगोलिक उत्पादन क्षेत्र के अनुसार उन्हें दिए जाते हैं। निर्यात व्यापार मे प्रयुक्त होनेवाले ऊन हैं—जोरिया, वीकानेरी, राजपूताना, पेशावर, व्यावर, मारवाड, वीकानेर और सामान्य काला तथा कत्थई।

कुटीर स्तर पर ऊन कातने, देशी कवल वनाने, हाथ या मशीन द्वारा कालीन या फर्शी कवल वनाने, आधुनिक मिलो मे ऊनी कपडो की वुनाई तथा अन्य उद्योगो, जैसे घरेलू ढग से शाल, लोई या ट्वीड वनाने के लिये भारत में ऊन की माँग है। कुल ऊन का ५० प्रति शत से अधिक तो देशी कवल वनाने के काम आता है, लगभग २८ प्रति शत मिलो के काम आता है और १२ प्रति शत कालीन उद्योग में प्रयुक्त होता है। अन्य उद्योग,

जैसे शाल बनाने मे, ४ प्रति शत ऊन की खपत होती है। ऊनी कुटीर उद्योग विविध क्षेत्रों की आवश्यकता के अनुसार देश के विभिन्न भागो मे फैले हैं। कालीन उद्योग कुटीर स्तर पर तथा मशीन स्तर पर दोनो भाँति चलता है। यह उद्योग उत्तर प्रदेश मे बहुत अधिक विकसित है। इसके बनाने के मुख्य स्थान हैं भदोही (बनारस), मिर्जापुर, गोपीगज (इलाहाबाद), माधोसिंह (मिर्जापुर), आगरा, जौनपुर तथा कमरिहा। युद्धकाल मे इस उद्योग की विशेष वृद्धि हुई। अमरीका तथा इग्लैंड भारतीय कालीन के सबसे बडे खरीदार हैं। बहुत ही अच्छे किस्म के कालीन काश्मीर मे बनते हैं। बढिया किस्म का ऊनी माल विदेशो से मँगाए गए ऊनी धागे से बनाया जाता है। स्वतत्रताप्राप्ति के बाद से भारत मे बननेवाले माल मे बहुत सुधार हुआ है, जो इस बात से स्पष्ट है कि भारत के बाहर से तथा कुछ यूरोपीय देशों से ऊनी माल की अब बडी माँग है। भारत की प्रमुख ऊनी मिलें ये हैं कानपुर (उत्तर प्रदेश) में लाल इमली, पजाब मे धारीवाल, बबई मे रेमड वूलन मिल्स तथा इडियन वूलन मिल्स, बगलोर मे बगलौर वूलन, काटन ऐंड सिल्क मिल्स, और सौराष्ट्र मे जामनगर वूलन मिल्स। अहमदाबाद की कैलिको मिल भी अब ऊनी माल बनाने लगी है।

दूसरे माल जैसे लोई, ट्वीड, शाल आदि बनाने के मुख्य क्षेत्र उत्तर प्रदेश के पहाडी इलाको, पजाब और कश्मीर मे है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में ऊन के महत्व को देखते हुए भारतीय कृषि अनुसधान परिषद्, भारत सरकार तथा प्रदेशीय सरकारो ने कई अनुसधान योजनाओ को आरभ किया तथा बढावा दिया है। विभिन्न राज्यो मे ऊन सबधी प्रयोगशालाएँ स्थापित करने का काम भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् ने आरभ किया, जिसने प्रदेशीय सरकारो के साथ मिलकर इन प्रयोगशालाओ मे धन लगाया। ये प्रयोगशालाएँ वर्तमान ऊन के गुण तथा प्रयोगस्वरूप उत्पन्न सुधरे ऊन के गुण आँकने के लिये आवश्यक हैं। पूना, मद्रास, बनिहाल (काश्मीर) और ऋषिकेश (उत्तर प्रदेश) मे चार क्षेत्रीय अनुसधान प्रयोगशालाएँ हैं। इनके अतिरिक्त गया, बिहार, बीकानेर (राजस्थान) और हिसार (पजाब) मे भी ऊन प्रयोगशालाएँ है। ऊन के सुधार के बारे मे नीति यह रही है कि मैदान की स्थानीय भेडो का बीकानेरी ––या इससे थोडी भिन्न चोकला, नाली, मागरा आदि––जाति के मेढो मे मेल कराया जाय, जिसमें अधिकाश राज्यों मे भेडो की उत्पत्ति बढे तथा मैदानी भेडो मे सुधार हो। वर्तमान जातियो मे, जैसे बीकानेरी मे, चुनाव के बाद प्रजनन कराके तथा स्थानीय भेडो का विदेशी जातियो से मेल कराकर अच्छा ऊन पैदा करने के कुछ प्रयोग सफलतापूर्वक किए गए हैं। पजाब मे हिसार की 'हिसारडेल' जाति बीकानेरी तथा मेरिनो का मेल कराकर पैदा की गई है। विदेशी मेढो से मेल कराकर ऊन सुधारने के प्रयत्न अधिकतर पहाडो में ही किए जा रहे हैं। कश्मीर, पूना, हिसार और पीपलकोठी मे स्थानीय भेडो का मेल कराने के लिये मेरिनो मेढे उपयोग मे लाए जा रहे हैं। हाल ही मे उत्तर प्रदेश और हिमाचल प्रदेश मे सकर जाति के उत्पादन (क्रॉस ब्रीडिंग) पर प्रयोग करने के लिये आस्ट्रेलिया से पोलवर्थ, बोर्डर लीस्टर और कोरीडेल जातियाँ मँगाई गई है। छोटा नागपुर के क्षेत्र मे स्थानीय भेडो का सुधार करने के लिये रोमनीमार्श जाति के मेढे बाहर से मँगाए गए हैं। विभिन्न राज्यो मे विकास कार्य को भेड तथा ऊन विकास केद्र, ऊन उपयोगिता केद्र आदि स्थापित करके बढाया जा रहा है। राजस्थान मे सामूहिक ढग से ऊन उतारने का स्थान बनाने की भी योजना है, जिसमे राज्य सरकार ऊन की छँटाई (ग्रेडिंग) तथा बिक्री की सुविधा देकर उत्पादक को अपने माल का अच्छा मूल्य प्राप्त करने मे सहायक हो। यह आशा की जाती है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना काल के अत तक विभिन्न राज्यो मे लगभग ३०० भेड तथा ऊन विस्तार केद्र हो जायँगे।

जब से आदिम मनुष्य ने अपने शरीर को ढकने के लिये भेड़ की खाल का प्रयोग किया तब से अब तक इस पशु के ऊन पर मानव जाति की निर्भरता बढती ही गई है, यहाँ तक कि अब हमारे जीवन का कदाचित् ही कोई ऐसा पहलू रह गया है, जिसमे यह प्राकृतिक रेशा काम न आता हो। [ह० कृ० ला०]

ऊनी वस्त्र ऊन काटने की कई रीतियाँ है। विभिन्न देशो की स्थिति और चलन के अनुकूल भेडो का ऊन काटा जाता है। सामान्यतया कसाईखानो मे, या बलुही भूमिवाले प्रदेश मे चरने के लिये भेजने के पूर्व, ऊन काटा जाता है। अधिकतर वर्ष मे दो बार कटाई की जाती है। न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया मे ऊन की कटाई यत्र द्वारा होती है। इन दोनो देशो मे भ्रमणकारी दल रहते है जो यत्र से ऊन काटते हैं। परतु ग्रेट ब्रिटेन और भारत में कटाई हाथ से होती है।

कट जाने पर काम के अनुसार ऊन को छाँटा जाता है। ऊन का चयन उत्तर से आए प्रकाश मे किया जाता है, पूर्व, पश्चिम या दक्षिण से आए प्रकाश में नही, क्योकि इधर के प्रकाश मे अधिक वैविध्य और पीतता की सभावना रहती है। ऊन को छाँटते समय कार्यकर्ता को बहुत सावधानी रखनी पडती है, क्योकि पहाडी भेडो के ऊन मे कभी कभी ऐसे कीटाणु रहते हैं जिनसे मनुष्य को ऐंथ्रैक्स नामक चर्मरोग होने की आशका होती है। अलपाका, कश्मीरी, ईरानी तथा अन्य प्रकार के ऊन को जालीदार मेज पर खोलकर रख दिया जाता है और उसके नीचे पखा चालू कर दिया जाता है, जिससे हवा नीचे जाती रहती है और कार्यकर्ता सुविधा से अपना काम कर सकता है। चयन के पूर्व ईरानी ऊन को भी कीटाणुरहित करना आवश्यक होता है।

ऊन का चयन (छँटाई) उसकी बारीकी, लबाई तथा भेड के शरीर पर उसके स्थान के अनुसार किया जाता है। तब 'डस्टर' नामक मशीन से ऊन मे मिली हुई धूलि को अलग किया जाता है। धूलि निकाले जाने के बाद उसकी प्राकृतिक एव मिश्रित मलीनता साफ की जाती है। प्राकृतिक मलीनता मे एक प्रकार की भारी चिकनाई अथवा मोम रहता है जिसे अग्रेजी मे योक कहते हैं। योक के कारण ऊनी रेशा कुछ गुरुतर और अच्छी हालत मे रहता है। प्राकृतिक मलीनता मे सूखा हुआ पसीना भी रहता है जो भेड के शरीर से बहकर सूख जाता है और ऊन मे मिल जाता है। इसे अग्रेजी मे स्विट कहते हैं।

सफाई की रीति यह है कि ऊन को गुनगुने पानी मे भिगोकर तर कर दिया जाता है जिससे भेड का सूखा पसीना गलकर निकल जाता है। साथ ही बालू तथा धूलि भी अलग हो जाती है। दो या तीन बार ऊन को धोने के बाद उसे एक या दो बार साबुन के घोल मे धोया जाता है। अतिम बार उसे बिलकुल शुद्ध एव निर्मल जल मे धोया जाता है।

ऊन के धोवन से बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होती है जिसे अग्रेजी में 'लैनोलिन' कहते हैं। लैनोलिन का उपयोग कातिवर्धक प्रसाधन के निर्माण मे होता है। इससे मनुष्य की त्वचा चिकनी और मुलायम होती है। इसका उपयोग कई औद्योगिक वस्तुओ के निर्माण मे भी होता है। मुखलेप, मलिनता हटानेवाले द्रव्य, मलहम, पालिश, स्याही, मुर्चा छुडानेवाले पदार्थ, सफेद साबुन आदि मे भी इसका उपयोग होता है।

ऊन को पूर्वोक्त रीति से साफ करने पर प्राकृतिक मल हट जाता है, किंतु कुछ मिश्रित वस्तुएँ, जैसे वानस्पतिक पदार्थ, फिर भी ऊन मे मिली ही रहती है। अतएव इसकी भी सफाई आवश्यक होती है। यह कार्य ऊन को गधक के अम्ल के ३ डिगरी से ४ डिगरी बोमे तक के हलके घोल मे भिगोकर निकाल लिया जाता है और फिर उसे गरम हवा से २५० डिगरी फारेनहाइट तक गरम कर दिया जाता है, क्योकि अम्ल का ऊन पर कोई हानिकारक प्रभाव नही पडता। अम्ल से बीज आदि के कँटीले रोएँ जल जाते हैं और इसलिये वे अलग हो जाते हैं।

कार्डिंग––धुल जाने के बाद ऊन के रेशे को सूत के रूप मे परिणत करने के लिये पहले धुनाई (कार्डिंग) की जरूरत होती है। कार्डिंग के लिये ऊन को खोलकर मशीन द्वारा इस प्रकार मिलाया जाता है कि जाली के समान पतली और मुलायम पट्टी बन जाय। जिस मशीन के द्वारा यह काम होता है उसका नाम है 'कार्डिंग इजन'। कभी कभी कार्डिंग इजन के साथ भारी रोलर फिट कर दिए जाते हैं जिसमे ऊन मे बची खुची त्रुटियाँ भी दूर हो जायँ। तदनतर ऊन दो बेलनो के बीच से गुजरता है। इन बेलनो पर ऐसा 'कार्डिंग क्लाथ' रहता है जिसमे बारीक और छोटे छोटे लोहे के हजारो तार गुथे रहते हैं। ये तार रोलरो मे एक दूसरे के सामने लगे रहते हैं और लचीले होते हैं। इनसे ऊन के रेशे बहुत कुछ समातर हो जाते हैं। अन्य कई बेलनो के बीच होता हुआ ऊन अत मे बिना बुनावट और बिना उलझन की फुलफुली चौडी पट्टी का रूप धारण कर लेता है। तब मशीन में लगे अतिम भाग से यह अनेक सँकरी पट्टियो मे बाँट दिया जाता है और चमडे के बडे पट्टे पर जाता है। बत्ती बनाने मे हथेलियो का अनुकरण करते हुए ये पट्टे रेशो को सकीर्ण घेरे मे दबाकर मलते है। इस प्रकार

कताई के लिये पूनी तैयार हो जाती है। इस प्रक्रिया मे टूटे हुए रेशे अलग निकल आते हैं। इस प्रकार का सूत ऊनी सूत कहा जाता है और इससे जो कपडा तैयार किया जाता है उसे ऊनी वस्त्र कहा जाता है। 'वर्स्टेड क्लॉथ' मे ऊन के रेशे एक दूसरे के समातर रहते हैं और इसलिये काफी लवे रेशो ही से ऐसा वस्त्र बनता है।

समातर ढग से रेशे को निकालने के लिये ऊन के मुट्ठे को दोहरा कर दिया जाता है और दो रोलरो के बीच से उसे निकाला जाता है। उसके आगे दो अन्य रोलर कुछ अधिक गति से चलाए जाते है, इससे ऊन खिच जाता है। दो रोलरो की जोडी के बीच तेजी के साथ चलनेवाले दाँत रेशो को समातर करते चलते हैं। थैली मे छोटे छोटे रेशे रह जाते हैं। उन्हे एक दूसरी विधि से हटाया जाता है, जिसे कघी करना (अग्रेजी मे कौंबिंग) कहते हैं। तदनतर ऊन का मुट्ठा फिर दोहरा कर दिया जाता है और उनको दो रोलरो के बीच से एक बार और निकाला जाता है।

इसके बाद ऊन के मुट्ठे को खीचकर लबा किया जाता है। इसे ड्रॉइंग कहते हैं। यहाँ पर एक से छ मुट्ठे एक साथ चलाए जाते हैं। ये मुट्ठे भारी रोलरो की जोडियो के बीच से चलाए जाते हैं। दूसरी जोडीवाले रोलरो की गति पहलेवाले से अधिक रहती है। परिणामस्वरूप मोटा सूत्र पतला होता जाता है। इच्छानुसार पतला हो जाने पर कच्चे सूत को बाबिन पर लपेटा जाता है।

ऊपर बताए गए कच्चे सूत को फिर ऐंठा जाता है जिससे सूत मजबूत हो जाता है। तब उस सूत को लच्छियो में लपेटा जाता है। जिस प्रकार का सूत होता है वैसी ही उसमे ऐंठन डाली जाती है। इस कार्यविधि को कताई (अग्रेजी में 'स्पिनिंग') कहते है। सूत कताई के लिये विभिन्न प्रकार की मशीनो का उपयोग होता है।

करघे पर कपडा बुनना—जिस मशीन या यत्र पर कपडा बुना जाता है उसका नाम करघा है। करघे का सचालन या तो हाथ द्वारा होता है या विद्युच्छक्ति द्वारा। करघे पर बुनाई का काम बहुत कुछ उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सूती और रेशमी कपडे बुने जाते हैं। बुनाई के बाद कपडे की जाँच की जाती है जिसमे उसमे आई हुई त्रुटियो का निवारण किया जा सके। कभी कभी बुनाई के समय कपडे मे गाँठ पड जाती है या तागे रह जाते है। उनका सुधार हाथ द्वारा किया जाता है।

बुनाई के समय कपडे गदे हो जाते हैं, इसलिये बुनाई के बाद कपडे को धोया जाता है। कपडे को साबुन के घोल में भिगोया जाता है। फिर कपडे को भारी रोलरो के बीच से चलाया जाता है जिससे साबुन का पानी निकल जाय। अत में कपडे को शुद्ध पानी से धोकर सुखाया जाता है। सुखाने पर कपडा कुछ कठोर हो जाता है।

कपडे की जमीन एक समान कोमल बनी रहे इसके लिये मशीन द्वारा कपडे में निकले हुए धागे को काटा जाता है। जिस मशीन द्वारा काटने का काम होता है उसमें दो वृत्ताकार चाक होते हैं। इस मशीन का काम केवल जमीन को समतल बनाना होता है।

अतत तैयार हुए कपडे की तह लगाई जाती है। तह लगाने का काम मशीन द्वारा किया जाता है। फिर एक दूसरी मशीन में कपडे को दबाया जाता है और तब कपडा बाजार में भेज दिया जाता है।

[ए० दा० दा०]

ऊफा ५४° ४४' उत्तरी अक्षाश तथा ५६° पूर्वी देशातर पर ऊफा और बयेलाया नदियो के सगम पर तथा यूराल के जगलो के पश्चिमी किनारे पर स्थित बशकीर का प्रमुख नगर है (जनसख्या लगभग २,५०,०००)। इसके उद्योग धधो में ताँबा गलाना, लकडी चीरना, आटा पीसना, रस्सी बनाना, शराब तथा फलो का रस निकालना उल्लेखनीय है। (सु० कु० सिं०)

ऊर सुमेर (सुमेरिया) का प्राचीन नगर। वर्तमान ईराक मे फरात नदी से प्राय छ मील दक्षिण 'खल्दियो के ऊर' के खडहर खोद निकाले गए हैं। बाइबिल में इसे इब्राहिम का मूल स्थान कहा गया है। वहाँ से थोडी ही दूर पर अरबी मरुभूमि की सीमा आरभ होती है। प्राचीन सुमेरियो का जिग्गुरत आज भी दूसरे खडहरो के साथ वहाँ खडा है। डा० लियोनार्ड वूली ने अथक परिश्रम से सुमेरी सभ्यता के उस अत्यत प्राचीन ऊर नगर के भग्नावशेष खोद निकाले हैं। उनका समय प्राय ३५०० ई० पू० है और उनमें सबसे महत्व के अवशेष उस नगर की शवसमाधियाँ हैं। वहाँ की इमारतो में सभवत वे सबसे प्राचीन हैं और उनमें पाई गई अनेक विभूतियो से उस काल की सभ्यता और उस सभ्यता के ऐश्वर्य का पता चलता है।

ऊर की कब्रो मे मिली वस्तुओ के अध्ययन से जीवन और मृत्यु दोनो से सबधित अद्भुत रहस्यो का ज्ञान होता है। राजाओ के उन मकबरो में कल्पनातीत स्वर्ण और बहुमूल्य वस्तुओ का सचय हुआ था। साथ ही वहाँ अनेक मानवो की बलि होने का प्रमाण प्रस्तुत है। मिस्रियो की ही भाँति, लगता है, प्राचीन सुमेरी लोग भी अपने मृतको को उनकी अनत यात्रा के लिये प्रत्येक आवश्यक पार्थिव उपकरणों से सयुक्त कर देते थे। अनेक प्रकार के भोज्य और पेय, रथ, सिंहासन और सगीत के विविध उपकरण मृतको के साथ गाड दिए जाते थे। ऊर की प्राय दो हजार कब्रों से जो चीजे निकली हैं उनमें धातुकर्म की आश्चर्यजनक वस्तुएँ प्रधान हैं। राजाओ और रानियो के साथ जीवित दफनाए गए दासो और दासियो के पजर सुमेरी सभ्यता के भीषण विश्वासो को प्रगट करते हैं। इन दास दासियो ने जीवन मे अपने स्वामियो की सेवा की थी, अब वही मरणातर उनकी सेवा करने के लिये उनके साथ कर दिए गए थे। स्वामियो के जो दास जीवन में जितने ही प्रियपात्र रहे थे, मृत्यु मे वे उतने ही निकटतर माने गए और स्वामियो के साथ ही उनका अकाल अत हुआ। ऊर की कब्रो से सोने के किरीट, कगन, कानो के अलकार, अनेक प्रकार के हार आदि उपलब्ध हुए है। ताँबे और चाँदी के फरसे और उनसे बने भाँति भाँति के अचरज के काम के बरछे भाले मिले हैं जिनसे धातुओ की ढलाई का प्रमाण मिलता है। छोटी छोटी शृगारमजपाओ में रखी दाँत और कान कुरेदनेवाली छोटी छोटी धातु की पिनें मिली हैं जिनका प्रभाव देखनेवालो पर नितात आधुनिक पडता है।

एक कब्र में स्वर्ण का सुदर किरीट पहने एक नारी का शव पडा था जिसके हाथो में सोने का एक सदर ग्लास था। प्रगट ही वह स्वामिनी थी जिसके चार दासो को मारकर उनके शव उसके चरणो में डाल दिए गए थे और उसकी कब्र के बाहर बद द्वार पर तीन भेडो की बलि दे दी गई थी। कब्र की तीनमजिली इमारत की हर मजिल में एक मानव बलि दी गई थी। सबसे ऊपर वाली कब्र में दो सोने के फलकवाले खजर मिले जिनकी नीलमजडी मूठो पर स्वर्णाक्षरो मे "राजा मेस्कालाम्दुग" का नाम उत्कीर्ण था। दूसरी कब्रो में तो और भी अधिक दौलत भरी थी और उनमें बलि दिए हुए आदमियो की सख्या भी प्रचुर थी। एक में तो ७४ लाशें मिली। रानी शुबाद की कब्र मे तो सोने और बहुमूल्य पत्थरो की बनी अनेक चीज़ें मिली है। शृगार की अनेक चीजो और मणियो से निर्मित वीणाओ, किरीटो और बर्तनो की छटा देखने ही योग्य है। ऊर की इन कब्रो में जहाँ मरणातर परलोक के भयानक जनविश्वासो पर प्रकाश पडता है वहाँ ३५०० ई० पू० और २५०० ई० पू० के बीच के काल की सभ्यता का भी प्रभूत रूप से उद्घाटन होता है।

इन शवसमाधियो के बाद ही ऊर के पहले राजवश का उदय हुआ। इन कब्रो का समय इतना प्राचीन होने पर भी प्रसिद्ध जलप्रलय के पश्चात् है, जो सभवत ३२०० ई० पू० से भी पहले हुआ था। इनसे पहले केवल कीश और एरेख के राजकुलो ने सुमेर मे राज किया था। ऊर के महान् मदिर का घेरा सम्राट् नबूखदनेज्जार का बनवाया हुआ है। उसके उत्तर-पूर्वी भाग मे बूर-सिन का एक अभिलेख है। सुमेरियो का यही मदिर जिग्गुरत नाम से प्रसिद्ध था। इसमे बाद के राजाओ ने धीरे धीरे अनेक परिवर्तन कर दिए थे। इसके अतिरिक्त वहाँ अनेक पुराने मदिर हैं जिनका समय समय पर विध्वस और जीर्णोद्धार होता आया था।

स०ग्र०—सी० लियोनार्ड वूली ऊर ऑव दि कैल्डीज (१९३०), भगवतशरण उपाध्याय दि एन्शेंट वर्ल्ड (१९५५)।

[भ० श० उ०]

ऊरुगुवे उत्तर मे ब्राजील से लेकर दक्षिण मे रीओ-डी-लाप्लाटा तक तथा पश्चिम मे ऊरुगुवे नदी से लेकर पूर्व मे अथमहासागर तक स्थित यह दक्षिण अमरीका का सबसे छोटा स्वतत्र राज्य है। इसका क्षेत्रफल ७२,१७२ वर्ग मील है। १९५० ई० की जनगणना के अनुसार इसकी जनसख्या २३,६५,००० है तथा औसत घनत्व ३२ ८ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है।

इसके दक्षिणी भाग मे ढालुवे मैदान हैं, जो पैंपाज के ही भाग है। सागरतट झीलो तथा बालुकास्तूपो से भरे पडे है। उत्तरी भाग मे, जहाँ निचली पर्वतश्रेणियो के बीच चौडी घाटियाँ पाई जाती हैं, धरातलीय असमता अधिक दृष्टिगोचर होती है। ऊरुगुवे की कोई भी पर्वतश्रेणी २,००० फुट से अधिक ऊँची नही है। इसके पूर्वी और दक्षिणी भाग, जहाँ प्रेयरीज के घास के मैदान हैं, पुरानी चट्टानो, जैसे ग्रेनाइट और शिस्ट, के क्षरण द्वारा निर्मित हुई हैं। उत्तर तथा मध्य प्रदेशो मे आधारभूत शिस्ट, परमीयन चट्टानो से ढका है। यह एक पठार के रूप मे है। उत्तरी-पश्चिमी पठार ट्रीयासिक लाल बालू की चट्टानो और बसाल्ट द्वारा निर्मित है। यहाँ के अधिकतर मैदान प्रातिनूतन (प्लाइस्टोसीन) युग के बालू और कीचड से ढके हैं।

ऊरुगुवे की जलवायु बडी सुहावनी है। जनवरी-फरवरी के गर्मी के महीनो का तापक्रम ७१° फारेनहाइट और जुलाई का औसत तापक्रम ५०° फारेनहाइट होता है। पाला यहाँ पर प्राय अज्ञात है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ३५ इच है, अधिकतम वर्षा पतझड ऋतु (अप्रैल और मई) मे होती है। प्राय अक्टूबर और मई के बीच कुहरा पडा करता है, पर यह दिन भर नही बना रहता।

२०वी शताब्दी मे इस राज्य की १० प्रति शत भूमि पर कृषि होती थी। चरागाही के बाद कृषि का राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मे द्वितीय स्थान है। गेहूँ यहाँ की प्रमुख फसल है तथा जौ, जई, आलू और अलफालफा घास दूसरी मुख्य फसले हैं। अलसी, जई और आलू का तो निर्यात भी किया जाता है। भेडे तथा अन्य जानवर पालना यहाँ का मुख्य व्यवसाय है। मध्य २०वी शताब्दी मे लगभग ८० प्रति शत भूमि चरागाह के उपयोग मे थी। १९४६ ई० के अनुमान के अनुसार यहाँ ८७,००,००० चौपाए तथा २,३०,००,००० भेडे थी। यहाँ डब्बो मे मास बद करने के आधुनिक केद्र भी हैं जहाँ यूरोप, ब्राजील और क्यूबा के बाजारो के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के मास तथा उसके सत्व तैयार किए जाते हैं। इस गणराज्य के उत्तरी भागो मे कुछ खनिज मिलते हैं। सोने का उत्पादन भी होता है। दूसरे खनिज पदार्थ, जैसे चाँदी, सीसा, ताँबा, टाल्क और लिगनाइट कोयला भी पाए जाते हैं।

यहाँ से कच्चे माल का निर्यात विशेष रूप से किया जाता है। १९५० ई० मे सपूर्ण निर्यात का ८९ ३१ भाग जानवरो से सबधित था, जिसमे ऊन ५१ ९९ प्रति शत, मास १७ ०० प्रति शत और चमडा ११ ५३ प्रति शत था। कृषि सबधी उत्पादन का निर्यात केवल ५ ८८ प्रति शत रहा। आयात मे प्रमुख रूप से मशीनें, सूती वस्त्र तथा खाद्य पदार्थ बाहर से मँगाए गए। उद्योगो मे निर्माण उद्योग, शक्ति उत्पादन और मास तथा मछलियो को डब्बो मे बद करना प्रमुख है।

अतर्राष्ट्रीय यातायात मुख्य रूप से जल द्वारा होता है। जलयातायात मे माटवीडिओ, प्लाटा और ऊरुगुवे नदियो पर स्थित बदरगाहो के बीच होनेवाला यातायात महत्वपूर्ण है। १९४८ ई० मे लगभग १,८७० मील लबी रेलवे लाइने और २६,००० मील लबी सडके थी। ३१ दिसबर, १९४९ ई० तक देश मे ५६,००० मोटरगाडियाँ और २०,००० ट्रके थी। १९५० ई० में २,०७२ जहाज, जिनका सपूर्ण भार १२,४१,१३६ टन था, माटवीडिओ बदरगाह मे आए।

[सु० कु० सिं०]

ऊर्जा ऊर्जा की सरल परिभाषा देना कठिन है। ऊर्जा वस्तु नही है। इसको हम देख नही सकते, यह कोई जगह नही घेरती, न इसकी कोई छाया ही पडती है। सक्षेप मे अन्य वस्तुओ की भाँति यह द्रव्य नही है, यद्यपि बहुधा द्रव्य से इसका घनिष्ठ सबध रहता है। फिर भी इसका अस्तित्व उतना ही वास्तविक है जितना किसी अन्य वस्तु का और इस कारण कि किसी पिड समुदाय मे, जिसके ऊपर किसी बाहरी बल का प्रभाव नही रहता, इसकी मात्रा मे कमी बेशी नही होती, विज्ञान मे इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

साधारणत, कार्य कर सकने की क्षमता को ऊर्जा कहते हैं। जब धनुष से शिकार करनेवाला कोई शिकारी धनुष को झुकाता है तो धनुष मे ऊर्जा आ जाती है जिसका उपयोग बाण को शिकार तक चलाने मे किया जाता है। बहते पानी मे ऊर्जा होती है जिसका उपयोग पनचक्की चलाने मे अथवा किसी दूसरे काम के लिये किया जा सकता है। इसी तरह बारूद मे ऊर्जा होती है जिसका उपयोग पत्थर की शिलाएँ तोडने अथवा तोप से गोला दागने मे हो सकता है। बिजली की धारा मे ऊर्जा होती है जिससे बिजली की मोटर चलाई जा सकती है और इस मोटर से कार्य किया जा सकता है। सूर्य के प्रकाश मे ऊर्जा होती है जिसका उपयोग प्रकाशसेलो द्वारा बिजली की धारा उत्पन्न करने मे किया जा सकता है। ऐसे ही अणु-बम मे नाभिकीय ऊर्जा रहती है जिसका उपयोग शत्रु के विध्वस करने मे किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊर्जा कई रूपो मे पाई जाती है। झुके हुए धनुष मे जो ऊर्जा है उसे स्थितिज ऊर्जा कहते हैं, बहते पानी की ऊर्जा गतिज ऊर्जा है, बारूद की ऊर्जा रासायनिक ऊर्जा है, बिजली की धारा की ऊर्जा वैद्युत ऊर्जा है, सूर्य के प्रकाश की ऊर्जा को प्रकाश ऊर्जा कहते हैं। सूर्य मे जो ऊर्जा है वह उसके ऊँचे ताप के कारण है। इसको उष्मा ऊर्जा कहते हैं। विभिन्न उपायो द्वारा ऊर्जा को एक रूप से दूसरे रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। इन परिवर्तनो मे ऊर्जा की मात्रा सर्वदा एक ही रहती है। उसमे कमी बेशी नही होती। इसे ऊर्जा-अविनाशिता-सिद्धात कहते हैं।

ऊपर कहा गया है कि कार्य कर सकने की क्षमता को ऊर्जा कहते हैं। परतु सारी ऊर्जा को कार्य मे परिणत करना सर्वदा सभव नही होता। इसलिये यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ऊर्जा वह वस्तु है जो उतनी ही घटती है जितना कार्य होता है। इस कारण ऊर्जा को नापने के वे ही एकक होते हैं जो कार्य को नापने के। यदि हम एक किलोग्राम भार को एक मीटर ऊँचा उठाते हैं तो पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध एक विशेष मात्रा मे कार्य करना पडता है। यदि हम इसी भार को दो मीटर ऊँचा उठाएँ अथवा दो किलोग्राम भार को एक मीटर ऊँचा उठाएँ तो दोनो दशाओ मे पहले की अपेक्षा दूना कार्य करना पडेगा। इससे प्रकट है कि कार्य का परिमाण उस बल के परिमाण पर, जिसके विरुद्ध कार्य किया जाय, और उस दूरी के परिमाण पर, जिस दूरी द्वारा उस बल के विरुद्ध कार्य किया जाय, निर्भर रहता है और इन दोनो परिमाणो के गुणनफल के बराबर होता है।

कार्य की किसी भी मात्रा को हम कार्य का एकक मान सकते हैं। उदाहरणत एक किलोग्राम भार को पृथ्वी के आकर्षण के विरुद्ध एक मीटर ऊँचा उठाने मे जितना कार्य करना पडता है उसे एकक माना जा सकता है। परतु पृथ्वी का आकर्षण सब जगह एक समान नही होता। इसका जो मान मद्रास मे है वह दिल्ली में नही है। इसलिये यह एकक असुविधापूर्ण है। फिर भी बहुत से देशो मे इजीनियर ऐसे ही एकक का उपयोग करते हैं जिसे फुट-पाउड कहते हैं। यह उस कार्य की मात्रा है जो लदन के अक्षाश मे समुद्रतट पर एक पाउड को एक फुट ऊँचा उठाने में किया जाता है। परतु वैज्ञानिक कार्यो के लिये एक दूसरे ही एकक का प्रयोग किया जाता है जो सेटीमीटर-ग्राम-सेकड के ऊपर निर्भर है। इसमे बल के एकक को 'डाइन' (Dyne) कहते है। डाइन बल का वह एकक है जो एक ग्राम के पिंड में एक सेकड मे एक सेटीमीटर प्रति सेकड का वेग उत्पन्न कर सकता है। इस बल के क्रियाबिंदु को इसके विरुद्ध एक से० मी० हटाने मे जितना कार्य करना पडता है उसे अर्ग कहते हैं। परतु व्यावहारिक दृष्टि से कार्य का यह एकक बहुत छोटा है। अतएव दैनिक व्यवहार मे एक दूसरा एकक उपयोग मे लाया जाता है। इसमे लबाई का एकक सेटीमीटर के स्थान पर मीटर है तथा द्रव्यमान का एकक ग्राम के स्थान पर किलोग्राम है। इसमे बल का एकक 'न्यूटन' है। न्यूटन बल का वह एकक है जो एक किलोग्राम के पिंड मे एक सेकड मे एक मीटर प्रति सेकड का वेग उत्पन्न कर सकता है। इस तरह न्यूटन $१०^५$ डाइन के बराबर होता है। इस बल के क्रियाबिंदु को उसके विरुद्ध एक मीटर तक हटाने मे जितना कार्य

करना पडता है उसे जूल कहते हैं। एक जूल १०^{७} अर्गों के बराबर होता है। पेरिस के अक्षांश में न्यूटन लगभग $\frac{१}{९८१}$ किलोग्राम भार के बराबर होता है और एक जूल $\frac{१}{९८१}$ किलोग्राम को एक मीटर ऊँचा उठाने में किए गए कार्य के बराबर।

ऊर्जा को भी इन्ही एकको में नापा जाता है। परतु कभी कभी विशेष स्थलो पर कुछ अन्य एकको का उपयोग होता है। इनमें एक एलेक्ट्रान-वोल्ट है। यह ऊर्जा का वह एकक है जिसे इलेक्ट्रान एक वोल्ट के विभवातर (पोटेंशियल डिफरेंस) से गुजरने पर प्राप्त करता है। यह बहुत छोटा एकक है और केवल १.६०×१०$^{-१२}$ अर्ग के बराबर होता है। इसके अतिरिक्त घरो में उपयोग में आनेवाली वैद्युत ऊर्जा को नापने के लिये एक दूसरे एकक का उपयोग होता है, जिसे किलोवाट-घटा कहते हैं और जो ३.६×१०^{६} जूलो के बराबर होता है।

यात्रिक ऊर्जा—उन वस्तुओ की अपेक्षा, जिनके अस्तित्व का अनुमान हम केवल तर्क के आधार पर कर सकते हैं, हमें उन वस्तुओ का ज्ञान अधिक सुगमता से हो जाता है जिन्हे हम स्थूल रूप से देख सकते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क में ऊर्जा के उस रूप की भावना सबसे प्रथम उदय हुई जिसका सबध बडे बडे पिंडो से है और जिसे यत्रो की सहायता से कार्यरूप में परिणत होते हम स्पष्टत देख सकते हैं। इस यात्रिक ऊर्जा के दो रूप हैं एक स्थितिज ऊर्जा एव दूसरा गतिज ऊर्जा। इसके विपरीत उस ऊर्जा का ज्ञान जिसका सबध अणुओ तथा परमाणुओ की गति से है मनुष्य को बाद मे हुआ। इस कारण यह कम आश्चर्य की बात नही है कि न्यूटन से भी पहले फ्रासिस बेकन की यह धारणा थी कि उष्मा द्रव्य के कणो की गति के कारण है।

ऊर्जा-अविनाशिता-सिद्धात की ओर पहला पद प्रसिद्ध डच वैज्ञानिक क्रिश्चियन हाइगेंज़ ने उठाया जो न्यूटन का समकालीन था। अपनी एक पुस्तक में, जो हाइगेज की मृत्यु के आठ साल बाद सन् १७०३ ई० में प्रकाशित हुई, हाइगेंज ने कहा कि जब दो पूर्णत प्रत्यास्थ (इलैस्टिक) पिंडो में सघात (टक्कर) होता है तो उनके द्रव्यमानो और उनके वेगो के गुणनफलो का योग सघात के बाद भी उतना ही रहता है जितना टक्कर के पहले। कुछ लोगो का अनुमान है कि यात्रिक ऊर्जा की अविनाशिता के सिद्धात का पता न्यूटन को था। परतु स्पष्ट शब्दो में सबसे पहले लाग्रांज़ ने इसे सन् १७८८ ई० में व्यक्त किया। लाग्रांज के अनुसार ऐसे पिंडसमुदाय में जिसपर किसी बाहरी बल का प्रभाव न पड रहा हो, यात्रिक ऊर्जा, अर्थात् स्थितिज ऊर्जा एव गतिज ऊर्जा का योग, सर्वदा एक ही रहता है।

स्थितिज ऊर्जा—एक किलोग्राम भार के एक पिंड को पृथ्वी के आकर्षण के विरुद्ध एक मीटर ऊँचा उठाने मे जो कार्य करना पडता है उसे हम किलोग्राम-मीटर कह सकते है और यह लगभग ९.८१ जूलो के बराबर होता है। यदि हम एक डोर लेकर और उसे एक घिरनी के ऊपर डालकर उसके दोनो सिरो से लगभग एक किलोग्राम के पिंड बाँधें और उन्हें ऐसी अवस्था में छोडें कि वे दोनो एक ही ऊँचाई पर न हो और ऊँचे पिंड को बहुत धीरे से नीचे आने दें तो हम देखेंगे कि एक किलोग्राम का पिंड एक मीटर नीचे आने मे लगभग एक किलोग्राम के पिंड को एक मीटर ऊँचा उठा देगा। घिरनी में घर्षण जितना ही कम होगा दूसरा पिंड भार में उतना ही पहले पिंड के भार के बराबर रखा जा सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम किसी पिंड को पृथ्वी से ऊँचा उठाएँ तो उसमे कार्य करने की क्षमता आ जाती है अर्थात् उसकी ऊर्जा बढ जाती है। एक किलोग्राम भार के पिंड को यदि ५ मीटर ऊँचा उठाया जाय तो उसमें ५ किलोग्राम-मीटर कार्य करने की क्षमता आ जाती है, एव उसकी ऊर्जा पहले की अपेक्षा उसी परिमाण में बढ जाती है। यह ऊर्जा पृथ्वी तथा पिंड की आपेक्षिक स्थिति के कारण होती है और वस्तुत पृथ्वी एव पिंड द्वारा बने समुदाय (सिस्टम) की ऊर्जा होती है। इसीलिये इसे स्थितिज ऊर्जा कहते हैं। जब कभी भी पिंडो के किसी समुदाय की पारस्परिक दूरी अथवा एक ही पिंड के विभिन्न भागो की स्वाभाविक स्थिति में अतर उत्पन्न होता है तो स्थितिज ऊर्जा में भी अतर आ जाता है। कमानी को दबाने से अथवा धनुष को झुकाने से उनमें स्थितिज ऊर्जा आ जाती है। नदियो में बाँध बाँधकर पानी को अधिक ऊँचाई पर इकट्ठा किया जाय तो इस पानी में स्थितिज ऊर्जा आ जाती है।

गतिज ऊर्जा—न्यूटन ने बल की यह परिभाषा दी कि बल सवेग (मोमेंटम) के परिवर्तन की दर के बराबर होता है। यदि द्र (m) किलोग्राम का कोई पिंड प्रारभ में स्थिर हो और उसपर एक नियत बल स (t) सेकड तक कार्य करके जो वेग उत्पन्न करे उसका मान वे (v) मीटर प्रति सेकड हो तो बल का मान ब=द्र वे/स (F=mv/t) न्यूटन होगा। इसी समय मे पिंड जो दूरी तै करे वह यदि दू (d) मीटर हो तो बल द्वारा किया गया कार्य ब दू (Fd) जूल के बराबर होगा। परतु दू=वेस/२ (d=vt/२)। अतएव बल द्वारा किया कार्य

$$\frac{\text{द्र वे}}{\text{स}} \times \frac{\text{वे स}}{२} = \tfrac{१}{२}\,\text{द्र वे}^{२} \left[\frac{mv}{t} \times \frac{vt}{२} = \tfrac{1}{2}mv^{2}\right]$$

अर्थात् द्र(m)द्रव्यमानवाले पिंड का वेग यदि वे (v) हो तो उसकी ऊर्जा $\frac{१}{२}$ द्रवे^{२} ($\frac{1}{2}mv^{2}$) होगी। यह ऊर्जा उस पिंड में उसकी गति के कारण होती है और गतिज ऊर्जा कहलाती है। जब हम धनुष को झुकाकर तीर छोडते हैं तो धनुष की स्थितिज ऊर्जा तीर की गतिज ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। स्थितिज ऊर्जा एव गतिज ऊर्जा के पारस्परिक परिवर्तन का सबसे सुदर उदाहरण सरल लोलक है। जब हम लोलक के गोलक को एक ओर खीचते हैं तो गोलक अपनी साधारण स्थिति से थोडा ऊँचा उठ जाता है और इसमें स्थितिज ऊर्जा आ जाती है। जब हम गोलक को छोडते हैं तो गोलक इधर उधर झूलने लगता है। पहले इसकी स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में परिवर्तित होती है। जब गोलक लटकने की साधारण स्थिति में आता है तो इसमें केवल गतिज ऊर्जा रहती है। सवेग के कारण गोलक दूसरी ओर चला जाता है और गतिज ऊर्जा पुन स्थितिज ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। साधारणत वायु के घर्षण के विरुद्ध कार्य करने से गोलक की ऊर्जा कम होती जाती है और इसकी गति कुछ देर में बद हो जाती है। यदि घर्षण का बल न हो तो लोलक अनत काल तक चलता रहेगा।

उष्मा ऊर्जा—गति विज्ञान मे ऊर्जा-अविनाशिता-सिद्धात के प्रमाणित हो जाने के बाद भी इसके दूसरे स्वरूपो का ज्ञान न होने के कारण यह समझा जाता था कि कई स्थितियो में ऊर्जा नष्ट भी हो सकती है, जैसे, जब किसी पिंडसमुदाय के विभिन्न भागो में आपेक्षिक गति हो तो घर्षण के कारण स्थितिज और गतिज ऊर्जा कम हो जाती है। वस्तुत ऐसी स्थितियो में ऊर्जा नष्ट नही होती वरन् उष्मा ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। परतु १८वी शताब्दी तक उष्मा को ऊर्जा का ही एक स्वतत्र स्वरूप नही समझा जाता था। उस समय तक यह धारणा थी कि उष्मा एक द्रव है। १९वी शताब्दी में प्रयोगो द्वारा यह निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया गया कि उष्मा भी ऊर्जा का ही एक दूसरा रूप है।

यो तो प्रागैतिहासिक काल में भी मनुष्य लकडियो को रगडकर अग्नि उत्पन्न करता था, परतु ऊर्जा एव उष्मा के घनिष्ठ सबध की ओर सबसे पहले बेंजामिन टामसन (काउट रुमफर्ड) का ध्यान गया। यह सयुक्त राज्य (अमरीका) के मैसाचूसेट्स प्रदेश का रहनेवाला था। परतु उस समय यह बवेरिया के राजा का युद्धमत्री था। ढली हुई पीतल की तोप की नलियो को छेदते समय इसने देखा कि नली बहुत गर्म हो जाती है तथा उससे निकले बुरादे और भी गरम हो जाते हैं। एक प्रयोग में तोप की नाल के चारो ओर काठ की नाँद में पानी रखकर उसने देखा कि खरादने से जो उष्मा उत्पन्न होती है उससे ढाई घटे में सारा पानी उबलने के ताप तक पहुँच गया। इस प्रयोग में उसका वास्तविक ध्येय यह सिद्ध करना था कि उष्मा कोई द्रव नही है जो पिंडो में होती है और दाब के कारण वैसे ही बाहर निकल आती है जैसे निचोडने से कपडे मे से पानी, क्योकि यदि ऐसा होता तो किसी पिंड में यह द्रव एक सीमित मात्रा मे ही होता, परतु छेदनेवाले प्रयोग से ज्ञात होता है कि जितना ही अधिक कार्य किया जाय उतनी ही अधिक उष्मा उत्पन्न होगी। रुमफर्ड ने यह प्रयोग सन् १७९८ ई० में किया। इसके २० वर्ष पहले ही लाव्वाज़िए तथा लाग्रांज़ ने यह देखा था कि जानवरो में भोजन से उतनी ही उष्मा उत्पन्न होती है जितनी रासायनिक क्रिया द्वारा उस भोजन से प्राप्त हो सकती है।

सन् १८१९ ई० में फ्रासीसी वैज्ञानिक ड्यूलो ने देखा कि किसी गैस

के संपीडन से उसमें उष्मा उसी अनुपात में उत्पन्न होती है जितना संपीडन में कार्य किया जाता है। सन् १८४२ ई० में इसी भावना का उपयोग जूलियस रॉबर्ट मायर ने, जो उस समय केवल २८ वर्ष का था और जर्मनी के हाइलब्रॉन नगर में डाक्टर था, इस बात की गणना के लिये किया कि एक कलरी उष्मा उत्पन्न करने के लिये कितना कार्य आवश्यक है। हम जानते हैं कि प्रत्येक गैस की दो विशिष्ट उष्माएँ होती हैं : एक नियत आयतन पर तथा दूसरी नियत दाब पर। पहली अवस्था में गैस कोई कार्य नहीं करती। दूसरी अवस्था में गैस को बाह्य दबाव के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है और दोनों विशिष्ट उष्माओं में जो अंतर होता है वह इसी कार्य के समतुल्य होता है। इस तरह मायर को उष्मा के यांत्रिक तुल्यांक का जो मान प्राप्त हुआ वह लगभग उतना ही था जितना काउंट रमफोर्ड को प्राप्त हुआ था।

इसी समय इंग्लैंड में जेम्स प्रेसकाट जूल भी उष्मा का यांत्रिक तुल्यांक निकालने में लगा हुआ था। इसके प्रयोग सन् १८४२ ई० से सन् १८५२ ई० तक चलते रहे। अपने प्रयोग में उसने एक तांबे के उष्मामापी में पानी लिया और उसे एक मथनी से मथा। मथनी को दो घिरनियों पर से लटके हुए दो भारों द्वारा चलाया जाता था। जिस डोर से ये भार लटके हुए थे वह इस मथनी के सिरे में लपेटी हुई थी और जब ये भार नीचे की ओर गिरते थे तो मथनी घूमती थी। जब ये भार नीचे गिरते थे तो इनकी स्थितिज ऊर्जा कम हो जाती थी। इस कमी का कुछ भाग भारों की गतिज
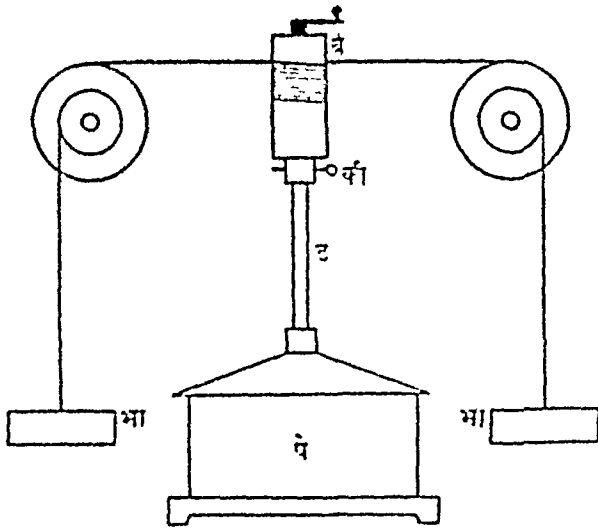
जूल का यंत्र।

म=मथनी का बेलन, की=मथनी को धुरी से जोड़ने वाली कील,
ट=धुरी, भा=भार, पे=पेटी जिसमें उष्मामापी रखा है।

ऊर्जा में परिणत होता था और कुछ भाग मथनी को घुमाने में व्यय होता था। इस तरह यह ज्ञात किया जा सकता था कि मथनी को घुमाने में कितना कार्य किया जा रहा था। उष्मामापी के पानी के ताप में जितनी वृद्धि हुई उससे यह ज्ञात हो सकता था कि कितनी उष्मा उत्पन्न हुई, और तब उष्मा का यांत्रिक तुल्यांक ज्ञात किया जा सकता था। जूल ने ये प्रयोग पानी तथा पारा दोनों के साथ किये।

सन् १८४७ ई० में हरमान फान हेल्महोल्ट्स ने एक पुस्तक लिखी जिसमें उष्मा, चुंबक, बिजली, भौतिक रसायन आदि विभिन्न क्षेत्रों के उदाहरणों द्वारा ऊर्जा संरक्षिता-सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया था। जूल ने प्रयोगों द्वारा वैद्युत ऊर्जा तथा उष्मा-ऊर्जा की समानता सिद्ध की। वैद्युत घट (सेलों) द्वारा रासायनिक ऊर्जा वैद्युत ऊर्जा में परिणत होती है। इस बिजली से हम प्रकाश पैदा कर सकते हैं। सूर्य के प्रकाश से प्रकाश-संश्लेषण क्रिया द्वारा प्रकाश-ऊर्जा पेड़ों की रासायनिक ऊर्जा में परिणत होती है। ऐसी क्रियाओं द्वारा यह स्पष्ट है कि विभिन्न परिवर्तनों में ऊर्जा का केवल रूप बदलता है। ऊर्जा के मान में कोई अंतर नहीं आता।

द्रव्यमान तथा ऊर्जा की समतुल्यता—सन् १९०५ ई० में आइन्स्टाइन ने अपना आपेक्षिकता सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसके अनुसार कणों का द्रव्यमान उनकी गतिज ऊर्जा पर निर्भर रहता है। स्थिर अवस्था में जिस कण का द्रव्यमान द्र₀ (m_0) है, गतिशील अवस्था में उसका द्रव्यमान $\text{द्र}_0/(\text{१}-\text{वे}^2/\text{प्र}^2)^{\frac{1}{2}}$ [$m_0/(1-v^2/c^2)^{\frac{1}{2}}$] हो जाता है, जिसमें वे (v) उस कण की गति है तथा प्र (c) प्रकाश की गति है। इस सिद्धांत के अनुसार उस कण की गतिज ऊर्जा

$$\text{ऊ}=\text{द्र}_0\,\text{प्र}^2\left(\frac{\text{१}}{\sqrt{(\text{१}-\text{वे}^2/\text{प्र}^2)}}-\text{१}\right),$$

$$\left[T=m_0c^2\left(\frac{1}{\sqrt{(1-v^2/c^2)}}-1\right)\right]$$

अर्थात् $\text{ऊ}=(\text{द्र}-\text{द्र}_0)\,\text{प्र}^2$, $[T=(m-m_0)c^2]$
और $\text{द्र}=\text{द्र}_0+\text{ऊ}/\text{प्र}^2$, $[m=m_0+T/c^2]$

जिसमें $\text{द्र}=\text{द्र}_0(\text{१}-\text{वे}^2/\text{प्र}^2)^{-\frac{1}{2}}$, $[m=m_0/(1-v^2/c^2)^{\frac{1}{2}}]$ = उस कण का बढ़ा हुआ द्रव्यमान।
इसका यह अर्थ है कि ऊर्जा का मान द्रव्यमानवृद्धि को प्रकाश के वेग के वर्ग से गुणा करने पर प्राप्त होता है। इस सिद्धांत की पुष्टि नाभिकीय विज्ञान के बहुत से प्रयोगों द्वारा होती है। सूर्य में भी ऊर्जा इसी तरह बनती है। सूर्य में एक शृंखला क्रिया होती है जिसका फल यह होता है कि हाइड्रोजन के चार नाभिकों के संयोग से हीलियम का नाभिक बन जाता है। हाइड्रोजन के चारों नाभिकों के द्रव्यमान का योगफल हीलियम के नाभिक से कुछ अधिक होता है। यह अंतर ऊर्जा में परिवर्तित हो जाता है। परमाणु बम एवं हाइड्रोजन बम में भी इसी द्रव्यमान-ऊर्जा-समतुल्यता का उपयोग होता है।

ऊर्जा का क्वांटमीकरण—वर्णक्रम के विभिन्न वर्णों के अनुसार कृष्ण पिंड के विकिरण के वितरण का ठीक सूत्र क्या है, इसका अध्ययन करते हुए प्लांक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विकिरण का आदान प्रदान अनियमित मात्रा में नहीं होता प्रत्युत ऊर्जा के छोटे कणों द्वारा होता है। इन कणों को क्वांटम कहते हैं। क्वांटम का मान प्रकाश की आवृत्ति के ऊपर निर्भर रहता है। आवृत्तिसंख्या को जिस नियतांक से गुणा करने पर ऊर्जा-क्वांटम का मान प्राप्त होता है उसे प्लांक नियतांक कहते हैं।

नील्स बोर ने सन् १९१३ ई० में यह दिखलाया कि यह क्वांटम सिद्धांत अत्यंत व्यापक है और परमाणुओं में इलेक्ट्रान जिन कक्षाओं में घूमते हैं वे कक्षाएँ भी क्वांटम सिद्धांत के अनुसार ही निश्चित होती हैं। जब इलेक्ट्रान अधिक ऊर्जावाली कक्षा से कम ऊर्जावाली कक्षा में जाता है तो उन दो ऊर्जाओं का अंतर प्रकाश के रूप में बाहर आता है। हाइज़ेनबर्ग, श्रोडिंगर तथा डिराक ने इस क्वांटम सिद्धांत को और भी विस्तृत किया है।

सं० ग्रं०—लेनार्ड : ग्रेट मेन ऑव सायंस, वाइटमैन : दि ग्रोथ ऑव सायंटिफिक आइडियाज, टिंडल : हीट ऐज़ ए मोड ऑव मोशन, माख : हिस्ट्री ऐंड दि रूट ऑव दि प्रिंसिपुल ऑव दि कंज़र्वेशन ऑव एनर्जी।
[रा० नि० रा०]

ऊर्णाजिन (फर) जंतुओं के उन चर्मों को कहते हैं जिनमें उनका प्राकृतिक लोम (बाल) लगा ही रहता है। ठंढे देशों में, विशेषकर वहाँ के धनिकों में, ऊर्णाजिन पहनने का प्रचलन अधिक है, आवश्यकता के लिये उतना नहीं जितना दिखावे के लिये। ऊर्णाजिन के एक एक जनाना ओवरकोट के लिये तीन हजार, चार हजार रुपए तक लोग देते हैं, विशेषकर तब जब ऊर्णाजिन किसी दुर्लभ जंतु के चर्म से बना रहता है या उसका कोई विशेष रंग रहता है। विदेशों में फर में उन्हीं चर्मों की गिनती की जाती है जो पहने जाते हैं। बिछाने के लिये उपयुक्त मृगचर्म, व्याघ्रचर्म या सिंहचर्म आदि की गिनती इसमें नहीं होती।

जंगली जंतुओं से तो ऊर्णाजिन मिलता ही है, अब पालतू जंतुओं से भी बहुत सा ऊर्णाजिन प्राप्त होता है। जंगली जंतुओं में साधारणतः दो तरह के लोम होते हैं, एक बड़े, जो वर्षा से जंतु की रक्षा करते हैं और

सरक्षक लोम कहलाते हैं, दूसरे छोटे और घने, जो शीत से जतु को बचाते हैं। ये अधोलोम कहलाते हैं। कुछ ऊर्णाजिन सरक्षक लोम को चुनकर (निरावरण) और अधोलोम को कतरनी से बराबर कतरकर तैयार किए जाते हैं।

ससार का अधिकाश ऊर्णाजिन उत्तरी अमरीका और साइबीरिया से आता है, परन्तु थोडा बहुत ऊर्णाजिन यूरोप, चीन, जापान, ईरान, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका से भी प्राप्त होता है। भारत में ऊर्णाजिन कश्मीर में प्राप्त होता है। ठढे देशो से प्राप्त ऊर्णाजिन में लोम घने और लबे होते हैं। ऊर्णाजिनो की उत्तमता पर ऋतु का भी बडा प्रभाव पडता है। बीच जाडे में मारे गए जतुओ से सबसे अच्छा ऊर्णाजिन प्राप्त होता है। जाडे के अत में चमडा मोटा हो जाता है और लोम झडने लगते हैं। खुरवाले पशुओ की खाल (जैसे भेड, बकरी, आदि की खाल) भी पहनने के काम में आती है। साधारणत इनके बच्चो के जन्म लेने के एक सप्ताह के भीतर ही उनकी खाल ले ली जाती है। टट्टुओ की खालें भी इसी प्रकार काम में आती हैं। अस्सी से ऊपर तरह के जानवरो की खालें ऊर्णाजिन बनाने के लिये प्रयुक्त होती हैं, जिनमें अपोसम, अर्मिन, ऊदबिलाव, गिलहरी, चिंचिला, चीता, बदर, बकरी, बिल्ली, बीवर, भेड, भेडिया, मस्करैट, मिंक, रैकून, लिंक्स, लोमडी, शशक, सियार, सील, सेबुल, एकक, आदि जतु हैं।

जतुपालन—अब ऊर्णाजिन देनेवाले जतु पाले भी जाते हैं, विशेषकर मिंक, लोमडी, रैबिट आदि। मिंक ऊदबिलाव की तरह का जानवर है, जो लगभग २ फुट लबा होता है। इसका ऊर्णाजिन बहुमूल्य होता है। वर्णसकर करके कई रग के मिंक उत्पन्न किए गए हैं, यद्यपि पहले केवल कत्थई और काली धारीवाले सफेद मिंक ही उपलब्ध थे। जतुओ को बडे बडे जालीदार पिंजडो में रखा जाता है, जिनमे वे स्वच्छदता से कूद फाँद सकते हैं और इसलिये स्वस्थ रहते हैं। नर और मादा के पिंजडे अगल बगल रखे जाते हैं जिससे वे एक दूसरे से परिचित हो जायँ, अन्यथा उनको एक साथ करने पर उनके लडने और एक के मरने का भय रहता है। जानवरो को स्वच्छ रखना चाहिए। आहार और औषध का उचित प्रबध रहना चाहिए। पहले इन विषयो का ज्ञान अच्छा नही था, परतु अब अमरीका की सरकार ने बहुत पैसा खर्च करके इन बातो पर अनुसधान कराया है और पुस्तको तथा परामर्श देनेवाले डाक्टरो द्वारा परीक्षित रीतियो का ज्ञान सुलभ कर दिया गया है। खाल खीचने के बाद भीतर लगे मास और चरबी को खुरचकर निकाल दिया जाता है और तब लकडी के पटरो पर या धातु के चौखटो पर तानकर खालो को सूखने दिया जाता है।

सिझाना—सूखी खालें जब सिझानेवाले कारखानो में पहुँचती हैं तो उनको नमक के घोल में डाल दिया जाता है, जिसमें वे नरम हो जायँ परतु सडें नही। तब छूरे की धार पर उनको इधर से उधर खीचा जाता है, जिसमे भीतरी झिल्ली खुरच उठे। तब उन्हे फिटकिरी तथा थोडे से अम्ल के मिश्रण मे डाला जाता है। इसमें से निकालने और सुखाने के बाद चमडी की ओर मक्खन, चर्बी या तेल मला जाता है, तब उनपर मशीन से मुदी की जाती है। फिर उन्हे बहुत बडे ढोल में डाल दिया जाता है जिसमें किसी कडी लकडी की कुनाई रहती है। ये ढोल मशीन से घूमते रहते हैं और इस प्रकार कुनाई खालो को अच्छी तरह साफ कर देती है।

यदि रँगाई करनी होती है तो खालो को क्षारमय (सोडा आदि के) घोल मे डाल दिया जाता है, जिसमे ऊपर लगा तेल आदि कट जाता है। तब उन्हें कसीस (लोह सल्फेट) या सोडियम बाइक्रोमेट के घोल में डालते हैं। इससे लोम में रग पकडने की शक्ति आ जाती है। तब उन्हे रग के घोल में डाला जाता है। खालो के रँग जाने के बाद उनको धोया जाता है। पक्का रहने के कारण धोने से रग नही छूटते, केवल अनावश्यक रासायनिक पदार्थ बह जाते हैं। खालो से अनावश्यक जल अब मशीन द्वारा निकाल लिया जाता है। अर्धशुष्क खालो को बारी बारी से शुष्क कुनाईवाले कई ढोलो में नचाकर पूर्णतया सुखा लिया जाता है। फिर उन्हें जालीदार पिंजडे में डालकर नचाया जाता है, जिससे कुनाई प्राय सब अलग छिटक जाती है। तब खालो को बेत से पीटा जाता है और अत में सपीडित वायु से उनको पूर्णतया स्वच्छ कर लिया जाता है। आवश्यकता होती है तो सरक्षक लोम को मशीन से उखाड लेते हैं और अधोलोम को काटकर एक ऊँचाई का कर देते हैं। ऐसा जतुओ की केवल कुछ ही जातियो (जैसे सील या बीवर) के लिये करना पडता है।

व्यापार—अधिकाश ऊर्णाजिन जगली पशुओ को मारने या फँसाने से प्राप्त होता है, परतु कैनाडा में लगभग ४० प्रति शत ऊर्णाजिन पाले गए जानवरो से प्राप्त होता है। अब न्यूयार्क ऊर्णाजिन व्यापार का केंद्र हो गया है, पहले लदन और लाइपसिग थे। ५० करोड रुपए से अधिक का माल प्रति वर्ष बिकता है। सस्ते ऊर्णाजिनो की ही अधिक खपत है जो रैबिट आदि से प्राप्त होते हैं।

ऊर्णाजिनो से कोट, बडी, गुलूबद और दुपट्टे बनते हैं। इसके अतिरिक्त वे ऊनी कपडो मे कालर, कफ और किनारी के लिये भी प्रयुक्त होते हैं। सस्ते उर्णाजिन अस्तर के लिये भी काम आते हैं। जूतो मे भी इनका अस्तर दिया जाता है, जिसमे पैर गरम रहें। एक एक ओवरकोट मे कई जानवरो की खाल लग जाती है और मूल्य कई हजार से लेकर दो चार सौ रुपए तक होता है। अमरीका में ही ऊर्णाजिनो की अधिक खपत है और विधान बने हैं, जिनका कडाई से पालन होता है। इनके अनुसार विक्रेता को स्पष्ट शब्दो में बताना पडता है कि रग असली है या नकली और खाल किस जानवर की है। ऊर्णाजिनो पर वहाँ की सरकार गहरा कर लगाती है, जिससे एक वर्ष मे २० करोड रुपए से कुछ अधिक वसूल हो जाता है।

ऊर्णाजिन गरमी और बरसात से खराब हो जाते हैं। गरमी मे लोम कडे हो जाते हैं, जिससे वे टूट या झर जाते हैं और बरसात से कई जानवरो के लोम एक दूसरे मे चिपक जाते हैं। इसलिये बहुत से थोक विक्रेता अपने माल को बिजली से ठढी की हुई कोठरियो में रखते हैं।

ऊर्मिया उत्तरी-पश्चिमी ईरान में ३७°-१०' और ३८°-२०' उत्तरी अक्षाशो और ४५°-१०' तथा ४६°-०' पूर्वी देशातरो के बीच स्थित एक झील है। इसका नाम इसके पश्चिमी किनारे पर स्थित ऊर्मिया नगर पर पडा है परतु इसको 'दे-राचेह-ई-शाही' और 'शाही-कोल' भी कहते हैं। झील की औसत गहराई १५ से १६ फुट है तथा इसकी अधिकतम गहराई ५० फुट से अधिक नही है।

आधुनिक समयो में इसके जलपृष्ठ में बहुत परिवर्तन हुआ है। यह या तो धरातल की अस्थिरता के कारण अथवा इन क्षेत्रो में वाष्पीकरण की तुलना मे वर्षा की मात्रा बढ जाने के कारण हुआ है। डी० मॉर्गन के अनुसार इस झील का क्षेत्रफल निम्न जलस्तर तथा उच्च जलस्तर पर क्रमानुसार ४,००० और ६,००० वर्ग किलोमीटर रहा है।

दक्षिण में लगभग ५० चट्टानी द्वीपो का समूह है, जिनमे कोयूनडग्घी सबसे बडा है। इसमे एक मीठे पानी का झरना है, जिसके पास कुछ लोग भेड बकरी पालने का व्यवसाय करते हैं। बाकी सभी द्वीप बसे नही हैं। इसके पूर्वी किनारे पर स्थित शरफ-खानेह बदरगाह से इसके दूसरे भागो के लिये साप्ताहिक मोटर बोट के द्वारा यातायात की व्यवस्था है। यह खारे पानी की झील है।

ऊर्मिया ३७°-३४' उत्तरी अक्षाश और ४५°-४' पूर्वी देशातर पर स्थित ईरान के अजरबैजान प्रात के एक नगर का भी नाम था, जिसका वर्तमान नाम रेजाह है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व अनुमानित जनसख्या ४५,००० थी जिसमें प्रमुख रूप से तुर्क ही थे तथा आरमीनियन और असीरियन अल्पसख्यक थे। ऊर्मिया का मैदान उपजाऊ है तथा सिंचाई की मदद से फल तथा तबाकू की कृषि उच्च स्तर पर पहुँच चुकी है। अधिक मात्रा में किशमिश, खजूर और तबाकू का निर्यात रूस को किया जाता है।

[सु० कु० सिं०]

ऊल्म डैन्यूब नदी के बाएँ किनारे पर स्वाबियन आल्प्स की तराई में स्थित जर्मनी का एक नगर है (जनसख्या लगभग ७५,०००)। डैन्यूब, जिसमें इस नगर के कुछ ऊपर ईलर तथा कुछ नीचे ब्लाऊ नामक नदियाँ आकर मिलती हैं, यहाँ जल यातायात के योग्य है। फलस्वरूप यह एक नदी-बदरगाह के रूप मे प्रधान व्यावसायिक केंद्र हो गया है। यहाँ तक नेकर तथा राईन नदियो से भी यातायात होता है। यह चमडे और ऊन का प्रधान बाजार है तथा यहाँ पर तार की रस्सियाँ, सोहागा, रग, मक्खन, जूट, लाख, इत्र और सिमेंट तैयार किया जाता है, शराब बनाने,

कपडा वुनने, लोहा तथा पीतल गलाने का भी कार्य होता है। ऊल्म अपनी मिलो और फौजी छावनी के कारण भी विख्यात है।

[सु० कु० सिं०]

ऊषा दैत्यराज बाण की कन्या और वलि की पौत्री। उसका दूसरा नाम प्रीतिजुषा है। महाभारत के अनुसार ऊषा स्वप्न मे अनिरुद्ध पर मोहित हो गई फिर सखी चित्रलेखा द्वारा राजाओ और देवताओ के चित्रादि दिखाने पर उसने प्रद्युम्न के पुत्र और कृष्ण के पौत्र अपने प्रिय अनिरुद्ध को पहचाना। अनिरुद्ध बाण के महल मे ऊषा के यहाँ लाए गए पर दैत्यराज बाण ने उन्हे नागपाश मे बाँध लिया। पश्चात् कृष्ण ने वलराम और प्रद्युम्न के साथ वहाँ जाकर अनिरुद्ध और उसकी पत्नी ऊषा का उद्धार किया।

[ओ० ना० उ०]

ऋग्वेद आर्य धर्म तथा दर्शन का मूल ग्रथ ऋग्वेद विश्वसाहित्य का एक प्राचीनतम ग्रथ है। छदोवद्ध मत्रो को ऋक् या ऋचा कहते है और उन्ही का विशाल सग्रह होने से यह वेद ऋग्वेद (ऋचाओ का वेद) या ऋक्सहिता के अभिधान से प्रख्यात है। पाश्चात्य दृष्टि से भाषा तथा अर्थ के विचार से यह अन्य वेदो से प्राचीन माना जाता है। भारतीय दृष्टि से भी यह समस्त वेदो मे पूज्यतम स्वीकार किया गया है।

ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाजन उपलब्ध हैं—(१) अष्टक क्रम तथा (२) मडल क्रम। पहले क्रम के अनुसार ऋग्वेद मे आठ अष्टक हैं और प्रत्येक अष्टक मे आठ अध्याय है। इस प्रकार यह वेद ६४ अध्यायो का ग्रथ है जिसके प्रत्येक अध्याय मे 'वर्ग' और वर्ग के भीतर ऋचाएँ सगृहीत हैं। दूसरा विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। इस क्रम के अनुसार समग्र ऋग्वेद दस मडलो मे विभक्त है। प्रत्येक मडल मे अनेक अनुवाक हैं, अनुवाक के अवातर विभाग सूक्त हैं और सूक्तो के अतर्गत मत्र या ऋचाएँ (ऋक्) ह। सूक्तो की सख्या एक हजार सत्रह (१०१७) है जिनमे खिलरूप ११ वालखिल्य सूक्तो को मिला देने पर सूक्तसख्या १०२८ हो जाती है। ऋचाओ की पूरी सख्या दस हजार पाँच सौ अस्सी (१०,५८० मत्र) है।

पाश्चात्य विद्वानो का कथन है कि ऋग्वेद के मडलो मे प्राचीन तथा अर्वाचीन मत्रो का सग्रह सकलित है। द्वितीय मडल से लेकर सप्तम मडल तक का भाग ऋग्वेद का प्राचीन अश है। इनमें से प्रत्येक मडल किसी विशिष्ट ऋषिवश को अपना द्रष्टा मानता है और इसीलिये ये 'वशमडल' कहे जाते हैं। द्वितीय मडल के ऋषि हैं गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पचम के अत्रि, षष्ठ के भरद्वाज और सप्तम के वसिष्ठ। अष्टम के ऋषि कण्व वश तथा अगिरा वश के हैं। नवम मडल मे सोम विषयक समस्त ऋचाओ का सग्रह है जो इसी कारण 'पवमान मडल' के नाम से प्रख्यात है (पवमान=सोम)। इस प्रकार द्वितीय से नवम मडल तक के प्राचीन भाग मे आदि तथा अत मे एक एक मडल जोडकर दस मडल प्रस्तुत किए गए है। पाश्चात्य समीक्षक दशम मडल को भाषा तथा भाव की दृष्टि से ऋग्वेद का अर्वाचीनतम अश मानते हैं। ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ प्रख्यात थी जिनमे शाकल शाखा की ही आजकल सहिता उपलब्ध है। वाष्कल, आश्वलायन, साख्यायन तथा माडूकायन शाखाओ के कतिपय ग्रथ मिलते हैं, सहिता नही मिलती।

ऋग्वेद आर्य धर्म का प्राचीनतम मौलिक रूप प्रस्तुत करता है। नाना देवताओ के स्तोत्रो का इसे विशाल भाडार मानना सर्वथा उचित है। ऋग्वेद के मत्रो मे हम अग्नि, इद्र, वरुण, सविता, सूर्य, पूषन्, मित्र, रुद्र, नासत्यौ, आदि प्रख्यात देवताओ का विशुद्ध परिचय उनकी विमल कीर्ति और विविध कार्यावली के साथ पाते हैं। हम जान सकते हैं कि आदिम मानव किस प्रक्रिया से प्राकृतिक दृश्यो को देवता के रूप मे गढने मे व्यस्त रहा होगा और किस प्रकार वैदिक आर्य गण इस नानात्मक जगत् के भीतर एक तत्व को ढूंढ निकालने में समर्थ हुए। 'एक सद् विप्रा वहुधा वदति' का घोष वैदिक धर्म का विजयघोष है। अनेक दार्शनिक सूक्तो की उपलब्धि ऋग्वेद मे होती है जिनके अनुशीलन से हम आर्य धर्म के वहुदेवतावाद से लेकर एकदेवतावाद तथा अद्वैतवाद तक के रूप मे विकासक्रम को भलीभाँति समझ सकते हैं। ऐसे सूक्तो मे नासदीय सूक्त (१०।१२९), पुरुषसूक्त (१०।९०), हिरण्यगर्भसूक्त (१०।१२१) तथा वाक् सूक्त (१०।१४५) अपनी दार्शनिक गभीरता, प्रातिभ अनुभूति और मौलिक कल्पना के कारण अत्यत प्रसिद्ध हैं। लौकिक विषयो में 'द्यूतकरविषाद' विषयक सूक्त (१०।३४) जुआडी की मनोदशा का रोचक परिचायक है। 'पुरुष एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम्' ऋग्वेदीय उदात्त दार्शनिकता का एक सरस प्रतिपादक वाक्य है।

स० ग्रं०—विंटरनित्स हिस्ट्री ऑव इडियन लिटरेचर, भाग १, कलकत्ता, १९३०, वलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य और सस्कृति, काशी, १९५८।

[ब० उ०]

ऋचा छदोवद्ध वैदिक मत्र। ऋक् या ऋचा एक ही शब्द के दो रूप है। जिसके द्वारा किसी देवविशेष की, क्रियाविशेष की अथवा क्रिया के साधनविशेष की अर्चना या प्रशसा की जाय, उसे ऋक् कहते है। 'ऋक्' या 'ऋचा' का यही व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है (अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेष क्रियाविशेष तत्साधनविशेषा वा इत्यृक् शब्द व्युत्पत्ते —सायण की ऋक्भाष्य की उपक्रमणिका)। ऋचा का एक दूसरा नाम 'शक्वरी' भी है। यह शब्द शक् धातु से निष्पन्न होता है और अर्थ है वह मत्र जिसके द्वारा इद्र अपने शत्रु वृत्र को मारने मे समर्थ हुआ (यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तु तच्छक्वरीणा शक्वरीत्वमिति विज्ञायते—कौषीतकि ब्रा० २३।२)। जैमिनि ने अपने मीमासादर्शन मे ऋक् के लक्षण प्रसग मे लिखा है—तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, मीमासा सूत्र २।१।३५ अर्थात् जिन मत्रो मे अर्थ के वश से पादो की व्यवस्था रहती है वे ऋक् कहलाते हैं। ऋचाओ के पादो की व्यवस्था अर्थ के अनुसार होती है, यह एक वडा ही महत्वपूर्ण नियम वैदिक छदो के विषय मे है। इसे समझने के लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। वेद की एक प्रख्यात ऋचा है

अग्नि पूर्वेभिर्ऋषिभिरीडचो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति। (ऋग्वेद १।१।२)

यह त्रिपदा गायत्री ऋचा है। इसमे तीन पाद है और प्रत्येक पाद मे आठ अक्षर। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर प्रथम पाद का अत 'ऋषिभि' पद पर होगा, परतु क्रियापद के अभाव मे वह पाद अर्थ की दृष्टि से अपूर्ण है। फलत 'रीडचो' तक प्रथम पाद १० अक्षरो का होगा और द्वितीय पाद केवल पाँच अक्षरो का होगा। ऐसी व्यवस्था निदानसूत्र मे पतजलि के मतानुसार है कि गायत्री का अष्टाक्षर पाद पाँच या चार अक्षरो तक न्यून होकर हो सकता है तथा वढकर दस अक्षरो तक वह जा सकता है। इन ऋचाओ का सग्रह ऋग्वेद के नाम से प्रख्यात है। ऋग्वेद को छोडकर कुछ ऋचाएँ यजुर्वेद मे और अधिक ऋचाएँ अथर्ववेद मे उपलब्ध होती हैं।

'त्रयी' के उत्पादक तीन अश हैं—ऋक्, यजु तथा साम। इन तीनो मे ऋक् विशेष अभ्यर्हित या पूजनीय मानी जाती है, क्योकि उसकी उत्पत्ति दोनो की अपेक्षा पहले हुई थी। इसका स्पष्ट उल्लेख वेद के अनेक स्थलो पर मिलता है। पुरुषसूक्त के मत्र मे ऋचाओ की उत्पत्ति प्रथमत मानी गई है

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि यज्ञिरे।
छदासि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥
(ऋग्वेद १०।९०।९)

इनकी पूजनीयता का एक दूसरा भी कारण है। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार ऋचाओ के द्वारा सपादित यज्ञाग दृढ होता है—यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिल तद्। यद् ऋचा तद् दृढमिति—तैत्ति० स० ६।५।१०।३। इसका अर्थ है कि साम तथा यजुष् के द्वारा सपन्न यज्ञ का अग शिथिल ही रहता है। परतु ऋक् के द्वारा निष्पन्न अग दृढ होता है। इस प्रकार यज्ञाग की दृढता के कारण भी ऋचाएँ पूजनीय मानी जाती हैं। साम तो ऋचाओ के ऊपर ही आश्रित रहते हैं। ऋचाओ के अभाव मे साम की अवस्थिति ही निराधार रहेगी। फलत सामो की प्रतिष्ठा के लिये भी ऋचाएँ आवश्यक होती हैं।

सब वेदो के ब्राह्मण अपने कथनो मे विश्वास की दृढता उत्पन्न करने के लिये 'ऋचा अभ्युक्तम्' ऐसा निर्देश कर ऋचाओ को उद्धृत करते हैं। अध्ययन के क्रम मे भी ऋग्वेद प्रथम माना जाता है। छादोग्य उपनिषद्

(७।१।२) में नारद ने अपनी अधीत विद्याओं मे ऋग्वेद का ही प्रथम निर्देश किया है—ऋग्वेद भगवोऽध्येमि। इसी प्रकार मुडक (१।१।५)में तथा नृसिंहतापनीय उपनिषद् (१।१।२) में ऋचाओं का वेद के प्रथम पाठ्य के रूप में उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ऋचाएँ विशेष आदर तथा श्रद्धा से सपन्न मानी जाती हैं। ऋचाओं की विशिष्ट सज्ञाएँ भी होती हैं जो कभी आदि पद के कारण और कभी विनियोग की दृष्टि से दी जाती है। 'महानाम्नी' पद के कारण कई ऋचाएँ महानाम्नी कहलाती हैं, तो अग्निसमिधन के लिये प्रयुक्त होने से अन्य ऋचाएँ 'सामधनी' तथा कूष्माड के साथ अनुष्ठान मे प्रयुक्त होने से 'कूष्माडी' कहलाती हैं (शुक्ल यजुर्वेद २०।१४–१६)।

स० ग्र०—युधिष्ठिर मीमासक वैदिक छदोमीमासा, अमृतसर, १९५६, पिंगल छद शास्त्रम्, निर्णयसागर प्रेस, ववई, १९३८। [व० उ०]

ऋजुपक्ष कीटवर्ग अपेक्षाकृत एक कम विकसित कोटि है जिसके अतर्गत टिड्डियो, टिड्डो, झीगुरो, झिल्लियो, रीवो आदि की गणना की जाती है। पहले इस कोटि में तेलचट्टे, पर्णकीट, मैंटिस आदि भी रखे गए थे, किंतु अव वे दूसरी कोटि के अतर्गत कर दिए गए हैं। तो भी ऋजुपक्ष कोटि में १०,००० से अधिक कीटपतगो का वर्णन किया जाता है।

ये कीट सामान्य से वहुधा काफी वडी नाप के होते हैं तथा इनकी भिन्न भिन्न जातियो में कुछ पखदार, कुछ पखहीन और कुछ छोटे पखवाली जातियाँ होती हैं। ये सभी जतु स्थल पर रहनेवाले होते हैं। कई जातियो मे ध्वनि उत्पन्न करने के अग होते हैं और कुछ तो वडी तेज ध्वनि करते हैं। अगले पख पिछले पखो की अपेक्षा मोटे होते हैं। शिशुओं के पखो की गद्दियाँ विकासकाल में उलट जाती हैं। मादा में सामान्यत अडरोपक अग होते हैं। नर के जननाग नवे अधरपट्ट के नीचे छिपे रहते हैं। रूपातरण साधारणत थोडा ही या अपूर्ण होता है।

ऋजुपक्ष के वर्गीकरण के सवध में विशेषज्ञो के मतो में कुछ विभिन्नता है, किंतु लगभग सभी वर्तमान विद्वान् इसके अतर्गत १२ वश रखते हैं—शीजोडैक्टाइलिडी, ग्रिल्लैक्रिडाइडी, फैज्मोडाइडी, टेटिगोनिडी, स्टीनोपेल्मैटिडी, प्रोफैलैंगोप्सिडी, ग्रिल्लोटैल्पिडी, ग्रिल्लिडी, टेट्रिगिडी, प्रास्कोपाइडी, न्युमोरिडी, यूमैस्टैसिडी, एक्रिडाइडी, सिलिंड्रैकेटिडी तथा ट्राइडैक्टाइलिडी।

स्टीनोपेल्मैटिडी तथा ग्रिल्लैक्रिडाइडी वहुत पिछडे हुए वश हैं। शीजोडैक्टाइलिडी वश में केवल ३ जातियाँ ही रखी जाती हैं जो ससार के पूर्वी गोलार्ध में जहाँ तहाँ फैली हुई हैं। इनकी एक जाति शीजोडैक्टाइलस ही पखदार है। विश्रामावस्था मे इनके लवे पखो के सिरे कमानी की भाँति
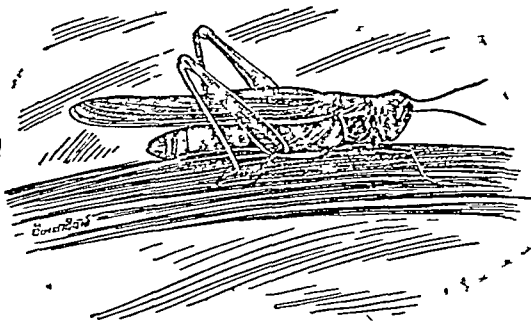
लघु भृगोवाला टिड्डा (स्टेनोवॉथ्रस वाइकलर)

लिपटे होते हैं। यह मिट्टी में विल वना सकता है और दिन में उसी मे रहता है। प्रोफैलैंगोप्सिडी मे केवल तीन ही जातियाँ रखी जाती हैं जिनमे से एक प्रोफैलैंगाप्सिस आन्मकूरा भारत में पाई जाती है। टेटिगोनिडी वश मे लवी सीगोवाले पतले टिड्डे रखे जाते हैं। इनके पख हरे रग के होते हैं और ये साधारणत झाडियो, घास फूस आदि में छिपे रहते हैं। इस क्रिया मे इनके हरे रग से विशेष सहायता मिलती है। इनकी मादाओं के अडरोपक भी वहुत लवे होते हैं। कभी कभी तो इनकी लवाई शरीर की
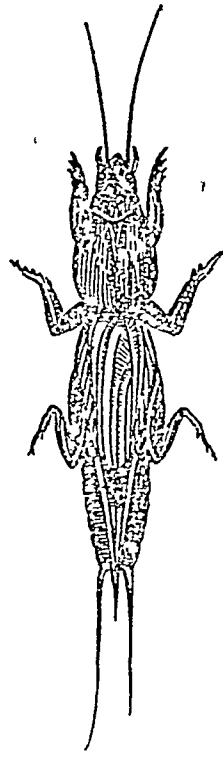
रेवा

यह कीट वरसात के दिनो में अति तीव्र ध्वनि उत्पन्न करता है।
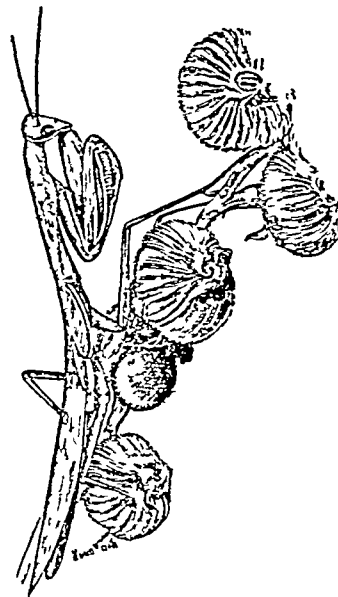
वद्धहस्त (मैंटिस)

शिकार को पकडने के लिये अग्रिम टागो को मोडकर आक्रमण के लिये, या साधारणत, इसी प्रकार तैयार रहता है। शेष टागें इस प्रकार रखी हुई हैं कि शरीर को वे सम्हाले रहें।

लवाई से भी अधिक होती है। ग्रिल्लिडी वश के अतर्गत झिल्ली तथा झीगुर रखे जाते हैं। ये अपने पखो के किनारो को रगडकर तीव्र ध्वनि उत्पन्न करते हैं। रगड के समय पख लगभग ४५° के कोण पर उठ जाते हैं और फिर वाएँ पख का सिरा दाहिने पख के रेती जैसे सिरे को रगडता है। कहा जाता है, घरेलू झीगुर द्वारा उत्पन्न ध्वनि एक मील तक सुनाई पडती है। ग्रिल्लोटैल्पिडी के अतर्गत रीवाँ या जगली झीगुर आते हैं। इस पूरी कोटि का सवसे वडा वश है ऐक्रिडाइडी, इसके अतर्गत लगभग ५,००० जातियाँ हैं जो अधिकाशत उष्ण प्रदेशो में ही पाई जाती हैं। इस वश में छोटी सीगवाले टिड्डे तथा विनाशकारी टिड्डियाँ हैं। इनमें कई प्रकार के ध्वन्युत्पादक अग पाए जाते हैं। कुछ उडते समय भी ध्वनि उत्पन्न कर सकते हैं। इनके अडरोपक वहुत विकसित नही होते किंतु उनकी सहायता से वहुधा ये कीट खेतो, मेडो आदि मे एक छेद करते हैं और फिर उदर का अतिम भाग उस विल में डाल कर ३० से १०० तक की सख्या मे अडे देते हैं। साथ ही एक चिपचिपा पदार्थ भी निकालते हैं जिसमे अडे चिपक जाते हैं और एक प्रकार का अडपुज वन जाता है। सूखने पर इसके द्वारा अडो पर पानी का प्रभाव नही पडता। अडो से 'शिशु' निकलते हैं जो छोटे और पखहीन होते हैं किंतु अन्य लक्षणो में वहुत कुछ प्रौढ के ही समान होते हैं। कई वार त्वक्पतन के साथ वे वढते जाते हैं और अत मे पखदार प्रौढ हो जाते हैं। इस वश की अधिकाश जातियाँ वडी विनाशकारी होती हैं, किंतु टिड्डी इनमे से सवसे अधिक विनाश करती है। एक्रिडाइडी को लगभग १० उपवशो में विभाजित किया जाता है।

शेष ३ वश पर्याप्त छोटे हैं। टेट्रिगिडी वश की लगभग ७०० जातियो की विशेषता उनके वक्षाग्र के प्रोनोटम भाग का वहुत वडा और पीछे की ओर वढा होना है। ये वहुधा ठढे प्रदेशो में पाई जाती हैं। ट्राइडैक्टाइलिडी की लगभग ५० जातियाँ मेडिटरेनियन प्रदेश मे पाई जाती हैं। ये झीगुरो के समान किंतु छोटी होती हैं और इनकी टाँगो के फिमोरा खड वहुत लवे होते हैं तथा शृग छोटे। सिलिंड्रैकेटिडी वश की थोडी सी जातियाँ आस्ट्रेलिया, न्यू गाइना और पटागोनिया में मिलती हैं। ये पखहीन होती हैं तथा मिट्टी मे विल वनाती हैं। अत इनके शृग, आँखें आदि भी छोटी होती हैं और शरीर कुछ कुछ वेलनाकार होता है।

स० ग्र०—एल० चोपार . विग्रोलोगी देज़ोर्थोप्तेर। [उ० श० श्री०

ऋणाग्रकिरण दोलनलेखी ऐसा यत्र है जो विद्युत् की अनेक क्रियाओ को नेत्रो के समक्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर कर देता है। ऋणाग्रकिरण वाल्व अथवा इलेक्ट्रान-गन एक विशेष उष्मायनिक वाल्व (थर्मायोनिक ट्यूब) है जिसका उपयोग विद्युत् विषयक अनेक क्षेत्रो के अध्ययन मे अनिवार्य हो गया है। इस वाल्व की क्रिया एक उष्ण ततु (फिलामेंट) से निकलनेवाली इलेक्ट्रान किरणावली का स्फुरदीप्त (फ्लुओरेसेंट) परदे पर पडने से सबद्ध है। कुछ वस्तुओ का गुण है कि उनपर इलेक्ट्रान पडते ही उनसे प्रकाश निकलने लगता है। इस गुण को स्फुरदीप्ति कहते हैं। प्रकाश का वर्ण विविध पदार्थो के लिये विभिन्न है। पदार्थ तथा उससे बनाए गए परदे पर ही इस दीप्ति की अवधि निर्भर है। ऋणाग्रकिरण दोलनलेखी के हेतु उन पदार्थो का चयन किया जाता है जिनकी स्फुरदीप्ति इलेक्ट्रान किरण रुकने पर तत्काल ही समाप्त हो जाती है।

ऋणाग्रकिरण वाल्व—पूर्वोक्त क्रिया को ऋणाग्रकिरण वाल्व अति सूक्ष्म समय मे करता है। इलेक्ट्रान के वेग से ही इस क्रिया का वेग सीमित है। इस वाल्व के तीन अनिवार्य भाग हैं (१) इलेक्ट्रान पुज का उत्पादन तथा उसको सगमित (फोकस) करनेवाली 'बदूक' (गन) (२) इस पुज को विचलित करनेवाली स्थिरविद्युतीय (इलेक्ट्रोस्टैटिक) अथवा चुवकीय क्षेत्र तथा (३) स्फुरदीप्ति परदा जिसपर देखकर नेत्रो द्वारा विद्युत्क्रिया का अध्ययन किया जाता है। चित्र १ से यह भाग स्पष्ट है।

(१) इलेक्ट्रान गन—आजकल अनेक इलेक्ट्रान गनो का प्रचलन है जिनके द्वारा उपयोगिता के अनुसार इलेक्ट्रान पुज मिलते हैं। लगभग सदैव इलेक्ट्रान पुज को स्थिरविद्युत् क्षेत्र द्वारा ही सगमित किया जाता है। एक ऊष्म ऋणाग्र (कैथोड) से निकलनेवाले इलेक्ट्रान धातु के चार खोखले बेलनो (नलियो) के अक्ष की दिशा मे अग्रसर होते हैं। प्रथम दो धातु के बेलन क्रमानुसार विद्युत् वाल्व (ट्रायोड या पेंटोड) के नियत्रण ग्रिड (कट्रोल ग्रिड) तथा परदा ग्रिड (स्क्रीन ग्रिड) की भाँति हैं। इनका वास्तविक रूप ग्रिड के समान नही है। प्रथम अर्थात् नियत्रण ग्रिड को साधारणत ऋणात्मक विभव (पोटेंशियल) पर तथा दूसरे को धनात्मक विभव पर रखते हैं। धनात्मक होने के कारण इस द्वितीय ग्रिड द्वारा इलेक्ट्रान का वेग बढता है, अत इसको त्वरण ग्रिड भी कहते हैं। ऋणाग्र से निकलनेवाले इलेक्ट्रानो की सख्या इन दोनो ग्रिडो के विभवो पर निर्भर है।

ग्रिडो के पश्चात् दो विद्युदग्र हैं जिनके द्वारा इलेक्ट्रान किरणो को सगमित (फोकस) किया जाता है। इनका विभव धनात्मक हैं, अत ये दोनो धनाग्र कहे जाते हैं। बहुधा द्वितीय ग्रिड तथा द्वितीय धनाग्र का विभव समान रहता है। प्रथम धनाग्र का विभव सदैव द्वितीय से कम रखा जाता है। द्वितीय धनाग्र को भूमि (अर्थ) से जोडकर तथा ऋणाग्र आदि पर ऋणात्मक विभव देकर पूर्वोक्त विभवातर बनाए जा सकते हैं। प्रथम धनाग्र के बीच बडा छिद्र है जिसमे इलेक्ट्रान इसे छूए बिना निकल जायँ, द्वितीय छिद्र छोटा है अत एक पतली इलेक्ट्रान किरण ही गन से निकल सकती है।

चित्र १. ऋणाग्र-किरण दोलन लेखी

१ नियत्रण ग्रिड, २ प्रथम धनाग्र, ३ क्षैतिज पट्टिका, ४ ऐक्वाडाग, ५ इलेक्ट्रान किरण, ६ स्फुरदीप्ति परदा, ७ ऊर्ध्वाधर पट्टिका, ८ द्वितीय धनाग्र, ९ त्वरण ग्रिड, १० ऋणाग्र।

पूर्वोक्त गन इलेक्ट्रानो को केंद्रित करती है तथा उनके द्वारा बननेवाली स्फुरदीप्ति के विस्तार का नियत्रण भी करती है। कुछ गनो मे चुवकीय सगमन (फोकसिंग) युक्तियाँ रहती है, इनमे केवल एक धनाग्र की ही आवश्यकता पडती है।

विचलन युक्ति—इलेक्ट्रान गन से आनेवाली किरणो को स्थिर विद्युतीय अथवा चुवकीय क्षेत्रो द्वारा विचलित करना सभव है। प्रथम युक्ति मे दो जोडी समातर पट्टिकाएँ (प्लेट) किरण के मार्ग मे इस भाँति रखी जाती हैं कि एक के तल दूसरे से लब दिशा मे हो तथा प्रत्येक जोडे के बीच से किरण निकल जाय। पट्टिकाएँ किरणपथ के दोनो ओर रहकर मार्ग मे कोई बाधा नही उत्पन्न करती। एक जोडी पट्टिका क्षैतिज तथा दूसरी ऊर्ध्वाधर रहती है। इन पट्टिकाओ के विभवानुसार इलेक्ट्रान किरण को ऊपर नीचे या दाएँ बाएँ मोडना सभव है। परदे पर किरण विचलन निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

$$\text{विचलन} = \frac{\text{दब}}{\text{२अ}}\left(\frac{\text{व}_1}{\text{व}_2}\right)\left[\frac{dl}{2a}\left(\frac{V_1}{V_2}\right),\right]$$

जिसमे द (d) पट्टिका के बीच से परदे तक की दूरी, ब (l) पट्टिका की कार्यकारी लबाई*, अ (a) पट्टिका के दोनो तलो के बीच की दूरी (किरणे लब दिशा मे मापने पर), व_1 (V_1) पट्टिका का विभव तथा व_2 (V_2) गन के ऋणाग्र तथा द्वितीय धनाग्र के बीच का विभवातर है। यदि चुवकीय क्षेत्र की शक्ति लबाई ल (b) तक श (G) गाउस हो तथा उसके पश्चात् शून्य हो तो सेंटीमीटर प्रणाली मे

$$\text{विचलन} = \text{० २९६ ल द श}/\sqrt{\text{व}_2},\ [0\ 296\ \mathbf{b\,d\,G}/\sqrt{(V_2)}]$$

बाहरी काच की दीवार पर ऐक्वाडाग का लेप होता है जिसके कारण इलेक्ट्रान द्वितीय ऋणाग्र तक लौटकर विद्युत्पथ पूर्ण करते हैं।

स्फुरदीप्ति परदे—ऋणाग्रकिरण वाल्व के परदे स्फुर (फॉस्फर) नामक पदार्थो के बनते हैं जिनकी विशेषता इलेक्ट्रान पडने पर स्फुरदीप्ति उत्पन्न करना है। विभिन्न रगो के स्फुर पाए जाते हैं। इनकी क्षमता (एफिशेन्सी) तथा प्रकाश देने का समय भिन्न भिन्न है। साधारणत उपयोगी पदार्थ विलेमाइट है, जो यशद (जस्ता) का आर्थोसिलिकेट है। इसके द्वारा हल्के हरे वर्ण का प्रकाश उत्पन्न होता है। जस्ता, कैंडमियम, मैंगनीसियम तथा सिलिकन का उपयोग भी स्फुर के रूप मे किया जाता है। स्फुर बनाने के हेतु चूर्ण करना, मणिभ बनाना, पुन चूर्ण करना आदि तथा ऋणाग्रकिरण लेखी के परदे पर द्रव मिलाकर समाग परत मे जमाना इत्यादि कठिन क्रियाएँ हैं। एक लाख मे एक अग चाँदी, मैंगनीज, ताँबा या क्रोमियम मिलाने पर स्फुर की दीप्ति १० से १०० गुनी तक बढ जाती है।

उपयोग—ऋणाग्रकिरण दोलनलेखी के उपयोगो की असीमितता दिनोदिन स्पष्ट होती जा रही है। यदि मान ले कि व_2 तथा व_3 दोनो पट्टिकाओ के विभव हैं तथा व_2 पूर्ववत् गन के ऋणाग्र तथा द्वितीय धनाग्र का विभवातर है तो इन तीनो राशियो के विभिन्न मानो पर यत्र की उपयोगिता निर्भर है। यत्र के उपयोगो को दो श्रेणियो मे रख सकते हैं।

* यह लबाई पट्टिका की वास्तविक लबाई से अधिक होती है। फ्लक्स पट्टिका की सीमा के पश्चात् भी रहता है; अत पट्टिका के दोनो तलो की दूरी पर भी कार्यकारी लबाई निर्भर रहती है।

(१) जब दोनो पट्टिकायुग्मो पर ज्यावक्रीय (सिनुसॉइडल) विभवातर एक साथ लगाया जाय, या (२) जब एक जोडी पर आरे के समान
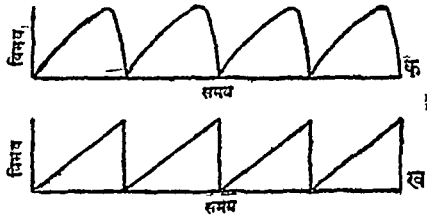
चित्र २ आरे के समान तरग
क वास्तविक तथा ख. आदर्श

(सॉ-टूथ) या लव-समय-आधार (लीनियर टाइम बेस) विभवातर (चित्र २) लगाया जाय तथा दूसरे पर जाँच के हेतु विभिन्न विभव लगाए जायँ।

प्रथम श्रेणी मे समकोणीय ज्यावक्रीय विद्युत्तरगो का अध्ययन लिसाजू के चित्रो द्वारा किया जाता है।

द्वितीय श्रेणी के द्वारा किसी भी प्रसवादी (हारमोनिक) विभव का अध्ययन करना सभव हो जाता है। तरगगति एक प्रसवादी तथा एक रैखिक गति के मिलने पर प्राप्त होती है, अत यत्र की एक जोडी पट्टिका पर लव-समय-आधार विभव लगाया जाता है। इसके हेतु एक अपोहन परिपथ (स्वीप सर्किट) बनाया जाता है। पट्टिकाओ पर विभव न होने पर परदे के बीच एक प्रकाशबिंदु बनता है—अपोहन द्वारा यह बिंदु धीरे गति से बाएँ से दाएँ समय स (t) में पहुँचता है। दाएँ से पुन तत्काल ही प्रकाशबिंदु बाँई ओर आ जाता है। यह तत्काल लौटने का समय स (t) से अत्यल्प होने के कारण प्रकाश का लौटना दृष्टिगोचर नही हो पाता। यदि समय स (t) दूसरी जोडी पट्टिका पर लगी तरग की अवधि अ (T) के समान है तो परदे पर एक तरग दिखाई पडती है। यदि अवधि अ/न, (T/n) है तो न (n) तरगें परदे पर दिखाई पडेगी। यदि पट्टिकाओ की दोनो जोडियो पर लगे विभव समकालिक (सिनक्रोनस) हैं, तो दृष्टि-विलबना (परसिस्टेस ऑव विज़न) तथा परदे पर प्रकाश के इलेक्ट्रान गिरते ही उत्पन्न तथा समाप्त होने के कारण तरग चित्र परदे पर स्थिर दिखाई पडेगा। आरे के समान तरग एक सधनित्र (कडेन्सर) को आवेश (चार्ज) देकर तथा निरावेश (डिसचार्ज) करने पर बनती हैं।

ऋणाग्रकिरण दोलनमापी केवल ज्या-तरग-वक्रो का अध्ययन मात्र ही नही करता वरन् किसी भी आवर्ती तरग का अध्ययन करता है। क्षणिक अथवा उच्च आवृत्ति (हाई फ्रीक्वन्सी) विभव इस यन्त्र द्वारा चित्रित किए जा सकते हैं। इलेक्ट्रान कणो का अवस्थितित्व (इनर्शिया) अत्यत न्यून होने के कारण ये उच्चतम आवर्ती विभव का अनुकरण कर सकते है। १० लाख चक्र (साइकिल) प्रति सेकड की आवृत्ति तक साधारण यत्र काम दे सकते है।

इन यत्रो द्वारा ध्वनि विज्ञान, यत्रनिर्माण, शोध कार्य, दिशावेध यत्र (राडार), दूरवीक्षण (टेलीविजन), धातु आदि का भीतरी चित्र लेना तथा अनेक अन्य कार्य सरल, सुलभ तथा सुगम हो गए है। परदे पर बननेवाले चित्रो के फोटो इस यत्र की उपयोगिता को स्पष्ट करते है।

स० ग्र०—जे० आर० पियर्स जर्नल अप्लाइड फिजिक्स ११,५४६ (१९४०), ऐ० जे० सैम्युअल प्रोसीडिंग आई० आर० ई० ३३,२३३, (१९४५), एल० एन० ब्रिलुआँ तथा एफ० ई० टरमन इलेक्ट्रॉनिक ऐंड रेडियो इजीनियरिंग, वही, पृ० २३७, (१९५५), सी० सी० वैग प्रोसीडिंग आई० आर० ई० ३८, १३५, (१९५०), के० आर० स्पैगेनबर्ग वैकुअम ट्यूब्स, अध्याय १३, (१९४८) (मैग्रा हिल), जे० आर० पीयर्स बेल सिस्टम टेक० जरनल, २४, ३०५, (१९४५), के० आर० स्पैगेनबर्ग उपर्युक्त पुस्तक, अध्याय १४, इलेक्ट्रॉनिक वाइयर्स गाइड, पृ० एम ११, जून १९४९, आर० एन० घोष ध्वनि, पृ० ४३ (इडियन प्रेस, १९५७), जे० एफ० राइडर कैथोड रे ऑसिलोग्राफ इनसाइक्लोपीडिया, हार्नवेल प्रिंसिपल्स ऑव इलेक्ट्रिसिटी ऐंड मैगनेटिज्म, जे० एफ० राइडर कैथोड रे ट्यूब ऐट वर्क। (अ० मो०)

ऋणाग्र किरणें

सन् १८९७ के पूर्व विद्युत् क्षेत्र में विरल गैसो (रेयरिफायड गैसो) में विद्युद्विसर्जन (इलेक्ट्रिक डिस्चार्ज) सबधी रोचक एव महत्वपूर्ण प्रयोग किए गए थे। यदि किसी प्रेरणकुडली (इडक्शन कॉयल) या अन्य प्रेरण मशीन के ऋणात्मक छोर को चित्र १ की आकृति की काच की नली न के अत क से तथा धनात्मक छोर को अत $क_2$ से सबद्ध करके सूक्ष्म छिद्र छ से नली की वायु को चूषक पपो द्वारा निकाल दे तो विरल गैसो पर प्रयोग किए जा सकते हैं। वायु विरल होने पर (दाव=० ११ मि० मी०) ऋणात्मक छोर पर एक कालापन बनता है और पूर्ण नली मे चमकदार प्रकाश दिखाई पडता है। काले स्थान को क्रुक्स की कालिमा (क्रुक्स डार्क स्पेस) कहते हैं। यदि वायु को अधिक विरल कर दिया जाय तो यह कालिमा नली के दूसरी ओर तक बढ जाती है और अत मे काच की दीवार तक अधकार हो जाता है
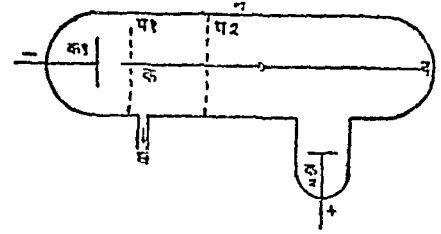
चित्र १. विरल वायु में विद्युद्विसर्जन के लिये विशेष नली

(दाव=० ३७ मि० मी०)। परतु अब काच की दीवार स्वय चमकने लगती है तथा उसका वर्ण हरा अथवा नीला इत्यादि हो जाता है—रग काच के प्रकार पर निर्भर है। यदि नली मे सूक्ष्म छिद्रयुक्त अभ्रक (माइका) के पर्दे $प_1$, $प_2$ रख दिए जायँ तो काच के छोर पर चमक केवल इन परदो के छिद्रो से होती हुई दिशा क द मे पहुँचती है। काच पर होनेवाली चमक को स्फुरदीप्ति (फॉस्फोरेसेंस) कहते हैं।

गुण—पूर्वोक्त से स्पष्ट है कि ऋणात्मक छोर से कुछ 'कण' नली के दूसरी ओर बहते या प्रवाहित होते हैं जिनको पर्दो से रोका जा सकता है। इस धारा का नाम ऋणाग्र किरण रखा गया है। ऋणाग्र किरणो के निम्नलिखित गुण भौतिकी की पाठ्य पुस्तको मे विस्तारपूर्वक मिल सकते हैं

(१) ऋणाग्र किरणें सदैव सीधी रेखा मे चलती हैं। प्रयोग मे किरण के पथ मे बाधा रखने पर समान रूप की छाया बनना इसका प्रमाण है। चित्र २ से यह स्पष्ट है, जिसमें स्वस्तिकाकार बाधा की छाया दिखाई गई है।

चित्र २ ऋणाग्र किरणो का पथ सीधी रेखा है

(२) किरणो के पथ मे रखी गई वस्तुओ पर यान्त्रिक बल (मिकैनिकल फोर्स) पडता है। चित्र ३ मे अभ्रक की हलकी हवा चक्की $क_1$ से $ख_2$ की ओर चलने लगती है—बल का यह स्पष्ट प्रमाण है।
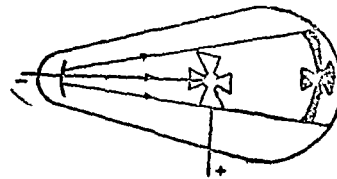
(३) वस्तुओ पर टकराकर ये किरणें उष्मा उत्पन्न करती हैं। यदि ऋणाग्र छोर (कैथोड) अवतल (कनकेव) हो तो किरणो को एक बिंदु पर सगमित (फोकस) करते हुए प्लैटिनम आदि धातुओ को इतना तप्त किया जा सकता है कि वे लाल हो जायँ।
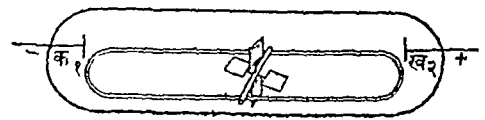
चित्र ३. ऋणाग्र किरणो का यान्त्रिक बल

लोह उल्का
वहजोइ (जिला मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश) में प्राप्त।
(प्राकृतिक से प्राय आधा आकार)
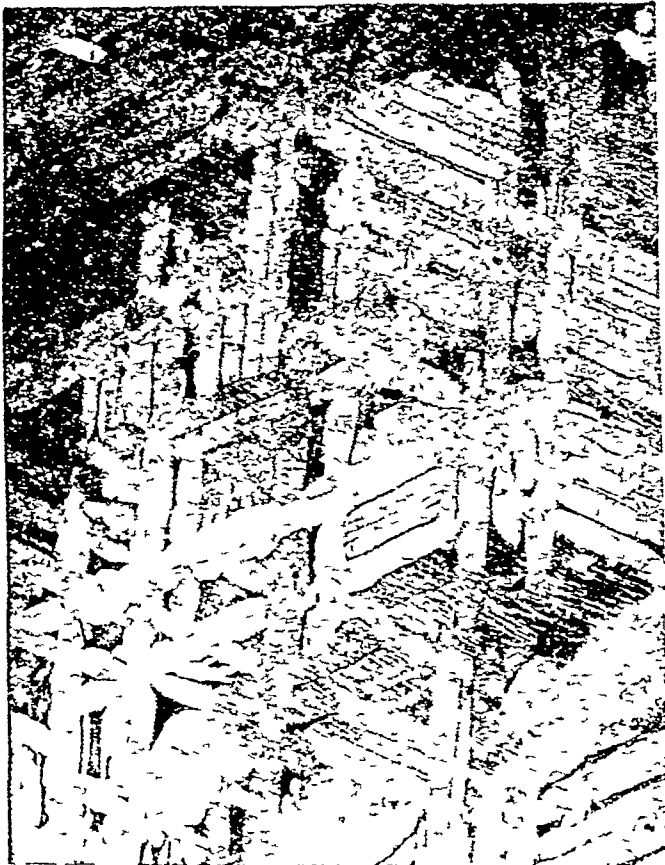
अम्लादित (etched) उल्का खंड
वहजोइ मे प्राप्त उल्का के काटे और अम्लो से साफ किए एक खंड की आवर्धित विडमानस्टेटन् (Widmanstaetten) रचना।

मेडुआ उल्का
मेडुआ (जिला इलाहाबाद) में प्राप्त आश्मिक उल्कापिंड।
यह १२½ इंच ऊँचा है।

(भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के सौजन्य से प्राप्त)

ऋणाग्रकिरण दोलनलेखी (Cathode-ray Oscillograph, देखें पृष्ठ १५७)

ऋणाग्रकिरण दोलनलेखी का एक वाल्व
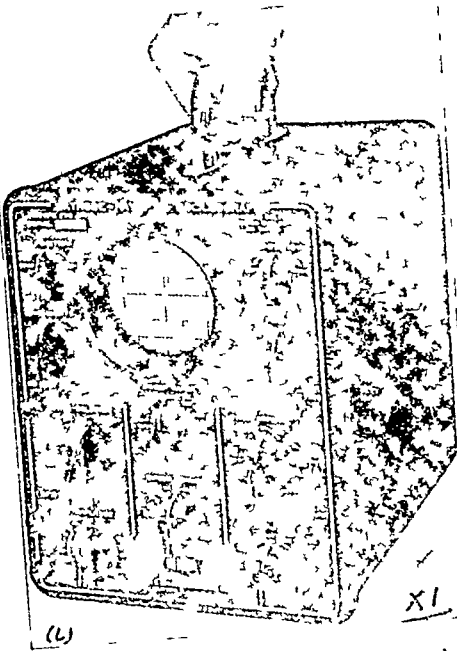
संख्या ३ आर पी १ ए (No 3 RP1A)   संख्या ५ बी पी–ए (No 5 BP–A)
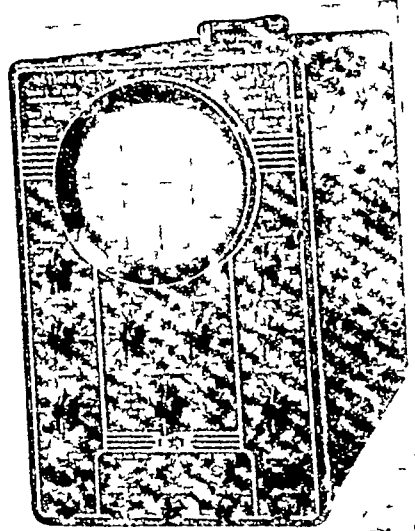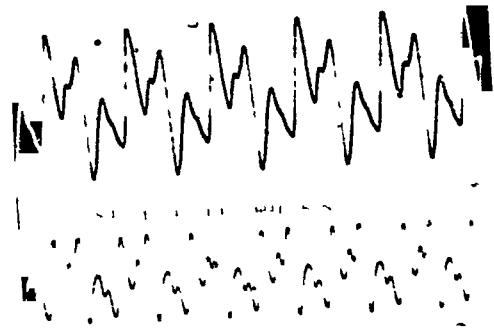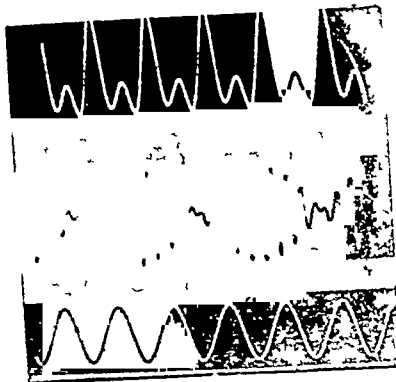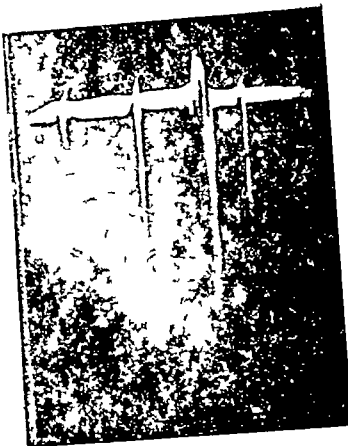
दो ऋणाग्रकिरण दोलनलेखी

ऋणाग्रकिरण दोलनलेखी द्वारा प्राप्त चित्र

बाईं ओर धातुओ की परीक्षा के हेतु लिया गया चित्र, मध्य में—ऊपर ३९१ दोलन प्रति सेकेंडवाले स्वरित्र (tuning for द्वारा ज्या-तरग, बीच मे दो स्वरित्र द्वारा सकर (beat) तथा नीचे बाँसुरी की ५८७ दोलन प्रति सेकडवाली ६ तरगे, दाहिनी ओर—ऊ क्लैरिओनेट (clarionet) की १५६ दोलन प्रति सेकड वाली ६ तरगें तथा नीचे क्लैरिओनेट की १९६ दोलन प्रति सेकड वाली ७ तरगे।

(४) ऋणाग्र किरणें विद्युद्धारा के समान चुबकीय क्षेत्र मे अपनी दिशा बदल देती हैं। चुबकीय बल की दिशा तथा किरणो की पहलेवाली दिशा दोनो से समकोण बनानेवाली दिशा की ओर किरणें चलने लगती हैं।

(५) किरणो के साथ ऋणात्मक आवेश रहता है। पेरिन ने सर्वप्रथम विद्युद्दर्शी या विद्युन्मापी द्वारा सिद्ध किया कि किरणें तीव्रगामी ऋणात्मक आवेश के कणो के समूह हैं।

(६) किरणें स्थिरविद्युतीय क्षेत्रो के कारण भी अपने पथ से विचलित हो जाती हैं। किरणें धनात्मक आवेशयुक्त छड की ओर आकर्षित होती हैं।

उपर्युक्त प्रयोगो मे विद्युदग्र (इलेक्ट्रोड) प्लैटिनम के लिए गए थे। कैल्सियम तथा बेरियम आदि के विद्युदग्र लेकर वेनेल्ट ने अत्यत घनी ऋणाग्र किरणें उत्पन्न की।

टामसन के प्रयोग—ऋणाग्र किरणो का आवेशयुक्त कण होना सर जे० जे० टामसन ने अपने प्रसिद्ध प्रयोगो द्वारा प्रमाणित किया। आज पदार्थ के विद्युत्सिद्धात की दृष्टि से ये प्रयोग इतने महत्वपूर्ण हैं कि इनका सक्षिप्त विवरण आवश्यक है। चित्र ४ (क) मे काच की नली के भीतर अत्यल्प दवाव पर वायु है, अर्थात् उसमें अत्यत विरल वायु है। क, ऋणाग्र है, क, एक विशेष धनाग्र है जिसमें आयताकार खिडकी वनी है। इस खिडकी के सामने तथा सुचालक तार से जुडी एक दूसरी समान खिडकी ख है। इस प्रकार ख से निकलनेवाली ऋणाग्र किरणो का एक समूह काच नली के स्थान प, पर स्फुरदीप्ति उत्पन्न करता है। किरण पथ मे दो विद्युदग्र ग तथा घ लगे हैं जिनके बीच विद्युत् विभवातर (पोटेंशियल डिफरेंस) वि (V) है। यदि घ धनात्मक है तो काच पर का चमकीला स्थान प, से नीचे प, पर आ जाता है। इन्ही विद्युदग्रो के ऊपर नीचे दो हेल्महोल्ट्ज कुडलियाँ, जिनका व्यास विद्युदग्रो की लवाई के समान वनाया रहता है,
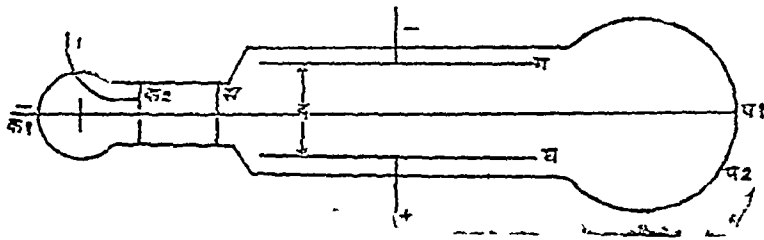
चित्र ४ (क) इलेक्ट्रान का द्रव्यमान ज्ञात करने का यत्र
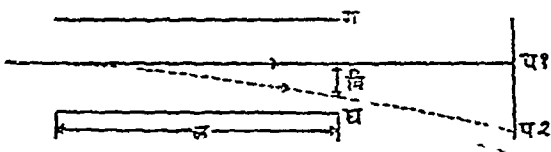
चित्र ४. (ख) ऋणाग्र किरणो का विचलन

लपेटी जाती है। इनमें प्रवाहित विद्युद्धारा का चुवकीय वल इस चित्र के धरातल की लव दिशा मे रहता है। यदि वल की दिशा पाठक की ओर है तो प, ऊपर की ओर हट जायगा।
अब दो प्रयोग किए जा सकते हैं :

(१) ग घ पर स्थिरविद्युत् विभवातर लगाकर कुडली मे इतनी धारा प्रवाहित करें कि विभवातर तथा कुडली की धारा दोनो के होने पर प, न नीचे हटे और न ऊपर उठे, अर्थात् विद्युत् और चुवकीय क्षेत्रो का वल किरणो पर समान और विपरीत पडे।

(२) चुवकीय क्षेत्र के अभाव में दूरी प, प, की माप की जाय। इन दोनो प्रयोगो के द्वारा ऋणाग्र किरण के कणो के आवेश तथा द्रव्यमान (मास) का अनुपात मापना सभव है।

ऋणात्मक आवेश की तीव्र गतिवाले कणो का वेग वे (v), द्रव्यमान द्र (m) तथा प्रत्येक कण के ऊपर आवेश की मात्रा मा (e) को पूर्वोक्त प्रयोग से ज्ञात किया जाता है। आवेश मा (e) के कणो के वेग वे (v) से विद्युत्-धारा-शक्ति मा वे (ev) होगी। चुवकीय क्षेत्र चु (H) के लगाने पर कणो पर लगा वल चु मा वे (Hev) होगा। गति की दिशा से लव दिशा मे लगा वल सदैव वृत्ताकार गति देता है।

अत त्वरण वे²/त्र $\left(\frac{v^2}{r}\right)$ होगा जहाँ त्र (r) वृत्त का अर्धव्यास है।

यदि कण का द्रव्यमान द्र (m) है तो

$$\text{द्र वे}^2/\text{त्र} = \text{चु मा वे} \quad [mv^2/r = Hev]$$

$$\text{या} \quad \text{द्र वे/मा} = \text{चु त्र} \quad [mv/e = Hr]$$

अत चुवकीय क्षेत्र लगाने पर कणो मे हुए विचलन द्वारा गा (γ) की माप की जा सकती है। इसी प्रकार चुवकीय प्रयोग द्वारा द्र वे/मा (mv/e) मापा गया है।

यदि दोनो प्लेटो के बीच विद्युत्क्षेत्र वि (V) है तो कण पर वल मा वि (eV) लगेगा। यदि यह विद्युत्क्षेत्र कण पर चुवकीय क्षेत्र के समान वल डालता हो तो

$$\text{मा वि} = \text{चु मा वे} \quad [eV = Hev]$$

$$\text{या वि/चु} = \text{वे} \quad [V/H = v]$$

उपर्युक्त समीकरण (२) से वे (v) तथा इसका मान (१) मे रखने पर ऋणाग्र किरणो का मा/द्र (e/m) विदित हो जाता है। इन प्रयोगो द्वारा मिले परिणाम निम्नाकित तालिका मे दिए गए हैं :

गैस	वे (v)	मा/द्र* (e/m)
वायु	२८×१०⁹	७७×१०⁶
वायु	२८×१०⁹	६१×१०⁶
वायु	३६×१०⁹	७७×१०⁶
हाइड्रोजन	२५×१०⁹	६७×१०⁶
कार्वन डाइआक्साइड	२२×१०⁹	६७×१०⁶

[* सेटीमीटर-ग्राम-सेकड प्रणाली मे]

टामसन के परिणाम से यह सिद्ध हो गया कि नली के भीतर की गैस का कोई प्रभाव राशि मा/द्र (e/m) पर नही पडता।

इनके प्रयोगो के उपरात मा/द्र (e/m) का विशुद्ध मान सप्रति १७×१०⁶ माना गया है।

प्रसिद्ध ज़ीमान प्रभाव (ज़ीमान एफेक्ट) द्वारा भी मा/द्र (e/m) का यही मान पाया गया। यह भी सिद्ध हुआ कि हाइड्रोजन आयन पर विद्युद्विश्लेषण (इलेक्ट्रॉलिसिस) के समय मिलनेवाला आवेश भी प्राय इतना ही होता है।

डॉ० जान्स्टन स्टोनें ने सर्वप्रथम ऋणाग्र किरण के इन आवेशयुक्त कणो को "इलेक्ट्रान" नाम दिया। विदित हुआ कि आवेश का यह अखड एकक है। पदार्थो की सरचना मे इसका विशेष महत्व है तथा निर्वात नली (वैक्युअम ट्यूब) के आविष्कार और प्रयोग मे इन इलेक्ट्रानो का ही प्रमुख हाथ है।

स० ग्र०—एस० जी० स्टार्लिंग इलेक्ट्रिसिटी ऐंड मैगनेटिज्म, जे० पेरिन कापटू रेडू, खड १२१ (१८९५), पृष्ठ ११३०, ए० वैनेल्ट : फिलॉसॉफिकल मैगजीन, खड १० (१९०५), पृ० ८०, जे० टामसन फिलॉसॉफिकल मैगजीन, खड ४४ (१८९७), पृ० २९३ तथा खड ४८ (१८९९), पृ० ५१७, पी० ज़ीमान फिलॉसॉफिकल मैगाजीन, खड ४३ (१८९७), पृ० २२६।
[अ० मो०]

ऋत वैदिक साहित्य मे ऋत शब्द का प्रयोग सृष्टि के सर्वमान्य नियम के लिये हुआ है। ससार के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं किंतु परिवर्तन का नियम अपरिवर्तनीय है। इसी अपरिवर्तनीय नियम के कारण सूर्य चद्र गतिशील हैं। ससार मे जो कुछ भी है वह सब ऋत के नियम से वँधा हुआ है। ऋत को सवका मूल कारण माना गया है। अतएव ऋग्वेद में मरुत् को ऋत से उद्भूत माना है (४ २१ ३)। विष्णु को 'ऋत का गर्भ' माना गया है। द्यौ और पृथ्वी ऋत पर स्थित हैं (१० १२१ १)। सभव है, ऋत शब्द का प्रयोग पहले भौतिक नियमो के लिये किया गया हो लेकिन बाद मे ऋत के अर्थ मे आचरण सवधी नियमो का भी समावेश हो गया। उषा और सूर्य को ऋत का पालन करनेवाला कहा गया है। इस ऋत के नियम का उल्लघन करना असभव है। वरुण, जो पहले भौतिक नियमो के रक्षक कहे जाते थे, वाद में 'ऋत के रक्षक' (ऋतस्य

गोपा)के रूप मे ऋग्वेद मे प्रशसित हैं। देवताओ से प्रार्थना की जाती थी कि वे हम लोगो को ऋत के मार्ग पर ले चले तथा अनृत के मार्ग से दूर रखे (१० १३३ ६)। ऋत को वेद मे सत्य से पृथक् माना गया है। ऋत वस्तुत 'सत्य का नियम' है। अत ऋत के माध्यम से सत्य की प्राप्ति स्वीकृत की गई है। यह ऋत तत्व वेदो की दार्शनिक भावना का मूल रूप है। परवर्ती साहित्य मे ऋत का स्थान सभवत धर्म ने ले लिया। [रा० पा०]

ऋतुएँ

ऋतुएँ प्राकृतिक अवस्थाओ के अनुसार वर्ष के विभाग हैं। भारत मे मोटे हिसाब से तीन ऋतुएँ मानी जाती हैं--जाडा, गरमी, बरसात। परतु प्राचीन काल मे यहाँ छ ऋतुएँ मानी जाती थी। वसत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमत और शिशिर। जिन महीनो मे सबसे अधिक पानी बरसता है वे वर्षा ऋतु के महीने हैं, नाम के अनुसार सावन भादो के महीने वर्षा ऋतु के हैं, परतु यदि वर्ष का मान--वर्ष मे दिनो की सख्या--ठीक न हो तो कालातर मे ऋतुओ और महीनो मे अतर पड जायगा और यह अतर बढता जायगा। भारत के जो पचाग प्राचीन ग्रथो के आधार पर बनते हैं उनमें वर्षमान ठीक नही रहता और इस कारण वर्तमान समय के सावन-भादो तथा कालिदास के समय के सावन भादो मे लगभग २२ दिन का अतर पड गया है (देखे अयन)। मोटे हिसाब से नववर से फरवरी तक जाडा, मार्च से मध्य जून तक गरमी और मध्य जून से अक्टूबर तक बरसात गिनी जा सकती है।

ऋतुओ का मूल कारण यह है कि पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है--उसके चारो ओर चक्कर लगाती रहती है--और साथ ही अपने अक्ष पर घूमती रहती है। यह अक्ष पूर्वोक्त प्रदक्षिणा के समतल पर लब नही है, लब से अक्ष लगभग २३½ अश का कोण बनाता है। इसका परिणाम यह होता है कि एक वर्ष मे आधे समय तक प्रत्येक द्रष्टा को सूर्य उत्तर की ओर धीरे धीरे बढता हुआ दिखाई पडता है और आधे समय तक दक्षिण की ओर। वर्ष के ये ही दो आधे उत्तरायण और दक्षिणायन कहलाते हैं।

पृथ्वी के अक्ष के घूमने के कारण दिन और रात होती है। पृथ्वी के उत्तरी गोलार्ध में स्थित देशो में, जैसे भारत मे, उत्तरायण मे दिन बढता जाता है और दक्षिणायन में घटता रहता है। जैसा सभी जानते हैं, भारत में सबसे छोटा दिन लगभग २४ दिसबर को होता है और सबसे बडा दिन लगभग २३ जून को। यदि सूर्य का महत्तम उन्नताश--दोपहर के समय की कोणीय ऊँचाई--वर्ष भर एक समान रहता तो प्रत्यक्ष है कि लबे दिनो मे कुल मिलाकर अधिक धूप और इसलिये अधिक ऊष्मा मिलती, और इसीलिये गरमी तब पडती जब दिन लगभग महत्तम बडे होते, परतु साथ ही यह भी होता है कि जब दिन बडे होते हैं तब सूर्य का मध्याह्नकालिक उन्नताश अधिक रहता है। इसलिये २३ जून के लगभग पूर्वोक्त दोनो कारणो से--दिनो के लबे होने तथा सूर्योन्नताश अधिक रहने से--हमे सूर्य से गरमी सबसे अधिक मिलती है। इन्ही की विपरीत अवस्थाओ के कारण २४ दिसबर के लगभग हमें सूर्य से गरमी न्यूनतम मात्रा में मिलती है।

परतु पृथ्वी के तल पर जितनी गरमी पडती है सब वही नही रह जाती। चालन (कडक्शन) से कुछ पृथ्वी के भीतर घुस जाती है, सवहन (कनवेक्शन) से कुछ हवा द्वारा इधर उधर चली जाती है और विकिरण (रेडिएशन) से कुछ आकाश में निकल जाती है। जब सूर्य से मिली गरमी और पूर्वोक्त कारणो से निकल गई गरमी बराबर हो जाती है तो साम्यावस्था स्थापित होती है और ताप नही बढता। यह साम्यावस्था उसी दिन नही स्थापित होती जिस दिन दिन सर्वाधिक बडा होता है और इसलिये पृथ्वी को सूर्य से महत्तम गरमी मिलती है। साम्यावस्था लगभग एक महीने बाद स्थापित होती है और इसलिये ताप अधिकाश देशो में--जहाँ जून मे पानी नही बरसता--लगभग एक महीने बाद महत्तम होता है। पृथ्वीतल के ताप से उसके ऊपर की वायु के ताप का घनिष्ठ सबध है। दोनो लगभग एक साथ ही महत्तम या लघुतम होते हैं।

समुद्र पर पानी मे धाराओ के कारण और वाष्पन (पानी के वाष्प में परिणत होने) के कारण भी ताप अधिक नही होने पाता। वहाँ सबसे बडे दिन के लगभग दो महीने बाद पानी सबसे अधिक गरम होता है।

ऊपर की बाते वही लागू होगी जहाँ बादल न हो और पानी न बरसे। पानी और बादल से सूर्य से गरमी का मिलना बद हो जाता है।
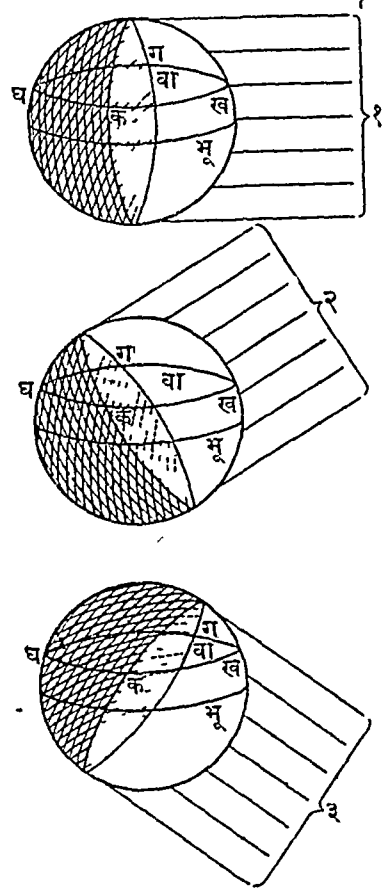
चित्र १-३ ऋतुओ का कारण
क ख ग घ वाराणसी का अक्षाश,
भू भूमध्यरेखा का समतल।

यह देखना कि सूर्य के उत्तर चले जाने पर दिन क्यो लबे हो जाते हैं और सूर्य का उन्नताश क्यो बढ जाता है, सरल है। जब सूर्य पृथ्वी की भूमध्य रेखा के धरातल में रहता है तब पृथ्वी के अपने अक्ष के परित घूमने के कारण--अपनी दैनिक गति के कारण--वाराणसी के समान स्थान एक अहोरात्रि (=२४ घटे) के आधे समय तक धूप मे रहता है और आधे समय तक अँधेरे में (चित्र १)। परतु जून में, जब सूर्य भूमध्यरेखा के समतल से उत्तर रहता है और उससे लगभग २३½ अश का कोण बनाता है, उत्तरीय गोले पर का प्रत्येक स्थान आधी अहोरात्रि से कही अधिक समय तक धूप मे रहता है और वहाँ सूर्य का उन्नताश भी अधिक रहता है (चित्र २)। दिसबर में परिस्थिति उलटी रहती है (चित्र ३)।

भारतवर्ष मे वर्षा ऋतु बडी स्पष्ट होती है, परतु ससार के अन्य सभी भागो मे ऐसा नही होता। केवल अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के उष्णकटिबधीय भागो मे कुछ कुछ ऐसा होता है। यूरोप आदि समशीतोष्ण देशो मे चार ऋतुएँ मानी जाती हैं--जाडा, वसत, गरमी और पतझड (ऑटम)। परतु स्मरण रखना चाहिए कि ऋतुओ का यह बँटवारा केवल सुविधा के लिये है। वास्तविक ऋतु मे बादल, पानी, पवन, पहाड, समुद्र की निकटता, समुद्रधाराओ आदि का बडा प्रभाव पडता है। भूमध्यरेखा के पास--लगभग ५° उत्तर से ५° दक्षिण तक--सूर्य की गरमी प्राय बारहो मास एक समान रहती है और रात दिन भी बराबर नाप के होते हैं। वहाँ ऋतुएँ अधिकतर बादल आदि पूर्वोक्त कारणो पर निर्भर रहती हैं। मोटे हिसाब से वहाँ दो ग्रीष्म और दो शरद् ऋतुएँ मानी जा सकती हैं।

स०ग्र०--डब्ल्यू० केपर और आर० गाइगर हाडबुख डर क्लाइमटोलोजी। [गो० प्र०]

ऋतु पूर्वानुमान

ऋतु पूर्वानुमान ऋतु का पूर्वानुमान करना ऋतुविज्ञान का महत्वपूर्ण उपयोग है। प्राचीन काल से ही मनुष्य ऋतु और जलवायु की अनेक घटनाओ से प्रभावित होता रहा है और फलत ऋतु का पूर्वानुमान करने का प्रयत्न करता रहा है। उदाहरणत किसान आकाश की ओर देखकर ही अपने उपयोग के लिये आगामी ऋतु के बारे मे अनुमान कर लेता है। इस प्रकार की केवल स्थानीय ऋतु के प्रेक्षण पर अवलबित भविष्यवाणी का उपयोग बहुत सीमित होता है। तो भी इस प्रकार की भविष्यवाणियो के आधार पर ऋतु सबधी अनेक कहावतें प्रचलित हो गई है, यद्यपि वे अधिकतर ठीक नही उतरती।
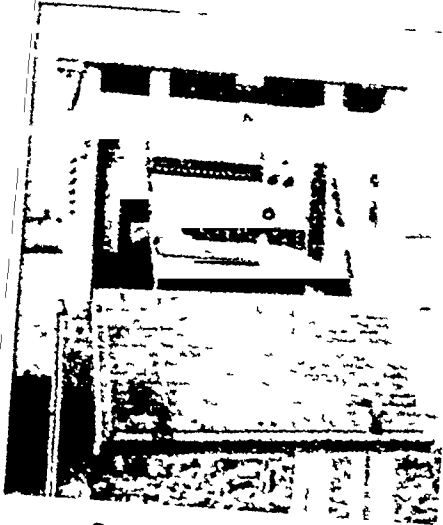
ऋतु पूर्वानुमान (देखे पृष्ठ १६०)

विशिष्ट पेटी में तापमापी
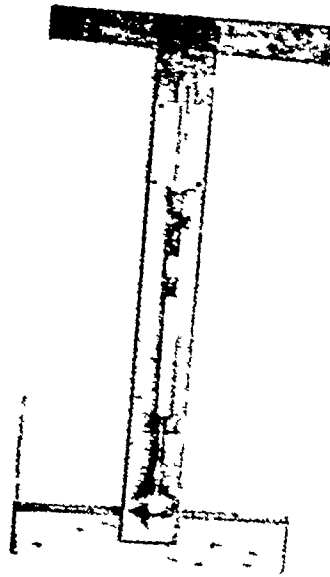
वायु-दाब-मापी

पवनफलक (windvane)

पवनमापी

वृष्टिमापी तथा मापन काच
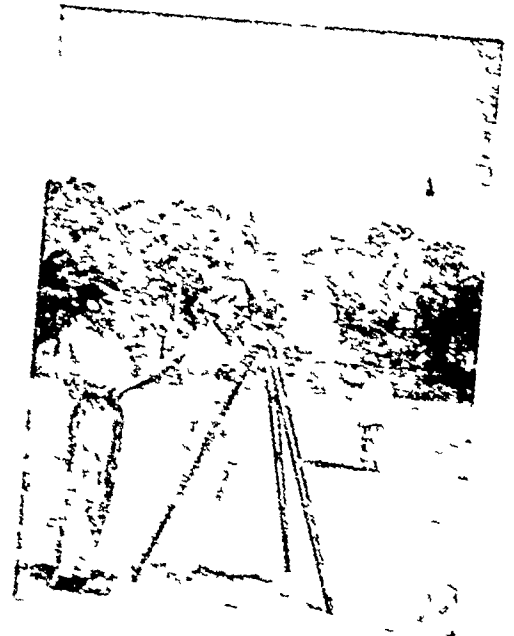
गुब्बारे का प्रयाण
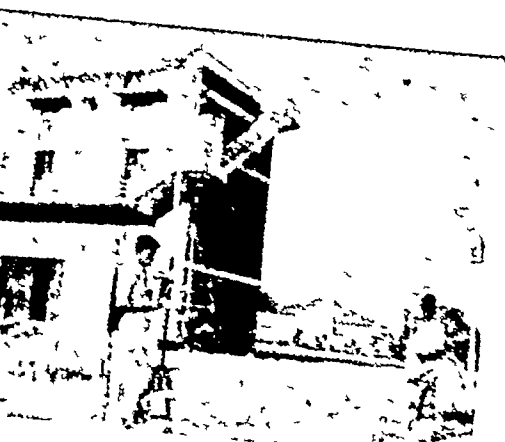
यन्त्रों सहित गुब्बारा छोडना
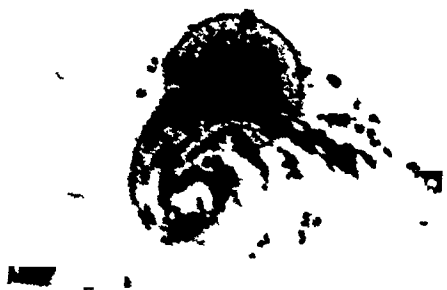
राडार से प्राप्त चित्र
१३ नवम्बर १९५८ को बंगाल
की खाड़ी के एक चक्रवात का।

ऋतु पूर्वानुमान (देखे पृष्ठ १६०)
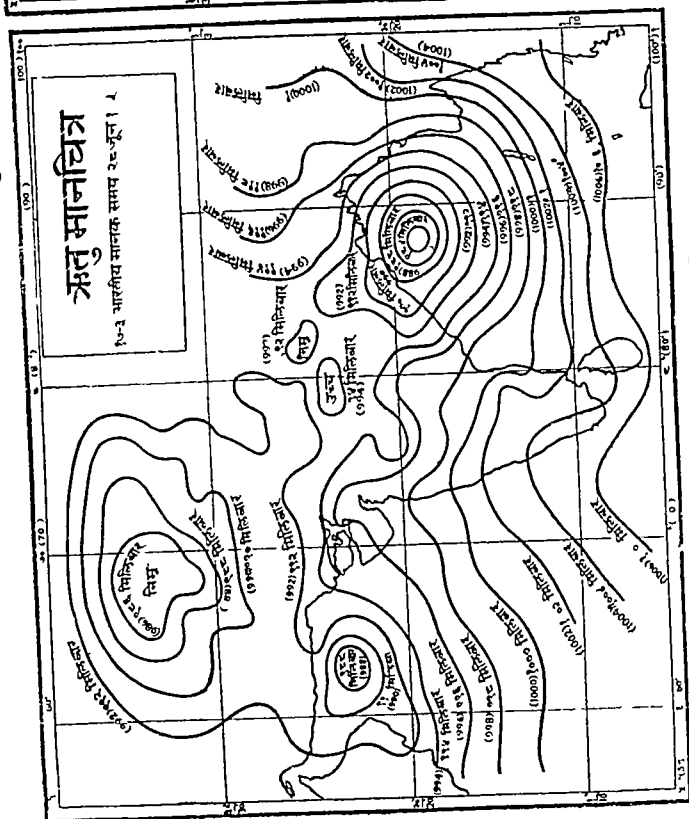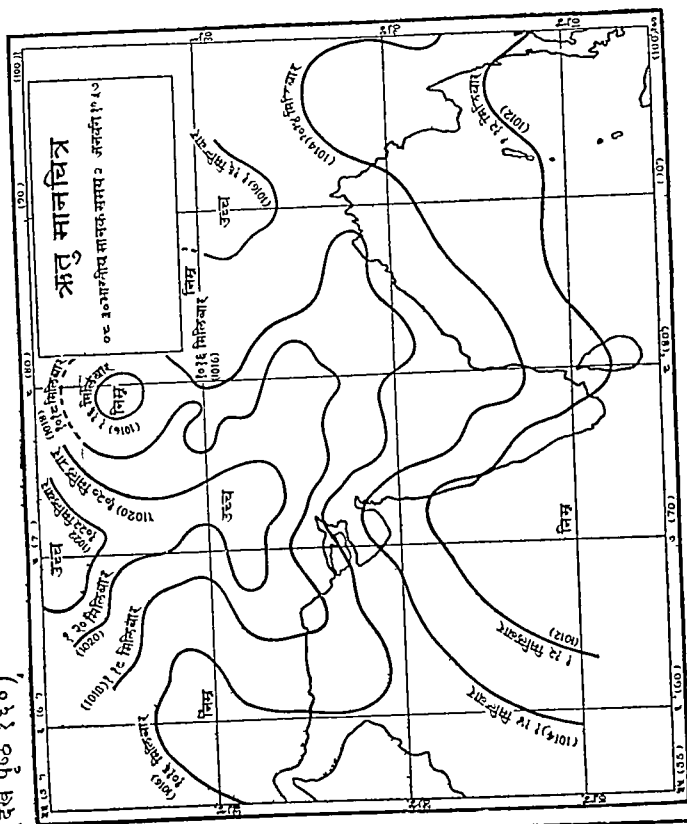
वायुदाब और ताप के अंतर का चित्र
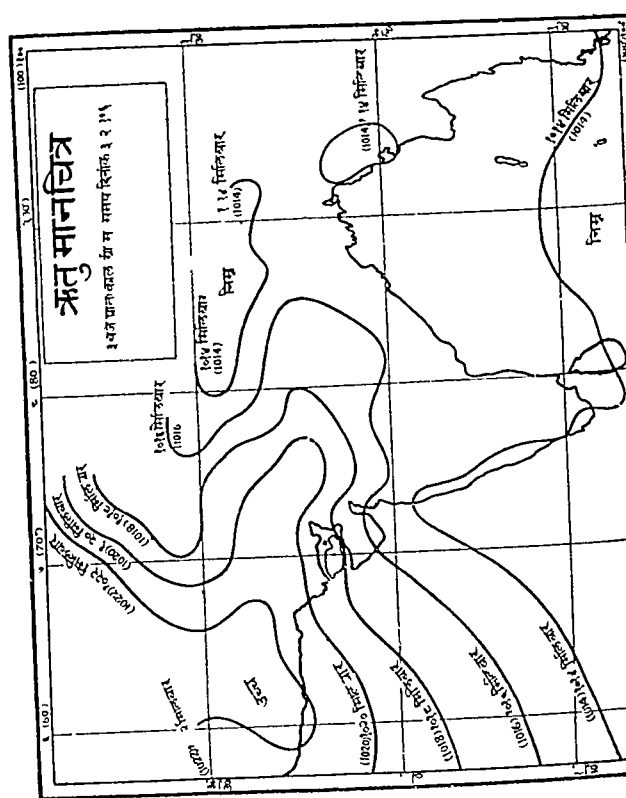
परिवर्तन चित्र
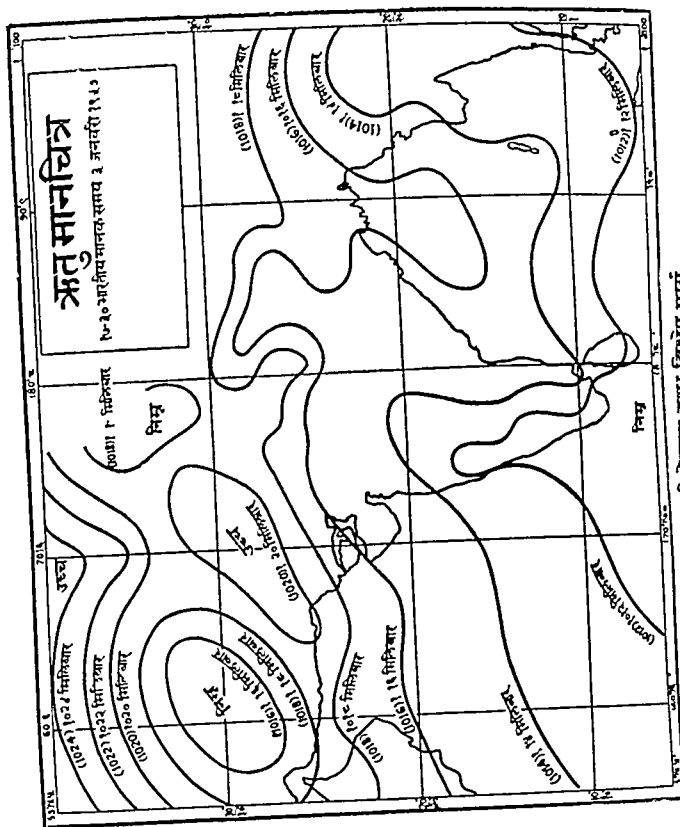
(घ) घाटी (कोल) जो दो चक्रवातो अथवा दो प्रतिचक्रवातो के बीच के क्षेत्र होते हैं।

ऊपर बताए हुए वायुदाव क्षेत्रो के मानचित्र चित्र २, ३, ४ तथा ५ मे दिखाए गए हैं।

३ **पश्चिमी वायुविक्षोभ**--सरदी की ऋतु में निम्न दाव की लहरें उत्तर भारत मे पश्चिम से पूर्व की ओर चलती हैं। इन निम्न दाव की लहरो का सबध भूमध्यसागर (मेडिटरेनियन सी) मे और कभी कभी अटलाटिक महासागर मे स्थित अवदावो से भी पाया गया है। यह पश्चिमी वायुविक्षोभ भारत मे भूमध्यसागर से ईरान और पाकिस्तान होते हुए आते हैं। नववर महीने मे यह विक्षोभ भारत के उत्तरीय सीमात पर कभी कभी वर्पा करते हैं और दिसवर के मध्य से पजाव मे जोर पकडना आरभ करते हैं। सामान्यत जनवरी से मार्च तक के महीनो में एक से तीन तक सक्रिय विक्षोभ प्रति मास पजाव और उत्तर प्रदेश में आते हैं। जैसे जैसे शीतकाल वढता जाता है, ये विक्षोभ प्राय उत्तर-पश्चिम भारत की पहाडियो और मैदानो मे, आसाम के उत्तर-पूर्व कोनो मे तथा उत्तरी वर्मा और कभी कभी उत्तर भारत के विस्तृत भाग मे, वर्पा करते हैं। फरवरी तथा मार्च महीनो मे कभी कभी मेकरान किनारे से गौण अवदाव की लहरें भी पूर्व की ओर चलती हैं और मूल अवदाव की उत्तरी लहरो के साथ साथ केंद्रीय भारत मे वर्पा करती हैं और उडीसा तथा वगाल प्रदेश मे आँधी पानी उत्पन्न करती हैं। पश्चिमी विक्षोभ के निकट आने के निम्नलिखित लक्षण हैं वायुदाव का कम हो जाना (कभी कभी दाव वहुत ही कम हो जाती है), ताप का वढना, तथा वादलो का घिर आना।

वादलो की जाति स्थानीय स्थलरचना पर निर्भर रहती है, परतु वह प्राय सक्रमण-पक्षाभ (ट्रैनजिशनसिर्रस), पक्षाभस्तरी (सिर्रो-स्ट्रेटस), मध्यस्तरी (ऐल्टोस्ट्रेटस), मध्यकपासी (ऐल्टो-क्युमुलस) और वाद मे सभवत वूंदावाँदी के साथ स्तरित कपासी (स्ट्रेटो-क्युमुलस), कपासी (क्युमुलस) और कई स्थानो पर कपासीवर्पुक (क्युमुलो-निंवस) होती है। वरसनेवाले वादल वर्पुक (निंवस) कहलाते हैं।

पवन की दिशा का परिवर्तन इस प्रकार होता है जव इराक, मेकरान और तटवर्ती सिंध प्रदेशो मे पवन की सामान्य दिशा पश्चिम और उत्तर-पश्चिम होती है, तो यह दिशा १५ किलोमीटर की ऊँचाई तक उत्तर-उत्तर-पूर्व से पूर्व-उत्तर-पूर्व और २ से ३ किलोमीटर की ऊँचाई पर पूर्व-दक्षिण-पूर्व से दक्षिण-दक्षिण-पूर्व और इससे अधिक ऊँचाई पर दक्षिण से दक्षिण-पश्चिम हो जाती है। ज्योही विक्षोभ आगे वढ जाता है, पवन की दिशा नीचे के वायुमडल मे शीघ्र ही उत्तर-पश्चिम या पश्चिम हो जाती है।

४ **बगाल प्रदेश की कालवैसाखी**--वगाल प्रदेश मे (मुख्यत दक्षिण और दक्षिण-पूर्व भागो मे) प्रति वर्ष मार्च से मई तक के महीनो मे आँधी-पानी प्राय आता है जो कभी कभी तो वहुत ही भयानक होता है और जान माल को वहुत हानि पहुँचाता है ऐसे आँधी पानी को कालवैसाखी कहते हैं। कालवैसाखी प्राय सदा उत्तर-पश्चिम दिशा से आते हैं, इस-लिये इनको अग्रेजी भापा मे नारवेस्टर अर्थात् उत्तर-पश्चिमी पवन कहते हैं। गर्मी के महीनो मे गगा नदी के मैदान के ऊपर वायु का निम्नदाव क्षेत्र होता है जिसके फलस्वरूप दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्व दिशाओ से आर्द्र पवन दक्षिण वगाल के निम्नदाव क्षेत्र की ओर चलने लगता है। इस आर्द्र पवन के ऊपर पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी सूखा पवन रहता है। जैसे जैसे ग्रीष्म ऋतु निकट आती जाती है, आर्द्र पवनधारा की गहराई पश्चिम से पूर्व की ओर वढती जाती हे। ऋतु के पूर्णत उष्ण हो जाने पर इस आर्द्र पवनधारा की गहराई दक्षिण वगाल के पूर्वी जिलो मे २ से २५ किलोमीटर तक रहती है। आर्द्र और सूखी वायुसहतियो के वीच एक समतापीय (आइसोथर्मल) क्षेत्र या उत्क्रमण (इनवर्शन) होता है। अव यह प्रश्न उठता है कि कालवैसाखी किस प्रकार वनती है। यह देखा गया है कि उत्क्रमण के नीचे कालवैसाखी मे पर्याप्त गुप्त अस्थि-रता (लेटेंट इन्स्टेविलिटी) होती है और उत्क्रमण के ऊपर गुप्त अस्थिरता के अनुकूल परिस्थिति होती है। इसलिये जव कभी किसी उपयुक्त विक्षोभी (ट्रिगर) घटना के कारण उत्क्रमण नष्ट हो जाता है तो निचली आर्द्र वायु के ऊपर उठने से अत्यधिक मात्रा मे ऊर्जा मुक्त हो जाती है। यह विक्षोभी घटना निम्नलिखित कारणो मे उत्पन्न होती है

(१) आतपन (इनसोलेशन) से।
(२) वगाल की खाडी से विक्षोभ अथवा चक्रवाती तूफान के कारण आर्द्र पवनो के आगमन से।
(३) पश्चिमी विक्षोभ के शीतल सीमाग्र के पूर्व की ओर जाने से।
(४) ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी से पवनधारा के कारण वायु के जमाव से।
(५) आँधी पानी में से शीतल वायु के भिन्न भिन्न दिशाओ में वहने से।

५ **भारतीय समुद्रो में निम्नदाव क्षेत्र तथा चक्रवाती तूफान**--अव-दाव वायुमडल का वह भाग होती है जिसमे वायु की दाव चारो ओर के भागो से कम होती है। इस प्रकार अवदाव के क्षेत्र को परिवेष्टित करने-वाली समदाव रेखाएँ लगभग गोल या अडाकार होती हैं। अवदावो का विस्तार वहुत अधिक होता है। इनकी गहराई १०० मील से २००० मील तक की हो सकती है। जिस अवदाव मे वायुदाव वाहरी भाग की अपेक्षा केंद्र के समीप वहुत कम होती है, वह गहरी अवदाव कहलाती है। जिस अवदाव मे वायुदाव केंद्र के समीप कम तो होती है परतु आसपास के भागो की अपेक्षा अधिक कम नही होती, उथली अवदाव कहलाती है। अवदाव में ऋतु अस्थिर रहती है और विभिन्न दावो के गतिवेग भिन्न भिन्न होते हैं। यह वेग कदापि नियत नही रहता। कोई कोई अवदाव ६०० से ७०० मील प्रति दिन के वेग से चलती है और कोई कोई स्थिर भी रहती है। अवदाव अपनी गति के साथ साथ अपनी ऋतु को अपने साथ लेती चलती है और इस ऋतु मे जो परिवर्तन होते हैं वे केवल अवदाव मे होनेवाले परिवर्तनो के कारण ही होते हैं। भारतीय ऋतुविज्ञान विभाग में प्रचलित विधि के अनुसार अवदाव शब्द का प्रयोग केवल उन चक्रवाती परिवहनो (साइ-क्लोनिक सर्क्युलेशस) के लिये किया जाता है जिनमें व्यूफोर्ट सकेतन प्रणाली के अनुसार पवनवेग ७ या कम वल का होता है। जव पवनवेग का वल ८ हो जाता है तव अवदाव चक्रवाती तूफान वन जाती है। यदि पवन-वेग का वल १० हो जाय और साथ ही कभी कभी प्रभजन के झोके (हरिकेन स्क्वाल) भी हो तो चक्रवाती तूफान को प्रचड कहा जाता है। साधारणत अवदाव भारतीय समुद्रो के उन भागो मे वनता है जहाँ उत्तर-पूर्वी एव उत्तर-पश्चिमी सूखा स्थलीय पवन दक्षिण से आनेवाले आर्द्र पवन से मिलता है। जनवरी और फरवरी महीनो मे वर्पण के क्षेत्र भूमध्यरेखा के दक्षिण में होते हैं और ये क्षेत्र धीरे धीरे उत्तर की ओर चलते जाते हैं और मई महीने के दूसरे या तीसरे सप्ताह तक वगाल की खाडी के मध्य में पहुँच जाते हैं। इनकी गति तव तक उत्तर की ओर ही वनी रहती है जव तक दक्षिण-पश्चिम पावस गगाघाटी पर छा नही जाता और अवदाव वगाल की खाडी में वनने नही लगती। जैसे जैसे पावस पीछे हटने लगता है, पार्थक्यरेखा फिर से दक्षिण-पूर्व की ओर चलने लगती है और अक्टूवर महीने में वगाल की खाडी के केंद्रीय भाग मे और दिसवर महीने में भूमध्यरेखा के पास उत्तर में आ जाती है। अरव सागर मे पार्थक्यरेखा इतनी स्पष्ट नही होती और दक्षिण-पश्चिम पावसकाल में प्राय कोई भी अवदाव या चक्रवाती तूफान नही वनते, परतु कभी कभी वगाल की खाडी की अवशिष्ट अवदाव उत्तरी-पूरव सागर पर प्रभाव डालती है। अरव सागर मे चक्रवाती तूफान मई और जून के आरभ में और अक्टूवर-नववर में वनते हैं।

६ **ऋतु पूर्वानुमान**--इस छोटे से लेख मे ऋतुचित्रो द्वारा पूर्वानु-मान करने की रीति का पूरा व्योरा देना सभव नही है। अत यहाँ केवल उन साघनो की रूपरेखा वताई जायगी जिसे भविष्यवक्ता प्रयुक्त करता है।

ऋतु चित्रो से पूर्वानुमान करने मे तीन समस्याएँ उपस्थित होती हैं

(१) भविष्यवक्ता के लिये यह जानना आवश्यक है कि ऋतुचित्र पर अकित वायु-दाव-क्षेत्र किस दिशा की ओर चलेंगे।
(२) पूर्वानुमान के परासकाल मे वायु-दाव-क्षेत्रो की परिस्थिति मे क्या क्या परिवर्तन होगे।
(३) स्थल सवधी रूपरेखा का ऋतु पर क्या प्रभाव हो सकता है।

वायु-दाव-क्षेत्रो की गति की दिशा जानने का एक नियम यह है कि मान लिया जाता है कि दिशा तथा वेग वे ही जारी रहेंगे जो थोडी देर पहले प्रेक्षण द्वारा ज्ञात किए गए थे। परतु इस नियम का उपयोग समुद्र के तटवर्ती स्थलो पर विशेष सावधानी से करना चाहिए। भविष्यवक्ता को वायु-दाव-क्षेत्रो और उनमे होते हुए परिवर्तनो को जानने के लिये सवसे

ऋतु पूर्वानुमान (देखें पृष्ठ १६०) भूतल समदाबरेखीय चित्र

मानचित्र में मुंबई पर लिखे संख्याओं का अर्थ इस प्रकार है २९ = ताप २९° सें०, ०७५ = वायुमंडल की दाब १००७.५ मिलिबार, ९८ = दृश्यता का संकेतावली अंक (दृश्यता १० से २० कि० मी० के बीच है) तथा २२ = ओसांक २२° सें०। \—O से वायु की दिशा पश्चिम-उत्तर-पश्चिम ज्ञात होती है। इसी प्रकार अन्य स्थानों के मानांकों को भी समझें।
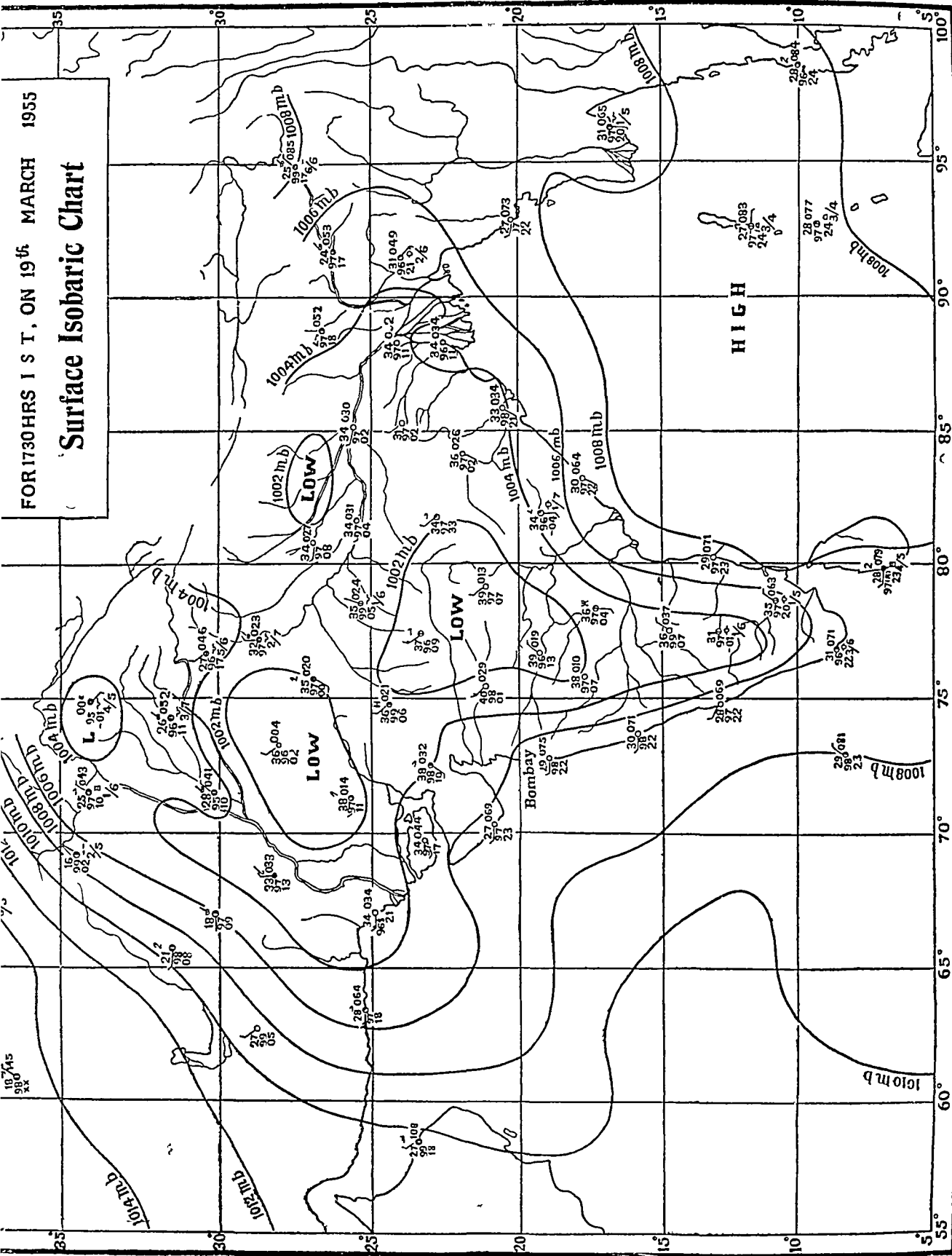
The numerals given in the map at **Bombay** stand as follows 29 for dry bulb temperature 29°C, 075 for 1007.5 m b atmospheric pressure 98 for visibility (code figure visibility between 10 and 20 k m) and 22 for 22° C dew point ╲—O shows

महत्वपूर्ण महायता वायुदावी प्रवृत्ति की सूचना से मिलती है जो भविष्यवक्ता को विभिन्न वेधशालाओ से प्राप्त होती है। वायुदावी प्रवृत्ति यह वताती है कि वायुदाव मे पिछले तीन घटो मे क्या परिवर्तन हुआ है और उसके लक्षणो से यह भी ज्ञात होता है कि परिवर्तन इस काल मे एक समान ही होता रहा है या नही। उदाहरणत, क्या वायुदाव पहले घटकर फिर वढा है? इस वात का सुझाव सर्वप्रथम स्वीडन देश के ऋतुवैज्ञानिक डाक्टर निल्स एकहोल्म ने दिया था कि एक ऐसा चित्र भी खीचा जाय जिसमे पूर्ववर्ती प्रेक्षण के पश्चात् नियत समय तक के वायुदाव-परिवर्तन अथवा समदाव-परिवर्तन (आइसैलोवारिक) रेखाएँ (जो घटते और वढते वायुदाव-क्षेत्रो को परिवेष्टित करती हैं) अकित रहे। ये क्षेत्र सम-दाव-परिवर्तनीय चित्र पर वहुत ही स्पष्ट पाए गए हैं। यह भी देखा गया है कि समदाव-परिवर्तन सवधी वायुसहतियाँ साधारण वायु-दाव-सहतियो की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से चलती हैं और दीर्घ काल तक एक ही पथ पर चलती रहती हैं। परतु यह कह देना आवश्यक है कि भारतवर्ष मे ऋतु सवधी वायु-दाव-परिवर्तनो का मान प्राय स्वल्प होता है और इस कारण दैनिक परिवर्तनो की अनियमितताओ से उनके दव जाने की सभावना रहती है। इसलिये वायुदावी प्रवृत्ति की दैनिक सूचना से ऋतुचित्र के विश्लेषण मे भारत मे कोई मुख्य सहायता नही मिल पाती। परतु अत्यत विक्षुब्ध ऋतु मे कभी कभी वायुदावी प्रवृत्ति से अच्छी सहायता मिलती है। उदाहरणत, वायुदावी प्रवृत्ति से तूफान या अवदावो की गति की दिशा का अनुमान हो जाता है, क्योकि अत्यत विक्षुब्ध ऋतु मे वायुदाव-परिवर्तनो का परिणाम इतना अधिक होता है कि उसपर दैनिक परिवर्तनो की अनियमितताओ का प्रभाव नही पडता।

मौसम का पूर्वानुमान करने की समस्या को सफल रूप से हल करने की एक उत्तम विधि नारवेजियन विधि के नाम से प्रख्यात है। इसके अनुसार ऋतु ध्रुवीय तथा भूमध्यरेखीय वायुओ के वीच मे सातरता (डिसकटिनुइटी) के पृष्ठ की उपस्थिति पर अधिकतर आधारित मानी जाती है। इस प्रकार की सातरता की रेखा प्रेक्षण द्वारा वायुमडल मे सचमुच पाई जाती है।

वायुयानो के लिये ऋतु विषयक पूर्वानुमान--विमानचालन के विस्तार के साथ साथ पृथ्वीतल से अधिक ऊँचाई तक के लिये ऋतु सवधी पूर्वानुमान की माँग वढ गई है। वायुयान सवधी ऋतु पूर्वानुमान मे वादलो की ऊँचाई, दृश्यता, वायुक्षोभ (टर्व्युलेस), वायुयान पर वर्फ जमने की सभावना, पवन के वेग तथा दिशा, वादलो की महत्तम ऊँचाई और पृथ्वीतल पर वायु के झोको के विषय मे सूचना होती है। वायुयान सवधी पूर्वानुमान और साधारण दैनिक पूर्वानुमान का आधार प्राय एक समान होता है पर वायुयान सवधी पूर्वानुमान मे कुछ अधिक सूचनाएँ दी जाती हैं जैसे मौसमी वेधशालाओ से प्राप्त अतिम क्षण तक की ऋतु की सूचना।

मध्यपरास तथा दीर्घपरास पूर्वानुमान--पूर्वानुमान के काल का परास प्राय २४ से लेकर ३६ घटो तक से अधिक नही होता। उसके वाद ३६ या ४८ घटो की ऋतु के वारे मे केवल रूपरेखा ही दी जा सकती है। इससे अधिक समय तक के लिये पूर्वानुमान देने के सवध मे वहुत कुछ कार्य हो रहा है, परतु अभी तक इस कार्य मे महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त नही हुई है। इस कार्य पर परिश्रम जारी है और ध्येय यह है कि ऐसी रीतियो का विकास हो सके जिनकी सहायता से अगले ५ से १० दिन तक की ऋतु का ठीक ठीक पूर्वानुमान करना सभव हो सके।

साख्यिकीय ऋतु पूर्वानुमान--साख्यिकीय (स्टैटिस्टिकल) विधियो द्वारा ऋतु विषयक पूर्वानुमान करने का कार्य भारत मे पिछले अनेक वर्षो से प्रचलित है और इस क्षेत्र मे इस देश मे पर्याप्त सफलता मिली है। इस विधि का आधार यह है कि भारत की पावसवर्षा पर ससार के कुछ अन्य देशो की ऋतु सवधी घटनाओ का प्रभाव पडता है। उदाहरणत, दक्षिण-अमरीका मे अप्रैल और मई महीनो के पवन के वेग तथा दिशा का, दक्षिण रोडेशिया मे अक्टूवर से अप्रैल मे हुई वर्षा की मात्रा का, पश्चिमी हिमालय पर्वत पर मार्च और अप्रैल मे हिमपात की मात्रा का पावसवर्षा पर वहुत प्रभाव पाया गया है। ससार के इन सव भागो से ऋतु सवधी न्यास एकत्रित करके सह-सवध-गुणाक (कोरिलेशन कोइफिशेट) निकाले गए हैं, जिनके आधार पर ऋतु सवधी पूर्वानुमान किया जाता है। ध्येय यह है कि इस प्रकार का पूर्वानुमान ८० प्रति शत ठीक हो।

स०ग्र०--स्वेर पेटरसन वेदर अनैलिसिस ऐंड फोरकास्टिग (१९४०), वी० पी० स्टार वेसिक प्रिंसिपल्स ऑव वेदर फोरकास्टिग।
[सो० म० तथा के० श०अ०]

ऋतुविज्ञान

ऋतुविज्ञान वायुमडल का विज्ञान है। आधुनिक ऋतुविज्ञान मे वायुमडल मे होनेवाली भौतिक घटनाओ का तथा उनसे सवद्ध उपलगोले (लिथोस्फियर) और जलगोले (हाइड्रोस्फियर) की घटनाओ का अध्ययन किया जाता है। ऋतुविज्ञान के विषय का वर्णन, जहाँ तक उसका सवध निचले वायुमडल की मौसमी घटनाओ से है, अधिकतम सुविधापूर्वक निम्नलिखित चार भागो मे किया जा सकता है

(१) यात्रिक ऋतुविज्ञान (इस्ट्रुमेटल मीटिअरॉलोजी) जिसका सवध उन प्रेक्षणयत्रो तथा प्रेक्षणविधियो से है जिनके द्वारा वायुमडल की ऋतु प्रभावक अवस्थाओ की सूचना प्राप्त की जाती है।

(२) भौतिक तथा गतिक ऋतुविज्ञान (फिजिकल और डाइनैमिकल मीटिअरॉलोजी) जिसमे प्रेक्षित ऋतु सवधी घटनाओ का गुणात्मक तथा पारिमाणिक (क्वाटिटेटिव) विवेचन किया जाता है।

(३) सक्षिप्त ऋतुविज्ञान (सिनॉप्टिक मीटिअरॉलोजी) जो मुख्यत ऋतु के पूर्वानुमान के लिये सक्षिप्त आर्तव (ऋतु सवधी) मानचित्रो द्वारा सक्षिप्त आर्तव प्रेक्षणो के अध्ययन से सवध रखता है।

(४) जलवायु-तत्व (क्लाइमैटॉलोजी) जिसमे ससार के सव भागो के आर्तव प्रेक्षणो का साख्यिकीय (स्टैटिस्टिकल) अध्ययन होता है और उसके द्वारा उन प्रसामान्य तथा मध्यमान (औसत) परिस्थितियो का ठीक ठीक पता लगाया जाता है जिनके द्वारा जलवायु का वर्णन किया जा सकता है।

ऋतुवैज्ञानिक तत्व (एलिमेंट्स)--ऋतु सवधी प्रेक्षणो मे, जिनसे वायुमडल की दशा का ज्ञान मिलता है, निम्नलिखित वाते देखी जाती हैं

ताप--वायु का ताप तापमापी (थरमामीटर) द्वारा नापा जाता है। इस थरमामीटर को सौर विकिरणो से अप्रभावित रखा जाता है। वायु की आर्द्रता ज्ञात करने के लिये गीले तापमापी (वेट वल्व थरमामीटर) का उपयोग किया जाता है। इस थरमामीटर के वल्व पर गीले मलमल के कपडे की इकहरी तह लिपटी रहती है। आर्द्रता की मात्रा सूखे थरमामीटर तथा गीले थरमामीटर के पाठ्याको से निकाली जाती है।

वायुदाव--यह वायुदावमापी (वैरोमीटर) द्वारा मापा जाता है और इससे पृथ्वी पर वायु का भार (प्रति इकाई क्षेत्रफल) विदित होता है।

पवन--पवन की दिशा तथा वेग का प्रेक्षण किया जाता है। दिशा वह ली जाती है जिस ओर से पवन आता है और दिक्सूचक के १६ अथवा ३२ विंदुओ मे अकित की जाती है। वेग पवन-वेगमापी (ऐनिमोमीटर) द्वारा मापा जाता है और मील प्रति घटा या किलोमीटर प्रति घटा या मीटर प्रति सेकड मे व्यक्त किया जाता है।

आर्द्रता--आर्द्रता से वायुमडल मे जलवाष्प की मात्रा का ज्ञान होता है और, जैसा पहले कहा जा चुका है, यह सूखे तथा गीले थरमामीटरो द्वारा नापी जाती है।

सघनन के रूप (कडेंसेशन फॉर्म्स)--इसमे वायुमडलीय सघनन के सव प्रकार के द्रव एव ठोस उत्पादन समिलित हैं। वादलो की मात्रा तथा उनके प्रकार, कुहरा तथा वर्षा, हिम (वर्फ), ओला आदि, का प्रेक्षण किया जाता है। प्रत्येक प्रकार का वादल आकाश के जितने भाग मे व्याप्त हो उतने को पूरे आकाश के दशाशो मे व्यक्त किया जाता है। जो सघनन कण काफी वडे होते हैं वे वर्षा के रूप मे पृथ्वी पर गिरते हैं।

दृश्यता--दृश्यता (विजिविलिटी) उस क्षैतिज दूरी को कहते हैं जहाँ तक की वडी और स्पष्ट वस्तुएँ दिखाई दे सकती हो।

छादन--छादन (सीलिंग) ऊर्ध्वाधर दृश्यता (वर्टिकल विजिविलिटी) से सवध रखती है और मेघतल की ऊँचाई से मापी जाती है।

ऐतिहासिक—प्राचीन काल से ही मनुष्य ऋतु तथा जलवायु की अनेक घटनाओ से प्रभावित होता रहा है। वायुविज्ञान के प्राचीनतम ग्रथ ऐरिस्टॉटल (३८४-३२२ ईसा पूर्व) रचित "मीटिग्ररोलॉजिका" तथा उनके शिष्यो की पवन तथा ऋतु सबधी रचनाएँ है। अरिस्टोटल के पश्चात् अगले दो हजार वर्षो मे ऋतुविज्ञान की अधिक प्रगति नही हुई। १७वी तथा १८वी शताब्दियो मे मुख्यत यत्रप्रयोग तथा गैस आदि के नियम स्थापित हुए। इसी काल में तापमापी का आविष्कार सन् १६०७ में गैलीलियो गैलीली ने किया और एवेजीलिस्टा टॉरीसेली ने सन् १६४३ मे वायु दावमापी यत्र का आविष्कार किया। इन आविष्कारो के पश्चात् सन् १६५९ मे वायल के नियम का आविष्कार हुआ। सन् १७३५ मे जार्ज हैडले ने व्यापारिक वायु (ट्रेड विंड) की व्याख्या प्रस्तुत की तथा उसमें सबसे पहले वायुमडलीय पवनो पर पृथ्वी के चक्कर के प्रभाव को समिलित किया। जब सन् १७८३ मे ऐटोनी लेवोसियें ने वायुमडल की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर लिया और सन् १८०० मे जॉन डॉल्टन ने वायुमडल मे जलवाष्प के परिवर्तनो पर और वायु के प्रसार तथा वायुमडलीय सघनन के सबध पर प्रकाश डाला तभी आधुनिक ऋतुविज्ञान का आधार स्थापित हो गया। १९वी शताब्दी मे विकास अधिकतर सक्षिप्त ऋतुविज्ञान के क्षेत्र मे हुआ। अनेक देशो ने ऋतुवैज्ञानिक सस्थाएँ स्थापित की और ऋतु वेधशालाएँ खोली। इस काल मे ऋतु पूर्वानुमान की दिशा मे भी पर्याप्त विकास हुआ। २०वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे २० किलोमीटर की ऊँचाई तक वायु के वेग तथा दिशा आदि के प्रेक्षणो के बढ जाने के कारण जो सूचनाएँ ऋतुविशेषज्ञो को प्राप्त होने लगी उनसे ऋतुविज्ञान की अधिक उन्नति हुई। ऊपरी वायु के ऐसे प्रेक्षणो से ऋतुविज्ञान की अनेक समस्याओ को समझने मे बहुत अधिक सहायता मिली।

प्रथम विश्वयुद्ध काल मे वायुमडलीय स्थितियो के अधिक और शीघ्रतम प्रेक्षणो की आवश्यकता हुई जिसकी पूर्ति के लिये वायुयान द्वारा ऋतुलेखी यत्र (मीटिग्ररोग्राफ) ऊपर ले जाने की व्यवस्था की गई। अन्य महत्वपूर्ण प्रगतियाँ जो प्रथम विश्वयुद्ध काल मे हुई वे नॉर्वे देश के ऋतुविशेषज्ञ वी० वरकनीज, एच० सोलवर्ग तथा जे० वरकनीज द्वारा ध्रुवीय अग्रसिद्धात (पोलर फ्रट थ्योरी) के तथा चक्रवातो की उत्पत्ति के तरग सिद्धात के परिणाम है।

द्वितीय विश्वयुद्ध काल में मुख्यत अधिक ऊँचाई पर उडनेवाले वायुयानो के उपयोग के लिये ऋतु सबधी सूचनाओ की माँग और बढ गई और इस माँग की पूर्ति के निमित्त विभिन्न ऊँचाइयो पर वायु के वेग तथा दिशा आदि के ज्ञान के लिये राडार प्रविधि (राडार टेकनीक) का विकास हुआ।

वायुमंडल की रचना तथा ऊर्ध्वाधर विभाजन—निचले वायुमडल की सूखी वायु मे अनेक गैसो का मिश्रण होता है जिनमे मुख्यत नाइट्रोजन ७८ प्रति शत, आक्सिजन २१ प्रति शत, आरगन ० ९३ प्रति शत और कार्वन डाइआक्साइड ० ०३ प्रति शत होती हैं। इन गैसो के अतिरिक्त कुछ अन्य गैसे भी होती है, जैसे हाइड्रोजन तथा ओजोन। पवनो द्वारा निचले वायुमडल के लगातार मिश्रण से तथा ऊर्ध्वाधर सवहन (कनवेक्शन) से सूखी हवा का मिश्रण इतना अपरिवर्ती रहता है कि कम से कम २० किलोमीटर की ऊँचाई तक तो सूखी हवा का अणुभार २८ ९६ पर स्थिर रहता है, अर्थात् वायु का घनत्व १ २७६ $(१०)^{-३}$ ग्राम प्रति घन सें० होता है, जब वायुदाव १,००० मिलीवार हो और ताप ०° सेंटीग्रेड हो।

वायुमडल मे ओज़ोन की उपस्थिति फाउलर तथा स्ट्रट ने वर्णक्रमदर्शी यत्र (स्पेक्ट्रॉस्कोप) द्वारा प्रमाणित की थी। डॉवसन के प्रेक्षणो से भी यह वात सिद्ध हो गई है तथा यह ज्ञान भी प्राप्त हुआ है कि ओजोन भूतल से लगभग ३० से ४० किलोमीटर की ऊँचाई पर एक सीमित स्तर में पाई जाती है। इन ऊँचाइयो पर ओजोन की उपस्थिति मौसमी परिस्थितियो के लिये कुछ महत्वपूर्ण है। डॉवसन की खोज से पता लगा है कि १० किलोमीटर ऊँचाई पर की वायुदाव में और ओज़ोन की मात्रा मे घनिष्ठ सवध है।

वायुमडल में जलवाष्प—वायुमडल मे केवल जलवाष्प ही ऐसा अवयव है जिसकी भौतिक अवस्था का परिवर्तन सामान्य वायुमडलीय परिस्थितियो में होता रहता है। अत वायुमडल मे जलवाष्प की प्रति शत आयतन मात्रा वहुत घटती वढती रहती है। वायुमडल मे जलवाष्प का घटना बढना ऋतुविज्ञान के लिये अत्यत महत्वपूर्ण है। जल का वाष्पीकरण तथा सघनन इसलिये महत्वपूर्ण है कि न केवल इनसे एक स्थान से दूसरे स्थान को जल का परिवहन होता है, वरन् इसलिये भी कि जल के वाष्पीकरण के लिये गुप्त उष्मा के अवशोषण की आवश्यकता होती है। यह अत में पुन प्रकट होकर वायु को तव उष्ण करने के काम मे आती है जब जलवाष्प का फिर से जलविंदु तथा हिम मे सघनन होता है।

यद्यपि नाइट्रोजन गैस अमोनिया, नाइट्रिक अम्ल तथा नाइट्रेटो का मुख्य अवयव है और ये पदार्थ वारूद आदि में वहुत महत्व रखते है, तथापि वायुमडल मे यह गैस विलकुल निष्क्रिय रहती है। यह तो वायुमडल के अधिक महत्वपूर्ण अवयव आक्सिजन गैस को, जो वायुमडल का लगभग पाँचवाँ भाग होती है, केवल तनु कर देती है।

वायुमडलीय दाव का ऊँचाई के साथ घटना बढना—किसी भी स्थान की वायुदाव वहाँ के ऊपर की वायु के भार से उत्पन्न होती है, इसलिये दो विभिन्न ऊँचाइयो की वायुदावो का अतर इन दोनो ऊँचाइयो के बीच की हवा के एकाक अनुप्रस्थ काट (क्रॉस सेक्शन) के भार के बराबर होता है। यदि यह दाव का अतर बीच की हवा के भार से यथार्थ रूप में सतुलित न हो तो उस वायुस्तर को ऊपर की ओर या नीचे की ओर त्वरण (ऐक्सेलरेशन) प्राप्त होता है। जिस परिस्थिति मे दाव का अतर और वायु का भार सतुलित हो, अथवा यो कहिए कि गुरुत्वजनित त्वरण के अतिरिक्त कोई अन्य ऊर्ध्वाधर त्वरण विद्यमान न हो, वह द्रवस्थैतिक सतुलन (हाइड्रोस्टैटिक ईक्विलिब्रियम) की परिस्थिति कहलाती है। यह परिस्थिति किसी भी स्तर पर ऊँचाई के साथ दावपरिवर्तन की दर का परिचय देती है। यदि दो दावस्तरो के वीच का दाव अतर तादा (dp) हो और दोनो स्तरो के वीच ऊर्ध्वाधर दूरी ताल (dz) हो, घनत्व घ (ρ) हो और गुरुत्वजनित त्वरण गु (g) हो, तो

$$\text{तादा} = \text{घगु}\ \frac{\text{तादा}}{\text{ताल}}\ \text{अर्थात्}\ \frac{\text{तादा}}{\text{ताल}} = -\text{घगु}।\ \left[dp = \rho g \frac{dp}{dz}\ \text{या}\ \frac{dp}{dz} = -\rho g \right]$$

इस समीकरण को द्रवस्थैतिक समीकरण कहते है।

दाब ऊँचाई सूत्र—गुरुत्वजनित त्वरण विभिन्न अक्षाश (लैटिट्यूड) तथा ऊँचाई के कारण थोडासा ही घटता वढता है, किंतु दाव, ताप तथा नमी के कारण वायु का घनत्व अधिक माना में घटता वढता है। इसलिये वायुमडल मे ऊर्ध्वाधर दावप्रवणता (वर्टिकल प्रेशर ग्रेडियट) अत्यत परिवर्तनशील होती है। दो दावस्तरो के वीच की ऊँचाई का अतर ऊ (h) मीटर निम्नलिखित सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है

$$\text{ऊ} = \text{१८४००} \left(\text{लघु}_{\text{१०}} \frac{\text{दा}_\circ \text{वा}}{\text{दा}} \right) \frac{\text{गू}}{\text{गुऔ}} \left[\frac{\text{१+प औ/२७३}}{\text{१—० ३७८ मि०मी०}} \right]$$

$$h = 18400 \left(\log_{10} \frac{p_\circ w}{p} \right) \frac{G}{gm} \left[\frac{1 + tm/273}{1 - 0\ 378\ \text{m m}} \right]$$

जहाँ ऊ (h)=ऊँचाई का अतर (मीटरो मे), दा० ($p_\circ$) नीचे के स्तर की वायुदाव, दा (p)=ऊपर के स्तर की वायुदाव, गू (G)=प्रसामान्य गुरुत्व, गु (g)=गुरुत्वत्वरण, प (t)=ताप, वा (w)=वाष्पदाव अनुपात है और अवलग्न अक्षर औ (m) के द्वारा दोनो स्तरो के वीच का औसत मान व्यक्त होता है।

$$\text{वाष्पदाव अनुपात} = \frac{\text{वाष्पदाव}}{\text{सर्व वायुमडलीय दाव}}।$$

ऊँचाई मापने की विधि—ऊँचाई मापने की प्रामाणिक विधि यह है कि ऊपर दिए हुए सूत्र द्वारा दाव तथा ताप मापकर ऊँचाई का अतर प्राप्त किया जाय और यदि यथार्थता की आवश्यकता हो तो आर्द्रता की मात्रा को भी काम मे लाया जाय। प्रामाणिक तुगतामापी (आल्टिमीटर) इसी सूत्र पर आधारित है।

ताप का दैनिक परिवर्तन—दिन के समय सूर्य से गरमी मिलने और रात में विकिरण द्वारा पृथ्वी के ठढी होने से वायु के ताप मे दैनिक परिवर्तन उत्पन्न होता है। न्यूनतम ताप सूर्योदय से कुछ पहले होता है और अधिक-

तम ताप तीसरे पहर में होता है। वायु के ताप का यह दैनिक परिवर्तन भूतल से ऊपर के मुक्त वायुमडल में शीघ्रता से घटता है। पृथ्वी के अधिकतर भागों में ५,००० फुट से अधिक की ऊँचाइयों पर तथा रेगिस्तानी प्रदेशों में १०,००० फुट की ऊँचाई पर ताप का दैनिक परास (रेंज) २° या ३° सेंटीग्रेड से अधिक नही पाया गया है।

वायुमडल का उष्मासतुलन—भूतल तथा वायुमडल को गरमी लगभग पूर्णतया सूर्यविकिरण से ही मिलती है। अन्य आकाशीय पिंडो से गरमी बहुत ही कम मात्रा में मिलती है। सौर ऊर्जा की मापे स्मिथ-सोनियन सस्था की तारा-भौतिकी-वेधशाला में तथा अन्य कई पर्वतशिखरो पर स्थित वेधशालाओं में नियमित रूप से की जाती है और इन मापो की यथार्थता एक प्रति शत से उत्कृष्ट होती है। पृथ्वी और सूर्य की मध्यमान-सौर-दूरी पर यह सौर आतपन-ऊर्जा वायुमडल में प्रविष्ट होकर अशत अवशोषित होने के पहले लगभग १.९४ ग्राम कलरी प्रति मिनट प्रति वर्ग सेंटीमीटर होती है, यहाँ प्रतिबध यह है कि सूर्य की किरणे उस वर्ग सेंटीमीटर पर अभिलवत पडें। इस मात्रा को सौर नियताक (सोलर कॉन्स्टैंट) कहते हैं। सौर नियताक के मान में पाई गई अनियमित घट-बढ एक प्रति शत से भी कम रहती हैं, ये प्रेक्षणत्रुटियों के कारण हो सकती हैं। इन अनियमित उच्चावचनो के अतिरिक्त एक वास्तविक और बडा उच्चावचन भी पाया गया है जो ग्यारह वर्षीय सूर्य-कलक-चक्र में लगभग १ प्रति शत होता है। इसमें परा-बैंगनी विकिरण के कारण एक से दो प्रति शत तक का दीर्घकालिक उच्चावचन और भी हो सकता है। परतु ये सब उच्चावचन इतने लघु हैं कि वायुमडलीय उष्म सतुलन के सबध में यह मान लिया जा सकता है कि पृथ्वी पर सौर ऊर्जा १.९४ ग्राम कलरी प्रति वर्ग सेंटीमीटर प्रति मिनट पडती है। अनुमान किया गया है कि सौर ऊर्जा का ४३ प्रति शत भाग परावर्तित तथा प्रकीर्णित प्रकाश के रूप में आकाश में वापस चला जाता है। पृथ्वी की परावर्तन तथा प्रकीर्णन करने की सम्मिलित शक्ति को ऐलबेडो कहते हैं। यह ४३ प्रति शत है। शेष ५७ प्रति शत ऊर्जा, जो प्रभावकारी आतपन है, भूतल तथा वायुमडल को औसतन ५७ उष्मा इकाइयाँ प्रदान करता है। इन ५७ उष्मा इकाइयो में से केवल एक लघु भाग का (अधिक से अधिक १४ इकाइयो का) वायु-मडल, मुख्यत निचले स्तरों में जलवाष्प द्वारा और कुछ कम परिमाण में ऊपरी समताप मडल (स्ट्रैटोस्फियर) में ओजोन द्वारा, अवशोषण कर लेता है।

वायुमडल में वाष्पन तथा सघनन—वायुमडल में वाष्पन तथा सघनन का कारण है वायु की जलवाष्प ग्रहण करने की शक्ति में कमी बेशी, अर्थात् आर्द्र वायु का गरम या शीतल होना। साधारणत वायुमडल में जल-वाष्प-मात्रा सतृप्त मात्रा से कम होती है, विशेषकर भूतल के समीप जहाँ वायुमडल का प्रभावकारी आतपन अधिकतम होता है।

वाष्पन—वायु में नमी का अधिक भाग, जो वायुमडल में जलवाष्प-चक्र को चलाता रहता है, वाष्पन से प्राप्त होता है। जैसे जैसे जल वाष्पित होता है, तैसे तैसे वह वायुमडल में विसरित होता रहता है। वायु-मडल में वाष्पन द्वारा होनेवाली मौसमी क्रियाएँ अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण नही होती। दृश्य भाप की उत्पत्ति भी वाष्पन द्वारा होनेवाली मौसमी क्रिया है। गरम जल की सतह से शीघ्रतापूर्वक वाष्पन होने के कारण बहुत ठढी अथवा अपेक्षाकृत ठढी आर्द्र वायु एकदम अति सतृप्त हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि दृश्य भाप के रूप में नमी का तुरत सघनन हो जाता है जिसके कारण स्थिर हवा में घना कोहरा बन जाता है।

वायुमडलीय सघनन—सघनन किसी खुली सतह पर उस समय होता है जब उस सतह का ताप आसपास की वायु के ओसाक (ड्यू पॉइंट) के ताप से कम होता है। इस प्रकार के सघनन के उदाहरण गरम मौसम में पाए जाते हैं। जैसे, यद्यपि वायु की आपेक्षिक आर्द्रता सौ प्रति शत से पर्याप्त कम रहने पर भी वर्फ के पानी से भरे गिलास के बाहर वायु का वाष्प सघनित हो जाता है उसी प्रकार स्वच्छ प्रशात रात्रि में ओस का सघनन उन भूतल-स्थित वस्तुओं पर हो जाता है जो अपनी उष्मा के विकिरण के कारण आसपास की वायु के ओसाक से निम्न ताप तक ठढी हो जाती हैं। पाला उन सतहो पर जमता है जो हिमाक से भी अधिक ठढी हो जाती हैं, चाहे ऊपर वायु का ताप हिमाक से काफी ऊँचा ही क्यो न हो।

जब वायुमडल के भीतर छोटे छोटे जलविंदुओ के रूप में सघनन होता है तो प्रश्न यह उठता है कि यह क्रम किस प्रकार प्रारभ होता है। प्रयोग से सिद्ध हुआ है कि पूर्णत अशुद्धिहीन वायु में सघनन जलविंदु के रूप में नही होता, चाहे उसमें वाष्पदाब सतृप्ति दाब से दस गुनी ही क्यो न हो। प्रतीत होता है कि जलवाष्प का सघनन प्रारभ करने के लिये किसी प्रकार के कणो की आवश्यकता होती है जो शुद्ध वायु में उपस्थित नही होते। इस प्रकार के कण को सघनन नाभिक कहते हैं। परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि वायु में जलाकर्षी पदार्थो के नन्हें कण, जैसे समुद्री नमक के कण, सघनन नाभिको का कार्य करते हैं। जिन स्थानो में कारखानो का धुआँ वायुमडल को दूषित कर देता है, वहाँ धुएँ के गधक, फास्फोरस आदि पदार्थो के आक्साइड के नन्हे कण सघनन नाभिक बन जाते हैं।

साधारणत निचले क्षोभमडल (ट्रॉपोस्फियर) के कुहरे और बादलो में प्रति घन सेंटीमीटर सौ से दस हजार तक नन्हें जलविंदु होते हैं। बादलो में वर्षाविंदु अथवा दूसरे वर्षणकण किस प्रकार निर्मित होते हैं यह विषय अभी सशययुक्त है। कदाचित् ये बहुत से छोटे छोटे मेघकणो के सयोजन द्वारा बनते हैं। सयोजन वायु की धाराओ के मिलने और वायु के मथ उठने से होता होगा। बडे बडे विंदुओवाली तीव्र वर्षा के बारे में स्वीकृत सिद्धात यह है कि ये विंदु तब बनते हैं जब हिममणिभ बादलो के ऊपरी भागो में पहुँच जाते हैं जहाँ अति शीत (सूपरकूल्ड) जलकण विद्यमान रहते हैं। इस सिद्धात का प्रतिपादन टी बर्गरान ने किया था।

वायुमडल का सामान्य सचार—मूलत वायुमडल का सामान्य सचार भूमध्यीय तथा ध्रुवीय देशो के बीच क्षैतिज तापप्रवणता (ग्रेडियट) के कारण उत्पन्न होता है। एक प्रकार से वायुमडल का सामान्य सचार वायुमडल की हलचल का तथा उसकी क्रियाओ का एक व्यापक विहगम चित्र है। यदि दीर्घकाल के दैनिक मौसमी नक्शो का परीक्षण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि उनमे प्रवाह के रूप दो प्रकार के होते हैं

(१) अल्पजीवी शीघ्रगामी प्रतिचक्रवात (ऐंटिसाइक्लोन) तथा अवदाब (डिप्रेशन)। इस प्रकार के भँवर प्रारभ होने के बाद एक दिन से लेकर एक मास तक के काल में समाप्त होते हैं और फिर नक्शो से बिलकुल अदृश्य हो जाते हैं। ये गौण सचार नाम से प्रसिद्ध हैं।

(२) दीर्घजीवी तथा धीरे चलनेवाले भँवर। ये भी प्रतिचक्रवाती अथवा चक्रवाती प्रकार के होते हैं, परतु दीर्घ काल तक लगभग निश्चल रहते हैं। ये प्राथमिक सचार कहलाते हैं। चित्र १ और २ में जनवरी और जुलाई के महीनो में पृथ्वी पर औसत समुद्रस्तरीय दाबरेखाएँ दी गई हैं। यह स्पष्ट है कि दोनो चित्रो में दक्षिणी गोलार्ध की कुछ बाते एक जैसी हैं।

(क) दोनो महीनो में पृथ्वी के समस्त भूमध्यरेखीय प्रदेश में एक अपेक्षाकृत अल्प, किंतु अत्यत एकसमान, दाब का अखड कटिबध है। जनवरी मास में यह कटिबध भूमध्यरेखा के कुछ उत्तर की ओर है, परतु जुलाई मास में या तो ठीक उस रेखा पर है या थोडा दक्षिण की ओर। यह अल्प-दाब-कटिबध प्रशात तथा उष्ण मौसम का कटिबध है जो समुद्र पर डोलड्रम के नाम से प्रसिद्ध है। इस पूरे कटिबध को हम भूमध्यरेखीय अल्प-दाब-कटिबध कह सकते हैं।

(ख) उपोष्ण (सब-ट्रॉपिकल) देशो में (लगभग ३०° दक्षिण अक्षाश के निकट) एक चौडा अखड अधिक दाब का कटिबध जनवरी और जुलाई दोनो ही मासो में होता है, परतु जनवरी मास में आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रीका के ऊपर यह छोटे छोटे अल्पदाब क्षेत्रो के द्वारा थोडा विच्छिन्न हो जाता है। यह चौडा कटिबध उपोष्णवलयिक अधिदाब कटिबध कहलाता है जो दोनो गोलार्धो में सामान्य सचार का एक स्थायी स्वरूप है।

(ग) उपोष्णवलयिक अधिदाब कटिबध के दक्षिण में वायुदाब दक्षिण की ओर बराबर गिरती जाती है और अटार्कटिका महाद्वीप के ऊपर न्यूनतम हो जाती है।

उत्तरी गोलार्ध में निम्नलिखित तीन प्राथमिक दाबक्षेत्रो का परिचय मिलता है :

(१) भूमध्यरेखीय अल्पदाब कटिबध, जो दोनो गोलार्धो में समान रूप से विद्यमान रहता है।

ऋतुविज्ञान
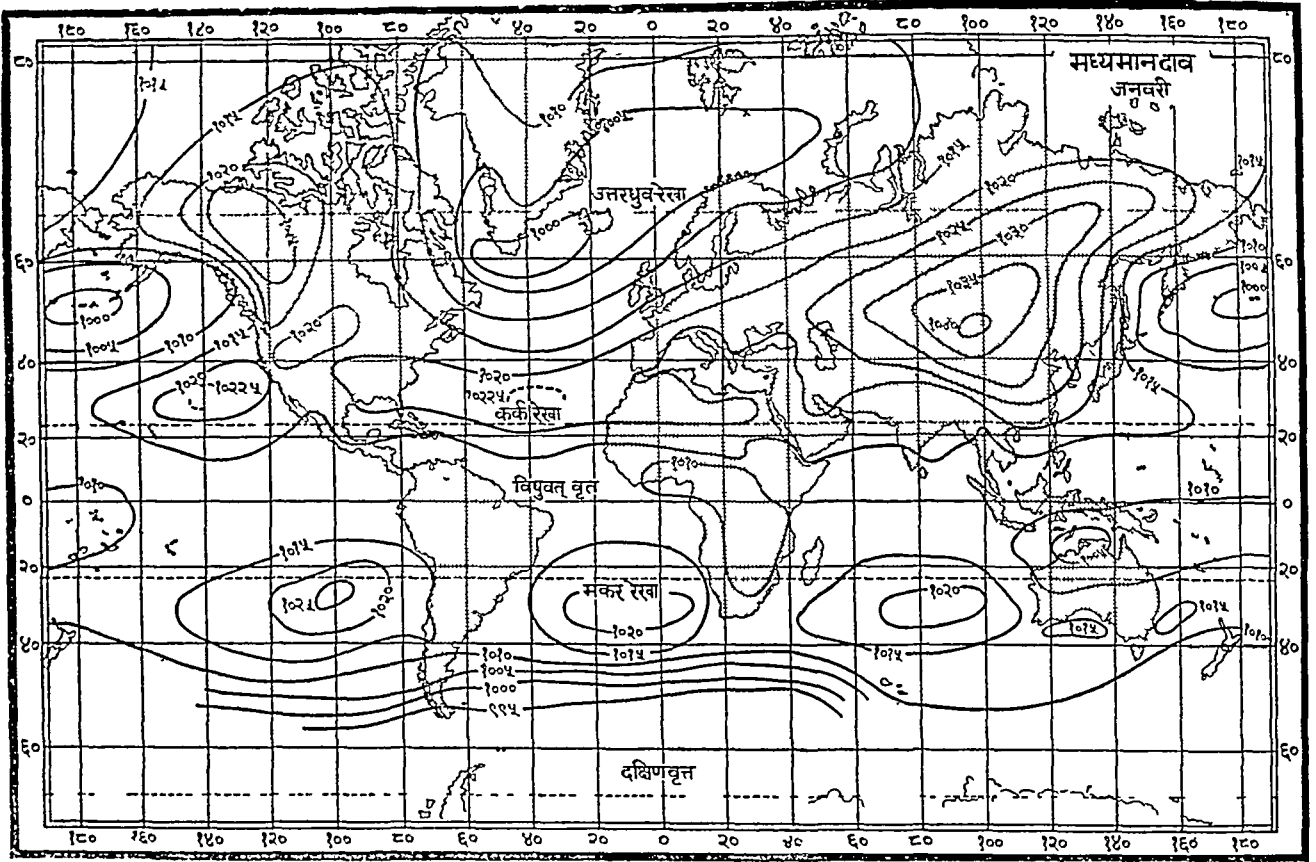
चित्र १—जनवरी मास में औसत समुद्रस्तरीय दावरेखाएँ
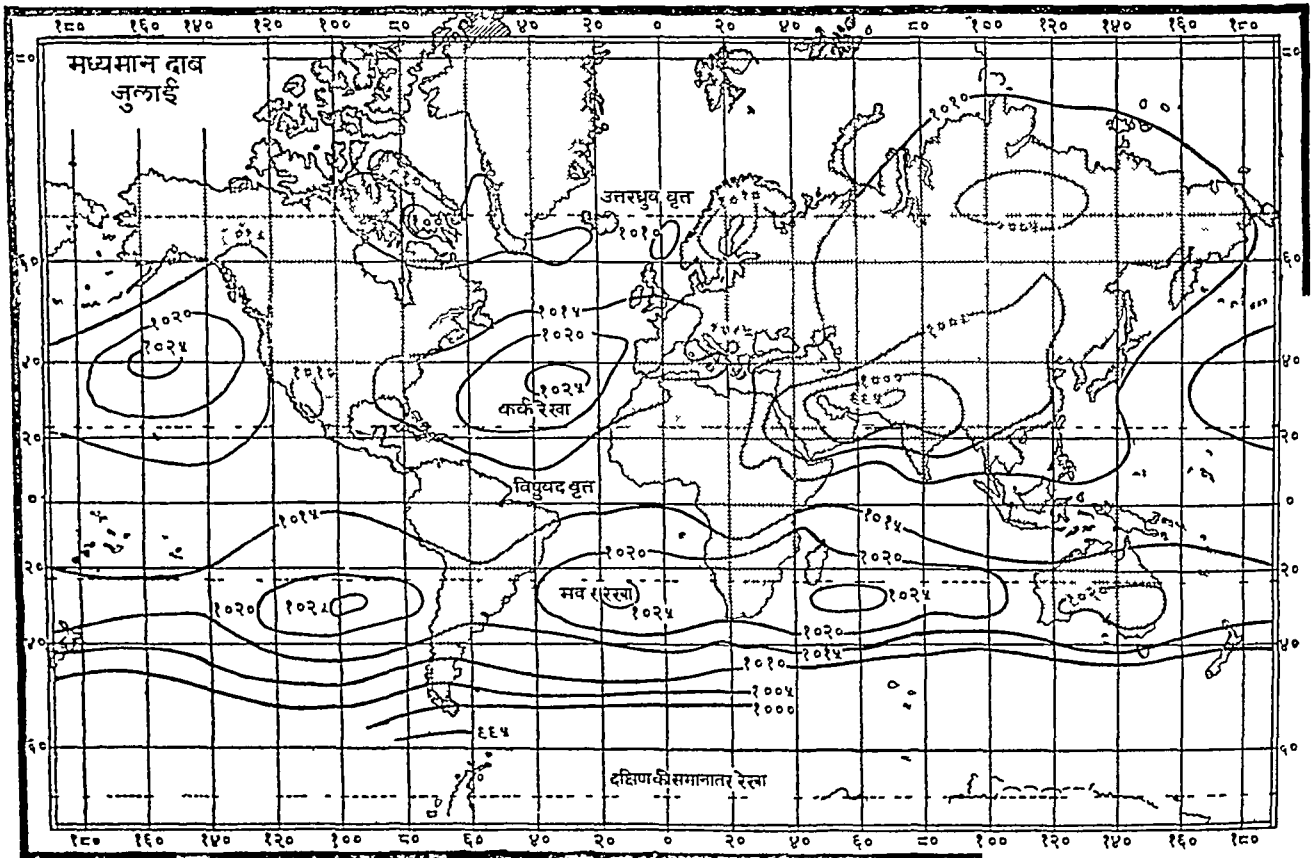
चित्र २—जुलाई मास में औसत समुद्रस्तरीय दावरेखाएँ

(२) उपोष्णवलयिक अधि-दाव-कटिबंध इस गोलार्ध मे पूर्णतया भिन्न प्रकार का है। जनवरी मास मे यह समुद्रो पर लगभग २५°-३५° उत्तर मे रहता है। परतु महाद्वीपो के ऊपर ऊँचे अक्षाशो मे इसका सबध बहुत अधिक दाव की प्रणालियो से रहता है। ये दाव-प्रणालियाँ लक्षण मे एकदम भिन्न होती है और इसलिये उपोष्ण-वलयिक अधि-दाव-कटिबंध को समुद्रो तक ही सीमित समझना उचित है।

(३) जनवरी मास के नक्शे पर उपोत्तरध्रुवीय (सब-आर्कटिक) अल्प-दाव कटिबंध स्पष्टतया दिखाई देता है। इस कटिबंध मे दो बडे अल्पदाव क्षेत्र आइसलैंड तथा अलूशियन द्वीपो पर है, जो क्रमानुसार उत्तरतम अटलाटिक महासागर पर तथा उत्तरतम पैसिफिक महासागर पर विस्तृत है। इन दोनो क्षेत्रो के बीच मे ध्रुव पर अपेक्षतया अधिक दाव का एक क्षेत्र है। ग्रीष्म ऋतु मे ये अल्पदाव बहुत क्षीण होते है। अलूशियन क्षेत्र तो गायब हो जाता है और आइसलैंड के निकटवाला क्षेत्र बहुत क्षीण हो जाता है। ध्रुवो पर वायुदाव अपेक्षाकृत अधिक रहती है। उपोष्णवलयिक अधि-दाव कटिबंध तथा उपध्रुवीय अल्पदाव कटिबंध की अखडता मे विच्छिन्नता नवीन तथा अज्ञात तत्वो के कारण होती है जिनका दक्षिणी गोलार्ध मे अभाव है।

गौण सचार—गौण सचार चाहे प्रतिचक्रवाती हो या चक्रवाती, उनका लक्षण यह है कि एक या अधिक समदाव रेखाएँ अधिदाव केंद्रो या अल्पदाव केंद्रो को चारो ओर से घेरकर वद कर देती है। इस प्रकार अधि-दाव क्षेत्र तथा अल्पदाव क्षेत्र क्रमानुसार वायुमडल के भार की अधिकता अथवा न्यूनता के स्थानीय क्षेत्र होते है। गौण सचार दो प्रकार के होते है (१) प्रत्यक्षत उष्मीय (थर्मली डाइरेक्ट) और (२) गतिक (डाइनैमिक) अथवा प्रणोदित (फोर्स्ड)। प्रत्यक्षत उष्मीय अधिदाव तथा अल्पदाव निचले वायुमडल के किसी स्थानविशेष के ठढा या गरम होने से निर्मित होते है। गतिक अधिदाव तथा अल्पदाव दोनो ही सामान्य सचार की वायुधाराओ की पारस्परिक यान्त्रिक (मिकैनिकल) क्रियाओ के कारण निर्मित होते है। प्रत्यक्षत उष्मीय गौण सचारो मे पावस (मानसून) तथा उष्णवलयिक प्रभजन (हरिकेन) समिलित है।

पावससचार—मानसून शब्द ऋतुसूचक अरबी शब्द से निकला है और प्रारभ मे अरब समुद्र के उन पवनो के लिये इसका व्यवहार किया जाता था जो लगभग छ महीने उत्तर-पूर्व से और छ महीने दक्षिण-पश्चिम से चलती है। अव यह शब्द कुछ अन्य पवनो के लिये भी लागू हो गया है जो वर्ष की विभिन्न ऋतुओ मे प्रतिकूल दिशाओ से दीर्घकालिक तथा नियमित रूप से चलती है। इन पवनो के चलने का प्राथमिक कारण थल तथा समुद्री क्षेत्रो के तापो का ऋतुजनित अतर है। ये पवन थलसमीर तथा जलसमीर के सदृश ही होते है परतु इनकी अवधि एक दिन के वजाय एक वर्ष की होती है और ये सीमित क्षेत्रो के वजाय बहुत विस्तृत क्षेत्रो पर चलते है। मानसून को हिंदी मे पावस कहते है।

भूमध्यरेखा के समीप ताप के ऋतुजनित परिवर्तन सामान्यत पावस के विकास के लिये बहुत छोटे होते है। ऊँचे अक्षाशो मे, जहाँ पछ्वा पवन चलता है, और ध्रुवीय प्रदेशो मे, थल और समुद्र के ताप की विभिन्नता से वने वातघट (कंविड कॉम्पोनेट) पृथ्वीव्यापी पवनसचारो को केवल थोडा सा ही वदलने मे समर्थ होते है। ऐसी परिस्थिति मे पावस के विकास के लिये सबसे अधिक अनुकूल प्रदेश उष्णवलय के समीप मध्य अक्षाशो में होते हैं। स्थल की ओर चलनेवाले पवनो मे विद्यमान आर्द्रता की मात्रा का तथा स्थल की रूपरेखा का पावसवर्षा पर अत्यत प्रभाव पडता है। विभिन्न घटनाओ की उपयुक्त सगति के कारण पावस का अधिकतम विकास पूर्व तथा दक्षिण एशिया पर होता है और इन प्रदेशो के बहुत से भागो मे दक्षिण-पश्चिम से चलनेवाले ग्रीष्म ऋतु के वृष्टिमान पावसपवन जलवायु के महत्वपूर्ण अग है। पावसपरिस्थिति उत्तर आस्ट्रेलिया मे, पश्चिमी, दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रीका के भागो मे और उत्तरी अफ्रीका तथा चिली के भागो मे भी उत्पन्न होती है, परतु बहुत कम मात्रा मे।

भारत मे पावस अचानक तथा नाटकीय रूप से आता है। इसकी उत्पत्ति दक्षिण भारतीय व्यापारिक पवनो से होती है। ये जून मास के आरभ मे भूमध्यरेखा के आरपार चलना आरभ कर देते है, और मुख्यत. रेखाश ८०° पूर्व के तथा लगभग रेखाश ५° उत्तर पर भारत देश की ओर मुड जाते है। जून मास के मध्य मे भारत के पश्चिमी किनारे पर पहुँचकर पावस दक्षिण प्रदेश को पार कर लेता है और फिर भारतवर्ष, वर्मा तथा वगाल की खाडी के सब भागो मे पहुँच जाता है। दक्षिण प्रदेश के दक्षिणी भागो के अतिरिक्त, जहाँ पश्चिमी घाटो की पहाडियो की आड के कारण ये पवन पहुँच नही पाते, मानसून काल मे भारत के सब भागो मे भारी वर्षा होती है। यह वर्षा लगभग पूर्णतया सवहनीय (कनवेक्टिव) होती है। इसकी प्रगति के लिये मुख्यत भूतल की तपन तथा उसकी ऊँचाई से वाष्प का जल मे रूपातरित होना नियत्रित होता है। भूमि तल की उठान का प्रभाव पश्चिमी घाटो मे, खासी की पहाडियो मे, अराकान की चोटियो मे तथा हिमालय पर्वत पर भली भाँति दिखाई पडता है। इन भागो मे अत्यधिक वर्षा होती है। कभी कभी गगाघाटी की द्रोणी मे बहुत देर तक विस्तृत वर्षा होती रहती है। यह लगातार वर्षा प्राय उन उथले अवदावो के कारण होती है जो मुख्य पावसी अल्पदाव की ओर पश्चिम दिशा मे मद गति से चलती है। भारतीय पावस की शक्ति बहुत घटती बढती रहती है। जव पावस तीव्र होता है तो भारत के अधिकतम भागो मे वर्षा औसत से बहुत अधिक हो जाती है और जव पावस हल्का होता है तो वर्षा न्यून होती है। पावस का उत्तर की ओर बढना हिमालय पहाड के कारण सीमित हो जाता है, परतु पावस का प्रवाह वर्मा, थाइलैंड, इडोचीन तथा दक्षिण चीन मे बहुत प्रविच्छिन्न रहता है। इस प्रायद्वीप के अक्ष के निकट स्थित ऊँची पहाडियाँ (जो भारत-यूनन-वायुमार्ग पर "कूवड" के नाम से कुख्यात है) घने सवहन वादलो से ढकी रहती हैं और यहाँ बहुधा वर्षा होती रहती है।

पावस के प्रारभकाल मे वर्षा की मात्रा और वारवारता मे भारी उतार-चढाव होते रहते है जो भारतीय कृषक जीवन के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसलिये इस देश मे साख्यिकीय दीर्घपरास ऋतु पूर्वानुमान (स्टैटिस्टिकल लॉङ्ग रेज फोरकास्टिंग) के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और साख्यिकीय रीतियो का भारतीय पावस के अल्पकालिक परिवर्तनो के सवध मे उपयोग किया जा रहा है। भारत मे इस प्रकार से किए हुए ऋतु विषयक पूर्वानुमान हाल के वर्षो मे पर्याप्त रूप से ठीक सिद्ध हुए है।

सं०ग्र०—आर० डब्ल्यू० लॉङ्ली मीटिओरॉलोजी, थ्योरेटिकल ऐंड अप्लायड (१९४४), एच० सी० विलेट डेस्क्रिप्टिव मीटिओरॉलोजी (१९४४)। [सी० म० तथा के० श० अ०]

ऋतुसंहार महाकवि कालिदास की प्रथम काव्यरचना मानी जाती है, जिसके छ सर्गो मे ग्रीष्म से आरभ कर वसत तक की छ ऋतुओ का सुदर प्रकृतिचित्रण प्रस्तुत किया गया है। ऋतुसहार का कलाशिल्प महाकवि की अन्य कृतियो की तरह उदात्त न होने के कारण इसके कालिदास की कृति होने के विषय मे सदेह किया जाता रहा है। मल्लि-नाथ ने इस काव्य की टीका नही की है तथा अन्य किसी प्रसिद्ध टीकाकार की भी इसकी टीका नही मिलती है। जे० नोबुल तथा प्रो० ए० बी० कीथ ने अपने लेखो मे ऋतुसहार को कालिदास की ही प्रामाणिक एव प्रथम रचना सिद्ध किया है। इस खडकाव्य मे कवि ने अपनी प्रिया को सबोधित कर छहो ऋतुओ का वर्णन किया है। प्रकृति के आलवनपरक तथा उद्दीपनपरक दोनो तरह के रमणीय चित्र काव्य की वास्तविक आत्मा है। ऋतुसहार का सर्वप्रथम सपादन कलकत्ता से सन् १७९२ मे सर विलियम जोन्स ने किया था। सन् १८४० मे इसका एक अन्य सस्करण पी० फॉन वोलेन के द्वारा लातीनी तथा जर्मन पद्यानुवाद सहित प्रकाशित किया गया था। १९०६ मे निर्णयसागर प्रेस से यह रचना मणिराम की सस्कृत टीका के साथ छापी थी, जिसके अब तक अनेक सस्करण हो चुके है। [भो० श० व्या०]

ऋत्विज् यज्ञयाग मे यजमान को श्रौतकर्म करानेवाला व्यक्ति-विशेष। ऋत्विजो की सख्या मे कर्मो के अनुसार पर्याप्त भिन्नता है। अग्निहोत्री के घर पर प्रात और सायकाल होम करनेवाला ऋत्विज् एक ही होता है, परतु दर्श (अमावस्या के दूसरे दिन प्रतिपद को होनेवाली) इष्टि मे तथा पौर्णमास (पूर्णिमा के दूसरे दिन प्रतिपदवाली) इष्टि मे चार ऋत्विज् होते है जिनके नाम है—अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा और आग्नीध्र। चातुर्मास्य याग मे इन चारो के अतिरिक्त "प्रतिप्रस्याता"

एंगलर, हाइनरिख गुस्ताव अडोल्फ़ जर्मन वनस्पति शास्त्रज्ञ थे। इनका जन्म सन् १८४४ ईसवी में हुआ था। ब्रेसलॉ विश्वविद्यालय में इन्होंने शिक्षा पाई और यहीं से १८६६ ई० में इन्हें डाक्टर ऑव फिलासफी की उपाधि मिली। चार वर्ष अध्यापन करने के पश्चात् ये म्यूनिख बोटैनिकल इन्स्टिट्यूट के संरक्षक नियुक्त हुए। इसके पश्चात् छ वर्ष कील विश्वविद्यालय में प्रोफेसर, पांच वर्ष ब्रेसलॉ विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा औद्भिद उद्यान के संचालक और १८८९ से १९२१ ई० तक बर्लिन औद्भिद उद्यान के संचालक रहे।

अनुसंधान के लिये इन्होंने तीन बार अफ्रीका का तथा एक बार भारत तथा जावा का पर्यटन किया। इसी उद्देश्य से इन्होंने रूस, जापान तथा संयुक्त राज्य (अमरीका) होते हुए विश्वभ्रमण भी किया। इनकी विशेष देन वर्गीकरण (टैक्सोनॉमी) तथा उद्भिद भूवृत्त (फाइटोजिऑग्रैफी) के क्षेत्र में है, किंतु वनस्पति विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी इनका कार्य महत्वपूर्ण रहा है। इनकी मृत्यु १९३० ई० में हुई।

स्वयं तथा अन्य लोगों के सहयोग से इन्होंने कई बहुमूल्य ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें डी नाटीरलिखेन प्फ्लान्ट्सेन फामिलीन (प्राकृतिक पादपपरिवार), डास प्फ्लान्ट्सेनराइख़ (पादपराज्य) तथा सिलाबस डेर प्फ्लान्ट्सेन फामिलीन (पादप-परिवार-सूची) प्रमुख हैं। इन्होंने बोटानिशे यारबुखर (वनस्पति-वैज्ञानिक अब्दकोश) नामक एक पत्रिका भी चलाई, जिसका संपादन वे सन् १८८० से लेकर मृत्यु पर्यंत करते रहे। [भ० दा० व०]

एंगारी यह शब्द प्राचीन फारस की राजकीय संदेशहर सेवा (रायल कोरियर सर्विस) के नामकरण से प्राप्त हुआ है। वहाँ से ग्रीक और लातिनी में 'दूत' के अर्थ में यह शब्द प्रचलित हुआ।

प्राचीन रोम साम्राज्य तथा मध्यकालीन विधि ग्रंथों में, एंगारी सैनिक परिवहन के लिये घोड़े, गाड़ियों इत्यादि स्थल यातायात के साधनों की अपेक्षा तक ही सीमित था। परंतु कुछ काल बाद, एंगारी के अधिकार की ओट में, युद्धसंलग्न देश, जिनके पास प्रचुर मात्रा में जहाज नहीं होते थे, तटस्थ देशों के व्यापारी जहाजों को, जो उनके बंदरगाहों में उपस्थित होते थे, पकड़ लेते थे और अग्रिम भाड़ा देकर उन्हें तथा उनके नाविकों को बाध्य करते थे कि उनकी सेना, गोला बारूद तथा अन्य सामान दूसरी जगह पहुँचा दें।

फ्रांस के लुई १४वें ने इस अधिकार का बहुत आश्रय लिया। परंतु १७वीं शताब्दी में, अपने जहाजों तथा नाविकों को इस अधिकार से पकड़े जाने से बचाने के लिये, देशों ने संधियाँ कर लीं। इस कारण १८वीं और १९वीं शताब्दियों में यह अधिकार लगभग अव्यावहारिक सा हो गया।

वर्तमान अंतरराष्ट्रीय विधि में एंगारी किसी देश को युद्धकाल में या राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये यह अधिकार प्रदान करता है कि जहाज, हवाई-जहाज, रेल का सामान या यातायात के अन्य साधन जो दूसरे देशों के हैं, परंतु उसके अधिक्षेत्र में उपस्थित हैं, अपने काम में ले आए। परंतु उस देश को यातायात के साधनों के उन मालिकों की पूरी क्षतिपूर्ति करनी होगी। किंतु वर्तमान काल में नाविकों या अन्य चालकों की सेवाएँ नहीं प्राप्त की जा सकती हैं।

पहले महायुद्ध में एंगारी के कई दृष्टांत उपस्थित हुए। जमोरा वाद (१९१६) में, इंगलिस्तान के पुनर्वाद न्यायालय (अपीलेट कोर्ट) ने यह विचार प्रकट किया कि एंगारी का अधिकार उपयोग में लाने के लिये आवश्यक है, कि तटस्थ देश के जहाज या माल की, युद्धरतदेश के बचाव, या युद्धसंपादन अथवा राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये अत्यंत आवश्यकता हो। इसी प्रकार उपर्युक्त न्यायालय ने, नमरावल इन्टेट्रेस कंपनी आव ईजिप्ट बनाम बोर्ड आव ट्रेड (१९२५) में निश्चय किया कि एंगारी का अधिकार अंतरराष्ट्रीय विधि में इतनी भली प्रकार स्थापित हो गया है कि वह इंगलैंड के जनपदीय विधि का भाग बन गया है। मार्च, सन् १९१८ में अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने एंगारी के आधार पर डच जहाजों की माँग कर दी थी जो उस समय उनके बंदरगाहों में थे।

सं०ग्रं०—हाल, डब्ल्यू० ई०: ए ट्रीटाइज ऑन इंटरनेशनल ला, १९२४। [ज० न० सु०]

एकचक्रा कीचको के देश का एक नगर जहाँ, महाभारत के अनुसार, कभी व्यास के निर्देश से पाडवो ने अपने निष्कासन काल मे कुछ समय निवास किया था। जेनरल कनिंघम और उनके समर्थक बिहार के शाहाबाद जिले में स्थित आधुनिक आरा नामक स्थान को एकचक्रा मानते हैं। महाभारत के अनुसार (वैदिक इडेक्स, १,४६४) उसका दूसरा नाम पचालनगर (शतपथ ब्राह्मण, १३।५।४।७) भी है। इसे परिचक्रा या परिवक्रा भी कहा गया है। [ओ० ना० उ०]

एकजीववाद सिद्धात के अनुसार वेदात में एक ही जीव की स्थिति मानी जाती है। अविद्या एक है, अत अविद्या से आवृत जीव भी एक होगा। इस वाद के कई रूप शकर के परवर्ती अद्वैत वेदात मे मिलते ह। कुछ लोगो के अनुसार एक ही जीव एक ही शरीर मे रहता है। अन्य शरीर स्वप्नदृष्ट शरीरो की तरह चेतनाशून्य हैं। दूसरे लोग ब्रह्म के प्रतिबिंब रूप में हिरण्यगर्भ की कल्पना करते हैं। अन्य जीव हिरण्यगर्भ के प्रतिबिंब मात्र हैं। भौतिक शरीरो मे असत्य जीव की स्थिति होती है। वास्तविक शरीर हिरण्यगर्भ है। अन्य व्याख्या के अनुसार नाना शरीरो में रहनेवाला एक ही जीव है। जीव मे वैयक्तिकता का बोध शरीर की भिन्नता के कारण होता है।

इस सिद्धात पर यह आक्षेप किया जाता है कि यदि जीव एक है तो एक जीव का मोक्ष होने पर सभी जीवो का मोक्ष होना चाहिए। एक के सुख दु ख का ज्ञान सभी को होना चाहिए। किंतु जैसे जलपात्र के मलिन होने या नष्ट होने से उसमे पडनेवाला सूर्य का प्रतिबिंब अप्रभावित रहता है उसी प्रकार जीव पर दूसरे शरीरो का प्रभाव नही होता।

स०ग्र०—अप्पय्य दीक्षित सिद्धातलेश। [रा० पा०]

एकनाथ प्रसिद्ध मराठी सत जिनका जन्म पैठण मे सत भानुदास के कुल में हुआ था (१५३३–१५९९ ई०)। ये सत भानुदास के पौत्र थे। गोस्वामी तुलसीदास के समान मूल नक्षत्र मे जन्म होन के कारण ऐसा विश्वास है कि कुछ महीनो के बाद ही इनके माता पिता की मृत्यु हो गई थी। बालक एकनाथ स्वभावत श्रद्धावान् तथा बुद्धिमान थे। देवगढ के हाकिम जनार्दन स्वामी की ब्रह्मनिष्ठा, विद्वत्ता, सदाचार और भक्ति देखकर भावुक एकनाथ उनकी ओर आकृष्ट हुए और उनके शिष्य हो गए। एकनाथ ने अपने गुरु से ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, श्रीमद्भागवत आदि ग्रथो का अध्ययन किया और उनका आत्मबोध जाग्रत हुआ। गुरु की आज्ञा से ये गृहस्थ बने।

एकनाथ अपूर्व सत थे। प्रवृत्ति और निवृत्ति का ऐसा अनूठा समन्वय कदाचित् ही किसी अन्य सत मे दिखाई देता है। ४०० वर्ष पूर्व इन्होने मानवता की उदार भावना से प्रेरित होकर अछूतोद्धार का प्रयत्न किया। ये जितने ऊँचे सत थे उतने ही ऊँचे कवि भी थे। इनकी टक्कर का बहुमुखी सर्जनशील प्रतिभा का कवि महाराष्ट्र मे इनसे पहले पैदा नही हुआ था। महाराष्ट्र की अत्यत विषम अवस्था मे इनको साहित्य सृष्टि करनी पडी। मराठी भाषा उर्दू फारसी से दब गई थी। दूसरी ओर सस्कृत के पडित देशभाषा मराठी का विरोध करते थे। इन्होने मराठी के माध्यम से ही जनता को जाग्रत करने का बीडा उठाया।

एकनाथ की रचनाएँ निम्नलिखित मानी जाती ह—१ चतुश्लोकी भागवत, २ पौराणिक आख्यान और सतचरित्र, ३ भागवत, ४ रुक्मिणी स्वयवर, ५ भावार्थ रामायण, ६ मराठी एव हिंदी में कई सौ 'अभग', ७ हस्तामलक शुकाष्टक, स्वात्मसुख, आनद लहरी, चिरजीव पद इत्यादि आध्यात्मिक विवेचन पर कृतियाँ, ८ लोकगीतो (भारुड) की रचनाएँ इत्यादि। भागवत इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसका समान वाराणसी के पडितो ने भी किया था। ये प्रथम मराठी कवि थे जिन्होंने लोकभाषा मे रामायण पर बृहत् ग्रथ रचा। लोकरजन करते हुए लोकजागरण करना इनका ध्येय था और इसमें ये शत-प्रति-शत सफल रहे, इसीलिये इनको युगप्रवर्तक कवि कहते हैं। इन्होने ज्ञानेश्वरी की अनेक पाडुलिपियो का सूक्ष्म अध्ययन तथा शोध करके ज्ञानेश्वरी की शुद्ध एव प्रामाणिक प्रति तैयार की और अन्य विद्वानो के समक्ष साहित्य के शोधकार्य का आदर्श उपस्थित किया। सक्षेप में इन्होने सत ज्ञानेश्वर द्वारा प्रवृत्त साहित्यिक तथा धार्मिक कार्य का सब प्रकार से उत्कर्ष किया। [भी० गो० दे०]

एकलव्य महाभारत में उल्लिखित निषादो का राजा जिसे धनुर्विद्या से इतना मोह था कि धनुर्विद्या सीखने के लिये जब द्रोणाचार्य को अपना गुरु बनाने में वह असमर्थ रहा जंगल मे उनकी प्रतिमा स्थापित कर एकलव्य ने बाण चलाने के अनेक प्रयोग कर उसमें निपुणता प्राप्त की। द्रोण के मन मे भय हुआ कि वह कही अर्जुन से बढ न जाय इसलिये उन्होने उससे गुरुदक्षिणा में उसके दाहिने हाथ का अँगूठा माँग लिया। [च० म०]

एक्लेसिएस्तिस् यहूदियो के धर्मग्रथ 'ओल्ड टेस्टामेट' अथवा 'पुराना अहदनामा' के अंतर्गत 'एक्लेसिएस्तिस्' एक उपयोगी ज्ञानग्रथ है। इब्रानी भाषा म अब तक यह निश्चित नही हो पाया कि एक्लेसिएस्तिस् का शाब्दिक अर्थ क्या है। कुछ लोग उसका अर्थ 'प्रचारक' बताते हैं और कुछ 'कोहेलेथ' अर्थात् 'तार्किक'। एक्लेसिएस्तिस् के रचनाकाल के सबध मे भी तीव्र मतभेद है। विशेषज्ञो के अनुसार उसका रचनाकाल ९९० ई० पू० से १० ई० पू० तक हो सकता है। टाईलर और डीन प्लपत्रे के अनुसार इसका रचनाकाल २०० ई० पू० से १८० ई० पू० के बीच का है। एक्लेसिएस्तिस् के रचयिता के सबध में भी तीव्र मतभेद है। कुछ विद्वानो के अनुसार इसके रचयिता स्वय सालोमन अथवा सुलेमान थे किंतु कुछ के अनुसार, यह पुस्तक सिराक ने मकाबीस के समय में लिखी।

विषय के अनुसार पुस्तक को चार भागो में विभक्त किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहला भाग किसी निराशावादी दार्शनिक का लिखा हुआ है तो दूसरा भाग किसी भौतिकवादी का; तीसरा भाग नैतिकता के पूरे महत्व को समझनेवाले सत का लिखा है, तो चौथा भाग किसी रूढ़िवादी सपादक का।

पुस्तक के मूल सिद्धात के अनुसार यह जगत् अगोचर शक्तियो से सचालित और अक्षय नियमो द्वारा अनुप्राणित होता है। सृजन की महान् चक्राकार परिधि मे यह ससार अपने अटूट नियमो द्वारा स्वय चालित होता है। सूर्योदय और सूर्यास्त अपने आप होते रहते हैं। इनके अनुक्रम को नहीं रोका जा सकता। सृजन का यह महान् चक्र क्यो घूमता है आजतक यह किसी को ज्ञात नहीं हो सका। किस उद्देश्य से इस ससार की रचना की गई, इसे भी कोई नही बता सकता। सार रूप में यही एक्लेसिएस्तिस् का जीवनदर्शन है।

एक्लेसिएस्तिस् के अनुसार मनुष्य सर्वथा भाग्य के हाथो मे रहता है। यहाँ बलवान पराजित हो जाते हैं और निर्बल जीत जाते हैं। सासारिक धन सपदा का भी कोई स्थायी मूल्य नही है। मनुष्य इस ससार मे नगा ही जन्म लेता है और जब यहाँ से जाता है तो नगा ही जाता है। ज्ञानी और मूर्ख दोनो को मृत्यु एक समान गले लगाती है। एक्लेसिएस्तिस् के अनुसार स्त्री एक जाल और अभिशाप है। ग्रथकार उस समय चरम निराशा मे भर जाता है जब वह देखता है कि पुण्यात्मा मनुष्यो को जीवन भर दु खो का भार वहन करना पडता है जब कि पापी मनुष्य सुखभोग करते हैं। एक्लेसिएस्तिस् के अनुसार आत्मा का भविष्य अनिश्चित है। परमात्मा सृष्टि का निर्माता और शासक है। वह सृजन के महान् यत्र का सचालक है, जो यत्र निर्दयता के साथ मानव के भाग्यो को पीसता रहता है। आत्मा का परमात्मा के साथ न सपर्क हो सकता है और न समेलन। वह नैतिक आचरण का आधार ईश्वरीय नियमो को नही, वरन् मानवीय अनुभवो को मानता है।

एक्लेसिएस्तिस् मे नीतिवचनो का बडा सुदर सग्रह है, उदाहरणार्थ, 'कोई मनुष्य गुनाहो से मुक्त नहीं', 'एक जीवित कुत्ता मृतक सिंह की अपेक्षा उत्तम है', 'व्यापार मे बुद्धि और निर्णय से काम लो', 'कार्य करो और उत्तम परिणाम की आशा रखो', आदि।

स० ग्र०—एच० रैंस्टन एक्लेसिएस्तिस् ऐड दि अर्ली ग्रीक विजडम लिटरेचर (१९२५), जी० टी० बेटानी हिस्ट्री ऑव जूडाइज्म ऐंड क्रिश्चियानिटी (१८९२)। [वि० ना० पा०]

एकवंशक (मोनोरेल) यह स्थानातरण का उपकरण है और इसमे सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने का सामर्थ्य है। यह सामान को हवा में लटकाते हुए ले जाता है और भूमि से ऊपर ही ऊपर चलता रहता है। इसकी क्रिया आवश्यकतानुसार रुक रुककर हो सकती हैं। साधारणत यह एक सीमित क्षेत्र में ही काम करता है। एकवशक पुल पर चलनेवाला क्रेन और शक्ति से चलनेवाला क्रेन, ये दोनो, एक दूसरे से भिन्न दिखाई पडने पर भी, एक ही श्रेणी मे आते हैं।

एकवशक यत्र के तीन आवश्यक अग होते हैं पथ, डब्बे या ठेला (ट्रॉली) और वाहक। इसके डब्बे जजीर अथवा तार द्वारा चलनेवाले डब्बो की भाँति एक दूसरे से सयुक्त नही रहते और न जजीर अथवा तार द्वारा चलते हैं। इसके डब्बों को साधारणत हाथ से ढकेला जाता है (चित्र देखें)। यद्यपि ये एक निश्चित पथ पर चलते हैं, तथापि उस पथ के ओर और छोर का जुडा रहना आवश्यक नहीं है। एकवशक यत्र का उपयोग अपेक्षाकृत हल्के भार को स्थानातरित

एकवशक

यह विविध प्रकार के माल को कारखाने के भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

करने मे होता है। यातायात के साधारण साधन भूमि पर बिछी दो पटरियों पर चलते हैं, किंतु एकवशक के डब्बे भूमि से ऊपर आकाश मे लगी एकल पटरी की सहायता से लटकते हुए चलते हैं। भूमि पर यातायातकी अपेक्षा भूमि से ऊपर यातायात में एक सुविधा यह रहती है कि इसमें भूमि छेकने की असुविधा नही होती, यह कम महत्व की बात नही है।

सरचना की दृष्टि से और पथ के लिये प्रयुक्त सामग्री (नल, पटरी आदि) के आधार पर एकवशक यत्रो को तीन श्रेणियो में विभाजित किया जा सकता है

नल प्रणाली—एकवशक यत्रो में सर्वाधिक सरल सरचनावाली प्रणाली वह है जिसमें पटरियो के स्थान पर नल (पाइप), डब्बो और डब्बो को उतारने या उलटने के काम में आनेवाली कतिपय वस्तुओ का प्रयोग होता है। पटरी के रूप में इसमें सामान्यत ३।४'', १'', १ $\frac{1}{16}$'' या १ $\frac{7}{8}$'' व्यास का नल (पाइप) प्रयुक्त होता है। नलवाली प्रणालियो का उपयोग प्राय निर्जल धुलाई के कारखानो, धुलाई घरो, विभागीय गोदामो और सिले वस्त्रो की थोक दूकानो तक सीमित है।

पट्टीदार एकवशक—यह एक दूसरे प्रकार की विशिष्ट एकवशक प्रणाली है। यह मुख्यत मास तथा मासनिर्मित वस्तुओ (कीमा आदि) को कारखाने के भीतर ही इधर उधर पहुँचाने में प्रयुक्त होती है। पटरी बीस बीस फुट लबी और २$\frac{1}{2}$''×$\frac{3}{8}$'' या २$\frac{1}{2}$''×$\frac{1}{2}$'' नाप की सादी, या जस्ते की कलईवाली, लोहे की साधारण पट्टियो से बनी रहती है। ठढे गोदामों, मास को डिब्बो में भरनेवाले कारखानो, प्रशीतित भाडारो तथा मास के थोक विक्रेताओ और मास का कीमा आदि बनानेवालो द्वारा यह प्रणाली व्यापक रूप से प्रयुक्त होती है।

विशेष आकृति की पटरीवाले एकवशक—यह प्रणाली विभिन्न उद्योगो में सबसे अधिक प्रयुक्त होती है। इसकी पटरियों का अनुप्रस्थ काट (क्रॉस-सेक्शन) अग्रेजी अक्षर I के रूपवाले गर्डरो का थोडा परिवर्तित रूप होता है। ये पटरियाँ इसी काम के लिये विशेष रूप से बनाई जाती हैं। इनका ऊपरी भाग मोटा रखा जाता है, जिसमे वे घिसकर शीघ्र खराब न हो जायँ। जब भार अपेक्षाकृत अधिक होता है तब इसी प्रणाली का प्रयोग किया जाता है।

एकवशक प्रणाली का उपयोग वस्तुत किसी भी वस्तु को हटानेबढाने में किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली विविध प्रविधियो से युक्त होने पर उद्योग मे अनेक प्रकार के काम कर सकती है, जैसे भारी माल उठाना, फेंकना, माल को पानी में डुबाकर धोना आदि। इसका अनेक प्रकार के उद्योगो में उपयोग होता है, जैसे मदिरा तथा खाद्य सबधी उद्योग, ढलाई घर, धुलाई घर, कागज, रबर तथा कपडे के कारखाने, वस्तुभाडार और कोयला तथा राख को लाना लेजाना आदि।

स०ग्र०—डी० ओ० हेन्स मेटीरियल हैंडलिंग इक्विपमेंट (चिल्टन कपनी, फिलाडेलफिया) [न० ला० गु०]

एकवर्ण सूर्यचित्रक (स्पेक्ट्रोहीलियोग्राफ) वह यत्र है जिसके द्वारा सूर्य के समूचे भाग या किसी एक भाग की विशेषताओ का चित्राकन किसी भी तरगदैर्ध्य के प्रकाश द्वारा किया जा सकता है। यह वास्तव में एक रश्मिचित्राकक (स्पेक्ट्रोग्राफ) है जो एक विशेष तरगदैर्घ्य के विकिरण को, उदाहरणत एक फ्राउनहोफर रेखा को, अलग कर लेता है और इस प्रकार सूय के समूचे भाग की जाँच इस रेखा के प्रकाश में करने की क्षमता प्रदान करता है। एक साधारण स्पेक्ट्रोग्राफ की कल्पना कीजिए जिसके अतिम भाग में, जहाँ वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) का फोटोग्राफ अकित किया जाता है, एक दूसरा सँकरा छिद्र लगा हो। इस छिद्र के द्वारा कोई विशिष्ट वर्णक्रम रेखा (या उनका एक भाग) अलग हो सकता है। यह छिद्र इस प्रकार सारे विकिरण का वही भाग बाहर आने देता है जो एक विशेष तरगदैर्घ्य का है और उस छिद्र पर पड रहा है। यदि फोटो खीचनेवाली पट्टिका इस दूसरे छिद्र के साथ सटाकर रख दी जाय तो इस छिद्र से होकर बाहर आनेवाले विकिरण का फोटो लिया जा सकता है। अब यदि सारा यत्र धीरे धीरे बराबर, किंतु नियत्रित गति से, इस प्रकार चलाया जाय कि यत्र का अक्ष सूर्य के समूचे प्रतिबिंब को पार कर सके और छिद्र की सभी अनुगामी स्थितियाँ एक दूसरे के समातर रह सकें, तो पट्टिका पर एक पूरा प्रतिबिंब बनेगा जो एकवर्णीय कहा जा सकता है। यदि प्रथम छिद्र सूर्यप्रतिबिंब के व्यास से बडा हो तो फोटो की पट्टिका पर बना प्रतिबिंब वास्तव मे सूर्य के समूचे भाग का चित्र होगा। यह प्रथम छिद्र द्वारा लिए गए, रेखा के समान सँकरे, अनेक चित्रो का एकीकरण होगा।

जैन्सेन ने १८६९ ई० मे एकवर्ण सूर्यचित्रक के बारे में मौलिक विचार प्रकट किए, किंतु हेल ने हार्वर्ड में काम करते हुए १८९१ ई० में इसे पहली बार बनाया। म्यूडान में डेलैंड्र भी इस समय इसी प्रश्न को लेकर व्यस्त था। उसका यत्र वास्तव में एकवर्ण सूर्यचित्रको मे अग्रणी है।

एकवर्ण सूर्यचित्रक कई प्रकार के होते हैं। इनमे जो साधारणतया प्रचलित हैं उनका वर्णन नीचे किया जा रहा है। ये सभी सौर प्रतिबिंब के विविध भागो को बारी बारी से देखने अर्थात् अण्ववलोकन की विधियो में एक दूसरे से भिन्न हैं।

१ रश्मि चित्राकक एक आवर्तक दूरदर्शी (रिफ्रैक्टर) से सलग्न किया जाता है। यह दूरदर्शी विषुवतीय रूप से आरोपित रहता है, परतु

ऐसी गति से घुमाया जाता है जो सौर दैनिक गति से भिन्न है, या क्रांति (डेक्लिनेशन) में घुमाया जाता है, जब कि फोटो की पट्टिका को द्वितीय छिद्र के आर पार चलाया जाता है।

२ स्थिर रश्मिचित्राकक का प्रयोग चलदर्पण (सीलोस्टैट या साइडरोस्टैट) के साथ किया जाता है और दूरदर्शी के वस्तुताल (ऑवजेक्टिव) को अपने धरातल मे चलाया जाता है, जब कि फोटो की पट्टिका अलग से रश्मिचित्राकक के आर पार चलाई जाती है।

३ वस्तुताल, फोटो प्लेट और रश्मि चित्राकक के मुख्य भाग स्थिर रहते है, किंतु छिद्रो को प्रकाशकिरण के आर पार अपने समातर एक बगल चलाया जाता है।

त्रिपार्श्व (प्रिज्म) से बना एकवर्ण सूर्यचित्रक

१ सूर्यकिरण, २ नाक्षत्रस्थापक (साइडरोस्टैट) का दर्पण, ३ प्रथम दीर्घ छिद्र पर सूर्य का प्रतिबिंब बनानेवाला लेस (लेन्ज), ४ प्रथम दीर्घ छिद्र, ५ सधानक (कॉलिमेटिंग लेन्ज़), ६ तथा ७ विक्षेपक त्रिपार्श्व (डिसपर्सिंग प्रिज्म), ८ वर्णक्रम को आनेवाली किरणावलि के समातर परावर्तित करनेवाला दर्पण, ९ द्वितीय दीर्घ छिद्र पर वर्णक्रम को सगमित (फोकस) करने के लिये लेस (लेन्ज़), जिसका सगमातर (फोकल लेंग्थ) सधानक (५) के सगमातर के बराबर है, १० द्वितीय दीर्घ छिद्र, जो वर्णक्रम की एक रेखा या सँकरे प्रदेश को पृथक् करती है, ११ फोटो की पट्टिका या फिल्म।

४ समूचा रश्मि चित्राकक चलता है, जब कि दूरदर्शी का वस्तुताल और फोटो प्लेट स्थिर रहते है। इस प्रकार का एक यत्र ज्योतिर्भौतिकी वेधशाला, कोदईकनाल मे है।

अच्छे एकवर्ण सूर्यचित्रको के लिये स्निग्ध और समानवेग अण्ववलोकी गति की नितात आवश्यकता है। इसके लिये कुछ यत्रो मे बिजली के मोटर का प्रयोग किया जाता है। कुछ अन्य मे इसी काम के लिये गिरते भार का प्रयोग किया जाता है। यत्र के गुरुत्वजन्य त्वरण को मिटाने के लिये उसे एक तेलभरी पिचकारी के पिस्टन से सयुक्त कर दिया जाता है और बहुत ही गाढे तेल का प्रयोग किया जाता है।

एकवर्ण सूर्यचित्रक के लिये त्रिपार्श्व एव चौकोर ग्रेटिंग दोनो का ही प्रयोग वर्णविभजन के लिये किया जाता है। एकवर्ण सूर्यचित्र सूर्यवर्णक्रम की कई फ्राउनहोफर रेखाओ से सफलता के साथ लिए जा सकते है, किंतु साधारणतया आयनीकृत कैल्सियम की के(k) रेखा और हाइड्रोजन की एच-ऐल्फा (H-α) रेखा ही प्रयुक्त होती है। ये रेखाएँ फोटो निरीक्षण के लिये आदर्श है, क्योकि ये बहुत तीव्र है और इनके अगल बगल चौडे अँधेरे पट्ट (बैंड) होते है जो बिखर कर आए प्रकाश को बहुत कम कर देते है।

जो सूर्यचित्र आयनीकृत कैल्सियम के प्रकाश मे लिए जाते है, वे हाइड्रोजन के लाल प्रकाश मे लिए गए चित्रो से सर्वथा भिन्न होते है। उनमे कैल्सियम वाष्प की चमकीली धज्जियाँ दिखाई पडती है, यही इनकी बडी विशेषता है। इसके विपरीत, हाइड्रोजन में लिए गए चित्र सौर वायुमडल का सूक्ष्म ब्योरा उपस्थित करते है। इनमे बहुत सी सँकरी लबी धज्जियाँ दिखाई पडती है जो मिलकर भ्रमिमय रचना करती हुई जान पडती है। फलक एकवर्ण सूर्यचित्रक मे चित्र १ और २ के सूर्यचित्र क्रमानुसार कैल्सियम और हाइड्रोजन के प्रकाश मे लिए गए है। चित्र ३ कैल्सियम के प्रकाश में लिया गया है तथा प्रोद्वर्षो को दिखाता है। यह चित्र उचित नाप की एक गोल तख्ती द्वारा सूर्य के प्रतिबिंब को इस प्रकार ढककर लिया गया है कि उसके बाह्य किनारे का ही फोटो आए।

एकवर्ण सूर्यदर्शक—एकवर्ण सूर्यचित्रक मे जिस सिद्धात का उपयोग हुआ है उसी के आधार पर हेल ने १९२४ मे दृष्टि द्वारा निरीक्षण के लिये एकवर्ण सूर्यदर्शक यत्र बनाया। इस यत्र मे सूर्य का प्रकाश एक स्थिरदर्शी (सीलोस्टैट) के द्वारा क्षैतिज दिशा में परावर्तित होकर एक ताल पर गिरता है जो सूर्य का प्रतिबिंब एक छिद्र पर बनाता है। इस छिद्र से होकर बाहर जानेवाला प्रकाश एक अवतल दर्पण पर गिरता है जो उसे एक समातर प्रकाश-किरण-समूह के रूप मे लगभग क्षैतिज दिशा मे एक समतल व्याभग झरझरी (डिफ्रैक्शन ग्रेटिंग) की ओर परावर्तित करता है। यह झरझरी परावर्तनवाली होती है और छिद्र के ठीक नीचे लगी रहती है। व्याभजित (डिफ्रैक्टेड) किरण दूसरे अवतल दर्पण पर पडती है, जो पहले दर्पण के नीचे लगा रहता है, और इसके कारण किरणे दूसरे छिद्र के धरातल मे, जो पहले छिद्र के नीचे होता है, सगमित (फोकस) हो जाती है। दोनो छिद्र एक ही पटरी पर आरोपित रहते है और एक मोटर द्वारा क्षैतिज समतल मे वेग से दोलन करते है। घुमाए जानेवाले छिद्रो के स्थान मे दो आयताकार त्रिपार्श्वो का भी प्रयोग किया जा सकता है, जो स्थिर छिद्रो के सामने लगे रहते है और एक ही अक्ष पर आरोपित रहते है, जिसे मोटर द्वारा घुमाया जाता है। पहले त्रिपार्श्व के घूमने से पहले छिद्र पर सौर प्रतिबिंब के विविध भाग पडते है और फिर परिणाम स्वरूप वर्णविभजन के पश्चात् दूसरे छिद्र पर पडते है। इस दूसरे त्रिपार्श्व के घूमने के कारण एकवर्णीय प्रकाश मे बडा सौर प्रतिबिंब दिखाई पडता है जो अक्षुताल द्वारा देखा और जाँचा जा सकता है। टिमटिमाहट को दूर करने के लिये त्रिपार्श्वो को बडे वेग से घुमाते है। दृष्टिस्थिरता के कारण निरीक्षक को सूर्य का एक समूचा भाग एकवर्णीय प्रकाश मे दिखलाई पडता है। इस यत्र से सौर वायुमडल की कोमल रचना दृश्य हो जाती है, और इस प्रकार यह यत्र नित्य परिवर्तित होती रहनेवाली सौर घटनाओ के अध्ययन मे बडा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

ऊपर जो कुछ वर्णन किया गया है उससे पता चलता है कि एकवर्णसूर्यचित्रक और एकवर्ण सूर्यदर्शक वास्तव मे एकवर्णी है, क्योकि वे वर्णक्रम से एक विकिरण को अलग कर लेते है। वर्तमान समय मे भिन्न भिन्न प्रकार के ऐसे वर्णविरोधक बनाकर भी यह प्रश्न सुलझाया गया है जो वर्णक्रम से बहुत ही सूक्ष्म पट्ट (बैंड) बाहर आने देते है। पट्ट की सूक्ष्मता ० ५ ऐंगस्ट्रम तक हो सकती है। इस प्रकार के वर्णविरोधक बनाने का श्रेय फ्रासीसी ज्योतिर्विद् लियो को है। अन्य लोगो ने भी इस प्रकार के वर्णविरोधक बनाए है। इस प्रकार के वर्णविरोधको का निर्माण व्यतिकरण (इटरफियरेस) और ध्रुवण (पोलैराइजेशन) के भौतिक सिद्धातो पर आधृत है। जब सूर्य के लिये इन वर्णविरोधको का प्रयोग किया जाता है तो ज्योतिर्विद् सूर्य के समूचे भाग या अश का फोटो एकवर्णीय प्रकाश मे ले सकते है। समूचा फोटोग्राफ एक सेकेड के अल्प खड मे ही उतारा जा सकता है।

स०ग्र०—मथली नोटिसिज ऑव दि रॉयल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी, ऐस्ट्रोफिजिकल जरनल, पवलिकेशन्स ऑव दि यर्किज ऑवजरवेटरीज इत्यादि मे छपे लेख। [प० मा० ना० तथा कि० अ० र०]

एकविद्र जतुओं का एक गण (ऑर्डर) है, जिसमें अब दो ही प्रकार के जतु जीवित हैं जिनके चित्र इस लेख मे दिखाए गए हैं। अंग्रेजी मे इस गण का नाम मॉनोट्रीमैटा है, जिसका अर्थ है एकविद्र, अर्थात् एक छिद्रवाले जतु (मॉनो=एक+ट्रीमा=छिद्र, विद्र)। सभवत इन्हे अडजस्तनी कहना अधिक उचित होगा, क्योकि बच्चे अडे से निकलते हैं और निकलने पर माता के स्तन से दूध पीते हैं।

एकविद्र अडजस्तनी प्राणी अन्य सभी स्तनधारियो से कुछ इतने भिन्न हैं कि इनके लिये प्रोटोथीरिया नामक एक अलग उपवर्ग की कल्पना करनी पडी है जिसमे केवल वरटचचु (डक बिल, ऑरनिथोरिंकस) तथा सकटी (स्पाइनी ऐंट-ईटर, टैकीग्लॉसस तथा जैग्लॉसस नामक प्राणी रख जाते हैं। ये स्तनधारी प्राणी (मैमाल) हैं, क्योकि इनके सारे शरीर पर बाल, पूर्ण विकसित उर प्राचीर (डायाफ्राम), चार वेश्मोवाला हृदय, केवल बायाँ ही महाधमनी चाप (एऑर्टिक आर्च), केवल दतास्थि की ही बनी अधोहन्वस्थि (मैंडिबिल), शिशुओं के पोषण के लिये नारी के उदर पर उपस्थित स्तनग्रथियाँ, शरीर का एकसम ताप, त्वचा में स्वेद ग्रथियाँ तथा तैल ग्रथियाँ, तीन कर्णास्थिकाएँ तथा (सकटियो में) परिवलित
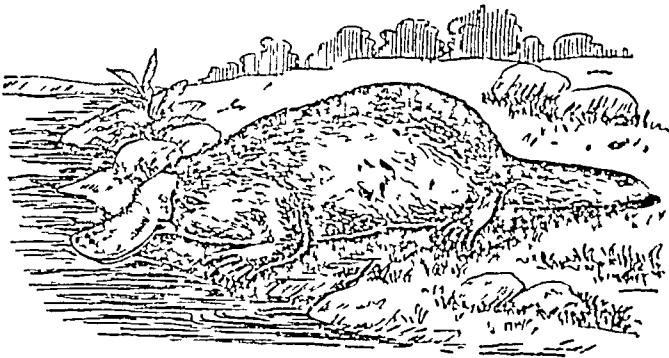
वरट चचु (ऑरनियो रिंकस)

(कनवोल्यूटेड) मस्तिष्क, और बाहरी कान तथा कर्णपल्लव (पिना) होते हैं। विकास की दृष्टि से वर्तमान स्तनधारियो में इनकी स्थिति सबसे निम्नकोटि की है, क्योकि इनमे अनेक लक्षण सरीसृपो के से पाए जाते हैं, जैसे असमेखला (पेक्टोरल गर्डिल) मे उरोस्यास्थि (कोराकॉयड), पुर उरोस्यास्थि (प्रिकोराकॉयड) तथा अतराक्षकास्थि (इटरक्लैविकिल) का अलग अलग होना, ग्रैव पर्शुकाओ (सर्विकल रिब्स) की उपस्थिति, कपाल की अनेक अस्थियो का सरीसृपो की ही भाँति का होना, डिबवाहिनियो का आरभ से अत तक अलग अलग होना और अवस्कर वेश्म (क्लोएकल चेंबर) मे अलग अलग जनन रध्रो द्वारा खुलना, आदि। सबसे प्रमुख तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण सरीसृपी लक्षण है चर्मसदृश तथा आनम्य (लचीला) आवरण तथा पर्याप्त अडपीत से युक्त अडे देना, जैसा अन्य किसी भी उन्नत स्तनधारी में नही पाया जाता। इनके इस लक्षण के कारण ही हम इन्हे अडजस्तनी कहते हैं।

इन प्राणियो के शिर का अगला भाग तुड के रूप का होता है और प्रौढावस्था मे दाँत अनुपस्थित रहते हैं। स्तनग्रथियो मे चूचुक नही होते। नारी मे न तो गर्भाशय ही होता है और न योनि ही। नर मे वृषण उदर मे ही स्थित रहते हैं तथा शिश्न से केवल शुक्राणु बाहर आते हैं, मूत्र नही। पाचन तथा जनन तत्र अलग अलग छिद्रो द्वारा बाहर न खुलकर केवल एक अवस्कर (गुदा) द्वार द्वारा ही बाहर खुलते हैं। स्तनियो मे एक यही ऐसे हैं जिनमे क्रव्यागक (कैरकल) तथा अडदत (एग टूथ) पाए जाते हैं। जीवाश्मो (फॉसिल्स) की अनुपस्थिति मे इनके प्राचीन इतिहास के विषय मे ऐसा अनुमान है कि इनका उद्भव सभवत रक्ताश्म (ट्रायसिक) युग मे (या इससे भी पूर्व) हुआ था। ये प्राणी आज आस्ट्रेलिया, तस्मानिया, न्यू गिनी तथा पापुआ मे ही शेष रह गए हैं, और वहाँ भी सभवत इसलिये कि एक तो भौगोलिक दृष्टि से इनका निवासस्थल अन्य भूभागो से अलग था और दूसरे इनके जीवनयापन के ढग में इनका प्रतिस्पर्धी दूसरा स्तनधारी उस भूभाग मे नही था।

अडजस्तनिन गण के उदाहरण सकटी (टैकीग्लॉसस) तथा प्रसकटी (जैकीग्लॉसस) हैं, जिनकी पीठ पर आत्मरक्षा के साधन स्वरूप कालो के साथ ही साथ अनेक पृष्ठकट होते हैं। उनके छोटे तथा मजबूत पैरो की अँगुलियो में, अपने रहने का विवर खोदने और अपने आहार के लिये चीटियो और दीमको के बिल खोदने के लिये लबे, तेज तथा सुदृढ
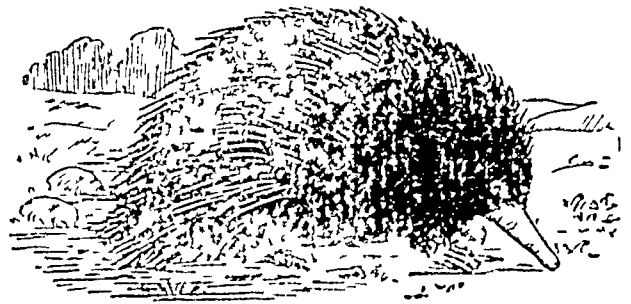
सकटी (टैकीग्लॉसस)

नख होते हैं। एक अन्य उदाहरण अर्धजलचारी वरटचचु है जो जल में डुबकी लगाकर अपनी बतख की सी चोच से घोघे, सीप, कृमि, तथा कठिनिवल्कियो को कीचड से निकालकर अपने गालो में भर लाता है और तट पर बनाए हुए अपने विवर में जाकर उनके कवच आदि तोड कर आराम से उन्हें खाता है। वरटचचु गोता लगाने तथा तैरने में बडा ही कुशल होता है, जिसके लिये इसके पैरो की अँगुलियाँ त्वग्बद्ध होती हैं। इसका मुलायम लोमश चर्म (ऊर्णाजिन) तथा मास दोनो ही मनुष्य अपने उपयोग में लाता है।

स०ग्र०—एच० बरेल दि प्लैटिपस, बेडार्ड मैमेलिया।

(दे०श०मि०)

एकहार्ट, जोहानेस जर्मन दार्शनिक। पाश्चात्य रहस्यवादियो में प्रथम। गोथा के पास होचहीम नगर में एकहार्ट का जन्म हुआ था। पेरिस मे उसने धर्म का अध्ययन किया और वही से १३०२ ई० में मास्टर आव थियोलाजी की उपाधि प्राप्त की। १३०७ ई० में उसकी नियुक्ति बोहेमिया के विकार जेनरल के पद पर हुई। उपदेश की प्रवीणता तथा अपने व्यावहारिक सुधारो के लिये एकहार्ट की विशेष ख्याति थी। १३११ ई० से उसने पेरिस मे अध्यापन कार्य आरभ किया परतु १३१४ में उसे स्ट्रैसबर्ग भेज दिया गया। वहाँ से उसे कोलोन भेजा गया जहाँ १३२६ में वहाँ के आर्चबिशप ने उसके सिद्धातो के कारण उसके विरुद्ध कार्रवाई की।

एकहार्ट को रहस्यवादी कहा गया है क्योकि उसने अरस्तू तथा ऐक्विनस के सिद्धातो को उसी रूप मे प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। उसकी शैली कही कही पर बहुत ही अव्यवस्थित है और भाषा प्रतीको मे उलझी हुई है। उसकी विचारधारा में दो महत्वपूर्ण सिद्धातो का वर्णन मिलता है। एक तो ईश्वरीय सत्ता के विषय मे और दूसरा जीव और ईश्वर के सबध के विषय में। ईश्वर की सत्ता सर्वव्याप्त है। ईश्वर की सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार नही किया जा सकता। ससार के प्रत्येक प्राणी का अस्तित्व ईश्वर की सत्ता पर ही आश्रित है। ईश्वर मे किसी गुण या विशेषता की कल्पना नही की जा सकती क्योकि ऐसा करना उसे ससीम बनाना होगा।

एकहार्ट का विचार है कि यद्यपि ईश्वर प्रत्येक जीव मे व्याप्त है, तथापि उसकी सबसे बडी अभिव्यक्ति मनुष्य मे हुई है, जो सृष्टि का उच्चतम प्राणी है। मानव शरीर मे स्थित जीवात्मा का अतिम लक्ष्य परब्रह्म ईश्वर से एकता प्राप्त करना है। यह तादात्म्य आत्मज्ञान द्वारा ही सभव है जब जीव अपने शुद्ध स्वरूप को समझे और उसमे ईश्वर के अस्तित्व को पहचान ले।

[श्री० स०]

एकांकी एक अक का नाटक । अग्रेजी के 'वन ऐक्ट प्ले' शब्द के लिये हिंदी मे एकाकी नाटक और एकाकी दोनो ही शब्दो का समान रूप से व्यवहार होता है।

पश्चिम मे एकाकी २०वी शताब्दी मे, विशेषत प्रथम महायुद्ध के बाद, अत्यत प्रचलित और लोकप्रिय हुआ। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओ मे उसका व्यापक प्रचलन इस शताब्दी के चौथे दशक मे हुआ ।

इसका यह अर्थ नही कि एकाकी साहित्य की सर्वथा आभिजात्यहीन विधा है । पूर्व और पश्चिम दोनो के नाट्य साहित्य मे उसके निकटवर्ती रूप मिलते है । सस्कृत नाट्यशास्त्र मे नायक के चरित, इतिवृत्त, रस आदि के आधार पर रूपको और उपरूपको के जो भेद किए गए उनमे से अनेक को डा० कीथ ने एकाकी नाटक कहा है। इस प्रकार 'दशरूप' और 'साहित्यदर्पण' मे वर्णित व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रकाशिका, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, श्रीगदित, विलासिका, प्रकरणिका, हल्लीश आदि रूपको और उपरूपको को आधुनिक एकाकी के निकट सबधी कहना अनुचित न होगा । 'साहित्यदर्पण मे 'एकाक' शब्द का प्रयोग भी हुआ है

भाण स्याद् धूर्तचरितो नानावस्थातरात्मक ।
एकाक एक एवात्र निपुण पण्डितो विट ॥

और

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोग स्वल्पस्त्रीजनसयुत ।
हीनो गर्भविमर्शाभ्या नरैर्बहुभिराश्रित ॥
एकाकश्च भवेत्

पश्चिम के नाट्यसाहित्य मे आधुनिक एकाकी का सबसे प्रारभिक और अविकसित किंतु निकटवर्ती रूप 'इटरल्यूड' है। १५वी और १६वी शताब्दियो मे प्रचलित सदाचार और नैतिक शिक्षापूर्ण अग्रेजी मोरैलिटी नाटको के कोरे उपदेश से पैदा हुई ऊब को दूर करने के लिये प्रहसनपूर्ण अश भी जोड दिए जाते थे । ऐसे ही खड इटरल्यूड कहे जाते थे । क्रमश ये मोरैलिटी नाटको से स्वतत्र हो गए और अत मे उनकी परिणति व्यग-विनोद-प्रधान तीन पात्रो के छोटे नाटको मे हुई।

'कर्टेन रेजर' या पटोन्नायक कहा जानेवाला एकाकी, जिसकी तुलना सस्कृत नाटको के अर्थोपक्षेपक या प्रेक्षणक से की जा सकती है , पश्चिम मे आधुनिक एकाकियो का निकटतम पूर्ववर्ती था । रात्रि मे देर से खाना खाने के बाद रगशालाओ मे आनेवाले सभ्रात सामाजिको के कारण समय से आनेवाले साधारण सामाजिको को बडी असुविधा होती थी। रगशालाओ के मालिको ने इस बीच साधारण सामाजिको को मनोरजन मे व्यस्त रखने के लिये द्विपात्रीय प्रहसनपूर्ण सवाद प्रस्तुत करना शुरू किया। इस प्रकार के स्वतत्र सवाद को ही 'कर्टेन रेजर' कहा जाता था। इसमे कथानक एव जीवन के यथार्थ और नाटकीय द्वद्व का अभाव रहता था । बाद मे 'कर्टेन रेजर' के स्थान पर यथार्थ जीवन को लेकर सुगठित कथानक और नाटकीय द्वद्व वाले छोटे नाटक प्रस्तुत किए जाने लगे । इनके विकास का अगला कदम आधुनिक एकाकी था ।

एकाकी इतना लोकप्रिय हो उठा कि बड नाटको की रक्षा करने के लिये व्यावसायिक रगशालाओ ने उसे अपने यहाँ से निकालना शुरू किया। लेकिन उसमे प्रयोग और विकास की सभावनाओ को देखकर पश्चिम के कई देशो मे अव्यावसायिक और प्रयोगात्मक रगमचीय आदोलनो ने उसे अपना लिया। लदन, पेरिस, बर्लिन, डब्लिन, शिकागो, न्यूयार्क आदि ने इस नए ढग के नाटक और उसके रगमच को आगे बढाया। इसके अतिरिक्त एकाकी नाटक को पश्चिम के अनेक महान् या समानित लेखको का बल मिला। ऐसे लेखको मे रूस के चेखव, गोर्की और एकरीनोव, फ्रास के जिराउदो, सार्त्र और एनाडल, जर्मनी के टालर और ब्रेख्ट, इटली के पिरैदेलो, और इग्लैंड, आयरलैंड और अमरीका के आस्कर वाइल्ड, गाल्सवर्दी, जे० एम० बैरी, लार्ड डनसैनी, सिंज, शिआँ ओ केसी, यूजीन ओनील, नोएल कावर्ड, टी० एस० इलियट, क्रिस्टोफर फ्राई, ग्रैहम ग्रीन, मिलर आदि के नाम उल्लेखनीय है। रगमचीय आदोलनो और इन लेखको के समिलित और अदम्य प्रयोगात्मक साहस और उत्साह के फलस्वरूप आधुनिक एकाकी सर्वथा नई, स्वतत्र और सुस्पष्ट विधा के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ । उनकी कृतियो के आधार पर एकाकी नाटको की सामान्य विशेषताओ का अध्ययन किया जा सकता है।

रचनाविधान—सतह पर ही बडे नाटको और एकाकियो का आकारगत अतर स्पष्ट हो जाता है । एकाकी नाटक साधारणत २० से लेकर ३० मिनट मे पढे जा सकते है, जबकि तीन, चार या पाँच अकोवाले नाटको के पढने मे कई घटे लगते है। लेकिन बडे नाटको और एकाकियो का आधारभूत अतर आकारात्मक न होकर रचनात्मक है । पश्चिम के तीन से लेकर पाँच अकोवाले नाटको मे दो या दो से अधिक कथानको को गूँथ दिया जाता था । इस प्रकार उनमे एक प्रधान कथानक और एक या कई उपकथानक होते थे । सस्कृत नाटको मे भी ऐसे उपकथानक होते थे । ऐसे नाटको मे स्थान या दृश्य, काल और घटनाक्रम मे अनवरत परिवर्तन स्वाभाविक था। लेकिन एकाकी मे यह सभव नही। एकाकी किसी एक नाटकीय घटना या मानसिक स्थिति पर आधारित होता है और प्रभाव की एकाग्रता उसका मुख्य लक्ष्य है । इसलिये एकाकी मे स्थान, समय और घटना का सकलनत्रय अनिवार्य सा माना गया है। कहानी और गीत की तरह एकाकी की कला घनत्व या एकाग्रता और मितव्ययता की कला है, जिसमे कम से कम उपकरणो के सहारे ज्यादा से ज्यादा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। एकाकी के कथानक का परिप्रेक्ष्य अत्यत सकुचित होता है, उसमे जीवन के किसी एक ही उद्दीप्त क्षण का उद्घाटन होता है, एक ही मुख्य घटना होती है, एक ही मुख्य चरित्र होता है, एक ही चरमोत्कर्प होता है । लबे भाषणो और विस्तृत व्याख्याओ की जगह उसमे सवादलाघव होता है। बडे नाटक और एकाकी का गुणात्मक भेद इसी से स्पष्ट हो जाता है कि बडे नाटक के कलेवर को काट छाँटकर एकाकी की रचना नही की जा सकती जिस तरह एकाकी के कलेवर को खीच तानकर बडे नाटक की रचना नही की जा सकती ।

सस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार बडे नाटक के कथानक के विकास की पाँच स्थितियाँ मानी गई है आरभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम । पश्चिम के नाट्यशास्त्र मे भी इन्ही से बहुत कुछ मिलती जुलती स्थितियो का उल्लेख है आरभ या भूमिका, चरित्रो और घटनाओ के घात प्रतिघात या द्वद्व से कथानक का चरमोत्कर्ष की ओर आरोह, चरमोत्कर्प, अवरोह और अत । पश्चिम के नाट्यशास्त्र मे द्वद्व पर बहुत जोर दिया गया है । वस्तुत नाटक द्वद्व की कला है, कथा मे चरित्रो और घटनाओ के क्रमिक विकास की जगह बडे नाटक मे कुछ चरित्रो के जीवन के द्वद्वो को उद्घाटित कर कथानक को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया जाता है। एकाकी मे इस चरमोत्कर्ष की धुरी केवल एक द्वद्व होता है। बडे नाटक के कथानक मे द्वद्वो का विकास काफी धीमा हो सकता है, जिसमे सारी घटनाएँ रगमच पर प्रस्तुत होती है। किंतु एकाकी मे कथानक के प्रारभ और अत का व्यवधान बहुत थोडा होता है, या उस घटना से कुछ ही पूर्व होता है जो बडे वेग से द्वद्व को चरमोत्कर्प पर पहुँचा देती है। अक्सर यही चरमोत्कर्ष एकाकी का अत होता है। जीवन की समस्याओ के यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक चित्रण के अतिरिक्त रचनाविधान की यह विशेषता आधुनिक एकाकी को सस्कृत और पश्चिमी नाट्य साहित्य मे उसके निकटवर्ती रूपो से पृथक् करती है।

अक्सर अभिनय के लिये कहानियो के रूपातर से यह भ्रम पैदा होता है कि एकाकी कहानी का अभिनेय रूप है । लेकिन रचनाविधान मे घनत्व और मितव्ययता की आधारभूत समानता के बावजूद कहानी और एकाकी मे शिल्पगत भेद है। रगमच की वस्तु होने के कारण एकाकी मे अभिनय और कथोपकथन का महत्व सबसे ज्यादा है । इन्ही के माध्यम से एकाकी चरित्रचित्रण, कथानक और उसके द्वद्व, वातावरण और घटनाओ के अनुबध का निर्माण करता है। कहानी की तरह एकाकी वर्णन का आश्रय नही ले सकता। लेकिन अभिनय की एक मुद्रा कहानी के लबे वर्णन से अधिक प्रभावशाली हो सकती है । इसलिये रगमच एकाकी की सीमा और शक्ति दोनो है । इसकी पहचान न होने के कारण अनेक सफल कहानीकार असफल एकाकीकार रह जाते है।

इसी प्रकार किसी विषय पर रोचक सभाषण या कथोपकथन को एकाकी समझना भ्रममात्र है। जीवन के यथार्थ , घटना या कथानक, चरित्रो के द्वद्व, सकलनत्रय इत्यादि के अभाव मे सभाषण केवल सभाषण रह जाता है, उसे एकाकी की सज्ञा नही दी जा सकती ।

एकाकी की अद्भुत सभावनाओ के कारण आधुनिक काल मे उसका विकास अनेक दिशाओ मे हुआ है । रेडियो रूपक, सगीत तथा काव्य-

रूपक और मोनोलोग या स्वगत नाट्य इन नई दिशाओ की कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ ह। रेडियो के माध्यम से इन सबके क्षेत्र मे निरतर प्रयोग हो रहे है। रगमच, सदेह अभिनेताओ और अभिनेत्रियो, उनके अभिनय और मुद्राओ के अभाव मे रेडियो रूपक को शब्द और उसकी ध्वनि और चित्रात्मक शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग करना पडता है। मूर्त उपकरणो का अभाव रेडियो रूपक के लिये सर्वथा बाधा ही नही, क्योकि शब्द और ध्वनि को उनके मूर्त आधारो से पृथक् कर नाटककार श्रोताओ के ध्यान को चरित्रो के आतरिक द्वद्वो पर केंद्रित कर सकता है। रेडियो रूपक मुश्किल से ४० वर्ष पुराना रूप है। प्रारभिक अवस्था में इसमे किसी कहानी को अनेक व्यक्तियो के स्वरो मे प्रस्तुत किया जाता था और रगमच का भ्रम उत्पन्न करने के लिये पात्रो की आकृतियो, वेशभूपा, साज सज्जा, रुचियो इत्यादि के विस्तृत वर्णन से यथार्थ वातावरण के निर्माण का प्रयत्न किया जाता था। अमरीका, जर्मनी, इग्लैड आदि पश्चिमी देशो में रेडियो एकाकी के प्रयोगो ने उसके रूप को विकसित किया और निखारा। रेडियो के लिये कई प्रसिद्ध अमरीकी और अग्रेज कवियो नें काव्यरूपक लिखे। उनमे मैक्लीश, स्टीफेन विंसेंट बेने, कार्ल सैंडवर्ग, टाइरोन गुथ्री, लूई मैकनीस, सैकविल वेस्ट, पैट्रिक डिकिसन, डीलन टामस आदि के नाम उल्लेखनीय है। इन प्रयोगो से प्रेरणा ग्रहण कर हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओ के एकाकीकारो ने भी रेडियो रूपक, गीतिनाट्य और काव्यरूपक प्रस्तुत किए है। इनमें अभी अनेक त्रुटियाँ है। उदाहरणार्थ, हमारे लेखक रेडियो पर ध्वनि की सभावनाओ का पूरा लाभ नही उठाते, उनके भावो और अभिव्यक्तियो मे सूक्ष्म सकेतो के स्थान पर ऊहात्मक उत्साह रहता है, भाषा मे बोझ और बनावट रहती है। फिर भी इस क्षेत्र मे काफी सतोपजनक प्रगति हुई है और नए नए लेखक जीवन की विविध समस्याओ को इसे नए माध्यम के द्वारा प्रस्तुत कर रहे है।

स०ग्र०—सिडनी वाक्स दि टेकनीक आव् दि एक्सपेरिमेंटल वन ऐक्ट प्लेज, जान बोर्न दि वन ऐक्ट प्ले इन् इग्लैड, एलेन ह्यु जेज दि वन ऐक्ट प्ले इन् दि युनाइटेड स्टेट्स, व्हाल गाइगल्ड दि वन-ऐक्ट प्ले ऐंड दि रेडियो। [च व सि]

एकांतिक

वैष्णव सप्रदाय का प्राचीन नाम। वैष्णव सप्रदाय को प्राचीन काल मे अनेक नामो से पुकारते थे जिनमे भागवत, सात्वत तथा पाचरात्र नाम विशेष विख्यात है। 'एकातिक' भी इसी का अपर पर्याय है। 'पद्मतत्र' नामक पाचरात्र सहिता का यह वचन प्रमाण के लिये उपस्थित किया जा सकता है

सूरि सुहृद् भागवत सात्त्वत पचकालवित्
एकान्तिकस्तन्मयश्च पाचरात्रिक इत्यपि ॥
(पद्मतत्र, ४।२।८८)

इस नामकरण के लिये पर्याप्त कारण विद्यमान है। 'एकातिक' शब्द का अर्थ है—वह धर्म जिसमे एक ही (भगवान्) अत या सिद्धात माना जाय। भागवत धर्म का प्रधान तत्व है प्रपत्ति या शरणागति। भगवान् की शरण मे जाने पर ही जीव का कल्याण होता है। भगवान् की जब तक कृपा जीव पर नही होती, तब तक उसका उद्धार नही होता। इस कृपा को क्रियाशील बनाने के लिये 'शरणागति' ही परम साधन है। इसलिये भागवतो का सर्वश्रेष्ठ ग्रथ भगवद्गीता 'मामेक शरण व्रज' की गौरवपूर्ण शिक्षा देती है। एकाती भक्त की भगवत्प्राप्ति का वर्णन अनुस्मृति में किया गया है

एकान्तिनो हि निर्द्वन्द्वा निराशा कर्मकारिण।
ज्ञानाग्निदग्ध—कर्माणस्त्वा विशन्ति मनस्विन ॥
(अनुस्मृति, श्लोक ४८)

उपनिषद् युग में भागवत धर्म 'एकायन' नाम से प्रख्यात था जो 'एकातिक' का ही एक नतन अभिधान है। छादोग्य उपनिषद् (७।१।२) मे भूमाविद्या के वर्णनप्रसग मे नारद के द्वारा अधीत विद्याओ मे 'एकायनविद्या' के नाम का प्रथम उल्लेख उपलब्ध होता है—ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमथर्वाण वाकोवाक्यमेकायन च। इस शब्द के अर्थ के विषय में प्राचीन टीकाकारो मे मतभेद है। रग रामानुज नामक श्रीवैष्णव टीकाकार की समति में 'एकायन' शब्द वेद की 'एकायन शाखा' का द्योतक है जिसका साक्षात् सबध भागवत या वैष्णव सप्रदाय से है। नारद पाचरात्रीय भक्ति के महनीय आचार्य है। वे ही छादोग्य के पूर्वोक्त प्रसग में एकायन विद्या के ज्ञाता रूप से उल्लिखित किए गए है। इस कारण भी 'एकायन' विद्या को भागवत शास्त्र के अर्थ मे ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा का ही नाम 'एकायन शाखा' है, ऐसा 'काण्व शाखामहिमा सग्रह' नामक ग्रथ मे नागेश का कथन है। इस मत की पुष्टि 'जयाख्य सहिता' से भी होती है। इस सहिता के अनुसार पाचरात्र (वैष्णव मत) के प्रवर्तक पाँचो ऋषि, जिनके नाम औपगायन, कौशिक, शाडिल्य, भरद्वाज तथा मौंजायन है, काण्व शाखा के अध्येता बतलाए गए है (जयाख्य सहिता १।११६)। फलत 'एकातिक' तथा 'एकायन' दोनो शब्द प्राचीन भागवत सप्रदाय के लिये प्रयुक्त होते थे, यह तथ्य मानना नितात उचित है।

एकातिक धर्म की प्राचीन सहिताओ की सख्या एक सौ आठ से ऊपर बतलाई जाती है जिनमे अहिर्बुध्न्य, जयाख्य तथा बृहद् ब्रह्मसहिता मुख्य हैं। इनमे चार विषयो का प्रतिपादन विशेष रूप से किया गया है—ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या। ज्ञान के अतर्गत ब्रह्म, जीव तथा जगत् के आध्यात्मिक रूप का और सृष्टितत्व का विशेष निरूपण किया गया है। योग प्रकरण में मुक्ति के साधनभूत योग तथा उसकी प्रक्रियाओ का विवरण है। क्रियाप्रकरण मे वैष्णव मदिरो का निर्माण, मूर्ति की स्थापना आदि विपयो का वर्णन है। चर्या के अतर्गत आह्निक क्रिया, मूर्तियो के पूजन का विस्तृत विवरण, पर्व तथा उत्सव के अवसरो पर विशिष्ट पूजा का विधान वर्णित है। इन्ही सहिताओ के आधार पर वैष्णव सप्रदायो की विशेष उन्नति मध्य युग में होती रही।

स०ग्र०—डा० श्रादेर ऐन इट्रोडक्शन टु पाचरात्र सिस्टम, अड्यार, १६१६, बलदेव उपाध्याय भागवत सप्रदाय, काशी, स० २०१०।

[ब० उ०]

एकादशी

प्रत्येक पक्ष की ११वी तिथि। यह तिथि भगवान् विष्णु की अर्चा पूजा के लिये बहुत ही पवित्र मानी जाती है। इस तिथि को उपवास, जप तथा रात्रि जागरण की विधि विशेष रूप से उपयुक्त मानी गई है। एकादशी दो प्रकार की होती है स्मार्तो की और वैष्णवो की। दो दिन एकादशी पडने पर पहली एकादशी स्मार्तो के और दूसरी एकादशी वैष्णवो के लिये मान्य होती है, क्योकि वैष्णव जन दशमीविद्धा एकादशी को एकादशी नही मानते। एकादशी प्रत्येक पक्ष की ११वी तिथि को पडती है और इस प्रकार एक वर्ष मे २४ एकादशियाँ होती है। चैत्र शुक्ल से आरभ कर प्रत्येक शुक्ला एकादशी के नाम क्रमानुसार ये है कामदा, मोहिनी, निर्जला (या भीमसेनी), शयनी, पुत्रदा, परिवर्तिनी, पापाकुशा, बोधिनी, , मोक्षदा, प्रजावर्धिनी, जयदा तथा आमलकी। इसी प्रकार चैत्र कृष्णपक्ष से आरभ कर कृष्णा एकादशियो के नाम क्रमानुसार इस प्रकार है—पापमोचनी, वरूथिनी, अपरा, योगिनी, कामिका, अजा, इदिरा, रमा, फलदा, सफला, षट्तिला तथा विजया। एकादशी के निर्णय का पूरा विचार, 'धर्मसिधु', तथा 'निर्णयसिधु', मे बडे विस्तार के साथ किया गया है।

एकादशी की उत्पत्ति की कथा पद्मपुराण के उत्तरकाड (अध्याय ३८) मे दी गई है। इस कथा का साराश यह है कि मुर नामक दैत्य को मारने के लिये विष्णु भगवान् ने देवो की सेना के साथ उसकी मुख्य नगरी चद्रावती पर आक्रमण किया। देवतागण थोडे ही युद्ध मे ध्वस्त होकर भाग निकले तथा विष्णु ने अकेले ही बहुत दिनो तक युद्ध जारी रखा। पर अततोगत्वा इन्होने भी बदरिकाश्रम की एक गुफा मे आश्रय लिया। मुर उन्हे परास्त करने के लिये जब उस गुफा के पास पहुँचा, तब उसने उसके दरवाजे पर एक अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित सुदरी देखी जिसके हुकार मात्र से वह नष्ट हो गया। विष्णु ने उस सुदरी को मनोभिलपित वरदान दिया। उसका नाम 'एकादशी' रखा और उस दिन व्रत करनेवाले को भक्ति तथा मुक्ति देने की विष्णु ने प्रतिज्ञा की। प्रत्येक एकादशी के लिये पुराणो मे कोई न कोई उत्साहवर्धक कथानक प्रसिद्ध है।

[ब० उ०]

एकाधिनायकत्व डिक्टेटरशिप, अधिनायकवाद उस एक व्यक्ति की सरकार है जिसने शासन उत्तराधिकार के फलस्वरूप नही वरन् बलपूर्वक प्राप्त किया हो तथा जिसे पूर्ण सप्रभुता प्राप्त हो—अर्थात् सपूर्ण राजनीतिक शक्ति न केवल उसी के सकल्प से उद्भूत हो वरन् कार्यक्षेत्र और समय की दृष्टि से असीमित तथा किसी अन्य सत्ता के प्रति उत्तरदायी न हो—और वह उसका प्रयोग बहुधा अनियन्त्रित ढग से विधान के बदले आज्ञप्तियो द्वारा करता हो।

दिक्तेतर (डिक्टेटर, एकाधिनायक) शब्द को सर्वप्रथम प्रयुक्त करनेवाले रोमन लोग थे जो कुछ विशिष्ट प्रशासको को अनुमानत इसलिये दिक्तेतर कहते थे कि उनके कोई सलाहकार नही होते थे। रोमन गणतत्र के सविधान मे एकाधिनायकत्व या अधिनायकवाद से तात्पर्य सकटकालीन स्थिति मे किसी एक व्यक्ति के अस्थायी रूप से असीमित अधिकार प्राप्त कर लेने से था। सकट टल जाने पर एकाधिनायक के असीमित अधिकार भी समाप्त हो जाते थे और उन्हे छोडते समय उसे उनके प्रयोगो का पूरा ब्योरा देना पडता था। अत विधान तथा शासितो के प्रति उत्तरदायित्व अधिनायक की प्रमुख विशेषता थी।

आधुनिक युग मे प्रथम महायुद्ध के बाद किसी एक व्यक्ति या वर्ग के स्वार्थ के लिये विधान का उल्लघन एकाधिनायकत्व का प्रमुख लक्षण हो गया। युद्ध ने जनसाधारण के मस्तिष्क को थकाने के अतिरिक्त उसपर सयम के स्थान पर सैन्य अनुशासन आरोपित कर सभी सामाजिक क्षेत्रो मे आज्ञापालन की प्रवृत्ति उत्पन्न की। सैन्य उद्देश्यो के लिये आवश्यक सत्ता के केद्रीकरण ने लोगो को इस बात के लिये अभ्यस्त बना दिया कि वे सामाजिक समस्याओ के समाधान के लिये ऐसी निरकुश सत्ता के निर्णय मान ले जो किसी के प्रति उत्तरदायी न हो। ऐसी परिस्थिति मे जनतात्रिक पद्धति विघटित होती जान पडी। फलत युद्ध से सर्वाधिक प्रभावित देशो मे सामान्यत लोग ऐसे 'लौहपुरुष' के स्वागत के लिये तत्पर थे जो अपने शौर्य, आत्मविश्वास और कटिबद्धता के बल पर उनका मत लिए बिना राष्ट्र के नाम पर अपनी इच्छा तथा आदेश से समस्याओ का समाधान कर दे। अत जनता के लिये सामान्यत एकाधिनायक वह कर्मठ व्यक्ति हुआ जो स्वय राष्ट्रीय प्रतीक बन किसी रहस्यात्मक आकर्षण द्वारा अपने प्रति आदर का भाव जगा सके तथा इस आधार पर लोगो को महान् होने का अनुभव करा सके कि वे उससे सबधित है।

एकाधिनायकत्व की प्रथम विशेषता उसके उद्गम मे है। किसी देश तथा युग मे इसकी स्थापना कभी उन साधनो से नही होती जो उस देश और युग मे वैध माने जाते है। उसके लिये यह आवश्यक है कि उसकी नीव विधान के उल्लघन पर हो, यद्यपि उसका अस्तित्व किसी विधान के न मानने पर आश्रित नही है। प्रत्येक एकाधिनायकत्व का प्रारभ विप्लव से होता है और फिर सभवत किन्ही कारणो से वह अपना क्रातिकारी स्वरूप बनाए रख सकता है। परतु उसका उद्देश्य पुराने विधान के स्थान पर नए विधान की स्थापना का भी हो सकता है क्योकि एकाधिनायकत्व पुरातन, जीर्ण व्यवस्था की असफलता तथा नवीन व्यवस्था के लिये उसके ध्वस की पूर्वकल्पना करता है। उसकी दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि जनतत्र (जो सिद्धातत प्रत्येक नागरिक को सरकार मे भाग लेने का अधिकार देता है) के विपरीत इसका सचालन एक व्यक्ति या वर्ग के हाथ मे दूसरो पर शासन करने के लिये होता है। तीसरे, सत्ताधारी खुले ढग से यह घोषित करता है कि राष्ट्र मे उसका एक विशिष्ट स्थान है।

अतएव व्यापक अर्थ मे एकाधिनायकीय सरकार वह व्यवस्था है जिसमे राज्य के एक या कई सदस्य खुले तथा व्यवस्थित ढग से पूरे राष्ट्र पर शक्ति का—जिसे उन्होने पूर्व के सभी वैध अधिकारो और स्थापनाओ के उल्लघन के फलस्वरूप होनेवाली हिंसा से अर्जित किया है—प्रयोग सरकार मे भाग न लेनेवाली जनता की समति से स्वतत्र रहकर करते है।

सरकार के स्वरूप के आधार पर एकाधिनायकत्व दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है एक व्यक्ति के अधिनायक होने पर वैयक्तिक तथा एक वर्ग के अधिनायक होने पर सामूहिक एकाधिनायकत्व की स्थापना होती है। वैयक्तिक एकाधिनायकत्व (विशेषत फासिस्ती) मे एकाधिनायक अपने निजी कर्मचारियो की सहायता से 'फयूरर' के सिद्धात के आधार पर स्वतत्र ढग से शासन करता है। फ्यूरर की विशेषता यह है कि वह अपने सहायको के प्रति उत्तरदायी नही होता, वरन् अपने से ऊपर—राष्ट्र, इतिहास, या ईश्वर—के प्रति अपना दायित्व घोषित करता है। फ्यूरर अपने सहायको को नियुक्त करता है जो अपने अधीन कर्मचारियो को, और ये कर्मचारी फिर अपने अधीनो को नियुक्त करते है। इस प्रकार पूरी व्यवस्था मे निर्वाचनपद्धति का कोई स्थान नही होता और सपूर्ण ढाँचा सर्वोपरि चरम बिंदु पर अवलबित होता है। सामूहिक एकाधिनायकत्व मे फ्यूरर के स्थान पर उत्तरदायी नेता होते है, नेताओ की एक श्रेणी उच्चतर श्रेणी के नेताओ को चुनती है, प्रत्येक नेता अपने निर्वाचको के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रकार सपूर्ण ढाँचा निम्नतम आधार पर अवलबित होता है।

सामाजिक शक्तियो के आधार पर भी एकाधिनायकत्व के दो वर्ग हो सकते है। प्रथम, जब वैयक्तिक एकाधिनायकत्व मे सहायक वर्ग किसी दल, निजी या राजकीय सेना, चर्च या प्रशासकीय विभाग का हो, द्वितीय, जब सामूहिक एकाधिनायकत्व मे यही वर्ग स्वय अधिनायक हो। अतएव यह विभाजन शासक तथा सहायक वर्ग के आधार पर होता है। वर्ग एकाधिनायकत्व के आधुनिक तीन प्रमुख प्रकार है सैन्य, दल और प्रशासकीय।

तीसरा वर्गीकरण परिमाणात्मक स्वरूप के आधार पर हो सकता है, यथा, एकात्मक अधिनायकवाद जिसमे केवल एक वर्ग या केवल एक व्यक्ति तथा जिसका सहायक केवल एक वर्ग (यथा, निजी सेना) हो, बहुलवादी अधिनायकवाद जिसमे कई शक्तिशाली व्यक्ति या वर्ग हो जो पूर्ण रूप से अपने को अधिनायक के अधीन न करे और सत्ता के लिये परस्पर होड करे, परतु ऐसी स्थिति मे भी अन्य से अधिक शक्तिशाली एक व्यक्ति या वर्ग का अस्तित्व तो होता ही है। अधिनायकवाद के तीनो वर्गीकरण एक दूसरे से सबद्ध भी हो सकते है। यथा, सैन्य एकाधिनायकत्व निजी तथा सामूहिक दोनो ही हो सकता है।

सभी महत्वपूर्ण एकाधिनायकताओ मे धार्मिक साप्रदायिकता की विशेषता होती है, यथा उत्साह के साथ प्रवर्तक की पूजा तथा एक विशिष्ट विधि के प्रति श्रद्धा। महान् व्यक्तियो से सचालित, सदैव आकर्षक विचारधारा से प्रेरित, अपने अनुयायियो से कर्तव्य के रूप मे बलिदान की माँग करता हुआ, एकाधिनायकत्व सक्रिय व्यक्ति द्वारा स्थापित सरकार का एक स्वरूप है। वह उन पराक्रमी और गतिशील वर्गो को लेकर चलता है जो स्वभावत विप्लव के लिये प्रवृत्त होते है यथा, सेना, शूर वर्ग या सर्वहारा वर्ग। एकाधिनायक अपने सकल्प और भाव शासितो पर आरोपित करता रहता है। इस आरोपण के दो साधन है नकारात्मक, सकारात्मक। नकारात्मक साधन है, आलोचना को रोकना, विरोधी बहुमत या अल्पमत को नष्ट करना, राज्य सबधी आवश्य क और महत्वपूर्ण तथ्यो को गुप्त रखना। इन साधनो के सहायक साधन है ससद की समाप्ति, सघो तथा दलो का विघटन, प्रेस पर प्रतिबध, शिक्षा पर नियत्रण, प्रमुख विरोधियो का निष्कासन आदि। इस सबध मे हिंसा तथा आतक की भी चर्चा की जाती है, परतु वस्तुत ये एकाधिनायकत्व की केवल प्रारभिक अवस्था के लक्षण है जो सामान्यत क्रातिकारी और इसीलिये अवैध होते है। यदि एकाधिनायकत्व इस अवस्था से गुजरने मे सफल हुआ तो वह साधारणत हिंसा और आतक के स्थान पर प्रशासकीय विधान स्थापित करता है।

सैन्य एकाधिनायकत्व सामान्यत इन्ही नकारात्मक साधनो से सतुष्ट रहता है, परतु वर्ग एकाधिनायकत्व इनके अतिरिक्त सकारात्मक साधनो का भी प्रयोग करता है, यथा, प्रचार द्वारा अधिनायक के भावो, विचारो और मतो का जनता पर आरोपण, इच्छानुकूल जनमत का सृजन आदि। इन साधनो के सहायक साधन है राष्ट्रीय या वर्गप्रतीको की पूजा, उत्तेजक सगीत का प्रसार, दर्प या घृणा की भावनाएँ उभारनेवाले भाषण, आज्ञापालन की आदत डालने के लिये समस्त राष्ट्र को सैन्य शिक्षा देना, विद्यालयो के लिये पुस्तके तैयार करना, अबौद्धिक विचारधारा का प्रचार, राजनीतिज्ञो, पत्रकारो तथा विद्वानो को घूस देकर उनका मुँह बद करना।

परतु किसी भी सभ्य देश मे, जिसका निकट अतीत औदार्यवादी या जनतात्रिक रहा हो, ये साधन एकाधिनायकवाद की स्थापना के लिये तब तक पर्याप्त नही है जब तक उनके साथ जनता से लुभावने आदर्शो, यथा आज्ञाकारिता, अनुशासन, सत्ता, एकता, शक्ति, देशप्रेम आदि के लिये सतत अपील न की जाय और व्यक्ति मे अपने निजी अधिकारो को एकाधिनायक के हाथो

सौंपने का उत्साहपूर्ण भाव न उभारा जाय। इसके लिये धर्म से सवधित भावो को विकृत कर अपने राज्य, राष्ट्र, जाति या वर्ग की स्तुति या पूजा के भावो में परिणत किया जाता है।

जिस अवैध ढग से एकाविनायकत्व की स्थापना होती है उसी ढग के अतिरिक्त उसका उन्मूलन प्राय असभव है। एकाधिनायकवाद राष्ट्र को स्वायत्त शासन की विधियाँ सीखने से रोकता है और इसलिये एक एकाधिनायक के देहात के वाद व्यक्तियो और वर्गो में सत्ता के लिये प्रतिद्वद्विता राष्ट्र के लिये विपत्ति का कारण वन सकती है।

स० ग्र०—इलियट, डब्ल्यू० वाई० दि प्रैग्मेटिक रिवोल्ट इन पालिटिक्स, न्यूयार्क, १९२८, कावन, ए० डिक्टेटरशिप, इट्स हिस्ट्री ऐंड थियरी, लदन, १९३५, केटोरोविज, एच० डिक्टेटरशिप, ए सोशियालाजिकल स्टडी, कैंब्रिज, १९३५, गूच, जी० पी० डिक्टेटरशिप इन थियरी ऐंड प्रैक्टिस, लदन, १९३५, फार्स्ट, ग्रो० (स०) डिक्टेटरशिप ग्रान इट्स ट्रायल, लदन, १९३०, फ्रीडरिक, सी० जे० और ब्रेजेजिस्की, जेड० के० टोटेलिटेरियन डिक्टेटरशिप ऐंड ग्राटोक्रैसी, कैंब्रिज, १९५६। [रा० ग्र०]

एकियन्

एकियाई आर्य जाति की एक शाखा, जो अत्यत प्राचीन काल मे ग्रीस देश मे वसी हुई थी। इस जाति का सर्वप्रथम उल्लेख प्राचीन खत्तियो और मिस्त्रियो के ग्रथो में ई० पू० १४००–१२०० शताब्दियो मे मिलता है। इन लेखो में उनको अक्खियावा कहा गया है। इस समय ये लोग लघु एशिया के पश्चिमी भागो मे और लेस्वस् द्वीप में वसे हुए थे। इनकी सामुद्रिक शक्ति बहुत महत्वपूर्ण थी तथा इनके नेता का नाम अत्तंसियस् था। उनके कीप्रस् (साइप्रस) और पाफिलिया मे होने का भी आभास मिलता है।

इसके पश्चात् होमर की रचना इलियद् में (ई० पू० ९०० के आसपास) इन लोगो का उल्लेख मिलता है और अखिलीस् तथा अगामेम्नोन् के सैनिको के लिये इस शब्द का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। इस समय यह जाति पेलोपोनेसस् मे तथा वहाँ से उत्तर दिशा मे थेसाली तक के प्रदेश पर अपना आधिपत्य रखती थी। अतएव कुछ आलोचको के अनुसार होमर इस शब्द का प्रयोग (आगे चलकर हेलेनेस् शब्द के प्रयोग के समान) समस्त ग्रीक जाति के लिये करता था।

ग्रीक साहित्य के स्वर्णयुग (क्लासिकल युग, ई० पू० ५०० से ई० पू० ३२२) में ये लोग पेलोपोनेस् के उत्तर समुद्री तट की उस पट्टी पर वसे हुए थे जो कोरिंथ की खाडी और अर्कादिया के उत्तरी पर्वतो के मध्य स्थित है। इन लोगो ने इटली के दक्षिण मे कई उपनिवेश भी वसाए थे।

यह जाति अखाइया प्रदेश मे कहाँ से आकर वसी, मूलत इसकी भाषा क्या थी और इस जाति के लोगो का रूपरग और शारीरिक गठन किस प्रकार का था, ये सभी प्रश्न विवादास्पद है। पर अधिकाश विद्वानो का मत है कि इनकी भाषा आर्य परिवार की भाषा थी और ये गौर वर्ण के रूपवान् लोग थे। ऐतिहासिक काल मे इन्होने अपनी एक लीग सगठित की थी जो शक्तिशाली सगठन था।

स० ग्र०—ई० कुर्तियस् पैलोपोनेसस्, १८५१। [भो० ना० श०]

एकियन लीग

हैलिनिक युग मे ग्रीस के १२ नगरो द्वारा वनाया मुख्य राजनीतिक राज्यसघ। २२८ ई० पू० आर्तस ने पूर्णत प्रजातत्रीय सघीय सविधान वनाया।

सविधान के अनुसार सव राज्यो को समान अधिकार थे, तथा आतरिक विषयो में वे पूर्ण स्वतत्र थे। विदेशी और युद्ध सवधी वातो में ही उनके अधिकार सीमित थे।

विधायिनी शक्ति सपूर्ण वयस्क (३० वर्ष) जनता की लोकसभा के पास थी तथा १२० प्रतिनिधियो की समिति कार्यक्रम निश्चित करती और सत्र के वीच कार्य करती थी। मुख्य पुरशासक (मैजिस्ट्रेट) की शक्ति स्त्रातेजिया के पास थी। इसके पास नागरीय शक्ति तथा लोकसभा के समुख प्रस्ताव रखने का अधिकार था। दस देमीओर्जोई, जो इसकी अध्यक्षता करते थे, मत्रिपरिषद् वनाते थे।

योग्य सेना तथा धन के अभाव के कारण १४६ ई० पू० तक ग्रीस की स्वतत्रता की रक्षा करती हुई लीग रोम द्वारा पराजित हुई। [ता० म०]

एक्लेसिया

प्राचीन काल मे एथेन्स मे जनतत्रात्मक सरकार के दो प्रमुख अग थे एक्लेसिया (Ecclesia) और वाउल (Boule)। एक्लेसिया जनता की सभा का नाम था। सिद्धातत सप्रभुता जनसाधारण के पास थी जिसे वे एक्लेसिया द्वारा प्रयुक्त करते थे। यद्यपि एक्लेसिया की सदस्यता १८ वर्ष से अधिक सभी नागरिको के लिये थी, फिर भी कुछ ही उसमे भाग लेते थे।

प्रारभ में एक्लेसिया की बैठक प्रत्येक प्रीत्रानी (Prytanny) मे एक वार, अर्थात् वर्ष मे १० वार, होती थी, परतु जनतत्रात्मक सरकार के विकास के साथ साथ जब एक्लेसिया के विचारार्थ विषयो की सख्या भी वढने लगी तब प्रत्येक प्रीत्रानी मे तीन अन्य अधिवेशनो की व्यवस्था की गई। प्रथम मौलिक अधिवेशन को 'प्रमुख' तथा अन्य तीनो को 'वैध' अधिवेशन की सज्ञा दी गई। वहुत समय तक प्रीत्रानी मे केवल एक ही अधिवेशन होते रहने के कारण 'प्रमुख' अधिवेशन का कार्यक्षेत्र विस्तृत था। प्रशासको के प्रवध पर विश्वास का मत प्रकट करना, खाद्य तथा सुरक्षा के विषयो पर विचार करना, देशद्रोह के अपराधो को तथा कुर्क की गई सपत्ति का विवरण सुनना आदि इसके मुख्य कार्य थे। सभा के तीन अन्य सामान्य अधिवेशनो का कार्यक्रम इतना विस्तृत नही होता था। इनमे से एक अधिवेशन नागरिको द्वारा किसी विधान या किसी न्यायालय के विरुद्ध अपील के लिये निर्धारित था। शेष दो अधिवेशन अवशिष्ट कार्यो के लिये थे। इनमे से प्रत्येक मे सामान्यत तीन धर्म सवधी विषय, तीन अतर्राष्ट्रीय समस्याओ से सवधित विषय जिन्हे राजदूत प्रस्तावित करते थे, तथा तीन सामान्य प्रशासकीय समस्याओ से सवधित होते थे।

एक्लेसिया या सभा की कार्यसूची (प्रोवूल्यूमा) वाउल या परिषद् तैयार करती थी। अत सभा केवल उन्ही विषयो पर विचार करती थी जिन्हें परिषद् उसके पास भेजती थी। परतु परिषद् द्वारा प्रस्तावित विषयो को स्वीकार, रद्द या सशोधित करने का अधिकार सभा को था। सभी आज्ञप्तियाँ परिषद् तथा जनता के नाम से घोषित की जाती थी।

एथेन्सवासी जिन दस वर्गो मे विभक्त थे उनमे से प्रत्येक वर्ग अपने पचास सदस्य चुनता था, और एक वर्ग के ये पचास सदस्य वर्ष के दसवे भाग भर कार्य करते थे और इसीलिये उन्हे प्रीत्रानीज़ कहते थे। वस्तुत प्रीत्रानीज ही शेष नौ वर्गों मे से प्रत्येक के एक सदस्य के साथ बैठकर परिषद् के कार्य करते थे। प्रीत्रानीज का अध्यक्ष जो प्रीत्रानीज़ के पचास सदस्यो मे से लाटरी द्वारा केवल एक दिन के लिये चुना जाता था, सभा का भी अध्यक्ष होता था। अध्यक्ष की सहायता के लिये एक सचिव तथा एक राजदूत होते थे। सचिव राजकीय पत्रो को सभा के लिये पढकर सुनाता था तथा राजदूत अध्यक्ष के नाम से सभा के सदस्यो से ससर्ग करता था।

सभा का अधिवेशन प्रात काल पौ फटने के समय सार्वजनिक चौराहे (अगोरा) या वाजार मे प्रारभ होता था। कार्यक्रम प्रारभ होने से पूर्व एक वेदी पर शूकरो की वलि देकर तथा उनके रक्त से मडप की परिधि खीच विघ्नवाधाओ को दूर करने की प्रार्थना की जाती थी। तदुपरात राजदूत जनता को धोखा देनेवालो के लिये अभिशाप घोषित करता था। आँधी, भूकप, ग्रहण, वज्रपात, वर्षा आदि को अपशकुन मानकर इनके होने पर अधिवेशन स्थगित कर दिया जाता था।

इन औपचारिकताओ के वाद सभा का अध्यक्ष राजदूत को सभा की कार्यसूची के सवध मे परिषद् की रिपोर्ट पढने का आदेश देता था। अध्यक्ष को ऐसे किसी प्रस्ताव पर, जिसे परिषद् ने नही भेजा, वहस प्रारभ करने से विधान द्वारा वचित किया गया था। कार्यसूची पढी जाने के वाद अध्यक्ष इस वात पर मत सग्रह करता था कि उसे पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया जाय या उसपर वादविवाद हो। मतदान हाथ उठाकर होता था। इस मतसग्रह को 'प्रोकीरोतोनिया कहते थे। साधारणत वहुमत के विना कार्यसूची स्वीकार करने की प्रथा नही थी। राजदूत के इन शब्दो से कि "कौन वोलना चाहता है?" वहस प्रारभ होती थी। प्रत्येक सदस्य को अपने विचार प्रकट करने, वहस प्रारभ करने तथा सशोधन प्रस्तावित करने का अधिकार था। परतु इन अधिकारो के दुरुपयोग के लिये कठोर दड निर्धारित था, और सभी अवैध प्रस्ताव प्रीत्रानीज द्वारा रद्द कर दिए जाते थे। वहस के अत में प्रीत्रानीज़ प्रस्ताव को मतदान के लिये पेश करते थे जिसका ढग हाथ उठाकर था। निर्णय अध्यक्ष करता था। जिन अधिवेशनो में व्यक्तियो

के विरुद्ध गभीर विपयो पर विचार करना होता था वहाँ गुप्त मतदान की व्यवस्था थी।

सामान्य बैठकों मे एक्लेसिया के वैदेशिक नीति सबधी अधिकार थे जिनमे युद्ध और शाति के प्रश्नो पर निर्णय तथा राजदूतो की नियुक्ति मुख्य थे। इनके अतिरिक्त इसके अपने विधायी और न्यायिक अधिकार भी थे। कार्यकारिणी सबधी अधिकारो मे राज्य के सभी कर्मचारियों की नियुक्ति तथा पदच्युति, और जल एव थल सेना के सभी विपय इसके हाथ मे थे।

सामान्यत अधिवेशन की आज्ञप्तियों के वध होने के लिये किसी निश्चित कोरम की आवश्यकता नही थी। परतु कुछ विपयो के लिये सर्वसमति आवश्यक थी जिसके लिये पूर्ण सभा या बैठक की व्यवस्था की जाती थी और जो नगर की सर्वसमति की प्रतिनिधि सभा मानी जाती थी। सर्वसमति के लिये कम से कम छ हजार मतो का होना अनिवार्य था, दूसरे शब्दो में, कम से कम छ हजार मतो की सख्या को सर्वसमति की सख्या मान लिया जाता था। ई० पू० पाँचवी शताब्दी में पूर्ण बैठक दो विपयो पर विचार करने के लिये बुलाई जाती थी प्रथम, यह निर्णय करने के लिये कि किन नागरिको को बहिष्कार के विधान के अतर्गत नगर से निकाल दिया जाय, दूसरे, किसी को क्षमादान या दड से मुक्ति देने के लिये।

स०ग्र०—अरिस्टाटल (अनु० के० पी० फ्रिज और ई० कैप) दि कास्टिट्यूशन आव एथेंस, न्यूयार्क, १९५७, गिल्वर्ट, जी० (अनु० ई० जे० ब्रुक्स और टी० निकलिन) दि कास्टिट्यूशनल ऐंटिक्विटी आजव स्पार्टा ऐंड एथेंस, लदन १८९५, ग्लाज, जी० दि ग्रीक सिटी ऐंड इट्स इस्टिट्यूशन्स, लदन १९५०। [रा० अ०]

एक्वाइनस, संत तोमस

का जन्म रोकासेका में सन् १२२५ मे हुआ था। इनके पिता नेपल्स राज्य में एक्वाइनो के काउट थे और माँ थियोदोरा सिसली के पुराने नारमन शासको के वश की थीं। सन् १२५३ में तोमस ने अपने परिवार की इच्छा के विरुद्ध सत दोमिनिक मठ में प्रवेश किया। सन् १२४४ में वे दोमिनिकी व्यवस्था के अध्यक्ष जोहानस त्यूतोनिकस के साथ अल्बर्तस माग्नस के निरीक्षण मे शिक्षा प्राप्त करने कोलोन गये। सन् १२५२ में उन्होंने पेरिस से डिग्री प्राप्त की, फिर वह वर्षो अध्यापन कार्य करते रहे। सन् १२७३ में लियो की कौंसिल मे समिलित होने के लिये जाते समय मार्ग में उन्हें अस्वस्थता के कारण फोसानोवा मे एक मठ मे रुकना पडा जहाँ ७ मार्च, सन् १२७४ को उनका देहात हो गया। देहात के लगभग एक शताब्दी बाद तक दोमिनिकी और सिस्तर्की मठो मे तोमस के अवशेष प्राप्त करने के लिये द्वद्व चलता रहा। अतत निर्णय दोमिनिकी मठ के पक्ष में हुआ। सन् १५६७ में पचम पीयस ने तोमस को पचम चर्च का 'डाक्टर' घोपित किया।

तोमस द्वारा लिखित ग्रथो मे मुख्य हैं, सम्मा थियोलाजिका, सम्मा कोत्रा जेंतील्स तथा अरस्तू के 'पालिटिक्स' पर टिप्पणी।

तोमस के दर्शन की मुख्य विशेपता सामजस्य है। ईश्वर और प्रकृति के क्षेत्र इतने व्यापक हैं कि वे अपने में असीम अस्तित्व की अनगिनत विभिन्नताएँ समेट लेते हैं। समस्त ज्ञान एक इकाई है जिसके निम्नतम स्तर पर विशिष्ट विपयो से सबधित विभिन्न विज्ञान हैं, उनके ऊपर बौद्धिक दर्शन है जो सार्वभौम सिद्धात प्रतिपादित करता है। बुद्धि से ऊपर ईसाई धर्मशास्त्र है जो ज्ञान की परिपूर्णता होते हुए भी श्रुत (इलहाम) पर आश्रित है। श्रुत यद्यपि बुद्धि से परे है, तथापि वह बुद्धिविरोधी नही, श्रद्धा बुद्धि की परिपूर्णता है।

सृष्टि की व्यवस्था में समस्त ब्रह्माड एक इकाई है जिसके उच्चतम स्तर पर ईश्वर तथा निम्नतम पर जीव है। प्रत्येक जीव अपने स्वभाव की प्रेरणा से अपना हित खोजता है। उच्चतर स्तरवाला निम्न स्तरवालो पर शासन करता है। प्रकृति की भाँति मानव समाज भी उद्देश्यो और प्रयोजनो की व्यवस्था है जिसमें उच्चस्तर निम्नतरको निर्देशित करता है। समाज सद्गुणी जीवन की प्राप्ति के लिये सेवाओ के आदान प्रदान है जिसमे प्रत्येक अपना उपयुक्त कार्य करता है। सामान्य हित की माँग है कि समाज में उसी प्रकार एक शासक वर्ग हो जिस प्रकार प्रकृति में। परतु मनुष्य शरीर और आत्मा दोनों होने के कारण दुहरी व्यवस्था से सबद्ध है, प्राकृतिक तथा दैवी। प्राकृतिक व्यवस्था का सदस्य होने के नाते वह

लौकिक सप्रभु के अधीन है जो उसे जीवन के उद्देश्यो की पूर्ति के लिये आवश्यक साधन प्रदान करता है, दैवी व्यवस्था का सदस्य होने के कारण वह पोप के अधीन है क्योकि पारमार्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिये आवश्यक साधन पोप के नियत्रण मे हैं। समाज में मनुष्य का लक्ष्य है सद्गुणी जीवन, परतु सद्गुणी जीवन पारमार्थिक लक्ष्य से निर्धारित होता है, इसलिये समाज का उद्देश्य मनुष्य को केवल सद्गुणी जीवन प्रदान करना ही नही वरन् उसे भगवत्कृपा से भी लाभान्वित कराना है। इस उद्देश्य की पूर्ति दैवी शासनव्यवस्था करती है जिसका अध्यक्ष पोप है। दूसरा उद्देश्य पहले से अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण शासक पोप की सत्ता स्वीकार करे। परतु यह तर्क शासक के कर्तव्यो का निपेध नही करता। शासक का कर्तव्य है कि वह शाति और सुव्यवस्था द्वारा मानवीय सुख की नीव डाले और सद्गुणी जीवन की प्राप्ति मे उपस्थित होनेवाली सभावित बाधाओ को दूर करे। चर्च राज्यविरोधी नही, उसकी परिपूर्णता है।

शासन के इस नैतिक उद्देश्य के कारण शासन सत्ता नियन्त्रित हैं। इसका प्रयोग विधानानुसार हो। ज्ञान और सृष्टि के स्तरो के अनुकूल विधान के चार स्तर हैं शाश्वत, प्राकृतिक, दैवी, मानवीय। शाश्वत नियम ईश्वर की बुद्धि है जिससे सृष्टि सचालित होती है। मानवीय बुद्धि इसे पूर्णरूपेण नही जान सकती। फिर भी, अपनी प्राकृतिक क्षमता के अनुकूल मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान में भाग लेता है। प्राकृतिक विधान जीवो में दैवी बुद्धि का प्रतिबिंब है तथा अच्छाई की खोज और बुराई से बचाव की स्वाभाविक प्रेरणा मे परिलक्षित होता है। दैवी विधान श्रुत (इलहामी) है जिसे मनुष्य ईश्वर की कृपा से जानता है। मानवीय विधान मनुष्य के जीवन को व्यवस्थित करनेवाली प्राकृतिक विधान की वह व्युत्पत्ति है जो प्राकृतिक विधान को मानवीय जीवन की विशिष्ट परिस्थितियो मे लागू करती है।

सरकार का आदर्श रूप ऐसा राजतत्र है जिसमे कुलीनतत्र तथा जनतत्र के विशिष्ट लक्षणो का समिश्रण हो। साधारणत लोग शासन के प्रति आज्ञाकारी हों, परतु अत्याचारी शासन का विरोध करने का अधिकार भी उन्हें है। दासप्रथा यद्यपि प्राकृतिक नही वरन् मानवीय बुद्धि द्वारा जीवन की सुविधाओ के लिये सस्थापित की गई है, फिर भी वह प्राकृतिक विधान के विरुद्ध नही है। परतु सभी प्रकृति मे समान हैं, इसलिये स्वामी दास के प्राकृतिक अधिकार नही छीन सकता। सपत्ति का स्वामित्व निजी और उपभोग सामूहिक हो। दरिद्रता अवाछनीय है क्योकि वह अपराधो के लिये अवसर प्रदान करती है। वैयक्तिक और सामाजिक हित के लिये ऐसी शिक्षा अनिवार्य है जिसके द्वारा मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों का सतुलित विकास हो सके। सततिनिग्रह प्रकृतिविरुद्ध है, इसलिये अनैतिक है। विवाहविच्छेद अनुचित है, क्योंकि ईसा ने इसका निपेध किया है।

स०ग्र०—कार्लाइल, आर० डब्ल्यू० और कार्लाइल, ए० जे० ए हिस्ट्री आव दि मेडीवल पोलिटिकल थियरी इन दि वेस्ट, लदन, १९२४, ग्रेबमन, मार्टिन (अनु० वी० माइकेल) टामस एक्वाइनस–हिज पर्सनेलिटी ऐंड थॉट, न्यूयार्क, १९२८, जिल्साँ, ई० (अनु० एल० के० शूक) दि क्रिश्चियन फिलासफी आव सेंट टामस एक्वाइनस, लदन, १९५७, जिल्साँ, ई० रीजन ऐंड रेविलीशन इन दि मिडिल एजेज, लदन, १९५४, मैक्इलवेन, सी० एच० दि ग्रोथ आव पोलिटिकल थाट इन दि वेस्ट, लदन, १९५१, मर्फी, ई० एफ० सेंट टामसज पोलिटिकल डाक्ट्रिन ऐंड डिमाक्रेसी, वाशिंगटन, १९२१, सेबाइन, जी० एच० ए हिस्ट्री आव पोलिटिकल थियरी, लदन, १९५१, हर्नशॉ, एफ० जे० सी० (स०) दि सोशल ऐंड पोलिटिकल आइडियाज ऑव सम ग्रेट मेडीवल थिंकर्स, लदन, १९२३। [रा० अ०]

एक्सरे और मणिभ संरचना

द्रव्य की सरचना के अध्ययन में एक्सरे का विशेप स्थान है। द्रव्य के चरम रचक परमाणु हैं। परमाणुओं का आकार अत्यत सूक्ष्म होता है, अत उनके अध्ययन के लिये अत्यत सूक्ष्म प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है। प्रकाश का तरगदैर्घ्य परमाणुओ के आकार से बहुत अधिक होने के कारण सरचनात्मक अध्ययन में प्रकाश का विशेप उपयोग नही हो सकता। एक्सरे का तरगदैर्घ्य १ आगस्त्रम के लगभग एव परमाणुओ के आकार से तुलनीय है,

अत द्रव्य की सरचना के अध्ययन के लिये एक्सरे उचित साधन है। द्रव्य की गैस, द्रव तथा ठोस इन तीनो अवस्थाओ के विषय मे एक्सरे द्वारा अत्यत लाभदायक ज्ञान प्राप्त हुआ है। ठोस पदार्थो की (विशेषत मणिभो की) सरचना का यथार्थ ज्ञान सर्वप्रथम एक्सरे द्वारा ही हुआ। वर्तमान काल में एक्सरे-विश्लेषण का प्रधान उद्देश्य यह है कि ठोस अवस्था मे परमाणु किस प्रकार स्थित तथा वितरित रहते हैं, यह ज्ञात किया जाय। एक अथवा अधिक तत्वो के परमाणु जब अत्यत निकट आते हैं तब परमाणुओ के बाह्य इलेक्ट्रानो मे पारस्परिक क्रिया होती है। सतुलन होने के पश्चात् इन परमाणुओ की अतिम रचना मे स्थितिज ऊर्जा न्यूनतम होती है। अत स्वतत्र परमाणु और ठोस पदार्थ के बद्ध परमाणु इन दोनो की ऊर्जाओ मे भेद होता है। स्वतत्र परमाणुओ से प्रारभ करके उनका ठोस पदार्थो मे परिवर्तन होने पर ऊर्जा का जो विनिमय होता है और अत मे ठोस पदार्थो की जो सरचनाएँ प्राप्त होती हैं, उनसे ठोस पदार्थो के गुणो की व्याख्या करना सैद्धातिक भौतिकी का एक उद्देश्य है। वर्तमान काल में अनेक गुणो (उदाहरणार्थ विद्युच्चालकता, प्रकाशकीय स्थिराक, स्फुरदीप्ति इत्यादि) का स्पष्टीकरण करने मे अधिकाश सफलता मिल चुकी है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के अध्ययन का केवल भौतिकी मे ही नही, अपितु रसायन, टैकनॉलोजी इत्यादि विज्ञान की अन्य शाखाओ मे भी अत्यत महत्व है। ठोस पदार्थो के अनेक गुण, उनकी रासायनिक क्रियाएँ तथा स्वतत्र परमाणुओ के गुणो के पारस्परिक सबध का यथार्थ अध्ययन करने के लिये ठोस पदार्थो की सरचना का ज्ञान होना आवश्यक है।

सामान्यत सब ठोस पदार्थ मणिभमय होते हैं, इनमे अपवाद बहुत थोडे हैं (उदाहरणार्थ काच, जिसे अमणिभ कहा जा सकता है)। अनेक ठोस पदार्थ (उदाहरणार्थ धातु) बाहरी रूप में मणिभ जैसे नही दिखाई देते हैं, तथापि एक्सरे-विश्लेषण से यह सरलता से प्रमाणित होता है कि ये सब पदार्थ भी मणिभ हैं। धातु जैसे पदार्थो के मणिभ अत्यत सूक्ष्म होते हैं और सामान्यत उनके क्रमबद्ध स्थापित न रहने से बाह्य रूप मे धातु मणिभ जैसी नही दिखाई देती। उचित प्रक्रमो से धातुओ के भी इष्ट आकार के मणिभ प्राप्त हो सकते हैं। परतु इन धात्वीय मणिभो के और उनकी सामान्य धातुओ के गुण समान नही रहते। अत ठोस पदार्थो के गुण जिन मणिभ सरचनाओं पर निर्भर होते हैं, उनके अध्ययन का महत्व स्पष्ट ही है। एक्सरे द्वारा मणिभो की सरचना का अध्ययन होने के पूर्व मणिभो के बाह्य गुणो का बहुत कुछ अध्ययन हो चुका था और उनके रूपो के विषय में स्वतत्र मणिभ ज्यामिति स्थापित हो चुकी थी। एक्सरे की सहायता से मणिभ सरचना का जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका उचित बोध होने के लिये इस मणिभ ज्यामिति का परिचय आवश्यक है।

मणिभ ज्यामिति तथा सममिति—अ मणिभो की विशेषता उनके बाह्य ज्यामितीय स्वरूप मे है। मणिभ पृष्ठो से सीमित होते हैं और ये पृष्ठ जहाँ मिलते हैं वहाँ कोरें तथा कोने बनते हैं। इन पृष्ठो का एक दूसरे से सममित सबध होता है। बाह्य स्वरूप के परीक्षण से यह अनुमान निकाला जा सकता है कि मणिभो मे कुछ निश्चित दिशाएँ होती हैं और उनसे बाह्य स्वरूप का सबध रहता है। इस अनुमान की सिद्धि मणिभो के अन्य गुणो से भी होती है, जैसे मणिभो की वैद्युत् तथा उष्मीय चालकता, कठोरता, वर्तनाक इत्यादि गुण मणिभ के अक्ष की दिशा पर निर्भर रहते हैं। मणिभ सरचना के अध्ययन मे एक्सरे का उपयोग होने के पूर्व ही यह अनुमान किया गया था कि मणिभो के उपर्युक्त गुणो का कारण उनके रचको की क्रमबद्ध स्थापना पर आधृत हो सकता है। यदि उचित स्वरूप के रचक लिए जायँ तो तीन आयामो मे उनकी पुनरावृत्ति करके किसी भी मणिभ का स्वरूप प्राप्त हो सकता है। अत मणिभो का स्वरूप ज्ञात करने के लिये (१) प्रधान आकार (मोटिफ) और (२) उचित विधि से पुनरावृत्ति करने का साधन, केवल इन दो की ही आवश्यकता होती है। प्रधान आकार के स्पष्टीकरण के लिये प्राय विंदु लिए जाते हैं और तीन आयामो मे उनकी पुनरावृत्ति से दिग्जाल (स्पेस लैटिस) बनाया जाता है। इस दिग्जाल से मणिभ की प्रतिमा (पैटर्न) प्राप्त होती है।

दिग्जाल की कल्पना से मणिभो की सरचना का अध्ययन कुछ सुगम हो जाता है। चित्र १ में एक दिग्जाल दिया है। इसमें विंदु क्रमानुसार तीन आयामो (डाइमेनशस) में स्थित हैं और उनको क्रमानुसार जोडने- वाली रेखाओ से दिग्जाल बनता है। निकट विंदुओ को जोडने से एकक-कोशिका (यूनिट सेल) बनती है, जो आकृति मे मोटी रेखाओ से दिखाई गई है। आकृति में यद्यपि एक ही प्रकार की एकक कोशिका दिखाई गई है, तथापि विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि ऐसी अनेक प्रकार की किंतु समान आयतन की एकक कोशिकाएँ इस दिग्जाल मे बनाई जा सकती हैं। एकक कोशिका मे आठ शीर्षविंदु हैं, और प्रत्येक शीर्षविंदु ऐसी आठ
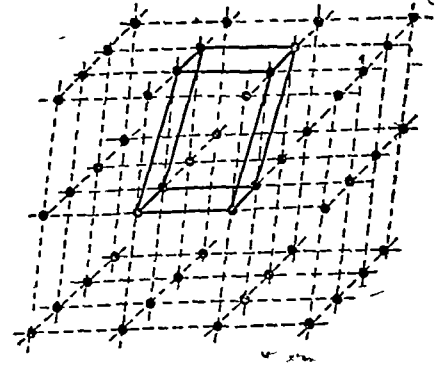
चित्र १—दिग्जाल तथा एकक कोशिका

कोशिकाओ से सबधित है। अत माना जा सकता है कि प्रत्येक कोशिका के लिये एक ही विंदु है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक कोशिका मणिभ-प्रतिमा की सपूर्ण मात्रक है। इसी प्रकार से प्रत्येक मणिभ की सममिति के अनुरूप उचित कोशिकाएँ निकाली जा सकती हैं। इन एकक कोशिकाओ की कोरें (एजेज) लघुतम लबाइयो की होती हैं।

एकक कोशिका की तीन कोरो से तथा उनके बीच के तीन कोणो से प्रत्येक कोशिका निश्चित होती है। कोशिकाओ के इन छ अवयवो को सूचित करने की अतर्राष्ट्रीय पद्धति है, जिसमे इनके लिये $A\,B\,C\,O\,\alpha\,\beta\,\gamma$
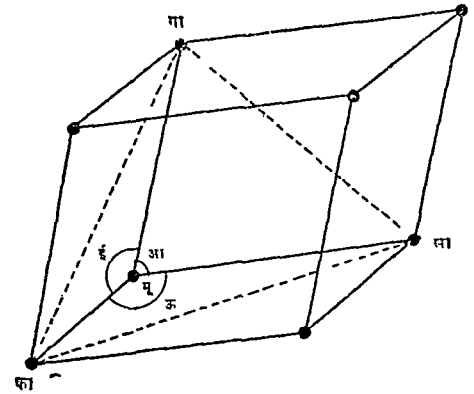
चित्र २—एकक कोशिका और उसके अवयव

का प्रयोग होता है। चित्र २ मे एक एकक कोशिका दिखाई गई है। इस चित्र मे $A\,B\,C\,O\,\alpha\,\beta\,\gamma$ के बदले क्रमानुसार का खा गा मू आ ई ऊ का प्रयोग किया गया है। कोशिका के अवयव निम्नलिखित हैं

लबाई मूका = फ, कोण खामूगा = आ
लबाई मूखा = ख, कोण गामूका = ई
लबाई मूगा = ग, कोण कामूखा = ऊ

लबाइयो क, ख तथा ग को अक्षीय लबाइयाँ कहते हैं और मूका, मूखा तथा मूगा इन तीन दिष्टो (वेक्टर्स) से मणिभ के अक्षो की परिभाषा होती है। 'मू' को मूल विंदु समझकर मणिभ के किसी भी विंदु का स्थान इकाइयो क, ख, ग मे निश्चित हो सकता है। उदाहरणत यदि मणिभ के किसी एक विंदु के निर्देशाक य, र, ल हैं, तो हम लिख सकते हैं कि

य = प × क
र = फ × ख
ल = ब × ग

जहाँ प, फ, ब धन अथवा ऋण सख्याएँ अथवा शून्य हैं।

दिग्जाल तथा एकक कोशिका की कल्पना से मणिभ की अनेक विशिष्टताओ का स्पष्टीकरण करना और मणिभ ज्यामिति का विकास करना सरल होता है। दिग्जाल के विंदुओ की रचना समातर तथा समदूरस्थ असख्य स्तरो द्वारा स्वेच्छापूर्वक की जा सकती है। ये स्तर मणिभो के प्रमुख फलको के समातर होते हैं।

मणिभो के फलक निर्धारित करने के लिये पहले पूर्वोक्त स्तरो मे से तीन असमातर स्तर लिए जाते हैं। इनको हम प्रधान फलक कहेगे। इनके प्रतिच्छेदो से **मूका, मूखा, मूगा**, तीन मणिभ अक्षो की दिशाएँ मिलती हैं। अव एक अन्य समतल ऐसा लिया जाता है जो तीनो प्रधान फलको को काटता है, इस समतल को मानक समतल (स्टैंडर्ड प्लेन) कहते हैं। यह यदि **का खा गा** हो (चित्र २), तो **मूका, मूखा**, और **मूगा** इन अत खडो की आपेक्षिक लवाइयो से मणिभ की अक्षीय लवाइयाँ **क, ख, ग**, निश्चित की जाती हैं। मणिभ का वाह्य स्वरूप निश्चित करने के लिये **क, ख, ग** की केवल आपेक्षिक लवाइयो की आवश्यकता होती हे, अत सामान्यत **ख** की मात्रा एक मान ली जाती है। **क, ख, ग** के निश्चित हो जाने पर मणिभ का कोई भी अन्य तल मणिभ अक्षो पर उसके अत खडो से निश्चित होता है। मान ले ये अत खड **क/च, ख/छ, ग/ज** हैं तो **च, छ, ज** इन सख्याओ को मिलर अक कहते हैं। कोई भी फलक अथवा तल उसके मिलर अको द्वारा, अर्थात् (**च, छ, ज**) द्वारा, सूचित किया जाता है। चित्र २ मे तल **का खा गा** (१११) से सूचित होगा। तल **मूखागा** के समातर किंतु विंदु **का** मे से जानेवाला तल (१००) से सूचित होगा, कारण यह है कि इस तल के लिये **छ**=**ज**=∞।

जाल के किन्ही भी दो विंदुओ को जोडने पर जो सरल रेखा वनती है उसे वढाने से विंदुओ की एक पक्ति मिलती है, जिसमे दिग्जाल के समदूरस्थ विंदु रहते हैं। इस पक्ति को मडलाक्ष (ज़ोन ऐक्सिस) कहते हैं। यदि जाल के किसी एक विंदु को, जिसके निर्देशाक (**टक, ख,ठ ढग**) हैं, मूलविंदु से जोड दिया जाय तो प्राप्त पक्ति की दिशा (**ट ठ ढ**) एक मडलाक्ष की दिशा होती है। यदि इस मडलाक्ष मे घनेपन से जालविंदु हो तो यह मडलाक्ष महत्व के अनेक तलो के समातर होता है।

अनेक मणिभो के फलको के कोण नापने से यह ज्ञात हुआ कि मणिभो के वाह्य स्वरूपो मे जितनी विभिन्नता दिखाई देती है उतनी वास्तव मे नही होती और समस्त दिग्जाल केवल सात समुदायो मे विभाजित किए जा सकते हैं। अन्य शब्दो में, सब मणिभो के मापित कोणो का तथा फलको के मिलर अको का सात निर्देशाक पद्धतियो से स्पष्टीकरण हो सकता है। अत मणिभो के दिग्जालो के केवल सात प्रकार हैं। चित्र २ मे एकक कोशिका की अक्षीय लवाइयाँ तथा उनके वीच के कोण पूर्वोक्त सात पद्धतियो मे भिन्न भिन्न हैं। उनकी नापे निम्न लिखित सारणी १ मे दी हुई है.

सारणी १

सात मणिभ पद्धतियाँ और उनके लक्षण

पद्धति	अक्षीय लवाइयाँ	अक्षीय कोण
१ त्रिप्रवणिक (ट्राइ-विलनिक)	क≠ख≠ग	आ≠ई≠ऊ≠९०°
२ एकप्रवणिक (मोनो-विलनिक)	क≠ख≠ग	आ=ऊ=९०°≠ई
३ ऋजुतिर्यग्वर्ग (ऑर्थो-रॉम्विक)	क≠ख≠ग	आ=ई=ऊ=९०°
४ चतुष्कोण (टेट्रा-गोनल)	क=ख≠ग	आ=ई=ऊ=९०°
५ घन (क्युविक)	क=ख=ग	आ=ई=ऊ=९०°
६ षड्भुजीय (हेक्सा-गोनल)	क=ख≠ग	आ=ई=९०°, ऊ=१२०°
७ तिर्यग्नीक (रॉम्वो-हेड्रल)	क=ख=ग	आ≠ई≠ऊ≠९०°

दिग्जाल (चित्र २) के विंदुओ के आठ स्थानो के अतिरिक्त अन्य स्थान भी दिग्जाल विंदु के लिये सभव हैं। ये स्थान घन मणिभो के लिये चित्र ३ मे दिए गए हैं। सरल घन [चित्र ३ (१)] मे आठ कोनो पर
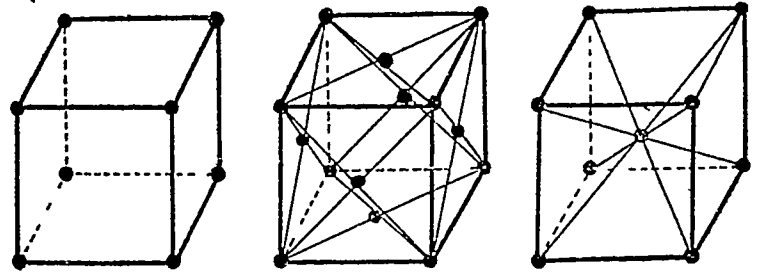
चित्र ३. घन मणिभ

१. सरल घन, २ फलककेंद्रित (फेस सेंटर्ड) घन, ३ पिंडकेंद्रित (वॉडी सेंटर्ड) घन।

आठ विंदु हैं। इनके अतिरिक्त घन के जो छ फलक होते हैं, उनमे प्रत्येक के ठीक मध्य पर एक एक विंदु स्थापित करने से फलककेंद्रित घन [चित्र ३ (२)] वनता है। सरल घन के ठीक मध्य पर एक विंदु स्थापित करने से पिंड केंद्रित घन [चित्र ३ (३)] वनता है। इन विधियो के समावेश से तथा सारणी १ मे दी हुई सात पद्धतियो से सर्वज्ञात मणिभो के दिग्जाल केवल १४ प्रकारो मे विभाजित हो सकते हैं (चित्र ४ देखिए)।

आ यदि मणिभ ठीक विकसित हुआ हो तो उसकी वाह्य सममिति स्पष्टता से दिखाई देती है। अध्ययन से इस सममिति के जो प्रकार स्पष्ट हुए उनको विंदुसमुदाय (प्वाइंट ग्रूप) कहते हैं। विंदुसमुदायो को ठीक से समझने के लिये कुछ ज्यामितीय क्रियाओ का ज्ञान आवश्यक है। मणिभो की सममिति मे निम्नलिखित ज्यामितीय क्रियाओ के उदाहरण मिलते हैं

(१) किसी एक मणिभ अक्ष के चारो ओर एक वार परिभ्रमण करने मे (अर्थात् ३६०° घूमने मे) यदि **म** स्थितियाँ ऐसी हो जो प्रथम स्थिति से अभिन्न हो तो मणिभ के उस अक्ष को **म**-वार परिभ्रमण-सममिति-अक्ष कहा जाता है। अन्य शब्दो मे, '**म**-वार परिभ्रमण-सममिति-अक्ष' के परित 2π/**म** अश तक घूमने से मणिभ पूर्ववत् स्थिति मे आ जाता है। उदाहरणार्थ, घन मणिभ मे प्रत्येक प्रमुख अक्ष 'चतुर्वार परिभ्रमण सममिति-अक्ष' होता है। प्रकृति मे इस प्रकार के केवल द्वि-वार, त्रि-वार, चतुर्वार तथा षड्वार अक्ष ही होते हैं, पच-वार तथा अन्य अक्ष नही होते।

(२) यदि मणिभ मे एक ऐसा विंदु **अ** हो कि प्रत्येक विंदु **ब** तथा उसके सगत विंदु **ब'** को जोडनेवाली सरल रेखा **ब अ ब'** विंदु **अ** पर समद्विभाजित होती है, तो विंदु **अ** को मणिभ का सममिति केंद्र कहा जाता है। उदाहरणार्थ, घन का मध्यविंदु सममिति केंद्र होता है। सममिति केंद्र को प्रतिलोमीकरण केंद्र भी कहते हैं।

(३) यदि मणिभ केंद्र मे से होकर जाता हुआ ऐसा तल मिल सके कि मणिभ का एक अर्धभाग दूसरे अर्धभाग का (इस तल मे) प्रतिविंब हो, तो ऐसे तल को सममिति तल कहते हैं।

उपर्युक्त वर्णित क्रियाओ की मिश्र क्रियाएँ भी हो सकती हैं। यदि किसी केंद्रीय अक्ष के परित 2π/**म** अश तक परिभ्रमण के पश्चात् प्रतिलोमीकरण से पुन पूर्ववत् मूल परिस्थिति प्राप्त होती हो, तो इस क्रिया को परिभ्रमण-प्रतिलोमीकरण कहते हैं। वैसे ही 2π/**म** अश तक परिभ्रमण के पश्चात् परावर्तन से पुन पूर्ववत् रचना प्राप्त होती हो, तो उसे परिभ्रमण-परावर्तन कहा जाता है।

परावर्तन, परिभ्रमण, प्रतिलोमीकरण, परिभ्रमण-प्रतिलोमीकरण, परिभ्रमण-परावर्तन इत्यादि प्रत्येक क्रिया को सममिति क्रिया कहते हैं। इनमे से एक अथवा अधिक क्रियाओ से मणिभो के वाह्य स्वरूपो का स्पष्टीकरण हो सकता है। क्रियाओ के इन सव प्रकारो को विंदुसमुदाय कहते हैं। सब मणिभो के लिये (अर्थात् सारणी १ मे दी हुई सात पद्धतियो के लिये) केवल ३२ विंदुसमुदाय सभव हैं। इनको मणिभवर्ग कहते हैं।

क मणिभो के वाह्य स्वरूप तथा भौतिक गुणो से उनके विंदुसमुदायो का निगमन हो सकता है किंतु मणिभ के चरम रचक परमाणु
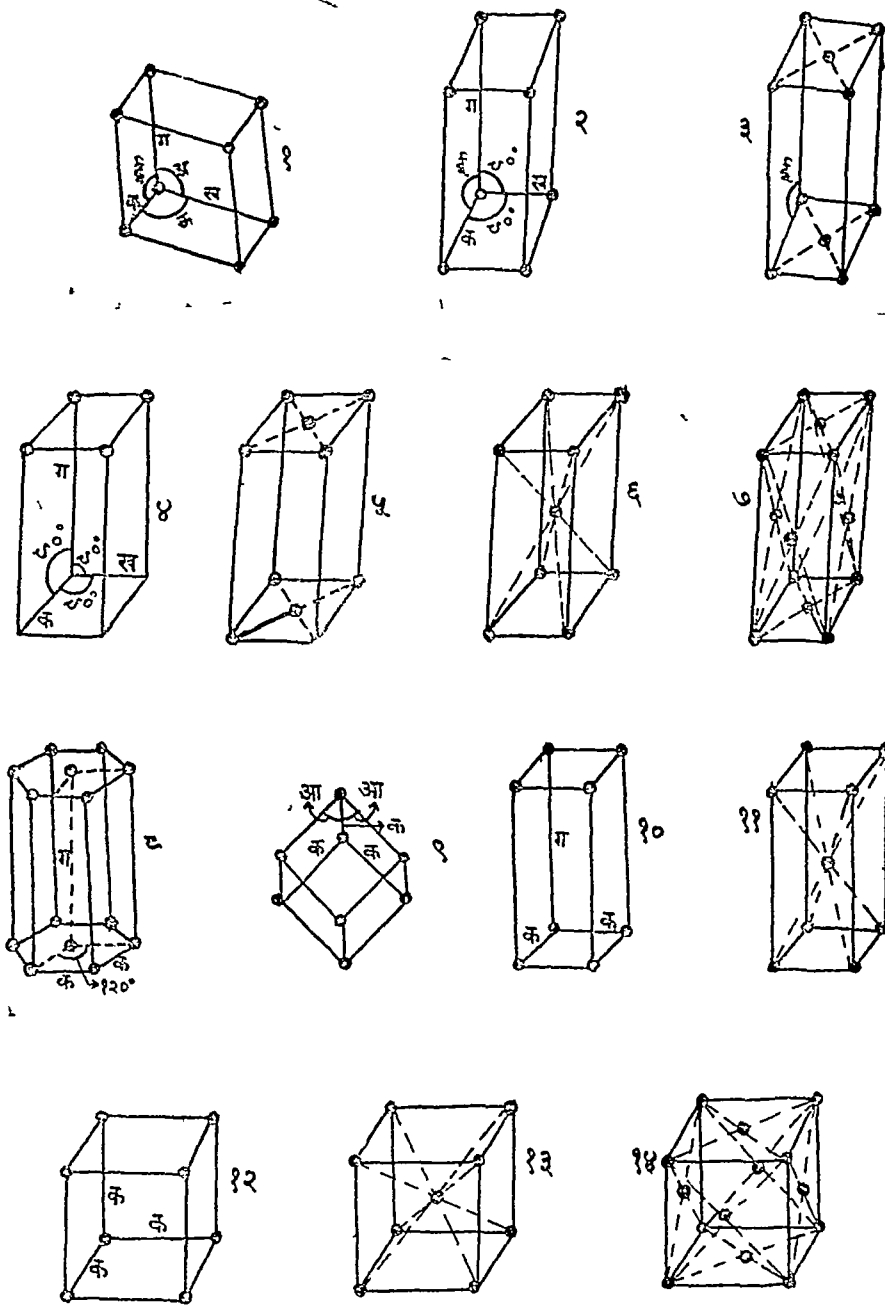
चित्र ४ दिग्जाल के १४ प्रकार

१ ट्राइक्लिनिक, २ सरल मोनोक्लिनिक, ३ अत्य फलक-केंद्रित मोनोक्लिनिक, ४ सरल ऑर्थोरॉम्बिक, ५ अत्य फलककेंद्रित ऑर्थोरॉम्बिक, ६ पिंडकेंद्रित ऑर्थोरॉम्बिक, ७ फलक-केंद्रित ऑर्थो-रॉम्बिक, ८ हेक्सागोनल (षड्भुजीय), ९ रॉम्बोहेड्रल, १० सरल टेट्रागोनल, ११ पिंडकेंद्रित टेट्रागोनल, १२ सरल घन, १३ पिंड-केंद्रित घन, १४ फलककेंद्रित घन (अक्षीय लबाइयाँ तथा अक्षीय कोणो के लिये सारणी १ देखिए)।

किस प्रकार स्थित हैं तथा उनकी सरचना मे किस प्रकार की सममिति है इसका यथार्थ ज्ञान नही हो सकता। परमाणुओं की स्थिति का ज्ञान सर्व-प्रथम एक्सरे से हुआ। एकक कोशिकाओं में उपर्युक्त प्रकारो की सम-मितियाँ होती है और पूर्वोक्त क्रियायो से कोशिकाएँ पुन पूर्ववत् होती हैं। मणिभो में इन एकक कोशिकाओ का विस्तार तीन आयामो मे होता है। जिन क्रियाओ से प्रत्यक्ष मणिभ प्राप्त होते हैं, उन्हे दिक्-समुदाय कहते है। दिक् समुदायो के २३० प्रकार हैं।

दिक् समुदायो में नवीन सममितियो का अस्तित्व सभव होता है, जो विंदु-समुदायो में नही हो सकता। विसर्पण तलो (ग्लाइड प्लेन्स) का स्पष्टीकरण चित्र ५ से हो सकता है। इस आकृति में विंदु क तथा ख क्रमानुसार वृत्त तथा वर्ग से सूचित किए गए हैं। द्वितीय पक्ति के विंदु ' से तथा तृतीय पक्ति के विंदु '' से सूचित किए गए हैं। द्वितीय तथा तृतीय पक्तियो के ठीक मध्य पर ण ण' एक तल है जो कागज के तल पर अभिलव है। इस तल ण ण' मे परावर्तन होने से द्वितीय पक्ति के विंदु क तृतीय पक्ति के विंदुओ ख के स्थानो पर चले जायँगे। किंतु, यदि उनको परा-वर्तन तल के समातर विंदुओ (क अथवा ख) की परस्पर दूरी के अर्धभाग तक हटाया जाय, तो परिस्थिति पुन पूर्ववत् हो जायगी। अन्य शब्दो मे, ण ण' तल में परावर्तन के पश्चात् अर्ध-जाल-दूरी का स्थानातरण करने से पक्तियाँ पुन प्रथम स्थिति से सपाती (कोइसिडेंट) हो जाती हैं। इस प्रकार के तल को (तल ण ण' को) विसर्पण तल (ग्लाइड प्लेन) कहते हैं। तीन आयामो में जाल को सपाती करने के लिये विसर्पण तल में परावर्तन के पश्चात् प्रथम अर्ध-जाल-दूरी का स्था-नातरण विसर्पण तल के समातर और तत्पश्चात् विसर्पण तल से लव दिशा में अर्ध-जाल-दूरी का स्थानातरण करना आवश्यक होगा।

यदि ण ण' को हम अक्ष समझें, तो उसके परित १८०° के घूर्णन से विंदु क' विंदु ख'' के स्थान पर चला जायगा। अब अर्ध-जाल-दूरी का स्थानातरण करने से प्राप्त आकृति प्रथम आकृति से सपाती होगी। इन गुणो के अक्ष को (अक्ष ण ण' को) पेच अक्ष (स्क्रू ऐक्सिस) कहते हैं। यदि विंदुओ क (अथवा ख) का एक दूसरे से अतर 'य' समझा जाय तो चित्र ५ मे का पेच अक्ष ण ण' द्विवार पेच अक्ष होगा, क्योकि यहाँ सचलन य/२ की आवश्यकता होती है। त्रिवार पेच अक्ष के लिये स्थानातरण य/३ की तथा घूर्णन २π/३ की आवश्यकता होगी अथवा म-बार पेच अक्ष के लिये स्थानातरण य/म तथा घूर्णन २π/म की आवश्यकता होगी।

तीन आयामो में जाल सिद्धात, जालविंदुओ के स्थानो पर परमाणुओ की स्थापना और उपर्यक्त विसर्पण तल तथा पेच अक्ष, इनका उपयोग करके शोनफ्लीज ने १९वी शताब्दी के अत मे मणिभो के वर्गीकरण में सुधार

किया। जालो के १४ प्रकारो का (चित्र ४) तथा ३२ विंदुसमुदायो का उपयोग करके २३० समुदाय प्रमाणित किए गए हैं। प्रत्येक ज्ञात मणिभ इनमें के एक दिक्समुदाय के अनुसार होता है। एक्सरे-विवर्तन (व्याभग) से मणिभो के इन ज्यामितीय सिद्धातो का तथा दिक्समुदायो का प्रत्यक्ष
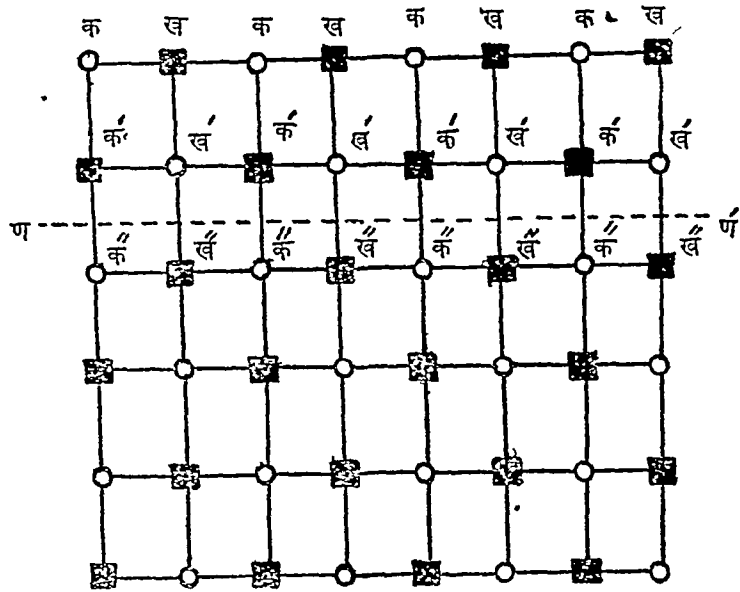
चित्र ५. विसर्पण तल (ग्लाइड प्लेन)।

प्रमाण मिलता है। अत एक्सरे-विश्लेषण मे दिक्समुदाय ज्ञात होना अत्यावश्यक होता है।

मणिभों का एक्सरे-व्याभग—लावे, फ्रीडरिश और क्निपिक ने प्रयोग द्वारा प्रथम मणिभो का एक्सरे-व्याभग प्रस्थापित किया (देखे एक्सरेओ की प्रकृति)। इस व्याभग का सैद्धातिक स्पष्टीकरण लावे ने किया। मणिभो मे परमाणु क्रमवद्ध रूप मे स्थित होते है। जब किसी परमाणु पर एक्सरे गिरते है तब उस परमाणु द्वारा (वस्तुत उस परमाणु के इलेक्ट्रानो द्वारा) एक्सरे का प्रकीर्णन होता है। यदि परमाणुओ की पक्ति ली जाय तो उनसे प्रकीर्णन होने पर तथा तरगिकाओ का सयोग होने पर अत मे जो तरगाग्र प्राप्त होगा, उसकी दिशा मे व्याभग के पश्चात् एक्सरे जायँगे। किंतु सयोग होते समय पथ का अतर शून्य अथवा सपूर्ण तरगदैर्घ्य (एक अथवा अधिक) हो सकता है, अत, प्रकाश के व्याभग के समान, शून्य, प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि क्रमो की एक्सरे-व्याभजित किरणे भिन्न भिन्न दिशाओ मे मिलेंगी। एक्सरे का तरगदैर्घ्य यदि दँ समभा जाय तो जिस दिशा मे क्रमिक तरगिकाओ द्वारा प्रकीरित किरणो का म×दँ पथातर होगा, उस दिशा में प्रकीर्ण किरण मिलेगी। अर्थात् यह दिशा एक शकुतल पर होगी, क्योकि इस शकुतल के शीर्ष से परिधि तक गई हुई प्रत्येक रेखा के लिये उपर्युक्त प्रतिवध सतुष्ट होगा। यह फल उचित परिवर्तन करके दो आयामो मे परमाणु-पक्तियो के लिये भी अनुप्रयोज्य है। और आगे बढकर यह फल उचित परिवर्तनो के पश्चात् तीन आयामो की परमाणु-पक्तियो के लिये (अर्थात् प्रत्यक्ष मणिभो के लिये) भी अनुप्रयोज्य होता है। गणना से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि जाल के परमाणुओ से व्याभजित होकर अक्ष **मू का** (चित्र २ देखिए) की परमाणु-पक्ति से क्रम **प** का व्याभग होता हो, **मू खा** की परमाणु-पक्ति से क्रम ब का व्याभग होता हो, और मू गा की परमाणु-पक्ति से क्रम म का व्याभग होता हो तो ज्यामिति की दृष्टि से तल **प ब म** से परावर्तन के तुल्य है।

यही फल ब्रैग की रीति से सरलतापूर्वक प्राप्त होता है। चित्र ६ मे (१, १) मणिभ के परमाणुओ की एक पक्ति, तथा (२, २) उसके समीप की दूसरी पक्ति हैं, अर्थात् (१, १) तथा (२, २) समातर हैं। तरगदैर्घ्य दँ का एकवर्ण एक्सरे प्रथम पक्ति मे क पर तथा द्वितीय पक्ति मे ख पर गिरता है। परावर्तनो के पश्चात् किरण १ तथा किरण २ में पथातर **प ख फ** होगा। यदि यह पथातर **न × त** हो, तो एक्सरे का परावर्तन होगा। यह प्रतिवध निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त हो सकता हैं—

$$२ \text{ ड ज्या थ} = \text{न} \times \text{त} \qquad (१)$$

यहाँ त=दँ=तरगदैर्घ्य

समीकरण (१) को ब्रैग का नियम कहते हैं। समीकरण (१) के सरल होने के कारण इसका अधिक उपयोग किया जाता है। यद्यपि लावे की रीति प्रकाशिकी के ज्ञात सिद्धातो के अनुसार है तथापि ब्रैग की रीति की तुलना मे वह अधिक कठिन है। यदि एक्सरे का तरगदैर्घ्य दँ ज्ञात हो तो समीकरण (१) से विशिष्ट तलपद्धति का अतरण (स्पेसिंग) ड प्राप्त करने के लिये केवल कोण थ का मापन करना पडता है। आपाती एक्सरे का तरगदैर्घ्य दँ तथा जिन मणिभ तलो से परावर्तन हो रहा है उनके मिलर-अक (च, छ, ज) से जाल का अचर निकाला जा सकता है। घन, टेट्रागोनल तथा ऑर्थोरॉम्बिक (जिनके निर्देशाक्ष लवकोण होते हैं) कोशिकाओ के लिये $\text{ड}_{\text{चछज}}$ की मात्रा निम्नलिखित होती है

$$\text{ड}^२_{\text{चछज}} = \frac{१}{(\text{च}^२/\text{क}_०^२) + (\text{छ}^२/\text{ख}_०^२) + (\text{ज}^२/\text{ग}_०^२)} \qquad (२)$$

घनकोशिका मे क०=ख०=ग०। अत घनकोशिका के लिये

$$\text{ड}^२_{\text{चछज}} = \frac{\text{क}_०^२}{\text{च}^२+\text{छ}^२+\text{ज}^२}$$

अर्थात् समीकरण (१) के अनुसार घनकोशिका के लिये

$$\text{न} \times \text{त} = \frac{२ \text{ क}_०}{\sqrt{(\text{च}^२+\text{छ}^२+\text{ज}^२)}} \text{ ज्या } (\text{थ}_\text{न})। \qquad (३)$$

यहाँ $\text{थ}_\text{न}$ नवे क्रम का परावर्तन कोण है। इसी प्रकार, गणना से प्रत्येक प्रकार की कोशिका के एकक अक्ष दूरी का मापन किया जा सकता है

चित्र ६. ब्रैग का नियम, २ ड ज्या थ = न त
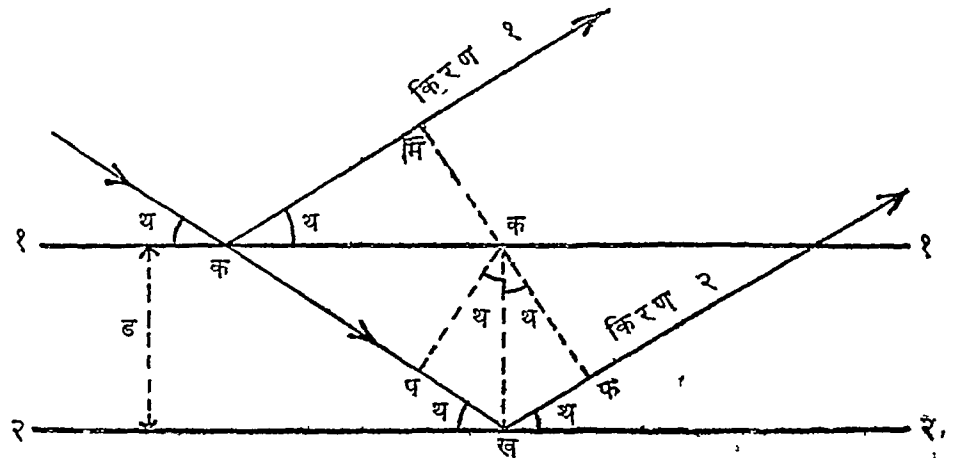
यहाँ ड=मणिभ की दो समीप की परमाणु पक्तियो का अतर, त=आपाती एकवर्ण एक्सरे का तरगदैर्घ्य, थ=परमाणु-पक्ति तथा आपाती किरण के बीच का कोण (इसे ग्लैसिंग कोण कहते है), न=परावर्तन का क्रमाक।

व्युत्क्रम जाल (रेसिप्रोकल लैटिस)—विवर्तन-प्रतिमा के विंदुओ का विश्लेषण करते समय, जिन मणिभ-तलो से विवर्तन होता है उनकी प्रवणताओ (स्लोप्स) का महत्व स्पष्ट होता है। प्रतिमा का प्रत्येक विंदु विशिष्ट समातर तलो से ब्रैग के नियमानुसार परावर्तित होकर प्राप्त होता है। इन तलो की प्रवणता तल के अभिलव (नॉर्मल) से निश्चित होती है। अत तल के स्थान पर अभिलव का उपयोग करने से एक लाभ

यह होता है कि तल के तीन आयामो के बदले अभिलव के दो आयामो की ही आवश्यकता होती है, अर्थात् एक आयाम कम हो जाता है। एक्सरे-विवर्तन प्रतिमा दो आयामों के फोटो-फिल्म पर ली जाती है और यह प्रतिमा एक दृष्टि मे विभिन्न प्रवणताओ के तथा विभिन्न प्रकीर्णन-क्षमताओ के मणिभ-तलों का सरल किया हुआ प्रदर्शन है। यदि हम उपर्युक्त प्रत्येक तल के अभिलव को इस प्रकार निश्चित करें कि इस अभिलव की दिशा प्रवणता निश्चित करे तथा उसकी लबाई अतर-तल अतरण (स्पेसिंग) $ड_{चछज}$ से व्युत्क्रम हो, तो इन सब अभिलवो के सिरे के विंदुओ से एक नया विंदु-जाल प्राप्त होगा, जिसका एक्सरे-विवर्तन-प्रतिमा से साम्य होगा। इस नवीन विंदुजाल को व्युत्क्रम जाल कहते हैं। इस प्रकार व्युत्पादित व्युत्क्रम-जाल अत्यत महत्व का होता है, क्योकि प्रयोगो से प्राप्त एक्सरे-विवर्तन-प्रतिमा इस व्युत्क्रम-जाल का ही एक विकृत प्रतिविंब होती है। सरल सममिति के (उदाहरणार्थ घन पद्धति के) मणिभो से जो एक्सरे-विवर्तन-प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं, उनका विश्लेषण करके सरचना निश्चित करना विशेष कठिन नही होता, किंतु अन्य मणिभों के लिये सरचना का निर्णय करना अत्यत कठिन होता है और यहाँ व्युत्क्रम-जाल का उपयोग अत्यावश्यक होता है। व्युत्क्रम-जाल का उपयोग तथा विस्तार विशेषत एवाल्ड और बर्नाल ने किया। व्युत्क्रम-जाल के उपयोग से मणिभ सरचना का निश्चय करने में विशेष सुविधा हुई और समय तथा श्रम मे बहुत बचत हुई। व्युत्क्रम-जाल के कुछ लक्षण और गुण नीचे दिए हुए हैं। मणिभो में दिशाओं का महत्व प्रारभ में ही बताया गया है, अत मणिभ सरचना की गणना मे दिष्ट-बीजगणित (वेक्टर ऐलजेब्रा) का उपयोग किया जाता है। व्युत्क्रम जाल की गणना मे दिष्ट बीजगणित का ही उपयोग होता है। सामान्यत दिष्ट मोटे (थिक) अक्षरो में तथा अदिष्ट साधारण अक्षरो में छापे जाते हैं।

दिष्ट जाल की एकक कोशिका **क, ख, ग,** (**A B C**) इन तीन दिष्टो से निश्चित होती है, क्योकि यहाँ प्रत्येक दिष्ट से उसकी लबाई तथा दिशा भी निश्चित होती है। जाल विंदु को मूल विंदु से जोडनेवाला दिष्ट **त्र** (य, र, ल), [**R**(x, y, z)] निम्नलिखित दिष्टसमीकरण के अनुसार होता है

$$\textbf{त्र} = य\,\textbf{क} + र\,\textbf{ख} + ल\,\textbf{ग} \qquad (४)$$

$$\mathbf{R} = x\mathbf{A} + y\mathbf{B} + z\mathbf{C} \qquad (4)$$

यहाँ य, र, ल की मात्राएँ धन अथवा ऋण पूर्ण सख्या तथा शून्य हो सकती हैं। इन दिष्टों से व्युत्क्रम जाल की परिभाषा की जाती है। व्युत्क्रम-जाल तीन मूल दिष्ट **क***, **ख***, **ग*** (**A* B* C***) इस प्रकार लिए जाते हैं कि दिष्ट **क***(**A***) दिष्ट **ख**(**B**) तथा **ग**(**C**) के अक्षो पर, दिष्ट **ख***(**B***) दिष्ट **क**(**A**) तथा **ग**(**C**) के अक्षो पर और दिष्ट **ग***(**C***) दिष्ट **क** (**A**) तथा **ख** (**B**) अक्षो पर लब होते हैं। दिष्ट-बीजगणित की भाषा में यह फल निम्नलिखित समीकरण द्वारा बताया जा सकता है

$$\left.\begin{array}{l}\textbf{क}^*.\textbf{ख} = \textbf{क}^*.\textbf{ग} = \textbf{ख}^*.\textbf{ग} = \textbf{ख}^*.\textbf{क} = \textbf{ग}^*.\textbf{क} = \textbf{ग}^*.\textbf{ख} = ० \\ \mathbf{A}^*.\mathbf{B} = \mathbf{A}^*.\mathbf{C} = \mathbf{B}^*.\mathbf{C} = \mathbf{B}^*.\mathbf{A} = \mathbf{C}^*.\mathbf{A} = \mathbf{C}^*.\mathbf{B} = 0\end{array}\right\} \qquad (५)$$

यहाँ दो दिष्टो के बीच का विंदु अदिष्ट गुणनफल का चिह्न है। व्युत्क्रम-दिष्टो के परिमाण निम्नलिखित समीकरण से प्राप्त होते हैं

$$\left.\begin{array}{l}\textbf{क}^*.\textbf{क} = \textbf{ख}^*.\textbf{ख} = \textbf{ग}^*.\textbf{ग} = \textbf{घ}^२ \\ \mathbf{A}^*.\mathbf{A} = \mathbf{B}^*.\mathbf{B} = \mathbf{C}^*.\mathbf{C} = c^2\end{array}\right\} \qquad (६)$$

जहाँ **घ** (**C**) एक अचर है। सामान्यत **घ** का मान एक लिया जाता है। व्युत्क्रम जाल की इस परिभाषा से उसकी एकक कोशिका तथा अन्य गुण और लक्षण (उदाहरणार्थ व्युत्क्रम अक्षो की लबाइयाँ, कोण, आयतन इत्यादि) व्युत्पन्न किए जा सकते हैं। व्युत्क्रम जाल का कोई भी दिष्ट **त्र** (च छ ज) हो, तो वह मिलर अको (च छ ज) के तल पर लब होता है। दिष्ट **त्र***(च छ ज) का परिमाण तल (च छ ज) के अतरण (स्पेसिंग) $ड_{चछज}$ का व्युत्क्रम होता है। इस सक्षिप्त वर्णन से भी यह स्पष्ट होगा कि विवर्तन प्रतिमा से मणिभ सरचना का अध्ययन करने के लिये व्युत्क्रम जाल उपयुक्त साधन है। किसी भी तल के लिये ब्रैग के नियमानुसार परावर्तन होने के प्रतिबंध प्राप्त करने के लिये व्युत्क्रम जाल से परावर्तन-गोला तथा सीमा-गोला निकाले जाते हैं। इनकी सहायता से विवर्तन प्रतिमा का स्पष्टीकरण सरलता से होता है।

(५) प्रायोगिक रीतियाँ--एक्सरे द्वारा मणिभ-सरचना का अध्ययन करने की प्रमुख रीतियाँ नीचे दी हुई हैं। इनका सक्षिप्त वर्णन **एक्सरे की प्रकृति** मे मिलेगा।

(१) लावे की रीति इस रीति मे श्वेत एक्सरे का (जिसमें अनेक तरगदैर्घ्य होते हैं) उपयोग किया जाता है। दो सूची छिद्रो मे से जाने के पश्चात् एक्सरे किरणें समातर हो जाती हैं। तब उनको मणिभ के एक छोटे से टुकडे पर पडने दिया जाता है (चित्र ७)। मणिभ की इस प्रकार स्थापना की जाती है कि उसका प्रमुख अक्ष आपाती एक्सरे की
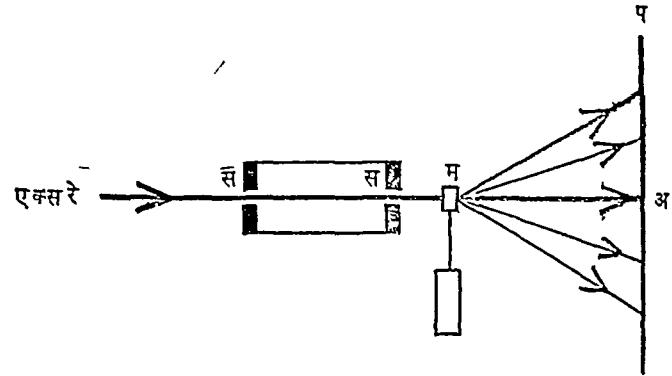
चित्र ७ लावे की रीति।

स सूची छिद्र, म मणिभ, प फोटो पट्टिका।

दिशा से विशिष्ट कोण बनाता रहे--सामान्यत यह कोण ०° होता है। आपाती एक्सरे के अनेक तरगदैर्घ्यों मे से उचित तरगदैर्घ्य का ब्रैग के नियम २ड ज्या थ=न×त के अनुसार परावर्तन होता है। परावर्तित किरणें फोटो पट्टिका पर अथवा फिल्म पर अभिलिखित होकर सामान्यत सममित विंदुप्रतिमा बनाती हैं। प्रतिमा के विंदु दीर्घ वृत्ताकार वक्रो पर स्थित रहते हैं और ये विंदु अ (अर्थात् मणिभ में से सीधे जानेवाले एक्सरे से प्राप्त विंदु) मे से जाते हैं। केवल सरल सममिति के मणिभो से सममित प्रतिमाएँ मिलती हैं, अन्यथा जटिल प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। कैलसाइट मणिभ की लावे प्रतिमा नमक के मणिभ की प्रतिमा जैसी सरल और सममित नही है (**एक्सरे की प्रकृति** शीर्षक लेख से सलग्न फलक देखें, जिसमे नमक तथा कैलसाइट मणिभ की लावे प्रतिमाएँ दी हुई हैं।)

परावर्तन करनेवाले तलो मे से जिनका मडलाक्ष सामान्य होता है उनसे परावर्तित किरणें एक दीर्घ वृत्त पर अभिलिखित होती हैं। प्रत्येक मडलाक्ष उसके दीर्घवृत्त से ज्ञात किया जा सकता है। प्रत्येक विंदु के अक (अर्थात् जिस तल से परावर्तन होकर यह विंदु प्राप्त हुआ है, उसके मिलर अक) ज्ञात करने के लिये त्रिविमालेखी (स्टीरीओग्रैफिक) अथवा शाकव (ग्नॉमॉनिक) प्रक्षेपण का उपयोग किया जाता है।

लावे की रीति का महत्व अधिकतर ऐतिहासिक ही है। केवल लावे की रीति से मणिभ की सरचना का यथार्थ ज्ञान नही हो सकता, परतु इस रीति से मणिभ की सरचना का अनुमान किया जा सकता है। लावे-विंदुओ की सममिति से मणिभ की सममिति की कल्पना की जा सकती है। सरचना का सपूर्ण ज्ञान होने के लिये अन्य रीतियाँ अधिक उपयुक्त होती हैं।

लावे की रीति के अन्य उपयोग भी हो सकते हैं। मणिभ को यदि बल से नत किया जाय अथवा यदि मणिभ बनते समय उसमें आतरिक विकृति हो जाय, तो लावे विंदुओ में भी विकृतियाँ हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, सामान्यत मणिभ के जो लावे विंदु आते हैं उनका दीर्घीकरण हो जाता है। यदि धातु के पतले टुकडे को एक्सरे पार करें, तो सामान्यत लावे विंदुओ के स्थानों पर समान तीव्रता के सकेंद्र वृत्त प्राप्त होते है और इन वृत्तो का

केंद्र सीधे जानेवाले एक्सरे का विंदु होता है। धातु मे यदि विकृति हो तो केंद्रीय विंदु से अरीय (त्रिजीय) रेखाएँ मिलती हैं। एक्सरे-प्रतिमाओ की इन विकृतियो से धातु तथा मणिभ की आतंरिक विकृतियो का अध्ययन हो सकता है। अनेक मणिभो मे (उदाहरणार्थ पेंटाएरिथ्रिटोल, सोडियम क्लोरेट, हिम इत्यादि मे) लावे विंदुओ के अतिरिक्त निस्तेज, अतीक्ष्ण विंदु भी आते हैं। मणिभ का ताप बढाने से ये विंदु कुछ अधिक तीक्ष्ण हो जाते हैं। सर सी० वी० रमन के अनुमान के अनुसार ये अतीक्ष्ण विंदु (डिफ्यूज़ स्पॉट) मणिभ के विशिष्ट कंपनो से आते हैं और ये कंपन एक्सरे की क्रिया से उत्पन्न होते हैं। किंतु लॉन्सडेल के अनुमान के अनुसार अतीक्ष्ण विंदुओ का अस्तित्व डीबाय-वालर के समीकरण का उपयोग करके प्रमाणित हो सकता है।

(२) **चूर्ण रीति (पाउडर मेथड)**—इस रीति का उपयोग यूरोप मे डीबाय तथा शिअरर ने और अमरीका मे हल ने किया। यदि लावे की रीति मे मणिभ के टुकडे के स्थान पर मणिभ का महीन चूर्ण रखा जाय और एकवर्ण एक्सरे आपाती हो, तो फोटो फिल्म पर सकेंद्र वृत्त अभिलिखित होते हैं। इसका कारण सरलता से समझा जा सकता है, चूर्ण में मणिभ के तल समस्त दिशाओ मे फैले रहते हैं और उनसे परावर्तित किरणो का एक शक्वाकार किरणपुंज निकलता है, जिसे फोटो फिल्म द्वारा काटने पर वृत्त प्राप्त होता है। यदि वृत्ताकार फिल्म का उपयोग किया जाय और वृत्त का केंद्र चूर्ण के स्थान पर हो, तो परावर्तित किरणो से वर्णक्रम के समान रेखाएँ मिलेगी। इस रीति का उपयोग करने के लिये भिन्न भिन्न त्रिज्याओ के चूर्ण-कैमरे मिलते हैं। त्रिज्या जितनी अधिक होती है उतनी ही विभेदन क्षमता अधिक होती है, किंतु प्रकाशदर्शन (एक्सपोजर) का समय भी बढता जाता है। नमक तथा कैलसाइट का चूर्ण-वर्णक्रम (पाउडर स्पेक्ट्रा) **एक्सरे की प्रकृति** शीर्षक लेख से सलग्न फलक मे दिया हुआ है।

चूर्ण मे मणिभ के तल सब दिशाओ मे बिखरे हुए रहते हैं, अत चूर्ण प्रतिमा मे इन सब तलो से परावर्तन होकर वर्णक्रम मिलता है। इस रीति मे वर्णक्रम की रेखाओ के मिलर अक ज्ञात करना इतना कठिन नही होता। ब्रैग के समीकरण का उपयोग करके प्रत्येक रेखा से $ड_{चछज}$ (d_{hkl}) (जाल-अतरण) की मात्रा प्राप्त हो सकती है। इन मात्राओ से तथा वर्णक्रम-रेखाओ के वितरण से चूर्ण के मणिभ की सरचना का अनुमान किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि घनाकार मणिभ लिए जायँ तो उनके तीन प्रकार हो सकते हैं (चित्र ४ देखिए)। किंतु (च छ ज) की मात्राएँ प्रत्येक प्रकार के लिये निम्नलिखित भाँति की होती हैं :

$$ड_{चछज} = \frac{क_0}{\sqrt{(च^2+छ^2+ज^2)}}$$

$$d_{hkl} = \frac{a_0}{\sqrt{(h^2+k^2+l^2)}}$$

इस समीकरण का तथा सरचना-गुणक (स्ट्रक्चर-फैक्टर) का उपयोग करके यह फल मिलता है कि (१) सरल घन मे च, छ, ज, (h, k, l) की सब मात्राएँ सभव हैं, (२) पिंड-केंद्रित घन मे च, छ, ज, (h, k, l) का योगफल सम होता है, (३) फलककेंद्रित घन मे च, छ, ज(h, k, l) या तो सब सम होते हैं अथवा सब विषम होते हैं। यह फल चित्र १० मे दिखाया गया है। इसका उपयोग करके वर्णक्रम रेखाओ के वितरण से मणिभ की सरचना का अनुमान सरलता से किया जा सकता है।

इसी प्रकार गणना करके टेट्रागोनल, हेक्सागोनल इत्यादि अन्य मणिभो के लिये भी सारणियाँ बनाई गई हैं। इनका उपयोग करके प्रतिमाओ से मणिभो की सरचनाओ का अनुमान किया जा सकता है, किंतु अन्य मणिभो के लिये कार्य इतना सरल नही है।

चित्र १०. घन मणिभ के विभिन्न प्रकारो के चूर्ण-वर्णक्रम रेखाओ का परस्पर सबध

(क) सरल घन, (ख) पिंडकेंद्रित घन, (ग) फलककेंद्रित घन। सरल घन मे सबसे अधिक, पिंड-केंद्रित घन मे उससे कम तथा फलककेंद्रित घन मे सबसे कम रेखाएँ होती हैं।

इस पद्धति के अन्य अनेक उपयोग होते हैं। प्रत्येक शुद्ध मणिभ की विशिष्ट चूर्ण-वर्णक्रम-रेखाएँ होती हैं और उनसे वह मणिभ पहचाना जा सकता है (जैसे पारमाण्वीय वर्णक्रमो से तत्व पहचाने जाते हैं)। अत अज्ञात मिश्रण तथा पदार्थ का रासायनिक विश्लेषण करना चूर्ण रीति से अत्यत सरल होता है। इसके लिये हेनावाल्ट, रिन तथा फ्रेव्हेल ने अनेक शुद्ध पदार्थो के लिये सारणियाँ बनाई हैं। चूर्ण वर्णक्रम की रेखाओ की स्थिति का तथा उनकी तीव्रता का मापन करके इन सारणियो से पदार्थ अथवा मिश्रणो का रासायनिक विश्लेषण शीघ्रतापूर्वक किया जाता है। यदि पदार्थ अत्यत स्वल्प मात्रा मे हो तो भी चूर्ण-रीति से उसका सूक्ष्म विश्लेषण (माइक्रो-ऐनालिसिस) हो सकता है। वर्तमान काल मे गाइगर-व्याभगमापी (गाइगर-डिफ्रैक्टोमीटर) के उपयोग से चूर्ण रीति सुलभ हो गई है। इसके पहले चूर्ण रीति मे जो वर्णक्रम फोटो फिल्म पर मिलता था उसके लिये ६ से लेकर १२ घटे तक लगते थे। इसके पश्चात् फोटो फिल्म को डेवेलप करने, सुखाने इत्यादि मे भी २-३ घटो की आवश्यकता होती थी। तत्पश्चात् वर्णक्रम रेखाओ का मापन और अत मे प्रत्येक रेखा की तीव्रता का सूक्ष्म-दीप्ति-मापी (माइक्रोफोटोमीटर) से मापन
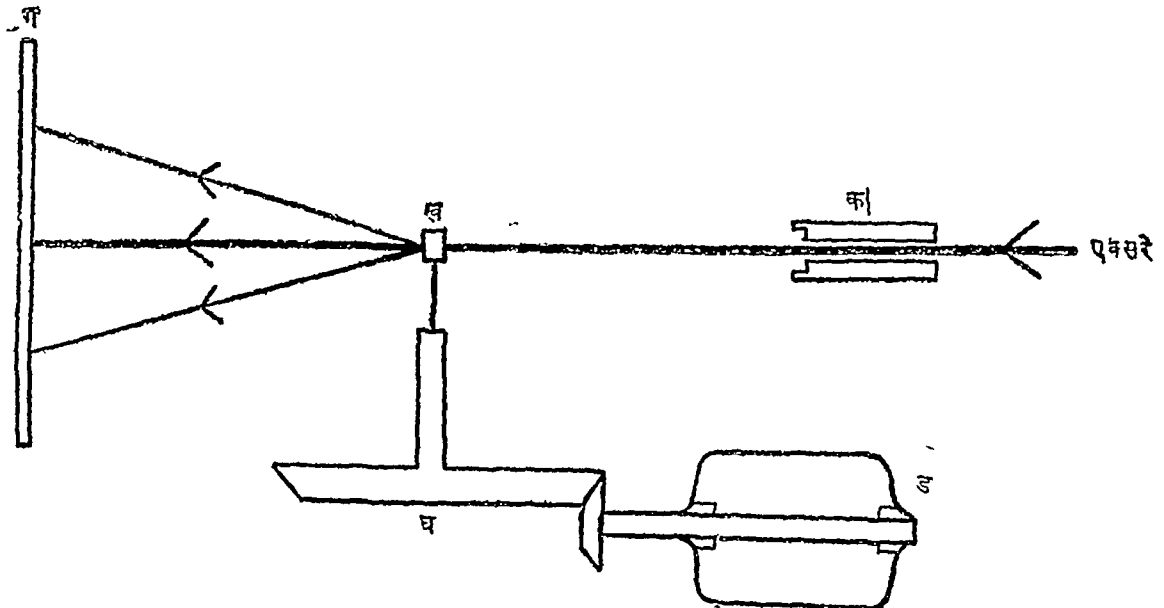
चित्र ११—घूर्णित-मणिभ रीति

क एक्सरे समातरित्र (कॉलीमेटर), ख मणिभ, ग फोटो फिल्म, घ लघुकारक योक्त्र (रिडक्शन गिअर), ङ मोटर।

इत्यादि कार्यो मे बहुत समय लगता था। किंतु गाइगर-व्याभगमापी से ये सब क्रियाएँ एक साथ तथा शीघ्रतापूर्वक होती हैं।

(३) **घूर्णित-मणिभ रीति**—इस रीति का उपयोग पहले पहल सीवोल्ड और पोलान्यी ने किया। यह सबसे अधिक उपयुक्त रीति है, अत आजकल इसी रीति पर आश्रित कई सुधारी हुई रीतियाँ प्रचलित हैं। इनमे से उचित रीति चुनकर सामान्यत किसी भी मणिभ की सरचना का विश्लेषण किया जा सकता है।

चित्र ११ मे सामान्य घूर्णित-मणिभ रीति दिखाई गई है। एकवर्ण एक्स किरणे समातरित्र क मे से पार होकर समातर होती हैं और मणिभ ख पर पडती हैं। मणिभ ख एक धुरी (शैफ्ट) पर स्थित रहता है और एक विद्युत् मोटर तथा लघुकारक योक्त्र (रिडक्शन गिअर) की सहायता से इस धुरी को मद वेग से घुमाया जाता है। मणिभ का एक मुख्य अक्ष घूर्णन के अक्ष के समातर रखा जाता है। फोटो फिल्म या तो चपटी रहती है अथवा बेलनाकार (जिसका अक्ष घूर्णन का अक्ष होता है)। साधारणत बेलनाकार फिल्म प्रयुक्त होता है, इससे परावर्तन-कोण का परास बहुत बढ जाता है तथा विश्लेषण के लिये प्रतिमा अधिक सरल हो जाती है। मणिभ कोणमापी के शिखर पर मणिभ रखा जाता है और उसका एक प्रमुख अक्ष घूर्णन अक्ष पर रखा जाता है।

इस परिस्थिति में एक प्रतिमा लेने के पश्चात् मणिभ को ९०° कोण द्वारा घुमा दिया जाता है और दूसरी प्रतिमा ली जाती है। मणिभ को पुन ९०° कोण द्वारा घुमा दिया जाता है, किंतु इस समय घुमाने का अक्ष घूर्णन अक्ष के लबवत् होता है, अब पुन प्रतिमा ली जाती है। इस प्रकार तीन परस्पर लबकोण अक्षो की दिशाओ मे तीन प्रतिमाएँ ली जाती है और उनसे मणिभ के सबध मे आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया जाता है। **एक्सरे की प्रकृति** शीर्षक लेख से सलग्न फलक मे अभ्रक की एक घूर्णित प्रतिमा दी गई है।

कभी कभी सपूर्ण परिभ्रमण के बदले मणिभ की सरचना के अनुसार उसे विशिष्ट कोणो द्वारा घुमाकर प्रतिमा ली जाती है। यह प्रतिमा सपूर्ण परिभ्रमण से ली हुई प्रतिमा से सरल होती है। आवश्यक होने पर दोलन का कोण क्रमश बढाकर अनेक प्रतिमाएँ ली जाती हैं। ऐसी प्रतिमाओ से विश्लेषण करना सरल होता है।

यद्यपि घूर्णित मणिभ रीति अत्यत उपयुक्त होती है तथापि प्रतिमाओ के विश्लेषण मे अनेक सशय रह जाते हैं। उनको दूर करने के लिये अनेक प्रकार के नए कैमरो का निर्माण किया गया है। इनमे वैजनवर्ग कैमरा विशेष प्रसिद्ध है। वैजनवर्ग कैमरा के प्रमुख अग, उनका सबध तथा कार्य चित्र १३ मे दिखाया गया है।
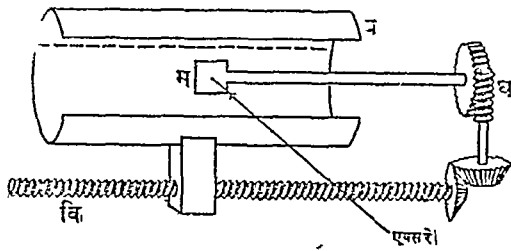
चित्र १३—वैजनवर्ग कैमरे की सरचना

म मणिभ, व बेलनाकार फिल्म, घ मणिभ के घूर्णन की योजना, वि=फिल्म के ('घ' से समक्रमिक) विस्थापन की योजना।

वैजनवर्ग कैमरा में एकवर्ण एक्सरे मणिभ पर पूर्ववत् आपाती होते है और मणिभ का घूर्णनाक्ष उसके एक मुख्य अक्ष के समातर होता है। फिल्म बेलनाकार होता है और इस बेलन का अक्ष घूर्णनाक्ष से सपाती (कोइसिडेंट) होता है। इस कैमरे मे फिल्म स्थिर नही रहता। उसका मद गति से स्थानातरण होता रहता है और यह स्थानातरण मणिभ के घूर्णन से समक्रमिक होता है। फिल्म के स्थानातरण की योजना से वैजनवर्ग कैमरे की विशिष्टता स्पष्ट होगी। सामान्य घूर्णित-मणिभ रीति में फिल्म स्थिर (स्टेशनरी) रहता है, इसलिये मणिभ के जिन तलो के जाल-अतरण समान रहते हैं उनके लिये परावर्तन कोण समान रहता है। अत प्रतिमा का एक बिंदु समान जाल-अतरणो के अनेक तलो से परावर्तन होकर प्राप्त होता है। परतु वैजनवर्ग कैमरे में एक तल से परावर्तन होकर पहले एक बिंदु प्राप्त होता है और जब तक दूसरा समान जाल अतरण का तल परावर्तन के लिये उचित परिस्थिति पर पहुँचता है तब तक फिल्म का स्थानातरण हो जाता है और समान जाल-अतरणो के भिन्न भिन्न तलो से पृथक् बिंदु मिलते हैं।

वैजनवर्ग कैमरे की सफलता के पश्चात् उसमें सुधार करके अनेक कैमरे विशेष उद्देश्यो के लिये बनाए गए। इनमें सीवोल्ट-सौटर, वर्गर इत्यादि वैज्ञानिको के कैमरे उल्लेखनीय हैं।

घूर्णित-मणिभ प्रतिमा से मणिभ सरचना ज्ञात करना अधिक सरल होता है। विशेषत जिन मणिभो की सरचनाएँ सरल सममित नही हैं उनके लिये घूर्णित-मणिभ रीति अथवा इस रीति पर आधारित अन्य कैमरो का उपयोग अत्यावश्यक है। चित्र ११ में दी हुई प्रायोगिक रचना के अनुसार जो प्रतिमाएँ आती हैं उनका स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है
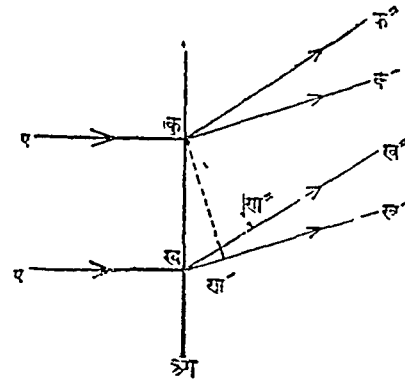
१ रश्मियो की दिशाएँ
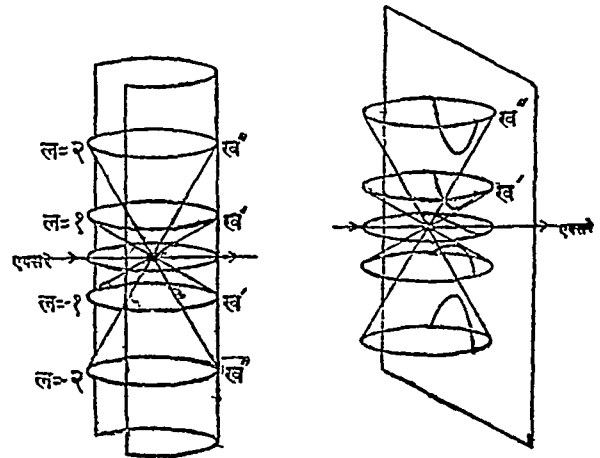
२ बेलनाकार फिल्म ३ चपटी फिल्म

चित्र १४—घूर्णित-मणिभ एक्सरे प्रतिमा की स्तररेखाओ का स्पष्टीकरण

किसी महत्वपूर्ण मडलाक्ष के घूर्णनाक्ष के समातर रहने पर एक्सरे प्रतिमा में जो स्तररेखाएँ (लेअर लाइस) आती हैं उनका अस्तित्व चित्र १४ से स्पष्ट हो सकता है। जब आपाती समातर तथा एकवर्ण रेखाओ का व्याभग परमाणुओ क तथा ख से होता है, [चित्र १४ (१)] तब वे किरण जिनका पथातर एक सपूर्ण तरगदैर्घ्य होता है दिशा ख ख′ मे जाती हैं। जिनका पथातर (ख ख″) दो तरगदैर्घ्यो का होता है, वे दिशा ख ख″ मे जाती हैं। घूर्णन होते समय ऐसे अनेक तल क्रमश इस

स्थिति मे आएँगे और ब्रैग के नियमानुसार उनका परावर्तन होगा। अत जिन किरणो का पयातर ख ण' है वे सब किरणे एक शकु पर होगी (चित्र १४-२) और जिनका पथातर ख ण'' है, वे दूसरे शकु पर होगी। यदि फिल्म बेलनाकार हो (चित्र १४-२) तो फिल्म फैलाने पर ये सब विंदु एक रेखा पर रहेगे और यदि फिल्म चपटी हो (चित्र १४-३) तो प्रत्येक शकु से प्राप्त विंदु एक अतिपरवलय (हाइपरबोला) पर रहेगे। यदि घूर्णन अक्ष से मणिभ का ग-अक्ष समातर हो तो उस अक्ष से समातर सभी तलो से क्षैतिज परावर्तन होगा और विंदु मध्यवर्ती सरल रेखा पर प्राप्त होगे। अर्थात् इस मध्यवर्ती रेखा पर स्थित विंदुओ के मिलर अक (च, छ, ०), $(h, k, 0)$ होगे। इस मध्यवर्ती सरल रेखा को 'शून्य स्तर' रेखा कहते है। इसी प्रकार प्रथम स्तर रेखा के ऊपर जो विंदु होते हैं उनके मिलर अक (च, छ, १), $(h, k, 1)$ होगे। यदि एक्सरे की दिशा तथा प्रथम स्तर रेखा के बीच का कोण फ (θ) हो तो उसके मापन से ग (C) की मात्रा निकाली जा सकती है, कारण

$$ग \text{ ज्या } फ = दै \quad [C \sin \theta = \lambda]$$

जहाँ दै (λ) आपाती एकवर्ण एक्सरेओ का तरगदैर्घ्य है। व्युत्क्रम-जाल का उपयोग करने पर इन प्रतिमाओ का विश्लेषण अधिक सरल हो जाता है। वैजनवर्ग कैमरे से जो प्रतिमाएँ आती है उनका रूप भिन्न होता है, किंतु उनसे निर्णय करना अधिक सुगम होता है।

(४) उपर्युक्त रीतियो से मणिभ की सममिति निश्चित होती है, किंतु उसकी सरचना निश्चित करने के लिये अधिक कार्य की आवश्यकता होती है। यदि केवल प्रतिमा के विंदुओ की सममिति से मणिभ सरचना का अनुमान किया जाय, तो एक से अधिक प्रकार की सरचना सभव है, और इनमे से उचित सरचना का निर्णय करना कठिन होता है। यह समस्या हल करने के लिये प्रतिमा के विंदुओ की (अथवा रेखाओ की) तीव्रता का मापन आवश्यक है और इस मापन के पश्चात् ही सरचना निश्चित की जा सकती है। यद्यपि दो भिन्न प्रकार के दिक्समुदाय एक ही प्रकार की सममित प्रतिमा दे सकते हैं, तथापि उनकी तीव्रताएँ भिन्न होगी। अत किस प्रकार की सरचना से प्रतिमा मे किस प्रकार तीव्रताओ का वितरण होगा यह ज्ञात होना आवश्यक है।

प्रतिष्ठित (क्लैसिकल) भौतिकी के अनुसार एक्सरे तरगो का प्रकीर्णन इलेक्ट्रानो से होता है। प्रत्येक परमाणु मे इलेक्ट्रान होते हैं और प्रत्येक इलेक्ट्रान से प्रकीर्णन होने पर एक्सरे का अत मे सपूर्ण परमाणु से प्रकीर्णन होगा। अत विशिष्ट दिशा मे एक्सरेओ की तीव्रता इन इलेक्ट्रानो के वितरण पर अवलवित होगी। सपूर्ण परमाणु से प्रकीर्णन होने पर तरग का विशिष्ट दिशा मे आयाम और उसी तरग के एक मुक्त इलेक्ट्रान से उन्ही प्रतिवधो के अतर्गत प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार प्राप्त आयाम, इन दोनो के अनुपात को पारमाण्वीय सरचना-गुणनखड कहते हैं। प्रत्येक तत्व के परमाणु के लिये पारमाण्वीय सरचना-गुणनखड गणना द्वारा प्राप्त किया गया है। प्रत्येक एकक-कोशिका मे सामान्यत एक से अधिक सख्या के तथा प्रकार के परमाणु होते हैं। इन सव परमाणुओ को समाविष्ट करके विशिष्ट दिशा मे तरग का जो आयाम होता है उसको मणिभ का सरचना आयाम कहते है। इस सरचना-आयाम से परमाणुओ के निर्देशाको का सवध रहता है। भिन्न भिन्न तलो के लिये गणना करके मणिभ-सरचना-गुणनखड प्राप्त किए गए हैं।

एक्सरे द्वारा मणिभ सरचना के निर्णय का मार्ग अब स्पष्ट हो गया होगा। एक्सरे व्याभग प्रतिमा के विंदुओ की (अथवा रेखाओ की) तीव्रताओ का मापन करके भिन्न भिन्न तलो के मणिभ-सरचना-गुणनखड प्रयोग द्वारा पहले प्राप्त कर लिए जाते हैं। इनसे मणिभ के परमाणुओ के स्थानो का सनिकटता से अनुमान किया जा सकता है और उनके निर्देशाको का उपयोग करके प्रमाणित समीकरणो से मणिभ-सरचना-गुणनखड की गणना की जाती है। यदि अनुमान ठीक हो, तो इस गणना के फल मे और प्रायोगिक मात्रा मे विशेष भेद नही होता। इसके पश्चात् फूरिए-विश्लेषण से एकक कोशिका मे इलेक्ट्रानो की घनता निकाली जाती है। इस विश्लेषण फल से यदि ऐसा प्रमाणित हो कि अनुमानित सरचना पर्याप्त उचित नही थी, तो इस विश्लेषण फल द्वारा प्राप्त सरचना से पुन विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार अनेक वार क्रमिक सनिकटता से विश्लेषण करके अत मे यथार्थ मणिभ सरचना प्राप्त होती है। इस व्युत्पादित मणिभ सरचना से मणिभ के अन्य गुणो का (उदाहरणार्थ प्रकाशीय, चुबकीय, विद्युतीय इत्यादि गुणो का) भी स्पष्टीकरण होना आवश्यक होता है, अन्यथा अनुमानित तथा व्युत्पादित मणिभ सरचना ठीक नही मानी जा सकती।

(६) उपसहार—उपर्युक्त रीतियो से एक्सरे व्याभग के विश्लेषण के पश्चात् अनेक ठोस पदार्थो की सरचनाओ का निर्णय हुआ है। अनेक ग्रथ हैं जिनमे इस प्रकार प्राप्त ठोस पदार्थो की सरचनाएँ दी हुई हैं। प्रत्येक तत्व, उसके यौगिक पदार्थ तथा कार्ववात्विक यौगिक पदार्थ इत्यादि ठोस पदार्थो की सरचनाएँ भी इन ग्रथो मे मिलेगी।

मणिभ सरचना के ज्यामितीय सवध सरल यौगिको मे स्पष्टता से दिखाई पडते हैं। ऐसे पदार्थो मे परमाणुओ के आयन होते हैं, अत इनको आयनीय मणिभ कहा जाता है। उदाहरणार्थ, नमक मे सोडियम परमाणु का वाह्य इलेक्ट्रान दूर रहता है और इसलिये सोडियम परमाणु घन आवेशित आयन होता है। सोडियम परमाणु का इलेक्ट्रान क्लोरीन परमाणु से सयुक्त हो जाने पर ऋण आवेशित आयन हो जाता है। धन और ऋण आयन आकर्षित होकर पास आएँगे किंतु परमाणुओ के अन्य इलेक्ट्रानो के तीव्र प्रतिकर्षण के कारण एक विशेष सीमा तक ही ये परमाणु आ पाएँगे और वहाँ वे सतुलित हो जायँगे। प्रत्येक आयन विरुद्ध आवेग के आयन से परिवेष्टित रहता है। नमक मे प्रत्येक सोडियम आयन ६ क्लोरीन आयनो से परिवेष्टित रहता है। किंतु क्षारीय खनिज के क्लोराइड, ब्रोमाइड तथा आयोडाइड मे प्रत्येक आयन विरुद्ध आवेश के ८ आयनो से परिवेष्टित रहता है। यदि धन और ऋण आयनो की त्रिज्याओ का अनुपात कम हो (<० ४१), तो वडा आयन ४ छोटे आयनो से परिवेष्टित होता है, उदाहरणार्थ जिक ब्लेड अथवा वूर्टसाइट।

धातुओ की सरचना अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सामान्यत धातुओ की सरचना तीन प्रकार की होती है (१) फलककेंद्रित घन, (२) पिंडकेंद्रित घन और (३) षड्भुजीय सघन समूह (हेक्सागोनल क्लोज़-पैक्ड)। एक्सरे से धातु की केवल सरचना ही नही अपितु अन्य गुणो का भी स्पष्टीकरण होता है, उदाहरणार्थ, उनके कणो का आकार तथा वितरण, आतरिक विकृति, इत्यादि। धातुओ के तार खीचते समय उनके मणिभ विशेष दिशाओ मे स्थापित हो जाते हैं और ऐसी परिस्थिति में एक्सरे व्याभग से जो प्रतिमाएँ आती हैं उनको ततुप्रतिमा (फाइवर पैटर्न) कहा जाता है। इन प्रतिमाओ मे वृत्तो की परिधि समान तीव्रता की नही होती है।

स०ग्र०—सर लॉरेंस ब्रैग दि क्रिस्टलाइन स्टेट, जी० बेल ऐंड कपनी, लडन, १९४९, एम० जे० वर्गर एक्सरे क्रिस्टलोग्राफी, जॉन वाइले ऐंड सस, न्यूयॉर्क, १९५३, जॉर्ज एल० क्लार्क ऐप्लायड एक्सरेज मैक्ग्रॉ हिल बुक कपनी, न्यूयॉर्क, १९५५, आर० डब्लू० जेम्स ऑप्टिकल प्रिंसिपल्स ऑव दि डिफ्रैक्शन ऑव एक्सरेज, जी० बेल ऐड सन्स, लडन, १९५०। [दि० र० भ०]

एक्सरे, रेडियम तथा समस्थानिक विकिरण चिकित्सा

एक्सरे का आविष्कार १८९५ ई० मे विलियम कोनार्ड रटजन ने किया तथा १८९६ मे बेकरेल ने पेरिस की वैज्ञानिक अकादमी में यूरेनियम मिश्रणो पर अपने अनुसधानो का यह महत्वपूर्ण फल घोषित किया कि इन वस्तुओ से ऐसी रश्मियाँ निकलती है जिनमे विशेष गुण रहते हैं। इन्ही अनुसधानो के सवध मे अधिक छानवीन करते हुए मैडम क्यूरी तथा उनके पति श्री पियरी क्यूरी ने जुलाई, १८९८ मे पोलोनियम के आविष्कार की घोषणा की। दिसवर, १८९८ मे क्यूरी दपति ने रेडियम का आविष्कार घोषित किया। विकिरणकारी समस्थानिक पदार्थो का ज्ञान इनके वहुत समय वाद हुआ। इन सभी साधनो द्वारा विशेष रश्मियाँ प्राप्त होती है, जिनमे ठोस पदार्थो को पार करने तथा शरीर के कोशो का विभाजन रोकने की क्षमता होती है।

रश्मियो के इन गुणो का प्रयोग एक्सरे चित्रण तथा विकिरण चिकित्सा मे होता है। एक्सरे फोटोग्राफो से रोगनिदान मे वडी सहायता मिलती है।

एक्सरे के आविष्कार के बहुत थोडे समय बाद से ही उसका उपयोग प्रचलित हो गया था। यदि काले कागज मे लपेटे, या दफ्ती के बक्स के भीतर रखे, फोटो के प्लेट के ऊपर हाथ रख दिया जाय और ऊपर से हाथ पर एक्सरे उचित समय तक पडने दिया जाय तो इस प्लेट वा फिल्म को डेवेलप करने पर हाथ की हड्डियो का फोटो मिल जायगा (चित्र देखें)। प्रकाशदर्शन (एक्सपोज़र) घटाने के लिये कुछ ऐसे परदो के बीच में फिल्म रख दिए जाते हैं जिनसे फिल्म पर एक्सरे का प्रभाव बढ जाता है। इन परदो पर कैलसियम टग्स्टेट लेपित रहता है जो एक्सरे पडने पर साधारण प्रकाश देने लगता है (देखे प्रतिदीप्ति)।

एक्सरे नली के (देखें पार्श्व का चित्र) मध्य मे क्रोमियम इस्पात का बना एक बेलन, १, होता है, जिसमे काच के दो पृथक्कारी (इनसुलेटिंग) बेलन, ४ और ५, जुडे रहते हैं। ये काच के बेलन धातु-कक्ष के भीतर विद्युदग्रो, २ और ३ को सँभाले रहते हैं। धातु कक्ष मे एक छोटी खिडकी कटी होती हे, जिससे किरणे बाहर निकलसके। इस प्रकार विकिरण मध्यवाले बेलन के भीतर सीमाबद्ध रहता है और केवल पूर्वोक्त निकासवाले छिद्र से बाहर निकल सकता है। सीसे के बने बाह्यावरण, ७, से सरक्षण की मात्रा अधिक बढ जाती है। ऋणाग्र के भीतरवाला धातु का पर्दा तथा धनाग्र विकिरण को नली के दीर्घ अक्ष की दिशा मे जाने से रोकते हैं। निकेल की कलईवाले बेलन का कार्य छिद्र की टोपी (ढकना), ८, तथा बैकेलाइट के बेलन, ९, को वहन करना है। वायु द्वारा शीतल किए जानेवाले धनाग्र के सिरे पर ऐल्युमिनियम का बना तापविकिरक, १०, रहता है। ताप का अधिकतम सचालन हो इसलिये धनाग्र को ताँबे का बनाते हैं और इसपर उचित नाप का टग्स्टन निर्मित लक्ष्य (टार्गेट), ६, रहता है। ऋणाग्र की टोपी मे ततु, ११, से सबध स्थापित करनेवाला प्लग रहता है।
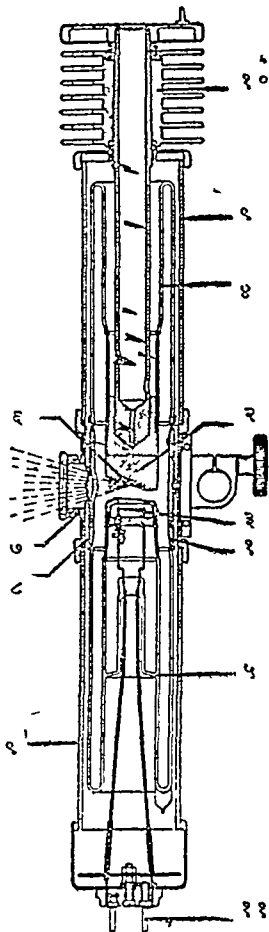
एक्सरे नली

(फिलिप्स का टाइप डी वाला मेटलिक्स ट्यूब)

एक्सरे तथा रेडियम के आविष्कार के बाद कुछ समय तक इनसे निकली रश्मियो के विनाशकारी प्रभावो का पर्याप्त ज्ञान नही था। इसलिये कुछ कार्यकर्ताओ के शरीर पर इन रश्मियो की हानिकर क्रियाएँ इतनी हुई कि उनको विशेष रोग हुए और कष्टमय मृत्यु हुई। धीरे धीरे हानि बचाने की आवश्यकता तथा साधनो का उचित ज्ञान हुआ।

विकिरणो की मात्रा और उपयोग की सुगमता तथा सुविधा की दृष्टि से विकिरण उत्पन्न करने तथा उनका उपयोग करने की पृथक्-पृथक् रीतियो का विकास हुआ है। एक्सरे यत्र द्वारा उत्पन्न एक्सरे, रेडियम से उत्पन्न विकिरण तथा रेडियो कोबल्ट, रेडियो आयोडीन, रेडियो फास्फोरस इत्यादि समस्थानिको से उत्पन्न विकिरण, इन सभी का उपयोग होता है। इन सब विकिरणो के गुण प्राय समान होते हैं।

एक्सरे यत्र मे जितने ही अधिक वोल्टो से रश्मियाँ उत्पन्न होगी, एक्सरे उतने ही अधिक छोटे तरगदैर्घ्य का होगा और द्रव्यो मे अधिक गहराई तक प्रवेश करने की शक्ति भी उसमे उतनी ही अधिक होगी। इस गुण के कारण ऐसी रश्मियो को साधारणत कठोर रश्मियाँ या गहन-प्रवेश-रश्मियाँ कहते है। इसके विपरीत कम वोल्ट द्वारा उत्पन्न एक्स रश्मियो में बहुत कम प्रवेश करने की शक्ति होती है जिससे वे पृष्ठ के पास या थोडी गहराई तक ही प्रवेश कर पाती हैं। इन्हे कोमल रश्मियाँ या पृष्ठतलीय रश्मियाँ कहते हैं। इस प्रकार एक्सरे का तरगदैर्घ्य अर्थात् द्रव्य के भीतर प्रविष्ट होने की क्षमता (कठोरता) यत्र मे प्रयुक्त वोल्टो की उच्चता पर निर्भर है। किसी विशेष प्रवेशशक्ति की रश्मियो की मात्रा यत्र मे प्रयुक्त ऐपियरो पर निर्भर रहती है। परतु यत्र के निर्माण के अनुसार ऐपियरो की मात्रा एक नियत सीमा तक ही बढाई जा सकती है।

एक्सरे यत्र से एक ही तरगदैर्घ्य की एकवर्ण तथा समाग रश्मियाँ नही निकलती, वरन् सबसे ऊँचे वोल्ट द्वारा उत्पन्न तरगदैर्घ्य की कठोर रश्मियो के साथ उनकी अपेक्षा कोमल रश्मियाँ भी निकलती है, जिससे कठोर तथा कोमल रश्मियो का असमाग मिश्रण प्राप्त होता है। एक्सरे नलिका मे एक खिडकी रहती है जिसमे से किरणे बाहर निकलती हैं। इसी खिडकी के मुँह पर अनावश्यक कोमल रश्मियो को रोकने के लिये आवश्यक मोटाई का तथा वाछित (ताँवा या ऐल्यूमिनियम) धातु का छनना लगा दिया जाता है, जिससे कोमल रश्मियाँ इस छनने को पार नही कर पाती। अत छनकर बाहर आनेवाली किरणो मे बहुत कुछ एकरूपता आ जाती है और अवाछित कोमल किरणे रुक जाती हैं।

खिडकी का आकार तथा नाप भी इच्छानुसार बदली जा सकती है। इस प्रकार खिडकी से निकलनेवाले रश्मिसमूह के आकार तथा विस्तार पर रोग के विस्तार के अनुसार अपेक्षित नियत्रण रखा जाता है। शरीर से ट्यूब की दूरी भी घटाई बढाई जा सकती है। रोगग्रस्त भाग को छोडकर आसपास के शेष भागो को सीसे की पतली चादर के टुकडो से ढक दिया जाता है जिससे इन भागो तक किरणे न पहुँचे। किरणो को रोगग्रस्त भाग पर निर्धारित समय तक प्रविष्ट करने के लिये यत्र मे समयमापक घडी लगी रहती है जो निर्धारित समय पूरा हो जाने पर यत्र की विद्युच्छक्ति काट देती है। इस प्रकार विकीरित रश्मि का प्रभाव वोल्ट, ऐपियर, समय, दूरी, तथा छनना द्वारा नियत्रित किया जाता है।
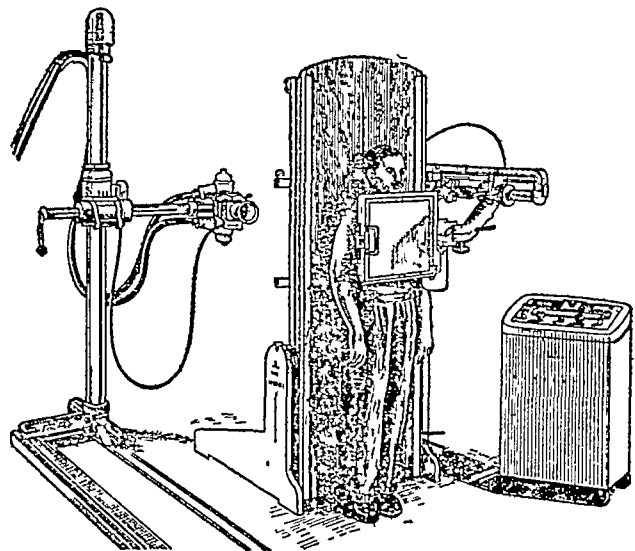
रोगनिदान के लिये एक्सरे यत्र

प्राय ६० से लेकर १२० किलोवोल्ट तक के यत्र का उपयोग कोमल किरणे उत्पन्न करने के निमित्त होता है। इनका प्रयोग चर्मरोगो पर किया जाता है। २००–४०० या इससे ऊँचे किलोवोल्ट वाले कठोर किरणोत्पादक यत्रो का प्रयोग शरीर के भीतर गहराई मे स्थित रोगो के लिये होता है। यत्र मे प्रयुक्त विद्युद्धारा ४ से लेकर १,००० मिली-ऐपियर तक की हो सकती है (१ मिली-ऐंपियर=०.००१ ऐपियर)। रश्मिक्रिया के समय अगविशेष के हिलने की आशका रहने पर धारा अधिक रखकर प्रकाशदर्शन $\frac{१}{१००}$ सेकेंड या कुछ कम कर दिया जा सकता है।

प्राकृतिक रेडियमधर्मिता के उपयोग मे चिकित्सा के लिये साधारणत रेडियम धातु का प्रयोग होता है। रेडियम से ऐल्फा, बीटा तथा गामा

एकवर्ण सूर्यचित्रक (Spectroheliograph) (देख पृष्ठ १७०)
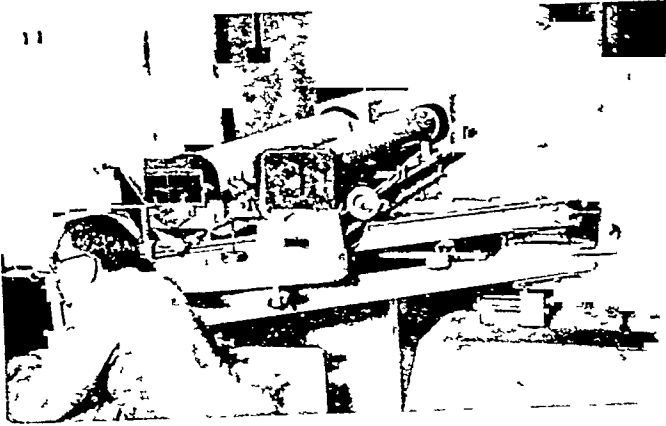
कैलसियम तथा हा-ऐल्फा (H-alpha) एकवर्ण सूर्यचित्रक

हा–ऐल्फा एकवर्ण सूर्यचित्र
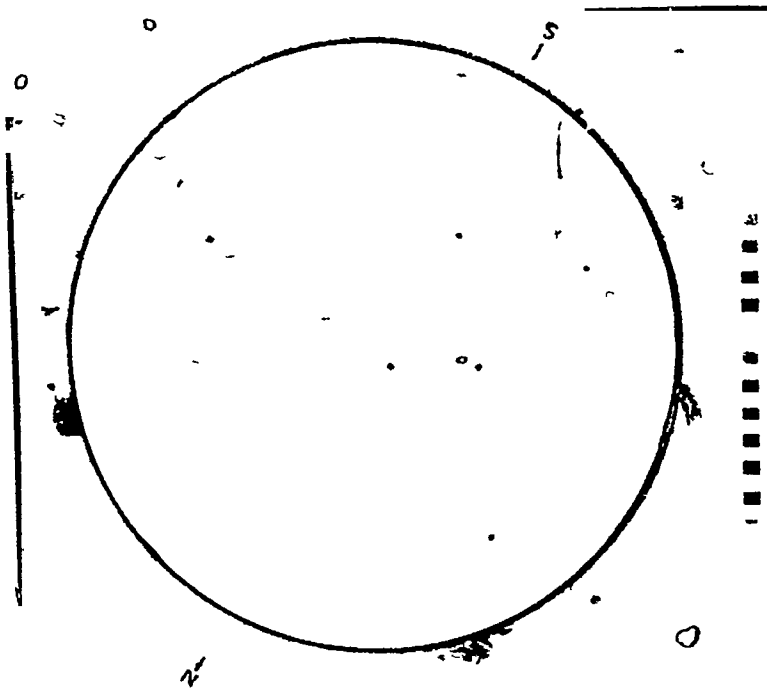
कैलसियम और ज्वाला का एकवर्ण सूर्यचित्र
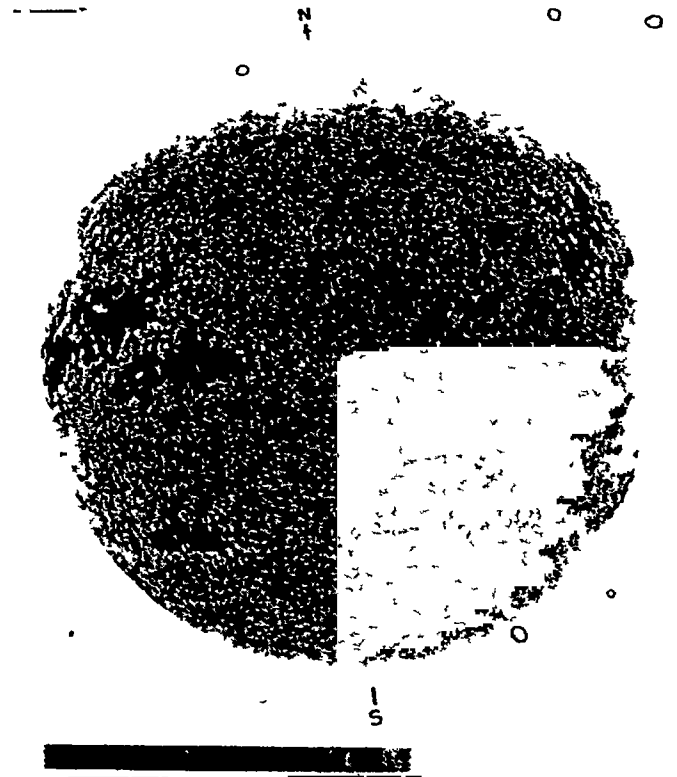
कैलसियम निपालिका का एकवर्ण सूर्यचित्र

(ऐस्ट्रो–फिजिकल लेबॉरेटरी, कोडैकानल, के सौजन्य से प्राप्त)

एक्सरे और मणिभ संरचना (देखे पृष्ठ १७१)
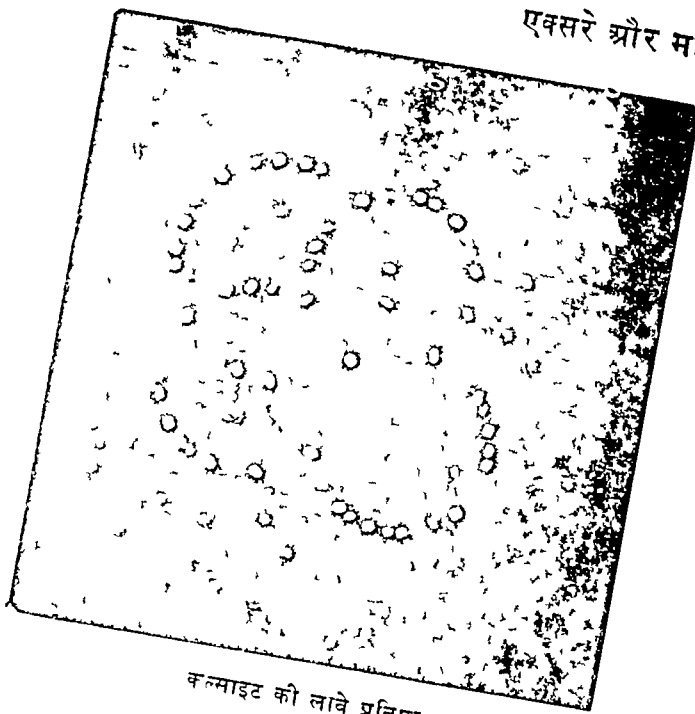
कल्साइट की लावे प्रतिमा
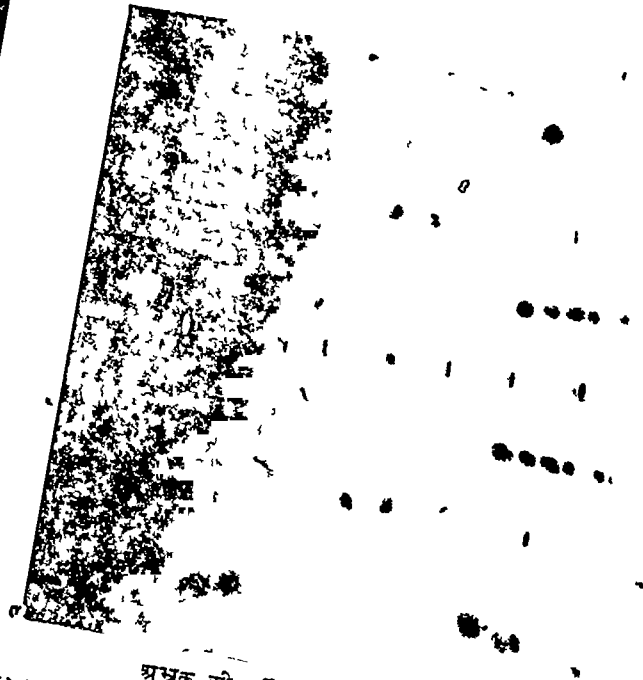
अभ्रक की घूर्णित-मणिभ प्रतिमा

एक्सरे की प्रकृति (देखे पृष्ठ १८७)
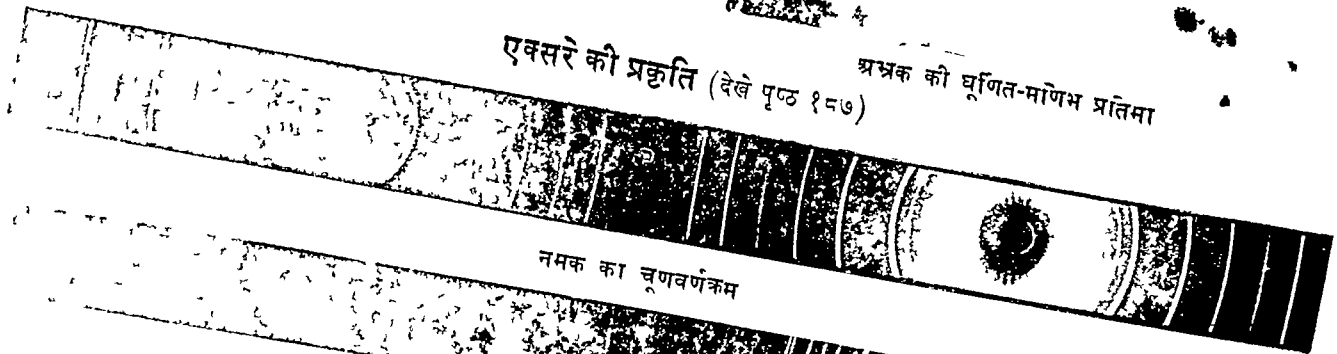
नमक का चूर्णवर्णक्रम
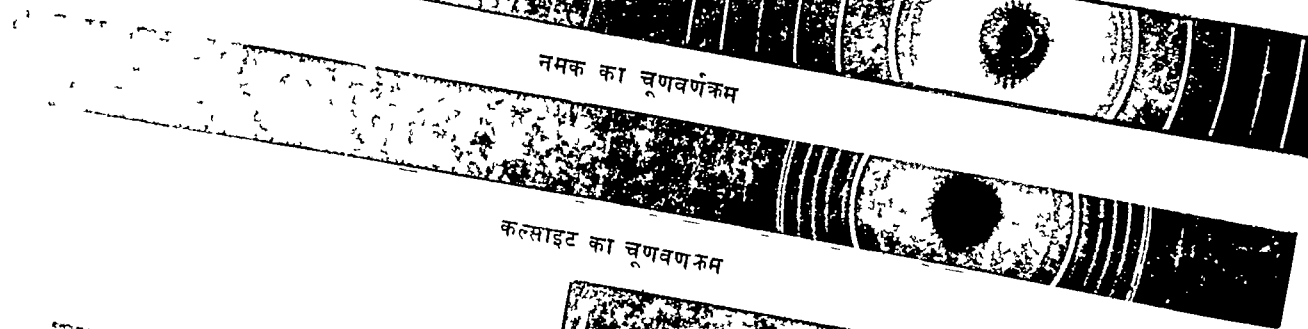
कल्साइट का चूर्णवर्णक्रम
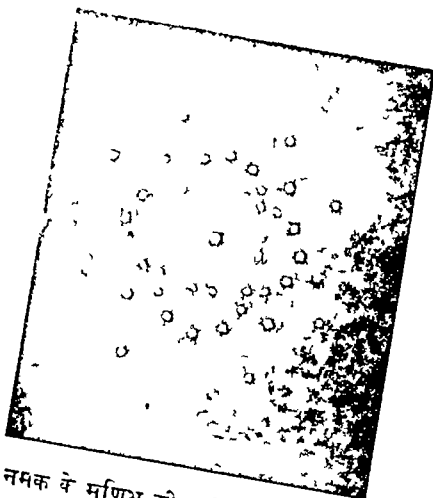
नमक के मणिभ की लावे-व्याभंग प्रतिमा
(भौतिकी विभाग सागर विश्वविद्यालय)
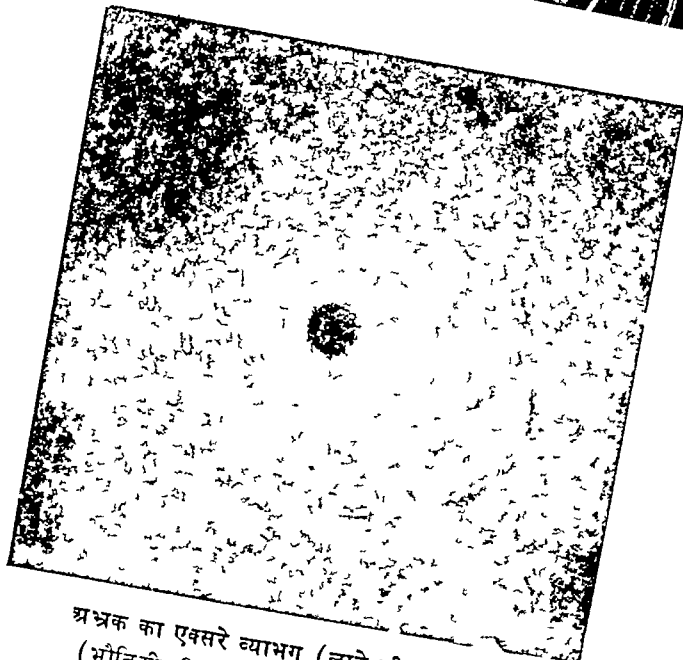
अभ्रक का एक्सरे व्याभंग (लावे की रीति से)
(भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय)

किरणे निकलती रहती है (देखे रेडियम)। इन किरणो का प्रयोग रोग-चिकित्सा मे होता है और इनके प्रयोग की मुख्य रीतियाँ इस प्रकार है

(१) रेडियम धातु के उपयुक्त लवण को प्लैटिनम, स्टील, मोनल मेटल, या सोने की बनी खोखली छोटी नली या सूई मे, जो छनने का भी काम देती है, बद कर दिया जाता है। प्रयोग के लिये इन सूइयो को एक, दो या अधिक सख्या मे उनकी आपस की दूरी तथा आकार, प्रत्येक सूई मे रेडियम की मात्रा आदि को आवश्यकतानुसार चुनकर रोगग्रस्त भाग की सतह पर, मास के भीतर या शरीर की गुहा मे निर्धारित समय तक छोड दिया जाता है। विकीरित रश्मियाँ निरतर ट्यूब से बाहर निकलती और रोगग्रस्त भागो पर अपनी क्रिया करती रहती है।

(२) अधिक मात्रा मे रेडियम को डिबिया मे बद करने के बाद उससे निकलती किरणो का उसी प्रकार प्रयोग किया जाता है जैसे एक्सरे यत्र से निकले एक्सरे का। इस प्रकार की चिकित्सा को रेडियम किरण या रेडियम बम चिकित्सा कहते है।

प्रत्येक सूई मे रेडियम की मात्रा, सूई की लबाई, सूई की धातु, सूइयो की सख्या, उनको वितरित करने की रीति तथा किस समय तक सूइयाँ रोगी के शरीर मे रखी जायँ, आदि बातो पर चिकित्सा की मात्रा निर्भर करती है। रेडियम को कभी अँगुलियो से नही पकडा जाता, क्योकि विकिरण के हानिकर प्रभाव से कुछ समय मे अँगुलियाँ गल जा सकती है।

इसी प्रकार विकिरणकारी समस्थानिको को विविध विलयन या गोली के रूप मे, इजेक्शन द्वारा अथवा लेप द्वारा शरीर के रोगग्रस्त भाग मे पहुँचाया जाता है जहाँ विकिरण अपनी क्रिया करता है। किरणो की क्रियाएँ बहुत जटिल होती है तथा प्रयोग की सफलता कई बातो पर निर्भर रहती है। विशेषज्ञ चिकित्सक, भौतिकी तथा गणित का विशेष ज्ञान और क्रियात्मक अनुभव इन सभी की आवश्यकता चिकित्सा की मात्रा निर्धारित करने मे पडती है। समय समय पर यत्र के अशशोधन की (कैलिब्रेशन) की भी आवश्यकता रहती है। ये सब सुविधाएँ केवल विशेष सस्थाओ या चिकित्सालयो मे ही सभव है।

इन विकिरणो का प्रयोग बहुत से रोगो की चिकित्सा मे हो रहा है, जिनमे त्वचारोग, कर्कटरोग तथा कई प्रकार के अघातक रोग प्रमुख है।

त्वचारोगो मे पामा (एकजेमा), खुजली, केशलुचन (ऐपिलेशन), दाद, कीलाएड, शोणवाहिन्यर्बुद (हेमाजिओमा) तथा चर्मकर्कट मुख्य है।

प्राय सभी कर्कट रोगो की चिकित्सा विकिरण तथा शल्य कर्म द्वारा की जाती है। इसी प्रकार की चिकित्सा लसीका-कणार्बुद (हौजकिन्स डिज़ीज), अतिश्वेतरक्तता, (ल्यूकीमिया), विल्म्ज़ का अर्बुद तथा अघातक अर्बुद, कठमाला, अस्थि-सधि-कोप (आस्टियो आर्थ्राइटिज़), कृत्रिम मासिक-धर्म-निग्रह (आर्टिफिशियल मेनोपॉज़) इत्यादि रोगो मे होती है।

विकिरण अपनी क्रिया तभी कर पाता है जब किरणे रोगग्रस्त भाग पर उचित मात्रा मे पहुँचती है। जब रोग त्वचा पर या शरीर के किसी ऊपरी भाग पर ही रहता है तब चिकित्सा अधिक सरलता से हो सकती है। परतु जब रोगग्रस्त अवयव शरीर की गहराई मे स्थित रहता है तब रश्मियो को वहाँ पहुँचाने के दो ही मार्ग सभव होते है या तो कठोर रश्मियो को शरीर के बाहर से इस दिशा मे भेजा जाय कि भीतर के रोगग्रस्त भाग तक वे पहुँच जायँ, अथवा रोगग्रस्त भाग पर शल्य क्रिया या किसी अन्य क्रिया द्वारा रेडियम की सूइयाँ उचित मात्रा मे लगा दी जायँ, अथवा उस भाग मे किसी विकिरणकारी समस्थानिक को घोल के रूप मे पहुँचा दिया जाय जहाँ वह निर्धारित समय तक अपनी किरणो द्वारा रोग पर क्रिया करता रहे।

त्वचा के रोगो मे कोमल किरणोवाले एक्सरे यत्र का उपयोग किया जा सकता है। रेडियम नलिकाओ को उपयुक्त पट्टी, मोम के ढाँचे आदि मे रखकर अग पर बाँध दिया जा सकता है, या विकिरणकारी समस्थानिक द्रव्यो का मलहम लगाया जा सकता है।

गहराई मे स्थित अर्बुद (ट्यूमर) पर विकिरण क्रिया करने के लिये कठोर-रश्मि-यत्र द्वारा एक या अनेक स्थानो से बारी बारी से किरणे ऐसी दिशाओ मे भेजी जाती है कि वे अर्बुद को वेधित करे और उसी पर केद्रित रहे, अथवा उचित मात्रा मे रेडियम नलिकाएँ (ट्यूब) वही पर निर्धारित समय तक रखी जाती है। गर्भाशय के कर्कट मे गर्भाशय मे रेडियम की सूइयाँ रखकर चिकित्सा की जाती है। बाहर से भी एक्सरे चिकित्सा करने के लिये सामने पेडू से, तथा पीछे कमर के निचले भाग से, किरणो को ऐसी दिशा मे भेजा जाता है कि वे गर्भाशय को वेधित करे। इसी प्रकार भोजन नलिका के कर्कट मे ४–६ स्थानो से किरणो को भीतर भेजा जाता है। इस रीति की आवश्यकता इसलिये पडती है कि एक्सरे को गहराई मे स्थित रोगग्रस्त भाग पर बाहर से उचित मात्रा मे पहुँचाने के लिये किरणो को स्वस्थ शरीर के ऊपरी भागो से जाना पडता है और गहराई तक पहुँचते पहुँचते इनकी मात्रा भी क्षीण हो जाती है। इससे दो विघ्न पडते है। किरणो के मार्ग मे आनेवाले सब स्वस्थ भागो पर किरणो की प्रतिक्रिया होती है, जो न केवल अनावश्यक वरन् हानिकर भी होती है। दूसरे, रोगग्रस्त भाग की अपेक्षा किरणे अधिक मात्रा मे स्वस्थ भाग पर पडेगी। इसलिये यदि रोग नाशक मात्रा रोगग्रस्त भाग पर पहुँचानी है तो सतह के, या मार्ग के, अगो पर बहुत अधिक मात्रा मे किरणे डालनी पडेगी जो अवश्य हानिकर होगी। यदि रोगग्रस्त भाग पर कम मात्रा मे किरणे पहुँचेगी तो रोग का नाश नही होगा। इसीलिये ऐसी दशा मे एक के बदले कई मार्गो द्वारा रोगग्रस्त भाग पर किरणे केद्रित करके पहुँचाई जाती है, जिससे प्रत्येक भाग से पहुँचकर किरण की सयुक्त मात्रा रोग पर तो पूरी हो जाती है, परतु बाहरी भागो के स्वस्थ स्थानो पर कुल मात्रा कम ही रहती है और इसलिये विशेष हानि नही कर पाती।

प्रत्येक दशा मे स्वस्थ त्वचा या मार्ग के अगो को कुछ सीमा तक विकिरण की क्रिया का फल भोगना ही पडता है, पर प्रयत्न किया जाता है कि यह न्यूनतम रहे। साथ ही जो प्रतिक्रिया अनिवार्यत चिकित्सा के समय, या बाद मे, होती है उसकी भी उचित चिकित्सा का ध्यान रखा जाता है जिससे रोगी को कम से कम कष्ट पहुँचे।

शरीर के जीवित कोशो पर विकिरण के प्रभावो मे मुख्य यह है कि कोशिकाभाजन बहुत कुछ रुक जाता है तथा कोशिकाओ के पित्रसूत्र खडित हो जाते है, जिससे पुन कोशिकाभाजन या उनकी सख्यावृद्धि रुक जाती है। यह क्रिया अभी तक भली भाँति नही समझी जा सकी है, परतु कोशिकाओ पर तथा पडोसी स्वस्थ भागो पर पडनेवाले विकिरण प्रभाव के कारण ही यह सभव हो सकती है। विकिरणो की बहुत अधिक मात्रा से कोशिकाओ की मृत्यु हो जाती है।

शरीर के पृथक् पृथक् अगो पर इन किरणो का प्रभाव भिन्न भिन्न पडता है। कुछ स्थानो की मासपेशियो, ततुओ इत्यादि पर उतना प्रभाव नही पडता जितना अन्य भागो पर। अडग्रथि, डिंभाशय, या श्वेत रक्तकोशिकाओ आदि पर इनका विशेष प्रभाव पडता है। कर्कट मे कोशिकाभाजन बहुत मात्रा मे होता रहता है और प्रत्येक समय कर्कटपिंड मे कोशिकाभाजन अवस्था की साधारण से बहुत अधिक कोशिकाएँ रहती है। इसलिये विकिरण की प्रतिक्रिया कर्कट रोग मे विशेष उपयोगी होती है।

स०ग्र०—यू० बी० पोर्टमान (सपादक) · क्लिनिकल थेराप्यूटिक रेडिऑलोजी (१९५०), सी० एफ० बेहरेन्स · ऐटॉमिक मेडिसिन (१९४९)।

[उ० श० प्र०]

एक्सरे की प्रकृति जर्मनी मे वुर्ट्सबर्ग विश्वविद्यालय के भौतिकी के प्राध्यापक विल्हेल्म कोनराड रटजन ने १८९५ मे एक्सरे का आविष्कार किया। यदि काच की नलिका मे से वायु को पप से क्रमश निकाला जाय और उसमे उच्च विभव का विद्युद्विसर्जन किया जाय, तो दाब के पर्याप्त अल्प होने पर वायु स्वयप्रकाशित होने लगती है। इस घटना का प्रायोगिक अध्ययन करते समय रटजन ने यह देखा कि वायु का दाब अत्यत अल्प होने पर काच की नलिका मे से जो किरणे आती है, उनसे बेरियम प्लैटिनोसाइनाइड के मणिभ प्रकाश देने लगते है और, नलिका को काले कागज से पूर्ण रूप से ढकने पर भी, पास मे रखे मणिभ द्युतिमान होते रहते है। अत यह स्पष्ट था कि विसर्जन-नलिका के बाहर जो किरणे आती है वे काले कागज मे से सुगमता से पार हो सकती है और बेरियम प्लेटिनोसाइनाइड के परदे को द्युतिमान करने का विशेष गुण इन किरणो मे है। विज्ञान मे इस प्रकार की किरणे तब तक ज्ञात नही थी। अत इन नई आविष्कृत किरणो का नाम 'एक्सरेज़' (अर्थात्

द्रव और ठोस पदार्थ प्रकाश के लिये स्वय अपारदर्शी अथवा पारभासक (ट्रैंसल्यूसेंट) होते हैं। प्रकाश के लिये हीरा पारदर्शी और ग्रैफाइट अपारदर्शी है, परतु एक्सरे का सहति-अवशोषण-गुणक हीरा तथा ग्रैफाइट के लिये समान ही रहता है, क्योकि ये दोनो पदार्थ वस्तुत कार्बन के ही विभिन्न स्वरूप हैं।

एक्सरे नलिका से जो सपूर्ण एक्सरे प्राप्त होते हैं, उन सबका अवशोषण-गुणक मुख्यत (१) विद्युद्विभव और (२) अवशोषक परदे की धातु का परमाणु-क्रमाक, इन दोनो पर निर्भर रहता है। जैसे जैसे विभव बढता जाता है वैसे ही वैसे उत्पादित एक्सरे की प्रवेशक्षमता अथवा कठोरता बढती जाती है। समीकरण (१) से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी एक ठोस पदार्थ के लिये अवशोषण गुणक सब मोटाइयो के लिये स्थिर रहेगा। किंतु प्रत्यक्ष प्रयोग मे एक्सरे नलिका से प्राप्त विकिरण का न्यून प्रवेशक्षमतावाला भाग अवशोषक परदे के प्रथम स्तरो मे ही पूर्णतया अवशोषित हो जाता है (कम प्रवेशक्षमता के इस एक्सरे को मृदु एक्सरे कहते हैं)। केवल अधिक प्रवेशक्षमता के एक्सरे (जिनको कठोर एक्सरे कहते हैं) अवशोषण परदे के अतिम स्तरो तक पहुँच पाते हैं। स्पष्ट है कि अवशोषण परदे मे प्रवेश करनेवाले एक्सरे का अवशोषण-गुणक परदे से पार निकले हुए एक्सरे के अवशोषण-गुणक से अधिक होता है। जब समस्त एक्सरे का अवशोषण-गुणक समान होता है (अथवा भौतिकी की भाषा मे, जब समस्त एक्सरे का तरगदैर्घ्य समान होता है) तब उनको समाग एक्सरे कहते हैं। अत एक्सरे की मात्रा उनकी तीव्रता से, और उनकी विशेषता उनके अवशोषण-गुणक से (अथवा, कहना चाहिए, उनके तरगदैर्घ्य से) मापित होती है।

वर्तमान काल मे प्राय सपूर्ण विद्युच्चुबकीय वर्णक्रम का आविष्कार हो चुका है। इसमे एक्सरे का स्थान चित्र १ में दिया हुआ है।
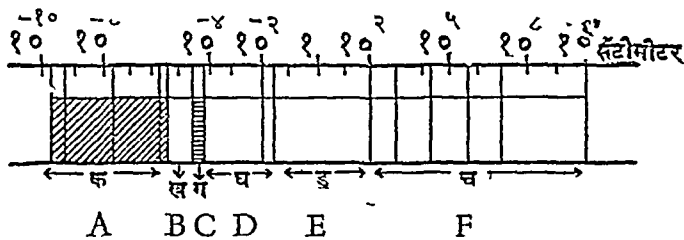
चित्र १ सपूर्ण विद्युच्चुबकीय वर्णक्रम

क=एक्सरे और गामा किरण,
ख=पारनील लोहित (अल्ट्रावॉयलेट)
ग=दृश्य प्रकाश,
घ=अवरक्त (इन्फ्रा-रेड)
ङ=सूक्ष्म तरग (माइक्रो-वेव्ज़),
च=रेडियो तरग

चित्र १ में सपूर्ण विद्युच्चुबकीय वर्णक्रम दिखाया गया है। उसमे सभी तरगदैर्घ्य सेंटीमीटर में दिए गए हैं। स्थूल रूप से पूर्वोक्त वर्णक्रम के विभिन्न विभाग क, ख, ग, अक्षरो से सूचित किए गए हैं। यद्यपि यहाँ सब तरगदैर्घ्य सेंटीमीटर में दिए है, तथापि विभिन्न विभागो में सुविधा के लिये साधारणत भिन्न भिन्न एकक प्रयुक्त होते हैं। रेडियो प्रसारण में १ मीटर को एकक माना जाता है, तथा रेडियो के सूक्ष्म तरग विभाग मे एक मिलीमीटर को एकक माना जाता है। अवरक्त वर्णक्रम के लिये $१०^{-४}$ से० मी० का एकक प्रचलित है तथा दृश्यप्रकाश के लिये इससे भी छोटे $१०^{-८}$ से० मी० के एकक की आवश्यकता होती है। $१०^{-४}$ से० मी० के एकक को म्यू और दृश्य प्रकाश के एकक ($१०^{-८}$ से० मी०) को आगस्त्रम कहते हैं। प्रारभ मे एक्सरे के लिये भी आगस्त्रम उपयोग मे लाया जाता था, किंतु एक्सरे वर्णक्रम मे अधिक आविष्कार होने पर इस एकक से भी सूक्ष्म एकक की आवश्यकता होने लगी। अत एक्सरे के लिये तथा गामा किरणो के लिए ज़ीगवाह्न ने एक नए एकक का उपयोग किया, जिसे एक्सरे एकक कहते हैं। यह $१०^{-११}$ से० मी० के बराबर होती है। विद्युच्चुबकीय सिद्धात की दृष्टि से एक्सरे और गामा किरणो मे कोई भेद नही है, एक्सरे प्रयोगशालाओ मे उत्पन्न किए जा सकते हैं और गामा किरणें रेडियमधर्मी पदार्थों से प्राप्त होती हैं (हाल मे अति प्रचड विद्युद्विभव से गामा किरणो के तरगदैर्घ्यों के समान सूक्ष्म तरगदैर्घ्यों के एक्सरे का उत्पादन प्रयोगशाला मे हो चुका है)। विद्युच्चुबकीय वर्णक्रम मे अत्यत स्वल्प तरगदैर्घ्यों का विभाग एक्सरे का तथा गामा किरणो का है। तरगदैर्घ्य आवृत्तियो का प्रतिलोमानुपाती होने के कारण एक्सरे और गामा किरणो की आवृत्तियाँ अन्य विद्युच्चुबकीय विकिरणो से बहुत अधिक होती है।

जिस पदार्थ से प्रकाश आता है (चाहे वह पदार्थ स्वय प्रकाशित हो अथवा किसी द्युतिमान पदार्थ से प्राप्त प्रकाश का प्रकीर्णन करता हो) उस पदार्थ को हम देख सकते हैं, क्योकि प्रकाश किरणो की एक क्रिया हमारी आँख के रूपाधार (रेटिना) पर होती है। इस प्रकार की क्रिया एक्सरे द्वारा नही होती, अत एक्सरे दृश्य नही हैं। इतना ही नही, आँखो पर तथा शरीर के अन्य अगो पर एक्सरे की क्रिया अत्यत हानिकारक होती है। जीवित कोशाओ पर एक्सरे की पर्याप्ति काल तक क्रिया होने से वे मृत हो जाती हैं। एक्सरे शरीर के चर्म मे से सरलता से पार हो जाते हैं और भीतर के जीवित कोशाओ पर इनकी पर्याप्ति काल तक क्रिया होने से उनके मृत हो जाने की सभावना रहती है। फिर, एक्सरे के प्रभाव टिकाऊ होते हैं, अत शरीर के एक ही स्थान पर भिन्न भिन्न समयो पर भी एक्सरे की क्रिया होती रहने पर कुछ काल मे कैन्सर सदृश दु साध्य रोग हो जाते हैं। अत एक्सरे का उपयोग करते समय अत्यत सावधानी से कार्य करने की आवश्यकता रहती है। शरीर की रक्षा के लिये विशेष साधन उपयोग मे लाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक्सरे का नित्य उपयोग करनेवाले वर्तमान काल मे एक एक्सरे-मात्रा-मापी अपनी जेब मे रखते हैं, जिससे पता चलता है कि विकिरण की कितनी मात्रा कर्मचारी के ऊपर कार्य कर चुकी है। एक्सरे के इस घातक गुणधर्म का अन्य रोगो मे उपयोग भी किया जाता है, जैसे, शरीर के किसी भाग मे अनिष्ट रोगाणुओ की वृद्धि होती हो तो उनपर एक्सरे का प्रयोग करके उन्हे नष्ट किया जा सकता है।

एक्सरे का आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) मे, विशेषत शल्य विज्ञान (सर्जरी) मे, अधिक उपयोग होता है। इस प्रकार के उपयोग की सभावना एक्सरे के आविष्कार के समय से ही स्पष्ट थी। शरीर के भिन्न भिन्न अवयवो के अवशोषण-गुणक विभिन्न होते हैं, अत शरीर के किसी भी भाग में से एक्सरे पार करके फोटो लेने से अस्थियाँ तथा अन्य घटक पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं ('एक्सरे विज्ञान' देखिए)। अत शल्य क्रिया के पूर्व, अथवा यह ज्ञात करने के लिये कि रोग किस अवस्था मे है एक्सरे फोटो अत्यत उपयोगी होते हैं। एक्सरे के उत्पादन मे प्रगति होने पर उनका उपयोग उद्योगो मे भी होने लगा और वर्तमान काल मे धातुविज्ञान में एक्सरे का उपयोग आवश्यक हो गया है।

एक्सरे उत्पादन के उपकरण—विभव के कारण इलेक्ट्रान को ऊर्जा इ×वि (e×v) प्राप्त होती है, जहाँ इ(e)=इलेक्ट्रान का आवेश, तथा वि=(v) विभव। यदि इतनी कुल ऊर्जा धनाग्र के अणुओ मे स्थानातरित हो जाय तथा इस ऊर्जा का एक्सरे मे परिवर्तन हो, तो उत्सर्जित एक्सरे की आवृत्ति निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्राप्त होगी

$$इ \times वि\ (e \times v) = प्लाक\ का\ स्थिराक \times आवृत्ति \qquad (२)$$

समीकरण (२) अनेक प्रयोगो से प्रमाणित हुआ है। प्लाक के स्थिराक का मान $६ ६२ \times १०^{-२७}$ अर्ग-सेकड है। विद्युच्चुबकीय तरगो के लिये आवृत्ति तथा तरगदैर्घ्य मे निम्नलिखित सबध होता है,

$$तरगदैर्घ्य \times आवृत्ति = विद्युत्तरगदैर्घ्य\ का\ वेग$$
$$= २\ ९९ \times १०^{१०}\ से०मी०\ प्रति\ सेकड।$$

यदि विभव वोल्ट मे ज्ञात हो, तो उत्पादित एक्सरे का तरगदैर्घ्य आगस्त्रम एकको मे निम्नलिखित समीकरण द्वारा सरलता से निकाला जा सकता है

$$तरगदैर्घ्य\ (आगस्त्रमो\ मे) = \frac{१२४०३}{वोल्ट} \qquad (३)$$

समीकरण (३) के अनुसार एक्सरे का जो तरगदैर्घ्य प्राप्त होता है वह केवल इस अनुमान पर आधारित है कि ऋणाग से धनाग्र तक पहुँचने मे

इलेक्ट्रान को प्राप्त ऊर्जा इ×वि (e×v) का सपूर्ण भाग विद्युच्चुवकीय तरगो मे परिवर्तित होकर समीकरण (२) के अनुसार विकिरण का एक ही क्वाटम देता है। किंतु सब इलेक्ट्रानो के लिये यह ठीक नही है। विद्युच्चुवकीय विकिरण उत्पन्न होने के पूर्व इलेक्ट्रान की ऊर्जा के अशत अथवा सपूर्णत नष्ट होने की वहुत अधिक सभावना रहती हे। इसके अनेक कारण होते हैं। जिस धातु का धनाग्र हो उस धातु के परमाणुओ से प्रथम आघात होने पर इलेक्ट्रान उस धनाग्र के तल के भीतर जाते हैं। इन परमाणुओ से इलेक्ट्रानो की गति मे प्रतिरोध होता है, क्योकि वे परमाणु भी अन्य इलेक्ट्रानो से परिवेष्टित होते हैं। प्रत्येक धातु मे धात्वीय इलेक्ट्रान होते हैं जिनके कारण धातुएँ विद्युच्चालक होती हैं। धनाग्र मे प्रवेश करते समय ऋणाग्र से आनेवाले इलेक्ट्रानो तथा धनाग्र के आतर इलेक्ट्रानो मे अनेक सघात होते हैं और प्रत्येक सघात मे वाह्य इलेक्ट्रानो की ऊर्जा कम होती जाती है। अत अत मे जव वाह्य इलेक्ट्रानो से विद्युच्चुवकीय तरगे उत्पन्न होती हैं तव इन इलेक्ट्रानो की ऊर्जा एक समान नही होती। विभवातर वि (v) से महत्तम ऊर्जा इ×वि (e×v) होगी, किंतु इस महत्तम ऊर्जा के इलेक्ट्रान—अर्थात् वे जिनसे एक भी सघात नही हुआ है—अत्यत अल्प होते हैं, अधिकतर इलेक्ट्रानो की ऊर्जा इससे कम होती है। इसलिये उत्पादित एक्सरे एकवर्ण नही होता, हमे एक्सरे का अविच्छिन्न वर्णक्रम
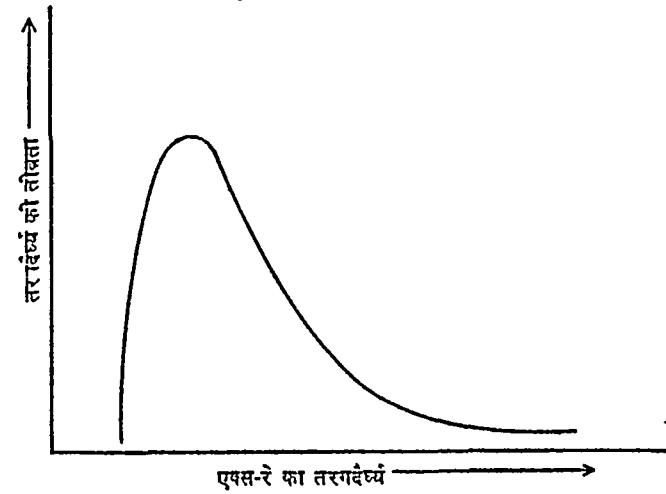
चित्र २—एक्सरे की वर्णक्रमीय तीव्रता का वितरण

मिलता है। श्वेत प्रकाश का वर्णक्रम जिस प्रकार का होता है, उसी प्रकार का अविच्छिन्न वर्णक्रम एक्सरे का भी होता हे, अत एक्सरे के अविच्छिन्न वर्णक्रम को श्वेत विकिरण भी कहते हैं। चित्र २ मे अविच्छिन्न एक्सरे वर्णक्रम के भिन्न भिन्न तरगदैर्घ्यो की तीव्रता का वक्र दिया गया है। इस वक्र मे न्यूनतम तरगदैर्घ्य समीकरण (३) के अनुसार विद्युद्विभव से सबधित है। यदि विभव वढाया जाय तो न्यूनतम तरगदैर्घ्य और भी कम हो जायँगे, किंतु वक्र चित्र २ के समान ही रहेगा। चित्र २ के अनुसार प्राप्त अधिकतम तीव्रता का तरगदैर्घ्य भी विभव पर ही निर्भर रहता है और विभव वढाने से अधिकतम तीव्रता का सगत तरगदैर्घ्य भी कम हो जाता है। सपूर्ण एक्सरे की तीव्रता भी विभव पर निर्भर रहती है, जैसे जैसे विभव वढता जाता है, वैसे वैसे सपूर्ण तीव्रता भी वढती जाती है।

रटजन ने जिस प्रकार के उपकरणो की सहायता से एक्सरे का आविष्कार किया था प्रारभ के कतिपय वर्षो तक उसी प्रकार के उपकरण उपयोग मे लाए जाते थे। इनमे थोडा वहुत सुधार हुआ और शिअरर, हेंडिग, ज्ञीगवाह्न इत्यादि वैज्ञानिको ने ऐसी एक्सरे नलिकाओ की उपज्ञा की, जिनके धनाग्र सरलता से वदले जा सकते हैं। किंतु इन सब वायु-विसर्जन-नलिकाओ मे एक विशेष दोष यह था कि इनमे विद्युद्धारा का तथा विभव का स्वतत्रतापूवक परिवर्तन नही किया जा सकता था। यह दोष कूलिज की एक्सरे नलिका मे दूर कर दिया गया। १९१३ मे कूलिज ने विभिन्न तत्वो पर इलेक्ट्रानो का उत्पादन करके कूलिज नलिका की उपज्ञा की (चित्र ३)। कूलिज ने इलेक्ट्रान प्राप्त करने के लिये वायु मे विद्युद्विसर्जन के वदले उष्मीय आयनो का उपयोग किया। धातु के ततु मे विद्युद्धारा प्रवाहित करने से ततु गरम हो जाता है और (निर्वात मे) धारा अधिक वढाने से उससे प्रकाश का उत्सर्जन होने लगता है (जैसा तप्तततु विद्युद्दीप मे होता है)। इस तप्तततु से प्रकाश के साथ साथ इलेक्ट्रान भी निकलते हैं और यदि निर्वात मे तप्त ततु के समीप धातु की एक पट्टी रखकर उसको धन
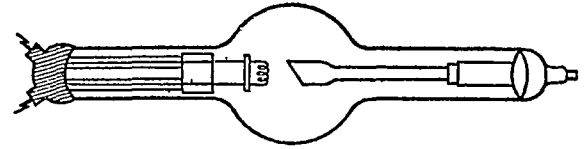
चित्र ३—कूलिज एक्सरे नलिका

विद्युद्विभव दिया जाय तो धारामापी मे विद्युद्धारा दिखाई देगी। किंतु इस रीति से इलेक्ट्रान प्राप्त करने के लिये अत्युच्च निर्वात की आवश्यकता होती है। कूलिज ने काच का एक विशाल वल्व लेकर उसके केंद्र मे उच्च गलनाकवाली धातु का एक टुकडा रखा (चित्र ३) और उसके अभिमुख टग्स्टन ततु के सर्पिल के पर्याप्त चक्र स्थापित करके सपूर्ण वल्व को पूर्णत निर्वात किया। यदि ततु के इस सर्पिल मे पर्याप्त विद्युद्धारा प्रवाहित की जाय तो ततु तप्त हो जाता हे तथा उससे इलेक्ट्रान प्राप्त होते हैं। इन इलेक्ट्रानो को विभव वढाकर उचित ऊर्जा दी जा सकती है। अत्युच्च निर्वात होने के कारण वायु के परमाणुओ से इलेक्ट्रानो के सघात नही होते, अत इलेक्ट्रान सपूर्ण ऊर्जा के साथ धातु से सघात करते हैं और एक्सरे का उत्पादन होता है। कूलिज की एक्सरे नलिका की मुख्य सुविधा यह है कि उत्पादित एक्सरे की तीव्रता तथा कठोरता मे इच्छानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। विभव को स्थिर रखकर ततु मे यदि अधिक विद्युद्धारा प्रवाहित की जाय तो ततु का ताप वढने के कारण रिचर्ड्सन के समीकरण के अनुसार इलेक्ट्रानो की सख्या भी वढती है, अत (इन इलेक्ट्रानो से) उत्पन्न एक्सरे की तीव्रता वढ जाती है। इलेक्ट्रानो की सख्या (अथवा उष्मीय आयन धारा) स्थिर रखकर (अर्थात् टग्स्टन ततु मे विद्युद्धारा स्थिर रखकर) यदि विभव वढाया जाय, तो समीकरण (३) के अनुसार न्यूनतम तरगदैर्घ्य कम हो जायगा और उत्पन्न एक्सरे की कठोरता अधिक हो जायगी। इस कूलिज नलिका पर आधारित, किंतु आवश्यक परिवर्तनो से युक्त अनेक प्रकार की एक्सरे नलिकाएँ वर्तमान काल मे उपयोग मे लाई जाती हैं। आधुनिक एक्सरे नलिकाओ मे एक अपचायी परिणामित्र (स्टेप डाउन ट्रैसफार्मर) से आवश्यक प्रत्यावर्ती धारा पहुँचाई जाती है और एक उच्चायी परिणामित्र (स्टेप अप् ट्रासफार्मर) से आवश्यक प्रत्यावर्ती उच्च विभव उत्पन्न किया जाता है। कूलिज नलिका स्वय ऋजुकारी है।

एक्सरे नलिका मे इलेक्ट्रानो में जो ऊर्जा होती है उसके दो प्रति शत से कुछ कम भाग का ही एक्सरे मे परिवर्तन होता है और शेष ९८ प्रति शत से कुछ अधिक भाग उष्मा उत्पन्न करने मे व्यय होता है। लक्ष्य का, अर्थात् उस धातु के टुकडे का जिसपर अल्पावधि मे इलेक्ट्रानो के असख्य सघात होते हैं, ताप इतना अधिक हो जाता है कि उसके गल जाने की सभावना रहती है। लक्ष्य को ठढा रखने के लिये पानी के निरतर प्रवाह का आयोजन किया जाता है। लक्ष्य मे उत्पन्न हुई उष्मा को इस प्रकार वरावर हटाते रहने से एक्सरे नलिका से अधिक समय तक कार्य लेने मे कोई कठिनाई नही होती।

एक्सरे का अध्ययन भौतिकी की दृष्टि से अत्यत महत्वपूर्ण तो था ही, धीरे धीरे एक्सरे का उपयोग, जैसा ऊपर वताया गया है, आयुर्विज्ञान और उद्योग मे भी होने लगा। इन सब कार्यो के लिये अधिक तीव्र तथा कठोर एक्सरे के उत्पादन की आवश्यकता वढती गई। इस समस्या को हल करने के लिये एक्सरे के क्षेत्र में कार्य करनेवाले अनेक वैज्ञानिको ने भिन्न भिन्न प्रकार की नलिकाएँ तथा उपकरणो की उपज्ञा की (सदर्भ ग्रथ देखे)। तीव्रता वढाने के लिये इलेक्ट्रानो की सख्या मे वृद्धि होना आवश्यक है। ततु में विद्युद्धारा वढाने से इलेक्ट्रानो की सख्या अवश्य वढती है, किंतु ततु का ताप अधिक वढने से उसके धातु का वाष्पन होता है और उसके क्षीण होकर टूटने की सभावना रहती है। साथ ही इलेक्ट्रानो के सघातो

से लक्ष्य मे जो उष्मा उत्पन्न होती है वह वढती जाती है, इससे लक्ष्य के गलने की सभावना वढ जाती है। इन दोनो कठिनाइयो को दूर करने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के प्रयत्न हुए और उनमे से कतिपय सफल भी रहे। आक्साइड विलेपित ततुओ से निम्न ताप पर अधिक इलेक्ट्रान धारा प्राप्त हो सकती है, फिर, पर्याप्त लवाई का ततुर्मपिल लेकर इष्ट धारा प्राप्त हो सकती है। साधारणत एक्सरे नलिकाओ मे १० से १५० मिलि-अपिअर विद्युद्धारा का उपयोग होता है, वर्तमान काल मे उचित ततुओ से तथा उपसाधनो से १ अपिअर अथवा उससे अधिक इलेक्ट्रान धारा सरलता से प्राप्त हो सकती है। इस तीव्र इलेक्ट्रान धारा से लक्ष्य मे जो प्रचड उष्मा उत्पन्न होती है उसको कम करने के लिये फिलिप्स, जनरल इलेक्ट्रिक, मैचलेट इत्यादि एक्सरे उपकरणो के निर्माताओ ने स्थिर लक्ष्य के स्थान पर घूर्णन करनेवाले मडलक का आयोजन किया है। घूर्णन से इलेक्ट्रानो के सघात एक ही स्थान पर नही होते और जिस स्थान पर उष्मा उत्पन्न हुई है उसके पुन सघातस्थान पर आने के पूर्व विकिरण द्वारा उष्मा का व्यय हो जाता है। घूर्णित लक्ष्य की एक्सरे नलिकाओ मे से जो एक्सरे प्राप्त होता है उसकी तीव्रता स्थिर लक्ष्य (कूलिज नलिका) से उत्पन्न एक्सरे की तीव्रता की अपेक्षा अनेक गुनी अधिक होती है, अर्थात् फोटो खीचने मे प्रकाशदर्शन (एक्सपोज़र) के समय मे वहुत वचत होती है।

एक्सरे की तीव्रता तथा कठोरता वढाने का दूसरा भी एक उपाय है। नलिका का विद्युद्विभव वढाने से भी तीव्रता तथा कठोरता दोनो ही वढती है। समीकरण (३) के अनुसार विभव वढाने से न्यूनतम तरगदैर्घ्य घटता जाता है और विभव पर्याप्त वढाने से गामा किरणो के सदृश तरगदैर्घ्य-वाले एक्सरे का उत्पादन प्रयोगशालाओ मे हो सकता है। विभव वढाने से एक्सरे की तीव्रता भी वढती है, तीव्रता विद्युद्विभव के घन (तृतीय घात) की समानुपाती होती है। यद्यपि साधारण उच्च विभव के परिणामित्र उपलब्ध थे तथापि एक्सरे उत्पादन के लिये पर्याप्त उच्च विभव प्राप्त करने मे अनेक कठिनाइयाँ थी। जनरल इलेक्ट्रिक, मैचलेट इत्यादि निर्माताओ ने अनेक अनुसधानो के पश्चात् एक करोड वोल्ट तक के विभव द्वारा एक्सरे उत्पन्न करनेवाले उपकरणो का निर्माण किया है। इससे भी अधिक प्रगति इलिनॉय के प्राध्यापक कर्स्ट ने वीटाट्रोन का उपयोग करके की है। वीटाट्रोन से ४० करोड वोल्ट तक के विभव द्वारा एक्सरे का उत्पादन हो सकता है। प्रचड विभव से उत्पन्न ये एक्सरे अत्यत तीव्र तथा प्रवेशशील होते है। अत्यत तीव्रतावाले एक्सरे उत्पन्न करने के लिये अन्य साधनो का भी उपयोग किया जाता है, जिनमे उल्लोल-जनित्र (सर्ज जेनरेटर) विशेष उल्लेखनीय है। प्रकाश से जैसे चलचित्र लिए जाते है, वैसे ही एक्सरे से भी लिए जा सकते है और वैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त होने के निमित्त इन चित्रो को अत्यत अल्प समय मे ($१०^{-६}$ सेकड मे) लेने की आवश्यकता होती है। उल्लोल जनित्र के विसर्जन से अत्यत उच्च उत्सर्जन धाराओ के नियत्रित विस्फोट उत्पन्न किए जाते है। यहाँ इलेक्ट्रानो का उत्पादन उष्ण विद्युदग्र से नही होता, अपितु शीत विद्युदग्र से तीव्र विद्युत् क्षेत्र के कारण इलेक्ट्रानो का उत्सर्जन होता है।

एक्सरे के गुण--ऊर्जा या तो कणो के साथ अथवा तरगो के साथ सयुक्त रहती है। किसी उद्गम से ऊर्जा का विसर्जन होता हो तो इस ऊर्जा का अस्तित्व साधारणत विद्युच्चुवकीय तरगो की (ध्वनि के लिये वायु के तरगो की) तीव्रता मे, अथवा इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान, आयन इत्यादि कणो की गतिज ऊर्जा के रूप मे, व्यक्त होता है। तरग और कण के स्वरूप भिन्न होते है, इसलिये इनको साधारणत भिन्न वर्गो मे रखा जाता है। किंतु अनेक प्रयोगो के फलो से यह स्पष्ट हो गया है कि इन वर्गो का वधन जितना दृढ समझा जाता था उतना दृढ नही है। विद्युच्चुवकीय तरगो मे कणो के गुण है और, विलोमत, कणो मे भी तरगो के गुण है। इस द्वैत रूप का प्रारभ प्लाक के उष्माविकिरण के सिद्धात से प्रारभ हुआ। एक्सरे के गुण भी इस द्वैत रूप के अपवाद नही है। एक्सरे के कतिपय गुण तरगो के है तथा कतिपय गुण कणो के भी है। पहले हम तरगीय गुणो पर विचार करेगे।

प्रारभिक प्रयोगो के फलो से यह स्पष्ट था कि एक्सरे और प्रकाश के गुणो मे साम्य है। एक्सरे तथा प्रकाश की किरणो का दिक् (स्पेस) मे सरल रेखाओ मे प्रचारण होता है। प्रकाश के समान एक्सरे की तीव्रता भी दूरी के वर्ग की प्रतिलोमानुपाती होती है। फोटो पट्टिका पर होनेवाली क्रिया तथा गैस मे किए गए आयनीकरण के गुणो मे भी दोनो मे साम्य है। १९०५ ई० मे मार्क्स ने प्रयोग द्वारा यह प्रमाणित किया कि एक्सरे का वेग प्रकाश के वेग के समान--अर्थात् ३×१०^{१०} से० मी० प्रति सेकड--है। वैद्युत तथा चुवकीय क्षेत्रो मे एक्सरे (प्रकाश के समान) अप्रभावित रहते है। इन सब गुणो से यह स्पष्ट था कि एक्सरे आवेशित कण नही, प्रकाश के समान विद्युच्चुवकीय प्रकृति के है। भेद केवल तरगदैर्घ्यो मे हो सकता है। हागा, विंड्ट, वाल्टेर, पोल, सोमरफेल्ड इत्यादि वैज्ञानिको के प्रयोगो से यह अनुमान किया जा सकता था कि एक्सरे का तरगदैर्घ्य १×१०^{-८} से० मी० के निकट है। किंतु प्रथम निर्णयात्मक फल लावे, फ्रीडरिश तथा क्निपिग के प्रयोगो से प्राप्त हुआ और एक्सरे की तरगप्रकृति प्रमाणित हुई। इस प्रयोग के पश्चात् एक्सरे की तरगप्रकृति सुस्पष्ट करने के तथा उसके सवध मे अन्य परिणामो के प्रायोगिक फल प्राप्त करने के अनेक प्रयत्न हुए। एक्सरे का तरगदैर्घ्य प्रकाश के तरगदैर्घ्य से वहुत कम (प्राय एक सहस्राश) होने के कारण जिन प्रयोगो द्वारा प्रकाश का तरगदैर्घ्य सरलता से मापा जा सकता है, वैसे प्रयोग एक्सरे के लिये करने मे अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। किंतु वर्तमान काल मे प्रकाशकी के प्रयोगो के समान एक्सरे का व्यतिकरण (इटरफियरेस), व्याभग (डिफ्रैक्शन), ध्रुवण (पोलैराइज़ेशन) इत्यादि गुण सुस्पष्ट करने के प्रयोग सफल हुए है और एक्सरे के तरगदैर्घ्य उतनी ही यथार्थता से ज्ञात हुए है जितनी से प्रकाशीय तरगो के ज्ञात हुए थे। जिन प्रयोगो से एक्सरे की तरगप्रकृति प्रमाणित होती है उनमे से कुछ नीचे दिए जा रहे है।

एक्सरे का व्यतिकरण--प्रकाशकी मे फ्रेनेल के व्यतिकरण के प्रयोग विशेष रूप से प्रसिद्ध है। फ्रेनेल के द्वित्रिपार्श्व (वाई-प्रिज्म) तथा द्विदर्पण का उपयोग करके व्यतिकरण सरलता से प्राप्त किया जा सकता है और यदि प्रकाश एक वर्ण का हो तो धारियो का मापन करके प्रकाश का तरगदैर्घ्य निकाला जा सकता है। १९३२ ई० मे केलस्ट्राम ने द्विदर्पण की रीति का उपयोग किया और ऐल्युमिनियम की के-ऐल्फा रेखा (तरगदैर्घ्य=८ ३ आगस्त्रम) से एक्सरे की व्यतिकरण धारियाँ प्राप्त की। प्रकाश के तरगदैर्घ्य की तुलना मे एक्सरे का तरगदैर्घ्य सूक्ष्म होने के कारण केलस्ट्राम के दोनो दर्पणो के वीच का कोण भी अत्यत सूक्ष्म था। प्रकाशकी मे व्यतिकरण का दूसरा प्रचलित प्रयोग लोईड के दर्पण का है। इसमे एक ही दर्पण का उपयोग किया जाता है, और व्यतिकरण धारियाँ मिलती है। एक्सरे के सवध में केलस्ट्राम का लोईड दर्पणप्रयोग भी सफल रहा। इन दोनो प्रयोगो मे धारियो के अत्यत सूक्ष्म रहने के कारण मापन के पूर्व फोटो के आवर्धन की आवश्यकता प्रतीत हुई। तरगदैर्घ्य के मापन के अतिरिक्त एक्सरे के लोईड दर्पणप्रयोग मे यह भी प्रमाणित हुआ कि परावर्तन के समय एक्सरे मे १८०° का कलापरिवर्तन होता है। विद्युच्चुवकीय सिद्धात के अनुसार यह अपेक्षित था।

एक्सरे का ध्रुवण--ध्रुवण अनुप्रस्थ तरगो का विशेष गुण है। तरग दो प्रकार के होते है (१) अनुदैर्घ्य, और (२) अनुप्रस्थ। इनमे केवल अनुप्रस्थ तरगो का ध्रुवण हो सकता है। एक्सरे के ध्रुवण की परीक्षा पहले पहल वार्क्ला ने १९०६ मे की। वार्क्ला ने कार्वन के एक टुकडे से एक्सरे का प्रकीर्णन किया। उसने प्रकीरित एक्सरे का पुन दूसरे कार्वन के टुकडे से प्रकीर्णन किया। दूसरी वार प्रकीरित एक्सरे की तीव्रता को दो परस्पर लव दिशाओ मे मापित करने से यह निष्कर्ष निकला कि इस रीति से ७०% ध्रुवण होता है। वार्क्ला के प्रयोग के समान पुन १९२४ मे कॉम्पटन एव हागेनाऊ ने प्रयोग किए किंतु अव सूक्ष्म विकीरक का उपयोग किया गया। इस प्रयोग मे गुणज प्रकीर्णन का अभाव था, अत लगभग शतप्रतिशत ध्रुवण प्राप्त हुआ। ध्रुवण की यह मात्रा जे० जे० टॉमसन के सिद्धात के अनुसार अपेक्षित थी। प्रयोग के इस फल से एक्सरे की केवल तरगप्रकृति ही नही अपितु प्रकीर्णन का विद्युच्चुवकीय सिद्धात भी प्रमाणित होता है।

एक्सरे का वर्तन--एक माध्यम मे से दूसरे माध्यम मे जाते समय जैसे प्रकाश का उसी प्रकार इस क्रिया म एक्सरे का भी वर्तन होता है, किंतु उनके तरगदैर्घ्य अत्यत सूक्ष्म होने के कारण वर्तन भी अत्यत सूक्ष्म होता है। समीकरण **तरंगदैर्घ्य $\times$ आवृत्ति = वेग** के अनुसार, एक्सरे की आवृत्ति विशाल होने के कारण, एक्सरे का वर्तनाक १ से कम होता है। लारसन, सीगवान्न और

वालेर ने १९२४ में एक्सरे के वर्तन का यथार्थ मापन किया। चित्र ४ मे एक दीर्घ छिद्र (झिरी) मे से पार होने के पश्चात् एक्सरे त्रिपार्श्व मे अत्यत सूक्ष्म कोण पर प्रवेश करते हैं। निर्गत किरण के तीन विभाग होते हैं (१) दिष्ट किरण, (२) परावर्तित किरण, और (३) वर्तित किरण। एक्सरे का वर्तनाक १ से कम होता है, अत वर्तित किरण की मुडने की दिशा प्रकाशकिरण की मुडने की दिशा के विपरीत होती है। एक्सरे का वर्तनाक सामान्यत १–ड (I–n) इस रूप मे व्यक्त किया जाता है, और ड (n) का मान $१०^{-७}$ से $१०^{-६}$ तक होता है।

एक्सरे का वर्तनाक ज्ञात करने की अनेक रीतियाँ हैं जिनमे से निम्नलिखित रीति विशेष प्रसिद्ध है। इसमें पूर्ण-परावर्तन-कोण का मापन किया जाता है। इस कार्य के लिये आपतित एकवर्णीय एक्सरे प्रमार्जित (पालिश किए) तल से लगभग समानातर ली जाती हैं और परावर्तित किरणो की तीव्रता मापित की जाती है। इसके बाद प्रमार्जित तल को क्रमश घुमाकर प्रत्येक कोण के लिये परावर्तित किरणो की तीव्रता का मापन करने
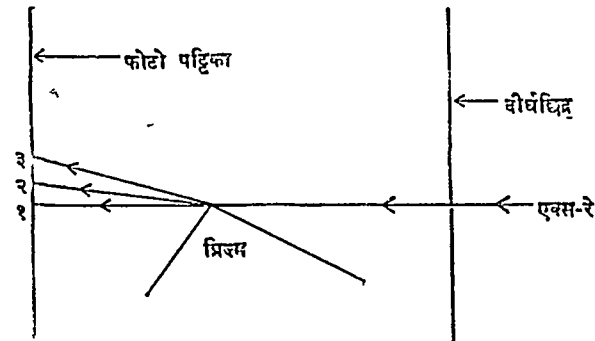
चित्र ४ एक्सरे का परावर्तन और वर्तन

फोटो पट्टिका के ऊपर तीन प्रतिबिंब प्राप्त होते हैं (१) दिष्ट-किरण, (२) वर्तित किरण और (३) परावर्तित किरण।

से क्रातिक कोण (अर्थात् पूर्ण परावर्तन का कोण) ज्ञात हो जाता है। यदि यह कोण थ (r) हो तो ड (n) $=\frac{1}{2}$ थ^2 ($\frac{1}{2}r^2$) अर्थात् एक्सरे का वर्तनाक $=$ १–ड (I–n) $=$ १$-\frac{1}{2}$ थ^2 ($I-\frac{1}{2}r^2$)। इस प्रकार पूर्ण परावर्तन का कोण ज्ञात करके भिन्न भिन्न पदार्थों के लिये एक्सरे का वर्तनाक निकाला जा सकता है। यद्यपि इस क्रातिक कोण का मान बहुत कम होता है तथापि इस गुण पर आधारित एक्सरे-सूक्ष्मदर्शी बनाने के कर्क पैट्रिक के प्रयत्न अशत सफल हुए हैं।

एक्सरे का व्याभग––तरगो के प्रचारण मे यदि कोई अवरोध हो तो तरगो का पथ ऋजु नही रहता प्रत्युत जिस स्थान पर अवरोध रहता है वहाँ से पथ की दिशा में परिवर्तन हो जाता है। एक्सरे के तरगदैर्घ्य अत्यत सूक्ष्म होने के कारण उनके पथ की दिशा में जो परिवर्तन होता है (जिसको व्याभग कहते है) वह अत्यत सूक्ष्म होता है। प्रकाशकी मे ऋजु-धार, दीर्घ छिद्र तथा तार से प्रकाशकिरणो का जो व्याभग होता है वह विशेष रूप से प्रसिद्ध है। १९२९ मे लारसन ने ऐल्यूमिनियम की के-ऐल्फा रेखा (तरगदैर्घ्य ८ ३ आगस्त्रम) से ० ००५५ मिलीमीटर चौडाई के दीर्घ छिद्र का उपयोग करके निर्वात मे व्याभग प्राप्त किया। १९३२ मे केलस्ट्राम नें टग्स्टन का ० ००३८ मिलीमीटर व्यास का तार लेकर उसी तरगदैर्घ्य (८ ३ आगस्त्रम) के एक्सरे से निर्वात मे व्याभग प्राप्त किया। ये दोनो व्याभग प्रकाशकी के व्याभग के सदृश थे। यद्यपि इन प्रयोगो से एक्सरे की तरगप्रकृति स्पष्ट होती है तथापि तरगदैर्घ्यो के मापन के लिये इनका विशेष उपयोग नही हो सकता। तरगदैर्घ्य के मापन के लिये व्याभग-झर्झरी (डिफ्रैक्शन ग्रेटिंग) का उपयोग किया जाता है। प्रकाशकी में जिस प्रकार व्याभग-झर्झरी का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार उपयोग करके ए०एच० कॉम्पटन, विर्डन, थीबो, ओस्गुड, बेकलीन इत्यादि वैज्ञानिको ने एक्सरे के तरगदैर्घ्यो का मापन किया। इस रीति का उपयोग विशेषत मृदु एक्सरे के तरगदैर्घ्यो के मापन के लिये होता है। मृदु एक्सरे के तरगदैर्घ्य प्रकाशकी के परानील लोहातित किरणो के तरगदैर्घ्यो के निकट होते हैं, अत एक्सरे और प्रकाश में तरगदैर्घ्यो की भिन्नता के अतिरिक्त सैद्धातिक दृष्टि से कोई अतर नही है। मृदु एक्सरे के प्रयोगो के लिये निर्वात की आवश्यकता होती है, क्योकि हवा में इनका शीघ्रता से अवशोषण होता है।

उपर्युक्त एक्सरे-व्याभग के प्रयोग प्रकाशीय प्रयोगो के समान हैं, किंतु एक्सरे के व्याभग का विशेष महत्वपूर्ण आविष्कार इन प्रयोगो के पूव १९१२ मे लावे, फ्रीडरिश और क्निपिंग ने किया था। इनके आविष्कार को विशेष महत्वपूर्ण मानने के दो कारण हैं। एक्सरे की तरगप्रकृति पूर्णतया सिद्ध करने के अतिरिक्त इस आविष्कार से (१) मणिभो की अतस्थ सरचना ज्ञात करने की अत्यत उपादेय रीति प्राप्त हुई तथा (२) एक्सरे का वर्णक्रम मापने का साधन उपलब्ध हुआ। लावे की रीति अत्यत सरल है। इस रीति में एक्सरे नलिका से प्राप्त श्वेत किरणें (जिनमे सभी तरगदैर्घ्यो के एक्सरे होते हैं) एक पतले मणिभ के टुकडे मे से जाती हैं और दूसरी ओर रखी हुई फोटो पट्टिका पर (मणिभतलो से व्याभजित होने के पश्चात्) एक्सरे के बिंदुओ की सममित आकृतियाँ बनाती हैं। इस रीति से थोडी भिन्न रीति डब्ल्यू० एल० ब्रैग और डब्ल्यू० एच० ब्रैग की है। इनकी रीति में एक विशेष दीर्घ छिद्र द्वारा समातर एक्सरे प्राप्त किए जाते है और मणिभ के तल पर उनका आपतन होता है। मणिभ को घुमाने पर विशेष आपतन कोण पर परावर्तित किरणो की तीव्रता में विशेष वृद्धि होती है। यदि तीव्रतापरिचायक के स्थान पर फोटो पट्टिका रखी जाय तो प्रकाशकी के समान एक्सरे का भी वर्णक्रम प्राप्त होता है।

एक्सरे का वर्णक्रम और परमाणुओ की सरचना––एक्सरे नलिका से प्राप्त हुई किरणो की वर्णक्रमीय तीव्रता सामान्यत चित्र २ के वक्र के समान होती है, किंतु विभव को एक क्रातिक मान से अधिक बढाने पर विशेष तरगदैर्घ्यो के किरणो की तीव्रता शीघ्रता से बढने लगती है। इस क्रातिक विभव का तथा विशेष तरगदैर्घ्य का मान लक्ष्य की धातु पर (तत्व पर) निर्भर रहता है। इन विशेष किरणो को लाक्षणिक एक्सरे कहा जाता है, क्योकि इनके तरगदैर्घ्यो से उद्गम (लक्ष्य) का लक्षण निश्चित होता है। यद्यपि इनका अस्तित्व वार्क्ला ने १९०८ मे स्थापित किया था, तथापि इनका सुव्यवस्थित अध्ययन मोस्ले ने १९१३-१४ मे किया। मोस्ले ने पोटैशियम फेरोसाइनाइड के मणिभ का उपयोग ब्रैग की विधि के अनुसार किया और लक्ष्य के स्थान पर ऐल्यूमिनियम से लेकर सुवर्ण तक क्रमश अडतीस तत्व रखे। प्रत्येक तत्व से जो लाक्षणिक एक्सरे उत्सर्जित होते थे उनका वर्णक्रम फोटो पट्टिका पर अभिलिखित किया जाता था। मोस्ले के प्रयोगो से विभिन्न तत्वो के एक्सरे वर्णक्रमो के विषय मे जो ज्ञान प्राप्त हुआ उससे अत्यत महत्व के निष्कर्ष निकले। मोस्ले के कार्य से तथा उसके पश्चात् एक्सरे के वर्णक्रम मे जो अन्य आविष्कार हुए उनके फलो से परमाणुओ की सरचना के सबध में निश्चित ज्ञान उपलब्ध हुआ और बोर सिद्धात की पुष्टि हुई।

एक्सरे का वर्णक्रम प्रकाशीय वर्णक्रम से अधिक सरल एव कम रेखाओ का होता है। वर्तमान काल मे समस्त ज्ञात तत्वो के एक्सरे-वर्णक्रमो का मापन हुआ है। प्रत्येक तत्व के एक्सरे वर्णक्रम मे रेखा-समुदाय होते हैं और साधारणतया प्रत्येक समुदाय मे निश्चित रेखाएँ होती हैं। प्रत्येक एक्सरे वर्णक्रम मे भिन्न भिन्न रेखाओ के तरगदैर्घ्य भिन्न भिन्न होते हैं। जिस प्रकार प्रकाशीय वर्णक्रम प्रत्येक तत्व के लिये (अथवा सपट्ट वर्णक्रम प्रत्येक अणु के लिये) लाक्षणिक होता है वैसे ही एक्सरे वर्णक्रम तत्व के लिये लाक्षणिक होता है, अत किसी अज्ञात लक्ष्य के घटक उससे प्राप्त हुए एक्सरे के वर्णक्रम का विश्लेषण करके सरलता से ज्ञात हो सकते हैं।

एक्सरे वर्णक्रम मे प्रत्येक रेखासमुदाय तथा प्रत्येक रेखाप्रणाली के लिये अतरराष्ट्रीय सज्ञा दी गई है। निम्नतम तरगदैर्घ्य के समुदाय को के (K) प्रणाली कहा जाता है और इससे अधिक तरगदैर्घ्यो के समुदायो को क्रमश एल, एम, एन, ओ इत्यादि ($L, M, N, O,$) सज्ञाएँ दी गई हैं। प्रत्येक तत्व मे ये सब समुदाय नही होते। जैसे जैसे तत्व का परमाणुक्रमाक बढता जाता है वैसे वैसे क्रमानुसार ये समुदाय प्राप्त होते हैं। प्रत्येक तत्व के परमाणु मे एक नाभिक होता है और उसके बाहर जो इलेक्ट्रान होते हैं वे निश्चित सख्या मे पृथक् कवचो मे रहते हैं (देखें परमाणु)। एक्सरे वर्णक्रम के समुदायो के अध्ययन से इन

एक्सरे की प्रकृति (देखे पृष्ठ १८७)
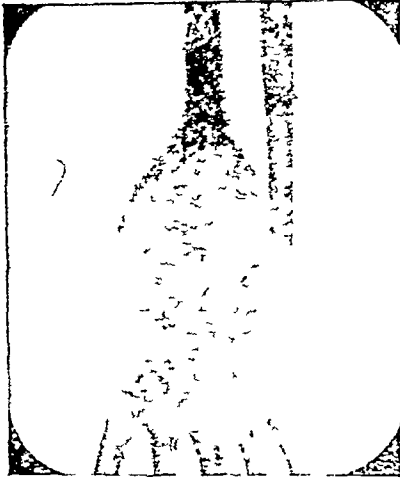
(१) (२)

ऊपर—
बाईं ओर अंत प्रकोष्ठास्थि (radius) के निचले सिरे पर माइएलोमा (myeloma) अर्बुद दिखाई पड रहा है, दाहिनी ओर (१) अग्रबाहु की अंतर्जंघिका के काय (body) के मध्य भाग मे अस्थिभग्न (fracture) है, (२) अस्थि के निचले भाग मे टूटी हुई हड्डी को प्लेट और पेचो से जोडा गया है।
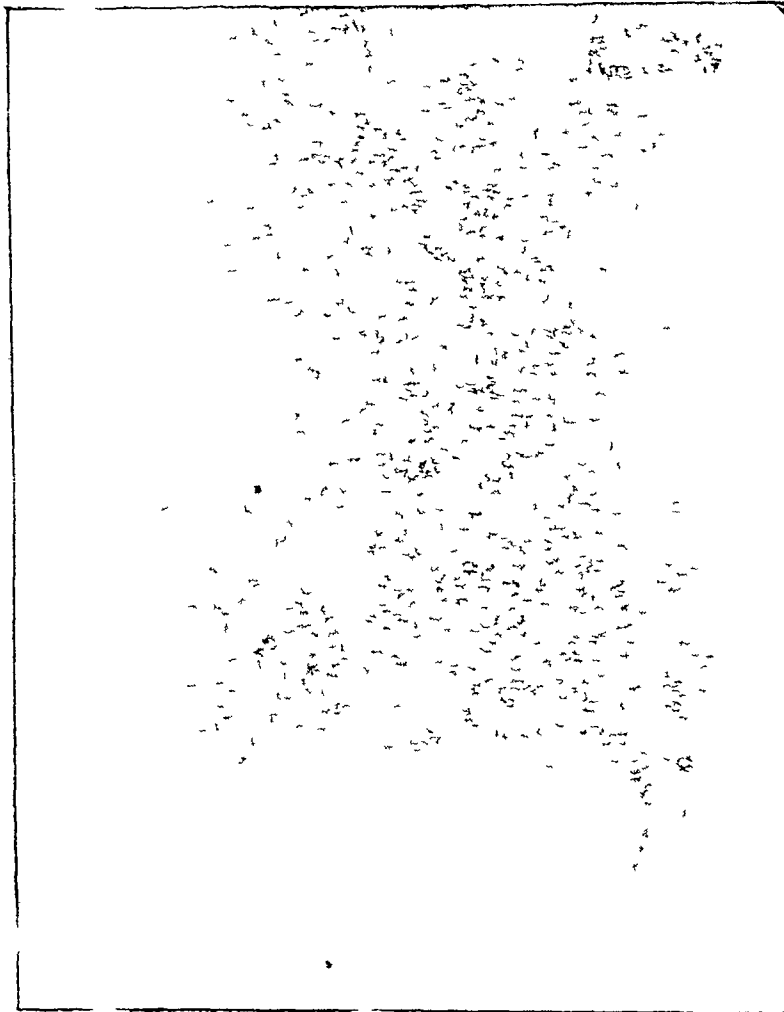
नीचे—
पूर्णकाल के गर्भ मे माता की श्रोणि (Pelvis) मे भ्रूण के सिर की अस्थियो की सीमा-रेखाएँ दिखाई दे रही है। चित्र के बाएँ भाग मे भ्रूण की कशेरुकाओ की छाया भी दिखाई पडती है।

एक्सरे की प्रकृति (देखे पृष्ठ १८७)
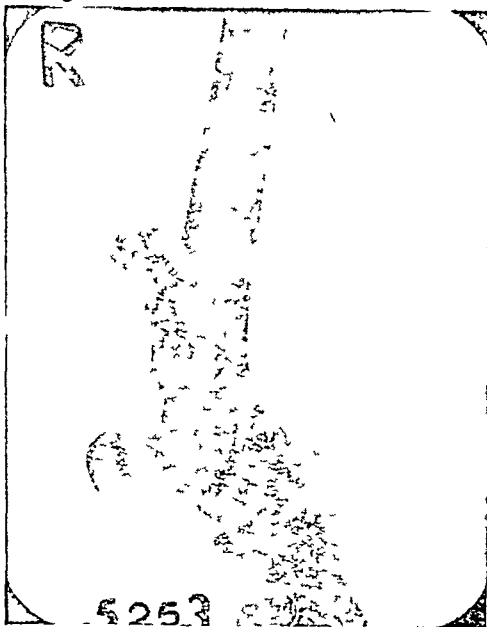
विविध एक्सरे चित्र

ऊपर बाई ओर बेरियम खिलाकर पेट का एक्सरे चित्र लिया गया है। इसमे × चिह्न के ऊपर एक आमाशयिक व्रण (gastric ulcer) का शिखर दिखाई पड रहा है, ऊपर दाहिनी ओर टाग के भीतर की ओर की प्रजघिकास्थि (Tibia) ऊपरी भाग मे घातक अर्बुद (malignant tumour) से आक्रात होकर गल गई है। दूसरी अनुजघिका का ऊपरी सिरा भी आक्रात हो गया हे, नीचे बाई ओर इस चित्र मे ऊर्वस्थि (Femur) के निचले सिरे के पास से अस्थ्यर्बुद (osteoma, एक प्रकार का अर्बुद) निकला हुआ दिखाई पड रहा हे, नीचे दाहिनी ओर चित्र मे दाँतो की रचना दिखाई पड रही है। एक दाँत टेढा निकला है।

इलेक्ट्रानीय कवचो की ऊर्जा ज्ञात की जा सकती है। इस ऊर्जा को निश्चित करने के तीन प्रमुख साधन है (१) एक्सरे वर्णक्रमीय रेखाओ की आवृत्तियाँ, (२) अवशोषण-एक्सरे-वर्णक्रम, तथा (३) एक्सरे का किसी पदार्थ पर आपतन होने के पश्चात् उत्सर्जित द्वितीयक इलेक्ट्रानो का ध्रुवकीय वर्णक्रम। एक्सरे वर्णक्रम के अध्ययन से नाभिक के बाह्य इलेक्ट्रानो के विषय मे इस प्रकार से अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

मोस्ले के प्रयोगो से यह ज्ञात हुआ कि यदि के, एल इत्यादि (K, L, .) समुदायो की कोई भी एक वर्णक्रमरेखा लेकर भिन्न भिन्न तत्वो के एक्सरे-वर्णक्रमो मे उसी रेखा की सगत रेखाएँ ली जायँ तो उनकी आवृत्तियो मे एक सरल सबध रहता है। इन रेखाओ की आवृत्तियो तथा तत्व के परमाणु-क्रमाक मे निम्नलिखित समीकरण के अनुसार पारस्परिक सबध रहता है

$\sqrt{}$ (आवृत्ति) = (क्र—ख) $\sqrt{}$क, [$\sqrt{}$ (आवृत्ति) = $(j-b)\sqrt{a}$]

अर्थात् आवृत्ति=क (क्र—ख)^२
आवृत्ति=$a(j-b)^२$ ... (४)

जहाँ क (a)=एक स्थिराक, ख (b)=दूसरा स्थिराक, क्र (j)= परमाणु क्रमाक।

समीकरण (४) को मोस्ले का नियम कहते है। इस समीकरण मे स्थिराक क (a) और ख (b) समस्त तत्वो की विशिष्ट वर्णक्रमरेखा के लिये समान होते है। समीकरण (४) के अनुसार आवृत्ति तथा परमाणु-

चित्र ५
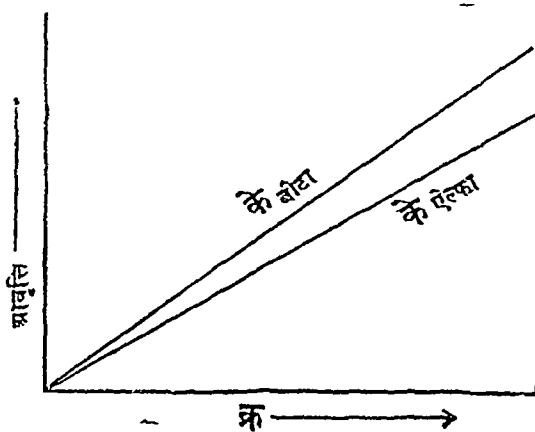
क्रमाक का सबध चित्र ५ मे दिया गया है। इस प्रकार की सरल रेखाएँ प्रत्येक समुदाय की प्रत्येक वर्णक्रम रेखा के लिये होती है। मोस्ले का यह नियम एक्सरे-वर्णक्रम-सिद्धात मे मौलिक है और फिर इस नियम के यथार्थ आकलन के लिये जो प्रयत्न हुए उनसे पारमाणवीय भौतिकी मे परमाणुओ की सरचना के सिद्धात स्थिर करने मे भी विशेष लाभ हुआ। समीकरण (४) से यह स्पष्ट है कि आवर्तसारणी मे किसी तत्व का स्थान परमाणु-क्रमाक से ही निश्चित होगा, परमाणुभार से नही। यदि तत्वो का स्थान आवर्तसारणी मे परमाणुभारो के अनुसार दिया जाय तो आरगन और पोटैसियम, कोबल्ट और निकल इत्यादि तत्वो के स्थान विपरीत पडते है, किंतु यदि मोस्ले के नियम के अनुसार एक्सरे वर्णक्रम से प्राप्त तत्व-परमाणु-क्रमाक दिए जायँ तो आवर्तसारणी मे प्रत्येक तत्व को यथोचित स्थान मिलता है। इस नियम से और भी एक लाभ हुआ। मोस्ले का नियम जिस समय प्रकाशित हुआ, उस समय तक जो तत्व अज्ञात थे उनके अस्तित्व की भी भविष्यवाणी हुई और तदनतर उनका आविष्कार हुआ, उदाहरणार्थ हैफनियम, रेनियम इत्यादि।

बोर के परमाणु सिद्धात के अनुसार एक्सरे वर्णक्रम के समस्त प्रायोगिक फलो की व्याख्या सरलता से की जा सकती है। प्रयोग द्वारा यह ज्ञात था कि निम्न परमाणुक्रमाक के तत्वो के लिये केवल के (K) प्रणाली का अस्तित्व होता है (किंतु इन तत्वो की के (K) प्रणालियो के तरगदैर्घ्य अधिक होने से उनका समावेश एक्सरे विभाग मे नही होता था) और जैसे जैसे परमाणुक्रमाक बढता जाता है वैसे वैसे क्रमश. एल, एम, एन, ओ, पी इत्यादि (L, M, N, O, P,) प्रणालियाँ प्राप्त होती है।

साथ ही यह भी ज्ञात था कि के (K) प्रणाली को उत्तेजित करने के लिये सबसे अधिक विभव की आवश्यकता है, और एल, एम, एन इत्यादि (L, M, N,) प्रणालियो के लिये क्रमश उनसे कम विभव आवश्यक होता है। अत यह स्पष्ट है कि परमाणु मे प्रत्येक इलेक्ट्रान कवच के साथ विशिष्ट ऊर्जा होती है। फलत के (K) कवच नाभिक के निकट होता है और उसके पश्चात् क्रमश एल, एम, एन इत्यादि (L, M, N,) कवच होते है, अत इन प्रणालियो को उत्तेजित करने के लिये क्रमश कम ऊर्जा की आवश्यकता होगी। प्रकाशीय वर्णक्रम के सिद्धात मे जैसे समान ऊर्जा के रेखाचित्र दिए जाते है, उसी प्रकार का (किंतु अधिक सरल किया हुआ) रेखाचित्र चित्र ६ मे एक्सरे वर्णक्रम के लिये दिया जा रहा है।

के, एल इत्यादि (K, L,) प्रणालियाँ कैसे उत्तेजित होती है और उनकी रेखाओ के तरगदैर्घ्य (अथवा आवृत्तियाँ) क्या होगे, यह चित्र ६ से स्पष्ट है। आकृति मे के (K) प्रणाली मे एल (L) कवच के तीनो उपविभागो से इलेक्ट्रानो का सक्रमण नही होता, केवल दो उपविभागो से

K system
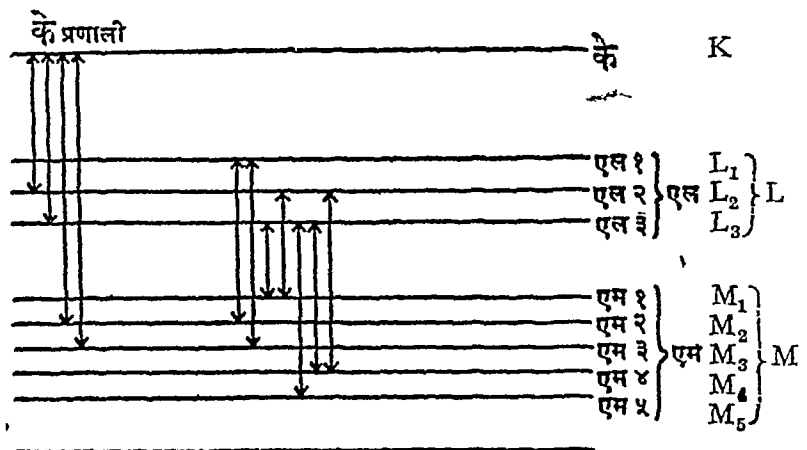
चित्र ६—एक्सरे-ऊर्जा-तल रेखाचित्र

होता है। सक्रमण के विशेष नियम है, जिनके अनुसार सक्रमण होकर ऊर्जा का एक क्वाटम मिलता है। इन नियमो के अनुसार प्रत्येक उपविभाग (अथवा ऊर्जास्तर) को जो विशेष क्वाटम अक दिए गए है उनमे केवल नियत परिवर्तन सभाव्य है। अत इलेक्ट्रान किसी ऊर्जास्तर से अन्य किसी भी स्तर पर स्वेच्छानुसार सक्रमण नही कर सकता, केवल अनुमोदित स्तरो पर ही उसका सक्रमण हो सकता है।

एक्सरे का प्रकीर्णन तथा प्रकाशवैद्युत प्रभाव—व्यतिकरण, ध्रुवण, वर्तन, व्याभग इत्यादि गुणो से एक्सरे की तरगप्रकृति प्रमाणित होती है, किंतु एक्सरे के अन्यान्य ऐसे गुण भी है जिनका स्पष्टीकरण तरगप्रकृति के आधार पर नही हो सकता। इन गुणो मे हम पहले प्रकीर्णन पर विचार करेगे। एक्सरे का किसी पदार्थ पर आपतन होने पर प्रकीर्णन होता है और प्रकीर्ण एक्सरे मे तीन प्रकार की किरणे होती है (१) अपरिवर्तित एक्सरे, (२) प्रतिदीप्त एक्सरे और (३) परिवर्तित एक्सरे। इन तीनो प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे का उद्भव कैसे होता है इसके आकलन के पूर्व इसका विचार करना आवश्यक होगा कि प्रकीर्ण एक्सरे का उद्गम कैसे होता है।

एकवर्ण (समान तरगदैर्घ्य के) एक्सरे का जब किसी पदार्थ पर आपतन होता है, तब पदार्थ के परमाणुओ के इलेक्ट्रानो पर एक्सरे के विद्युच्चुबकीय क्षेत्र की क्रिया होती है। इससे इलेक्ट्रानो मे कपन होने लगता है, अत समस्त दिशाओ मे एक्सरे का (अथवा विद्युच्चुबकीय तरगो का) प्रकीर्णन होता है। प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार इस प्रकार के जो प्रकीर्ण एक्सरे होते है उनकी आवृत्ति प्रारभिक एक्सरे की आवृत्ति के समान ही होती है। अत प्रतिष्ठित भौतिकी के अनुसार प्रकीर्ण एक्सरे की आवृत्ति मे (अथवा तरगदैर्घ्य मे) कोई भी परावर्तन नही होता। इस प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे को अपरिवर्तित प्रकीर्ण एक्सरे कहते है और इनका अस्तित्व सरलता

से प्रमाणित किया जा सकता है। यदि आपाती एक्सरे की ऊर्जा के, एल इत्यादि ($K, L,$) कवचों के इलेक्ट्रानो को विस्थापित करने के लिये पर्याप्त हो, तो कुछ किरणो की वद्ध इलेक्ट्रानो पर क्रिया होगी और वे विस्थापित होगे। अत इन रिक्त स्थानो पर परमाणुओ के अन्य इलेक्ट्रानो का आक्रमण (चित्र ६ के अनुसार) होगा और एक्सरे वर्णक्रम प्राप्त होगा। इस प्रकार के प्रकीर्ण एक्सरे को प्रतिदीप्त एक्सरे कहा जाता है। अत ये प्रतिदीप्त एक्सरे प्रकीर्ण पदार्थ के लाक्षणिक एक्सरे होगे और इनका विश्लेषण करने से प्रकीर्णन करनेवाले पदार्थ के घटको का ज्ञान हो सकता है। आजकल यह रीति अधिकतर औद्योगिक क्षेत्रो मे प्रयुक्त होती है। इस रीति की विशेषता यह है कि गाइगर-मुलर गणक की सहायता से विश्लेषण अल्प काल मे होता हे (रासायनिक मात्रात्मक विश्लेषण के लिये वहुत अधिक समय लगता है) और पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट नही होता।

सैद्धातिक दृष्टि से प्रकीर्ण एक्सरे का तीसरा प्रकार, परिवर्तित एक्सरे, विशेष महत्वपूर्ण है। के, एल इत्यादि ($K, L,$) आतरिक कवचो के इलेक्ट्रानो का नाभिक से दृढ वधन रहता है, किंतु वाह्य कवचो के इलेक्ट्रानो का वधन शिथिल रहता है। ठोस पदार्थों में, विशेषत धातुओ मे, वाह्य कवच के इलेक्ट्रानो का वधन इतना शिथिल होता है कि कतिपय इलेक्ट्रान प्राय स्वतत्र रहते हैं--अर्थात् ये इलेक्ट्रान धातु के भीतर तो रहते हैं किंतु किसी एक ही परमाणु से उनका सतत वधन नही रहता। ऐसे इलेक्ट्रानो को स्वतत्र इलेक्ट्रान कहा जाता है। ऐसे इलेक्ट्रान से एक्सरे का सघात होने पर थोडी ऊर्जा इलेक्ट्रान को भी मिलेगी और ऊर्जा-अविनाशिता सिद्धात के अनुसार प्रकीरित किरण की ऊर्जा प्रारभिक ऊर्जा से उतनी ही मात्रा मे कम होगी, अर्थात् प्रकीरित किरण की आवृत्ति कम होगी (क्योकि क्वाटम सिद्धात के अनुसार एक्सरे-किरण-ऊर्जा=प्लाक का स्थिराक × आवृत्ति)। प्रकीरित एक्सरे में आपाती एक्सरे के तरग-दैर्घ्य से कम तरगदैर्घ्य के एक्सरे का अस्तित्व पहले पहल ए० एच० कॉम्पटन ने स्थापित किया। इस प्रकार की घटना से समस्त सगत परिणामो का (जैसे परिवर्तित एक्सरे का तरगदैर्घ्य, प्रकीर्णन गुणक, प्रकीरित एक्सरे की तीव्रता का दिक् (स्पेस) मे विभाजन, प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रान की ऊर्जा तथा दिशा इत्यादि का) प्रायोगिक अध्ययन कॉम्पटन ने किया। सी० टी० आर० विल्सन ने भी अन्य रीति से प्रतिक्षेपित इलेक्ट्रानो का अध्ययन किया। इन सव प्रायोगिक फलो का समर्थन प्रतिष्ठित विद्युच्चुवकीय सिद्धात द्वारा नही होता था। गणना करके कॉम्पटन ने यह प्रमाणित किया कि आपाती एक्सरे को (विद्युच्चुवकीय) तरगमालिका न समझकर यदि हम उन्हें एक्सरे फोटान (कण) समूह समझे, तो इलेक्ट्रानो से सघात सवधी ऊर्जा तथा आवेग के अविनाशिता-सिद्धात से प्राप्त फल प्रायोगिक फलो के अनुकूल होते हैं। अत कॉम्पटन प्रकीर्णन मे एक्सरे को तरग समझना अनुचित है और इस प्रकार के सघात मे एक्सरे के फोटान का अस्तित्व मानना पडता है। फोटान की ऊर्जा=प्लाक का स्थिराक×आवृत्ति। कॉम्पटन-प्रभाव विशेष महत्व का है, क्योकि इससे प्रमाणित होता है कि प्रकीर्णन मे एक्सरे का व्यवहार तरगो जैसा नही, कणो के समान है।

प्रकीर्णन के साथ साथ प्रकाशवैद्युत प्रभाव मे भी एक्सरे का व्यवहार तरगो के सदृश नही अपितु कणो के--फोटानो के--सदृश होता है। जव किसी पदार्थ पर एक्सरे का आपतन होता है तव उस पदार्थ के परमाणुओ के इलेक्ट्रानो से उसका सघात होता है। इन सघातो मे एक्सरे की ऊर्जा इन इलेक्ट्रानो को मिलती है और ये इलेक्ट्रान परमाणुओ से दूर प्रक्षिप्त हो जाते हैं। ऊर्जा पर्याप्त होने के कारण ये इलेक्ट्रान पदार्थ के वाहर निकलते हैं और चुवकीय क्षेत्र से इनको केंद्रित किया जा सकता है। चुवकीय क्षेत्र यदि एक समान तथा पर्याप्त तीव्रता का हो तो निश्चित वेग के इलेक्ट्रानो का निश्चित स्थान पर ही पतन होता है। इस प्रकार प्राप्त हुए प्रकाश-इलेक्ट्रानो के (फोटो-इलेक्ट्रानो के) वर्णक्रमो का अध्ययन करके अनेक महत्वपूर्ण अनुमान किए गए हैं। यदि एक्सरे समान तरग-दैर्घ्य के (अथवा एक वर्ण के) हो, तो प्रकाश-इलेक्ट्रानो के वर्णक्रम मे सुस्पष्ट रेखाएँ आती हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इलेक्ट्रानो को मुक्त करने के लिये निश्चित ऊर्जा ली गई है। यदि पदार्थ में इलेक्ट्रान मुक्त हो तो एक्सरे की सपूर्ण ऊर्जा उनको मिलेगी (यहाँ धातु से वाहर निकलने के लिये इलेक्ट्रान को जितनी ऊर्जा की आवश्यकता होती है वह एक्सरे की ऊर्जा की तुलना में उपेक्षणीय होती है, किंतु प्रकाशकी मे प्रकाशकिरण की ऊर्जा की तुलना में वह उपेक्षणीय नही होती) और इस चुवकीय वर्णक्रम में महत्तम ऊर्जा के इलेक्ट्रान रहेगे। इन महत्तम ऊर्जा के इलेक्ट्रानो के साथ साथ, जिनमे निश्चित ऊर्जा की हानि हुई है, ऐसे इलेक्ट्रानो के अस्तित्व का स्पष्टीकरण केवल इसी अनुमान से हो सकता है कि ये इलेक्ट्रान विशिष्ट ऊर्जा द्वारा परमाणु के नाभिक से वद्ध थे। अत उनको मुक्त करने के लिये एक्सरे के फोटानो की ऊर्जा से उतनी ही ऊर्जा का व्यय हुआ और शेष ऊर्जा इलेक्ट्रानो को मिली। अर्थात् इस प्रयोग से के, एल इत्यादि कवचो की ऊर्जा की सरलता से गणना की जा सकती है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि एक्सरे और वद्ध इलेक्ट्रान के सघात कणो के सघातो के समान होते हैं, अर्थात् इन सघातो में एक्सरे की तरगप्रकृति नही दिखाई देती है। प्रायोगिक अध्ययनो से एक्सरे की ऊर्जा तथा उनसे प्राप्त फोटो इलेक्ट्रानो की ऊर्जा में निम्नलिखित सवध प्राप्त हुआ है

फोटो इलेक्ट्रान की ऊर्जा = फोटान की ऊर्जा = -ऊ$_q$ (E_p) (५)

यहाँ फोटान की ऊर्जा = प्लाक का स्थिराक × आवृत्ति, तथा ऊ$_q$ (E_p) = के, एल इत्यादि कवचो की वधन ऊर्जा।

अनेक प्रयोगो द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि कॉम्पटन प्रभाव मे तथा प्रकाशवैद्युत प्रभाव मे एक्सरे का व्यवहार कणो के समान होता है, अत एक्सरे को हम कण समझे अथवा तरग, यह प्रयोगविशेष की प्रकृति पर निभर होगा। एक्सरे की इस द्वैध प्रकृति के समान इलेक्ट्रानो की भी द्वैध प्रकृति है। कतिपय प्रयोगो मे इलेक्ट्रानो का व्यवहार कणो के समान होता है, तो अन्य प्रयोगो मे (उदाहरणार्थ इलेक्ट्रान-व्याभग में) तरगो के समान।

एक्सरे और मणिभ--एक्सरे से मणिभ सरचना जानने में विशेष सहायता मिलती है (देखे **एक्सरे और मणिभ सरचना**)।

एक्सरे के अन्य उपयोग--एक्सरे के विशिष्ट गुणों के कारण उनका उपयोग विस्तृत रूप से विज्ञान की अनेक शाखाओ तथा विभिन्न उद्योगो में होता आ रहा है। उद्योगो में, विशेषत निर्माण तथा निर्मित पदार्थों के गुणों के नियत्रण में, एक्सरे का वहुत उपयोग होता है। निर्मित पदार्थों की अतस्थ त्रुटियाँ एक्सरे फोटोग्राफो द्वारा सरलता से ज्ञात की जा सकती हैं। विमान तथा उसी प्रकार के साधनो के यत्रो मे अति तीव्र वेग तथा चरम भौतिक परिस्थितियो का सामना करना पडता है, ऐसे यत्रो के निर्माण में प्रत्येक अवयव अतर्वाह्य निर्दोष तथा यथार्थ होना चाहिए। ऐसे प्रत्येक अवयव की परीक्षा एक्सरे से की जाती है और सदोष अवयवो का त्याग किया जाता है। धातु एक्सरे का अवशोषण करते हैं, अत धातुओ के अत-र्भागो की परीक्षा के लिये मृदु एक्सरे अनुपयुक्त होते हैं। विशाल आकार के धात्वीय पदार्थो के लिये अत्युच्च विभव के एक्सरे की आवश्यकता होती है।

शरीरचिकित्सा के सवध मे देखे **एक्सरे, रेडियम तथा विकिरण चिकित्सा**।

धातुविज्ञान तथा धातुगवेषणा मे एक्सरे अत्यत उपयोगी हैं। धातु भी मणिभीय होते हैं, किंतु इनके मणिभ सूक्ष्म होते हैं और वे यथेच्छ प्रकार से स्थापित रहते हैं, अत धातुओ की लावे-प्रतिमा में सामान्यत सकेंद्र वर्तुल रहते हैं। प्रत्येक वर्तुल एक समान तीव्रता का होता है, किंतु किसी भौतिक क्रिया से कणो के आकारो मे वृद्धि हो जाने पर इन वर्तुलो में विंदु भी आते हैं। अत एक्सरे व्याभग द्वारा इसका ठीक ठीक पता चल जाता है कि धात्वीय मणिभो के कण किस प्रकार के हैं और उनका आकार आदि कैसा है। इस ज्ञान का धातुविज्ञान मे अत्यत महत्व है। धातु के पदार्थ वनाने के समय उष्मा के कारण उनमे अतर्विकृति आ जाती है। धातु को मोडने से भी उसमे अतर्विकृति हो जाती है। ऐसी विकृतियो का विश्लेषण एक्सरे से हो सकता है। इस प्रकार विशिष्ट गुणो से युक्त निर्दोष धातु प्राप्त करने मे एक्सरे का विशेष उपयोग होता है।

एक्सरे के अन्य उपयोगो मे एक्सरे सूक्ष्मदर्शी उल्लेखनीय है। एक्सरे के तरगदैर्घ्य प्रकाश के तरगदैर्घ्यो से सूक्ष्म होते हैं, अत एक्सरे-सूक्ष्मदर्शी को प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से अधिक प्रभावशाली होना चाहिए। १९४८ में एक्सरे को केंद्रित करने के कर्कपैट्रिक के प्रयत्न अशत सफल हुए। इस रीति से तथा अन्य रीतियो से प्रतिविंव का आवर्धन करने के

प्रयत्न अब प्रायोगिक अवस्था पार कर चुके हैं और अनेक निर्माताओं द्वारा निर्मित कई प्रकार के एक्सरे सूक्ष्मदर्शी सुलभ हैं।

प्रकाश सूक्ष्मदर्शी से जिन बातों का पता नहीं चल पाता उनका ज्ञान सरलतापूर्वक एक्सरे सूक्ष्मदर्शी से हो जाता है।

सं० ग्रं०—ए० एच० कॉम्पटन तथा एलीसन एक्सरे इन् थ्योरी ऐंड एक्सपेरिमेंट (डी० व्हान नोस्ट्राड कपनी, न्यूयार्क, १९३५), स्राऊल एक्सरेज इन प्रैक्टिस (मैक्‌-ग्रॉ हिल कपनी, न्यूयार्क, १९४९), जॉर्ज एल० क्लार्क ऐप्लाइड एक्सरेज (मैक-ग्रॉ हिल कपनी, न्यूयार्क १९५५), ए० लिखती तथा डब्लू० मिडर रटजन फिज़ीक (स्प्रिंगर-फरलाग, विएना, १९५५), रटजन स्ट्राह्लेन, (हैंडबुक डेर फिज़ीक, ३० भाग, स्प्रिंगर फरलाग, बर्लिन, १९५७)। [दि० र० भ०]

एक्सेटर

संयुक्तराज्य अमरीका के न्यू हैंप शायर राज्य का नगर तथा राकिंघम काउंटी की राजधानी है। यह एक्सेटर नदी के तट पर समुद्रतल से ३० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह रेलमार्गों द्वारा बोस्टन तथा मेन से जुडा हुआ है तथा बोस्टन से ५१ मील पूर्वोत्तर में स्थित है। सूती उद्योग, जूते, पीतल तथा संगमरमर की वस्तुएँ और इमारती सामान आदि बनाना एक्सेटर के मुख्य धंधे हैं। यहाँ सुप्रसिद्ध फिलिप्स एक्सेटर अकेडमी है जो सन् १७८३ ई० से शिक्षा का प्रशंसनीय कार्य कर रही है। इस नगर का शिलान्यास जान ह्वीलराइट नामक पादरी ने सन् १६३८ ई० में किया था, सन् १७७५ ई० में न्यू हैंपशर की राजधानी बना था तथा गृह युद्धकाल में एक बडा सैनिक केंद्र भी था। इसकी जनसंख्या सन् १९०० ई० में ४,९२२ तथा सन् १९५० में ५,६६४ थी।

इसी नाम का एक नगर डेवनशायर (इँग्लैंड) में भी है। १६वीं तथा १७वीं शताब्दी में यह केंट तथा ससेक्स से ऊन का आयात करता था तथा यहाँ का सर्ज (ऊनी वस्त्र) उद्योग बहुत प्रसिद्ध था। १८वीं शताब्दी में यह नगर लीड्स का प्रमुख प्रतिद्वंद्वी था। यहाँ सन् १९५६ में एक्सेटर विश्वविद्यालय का उद्घाटन हुआ था जिसमें आज १,२०० से अधिक विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। १९५१ ई० में इसके काउंटी बारो की जनसंख्या ७५,५१३ थी। (ले० रा० सिं०)

एगर

मध्य यूरोप में स्थित दो नगरों का नाम है। (१) इनमें से एक तो उत्तर-मध्य हंगरी में है। यह एरलौ के नाम से भी प्रसिद्ध है। बुडापेस्ट से ९० मील उत्तर-पूर्व, तिसौ की सहायक एगर नदी के किनारे, अक्षांश ४७° ५४' उत्तर तथा देशांतर २०° २३' पूर्व पर यह नगर स्थित है। अंगूरों से प्रसिद्ध लाल मदिरा यहाँ बनाई जाती है। आसपास के प्रदेश में यहाँ अंगूर बोए जाते हैं। नगर की उत्पादित वस्तुओं में ऊनी वस्त्र, लिनेन, पाट और सूत मिश्रित कपडा, तंबाकू, चमडे की वस्तुएँ, साबुन तथा मोमबत्तियाँ हैं। नगर की आबादी सन् १९५१ ई० में २९,४३४ थी। सन् १५६९ ई० से लेकर १६८७ ई० तक एगर तुर्कों के अधीन रहा।

(२) एगर नाम का दूसरा नगर चेकोस्लोवाकिया के बोहीमिया राज्य में है (स्थिति अक्षांश ५०° २३' उत्तर तथा देशांतर १३° १५' पूर्व)। यह चेक भाषा में चेब भी कहलाता है। इस नगर की जनसंख्या सन् १९५१ ई० में १४,५३३ थी। [श्या० सु० श०]

एजवर्थ, मारिया

(१७६७-१८४९) आयरलैंड के एक विशिष्ट भूमिपति की पुत्री थीं। इनके पिता शिक्षा-संबंधी समस्याओं में विशेष रुचि रखते थे। 'प्रैक्टिकल एजुकेशन' नामक ग्रंथ में उनकी अभिरुचि का पूर्ण परिचय मिलता है। कुमारी मारिया की लेखनशक्ति उनकी बाल्यावस्था में ही प्रस्फुटित हुई और अपने पिता की प्रेरणा से उन्होंने 'दि पेरेंट्स असिस्टेंट' नामक ग्रंथ की रचना आरंभ की जिसका प्रकाशन छ जिल्दों में सन् १८०० ई० में हुआ। परंतु उनका स्वाभाविक झुकाव उपन्यास की ओर था और ३३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने प्रसिद्ध उपन्यास 'कासिलरैकरेंट' का प्रकाशन किया और उसके एक वर्ष पश्चात् ही 'बेलिंडा' का भी सृजन किया। उनकी प्रतिभा का प्रमाण आयरलैंड के सामान्य जीवन तथा पात्रों के सजीव चित्रण में मिलता है, जिसका प्रभाव उपन्यास सम्राट् सर वाल्टर स्कॉट ने मुक्त हृदय से स्वीकार किया है।

सं०ग्रं०—ई० लालेस मारिया एजवर्थ, इंग्लिशमेन ऑव लेटर्स सीरीज़, १९०४। [वि० रा०]

एजिटेटर्स

१६४७ ई० में पार्लियामेंट के दीर्घ सत्र ने सेना के एक हिस्से को बरखास्त करने और एक हिस्से को आयरलैंड भेजने का प्रस्ताव किया। सैनिकों ने, जो पूरा वेतन न मिलने के कारण असंतुष्ट थे, क्षुब्ध होकर, प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए। अपने दृष्टिकोण और शिकायतों को प्रस्तुत करने के लिये उन्होंने अपने जो प्रतिनिधि चुने वे एजिटेटर्स (आंदोलक) कहलाए। अस्थायी समझौते के बाद पार्लियामेंट ने सेनाभंग का निश्चय कर लिया। सैनिकों ने तीव्र विरोध किया, तथा एक दस्ते ने विद्रोह भी कर दिया, जिससे निर्णय का परित्याग करना पडा। इसी नीति के कारण क्रामवेल की तानाशाही संभव हो सकी। चार्ल्स प्रथम के बंदी होने पर सेना, पार्लियामेंट तथा बंदी राजा की तीनतरफा वार्ता चलती रही। सेना एक ओर चार्ल्स प्रथम से पराङ्मुख होती गई, दूसरी ओर पार्लियामेंट से भी मनमुटाव बढता गया। अंतत चार्ल्स प्रथम के प्राणदंड के बाद सैनिकों ने लंदन जाकर पार्लियामेंट सदन पर घेरा डाल कुछ सदस्यों को बंदी बनाया, कुछ को निकाल दिया। क्रामवेल के काल से यह आंदोलन शिथिल हो गया, यद्यपि लेवेलरों (Levellers) ने उसके मंतव्यों का अनुगमन किया। [रा० ना०]

एजेंसी

इंग्लैंड का राजा भारत का सम्राट् था और देशी राज्यों पर उसका अनियंत्रित शासन था। भारत में उसका प्रतिनिधि गवर्नर जनरल तथा वायसराय था। वायसराय देशी राज्यों पर राजनीतिक मंडल (Political Department) द्वारा शासन करता था। राजनीतिक मंडल देशी राज्यों पर अपना शासकीय संपर्क रेजिडेंस तथा एजेंसी के द्वारा रखा करता था। हैदराबाद, ग्वालियर, बडौदा, मैसूर, कश्मीर, सिक्किम, भूटान आदि बडे देशी राज्यों में रेजिडेंट होते थे। रेजिडेंट का प्रत्यक्ष संबंध वायसराय से हुआ करता था। दूसरे छोटे-छोटे राज्य दस एजेंसियों में बँटे हुए थे। भारत में छोटे बडे कुल मिलाकर ५६२ देशी राज्य थे। प्रत्येक एजेंसी का प्रधान प्रशासक गवर्नर जनरल का एजेंट अर्थात् प्रतिनिधि था। एजेंसियाँ तथा उनके प्रधान कार्यालय इस प्रकार थे—मध्य भारत एजेंसी, प्रधान कार्यालय इंदौर में, दक्षिणी राज्यों की एजेंसी, प्रधान कार्यालय मद्रास में, पूर्वीय राज्यों की एजेंसी, गुजरात के राज्यों की एजेंसी, बलूचिस्तान एजेंसी, पश्चिमी राज्यों की एजेंसी, राजपूताना एजेंसी, पंजाब के राज्यों की एजेंसी, उत्तर-पश्चिमी राज्यों की एजेंसी, तथा कोल्हापुर एजेंसी। प्रत्येक गवर्नर जनरल का एजेंट एजेंसी के प्रधान कार्यालय में रहता था। अपने कर्तव्यों के निर्वहन में इसे राजनीतिक एजेंटों तथा रेजिडेंटों की पूरी पूरी सहायता मिलती थी। कहीं कहीं प्रांत के गवर्नर ही एजेंट का भी कार्य सँभालते थे, और कहीं कहीं कोई वयोवृद्ध सरकारी कर्मचारी इस पद पर नियुक्त किया जाता था। छोटे छोटे राज्यों के लिये जिलाधीश, सहायक जिलाधीश या तहसीलदार भी राजनीतिक एजेंटों के रूप में काम करते थे।

राजनीतिक अधिकारियों की शक्ति और अधिकार व्यापक थे। उन्हें राज्यों के प्रशासन में अनियंत्रित अधिकार थे। वे राजा के व्यक्तिगत आचरण और जीवन पर दृष्टि रखते थे तथा आंतरिक शासनव्यवस्था भी उनके निरीक्षण में रहती थी। समय समय पर राजनीतिक अधिकारी एजेंट को गुप्त रूप से राज्यों के सभी समाचार पहुँचाया करते थे। इनके वृत्तांत पर वायसराय देशी राज्यों के आभ्यंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करता था। वे युवराजों के विवाहसंबंध, उत्तराधिकार, दत्तक आदि का निश्चय करते थे। युवराजों की शिक्षा, भ्रमण, भाषण आदि सभी बातों पर एजेंटों का पूरा नियंत्रण रहा करता था। यदि देशी नरेश निर्बल होता, तो एजेंट अपना पूरा अधिकार उसपर जमा लेता था। किंतु यदि राजा का व्यक्तित्व प्रभावशाली होता और वायसराय से उसके संबंध अच्छे होते तो एजेंट का उसपर प्रभाव नगण्य होता था। साधारणतया एजेंट के दो ही अधिकार उल्लिखित थे—(१) कार्यपालिका संबंधी या प्रशासकीय, तथा (२) न्यायिक। प्रशासकीय अधिकारी के नाते वे राज्यों से अनुदान एकत्रित करते, आभ्यंतरिक मामलों का निरीक्षण करते, राजाओं के व्यक्तिगत जीवन एवं राज्य की आर्थिक व्यवस्था का

निरीक्षण करते थे। उनके न्याय सबधी कार्य ये थे--सीमा सबधी मतभेदो को मिटाना, खूनियो को सजा देना, राज्य मे रहनेवाले अग्रेजो पर मामला चलाना, इत्यादि। एजेटो की शक्ति असीमित थी। वे भारत सरकार एव देशी राज्यो के बीच की महत्वपूर्ण कडी थे। [शु० ते०]

एज्रा (एस्द्रास)। बाबुल के निर्वासन के बाद एज्रा और नहेम्याह ने यहूदियो को बाबुल (बाबीलोन) से निकालकर फिर फिलिस्तीन में बसाया तथा राजधानी जुरुसलम के पुनर्निर्माण और उसके महामदिर के जीर्णोद्धार के कार्य में प्रमुख भाग लिया था। बाइबिल के दो ग्रथ एज्रा-नहेम्याह के नाम से विख्यात है, उनमे बाबुली निर्वासन के अत अर्थात् ५३६ ई० पू० से लेकर लगभग ४३० ई० पू० तक का यहूदियो का इतिहास मिलता है। [का० बु०]

एटली, क्लेमंट रिचर्ड (१८८३-) ब्रिटिश राजनीतिज्ञ। १९०५ मे उन्होंने बैरिस्ट्री पास की पर वकालत की जगह वह सामाजिक कार्य करने लगे। दो साल बाद वह समाजवादी हो गए और 'इडेपेंडेंट लेबर पार्टी' के सदस्य बन गए। पहले महायुद्ध मे उन्होने फ्रास और निकट पूर्व के देशो मे मेजर की हैसियत से लडाइयाँ लडी। १९२२ मे एटली पार्लियामेंट के सदस्य चुने गए और जब १९३१ मे मजूर दल की सरकार बनी तब वह युद्ध के लिय उपसचिव नियुक्त हुए। १९३१ के चुनाव के बाद वह मजूर दल के पहले उपनेता, फिर नेता, चुने गए। द्वितीय महायुद्ध के समय चर्चिल के मत्रिमडल मे भी वह मत्री थे और चर्चिल के बाद वह स्वय इग्लैड के प्रधान मत्री हुए। १९४५ मे भारत को पहले औपनिवेशिक फिर पूर्ण स्वराज्य उन्ही के तत्वावधान में मिला। १९५० मे वह फिर नए चुनाव के बाद प्रधान मत्री हुए। उस चुनाव में उदार और अनुदार दलो के ऊपर मजूर दल का बस थोडा ही बहुमत था। कुछ काल बाद जब मजूर दल का मत्रिमडल हटा तब मेजर एटली भी सरकार से अलग हो गए। [ओ० ना० उ०]

एटा भारत में उत्तर प्रदेश के आगरा खड मे स्थित एक नगर तथा जिला है। नगर ग्रैंड ट्रक रोड पर स्थित है। यहाँ की जनसख्या सन् १९५१ ई० में १८,२१४ थी। जिले का क्षेत्रफल १,७१३ वर्गमील है, जिसका अधिकाश भाग दोमट से बना है। इसका ढाल पूर्व मे गगा की घाटी की ओर है। ऊँचे भाग गगा नहर द्वारा सीचे जाते है। गगा के आधुनिक पात्र तथा इसके प्राचीन पात्र के मध्य साद (सिल्ट) द्वारा आच्छादित एक उपजाऊ पट्टी है। नीची भूमि तथा गड्ढो की एक कतार अब भी गगा के पुराने मार्ग का निर्देश करती है। इनके ऊपर पुरानी, ऊंची तथा ढालू भूमि है जो अब ऊँचा मैदानी उत्तल (टीरेस) बनाती है। एटा के समीपवर्ती क्षेत्र को युवानच्वाड ने ७वी शताब्दी में मदिरो तथा मठो से पूर्ण लिखा है। जिले की जनसख्या सन् १९५१ ई० में ११,२४,३५१ थी। जिले के मुख्य व्यापारिक केंद्र कासगज तथा सोरो है जहाँ रुई के बीज निकालने तथा रुई दबाने का कार्य मशीनो द्वारा किया जाता है। [श्या० सु० श०]

एडवर्ड इस नाम के अनेक राजा हो गए है। इनका विवरण सक्षेप मे इस प्रकार हे। इनमे से पहला, इग्लैड का शासक, जिसे 'एल्डर' की सज्ञा भी मिली, राजा अल्फ्रेड का पुत्र था। उसने डेन सेनाओ को पराजित किया, हबर के दक्षिण मे समूचे इग्लैड पर आधिपत्य स्थापित किया, तथा वेल्स और सुदूर उत्तर में अपना प्रभुत्व जमाया। उसने नया न्यायविधान स्थापित किया तथा मौलिक और सुदर शैली के सिक्के प्रसारित किए। इस प्रकार उसने देश को राजनीतिक एकता देने का प्रयत्न किया। ८९९ ई० मे वह सिंहासनारूढ हुआ, तथा ९२४ मे उसकी मृत्यु हुई।

दूसरा (मृत्यु १०६६) इग्लैड का सत-बादशाह, कन्फेसर नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसका अधिकाश बचपन नार्मडी मे व्यतीत हुआ। अत सिंहासनासीन होने पर (१०४२) इग्लैड उसे अपरिचित देश सा लगा। इससे तथा स्वय शिथिलचित्त होने के कारण, वह उद्दड सामतो पर नियत्रण न रख सका। राजनीतिक समस्याओ के समाधान की असमर्थता ने उसकी प्रवृत्ति चर्च तथा धर्म की ओर अधिकाधिक मोड दी। वेस्ट मिंस्टर के गिरजे की सस्थापना में उसने विशेष सहयोग दिया।

तीसरा, **एडवर्ड प्रथम** (१२२९-१३०७), हेनरी तृतीय का पुत्र था। युवावस्था से ही उसने विस्तृत शासकीय और सामरिक अनुभव प्राप्त कर लिया था। पिता की मृत्यु पर यद्यपि वह १२७२ में राजा घोषित कर दिया गया था किंतु उस समय सिसिली में होने के कारण दो वर्ष बाद वह सिंहासन पर बैठ सका। सिंहासनासीन होने पर अनुभवी तथा परिपक्व राजनीतिज्ञ की तरह उसने समस्याओ का सामना किया। निस्सदेह, वह इग्लैड के मध्यकालीन राजाओ मे सर्वश्रेष्ठ था। शासकीय दक्षता के कारण ही उसे 'महान् न्यायविधानदाता' की पदवी मिली। उसके विधान का मुख्य ध्येय सामती शक्ति के विरुद्ध सिंहासन की सत्ता को दृढतर करना था। उसने शासकीय प्रणाली की समता मे भी अभिवृद्धि की। सामती सस्था 'महान् कौसिल' मे उसने जो परिवर्तन किए उनमे भावी पार्लियामेंट प्रणाली के तत्व निहित थे। उसके समय में फ्रास नरेश फिलिप चतुर्थ के गास्कनी अधिकृत करने का प्रयत्न विफल रहा। एडवर्ड ब्रिटेन को राजनीतिक एकता प्रदान कराने मे भी क्रियाशील रहा, यद्यपि स्काटलैंड में उसे विशेष सघर्ष का सामना करना पडा, विशेष रूप से विलियम वालेस तथा राबर्ट ब्रूस के विरुद्ध। ब्रूस के विरुद्ध युद्धयात्रा मे, १२०७ मे, रास्ते मे ही उसकी मृत्यु हो गई।

एडवर्ड द्वितीय (१२८४-१३२७) एडवर्ड प्रथम से काटील की एलीनर से चौथा पुत्र था। उसे इग्लैड के राजवश के इतिहास मे प्रथम बार 'प्रिंस आव वेल्स' की पदवी मिली। वह अयोग्य शासक था। उसकी अभिरुचि केवल खेलकूद, नाटक तथा हस्तशिल्प मे थी। शासन की अवहेलना तथा कृपापात्रो के प्रति पक्षपात की उसकी नीति ने सामतो को उसके प्रति विद्रोह करने को बाध्य किया। अनेक वर्षो तक देश सामती नेताओ के ही हाथ में रहा। अतत एडवर्ड १३२७ मे सिंहासन से च्युत कर दिया गया, तथा कुछ महीनो बाद उसकी हत्या कर दी गई।

एडवर्ड तृतीय (१३१२-१३७७) एडवर्ड द्वितीय का पुत्र था। २५ जनवरी, १३२७ को वह सिंहासन पर बैठा। राज्याधिकार पाते ही १३३० मे उसने स्काटलैंड को अधिकृत करने का कार्यारभ कर दिया। हैलिडन हिल में स्काटलैड की पूरी पराजय हुई। किंतु, तब उसका ध्यान फ्रास की ओर बँट गया जिसे वह अपनी माता फ्रास की इजबेला के राज्याधिकार की बिना पर हस्तगत करना चाहता था। तज्जनित युद्ध में कैले की सधि के अनुसार उसे फ्रास के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश प्राप्त हुए, यद्यपि फ्रासीसियो ने १३६९ में कैले को छोडकर बाकी प्रदेशो पर पुन अधिकार स्थापित कर लिया। गृहक्षेत्र मे भी उसने यथेष्ट शासन सबधी योग्यता का परिचय दिया। शासन पर उसने पूर्ण व्यक्तिगत अधिकार जमा लिया। राजसी महत्वाकाक्षाओ से मुक्त होने के कारण सामत तथा मध्य वर्ग दोनो ही को उसने शासन में समुचित श्रेय दिया। तभी उसके शासन के ५१ वर्षो के दीर्घकाल मे विशेष आतरिक उपद्रव नही हुए। किंतु, तब भी प्रथम श्रेणी के शासक या सेनानियो मे उसकी गणना नही की जा सकती, क्योकि उसकी युद्ध या शासकीय नीति के स्थायी प्रभाव पनप नही सके। यद्यपि यह मानना पडेगा कि उसके समय मे साधारण वर्ग का उत्थान भी सभव हो सका। उसके शासन के अतिम वर्षो में, उसकी प्रेयसी एलिस के कुप्रभाव के कारण, शासन इतना भ्रष्ट और अव्यवस्थित हो गया कि उसके उत्तराधिकारी रिचर्ड द्वितीय को कठिन परिस्थिति का सामना करना पडा।

एडवर्ड चतुर्थ (१४४२-१४८३) यार्क के ड्यूक रिचर्ड का पुत्र था। ४ मार्च, १४६१ को वह सिंहासनारूढ हुआ। अपने शक्तिशाली सबधी वरविक के अर्ल की सहायता से उसे राजगद्दी प्राप्त हुई। किंतु, एडवर्ड के लैंकेस्टर वश की एलिजाबेथ वुडविल से गुप्त विवाह कर लेने के कारण दोनो मे विच्छेद हो गया। तज्जनित सघर्ष के फलस्वरूप १४७० में एडवर्ड को हालैंड भाग जाना पडा। १४७१ मे वापस लौटकर उसने बार्नेट के युद्ध मे वारविक का वध कर दिया। लदन के टावर (गढ) मे हेनरी छठे की हत्या के बाद एडवर्ड का मार्ग निष्कटक हो गया। १४७५ मे फ्रास से सधि हुई, जिसमे ११वे लुई ने एडवर्ड को वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया। उसकी वार्षिक आय की वृद्धि तथा सैनिक और शासकीय योग्यता ने उसके शासन को हेनरी छठे के शासन से अधिक प्रभावशाली बना दिया, किंतु वह पूरी व्यवस्था स्थापित न कर सका। उसने व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया और सेंट जार्ज के गिरजाघर तथा विंडजर का निर्माण किया और उसने

ज्ञान और साहित्य को भी अपना अभिभावकत्व प्रदान किया। उसके आकर्षक व्यक्तित्व ने उसे और भी लोकप्रिय बना दिया, यद्यपि उसके विलासी जीवन ने मृत्यु को उसके निकटतर बुला लिया।

एडवर्ड पंचम (१४७०-८३) ने ९ अप्रैल, १४८३ को अपने पिता एडवर्ड चतुर्थ का उत्तराधिकार ग्रहण किया। २६ जून को उसके चाचा तथा अभिभावक ने सिंहासन छीन रिचर्ड तृतीय के नाम से शासन प्रारंभ किया। लंदन के टावर में एडवर्ड और उसके भाई रिचर्ड की हत्या कर दी गई।

एडवर्ड छठा (१५३७-५३) जेन सिमूर से हेनरी अष्टम का पुत्र था। वह प्रारंभ से ही अकालप्रौढ, अध्ययनशील, शुष्कप्रकृति, चतुर तथा कठोर प्रमाणित हुआ। उसकी अस्वस्थता ने भी संभवत उसे अंतर्मुखी बना दिया था। उसकी धार्मिक अभिरुचि सुधारकों के ही पक्ष में प्रस्फुटित हुई। अपने अत्यधिक संक्षिप्त शासनकाल के कारण वह इतिहास पर अधिक स्थायी प्रभाव न डाल सका। उसकी कुमारावस्था के कारण, उसके पिता के वसीअतनामे के अनुसार 'कौंसिल आव रीजेंसी' की स्थापना की गई, एडवर्ड का चाचा एडवर्ड सिमूर (सामरसेट का ड्यूक), और डडले (नार्थंबरलैंड का ड्यूक) जिसके सदस्य थे। एडवर्ड के सिंहासन पर बैठने पर सामरसेट ने शक्ति हस्तगत कर अपने को एडवर्ड का अभिभावक नियुक्त कर लिया। एडवर्ड का राज्यकाल मुख्यत सामरसेट और नार्थंबरलैंड के संघर्ष का ही वृत्तांत है। सामरसेट के अभिभावकत्व काल में एडवर्ड का मेरी स्टुअर्ट से विवाह हुआ, अंगरेजी चर्च के अनुकूल कुछ धार्मिक सुधार किए गए, तथा आर्थिक अव्यवस्था फैली। अंत में, १५४९ में उसे अभिभावक के पद से विलग कर १५५२ में सामरसेट के विरुद्ध षड्यंत्र-रचना के अभियोग में प्राणदंड दे दिया गया। नार्थंबरलैंड ने अपने पुत्र का विवाह लेडी जेन ग्रे से, जो हेनरी की वसीअत के अनुसार एडवर्ड, मेरी ट्यूडर और एलिजाबेथ के निस्संतान होने पर राज्य की उत्तराधिकारिणी होती, कर दिया। १५५३ में एडवर्ड की विषम बीमारी में, नार्थंबरलैंड ने जेन ग्रे को सिंहासन की उत्तराधिकारिणी घोषित कराने का विफल प्रयास किया। किंतु, उसी वर्ष एडवर्ड की मृत्यु हो गई, और मेरी इंग्लैंड के सिंहासन पर बैठी।

एडवर्ड सप्तम (१८४१-१९१०) महारानी विक्टोरिया तथा राजकुमार अलबर्ट का ज्येष्ठ पुत्र था। मातापिता की युवराज को पूर्ण शिक्षित, सुसंस्कृत तथा योग्य बनाने की तीव्र आकांक्षा तथा आग्रह ने उसके व्यक्तित्व को स्वाभाविक रूप से मुखरित होने का यथेष्ट अवसर ही नहीं दिया। अस्तु, वह प्रसन्नचित्त, मौजी, आरामपसद, स्नेही प्रकृति का तथा लोकप्रिय राजकुमार होकर ही रह गया। इसी कारण रोम, अमरीका, जहाँ जहाँ उसने यात्राएँ की—और उसे यात्राओं के अनेक अवसर भी मिले—उसका खूब स्वागत हुआ। डेन राजकुमारी सुंदरी अलेग्जैंड्रा के साथ उसका विवाह राष्ट्रीय समारोह के रूप में सम्पन्न हुआ। १८७१ की खतरनाक बीमारी ने उसे और भी लोकप्रिय बना दिया। इंग्लैंड के बाहर वह "यूरोप का चाचा" की संज्ञा से प्रसिद्ध हुआ। फ्रांस के प्रति उसकी सहानुभूति तथा जर्मन नरेश विलहेम द्वितीय के प्रति उसकी अरुचि सामयिक अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के साथ खूब मेल खा गई। किंतु, उसका साधारण व्यक्तित्व सामयिक इतिहास पर कोई विशेष प्रभावचिह्न न छोड सका। उसने अपनी वैधानिक तथा बौद्धिक सीमाओं के उल्लंघन का कभी प्रयास नहीं किया। पार्लियामेंट के दोनों सदनों के संघर्ष में भी उसने किसी पक्षपात का प्रदर्शन नहीं किया। जनसाधारण ने उसे सदैव अमित स्नेह दिया तथा उसकी मृत्यु पर आंतरिक शोक प्रगट किया।

एडवर्ड अष्टम (१८९४—) जार्ज पंचम का ज्येष्ठ पुत्र, १९१० में प्रिंस आव वेल्स घोषित किया गया। उसकी शिक्षा तथा सामरिक दीक्षा समुचित रूप से संपन्न हुई। प्रथम महायुद्ध में उसने यथेष्ट अनुभव संचय किया। सामाजिक समस्याओं में उसने विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की। १९१९-२५ की विस्तृत यात्राओं में उसने यथेष्ट प्रसिद्धि अर्जित की। इसी से वह 'महान् प्रतिनिधि' की संज्ञा से विभूषित हुआ। किंतु, अपने पिता के अंतिम शासनकाल में उसका पिता से मनोमालिन्य हो गया। जनवरी, १९३६ में पिता की मृत्यु पर वह सिंहासनासीन हुआ। किंतु, आरंभ से ही स्पष्ट हो गया था कि उसकी सी प्रकृति स्वेच्छा से वैधानिक कठघरे में सीमित नहीं रह सकती। मिसेज सिमसन से उसके विवाह के निश्चय ने देश में एक उत्कट समस्या उत्पन्न कर दी। प्रेमी हृदय एडवर्ड ने शासन की महत्वाकांक्षा पर विजय पाई। प्रस्तावित विवाहसंबंध के विरुद्ध मंत्रिमंडल के विरोध प्रदर्शित करने पर उसने सिंहासन त्यागना ही श्रेयस्कर समझा। ३ जून, १९३७ को उसने मिसेज़ सिमसन से विवाह कर लिया, तथा वह विंडज़र का ड्यूक बना दिया गया। [रा० ना०]

एडवर्ड (झील)

यह मध्य अफ्रीका की एक प्रमुख झील है। पहले यह अल्बर्ट-एडवर्ड-न्याजा के नाम से विख्यात थी। यह अल्बर्टाइन धसान घाटी (Rift valley) में ०° ८' से ०° ४०' दक्षिणी अक्षांश और २९° २८' से २९° ५२' पूर्वी देशांतर तक फैली तथा प्राय अंडाकार है। इसका किनारा बहुत कम कटा छँटा है। यह उत्तर-पूर्व में २५ मील लंबी तथा २ फर्लांग से लेकर १ मील तक चौडी जलधारा द्वारा द्वेरू (Dweru) झील से मिली हुई है, जो विषुवत् रेखा के उत्तर तक फैली है। एडवर्ड झील ४४ मील लंबी और ३२ मील चौडी है। द्वेरू झील २० मील लंबी और अधिक से अधिक १० मील चौडी है। दोनों झीलों का क्षेत्रफल लगभग ८२० वर्ग मील है। इस झील का एकमात्र निकास, सेमलीकी, इसके उत्तर-पश्चिमी छोर पर है। इसके उत्तर-पूर्वी तट के चारों ओर अनेक ज्वालामुखी झीलें हैं। इस झील की सुषमा बडी मनोहर है। सूखे मौसिम में जल के ऊपर कुहरा सा छाया रहता है, जिससे आसपास की पहाडियाँ बिल्कुल दिखलाई नहीं पडती हैं। वर्षा ऋतु में जब आकाश स्वच्छ रहता है तो पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की ओर झील को घेरे हुए पर्वतों की छटा देखते ही बनती है। झील का जल निर्मल, हल्के हरे रंग का है। इसमें मछलियों और जलकुक्कुटों की भरमार है। घडियाल और दरियाई घोडे दक्षिणी दलदली भागों में मिलते हैं। इस झील के पूरे क्षेत्र का पता सन् १९०२-०४ ई० के आंग्ल-जर्मन सीमा आयोग के कार्यों से चला था। इसे खोजने का श्रेय मुख्यत एच० एम० स्टेनली को है। [श्या० सु० श०]

एडिसन

महान् आविष्कारक टामस ऐल्वा एडिसन का जन्म ओहायो राज्य के मिलैन नगर में ११ फरवरी, १८४७ ई० को हुआ। बचपन से ही एडिसन ने कुशाग्रता, जिज्ञासु वृत्ति और अध्यवसाय का परिचय दिया। छ वर्ष तक माता ने घर पर ही पढाया, सार्वजनिक विद्यालय में इनकी शिक्षा केवल तीन मास हुई। तो भी एडिसन ने ह्यूम, सीअर, बर्टन, तथा गिबन के महान् ग्रंथों एवं डिक्शनरी ऑव साइंसेज़ का अध्ययन १०वें जन्मदिन तक पूर्ण कर लिया था।

एडिसन १२ वर्ष की आयु में फलों और समाचारपत्रों के विक्रय का धंधा करके परिवार को प्रति दिन एक डालर की सहायता देने लगे। वे रेल में पत्र छापते और वैज्ञानिक प्रयोग करते। तार प्रेषण में निपुणता प्राप्त कर २० वर्ष की आयु तक, एडिसन ने तार कर्मचारी के रूप में नौकरी की। जीविकोपार्जन से बचे समय को एडिसन प्रयोग और परीक्षण में लगाते थे।

१८६९ ई० में एडिसन ने अपने सर्वप्रथम आविष्कार "विद्युत् मतदान-गणक" को पेटेंट कराया। नौकरी छोडकर प्रयोगशाला में आविष्कार करने का निश्चय कर निर्धन एडिसन ने अदम्य आत्मविश्वास का परिचय दिया। १८७०-७६ ई० के बीच एडिसन ने अनेक आविष्कार किए। एक ही तार पर चार, छ, संदेश अलग अलग भेजने की विधि खोजी, स्टाक एक्सचेंज के लिये तार छापने की स्वचालित मशीन को सुधारा, तथा बेल टेलीफोन यंत्र का विकास किया। उन्होंने १८७५ ई० में 'सायंटिफिक अमेरिकन' में 'ईथरीय बल' पर खोजपूर्ण लेख प्रकाशित किया, १८७८ ई० में फोनोग्राफ मशीन पेटेंट कराई जिसको १९१० ई० में अनेक सुधारों के बाद वर्तमान रूप मिला।

२१ अक्टूबर, १८७९ ई० को एडिसन ने ४० घंटे से अधिक समय तक बिजली से जलनेवाला निर्वात बल्ब विश्व को भेंट किया। १८८३ ई० में 'एडिसन प्रभाव' की खोज की, जो कालांतर में वर्तमान रेडियो वाल्व का जन्मदाता सिद्ध हुआ। अगले दस वर्षों में एडिसन ने प्रकाश, उष्मा और शक्ति के लिये विद्युत् के उत्पादन और त्रितारी वितरण प्रणाली के साधनों और विधियों पर प्रयोग किए, भूमि के नीचे केबुल के लिये विद्युत् के तार को रबड और कपडे में लपेटने की पद्धति ढूंढी, डायनामो और मोटर में सुधार

किए, यात्रियो और माल ढोने के लिये विद्युत् रेलगाडी तथा चलते जहाज से सदेश भेजने और प्राप्त करने की विधि का आविष्कार किया। एडिसन ने क्षार सचायक बैटरी भी तैयार की, लौह अयस्क को चुबकीय विधि से गहन करने पर प्रयोग किए, १८९१ ई० में चलचित्र कैमरा पेटेट कराया एव इन चित्रो को प्रदर्शित करने के लिये किनैटोस्कोप का आविष्कार किया।

प्रथम विश्वयुद्ध मे एडिसन ने जलसेना सलाहकार बोर्ड का अध्यक्ष बनकर ४० युद्धोपयोगी आविष्कार किए। पनामा पैसिफिक प्रदर्शनी ने २१ अक्टूबर, १९१५ ई० को एडिसन दिवस का आयोजन करके विश्व-कल्याण के लिये सबसे अधिक आविष्कारो के इस उपजाता को समानित किया। १९२७ ई० में एडिसन नैशनल ऐकैडमी ऑव साइसेज़ के सदस्य निर्वाचित हुए। २१ अक्टूबर, १९२९ को राष्ट्रपति हूवर ने अपने विशिष्ट अतिथि के रूप में एडिसन का अभिवादन किया।

मेनलोपार्क और वेस्ट ऑरेंज के कारखानो मे एडिसन ने ५० वर्ष के अथक परिश्रम से १,०३३ आविष्कारो को पेटेंट कराया। अनवरत कर्ण-शूल से पीडित रहने पर भी अल्प मनोरजन, निरतर परिश्रम, असीम धैर्य, आश्चर्यजनक स्मरण शक्ति और अनुपम कल्पना शक्ति द्वारा एडिसन ने इतनी सफलता पाई। मृत्यु को भी उन्होने गुरुतर प्रयोगो के लिये दूसरी प्रयोगशाला मे पदार्पण समझा। "मैंने अपना जीवनकार्य पूर्ण किया। अब मै दूसरे प्रयोग के लिये तैयार हूँ", इस भावना के साथ विश्व की इस महान् उपकारक विभूति ने १८ अक्टूबर, १९३१ को ससार से विदा ली।

[द्वा० प्र० गु०]

एडिसन, जोज़ेफ (१६७२-१७१९)

अग्रेजी के यह प्रसिद्ध निबधकार तथा समीक्षक १ मई, १६७२ ई० को पैदा हुए थे और चार्स्टर हाउस नामक स्कूल मे उनकी शिक्षा आरभ हुई थी। १६८७ में स्कूल की पढाई समाप्त करने के पश्चात् उन्हे ऊँची शिक्षा के लिये क्वीस कालेज, आक्सफोर्ड, भेजा गया और इस विद्यालय तथा मैगडालेन कालेज मे अपने आवास-काल मे उन्होने साहित्य तथा कवित्व प्रेम का काफी परिचय दिया और तत्कालीन चासलर ऑव एक्सचेकर, माटेग्यू महोदय की कृपा भी प्राप्त की। उनकी लैटिन कविता से प्रसन्न तथा प्रभावित होकर माटेग्यू ने तीन सौ पौड की पेशन दिलवाई, जिसका उपयोग एडिसन ने कतिपय यूरोपीय देशो के पर्यटन मे किया। इग्लैंड लौटने के पश्चात् बहुत दिनो तक वे बेकार ही रहे परतु ह्विग पार्टी के सत्तारूढ होने के साथ ही उनका भी भाग्योदय हुआ।

अप्रैल, सन् १७०९ मे रिचर्ड स्टील ने 'टैटलर' नामक पत्रिका का सचालन आरभ किया और इसी पत्रिका मे एडिसन की उस निबधकला का परिचय मिला जो 'स्पेक्टेटर' के लेखो मे पूर्णतया परिमार्जित तथा प्रस्फुटित हुई। इस दूसरी प्रसिद्ध पत्रिका का प्रकाशन १ मार्च, सन् १७११, से प्रारभ हुआ था और यह ६ दिसबर, सन् १७१२ तक चलती रही। इसी पत्रिका ने एडिसन को लोकप्रिय बनाया और इसी के माध्यम से उन्होने धन तथा यश का प्रचुर अर्जन किया। पत्रकारिता के पश्चात् उनका ध्यान रगमच की ओर आकृष्ट हुआ और इसके फलस्वरूप उनके दु खात नाटक 'कैटो' का सफल अभिनय ड्रूरी लेन थियेटर मे हुआ। अगस्त, सन् १७१६ मे उनका विवाह वार्विक की काउटेस से हुआ, परतु इस भद्र महिला के सहवास से एडिसन को मानसिक सुख तथा शाति से हाथ धोना पडा। सन् १७१८ से ही उनका स्वास्थ्य बिगडने लगा, दमा तथा जलधर रोगो के आक्रमण से उनका शरीर जर्जर हो गया और १७ जून, १७१९ को ४७ वर्ष की अवस्था मे हालैंड हाउस मे उनका देहावसान हो गया।

एडिसन शिष्ट, शातिप्रिय तथा मितभाषी व्यक्ति थे, परतु काफी-हाउस की मित्रगोष्ठी मे बातचीत तथा शराब के दौर के साथ ही उनकी जिह्वा मे शक्ति तथा स्फूर्ति का सचार होता था और उनकी वाचालता तथा व्यगात्मक प्रतिभा का बाँध टूट जाता था। साहित्य के इतिहास मे उनका स्थान सफल निबधकारो तथा समीक्षको मे आज तक अक्षुण्ण है। उनकी लेखनी ने आधुनिक गद्य को स्वस्थ तथा सबल बनाया और तत्कालीन पाठको के हृदय मे उपन्यास पढने की रुचि का बीजारोपण किया। उन्होने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका 'स्पेक्टेटर' को समाजसुधार का माध्यम बनाया और अपने लेखो मे हास्य तथा नैतिकता का समिश्रण करके मध्यमवर्ग के बहुसख्यक पाठको के मानसिक, नैतिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक स्तर को उन्नत किया।

एडिसन समाज की प्रचलित कुरीतियो तथा फैशनपरस्त स्त्री पुरुषो के आडबरो तथा विवेकहीन व्यवहारो पर तो निरतर व्यगप्रहार करते ही रहे, परतु साथ ही साथ उन्होने मनुष्य के उन उदात्त गुणो का भी प्रशसात्मक निरूपण किया जिनपर व्यक्ति तथा समाज की भित्ति स्थिर रहती है। इन्ही लेखो में कतिपय साहित्य समीक्षा से भी सबधित हैं, जिनमे मिल्टन के पैराडाइज लास्ट के अध्ययन तथा 'प्लेज़र ऑव इमैजिनेशन', 'ट्रू विट ऐड फाल्स विट' विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी गद्य शैली के सबध में डा० जान्सन की प्रसिद्ध उक्ति स्मरणीय है--'जो व्यक्ति ऐसी गद्य शैली अपनाना चाहता है जो सरल होते हुए ग्रामीणता से अछूती हो और परिष्कृत होने पर भी आडबर से दूर हो, उसे रात दिन एडिसन के लेखो का अध्ययन तथा अनुशीलन करना चाहिए।'

स० ग्र०--जॉन्सन दि लाइव्ज़ ऑव् दि इग्लिश पोयट्स, एडमड गॉस दि हिस्ट्री ग्राव दि एट्टीय सेचुरी लिट्रेरेचर, मिटो दि मैन्युअल ग्राव इग्लिश प्रोज़, ह्यू वाकर इग्लिश एसेज़ ऐड एसेइस्ट्स।

[वि० रा०]

एड्रियाटिक सागर

यह रूम सागर की एक भुजा है, जो इटली को बालकन प्रायद्वीप से अलग करती है। यह एपीनाइन पर्वत और दिनारिक आल्प्स के मध्य स्थित एक अवनत भूमि है। इसकी लबाई (उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व) ५०० मील और औसत चौडाई ११० मील है। इस सागर का इटलीवाला किनारा सामान्यत निचला है और उत्तर-पश्चिम की ओर पो नदी के डेल्टा के दलदल और उपह्रद (Z-agoon) प्रदेश मे विलीन हो जाता है। पो नदी का मैदान, सरचना की दृष्टि से, एड्रियाटिक का ही प्रसारित भाग है। इस सागर का पूर्वी किनारा, या डलमेशियन तट, साधारणत ऊँचा नीचा है और इसके समातर छोटी छोटी कटानें (Inlets) और कुछ दूर पर लबे सँकरे पहाडी द्वीप तट के समातर स्थित हैं। उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व दिशा में फैली हुई पर्वतश्रेणियो के निमज्जन से लबी घाटियो ने कटान का रूप धारण कर लिया है और जलमग्न पर्वतशिखर चट्टानी द्वीप बन गए हैं। इटली के समुद्रतट पर सुरक्षित बदरगाहो का अभाव है जब कि डलमेशियन समुद्रतट पर सुरक्षित कटानो की उपस्थिति के कारण बदरगाहो की अधिकता है।

[रा० ना० मा०]

एड्रियानोपुल्स

यह तुर्की का एक अति प्राचीन नगर है। इसका पहला नाम उस्कादम अथवा उस्कोदम था। रोमन सम्राट् एड्रियन ने दूसरी शताब्दी मे इसको बढाया और इसका पुनर्नामकरण एड्रियानोपुल्स किया। इसका तुर्की नाम एदीर्ने और बुल्गारी नाम ओदीर्न है। प्रथम मुराद द्वारा सन् १३६१ ई० मे अधिकृत होने के बाद से लेकर सन् १४५३ ई० तक यह तुर्की के सुल्तानो का आवासस्थान रहा। यह इस्तबूल से १४० मील पश्चिमोत्तर-पश्चिम दिशा मे तुजा और मारीत्सा नदियो के सगम पर बसा है। सन् १९१३ ई० मे इसे सर्व और बुल्गर लोगो ने १५५ दिनो के घेरे के बाद कब्जे मे कर लिया था। बाद में तुर्कों ने इसे लौटा लिया। सन् १९२३ ई० की लोज़ैन की सधि के अनुसार अत में यह तुर्की को मिल गया। तब से यह बराबर तुर्को के अधीन रहा।

प्राचीन नगर की अब कुछ रोमन दीवारें ही बच गई हैं। यहाँ पहले ३१४ मस्जिदे थी, परतु आधुनिक युद्धो के परिणामस्वरूप अब उनमे से केवल आधी ही शेष बची हैं। अर्धनष्ट एस्की सराय सुल्तानो का प्राचीन महल था। सन् १४८८ ई० में निर्मित बयजीत बेली पूर्व की अद्वितीय मस्जिद मानी जाती है।

यहाँ के मुख्य उद्योग सूती और रेशमी वस्त्र, दरी, चमडे के सामान शराब, गुलाबजल, गुलाब के इत्र आदि हैं। सन् १९४५ ई० मे इसकी जनसख्या ६८,१५५ थी।

[श्या० सु० श०]

एथेंस

(अथेनाइ, अथीना, असीना) प्राचीन काल मे ग्रीस देश के अत्तिका नामक भाग की और आजकल समस्त ग्रीस की राजधानी। इसका इतिहास तीन हजार वर्ष से अधिक पुराना है एव सस्कृति की दृष्टि से समस्त यूरोप और अमरीका की सस्कृति का मूल स्रोत यही है।

यही कारण है कि इस नगरी के पुरातत्व का अध्ययन करने के लिये स्वय ग्रीक लोगो के अतिरिक्त फ्रास, जर्मनी, सयुक्त राज्य अमरीका, इग्लैंड, आस्ट्रिया एव इटली इत्यादि देशो ने अपनी अपनी सस्थाएँ आधुनिक एथेस में ही स्थापित कर रखी हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देशो में भी इसकी सस्कृति का अध्ययन बडे मनोयोगपूर्वक चल रहा है।

अत्तिका प्रदेश यूरोप के दक्षिण-पूर्व मे एक त्रिभुज के आकार मे अवस्थित है। इसकी अधिकाश भूमि पहाडी है और जहाँ समतल मैदान है वहाँ भी मिट्टी की तह अधिक मोटी नही है। एथेस अत्तिका के दक्षिण-पश्चिम मे (२३° ४४' पूर्व तथा ३७° ५८' उत्तर) स्थित है। समुद्र से इसकी कम से कम दूरी तीन मील है। इसका तापमान अधिकतम ९९०१°, न्यूनतम ३१५५° और मध्यम ६३१° फार्नहाइट है और जलवायु स्वच्छ, निर्मल, स्वास्थ्यकर तथा वृद्धिवर्धक है। नगरी के समीप ही पेंतेलीकस और हीमेत्तस नामक सगमर्मर के पहाड हैं जिनसे नगर के सुदर भवनो और मदिरो के लिये पर्याप्त मात्रा में सगमर्मर मिलता रहा है। पश्चिम मे कैफीसस नाम की नदी बहती है तथा दक्षिणपूर्व और दक्षिण की ओर इलीसस, पर यह नदी प्राय सूखी पडी रहती है। एथेस मे पर्याप्त मात्रा मे नैसर्गिक जल नही मिलता। जल की कमी को जलभाडारो और कुओ के द्वारा पूरा किया जाता है।

यह कहना कठिन है कि एथेस नगरी का आधारभ कब हुआ और किस जाति के लोगो ने सर्वप्रथम इसे अपना निवासस्थान बनाया। अथीना देवी के नाम पर इसका नामकरण हुआ है। अथीना देवी का सबध मीकीनी सभ्यता से माना जाता है। परतु जैसा अथीना की कथा से विदित होता है, उसको इस नगर मे मान्यता प्राप्त करने के लिये पोसेईदान से स्पर्धा करनी पडी थी। इसमे इस नगरी का इतिहास अत्यत प्राचीन प्रागैतिहासिक काल के धुँधले युग मे छिपा हुआ प्रतीत होता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि एथेंस के मैदान मे बहुत सी छोटी छोटी बस्तियाँ बसी हुई थी। ई० पू० आठवी शताब्दी मे, सभवतया थीसियस के समय, ये बस्तियाँ मिलकर एक नगरी के रूप मे परिणत हो गईं और नगर के केंद्र मे स्थित अक्रोपोलिस् इस नगरी की राजधानी या शासन का केंद्रस्थल बना। तब से लेकर आज तक इस नगरी ने जितने उत्थान पतन देखे, सभवत अन्य किसी नगरी ने नही देखे होगे। आरभ मे यहाँ राजाओ का शासन था। तत्पश्चात् श्रेष्ठ कुलीन लोगो का शासन स्थापित हुआ। पर सोलन् के सविधान के पश्चात् सत्ता साधारण जनता के हाथ मे आनी आरभ हो गई। फिर कुछ समय पश्चात् पिसिस्त्रातस ने अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। इस समय इस नगरी के वैभव मे पर्याप्त वृद्धि हुई।

क्लेइस्थेनीस ने पुन यथार्थ जनतत्र की स्थापना की। इसके पश्चात् एथेंस को ई० पू० ४९० और ४७९ के मध्य फारस साम्राज्य की महान् शक्ति से दो बार युद्ध करना पडा। यद्यपि इन युद्धो मे नगरी को महान् क्षति उठानी पडी पर इससे इसकी शक्ति और प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ गई और एथेंस के इतिहास का स्वर्णयुग आरभ हुआ। देलियन नगर-राष्ट्रसघ की स्थापना के पश्चात् एथेस को एक साम्राज्य के केंद्र का स्वरूप प्राप्त हो गया। पर इससे स्पार्ता के साथ एथेस की प्रतिस्पर्धा का सूत्रपात हुआ जिसके परिणामस्वरूप ग्रीक जाति का दीर्घकालीन महाभारत छिडा जो पोलोपोनेशीय युद्ध कहलाता है। तीस वर्ष के इस युद्ध ने एथेस की शक्ति को क्षीण कर दिया। इस युद्ध का आरभ होने के पूर्व पेरीक्लीस के शासन-काल में एथेस की समृद्धि उच्चता के शिखर पर थी। वास्तुकला, मूर्ति-कला, काव्य, नाटक, व्यापार सबमे एथेस सर्वोपरि था। पर युद्ध के पश्चात् अधिकाश मे इसका गौरव अतीत की गाथा मात्र रह गया। हाँ, दर्शन और इतिहास के क्षेत्र मे इसकी ख्याति अवश्य आगे बढी। इस युद्ध के आघात से ज्यो ही एथेस ने कुछ सँभलना आरभ किया त्यो ही इसको मकदुनिया के फिलिप और सिकदर की शक्ति का सामना करना पडा। यद्यपि इस समय अनुचित नीतियो को बरतने के कारण एथेस को हानि उठानी पडी, फिर भी मकदुनिया की शक्ति उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण रही। इस युग मे अरस्तू का दर्शन और देमोस्थनीस की वक्तृत्वकला एथेस की ख्याति का आधार बनी। इसके पश्चात् रोम की शक्ति का उदय हुआ और एथेंस की स्वतत्र सत्ता का अस्त। पर एथेस की सस्कृति ने विजेता रोम पर विजय प्राप्त की। अनेक रोमन शासको और सम्राटो ने एथेस मे नवीन भवनो का निर्माण किया और अनेक सुविख्यात रोमन विद्वानो ने एथेस का शिष्यत्व स्वीकार कर अपने को धन्य माना। ईसाई धर्म के उदय के पश्चात् अनेक प्राचीन भवन को गिरजाघरो मे परिणत कर दिए गए और कुछ कलाकृतियो को बीजातीनी सम्राट् अपनी राजधानी मे उठा ले गए। सन् ५२९ मे युस्तिनियन नामक सम्राट् की आज्ञा से एथेस के विद्यालय बद कर दिए गए।

पर एथेस को सबसे बुरे समय का सामना तब करना पडा जब तुर्कों ने कुस्तुतुनिया को जीतकर ग्रीस पर भी विजय प्राप्त कर ली। ये दुर्दिन १४५८ मे १८३३ ई० तक रहे। इस काल के आरभ मे अनेक ग्रीक मनीषियो ने इटली आदि यूरोपीय देशो में शरण ली और यूरोप के पुनरुज्जीवन का युग आरभ हुआ। पर एथेन उजडने लगा। सुदर भवन और मूर्तियाँ तोड डाली गईं। कुछ को मसजिद और हरम के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया। जगत्प्रसिद्ध मूर्तिकार वास्तुकार फीदियन द्वारा प्रस्तुत एथेन की मदिरमणि पार्थेनन बारूद का गोदाम बनी और एक दिन स्वामियो की असावधानी से बारूद भडक जाने से उसकी छत उड गई। पर जो कुछ आज भी बच रहा है, उसे देख ब्रिटिश म्यूजियम, लदन और अक्रोपोलिस के पर्यटक प्राचीन ग्रीको की कला को सराह उठते हैं। जनसख्या लाखो से घटकर अत मे ५,००० रह गई। तुर्कों की पराजय के पश्चात् एथेन के आधुनिक युग का आरभ हुआ। नगरी पुन बडी शीघ्रता से बढने लगी। १९३८ मे इसकी जनसख्या पुन चार लाख हो गई। पिछले द्वितीय महायुद्ध मे एथेन पर कुछ समय के लिये (१९४१ मे) जर्मनो का अधिकार हो गया, पर उन्होने नगर को कोई क्षति नही पहुँचाई। युद्ध के उपरात कुछ समय तक राजनीतिक दलो के पारस्परिक कलह के कारण कुछ अशाति रही। पर गत अनेक वर्षो से पुन शाति है।

ई० पू० चौथी शताब्दी के आसपास जब एथेस अपनी समृद्धि के चरम शिखर पर आरूढ था तब उसमे २१,००० स्वतत्र नागरिक, १०,००० विदेशी और ४,००,००० दास निवास करते थे। अत्तिका मे प्राप्त साधनो से इतनी विशाल जनसख्या का भरण पोषण सभव नही था, अतएव एथेस को भोजन सामग्री एव अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ बहुत बडी मात्रा मे विदेशो से मँगानी पडती थी और इनका मूल्य वह अपने कलाकौशल तथा अन्य सेवाओ से चुकाता था। पर इन सबके लिये उसको अपने पिराएयस नामक बदरगाह का विकास करना पडा। इसका इतिहास भी एथेन के इतिहास के साथ अभिन्नतया आबद्ध है। यहाँ के जहाज विशालकाय होते थे जो दिन रात महासमुद्रो मे यात्रा कर सकते थे। यह बदरगाह एथेस के साथ तीन ऊँची ऊँची दीवालो द्वारा सबद्ध था और नगर से दक्षिण-पश्चिम पाँच मील की दूरी पर था।

आज इस बात की कल्पना करना कठिन है कि अपनी समृद्धि के काल मे एथेस कितना भव्य दिखलाई देता होगा। यद्यपि आधुनिक काल मे एथेस के पुराने मदिरो और भवनो का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया गया है तथापि बहुत कुछ तो सर्वदा के लिये नष्ट हो गया। इस समय एथेस मे प्राचीन यूनानी काल के, रोमन काल के और आधुनिक काल के स्थापत्य के उदाहरण मिलते हैं। अत्यत प्राचीन काल की वास्तु कला के निदर्शन नगरी के तीन ऊँचे स्थानो पर पाए जाते हैं जिनके नाम हैं अक्रोपोलिस, अरेयोपागस, और प्नीक्स। अक्रोपोलिस एथेंस का प्राचीनतम दुर्ग है। इस पहाडी पर एरेक्थियम, पार्थेनान, प्रौपिलैया इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण भवन थे। यह नगरी के केंद्र मे स्थित है। अरेयोपागस अक्रोपोलिस के पश्चिम मे है। यहाँ समिति की बैठके हुआ करती थीं और न्यायालय भी यही था। प्नीक्स अक्रोपोलिस के उत्तर-पश्चिम मे था। यहाँ नगरसभा की बैठक हुआ करती थी। नगर की मडी का नाम अगोरा था। अक्रोपोलिस की दक्षिणी ढाल पर दियानीसस का रगस्थल था। नगरी के उत्तर-पश्चिम में विख्यात दिपी-लान नामक द्वार था। यहाँ से कालोनस और प्लेटो (अफलातून) के अकादेमी नामक महाविद्यालय की ओर सडके जाती थीं। अन्य द्वारो से पिराएयस फालेरम और सूनियम नामक स्थानो को सडके जाती थीं। सभवत ई० पू० छठी शताब्दी मे पिसिस्त्रातस के शासनकाल मे एक विशाल जलागार बनाया गया था। साधारण नगरनिवासियो के मकान और सडके अच्छी नही थीं।

रोमन काल मे समय के आकलन के लिये वायुमदिर बनाया गया था जिसमें जलघटिका इत्यादि यत्र थे। अक्रोपोलिस के उत्तर मे रोमक हाट

'अगोरा' का संविधान था जो मुख्यतया तेल की मडी था। रोमन सम्राट् हाद्रियन ने नव एथेस का निर्माण किया था और एक पुस्तकालय भी बनवाया था। इस सम्राट् ने और भी अनेक भव्य स्थानो से इस पुरातन नगरी की शोभा बढाई थी। अत्तिकुस हेरोदेस नामक एक सपन्न रोमन ने पुराने स्तादियुम और ओदियम् का निर्माण कराया था।

आधुनिक एथेस मे अकादेमी, विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय पुस्तकालय, सग्रहालय, इत्यादि अनेक नए भवन निर्मित हुए हैं। विदेशियो द्वारा भी बहुत से सग्रहालयो, और पुस्तकालयो का निर्माण हुआ है। ग्रीक जाति की युग युग की सस्कृति का यह केद्र आज पुन नवजीवन से परिस्पदित हो रहा है।

स० ग्र०--फर्ग्युसन हैलेनिस्टिक एथेस्, १६११, वर्ड्स्वर्थ एथेंस् ऐंड ऐटिका, १८५५, भोलानाथ शर्मा अरिस्तू की राजनीति और अथेंस का सविधान (अरिस्तू के ग्रथो के हिंदी अनुवाद), १६५६। [भो०ना०श०]

एथेंस का संविधान

एथेस मे सरकार का प्राचीनतम रूप एकतत्रात्मक था। राजा यूपात्रिद नामक एक स्थायी परिषद् की सहायता से शासन करता था। एकतत्र के क्षीण होने पर द्राको ने द्वारा स्थापित सार्वधानिक व्यवस्था के अनुसार राजनीतिक अधिकार उन लोगो को प्राप्त हुए जो सैन्य-साधन-सपन्न थे। ये लोग सपत्ति के आधार पर आर्कनो तथा कोषाध्यक्षो का निर्वाचन करते थे। इनके अतिरिक्त ४०१ सदस्यो की एरोपागस नामक एक परिषद् थी जिनका चुनाव ३० वर्ष से अधिक वय के नागरिक लाटरी द्वारा करते थे। परिषद् प्रशासको पर अकुश रखती थी।

समाज के उच्च वर्ग मे सत्ता सीमित रहने के कारण जनसाधारण ने इस व्यवस्था का विरोध किया। फलत सोलन ने नई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की। आबादी को सपत्ति के आधार पर चार वर्गो मे विभाजित किया गया जिनमे राजनीतिक पद वितरित हुए। दो जनतात्रिक सस्थाओ 'एकलेजिया' (सभा) तथा 'बौले' (परिषद्) की स्थापना की गई। एकलेजिया मे सभी वर्गो के नागरिक होते थे। यह आर्कनो का चुनाव, प्रशासको के व्यवहार का निरीक्षण तथा सामान्य राजनीतिक और न्यायिक अधिकारो का प्रयोग करती थी। प्रत्येक वर्ग से १०० सदस्यो के हिसाब से चुने गए ४०० सदस्यो की 'बौले' एक्लेजिया की क्रियाओ पर नियत्रण रखती थी तथा सभा के अधिवेशनो की तिथि और उसका कार्यक्रम निश्चित करने के अतिरिक्त सभा की आज्ञप्तियाँ लागू करने का उत्तरदायित्व लेती थी।

ई० पू० ५६० से ५१० तक निरकुश शासन के बाद क्लेइस्थेनीस ने पुन जनतात्रिक सविधान लागू किया जिसे पेरिक्लीज के सुधारो ने पूर्णता प्रदान की। क्लेइस्थेनीस ने आबादी को १० वर्गो मे बाँटा तथा प्रत्येक से ५० सदस्य लेकर ५०० सदस्यो की परिषद् (बौले) की स्थापना की। सदस्यो का निर्वाचन ३० वर्ष से अधिक के नागरिको मे से लाटरी द्वारा होता था। परिषद् के अधिकार निम्नलिखित थे सैन्य प्रबध का निरीक्षण करना, वैदेशिक नीति सबधी कर्तव्य पूरे करना, राजदूतो का स्वागत करना, विदेशी राज्यो से सधि करना, वित्तीय क्षेत्र मे व्यय पर नियत्रण रखना, महाभियोग--यथा षड्यत्र, देशद्रोह, घूसखोरी--का अधिकार प्रयुक्त करना। सभा (एकलेजिया) के सदस्य १८ वर्ष से ऊपर के सभी नागरिक होते थे। ऐसे विधायी कार्यो के लिये, जिनके वैध होने के लिये सर्वसमति की आवश्यकता होती थी, ६००० सदस्यो की सख्या राज्य की प्रतिनिधि सख्या मान ली जाती थी। सभा की बैठके दो प्रकार की होती थी--सामान्य और विशिष्ट। दोनो बैठको का कार्यक्रम सभा के लिये परिषद् तैयार करती थी। सभा राज्य मे सप्रभु प्रशासकीय सत्ता थी, परतु वह सही अर्थ में विधायिनी नही थी। सप्रभुता सविधान मे निहित थी और सविधान का सरक्षण न्यायालयो के सुपुर्द था। सभा केवल प्रशासकीय आज्ञप्तियाँ जारी कर सकती थी, विधान नहीं। विधायी कार्य सभा और न्यायपालिका के सहयोग से होते थे।

सभा के मुख्य अधिकार निम्नलिखित थे युद्धघोषणा और शातिस्थापना तथा राजदूतो की नियुक्ति, विदेशो से व्यावसायिक सबध स्थापित करने की स्वीकृति देना, सभी वित्तीय विषयो पर अतिम स्वीकृति देना, राज्यधर्म का नियत्रण करना, नागरिकता, पारितोषिक और उपाधि प्रदान करना।

न्यायपालिका (हेलीया) मे ३० वर्ष से अधिक के सभी नागरिक होते थे। ई० पू० चौथी शताब्दी मे न्यायाधीश १० पैनेलो मे विभाजित थे जिन्हें दिकास्तरी कहते थे। निजी मुकदमो मे मुआवजा वादी को प्राप्त होता था। न्यायालय की फीस जमानत के रूप मे जमा होती थी और निर्णय से पूर्व मुकदमा उठा लेने पर वादी को कोई दड नही मिलता था। परतु सार्वजनिक मुकदमो मे, जिसमे फौजदारी के मुकदमे भी समिलित थे, मुआवजा धन के रूप मे होने पर राज्य को मिलता था, और दड के रूप में होने पर राज्य द्वारा दिया जाता था। न्यायालय की कोई फीस नही जमा होती थी, निर्णय से पूर्व मुकदमा वापस लेने पर या निर्णय में न्यायालय का पचमाश मत भी वादी पक्ष मे न होने पर उसे १०० द्राख्म जुर्माना देना होता था और वह भविष्य मे ऐसे मुकदमे लाने का अधिकार खो बैठता था।

प्रशासकीय पदो मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण सेनानायक (स्त्रातेगी) का पद था जिसके लिये दसो क्लेइथीनियन वर्गो के आधार पर १० सदस्यो के एक मडल (बोर्ड) की स्थापना की गई थी। सेनानायको का विशिष्ट अधिकार था सभा के विशेष अधिवेशन बुला सकना। सैन्य आयव्ययक (बजट) सबधी, वित्त के, सैन्य सचालन के, तथा सैन्य नियमो के उल्लघन पर दड देने के अधिकारो के अतिरिक्त सधियो को लागू करने की जिम्मेदारी भी उनकी थी। इस प्रकार सेनानायक एक साथ युद्धनेता, विदेशमत्री तथा वित्तमत्री होते थे। ई० पू० चौथी शताब्दी में मडल के सदस्यो मे कायविभाजन कर दिया गया जिससे प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार काय सौपा जाने लगा। सेनानायको के अतिरिक्त एथीना की मूर्ति तथा अन्य बहुमूल्य धार्मिक उपादानो के कोपाध्यक्ष, सार्वजनिक ठेको के आयुक्त, राजकीय वित्त के सग्राहक के पद थे। प्रत्येक पद के लिये लाटरी द्वारा १० सदस्य चुने जाते थे।

स०ग्र०--अरिस्टाटल (अनु० के० वी० फ्रिज) दि कान्स्टिट्यूशन आव एथेस, न्यूयार्क, १६५०, कूलाजेज, एफ० डी० (अनु० डब्ल्यू० स्माल) दि एश्येट सिटी, बोस्टन, १६०१, गिल्बर्ट, जी० ग्रीक कान्स्टिट्यूशनल ऐंटीक्विटीज आव स्पार्टा ऐंड एथेन्स, लदन, १८६५, ग्लाज, जी० दि ग्रीक सिटी ऐंड इट्स इस्टिट्यूशस, लदन, १६५०, ग्रीनिज, ए० एच० जे० ए हैंडबुक आव कान्स्टिट्यूशनल हिस्ट्री, मैकमिलन, १६२०, जोन्स, ए० एच० एम० एथीनियस डिमाक्रेसी, आक्सफर्ड, १६५७, हीडलम, जे० डब्ल्यू० एलेक्शन्स बाई लाट ऐट एथेन्स, कैंब्रिज, १८६१। [रा० अ०]

एदापप्दी

मद्रास राज्य के सलेम जिले मे तिरुचेनगोडू ताल्लुके मे स्थित एक नगर है। यह दक्षिण रेलवे का एक स्टेशन है। यहाँ पर सूती वस्त्र उद्योग होता है। नगर की व्यवस्था पचायत द्वारा की जाती है। अनाज, कपास तथा घी की यहाँ मडी है। नगर की जनसख्या २३,४३७ (१६५१ ई०) है जिसमे पुरुप ११,५३१ हैं। सात हजार से अधिक लोग उद्योग धधो मे लगे हैं, शेप व्यापार तथा नौकरी पेशे मे हैं। [हृ० हृ० सि०]

एदेस्सा

१ मकदूनिया की प्राचीन राजधानी जो राज्य के बीच थेसालोनिका से २६ मील पश्चिम बसी थी। फिलिप द्वितीय ने राजधानी वहाँ से हटाकर पेल्ला कर दी परतु एदेस्सा फिर भी मकदूनिया के राजाओ की कब्रगाह बना रहा। स्वय फिलिप की पुत्री के विवाह के अवसर पर उसकी हत्या एदेस्सा मे हुई जहाँ वह दफनाया गया।

२ एदेस्सा उत्तर-पश्चिमी मेसोपोतामिया के एक प्राचीन नगर का ग्रीक नाम था। आज उसे उर्हाई या उर्फा कहते हैं। प्लिनी के अनुसार एदेस्सा का दूसरा नाम अतिओक भी था जहाँ अतिओकस चतुर्थ के सिक्के मिले हैं। यह नगर सीरिआई भाषा बोलनेवाले ईसाइयो का आदि स्थान है। सेल्यूकस के राजवश के पतन के बाद १३२ ई० पू० के लगभग एदेस्सा रोम और पार्थव साम्राज्यो की सीमा बना जहाँ स्थानीय राजा प्राय कई सौ वर्षो तक राज करते रहे। ईसाई अनुश्रुतियो के अनुसार एदेस्सा में उस धर्म का प्रचार सत तोमस के भेजे अद्दाई नाम के मिशनरी ने किया। उसी ने वहाँ के अबगर राजा और अनेक निवासियो को बप्तिस्मा दिया। उसी नगर के पास रोमन सम्राट् काराकल्ला मारा गया।

२२६ ई० में पार्थव साम्राज्य पर सस्सानियों का अधिकार हुआ। सस्सानी राजाओं का रोमन सम्राटों से फलस्वरूप जो संघर्ष छिड़ा उसमें एदेस्सा की बड़ी हानि हुई। इसी नगर के द्वार पर सस्सानी सम्राट् ने वालेरियन को पराजित कर बंदी कर लिया। समूचा मेसोपोतामिया अनेक बार सस्सानियों और रोमनों के बीच अपने स्वामी बदलता रहा। ईरानी पंडित इब्राहिम ने चौथी सदी में एदेस्सा में अपना आश्रम बनाया जहाँ दूर दूर के विद्यार्थी उसके ज्ञानामृत का पान करने आने लगे। उस विद्याकेंद्र का अंत ४८६ ई० में जेनों की घोषणा से हुआ और फारस की नैतिक तथा बौद्धिक सत्ता एदेस्सा से मिट गई। सातवीं सदी ई० में खुसरो द्वितीय ने एदेस्सा पर अधिकार कर लिया और वहाँ की जनता की बड़ी संख्या को पूर्वी फारस में बसा दिया। मुहम्मद उन्हीं दिनों अरब में अपने नए धर्म का प्रचार कर रहे थे। बिज़ंतियम के रोमन सम्राट् और अरबों में संघर्ष अनिवार्य था और ६३८ ई० में एदेस्सा मुसलमानों के अधिकार में आ गया। ईसाई क्रूसेडो के धर्मयुद्ध में इस नगर पर अरबों का अधिकार हो गया और उसके बाद लगातार एदेस्सा तुर्कों और मंगोलों के आधिपत्य में इस्लाम की सरक्षा में बना रहा। बीच बीच में निश्चय ही मिस्र ने भी इसपर अनेक बार अधिकार किया। एदेस्सा की मिट्टी के नीचे उसके जीवन के अनेक रूप दबे पड़े हैं। ग्रीकों के काल से आज के इस्लामी आधिपत्य तक उस नगर ने अनेक कलेवर बदले।

[भ० श० उ०]

एद्दा (एड्डा) शब्द साधारणतः आइसलैंड के साहित्य के दो संग्रहों के नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। संभवतः इसका पहला प्रयोग मध्यकाल में हुआ। १४वीं से १७वीं शताब्दी तक इस शब्द का प्रयोग काव्य कला के अर्थ में होता रहा। इसका उपयोग स्केंदिनेवियाई साहित्य के सबसे महान् साहित्यकार स्नोरी स्तुर्लूसन (११७९-१२४१) की कृतियों के संबंध में हुआ। स्नोरी ने जिस एद्दा की रचना की उसे गद्यात्मक एद्दा कहते हैं और उसके पाँच भाग हैं। उसकी भूमिका में जलप्रलय की कहानी दी हुई है। इस एद्दा में स्केंदिनेविया के विविध युगों की भी एक सूची दी हुई है। पद्यात्मक भाषाशास्त्रीय तथा व्याकरण संबंधी कुछ विचार संगृहीत हैं, साथ ही कवियों की भी एक सूची दी हुई है। पद्यात्मक एद्दा का संग्रह १६४३ ई० में प्राप्त हुआ। इसमें संभवतः ११वीं सदी की कविताओं का संग्रह है। इसकी अधिकतर कविताएँ नष्ट हो जाने से प्रायः अपूर्ण रूप में ही उपलब्ध हुई। इसमें प्राचीन नारवेई वीरों और पौराणिक नायकों की कथाएँ पद्य में प्रस्तुत हुई हैं और वे विशेषतः नारवे की राष्ट्रगाथा बन गई हैं। वस्तुतः इसमें न केवल नारवे और आइसलैंड अथवा डेनमार्क की प्राचीन कथाओं का समावेश है बल्कि विद्वानों का तो कहना है कि वे कथाएँ जर्मन और ब्रिटिश जनता की प्राचीन कथाओं से भी अप्रभावित रही हैं। एद्दा शब्द का साधारण और अलाक्षणिक प्रयोग वीरगाथाओं अथवा रासो या प्राचीन लोकसाहित्य के अर्थ में भी होने लगा है। परंतु यह प्रयोग वस्तुतः अनुचित है,यद्यपि अनेक प्राचीन देशों का पौराणिक साहित्य बहुत कुछ छंदोबद्ध एद्दा कृतियों के अनुरूप रहा। भारत के रासो काव्य और अपभ्रंश की अनेक वीरगाथाएँ इस प्रकार एद्दा साहित्य से मिलती जुलती हैं। परंतु सार्थक उपयोग इस शब्द का नारवेई, स्वीडी, डेनी और आइसलैंडी प्राचीन लोकसाहित्य को ही व्यक्त करता है। [भ० श० उ०]

एनक्विज़िशन (इनक्विज़िशन) न्यायाधिकरण

काथलिक गिरजे के इतिहास में इस संस्था का पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान है। 'एनक्विज़िशन' का अर्थ है जाँच पड़ताल, इस न्यायाधिकरण (ट्राइब्यूनल) की स्थापना इस उद्देश्य से हुई थी कि काथलिक धर्म के सिद्धांतों से भटकनेवालों का पता लग जाय और उनको दंड दिलाने के लिये सरकार के सुपुर्द किया जाय। इस संस्था के तीन रूप हैं

मध्यकालीन एनक्विज़िशन—इसकी उत्पत्ति समझने के लिये यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक है। काथलिक धर्म (गिरजे) के अधिकारी अपने धार्मिक विश्वासों के समुचित सूत्रीकरण के प्रति प्रारंभ से ही सतर्क रहे तथा भ्रामक सिद्धांतों के प्रचारकों को समझाकर और आवश्यकतानुसार उनको धर्म (गिरजे) से बहिष्कृत कर काथलिक धर्म का सनातन रूप शताब्दियों तक सुरक्षित रखने में समर्थ हुए। चौथी शताब्दी ई० में काथलिक धर्म को रोमन साम्राज्य की ओर से मान्यता

मिली, बाद में वह यूरोप के अधिकांश देशों में भी राजधर्म के रूप में स्वीकृत होने लगा। अतः काथलिक धर्म (गिरजे) के प्रति विद्रोह करना राजविद्रोह माना जाने लगा। फलस्वरूप सरकार काथलिक धर्मविरोधी सिद्धांतों का प्रचार करनेवालों को निर्वासन, संपत्ति की जब्ती आदि दंड दिया करती थी। १२वीं शताब्दी में एकाध संप्रदायों के प्रचार के कारण सामाजिक तथा राजनीतिक अशांति फैलने लगी जिनमें फ्रांस के दक्षिणी भागों में प्रचार करनेवाला अल्बीजन्स नामक संप्रदाय प्रधान था। उन लोगों की धारणा थी कि समस्त भौतिक जगत् (प्रकृति) किसी दुष्ट पुरुष की सृष्टि है, मानव शरीर भी दूषित है इसलिये आत्महत्या उचित किंतु विवाह बुरा है क्योंकि वह शारीरिक जीवन को बनाए रखने का साधन है। अतः इस संप्रदाय के 'सिद्ध' लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते थे किंतु अपने साधारण अनुयायियों को यह शिक्षा देते थे कि यदि कोई पूर्ण संयम न रख सके तो उसके लिये विवाह की अपेक्षा व्यभिचार ही अच्छा है। इस संप्रदाय के विरुद्ध जनता की ओर से उग्र प्रतिक्रिया हुई तथा सरकार ने उसके अनुयायियों को प्राणदंड देने का निर्णय किया, गिरजे ने उनका पता लगाने का भार स्वीकार किया। इस उद्देश्य से १२वीं श० ई० के अंत में एनक्विज़िशन संस्था की स्थापना हुई और बाद में वह प्रायः समस्त ईसाई देशों में फैल गई। इसके पदाधिकारी रोम की ओर से नियुक्त होकर देश का दौरा किया करते थे। अभियुक्तों से अनुरोध किया जाता था कि वे अपने भ्रामक सिद्धांत त्यागकर पश्चात्ताप करें। जो लोग इसके लिये तैयार नहीं होते थे, उनको प्राणदंड दिलाने के लिये सरकार के हाथ सौंपा जाता था। उस समय की बर्बर प्रथा के अनुसार स्वीकारोक्ति के निमित्त अभियुक्त को यंत्रणा भी दी जाती थी। अभियोक्ताओं के नाम गुप्त रखे जाते थे तथा अपश्चात्तापी दोषियों को जीते जी जला दिया जाता था। इन कारणों से इतिहासकारों ने एनक्विज़िशन की घोर निंदा की है।

स्पेन का एनक्विज़िशन—इसकी स्थापना सन् १४७८ ई० में राजा के अनुरोध पर इस उद्देश्य से हुई थी कि गुप्त मुसलमानों तथा यहूदियों का पता लगाया जाय। बात यह है कि सात शताब्दियों तक स्पेन के कुछ प्रदेशों पर मुसलमानों का आधिपत्य बना रहा और बहुत से ईसाइयों के पुरखे मुसलमान ही थे। दूसरी ओर, राजा ने स्पेन के यहूदियों को यह आदेश दिया कि ईसाई बनो अथवा देश छोड़ दो। इस परिस्थिति में स्पेन के नए ईसाइयों के विषय में संदेह बना रहता था कि वे भीतर ही भीतर मुसलमान अथवा यहूदी तो नहीं हैं। स्पेन के एनक्विज़िशन का उन्मूलन १९वीं श० के पूर्वार्ध में हुआ।

रोमन एनक्विज़िशन—मध्यकालीन एनक्विज़िशन १३वीं तथा १४वीं शताब्दी में सक्रिय रहा। सन् १५४२ ई० में इसका पुनस्संगठन तथा परिष्कार हुआ और उस समय इसका नाम 'रोमन एनक्विज़िशन' तथा बाद में 'होली आफिस' रखा गया। इसी नाम से यह आज तक विद्यमान है। काथलिक धर्म की पवित्रता की रक्षा तथा धार्मिक सिद्धांतों का ठीक ठीक सूत्रीकरण इस संस्था का मुख्य उत्तरदायित्व है।

मध्यकालीन तथा स्पेन के एनक्विज़िशन के कारण काथलिक धर्म (गिरजे) को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हुई। यद्यपि एनक्विज़िशन के अत्याचार के वर्णन में प्रायः अतिरंजना का आश्रय लिया गया है तथा दंडितों की संख्या को अत्यधिक बढ़ा दिया गया है, फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस संस्था द्वारा मनुष्य के मूल अधिकारों की उपेक्षा की जाती थी। आजकल प्रचलित काथलिक धर्म (गिरजे) के विधान में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध काथलिक नहीं बनाया जा सकता।

सं० ग्रं०—पी० ह्यूज़ : ए हिस्ट्री ऑव दि चर्च, लंदन, भाग १ (१९३९), , भाग २ (१९४७), जे० गिराड : दि मिडीवल एनक्विज़िशन, लंदन (१९२९)।

[का० बु०]

एन्फ़ील्ड इंग्लैंड के मिडिलसेक्स प्रदेश में न्यू नदी के तट पर लंदन से ९ मी० उत्तर-पूर्व स्थित एक व्यापारिक नगर है। यहाँ राइफल तथा बंदूकें बनाने का प्रसिद्ध राजकीय कारखाना है जहाँ संपूर्ण ब्रिटिश सेनाओं के लिये राइफलें बनाई जाती हैं। एन्फ़ील्ड इंग्लैंड के कुछ प्रसिद्ध लोगों, जैसे चार्ल्स लैंब, कवि कीट्स इत्यादि, की जन्मभूमि रहा है।

इसका क्षेत्रफल १६ ३८ वर्ग मील है तथा यहाँ की जनसंख्या सन् १९५० ई० मे १,१०,४६७ रही।

एफील्ड, कनेक्टीकट नदी के पूर्वी तट पर सयुक्त राज्य अमरीका के हार्टफोर्ड प्रदेश में स्थित एक नगर है। यह ३३ २ वर्ग मील में फैला हुआ है, जिसमें कई गाँव भी सम्मिलित हैं। यहाँ की जनसंख्या सन् १९४० ई० में १३,५६१ थी। यहाँ के मुख्य उद्यम तबाकू की खेती तथा गलीचे, पीपे और लोहे की अनेक प्रकार की वस्तुओ का निर्माण करना है। यह नगर सन् १६७९ ई० में बसाया गया था। [श्या० सु० श०]

एपर्ने फ्रास के मार्ने जिले में एक ऐतिहासिक नगर है जो शालो नगर के उत्तर-पश्चिम में १९ मील की दूरी पर स्थित है। प्राचीन नगर मार्ने नदी के बाएँ किनारे पर बसा हुआ था। आधुनिक नगर मार्ने के दोनो ओर फैला हुआ है। यह नगर खडिया मिट्टी द्वारा निर्मित चट्टानो पर बसा हुआ है। इन्ही चट्टानो की कदराओ में 'शैंपेन' नामक शराब बनाई जाती है। अत एपर्ने शैंपेन का बहुत बडा गोदाम तथा थोक बाजार है। ऐतिहासिक काल में पाचवी से दसवी शताब्दी तक यह रीम्स के मुख्य पादरी के आधिपत्य मे रहा। तत्पश्चात् शैंपेन के काउट ने इसे अपने कब्जे में कर लिया। शतवर्षीय यद्ध ने इस नगर को बहुत क्षति पहुँचाई। सन् १५४४ ई० मे फ्रासिस प्रथम ने इसे जलवा दिया। सन् १६४२ ई० में बोलोन के ड्यूक ने यहाँ एक डची की स्थापना की। प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४–१९१८ ई०) मे एपर्ने की गलियाँ पुन खून से लाल हुई। सन् १९४० ई० मे इसकी जनसंख्या २१,८११ थी। [लि० रा० सि०]

एपिनाल फ्रास की उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित 'वोसजेस विभाग' की राजधानी है। इसकी स्थिति एक सँकरी घाटी मे 'मोज़ेल' नदी के किनारे समुद्र से १,०७० फुट की ऊँचाई पर पेरिस से १९० मील (रेल द्वारा २६० मील) दक्षिण-पूर्व में है। सन् १९३६ ई० में यहाँ की जनसंख्या २७,५५१ थी। एपिनाल का विकास दसवी शताब्दी मे निर्मित एव थियोडोरिक प्रथम द्वारा स्थापित एक मठ के आस पास हुआ है। यह नगर सूत कताई तथा कपडे बुनने के लिय प्रसिद्ध है, साथ ही यहाँ वस्त्रो पर छपाई, कसीदाकारी, तथा हैट बनाने का कार्य भी होता है। सस्ती मूर्तियाँ, खुदाई, पच्चीकारी तथा पत्थर पर छपाई करना यहाँ के विशेष उद्योग हैं। व्यापार की मुख्य वस्तुओ मे मदिरा, अन्न, पशु तथा मैदा बनाना है। बेलफोट (Belfort), डीजो दिजो, तथा बजाँसो (नगरो) के साथ यह नगर मोज़ेल के किनारे किनारे किलो की एक कतार बनाता है। [श्या० सु० श०]

एपिरस उत्तर ग्रीस का प्राचीन जिला अथवा राज्य जो यवन सागर (आयोनिया सागर) के बराबर बराबर चला गया था—इलीरिया, मकदूनिया और थेसाली से लगा लगा। आज यह आल्बेनिया का दक्खिनी भाग है। इसका भूभाग पहाडी है और यह सदा से अन्न की अपेक्षा अपने घोडो और मवेशियो के लिये प्रसिद्ध रहा है। इसका प्राचीन इतिहास अधकार के आवरण में छिपा है, यद्यपि अनुश्रुतियो मे ई० पू० ५वी सदी से ही इसके राजकुल का बखान होने लगा था। वही की राजकुमारी ओलिपिया मकदूनिया के राजा फिलिप द्वितीय को ब्याही थी जो सिकदर महान् की माँ बनी। एपिरस के राजा अलेग्जादर ने मकदूनिया के आतगोनस गोनातस को परास्त किया पर स्वय उसे देमेत्रियस से हारकर अपना राज्य छोड भागना पडा। उसने लौटकर एपिरस फिर जीत लिया और शातिपूर्वक मरा। ग्रीस के पतन के साथ एपिरस का भी पतन हो गया और वह भी रोमन साम्राज्य का प्रात बन गया। महत्व की बात है कि एपिरस का अलेग्जादर (अलिकसुदरो) और उसका पराजित शत्रु मकदूनिया का आतिगोनस गोनातस (अतेकिन) दोनो भारत के अशोक महान् के समकालीन थे जिनका उल्लेख उसके द्वितीय शिलालेख में हुआ है। उनके देशो में उसने भजकर ओपधियाँ लगवाई थी। [ओ० ना० उ०]

एपीक्यूरस (ई० पू० ३४२–१ से ई० पू० २७१–७०)—प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक। इसके माता पिता एथेंस के निवासी थे पर इसके जन्म के समय वे सामोस् नामक द्वीप मे रहते थे। एपीक्यूरस् के पिता का नाम नेओक्लेस और माता का नाम खाराएस्त्राता था। दर्शनशास्त्र के प्रेम का अकुर तो उसके हृदय मे १२-१४ वर्ष की अवस्था मे ही उत्पन्न हो गया था, अतएव वह अपनी शिक्षा पूरी करने के लिये १८ वे वर्ष मे एथेंस आया और एक वर्ष तक अफलातून की अकादेमी मे रहा। यहाँ से लौटकर कोलोफन नगर को गया जहाँ उसके परिवार के लोग जा बसे थे। इस नगर के समीप तेओस नगर मे उसने नाउसीफानेस से सभवतया देमाक्रीतुस के सिद्धातो की शिक्षा ग्रहण की। लगभग ३२ वर्ष की अवस्था मे उसने पहले मीतिलेने नगर मे और कुछ समय उपरात लाप्साकुस नामक नगर मे अपना विद्यालय स्थापित किया। इसके पाँच वर्ष उपरात वह अपने विद्यालय को एथेंस नगरी में ले गया। यहाँ पर उसने एक उद्यान मे अपना विद्यालय स्थापित किया। यो तो उस समय एथेस मे अनेक प्रसिद्ध विद्यालय थे पर एपीक्यूरस ने ही सबसे प्रथम स्त्रियो तथा दासो को भी अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया। उसके शिष्यो मे अनेक वारागनाएँ भी थी और उनमे से, सभवतया, लियोतियन नामक वारागना के साथ उसकी घनिष्टता गुरु शिष्य के सबध की अपेक्षा अधिक गहरी थी। वह लगभग ३६ वष से अधिक एथेस नगरी मे रहा। विद्यालय और शिष्यमडली मे एपीक्यूरस देवतुल्य पूजा जाता था और उसके जन्मदिन पर विशेष उत्सव मनाया जाता था। यद्यपि उसके आलोचको ने उसको विलासिता मे फँसा हुआ कहा है, तथापि वास्तविकता यह है कि उसका तथा उसके शिष्यो का जीवन सीधा-सादा, शात और सरल था। मृत्यु के समय उसको पथरी रोग हो गया था जिसके कारण उसकी शारीरिक पीडा की कोई सीमा नही थी, तथापि अतिम दिन जो पत्र उसने अपने मित्र को लिखा उसमे उसने शाति और सुख की ही भावना को अभिव्यक्त किया।

दिओगेनेस लाएर्तियुस ने "दार्शनिको के जीवन" नामक पुस्तक में एपीक्यूरस की जीवनी ग्रथात मे सबसे अधिक विस्तार के साथ लिखी है और उसने बतलाया है कि एपीक्यूरस ने ३०० ग्रथो की रचना की थी। परतु दुर्भाग्यवश निम्नलिखित थोडी सी रचनाओ के अतिरिक्त अन्य सब कुछ आज अनुपलब्ध है। जो कृतियाँ बच रही हैं वे है–(१) हेरोदोतुस को लिखा हुआ एक लबा पत्र जो आजकल उसके मत को जानने का मुख्य साधन है, (२) ऋतुविज्ञान के सबध मे पीथोक्लेस को लिखा हुआ पत्र, (३) आचार दर्शन के सबध मे मेनोकेउस को लिखा हुआ पत्र, (४) लाएर्तियुस की जीवनी के अत में दिए हुए आचार सबधी ४० सूत्र, और (५) १८८८ मे वोट्के द्वारा वातिकन (पोप की नगरी) मे पाए गए ८० सूत्र। अनुपलब्ध ग्रथो मे एपीक्यूरस की सर्वश्रेष्ठ रचना "प्रकृति" (पैरीफीसिओस) भी है जो ३७ पुस्तकों अथवा अध्यायो मे थी।

एपीक्यूरस का दार्शनिक सिद्धात स्वादुवाद या प्रेयवाद कहलाता है। वह केवल इद्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। जो विवेचन, समति अथवा विभावना प्रत्यक्षविरोधिनी हो वह भ्रात होती है तथा जो प्रत्यक्ष से मेल खाती हो वही निर्भ्रात है। भौतिक जगत् के सबध मे एपीक्यूरस को देमीक्रीतुस का परमाणुवाद मान्य है। वस्तुएँ अपने बाह्य धरातल से अपने सूक्ष्म बिबो को निरतर शीघ्र गति से निक्षिप्त करती रहती हैं। इन्ही बिबो द्वारा हमारी इद्रियो का विषयो से सपर्क हुआ करता है। यह बिबनिक्षेप वस्तुओ के घटक अणुओ की गति के कारण हुआ करता है। परमाणु और उनकी गति के लिये शून्य स्थान, ये दो परम तत्व हैं। एपीक्यूरस के मत मे परमाणुओ की गति मे स्वच्छदता रहती है। समग्र विश्व, चराचर सृष्टि, यहाँ तक कि आत्मा भी, अणुओ के सघात मात्र हैं। देवता मनुष्यों की अपेक्षा सूक्ष्मतर परमाणुओ से निर्मित हैं। वे जगतो के मध्यवर्ती अतराल मे निश्चितताभय परिपूर्ण जीवन बिताते हैं।

मानव जीवन के लिये एपीक्यूरस का लक्ष्य प्रेय की प्राप्ति था। परतु उसकी प्रेय की परिभाषा थी दु ख और पीडा का अभाव और स्थिरबुद्धिता एव शरीर और मन की शात तथा स्वस्थ स्थिति। अत वह ससार से विरक्ति का उपदेश करता था, सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे उलझना भी उसकी दृष्टि मे उचित नही था। वैवाहिक जीवन भी उसको अभीष्ट नही था। वह मनुष्य को सब प्रकार की भीतियो से—यहाँ तक कि मृत्यु के भय से भी—मुक्त करना चाहता है। देवताओ और प्राचीन परपराओ के बधनो को भी त्यागने का उपदेश एपीक्यूरस दिया करता था। अतएव परपराप्रिय अनेक भक्तो ने उसकी निंदा की है। पर वास्तविकता यह है

कि उसकी शिक्षा का सार शुद्ध, सरल, निश्चित और सुखपूर्ण जीवन की उपलब्धि है।

सं० ग्र०—दियोगेनेस लाएर्तियुस दार्शनिको के जीवन की अतिम (दशम) पुस्तक, त्सैलर स्टोइक्स, ऐपीक्यूरियन्स ऐड स्केप्टिक्स, स्टेस क्रिटिकल हिस्ट्री आव ग्रीक फिलासफी, लियाँ रोबिन ग्रीक थाट्। [भो० ना० श०]

एफिंघम सयुक्त राज्य अमरीका के इलिनॉय राज्य मे एक नगर है। यह छोटी वावश नदी के पास टेरे होट और सेट लुई के करीब करीब बीच मे राजपथ पर स्थित है। यह पेन्सिलवानिया और मध्य इलिनॉय रेलवे का एक बडा जकशन तथा सपन्न कृषि और दुग्ध उत्पादक क्षेत्र का व्यापारिक केंद्र है। यहाँ जमे दूध, केचअप और सब्जी तथा मास टीन के डब्बो मे बद करने के उद्योग हैं। यह नगर सन् १८५३ ई० मे बसा था। सन् १९३० ई० मे इसकी जनसख्या ४,९७८ थी जो सन् १९४० ई० मे बढकर ६,१८० हो गई। [श्या० सु० श०]

एफ़ेबी का सामान्य आशय तरुणसमूह है, पर यूनान मे इसका कानूनी अर्थ युवको का सैन्य सगठन होता था। एथेस मे सभवतया (खाइरोनिया की पराजय के पश्चात्) ई० पू० ३३८ के आसपास यह नियम बना दिया गया था कि प्रत्येक नवयुवक (एफेवस) को १८ वर्ष की अवस्था हो जाने पर नगरराष्ट्र के सैन्य सगठन मे भर्ती होना पडेगा। एक वर्ष तक इन लोगो को सैनिक प्रशिक्षण दिया जाता था और इन दिनो उनको अत्यत कठोर अनुशासन मे रहना पडता था। एक कबीले के नवयुवक एक साथ ही रहते और भोजन करते थे। प्रशिक्षण की समाप्ति के पश्चात् इनको एक वर्ष तक दुर्गरक्षण और रक्षीचर्या का कार्य करना पडता था। एक वर्ष तक दुर्गरक्षण और रक्षीचर्या का कार्य करना पडता था। इनके शारीरिक सैनिक और नाविक (अर्थात् नौसैनिक) व्यायाम की शिक्षा के लिये छ शिक्षक नियुक्त किए जाते थे तथा इनके आचरण की देखभाल जनता द्वारा नियुक्त एक समिति किया करती थी। प्रशिक्षण की समाप्ति पर प्रत्येक नवयुवक को एक भाला और एक ढाल प्रदान की जाती थी और वह शपथ करता था कि वह अपने आयुधो को लजाएगा नही। उसका कर्तव्य था सार्वजनिक कार्यो तथा जनसमिलनी मे उपस्थित होना, यात्राओ मे भाग लेना और अध्ययन करना। प्रशिक्षण काल मे उसको छोटे केश धारण करने पडते थे और एक विशेष प्रकार की टोपी और छोटा अँगरखा पहनना पडता था तथा इस समय वह करो से मुक्त रहता था।

एथेस मे ई० पू० तीसरी सदी मे युवको की सख्या मे ह्रास होने के कारण सैनिक शिक्षण और सेवा का काल घटाकर आधा, अर्थात् एक वर्ष कर दिया गया। एथेस का अनुकरण कर अन्य नगरराष्ट्रो ने भी इस पद्धति को अपनाया। रोमन साम्राज्य काल मे यह सस्था सास्कृतिक सस्था भर रह गई थी और इसपर सरकारी नियत्रण नही रहा।

स० ग्र०—अरिस्तू की राजनीति और एथेस का सविधान, भोलानाथ शर्मा द्वारा हिंदी अनुवाद, १९५६ ई०। [भो० ना० श०]

एफ़ेल जर्मनी मे राइन, मोजेल एव लक्सेमवर्ग की सीमाओ के मध्य स्थित एक जनपद (जिला) है। यह वजर तथा रूक्ष पठारी प्रदेश है। इसका पूर्वी भाग हाई एफेल (ऊन्च एफेल) अधिकाशत ऊँचा है। यहाँ वहुत से स्थान २,००० फुट से अधिक ऊँचे हैं। पश्चिम मे श्नाइफेल है, दक्षिण मे वॉरडर एफेल है जो अत्यत रमणीक तथा वैज्ञानिक विशेषताओ का क्षेत्र है। यह जनपद २० मील चौडा एव ४० मील लवा है और इसकी औसत ऊँचाई १,५०० फुट से २,००० फुट तक है।

एफेल परतदार मत्स्ययुगीन तथा अत्यत प्राचीन चट्टानो का एक ठोस खड है। इन घिसी हुई ठोस चट्टानो पर तृतीयक काल के वहुत से ज्वालामुखी शकु स्थित हैं। उनमे से अधिकाश अव शात किंतु आकार मे पूर्ण हैं। विस्तृत एव लगातार ज्वालामुखी क्षेत्र 'लाखर से' (लाखर झील) के चतुर्दिक् सुदूर पूर्व मे न्यवीड एव 'काव्लेज' तक, फिर राइन के आगे तक विस्तृत है। वहुत से ज्वालामुखी पर्वतो के मुख अव झील हो गए हैं। इनको 'भार' कहते हैं। ये यहाँ के आकर्पणकेंद्र हैं। इनमे दो सवसे वडी तथा प्रमुख झीलें, लाखर से एव पुलवरमा, विशेष उल्लेखनीय हैं। (श्या० सु० श०)

एबरक्रांबी, लैसेलीज़ (१८८१-१९३९) की शिक्षा तो विज्ञान मे हुई थी परतु इनका स्वाभाविक झुकाव काव्य तथा साहित्य की ओर था, जिसके फलस्वरूप लिवरपूल, लीड्स तथा लदन आदि विश्वविद्यालयो में साहित्य के प्राध्यापक की हैसियत से काम करते हुए इन्होने अपनी लेखनी तथा वाक्शक्ति से साहित्य के विविध अगो का पोषण किया। इनकी प्रतिभा, दार्शनिकता तथा पाडित्य गरिमा से वोझिल सी प्रतीत होती है जिससे उनकी कविताओ मे ओज होते हुए भी प्रवाह तथा स्फूर्ति की न्यूनता है। इन्होने अनेक नाटको की भी रचना की है जिनमे देहाती जीवन से सवधित 'फोर शार्ट प्लेज' तथा 'डेवोरा' अधिक सफल हुए हैं। उनके बडे नाटको मे अको का गुफन कलात्मक नही है। उनकी प्रसिद्धि मुख्यत समीक्षा सवधी प्रयासो पर ही निर्भर रहेगी। इस क्षेत्र मे टामस हार्डी, वर्डस्वर्थ, दि थियरी ऑव पोयट्री, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। [वि० रा०]

एबरक्रांबी, सर राल्फ़ (१७३४-१८०१) प्रसिद्ध ब्रिटिश सैनिक जिसने सप्तवर्षीय युद्ध मे वडा नाम कमाया। १७९५ मे एवरक्रावी को 'सर' का खिताव मिला और उसी साल वेस्ट इडीज मे ब्रिटिश सेना के प्रधान सेनापति के रूप मे उसकी नियुक्ति हुई। फिर वह आयरलैंड की सेना का अध्यक्ष हुआ जहाँ उसने सेना की विनय मे कई प्रकार के सुधार किए। १८०१ मे उसे मिस्र मे फ्रासीसियो से लडने के लिये भेजा गया। उसने फ्रासीसियो को परास्त तो कर दिया, पर ठीक जीत के समय ही उसे गोला लगा और वह मर गया। लदन के सेट पाल के गिरजाघर मे उसका स्मारक बनाया गया और उसकी विधवा को खितव और पेशन दी गई। [भ० श० उ०]

एबेयर, फ्रीड्रिख जर्मन गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति एव कुशल राजनीतिज्ञ एबेयर का जन्म ४ नवबर, १८७० को हाईडेलवर्ग नगर मे हुआ। ये दर्जी के पुत्र थे परतु इन्होने अपने पिता का धधा छोडकर मोची का काम अपनाया। समाजवादी आदोलन मे प्रारभ से ही समिलित होकर ये जर्मनी के समाजवादी जनतात्रिक दल के सदस्य और शीघ्र ही प्रभावशाली वक्ता तथा श्रमिक सघ के उत्तम सगठनकर्ता वन गए। इस आदोलन मे भाग लेने के कारण इन्हे अत्यधिक कष्ट भोगने पडे और कई वार जेल भी जाना पडा।

अपने दल से वाहर एबेयर का प्रभाव प्रथम महायुद्ध के समय अनुभव किया जाने लगा। दल के अध्यक्ष एव रीखस्टाग की आयव्ययक समिति के सभापति के नाते इनकी नीति राष्ट्रीय सुरक्षा तथा समझौते द्वारा शाति वनाए रखने के पक्ष मे थी। परतु एबेयर अपने देश मे तथा वाहर, विशेषतया स्टाकहोम मे, जून, १९१७ के शाति समेलन मे न्यायपूर्ण शाति के लिये प्रयत्न करते रहे। यद्यपि ये ब्रेस्ट लिटोवस्क की सधि से सतुष्ट नही थे, फिर भी इन्होने उसके विरोध मे की गई हडतालो से असहमति प्रकट की। आरभ मे अबेयर गणतत्र के पक्ष मे नही थे और ब्रिटिश प्रणाली के आधार पर जर्मनी मे ससदीय सरकार स्थापित करना चाहते थे। अतएव सितबर, १९१८ मे जब राजकुमार मैक्स ने अपने प्रथम ससदीय मत्रिमडल का निर्माण किया, एबेयर ने अपने दल को इस मत्रिमडल मे मत्री पद ग्रहण करने पर सहमत कर लिया परतु क्रातिकारी आदोलन उग्र रूप धारण कर रहा था। ९ नवबर को शीडमान ने रीखस्टाग के सदनभवन से जर्मन गणराज्य की घोषणा की। राजकुमार मैक्स के स्थान पर एबेयर चासलर नियुक्त हुए और इन्होने समाजवादी अस्थायी सरकार बनाई।

स्पारटासिस्ट्स ने एबेयर और उनके सहयोगियो को वदी वनाने का कई वार प्रयत्न किया। परतु एबेयर ने दिसवर और जनवरी के उपद्रव को शीघ्र ही कुचल दिया। राष्ट्रीय सभा ने एबेयर को जर्मन गणराज्य का प्रथम अस्थायी राष्ट्रपति चुना। राष्ट्रीय एकता तथा लोकतत्र एबेयर की नीति के प्रधान लक्ष्य थे। अस्थायी अवधि की समाप्ति पर ससद ने ३० जून, १९२५ को दूसरी वार एबेयर को राष्ट्रपति चुना।

परतु जर्मन समाज के कुछ प्रतिक्रियावादियो को यह अच्छा नही लगता था कि एक साधारण मोची, जिसे कभी उच्च वर्ग की शिक्षा तकका सौभाग्य प्राप्त नही हुआ, राष्ट्र का अध्यक्ष हो, परिणामत एबेयर के विरुद्ध

घोर निंदा का षडयंत्र रचा जाने लगा। इनपर जर्मन सेना की शक्ति नष्ट करने का आरोप लगाया गया। और जब रोथार्ड नामक एक व्यक्ति ने एक पत्र में एबेयर के प्रति जनवरी, १९१८ की युद्धसामग्री तथा कारखानो के कर्मचारियो की हडताल को लेकर विश्वासघात का आरोप किया तब एबेयर ने इन मिथ्यारोपो के लिये रोथार्ड पर मानहानि का अभियोग चलाया। यद्यपि रोथार्ड रीति से दोषी पाया गया तथापि न्यायाधीशो का निर्णय एबेयर के हित मे प्रशसनीय नही था। केंद्रीय सरकार तथा कई राज्य सरकारो ने इनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की, परतु इन सब घटनाओ की ठेस ये सहन न कर सके। ये पहले से ही आँत के फोडे से पीडित थे। इस मुकदमे के निर्णय तक ये अपनी शल्यक्रिया टालते रहे परतु अब बहुत विलब हो चुका था। २८ फरवरी, १९२५ को शार्लेटनबर्ग में एबेयर का शरीरात हो गया। उनकी मृत्यु के साथ ही निंदा और विरोध के स्वर भी शात हो गए। इनके देशवासियो ने इनकी महत्ता तथा राजनीतिक योग्यता को समान दिया। इग्लैंड के प्रधान मत्री रैमज मैकडानल्ड ने इनकी प्रशसा करते हुए इन्हे यूरोप का एक बुद्धिमान तथा सहनशील लोकसेवक कहा है।

स० ग्र०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, एनसाइक्लोपीडिया आव सोशल साइन्सेज, दी मेमायर्स आव प्रिंस मैक्स आव बाडन (अनु० व० म० कैवडर तथा सी० व० ह० सदत)। [अ० ला० लू०]

एमडन पश्चिमी जर्मनी मे एम्स नदी के मुहाने पर स्थित एक नगर तथा पत्तन है। यहाँ की जनसख्या सन् १९५० ई० मे ३६,७६२ थी। जहाजो के लगर डालकर ठहरने का यहाँ अत्यत सुदर अड्डा है तथा यहाँ का पत्तन, जिसमे बडे बडे जलयान आ जा सकते है, इससे एक नहर द्वारा सबधित है। प्राचीन स्थापत्य कला तथा बाँधो के कारण, जो नगर को जलमग्न होने से बचाते है, यह एक डच नगर प्रतीत होता है। १६वी शताब्दी का बना हुआ नगरभवन (टाउनहाल) जर्मनी के सबसे सुदर सार्वजनिक भवनो में से एक है, जिसमे प्राचीन हथियारो का दर्शनीय सग्रह है। अविभाजित जर्मनी के पत्तनो मे इसका पाँचवाँ स्थान था। अब पश्चिमी जर्मनी मे तीसरा स्थान है। यहाँ की मुख्य व्यापारिक वस्तुओ मे कृषि के उत्पादन, घोडे, लकडी, कोयला, चाय तथा मदिरा है। गहरे समुद्र मे मछली पकडना नगर का मुख्य धधा है। मशीनें, सीमेंट, तार के रस्से, तबाकू, चमडा, रासायनिक द्रव्य इत्यादि यहाँ के मुख्य औद्योगिक उत्पादन है। द्वितीय महायुद्ध मे यहाँ का पत्तन, तेलशोधक कारखाने इत्यादि अत्यधिक क्षतिग्रस्त कर दिए गए थे। [श्या० सु० श०]

एमहर्स्ट, विलियम पिट (१७७३–१८५७) बैरन जेफ्रे एमहर्स्ट का भतीजा था जो स्वय २५ वर्ष की अवस्था मे अर्ल हुआ। सन् १८२३ से १८२८ ई० तक वह भारत का गवर्नर जनरल भी रहा। पहला बर्मी युद्ध १८२४ मे उसी के शासनकाल मे हुआ जिसके फलस्वरूप अराकान और तेनासिरिम ग्रेटब्रिटेन को मिले। एमहर्स्ट इग्लैंड लौटता हुआ सेंट हेलेना मे भी उतरा था जहाँ उसने बदी सम्राट् नेपोलियन से कई बार मुलाकात की थी। [ओ० ना० उ०]

एमादुद्दीन रैहान दिल्ली के उस तुर्की राजवश के सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद का कुछ समय के लिये वजीर एव पथप्रदर्शक था जिसे प्राय दास वश का नाम दिया जाता है। उसके जीवन के सबध मे और कुछ भी अबतक विदित नही है। इसका कारण यह है कि रैहान की सक्षिप्त चर्चा केवल उसके शत्रु तथा विरोधी दल के एक विशेष सदस्य, मिनहाजुस्सिराज,ने अपने इतिहास 'तबकाते-नासिरी' मे की है। बाद के इतिहासकारो के वर्णन इसी पर आश्रित है। अतएव एमाद के जन्म आदि, आरभिक जीवन अथवा उसके परिवार आदि के सबध मे जानकारी करने का कोई साधन अभी तक हमारे पास नही है। परतु मिन्हाज के निर्देशो से केवल इतना स्पष्ट हो जाता है कि एमाद हिंदुस्तानी मुसलमान था और सुलतान नासिरउद्दीन के उच्च पदाधिकारियो मे मे था तथा सभवत बदायूँ का मुक्ता (प्रातावीश) था। निस्सदेह उसने यह पद तुर्की अमीरो का विरोध होते हुए भी अपनी योग्यता के बल पर प्राप्त किया था।

सबसे पहले एमादुद्दीन का निर्देश मिन्हाज इस प्रसग मे करता है कि १२४९ के मार्च मास मे काजी एमादुद्दीन शकूर कानी पर राजविद्रोह की शका हुई और उसे काजी के पद से हटाकर बदायूँ भेज दिया गया जहाँ एमादुद्दीन रैहान द्वारा उसकी हत्या करा दी गई।

मिन्हाज तथा अन्य लेखको के वृत्तात से स्पष्ट होनेवाली एक महत्वपूर्ण बात यह है कि ताजीक तुर्क, जिन्होने हिंदुओ से दिल्ली का राज छीनकर अपनी सत्ता स्थापित की थी, राज्य के सभी ऊँचे ऊँचे पद अपने हाथो में रखना चाहते थे। हिंदुस्तानियो के प्रति, हिंदुओ की तो कौन कहे, मुसलमानो के प्रति भी, वे बडे तिरस्कार पूर्ण भाव रखते थे और उनको कोई ऊँचा पद नही देना चाहते थे। स्वाभाविक ही था कि योग्य हिंदुस्तानी मुसलमान, जो उनसे समानता के व्यवहार की आशा रखते थे, उनके इस अन्याय और अपमान जनक बर्ताव से बडे असतुष्ट थे। इन योग्य हिंदुस्तानी मुसलमानो का नेता रैहान था। वह इस ताक मे था कि कोई उपयुक्त अवसर पावे तो तुर्की अमीरो को राजकीय पदो से निकलवाकर उनके स्थानो पर हिंदुस्तानियो को बैठा दे और इस प्रकार इन विदेशियो के आतक से राज्य को मुक्त करे।

भाग्य से अपनी आकाक्षा पूरी करने का अवसर रैहान को इस कारण मिल गया कि जब गियासुद्दीन बलबन ने अपने कपटजाल तथा तुर्की अमीरो के सहयोग से नायबे मुल्क के उच्चतम पद को प्राप्त कर लिया, तब उसने अपने तुर्की भाइयो के साथ ही असह्य और अपमानजनक बर्ताव करना शुरू कर दिया और ऐसी नीति चालू की जिससे बडे बडे तुर्की अमीरो तथा सेनापतियो को उसके प्रति घृणा हो गई और उनको अपने जीवन का भी भय हो गया। इतना ही नही, बलबन ने युवक सुलतान को भी इतना दबाया कि, मिन्हाज के शब्दो मे वह एक नमूना (प्रतीक) मात्र रह गया। स्वभावत महत्वाकाक्षी सुलतान भी इस कठोर और दुर्धर्ष वजीर के हाथो से छुटकारा पाना चाहता था। सुलतान और तुर्को का यह असतोष इतना बढा कि १२५२ के नवबर मे रैहान ने उपयुक्त अवसर देखकर सुलतान से समझौता कर लिया और बलबन को नायब के पद से हटवाकर हाँसी का जागीरदार बनवा दिया। फिर यह देखकर कि वह पास रहकर भयानक कार्रवाई करेगा,उसे नागोर भेज दिया। अब सुलतान ने एमादुद्दीन को वकीलेदार नियुक्त कर दिया और मुख्य मत्री का पूरा अधिकार उसे प्राप्त हो गया। उसने परिस्थिति को दृष्टि मे रखकर कुछ तुर्की अमीरो को पदच्युत किया और कुछ को बदली करके केंद्र से दूर स्थानो पर भेज दिया। इनमें बलबन का विशेष कृपापात्र, तबकाते नासिरी का लेखक काज़ी मिन्हाज भी अपने पद से हटाया गया। यही कारण है कि उसने अपने इतिहास मे रैहान को नीच हिंदू और द्वेषी बतलाया। इस प्रकार हिंदुस्तानी मुसलमानो ने रैहान के नेतृत्व मे तुर्की दल को पछाडकर दरबार तथा शासन पर अपना अधिकार जमाया। इस घटना से रैहान की अनुपम नैतिक बुद्धि तथा कार्यकुशलता का परिचय मिलता है। कहना न होगा कि हिंदुस्तानी दल की सफलता उनके साथ सुलतान महमूद के मिले रहने पर निर्भर थी। और वह बलबन के अनुचित आतक से छुटकारा पाने के लिये हिंदुस्तानी दल से मिल गया था।

तुर्को की परस्पर फूट के कारण ही ऐसी दुर्गति हुई थी। इसका पूरा लाभ बलबन ने उठाया। उसने उनसे एक होकर अपने खोए हुए अधिकारो और पदो को फिर से प्राप्त करने के लिये अपील की। उनमें से बहुतो को फिर भी बलबन के सद्भाव पर विश्वास न हुआ और वे अत तक उसके विरोधी बने रहे। परतु बहुत से मिल गए और सुल्तान से अनुरोध करके अपनी सच्ची सेवाभावना की एक ही शर्त रखी कि रैहान अपने पद से हटा दिया जाय। यद्यपि रहान काफी सशक्त था और तुर्की दल का मुकाबला करने को उद्यत था, तथापि स्वार्थी सुलतान ने अपने को खतरे से बचाने के लिये अपने परम हितैषी एव उपकारक रैहान को पदच्युत करके वापस बदायू भेज दिया और बलबन को फिर से नायबे मुल्क बना दिया। अधिकार प्राप्त करते ही बलबन ने सबसे पहले अपने शत्रु रैहान को बदायूँ से बहराइच भिजवाया और अवध के इक्तादार ताजुद्दीन सजर द्वारा उसका वध करवा दिया।

स०ग्र०—मिनहाजुस्सिराज तबकाते नासिरी (मूल, फारसी, ए० सो० ब० द्वारा प्रकाशित), अग्रेजी अनुवाद-मेजर एच० जी० रेवरटी, निजामुद्दीन अहमद बख्शी तबकाते अकबरी,(अ० अनु० बी० दे और बेनीप्रसाद), परमात्माशरण स्टडीज इन मेडीवल इडियन हिस्ट्री, सैयद अतहर अब्बास रिवीज़ द्वारा "तबकाते नासिरी" का हिंदी अनुवाद, प्र० अलीगढ मुस्लिम यूनीवर्सिटी। [प० श०]

एमानुएल द्वितीय, विक्तर (१८२०–१८७८) वर्तमान इटली के निर्माता और उसकी स्वतत्रता के सरक्षक विक्तर एमानुएल द्वितीय का नाम जर्मनी के प्रिंस बिस्मार्क और भारत के सरदार पटेल की तरह अमर हो गया है। उसने अनेक राज्यो मे विभक्त देश को "सयुक्त इटली" का रूप दिया, सीमावर्ती प्रबल राष्ट्रो से उसे निर्भय बनाया और उसके लिये अतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की। १४ मार्च, १८२० को उसका जन्म हुआ। चार्ल्स अलबर्त के पुत्र के नाते पिता के गद्दी त्याग करने पर वह सार्दीनिया का राजा बना और अपनी वीरता, राजनीतिमत्ता तथा दूरदर्शिता से सार्दीनिया के राज्य को सयुक्त इटली के महान् राज्य मे परिवर्तित कर दिया।

सुप्रसिद्ध देशभक्त मात्सीनी और गारीबाल्दी तथा अन्य क्रातिकारियो और प्रजातत्रवादियो का सहयोग प्राप्त कर एमानुएल ने सबको एक किया। १० नवबर, १८५६ को ज्यूरिक की सधि मे लोबार्दी प्रदेश आस्ट्रिया से और सितबर, १८७० मे प्रशा-फ्रास की लडाई मे रोमन प्रदेश फ्रास से प्राप्त किए। सिसली, नैपुल्स, वेनिस, तस्कनी, जिचीज और रोमान्या के अलग-अलग राज्यो को इटली मे मिलाने मे उसने अपूर्व सफलता प्राप्त की। रोमन प्रदेश को इटली मे मिलाने का घोर विरोध वातिकन के पोप ने किया, जिस कारण दोनो के सबध वर्षो तक बिगडे रहे। आतरिक सुधारो में एक बडा कदम चर्च की अदालतो के अधिकारो को सीमित करना था। उसके कारण भी उसको पोप का कोपभाजन बनना पडा। स्वय कैथोलिक होते हुए भी उसने उसकी परवाह नही की। अपनी जनता और ससद का विश्वास उसे सदा प्राप्त रहा। आस्ट्रिया के आर्चड्यूक की लडकी से विवाह कर उसने फ्रास के सम्राट् तृतीय नैपोलियन के साथ भी पारिवारिक सबध कायम किए। दोनो की पुरानी शत्रुता से उसने पूरा लाभ उठाया, परतु तृतीय नैपोलियन उसकी बढती हुई शक्ति के प्रति सदा सशक रहा। क्रीमिया के युद्ध मे उसने रूस के विरुद्ध फ्रास और इग्लैंड का साथ देकर अपनी और इटली दोनो की प्रतिष्ठा मे चार चाँद लगा दिए। पेरिस मे तृतीय नैपोलियन और लदन मे महारानी विक्टोरिया ने तथा दोनो देशो की जनता ने भी उसका हार्दिक स्वागत किया। प्रशा और फ्रास के युद्ध से भी उसने पूरा लाभ उठाया। फ्रास ने पहली पराजय के बाद जब १,००,००० इटालियन सैनिको की सहायता की माँग की तब उसने रोमन प्रदेश को फ्रासीसी सेनाओ से खाली करवा कर ७ जुलाई, १८७१ को रोम को सयुक्त इटली में मिलाकर उसको राजधानी बनाया और उसका पुनर्निर्माण किया।

विक्तर एमानुएल द्वितीय सुदृढप्रकृति, सहृदयस्वभाव, स्वाभिमानी, राजनीतिज्ञ और दूरदर्शी शासक था। सेनापति के रूप मे जीवन का आरभ कर वह सैनिक शक्ति की अपेक्षा अपनी बुद्धिमत्ता से सयुक्त इटली का सम्राट् बना। अपनी स्थिति को सावैधानिक बनाकर उसने ससद के सहयोग से शासनसूत्र का सचालन किया। शासन मे कोई विशेष सुधार वह नही कर सका, देश की आर्थिक स्थिति को उसने काफी उन्नत बनाया और सेना का पुनर्गठन कर उसको शक्तिशाली बनाया। ९ जनवरी, १८७८ को रोम मे ज्वर से उसकी मृत्यु हो गई। [स० दे० वि०]

एम्मेट, राबर्ट (१७७८–१८०३) आयरलैंड का विद्रोही। डब्लिन विश्वविद्यालय का बहुत मेधावी छात्र जिसे राजनीतिक विचारो के कारण विश्वविद्यालय से अलग होना पडा। देश की स्वतत्रता के लिये कार्य करनेवाली गुप्त सस्थाओ का सदस्य हो गया। जब उसके नाम वारट निकला तब वह फ्रास चला गया जहाँ वह नैपोलियन बोनापार्त से मिला। यूनाइटेड आयरिश मेन नामक गुप्त सस्था छिपे रूप से आयरलैंड की स्वतत्रता के लिये षड्यत्र कर रही थी। एम्मेट उसके प्रधान सचालको में हो गया। आयरलैंड के जिलो मे जब विद्रोह की तैयारी हो चुकी तब वह चुपके से डब्लिन पहुँचा। विचार यह था कि जब फ्रास इग्लैंड पर चढाई करे तभी आयरलैंड भी विद्रोह का झडा खडा करे। परतु हमला हुआ नही, उधर आयरलैंड मे विद्रोह की जो गुप्त तैयारियाँ हो रही थी वे दृढता से सफल न की जा सकी। अग्रेजी सेना को घेरकर निरस्त्र कर देने का स्वप्न देखनेवाले आयरिश विद्रोहियो के पास न तो काफी शस्त्र थे और न उनमें एकता कायम रह सकी। विद्रोह का भडाफोड हो गया और उसका अत सडको पर कुछ खूनखराबी के साथ हुआ। निश्चय ही कुछ अग्रेज पदाधिकारी उसमे मारे गए, परतु आयरलैंड की राजनीतिक प्रगति वहीं की वही रह गई। एम्मेट ने जब देखा कि अब सब कुछ नष्ट हो गया तब वह अमेरिका भाग जाने की तैयारी मे लगा, पर भागने ने पहले ही वह पकड लिया गया। न्याय के समय उसने बडी उत्तम वक्तृता दी, पर उसकी फाँसी हो गई। टामस मोर ट्रिनिटी कालेज मे उसका मित्र था और उसने उसकी बडी प्रशसा लिखी है। [ओ० ना० उ०]

एम्स १. पश्चिमी जर्मनी मे लाहन नदी के तट पर काब्लेज से ११ मील पूर्व, कासेल तथा बर्लिन रेलवे लाइन पर स्थित एक नगर है। जनसख्या सन् १९४६ ई० में ८,४५४ थी। यहाँ चाँदी तथा सीसे की खदाने हैं। एम्स अपने गरम तथा खारे जलस्रोत के लिये प्रसिद्ध है। इस नगर का इतिहास ९वी शताब्दी से प्रारभ होता है।

२ पश्चिमी जर्मनी की एक नदी है जो ट्यूटोबर्जेन वाल्ड की दक्षिणी ढाल से ३५८ फु० की ऊँचाई से निकालकर वेस्टफेलिया तथा हैनोवर से होकर डोलार्ट के पूर्वी भाग, एमडन, के ठीक दक्षिण से होकर बहती है। इसमे ४,६०० वर्ग मील क्षेत्र का जल आता है। इसकी मुख्य शाखाएँ आहास, हेसेल तथा लेडा हैं। यह पापेनबर्ग तक छोटे छोटे जहाजो के यातायात योग्य है। इससे अनेक नहरो को जल मिलता है। सन् १८१८ ई० में इसे नहर द्वारा राईन नदी से सयुक्त कर दिया गया तथा डॉर्टमड एम्स और अन्य नहरो के बन जाने से इसका महत्व और भी बढ गया है। [श्या० सु० श०]

एयर ब्रश एयर ब्रश (Air Brush) अथवा वायुकूर्चिका एक यत्र है जो सपीडित वायु से चलता है और चित्र आदि रँगने के काम मे आता है। इसे हम वायुतूलिका भी कह सकते हैं। बडे एयर ब्रश को साधारणत स्प्रेगन कहते हैं। इसे हम झीसीमार या सीकरयत्र कह सकते हैं। इससे कपडा, फर्निचर, मोटरकार, भवन, रेल, पुल आदि रँगे जाते हैं। बडे यत्रो से सीमेट मिश्रण भी दीवालो पर लगाया जा सकता है। इन सब यत्रो का सिद्धात यही है कि जब सपीडित वायु सँकरी नली से निकलती है तो वह अपने मार्ग मे पडनेवाले द्रव को झीसी या फुहार में बदल देती है और यह झीसी रँगी जानेवाली वस्तु पर जा चिपकती है। द्रव रग, वार्निश, आदि दो प्रकार से वायुमार्ग मे डाले जाते हैं। एक रीति में रग की कटोरी को वायुनलिका के ऊपर रखकर रग को वायुमार्ग में टपकने दिया जाता है। दूसरी रीति मे कटोरी को नीचे रखा जाता है। इस दशा मे दोनो ओर खुली एक नलिका का नीचेवाला सिरा रंग मे डूबा
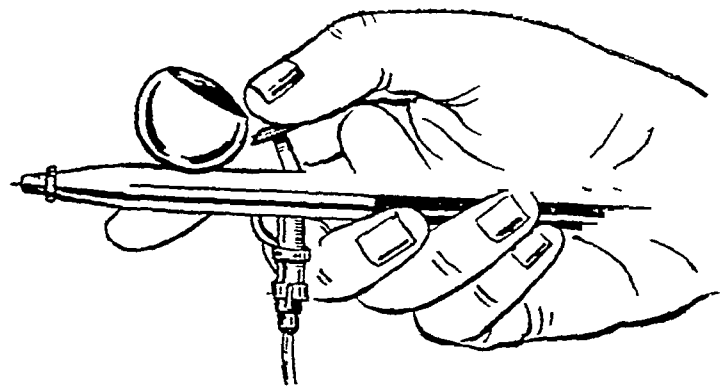
एयर ब्रश

रहता है और दूसरा सिरा वायुमार्ग मे पहुँचा रहता है। वायु अपने वेग के कारण इस नलिका द्वारा रग चूस लेती है। रग आदि के पतला या गाढा होने के अनुसार वायुकूर्चिका या झीसीमार पर छोटे बडे छेद का मुख लगाया जा सकता है।

आरभ मे फोटोग्राफो को सुधारने के लिये छोटी वायुकूर्चिकाओ का असफल प्रयोग हुआ। इससे बारीक से बारीक रेखाएँ खीची जा सकती ह और

वढिया छाया श्रौर प्रकाश का काम भी हो सकता है। फुहार की मोटाई-एक घुडी या घोडे (ट्रिगर) को दवाने से नियन्त्रित की जाती है। अब अधिकाश रँगाई का काम भीसी से ही किया जाता है। इससे वहुत समय वचता है श्रौर रग सर्वत्र एक समान चढता है। कई भीसीमार लगे स्वयचालित यत्र में एक श्रोर से विना रँगा मोटर घुसता है श्रौर दूसरी श्रोर से वही चमचमाता रँगा हुश्रा निकलता है, श्रौर इस क्रिया में एक मिनट से भी कम समय लगता है।
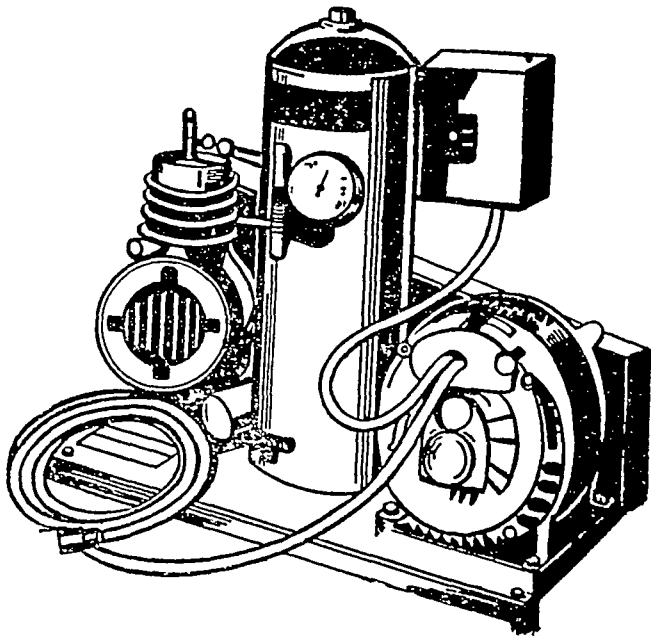
एयर व्रश के लिये वायुसपीडक

वायुसपीडन के लिये साधारण विद्युत् मोटर या इजन से चलनेवाले सपीडको का प्रयोग होता है, परतु छोटे यत्रो के लिये पदचालित पपो से काम अच्छी तरह चल जाता है।

एरंड कुल (यूफोर्विएसी) द्विवीजपत्रक पौधो का एक वडा कुल है। इसमे प्राय २२० प्रजाति (जेनेरा) श्रौर लगभग ४,००० जातियां (स्पीशीज़) हैं, जो अधिकाश उष्ण प्रदेशो में होती हैं, किंतु सामान्यत उत्तरी ध्रुव प्रदेश को छोड ससार के सभी स्थानो मे पाई जाती हैं। इस कुल में जडी, वूटी तथा झाडियो से लेकर वडे वृक्ष तक सभी पाए जाते हैं। एरडकुल के कुछ पौधे, विशेषत दुग्धी (यूफारविया) की कुछ उपजातियाँ, शुष्कोद्भिद होती हैं। इनमें पत्तियाँ नही होती श्रौर जब पुष्परहित होती हैं तो देखने में नागफण (कैक्टस) की तरह प्रतीत होती हैं, परतु दोनो में यह अतर होता है कि दुग्धी में सफेद दूध (लैटेक्स) होता है, कैक्टस में नही।

इस कुल के फूल एकलिंगी होते हैं तथा दोनो लिंगो के फूल, या तो एक ही पेड पर अथवा अलग अलग पेडो पर, नाना प्रकार के पुष्पक्रमो में लगते हैं। पहली शाखाएँ अधिकतर एकवर्ष्यक्षीय तथा वादवाली वहुवर्ष्यक्षीय होती है। पुष्पक्रम भी अधिकतर एकलिंगी फूलो के होते हैं। नर पुष्पक्रम में वहुत से फूल होते हैं, परतु नारी पुष्पक्रम में एक ही फूल होता है। यूफारविया के पुष्पक्रम को कटोरिया (साएथियम्) कहते हैं। यह देखने में द्विलिंगी पुष्प मालूम होता है, परतु वास्तव में यह एक वहुवर्ष्यक्षीय पुष्पक्रम है जिसका अवसान-पुष्प नग्न मादा फूल होता है। इसके नीचे ४-५ निपत्र (व्रैक्ट) होते है, जो देखने मे वाह्य दल की भाँति प्रतीत होते हैं। प्रत्येक निपत्र के कक्ष में नर फूलो की वाछिक वहुवर्ष्यक्ष होती है श्रौर प्रत्येक नर फूल मे केवल एक ही पुकेसर होता है। नालपरिपुष्प (ऐंथेस्टिमा ए० जुस०) के नर फूल में एक ही पुकेसर होता है श्रौर यह परिदलपुज (कैलिक्स) युक्त होता है। यूफोरविया के नर पुष्प में एक नग्न पुकेसर होता है तथा इसके वृत पर जोड होता है।

[भी० श० त्रि०]

एरड

एरड वृक्ष की पत्तियो सहित एक डाल। इसके फल के वीजो से तेल निकाला जाता है।

इस कुल में आर्थिक महत्व के पौधो के वर्ग निम्नलिखित हैं चुक्रदारु (विस्कोफिया), पुत्रजीव, समुद्गदारु (वक्सस), कापिल्य (मेलोटस), तोयपिप्पली (सेपियम), जयपाल (क्रोटोन), वनैरड (जैटरोफा), रवर का वृक्ष (हेविया), मलयाक्षोट (एल्युराइटिस) श्रौर एरड (रिसिनस) इत्यादि। पारा रवर (हेविया व्राज़िलियेंसिस) श्रौर सियारा रवर (मनीहोट ग्लेज़ियोवाई) रवर के उत्पादन के लिये, सामान्य एरड (रिसिनस कम्युनिस) एरड तेल (रेडी के तेल) के लिये, गिरि मलयाक्षोट (एल्युराइटिस मोनटाना), ए० फोरडाइ तथा सामान्य तोयपिप्पली (सेपियम सेवीफरम) क्रमानुसार चीनी टुगतेल तथा लाला-मूल तेल (स्टिलिंगिया श्रॉयल) के उत्पादन के लिये महत्वपूर्ण स्रोत माने जाते हैं।

भारत में पाए जानेवाले इस कुल के आर्थिक महत्व के पौधे निम्नलिखित हैं लघु दुग्धी अथवा-दूधी (यूफोर्विया थाइमीफोलिया) मैदानो श्रौर छोटी पहाडियो में सर्वत्र, थोर (पीतनिवेष्ट दुग्धी, यू० रोयलियाना) उत्तरी भारत में १,८०० मीटर की ऊँचाई तक, छतरीवाल (सूर्यदुग्धी, यू० हिलीयोस्कोपिया) पजाव में, शमशाद-पापडी (सामान्य समुद्गदारु, वक्सस सैंमपरवाइरैंस)समशीतोष्ण उत्तर-पश्चिमी भारत में, खाजा (सामान्य सूवीरक, व्राइडेलिया रेटुसा) सर्वत्र, असाना (गिरि सुवीरक, व्रा० मोनटाना) उत्तर, पूर्वी श्रौर मध्यभारत मे, गरारी (सामान्य नदी, क्लाइसटैंथस कॉलिनस) पश्चिमी श्रौर मध्यभारत मे, पजोली (कावोजिनी आमलक, फाइलैंथस रेटिक्यूलेटस) उत्तरी भागो के अतिरिक्त सर्वत्र, आमलकी (सामान्य आमलक, फा० एम्वलिका) सर्वत्र, पाटला (पाटली, पाडुफल, फ्लुएग्गिया विरोसा) सर्वत्र, पुत्रजीव (पुत्रजीव रोक्सवरगाई) सर्वत्र, जगली एरड (जेट्रोफा ग्लैंड्यूलिफेरा) दक्षिण में, जमालगोटा (जे० करकस) सर्वत्र, कैन (सामान्य चुक्रदारु, विस्कोफिया जावानिका) उत्तरी श्रौर मध्यभारत में, भूटान-कुशा (भूताकुश, जयपाल, क्रोटोन औवलोगीफोलियस) उत्तरी भारत श्रौर मध्यभारत में, जायफल (सामान्य जयपाल, क्रो० टिगलियम) वगाल श्रौर आसाम में, टुमरी

(सामान्य पिंडार, ट्रेविया न्यूडीफ्लोरा) ऊष्ण प्रदेशो मे, कमला (सामान्य कापिल्य, मेलोट्म फिलीपिनेंसिस) सर्वत्र, एरड (रिसीनस कम्युनिस) सर्वत्र, दती (वेलियोस्परमम मोनटानम) विहार, आसाम और मध्यभारत में, तारचर्वी (सामान्य-तोयपिप्पली, सेपियम सेवीफरम) उत्तरी भारत मे, तथा टेपिओका (मडगिफ, मैनिहौट एस्क्युलेंटा) केरल में।

स्निग्ध दुद्धी (यूफोर्विआ स्प्लेंडेंस) की डाल, पत्ते, काँटे तथा फूल।

इसमें सुदर लाल फूल लगते है। सजावट के लिये यह पौधा गमलो में लगाया जाता है।

देहरादून स्थित वन-अनुसधानशाला और राष्ट्रीय रसायनशाला, पूना, के अनुसधानकर्ताओ ने कमला पेड के बीजो मे से विशिष्ट रीति से तेल निकालकर तथा रगलेप उद्योग मे उसकी आर्थिक उपयोगिता सिद्ध करके उसका भविष्य उज्ज्वल कर दिया है (सद्गोपाल, "इज़ टुग आॅयल सो नेसेसरी ?", पेंट-इडिया, ववई, वर्ष २, स० ५, अगस्त १९५२, पृ० ९-१४, ४४-४५)। इसी प्रकार सद्गोपाल और नारग नेतारचर्वी और शमगाद-पापडी के बीज-तेलो का भी आर्थिक महत्व रगलेप उद्योग में दर्शाया है (इडियन स्टिलिंगिया आॅयल ऐंड टैलो, जर्नल आॅव दि अमरीकन आॅयल केमिस्ट्स सोसाइटी, वर्ष ३५, फरवरी, १९५८, पृ० ६८-७१, (ए न्यू ड्राइग आॅयल फ्राॅम दि सीड्स आॅव वक्सस सैंमपरवाइरेंस, लिन्न०, सोप पर्फ्यूम्स ऐंड काॅस्मेटिक्स, भाग ३१, अक ९, सितम्वर १९५८, ८५६-५९)। लकडी और पत्थर के कोयलो के चूरे और छोटे टुकडो को पुन जमाकर जलाने लायक ईंधन की टिकिया वनाने में भी कमला के वीजो की उपादेयता महत्वपूर्ण है (सद्गोपाल और डोभाल, "कमला सीड्स फाॅर ब्रिकेट्टिंग आॅव चारकोल, कोलडस्ट्स ऐंड वेस्ट्स," पेंट इडिया, वर्ष ७, अ० ३, पृ० २९-३१)। अतएव स्पष्ट है कि एरड कुल के पौधे भारत की आर्थिक उन्नति में सहायक हो सकेंगे।

स० ग्र०—आर० एस० ट्रूप सिल्विकल्चर आॅव इडियन ट्रीस, भाग ३, आॅक्सफोर्ड, १९२१ पृ० ८१९, के० आर० कीर्तिकर और वी० डी० वसु इडियन मेडिसिनल प्लाट्स, प्रयाग, भाग ३, पृ० २११०, राॅवर्ट व० गेरी प्लाट्स फाॅर मैन, लदन, १९५४, १८५-९५। [स०]

एरफूर्ट

पूर्वी जर्मनी के सैक्सनी राज्य का एक प्राचीन नगर है। यह गेरा नदी के किनारे वाइमार से पश्चिम में लगभग १३ मील दूर थ्यूरिंजिया वेसिन के हृदयस्थल में स्थित है। जनश्रुति के अनुसार एर्पस नामक व्यक्ति ने छठी शताब्दी में इसका शिलान्यास किया था। इसी कारण यह मध्यकाल मे एर्पसफुर्ट तथा एरफोर्द के नाम से प्रख्यात था। जो भी हो, १५वी तथा १६वी शताब्दी मे यह उन्नतिशील व्यापारिक तथा औद्योगिक केंद्र था। सन् १३७८ ई० मे यहाँ एक विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी जिसके फलस्वरूप एरफूर्ट जर्मनी का सबसे प्रसिद्ध नगर वन गया, परतु सन् १८१६ ई० में इस विश्वविद्यालय का विघटन कर दिया गया जिससे नगर की प्रतिष्ठा को वडी ठेस लगी। हाल मे यहाँ व्यापार तथा उद्योग की उन्नति हुई है। आजकल एरफूर्ट अपने फूलो के पौधो तथा वीजो के लिये विश्वविख्यात है। यहाँ पाॅटर्सवर्ग तथा सरियाक्सवर्ग नामक दो ऐतिहासिक दुर्ग है। यहाँ का वडा गिरजाघर (कैथीड्रल) मध्यकालीन इतिहास की चिरस्मृति के रूप मे आज भी वर्तमान है। इसकी जनसख्या सन् १९५६ मे १,८७,३०६ थी। [लें० रा० सिं०]

एरासिस्ट्राटस

ग्रीक शारीरविज्ञ तथा चिकित्सक थे। इनका काल ३०० वर्ष ईसा पूर्व तथा जन्मस्थान कीओॅस नामक द्वीप कहा जाता है। कुछ दिन राज्यसेवा करने के पश्चात् ये सिकदरिया (अलेक्जेंड्रिया) में वस गए और यहाँ इन्होने शारीर विज्ञान सवधी अपना शिष्यसमुदाय स्थापित किया।

इन्होने इस वात का पता लगाया कि प्रमुख तत्रिकाओ का उद्गम मस्तिष्क से होता है। सवेदक और प्रेरक तत्रिकाओ के विभेद का भी इन्हे ज्ञान था। त्रिदोष पर अवलवित रोग-निदान-शास्त्र इनको स्वीकार नही था। इनका मत था कि धमनियो मे एक प्रकार की जीवनी शक्ति रहती है, जिसके कार्य मे व्याघात पडने पर रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

एरासिस्ट्राटस को मस्तिष्क की वल्लिकाओ का विस्तृत ज्ञान था। पित्त, प्लीहा तथा यकृत सवधी खोज, हृदय की रचना का ज्ञान, श्वासप्रणाली का नामकरण तथा मूत्र-निष्कासन-सलाई के आविष्कार का श्रेय इन्हे दिया जाता है। [भ० दा० व०]

एरिजेना, जोनेस स्काट्स

(८१५-८७१) एक मध्यकालीन दार्शनिक एव ईश्वरवादी जो 'जान दि स्काट' के नाम से भी प्रसिद्ध है। उसकी जीवन सवधी घटनाएँ अधिकाशत अधकार मे हैं।

पूर्वकालीन अफलातूनी दर्शन से नवीन विवेकवाद की ओर विचारो के सक्रमण मे एरिजेना का स्थान महत्वपूर्ण है। वह आरिजेन, वेसिल, ओगस्तीन, मेक्सिमस आदि के विचारो का उपयोग कर पूर्व मध्यकालीन चिंतन का समन्वय उपस्थित करता हैं। वह विश्वदेववादी पैंथेइस्ट था। उसके लिये धर्म की मान्यताएँ पूर्ण नही, विवेक ही मानदड के रूप में अभीष्ट है ईश्वर एव प्रकृति स्व-स्व-रूप को विश्व के वौद्धिक क्रम मे उपस्थित करते हैं, मानव सहित समस्त वस्तुएँ इसी वौद्धिक क्रम के अग हैं, धर्म या दैवी अनुभूति इस सर्वोत्तम वौद्धिक जीवन के ही पहलू हैं।

एरिजेना कठोर नियतिवाद का विरोधी था, स्वय ईश्वर कालावधि से स्वतत्र है, अत उसके अनुसार भाग्यवाद को उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है जहाँ तक ईश्वर अपनी स्वतत्र इच्छा से प्राणियो के क्रिया कलापो को स्वीकार करता है। एक अन्य स्थान पर एरिजेना लिखता है कि सृष्टि समस्त वस्तुओ के सग्रह का नाम है जिसके अतर्गत 'अस्तित्व एव 'अनस्तित्व' दोनो समाहित हैं (१) निर्माता किंतु अनिर्मित, (२) निर्मित, किंतु निर्माता नही, (३) निर्माता व निर्मित दोनो ही (४) न निर्माता, न निर्मित। इसमें प्रथम ईश्वर व द्वितीय-तृतीय समस्त सृष्टि है। चतुर्थ कोटि 'अनस्तित्व' की है। ईश्वर सृष्टिकर्ता एव विचारो का अनत स्रोत है, किंतु स्वय निर्मित नही। अफलातून के "आइडियाज" की तरह परस्पर क्रमवद्ध विचार ईश्वर द्वारा निर्मित और स्वय निर्माता है। 'अच्छाई' सर्वोत्तम विचार है, वस्तुओ का अस्तित्व इसी से है। स्वय ईश्वर 'शुभ' है। ईश्वर मूलत त्रि-स्वरूप है मूल द्रव्य के रूप मे पिता, विवेक के रूप में पुत्र और जीवन के रूप मे आत्मा। वुराइयो का स्रोत मानव की इच्छाएँ है जो उन्हे भ्रमवश 'शुभ' समझ लेता है।

सं० ग्र०—जे० एन० हूवर स्कोतस एरिजेना, ए० गार्डनर स्टडीज़ इन जान दि स्काट, एच० वेट जान स्काट एरिगे। [श्री० स०]

एरिथ्र

तुर्की के प्राचीन आयोनियन (Ionian) नगरो मे से एक हैं। यह नगर एरिथ्र की खाडी मे एक छोटे से प्रायद्वीप पर स्थित है। यह मीमास तथा कोरेकस पर्वतो से समान दूरी पर, किआस द्वीप के ठीक सामने वसा हुआ है। इस प्रायद्वीप मे अति उत्तम स्तर की मदिरा वनाई जाती है। कहा जाता है कि इस नगर की स्थापना कीडरुस के पुत्र नोपोस (Knopos) की अधीनता मे आयोनियनो द्वारा की गई थी। काफी समय तक एरिथ्र वासियो ने ग्रीस देश के एथेंस नगरराज्य को अपने अधीन रखा, किंतु पेलोपोनेशियन युद्ध मे उनसे हार गए। नगर के खँडहरो मे अभी तक ग्रीक ढग की वुर्जोवाली दीवारे देखने योग्य हैं। इनमे से पाॅच वुर्जे अभी तक वनी हुई हैं। अक्रोपोलिस, २८० फुट की ऊँचाई पर वने दुर्ग की पहाडी की उत्तरी ढाल पर एक मच वना हुआ है, तथा पूर्व की ओर वहुत से वीजातीनी (रोमन) भवनो के खँडहर पडे हैं। [श्या० सु० श०]

एरेख, उरूक

(सुमेरी), ओर्खोई (ग्रीक)—प्राचीन सुमेर का नगर, आधुनिक वर्का। फरात के पच्छिमी तीर कभी वसा था जिसके निकट से नदी की धारा कई मील पूरव हट गई है। सभवत इसी उरुक अथवा एरेख से मेसोपोतामिया का नया नाम दजला फरात के द्वाव

मे इराक या अल्-इराक पडा। यह प्राचीन नगर ऊर, कीश, निप्पुर आदि उन प्राचीन नगरो का समकालीन था जो दक्षिणी वाबिलोनिया अथवा प्राचीन सुमेर की भूमि पर सागर के चढ आने से जलप्रलय के शिकार हुए थे। डा० लोफ्टर ने १८५० और १८५४ मे एरेख के पुराने टीलो को खोदकर उसकी प्राचीनता के प्रमाण प्रस्तुत कर दिए। नगर का परकोटा प्राय छ मील दौडता था जिसके भीतर लगभग ११०० एकड भूमि पर नगर वसा था। आज भी वहाँ अनेकानेक 'तेल' अथवा टीले प्राचीन सभ्यता की समाधि अपने अतर मे दवाए पडे है। सभवत ई-अन्ना इस नगर का प्राचीनतर नाम था जो इसी नाम के मदिर से सबध रखता था। नगर का जिग्गुरत अपने आधार में दो सौ फुट वर्गाकार है जो प्राचीन काल मे ही टूट चुका था। नगर प्राक्-शर्रुकिन (सार्गोन) राजाओ की राजधानी था और उनसे भी पहले वहाँ पुरोहित-राजा (पतेसी) राज करते थे। ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी मे दक्षिणी ईरान के इलामी आक्रमणो का उत्तर एरेख के निवासियो ने इतनी घनी देशभक्ति से दिया था कि आक्रमको को निराश लौटना पडा था। समीप के ही नगर लारसा मे, उसकी राष्ट्रीयता की शक्ति तोड, इलामियो ने वहीं डेरा डाला। एरेख की सत्ता को सीमित रखने का वही से उन्होने चिरकालीन प्रयत्न किया।

एरेख का उल्लेख ईरानी अभिलेखो मे भी मिलता है जिससे प्रगट है कि वावुल की ही भाँति यह नगर भी सर्वथा विनष्ट नही हुआ और खल्दी राजकुलो के विनष्ट हो जाने के वाद तक वना रहा। अभी हाल की खुदाइयो मे वहाँ से ७० ई० पू० के अनेक अभिलेख मिले है। [भ० श० उ०]

एर्ट्सगेबिर्ग, एर्जगेबिर्ग यह जर्मनी मे सैक्सनी तथा जेकोस्लावाकिया मे वोहीमिया के बीच में प्राय १०० मील लवी तथा २५ मील चौडी पर्वतश्रेणी है। इसकी औसत ऊँचाई २,५०० फु० तथा अधिकतम ऊँचाई ४,०६० फु० (कीलवर्ग शिखर) है। यहाँ शीतकाल मे खूब वर्फ गिरती है, परतु ग्रीष्मकाल अत्यत सुरम्य होता है। अत किप्सडॉर्फ, वेरेनफेल्स तथा ओवरवीसेथाल जैसे सुदर भ्रमणकेद्रो ने इसे चार चाँद लगा दिए है। वोहीमिया का सर्वोच्च नगर गोटेसगाव इसी श्रेणी पर कीलवर्ग तथा फिचेलवर्ग के वीच ३,३०० फु० की ऊँचाई पर अवस्थित है। इसकी भूगर्भिक सरचना मे नाइस, अभ्रक तथा फाइलाइट की विशेपता है। एर्टसगेविर्ग ('धातुओ का पर्वत') के नाम के अनुसार ही इसमे चाँदी, सीसा, ताँवा, टीन, कोवल्ट निकल तथा कच्चे लोहे के भाडार मिलते है। आजकल यहाँ रूसी लोग यूरेनियम के लिये खुदाई कर रहे है।

[ले० रा० सिं०]

एर्नाकुलम नवीन केरल राज्य में एर्नाकुलम जिले का प्रमुख नगर है (स्थिति ९° ५९' उ० अक्षाश एव ७६° १७' पूर्वी देशातर) पहले यहाँ कोचीन राज्य की राजधानी थी और यह त्रिचूर जिले का भाग था। यह कोचीन से दो मील पूर्व पृष्ठानुवर्ती पश्चजल (वैक वाटर) पर स्थित हे। यह कोचीन रेलवे का, जो पालघाट होकर आती है, अतिम स्टेशन (टर्मिनस) भी है। यहाँ की जनसख्या १९०१ ई० में केवल २१,९०१ थी, किंतु १९५१ ई० मे वढकर ६२,२८३ हो गई। यहाँ के लगभग ४० प्रतिशत निवासी उद्योग एव व्यापार से, ४० प्रतिशत अन्य सेवाओ एव विविध साधनो से और शेष खेती आदि से जीविकार्जन करते है। इस नगर का व्यापार मुख्यतया कोकण जाति एव यहूदियो के हाथ में है। यहाँ १७७४ ई० मे डचो ने एक कारखाना खोला था जो वाद में अगरेजो के अधिकार में चला आया। यह नगर तीव्र गति से प्रगति कर रहा है। यहाँ सरकारी प्रेस एव महाराजा कालेज, ला कालेज आदि शिक्षा के केद्र है। [का० ना० सिं०]

एर्मीट, चार्ल्ज़ (Hermite, Charles) (१८२२ ई०-१९०१ ई०), फ्रासीसी गणितज्ञ, का जन्म २४ दिसवर, १८२२ ई० को लौरेन मे हुआ था। इन्होने प्रचलित पाठ्यक्रम की उपेक्षा करके आयलर, लाग्राज, गाउस और याकोवी आदि गणितज्ञो की रचनाओ का अध्ययन किया। ये एकोला-पॉलिटेकनिक में (१८६९ ई०-१८७६ ई०) और फिर सौरवोन मे (१८७६ ई०-१८९७ ई०) गणित के प्रोफेसर रहे। सख्याओ के सिद्धात, अपरिमेय एव अनुपरिमेय, सीमित अनुकूल, समीकरणो के सिद्धात, दीर्घवृत्तीय फलनो और फलनो के सिद्धात पर इन्होने शोधें की। एर्मीट ने द्वितीय प्रकार के आमिक आवर्त फलनो का भी आविष्कार किया और याकोवी की q-चलराशि के स्थान पर समीकरण $q = e^{i\pi\omega}$ से सबधित एक नवीन चलराशि ω की स्थानापत्ति करके $\phi(\omega)$, $\psi(\omega)$ और $\chi(\omega)$ फलनो का अध्ययन किया। १४ जनवरी, १९०१ ई० को इनका देहात हो गया। [रा० कु०]

एर्लिक, पॉल (Ehrlich, Paul, १८५४-१९१६) जर्मन जीवाणु-वैज्ञानिक का जन्म जर्मनी राज्य के साइलेशिया प्रात मे सन् १८५४ ई० के मार्च मे हुआ। ये जाति के यहूदी थे। इन्होने आरभिक शिक्षा व्रेसलॉ नामक नगर के जिमनेशियम मे पाई। पुस्तको के पठन पाठन मे इनकी विशेष रुचि न थी। तदनतर कई मेडिकल स्कूलो में चिकित्साशास्त्र के अध्ययन के हेतु गए। इनके विषय में व्रेसलॉ, स्ट्रासवुर्ग, फ्रीडवुर्ग, तथा लाइप्जिक के मेडिकल स्कूलो के अध्यापक कहा करते थे कि यह साधारण छात्र नही है। इनकी विशेष रुचि विभिन्न प्रकार के रग वनाने तथा उनसे वस्तुओ को रँगने मे थी। इन्होने रॉवर्ट कॉख को, जो आयु तथा अनुभव में इनसे दस वर्ष वडे थे, क्षयरोग के दडाणुओ (वी० टुवरकुलोसिस) को रँगने की विशेष विधि वताई तथा सूक्ष्म जीवाणुओ का अध्ययन करने के लिये स्वय अपने शरीर मे क्षय दडाणुओ को प्रविष्ट कर लिया और क्षयरोग से आक्रात हो गए। उस समय इनकी अवस्था केवल ३४ वर्ष की थी।

सन् १९०८ ई० मे ये मिस्र देश (ईजिप्ट) से विशूचिका विषयक अनुसधान करके लौटे तथा वर्लिन में "रॉवर्ट कॉख इस्टिट्यूट" मे रहकर कार्य करने लगे।

सन् १८९६ ई० मे वर्लिन के निकट स्टेगलित्स नामक नगर मे अपनी प्रयोगशाला स्थापित की, जिसका नाम "लसी-परीक्षण राजकीय प्रशियन सस्था" था, और उसके अध्यक्ष तथा निर्देशक हो गए। १८९९ ई० में फ्राकफुर्ट आम माइन मे निवास करने के लिये आ वसे। यहाँ रहकर ये प्रतिरक्षा (इम्यूनिटी) पर अनुसधान करते रहे।

१९०२ ई० मे जापानी अन्वेषक डॉक्टर शिगा द्वारा आविष्कृत फिरगचक्राणु (टी० पैलिडा) पर अपनी प्रतिरक्षक औपधो का प्रभाव देखने के लिये प्रयोग करने लगे। १९०६ ई० मे इन्होने ऐटोक्सिल नामक औपध मे कुछ रासायनिक परिवर्तन कर उसका प्रयोग फिरग चक्राणुओ पर किया तथा उनके विनाश मे सफलता प्राप्त की। इस नई आविष्कृत औपध का नाम इन्होने "६०६" रखा।

३१ अगस्त, सन् १९०९ ई० को इन्होने ६०६ नामक औपध का प्रयोग फिरग रोग (सिफलिस, उपदश) से ग्रस्त खरहो पर किया और अपूर्व सफलता प्राप्त की। सन् १९१० ई० मे इन्होने अपनी ६०६ का प्रयोग फिरग ग्रस्त मनुष्यो पर किया तथा सफलता पाई। इस औपध का नाम पीछे साल्वार्सन पडा, जो आगे चलकर "वेयर २०५" के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस औषध ने सहस्रो फिरग ग्रस्त रोगियो को रोगमुक्त कर नवजीवन प्रदान किया। इनकी मृत्यु सन् १९१६ ई० मे हुई।

स० ग्र०—डब्ल्यू० वुलॉख दि हिस्ट्री ऑव वैक्टीरिऑलोजी (ऑक्सफर्ड, १९३८)। [शि० ना० ख०]

एस्कीन, टामस (१७५०-१८२३), लार्ड बुकन के पुत्र, एडिनवरा मे जन्म। पहले वैरिस्टरी फिर राजनीति। १७८३ मे कोलिशन (मिश्रित) मत्रिमडल वनने पर वे पार्लमेट के सदस्य निर्वाचित हुए। उनके वकालती भाषण अनुपम माने जाते है। उन्होने 'मनुष्य के अधिकार' (दि राइट आव मैन) के लेखक टामस पेन की वकालत कर पार्लमेट मे अनेक शत्रु वनाए और उनका एटर्नी-जेनरल का पद उनसे छीन लिया गया। उन्होने अनेक प्रसिद्ध जनवर्गीय नेताओ के मुकदमो मे उनकी ओर से वहस कर वडा नाम कमाया। उनमे साहस और निर्भीकता वडी थी और सरकार को रुष्ट करके भी उन्होने जनता का कार्य साधने का कठिन प्रयत्न किया। कुछ काल के लिये लार्ड चान्सलर भी नियुक्त हुए थे।

[भ० श० उ०]

एल ओबेद (अल ओबेद) सूडान के कोर्दोफान प्रात का मुख्य नगर है। यह खार्तूम से २३० मी० दक्षिण-पश्चिम, १३° १६' उत्तर अक्षाश तथा २९° ४८' पूर्व देशातर पर, समुद्र की सतह से १,८६५ फु० की ऊँचाई पर तथा प्रात के मध्य मे सूडान रेलवे के अतिम छोर पर स्थित है। यहाँ की जनसख्या सन् १९५७ ई० मे ७२,७३७ थी। यह नगर व्यापारिक केद्र भी है, तथा यहाँ के व्यापार की मुख्य वस्तुएँ गोद, पशु तथा भेडे है। यहाँ का अधिकाश व्यापार दारफुर से होता है।

सन् १८२१ ई० मे कोर्दोफान की विजय के बाद यह नगर मिस्रवालो का सैनिक केद्र हो गया था, परतु सन् १८८२ ई० मे विद्रोही मोहम्मद अहमद द्वारा अधिकृत कर लिया गया। महदिया के समय मे यह नगर नष्ट भ्रष्ट तथा वीरान कर दिया गया था, परन्तु सन् १८९९ ई० मे पुन नया नगर बसाया गया। [श्या० सु० श०]

एलडन, जान स्काट अर्ल एलडन १७५१ मे न्यूकासल मे पैदा हुए। उनके पिता वहाँ कोयले का व्यापार किया करते थे। इसमे उन्होने अधिक धन पैदा किया। जान स्काट की आरभिक शिक्षा न्यूकासल ग्रामर स्कूल मे हुई। तत्पश्चात् यूनिवर्सिटी कालेज, आक्सफर्ड मे दाखिल हो गए, जहाँ उन्हे एक अंग्रेजी लेख पर पुरस्कार भी मिला। १७७६ मे उन्होने बैरिस्ट्री पास की और लदन मे वकालत करने लगे। १७८२ तक वह सफल बैरिस्टर हो गए थे और उनके पास अधिक सख्या मे मुकदमे आने लगे थे। इसी वर्ष पार्लमेट के ये मेबर भी बने और पिट के सहायक हो गए। पार्लमेट मे उन्होने पहली बार फाक्स के इडिया बिल का विरोध किया, जिसका शेरीडन ने बहुत मजाक उडाया। १७८८ मे उनको सालिसिटर जेनरल का पद दिया गया और साथ ही 'सर' की उपाधि भी मिली। १७८९ मे उन्होने रिजेसी बिल तैयार करने मे सहायता दी। १७९३ मे अटार्नी जेनरल बना दिए गए और उनकी सारी शक्ति फासीसी राज्यक्राति के सहायको पर मुकदमा चलाने मे लगने लगी। १७९९ मे वह चीफ जस्टिस नियुक्त हुए और उनको बैरन एलडन की उपाधि मिली। इसी वर्ष वह आर्लिग्टन के मत्रिमडल मे लार्ड चासलर हुए और पिट के काल मे भी इसी पद पर रहे। ये २० वर्षो तक कैबिनट के मेबर रहे। १८२१ मे उनको अर्ल की उपाधि मिली। १८२७ मे जब कैनिंग ने मत्रिमडल बनाया तब उन्होने त्यागपत्र दे दिया। उनका विचार था कि वे वेलिग्टन के मत्रिमडल मे फिर से ले लिए जायँगे, जो नही हो सका। इसका उन्हे बडा शोक रहा।

उनको अपनी पत्नी से बडा प्रेम था। एलडन का देहात १३ जून, १८३८ को लदन मे हुआ। वे अपने विचारो मे नरम दल के थे और प्रगतिशील विचारो का विरोध करते थे। उनकी चासलरी के काल में कागजात अधिक समय तक दबे रहते और ये उनपर अपनी कोई अनुमति न देते। [मु० अ० अ०]

एलडोरेडो अमरीका के स्पेनिश विजेताओ की कल्पना मे इस नगर की स्थिति थी। वे सोने के बडे ही लालची थे। उनसे पिंड छुडाने के विचार से मध्य अमरीका के आदिवासी लोग उन्हें इस काल्पनिक नगर का खूब बढा चढाकर वृत्तात देते थे और बराबर कहते थे कि वह स्वर्णपुरी है। स्पेन के लोग भी मेक्सिको और पेरू की सपत्ति से और भी अधिक की कामना करते थे। सन् १५४०-४१ ई० मे ओरेलाना नामक मनुष्य की इसे खोज निकालने की विकट यात्रा के उपरात इसकी स्थिति ओरिनिको नदी के उद्गम के पास बताई जाने लगी। इसकी खोज मे कितने ही बहादुर व्यक्ति स्वय खो गए और कितनी ही सेना की टुकडियाँ छिन्न भिन्न और पस्त होकर लौटी। बाद मे मानाओ नगर को एलडोरेडो मानकर कई प्रकार की कविकल्पनाएँ होने लगी। यह कथा भी चल गई कि वहाँ का राजा नित्य शरीर पर स्वर्णधूलि का लेप करता था और प्रतिवर्ष पवित्र सरोवर मे निमज्जन कर शरीर पोछता था। सर वाल्टर रैले ने भी इसे खोज निकालने की व्यर्थ चेष्टा की थी। आजकल सयुक्त राज्य अमरीका मे इस नाम के निम्नलिखित तीन शहर है (१) दक्षिणी आरकैसास (२) इलिनॉय (३) दक्षिणी पूर्वी कनजैम राज्य मे। [श्या० सु० श०]

एलपासो सयुक्त राज्य अमरीका मे टेक्सास राज्य के पश्चिमोत्तर किनारे पर रीओ ग्राड नदी के कूल पर स्थित एक नगर है। यह नगर मेक्सिको की सीमा पर स्थित सबसे बडा नगर तथा एलपासो प्रदेश का केंद्र है। यहाँ से होकर ८०, ५४, ६२, ८० तथा २९० सख्यक सघीय राजमार्ग जाते है। यह नगर समुद्र की सतह से ३,७६२ फु० की ऊँचाई पर फैकलिन पर्वत की तलहटी मे स्थित है एव १३ वर्गमील मे फैला हुआ है। यहाँ की जनसख्या सन् १९५५ ई० मे १,७०,००० थी, जिसमे बहुसख्यक मेक्सिकी थे।

अनुकूल जलवायु, पशु, ताँबा, तथा रूई नगर के जीवनाधार है। यहाँ का मुख्य उद्योगधधा ताँबा तथा राँगा पिघलाना है, जो मेक्सिको तथा ऐरिजोना राज्य से उपलब्ध होते है।

काबेजा डी वाका प्रथम यूरोपीय था जिसने इस नगर मे सन् १५३६ ई० मे प्रवेश किया। [श्या० सु० श०]

एलबफ उत्तरी फ्रास का एक नगर है। यह रूआँ नगर से १४ मील दक्षिण-पश्चिम मे सेन नदी के बाएँ किनारे पर बसा एक साफ सुथरा नगर तथा व्यापारिक केंद्र है। यहाँ चौडी सडके, हवादार सुदर मकान और कारखाने है। इसके आसपास छोटी छोटी पहाडियाँ है जिनके ऊपर एलबफ का जगल फैला है। इस नगर मे ऊनी वस्त्र बनता है तथा एक वस्त्र-निर्माण-प्रशिक्षणालय भी है। सन् १९४४ ई० मे युद्ध के कारण १५वी और १७वी शताब्दी के प्रसिद्ध सेंट एटीने और सेंट जॉन के गिरजाघर बुरी तरह ध्वस्त हो गए। सन् १९४६ ई० मे इसकी जनसख्या १५,९५८ थी। [श्या० सु० श०]

एलवुड सयुक्त राज्य अमरीका के इडियाना राज्य मे मेडिसन प्रदेश में स्थित एक नगर है। यह समुद्र की सतह से ८६२ फु० की ऊँचाई पर तथा इडियानापोलिस से ४२ मी० उत्तर-पूर्व स्थित है। जनसख्या सन् १९५० ई० मे ११,३६२ थी। इस क्षेत्र मे तरकारी की खेती होती है और यह अपने टमाटरो के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ से होकर निकेल प्लेट तथा पेनसेलवीनिया रेले जाती है। यहाँ एक जहाजी केंद्र भी है जहाँ से पशु तथा अनाज बाहर भेजे जाते है। यहाँ सामान रखने के डिब्बे बनाने का एक बहुत बडा कारखाना तथा घरेलू उपयोग की वस्तुएँ बनाने के भी कई कारखाने है। यह नगर सन् १८५२ ई० मे बसाया गया था तथा सन् १८६९ ई० तक यह 'विवसी' नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ प्राकृतिक गैस मिल जाने के कारण केवल दस वर्षो मे (सन् १८९०-१९००) इस नगर की जनसख्या २,२८४ से १२,९५० हो गई थी। [श्या० सु० श०]

एलाम ई० पू० तृतीय सहस्राब्दी मे जब भारत मे सिंधु सभ्यता, मिस्र मे नील नद की सभ्यता और ईराक मे सुमेर और बाबुल की सभ्यता अपना विकास कर रही थी तभी एलाम की सभ्यता भी ईरान के पश्चिमी दक्षिणी भाग मे अपने सास्कृतिक ऐश्वर्य के डग भर रही थी। उस प्राचीन समृद्ध राज्य का विनाश दजला नदी की उपरली घाटी मे बसनेवाले असुरो के सम्राट् असुरबनिपाल ने ७वी सदी ई० पू० मे किया। एलाम फारस की खाडी के किनारे बाबुल के पूर्व मे अवस्थित था, ईरान के प्राय उस भाग मे जिसे आज खुर्दिस्तान कहते है। प्राचीन ग्रीक भूगोलवेत्ता उसे सूसिआना कहते है जो नाम उसकी राजधानी सूसा अथवा शूषा पर आधृत था। बाइबिल की पुरानी पोथी मे राजधानी और राज्य दोनो का उल्लेख हुआ है।

एलाम में प्राचीन काल मे विभिन्न जातियाँ बसी थी जो मिश्रित बोलियाँ बोलती थी। उसके पश्चिमी भाग मे निश्चय शेमी जातियो का निवास था, जैसे पूर्व मे अमारदिआई जातियो का था जो ईरानियो के बाजू पर बसी थी। कीलाक्षरोवाली सुमेरी लिपि के अभिलेखो मे जिन कस्सियो का वृत्तात मिलता है वे भी कभी वहाँ बसे थे और तब वह प्रदेश उनके सपर्क से इतना प्रभावित था कि ई० पू० पाँचवी सदी के ग्रीक इतिहासकार हेरोदोतस ने उस प्रदेश का किस्सिया नाम से ही उल्लेख किया। सुमेरी पाठो मे उस स्थान का नाम 'नुम्मा' मिलता है जिसका शेमी रूपातर 'एलाम्तू' अथवा 'एलामू' है। एलाम का अर्थ है ऊँची भूमि। राजधानी शूषा कुरान और केरखा नदियो के सगम के निकट बसी थी जहाँ आज भी उसके खँडहर

हैं और जहाँ पुराविदो ने उसके प्राचीन टीलो को खोदकर इतिहास की प्रभूत सामग्री प्राप्त की है। मोरगाँ की खुदाइयो से पता चलता है कि एलाम में एलाम की सभ्यता की नीव नव-प्रस्तर-युग मे ही पड गई थी और ३८०० ई०पू० के लगभग जब अक्काद के राजा सारगोन ने एलाम को जीता तब से पहले ही शूषा नगर अपनी प्राचीरो के पीछे खडा हो चुका था। उसके बाद उस नगर पर बाबुल का आधिपत्य हुआ और वहाँ बाबुली शासक रहने लगा। ई० पू० २३वी सदी के आरभ मे एलाम फिर स्वतत्र हो गया और २२८८ ई० पू० के लगभग एलामी राजा कुतुर-नखुते ने बाबुल पर चढाई कर उसके नगर एरेख से उसकी देवी 'नाना' की मूर्ति छीन ली। १३३० ई० पू० मे बाबुल के कस्सी राजा ने एलाम पर फिर अधिकार कर लिया पर प्राय सौ साल बाद ही सुत्रुक-नखुते ने समूचे बाबुली जनपद को रौंद डाला और नराम-सिन का स्तभ तथा हम्मुराबी के प्रसिद्ध विधान की शिला सिप्पर से उठा लाया। ८वी सदी ई० पू० मे असूरिया के असुर सम्राटो और एलाम के राजाओ के बीच भयानक सघर्ष छिड गया जिसमे असुर विजयी हुए। ७०४ ई०पू० मे एलाम और बाबुल के राजाओ ने मिलकर असुरो का सामना किया परतु उन्हे मुँह की खानी पडी और एलाम के राजा को अपनी गद्दी छोड देनी पडी, किंतु १० ही वर्ष बाद एलाम के राजा खालुसू ने बाबुल का पराभव कर उसके सिंहासन पर अपने प्रियपात्र को बिठाया। उसके उत्तराधिकारी को परास्त कर बाबुल के सेनाखेरिब ने एलाम के ३४ नगर नष्ट कर दिए और उसके राजा को नगर छोड भागना पडा।

७वी सदी ई० पू० मे सम्राट् असुरबनिपाल ने एलामी सेना को परास्त कर उसके राजा को मार डाला और अपने प्रिय पात्र को वहाँ की गद्दी दे दी। बाद की लडाइयो मे एलाम की शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई और उसपर असुरो का जुआ जम गया। असुरी शक्ति के नष्ट हो जाने पर एलाम का राज्य ईरानी आर्यो के अधिकार मे आया। जिन मीदियो ने अपनी सेनाओ द्वारा असुर और बाबुल की विजय की उन्होने ही एलाम को भी अपने साम्राज्य की बढती हुई सीमाओ मे घेर लिया। सम्राट् कुरुष का आधिपत्य उसपर हुआ और शूषा उसकी दक्षिणी राजधानी बनी जो किसी न किसी रूप में चौथी सदी ई० पू० में सिकदर के हमले तक बनी रही।

[भ० श० उ०]

एलिच नगर इसको पहले एलिचपुर कहते थे। यह बरार राज्य की राजधानी था। आजकल यह बबई राज्य के अमरावती जिले मे है। बबई जानेवाले प्रधान रेलमार्ग पर मुर्तिजापुर से एक छोटी रेलवे लाइन यहाँ तक गई है। मेलघाट और बेतूल जिलो की इमारती लकडी का यह एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। यह अमरावती और चिकल्दा से अच्छी सडको द्वारा मिला हुआ है। यहाँ रुई से बिनौला निकालने के कई कारखाने है। सन् १९४१ ई० मे इसकी जनसख्या ३१,४७५ थी, जिसमे ७,००० से अधिक मुसलमान थे। पास में परतवाडा है जहाँ पहले फौजी छावनी थी। सन् १८७२ ई० मे इसकी आबादी ११,००० थी पर छावनी के टूट जाने पर सन् १९३१ ई० मे आबादी घटकर ६,७९९ हो गई। एलिच नगर की समृद्धि इमारती लकडी और कपास पर निर्भर करती है।

[श्या० सु० श०]

एलिजा तिस्बेह (गिलीद) निवासी और यहूदियो के प्रमुख पैगबरो में से एक। समय ८७६–८५३ ई० पू०। एलिजा इसराइल के राजा अहाब का समकालीन था। सेमुअल और दाऊद के बाद यहूदियो के महान् पैगबरो मे एलिजा की गणना की जाती है। यहूदियो मे दो मुख्य फिरके थे (१) यहूदी, और (२) बनी इसराइल। दोनो मे आरभ से प्रतिस्पर्धा चली आती थी। इन दोनो जातियो के अनेक छोटे छोटे राजा आए दिन एक दूसरे के साथ लडा करते थे। सबसे पहले दाऊद और उसके बाद दाऊद के बेटे सुलेमान ने फिलिस्तीन में यहूदियो का एकछत्र राज्य स्थापित किया, किंतु सुलेमान की मृत्यु के पूर्व से ही यहूदी और इसराइल के पारस्परिक युद्ध शुरू हो गए। नवी सदी ई० पू० मे इसराइल का शासन अहाब के हाथो मे आया। अहाब की पत्नी ने बाल देवता की पूजा प्रचलित की। बाल की पूजा के विरुद्ध पैगबर एलिजा ने विद्रोह की आवाज उठाई। एलिजा ने यहूदी जनता का आह्वान करते हुए कहा कि यह्वे के अतिरिक्त अन्य किसी देवी देवता की पूजा करना गुनाह है। इस विद्रोह के परिणामस्वरूप अहाब, उसकी विदेशी रानी और उनके सब बच्चो को मार डाला गया। बाल के मदिर गिराकर नष्ट कर दिए गए।

समय समय पर एलिजा ने अहाब की और विदेशी देवी देवताओ की पूजा करनेवाले यहूदियो की जो भर्त्सना की है और उन्हे जो अभिशाप दिए हैं वे बाइबिल की पुरानी पोथी मे दर्ज हैं। एलिजा एकमात्र यह्वे की पूजा का समर्थक था और राजनीतिक उदारता के नाम पर भी किसी प्रकार के विदेशी देवी देवताओं की पूजा करना यहूदियो के लिये सबसे बडा गुनाह मानता था।

स०ग्र०--विश्वभरनाथ पाडे यहूदी धर्म और सामी सस्कृति (१९५४)।

[वि० ना० पा०]

एलिज़ाबेथ सयुक्त राज्य अमरीका के न्यूजर्सी राज्य का मुख्य नगर है। यह न्यूयार्क की खाडी पर स्टैटन द्वीप के सामने बसा हुआ है। द्वीप से यह गोथल नामक पुल से जुडा है, जो २० जून सन् १९२८ ई० को चालू हुआ था। यह न्यूयार्क महानगर का पर्याप्त अधिवास क्षेत्र है। यह औद्योगिक केंद्र भी है। यहाँ 'सिंगर' नामक सिलाई कटाई आदि की मशीनो का कारखाना है जिसमें ८,००० व्यक्ति काम करते हैं। यहाँ तेल साफ करने का कारखाना और मोटर के कई कारखाने भी हैं। यहाँ जहाज भी बनाए जाते है। इनके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के छोटे मोटे उद्योग धधे चलते है। इसके बदरगाह से पेंसिलवानिया का अच्छा कोयला निर्यात किया जाता है।

यह नगर सन् १६६५ ई० मे बसा था। सर जार्ज की पत्नी के नाम पर इसका नाम एलिज़ाबेथ टाउन पडा था। सन् १८५५ ई० में यह नगर घोषित हुआ। सन् १९४० ई० में इसकी जनसख्या १,०९,९१२ थी। यहाँ अभी भी कई ऐतिहासिक भवन है, जिनमें लिबर्टी हॉल और बॉक्सउड हॉल प्रसिद्ध है। यहाँ कई मनोरम पार्क हैं। (श्या० सु० श०)

एलिज़ाबेथ पेत्रोवा (१७०९-६१) रूस की साम्राज्ञी। महान् पीतर और कैथरीन की कन्या। १७४१ में राजसिंहासन पर बैठी। इससे पहले चार बार इसके राजगद्दी पर दावे की उपेक्षा की गई। आन और बीरेन के आतकपूर्ण शासनकाल मे इसपर कडी और सतर्क नजर रखी गई। शरीररक्षक सेना से इसकी दोस्ती फल गई। ६ दिसबर, १७४१ को दरबारी विप्लव हुआ और इवान छठे को निकाल दिया गया। इसके साथ रूस से जर्मन प्रभाव और प्रभुत्व का भी अत माना गया।

एलिज़ाबेथ अपने पिता की प्रशसक थी, किंतु इसकी शिक्षा दीक्षा साधारण थी। नृत्य, सगीत और नाटक की यह शौकीन थी। सौदय-प्रेमी थी और सेत पीतर्सबर्ग (लेनिनग्राद) की सजावट का खर्च बढाया। इतालवी शिल्पी रास्तेरेली की सहायता से १०० लाख रुबल खर्च कर 'शीतप्रासाद' बनवाया।

इसके मत्री देशभक्त रूसी और विद्वान् थे। बेस्त्रजेव रीयूमिन विदेशी मत्री था और पीतर शूवालेव वित्तमत्री। इस कारण राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और यूरोप की राजनीति मे रूस की बात ध्यान से सुनी जाने लगी। शिक्षाप्रसार को इस समय प्रोत्साहन और साहित्य को सरक्षण मिला। विद्वानो का आदर बढा। कला विकसित हुई। मास्को मे विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। रूसी रगमच का विकास हुआ। दरबार मे फ्रेंच भाषा और साहित्य का आदर बढा। रूसी सरदार मातृभाषा की जगह फ्रेंच बोलने मे गौरव मानने लगे। फ्रेंच का प्रभाव १९वी सदी तक बना रहा।

एलिजाबेथ ने विवाह नही किया। एलेक्सि राजूमोव्स्की इसका सदा कृपापात्र बना रहा। यह यूक्रेनी कज्जाक था। इसको कपडे का बहुत शौक था। मृत्यु के समय इसकी वस्त्रपेटिका मे पद्रह हजार पोशाके मिली। दासता बढी और इसका धर्म (चर्च) मे भी प्रवेश हुआ।

१५ वर्ष शाति रही। सप्तवर्षीय युद्ध मे रूसी-आस्ट्रियाई सेना ने प्रशा की सेना को १७५७ मे बुरी तरह पराजित किया और १७६० में कुछ समय के लिये बर्लिन पर रूसी सेना का अधिकार भी हो गया। प्रशा और फ्रेडरिक यदि बच सके, तो बस इसी कारण कि २ जनवरी, १७६२ को एलिज़ाबेथ की मृत्यु हो गई।

[अ० कु० वि०]

एलिज़ाबेथ प्रथम (१५५८-१६०३) ट्यूडर शासको मे अतिम, हेनरी अष्टम तथा एनी वोलिन की पुत्री एलिज़ाबेथ १५५८ ई० में २६ वर्ष की अवस्था मे इग्लैंड मे शासनारूढ हुई। १५३४ ई० के उत्तराधिकार नियम के अनुसार उसका गद्दी पर अधिकार सुरक्षित था। उसे माता पिता की चारित्रिक प्रवृत्तियाँ दाय सस्कारो मे प्राप्त हुई थी। उसमे पिता की धृष्टता, साहस, स्वार्थपरता, अशिष्टता और ओछापन तथा माता की चारित्रिक क्षुद्रता, आडवर, हल्कापन और कामुक चापल्य इत्यादि सभी प्रवृत्तियो एव गुणो का अनुपम समिश्रण था। ट्यूडर वश का वह वैचित्र्य जो राजा के वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय स्वार्थो मे निकटता लाता था, उसमे पूर्णतया विद्यमान था। विवादग्रस्त उत्तराधिकार, सुधार-आदोलन-जन्य धार्मिक विभीषिका, इग्लैंड पर फ्रास और स्पेन जैसे शक्तिशाली राष्ट्रो की लोलुप दृष्टि एव महत्वाकाक्षा इत्यादि कठिनाइयो के बीच एलिजाबेथ का राज्यारोहण हुआ था। सभी समस्याएँ इतनी जटिल थी कि किसी भी अभिनव शासक को किकर्त्तव्यविमूढ कर देती। किंतु प्रोटेस्टेट मत के उदय से उसे एक अनुकूल प्रजा-भक्ति मिल गई थी। अपने योग्य सलाहकारो--मुख्यत सर विलियम सेसिल, सर निकोलस वेकन तथा सर फ्रासिस वालसिघम की सहायता से स्वय शासनसचालन एलिज़ाबेथ को सर्वथा वाछनीय लगा।

एलिज़ाबेथ ने शीघ्र ही अनुभव किया कि साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने मे, धार्मिक शाति तथा स्काटलैंड की ओर से आक्रमणो की सभावना का उन्मूलन, प्रधानतम आवश्यकताएँ है। अत उसने सर्वप्रथम अपना ध्यान चर्च व्यवस्था को अनुशासित करने में लगाया। एलिज़ाबेथ इस तथ्य को हृदयगम कर चुकी थी कि एडवर्ड छठा तथा मेरी ट्यूडर अपनी धार्मिक नीति को अतिवाद की ओर ले जाने के कारण असफल रहे और उसकी पुनरावृत्ति सर्वथा अहितकर होगी, धार्मिक समस्या का निदान मध्यम मार्ग से ही श्रेयस्कर होगा। अतएव एलिजाबेथ की धार्मिक नीति तत्कालीन प्रचलित मतो का समन्वय थी जो इतनी उदार थी कि विभिन्न मतावलवियो को विभिन्न प्रतिच्छाया का आभास कराती थी। सभी मतो के प्रमुख तत्वो को एक अद्भुत कौशल से सपादित करने की चेष्टा की गई थी। एलिजाबेथ ने राष्ट्रीय ऐक्य की शिला पर ही धर्म का प्रासाद उठाना चाहा था और इसी दृष्टि से १५५६ का सर्वोच्चिता एव एकरूपता का विधान प्रयुक्त किया गया जिसमे एलिज़ाबेथ को शुद्ध चर्च की, जिसे आगे चलकर ऐंग्लिकन की सज्ञा मिली, अधिष्ठात्री घोषित किया गया था, यद्यपि उसने इस पदवी के प्रति अपनी वाह्य अनिच्छा प्रगट की। एलिजाबेथ जैसी क्षमताशालिनी कुशल राष्ट्रनेत्री की दूरदर्शिता की यह धार्मिक अभिव्यक्ति अतिवाद के पोपको को सतुष्ट न कर सकी और शनै-शनै प्यूरिटनो द्वारा इस व्यवस्था को ग्राह्य सिद्ध करने के लिये दमनचक्र का आश्रय लेना पडा। एक स्थायी धार्मिक न्यायालय (कोर्ट आव हाई कमीशन) की स्थापना की गई जो मृत्युदड की कारा का सकेत देकर रानी को सर्वोच्च मान्य बना सके।

प्रारभ से ही स्काटलैंड इग्लैंड की सारी आपत्तियो का आगार बना हुआ था। स्काटलैंड और फ्रास की रानी मेरी स्टुअर्ट इग्लैंड के शासन पर अपना वशपरपरागत अधिकार स्थापित कर रही थी। इग्लैंड मे फ्रास का आतक भी पूर्णत फैला था क्योकि फ्रास से कैथोलिक मत की दीक्षा लेकर रानी स्काटलैंड को रोम का भक्त बनाना चाहती थी। उपर्युक्त प्रश्नो का क्रियात्मक उत्तर एलिजाबेथ को स्काटलैंड के कवेनैंटर की सहायता मे निहित था। मेरी का वैधव्य तथा असतुष्ट उमगो से उत्पन्न सत्वर विवाहो का तारतम्य रानी एलिजाबेथ के लिये मुँहमाँगा वरदान सिद्ध हुआ। प्रोटेस्टेट जनता, रानी की धार्मिक एव वैयक्तिक जीवन सबधी दोनो नीतियो के विरुद्ध विद्रोह के लिये अग्रसर हुई। रानी को अपदस्थ किया गया। १५६८ ई० मे मेरी ने एक गुप्त सदेशवाहक द्वारा एलिज़ाबेथ से शरण-प्रार्थना की। एलिज़ाबेथ ने विलव और हिचकिचाहट की नीति ग्रहण की तथा भावी परिस्थितियो के अनुकूल व्यवहार करने की उपादेयता को वाछनीय समझकर उसे नज़रबद करवा दिया। इस प्रकार स्पेन और पोप द्वारा उकसाए गए विद्रोहो और षड्यत्रो का वह १८ वर्षीय युग आया जिसमे एलिज़ाबेथ का वध करके मेरी का राज्यारोहण कराने की योजना निहित थी। अतत दरबारियो द्वारा लगाए गए षड्यत्र के अभियोग मे, एलिजावेथ को स्वेच्छा का अतिक्रमण करते हुए १५८७ ई० मे मेरी को मृत्युदड देना पडा और इग्लैंड की भीषणतम आतरिक कठिनाइयाँ समाप्त हुई।

धार्मिक नीति की ही भाँति एलिज़ाबेथ की वैदेशिक नीति उसकी उच्चतम राष्ट्रीय भावना की सराहनीय अभिव्यक्ति थी। स्पेन और फ्रास को शिष्टाचार एव शालीनता से आकृष्ट करना, तथा इग्लैंड के विरुद्ध उनको एक गुट मे आने से रोकना उसका प्रधान लक्ष्य था। अपने यौवन की गरिमा और वैवाहिक-सबध-स्थापन की मोहिनी ने, दोनो राष्ट्रो के शासको मे एक घोर प्रतिद्वद्विता का कारण खडा कर दिया था। स्काटलैंड से पार्थक्यप्राप्त, आतरिक धार्मिक युद्धो से विच्छिन्न तथा अपने शासक के भाई अजाहु के एलिजाबेथ से विवाह की सभावना के प्रलोभन से दवा फ्रास इग्लैंड का मित्र ही बना रहा। स्पेन भी अपने धनी प्रदेश नीदरलैंड के विद्रोह तथा प्रतिरोध आदोलन मे पूर्णत खो जाने के कारण शक्ति ह्रास का घोर अनुभव कर रहा था। इस भय से कि कही फ्रास और इग्लैंड एक न हो जायँ, स्पेन एलिजाबेथ की धार्मिक नीति, और व्यापारिक क्षेत्र के नित्य के अपमानो को सहन करता गया। इसी बीच पोप पीयस पचम ने एलिजाबेथ को धार्मिक आदेश प्रचारित कर ईसाई समाज से बहिष्कृत घोषित कर दिया जिसका प्रतिकार एलिजाबेथ ने पोप के विरुद्ध कई कदम उठाकर किया।

मेरी के षड्यत्रो को विफल करने मे एलिजाबेथ ने यह सावधानी बरती थी कि ऐसा कदम न उठाया जाय, जो स्पेन को क्रुद्ध करने मे सहायक बने। फिर भी मेरी के कारावास के अतिम दिनो मे दोनो देशो के पारस्परिक सबध कटु हो चले थे। प्रतिरोध आदोलन के सेनानी के रूप मे फिलिप द्वितीय इग्लैंड से एलिजाबेथ और प्रोटेस्टेट मत दोनो का उन्मूलन चाहता था। अत वह अनेक षड्यत्रो एव गुप्त मत्रणाओ का प्रमुख शिल्पी था। स्काटलैंड और आयरलैंड दोनो ही उसके कार्यक्षेत्र थे। इस परिस्थिति से पूर्णत अवगत एलिज़ाबेथ ने भी पहले नेदरलैंड के विद्रोहियो को गुप्त सहायता और फिर स्पष्ट रूप से अर्ल आव लीस्टर की अध्यक्षता मे एक सैनिक टुकडी भेजी। व्यापारिक प्रतिद्वद्विता तथा साहसिक जलसेनानी रैले, ड्रेक और हाकिन्स की स्पेन के जहाजो पर छापेमारी, जो वेस्ट इडीज तक हो रही थी, उस सुलगती शत्रुता को और भी प्रज्वलित कर चली। जान हाकिन्स के सकेत पर राजकीय जलसेना का पुनस्सगठन पूर्ण हो ही गया था। दोनो देशो के अमर्ष का पात्र भर चुका था। मेरी के प्राणदड के उपरात इग्लैंड पर एक कैथोलिक शासक के न आने की सभावना भी मिट चुकी थी। अत आर्मेडा का प्रकोप अवश्यभावी हो गया। ऐसी परिस्थिति मे प्रकृति ने भी इग्लैंड का साथ दिया। सामयिक भयकर तूफान के सामने आर्मेडा ठहर न सका तथा जिस सघर्ष को पोप और फिलिप ने पावन धर्मयुद्ध घोषित किया था उसे एलिजाबेथ ने अपूर्व सफलता के साथ राष्ट्रीय कहकर इग्लैंड और प्रोटेस्टेट मत दोनो की रक्षा की।

एलिज़ाबेथ अत तक आतरिक कठिनाइयो से सघर्ष करती रही। वाह्य वातावरण अनुकूल होने पर भी उसकी आतरिक कठिनाइयो मे कोई न्यूनता परिलक्षित न हुई। वह कैथोलिक और प्रोटेस्टेट दोनो को नूतन धार्मिक व्यवस्था के विरुद्ध आदोलन खडा करने के कारण दबाती रही। रानी और पार्लियामेट के सबध भी, प्रारभ म तो स्निग्ध और सहयोगपूर्ण रहे, किंतु शासन के उत्तरकाल मे वह पार्लियामेट के सामान्य समर्थन से वचित रही, और कभी कभी उसे कठिनाइयाँ भी उठानी पडी। उसके विवाह एव वैदेशिक नीति के प्रश्न विवादग्रस्त और व्यग्रतापूर्ण बन गए थे। अप्रत्याशित और अवाछनीय सघर्ष से बचने के लिये रानी ने अपने सपूर्ण शासन मे ससद के केवल तेरह अधिवेशन बुलाए। कौशल, हास्य, धमकी और भर्त्सना इत्यादि द्वारा वह १५६७ तक पार्लियामेट से गभीर सघर्ष बचाने मे सफल रही। जव कामन्स ने रानी द्वारा स्वीकृत एकाधिकार अनुदान (मोनोपोली ग्राट) के विरुद्ध विरोध प्रकट किया, तब रानी को झुकना पडा। पार्लियामेट के अधिकार शातिपूर्वक बढते गए।

शताब्दी के अत तक वे व्यक्ति जो रानी के राज्यारोहण काल से ही इग्लैंड का शासन करते आए थे, और जिनमे लीस्टर, वालसिघम तथा सेसिल प्रसिद्ध है, एक एक करके चल बसे, और आर्मेडा के विनाश के उपरात १५ वर्ष तक नए व्यक्ति राजनीतिक मच पर रहे। रैले, ड्रेक और एसेक्स

ऐसे साहसी नवयुवक रोमाचकारी कार्यो की होड मे आए। यह उग्र नाविक तथा औपनिवेशिक क्षमता का युग था। ड्रेक की विश्वयात्रा, अमेरिका मे नीग्रो व्यापार की नीव, उत्तरी अमेरिका की प्रमुख भूमि पर अँगरेजो के प्रथम उपनिवेश वर्जीनिया की स्थापना तथा ईस्ट इडिया कपनी की भाँति अनेक व्यापारिक कपनियों का आविर्भाव एलिज़ावेथ युग की विशेषताओ मे से हैं। इस अवधि में ब्रिटेन की एकता को वास्तविकता की ओर ले जाने के महत्वपूर्ण कदम उठाए जा रहे थे। प्रथम बार वेल्स और इग्लैंड एक सामान्य धर्म के अतर्गत एकता की ओर अग्रसर हुए। आयरलैंड, जो प्रतिरोध आदोलन का गढ बन गया था और जहाँ चार प्रमुख विद्रोह हुए थे, अतत १६०३ ई० मे विजित कर लिया गया।

एलिज़ावेथ ने युग के अतिम वर्षो ने अनुपम भौतिक समृद्धि देखी। विदेशो से व्यापार के फलस्वरूप व्यापारिक वर्ग का प्राचुर्य हुआ। ऊन के व्यापार में महान् वृद्धि हुई। आलू की कृषि के साथ महाद्वीप से हरी फसले, फल और तरकारियाँ लाई गई। चरागाह खेतिहर प्रदेश मे परिवर्तित किए गए। निर्धनों को विधिवत् सहायता देने के लिये निर्धन कानून बनाए गए। राष्ट्र की साधारण समृद्धि, स्तरीय उच्च जीवन तथा सभ्यता मे अभिव्यक्त हुई। नई जागृति का जनसाधारण मे सचार एव शिक्षाप्रसार द्रुत गति से हुआ। स्थापत्य कला ने गोथिक आवरण को त्यागकर नूतन एलिज़ावेथी परिधान ग्रहण किया। युग का महान् साहित्यिक अभियान इतिहास मे अद्वितीय था। एलिज़ावेथ कालीन साहित्य निश्चित राष्ट्रीय चरित्र रखता था। युगात्मा मारलो तथा शेक्सपियर के राष्ट्रीय नाट्य साहित्य, स्पेसर के काव्य तथा हूकर और बेकन के अभिनव गद्य मे अवतरित हुई। यह महान् शौर्य और यश का शासन था। मार्च, १६०३ ई० मे अपने शासन के ४६ वे वर्ष ७० वर्ष की अवस्था में एलिजावेथ की मृत्यु ने एक महान् युग का पटाक्षेप किया।

स०ग्र०--एस० आर० गार्डिनर इग्लैंड का इतिहास, ए० डी० ईन्स इग्लैंड--ट्यूडर शासको के अतर्गत, रौमजे म्योर वृटिश कामनवेल्थ का सक्षिप्त इतिहास, टी० एफ० टाउट ग्रेट ब्रिटेन का वृहत् इतिहास, जी० एम० ट्रैवेलियन इग्लैंड का इतिहास, क्रीटन रानी एलिजावेथ, लिटेन स्ट्रैची एलिज़ावेथ ऐड एसेक्स। [गि० श० मि०]

एलिफैंटा

बबई बदरगाह से पूर्व की ओर ६ मील पर एक टापू है। इसकी परिधि ५ मील है। यहाँ अवकाश पाकर बबई नगर की हलचल से ऊबकर सैर के लिये मोटरबोट से लोग आया करते हैं। इसकी प्रसिद्धि लावा चट्टान में काटे गए गुफा मदिर के कारण है। यहाँ इमारती पत्थरो की कटाई की कई खदानें हैं। इसकी सबसे ऊँची चोटी ५६८ फुट है।

गुफा मदिर तक पहुँचने के लिये सीढियाँ बनी हैं। प्रधान गुफा की देहली ६० फुट चौडी और १८ फुट ऊँची है। छत चट्टान काटकर बनाए गए स्तभो पर टिकी है। स्तभो पर देवी देवताओ की विशालकाय मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। प्रधान मदिर मे भव्य त्रिमूर्ति विराजित है। मूर्तियो के मस्तक ४-५ फुट लबे और बडे ही कलात्मक ढग से निर्मित हैं। चूडा का शृगार विचित्र ही है। एक मूर्ति के हाथ में नाग, मस्तक पर एक मानव खोपडी और एक शिशु हैं। इस त्रिमूर्ति के पास ही अर्धनारीश्वर की १६ फुट ऊँची मूर्ति है। दाई ओर कमलासीन चतुर्मुख ब्रह्मा की मूर्ति है और बाईं ओर विष्णु भगवान हैं। दूसरी ओर भी एक गुहागृह है जिसमें शकर-पार्वती की कई मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। सबसे विशाल और लोमहर्षक, अष्टभुज शकर की ताडवनृत्यरत मूर्ति है।

एलिफैंटा की मूर्तिसपदा गति और शालीनता की दृष्टि से एलोरा की मूर्तियो से कुछ कम नहीं। यद्यपि १६वी सदी में पुर्तगालियो के नृशस आचरण से गुफा की मूर्तियाँ अनेकत टूट गई हैं, फिर भी जो बच रही हैं उनसे मध्य-पूर्वकाल की मूर्तन कला के गौरव का पर्याप्त परिचय मिलता है। प्राय ९० फुट एक दिशा मे कटी इस सागरवर्ती गुफा की छ छ स्तभोवाली छ कतारें मानो उसकी छत सिर से उठाए हुए हैं। वैसे तो शिवपरिवार की अनेक मूर्तियाँ वहाँ दर्शनीय हैं पर लगभग आठवी सदी ई० में कोरी शिव की सर्वतोभद्रिका त्रिमूर्ति अपने प्रकार की मूर्तियो में बल और रूप में असाधारण है। भारी, गभीर, चितनशील मस्तक बोझिल पलकोवाले नेत्रो से जैसे नीचे देख रहा है। होठ गुप्तोत्तरकालीन सौदर्य मे भरे भरे कोरे गए हैं। इस त्रिमूर्ति को अक्सर गलती से ब्रह्मा, विष्णु और शिव का माना गया है, पर वस्तुत है यह मात्र शिवपरिवार का। एक ओर अघोर भैरव ससार के सहारकर्ता के रूप मे प्रस्तुत हैं, दूसरी ओर पार्वती का आकपक तरुण मस्तक है, और दोनो के बीच दोनो के सतुलन से मडित कल्याणकारी शकर का। यह त्रिमूर्ति भारत के सभी काल की सुदर मूर्तियो में अपना स्थान रखती है। [श्या० सु० श०]

एलिय्याह

(९० ई० पू०)। बाइबिल के मुख्य नबियो मे से एक। अहाबराजा ने व्यभिचारिणी तथा मूर्तिपूजा करनेवाली इजेबेल के साथ विवाह किया था, एलिय्याह ने यहूदी एकेश्वरवादी धर्म की रक्षा के लिये निर्भीकतापूर्वक अहाब का विरोध किया। वह प्राय मरुभूमि में रहकर घोर तपस्या करते हुए अपने समय की पतनोन्मुख सभ्यता को चुनौती देते थे। उनका रहस्यात्मक ढग से स्वर्गवास हुआ था और यहूदियो का विश्वास था कि एलिय्याह मसीह का मार्ग तैयार करने के लिये फिर प्रकट होनेवाले थे। बाइबिल में योहन बपतिस्ता ही एलिय्याह के स्थान पर मसीह के अग्रदूत हैं किंतु ईसा के दिव्य रूपातरण के अवसर पर एलिय्याह और मूसा दोनो की उपस्थिति का उल्लेख हुआ है। एलिय्याह यहूदियो में शताब्दियो तक अत्यत लोकप्रिय रहे तथा बाइबिल की रचना के बाद भी उनके यहाँ एलिय्याह के विषय मे अद्भुत दतकथाओ का प्रचलन रहा। [का० बु०]

एलिस

प्राचीन काल मे ग्रीस के एलिस जिले का प्रधान नगर था। यह पेन्यूस नदी के दक्षिण मे कलसकोपी की पहाडी पर बसा हुआ है। इसे आक्ज़ीलस ने बसाया था जो ऐतोलियन प्रवासियो का नेता था। उसकी एक बहुत बडी मूर्ति नगर के बीच बाजार मे थी। इस नगर में ओलिपिक देवता ज्यूस के उपवन और मदिर थे। पास ही विस्तृत मैदान मे ओलिपिक खेलकूद प्रतियोगिताएँ होती थी। यहाँ प्रतियोगियो का एक मास तक प्रशिक्षण होता था। सबसे बडे राष्ट्रीय उत्सवो की पवित्रता के कारण यह नगर चिरकाल तक आक्रमणो से सुरक्षित रहा। यहाँ कई भव्य मदिर थे। इनमे प्रसिद्ध अक्रापोलिस अथीना के मदिर मे सोने और हाथीदाँत की फेइडिया की विशाल मूर्ति थी। इस नगर के उत्तर की उर्वर भूमि अपने घोडो के लिये विख्यात थी। सन् ३०९ ई० पू० में स्पार्टा के राजा अगीस ने इसे अधिकृत कर लिया था। [श्या० सु० श०]

एलिस, हेनरी हैवलाक

(१८५९-१९३९) विख्यात यूरोपीय मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री। इनका जन्म २ फरवरी को क्रायडन मे हुआ था। इनका अधिकाश बचपन प्रशात वातावरण में बीता इसलिये प्रारभ से ही ये विचारशील प्रवृत्ति के थे। न्यू साउथ वेल्स मे चार साल शिक्षा के पूरे करने के बाद लदन के सेंट टामस हास्पिटल से उन्होने चिकित्सा सबधी उपाधि प्राप्त की। अनुसधान और लेखन में अधिक रुचि होने के कारण उन्होने थोडे समय बाद ही चिकित्सा का पेशा छोडकर अपने को अध्ययन, अनुसधान और लेखन कार्य में लगाया। चिकित्सा और शरीरविज्ञान का विशेषज्ञ होने के कारण सहज ही उनकी प्रवृत्ति मानव-जीवन और उसकी प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन की ओर थी। इस ओर उनकी सबसे महत्वपूर्ण प्रथम कृति सामने आई 'मैन ऐंड वुमन' जिसमे उन्होने स्त्री और पुरुष के भेदो को वैज्ञानिक दृष्टि से अधीत किया था। इसका प्रकाशन १८९४ में हुआ और इस समय तक उन्होने अपनी विख्यात पुस्तक 'स्टडीज़ इन साइकोलाजी आव सेक्स' की योजना पूरी कर ली थी। एतद्विषयक उनकी पहली कृति के प्रकाशित होते ही उनकी क्रातिकारी खोजो और स्थापनाओ के विरुद्ध समाज मे आदोलन उठ खडा हुआ। अतत एलिस को देश और विदेश के विद्वानो का समर्थन प्राप्त हुआ और उनकी विस्तृत खोजें सामने आईं। अपने पचास वर्षो के लबे लेखनकाल में उन्होने शरीरशास्त्र, यौन विज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और दर्शन सबधी समस्याओ पर स्थायी महत्व की सामग्री दी। कहते हैं, उनमें डार्विन का धैर्य और हक्सले की प्रतिभा थी। उनकी देन का मूल्याकन काफी समय बाद ही हो सका। [मु० रा०]

एलिफैंटा (देखें पृ० २१२) तथा एलोरा (देखें पृ० २१३)

एलिफैंटा की त्रिमूर्त्ति ८ वी सदी
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)

एलोरा के कैलास मदिर का एक स्तभ
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)

एलुरु (स्थिति १६°४३' उ० अक्षाश, ८१°७' पूर्वी देशातर) आध्र प्रदेश के पश्चिमी गोदावरी जिले मे स्थित एक बडा नगर है। जिले के सभी मुख्य कार्यालय यही पर है। नगर ऐतिहासिक महत्व का है। १४७० ई० मे मुसलमानो ने यहाँ अपना अधिकार जमाया, किंतु १५१५ ई० मे विजयनगर के राजा कृष्णदेव ने इसपर पुन अधिकार कर लिया। अग्रेजो ने कुछ समय के लिये यहाँ छावनी भी बनाई थी।

एलुरु मैदानी क्षेत्र मे स्थित है तथा अपने क्षेत्र का एकमात्र बाजार है। नगर मे चावल की मिले बहुत सी है। यहाँ चमडे का कारबार भी होता है। दरी तथा कालीन बनाने का यहाँ का व्यवसाय प्रसिद्ध है। १९०१ ई० मे यहाँ की जनसख्या ३३,५२१ थी जो १९५१ मे बढकर ८७,२१३ हो गई। इसमे पुरुष ४२,६६६ है। २२,७४३ लोग उद्योग धधो मे तथा ३५,८६९ नौकरियो मे लगे है। [हि० ह० सि०]

एलोरा भारत मे महाराष्ट्र राज्य के औरगाबाद जिले मे दौलताबाद नगर के समीप एक ग्राम है। इसकी स्थिति २०°२१' उ० अ० तथा ७५° १०' पू० दे० पर औरगाबाद नगर से लगभग १५ मी० उत्तर-पश्चिम है। एलोरा ठोस शिलाखडो मे निर्मित मदिरो के लिये विश्वविख्यात है। दक्षिण और पश्चिमी भारत मे पर्वत की खडी दीवार को काटकर जो दरीमदिर बनाने का अत्यत कठिन प्रयास हुआ है उसमे एलोरा की गुहा-परपरा का विशिष्ट स्थान है। गुप्तकाल के उत्तरवर्ती युगो मे निस्सदेह इतना सफल और प्राणवान् मूर्तिनिर्माण का प्रयास दूसरा नही हुआ। अजता की गुफाएँ मौर्यकाल के शीघ्र बाद ही काटी जाने लगी थी और उनके निर्माण का प्रयास, कम से कम चित्रण के क्षेत्र मे, चालुक्य राजाओ के शासन तक बना रहा। सही, कि एलोरा के दरीगृहो के निर्माण मे सदियाँ लगी है, तथापि उनके सबध मे यह प्रयास काल की दृष्टि से प्राय एकस्य हुआ है—पूर्वमध्यकाल से राष्ट्रकूटो के शासनकाल तक। और इन चार पाँच सदियो के भीतर बौद्ध, जैन तथा हिंदू मदिर बनते चले गए है। सभवत विश्वकर्मा का बौद्ध मदिर छठी सदी ईस्वी का है, प्रसिद्ध कैलास मदिर आठवी सदी का और शेष जैन और हिंदू मदिर, प्राय ६०० ई० और ७५० ई० के बीच के बने है। पृष्ठभूमि मे सह्याद्रि पश्चिमी घाट की गिरिदीवार उठती दूर तक दौडती चली गई है, अग्रभूमि क्षितिज तक फैली हरियाली से ढकी है। प्राचीन इजिनियरो ने पतली सरिता की धारा मोडकर कैलास के निकट से कुछ ऐसा घुमाया है कि उसका जल बूँद बूँद कर शिवलिंग पर निरतर टपकता रहता है जो पिछली १२ सदियो से वैसे ही टपकता रहा है। मदिरो के प्रसार के अत मे शीतल जल का एक विशाल झरना द्रुत वेग से उनके दक्षिण पार्श्व मे गिरता और नीचे के खेतो को सीचता है।

जैसे अजता की गुफाएँ अपने चित्रो के लिये प्रसिद्ध है, वैसे ही एलोरा की गुफाएँ अपनी मूर्तियो के लिए विख्यात हुई। ऐसा नही कि अजता मे मूर्तियाँ न हो अथवा एलोरा के चैत्य-मदिरो मे चित्र न हो, पर विशेषत अजता चित्रप्रधान है और एलोरा मूर्तिप्रधान। मूर्तियो की कला मे, उनके वैविध्य और गतिशीलता मे एलोरा की मूर्तियो का वही महत्व है जो अजता मे उसके चित्रो का है। गुप्तोत्तर काल मे भारतीय कला मे मूर्ति-निर्माण के क्षेत्र मे असाधारण उन्नति हुई। चट्टानो को काटकर कलाकार की छेनी रूप कोरती चली गई और देवी तथा देवताओ की अटूट शृखला अपनी विविध भावभगियो मे अभिसृष्ट होती गई। रूप को सजाने से जो मोती और रत्न कलावतो के पास बचे रह गए थे उनको, लगता है, उन्होने एलोरा की गुफाओ के स्तभो पर बिखेर दिए है। वास्तुगत स्तभ भारतीय कला मे इतने सुदर और कही नही बने जितने एलोरा के इन दरीगृहो मे है।

दशावतार, रामेश्वर, सीता की नहानी, कैलास वस्तुत वास्तु के आश्चर्य है। इनमे शिव के परिवार के विविध व्यक्ति अपने मासल, भीष्म, करुण, हास्यास्पद व्यक्तित्व मे एक ओर कोरे गए है, दूसरी ओर स्वय महादेव का ताडव प्राणवान गति से मूर्त हुआ है। अवतारो का रूप स्वय अपने मे पूर्ण है और नारीत्व का सौदर्य विविध प्रसगो मे जैसे यत्र तत्र खुल पडा है। इन मदिरो मे विशिष्टतम कैलास का है जिसके सबध मे किंचित् विस्तार से उल्लेख अनिवार्य होगा।

कैलास के मदिर को हिमालय के कैलास का रूप देने मे एलोरा के वास्तुकारो ने कुछ उठा नही रखा है। महादेव का यह दोमजिला मदिर पर्वत की ठोस चट्टान को काटकर बनाया गया है और अनुमान है कि प्राय ३० लाख हाथ पत्थर उसमे से काटकर निकाल लिया गया है। कैलास के इस परिवेश मे, समीक्षको का अनुमान है, समूचा ताज मय अपने आगन के रख दिया जा सकता है। एथेस का प्रसिद्ध मदिर 'पार्थेनन', इसके आयाम मे समूचा समा सकता है और इसकी ऊँचाई पार्थेनन से कम से कम ड्योढी है। कैलास के भैरव की मूर्ति जितनी भयकारक है, पार्वती की उतनी ही स्नेहशील है, और ताडव का वेग तो ऐसा है जैसा पत्थर मे अन्यत्र उपलब्ध नही। शिव पार्वती का परिणय भावी सुख की मर्यादा बाँधता है, जैसे रावण का कैलासोत्तोलन पौरुष को मूर्तिमान कर देता है। उसकी भुजाएँ फैलकर कैलास के तल को जैसे घेर लेती है और इतने जोर से हिलाती है कि उसकी चूले ढीली हो जाती है, और उमा के साथ ही कैलास के अन्य जीव भी सत्रस्त काँप उठते है, फिर शिव पैर के अँगूठे से पर्वत को हल्के दबाकर रावण के गर्व को चूर चूर कर देते है। कालिदास ने कुमारसभव मे जो रावण के इस प्रयत्न से कैलास की सधियो के बिखर जाने की बात कही है वह इस दृश्य मे सर्वथा कलाकारो ने प्रस्तुत कर दी है। एलोरा का वैभव भारतीय मूर्तिकला की मूर्धन्य उपलब्धि है।

एल्गिन सयुक्त राज्य, अमरीका के इलिनॉय राज्य मे फॉक्स नदी के किनारे शिकागो से उत्तर-पश्चिम दिशा मे एक नगर है। यह एक रेलवे जकशन है तथा बडे दुग्धोत्पादक क्षेत्र मे बसा है। यहाँ मक्खन और पनीर तैयार किए जाते है और जलविद्युत् का बाहुल्य है। इसलिये यहाँ घडियाँ और उनके डिब्बे, जमाया दूध, मक्खन की टिकिया और मास की कई चीजे बनाई जाती है। सन् १९४० ई० मे निर्मित वस्तुओ का कुल मूल्य २,५४,४६,३९८ डॉलर था। यहाँ की एल्गिन नेशनल वॉच कपनी मे ४,००० से भी अधिक व्यक्ति काम करते है। यहाँ पत्र पत्रिकाओ और पुस्तको का प्रकाशन कार्य भी खूब होता है। यह बस्ती सन् १८३५ ई० मे बसी थी और सन् १८५४ ई० मे इसे नगर की सज्ञा मिली। [श्या० सु० श०]

एल्डन पहाड़ियाँ स्कॉटलैंड के रोक्सबर्ग शायर मे मैलरोज से एक मील दक्षिण-पूर्व स्थित तीन गावदुम ज्वालामुखी पहाडियो से बनी है। एक समय ये एल्डयून या सिमियोन की एल्डनम के नाम से प्रसिद्ध थी। उत्तरी शिखर १३२७ फुट, मध्य शिखर १३८५ फुट तथा दक्षिणी शिखर १२१६ फुट ऊँचा है। एल्डन अँग्रेजी पौराणिक गाथाओ मे बहुत प्रसिद्ध है। काई द्वारा आच्छादित एक चट्टान, जो एल्डन-पत्थर-वृक्ष के नाम से प्रसिद्ध है, मैलरोज से दो मील पश्चिम, मार्ग के मोड पर है। परपरा के अनुसार यह उस स्थान का बोध कराता है जहाँ ऐरसेल्डून के टामस को परियो की रानी पहाडो के मध्य अपने क्षेत्र मे ले गई थी। [श्या० सु० श०]

एल्डरमैन इग्लैंड, आयरलैंड और सयुक्त राज्य अमरीका की महा-नगरपालिकाओ और काउटी कौसिलो का कर्मचारी। ऐंग्लो-सैक्सनो के जमाने मे एल्डरमैन की उपाधि प्रात के गवर्नरो को दी जाती थी। इग्लैंड मे १८८२ मे म्युनिसिपल कारपोरेशन ऐक्ट के अनुसार एल्डरमैन काउटी कौसिल के सदस्यो द्वारा छ साल के लिये चुने जाते है और उनकी आधी सख्या हर तीसरे साल अवकाश ले लेती है। नगरपालिका मे तीन-चौथाई सख्या कौसिलरो की होती है और शेष एक चौथाई एल्डरमैनो की। सयुक्त राज्य अमरीका मे उनका चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधान के आधार पर होता है। [भ० श० उ०]

एल्बरफील्ड जर्मनी का एक औद्योगिक नगर है। यह वुपर नदी की घाटी तक विस्तृत है। बार्मेन मे समिलित कर लेने के बाद इसका नाम बदलकर वुपरतल हो गया। शहर के मध्य भाग मे टेढी-मेढी सकीर्ण गलियाँ है। बहुतेरे गदे मकानो को तोडकर भव्य भवन निर्मित हुए है। यहाँ एक अजायबघर और चिडियाखाना है। यह जर्मनी के वस्त्रोद्योग का एक मुख्य केंद्र है। यहाँ बिसातवाने की हर प्रकार की वस्तुएँ, रग, अच्छे रासायनिक पदार्थ, रबड और चमडे के सामान, तथा कागज और काँच के सामान बनते है। द्वितीय महासमर काल मे यह नगर लगातार

वमबाजी के कारण प्राय पूर्ण रूप से ध्वस्त हो गया था। पुनर्निर्माण कार्य युद्धोपरात वडी तेजी से हुआ है। शीघ्र ही पूर्ववत् अवस्था आ रही है।

वुपर नदी का स्वच्छ जल सूत धोने मे वडा ही सहायक सिद्ध हुआ, इसलिये व्यापार और जनसख्या बढ गई तथा सन् १५३२ ई० मे यह एक नगर वन गया था। सन् १६४० ई० मे इसके प्राचीर का निर्माण हुआ। सन् १७६० ई० मे रेगम वस्त्रोद्योग चालू हुआ और लाल (टर्की रेड) रग से सूत की रँगाई का काम होने लगा। तव से यह जर्मनी का एक प्रमुख वस्त्रौद्योगिक केंद्र वन गया। [श्या० सु० श०]

एल्बर्टन सयुक्त राज्य, अमरीका के जार्जिया राज्य के उत्तर पूर्वी भाग मे एलवर्ट जिले का प्रधान नगर है। यह सावेना नदी से १० मील की दूरी पर सन् १७६० ई० मे वसा था। यह दक्षिणी रेलवे का एक प्रमुख स्टेशन और समुद्र के किनारे (सी-बोर्ड) के क्षेत्र के हवाई मार्ग पर एक हवाई अड्डा है। इसके इर्द गिर्द ग्रैनाइट चट्टान की कई खदानें हैं। इसके आसपास के क्षेत्र मे मक्का, कपास, तिनपतिया और आलफाल्फा घास उपजाए जाते हैं। यहाँ सतालू भी काफी पैदा होता है तथा सूत, चौडे चादर, विनौले का तेल, पर्दे और कपडे तैयार किए जाते हैं। सन् १९४१ ई० मे इसकी जनसख्या ४,६५० थी जो सन् १९४० ई० मे ६,१८८ हो गई। [श्या० सु० श०]

एल्बा द्वीप इटली के लेगहॉर्न प्रात के पश्चिमी तट से ४५ मील दूर दक्षिण दिशा मे है। यह प्रधान भूखड से ६½ मील चौडे पीयाविनो मुहाने द्वारा पृथक् है तथा १९ मील लवा और ६॥ मील चौडा है। इसका क्षेत्रफल १४० वर्ग मील है। यह द्वीप पहाडी है। सवसे ऊँची चोटी मॉंटे कपन्ने है, जो समुद्रतल से ३,३४२ फुट ऊँची है। यह एक जलमग्न पर्वत का भाग है जो कॉर्सिका और सार्डीनिया की ओर फैला है। इसका तट खडा और पथरीला है, परतु वडी खाडियो के पास समतल क्षेत्र भी हैं। यहाँ की चट्टाने अति प्राचीन हैं। सिल्यूरियन और डेवोनियन युगो की चट्टाने पूर्वी भाग मे मिलती हैं। वलुआ पत्थर, चूने का पत्थर तथा सुभाजा (शिस्ट) चट्टानो का वाहुल्य है। इटली का ८० प्रति शत कच्चा लोहा इसी द्वीप की खानो से निकलता है। लोहा गलाने का धधा प्राचीन काल से चला आ रहा है। रोमन लोग यहाँ की कणाश्म (ग्रैनाइट) चट्टानो को भवननिर्माण के लिये तुडवाते थे। आजकल यह काम वहुत ही कम हो गया है।

इस द्वीप का कुछ भाग उपजाऊ है। पर्वतो की निचली ढाल पर तथा तलहटियो मे अगूर, जैतून और शहतूत की उपज काफी होती है। टूनी और सार्डिन मछलियाँ पकडना यहाँ के निवासियो का प्रमुख धधा है। पूरे द्वीप की जनसख्या पचास हजार के लगभग है। इसकी राजधानी पोर्टोफेरियो (Pyrto Ferrais) यहाँ का प्रधान वदरगाह तथा औद्योगिक और व्यावसायिक केंद्र है। [श्या० सु० श०]

एल्बुर्ज अथवा एलब्रुज कैस्पियन सागर को फारस के उच्च प्रदेश से अलग करनेवाली एक पर्वतमाला है। यह कैस्पियन सागर के पश्चिमी तट से लेकर उत्तर-पूर्वी खुरासान तक ६५० मील की लवाई मे फैली हुई है। प्रमुख श्रेणियो की दृष्टि से इसको तीन खडो मे विभाजित किया जा सकता है प्रथम १२० मील लवा प्राय उत्तर-दक्षिण, द्वितीय २४० मील लवा तथा दिशा मे उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व, तथा तृतीय २९० मील लवा दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर।

एल्वुर्ज की उत्तरी ढाल तथा तराई (एल्वुर्ज एव कैस्पियन के मध्य) में गिलन मजदरन तथा अस्त्रावाद प्रात समिलित हैं। यह प्रदेश घने जगलो से आच्छादित तथा सैकडो अविरल वहनेवाली नदियो से भरा है। एल्वुर्ज के उच्च शिखर प्राय वर्ष भर हिमाच्छादित रहते हैं। ऐसा माना जाता है कि एल्वुर्ज पर्वत खनिज सपत्ति से पूर्ण है, जिसमे मुख्यत कोयला, सीसा तथा लोहा है।

एल्वुर्ज काकेशस पर्वत के उच्चतम शिखर (१८,५२२ फुट) का नाम है। [न० कि० प्र० सि०]

एल्बे मध्य यूरोप की एक प्रमुख नदी है। यह वोहेमिया मे रीज़ेगेविर्ग पर्वत के दक्षिणी भाग से करीव ४६०० फुट की ऊँचाई से निकलती है। यह ७२५ मील लवी है और अनुमान लगाया गया है कि इसका जलोत्सारण क्षेत्र करीव ५६,००० वर्गमील है। यह जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया का जल लेकर उत्तर सागर मे हैंवर्ग के पास गिरती है। इसकी सहायक नदियो मे वाइसवासर, व्लाट्वा और एगर प्रसिद्ध हैं। ऊपरी भाग मे पारदुविड्स तक यह ७०० फुट की सतह तक उतर जाती है। वोहेमिया के मैदान मे इसकी घाटी काफी चौडी हो जाती है तथा ड्रेस्डन से समुद्र तक ४३० मील मे २८० फुट नीचे उतर जाती है। यह मिट्लैंड नहर प्रणाली द्वारा वेजर नदी और राइन क्षेत्र से मिली हुई है।

दूसरी नहरो द्वारा यह वर्लिन और ओडर नदियो से भी मिली है। हैंवर्ग से कुछ मीलो के वाद यह ४ से लेकर ९ मील तक चौडी हो गई है। इसका औसत प्रवाह प्रति सेकेंड २४,००० घनफुट है। शीत काल में नदी के जम जाने के कारण आवागमन स्थगित हो जाता है। प्रति वष लगभग ३० दिनो तक हिम के कारण नौकानयन में वाधा पहुँचती है। यह ५२५ मील तक नौकागम्य है। मार्च मे हिम के पिघलने से वाढ आ जाती है। प्राचीन काल से डैन्यूब प्रदेश मे जाने के लिये इसकी घाटी मार्ग देती रही है। प्रधान यातायात हैंवर्ग और मैग्डेलवर्ग के वीच मे होता है। होएन जॉर्न और दूसरी नहरो से हैंवर्ग और वर्लिन के वीच वीच आवागमन होता है। इसके मुहाने पर हैंवर्ग जर्मनी का एक प्रधान पत्तन है। [श्या० सु० श०]

एल्यूसिस ग्रीस का एक प्राचीन नगर है। यह एथेस से १४ मील पश्चिम, इसी नाम की खाडी पर, सलामिस द्वीप के सामने वसा है। यह प्रशस्त मार्ग द्वारा एथेस से मिला हुआ है। नगर के प्राचीन स्थान के पास आजकल लेफसीना नामक नया नगर वस गया है। इसके पश्चिम मे रारियन मैदान है जहाँ डिमीटर ने सर्वप्रथम मक्का के वीज वोए थे। ग्रीक पुरातत्व विभाग ने सन् १८८२ ई० मे खुदाई कर टेलेस्ट्रियन अथवा दीक्षाभवन की क्रमिक अवस्थाओ का उद्घाटन किया है। इसके मुख्य द्वार के पास ही रोमन कालीन आर्तेमिस प्रोपीलिया का मदिर था, जिसके दोनो ओर रोमन विजयतोरण थे। वृहत् प्रोपीलिया ६ठी शताब्दी की कृति मानी जाती है। छोटा प्रोपीलिया सिसरो के समकालीन अप्पियस क्लौडियस पलचेर द्वारा निर्मित हुआ था। यहाँ से एक पक्की सडक टेलेस्ट्रियन के द्वार तक गई है। छोटे प्रोपीलिया के ऊपर प्लूटो की प्रतिमा है। यहाँ एक प्राकृतिक कुड है, जहाँ तक पहुँचने के लिये चट्टान काटकर सीढियाँ वनाई गई हैं। यही युवोलियस नामक प्रसिद्ध खोपडी पाई गई थी जो आजकल एथेस मे है। टेलेस्ट्रियन एक ढका हुआ विशाल भवन था जो १७० फुट वर्गाकार था। इसके चारो ओर सीढियाँ वनी थीं। इसके विशाल गर्भगृह की उत्तर पश्चिम दिशा को छोडकर अन्य ओर दो द्वार थे। सीढियो पर दर्शकगण वैठते थे और मध्य भूमि पर रहस्य साधना की पूजा विधियाँ सपन्न होती थी। इस रहस्यात्मक साधनापद्धति की अनेक रोमाचक कथाएँ ग्रीक साहित्य मे मिलती है। [श्या० सु० श०]

एल्सिनौर (डेनिश उच्चारण हेल सिंग-ऊर, Hel sing-ur) कोपेनहेगेन से २८ मील उत्तर जीलैंड नामक द्वीप के पूर्वी तट पर स्थित डेनमार्क का एक समुद्री वदरगाह है। यह जलडमरूमध्य के सवसे सँकरे भाग पर तथा स्वीडेन के हेल सिंग-वोर्ग नगर के सामने तीन मील की दूरी पर वसा हुआ है। जनसख्या सन् १९५० ई० मे १८,९३० थी। यह नगर दर्शनीय है। इसमे टाउनहाल तथा अस्पताल मुख्य भवन हैं। यहाँ के रहनेवाले मुख्यत व्यापारी तथा सागरोपजीवी हैं। इस भूखड के वढे हुए भाग पर, नगर के पूर्व मे, क्रोनवोर्ग नामक किला है, जिसका निर्माण फ्रेड्रिक द्वितीय ने करवाया था। यहाँ के मुख्य धधे मछली पकडना, जाल वुनना, मोटे वस्त्र तैयार करना, लोहा पिघलाना, जहाज निर्माण तथा यत्र वनाना हैं। यहाँ का वदरगाह सुदर है, जिसका महत्व जलडमरूमध्य पर से चुगी हट जाने के पश्चात् और भी वढ गया है। [श्या० सु० श०]

एवरेस्ट सर जार्ज एवरेस्ट अँग्रेज सर्वेक्षक तथा भूगोलविद् थे। इनका जन्म ग्रिनिच, लदन, मे सन् १७९० मे हुआ था। मार्लो तथा वुलविच के सैनिक विद्यालय मे इन्होने शिक्षा पाई और १६ वर्ष की आयु मे युवा सैनिक के रूप मे भारतवर्ष आए। सन् १८१४ से सन् १८१६ तक जावा द्वीप के सर्वेक्षण मे इन्होने भाग लिया तथा इसके पश्चात् २७ वर्ष तक भारत के सर्वेक्षण विभाग मे कार्य किया।

एवरेस्ट के भूमापन सबंधी कार्य श्रेष्ठतम गिने जाते हैं। हिमालय के सर्वोच्च शिखर का नामकरण इन्हीं के नाम पर हुआ है।

इनकी मृत्यु सन् १८६६ के अंतिम भाग में इंग्लैंड में हुई।

[भ० दा० व०]

एवरेस्ट चोटी ससार की ज्ञात पर्वत चोटियों में सबसे ऊँची चोटी है। यह हिमालय का सर्वोच्च शिखर है जो नेपाल राज्य में, तिब्बत की सीमा के सनिकट देशातर ८५° पूर्व तथा अक्षाश २८° उत्तर पर स्थित है। त्रिकोणमितीय विधि द्वारा ज्ञात की गई इसकी वर्तमान ऊँचाई लगभग २९,०२८ फुट (८८४८ मीटर) तथा अन्य रीतियों से अनुमित ऊँचाई २९,१४१ फुट या ५॥ मील है। यह सदैव हिम से ढकी रहती है। इस चोटी का नामकरण सर जार्ज एवरेस्ट के नाम पर किया गया, जो पूर्व समय में भारत के सर्वेयर जनरल रह चुके हैं। उन्होंने ही हिमालय के त्रिकोणमितीय सर्वेक्षण को सन् १८४१ ई० में पूरा किया तथा सर्वप्रथम इस शिखर की स्थिति एव ऊँचाई निश्चित की।

एवरेस्ट के पर्वतारोहण का इतिहास सन् १९२१ ई० से प्रारभ होता है। प्रथम प्रयास सन् १९२२ ई० में किया गया, किंतु असफल रहा। इसके पश्चात् सन् १९२४, १९३३, १९३४, १९३५, १९३६, १९३७, १९३८, १९५१ तथा १९५२ ई० में अन्य प्रयास किए गए, परतु इन सबमें असफलता ही रही। अततोगत्वा सन् १९५३ ई० में मानव ने इस सर्वोच्च पर्वत शिखर पर अपने पदचिह्न अकित कर ही दिए। २९ मई, सन् १९५३ ई० को प्रात (११ बजकर ३० मिनट पर), ई० पी० हिलारी को साथ लेकर शेरपा श्री तेनसिंघ नोरके एवरेस्ट शिखर पर पहुँच गए। वहाँ उन्होंने १५ मिनट छाया चित्र खीचने इत्यादि में व्यतीत किए। उनकी यह सफलता वर्षों के अथक परिश्रम का परिणाम थी। यह एक ब्रिटिश अभियान था, जिसमें कर्नल हट की देखरेख में आठ व्यक्तियों ने भाग लिया था। इस महान् सफलता पर श्री तेनसिंघ नोरके को इंग्लैंड की महारानी द्वारा २ जुलाई को 'जार्ज पदक', नेपाल सरकार द्वारा 'नेपाल तारा' की उपाधि एव भारतवर्ष के राष्ट्रपति श्री राजेंद्रप्रसाद जी द्वारा एक स्वर्णपदक तथा ८ अप्रैल, सन् १९५९ को 'पद्मभूषण' की उपाधि प्रदान की गई। श्री तेनसिंघ नोरके भारतीय नागरिक हैं।

[श्या० सु० श०]

एवांसविले सयुक्त राज्य, अमरीका के इडियाना राज्य में ओहायो नदी के तट पर स्थित एक नगर तथा बदरगाह है। यह वेडरबर्ग प्रदेश का केंद्र है। सघीय राजमार्ग ४१ तथा प्रादेशिक राजमार्ग ६२, ६५ तथा ६६ यहाँ से होकर जाते हैं। जनसख्या सन् १९५५ ई० में १,३६,००० थी। समीपवर्ती प्रदेश कृषि तथा कोयले के उत्पादन में उन्नतिशील है। केवल ५० मील के व्यास में डेढ सौ से अधिक कोयले की खदाने हैं। सुविधाजनक स्थिति, रेल एव जल यातायात की सुविधा होने के कारण यह दक्षिणी इडियाना का मुख्य वितरण तथा औद्योगिक केंद्र है। व्यापार की मुख्य वस्तुओं में कृषि तथा वातावस्यापन यत्र, मोटरें, मदिरा, सिगार, वस्त्र, कहवा तथा अन्न हैं।

यह नगर सन् १८१२ ई० में रॉबर्ट मॉर्गन एवास के नाम पर स्थापित किया गया था। सन् १८५० ई० में यहाँ की जनसख्या केवल ३,२३५ थी।

[श्या० सु० श०]

एशिया ससार का वृहत्तम महाद्वीप, प्राचीन दुनिया के उत्तर-पूर्व भूभाग पर विस्तृत है, इसके उत्तर-पश्चिम में यूरोप और दक्षिण-पश्चिम में अफ्रीका महाद्वीप स्थित हैं।

एशिया के नामकरण के सबध में विभिन्न मत हैं। यूरोप और एशिया दोनों शब्दों की उद्गमभूमि सभवत ईजियन सागरीय प्रदेश है जहाँ 'आसु' (सूर्योदयकाल) और 'एर्च' (सूर्यास्तिकाल) शब्दों का प्रयोग कालक्रम से क्रमश टर्की और एशिया तथा ग्रीस और यूरोप के भूभागों के लिये प्रारभ हुआ। सभवत एशिया के लिये प्रयुक्त होनेवाला 'आसु' शब्द सस्कृत तत्सम 'उषा' (सूर्योदयकाल) का स्थानीय तद्भव प्रयोग मात्र है। प्रस्तुत प्रयोग प्रथम स्थानीय भूखड मात्र के लिये ही प्रारभ हुआ किंतु कालातर में समग्र आधुनिक एशिया के भूभाग के लिये प्रयुक्त होने लगा।

एशिया महाद्वीप उत्तर में लगभग मध्य ध्रुवप्रदेश से लेकर दक्षिण में १३° (दक्षिणी अरब), ६° (श्रीलंका) और १½° (मलय प्रायद्वीप) उत्तरी अक्षाश रेखाओं तक कुल १,८५,२३,५२२ वर्ग मील क्षेत्र पर विस्तृत है। महाद्वीप की पूर्वी और पश्चिमी सीमाएँ क्रमश २६° पूर्व देशातर (बाबा अतरीप) और १७०° पश्चिमी देशातर रेखा (ईस्ट अतरीप) तक फैली हुई हैं। अत एशिया ही एकमात्र ऐसा महाद्वीप है जिसकी पूर्वी और पश्चिमी सीमाएँ क्रमश पश्चिमी और पूर्वी देशातर रेखाओं को स्पर्श करती हैं। एशिया और यूरोप महाद्वीपों की सीमारेखा भौगोलिक दृष्टि से स्पष्ट निर्धारित नहीं है। रूस पूर्वी यूरोप में लेकर साइबेरिया होते हुए एशिया के सुदूर उत्तर-पूर्व तक विस्तृत है और राजनीतिक मानचित्र पर एशिया-यूरोप के मध्य कोई स्पष्ट सीमारेखा अकित नहीं है। सामान्यत यह सीमा यूराल पर्वत के पश्चिमी अचल में होती हुई दक्षिण में यूराल नदी से कैस्पियन सागर और कैस्पियन से काकेशस पर्वत की शिखरपक्ति द्वारा काला-सागर (ब्लैक सी) से सबद्ध मानी जाती है। कुछ लोग इस सीमा को काकेशस पर्वत के दक्षिणी अचल से गुजरती हुई मानते हैं।

अत इस अस्पष्ट सीमारेखा के कारण एशिया महाद्वीप के क्षेत्रफल का सर्वथा शुद्ध मापन नहीं हो सका है। फिर भी एशिया महाद्वीप अपने वृहत् आकार एव क्षेत्रफल के कारण ससार में बहुत महत्वपूर्ण है। यह कुल १६४° देशातर रेखाओं और ८५° अक्षाश रेखाओं पर फैला हुआ है और ससार का ⅓ भूखड इसके अदर आ जाता है। ससार का कोई भी अन्य महाद्वीप ध्रुव प्रदेश से लेकर भूमध्यरेखीय प्रदेश तक विस्तृत सभी कटिबधों को समाहित नहीं करता। महाद्वीप के मध्य में स्थित बाल्कश झील और जुगेरिया प्रदेश समुद्र से लगभग २००० मील दूर हैं।

एशिया विषमताओं का महाद्वीप है। यहाँ ससार का सर्वोच्च पर्वत-शिखर एवरेस्ट है जिसकी समुद्रतल से ऊँचाई २९,१४१ फुट है और यही ससार का सबसे नीचा क्षेत्र मृतसागर (डेड सी) भी है, जो समुद्रतल से १,२९० फुट नीचा है। फिलीपाइन द्वीपसमूह के पास स्थित मिंडयानो गर्त ससार का सबसे गहरा सागरगर्त है। ससार का सबसे गरम तथा सबसे ठढा स्थान भी यही है। जैकोबाबाद (सिंध) का अधिकतम तापक्रम १२६° फा० तथा वरखोयास्क (साइबेरिया) का न्यूनतम तापक्रम ९०° फा० है। इतना ठढा होने के कारण वरखोयास्क को ससार का शीतध्रुव भी कहते हैं। सबसे अधिक और सबसे कम वार्षिक तापातर भी यहीं पर पाए जाते हैं। सिंगापुर का वार्षिक तापातर १° फा० तथा वरखोयास्क का ११९° फा० है। सबसे अधिक वर्षा के स्थान चेरापूंजी की (खासी की पहाडियों में) औसत वार्षिक वर्षा ४५८" है, और १८७६ ई० में यहाँ केवल २४ घटे में ४१" वर्षा हुई। सबसे कम वर्षावाला स्थान अदन है, जहाँ केवल १८" वार्षिक वर्षा होती है। अत ससार में सबसे आर्द्र तथा सबसे शुष्क जलवायु के क्षेत्र भी एशिया ही में मिलते हैं। अन्य महाद्वीपों की अपेक्षा एशिया की औसत ऊँचाई ज्यादा है, परतु साथ ही यहाँ के मैदान भी अन्य महाद्वीपों के मैदानों की अपेक्षा अधिक समतल हैं। गगा के मैदान में वाराणसी से समुद्रतट (डेल्टा प्रदेश) तक की ढाल ५" प्रति मील है।

एशिया की कुल जनसख्या १,४०,००,००,००० है, जो सपूर्ण विश्व की जनसख्या के आधे से अधिक है। यहाँ जनसख्या के अधिक घनत्ववाले भागों के साथ साथ कम घनत्ववाले विस्तृत प्रदेश तथा निर्जन मरुस्थल भी हैं। एशिया को आदिमानव का जन्मस्थान होने का भी सौभाग्य प्राप्त है। यहीं विश्व के सभी बडे धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ है। हिंदू, बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम धर्म यहीं जन्म लेकर फूले फले। एशिया में ६८ मानव-जातीय वर्ग मिलते हैं। इतने किसी भी दूसरे महाद्वीप में नहीं हैं। यहाँ पर सब तरह के लोग हैं। एक ओर तो मनुष्य जगलों में विचरते हैं, नगे रहते तथा शिकार कर और जगली कद-मूल-फल खाकर निर्वाह करते हैं, दूसरी ओर आधुनिक सभ्य मानव हैं, जो आधुनिकतम साधनों का प्रयोग करते हैं। यहाँ पर पूंजीवाद तथा साम्यवाद एव राजतत्र तथा गणतत्र सभी फूल फल रहे हैं।

एशिया की खोज——एशिया विशाल महाद्वीप है। इसके विभिन्न भाग पर्वतों, मरुस्थलों तथा वनों आदि के कारण एक दूसरे से अलग हैं। इसी कारण प्रारभ में बहुत से प्रदेशों के बारे में लोगों का ज्ञान कम था। मध्ययुग के पश्चात् धीरे धीरे मार्गों का विकास होने पर यूरोप के लोगों ने एशियाई

देशो मे सपर्क स्थापित किया। इससे पूर्व एशिया निवासियो ने यूरोप की खोज की थी। फिनीशिया (पश्चिमी एशिया) के नाविक रूमसागरीय मार्गो से उत्तरी अफ्रीका तथा ब्रिटेन पहुँचे। दक्षिण-पश्चिम एशियाई प्रदेश एशिया तथा यूरोप के बीच सेतु के समान है। ईसा की दूसरी शताब्दी मे चीन के हान वशी राजाओ ने चीनी साम्राज्य का विस्तार कैस्पियन सागर के समीपस्थ स्थानो तक किया। उधर रोम का साम्राज्य तुर्की तक बढा। तत्पश्चात् यूनानी सेनाएँ सिकदर महान् के नेतृत्व में सीरिया, ईरान और अफगानिस्तान होती हुई ३२७ ई० पू० मे भारत आ पहुँची। सिकदर को विपासा (व्यास) नदी के तट से लौटना पडा। उच्च सभ्यता तथा एशिया के निकट बसने के कारण यूनानियो ने एशिया की खोज सर्वप्रथम की। यद्यपि उनका साम्राज्य चिरस्थायी न रहा, फिर भी उन्होंने एशिया पर काफी प्रभाव डाला और स्वय भी यथेष्ट प्रभावित हुए। मध्ययुग मे पूर्व-पश्चिम के सपर्क कम थे। तत्पश्चात् वेनिस प्रजातत्र ने कुस्तुतुनिया पर अभियान किया। यूरोप तथा एशियाई देश चीन के बीच सभवत सर्वप्रथम रेशम का व्यापार आरभ हुआ। वेनिस के दो व्यापारी निकोलो तथा मेफियोपोलो १२५१ ई० मे कुस्तुतुनिया होते हुए चीन गए। १२५४ ई० मे रूब्रुक निवासी विलियम कुबला खाँ के दरबार मे पहुँचा। १२७१ ई० मे फिर दोनो मेफियो के पुत्र मार्कोपोलो को साथ लेकर, रूमसागर के एशियाई तट पर पहुँचकर स्थलमार्ग से उर्मुज, काशगर, क्युनलुन होते हुए मई, १२७५ ई० मे पीकिंग पहुँचे। मार्कोपोलो ने चीन दरबार मे नौकरी कर ली। १२९५ ई० में वह वेनिस लौटा। इन यात्राओ से यूरोप तथा एशियाई देशो के बीच सपर्क बढा और रेशम, मसाला, चाय इत्यादि का व्यापार होने लगा। फिर शक्तिशाली तुर्को की बर्बरता के कारण यूरोप तथा एशिया के स्थलमार्गो द्वारा होनेवाला व्यापार २०० वर्षो तक बद रहा। यूरोप के लोगो ने दूसरे मार्ग ढूँढना प्रारभ किया। वास्को डि गामा नामक एक पुर्तगाली नाविक समुद्री मार्ग से १४९८ ई० में कालीकट पहुँचा। इसके बाद व्यापारी तथा ईसाई धर्मप्रचारक एशियाई देशो में अधिक सख्या मे आने लगे। धीरे-धीरे व्यापार के उद्देश्य से आए हुए यूरोपीय लोगो ने एशिया के अनेक भागो पर न केवल व्यापारिक केद्र स्थापित किए, अपितु धीरे धीरे अपना आधिपत्य भी जमा लिया। अग्रेजो ने भारत, लका, ब्रह्मा, मलय, हागकाग आदि स्थानो मे, फ्रास ने हिंदचीन तथा स्याम में और हालैंड ने जावा, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीपसमूहो पर अधिकार जमा लिया। उत्तर मे रूस ने अपना अधिकार सुदृढ किया तथा प्रभावक्षेत्र बढाया। सन् १८६८ ई० मे स्वेज नहर खुलने पर यूरोप तथा एशिया के सबधो में एक नई कडी जुडी और लोगो ने वास्को डि गामा के उत्तमाशातरीपवाले मार्ग को त्याग दिया। ट्रास साइबेरियन रेलवे ने भी यूरोप तथा एशिया के सबध दृढ किए। स्थानाभाव के कारण यहाँ पर एशिया के सभी समन्वेषको की यात्राओ का वर्णन करना सभव नही है। १६वी तथा १७वी शताब्दियो के प्रमुख समन्वेषक रैल्फ फिच, टामस रो, लावाल तथा टैवर्नियर थे। स्वीडनवासी नूरडेनशल्ड ने १८७८ ई० से १८८० तक उत्तरपूर्वी मार्ग द्वारा यूरोप से बेरिंग जलडमरूमध्य तक यात्रा की। तत्पश्चात् स्वेनहेडिन, सर फ्रासिस यगहसबैंड, आरेलस्टाइन, प्रिंस क्रोपाटकिन, एल्सवर्थ हटिंगटन तथा स्वामी प्रणवानद ने मध्य एशिया मे गहन शोध कार्य किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोपीय साम्राज्यवाद के पैर एशिया से उखड गए तथा अब उसके कुछ ही भागो मे वह अपनी अतिम साँसे ले रहा है।

धरातल--एशिया की प्राकृतिक बनावट अपने ढग की अनोखी है। इसके अतराल मे पर्वतो का विषम जाल बिछा हुआ है। इन हिममडित पर्वत पक्तियो की सकुलता के कारण महाद्वीप की भव्यता अतुलनीय हो जाती है। २४,००० फुट से अधिक ऊँचे ससार मे कुल ९४ पर्वतशिखरो मे से ९२ केवल हिमालय और काराकोरम श्रेणियो मे तथा शेष दो ट्रास अल्टाई श्रेणियो मे स्थित हैं। ससार की सर्वाधिक विस्तृत नीची भूमि महाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भाग मे फैली है, जहाँ कैस्पियन की नीची भूमि ससार का सबसे बडा, समुद्रतल से भी नीचा, शुष्क प्रदेश है। अत न केवल बृहत् आकार के कारण प्रत्युत् विषम प्राकृतिक सरचना के विचार से भी यह महाद्वीप सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

महाद्वीप की विशाल पर्वतपक्तियाँ दक्षिण-पश्चिम मे लालसागर से प्रारभ होकर सुदूर उत्तर-पूर्व मे बेरिंग जलडमरूमध्य तक फैली हुई हैं। एक ओर जहाँ अरब के दक्षिणी समुद्रतट पर १०,००० फुट ऊँचे पर्वत हैं वहाँ दूसरी ओर एशिया माइनर और सीरिया के मध्य स्थित टारस श्रेणियाँ १३,००० फुट से भी अधिक ऊँची हैं जिनमें अकेली अरारात की चोटी (१६,८७३ फुट) स्थित है। पास ही काकेशस श्रेणियो से आबद्ध एलबुर्ज पवत १८,००० फुट से भी ऊँचे हैं। कैस्पियन के दक्षिण-पूर्व ईरान की एलबुर्ज श्रेणियो मे स्थित देमावेड शिखर इससे भी अधिक ऊँचा है। दक्षिणी प्राचीन भूभाग मे एक ओर जहाँ भारत के दक्षिणी पठार मे पर्वतो, घाटियो और छोटे छोटे लगभग समतलीय क्षेत्रो की विषम सकुलता है, वहाँ मलय प्रायद्वीप मे उत्तर से दक्षिण सिंगापुर तक पर्वतपक्तियाँ पाई जाती हैं। इसी प्रकार एशिया के दक्षिण, मध्य एव पूर्व से होते हुए सुदूर साइबेरिया तक पर्वतो का अत्यत विषम जाल बिछा हुआ है। न केवल महाद्वीप भाग ही, प्रत्युत अधिकाश द्वीपसमूह--जापान, फारमोसा, इडोनेशिया, श्रीलका आदि--भी पर्वतसकुल हैं। अत महाद्वीप के प्रत्येक भाग मे पर्वतश्रेणियाँ बिखरी पडी हैं।

महाद्वीप की मुख्य पर्वतश्रेणियाँ १२,०००फुट से भी अधिक ऊँचे विशाल पामीर के पठार (दुनिया की छत) से अष्टबाहु की भुजाओ के समान चतुर्दिक् फैली हुई हैं। ये श्रेणियाँ प्राय समातर रूप से पूर्व-पश्चिम दिशा में प्रशात महासागर से लेकर रूमसागर और कालासागर तक बिछी हुई हैं। एक ओर तो है पामीर से पश्चिम मे निकलनेवाली उत्तरी श्रेणियाँ, क्रमश हिंदुकुश, एलबुर्ज, काकेशस और पौटिक, तथा दक्षिणी श्रेणियाँ, सुलेमान, किरथर, खुर्दिस्तान, स्कार्प, तथा टारस आदि और दूसरी ओर हैं पूरब मे निकलनेवाली अल्टाई, थियाशान आदि अपेक्षाकृत प्राचीनतर उत्तरी पवतश्रेणियाँ, जो चीन मे जाकर लगभग ७०० मील चौडी हो गई हैं। क्युनलुन पर्वत की अगणित श्रेणियो मे ही प्रसिद्ध ऊँची आम्ने माचीन शिखर स्थित है जिसकी रहस्यमयता भूगोलवेत्ताओ के लिये सर्वाधिक आकर्षण का विषय है। लेकिन इनके दक्षिण मे भारत की उत्तरी सीमा पर तलवार की भाँति फैला हुआ ससार का सर्वोच्च विशाल पर्वत हिमालय (हिम-आलय) है, जिसकी महत्ता अतुलनीय हे। इसमे स्थित कचनजघा, मकालु, धौलागिरि, नगापर्वत आदि २६,००० फुट से अधिक ऊँची चोटियो को भी मात करनेवाला ससार का सर्वोच्च पर्वतशिखर एवरेस्ट (ऊँचाई २९,१४१ फुट या चामो लुगमा--(ससार की देवी माँ) पृथ्वी के भव्य मस्तक के सदृश शोभायमान हैं। हिमालय के उत्तर पश्चिम मे हिमालय की लगभग समकक्ष ऊँचाईवाले काराकोरम पर्वत हैं जिनमे ससार का द्वितीय सर्वाधिक उच्च पर्वतशिखर के-२ स्थित है। पास ही इसके समकक्ष ऊँचाईवाले शिखर, चौडी चोटी (ब्रॉड पीक) और गशरब्रुय, भी अपना सिर आकाश मे उठाए हैं। उत्तर मे क्युनलुन तथा दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम में हिमालय-काराकोरम की श्रेणियो से घिरा तिब्बत (औसत ऊँचाई १२,००० फुट) का विशाल, ससार का सर्वोच्च पठार लगभग १,५०० मील लबे और ८०० मील चौडे क्षेत्र मे फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त एशिया मे अन्य कई विशाल भूभाग भी बहुत ऊँचे हैं। अरब एव ईरान के ऊँचे विशाल पठार तथा पूर्व मे मगोलिया का ३, ००० से ५,००० फुट ऊँचा पठार ऐसे ही क्षेत्र हैं। अफगानिस्तान मे पहाडो, उच्च भूमियो एव उनके बीच बीच मे स्थित घाटियो का अद्भुत समिलन है।

न केवल अति ऊँचे, प्रत्युत समुद्रतल से भी निम्न स्थलखडो का भी एशिया मे अधिक विस्तार है। मगोलिया मे समुद्र से सैकडो फुट नीचाईवाले स्थलखड मिलते हैं। कैस्पियन तट की धँसी निम्न भूमि भी विख्यात है। किंतु सर्वाधिक धँसा भूखड बृहत् अफ्रीकीय भूमिभग (ग्रेट अफ्रिकन रिफ्ट) है जो पैलेस्टाइन से गुजरता है और जहाँ मृतसागर का नमक से भरा हुआ तल पास के रूमसागर से १,२९२ फुट नीचे स्थित है।

इन उच्च एव निम्न भूमि के खडो के बीच बीच एशिया मे विशाल समतल मैदान अवस्थित हैं। इनमे तुर्किस्तान का मैदानी भाग, उत्तरी ध्रुवसागर के तट का बृहत् मैदान तथा चीन के सुविख्यात पूर्वी मैदान एव भारत की नदियो के विशाल मैदान प्रसिद्ध हैं।

एशिया मे जहाँ एक ओर सर्वसपन्न मैदानी भाग हैं वहाँ दूसरी ओर विशाल मरुभूमियाँ भी हैं। अधिकाश ईरान, अरब तथा तुर्किस्तान प्रकृत्या मरुभूमि हैं। गोबी अथवा शामो का एक हजार मील लबा एव ६०० मील

एशिया
अंग्रेजी मील
किलोमीटर
हिंद महासागर
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
भारत
चीन
मंगोलिया
मंचूरिया
जापान सागर
अफ्रीका
काला सागर
प्रशांत महासागर
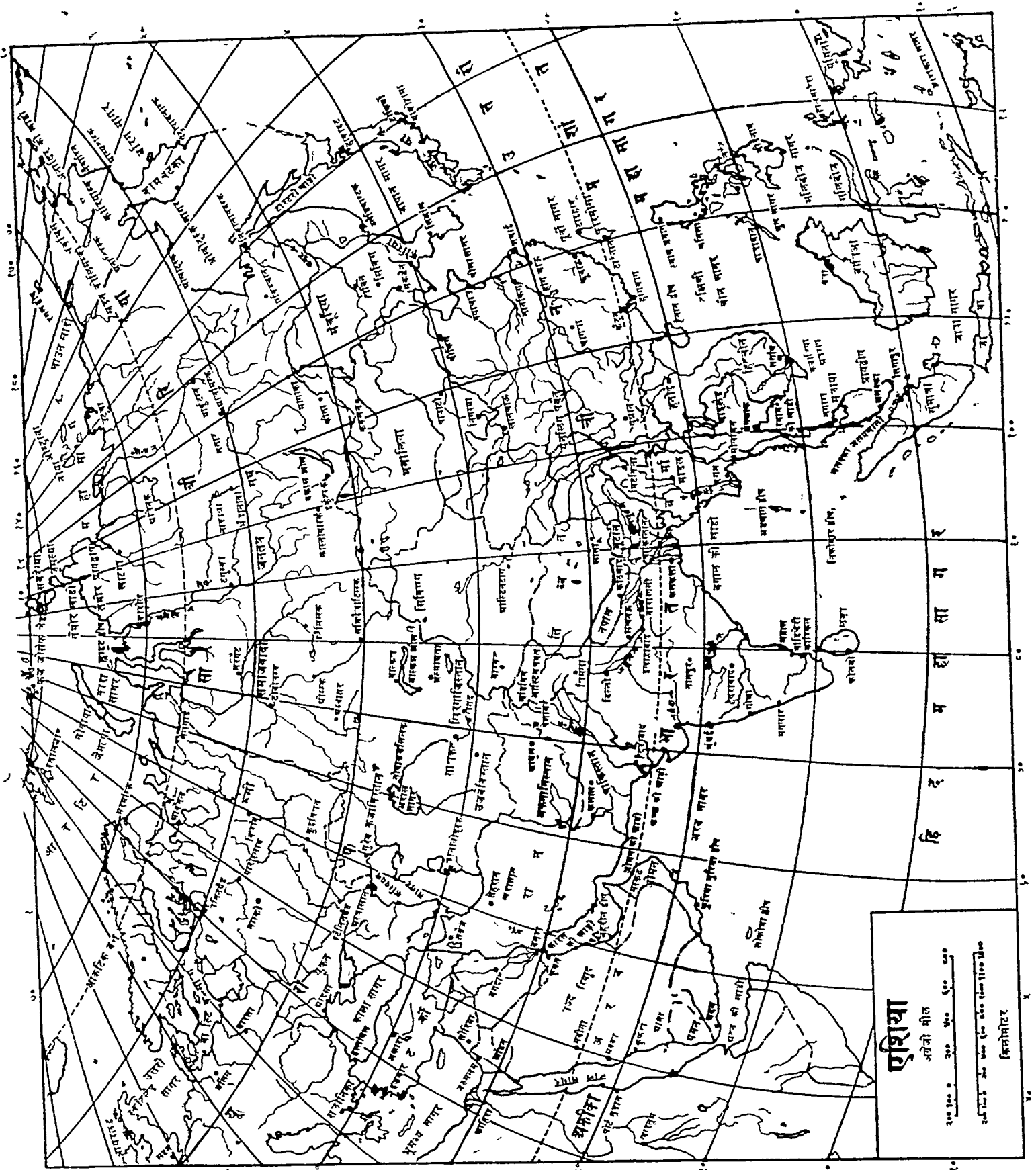
चौड़ा मरुखड मगोलिया के अधिकांश भाग में फैला हुआ है। पश्चिमी पाकिस्तान में भी अनिश्चित क्षेत्रों में अनुर्वर मरुस्थल पाए जाते हैं।

यही नहीं, महाद्वीप के मध्य भाग में, जो चारो ओर से पर्वतश्रेणियो से घिरा है, लाखो वर्गमील तक विस्तृत ऐसा क्षेत्र है जहाँ का एक बूँद भी जल अतर्प्रवाह प्रणाली (इन्लैंड ड्रेनेज सिस्टम) के कारण समुद्र तक नही पहुँच पाता।

जलप्रवाह प्रणाली—ससार की बारह सर्वाधिक बड़ी नदियों में से सात नदियाँ एशिया महाद्वीप में प्रवाहित होती हैं। महाद्वीप के अधिकाश भाग में साधारण जलप्रवाह प्रणाली विकसित है पर मध्य के लगभग ५० लाख वर्ग मील क्षेत्र में अतर्प्रवाह प्रणाली है। अधिकतर नदियाँ एशिया के पर्वतीय एव पठारी भाग से निकलकर मुख्यत हिंद महासागर, प्रशात महासागर, और उत्तरी ध्रुवसागर मे जल छोडती हैं। हिंद महासागर में गिरनेवाली नदियो में मुख्य हैं दजला, फरात, सिंध, सतलज, रावी, व्यास, चिनाव, झेलम, नर्मदा, ताप्ती, गगा, ब्रह्मपुत्र, महानदी, इरावदी, सालविन, सिताग, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी। मीनाम, मीकाग, लालनदी, सीक्याग, यांगसीक्याग, ह्वांगहो और आमूर नदियाँ प्रशात महासागर मे जल छोडती हैं। उत्तरी ध्रुवमहासागर में ओब, येनिसी, लेना, इडिगिरिका और कोलिया गिरती हैं। सर दरिया और आमू दरिया अरल सागर मे। इली नदी बाल्कश मे और तारिम लोपनार झील मे जलप्रवाह करती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ छोटी बडी झीलें भी हैं।

संरचना और खनिज सपत्ति—एशिया का धरातल यहाँ की भौमिक सरचना एव इतिहास द्वारा निर्दिष्ट होता है। महाद्वीप मे कई विभिन्न विशाल सारचनिक भूखड हैं जैसे दक्षिण में अरब एव भारत के प्रायद्वीपीय पठारी भाग हैं जिनके नीचे अति प्राचीन कैंब्रियन-पूर्व युगीन मोडदार पर्वत पडे हैं। ये क्षेत्र स्थान स्थान पर नए निक्षेपो द्वारा सर्वथा ढक से गए हैं। उत्तरी यूरेशिया में भी ऐसे ही दो भूखड मिलते हैं प्रथम तो फेनोस्कैंडियन पठार (शील्ड) है जो बाल्टिक सागर को घेरे हुए है और द्वितीय अगारा लैंड है जो बैकाल झील के उत्तर और पूर्व मे अवस्थित है। कुछ ऐसे ही प्राचीन भूखड चीन में भी मिलते हैं। इन सभी प्राचीन भूखडो का निर्माण प्राचीन परिवर्तित चट्टानो द्वारा हुआ है।

इन प्राचीन भूखडो के बीच बीच में मोडदार पर्वतो की श्रेणियाँ पूर्व-पश्चिम दिशा मे बिखरी हैं। पुराकल्पीय (पैलियोजोइक) और मध्यकल्पीय (मेसोजोइक) युगो के अधिकाश काल में इन पर्वतो के स्थान पर टेथिस नामक बडा सागर फैला था जो आज के रूमसागर से अधिक लबा एव चौडा था। इस समुद्र में मिट्टी, बालू आदि की परतो का जमाव हुआ और मध्यकल्प युग के अतिम काल में, विशेषकर नूतनकल्प (सीनोजोइक) युग मे, परतो का निर्माण हुआ। हिमालय पर्वत इन्ही पर्वतो में से एक है तथा पृथ्वी का नवीनतम मोडदार पर्वत है। ऐसी ही पर्वतश्रेणियाँ तुर्की से जापान तक बिखरी पडी हैं।

एशिया की सरचना का पूरा अध्ययन अभी ठीक से नही हो पाया है तथापि बहुमत के अनुसार एशिया को चार सारचनिक विभागो में बाँटा गया है। प्रथम, अति प्राचीन उत्तरी खड, द्वितीय, अति प्राचीन दक्षिणी भूखड, तृतीय अल्पाइन पर्वतश्रेणियाँ और चतुर्थ अवशिष्ट भाग।

इस महाद्वीप मे टिन, अभ्रक, ऐटिमनी तथा टग्स्टन दूसरे महाद्वीपो से अधिक मिलते हैं। मैंगनीज, ताँबा, चाँदी और सोना भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। मिट्टी के तेल का भाडार यहाँ सर्वाधिक है। अन्य खनिजो में लोहा एव कोयला उल्लेखनीय हैं।

जलवायु—एशिया के भूपृष्ठ की विशालता का मुख्य प्रभाव उसकी जलवायु पर सर्वाधिक पडता है। इसके सागरप्रभावित तटीय प्रदेश और स्थल प्रभावित देशाभ्यतर प्रदेश जलवायु में एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। वर्षा तथा तापक्रम की विषमता चरम सीमा तक पहुँच जाती है। उत्तरी अमरीका के समान अक्षाशोवाले प्रदेशो की अपेक्षा यहाँ अधिक शीत पडती है। मलय के विषुवतरेखीय जलवायु से लेकर, ध्रुवप्रदेशीय हिमानी जलवायु तक के सब प्रकार की जलवायुवाले प्रदेश एशिया में मिलते हैं। इतने वृहत् आकार तथा महान् धरातलीय अतरो के कारण जलवायु मे इस प्रकार का वैभिन्य स्वाभाविक ही है। वर्षा की विषमता भी उल्लेखनीय है। यहाँ वर्ष में एक इच या उससे कम से लेकर ४५० इच तक वर्षा होती है। अत्यधिक वर्षा वहाँ होती है जहाँ प्रवहमान हवाओ के रास्ते मे पहाड़ और पर्वत आ जाते हैं, जैसे भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया मे। शुष्कतम प्रदेश पर्वतो के पृष्ठदेश में मिलते हैं, जैसे पश्चिमी चीन में ईरान से मगोलिया तक का पठारी प्रदेश जो एशिया के दो विशाल भिन्न जलवायु प्रदेशो को पृथक् करता है। उत्तर तथा पश्चिम में स्थलीयता द्वारा कुछ प्रभावित शीतोष्ण पछुवाँ वायु अपना प्रभाव डालती है। दक्षिणी तथा पूर्वी भाग में मानसूनी जलवायु मिलती है। यहाँ शीत ऋतु में शुष्क वायु स्थल से सागर की ओर बहती है तथा ग्रीष्म में सागर से स्थल की ओर आती है और वृष्टि होती है। मानसूनी प्रदेश सिंध घाटी से मध्य आमूर नदी तथा दक्षिणी कमचटका तक और अदर की ओर तिब्बत तथा मगोलिया के किनारे तक फैला हुआ है। इसके दक्षिण में एक छोटे भाग पर विषुवतरेखीय जलवायु मिलती है। मध्य तथा पश्चिमी एशिया शुष्क है। एशिया के शीतोष्ण मरुस्थल ५०° उत्तरी अक्षाश पर ध्रुवप्रदेशीय नदियो के उद्गम के निकट से लेकर पश्चिम की ओर कैस्पियन सागर के उत्तरी भाग तक फैले हैं। शीतप्रदेश के अतर्गत एशिया के टुड्रा टैगा तथा घास के उत्तरी मैदान आते हैं। भारतवर्ष का थार तथा अरब आदि उष्ण मरुस्थल प्रदेश के अतर्गत हैं। साइबेरिया की शीतकाल की कडी ठंट प्रसिद्ध है। लेना डेल्टा का औसत तापमान वर्ष भर १° रहता है। वर्ख़ोयास्क विश्व का शीततम स्थान है। जनवरी भर यहाँ का औसत तापमान-५९° फा० रहता है, यह-९४° फा० तक भी पहुँच चुका है। कहते हैं, यहाँ जिस भी दिशा से वायु आएगी वह यहाँ की वायु से गरम होगी। इसके विपरीत दक्षिण-पश्चिम एशिया अत्यत उष्ण प्रदेश है। मध्य अरब में वार्षिक वाष्पीकरण १६० इच है। दिन मे बालू अत्यत गरम हो जाने के कारण यात्रियो के कारवाँ रात्रि में तारो के सहारे चलते हैं। इसी कारण यहाँ के लोगो में ज्योतिष से यथेष्ट प्रेम है। भारत की भीषण गर्मी के सामने चगेज खाँ के योद्धा यहाँ रुक न सके। यही एकमात्र शत्रु था जिसका सामना वे नहीं कर सके।

यहाँ की मानसूनी जलवायु मुख्य रूप से उल्लेखनीय है जिसमे छ महीने उत्तर पूर्वी तथा छ महीने दक्षिण-पश्चिमी एव दक्षिण-पूर्वी वायु चलती है। मानसून जलवायु भारत में पूर्णतया विकसित है कुछ कम चीन में, और अन्यत्र नाममात्र है। जिस वर्ष मानसून से पर्याप्त पानी नहीं बरसता उस वर्ष भारतीय कृषि की हानि होती है। दक्षिणी चीन तथा जापान के तटीय मानसूनी प्रदेशो में टाइफून (भयकर आँधी) चलते हैं।

सपूर्ण साइबेरिया की वार्षिक वर्षा २० से अधिक नहीं है। उत्तर मे यह १०" से भी कम है तथा तुर्किस्तान के अधिकतर भाग मे ४ से भी कम है। दक्षिण तथा पूरब में अधिक वर्षा की पट्टी दक्षिणी चीन, ब्रह्मदेश, हिंदचीन, भारत के कुछ भाग एव मलय में फैली है। मलय में केवल एक घटे की वर्षा शुष्क नदी नालो को वेगवान रूप दे देती है। वर्ख़ोयास्क का वार्षिक तापातर १००° से भी अधिक है परन्तु मलय के कुछ भागो में यह अतर विगत एक शताब्दी में कभी भी १०° से अधिक नहीं हुआ। मौसमी तापातर विषुवतरेखीय प्रदेश से उत्तर-पूर्वी आतरिक प्रदेश की ओर उत्तरोत्तर बढता जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति—प्राकृतिक वनस्पति प्राकृतिक वातावरण का प्रत्यक्ष रूप है। एशिया महाद्वीप का उत्तरी ठडा भाग साधारणतया टुड्रा तथा कोणधारी वृक्षो के जगलो या टैगा से आच्छादित है तथा उष्णकटिबधीय मानसूनी जगल भूमध्यरेखा के पास के स्थानो मे फैला है। महाद्वीप के आतरिक भागो में मरुदेशीय एव पर्वतीय वनस्पतियाँ मिलती हैं। विभिन्न भूभागो की वनस्पतियो में बड़ी गहन विषमता है। स्थान स्थान पर मनुष्य के कार्यों ने प्राकृतिक वनस्पति को परिवर्तित सा कर दिया है, और कुछ स्थानो पर उसके तथा उससे सबद्ध जानवरो, जैसे बकरियो इत्यादि के विनाशकारी कार्यों ने प्राकृतिक वनस्पति का सर्वथा विनाश कर डाला है। भिन्न जलवायुवाले दो वृहत् एव प्राकृतिक वनस्पतियो से परिपूर्ण भूखडो मे पहला उत्तरी वनखड टैगा है जो सपूर्ण साइबेरिया के मध्योत्तरी भाग में फैला हुआ है और ससार का सबसे बडा एक ही प्रकार की प्राकृतिक वनस्पतिवाला भूखड है। दूसरा प्राकृतिक वनस्पतिवाला भूभाग उष्ण एव उपोष्णकटिबधीय मानसूनी क्षेत्रो में फैला है। किंतु यहाँ अपेक्षाकृत अधिक विषमता एव उलझन है। इसका विस्तार चौडी पत्तियोवाले सदाबहार वृक्षो तथा बाजुशिफ (मैंग्रोव) के समुद्र-

तटीय जगलो से लेकर भारत के पश्चिमी भाग मे स्थित कांटेदार झाडियो एव मरुभूमीय जगलो तक है। इन दो वृहत् वनस्पतिखडो के अनतर उल्लेख्य मध्यवर्ती स्टेप्स के मैदान है, तदनतर मध्य एशिया तथा आसपास फैली पर्वतश्रेणियाँ एव उनमे स्थित घाटियाँ है, शेष वजर पठार आदि है। गगा सिंधु तथा ह्वागहो आदि नदियो के मैदानी भाग मे स्वार्थी मनुष्य के विनाशकारी कार्यो के कारण वनस्पति के छोटे छोटे विखरे खड रह गए है। जगलो की पक्तियाँ नदियो के किनारे फैली मिलती है। एशिया के इन विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक वनस्पतिखडो से कुछ आर्थिक महत्व के पौधे ससार को प्राप्त हुए है जिनमे चाय, धान और गन्ना भारत से, सेव एव नाशपाती कैस्पियन क्षेत्र से तथा आडू, खुवानी एव नारगी चीन से प्राप्त हुए है।

जीवजतु—वृहत् विस्तार, जलवायु एव प्राकृतिक वनस्पति की अत्यधिक विविधता तथा विषमता के कारण महाद्वीप मे अनेक तरह के जीवजतु पाए जाते है। इनमे से कुछ महत्वपूर्ण जतु सदा के लिये विनष्ट हो गए है। महाद्वीप के जीवजतुओ मे हिमयुग के अनतर प्रचुर परिवर्तन हुए है, जैसा अस्थि अवशेषो के अध्ययन से सुस्पष्ट है। विभिन्न प्रकार की विनष्ट पशुजातियो मे कदरावासी रीछ (केव वेयर), भेडिया, लकडवग्घा तथा विशालकाय गैडे प्रमुख है। हाल मे प्राप्त अवशेषो मे वलूचीथीरियम की अस्थियाँ उल्लेखनीय है। गैडे की आकृति का यह जतु पृथ्वी का सर्वाधिक वडा जतु था और इसकी कधे तक की ही ऊँचाई अठारह फुट तक होती थी। कुछ अन्य प्रकार के जतु भी तेजी से विनष्ट हो रहे है जिनमे जगली भैसा एव सिंह मुख्य है। एशिया महाद्वीप वहुत से वर्तमान पशुओ के विभिन्न वशो की जन्मभूमि भी रहा है। उनमे से सर्वाधिक उपयोगी घोडा है, जिसे घुमक्कड जातियो ने लगभग ५००० वर्ष पहले पालतू वनाया। एशिया ही जगली गदहे की भी जन्मभूमि है। एशिया माइनर वकरी की प्रथम निवासभूमि माना जाता है। दो कूवडवाले ऊँट एव याक आदि की भी उत्पत्ति इसी महाद्वीप मे हुई थी। याक तिव्वत का पशु है जिससे न केवल मक्खन, मास एव चमडा मिलता है, प्रत्युत यह वोझ ढोने के लिये भी अत्यत उपयोगी है। इस देश मे पालतू वनाए गए जगली जानवरो में सर्वप्रमुख एव सर्वाधिक उपयोगी भारतीय वैल है। उत्तरी साइवेरिया एव टुड्रा प्रदेश के लिये रेनडियर अनिवार्य जानवर है। पामीर क्षेत्र मे पाई जानेवाली पहाडी भेड, ओविसपोली, अपनी विशाल एव अनेक शाखायुक्त सीगो के लिये सुप्रसिद्ध है। महाद्वीप मे अनेक प्रकार के लगूर पाए जाते है। भारत, व्रह्मदेश एव मलाया के विभिन्न वन्य प्रदेशो में हाथी वहुतायत से मिलते है। यहाँ के हाथी वडी सुगमता से पालतू और शिक्षित हो जाते है। वैभव एव राजसी ठाट के ये प्रमुख चिह्न तो है ही, प्रशिक्षण के उपरात श्रम और सेवा सवधी विभिन्न कार्यो मे ये विशेष उपयोगी भी सिद्ध हुए है। महाद्वीप मे तीन प्रकार के गैडे मिलते है। दक्षिण-पश्चिमी एशिया एव पडोसी अफ्रीका मे सवद्ध वश के वहुत से जानवर मिलते है। लकडवग्घा न केवल अफ्रीकी मैदानो मे प्रत्युत भारत मे भी वहुत मिलता है। भालू, चीते, तेंदुए तथा भेडिए वहुतायत से पाए जाते है। भालुओ मे सवसे वडा ध्रुवप्रदेशीय भालू होता है जो उत्तरी प्रदेशो मे पाया जाता है। मासाहारी जीवो मे सर्वप्रथम वाघ है जो एशिया के अतिरिक्त किसी भी अन्य महाद्वीप मे वन्य अवस्था मे नही पाया जाता। लेकिन एशिया के जतुओ मे सभवत सर्वाधिक विचित्र जानवर विशालकाय पडा है जो आतरिक चीन के पर्वतीय क्षेत्रो मे मिलता है। इसका मुख्य भोजन वाँस की पत्तियाँ आदि है लेकिन इस साधारण भोज्य सामग्री पर भी उसका वजन ३५० पौंड तक होता है। दक्षिणी एशिया मे वदरो की अनेक जातियाँ विखरी है। मलय का वनमानुप (गिवन) ही केवल एक ऐसा मनुष्येतर जतु है जो मनुष्य की तरह सीधा खडा रह सकता है।

महाद्वीप मे विविध प्रकार के पक्षी भी प्रचुरता से पाए जाते है जिनमे वन्यकुक्कुट (मुर्ग), वगुला तथा गिद्ध अधिक प्रसिद्ध है। मोर नामक सुदर पक्षी प्राच्य वागो का सौदर्यपक्षी है। वाज राजा महाराजाओ का प्रिय आखेटपक्षी रहा है। दक्षिण एशिया मे विषैले तथा साधारण साँपो की अनेक जातियाँ पाई जाती है। जलचर जतुओ मे घडियाल प्रसिद्ध है जो भारत की नदियो मे वहुत पाया जाता है। महाद्वीप के निकटवर्ती समुद्रो एव आतरिक जलखातो, नदियो, झीलो और तालावो मे अनेक तरह की मछलियाँ मिलती है। चीन मे सुनहरी मछली मिलती है।

जनसख्या तथा आर्थिक विकास सबधी समस्याएँ—एशिया न केवल क्षेत्रफल प्रत्युत जनसख्या की दृष्टि से भी महत्तम महाद्वीप है। कई क्षेत्रो मे जनगणना न होने से महाद्वीप की जनसख्या का ठीक आकलन नही हो सका है, परतु १९४१ मे यहाँ अनुमानत १,४३,२३,६५,००० मनुष्य रहते थे। इस प्रकार ससार के स्थलभाग के एक तिहाई क्षेत्रवाले एशिया महाद्वीप मे ससार की आधी से भी अधिक जनसख्या निवास करती है। लेकिन इस विशाल जनसख्या का महाद्वीप के विभिन्न भागो में अत्यत असमान वितरण है। यदि कुछ क्षेत्रो में आवादी अत्यत घनी है तो कुछ क्षेत्र अति विरल और कुछ लगभग जनशून्य भी है। महाद्वीप की आधी से भी अधिक आवादी केवल दो वृहत् भूखडो मे निवास करती है प्रथम, भारत एव पाकिस्तान (१९५१ की जनसख्या ४३,४०,००,०००), जिनकी जनसख्या का औसत घनत्व २८० व्यक्ति प्रति वर्ग मील है, एव द्वितीय वृहत् चीन (१९५३ की जनसख्या ५९,००,००,०००) जहाँ चीन मुख्य देश का औसत घनत्व ३५० व्यक्ति प्रति वर्ग मील से भी अधिक है। तीन अन्य क्षेत्रो में भी घनी आवादी पाई जाती है—प्रथम जापान (१९५४ मे ८,८३,००,०००), द्वितीय जावा (५,००,००,०००) एव तृतीय श्रीलका (१९५३ में ८१,००,०००)। इनमे औसत घनत्व क्रमश ६००, १०० एव ३२० व्यक्ति प्रति वर्ग मील है।

एशिया में ऐसे कई विशाल भूखड है जहाँ वस्ती अत्यत विरल है। दो तिहाई क्षेत्रफल में महाद्वीप की कुल जनसख्या का केवल दशमाश निवास करता है। ऐसे विरल भूखडो में दक्षिण-पश्चिम एशिया, सोवियत एशिया एव उच्चधरातलीय भाग है। इस प्रकार की कम आवादी के मुख्य कारण इन भूभागो मे जलवायु की शुष्कता, शीताधिक्य अथवा उनके अत्युच्च विषम धरातल है। अरव प्रायद्वीप के वृहत् भूखड (लगभग १० लाख वर्ग मील) मे केवल एक करोड मनुष्य रहते है। इस प्रदेश का जनघनत्व मान १० है। वैसे ही साइवेरिया के विशाल भाग का प्रति वर्गमील घनत्व पाँच से भी कम है और मध्य एशिया के अधिकाश मे तो यह घनत्व एक से भी कम हो जाता है। जावा को छोडकर पूर्वी द्वीपसमूहो का भी प्रति वर्गमील घनत्व का औसत २५ ही है। जनसख्या के इस असमान वितरण से यह ज्ञात होता है कि कृषियोग्य भूमि के अनुसार ही इस महाद्वीप में जनसख्या का घनत्व कम या अधिक पाया जाता है। दक्षिणी एव पूर्वी भागो में स्थित घनी आवादीवाले अधिकाश भूखड जलोढ द्वारा निर्मित मैदानी भाग है। एशिया महाद्वीप के लगभग सभी देश कृषिप्रधान है और सर्वाधिक घनी जनसख्या ग्रामीण क्षेत्रो मे वसी है। नगरो एव उद्योग धधो का विकास एशिया महाद्वीप मे थोडे समय से ही प्रारभ हुआ है परतु इनके विकास की गति वडी तीव्र हो गई है। १९४१ तक भारत मे केवल दो ही वृहत् नगर (दस लाख जनसख्यावाले) थे, लेकिन १९५१ मे इनकी सख्या तिगुनी हो गई। दक्षिण-पूर्वी एशिया मे १९४५ के वाद छ वृहत् नगर विकसित हुए जिनके नाम जाकार्ता, मनिला, साइगान, वैकाक एव सिंगापुर है।

महाद्वीप के विभिन्न भागो मे पाई जानेवाली जातियो के विस्तार मे पर्वतो के पृथक्कारी कार्य का महत्वपूर्ण हाथ रहा है जो महाद्वीप की दो वृहत् मानव जातियो—मगोलो एव इडो-यूरोपियनो—को स्पष्टतया पृथक् करते है। मध्य एशिया के पठार सभवत मध्यकल्पिक काल से ही स्थलीय भाग रहे है और हिमालय का निर्माणकार्य प्रारभ होने के पहले ही इनका स्थलीय विकास हो चुका था। अत यह सिद्धात सर्वथा सत्य एव तथ्यपूर्ण लगता है, जैसा पुरातत्वीय खोजो से भी सिद्ध हो चुका है, कि मध्य एशिया ही ससार के स्तनधारी जीवो का विकासक्षेत्र है एव यही से उनका चतुर्दिक् विकेंद्रीकरण हुआ। इन स्तनधारी जीवो मे से ही मानव भी एक जीव है जिसका विकास सभवत मध्य एशिया के किसी क्षेत्रविशेष मे तृतीय युग मे हुआ। सभवत हिमयुग के प्रादुर्भाव के कारण मध्य एशिया मे भी जलवायु मनुष्यो के निवास के प्रतिकूल हो गई जिससे उन्हें देशातर जाना पडा। हिमयुगो के अतिम काल में मध्य एशिया की जलवायु आज की अपेक्षा सभवत अत्यधिक आर्द्र थी। लेकिन धीरे धीरे कालक्रम से जलस्रोत सूखते गए। जलवायु की शुष्कता वढती गई। फलत वहाँ के निवासियो को वाध्य होकर धीरे धीरे नए देशो की खोज मे वाहर जाना पडा। जैसा हैडन ने लिखा है, प्रागैतिहासिक काल के प्रव्रजनो मे नॉर्डिक (उत्तरी यूरोप के

निवासी) जाति के लोगो ने मध्य एशिया मे पश्चिम की ओर, मगोल जातिवालो ने दक्षिण-पूर्व की ओर तथा अल्पाइन जातिवालो ने तुर्किस्तान से एशिया माइनर होते हुए मध्य दक्षिणी यूरोप की ओर प्रस्थान किया।

आजकल महाद्वीपो मे अनेक जातियाँ, उपजातियाँ पाई जाती हैं और हजारो वर्षो के अतर्मिश्रण के कारण जातियो, उपजातियो के इतने छोटे छोटे विभाग एव समूह हो गए हैं जिनको मुख्य भागो मे विभाजित करना दुष्कर हो गया है। हैडन ने मानव जाति के तीन मुख्य विभाग किए हैं - यूलोत्रिकी, साइमोत्रिकी और लाइओत्रिकी। महाद्वीप मे स्थित यूलोत्रिकी जातिविभाग मे कुछ अत्यत पिछडी हुई नाटे कदवाली जातियाँ आती हैं जिनमे अडमान निवासी, मलय एव सुमात्रा के सेमाग, फिलीपाइन द्वीपसमूह के ऐटा तथा न्यूगिनी के पैपुआ जातिवाले प्रमुख हैं।

कपालरचना के आधार पर साइमोत्रिकी जाति के तीन प्रमुख विभाग एव शरीर के रग के विचार से पुन उपविभाग किए गए हैं प्रथम लबे सिरवाले लोगो मे डालिकोसिफालिक हैं जिनका रग गहरा भूरा एव काला होता है। श्रीलका के वेद्दा, मलय, सुमात्रा तथा सेलिबीज़ द्वीपो की प्राग्द्रविड जातियाँ एव भारत के द्रविड जातिवाले प्रमुख हैं, तथा कुछ हल्के रगवाली जातियो में उत्तरी भारत एव दक्षिण-पश्चिमी एशिया के अधिकाश भागो मे निवसित इडो-अफगानी, अरब, यहूदी एव पूर्वी द्वीपसमूह के निवासी इडोनेशियन जातिवाले हैं। मेसाटीसिफालिक अर्थात् साधारण सिरवाली जातियो मे जापान के निवासी ऐनू तथा चौडे सिरोवाली जातियो मे ब्रैकीसिफालिक आर्मीनियन सर्वप्रमुख हैं। द्वितीय वृहत् विभाग लाइओत्रिकी का मुख्य चिह्न सीधा सिर है जो समग्र उत्तरी एव पूर्वी एशिया के निवासियो में पाया जाता है और जिनके सीधे बाल पीले या पीले-भूरे मिश्रित रगो के होते हैं। आँखो की बनावट आदि में अतर होते हुए भी साधारणतया ये मगोल जाति के कहलाते हैं। इन विभेदो के अनुसार प्रमुख उपजातियो मे निम्नलिखित जातियाँ मुख्य हैं—प्रथम, उत्तरी साइबेरिया निवासी, द्वितीय तुग एव माचु, तृतीय चीनी (मुख्य चीन के निवासी) चतुर्थ तुर्क, पचम पश्चिमी साइबेरिया के निवासी, उग्रियन, तथा षष्ठ तिब्बतचीन के मिश्रित लोग जिनमे मलय जातिवाले भी समिलित हैं।

जनसख्या की अधिकता का भार खाद्य के साधनो अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे कृषियोग्य भूमि पर पडता है। प्राचीन सभ्यता एव निम्न स्तर के जीवन के कारण निरतर बढते बढते महाद्वीप की वर्तमान जनसख्या सतृप्ति की सीमा को भी पार कर रही है।

पहले प्राकृतिक दुर्योग, जैसे दुर्भिक्ष, महामारी अथवा युद्ध आदि जनसख्या की निरतर वृद्धि को नियत्रित करते थे, परतु आजकल इन दुर्योगो पर मनुष्यो ने स्वय नियत्रण कर लिया है, फलत जनसख्या अबाध रीति से बढती जा रही है। भूमि पर पडे भार का अनुमान जोत की जमीन की प्रति इकाई पर आश्रित मनुष्यो की सख्या से और भी स्पष्ट हो जायगा। प्रति वर्गमील जोत की भूमि पर आश्रित जनसख्या क्रमश जापान मे २,८५०, चीन में १,५००, भारत मे ६००, सोवियत एशिया मे ३७०, ब्रह्मदेश, इडोनेशिया तथा मलय मे ७३ और फिलीपाइन द्वीपसमूह मे ५४ है। एशिया का दो तिहाई भाग अपने साधनो के सभावित विकास के अनुमान में विरल बसा है। महाद्वीपो के घने बसे हुए क्षेत्रो मे, जहाँ से कुछ देशातरगमन हुआ है, भूमि की जनसख्या का भार बहुत कम हल्का हुआ है। अनुमानत चीन से ६० लाख, भारत से ४० लाख एव जापान से २० लाख मनुष्यो ने अब तक देशातरगमन किया है। लेकिन इधर एशिया निवासियो के अतर्महाद्वीपीय स्थानातरण पर सबधित राष्ट्रो द्वारा रोक लगा दी गई है।

वातावरण की भिन्नताओ एव विषमताओ के अनुरूप ही महाद्वीप मे अनेक प्रकार के सामाजिक एव आर्थिक सभ्यता तथा सस्कृति के स्तर भी पाए जाते हैं—एक ओर सवया पिछडी हुई जातियाँ हैं जो अब तक सभ्यता के प्राथमिक चरण पर भी नही पहुँच पाई हैं तो दूसरी ओर समाजवाद एव एकाधिकारात्मक पूँजीवाद के अत्यत विषम सगठन विकसित हैं। वर्तमान आवागमन एव सवादसवहन के साधनो के विकास के फलस्वरूप अस्थिरवासी तथा स्थायी सस्कृतियो की विषमता दिन प्रति दिन घट रही है। चलचित्र, रेडियो तथा सर्वोपरि मोटर बसो के विकास के कारण विभिन्न भागो की निर्जनता एव एकाकीपन समाप्तप्राय होता जा रहा है।

प्राकृतिक वातावरण एव सामाजिक विकास के आधार पर एशिया के छ वृहत् विभाग किए जा सकते हैं दक्षिण-पश्चिमी एशिया, भारत-पाकिस्तान, दक्षिण-पूर्वी एशिया, सुदूरपूर्व, सोवियत एशिया एव उच्च धरातलीय एशिया। इन सभी भूभागो मे प्रचुर सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं। इन क्षेत्रो मे कालातर मे चल रही कृषिप्रधान एव आत्माश्रित आर्थिकता को खीचकर अतर्राष्ट्रीय बाजारो से सबद्ध कर देने के विविध दुष्परिणाम भी हुए। अनेक क्षेत्रो मे सामूहिक कृषि ने वैयक्तिक परिवारो को बडे पैमाने के आर्थिक धधो के स्तर पर ला दिया। सपूर्ण समाज का समाज प्राचीन एव नवीन मझार के नर्वया विभिन्न आर्थिक प्रयत्नो के पथ मे अरसे से भटकता रहा है और किसी किनारे पर अब तक पूर्णतया स्थिर नहीं हो सका है। बर्मा एव पाकिस्तान जैसे देशो मे गौण कृषि उद्योग-धधो पर जोर देकर कल्याण के मार्ग ढूंढने के प्रयत्न हो रहे हैं। एशिया महाद्वीप के कृषको की अत्यल्प क्रयशक्ति उद्योगीकरण के मार्ग मे सभवत सबसे बडी कठिनाई है। अत क्रयशक्ति को बढाने की समस्या सप्रति महाद्वीप की सबसे बडी समस्या है। महाद्वीप के विभिन्न देशो, जैसे चीन, भारत आदि, ने आर्थिक विकास के लिये योजनाएँ बनाई हैं और इस दिशा मे विशेष प्रगति की है।

यद्यपि महाद्वीप के सामाजिक जीवन की परपराओ एव रीतिरिवाजो मे अधिक परिवर्तन नही हो सके हैं, और जो परिवर्तन हो भी रहे हैं वे बहुत धीमी गति से, तथापि शताब्दियो से विदेशी प्रभावो के कारण अतर्राष्ट्रीय बाजारो के चक्र मे पडकर उसके आर्थिक सगठन मे प्रचुर परिवर्तन हुए हैं। विगत दशाब्दी के युद्ध एव क्रातिकाल मे महाद्वीप के राजनीतिक क्षेत्रो मे भी कई एक परिवर्तन हुए। द्वितीय महायुद्ध के अनतर राष्ट्रीयता की भावनाओ एव क्रातियो के कारण लगभग ५० करोड मनुष्यो को स्वतत्रता मिली है। रूस ने अतर्युद्धकाल मे आर्थिक जीवन की कायापलट कर दी है और इस शताब्दी के अत तक अपनी आर्थिक समस्याओ को सुलझा लेने के पथ पर वह निरतर आगे बढ रहा है। जापान के भविष्य में कुछ अनिश्चितता है पर पिछले साठ वर्षो की व्यापक समुन्नति ने जापान को अत्यत महत्वपूर्ण शक्ति बना दिया है। भारत ने योजनात्मक ढग से प्रगति का मार्ग अपनाया है तथा पडोसी पाकिस्तान भी अपने सीमित साधनो के अनुसार अपनी विषम समस्याओ को सुलझाना चाहता है। इस प्रकार एशिया महाद्वीप के सभी देश अपने आर्थिक सगठन तथा कृषि एव उद्योग धधो को योजनात्मक ढग से विकसित करके प्रगति के मार्ग पर बढते दृष्टिगत होते हैं। [शा० ला० का०]

एसेनी लगभग दूसरी सदी ई० पू० मे एसेनी नामक यहूदी साधु सप्रदाय की स्थापना हुई। एसेनी का शाब्दिक अर्थ है 'मौन रहनेवाला', 'धर्मनिष्ठ' या 'सन्यासी'। सीरिया, फिलिस्तीन, मिस्र एव उत्तर अफ्रीका के अन्य देशो मे वनो और पर्वतो के निकट झरनो और नदियो के किनारे इनकी बस्तियाँ होती थी। इतिहास लेखक फीलो इनकी तुलना भारतीय सतो के साथ करता है। स्त्राबो उनको 'दार्शनिको और वैज्ञानिको का सघ' कहता है।

एसेनी साधुओ की जमात मे या तो छोटे बालको को लिया जाता था या युवावस्था पार किए हुए उन लोगो को जिन्हे सासारिक भोगविलास की ओर अधिक आकर्षण न रह गया हो। दीक्षित होने से पूर्व उन्हे अपनी समस्त धन सपत्ति साधुकुल को दे देनी पडती थी। तीन वर्ष तक उन्हे उपवास और व्रत रखकर मन और इद्रियो की साधना करनी पडती थी। दीक्षा से पहले उन्हे प्रतिज्ञा करनी पडती थी कि

"मै सदा ईश्वरनिष्ठ रहूँगा। मनुष्य मात्र के प्रति न्याय का व्यवहार करूँगा। किसी प्रकार की हिंसा न करूँगा। किसी को हानि न पहुँचाऊँगा। सब प्रकार की बुराइयो से दूर रहूँगा। बडप्पन और अभिमान की भावना से बचूँगा। सच्चाई का सदा पालन करूँगा। पाप की कमाई से बचूँगा। जमात के कुलपति से अपनी कोई बात न छिपाऊँगा, न जमात के रहस्य को किसी बाहरी व्यक्ति पर प्रकट करूँगा।"

एसेनी साधु आजीवन अविवाहित रहते थे। वे सयम तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। एसेनियो की साधु बस्तियो का प्रबध कुलपति करता था। व्यक्तिगत सपत्ति रखने का किसी को अधिकार न था। समस्त

सपत्ति जमात की होती थी। सबका एक ही जगह भोजन बनता था और सब एक साथ बैठकर भोजन करते थे। प्रत्येक एसेनी को अनिवार्य रूप से प्रतिदिन कुछ घटे शरीरश्रम करना पडता था। इस श्रम के अतर्गत खेती करना, कपडा बुनना और भोजन बनाना आदि कार्य समिलित थे। निजी काम के लिये नौकर या दास रखना पाप समझा जाता था। पवित्र जीवन, दीन दुखियो की सेवा, शरीरश्रम और योगसाधन को एसेनी आत्मोन्नति के चार मुख्य आधार मानते थे। मास और मदिरा को वे छूते तक न थे। पानी के सिवाय वे अन्य कोई पेय नही पीते थे। भोजन के आरभ तथा समाप्ति पर वे ईश्वर को धन्यवाद देते थे। एसेनी सूर्य को ईश्वर की दिव्य ज्योति का भौतिक चिह्न मानते थे। उपासना के समय सदा सूर्य की ओर मुँह कर लेते थे। बालार्णव का उदय होते ही वे उसकी ओर मुँह करके यहूदियो के प्रसिद्ध मत्र 'रोमा' का उच्चारण करते थे। अपने चरित्र और तत्वज्ञान के लिये आसपास के ससार मे वे बडे आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

ईसा के जन्म के समय एसेनी साधुओ की सख्या इतिहास लेखक यूसुफ के अनुसार चार हजार से अधिक थी किंतु ईसा से लगभग सौ वर्ष बाद यह साधुसप्रदाय लुप्तप्राय हो चुका था।

स० ग्रं०--जी० टी० बेट्टानी हिस्ट्री आव जूडाइज्म ऐंड क्रिश्चियानिटी (१८६२), वि० ना० पाडे यहूदी धर्म और सामी सस्कृति (१९५४), एच० ग्रेज हिस्ट्री आव दि ज्यूज (१९०४)। [वि० ना० पा०]

एस्कानाबा यह सयुक्त राज्य अमरीका के मिशिगन राज्य मे एक प्रसिद्ध बदरगाह है जो समुद्रतल से ६१२ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसका जलीय अग्रभाग नोकेट की खाडी पर लबाई मे ८ मील प्रशस्त है। यह रेलो द्वारा शिकागो, मिलवाकी, सेटपाल तथा सुपीरियर झील के बदरगाहो से मिला हुआ है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। यहाँ से कच्चे लोहे, लकडी तथा मछलियो का निर्यात होता है और अनेक प्रकार के कागज, रासायनिक द्रव्य तथा नल आदि बनाए जाते है। ग्रीष्मकाल में इसकी जलवायु बडी सुरम्य रहती है। निकटवर्ती क्षेत्रो के प्राकृतिक सौंदर्य भी आकर्षणपूर्ण हैं तथा यहाँ नौकाविहार और मछली मारने की सुविधाएँ भी उपलब्ध है, अत एस्कानाबा एक बडा क्रीडाकेंद्र बन गया है। यहाँ प्रत्येक वर्ष राज्य सरकार की ओर से एक मेले का आयोजन किया जाता है। इस नगर का प्रादुर्भाव सन् १८४६ ई० मे हुआ था, सन् १८६६ ई० मे इसे ग्राम तथा सन् १८८३ ई० मे नगर की श्रेणी प्राप्त हुई। सन् १८९० मे इसकी जनसख्या केवल ६,८०८ थी, सन् १९५० मे १५,१७० हो गई। [लि० रा० सिं०]

एस्किशहर यह तुर्की का एक प्रसिद्ध नगर तथा इसी नाम के प्रात की राजधानी है। यह पुरसक सू नदी के दाहिने तट पर मारमोरा सागर से दक्षिण-पूर्व ९० मील की दूरी पर स्थित है। हैदर-पाशा-अगोरा रेलवे भी एस्किशहर से गुजरती है। प्राचीन काल से यह नगर अपने गरम जल के स्रोतो के लिय प्रसिद्ध रहा है। इसके गधक मिश्रित जल मे मार्जन करके, सहस्रो मनुष्यो ने अपनी शारीरिक व्याधियो से मुक्ति प्राप्त की है। इसके निकटवर्ती क्षेत्र मे 'मीयरशम' नामक उच्च कोटि की मिट्टी प्रचुर मात्रा मे मिलती है। इसी कारण इस नगर मे मीयरशम के हुक्के बहुत बनते है। इसकी जलवायु अच्छी है। पुरसक नदी मे मछलियो का बाहुल्य है तथा इसकी घाटी बडी ही उपजाऊ है, अत एस्किशहर प्रात काफी सपन्न है। सन् १९३५ ई० मे इसकी जनसख्या १,८३,२०५ तथा सन् १९५५ मे ३,२४,६१४ थी। नगर की जनसख्या लगभग ८०,००० है। सन् १९२३ की तुर्की-यूनानी सधि के पूर्व इस नगर में बहुत से यूनानी तथा ईसाई लोग रहते थे। आजकल यह नगर पूर्णतया तुर्की सस्कृति का परिचायक है। [लि० रा० सिं०]

एस्कीमो भाषा प्रमुख नृवश-विद्या-विशारदो के अनुसार एस्कीमो जाति रक्त और भाषा की दृष्टि से उत्तरी अमरीकी इडियन जाति की ही एक शाखा है। ग्रीनलैंड से लेकर सुदूर अलास्का तक एस्कीमो जाति के लोग एक ही भाषा बोलते है। अपनी समन्वयात्मक वृत्ति के कारण एस्कीमो भाषा रूपबहुल बन गई है। पूरी तरह अपना काम चलाने के लिये एक एस्कीमो को सामान्यतया दस हजार से अधिक शब्दो का ज्ञान होना चाहिए। अगरेजी एव अन्य यूरोपीय भाषाओ की अपेक्षा एस्कीमो भाषा की यह सामान्य शब्दसख्या कही अधिक है। एक-एक एस्कीमो शब्द के अनेक रूप होते है। सज्ञावाचक एक शब्द के एस्कीमो भाषा में बहुत भिन्नार्थी रूप मिलेंगे। क्रियावाचक शब्दो के रूप तो सबसे अधिक है। इसीलिये एस्कीमो भाषा दुनिया की कठिन से कठिन भाषाओ मे से एक मानी जाती है। एस्कीमो और दूसरी अन्य भाषाओ के सबध से एक खिचडी भाषा बन गई है जिसकी शब्दसख्या तीन सौ से छ सौ तक है। इसमे अधिकतर तो एस्कीमो शब्द ही है किंतु कुछ शब्द अगरेजी, डच, स्पेनी आदि के भी है। बहुधा सैलानी लोग इसी सक्षिप्त खिचडी भाषा को एस्कीमो भाषा कहकर पुकारते हैं।

एस्कीमो भाषा मे व्यजनो को ध्वन्यात्मक दृष्टि से कठ्य, तालव्य, दत्य और ओष्ठ्य इन चार श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है। कठ्य व्यजनाक्षर के आगे आनेवाला स्वर भी कठ्य स्वर बन जाता है। इस विशेषता के कारण कभी कभी सुननेवाले को ऐसा प्रतीत होता है कि एस्कीमो भाषा गले पर बल देकर बोली जा रही है, अन्यथा एस्कीमो भाषा का रूप स्पष्ट और सुरीला है। शब्दो का उच्चारण स्वर और व्यजनो की दीर्घता या ह्रस्वता पर निर्भर करता है। स्वर और व्यजन कभी दीर्घ हो जाते हैं और कभी ह्रस्व। इस दीर्घता और ह्रस्वता पर ही शब्द का अर्थ निर्भर होता है।

एस्कीमो भाषा का व्याकरण भी शब्दो के लचीले रूप के कारण अत्यत समृद्ध है। सामान्य क्रिया के लगभग ३५० रूप प्रयुक्त होते हैं। यदि द्विवचन, बहुवचन आदि सभी रूपो को ले तो सामान्य सज्ञा के लगभग १५० रूप मिलेंगे। वाक्यरचना आदि के लगभग २५० रूप मिलेंगे। किंतु ऐसा वृहत् रचनाविन्यास होने पर भी एस्कीमो व्याकरण सक्षिप्त और तर्कपूर्ण आधारो पर अवलबित है। एस्कीमो भाषा मे स्त्रीलिंग या पुल्लिग का भेद नही है। सबधवाचक रूप सज्ञा के रूपपरिवर्तन में ही व्यक्त हो जाता है।

आखेट और पशुओ से सबधित शब्दावली की सख्या काफी प्रचुर है। हथियारो और बर्तनो के विविध उपयोगो से सबधित शब्द भी बहुत अधिक हैं।

मास्को विश्वविद्यालय मे एस्कीमो-भाषा-विभाग एस्कीमो साहित्य के प्रकाशन में पिछली दशाब्दी से स्तुत्य कार्य कर रहा है।

स० ग्रं०--शाल बिजर फोनेटिक स्टडी ऑव दि एस्कीमो लैंग्वेज (१९०४)। [वि० ना० पा०]

एस्टन इग्लैंड के यॉर्कशायर प्रदेश के नॉर्थ राइडिंग उपविभाग का एक औद्योगिक नगर है। यह मिडिलबरो के पूर्व ४ मील की दूरी पर स्थित है। क्लीवलैंड की पहाडियो मे कच्चे लोहे की खुदाई के उद्योग का यह प्रमुख केंद्र है। यहाँ बडी बडी लोहे की भट्ठियाँ तथा लोहे की ढलाई के कारखाने हैं जहाँ रेलवे की पटरियाँ आदि बनाई जाती हैं। यहाँ बहुत सी वाष्पचालित आरो की मिलें भी हैं। सन् १९०१ मे इसकी जनसख्या ११,१६६ तथा सन् १९४० मे १२,०२६ थी। [लि० रा० सिं०]

एस्टर कार्बाक्सिलिक अम्ल के अम्लीय हाइड्रोजन को एक एल्किल मूलक से विस्थापित करने पर बनता है

$$\text{मू}-\text{का}(=\text{औ})(-\text{औहा}) + \text{औ हा मू} \xrightarrow{-\text{हा}_2\text{औ}} \text{मू}-\text{का}(=\text{औ})(-\text{औमू})$$

$$R-C(=O)(-OH) + OHR \xrightarrow{-H_2O} R-C(=O)(-OR)$$
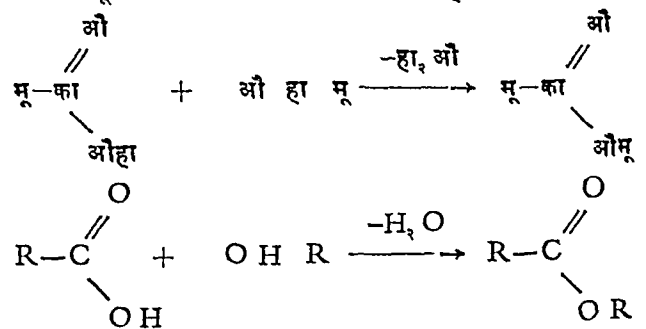
एस्टर के जलविश्लेषण से पुन ऐलकोहल और अम्ल बन जाते हैं। अधिकाश एस्टर आयनीकृत नही होते और पानी मे बहुत कम विलेय होते हैं। इनके अवयवो से एस्टर बनाने की क्रिया को एस्टरीकरण कहते हैं। इसके लिये अम्ल और ऐलकोहल के मिश्रण को थोडी मात्रा मे खनिज अम्ल के साथ गरम किया जाता है। इस अभिक्रिया में खनिज अम्ल उत्प्रेरक का काम करते हैं। एस्टरीकरण की इस विधि को फिशर विधि कहते हैं।

ऐलकोहल और खनिज अम्लो के सयोग से भी एस्टर बनते हैं। यह अभिक्रिया खनिज अम्लो के शक्तिशाली अम्लीय और निर्जलीकारक गुणो के कारण होती है। सान्द्र सल्फ्यूरिक अम्ल तथा ऐलकोहल के सयोग से ऐेलिकल सल्फ्यूरिक अम्ल बनता है। एथिल ऐलकोहल और नाइट्रिक अम्ल तथा नाइट्रस अम्ल के सयोग से क्रमश एथिल नाइट्रेट और एथिल नाइट्राइट बनता है। [कृ० व० स०]

एस्टरविल सयुक्त राज्य अमरीका के आइओवा राज्य का नगर तथा एमेट्सवर्ग प्रदेश की राजधानी है। यह डेमॉएन नदी के किनारे समुद्रतल से १,२९८ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इससे मिनीसोटा की सीमा केवल पाँच मील दूर है। यह फोर्ट डाज के उत्तर-पश्चिम मे ७० मील की दूरी पर स्थित है तथा रेल द्वारा शिकागो, रॉक आइलैंड, प्रशात महासागरीय तट, मिनियापोलिस और सेंट लुई से मिला हुआ है। यहाँ कई राजमार्ग भी मिलते हैं। यह पशुपालन का बडा केंद्र है, अत यहाँ बहुत सी दुग्धशालाएँ, कुक्कुटादि पालन के प्रक्षेत्र तथा कसाईघर हैं। यहाँ विश्व महायुद्ध का स्मारक तथा एक सार्वजनिक पुस्तकालय भी है। छोटा नगर होते हुए भी यहाँ एक अच्छा जलकल है। इसकी जनसख्या सन् १९३० मे ४,९००, सन् १९४० मे ५,६५१ तथा सन् १९५० मे ६,७१९ थी। [लि० रा० सिं०]

एस्टेला स्पेन के नावारे प्रदेश का एक ऐतिहासिक नगर है। यह अर्गा नदी के किनारे पर पापलोना से २० मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित है। ऊन तथा सन के वस्त्र और ब्राडी बनाना आदि यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। यह प्रसिद्ध सैनिक केंद्र भी है तथा यहाँ एक मध्यकालीन दुर्ग है। यहाँ बहुत से मठ, गिरजे और एक कालेज भी है जो पहले विश्वविद्यालय था। इस नगर की बनावट प्रशसनीय है, गलियाँ सुदर एव सुसबद्ध हैं। सन् १८३५ ई० मे इसपर स्पेन के सिंहासन का व्यपदेश करनेवाले डॉन कार्लोस के सहायकों ने अधिकार कर लिया था। सन् १८३९ ई० मे उनका नेता अपने पाँच साथियो के साथ सूली पर चढा दिया गया। सन् १८७६ ई० में भी यहाँ भीषण सघर्ष हुआ, जिसने डॉन कार्लोस का तख्ता ही उलट दिया। सन् १९०० ई० मे इसकी जनसख्या ५,७३६ तथा सन् १९४० मे ५,६३८ थी। [लि० रा० सिं०]

एस्टोनिया क्षेत्रफल १८,३५९ वर्गमील, जनसख्या १२,००,००० (१९४६ मे) सोवियत सघ का एक राज्य है, जो उत्तर-पूर्वी यूरोप मे बाल्टिक सागर के तट पर है। सन् १९१८ मे इसे स्वतत्रता मिली, १९४० मे सोवियत सघ मे मिलाया गया, १९४१ मे जर्मनी के अधीन हो गया तथा १९४४ मे पुन सोवियत सघ मे मिला।

इस प्रदेश के भूतल पर प्रातिनूतन (प्लाइस्टोसीन) युग की हिमसरिताओ ने यथेष्ट प्रभाव डाला है। उत्तर मे होने के कारण यहाँ की जलवायु शीतल है। इस राज्य के बहुत बडे क्षेत्र में वन हैं। यहाँ का मुख्य पेशा कृषि एव पशुपालन है। आलू, जौ, राई, पटसन (फ्लैक्स), दूध, मास आदि यहाँ के मुख्य उत्पादन हैं। वन उद्योगो मे लट्ठे तथा कागज के उद्योग मुख्य हैं। इस देश के खनिज तेल (आयल शेल) का कोष महत्वपूर्ण है। इसके पास दलदल का कोयला (पीट), चूना-पत्थर (लाइमस्टोन), फासफोरस, सगमरमर, जिप्सम आदि के भी अच्छे कोष हैं। यहाँ के मुख्य उद्योग कताई बुनाई, बनावटी रेशम, दियासलाई, कागज, सीमेंट, तथा चमडा कमाने के कारखाने और पोतनिर्माण हैं। राज्य के आधे उद्योग तालिन नगर मे ही स्थित हैं। यहाँ के मनुष्यो का एक बडा भाग नार्डिक जाति का है और भाषा फिनो-उग्रियन परिवार की है। यहाँ पर शिक्षा का स्तर काफी ऊँचा है। [शि० म० सिं०]

एस्ट्रेमोज पुर्तगाल के ऐलेंतेजू प्रात का एक नगर है जो एयवूरा के पूर्वोत्तर मे ३० मील की दूरी पर, समुद्रतल से १,५०० फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। यह रेलवे द्वारा लिसबन से जुडा हुआ है, जो यहाँ से १०४ मील पश्चिम में स्थित है। इसके निकटवर्ती क्षेत्र मे बर्तन बनाने की उत्तम मिट्टी मिलती है जिससे एस्ट्रेमोज मे 'बिल्हाज' नामक लाल मिट्टी के मर्तबान बनाए जाते हैं जो समस्त आइबेरियन प्रायद्वीप मे प्रचलित हैं। निकट ही रगबिरगे सगमरमर की खुदाई होती है। यहाँ से ऊन भी प्रचुर मात्रा मे निर्यात किया जाता है। पूर्वकाल मे एस्ट्रेमोज प्रसिद्ध सैनिक केंद्र था। यहाँ १७वी शताब्दी मे एक बडा दुर्ग था जिसके भग्नावशेष अभी तक निकटवर्ती पहाडी पर बिखरे पडे हैं। इसकी जनसख्या सन् १९०० मे ७,९०० तथा सन् १९४० मे ७,८५७ थी। [लि० रा० सिं०]

एस्ते इटली के प्राचीनतम राजवश का नाम। कदाचित् ये लोग लोबार्दी के थे। इस वश ने इटली के पुनर्जागरण युग मे बडे काम किए। ओबित्सोई पहला राजा था जिसने एस्ते का मार्कुइस की उपाधि धारण की। इसने सम्राट् फ्रेडरिक के विरुद्ध युद्ध मे भाग लिया। उसका देहात ११९४ ई० मे हुआ। उसके उत्तराधिकारी के काल मे एस्ते नगर में विद्रोह ही विद्रोह होते रहे। इसके बाद राजगद्दी पर तृतीय निकोलस बैठा। १३८४ से लेकर १४४१ तक उसके हाथ में बागडोर रही। इसने फेरारा, मोदेना, पारमा और रेग्गियो पर भी शासन किया और कई लडाइयाँ लडी। १४१३ मे बोर्सो गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल मे कई युद्धो के बाद भी फेरारा मे शाति रही और देश मे धन आता रहा। उसने साहित्य की भी सेवा की। उस नगर मे उसने छापाखाना खोला, विद्वानो को एकत्रित किया और कल कारखानो को प्रोत्साहित किया।

एरकोले प्रथम (१४७१-१५०५) उसका उत्तराधिकारी हुआ। प्रसिद्ध कवि बोइआर्दो उसका मत्री था। अरिओस्तो की भी उसने सहायता की। उसकी लडकी बीत्रिस का नाम इटली के पुनर्जागरण युग मे प्रसिद्ध है। उसने निकोलो दा कोरिज्जो, बेर्नार कास्तिग्लिओने, ब्रामाते और लियोनार्दो दा विंशी जैसे कलाकारो और साहित्यकारो को आश्रय दिया। मलाँ नगर का कातेल्लो और पाविया का चरटूसा उसकी अमर सेवाओ मे से हैं।

अलफासो प्रथम (१४८६-१५३४) अपने यत्रज्ञान के लिये प्रसिद्ध हुआ। उसके तोपखाने बडे प्रभावशाली थे। एरकोले द्वितीय (१५०८-५९) और उसके भाई ने साहित्य और कला की बडी सेवा की। उनके शासनकाल मे त्रियोस्ते मे विलादेस्ते का निर्माण हुआ। अलफासो प्रथम का उत्तराधिकारी अलफासो द्वितीय (१५५३-१५९७) हुआ। उसका नाम तास्सो की सेवा के सबध मे बहुत लिया जाता है। उस परिवार का यही अतिम राजा था। इसके बाद इसका प्रभाव इटली की राजनीति से उठ गया। लगभग दो सौ साल तक इस परिवार ने इटली की राजनीति मे बडा भाग लिया और विश्वख्याति प्राप्त की। [मु० अ० अ०]

एस्तेर यह हदासाह नामक एक यहूदी नायिका का बाबुली नाम है, उन्ही पर बाइबिल के एक ग्रथ का नामकरण हुआ है।

अहाश्वेरोश नामक ईरानी राजा ने, जिन्हें यूनानी लोग ज़रजेस (४८५-४६५ ई० पू०) और ईरानी क्षयार्षा कहते थे, अपनी पत्नी वास्ती को तलाक देकर एस्तेर से विवाह किया था। हामान वजीर का एस्तेर के रिश्तेदार मार्दकाय से वैर था, अत उन्होने एक राजाज्ञा निकाली जिसके अनुसार फारस मे बसनेवाले सभी यहूदियो का एक ही दिन मे वध होनेवाला था। इसपर एस्तेर ने राजा पर प्रकट किया कि मैं भी यहूदी हूँ। इसका परिणाम यह हुआ कि हामान को प्राणदड दिया गया और मार्दकाय की वजीर के पद पर नियुक्ति हुई। इस घटना के स्मरणार्थ यहूदी लोग पुरीम नामक पर्व उसी दिन मनाते हैं जिस दिन उनका वध निश्चित किया गया था। एस्तेर नामक ग्रथ ऐतिहासिक उपन्यास की शैली मे लिखा गया है, इसकी रचना तीसरी शताब्दी ई० पू० मे हुई थी। [का० बु०]

एस्परांटो अनेक वर्षो से अतर्राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न राजनीतिज्ञो, वैज्ञानिको और भाषाशास्त्रियो का ध्यान आकर्षित कर रहा है। वैज्ञानिक नाप तौल के लिये दुनिया भर मे एक से अतर्राष्ट्रीय शब्द व्यवहार मे लाए जा रहे है। अतर्राष्ट्रीय व्यवहार के पारिभाषिक शब्द बहुत बडी सख्या मे गढे जा रहे है और मान्यता प्राप्त कर रहे है। भाषाशास्त्री इस विषय पर गभीरता से विचार कर रहे है कि थोडे से व्याकरण के सर्वस्वीकृत नियम बना लेने से एक अतर्राष्ट्रीय भाषा तैयार हो जायगी।

सन् १८८७ ईस्वी मे डाक्टर एल० आई० ज़ामेनहॉफ ने इसी उद्देश्य से एस्पराटो का आविष्कार किया। आविष्कर्ता के अनुसार एस्पराटो मे अतर्राष्ट्रीय भाषा बनने की सब विशेषताएँ मौजूद है। उसकी वाक्यावली तर्क और वैज्ञानिक नियमो पर आधारित है। उसके व्याकरण को आधे घटे में समझा जा सकता है। प्रत्येक नियम अपवादरहित है। शब्दो के हिज्जे का आधार ध्वन्यात्मक है। उसका शब्दकोष बहुत छोटा है। फिर भी उसमे साहित्यिक शक्ति है, शैलीसौंदर्य है और विचारो को व्यक्त करने मे वह कॉटे की तौल उतरती है। लचीलापन भी उसमे यथेष्ट मात्रा मे है। बीस वर्ष पूर्व के आँकडो के अनुसार एस्पराटो भाषा में उस समय तक चार हजार से अधिक मौलिक और अनूदित पुस्तके प्रकाशित हो चुकी थी और सौ से अधिक मासिक पत्र नियमित रूप से प्रकाशित होते थे। दूसरे महायुद्ध के पूर्व ससार के अनेक देशो मे एस्पराटो भाषा के रूप मे विद्यालयो मे विद्यार्थियो को पढाई जाती थी। पेरिस के चैंबर ऑव कामर्स और लदन की काउटी कौंसिल कमर्शल विद्यालयो मे एस्पराटो की शिक्षा दी जाती थी। सन् १९२५ ईस्वी मे अतर्राष्ट्रीय टेलीग्रैफिक यूनियन ने एस्पराटो को तार की अतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप मे स्वीकार किया। मई, सन् १९२७ मे अतर्राष्ट्रीय रेडियो फोनिक यूनियन ने उसे प्रसार के योग्य भाषा के रूप में स्वीकार किया। उसी वर्ष दिसबर मास तक विविध देशो के ४४ आकाशवाणी केंद्र एस्पराटो मे प्रसार करते थे। २० वार्षिक अतर्राष्ट्रीय एस्पराटो समेलन मे अखिल विश्व से एक हजार से लेकर चार हज़ार प्रतिनिधि तक समिलित हुए थे।

सन् १८८७ मे एस्पराटो का जो रूप था उसमे सन् १९०७ ईस्वी मे अनेक परिवर्तन करके उसे और अधिक सरल तथा वैज्ञानिक बनाया गया। एस्पराटो के इस नए रूप का नाम--'इडो' रखा गया। अतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप मे एस्पराटो से प्रतिस्पर्धा करनेवाली आज और भी अनेक भाषाएँ क्षेत्र मे है।

स० ग्र०--ए० एल० ग्यूरार्ड शार्ट हिस्ट्री ऑव दि इटरनेशनल लैंग्वेज मूवमेट (१९२२), ओटो जेस्पर्सन ऐन इटरनेशनल लैंग्वेज (१९२०)।

[वि० ना० पा०]

एस्बर्ग (Esbjerg) डेनमार्क के जटलैंड प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर एक प्रमुख पत्तन है। यह फ्रीदेरिसिआ के पश्चिम मे लगभग ५६ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ से गायो तथा दुग्धशालाओ की उपजो का भारी निर्यात होता है जिसका अधिकाश इग्लैंड को जाता है। इस नगर की स्थापना सन् १८६८ ई० में हुई जब यहाँ १३ मनुष्यो ने एक छोटा सा ग्राम बसाया था। सन् १८६८-७४ ई० मे यहाँ सुदर पोताश्रय का निर्माण हो गया, जिसके कारण इसकी जनसख्या मे तीव्र गति से वृद्धि प्रारभ हो गई तथा सन् १९०१ मे ही इसकी जनसख्या १३,३५५ हो गई। सन् १९०० में यहाँ नगरपालिका भी बन गई। कालातर मे एस्बर्ग जटलैंड के पश्चिमी तट का ही पत्तन न रहा, पूर्वी तथा उत्तरी जटलैंड के तट तथा जर्मनी से भी रेलमार्गो द्वारा इसका सबध स्थापित हो गया। सन् १९४० ई० मे इसकी जनसख्या ३३,१५५ थी, १ अक्टूबर, १९५५ ई० को ५०,९२१ हो गई।

[लि० रा० सिं०]

ऐंग्रजाँ ओगुस्त दोमिनिक (१७८०-१८६७), प्रसिद्ध फ्रासीसी चित्रकार। वह मोतोबाँ मे जन्मा और १६ साल की उम्र में चित्रकारो के स्वप्न के देश पेरिस पहुँचा। वहाँ उसने चार वर्ष के अथक परिश्रम से अपनी कलाप्रतिभा का विकास किया और २१ वर्ष की उम्र में उसने अपनी प्रसिद्ध कृति 'एकिलिज़ के दरबार मे अगामेम्नन के राजदूत' द्वारा बडा यश कमाया। फ्रास का तत्कालीन सर्वमान्य पुरस्कार "ग्राँ प्रीस" उसके इसी चित्र पर मिला। उसके बाद उसने फ्रास और इटली मे चित्र तो अनेक बनाए पर उसकी ख्याति कुछ विशेष बढी नही। वह असाधारण मेधा का मौलिक कलाकार था पर क्लासिकल शैली के अतीतसेवी विशेषज्ञो ने उसे विद्रोही कहकर उसकी उपेक्षा की। बल्कि देलाक्वा आदि नई रोमैंटिक शैली के कलाकारो ने, जिनकी शैली का वह परम विरोधी था, उसकी प्रतिभा पहचानी और सिद्धातो मे अतर होते हुए भी उन्होने उसे उचित मान दिया। उसकी निर्धनता और भी उसके आडे आई और उसका जीवन अत्यत कठिन और कटु हो गया।

पर उसकी कलाकारिता की विजय हुई और १८२५ से उसकी ख्याति के साथ साथ उसकी आय भी बढी। उसे प्रतिष्ठा के अनेक पद मिले। फ्रेंच 'इस्टिट्यूट' का तो वह सदस्य चुना ही जा चुका था, अब वह रोम के 'इकोल द फ्रास' का निदेशक भी हो गया। ऐंग्र ८८ वर्ष की परिपक्व आयु मे मरा जब उस वृद्धावस्था मे भी उसकी सारी शक्तियाँ और इद्रियाँ सक्रिय और उसके वश मे थी। उसकी कला की विशेषता रग मे नही, रूप और रेखा में है। उसी दृष्टि से वह रोमैंटिको का विरोधी और गोगँ, पुवी, देगा तथा घनवादियो का आराध्य बन गया। वैसे तो उसकी कृतियाँ अनक देशो के सार्वजनिक और निजी सग्रहालयो मे है पर उसकी सर्वोत्तम कृतियो का एक विशिष्ट सग्रह उसके जन्म के कस्बे मोतोबाँ मे है। उसने भित्ति, कन्वस और प्रतिकृति चित्रण सभी किए है और सभी दिशाओ मे उसने सबल अकन का परिचय दिया है। उसका रेखाचित्र 'ग्राँद ओदालिस्क' अपूर्व शक्तिम है। वैसे ही उसके चित्र 'आर्क की जोन', 'उद्गम', 'ईसा और डाक्टर,' 'वर्तिनेनी' आदि अपने क्षेत्र मे अनुपम है।

स०ग्र०--एच० लापोज आग्र सावी एत्सो ध्रव, १९११, इसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका।

[भ० श० उ०]

ऐंग्लिकन समुदाय ईसाई सप्रदायो मे ऐंग्लिकन समुदाय का विशेष स्थान है। इसका इतिहास एक प्रकार से इग्लैंड में ईसाई धर्म के प्रवेश के साथ साथ प्रारभ होता है (दे० अगस्तिन, कैंटरबरी के प्रथम आर्चबिशप), किंतु १६वी शताब्दी में ही वह रोमन काथलिक गिरजे से अलग होकर **चर्च आव इग्लैंड** का नाम अपनाने लगा। यहाँ पर सक्षेप में इसका इतिहास उसी समय प्रस्तुत किया जायगा। १७वी शताब्दी मे इसके लिये **'ऐंग्लिकन चर्च'** का प्रयोग चल पडा। आजकल ससार भर के ऐंग्लिकन ईसाइयो का सगठन 'ऐंग्लिकन समुदाय' कहलाता है।

इतिहास--हेनरी अष्टम के राज्यकाल (सन् १५०९-१५४७ ई०) में लूथर ने जर्मनी मे प्रोटेस्टैंट धर्म चलाया। इसके विरोध में हेनरी अष्टम ने १५२१ ई० में एक ग्रथ लिखा जिसमें उन्होने रोम के बिशप (पोप) के ईश्वरदत्त अधिकार का प्रतिपादन किया, इसपर हेनरी को रोम की ओर से धर्मरक्षक की उपाधि मिली (यह आजतक इग्लैंड के राजाओ की उपाधि है)। बाद मे पोप ने हेनरी का प्रथम विवाह अमान्य ठहराने तथा इसको दूसरा विवाह कर लेने की अनुमति देने से इन्कार किया। इसके परिणामस्वरूप पार्लमेंट ने हेनरी के अनुरोध से एक अधिनियम स्वीकार किया जिसमे राजा को चर्च आव इग्लैंड का परमाधिकारी घोषित किया जाता था। (ऐक्ट आव सुप्रिमेसी--१५३१ ई०)। इस महत्वपूर्ण परिवर्तन के बाद हेनरी अष्टम ने जीवन भर प्रोटेस्टैंट विचारो का विरोध कर काथलिक धर्मसिद्धातो को अक्षुण्ण बनाए रखने का सफल प्रयास किया। इग्लैंड के गिरजे का परमाधिकारी होने के नाते उसने मठो की सपत्ति अपनाकर उनका उन्मूलन किया।

एडवर्ड षष्ठ के राज्यकाल (सन् १५४७-१५५३ ई०) मे क्रैनमर के नेतृत्व में ऐंग्लिकन चर्च का काथलिक स्वरूप बहुत कुछ बदल गया तथा **'बुक आव कामन प्रेयर'** मे बहुत से प्रोटेस्टैंट विचारो का सनिवेश किया गया (इसका प्रथम सस्करण सन् १५४९ ई० मे स्वीकृत हुआ, दूसरा परिवर्तित सस्करण सन् १५५२ ई० मे प्रकाशित हुआ)।

अपने भाई एडवर्ड के निधन पर मेरी ट्यूडर ने कुछ समय तक (सन् १५५३-५८ ई०) रोमन काथलिक चर्च के साथ चर्च आव इग्लैंड का सपर्क पुन स्थापित किया किंतु उसकी बहन एलिजाबेथ (सन् १५५८-१६०३ ई०) ने चर्च आव इग्लैंड को पूर्ण रूप से स्वतत्र तथा राष्ट्रीय चर्च बना दिया।

सर्वप्रथम उसने एक नए अधिनियम द्वारा अपने पिता हेनरी अष्टम की भाँति अपने को चर्च आव इग्लैंड पर परमाधिकार दिलाया (ऐक्ट आव सुप्रिमेसी--सन् १५५९ ई०) तथा एक दूसरे अधिनियम द्वारा एडवर्ड का द्वितीय **बुक आव कामन प्रेयर** अनिवार्य ठहरा दिया (ऐक्ट आव यूनिफार्मिटी--सन् १५५९ ई०)। इतने में चर्च आव इग्लैंड के सिद्धातो के सूत्रीकरण का कार्य भी आगे बढा और १५६२ ई० मे पार्लमेंट तथा १५६३ ई० मे महारानी एलिजाबेथ द्वारा ३९ सूत्र (थर्टी नाइन आर्टिकिल्स) अनुमोदित हुए। इन सूत्रो पर लूथर के विचारो का प्रभाव स्पष्ट है।

एलिज़ाबेथ के समय मे प्युरिटन दल का उदय हुआ किंतु वह विशेष रूप से जेम्स प्रथम (सन् १६०३--२५ ई०) तथा चार्ल्स प्रथम (सन् १६२५--१६४९ ई०) के राज्यकाल मे सक्रिय था। प्युरिटन दल ऐंग्लिकन चर्च को प्रोटेस्टैंट धर्म के अधिक निकट ले जाना चाहता था। वह कुछ समय तक सर्वोपरि रहा तथा सन् १६४३ ई० मे पार्लमेंट द्वारा बिशप की पदवी का उन्मूलन कराने मे समर्थ हुआ। यह परिस्थिति सन् १६६० ई० तक बनी रही।

ऐंग्लिकन चर्च का इतिहास आगे चलकर प्रधानतया इसकी विभिन्न विचारधाराओ का उतार-चढाव है। यहाँ पर **ऐक्ट आव सक्सेशन** का उल्लेख करना जरूरी है जिसके अनुसार इग्लैंड के भावी राजाओ का ऐंग्लिकन होना अनिवार्य ठहराया गया है (सन् १७०१ ई०)।

सिद्धात--रोम से अलग होते हुए भी ऐंग्लिकन चर्च अपने को काथलिक चर्च का अग मानता है। सैद्धातिक दृष्टि से उसका स्थान रोमन काथलिक चर्च तथा प्रोटेस्टैंट धर्म के बीच मे है। इसी में ऐंग्लिकन चर्च का विशेष महत्व है और इसी कारण उसे 'ब्रिज चर्च' की उपाधि दी गई है क्योकि वह पुल की भाँति दोनो के बीच मे स्थित है। वह प्रोटेस्टैंट धर्म के समान रोम के बिशप का अधिकार अस्वीकार करता है किंतु वह रोमन काथलिक चर्च की भाँति सिखलाता है कि बाइबिल ईसाई धर्म का एकमात्र आधार नही है। बाइबिल के अतिरिक्त वह काथलिक गिरजे की प्रथम चार महासभाओ के निर्णय भी स्वीकार करता है तथा बाइबिल की व्याख्या मे गिरजे की प्राचीन परपरा को बहुत महत्व देता है। फिर भी वह धार्मिक शिक्षा के सबध मे सैद्धातिक एकरूपता के प्रति एक प्रकार से उदासीन है। फलस्वरूप ऐंग्लिकन चर्च मे प्राय प्रारभ से ही कई विचारधाराओ अथवा दलो का अस्तित्व रहा है। यद्यपि बहुत से ऐंग्लिकन किसी भी दल का अनुयायी होना स्वीकार नही करते तथापि पहले की भाँति आजकल भी ऐंग्लिकन धर्म मे मुख्यतया तीन भिन्न विचारधाराएँ वर्तमान है--(१) एवेंजेलिकल, (२) काथलिक, (३) लिबरल।

(१) प्रवर्तन के समय से ही ऐंग्लिकन चर्च पर प्रोटेस्टैंट धर्म का प्रभाव पडा। यह प्रभाव विशेष रूप से निम्नलिखित बातो मे लक्षित होता है--यज्ञ का निराकरण, पुरोहिताई तथा सस्कारो को कम महत्व देने की प्रवृत्ति, बिशपो के अधिकार को घटाने का प्रयत्न। इस विचारधारा के अनुयायी पहले तो चर्च के नाम से विख्यात थे किंतु आजकल वे अपने को एवेंजेलिकल कहकर पुकारते है।

(२) जब ऐंग्लिकन चर्च पहले पहल रोमन काथलिक गिरजे से अलग होने लगा था तब किसी के भी मन मे नया धर्म चलाने का विचार नही था। बाद मे भी ऐंग्लिकन धर्मपडितो का एक दल निरतर इस प्रयत्न में रहा कि ऐंग्लिकन धर्म जहाँ तक बन पडे सिद्धात तथा पूजापद्धति की दृष्टि से रोमन काथलिक धर्म से दूर न होने पाए। इस दल का नाम हाई चर्च रखा गया और वह १७ वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे बिशप लाड के नेतृत्व मे कुछ समय तक सर्वोपरि रहा। पिछली शताब्दी मे आक्सफर्ड मूवमेंट द्वारा इस विचारधारा का महत्व फिर बढने लगा, इसके अनुयायी अपने को ऐंग्लो-काथलिक कहते है तथा ऐंग्लिकन चर्च को काथलिक चर्च की एक शाखा मात्र मानते है। इधर (सन् १९२८ ई०) आधुनिक ऐंग्लो-काथलिक दल का एक नया सगठन, जिसके सदस्य प्राय पादरी ही होते है, सामूहिक रूप से रोमन काथलिक गिरजे मे समिलित हो जाने का आदोलन करता है, विरोधियो ने उसका नाम पेपलिस्ट रखा है।

(३) यह नितात स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जिस धर्म मे उपर्युक्त परस्पर विरोधी काथलिक और एवेंजेलिकल विचारधाराओ की गुजाइश थी, वहाँ कुछ लोग समन्वय की ओर झुक जाते तथा सिद्धातो को कम महत्व देते। उनके अनुसार धर्मसिद्धात ईश्वर द्वारा प्रकट किए हुए धार्मिक सत्य का अतिम सूत्रीकरण नही है, ये युगविशेष की धार्मिक भावनाओ की दार्शनिक अभिव्यक्ति मात्र है। १७वी शताब्दी मे इस दल का नाम 'लैटिट्यूडिनेरियन' रखा गया था, १८वी शताब्दी मे उसे लिबरल तथा बाद मे 'ब्राड चर्च' कहा गया। आजकल इसके लिये 'मार्डनिज्म' शब्द का भी प्रयोग होने लगा है।

विस्तार ऐंग्लिकन धर्म का क्षेत्र इग्लैंड तक सीमित नही रहा। राजनीतिक प्रभाव के फलस्वरूप वह स्काटलैंड तथा आयरलैंड मे फैल गया था किंतु ससार भर मे इसके व्यापक प्रसार का श्रेय अग्रेज प्रवासियो तथा मिशनरियो को है। तीन मिशनरी सस्थाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है--सोसाइटी फार प्रोमोटिंग क्रिश्चियन नालेज (जो एस० पी० सी० के० अक्षरो से विख्यात है, सन् १६९८ ई० मे सस्थापित)। सोसाइटी फार दि प्रोपेगेशन आव दि गास्पेल (एस० पी० जी०--सस्थापित सन् १७०१ ई०), चर्च मिशनरी सोसाइटी (सी० एम० एस०--सस्थापित सन् १७९९ ई०)। आजकल ऐंग्लिकन समुदाय के निम्नलिखित प्रात पूर्ण रूप से सगठित है--दि चर्च आव इग्लैंड (दो प्रात, कैंटरबरी और यार्क), दि चर्च आव आयरलैंड, दि एपिस्कोपल चर्च इन स्काटलैंड, दि चर्च इन वेल्स (वह सन् १९१४ ई० मे कैंटरबरी से अलग हो गया था), दि प्रोटेस्टैंट एपिस्कोपल चर्च इन दि युनाइटेड स्टेट्स आव अमेरिका, दि चर्च आव इडिया, पाकिस्तान, बर्मा ऐंड सिलोन (सन् १९४७ ई० के बाद लगभग २५०००० सदस्य, सन् १९४७ई० मे दक्षिण भारत के प्राय सभी प्रोटेस्टैंट तथा लगभग ५०,००,०० ऐंग्लिकन एक ही सस्था मे समिलित हुए, जो चर्च आव साउथ इडिया कहलाती है और ऐंग्लिकन समुदाय से सबद्ध नही है), दि चर्च आव दि प्राविंस आव साउथ अफ्रीका, दि ऐंग्लिकन चर्च आव कनाडा, दि चर्च आव इग्लैंड इन आस्ट्रेलिया ऐंड तास्मेनिया, दि चर्च आव दि प्राविंस आव न्यूजीलैंड, दि चर्च आव दि प्राविंस आव वेस्ट इडीज, दि होली काथलिक चर्च इन चाइना, जापान होली काथलिक चर्च, दि चर्च आव दि प्राविंस आव वेस्ट अफ्रीका, दि चर्च आव दि प्राविंस आव सेंट्रल अफ्रीका, आर्चबिशप्रिक आव दि मिडल ईस्ट। इसके अतिरिक्त कुछ प्रात पूर्ण रूप से सगठित नही है, वे प्राय कैंटरबरी से सबद्ध है। आजकल ससार भर मे लगभग ५ करोड ईसाई ऐंग्लिकन समुदाय के अनुयायी है।

स०ग्र०--स्टीफेन नील ऐंग्लिकनिज्म, फिलिप ह्यूज ए पापुलर हिस्ट्री आव दि रिफार्मेशन्स इन इग्लैंड। [का० बु०]

ऐंग्लो इंडियन

ऐंग्लो इंडियन विशेष शब्द जो जाति और भाषा के सबध मे प्रयुक्त होता है। जाति के सबध मे यह उन अग्रेजो की ओर सकेत करता है जो भारत मे बस गए है या व्यवसाय अथवा पदाधिकार से यहाँ प्रवास करते है। इनकी सख्या तो आज भारत मे विशेष नही है और मात्र प्रवासी होने के कारण उनको देश के राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त नही, परतु एक दूसरा वर्ग उनसे सबधित इस देश का है और उसे देश के नागरिको के सारे हक भी हासिल है। यह वर्ग भारत के अग्रेज प्रवासियो और भारतीय स्त्रियो के सपर्क से उत्पन्न हुआ है जो ऐंग्लो इडियन कहलाता है। इनकी सख्या काफी है और लोकसभा मे इनके विशेष प्रतिनिधान के लिये सावैधानिक अधिकार भी सुरक्षित है। इस समुदाय के समझदार व्यक्ति अपने को सर्वथा भारतीय और भारत के सुख-दुख मे शरीक मानते है, परतु अधिकतर ये स्थानीय जनता से घना सपर्क नही बना पाते और इग्लैंड की सहायता की अपेक्षा करते है। इनका अग्रेजो से रक्तसबध होना, अग्रेजी का इनकी जन्मजात और साधारण बोलचाल की भाषा होना और उनका धर्म से ईसाई होना भी उन्हे अपना विदेशी रूप बनाए रखने मे सहायक होते है। उनकी समूची सस्कृति अग्रेजी विचारधारा और रहन सहन से प्रभावित तथा अनुप्राणित है। तथापि अब वे धीरे धीरे देश की नित्य बदलती परिस्थितियो के अनुकूल होते जा रहे है।

ऐंग्लो इडियन शब्द का व्यवहार प्रवासी अग्रेजो की भारतीय माताओ से प्रसूत सततियो अथवा उनमे प्रजनित सतानो से भिन्न भाषा के अर्थ में भी होता है। ऐंग्लो इडियन भाषा के अनेक रूप है। कभी तो इसका प्रयोग भारतीयों द्वारा लिखी शुद्ध अग्रेजी के अर्थ मे हुआ है और कभी उन अग्रेजो की भाषा के सबध में भी जिन्होने भारत मे रहकर लिखा है, यद्यपि

भापा शास्त्र की दृष्टि से दोनो मे स्थानीय प्रभावो के अतिरिक्त कोई विशेप भेद नही है। फिर ऐंग्लो इडियन से तात्पर्य उस सकर हिंदी भापा से भी है जो भारत के ऐंग्लो इडियन अपने से भिन्न भारतीयो से बोलते हैं। इस शब्द का व्यवहार अनेक बार उस हिंदी भापा के सबध मे भी हुआ है जिसे हिंदुस्तानी कहते हैं। परतु इस अर्थ मे इसका उपयोग अकारण और अनुचित दोनो है। [ओ० ना० उ०]

ऐंग्लो सैक्सन इग्लैड के इतिहास मे इस शब्द का उस काल के लिये प्रयोग किया जाता है जो नार्मन आक्रमण के पहले का है। दूसरे शब्दो मे, इसका अभिप्राय अलफ्रेड के राज्यकाल से है। यह शब्द कहाँ से लिया गया और कैसे लिया गया, यह बताना वैसे कठिन है। अटकल किया जाता है कि यह शब्द उस समय से प्रचलित हुआ जब सन् ८८६ मे अलफ्रेड के नेतृत्व मे कई राज्य मिलकर एक राज्य बने, वास्तव मे ऐंग्ली और सैक्सन दो अलग अलग सेनाएँ थी जो नार्मन आक्रमण से पहले ही सयुक्त रूप मे बन गई थी।

ऐंग्लो सैक्सन क्रानीकल चार प्रकार के हैं। इनके हाथ के लिखे कई नुस्खे भी हैं और इनमे मतभेद भी है। फिर भी इनको रूप देनेवाला प्रथम मनुष्य अलफ्रेड ही है।

ऐंग्लो सैक्सन कानून और स्कैंडीनेविया के कानून को पुराने ट्यूटनिक कानून का नमूना कहा जा सकता है। इन दोनो कानूनो मे जो भेद है वे केवल भापा के हैं। यूरोप के कानून की भापा लातानी और इग्लैड के कानून की अग्रेजी है।

ऐंग्लो सैक्सन कानून को तीन बडे भागो मे बाँटा जा सकता है। प्रथम वे कानून जिन्हे जनता ने लागू किए, द्वितीय वे जो परपरा और रीति-रिवाज द्वारा आए और तृतीय वे जिन्हें लोगो ने स्वय बनाया।

ऐंग्लो सैक्सन कानून में जनाधिकार को विशेप रूप मे स्थान प्राप्त था। जायदाद, विरासत, इकरारनामा और स्थायी जुर्माना प्रत्येक वस्तु जनाधिकार द्वारा निश्चित होती थी। शाही अफसरो को स्थानीय लोक अधिकार का ध्यान रखना पडता था। कानून पचायत मे बनाया जाता था और उसी की ओर से लागू होता था। इस अधिकार का अधिवेशन भी होता था और इसे तोडा भी जाता था। यह उसी समय होता था जब बादशाह अपने विशेप मत का प्रयोग करता था। इस कानून मे परिवतन या रियायत उसी समय सभव थी जब दोनो पक्ष उसे स्वीकार करें या गिर्जे की वैसी इच्छा हो।

दूसरी विशेपता इस कानून की थी विश्वशाति। घरेलू अथवा जन-कानून तोडनेवालो को दड दिया जाता था। एक व्यक्ति के लिये केवल उसका व्यक्तित्व ही कसौटी नही था, बल्कि आपसी मेलजोल भी था। [मु० अ० अ०]

ऐंजर्ज़ पश्चिमी फ्रास के मेन-एत-ल्वार विभाग की राजधानी तथा नगर है। रेल द्वारा पेरिस से १४१ मील दक्षिण-पश्चिम मेन नदी के दोनो उच्च कूलो पर स्थित है, तथा दोनो भाग एक पुल द्वारा सबद्ध हैं। प्राचीन नगर नदी के बाएँ किनारे पर स्थित और परकोटे द्वारा घिरा हुआ है जिसमे गिर्जाघरो तथा किलो का बाहुल्य है। दाहिनी ओर का भाग कुछ नीचा है। जनसख्या सन् १९५१ ई० में १,०२,१४२ थी। ऐंजर्ज़ फ्रास के सबसे सुदर नगरो मे गिना जाता है। रोमवासी इसे जूलियोमगस के नाम से पुकारते थे। फ्रास की प्रसिद्ध छ राष्ट्रीय तथा व्यापारिक शिक्षा सस्थाओ में से एक यहाँ पर है। नगर की उन्नति का मुख्य कारण समीपस्थ स्लेट की खदाने, मदिरा तथा तार के रस्से बनाने के कारखाने, पुस्तको का प्रकाशन इत्यादि है। व्यापार की मुख्य वस्तुएँ स्लेटो के अतिरिक्त सन, फलफूल, तार, तेल, चमडा इत्यादि हैं। ऐंजज ऐंजू प्रात की प्राचीन राजधानी है। इसके निवासी आज भी ऐंजिवाइन्स कहलाते है। [श्या० सु० श०]

ऐंटवर्प बेल्जियम के ऐंटवर्प प्रात की राजधानी है। यह खुले समुद्र से ५० मी० तथा ब्रूसेल्स से २५ मी० की दूरी पर स्केल्ट नदी के दाहिने किनारे की समतल भूमि पर बसा है। यहाँ ज्वारभाटे के उतार के समय नदी में जल ३० से ४० फुट तक गहरा, तथा ज्वार आने पर १२ से १४ फुट और अधिक गहरा हो जाता है। बेल्जियम का यह नगर दुर्गों से अच्छी तरह सुरक्षित है। सन् १९०५ ई० के पश्चात् यहाँ बडे बडे जहाजो के ठहरने के स्थान और पक्के घाट बनाए गए हैं, तथा एक पत्तन के लिये आवश्यक आधुनिकतम सुविधाएँ अब यहाँ सुलभ हैं। इन सब आवश्यक सुविधाओ के सुलभ होने के कारण ऐंटवर्प ससार का सबसे सुदर, एव व्यापारिक दृष्टि से अत्यधिक कार्यशील पत्तन है। यहाँ का वार्पिक औसत निर्यात ६५,००,००० से लेकर ८०,००,००० टन तक है जिसका अनुमित मूल्य ३६,००,००,००० डालर मे लेकर ४५,००,००,००० डालर तक है। औसत वार्पिक आयात का मूल्य इससे अधिक है। आयात की सबसे मुख्य वस्तु अन्न है। यहाँ के मुख्य उद्योगो में वस्त्र तथा मदिरा बनाना, हीरो की कटाई, चीनी साफ करना, सिगार तथा तबाकू तैयार करना इत्यादि हैं। आधुनिक ऐंटवर्प यूरोप के अत्यत सुदर तथा विकसित नगरो में से एक है। आज भी यहाँ बहुत से प्राचीन ऐतिहासिक भवन सुरक्षित हैं।

१४वी शताब्दी का बना हुआ 'नोत्र दाम' का गिरजाघर यहाँ का सर्वाधिक दर्शनीय स्थान है। यह तीक्ष्णाग्र तोरणोंवाली गॉथिक (Gothic) स्थापत्य कला का सुदर उदाहरण है। इसमें एक अट्टालक है जिसकी ऊँचाई ४०० फुट है। इस विशाल भवन का क्षेत्रफल ७०,०६० वर्ग फुट है तथा इस भवन मे सुप्रसिद्ध कलाकार रूबेंज़ की चित्रकला देखने योग्य है।

इस नगर की स्थापना सभवत आठवीं शताब्दी के पूर्व हुई थी। यहाँ के निवासी उस समय ऐंटवर्पियन अथवा गैंनर्वियन कहलाते थे और उसी समय ये ईसाई धर्म में दीक्षित किए गए। महायुद्धो के समय इस सुदर नगर को काफी क्षति उठानी पडी है। नगर की जनसख्या सन् १९५५ ई० में २,५५,९८१ थी। [श्या० सु० श०]

ऐंटिपोलो फिलीपाइन्स द्वीपसमूह में लूजों द्वीप के रिजाल प्रात में स्थित एक नगर है। यह मनीला से २० मी० की दूरी पर पहाडी प्रदेश में है। जनसख्या सन् १९३९ ई० मे ६,१३५ थी, जिनमें से ३,११३ पुरुप और ३ श्वेत (यूरोपवासी) थे। यह उपजाऊ भूभाग में स्थित है तथा यहाँ से कई प्रकार का ओपधियुक्त जल बाहर भेजा जाता है। रोमन कैथोलिक गिरजाघर में 'ऐंटिपोलो की कुमारी' की प्रतिमा स्थापित है, जिसके वार्पिक उत्सव पर काफी बडा जनसमूह एकत्र होता है। एक छोटा सा ऋतु-विज्ञान-केंद्र भी यहाँ है। आसपास का प्रदेश जगल से पूर्ण है। [श्या० सु० श०]

ऐंटिमनी एक रासायनिक तत्व है और आवर्त सारणी मे पचम मुख्य समूह मे रखा गया है। इसकी स्थिति आर्सेनिक के नीचे तथा बिसमथ के ऊपर है। यह धातु तथा अधातु दोनो के गुणो से युक्त है। इसमें धातुओ जैसी चमक रहती है, परतु धातु की सी उच्च विद्युच्चालकता नही होती। यह भगुर है। ऐंटिमनी की कुछ विशेपताएँ निम्नलिखित हैं

सकेत	$ऐं_ट$ (Sb)
परमाणु अक	५१
परमाणुभार	१२१ ८
$ऐं_ट^{+५}$ (Sb^{+5}) आयन का अर्द्धव्यास	० ६२ $\times १०^{-८}$ सेंटीमीटर
स्थायी समस्थानिक	१२१, १२३
रग	श्वेत, धातु की सी चमक
मणिभीय रूप	पट्कोणीय
गलनाक	६३० ५° सेंटीग्रेड
क्वथनाक	१६३५° सेंटीग्रेड
विद्युत्प्रतिरोधकता	८ २८ $\times १०^{-६}$ (ओह्म–सेंटीमीटर) १५° सेंटीग्रेड पर

ऐंटिमनी तथा ऐंटिमनी सल्फाइड प्राचीन काल से प्रयोग मे आते रहे हैं। इस तत्व के उपयोग ४,००० ईस्वी पूर्व से लोगो को ज्ञात थे। ऐंटिमनी सल्फाइड का प्रयोग (अजन या सुरमा के रूप मे) नेत्रो की सुदरता बढाने के लिये होता रहा है। मध्यकाल मे इसके यौगिक ओपधि के रूप में काम आते थे।

उपस्थिति—ऐंटिमनी तत्व तथा यौगिको के रूप मे पाया जाता है। यौगिको मे वेलेंटिनाइट $ऐं_{ट२}औ_३$ (Sb_2O_3), कार्वेटाइट $ऐं_{ट१}औ_१$

(Sb_2O_4), स्टिवनाइट ऐं$_{टर}$ग$_3$ (Sb_2S_3) और अन्य ऐंटिमोनाइट तथा ऐंटिमोनेट पाए जाते हैं। खनिजो मे सल्फाइड सबसे अधिक मात्रा मे पाया जाता है। ऐंटिमनी के अयस्क विस्तृत मात्रा मे चीन, मेक्सिको और वोलीविया (दक्षिणी अमरीका) मे पाए जाते हैं।

गुणधर्म—ऐंटिमनी के विभिन्न अपर रूप हैं, जैसे धूसर ऐंटिमनी, विस्फोटक ऐंटिमनी, पीला ऐंटिमनी, काला ऐंटिमनी इत्यादि। धूसर ऐंटिमनी सबसे साधारण अपर रूप है। विस्फोटक ऐंटिमनी और काला ऐंटिमनी दोनो विस्फोटशील रूप हैं।

ऐंटिमनी त्रिसयोजक तथा पचसयोजक अवस्थाओ मे यौगिक वनाता है। ऐंटिमनी का परमाणु आर्सेनिक से अधिक विद्युद्धनीय होता है। वह आर्सेनिक की भाँति हाइड्रोजन से यौगिक वनाता है जिसका सूत्र ऐं$_ट$हा$_3$ (SbH_3) है। यह आहा$_3$ (AsH_3) से कम स्थायी है। ऐंटिमनी का परमाणु आर्सेनिक के परमाणु से वडा है। इस कारण इसमे कुछ भिन्नताएँ भी हैं। ऐंटिमनी के हेलाइड मे लवण के गुण अधिक हैं। इसका विघटन भी सुगमता से होता है।

जलीय माध्यम मे ऐंटिमनी किसी भी हैलोजन द्वारा उपचयित (आक्सीकृत) हो सकता है। नाइट्रिक, सल्फ्यूरिक तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (आक्सिजन की उपस्थिति मे) ऐंटिमनी को आक्सीकृत कर देते हैं। इस प्रकार ऐंटिमनी अच्छा उपचायक है। वायु मे दहन करने पर यह जलने लगता है। हैलोजन तथा गधक के साथ गर्म करने पर भी यह आक्सीकृत हो जाता है। ऊँचे ताप पर कार्वन द्वि-आक्साइड भी इसे आक्सीकृत करता है। इसी प्रकार जलवाष्प तथा कुछ धातुओ के आक्साइडे भी ऊँचे ताप पर ऐंटिमनी को आक्सीकृत करते हैं। कुछ धातुएँ जैसे सोडियम, लोह, ऐल्युमिनियम तथा मैगनीशियम भी ऐंटिमनी के साथ अतर्धात्वीय यौगिक वनाती हैं।

यौगिक—ऐंटिमनी के यौगिको मे ऐंटिमनी ट्राइआक्साइड ऐं$_{टर}$औ$_3$ (Sb_2O_3) वहुत प्रसिद्ध है। इसके दो अपर रूप घन तथा समचतुर्भुज हैं। समचतुर्भुज अपर रूप ३६०° सेंटीग्रेड से ऊँचे ताप पर स्थायी है। ऐंटिमनी ट्राइआक्साइड ऐंटिमनी या उसके सल्फाइड को वायु मे गर्म करने से प्राप्त होता है।

ऐंटिमनी ट्राइसल्फाइड, ऐं$_{टर}$गं$_3$ (Sb_2S_3), प्राकृतिक अवस्था मे मणिभ रूप मे पाया जाता है। इसका नाम स्टिवनाइट है। अमणिभीय रूप प्रयोगशाला मे वनाया जा सकता है। यह पानी मे अविलेय है। यदि विलयन मे सल्फाइड आयन उपस्थित हो तो यह विलेय हो जाता है। ऐंटिमनी ट्राइसल्फाइड शक्तिशाली उपचयक के द्वारा पेंटा-सल्फाइड मे परिवर्तित किया जाता है।

ऐंटिमनी के वहुत से पचसयोजक यौगिक हैं, जैसे आक्साइड ऐं$_{टर}$औ$_5$ (Sb_2O_5), फ्लोराइड ऐं$_ट$फ्लो$_5$ (SbF_5), क्लोराइड ऐं$_ट$क्लो$_5$ ($SbCl_5$) आदि। ऐंटिमनी के कार्वनिक व्युत्पन्न भी वनाए गए हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं

(का$_2$हा$_5$)$_3$ ऐं$_ट$ [$(C_2H_5)_3 Sb$], (का$_2$ हा$_5$)$_2$ ऐं$_ट$ क्लो [$(C_2H_5)_2 SbCl$], का$_2$ हा$_5$ ऐं$_ट$ क्लो$_2$ ($C_2H_5SbCl_2$)।

उपयोग—ऐंटिमनी का विशेष उपयोग अन्य धातुओ के साथ मिश्रधातु वनाने मे होता है। सीसे के साथ इसका वहुधा उपयोग होता है। थोडी मात्रा मे सीसे के साथ ऐंटिमनी मिलाने से सीसा कठोर हो जाता है और जल्द श्रात नही होता (काम करते करते अपने आप टूटने को श्रात होना कहते हैं)।

ऐंटिमनी ट्राइसलफाइड का उपयोग वर्णक (रग) वनाने मे, दियासलाई उद्योग में, कारतूस वनाने में और धूम्र उत्पन्न करने मे होता है। ऐंटिमनी आक्साइड इनैमल उद्योग मे काम आता है। ऐंटिमनी के कुछ यौगिक रगस्थापक (मार्डेंट), ज्वालावरोधक और अग्निसह वस्त्र वनाने मे प्रयुक्त होते हैं।

ऐंटिमनी के यौगिक खाने पर मनुष्य तथा पशु के शरीर पर हानिकर प्रभाव पडता है। इसके यौगिक शरीर मे जलन पैदा करते हैं और श्वासक्रिया तथा हृदयगति पर वुरा प्रभाव डालते हैं। ऐंटिमनी के लवण थोडी मात्रा मे भी मनुष्यो के लिये घातक सिद्ध होते हैं। इसका प्रभाव आर्सेनिक की भाँति ही विपाक्त होता है।

ऐंटिमनी के कुछ यौगिक ओपधि के रूप मे हाथीपाँव (फाइलेरिया), कालाजार, घाव आदि के उपचार मे प्रयुक्त होते हैं एव परोपजीवियो द्वारा फैलाए रोगो के उपचार मे भी काम आते हैं।

उत्पादन—साधारणतया ऐंटिमनी तत्व स्टिवनाइट (सल्फाइड अयस्क) से निकाला जाता है। ऐंटिमनी सल्फाइड दूसरे सल्फाइडो से कम ताप पर द्रवित होता है। इस प्रकार इसे दूसरे सल्फाइडो से अलग किया जाता है। यदि अयस्क मे सल्फाइड की मात्रा कम हो तो उसे उपचयित करके आक्साइड मे परिवर्तित करते हैं। यह आक्साइड वाष्पशील है तथा सुगमता से अलग किया जा सकता है। ऐंटिमनी सल्फाइड को पहले उपचयित कर फिर ऐंटिमनी आक्साइड को कार्वन द्वारा अपचयित करते हैं।

अपचयन द्वारा वनाया हुआ ऐंटिमनी शुद्ध नही होता है। शुद्ध करने के लिये अशुद्ध ऐंटिमनी को कुछ द्रावक के साथ गर्म करते हैं। इस प्रकार लोहा, आर्सेनिक, ताँवा, सीसा, गधक आदि अशुद्धियाँ अलग हो जाती हैं और शुद्ध ऐंटिमनी मिल जाता है।

ऐंटिमनी का उत्पादन अमरीका, वोलीविया, मेक्सिको तथा चीन मे विशेष अधिक होता है।

स०ग्र०—जे० डब्ल्यू० मेलोर काम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२८-३२), ए० एफ० वेल्स स्ट्रक्चरल इनॉर्गेनिक केमिस्ट्री (१९४६)। [र० च० क०]

ऐंटियम जिसका आधुनिक नाम ऐंजिओ है, इटली के लेशियम प्रदेश के तट पर एक प्राचीन तथा वोलसियन नगर है। यह रोम से प्राय ३३ मी० दक्षिण मे है। प्राचीनकाल मे इसकी स्थिति भूमि के उच्च तथा अग्रभाग पर थी और यह उन्नतिशील सागरपत्तन था। ४६८ ई० पू० मे रोमनो द्वारा अधिकृत किया गया, पर यहाँ विद्रोह हुआ तथा ३३८ ई० पू० तक यह स्वतत्र वना रहा। अत मे फिर रोमनो के अधीन होकर उनका सामुद्रिक उपनिवेश हो गया। उन दिनो यह विलासी रोमनो का निवासस्थान था, नगर तथा आसपास के स्थान सुदर तथा भव्य मदिरो और भवनो से सुसज्जित थे। रोमन सम्राट् नीरो तथा कालिगुला का यह जन्मस्थान है। अरव के मुसलमानो द्वारा यह नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया था, परतु भव्य अतीत की याद दिलानेवाले अवशेष आज भी वर्तमान नगर के समीप विद्यमान हैं। [श्या० सु० श०]

ऐंटिलीस एक विवादग्रस्त शब्द है, जो वहुत से विद्वानो तथा लेखको द्वारा 'पश्चिमी द्वीपसमूह' के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसका सवध यूरोपीय सामुद्रिको द्वारा नए देशो की खोज के समय से चला आ रहा है। उस समय यह नाम एक प्रकार से कल्पित भूखडो से सवधित था और मध्ययुगीन मानचित्रो मे इसका प्रयोग प्रायद्वीपो तथा कभी कभी उन भूखडो के लिये भी होता था, जिनकी कल्पना कानेयरीज द्वीप तथा भारतवर्ष के मध्य समुद्र मे की जाती थी। कोलवस द्वारा पश्चिमी द्वीपसमूह का पता लगा लिए जाने पर इन द्वीपो के लिये इस शब्द का प्रयोग किया गया। उस समय उन लोगो का विचार था कि यह द्वीपपुज असख्य द्वीपो से भरा है। ऐंटीलिया ऐंटिलीस का वहुवचन है जो इन द्वीपो के लिये प्रयुक्त किया गया। ऐंटिलीस दो प्रकार के हैं प्रथम, वडा ऐंटिलीस जिसमें क्यूवा, जामेका, हेती-सान, डोमिंगो तथा पोर्टो रिको आते हैं। और द्वितीय, लघु ऐंटिलीस, जिसमे अन्य सव वचे हुए द्वीप आते हैं। [श्या० सु० श०]

ऐंटिवारी यह सागरपत्तन वारी के विपरीत होने के कारण वेनिसवासियो द्वारा इसी नाम से पुकारा जाता है। यह यूगोस्लाविया के माटेनीग्रो प्रदेश मे है और सन् १८७८ ई० तक तुर्कों के अधीन था। जनसख्या सन् १९३१ ई० मे ५,५४४ थी। प्राचीन नगर समुद्र से हटकर रामीजा (५,२२६ फुट) की छाया मे जैतून के घने झुरमुटो से ढके हुए स्थल पर वसा हुआ है। यह एक भग्न प्राचीरवाला ग्राम है, जिसमे एक छोटा सा किला है। यह मसजिदो एव वाजारो से घिरा हुआ है। पहाडो से घिरी हुई ऐंटिवारी की सदर खाडी यहाँ से ३ मील की दूरी पर है जहाँ प्रस्तन नामक पत्तन स्थित है। इस पत्तन (१९०६ ई० में वनाया गया) मे २०० जहाज ठहर सकते हैं। एकमात्र रेलमार्ग वीरपजार

से ऐंटिवारी तक ही है, किंतु तट के किनारे सुदर सडक है। वारी ग्राने जाने के लिये स्टीमरो द्वारा फेरी पार उतारने का प्रवध है। मुख्य उद्योगो में मछली पकडना, जैतून का तेल साफ करना तथा तवाकू पैदा करना है। [श्या० सु० श०]

ऐंट्रिम

ग्रायरलैंड के ग्रल्स्टर प्रदेश मे स्थित एक जिला है। इसकी उत्तरी सीमा पर ग्रध महासागर, पूर्व मे उत्तरी जलप्रणाली, दक्षिण मे लेगान नदी तथा लौखने झील हैं ग्रौर पश्चिमी सीमा का निर्माण वान नदी करती है। इसका क्षेत्रफल १,२३७ वर्ग मील है, जिसके प्राय सपूर्ण भाग मे कृषि होती है। ग्लेनरावेल मे ग्रच्छे लोहे की परते हैं, तथा डयूनेरल ग्रौर कैरिक फरगुस मे नमक की वडी वडी खदाने हैं जहाँ से काफी नमक निकाला जाता है। यहाँ के निवासियो के मुख्य धधे सन का उत्पादन, मछली पकडना, लिनन तैयार करना, तथा ऊनी एव सूती वस्त्र का उत्पादन हैं। वेलफास्ट राजधानी है तथा ग्रन्य मुख्य नगर लार्न तथा कैरिक फरगुस हैं।

ऐंट्रिम नगर लाखाने झील से ग्राधे मील की दूरी पर स्थित है। उसकी स्थिति इतनी ग्रच्छी नहीं है, फिर भी यहाँ लोहा ढालने, वस्त्र श्वेत करने ग्रौर लिनन तथा कागज वनाने के उद्योग हैं। इसके समीप ही ग्रायरलैंड का, ६३ फुट ऊँचा तथा ५० फुट व्यास का ग्रायरलैंड मे प्रचलित रचना का एक गोल ग्रट्टालक है जो स्थापत्य कला की दृष्टि से ग्रनिंद्य है। ऐंट्रिम का किला भी युद्ध की दृष्टि से वडे महत्वपूर्ण स्थान पर है। यह नगर ग्रावागमन के मुख्य मार्गो को व्यवस्थित रखता है। इस नगर का वेलफास्ट, लार्न, कोलरेन इत्यादि मुख्य नगरो तथा ग्रन्य केद्रो से रेल द्वारा सीधा सवध है। ऐंट्रिम वह स्थान है जहाँ ईसाइयो की एक साप्रदायिक सस्था 'सोसायटी ग्रॉव फ्रेड्स' के सिद्धातो को ग्रायरलैंड मे सर्वप्रथम प्रसारित किया गया था। आल्डरग्रव के समीप ही शाही वायुसेना का हवाई ग्रड्डा है। यहाँ की जनसख्या सन् १९५० ई० मे १,६६० थी। [श्या० सु० श०]

ऐंडर्सन, कार्ल डेविड

ग्रमरीका के प्रमुख भौतिक वैज्ञानिक हैं। इनका जन्म ३ सितवर, सन् १९०५ ई० को न्यूयार्क मे हुग्रा। उच्च शिक्षा इन्होने कैलिफोर्निया इस्टिट्यूट ग्रॉव टेक्नॉलोजी, पैसाडेना मे प्राप्त की। १९३० मे इन्हे पी-एच० डी० की डिग्री मिली। १९३३ में ये कैलिफोर्निया इस्टिट्यूट मे सहायक प्रोफेसर नियुक्त हुए, फिर १९३९ मे प्रोफेसर वना दिए गए। तब से ये इसी पद पर काम कर रहे हैं।

अनुसधानकार्य--सन् १९२७ मे जिन दिनो ग्रापने ग्रतरिक्ष किरणो के वारे मे ग्रपना शोधकार्य ग्रारभ किया, उन दिनो इन किरणो के वारे मे इस महत्वपूर्ण प्रश्न का हल ढूँढा जा रहा था कि ये किरणे ग्रत्यधिक ऊर्जावाले कणो से वनी हैं ग्रथवा ये शक्तिशाली गामा किरणो की जाति की हैं। प्रोफेसर मिलिकन की प्रेरणा से ऐंडर्सन ने सुसगठित योजना के ग्रनुसार ग्रपने प्रयोग ग्रारभ किए। इन प्रयोगो मे मेघकक्ष (क्लाउड चेवर) को चुवकीय क्षेत्र मे रखा गया था ग्रौर इस वात का प्रवध किया गया था कि एक लवी ग्रवधि तक प्रत्येक १५ सेकड के ग्रतर पर कक्ष मे प्रकट होनेवाले विद्युत्कणो की मार्गरेखा का फोटो ग्रपने ग्राप खिंचता रहे। इन मार्गरेखाग्रो की वक्रता नापकर ऐंडर्सन ने निर्विवाद रूप से १९३२ मे यह सिद्ध किया कि ग्रतरिक्ष किरणो की ऊर्जा जव पदार्थ मे परिणत होती है तो एक इलेक्ट्रान के साथ साथ उतनी ही घनविद्युत् मात्रावाला दूसरा कण भी उत्पन्न होता है, जिसे 'पाजिट्रान' का नाम दिया गया। पाजिट्रान का भार ठीक इलेक्ट्रान के भार के वरावर होता है। १९३६ मे पाजिट्रान की खोज के उपलक्ष मे ग्रापको नोवेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

इन्ही प्रयोगो के सिलसिले मे ऐंडर्सन ने इस वात की भी सभावना वतलाई कि ग्रतरिक्ष किरणो मे एक नई जाति के विद्युत्कण भी विद्यमान रह सकते हैं जिनका भार इलेक्ट्रान ग्रौर प्रोटान के भार के वीच होना चाहिए तथा जिनकी विद्युन्मात्रा इलेक्ट्रान की विद्युन्मात्रा के वरावर ही ऋणात्मक या धनात्मक जाति की होनी चाहिए। ऐंडर्सन ने इन्हें मेसोट्रान नाम दिया। वाद मे ये ही कण मेसन कहलाए। [भ० प्र० श्री०]

ऐंडर्सन, हान्स क्रिश्चियन

(१८०५-७५)। इनका जन्म २ ग्रप्रैल, १८०५ को ग्रोडेन्स (डेन्मार्क) मे हुग्रा। ग्रपने वचपन मे ही इन्होने कठपुतलियो के लिये एक नाटक की रचना कर ग्रपनी भावी कल्पना शक्ति का परिचय दिया। यह छोटे ही थे जव इनके निर्धन पिता की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् ये ग्रॉपेरा में गायक वनने की इच्छा से कोपेनहागेन ग्राए। इन्होने इस समय वुरे दिन भी देखे, परतु कुछ गायक मित्रो की सहायता से काम चलता रहा। गायक वनने की ग्रभिलाषा छोड कर इन्होने रायल थियेटर में नृत्य सीखना ग्रारभ किया। रॉयल थियेटर के निर्देशक श्री कॉलिन ने डेन्माक नरेश से इनकी प्रशसा की ग्रौर कुछ वर्षो के लिये उन्होने इनकी शिक्षा का भार सँभाला। १८२९ मे इन्हे 'फाउराइज़' नामक पुस्तक के प्रकाशन के फलस्वरूप प्रथम सफलता प्राप्त हुई। १८३३ मे डेन्मार्क नरेश ने इनको कुछ धन भ्रमणार्थ दिया, जिससे इनका ग्रनुभव वढा। १८३५ मे इनकी कथा 'इम्प्रोवाइज़ेटोरेन' को वहुत सफलता मिली। इस समय इन्होने 'फेयरी टेल्स' लिखना ग्रारभ किया, जिनके द्वारा वे विश्वविख्यात हुए। इन्होने कई नाटक भी लिखे। १८७२ में एक दुर्घटना ने इन्हें किसी योग्य न रहने दिया, ग्रौर ४ ग्रगस्त, १८७५ को इनकी मृत्यु हो गई। विश्व के वाल साहित्य ग्रौर स्कैंडिनेविया के साहित्य मे इनका सर्वप्रथम स्थान है। विश्व की लगभग सभी भाषाग्रो में इनकी विख्यात कृतियो का ग्रनुवाद हो चुका है। इनकी मुख्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं 'फॉडराइज़' (१८२९), 'रैवल्स' (१८३१), 'दि इम्प्रोवाइज़ेटर' (१८३५), 'फेयरी टेल्स' (१८३५-३७, १८४५, १८४७-४८, १८५२-६२, १८७१-७२), 'ए पिक्चर वुक विदाउट पिक्चर्स' (१८४०), 'ए पोएट्स वज़ार' (१८४७), 'दि टू वैरोनेसेज' (१८४७), 'इन स्वीडेन'—१८४९, 'ग्रात्मकथा', 'टु वी ग्रॉर नॉट टु वी' (१८५७) ग्रौर 'इन स्पेन' (१८६३)। [स्क० गु०]

ऐंडीज़ पर्वत

उस विशाल पर्वतीय प्रणाली का नाम है जो दक्षिणी ग्रमरीका के पश्चिमी भाग की पूरी लवाई मे फैली हुई है। ऐंडीज़ शब्द की उत्पत्ति ग्रज्ञात है।

भूतत्व---ऐंडीज की भजन क्रिया का ग्रारभ उत्तर खटीयुत युग मे हुग्रा ग्रौर यह क्रम तृतीयक कल्प तक जारी रहा। ऐंडीज़ के ग्रधिकाश मौगभिक पार्श्व चित्रो द्वारा पता चलता है कि भजन साधारण जूरा (Jura) प्रकार का है। इसके विपरीत ग्राल्प्स की भजन क्रिया कही ग्रधिक पेचीदी है। सपूर्ण ऐंडीज क्षेत्र मे ग्रनेक विस्तृत तुरीय हिमयुगो के प्रमाण मिलते हैं। पूवकाल मे दक्षिणी ग्रमरीका के सपूर्ण पश्चिमी समुद्रतटीय प्रदेश मे महान् परिवर्तन हुए हैं। वर्तमान समय मे भी इस प्रदेश के विभिन्न भागो मे वहुधा भूकप ग्राया करते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि इन परिवर्तनो का क्रम जारी है। इसके सिवाय ऐंडीज उच्च प्रदेश के समीपस्थ समुद्र की ग्रथाह गहराई भी इसकी ग्रस्थिरता का सूचक है। ऐंडीज के ज्वालामुखी तीन महत्वपूर्ण समूहो मे विभक्त हैं (१) दक्षिणी कोलविया ग्रौर उत्तरी इक्वेडर, (२) दक्षिणी, पीरू ग्रौर उत्तरी चिली ग्रौर (३) मध्य चिली, नेऊकेन तथा पैटागोनिया। इनमे गाढा ग्रम्लिक लावा पाया जाता है।

खान खोदने का उद्योग ऐंडीज के सभी ग्रतर्गत देशो मे महत्वपूर्ण है। चिली ग्रौर वोलिविया मे यह ग्रन्य समस्त उद्योगो से ग्रधिक महत्वपूर्ण हैं। ग्रधिकाश खनिज पदार्थ नवीन ग्राग्नेय शिलाग्रो मे मिलते हैं। इनमें कोलविया मे सोना, पीरू ग्रौर चिली मे चाँदी तथा ताँवा ग्रौर वोलिविया मे टिन, चाँदी, विसमथ तथा ताँवा ग्रधिक महत्वपूर्ण हैं। चिली, पीरू ग्रौर कोलविया मे घटिया जाति के कोयले का विस्तृत भडार है। वेनिज्वीला कोलविया ग्रौर पीरू मे खनिज तेल के महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं। मानवीय व्यवसायो की दृष्टि से ऐंडीज के तीन विभाग हैं---दक्षिण का वस्ती रहित क्षेत्र, जिसका विस्तार उत्तर मे प्यूना डी ग्रटाकामा तक है, मध्यवर्ती शुष्क क्षेत्र, जिसका विस्तार प्यूना डी ग्रटाकामा से उत्तरी पीरू तक है तथा जहाँ खान खोदना मुख्य उद्यम है, ग्रौर उत्तर का नम क्षेत्र जहाँ खेती मुख्य उद्यम है।

ऐंडीज़ के सपूर्ण वसे हुए प्रदेशो मे यातायात का मुख्य साधन खच्चर है। यहाँ रेलमार्गो का ग्रभाव है ग्रौर केवल दो ही रेलमार्ग इस पर्वत को पार करते हैं। [रा० ना० मा०]

ऐंड्रूज, राय चैपमैन अमरीकी प्राणिविद तथा अन्वेषक, का जन्म संयुक्त राज्य (अमरीका) के विस्कान्सिन राज्य के बेलाइट नगर में सन् १८८४ में हुआ था। बेलाइट कालेज से उपाधि ग्रहण करने के पश्चात् इन्होंने न्यूयार्क के अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री में सेवा आरंभ की और सन् १९०८ में अन्वेषण के लिये सर्वप्रथम अलास्का गए। सन् १९०९-१० में यू० एस० एस० ऐल्बैट्रॉस नामक पोत पर प्राणिविद के पद पर नियुक्त होकर इन्होंने हिंदेशिया बोर्नियो तथा सिलीबीज द्वीपों की यात्रा की। सन् १९११-१२ में उत्तरी कोरिया में खोज कार्य किया तथा एक वर्ष पश्चात् इन्होंने बार्डेन की अलास्का यात्रा में भाग लिया।

प्रारंभ में ह्वेल तथा जलनिवासी अन्य स्तनधारी जीव इनके विशेष अध्ययन के विषय थे, किंतु सन् १९१४ में अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के एशियाई खोज विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त होकर ये मध्य एशिया, चीन, बोर्नियो इत्यादि देशों में १५ वर्षों तक अन्वेषण कार्य करते रहे। इनके नेतृत्व में तिब्बत, दक्षिण पश्चिमी चीन, ब्रह्मदेश, उत्तरी चीन, मंगोलिया तथा मध्य एशिया में महत्व की खोजें हुईं। मंगोलिया में जीवाश्मों से भरे क्षेत्र तथा मध्यएशिया की यात्राओं में नई भौमिक रचनाएँ, विस्तृत जीवाश्म क्षेत्र, डिनोसार के अंडे और ज्ञात स्थलीय स्तनधारियों में सबसे बड़े जीव बाल्चीथीरियम के अवशेष मिले। इन अवशेषों तथा आदिकाल के मनुष्यों के जीवन के विस्तृत प्रमाण मिलने से यह सिद्ध हो गया कि संसार के उरगवर्गी (रेंगनेवाले) तथा स्तनधारी जीवों के वितरण का केंद्र मध्य एशिया रहा है।

इन्होंने अनेक वैज्ञानिक निबंध तथा विवरणिकाओं के अतिरिक्त अपनी यात्रा और खोज संबंधी कई पुस्तकें लिखी हैं, जैसे ऐक्रास मंगोलियन प्लेन्स (१९२१), आन दि ट्रेल ऑव एन्शेंट मैन (१९२६-२७), दिस अमेज़िंग प्लैनेट (१९४०), इत्यादि। [भ० दा० व०]

ऐंथोसायानिन रंग और फलों में पाया जानेवाला वर्णक है। यह प्रकृति में पाया जानेवाला ऑक्सिजनयुक्त पोलिसाइक्लिक वर्णक है। जलविश्लेषण पर यह एग्लूकोन देता है, जिससे इसका नाम ऐंथोसायनिन पड़ा। यह एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ नीला फूल है। फलों और फूलों का नीला, लाल और बैंगनी रंग प्राय: इसी वर्णक के कारण होता है।

ऐंथोसायानिन का सूत्र स्थापित करने में विलस्टेटर, केरार, राबिनसन इत्यादि ने विशेष काम किया। ऐंथोसायानिन हाइड्रॉक्सिबेंजोपीरीलियम

(क) (ख) (ग) (घ)

(क) (ख) (ग) (घ)
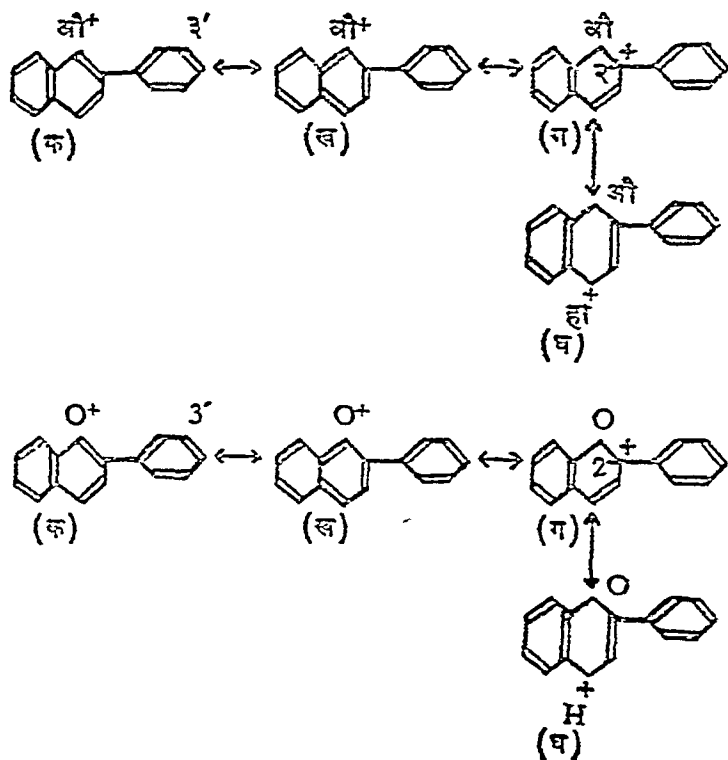
लवण के ग्लूकोसाइड हैं। धनायन का आधार सूत्र मंडल ऑक्सोनियम और कार्बोनियम रूप में अनुनादित होता रहता है और इसमें चार हाइब्रिड होते हैं (देखें उपरिलिखित सूत्र)।

इनमें (क) और (ख) ऑक्सोनियम धनायन के तथा (ग) और (घ) कार्बोनियम धनायन के अनुनाद हाइब्रिड हैं। कार्बन में धन चार्ज ग्रहण करने की शक्ति अधिक है। अत: सूत्र क और ख अधिक स्थायी हैं। क और ख सूत्र में क जिसमें नेफ्थलिनाएड आकार है क्यूनोनाएड वाले आकार ख से अधिक स्थायी है। इसलिये ऐंथोसायानिन को प्राय: सूत्र क से ही सूचित किया जाता है। सूत्र ग भी विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि नाइट्रेशन अभिक्रिया में नाइट्रो समूह फेनिल समूह में स्थान ३' ग्रहण करता है, अर्थात् कार्बन २ के यह मेटा स्थान में लगता है। यह तभी संभव है जब कार्बन २ पर आंशिक धन चार्ज हो।

ऐंथोसायानिन प्राप्त करने के लिये प्रकृति में पाए जानेवाले इसके ग्लूकोसाइड को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से जलविश्लेषित किया जाता है, जिससे ऐंथोसायानिन क्लोराइड के रूप में प्राप्त हो जाता है। पौधों में ऐंथोसायानिन का रंग पौधे के तनुओं के हाइड्रोजन आयन सांद्रण पर निर्भर है। विभिन्न पीएच (pH) पर एक ही ऐंथोसायानिन अलग अलग

सायानिडीन धनायन (लाल, पी एच < ३)

रंगीन क्षार (बैंगनी, पी एच ७-८)

सायानिडीन ऋणायन (नीला, पी एच > ११)
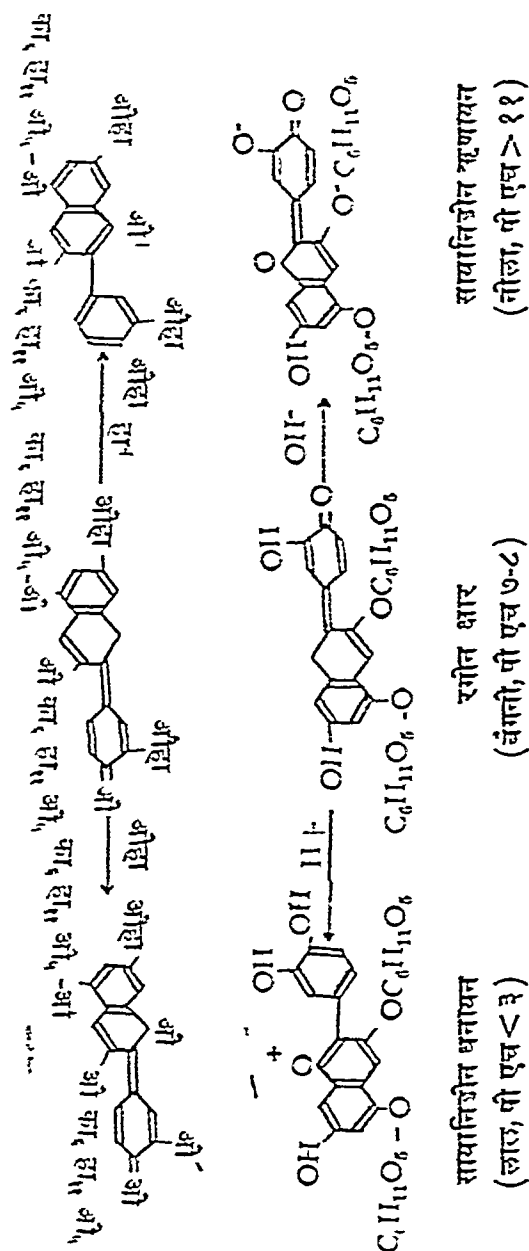
रंग देता है। इस तरह कार्न फ्लावर के नीले फूल और गुलाब के लाल फूल दोनों सायानिडीन क्लोराइड देते हैं। सायानिडीन क्लोराइड अम्लीय विलयन में लाल, उदासीन विलयन में बैंगनी और क्षारीय विलयन में नीला रंग देता है।

ऐंथोसायानिन तीन प्रकार के ग्लाइकोनो के सजात हैं। इनके नाम पेलार्गोनिडीन, सायानिडीन, डेफिनिडीन हैं जिनमे ३–,५–, और ७–स्थानो पर हाइड्राक्सी समूह होते हैं। इनके दो फेनिल नाभिक मे विभिन्न संख्या के हाइड्राक्सी समूह होते हैं। इनके ३–या ५–स्थान से ग्लकोमाइड का ग्लूकोस अणु लगा रहता है। अधिकांश ऐंथोसायानिन ३–, ५– डाइग्लूकोसाइड है।

पेलोर्गोनिडीन धनायन सायानिडीन धनायन डेफिनिडीन धनायन

ऐंथोसायानिन को क्षार के साथ गलाने पर एक फीनोलकार्बोक्सिलिक अम्ल और एक फीनोलिक अवयव प्राप्त होता है।

उक्त वर्णित तीनो प्रकार के ग्लाइकोन क्षार-गलन-क्रिया द्वारा फ्लोरोग्लूसिनाल और क्रमश एक–, दो– और तीन– फेनिल कार्बोक्सिलिक अम्ल देते हैं। इससे इनका सूत्र स्पष्ट हो जाता है।

ऐंथोसायानिन कई विधियों से संश्लेषित किए जा सकते हैं। उनमें राबिन्सन विधि प्रमुख है। इस विधि द्वारा संश्लेषण करने के लिये उचित प्रतिस्थापित आर्थो–हाइड्राक्सीबेंजैल्डिहाइड को ओमेगा–हाइड्राक्सी एसिटोफीनोन के सजात से संघनित किया जाता है।

पो औ हा

KOH

फीनोल फीनोल कार्बोक्सिलिक अम्ल एंथोसायानिन

हा क्लो २५°

१ सो औ हा
२ हाक्लो

HCl 25°

1 NaOH
2 HCl

सायानिडीन क्लोराइड

(Ac= Acetyl group, $ए_स$=ऐसिटील समूह, अन्य रासायनिक चिह्नो के लिये देखे पृष्ठ ४२३, हिंदी विश्वकोश, प्रथम खंड।)

[कृ० व०]

ऐंथ्रासाइट कोयले की सबसे अच्छी किस्म है। इसका रंग काला होता है, पर हाथ में लेने पर उसे काला नहीं करता। इसकी चमक अधात्विक होती है। टूटने पर इसके नवीन पृष्ठों में से एक अवतल और दूसरा उत्तल दिखाई पड़ता है, इसे ही शंखाभ (कनकॉयडल) टूट कहते हैं। इसमें बहुधा विभंग समतल विद्यमान रहते हैं। इसकी कठोरता ०.५ से २.५ तक तथा आपेक्षिक घनत्व १.३६ से १.८४ तक होता है।

रासायनिक गुण––कोयले की अन्य किस्मों की अपेक्षा ऐंथ्रासाइट में कार्बन की मात्रा अधिक तथा वाष्पशील पदार्थों की मात्रा नगण्य होती है। पेंसिलवेनिया-ऐंथ्रासाइट में ८५ से ९३ प्रति शत, साउथ वेल्स ऐंथ्रासाइट में ८८ से ९५ प्रति शत, सैक्सनी ऐंथ्रासाइट में ८१ प्रति शत तथा दक्षिणी रूस से प्राप्त ऐंथ्रासाइट में ९४ प्रति शत तक कार्बन प्राप्त होता है। इसमें कार्बन के अतिरिक्त हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन आदि भी विद्यमान रहते हैं। ऐंथ्रासाइट की औसत रासायनिक संरचना निम्नलिखित है :

कार्बन	९३.५०	प्रति शत
हाइड्रोजन	२.८१	"
आक्सीजन	२.७२	"
नाइट्रोजन	०.९७	"

ऐंथ्रासाइट कठिनता से जलता है, किंतु एक बार सुलगने पर समाप्ति तक जलता रहता है। लपट छोटी और नीली होने पर भी इसकी उष्मा-शक्ति अत्यधिक होती है। कार्बन की मात्रा के साथ उष्माशक्ति भी बढ़ती जाती है। उष्माशक्ति को कलरी प्रति ग्राम या ब्रिटिश उष्मा-मात्रक प्रति पाउंड में लिखा जाता है। ऐंथ्रासाइट की उष्माशक्ति १४,००० से १५,००० ब्रिटिश उष्मामात्रक प्रति पाउंड होती है। (ब्रिटिश उष्मामात्रक का तात्पर्य ताप की उस मात्रा से है जो १ पाउंड पानी का ताप १° फारनहाइट बढ़ा दे।) ऐंथ्रासाइट की ईंधन निष्पत्ति १२ से अधिक होती है।

उपयोग––पूर्वोक्त गुणों के कारण ऐंथ्रासाइट धात्विकी उद्योगों में विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। ऐंथ्रासाइट स्टोव कमरा गरम करने के लिये व्यवहृत होते हैं। निर्धूम होने के कारण बहुत से घरों में इसका उपयोग ईंधन के रूप में भी होता है, पर बिटुमिनयुक्त कोयले की अपेक्षा अधिक महँगा होने के कारण इसका घरेलू प्रयोग कम होता जा रहा है।

उत्पत्ति––वनस्पतियों के रूपांतरण की प्रक्रिया में क्रमानुसार पीट, लिग्नाइट, बिटुमिनयुक्त कोयला और ऐंथ्रासाइट बनता है। बिटुमिनयुक्त कोयला ताप और दाब के प्रभाव से ऐंथ्रासाइट बन जाता है। बहुधा बाहर से घुस आनेवाली आग्नेय शिलाओं के ताप के प्रभाव से ही बिटुमिनयुक्त कोयला ऐंथ्रासाइट में परिवर्तित हो जाता है। कुछ ऐंथ्रासाइट निक्षेप मूल वनस्पतियों में दबने से पूर्व जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न परिवर्तन के फलस्वरूप ही बने हैं।

ऐंथ्रासाइट उत्पादन में एशिया संसार का अग्रणी है। एशिया का लगभग दो तिहाई ऐंथ्रासाइट चीन के शांसी प्रदेश में है। हुनान (चीन) में ऐंथ्रासाइट स्तर साधारणत: १५ फुट मोटे हैं, इनमें से एक स्तर तो ५० फुट मोटा है। रूस का डोनेट्ज प्रदेश ऐंथ्रासाइट के लिये विख्यात है। संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) का संपूर्ण ऐंथ्रासाइट अपैलेचियन क्षेत्र से प्राप्त होता है। पेंसिलवेनिया और अलास्का के ऐंथ्रासाइट निक्षेप इसी क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। पेंसिलवेनिया के उत्तरी-पूर्वी भाग में लगभग ४८० वर्ग मील क्षेत्रफल में ऐंथ्रासाइट निकाला जाता है।

ग्रेट ब्रिटेन विश्व के चार बड़े कोयला उत्पादकों में से एक है। वहाँ का समस्त कोयला उच्च श्रेणी का है। वेल्स का ऐंथ्रासाइट अपने गुणों के कारण विश्वविख्यात है तथा विदेशों में इसकी माँग अधिक है। यहाँ के कोयला स्तरों की मोटाई १२० फुट तक है। भारतवर्ष में उपलब्ध अधिकतर कोयला उच्चतम श्रेणी का नहीं है, परंतु कश्मीर और दार्जिलिंग का कोयला ऐंथ्रासाइट के समान ही है। [म० ना० मे०]

ऐंथ्रासीन त्रिचक्रीय हाइड्रोकार्बन है। इसका गलनांक २१६° सेंटीग्रेड और क्वथनांक ३५४° सें० है। यह अलकतरा (कोलटार) से अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। ऐंथ्रासीन रंजक बनाने में उपयुक्त होता है। इसके चौदहों कार्बन परमाणु एक ही तल में रहते हैं। इन कार्बन परमाणुओं को निम्नांकित प्रकार से गिना जाता है :
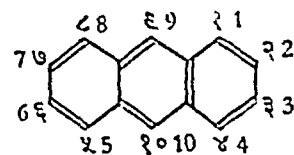
इनमें से ९ और १० अंक के कार्बन परमाणुओं को मेसो स्थिति के कार्बन परमाणु कहा जाता है। ऐंथ्रासीन के तीन एक-प्रतिस्थापन-उत्पाद और १५ द्वि-प्रतिस्थापन-उत्पाद पदार्थ होते हैं। ऐंथ्रासीन के दो सूत्र संभव हैं। एक में केवल एक आर्थोक्विनायड चक्र है और दूसरे में दो।
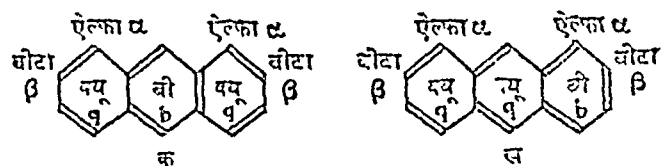
फ्राइज नियम के अनुसार प्रथम सूत्र अधिक स्थायी है। शुद्ध ऐंथ्रासीन मणिभ या विलेय अवस्था में सुंदर नीला प्रतिदीप्त पदार्थ होता है। गलाने पर इसकी प्रतिदीप्ति नष्ट हो जाती है, परंतु जैसे ही यह पुन: ठोस होता है प्रतिदीप्ति पुन: प्रकट हो जाती है। [कृ० व०]

ऐंथ्रैक्स विशेषकर वनस्पतिभोजी जंतुओं का रोग है और उनके पश्चात् उन मनुष्यों को हो जाता है जो इस रोग से ग्रस्त पशुओं के संपर्क में रहते हैं या चमड़े अथवा खाल का काम करते हैं। पैस्टर (Pasteur) ने सबसे पहले पशुओं में इसी रोग के प्रति रोगक्षमता उत्पन्न की थी। जीवाणु प्राय: भोजन के साथ शरीर में प्रवेश करने के पश्चात् रक्त या अन्य ऊतकों में बढ़ते हैं। प्लीहा की वृद्धि हो जाती है और प्राय: १२ से ४८ घंटे में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

मनुष्य में रोग के निम्नलिखित रूप पाए जाते हैं :

(१) *त्वगीय रूप*––यह रूप कसाई, चमड़े को कमानेवाले और ब्रश बनाने का काम करनेवालों में पाया जाता है। संक्रमण के पश्चात् ऊतकों का एक पिंड बन जाता है, जिसके बीच में रक्ताधिक्य होता है और गलन भी होती है। इस रूप में मृत्यु कम होती है।

(२) *फुफ्फुसीय रूप*––इसको ऊन का काम करनेवालों का रोग (ऊल सार्टर्स डिज़ीज़) भी कहा जाता है। इस रोग में स्थान स्थान पर फुफ्फुस गलने लगता है। रोग के इस रूप में मृत्यु अधिक होती है।

(३) *आंत्रीय रूप*––रोग के जीवाणु भोजन के साथ आँत में पहुँचते हैं। यदि संक्रमण के रक्त में पहुँचने के कारण रक्तपूतिता (सेप्टिसीमिया) उत्पन्न हो जाती है तो मृत्यु निश्चित है। रोग का निदान आक्रांत ऊतकों में, या रक्त में, जीवाणुओं के दिखाई पड़ने से ही किया जा सकता है। ऐंथ्रैक्स दंडाणुओं को साधारणतया ऐंथ्रैक्स ही कहा जाता है। ये दंडाणु ग्रामधन वातापेक्षी समूह के हैं, जिसके सदस्य स्पोर बनाते हैं। ये जीवाणु अणुवीक्षक द्वारा देखने से सीधे दंड के समान दिखाई देते हैं। इनके सिरे कटे से होते हैं। जीवाणुओं का संवर्धन करने पर स्पोर उत्पन्न होते हैं, किंतु पशु के शरीर में ये नहीं उत्पन्न होते। इनपर एक आवरण बन जाता है। इस जीवाणु को इसी प्रकार के अन्य कई समानरूप जीवाणुओं से भिन्न करना पड़ता है। ऐंथ्रैक्स जीवाणु सभी जंतुओं के लिये रोगोत्पादक हैं। गिनीपिग और चूहे के चर्म को तनिक सा खुरच देने पर वे संक्रमित हो जाते हैं। रोगरोध के लिये इन जीवाणुओं से एक वैक्सीन तैयार की जाती है। चिकित्सा के लिये इनसे तैयार किया हुआ ऐंटीसीरम और सल्फोनैमाइड ओषधियाँ उपयोगी हैं। मरे हुए जंतु को या तो जला देना चाहिए या गड्ढे में चूना बिछाकर और मृत पशु के ऊपर भी अच्छी तरह चूना छिड़ककर गाड़ देना चाहिए। [स० पा० गु०]

ऐंफिवोल वर्ग के खनिज पाइरॉक्सीन खनिजो के समानीय हैं। इनका रासायनिक सगठन तथा भौतिक गुण पाइरॉक्सीन खनिजो के समान हैं। फलस्वरूप पाइरॉक्सीन और ऐंफिवोल खनिजो में भेद करना कठिन हो जाता है। दोनो वर्गो के प्रकाशीय गुण भिन्न भिन्न होते हैं। इसी आधार पर अणुवीक्ष यत्र की सहायता से उनमें भेद किया जाता है।

साधारणत ऐंफिवोल खनिज लोहा, मैगनीशियम तथा कैल्सियम के सिलीकेट हैं। पर कुछ खनिजो में थोडा बहुत सोडा और ऐल्युमिना भी विद्यमान रहता है। इस वर्ग का सबसे महत्वपूर्ण खनिज हार्नब्लेंड है। यह एकनत (मोनोक्लिनिक) समुदाय में स्फुटित होता है। यह बहुधा स्तभीय (कॉलमनर) रूप में, किंतु कभी कभी दानेदार अथवा रेशेदार रूप में भी, मिलता है। सतह काच की तरह चमकती है। रेशेदार आकृति में उपलब्ध होने पर रेशे रेशम के समान दिखाई पडते हैं। इस खनिज में दो तडकन तल होते हैं, जो समपार्श्व (प्रिज्म) के कलको के समातर ५६° और १२४° के कोण पर रहते हैं। इनकी कठोरता ५ से ६ तक और आपेक्षिक घनत्व २ ९ से ३ ४ तक होता है।

ऐंफिवोल के खनिज आग्नेय और रूपातरित (मेटामार्फिक) शिलाओ में पाए जाते हैं, जैसे डायोराइट, ऐंफिवोलाइट, आदि शिलाओ में।

स० ग्र०—एच० एच० रीड रुजलेज़ एलिमेंट्स ऑव मिनरॉलोजी। [म० ना० मे०]

ऐंवर एक फौसिल रेजिन है। यह एक ऐसे वृक्ष का फौसिल रेजिन है जो आज कही नहीं पाया जाता। रगडने से इससे बिजली पैदा होती है। यह इसकी विशेषता है और इसी गुण के कारण इसकी ओर लोगो का ध्यान पहले पहल आकर्षित हुआ। आजकल ऐंवर के अनेक उपयोग हैं। इनके मनके और मालाएँ, तवाकू की नलियाँ (पाइप), सिगार और सिगरेट की धानियाँ (होल्डर) बनती हैं।

ऐंवर वाल्टिक सागर के तटो पर, समुद्रतल से नीचे के स्तर में, पाया जाता है। समुद्र की तरगो से वहकर यह तटो पर आता है और वहाँ चुन लिया जाता है, अथवा जालो मे पकडा जाता है। ऐसा ऐंवर डेनमार्क, स्वीडन और वाल्टिक प्रदेशो के अन्य समुद्रतटो पर पाया जाता है। सिसली में भी ऐंवर प्राप्त होता है। यहाँ का ऐंवर कुछ भिन्न प्रकार का और प्रतिदीप्त (फ्लुओरेसेंट) होता है। ऐंवर के समान ही कई किस्म के अन्य फौसिल रेजिन अन्य देशो में पाए जाते हैं।

ऐंवर के भीतर लिगनाइट अथवा काठ-फौसिल और कभी कभी मरे हुए कीडे सुरक्षित पाए जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि इसकी उत्पत्ति कार्वनिक स्रोतो से हुई है।

ऐंवर अमणिभीय और भगुर होता है। इसका भग शखाभीय (कनकॉयडल) होता है। इस पर नक्काशी सरलता से हो सकती है। इसका तल चिकना और आकर्षक बनाया जा सकता है। यह साधारणतया अनियमित आकार में पाया जाता है। यह चमकदार होता है। इसकी कठोरता २ २५ से २ ५०, विशिष्ट घनता १ ०५ से १ १०, रग हलका पीला से लेकर कुछ कुछ लाल और भूरा तक होता है। वायु के सूक्ष्म बुलबुलो के कारण यह मेघाभ हो सकता है। कुछ ऐंवर प्रतिदीप्त होते हैं। यह पारदर्शक, पारभासक और पाराध हो सकता है तथा ३००°–३७५° सें० के बीच पिघलता है। इसका वर्तनाक १ ५३९ से १ ५४४५ तक होता है। ऐंवर में कार्बन ७८ प्रति शत, आक्सिजन १० ५ प्रति शत और हाइड्रोजन १० ५ प्रति शत, का$_{१०}$ हा$_{१६}$ ओ ($C_{10}H_{16}O$) सूत्र के अनुरूप होता है। गधक ० २६ से ० ४२ प्रति शत और राख लगभग ० २ प्रति शत रहती है। एथिल ऐल्कोहल और एथिल ईथर सदृश विलायको मे गरम करने से यह घुलता है। डाइक्लोरहाइड्रिन इसके लिये सर्वश्रेष्ठ विलायक है।

ऐंवर में ३ से ४ प्रति शत तक (मेघाभ नमूने में ८ प्रति शत तक) सकसिनिक अम्ल रहता है। ऐंवर का सगठन जानने के प्रयास मे इसमे दो अम्ल, का$_{२०}$ हा$_{३०}$ औ$_{४}$ ($C_{20}H_{30}O_4$) और का$_{११}$ हा$_{२८}$ औ$_{४}$ ($C_{11}H_{28}O_4$) सूत्र के, पृथक् किए गए हैं, परतु इन अम्लो के सगठन का अभी ठीक ठीक पता नहीं लगा है।

गरम करने से ऐंवर का लगभग १५०° सें० ताप पर कोमल होना आरभ होता है और तब इससे एक विशेष गध निकलती है। फिर ३००°–३७५° सें० के ताप पर पिघलता और इससे घना सफेद धुआँ निकलता है जिसमें सौरभ होता है। इससे फिर तेल निकलता है जिसे "ऐंवर का तेल" कहते हैं।

ऐंवर के बड़े बड़े टुकडो से मनका आदि बनता है। छोटे छोटे और अशुद्ध टुकडो को पिघलाकर ऐंवर वार्निश बनाते हैं। छोटे छोटे टुकडो को तो अब ऊष्मा और दवाव से 'ऐंब्रायड' में परिणत करते हैं। आजकल प्रति वर्ष लगभग ३०,००० किलोग्राम ऐंब्रायड बनता है। यह ऐंवर से सस्ता विकता है और ऐंवर के स्थान में बहुधा इसी का उपयोग होता है। ऐंवर के सामान जर्मनी और आस्ट्रिया में अधिक बनते हैं।

अब नकली ऐंवर भी काच और प्लास्टिक (बेकेलाइट, सैलेलियड और सेल्यूलायड) से बनने लगे हैं। नकली ऐंवर की विशिष्ट घनता ऊँची होती है और परा-बैगनी किरणो से उसमें प्रतिदीप्ति नहीं आती। ऐंवर के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के फौसिल रेजिन भी अनेक देशो में पाए जाते और विभिन्न कामो में प्रयुक्त होते हैं। [फू० स० व०]

ऐंसेल्म (१०३३-११०९) अग्रेज सत और धर्मशास्त्री। धार्मिक विश्वास और बुद्धि के समन्वय विषयक अपने प्रयत्नो के कारण इन्हें मध्ययुगीन दर्शन का सस्थापक भी कहा जाता है। जन्म पीदमोत के सपन्न अभिजात कुल में १०३३ के लगभग। पिता गुदल्फ उग्र और क्रोधी स्वभाव के थे पर माता एरमेनबर्गा शात और धार्मिक महिला थीं। उन्हीं की शिक्षा से ऐंसेल्म में धार्मिक विश्वासो की नीव पडी। १५ वर्ष की अवस्था में ही उसकी सन्यास लेने की इच्छा थी पर पिता ने अनुमति नहीं दी। इस निराशा का ऐसा दुष्प्रभाव हुआ कि उसे लबी बीमारी झेलनी पडी। रोगमुक्त होने पर अध्ययन को तिलाजलि दे वह सासारिक भोग विलास और व्यसनो की ओर झुका। इसी समय माँ की मृत्यु हो गई, पिता का स्वभाव अधिकाधिक कठोर तथा घर का वातावरण असहनीय होने पर वह घर त्यागकर घूमते घामते नारमडी पहुँचा और वहाँ के बेस मठ का फ्रायर हो गया। उसकी अध्यक्षता में बेस सारे यूरोप का ज्ञानकेंद्र बन गया। यही पर अपनी विख्यात पुस्तक कूर दिउस होमे (Cur Deus Homo) लिखी जिसमें प्रायश्चित्त के सिद्धातो का प्रतिपादन किया गया है। १०९३ में विलियम रूफस ने उसे कैंटरबरी का आर्चबिशप नियुक्त कर दिया। शीघ्र ही गिरजे की आय को लेकर दोनो में मतभेद हो गया। राजा ने आय जब्त कर ली, ऐंसेल्म ने क्रुद्ध हो इग्लैंड छोड दिया। बाद में हेनरी प्रथम ने समझौता कर लिया और ११०७ मे ऐंसेल्म देश लौट आया।

मध्य युग मे उसके दार्शनिक सिद्धातो का उचित समान नहीं हो पाया क्योकि वे बिखरे हुए प्रश्नोत्तरो और सभापणो के रूप में सकलित हैं। पर उनमें श्रेष्ठता, दृष्टिकोण की नवीनता, विचारो की सुगमता और दार्शनिक स्फूर्ति है जो साधारणत ऐसे ग्रथो में नहीं मिलती। [स० च]

ऐकनकागुआ ऐडीज पर्वतमाला में एक निष्क्रिय ज्वालामुखी है। इसकी ऊँचाई समुद्रतल से २३,०८० फुट है। यह ३२° ३९' दक्षिण अक्षाश और ७०°१' पश्चिम देशातर पर स्थित है। यह आर्जेंटीना राज्य में चिली और आर्जेंटीना की सीमा से ठीक सटा हुआ तथा ब्वेनस ऐयरिज़ से वैलपारैजो जानेवाले रेलमार्ग के उत्तर मे दृष्टिगोचर होता है। इसकी चोटी बराबर हिमाच्छादित रहती है। इसके ऊपर कई हिमनदियाँ मिलती हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध मेंडोजा हिमधारा है। इनसे ऐसी कई सदानीरा (पिरीनियल) नदियाँ निकली हैं जिनका उपयोग निचले इलाको में सिंचाई के लिये होता है। इसकी दक्षिणी ढाल पर ऐकनकागुआ नदी का उद्गम है जो पश्चिम में २०० मील तक बहने के बाद प्रशात महासागर मे गिरती है। सबसे पहले इसके शिखर पर सन् १८९७ ई० में फिट्जेराल्ड पर्वतारोहण दल के श्री वाइस और श्री जुरब्रिग्गेन चढे थे। नई दुनिया, अमरीका, के इस सर्वोच्च पर्वत की प्राकृतिक सुषमा सचमुच बडी आकर्षक है। [श्या० सु० श०]

ऐक्टन, जान एमविक एडवर्ड डाइलवर्ग (१८३४-१९०२) अग्रेज इतिहासकार, रिचर्ड ऐक्टन का एकमात्र पुत्र। परिवार रोमन कैथोलिक। शिक्षा आस्कट, ऐडिनवरा, डोलेगर की अध्यक्षता में म्यूनिख मे। डोलिगर ने ही ऐक्टन में गहरे इतिहासप्रेम और शोध की नीव डाली।

डाइ-ऐज़ोनियम लवण फीनोल के क्षारीय विलयन से सयोग करने पर हाइड्राक्सी ऐज़ो यौगिक वनते हैं। इस क्रिया मे प्राय डाइ-ऐज़ोआक्साइड वनता है।

(का हा$_3$)$_2$ना—[बेंज़ीन वलय] + क्लो ना$_2$का$_6$हा$_5$ ⟶ (का हा$_3$)$_2$ना—[बेंज़ीन वलय]—ना=ना—[बेंज़ीन वलय]
[$(CH_3)_2N$] [+ Cl N_2 C_6H_5 ⟶ $(CH_3)_2N$] [N=N]

डाइमेथिल ऐनिलीन डाइमेथिल ऐमिनो ऐज़ोबेनज़ीन

[बेंज़ीन वलय]—ना$_2$क्लो+ओहा [N_2 Cl+OH] [बेंज़ीन वलय] ⟶ [[बेंज़ीन वलय]—ना=ना—ओ [N=N—O] [बेंज़ीन वलय]] ⟶ ओहा [⟶OH] [बेंज़ीन वलय]—ना=ना [N=N]—[बेंज़ीन वलय]
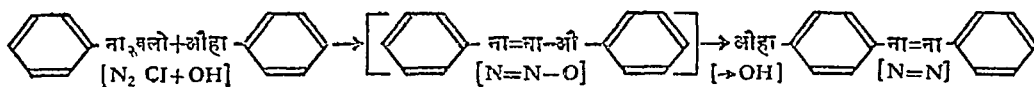
डाइ-ऐज़ोआक्साइड हाइड्राक्सीऐज़ो यौगिक

फीनोलिक एस्टर की डाइ-ऐज़ोनियम लवण से जुडने की शक्ति ऐमिन और फीनोल से कम है। इस क्रिया के लिये यह आवश्यक है कि क्रिया निर्जल स्थिति में की जाय। इसलिये प्राय यह क्रिया साद्र ऐसीटिक अम्ल मे की जाती है।

व्यूटाडाइ-ईन जैसे असतृप्त हाइड्रोकार्वन और मिसीटिलीन से नाइट्रोऐनिलीन के डाइ-ऐज़ोनियम यौगिक सयोग करते हैं। मिसीटिलीन, प्रिकामाइड के डाइ-ऐज़ोनियम लवण से सयोग करता है और एक ऐज़ो रजक वनाता है।

का हा [CH_3] ना ओ$_2$ [NO_2]
ना=ना [N=N] ना ओ$_2$ [NO_2]
का हा$_3$ काहा$_3$ [CH_3] [CH_3] ना ओ$_2$ [NO_2]
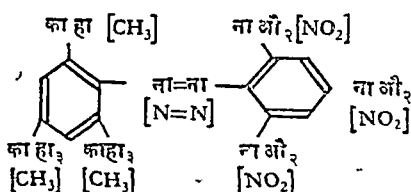
मिसीटिलीन और पिक्रामाइड के डाइ-ऐज़ोनियम लवण के सयोग से वना ऐज़ोरजक।

डाइ-ऐजोनियम लवण का नैप्थोल और नैप्थील ऐमिन से सयोग विशेप महत्वपूर्ण है। ऐल्फा-नैप्थोल हाइड्राक्सी समूह के पारा स्थान से जुडता है, परतु यदि इस स्थान पर कोई समूह उपस्थित हुआ तो यह सयोग ऑर्थो स्थान से होता है। वीटा-नैप्थोल में ऐज़ो मूलक १ (ऐल्फा) स्थान ग्रहण करता है। वीटा-नैप्थील ऐमिन मे भी इसी प्रकार का सयोग होता है। डाइ-ऐज़ो-अमोनियम लवण ऐमिनो-हाइड्राक्सी-ऐमिन से क्षारीय विलयन मे हाइड्रॉक्सी समूह से जुडता है, परतु अम्लीय विलयन मे यह सयोग ऐमिनो समूह से होता है। इस तरह एक ही ऐमिनो-नैप्थोल से विलयन को क्षारीय या अम्लीय करके विभिन्न प्रकार के रजक वनाए जा सकते हैं

सिद्धातानुसार ऐज़ो यौगिको के सिस, ट्रास, दो समावयवी रूप होने चाहिए

मू—ना	मू—ना	R—N	R—N
‖	‖	‖	‖
मू—ना	ना—मू	R—N	N—R
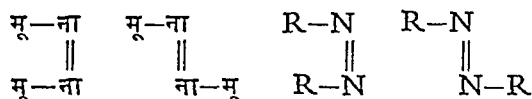
इस प्रकार के समावयवो पर अभी अधिक खोज नही हुई हे। ट्रास-ऐज़ो वेनज़ीन पर प्रकाश डालने पर यह सिस-रूप मे परिवर्तित हो जाता है। सिस समावयवी का वर्तनाक और अवशोपण गुणाक ट्रास समावयवी से भिन्न है। प्रकाश के प्रभाव से सतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमे लगभग २७ प्रति शत सिस- और ७३ प्रति शत ट्रास-समावयवी रहते हैं।

ऐज़ो रजक दो प्रकार के होते हैं। एक को क्षारीय रजक और दूसरे को अम्लीय रजक कहते हैं। क्षारीय रजको मे ऐनिलीन यलो, विस्माक व्राउन, जेनस रेड इत्यादि प्रमुख हैं। ऐनिलीन यलो का रासायनिक नाम पारा-ऐमिनो ऐज़ोवेनज़ीन है। यह पीले रग का रजक हे, जो अम्ल में वैंगनी रग का हो जाता है। विस्मार्क व्राउन मेटा-फेनिलीन-डाइऐमिन पर नाइट्रस अम्ल की क्रिया द्वारा वनाया जाता है। इस रजक का उपयोग चमडा रँगने के काम मे होता है। जेनस रेड रजक रुई और ऊन को अम्लीय उष्मक मे रँगता है। इसका प्रयोग रुई और ऊन के मिश्रित सूत तथा रेशम के तागे रँगने मे होता है। अम्लीय रजको मे मेथिल ऑरेंज, ऐल्फा-नैप्थोल ऑरेंज, फास्ट रेड ए और वी, नैप्थील-ऐमिन व्लैक डी, विक्टोरिया वॉयलेट इत्यादि प्रमुख रजक है।

(R=Radical, मू=मूलक, अन्य रासायनिक चिह्नो के लिये देखे हिंदी विश्वकोश, प्रथम खड पृष्ठ ४२३, ।) [कृ० व०]

ऐटा या आएटा फिलीपीन द्वीपसमूह के वडे द्वीप लूज़ॉन तथा कुछ अन्य छोटे छोटे द्वीपो के पहाडी अचलो मे निवास करनेवाली एक प्रकार की हब्शी आदिम जाति है। ये कद मे नाटे (पुरुपो की ऊँचाई प्राय ४ फु० ६ इ०), काले वर्ण के तथा ऊन की तरह घुँघराले वालोवाले होते हैं। इनके पैर आकार मे लवे तथा अग्र भाग कुछ मुडा हुआ एव देखने में वेडौल प्रतीत होता है। इनमे परिवार को सामाजिक इकाई माना जाता है। वहुविवाह समाज द्वारा स्वीकृत है, परतु समाज मे एक विवाह ही अधिक प्रचलित है। इनके यहाँ मृतको को गाडने की प्रथा है, किंतु किसी मृतक को यदि समानित करना होता है तो उसका शव नगर या ग्राम से दूर एक लकडी के मचान या वृक्ष पर रख दिया जाता है। इनमे धनुप तथा विपाक्त तीरो का, लवे भाले तथा वर्छियो का आयुधो के रुप मे प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग में ये वडे निपुण है, परतु अग्नि प्रज्वलित करने की पुरानी विधि (लकडियो को आपस मे रगडकर) अभी तक प्रचलित है। धार्मिक कृत्यो के समय ये लोग प्राय विशाल सर्पो (अजगरो) की पूजा करते हैं जिसके अतर्गत उन पूज्य सर्पराजो को जमीकद एव मधु अर्पित किया जाता है।

लूज़ॉन द्वीप मे मलयवासियो के वसने के पहले इस भूखड पर इसी ऐटा जाति का स्वामित्व रहा। ये 'टागालोग' इत्यादि जातियो से तव तक कर वसूलते रहे जव तक जनशक्ति अधिक हो जाने पर उन्होने इन्हे पहाडी अचलो मे खदेड नही भगाया।

कर न देनेवाले का सिर उतार लेने की प्रथा भी प्रचलित थी। वहुत काल तक, सभवत अभी तक, ये ऐटा लोग 'इगोरोट्स' तथा अन्य पडोसियो से हुए युद्धो मे मारे गए शत्रुओ की खोपडियो को एकत्रित कर उनका हिसाव किताव रखते आए हैं।

[श्या० सु० श०]

ऐडम्स, जॉन (१७३५-१८२६) प्रसिद्ध विद्वान्, सफल विधिज्ञ तथा संयुक्त राज्य अमरीका के द्वितीय राष्ट्रपति का जन्म ३० अक्तूबर, १७३५ को मेसाचूसेट्स के ब्रेनट्री नामक स्थान में हुआ। इनके पिता कृषक थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र जॉन क्विन्सी ऐडम्स भी संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति हुए (दे० ऐडम्स, जॉन क्विंसी)।

जॉन ने संविधान विशेषज्ञ के रूप में अपनी समसामयिक घटनाओं को प्रभावित किया। सर्वप्रथम ह्विग दल के नेता के रूप में १७६५ के स्टैंप ऐक्ट का विरोध करने में अपनी कर्मठता तथा सक्रियता का परिचय दिया। दिसंबर, १७६५ में राज्यपाल तथा परिषद् के समक्ष भाषण देते हुए उन्होंने ब्रिटिश संसद में मेसाचूसेट्स का प्रतिनिधान न होने के आधार पर स्टैंप ऐक्ट को अवैध घोषित किया। तथापि १७९८ में उन्होंने बोस्टन हत्याकांड के अभियुक्त ब्रिटिश सैनिकों का पक्ष लेकर उन्हें बचाने का सफल प्रयास किया। अपनी सत्यनिष्ठा तथा न्यायप्रियता के कारण वह मेसाचूसेट्स लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए।

जॉन ऐडम्स फिलाडेल्फिया की प्रथम महाद्वीपीय महासभा के निर्वाचित प्रतिनिधि थे। वे स्वतंत्रता की घोषणा करनेवाली समिति के भी सदस्य थे। ऐडम्स नवंबर, १७७८ तक कांग्रेस में रहे और इस अवधि में वे वैदेशिक संबंध समिति के सदस्य तथा युद्धसामग्री बोर्ड के अध्यक्ष रहे और अनेक बार यूरोप के विदेशों में उन्होंने स्वदेश का प्रतिनिधान किया।

१७८५ में ऐडम्स इंग्लैंड के प्रथम राजदूत नियुक्त हुए। क्रांति के उपरांत शांतिकाल की गंभीर स्थिति से उत्पन्न दुर्व्यवस्थाओं ने उनको रूढ़िवादी बना दिया तथापि अपनी रचना संयुक्त राज्य के संविधान के एक प्रतिवाद में वह कुलीन तंत्र के संरक्षक के रूप में प्रगट होते हैं। इस परिवर्तन का उनकी लोकप्रियता पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। ऐडम्स पहले संयुक्त राज्य अमरीका के उपराष्ट्रपति, फिर १७९६ में राष्ट्रपति चुने गए। वे संघवादी दल के निर्माताओं में से थे। ऐडम्स के राष्ट्रपतित्व काल के चार वर्ष (१७९७-१८०१) कुछ ऐसी जटिल और विलक्षण घटनाओं से संबद्ध रहे कि उनके भार से उनका भावी जीवन अत्यधिक विषादमय हो गया। विदेशी तथा राजद्रोह संबंधी कानूनों के पास होने से संघवादी दल को अत्यधिक विरोध और क्षति सहनी पड़ी। स्वयं दल के अंतरंग संगठन में भी पारस्परिक मतभेद तथा दलबंदी प्रारंभ हो गई। ऐडम्स और हैमिल्टन एक दूसरे के विरोधी हो गए। ऐडम्स सुयोग्य, सच्चे तथा निर्भीक व्यक्ति थे परंतु अपनी उग्र व्यावहारिकता तथा विवेकहीनता के कारण अपनी अध्यक्षता में संघवादी दल को संगठित रखने में असमर्थ रहे, यहाँ तक कि इनके अपने मंत्रिमंडल के सदस्य तक ऐडम्स के बजाय हैमिल्टन को अपना नेता मानने लगे।

यद्यपि १८०० में राष्ट्रपति पद के लिये उनको दोबारा मनोनीत किया गया परंतु अपने शक्तिशाली विपक्षी टामस जेफर्सन से उन्हें हार खानी पड़ी। अपनी पराजय से उनको गहरी पीड़ा पहुँची। तदुपरांत उन्होंने राजनीति से अपना हाथ खींच लिया और विषादपूर्ण जीवन व्यतीत करते रहे। ४ जुलाई, १८२६ को स्वतंत्रता की घोषणा की ५०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर क्विन्सी नामक स्थान में ऐडम्स का देहावसान हुआ।

[अ० ला० लू०]

ऐडम्स, जॉन काउच (१८१९-१८९२), ब्रिटिश ज्योतिषी, का जन्म कॉर्नवाल, इंग्लैंड में, ५ जून, १८१९ को हुआ था। ऐडम्स पढ़ाई में बहुत कुशाग्रबुद्धि था और उसे स्मिथ पारितोषिक भी मिला था। पढ़ाई समाप्त करते ही वह इस खोज में लग गया कि यूरेनस नामक ग्रह अपने मार्ग से विचलित क्यों होता है क्या कोई नवीन ग्रह है जो यूरेनस से भी दूर है और वही अपने आकर्षण के कारण यूरेनस को कभी तीव्रगामी और कभी मंद किया करता है? उसने सिद्ध किया कि ज्ञात विचलन किसी अज्ञात दूरस्थ ग्रह के कारण हो सकता है और उसने इस 'नवीन ग्रह' की स्थिति भी बताई। उसने अपनी खोजों के परिणाम सितंबर, १८४५ में राजज्योतिषी के पास भेजे और उन्होंने उसे केंब्रिज के प्रोफेसर चैलिस के पास भेजा। चैलिस ने खोज आरंभ कर दी, परंतु विशेष तत्परता से काम आगे नहीं बढ़ाया।

उधर फ्रांस में लेवेरियर ने भी नवीन ग्रह की स्थिति की गणना की और प्राप्त स्थिति जर्मन ज्योतिषी गैले के पास भेजकर प्रार्थना की कि इसकी खोज तुरत की जाय। फलस्वरूप नवीन ग्रह दूसरे ही दिन देखा गया। इससे वैज्ञानिक संसार में बड़ी सनसनी फैली। ऐरैगो ने नवीन ग्रह का नाम लेवेरियर रखा। पीछे, इंग्लैंड के राजज्योतिषी के प्रयत्न से नवीन ग्रह का नाम नेप्चून (=वरुण) रखा गया। अब सभी मानते हैं कि नवीन ग्रह के आविष्कार का श्रेय ऐडम्स और लेवेरियर दोनों को मिलना चाहिए।

१८५१ में ऐडम्स रॉयल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी का सभापति चुना गया। १८५८ में ऐडम्स की नियुक्ति सेंट ऐंड्रूज़ (स्कॉटलैंड) में गणित प्रोफेसर के पद पर हुई। परंतु एक साल बाद वह केंब्रिज में ज्योतिष और ज्यामिति का प्रोफेसर हो गया। दो वर्ष बाद वह केंब्रिज वेधशाला का डाइरेक्टर नियुक्त हुआ और अंत तक इसी पद पर रहा। १८५२ में ऐडम्स ने चंद्रमा के लंबन की नई सारणी तैयार की जो पूर्वगामी सारणियों से कहीं अधिक शुद्ध थी। एक वर्ष बाद उसका एक शोधविवरण चंद्रमा की मध्य गति के कालांतर त्वरण पर छपा जो बहुत महत्वपूर्ण था। लियोनिड उल्कासमूह के मार्ग की सूक्ष्म गणना भी ऐडम्स ने की, जिसमें उसने दिखाया कि यह समूह एक चक्कर ३३ वर्ष, ३ महीने में लगाता है। पृथ्वी के चुंबकत्व पर भी उसने वर्षों काम किया था और एतत्संबंधी उसकी उपलब्धियाँ उसके मरने पर छपीं।

सं०ग्रं०—दि सायंटिफिक पेपर्स ऑव जॉन काउच ऐडम्स (जिल्द १, १८९६, जिल्द २, १९००, प्रकाशक, केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस) देखें।

ऐडम्स, जॉन क्विंसी (१७६७-१८४८) ११ जुलाई, १७६७ को पैदा हुए। उनके पिता जॉन ऐडम्स अमरीका के दूसरे राष्ट्रपति थे। (दे० ऐडम्स, जॉन) जॉन क्विंसी ने अपने पिता के साथ संपूर्ण यूरोप का भ्रमण किया। १७७८ में पेरिस में शिक्षा ली और दो साल तक लाइडन में पढ़े। १७८७ में हार्वर्ड कालेज से डिग्री लेकर तीन साल बाद वकालत की परीक्षा देकर बोस्टन में वकालत शुरु कर दी। वाशिंगटन ने उनको नीदरलैंड में अमरीकी राजदूत बनाकर भेजा। १७९६ में वे पुर्तगाल में राजदूत बनाए गए। १७९७ में बर्लिन में राजदूत बने। १८०१ में अपने देश लौट आए।

पहले फेडरलिस्ट (संघीय) दल के सदस्य रहे फिर रिपब्लिकन दल में आ गए। १८०६ से १८०९ तक तीन साल हार्वर्ड विश्वविद्यालय में वाक् शास्त्र के प्रोफेसर रहे। १८१७ में मनरो के काल में राज्यमंत्री हुए।

मनरो के सिद्धांत को स्थापित करनेवाले ऐडम्स ही थे। यह उनका ही बनाया हुआ सिद्धांत था जो मनरो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फ्लोरिडा पर अमरीकी अधिकार उनके ही कारण हुआ। जब राष्ट्रपति पद से मनरो अलग होने लगे तब इनका नाम उस पद के लिये मनोनीत किया गया। ये राष्ट्रपति चुन लिए गए। उस पद पर ये १८२५ से १८२९ तक रहे। परंतु इस बीच उन्होंने कोई विशेष काम नहीं किया। १८२८ में जैक्सन राष्ट्रपति चुने गए। १८२८ से १८२९ के बीच उनके साथियों और ऐडम्स के साथियों में लड़ाई हो गई, जो एक राजनीतिक मोड़ पर आ गई। १८२९ में ऐडम्स इस पद से अलग हुए और १८३० में अपने नगर से सिनेट के लिये सदस्य चुने गए। जब उनसे कहा गया कि राष्ट्रपति पद पर रह चुकने पर साधारण सदस्य होना हेठी की बात होगी तब उन्होंने उत्तर दिया कि जब मैं सभा के लिये सदस्य चुन लिया गया हूँ तब मुझे तो वहाँ बैठना ही चाहिए। जनता की सेवा मेरा कर्तव्य है और मैं इस प्रकार की सेवा करना अपना अपमान नहीं समझता।

१८३१ के बाद का काल उनकी सेवाओं का है। इस बीच सदस्य के रूप में उन्होंने बहुत से काम किए। वह गुलामों के उस अधिकार के लिये लड़ते रहे जिसके अनुसार वह सभा के किसी भी सदस्य द्वारा अपना प्रार्थनापत्र दे सकें। इस अधिकार को छीननेवाला एक कानून बनाया गया था जो बाद को "गला घोंटनेवाला" कानून कहलाने लगा। ऐडम्स इस कानून का विरोध करते रहे। १८४४ में यह कानून उन्हीं के अध्यवसाय से रद्द हुआ और गुलामों को प्रार्थनापत्र देने का अधिकार मिल गया।

उनकी सबसे बड़ी देन वह डायरी है जिसे उन्होंने अपने प्रारंभिक जीवन से ही लिखना शुरु किया था और आखिर समय तक लिखते रहे।

इस डायरी में उन्होने अपने जमाने के प्रसिद्ध लोगो और मुख्य घटनाओ के सबध मे काफी लिखा है।

२१ फरवरी, १८४८ मे सिनेट के अधिवेशन के बीच ही वह बेहोश होकर गिर पडे और २३ फरवरी, १८४८ को उनका देहात हो गया।

[मु० अ० अ०]

ऐडिरौनडैक पर्वतसमूह (ऊँचाई १,००० फुट से ५,००० फुट तक), उत्तरी-पूर्वी न्यूयार्क (सयुक्त राज्य, अमरीका) के क्लिटन, एसेक्स, फ्रैंकलिन तथा हैमिल्टन प्रादेशिक भागो मे फैला हुआ है। इसका सबसे ऊँचा शिखर माउट मार्सी है (५,३४४ फुट)। यह पर्वत-समूह हडसन तथा सेट लॉरेंस नदियो के बीच जलविभाजक का काम करता है। इन पर्वतो पर अनेक क्षय चिकित्सालय है तथा यहाँ मछली फँसाने तथा शिकार खेलने के भी अति सुदर स्थान है। इस प्रदेश का अदिरदक पार्क ३०,००,००० एकड से भी अधिक क्षेत्रफल का है। यहाँ के पर्वत, वन, सरिता तथा झीलें सभी, नगर के वातावरण के थके जनसमूह के लिये आकर्पण के केंद्र है।

[न० ला०]

ऐडेम, ब्रेमेन का (मृत्यु, लगभग १०७६) इतिहासकार और भूगोल-वेत्ता। जन्म जनविश्वास के अनुसार १०४५ के लगभग। १०६९ में वह ब्रेमेन का अध्यक्ष नियुक्त हुआ और कैथेड्रल स्कूल का अध्यापक भी। १००२ मे ब्रेमेन का आर्चविशप हुआ। वही उसने अपनी 'हिस्तोरिया हम्माबुर्गेन्सिस एक्लेसिया' लिखी। यह ग्रथ जर्मन, वाल्टिक और स्कैंडीनेविया के उपनिवेशो के सबध मे सर्वाधिक प्रामाणिक है।

[स० च०]

ऐडोबे अमरीका के दक्षिण-पश्चिमी सयुक्त राज्य और उत्तरी मेक्सिको मे ऐडोबे कच्ची ईट और कच्ची ईटो से बने मकान को कहते है। उस मिट्टी को भी बहुधा ऐडोबे कहते है जिससे अच्छी ईटे बनती है। यह शब्द स्पेन के 'ऐडोबार' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है मिट्टी का लेप या पलस्तर। ऐडोबे ईट बनाने के लिये मिट्टी, थोडा सा भूसा, पुआल, या सूखी घास मिलाकर सान ली जाती है और फिर पैर से कुचलकर अच्छी तरह गूँध ली जाती है। तदनतर लकडी के साँचो की सहायता से ईंटे बना ली जाती है। नाप मे ये ईंटे साधारण ईंटो से लेकर दो गज तक लबी, एक फुट तक चौडी और आठ इच तक मोटी होती है। ईंटो की जोडाई मिट्टी के ही गारो से की जाती है और मिट्टी से ही बाहर और भीतर पलस्तर भी कर दिया जाता है। सूख जाने पर चूना कर दिया जाता है। चौडा छज्जा और अच्छी छत रहने पर, जो वर्षा मे टपके नही, अमरीका और मेक्सिको मे ये मकान बरसो, कभी कभी सैकडो वर्ष, चलते है। कॉलोरेडो (अमरीका) मे पृथक् ईट बनाने की प्रथा नही है। वहाँ दीवार बनाने के लिये अगल बगल अस्थायी रूप से पटरे खडे कर दिए जाते है और उनके बीच कडी सनी हुई मिट्टी कूट दी जाती है। कुछ दिन तक सूखने देकर पटरो को अधिक ऊँचाई पर बाँधते है और इस प्रकार तह पर तह मिट्टी डालकर दीवार बना लेते है। दीवारे चाहे इस प्रकार बने, चाहे ईंटो से, पर जब उनपर बाहर से सीमेंट का पलस्तर कर दिया जाता है तो ये (ऐडोबे के) मकान बहुत टिकाऊ होते है। ऐडोबे की ईट बनाने के लिये वही मिट्टी अच्छी होती है जो सूखने पर बहुत कडी और मजबूत हो जाती है।

स०ग्र०--आर० एम० सिगर ऐडोबे हाउस कस्ट्रक्शन (नैशनल बिल्डर, खड ६७, पृष्ठ ७४-७६, १९२४)।

ऐतरेय आरण्यक ऐतरेय ब्राह्मण का अतिम खड। 'ब्राह्मण' के तीन खड होते है जिनमें प्रथम खड तो ब्राह्मण ही होता है जो मुख्य अश के रूप में गृहीत किया जाता है। 'आरण्यक' ग्रथ का दूसरा अश होता है तथा 'उपनिषद्' तीसरा। कभी कभी उपनिषद् आरण्यक का ही अश होता है और कभी कभी वह आरण्यक से एकदम पृथक् ग्रथ के रूप मे प्रतिष्ठित होता है। ऐतरेय आरण्यक अपने भीतर ऐतरेय उपनिषद् को भी अतर्भुक्त किए हुए है।

इसके पाँच अवातर खड है जो स्वय आरण्यक के नाम से ही अभिहित किए जाते है। ये पाँचो आरण्यक वस्तुत पृथक् ग्रथ माने जाते है। आज भी श्रावणी के अवसर पर ऋग्वेदी लोग इन अवातर आरण्यको के आद्य पदो का पाठ स्वतत्र रूप से करते है जो इनके स्वतत्र ग्रंथ मानने का प्रमाण माना जा सकता है।

ग्रथ के प्रथम आरण्यक मे 'महाव्रत' का वर्णन है जो ऐतरेय ब्राह्मण के 'गवामयन' का ही एक अश है। द्वितीय आरण्यक के अतिम तीन अध्यायो मे (चतुर्थ से लेकर षष्ठ अध्याय तक) ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय आरण्यक को 'सहितोपनिषद्' भी कहते है, क्योकि इसमे सहिता, पद और क्रम पाठो का वर्णन तथा स्वर, व्यजन आदि के स्वरूप का विवेचन है। चतुर्थ आरण्यक मे महाव्रत के पचम दिन मे प्रयुक्त होनेवाली महानाम्नी ऋचाएँ दी गई है और अतिम आरण्यक मे निष्कैवल्य शास्त्र का वर्णन पूरे ग्रथ की समाप्ति करता है।

इन आरण्यको मे प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पचम के शौनक माने जाते है। ऐतरेय आरण्यक के रचनाकाल के विषय मे विद्वानो मे ऐकमत्य नही है। डाक्टर कीथ इसे यास्करचित निरुक्त से अर्वाचीन मानकर इसका समय षष्ठ शती विक्रमपूर्व मानते है, परतु वास्तव मे यह निरुक्त से प्राचीनतर है। ऐतरेय ब्राह्मण की रचना करनेवाले महिदास ऐतरेय ही इस आरण्यक के प्रथम तीन अशो के भी रचयिता है। फलत ऐतरेय आरण्यक को ऐतरेय ब्राह्मण का समकालीन मानना युक्तियुक्त है। इस आरण्यक को निरुक्त से प्राचीन मानने का कारण यह है कि इसके तृतीय खड का प्रतिपाद्य विषय, जो वैदिक व्याकरण है, प्रातिशाख्य तथा निरुक्त दोनो के तद्विषयक विवरण से नि सदेह प्राचीन है।

[ब० उ०]

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद की एक शाखा जिसका 'ब्राह्मण' ही उपलब्ध है, सहिता नही। ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेदीय ब्राह्मणो मे अपनी महत्ता के कारण प्रथम स्थान रखता है। इसमे चालीस अध्याय है जिनमे प्रत्येक पाँच अध्यायो को मिलाकर एक 'पचिका' कहते है और प्रत्येक अध्याय के विभाग को 'कडिका'। इस प्रकार पूरे ग्रथ में ८ पचिका, ४० अध्याय, अथवा २८५ कडिकाएँ है। समस्त सोमयागो की प्रकृति होने के कारण 'अग्निष्टोम' का प्रथमत विस्तृत वर्णन किया गया है और अनतर सवनो मे प्रयुक्त शास्त्रो का तथा अग्निष्टोम की विकृतियो--उक्थ्य, अतिरात्र तथा षोडशी याग--का उपादेय विवरण प्रस्तुत किया गया है। 'राजसूय' का वर्णन, तदतर्गत शुन शेप का आख्यान तथा 'ऐंद्र महाभिषेक' का विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। अष्टम पचिका मे प्राचीन भारत के मूर्धाभिषिक्त सम्राटो का विशेष वर्णन किया गया है जिसमे इस विषय की प्राचीन गाथाएँ उद्धृत की गई है। [दि० 'अभिषेक'] ये गाथाएँ भाषा तथा इतिहास दोनो दृष्टियो से महत्व रखती है। 'ऐतरेय' शब्द की व्याख्या एक प्राचीन टीकाकार ने की है--इतरा (शूद्रा) का पुत्र, जिसके कारण इस ब्राह्मण के मूल प्रवर्तक पर हीन जाति का होने का दोष लगाया जाता है, परतु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। अवेस्ता का एक प्रख्यात शब्द है--'एथ्रेय' जिसका अर्थ है ऋत्विज्, यज्ञ करानेवाला पुरोहित। विद्वानो की दृष्टि मे वैदिक 'ऐतरेय' को इस 'ऐतरेय' से सबद्ध मानना भाषाशास्त्रीय शैली से नितात उचित है। फलत 'ऐतरेय' का भी अर्थ है 'ऋत्विज्'। इस ब्राह्मण मे प्रतिपाद्य विषय की आलोचना करने पर इस अर्थ की यथार्थता मे सदेह नही रहता। यह 'ब्राह्मण' हौत्रकर्म से सबद्ध विषयो का बडा ही पूर्ण परिचायक है और यही इसका महत्व है। इस 'ब्राह्मण' के अन्य अश भी उपलब्ध होते है जो 'ऐतरेय आरण्यक' तथा 'ऐतरेय उपनिषद्' कहलाते है।

[ब० उ०]

ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज और उसके इतिहास के अध्ययन मे द्वद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धातो का प्रसारण है। आधुनिक काल मे चूँकि इतिहास को मात्र विवरणात्मक न मानकर व्याख्यात्मक अधिक माना जाता है और वह अब केवल आकस्मिक घटनाओ का पुज मात्र नही रह गया है, ऐतिहासिक भौतिकवाद ने ऐतिहासिक विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया है।

१७ मार्च, १८८३ को कार्ल मार्क्स की समाधि के पास उनके मित्र और सहयोगी एगेल्स ने कहा था, "ठीक जिस तरह कि जीव जगत् में डार्विन ने विकास के नियम का अनुसधान किया उसी तरह मानव इतिहास

में मार्क्स ने विकास के नियम का अनुसंधान किया। उन्होंने उस सामान्य तथ्य की खोज निकाला (जो अभी तक आदर्शवादिता के मलबे के नीचे दबा था) कि इसके पहले कि वह राजनीति, विज्ञान, कला, धर्म और इस प्रकार की बातों में रुचि ले सके, मानव को सबसे पहले खाना-पीना, वस्त्र और आवास मिलना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन धारण के लिए आवश्यक आवश्यक भौतिक साधनों के साथ साथ राष्ट्र अथवा युग विशेष के तत्कालीन आर्थिक विकास की अवस्था उस आधार का निर्माण करती है जिस पर राज्य संस्थाएँ, विधिमूलक दृष्टिकोण, और सम्बन्धित व्यक्तियों के कलात्मक और धार्मिक विचार तक निर्मित हुए हैं। तात्पर्य यह है कि इन उत्तरवर्ती परिस्थितियों को जिन्हें पूर्वगामी परिस्थितियों की जननी समझा जाता है, वस्तुत स्वय उनसे प्रसूत समझा जाना चाहिए।

यह ऐसी धारणा है जिसका मौलिक महत्त्व है और जो तत्वत सरल है। इतिहास में (वैसे ही मानव विचार में भी) परिवर्तनों के लिए आदि प्रेरक शक्ति युग विशेष की आर्थिक उत्पादन की व्यवस्था और तज्जनित सबंधों में निहित होती है। यह धारणा उन सारी व्याख्याओं का विरोध करती है जो इतिहास के प्रारंभिक तत्वों को दैव, जगदात्मा, प्राकृतिक विवेक स्वातन्त्र्य आदि के जैसी भावात्मक वस्तुओं में ढूंढती है। इसकी उत्पत्ति वास्तविक सक्रिय मानव से होती है और उसके सही सही और महत्त्वपूर्ण अन्तःसबंध सैद्धान्तिक प्रत्यावर्तन के विकास और उनकी सजीव प्रक्रिया की प्रतिध्वनियों को प्रदर्शित करती है। सक्षेप में, चेतनता जीवन को नहीं निर्धारित करती किंतु जीवन चेतनता को निर्धारित करता है।

मार्क्स ने 'दर्शन की दरिद्रता' (पावर्टी आव फिलासफी) में लिखा, "हम कल्पना करें कि अपने भौतिक उत्तराधिकार में वास्तविक इतिहास, अपने पार्थिव उत्तराधिकार में, ऐसा ऐतिहासिक उत्तराधिकार है जिसमें मत, प्रवर्ग, सिद्धातों ने अपने को अभिव्यक्त किया है। प्रत्येक सिद्धात की अपनी निजी शताब्दी रही है जिसमें उसने अपने को उद्घाटित किया है। उदाहरण के लिए सत्ता के सिद्धात की अपनी शताब्दी ११वीं रही है, उसी तरह जिस तरह १८वीं शताब्दी व्यक्तिवाद के सिद्धात की प्रधानता की रही है। अत, तर्कत शताब्दी सिद्धात की अनुवर्तिनी होती है, सिद्धात शताब्दी का अनुवर्ती नहीं होता। दूसरे शब्दों में, सिद्धात इतिहास को बनाता है, इतिहास सिद्धान्त नहीं बनाता। अब यदि हम इतिहास और सिद्धात दोनों की रक्षा की आशा के लिए पूछें कि आखिर यह सिद्धात ११वीं शताब्दी में ही क्यों प्रादुर्भूत हुआ और व्यक्तिवाद अठारहवीं में क्यों, और सिद्धात १८वीं में या व्यक्तिवाद ११वीं में, अथवा दोनों एक ही शताब्दी में क्यों नहीं हुए, तो हमें अनिवार्य रूप से तत्कालीन परिस्थितियों के विस्तार में जाने पर बाध्य होना पड़ेगा। हमें जानना पड़ेगा कि ११वीं और १८वीं शताब्दी के लोग कैसे थे, उनकी क्रमागत आवश्यकताएँ क्या थी। उनके उत्पादन की शक्तियाँ, उनके उत्पादन के तरीके, वे कच्चेमाल जिनसे वे उत्पादन करते थे, और अत में मानव मानव के बीच क्या सबंध थे, सबंध जो अस्तित्व की उन समस्त परिस्थितियों से उत्पन्न होते थे। किंतु ज्योंही हम मानवों को अपने इतिहास के पात्र और उनके निर्माता मान लेते हैं त्योंही थोड़े चक्कर के बाद, हमें उस वास्तविक आदि स्थान का पता लग जाता है जहाँ से यात्रा आरंभ हुई थी, क्योंकि हमने उन शाश्वत सिद्धातों को छोड़ दिया है, जहाँ से हमने आरंभ किया था।"

मोटे पत्थर के औजारों से धनुषबाण तक और शिकारी जीवन से आदिम पशुपालन पशुचारण तक, पत्थर के औजारों से धातु के औजारों तक (लोहे की कुल्हाड़ी, लोहे के फाल वाले लकड़ी के हल आदि) कृषि के सस्थापन के साथ, सामग्री के उपयोग के लिए धातु के औजारों का आगे को विकास (लोहार की धौंकनी और बर्तनों का आरंभ), दस्तकारी के विकास और उसका कृषि से प्रारंभिक औद्योगिक निर्माण के रूप में पृथक्करण, मशीनों की ओर संक्रमण, और तब आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों का औद्योगिक क्रांति के आधार पर उदय—प्राचीन काल से हमारे युग तक की उत्पादक शक्तियों के ऐतिहासिक विकास की यह एक मोटी रूपरेखा है। परिणामतः इस क्रम के साथ-साथ मनुष्य के सामाजिक सबध भी बदलते गए हैं और उनका विकास होता गया है। इतिहास को उत्पादन सबंधों के पाँच युग ज्ञात हैं—आदिम साम्यवादी, दासप्रथा, सामन्ती, पूँजीवादी और समाजवादी। इन व्यवस्थाओं के विचार और प्रकार यथा पूँजीवाद में मुनाफा, मजदूरी और लगान, सामन्त नहीं बल्कि उत्पादन के सामाजिक सबंधों की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति मात्र हैं। भौतिक परिवेश में विकसित होनेवाली ठोस आवश्यकताएँ एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था को परिवर्तन के ऐतिहासिक क्रम को जन्म देती हैं। जब भीतरी अन्तर्विरोधों के कारण आर्थिक आच्छादन फट जाता है, जैसा कि समाजवादी विश्लेषण का दावा है कि पूंजीवाद में घटित हो रहा है, तब इतिहास का एक नया अध्याय आरंभ हो जाता है।

इस धारणा के अनुसार मनुष्य की भूमिका किसी भी प्रकार निष्क्रियता की नहीं सक्रियता की है। एंगेल्स के कथनानुसार स्वतन्त्रता आवश्यकता की स्वीकृति है। व्यक्ति प्राकृतिक नियमों से कहाँ तक बँधा है, यह जान लेना अपनी स्वतन्त्रता की सीमाओं को जान लेना है। इच्छा मात्र से आदमी अपनी ऊँचाई हाथ भर भी नहीं बढ़ा सकता। किंतु मनुष्य ने उन भौतिक नियमों का राज समझकर उड़ना सीख लिया है जिनके बिना उसका उड़ना असभव होता है। निसंदेह मानव इतिहास का निर्माण करता है किन्तु अपनी मनचाही रीति से नहीं। यह कहना कि यह विचारधारा मनुष्य पर स्वार्थ के उद्देश्यों को आरोपित करती है, उस विचार को फूहड़ बनाना है। यह हास्यास्पद होता, यदि सिद्धान्त यह कहता कि आदमी सदा भौतिक स्वार्थ के लिए काम करता है। किंतु उसका मात्र इतना आग्रह है कि आदर्श स्वर्ग से बने-बनाये नहीं टपक पड़ते किंतु प्रस्तुत परिस्थितियों द्वारा विकसित होते हैं। इसलिए इसका कारण खोजना होगा कि युग विशेष में आदर्श विशेष ही क्यों प्रचलित थे, दूसरे नहीं।

१८९० में एंगेल्स ने लिखा, "अततोगत्वा इतिहास के रूप को निश्चित करने वाले तत्त्व वास्तविक जीवन में उत्पादन और पुनरुत्पादन हैं। इससे अधिक का न तो मार्क्स ने और न मैंने ही कभी दावा किया है। इसलिए अगर कोई इसको इस वक्तव्य में तोड़-मरोड़कर रखता है कि आर्थिक तत्व ही एक-मात्र निर्णायक है, तो वह उसे अर्थहीन, विमूर्त और तर्करहित वक्तव्य बना देता है। आर्थिक परिस्थिति आधार निश्चय है, किंतु ऊपरी ढाँचे के विभिन्न तत्त्व—वर्गसघर्ष के राजनीतिक प्रकार और उसके परिणाम, सफल सग्राम के बाद विजयी वर्ग द्वारा स्थापित सविधान आदि—कानून के रूप—फिर सघर्ष करने वालों के दिमाग में इन वास्तविक सघर्षों के परावर्तन, राजनीतिक, कानूनी, दार्शनिक सिद्धात, धार्मिक विचार और हठधर्मी सिद्धातों के रूप में उनका विकास—यह भी ऐतिहासिक सघर्षों की गति पर अपना प्रभाव डालते हैं और अधिकतर अवस्थाओं में उनका रूप स्थित करने में प्रधानत सफल होते हैं। इन तत्वों की एक दूसरे के प्रति एक क्रिया भी होती है—अन्यथा इस सिद्धान्त को इतिहास के किसी युग पर आरोपित करना अनन्य-साधारण-समीकरण को हल करने से भी सरल होता।" वास्तव में यह विचार इस बात को स्वीकार करता है कि "सिद्धात ज्योंही जनता पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते हैं, वे भौतिक शक्ति बन जाते हैं।" बुनियादी तौर पर तो निसंदेह इसका आग्रह है कि सामाजिक परिवर्तनों के अंतिम कारणों को "दर्शन में नहीं प्रत्येक विशिष्ट युग के अर्थशास्त्र" में ढूंढना होगा। सत्य तो यह है कि आरंभ में 'कार्य' थे, शब्द नहीं।

इस विचारधारा का एक गत्यात्मक पक्ष भी है जो इस बात पर जोर देता है कि प्रत्येक सजीव समाज में उत्पादन की विकासशील शक्तियों और प्रतिगत्यात्मक संस्थाओं में, उन लोगों में जो स्थितियों को जैसी की तैसी रहने देना चाहते हैं और जो उन्हें बदलना चाहते हैं, विरोध उत्पन्न होता है। यह विरोध जब उस सीमा तक पहुँच जाता है कि उत्पादन सबंध समाज की "बेड़ियाँ बन जाते हैं" तब क्रांति हो जाती है। इस विश्लेषण के अनुसार पूंजी का एकाधिपत्य उत्पादन पर बेड़ी बनकर बैठ गया है, और यही कारण है कि समाजवादी क्रांतियाँ हुईं, और जहाँ अभी तक नहीं हुई हैं वहाँ पूँजीवाद स्थायी रूप से संकट में पड़ गया है। यह समय समय में युद्धों और उनकी निरन्तर तैयारियों से प्रामाणिक रूप से प्रदर्शित होता है। यह तनाव समाजवाद की स्थापना से ही दूर हो सकता है। समाजवादी समाज में जो अन्तर्विरोध पैदा होंगे, वे, आशा है, अभी तो निश्चय से कल्पना की वस्तु हैं। [ही० ना० सु०]

ऐन (१६६५–१७१४) इग्लैंड के राजा जेम्स द्वितीय की दूसरी पुत्री। उसका लालन पालन प्रोटेस्टेंट वातावरण में हुआ था। बचपन में ही उसकी मैत्री सारा चर्चिल (मार्लबरो की भावी डचेज) से हो गई थी। इस मैत्री का प्रभाव ऐन के व्यक्तिगत जीवन पर ही नही, वरन् इग्लैंड के इतिहास पर भी बडा गहरा पडा। १६८३ मे उसका विवाह डेन्मार्क के राजकुमार जार्ज के साथ हुआ। राजनीतिक रूप से लोकप्रिय न होते हुए भी दापत्य रूप से यह सबध सुखी प्रमाणित हुआ। जेम्स के पश्चात् विलियम इग्लैंड का राजा बना, और विलियम की मृत्यु के बाद ८ मार्च, १७०२ को ऐन ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड की रानी घोषित हुई। व्यक्तित्व मे प्रतिभाशाली न होते हुए भी उसका शासनकाल गौरवपूर्ण प्रमाणित हुआ।

प्रारभिक जीवन मे माता पिता के स्नेह से वचित रहने, अपनी १७ सतानो की मृत्यु देखने, तथा निरतर अस्वस्थ रहने से उसे यथेष्ट कष्ट सहन करना पडा। कौटुबिक बधनो, धार्मिक सघर्षो, कर्तव्यपालन की समस्याओ तथा देशभक्ति की भावनाओ ने उसे विरोधी दिशाओ मे घसीटा। दरबार के पारस्परिक द्वेष तथा गुटबदियाँ उसे जीवनपर्यत घालती रही। उसमे अधिक योग्यता भी नही थी, और न वह तीक्ष्णबुद्धि थी। किंतु, अपनी सीमाओ मे रहकर वह ईमानदारी से कर्तव्यपालन मे सतत प्रयत्नशील रही।

आरभ से ही चर्च (धर्म) की समस्याओ के प्रति उसकी पूरी अभिरुचि बनी रही। राज्य के दोनो प्रमुख दलो से उसका सपर्क चर्च सबधी भावनाओ से ही परिचालित रहा। व्यक्तिगत रूप से टोरी (अनुदार) दल से उसकी सहानुभूति रहने पर भी, ह्विग (उदार) दल के साथ, उसके कृपापात्र चर्चिल दपति जिसके सर्वप्रमुख सदस्य थे, उसका बधन दृढतर होता गया। मार्लबरो की ब्लेनहाइम की अभूतपूर्व विजय के कारण ह्विग दल का प्रभाव बहुत बढ गया। वस्तुत मार्लबरो का ड्यूक ही ह्विग दल का सर्वाधिक प्रभावशाली सदस्य था। किंतु १७१० मे ऐन और सारा मे सबधविच्छेद होने के कारण, मार्लबरो के भाग्य का पतन हो गया। सारा के स्थान पर मिसेज मैशम, जो उसकी ही सबधी थी, ऐन की विशेष कृपापात्री बन गई। वास्तव मे इग्लैंड की जनता भी मार्लबरो के युद्धो से ऊब उठी थी। अत ह्विग शासन की समाप्ति पर हार्ली के नेतृत्व में, जो गुप्त रूप से ऐन का विश्वासपात्र सलाहकार था, टोरी सरकार की स्थापना हुई। ऐन के शासन के अतिम काल में उत्तराधिकार की समस्या तीव्र हो गई। ऐन अपने भाई प्रेतेंद्र को उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी, किंतु मत्रिमडल तथा जनता के तीव्र विरोध के कारण असफल रही। अगस्त, १७१४ मे उसकी मृत्यु हो गई। ससार के सर्वश्रेष्ठ सेनानियो मे से एक मार्लबरो के ड्यूक की अभूतपूर्व विजयो, दल सबधी राजनीति के उत्थान, इग्लैंड और स्काटलैंड के एकीकरण, ईस्ट इडिया कपनी की समस्याओ के सफल समाधान, तथा ऐडिसन, डिफो, स्विफ्ट, और पोप जैसे मेधावी साहित्यकारो के प्रादुर्भाव—इन सब कारणो ने ऐन के शासन को गौरवपूर्ण बना दिया था। [रा० ना०]

ऐनू जापान के उत्तरी द्वीप होकैडो के एक सीमित क्षेत्र मे तथा सैकालीन द्वीप के कुछ भागो मे रहनेवाली आदिवासियो की एक अवशिष्ट जाति है। इस ऐनू आदिवासी जाति का सबध कुछ सीमा तक रिऊक्यू द्वीपसमूह वाले लोगों से है। ऐनू जाति के लोगो की सख्या अब बहुत कम रह गई है तथा उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है। बढती हुई जापानी सभ्यता के साथ साथ आगे बढने मे ये लोग पूर्णतया असमर्थ हैं। शारीरिक दृष्टि से भी ये सभवत उत्तरी एशिया मे निवास करनेवाले प्रोटोनॉर्डिक समूह के है, जो किसी समय उत्तरी एशिया मे काफी दूर तक फैले हुए थे। ऐनू लोग निस्सदेह मनुष्य की प्राचीनतम जाति के अवशेष हैं। इनकी सभ्यता कई बातो मे पत्थर युग की याद दिलाती है। कृषि के प्राचीन ढग को इस जाति ने अभी तक सुरक्षित रखा है। इनके पुरुष अभी तक आखेट युग में ही बने हुए है तथा स्त्रियाँ जगलो से जीवनोपयोगी सामग्री एकत्रित करने से कुछ ही आगे बढी हुई हैं, अर्थात उनकी जीवनचर्या कृषि के आरभिक युग जसी ही है।

इनके धार्मिक आचार विचार उत्तरी एशिया में बसनेवाली अन्य आदिम जातियों से मिलते जुलते हैं। इनका धर्म अध्यात्ममूलक है तथा इनमे एक विशेष प्रकार का धार्मिक परमानद लक्षित होता है जिसे उत्तरध्रुवीय वातोन्माद कहते हैं। भालू का इनकी पूजापद्धति में विशेष स्थान है। इस पशु को शैशवावस्था मे ही पकड लिया जाता है तथा स्त्रियो द्वारा उसका लालन-पालन बडी सावधानी और प्रेम से किया जाता है, यहाँ तक कि स्त्रियाँ उन्हें अपने स्तनपान भी कराती हैं। जब भालू तीन वर्ष का हो जाता है तब बडे समारोह के साथ उसका बलिदान किया जाता है। अधिकाश ऐनू ग्रामो मे काठ के पिंजरे देखे जा सकते हैं, जिनमे भालू के बच्चे पाले जाते हैं। गावों मे एक और विशेष वस्तु भी देखी जा सकती है। यह एक प्रकार की लकडी है जिसे काटकर और पैनी बनाकर भूमि में गाड दिया जाता है। इस लकडी का धार्मिक महत्व होता है।

इनकी भाषा और लिपि पर जापानी का कुछ प्रभाव दिखाई पडता है, परतु उच्चारण में भिन्नता है। इस समय इनकी सख्या घटकर केवल १८,००० रह गई है। इनकी उत्पत्ति के विषय मे विद्वानो के विभिन्न मत हैं। [श्या० सु० श०]

ऐन्नियुस क्विंतुस (ई०पू०२३९–१६९) को 'रोमन कविता का जनक' कहा जाता है। इसका जन्म इटली के दक्षिणपूर्व मे कलाब्रिया प्रदेश के रूदियाए नामक स्थान में हुआ था। ग्रीक, ऑस्कन और लातीनी तीनो भाषाओ का अच्छा ज्ञाता होने के कारण ऐन्नियुस कहा करता था कि मुझे तीन हृदय प्राप्त हैं। युवावस्था मे वह सेना में सैंचरियन (शताध्यक्ष) पद पर पहुँच गया था। कातो नामक जननायक इसको रोम ले गया। रोम में निवास आरभ करने के थोडे समय पश्चात् ऐन्नियुस ने काव्यरचना आरभ की। यहाँ उसका रोम के प्रभावशाली नेताओ से परिचय हुआ। यह मार्कुस के साथ ईतोलिया के अभियान मे भी गया था जिसका वर्णन उसने अपने नाटको मे किया है। इसकी मृत्यु गठिया रोग से ई० पू० १६९ मे हुई।

इसकी रचनाओ की सख्या बहुत अधिक थी। किंतु इस समय तो उसकी विभिन्न रचनाओ मे से कुछ पक्तियाँ ही अवशिष्ट रह गई हैं जिनकी सख्या १००० से कुछ ही अधिक होगी। इन रचनाओ में से एक महाकाव्य मे, जिसका नाम 'अनालेस' है, उसने रोम का इतिहास लिखा है। ऐन्नियुस के नाटको में से २२ दु खात नाटको, दो सुखात नाटको तथा एक ऐतिहासिक नाटक के उद्धरण मिलते हैं। इसकी अन्य रचनाओ की भी कुछ पक्तियाँ अवशिष्ट हैं। पश्चात्कालीन कवियो पर उसकी रचनाओ का अत्यधिक प्रभाव पडा है। वह लातीनी का आदिकवि था तथा उसने ग्रीक काव्य और नाटक के प्रभाव को लातीनी भाषा मे अवतीर्ण किया। इस्कीलस, सोफोक्लीस तथा यूरीपिदेस की नाटयशैली की प्रतिध्वनि उसके नाटको मे स्पष्टतया सुनी जा सकती है। पर उसने अपने तीनो हृदयो की भावुकता की सपत्ति को एकमात्र हृदय (लातीनी) में उँडेलकर भावी साहित्यिको का मार्ग प्रशस्त किया। इसी कारण सिसरो और क्वितीलियन जैसे महान् लेखको ने उसकी प्रशसा की एव लुक्रितियुस, वर्जिल एव ओविद उसके ऋणी हैं। कहते हैं, वह अत्यत मिलनसार और प्रसन्नचित्त व्यक्ति था।

स० ग्र०—मैकेल लैटिन लिटरेचर, १९०६, डफ दि राइटर्स ऑव रोम १९४१। [भो० ना० श०]

ऐन्येसी, मारिया गीताना (Agnesi, Maria Gaetana) (१७१८–१७९९), इटली की गणितज्ञ, भाषाविद् और दार्शनिक, गणित के प्रोफेसर की लडकी थी। इसका जन्म १६ मई, १७१८, को मिलन (इटली) में हुआ। वह १४ वर्ष की आयु मे ही दार्शनिक विषयो पर नवीन विचार विद्वानो के समुख उपस्थित किया करती थी। वह आरभ से भिक्षुणी (नन) हो जाना चाहती थी, परतु अन्य सबधियो ने उसे रोक रखा। २० वर्ष की आयु होने पर वह दुनिया से अलग होकर अपने घर मे एकातवास करके, अपना सारा समय गणित के अध्ययन मे लगाने लगी।

चलन कलन मे एक वक्र ऐन्येसी की तुन्निका (विच ऑव ऐन्येसी) कहलाता है। कहा जाता है, ऐन्येसी (फ्रेंच उच्चारण आन्येसी) एक समीकरण पर विचार करते करते सो गई। रात्रि में, निद्रावस्था मे ही, उसने कागज पर, स्वच्छतापूर्वक इस समीकरण से निरूपित वक्र को अकित कर लिया। प्रात काल उठने पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि कागज पर ठीक हल पहले से ही लिखा रखा है।

१७५२ ई० में, १४वें पोप बेनेडिक्ट ने मिलन के विश्वविद्यालय में अपने स्थान पर ऐग्नेसी की नियुक्ति कर दी। पिता के देहांत के बाद वह मिलन में ही एक मठ में सम्मिलित होकर भिक्षुणी हो गई। उनका निधन १७९९ में हुआ।

उनका लिखा प्रधान ग्रंथ इस्तितुत्सी अनालितिके अद उज़ो देला गियोवेन्तू इतालियाना (Institutioni analitiche uso della gioventu italiana) है, जो मिलन में १७४८ में दो जिल्दों में छपा। इसका अंग्रेजी अनुवाद १८०१ में छपा (अनुवादक जॉन कॉल्सन)।

स०ग्रं०—एंटोनियो फ्रान्सेस्को फ्रिसी (Antonio Franscesco Frisi) ऐलोग इस्तोरीक द मादम्वाज़ेल आन्येसी (Eloge historique de Mademoiselle Agnesi (१८०७)।

ऐपुल्टन संयुक्त राज्य, अमरीका के विसकानसिन राज्य में लोअर फॉक्स नदी के तट पर मिलवाकी से उत्तर-पश्चिम ९० मी० पर स्थित है। यह उटागेमी प्रदेश की राजधानी है। यहाँ से होकर संघीय राजमार्ग ४१ जाता है तथा यह नगर रेलों द्वारा अन्य बड़े बड़े नगरों से संबंधित है। ग्रीन बे खाड़ी तक छोटे छोटे वाष्पपोत चलते हैं। सन् १९५० ई० में नगर की जनसंख्या ३४,०१० थी। नगर नदी के तट पर की उच्च भूमि पर बड़े सुंदर ढंग से बसा हुआ है। यह गोपालन तथा दुग्ध का केंद्र है। यहाँ कागज की बड़ी बड़ी मिलें और अन्य कारखाने भी हैं, जिनका संचालन फॉक्स नदी से उत्पन्न की गई जलविद्युत् द्वारा होता है।

ऐपुल्टन सन् १८३३ ई० में एक गाँव के रूप में बसाया गया था। बाद में ग्रैंड शूट तथा लोगवर्ग को संयुक्त कर नगर का रूप दिया गया। नगर का नामकरण बोस्टन के एक व्यापारी सैमुएल ऐपुल्टन के नाम पर किया गया। [श्या० सु० श०]

ऐपुलबाई इंग्लैंड के पश्चिमी मूरलैंड प्रदेश में लंदन मिडलैंड रीजन रेलवे पर स्थित एक नगर है। नगर का क्षेत्रफल २९ वर्ग मील है तथा जनसंख्या सन् १९५१ ई० में १,७०४ थी। जंगलों से पूर्ण ईडेन घाटी के उत्तर-पूर्व में स्थित यह नगर मिलबर्न जंगल से सटा हुआ है। नगर के पास पहाड़ी पर एक प्राचीन किला है, जिसका जीर्णोद्धार १७वीं शताब्दी में किया गया था। यह नगर अपनी प्राचीनता को सुरक्षित रखे हुए है। नगर सब ओर से दोहरी खाई द्वारा आवृत है, ये खाइयाँ इस बात का स्मरण दिलाती हैं कि यह नगर इंग्लैंड की प्राचीन सीमा पर स्थित है। १६वीं तथा १७वीं शताब्दी के लेखकों ने इस नगर का एक दरिद्र तथा साधारण ग्राम के रूप में उल्लेख किया है। यहाँ का मुख्य धंधा कृषि है, पर आजकल यहाँ एक दुग्धकेंद्र का भी विकास हुआ है। [श्या० सु० श०]

ऐपोमारफीन हाइड्रोक्लोराइड मारफीन पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के प्रयोग से प्राप्त, केंद्रीय वमनकारक है तथा विषपान की चिकित्सा में ५ मिलीग्राम की मात्रा में अधस्त्वक मार्ग से वमन कराने के लिये प्रयुक्त होता है। इसकी मात्राएँ आधे आधे घंटे पर दो बार तक दी जा सकती हैं। [मो० ला० गु०]

ऐबर्डीन, जार्ज गार्डन (१७८४-१८६०) ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, एडिनबरा में जन्म, ११ साल की उम्र में ही अनाथ हो गया, १८०१ में दादा के मरने के बाद लार्ड हुआ और एबरी हैमिल्टन से शादी कर ली।

ऐबर्डीन १८१२ में राजदूत बनाकर आस्ट्रिया भेजा गया और उसी ने तोपलित्स के संधिपत्र पर अगले साल दस्तखत किए। पेरिस की संधि भी अधिकतर उसी के प्रभाव से संपन्न हुई। सन् १८२८ में वह वेलिंग्टन के ड्यूक के मंत्रिमंडल में परराष्ट्र सचिव हुआ और उसके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण युग शुरू हुआ। उसने पहले फ्रांस से मैत्री की, फिर संयुक्त राज्य अमरीका से सद्भाव उत्पन्न किया। उसी के कार्यकाल में अमरीका के साथ आरेगन की संधि हुई जिससे कनाडा में ब्रिटेन को राजनीतिक लाभ और सुविधा मिली। १८४६ ई० में ऐबर्डीन ने विदेशी अन्न संबंधी कर के प्रश्न पर इस्तीफा दे दिया।

उदार और अनुदार दल के संयुक्त मंत्रिमंडल में वह सन् १८५२ में इंग्लैंड का पहला लार्ड हुआ। उस मंत्रिमंडल में लार्ड पामर्स्टन और लार्ड जान रसेल के अतिरिक्त कई दूसरे प्रभावशाली राजनीतिज्ञ भी थे जिनसे कालांतर में उसका टूट जाना अनिवार्य था। फिर भी ऐबर्डीन ने मंत्रिमंडल के कार्यों में पर्याप्त सहयोग दिया और उसी के सहयोग का परिणाम था कि १८५३ में ग्लैड्स्टन का प्रसिद्ध आयव्ययक मंत्रिमंडल ने मंजूर किया। क्रीमिया के युद्ध में उसके स्वभाव की कमजोरी स्पष्ट हो गई क्योंकि वह वस्तुत शांति का मंत्री और देश के दूसरों के मामले में हस्तक्षेप न करने की नीति का समर्थक था। क्रीमिया के युद्ध के अवसर पर पूर्वी प्रश्न के संबंध में रूस और तुर्की के समक्ष ऐबर्डीन की नीति विफल हो गई और लार्ड जान रसेल के साथ साथ उसने भी पदत्याग कर दिया। ऐबर्डीन कला का अच्छा समीक्षक था और उसने ग्रीक वास्तु के सौंदर्य पर एक पुस्तक भी लिखी। मैथ्यू नोबल की बनाई उसकी मूर्ति वेस्टमिंस्टर अबे में रखी है। ऐबर्डीन का एक प्रतिकृति चित्र सर टी लारेंस ने भी बनाया था। [ओ० ना० उ०]

ऐबि, एर्न्स्ट (Ernst Abbe) (१८३५-१९०५) का जन्म सन् १८३५ ई० में जर्मनी में हुआ। आपका बाल्यकाल बड़ा सुखद था। इससे आपकी शिक्षा दीक्षा भी निर्बाध तथा पूर्ण हुई। इनकी प्रसिद्धि विशेषरूप से सूक्ष्मदर्शक यंत्र के मंच के नीचे लगनेवाले संघनक (कंडेंसर) के कारण हुई जिसको आजकल "ऐबिज सबस्टेज कंडेंसर" कहा जाता है। इनकी अत्यधिक प्रसिद्धि का कारण इनका "जाइस आप्टिकल वर्क्स" नामक संस्था से निकटतम संबंध था। इस संस्था की प्रगति के ये ही मुख्य कारण थे। इस संस्था से संबद्ध रहकर इन्होंने अपने कारखाने में बने सूक्ष्मदर्शक यंत्रों में आश्चर्यजनक उन्नति की जिससे "जाइस ऑप्टिकल वर्क्स" का संसार में एक विशेष स्थान बन गया और आज उसके बने अणुदर्शक प्रथम श्रेणी के यंत्र माने जाते हैं।

इनके तत्वावधान में तथा इनके द्वारा सूक्ष्मदर्शी यंत्रों में किए गए विकासों तथा सुधारों के फलस्वरूप आज के ऊतिविज्ञान (हिस्टॉलोजी) तथा जीवाणुविज्ञान (बैक्टीरियॉलोजी) के क्षेत्रों से संबंधित अनुसंधानों में अभूतपूर्व प्रगति हुई तथा इस प्रगति के साथ साथ चिकित्सा विज्ञान की भी महत्वपूर्ण उन्नति संभव हुई। इस महान् वैज्ञानिक की मृत्यु जर्मनी में अपने निवासस्थान पर ७० वर्ष की आयु में सन् १९०५ ई० में हुई।

स०ग्रं०—एफ० आउर्सबाख एर्न्स्ट ऐबि (१९१८)। [शि० ना० स०]

ऐमरी, लियोपोल्ड चार्ल्स मारिस स्टेनेट ब्रिटिश राजनीतिज्ञ जिसका जन्म १८७३ ई० में भारत के उत्तर प्रदेश के गोरखपुर में हुआ था। युवावस्था में उसने लंदन टाइम्स नामक प्रसिद्ध समाचारपत्र में काम किया और दक्षिण अफ्रीका के युद्धकाल में उस पत्र का वह प्रधान संपादक था। १९११ ई० में वह बर्मिघम से पार्लियामेंट का मेंबर चुना गया। १९१९ में वह उपनिवेशों का उपसचिव हो गया और दो साल बाद नौसेना का संसदीय और अर्थसचिव। १९४० और ४५ के बीच ऐमरी भारत और बर्मा का राज्यसचिव भी था। [ओ० ना० उ०]

ऐमाइड अमोनिया के हाइड्रोजन को वसीय या सौरभिक अम्ल मूलक द्वारा प्रतिस्थापित यौगिक है। इसमें अम्ल के कार्बोक्सिल मूलक का हाइड्रॉक्सिल मूलक ऐमिडोमूलक —ना हा२ ($-NH_2$) से प्रतिस्थापित होता है, जैसे मू का औ ना हा२ ($R\,CO\,NH_2$)। ये तीन वर्ग के हैं प्राथमिक मू का औ ना हा२ ($R\,CO\,NH_2$), द्वितीयक (मू का औ)२ ना हा [$(R\,CO)_2\,NH$], तथा तृतीयक (मू का औ)३ ना [$(R\,CO)_3N$]। इनमें से केवल प्राथमिक ऐमाइड ही प्रमुख हैं। इन्हें ऐसिड ऐमाइड भी कहते हैं।

इनके नाम अम्ल के अंग्रेजी नाम से "-इक ऐसिड" निकालकर उसके बदले 'ऐमाइड' लगा देने से प्राप्त होते हैं, जैसे फॉर्मिक ऐसिड से फार्म-ऐमाइड हा का औ नाहा२ ($H\,CO\,NH_2$)। ऐसीटिक ऐसिड से ऐसीटेमाइड काहा३ काऔ नाहा२ ($CH_3\,CO\,NH_2$) इत्यादि। ऐमिनोमूलक के हाइड्रोजन के प्रतिस्थापित यौगिक को नाम के पहले एन (N) लिखकर व्यक्त करते हैं, जैसे एन-मेथिल ऐसीटेमाइड।

औ
‖ ‖
का हा$_3$—का—ना हा का हा$_3$,$CH_3-C-NH\ CH_3$
प्रकृति मे ये प्रोटीन मे पेप्टाइड बंधन के रूप में पाए जाते हैं।

बनाने की सामान्य विधियाँ—

(१) अम्ल के ऐमोनियम लवण को गरम करने से

मू का औ औ नाहा$_4$→मू का औ नाहा$_2$+हा$_2$औ
$R\ COONH_4 \rightarrow R\ CO\ NH_2 + H_2O,$

(२) अम्ल को यूरिया के साथ गरम करने से

मू काऔऔहा+काऔ(नाहा$_2$)$_2$→मू काऔनाहा$_2$+काऔ$_2$+नाहा$_3$
$R\ COOH + CO(NH_2)_2 \rightarrow R\ CONH_2 + CO_2 + NH_3$
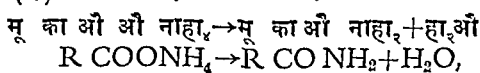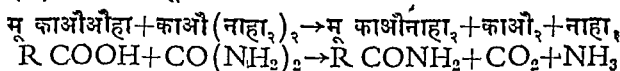
(३) ऐसिड क्लोराइड, ऐसिड ऐनहाइड्राइड तथा एस्टर पर अमोनिया के सांद्र विलयन की क्रिया से

(क) मू का औ क्लो+२नाहा$_3$→मू काऔ नाहा$_2$+ना हा$_4$क्लो
$R\ COCl + 2NH_3 \rightarrow R\ CO\ NH_2 + NH_4Cl,$

(ख) (मू का औ)$_2$औ+२ना हा$_3$→मू का औ ना हा$_2$+मू का औ$_2$ नाहा$_4$
$(R\ CO)_2O + 2NH_3 \rightarrow R\ CO\ NH_2 + R\ CO_2NH_4,$

(ग) मू का औ औमू'+नाहा$_3$→मू का औ ना हा$_2$+मू' औ हा
$R\ COOR' + NH_3 \rightarrow R\ CO\ NH_2 + R'OH$
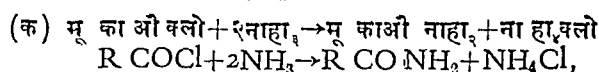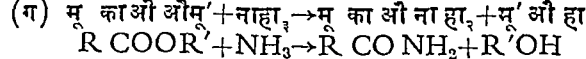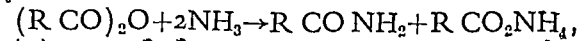
तथा (४) ऐल्किल सायनाइड के सांद्र हा क्लो (HCl) या हा$_2$औ$_2$ (H_2O_2) तथा सो औ हा ($NaOH$) द्वारा जलविश्लेषण से

मू का ना+हा$_2$औ→मू काऔ नाहा$_2$
$R\ CN + H_2O \rightarrow R\ CO\ NH_2$
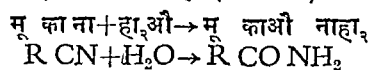
सामान्य गुण—फार्मऐमाइड द्रव है तथा अन्य ऐमाइड रंगहीन, मणिभ ठोस हैं। ऐमाइड श्रेणी के निम्नतर सदस्य जल मे विलेय हैं तथा अणुभार के विचार से उनके गलनांक तथा क्वथनांक निम्नता के प्रतिकूल ऊँचे हैं। यह हाइड्रोजन बंधन के कारण है। ऐमाइड जल, अम्ल तथा क्षार से जलविश्लेपित होते हैं

मू का औ ना हा$_2$+हा$_2$औ→मू का औ औ हा+ना हा$_3$
$R\ CO\ NH_2 + H_2O \rightarrow R\ COOH + NH_3$
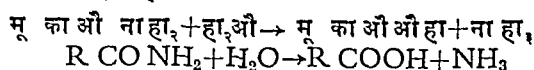
ये क्षीण क्षारीय होने से सांद्र अकार्बनिक अम्लो के साथ अस्थायी लवण बनाते हैं। ये क्षीण अम्लीय होने पर भी मर्क्यूरिक ऑक्साइड का विलयन करते हैं तथा सहसंयोजक मर्करी यौगिक बनता है। सोडियम तथा ऐथेनोल या लीथियम ऐल्युमिनियम हाइड्राइड द्वारा अवकरण से प्राथमिक ऐमिन बनाते हैं

मू का औ नाहा$_2$+४ हा→मू का हा$_2$ ना हा$_2$+हा$_2$औ
$R\ CO\ NH_2 + 4H \rightarrow R\ CH_2\ NH_2 + H_2O$
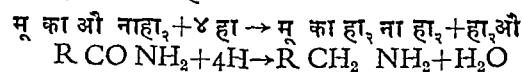
फास्फोरस पेंटाक्साइड के साथ गरम करने पर ऐमाइड से सायनाइड बनता है

म का औ ना हा$_2$→मू का≡ना + हा$_2$औ
$R\ CO\ NH_2 \rightarrow R\ C \equiv N + H_2O$
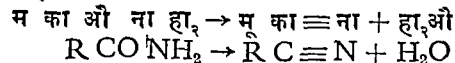
ऐमाइड पर नाइट्रस अम्ल की क्रिया से अम्ल बनता है तथा नाइट्रोजन गैस निकलती है

मू का औ नाहा$_2$+हा ना औ$_2$→मू का औ औ हा+ना$_2$+हा$_2$औ
$R\ CO\ NH_2 + HNO_2 \rightarrow R\ COOH + N_2 + H_2O$
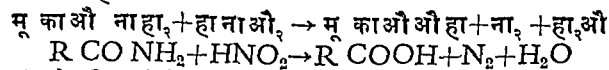
हॉफमैन क्रिया में ऐमाइड पर ब्रोमीन तथा क्षार की क्रिया से एक कम कार्बन परमाणु वाला ऐमिन प्राप्त होता है

मू का औ ना हा$_2$ + ब्रो$_2$ + ४पो औ हा → मू नाहा$_2$+२पो ब्रो+ पो$_2$काऔ$_3$ + २हा$_2$औ

$R\ CO\ NH_2 + Br_2 + 4KOH \rightarrow R\ NH_2 + 2KBr + K_2CO_3 + 2H_2O$
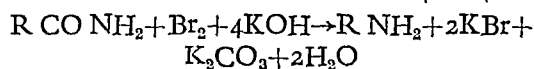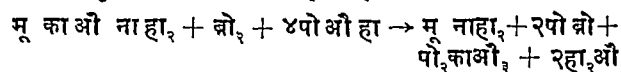
[पृ० ना० भा०]

ऐमिएंस (आम्याँ) नगर पेरिस से ७२ मील उत्तर सॉम, नदी पर स्थित है एवं फ्रांस के सॉम प्रांत की राजधानी है। जनसंख्या ८४,७७४ (सन् १९४६)। यह व्यापार एवं कलाकौशल का तथा नाविक केंद्र है। यहाँ पर ऊनी, सूती एवं रेशमी वस्त्र, मशीनें, रासायनिक वस्तुएँ, इत्र तथा साजसज्जा के सामान बनते हैं। यहाँ के 'नात्रदेम' गिरजाघर की गणना विश्वप्रसिद्ध गॉथिक वास्तुकला की सर्वोत्कृष्ट कृतियो मे की जाती है। दूसरा भव्य स्मारक 'सेंट जरमेन' का गिरजाघर है, जिसका कुछ भाग द्वितीय विश्वयुद्ध में ध्वस्त हो गया। 'होटेल डी विला' १५५० ई० मे बनना प्रारंभ हुआ। इसी मे ऐतिहासिक ऐमिएस संधि पर हस्ताक्षर हुए थे। यहाँ का पिकार्डी कौतुकालय पुनरुत्थानकालीन वास्तुकला की एक अजर अमर कृति है।

प्रकृति द्वारा सुरक्षित स्थान मे बसा हुआ ऐमिएंस नगर अपने आरंभकाल से ही गैलिक अंबियानी जाति का प्रमुख नगर रहा है। १५९७ ई० मे नगर तथा दुर्ग स्पेन के अधिकार मे आ गए, परंतु हेनरी चतुर्थ ने उनपर फिर अधिकार कर लिया।

प्रथम विश्वयुद्ध मे ऐमिएस मित्र राष्ट्रों का प्रमुख पूर्तिस्थल था तथा कनेडियन और आस्ट्रेलियन सेनाओं ने यहीं से विश्वप्रसिद्ध ऐमिएंस अभियान प्रारंभ किया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध में यह नात्सियों द्वारा पदाक्रांत हुआ और अगस्त, १९४४ ई० तक उनके अधिकार में रहा। अंत में ब्रिटिश सेनाओं ने इसे स्वतंत्र किया। [श्या० सु० श०]

ऐमिन अमोनिया के यौगिक हैं। अमोनिया के १, २ या ३ हाइड्रोजन परमाणुओं के ऐल्किल या ऐरिल मूलक द्वारा प्रतिस्थापन से क्रमश प्राथमिक मूनाहा$_2$ (RNH_2), द्वितीयक मूमू'नाहा ($RR'\ NH$) या तृतीयक मूमू'मू'' ना ($RR'R''N$) वर्ग के ऐमिन बनते हैं। इनका नामकरण इनमें उपस्थित मूलकों पर आधारित है, जैसे

काहा$_3$, हा, हा > ना ; CH_3, H, H > N — मेथिल ऐमिन

काहा$_3$, का$_6$हा$_5$, हा > ना ; CH_3, C_6H_5, H > N — मेथिल फेनिल ऐमिन

काहा$_3$, का$_6$हा$_5$, काहा$_3$ > ना ; CH_3, C_6H_5, CH_3 > N — डाइमेथिल फेनिल ऐमिन

[(काहा$_3$)$_4$ना$^+$] क्लो$^-$ $[(CH_3)_4N^+]Cl^-$
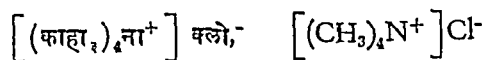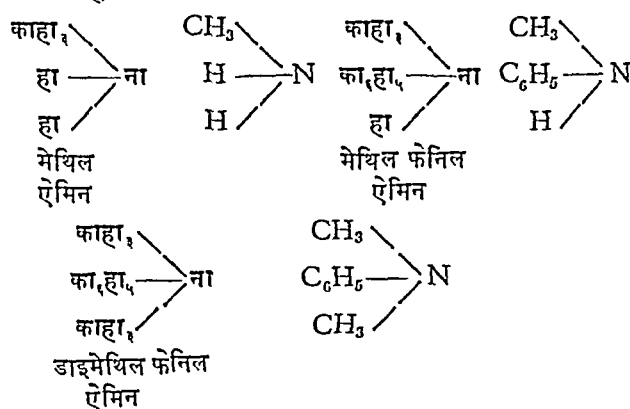
टेट्रामेथिल ऐमोनियम क्लोराइड

चतु ऐरिल मूलक वाला यौगिक अज्ञात है। चतु ऐमिन मे (मू$_4$ना) (R_4N^-), धनायन है, किंतु ऋणायन क्लो (Cl^-), हा$_2$गऔ$_4$ (HSO_4^-) या औहा$^-$ (OH^-) हो सकते हैं। मूलकों के आधार पर इनके रासायनिक तथा भौतिक गुण भी भिन्न होते हैं। चतुर्थक के गुण ऐमोनियम यौगिक के समान होते हैं। सौरभिक द्विऐमिन (ऑर्थो, मेटा तथा पैरा फेनिलीन डाइ ऐमिन) के गुण प्राथमिक की भाँति हैं। कुछ ऐमिन, जैसे ब्यूटिल तथा आइसो ब्यूटिल ऐमिन, समावयवता प्रदर्शित करते हैं।

ऐमिन प्रकृति में अधिक नहीं पाए जाते, किंतु कुछ, जैसे मेथिल ऐमिन पौधो, जंतुओं के रक्त, सांद्र नमक के विलयन मे रखी हेरिंग मछली, हड्डी के तेल तथा डामर मे प्राप्य हैं।

बनाने की सामान्य विधियाँ—(१) हॉफमैन विधि के अनुसार ऐल्किल हैलाइड को ऐल्कोहलिक अमोनिया के साथ गरम करने से चारों प्रकार के

ऐमिन बनते हैं, जो (क) प्रभाजक आसवन तथा एथिल आक्सैलेट (हॉफ-मैन विधि) या (ख) बेंजीन सल्फोनिल क्लोराइड (हिंसबर्ग विधि) से पृथक् किए जाते हैं। ऐनिलीन से द्वितीयक तथा त्रितीयक ऐमिन बनते हैं। (२) नाइट्रो यौगिक के अवकरण से, (३) ऐल्कोहल या फीनोल को जस्ता क्लोराइड तथा अमोनिया के साथ लगभग ३००° सें० तक गरम करने से, (४) सायनाइड के अवकरण से, (५) आइसो-सायनाइड के जल-विश्लेषण से, (६) नाइट्रोसो यौगिक या आक्सीम के अवकरण से, (७) ऐमाइड के अवकरण से, (८) श्मिट (Schmidt) विधि में कार्बोक्सिलिक अम्ल पर हाइड्रैजोइक अम्ल की क्रिया से, (९) ऐमाइड पर ब्रोमीन तथा क्षार की क्रिया से (हॉफमैन अभिक्रिया), (१०) सौरभिक ऐजो या हाइड्रेजो यौगिक के अवकरण से, (११) एस्टर पर कर्टियस अभिक्रिया से, (१२) आइसो सायनेट पर क्षार की क्रिया से तथा (१३) ऐमिनो अम्ल का बेरियम हाइड्राक्साइड के साथ आसवन करने से **प्राथमिक ऐमिन** बनते हैं। **द्वितीयक ऐमिन** आइसो सायनाइड के अवकरण से तथा **त्रितीयक** मिश्रित ऐल्किल ऐरिल ऐमिन के नाइट्रोसो यौगिक पर क्षार की क्रिया से भी बनते हैं। फार्मेल्डीहाइड तथा ऐमोनियम क्लोराइड को १०४° सें० पर गरम करने से मेथिल ऐमिन तथा १६०° सें० तक गरम करने से ट्राइमेथिल ऐमिन प्राप्त होते हैं।

सामान्य गुण--निम्नवसीय ऐमिन वाष्पशील, ज्वलनशील, मत्स्यगंध सी महँकनेवाली गैस अथवा निम्न क्वथनांकवाले तरल, जल में विलेय तथा तीव्र क्षारीय हैं। ठोस उच्च ऐमिन जल में अविलेय तथा गंधहीन हैं। सौरभिक ऐमिनो में बेंजिल ऐमिन के गुण उच्च वसीय ऐमिन जैसे हैं, किंतु अन्य अल्प क्षारीय हैं तथा ट्राइफेनिल ऐमिन उदासीन हैं।

ये **हा क्लो** (HCl) के साथ हाइड्रोक्लोराइड, पिक्रिक अम्ल से पिक्रेट, प्लैटिनम तथा गोल्ड क्लोराइड के साथ क्रमश द्विलवण क्लोरोप्लैटिनेट तथा ऑरिक्लोराइड, ऐल्किल हैलाइड के साथ चतुर्थक लवण (विशेषकर त्रितीयक) बनाते हैं। चतुर्थक ऐमोनियम लवण सजल **र$_2$ औ** (Ag_2O) के साथ चतुर्थक ऐमोनियम हाइड्रॉक्साइड देते हैं जो गरम करने पर त्रितीयक ऐमिन में विघटित हो जाते हैं। टेट्राएथिल ऐमोनियम आयोडाइड के —७०° सें० पर विद्युद्विश्लेषण से स्वतन्त्रमूलक (का$_2$ हा$_5$)$_4$ ना ($(C_2H_5)_4N$) द्रव अमोनिया में नीले विलयन के रूप में प्राप्त हुआ है। नाइट्रस अम्ल से प्राथमिक ऐमिन ऐल्कोहल बनाते हैं, किंतु मेथिल ऐमिन अधिकांश में मेथिल नाइट्राइट बनाता है तथा क्रिया जटिल है। द्वितीयक ऐमिन नाइट्रोसो यौगिक तथा त्रितीयक केवल नाइट्राइट बनाते हैं। द्वितीयक ऐमिन को **हा क्लो** (HCl) के साथ गरम करने पर द्वितीयक ऐमिन हाइड्रोक्लोराइड बनता है तथा **हा$_2$ग औ$_4$** (H_2SO_4) और फीनोल के साथ लीबरमैन अभिक्रिया होती है।

सौरभिक प्राथमिक ऐमिन नाइट्रस अम्ल से डायजोनियम लवण बनाते है, जो जल, ऐल्कोहल, क्यूप्रस क्लोराइड, क्यूप्रस ब्रोमाइड, क्यूप्रस सायनाइड, पोटैसियम आयोडाइड तथा स्टैनस क्लोराइड की क्रिया से क्रमश फीनोल, बेनजीन, क्लोरोबेनजीन, ब्रोमोबेनजीन, बेंजोनाइट्राइल, आयडो बेनजीन तथा फेनिल हाइड्रेजीन देते हैं। ये फीनोल तथा नैप्थोल के साथ क्षारीय विलयन में तथा ऐमिन के साथ अम्लीय विलयन में रंग (डाई) बनाते हैं। ट्राइफेनिल ऐमीन पर नाइट्रस अम्ल की क्रिया नहीं होती, किंतु डाइमेथिल ऐनिलीन पैरानाइट्रोसो यौगिक बनाता है जो कास्टिक सोडा के जलीय विलयन से डाइमेथिल ऐमिन तथा फीनोल देता है।

क्लोरोफार्म तथा कास्टिक पोटाश की क्रिया से केवल प्राथमिक ऐमिन आइसो-सायनाइड (कार्बील ऐमिन) देते हैं। वसीय प्राथमिक तथा द्वितीयक ऐमिन ऐल्कोहल में कार्बन डाइ सल्फाइड के साथ ऐल्किल डाइ थायोकार्बामिक अम्ल बनाते हैं, जिनमें प्राथमिक यौगिक मर्क्यूरिक क्लोराइड के साथ विघटन से तीव्र गंधमय ऐल्किल आइसोथायोसायनेट (मस्टर्ड तेल) बनाता है। त्रितीयक ऐमिन क्रिया नहीं करता है। सौरभिक प्राथमिक ऐमिन सममित डाइएरिल थायोयूरिआ बनाते हैं।

सं०ग्रं०--एन० वी० सिजविक, टी० डब्ल्यू० जे० टेलर ऐंड डब्ल्यू० बेकर दि ऑर्गैनिक केमिस्ट्री ऑव नाइट्रोजन (१९३७)।

[पृ० ना० भा०]

ऐम्स्टरडैम का पूर्व नाम ऐम्स्टेलरेडैम (ऐम्सटेल नदी का बाँध) था। यह हॉलैंड (नीदरलैंड्स) का प्रमुख नगर है तथा हॉलैंड के उत्तरी प्रदेश में जुइडर जी नामक समुद्री खाडी की एक बढी हुई शाखा के दक्षिणी भाग पर अक्षांश ५२° २२' उत्तर तथा देशांतर ४° ५३' पूर्व पर स्थित है। जनसंख्या सन् १९५० ई० में ८,६३,१७० थी। नगर अर्धवृत्ताकार है। इस अर्धवृत्त के भीतर चार नहरें--प्रिंसेन, काइजर हेरेन तथा जिंगल है। ये आपस में समांतर तथा बहुकोणिक चंद्राकार रूप में फैली हुई हैं, छोटी छोटी अन्य सीधी नहरें नगर को प्रत्येक दिशा में काटती हैं। इस प्रकार नगर ९० द्वीपों में विभाजित हो गया है, जिन पर ३०० पुल बने हुए हैं। नगर का भाग पहले दलदली भूमि के रूप में था, इसलिये सभी भवन स्तंभों पर टिके हुए हैं जो १४ से ६० फुट तक दलदली भूमि के नीचे पृथ्वी की दृढ परत तक धँसाए गए हैं। १३वीं शताब्दी के प्रारंभ में यह नगर मछुओं की बस्ती था। इसमें एक छोटा सा दुर्ग था जिसमें ऐम्सटेल अधिपति निवास करते थे।

सन् १९४० ई० में, द्वितीय महायुद्ध के समय, इस नगर को यथेष्ट क्षति उठानी पडी थी। नगर का केंद्रबिंदु सबसे भीतरी चंद्राकार नहर तथा विशाल वर्गाकार बाँध के बीच है। यहीं १४वीं शताब्दी में ऐम्स्टरडैम नगर बसा था। नगर के जीवन का केंद्र बाँध ही है। यहाँ एक विशाल महल है जो १३,६५९ स्तंभों पर खडा किया गया है तथा उसपर १८२ फु० ऊँची बुर्ज है।

बंदरगाह तथा ऐम्सटेल के पुल पर से देखने पर नगर का दृश्य बडा ही रमणीय दिखाई पडता है। गिरजाघरों की मीनारें एवं छत्र तथा नावों के मस्तूलों का जमघट देखते ही बनता है। पुराने बाँध को ऊँचा तथा चौरस कर दिया गया है, जिसपर सुंदर बगीचों तथा वृक्षों की छटा देखने योग्य है। बहुत समय से नगर समुद्र से संबंधित रहने के कारण बहुत प्रसिद्ध हो गया है और साथ ही इसको बडे बडे सामुद्रिकों, व्यापारियों तथा अन्वेषकों का जन्मस्थान होने का भी सौभाग्य प्राप्त है। यहाँ बडे बडे जहाजों के ठहरने, माल उतारने चढाने तथा रखने की उत्तम व्यवस्था है। संसार की बडी बडी जहाजी कंपनियों के मुख्य केंद्र यहीं स्थित हैं।

[श्या० सु० श०]

ऐरागॉन आइबीरियन प्रायद्वीप का एक प्राचीन राज्य है, जिसमें आधुनिक स्पेन के वेस्का तेरवेल तथा जारगोजा प्रदेश आते हैं। इस प्रदेश में एब्रो तथा उसकी सहायक नदियाँ बहती हैं। उत्तरी तथा दक्षिणी भाग पर्वतीय हैं और जलवायु स्थान की ऊँचाई के हिसाब से स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न प्रकार की है। मैदान एवं घाटी की जलवायु प्राय नम रहती है तथा साधारणत ऊँचाई पर स्थित पर्वतों की ढालों पर जलवायु समशीतोष्ण है। गेहूँ, मकई इत्यादि ऊँचे भागों पर तथा जैतून एवं अंगूर की कृषि गर्म घाटी में होती है। तेरवेल में कुछ मात्रा में ताँबा, सीसा, नमक तथा गंधक खदानों से निकाले जाते हैं। उद्योग-धंधों में यह प्रदेश पिछडा हुआ है तथा यहाँ कृषि भी पुराने ढंग से ही की जाती है। प्रदेश की जनसंख्या सन् १९४८ ई० में १०,९६,४०१ थी। जारगोजा मुख्य नगर (जनसंख्या सन् १९५५ ई० में २,८१,१४५) है। ऐरागॉन पाँचवीं शताब्दी में रोमन राज्य का एक भाग था तथा आठवीं शताब्दी में मूरों के अधीन था।

[श्या० सु० श०]

ऐरागुआ प्रजातंत्र वेनिज्वेला के छोटे राज्यों में से एक है। इसमें नौ जिले--ब्रुजुआल, गिसरडोट, मारिनो, रिकोर्ते, रोसियो, सान कैसियोनिरो, सान सेबास्तिएँ, उर्दानेता तथा जामोरा समिलित हैं। यह प्रदेश वेनिज्वेला की कार्डिलेरा श्रेणियों के मध्य में स्थित एक उपजाऊ तथा स्वास्थ्यवर्धक घाटी है। इसकी उत्तरी सीमा पर कैरीबियन सागर, पूर्वी सीमा पर मिराडा राज्य, दक्षिण में ग्वारिको तथा पश्चिम में काराबोबो स्थित है। घाटी के ऊँचे भागों की जलवायु शीतोष्ण है। औसत वार्षिक तापक्रम ७४° से ८०° फा० तक रहता है। यहाँ की राजधानी माराकाइ है, जिसकी जनसंख्या सन् १९५० ई० में ६४,५३५ थी। समुद्र से १५०० फुट की ऊँचाई पर, ऐरागुआ की उपजाऊ घाटी में इसकी स्थापना फ्रांसिस्को लोरेटो द्वारा सन् १५९३ ई० में की गई थी। यह काराकास से दक्षिण-पश्चिम ७७ मील पर है तथा एक सुंदर राजमार्ग द्वारा

सबंधित है। ला विक्टोरिया (जनसख्या १९४१ ई० मे ८,५५४), वीला द कुरा (जनसख्या १९४१ ई० मे ८,२९४), तथा कगुग्रा (जनसख्या १९४१ ई० में ५,४७२) नामक अन्य नगरो से भी यह राजमार्गो द्वारा सबंधित है। प्रदेश मे वहनेवाली अन्य नदियो मे ग्वारिको, ऐरागुग्रा, टिज्नाडोस तथा चिरका मुख्य हैं। प्रथमोक्त तीन नदियाँ ग्रोरीनिको की सहायक हैं, तथा अतिम चिरका वालेनशिया नामक विशाल झील मे गिरती है। राज्य की उपज मे कहवा, चीनी, कोको, मटर, अनाज तथा मक्खन प्रमुख हैं। सपूर्ण प्रदेश को पार करनेवाले एक नए राजमार्ग का निर्माण सन् १९४० ई० मे किया गया, जिसके द्वारा प्रदेश की उपज वाहर भेजी जाती है। जनसख्या सन् १९५० ई० मे १,८९,८९१ थी।

[श्या० सु० श०]

ऐरागुए अथवा ऐरागुइया, ब्राजील मे वहनेवाली एक नदी है जो टोकाटिस की प्रमुख शाखा है। इसका उद्गम स्थल सेयरा दो कयापो है, जहाँ यह रीयो ग्रैड के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर से पूर्व की ओर वहती हुई साओ जो ग्राओ दो ऐरागुया, अथवा साओ जोग्राओ दुग्रास वारास नामक स्थान पर यह टोकाटिस से मिल जाती है। इसका ऊपरी भाग गोयाज तथा माटो ग्रोसो की सीमा वनाता है। नदी लगभग १३° २०′ दक्षिणी अक्षाश पर दो भागो मे विभाजित होकर एक वडा द्वीप, साटो एन्ना अथवा वनानाल वनाती है, फिर कुछ आगे वढकर १०° ३०′ द० अ० पर ये दोनो भाग मिल जाते हैं।

यह नदी १,०८० मी० तक वहती है। इसके कुछ भाग छोटे जहाजो, स्टीमरो के यातायात योग्य है, किंतु साटो एन्ना द्वीप के नीचे झरनो एव नदी मे उभरी हुई चट्टानो के कारण यह यातायात के अयोग्य है। इस नदी को खोज निकालने का श्रेय हेनरी कोनड्रो (१८९७) को है।

[श्या० सु० श०]

ऐरिज़ोना सयुक्त राज्य, अमरीका का एक प्रमुख राज्य है। इसका क्षेत्रफल १,१३,९०९ वर्गमील है। इसके उत्तर में ऊटा, दक्षिण मे मेक्सिको, पूर्व मे न्यू मेक्सिको और पश्चिम मे कॉलोरैडो नदी है। इसके दो प्राकृतिक विभाग हैं —(१) कॉलोरैडो की उपत्यका, (२) दक्षिण का पर्वत और घाटी का भाग। विल्सन पर्वत और सैन फ्रासिस्को नदी को एक रेखा से मिलावे तो उसके उत्तर मे कॉलोरैडो उपत्यका और दक्षिण के पर्वत तथा घाटी के भाग पडेगे। कॉलोरैडो उपत्यका प्राय चट्टानो के सक्षितिज स्तरो का क्षेत्र है। इनमें गहरे प्रपाती खड्ड (कैन्यन) मिलते हैं जिनमें सवसे भव्य कॉलोरैडो नदी का प्रपाती खड्ड है। इसकी गहराई कही कही एक मील से भी अधिक है। सैन फ्रैसिस्को उपत्यका का एक भाग लावा और ज्वालामुखी के शकुओ से बना हुआ है। सैन फ्रैसिस्को पर्वत की ऊँचाई १२,७०० फुट है। होलब्रुक के दक्षिण पूर्व के भूभाग में कई ज्वालामुखीय आकृतियाँ मिलती हैं। अन्य क्षेत्रो में कार्वन-प्रद, रक्ताश्म, महासरट और खटीयुत युगो की चट्टाने उभरी हुई हैं। सुदीर्घ कगार (एस्कार्पमेट) तो यहाँ देखते ही वनता है। दूसरे प्राकृतिक विभाग में दक्षिण पश्चिम मे पर्वत वहुत ही कम हैं और जमीन भी कुछ नीची है जिसे सोनोरा की मरुभूमि कहते हैं।

जलवायु और वनस्पति—कॉलोरैडो नदी के दक्षिण-पूर्व मे ऊँची उपत्यका पर २०″ से भी अधिक वर्षा होती है। पश्चिम मे राज्य के वृहत् खड मे १०″ से कम और सुदूर दक्षिण-पश्चिम मे ५″ से भी कम वर्षा होती है। ऊँची उपत्यका के पर्वतो पर वर्ष मे ३० दिनो से भी अधिक हिमवृष्टि होती है। अन्य क्षेत्रो मे इसका कुछ भी अनुभव नही होता है। दक्षिण मे वर्षा का कोई क्रम नही है, परतु कुछ भागो मे गर्मी मे अधिक वर्षा होती है। दक्षिण-पश्चिम के वृहत् भाग मे ८०° फा० से भी अधिक तापमान रहता है। ऊँचे भाग मे औसत ग्रीष्म कालीन तापमान ६५° फा० होता है। जाडे मे दक्षिण-पश्चिम में तापमान ५०° फा० से भी अधिक, परतु उत्तरी पर्वतीय इलाके मे ३०° फा० से भी कम रहता है। शुष्क दक्षिण-पश्चिमी भाग मे कँटीली झाडियाँ और मरुस्थलीय घास के मैदान मिलते हैं। इस भाग मे कैक्टस, चोल्ला और झडवेर, उपत्यका मे पाइनोन तथा जुनीपर और पश्चिमी भाग मे पीत पाइन के वृक्ष मिलते हैं, जिनसे प्रसिद्ध, व्यावसायिक तथा इमारती लकडियाँ उपलब्ध होती हैं।

कृषि—राज्य के वहुत थोडे भाग मे खेती होती है। चरागाह के वृहत् क्षेत्र मिलते हैं। गिरिपीठ भाग मे और ३००० से ६००० फुट की ऊँचाई पर मूल्यवान् चरागाह मिलते हैं। ऊँचे भूभाग मे ग्रीष्मकालीन चरागाह हैं। पशुओ मे गाय, वैल, भैस आदि की अपेक्षा भेडें कम पाली जाती हैं। भेडो की सख्या मध्यभाग मे अधिक है।

खेतीवाली भूमि कुएँ या नदियो से सीची जाती है। ऐसे वृहत् क्षेत्र सॉल्ट और गीला नदियो की घाटी मे हैं। ऐसी भूमि पर अल्फा घास पैदा कर दुग्धशालाएँ चलाई जाती हैं। कपास, यवनाल (सोरघम), मकई, और गेहूँ आदि अन्न उपजाए जाते हैं। सतरे और अगूर के उद्यान भी मिलते हैं।

खानो से ताँवा, सीसा, जस्ता, चाँदी और सोना निकाले जाते हैं। ये खनिज द्रव्य विस्वी, ग्लोव, मियामी, जेरोम, मोरेंकी, मेटकाफ जिलो में मिलते हैं। मैमोथ मे मालीब्डेनम पाया जाता है। नेवादा की सीमा पर कॉलोरैडो नदी पर वोल्डर वाँध वनाकर जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है। इससे युद्ध के सामान वनाने के कारखानो का विकास हुआ है।

सन् १९४० ई० मे जनसख्या ४,९९,२६१ थी जो सन १९३० ई० की जनगणना की अपेक्षा १५ प्रतिशत अधिक है। आवादी का घनत्व ४४ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। पूरी जनसख्या का ३४.८ प्रतिशत नागरिक है। द्वितीय समर काल में जनसख्या मे और भी वृद्धि हुई। आवादी मे गोरे अमरीकन और मेक्सिकन हैं। इस राज्य की राजधानी फीनिक्स है। सन् १९४० ई० मे इस नगर की पूरी आवादी ६५,४१४ थी। टेक्सँन दूसरा प्रसिद्ध नगर है। (जनसख्या ३६,८१८—सन् १९४० मे)।

ताँवा गलाना और साफ करना प्रधान औद्योगिक धधा है। इमारती लकडियो का भी कारवार होता है। कपास के विनौले से कई प्रकार की चीजें तैयार की जाती हैं। मास डव्वो में वद कर वाहर भेजा जाता है। नवाहो और मौकी इडियन लोग ऊनी कवल वुनते हैं और पिमा जाति के लोग टोकरियाँ वनाते हैं।

सक्षिप्त इतिहास—सन् १८४६-४८ ई० की लडाई मे यह मेक्सिको से छीन लिया गया और न्यू मेक्सिको राज्य मे मिला दिया गया था। सन् १८६२ ई० में सोने की खान का पता चलने पर इसे अलग राज्य वनाने के आदोलन ने जोर पकडा। सन् १९१२ ई० मे यह सयुक्त राज्य, अमरीका का ४८वाँ राज्य वना।

[श्या० सु० श०]

ऐरेख्थियम् एक प्राचीन मदिर जो एथेस नगर के श्रेष्ठ भाग अक्रोपोलिस् में स्थित है। इसका निर्माण ऐरेख्थियस् नामक राजा द्वारा आरभ किया गया था, जिसके निमित्त इसका एक भाग समर्पित भी था। निर्माण कार्य का आरभ ई० पू० ४३१ अथवा ४२१ मे हुआ था तथा ई० पू० ४०७ तक यह पूर्णतया निर्मित हो चुका था। पर इसके थोडे ही समय पश्चात् यह जलकर नष्ट हो गया। ई० पू० चतुर्थ शताव्दी के प्रथम दशक में इसका सविस्तर पुनरुद्धार किया गया। ईसाई धर्मप्रचार हो जाने पर मध्यकाल मे इसका उपयोग गिरजाघर के रूप में होने लगा। तत्पश्चात् जव एथेस पर तुर्को का अधिकार हुआ, यह सैनिक शासक का हरम वन गया। सन् १८२७ में अक्रोपोलिस् के घेरे के समय इसे वहुत क्षति पहुँची। १८५२ ई० मे आँधी से इसकी पश्चिमी दीवार गिर पडी। २०वी शताव्दी मे इस मदिर का पुन पूर्णतया अत्यत सावधानी से जीर्णोद्धार किया गया है। इतना ही नही, इसके एक एक प्रस्तरखड का अध्ययन किया जा चुका है। यह ग्रीक-यवन-जगत् का सवसे महत्व-पूर्ण और सुदर मदिर है। इसमें देवी अथेना और पोसेइदन् (जलदेवता) के पूजा स्थल भी थे।

स०ग्र०—स्टीवेंस्स ऐड पैटन दि ऐरेख्थियम्, १९२७।

[भो० ना० श०]

ऐरैन स्काटलैड का सवसे वडा द्वीपसमूह है जो 'फर्थ ऑव क्लाइड' के उत्तर मे है। इसकी कुल लवाई 'कुक ऑव ऐरैन' से वेन्नन तक २० मील है तथा अधिकतम चौडाई 'दुमादून प्वाइट' से किंग्स क्रॉस तक ११ मील है। इसका क्षेत्रफल १६५ वर्ग मील तथा आवादी १९३१ मे ४,५०६ थी। ऐरैन ऊवड खावड किंतु देखने में सुदर द्वीपसमूह है। यहाँ की भूगर्भिक वनावट वहुत जटिल है। सवसे अधिक ऊँचाई उत्तर मे है।

यहाँ तृतीयक कल्पयुगीन नितुन्न (इट्रूसिव) ग्रैनाइट मिलते हैं। द्वीपसमूह में चारो तरफ एक तटीय सड़क है जो ५५ मील लबी है। यह द्वीपसमूह १२६३ ई० के पहले नार्वे के अधीन था। दक्षिण-पूर्वी तट के दियम बदरगाह से एक मील दूर पर प्लाड्डा द्वीप है। यहाँ पर 'लाइट हाउस' तथा तार का केंद्र है जहाँ से क्लाइड में जहाजो के आने के पहले ग्लासगो तथा ग्रीन ग्रोक को सूचना दे दी जाती है। [नृ० कु० सि०]

ऐलकालॉयड शब्द का प्रयोग प्रारभ मे ही नाइट्रोजनवाले कार्बनिक क्षारीय यौगिको के लिये किया गया था, क्योकि उनके गुण क्षारो से मिलते जुलते हैं। आजकल ऐलकालायड शब्द का प्रयोग वनस्पतियो तथा प्राणिजगत् में पाए जानेवाले जटिल-कार्बनिक-क्षारीय-पदार्थो के लिये होता है जो पोषकीय दृष्टि से सक्रिय होते हैं। साधारण ऐमिन, ऐमिनो अम्ल तथा प्यूरीन यौगिक इस समुदाय मे नही आते। ऐलकालायडो का चिकित्साशास्त्र मे बडा महत्व है। अनेक वनस्पतियो के निचोड, जो ऐलकालायड हैं, ओषधियो के रूप में आदिकाल से प्रयुक्त होते रहे हैं और इनमे से कुछ का प्रयोग विष के रूप मे भी होता रहा है।

चार्ल्स डेरोस्ने ने सन् १८०३ ई० में अफीम के निचोड को पानी से तनु करके एक मणिभीय पदार्थ प्राप्त किया, जिसको पृथक् करने तथा शुद्ध करने पर एक यौगिक मिला जो सभवत पहला ऐलकालॉयड नारकोटीन था। क्षारीय विलयन के प्रयोग से उसने इस प्राप्त पदार्थ की मात्रा बढाने का प्रयत्न किया, किंतु इस प्रयास मे उसे एक दूसरा ऐलकालॉयड प्राप्त हुआ, जो मारफीन था। लगभग उसी समय ए० सेगियम ने भी इसी विधि से मारफीन बनाया। परतु किसी विशेष ऐलकालायड को शुद्ध अवस्था मे प्राप्त करके उसके धर्मगुणो को ठीक से प्रस्तुत करने का श्रेय एफ० डब्ल्यू० ए० सर्टूनर को है। उसने सन् १८१६ ई० मे एक नवीन कार्बनिक लवण बनानेवाले क्षारीय पदार्थ मारफीन की प्राप्ति की जिसमे उसने अनेक लवण बनाए और उसकी पोषकीय अभिक्रिया भी प्रदर्शित की। इसी बीच सन् १८१० ई० मे बी० ए० गोम्स ने सिनकोना के ऐलकोहलीय निचोड पर क्षारीय विलयन से अभिक्रिया करके एक अवक्षेप प्राप्त किया, जिसे उसने ऐलकोहल द्वारा मणिभीकृत करके सिनकोनीन प्राप्त किया। सन् १८१७ ई० तथा १८४० ई० के मध्य प्राय समस्त महत्वपूर्ण ऐलकालॉयड, जैसे वेरट्रीन, स्ट्रिकनीन, पाइपरीन, क्वीनीन, ऐट्रोपीन, कोडीन आदि प्राप्त कर लिए गए।

अधिकाश ऐलकालायडो के नाम उन वनस्पतियो के आधार पर रखे गए हैं जिनसे वे प्राप्त किए जाते हैं। कुछ के नाम उनके द्वारा होनेवाले पोषिकीय प्रभावो के अनुसार रखे गए हैं, जैसे मारफीन का नाम स्वप्नो के ग्रीक देवता मारफिअस के आधार पर रखा गया है। कुछ के नाम प्रसिद्ध रसायनज्ञो के नाम पर रखे गए, जैसे पेलीटरीन का नाम फ्रासीसी रसायनज्ञ पेलीटियर के नाम पर रखा गया है। ऐलकालॉयड वनस्पतियो के विभिन्न भागो मे, जैसे पत्ती, छाल, जड, आदि मे, पाए जाते हैं। ये क्षारीय होते हैं, अत इनमे से अधिकाश कुछ कार्बनिक अम्लो, जैसे ऑक्सैलिक, सक्सीनिक, साइट्रिक, मैलिक तथा टैनिक आदि, के साथ लवण रूप मे पाए जाते हैं।

साधारणतया ऐलकालॉयड मणिभीय रूप मे होते हैं और इनमे कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन तथा नाइट्रोजन तत्व पाए जाते हैं। परतु निकोटीन तथा कोनीन जैसे कुछ ऐलकालॉयडो मे ऑक्सिजन नही होता और वे अधिकतर द्रव रूप मे रहते हैं। ऐलकालॉयडो मे नाइट्रोजनवाले विषम-चक्रीय कुछ यौगिक, जैसे पिरीडीन, पायरोल, क्वीनोलीन, आइसो-क्वीनोलीन, प्रमुख रूप से विद्यमान रहते हैं और अन्य मूलक तत्व या कार्बन शृखलाएँ इनके साथ सयुक्त रहती हैं। ये जल मे अधिकतर अविलेय होते हैं, परतु ऐलकोहल, ईथर या क्लोरोफॉर्म मे विलेय होते हैं। अधिकाश ऐलकालॉयड प्रकाशसक्रिय होते हैं। ये कार्बनिक तथा अकार्बनिक अम्लो के साथ लवण बनाते हैं। प्राय अधिक मात्रा मे ऐलकालॉयडो का प्रभाव हानिकारक होता है, परतु कम मात्रा मे वे ओषधियो के रूप मे प्रयुक्त होते हैं। इनका स्वाद कडवा होता है।

वनस्पतियो से ऐलकालॉयड निकालने के लिये उनको हाइड्रोक्लोरिक या सल्फ्यूरिक अम्ल से, या अम्लीय ऐथिल ऐलकोहल के साथ पाचित किया जाता है। इस कार्य के लिये एक विशेष मिश्रण का भी प्रयोग होता है, जिसमे

ईथर, एथिल ऐल्कोहल तथा अमोनिया निश्चित मात्रा मे मिले रहते हैं। इन मिश्रण को प्रोलियस द्रव (प्रोलियस फ्लुइड) कहते हैं।

कुछ अभिकर्मको के साथ ऐलकालॉयड एक विशेष प्रकार का रग या अवक्षेप बनाते हैं, जिनके द्वारा ये पहचाने जा सकते हैं। इनमे से प्रमुख ये हैं

एर्डमान का अभिकर्मक—सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल जिसमे कुछ नाइट्रिक अम्ल मिला होता है,

फ्रोयड अभिकर्मक—सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल मे अमोनियम मालिब्डेट का १% विलयन, सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल मे सोडियम मेटावैनेडेट का विलयन;

मेयर अभिकर्मक—मरक्यूरिक क्लोराइड का पोटैसियम आयो-डाइड मे विलयन,

वैगनर अभिकर्मक—आयोडीन का पोटैसियम आयोडाइड मे विलयन,

ड्रेगड़ाफ अभिकर्मक—पोटैसियम-बिसमथ-आयोडाइड का विलयन, तथा

साइबलर अभिकर्मक—क्लोरोप्लैटिनिक, क्लोरो ऑरिक, फासफो-टग्स्टिक या सिलिको-टग्स्टिक अम्ल का विलयन।

स० ग्र०—टी० ए० टेनरी प्लाट ऐलकालॉयड।

[रा० दा० ति०]

ऐलक्विन यूरोपीय मध्ययुगीन शिक्षाशास्त्री। इसके समय में चार्ल्स महान् (७४२–८१४ ई०) का शासन था। चार्ल्स महान् ने समकालीन विद्वानो की सहायता से शिक्षा के विकास की ओर ध्यान दिया। ऐलक्विन चार्ल्स महान् का प्रधान शिक्षा सलाहकार था। चार्ल्स महान् ने ऐलक्विन को इसलिये अपना शिक्षा सलाहकार नियुक्त किया कि उसकी शिक्षा रोमी परपरा के अनुसार हुई थी। इसके अतिरिक्त ऐलक्विन कवित्व और दरबारी कला मे अत्यत निपुण था। यद्यपि ऐलक्विन मे विशेष बुद्धि न थी और न वह प्रतिभाशाली ही था, फिर भी उसने अपनी व्यवहारकुशलता से चार्ल्स महान् को प्रभावित किया। इन्ही सब कारणो से चार्ल्स महान् ने ऐलक्विन को सन् ७८२ ई० में 'पैलेस स्कूल' का प्रधान नियुक्त किया। इस स्कूल में राजघराने के बालक और बालिकाओ की शिक्षा का अच्छा प्रबध था। इसमे अभि-जात वर्ग के बालको को भी शिक्षा दी जाती थी। ऐलक्विन ने चार्ल्स महान् के पैलेस स्कूल मे कार्य करते हुए शिक्षा के द्वारा समकालीन सभ्यता और सस्कृति के विकास मे सहायता पहुँचाई। इस प्रकार ऐलक्विन मध्ययुगीन यूरोपीय शिक्षा के इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। [सी० रा० जा०]

ऐलाबामा यह सयुक्त राज्य, अमरीका का दक्षिणी राज्य है जो ३०°-१३' उ० अ० तथा ३५°०' उत्तरी अक्षाश तथा ८४°५१' प० दे० और ८८° ३१' पश्चिमी देशातर रेखाओ के बीच स्थित 'कपास राज्य' कहलाता है। यह उत्तर मे टेनिसी, पूर्व मे जार्जिया, दक्षिण मे फ्लोरिडा तथा मेक्सिको की खाड़ी और पश्चिम मे मिसिसिपि से घिरा हुआ है। इसका क्षेत्रफल ५१,६०९ वर्ग मील है, जिसमे ५३१ वर्ग मील जल है।

इसके उत्तरी भाग में कबरलैंड पठार ४०० से १८०० फुट की ऊँचाई तक फैला हुआ है, जिसके बीच से टेनेसी की सहायक नदियाँ बहती हैं। उत्तर-पूर्व में ऊँचे ढालू पर्वत तथा पश्चिम मे नदियो के किनारे की भूमि नीची है। दक्षिणी भाग मे लिटिल पर्वत पूर्व-पश्चिम दिशा मे ८० मील तक फैला हुआ है। देश के शेष भाग मे तटीय मैदान हैं। इसकी नदियाँ पश्चिम मे टाबिग्बी, मध्य-पश्चिम में ऐलाबामा तथा पूर्व मे चेताहुची हैं। यहाँ की जलवायु शीतोष्ण है। वार्षिक औसत तापक्रम जाडे मे ४६° फा० तथा गर्मी में ७९° फा० रहता है। वर्षा सब स्थानो पर बराबर तथा वर्ष भर मे लगभग ५० इच होती है। यहाँ पर चार प्रकार की मिट्टी पाई जाती है। समुद्री तट की मिट्टी रेतीली तथा कम उपजाऊ है। इसके उत्तर मे प्रेयरीज की मिट्टी काली है, जिसमे केवल कपास बोया जाता है। ब्लैक प्रेयरीज तथा टेनेसी बेसिन के बीच विभिन्न उर्वरा शक्तिवाली मिट्टी मिलती है। इसके उत्तर मे लाल तथा गहरी चिकनी मिट्टी पाई जाती है।

ऐलावामा कृपिप्रधान देश है। यहाँ की मुख्य उपज कपास, ज्वार, गेहूँ, ग्रालू, मटर, गन्ना तथा जई है। खनिज पदार्थो में लोहा, कोयला, सोना, चाँदी, मीना, ताँवा, टिन तथा वाक्साइट मिलते हैं। लोहा तथा इस्पात एव सूती वस्त्र के उद्योग काफी प्रगति पर हैं। यहाँ पर लकडी के सामान तथा जहाज भी वनते हैं। आवागमन के साधन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं। ऐलावामा नदी में ४०० मील तक जहाज चलाए जा सकते हैं। १९५६ मे रेलमार्ग की पूरी लवाई ४,६६८ मील तथा सडको की पूरी लवाई ७०,५९७ मील थी। १९५७ मे राज्य मे कुल ७५ हवाई ग्रड्डे थे। यहाँ की जनसख्या (१९५०) ३०,६१,७४३ है जिसमे १७,२०,८०६ (५६ २%) व्यक्ति गाँवो मे रहते हैं। १ जुलाई, १९५६ की ग्रनुमानित जनसख्या ३१,३५,००० है। यहाँ के मुख्य नगर (जनसख्या १९५० के जनगणनानुसार) वरमिंघम ३,२६,०३७, मोविले १,२९,००९, माटगोमरी (राजधानी) १,०६,५२५ तथा गैड्सडेन, ५५,७२५ हैं। [न० ला०]

ऐलेनटाउन

ऐलेनटाउन सयुक्त राज्य ग्रमरीका मे फिलाडेलफिया नगर से पचास मील उत्तरोत्तर-पश्चिम में लेहाई नदी के तट पर स्थित लेहाई काउटी का प्रशासनिक तथा पेंसिलवेनिया राज्य का एक प्रमुख ग्रौद्योगिक, व्यापारिक तथा वितरण केंद्र है। यहाँ प्रमुख वायुयान सस्थान तथा क्षेत्रीय रेलो एव राजमार्गो का सगम है। निकटवर्ती क्षेत्र मे लोहा, स्लेट ग्रौर चूना-पत्थर उपलव्व है, ग्रत यहाँ लोहा, सीमेंट, जूता, मोजा, वनियाइन, सिगार तथा ग्रन्य उद्योगो के लगभग तीन सौ कारखाने स्थापित हो गए हैं। १७६२ ई० मे पेंसिलवेनिया के न्यायाधीश विलियम ऐलेन ने इसे वसाया था। यह १८६८ ई० मे नगर हो गया। जनसख्या १९५० में १,०६,७५६ हो गई थी। [का० ना० सिं०]

ऐल्कोहल

ऐल्कोहल वे कार्वनिक पदार्थ हैं जिनमे एक या एक से ग्रधिक हाइड्रॉक्सिल समूह (—OH) रहते हैं। हाइड्रॉक्सिल समूह वेंजीन कार्वन से सयुक्त नही रहना चाहिए। यदि वेंजीन कार्वन के साथ हाइड्राक्सिल समूह सयुक्त रहता है तो ऐसे कार्वनिक पदार्थो को 'फीनोल' कहते हैं।

ऐल्कोहल की रासायनिक ग्रभिक्रियाएँ विशेप प्रकार की होती हैं ग्रौर उनके लाक्षणिक गुण किसी विशेप ऐल्कोहल, जैसे मेथिल ऐल्कोहल, एथिल ऐल्कोहल, ग्लाइकोल, ग्लीसिरोल ग्रादि के लक्षणो से प्रकट होते हैं।

सगठन की दृष्टि से ऐल्कोहल तीन प्रकार के होते है, प्राथमिक, द्वितीयक ग्रौर तृतीयक। मेथिल ऐल्कोहल का हा$_3$ औ हा (CH_3OH), ग्रौर एथिल ऐल्कोहल काहा$_3$—का हा$_2$ औ हा (CH_3-CH_2OH), प्राथमिक ऐल्कोहल के उदाहरण हैं। इनमें प्राथमिक समूह—का हा$_2$ औ हा ($-CH_2OH$), रहता है। ग्राइसोप्रोपिल ऐल्कोहल का हा$_3$ का हा औ हा का हा$_3$ ($CH_3CHOHCH_3$) द्वितीयक ऐल्कोहल के उदाहरण है। इनमें द्वितीयक समूह =का हा औ हा ($=CHOH$), रहता है। ट्राइमेथिलऐल्कोहल (का हा$_3$)$_3$ का औ हा [$(CH_3)_3COH$] तृतीयक ऐल्कोहल के उदाहरण हैं। इनमे तृतीयक समूह ≡का औ हा ($\equiv COH$) रहता है।

प्राथमिक ऐल्कोहल के उपचयन से ऐल्डीहाइड ग्रौर कार्वोक्सीलीय ग्रम्ल वनते हैं जिनमें कार्वन परमाणुग्रो की सख्या वही रहती है जो ऐल्कोहल में रहती है। द्वितीयक ऐल्कोहल के उपचयन से कीटोन ग्रौर कार्वोक्सीलीय ग्रम्ल वनते हैं। कीटोन में कार्वन परमाणु की सख्या वही रहती है जो ऐल्कोहल में है परतु ग्रम्लो में कार्वन परमाणुग्रो की सख्या घट जाती है। तृतीयक ऐल्कोहल के उपचयन से भी ऐल्डीहाइड, कीटोन ग्रौर कार्वोक्सीलीय ग्रम्ल प्राप्त होते है, परतु इन सवमे कार्वन परमाणुग्रो की सख्या ऐल्कोहल के कार्वन परमाणुग्रो की सख्या से कम होती है।

तीनो प्रकार के ऐल्कोहलो के ग्रवकरण से तदनुकूल हाइड्रोकार्वन वनते हैं। ऐल्कोहल से जल निकाल लेने पर ईथर, एथिलीन ग्राक्साइड ग्रौर ग्रसतृप्त हाइड्रोकार्वन वनते हैं। ग्रम्लो के साथ ग्रभिक्रिया मे ऐल्कोहल एस्टर वनते हैं।

यदि ऐल्कोहल में एक ही हाइड्राक्सिल समूह रहे तो ऐसे ऐल्कोहल को मोनो-हाइड्रॉक्सिल ग्रथवा मोनो-हाइड्रिक ऐल्कोहल, दो हाइड्रॉक्सिल समूह हो तो उसे डाइ-हाइड्रॉक्सिल ग्रथवा डाइहाइड्रिक ऐल्कोहल ग्रौर तीन हाइड्रॉक्सिल समूह हो तो उसे ट्राइ-हाइड्रॉक्सिल ग्रथवा ट्राइहाइड्रिक ऐल्कोहल ग्रादि ग्रादि कहते हैं।

ऐल्कोहल या तो द्रव होते हैं ग्रथवा ठोस। द्रव ऐल्कोहल में विशेप प्रकार की गध होती है। ग्रणुभार की वृद्धि से गध कम होती जाती है ग्रौर कुछ ठोस ऐल्कोहलो मे गध विलकुल होती ही नही।

ऐल्कोहल वडे उपयोगी पदार्थ हैं। प्रतिदिन व्यवहृत होनेवाली वस्तुग्रो से लेकर ग्रनेक उद्योग धधो तक मे इनका व्यवहार होता है। मेथिल ग्रौर एथिल ऐल्कोहल उत्कृष्ट कोटि के विलायक हैं। ग्रनेक प्रकार के प्लास्टिको के निर्माण मे मेथिल ऐल्कोहल का उपयोग होता है। सव सुराग्रो में एथिल ऐल्कोहल रहता है। ग्रनेक ग्रोपधियो का एथिल ऐल्कोहल एक ग्रत्यावश्यक ग्रग है। ऐल्कोहल से कृत्रिम रवर भी तैयार होता है। ग्लीसिरोल विस्फोटको के निर्माण मे वहुत ग्रधिक खर्च होता है।

स०ग्र०—ग्राइ० मेलन इडस्ट्रियल सॉल्वेंट्स (१९३९)।

[फू० स० व०]

ऐल्वैटरास

ऐल्वैटरास समुद्री पक्षी है। इसकी लगभग एक दर्जन जातियाँ हैं। सभी प्रोसिलेरीफार्मिस गण मे गिनी जाती हैं। ये पक्षी वडे होते हैं। शरीर स्थूल, गरदन लवी, पूँछ छोटी ग्रौर टाँगें भी छोटी होती हैं। पैर की ग्रँगुलियाँ वतखो की तरह झिल्ली द्वारा जुडी होती हैं। चोच मोटी होती है। ग्रन्य पक्षियो की चोच की तुलना मे इसमे यह विशेपता होती है कि इसपर कई एक पट्टिकाएँ चढी रहती हैं जो सरचना मे सीग के समान होती हैं। नथुने चोच के ऊपरी भाग में ग्रगल वगल रहते हैं। ऐलवैटरासो के पख वहुत लवे ग्रौर ग्रपेक्षाकृत सँकरे होते हैं। एक पख के छोर से दूसरे पख के छोर तक की नाप १० से १२ फुट तक होती है। ये पक्षी ग्रडा देने तथा सेने ग्रौर वच्चा पालने के समयो को छोड विरले ग्रवसरो पर ही भूमि पर ग्राते हैं। ये मसिक्षेपी (कटल) मत्स्यत था ग्रन्य समुद्री जीव खाया करते ह।

दक्षिणी समुद्रो तथा उत्तर प्रशात महासागर मे कुल मिलाकर ऐलवैटरासो की १३ जातियाँ हैं। ये पक्षी वहुधा जहाजो के साथ साथ मीलो तक उडते चले जाते हैं। नाविक उन्हें सुगमता से पकड सकते हैं। ये विरले ही ग्रवसर पर कोई ध्वनि करते हैं। समुद्री टापुग्रो पर ये झुडो में रहकर वच्चा पालते हैं। एक वर्ष मे मादा पक्षी एक ही ग्रडा देती है। ये ग्रडे श्वेत होते हैं ग्रौर इनके चौडे सिरे पर कुछ ललछौंह धव्वे होते हैं। साधारणत सितवर से दिसवर तक ग्रडा सेने ग्रौर वच्चा पालने की ऋतु रहती है। कुछ मादा पक्षी केवल प्रत्येक दूसरे वर्ष ग्रडा देती हैं। छोटे वच्चे माता पिता के मुख द्वारा निकाले गए ग्रधपचे ग्राहार पर पोपित होते हैं। [कै० जा० डॉ०]

ऐल्व्युमिनमेह

ऐल्व्युमिनमेह एक रोग है, जिसमे मूत्र में ऐलव्युमिन उपस्थित मिलता है। मूत्र को गरम करके उसमें नाइट्रिक या सल्फो सैलिसिलिक ग्रम्ल मिलाकर ऐलव्युमिन की जाँच की जाती है। वेंस जास नामक प्रोटीनो की उपस्थिति में ५५° सें० तक गरम करने पर गँदलापन ग्राने लगता है। किंतु ८०° सें० तक उसे गरम करने पर गँदलापन जाता रहता है। इस गँदलेपन को मापा जा सकता है ग्रौर कैलोरिमापक विधि से उसकी मात्रा भी ज्ञात की जा सकती है। निम्नलिखित रोगो में ऐलव्युमिन मूत्र मे पाया जाता है

१—वृक्कार्ति, जिसमें वृक्क मे शोथ हो जाता है।
२—गोणिकार्ति, जिसमें शोथ वृक्क-गोणिका में परिमित रहता है।
३—मूत्राशयार्ति, जिसमें मूत्राशय में शोथ होता है।
४—मूत्रमार्गार्ति, जिसमें मूत्रमार्ग की भित्तियाँ शोथयुक्त हो जाती हैं।
५—वृक्क का ग्रमिलाइड रोग।
६—हृद्रोग, ज्वर, गर्भावस्था की रक्तविपाक्तता, मधुमेह ग्रौर उच्च-रक्त-दाव।

प्राय वृक्कार्ति तथा ग्रमिलाइड रोगो में ऐलव्युमिन की मात्रा ग्रधिक होती है, जिससे रक्त में प्रोटीन की कमी हो जाती है। इसके कारण शरीर पर शोथ हो जाता है तथा रक्त की रसाकर्पण-दाव भी कम हो जाती है।

ऐलब्यूमिनमेह स्वय कोई रोग नहीं है, वह उपर्युक्त रोगों का केवल एक लक्षण है। [स० पा० ग०]

ऐल्यूमिना ऐल्यूमिनियम का आक्साइड है, प्राकृतिक अवस्था में यह कोरडम, माणिक्य, नीलम, बिल्लौर, पन्ना तथा दूसरे रत्नों के रूप में पाया जाता है। ये रत्न मणिभीय और पारदर्शक होते हैं। अन्य धातुओं के आक्साइडों की उपस्थिति के कारण ही ये रत्न रगीन हो जाते हैं। रत्नों मे ये आक्साइड कलिलीय अवस्था में आलंबित रहते हैं। माणिक्य में थोटी मात्रा में क्रोमियम का आक्साइड, नीलम में क्रोमियम या लोह का आक्साइड और बिल्लौर में मैंगनीज रहता है। वृहत् मात्रा मे यह खनिज बौक्साइट के रूप में पाया जाता है, जो ऐल्यूमिनियम का जलीय आक्साइड (ऐ.औ, हा.औ) (Al_2O_3 H_2O) है।

प्रयोगशाला में या औद्योगिक रूप में निर्माण करने पर ऐल्यूमिना एक श्वेत अघुलनीय चूर्ण के रूप में मिलता है। यह कृत्रिम रत्न, ऐलंडम घरिया (क्रूसिब्ल्) और घर्षक पदार्थ बनाने के काम आता है। [प्रि० र० रा०]

ऐल्यूमिनियम श्वेत रग की एक धातु है। लैटिन भाषा के शब्द ऐल्यूमेन और अग्रेजी के शब्द ऐलम का अर्थ फिटकरी है। इस फिटकरी में से जो धातु पृथक् की जा सकी, उसका नाम ऐल्यूमिनियम पडा। फिटकिरी से तो हमारा परिचय बहुत पुराना है। कार्क्षी, तुवरी और सौराष्ट्रज इनके पुराने नाम हैं। फिटकरी वस्तुत पोटैसियम सलफेट और ऐल्यूमिनियम सलफेट इन दोनो का द्विगुण यौगिक है। सन् १७५४ में मारग्राफ (Marggraf) ने यह प्रदर्शित किया कि जिस मिट्टी को ऐल्यूमिना कहा जाता है, वह चूने से भिन्न है। सर हफ्री डेवी ने सन् १८०७ ही में ऐल्यूमिना मिट्टी से धातु पृथक् करने का प्रयत्न किया, परतु सफलता न मिली। सन् १८२५ में अर्स्टेड (Oersted) ने ऐल्यूमिनियम क्लोराइड को पोटैसियम सरस के साथ गरम किया और फिर आसवन करके पारे को उडा दिया। ऐसा करने पर जो चूर्ण सा बच रहा उसमे धात्वाभा थी। यही धातु ऐल्यूमिनियम कहलाई। सन् १८४५ में फ्रेडरिक वोहलर (Frederik Wohler) ने इस धातु के तैयार करने में पोटैसियम धातु का प्रयोग अपचायक के रूप मे किया। उसे इस धातु के कुछ छोटे छोटे कण मिले, जिनकी परीक्षा करके उसने बताया कि यह नई धातु बहुत हलकी है (आपेक्षिक घनत्व २.५-२.७) और इसके तार खीचे जा सकते हैं। तदनतर सोडियम और सोडियम ऐल्यूमिनियम क्लोराइड का प्रयोग करके सन् १८५४ में डेविल (Deville) ने इस धातु की अच्छी मात्रा तैयार की। उस समय नई धातु होने के कारण ऐल्यूमिनियम की गिनती बहुमूल्य धातुओं में की जाती थी और इसका उपयोग आभरणों और अलकारों में होता था। सन् १८८६ मे ओहायो (अमरीका) नगर मे चार्ल्स मार्टिन हॉल ने गले हुए क्रायोलाइट में ऐल्यूमिना घोला और उसमें से विद्युद्विश्लेषण विधि द्वारा ऐल्यूमिनियम धातु पृथक् की। यूरोप में भी लगभग इसी वर्ष हेरो (Heroult) ने स्वतत्र रूप से इसी प्रकार यह धातु तैयार की। यही हॉल-हेरो विधि आजकल इस धातु के उत्पादन मे व्यवहृत हो रही है। हलकी और सस्ती होने के कारण ऐल्यूमिनियम और उससे बनी मिश्र धातुओं का प्रचलन तब से बराबर बढ़ता चला जा रहा है।

ऐल्यूमिनियम धातु तैयार करने के लिये दो खनिजो का विशेष उपयोग होता है। एक तो बौक्साइट, ऐ.औ, २ हा.औ (Al_2O_3 $2H_2O$) और दूसरा क्रायोलाइट, ३सो फ्लो,ऐफ्लो, ($3NaF$, AlF_3)। बौक्साइट के विस्तृत निक्षेप हमारे देश में राँची, पलामू, जबलपुर, बालाघाट, सेलम, बेलगाम, कोल्हापुर, थाना आदि जिलो में पाए गए हैं। इस देश मे इस खनिज की अनुमित मात्रा २८ करोड टन है। सन् १९५७ में ९६,०७१ टन (मूल्य ६,०९,००० रुपए) बौक्साइट का व्यापार इस देश में किया गया। सन् १९३८ में समस्त ससार मे ५,५७,००० मेट्रिक टन ऐल्यूमिनियम धातु तैयार की गई। भारत मे बौक्साइट से ऐल्यूमिना बनाने के इस समय दो कारखाने हैं, एक आसनसोल में और दूसरा टाटानगर मे। आसनसोल वाले कारखाने में ऐल्यूमिनियम धातु तैयार करने की भी व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त मूरी में बने ऐल्यूमिना को परिष्कृत करके ऐल्यूमिनियम बनाने की व्यवस्था केरल राज्य में अलवे में है। दोनो स्थानो ने इस समय लगभग ५,००० टन धातु प्रति वर्ष तैयार की जा रही है। विद्युद्विश्लेषण विधि से व्यापारिक मात्रा में धातु तैयार करने का सबसे पहला कारखाना पिट्सबर्ग कंपनी ने अमरीका में सन् १८८८ मे न्यू केन्सिंग्टन
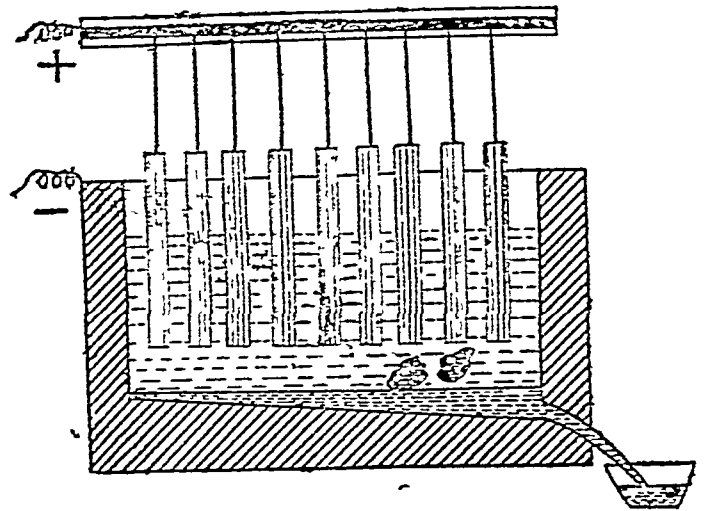
ऐल्यूमिनियम तैयार करने की हॉल द्वारा आविष्कृत विधि

में खोला था। नियाग्रा प्रपातो के निकट यही कपनी अब 'ऐल्यूमिनियम कपनी ऑव अमरीका" नाम से बहुत बडा व्यवसाय कर रही है।

ऐल्यूमिनियम धातु तैयार करने के निमित्त पहला प्रयत्न यह किया जाता है कि बौक्साइट से शुद्ध ऐल्यूमिना मिले। बौक्साइट के शोधन की एक विधि बायर (Baeyer) के नाम पर प्रचलित है। इसमे बौक्साइट को गरम कास्टिक सोडा के विलयन के साथ अभिक्रिया करके सोडियम ऐल्यूमिनेट बना लेते हैं। इस ऐल्यूमिनेट के विलयन को छान लेते हैं और इसमे से फिर ऐल्यूमिना का अवक्षेपण कर लिया जाता है (अवक्षेपण के निमित्त विलयन में ऐल्यूमिना ट्राइहाइड्रेट के बीजो का वपन कर दिया जाता है, जिनसे सब ऐल्यूमिना अवक्षेपित हो जाता है)।

ऐल्यूमिना से ऐल्यूमिनियम धातु हॉल-हेरो-विधि द्वारा तैयार की जाती है। विद्युद्विश्लेषण के लिये जिस सेल का प्रयोग किया जाता है वह इस्पात का बना एक बडा बकस होता है, जिसके भीतर कार्बन का अस्तर लगा रहता है। कार्बन का यह अस्तर कोक, पिच और तारकोल के मिश्रण को तपाकर तैयार किया जाता है। इसी प्रकार कार्बन के धनाग्र भी तैयार किए जाते हैं। ये बहुधा १२-२० इच लबे आयताकार होते हैं। ये धनाग्र एक सवाहक दड (बस बार) से लटकते रहते हैं और इच्छानुसार ऊपर नीचे किए जा सकते हैं। विद्युत् सेल के भीतर गला हुआ क्रायोलाइट लेते हैं और विद्युद्धारा इस प्रकार नियन्त्रित करते रहते हैं कि उसके प्रवाह की गरमी से ही क्रायोलाइट बराबर गलित अवस्था में बना रहे। विद्युद्विश्लेषण होने पर जो ऐल्यूमिनियम धातु बनती है वह क्रायोलाइट से भारी होती है, अत सेल में नीचे बैठ जाती है। यह धातु ही ऋणाग्र का काम करती है। गली हुई धातु समय समय पर सेल में से बाहर बहा ली जाती है। सेल मे बीच बीच में आवश्यकतानुसार और ऐल्यूमिना मिलाते जाते हैं। क्रायोलाइट के गलनाक को कम करने के लिये इसमें बहुधा थोड़ा सा कैल्सियम फ्लोराइड भी मिला देते है। यह उल्लेखनीय है कि ऐल्यूमिनियम धातु के कारखाने की सफलता सस्ती बिजली के ऊपर निर्भर है। २०,००० से ५०,००० ऐंपीयर तक की धारा का उपयोग व्यापारिक विधियों में किया जाता रहा है।

धातु के गुण—व्यवहार में काम आनेवाली धातु में ९९-९९.३% ऐल्यूमिनियम होता है। शुद्ध धातु का रग श्वेत है, पर बाजार मे बिकनेवाले ऐल्यूमिनियम में कुछ लोह और सिलिकन मिला होने के कारण हलकी सी नीली आभा होती है। धातु के कुछ भौतिक गुण निम्नलिखित सारणी में दिए जाते हैं

परमाणुभार	२६ ९७
आपेक्षिक उष्मा (२०° सें० पर)	० २१४
आपेक्षिक उष्मा चालकता (कलरी प्रति सें० मी० घन, प्रति डिगरी सें०, प्रति सैकड, १८ सें०पर)	० ५०४
गलनाक (९९ ९७% शुद्धता)	६५९ ८°
क्वथनाक	१८००°
गलन की गुप्त उष्मा	९५ ३°
आपेक्षिक घनत्व	२ ७०३
गलनाक पर द्रव का घनत्व	२ ३८२
विद्युत् प्रतिरोध, २०° सें० पर (माइक्रोम प्रति सें० मी० घन)	२ ८४५
विद्युत् रासायनिक तुल्याक	० ०००००९३१६ ग्राम प्रति कूलव
चुवकीय प्रवृत्ति, १८°सें० पर	० ६५×१०⁻⁶
परावर्तनता (श्वेतप्रकाश के लिये)	८५%
ठोस होने पर सकोच	६ ६%
विद्युदग्र विभव (विलयन मे २५° पर)	+१ ६९ वोल्ट

ऐल्यूमिनियम पर साधारण ताप पर ऑक्सिजन का कुछ भी प्रभाव नही पडता, परतु यदि धातु के चूर्ण को ४००° ताप पर ऑक्सिजन के सपर्क मे लाया जाय, तो पर्याप्त उपचयन होता है। अतिशुद्ध धातु पर पानी का भी प्रभाव नही पडता, पर ताँबा, पीतल अथवा अन्य धातुओ की समुपस्थिति मे पानी का प्रभाव भी पर्याप्त होता है। कार्बन अथवा कार्बन के ऑक्साइड ऊँचे ताप पर धातु को कार्बाइड ऐ४ का३ (Al_4C_3) मे परिणत कर देते हैं। पारा और नमी की विद्यमानता मे धातु हाइड्राक्साइड वन जाती है। यदि ऐल्यूमिनियम चूर्ण और सोडियम पराक्साइड के मिश्रण पर पानी की कुछ ही बूंदे पडे, तो जोर का विस्फोट होगा। ऐल्यूमिनियम चूर्ण और पोटैसियम परमैंगनेट का मिश्रण जलते समय प्रचड दीप्ति देता है। धातु का चूर्ण गरम करने पर हैलोजन और नाइट्रोजन के साथ भी जलने लगता है और ऐल्यूमिनियम हैलाइड और नाइट्राइड वनते हैं। शुष्क ईथर में वने ब्रोमीन और आयोडीन के विलयन के साथ भी यह धातु उग्रता से अभिक्रिया करके ब्रोमाइड और आयोडाइड बनाती है। गधक, सेलीनियम और टेल्यूरियम गरम किए जाने पर ही इस धातु के साथ सयुक्त होते हैं। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गरम होने पर धातु के साथ अभिक्रिया करके क्लोराइड वनाता है। यह क्रिया धातु की शुद्धता और अम्ल की सान्द्रता पर निर्भर है। तनु सलफ्यूरिक अम्ल का धातु पर धीरे धीरे ही प्रभाव पडता है, पर अम्ल की सान्द्रता वढाने पर यह प्रभाव पहले तो वढता है, पर फिर कम होने लगता है। ९८% सलफ्यूरिक अम्ल का धातु पर बहुत ही कम प्रभाव पडता है। नाइट्रिक अम्ल का प्रभाव इस धातु पर इतना कम होता है कि सान्द्र नाइट्रिक अम्ल ऐल्यूमिनियम के वने पात्रो मे वद करके दूर दूर तक भेजा जा सकता है। अमोनिया का विलयन कम ताप पर तो धातु पर प्रभाव नही डालता, परतु गरम करने पर अभिक्रिया तीव्रता से होती है। कास्टिक सोडा, कास्टिक पोटाश और वेराइटा का ऐल्यूमिनियम धातु पर प्रभाव तीव्रता से होता है, परतु कैल्सियम हाइड्राक्साइड का अधिक नही होता।

ऐल्यूमिनियम की ऑक्सिजन के प्रति अधिक प्रीति है। इस गुण के *कारण अनेक आक्साइडो के अपचयन मे इस धातु का प्रयोग किया जाता है।* गोल्डस्मिट की थर्माइट या तापन विधि मे ऐल्यूमिनियम चूर्ण का प्रयोग करके लोह, मैंगनीज, क्रोमियम, मालिवडीनम, टग्सटन आदि धातुएँ अपने आक्साइडो मे से पृथक् की जाती हैं।

ऐल्यूमिनियम को सक्षारण से वचाना--वेगफ (Bengough) और सटन ने १९२६ ई०मे एक विधि निकाली जिसके द्वारा ऐल्यूमिनियम धातु पर उसके आक्साइड का एक पटल इस दृढता से वन जाता है कि उसके नीचे की धातु सक्षारण से वची रहे। यह कार्य विद्युद्धारा की सहायता से किया जाता है। ऐल्यूमिनियम पात्र को धनाग्र बनाकर ३ प्रति शत क्रोमिक अम्ल के विलयन मे (जो यथासभव सलफ्यूरिक अम्ल से मुक्त हो) रखते हैं। वोल्टता धीरे धीरे ४० वोल्ट तक १५ मिनट के भीतर वढा दी जाती है। ३५ मिनट तक इसी वोल्टता पर क्रिया होने देते हैं, फिर वोल्टता ५ मिनट के भीतर ५० वोल्ट कर देते हैं, और ५ मिनट तक इसे स्थिर रखते हैं। ऐसा करने पर पात्र पर आॅक्साइड का एक सूक्ष्म पटल जम जाता है। पात्र पर रग या वार्निश भी चढाई जा सकती है और यथेष्ट अनेक रग भी दिए जा सकते हैं। इस विधि को एनोडाइजिग या धनाग्रीकरण कहते हैं और इस विधि द्वारा वनाए गए सुदर रगो से अलकृत ऐल्यूमिनियम पात्र बाजार मे वहुत विकने को आते हैं।

ऐल्यूमिनियम मिश्रधातुएँ--ऐल्यूमिनियम लगभग सभी धातुओ के साथ सयुक्त होकर मिश्र धातुएँ बनाता है, जिनमें से ताँवा, लोहा, जस्ता, मैंगनीज, मैगनीशियम, निकेल, क्रोमियम, सीसा, विसमथ और वैनेडियम मुख्य हैं। ये मिश्रधातुएँ दो प्रकार के काम की हैं--पिटवाँ और ढलवाँ। पिटवाँ मिश्रधातुओ मे प्लेट, छडे, आदि तैयार किए जाते हैं। इनकी भी दो जातियाँ हैं, एक तो वे जो विना गरम किए ही पीटकर यथेच्छ अवस्था में लाई जा सकती हैं, दूसरी वे जिन्हें गरम करना पडता है। पिटवाँ और ढलवाँ मिश्र धातुओ के दो नमूने यहाँ दिए जाते हैं--ढलवाँ ताँवा ८%, लोहा १%, सिलिकन १ २%, ऐल्यूमिनियम ८९ ८%, पिटवाँ ताँवा ० ९%, सिलिकन १२ ५%, मैगनीशियम १ ०%, निकेल० ९%, ऐल्यूमिनियम ८४ ७%

ऐल्यूमिनियम के यौगिक--ऐल्यूमिनियम ऑक्साइड, ऐ२औ३ (Al_2O_3) प्रकृति मे भी पाया जाता है, तथा फिटकरी और अमोनिया क्षार की अभिक्रिया से तैयार भी किया जा सकता है। इसमे जल की मात्रा सयुक्त रहती है। जलरहित ऐल्यूमिनियम क्लोराइड, ऐ क्लो३ ($AlCl_3$) का उपयोग कार्वनिक रसायन की फ्रीडेल-क्राफ्ट अभिक्रिया में अनेक सश्लेषणो मे किया जाता है। ऐल्यूमिनियम सलफेट के साथ अनेक फिटकरियाँ वनती हैं। धातु को नाइट्रोजन या अमोनिया के साथ ८००° ताप पर गरम करके ऐल्यूमिनियम नाइट्राइड, ऐना (AlN), तैयार किया जा सकता है। सरपेक (Serpek) विधि मे ऐल्यूमिना और कार्वन को नाइट्रोजन के प्रवाह मे गरम करके यह नाइट्राइड तैयार करते थे। इस प्रकार वायु के नाइट्रोजन का स्थिरीकरण सभव था। वौक्साइट और कावन को विजली की भट्ठियो मे गलाकर ऐल्यूमिनियम कार्वाइड, ऐ४का३ (Al_4C_3) तैयार करते हैं, जो सक्षारण से वचाने मे वहुत काम आता है और ऊँचा ताप सहन कर सकता है।

स० ग्र०--जे० डब्ल्यू० मेलोर कॉम्प्रिहेन्सिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गैनिक ऐड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री, खड ५ (१९२४), ए० जे० फील्ड (अनुवादक) दि टेकनॉलोजी ऑव ऐल्यूमिनियम ऐंड इट्स लाइट ऐलॉयज (१९३६)

[स० प्र०]

ऐल्यूमिनियम की खनिजी--क्लार्क तथा वाशिंगटन के अनुमान के अनुसार पृथ्वी की सरचना मे ऐल्यूमिनियम का अश पृथ्वी के भार का ८ १३% है। इस प्रकार ऐल्यूमिनियम हमे पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है तथा उसका भाडार प्राय असमाप्य है।

ऐल्यूमिनियम उद्योग भारत मे ६ मार्च, १९४३ ई० को प्रारभ हुआ जब प्रथम वार वाणिज्य स्तर पर धातु का उत्पादन इडियन ऐल्यूमिनियम कपनी के अलूपुरम् वर्क्स की भट्ठियो से हुआ।

ऐल्यूमिनियम उद्योग की आधारभूत आवश्यकताएँ निम्नलिखित हैं

वौक्साइट--आजकल ऐल्यूमिनियम का सर्वाधिक सामान्य अयस्क वौक्साइट है। वौक्साइट वाणिज्य स्तर पर मुख्यत इस कारण प्रयुक्त होता है कि इसमें ऐल्यूमिनियम के जलयुक्त (हाइड्रेटेड) आक्साइड होते हैं, जिससे अल्प व्यय एव सुगमता से ऐल्यूमिना प्राप्त किया जा सकता है। वौक्साइट मे तीन जलयुक्त आक्साइड पहचाने गए हैं

(१) वोकमाइट ऐल्फा मोनोहाइड्रेट, जिसमे ऐल्यूमिना ८५ ०१% है
(२) डायसपोर वीटा मोनोहाइड्रेट, जिसमे ऐल्यूमिना ८५ ०१% है
(३) गिवसाइट ऐल्फा ट्राइहाइड्रेट, जिसमे ऐल्यूमिना ६५ ४१% है

वौक्साइट एक यथार्थशिला है जो उपरिष्ठ विघटन (सुपरफिशल डिकपोजिशन) की विधि द्वारा उत्पन्न हुई है। फलत ऐल्यूमिनियम के अतिरिक्त इसमे लौह तथा टाइटेनियम के आक्साइड भी रहते हैं, जो जलयुक्त मिश्रण के अवशिष्ट सचयन (ऐक्युमुलेशन) का रूप धारण करते हैं। इसमे सिलिका तथा प्रागारिक पदार्थो की भी कुछ मात्रा रहती है।

भारत के सभी वौक्साइट निक्षेप लैटराइट प्रकार के हैं और उनमे से अधिकाश वेसाल्ट लावा के ऋतुक्षरण द्वारा उत्पन्न हुए हैं। प्राथमिक

बौक्साइट साधारणतः ऊँचे मैदानो (प्लेटो) अथवा छोटे सपाट शृंगशैलो के टॉप के रूप मे प्राप्त होता है।

अत्याधुनिक अनुमानो के अनुसार सारे विश्व में बौक्साइट का भांडार २ अरब टन आँका गया है। किंतु इस अनुमान को यदि वास्तविकता से कम कहा जाय तो भी अतिशयोक्ति न होगी, क्योकि यह भांडार इतना प्रचुर है कि भविष्य में किसी भी आवश्यकता की पूर्ति कर सकने मे समर्थ होगा।

भारतीय भूतात्विक समीक्षा द्वारा किए गए आँकडो के अनुसार भारत मे बौक्साइट का भांडार २०-२५ करोड टन का है, जिसमे सभी श्रेष्ठताओ का बौक्साइट सम्मिलित है। यह अनुमान भी अब अविश्वसनीय प्रतीत होने लगा है, क्योकि सभवत वास्तविक भांडार इस मात्रा मे कही अधिक है। कुछ नवीन आँकडे यह प्रदर्शित करते है कि भारत मे उच्च श्रेणी के बौक्साइट की मात्रा लगभग २८ करोड टन है। इलेक्ट्रो केमिकल सोसाइटी की भारतीय शाखा की अक्टूबर, १९५५ ई० की पत्रिका में देश मे अच्छे वर्ग के बौक्साइट की अनुमित मात्रा ३५५ करोड टन के लगभग बताई गई है। १९५७ ई० के फ्रांसीसी प्रतिनिधिमंडल ने, जिसमे फ्रास की एक सुप्रसिद्ध कपनी के श्री जे० सेवोट भी थे, निम्नाकित मात्राओ को उपलभ्य बताया है:

क्र० संख्या	क्षेत्र	भांडार	आलोचना
१	कटनी क्षेत्र (म० प्र०)	१० लाख टन	महत्वपूर्ण नही
२	सौराष्ट्र (बबई)	"	"
३	शिवारोय पहाडियाँ जि० सेलम (मद्रास)	३०-४० लाख टन	लगभग दस वर्षो तक एक लघु ऐल्यूमिनियम कारखाने के लिये पर्याप्त
४	कोल्हापुर क्षेत्र (बबई)	५०० लाख टन	उत्तम
५	बिलासपुर क्षेत्र (अमरकटक) म० प्र० तथा मैनपट निक्षेप (अमरकटक से १५० किलोमीटर की दूरी पर) म० प्र०	कई करोड टन अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र मे, पर्याप्त लाभप्रद बौक्साइट	विशाल कारखाने के लिये अत्यत उपयोगी

भारत में बौक्साइट का वितरण—बौक्साइट बिहार, उडीसा, बबई, मद्रास, जम्मू तथा कश्मीर और मध्यप्रदेश आदि प्रातो मे प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। बौक्साइट निक्षेपो का विशेष विवरण इस प्रकार है

बिहार प्रदेश—बौक्साइट निक्षेप राँची तथा पलामू जिलो मे विद्यमान है। इन निक्षेपो पर खनन कार्य भी कुछ दिनो से हो रहा है।

ऐल्यूमिनियम कॉर्पोरेशन ऑव इडिया तथा इडियन एल्यूमिनियम क० प्रति वर्ष ३०,००० टन बौक्साइट का खनन इस क्षेत्र से करती है। बौक्साइट का मूल्य समीपस्थ रेलवे स्टेशन तक ढुलवाई लेकर १८ रु० प्रति टन पडता है। हीराकुड मे अपचयन सयत्र (रिडक्शन प्लैंट) स्थापित होने पर बौक्साइट का खनन पर्याप्त बढ जायगा।

उडीसा प्रदेश—कालाहांडी तथा सबलपुर जिलो मे बौक्साइट पाया जाता है। ऐल्यूमिनियम के लिये उपयुक्त बौक्साइट की मात्रा केवल ४,००,००० टन तक ही सीमित है। यातायात के साधन भी उपलब्ध नही हैं।

बबई प्रदेश—कोल्हापुर तथा बेलगाँव जिलो मे बौक्साइट के मुख्य निक्षेप मिलते है। इन दोनो मे भी कोल्हापुर के निक्षेप विशाल है तथा सिलिका कम होने के कारण अधिक उपयोगी हैं। फ्रासीसी मिशन (१९५७) के अनुसार कोल्हापुर क्षेत्र के निक्षेपो मे ५ करोड टन बौक्साइट है। यद्यपि ये निक्षेप ऐल्यूमिनियम उद्योग के लिये उपयुक्त एव पर्याप्त है, तथापि निक्षेपो के समीप कोयला अथवा अन्य ईंधन उपलब्ध न होने के कारण, देश के अन्य स्थानो की तुलना मे, इन निक्षेपो का खनन लाभप्रद नही है।

मद्रास प्रदेश—मद्रास मे सेलम जिले की शिवारोय पहाडियो मे बौक्साइट के मुख्य भांडार स्थित है। ऐल्यूमिनियम के लिये उपयुक्त बौक्साइट की मात्रा ३०-४० लाख टन है। निक्षेप पूर्णत गिबसाइट के है जिसमे टाइटेनियम आक्साइड तथा सक्रिय (रिऐक्टिव) सिलिका अल्प मात्रा मे है। अत यह बौक्साइट ऐल्यूमिनियम उद्योग के लिये अत्यत लाभप्रद है। परतु उस क्षेत्र मे कोयले तथा अन्य ईंधन का अभाव है। इसलिये निकट भविष्य मे इसके अधिक उपयोगी सिद्ध होने की कम ही सभावना है। शिवारोय बौक्साइट प्रोडक्ट कपनी यहाँ खनन कार्य करती है।

जम्मू तथा कश्मीर—इस प्रदेश के पूंछ तथा रियासी जिलो मे लगभग २० लाख टन बौक्साइट प्राप्त होने का अनुमान है। यहाँ का बौक्साइट पूर्णत डायसपोर (ऐल्यूमिनियम हाइड्रॉक्साइड) के रूप में है। इस क्षेत्र में यातायात साधन, ईंधन तथा शक्ति अनुपलब्ध है।

मध्य प्रदेश—यह निर्विवाद है कि भारत में ऐल्यूमिनियम उद्योग के लिये सर्वाधिक उपयुक्त तथा विशालतम भांडार मध्यप्रदेश मे है। मुख्य निक्षेप निम्नलिखित क्षेत्रो मे विद्यमान हैं

(१) जबलपुर जिले का कटनी क्षेत्र,
(२) बालाघाट जिला,
(३) उत्तर पूर्वी मध्यप्रदेश क्षेत्र जिसमे बिलासपुर, सरगुजा, शहडोल, तथा रायगढ जिले सम्मिलित है।

कटनी क्षेत्र मे बौक्साइट के भांडारो का अनुमान लगभग ४६ लाख टन है। कुछ लघु निक्षेप सिहोरा मे भी है। इस समय यह बौक्साइट घर्षक (अब्रेसिव) तथा रासायनिक उद्योगो के लिये प्रयुक्त होता है।

बालाघाट क्षेत्र मे अभी कोई विशेष अन्वेषण कार्य नही किया गया है, किंतु यहाँ विशाल निक्षेपो के मिलने की पूर्ण सभावना है।

मध्यप्रदेश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के निक्षेप अत्यत महत्वपूर्ण तथा विस्तृत है। इस क्षेत्र मे अन्वेषण कार्य भी पर्याप्त हो चुका है तथा यहाँ कई करोड टन बौक्साइट प्राप्त होने का अनुमान है। फ्रासीसी कैमरून खनन सेवा की रिपोर्ट के अनुसार यदि अमरकटक के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम स्थित उच्च स्थलियो का दो तिहाई भी सम्मिलित कर लिया जाय तो पडोस मे स्थित बडे से बडे ऐल्यूमिनियम कारखाने की आवश्यकता पूरी हो सकेगी। इस क्षेत्र के उपयोगी अयस्क की अनुमानित मात्रा २० से ३० करोड टन तक होगी। मैनपट के निक्षेप, अमरकटक क्षेत्रीय निक्षेपो से अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है। इस क्षेत्र के इन विशाल भांडारो का उपयोग भारतीय ऐल्यूमिनियम उद्योग के लिये राष्ट्रीय स्तर पर किया जा सकता है। इन सारे तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए यहाँ एक २०,००० टन वार्षिक उत्पादन का आरंभिक कारखाना स्थापित किया जा रहा है जो श्रीगणेश मात्र है।

ऐल्यूमिनियम उद्योग में प्रयुक्त अन्य कच्चे पदार्थ—

(१) बेयर विधि द्वारा बौक्साइट से ऐल्युमिना की प्राप्ति के लिये चूने तथा सोडा भस्म (सोडा ऐश) अथवा कास्टिक सोडा की आवश्यकता होती है। इन पदार्थो के लिये भारतीय उद्योग को अशत आतरिक एव अशत बाह्य साधनो पर निर्भर रहना पडता है।

(२) ऐल्युमिना के विद्युद्विश्लेषण के लिये तापन पदार्थ

(क) क्रायोलाइट यह ऐल्यूमिना का विलेय है जिसका आयात ग्रीनलैंड से होता है।

(ख) फ्लोरस्पार तथा ऐल्यूमिनियम फ्लोराइड इनकी आवश्यकता तापन समायोजन (बाथ ऐडजस्टमेंट) मे होती है। ये विदेशो से आयात किए जाते है।

(३) विद्युदग्रो (एलेक्ट्रोड) तथा टकी के अस्तर के लिये कार्बनिक पदार्थ पेट्रोलियम कोक डिग्बोई (आसाम) से प्राप्त किया जाता है, जिससे आशिक पूर्ति होती है। शेष माँग पूरी करने के लिये विदेशो से आयात करना पडता है। मृदु पिच, कोक ओवन, अलकतरा और कारखाने की राख, बगाल के कोयला-क्षेत्र से प्राप्त किए जाते हैं।

विद्युच्छक्ति—ऐल्यूमिनियम उत्पादन उद्योग की एक मुख्य समस्या विद्युच्छक्ति के विशाल स्रोत की है। विद्युच्छक्ति सस्ती और बडे पैमाने पर उपलब्ध होनी चाहिए, क्योकि प्रति पाउड उत्पादित ऐल्यूमिनियम के लिये १० किलोवाट घटा (K W H) विद्युच्छक्ति की आवश्यकता होती है।

भारत मे बौक्साइट से ऐल्यूमिना बनाने के इस समय दो कारखाने है, एक आसनसोल मे तथा दूसरा टाटानगर से लगभग ५० मील दूर मूरी नामक स्थान में। आसनसोल के कारखाने में ऐल्यूमिना से ऐल्यूमिनियम बनाने की भी व्यवस्था है। मूरी मे पहले से बने ऐल्यूमिना को परिष्कृत कर ऐल्यूमिनियम उत्पन्न करने की व्यवस्था है। ऐसी ही व्यवस्था केरल राज्य मे अलवे नामक स्थान पर भी है। दोनो सयत्रो मे प्राय पाँच हजार टन ऐल्यूमिनियम धातु प्रति वर्ष उत्पन्न की जाती है। यह मात्रा देश की आवश्यकता

मे अत्यत कम है तथा लगभग १०॥ हजार टन ऐल्यूमिनियम प्रति वर्ष आयात करना पडता है। अत द्वितीय पचवर्षीय योजना के अतर्गत ऐल्यूमिनियम का उत्पादन अलवे तथा टाटानगर के कारखानो से साढे सात से १५ हजार टन तक प्रति वर्ष हुआ करेगा। इसके अतिरिक्त सेलम में १० हजार टन प्रति वर्ष उत्पादन का कारखाना स्थापित किया जायगा। हीराकुड में भी १० हजार टन का एक कारखाना प्रारभ हो चुका है तथा रिहड बाँध के समीप भी एक ऐल्यूमिनियम के कारखाने की योजना को शीघ्र ही कार्यान्वित किया जायगा। [वि० सा० दु०]

ऐल्यूमिनियम कांस ऐल्यूमिनियम और ताम्र की मिश्र धातुएँ, जिनमें ताम्र की मात्रा अधिक हो, ऐल्यूमिनियम-कास (ऐल्यूमिनियम-ब्राज़) कहलाती हैं। इनकी विशेषताएँ हैं उच्च दृढता, विधि आकारो में निर्मित किए जाने की क्षमता, क्षय (वेयर) तथा क्लाति (फ़ैटीग) के प्रति उच्च प्रतिरोधशक्ति, सुदर स्वर्णाभ रग और उष्मा-उपचार से धातु का कडा और नरम हो सकना। ढलाई करते समय सीमावर्ती दानो के चारो ओर ऐल्यूमिना की एक कठोर और चिमडी परत जम जाती है, जिससे धातु बाहर से भीतर तक एक समान नही रह जाती। इस कठिनाई से बचने के लिये घरिया के पेंदे से पिघली हुई धातु ऊपर चढाई जाती है। इस क्रिया में तलछट को रोकने के लिये विशेष प्रकार की चलनी का उपयोग किया जाता है और पिघली धातु में हलचल रोकने के लिये उसे मद गति से भीतर डालते हैं। वेल्डिंग सबधी कठिनाइयाँ अब दूर कर दी गई हैं। ऐल्यूमिनियम कास में भट्ठी की गधकमय गैस, समुद्रजल और तनु अम्ल के प्रति प्रतिरोधशक्ति होती है। इसलिये इसका उपयोग बर्तन बनाने में किया जाता है।

साधारणत तीन प्रकार की मिश्रधातुओ का प्रयोग होता है

(१) पीटकर बनाई गई मिश्रधातु, जिसमें ५ से ७ प्रति शत ऐल्यूमिनियम रहता है।

(२) १० प्रति शत ऐल्यूमिनियम वाली मिश्रधातु जिसका प्रयोग ढलाई में और तपाकर इच्छित रूप देने मे किया जाता है।

(३) मिश्रित ऐल्यूमिनियम कास। साधारण मिलावट में लौह, निकेल और मैंगनीज़ का उपयोग किया जाता है। ५ प्रति शत तक मैंगनीज़ और ३ प्रति शत तक लोहा मिलाया जा सकता है। अधिक मैंगनीज अथवा लोहा वाला कास ऐल्यूमिनियम कास नही कहलाता। इन मिश्रधातुओ से वस्तुएँ ठढी अवस्था में एक सीमा तक ही पीटकर बनाई जा सकती है। अधिकतर तप्त करके ही इनको पीटा जाता है।

स०ग्र०—प्रोसीडिंग्स ऑव दि इस्टिट्यूट ऑव मिकैनिकल इजीनियर्स (१९०७, पृष्ठ ५७, १९१०, पृष्ठ ११९)। [व० नि०]

ऐल्स्टन, वाशिंगटन (१७७९–१८४३) अमरीकी लेखक तथा चित्रकार। शिक्षा हार्वर्ड विश्वविद्यालय मे पाई। युवावस्था में लदन, पेरिस, रोम, वेनिस आदि का भ्रमण कर पुन अमरीका लौट आए और वही अपना कार्य आरभ कर दिया। इनकी कलाकृतियो में प्रकाश और छाया के प्रयोग, तथा रगो के चुनाव आदि मे वेनिस की शैली का प्रभाव परिलक्षित है इसीलिये इन्हे 'अमरीकी तिशियन' भी कहा जाता है। इनके चित्र मिलान के राजभवन और साता मेरिया के गिरजे मे हैं जो इनके गुरु कोरेज्जो की कृतियो से भी अधिक श्रेष्ठ हैं।

ये स्वय धार्मिक स्वभाव के थे और इनके अधिकाश चित्रो की कथावस्तु भी बाइबिल की कहानियाँ हैं। सर्वोत्तम कृतियाँ—'मृत व्यक्ति का पुनर्जीवन', 'देवदूत द्वारा सत पीतर की मुक्ति' और 'जेकोब का स्वप्न' हैं।

लेखक के रूप में अभिव्यक्ति की सुगमता और काल्पनिक शक्ति के लिये ये विख्यात हैं। कोलरिज (ऐल्स्टन द्वारा बनाया जिसका चित्र आज भी नैशनल गैलरी में है) का कहना था कि "उस युग मे कला और काव्य के क्षेत्र में कोई और ऐल्स्टन की समता नही कर सकता था।" [स० च०]

ऐल्सैस लोरेन जर्मनी भाषा का एलज़ास लोथ्रिजेन ५,६०० वर्ग मील का एक क्षेत्र है जिसे सन् १८७१ ई० में फ्रास ने जर्मनी को अर्म्यपित कर दिया था। सन् १९१९ ई० में यह फिर फ्रास को दे दिया गया, परतु सन् १९४० ई० में जर्मनी ने वापस ले लिया। १८७१ ई० के पश्चात् जर्मनी ने इसे तीन प्रशासकीय विभागो मे विभाजित किया—'ऊपरी ऐल्सैस', 'निचला ऐल्सैस' तथा लोरेन। फ्रासीसियो ने भी इसे तीन विभागो में बाँटा—हो-राइन (जनसख्या सन् १९४६ में ४,७१,७०५), बा-राइन (जनसख्या सन् १९४६ मे ६,७३,२८१), तथा मोज़ेल (जनसख्या सन् १९४६ मे ६,२२,१४५)। प्राकृतिक रूप से भी ऐल्सैस की अपनी सीमाएँ हैं। पश्चिम मे फ्रास की सीमा, पूर्व मे बाडेन तथा दक्षिण मे यह स्विट्ज़रलैंड से घिरा है। इस क्षेत्र की जनसख्या सन् १९३६ ई० में १९,१५,६२७ थी, जिनमें से केवल दस प्रति शत ही फ्रासीसी बोलने वाले थे, अन्य सब जर्मन (जैसे स्विट्ज़रलैंड के बेसल अचल मे बोली जानेवाली जर्मन भाषा) बोलनेवाले थे। यद्यपि ऐल्सैस में पोटाश तथा मिट्टी के तेल का उत्पादन होता है, तथापि यह प्रदेश कृषि उत्पादन, वस्त्र, मशीनो इत्यादि के लिये अधिक प्रसिद्ध है। लोरेन का अत्यधिक महत्व यहाँ के लोहे तथा कोयले के कारण है, जो औद्योगिक तथा सामरिक दोनो दृष्टियो से यूरोप मे शक्ति के पासग हैं। इसके अतिरिक्त यह बडे बडे व्यापारिक तथा आवागमन के अन्य मुख्य मार्गो—राईन, सैवर्न दर्रा तथा बर्गेंडी के द्वारा—पर होने से फ्रास तथा जर्मनी दोनो के लिये सोने की चिडिया है। इसका २,००० वर्षो का इतिहास बताता है कि यह यूरोपीय राजनीति में सदैव झगडे की जड रहा है और सन् १८७० ई० से तो विश्व राजनीति में भी काफी प्रसिद्ध रहा है। इसकी पूर्वी सीमा पर उत्तर से पूर्व दिशा मे ११५ मील तक राइन नदी बहती है, स्ट्रैसबर्ग के नीचे ईल (लबाई १२७ मील) इसमें योग देती है। सपूर्ण प्रदेश का प्राय ५०% भाग कृषि योग्य है, ११६ चरागाह के योग्य तथा ३०८% जगल है। इस प्रदेश के मुख्य नगर स्ट्रैसबर्ग (जनसख्या सन् १९५४ में २,००,४२१), मेट्ज (जनसख्या सन् १९५४ में ८५,७०१) तथा क्लोमार (जनसख्या १४२१ मे ३७,०००) हैं। अब यह प्रदेश पश्चिमी शक्तियो के अधीन है। [श्या० सु० श०]

ऐशबोर्न इग्लैंड के डर्बीशिर का एक नगर है, जो डर्बी से १३ मील उत्तर-पश्चिम मे स्थित है। इसका क्षेत्रफल १७६ वर्ग मील है तथा आबादी १९३८ में ४,७९६ थी। यह दो छोटी घाटियो के बीच मे बसा है और कृषि-व्यापार का अच्छा केंद्र है। सकर्पा (कॉर्सेट) बनाना यहाँ की विशेषता है। धातुओ से यहाँ बर्तन भी बनाए जाते हैं। [नृ० कु० सि०]

ऐशलैंड केंटकी राज्य में बायड प्रात का एक नगर है, जो ओहायो नदी के किनारे ५५५' की ऊँचाई पर, सिनसिनाटी से १२५ मील दक्षिण-पूर्व तथा बिग सैंडी नदी के मुहाने से ४ मील नीचे की ओर, जहाँ ओहायो, केंटकी तथा पश्चिमी वर्जीनिया राज्य मिलते हैं, स्थित है। यहा पर चेसविक एव ओहायो रेलवे मार्ग तथा राजकीय सडकें हैं। नगर की सीमा के समीप एक हवाई अड्डा है। यह प्रमुख औद्योगिक नगर है जिसमें मुख्य उद्योग इस्पात, पेट्रोल, लकडी की वस्तुएँ, ईंट तथा चमडे के सामान तैयार करना है। यहाँ पर सर्वसाधारण के लिये छोटे तथा बडे माध्यमिक विद्यालय एक पुस्तकालय तथा ५२ एकड का एक उपवन (पार्क) है। जनसख्या १९५० मे ३१,१३१ थी। [नृ० कु० सि०]

ऐशविल सयुक्त राज्य, अमरीका के उत्तरी कैरोलिना राज्य का एक नगर है। यह १९८१–३०२० फुट की ऊँचाई पर ब्लूरीज़ और स्मोकी पर्वतश्रेणियो के मध्य फ्रेंच बोर्ड और स्वानोनोआ नदियो पर स्थित है। यहाँ दक्षिणी रेलवे, पक्की सडको तथा वायुयान से यातायात की सुविधाएँ हैं। जलवायु शुष्क है तथा वार्षिक वर्षा ३८ ४७" है। नगर का क्षेत्रफल १४ ७ वर्ग मील है। यह राज्य के पश्चिमी भागो के २० प्रदेशो का वित्तीय तथा व्यापारिक केंद्र है। यह औद्योगिक तथा पर्यटक आकर्षी नगर है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय रेयन अथवा नकली रेशम के सूत, सूती कपडे, कागज और कागज के बने सामान, कबल और लकडी के बने सामान तैयार करना है। इस नगर मे आधुनिक भोजनालय, विश्रामालय, अतिथि-गृह तथा उचित रीति से सुसज्जित स्वास्थ्यरक्षालय हैं। यह १७९४ मे जॉन बर्टन द्वारा बसाया गया था। १९३० में आबादी ५०,१९३ थी और १९५० में ५३,०००। [नृ० कु० सि०]

ऐसीटिक अम्ल [काहा,का औ औहा (CH_3COOH)] फलो के रस, जतुओ के मलमूत्र, क्रोटन तेल, सुगधित तेलो तथा पौधो के रस मे एस्टर तथा लवण के रूप मे पाया जाता है।

बनाने की विधियाँ--(१) एथिल ऐलकोहल के आक्सीकरण से, (२) मेथिल सायनाइड के जलविश्लेषण से, (३) सोडियम मेथोक्साइड पर ८ वायुमडल दाब तथा २२०° से० ताप पर कार्बन मोनोक्साइड की क्रिया से, (४) टग्स्टन की उपस्थिति में ३००-४००° से० ताप पर मेथिल ऐलकोहल के वाष्प और कार्बन मॉनोक्साइड के सयोजन से, (५) मेथिल मैग्नीशियम ब्रोमाइड के ईथरीय विलयन मे कार्बन डाइ आक्साइड प्रवाहित करने पर प्राप्त पदार्थ के अम्ल द्वारा जलविश्लेषण से, (६) मैलोनिक अम्ल को गरम करने से, (७) एथिल ऐसीटेट के जलविश्लेषण से, तथा (८) सोडियम मेथाइड, काहा, सो (CH_3Na) पर कार्बन डाइ आक्साइड की क्रिया से ऐसीटिक अम्ल प्राप्त होता है।

बडी मात्रा मे इसे (१) ४०% गरम सल्फ्यूरिक अम्ल मे, १% मर्क्यूरिक सल्फेट की उपस्थिति मे, ऐसीटिलीन प्रवाहित कर प्राप्त ऐसीटैलडीहाइड के ७०° पर मैंगैनस ऐसीटेट द्वारा आक्सीकरण से तथा (२) पाइरोलिग्नियस अम्ल के वाष्प को गरम चूने के जल मे से प्रवाहित करने पर प्राप्त कैल्सियम ऐसीटेट को २५०° तक गरम करने के पश्चात् साद्र सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा विघटन से बनाते हैं। अजल अम्ल बनाने के लिये अम्ल को सोडियम कार्बोनेट से उदासीन कर तथा सोडियम ऐसीटेट को पिघलाकर साद्र सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ आसवन करते हैं।

सिरके (६-१० % ऐसीटिक अम्ल) के रूप मे, इसे भारत मे गन्ने के रस के वायु में किण्वन से, या, अन्य देशो मे वर्ट के माइकोडर्मा ऐसीटी नामक जीवाणु द्वारा आक्सीकरण से, या ६-१०% जलीय ऐलकोहल के ऐसीटोबैक्टर ऐसीटी या ए० पास्टूरिग्रानम नामक जीवाणु [कॉम्पट० रेड० लैब० कार्ल्सबर्ग, १८९४ (३), १९०० (५)] द्वारा किण्वन से बनाते हैं। किण्वीकृत द्रव मे दाब से वायु प्रवाहित करने पर फाउलर तथा सुब्रह्मण्यन (ज० इडि० केमि० सो०, १९२३, ६, १४६) के अनुसार अम्ल की प्राप्ति बढती है।

भौतिक गुण--ऐसीटिक अम्ल एक तीव्र गधवाला, रगहीन, क्षयकारक (गलनाक १६.६° से०, क्वथनाक ११८.५° से०, आपेक्षिक घनत्व २०° पर १.०४९२२) जल, ऐलकोहल तथा ईथर में मिश्र्य द्रव है। यह वाष्प रूप में द्विलक (Dimer) रूप में रहता है। इसमे गधक, फास्फोरस तथा आयोडीन विलेय हैं। इसके सामान्य लवण जल मे विलेय हैं, किंतु भास्मिक लवण विशेषकर अविलेय हैं। यह धातुओ तथा कार्बोनेट पर क्रिया करता है। आक्सीकारक पदार्थो के प्रति यह स्थिर है।

रासायनिक गुण--यह भास्मिकअम्ल है और कास्टिक सोडा के साथ सोडियम ऐसीटेट (का हा,का औ औ सो ३हा,औ, $CH_3COONa\ 3\ H_2O$), लेड आक्साइड के साथ लेड ऐसीटेट तथा जिंक के साथ जिंक ऐसीटेट बनाता है। यह एथिल ऐलकोहल की क्रिया से एथिल ऐसीटेट (काहा, का औ औ का, हा, $CH_3COOC_2H_5$), फासफोरस पेटाक्लोराइड की क्रिया से ऐसीटिल क्लोराइड (का हा,का औ क्लो, CH_3COCl), फासफरस पेटॉअक्साइड की क्रिया से ऐसीटिक ऐनहाइड्राइड [(काहा, का औ), औ, $(CH_3CO)_2O$], अमोनिया की क्रिया से अमोनियम ऐसीटेट तथा ऐसीटैमाइड (का हा, का औ ना हा, CH_3CONH_2) और क्लोरीन की क्रिया से मोनोक्लोरो ऐसीटिक अम्ल (काहा, क्लो का औ औ हा, $CH_2ClCOOH$), डाइक्लोरोऐसीटिक अम्ल (का हा क्लो, का औ औ हा, $CHCl_2COOH$) तथा ट्राइक्लोरो ऐसीटिक अम्ल (का क्लो, का औ औ हा, CCl_3COOH) बनाता है। सोडियम या पोटैसियम ऐसीटेट के विद्युद्विश्लेषण से एथेन तथा सोडालाइम के साथ गरम करने से मेथेन, कैल्सियम ऐसीटेट के शुष्क आसवन से ऐसीटोन (का हा, का औ का हा, CH_3OCH_3) तथा कैल्सियम ऐसीटेट और कैल्सियम फार्मेट के मिश्रण के शुष्क आसवन से ऐसीटैलडीहाइड (का हा, का हा औ, CH_3CHO) बनते हैं।

उपयोग--ऐसीटिक अम्ल कार्बनिक तथा अकार्बनिक पदार्थो का विलयन करने के लिये, आक्सीकरण विधि मे अभिकर्मक के रूप मे, अचार तथा मुरब्बे के लिये सिरके के रूप मे, रबर के स्कदन के लिये तथा ऐसीटोन बनाने मे प्रयुक्त किया जाता है। इसके लवण, आयरन, ऐल्यूमिनियम तथा क्रोमियम ऐसीटेटो को रँगाई मे रगो के स्थापक के रूप मे, ऐल्यूमिनियम तथा सामान्य लेड ऐसीटेटो को औषध के लिये, भास्मिक लेड ऐसीटेट को हड्डी टूटने मे उपचार के लिये और लेड टेट्राऐसीटेट को हाइड्रोजन आयन से हाइड्राक्सिलमूलक मे परिवर्तन करने के लिये, काम मे लाए जाते हैं। इसके मीठी सुगधवाले एस्टर, जैसे ऐमिल ऐसीटेट, शर्बत तथा रस को सुगधित बनाने तथा लैकर वार्निश तैयार करने मे और सेल्यूलोस ऐसीटेट कृत्रिम रेशम (रेयन) तथा अज्वलनशील सिनेमा फिल्म बनाने मे प्रयुक्त होते हैं।

परीक्षण--ऐसीटिक अम्ल, (१) ऐसीटेट पर तनु या साद्र सल्फ्यूरिक अम्ल की क्रिया से प्राप्त ऐसीटिक अम्ल मे सिरके की गध से, (२) ऐसीटेट को ऐथिल ऐलकोहल तथा सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ गरम करने पर फलो की मीठी सुगध वाले एथिल ऐसीटेट के बनने से तथा (३) ऐसीटेट के उदासीन विलयन मे फेरिक क्लोराइड का ताजा विलयन डालकर गरम करने पर भास्मिक फेरिक ऐसीटेट का भूरा अवक्षेप बनने से, पहचाना जाता है।

[पू० ना० भा०]

ऐस्क्लीपाइआडीज़, यूनानी चिकित्सक। जन्म विधिनिया में १२४ ई० पू०। युवावस्था मे बहुत भ्रमण किया। रोम मे इसने प्रथम अलकारशास्त्री का कार्य प्रारभ किया, पर इस व्यवसाय मे उसे सफलता नही मिली। फिर चिकित्सा का व्यवसाय आरभ किया जिसमे उसकी बडी ख्याति हुई। इसकी चिकित्सा पारमाण्विक अथवा कणिका सिद्धात पर आधारित थी। इस सिद्धात के अनुसार शरीर मे कणिकाओ की अनियमित अथवा असगत गति के कारण रोग उत्पन्न होते हैं। इसकी चिकित्सा का उद्देश्य ऐसी अनियमितता को दूर कर कणिकाओ की पूर्ण सगत गति प्राप्त करना था। आहार परिवर्तन, घर्षण, स्नान तथा व्यायाम पर इसका अधिक विश्वास था, यद्यपि वह वमनकारी अथवा रक्तस्रावक ओषधियो का भी प्रयोग करता था। मद्य सेवन का भी यह निर्देश करता था। इसके अनेक शिष्य हुए और इसकी चिकित्सा का सिद्धात मेथाडिकल सिद्धात के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

[पू० सा० मा०]

ऐस्क्विथ, हर्बर्ट हेनरी (अर्ल आव आक्स्फर्ड--१८५२-१९२८) जन्म यार्कशायर, मार्ले के मध्यवर्गीय व्यापारी परिवार मे। पहले बैरिस्टर हुए, फिर देश मे नाम कमाकर पार्लमेंट के १८८६ मे सदस्य और बाद ग्लैड्स्टन के मत्रिमडल मे गृहसचिव नियुक्त हुए। अपने इस पद से उन्होने कारखाने और श्रम सबधी अनेक सुधार किए। निर्बाध व्यापार के वे महान् समर्थक थे। इसी के परिणामस्वरूप वे कैंबेल-बैनरमैन के मत्रिमडल मे चास्लर आव दि एक्स्चेकर हुए। इस सबध मे उन्होने वृद्धो के पेशन आदि के जो सुधार किए उनसे उनका इतिहास मे नाम सुरक्षित हो गया। ऐस्क्विथ का सबसे महान् कार्य १९११ के 'पार्लमेंट ऐक्ट' का निर्माण था जिसने लार्ड सभा के अधिकार अत्यत सीमित कर नगण्य कर दिए। इस कार्य ने उन्हें प्राइम मिनिस्टर (प्रधान मत्री) के अधिकार से सपन्न किया। वे कैंबेल बैनरमैन की बीमारी में ही इग्लैंड के प्रधान मत्री हो गए थे। आयरलैंड के सबध मे होमरूल बिल उनके मत्रिमडल का दूसरा महत्वपूर्ण प्रयास था।

१९१४ मे जब प्रथम महायुद्ध छिडा तब प्रधान मत्री ऐस्क्विथ थे। उन्होने तब विरोधी दल के साथ मिलकर नया मत्रिमडल बनाया। साल भर बाद १९१६ मे युद्ध-सचालन-नीति के प्रश्न पर मतभेद के कारण उन्हे प्रधान मत्रित्व लायड जार्ज को सौंपकर मत्रिमडल से अलग हो जाना पडा। अगले चुनावो में हारकर उन्हे पार्लमेंट से भी अलग हो जाना पडा। उन्हे 'अर्ल' बना दिया गया और वे लार्ड सभा के सदस्य हो गए। १८ साल के उदार दल के नेतृत्व के बाद उन्होने वहाँ की बागडोर भी लायड जार्ज को सौप दी और अपने दल से इस्तीफा दे दिया। लार्ड आक्स्फर्ड (हर्बर्ट हेनरी ऐस्क्विथ) इग्लैंड के महान् प्रधान मत्रियो मे से थे। अपना स्थान उन्होने अधिकतर अपनी वाक्शक्ति से बनाया था। वे १९२८ मे मरे।

[ओ० ना० उ०]

ऐस्पिरिन का रासायनिक नाम ऐसिटाइल सैलिसिलिक ऐसिड है। यह प्रथम वार १८९० मे बनाया गया। यह ज्वरनाशक तथा पीडानाशक है और चिकित्सा मे मुख्यत पीडोपचार मे प्रयुक्त होता है। सिर दर्द, पैशिक तथा वातजन्य पीडा और जुकाम मे यह उपयोगी है। कदाचित् यह सबसे अधिक प्रयुक्त तथा निर्दोष पीडानाशक द्रव्य है। ०.६ ग्राम की एक मात्रा के बाद पीडा से आराम शीघ्र होता है तथा दो, तीन घटे तक इसका प्रभाव रहता है। [मो० ला० गु०]

ऐस्फाल्ट (ऐस्फाल्ट) शब्द एक यूनानी शब्द से निकला है जिसका अर्थ है दृढ, अचल तथा सुरक्षित। पुरातन काल में ऐस्फाल्ट का प्रथम उपयोग विभिन्न प्रकार के दो पदार्थो को आपस मे जोडने में, जैसे हाथी दाँत, सीप या रत्नो से बनी आँखो को मूर्तियो के चक्षु ग ह्वरो मे बैठाने के लिये, किया जाता था। ज्ञात हुआ है कि सभवत हमारे देश मे ऐस्फाल्ट का सर्वप्रथम उपयोग लगभग ३,००० वर्ष ईसा पूर्व सिंधु नदी की घाटी में, सिंध प्रदेश के मोहन-जो-दडो नामक स्थान पर, जलभाडार की टकियो को छिद्ररहित बनाने मे किया गया था।

ऐस्फाल्ट काले से लेकर गहरे भूरे रग तक के ठोस, अथवा अर्धठोस, और सीमेंट के समान जोडने का कार्य करनेवाले पदार्थ हैं, जो गरम करने पर धीरे धीरे द्रव हो जाते हैं। उनके मुख्य सघटक बिटुमेन (तारकोल की जाति के पदार्थ) होते है। ये ठोस अथवा अर्धठोस अवस्था मे प्रकृति मे पाए जाते हैं, या पैट्रोलियम को साफ करने मे उत्पन्न होते हैं, या पूर्व कथित बिटुमेन पदार्थों के आपस मे, या पेट्रोलियम, या उससे निकले हुए पदार्थो के साथ सयोग होने पर, बनते हैं। प्राय यह शब्द प्राकृतिक, या प्रकृति मे पाए जानेवाले, बिटुमेन के लिये ही प्रयोग मे आता है।

ऐस्फाल्ट झीलो, अथवा चट्टानो, के रूप मे पाया जाता है। ट्रिनिडैड की ऐस्फाल्ट झील इस प्रकार की झीलो मे सबसे अधिक प्रख्यात है। ऐसी झीलें कच्चे पेट्रोलियम के लाखो वर्षों तक सूखने से बनती हैं। झीलो से निकले हुए ऐस्फाल्ट मे बहुतेरे अपद्रव्य, जैसे पेडो के अग, जतुओ के अवशेष, पत्थर, बालू इत्यादि, मिले रहते हैं। चट्टानो के रूप में ऐस्फाल्ट फ्रास, जर्मनी, आस्ट्रिया, अरब, दक्षिणी अमरीका इत्यादि देशो मे पाया जाता है।

नकली ऐस्फाल्ट, जिसको बिटुमेन कहते हैं, कच्चे पेट्रोलियम का आसवन करने पर बचा हुआ पदार्थ है। पेट्रोल, मिट्टी का तेल, स्नेहक तैल और पैराफिन मोम निकाल लेने के पश्चात् यही पदार्थ बच जाता है। तैयार करने की रीति में भेद उत्पन्न कर बिटुमेन का गाढापन नियंत्रित किया जाता है और भिन्न-भिन्न कार्यो के लिये कई प्रकार के बिटुमेन तैयार किए जाते हैं। जब शुद्ध ऐस्फाल्ट का उपयोग नही किया जा सकता तो उसमें कोई उडनशील पदार्थ मिलाकर पतला तथा मुलायम बना लिया जाता है। उपलब्ध पदार्थों को तब "कट बैक" कहते हैं। कुछ अवस्थाओ मे, जैसे नम या भीगी सडको की सतहो पर लगाने के लिऐ, ऐस्फाल्ट को पानी के साथ मिलाकर पायस (इमलशन) बना दिया जाता है।

ऐस्फाल्ट के अनेक उपयोग हैं। सबसे अधिक प्रचलित उपयोग तो सडको और पटरियो (फुटपाथो) के फर्शो तथा हवाई अड्डो के धावन मार्गो (रन वेज) को तैयार करने में होता है। इसको नहरो तथा टकियो मे अस्तर देने के तथा अपक्षरण-नियत्रण और नदी तथा समुद्र के किनारो की रक्षा के कार्यो मे भी प्रयुक्त किया जाता है। उद्योग में ऐस्फाल्ट का प्रयोग बिटुमेनरक्षित (जलावरोधक) कपडा बनाने मे किया जाता है जो छत, फर्श, जलरोधक तथा भित्तिपट्ट (वालबोर्ड) की रचना मे काम आता है। इसके सिवाय ऐस्फाल्ट का उपयोग विद्युद्रोधन के लिये होता है। बिटुमेनवलित कागज तथा विद्युदवरोधक फीते (इन्सुलेटिंग टेप) बनाने में भी इसका उपयोग होता है। जोडने मे तथा सधि भरने मे यह उपयोगी है। नकली रबर, तैल रग, वारनिश, इनैमल, मोटर की बैटरी और सचायक (अक्युमुलेटर), इत्यादि बनाने तथा शीतल भाडार (कोल्ड स्टोरेज) और प्रशीतन (रेफ्रिजरेशन) के कार्य मे भी इसका उपयोग होता है।

कुछ वर्ष पूर्व तक भारत मे ऐस्फाल्ट का बाहर से आयात किया जाता था। किंतु हाल में बबई में शोधक कारखाने स्थापित किए गए हैं, जहाँ पर विदेश से आए कच्चे पेट्रोलियम का शोधन किया जाता है और बृहद् मात्रा मे ऐस्फाल्ट इस उद्योग के अवशिष्ट पदार्थ के रूप में मिलता है। जहाँ तक ऐस्फाल्ट का सबध है, भारत अब आत्मनिर्भर हो गया है।

स०ग्र०—हर्बर्ट ऐब्राहम ऐस्फाल्ट ऐंड ऐलाइड सब्स्टैंसेज, द्वितीय सस्करण (न्यूयार्क, १९२०), ऐस्फाल्ट इस्टिट्यूट ऐस्फाल्ट हैंडबुक (यू० एस० ए०), पर्सी एडविन स्पीलमैन ऐस्फाल्ट रोड्स (एडवर्ड आरनल्ड ऐंड क०, लदन)। [ज० मि० नं०]

ओंकार, ओम् ओकार का नामातर प्रणव है। यह ईश्वर का वाचक है। ईश्वर के साथ ओकार का वाच्य-वाचक भाव सबध नित्य है, साकेतिक नही। सकेत नित्य या स्वाभाविक सबध को प्रकट करता है। सृष्टि के आदि मे सर्वप्रथम ओकाररूपी प्रणव का ही स्फुरण होता है। तदनतर सात करोड मत्रो का आविर्भाव होता है। इन मत्रो के वाच्य आत्मा की देवता रूप से प्रसिद्धि है। ये देवता माया के ऊपर विद्यमान रहकर मायिक सृष्टि का नियत्रण करते हैं। इनमे से आधे शुद्ध मायाजगत् मे कार्य करते है और शेष आधे अशुद्ध या मलिन मायिक जगत् मे।

ब्रह्मप्राप्ति के लिये निर्दिष्ट विभिन्न साधनो मे प्रणवोपासना मुख्य है। मुडकोपनिषत् मे लिखा है

"प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥"

कठोपनिषत् मे यह भी लिखा है कि आत्मा को अधर अरणि और ओकार को उत्तर अरणि बनाकर मथनरूप अभ्यास करने से दिव्य ज्ञानरूप ज्योति का आविर्भाव होता है। उसके आलोक से निगूढ आत्मतत्व का साक्षात्कार होता है। श्रीमद्भगवद्गीता मे भी ओकार को एकाक्षर ब्रह्म कहा है। माडूक्योपनिषत् मे भूत, भवत् या वर्तमान और भविष्य—त्रिकाल—ओकारात्मक ही कहा गया है। यहाँ त्रिकाल से अतीत तत्व भी ओकार ही कहा गया है। आत्मा अक्षर की दृष्टि से ओकार है और मात्रा की दृष्टि से अ, उ और म रूप है। चतुर्थ पाद में मात्रा नही है एव वह व्यवहार से अतीत तथा प्रपच से शून्य अद्वैत है। इसका अभिप्राय यह है कि ओकारात्मक शब्द ब्रह्म और उससे अतीत परब्रह्म दोनो अभिन्न तत्व हैं।

वैदिक वाड्मय के सदृश धर्मशास्त्र, पुराण तथा आगम साहित्य में भी ओकार की महिमा सर्वत्र पाई जाती है। इसी प्रकार बौद्ध तथा जैन सप्रदाय मे भी सर्वत्र ओकार के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति देखी जाती है। प्रणव शब्द का अर्थ है—प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेन इति, नौति स्तौति इति वा प्रणव।

प्रणव का बोध कराने के लिये उसका विश्लेषण आवश्यक है। यहाँ प्रसिद्ध आगमो की प्रक्रिया के अनुसार विश्लेषण क्रिया का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। ओकार के अवयवो का नाम है—अ, उ, म, बिंदु, अर्धचंद्र, रोधिनी, नाद, नादात, शक्ति, व्यापिनी या महाशून्य, समना तथा उन्मना। इनमे से अकार, उकार और मकार ये तीन सृष्टि, स्थिति और सहार के सपादक ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के वाचक हैं। प्रकारातर से ये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओ के भी वाचक हैं। बिंदु तुरीय दशा का द्योतक है। प्लुत तथा दीर्घ मात्राओ का स्थितिकाल क्रमश सक्षिप्त होकर अत मे एक मात्रा मे पर्यवसित हो जाता है। यह ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल माना जाता है। इसी एक मात्रा परसमग्र विश्व प्रतिष्ठित है। विक्षिप्त भूमि से एकाग्र भूमि मे पहुँचने पर प्रणव की इसी एक मात्रा में स्थिति होती है। एकाग्र से निरोध अवस्था में जाने के लिये इस एक मात्रा का भी भेद कर अर्धमात्रा में प्रविष्ट हुआ जाता है। तदुपरात क्रमश सूक्ष्म और सूक्ष्मतर मात्राओ का भेद करना पडता है। बिंदु अर्धमात्रा है। उसके अनतर प्रत्येक स्तर मे मात्राओ का विभाग है। समना भूमि मे जाने के बाद मात्राएँ इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि किसी योगी अथवा योगीश्वरो के लिये उसके आगे बढना सभव नही होता, अर्थात् वहाँ की मात्रा वास्तव में अविभाज्य हो जाती है। आचार्यो का उपदेश है कि इसी स्थान मे मात्राओ को समर्पित कर अमात्र भूमि में प्रवेश करना चाहिए। इसका थोडा सा आभास माडूक्य उपनिषत् में मिलता है।

बिंदु मन का भी रूप है। मात्राविभाग के साथ साथ मन अधिकाधिक सूक्ष्म होता जाता है। अमात्र भूमि मे मन, काल, कलना, देवता और प्रपच, ये कुछ भी नही रहते। इसी को उन्मनी स्थिति कहते हैं। वहाँ स्वयप्रकाश ब्रह्म निरतर प्रकाशमान रहता है।

योगी सम्प्रदाय में स्वच्छंद तंत्र के अनुसार ओंकारसाधना का एक क्रम प्रचलित है। उसके अनुसार 'अ' समग्र स्थूल जगत् का द्योतक है और उसके ऊपर स्थित कारणजगत् का वाचक है मकार। कारण सलिल में विधृत स्थूल आदि तीन जगतों के प्रतीक अ, उ और म हैं। ऊर्ध्व गति के प्रभाव से शब्दमात्राओं का मकार में लय हो जाता है। तदनंतर मात्रातीत की ओर गति होती है। म पर्यंत गति को अनुस्वार गति कहते हैं। अनुस्वार की प्रतिष्ठा अर्धमात्रा में विसर्गरूप में होती है। इतना होने पर मात्रातीत में जाने के लिये द्वार खुल जाता है। वस्तुतः अमात्र की गति विंदु से ही प्रारंभ हो जाती है। तंत्र शास्त्र में इस प्रकार का मात्राविभाग नौ नादों की सूक्ष्म योगभूमियों के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि विंदु अशेष वेद्यों के अभेद ज्ञान का ही नाम है और नाद अशेष वाचकों के विमर्शन का नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि अ, उ और म प्रणव के इन तीन अवयवों का अतिक्रमण करने पर अर्थतत्व का अवश्य ही भेद हो जाता है। उसका कारण यह है कि यहाँ योगी को सब पदार्थों के ज्ञान के लिये सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है एवं उसके बाद विंदुभेद करने पर वह उस ज्ञान का भी अतिक्रमण कर लेता है। अर्थ और ज्ञान इन दोनों के ऊपर केवल नाद ही अवशिष्ट रहता है एवं नाद की नादांत तक की गति में नाद का भी भेद हो जाता है। उस समय केवल कला या शक्ति ही विद्यमान रहती है। जहाँ शक्ति या चित् शक्ति प्राप्त हो गई वहाँ ब्रह्म का प्रकाशमान होना स्वतः ही सिद्ध है। इस प्रकार प्रणव के सूक्ष्म उच्चारण द्वारा विश्व का भेद होने पर विश्वातीत तक सत्ता की प्राप्ति हो जाती है। स्वच्छंद तंत्र में यह दिखाया गया है कि ऊर्ध्व गति में किस प्रकार कारणों का परित्याग होते होते अखंड पूर्णतत्व में स्थिति हो जाती है—'अ' ब्रह्मा का वाचक है। उच्चारण द्वारा हृदय में उसका त्याग होता है। 'उ' विष्णु का वाचक है, उसका त्याग कंठ में होता है तथा 'म' रुद्र का वाचक है और उसका त्याग तालुमध्य में होता है। इसी प्रणाली से ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि तथा रुद्रग्रंथि का छेदन हो जाता है। तदनंतर विंदु है, जो स्वयं ईश्वर रूप है अर्थात् विंदु से क्रमशः ऊपर की ओर वाच्यवाचक का भेद नहीं रहता। भ्रूमध्य में विंदु का त्याग होता है। नाद सदाशिवरूपी है। ललाट से मूर्धा तक के स्थान में उसका त्याग करना पड़ता है। यहाँ तक का अनुभव स्थूल है। इसके आगे शक्ति का व्यापिनी तथा समना भूमियों में सूक्ष्म अनुभव होने लगता है। इस भूमि के वाच्य शिव हैं, जो सदाशिव से ऊपर तथा परमशिव से नीचे रहते हैं। मूर्धा के ऊपर स्पर्शानुभूति के अनंतर शक्ति का भी त्याग हो जाता है एवं उसके ऊपर व्यापिनी का भी त्याग हो जाता है। उस समय केवल मनन मात्र रूप का अनुभव होता है। यह समना भूमि का परिचय है। इसके बाद ही मनन का त्याग हो जाता है। इसके उपरांत कुछ समय तक मन के अतीत विशुद्ध आत्मस्वरूप की झलक दीख पड़ती है। इसके अनंतर ही परमानुग्रह-प्राप्त योगी का उन्मना शक्ति में प्रवेश होता है। इसी को परमपद या परमशिव की प्राप्ति समझना चाहिए और इसी को एक प्रकार से उन्मना का त्याग भी माना जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मा से शिव पर्यंत छः कारणों का उल्लंघन हो जाने पर अखंड परिपूर्ण सत्ता में स्थिति हो जाती है। [गो० क०]

ओंगोल

ओंगोल नगर मद्रास राज्य के गुंटूर जिले में ओंगोल तहसील का मुख्य केंद्र तथा दक्षिणी रेलवे का एक स्टेशन है। (स्थिति १५° ३१' उ० अक्षांश तथा ८०° ३' पू० देशांतर)। १८७६ ई० से यहाँ नगरपालिका का प्रबंध चल रहा है। नगर में बहुत सी शिक्षा संस्थाएँ हैं। यहाँ पर ईसाइयों द्वारा संचालित एक औद्योगिक विद्यालय है जिसमें ऐल्युमिनियम के काम तथा जूते और चमड़े के सामान बनाने की शिक्षा दी जाती है। यहाँ अनाज की एक बड़ी मंडी है। यहाँ से दाल, घी तथा चमड़ा और चमड़े के सामान मद्रास तथा अन्य जगहों को भेजे जाते हैं। नगर की जनसंख्या २७,८१० (१९५१ ई०) है जिसमें पुरुष १४,१८२ हैं। ४,००० लोग उद्योग धंधों में तथा ५,५०० लोग व्यापार में लगे हैं। [ह० ह० सिं०]

ओआजाका

ओआजाका मेक्सिको देश का एक राज्य है, जो उत्तर में पुएब्ला तथा वेराक्रूज राज्य से, पूर्व में च्यापास राज्य से, दक्षिण में प्रशांत महासागर से तथा पश्चिम में गेरेरो राज्य से घिरा हुआ है। यह प्रशांत महासागर के तट के समांतर २७० मील लंबा है तथा इसकी अधिकतम चौड़ाई १७० मील और क्षेत्रफल ३३,९७८ वर्ग मील है। यद्यपि यह कुछ कुछ पहाड़ी तथा ऊँचा नीचा प्रदेश है, फिर भी देश के अति सुंदर एवं सबसे अधिक उपजाऊ क्षेत्रों में से एक है। इसकी मुख्य मुख्य नदियाँ ऐलवैराडो, रीओ ग्रैंड तथा वर्डि हैं। खनिज पदार्थों में यहाँ सोने चाँदी का उतना महत्व नहीं है जितना ताँबा, लोहा, गंधक, इत्यादि का। प्रायः भूकंप आते रहते हैं तथा सागरीय तट पर भयंकर तूफान, जिन्हें पैरागेन्योस कहते हैं, अचानक आते रहते हैं। यहाँ का जलवायु स्फूर्तिदायक तथा मिट्टी उपजाऊ है। गेहूँ, मक्का, जौ, कपास, गन्ना, केला और अनानास की खेती की जाती है। यहाँ का मुख्य एवं एकमात्र बंदरगाह हुआटुलियो है। यहाँ के निवासी 'इंडियंस' कहलाते हैं जिनकी १९ जातियाँ पाई जाती हैं।

ओआजाका नाम का नगर अपने ही नाम के राज्य की राजधानी है तथा वर्डि नदी के बाएँ तट के निकट, मेक्सिको नगर से २१८ मील दूर दक्षिण पूर्व की ओर ४,८०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। नगर पक्का और अच्छा बना हुआ है (२ मील लंबा, १½ मील चौड़ा) तथा बाग बगीचों से सुसज्जित है। यहाँ के लोग मेहनती हैं तथा रेशम, कपास, चीनी और चॉकलेट के धंधों में लगे हुए हैं। [श्री० ना० मे०]

ओएंज़बरो

ओएंज़बरो संयुक्त राज्य, अमरीका, के केंटुकी राज्य में है, और उसके उत्तर-पश्चिम की ओर के डेविस प्रदेश का मुख्य स्थान है। यह ओहायो नदी के बाएँ किनारे पर लूइविली से दक्षिण-पश्चिम, रेल से ११२ मील दूर बसा है। केंटुकी राज्य का यह चौथा बड़ा शहर है। १९५० ई० के अंत में यहाँ की जनसंख्या ३३,६५१ थी। पहले इस शहर का नाम येलो बैंक था, १८१८ ई० से इसका नाम ओएंजबरो पड़ा। इसकी स्थिति ३७° ४५' उत्तरी अक्षांश तथा ८७° ७' पश्चिमी देशांतर पर है।

यहाँ इलिनॉय सेंट्रल, लूइविली और नैशविली आदि रेलमार्ग मिलते हैं। यह ओहायो नदी के जलमार्ग पर एक प्रसिद्ध बंदरगाह है। यहाँ यथेष्ट व्यापार होता है तथा स्टीमर और बड़ी नावें कैरो से, जो मिसिसिपि जलमार्ग पर है, आती रहती हैं।

यह नगर उपजाऊ कृषि क्षेत्र में स्थित है, जहाँ मक्का, गेहूँ और तंबाकू बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। तंबाकू मुख्य फसल है। यह नगर तंबाकू के व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। शहर के निकटवर्ती क्षेत्रों में कोयला, लोहा, सीसा, जस्ता, इमारती पत्थर की खानें हैं। यहाँ कई प्रकार के उद्योग भी स्थापित हैं।

[ल० कि० सिं० चौ०]

ओएन, रॉबर्ट

ओएन, रॉबर्ट (१७७१-१८५८) ब्रिटेन का प्रसिद्ध समाजसुधारक तथा समाजवादी विचारक। जन्म १४ मई, १७७१ ई० को माटगोमरीशायर, न्यूटन में हुआ। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में उसे उच्च शिक्षा से वंचित रहना पड़ा। १९ वर्ष की अवस्था में वह मैंचेस्टर में एक सूती मिल का प्रबंधक नियुक्त हुआ और उसके प्रयत्नों से यह सूती मिल ब्रिटेन की सर्वोत्तम सूती मिल मानी जाने लगी।

न्यूलेनार्क मिल्स नामक एक नई मिल से साझीदारी हो जाने पर ओएन ने अपनी योजनाओं को कार्यान्वित किया। मिल मजदूरों के जीवन में उसने महान् परिवर्तन किया। जीवन की भौतिक सुविधाओं तथा मजदूर बच्चों की शिक्षा का सुचारु रूप से प्रबंध इस मिल में किया गया। व्यावसायिक दृष्टि से भी नई मिल सफल रही। समाजसुधारक के लिये यह मिल एक तीर्थस्थान बन गई। औद्योगिक क्रांति से पीड़ित ब्रिटेन के समाज के समक्ष ओएन ने सामाजिक न्याय तथा मानवीय मान्यताओं का आदर्श रखा जिसकी मशीन युग को परम आवश्यकता थी।

अपने साझीदारों से मतभेद हो जाने पर उसने बेंथम तथा विलियम ऐलेन नामक विद्वानों के सहयोग से एक नई फर्म चलाई जिसने केवल ५ प्रतिशत लाभ उठाने का निर्णय किया।

अपने विचारों को ओएन ने अपनी पुस्तक 'ए न्यू व्यू आव सोसाइटी' और 'ऐन एसे आन दि प्रिंसिपल्स आव दि फारमेशन आव दि ह्यूमन कैरेक्टर' में प्रकाशित किया। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने वातावरण की उपज होता है। अतएव मानव चरित्र के सुधार के लिये योग्य वातावरण आवश्यक है। १८१५ में फैक्टरी सुधार आंदोलन में ओएन ने भाग लिया।

यद्यपि ब्रिटेन की पार्लमेंट ने उसके प्रस्तावों को स्वीकार किया तथापि उनका संशोधन इस प्रकार किया गया कि ओएन के ध्येय की पूर्ति नही हो सकी।

ओएन के विचारानुसार सामाजिक दु ख का प्रमुख कारण मशीनो तथा मानवीय श्रम की प्रतियोगिता थी। अतएव उसने ऐसे समाज की कल्पना की जहाँ मशीनो का प्रयोग मानवीय हित के आधीन हो। ओएन प्रचलित धर्मप्रणाली का भी विरोधी था। अतएव शासकवर्ग ने उसकी योजनाओ को घातक समझना प्रारभ कर दिया। परतु अपने विचारो को प्रयोगात्मक रूप देने के लिये ओएन ने अमरीका के इडियाना नामक स्थान पर अपने व्यय से एक छोटा सा समाज स्थापित किया और उसे न्यू हारमनी नाम दिया गया। यद्यपि यह प्रयोग शातिपूर्ण तथा नैतिक वातावरण मे सरलता से चला परतु अत मे धर्म तथा राजनीति की समस्या पर मतभेद बढने लगा। ओएन का स्वप्न इस प्रकार अधूरा रह गया। उसके विचार मे सारे विश्व को इस प्रकार के छोटे छोटे समाजो के आधार पर परिवर्तित किया जा सकता था।

१८२८ मे ओएन लदन मे रहने लगा। अपने जीवन के अत तक मजदूर आदोलन में भाग लेकर तथा समय समय पर लेखो तथा प्रस्तावो द्वारा वह अपने समाजवादी विचारो का प्रचार करता रहा। समाजवादी विचारधारा की उन्नति मे ओएन को प्रमुख स्थान दिया जाता है। यद्यपि उसके विचारो को परवर्ती समाजवादी विचारको ने नही अपनाया तथापि उसकी लगन तथा क्रियाशीलता के महत्व को सबने स्वीकार किया। १८५८ मे उसकी मृत्यु हो गई।

स०ग्र०--रावर्ट ओएन ए न्यू व्यू आव सोसाइटी, थ्रेडिंग माइ वे ट्वेटी सेविन ईयर्स, आटोवायोग्राफी, रिवोल्यूशन आव दि माइड ऐड प्रैक्टिस आव ह्यूमन रेस। [दे० रा० सिं०]

ओकडेल सयुक्त राज्य अमरीका के लुइसीयाना राज्य मे कालकेसीन नदी के किनारे स्थित एक नगर है। यहाँ पर साटा फे और मिसूरैपैसिफिक रेलमार्गो की सुविधा उपलब्ध है। सन् १९५० ई० मे इस नगर की जनसख्या ५,५९८ थी। यहाँ पर चीड (पाइन) तथा कठोर लकडियो से सबधित उद्योग, फर्नीचर तथा नौसैनिक सामग्री के उद्योग धधे विकसित है। [श्री० ना० मे०]

ओकलैंड सयुक्त राज्य अमरीका के कैलिफोर्निया राज्य में सैन फ्रासिस्को खाडी पर स्थित एक नगर है। ८½ मील लबा एक पुल इसे सैन फ्रासिस्को नगर से जोडे हुए है। आकार के क्रम मे यह कैलिफोर्निया राज्य का तीसरा नगर है और जलयानो, वायुयानो तथा रेलमार्गो का केद्र है। १९५० ई० में यहाँ की जनसख्या ३,८४,५७५ थी। खाडी के निकट चद्राकार समतल भूमि पर नगर का व्यापारिक विभाग है जो तीन मील चौडा है। इसके पीछे १,५०० फुट तक की ऊँचाईवाली पहाडियाँ हैं जिनपर आवासगृह बने हुए हैं। नगर का स्थलीय क्षेत्रफल ६० २५ वर्गमील है और इसके बीचोबीच खारे पानी की मेरिट झील स्थित है जो १६० एकड भूमि घेरे हुए है। अमरीका के अन्य किसी भी नगर मे ऐसी झील नही पाई जाती। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इस नगर ने बहुत उन्नति की। मेरिट झील के दक्षिणी सिरे पर एक सामाजिक केद्र का निर्माण हुआ है। नगर के मुख्य हॉल से चार मील दूर बर्कले मे कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय स्थित है। पहाडियो के नीचे ६० एकड भूमि पर महिलाओ का मिल्स कालेज है। ओकलैंड के बदरगाह मे १९ मील तक जल सीमा है और वहाँ जलयानो के ठहरने, मरम्मत करने, माल लादने और उतारने का प्रबध है। इसके पीछे ही औद्योगिक क्षेत्र है जो उत्तर मे रिचमाड से लेकर दक्षिण मे हेवर्ड तक फैला हुआ है। मुख्य उद्योग मोटर, रासायनिक द्रव्य, डब्बो मे बद खाद्य सामग्री, विद्युत् मशीनें, मिठाइयाँ, फर्नीचर इत्यादि बनाने के है।

यह नगर १८५० ई० मे पट्टे की भूमि पर स्थापित किया गया तथा १८५४ ई० में नगर घोपित कर दिया गया। आरभिक बस्ती 'ओक' वृक्षो के बीच बसाई जाने के कारण इसका नाम 'ओकलैंड' पडा।

[श्री० ना० मे०]

ओकाना मध्य स्पेन के टोलेडो प्रात मे मेसा डि ओकाना पठार के धुर उत्तर मे आरनजुएज़ से सुएका जानेवाले रेलमार्ग पर स्थित एक नगर है। १९४० ई० में इसकी जनसख्या ६,८०६ थी। ओकाना रोमनो का वाइकस क्युमिनेरियस है तथा इसे सेविल के एल मोटामिड ने अपनी पुत्री जैदा को विवाहोपलक्ष में भेंट स्वरूप दान दिया था। जैदा का विवाह कैस्टील के छठे अलफाजो से हुआ था।

[श्री० ना० मे०]

ओकाला नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, के फ्लोरिडा राज्य मे स्थित मेरिअन काउटी का मुख्य स्थान है और जैक्सनविले से १०० मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित है। यह १८४५ ई० में बसाया गया और १८६८ मे नगर घोषित कर दिया गया। यह राजमार्गो, रेलमार्गों तथा वायुयानो के मार्गो का केद्र है। १९५० ई० में यहाँ की जनसख्या ११,७४१ थी। यहाँ का मुख्य खनिज चूना है। इसके अतिरिक्त यहा पर मास तथा फलो को डब्बो मे बद करने के, क्रीम, इमारती सामान तथा कक्रीट के नल इत्यादि बनाने के धधे किए जाते हैं। यहाँ से पाँच मील पूर्व सिल्वर स्प्रिंग्स नामक जलस्रोत स्थित है जो पानी की स्वच्छता एव चमक के लिये विख्यात है। यहाँ ३०० फुट व्यास का गोलाकार पात्र है जो ६५ फुट गहरा है और जिससे तीन लाख गैलन प्रति मिनट के हिसाब से पानी निकलता है। यह धारा नौतार्य सरिता का रूप लेकर ९ मील बहने के बाद ओकलावाहा नदी में मिल जाती है। [श्री० ना० मे०]

ओकी द्वीप शिमाने द्वीपसमूह के अग हैं जो जापान के अधिकार में हैं। इनकी स्थिति ३६° उ० अ० तथा १३३° पू० दे० पर है। इनमे एक बडा द्वीप है जिसे 'डोगो' कहते हैं तथा तीन छोटे छोटे द्वीप, चिबूरी-शिमा, निशीनोशिमा और नाकानोशिमा हैं जिन्हें सामूहिक रूप से 'डोजिन' कहा जाता है। कुल तटीय लबाई १३० मील है। १९४० ई० में जनसख्या ३१,७९४ थी। डोगो द्वीप का प्रमुख नगर सैगो है जो शिमाने द्वीप के सकाई बदरगाह से ४० मील दूर है। 'ओकी-नो-शिमा' का अर्थ है 'दूर के द्वीप'। इनका जापानी इतिहास में बडा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। [श्री० ना० मे०]

ओक्रिडा 'यूगोस्लाविया' के दक्षिणी सर्बिया मे ओक्रिडा झील के तट पर बसा हुआ एक नगर है। यह नगर जर्मनी इटली की सेना द्वारा सन् १९४१ ई० में अधिकृत कर लिया गया था। यहाँ की जनसख्या सन् १९३१ ई० में ९,७७६ थी, जिनमे बहुसख्यक अल्बानियावासी, कुछ सर्बियावाले तथा कुछ बल्गर लोग थे। ओक्रिडा झील समुद्र की सतह से २,२६० फुट की ऊँचाई पर है। इसका क्षेत्रफल १०७ वर्ग मील तथा इसकी अधिकतम गहराई ९३८ फुट है। यहाँ की प्राकृतिक छटा रमणीक है। साथ ही यह लाल मासवाली सामन मछलियो के लिये प्रसिद्ध है। यह क्षेत्र मलेरिया ग्रस्त है। ओक्रिडा प्राचीन लिकनिडास के स्थल पर बसा हुआ है, जो फिलिप द्वितीय (३८२-३३६ ई० पू०) द्वारा मैसिडोनिया राज्य मे समिलित कर लिया गया था, परतु बाद में बल्गरो द्वारा सन् ८६१ ई० मे नष्ट कर दिया गया। [श्या० सु० श०]

ओक्लाहोमा सयुक्त राज्य, अमरीका, का एक राज्य है जो ३३° ३८' उ० अ० से ३७° उ० अ० तक तथा ९४° २६' प० दे० से १०३° प० दे० तक फैला हुआ है। इसके उत्तर मे कॉलोरैडो तथा कैंज़ास, पूर्व मे मिज़ुरि तथा आरकैंजास, दक्षिण मे टेक्सैस तथा पश्चिम मे टेक्सैस और न्यू मेक्सिको राज्य हैं। कुल क्षेत्रफल ६९,९१९ वर्ग मील है, जिसमे से ८८८ वर्ग मील जलमग्न क्षेत्र है। इसे 'सूनर स्टेट' कहते हैं क्योकि कुछ लोग शासकीय आज्ञा के पूर्व ही यहाँ आकर बस गए थे। यहाँ की भूरचना विभिन्न प्रकार की है, पश्चिम मे घास के मैदान से लेकर पूर्व मे घने वनो से ढके ऊँचे नीचे पर्वत हैं। औसत ऊँचाई १,३०० फुट है पर ब्लैक मेसा ४,८०० फुट ऊँचा है। पूर्वी सीमा के मध्य से ओज़ार्क पर्वत आरभ होते हैं तथा प० द० प० दिशा की ओर पहाडियो की शृखला के रूप मे चले जाते हैं। आरबकिल पर्वत, जो दक्षिण में स्थानीय सतह से

४०० फुट ऊँचा है, एक पठार ही है। पश्चिम मे विचिटॉ तथा चौटोकुआ पर्वत हैं। उत्तर-पश्चिमी भाग ऊँचा पठार है जो रॉकी पर्वत के पूर्व मे स्थित विशाल मैदानो का ही भाग है।

प्रेयरीज़ मे घास तथा पहाडी भागो पर जगल पाए जाते हैं। उ० प० के खारी मिट्टी के चार मैदान एक विशेषता हैं। सामान्य जलप्रवाह उ० प० से दक्षिण-पूर्व की ओर है। आरकैंजास तथा रेड प्रमुख नदियाँ हैं। जलवायु महाद्वीपीय है तथा औसत ताप उ० प० मे ५७° फा० से लेकर द० पू० मे ६२° फा० तक पाया जाता है। अधिकाश मिट्टी गहरी चटक लाल, दुमट किस्म की है। नदियो की घाटियो मे काली कछारी, पठारी भागो पर रेतीली तथा जलविभाजको पर लोयस मिट्टियाँ मिलती हैं जो सभी उपजाऊ हैं। कुल जनसख्या १९५० मे २२,३३,३५१ थी तथा औसत घनत्व ३२ ४ मनुष्य प्रति वर्ग मील था। यहाँ के ५१% मनुष्य नागरिक हैं। गृहपरिवार ६,६३,२६२ और प्रति परिवार मे ३ ४ मनुष्य हैं। ९१% गोरे लोग हैं, शेष नीग्रो तथा रेड इडियन हैं। राज्य की मुख्य फसले गेहूँ, मक्का, सोरघम, जौ, राई तथा विविध प्रकार की घासे हैं। पशु तथा मुर्गीपालन भी महत्वपूर्ण व्यवसाय हैं। खनिजो मे तेल, गैस, कोयला, जस्ता, सीसा आदि मिलते हैं। कच्चा माल अधिक प्राप्य है। ओक्लाहोमा सिटी, टल्सा, मस्कोगी, ईनिड और शौनी प्रमुख नगर हैं। रेलमार्गो की लबाई ७,८७७ मील तथा सडको की लगभग १,००,००० मील है।

ओक्लाहोमा नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, के इसी नाम के राज्य का सबसे बडा नगर तथा राजधानी है और उत्तरी कनेडियन नदी पर बसा हुआ है। रेल, वायुयान तथा सडको का बडा केद्र है। १९५० ई० मे जनसख्या २,४२,४५० थी। हेफनर तथा ओवरहोल्सर नामक दो झीलो से नगर को पानी मिलता है। यहाँ तेल, खाद्यान्नो, कपडो, मोटरो, मशीनो, दवाइयो और वर्तनो का थोक बाजार है। राष्ट्र के सबसे बडे पशु बाजारो मे इसकी गणना है। यह नगर १९१० ई० मे बन गया था। नगर की औसत ऊँचाई १,२०० फुट है। [श्री० ना० मे०]

ओगुस्तस

ओगुस्तस (६३ ई० पू०–१४ ई०) रोम का पहला सम्राट्, ईसा का समकालीन, जिसका पूरा नाम गाइयस जूलियस सीजर ओक्ताविआनस् (मूल रूप मे गाडयस ओक्ताविआनस) था। रोम के सम्राटो में सबसे महान्, जिसने समकालीन रक्तरजित रोमन राजनीति को शाति और स्थायित्व प्रदान किया और उस इतिहासप्रसिद्ध युग की प्रतिष्ठा की जो उसके नाम से विख्यात है। जिस प्रकार ग्रीक इतिहास में पेरिक्लीज का युग, भारत के इतिहास मे गुप्त सम्राटो का युग और इग्लैंड के इतिहास मे एलिजाबेथ का युग अपनी राजनीति, साहित्य, ललित कलाओ आदि के उत्कर्ष के लिये विख्यात है, उसी प्रकार रोमन इतिहास मे इस सम्राट् का राज्यकाल राजनीति, साहित्य, ललित कलाओ आदि के क्षेत्र मे उत्कर्ष की चोटी छूकर विख्यात हुआ।

ओगुस्तस २३ सितबर, ६३ ई० पू० को रोम मे पैदा हुआ। उसका पिता गाइयस ओक्तावियस और माता प्रसिद्ध जूलियस सीजर की भगिनी जूलिया की कन्या अतिया थी। उसे चार वर्ष का छोड पिता परलोक सिधारा और माता ने अपने दूसरे पति की सहायता से उसका पालन पोषण किया। जूलियस सीजर ने उसे अपना वारिस घोषित किया और उपकृत ओक्तावियस् ने अपने नाम के साथ जूलियस सीजर का नाम भी जोड लिया। ४४ ई० पू० के मार्च मे जब सीजर की रोम में हत्या हुई तब ओक्तावियस् ग्रीस मे अध्ययन कर रहा था और केवल १९ वर्ष का था। हत्या की सूचना पा वह इटली लौटा और ब्रिंदिसी मे सीजर के मित्रो ने उसका स्वागत किया। ओक्ताविय्स् ने तभी सीजर का नाम अपने नाम के साथ जोड लिया और मित्रो के साथ रोम जा पहुचा। रोम मे तब दो दल थे, एक उन प्रजातत्रीय नेताओ का जिन्होंने सीज़र की हत्या की थी और दूसरा उनके विरोधी सीज़रवादियो का, जिनके नेता मार्क्स आतोनियस् और मार्क्स लेपिदस् थे। रोम पहुँच उसने अतोनियस् से सीजर की दी हुई विरासत ले ली जिससे पहले तो दोनो मे कुछ मनमुटाव हुआ फिर कृत्रिम मित्रता का बीजवपन हुआ। वस्तुत दोनो एक दूसरे के आतरिक शत्रु थे। अगले वर्ष अतोनी, लेपिदस् और ओक्ताविय‍न की समिलित अमारत कायम हुई।

इस अमारत ने सबसे पहले तो प्रजातात्रिक दल के नेताओ की सपत्ति जब्त कर ली। फिर मार्कस ब्रूतस् और लोगिनस् द्वारा सचालित उस हलकी सेना को मकदुनियाँ मे फिलिपी नामक स्थान पर ४२ ई० पू० मे परास्त किया। दो वर्ष बाद ओक्ताविय‍न ने अतोनी से अपनी बहन ओक्ताविया का विवाह कर परस्पर की मैत्री सपुष्ट की जो दोनो के एक दूसरे के प्रति भीतरी विरोध से टूटी जा रही थी। कुछ दिनो बाद लेपिदस् के अमारत से हट जाने से रोम की राजनीतिक शक्ति केवल ओक्ताविय‍न और अतोनी मे ही केद्रित हो गई। अब दोनो ने रोमन साम्राज्य को बाँट लिया, अतोनी को उसके पूर्वी भाग, एशिया आदि, मिले और ओक्ताविय‍न को इटली के साथ पश्चिम के यूरोपीय देश। पर भीतर ही भीतर दोनो मे सघर्ष चलता रहा। दोनो की नीति और रुचि मे भी वैषम्य था। जहाँ अतोनी वीर होता हुआ भी व्यसनी और विलासप्रिय था वहाँ ओक्ताविय‍न कर्मठ और महत्वाकाक्षी था। ईरानी पार्थवो से एशिया मे युद्ध करते अतोनी के प्रवास के समय ओक्ताविय‍न ने धन और नीति से रोमनो के हृदय जीत लिए और अपने अनेक कार्यो से वह लोकप्रिय हो चला।

साथ ही ओक्ताविय‍न ने अतोनी के रोमविरोधी और अनैतिक कारनामे रोम मे प्रगट कर दिए जिसका परिणाम भी उसके पक्ष मे हुआ। उसने मिस्र की रानी से जन्मे बेटो को दी हुई उसकी विरासत का भडाफोड कर रोम की जनता मे अतोनी के प्रति असतोप उत्पन्न कर दिया। पहले से ही ओक्ताविया को तलाक दे मिस्री रानी क्लियोपात्रा से अतोनी के विवाह कर लेने से कुछ कम असतोष रोमनो मे न था। जनता के इस असतोप का लाभ उठा ओक्ताविय‍न ने क्लियोपात्रा के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया और एक बडी सेना लेकर स्थल और जल दोनो भागो से मिस्र पर आक्रमण किया। अक्तियम के युद्ध मे उसके सेनापति और मित्र अग्रिप्पा ने अतोनी को परास्त कर भगा दिया। अतोनी ने मिस्र की राह ली और ओक्ताविय‍न ने उसका पीछा किया। अतोनी और क्लियोपात्रा ने उसके सिकदरिया पहुँचते ही आत्महत्या कर ली। अब ओक्ताविय‍न समूचे रोमन साम्राज्य का अकेला स्वामी था।

ओक्ताविय‍न ने रोम लौटकर पहले विधान की व्यवस्था की। उसने ३१ ई० पू० मे कासुल पद स्वीकार किया जो अगले ८ वर्षो तक प्रति वर्ष उसके पक्ष मे घोषित होता रहा। अगले दो वर्ष उसने मिस्र, ग्रीस, सीरिया, लघु एशिया और द्वीपो की राजनीति व्यवस्थित करने के लिये पूर्व मे विताए और रोम लौटकर उसने लगातार तीन दिनो तक विजयोत्सव किया। रोम का भी वैधानिक पुनरुद्धार आवश्यक था, सो उसने पहले तो पिछले गृहयुद्ध के अन्यायो का निराकरण किया फिर सिनेटरो की सख्या ६०० से ६०० कर दी, धार्मिक क्रियाओ को फिर से प्रतिष्ठा दी, ललित कलाओ और साहित्य को अपनी सरक्षा से प्रोत्साहित किया, अनावश्यक सेनाएँ तोड दी, कृषि का विकास किया, देशी उद्योगो को सँभालने मे सहायता की, उपनिवेश स्थापित किए, और सबसे महत्व का कार्य उसने देश मे, विशेषत रोम मे, वर्षो से होते आते रक्तपात को बद कर वहाँ पूर्ण शाति की स्थापना करके किया।

२७ ई० पू० की जनवरी मे ओक्ताविय‍न ने राज्य की व्यवस्था सिनेट और रोमन जनता को सौप दी। उसके बदले उसे स्पेन, गाल, सीरिया और मिस्र का निजी प्रातो के रूप मे लाभ हुआ और उसका कासुल पद सुरक्षित बना रहा। अब उसने अपनी शालीनता और महिमा बढाने के लिये 'ओगुस्तस' उपाधि धारण की, जिससे वह ससार के इतिहास मे विख्यात हुआ। धीरे धीरे उसने बडे राजनीतिक चातुर्य से शासन और अधिकार अपने हाथ मे लेने शुरु किए। एक के बाद एक अधिकार उसके हाथो मे केद्रित होने लगा और उसने अपना स्थान रोम की राजनीति मे कुछ ऐसा बना लिया जैसा उससे पहले किसी शासक को उपलब्ध न था।

उन्ही दिनो ओगुस्तस ने अफ्रीका और एशिया, गाल और स्पेन मे लडाइयाँ लडी और अनेक देश जीते। पार्थवो के साथ युद्ध एक अनुकूल सधि द्वारा उसने बद कर दिया जिससे आर्मेनिया का राज्य उसके हिस्से पडा। ९ ई० पू० मे निश्चय गाल मे उसे कुछ सकट का सामना करना पडा, जब जर्मनो ने उसके सेनापति वारस को मारकर उसकी उत्तरवर्ती सेना नष्ट कर दी। पर अत मे उसके उत्तराधिकारी तिबेरियस् ने जर्मनो का पराभव कर उस ओर से भी उसे निश्चिंत कर दिया।

रोमन साम्राज्य की सीमाएँ इस प्रकार दूर दूर तक फैला ओगुस्तस ने अपनी सम्राट्पदीय व्यवस्था प्रसारित की। बडे परिश्रम से उसने नए कानून की घोषणा की और शांति के सभी कार्यो को अपनी सरक्षा दी। रोम से साम्राज्य के प्रातो को जानेवाली सडकें नए सिरे से बनी और उनपर रक्षा के प्रहरी बैठे, व्यापार के सारे मार्गो का लक्ष्य राजधानी बनी, रोमन नागरिक को नई शक्ति मिली और देश को नई मुद्राप्रणाली का लाभ हुआ। वर्जिल और होरेस जैसे महान् कवियो ने उसी शांति और सुरक्षा के युग मे अपने अमर काव्य लिखे। रोम नगर के सौदर्य मे तो इतनी अभिवृद्धि हुई कि लोगो मे यह कहावत ही चल पडी कि "नगर को उसने ईंटो का पाया था, पर छोडा उसे सगमरमर का बनाकर"। उपकृत सिनेट ने तब वर्ष के एक मास का नाम बदलकर उसके नाम का अनुवर्ती ओगस्तस रखा जो अब अगस्त कहलाता है।

ओगुस्तस ने विवाह तो तीन तीन किए, पर उसके जूलिया नाम की कन्या के सिवा कोई और सतान न हुई। उसने पहले अपनी बहिन के पुत्र मार्सलस को, फिर अपनी कन्या के पुत्रो को बारी बारी से अपना उत्तराधिकारी बनाया परतु वे उससे भी पहले मर गए। तब उसने अपनी पत्नी के अन्य पति से जनित विपुत्र द्रूसस् को उत्तराधिकारी घोषित किया परतु वह भी कुछ काल बाद परलोक सिधारा। तब उसके छोटे भाई तिबेरियस् को उसने मनोनीत किया जो ओगुस्तस के बाद रोमन साम्राज्य का सम्राट् हुआ, यद्यपि उससे ओगुस्तस घृणा करता था।

ओगुस्तस् शरीर से कुछ विशेष शक्तिमान न था, और प्राय रोगो का शिकार बना रहता था। न उसमे अतोनी की सैनिक तीव्रता थी और न सीज़र की सामरिक विचक्षणता, परतु धीरज और नैतिक सूझ उसमें उन दोनो से अधिक थी। जिस महत्वाकाक्षा के फलस्वरूप सीजर की हत्या हुई उसी ने ओगुस्तस को रोम का पहला सम्राट् बनाया और प्राय ४१ वर्ष राज कर ७७ वर्ष की आयु में वह शातिपूर्वक अपने मित्रो के बीच मरा। कहते हैं, उसने मृत्यशय्या के निकट खडे रोमनो से पूछा—"क्या मैंने अपनी भूमिका उचित रूप से खेली है?" और स्वीकारात्मक उत्तर पाने पर उसने कहा—"तब विदा, सतुष्ट होओ, प्रसन्न रहो।" निश्चय इस घटना से अपने जीवन की सफलता पर उसका शात परितोष प्रकट होता है।

स०ग्र०—फर्थ, जानवी आगस्टस् सीजर, न्यूयार्क, १९०३, वेयरिंग-गूल्ड सेबाइन दि ट्रैजेडी आव दि सीज़र्स, न्यूयार्क, १९०७, मार्च, फ्रैंक नी० दि फाउडिंग आव दि रोमन एपायर, द्वितीय सस्करण, आक्सफर्ड, दि कैंब्रिज ऐशेंट हिस्ट्री, खड १०, न्यूयार्क, १९३४। [भ० श० उ०]

ओग्डेन सयुक्त राज्य, अमरीका के यूटा राज्य मे ओग्डेन और वीवर नदियो के सगम पर तथा साल्ट लेक सिटी से ३५ मील उत्तर स्थित एक नगर है। इसके पीछे वॉसैच पर्वत हैं। जलमार्गो तथा वायुयान मार्गो का यह एक बडा केद्र है। १९५० ई० मे यहाँ की जनसख्या ५७,११२ थी। यह समुद्रतल से ४,३१० फुट की ऊँचाई पर एक जलोढ व्यजन (ऐल्यूवियल फैन) पर है। यहाँ एक प्राचीन झील है। जिसे बॉनेविल झील कहते हैं। पूर्व मे ओग्डेन पर्वत की चोटी, जो ६,६८५ फुट ऊँची है, तथा उत्तर मे बेन लोमड की चोटी, जो ६,३८५ फुट ऊँची है, एकदम से ऊपर उठ जाती है तथा इनके बीच से ओग्डेन नदी एक सुदर प्रपाती बनाती हुई बहती है। यहाँ के मुख्य उद्योग आटा पीसना, मास तथा सब्जी डब्बो मे बद करना, सीमेंट बनाना, दूध से बनी वस्तुएँ और बुने हुए एव तैयार कपडे बनाना है। प्रति वर्ष पशुओ का एक मेला लगता है। यह नगर सन् १८४७ ई० मे बसाया गया था और इसका पुराना नाम ब्राउसविल (Brownsville) था। [श्री० ना० मे०]

ओग्डेनबर्ग यह सयुक्त राज्य, अमरीका, के न्यूयार्क राज्य की सेंट लॉरेंस काउटी मे ऑसविगाची नदी के मुहाने पर स्थित एक नगर है। यहाँ न्यूयार्क सेंट्रल तथा रटलैंड रेलमार्ग आते हैं। यह ओटेरियो झील से लगभग ५० मील दूर है। १९५० ई० मे इसकी जनसख्या १६,१६६ थी। नगर सेंट लॉरेंस नदी के किनारे की उच्च भूमि पर स्थित है और यहाँ जलयानो के लिये अच्छा आश्रय स्थान उपलब्ध है। यह पत्तन बारहो मास खुला रहता है और वहाँ से अनाज, इमारती लकडी तथा कोयला बाहर भेजा जाता है। दियासलाई, कागज तथा लुगदी के कारखाने हैं। इसके ३० मील दक्षिण-पश्चिम मे सेंट लॉरेंस नदी में सहस्र द्वीप (थाउजैंड आइलैंड्स) हैं। इसका नामकरण अब्राहम ओग्डेन के नाम पर १८६८ मे किया गया था। [श्री० ना० मे०]

ओग्लेसबाइ सयुक्त राज्य, अमरीका, के इलिनॉय राज्य मे शिकागो से १०० मील दक्षिण-पश्चिम मे, इलिनॉय नदी पर स्थित एक नगर है। यहाँ वरमीलियन नदी अपना मुहाना बनाती है। इस नगर के ठीक सामने ला सैल नगर है। ओग्लेसबाइ रेलमार्गो का केंद्र है तथा यहाँ ५१ नबर के राजमार्ग से पहुँचा जा सकता है। १९५० ई० में यहाँ की जनसख्या ३,९२२ थी। यहाँ का प्रमुख उद्योग सीमेंट बनाना तथा कोयला निकालना है। चूने के पत्थर भी यहाँ बहुत पाए जाते हैं। यह नगर सन् १८७६ ई० मे बसा था। १९१३ ई० से पूर्व इसका नाम 'पोर्टलैंड' था। [श्री० ना० मे०]

ओज़ोन विशेष प्रकार की गधयुक्त गैस है। अल्प मात्रा में ओज़ोन हवा में पाया जाता है। समुद्र की सतह पर की हवा में धरती की अपेक्षा यह कुछ अधिक रहता है, यद्यपि सदैव नही। साधारणत धरातल से ऊँचाई पर इसकी मात्रा अधिक होती है। कहीं कही झरनो के पानी मे भी ओज़ोन का पता लगा है।

एम० फान मारम ने १७८५ मे ज्ञात किया कि क्रियाशील विद्युत् मशीनो के आसपास एक विशेष गध पाई जाती है। अम्लीय पानी के विद्युद्विश्लेषण के समय धनाग्र (एनोड) के समीप भी कुछ ऐसी ही गध का डब्लू० क्रुकशैंक ने पता लगाया। १८३९ मे सी० एफ० शेनबाइन ने बताया कि यह गध एक निश्चित वस्तु के बनने के कारण ही होती है जिसका नाम उन्होने ओज़ोन रखा। बिजली गिरने पर तथा तर हवा में फास्फरस के समीप भी ऐसी गध आती है, जो ओज़ोन के कारण ही रहती है।

इन क्रियाओ मे आक्सिजन के समिलन से ओज़ोन प्राप्त होता है, ३ औ$_2$=२ औ$_3$–६८२ कलरी ($3O_2=2O_3-682$ Cals)। अत ओज़ोन के निर्माण मे शक्ति की आवश्यकता पडती है। जिन विधियो से ओज़ोन प्राप्त होता है उन्हे दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है पहली भौतिक तथा दूसरी रासायनिक।

गर्मी का प्रभाव—ओज़ोन साधारण ताप पर बहुत कुछ स्थायी है, परतु गरम करने या देर तक रखने पर आक्सिजन में विघटित हो जाता है। वैसे तो अधिक ताप ओज़ोन के निर्माण के लिये अनुकूल होता है, परतु विघटन से बचाने के लिये तुरत ही इसे ठढा करना पडता है। गरम प्लैटिनम के तार को द्रव हवा मे डुबाने से भी थोडा ओज़ोन प्राप्त होता है।

रेडियम, पोलोनियम आदि के ऐल्फा किरण के प्रभाव से भी आक्सिजन से ओज़ोन बनता है। आक्सिजन से भरे बर्तन मे, जिसमे कुछ रेडियम भी रखा हो, थोडा भाग ओज़ोन का प्राप्त होता है। इसी प्रकार पराबैंगनी किरणें भी ओज़ोन बनाने मे उपयोगी होती हैं।

पानी के विद्युद्विश्लेषण में धनाग्र (ऐनोड) पर आक्सिजन प्राप्त होता है, जिसमे कुछ भाग ओज़ोन का रहता है। इस गैसीय मिश्रण मे ओज़ोन का अनुपात कई बातो पर निर्भर रहता है, जैसे विद्युदग्र (इलेक्ट्रोड) की प्रकृति तथा उसका विस्तार, विद्युद्विश्लेप्य (इलेक्ट्रोलाइट) की प्रकृति और विद्युद्धारा की मात्रा। पतला प्लैटिनम विद्युदग्र (इलेक्ट्रोड) का प्रयोग करके, जो भीतर से बर्फ जमानेवाले हिम-लवण-मिश्रण के प्रवाह द्वारा ठढा भी होता रहे, और पर्याप्त विद्युत् घनत्व लगाकर गधक का अम्ल मिले पानी का विद्युद्विश्लेषण करने पर, अधिक ओज़ोन मिलता है। यह विधि वैसे तो खर्चीली है, परतु ऐसा प्राप्त ओज़ोन नाइट्रोजन से अपेक्षाकृत दूषित नही होता तथा हाइड्रोजन भी उपजात के रूप मे प्राप्त होता है।

आक्सिजन गैस में विद्युद्विसर्जन (डिस्चार्ज) करने से ओज़ोन बनता है। ओज़ोन बनाने के उपयुक्त इस प्रकार के उपकरण को ओज़ोनाइज़र कहते हैं, जैसे सीमेस या ब्राडी का ओज़ोनाइज़र। यह एक शीशे की नली होती है जिसमे दो विद्युदग्र (इलेक्ट्रोड) लगे रहते हैं। इन विद्युदग्रो के बीच इडक्शन क्वायल या परिणामित्र (ट्रैंसफॉरमर) की सहायता से

उच्च वारवारता की प्रत्यावर्ती (ए० सी०) विद्युद्धारा प्रवाहित की जाती है। साथ ही शुद्ध आक्सिजन गैस ओज़ोनाइज़र की नली में धीरे धीरे प्रवाहित की जाती है। ओज़ोनाइज़र या तो हवा में ही ठढा होता रहता है या इसे ठंडे पानी में डुबाकर रखते हैं। बाहर निकलती हुई गैस मे ओज़ोन की पर्याप्त मात्रा रहती है। साधारणतया ओज़ोन प्राप्त करने के लिये इसी विधि का उपयोग होता है।

बहुत सी ऐसी उष्माक्षेपक (एक्सोथर्मिक) रासायनिक क्रियाओं में जो कम ताप पर होती हैं, अथवा आक्सीकरण की ऐसी क्रियाओं में जो धीरे धीरे होती हैं, कुछ ओज़ोन, आक्सिजन के साथ, प्राप्त होता है। अम्ल की उपस्थिति मे हाइड्रोजन पराक्साइड के विघटन मे तथा इसी प्रकार कई आक्साइड (जैसे वेऔ२, सो२औ२, BaO_2, Na_2 O_2 इत्यादि) पर अम्ल की क्रिया से कुछ ओज़ोन मिलता है। परसल्फ्यूरिक अम्ल, परकारवोनिक अम्ल अथवा परसल्फेट तथा परक्लोरेट भी इस सवध मे उपयोगी हैं। फ्लोरीन गैस पर पानी की क्रिया से, अथवा हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल के विलयन के विशेषत कम ताप पर विद्युद्विश्लेषण (इलेक्ट्रोलिसिस) द्वारा आक्सिजन के साथ ओज़ोन प्राप्त होता है। फास्फरस के आक्सीकरण मे ओज़ोन भी वनता है।

साधारण ताप पर ओज़ोन हल्के नीले रग की गैस है, जो हवा मे बहुत अल्प मात्रा मे रहने पर भी अपनी विशेष गध से पहचानी जा सकती है। अधिक मात्रावाली ओज़ोन की हवा को सूँघने से सिर दर्द होता है, यदि मात्रा अधिक हो, या देर तक गैस में रहें तो मृत्यु भी हो सकती है। ओज़ोन गैस का घनत्व, (०° सें०, ७५० मिलीमीटर दाब पर), २ १४४ ग्राम। लिटर है। गाढे नीले रग के द्रव ओज़ोन का घनत्व (—१८३° से० पर) १ ७१ ग्राम/सेंटीमीटर³ है।

ओज़ोन द्रव आक्सिजन तथा द्रव नाइट्रोजन मे विलेय है। पानी मे इसकी बहुत कम मात्रा घुलती है, गधक के अम्ल के विलयन मे इसकी घुलनेवाली मात्रा अम्ल की शक्ति पर निर्भर है। उदासीन लवण के विलयन मे ओज़ोन का विलयन अधिक स्थायी होता है, परतु क्षारीय विलयन मे इसकी विलेयता कम होती है। कई प्रकार के तेल, जैसे तारपीन, दारचीनी या कुछ वसाएँ ओज़ोन की पर्याप्त मात्रा सोख लेती हैं। ऐसीटिक अम्ल, एथिल ऐसीटेट, क्लोरोफार्म तथा कार्वन टेट्रा-क्लोराइड मे ओज़ोन का विलयन नीले रग का होता है।

साधारण ताप पर ओज़ोन धीरे धीरे विघटित होता है। गरम करने पर या बहुत सी वस्तुओं (जैसे लोहा, चाँदी, मैंगनीज, सीसा, निकल तथा पारा के आक्साइड अथवा चाँदी, प्लैटिनम आदि धातु) की उपस्थिति मे ओज़ोन का विघटन शीघ्र होता है। इस क्रिया मे आक्सिजन प्राप्त होता है। अधिक ताप पर विघटन मे कुछ प्रकाश भी निकलता है। यह अवदीप्ति (ल्यूमिनिसेंस) टोटी के पानी मे या ऐल्कोहल, बेंजीन इत्यादि कार्वनिक यौगिकों में ओज़ोन तथा आक्सिजन का गैसीय मिश्रण प्रवाहित करने पर भी प्राप्त होती है।

ओज़ोन अति शक्तिशाली आक्सीकारक है। यह पोटैसियम आयोडाइड से आयोडीन को स्वतत्र कर देता है। इसीलिये गीले पोटैसियम आयोडाइड तथा स्टार्च के कागज का रग ओज़ोन मे नीला हो जाता है। इस प्रकार का आक्सीकरण कई दूसरी वस्तुएँ भी करती हैं। ओज़ोन मे बहुत सी धातुओं, जैसे चाँदी, ताँबा, निकेल, राँगा, सीसा आदि, का आक्सीकरण होता है। कुछ मे तो अधिक उष्मा की आवश्यकता पडती है, परतु अन्य मे यह क्रिया सरलता से होती है। इन क्रियाओं मे पानी की उपस्थिति, चाहे थोडी मात्रा में हो, आवश्यक है।

ओज़ोन के सपर्क मे पारा के गुणों में बहुत अतर आ जाता है और वह काच की सतह पर चिपकने लगता है। इसमे पानी डालने से पुन पारा का मूल रूप प्राप्त हो जाता है। ओज़ोन द्वारा बहुत से लवणों का आक्सीकरण होता है, जैसे मरक्यूरस, फेरस तथा स्टैनस क्लोराइड, के विलयन मे ओज़ोन की क्रिया से मरक्यूरिक, फ़ेरिक तथा स्टैनिक क्लोराइड प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार लेड तथा मैंगनस लवण से तत्सवधी आक्साइड प्राप्त होता है। काले लेड सल्फाइड से सफेद लेड सल्फेट मिलता है। सल्फर डाइआक्साइड तथा कार्बन मॉनोक्साइड से क्रमानुसार गधक ट्राइआक्साइड तथा कार्वन डाइआक्साइड प्राप्त होते हैं।

अधातुओं से भी ओज़ोन सयोग करता है, आयोडीन से आयोडीन के ऊँचे आक्साइड तथा फास्फरस से फास्फरिक पेटॉक्साइड वनते हैं। ओज़ोन से हाइड्रोजन क्लोराइड तथा हाइड्रोजन आयोडाइड का विघटन होता है। वेरियम पराक्साइड तथा हाइड्रोजन पराक्साइड से क्रमश वेरियम आक्साइड तथा पानी प्राप्त होते हैं, इन क्रियाओं मे ओज़ोन अवकारक रहता है।

रवर तथा बहुत से कार्वनिक यौगिकों से ओज़ोन क्रिया करता है। यदि ओज़ोन की मात्रा अधिक हो तो रवर की नली या डाट को यह खा जाता है। ओज़ोन की क्रिया द्वारा मिथेन से फारमैल्डिहाइड और फारमिक अम्ल तथा एथिल ऐल्कोहल से ऐल्डिहाइड और ऐसीटिक अम्ल वनते हैं। नाइट्रोग्लिसरोल, नाइट्रोजन क्लोराइड तथा आयोडाइड ओज़ोन मे विस्फोटक हैं। बहुत से वानस्पतिक रग ओज़ोन के सयोग से नष्ट हो जाते हैं, जैसे नील तथा रुधिर का रग।

ओज़ोन से कीटाणुओं का तथा अन्य गदी कार्वनिक वस्तुओं का आक्सीकरण होता है। इसलिये पीने का पानी शुद्ध करने तथा उनसे दुर्गंध दूर करने के लिये ओज़ोन का उपयोग होता है। कागज, तेल अथवा ऐसी ही अन्य औद्योगिक वस्तुओं को रगहीन वनाने मे ओज़ोन उपयोगी है।

स० ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलोर ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज़ ऑन इनॉर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२), जे० आर० पारटिंगटन ए टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गैनिक केमिस्ट्री (१९५०), चार्ल्स डी० हॉजमैन हैंडवुक ऑव केमिस्ट्री ऐंड फिजिक्स। [वि० वा० प्र०]

ओटावा

ओटावा इस नाम के चार नगर और एक नदी हैं। नगर कैनाडा मे ओन्टेरियो प्रात के कार्लटन प्रदेश मे ओटावा नदी के दाहिने किनारे पर शोडयेर जलप्रपात के पास स्थित है, और कैनाडा की राजधानी है। यह नगर मॉट्रील से १०१ मील पश्चिम और टोरेटो से २१७ मील उत्तर-पूर्व की ओर है। इसकी स्थिति ४५° २५′ उत्तरी अक्षाश व ७५° ४४′ पश्चिमी देशातर पर है। यह चपटी पहाड़ियो पर वसा है, जो नदी से ६० से लेकर १५५ फुट तक ऊँची हैं। यहाँ कई बडी बडी सरकारी इमारतें, ससदभवन, गिरजे तथा विश्वविद्यालय हैं। सन् १८५८ ई० मे यह छोटा नगर, जो पहले वाइटाउन कहलाता था, कैनाडा की राजधानी चुना गया, और इसका नाम बदलकर ओटावा पडा। तब से यहाँ की आबादी वढती गई और १९५१ ई० के अत मे २,०२,०४५ हो गई। यह कैनाडा का छठा बडा नगर है। यहाँ के एक तिहाई निवासी फ्रेंच भाषी, बाकी अंग्रेजी भाषी हैं।

यह नगर रेलों का बडा केंद्र है। मुख्य बडे रेलमार्ग, कैनेडियन पैसिफ़िक रेलवे, कैनेडियन नेशनल रेलवे तथा न्यूयार्क सेंट्रल रेलवे, यहीं से होकर गुजरते हैं। विद्युच्चालित रेलें इस नगर को, क्विवेक, मॉण्ट्रील, टोरेंटो, विनिपेग इत्यादि नगरों से जोडती हैं। ग्रीष्म ऋतु मे यहाँ से स्टीमर ओटावा नदी द्वारा मॉट्रील को जाते हैं। इस जलमार्ग को तीन नहरों द्वारा नदी के छोटे जलप्रपातों को दूर कर, १८३४ ई० मे पूरा किया गया। इसी प्रकार इसे सेंट लारेंस नदी पर स्थित किंग्स्टन नगर से रिडो नहर तथा झीलों द्वारा १८२४ ई० मे मिलाया गया।

ओटावा के पास के क्षेत्रों से कई जलप्रपातों द्वारा अधिक मात्रा में जलविद्युत् पैदा की जाती है जो नगर मे प्रकाश तथा शक्ति देने और रेलों तथा कारखानों के काम आती है। मुख्य जलविद्युत् उत्पादक केंद्र शोडयेर, रिडो तथा गैटनो के जलप्रपातों पर अवस्थित हैं।

यह नगर लकडी के लट्ठों, लकडी चीरने, तथा लुगदी और कागज वनाने का बहुत बडा केंद्र है। कैनाडा की कई बडी कागज की मिलें यहाँ हैं। लकडी से सबधित और भी कारखाने हैं, जैसे दियासलाई, आदि के। शहर का औद्योगिक जीवन लकडी से सबधित कारखानों पर निर्भर है। आटा पीसने, लोहा गलाने, रासायनिक द्रव्य तैयार करने तथा अन्य उत्पादनों के कारखाने भी यहाँ हैं।

२ ओटावा नाम का दूसरा नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, के इलिनॉय राज्य के ला सैल प्रदेश के प्रधान अधिकारी के रहने का स्थान है। यह इलिनॉय और फोक्स नदियों के सगम पर, इलिनॉय नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। यह शिकागो से ८४ मील दक्षिण-पश्चिम, ४१° २२′ उत्तरी

अक्षाश तथा ८८° ५१' पश्चिमी देशातर पर है। सन् १९४० ई० मे यहाँ की जनसख्या १६,००५ थी।

यहाँ से होकर कई रेलमार्ग शिकागो, वलिंगटन तथा क्विसी को जाते हैं। यह नगर इलिनॉय और मिशिगन नहर जलमार्ग द्वारा शिकागो नगर तथा मिशिगन भील मे मिला है। शहर के पास ही कोयले की वडी खान है। शीशे तैयार करने की वालू और क्ले मिट्टी भी मिलती है। यहाँ कई उद्योग स्थापित हैं, जिनमें शीशा, सिगार, रेल के डब्बे, कृषि की मशीनें और पियानो वनाना मुख्य हैं।

३ ओटावा नामक तीसरा नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, के कैंजास राज्य में फ्रैंकलिन प्रदेश के मुख्य अधिकारी के रहने का स्थान है। यह कैंजास नगर से ५८ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर वसा है। इसकी स्थिति ३८° ३७' उत्तरी अक्षाश व ९५° १८' पश्चिमी देशातर पर है। १९४० ई० मे यहाँ की जनसख्या १०,१९३ थी। यहाँ से होकर मिजुरि पैसिफिक रेलवे, सैंटा फे रेलमार्ग जाते हैं। यहाँ जानवरो और अनाज का व्यापार होता है तथा यहाँ एक विश्वविद्यालय भी है। कोयला तथा प्राकृतिक गैस पास में मिलती है। यहाँ का मुख्य उद्योग आटा पीसना तथा तार, ईंटें, फर्नीचर और लोहे का सामान वनाना है।

४ ओटावा नाम का चौथा नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, के ओहायो स्टेट के उत्तर-पश्चिम की ओर पुटनैम प्रदेश का मुख्य नगर है। यह ब्लैंचर्ड नदी के दाहिने किनारे पर टोलेडो से ५० मील दक्षिण-पश्चिम ४१° २' उत्तरी अक्षाश एव ८४° २' पश्चिमी देशातर पर स्थित है। यह नगर वाल्टिमोर, डिट्रॉएट, टोलेडो एव आयरनटन से रेलमार्ग द्वारा जुडा है।

५ ओटावा सेंट लारेंस नदी की सबसे वडी सहायक नदी है। इसकी लवाई ६८५ मील है। यह कैनाडा की नवी वडी नदी है। यह नदी विक्टोरिया झील से निकल कर पहले पश्चिम की ओर, फिर दक्षिण-पूर्व तथा पूर्व की ओर वहती है और मॉण्ट्रील के पास सेंट लारेंस नदी मे मिल जाती है। इसकी मुख्य सहायक नदियाँ गैटनो, ल्येव्र रोग, माडावास्का एव रिज्यू हैं। ओटावा नगर से मॉण्ट्रील तक पाँच फुट गहरे जल में चलनेवाले स्टीमर ग्रीष्म ऋतु मे इस नदी पर चलते हैं। इस नदी मे कई जलप्रपात हैं, जहाँ जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है और लुगदी तथा कागज वनाने के कारखानो मे काम आती है। लट्ठे नदी द्वारा वहाकर जलविद्युत् उत्पादक केंद्रो तक लाए जाते हैं। लकडी से सवधित कारखाने नदी के किनारे किनारे कई स्थानो पर हैं। [ल० कि० सि० चौ०]

ओड मिश्र छद के ढाँचे मे, सामान्यत ओजपूर्ण स्वर और उच्च शैली की, एक सार्वभौम अभिरुचिवाली विषयवस्तु से युक्त सवोधनपरक कविता। नृत्य एव सगीत वाद्यो के साथ गाए जानेवाले यूनानी समवेत गीतो मे इसका मूल उद्गम निहित है।

यूनान मे, ओडो का मुख्य आदर्श यूनानी दु खातो के सहगानो में प्राप्त था। छद की दृष्टि से ये ओड अपनी रचना में अत्यत मिश्र थे, जो तीन भागो में विभक्त हैं--स्ट्रोफी (ग्रीक अर्थ=मोड) जो नर्तको की दाएँ से वाएँ जाने की गति का प्रतिनिधान करते हुए ऐंटीस्ट्रोफी द्वारा सतुलित होता था। यह उस समय गाया जाता था जब यह सहगान दाएँ से वाएँ की ओर मुडता था और इपोड, जिसे नर्तक स्थिर खडे होकर (समवेत गीतो मे, गिरजाघर की वेदी के समुख) गाते थे और जो विशेष अवसरो पर ही होता था। एल्कमैन (६३०ई० पू०) ने सर्वप्रथम स्ट्रोफी को अपनी कविता पार्थोनियन में सुनियोजित करके प्रस्तुत किया। किंतु ऐसी योजनावाले ओड पिंडरी ओड के नाम से प्रसिद्ध हैं क्योकि पिंडर (५२२-४४२ ई० पू०) ने इस ढाँचे का प्रयोग अपने विजय सवधी ओडो में किया था। ये विजय ओड ओलिंपिक खेलो में विजयी होने के अवसर पर लिखे गए थे।

ओड का आधुनिक रूप एक सवोधन काव्य जैसा है जिसका आरभ रोमन कवि होरेस (६५-८ ई० पू०) के ओड से होता है। होरेस की 'कार्मिना' (जो सदा ओडो के रूप में अनूदित हुई है) उन छदो से युक्त है जिनको यूनानी माडिक गीतो में माँजा गया था, विशेषरूप मे साफो (६२० ई० पू०), एल्सीयस (६११-५८० ई० पू०) तथा एनैक्रियन (५६३-४७८ ई० पू०) के गीतो मे। होरेस के प्राय सभी ओड किसी वस्तु अथवा व्यक्ति को सवोधित करके लिखे गए हैं और उनमे से कुछ वडी गभीरता से रोम एव रोमन नैतिक जीवन की महत्ता का गान करते हैं।

पुनर्जागरण-कालीन शास्त्रीय स्वरूप के उत्थान के साथ ही साथ अनेक देशो के कवियो ने ओड को अपनाया। फ्रासीसी कवि पियर रोसार ने पिंडरी शैली को अपने कुछ ओडो (१५५२-५५ ई०) में अनुकृत करने की चेष्टा की। इतालवी कवि पेत्रार्क ने अपनी देशभक्तिपरक कविताओ-- 'इतालिआमिआ' तथा 'स्पिरितोजेंतील' (रिएंजी को सवोधित) मे होरेसीय पद्धति का अनुगमन किया।

अग्रेजी कविता मे, तीन विभिन्न प्रकार के ओड निकले--(१) समान चरणोवाली होरेसीय शैली जिसमे एक ही स्ट्रोफीवाले गीत हो और प्रत्येक मे विभिन्न लवाइयोवाली पक्तियाँ हो। उदा०--जॉनसन, रेंडाल्फ हेरिक। किंतु वाद को इनमें नियमितता की ओर झुकाव मिलता है। उदा०--मेलविल कृत "अपॉन क्रॉम्वेल्स रिटर्न फ्रॉम आयरलैंड", ग्रे के लघु ओड, कॉलिंस, कीट्स, स्विनवर्न। (२) अनियमित ओड, जिनके चरण अपने ढाँचे एव लवाई मे असमान होते हैं और उनमें प्रयुक्त लय और स्वराघात वैविध्यपूर्ण होते है। उदा०--काउली ('पिंडरिक ओड'), ड्राइडेन (**'अलेग्जेंडर्स फीस्ट'**, **'ओड ऑन सेंट सिसीलियाज डे'**), वर्ड्सवर्थ (**'इंटीमेशंस आव इम्मारटैलिटी'**), कोलरिज (**'फ्रास'**, **'डिजेक्शन'**), शेली (**'ओड टु नेपुल्स'**), टेनिसन, कोवेंट्री पेटमोर (**ओड्स**, १८६८), जी० एम० हापकिंस ("दि रेक अव् दि डूश लैंड")। डब्ल्यू० वाटसन और लारेंस वनियन इस रचना-प्रकार के अति उल्लेखनीय रचयिताओ में से थे। (३) नियमित पिंडरी ओड, यथा ग्रे का प्रॉग्रेस ऑव पोएजी (१७५४) और दि वार्ड (१७५७), वाल्टर सैवेज लैंडर का ओड टु शेली और ओड टु मिलेटस। स्विनवन ने इस पिंडरी शैली का प्रयोग अपने राजनीतिक ओडो मे किया। आजकल ओड प्रगीत रूप में स्वीकार किए जाते हैं तथा अपेक्षाकृत लवे भी होते हैं जिनमे कवि अपने हृदय के गभीरतम उद्गारो को अभिव्यक्त करता है। [र० मो०]

ओडेसा १ रूस के उक्रेन राज्य मे ४६° २५' उ० अक्षाश तथा ३०° ४४' पू० देशातर पर स्थित वदरगाह है। यह काले सागर के उत्तरी-पश्चिमी तट पर अर्ध चद्राकार खाडी के दक्षिणी किनारे पर स्थित है। १९३९ ई० मे इसकी जनसख्या ६,०४,२२३ थी। इस वदरगाह मे जलयानो के पाँच आश्रयस्थान हैं और वहाँ लगर डालने की सब सुविधाएँ हैं। वर्ष मे कुछ दिनो के लिये आश्रयस्थान तथा खाडी वर्फ से ढक जाती है तथा प्रति वर्ष औसतन १६ दिन के लिये नौतरण में वाधा आ जाती है। जलवायु कुछ कुछ महाद्वीपीय है। शरद् का तापमान २३ २° फा०, ग्रीष्म का ७२ ८° फा० तथा वार्षिक वर्षा १४ इच है। अनाज, ऊन, चौपाए, चीनी और इमारती लकडी का निर्यात तथा कोयला, लोहा, मशीनें, कृषियत्र, कपास, तवाकू तथा शिल्पनिर्मित वस्तुओ का आयात होता है। नगर १५० फुट ऊँचे पठार पर वसा हुआ है और उसकी जलवायु सुहावनी है। चारो ओर अनेक ऐसे स्थल हैं जो स्वास्थ्य के लिये लाभकारी हैं। सडकें चौडी और वृक्षो से सुसज्जित हैं। यहाँ के निवासियो में कई देशो से आए हुए लोग हैं, जैसे जर्मन, यहूदी, ग्रीक, तातार, तुर्क, रूसी इत्यादि। यहाँ अनेक उद्योग हैं तथा कई शिक्षासस्थाएँ हैं। यहाँ का चिडियाघर प्रसिद्ध है।

२ इस नाम का दूसरा नगर सयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी मध्य टेक्सास राज्य का एक नगर है और सैन ऐंजेलो से ११० मील उत्तर-पश्चिम में स्थित है। समुद्र से इसकी ऊँचाई २,८९० फुट है। १९५० ई० में यहाँ की जन-सख्या २९,४९५ थी। पेट्रोलियम और पशुओ के लिये यह महत्वशाली केंद्र है। इस नगर से १० मील दक्षिण-पश्चिम मे एक उल्का विवर (ओडेसा मीटियर क्रेटर) है। यह सयुक्त राज्य, अमरीका, का दूसरा वडा उल्काविवर है। इसका व्यास ६०० फुट है। [श्री० ना० मे०]

ओत्तपालम् केरल राज्य के पालघाट जिले का एक छोटा नगर है (स्थिति १०° ४६' उ० अक्षाश और ७६° २३' पू० देशातर)। वेनियाकुलम से ४ मील पूर्व पुरानी सडक पर स्थित इसका रेलवे स्टेशन है। यहाँ पर कुछ सरकारी कार्यालय, जैसे तहसीलदार

तथा मुसिफ की कचहरियाँ, डाकखाना, तथा पुलिस स्टेशन आदि हैं। कुछ शिक्षा सस्थाएँ भी हैं। यहाँ पर एक बहुत ही प्रसिद्ध प्राचीन मदिर है, जिसपर किसी अज्ञात भाषा मे लिखा हुआ भित्तिलेख है। पहले यहाँ लोहा गलाने का काम होता था। इस समय वनस्पति का तेल बनाने का उद्योग होता है। पामिश की पत्ती से सन निकालने का व्यवसाय खूब उन्नति कर गया है। कॉफी (कहवा) का भी व्यवसाय होता है। यहाँ की जनसख्या २२,६६५ है (१९५१ ई०), जिसमे महिलाएँ ११,८८४ हैं। व्यापार तथा उद्योग धधो मे यहाँ कुल ६,७५० लोग लगे हुए हैं। [ह० ह० सिं०]

ओथेलो, दि मूर ऑव वेनिस शेक्सपियर का एक प्रसिद्ध दुखात नाटक जिसका अभिनय पहली बार सन् १६०४ ई० और प्रकाशन सर्वप्रथम सन् १६२२ ई० मे हुआ। इसकी गणना हैमलेट, मैकवेथ तथा किंग लियर के साथ शेक्सपियर के प्रमुख चार दुखात नाटको मे होती है।

ओथेलो एक साहसी मूर योद्धा है जो वेनिस राज्य के सेनापति के पद पर कार्य करता है। वेनिस के राजकीय सिनेट के सदस्य ब्रैवेसियो की पुत्री डेस्डिमोना ओथेलो के साहसपूर्ण कार्यो की कथा से प्रभावित होकर गुप्त रूप से उससे विवाह कर लेती है। पता चलने पर ब्रैवेसियो तथा उसके परिवार के लोग इस बात से बहुत रुष्ट होते हैं और ड्यूक के समुख इस मामले को पेश करते हैं। इसी समय तुर्को द्वारा साइप्रस पर सभावित आक्रमण की सूचना मिलती है और रक्षार्थ ओथेलो का वहाँ भेजा जाना परम आवश्यक हो जाता है। अततोगत्वा ब्रैवेसियो ओथेलो और डेस्डिमोना के विवाह को स्वीकार करता है तथा पति पत्नी साइप्रस के लिये प्रस्थान करते हैं।

साइप्रस मे ओथेलो अपने कार्य का निर्वाह सफलतापूर्वक करता है किंतु शीघ्र ही कुछ अप्रत्याशित घटनाएँ उसका जीवन दुखपूर्ण बना देती हैं। वह कैसियो नामक एक फ्लोरेटाइन पदाधिकारी के कार्य से प्रसन्न होकर उसकी पदवृद्धि करता है। इस बात से इयागो नामक कुटिल अफसर अप्रसन्न होता है, क्योकि इस प्रकार उसकी दीर्घकालीन सेवाओ की अवहेलना होती है। इयागो, जो अत्यत कुचक्री है, ओथेलो के विरुद्ध षड्यत्र मे लग जाता है। उसकी चालबाजी से प्रभावित होकर ओथेलो कैसियो से अप्रसन्न होता है और उसे पदच्युत कर देता है। इयागो कैसियो से मिलकर उसे यह सलाह देता है कि वह डेस्डिमोना से यह प्रार्थना करे कि वह उसकी सिफारिश ओथेलो से कर दे। जब सरल स्वभाववाली डेसडिमोना कैसियो की सिफारिश ओथेलो से करती है तब इयागो ओथेलो के मन मे उसके और कैसियो के अनुचित प्रणयसबध का सदेह उत्पन्न कर देता है। इस सदेह को पुष्ट करने के लिये वह षड्यत्र द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता है कि ओथेलो द्वारा डेसडिमोना को दिया हुआ रूमाल कैसियो के पास मिलता है। गहरे सदेह से उत्तेजित होकर ओथेलो सोती हुई डेस्डिमोना का वध करता है। साथ ही साथ इयागो राडरिगो नामक हत्यारे द्वारा कैसियो के वध की व्यवस्था करता है। कैसियो मरता नही, केवल आहत होता है और इयागो रहस्योद्घाटन के भय से राडरिगो का वध कर डालता है। मृत राडरिगो के पास इयागो का एक पत्र मिलता है जिससे सिद्ध हो जाता है कि डेस्डिमोना नितात निर्दोष थी। पश्चात्ताप से मर्माहत होकर ओथेलो आत्महत्या करता है।

यह दुखात नाटक रोचक कथानक के अतिरिक्त डेस्डिमोना, ओथेलो विशेषत इयागो के चरित्र चित्रण के लिये प्रसिद्ध है।

स०ग्र०—ब्रैडले ए० सी०, शेक्सपियरिअन ट्रेजेडी, १९५२, अल्लरदाइक निकोल स्टटीज़ इन शेक्सपियर, १९२७, जी० बी० हैरिसन शेक्सपियर्स ट्रेजेडीज, १९५१, ग्रैनविल्ले बार्कर प्रीफेस टु शेक्सपियर। [रा० अ० द्वि०]

ओदंतपुर प्राचीन काल का प्रमुख ऐतिहासिक स्थान। इसके पर्याय उदतपुर अथवा उदडपुर भी हैं। पालनरेश धर्मपाल ने यही एक अत्यत भव्य विहार का निर्माण कराया था। तिब्बती परपरा के अनुसार इस ओदतपुरी विहार की रचना या तो गोपाल ने अथवा देवपाल ने करवाई। धर्मपाल के ओदतपुरी विहार की रचना की कथा देवपाल द्वारा बनवाए विहार की कथा से मिलती जुलती है। विहार के राजशाही जिले मे पहाडपुर की खुदाई मे जिस विहार का सकेत मिलता है (मेम्वायर्स आव दि आर्क० सर्वे आव इडिया, न० ५५) वह सभवत यही ओदतपुर विहार है। इस स्थान तथा समीपवर्ती गाँव का नाम ओमपुर है। वल्लालसेन ने अपने युग के सर्वाधिक धनी श्रेष्ठी वल्लभानद से ओदतपुर (उदतपुर) नरेश को पराजित कर सकने के लिये, एक करोड रुपए लिए थे (वल्लालचरित, अध्याय २)। [च० भा० पा०]

ओद्रक प्रसिद्ध शुगवश का पाँचवाँ राजा। इसका दूसरा नाम पुराणो मे आद्रक भी मिलता है। उसके अनुसार उसने केवल दो वर्ष राज किया। सभवत इसका एक और नाम काशीपुत्र भागभद्र भी था। इस नाम के साथ ओद्रक का एकीकरण सदेह से खाली नही है। तक्षशिला के ग्रीक राजा अतलिकिद ने दियपुत्र हेलियोदोरस को अपना राजदूत बनाकर मगध भेजा था। वह दूत वैष्णव था और उसने विष्णु के नाम पर बेसनगर (मध्य प्रदेश) मे एक स्तभ खडा कराया। उसपर उत्कीर्ण लेख मे मगधराज काशीपुत्र भागभद्र का उल्लेख है, जो ओद्रक अथवा भागवत दोनो मे से कोई हो सकता है। सभवत ओद्रक ने १२३ ई० पू० के लगभग राज किया। [ओ० ना० उ०]

ओनाइडा सयुक्त राज्य, अमरीका, के न्यूयॉर्क राज्य के मैडिसन प्रदेश का एक नगर है। यह उनिता तथा सीराक्यूज़ नगरो के मध्य मे ओनाइडा झील से दक्षिण पूर्व छ मील पर स्थित है। इसको सैंड्स हिगिनबाथम ने १८२९-३० ई० मे बसाया था। १९०१ ई० से इसे नगर माना गया है। यह नगर न्यूयॉर्क सेट्रल तथा न्यूयॉर्क, ओटेरियो तथा पश्चिमी रेलमार्गो द्वारा जुडा हुआ है। दक्षिण-पूर्व की ओर ओनाइडा कासल गाँव है जहाँ पहले ओनाइडा जाति के अमरीकी आदिवासी एकत्रित होते थे। यह नगर, इस जातिवालो का मुख्य केंद्र है। ये लोग अधिकाशत चाँदी के बर्तन बनाने का धधा करते हैं। इस नगर मे लकडी की वस्तुओ, विद्युत् सबधी उपकरण, दूध दुहने के यत्रो, लोहे के सामान, पट्टियो, कागज की पेटियो इत्यादि का निर्माण होता है। इसकी जनसख्या १९५० ई० में ११,३६७ थी। [वि० च० मि०]

ओनेस हेक केमरलिंग (१८५३-१९२६ ई०) लाइडेन (नेदरलैंड्स) के वैज्ञानिक थे। प्रसिद्ध क्रायोजेनिक प्रयोगशाला मे अति निम्न ताप पर उन्होने शोधकार्य आरभ किया और हीलियम गैस को द्रव मे परिणत करने मे उन्हें सफलता मिली। तदनतर हीलियम द्रव को ठोस मे रूपातरित करने का भी उन्होने प्रयत्न किया परतु असफल रहे। इस कार्य को उसी प्रयोगशाला मे दूसरे वैज्ञानिक कीसम ने पूरा किया। ओनेस अनुमानत ० ९ डिग्री परम ताप तक पहुँचने मे भी सफल हुए। वे बहुत ही सरल स्वभाव के तथा नवयुवको को प्रोत्साहित करनेवाले वैज्ञानिक थे। उनको १९१२ ई० मे रमफोर्ड मेडल तथा सन् १९१३ मे नोबेल पुरस्कार मिला।

वैज्ञानिक उपकरण बनानेवाले प्रशिक्षित युवको को वे अधिक प्रोत्साहन देते थे। वहाँ के सीखे हुए लोग दूसरी प्रयोगशालाओ मे भी बहुत ही मूल्यवान् समझे जाते थे।

स० ग्र०—ई० कोहेन जर्नल आव केमिकल सोसायटी (१९२७); एच० एम० स्मिथ टार्च बेअरर्स आव केमिस्ट्री। [वि० वा० प्र०]

ओपावा चेकोस्लोवाकिया के विस्तृत मैदान के मध्य भाग मे ओडर नदी की ओपावा नामक सहायक नदी पर स्थित नगर है। इस शब्द का निर्माण जर्मन शब्द ट्रौपाव से हुआ है। १३वी शताब्दी मे पुराना नगर बसाया गया था। यह नगर उद्यानो से घिरा हुआ है जिसके बाहर की ओर नया नगर बसा है। इस नगर में अनेक उद्योग धधे विकसित है, जैसे मदिरा, चीनी तथा औद्योगिक यत्र इत्यादि बनाना। सन् १९३० ई० मे इसकी जनसख्या ३६,०३० थी, जिसमे अधिकाशत जर्मन थे। सन् १९३८ ई० मे म्यूनिख समझौते के उपरात यह जर्मनी को मिल गया था परतु १९४५ ई० मे यह नगर चेकोस्लोवाकिया को मिल गया। [वि० च० मि०]

ओपेलाइका सयुक्त राज्य, अमरीका, के पूर्वी ऐलावैमा राज्य मे एक औद्योगिक तथा व्यापारिक केंद्र है तथा सघीय राजपथ पर वसा हुआ है। सन् १७७३ ई० मे इसकी स्थापना हुई थी। यह नगर सेंट्रल जाजिया रेलवे तथा वेस्टर्न ऐलावैमा रेलवे द्वारा जुडा हुआ है।
[वि० च० मि०]

ओपोर्टो पुर्तगालदेश मे ड्यूरो नदी के मुहाने से तीन मील ऊपर की ओर वसा हुआ नगर है। ड्यूरो के दक्षिण में वसे हुए इस नगर के भाग को विला नोवा डि गोइया कहा जाता है। वास्तव मे यह उत्तरी पुर्तगाल की राजधानी के समान है। व्यापारिक तथा राजनीतिक क्षेत्रो मे यह लिस्वन नगर का प्रतिद्वद्वी समझा जाता है। यहाँ पर तीन मुख्य रेले मिलती है। उत्तरी सीमा से, लिस्वन से, वेलेन्का डु मिन्हो से तथा उत्तर-पूर्व की ओर वर्का दि अल्वा से रेलें आती है। मुख्य रूप से ओपोर्टो नगर, ड्यूरो नदी के दाहिनी ओर वसा हुआ है। ओपोर्टो नाम की मदिरा निर्यात करने के कारण यह विशेष रूप से प्रसिद्ध है। जिस अगूर से मदिरा वनाई जाती है वह ड्यूरो जिले मे इसी नदी से ६० मील ऊपर की ओर पेज डु विनहो नामक पर्वतीय प्रदेश मे होता है। इस नगर द्वारा मदिरा का निर्यात १६७८ ई० से किया जा रहा है। यहाँ की जनसख्या का एक तिहाई भाग सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्र, चमडे, तवाकू, मदिरा, वाति पेय, डिव्वो में रक्षित खाद्यपदार्थ तथा आभूपणो के निर्माण का कार्य करता है।
[वि० च० मि०]

ओप्रा गान नाट्य (गीतिनाटक) को ओप्रा (आपेरा) कहते है। ओप्रा का उद्भव १५६४ ईस्वी मे इटली के फ्लोरेन्स नगर में *"ला दाफ्ने"* नामक ओप्रा के प्रदर्शन से हुआ था, यद्यपि इस ओप्रा के प्रस्तुतकर्ता स्वय यह नही जानते थे कि वे अनजाने किस महत्वपूर्ण कला की विधा को जन्म दे रहे है। गत चार शताब्दियो मे ओप्रा की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई। लेकिन परपरा और अनुभव के आधार पर यही माना जाता है कि ओप्रा गानवद्ध नाटक होता है, जिसमे वार्तालाप के स्थान पर गाया जाता है। इसका ऐतिहासिक कारण यह है कि १६वी सदी तक यह माना जाता था कि नाटक, पद्य मे होना चाहिए। नाटक के लिये पद्य यदि अनिवार्य है तो सगीत के लिये भूमि स्वत तैयार हो जाती है। क्योकि काव्य और सगीत पूरक कलाएँ है, दोनो ही अमूर्त भावनाओ तथा कल्पनालोको से अधिक सवधित है। इसलिये जव तक नाटक, काव्य मे लिखे जाते रहे तव तक विशेष कठिनाई नही हुई, लेकिन कालातर मे नाटक की विधा ने गद्य का रूप लिया तथा यथार्थोन्मुख हुई। तभी से ओप्राकारो के लिये कठिनाइयाँ वढती गई। चूँकि ओप्रा का जन्म इटली मे हुआ था इसलिये उसके सारे अगो पर इटली का प्रभुत्व स्वाभाविक था। लेकिन फ्रास तथा जर्मनी की भी प्रतिभा ओप्रा को सुपमित तथा विकसित करने मे लगी थी, इसलिये ओप्रा कालातर मे अनेक प्रशाखाओ मे पल्लवित हुआ।

इटली में ओप्रा पाँच अको का होता था लेकिन फ्रास मे वह तीन अको का ही होता था। इटली मे उसका सगीत पक्ष अधिक पुष्ट था, फ्रास मे उसकी विपयवस्तु पर अधिक ध्यान दिया जाता था। लेकिन ओप्रा के इतिहास पर इटली और जर्मनी की ही प्रतिभाओ ने दिशाकारी प्रभाव डाला। नाटक के प्रमुख भेद कामदी (कामेडी) और त्रासदी (ट्रैजेडी) दोनो ही ओप्रा मे भी मान्य है। इसके अलावा प्रहसन से लेकर व्यग्य तक ओप्रा मे सनिहित है। इटली के ओप्राकार नाटकीय त्रिसधियो को नही स्वीकारते थे। इटली के ओप्राकार सगीत तथा भव्य मचसज्जा पर ज्यादा ध्यान देते रहे है, जवकि अन्य ओप्राकार ओप्रा के नाट्यलेख अर्थात् "लिवरेत्तो" पर केद्रित रहे है। ओप्रा मे आज तक पाठ (रेसीटेशन) को लेकर काफी कठिनाइयाँ हुई है। प्राचीन एकालापो (सालीलोकीज) को तो किसी तरह सगीत मे निवद्ध किया जाता था लेकिन आज की नाटकीय विधा मे एकालापो का कोई स्थान नही है। आज वार्तालापो मे जो यथार्थता तथा दैनिक अकाव्यात्मकता आ गई है उसे ओप्राकार किस प्रकार सगीत मे निवद्ध करे, यह आज के ओप्रा की समस्या है।

नाटको की भाँति ही ओप्रा की कथावस्तु भी आरभ मे धार्मिक आख्यानो से ली जाती थी। मध्ययुग में यही आधार ऐतिहासिक वीरगाथाएँ हो गया। इसका अर्थ हुआ कि ओप्रा ग्रीस से चलकर रोम आया। इस कारण उस काल के ओप्राओ मे दो ही भावनाएँ प्रमुख है, महत्वाकाक्षा और कामना। आज नाटक जीवन के वीच खडा हुआ है इसलिये ओप्रा को भी वही आना पडा है। और यह यात्रा चार सौ वरसो की है। कथावस्तु के साथ साथ सगीत के तालमेल मे भी परिवर्तन हुआ है। आरभ मे ओप्रा मे नाट्यलेख प्रमुख होता और सगीत गौण, लेकिन क्रमश नाट्यलेख गौण होता गया और सगीत ने प्राधान्य ले लिया। पहले कथावस्तु को मनोरजक वनाने के लिये गान, सहगान तथा समूहगान की व्यवस्था थी। इसके वाद अनवरत सगीत के सिद्धात ने सपूर्ण ओप्रा को ही सगीतमय कर दिया। अव वातावरण, चित्रण, भावदशा आदि सभी के लिये सगीत की योजना होने लगी। इसीलिये ओप्रा मे सगीतलेखक का जितना महत्व हे उतना नाट्यलेखक का नही।

सभी कलाओ के आश्रयदाता एक समय मे राजा सामत हुआ करते थे। इटली मे भी तत्कालीन सामत तथा रईस इस कला के पोपक थे। इसीलिये एक समय तक ओप्रा के अर्थ ही विशाल मच, भव्य साजसज्जा, विराट् दृश्याकन आदि थे। पेरिस के किसी ओप्रागृह मे प्रवेश करते ही वाक्सो और वाल्कनियो तथा उत्कीर्ण वारजो और छज्जो की दीर्घाओवाले हाल के दर्शन होते है। ये ओप्रागृह १८वी और १६वी सदियो के स्मारक है। यही वैठकर सामतवर्ग तथा भद्रलोक ग्लक और मोजार्ट, वियूवेन और वेवर, वैग्नर और वर्दी के महान् सगीतमय ओप्राओ को देखते रहे है। इटली, फ्रास, और जर्मनी के ओप्रागृहो मे ही इन महान् ओप्राकारो को अपनी सफलताओ तथा असफलताओ का सामना करना पडा है। इटली, १६वी सदी के आसपास सारी यूरोपीय कला, साहित्य और सस्कृति का केंद्र था। सर्वप्रथम फ्लोरेंस मे ओप्रा खेला गया था। आज जिसकी लिपि उपलब्ध है, वह ओप्रा भी वही खेला गया था—"यूरिडिस", सन् १६०० ईस्वी मे। इसके वाद वेनिस नगर ओप्रा का सवसे वडा केंद्र हो गया। सारे यूरोप के कलाप्रिय इस नगर की यात्रा करते और महान् ओप्राओ को देखकर कृतकृत्य होते थे। सन् १६३७ मे वेनिस मे एक सार्वजनिक ओप्रागृह की स्थापना हुई जिसके कारण ओप्रा पर क्रमश व्यावसायिकता का प्रभाव हुआ। अव ओप्रा केवल शौक की विधा न रहकर आय का साधन वना। ओप्रा के लिये जिस उन्नत ओप्रागृह की अपेक्षा हुआ करती थी उसके कारण तत्कालीन मचशिल्प के विकास मे नाटको से कही अधिक श्रेय ओप्राओ को है। उन दिनो चक्रित मच (रिवाल्विग स्टेज) तो आविष्कृत हुए नही थे, इसलिये ओप्रा के विशेष काल्पनिक मचाकनो को मूर्त कर सकना काफी कठिन काम था। चक्रित मच की समस्या जापान द्वारा १८वी सदी मे दूर हुई।

ओप्रा धीरे धीरे यूरोप के दूसरे देशो मे भी लोकप्रिय होता जा रहा था। अव आस्ट्रिया, फ्रास तथा जर्मनी भी इसके केंद्र वन चले थे। सदियो तक इटली के सगीतज्ञो, कलाकारो, नाट्यलेखको तथा अभिनेताओ का प्राधान्य सारे यूरोप के ओप्रागृहो में रहा। ओप्रा, इटली का राष्ट्रीय कलात्मक उद्योग रहा है। वेनिसीय सगीत, साज सज्जा, अभिनय आदि ही प्रमाण माने जाते थे। फ्रास के मच पर भी इतालवी भव्य साज सज्जा मे ही जर्मन सगीतज्ञो द्वारा कला की यह अद्भुत विधा मचित होती रही। ओप्रा की भाषा आरभ मे इतावली फ्रेच रही। कालातर मे फ्रास की भाषा भी प्रचलित हुई। लेकिन अन्य देशो मे ओप्रा की भाषा इतालवी ही वनी रही। इस क्षेत्र मे इटली का प्रभाव यहाँ तक था कि अनेक वार इतालीयेतर ओप्राकार भी अपना नाम इतालीय रख लिया करते थे।

ओप्रा का सूक्ष्म परिचय भी इस विधा के प्रसिद्ध ओप्राकारो के परिचय विना अधूरा ही रह जाएगा। वैसे तो फ्रास के सगीतज्ञो का भी इसमे योग रहा है। रोमियो ही सभवत एक ऐसा फ्रासीसी नाम है जो जन्मना फ्रासीसी भी है और प्रतिभाशाली सगीतज्ञ भी। अन्यथा न फ्रासीसी कभी सगीत मे श्रेष्ठ रहे है और न इतालीय कभी नाट्यलेख मे। फ्रास में ओप्रा की नीव डालनेवाला जेवान्नी वतिस्ता लुली भी इतालीय था, जो लुई १४वें के शासनकाल मे लाया गया था। रोमियो ही सभवत पहला ओप्राकार है जिसने वाद्यवृद का उपयोग आँधी, समुद्रादि के वर्णनो के लिये किया। यद्यपि लुली यह प्रयोग कर चुका था, तथापि इसे व्यवस्था रोमियो ने दी। जर्मन ओप्राकारो की सवसे अधिक तथा महत्वपूर्ण देन दार्शनिकता रही है। पहला जर्मन ओप्राकार ग्लक है, जो ओप्रा का सुधारक कहलाता है। आज

ओप्रा (देखें पृ० २५६)

अजरबैजान के अखुंदोव ओप्रा और बैले थियेटर के 'केर ओग्ली' ओप्रा का एक दृश्य
(रूसी दूतावास के सूचना विभाग के सौजन्य से—फोटो वी० रयावि निन)

जाग्रेव (युगोस्लाविया) की प्रसिद्ध ओप्रा गायिका मिरियाना रादेव
(भगवतशरण उपाध्याय के सौजन्य से)

ओप्रा (देखे पृ० २५६)

उजबकिस्तान के मुकीमी म्यूजिकल ड्रामा थियेटर में प्रस्तुत 'ऐल्पोमिश' का एक दृश्य
(फोटो—एस० क्रोपोन्नित्स्की और एल० पोर्टर)

चीनी ओप्रा का एक दृश्य

दो सौ वर्षों के बाद भी उसकी रचनाओं को सुनना कलात्मक अनुभव है। ग्लक ने संगीत के दार्शनिक पक्ष को पुष्ट बनाया और ओप्रा में उसे अभिव्यक्त किया।

ओप्राकारों में दूसरा महत्वपूर्ण नाम मोजार्ट का है। मोजार्ट ने वैसे तो आठ बरस की उम्र में ही एक ओप्रा की रचना कर डाली थी लेकिन जो ओप्रा के इतिहास में महत्व है उसकी रचना उसने चौवीस वर्ष की अवस्था में की, और वह था "इडोमोनिया" (सन् १७८१ ई०)। मोजार्ट अद्वितीय निष्णात ओप्राकार माना जाता है। ओप्रा के इतिहास में जिन क्लासिकीय ओप्राओं की गणना है उनमें "मैजिक फ्लूट" का अन्यतम स्थान है। इस ओप्रा को भविष्य के जर्मन ओप्राओं का आधार माना जाता है। इस ओप्रा में उसे दिव्यता प्राप्त हुई थी। वियूवेन के नाम के साथ विद्रोह की भावना मूर्त हो जाती है। ओप्रा के इतिहास में वह शेली या वायरन के समान है। उसका विद्रोही संगीत हमारे अधिक निकट है।

जर्मन रोमांटिक आंदोलन का अभूतपूर्व ओप्राकार वेवर है। बच्चों के लिये भी उसका एक प्रसिद्ध ओप्रा है। अपने ओप्राओं द्वारा उसने रोमांटिक ओप्राओं को वही गौरव दिलवाया जो राजसभाओंवाले ओप्राओं को प्राप्त था। "यूरोआंते" में कोई वार्तालाप नहीं, बल्कि अनवरत संगीत ही है। सब जर्मन ओप्राकार गायकों से अधिक वाद्यवृंद पर जोर देते रहे हैं।

ओप्राकारों में वेवर जहाँ सुंदर था वहाँ रिचर्ड वैग्नर (१८१३-१८८३) कुरूप, नाटा, बड़े सिर का, घमंडी और स्वार्थी था। लेकिन १९वीं सदी के कलात्मक जीवन का वही प्रमुख स्तंभ भी था। यही एकमात्र ओप्राकार था जो स्वतः नाट्यलेख भी लिखता था। इसके ओप्रा का नाम है "दि रिंग" जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। वैग्नर के विचारों को मंचसज्जा के तत्कालीन ओप्रागृह मूर्त नहीं कर पाते थे इसलिये वेरुथ नामक कस्बे में उसने ओप्रागृह खोला जो आगे चलकर ओप्रा के इतिहास में सांस्कृतिक केंद्र के रूप में स्वीकार किया गया। वैग्नर का ही समकालीन इतालीय ओप्राकार था वर्डी (१८१३-१९०१) जो बड़ी विषम परिस्थितियों में इटली के ओप्रा के क्षेत्र में आया था। रासिनी ने मंच से अवकाश ले लिया था। वेलिनी की मृत्यु हो चुकी थी और दानीजेत्ती पागल हो गया था। वर्डी के सामने भी समकालीन शासकों ने अवरोध खड़े कर रखे थे। "स्वाधीनता" का उच्चारण ही कठिन हो गया था। वर्डी ने पहली बार समकालीन जीवन पर ओप्रा में त्रासदी प्रस्तुत की। अभी तक दर्शक आधुनिक भूषा में त्रासदी देखने के अभ्यस्त नहीं थे। स्वेज नहर के उद्घाटन के अवसर पर वर्डी ने काहिरा में एक ओप्रा प्रस्तुत किया था। चूँकि यह वैग्नर का समकालीन था, इसलिये प्रायः इतिहासज्ञ वर्डी के प्रति अन्याय कर जाते हैं।

पिछले दिनों में पूर्वी यूरोप में सोवियत् के अतिरिक्त यूगोस्लाविया में भी ओप्रा को सजीवित और विकसित करने के प्रयत्न हुए हैं। संसारप्रसिद्ध ओप्रा गायिका मिरियाना रादेव जाग्रेव की ही हैं और वहाँ के राष्ट्रीय ओप्रागृह की प्रधान तारिका हैं।

पूर्वी देशों में ओप्रा के क्षेत्र में चीन ने बड़ा महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वस्तुतः चीनी ओप्रा संसार के प्राचीनतम ओप्राओं में हैं और यद्यपि पश्चिमी मंचसमीक्षकों ने उसका उल्लेख नहीं किया है, चीनी ओप्रा अनेक दृष्टियों से अपने कृतित्व एवं प्रदर्शनों में अपना सानी नहीं रखता। भारत में भी इधर ओप्रा लिखने और ओप्रागृह संगठित करने के कुछ प्रयास होने लगे हैं। [न० मे०]

ओब, ओबी एशियाई रूस की एक नदी है जिसको यहाँ की विभिन्न जातियों ने कई नामों से अभिहित किया है—उदाहरणार्थ, ओस्तियाक इसे आस, याग, कोल्टा तथा येमा नामों से, सामोएड कोल्टा और क्वे नामों से तथा तातार ओमर एवं उमर नाम से जानते थे। यह ३,२०० मील लंबी है तथा इसका नदीक्षेत्र १० लाख वर्गमील है। इसमें १७,०० मील तक नौतरण किया जा सकता है। अल्टाई पर्वत से निकलकर यह नदी उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों में से होकर खिरगीज स्टेप्स में बहकर आती है और ओब की खाड़ी में डेल्टा बनाती है। इसके मध्यवर्ती एक लाख वर्ग मील क्षेत्र में दलदल पाया जाता है। इस दलदली क्षेत्र का नाम वासुईगन दलदल है। ग्रीष्म काल में इस क्षेत्र में से गुजरना असंभव हो जाता है। वसंत ऋतु में यह क्षेत्र बाढ़ के कारण सागर का रूप ले लेता है और शरद ऋतु में वर्फ से जम जाता है। इस काल में इसे आसानी से पार किया जा सकता है। ओब की सबसे बड़ी सहायक नदी ईर्तिश है जिसके संगम तक ओब में नौतरण किया जा सकता है। ओब नदी नववर से मई अथवा जून मास तक वर्फ से जमी रहती है। बाढ़, वर्फ तथा तैरते हुए लट्ठों के कारण कुछ समय तक इसमें नौतरण करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह नदी यात्रियों, आटा, मक्का तथा इमारती लकड़ी के लाने ले जाने का सुगम मार्ग है। [श्री० ना० मे०]

ओबद्याह बारह गौण नबियों में से एक, उनके उपदेशों का संग्रह विस्तार की दृष्टि से बाइबिल का सबसे छोटा ग्रंथ है। बाबुल के सम्राट् नबूखदनेज्ज़ार की सेना ने ५८६ ई० पू० में यहूदियों की राजधानी जुरूसलम का विनाश किया था, इसके बाद एदोम के लोगों ने यहूदिया प्रांत लूटकर उसे अपने अधिकार में कर लिया था। ओबद्याह ने ५वीं शताब्दी ई० पू० में एदोम की हार तथा जुरूसलम के पुनर्वास की भविष्यवाणी की थी। [का० बु०]

ओमाहा संयुक्त राज्य अमरीका के नेब्रास्का राज्य का सबसे बड़ा नगर है और मिसूरी नदी के पश्चिमी तट पर स्थित है, यहाँ रेलमार्गों, वायुयानों तथा राजमार्गों के केंद्र हैं। १९५० ई० में इसकी जनसंख्या २,५१,११७ थी। यहाँ उद्यानों, खेल के मैदानों तथा मनोरंजनगृहों का बाहुल्य है। दो विश्वविद्यालय, दो सैनिक केंद्र—फोर्ट क्रुक तथा फोर्ट ओमाहा—एवं प्रशिक्षण तथा रसायन विद्यालय हैं। बहरे बच्चों का भी एक स्कूल है। विश्वविख्यात फादर फ्लैगर्स बालगृह तथा जोस्लिन मेमोरियल कला संग्रहालय देखने योग्य हैं। यहाँ शिकागो और डेनवर के मध्य सबसे बड़ा फुटकर बाजार है। मक्खन के उत्पादन में इस नगर का प्रथम स्थान है, और यहाँ गल्ले तथा पशुओं की भी मंडी है। यहाँ से मांस डब्बों में भरकर बाहर भेजा जाता है। यह नगर समुद्रतल से ९४०—१२७० फुट की ऊँचाई पर है। यहाँ की जनसंख्या २,८०,७१६ थी। नगर के प्रमुख उद्योग धंधे कृषि संबंधी तथा अन्य मशीनों का बनाना, कपड़ा बुनना तथा शराब तैयार करना है। यहाँ से मांस, मक्खन तथा खालें निर्यात की जाती हैं। वर्तमान समय में यह एक सैनिक अड्डा तथा १९१७ ई० की क्रांति के बाद साइबेरियन राजनीति का गढ़केंद्र बन गया है। यह वृक्षरहित ठंढे घास के स्टेप्स में स्थित है। इसकी समुद्रतल से ऊँचाई २८५ फुट है। [श्री० ना० मे०]

ओम्स्क साइबीरियन रूस में ईर्तिश नदी के दाहिने तट पर ५५° उ० अ० तथा ७३°३८' पू० दे० पर स्थित नगर है। यहाँ पर ईर्तिश और ओम नदियों का संगम होता है। शरद का औसत ताप ५° फा० तथा ग्रीष्म का ६८° फा० है। औसत वार्षिक वर्षा १२.४ इंच है। शीतकाल में हिमवर्षा से नगर जम जाता है। यह ट्रांस साईबीरियन रेलमार्ग का एक प्रमुख स्टेशन है जहाँ से रेल की एक शाखा सिवर्डलोवस्क तक जाती है। जलमार्गों द्वारा यह उत्तर में ओब नदी से तथा दक्षिण में अल्टाई नगर तथा जैसन झील से मिला हुआ है। मध्य एशिया और कजाकिस्तान से कारवाँ के मार्ग भी यहाँ को आते हैं। १९३९ ई० में यहाँ की जनसंख्या २,८०,७१६ थी। नगर के प्रमुख उद्योग धंधे कृषि संबंधी तथा अन्य मशीनों का बनाना, कपड़ा बुनना तथा शराब तैयार करना है। यहाँ मांस, मक्खन तथा खालें तैयार की जाती हैं। वर्तमान समय में यह सैनिक अड्डा तथा सन् १९१७ ई० की क्रांति के पश्चात् साइबीरियन राजनीति का गढ़ तथा केंद्र बन गया है। यह वृक्षरहित ठंढी घास की शोषस्थली (स्टेप्स) में स्थित है और समुद्रतल से इसकी ऊँचाई २८५ फुट है। [श्री० ना० मे०]

ओरई उत्तर प्रदेश के जालौन जिले का एक नगर तथा उत्तर रेलवे का एक स्टेशन है। (स्थिति २५° ५९' उ० अक्षांश एवं ७९°२९' पू० देशांतर) यहाँ जिले तथा तहसील के सभी मुख्य कार्यालय हैं। १८७१ ई० में नगरपालिका का संघटन हो जाने से नगर का विकास प्रारंभ हुआ। यहाँ एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, राजकीय चिकित्सालय तथा अन्य बहुत सी संस्थाएँ हैं। यहाँ का बाजार भी पर्याप्त अच्छा हो गया है।

नगर की जनसख्या १९०१ ई० मे केवल ८,४५८ थी, किंतु १९५१ ई० में यहाँ २१,२५८ लोग रहते थे जिनमे पुरुष ११,४३९ थे। करीव ग्राठ हजार लोग व्यापार तथा उद्योग धधो म, शेप नौकरी तथा विभिन्न पेशो मे लगे थे। [ह० ह० सिं०]

ओरांग-ऊटान

एक श्रेणी के वदर है जिनको पूंछ नही होती। ये एशिया के दक्षिण-पूर्व मे सुमात्रा और वोर्नियो द्वीपो में पाए जाते है।

ओराग-उटान नाम मलय देशवासियो ने दिया है। इन वदरो के शरीर पर भूरे लाल रग के घने और वडे वडे वाल होते है। इनका ललाट ऊँचा होता है, और मुंह सामने की ओर उभडा रहता है। अकस्मात् देखने पर ये वृद्ध मनुष्य से प्रतीत होते है।

इनके पैर छोटे होते है परतु हाथ इतने लवे होते है कि प्राय भूमि तक पहुँचते है। नर ओराग प्राय ५ फुट या उससे भी ऊँचे और वडे शक्तिशाली होते है। इनका भार २॥ मन तक होता है। पूर्ण वयस्क नर ओराग की कनपटी के निकट का चमडा उभड आता है, पर सभी ओरागो मे यह वात नही पाई जाती, कारण इनमे छ जातियाँ होती है। पूर्णावस्था प्राप्त होने पर नर ओरागो मे दाढी भी उगती है। इनके कान वहुत छोटे होते है। हाथो के अँगूठे भी वहुत छोटे होते है। इनसे इनको अधिक सहायता नही मिलती। पैरो के अँगूठे अत्यधिक छोटे होते है, और उनमें अतिम भाग नही होता। इस कारण पैर के अँगूठे मे नख नही रहते। इनके गले के भीतर एक वडी थैली श्वासनलिका से सवद्ध रहती है जिसके द्वारा इनके वोल की उद्घोपता वढती है।

ओराग अधिकतर वृक्षो पर रहते है, और हाथो के सहारे एक डाल से दूसरी पर झूलते चलते है। इनकी गति मद होती है। पहाडो की तलहटी के जलसिक्त जगलो मे ये वास करते है। वृक्षो के ऊपर शाखाओ और पत्तियो का मच वनाकर ये विश्राम करते है, परतु एक स्थान पर अधिक दिन नही टिकते। साधारणत माता पिता और चार पाँच वच्चे एकत्र रहते है। इनकी प्रकृति नम्र होती है। मनुष्य इन्हें पकडकर सर्कस में खेल दिखलाने के लिये पालते है।

ये प्रधानत फल और वृक्षो की कोमल पत्तियाँ, डालियाँ और वाँस के कोमल प्ररोह आदि खाते है।

इनका जीवनकाल साधारणत २५ वर्ष होता है,परतु मनुष्य के सरक्षण में कुछ ओराग ४० वर्ष तक जीवित रहे हैं। एक वार में इनको केवल एक सतान पैदा होती है और गर्भ ८॥ महीने का होता है। [श० चं०]

ओराँव, उराँव

विहार के छोटा नागपुर क्षेत्र का एक आदिवासी समूह। ओराँव अथवा उराँव नाम इस समूह को दूसरे लोगो ने दिया है। अपनी लोकभाषा मे यह समूह अपने आपको 'कुरुख' नाम से वर्णित करता है। अँगरेजी मे 'ओ' अक्षर से लिखे जाने के कारण इस समूह के नाम का उच्चारण 'ओराँव' किया जाता है, विहार मे 'उराँव' नाम का प्रचलन अधिक है।

उराँव भाषा द्रविड परिवार की है जो समवर्ती आदिवासी समूहो की मुडा भाषाओ से सर्वथा भिन्न है। उराँव भाषा और कन्नड मे अनेक समताएँ है। सभवत इन्हे ही ध्यान में रखते हुए, गेट ने १९०१ की अपनी जनगणना की रिपोर्ट में यह सभावना व्यक्त की थी कि उराँव मूलत कर्नाटक क्षेत्र के निवासी थे। उनका अनुमान था कि इस समूह के पूर्वज पहले कर्नाटक से नर्मदा उपत्यका मे आए और वहाँ से वाद में विहार राज्य के सोन तट के भागो में आकर वस गए। पर्याप्त प्रमाणो के अभाव में इस अनुमान को वैज्ञानिक मानना उचित नही होगा।

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार उराँव समूह की जनसख्या प्राय दस लाख थी। इनमे से अधिकाश इस समय राँची जिले के मध्य और पश्चिमी भाग मे रहते है। उराँव समूह के प्रथम वैज्ञानिक अध्येता स्वर्गीय शरच्चद्र राय का मत है कि विहार में ये पहले शाहावाद जिले के सोन और कर्मनाशा नदियो के वीच के भाग में रहते थे। यह क्षेत्र 'कुरुख देश' के नाम से जाना जाता था। कुरुख शब्द सभवत किसी मूल द्रविड शब्द का विगडा हुआ रूप है। राय का अनुमान है कि इस मूल शब्द का अर्थ 'मनुष्य' रहा होगा।

इस समूह की अर्थव्यवस्था मूलत कृपि पर अवलवित है। आखेट द्वारा भी वे अशत अपनी जीविका अर्जित करते है। जाल और फदो द्वारा वे जगली जानवर और मछलियाँ पकडते है।

उराँव अनेक गोत्रो मे विभाजित है। गोत्र के भीतर वैवाहिक सवध निपिद्ध होते है। प्रत्येक गोत्र का अपना विशिष्ट गोत्रचिह्न होता है। राय के अनुसधानो द्वारा ६८ गोत्रो की सूची प्राप्त हुई है। इनमें से १६ के गोत्र-चिह्न जगली जानवरो पर, १२ के पक्षियो पर, १४ के मछलियो तथा अन्य जलचरो पर, १९ के वनस्पतियो पर, २ के खनिजो पर, २ के स्थानीय नामो पर तथा १ का सर्पो पर आधारित है। शेप दो विभाजित गोत्र है। प्रत्येक गोत्र अपने आपको एक विशिष्ट पूर्वज की सतान मानता है, यद्यपि गोत्रचिह्न को ही पूर्वज मानने का विश्वास उनमे नही पाया जाता। गोत्रचिह्न के सवध मे उनका विश्वास है कि उनके पूर्वजो को उससे प्राचीन काल में कोई न कोई अविस्मरणीय सहायता मिली थी जिसके कारण समूह के एक खड का नाम उससे अविभाज्य रूप से सवद्ध हो गया। प्रत्येक गोत्र अपने गोत्र-चिह्नवाले प्राणी, वृक्ष अथवा पदार्थ का किसी भी तरह उपयोग नही करता। उसे किसी भी प्रकार हानि पहुँचाना भी उनके सामाजिक नियमो द्वारा वर्जित है। यदि उनका गोत्रचिह्न कोई प्राणी या पक्षी है तो वे न तो उसका शिकार करेगे और न उसका मास खाएँगे। इसी तरह यदि उनका गोत्रचिह्न कोई वृक्ष है तो वे उसकी छाया मे भी नही जायेंगे।

उराँव समाज मे सवधव्यवस्था वर्गीकृत सज्ञाव्यवस्था पर आधारित होती है। विवाह सदा गोत्र के वाहर होते है। तीन पीढियो तक के कतिपय रक्तसवधियो और वैवाहिक सवधियो मे भी विवाह का निपेध होता है।

प्रत्येक उराँव ग्राम की अपनी स्वतत्र नियत्रण-व्यवस्था होती है। सामाजिक नियमो के उल्लघन पर विचार गाँव के पच करते है। गाँव के 'महतो' और 'पाहन' इस कार्य में उनका निर्देश करते है। पचो की वैठक वहुधा गाँव के अखाडे में होती है। राज्य-शासन-व्यवस्था का विस्तार अव आदिवासी क्षेत्रो मे हो चुका है, इसलिये पचो की परपरागत शक्ति वहुत अशो मे क्षीण हो गई है। वे अव जातीय परपराओ के उल्लघन पर ही विचार कर सकते है।

उराँव लोगो का अतर-ग्राम-सगठन भी उल्लेखनीय है। कई समवर्ती ग्राम 'परहा' के रूप मे सगठित होते है। उनके केंद्रीय सगठन का नाम 'परहा पच' होता है। परहा का सवसे महत्वपूर्ण गाँव राजा-गाँव माना जाता है। तीन अन्य महत्वपूर्ण गाँव अपने महत्व के अनुसार क्रमश दीवान गाँव, पानरे गाँव (लिपिक ग्राम) और कोटवार ग्राम माने जाते है। शेप सव प्रजागाँव माने जाते है। परहा सगठन अपने सव सदस्य ग्रामो की सुरक्षा का प्रवध करता है। मानवीय तथा अमानवीय, प्राकृतिक तथा दैवी—प्रत्येक प्रकार की शक्तियो से ग्रामसमूह को वचाना इस सगठन का मुख्य कार्य होता है। परहा सगठन की ओर से सामूहिक शिकार, नृत्य, भोज इत्यादि का भी आयोजन किया जाता है। वे मेले और जात्राओ का भी प्रवध करते है। जातीय लडाइयो में परहा के सदस्य एक दूसरे की सहायता करते है।

'धूमकुडिया' उराँव समाज की एक विशिष्ट सस्था थी। यह एक प्रकार का युवागृह होता है, जिसका प्रचलन भारत तथा ससार के कतिपय अन्य आदिवासी समूहो मे वास और सगठन के महत्वपूर्ण भेदो के साथ पाया जाता है। उराँव समाज मे लडको और लडकियो की अलग अलग धूमकुडिया होती है, यद्यपि वे एक दूसरे के पास आ जा सकने के लिये स्वतत्र रहते है। कहा जाता है, पहले तरुण तरुणियो को इन गृहो मे यौन सवधो की स्वतत्रता रहती थी। इस दिशा में उनका केवल गोत्रनियमो भर का पालन करना आवश्यक माना जाता था। समवर्ती जातियो की आलोचना के कारण इस सस्था का ह्रास होता जा रहा है। उसकी सख्या कम हो गई है। जहाँ वह आज भी पाई जाती है, वहाँ उसके आतरिक सगठन में अनेक मूलभूत परिवर्तन हो गए है। तरुण तरुणियो की स्वतत्रता कई अशो में सीमित हो गई है।

उराँव समाज मे वडी तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे है। ईसाई धर्म के प्रचार का इसमें वडा हाथ रहा है। आजीविका के लिये अनेक उराँव खनिज-उद्योग तथा इस्पात उद्योग की ओर भी अग्रसर हुए है। नई राजनीतिक चेतना ने भी उन्हें सगठन की एक नई दिशा दी है।

स०ग्रं०—शरच्चद्र राय दि ओरांव, वीरेंद्रनाथ मजूमदार रेसेज ऐंड कल्चर्स आव इडिया। [श्या० दु०]

ओरान अलजीरिया देश का एक बदरगाह है। यह भूमध्यसागर की ओरान की खाडी के सिरे पर स्थित है। यह नगर जेबेल मुरजाजो पर्वत पर बसा हुआ है जिसकी ऊँचाई १,९०० फुट है।

ओरान बडा व्यापारिक केंद्र है। मारसेई, बारसेलोना, वालेसिया, जिब्राल्टर इत्यादि तथा बारबारी तट के अन्य बदरगाहो से यहाँ बराबर गमनागमन की सुविधाएँ हैं। सन् १९३६ ई० मे ओरान की सपूर्ण जनसख्या १,९४,७४६ थी जिसमे से १,४८,५८९ यूरोप निवासी तथा ४६,१५७ आदिवासी थे। [वि० च० मि०]

ओरिज़ाबा मेक्सिको देश के वेराक्रूज़ राज्य का एक नगर है। यह नगर वेराक्रूज़ बदरगाह से पश्चिम-दक्षिण की ओर ८२ मील तथा मेक्सिको नगर से दक्षिण-पूर्व की ओर २०३ मील पर स्थित है। यह स्थान दो रेलमार्गो द्वारा जुडा हुआ है। अपनी विशेष स्थिति के कारण मेक्सिको के इतिहास मे यह नगर प्रसिद्ध रहा है। इसी कारण उसका आर्थिक विकास भी हुआ। सियरा मादरे ओरिएटल पर्वत की एक उपजाऊ तथा शीतोष्ण घाटी मे लगभग ४,२०० फुट की ऊँचाई पर यह नगर बसा है। इसी के ऊपर लगभग १८,५५० फुट ऊँचा पिकोडि ओरिज़ाबा नाम का प्रसिद्ध तथा शात ज्वालामुखी पर्वत, बर्फ से ढका हुआ है। पर्याप्त मात्रा मे जलप्राप्ति तथा शीतोष्ण जलवायु के कारण यह कृषि तथा औद्योगिक प्रदेश है। यहाँ की मुख्य उपज मक्का, चीनी, तबाकू इत्यादि हैं। रियो ब्लैको से जलविद्युत् शक्ति मिलती है जिसका उपयोग कपडो की मिलो तथा तबाकू के कारखानो मे किया जाता है। सन् १९५० ई० मे इसकी जनसख्या लगभग ५५,३३० थी।

[वि० च० मि०]

ओरिजेन (१८५-२५४ ई०) सत अगस्तिन के बाद ईसाई गिरजे के प्रथम पाँच शताब्दियो के सबसे महान् आचार्य। इनका जन्म सिकदरिया के एक सुशिक्षित एव भक्त ईसाई परिवार मे हुआ था जिससे यह लौकिक तथा धार्मिक विषयो की अच्छी शिक्षा पा सके। सन् २०२ ई० मे इनके पिता लेओनिदस को ईसाई होने के कारण प्राणदड की आज्ञा मिली और परिवार की समस्त सपत्ति जब्त कर दी गई। एक धनी महिला की सहायता से ओरिजेन अपनी पढाई पूरी कर सके, बाद मे वह अपनी विधवा माँ और अपने छ छोटे भाइयो के निर्वाह के लिये व्याकरण सिखलाने लगे। इसके कुछ समय बाद ओरिजेन के जीवन मे अत्यत महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। दीक्षार्थियो को ईसाई धर्म सिखलाने के लिये सिकदरिया मे एक ईसाई शिक्षा सस्था थी। बिशप ने ओरिजेन को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया। ओरिजेन ने व्याकरण का अध्यापन छोड दिया तथा बाइबिल को अपने अध्ययन का केंद्र बनाकर आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने का निश्चय किया। ओरिजेन ने शीघ्र ही साधारण दीक्षार्थियो की शिक्षा का भार दूसरो को सौपकर बाइबिल के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये ईसाई शिक्षा सस्था का एक नवीन विभाग खोल दिया, जो धीरे धीरे विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत हुआ, जहाँ शिक्षित गैर ईसाई भी बडी सख्या मे कला, विज्ञान और दर्शन पढने आए। बाइबिल के वैज्ञानिक अध्ययन तथा धर्म के तर्कसगत प्रतिपादन के लिये ओरिजेन इन विषयो को आवश्यक समझते थे। इस सस्था के माध्यम से ओरिजेन की ख्याति समस्त रोमन साम्राज्य मे फैल गई। व्याख्यान देने के अतिरिक्त वह अपनी पुस्तके भी प्रकाशित करने लगे तथा चारो ओर से आए हुए निमत्रण स्वीकार कर इन्होने कई देशो की यात्रा की। एक बार रोमन सम्राट् अलेक्ज़ेंडर सेवेरस की माता ने ईसाई धर्म की जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से ओरिजेन को बुला भेजा था।

सन् २३० ई० मे फिलिस्तीन की यात्रा के समय ओरिजेन ने वहाँ के बिशपो के हाथ से पुरोहताभिषेक ग्रहण किया जिसके फलस्वरूप सिकदरिया के बिशप ने उनको स्थानीय ईसाई शिक्षा सस्था के अध्यक्ष के पद से अलग कर दिया। ओरिजेन सिकदरिया छोडकर फिलिस्तीन को लौटे, वहाँ के बिशपो ने इनका हार्दिक स्वागत किया। ओरिजेन ने कैसरिया मे एक नई शिक्षा सस्था स्थापित कर सिकदरिया का कार्यक्रम जारी रखा इसके अतिरिक्त बिशप का अनुरोध स्वीकार कर प्राय प्रतिदिन गिरजाघर मे वे बाइबिल पर प्रवचन देने लगे। सन् २४७ ई० मे सम्राट् देसियस ईसाइयो को सताने लगा, ओरिजेन को प्राणदड की आज्ञा तो नही मिली किंतु इनको सन् २५० ई० मे कारावास तथा घोर शारीरिक यत्रणाएँ सहनी पडी। इनका देहात सन् २५४ ई० मे तीर नामक नगर मे हुआ।

ओरिजेन की रचनाओ की सख्या ६००० बताई जाती है। अधिकाश प्राप्य ग्रथ बाइबिल की व्याख्याएँ हैं। बाइबिल के वैज्ञानिक पाठनिर्धारण के विषय मे इनकी हेक्साप्ला नामक पुस्तक मे चार यूनानी तथा दो इब्रानी पाठ समानातर स्तभो मे प्रकाशित हैं। इनकी गभीरतम रचना पेरी अरखोन है जिसमे पहले पहल समस्त ईसाई धार्मिक विश्वासो का सुव्यवस्थित सिद्धातवादी प्रतिपादन किया गया है। ओरिजेन की मृत्यु के पश्चात् इनके कई दार्शनिक सिद्धातो का विरोध अवश्य होने लगा किंतु धार्मिक विश्वासो के साथ मानव सस्कृति के मूल्यो का जो समन्वय आपकी रचनाओ मे विद्यमान है इसके लिये ओरिजेन चिरस्मरणीय हैं।

स० ग्रं०—जे दानियेलू ओरिजेन, न्यूयार्क, १९५५।

[का० बु०]

ओरीनिको दक्षिणी अमरीका के उत्तरी भाग की एक बडी नदी है। इस नदी के क्षेत्र मे कोलबिया देश के पूर्वी मैदान का लगभग आधा भाग, समस्त वेनेजुइला तथा ऐंडीज पर्वत प्रदेश का भाग समिलित है। यह नदी सियरा पोरिमा पर्वत से निकलती है जो वेनेजुइला—ब्राज़ील की सीमा पर स्थित है। इसकी लबाई लगभग १,७०० मील है। नदी के ऊपरी भाग मे अनेक छोटे बडे प्रपात हैं जो नदी के बहाव मे बाधा डालते हैं। अपूरे के मुहाने मे ओरीनिको नदी गर्मी के मौसिम मे दो मील और वर्षा ऋतु मे लगभग ७ मील चौडी हो जाती है। स्यूदाद बोलीवार नगर के निकट इसकी चौडाई केवल ८०० फुट है। समुद्रतट से ७०० मील भीतर तक बडे जहाज चले जाते हैं। कैरीब्रिदन प्रपात के निकट ऊँचे तथा नीचे जल मे लगभग ३२ फुट का अतर मिलता है, परतु सिउदाल बोलिवर के निकट ऐंगॉस्टुरा मे लगभग ५० फुट ऊँचाई का अतर है।

इस नदी के डेल्टा का क्षेत्रफल लगभग ७०० वर्ग मील है जो द्वीपो तथा दलदल से भरा हुआ है। इसमे घनी वनस्पति भी पाई जाती है।

[वि० च० मि०]

ओरेगॉन सयुक्त राज्य, अमरीका, के उत्तरी पश्चिमी भाग मे स्थित एक राज्य है तथा साधारणत 'बीवर' राज्य कहलाता है। सेलेम इस राज्य की राजधानी है। इस राज्य के उत्तर मे वाशिंगटन राज्य है। यह अशत कोलबिया नदी तथा अशत ४६° अक्षाश रेखा द्वारा इससे अलग है। इसके पूर्व मे इदाहो राज्य है जिसकी सीमा स्नेक नदी बनाती है। पश्चिम मे प्रशात महासागर का तट है जिसकी लबाई ४३० मील है। यह राज्य पूर्व से पश्चिम ३७५ मील लबा तथा उत्तर से दक्षिण २९० मील चौडा है। इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ९६,९८० वर्ग मील है।

ओरेगॉन नगर इसी राज्य के विलामेट नदी के दाहिने किनारे पर बसा हुआ है। यह पोर्टलैंड से १२ मील दक्षिण की ओर है। इस नगर से दक्षिणी पैसिफिक रेलवे गुजरती है। इस नगर मे विलामेट नदी ४० फुट ऊँचा जलप्रपात बनाती है। इस प्रपात से जलविद्युत् का उत्पादन किया जाता है। यह नगर कागज तथा ऊनी कपडो के उत्पादन का केंद्र है। सन् १९५० ई० मे इसकी जनसख्या ७,६८२ थी।

[वि० च० मि०]

ओरोंटीज़ सीरिया देश की एक मुख्य नदी का प्राचीन नाम है। इसे ड्रैको, टाइफून अथवा ऐक्सियस भी कहते थे। इसका प्रचलित नाम अल-असी है। इस नाम की उत्पत्ति ऐक्सियस शब्द से हुई है। बेका पर्वत के पूर्व से निकलकर यह नदी उत्तर की ओर बहती हुई होम्स झील मे मिलती है। यहाँ से यह ऐंटियाक मैदान मे बहती है। ऐफरिन तथा कारा सू नामक दो सहायक नदियाँ इसमे मिलती हैं। स्वेडिया बदरगाह के निकट यह नदी समुद्र से मिलती है। इसकी लबाई लगभग १७० मील है। इसमे नौचालन कठिन है। यह नदी सेनाओ के यातायात तथा मिस्र और एशिया माइनर के बीच व्यापार के लिये उपयोगी है।

[वि० च० मि०]

ओलवाइन संयुक्त राज्य, अमरीका, के आइओवा राज्य मे एक नगर है। १९५० ई० मे इसकी जनसंख्या ७,८५८ थी। यह राज्य के उत्तर-पूर्व में स्थित है और शिकागो, ग्रेट वेस्टर्न तथा रॉक आइलैंड रेलमार्गो से जुडा हुआ है। यहाँ कई उद्योग विकसित हैं, परतु ये ऐसे प्रदेश मे हैं जहाँ कृषि, पशुपालन, दुग्धशालाएँ और मुर्गी बत्तक आदि पालने के कार्य ही प्रमुख हैं। इस नगर की नीव ओगुस्त (ओलवाइन) ने १८७३ ई० मे डाली थी। सन् १८९७ ई० मे यह एक नगर घोषित किया गया। [श्री० ना० मे०]

ओलिंपिक खेल ससार की सास्कृतिक परपरा मे ओलिंपिक खेल पुरातनकालीन यूनान (ग्रीस) की देन हैं। निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इनका श्रीगणेश कब हुआ, परतु ऐतिहासिक विवरणो से ज्ञात होता है कि यूनान देश मे ७७६ ई० पू० से लेकर ३९४ ई० तक प्रत्येक चौथे वर्ष इन खेलो का आयोजन किया जाता
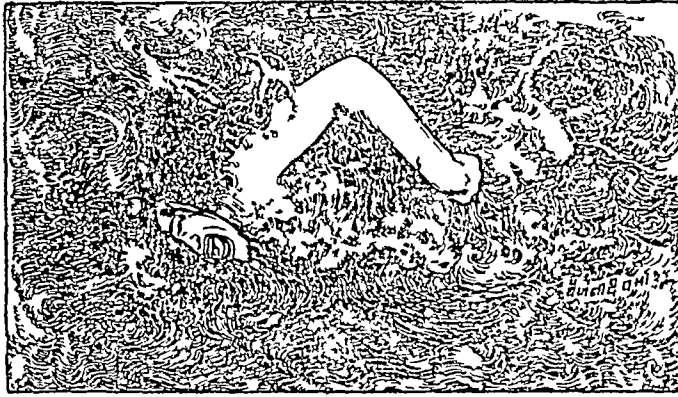
चित्र १ एक तैराक प्रतियोगी

रहा। लो के बीच के चार वर्षो की अवधि को 'ओलिंपियड' कहते थे। रोम के अधीन आ जाने पर सन् ३९४ मे रोम के सम्राट् थियोडोसियस के आज्ञानुसार यूनान मे इन खेलो का अत कर दिया गया। १५ सदियो के पश्चात् सन् १८९६ मे, आधुनिक युग का प्रथम ओलिंपिक खेल, फ्रास के बैरन पियर डी कुबरटिन के अथक प्रयासो के फलस्वरूप, पुन यूनान की राजधानी ऐथेंस मे आयोजित किया गया। इसके बाद प्रथम महायुद्ध-कालीन सन् १९१६ तथा द्वितीय महायुद्धकालीन सन् १९४० एव सन्

चित्र २ नौका दौड

१९४४ को छोड शेष अवधि मे प्रत्येक चौथे वर्ष ओलिंपिक खेल होते रहे हैं। सन् १९०० से सन् १९१२ के बीच के चार ओलिंपिक खेल क्रमानसार पेरिस (फ्रास), सेंट लुई (अमरीका), लदन (ब्रिटेन) तथा स्टाकहोम (स्वीडन) मे हुए। तत्पश्चात् सन् १९२० से सन् १९३६ के बीच ऐंटवर्प (बेल्जियम), पेरिस (फ्रास), ऐम्स्टरडैम (हालैंड), लास ऐंजेल्स (अमरीका) तथा बर्लिन (जर्मनी) ने बारी बारी से इनके आयोजन का उत्तरदायित्व सँभाला। द्वितीय महायुद्ध के बाद के खेल सन् १९४८ में लदन में, सन् १९५२ में हेलसिंकी (फिनलैंड) मे तथा सन् १९५६ में मेलबोर्न (आस्ट्रेलिया) में हुए। सन् १९६० का ओलिंपिक इटली की राजधानी रोम मे व्यवस्थित हुआ। इन खेलो के अतर्राष्ट्रीय महत्व और जनप्रियता का अनुमान इससे किया जा सकता है कि १८९६ मे केवल १३ राष्ट्रो के २८५ प्रतिनिधियो ने इसमे भाग लिया था, परतु १९५२ में ६९ राष्ट्रो के ५,८६७ खिलाडियो ने भाग लिया (जिनमें ५७३ स्त्रियाँ थी)। सन् १९५६ के मेलबोर्न खेल मे ६७ राष्ट्रो के ३,५३९ (३५३ स्त्रियाँ) प्रतियोगी समिलित हुए। आजकल के खेलो मे प्रतियोगियो के अतिरिक्त हजारो प्रबधक, सूचनावाहक, पत्रकार, डाक्टर, खेलो के निरीक्षक इत्यादि रहते हैं। दर्शको की सख्या लाखो मे आँकी गई है। खेल के आयोजन मे लाखो रुपयो का व्यय करना पडता है। इनसे अर्जित आय का लाभाश अतर्राष्ट्रीय ओलिंपिक कमेटी द्वारा विभिन्न खेलो के प्रबध तथा प्रोत्साहन पर व्यय किया जाता है।

सन् १९२४ मे ओलिंपिक खेलो के एक नए अग, अर्थात् वर्फ के खेलो की स्थापना की गई। इस शृ खला का प्रथम खेल सेंट मारिट्ज मे हुआ जिसमे १६ राष्ट्रो के २९३ खिलाडी समिलित हुए। सन् १९५६ के ये खेल इटली के कोर्टीना नगर मे हुए जिसमे ३२ देशो से आए हुए ९४७ खिलाडियो ने भाग लिया। अगला खेल सन् १९६० मे अमरीका के स्क्वा वेली नगर मे आयोजित हुआ।

प्राचीन खेलो में केवल यूनानी नागरिक समिलित हो सकते थे। स्त्रियो को खेलने अथवा दर्शक रूप मे समिलित होने की भी आज्ञा न

चित्र ३ बर्छा फेंक (जैवलीन थ्रो) का प्रतियोगी

थी। आरभ मे खेल केवल एक ही दिन होता था और उसमे केवल एक दौड होती थी। धीरे धीरे प्रतियोगियो की सख्या बढी और कई प्रकार
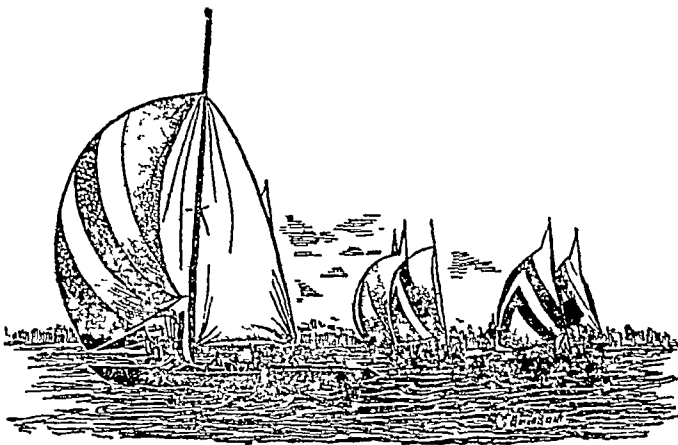
की दौड, कूद, चक्रक्षेप, वर्छा फेंकना, कुश्ती, मुक्केबाजी, रथ की दौड इत्यादि को सम्मिलित किया गया। खेल की अवधि सात दिनो की कर दी गई। इसमे कुछ धार्मिक क्रियाएँ भी होती रहती थी। ओलिंपिक खेल में प्रत्येक वर्ग के यूनानी भाग ले सकते थे—राजा और रक, अधिकारीवृद और जनसाधारण। यदि देश में युद्ध चलता रहे तो खेल की अवधि में युद्धविराम की घोषणा कर दी जाती थी। भाग लेने के पूर्व खिलाडी, उनके परिवार के सदस्य, उनके गुरु तथा खेल के निर्णायको को नियमो का पालन करने तथा सचाई मे खेल में भाग लेने की शपथ लेनी पडती थी। विजेता को पुरस्कार के रूप मे जैतून की एक टहनी भेट की जाती थी। परतु विजयप्राप्ति का महत्व इतना अधिक था कि विजेता देश के महापुरुषो मे गिना जाता था और उसके सम्मान मे कविताएँ और गीत रचे जाते तथा उसके चित्र एव मूर्तियाँ आदि बनाई जाती थी।

आजकल के खेल १६ दिनो तक होते हैं। प्रतियोगिता व्यक्तियो के बीच होती है, राष्ट्रो के बीच नही। प्रथम, द्वितीय एव तृतीय आनेवाले को क्रमश स्वर्ण, रजत तथा कास्य के पदक प्रदान किए जाते हैं।

जैसा पहले बताया जा चुका है, आधुनिक युग मे ओलिंपिक खेल को पुनर्जीवित करने का श्रेय बैरन पियर डी कोवरटीन (१८६३-१९३७) को है। ये उच्च कोटि के विद्वान् और शिक्षक थे। इनके मतानुसार प्राचीन यूनान की समृद्धि और सास्कृतिक उन्नति का एक महत्वपूर्ण कारण उनकी शारीरिक पुष्टता और खेल कूद मे भाग लेने की प्रवृत्ति थी। अत वर्तमान समय मे भी इन गुणो को प्रोत्साहित करना ससार के लिये हितकर होगा। इस भावना से प्रेरित होकर इन्होने प्रयत्न किया कि प्रति चौथे वर्ष विभिन्न देशो के खिलाडियो का ऐसा समारोह किया जाय जहाँ वे पारस्परिक भेदभाव, वैमनस्य तथा राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एव वर्ण सबधी भिन्नताओ को भूलकर सहयोग और सामजस्य के वातावरण मे खेल के मैदान में प्रतियोगिता करे। इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये इन्होने १८९४ ई० मे पेरिस मे एक सभा बुलाई, जिसमें नौ देशो के प्रतिनिधियो

चित्र ४ भारी भारवहन (हेवी वेट लिफ्टिंग) का प्रतियोगी

ने भाग लिया। इन्हीं के विचार विमर्श के परिणामस्वरूप, आधुनिक ओलिंपिक खेल की नीव पडी। आज लगभग ७६ देशो को अतर्राष्ट्रीय ओलिंपिक कमेटी द्वारा मान्यता प्राप्त है। यह कमेटी स्विट्ज़रलैंड के लॉसेन नगर मे केंद्रित है और इस समय उसमे ४७ देशो के ७२ सदस्य हैं। एक देश के तीन से अधिक सदस्य नही हो सकते। सदस्यता आजीवन रहती है। सदस्यो पर अपने राष्ट्र की सरकार तथा किसी भी अन्य सस्था का दबाव नही रहता, अपितु वे अतर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपना कार्य करते हैं। बैरन कुबरटिन स्वय १९३२ ई० तक कमेटी के सभापति रहे। उनके बाद सन् १९४२ तक बेल्जियम के काउट हेनरी डी बेले लाटूर, १९५२ तक स्वीडन के जे० सिगफ्रिड ऐडस्ट्रोम तथा उनके बाद अमरीका के एवरी ब्रडेज ने इस पद को सुशोभित किया।

इन खेलो मे केवल अवैतनिक (ऐमेच्योर) खिलाडी (अर्थात् वे खिलाडी जो खेल मे रुचि के कारण भाग लेते हैं, उसके आधार पर जीविका उपार्जन

चित्र ५ साइकिल दौड़ का प्रतियोगी

नही करते) भाग ले सकते हैं। उनका निर्वाचन अपने देश की कमेटी द्वारा होता है। ये राष्ट्रीय कमेटियाँ अतर्राष्ट्रीय ओलिंपिक कमेटी के अधीन होती हैं। आजकल १५ प्रतियोगिताएँ अनिवार्यत आयोजित की जाती है। नौ प्रतियोगिताएँ ऐच्छिक होती हैं। इनमे से उन्ही का प्रबध

चित्र ६. स्केटिंग

किया जाता है जिनमे कम से कम छ देश भाग लें और जिनका कम से कम १० देशो में खेल होता हो। स्त्रियाँ १० प्रतियोगिताओ मे भाग लेती हैं।

लास ऐंजेल्स में आयोजित सन् १९३२ के खेलो मे सर्वप्रथम ओलिपिक गाँव की प्रथा प्रारभ हुई। इसके अतर्गत समस्त खिलाडियो के रहने का प्रवध एक ही स्थान मे होता है। १९३६ के वर्लिन खेल मे पवित्र अग्नि की प्रथा चलाई गई। इसके लिये इन खेलो के प्राचीन केद्र ओलिंपिया नगर से मशाल जलाकर अनेक धावको द्वारा वर्लिन के खेल के मैदान मे जलती मशाल पहुँचाई गई, जहाँ एक विशेष कुड मे अग्नि जलाई गई। यह अग्नि खेलो की अवधि तक वरावर जलती रहती है। खेल का उद्घाटन प्रवधक देश के राष्ट्रपति या राजा करते हैं। खिलाडियो को मार्च करते हुए एक केद्रीय स्थान पर जमा होना पडता है। यूनान की टीम आगे रहती है, तत्पश्चात् वर्णानुसार अन्य देशो की टीमे। अत मे प्रवधक देश की टीम रहती है। उस देश का कोई प्रमुख खिलाडी सव प्रतियोगियो की ओर से शपथ लेता है कि हम सच्चाई, सद्भावना तथा न्यायोचित ढग से अपने राष्ट्र तथा ससार मे खेल कूद के गौरव के हेतु भाग लेगे। इसके पूर्व ओलिपिक झडा, जिसमे सफेद पृष्ठभूमि पर नीले, पीले, काले, हरे और लाल रग के पाँच वृत्त रहते हैं, फहराया जाता है, हजारो कवूतर छोडे जाते तथा तोपे दागी जाती हैं। खेल की समाप्ति अत्यत रोचक और आकर्षक ढग से की जाती है। पवित्र अग्नि वुझा दी जाती है, पाँच वार तोप दागी जाती और ओलिपिक वदना गाई जाती है।

सन् १९२८ से लेकर १९५६ तक भारत की हाकी टीमें ओलिपिक खेलो में निरतर विजयी रही हैं, परतु १९६० मे पाकिस्तानी टीम विजयी हुई।

ओलिपिक कीर्तिमानो (रेकार्डो) की सूची (१९५६ ई० तक)

प्रतियोगिता	स्थान	वर्ष
१०० मीटर	लास ऐंजेल्स	१९३२
	वर्लिन	१९३६
	लदन	१९४८
	मेलवोर्न	१९५६
	"	१९५६
२०० मीटर	मेलवोर्न	१९५६
४०० मीटर	हेलसिंकी	१९५२
	"	१९५२
४०० मीटर रिले	मेलवोर्न	१९५६
८०० मीटर	मेलवोर्न	१९५६
१,५०० मीटर	"	१९५६
१,६०० मीटर रिले	हेलसिंकी	१९५२
३,००० मीटर स्टीपलचेज़	मेलवोर्न	१९५६
५,००० मीटर	मेलवोर्न	१९५६
१०,००० मीटर	मेलवोर्न	१९५६
११० मीटर हर्डल	मेलवोर्न	१९५६
४०० मीटर हर्डल	"	१९५६
मैरायॉन (२६ मील ३८५ गज)	हेलसिंकी	१९५२
१० किलोमीटर पैदल	मेलवोर्न	१९५६
५० किलोमीटर पैदल	हेलसिंकी	१९५२
ऊँची कूद	मेलवोर्न	१९५६
लवी कूद	वर्लिन	१९३६
हॉप स्टेप कूद	मेलवोर्न	१९५६
पोल वॉल्ट	मेलवोर्न	१९५६
गोला फेक	"	१९५६
हयौडा फेंक	"	१९५६
चक्रक्षेप	"	१९५६
वर्छा फेक	"	१९५६
डेकैथलान (१० प्रतियोगिताओ के आधार पर)	"	१९५६

विजेता	राष्ट्र	समय तथा दूरी
ई० टोलेन	सयुक्त राष्ट्र अमरीका	१० ३ सेकड
जे० ओवेस	"	"
एच० डिलार्ड	"	"
आर० मारो	"	"
आई० मरचिसन	"	"
आर० मारो	"	२० ६ सेकड
वी० रोडन	जमैका	४५ ९ सेकड
एच० मकिनली	"	"
आई० मरचिसन, एल० किंग, टी० बेकर तथा आर० मारो।	सयुक्त राष्ट्र अमरीका	३९ ५ सेकड "
टी० कुर्टनी	"	१ मि० ४७ ७ से०
आर० डिलेनी	आयर	३ मि० ४१ २ से०
ए० विंट, एल० लैंग, एच० मकिनली, तथा वी० रोडन।	जमैका "	३ मि ३ ९ सेकड "
सी० ब्रेशर	ग्रेट ब्रिटेन	८ मि० ४१ २ से०
वी० कुट्स	रूस	१३ मि० ३९ ६ से०
वी० कुट्स	"	२८ मि० ४५ ६ से०
एल० केलहून	सयुक्त राष्ट्र अमरीका	१३ ५ सेकड
जे० डेविस	"	"
जी० डेविस	"	५० १ सेकड
इ० सदर्न	"	"
इ० ज़ाटोपेक	चेकोस्लोवेकिया	२ घटा २३ मिनट ०३ २ से०
एल० स्पिरिन	रूस	१ घटा ३१ मिनट २७ ४ से०
जी० डारडानी	इटली	४ घटा २८ मि० ७ ८ से०
सी० ड्यूमस	सयुक्त राष्ट्र अमरीका	६ फुट ११½ इच (२ १२ मीटर)
जे० ओवेंस	"	२६ फुट ५¾ इच (८ ०६ मीटर)
ए० एफ० डीसिल्वा	ब्राजिल	५३ फुट ७½ इच (१६ ३५ मीटर)
आर० रिचर्डस	सयुक्त राष्ट्र अमरीका	१४ फुट ११½ इच (४ ५६ मीटर)
पी० ओब्रायन	"	६० फुट ११ इच (१८ ५७ मीटर)
एच० कानोली	"	२०७ फुट ३½ इच (६३ १९ मीटर)
ए० ओर्टर	"	१८४ फुट १०½ इच (५६ ३६ मीटर)
इ डेनियलसन	नारवे	२८१ फुट २½ इच (८५ ७१ मीटर)
एम० केपवेल	सयुक्त राष्ट्र अमरीका	७,९३७ अक

स० ग्र०—प्रत्येक खेलसमुदाय के लिये सचालक समिति द्वारा कार्यविवरण छपता है। इन विवरणो के अतिरिक्त कई पुस्तकें भी हैं, उदाहरणत विल हेनरी अप्रूव्ड हिस्ट्री ऑव दि ओलिपिक गेम्स (१९४८)। [सं० ल० प०]

ओलिंपिया नगर प्राचीन काल मे ओलिपिक खेलो का स्थल था। यह यूनान देश के पश्चिमी मोरिया में रूफिया नदी के उत्तरी किनारे पर आधुनिक पिरगोस नगर से ११ मील पूर्व स्थित है।

यूनान के इतिहास में इस नगर का धार्मिक और राजनीतिक महत्व रहा है। हीरा का मदिर प्राचीनतम विद्यमान भवन है जिसका निर्माण,

अपने मौलिक रूप मे, सभवत ईसा से १,००० वर्ष पूर्व हुआ था। यहाँ खेलो की उत्पत्ति के सवध मे विभिन्न धारणाएँ है। एक मत के अनुसार पहली दौड पेलौप्स और ओनोमौस के बीच हुई थी, किंतु द्वितीय मतानुसार यहाँ सर्वप्रथम हेराकिल्स द्वारा खेलकूदो का उत्सव मनाया गया था। ११वी शताब्दी के यूनानी लेखक सेड्रीनस के अनुसार ओलिपिक उत्सव ३९३ ई० तक ही मनाए गए।

ओलिपिया अथवा ओलिंविया का वर्तमान गाँव क्लाडियस नदी के दूसरे तट पर स्थित है। यहाँ एक सग्रहालय भी है। [श्री० ना० मे०]

ओलैंड वाल्टिक सागर मे गोटलैंड के पास स्वीडेन का एक द्वीप है और कलमर जलडमरूमध्य द्वारा स्वीडेन मे पृथक् है। इसकी अधिकतम लवाई ८५ मील तथा चौडाई १० मील है और कुल क्षेत्रफल ५१६ वर्ग मील है। यहाँ का एकमात्र प्रमुख नगर वोरघम है जहाँ २,०४१ मनुष्य वसते है। यहाँ पुराने किले के भग्नावशेष विद्यमान है। पहले यहाँ के निवासी ओनिनगर कहलाते थे। भाषा, रीति रिवाज तथा आकृति के विचार से वे भिन्न जातियो के वशज ज्ञात होते है। यह द्वीप चूने के पत्थर का वना है जो स्वीडेन के तटीय भाग से भिन्न है। इसके पूर्वी और पश्चिमी किनारो पर क्रमश रेत और चूने के वने ९० तथा २०० फुट ऊँचे दो पर्वतहै, जिन्हे लैंडवोर्गर कहते हैं। उत्तर तथा दक्षिण मे रेतीले भाग है जिनपर झाडियाँ पाई जाती है। इस द्वीप मे हार्नसिओ (Hornsjo) नाम की तीन मील लवी एक झील है। [श्री० ना० मे०]

ओल्ढम, टामस भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग (जिओलॉजिकल सर्वे आव इडिया) के इस प्रथम अध्यक्ष का जन्म ४ मई, १८१६ ई० को डवलिन मे हुआ था। इनकी शिक्षा डवलिन तथा एडिनवरा विश्वविद्यालयो मे हुई। १८४५ मे ये डवलिन विश्वविद्यालय के भूविज्ञान विभाग मे प्रोफेसर हुए। १८४६ मे ये आयरलैंड भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए तथा १८४८ मे रॉयल सोसाइटी के फेलो चुने गए।

४ मार्च, १८५१ को इन्होने भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग की वागडोर सँभाली। इनके कार्यकाल मे इस विभाग की सर्वागीण उन्नति हुई। १८५८-५९ मे सर्वेक्षण की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित हुई। १८५९ मे भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग की अनुसधान पत्रिका (मेमॉयर्स) का शुभारभ हुआ। १८६१ मे पैलिओण्टॉलोजिक इडिका नामक ग्रथमाला का श्रीगणेश हुआ। १८६४ मे आपने भारत के कोयले के क्षेत्रो पर अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की।

२५ वर्षो की निरतर सेवा के उपरात १८७७ मे ६० वर्ष की आयु मे आपने अवकाश प्राप्त किया। १७ जुलाई, १८७८ को रगवी (इग्लैंड) में आपका देहावसान हुआ। [म० ना० मे०]

ओविद इसका पूरा नाम पुब्लियुस ओविदियुस नासो था। इस रोमन कवि का समय ई० पू० ४३ से ई० १७ तक माना जाता है। इसका जन्म सुल्मो नामक नगर मे हुआ था और यह जन्मना अश्वारोही पद का अधिकारी था। इसने रोम मे विधि (कानून) और वाक्चातुर्य की शिक्षा प्राप्त की थी। अरेल्लियुस फुस्फुस और पोर्कियुस लात्रो इसके गुरु थे। यद्यपि इसके पिता ने इसे अभिवक्ता या वकील वनाना चाहा, तथापि यह अपना हृदय आरभ से ही कविता को समर्पित कर चुका था। कुछ समय तक तो यह अपने पिता की आज्ञा मानकर अपनी शिक्षा पूरी करने के लिये एथेस मे रहा किंतु तत्पश्चात् इसने सिसली और लघु एशिया की यात्रा की। युवावस्था में पिता की मृत्यु के पश्चात् इसने रोम नगर मे अपने को कविता और प्रेम को समर्पित कर दिया। पैतृक सपत्ति के कारण यह आर्थिक चिताओ से मुक्त था। इसने तीन वार विवाह किया और सभवत दूसरे विवाह से उसकी एकमात्र सतान एक पुत्री का जन्म हुआ।

ई० पू० १४ में उसकी प्रथम रचना 'अमोरेस' निर्मित हुई। इसमे उसने एक काल्पनिक प्रेमिका कोरिन्ना के प्रति अपने हृदय की प्रेमभावना को काव्य का रूप प्रदान किया है। प्रथम सस्करण मे इसमे पाँच पुस्तके थी, पर दूसरे सस्करण मे पुस्तको की सख्या घटाकर तीन कर दी गई। निर्मित होते ही इस पुस्तक के लेखक की ख्याति सारे रोम मे फैल गई। इसी समय के आसपास उसने 'मीदिया' नामक ट्रेजेडी की भी रचना की। परतु आजकल इस नाटक की कुछ पक्तियाँ ही उपलब्ध है। इसके पश्चात् उसने वीरागनाओ के प्रेमपत्रो की रचना की जिनका प्रकाशन 'हेरोइदेस' के नाम से हुआ। सव पत्रो की सख्या २१ है, पर मूलत इन पत्रो की सख्या इससे अधिक थी। वगीय कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने इस रचना के अनुकरण पर 'वीरागना' नामक काव्य की रचना की है। ओविद के मित्र आउलुस साविनुस ने इन पत्रो का उत्तर लिखना आरभ किया था। साविनुस के भी तीन पत्र उपलब्ध है। ई० पू० २ मे ओविद की प्रेम सववी सर्वोत्कृष्ट रचना 'आर्स अमातोरिया' (प्रेम की कला) है। प्रेम की देवी वेनुस के द्वारा कवि को प्रेम की कला का दीक्षागुरु नियुक्त किया गया है अतएव उसने तीन पुस्तको मे इस काव्य की रचना की, ऐसा ओविद ने इस ग्रथ के आदि और अत मे लिखा है। उस समय की रगरेलियो से पूर्ण रोमन समाज की पृष्ठभूमि में इस काव्य के प्रकाशन से दो परिणाम घटित हुए। एक ओर तो कवि उस समाज मे और भी अधिक प्रिय हो गया, और दूसरी ओर सम्राट् औगुस्तु, जो उस समाज का सुधार करने के लिये कटिवद्ध था तथा जिसने आचरण सवधी शिथिलता के कारण अपनी एकमात्र सतान यूलिया (जूलिया) तक को निर्वासित कर दिया था, कवि के प्रति अत्यत रुष्ट हो गया। कवि ने प्रायश्चित्तस्वरूप 'रेमेदिया अमोरिस' (प्रेम का उपचार) नामक काव्य की रचना की जो आकार मे 'प्रेम की कला' के तृतीयाश के वरावर है। इस रचना मे प्रेमोन्माद को दूर करने के उपाय वतलाए गए है। सभवतया इस समय से कुछ पहले उसने एक छोटी सी कविता साजश्रृगार के सवध मे भी लिखी थी जिसका नाम 'मेदिकामिना फाकियेइ फेमिनियाए' (रमणियो के मुखडे का इलाज) है। इसकी सामग्री यूनानी ग्रथो से ग्रहण की गई है।

'प्रेम की कला' मे ओविद की प्रतिभा अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी। अव उसने दो महान् रचनाओ का श्रीगणेश किया जिनमे से प्रथम का नाम है मेतामोर्फोसिस (रूपातर) और दूसरी का 'फास्ती' (वात्सरिक उत्सवमालिका)। यूनान और रोम दोनो ही राष्ट्रो मे ऐसी प्राचीन कथाएँ मिलती है जिनमे अनेक वस्तुओ और मनुष्यो के रूपातर का वर्णन पाया जाता है, जैसे अव्यवस्था का व्यवस्था मे परिवर्तित हो जाना, जूलियुस कैसर (सीज़र) का मरणोपरात तारे के रूप मे वदल जाना, इत्यादि। ओविद ने इन कथाओ को १५ पुस्तको मे एक विशाल एव कलापूर्ण काव्य के रूप मे प्रस्तुत किया है। यह काव्य यूरोप की कला और साहित्य का आकारग्रथ सिद्ध हुआ है। पाश्चात्य जगत् की पौराणिक कथाओ से परिचित होने के लिये यह अकेली रचना पर्याप्त है।

फास्ती (वात्सरिक उत्सवमालिका) मे कवि ने रोमन सवत्सर के प्रत्येक मास का ज्योतिष, इतिहास और धर्म की दृष्टि से वर्णन आरभ किया था। परतु इसी समय, लगभग ७ ई० मे, कवि के भाग्य ने पलटा खाया और जव वह ऐल्वा नामक द्वीप मे था, उसको पता चला कि सम्राट् औगुस्तु ने उसको निर्वासित कर दिया। उसकी सपत्ति का अपहरण नही किया गया, और निर्वासन आज्ञा मे कोई कारण भी निर्दिष्ट नही किया गया। इसके अनुसार उसको अपना शेष जीवन कृष्णसागर के तट पर स्थित 'तोमिस' (वर्तमान नाम कॉस्ताजा) मे व्यतीत करना पडा। यह नगर सभ्यता की परिधि से परे था। इसी समय के लगभग सम्राट् ने अपनी दौहित्री छोटी यूलिया (जूलिया) को भी आचारशथिल्य के कारण निर्वासित किया था। कुछ व्यक्ति इन दोनो निर्वासनो का सवध जोडते है पर वास्तविकता का पता किसी को नही है।

तोमिस मे कवि का जीवन अत्यत दु खमय था। उसने वहाँ जो पद्यमय पत्रादि लिखे उनमे उसने अपने निर्वासन को समाप्त करने की प्रार्थना न जाने कितने व्यक्तियो से कितनी वार और कितने प्रकार से की। परतु उसका फल कुछ नही निकला। औगुस्तु के पश्चात् तिवेरियुस सम्राट् वना किंतु उसने भी ओविद की एक न सुनी। अत मे यही ई० १७ या १८ मे उसकी जीवनलीला समाप्त हो गई। तोमिस से उसने जो कवित्वमय पत्र लिखे उनका सग्रह 'तिस्तिया' कहलाता है। इसको ओविद का विशालकाय 'मेघदूत' कह सकते है। इन पत्रो मे कवि की व्यथा का वर्णन है। जो पत्र उसने अपनी पत्नी और पुत्री को लिखे है वे कारुण्य से परिपूर्ण है। एक दूसरा पत्रसग्रह 'एपिस्तुलाए एक्स पोत्तो' कहलाता है। व्यथित कवि ने 'इविस' नाम से एक अभिशाप भी लिखा है जिसमे उसने एक

'अनाम' शत्रु को शाप दिया है। इसके अतिरिक्त उसने दो छोटी पुस्तकें मछलियो और अखरोट के सबध मे 'हलियुतिका' और 'नुक्स' नाम से लिखी थी। ओविद की बहुत सी रचनाएँ आजकल विलुप्त हो चुकी हैं, उनके यत्रतत्र उल्लेख भर मिलते हैं।

ओविद मुख्यतया प्रेम का कवि है। उसके चरित्र मे प्राचीन रोमन वीरो की दृढता नही थी। एक प्रकार से उसका चरित्र भावी इटालियन कासानोवा के चरित्र का पूर्वाभास था। उसकी शैली स्वच्छ और ओजस्वी है। प्राचीन यूनान और रोम के साहित्य का उसका ज्ञान अगाध था। आगे आनेवाले यूरोपीय साहित्य और कला पर उसकी प्रतिभा की छाप अमिट रूप से विद्यमान है। 'मेतामोर्फोसिस' (रूपातर) के अत मे उसने लिखा था "पैर साएकुला ओम्निया विवाम्"—"मैं जीऊँगा सदा सर्वदा।"

स० ग्र०—(मूल ग्रथ) टायब्नर और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के सस्करण, (अनुवाद अग्रेजी) लोएब क्लासिकल लायब्रेरी मे छ जिल्दो मे, जार्ज बेल कपनी का केवल अग्रेजी अनुवाद, तीन जिल्दो मे, (आलोचना इत्यादि) मैकेल लैटिन लिटरेचर, वाइट डफ राइटर्स ऑव रोम। [भो० ना० श०]

ओव्येदो

१ स्पेन के उत्तर-पश्चिम में अपने नाम के प्रात की राजधानी है, जो नालोन नदी से १० किलोमीटर पूर्व की ओर और बिस्के की खाडी के तट से ३५ किलोमीटर दूर स्थित है। यह लबी चौडी घाटी के दक्षिणी सिरे पर पहाडी के ऊपर बसा है। इसकी स्थिति ४३° २०' उत्तरी अक्षाश तथा ५०° ५३' पश्चिमी देशातर पर है। इसका ऐतिहासिक नाम ओवीटम था जो किसी समय लेओँ के राजाओ की राजधानी था। सन् १९५१ ई० के अत मे यहाँ की जनसख्या १,०६,२०० थी।

यह नगर लेओँ द्वारा होकर मैड्रिड सेटैंजर, हिहॉन तथा आविलेस से रेलमार्ग द्वारा मिला है। ओव्येदो के पास ही कोयले और लोहे की बडी खाने हैं। स्पेन का सबसे अधिक कोयला यही निकाला जाता है। जस्ता, चाँदी तथा सगमरमर भी यहाँ पाया जाता है। इस नगर में कई कारखाने स्थापित हैं, जिनमे मुख्य लोहा और फौलाद, हथियार, सूती और ऊनी कपडे, चमडा तथा दियासलाई तैयार करने के हैं। यह निकटवर्ती क्षेत्र का भौगोलिक केंद्र है तथा यहाँ एक विश्वविद्यालय भी है।

२ ओव्येदो नाम का दूसरा नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, मे फ्लोरिडा स्टेट के बालूसिया प्रदेश के दक्षिणी भाग मे बसा है। इसकी स्थिति २८° ४०' उत्तरी अक्षाश तथा ८१° १२' पश्चिमी देशातर पर है। १९४० ई० मे यहाँ की जनसख्या १,३५६ थी। यह रेल द्वारा सैनफोर्ड, और ओरलैंडो से मिला है। ऐटलाटिक तट रेलवे मार्ग यहाँ से होकर जाता है। [ल० कि० सि० चौ०]

ओशावा

कैनाडा के ओटेरियो राज्य के उसी नाम के प्रदेश तथा झील पर एक औद्योगिक नगर तथा पत्तन है। यह टोरटो से ३० मील पूर्व-उत्तर-पूर्व की ओर कैनेडियन नेशनल तथा कैनेडियन पैसिफिक रेलमार्गो पर बसा हुआ है। इस नगर के उद्योग धधो में मोटर गाडी के कारखाने, आटे तथा ऊनी कपडे की मिले, लकडी का सामान तथा कृषि सबधी यत्रो का निर्माण मुख्य हैं। सन् १९५१ ई० मे यहाँ की जनसख्या ४१,५४५ थी। [वि० च० मि०]

ओशिमा

क्यूशिओ के दक्षिण मे तीन छोटे छोटे द्वीपो के समूह को कहते हैं। इनपर जापान का अधिकार है। यह ३०° ५०' उत्तरी अक्षाश तथा १३०° पूर्व देशातर पर स्थित है। पश्चिम से पूर्व की ओर इन द्वीपो के नाम क्यूरोशिमा, आयोशिमा तथा टकैशिमा हैं। क्युरोशिमा की ऊँचाई २,४७५ फुट है तथा आयोशिमा मे २,४८० फुट की ऊँचाई पर एक ज्वालामुखी स्थित है। [वि० च० मि०]

ओसाका

नगर जापान का एक मुख्य औद्योगिक केंद्र है। यह नगर तीन ओर पर्वतो से घिरा हुआ है परतु दक्षिण-पश्चिम मे ओसाका की खाडी है। यह नदियो की अनेक शाखाओ द्वारा बँटा हुआ है। ओसाका और कोबे के बीच पानी के जहाज चलते हैं। हिउगो (Hiogo) अथवा कोबे तथा ओसाका रेल के बडे केंद्र हैं। १८७३ ई० मे रेलमार्ग बनने के उपरात कोबे मे विदेशी व्यापार का विकास हुआ तथा ओसाका मे पानी के जहाज का बदरगाह बनाया गया।

रेनियो शोनिन ने सन् १४९५-९६ ई० में एक मदिर बनवाया था, जहाँ पर इस समय एक दुर्ग बना हुआ है। वही पर यह नगर भी बस गया। १९२५ ई० मे इस नगर का अधिक विकास हुआ और कुछ समय के लिये यहाँ की आबादी जापान के सब नगरो से अधिक हो गई थी। १९०९ ई० में लगभग एक तिहाई नगर आग लग जाने मे नष्ट हो गया था। इसके पश्चात् अच्छे मकान तथा अधिक चौडी सडकें बनी। सन् १९४० ई० में इसकी आबादी ३२ लाख के लगभग थी। द्वितीय महायुद्ध मे सहस्रो मकान नष्ट हो गए परतु १९४६ ई० तक लगभग १,००,००० नए मकान बन गए। परतु इसकी आबादी घटकर आधी (१९४८ १६ लाख के लगभग) हो गई। इस बदरगाह का विकास बराबर होता जा रहा है। इसकी तुलना मैचेस्टर से हो सकती है। [वि० मि० च०]

ओस्टवाल्ड

विल्हेल्म ओस्टवाल्ड (१८५३-१९३२ ई०) प्रसिद्ध रसायनज्ञ थे। उनका जन्म रीगा मे हुआ था। प्रारभ मे उन्होने अध्यापन का कार्य डोरपत विश्वविद्यालय तथा पीछे रीगा पॉलिटेक्नीक में किया। उसके बाद वे लाइपजिग मे प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए। शीघ्र ही वे अच्छे अध्यापक के रूप में लोकप्रसिद्ध हो गए और दूर देशो के विद्यार्थी उनके पास आने लगे। अपने व्याख्यानो तथा पुस्तको में अर्रहिनियस के 'इलेक्ट्रॉलिटिक डिसोसिएशन' के सिद्धात का उन्होने अत्यधिक समर्थन किया। भौतिक रसायन के अनेक विषयो मे उन्होने अनुसधान किया जिससे आधुनिक भौतिक रसायन के क्षेत्र मे उनका नाम अमर हो गया है। १९०९ मे उन्हे उत्प्रेरण (कैटालिसिस), रासायनिक क्रियाओ की गति तथा सतुलन (इक्वीलिब्रियम) के नियमो के काय पर नोबेल पुरस्कार मिला। अपने समय के वे प्रसिद्ध लेखक भी थे। उन्होने १८८७ मे 'साइट् शिफ्ट फूर फिजिकलीशे केमी' नामक पत्रिका निकाली तथा कई पुस्तकें भी लिखी। परिणामत विज्ञानजगत् में उनकी पर्याप्त ख्याति हो गई। उनकी कई पुस्तको का अग्रेजी मे भी अनुवाद हुआ है।

स० ग्र०—अर्न्स्ट फोन मेयर (जॉर्ज मैक्गोवन द्वारा अनूदित) ए हिस्ट्री ऑव केमिस्ट्री (१९०६), हेनरी मॉनमथ स्मिथ, टार्च बेयरस ऑव केमिस्ट्री। [वि० वा० प्र०]

ओस्लो

नॉर्वे देश का सबसे बडा नगर एव राजधानी है। इसका पुराना नाम क्रिस्ट्यानिआ था, जो नार्वे के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ के नाम पर, १६२६ ई० मे रखा गया था। १९२५ ई० में इसका नाम बदलकर ओस्लो पडा। यह नार्वे के दक्षिणी-पूर्वी समुद्रतट पर ओस्लो फयोर्ड के उत्तरी सिरे पर स्कैगरैक के खुले समुद्र से ८० मील दूर ५९° ५४' उत्तरी अक्षाश तथा १०° ४५' पूर्वी देशातर पर स्थित है। शहर के बीच से एकर नाम की छोटी नदी उत्तर से दक्षिण को बहती है। यह नॉर्वे के सबसे अधिक उपजाऊ और घने आबाद प्रदेश का भौगोलिक केंद्र है। यहाँ सर्वोच्च न्यायालय, ससद भवन तथा विश्वविद्यालय हैं। इस नगर का क्षेत्रफल ४५३ २८ वर्ग किलोमीटर है। यहाँ की जनसख्या १९५० ई० के अत मे ४,३४,०४७ थी, जो पूरे देश की १३ प्रति शत थी। नगर मे जनसख्या का मध्यमान घनत्व १,००७ मनुष्य प्रति वर्ग किलोमीटर है।

ओस्लो क्षेत्र मे रेलो का घना जाल बिछा है और कई दिशाओ से रेलमार्ग आकर यहा मिलते हैं। विद्युत्सचालित रेले इस नगर को फ्रेडरिक स्टा, यटेबॉरइ, गोटेबर्ग, स्टाकहोम, ट्रॉनहम, बैर्जेन शेएन तथा स्टावाजर से जोडती हैं।

यह सदर, सुरक्षित प्राकृतिक पत्तन है और अपने पश्च प्रदेश से भली भाँति सबधित है। स्टीमर पास के द्वीपो और फयोर्ड के किनारे स्थित नगरो और नॉर्वे के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित बडे पत्तनो को जाते हैं। यह पत्तन जाडे की ऋतु मे तीन या चार महीने बर्फ के कारण बद रहता है।

यहाँ कई प्रकार के कारखाने हैं जो अधिकतर जलविद्युत् से चलते हैं, जैसे जहाज बनाने, सूती, ऊनी तथा लिनेन कपडा बनाने, लकडी चीरने, लुगदी और कागज बनाने, आटा पीसने, दियासलाई बनाने, लोहा गलाने, इजीनियरिंग का सामान बनाने, एल्युमिनियम, रासायनिक द्रव्य, मछली

तथा दूध से बने सामान बनाने के कारखाने। नॉर्वे का अधिकतर व्यापार यहीं से होता है।

निर्यात—लकडी की लुगदी, कागज, दियासलाई, चमडा, दूध तथा मछली से बना सामान।

आयात—अनाज, आटा, रुई, ऊन, कहवा, लोहा, कोयला, पेट्रोल, शक्कर, मशीनें तथा खनिज पदार्थ। [ल० कि० सिं० चौ०]

ओहायो १ मिसिसिपि की पूर्वी सहायक नदियो में से सबसे महत्वपूर्ण नदी है। यह अलेघनी तथा मोनोगाहीला नदियो के सगम से पिट्सबर्ग के पास बनी है। इसकी लबाई ९६७ मील है तथा जलप्रवाह क्षेत्र २,१०,००० वर्ग मील है। औसत जलप्रवाह १,५८,००० घन फुट प्रति सेकड है। इसमे सबसे महत्वपूर्ण जलप्रपात लूइ-विल के पास है। जल-प्रवाह-क्षेत्र की औसत वार्षिक वर्षा ४३'' है। दक्षिण मे नदी मे बहुधा बाढ आ जाती है। नौतरण किया जाता है। १८२५ ई० से पूर्व, जब ईरी नहर निर्मित नही हुई थी, ओहायो नदी आवागमन तथा व्यापार का प्रमुख मार्ग थी। इस नदी का पता सन् १६७० ई० में रॉबर्ट कावाल्ये, स्यर-डि-ला-साल, ने लगाया था। [श्री० ना० मे०]

२ सयुक्त राज्य, अमरीका, का उत्तरी मध्यवर्ती राज्य है जो लगभग ३८° २५' उत्तरी अक्षाश से ४१° ५८' उत्तरी अक्षाश तक तथा ८०° ३१' पश्चिम देशातर से ८४° ४९' पश्चिम देशातर तक फैला हुआ है। यह लगभग वर्गाकार है और २२० मील लबा तथा २१० मील चौडा है। कुल क्षेत्रफल ४१,२२२ वर्ग मील है जिसमे से २२२ वर्ग मील जलमग्न है। इसके पश्चिम मे प्रेयरीज मैदान तथा पूर्व मे अलेघनी पठार है। नदियो के कटाव से यहाँ अगणित पहाडियाँ तथा घाटियाँ बन गई हैं। गतिशील हिमराशियो ने इन घाटियो तथा अन्य ऊबड खाबड भूमि को मिट्टी से भर दिया है। अत उत्तर-पश्चिम मे बडे बडे समतल क्षेत्र बन गए हैं। राज्य की समुद्रतल से औसत ऊँचाई ८५० फुट है पर कही कही १,५५० फुट और ४२५ फुट की ऊँचाइयाँ भी मिलती हैं। प्रमुख जलविभाजक के उत्तर की नदियाँ ईरी झील मे तथा दक्षिण की ओहायो नदी मे गिरती हैं। ब्लैक, वरमीलियन तथा ह्यूरन नदियाँ उन दलदली भागो से निकलती हैं जो जल विभाजक पर स्थित हैं। ओहायो नदी दक्षिणी सीमा पर ४३६ मील तक एक सँकरी घाटी से होकर बहती है। ईरी झील उत्तर मे लगभग २३० मील तक राज्य की सीमा बनाती है। यहाँ पाई जानेवाली प्राकृतिक वनस्पतियाँ तथा जीवजतु समशीतोष्ण कटिबधीय हैं। वार्षिक तापमान ५१° फा० है। वार्षिक वर्षा ३९'' है। पूर्वी मध्यवर्ती भाग मे चूनेवाली मिट्टी, घाटियो मे कछारी मिट्टी तथा अन्यत्र हिमानी मिट्टी पाई जाती है। १९५० ई० मे यहाँ की जनसख्या ७९,४६,६२७ थी तथा उसका औसत घनत्व १९३ ८ मनुष्य प्रति वर्ग मील था। यहाँ की ७० २% जनसख्या नागरिक, तथा शेष ग्रामीण है। गृहपरिवारो की सख्या २३,१४,५५७ थी। फसलो मे मक्का, गेहूँ, सोयाबीन, आलू, तबाकू, राई और जौ की फसलें तथा फलो मे सेब, अगूर और अखरोट प्रमुख हैं। पशुओ तथा मुर्गो द्वारा किसान फसलो से दूना धन कमा लेते हैं। कच्चा लोहा, कोयला, तेल, चूना तथा नमक यहाँ पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं और लोहे, इस्पात, रबर, रासायनिक पदार्थ, शीशा, तेल, कागज, लकडी तथा चमडा तैयार करने के कारखाने हैं। इस राज्य के प्रमुख औद्योगिक नगर क्लीवलैंड, एक्रन, सिंसिनाटी, टोलेडो, यग्सटाउन, डेटन, कोलबस तथा स्प्रिंगफील्ड हैं और रेल तथा सडको के होते हुए भी जलमार्ग महत्वपूर्ण है। [श्री० ना० मे०]

ओंटेरियो १ कैनाडा का एक राज्य है। यह पूर्व मे क्विवेक, दक्षिण मे न्यूयार्क, ओहायो, मिशिगन तथा मिनिसोटा राज्यो से, पश्चिम मे मैनिटोबा राज्य तथा उत्तर मे हड्सन और जेम्स की खाडियो से घिरा हुआ है। यह पूर्व से पश्चिम १,००० मील तथा उत्तर से दक्षिण लगभग १,०५० मील के अतर्गत फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल लगभग ४,१२,५८० वर्ग मील है। यह कैनाडा के सभी राज्यो से घना बसा हुआ है। इसकी अधिकाश जनसख्या ८० वें भाग मे बसी हुई है।

इस राज्य मे अनेक झीलें तथा नदियाँ फैली हुई हैं। इनमे से सबसे मुख्य सेंट लारेंस नदी तथा ग्रेट लेक्स हैं। निपिगॉन झील (५० मील

चौडी तथा ७० मील लबी) से सेंट लारेंस नदी निकलती है। जितनी नदियाँ सुपीरियर झील मे गिरती हैं वे अधिकतर प्रपात बनाती हैं। इस कारण इनसे उत्पन्न जलविद्युत् का औद्योगिक केंद्रो मे उपयोग होता है।

इस राज्य की जलवायु पर अक्षाशो तथा ग्रेट लेक्स का प्रभाव पडता है। लेक सुपीरियर के उत्तरी किनारे तक शीतकाल मे अधिक ठढक पडती है और यहाँ का तापक्रम कभी कभी ५०° फा० तक पहुँच जाता है। साथ साथ गर्मी की ऋतु सुहावनी होती है क्योकि इस समय दिन गरम तथा रातें ठढी होती हैं। उत्तरी भाग मे कोक्रेन नगर मे तापक्रम का अतर जनवरी मे ०° फा० से लेकर गर्मियो मे ६८° फा० तक हो जाता है।

यहाँ की जनसख्या के आँकडे निम्नाकित हैं

	१९११	१९२१	१९३१
राज्य की जनसख्या	२५,२७,३००	२९,३३,६००	३४,३१,६००
" "	१९४१	१९५१	
" "	३७,८७,६००	४५,९७,५००	
कैनाडा की जनमस्या	३५ ०७	३३ ३८	३३ ०७
का प्रति शत (क्रमग)	३२ ८९	३२ ८२	

७० वर्षो मे यहाँ की जनसख्या मे १३१ ७७ प्रति शत वृद्धि हुई है, परतु देश की जनसख्या के साथ इस राज्य की जनसख्या का अनुपात क्रमश घटता जा रहा है औद्योगिक क्षेत्र मे यह राज्य कैनाडा के अन्य राज्यो से बढा हुआ है। १९४० ई० तक यहाँ के औद्योगिक धधो का अनुपात कैनाडा के सब राज्यो से अधिक था। इस आर्थिक विकास के कई कारण हैं। इनमे से सबसे मुख्य यहाँ की उपजाऊ भूमि है। साथ साथ यहाँ के घने वन तथा अनेक खनिज पदार्थ भी हैं। जलविद्युत् अधिक तथा सस्ती है और ग्रेट लेक्स तथा सेंट लारेंस से आने जाने के सस्ते जलमार्ग की सुविधा भी है। यहाँ के उद्योग-धधो मे मोटर गाडियाँ, कृषियत्रो का निर्माण, विद्युद्यत्र, कागज तथा रबर के सामान, चमडा, मक्खन, लोहे तथा इस्पात का निर्माण और लकडी के सामान उल्लेखनीय हैं।

औटेरियो का लगभग ६० प्रति शत क्षेत्र वनो से ढका हुआ है। यहाँ के वन चौडी पत्तीवाले पेडो से भरे हुए हैं। वाणिज्य की दृष्टि से यहाँ पर अनेक प्रकार की लकडियाँ मिलती हैं। सफेद चीड (पाइन) की सबसे अधिक खपत है। इसके साथ साथ सनोवर (स्प्रूस), पाताल सरल (जैक-पाइन), भोज वृक्ष (बर्च), विषगर्जर (हेमलाक), धूपियास वृक्ष (बैलसम) इत्यादि भी महत्वपूर्ण हैं। [वि० च० मि०]

२ नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, के कैलिफोर्निया राज्य के सैन बर्नार्डिनो प्रदेश में लास ऐंजेलेस नगर से ३७ मील दक्षिण मे सैन ऐंटोनियो पर्वत की ढाल पर बसा हुआ है। नगर के मध्य भाग मे प्रसिद्ध यूक्लिड ऐवेन्यू बना हुआ है। यह ७ मील लबा तथा २०० फीट चौडा है। यहाँ पर एक अतर्राष्ट्रीय बडा हवाई अड्डा है। यहाँ के उद्योग धधो मे विद्युत् के तार, कपडा, प्लास्टिक तथा हाथ के बने सामान बनाना मुख्य है। यह नगर १८८२ ई० मे बसाया गया था। १९५० ई० मे यहाँ की जनसख्या २२,८७० थी। [वि० च० मि०]

औद्योगिक अनुसंधान आज के युग मे उद्योग का ऐसा कोई भी पक्ष नही है जिसमे रचनात्मक विचारो के सृजन की तथा उनको क्रियान्वित करने की आवश्यकता न हो। रचनात्मक विचारो का लाभ समाज तथा देश को तभी प्राप्त हो सकता है जब कई क्रमबद्ध क्रियाओ द्वारा उनकी व्यावहारिकता का परीक्षण कर सफलता प्राप्त की जा सके। इन क्रमबद्ध क्रियाओ के सामूहिक रूप को हम औद्योगिक अनुसधान कहते हैं।

औद्योगिक अनुसंधान के उद्देश्य—इस प्रतियोगिता के युग मे प्रत्येक उद्योगपति को सदा इस बात की चिंता लगी रहती है कि वह अपने प्रतियोगियो की अपेक्षा अपने आपको अधिक समर्थ बना सके। यदि वह ऐसा नही कर पाता है तो निश्चय है कि शीघ्र ही प्रतियोगी उसे औद्योगिक क्षेत्र छोड देने को बाध्य कर देंगे। इस चिंता और भय के कारण प्रत्येक उद्योग-पति के मस्तिष्क मे अनेक रचनात्मक विचार उत्पन्न होते रहते हैं। इन विचारो को कार्य रूप मे परिणत करने के पहले उनकी व्यावसायिक उपयोगिता के सबध मे कई प्रकार के परीक्षण करना आवश्यक होता है।

प्रतियोगियो की अपेक्षा कम मूल्य पर वस्तुओ का निर्माण करना, वस्तुओ के गुणो मे वृद्धि करना तथा उनको अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न करना, बडे पैमाने पर एकरूप वस्तुओ का निर्माण, बाजार मे वस्तुओ की माँग का सही अनुमान लगाना तथा उसमे वृद्धि करने के उद्देश्य से सबसे अधिक प्रभावोत्पादक विज्ञापनप्रणाली का प्रयोग करना, ये कुछ ऐसे उद्देश्य हैं जिनकी पूर्ति करने के लिये औद्योगिक अनुसधान अनवरत रूप से चलता रहता है।

आयात किए हुए या मूल्यवान् साधनो के स्थान पर स्थानीय और सस्ते साधनो का उपयोग किया जाता है। निर्माण विधियो मे सब प्रकार के पदार्थो तथा साधनो के अपव्यय को रोकने का प्रयत्न किया जाता है। अवशिष्ट पदार्थो का प्रयोग कर नए नए पदार्थो के निर्माण का प्रयत्न किया जाता है। सक्षेप मे कहें तो उपलब्ध साधनो का सर्वाधिक लाभप्रद उपयोग कर कम लागत पर उत्तम से उत्तम वस्तुओ का निर्माण करना ही औद्योगिक अनुसधान का उद्देश्य रहता है।

औद्योगिक अनुसधान तथा वैज्ञानिक अनुसधान—औद्योगिक अनुसधान वैज्ञानिक अनुसधान से भिन्न प्रकार का होने पर भी दोनो में निकटतम सबध है। *कई प्रकार से औद्योगिक अनुसधान वैज्ञानिक अनुसधानो पर ही* पूर्णत निर्भर है। वैज्ञानिक नए नए सिद्धातो की खोज करता है। इन सिद्धातो का प्रयोग होने पर नई नई निर्माणविधियाँ विकसित होती हैं तथा नए नए पदार्थो का निर्माण सभव होता है। ये वैज्ञानिक सिद्धात जनहित तभी कर सकते हैं जब उनका प्रयोग करके व्यापारिक स्तर पर निर्माण सभव हो सके। अत वैज्ञानिक अनुसधानो को, जो प्राकृतिक तथ्य तथा ज्ञान को सामने लाते है, अनेक परीक्षणो द्वारा व्यवसायिकता की कसौटी पर कसा जाता है। इस कसौटी पर जब वे खरे उतरते हैं तभी वे उद्योग मे कार्यरूप में लाए जा सकते हैं। नए नए सिद्धातो का प्रयोग हो सकना या नई वस्तुओ का निर्माण हो सकना ही उद्योगपति की दृष्टि से पर्याप्त नही है। यह प्रयोग या निर्माण उस लागत तथा उस रूप मे होना चाहिए जिसमे उसका व्यवसाय लाभप्रद हो तथा उसका उपयोग सभव हो। अत औद्योगिक अनुसधान एव वैज्ञानिक अनुसधान की भिन्नता उनकी विधियो मे नही वरन् उनके उद्देश्य में है। जहाँ वैज्ञानिक अनुसधान के उद्देश्य की पूर्ति प्राकृतिक सत्य की खोज से हो जाती है वहाँ औद्योगिक अनुसधान का उद्देश्य तभी पूर्ण होता है जब इन सिद्धातो का प्रयोग व्यापारिक स्तर पर तथा व्यावहारिक रूप मे किया जा सकता हो।

निजी रूप से औद्योगिक अन्वेषण—जैसा हम ऊपर देख आए है, आधुनिक उद्योगपति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कम से कम मूल्य पर उत्तम से उत्तम वस्तु बेच सके। सफलता के लिय उसे अपनी विज्ञापन व्यवस्था को अधिक प्रभावशाली बनाना चाहिए जिसमे उसका विज्ञापन हर सभावित ग्राहक तक पहुँच सके। यह सब कार्य करने के लिये प्रत्येक आधुनिक औद्योगिक सगठन का औद्योगिक अनुसधान विभाग एक आवश्यक अग बन गया है। उद्योगपति अपनी अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार, औद्योगिक अनुसधानो पर मुक्तहस्त व्यय करते हैं क्योकि वे जानते हैं कि उनकी सफलता अत मे सफल औद्योगिक अनुसधान पर ही निर्भर है।

व्यावसायिक सघो द्वारा अनुसधान—निजी रूप से औद्योगिक अनुसधान का कार्य सचालित करने मे सबसे बडी कठिनाई यह होती है कि उद्योगपतियो के पास अनुसधान कार्य के लिये पर्याप्त आर्थिक साधन नही होते। योग्य अन्वेपको की भी कमी रहती है। व्यावसायिक सघ इन कठिनाइयो को दूर कर सकते हैं तथा सदस्य उद्योगपतियो के सहयोग से इस कार्य को अपने हाथ मे ले सकते हैं। व्यावसायिक सघो का अन्वेषणकार्य केवल वस्तुओ के गुणो में वृद्धि तथा निर्माणविधियो के परीक्षणो तक ही सीमित नही रहता। वे सदस्य उद्योगपतियो द्वारा निर्माण के प्रतिमान भी निश्चित करते हैं जिनका पालन करना सदस्य उद्योगपतियो के लिये अनिवार्य होता है। इन उद्योगपतियो को प्रतिमान के पालन के प्रमाणपत्र भी इन सघो द्वारा दिए जाते हैं।

पाश्चात्य देशो में, विशेपत सयुक्त राज्य (अमरीका) मे, व्यावसायिक सघ बडे पैमाने पर अनुसधान का कार्य करते हैं। सयुक्त राज्य के वाणिज्य विभाग के मतानुसार व्यावसायिक सघो के रचनात्मक कार्यो में वैज्ञानिक अनुसधान से अधिक उपयुक्त तथा लाभदायक कोई अन्य कार्य नही है। उत्पादन तथा वितरण सबधी समस्याओ का अध्ययन कर अधिक कार्यक्षम तथा मितव्ययी विधियाँ निकालना व्यावसायिक सघो का एक प्रमुख कार्य हो गया है।

भारतवर्ष के कुछ व्यावसायिक सघो ने भी अनुसधान कार्य को अपने कार्यो के एक प्रमुख अग के रूप में अपनाया है। उदाहरण के लिये अहमदाबाद वस्त्र उद्योग अनुसधानशाला को ही लीजिए। यह भव्य अनुसधानशाला उद्योगपतियो द्वारा औद्योगिक अनुसधान के काय में आपसी सहयोग का एक जीता जागता उदाहरण है। इस अनुसधानशाला में, जिसे अहमदाबाद के वस्त्रनिर्माताओ ने सयुक्त रूप से स्थापित किया है, वस्त्रनिर्माण की आधुनिकतम मशीनो तथा विधियो के परीक्षण किए जाते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के कपास तथा वस्त्र उद्योग में काम आनेवाले रगो और अन्य रासायनिक पदार्थो के प्रयोग तथा उनके विश्लेपण भी इस अनुसधानशाला में किए जाते हैं। परीक्षणो तथा विश्लेपणो के परिणामों के आधार पर सदस्य वस्त्रनिर्माताओ को व्यावहारिक सुझाव दिए जाते हैं।

औद्योगिक अन्वेषण तथा एकस्वाधिकार—निजी रूप से तथा व्यावसायिक सघो द्वारा नई वस्तुओ की तथा नई निर्माणविधियो की खोज करने मे *अत्यधिक व्यय की आवश्यकता होती है। यदि उद्योगपतियो* को इस बात का आश्वासन न प्राप्त हो कि अन्वेपण द्वारा की गई खोज के प्रयोग का सर्वाधिकार उन्ही का रहेगा तो वे कभी भी इतना अधिक व्यय करने का साहस नही करेगे। औद्योगिक अनुसधान निर्विघ्न रूप से चलते रहने के लिये व्यापारचिह्न (ट्रेड मार्क) तथा एकस्वाधिकार के पजीयन की व्यवस्था की आवश्यकता है। पजीयन का अर्थ यह होता है कि पजीयित आविष्कारो और एकस्वाधिकार का प्रयोग उनके आविष्कार की अनुमति के बिना कोई अन्य उत्पादक नही कर सकता। व्यापारिक चिह्न के पजीयन से एक अन्य लाभ यह होता है कि पजीयित व्यापारचिह्न के अतर्गत जिन वस्तुओ का विक्रय होता हो उनके सबध में ग्राहको को आश्वासन मिलता है कि उन वस्तुओ में वाछनीय गुण एक निश्चित मात्रा तक अवश्य हैं।

ओपधियो के निर्माण में औद्योगिक अनुसधान विशेप महत्वपूर्ण है। यदि अनुसधान के व्यय को छोड दिया जाय तो अधिकाश ओपधियो की लागत प्राय नगण्य होती है। अत एकस्वाधिकार को पजीयित कराकर अन्वेपित ओपधि का सर्वाधिकार आविष्कारक के पास सुरक्षित रखने की आवश्यकता इस उद्योग में सर्वाधिक है। एकस्वाधिकार के सबध में अतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी देशो के बीच समझौते होते हैं जिनके द्वारा एक देश में पजीयित एकस्वाधिकार के अतर्गत उद्योगपति के अधिकारो को अतर्राष्ट्रीय रूप से मान्यता दी जाती है।

राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय मानक—अनुसधान द्वारा नई नई वस्तुओ के निर्माण के अतिरिक्त वैज्ञानिक विश्लेपण द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि किसी निर्मित वस्तु को व्यावसायिक दृष्टि से सफल होने के लिये उसमें कौन कौन से न्यूनतम गुण होने चाहिए। यह जानकारी हो जाने पर उन वस्तुओ के सबध मे मानक निश्चित किए जा सकते हैं। मानक सस्थाएँ वस्तुओ के निर्माण मे न्यूनतम आवश्यक गुण तथा माप आदि के सबध में प्रतिबध निश्चित कर देती हैं। निर्माताओ द्वारा निर्मित वस्तुओं का परीक्षण किया जाता है और यदि परीक्षण द्वारा यह सिद्ध होता है कि मानक के प्रतिबधो का पूर्णत पालन उस निर्माता द्वारा किया जाता है तो मानक सस्था उसे मानक के पालन का प्रमाणपत्र दे देती है।

कई वस्तुओ के निर्माण के सबध मे मानक निश्चित करने के लिये अतर्राष्ट्रीय सस्थाएँ भी स्थापित की गई हैं। ये सस्थाएँ अतर्राष्ट्रीय स्तर पर मानक निश्चित करती है।

भारतवर्ष मे भी अब भारतीय मानक सस्था की स्थापना हो गई है। इस सस्था की स्थापना केद्रीय शासन द्वारा की गई है। इस सस्था द्वारा अनेक परीक्षणो तथा विश्लेपणो के बाद कई वस्तुओ के निर्माण के मानक निश्चित किए गए हैं। इस मानक सस्था को अपने काय मे राष्ट्रीय अनुसधानशालाओ का भी सहयोग प्राप्त होता है। जो उद्योगपति इस सस्था द्वारा निश्चित मानको का पालन अपनी वस्तुओ के निर्माण मे करते हैं उन्हे भारतीय मानक सस्था के प्रमाणपत्र का उपयोग करने का अधिकार दे दिया जाता है।

औद्योगिक अनुसधान और श्रमजीवी—औद्योगिक उत्पादन मे श्रम-

जीवी एक प्रमुख सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं। अत यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक औद्योगिक अनुसधान उनको भी प्रभावित करे। अनुसधान के परिणामस्वरूप दिन प्रति दिन उत्पादन में मशीनों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। मशीनों के प्रयोग में वृद्धि होने का प्रभाव यह होता है कि पहले की अपेक्षा कम सख्या में श्रमजीवियों की आवश्यकता होती है तथा बहुत से श्रमजीवी बेकार हो जाते हैं। औद्योगिक अनुसधान का अर्थ केवल यह नही होना चाहिए कि अधिक और सस्ता उत्पादन हो सके। इस अन्वेषण का यह भी प्रयत्न होना चाहिए कि मशीनों का ऐसा नियोजित उपयोग हो कि देश में बेकारी न उत्पन्न हो तथा श्रमजीवियों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मशीनों का उद्योग में प्रयोग करने के पहले उनके सबध में कई प्रकार के परीक्षण करने की आवश्यकता होती है। केवल ग्राहकों को ही सतुष्ट रखने से किसी उत्पादक को पूर्ण सफलता नही प्राप्त हो सकती। ग्राहकों के साथ साथ श्रमजीवियों तथा अन्य औद्योगिक कार्यकर्ताओं को सतुष्ट रखना भी उसके लिये उतना ही आवश्यक होता है। कोई भी ऐसा अनुसधान जो केवल एक पक्ष को सतुष्ट करता हो तथा दूसरे पक्ष को असतुष्ट, तबतक वाछनीय नही है जब तक उसके द्वारा उत्पन्न दूसरे पक्ष के असतोष का यथोचित समाधान न हो जाय। यह कार्य अनुसधान द्वारा ही सभव है।

औद्योगिक अनुसधान तथा श्रमजीवियों की सुरक्षा—उद्योगों में मशीनों तथा विद्युत् का बड़े पैमाने पर प्रयोग प्रारभ हो जाने से कई समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। इनमें से एक प्रमुख समस्या श्रमजीवियों की सुरक्षा की भी है। किसी भी ऐसी मशीन या विधि के उपयोग की आज्ञा शासन द्वारा नही दी जानी चाहिए जिसके प्रयोग से औद्योगिक कार्यकर्ताओं का जीवन अरक्षित हो जाने की आशका हो। ऐसी मशीनों तथा विधियों को परीक्षणों द्वारा पूर्णत सुरक्षित बनाने का प्रयत्न अनिवार्य है। अधिकाश देशों में मजदूरों की सुरक्षा का प्रबध आवश्यक कर दिया गया है जिसमें दुर्घटनाएँ यथासभव न हों।

प्रत्येक प्रगतिशील उद्योगपति श्रमजीवियों की सुरक्षा का ध्यान तो रखता ही है, साथ ही वह उनके कार्य को अधिक से अधिक सुविधाजनक बनाने का भी प्रयत्न करता है। वह थकावट उत्पन्न करनेवाली प्रत्येक निर्माणविधि के स्थान पर ऐसी पद्धति अपनाने का प्रयत्न करता है जो कार्य को सरल तथा कम से कम कष्टसाध्य बना सके। श्रमजीवियों के दैनिक कार्यकाल के बीच उन्हे उपयुक्त समय पर विश्राम देने से थकावट कम प्रतीत होती है तथा वे आनदपूर्वक कार्य करते हैं। श्रमव्यवस्था स्वय एक विज्ञान बन गई है। इस विज्ञान का उद्देश्य श्रमजीवियों की कार्यक्षमता बढ़ाना तथा उनके जीवन को अधिक सुखमय और सतुष्ट बनाना है। [प्र० कु० से०]

औद्योगिक औषधोपचार

चिकित्सा ने देश के औद्योगिक जन के लिये जो योगदान किया है वही औद्योगिक औषधोपचार है। इसका सबध उद्योग के स्थलों में अतर्व्याप्त परिस्थितियों के अध्ययन तथा नियत्रण से है। बहुत पहले से ही स्वास्थ्यवेत्ता यह मानते आ रहे हैं कि काम करनेवालों के स्वास्थ्य और कल्याण पर काम करने की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, जैसा बरर्डडाइन रमज्जने, Berdardine Ramazzne, (७०० ई०) की इस टिप्पणी से प्रत्यक्ष हो जाता है "हिपोक्रेटीज ने कहा है कि 'जब आप किसी रोगी के घर जायँ तो उसमें आपको पूछना चाहिए कि उसे किस प्रकार की पीड़ा है, वे पीड़ाएँ कैसे हुई, और वह कितने दिनों से रुग्ण है। उसका पेट ठीक काम कर रहा है न और वह किस प्रकार का भोजन करता है।' मैं एक प्रश्न और जोड़ना चाहूँगा वह क्या व्यवसाय करता है।"

काम की परिस्थितियाँ—श्रमिक सामान्यत अपने समय का एक तिहाई अपने काम के स्थल में व्यतीत करता है और इसलिये अपने काम की भौतिक, रासायनिक तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से वह विशेष रूप से प्रभावित होता है। साधारणत भौतिक परिस्थितियाँ ये हैं गर्मी, ठढक, तरी, प्रकाश आदि। रासायनिक तत्व हैं विविध गैसें, धुआँ, धूल आदि। मनोवैज्ञानिक तत्व हैं स्वास्थ्यविषयक सुविधाएँ, प्रकाश, पीने तथा मुँह हाथ धोने का पानी, मनोविनोद, उपाहारगृह, सरक्षक उपकरण, बैठने तथा विश्राम की सुविधाएँ, रहन सहन की दशा, प्रबधकों का बरताव, तथा उच्चतर अधिकारियों तक पहुँच होने की सुविधाएँ। इन तत्वों का प्रभाव जटिल होता है और इनमें से किसी एक अथवा सबकी समिलित क्रिया द्वारा श्रमिक के स्वास्थ्य, कल्याण तथा योग्यता पर प्रभाव पड़ सकता है।

ताप और दुर्घटना—यह देखा गया है कि जब गर्मी अथवा ठढ से बेचैनी उत्पन्न होती है तब उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता है, छोटी-छोटी दुर्घटनाएँ बढ़ जाती हैं, श्रमिकों का मन मर जाता है और उनमें असतोष फैलता
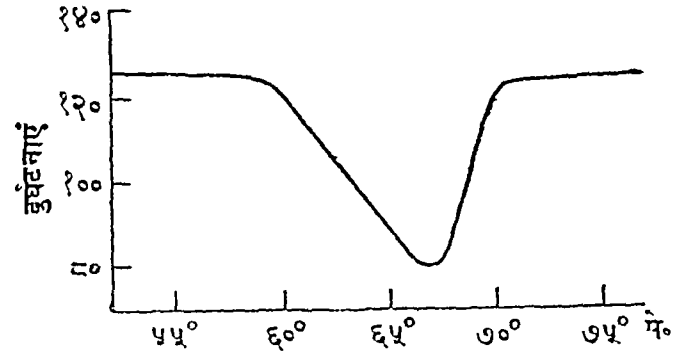
दुर्घटनाओं की सख्या पर ताप का प्रभाव

है। ब्रिटेन में कारखाने के ताप से सबद्ध दुर्घटनाओं का जो अध्ययन किया गया उससे विदित हुआ कि ६७° से० ताप पर दुर्घटनाएँ सबसे कम थी, इससे कम और अधिक तापों पर दुर्घटनाएँ अधिक हुई (लेखाचित्र देखें)।

प्रकाश और दुर्घटनाओं का संबंध—इसी प्रकार सयुक्त राज्य, अमरीका, में बिजली से चलनेवाले कारखानों में एक विख्यात अध्ययन हुआ। इसमें उत्पादन के सबध में प्रकाश की तीव्रता तथा चकाचौंध के प्रभावों का अध्ययन किया गया था। उससे पता चला कि ऐसे तत्वों का कारीगरों की प्रसन्नता तथा उत्पादन पर अत्यत उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। ब्रिटन की इल्युमिनेटिंग इजीनियरिंग सोसाइटी के अनुसार महीन काम के लिये ५० फुट-कैंडल का प्रकाश चाहिए (अर्थात् उतने प्रकाश का ५० गुना जो एक मोमबत्ती से १ फुट की दूरी पर पड़ता है), साधारण कामों के लिये १५ से २५ फुट-कैंडल तक का और मोटे कामों के लिये ६ से १० फुट-कैंडल तक का। कम प्रकाश से कम काम होता है, उसमें अशुद्धियाँ रह जाती हैं और दुर्घटनाएँ अधिक होती हैं। श्रमिकों की आँखों में पीड़ा उत्पन्न होती है और सरदर्द होता है, मन खिजलाने लगता है और उदासी उत्पन्न होती है। उत्तर के आकाश से आए प्रकाश में दिन में काम हो सके तो सबसे अच्छा।

औद्योगिक रोग—प्रतिकूल परिस्थितियों से विशेष पीड़ाएँ तथा रोग भी उत्पन्न होते हैं, जिसका प्रभाव कारीगरों के उत्पादन तथा योग्यता पर पड़ता है। बढ़ने पर औद्योगिक रोगों को पहचानना बहुत कठिन नही होता, किंतु आरभिक लक्षणों का अन्वेषण और उनके कारणों की पहचान करना कुछ कठिन और साथ ही रोचक भी है।

औद्योगिक रोगों का वर्गीकरण करना कठिन है, साधारणत उनको निम्नलिखित कोटियों में रखा जा सकता है

प्राकृतिक माध्यम से होनेवाले रोग—ठढ से ऐंठन (क्रैंप), गरमी से लू या उष्माघात, मोतियाबिंद, पाला मारना, दाब, केसन (Caisson) का रोग, जिसमें वायु दाब के एकाएक घटने के कारण सारे शरीर में बड़ी पीड़ा होती है, तथा वायविक रक्तप्रसारणावरोध (एअर एबालिज्म)—जिसमें वायु के बुलबुलों के कारण रुधिर का बहना रुक जाता है।

रासायनिक कारणोंवाले रोग—वे रोग जो पोटास, ऐनीलिन, रासायनिक रज (धूल), ऐस्बेस्टस, पारा, सीसा, सखिया तथा अन्य विषों से काम करनेवाले श्रमिकों को होते हैं। रासायनिक गैसों, जैसे अमोनिया, फौसजीन, नाइट्रस धुएँ, बेजीन आदि के वाष्प से होनेवाली विषाक्तता।

मनोवैज्ञानिक कारणोंवाले रोग—आँख की पुतलियों की कँपकपी (माइनर्स न्यिस्टैगमस)।

ऊपर जिन औद्योगिक रोगों का उल्लेख किया गया है उनमें से कुछ

तो बहुत महत्वपूर्ण हैं। अधिकाश देशो की सरकारो ने नियम बना दिया है कि रोग होते ही उन्हे सूचना मिले। भारत मे फैक्टरी ऐक्ट द्वारा १७ रोगो को विज्ञापनीय कर दिया गया है, चिकित्सको के देखने मे यदि ऐसा कोई रोगी आ जाय जो इनमे से किसी रोग से आक्रात हो तो चिकित्सक के लिये सरकार को सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया है। ये रोग हैं सीसा, टेट्राएथिल, फॉस्फरस, पारा, सखिया, नाइट्रस धुआँ, कार्बन बाइसलफाइड, बेंज़ीन, क्रोमियम के लवण, धूलि, आयोडीन, ब्रोमीन, रेडियोधर्मी पदार्थ तथा एक्सरे से उत्पन्न रोग और ऐंथ्रैक्स, चर्म का कर्कट, विपाक्त रक्तहीनता तथा विपाक्त पीलिया नामक रोग।

औद्योगिक रोगो मे से प्राय सभी रोके जा सकते हैं, अत औद्योगिक औषधोपचार के अध्ययन तथा व्यवसाय का अत्यधिक महत्व स्वयसिद्ध है।

औद्योगिक रोगोपचार सेवा---प्रत्येक देश मे औद्योगिक रोगोपचार सेवा का क्षेत्र एक सा नही है, किंतु सामान्यत इसके अतर्गत निम्नलिखित औद्योगिक कार्य समाविष्ट हैं रोगो की रोकथाम, कारखानो मे काम की दशाओ मे सुधार, औद्योगिक दुर्घटनाओ का उपचार तथा घायल अथवा अपग औद्योगिक कारीगरो को फिर कोई काम करने योग्य बनाना।

यथोचित औद्योगिक रोगोपचार सेवा के निमित्त एक चिकित्सक, एक काया (प्रकृति) परीक्षक, एक योग्य इजीनियर, एक रसायनज्ञ, एक शरीर-विज्ञान-वेत्ता,एक भौतिक चिकित्सा करनेवाला तथा एक औद्योगिक नर्स होनी चाहिए। इस पूरे दल को परस्पर सहयोग से काम करना चाहिए क्योकि औद्योगिक रोगो के आरभिक लक्षणो का पता तथा उनका निदान इस दल के प्रत्येक सदस्य के निरीक्षण पर ही निर्भर रहेगा, उदाहरणत सीसे की विपाक्तता के निदान के लिये यह आवश्यक है कि चिकित्सक कारीगर की साधारण परीक्षा करे,कायापरीक्षक उस रोगी के रक्त के चित्र बनाकर दे, बायोकेमिस्ट मलमूत्र मे रोग के सचयन का पता लगाए, रसायनज्ञ वायु मे सीसे की मात्रा का अनुसधान करे, इजीनियर इस बात का पता लगाए कि कारखाने की किन मशीनो से यह विप उत्पन्न होता है। यदि कोई कारीगर औद्योगिक रोग अथवा चोट से अपाहिज हो गया हो तो विशेपज्ञ उसे फिर से काम करने योग्य बनाने मे सहायता दे सकता है। औद्योगिक नर्स केवल चिकित्सक की ही सहायता नही करती वरन् वह कारीगर को स्वास्थ्य और कल्याण के विषय मे परामर्श देने का भी काम करती है।

औद्योगिक चिकित्सक को कारीगर की प्रारभिक चिकित्सा और उसके रोग का निदान तो करना ही होता है, साथ ही कारीगरो की परीक्षा करके कारखानो मे उनके प्रवेश से पूर्व यह भी निर्धारित करना होता है कि वह कारीगर अपनी शारीरिक क्षमता के अनुकूल किस विशेप काम पर लगाया जाना चाहिए, अथवा उसे कारखाने में काम करने देना ही नही चाहिए। इसी प्रकार उसे उन कारीगरो की भी समय समय पर चिकित्सीय परीक्षा करते रहना पडता है जो भयावह प्रक्रियाओ पर लगाए जाते हैं, जिससे भयावह सामग्री के सपर्क से कारीगरो पर धीरे धीरे पडनेवाले बुरे प्रभाव की जानकारी समय से हो सके। औद्योगिक चिकित्सक का यह भी दायित्व है कि वह छोटी छोटी सेवाएँ, जैसे दाँतो की रक्षा आदि का भी कार्य करता रहे। उसे श्रमिको की मनोवैज्ञानिक समस्याओ के सबध मे भी परामर्श देना पडता है, अत यदि उसे श्रमिक तथा मालिक दोनो का ही विश्वासभाजन बनना है तो उसे अपने कार्य मे विशेप दक्ष होना चाहिए। यह सिद्ध हो चुका है कि जिन बडे कारखानो मे अच्छी औद्योगिक रोगोपचार सेवा की व्यवस्था रहती है, वहाँ केवल उसका व्यय ही नही निकल आता वरन् यथेष्ठ अतिरिक्त लाभ भी होता है, क्योकि इसके द्वारा उद्योग मे कम से कम व्यय पर बढिया सामान उत्पन्न किया जा सकता है।

इस देश मे भी सरकार की ओर से एक औद्योगिक रोगोपचार सेवा की स्थापना के प्रयत्न किए जा रहे हैं और निश्चय ही वह बडा भाग्यशाली दिन होगा जिस दिन इस सेवा की यथोचित रूप मे स्थापना की जायगी।

स०ग्र०---टी० ए० लायड डेविस दि प्रैक्टिस ऑव इडस्ट्रियल मेडिसिन (लदन, १९४८), मेडिकल रिसर्च काउसिल दि ऐप्लिकेशन ऑव सायटिफिक मेथड्स टु इडस्ट्रियल ऐड सर्विस मेडिसिन (लदन, १९५१)। [कृ० स० भा०]

औद्योगिक क्रांति

१८वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे इग्लैंड मे एक महान् सामाजिक तथा आर्थिक क्राति हुई जिसकी व्याप्ति तथा परिणाम इतने महत्वपूर्ण थे कि उसका नाम ही 'औद्योगिक क्राति' पड गया। 'औद्योगिक क्राति' शब्द का इस सदर्भ में उपयोग सबसे पहले आरनोल्ड टायनबी ने अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स ऑन दि इड्स्ट्रियल रिवोल्यूशन इन इग्लैंड' मे सन् १८४४ मे किया।

१६वी तथा १७वी शताब्दियो में यूरोप के कुछ देशो ने अपनी नौ शक्ति के आधार पर दूसरे महाद्वीपो मे आधिपत्य जमा लिया। उन्होने वहाँ पर धर्म तथा व्यापार का प्रसार किया। उस युग मे मशीनो का आविष्कार बहुत कम हुआ था। जहाज लकडी के ही बनते थे। जिन वस्तुओ का भार कम परतु मूल्य अधिक होता उनकी बिक्री सात समुद्र पार भी हो सकती थी। उस युग में नए व्यापार से धनोपार्जन का एक नया प्रबल साधन प्राप्त हुआ और कृषि का महत्व कम होने लगा। व्यक्तिया मे किसी सामत की प्रजा के रूप मे रहने की भावना का अत होने लगा। अमरीका के स्वाधीन होने तथा फ्रास मे "भ्रातृत्व, समानता, और स्वतत्रता" के आधार पर होनेवाली क्राति ने नए विचारो का सूत्रपात किया। प्राचीन शृखलाओ को तोडकर नई स्वतत्रता की ओर अग्रसर होने की भावना का आर्थिक क्षेत्र में यह प्रभाव हुआ कि गाँव के किसानो मे अपना भाग्य स्वय निर्माण करने की तत्परता जाग्रत हुई। वे कृपि का व्यवसाय त्याग कर नए अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। यह विचारधारा १८वी शताब्दी के अत मे समस्त यूरोप मे व्याप्त हो गई। इग्लैंड मे उन दिनो कुछ नए यात्रिक आविष्कार हुए। जेम्स के फ्लाइग शटल (१७३३), हारग्रीव्ज की स्पिनिंग जेनी (१७७०), आर्कराइट के वाटर पावर स्पिनिंग फ्रेम (१७६६), क्राम्पटन के म्यूल (१७७६) और कार्टराइट के पावर लूम (१७८५) से वस्त्रोत्पादन मे पर्याप्त गति आई। जेम्स वाट के भाप के इजन (१७८६) का उपयोग गहरी खानो से पानी को बाहर फेकने के लिये किया गया। जल और वाष्प शक्ति का धीरे धीरे उपयोग बढा और एक नए युग का सूत्रपात हुआ। भाप के इजन में सर्दी, गर्मी, वर्पा सहने की शक्ति थी, उससे कही भी २४ घटे काम लिया जा सकता था। इस नई शक्ति का उपयोग यातायात के साधनो मे करने से भौगोलिक दूरियाँ कम होने लगी। लोहे और कोयले की खानो का विशेष महत्व प्रकट हुआ और वस्त्रो के उत्पादन मे मशीनो का काम स्पष्ट झलक उठा।

इग्लैंड मे नए स्थानो पर जगलो मे खनिज क्षेत्रो के निकट नगर बसे, नहरो तथा अच्छी सडको का निर्माण हुआ और ग्रामीण जनसख्या अपने नए स्वतत्र विचारो को क्रियान्वित करने के अवसर का लाभ उठाने लगी। देश में व्यापारिक पूंजी, साहस तथा अनुभव को नया क्षेत्र मिला। व्यापार विश्वव्यापी हो सका। देश की मिलो को चलाने के लिये कच्चे माल की आवश्यकता हुई, उसे अमरीका तथा एशिया के देशो से प्राप्त करने के उद्देश्य से वहाँ उपनिवेशो की स्थापना की गई। कच्चा माल प्राप्त करने और तैयार माल बेचने के साधन भी वे ही उपनिवेश हुए। नई व्यापारिक सस्थाओ, बैंको और कमीशन एजेंटो का प्रादुर्भाव हुआ। एक विशेष व्यापक अर्थ में दुनियाँ के विभिन्न हिस्से एक दूसरे से सबद्ध होने लगे। १८वी सदी के अतिम बीस वर्पो मे आरभ होकर १९वी के मध्य तक चलती रहनेवाली इग्लैंड की इस क्राति का अनुसरण यूरोप के अन्य देशो ने भी किया हॉलैंड तथा फ्रास मे शीघ्र ही, तथा जर्मनी, इटली आदि राष्ट्रो मे बाद मे, यह प्रभाव पहुँचा। अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापारियो ने अपने अपने राज्यो में धन की वृद्धि की और बदले में सरकारो से सैन्य सुविधाएँ तथा विशेपाधिकार माँगे। इस प्रकार आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रो मे व्यापार तथा सेना का यह सहयोग उपनिवेशवाद की नीव को सुदृढ करने में सहायक हुआ। राज्यो के बीच, अपने देशो की व्यापारनीति को प्रोत्साहन देने के प्रयास मे, उपनिवेशो के लिये युद्ध भी हुए। उपनिवेशो का आर्थिक जीवन "मूल राष्ट्र" की औद्योगिक आवश्यकताओ की पूर्ति करनेवाला बन गया। स्वतत्र अस्तित्व के स्थान पर परावलबन उनकी विशेपता बन गई। जिन देशो मे औद्योगिक परिवर्तन हुए वहाँ मानव बधनो से मुक्त हुआ, नए स्थानो पर नए व्यवसायो की खोज मे वह जा सका, धन का वह अधिक उत्पादन कर सका। किंतु इस विकसित सपत्ति का श्रेय किसे हो, और

उसका प्रतिफल कौन प्राप्त करे, ये प्रश्न उठने लगे। २४ घटे चलनेवाली मशीनो को सँभालनेवाले मजदूर भी कितना काम करे, कब और किस वेतन पर करे, इन प्रश्नो पर मानवता की दृष्टि से विचार किया जाने लगा। मालिक-मजदूर-सबधो को सहानुभूतिपूर्ण बनाने की चेष्टाएँ होने लगी। मानव मुक्त तो हुआ, पर वह मुक्त हुआ धनी या निर्धन होने के लिये, भरपेट भोजन पाने या भूखा रहने के लिये, वस्त्रो का उत्पादन कर स्वय वस्त्रविहीन रहने के लिये। अतएव दूसरे पहलू पर ध्यान देने के लिये शासन की ओर से नए नियमो की आवश्यकता पडी, जिनकी दिशा सदा मजदूरो की कठिनाइयाँ कम करने, उनका वेतन तथा सुविधाएँ बढाने तथा उन्हे उत्पादन मे भागीदार बनाने की ओर रही।

इस प्रकार १८वी शताब्दी के अतिम २० वर्षो मे फ्रास की राज्यक्रांति से प्रेरणा प्राप्त कर इग्लैड मे १९वी शताब्दी मे विकसित मशीनो का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। उत्पादन की नई विधियो और पैमानो का जन्म हुआ। यातायात के नए साधनो द्वारा विश्वव्यापी बाजार का निर्माण हुआ। इन्ही सबसे सबधित आर्थिक एव सामाजिक परिणामो का ५० वर्षो तक व्याप्त रहना क्रांति की सज्ञा इसलिये पा सका कि परिवर्तनो की वह मिश्रित शृखला आर्थिक-सामाजिक-व्यवस्था मे आधारभूत परिवर्तन की जन्मदायिनी थी।

ससार के दूसरे देशो तथा उपनिवेशो के स्वतत्र होकर आगे बढने से इस क्रांति के प्रभाव धीरे धीरे दृष्टिगत होने लगे। उनके समक्ष २०वी शताब्दी मे कृषि के स्थान पर उद्योगो को विकसित करने का प्रश्न है, किंतु उनके पास न तो गत दो शताब्दियो के व्यापार की एकत्रित पूँजी तथा अनुभव है, और न उनमे यातायात तथा मूल उद्योगो का विकास ही हुआ है। ये राष्ट्र स्वाधीन होने के पश्चात् अन्य सपन्न राष्ट्रो से सीमित रूप मे पूँजी तथा यात्रिक सहायता प्राप्त करने की चेष्टाओ मे लगे है, किंतु इस प्रकार की सहायता के बदले मे वे किसी राजनीतिक बधन मे नही पडना चाहते। इन राष्ट्रो का मूलभूत उद्देश्य अपने यहाँ उसी प्रकार के परिवर्तन करना है जैसे परिवर्तन औद्योगिक क्रांति के साथ यूरोप मे हुए। पर यह स्पष्ट है कि मूलत इन नए राष्ट्रो को अपने लिये कच्चा माल प्राप्त करने तथा पक्के माल का विक्रय करने के साधन अपनी सीमाओ के अनुसार ही विकसित करना है। [व्र० रा० चौ०]

भारत में औद्योगिक क्रांति—प्राचीन काल मे भारत एक सपन्न देश था। भारतीय कारीगरो द्वारा निर्मित माल अरब, मिस्र, रोम, फ्रास तथा इग्लैड के बाजारो मे बिकता था और भारतवर्ष से व्यापार करने के लिये विदेशी राष्ट्रो मे होड सी लगी रहती थी। इसी उद्देश्य से सन् १६०० मे ईस्ट इडिया कपनी की स्थापना इग्लैड मे हुई। यह कपनी भारत मे बना हुआ माल इग्लैड ले जाकर बेचती थी। भारतीय वस्तुएँ, विशेषकर रेशम और मखमल के बने हुए कपडे, इग्लैड मे बहुत अधिक पसद की जाती थी, यहाँ तक कि इग्लैड की महारानी भी भारतीय वस्त्रो को पहनने मे अपना गौरव समझती थी। परतु यह स्थिति बहुत दिनो तक बनी न रह सकी। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप इग्लैड में माल बडे पैमाने पर तैयार होने लगा और यह उपनिवेशो मे बेचा जाने लगा। अग्रेज व्यापारियो को अपनी सरकार का पूरा पूरा सहयोग प्राप्त था। भारतीय कारीगर निर्बल और बिखरे हुए थे, अतएव वे मशीन की बनी वस्तुओ से प्रतिस्पर्धा करने मे असमर्थ रहे। फलत उन्हे अपना पुश्तैनी पेशा छोडकर खेती का सहारा लेना पडा। इस प्रकार औद्योगिकक्रांति के फलस्वरूप भारतीय उद्योग धधो का नाश हो गया तथा लाखो कारीगर भूखो मरने लगे। औद्योगिक क्रांति, जो इग्लैड के लिये वरदान स्वरूप थी, भारतीय उद्योगो के लिये अभिशाप सिद्ध हुई।

आधुनिक रूप मे भारतवर्ष का औद्योगीकरण १८५० ई० से प्रारभ हुआ। सन् १८५३-५४ मे भारत मे रेल और तार की प्रणाली प्रारभ हुई। यद्यपि रेल बनाने का मुख्य उद्देश्य कच्चे माल का निर्यात तथा निर्मित माल का आयात करना था, तो भी रेलो से भारतीय उद्योगो को विशेष सहायता मिली। प्रारभ मे भारतीय पूँजी से कुछ सूती मिले और कोयले की खदाने स्थापित की गईं। धीरे धीरे ये उद्योग बहुत उन्नत हो गए। कुछ समय के पश्चात् कागज बनाने और चमडे के कारखाने भी स्थापित हो गए और १९०८ ई० मे भारतवर्ष मे प्रथम बार लोहे और इस्पात का कारखाना भी प्रारभ हुआ। प्रथम महायुद्ध (१९१४–१९१८) के अनतर उद्योगो को सरक्षण देने की जो नीति १९२२ ई० मे अपनाई गई, भारतीय उद्योगो की उन्नति मे विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई। सन् १९२२ और १९३९ ई० के बीच सूती कपडो का निर्माण दुगुना और कागज का उत्पादन ढाई गुना हो गया। १९३२ ई० मे शक्कर के कारखानो की स्थापना भी हुई और शक्कर का उत्पादन इतना अधिक बढा कि देश शक्कर के बारे मे आत्मनिर्भर हो गया। इसी काल मे सीमेट के कारखानो की भी स्थापना हुई और १९३५-३६ ई० मे वे देश की ९५ प्रतिशत आवश्यकताओ की पूर्ति करने लगे।

द्वितीय महायुद्ध काल मे भारतीय उद्योगो ने और भी अधिक उन्नति की। पुराने उद्योगो की उत्पादन शक्ति बहुत अधिक बढ गई और अनेक नवीन उद्योगो की भी स्थापना हुई। भारत मे डीज़ल इजन, पप, बाइसिकले, कपडा सीने की मशीने, कास्टिक सोडा, सोडा ऐश, क्लोरिन, आदि का उत्पादन प्रारभ हुआ तथा देश के इतिहास मे पहली बार वायुयानो, मोटरकारो तथा जहाजो की मरम्मत करने का कार्य प्रारभ हुआ। द्वितीय महायुद्ध के अत तक भारतवर्ष की गणना विश्व के प्रथम आठ औद्योगिक राष्ट्रो मे होने लगी। उस समय भारतीय कपनियो मे लगी हुई कुल पूंजी ४२४ २ करोड रु० थी तथा उद्योगो मे २५ लाख मजदूर कार्य करते थे। भारत शक्कर, सीमेट तथा साबुन के क्षेत्र मे पूर्णत आत्मनिर्भर था तथा जूट के क्षेत्र मे तो उसका एकाधिपत्य था।

स्वतत्रताप्राप्ति के उपरात औद्योगिक उन्नति का नया अध्याय प्रारभ हुआ। राष्ट्रीय सरकार ने देश की सर्वागीण उन्नति के लिये पचवर्षीय योजनाएँ बनाईं। प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल मे सरकार ने १०१ करोड रुपए की राशि उद्योगो मे विनियोजित की तथा रासायनिक खाद, इजन, रेल के डब्बे, पेनीसिलिन, डी० डी० टी०, तथा न्यूजप्रिंट (अखबारो का कागज) बनाने के कारखानो की स्थापना की। देश के पूँजीपतियो ने भी, इस काल मे, ३४० करोड रुपए की पूँजी लगाकर अनेक नए कारखाने खोले तथा पुराने कारखानो की उत्पादन शक्ति बढाई। द्वितीय पचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य देश की औद्योगिक प्रगति को तीव्रतर करना है। प्रथम पचवर्षीय योजना की तुलना मे द्वितीय पचवर्षीय योजना मे उद्योगो की उन्नति के लिये पाँच गुनी अधिक पूँजी लगाने का आयोजन किया गया है। ऐसी आशा की जाती है कि द्वितीय पचवार्षिक योजना की समाप्ति पर लोहे और इस्पात का उत्पादन सन् १९५५-५६ के १३ लाख टन से बढकर सन् १९६०-६१ मे ४३ लाख टन, कोयले का उत्पादन ३ ७ करोड टन से बढकर ६ करोड टन, सीमेट का उत्पादन ४८ लाख टन से बढकर १ करोड टन, नाइट्रोजन खाद का उत्पादन ४ लाख टन से बढकर १६ लाख टन और बिजली का उत्पादन ३४ लाख किलोवाट से बढकर ६८ लाख किलोवाट हो जायगा। इस काल का सबसे महत्वपूर्ण कार्य लोहे और इस्पात के कारखानो का निर्माण है। देश मे तीन बडे बडे कारखाने (लोहे और इस्पात के) भिलाई, राउरकेला तथा दुर्गापुर मे स्थापित किए गए है। हर्ष का विषय है कि इन कारखानो ने लोहा और इस्पात बनाने का कार्य प्रारभ भी कर दिया है। इस प्रकार पिछले १०० वर्षो मे भारतवर्ष ने औद्योगिक क्षेत्र मे अभूतपूर्व उन्नति की है। आशा की है भविष्य मे हमारा देश विश्व मे पुन वही स्थान प्राप्त करेगा जो उसे १७वी शताब्दी मे प्राप्त था।

स० ग्र०—बारबैरा हैमड दि राइज़ ऑव मॉडर्न इडस्ट्री (१९२७), जे० ए० हॉबसन दि इवोल्यूशन ऑव मॉडर्न कैपिटलिज्म (१९२६)।

[वि० प्र० पा०]

औद्योगिक न्यायालय

विश्व के विभिन्न देशो मे औद्योगिक न्यायालय (इडस्ट्रियल कोर्ट) शब्द अनेक अर्थो मे व्यवहृत हुआ है। एक साधारण व्यक्ति इसे न्यायालय समझता है जहाँ विभिन्न प्रकार के औद्योगिक विधानो के कारण उत्पन्न मामलो की सुनवाई होती है, किंतु वास्तव मे यह न्यायालय नही है। यह एक ऐसा सगठन है जहाँ सरकार अथवा सबद्ध पक्षो की पारस्परिक सहमति से रोजगार की अवस्थाएँ, औद्योगिक घटनाएँ, पारस्परिक तथा लाभाश आदि से सबद्ध मामले पचायत या समझौते के लिये भेजे जाते है।

सन् १९१५ मे ब्रिटेन मे सरकारी पचप्रणाली का न्यायाधिकरण स्थापित हुआ, जिससे इस प्रकार के न्यायालयो की नीव पडी। सन् १९१९ में श्रौद्योगिक न्यायालय अधिनियम स्वीकृत हो जाने के बाद सरकारी पचप्रणाली के न्यायाधिकरण का पुनस्सघटन हुआ और इसका नाम श्रौद्योगिक न्यायालय रखा गया। जब मामले इस न्यायालय मे भेजे जाते थे तब वह उनपर अपना निर्णय देता था। ये निर्णय औपचारिक रूप से उभय पक्षो के लिये मान्य समझे जाते थे, फिर भी यदि उभय पक्ष उनको स्वीकार न करते तो स्वीकार कराने के लिये कोई व्यवस्था नही थी।

पिछले दोनो महायुद्धकालो में इस प्रकार के न्यायालय उन देशो मे स्थापित हो चुके थे जहाँ उद्योग पर्याप्त विकसित हो चुके थे। उस समय यह प्रतीत हुआ कि औद्योगिक विवादो मे समझौते के लिये एक नियमित साधन आवश्यक है। श्रौद्योगिक-विवाद-विधान का इतिहास भारत मे उतना प्राचीन नही है जितना अन्यान्य उद्योगप्रधान देशो मे, क्योकि व्यापक रूप से श्रौद्योगिक हडतालें इस देश में सामान्यत प्रचलित नही थी। सन् १९१९ के ब्रिटिश श्रौद्योगिक न्यायालय अधिनियम के आधार पर भारत सरकार ने सन् १९२० मे श्रौद्योगिक विवादो के सबध मे एक विधान स्वीकृत करना चाहा, किंतु सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के बादवाले अशाति-काल में इस प्रकार का कार्य आरभ करना उसने उचित नही समझा। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन में उद्योगो की जो अवस्थाएँ रही हैं वे भारत में प्रचलित अवस्थाओ से भिन्न रही हैं। अतएव उस समय इस प्रकार के विचारो को छोड देना पडा।

सन् १९२४ में बबई की सूती मिलो मे व्यापक हडताल हुई। उस हडताल से सरकार को एक विधान तैयार कराने की प्रेरणा मिली। फलस्वरूप सन् १९२९ में मजदूर-विवाद-अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम मे इस बात की व्यवस्था थी कि उपयुक्त अधिकारी द्वारा जाँच-अदालत अथवा सराधन मडल (कॉनसिलिएशन बोर्ड) स्थापित किया जाय जो विवादग्रस्त मामलो में समझौता कराए। जाँच अदालत के जिम्मे यह काम रखा गया कि वह मामले की जाँच कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे तथा सराधन मडल उस मामले में समझौता कराने का प्रयास करे।

उपर्युक्त दोनो सघटन स्थायी नही थे। इसके अतिरिक्त, अधिनियम में श्रौद्योगिक विवाद रोकने की कोई व्यवस्था भी नही थी। श्रम के प्रश्न पर जो राजकीय आयोग स्थापित हुआ उसने सुझाव दिया कि राज्य सरकार द्वारा स्थायी रूप से सराधन अधिकारी नियुक्त किए जायँ, जिनका यह कर्तव्य हो कि श्रौद्योगिक विवाद उठ खडा होने पर आरभ मे ही उभय पक्षो मे समझौता करा दें।

सन् १९३४ में एक सशोधन द्वारा सन् १९२९ के अधिनियम को स्थायी रूप दिया गया। सन् १९३८ मे 'श्रमिक विवाद' की परिभाषा के सबध मे उपर्युक्त अधिनियम में फिर से सशोधन किया गया। सशोधित अधिनियम ने इस बात की भी व्यवस्था की कि गैरकानूनी हडताले और तालाबदी कम प्रतिबधात्मक हो। इतना होते हुए भी विवादो के हल के लिये अधिनियम में कोई स्थायी व्यवस्था नही थी, और न यही व्यवस्था थी कि सराधन मडल अथवा जाँच-अदालत के निर्णय दोनो पक्षो के लिये अनिवार्य रूप से मान्य हो।

सन् १९३८ में बबई सरकार ने बबई-श्रौद्योगिक-विवाद-अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम का लक्ष्य इसके पहले के विधानो की त्रुटियो का निवारण करना था। सन् १९३९ में बबई राज्य मे श्रौद्योगिक न्यायालय स्थापित कर दिए गए। द्वितीय महायुद्ध के समय सन् १९४२ में भारत-रक्षा-नियमावली मे एक व्यवस्था की गई जिसके द्वारा सरकार को अधिकार दिया गया कि हडताल और तालाबदी रोकने के लिय वह सामान्य अथवा विशेष नियम बनाए तथा ऐसे किसी भी विवाद को सराधन अथवा न्यायिक निर्णय के लिये सौंपे जिससे जनता को कष्ट पहुँचता हो अथवा युद्धसामग्री की पूर्ति के कार्य में बाधा पहुँचती हो। इन युद्धकालीन नियमो की सफलता देखकर भारत सरकार ने सन् १९४७ में सन् १९२९ के मूल अधिनियम के स्थान पर श्रौद्योगिक-विवाद-अधिनियम पारित किया।

सन् १९४७ के अधिनियम में मुख्य व्यवस्थाएँ ये थी (१) श्रम-समितियो का सघटन जिनमे मालिक और मजदूर दोनो के प्रतिनिधि रखे जायँ और (२) श्रौद्योगिक न्यायाधिकरणो की स्थापना जिनमे दो से अधिक स्वतत्र सदस्य रखे जायँ। इसके साथ ही इस अधिनियम द्वारा सरकार को यह भी अधिकार दिया गया कि वह सराधन अधिकारी नियुक्त करे जो श्रौद्योगिक विवादो मे समझौता कराने का मार्ग निकालें और आवश्यकतानुसार मध्यस्थता भी करें। सराधन अधिकारी को यह अधिकार दिया गया कि जनोपयोगी सेवा विषयक सभी झगडे अनिवार्य रूप से पचप्रणाली द्वारा सुलझाएँ। सन् १९४७ के अधिनियम के अतर्गत विभिन्न न्यायाधिकरणो ने जो जो मत व्यक्त किए वे आपस मे मेल नही खा रहे थे, क्योकि उनके बीच सपर्क स्थापित करनेवाली कोई सस्था नही थी। फलत सन् १९५० में श्रौद्योगिक विवाद (अपीली न्यायाधिकरण) अधिनियम पारित किया गया और देश मे अपीली न्यायाधिकरणो की स्थापना की गई। इन न्यायाधिकरणो को अधिकार मिला कि वे विभिन्न श्रौद्योगिक न्यायाधिकरणो द्वारा दिए गए निर्णयो के विरुद्ध की जानेवाली अपीले सुने।

सन् १९४७ के श्रौद्योगिक विवाद अधिनियम मे सन् १९५२, १९५३ और अतिम बार सन् १९५६ मे सशोधन किए गए, जिसमे अकारण छुट्टी एव छँटनी के मामलो मे श्रमजीवियो को प्रतिकर (मुआवजा) दिलाया जा सके। इसके साथ ही श्रमजीवी पत्रकार भी इस विधि के अतर्गत श्रमजीवी मान लिए गए। सन् १९५६ के श्रौद्योगिक विवाद (सशोधन एव विधि व्यवस्थाएँ) अधिनियम ने 'श्रमजीवी' शब्द की परिभाषा को और विस्तृत किया तथा पहले की न्यायाधिकरण-प्रणाली के स्थान पर त्रिस्तरीय प्रणाली का निर्माण किया। नवीन त्रिस्तरीय प्रणाली के अतर्गत (क) श्रम न्यायालय (ख) श्रौद्योगिक न्यायाधिकरण और (ग) राष्ट्रीय न्यायाधिकरण बनाए गए। अपने अपने क्षेत्रो की सामान्य एव विशेष समस्याओ के समाधान के लिये बबई, मध्यप्रदेश, मैसूर, तिरुवाकुर-कोचीन (अब केरल) और जम्मू-कश्मीर राज्यो मे श्रौद्योगिक विवादो के सबध मे अलग अलग विधान भी बने हुए हैं।

स०ग्र०--ब्रिटिश मिनिस्ट्री ऑव लेबर इडस्ट्रियल रिलेशस हैंडबुक (लदन)। [दु० च० स०]

श्रौद्योगिक परिषदें ब्रिटेन मे सन् १९११ मे सघटित मजदूरो और मालिको की एक सयुक्त समिति के लिये पहले श्रौद्योगिक परिषद् (इडस्ट्रियल कोर्ट) नाम का उपयोग किया गया। इस परिषद् को केवल प्रतिप्रेषित विषयो पर ही विचार का अधिकार था, अनिवार्य रूप से व्यवहृत होनेवाले कोई अधिकार इसे प्राप्त नही थे। फलत बाद मे इसे समाप्त कर दिया गया। सन् १९१७ मे ह्विटले कमेटी के प्रतिवेदन (रिपोर्ट) के प्रकाशन पर इसकी फिर चर्चा हुई। सघटित उद्योगो मे श्रम सबधी मे सुधार के लिये श्रौद्योगिक परिषदो के सघटन की सिफारिश प्रतिवेदन मे की गई थी। प्रतिवेदन की सिफारिश का आशय यह था कि आर्थिक और उद्योग सबधी व्यापक समस्याओ पर इन परिषदो मे सयुक्त रूप से विचार विमर्श हो। सन् १९१९ मे हुए राष्ट्रीय श्रौद्योगिक समेलन ने पूरे ब्रिटेन के लिये 'राष्ट्रीय सयुक्त परिषद' की स्थापना की माँग की, परतु सन् १९२६ की हडताल के पहले इसका सघटन नही हो सका।

सन् १९३९ मे इग्लैंड के श्रममत्री ने मालिको के महासघ तथा मजदूर काग्रेस के प्रतिनिधियो का एक सयुक्त समेलन किया, जिसने सन् १९४० मे 'राष्ट्रीय सयुक्त परामर्शदात्री परिषद्' का सघटन किया। श्रम सबधी विभिन्न विषयो पर सरकार को परामर्श देना इस सघटन का काय था।

भारत में इस परिषद् के बारे मे दूसरी ही कल्पना रही है। भारतीय श्रमिक समस्या सबधी राजकीय आयोग (रॉयल कमिशन) ने मालिको और मजदूरो के बीच सयुक्त समितियो के माध्यम से कारखाना-स्तर पर सयुक्त विचार विमर्श की सिफारिश की थी। इन्हें वर्क्स कमेटी (मालिक-मजदूर समिति) का नाम दिया गया। सचालको और कर्मचारियो के परस्पर हित सबधी दैनदिन प्रश्नो पर ये समितियाँ विचार करती हैं तथा आपसी मतभेदो का आरभिक अवस्था में ही निराकरण करने का महत्वपूर्ण कार्य भी करती हैं।

इन समितियो के निर्माण की गति अत्यत मद रही। अहमदाबाद में कुछ समितियो के सघटन के अतिरिक्त भारत सरकार के मुद्रणालयो

ओरांगऊटान (देखे पृष्ठ २५८) तथा ऋजुपक्ष (देखे पृष्ठ १५६)

ओरागऊटान अथवा वनमानुष
यह चित्र सारावाक (वोर्निग्रो द्वीप) की सादोग नदी के किनारे लिया गया।

लघुशृंगी टिड्डा
(Short horned grasshopper)
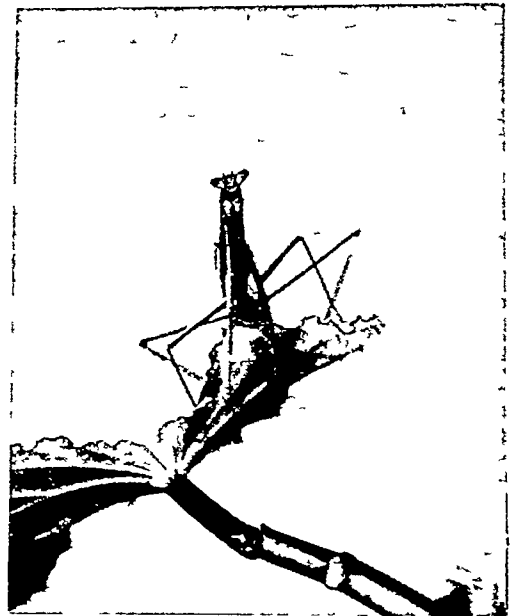
बद्धहस्त कीट
(Praying mantis)

(अमेरिकन म्यूजियम ऑव नेचुरल हिस्टरी के सौजन्य से प्राप्त)

औद्योगिक वास्तु (देखे पष्ठ २७१)
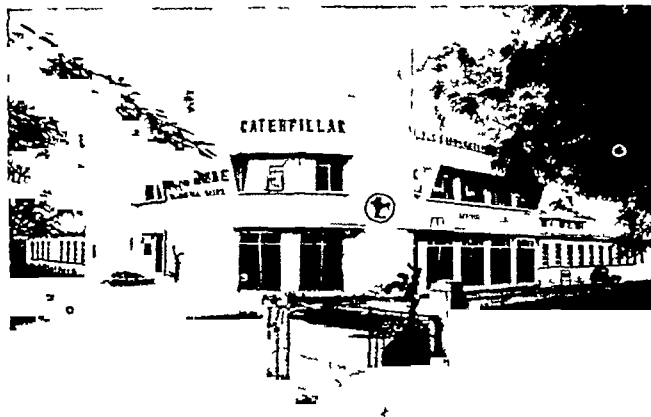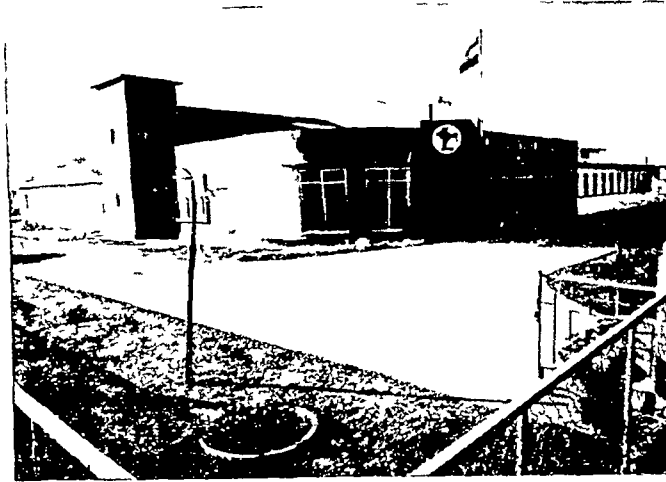
औद्योगिक वास्तु के दो उत्कृष्ट नमूने

में सन् १९२० मे, टाटा आयरन वर्क्स मे सन् १९२१ मे और मद्रास के बकिंघम-कर्नाटक-मिल्स में सन् १९२२ मे ऐसी समितियाँ सघटित हुईं। सन् १९४७ मे औद्योगिक-विवाद-कानून में एक धारा जोडकर उन सब औद्योगिक सस्थानों के लिये मालिक-मजदूर-समिति के सघटन की व्यवस्था की गई जिनमे सौ या सौ मे अधिक कर्मचारी काम करते हैं। कानून मे इन समितियो के निर्माण का उद्देश्य बताया गया—मालिको और मजदूरो मे सौहार्द और अच्छे सबधो की स्थापना मे सहायक उपायो को बढावा देना, समान हित के विषयो पर विचार करना और तत्सबधी मतभेदो को दूर करने का प्रयत्न करना।

इन समितियो मे अधिक से अधिक चौदह प्रतिनिधि होते हैं, जिनमे आधे सचालको द्वारा मनोनीत किए जाते हैं और शेष आधे को मान्यता प्राप्त मजदूरसघ या कर्मचारीगण चुनते हैं। पहले सभी चीनी मिलो में और बाद में ऐसे सभी औद्योगिक सस्थानों मे, जिनमें दो सौ या इससे अधिक कर्मचारी काम करते हैं, ऐसी समितियो के निर्माण के लिये सन् १९४८ में आदेश जारी कर उत्तर प्रदेश सरकार ने इस दिशा मे नेतृत्व किया। दूसरे राज्यो मे भी, विशेषकर बडे उद्योगो मे, ऐसी समितियाँ बनी।

ये समितियाँ केवल उत्पादन सबधी जिम्मेदारियो से ही कर्मचारियो को अवगत नही कराती थीं, वरन् समान हित की समस्याओ के समाधान, उत्पादन, बोनस, वेतन, काम के घटो मे कमी, कार्य करने की स्थिति मे सुधार और कर्मचारी कल्याण तथा आवास सबधी सुविधा विषयक प्रश्नो के सुलझाने मे भी पर्याप्त सहायता करती रही हैं। फिर भी इन समितियो की कार्यप्रगति उत्साहप्रद नही है। सचालक इन समितियो को ऊपर से लादा हुआ समझते हैं और निपट उदासीनता और अनिच्छा-पूर्वक ही उन्होने इन्हे स्वीकार किया है। उन्होने इन समितियो का बनाया जाना पसद नही किया है। अपने लिये अधिक से अधिक लाभ उठाने का ही उनका प्रयत्न रहा है। दूसरी ओर मजदूरो ने भी इस उपक्रम से सहयोग नही किया है। अपने सघीय नेताओ की प्रेरणा से उन्होने इन समितियो को मात्र अपने हितो और अधिकारो के लिये लडने का मच बनाने का प्रयत्न किया है। [दु० च० स०]

औद्योगिक वास्तु सामान्यत औद्योगिक वास्तु के अतर्गत ऐसी इमारतें तथा कारखाने आते हैं जहाँ वस्तुओ का प्रारभिक निर्माण, उत्पादन, सग्रह, और क्रय विक्रय होता है। ऐसी इमारतें हैं—कल कारखाने, मिल, विद्युच्छक्ति केंद्र, तैलशोधन केंद्र, प्रदर्शन कक्ष, अन्नसग्राहक (सिलो) और गोदाम इत्यादि। मूलत इन इमारतो का निर्माण व्यावहारिक ढग पर होना चाहिए, अर्थात् इनका ढाँचा ऐसा हो जिससे कम से कम खर्च से, स्थान, सामग्री और धन का अपव्यय बचाते तथा कार्यकुशलता को अक्षुण्ण रखते हुए ये उस विशिष्ट उद्देश्य को सिद्ध कर सके जिसके लिये इनका निर्माण किया जाता है। ये इमारतें और कारखाने जिन लोगो के उपयोग मे आते हैं उन्हे पर्याप्त सुरक्षा और अधिक से अधिक सुख सुविधा प्राप्त हो सके, इसका पूरा ध्यान रखना आवश्यक होता है। आकार प्रकार मे भी इन इमारतो को सुसतुलित, मनोरम और भव्य होना चाहिए।

आरभ में भारत में औद्योगिक इमारतें मुख्यत शहतीर, ईंट और पत्थरो से बनती थी और एकमजिली ही होती थी। शहरो मे, जहाँ भूमि का मूल्य अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता था, ये इमारतें दुमजिली बनती थीं। तीन या इससे अधिक मजिलोवाली इमारतें तो बहुत ही कम थी। लबी धरनो के न मिल सकने के कारण छत के नीचे पास-पास खभे रखने पडते थे जिससे इमारत के भीतर का एक बडा भाग किसी काम मे न आ पाता था। आगे चलकर जब लोहा सुलभ होने लगा तो खभे लोहे के ही बनने लगे। इस्पात और काच सुलभ होने पर इस्पात के ही धरन, कैंचियाँ (ट्रसेज़) और खभे बनाए जाने लगे जिससे खभे दूर दूर रखे जा सके और काम के लिये कारखाने के भीतर अधिक स्थान मिलने लगा। साथ ही इस्पात के पायो पर खडे किए गए कई मजिल के भवनो का निर्माण भी सभव हो सका।

प्रचलित सीमेंट, कक्रीट, अच्छी जाति के इस्पात और ऐल्यूमिनियम की मिश्र धातुओ के विकास से औद्योगिक इमारतो की डिजाइन, निर्माण और साज सज्जा मे अच्छी प्रगति हुई। टेलिफोन, लिफ्ट तथा स्वचालित सबहन से इस प्रगति मे और तीव्रता आई।

औद्योगिक इमारतो के निर्माण के लिये उपयुक्त स्थान का चुनाव करते समय निम्नलिखित बातो पर ध्यान देना आवश्यक है विद्युच्छक्ति और जल सस्ता और पर्याप्त मात्रा में मिल सके। आवश्यक मात्रा और सतोषजनक रूप में श्रम सुलभ हो। कच्चे माल और आवश्यक उपकरण को उचित व्यय और सुविधाजनक रीति से प्राप्त करने तथा प्रस्तुत माल को बाहर भेजने के लिये समुद्र या नौसबहन योग्य नदी, रेल लाइन और पक्की सडक हो। व्यवसायजन्य रद्दी सामानो के उचित विक्रय की सुविधा हो। भूमि भवननिर्माण योग्य हो और पडोस ऐसा हो जिससे भविष्य में उद्योग का कम खर्च से सुविधाजनक एव सतोषजनक रूप मे विस्तार सभव हो सके। युद्धकालीन बमबारी जैसे जोखिमो से बचने के लिये यथासभव जनाकीर्ण एव सामरिक महत्व के क्षेत्रो को नही चुनना चाहिए।

स्थान की आवश्यकता पर सावधानी से विचार करना चाहिए। विभिन्न एकको की रचना बडी सतर्कता से करनी चाहिए जिससे दैनिक कार्यसचालन मे शक्ति का अपव्यय न हो और न स्थान, सामग्री, श्रम या धन की बरबादी हो। आयोजन सरल होना चाहिए जिससे कम से कम खर्च मे प्रतिष्ठान मे कार्य करनेवालो की कार्यक्षमता अधिक से अधिक बढाई जा सके और उन्हे अधिकतम सुख सुविधा प्राप्त हो सके। जलवायु की स्थिति, वायुप्रवाह की दिशा, वर्षा की मात्रा आदि पर भी उचित ध्यान देना आवश्यक है। इमारतें एकमजिली हों या कई मजिलो की, यह उद्योगविशेष की अपनी आवश्यकताओ, भूमि के आपेक्षिक मूल्य, भूमि की स्थिति तथा क्षेत्रफल आदि पर निर्भर है। कई मजिलोवाली इमारतो मे अग्नि के नियत्रण के लिये स्वचालित व्यवस्था होनी चाहिए जिससे बीमे का खर्च कम हो। अग्निकाड और सकट के समय निकल भागने का भी उचित प्रबध आवश्यक है। लिफ्ट और स्वचालित सोपानो की व्यवस्था भी हो सके तो अच्छा है।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक विभाग का विस्तार समय आने पर उचित रीति और कम व्यय से किया जा सके और इससे उत्पादन में कोई ह्रास न हो। प्रतिष्ठान के विस्तार के अनुरूप जलपान एव भोजनगृह, विश्रामकक्ष, शौचालय, बहुमूल्य वस्तुओ को रखने के लिये सुरक्षित स्थान, चिकित्सालय एव क्रीडागण आदि कल्याणकारी सुविधाएँ भी नितात अपेक्षित हैं। वास्तु को प्रभावशाली बनाने के लिये भवन के आकार प्रकार, बनावट, सौष्ठव और सम्यक् अनुपात का ध्यान रखना चाहिए। कर्मचारियो की मनोदशा और मानसिक वृत्तियो पर रगो के आयोजन का बडा प्रभाव पडता है, जिससे अतत उत्पादन के परिमाण और अच्छाई दोनो प्रभावित होते हैं। प्रतिष्ठान की भीतरी दीवालो की रँगाई हल्के रगो से या सफेद होनी चाहिए। इमारतो मे रोशनी की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए जिससे निरतर एकरूप प्रकाश मिल सके, किंतु चकाचौंध न उत्पन्न हो। प्राकृतिक प्रकाश का अधिकतम लाभ उठाना चाहिए। इसके लिये उत्तर की ओर बडी बडी खिडकियाँ लगानी चाहिए। रात के समय कृत्रिम प्रकाश के रूप मे बिखर कर आया बिजली का श्वेत प्रकाश अपेक्षित होता है। प्राय विद्युन्नलिकाएँ (फ्लुओ-रेसेंट ट्यूब लाइट) सर्वाधिक सुविधाजनक होती हैं। इमारतो मे स्वच्छ वायु के गमनागमन की व्यवस्था बडे महत्व की है। इसके लिये प्राकृतिक और कृत्रिम दोनो प्रकार की व्यवस्थाएँ की जा सकती हैं। तबाकू, औषध और वस्त्रोद्योग जैसे प्रतिष्ठानो मे, जहाँ ताप एव आर्द्रता का नियत्रण और धूलिकणो का दूर रखना बहुत आवश्यक होता है, वायु अनुकूलन की भी व्यवस्था करनी पडती है (देखे, वायु अनुकूलन)। औद्योगिक इमारतो का निर्माण अग्निसह होना चाहिए।

कुछ देशो मे कारखानो की वृद्धि इतनी अधिक हुई है कि शहरो मे उनका बनाना असभव हो गया है। इसलिये बडे कारखाने शहर से दूर बनाए जाते हैं और पास मे ही कार्यकर्ताओ के लिये गृह, पाठशाला, उद्यान, अस्पताल, बाजार, सिनेमा आदि सभी विशेष रूप से बनाए जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कारखाना एक छोटा सा नगर ही हो जाता है।

कार्यालयो के लिये भवन भी औद्योगिक वास्तु के अतर्गत गिने जाते हैं। विदेशो मे कुछ इतने बड़े बडे कार्यालय हैं कि वे तीस-मजिले या

इससे भी ऊँचे बनाए गए हैं। इस्पात के ढाँचे के आविष्कार के पहले ऐसे ऊँचे कार्यालयों के निम्नतम खड में जगह बिलकुल नही बचती थी, क्योंकि आवश्यक दृढता के लिये दीवारें बडी मोटी बनानी पडती थी। उदाहरणत, ३४८ फुट ऊँचे एक कार्यालय के निम्नतम खड मे दीवारें २० फुट मोटी थी। सन् १८८४ मे पहली बार ऐसा भवन बना जिसमे इस्पात का ककाल था और सब छतो और सामान का बोझ इसी ककाल पर टिका था। इसमे दीवारे बहुत पतली थी और उनका भी भार ककाल पर ही सँभला हुआ था। पीछे इस्पात के गर्डरो को लवगित (रिवेट) करने के बदले वेल्डिंग से जोडने का उपयोग होने लगा। तब वाछित दृढता के लिये बहुत हल्के ककालो का ही प्रयोग होने लगा और बहुत ऊँचे भवन बनने लगे। परतु बहुत ऊँचे भवनो मे इतने एलिवेटरो की आवश्यकता पडने लगी कि बहुत सा उपयोगी स्थान उन्ही मे लग जाता था। अब स्वयचल (ऑटोमैटिक) एलिवेटरो के प्रयोग से इस समस्या का भी हल निकल आया है।

भवनो को अग्निसह (फायर प्रूफ) बनाने के लिये यह आवश्यक है कि इस्पात के गर्डर आदि सीमेंट-कक्रीट मे दबे रहे, अन्यथा भवन के भीतर रखे सामान के जलने पर वे तप्त होकर नरम पड जाते हैं और भवन गिर पडता है।

प्रकाश अधिक आ सके, इस अभिप्राय से कभी कभी काच की ईंटो से दीवार बना दी जाती हैं। यदि ऐसा न भी किया जाय तो काच लगी बडी खिडकियो से काम लिया जाता है। ककालयुक्त भवनो मे दीवारो पर तो कोई बोझ रहता नही, इसलिये उनको प्राय काच से ही भरना सभव होता है। विदेशो में बहुत से कारखानो मे दीवार का ९० प्रति शत काच होता है, परतु भारत मे धूप से भी बचना रहता है, इसलिये इतना काच नही लगाया जा सकता। ककालयुक्त भवनो में खभो के बीच ३०' × ६०' का स्थान सुगमता से रखा जा सकता है। हवाई जहाज के कारखानो मे इससे भी बडे चौके (स्तभ-रहित-स्थान) रखे जाते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इग्लैंड मे बने एक कारखाने मे ३५८ फुट × ४२० फुट के चौके हैं। ऐसे भवनो पर पडे गर्डर सादे नही, कैंची (ट्रस) या पुलो पर प्रयुक्त ककालमय गर्डर की तरह या मेहराब होते हैं।
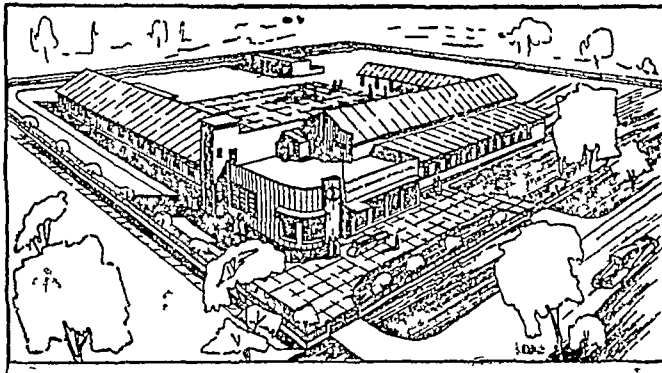
एक आधुनिक कारखाना

कारखाने के चारो ओर वृक्षो के रहने से श्रमिको को शुद्ध वायु मिलती है।

कारखाने के चारो ओर उद्यान हो तो अच्छा (चित्र देखे)। अधिक मजिलोवाले कार्यालयो के चारो ओर उद्यान रखना आवश्यक समझा जाता है, जिसमे कार्यकर्ताओ को शुद्ध वायु मिला करे। यूनाइटेड नेशस हेडक्वार्टर्स १२ एकड भूमि मे बना है। भवन मे ३९ मजिल है, और यह सारी इमारत भूमि के एक छोटे अश मे ही बनी है। शेष भूमि में उद्यान है।

पिछले विश्वयुद्ध में इसकी भी आवश्यकता पडी कि औद्योगिक भवन शीघ्रता से बने। तब ऐसी निर्माण रीतियाँ निकाली गईं कि वर्षो का काम सप्ताहो मे होने लगा। सफलता प्रामाणिक नाप के अवयवो और ब्योरो से मिली। उदाहरणत सब कारखानो मे विशिष्ट नापो के कक्ष बनते थे और दरवाजे, खिडकियाँ आदि विशेष नापो के और विशेष मेलो के ही लगाए जाते थे।

स० ग्र०--सी० जी० होल्म (सपादक) इडस्ट्रियल आर्किटेक्चर (लदन, १९३५), क्लेयरेस डब्ल्यू० डनहम प्लैनिंग इडस्ट्रिग्रल स्ट्रक्चर्स (१९४८)।

[ती०रा०म०]

औद्योगिक श्रमिक

औद्योगिक श्रमिक के अतर्गत, जैसा इन शब्दो से ध्वनित होता है, विभिन्न देशो के औद्योगिक प्रतिष्ठानो मे कार्य करनेवाले सभी कर्मचारी आ जाते हैं। 'विश्व के औद्योगिक श्रमिक' नाम सर्वसाधारण के अतिरिक्त सयुक्त राज्य, अमरीका, के एक क्रातिकारी श्रमिक सघ को भी दिया गया है। सन् १९०५ मे शिकागो मे हुए समाजवादियो और मजदूर सघ के कार्यकर्ताओ के समेलन के परिणामस्वरूप इसकी स्थापना हुई थी।

उस समय अमरीका मे क्रातिकारी श्रमिको की यह तीव्र भावना थी कि पूँजीपतियो से असहाय श्रमिको की रक्षा का एकमात्र उपाय स्वतत्र राजनीतिक कार्रवाई ही है। तत्कालीन श्रमिक सघटन इतना ही था कि विविध कारखानो या उद्योगो मे विभिन्न शिल्प सघटन या दलीय सघटन थे। मालिको द्वारा श्रमिको का शोषण सरलतापूर्वक होता था और छोटे छोटे सघटन कुछ विशेष उपाय कर नही पाते थे। मालिको तथा "अमरीकी श्रमिक सघ" मे परस्पर घोर विरोध होते हुए भी सयुक्त राज्य अमरीका के खनको के पश्चिमी सघ ने एक शक्तिशाली सघटन की स्थापना के उद्देश्य से एक समेलन बुलाया। उक्त समेलन मे रेवरेंड हैगर्टी द्वारा प्रस्तुत योजना सभी श्रमिको द्वारा स्वीकृत हुई, जिसके फलस्वरूप "विश्व के औद्योगिक श्रमिक" (इडस्ट्रियल वर्कर्स ऑव दि वर्ल्ड) नामक सघ की स्थापना हुई। सघ ने कम से कम समय और धन व्यय द्वारा अभीप्सित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये "कोई एक या सभी युक्तियो" से काय करने की कार्यविधि अपनाई। इस सघ ने प्रत्येक औद्योगिक प्रतिष्ठान में एक ही सघ की स्थापना का प्रयास किया। सघ के प्रयत्नो से प्रत्येक स्थान विशेष के विभिन्न सघ एक मे मिलकर स्थानीय औद्योगिक सघ का स्वरूप ग्रहण कर लेते थे, और वह सघ "विश्व के राष्ट्रीय औद्योगिक श्रमिक" नामक वृहत् सघ का एक विभाग बन जाता था।

राजनीतिक विचारो मे मतभेद के कारण १९०७ ई० में उक्त सस्था बिखर सी गई, परतु उसके बाद भी कुछ समय तक वह अपना प्रभाव बनाए रख सकी और सन् १९१२ मे सयुक्त राज्य, अमरीका, के सूती मिल मजदूरो को उसने विजयश्री दिलाई। प्रथम विश्वयुद्ध के समय यही एकमात्र सघ था जिसने युद्ध का विरोध किया, किंतु १९१७ के दमनात्मक कानून के कारण इसके कार्यकर्ताओ पर १९१८ ई० में सामूहिक रूप से मुकदमे चले, और ९३ कर्मचारियो को बीस बीस वर्ष का कारावास दिया गया। १९२० ई० तक इसने अपनी सामाजिक शक्ति खो दी। फिर भी सयुक्त राज्य, अमरीका, मे कतिपय श्रमिक १९४९ ई० तक अपने उद्देश्यो के लिये उसी कार्यविधि से सघर्षरत थे और इसकी स्थानीय शाखाएँ ग्रेट ब्रिटेन के कतिपय आस्ट्रेलियाई बदरगाहो मे विद्यमान थी।

सामान्य धारणा के अनुसार विभिन्न देशो के श्रमिक अधिकतर सघाधिपत्यवाद तथा अराजकतावाद के सिद्धात से प्रभावित होते रहते हैं। सघाधिपत्यवाद के सिद्धात की प्रस्थापना सर्वप्रथम १९वी शताब्दी के अत मे फ्रासीसी नेताओ द्वारा की गई थी, यद्यपि इसके कुछ चिह्न इसके पूर्व १८३३ ई० मे ग्रेट ब्रिटेन मे भी देखे गए थे। वस्तुत इसका विकास फ्रास के मजदूर वर्ग की उग्र ससदविरोधी परपरा से हुआ था। १८६९ ई० में बास्ले मे हुई अतर्राष्ट्रीय श्रमिको की काग्रेस मे एक फ्रासीसी प्रतिनिधि ने यह भविष्यवाणी की थी कि सघाधिपत्यवाद श्रमिको तथा प्रबधसचालको के सबधो को और देशो की राजनीति को नियत्रित करता रहेगा। सन् १८९० तक यह प्रवृत्ति यूरोपीय देशो मे प्रबल रूप से विद्यमान थी। सयुक्त राज्य (अमरीका) मे विश्व के औद्योगिक श्रमिको का आदोलन ठीक इसी के समान था। ग्रेट ब्रिटेन मे श्रमिकगण सघाधिपत्यवाद और समाजवाद से एक साथ ही प्रभावित थे। बाद में सघाधिपत्यवाद का स्थान समाजवाद ने ले लिया। इटली में आज भी

यत्र तत्र इसके प्रभाव मिलते है, यद्यपि स्पेन मे यह स्वतत्र रूप से अराजकतावाद से विकसित हुआ।

सघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद का भारतीय श्रमिको पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही है, क्योकि इस देश में श्रमिक आदोलन बहुत बाद में प्रारभ हुआ। यद्यपि ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देशों के श्रमिक आदोलनो ने इस देश के श्रमिक आदोलन को प्रभावित किया, तथापि भारतीय श्रमिको का प्रेरक सिद्धात अतत समाजवाद ही था। साम्यवाद का भी कुछ प्रभाव यहाँ पाया गया है, परतु स्वतत्र भारत के श्रमिको को तथा देश के विकास को सरकार की ओर से जो महत्व प्रदान किया जा रहा है तथा समाजवादी समाजरचना के अतर्गत औद्योगिक श्रमिको के विविध हितों को जो पूर्ण सरक्षण प्राप्त है, उनके कारण यह अपना सामाजिक प्रभाव खोता जा रहा है।

स० ग्र०--जे० एस० गैंन्स दि डिक्लाइन ऑव दि आई० डब्ल्यू० डब्ल्यू० (कोलबिया यूनिवर्सिटी, १९३२)। [दु० च० स०]

औद्योगिक संबंध

स्वामी और श्रमिक के निजी उद्देश्यो की भिन्नता ने औद्योगिक सबधो की समस्या को जन्म दिया, जो अब विभिन्न देशो मे होनेवाले औद्योगिक विकास के साथ अधिकाधिक जटिल होती जा रही है। मानव कल्याण के प्रसाधन के रूप में अब उद्योगो के सामाजिक उद्देश्य को भली भाँति स्वीकार कर लिया गया है। इसका अर्थ है, काम करने के लिये अधिक अनुकूल ऐसी अवस्थाओ का सृजन जिनके अतर्गत उत्पादन को सुव्यवस्थित किया जा सके तथा उत्पादन के दो मुख्य प्रसाधनो, पूंजी और श्रम, के बीच होनेवाली क्रिया प्रतिक्रिया को सुविभाजित करने के लिये एक उपयुक्त सिद्धात बन सके। कारखानो की पुरानी व्यवस्था के अतर्गत पूंजीपति श्रमिको के साथ एक विक्रेय वस्तु की भाँति व्यवहार करते थे और वे पारिश्रमिक, काम के घटों और नौकरी के प्रतिबधो के लिये माँग एव पूर्ति के नियम के अनुसार अनुशासित होते थे। आरभ मे तो श्रमिको ने इसे टल जानेवाली विपत्ति समझा, किंतु बाद म उन्हें यह भान हुआ कि उनके ये दु ख प्राय स्थायी से हो चले हैं। स्वामी के अधिकारक्षेत्र मे उनके सामाजिक एव भौतिक अभाव दिन दूने रात चौगुने होते गए और इस प्रकार दोनो के सबध इस ढग के न रहे जिन्हें किसी भी प्रकार सद्भावनापूर्ण कहा जा सके। समस्या दिनो दिन उग्र रूप धारण करती गई। अब औद्योगिक सबधो का अर्थ केवल स्वामी-श्रमिक का सबध ही नही रहा, अपितु वैयक्तिक सबध, सह-परामर्श, समितियो के सयुक्त लेन देन तथा इन सबधो के निर्वाह कार्य में सरकार की भूमिका आदि सब कुछ है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि---मध्ययुग मे व्यापारो का क्षेत्र छोटा था तथा स्वामी एव श्रमिक अधिक निकट सपर्क मे थे। श्रमिक स्वामियो से अपनी एक भिन्न जाति ही समझते थे। धीरे धीरे उन्हें बोध हुआ कि उनकी व्यक्तिगत शक्ति कितनी अल्प थी। फिर उनकी स्थिति में और भी पतन हुआ जिससे वे क्रीतदास के समान हो गए और अतत स्वामी-श्रमिक का सबध इसी आधार पर स्थिर हुआ। उत्पादन कार्य मे कारखानो की पद्धति प्रारभ होने पर श्रमिक वर्ग ने अपना सघ स्थापित करना आरभ किया। इस दिशा मे सर्वप्रथम ब्रिटेन के श्रमिक १९वी सदी मे अग्रगामी सिद्ध हुए, यद्यपि उनके सघ १८२४ ई० तक गैरकानूनी माने जाते रहे और सन् १८५० तक उन पर कुछ न कुछ कानूनी प्रतिबध लगा ही रहा। फिर भी, औद्योगिक सघटनो (ट्रेड यूनियन) के आदोलन के विकास के साथ साथ सयुक्त मोल भाव की प्रणाली शक्तिशाली बनती गई, और आज यह प्रणाली न केवल ब्रिटेन मे, वरन् विश्व भर के देशो में, औद्योगिक सबधो को सुनिश्चित करने की मुख्य प्रणाली के रूप मे व्यवहृत हो रही है। इन सघटनो (यूनियन) का महत्व इतने से ही समझा जा सकता है कि १९०० ई० से इन्होंने कुछ देशो की राजनीति पर भी अपना प्रभाव डालना आरभ कर दिया और उनके वर्तमान एव भविष्य को अधिकाधिक प्रभावित करने लगे।

औद्योगिक-श्रम-सघटनो का अतर्राष्ट्रीय सघ १९१९ ई० मे स्थापित हुआ जिसमें ६० देशों के मालिकों, श्रमिको एवं सरकारो के प्रतिनिधि समिलित हुए। कुछ यूरोपीय देशो में मालिको एव श्रमिको के सघटन सरकारी नियत्रण मे ले लिए गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान मे और उसके बाद भी अधिकाश देशो की सरकारो ने अनेक मामलो में मालिको एव श्रमिको के प्रतिनिधियो से परामर्श ग्रहण किया। अब सामान्यत. सभी श्रमिक देश के लिये अपना महत्व समझने लगे हैं और यह भी जान गए हैं कि उनकी सुखसुविधा अतत उत्पादन को विकसित करने पर ही अवलबित है।

भारत में भी औद्योगिक श्रमिक वर्ग इन्ही अवस्थाओं मे से गुजरा और विपत्तियो का सामना करने को बाध्य हुआ। उस समय मालिक मजदूरो के बीच कटु मतभेदो के, जो प्राय मद्रास, बबई और अहमदाबाद जैसे बडे औद्योगिक नगरो में हडताल का रूप भी ले लेते थे, होते हुए भी सरकार ने सदैव तटस्थ रहने की नीति अपनाई। यह स्थिति प्रथम महायुद्ध के अत तक क्रमश उग्र ही होती गई, क्योकि श्रमिको की आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत अधिक हो चली थी और उनके सामूहिक जागरण के चिह्न प्रकट हो चले थे। जीवनयापन के उन्नत स्तर एव बढती हुई महँगाई की तुलना में भारतीय उद्योगो में पारिश्रमिक की दर बहुत कम पड रही थी। श्रमिको ने उस प्रचुर लाभ मे भी अपने भाग की माँग की जिसे उद्योगपतियो ने युद्धकाल मे बटोरा था। इसी समय महात्मा गाधी राजनीति के क्षेत्र में आए। देश की बदलती राजनीतिक अवस्थाओ तथा 'अतर्राष्ट्रीय श्रम सघ' की स्थापना ने उन्हे अपने राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक अधिकारो के प्रति सजग कर दिया था। देश मे श्रमसघटनो की एक लहर आ गई थी और औद्योगिक कलहो के १९२८ ई० में आनेवाले दूसरे दौर तक हुई प्राय सभी हडतालो को इन्ही के कारण सफलता मिल पाई थी। भारत सरकार ने इन सबसे विवश होकर औद्योगिक कलह अधिनियम १९१९ मे पारित किया, जिससे ये झगडे शीघ्र सुलझाए जा सके। सन् १९३७ मे प्रदेशीय शासन हस्तगत करने के बाद उत्तर प्रदेश की राज्य सरकार ने श्रमिक वर्ग की ठीक दशा जानने के लिय एक जांच कमेटी नियुक्त की तथा बबई म १९३८ का "औद्योगिक कलह अधिनियम" इसी उद्देश्य से पारित हुआ कि ऐसे झगडो को निबटाने के लिये एक स्थायी साधन सुरक्षित रहे। सन् १९३९ में पुन युद्ध छिडने के बाद मजदूरो की मजदूरी एव रहन सहन के खर्च के बीच की खाईं चौडी होती गई। फलत ऊँची मजदूरी और महँगाई भत्ते के लिये अनेक हडतालें हुईं। इससे युद्धजनित पूर्ति का कार्य बाधित होने लगा और भारतरक्षा कानून, १९४२, के अतर्गत कई बडे पग उठाए गए जिनके कारण युद्धकाल मे श्रमिको को अनेक प्रकार के दु ख झेलने पडे।

१९४७ मे भारत ने परतत्रता का जुआ उतार फेका। राजनीतिक परिवर्तनो, मुद्रास्फीति की कठिनाइयो, बाजार मे वस्तुओ की कमी तथा अन्य युद्धोत्तर प्रभावो का लाभ उठाते हुए कुछ राजनीतिक दलो ने औद्योगिक उपद्रवो को प्रोत्साहित किया। देश के अनेक राज्यो में हडतालो की बाढ सी आ गई। तब १९४७ का औद्योगिक कलह-अधिनियम पारित हुआ। इसमें उद्देश्य यह रखा गया कि श्रम समितियो, मेलमिलाप पदाधिकारियो तथा औद्योगिक न्यायालयो की नियुक्ति द्वारा इन झगडो का निपटारा करने के लिये एक स्थायी विभाग स्थापित हो। इसके सद्भावपूर्ण निर्णय कानूनी तौर पर लागू होते थे। इन औद्योगिक अदालतो के निर्णयो मे एकरूपता लाने के लिये १९५० ई० के औद्योगिक कलह अपील न्यायालय अधिनियम द्वारा मामलो पर पुनर्विचार के लिये एक श्रमिक अपील न्यायालय स्थापित हुआ। कुछ कानूनी दोषो को दूर करने की दृष्टि से १९४७ ई० के अधिनियम को सन् १९५२ मे सशोधित किया गया। १९५३ ई० में मजदूरो की छँटनी करने, अथवा उनसे कम समय तक काम लेने के मामले मे, क्षतिपूर्ति देने के लिये पुन सशोधन उपस्थित किया गया। सबसे महत्वपूर्ण और नवीनतम सशोधन है "औद्योगिक कलह सशोधन तथा विविध व्यवस्था अधिनियम, १९५६ ई०।" इसके द्वारा "श्रमजीवी" की परिभाषा ने विस्तार पाया और औद्योगिक न्याय ने अब श्रमिक-न्यायालय, औद्योगिक न्यायालय तथा राष्ट्रीय न्यायिक निर्णयो का मिलाजुला रूप धारण किया। औद्योगिक सबधो की पूरी प्रक्रिया अब दो प्रमुख बातो के अतर्गत आ

गई, यद्यपि दोनो परस्पर सर्वथा पृथक् नही थे। साधारण भाषा मे, पहली स्थिति को "वैयक्तिक सबध" माना गया जिसके अतर्गत उद्योग मे व्यक्ति के आधार पर होनेवाले सबधो को लिया गया है तथा दूसरा "सामूहिक सबध" समझा गया जिसमे सामूहिक रूप से निर्वाह किए जानेवाले सबधो का समावेश था। इस प्रकार व्यक्तिगत सबधो की सीमा मे कार्य सबधी नाते, लोगो की अलग अलग व्यवस्था आदि रखे गए और सामूहिक मोल-चाल, मालिक एव मजदूरो के सघो के पारस्परिक सबध आदि श्रमजन्य सबधो के क्षेत्र मे।

मूल समस्या के इन दो पक्षो के अतिरिक्त सरकार का इन मामलो मे भाग लेना भी एक प्रमुख घटना है। सरकार की भूमिका है मेल-मिलाप के कार्यो द्वारा सद्भावनापूर्ण सबध बनाए रखने मे सहायता करना, मामलो को सुलझाने में पच बनना और कारखाने के मजदूरो की कार्यगत दशाओ को सुधारते हुए उन्हे विधिवत् सचालित करना।

वैयक्तिक सबध--वैयक्तिक आधार पर औद्योगिक सद्भावना स्थापित करने के लिये कुछ उद्योगो में कार्यसमितियाँ (वर्क्स कमिटी) स्थापित की गई। सन् १९४७ के औद्योगिक कलह अधिनियम के अतर्गत ऐसी कार्यसमितियो को सघटित करने की छूट रखी गई जिनमे मालिको और मजदूरो, दोनो के, प्रतिनिधियो की सख्या बराबर हो और कारखाने में कम से कम २०० श्रमिक कार्य करते हो। किंतु इन समितियो के प्रति मालिको की भावना, एक सीमा तक मजदूरो की भावना भी, प्रतिकूल हो जाने के कारण इसे स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य ही नष्ट हो गया। श्रमिको के दु खो के निवारण के लिये दूसरा उपाय कल्याण-अधिकारियो की सस्थापना के रूप मे उपस्थित किया गया। इनकी नियुक्ति १९४८ के कारखाना अधिनियम के अनुसार विधिसमत थी। अधिनियम मे ५०० या अधिक श्रमिकोवाले कारखानो मे इनकी नियुक्ति का विधान था। यद्यपि सौंपे गए कार्य में सफलता प्राप्त कर लेना इनके लिये कठिन था, तथापि अब यह स्पष्ट हो चला है कि ये अधिकारी बहुत प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं और इन उद्योगो मे औद्योगिक सबधो की उल्लेख-नीय प्रगति हुई है। कारखाने के मालिक एव मजदूरो के सबधो में वे परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं जिनके अतर्गत मजदूर काम करते हैं। इनके लिये मुख्य विचारणीय विषय है उनके काम के घटे, अधिक थकावट से रक्षा, काम करते समय वातावरण का अनुकूल होना (यथा यथेष्ट प्रकाश, स्वच्छ वायु, शोरगुल की कमी आदि)। ये सभी बातें १९४८ के कारखाना अधिनियम के अतर्गत आती हैं। दूसरा विषय है श्रमिको के साथ किए गए सचालको के व्यवहार। ये सचालक मालिको और श्रमिको के बीच मध्यस्थ का सा काम करते हैं, परतु साधारणत अच्छी सूझबूझ या शिक्षावाले नही होते। इन्हे वैयक्तिक ईर्षा द्वेष से मुक्त होना चाहिए। कार्यकुशल, निर्णायक एव नेतृत्व के गुणो से युक्त होना इनके लिये आवश्यक है, जिसमें काम करनेवालो के लिये ये उत्साहवर्धक सिद्ध हो सके। यह सुझाव रखा जा चुका है कि सचालन विभाग के सदस्यो को उद्योग में अपेक्षित मानवीय सबधो का प्रशिक्षण दिया जाया करे।

सामूहिक सबध--सयुक्त मोल चाल की प्रणाली औद्योगिक-सबध-स्थापन में अत्यत महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा वेतन तथा नौकरी की शर्तें एक सौदे के समान तय की जाती हैं और ये ही मालिक एव मजदूरो के सघो के बीच हुए समझौते का रूप ले लेती हैं। औद्योगिक सबधो में सयुक्त मोल चाल की यह प्रणाली, श्रमिको के पक्ष मे अत्यत सफल सिद्ध हुई है, विशेषत उन जगहो पर जहाँ के श्रमसघटन शक्तिशाली हैं। भारत मे अहमदाबाद के मिल मालिको के सघ और कपडा उद्योग श्रमिक सघ के बीच १९५५ में हुआ ऐसा समझौता, ताता आयरन ऐंड स्टील कपनी एव ताता श्रमिक सघ, जमशेदपुर, के बीच १९५६ मे हुआ समझौता, भत्ते के मामले मे बबई मिल मालिक सघ एव राष्ट्रीय मिल मजदूर सघ के बीच हुआ समझौता तथा कुछ अन्य मामले औद्योगिक सुखशाति के लिये उत्तरदायी रहे हैं।

सरकार का हस्तक्षेप--श्रम-व्यवस्था-जन्य सबधो मे रुचि रखनेवाले एक तीसरे दल के रूप मे सरकार की भूमिका सर्वविदित है। औद्योगिक सहयोगो के परिणामस्वरूप हडताल तथा तालेबदी हो जाना सामान्य घटनाएँ हैं, जिनके परिणाम होते हैं उत्पादन मे ह्रास एव बेरोजगारी। मेल कराना तथा मध्यस्थता करना, ये दो भूमिकाएँ इस मामले में सरकारी हस्तक्षेप के उदाहरण हैं जो औद्योगिक विवादो को शातिपूर्ण ढग से सुलझाने में सहायक होती हैं।

मेल स्थापित कराने मे दोनो दलो के प्रतिनिधियो को एक तीसरे के समुख इस विचार से उपस्थित होना पडता है कि वे आपस में बहस तथा विचारविनिमय करके किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें। भारत में १९४७ का औद्योगिक-विवाद-अधिनियम कुछ विशिष्ट प्रकार के विवादो में मेल अनिवार्य बताता है। भारत में इस मेल स्थापित कराने की एक सकुचित सीमा हो चली है जिससे यह दोषपूर्ण हो चला है। मेल-मिलाप-अधिकारी अपने को निर्णायिक समझने लगते हैं और विवादो मे अपने निर्णय का एहसान बाँटने को तैयार हो जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि मालिको एव मजदूरो के बीच वे एक कडी मात्र हैं जिसका काम किसी विशेष मामले में दोनो पक्षो को परस्पर ठीक ठीक समझने मे सहायता देना है।

मध्यस्थता की रीति वह रीति है जिसके अतर्गत किसी विवादग्रस्त मामले का हल ढूंढने के लिये दोनो पक्षो द्वारा एक तीसरे पक्षके समुख अपनी समस्याएँ उपस्थित की जाती हैं। यह वैकल्पिक भी हो सकती है, अनिवार्य भी। भारत मे द्वितीय महायुद्ध काल में और बाद को १९४७ के औद्योगिक कलह नियम के दौरान मे मेल-स्थापन के लिये अध्यादेश (आर्डिनैन्सेज़) जारी किए गए। बाद के वर्षो मे अधिनियमो को ही पुन सशोधित किया गया जिससे उनकी त्रुटियो के शोधन की व्यवस्था की जा सके। सन् १९५६ के औद्योगिक कलह (सशोधन एव विविध व्यवस्थाएँ) अधिनियम के द्वारा मेल स्थापन की मध्यस्थता का पूरा ढाँचा श्रम न्यायालयो, औद्योगिक पचायतो एव राष्ट्रीय पचायतो मे विभाजित कर दिया गया। ये सभी विभाग किसी भी विचाराधीन मामले से सबद्ध किसी भी दल अथवा गवाह को विचार कार्य के सहायतार्थ बुलाने के अधिकारी थे।

औद्योगिक मामलो मे सरकारी हस्तक्षेप के कारण मिल मजदूरो के वेतन निर्धारण विषयक समस्या का जन्म हुआ। यह देखा जाता है कि जिन उद्योगकेंद्रो मे वेतन की व्यवस्था है वहाँ अच्छा औद्योगिक सौहार्द रहता है। मजदूरो के लिये न्यूनतम-वेतन-निर्धारण के सरकारी आश्वासन ने वेतन-निर्धारिणी-समिति (फेयर वेजेज़ कमिटी) का रूप लिया। यह १९४७ के 'औद्योगिक सधिप्रस्ताव' का ही परिणाम थी। समिति ने उचित वेतन के सुझाव के अतिरिक्त इस विषय में एक विधान निर्मित करने का भी सुझाव दिया। ससद् का अधिवेशन स्थगित हो जाने के कारण सन् १९४८ का उचित-वेतन-विधेयक यो ही रह गया। तथापि १९४८ का न्यूनतम-वेतन-अधिनियम सरकार को किसी भी उद्योग के लिये न्यूनतम वेतननिर्धारण का अधिकार देता है और वेतन के निर्धारण एव सशोधनार्थ एक त्रिदलीय विभाग स्थापित करने की छूट भी देता है। वेतन के अतिरिक्त लाभ में श्रमिको को हिस्सा मिलने की योजनाओ के कार्यान्वियन पर सरकार पूरी चौकसी रख रही है और श्रमिक सघो के साथ अपनी उन प्रबध-व्यवस्थाओ मे भी, जो कुछ उद्योगो के साथ निर्धारित हैं, अपने कर्तव्य के प्रति सचेष्ट है।

अत मे, यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि औद्योगिक शातिस्थापन का कार्य प्रथम एव द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ की अवधि मे, जिनके द्वारा भारत अपनी आर्थिक स्वतत्रता के लिये उद्युक्त है, अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। द्वितीय पचवर्षीय योजना औद्योगिक योजना है, जिसमें अधिकाश उद्योगो के लिये उत्पादन के उच्चतम लक्ष्यबिंदु स्थिर किए गए हैं। औद्योगिक सबधो मे किसी भी प्रकार की असद्भावना हमारे उद्देश्यो को चौपट कर द्वितीय पचवर्षीय योजना को असफलता के गढे मे ढकेल सकती है।

स० ग्र०--ब्रिटिश मिनिस्ट्री ऑव लेबर इडस्ट्रियल रिलेशन्स हैंडबुक, आर० एफ० ट्रेगोल्ड ह्यूमैन रिलेशन्स इन मॉडर्न इडस्ट्री (१९४९), सी० एच० नॉर्थकॉट परसॉनेल मैनेजमेट (१९५०), के० जी० जे० नोल्स स्ट्राइक्स--ए स्टडी इन इडस्ट्रियल कॉनफ्लिक्ट (१९५२), एस० डी० पुनेकर इडस्ट्रियल पीस इन इडिया (बबई, १९५२), [दु० च० स०]

औद्योगिक स्वास्थ्य विज्ञान

मानव स्वास्थ्य विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अग है, क्योकि इसके द्वारा जनता के एक बहुत बडे श्रमजीवी भाग के स्वास्थ्य, कल्याण और मानव अधिकारो की रक्षा होती है। मशीनो के आविष्कार से उत्पन्न

औद्योगिक क्रांति के पश्चात् बहुत से उद्योग धंधे पनपने लगे, परंतु उनके फलस्वरूप समाज में जो अव्यवस्था आई उसकी ओर तत्काल ध्यान न देने के कारण उद्योगपतियों तथा श्रमिकों के दो परस्पर विरोधी वर्ग बन गए, जिनमें प्राय संघर्ष होता रहता है। श्रमिक वर्ग की निर्धनताजन्य विवशता से अनुचित लाभ उठाकर धनलोलुप उद्योगपतियों ने अपने आपको अत्यधिक संपन्न बना लिया और श्रमिकों का शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक पतन होता गया जिसके कारण वे भारवाही पशुवत् जीवन व्यतीत करने लगे।

दुर्गंध, धूलि, धूम्र और प्रधूम (फ्यूम्स) युक्त दूषित संवातन (वेंटिलेशन), अपर्याप्त प्रकाश, अत्यधिक शीत, ताप या आर्द्रता, जनसंकुल (ओवरक्राउडेड) कोलाहलपूर्ण कार्यस्थल, अपर्याप्त भोजन, विश्राम का अभाव, श्रांति (फैटीग), क्लांति (स्ट्रेन) और दिन रात का घोर कष्टदायक परिश्रम, अल्पतम वेतन या मजदूरी, गंदी बस्तियों में असुविधापूर्ण आवास, शिक्षा, चिकित्सा, सामाजिक न्याय और सुरक्षा का अभाव, आकस्मिक दुर्घटनाओं का बाहुल्य आदि के कारण श्रमिकों का जीवन साधारणत दूभर रहता है। प्रति वर्ष अगणित ग्रामीण अपना परंपरागत कृषि कार्य और कुटीर उद्योग छोड़ बड़े उद्योगों में कार्य करने के लिये नगरों की गंदी बस्तियों में आ बसते हैं और कारखानों में अविराम परिश्रम कर अपना स्वास्थ्य गँवा देते हैं।

यह समझा जाता है कि निकट भविष्य में भारत की १६ प्रति शत जनता उत्पादक उद्योगों में काम करेगी, जिसके परिश्रम से ही यह देश आत्मनिर्भर हो सकता है। इसके स्वास्थ्य तथा कल्याण के प्रति उदासीन रहना नैतिक अपराध है। भारत में अनेक निरोधसाध्य (प्रिवेंटिबिल) रोगों का नियंत्रण नहीं हो पाया, इस कारण श्रमिकों को रोगग्रस्त होने पर अपने धंधे से छुट्टी लेनी पड़ती है, जिससे उन्हें स्वास्थ्य के साथ ही वेतन की हानि भी भुगतनी पड़ती है। निरोधसाध्य रोगों के कारण उद्योग धंधों में श्रमिकों की अनुपस्थिति कल कारखानों की दुर्घटनाओं के कारण होनेवाली अनुपस्थिति से कई गुनी अधिक है। मलेरिया, काला आजार आदि समष्टिगत रोगों (मास डिसीजेज़) के रोगियों की संख्या में पहले की अपेक्षा अब बहुत कमी हो गई है। आंत्रिक ज्वर (एंटेरिक फीवर), प्लूरिसी, अतिसार, ज्वर, आमाशय व्रण (पेप्टिक अल्सर) श्रमिकों की अल्पकालीन अनुपस्थिति के मुख्य कारण हैं। दीर्घकालीन अनुपस्थिति क्षय, श्वास तथा कुष्ठ रोग के कारण होती है। व्यावसायिक रोगों में त्वचा तथा श्वास के रोगों का बाहुल्य है। क्षय रोग मुख्यत नगरों में अत्यधिक फैला हुआ है। ट्यूबरक्युलीन परीक्षा से ज्ञात होता है कि भारत की लगभग आधी जनता क्षयरोग के संक्रमण (इन्फेक्शन) से प्रभावित है। प्रति वर्ष इस रोग से प्रति सहस्र पाँच नए रोगी पीड़ित होते हैं। पूर्ण तथा अल्प बेकारी (अनएप्लायमेंट ऐंड अंडर-एप्लायमेंट) इतनी अधिक है कि एक श्रमिक की रोगजन्य अनुपस्थिति की दशा में पचास अन्य श्रमिक प्राप्त हो सकते हैं। छोटे छोटे उद्योगों में धनाभाव के कारण श्रमिकों के स्वास्थ्य तथा कल्याण के लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता। सामाजिक सुरक्षा का लाभ केवल पंद्रह लाख श्रमिकों को ही प्राप्त है। श्रमिकों के हितार्थ कर्मचारी सरकारी बीमा अधिनियम के अंतर्गत जो धन देना पड़ता है उसे देकर उद्योगपतियों की यही धारणा है कि श्रमिकों के हितार्थ अब उनका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा। जो कुछ करना है वह इस अधिनियम के अनुसार स्थापित निगम को ही करना है। इस प्रकार की स्थिति भयावह है।

इन कष्टदायक और संकटापन्न परिस्थितियों में काम करनेवाले श्रमिकों की रक्षा के हेतु फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत फैक्टरियों के मुख्य निरीक्षक के अधीन सरकारी निरीक्षक, प्रमाणपत्रदाता सर्जन आदि नियुक्त किए गए हैं जो श्रमिकों को नाना प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त कराते हैं और उनकी सुरक्षा एवं कल्याण संबंधी नियमों का पालन कराते हैं। पूरे १४ वर्ष से कम आयुवाले बालकों को किसी भी कार्य पर नहीं नियुक्त किया जा सकता। १८ वर्ष पूरा कर चुकनेवाले वयस्क श्रमिक कहलाते हैं, इससे कम अवस्था के किशोर श्रमिक कहलाते हैं। किशोर श्रमिकों को शारीरिक स्वस्थता का प्रमाणपत्र प्राप्त करना होता है और एक बिल्ला धारण करना पड़ता है। कोई भी वयस्क श्रमिक सप्ताह में ४८ घंटे से अधिक और एक दिन में साधारणतया ९ घंटे से अधिक समय के लिये काम पर नहीं लगाया जा सकता। सप्ताह में एक दिन की पूरी छुट्टी और प्रति दिन अधिक से अधिक पाँच घंटे तक काम कर चुकने पर कम से कम आधे घंटे का विश्राम दिया जाता है। धूलि, धूम्र, प्रधूम तथा अत्यधिक शीतोष्णता और आर्द्रता आदि का समुचित प्रबंध कर परिवेश स्वास्थ्यानुकूल और सुविधापूर्ण बनाया जाता है। प्रकाश, संवातन (वेंटिलेशन) और जनसंकुलता संबंधी नियमों का पालन करना पड़ता है। हानि-लाभ रहित लागत मूल्य पर जलपान, चाय, दूध, शर्बत, मिठाई, नमकीन, चबैना आदि खाद्य और पेय पदार्थों का प्रबंध किया जाता है। बड़ी फैक्टरियों में महिला श्रमिकों के दूध पीते बालकों के लिये उपचारिकाओं (नर्सों) की देख रेख में उपचार गृह चलाए जाते हैं और ऐसे बालकों के स्तनपान के लिये श्रमिक माताओं को समय समय पर छुट्टी दी जाती है। समुचित वेतन, सवेतन छुट्टियाँ तथा अन्य सुविधाएँ भी श्रमिकों को दी गई हैं।

आकस्मिक दुर्घटनाओं और उद्योगजन्य व्यावसायिक रोगों की रोकथाम तथा चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है। स्वास्थ्य संरक्षण के हेतु प्राथमिक चिकित्सा (फर्स्ट एड) और शारीरिक स्वच्छता के हेतु स्नानागार और शौचालय स्थापित किए जाते हैं। स्त्रियों तथा किशोर श्रमिकों के लिये विशेष प्रकार के आपज्जनक कार्य वर्जित हैं। विभिन्न प्रकार के उद्योगों के लिये और मुख्य व्यावसायिक रोगों के लिये विशेष प्रतिबंध लगाए गए हैं। रासायनिक पदार्थों का निरापद रीति से उपयोग करना अनिवार्य है।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (एम्प्लॉयीज़ स्टेट इन्श्योरेन्स ऐक्ट) के अंतर्गत रोगावस्था, जरावस्था, अकाल मृत्यु, अपंगता आदि की दशा में चिकित्सा, आर्थिक सहायता या छुट्टी की व्यवस्था है। स्त्रियों के लिये मातृत्व सहायता के रूप में प्रसव के छ सप्ताह पूर्व से लेकर छ सप्ताह पश्चात् तक तीन मास की छुट्टी और धन की सहायता मिलती है, रोगावस्था में सबको चिकित्सा की जाती है। इस कार्य का संचालन एक निगम द्वारा किया जाता है। कर्मचारीगण, उद्योगपति, राज्य सरकारें तथा केंद्र सरकार इस निगम को चलाने के लिये नियमानुसार आर्थिक योग देती हैं। श्रमिकों को अपने वेतन से आय के अनुसार कटौती करानी पड़ती है। चार सौ रुपए मासिक से कम आयवाले श्रमिकों को ही ये हितलाभ (बेनिफिट) प्राप्त हैं। जिस स्थान में कर्मचारी सरकारी बीमा योजना अभी चालू नहीं की जा सकी है वहाँ कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम (वर्कमेन्स कंपेन्सेशन ऐक्ट) के अंतर्गत श्रमिकों का कारखाने में काम करने से अंगभंग, अशक्तता अथवा मृत्यु होने पर श्रमिकों या उनके परिवार के सदस्यों को आर्थिक सहायता मिलने की व्यवस्था है।

दुर्बल और असंतुष्ट श्रमिकों द्वारा किया गया उत्पादन कार्य निम्न कोटि का और मात्रा में कम होता है। उनकी कार्यक्षमता कम होने से उत्पादन कार्य पूर्ण रूप से लाभदायक नहीं होता। श्रमिकों की दशा सुधारने से उद्योगपतियों को भी लाभ होता है। भारत में उद्योग धंधों का श्रीगणेश संतोषजनक ढंग से नहीं हुआ। पश्चिमी देशों ने गत शताब्दी में जो भूलें की उनसे बचने का प्रयास नहीं किया गया। इस कारण कानपुर, अहमदाबाद, बंबई, कलकत्ता आदि में श्रमिकों की दशा अत्यंत शोचनीय हो गई है। सरकार इस ओर जागरूक है और उद्योगपतियों तथा श्रमिकों के परस्पर संबंध सुधारते हुए, बहुमुखी कल्याणकारी योजनाओं द्वारा श्रमिक, उद्योगपति तथा उपभोक्ताओं के हितों में सामंजस्य स्थापित कर, नए नए उद्योग चालू करने में सभी प्रकार की सहायता देती है।

मुख्य कार्य तो श्रमिकों तथा उनके परिवार को गंदी बस्तियों से निकालकर स्वच्छ परिवेश (एन्वाइरन्मेंट) में स्वास्थ्यप्रद आवासों में बसाने का है। इसके साथ ही उनकी आर्थिक दशा सुधारकर और उनकी व्यवसाय संबंधी कठिनाइयों को दूर कर उनको अधिक कार्यकुशल बनाना है। मालिक-श्रमिक-संघर्ष को शांतिपूर्ण और न्यायोचित ढंग से दूर कर परस्पर सद्भावपूर्ण सहयोग उत्पन्न करना है जिससे नए नए उद्योग धंधे चालू कर उत्पादन बढ़ाया जा सके और व्यापक बेकारी दूर की जा सके। सामाजिक न्याय तथा सुरक्षा संबंधी मान्यताओं के आधार पर श्रमनीति निर्धारित करनी चाहिए। कृषि, कुटीर और बड़े उद्योगों में समन्वय स्थापित कर खाद्य और अन्य आवश्यक पदार्थों का उत्पादन बढ़ाकर देश को आत्मनिर्भर बनाने की ओर सबको कटिबद्ध होना चाहिए। श्रमिकों के कल्याण द्वारा ही नवभारत का निर्माण संभव है।

औद्योगिक स्वास्थ्यसुधार श्रमकल्याण का महत्वपूर्ण अग है। श्रम-कल्याण मे ही स्वास्थ्य में सुधार होता है, उत्पादन बढता है और श्रमिको का जीवनस्तर उन्नत होता है। फैक्टरी अधिनियम (१९४८), न्यूनतम वेतन अधिनियम (१९४८), बागान श्रम अधिनियम (१९५१), उत्तर प्रदेश वाणिज्य प्रतिष्ठान अधिनियम (१९४१), औद्योगिक विवाद अधिनियम (१९४७), श्रमजीवी पत्रकार अधिनियम (१९५५), कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, कर्मचारी प्राविडेंट फड अधिनियम (१९५२), चीनी एव चालक मद्यसार अधिनियम (१९५१), औद्योगिक आवास अधिनियम (१९५५), आदि अधिनियमो को गत कुछ ही वर्षो में जारी कर उद्योगो में काम करनेवाले श्रमिको के कल्याण की ओर बडी तत्परता से कार्य हो रहा है।

स० ग्र०—राज़िनोज़ प्रिवेटिव मेडिसिन ऐड हाइजीन। [भ०श०या०]

ऑयलर

ल्योनार्ड ऑयलर (ऑयलर, Leonhard Enler) (१७०७ ई०-१७८३ ई०) स्विस गणितज्ञ का जन्म बाज़ेल (Basel) में १५ अगस्त, १७०७ई० को हुआ था। ये गणितज्ञ जोहैन बेर्नूली के प्रिय शिष्य थ। इनके मुख्य ग्रथ निम्नलिखित है

१ 'ऐंत्रोदयुक्स्यो इन अनालिसिन इन्फिनितोरुम' (Introductio in analysin infinitorum, १७४८ ई०), जिसने वैश्लेषिक-गणित-ससार में क्राति मचा दी। इसमें इन्होने फलन की परिभाषा दी और त्रिकोणमिति को विश्लेषण की एक शाखा एव त्रिकोणमितीय मानो की निष्पत्ति को अवधारित किया।

२ 'इस्तित्युस्योनिस कालकूली दिफरेंस्यालिस' (Institutiones calculi differentialis) (१७५५ ई०) और 'इस्तित्युस्योनिस कालकूलि इतेग्रालिस' (Institutiones calculi integralis १७६८—१७७० ई०)—इन ग्रथो मे उस समय तक ज्ञात समस्त कलन और बीटा एव गामा फलनो तथा लेखक के कुछ अन्य अन्वेषणो का वर्णन है।

३ 'मेथोदुस इन्वेनियेंदि लिनेआस कुरवास माक्सीमी मिनिमीवे प्रोप्रियेताते गौदेंतिस' (Methodus inveniendi lineas curvas maximi minimive proprietate gaudentes, १७४४ ई०)। इसमें इनके परिणामन-कलन के अन्वेषणो का वर्णन है।

४ 'थेओरिया मोतुउम प्लानेतारुम एत कोमेतारुम' (Theoria motuum planetarum et cometarum, १७४४ ई०), 'थेओरिया मोतुस लुनी' (Theoria motus lunae, १७५३ ई०) और 'थेओरिया मोतुउम लुनी' (Theoria motuum lunae, १७७२ ई०)—इनमे सगोलशास्त्र का विवेचन है।

५ 'से लेत्रआ ऊन प्रेंसेस दालमान् सुर केल्के सूज़े द फिजीक ए द फिलोजोफी' (Ses lettres a' une princesse d' Allemagne sur quelques sujets de Physique et de Philosophie १७७० ई०)—इसमे दिए गए मौलिक एव महत्वपूर्ण अन्वेषणो के कारण ऑयलर को बहुत ख्याति प्राप्त हुई।

गणित के सकेतो को भी ऑयलर की देन अपूर्व है। इन्होने सकेतो में अनेक सशोधन करके त्रिकोणमितीय सूत्रो को क्रमबद्ध किया। १७३४ ई० में ऑयलर ने x के किसी फलन के लिये f(x), १७२८ ई० में लघुगणको के प्राकृत आधार के लिये e, १७५० ई० में अर्ध-परिमिति के लिये s, १७५५ ई० में योग के लिये Σ और १७७७ ई० में $\sqrt{-1}$ लिये i सकेतो का प्रचलन किया।

१७६६ ई० मे ये अधे हो गए, परतु मृत्यु पर्यंत (१८ सितबर १७८३ ई०) शोधकार्य में सलग्न रहे। [रा० कु०]

औरंगजेब (आलमगीर प्रथम)

अबुलजफर मुहिउद्दीन मुहम्मद औरगजेब मुगल सम्राट् शाहजहाँ की छठी सतान और तीसरा बेटा था। रविवार, २४ अक्तूबर, सन् १६१८, ई० (१५ जीकादा, १०२७ हि०) को दोहद में उसका जन्म हुआ था, जो बबई राज्य के पचमहाल ताल्लुके में है। शाहजहाँ इस समय मलिक अबर के बलवे का दमन करने के लिये दकन गया हुआ था। औरगजेब की माता मुमताज महल नूरजहाँ के भाई आसफ खाँ की बेटी थी।

इस घटना के कुछ ही समय बाद मुगल दरबार की राजनीति ने पलटा खाया और शाहजहाँ ने १६२२ में अपने पिता सम्राट् जहाँगीर के विरुद्ध बलवे का झडा खडा कर दिया। इस सघर्ष में शाहजहाँ परास्त हुआ और उसे अपने दो बेटो, दारा और औरगजेब को १६२६ में जहाँगीर के पास लाहौर मे बधक रखना पडा। वहाँ पर लगभग डेढ बरस रहने के बाद औरगजेब दारा सहित फरवरी, १६२८ मे, अपने पिता के पास आगरे आया। जहाँगीर की अक्तूबर, १६२७ मे मृत्यु हो गई थी और शाहजहाँ राजगद्दी पर बैठ चुका था। इस समय मीरमुहम्मद हाशिम गीलानी के द्वारा औरगजेब की शिक्षा आरभ हुई। शुरू से ही उसने बडी तीव्र बुद्धि का परिचय दिया किंतु उसे कुरानी तथा अन्य इस्लामी साहित्य के सिवा और किसी विद्या में रुचि न थी। वास्तु, शिल्प, चित्रकारी, काव्य, सगीत आदि कलाओ से उसे अरुचि ही नही, घृणा थी, क्योकि वह इन सबको इस्लाम का विरोधी समझता था।

औरगजेब की योग्यता—औरगजेब अत्यत साहसी, वीर तथा योद्धा था। १६३३ मे, जब वह केवल १५ बरस का था, उसने एक बौराए मस्त हाथी का इतने अविचल भाव तथा निर्भीकता से सामना किया था कि शाहजहाँ तथा सब दरबारी चकित रह गए थे। १६ बरस की उम्र मे सम्राट् ने उसे १० हजारी मसबदार बनाया और जुझार सिंह बुदेले का दमन करने के लिये भेजा। यही से उसकी सैनिक शिक्षा आरभ हुई। १६३६ के मध्य से १६४४ तक वह दकन का सूबेदार रहा। इस सूबे का शासन उसने बडी योग्यता से किया। १६४५ मे वह गुजरात का सूबेदार बना। अपने सुप्रबध के लिये उसे बडी प्रशसा प्राप्त हुई। इसके बाद उसे बलख और बदख़शाँ की चढाई पर भेजा गया। इस सुदूर तथा शीतग्रस्त, बीहड प्रदेश में, जहाँ के दुर्धर्ष सैनिको से लोहा लेना अत्यत कठिन कार्य था, औरगजेब ने ऐसी वीरता तथा अनुपम धैर्य का परिचय दिया कि उसकी ख्याति समस्त मुस्लिम जगत् में फैल गई। दोनो दलो मे जब घमासान युद्ध हो रहा था, औरगजेब अपने हाथी से उतरा और बडी शाति तथा निश्चित भाव से नमाज पढने लगा। जब यह बात शत्रु पक्ष के सुलतान ने सुनी तब उसने कहा कि ऐसे मनुष्य से लडाई करना अपनी मौत बुलाना है। उसने तुरत लडाई बद कर दी।

१६५२ के अगस्त मास मे औरगजेब दुबारा दकन का सूबेदार नियुक्त हुआ। इस पद पर वह छ बरस तक रहा। इस अवकाश में एक सुयोग्य अर्थमंत्री, मुर्शिद कुली खाँ की सहायता से उसने बरसो की लडाइयो से उजडे हुए दकन प्रदेश का उद्धार एव पुनर्निर्माण किया। अनेक कठिनाइया तथा अडचनो का सामना करते हुए उसने इस कार्य को बडी तत्परता से सपन्न किया। दकन की सूबेदारी के ये छ बरस औरगजेब के लिये अत्यत महत्वपूर्ण एव लाभकारी सिद्ध हुए। राजकाज तथा सैनिक नीति आदि का जो अनुभव इस अवसर से उसे प्राप्त हुआ वह भविष्य में उसके लिये बहुत हित कर सिद्ध हुआ।

राजगद्दी के लिये सघर्ष—१६५८ में शाहजहाँ की कष्टसाध्य बीमारी की सूचना पाते ही औरगजेब यथाशक्य सेना एकत्रित कर राजगद्दी के लिये अपने भाइयो से सघर्ष करने को उत्तर की तरफ रवाना हुआ। जून, १६५८ में दारा को परास्त कर उसने आगरे पर अधिकार किया और अपने पिता सम्राट् शाहजहाँ को किले में बदी कर दिया। तदनतर अपने छोटे भाई मुराद को घोर कपट एव विश्वासघातपूर्वक मरवाकर वह दिल्ली पहुँचा और वहाँ बडे समारोह से सिंहासनारूढ हुआ। एक बरस बाद उसने अपना राज्याभिषेकोत्सव दुबारा मनाया।

शासन का पूर्वार्ध—औरगजेब ने पूरे ५० बरस राज किया। उसके राज्य काल को दो भागो मे बाँटा जा सकता है। पहले २५ बरस वह उत्तर भारत मे रहा। इसमें उसने साम्राज्य की नीति में मौलिक परिवतन किए और दक्षिण एव उत्तर-पश्चिम की रक्षा की गहन समस्याओ का समाधान करने का भरसक यत्न किया। साथ ही साम्राज्य का विस्तार दक्षिण की ओर करने के प्रयास में उसने कोई कसर न की। इसके अतिरिक्त उसने पतनोन्मुख मुसलमान जाति का पुनरुत्थान करने के हेतु तथा अपने सकीर्ण धार्मिक विचारो को क्रियात्मक रूप देने के लिये, हिंदुओ के प्रति अत्याचार एव अन्याय की नीति का अनुसरण किया। उसने हिंदू धर्मस्थानो को ध्वस्त किया और जिजिया आदि अनेक अन्यायपूर्ण कर हिंदुओ पर लगाए। इस

प्रकार भेदभाव की नीति से तथा अनेक प्रलोभनो के द्वारा उसने हिंदुओ को मुसलमान बनाने का भरसक प्रयास किया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य मे असतोष की ऐसी आग भडक उठी जिसे वह जीवन-भर अपनी समस्त शक्ति लगाकर दवाने का प्रयत्न करता रहा किंतु सफल न हुआ। उत्तर मे सबसे भयानक विद्रोह उन्ही राजपूतो का हुआ जो अकबर महान् के समय से ही साम्राज्य के स्तभ रहे थे।

शासन का उत्तरार्ध—उसके शासनकाल का उत्तरार्ध १६८१ से आरभ होता है, जब राजपूतो के साथ जल्दी से समझौता कर, औरगजेब दकन पहुँचा। यही पर मराठे सैनिको की छापामार टुकडियो के साथ सघर्ष करते करते अत समय मे अपने कर्मो पर पश्चात्ताप करता हुआ ८९ बरस की आयु मे यह मुगल सम्राट् औरगाबाद मे परलोक सिधारा।

मराठो से सघर्ष—शिवाजी की मृत्यु के बाद अपने सकल्पो की पूर्ति का सुअवसर समझकर औरगजेब दकन गया था। लगभग आठ बरस के सतत सग्राम के बाद गोलकुडा और बीजापुर की मृतप्राय रियासतो को जीत-कर उसने साम्राज्य मे समिलित कर लिया और १६८९ मे शिवाजी के अयोग्य एव विलासी पुत्र शभाजी का वध कर मराठा राज्य का भी बहुत सा भाग हस्तगत कर लिया। किंतु मराठा जाति इससे दबनेवाली न थी। तेज आँधी में जिस प्रकार जगल की आग देखते देखते फैलकर चारो ओर सबको भस्म करने लगती है, उसी प्रकार मराठा सैनिको ने सम्राट् की महा-काय सेना को नष्ट करना आरभ किया। इसका प्रतिकार औरगजेब के बस का न था। मराठा जाति की उठती हुई बाढ मे मुगल साम्राज्य का सारा वैभव बह गया। साम्राज्य का अपूर्व विस्तार तो हुआ पर उसकी जडे पहले ही खोखली हो चुकी थी। वह स्वय अपने बोझ के नीचे ही दबकर सम्राट् की आँख बद होते ही छिन्न भिन्न होने लगा।

चरित्र—औरगजेब ससार के महान् सम्राटो मे था। उसमे योग्य राजा, शासक तथा सैनिक के गुण विपुल मात्रा मे विद्यमान थे। उसका निजी चरित्र पवित्र था और वह यथाशक्ति इस्लाम की शिक्षाओ का पालन करता था। रहन सहन भी उसकी सादी थी। वह अत्यत परिश्रमी, कार्य-कुशल, तीव्रबुद्धि तथा विद्वान् था। मुगल सम्राटो मे वह सबसे अधिक आयुष्मान् हुआ। किंतु उसकी सकीर्ण नीति, सकुचित साप्रदायिक दृष्टि, तथा अदूरदर्शी राजनीति ने उसके सब गुणो पर पानी फेर दिया और अत मे उसके साम्राज्य को नष्ट कर दिया।

परिवार—औरगजेब ने दो विवाह किए थे, और चार कनीजो को भी रखा था। उसके पाँच बेटे और चार बेटियाँ हुईं।

स०ग्र०—यदुनाथ सरकार ए ब्रीफ हिस्ट्री आव औरगजेब, (१९३०), यदुनाथ सरकार एनेक्डोट्स आव औरगजेब, (१९१२), एन्साइक्लो-पीडिया आव इस्लाम। [प० श०]

औरंगाबाद महाराष्ट्र राज्य के मराठावाड क्षेत्र का प्रमुख नगर है। यह राज्यपुनर्गठन के पूर्व हैदराबाद राज्य मे था। यह गोदावरी नदी की सहायक डुडना नदी के पास १९° ५३' उत्तरी अक्षाश एव ७५° २३' पूर्वी देशातर पर स्थित, पूना से १३८ मील, हैदराबाद से २७० मील और बबई से रेलमार्ग द्वारा ४३५ मील दूर है। यह अपने ही नाम के जिले का मुख्यालय है। १९५१ ई० के अत मे इस नगर की जनसख्या ६६,६३६ थी।

यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर सन् १६१० ई० मे फतेहनगर के नाम से बसाया गया था। शाहजहाँ के शासनकाल मे दक्षिण की सूबेदारी करते समय औरगजेब ने इसे अपनी राजधानी बनाया और इसका नाम औरगाबाद रखा। मुगल साम्राज्य के अतर्गत यह सेना का बडा केद्र था। यहाँ कई ऐतिहासिक इमारते देखने योग्य है, जिनमे औरगजेब की पत्नी का मक-बरा, जिसकी तुलना ताजमहल से की जा सकती है, मुख्य है। इस जिले मे अजता और एलोरा की गुफाएँ एव दौलताबाद का किला है, जिन्हे देखने का इस शहर से अच्छा प्रबध है।

मनमाड से सिकदराबाद जानेवाली मध्य रेलवे (मीटर गेज) की शाखा पर इसका प्रमुख स्टेशन मनमाड से ७० मील दूर है। धूलिया से शोलापुर जानेवाली मुख्य सड़क यहाँ से होकर जाती है।

यहाँ कई कालेज है तथा यह मराठावाड विश्वविद्यालय का प्रधान कार्यालय है। यहाँ सूत कातने और कपडा बुनने की मिल है, जिसका नाम औरगाबाद मिल्स लिमिटेड है। यह नगर निकटवर्ती क्षेत्र का व्यापार-केद्र है। [ल० कि० सि० चौ०]

औरलेआँ फ्रास का एक मुख्य नगर है तथा पेरिस से ७७ मील दक्षिण-पश्चिम मे ल्वार नदी पर बसा हुआ है। इसके एक मील उत्तर फ्रास के मुख्य रेलमार्गो का एक केद्र ला औरे है। यहाँ के उद्योग धधो मे तबाकू तैयार करना, कबल बुनना, कृषि सबधी तथा अन्य यत्रो और लोहे के बर्तनो का निर्माण तथा सुरक्षित डिब्बो मे बद फलो का काम मुख्य है। यहाँ मदिरा, ऊन, अनाज तथा पशुपक्षियो का वाणिज्य होता है। सन् १९४६ ई० मे यहाँ की जनसख्या ७०,२४० थी। [वि० च० मि०]

औरलैंडो सयुक्त राज्य, अमरीका के फ्लोरिडा राज्य का सबसे बडा अतर्देशस्थ नगर है। यह नगर सघ राजपथ पर स्थित है। यहाँ से ऐटलाटिक कोस्ट लाइन तथा सीबोर्ड एयर लाइन नामक रेलपथ गुजरते है। फल उगनेवाले क्षेत्र के मध्य भाग मे यह नगर बसा हुआ है। इस नगर मे अनेक झीले और उद्यान है जो दर्शको के आकर्षण के केद्र है। इस नगर की स्थापना १८४३ ई० मे हुई थी और प्रारभ मे इसका नाम जर्नीगन था। सन् १९५० ई० मे इसकी जनसख्या ५२,३६० थी। [वि० च० मि०]

औरेस अफ्रीका के उत्तर पश्चिम मे स्थित एक पर्वतीय क्षेत्र है। अल्जी-रिया के पूर्वी भाग मे टेलऐटलस और सहारा की ऐटलस पर्वतश्रेणियो का जहाँ सधिस्थल है, उस पर्वतीय क्षेत्र को औरेस कहते है। दोनो पर्वतमालाओ के मिल जाने से ऊँचाई काफी अधिक हो गई है। यह अल्जीरिया का सबसे अधिक ऊँचा भाग है जिसकी औसतन ऊँचाई समुद्रतल से ६,००० फुट और सबसे ऊँची चोटी ७,६३८ फुट ऊँची है। यह क्षेत्र अधिकतर चूने के पत्थर का बना है।

पुराने युग मे औरेस पहाड बर्बर शरणार्थियो के छिपने का उत्तम स्थान था। रोम साम्राज्य मे यह सेना का केद्र था। कई पुराने टूटे किले अब भी दिखाई पडते हैं। इस क्षेत्र मे औसत वार्षिक वर्षा १२ इच से २० इच तक होती है। परतु औरेस पहाड का दक्षिणी भाग जो सहारा रेगिस्तान की ओर है, सूखा है और यहाँ प्राकृतिक वनस्पतियाँ बहुत कम है।

इस पर्वतीय क्षेत्र मे आबादी बहुत कम है, अधिकतर बर्बर लोग रहते है। यायावर बर्बर जानवर चराते है। जहाँ पानी मिल जाता है वहाँ कुछ खेती होती है तथा फलो के बाग लगाए जाते है। फलो मे खूबानी और अजीर मुख्य है। [ल० कि० सि० चौ०]

ऑर्किड (Orchid) पौधो का एक कुल है जिसके सदस्यो के पुष्प अत्यत सुदर और सुगधयुक्त होते है। ऑर्किडो को ठीक ही पुष्प-जगत् मे बडी प्रतिष्ठा प्राप्त है, क्योकि इनके रग रूप में विलक्षण विचित्रता है। ऑर्किड बहुवर्षी बूटो का विशाल समुदाय है, जो प्राय भूमि पर अथवा दूसरे पेडो पर आश्रय ग्रहण कर उगते है, या कुकुरमुत्ते के समान मृतभोजी जीवन बिताते हैं। मृतभोजी ऑर्किडो मे पर्णहरिम (क्लोरोफिल) नही होता। जो ऑर्किड वृक्षो पर होते है उनमे बरोहियाँ (वायवीय जडें) होती है जिनकी बाहरी पर्त मे जलशोषक ततु होते है। विस्तृत रेगिस्तानी भागो के अतिरिक्त ऑर्किड प्राय ससार के सभी भागो मे होते है। वैसे ये उष्ण और समोष्ण देशो मे अधिक होते है। ऑर्किडो की लगभग ४५० प्रजातियाँ (जेनरा) और १५,००० जातियाँ (स्पीशीज़) हैं तथा ये सब एक ही कुल (फैमिली) के अतर्गत है। किसी भी समूह के फूल मे इतने विविध रूप नही है जितने ऑर्किडो मे। वास्तव में इनके फूल की रचना लिली के फूल जैसी ही होती है, परतु फूल के कुछ भागो के पृथक्करण तथा अन्य भागो के रूपातरण ने इन्हे इतना भिन्न बना दिया है कि ये साधारण एकदली फूल जैसे लगते ही नही है। ऑर्किडो के फूल चिरजीवी होने के लिये प्रसिद्ध है। यदि परागण न हो तो ये महीने डेढ महीने अथवा इससे भी अधिक दिनो तक अम्लान बने रहते है, यद्यपि यह समय बहुत कुछ

वातावरण पर भी निर्भर है। परागण के पश्चात् फूल तुरत मुर्झा जाते हैं। ऑर्किडो मे बीज अधिक मात्रा मे बनते हैं तथा अत्यत नन्हे होते हैं। प्राय एक फल से कई हजार बीज उत्पन्न होते हैं और ये इतने हल्के होते हैं कि इनका प्रसारण वायु द्वारा सुगमता से हो जाता है।

कुछ ऑर्किडो को छोडकर प्राय सभी की जडो मे कवक (फगस) होता है जो बिना कोई हानि पहुँचाए ततुओ में रहता है। इस परिस्थिति का ऑर्किडो के अकुरण से विशेष सबध है। ऐसा अनुमान है कि इनके बीज बिना कवक के सपर्क के अकुरित ही नही हो पाते।

ऑर्किड की खेती का एक अत्यत रोचक तथा आवश्यक अग उनसे सकर पौधे उत्पन्न करना है। ऑर्किडो में कृत्रिम परागण द्वारा सफलता प्राप्त करने के लिये इनके फूलो की रचना का यथार्थ ज्ञान, हस्त-

ऑर्किड
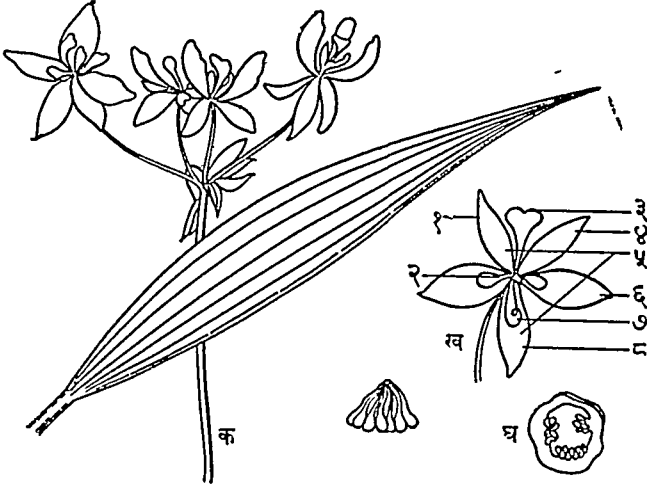
क फूल और पत्ता, ख पूर्ण पुष्प—१ पार्श्व बाह्यदल, २ मकरदकोष, ३ तृतीय उदोष्ठक (लेबेलम), ४ पार्श्व बाह्यदल, ५ बाह्यदलपुज (तीन समरूप), ६ पार्श्व बाह्यदल, ७ तुडक (रॉस्टेलम), ग परागपिंड (पॉलिनिआ), घ अडाशय की अनुप्रस्थ काट

लाघव, कौशल तथा धैर्य का होना अत्यत आवश्यक है। ऑर्किडो का सारा महत्व इनके फूलो की सुदरता तथा सजधज मे है। इनमे से कुछ से, जसे वैनीला से, एक प्रकार का सार (इत्र) भी प्राप्त होता है जो इनके फलो से निकाला जाता है।

भारतवर्ष मे ऑर्किड पहाडी प्रदेशो मे, जैसे हिमालय, खासी-जयती पर्वत, पश्चिमी घाट, कोडै कैनाल और नीलगिरि पर्वत पर होते हैं।

स० ग्र०—ए० एगलर और के० प्रैंट्ल डी नाटूरलिखेन प्लाट्सेन-फैमिलीन (१८८७-१९०९), सी० हैरिसन कमर्शियल ऑर्किड ग्रोइग (१९१४)। [मौ० सैं० उ०]

ओशकोश सयुक्त राज्य, अमरीका, के विसकॉन्सिन राज्य मे यह एक नगर है। यह नगर विन्नेबेगो झील के पश्चिमी तट पर स्थित है। इसी नगर के पास फॉक्स नदी इस झील मे मिलती है। यह विन्नेबेगो प्रदेश का केंद्र है। लकडी चीरने का काम यहाँ का मुख्य धधा है। फ्रास के राज्यकाल मे फॉक्स नदी तथा विन्नेबेगो झील शीघ्र ही मुख्य व्यापारिक मार्ग बन गई थी। १६३६ ई० के लगभग यह नगर बसना प्रारभ हुआ था। नदी का उत्तरी भाग सौकीर तथा दक्षिणी भाग ऐलगोमा कहलाता था। १८४० ई० मे इसका सयुक्त नाम ओशकोश कर दिया गया। १९५० ई० मे इसकी जनसख्या ४१,०८४ थी। [वि० च० मि०]

औषधनिर्माण चिकित्सा मे प्रयुक्त द्रव्यो के ज्ञान को औषधनिर्माण अथवा भेपज विज्ञान भी कहते हैं। इसके अतर्गत औषधो का ज्ञान तथा उनका सयोजन ही नही वरन् उनकी पहचान, सरक्षण, निर्माण, विश्लेषण तथा प्रमापण भी है। नई औषधो का आविष्कार तथा सश्लेषण भेपज (फार्मेसी) के प्रमुख कार्य हैं। फार्मेसी उस स्थान को भी कहते हैं जहाँ औषधयोजन तथा विक्रय होता है।

जब तक भेपजीय प्रविधियाँ सुगम थी तब तक भेपज विज्ञान चिकित्सा का ही अग था। परतु औषधो की सख्या तथा प्रकारो के बढने तथा उनकी निर्माणविधियो के क्रमश जटिल होते जाने से भेपज विज्ञान के अलग विशेषज्ञो की आवश्यकता पडी।

अध्ययन के लिये भेपज विज्ञान दो भागो में बाँटा जा सकता है—क्रियात्मक तथा सैद्धातिक भेपज।

सैद्धातिक भेपज के अतर्गत भौतिकी, रसायन, गणित और सांख्यिक विश्लेषण तथा वनस्पति विज्ञान, प्राणिशास्त्र, वनौषध परिचय, औषध प्रभाव-विज्ञान, सूक्ष्म-जीव-विज्ञान तथा जैविकीय प्रमापण का भी ज्ञान आता है। साथ ही, इसमें भाषाज्ञान, भेपज सबधी कानून, औषधनिर्माण, प्राथमिक चिकित्सा और सामाजिक स्वास्थ्य इत्यादि भी समिलित हैं।

क्रियात्मक भेपज विज्ञान विज्ञान की वह शाखा है जिसमें भेपज के सिद्धातो को व्यावहारिक रूप में लाने के हेतु प्रयुक्त विधियो तथा निर्माण क्रियाओ का ज्ञान आता है। इसके अतर्गत औषध सयोजन तथा भपजीय द्रव्यो का निर्माण भी है।

क्रियात्मक भेपज विज्ञान के अध्ययन में छात्र को घोल, चूर्ण, कैपसूल, मलहम, गोलियाँ, लेप, वर्ती (सपोजिटरी), टिकियाँ, इजेक्शन आदि बनाना सीखना पडता है। साधारण उपकरणो से लेकर जटिल यत्रो तक के प्रयोग की विधि विद्यार्थी को सीखनी पडती है। औषधो की सूची का सकलन तथा उनके गुण, प्रभाव आदि और निर्माणविधि का वर्णन जिस ग्रथ मे किया गया है उसका औषधकोष (फारमेकोपिया) कहते हैं। कितने ही राष्ट्र मिलकर अथवा एक राष्ट्र स्वत भी अपना औषधकोष विशेषज्ञ की समिति द्वारा प्रकाशित करवाता है जिसमे चिकित्सोपयोगी पदार्थो की सूची, उनकी निर्माणविधि, नाप तौल आदि दी रहती है। समय समय पर इसको दोहराया जाता और प्रयोगानुसार औषधो को घटाया बढाया जाता है। एक अतर्राष्ट्रीय फारमेकोपिया भी बनती है। यह प्रथम बार सन् १९५१ में विश्व-स्वास्थ्य सगठन (डब्लू०एच०ओ०) द्वारा प्रकाशित हुई थी। इससे सब राष्ट्रो की फारमेकोपियो का एकीकरण किया गया है।

पहली भारतीय फारमेकोपिया (आई० पी०) सन् १९५५ मे सकलित हुई और आजकल एक अतिरिक्त भाग सकलित हो रहा है। फारमेकोपिया के अतिरिक्त कई देशो मे अन्य प्रमाणिक पुस्तके भी हैं। अमरीका में एक नशनल पत्रावली (नैशनल फारमुलरी) और एक न्यू ऐंड ऑफिशियल रेमेडीज नाम की पुस्तक है। इसी प्रकार की पुस्तके अन्य राष्ट्रो ने भी तैयार की हैं।

अस्पतालो तथा औषधशालाओ मे प्रयुक्त प्रमुख क्रियाओ मे से कुछ ये हैं

निस्सादन (लेविगेशन)—औषध को जल के साथ घोटकर सुखा लेना तथा उसका महीन चूर्ण तैयार करना।

प्रोद्धावन (इल्यूशन)—किसी अघुलनशील चूर्ण को पानी में मिलाकर भारी भाग को बैठ जाने देते हैं। फिर ऊपर के द्रव को निथार लेते हैं। ऐसा कई बार करने पर ऐसा द्रव मिल जाता है जिसमें वाछित महीन चूर्ण निलबित रहता है।

मृदुभावन (मैसिरेशन)—औषध के मोटे चूर्ण को किसी द्रव में भिगोकर समय समय पर पात्र को हिलाते रहते हैं। अत मे परिणामी घोल को निकाल लेते है। इस प्रकार प्राप्त घोल को सत्व या टिंक्चर कहते हैं।

च्यवन (परकोलेशन)—किसी औषध के ऊपर कोई विलायक डालकर उसके विलेय भाग निकाल लेने को च्यवन कहते हैं। यह क्रिया एक शक्वाकार पात्र में की जाती है तथा ऊपर से विलायक छोडकर नीचे के छिद्र से विलयन बूँद बूँद करके इकट्ठा कर लिया जाता है। अनेक सत्व तथा टिंक्चर इसी प्रकार बनते हैं।

औषध निर्माण (देखे पृष्ठ २७८)

सेंट्रल ड्रग्स लेबॉरेटरी, कलकत्ता, का मुख्य भवन
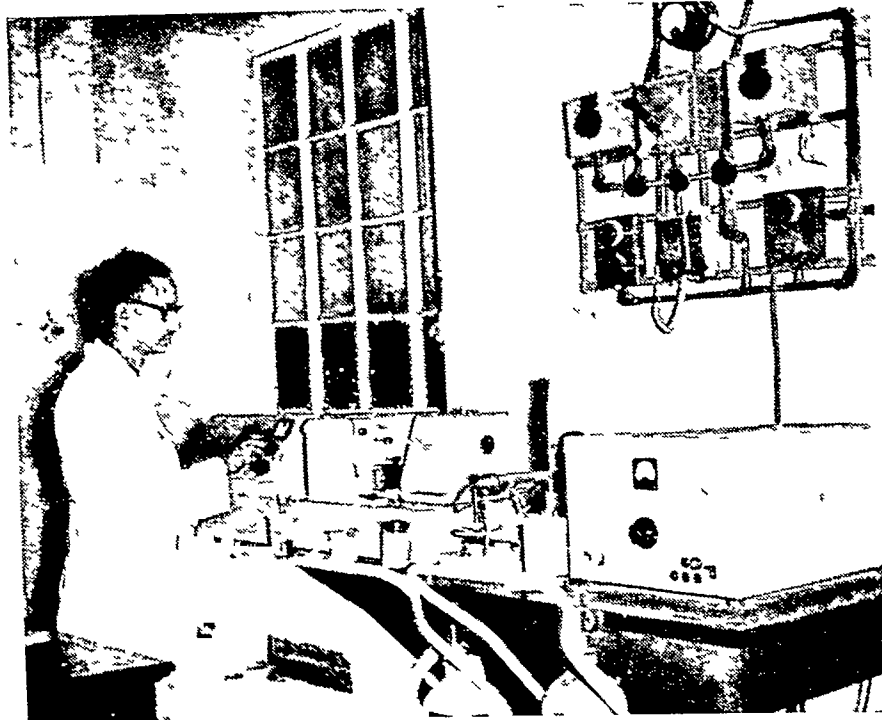
लेबॉरेटरी के औषध निर्माण विभाग में
जीवाणुद्वेषी पदार्थों की रासायनिक परीक्षा की जा रही है।
(सेंट्रल ड्रग्स लेबॉरेटरी, कलकत्ता, के सौजन्य से प्राप्त)

औषध निर्माण (देखें पृष्ठ २७८)

जीवरसायन प्रयोगशाला में
विटामिन पदार्थों का विश्लेषण किया जा रहा है।
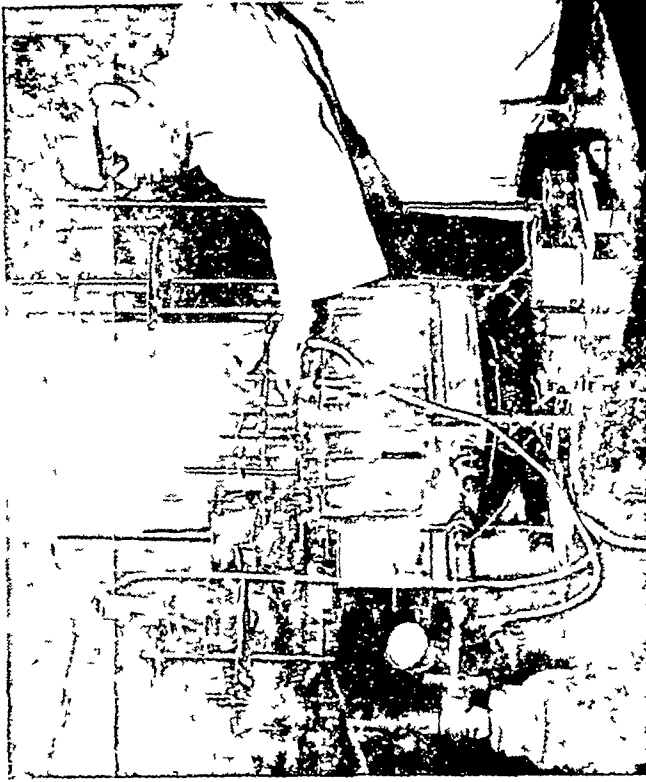
औषध निर्माण विभाग में
ओषधियों का जैविक आमापन हो रहा है।

जीवाणु विज्ञान विभाग में
जीवाणुद्वेषी पदार्थों का सूक्ष्म-जीव-वैज्ञानिक परिमापन किया जा रहा है। (सेंट्रल ड्रग्स लेबॉरेटरी, कलकत्ता, के सौजन्य से प्राप्त)

प्रमापण क्रिया (स्टैंडर्डाइज़िंग)—फार्माकोपिया का आदेश है कि कुछ निर्मित ओषधियाँ प्रमापित की जायँ, अर्थात् यह देखा जाय कि उनमें उनकी प्रमुख ओषधि एक निर्धारित अनुपात मे अवश्य विद्यमान रहे।

जैविकीय प्रमापण (बायोलॉजिकल स्टैंडर्डाइज़ेशन)—यदि कोई ओषधि रसायनविशेष हो तो ओषधि को रासायनिक विधियो द्वारा प्रमापित किया जा सकता है। परतु कुछ ओषधियो की माप घटा बढाकर जीवित प्राणी पर उसके प्रभाव की न्यूनाधिकता से ही उसका प्रमापण सभव है, उदाहरणार्थ हारमोन, हीपेरिन, पेनिसिलिन आदि। ऐसे प्रमापण को जैविकीय प्रमापण कहते हैं।

साधारणत प्रयुक्त भैषज पदार्थो का वर्गीकरण निम्नलिखित है·

वारि (ऐक्वी)—ये प्राय सौरभिक तेलो को जल के साथ हिलाकर बनते हैं, स्रवित जल भी इसी सूची में है।

क्रीम—त्वचा पर लगानेवाली ओषधि को क्रीम कहते हैं।

पायस (इमलशन)—यदि दो न मिल सकनेवाले द्रवो को इस प्रकार मिश्रित कर दिया जाता है कि वे पर्याप्त समय तक अलग नही होते तो पायस प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, मछली के तेल का पायस।

सार (एक्स्ट्रैक्ट)—वनस्पति या अन्य पदार्थ से किसी विलायक द्वारा विलेय भाग निकालकर उसे गाढा कर लेते हैं या सुखा लेते हैं। इस तरह तरल अथवा शुष्क निस्सार बन जाता है।

अत क्षेप (इजेक्शन)—त्वचा के नीचे, पेशी मे या नस मे सुई द्वारा प्रवेश करने योग्य ओषधि को इजेक्शन कहते हैं।

मृदय (लिनिमेंट)—ये तैलीय या मद्यसारयुक्त लेप हैं जो त्वचा पर रगडे जाते हैं।

विलयन (लिकर)—प्राय जल में या मद्यसार मे किसी रसायनविशेष के घोल को लिकर कहते हैं।

अवनेग (लोशन)—किसी ओषधि को जल के साथ मिलाकर किसी अगविशेष को धोने के लिये या पट्टी भिगोकर रखने के लिये बनाई गई ओषधि को लोशन कहते हैं।

गोली (पिल)—एक या कई ओषधियाँ मिलाकर गोली के रूप मे बना दी जाती हैं तथा निगलने के लिये दी जाती हैं। दु स्वाद छिपाने के लिये प्राय इनपर शर्करादि का लेप कर दिया जाता है।

मिश्रण (मिक्स्चर)—कई ओषधियो को जल अथवा अन्य किसी पेय मे मिलाकर नियमित मात्रा मे पिलाने के लिये बनी ओषधि को मिक्सचर कहते हैं।

चूर्ण (पाउडर)—यह एक ओषधि अथवा कई ओषधियो का चूर्ण होता है।

आसव (स्पिरिट)—यह सौरभिक तैलो अथवा अन्य किसी द्रव का मद्यसार मे घोल होता है।

वर्ती (सपोजिटरी)—किसी नरम पदार्थ से छोटी पेंसिल के समान बनी वस्तु है, जिसमे ओषधि मिली रहती है तथा जो गुदाद्वार या योनि में प्रविष्ट करा दी जाती है।

टिकिया (टेब्लेट)—ये प्राय मशीन से बनती है तथा इनमे एक या कई ओषधियाँ होती हैं।

निष्कर्ष (टिंक्चर)—जैसा पहले लिखा जा चुका है, यह वनस्पति पदार्थो के ऊपर कोई विलायक (प्राय मद्यसार) छोडकर बनाई जाती है। घुलनशील तत्व इस प्रकार विलायक मे आ जाते हैं।

मलहम (अंग्वेंट)—ये वैसलीन आदि मे किसी ओषधि को फेंटकर बनाए जाते हैं तथा त्वचा पर लगाने के काम आते हैं।

स० ग्र०—इयर बुक ऑव फारमेसी (प्रति वर्ष छपता है), फार्मासूटिकल जरनल (पत्रिका), एच० बी० आर्नी प्रिंसिपल्स ऑव फार्मेसी (१९२६), एडवर्ड क्रेमर्स और जॉर्ज उरडाग हिस्ट्री ऑव फार्मेसी।

[मो० ला० गु०]

औषध-प्रभाव-विज्ञान (फार्माकॉलोजी)—

पूर्व समय मे केवल उन वनस्पति पदार्थो का कलन मात्र था जिनको रोगो मे लाभ पहुँचानेवाला समझा जाता था। वर्षो तक इसका नाम मैटीरिया मेडिका रहा। आधुनिक औषध-प्रभाव-विज्ञान तीन मुख्य शाखाओ मे विभक्त है जो औषध-प्रकृति-विज्ञान, औषध-चिकित्सा-विज्ञान, तथा अगमतत्र कहलाते है।

औषध-प्रकृति-विज्ञान शरीर पर ओषधियो के प्रभाव से सबधित है। यह चिकित्सा ज्ञान, अर्थात् रोगो के उपचार तथा निवारण के लिये ओषधिप्रयोग, वनस्पति चिकित्सा (फॉर्माकोथेरैपी) तथा रसायन चिकित्सा (केमोथेरैपी) मे विभक्त है। पहले का सबध जीवित शरीर की कार्यप्रणाली को बदलने या पुन स्थापित करने से है, जिससे रोगो को निर्मूल किया जा सके, तथा दूसरे का सबध रोगकीटाणुओ के विनाश से।

अगमतत्र शरीर पर ओषधियो के अवाछित प्रभावो से सबधित है। यह विषय भी स्थानिक अथवा शारीरिक दो भागो म विभक्त किया जा सकता है।

मनुष्य को प्राचीन काल से ही वनस्पतियो का ज्ञान रहा है क्योकि वह सदा से उन्ही के सपर्क मे रहा है। रेचक एव निद्राजनक द्रव्य वनस्पतियो मे भी प्राय होते हैं। इनका कभी मानव ने अचानक प्रयोग किया होगा, जिससे उनके परिणाम या प्रभाव का उसने अनुभव किया होगा। द्राक्षा के किण्वन से मद्य को उत्पन्न करने की रीति मनुष्य को अति प्राचीन काल से ज्ञात रही है। सज्ञाहारी तथा विषो मे बुझे हुए बाणो का प्रयोग भी वह प्राचीन काल से करता आया है।

कई सहस्र वर्ष पूर्व उपचार के लिये ओषधियो के प्रयोग मे मनुष्य की पर्याप्त रुचि हो चुकी थी। प्राचीन हिंदू पुस्तको मे ओषधियो के निर्माण मे यत्रमत्रादि का विस्तृत उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में ऐसे अनेक विधानो का वर्णन है। कई सौ ओषधियो का सामूहिक विवरण चरक तथा सुश्रुतसहिता एव निघटु मे मिलता है। अन्य पूर्ववर्ती वनस्पतिसूचियो मे मिश्र का इबर्स पैपरिस है जो लगभग १,५०० ई० पू० मे सकलित हुआ था। हिप्पोक्रेटिस (४६०-३७७ ई० पू०) ने बृहत् रूप से वानस्पतिक ओषधियो का प्रयोग किया तथा उसके लेखो में ऐसे ३०० पदार्थो का ब्योरा है। गैलेन (१३०-२०० ई०) ने, जो रोम का एक सफल चिकित्सक था, चिकित्सोपयोगी ४०० वनस्पतियो की सूची तैयार की थी। मध्ययुग मे यह इस क्षेत्र मे सर्वमान्य पुस्तक थी।

इब्न सीना ने अपना ओषविज्ञान यूनान से प्राप्त किया था तथा आज भी इस देश मे उसकी चिकित्साप्रणाली यूनानी प्रणाली के नाम से जानी जाती है।

पैरासेल्सस (१४९३-१५४१ ई०) बासेल विश्वविद्यालय मे रसायन का अध्यापक था। इसने सर्वप्रथम चिकित्सा में धातुओ का प्रयोग किया। उपदश (सिफिलिस) की चिकित्सा मे पारद के उपयोग का श्रेय इसी को है। प्राय इसी काल मे भारत में रसशास्त्र का विकास हुआ।

१७८३ ई० मे अग्रेज चिकित्सक विलियम विदरिंग ने अपना युगातरकारी लेख प्रकाशित किया जिसमे डिजिटैलिस द्वारा हृदयरोग के उपचार का वर्णन था।

अब तक ओषधियाँ वानस्पतिक पदार्थो से ही तैयार की जाती थी। १८०७ ई० मे जर्मन भैषजिक सरटुरनर ने अफीम मे से मारफीन नामक ऐलकलाइड निकाला तथा यह सिद्ध किया कि अफीम का प्रावसादक गुण इसी के कारण है। तदुपरात वनस्पतियो से अनेक सक्रिय पदार्थ निकाले गए जिनमे स्ट्रिकनीन, कैफीन, एमिटीन, ऐट्रोपीन तथा क्विनीन आदि ऐलकलाइड हैं।

१८२८ ई० मे वलर (Wohler) ने यूरिया का सश्लेषण किया। इसके बाद तो कार्बन रासायनिको द्वारा लाखो कार्बनिक यौगिक सश्लिष्ट किए गए। इनमें से कितने ही आगे चलकर मनुष्य तथा पशुरोगो मे बहुमूल्य सिद्ध हुए। सन् १९१० मे पाल एर्लिख (Paul Ehrlich) ने आर्सफेनामीन नामक औषध तैयार किया। यह उपदश के उपचार के हेतु अन्वेषण की जानेवाली ६०६वी ओषधि थी। यह ओषधि न केवल वर्षो के अनुसधान का अमूल्य फल थी, वरन् पहली कीटाणुनाशक सश्लिष्ट ओषधि थी, जो कीटाणुविशेष पर प्रभाव डालती थी। परवर्ती २५ वर्षों में रसायनचिकित्सा में विशेष प्रगति नही हुई, यद्यपि विटामिन तथा हारमोन के क्षेत्रो मे बहुमूल्य अनुसधान हुए।

१९३५ ई० में डोमाक ने सल्फोनामाइड ओषधियो का आविष्कार किया। वुड्स और फाइल्ड्स ने इनकी प्रभावप्रणाली का विशदीकरण किया तथा जिस सिद्धात का प्रतिपादन इन्होने किया उसके आधार पर कई बहुमूल्य ओषधियाँ बनी, जैसे मलेरियातक, अमीबा नाशक तथा क्षय-जीवाणु-नाशक द्रव्यादि। फ्लेमिंग द्वारा पेनिसिलीन के आविष्कार ने फारमाकॉलोजी में एक नया अध्याय आरभ किया। आज हमें स्ट्रेप्टोमाइसीन, क्लोरोमाइसेटीन तथा टेट्रासाइक्लीन आदि कई उपयोगी प्रतिजीवाणु ओषधियाँ प्राप्त हैं। आधुनिक आविष्कारो में से प्राशातक (ट्रैंक्विलाइज़र्स) तथा रेडियो सक्रिय समस्थानिक महत्वपूर्ण हैं।

पिछले २५ वर्षों मे फारमाकॉलोजी में जितनी प्रगति हुई वह पहले कई हजार वर्षों में भी नही हुई थी तथा यह प्रगति बढ ही रही है।

सं०ग्र०—टी० सालीनान मैनुअल ऑव फारमाकॉलोजी (फिलाडेल्फिया, १९२६)। [मो० ला० गु०]

ओस्कालूसा

सयुक्त राज्य, अमरीका, के आइओवा राज्य मे एक नगर है। इस नगर से मिनियापोलिस, सेंट लूई तथा रॉक आइलैंड रेलमार्गो द्वारा मिले हुए हैं। यह नगर कृपि तथा कोयले की खानोवाले क्षेत्र मे बसा है। इस नगर में अनेक कारखाने हैं। प्रसिद्ध विलियम पेन कालेज इस नगर के उत्तर में स्थित है। यह १८४३ ई० में बसाया गया था। १९५० ई० मे यहाँ की जनसख्या ११,१२४ थी। [वि० च० मि०]

ओस्नाब्रुक

फेडरल रिपब्लिक ऑव जर्मनी (पश्चिमी जर्मनी) का एक प्रसिद्ध नगर है, जो ब्रिटिश क्षेत्र के हैनोवर प्रात मे हैनोवर नगर से ७० मील पश्चिम हेस नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। इस नगर की स्थिति ५२° १६' उत्तरी अक्षाश तथा ८° ४' पूर्वी देशातर पर है। १९५३ ई० के अत मे यहाँ की जनसख्या १,२१,३७३ थी। यह पुराना ऐतिहासिक नगर १८५७ ई० से रोमन कैथोलिक चर्च, निकट के क्षेत्र की शासन व्यवस्था और व्यापार का केंद्र है।

इस नगर की स्थिति महत्वपूर्ण मार्ग पर है। कई दिशाओ से रेलमार्ग यहाँ आकर मिलते हैं। रेल द्वारा यह ब्रीमेन, हैंवर्ग, हैनोवर, कोलोन, और ऐम्स्टरडैम से मिला है। मिटीलैंड नहर की कई शाखाएँ इसके औद्योगिक क्षेत्र मे फैली हैं। इस नगर में कई प्रकार के माल तैयार होते हैं और सूत कातने, कपडा बुनने, तबाकू और सिगार बनाने, कागज, रासायनिक द्रव्य, शराब तथा इजीनियरिंग का सामान बनाने के बडे कारखाने हैं। यहाँ लोहा और इस्पात बनाने के भी कारखाने हैं, जिनका मुख्य कारण लोहे और कोयले की निकटवर्ती खाने हैं। अब लोहा विदेशो से अधिक आता है। यहाँ का मुख्य व्यापार अनाज, लकडी, कपडा और लोहे के सामान का है। [ल० कि० सिं० चौ०]

ओस्बर्न (औज़बर्न), हेनरी फेयरफ़ील्ड

प्रसिद्ध पुराजीव वैज्ञानिक हेनरी ओस्बर्न का जन्म ८ अगस्त, १८५७ ई० को फेयरफील्ड (कनेक्टिकट, सयुक्त राज्य, अमरीका) मे हुआ। इनकी शिक्षा प्रिंस्टन विश्वविद्यालय में हुई। १८८३ में ये इसी विश्वविद्यालय मे जीव विज्ञान के प्रोफेसर हो गए। १८९१ में ये कोलविया विश्वविद्यालय में प्रोफेसर होकर चले आए। इनका अमरीकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री, न्यूयार्क जूलॉजिकल सोसाइटी, कार्नेगी इंस्टिट्यूशन तथा सयुक्त राष्ट्र भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग से निकट सबध था। १९०८ में ये अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नेचुरल हिस्ट्री के अध्यक्ष चुने गए। ये बहुत सी विदेशी वैज्ञानिक सस्थाओ के सदस्य भी थे।

इनका मुख्य अनुसधान पृष्ठवशी पुराजीवो (Vertebrate Fossils) पर था। इनके वैज्ञानिक निबधो की सख्या लगभग ७५० है। इनके कुछ प्रमुख प्रकाशन निम्नाकित हैं

१ फ्रॉम ग्रीक टु डार्विन (१८९४)
२ एवोल्यूशन ऑव मैमेलियन मोलर टूथ (१९०७)
३ दि एज ऑव मैमल्स (१९१०)
४ हक्सली ऐंड एजुकेशन (१९१०)
५ ओरिजिन ऐंड एवोल्यूशन ऑव लाइफ (१९१७)
६ क्रिएटिव एजुकेशन (१९२२)

६ नवबर, १९३५ को इनकी मृत्यु हो गई। [म० ना० मे०]

ओस्वीगो

१ इस नाम का एक नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, में न्यूयार्क राज्य के उसी नाम के प्रदेश के प्रधान अधिकारी का निवास स्थान है। यह सिराक्यूज़ नगर से ३५ मील उत्तर-पश्चिम ओस्वीगो नदी के मुहाने पर उसके दोनो ओर तथा ओंटेरियो झील के दक्षिणी-पूर्वी किनारे पर एक छोटे बदरगाह के रूप मे बसा है। इसकी स्थिति ४३° २७' उत्तरी अक्षाश और ७६° ३२' पश्चिमी देशातर पर है। १९५० ई० के अत मे इस शहर की जनसख्या २२,६४७ थी।

यहाँ कई रेलमार्ग आकर मिले हैं, जिनके द्वारा यह रॉचेस्टर और सिराक्यूज से मिला हुआ है। इस बदरगाह मे झील के स्टीमर तथा छोटे जहाज कई बदरगाहो से आते हैं। सन् १८२८ ई० मे ओस्वीगो नहर बनी, जो ओंटेरियो झील को, न्यूयार्क स्टेट बार्ज नहर से सिराक्यूज़ के पास जोडती है। ओस्वीगो नदी मे ३४ फुट ऊँचा एक प्रपात है, जहाँ बिजली उत्पन्न की जाती है।

यहाँ कई प्रकार के कारखाने हैं, जिनमे मड (स्टार्च) बनाने का कारखाना सबसे बडा है। इसके सिवाय लकडी की लुगदी और कागज के, सिल्क, ऊनी और सूती कपडो के और दियासलाई तथा मशीनें बनाने के भी कारखाने हैं। कैनाडा से लकडी की लुगदी जलमार्ग से यहाँ लाने मे सुविधा होती है और बदले मे कोयला जाता है। ओस्वीगो का व्यापार अधिकतर कैनाडा के शहरो से होता है।

२ ओस्वीगो नामक दूसरा नगर सयुक्त राज्य, अमरीका के कैंसास राज्य के दक्षिण-पूर्व की ओर लाबेटी प्रदेश के प्रधान अधिकारी का निवास स्थान है। यह निओशो नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। इसकी स्थिति ३७° ११' उत्तरी अक्षाश और ९५° ०९' पश्चिमी देशातर पर है। १९४० ई० के अत मे यहाँ की जनसख्या १,९५३ थी। यह नगर रेलो का भी केंद्र है और रेलमार्ग द्वारा कैंसास नगर, टेक्सैस, सेंट लूई और सैनफ्रैंसिस्को से जुडा है।

३ ओस्वीगो नाम का तीसरा नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, के औरिगन राज्य के क्लेकामस प्रदेश मे एक छोटा नगर है। यह कोलबिया नदी की सहायक विलैमेट नदी के बाएँ किनारे पर बसा है। १९४० ई० के अत में यहाँ की जनसख्या १,७२६ थी। यह पोर्टलैंड नगर से सात मील दक्षिण है, और इससे रेल द्वारा जुडा है। [ल० कि० सिं० चौ०]

कंकनी

(टिनौफोरा, Ctenophora) अपृष्ठवशी जतुओ का एक छोटा सघ (फाइलम) है जो कुछ ही समय पहले तक आतरगुही (सिलेंटरेटा, Coelenterata) समुदाय से घनिष्ठ सबध के कारण उसी के उपसमुदाय के अतर्गत रखा जाता था। इसके सभी सदस्य समुद्री, स्वतत्रजीवी, स्वतत्र रूप से तैरनेवाले तथा बहुत ही पारदर्शी होते हैं। ये बहुविस्तृत हैं और उष्ण भागो में बहुतायत से पाए जाते हैं।

इनको सामान्यत समुद्री अखरोट (सी वालनट) या ककत-गिजगिजिया (कोम-जेली) कहते हैं। पहला नाम आकार के कारण तथा दूसरा उनके पारदर्शी तथा कोमल होने और उनपर ककत (कघी) जैसे चलागो के कारण है। ये 'कघियाँ' शरीर पर लाक्षणिक रूप से आठ पक्तियो में स्थित होती हैं। कुछ जातियाँ फीते जैसी चपटी भी होती हैं, जैसे 'रति-वलय' (वीनस गर्डिल), जिसकी लबाई ६ इच से लेकर ४ फुट तक होती है।

इस समुदाय के साधारण लक्षण निम्नलिखित हैं

१ शरीर के द्विअरीय विधि से उदग्र अक्ष पर समित होता है,

२ शरीर के निर्माण में दो मुख्य स्तरो—बहिर्जनस्तर (एक्टोडर्म) तथा अतर्जनस्तर (एडोडर्म) का होना, किंतु साथ ही इनके बीच मे बहुविकसित मध्यश्लेष (मेसोग्लीआ) का स्तर होना, जिसमे अनेक कोशिकाएँ होती हैं। इन कोशिकाओ का पृथक्करण बहुत प्रारभिक अवस्था में हो जाता है जिससे इसको अधिकाश लेखक एक अलग स्तर—मध्यचम (मेसोडर्म)—मानते हैं। इस प्रकार कंकनी समुदाय त्रिस्तरीय (ट्रिप्लोब्लॉस्टिक) कहा जा सकता है। मध्यचर्म की कोशिकाओ से पेशीय कोशिकाएँ बनती हैं।

३ समुदाय मे शरीर विखडित (सेगमेटेड) नही होता।

४ शरीर वहुत कुछ गोलाकार या लवी नाशपाती जैसा होता है, किंतु कुछ सदस्य चपटे भी होते है। शरीर के ऊपरी तल पर पक्ष्म-कोशिकाओ (सिलिअरी सेल्स) से वनी 'कघियो' की आठ पक्तियाँ होती है। ये ही इन जीवो के चलाग है।

५ सूच्यग अथवा डक (निमैटोसिस्ट, nematocyst) सर्वया अनुपस्थित रहते है।

६ पाचक अगो के अतर्गत मुख, 'ग्रसनी', आमाशय तथा शाखित नलिकाए रहती हैं।

७ स्नायु सस्थान आतरगुही की भाँति फैला हुआ और जाल जैसा तथा मुख की विपरीत दिशा मे स्थित्यग (स्टैटोसिस्ट, statocyst) नामक सवेदाग की उपस्थिति होती है।

८ ये जीव द्विलिंगी होते है, जननकोशिकाओ का निर्माण अतर्जनस्तर से, ककनीपक्तियो के नीचे, होता है।

९ परिवर्धन सरल तथा विना किसी डिंभ (लार्वा) की अवस्था और पीढियो के एकातरण के होता है।

इसके अतिरिक्त अधिकाश ककनियो मे दो ठोस, लवी स्पर्शिकाएँ (टेटेकल्स, tentacles) होती है, जो प्रत्येक पार्श्व मे स्थित एक अधी थैली से निकलती है। इन स्पर्शिकाओ पर कुछ विचित्र कोशिकाएँ होती है जिनको कॉलोब्लास्ट कहते है। प्रत्येक कॉलोब्लास्ट से एक प्रकार का लसदार द्रव निकलता है और इसमे कुतलित कमानी के आकार की एक सकोची धागे जैसी रचना होती है, जो शिकार से लिपट जाती है और उसे पकडने मे सहायक होती है।

अभिलागी कोशिका (Colloblast)

१ आसजक क्षुद्रगोलक, २ सर्पिल ततु, ३ सीधा ततु,

ककनी की सरचना का कुछ ज्ञान पार्श्वक्लोम (प्ल्यूरोब्रैकिया, Pleurobranchia) के सक्षिप्त वर्णन से हो जायगा। यह प्राय गोल होता है और इसका व्यास लगभग ३/४ इच होता है। इसका मुख एक ओर स्थित होता है तथा उपलकोष्ठ मुख की विपरीत दिशा मे रहता है। इन दो ध्रुवो के बीच, एक दूसरे से लगभग वरावर दूरी पर, आठ

प्ल्यूरोब्रैकिया (Pleurobranchia) **की संरचना**

१ इद्रिय, २ स्पर्शिका कोष, ३ आमाशय, ४ कघी पट्ट, ५ ग्रसनी, ६ स्पर्शिकाएँ, ७ मुख।

ककनी पक्तियाँ होती है। प्रत्येक पक्ति सामान्य धरातल से कुछ ऊपर उठी हुई होती है और प्रत्येक का निर्माण अनेक वेडी, कघी जैसी रचना से होता है। अत में प्रत्येक कघी स्वय अनेक जुडे हुए रोमाभ (सिलिया, cilia) से वनती है। इन रोमाभो की गति मे सामजस्य होने से जतु मे गति होती है और वह मुख को आगे की ओर रखकर चलनक्रिया करते है। स्थित्यग की ओर दो अधी थैलियो मे से प्रत्येक से एक अगक निकलता है जो वहुधा छ इच लवा होता है। तैरते समय अधिकतर ये रचनाएँ पीछे की ओर घिसटती रहती है। इनपर असख्य कॉलोब्लास्ट होते है जिनकी सहायता से यह जीव छोटे जतुओ का शिकार करता है।

मुख का सवध ग्रसनी (फेरिंग्स) या मुखाग्र (स्टोमोडियम) से होता है जहाँ पाचन क्रिया होती है। इसके आगे आमाशय होता है जिससे पाचक नलिकाएँ एक विशेष योजना के अनुसार निकलती है। इनके

अतिरिक्त आमाशय और भी आगे सवेदाग की ओर वढता है और अत मे उससे चार नलिकाएँ निकलती है जिनमे से दो सवेदाग के इधर उधर उत्सर्जन छिद्रो द्वारा वाहर खुलती है। वास्तव मे इन छिद्रो से अपचित भोजन वाहर निकलता है।

सवेदाग की रचना मे रोमाभो के चार लवे गुच्छे भाग लेते है और उनके वीच एक गोल पथरीला कण, या स्थितिकण (स्टैटोलिथ), होता है। समस्त रचनाएँ एक अर्धगोल आवरण से ढकी होती है। स्टैटोसिस्ट का सवध जतु के सतुलन से, अर्थात् गुरुत्वाकर्षण के सवध मे प्राणी की स्थिति से, होता है। सभवत उसके द्वारा किसी प्रकार रोमाभो की गति मे सामजस्य भी उत्पन्न होता है।

पार्श्वक्लोम का समस्त वाह्य तल अधिचर्म (एपिडर्मिस) का वना होता है तथा उसके आमाशय और पाचक नलिकाओ का निर्माण रोमाभयुक्त आतर चर्म से होता है। इन दोनो के वीच मोटा, दलदार मध्यश्लेप होता है। इसमे अनेक पेशीततु, सयोजक ऊतक कोशिकाएँ तथा अनियमित आकार की अमीवाभ (अमीवोसाइट, amoebocyte) कोशिकाएँ होती है जिनको मिलाकर मध्यचर्म (मेसोडर्म) कहा जाता है।

काचकुड्म (साइडिपिड, Cydippid) कावाल-डिंभ (लार्वा)

ककनी का विभाजन दो वर्गो या उपवर्गो मे किया जाता है—टेटाकुलाटा तथा न्यूडा (Nuda)। इनका विवरण इस प्रकार है

(१) **वर्ग टेंटाकुलाटा**—जिसमे साधारणत दो लवी स्पर्शिकाएँ पाई जाती है। इसमे चार गण (ऑर्डर्स) होते है

(क) **साइडिपिडा** (Cydippida)—इनमे शरीर गोल होता है तथा दो स्पर्शिकाएँ पाई जाती है। ये वहुधा शाखित होती है और अपनी थैलियो मे वापस की जा सकती है, जैसे पार्श्वक्लोम (**प्ल्यूरोब्रैकिया**) तथा काचकुड्म (**हॉर्मिफोरा) में।**
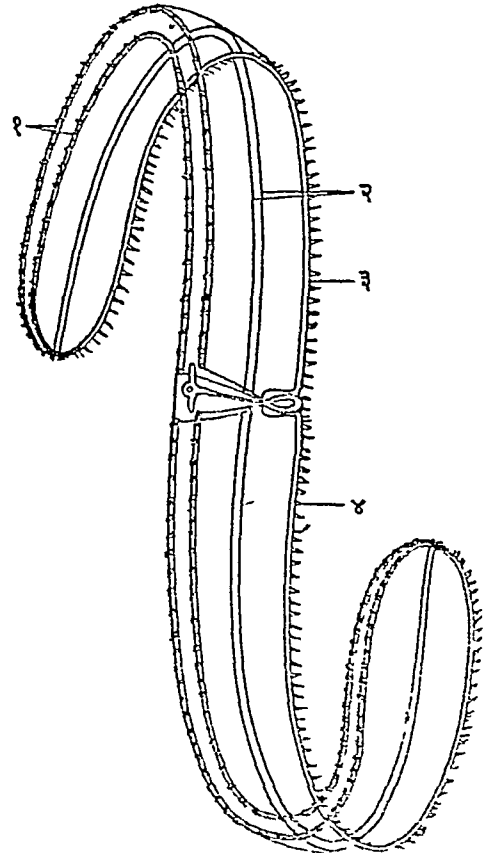
मेखला गण (सेस्टिडा) का प्राणी, विलेमेन

१ मध्य समातर तल के (सवसैजिटल) कघी सदृश उपागको की पक्ति, २ उपागकीय मध्यस्थित नलियाँ, ३ ग्रसनी (फैरिंजियल) नलिकाएँ; ४ स्पर्शिकाएँ।

(ख) सपालि (लोबाटा)---इनमे शरीर कुछ अडाकार तथा चिपटा होता है। स्पर्शिकाएँ बिना थैलियो या आवरण के होती हैं और मुख के इधर उधर एक जोडा मौखिक पिंडक होता है, जैसे काचर उर्वशी (बोलिनॉप्सिस, Bolınopsıs), और (नीमियाप्सिस, mnemıopsıs)।

(ग) मेखला (सेस्टिडा, Cestıda)---इनमे शरीर चिपटा, लबा, फीते जैसा होता है, दो या अधिक अविकसित स्पर्शिकाएँ होती हैं और कई छोटी पार्श्वीय स्पर्शिकाएँ, जैसे सेस्टम वेनेरिस (Cestum Venerıs) जो दो इच चौडा और लगभग तीन फुट लबा होता है, उष्ण प्रदेशो में पाया जाता है और टेढे मेढे ढग से चलता है।

(घ) प्लैटिक्टीनिया---इनम शरीर उदग्र अक्ष मे चिपटा होता
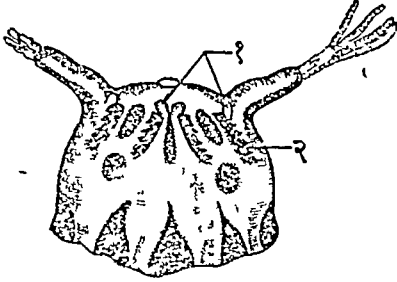
तैरता हुआ ककत चिपिट (Ctenoplana)

१ अकुरक (Papıllae) २ कघी सदृश पक्ति।

है और इस प्रकार रेगने के लिये सपरिर्वातत हो जाता है, जैसे सीलोप्लेना (Coeloplana), टेनोप्लेना (Ctenoplana)।

(२) वर्ग न्यूडा---इनमें स्पर्शिकाओ का अभाव रहता है, शरीर थैली या टोपी जैसा होता है, मुख चौडा होता है और ग्रसनी बहुत बडी होती है। इस वर्ग में एक ही गण है

बिरोइडी (Beroıdea)---इसके जतु बहुभक्षी, शक्वाकार शरीरवाले होते हैं। ये पार्श्वीय अक्ष में कुछ चिपटे होते ह। इस गण की मुख्य जाति वेरोई (Beroe) है, जो ससार भर मे पाई जाती है। यह कुछ गुलाबी होती है और लगभग ८ इच तक ऊँची हो सकती है।

वयस्क उरुमुख (बेरोई)

१ शाखाओ मे फैले हुए, ध्रुवीय क्षेत्रो के अकुरक, २ ग्रसनी नलिकाएँ, ३ मध्यस्थित नलियाँ, ४ मुख के किनारे की नली, ५ मुख।

जतुससार मे ककनी की स्थिति तथा अन्य समुदायो से उसके सवध के विपय मे जतुशास्त्रवेत्ताओ के बीच पर्याप्त मतभेद है। कुछ लक्षणो के आधार पर इनका सवध आतरगुहियो से स्पष्ट है, जैसे देहगुहा का अभाव, समिति की प्रकृति, श्लेपाभीय मध्य-श्लेष, विस्तृत नाडीजाल, शाखित पाचक गुहा इत्यादि। कई लेखको ने इसका सवध जलीयक वर्ग (हाइड्रोजोआ) के चलछत्रिक (ट्रेकिलाइनी, Trachylınae) गण से जोडने का प्रयत्न किया है। यह स्थापना तथ्यपूर्ण जान पडती है। इसके अतिरिक्त कुछ लक्षणो के कारण साइफोज़ोआ (Scyphozoa) और ऐयोजोआ (Anthozoa) से भी इसका सवध जान पडता है, किंतु साथ ही इस समुदाय मे कुछ ऐसे लक्षण भी देखे जाते हैं जिनके कारण यह सभी आतरगुहियो से पृथक् दिखाई पडता है---जैसे पेशीय ततुओ की दशा, कोलोब्लास्ट कोशिकाओ की उपस्थिति, ककनी पक्तियो की उपस्थिति आदि। सभव यही जान पडता है कि ककनी समुदाय आतरगुहियो के किसी बहुत प्रारभिक पूर्वज से, जो ट्रेकिलाइनी जैसा था, उत्पन्न होकर अलग हो गया है।

लैंग के अनुसार ककनी से ही द्विसमित जतुओ का उद्भव हुआ जिनमें से मुख्य हैं पराचिपिट (टरबेलेरिया, Turbellarıa)। किंतु इस मत की पुष्टि में जो तथ्य दिए गए हैं वे बहुत विश्वसनीय नही जान पडते। सभावना यही है कि विशेपीकरण के कारण यह समुदाय जतुओ की एक प्रकार की छोटी वद शाखा है, यद्यपि इसके अध्ययन से यह पता चलता है कि द्विस्तरीय जतुओ से त्रिस्तरीय जतुओ का उद्भव किस प्रकार हुआ। (उ०श०श्री०)

कंकाल

कंकाल मानव शरीर के ढाँचे को कहते हैं जो अस्थियो से और कुछ भागो में उपास्थियो (कार्टिलेज) से मिलकर बना है। (उपास्थि नरम और लचीली हड्डियो को कहते हैं जिनमें से कई एक समय पाकर अस्थियो में वदल जाती है।)

साधारणत मेरुदडधारी प्राणियो में, जिनमें मनुष्य भी है, ककाल शरीर के भीतर रहता है अत इसे आतरिक ककाल कहते हैं। कुछ प्राणिया म, जसे कछुए में, आतरिक और वाह्य दोनो ककाल होते हैं। परतु जिन
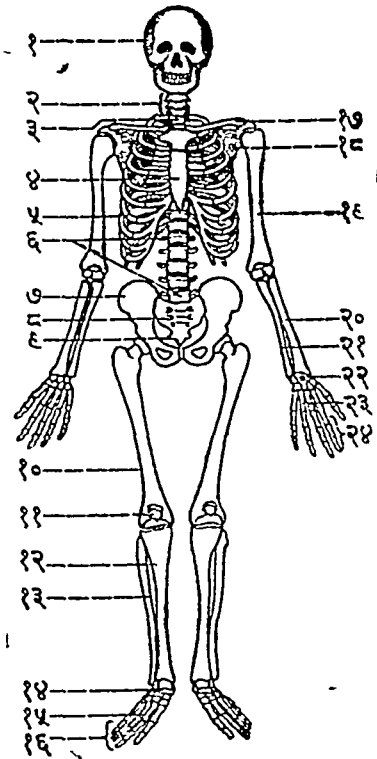
चित्र १. ककाल

१ खोपडी, २ ग्रीवा कशेरुका (Cervıcal Vertebra), ३ पहली और दूसरी पृष्ठकशेरुकाएँ, ४ उरोस्थि (Sternum), ५ पर्शुकाएँ (Rıbs), ६ कटिकशेरुकाएँ (Lumbar Vertebrı), ७ श्रोण्यस्थि (Ilıum), ८ त्रिक (Sacrum), ९ अनुत्रिक, १० ऊर्विका (Femur), ११ जान्विका (Patella), १२ अतर्जघिका (Tıbıa), १३ वहिर्जघिका (Fıbula), १४ प्रपटोपास्थि १५ अनुगुल्फिका (Meta-tırsal bones), १६ पादागुलास्थियाँ (Phalanges), १७ अक्षक (Clavıcle), १८ स्कैप्युला, १९ प्रगडिका (Humerus), २० वहिष्प्रकोष्ठिका (Radıus), २१ अत प्रकोष्ठिका (Ulna), २२ मणिवध (Carpal bones), २३ पश्चमणिवधिका (metacarpal bones), २४ आगुलास्थियाँ (Phalanges)।

प्राणियों में मेरुदंड नहीं होता उनमें केवल बाह्य कंकाल ही होता है। मनुष्य में बाह्य कंकाल केवल नख और दांत के इनैमल के रूप में ही दिखाई पड़ता है।

मानव कंकाल दो भागों में विभाजित किया जा सकता है

१ अक्ष-कंकाल (ऐक्सियल स्केलिटन)–सिर और धड की अस्थियां,

२ शाखाकंकाल (अपेंडिक्युलर स्केलिटन)–ऊर्ध्व और अध शाखाओं की अस्थियां (बाहु, भुजा, हाथ और जांघ, टांग, पैर)।

कंकाल में कुल २०६ अस्थियां होती हैं जो निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत की जा सकती हैं

वर्ग	अस्थिसंख्या
मेरुदंड (रीढ)	२६
खोपडी	२२
हायोइड अस्थि	१
पर्शुका (पसुली) और उरोस्थि (छाती की हड्डियां)	२५
ऊर्ध्व शाखा (बाहु आदि)	६४
अध शाखा (जांघ आदि)	६२
श्रोत्र अस्थिका	६
कुल	२०६

अस्थियो का वर्गीकरण—आकार की दृष्टि से अस्थियो को चार वर्गों में विभाजित कर सकते है, लबी, छोटी, चपटी और विषम आकारवाली।

लबी अस्थियां—ये ऊर्ध्व और अध शाखाओ में होती हैं और गति मे उत्तोलनदड (लीवर) की भांति काम करती हैं। इनमे एक दड और दो सिरे होते हैं। दड नली के सदृश होता है जिसके बीच मे मज्जा-गुहा होती है और दीवार ठस (अविरल) अस्थि की बनी होती है। सिरे फैलकर सधि बनाने मे भाग लेते हैं। इन सिरो मे विरल (स्पॉन्जी) अस्थि होती है। मज्जागुहा और विरल अस्थि के रिक्त स्थानो मे मज्जा भरी रहती है।

छोटी अस्थियां—ये बहुभुजाकार होती हैं और विरल अस्थि की बनी होती हैं। विरल अस्थि के चारो ओर अविरल अस्थि की एक पतली तह होती है। ककाल में ये उन स्थानो पर रहती हैं जहां दृढता के साथ साथ गति की भी आवश्यकता होती है, जैसे कलाई (मणिबध) और प्रपदोपास्थि।

चपटी अस्थियां—इनमे अविरल अस्थि की दो तहे होती हैं जिनके बीच में विरल अस्थि रहती है। इनकी बनावट कही कही अगो की रक्षा करती है, जैसे खोपडी और वक्ष, अथवा इनकी चौडी सतह से पेशियां लगी रहती हैं, जैसे स्कैपुला।

खोपडी की कुछ अस्थियों मे विरल पदार्थ के स्थान पर गुहा होती है जिनके भीतर श्लेष्म-झिल्ली (म्यूकस मेब्रेन) लगी रहती है। गुहाओ को वायुविवर कहते हैं। ये विवर आनन अस्थियो मे होते हैं और नासिका से इनका सबध रहता है। ककाल के भार को बढाए बिना ही ये मुख की आकृति बनाते और वाणी को प्रतिध्वनि प्रदान करते हैं।

विषम आकारवाली अस्थियां—ये भिन्न भिन्न रूप और आकार की होती हैं। कशेरुका और खोपडी की कुछ अस्थियां इस प्रकार की होती हैं।

अस्थिमज्जा—लबी अस्थियो की मज्जा (बोन मैरो) गुहा और विरल अस्थियो के रिक्त स्थानो में भरी रहती हैं। बालको में सब मज्जा लाल होती है, परतु ज्यो ज्यो आयु बढती है यह पीली होने लगती है। तरुण अवस्था मे लाल मज्जा केवल विरल अस्थियो मे ही रह जाती है और लबी अस्थियो की मज्जा गुहाओ मे पीली मज्जा पाई जाती है। रुधिरकणिका की उत्पत्ति प्रधानत लाल मज्जा करती है और इस कारण इसकी रुधिर सप्राप्ति प्रचुर मात्रा मे होती है। पीली मज्जा लगभग समस्त ही चरबी होती है और अपेक्षाकृत इसको रुधिरप्राप्ति नही के बराबर होती है।

अस्थिच्छद (पेरिऑस्टियम, Periosteum)—अस्थियो के चारो ओर तन्तुमय झिल्ली (फाइब्रस मेब्रेन) की खोली होती है जिसे अस्थिच्छद कहते हैं। अस्थिच्छद की दो परतें होती है। बाहरी परत अस्थि को सीमाबद्ध करती है। भीतर की परत बडे महत्व की होती है, क्योकि इसमे पोषण करने के अतिरिक्त अस्थि बन जाने का सामर्थ्य भी होता है।

खोपडी (स्कल)—खोपडी २२ अस्थियो से मिलकर बनी है, जो अधोहन्वस्थि (मैंडिबिल) को छोडकर टांको द्वारा इस प्रकार जुडी रहती हैं कि उनमे एक दूसरे के सापेक्ष कोई गति नही होती। खोपडी को दो भागो में विभाजित किया जाता है—१ कपाल और २ आननभाग।

कपाल—कपाल (क्रेनियम) अडाकार होता है और भीतर स्थित मस्तिष्क की रक्षा करता है। कपाल आठ अस्थियो से मिलकर बना है (चित्र २, ३) एक ललाट अस्थि, दो पार्श्विक अस्थियां, एक अनुकपाल, एक तितवस्थि (इथमॉइड) एक जतुकास्थि (स्फिनॉइड) और दो शखास्थि (टेंपोरल)।

आनन भाग—खोपडी के आनन भाग से चेहरे का ढांचा, नासिका तथा मुंह की गुहा बनती है। नेत्रगुहा कपाल और आनन अस्थियो के बीच
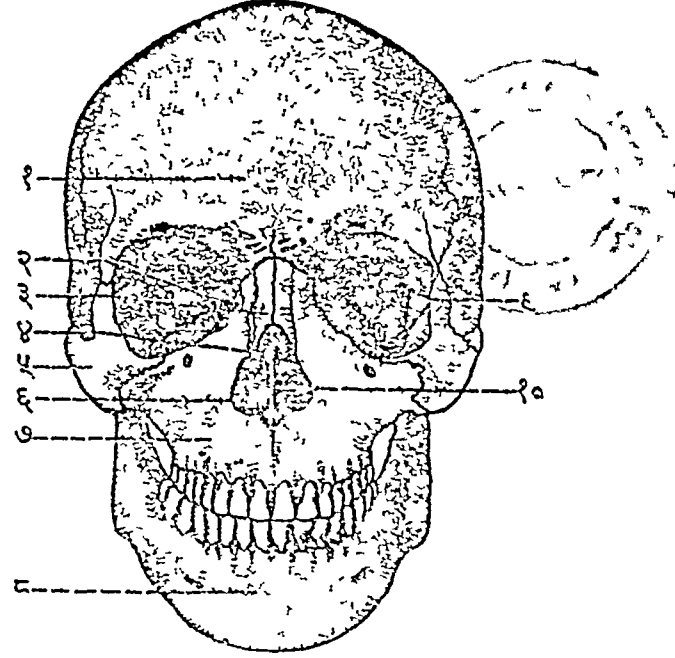
चित्र २ कपाल (सामने से)

१ ललाटास्थि (frontal bone), २ आश्रवास्थि (लैक्रिमल बोन, lachrymal bone), ३ नास्यास्थि (nasal bone), ४ कौका, बीच का (superior concha), ५ गडास्थि (Zygomatic), ६ कौका नीचे का (inferior concha), ७ ऊर्ध्वहन्वस्थि (मैक्सिला, maxilla), ८ अधोहन्वस्थि (मैंडिबल, mandible), ९ नेत्रगुहा (eye socket), १० नासारध्र (nasal cavity)

स्थित है। आनन भाग मे १४ अस्थियां होती हैं, एक अधोहन्वस्थि, दो ऊर्ध्वहन्वस्थियां (मैक्सिला), दो ताल्वस्थियां, दो गडास्थियां (ज़ाइगोमैटिक, zygomatic), दो आश्रवास्थियां (लैक्रिमल), दो नासास्थियां, दो नासिका कौका, और एक हलास्थि (वोमर, vomer) (देखें चित्र २ और ३)।

इनमें से कुछ अस्थियां, जैसे तितवस्थि (ethmoid) और ललाटास्थि, कपाल और आनन के भाग हैं।

कपाल—कपाल (क्रेनियम) सब ओर से बद रहता है। केवल इसकी तली में कुछ छोटे छोटे छिद्र रहते हैं, जिनमें से तंत्रिका और वाहिकाएँ जाती हैं। तली में पीछे की ओर एक बडा रध्र होता है जिसमें से मस्तिष्क का एक भाग (मस्तिष्क पुच्छ, मिडुला ओबलॉङ्गेटा, medulla oblongata) निकलकर रीढरज्जु से मिलता है।

कपाल का वर्णन दो भागो में किया जा सकता है (क) गुबज के आकार की छत, और (ख) तली, जो विषम अस्थियो से मिलकर बनी होती है।

गुबज के आकारवाली छत—यह छ अस्थियो से मिलकर बनी होती है। आगे ललाटास्थि, इसके पीछे दो पार्श्विक अस्थियाँ और सबसे पीछे

चित्र ३ कपाल (बगल से)

१ ललाटास्थि (frontal bone), २ कॉरोनैल सीवनी (coronal suture), ३ नासास्थि, ४ गडास्थि, ५ ऊर्ध्वहन्वस्थि (maxillary bone), ६ पार्श्विकास्थि, ७ शखकास्थि (टेपोरल बोन), ८ अनुकपालास्थि (occipital bone), ९ अधोहन्वस्थि (mandibular bone)।

अनुकपालास्थि रहती है। बराबरवाली भीत के बनाने में शखास्थियाँ भी भाग लेती है।

इन अस्थियो के बीच की ततुसधियो को सीवनी कहते है। ललाटास्थि और दोनो पार्श्विक अस्थियो के बीच की सीवनी को कॉरोनैल, (coronal)
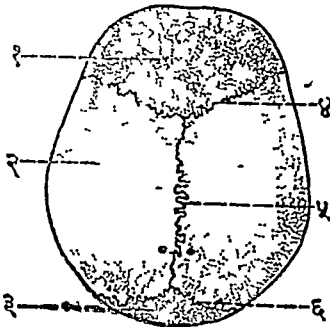
चित्र ४ कपाल (ऊपरसे)

१ ललाटकीय अस्थि, २ पार्श्विकास्थि, ३ अनुकपाल अस्थि, ४ कॉरोनैल सीवनी, ५ सैजिटैल सीवनी, ६ लैम्डाएड सीवनी।

दोनो पार्श्विक अस्थियो के बीचवाली को सैजिटल (Sagittal) और पीछे की ओर की पार्श्विक अस्थियो और अनुकपाल के बीचवाली सीवनी को लैम्डॉएड (Lambdoid) कहते है (चित्र ४)।

कपाल के विवर—जन्म के समय कपाल की अस्थियाँ पूर्ण रूप से परपक्व नही होती और पार्श्विक अस्थि के कोनो पर कोमल झिल्ली रहती है। इन स्थानो को कपाल के विवर कहते हैं। जन्म के समय इन विवरो र अस्थियाँ एक दूसरे पर आकर कपाल की नाप को छोटी बना देती है। सबसे बडा विवर आगे की ओर रहता है, जहाँ सैजिटैल और कॉरोनैल सीवनी मिलती है। यह जन्म के पश्चात् लगभग १८ मास तक बद नही होता। पीछेवाला विवर सैजिटल और लैम्डॉएड सीवनी के सगम पर होता है और यह जन्म के कुछ ही समय बाद बद हो जाता है। प्रत्येक ओर के शेष दो विवर भी जन्म के बाद कुछ ही मास मे बद हो जाते हैं (चित्र ५)।
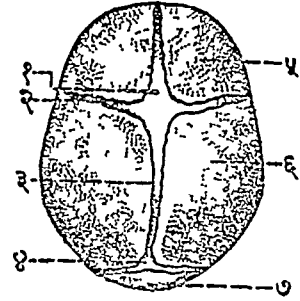
चित्र ५ नवजात शिशु का कपाल (ऊपर से)

१ आगे का विवर, २ कॉरोनैल सीवनी, ३ सैजिटैलसीवनी, ४ पीछे का विवर, ५ ललाटकीय अस्थि, ६ पार्श्विकास्थि, ७ अनुकपालास्थि।

कपाल की तली—यदि छत को हटा दे और कपाल की तली को ऊपर से देखे तो तीन विभाग या विवरक दिखाई देते हैं। ये विवरक छ अस्थियो से मिलकर बने होते हैं। ललाटास्थि, तितवास्थि, जतुकास्थि, दो शखास्थियाँ और अनुकपाल।

आगेवाला विवरक तीनो मे सबसे कम गहरा होता है, और इसमें मस्तिष्क का फ्रौंटल पालि रहती है। इस विवरक के बीच का भाग इथ माइड अस्थि से बनता है। इसी अस्थि से नासिका की छत भी बनती है और इसके छोटे छोटे छिद्रो मे से घ्राणतत्रिका प्रवेश करती है। तित वस्थि और ललाटास्थि इस विवरक को नेत्रगुहा से पृथक् करती हैं।

मध्य विवरक के बीच जतुकास्थि के एक छोटे से विभाग में पोपग्रथि (पिट्यूटरी) पिंड रहता है। इस विभाग के दोनो ओर एक विस्तीर्ण और गहरा अवतल होता है जिसमें प्रमस्तिष्क की शखपालि रहती है। इस अवतल की पीछे की सीमा शखास्थि का प्रस्तर (पीटरस) भाग बनाती है, जिसके भीतर मध्यकर्ण और कान का गहन (लैबीरिंथ) रहता है।

पीछे का विवरक सबसे अधिक गहरा होता है और इसमें अनुमस्तिष्क, मध्यमस्तिष्क, सेतु (पौंस) और मस्तिष्कपुच्छ (मिडुला औब्लॉङ्गेटा) रहता है। इसी विवरक मे वह बडा रध्र होता है जिसमे से मस्तिष्कपुच्छ
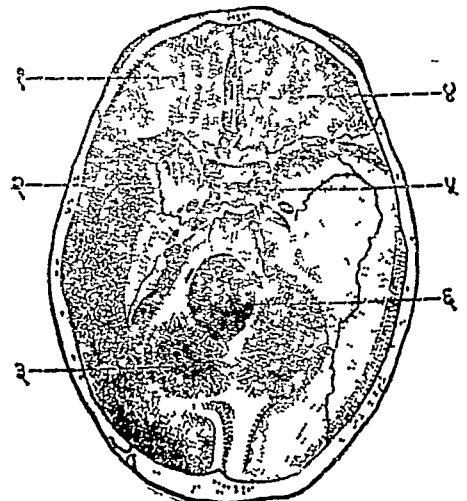
चित्र ६ कपाल की तली

१ अगला विवरक, २ मध्यविवरक, ३ पिछला विवरक, ४ घ्राणतत्रिकाछिद्र, ५ पिट्यूटरी ग्रथिस्थान, ६ बडा रध्र

(मैडुला श्रौब्लॉङ्गेटा) जाता है। वडे रध्र के दोनो ओर जुगलर रंध्र होता है जिसमे से मातृका (जुगलर) शिरा और कुछ कपालतंत्रिका कपाल से वाहर आती हैं। इस विवरक की पीछे की सीमा अनुकपालास्थि वनाती है जिसमे ग्रीवा की प्रसारण पेशियाँ लगी रहती हैं।

यदि कपाल की तली में अस्थिभग हो तो वहुवा शरीर के विशेष भाग से रक्तस्राव के चिह्न इसका सकेत करते है कि अमुक विवरक मे अस्थिभग हुआ है। उदाहरणार्थ, कपाल मे चोट के वाद यदि नासिका, पलक या नेत्रश्लेष्मिका (कजक्टाइवा) के नीचे रक्तप्रवाह हो तो सामने के विवरक में और कान से रक्त का आना वीच के विवरक में अस्थिभग होना वताता है। ग्रीवा के पीछे की चोट और प्रसारण पेशियो मे रक्त के चिह्न पीछेवाले विवरक मे अस्थिभग होने का सकेत करते हैं।

खोपड़ी का आनन भाग—आनन अस्थियाँ अधोहन्वस्थि को छोडकर आपस मे और कपाल के सामने तथा नीचे की ओर टाँको द्वारा वडी दृढता से जुडी रहती हैं। नेत्रगुहा और नासिकागुहा प्रधानतया आनन अस्थियो से ही वनी हैं। परतु इनकी छत कपाल द्वारा वनती है।

आनन अस्थियो की सामान्य रचना का ज्ञान खोपडी के चित्रो का अध्ययन करने से हो सकता है। एक ऊर्ध्वहन्वस्थि, जिसमे ऊपर के दाँत रहते है, दूसरी से नासारध्र के नीचे मिलती है। नासारध्र के ऊपर की ओर दोनों नासास्थियाँ मिलती हैं। नेत्रगुहा के भीतर के किनारे के पासवाली अस्थि का नाम अाश्रवास्थि (लैक्रिमल) है। अाश्रवास्थि और ऊर्ध्वहन्वास्थि के वीच नासिकाश्रु नाल होती है जिसके द्वारा आँसू नेत्र से नासिका मे आता है। नेत्रगुहा की वगल का किनारा गडास्थि है। यह अस्थि पीछे की ओर शखास्थि के एक उभार से मिलकर ज़ाइगोमैटिक चाप वनाती है। यह चाप जुए की भाँति आनन और कपाल की अस्थियो को मिलाता है।

हलास्थि (वोमर)—इस पतली त्रिभुजाकार अस्थि से नाक की भित्तिका (सेप्टम) का पिछला भाग वनता है। नासिका की वगल की भीत मे तीन कौका (concha) होते हैं। इनमे से ऊपर के दो तितवस्थि के भाग और सवसे नीचे का कौका पृथक् अस्थि है। तात्वस्थि केहुनी (L) के आकार की होती है। दोनो तात्वस्थियो के समतल भाग मिलकर तालु का पिछला भाग वनाते हैं। तालु के अगले भाग से उर्ध्वहन्वस्थि वनती है। तात्वस्थि के खडे भाग से नासिका की वगलवाली भीत का पिछला भाग वनता है।

अधोहन्वस्थि—आनन की अस्थियो मे से केवल यही अस्थि पर्याप्त रूप से गति करती है। इस गति द्वारा भोजन का चर्वण और ध्वनियो का उच्चारण सभव होता है। जन्म के समय अधोहन्वस्थि के दो भाग होते हैं, जो सामने की ओर चिवुक पर एक वर्ष की आयु तक अवश्य मिल जाते हैं। चिवुक का आगे की ओर उभाड मनुष्य जाति की विशेषता है।
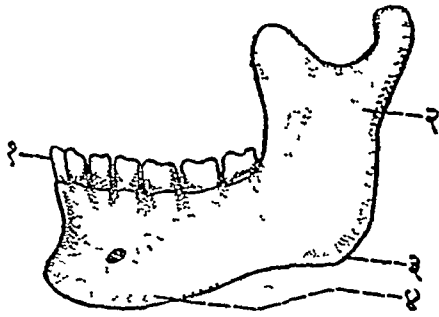
चित्र ७ अधोहन्वस्थि

१ दात, २ खडा भाग, ३ कोण ४. समतल भाग।

अधोहन्वस्थि के समतल भाग में दाँत लगे रहते हैं और इसका खडा भाग कपाल की शखास्थि से जुडा रहता है। इसी भाग मे चर्वण पेशियाँ लगी रहती हैं। अधोहन्वस्थि के ये दोनो भाग मिलकर एक कोण वनाते हैं। यह कोण युवावस्था मे लगभग ११०° का होता है (चित्र ७)।

मेरुदड—मेरुदड (वर्टेब्रल कॉलम) ३३ कशेरुकाओ से मिलकर वना है। इनमे ७ ग्रीवा, १२ पृष्ठ, ५ कटि, ५ त्रिक और ४ अनुत्रिक कशेरुकाएँ कहलाती हैं। कशेरुकाएँ एक दूसरे के ऊपर सटी रहती हैं। वे आपस में अत-कशेरुकाओ, उपास्थियो, स्नायुओ और पेशियो द्वारा दृढता से जुडी रहती हैं। ग्रीवा, पृष्ठ और कटि कशेरुकाएँ अलग अलग गतिशील होती हैं। ये मुख्य कशेरुकाएँ कहलाती हैं। त्रिक और अनुत्रिक कशेरुकाएँ जुडकर त्रिक और अनुत्रिक वनाती हैं। इनको गौण कशेरुका कहते हैं (चित्र ८)।
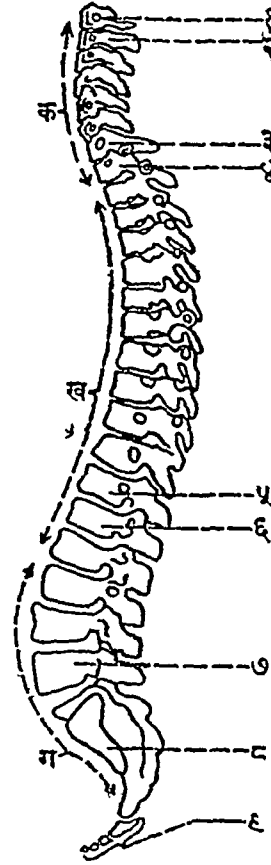
चित्र ८ मेरुदड वक्र

१ प्रथम ग्रीवा कशेरुका (ऐटलैस), २ द्वितीय ग्रीवा कशेरुका (ऐक्सिस), ३ सातवी ग्रीवा कशेरुका, ४ प्रथम पृष्ठ कशेरुका, ५ वारहवी पृष्ठ कशेरुका, ६ प्रथम कटि कशेरुका, ७ पचम कटि कशेरुका, ८ त्रिक, ९ अनुत्रिक।

युवा पुरुष मे मेरुदड की लवाई लगभग २८ इच होती है और स्त्रियो में ३ या ४ इच कम। कुल लवाई का लगभग एक चौथाई भाग अत-कशेरुका उपास्थि वनाती है।

मेरुदड को शरीर का अक्ष कहते हैं। यह धड, सिर और ऊर्ध्व शाखा का भार वहन करता है। मेरुदड मे पर्याप्त मात्रा मे गति भी सभव है। मेरुदड उस तनाव अथवा दवाव का भी अवरोध करता है जो अधिक गति या मनुष्य के अधिक भार उठाने के कारण उत्पन्न हो जाता है। यह आघात अथवा दहल से रक्षा करता है। इसके द्वारा धड, सर और ऊर्ध्व शाखा का भार, श्रोणिमेखला से होकर, अध शाखाओ मे चला जाता है। मेरुदड वक्ष को दृढता से सँभाले रखता है। इसमे शरीर की वडी समर्थ पेशियाँ लगी रहती हैं। मेरुदड कोमल मेरुरज्जु की रक्षा करता हैं। इस प्रकार मेरुदड शरीर का एक वडा विलक्षण अग है और वडे उपयोगी कार्यो को पूर्ण करता है। इसके अतिरिक्त कशेरुका मे लाल मज्जा होती है जो रुधिरकणिका के निर्माण के लिये परम आवश्यक है।

समस्त कशेरुकाओ की सामान्य वनावट एक सी ही होती है। तथापि प्रत्येक भाग मे कुछ विशेषताएँ रहती हैं। प्रत्येक कशेरुका के दो मुख्य भाग होते हैं। कशेरुका-काय आगे की ओर और इसके पीछे कशेरुका-चाप। दोनो के वीच एक वडा रध्र होता है। सव कशेरुकारध्र मिलकर पूरे मेरुदड मे एक नाल वनाते हैं जिसमें मेरुरज्जु सुरक्षित रहती है।

कशेरुकाकाय—यह वर्तुलाकार होता है और प्रधानतया विरल (स्पॉन्जी) अस्थि का वना होता है। ऊपर और नीचे की सतहो पर
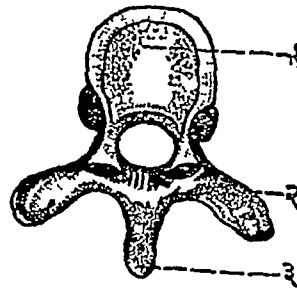
चित्र ९ पृष्ठकशेरुका (ऊपर से)

१ कशेरुकाकाय, २ आडा निकास, ३ कशेरुकाकटक।
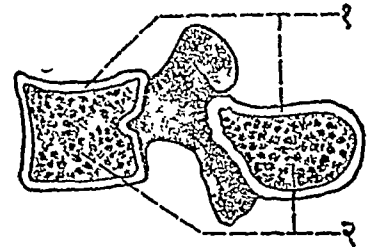
चित्र १० कशेरुका की आंतरिक बनावट

१ अविरल अस्थि, २ विरल अस्थि।

चक्राकार अविरल अस्थि होती है जो अस्थिशिर (एपिफिसिस, Epiphysis) कहलाती है। दोनो सतहें चिपटी और खुरखुरी होती ह जिससे

अत कशेरुका उपास्थि भली भाँति जुड सके। ऊपर से नीचे की ओर कशेरुकाओ का आकार कटित्रिक (लबो सैक्रल, lumbo-sacral) सधि तक बडा होता जाता है, क्योकि मेरुदड पर पडनेवाला भार भी नीचे की ओर बढता जाता है। कटित्रिक सधि से समस्त भार श्रोणिमेखला द्वारा होकर अध शाखाओ मे चला जाता है, इसलिये त्रिक और अनुत्रिक के नीचे के सिरे पतले होकर नुकीले हो जाते है (चित्र ६, १०)।

कशेरुकाचाप--दो पेडिकल और दो लैमिना से मिलकर बनता है। पेडिकल कशेरुका काय से पीछे की ओर निकली हुई दो छोटी छडे होती है। इनमें पीछे की ओर जाती हुई दो चिपटी परतें लैमिना कहलाती है। जिस जगह दोनो लैमिनाएँ मिलती है वहाँ से पीछे निकले हुए उभाड को कशेरुकाकटक (स्पाइनस प्रोसेस) कहते है। पेडिकल और लैमिना के मिलने के स्थान से दो निकास (आर्टिक्युलर प्रोसेस) ऊपर की ओर और दो नीचे की ओर निकलते है जो समीपवर्ती कशेरुका के निकास से सधित होते है। इसी जगह से दो और आडे प्रवर्ध (ट्रैंसवर्स प्रोसेस) बाहर की ओर निकले रहते है। समीपवर्ती कशेरुकाओ के पेडिकल के बीच अत कशेरुका रध्र होते है जिनमें से तत्रिकाएँ बाहर निकलती है।

ग्रीवाकशेरुका के विशेष लक्षण--सिर को सँभालने और इसकी गति के कारण प्रथम और द्वितीय ग्रीवाकशेरुका की बनावट बहुत भिन्न होती है। प्रथम ग्रीवाकशेरुका, अथवा शिरोधर (ऐटलस), बिना काय की होती है। ऊपर की ओर यह अनुकपाल से जुटी होती है। इस सधि पर सिर को आगे और पीछे की ओर हिलाने की गति होती है (चित्र ११)। द्वितीय ग्रीवाकशेरुका अथवा अक्षकीकस (ऐक्सिस) की विशेषता एक
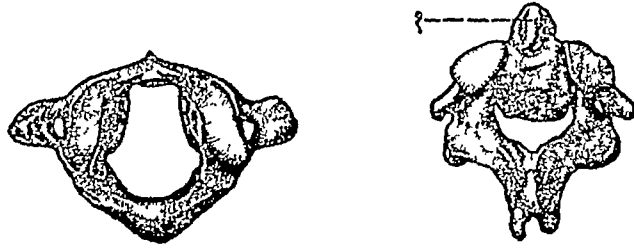
चित्र ११ प्रथम ग्रीवाकशेरुका (ऊपर से)

इसका काय नही होता।

चित्र १२ द्वितीय ग्रीवाकशेरुका

१ दताभ प्रवर्ध।

दताभ प्रवर्ध (ओडटॉएड प्रोसेस) है, जो इसकी काय से ऊपर उठा रहता है। यह प्रवर्ध शिरोधर से विवर्तिका सधि बनाता है। इस सधि पर सिर शिरोधर, ऐटलस (atlas) के ऊपर घूमता है (चित्र १२)।

मेरुदडवक्र--जन्म के समय मेरुदड पीछे की ओर उत्तल होता है, परतु जिस समय शिशु तीन या चार मास का होता है और अपनी ग्रीवा को ऊपर उठाने लगता है, मेरुदड का ग्रीवा विभाग सामने की ओर उत्तल हो जाता है, और छ या नौ मास के भीतर, जिस समय शिशु बैठने लगता है, कटि विभाग भी सामने उत्तल हो जाता है। वक्ष और त्रिक विभाग के पीछे की ओर के उत्तल "मौलिक वक्र" कहलाते है। ये गर्भावस्था में ही बन जाते है और आयुपर्यंत रहते है। इनके कारण वक्ष और श्रोणिगुहाओ की धारणशक्ति बढ जाती है। ग्रीवा और कटि के सामनेवाले उत्तल "सहकारी वक्र" कहलाते है। ये जन्म के बाद बनते है जिससे शरीर प्रलब आसन मे सतुलन प्राप्त कर सके (चित्र ८)।

ये वक्र कुछ तो इस कारण बनते है कि कशेरुकाएँ आगे और पीछे की ओर एक सी मोटी नही होती, परतु अत कशेरुका-उपास्थियो का समान मोटाई का न होना इनका मुख्य कारण है। वृद्धावस्था में अत कशेरुका-उपास्थि का क्षय होने लगता है और धीरे धीरे सहकारी वक्र भी कम होने लगते है। इसी कारण बुढापे में कमर झुक जाती है।

पर्शुकाएँ--वक्ष मे एक ओर बारह पर्शुकाएँ (रिब्स) होती है। ऊपर की सात पर्शुकाएँ मुख्य कहलाती है, क्योकि ये उरोस्थि से पर्शुकोपास्थि द्वारा सधित होती है। शेष पाँच गौण पर्शुकाएँ कहलाती है, क्योकि ये उरोस्थि से सधि नही बनाती। इनमे से ८वी, ६वी और १०वी पर्शुकाएँ लबी उपास्थि द्वारा अपने से ऊपरवाली उपास्थि से मिलती है। अतिम दो चलायमान पर्शुकाएँ कहलाती है। इनकी उपास्थियो के नुकीले सिरे किसी दूसरी उपास्थियो से नही मिलते। सबसे ऊपर और नीचे की पर्शुकाएँ सबसे छोटी होती है, इसलिये वक्ष का आकार ढोल की तरह होता है। सबसे अधिक चौडाई सातवी और आठवी पर्शुका के समीप होती है।
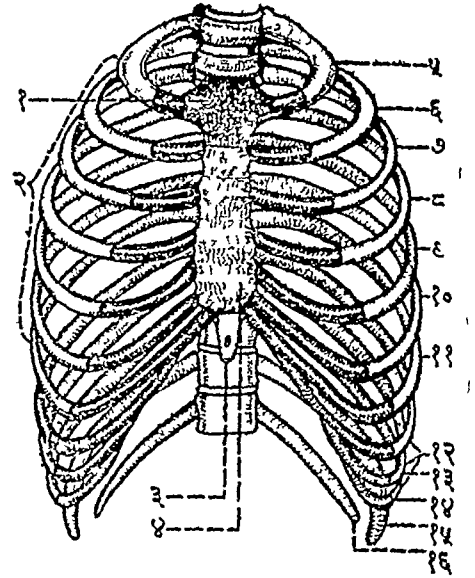
चित्र १३ सधित मेरुदड, पर्शुका तथा उरोस्थि (सामने से)

१ हस्तक (मैन्युब्रियम, manubrium), २ मुख्य पर्शुकाएँ, ३ अग्रपत्रक, ४ काय। पर्शुकाएँ ५ प्रथम, ६ द्वितीय, ७ तृतीय, ८ चतुर्थ, ९ पचम, १० पष्ठ, ११ सप्तम। गौण पर्शुकाए १२ अष्टम, १३ नवम, १४ दशम, १५ एकादश, १६ द्वादश (चलायमान पर्शुका)।

पर्शुका एक लबी चपटी अस्थि होती है जिसका अगला सिरा उपास्थि द्वारा उरोस्थि से मिलता है और पिछला कशेरुका से। बीच का भाग मुडा होता है। यह मोड सबसे अधिक पीछे की ओर होता है और पर्शुका का कोण बनाता है। इस बीच के भाग का ऊपर का किनारा गोल और नीचेवाला तीक्ष्ण होता है। नीचे के किनारे के पास ही एक अवतल में अत पर्शुका वाहिकाएँ और तत्रिकाएँ रहती है। दो पर्शुकाओ के बीच अत पर्शुका पेशियाँ रहती है।

उरोस्थि--उरोस्थि (स्टर्नम) वक्ष मे सामने की ओर रहती है। इसका आकार चौडे भाले के समान होता है। ऊपर से नीचे की ओर इस अस्थि के तीन भाग होते है हस्तक (मैन्युब्रियम), काय और अग्रपत्रक (ज़िफॉयड प्रोसेस, xiphoid process)। हस्तक त्रिभुजाकार होता है। ऊपर की ओर दोनो तरफ अक्षक कटाव होते है, जिनमें अक्षक का भीतरवाला सिरा सधित होता है। ऊपर का किनारा अवतल होता है और इसे उरोस्थि का ऊपर का कटाव (सुप्रास्टर्नल नॉच) कहते है। अक्षक कटाव के ठीक नीचे पहली पर्शुकोपास्थि हस्तक से सधि बनाती है। नीचे की ओर, हस्तक, काय से मिलकर, उरोस्थि कोण बनाते है। इस कोण को लुई का कोण भी कहते है। इसे वक्ष मे सामने की ओर बडी सुगमता से परिस्पर्श कर सकते है। इसी जगह दूसरी पर्शुकोपास्थि उरोस्थि से मिलती है। इस कोण का परिस्पर्श पर्शुका गिनने मे सहायक होता है।

उरोस्थि काय लगभग चार इच लबा होता है। इसके दोनो ओर कटाव होते है जिनसे दूसरी से लेकर सातवी पर्शुकोपास्थि तक सधियाँ बनती है।

अग्रपत्रक एक छोटी सी उपास्थि उरोस्थि-काय से सधि बनाता है। शरीर मे इस सधि के स्थान को एक उभरी हुई रेखा सदृश परिस्पर्श कर सकते है। इसी जगह सातवी पर्शुकोपास्थि की सधि है। अग्रपत्रक

हृदय के निचले भाग के सामने रहता है। मध्य भाग मे मध्यच्छदा (डायाफ्राम, diaphragm) अग्रपत्रक से लगा रहता है और मध्यच्छदा के ठीक नीचे यकृत रहता है (चित्र १३)।

ऊर्ध्वशाखा (अपर लिंब)—**असमेखला**—असमेखला आगे की ओर अक्षक (क्लैविकिल, clavicle) और पीछे असफलक (स्कैप्युला) से मिलकर बनती है।

अक्षक एक लबी, पतली और मुडी हुई अस्थि है जो ग्रीवा के निचले भाग मे रहती है। इसका भीतर का सिरा उर फलक से सधि बनाता है और बाहरवाला असफलक के उत्फलकाग्र (आक्रोमिअन, acromion) से। अक्षक कधे को बाहर की ओर रखने में पहिए की तीली की भाँति काम करता है और इस प्रकार असफलक स्वतत्र रूप से घूम सकता है।

असफलक (स्कैप्युला, scapula)—असफलक एक चिपटी त्रिकोणाकार अस्थि है, जिसमे कधे को गति देनेवाली बडी बडी पेशियाँ लगी रहती हैं। स्कैप्युला ऊपर की सात पर्शुकाओ के पृष्ठभाग मे रहता है। इसके बाहर के सिरे पर एक छिछली गुहा होती है जिसे ग्लिनाइड गुहा कहते हैं। स्कैप्युला के पीछे की ओर एक समतल प्रवर्ध है जिसे कटक (स्पाइन) कहते है। कटक का बाहरी सिरा उत्फलकाग्र प्रवर्ध से मिलता है। यह प्रवर्ध उरोस्या प्रवर्ध (कौराकॉयड प्रोसेस) से मिलकर कधे के ऊपर एक मेहराब बनाता है। यह मेहराब प्रगडिका (ह्यूमरस) के सिर का सधिभग होने से रोकता है।
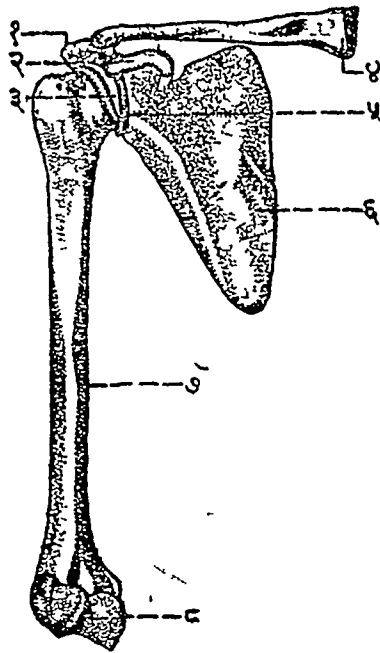
चित्र १४. अंसमेखला और प्रगंडिका (सामने से)

१ आक्रोमिअन, २ कौराकॉयड (coracoid) प्रवर्ध, ३ गोलार्ध शिर, ४ अक्षक, ५ ग्लीनॉयड (glenoid) गुहा, ६ स्कैप्युला, ७ प्रगडिका, ८ नीचे का सिरा।

इस प्रकार असमेखला और अक्षककाल के बीच अस्थिसबध केवल उस एक छोटी सधि द्वारा होता है जो अक्षक उर फलक से बनाती है। इसके फलस्वरूप ऊर्ध्वशाखा को बडी गति मिल जाती है। उदाहरणार्थ, जिस समय प्रगड उठाया जाता है, असफलक वक्ष की भीत पर घूमता है और इस प्रकार अपवर्तन की सीमा बहुत बढ जाती है, परतु इस रचना मे ऊर्ध्वशाखा का सारा भार पेशियो को सँभालना पडता है और इस कारण वे शीघ्र ही थक जाती हैं (चित्र १४)।

प्रगंडिका—प्रगडिका (ह्यमरस, humerus) प्रगड की एकमात्र अस्थि है। इसका ऊपर का सिरा गोलाध होता है और इसके पासवाले दो उभार बडे और छोटे प्रार्बुद (ट्यूबरोसिटी) कहलाते हैं। गोलार्ध सिरा अस-उलूखल (ग्लीनॉइड गुहा) से कधे की उलूखल-सधि बनाता है। ग्लिनाइड के छिछले होने के कारण कधे की सधि पर जितनी गति सभव है उतनी शरीर मे और किसी भी सधि पर नही होती। प्रगडिका का नीचे का सिरा फैलकर प्रकोष्ठ की अस्थियो के साथ केहुनी की सधि बनाता है (चित्र १४)।

बहिष्प्रकोष्ठिका (रेडियस) और अंत प्रकोष्ठिका (अल्ना)—जब हथेली सामने की ओर अथवा चित हो तब प्रकोष्ठ की दोनो अस्थियाँ आसपास, बहिष्प्रकोष्ठिका बाहर की ओर और अत प्रकोष्ठिका भीतर की ओर, रहती है। परतु जिस समय हथेली को पट किया जाता है उस समय बहिष्प्रकोष्ठिका का नीचे का सिरा अत प्रकोष्ठिका के सामने से घूमकर भीतर की ओर आ जाता है। हथेली को चित और पट करने की गति इन दोनो अस्थियो की ऊपर और नीचेवाली सधियो पर होती है।
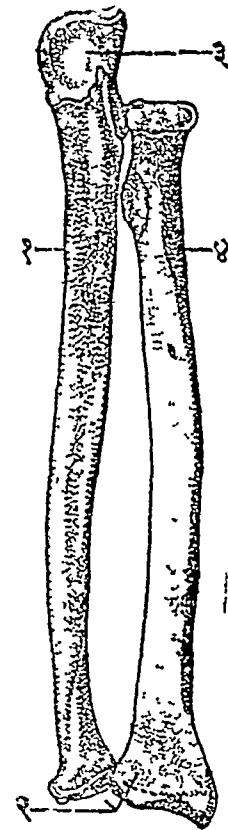
चित्र १५. प्रकोष्ठ की अस्थियाँ (सामने से)

१. अत प्रकोष्ठिका ; २ निचले सिरे, ३ गहरा कटाव, ४ बहिष्प्रकोष्ठिका।

केहुनी पर अत प्रकोष्ठिका का एक गहरा कटाव प्रगडिका के निचले सिरे पर घिरनी के आकारवाले भाग से बहुत पुष्ट सधि बनाता है। बहिष्प्रकोष्ठिका और प्रगडिका की सधि इतनी पुष्ट नही होती। दोनो अस्थियो के नीचे के सिरे कलाई पर परिस्पर्श किए जा सकते हैं (चित्र १५)।

हाथ की अस्थियाँ—मणिबध (कलाई) आठ छोटी छोटी अस्थियो से मिलकर बना है। ये अस्थियाँ ऊपर और नीचे चार चार की दो पक्तियो मे रहती हैं। ऊपरवाली पक्ति मे बाहर से भीतर की ओर मणिबधास्थियो के नाम इस प्रकार ह स्कैफॉयड (नाव के आकार की), ल्यूनेट (चाँद के आकार की), ट्राइक्वेट्रल (तीन कोनोवाली), और पिसिफॉर्म (मटर के दाने के आकार की)। स्कैफॉयड और ल्यूनेट बहिष्प्रकोष्ठिका के नीचेवाले सिरे के साथ सधि बनाती हैं। ट्राइक्वेट्रल और अत प्रकोष्ठिका के बीच एक तिकोनी उपास्थि रहती है। इस प्रकार बहिष्प्रकोष्ठिका और उपास्थि नीचे की ओर स्कैफॉयड, ल्यूनेट और ट्राइक्वेट्रल अस्थियो के साथ कलाई की सधि बनाती है। पिसिफॉर्म ट्राइक्वेट्रल के सामने रहती है। इसको कलाई मे परिस्पर्श किया जा सकता है।

नीचे की पक्ति मे बाहर से भीतर की ओर अस्थियो के नाम इस प्रकार हैं ट्रैपीजियम, ट्रैपिजॉयड, कैपिटेट, और हैमेट। इनमे सबसे बडी अस्थि कैपिटेट का गोल सिर स्कैफॉयड और ल्यूनेट से सधि बनाता है।

मणिबधास्थियो की ऊपर और नीचेवाली पक्तियो के बीच सधि पर पर्याप्त मात्रा मे गति सभव है। यह गति कलाई की गति मे वृद्धि करती है।

पाँच करशलाकाओ से हाथ का ढाँचा बना है। पहली करशलाका ट्रैपीजियम से सधि बनाती है और इस सधि पर गति होने के कारण अँगूठा चारो उँगलियो के समीप आ सकता है। शेष चार करशलाकाएँ आसपास एक दूसरे से बँधी रहती ह।

अँगुलियो की अस्थियाँ और भी छोटी होती हैं। अँगूठे मे दो और शेष उँगलियो मे तीन तीन अगुल्यस्थियाँ होती हैं। अगुल्यस्थियो के बीच सभी सधियो पर गति सभव है (चित्र १६)।

अध शाखा (लोअर लिंब)—**श्रोणिमेखला**—श्रोणिमेखला दो नितबास्थियो और त्रिक (सैक्रम, sacrum) से मिलकर बनती ह। त्रिक दोनो ओर नितबास्थि के शेषाश भाग से मिलकर त्रिक पृष्ठनितब (सैक्रो-इलिअक, sacro-iliac) सधि बनाता है। आगे की ओर दोनो नितबास्थियाँ जुडकर

भगास्थि सधि वनाती है। ये सधियाँ शरीर का भार वहन करती हैं, इसलिये इन सधियो की स्नायु वहुत पुष्ट होती है।
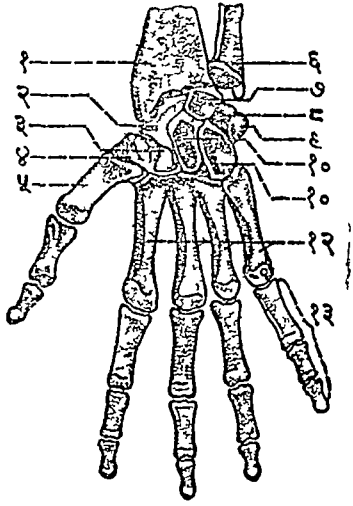
चित्र १६. प्रकोष्ठ की अस्थियो के निचले सिरे तथा हाथ की अस्थियाँ

१ वहिष्प्रकोष्ठिका, २ स्कैफॉयड, ३ ट्रैपिज़ॉयड, ४ ट्रैपीज़ियम, ५ प्रथम करशलाका, ६ अत प्रकोष्ठिका, ७ ल्यूनेट, ८ ट्राइक्वेट्रल, ९ पिसिफॉर्म, १० कैपिटेट, ११ हैमेट, १२ करशलाकाएँ, १३ अगुल्यस्थियाँ।

नितंबास्थि—यह अस्थि तीन अस्थियो से मिलकर बनी है। आगे भगास्थि (प्यूविस), ऊपर की ओर पृष्ठनितव (इलियम), पृष्ठ और नीचे की ओर आसनास्थि (इस्कियम, Ischium) होती है। जिस समय हम बैठते हैं, शरीर का भार आसनास्थि वहन करती है। ये तीनो अस्थियाँ उलूखल में सधित होती हैं। उलूखल का आकार कटोरी जैसा होता है। वारह वर्ष की आयु तक तीनो अस्थियो के वीच त्रिरश्मि (Y) आकार की उपास्थि रहती है। इस उपास्थि का अस्थि में परिणत होना १५–१८ वर्ष की आयु तक सपूर्ण हो जाता है। भगास्थि और आसनास्थि की शाखाएँ भगास्थि-चाप वनाती हैं। इन शाखाओ का अस्थि में परिणत होना ७–८ वर्ष मे सपूर्ण होता है। भगास्थि-चाप और श्रोणि-उलूखल के बीच एक रध्र होता है (चित्र १७)।
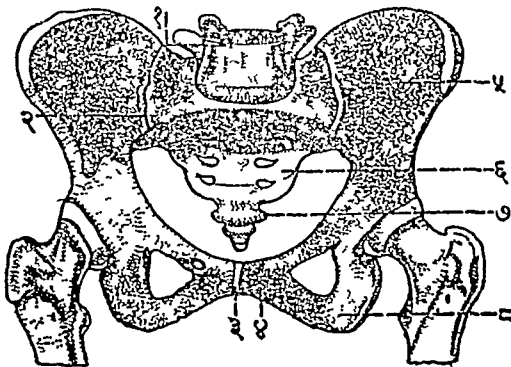
चित्र १७ श्रोणिमेखला, पचम कटिकशेरुका तथा उर्विकाओ के ऊपरी सिरे

१ पचम कटिकशेरुका, २ त्रिक इलियम सधि, ३ भगास्थि सधि, ४ भगास्थि, ५ इलियम, ६ त्रिक, ७ अनुत्रिक, ८ आसनास्थि।

ऊर्विका—ऊर्विका (फीमर, femur) की तुलना प्रगडिका से की जा सकती है, परतु उर्विका वडी और अधिक पुष्ट होती है। इसका गोलाकार सिर श्रोणि उलूखल के साथ उलूखल सधि वनाता है। लगभग दो इच लबी पुष्ट ग्रीवा इसके सिर को तने से जोडती है। ग्रीवा और सिर के सगम पर दो ऊरुकूट (ट्रोकैंटर), एक वडा और दूसरा छोटा, स्थित हैं। ऊर्विका का नीचे का सिरा फैलकर दो सधिकद (कॉण्डाइल्स) का रूप धारण कर लेता है। ये सधिकद अतर्जंघिका (टिबिया) और जानुफलक से मिलकर जानुसधि वनाते हैं।

दोनो ऊर्विकाएँ, ऊपर की ओर, श्रोणि की चौडाई के कारण, दूर रहती हैं, परतु उनके नीचे के सिर समीप रहते हैं। इस प्रकार उर्विका शरीर में तिरछी रहती है। स्त्रियो में श्रोणि की अधिक चौडाई के कारण उर्विका का तिरछापन अधिक होता है (चित्र १८)।
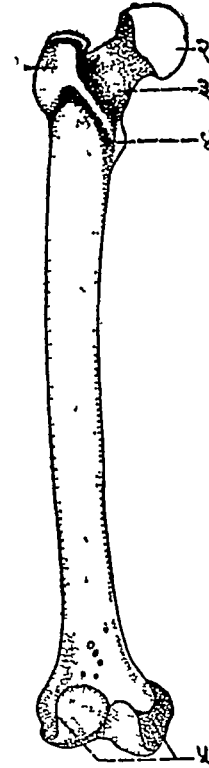
चित्र १८ ऊर्विका (सामने से)

१ वडा ट्रोकैंटर (trochanter), २ गोलाकार सिर, ३ ग्रीवा, ४ छोटा ट्रोकैंटर, ५ कॉण्डाइल्स (condyles)।

जान्विका—जान्विका (पैटेला, patella) चिपटी और त्रिभुजाकार अस्थि उरु की चतु शिरस्का (क्वाड्रीसैप्स) पेशी की कडरा (टैंडन) में रहती है। यह ऊर्विका के निचले सिरे के सामने की ओर सधि वनाती है और जानुसधि की सामने से रक्षा करती है। कभी कभी जान्विका का अस्थि-भग होने पर इसको शल्यक्रिया द्वारा निकाल दिया जाता है (चित्र १९)।

चित्र १९ जान्विका (सामने से)

अतर्जंघिका (टिबिया, tibia) और वहिर्जंघिका (फिबुला, fibula)—पैर में ये दोनो अस्थियाँ एक झिल्ली द्वारा परस्पर जुडी रहती हैं। इनके ऊपर और नीचे के सिरे ऊर्ध्व और अध सधियाँ वनाते हैं। इन सधियो पर गति वहुत ही कम मात्रा में सभव है। अतर्जंघिका भीतर की ओर अधिक स्थूल और पुष्ट अस्थि है। वहिर्जंघिका वाहर की ओर एक पतली कमठी जैसी

होती है। वहिर्जंघिका का ऊपर का सिरा जानुसंधि तक नही पहुँचता। दोनो अस्थियो के नीचे के सिरे एक चाप बनाते है। यह चाप गुल्फिका (टार्सस) की टेलस अस्थि के साथ संधि बनाता है जिसे टखना कहते है। वहिर्जंघिका का नीचे का सिरा अंतर्जंघिका के नीचे के सिरे से लगभग आधा इंच नीचा रहता है (चित्र २०)।

चित्र २० अंतर्जंघिका और वहिर्जंघिका (सामने से)

१ अंतर्जंघिका, २ तथा ३ ऊपर के सिरे, ४ वहिर्जंघिका ५ नीचे के सिरे।

पादास्थियाँ—प्रपटोपास्थि मे सात अस्थियाँ होती है। ये मणिवंधास्थि की अस्थियो से वडी होती है। सबसे ऊपरवाली अस्थि का नाम टेलस है। टेलस के नीचे प्रगुल्फास्थि (कैलकेनियम) होती है, जो प्रपटोपास्थि की सबसे वडी अस्थि है। प्रगुल्फास्थि का पिछला सिरा एडी के नीचे रहता है। टेलस के आगे नौकाकार (नैवीक्युलर) अस्थि है जो टेलस के तिरछी होने के कारण पैर के भीतर की ओर रहती है। नैवीकुलर के आगे तीन स्फान (क्यूनीफॉर्म, Cuneiform) अस्थियाँ होती है। अँगूठे की ओर की तीन पादशलाकाएँ तीनो स्फानास्थियो (क्यूनीफॉर्म) से संधित होती है। पैर के वाहर की ओर प्रगुल्फास्थि के आगे घनास्थि (क्यूबॉयड अस्थि) रहती है। घनास्थि चौथी और पाँचवी पादशलाकाओ से संधित होती है।

तलवे के भीतर और वाहर की ओर मुडने की गति उस संधि पर होती है जो टेलस, प्रगुल्फास्थि और नौकाकार अस्थियो से मिलकर बनती है।

पैर के अग्रभाग मे पाँच पादशलाकाएँ रहती है। पहली पादशलाका दूसरो की अपेक्षा अधिक पुष्ट होती है। यद्यपि इसकी तुलना पहली करभास्थि (मैटाकार्पल) से की जा सकती है, तथापि यह दूसरी पादशलाकाओ से इस प्रकार जुडी रहती है कि स्वतंत्र रूप से इसमे कुछ भी गति शक्य नही
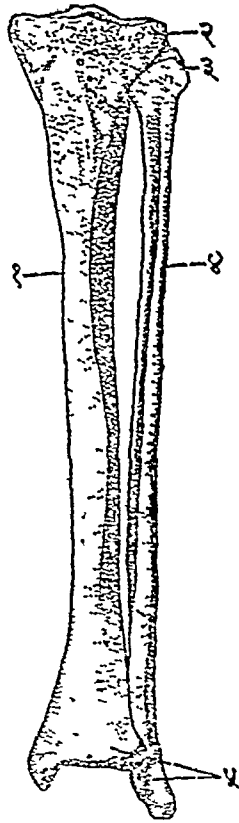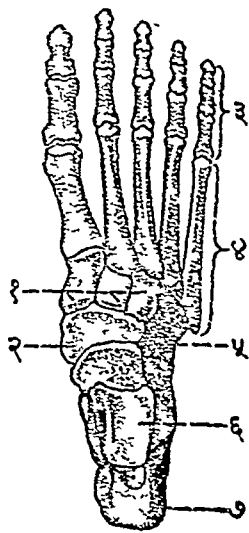
चित्र २१. पाद की अस्थियाँ (ऊपर से)

१ क्यूनीफॉर्म, २ नैवीक्युलर, ३ अंगुलास्थियाँ, ४ पादशलाकाएँ, ५ क्यूबॉएड, ६ टेलस, ७ कैलकेनियम।

होती। दो छोटी छोटी स्नायुजात अस्थियाँ (सेसामॉयड्स, Sesamoids) पहली पादशलाका के अगले सिरे के नीचे रहती है।

पैर की अंगुल्यस्थियाँ हाथ की भाँति ही होती है, परंतु आकार मे पैर के अँगूठे की दो अंगुल्यस्थियाँ, हाथ के अँगूठे से वडी और शेष अंगुल्यस्थियाँ, जो प्रत्येक अँगुली मे तीन होती है, हाथ की अंगुल्यस्थियो की अपेक्षा छोटी और पतली होती है (चित्र २१)। [ध० कु०]

कंक्रीट अग्रलिखित पदार्थो का मिश्रण है (१) कोई अक्रियाशील पदार्थ, जैसे टूटा पत्थर या ईंट (गिट्टी), वडी वजरी, छाई (मशीन की राख, सिंडर) अथवा मशीन से निकला झावाँ, (२) वालू या पत्थर का चूरा या पिसी ईंट (सुरखी), (३) पूर्वोक्त पदार्थो को जोडने के लिये कोई पदार्थ, जैसे सीमेंट अथवा चूना, और (४) आवश्यकतानुसार पानी। इस मिश्रण को जब अच्छी तरह मिला दिया जाता है और केवल इतना ढीला रखा जाता है कि गड्ढे या साँचे के कोने कोने तक पहुँच सके तब यह किसी भी आकृति के गड्ढे अथवा खोखले स्थान मे, जैसे नीव मे अथवा मेहराव की वगल मे, भरा जा सकता है। कुछ समय मे यह पत्थर जैसा कडा हो जाता है। कंक्रीट का उपयोग २००० ई० पूर्व से होता आ रहा है। कंक्रीट के गुण उन पदार्थो पर निर्भर होते है जिनसे वह वनाया जाता है, परंतु प्रधानत वे उस पदार्थ पर निर्भर रहते है जो पत्थर, गिट्टी आदि को परस्पर चिपकाने के लिये प्रयुक्त होता है। १९वी शताब्दी मे पोर्टलैंड सीमेंट के आविष्कार के पहले इस काम के लिये केवल चूना उपलब्ध था, परंतु अब चूने के कंक्रीट का उपयोग केवल वही होता है जहाँ अधिक पुष्टता की आवश्यकता नही रहती। अधिक पुष्टता के लिये सीमेंट कंक्रीट का उपयोग होता है। सीमेंट कंक्रीट को इस्पात से दृढ करके उन स्थानो मे भी प्रयुक्त किया जा सकता है जहाँ लपने या मुडने की संभावना रहती है, जैसे धरनो अथवा स्तंभो मे। चूने की कंक्रीट के लिये देखे **चूना**।

सीमेंट कंक्रीट—यह सीमेंट, पानी, वालू और पत्थर या ईंट की गिट्टी अथवा वडी वजरी या झावाँ से बनता है और भवननिर्माण मे अधिक काम मे आता है। जैसा ऊपर वताया गया है, जब ये पदार्थ भली भाँति मिला दिए जाते है तब उनसे कुम्हार की मिट्टी की तरह प्लैस्टिक पदार्थ बनता है, जो धीरे धीरे पत्थर की तरह कडा हो जाता है। यह कृत्रिम पत्थर प्रकृति मे मिलनेवाले कांग्लोमरेट नामक पत्थर के स्वभाव का होता है। भवननिर्माण मे सीमेंट कंक्रीट के इस गुण के कारण यह वडी सुगमता से किसी भी स्थान मे ढाला जा सकता है और इसको कोई भी वांछित रूप दिया जा सकता है। इसके लिये आवश्यक पदार्थ प्राय सभी स्थानो मे उपलब्ध रहते है, परंतु सर्वोत्तम परिणाम के लिये कंक्रीट को मिलाने और ढालने का काम प्रशिक्षित मजदूरो को सौंपना चाहिए। कंक्रीट की पुष्टता उसके अवयवो के अनुपात और उनको मिलाने के ढंग पर निर्भर रहती है।

इंजीनियरी और भवननिर्माण मे इसके प्राय असंख्य प्रकार के उपयोग हो सकते है, जिनमे भारी नीवे, पुश्ते, नौस्थान (डॉक, dock) की भित्तियाँ, तरंगो से रक्षा के लिये समुद्र में वनी दीवारे, पुल, उद्रोध इत्यादि वृहत्काय संरचनाएँ भी संमिलित है। इस्पात से प्रवलित (रिइन्फोर्स्ड, reinforced) कंक्रीट के रूप मे यह अनेक अन्य संरचनाओ के लिये प्रयुक्त होता है, जैसे फर्श, छत, मेहराव, पानी की टंकियाँ, अट्टालिकाएँ, पुल के वडे पीपे (पाटून, pontoon), घाट, नरम भूमि मे नीव के नीचे ठोके जानेवाले खूँटे, जहाजो के लिये समुद्री घाट, तथा अनेक अन्य रचनाएँ। टिकाऊपन, पुष्टता, सौंदर्य, अग्नि के प्रति सहनशीलता, सस्तापन इत्यादि ऐसे गुण है जिनके कारण भवननिर्माण मे कंक्रीट अधिकाधिक लोकप्रिय होता जा रहा है और इनके कारण भवन-निर्माण मे प्रयुक्त होनेवाले पहले के कई अन्य पदार्थ हटते जा रहे है।

गिट्टी और वालू—पत्थर या ईंट के छोटे छोटे टुकडो को गिट्टी कहते है। गिट्टी के वदले वडी वजरी आदि का भी उपयोग हो सकता है, अत उनको भी हम यहाँ गिट्टी के अंतर्गत मानेगे। गिट्टी और वालू दोनो के संमिलित रूप को अभिसमूह (ऐग्रिगेट) कहते है। नाप के अनुसार गिट्टी के निम्नलिखित वर्ग है

(क) दानवी (साइक्लोपियन), जब नाप ७ ५ से १५ सेंटीमीटर तक (३ से ६ इंच तक) होती है,

(ख) मोटी गिट्टी, ० ५ से ७ ५ सेंटीमीटर तक ($\frac{3}{16}$ से ३ इंच तक),

(ग) महीन, ० १५से ५ मिलीमीटर तक (० ००५९से $\frac{3}{16}$ इंच तक)।

मिट्टी की नाप बताने के लिये "सूक्ष्मता-मापाक" (फाइननेस मॉड्युलस, Fineness modulus) का प्रयोग किया जाता है। नापने के लिये दस प्रामाणिक चलनियाँ रहती हैं जिनकी जाली की नापें निम्नलिखित होती हैं

३ इच, १½ इच, ¾ इच, ⅜ इच, $\frac{3}{16}$ इच, २ ४१ मिलीमीटर, १ २०४ मिलीमीटर, ० ५९९ मिलीमीटर, ० २९५ मिलीमीटर और ० १५२ मिलीमीटर। २ ४१ मिलीमीटर वाली चलनी को नवर ७ चलनी तथा उसके वाद की चलनियो को क्रमानुसार नवर १४, नवर २५, नवर ५२ और नवर १०० भी कहते हैं।

सूक्ष्मता मापाक प्राप्त करने के लिये माल को इन चलनियो से क्रमानुसार चाला जाता है। माल की तौल के अनुसार इन चलनियो पर जितना जितना प्रति शत वचा रह जाता है उनके योगफल को १०० से भाग दे दिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त लब्धि को सूक्ष्मता मापाक कहते हैं।

कक्रीट के लिये सूक्ष्म मिलावे (वालू या सुर्खी) का सूक्ष्मता मापाक २ और ३ के वीच होना चाहिए और मोटे मिलावे (गिट्टी) का ५ और ८ के वीच।

सूक्ष्म मिलावे (वालू इत्यादि) का ९० प्रति शत अश ३/१६ इच की जाली से पार हो जाना चाहिए और १०० नवरवाली जाली पर ८५ प्रति शत से कम नही पडा रहना चाहिए (अर्थात् वालू मे धूलि आदि वहुत न हो)। सूक्ष्म मिलावे के लिये नदी या समुद्र की वालू, अथवा पत्थर की खान से निकला चूरा पीसकर प्रयुक्त किया जाता है। प्राकृतिक अथवा पिसी वजरी मे मिट्टी, तलछट और धूलि तौल के अनुसार ३ प्रति शत से अधिक नही होनी चाहिए तथा चूर्ण किए गए पत्थर मे १० प्रति शत से अधिक धूलि आदि न होनी चाहिए। वालू आदि को घास पात आदि प्राणिज (ऑर्गैनिक, organic) अशुद्धियो से मुक्त होना चाहिए।

मोटे मिलावे (गिट्टी) के कम से कम ९५ प्रति शत को ३ इचवाली चलनी से पार हो जाना चाहिए और कम से कम ९० प्रति शत को $\frac{3}{16}$ इच वाली चलनी पर पडा रहना चाहिए। तोडा गया पत्थर, तोडी गई ईट, चूर किया गया पत्थर, झावाँ अथवा छाई, ये सब मोटे मिलावे के लिये काम मे लाई जा सकती हैं। छाई और कोक हलके कक्रीट के लिये उपयोगी हैं, परतु भारी और पुष्ट काम के लिये चूने का पत्थर, ग्रैनाइट, नाइस, ट्रैप अथवा कडा वलुआ पत्थर काम में लाया जाता है। चिपकानेवाले पदार्थ (सीमेट) से कमजोर पडनेवाले नरम पत्थर का प्रयोग नही करना चाहिए।

गिट्टी कुछ गोलाकार हो, रुक्ष हो, उससे चिप्पड न छूटे और तोडने मे पुष्ट हो। तौल के अनुसार गिट्टी पाँच प्रति शत से अधिक पानी न सोखे। उसमे यथासभव मिट्टी न हो और प्राणिज (ऑर्गैनिक) पदार्थ (जैसे घास, काई इत्यादि) न हो।

सीमेंट—यो तो कार्य और आवश्यकता के अनुसार कई प्रकार के सीमेटो का व्यवहार किया जाता है, परतु साधारण काम के लिये अधिकतर पोर्टलैंड सीमेट काम मे लाया जाता है। यह प्रधानत ट्राइकैल्सियम सिलिकेट, डाइकैल्सियम सिलिकेट, ट्राइकैल्सियम ऐल्युमिनेट और जिपसम का मिश्रण होता है। पानी मिलाने के वाद सवसे पहले पुष्टता ऐल्युमिनेटो और ट्राइकैल्सियम सिलिकेट से आती है, क्योकि पानी का शोपण करते समय उनके कारण अधिक गरमी उत्पन्न होती है। सारणी १ मे विविध सीमेटो से वनी कक्रीट की पुष्टता कक्रीट की आयु के अनुसार दिखाई गई है। काम मे लाने के पहले सीमेंट को सूखे स्थान मे रखना चाहिए अन्यथा आर्द्रता से सीमेंट खराव हो जायगा। नम स्थान मे रखने से जो सीमेंट कडा हो जाता है वह किसी काम का नही रहता। कभी कभी, जव सीमेंट की वोरियाँ एक के ऊपर एक वहुत ऊँचाई तक लदी रहती हैं तव नीचे का सीमेंट अधिक दाव के कारण भी वँध जाता है, परतु यह सीमेंट खराव नही रहता और कक्रीट वनाते समय सरलतापूर्वक अन्य पदार्थो के साथ मिल जाता है।

कडा होने का प्रारभिक समय ३० मिनट से कम नही होना चाहिए। कक्रीट को सानने के वाद ३० मिनट के भीतर ही अपने स्थान में ढाल देना चाहिए। कडा होने का अतिम समय १० घटे से कम न होना चाहिए। सात दिन के वाद परीक्षा लेने पर दाव और तनाव मे सीमेंट की पुष्टता क्रमानुसार २,५०० पाउड प्रति वर्ग इच और ३७५ पाउड प्रति वर्ग इच से कम न होनी चाहिए। १७० नवर की चलनी से सीमेंट के ९० प्रति शत से अधिक अश को पार हो जाना चाहिए और एक ग्राम सीमेंट के कणो का समिलित क्षेत्रफल २,२५० वर्ग सेंटीमीटर से कम न होना चाहिए।
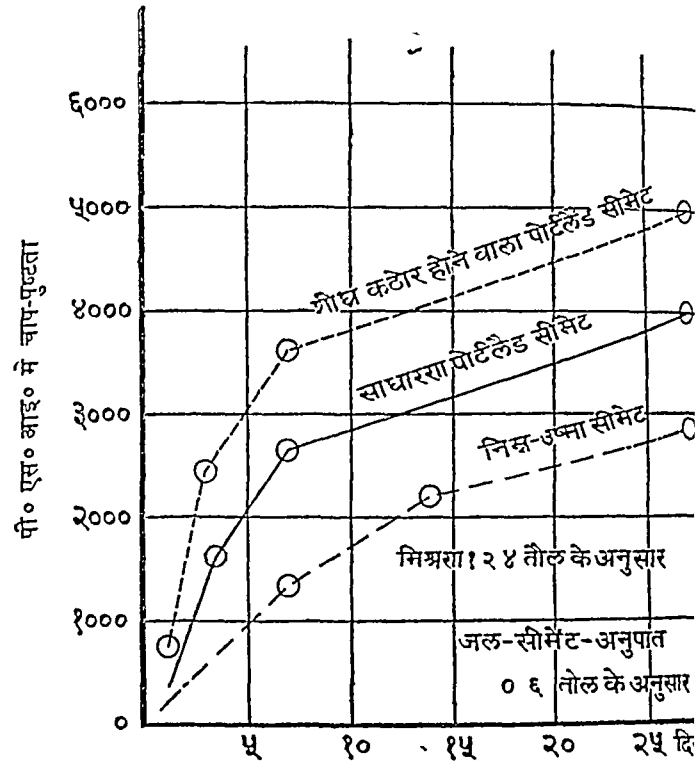
चित्र १ कक्रीट की आयु-पुष्टता-वक्ररेखा

पानी—पानी स्वच्छ हो, उसमें प्राणिज पदार्थ, अम्ल, क्षार और कोई भी अन्य हानिकारक पदार्थ न होना चाहिए। सक्षेप मे, जो जल पीने योग्य होता है वही कक्रीट वनाने के भी योग्य होता है।

पदार्थो की नाप—कक्रीट वनाने मे विविध पदार्थो को ठीक ठीक नापना वहुत महत्वपूर्ण है। जव पदार्थो को आयतन के अनुसार नापकर मिलाया जाता है तव नापनेवाला वरतन छोटा वडा होने से अतिम नाप में अतर पड जाता है। पदार्थ किस प्रकार उठाकर वरतन मे डाला जाता है और वरतन को अत मे कैसे भरा जाता है, इसका प्रभाव भी अतिम नाप पर पडता है। फिर, मिलावे की किस्म और उसकी आर्द्रता का भी प्रभाव पडता है। महीन मिलावे (वालू आदि) मे ३ ५ प्रति शत आर्द्रता रहने पर आयतन लगभग २५ प्रति शत अधिक हो जाता है। मिलावा जितना ही अधिक महीन होगा, आर्द्रता से आयतन उतना ही अधिक वढेगा। आर्द्रता से आयतन का वढना चित्र २ में दिखाया गया है।
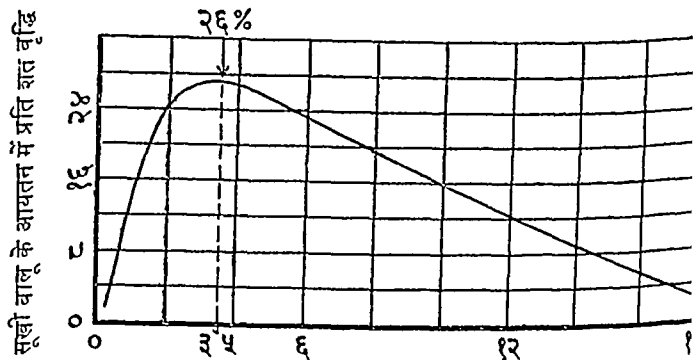
चित्र २ वालू का फूलना

कंक्रीट (देखे पृष्ठ २८९)
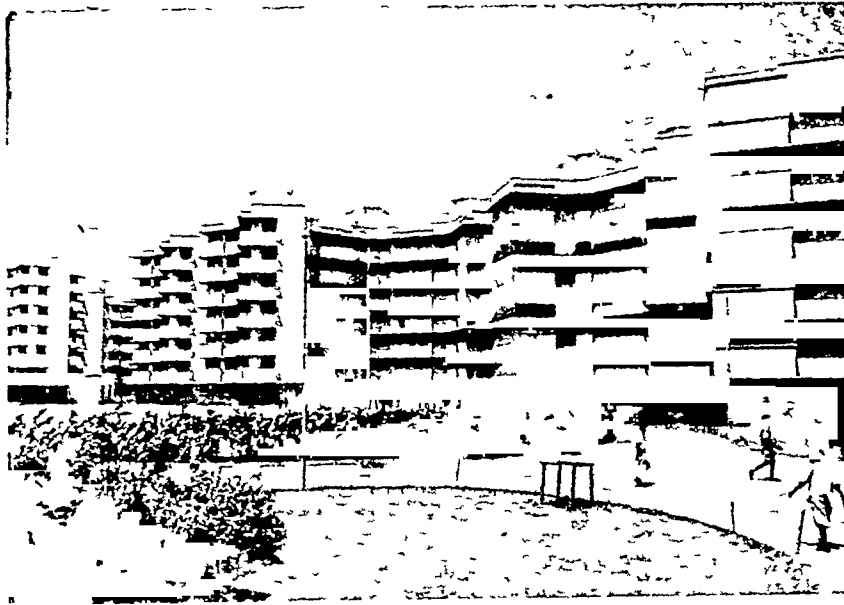
आधुनिक आवास भवन

ये बॉम्बे सेंट्रल स्टेशन के पास स्थित रिजर्व बैंक के कर्मचारियो के रहने के लिये बनाए गए है।
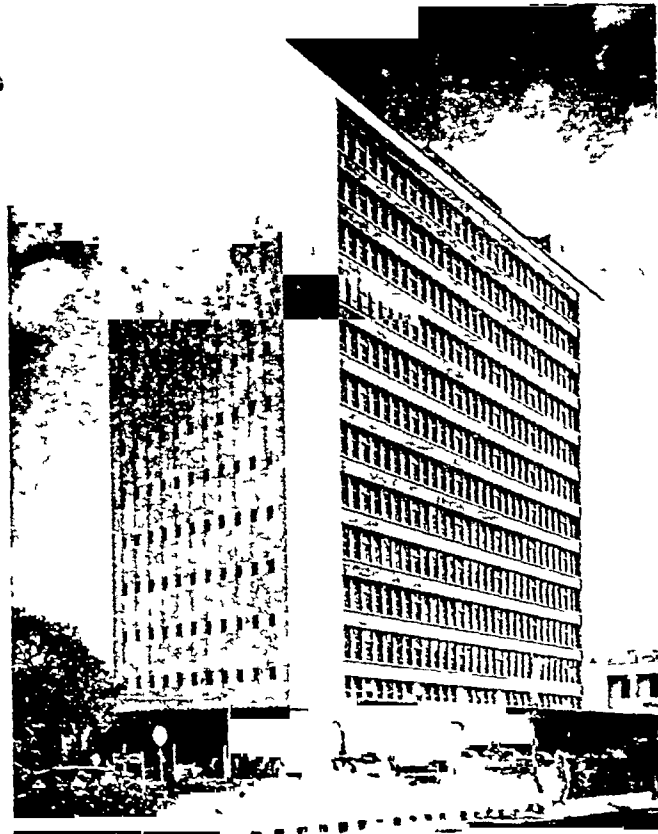
मद्रास का एक विशिष्ट भवन

१७६ फुट ऊँचे पूर्व प्रतिबलित कंक्रीट के इस भवन मे लाइफ इंश्योरेंस कॉर्पोरेशन ऑव इंडिया का कार्यालय है। (ऐसोशिएटेड सीमेंट क० लि०, मुंबई, के सौजन्य से प्राप्त)।

कंक्रीट (देखें पृष्ठ २८६)

ऐसोशिएटेड सीमेंट क० लि० का भवन, मुंबई
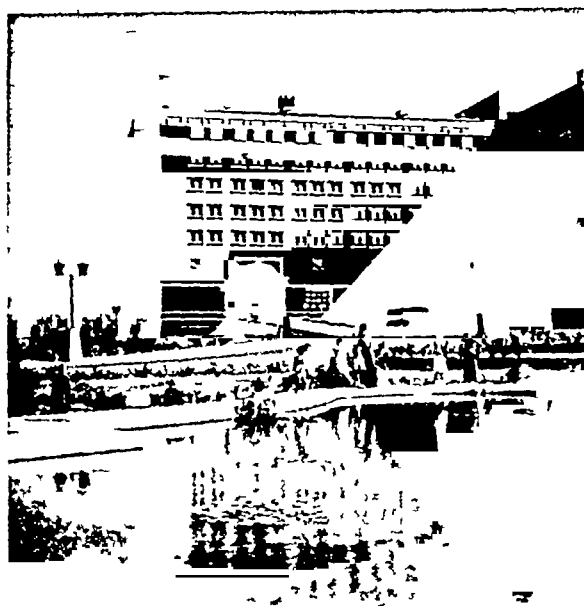
अशोक होटल, दिल्ली

(ऐसोसिएटेड सीमेंट क० लि०, मुंबई, के सौजन्य से प्राप्त)।

[अत अच्छे काम मे पदार्थों को तौलकर मिलाना चाहिए। परतु साधारणत निर्माण कार्यो मे पदार्थों की नाप आयतन से होती है। अत उन सभी बातो पर ध्यान रखना अत्यत आवश्यक है जिनसे आयतन घटता बढता है। सीमेंट की प्रत्येक बोरी के लिये आवश्यक पानी की मात्रा साधारणत गैलनो मे बताई जाती है।

सीमेंट कक्रीट के अवयव—कक्रीट के अवयवो का अनुपात अच्छी सुकरता, पुष्टता, टिकाऊपन और सस्तेपन के विचार से रखा जाता है।

सुकरता (वर्केबिलिटी, workability) का अनुमान इस बात से किया जाता है कि कक्रीट के मिलाने, ढालने, और ढालने के बाद कूटने में कितना समय लगता है। सुकरता जल की मात्रा, गिट्टी की नाप और मोटे तथा महीन मिलावे के अनुपात पर निर्भर रहती है। जल और महीन मिलावा बढाने से सुकरता बढती है। सुकरता नापने की कई रीतियाँ है परतु अधिक उपयोग अवपात (स्लप, slump) रीति का ही होता है। इस रीति का वर्णन नीचे किया जाता है

ताजा बने कक्रीट को पेंदी रहित बालटी मे डालते है जिसकी आकृति शकु के छिन्नक (फस्टम) की भाँति होती है। ऊपर का व्यास ५ इच तथा नीचे का ८ इच होता है और ऊँचाई १२ इच होती है। कक्रीट को इस बरतन मे भरकर कूटने के बाद, बरतन को उठा लिया जाता है। तब कक्रीट कुछ बैठ जाता है, जैसा चित्र ३ मे दिखाया गया है। कक्रीट का
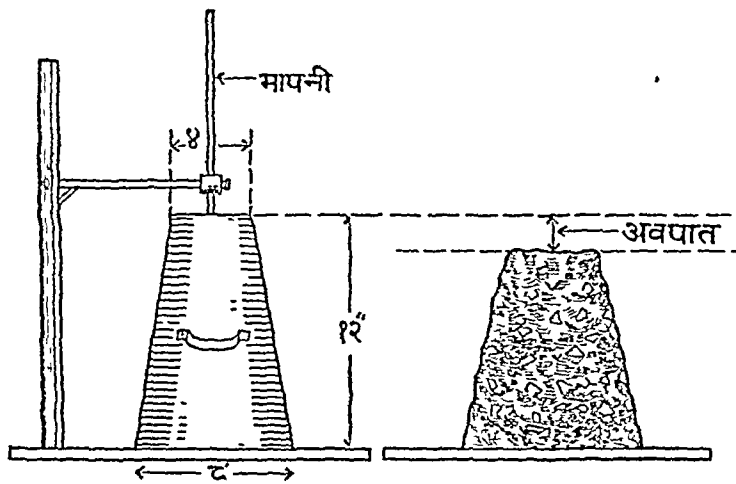
चित्र ३ कक्रीट का अवपात

माथा जितने इच नीचे धँसता है उतना ही अवपात (स्लप) कहलाता है। अवपात जितना ही अधिक होगा, सुकरता भी उतनी ही अधिक होगी। सडक बनाने के लिये १ इच के कक्रीट का अवपात ठीक रहता है। छत, धरन (बीम, beam) इत्यादि मे अवपात १½ इच से २ इच तक होना चाहिए। खभो और उन पतली दीवारो के लिये जो कमरो को दो या अधिक खडो मे बाँटने के लिये खडी की जाती है, अवपात को ४ इच तक बढाना पडता है, जिसमें कक्रीट फैलकर सब जगह पहुँच जाय और कही पोलापन न रह जाय।

कक्रीट की पुष्टता (स्ट्रेग्थ, strength), सीमेंट के गुण, जल और सीमेंट के अनुपात और सघनता की मात्रा पर निर्भर होती है। यदि सीमेंट वही रहे और गिट्टी तथा बालू इस प्रकार से विविध नापो के रहे कि पूर्ण सघनता प्राप्त हो तो कक्रीट की पुष्टता जल और सीमेंट के अनुपात पर निर्भर रहेगी। चित्र ४ मे जल तथा सीमेंट के अनुपात और पुष्टता का सबध दिखाया गया है। इसे देखते ही पता चलता है कि जल और सीमेंट का अनुपात बढने से, अर्थात् अधिक जल मिलाने से, पुष्टता घटती है, परतु स्मरण रहे कि पानी की मात्रा एक निश्चित सीमा से कम नहीं की जा सकती। रासायनिक क्रिया पूरी होने के लिये जल की मात्रा सीमेंट की मात्रा की कम से कम ० २५ होनी चाहिए, परतु सुकरता के लिये और कक्रीट को कूटकर सघन बना सकने के लिये इससे अधिक पानी की आवश्यकता पडती है। ० ३५ से कम अनुपात में पानी मिलाकर बनाया गया मिश्रण प्राय इतना खर्रा (सूखा) होता है कि उससे काम नहीं किया जा सकता
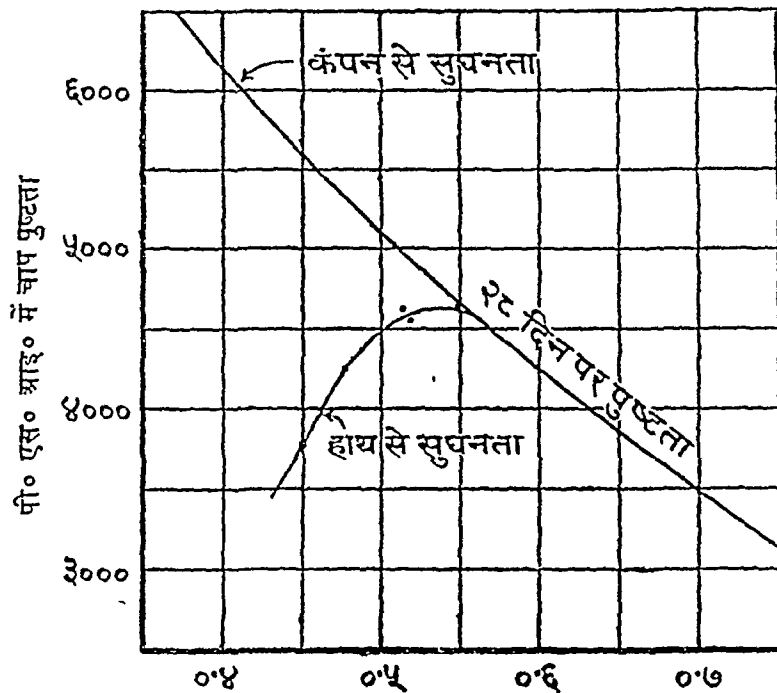
चित्र ४ जल तथा सीमेंट के अनुपात तथा पुष्टता का सबध

कक्रीट का टिकाऊपन प्रधानत उसकी सघनता पर निर्भर रहता है। कक्रीट में जितने ही कम रध्र रहते है, उसमे उतना ही कम क्षारीय जल अथवा अन्य हानिकर पदार्थ घुल पाते है, इसलिय उसमे उतना ही कम क्षय होता है। सघनता प्राप्त करने के लिये यथासभव कम पानी डालना चाहिए और गिट्टी के रोडो की नाप तथा बालू का प्रकार और उसकी मात्रा ऐसी होनी चाहिए कि कक्रीट मे रिक्त स्थान न छूटने पाए।

मितव्ययता या सस्तेपन के लिये यह आवश्यक है कि सीमेंट कम से कम पडे और मिलाने, ढालने तथा कूटने मे परिश्रम न्यूनतम लगे। एतदर्थ इसका ध्यान रखना चाहिए कि आवश्यक सुकरता के लिये जितना न्यूनतम जल अपेक्षित हो उससे अधिक न छोडा जाय।

इन सब बातो पर विचार करने से स्पष्ट है कि हमे पहले ऐसा जल-सीमेंट-अनुपात चुनना चाहिए कि आवश्यक पुष्टता मिले और तब महीन और मोटे मिलावे के अवयवो को इस अनुपात मे रखना चाहिए कि अच्छी सुकरता और पूर्ण सघनता के लिये उसमे न्यूनतम मात्रा मे जल और सीमेंट का मिश्रण डालना पडे। पूर्ण सघनता का अर्थ यह है कि मिलावे (गिट्टी-बालू) के कणो के बीच के समस्त रिक्त स्थान जल-सीमेंट-मिश्रण से भर उठे और वायु के बुलबुले कही न रहे।

मिलावे के विविध पदार्थों को नाप के अनुसार उचित अनुपात मे मिलाना अत्यत महत्वपूर्ण है। इससे केवल पुष्टता ही नही बढती, सुकरता भी बढती है। उचित रीति से श्रेणीबद्ध गिट्टी-बालू में सभी नापो के कण इस प्रकार रहते है कि बडे कणो के बीच के रिक्त स्थान छोटे कणो से भर जाते है और इन छोटे कणो के बीच के रिक्त स्थान उनसे भी छोटे कणो से भर जाते हैं, इत्यादि। यदि ऐसा न हुआ तो सब रिक्त स्थानो को जल-सीमेंट-मिश्रण से भरना पडेगा। इसलिये कक्रीट की चरम सघनता के निमित्त मिलनेवाले मिलावे की गिट्टी और बालू को इस प्रकार उचित रीति से श्रेणीबद्ध किया जाता है कि मिलावे मे कम से कम रिक्तता हो जाय। कुछ महत्वपूर्ण कामो मे सस्तेपन के लिये अतर-श्रेणीकरण (गैप ग्रेडिंग) की रीति बरती जाती है। इसमे ब्रिटिश स्टैंडर्ड नबर ⅜ से ७ की चलनी तक की बजरी को मिलावे में समिलित नही किया जाता।

आवश्यक मात्राओ का अनुमान—साधारणत कक्रीट का मिश्रण सीमेंट, बालू और गिट्टी के आयतनो के अनुपात के अनुसार तैयार किया जाता है। कभी कभी सीमेंट की मात्रा बताने के लिये बोरियो की सख्या

वताई जाती है। प्रत्येक वोरी मे ११२ पाउड या १ २५ घन फुट सीमेट रहता है। इस प्रकार १ २ ४ के कक्रीट मिश्रण का अर्थ है १ घन फुट सीमेट (जिसकी तौल प्रति घनफुट ९० पाउड होती है), २ घनफुट वालू (अथवा अन्य महीन मिलावा) और ४ घन फुट गिट्टी। मिश्रण में औसत से ६६% से ७८% मिलावा ७% से १४% सीमेंट और १५% से २२% पानी होता है। इस प्रकार १०० घन फुट तैयार (सघन किए गए) कक्रीट के लिये कुल मिलाकर लगभग १५५ घन फुट सूखे पदार्थ की आवश्यकता पडती है।

कक्रीट का मिलाना--यह महत्वपूर्ण है कि सव पदार्थ अच्छी तरह मिल जायँ जिसमे सर्वत्र एक समान की सरचना रहे। जव कभी अधिक कक्रीट की आवश्यकता होती है तव उसे हाथ से मिलाना कठिन होता है इसलिये मशीन का प्रयोग किया जाता है। ऐसी मशीन मे एक वडा सा ढोल रहता है जिस के भीतर पखे लगे रहते है। ढोल को इजन से घुमाया जाता है और भीतर सीमेंट, वालू, गिट्टी और पानी नापकर डाल दिया जाता है। शीघ्र ही अच्छा मिश्रण तैयार हो जाता है।

कक्रीट को ढालना और कूटना--मिश्रण तैयार होने के वाद कक्रीट को चटपट ढालना और सघन करना चाहिए। पानी डालने के क्षण से इस क्रिया के अत तक कुल ३० मिनट से कम समय लगना चाहिए। इसपर भी इसका ध्यान रखना चाहिए कि ढालते समय कक्रीट के मिश्रण का कोई अवयव अशत अलग न होने पाए। इसका तात्पर्य यह है कि कक्रीट वहुत ऊँचे से नही गिराया जाना चाहिए।

कक्रीट की कुटाई लोहे के छडो से करनी चाहिए और इस प्रक्रिया मे छडो को कुछ दूर तक कक्रीट मे घुस जाना चाहिए। जव मिश्रण इतना सूखा रहता है कि इस विधि का प्रयोग नही किया जा सकता तो कपनकारी यत्रो का प्रयोग किया जाता है जिसमें पूरी सघनता आ सके। सपाट (चौरस) सतहो के लिये ऐसे कपनकारियों का प्रयोग किया जाता है जो सतह के ऊपर रखे जाते है, परतु धरनो और दीवारो के लिये कक्रीट के भीतर डाले जानेवाले कपनकारियो से काम लिया जाता है। किंतु यदि कक्रीट के भीतर कपनकारी को डालने की सुविधा भी न हो तो ऐसे वाहरी कपनकारियो का उपयोग किया जाता है जो साँचे को हिलाते है और इस प्रकार कक्रीट सघन हो जाता है।

कम कुटाई तो हानिकारक है ही, परतु कुटाई या कपन की अधिकता भी हानिकर हो सकती है, क्योकि इससे कक्रीट के अवयव अलग होने लगते हैं और उसमें मधुमक्खी के छत्ते की तरह रिक्त स्थान वन जाने की सभावना रहती है। अत यह चेतावनी देना उचित होगा कि पूर्ण सघनता के वदले केवल ८५ प्रति शत सघनता उत्पन्न की जाय तो पुष्टता पूर्ण सघन कक्रीट की कुल १५ प्रति शत ही उत्पन्न होगी।

कक्रीट को परिपक्व करना--जव तक कक्रीट कडा होता रहता है तव तक उसे आर्द्र रखना चाहिए। इस क्रिया को परिपक्वीकरण (पक्का करना) कहते हैं। यह अत्यत महत्वपूर्ण है कि कडा होने की क्रिया मे जितना पानी सीमेट के रासायनिक सयोग के लिये आवश्यक है, उतना उसे मिलता रहे। यदि कक्रीट को ठीक प्रकार से परिपक्व न किया जाय तो पुष्टता वहुत कम हो जाती है। कक्रीट की पुष्टता का अधिकाश दो तीन सप्ताहो मे उत्पन्न होता है, अतएव इतने ही समय तक कक्रीट को आर्द्र रखना आवश्यक है। यदि इस समय मे कक्रीट सूखे वातावरण मे रहता है तो उसमे अधिक सकोच हो जाता है और परिणामत वह फट जाता है।

यदि ताप अधिक हो तो कक्रीट की पुष्टता कम समय मे आती है। इसलिये जाडे की अपेक्षा गरमी के दिनो में साँचा कम समय मे हटाया जा सकता है। यदि कक्रीट को वहुत शीघ्र परिपक्व करना रहता है तो कक्रीट को भाप से तप्त किया जाता है। वहुधा सडक वनाने में ऐसा करना पडता है, क्योकि सडको को दो तीन सप्ताह तक वद रखने मे असुविधा होती है।

कक्रीट के गुण--निम्नलिखित सारणी में विविध सरचनाओ के कक्रीट और उनके गुण दिखाए गए है

मिश्रण	२८ दिन वाद सपीडन क्षमता, पाउड प्रति वर्ग इच	प्रयोग
१ २ ४	२,२५०	प्रवलित (रिइन्फोर्स्ड) काम में।
१ १½ ३	२,८५०	मेहराव, स्तभ, पानी की टकियो और पानी के अन्य कामो में।
१ १ २	३,४५०	पूर्व प्रतिवलित (प्रिस्ट्रेस्ड, prestressed) कक्रीट और ऐसी सरचनाओ में जहाँ विशेष पुष्टता की आवश्यकता होती है।

सादा कक्रीट--जो कक्रीट प्रवलित (रिइन्फोर्स्ड) नही रहता उसे सादा (प्लेन) कक्रीट कहते है। सावारण वोझवाली दीवारो की नीवो में साधारणत १ ३ ६ का सीमेट कक्रीट दिया जाता है। यदि भूमि कडी हो तो खभो की नीवो मे भी ऐसा ही कक्रीट दिया जा सकता है। तनाव में ऐसा कक्रीट वहुत पुष्ट नही होता और जव किसी भाग में तनाव पडने की आशका रहती है तव उसे इस्पात के छडो से प्रवलित करना आवश्यक होता है।

विपुल कक्रीट--जव वहुत वडे आयतनवाला, कक्रीट का कोई काम वनता है, जैसे उद्रोध (डैम), पुश्ता (रिटेनिंग वाल), भारी काम होनेवाले कारखाने का फर्श, इत्यादि तव सुभीते के लिये उसे विपुल कक्रीट (मास कक्रीट) कहा जाता है। जवकभी वहुत सा कक्रीट एक साथ ढाला जाता है तव सीमेट के जल सोखने से वडी गरमी उत्पन्न होती है। पीछे जव कक्रीट ठढा होता है तव भीतरी तनाव वहुत हो जाता है और कक्रीट चटख जाता है। इसलिये उद्रोध आदि वनाने मे गिट्टी और वालू को पहले से खूव ठढा कर लिया जाता है और कक्रीट मे नल (पाइप) लगा दिए जाते हैं, जिनमें ठढा पानी प्रवाहित किया जाता है। इससे ताप वढने नही पाता। विपुल कक्रीट के लिये वडी नाप की गिट्टियो का उपयोग किया जाता है जो व्यास मे ६ इच तक की होती है। इससे पानी कम खर्च होता है और यदि जल-सीमेंट-अनुपात न वदला जाय तो सीमेट भी कम खर्च होता है। फलत वचत होती है। साथ ही, कक्रीट का घनत्व भी वढ जाता है। यह गुरुत्व-उद्रोध और वडी टकियो के फर्श के लिये महत्वपूर्ण होता है, क्योकि ये अपनी स्थिरता के लिये अपने ही भार पर निर्भर रहते है।

स० ग्र०--ई० ई० वावर प्लेन कक्रीट (न्यूयार्क, १९४९), एल० सी० अरकर्ट तथा सी० ई० ओरूर्क डिजाइन ऑव कक्रीट स्ट्रक्चर्स (न्यूयार्क, १९५१), ओ० फेवर तथा एच० एल० चाइल्ड दि कक्रीट ईयर वुक (१९५१)। [ज० कृ०]

कंक्रीट की सड़क

भुवनादि के निर्माण मे कक्रीट की विशेषता यह है कि जव यह सुघट्यावस्था मे रहता है तव यह किसी भी आकृति मे सुगमता से ढाला जा सकता है। अपने इसी गुण के कारण सडको के निर्माण तथा पुल, पुलिया, पुश्ता, दीवारो (रिटेनिंग वॉल, retaining wall) इत्यादि के निर्माण में इसका उपयोग अत्यधिक होता है।

सडको के फर्श वनाने मे कक्रीट का गुण यह है कि यह वहुत दिन तक चलता है, घिसता पिसता कम है, चिकना होता है एव गाडियो के चलने में वहुत कम अवरोध उत्पन्न करता है। इसकी मरम्मत मे वहुत कम पैसा लगता है। सडक दूर तक दिखाई पडती है। यदि कभी सडक को तोडना पडे तो पर्याप्त सामग्री उपलव्ध हो जाती है। कक्रीट की सडको का उपयोग करनेवालो को इसके चिकनेपन, घडघडाहट की कमी और धूल की अनुपस्थिति से सुविधा रहती है। कक्रीट की गीली सडको पर से फिसलने का डर भी अन्य प्रकार की सडको की अपेक्षा कम रहता है।

कंक्रीट की सडक (देखे पृष्ठ २६२)

वाराणसी—मुगलसराय सडक

ग्रैंड ट्रक रोड के ८ मील लबे इस भाग पर बनी कक्रीट की सडक ३४ वर्ष पश्चात् भी बहुत अच्छी अवस्था मे है।

मुम्बई–पूना मार्ग

इस ३० फुट चौडी सडक का ८० मील लम्बा भाग ५ इच मोटे कक्रीट का है।

कंक्रीट के पुल (देखें पृष्ठ २६३)

चूने के कंक्रीट का बना पुल

कागडा घाटी मे चक्की नदी पर बना एक सौ वर्ष पुराना यह पुल अभी तक बहुत अच्छी दशा मे है।
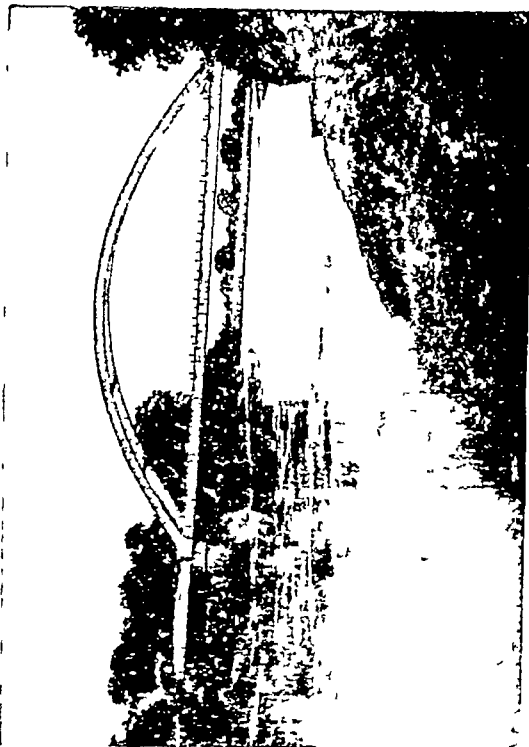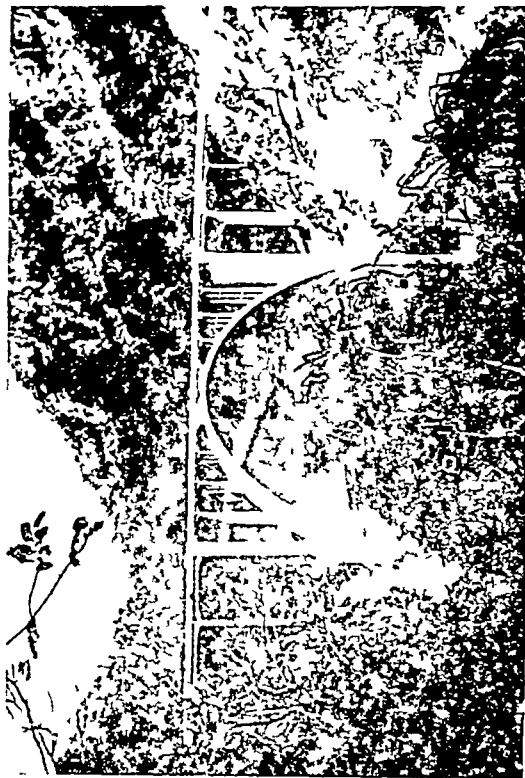
असाधारण ऊँची उठान का महराबदार पुल

१३२ फुट ऊँचा यह पुल पश्चिम बगाल मे तीस्ता नदी के ऊपर है। इसका चाप-विस्तार २७६ फुट है।

दुर्गावती पुल, विहार

इस पुल की कुल लवाई ३२६ फुट ६ इच है। धनुर्बंधक रूपी इसका एकमात्र धरन १६७ फुट ३ इच लबा है।
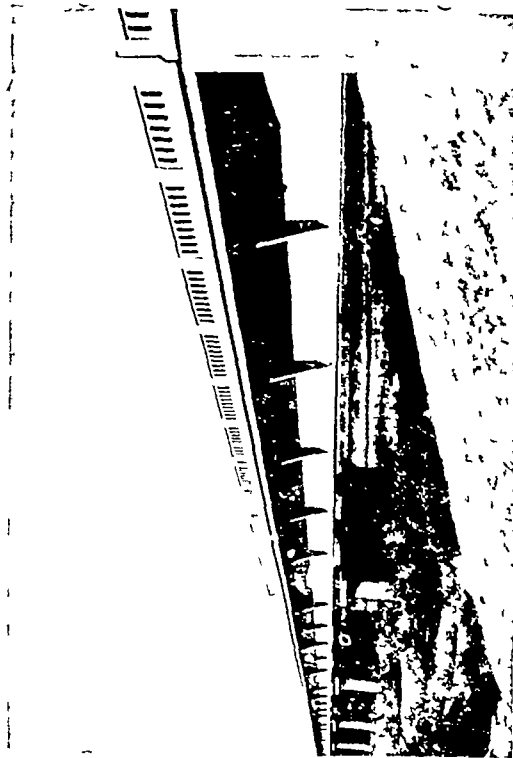
साबरमती पर रिंजा पुल

पूर्वदृढ़ पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट की धरनें १४० फुट दूर स्थित पायो पर रखी है।

आकल्पन—कक्रीट की सडकों का आकल्पन (डिजाइन, design) करते समय इसकी मोटाई, मधियो और लोहे की छडो से प्रवलन (रिइन्फो समेट, reinforcement) पर विशेष ध्यान देना पडता है। य सभी बातें स्थानीय दशाओ पर, जैसे मिट्टी, गाडियो के प्रकार और जलवायु पर, निर्भर है। कक्रीट की भिल्ली का ठीक आचरण कई एक बातो पर निर्भर करता है, यथा कक्रीट के अवयवो के गुण, कक्रीट के नीचे की मिट्टी, इसपर चलनेवाली गाडियो का भार और ऋतुओ की भिन्नता। कक्रीट की सपीडनक्षमता अपेक्षाकृत अधिक है, परतु तनाव मे यह दुर्बल पडता है, अत यह परमावश्यक है कि कक्रीट के नीचे की भूमि सर्वत्र समान रूप से ऊपर के बोझ को सँभाले। अन्य पदार्थो की तरह कक्रीट भी गर्मी मे फैलता और ठढ से सिकुडता है। कक्रीट की सिल्ली के ऊपरी और निचले पृष्ठो के तापो मे जो अतर प्रति दिन और ऋतुओ के अनुसार होता है उसके कारण सिल्ली मे ऐठन और मुडने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती रहती है। इन तथा अन्य जटिलताओ के कारण कक्रीट की सडक मे उत्पन्न होनेवाले बलो की सैद्धातिक गणना अति कठिन है। इसीलिये कक्रीट की सडको की अभिकल्पना साधारणत अनुभवप्राप्त सूत्रो से की जाती है।

कक्रीट की सडको को लोहे की छडो से साधारणत उनकी पुष्टता वढाने के लिये प्रवलित नही किया जाता। वरन्, इन छडो का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि सडके वहुत फटे नही और यदि फटे भी तो टुकडे परस्पर सटे रहे। सडको मे निर्वारित दूरियो पर आडी सधि देनी पडती है, लोहे की छडो का प्रयोग होने पर ये सधियाँ पर्याप्त दूर दूर रखी जा सकती है।

सधियाँ—कक्रीट मे जल की न्यूनाधिक मात्रा और उसके ताप मे घट वढ से उत्पन्न प्रसरण अथवा सिकुडन तथा ऐठन थोडी वहुत हो सके इसलिये सडको मे निर्वारित दूरी पर सधियाँ दे दी जाती है। सधियाँ प्रधानत तीन प्रकार की होती है प्रसरण सधियाँ, सिकुडन सधियाँ और लवाई के अनुदिश सधियाँ।

सौ से लेकर डेढ सौ फुट के अतर पर जो आडी सधियाँ दी जाती है, वे प्रसरण के लिये दी जाती है। साधारणत इन सधियो मे कोई सपीड्य (कप्रेसिवल, Compressible) पदार्थ इस प्रकार भर दिया जाता है कि ऊपर से पानी घुसने के लिये कोई मार्ग न रहे। सधि के एक पार से दूसरे पार, विना झटके के बोझ पहुँचाने के निमित्त इस पार की कई एक छडें सडक की लवाई की दिशा मे लगा दी जाती है। सधि के दोनो ओर की सडक म ये डूबी रहती है।

पूर्वोक्त प्रसरण सधियो के वीच मे सिकुडन सधियाँ दी जाती है। ये सधियाँ साधारणत झूठी (डमी, dummy) सधियाँ होती ह। यहाँ पर कक्रीट की सिल्ली दुर्बल कर दी जाती है, जिसमे यदि कभी ताप के अधिक गिर जाने से अथवा अन्य किसी कारण से कक्रीट सिकुडे तो अनियमित रूप से टूटने के बदले सीधी रेखा मे पूर्वोक्त झूठी सधि पर ही टूटे। इसके लिये कक्रीट की सिल्ली मे ऊपर, अथवा ऊपर तथा नीचे दोनो ओर, एक खाँचा (गड्ढा) बना लिया जाता है।

जो सडके १५ फुट से अधिक चौडी होती है, उनमे सडक के अनुदिश एक या अधिक सधियाँ इसलिये डाल दी जाती है कि कक्रीट थोडा बहुत ऐठ सके और यदि नीचे की भूमि कही धँसे तो कक्रीट की सिल्ली टूटे नही, उसका केवल एक खड बैठ जाय।

निर्माण और मरम्मत—कक्रीट की सडक हाथ से अथवा मशीन से बनाई जाती है। नीचे की भूमि पूर्णत दृढ और चौरस होनी चाहिए, पुरानी सडक हो तो और भी अच्छा। मशीन से कक्रीट विछाना अधिक अच्छा होता है और प्रति दिन इसका चलन वढ रहा हे। अच्छी चिकनी कक्रीट की सडक के लिये अच्छी कारीगरी की आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि कक्रीट वाछित पुष्टता की हो। ऊपरी सतह की ढाल ठीक हो और पृष्ठ चिकना हो। सधियाँ नियमानुसार बनी हो और अपेक्षित काल तक कक्रीट को पानी से तर रखा जाय। अच्छी अभिकल्पना के अनुसार उचित प्रकार से बनाई गई सडक बहुत टिकाऊ होती है, मरम्मत बहुत कम करनी पडती है, सो भी साधारणत यही कि सधियाँ पूर्ववत् बनी रहे। ये सधियाँ, और यदि सडक कही चटख जाय तो नवीन सधियाँ भी, अच्छी प्रकार सपीड्य पदार्थ से भर दी जानी चाहिए।

सडक निर्माण के लिये सीमेंट कक्रीट का प्रयोग भारत मे थोडे ही वर्षो मे हो रहा है। भारत मे कक्रीट की पहली सडक मद्रास नगर निगम के कार्यालय के समीप सन् १९१४ म बनाई गई थी। इनके थोडे ही दिनो के पश्चात् मसूरी (उत्तर प्रदेश) तक जानेवाली पहाडी सडको के मोडो के लिये कक्रीट का उपयोग हुआ था। हैदराबाद नगर मे चौडी एव सुव्यवस्थित ७० मील लबी कक्रीट की सडकें है। भारतीय नगरो मे बनी कक्रीट की सडको मे ये सबसे अधिक लबी है।

भारत मे बनी कक्रीट की सडको की कुल लवाई १९५८ ई० मे, ३,२०० मील के लगभग थी (७०० मील राष्ट्रीय राजपथ और २,५०० मील राज्य सडक)। इनमे से एक सडक त्रावनकोर और कन्याकुमारी अतरीप के बीच, पश्चिम तट की बगल मे अत्यत सुरम्यप्रदेश मे बनी हुई राष्ट्रीय राजपथ की सडक है।

पूर्वप्रतिवलित कक्रीट की सडकें—अर्वाचीन वर्षो मे पूर्वप्रतिवलीकरण का सिद्धात कक्रीट की सडको मे भी लगाया गया है। किंतु भारत में अभी यह प्रयोगात्मक स्तर पर ही है।

स० ग्र०—कक्रीट रोड्स डिज़ाइन ऐंड कस्ट्रक्शन, १९५५, हिज मैजेस्टीज़ स्टेशनरी ऑफिस, लदन, एफ० एन० स्पार्क्स ऐड ए० एफ० स्मिथ कक्रीट रोड्स, (१९५२), दि रोड मेकर्स लाइब्रेरी, एडवर्ड आर्नल्ड ऐड कपनी, लदन, ए० जी० ब्रूस ऐंड जे० क्लार्कसन हाइवे डिज़ाइन ऐड कस्ट्रक्शन (१९५०), इटरनैशनल टेक्स्ट बुक कपनी, पा, यू० एस० ए०, एल० आई० हीवेस अमरीकन हाइवे प्रैक्टिस, जॉन विले ऐड सस इक०, न्यूयार्क, एल० ज० रिटर एड आर० जे० पाक्वेटे हाइवे इजीनियरिंग, दि रोनल्ड प्रेस क०, न्यूयॉर्क। [ज० मि० अ०]

कंक्रीट के पुल

पुल बनाने के लिये कक्रीट बहुत उपयुक्त वस्तु है, क्योकि जव यह सुघट्यावस्था मे रहती है, तब यह कही भी भरी जा सकती है और किसी भी आकृति मे ढाली जा सकती हे। इसलिये पुलो के बनाने म इसका बहुत उपयोग किया जाता है।

प्राय प्राचीनतम काल से पुल बनाने के लिये सादी कक्रीट का उपयोग किया जाता रहा है। अनिवार्य रूप से ऐसा पुल कक्रीट की मेहराब की आकृति का होता था। भारत मे १९वी शताब्दी में पहाडी सडको पर कई पुल चूने की कक्रीट से वनाए गए थे। कभी कभी सादी कक्रीट की मेहरावे पहले से ढाली गई कक्रीट की ईंटो से बनाई जाती है। छोटी पुलियो के लिये स्थल परही ढाली गई कक्रीट की मेहरावें पूर्णतया उपयुक्त होती है। स्थल पर ढाली गई कक्रीट के पुल का एक उत्तम उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन मे १९२८ ई० में बना पुल है। इसमे दो पार्श्ववाले दर (स्पैन) ५०–५० फुट के है और वीचवाला दर ११० फुट का। ससार मे सादी कक्रीट का सबसे लवा दर सयुक्त राज्य (अमरीका) में क्लीवलैंड मे रॉकी नदी पर बने पुल का मध्य दर है। इसकी लवाई २८० फुट है। अब अधिकतर इस्पात की छडो से प्रवलित (रिइन्फोर्स्ड, reinforced) कक्रीट का ही उपयोग होता है और पत्थर तथा सादी कक्रीट की मेहरावो की अपेक्षा ये बहुत बडे बडे दरो के बन सकती है। कुछ महत्तम लवाईवाले, प्रवलित कक्रीट की मेहराववाले पुल निम्नलिखित है

१ सैंडो पुल—स्वीडन ८६६ फुट दर (पाट)
२ एस्ला पुल—स्पेन ६४५ फुट दर (पाट)
३ प्लाउगेस्टल पुल—फ्रास ६१२ फुट दर (पाट)
४ ट्रानेवर्ग पुल—स्वीडेन ५९४ फुट दर (पाट)

४० फुट दर के पुलो के लिये सादी कक्रीट की मेहराववाले पुलो की मानक अभिकल्पनाएँ (डिज़ाइन) इडियन रोड्स कांग्रेस ने बनाई है। ४ से लेकर ३० फुट तक की दरो के लिये चूने की कक्रीट और ४–४० फुट तक की दर के लिये सीमेंट कक्रीट उपयुक्त बताई गई है।

कक्रीट के पुलो मे कक्रीट के कारण कई एक गुण होते है। उदाहरणात, चटपट निर्माण और तदनतर मरम्मत तथा देखभाल की कम आवश्यकता। इन पुलो मे न आग लगने का डर रहता है और न पानी से मोरचा खाने का। इस्पात के पुलो को समय समय पर रँगते रहना नितात आवश्यक है, परतु कक्रीट के पुलो को रँगना नही पडता। इस्पात के पुलो का वायु और जल के प्रभाव से मोरचा खाकर क्षय होता रहता है, परतु प्रवलित कक्रीट के पुल समय पाकर अधिकाधिक पुष्ट होते जाते है। यदि

अच्छी अभिकल्पना की जाय तो ये सुंदर लगते हैं और इनपर वास्तुकला के नियमों के अनुसार अलंकरण किया जा सकता है। इनपर घड़घड़ाहट नहीं होती, इस्पात के पुलों की घड़घड़ाहट उनका महान् दोष है। परंतु साथ ही कंक्रीट के पुलों के बनाने में सब काम बड़ी कुशलता से करना पड़ता है और कारीगरों के काम की देखभाल बराबर करनी पड़ती है। दूसरा दोष यह है कि पुल के लिये ढोला (सेंट्रिंग, centering) बाँधने में बहुत खर्च हो जाता है।

१९वीं शताब्दी के अंत में प्रबलित सीमेंट कंक्रीट का प्रयोग होने लगा और तब से इसमें तीव्र गति से प्रगति हुई है। प्रबलित कंक्रीट से पुल बनाने की कई रीतियों का विकास हुआ है जिनमें से किसी एक का चुनाव स्थल की परिस्थितियों पर निर्भर है। मोटे हिसाब से सीमेंट के पुल १३ प्रमुख प्रकार के होते हैं। इनमें से अधिकांश कई विधियों से बन सकते हैं, जो पुल की अनुप्रस्थ (ट्रांसवर्स) आकृति पर निर्भर करती हैं।

किसी विशेष स्थल के लिये, संभव है, पूर्वोक्त १३ प्रकारों में से कई एक उपयुक्त पाए जायँ। परंतु अंत में महत्तम कार्यक्षमता, मितव्ययता और पुष्टतावाले पुल का चुनाव अत्यंत जटिल समस्या है। उचित चुनाव के लिये, मोटे हिसाब से गणना करके अनुमानों की तुलना करनी पड़ती है। पूर्वकथित १३ प्रकार और वे पाट (दर) जिनके लिये वे उपयुक्त हैं, निम्नोक्त हैं

१ एक पाट (दर) का, धरन और पट्टवाला (बीम ऐंड स्लैब टाइप, beam and slab type) अथवा केवल पट्टवाला — २०–४० फुट
२ कई दरों का, धरन और पट्टवाला अथवा केवल पट्टवाला — २०–४० फुट
३ एक दर का कैंचीदार चौखटे पट्टवाला (पोर्टल फ्रेम स्लैब टाइप, portal frameslab type) अथवा धरन और पट्टवाला (स्लैब ऐंड बीम टाइप) — १५–३० फुट
४ कई दरों का, कैंचीदार चौखटे पट्ट और पसलीवाला (पोर्टल फ्रेम स्लैब ऐंड रिब टाइप, portal frame slab and rib type) अथवा पट्टवाला — २०–४० फुट
५ आवश्यकतानुसार परिवर्तनीय जड़ता घूर्ण का गर्डर (गर्डर विद वेरिइंग मोमेंट ऑव इनर्शिया, girder with varying moment of inertia) — ५०–१२० फुट
६ दोहरे बाहुधरन (कैंटिलीवर, cantilever) और एक अनबद्ध (फ्री, free) मध्य दरवाला (डबल कैंटिलीवर टाइप विद फ्री सेंटर स्पैन, double cantilever type with free center span) — ६०–१०० फुट
७ दोहरे बाहुधरनवाला (डबल कैंटिलीवर टाइप, double cantilever type) — ६०–१२० फुट
८ आबद्ध लंबी मेहराबवाला (फिक्स्ड बैरल आर्च टाइप, fixed barrel arch type) एक या अधिक दरों का (सिंगल ऑर मल्टिपल स्पैन, single or multiple span) — ३०–१०० फुट
९ खुले कंधोंवाली पसलीदार मेहराब (स्पैंड्रल रिब्ड आर्च, open spandrel ribbed arch) वाला — १००–२०० फुट
१० तीन-कब्जी लंबी मेहराबवाला, एक या अधिक दरों का (थ्री हिंज्ड बैरल आर्च टाइप, सिंगल ऑर मल्टीपल स्पैन, three hinged barrel arch type, single or multiple span) — ५०–१०० फुट
११ दो-कब्जी लंबी मेहराबवाला एक या अधिक दरों का (टू हिंज्ड बैरल आर्च टाइप, सिंगल ऑर मल्टिपल स्पैन, two hinged barrel arch type, single or multiple span) — ५०–१०० फुट
१२ प्रत्यंचा (बोस्ट्रिंग, bowstring) रूपी गर्डर वाला — १००–१५० फुट
१३ पसलीदार मेहराब और आंशिक लटके फर्शवाला (आर्च रिब्ड टाइप विद पार्शियली हंग डेकिंग, arch ribbed type with partially hung decking) — १८०–२५० फुट

जैसा ऊपर बताया गया है, किसी विशेष स्थान पर कई प्रकार की रचनाएँ स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उपयुक्त होंगी। अंतिम निर्णय दो कारणसमूहों पर निर्भर है। पहले समूह के कारणों को प्राकृतिक कहा जा सकता है। ये स्थान की परिस्थितियों पर पूर्णत निर्भर हैं, जैसे नींव, खदान या अन्य हलचल, पुल के ऊपर अपेक्षित खाली जगह (अर्थात् उसपर या उसके नीचे कितनी ऊँची गाड़ियाँ जायँगी) और पुल की लंबाई। कारणों का दूसरा समूह वह है जिसमें कृत्रिम कारण हों, यथा, पुल पर महत्तम भार कितना पड़ेगा। उसकी चौड़ाई कितनी हो, उसकी रूपरेखा कैसी हो और उसकी आकृति कैसी हो, और इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है उसकी लागत। साधारणत अनबद्ध, आश्रित संरचना सबसे महँगी पड़ती है, यद्यपि इसी की अभिकल्पना सरलतम है। जहाँ अचल नींव मिल सकती है, वहाँ अनम्य ढाँचेवाला पुल सबसे सस्ता पड़ता है। पूर्वप्रतिबलित (प्रीस्ट्रेस्ड, prestressed) कंक्रीट सुलभ हो जाने के कारण इंजीनियरों को एक नई शक्ति प्राप्त हुई है, जिससे कंक्रीट के पुलों की अभिकल्पना में विस्तृत अनुपातों के पुल का निर्माण संभव हो गया है। साधारण प्रबलित कंक्रीट के पुलों की अपेक्षा पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट के पुल १०–१५ प्रति शत तक सस्ते पड़ते हैं। इनसे सामग्री की बचत होती है, क्योंकि बड़े पाट (दर) बनाए जा सकते हैं और उनको अपेक्षाकृत हलका रखा जा सकता है।

संतोषजनक संरचना के लिये तीन आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति होनी चाहिए। प्रथम यह कि योग्य इंजीनियर पहले पूर्ण और ब्योरेवार संरचनात्मक आलेखन तैयार करे। फिर, यह कि कंक्रीट बनाने के लिये सामग्री को सावधानी से चुना जाय और उसकी पूरी जाँच की जाय कि वह आवश्यक गुणों के अनुसार ही है, और अंत में यह कि कारीगरों के काम की उचित देखरेख हो। उचित देखरेख और अनुपातों के नियंत्रण का महत्व इसी से प्रत्यक्ष है कि किसी भी विशेष अनुपात की कंक्रीट की पुष्टता और टिकाऊपन सामग्री को भली प्रकार मिलाने, उचित ढंग से ढालने तथा ठीक तरह से कूटने (संघनन, कंपैक्शन) और फिर उसे उचित रीति से नियमानुसार गीला रखने पर ही निर्भर है। यह आवश्यक है कि ढोला ठीक प्रकार से और पूर्णतया दृढ़ बनाया जाय तथा इस्पात की छड़ों को ठीक से मोड़ा जाय एवं कंक्रीट ढालने से पूर्व उचित स्थान में रखकर बाँध दिया जाय। इस्पात पृष्ठ के बहुत निकट न रखा जाय, अन्यथा उसमें मोरचा लगना आरंभ हो जायगा और तब संरचना कुछ दिनों में उखड़ने लगेगी। संरचना में कहाँ कहाँ संधियाँ डाली जायँ, इसका निर्णय इंजीनियर ही करे। इसे ठेकेदार पर नहीं छोड़ना चाहिए।

आजकल निर्माण अधिकतर मशीनों से होता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि यंत्र पुल के स्थान पर लाए जायँ। किन यंत्रों की आवश्यकता पड़ेगी, यह पुल के प्रकार पर निर्भर है। मुख्य यंत्र कंक्रीट मिश्रक (मिक्सर्स, mixers), बोझ उठानेवाले क्रेन (डेरिक क्रेन, Derrick crane), कंपनोत्पादक (वाइब्रेटर, vibrator), सामग्री नापने के साँचे, पंप, संपीडक (कंप्रेसर, compressor), छड़ मोड़ने की मशीनें इत्यादि हैं।

पुल आकल्पन में सौंदर्यदृष्टि को अंतर्राष्ट्रीय मान्यता मिलने के कारण, आकल्पक का ध्यान अब रेखा, आकृति, अनुपात तथा सामग्री की गठन पर रखना आवश्यक हो गया है। पुल का प्रकार और वास्तुकला के दृष्टिकोण में उसका औचित्य केवल इंजीनियर का ही काम नहीं है। इन दिनों डिज़ाइन को अंतिम रूप देते समय इंजीनियर के साथ कोई वास्तुकलाविद् भी रख दिया जाता है।

पुल की रेखाएँ, अनुपात और संतुलन सुंदर हों तथा सामग्री का रंग और गठन (टेक्स्चर) सुरुचिपूर्ण होना चाहिए। पुल का अलंकरण और रूप इसके पदार्थों के अनुरूप और पास पड़ोस के अनुकूल होना चाहिए।

उन बातों में कई विधियों से विभिन्नता लाई जा सकती है, उदाहरणार्थ पृष्ठ को न्यूनाधिक चिकना या खुरदरा रखकर, आकृतियों को स्थूलकाय अथवा कृशांगी रखकर, रंगों को बदलकर, पलस्तर करके अथवा तैल रंगों से उन्हें ऊपर से रँगकर।

भारत में अब अधिकतर पुल प्रबलित कंक्रीट या पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट के ही बनाए जाते हैं। कुछ मुख्य नए बने पुल ये हैं

१ मद्रास में कोलरून पुल लंबाई २,१०० फुट, १४ दरें, प्रत्येक १५० फुट की। असंतुलित बाहुधरन, पूर्वप्रतिबलित, पूर्वरचित धरन। लागत ३४५० लाख रुपए।

२ उत्तर प्रदेश में रामगंगा पुल लंबाई २,२१० फुट, पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट, १४ दरें, प्रत्येक १५० फुट की। लागत ६० लाख रुपए।

३ उत्तर प्रदेश में गढमुक्तेश्वर में गंगा पर पुल २,३०८ फुट लंबा, १३ दरें, प्रत्येक १७७ फुट १० इंच, पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट। लागत ७९ लाख रुपए।

४ बिहार में उत्तरी कोयल पुल प्रबलित कंक्रीट, २७ दरें, बीच की दर ५६ फुट ५ इंच की और दो अंतिम दरें प्रत्येक ४६ फुट १½ इंच की, लंबाई १,६१५ फुट। लागत १८५ लाख रुपए।

५ केरल में कुप्पम पुल ५२५ फुट लंबाई, धनुषाकार धरन के ढंग की ५ दरें, प्रत्येक १०० फुट। लागत १०६० लाख रुपए।

सं० ग्रं०—जर्नल ऑव दि इंडियन रोड्स कांग्रेस, वॉल्यूम १२, १९४७–४८, 'ब्रिजिंग इंडियाज रीवर्स', ऐन ऐकाउंट ऑव फिफ्टी ब्रिजेज बिल्ट इन इंडिया ड्यूरिंग १९४९–१९५९, इंडियन रोड्स कांग्रेस, नई दिल्ली, सी० एम० चीटो ऐंड एच० सी० ऐडम्स रिइन्फोर्स्ड कंक्रीट ब्रिज डिजाइन, चैपमैन ऐंड हाल लि०, लंदन, ए० डब्ल्यू० लेगाट, जी० डन, ऐंड डब्ल्यू० ए० फेयरहर्स्ट डिज़ाइन ऐंड कन्स्ट्रक्शन ऑव कंक्रीट ब्रिजेज, कॉन्स्टेबल ऐंड कंपनी लि०, लंदन, एफ० रिंग्स रिइन्फोर्स्ड कंक्रीट ब्रिजेज, कॉन्स्टेबल ऐंड कंपनी लि० लंदन, एफ० डब्ल्यू० टेलर, एम० ई० टामसन ऐंड ई० स्मल्सकी रिइन्फोर्स्ड कंक्रीट ब्रिजेज, जॉन विले ऐंड सन्स इंक०, न्यूयॉर्क। [ज० मि० त्रे०]

कंगारू आस्ट्रेलिया के प्रसिद्ध शाकाहारी, शिशुधानीय (मार्सूपियल, marsupial) जीव हैं जो स्तनप्राणियों में अपने ढंग के निराले प्राणी हैं। इन्हें सन् १७७३ ई० में कैप्टन कुक ने देखा और तभी से ये सभ्य जगत् के सामने आए। इनकी पिछली टाँगें लंबी और अगली छोटी होती हैं, जिनसे ये उछल उछलकर चलते हैं। पूँछ लंबी और मोटी होती है जो सिरे की ओर पतली होती जाती है।

कंगारू स्तनधारियों के शिशुधानिन भाग (मारस्यूपियालिया, marsupialia) के जीव हैं जिनकी विशेषता उनके शरीर की थैली है। जन्म के पश्चात् उनके बच्चे बहुत दिनों तक इस थैली में रहते हैं। इनमें सबसे बड़े, भीम कंगारू (जायंट कंगारू) छोटे घोड़े के बराबर, और सबसे छोटे, गंध कंगारू (मस्क कंगारू) खरहे से भी छोटे होते हैं।

कंगारू केवल आस्ट्रेलिया में ही पाए जाते हैं। वहाँ इनकी २१ प्रजातियों (जीनस, genus) का अब तक पता चल सका है जिनमें १५८ जातियाँ तथा उपजातियाँ संमिलित हैं। इनमें कुछ प्रसिद्ध कंगारू इस प्रकार हैं

न्यू गिनी में डोरकोप्सिस (Dorcopsis) जाति के कंगारू मिलते हैं जो कुत्ते के बराबर होते हैं। इनकी पूँछ और टाँगें छोटी होती हैं। इन्हीं के निकट संबंधी तरुकुरंग (डेंड्रोलेगस कंगारू, Dendrolagus kangaroos) हैं जो पेड़ों पर भी चढ़ जाते हैं। इनके कान छोटे और पूँछ पतली तथा लंबी होती है।

पैडीमिलस (Pademelous) नामक कंगारू डोरकोप्सिस के बराबर होने पर भी छोटे दिखाई देते हैं। ये न्यू गिनी से टैस्मेनिया तक फैले हुए हैं।

प्रोटेमनोडन (Protemnodon) जाति के कई कंगारू बहुत प्रसिद्ध हैं जो घास के मैदानों में रहते हैं। ये रात में चराई करके दिन का समय किसी झाड़ी में बिताते हैं। इनकी पूँछ, कान और टाँगें लंबी होती हैं।

मैक्रोपस (Macropus) जाति का महान् धूसरवर्ण कंगारू (ग्रेट ग्रे कंगारू) भी बहुत प्रसिद्ध है। यह घास के मैदान का निवासी है। इसी का निकट संबंधी लाल कंगारू भी किसी से कम प्रसिद्ध नहीं है, यह आस्ट्रेलिया के मध्य भाग के निचले पठारों पर रहता है।

कंगारू
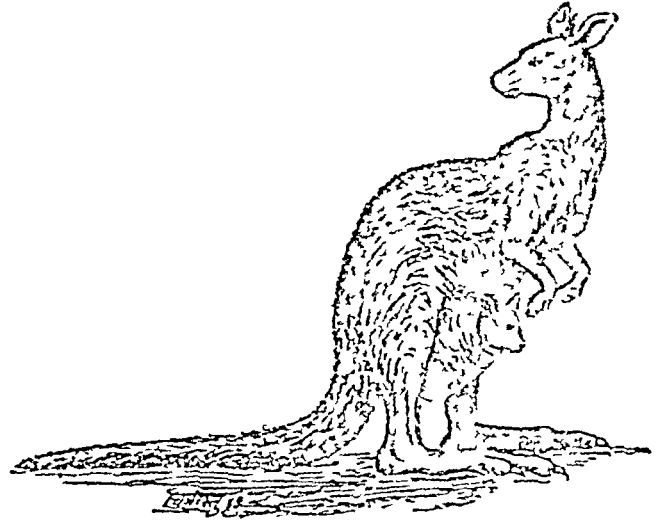
शैलवाकुरंग (पैट्रोग्रेल, Petrogole) और ओनीकोगोल (Onychogole) प्रजाति के शैल वैलेबी (रॉक वैलेबी, Rock Wallaby) और नखपुच्छ (नेल टेल) वैलाबी नाम के कंगारू बहुत सुंदर और छोटे कद के होते हैं। इनमें से पूर्वोक्त प्रजातिवाले कंगारू पहाड़ की खोहों में और दूसरे घास के मैदानों में रहते हैं।

पैलॉर्किस्टिस (Palorchistes) जाति के प्रातिनूतन भीम कंगारू (प्लाइस्टोसीन जायंट कंगारू, *Pliestocene giant kangaroo*) काफी बड़े (लगभग छोटे घोड़े के भार के) होते हैं। इनका मुख्य भोजन घास पात और फल फूल है। इनका सिर छोटा, जबड़ा भारी और टाँगें छोटी होती हैं।

कंगारू के पैरों में अँगूठे नहीं होते। इनकी दूसरी और तीसरी अँगुलियाँ पतली और आपस में एक झिल्ली से जुड़ी रहती हैं, चौथी और पाँचवीं अँगुली बड़ी होती है। चौथी में पुष्ट नख रहता है।

कंगारू की पूँछ लंबी और भारी होती है। उछलते समय वे इसी से अपना संतुलन बनाए रहते हैं और बैठते समय इसी को टेककर इस प्रकार बैठे रहते हैं मानो कुर्सी पर बैठे हों। वे अपनी अगली टाँगों और पूँछ को टेककर पिछली टाँगों को आगे बढ़ाते हैं और उछलकर पर्याप्त दूरी तक पहुँच जाते हैं।

कंगारू का मुखछिद्र छोटा होता है जिसका पर्याप्त भाग ओठों से छिपा रहता है। मुख में निचले कर्तनकदंत (इनसाइज़र्स, incisors) आगे की ओर पर्याप्त बढ़े रहते हैं, जिनसे ये अपना मुख्य भोजन, घास पात, सुगमता से कुतर लेते हैं। इनकी आँखें भूरी और औसत कद की, कान गोलाई लिए बड़े और घूमनेवाले होते हैं, जिन्हें हिरन आदि की भाँति इधर उधर घुमाकर ये दूर की आहट पा लेते हैं। इनके शरीर के रोएँ पर्याप्त कोमल होते हैं और कुछ के निचले भाग में घने रोओं की एक और तह भी रहती है।

कंगारू की थैली उसके पेट के निचले भाग में रहती है। यह थैली आगे की ओर खुलती है और उसमें चार थन रहते हैं। जाड़े के आरंभ में इनकी मादा एक बार में एक बच्चा जनती है, जो दो चार इंच से बड़ा नहीं होता। प्रारंभ में बच्चा माँ की थैली में ही रहता है। वह उसको लादे हुए इधर उधर फिरा करती है। कुछ बड़े हो जाने पर भी बच्चे का संबंध माँ की थैली से नहीं छूटता और वह तनिक सी आहट पाते ही भागकर उसमें घुस जाता है। किंतु और बड़ा हो जाने पर यह थैली उसके लिये छोटी पड़ जाती है और वह माँ का साथ छोड़कर अपना स्वतंत्र जीवन बिताने लगता है। आस्ट्रेलिया के लोग कंगारू का मांस खाते हैं और उसकी पूँछ का रसा बड़े स्वाद से पीते हैं। वैसे तो यह शांतिप्रिय शाकाहारी जीव है, परंतु आत्मरक्षा के समय यह अपनी पिछली लंबी टाँगों से भयंकर प्रहार करता है।

[मु० सिं०]

कंचनजंगा सिक्किम-नेपाल-सीमा पर २८,१४६ फुट ऊँचा, गौरीशकर पर्वत के बाद ससार का दूसरा सर्वोच्च पर्वतशिखर है। (स्थिति २७° ४२' उ० अ०, ८८°९' पूर्व दे०)। इस पर्वत की भूगर्भीय स्थिति हिमालय की मुख्य श्रेणी के सदृश है। यह तिब्बत एव भारत की जलविभाजक रेखा के दक्षिण मे स्थित है। इसीलिये इसकी उत्तरी ढाल की नदियाँ भी भारतीय मैदान मे गिरती है। कचनजगा तिब्बती शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ 'महान् हिमानियो के पाँच अतिक्रमण' है, जो इसकी पाँच चोटियो से सबधित है। इसका दूसरा नाम कोगलोचु है जिसका शाब्दिक अर्थ 'बर्फ का सर्वोच्च पर्दा' है। [रा० वृ० सि०]

कंचनपाड़ा ग्राम तथा रेलवे स्टेशन कलकत्ता नगर से २७ मील की दूरी पर है। यह रेलवे स्टेशन पूर्व रेलवे पर जिला २४ परगना की उत्तरी सीमा पर पडता है। यहाँ रेलवे का कारखाना है। इसकी आबादी ५६,६६८ (१९५१) है। [सु० प्र० सि०]

कंचुकपक्ष (कोलिऑप्टरा, Coleoptera) कीटवर्ग (इनसेक्टा) का एक अति विकसित, गुणसपन्न तथा महान् गण (ऑर्डर) है। इसके मुख्य लक्षण ये है दो जोडे पखो मे से अगले ऊपरी पखो का कडा, मोटे चमडे जैसा होना, ये अगले पख पीठ की मध्यरेखा पर एक दूसरे से मिलते है और इनको बहुधा पक्षवर्म (एलिट्रा, Elytra) कहते हैं, पिछले पख पतले, झिल्ली जैसे होते है और अगले पखो के नीचे छिपे रहते है जिनसे उनकी रक्षा होती है, उडते समय पक्षवर्म सतोलको का काम करते है, इनके वक्षाग्र (प्रोथोरैक्स, prothorax) वडे होते है, मुख-अग कुतरने या चवाने के योग्य होते है, इनके डिंभ (लार्वा) विविध प्रकार के होते है, किंतु ये कभी भी प्रारूपिक बहुपादो (पॉलीपॉड्स Polypods) की भाँति के नही होते। साधारणत इस गण के सदस्यो को अँग्रेजी मे 'बीट्ल' कहते है और ये विविध आकार प्रकार के होने के साथ ही लगभग सभी प्रकार के वातावरण मे पाए जाते है। उडने मे काम आनेवाले पखो पर चोली के समान सरक्षक पक्षवर्म (एलिट्रा) रहने के कारण ही इन जीवो को कचुकपक्ष कहते है।

कचुकपक्ष गण मे २,२०,००० से अधिक जातियो का उल्लेख किया जा चुका है और इस प्रकार यह कीटवर्ग ही नही, वरन् समस्त जतुससार का सबसे वडा गण है। इनकी रहन सहन वहुत भिन्न होती है, किंतु इनमे से अधिकाश मिट्टी या सडते गलते पदार्थो मे पाए जाते है। कई जातियाँ गोवर, घोडे के मल, आदि मे मिलती है और इसलिये इनको गुबरैला कहा जाता है। कुछ जातियाँ जलीय प्रकृति की होती है, कुछ वनस्पत्याहारी है और इनके डिंभ तथा प्रौढ दोनो ही पौधो के विभिन्न भागो को खाते है, कुछ जातियाँ, जिनको साधारणत घुन नाम से अभिहित किया जाता है, काठ, बाँस आदि मे छेद कर उनको खोखला करती है और उन्ही मे रहती है। कुछ सूखे अनाज, मसाले, मेवे आदि का नाश करती ह।

नाप मे कचुकपक्ष एक ओर बहुत छोटे होते हैं, दूसरी ओर काफी वडे। कोराइलोफिडी (Corylophidae) तथा टिलाइडी (Ptiliidae) वशो के कई सदस्य ०.५ मिलीमीटर से भी कम लवे होते है तो स्कैरावीडी (Scarabaeidae) वश के **डाइनैस्टीज हरक्यूलीस** (Dynastes hercules) तथा सेरैवाइसिडी (Cerambycidae) वश के **मैक्रोडॉन्शिया सरविकॉर्निस** (Macrodontia cervicornis) की लवाई १५.५ सेंटीमीटर तक पहुँचती है। फिर भी सरचना की दृष्टि से इनमे वडी समानता है। इनके सिर की विशेषता है गल (ग्रीव, अग्रेजी मे gula) का सामान्यत उपस्थित होना, अधोहन्वस्थि (मैंडिब्ल्स, mandibles) का वहुविकसित और मजबूत होना, ऊर्ध्वहन्वस्थि (मैक्सिली) का सामान्यत पूर्ण होना तथा अवरोष्ठ (लेवियम) मे चिवुक (मेटम) का सुविकसित होना। वक्ष भाग मे वक्षाग्र वडा तथा गतिशील होता है और वक्षमध्य तथा वक्षपश्च एक दूसरे से जुडे होते है, पृष्ठकाग्र (प्रोनोटम) एक ही पट्ट का वना होता है तथा पार्श्वक (प्लूरान) कई पट्टो में नही विभाजित होता। टाँगें वहुधा दौडने या खोदने के लिये सपरिवर्तित होती है, किंतु जलीय जातियो मे ये तैरने योग्य होती है। पखो मे पक्षवर्म लाक्षणिक महत्व के है तथा पिछले पख कभी कभी छोटे या अनुपस्थित भी रहते है। पिछले पखो का नाडीविन्यास (वेनेशन) अन्य गणो के नाडीविन्यास से भिन्न होता है—इसकी विशेषता है लववत् नाडियो की प्रमुखता। नाडीविन्यास तीन मुख्य भेदो मे वाँटा जाता है (१) सभी मुख्य नाडियो का पूर्णतया विकसित होना और उनका एक दूसरे से आडी नाडियो द्वारा जुडी होना [एडिफेगिड (Adephagid) प्रकार का होना], (२) आडी नाडियो की अनुपस्थिति तथा M के प्रारभिक भाग की अनुपस्थिति [स्टैफिलिनिड (Staphylinid) प्रकार का होना], और
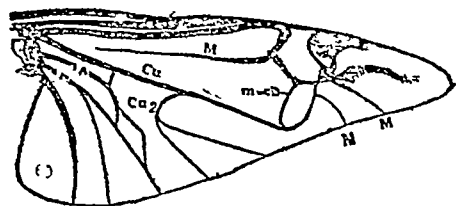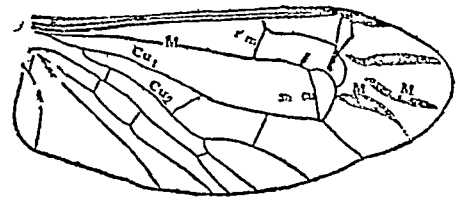
चित्र १ एडिफेगिड प्रकार के पख

ऊपर क्यूपिडिडी (Cupididae) तथा नीचे कारैविडी (Carabidae)
M=मध्यवर्ती (Medial), Cu=अग्रवाहुक (Cubital),
M-Cu=आभिमध्य-अग्रवाहुक (Medio-cubital)।

(३) M तथा Cu का दूरस्थ भाग मे एक दूसरे से जुडकर एक चक्र का निर्माण करना [कैंथैरिड (Cantharid) प्रकार का होना]। उदर की सरचना भी विभिन्न होती है, किंतु उसमे वहुधा नौ स्पष्ट खड होते है।
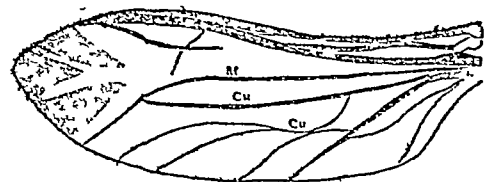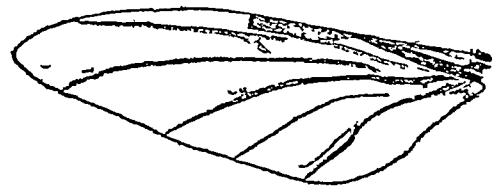
चित्र २ कोलिऑप्टरा पॉलिफागा (Coleoptera-Polyphagi)

ऊपर स्टैफिलिनिड प्रकार (ऑसिपस, Ocypus), नीचे कैंथैरिड प्रकार (कैंथैरिस, Cantharis)

कई वशो मे उदर के पिछले खड नलिकाकार होते है और वे भीतर की ओर खीचे जा सकते है। वहुधा नवे खड पर जनन सबधी प्रवर्ध होते है। नर में ये मैथुन मे सहायक होते है और स्त्री मे अडरोपको (**ओविपॉजिटरो**, Ovipositors) का निर्माण करते है। इनका सबध कुछ हद तक अड रोपण स्वभाव से होता है और ये वर्गीकरण में सहायक है।

अधिकाश जातियो मे किसी न किसी प्रकार के ध्वन्युत्पादक अग पाए जाते हैं। इनकी रचना अनेक प्रकार की होती है। इनकी स्थितियाँ भी बहुत विभिन्न होती हैं। उदाहरण के लिये ये शिर के ऊपर तथा अग्र वक्ष पर स्थित हो सकते हैं, या शिर के नीचे के भाग मे। स्थिति के अनुसार गहन (१९००) ने इनको ४ मुख्य भेदो मे बाँटा है। स्कैरावीडी वश के सदस्यो मे ये बहुत सुविकसित दशा मे मिलते हैं।

कचुकपक्ष कीटो के जीवनेतिहास मे स्पष्ट रूपातरण होता है। अडे विविध स्थानो मे दिए जाते हैं और विविध रूप के होते हैं। उदाहरण
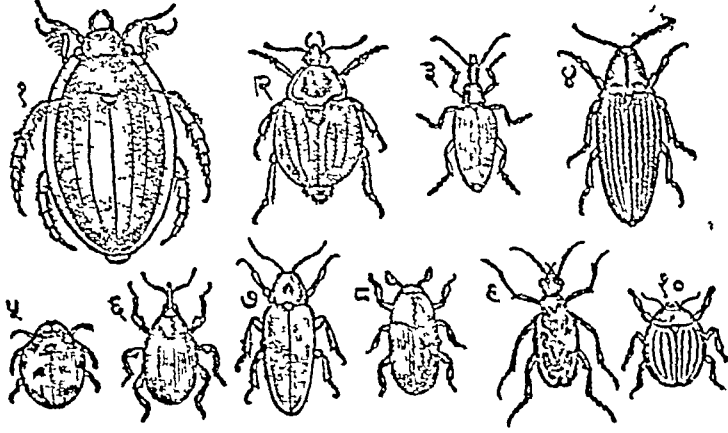
चित्र ३ विविध कचुकपक्ष

१ आखेटप्रिय, निमज्जी गुबरैला (डाइटिसिडी), २ गलित मासभोजी गुबरैला (सिल्फिडी), ३ भू-गुबरैला (कारैबिडी), ४ टक्गुबरैला (एलाटेरिडी), ५ बीरबहूटी (कॉक्सिनेलिडी), ६ कर्पास कचुकी (रुई की डोडी) का गुबरैला (कर्कुनिओलिडी), ७ जुगनू (लैंपिरिडी), ८ वल्क (पेड की छाल) का गुबरैला (स्कोलिटिडी), ९ नाहर गुबरैला (सिसिडेलिडी), १० आलूपर्ण गुबरैला (क्रिसोमेलिडी)।

के लिये ऑसिपस (Ocypus) वश के अडे बहुत बडे और सख्या मे थोडे होते हैं और मिलोइडी (Meloidae) वश के अडे बहुत छोटे और बहुसख्यक होते ह। हाइड्रोफिलिडी (Hydrophilidae) वश में अडे कोपो में सुरक्षित रखे जाते हैं और कैसिडिनी (Cassidinae) उपवश म वे एक डिंबावरण में लिपटे होते है। कॉक्सिनेलिडी (Coccinellidae) के अडे पत्तियो पर समूहो मे दिए जाते हैं और करकुलियोनिडी (Curculionidae) के कीट अपने मुखाग द्वारा पौधो या बीजो मे छेद कर उनमे अडे देते हैं। इसी प्रकार स्कोलाइटिनी (Scolytinae) मे स्त्री तनो में घुसकर सुरगो मे अडे देती है। इस उपवश के कुछ कीटो मे स्त्री अडो और डिंभ की रक्षा और उनका पोषण भी करती है।

इनमे वर्धन काल में स्पष्ट रूपातरण होता है तथा डिंभ विविध प्रकार के होते हैं। रोचक बात यह है कि ये डिंभ रहन सहन के अनुरूप सपरिवर्तित होते हैं। एडिफेगा (Adephaga) उपवर्ग में तथा कुछ पालीफागा (Polyphaga) में डिंभ अविकसित कैंपोडाई (Campodei) रूपी होते हैं, अर्थात् ये जतुभक्षी, लबी टाँगो, मजबूत मुखागोवाले तथा कुछ चिपटे होते हैं। कुकुजॉयडिया (Cucujoidea) के डिंभ कैंपोडाई रूपी तथा एरुसिफार्म (Eruciform) के बीच के होते हैं, अर्थात् उनमे औदरीय टाँगे दिखाई पडती हैं। करकुलियोनायडिया मे अपाद (एपोडस) अर्थात् बिना टाँगो के डिंभ होते हैं। स्पष्ट है कि कैंपोडाई रूपी डिंभ बहुत गतिशील होते हैं, परिवर्तित कैंपोडाई रूपी कम क्रियाशील तथा पादरहित डिंभ गतिविहीन होते हैं। काठ मे सुरग बनानेवाले डिंभ साधारणत मासल होते हैं, इनके मुखाग मजबूत होते हैं और शिर वक्ष मे धँसा रहता है। जलीय वशो के डिंभो की टाँगे तैरने के निमित्त सपरिवर्तित होती हैं। कुछ वशो मे, जैसे मिलोइडी (Meloidae), राइपिफोरिडी (Rhipiphoridae) तथा माइक्रोमाल्थिडी (Micromalthidae) मे अतिरूपातरण (हाइपरमेटामॉर्फोसिस, hypermetamorphosis) पाया जाता है। इनमे डिंभ की विभिन्न अवस्थाएँ अलग अलग रूपो की होती हैं।

इतनी विविधता के कारण कचुकपक्षो का वर्गीकरण विशेष जटिल है और यहाँ उसकी बहुत सक्षिप्त रूपरेखा मात्र ही दी जा सकती है। क्रोसन (Crowson) द्वारा सन् १९५५ में दिए गए आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार इस गण को चार उपगणो मे बाँटा जाता है—आर्कोस्टेमाटा (Archostemata), एडिफेगा (Adephaga), मिक्सोफेगा (Myxophaga) तथा पॉलिफेगा (Polyphaga)। आर्कोस्टेमाटा मे केवल दो वश और लगभग २० जातियाँ हैं वश क्यूपेडाइडी (Cupedidae) की जातियाँ केवल जीवाश्म रूप मे पाई जाती हैं और माइक्रोमैल्थिडी मे जीवित जातियाँ हैं। यह उपगण अति अविकसित है। एडिफेगा उपगण कुछ लक्षणो मे अविकसित तथा कुछ लक्षणो में विशिष्ट है। कुछ सदस्यो को छोड सभी जतुभक्षी होते हैं। इस उपगण मे १० वश रखे गए हैं—राइसोडाइडी (Rhisodidae), पासिडी (Paussidae), कैराबिडी (Carabidae), ट्रैकीपैकीडी (Trachypachidae), हैलिप्लाइडी (Haliplidae), ऐंफिज़ोइडी (Amphizoidae), हाइग्रोबाइडी (Hygrobiidae), नोटेरिडी (Noteridae), डाइटिस्किडी (Dytiscidae) तथा गाइरिनिडी (Gyrinidae)। इनमे से कैराबिडी प्रारूपिक वश है और इसके सदस्य ससारव्यापी हैं, तथा डाइटिस्किडी के सदस्य वास्तविक जलीय प्रवृत्ति के हैं। मिक्सोफेगा उपगण मे अधिकाश सदेहजनक स्थिति की जातियाँ हैं जिनको चार छोटे वशो मे रखा जाता है—लेपिसेरिडी (Lepiceridae), हाइड्रोस्कैफिडी (Hydroscaphidae), स्फीराइडी (Sphaeriidae) तथा कैलिप्टोमेरिडी (Calyptomeridae)। पालीफेगा मे अधिकाश बीट्लो की जातियाँ आती हैं जिनकी विविध सरचना तथा रहन सहन के कारण उनका वर्गीकरण बहुत कठिन समझा जाता है। क्रोसन इस उपगण को १९ वशसमूहो मे बाँटते हैं जिनके अतर्गत रखे जानेवाले वशो की कुल सख्या १४१ है। इन वशो का नाम तो यहाँ देना सभव नही है, किंतु वशसमूह इस प्रकार हैं हाइड्रोफिलॉयडिया (Hydrophiloidea), जिसके अतर्गत अधिकतर जलीय प्रकृति की जातियाँ हैं, इनमे पाँच वश माने गए हैं, हिस्टेरॉयडिया, (Hysteroidea), जिसमे तीन वश हैं, स्टैफिलिनोडिया (Staphylinodea), जिसमे १० वश रखे जाते हैं, स्कैराबायडिया (Scaraboidea), जिसमे छ वश हैं, डैस्किलिफॉर्मिया (Dascilliformia), जिसमे चार वश हैं, बिरायडिया (Byrrhoidea), जिसमे केवल एक ही वश है, ड्रायोपायडिया, जिसमे आठ वश रखे गए हैं, ब्युपेस्टेरायडिया (Bupesteroidea), जिसमे एक ही वश है, रिपिसेरायडिया (Rhipiceroidea), जिसम दो वश ह, इलेटेरायडिया (Elateroidea), जिसमे छ वश ह, कैंथेरायडिया (Cantheroidea), जिसमे नौ वश हैं, बोस्ट्रिकायडिया (Bostrychoibea), जिसमें चार वश हैं, डरमेस्टायडिया (Dermestoidea) जिसमे पाँच वश हैं, क्लेरायडिया (Cleroidea), जिसम पाँच वश हैं, लाइमेक्सिलायडिया (Lymexyloidea), जिसमे एक ही वश है, कुकुजायडिया (Cucujoidea), जो सबसे बडा, ५७ वशोवाला उपसमूह है, क्राइसोमेलायडिया (Crysomeloidea), जिसमे केवल दो किंतु बहुत बडे वश हैं, करकुलियोनायडिया (Curculionoidea), जिसमे नौ वश हैं तथा स्टाइलोपायडिया (Stylopoidea), जिसमे दो वश रखे जाते हैं।

कचुकपक्ष गण के कीट हमारे लिये बहुत आर्थिक महत्व के हैं। इसके अतर्गत अनाज, तरकारियो, फलो आदि का विनाश करनेवाली विविध जातियाँ, चावल, आटा, गुदाम मे रखी दाल, गेहूँ, चावल आदि मे लगनेवाले घुन, सूँडी इत्यादि, ऊन, चमडे आदि की 'कीडी' तथा काठ मे छेद करनेवाले घुन हैं। [उ० श० श्री०]

कंजर सभवत द्रविड मूल का घुमक्कड कबीला जो सपूर्ण उत्तर भारत की ग्राम्य और नागरिक जनसख्या मे छितराया हुआ है। कजर शब्द की उत्पत्ति सस्कृत 'कानन-चर' से हुई भी बताई जाती है। वैसे भाषा, नाम, सस्कृति आदि मे उत्तर भारतीय प्रवृत्तियाँ कजरो मे इतनी बलवती हैं कि उनका मूल द्रविड मानना वैज्ञानिक नही जान पडता। कजरो तथा साँसिया, हाबूरा, बेरिया, भाट, नट, बजारा, जोगी और बहेलिया आदि अन्य घुमक्कड कबीलो मे पर्याप्त सास्कृतिक समानता मिलती हे। एक किंवदती के अनुसार कजर दिव्य पूर्वज 'मान' गुरु की सतान हैं। मान अपनी पत्नी

नथिया कजरिन के साथ जगल मे रहता था। मान गुरु के पुरावृत्त को ऐतिहासिकता का पुट भी दिया गया है, जैसा उस आख्यान से विदित है जिसमे मान दिल्ली सुल्तान के दरबार मे शाही पहलवानो को कुश्ती में हराता है।

कजरो का कबीली सगठन विषम है। वे बहुत से अतविवाही (एडोगैमस) विभागो और बहिर्विवाही (एक्सोगैमस) उपविभागो मे बँटे है। १८९१ की जनगणना मे दर्ज किए गए १०६ कजर उपविभागो के नाम हिंदू और ६ के नाम मुसलमानी थे। कजरो का विभाजन पेशेवर विभागो मे हुआ है, जैसा उनके जल्लाद, कूँचबद, पथरकट, राछबद आदि विभागीय नामो से स्पष्ट होता है। कजरो मे वयस्क विवाह का प्रचलन है। यद्यपि स्त्रियो को विवाहपूर्व यौन स्वच्छदता पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त होती है, तथापि विवाह के पश्चात् उनसे पूर्ण पातिव्रत की अपेक्षा की जाती है। स्त्री एव पुरुष दोनो के विवाहेतर यौन सबध हेय समझे जाते है और दडस्वरूप वचित पति को अधिकार होता है कि वह अपराधी पुरुष की न केवल सपत्ति वरन् सतान भी हस्तगत कर ले। विवाह वधूमूल्य देकर होता है। रकम का भुगतान दो किस्तो मे होता है, एक विवाह के समय और दूसरी सतानोत्पत्ति के पश्चात्। परपरागत विवाहो के अतिरिक्त पलायन विवाह (मैरेज बाइ एलोपमेट) का भी चलन है। अज्ञातवास से लौटने पर युग्म पूरे गाँव को भोज पर आमत्रित कर वैध पतिपत्नी का पद प्राप्त कर सकता है। विधवाविवाह सभव है और विधवा अधिकतर अपने अविवाहित देवर से व्याही जाती है।

पेशेवर नामधारी होने पर भी कजरो ने किसी व्यवसायविशेष को नही अपनाया। कुछ समय पूर्व तक ये यजमानी करते थे और गाँववालो का मनोरजन करने के बदले धन और मवेशियो के रूप मे वार्षिक दान पाते थे। प्रत्येक कजर परिवार की यजमानी मे कुछ गाँव आते थे जहाँ वे उत्सव और विशेष अवसरो पर नाच गाकर गाँववालो का मनोरजन करते थे। इनमें से कुछ परिवार गाँव की गूजर, मीना और अन्य जातियो के परपरागत चारण और वशावली-सग्रहकर्ता का काम करते थे। कुछ कजर स्त्रियाँ भीख माँगने के साथ साथ वेश्यावृत्ति भी करती थी। किंतु वर्तमान कजर अपने परपरागत धधो को छोड आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभदायक पेशो की ओर आकृष्ट हो रहे है।

वेशभूषा मे कजर गूजरो के सदृश होते है। इनकी स्त्रियाँ मुसलमान स्त्रियो की भाँति लहँगे की बजाय लबा कुरता और पाजामा पहनती है। खान पान मे ये कबीली जौ, बाजरे, कद, मूल, फल से लेकर छिपकली, गिरगिट और मेढक का मास तक खाते है। छिपकली, साँडा, साँप और गिद्ध की खाल से विशेष प्रकार का तेल निकालकर ये उसे दु साध्य रोगो की दवा कहकर बेचते है। भीख माँगनेवाली कजर स्त्रियाँ प्राय सभ्रात कृषक महिलाओ को अपनी बातो मे फँसाकर बाँझपन तथा अन्य स्त्रीरोगो की दवा बेचती है और हाथ देखकर भाग्य बताती है।

कजरो की कबीली पचायत शक्तिशाली और सर्वमान्य सभा है। सभ्य समाज की दृष्टि मे अपराधी पेशेवर माने जानेवाले कजरो मे भी कबीली नियमो के उल्लघन की कडी सजा मिलती है। अपराधस्वीकृति के निराले और यातनापूर्ण ढग अपनाए जाते है। कजर कबीली देवीदेवताओ के साथ साथ हिंदू देवी देवताओ की भी मनौती करते है। विपत्ति पडने पर कबीली देवता 'अलमुदी' और 'असपाल' के क्रोध-शमन-हेतु बकरे, सुअर और मुर्गे की बलि दी जाती है।

स० ग्र०—क्रुक ट्राइब्ज़ ऐंड कास्ट्स ऑव नार्थवेस्टर्न फ्रटियर ऐंड अवध, धीरेंद्र मजूमदार सम वैग्रेंट ट्राइब्ज ऑव नॉर्थ इंडिया (लखनऊ, १९४४), रिपोर्ट ऑव दि क्रिमिनल ट्राइब्ज़ ऐक्ट इक्वायरी कमिटी (१९४९–५०)। [र० जै०]

कंटकारी एक अत्यत काँटेदार परिप्रसरी क्षुप है जो भारतवर्ष मे प्राय सर्वत्र रास्तो के किनारे तथा परती भूमि मे पाया जाता है। लोक मे इसके लिये भटकटैया, कटेरी, रेगनी अथवा रिंगिणी, सस्कृत साहित्य मे कटकारी, निदिग्धिका, क्षुद्रा तथा व्याघ्री आदि, और वैज्ञानिक पद्धति मे, सोलेनेसी कुल के अतर्गत, सोलेनम जैथोकार्पम (Solanum xanthocarpum) नाम दिए गए है। इसका लगभग सर्वांग कटकमय होने के कारण यह दु स्पर्श होता है। काँटे सीधे, पीताभ, लगभग आध इच लबे और कभी कभी स्वय छोटे काँटो से युक्त होते है। पत्तियाँ प्राय पक्षवत्, खडित और पत्रखड पुन खडित या दतुर (दाँतीदार) होते है। पुष्प जामुनी वर्ण के, फल गोल, व्यास में आध से एक इच के, श्वेत रेखाकित, हरे, पकने पर पीले और कभी कभी श्वेत भी होते है। कही कही श्वेत पुष्प की भी कटेरी मिलती है जिसे कुछ निघटुकारो ने लक्ष्मणा नामक सप्रति अनिश्चित वनौषधि का स्थानापन्न माना है। आयुर्वेदीय चिकित्सा मे कटेरी के मूल, फल तथा पचाग का व्यवहार होता है। प्रसिद्ध ओषधिगण 'दशमूल' और उसमें भी 'लघुपचमूल' का यह एक अग है। स्वेदजनक, ज्वरघ्न, कफ-वात-नाशक तथा शोथहर आदि गुणो के कारण आयुर्वेदिक चिकित्सा में कासश्वास, प्रतिश्याय तथा ज्वरादि मे विभिन्न रूपो मे इसका प्रचुर उपयोग किया जाता है। बीजो में वेदनास्थापन का गुण होने से दतशूल तथा अर्श की शोथयुक्त वेदना में इनका धुँआ दिया जाता है। [ब० सि०]

कंटशुंडी (अकायोमेफाला, Acanthocephala) एक प्रकार के पराश्रयी अथवा परोपजीवी कृमियो की श्रेणी है जो पृष्ठवशी प्राणियो की सभी श्रेणियो—स्तनपायियो, चिडियो, उरगमो, मेढको और मछलियो—मे पाई जाती है। श्रेणी का यह नाम इसकी बेलनाकार आकृति तथा शिरोभाग में मुडे हुए काँटो के कारण पडा है। काँटे कृमि को पोषक की आत्र की दीवार मे स्थापित करने का काम करते है। इस श्रेणी के कृमियो मे मुख, गुदा तथा अत्र आदि पाचक अवयवो का सर्वथा अभाव रहता है। अतएव, पोषक से प्राप्त आत्मसात्कृत भोजन कृमि के शरीर की दीवार से व्याप्त होकर कृमि का पोषण करता है। भिन्न भिन्न जातियो (स्पीसीज) की कटशुडियो की लबाई भिन्न होती है और दो मिलीमीटर से लेकर ६५० मि० मी० तक पाई जाती है। किंतु प्रत्येक जाति के नर तथा नारी कृमि की लबाई मे बडा अतर रहता है। सभी जातियो की कटशुडियो मे नारी सर्वदा नर से अधिक बडी होती है। विभिन्न जातियो की आकृति मे भी बडी भिन्नता पाई जाती है। किसी का शरीर लबा, दुबला और बेलनाकार होता है तो किसी का पार्श्व से चिपटा, छोटा और स्थूल होता है। शरीर की सतह चिकनी हो सकती है, किंतु प्राय झुर्रीदार होती है। मासपेशियो के कारण इनमें फैलने तथा सिकुडने की विशेष क्षमता होती है। शरीर का रग पोषक के भोजन के रग पर निर्भर रहता है। गदे भूरे रग से लेकर चमकीले रग तक की कटशुडियाँ पाई जाती है।
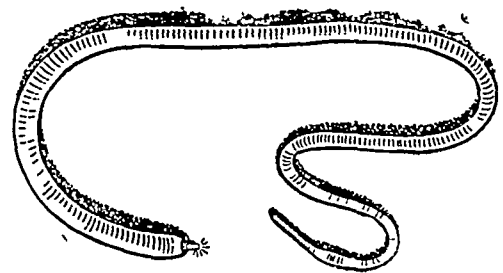
स्त्री नवशुल्यतुड (Female Echinorhynchus)

इस श्रेणी का कोई भी सदस्य स्वतत्र जीवन नही व्यतीत करता। सभी सदस्य अत परोपजीवी (एडोपैरासाइट, endoparasite) होते है और प्रत्येक सदस्य अपने जीवन की प्रारभिक अवस्था (डिंभावस्था अर्थात् लार्वल स्टेज) सधिपाद समुदाय की कठिनी (Crustacea) श्रेणी के प्राणी में और उत्तरार्ध अवस्था (वयस्क अवस्था अर्थात् adult stage) किसी पृष्ठवशी प्राणी में व्यतीत करता है। सभी श्रेणियो के पृष्ठवशी इन कटशुडियो के पोषक हो सकते है, यद्यपि प्रत्येक जाति किसी विशेष पृष्ठवशी मे ही पाई जाती है।

इस श्रेणी मे परिगणित ३०० जातियो का नामकरण हो चुका है और उनमे से अधिकाश मछलियो, चिडियो तथा स्तनपायियो मे पाई जाती है। कटशुडी ससार के सभी भूभागो मे पाई जाती है।

इस श्रेणी की मुख्य जाति (genus) शल्यतुड (Echinorhynchus), अथवा बृहत्तुड (Gigantorhynchus) है, जो सूअरो मे पाई

जाती है। इसकी लबाई एक गज से भी अधिक तक की होती है। यह अपने पोषक की आत्र की दीवार से अपने काँटो द्वारा, लटकी रहती है। जब इसका भ्रूण तैयार हो जाता है तब यह पोषक के मल के साथ शरीर से बाहर चली आती है। सूअर के मल को जब एक विशेष प्रकार का गुबरैला खाता है तब उस गुबरैले के भीतर यह भ्रूण पहुँचकर डिंभ (लार्वा) मे विकसित हो जाता है। इस प्रकार के सक्रमित गुबरैले को जब सूअर खाता है तो डिंभ पुन सूअर के अत्र मे पहुँच जाता है, जहाँ वह वयस्क हो जाता है। नवशल्यतुड (Neoechinothynchus) एक अन्य उदाहरण है। यह कटशुडी वयस्क अवस्था मे मछलियो तथा डिंभावस्था मे प्रजालपक्ष डिंभो (Sialis larvae) मे परोपजीवी जीवन व्यतीत करती है।

पहले कटशुडी सूत्रकृमि (Nemathelminthes) समुदाय की श्रेणी में गिनी जाती थी, किंतु अब इसकी एक अलग श्रेणी निर्धारित की जा चुकी है। इस श्रेणी की वशावली अभी अनिर्णीत है।

इस श्रेणी का वर्गीकरण विभिन्न वैज्ञानिको ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है, किंतु सबसे आधुनिक वर्गीकरण हाइमान (Hyman) का है। इन्होंने सपूर्ण श्रेणी को तीन वर्गो मे विभक्त किया है (क) आदिकटशुडी (Archiacanthocephala), (ख) पुराकटशुडी (Palaeacanthocephala) तथा (ग) प्रादिकटशुडी (Eoacanthocephala)। इस वर्गीकरण के मुख्य आधार शुड (Proboscis) मे वर्तमान काँटो की सख्या तथा कुछ अन्य विशेषताएँ हैं।
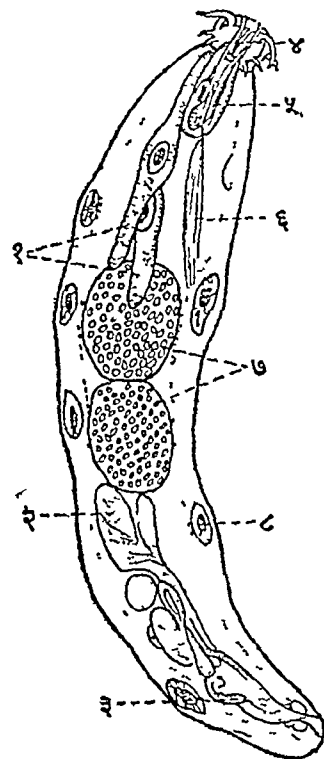
नर नवशल्यतुड (नियोएकाइनोरिकस) की अत. रचना

१ मुद्‌गरिकाएँ (लेम्निसाइ), २ सश्लेषक ग्रथि (सीमेंट ग्लैंड), ३ शुक्रवाहक, ४ शुड, ५ शुड आवरण, ६ प्रतिकर्षक पेशी, ७ वृषण, ८. वृहत् केंद्रक।

आकैंथोसेफाला वर्ग के इस जीव के वयस्क मछलियो में तथा इसके डिंभ प्रजाल पक्ष (साइऐलिस) के डिंभो मे निवास करते हैं।

स० ग्र०— एफ० ए० ब्राउन, जरनल एडीटर सिलेक्टेड इनवर्टिब्रेट टाइप्स, जान वीले ऐड सस, न्यूयॉर्क, १९५०, एल० एच० हाइमान दि इनवर्टिब्रेट्स, खड ३, मैक्ग्रॉ-हिल बुक कपनी, न्यूयॉर्क, पी० हिकमान क्लीवलैंड इटिग्रेटेड प्रिंसिपल्स ऑव जुऑलोजी, सी० वी० मासबाई कपनी, सेंट लुई, १९५५,

[भृ० ना० प्र०]

कंठार्ति

कंठार्ति (Laryngitis) स्वरयत्र का रोग है। इसमे स्वरयत्र की श्लेष्मिक कला फूल जाती है और उसमे से एक लसदार पदार्थ (श्लेष्मा) निकलने लगता है।

कारण—इस रोग के होने की सभावना प्राय सर्दी लग जाने, पानी मे भीगने, गले मे धूल के कण या धुआँ जाने, जोर से गाना गाने या व्याख्यान देने से तथा उन सभी अवस्थाओ से जिनमे स्वरयत्रोका प्रयोग अधिक किया जाता है, बढ जाती है।

यह अनुभव हुआ है कि यदि शीत लग जाने के बाद स्वरयत्र का अधिक प्रयोग किया जाता है तो 'कठार्ति' के लक्षण प्राय उत्पन्न हो जाते हैं। अकस्मात् हवा की गति बदल जाने से, या दूषित वायुवाले स्थान मे अधिक समय तक रहने से भी, कठार्ति के लक्षण प्रकट हो जाते है। कठार्ति के लक्षण आत्रिक ज्वर, शीतला, फुफ्फुसी यक्ष्मा, मसूरिका, रोमातिका आदि रोगो मे भी पाए जाते हैं।

लक्षण—इस रोग मे रोगी का गला खरखराने लगता है और उसमे पीडा तथा जलन जान पडती है। सूखी खाँसी के साथ कडी श्लेष्मा निकलता है। किसी किसी रोगी को थोडा या अधिक ज्वर भी रहता है। भूख प्यास नही लगती। कठार्ति मे स्वरतार रक्त एव शोथयुक्त हो जाते हैं जिसके कारण बोलने मे रोगी को कष्ट होता है। कभी कभी रोग की तीव्रता के कारण स्वर पूर्ण रूप से बद हो जाता है और साँस लेने मे भी कष्ट होता है।

बच्चो मे कठार्ति बहुधा उग्र रूप धारण कर लेती है, इसलिये उनमे कठार्ति होने पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

उपचार—रोग की दशा मे रोगी को पूर्ण रूप से शैया पर आराम करना चाहिए। उसका कक्ष प्रकाशयुक्त तथा सुखद होना चाहिए। जाडे के दिनो मे अग्नि या अन्य साधनो से उसे उष्ण रखना अच्छा है, परतु अग्नि का प्रयोग करने पर इसका ध्यान रखना चाहिए कि आग से निकली गैस चिमनी से बाहर चली जाय, कक्ष मे न फैले। स्वरयत्र का प्रयोग कम से कम करना चाहिए। रोगी की ग्रीवा को सेकना चाहिए और गले को किसी कपडे से लपेटकर रखना चाहिए। आतरिक सेक के लिये रोगी को वाष्प मे श्वास लेना चाहिए। [क० दे० मा०]

कंदहार

कंदहार अफगानिस्तान का तीसरा प्रमुख ऐतिहासिक नगर एव कदहार प्रदेश की राजधानी। इसकी स्थिति ३१° २७′ उ० अ० से ६४° ४३′ पूर्व दे० पर, काबुल से लगभग २८० मील दक्षिण-पश्चिम और ३,४६२ फुट की ऊँचाई पर है। यह नगर टरनाक एव अर्गदाब नदियो के उपजाऊ मैदान के मध्य मे स्थित है जहाँ नहरो द्वारा सिंचाई होती है, परतु इसके उत्तर का भाग उजाड है। समीप के नए ढग से सिंचित मैदानो मे फल, गेहूँ, जौ, दाले, मजीठ, हीग, तबाकू आदि लगाई जाती हैं। कदहार से नए चमन तक रेलमार्ग है और वहाँ तक पाकिस्तान की रेल जाती है। प्राचीन कदहार नगर तीन मील मे बसा है जिसके चारो तरफ २४ फुट चौडी, १० फुट गहरी खाई एव २७ फुट ऊँची दीवार है। इस शहर के छ दरवाजे हैं जिनमे से दो पूरब, दो पश्चिम, एक उत्तर तथा एक दक्षिण मे है। मुख्य सडके ४० फुट से अधिक चौडी हैं। कदहार चार स्पष्ट भागो मे विभक्त है जिनमे अलग अलग जाति (कबीले) के लोग रहते हैं। इनमे चार—दुर्रानी, घिलजाई, पार्सिवन और काकार—प्रसिद्ध हैं।

यहाँ वर्षा केवल जाडे मे बहुत कम मात्रा मे होती है। गर्मी अधिक पडती है। यह स्थान फलो के लिये प्रसिद्ध है। अफगानिस्तान का यह एक प्रधान व्यापारिक केंद्र है। यहाँ से भारत को फल निर्यात होते हैं। यहाँ के धनी व्यापारी हिंदू हैं। इस नगर की जनसख्या लगभग ७७,००० है। १९०८ ई० मे हिंदुओ की सख्या लगभग ५,००० थी। नगर मे लगभग २०० मसजिदे हैं। दर्शनीय स्थल हैं अहमदशाह का मकबरा और एक मसजिद जिसमे मुहम्मद साहब का कुर्ता रखा है।

कदहार प्रदेश—अफगानिस्तान का एक प्रात है। इसके उत्तर मे ताइमानी तथा काबुल, पूर्व तथा दक्षिण मे बलूचिस्तान और पश्चिम मे फराह है। यदि काबुल से फराह तक एक सीधी रेखा मिला दी जाय तो यह प्रदेश दो स्पष्ट भागो मे विभक्त हो जाता है। इस रेखा के उत्तर का भाग पहाडी है। धरातलीय ऊँचाई ४,००० फुट से १०,००० फुट तक है। दक्षिणी भाग नीचा है। अफगानिस्तान का एकमात्र मैदान हरौत, फराह एव हेलमद नदी द्वारा निर्मित है। कदहार नगर के दक्षिण तथा पश्चिम मे क्रमश रेगिस्तान एव अफगान-सीस्तान की मरुभूमि है। हेलमद रेगिस्तानी नदी है जो उत्तर के ऊँचे पहाडो से निकलकर सीस्तान की मरुभूमि मे समाप्त हो जाती है। प्राचीन काल मे काबुल के नीचे के देश एव कदहार को गाधार देश कहते थे। धृतराष्ट्र की पत्नी गाधारी यही की थी। यह सम्राट् अशोक के सीमात राज्यो मे था। ११वी सदी मे महमूद गजनवी ने कदहार को अफगानो से छीन लिया था और २०० वर्षों तक उसके वशजो का यहाँ साम्राज्य रहा। तदनतर यह चगेज खाँ, तैमूरलग, बाबर और उसके परवर्ती मुगल सम्राटो (१६२५ ई० तक), ईरान के शाह अब्बास प्रथम, नादिर शाह, अहमदशाह दुर्रानी तथा अंग्रेजी साम्राज्य का अग बना रहा। सन् १७४७ ई० में अहमदशाह दुर्रानी ने अफगान साम्राज्य की नीव रखी और आधुनिक स्थल पर कदहार नगर की, राजधानी के रूप मे, स्थापना की। [रा० लो० सिं०]

जब सशोधित प्रूफ कपोजिटर के पास आता है, तब वह मैटर को बाँधनेवाली डोरी खोल डालता है और प्रूफ पर अकित अशुद्ध अक्षरो को मैटर से चिमटी द्वारा निकालकर केसो में यथास्थान रख देता है और उनके बदले शुद्ध अक्षर लगाता चलता है तथा अन्य आवश्यक सशोधन करता है। सशोधित मैटर को खडो में बाँटकर पृष्ठो के अनुसार लगा दिया जाता है, पृष्ठ-सख्या कपोज कर दी जाती है और पृष्ठ का शीर्षक भी (जिसे **फोलियो** कहते हैं) लगा दिया जाता है। अब फिर प्रूफ उठाया (छापा) जाता है जिसे या तो प्रूफ सशोधक पढता है अथवा पुस्तक का लेखक।

जब कहीं भी कोई अशुद्धि नही रह जाती तब मैटर मशीन विभाग को छापने के लिये सौंप दिया जाता है।

मशीन से कपोजिंग—मशीन से कपोजिंग दो प्रकार से हो सकती है। एक में पूरी पूरी पक्तियाँ एक साथ एक टुकडे में ढलती हैं, दूसरे में एक एक अक्षर अलग ढलते हैं। लाइन ढालनेवाली मशीनो के उदाहरण लाइनोटाइप और इटरटाइप मशीनें हैं। इन मशीनो मे प्रत्येक टाइप के लिये कई एक साँचे रहते हैं जिनको *मैट्रिक्स* कहते हैं। मशीन मे चाभियो का समूह (कुजीपटल, key board) रहता है। एक चाभी (कुजी) दबाने से उस चाभीवाला एक अक्षर उतरता है। चाभी दबाने का काम लगभग उसी प्रकार का होता है जैसे साधारण टाइपराइटर में, केवल छोटे और बडे (कपिटल)
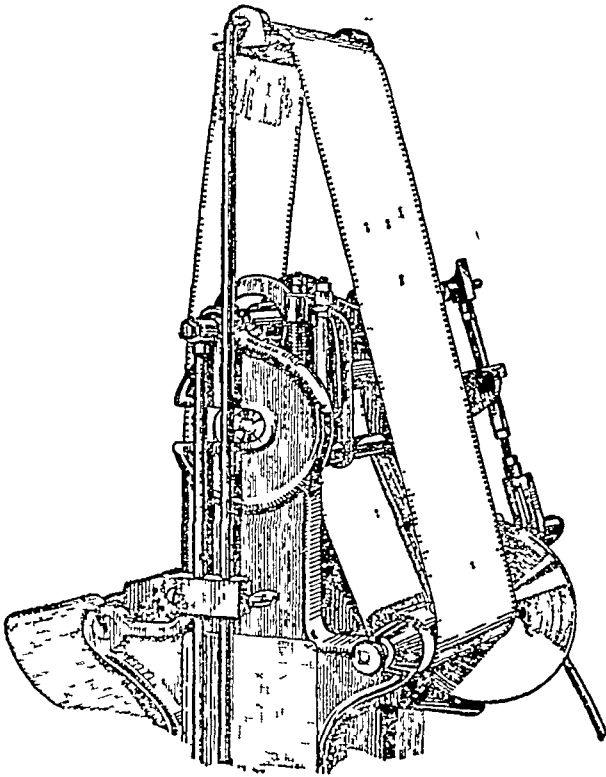
चित्र १२ मोनोटाइप कपोजिंग

इसमें अक्षरो के अनुसार कागज मे पहले छद किया जाता है।

अँग्रेजी अक्षर सब कुजी पटल पर अलग अलग रहते हैं। प्रत्येक शब्द के बाद स्पेस वाली चाभी दबाकर स्पेस लगाते चलते हैं। जब पक्ति लगभग पूरी हो जाती है तब एक मुठिया ऐंठी जाती है जिससे सब कपोज किए हुए साँचे ढालने की स्थिति मे आ जाते हैं और पक्ति जस्टिफाई (justify) हो जाती है, अर्थात् लबाई की कमी पूरी हो जाती है। प्रत्येक स्पेस दोहरा होता है और प्रत्येक आधा भाग, स्फान (wedge) रूपी होता है। इसलिये दबने पर दोहरे स्पेस की सम्मिलित मोटाई बढ जाती है और इस प्रकार पक्ति जस्टिफाई हो जाती है। तब पिघली धातु साँचे के सामने डटे खोखले बक्स में भर जाती है, जिससे पक्ति ढल जाती है। साँचे के कारण इस ढली पक्ति के माथे पर कपोज किए अक्षर बन जाते हैं। फिर मशीन मे लगी छुरियाँ इस ढले छड को बगल और नीचे से नाम मात्र छील देती हैं, जिसमें मोटाई और ऊँचाई सच्ची हो जाय। तब ढली पक्ति गैली मे जा गिरती है। उधर साँचे वाले अक्षर मशीन के माथे पर पहुँच जाते हैं। उनकी पदी मे ताले की चाभियो की भाँति दाँत बने रहते हैं। इनके कारण वे अपने अपने घरो मे जा गिरते हैं। इस प्रकार थोडे से ही साँचो से बराबर काम होता रहता है।

ऐसी मशीनो से कपोजिंग का काम बडी शीघ्रता से होता है। कडी धातु से बने रहने के कारण साँचे बहुत दिनो तक नए की भाँति बने रहते हैं। अत उनसे ढला टाइप बहुत तीक्ष्ण रहता है और छपाई अच्छी होती है। समाचारपत्रो की छपाई में इन मशीनो की विशेष उपयोगिता है, क्योकि मैटर पक्तियो मे ढला रहता है जिससे उसके बिखरने का डर नही रहता। परतु साथ ही यह असुविधा भी है कि कपोजिंग मे कही अशुद्धि हो जाने से पूरी पक्ति फिर से कपोज करनी पडती है। फिर, कपोजिंग में एक दो शब्द छूट जाने से कई पक्तियो को कम स्पेस लगा लगाकर फिर से कपोज करना पडता है जिससे छूटा हुआ शब्द यथास्थान लग सके।

मोनोटाइप—अलग अलग टाइप ढालकर कपोज करनेवाली मशीन अभी केवल एक कपनी बनाती है। मशीन का नाम है मोनोटाइप। वस्तुत इसमे तीन पृथक् मशीनो की आवश्यकता पडती है। एक मशीन तो पप है जो हवा को सपीडित करके (दबाकर) एक टकी मे भरती रहती है। इस सपीडित वायु की आवश्यकता शेष दोनो मशीनो में पडती है। एक मशीन बहुत बडे टाइपराइटर की तरह होती है जिसमें २२५ या अधिक चाभियाँ रहती हैं। चाभी दबाने पर सपीडित वायु के बल से एक पक्ति म लगी तीस सुइयो मे से साधारणत दो सुइयाँ उठती हैं जो एक पुलिदे म से निकले कागज मे दो छेद कर देती हैं (देखे चित्र १२)। छेद होने का ढग यह है कि कागज की टिकली कटकर निकल जाती है। प्रत्यक चाभी से छेद विभिन्न स्थानो मे होते हैं। एक पक्ति में दो छद हो जाने पर कागज थोडा आगे बढ जाता है और तब दूसरी पक्ति मे छेद होते हैं।

दूसरी मशीन मे अक्षर ढलते हैं। पहली मशीन से छेद किया कागज इस मशीन मे चढा दिया जाता है। कागज एक बेलन पर चपक कर बठता है और उसके ऊपर एक अर्धनलिका चपककर बठती है। इस अधनलिका मे सपीडित वायु आती रहती है। कागज के छेदो की कोई पक्ति पूर्वोक्त बेलन के छेदो की पक्ति पर आती है, तब कागज के दोनो छदो मे से सपीडित वायु बेलन के भीतर की दो नलिकाओ मे घुसती है। बेलन के भीतर ३०
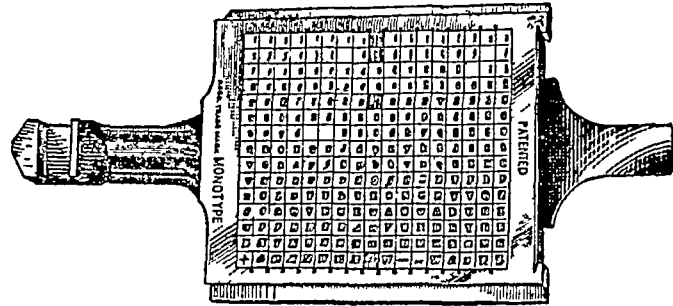
चित्र १३ मोनोटाइप मैट्रिक्स केस

नलिकाएँ रहती हैं और प्रत्येक का सिरा बेलन के एक छेद से सबद्ध रहता है। जब किसी नलिका मे वायु घुसती है तो उसके दूसरे सिरे से सबद्ध खूटी सपीडित वायु के बल से उठ जाती है। १५ खूँटियाँ एक पट्ट मे से निकलती है, १५ एक अन्य पट्ट से। अक्षरो के साँचे ३ इच × ३ इच के फ्रेम मे कसे रहते हैं (देखें चित्र १३)। यह फ्रेम कमानी के बल से पूर्वोक्त खूटियो से जा डटता है। मान ले, १५ खूँटियो का पहला समूह फ्रेम के ठीक उत्तर मे है और दूसरा समूह ठीक पश्चिम मे, तो अन्य फ्रेम नीचे लगे एक खाँचेए के ठीक उत्तर-चला सकता है और एक दक्षिण के खाँचे कर फ्रेम और कारण पहला खाँचा दोनो साथ ही पूरब-पश्चिम चल सकते हैं। जब फ्रेम उत्तर और पश्चिमवाली खूँटियो से जा डटेगा तब उसी अक्षर का साँचा पप के मुँह पर पडेगा जिसके लिये कपोज करते समय चाभी दबाई गई थी। अब एक कमानी साँचे को एक खोखले छेद पर दबा देगी (जिसकी चौडाई अक्षर की चौडाई के अनुसार घटती बढती रहती है) और नीचे से पिघली धातु पप द्वारा आकर ढल जायगी। फिर मशीन स्वय इस अक्षर को खीच

ने जायगी, दूसरा अक्षर ढलेगा, फिर अन्य अक्षर, और पंक्ति पूरी हो जाने पर एक हुक उसे खींचकर गैली में पहुँचा देगा। उधर फ्रेम ढीला होकर अपनी प्रस्थान स्थिति में पहुँच जायगा और वहाँ से चलकर अन्य खूटियों से जा टकेगा।

पंक्तियाँ सब पूरी नाप की (अर्थात् जस्टिफाई होकर) निकलती हैं। कारण यह है कि कपोज करते समय पंक्ति लगभग पूरी होने पर कार्यकर्ता (आपरेटर) मशीन में लगे सूचक को देखकर समझ जाता है कि कितने मोटे स्पेसों के लगने पर पंक्ति पूरी होगी और वह उसी के अनुसार विशेष कुंजी को दबाता है। अक्षरों का ढालना उलटी ओर से आरंभ होता है,
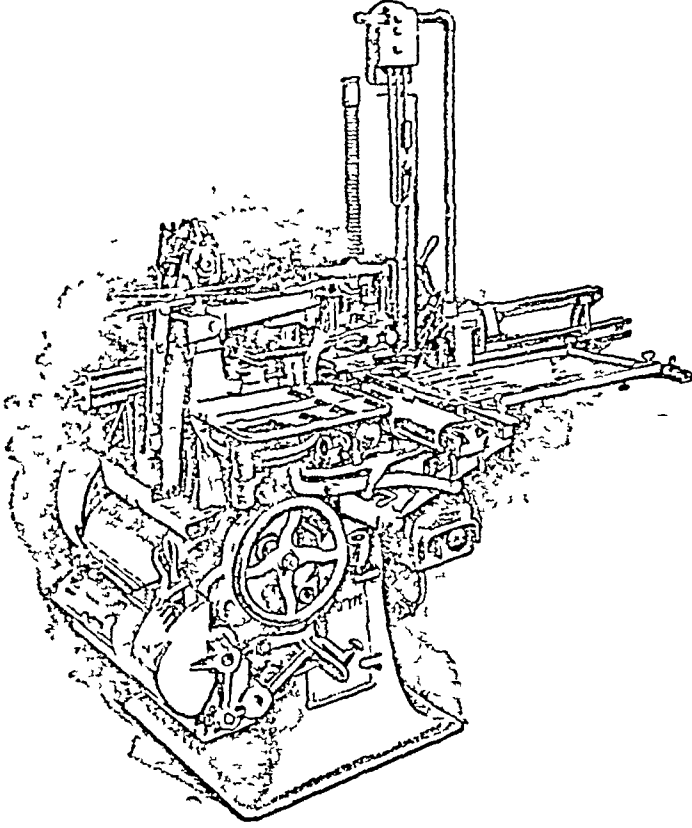
चित्र १४ मोनोटाइप की ढालनेवाली मशीन

अर्थात् अंतिम छेद का अक्षर पहले ढाला जाता है और जब किसी नई पंक्ति की ढलाई आरंभ की जाती है तो मशीन का एक पुरजा ऐसी स्थिति में आ जाता है कि दाबी गई चाभियों के अनुसार वांछित नाप के ही स्पेस उस पंक्ति में ढलते हैं।

साँचे कड़ी धातु के बने रहते हैं। इसलिये उनसे बहुत दिनों तक बढ़िया टाइप ढलता रहता है और छपाई बड़ी सुंदर होती है। असुविधा यही है कि देवनागरी के लिये इने गिने प्रकार के ही साँचे मिलते हैं, यद्यपि अँग्रेजी के लिये सैकड़ों आकार प्रकार के अक्षर ढल सकते हैं। [मo लाo जाo]

देवनागरी की कपोज़िंग—देवनागरी की कपोज़िंग में दो कारणों से विशेष कठिनाई पड़ती है

(१) मात्राओं का ऊपर नीचे लगना,

(२) संयुक्ताक्षरों की बहुलता।

कपोजकरने की रीति से यह स्पष्ट है कि यदि टाइपों को एक दूसरे की बगल में लगाना हो तभी कार्य सुगमता से हो सकता है। परंतु देवनागरी में इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अँ, आं, आँ, की मात्राएँ (अर्थात् ि, ी, ु, ू, ृ, े, ै, ो, ौ, ं, ँ, ां, ाँ) और हल् (्) ये अक्षरों के ऊपर अथवा नीचे लगते हैं। इससे विशेष कठिनाई पड़ती है। इसके दो हल निकले हैं। एक तो है बबइया शैली के टाइपों का प्रयोग। इनमें अक्षरों के ऊपर तथा नीचे आवश्यकतानुसार मात्राएँ तथा स्पेस कपोज किए जाते हैं, अर्थात् एक पंक्ति शब्दावली कपोज करने के लिये वस्तुतः तीन पंक्तियाँ कपोज करनी पड़ती हैं, एक में ऊपर लगनेवाली मात्राएँ और स्पेस, एक में बिना मात्रा के अक्षर और एक में नीचे लगनेवाली मात्राएँ तथा स्पेस, जैसा चित्र से स्पष्ट है। इस शैली में कु या इसी प्रकार के अन्य मात्रायुक्त अक्षर कपोज करने के लिये कम से कम तीन टुकड़े, और अक्षर से मात्राएँ छोटी होने पर मात्राओं को बीच में लाने के लिये चार अन्य स्पेसों (धातु के टुकड़ों) की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये ऐसी कपोजिंग में समय अधिक लगता है। १२ तथा १६ पॉइंट के अक्षरों में बबइयाँ शैली का प्रयोग प्रायः नहीं होता, क्योंकि उनमें मात्राओं को इतनी छोटी टुकड़ियों पर रखना पड़ता है कि उनको उठाना और स्टिक में बैठाना कठिन कार्य हो जाता है। [१ पॉइंट=१/७२ इंच]।
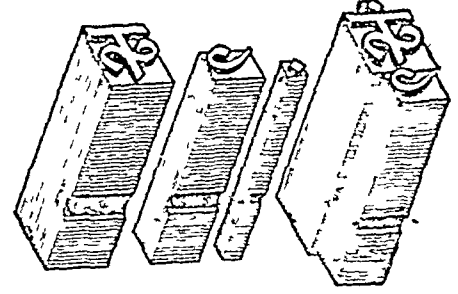
चित्र १५ बबइया शैली के टाइप से कपोजिंग

देखिए कु कपोज करने के लिये ३ टुकड़े लगे हैं।

१२ तथा १६ पाइंट के टाइपों के लिये साधारणतः 'अखंड' शैली का प्रयोग होता है। इसमें अक्षर और बार बार आनेवाली मात्राएँ एक साथ ढली रहती हैं। उदाहरणतः टाइपों में क, कु, कू, कृ, के, कै ये अक्षर भी ढले मिलेंगे। परंतु इससे टाइपों की संख्या ६ गुनी हो जाती है। इतना ही नहीं, जब इन मात्राओं के साथ अनुस्वार, रेफ आदि का भी प्रयोग करना पड़ता है तब ऐसे कु की आवश्यकता पड़ती है जिसके ऊपर अनुस्वार (बिंदी)
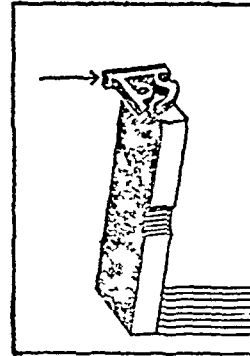
चित्र १६ कर्नवाला टाइप

१ टाइप के शरीर के बाहर बढ़ा मुखड़े का भाग जिसे कर्न कहते हैं।
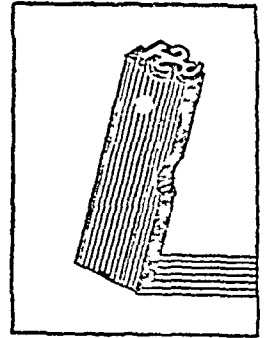
चित्र १७ पूर्वोक्त प्रकार के टाइप का बगल से दृश्य

लग सके। इसके लिये टाइप के माथे पर चूल कटा रहता है और बगल के नीचे से धातु कटी रहती है। इसी बगल में धातु का दूसरा टुकड़ा आ बैठता है। इस दूसरे टुकड़े में एक अंग एक बगल बिना पेंदी का सहारा पाए बढ़ा रहता है, जो प्रधान अक्षर की चूल पर जा बैठता है। चित्र से यह बात स्पष्ट हो जायगी। टाइप के मुखड़े के उस भाग को कर्न कहते हैं जो शरीर के बाहर बढ़ा रहता है (देखें चित्र १६ तथा १७)।

'अखंड' शैली में कु देखें, जो दो टुकड़ों से बना है।

इस रीति से काम तो चल जाता है, परंतु अँग्रेजी की कपोजिंग की तुलना में, जिसमें कहीं चूल नहीं बैठाना पड़ता और केवल इटैलिक एफ या जे में कर्न रहता है, देवनागरी की कपोजिंग में समय अधिक लगता है। फिर, बगल में बैठाई गई मात्राएँ बहुधा टूट जाती हैं। कारण यह है कि जहाँ प्रधान टाइप की चूल पर बगल से आकर मात्रा बैठती है वहाँ टाइपों की ऊँचाइयों में कुछ अंतर रह जाने से मात्रावाले टाइप का एक अंग बिना आधार का रह जाता है और छपाई के समय दाब पड़ने पर मात्रा टूट जाती है। देवनागरी में छपी कदाचित् ही कोई पुस्तक हो जिसमें मात्रा कहीं भी न टूटी हो।

गीता प्रेस (गोरखपुर) से छपी गीता में प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है कि कहीं अशुद्धि न होने पाए और जहाँ कहीं मात्रा टूट गई है अथवा कोई अन्य अशुद्धि हो गई है वहाँ छपी पुस्तक में हाथ से संशोधन कर दिया गया है, परन्तु इतनी सावधानी बरतने पर भी कहीं कहीं टूटी मात्रा के कारण

चित्र १८ अखंड शैली में कुं

उत्पन्न हुई अशुद्धि (कम से कम मेरी प्रति में, जो एकादश संस्करण की है) रह गई है।

बगल से चूल बैठाने के कारण देवनागरी में पर्याप्त छोटे टाइप नहीं मिलते। अँग्रेजी में ४॥ पॉइंट तक में, हाथ से कंपोज किए मैटर से, छपाई सुविधासहित हो सकती है और ३ पॉइंट तक का टाइप बनता है, परन्तु हिंदी में ६ पॉइंट का टाइप भी अभी किसी ग्रंथ के छपने में प्रयुक्त नहीं किया जा सका है। कोश आदि की छपाई में इससे बड़ी कठिनाई पड़ती है। यदि हिंदी शब्द-सागर, जिसमें ४,३०० पृष्ठ हैं, १२ पॉइंट टाइप में लेडयुक्त छपने के बदले ६ पॉइंट ठोस में छप सकता तो कुल सामग्री ८०० पृष्ठों में ही आ जाती और इसका मूल्य भी पंचमांश हो जाता। इससे हिंदी की जो सेवा होती उसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं। कोश आदि लगातार घंटों तक नहीं पढ़े जाते, दो चार मिनट में काम चल जाता है। इसलिये कोश के छोटे टाइप से आँखों पर विशेष बल नहीं पड़ता। वेब्स्टर के प्रसिद्ध अँग्रेजी कोश में अधिकतर ५ प्वाइंट का टाइप व्यवहृत हुआ है जिससे एक इंच में १४ पंक्तियाँ आ जाती हैं। यदि यह भी हिंदी विश्वकोश की भाँति १२ पॉइंट में लेडयुक्त छपता तो दो जिल्दों के बदले यह उतनी ही बड़ी तथा उतनी ही मोटी १४ जिल्दों में संपूर्ण होता।

संयुक्त अक्षरों से कठिनाई—देवनागरी में संयुक्त अक्षर बनाने की दो रीतियाँ हैं। एक रीति में अक्षर को आधा करके उसकी बगल में समूचा अक्षर रखा जाता है, दूसरी में अक्षर एक के नीचे एक लिखे जाते हैं। उदाहरणार्थ

पाञ्चजन्य हृषीकेशो देवदत्त धनञ्जय —
की तुलना

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः

से करें। दूसरी पंक्ति में ञ के नीचे च तथा ज हैं। इस पद्धति में ऊपर लिखा अक्षर आधा (अर्थात् हल्) और नीचे लिखा अक्षर पूरा समझा जाता है।

देवनागरी के जिन अक्षरों के दाहनी ओर खड़ी रेखा है उनका आधा बनाना सरल है, केवल खड़ी रेखा छोड़ दी जाती है। इस प्रकार हमें ख्, ग्, घ्, च्, ज्, झ्, ञ्, ण्, त्, थ्, ध्, न्, प्, ब्, भ्, म्, य्, ल्, व्, श्, ष्, स्, मिल जाते हैं। शेष अक्षरों में से क, फ, ह की दाहिनी ओरवाली टाँग को सीधी और छोटी कर देने से काम चल जाता है, यथा क्, फ्, ह्। इनमें से अंतिम अर्थात् ह का आधा रूप, हाल में ही चला है, इसे संभवतः मोनोटाइपवालों ने चलाया है। अब बच जाते हैं १० अक्षर ङ, छ, ट, ठ, ड, ड़, ढ, ढ़, द, तथा र। इनके आधे बनाने की कोई सुगम रीति नहीं निकल पाई है, यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर हल् लगाकर काम चला ही लिया जाता है। वस्तुतः अब अधिकाधिक अवसरों पर हल् से काम लिया जाता है। उत्तर प्रदेश की नागरी लिपि सुधार समिति (१९५४) ने तो सुझाव दिया था कि जहाँ कहीं इन अक्षरों के आधे का काम पड़े वहाँ हल् से काम लिया जाय, परन्तु जनता के एक महत्वपूर्ण अंश को यह बात पसंद नहीं आई।

जब पूर्वोक्त अक्षरों का आधा बन नहीं पाता, और हल् का प्रयोग पसंद नहीं होता, तब अक्षरों को ऊपर नीचे लिखने की प्रथा अपनानी पड़ती है। ये संयुक्ताक्षर कहलाते हैं। उदाहरण के लिये द पर विचार करें। आधे द के बाद क, ख, ग आदि में से जो जो अक्षर आ सकते हैं उनमें से प्रत्येक के लिये एक पृथक् संयुक्त अक्षर का टाइप रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ

श्रीमद्भगवद्गीता

पर विचार करें। देखिए, इसमें द्भ और द्ग ये टाइप द तथा भ अथवा द और ग के टाइपों को जोड़ने से नहीं बने हैं। इनके लिये पृथक् टाइप रहते हैं। इसी प्रकार द्ध, द्द, द्व, द्य, द्र, द्व के भी टाइप रहते हैं। सच पूछिए तो कई एक अन्य संयुक्त टाइप भी चाहिए जिसमें द आधा और परवर्ती अक्षर पूरा रहे, परन्तु झंझट कम करने के लिये वहाँ द् से काम चला लिया जाता है। फिर, इन संयुक्त अक्षरों के टाइपों में, जो बने हुए रखे जाते हैं, बहुधा उ, ऊ, ए, ऐ की मात्राएँ भी लगानी पड़ती हैं। चाहिए तो मात्रायुक्त भी अखंड टाइप, परन्तु साधारणतः पूर्वोक्त मात्रारहित संयुक्ताक्षरों में चूल कटे टाइप भी रखे हैं और बगल से मात्राएँ लगा दी जाती हैं। ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, तथा ड़, ढ़, ह के लिये भी ये ही बात लागू है। कुछ संयुक्त टाइप रहते हैं, अन्य स्थानों में हल् से काम चलता है, मात्राएँ लगानी होती हैं तो चूल कटे टाइपों से काम चलाया जाता है। कुछ संयुक्ताक्षर ऐसे भी हैं जो आधे अक्षरों से बन सकते हैं, परन्तु उनका कोई विशेष रूप भी प्रचलित है, जैसे त्त, त्र, ह्म, क्र, क्ष, र का स्थान निराला है। आधा र रेफ कहलाता है और अक्षरों के ऊपर लगता है, यथा धर्म। यहाँ भी वस्तुतः र्म के लिये अखंड टाइप होता तो अच्छा होता, तब रेफ के टूट जाने का डर नहीं रहता। परन्तु कितने संयुक्त अक्षरों और मात्रासहित संयुक्त अक्षरों के टाइप रखे जायँ? यदि कोई प्रण कर ले कि एक भी चूल कटा अक्षर न रखा जायगा और कोई भी संयुक्त अक्षर हल् से न बनाया जायगा तो संभवतः इतने टाइप हो जायँगे कि प्रचलित चार केसों के बदले २० केसों में टाइप भरने की आवश्यकता पड़ जायगी। इसे कोई अतिशयोक्ति न समझे, क्योंकि साधारण व्यंजनों के अतिरिक्त बिंदीयुक्त व्यंजन भी हैं (जैसे क़, ख़, ग़ इत्यादि) और मात्राएँ केवल उतनी ही नहीं हैं जितनी ऊपर गिनाई गई हैं और न संयुक्ताक्षर उतने ही हैं जिनके लिये ऊपर संकेत किया गया है। दो दो मात्राएँ एक साथ आ सकती हैं और रेफ के साथ भी। संयुक्ताक्षर तीन अक्षरों के मेल से भी बनते हैं। साधारणतः मात्राओं में निम्नलिखित मेल रखे जाते हैं

ा ि ु ू ॅ ँ ो ी ँ ॉ ीं िं ु ू ं ँ े ै ो ौ ॅ ी ीं िं ु ू ँ
ों ौं ँ ीं िं ुं ू ँ ॅ ों ौं ु ँ ॉं

और इन सब का उपयोग चूल कटे अक्षरों के साथ होता है।

र का रूप पहले ɿ था। अब भी देहातों में बनियों की दूकानों पर

राम १

में र का प्राचीन रूप मिलता है। द्र के नीचे लगा र भी इसी रूप का एक अंग है। मेरा अनुमान है कि द्रुत गति से लिखने में ɿ की बाईं टाँग छोटी होती गई और दाहिनी तिरछी तथा बड़ी, और इस प्रकार इसी अक्षर ने र रूप धारण कर लिया। यदि यह अनुमान अशुद्ध हो तो भी कोई हानि नहीं। इतना निर्विवाद है कि ɿ का प्राचीन रूप अब भी संयुक्त अक्षरों में बना रह गया है। क्र में वस्तुतः क के नीचे र का प्राचीन रूप ् लगा हुआ है। इसी प्रकार ग्र, प्र इत्यादि अक्षरों में भी। द्र में तो यह स्पष्ट ही पहचाना जा सकता है। प्रश्न यह है कि जब ɿ बदल कर र हो गया है तो क्यों न हम नवीन रूप का ही प्रयोग सर्वत्र करें। क्यों न हम अब प्रसाद को प्‍रसाद लिखें, क्रम को क्‍रम। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, प्‍रसाद आदि के प्रचलित न होने का कारण यह है कि टाइपवालों के पास साँचा बना है, वे क्र, ग्र, प्र इत्यादि ढालते चले आए हैं। इसलिये जब उनसे सब प्रकार का टाइप इकट्ठा मँगाया जाता है तो वे उसमें क्र, ग्र आदि भी रख देते हैं। जब टाइप आ जाता है तो कंपोजिटर भी उनका प्रयोग करने ही लगता है। फिर पाठक बचपन से क्र, ग्र, प्र, देखते आए हैं। उन्हें क्‍र, ग्‍र, प्‍र, खटकते हैं, यद्यपि वे भाषा के नियमों से पूर्णतया शुद्ध हैं। परिणाम यह होता है कि पुराना ढर्रा चला चलता है और कंपोजिटरों के केसों में क्रे, ग्रे, प्रे के लिये भी घर रखना पड़ता है। फिर, इनमें से प्रत्येक घर में दो प्रकार का टाइप रखना

पडता है, एक मादा, एक चूल कटा, क्योकि इन सयुक्ताक्षरो पर मात्राएँ बहुधा लगानी पडती है।

कुछ सयुक्ताक्षर वेकार ही प्रचलित है, क्योकि उनके वदले आधे अक्षर से वने सयुक्ताक्षर का प्रयोग सुगमता से हो सकता है। कुछ उदाहरण गीता प्रेस की गीता मे दिए जा रहे है, और प्रत्येक के नीचे उनका सरलीकृत रूप भी दिखाया जा रहा है।

च्च श्च ष्ट्व ष्ट्वा ष्ट त्त न्न श्व क्त प्त

च्च श्च ष्ट्व ष्ट्वा ष्ट त्त न्न श्व क्त प्त

ञ्च ष्ट्र ह्य क्न घ्न ज्ज स्न ग्न

ञ्च ष्ट्र ह्य क्न घ्न ज्ज स्न ग्न

ब्रह्मविद्ब्रह्माणि भुङ्क्ते पुङ्गव शङ्ख काङ्क्षे

ब्रह्मविद्ब्रह्माणि भुक्ते पुगव शख काक्षे

सुगम छपाई के लिये नागरी लिपि में सुधार--यह सर्वमान्य है कि हमारी नागरी लिपि अन्य लिपियो की तुलना मे बहुत वैज्ञानिक हे। परतु इसमे कुछ त्रुटियाँ भी है। एक तो यह कि सभी इकारात शब्दो के उच्चारण मे इ का उच्चारण अत मे होता है, परतु मात्रा लिखी जाती है पहले, जैसे **वृद्धि**। **वृद्धि** के उच्चारण मे स्पष्टतया पहले वृद् का उच्चारण होता है, फिर जिह्वा ध् के स्थान पर जाती हे और अत में इ से मिलकर उसका उच्चारण होता है, परतु प्रचलित शैली में इ की मात्रा पहले लिखी जाती है। इकारात कहने से ही वोध होता हे कि इ अत मे हे। इसी विचार से नागरी लिपि सुधार समिति (लखनऊ, १९५४) ने प्रस्तावित किया कि इ की मात्रा भी अक्षरो के दाहिनी ओर लिखी जाय, और ई की मात्रा से इसे छोटा रखा जाय। परतु नागरी लिपि सुधार समिति (लखनऊ, १९५६) ने इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया, क्योकि यह जनता को पसद नही था और उसका कहना था कि ी तथा ी मे विशेष अतर न होने से अततोगत्वा भाषा भ्रष्ट हो जायगी। यद्यपि अँग्रेजी लिखने मे a तथा d का भेद केवल खडी रेखा की लवाई पर निर्भर है, और प्रस्तावित शैली मे ह्रस्व मात्रा को बहुत छोटी और दीर्घ मात्रा को बहुत लवी बनाना भी सभव था, यथा

की री टी

किंतु इस झगडे को फिर उठाना वेकार है। परतु यदि ह्रस्व इ की मात्रा को दाहिनी ओर लाया जा सकता तो वगल से लगनेवाली निम्नलिखित मात्राएँ और मात्रायुक्त रेफ, अनुस्वार आदि, जो बहुत दुर्वल होते है और शीघ्र टूटते है, दाहिनी ओर जाकर पुष्ट हो जाते

ि ि ि ि

परतु इससे कही अधिक आवश्यक सुधार यह है कि ि, ी, ु, ू, ें, ैं, ो, ौ, ं का रूप थोडा वदल दिया जाय और उनको अक्षरो की वगल मे इस प्रकार लगाया जाय कि चूल कटे अक्षरो की आवश्यकता न पडे और कही भी किसी मात्रा का कोई अग किसी अक्षर के किसी अग पर चढा न रहे। लाइनो-टाइप वालो ने ऐसा सुधार किया हे। उनकी मशीन से हिंदी की कपोजिंग 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' वाले अपनी पत्रिका मे करते है। एक वानगी नीचे दी जाती है

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थ कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो. समो भूत्वा समत्व योग उच्यते॥

लाइनोटाइप से हिंदी कपोजिंग की वानगी

(लाइनो टाइप ऐंड मेसिनरी लि० के सौजन्य से प्राप्त)

इसमे सदेह नही कि यह पर्याप्त सुपाठ्य है, परतु इसमे उन्नति की जा सकती है, विशेषकर मात्राओ के रूप मे, जिसमे ए तथा ओ की मात्राओ के ऊपरी भाग सदैव परस्पर समातर रहे। फिर, एक दो अक्षर कुछ अधिक सुदर वनाए जा सकते है।

हाथ की कपोजिंग मे लाइनोटाइप की परिपाटी पर वने अक्षरो के प्रयोग से बहुत कुछ समय और पूंजी की वचत हो सकती है। मुद्रको, टाइप डिजाइन करनेवालो और टाइप ढालनेवालो को इधर ध्यान देना चाहिए। जनता को भी सुधरे टाइपो को अपनाना चाहिए, क्योकि इससे अधिक शुद्ध पठनीय सामग्री उनको मिला करेगी, छपाई कुछ सस्ती हो जायगी और छोटे अक्षरो के प्रयोग से कोश आदि अधिक छोटे, हल्के और सस्ते दाम मे मिल सकेगे।

हिंदी साहित्य समेलन ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा सुझाव दिया था कि छोटे टाइपो के लिये अक्षरो की शिरोरेखा वैकल्पिक रहे, अर्थात् यदि मुद्रक चाहे तो विना शिरोरेखा के अक्षरो का उपयोग करे। ऐसे अक्षरो से छ पॉइट की ठोस छपाई हो सकती है, जैसा नीचे के नमूने से प्रत्यक्ष है

छ पॉइट में ठोस छपाई के नमूने का चित्र।

एक काम जो प्रत्येक मुद्रक विना पैसा कौडी खर्च किए कर सकता हे यह हे कि वह ऐसे सयुक्ताक्षर का टाइप कभी भी मोल न ले जो किसी आधे अक्षर से वन सकता है। इसके अतिरिक्त जहाँ हल् का लगाना अनुपयुक्त न जान पडे वहाँ अनिवार्य रूप से हल् से ही काम चलाए। ऐसा उन सव जगहो मे किया जा सकता हे जहाँ उच्चारण मे स्वाभाविक रुकावट आ सकती है, जैसे 'श्रीमद्भगवद्गीता' छापने मे। [गो० प्र०]

कंपोजिटी (Compositae) फूलवाले पौधो का एक कुल है। इस कुल मे अन्य कुलो की अपेक्षा वहुत अधिक पौधे है और ये विश्वव्यापी भी है। इसमे लगभग नौ सौ पचास प्रजातियाँ (जेनेरा) और २०,००० जातियाँ (स्पीशीज) है। इस कुल के पौधो की विशेषता यह है कि प्रत्येक फूल वस्तुत कई पुष्पो का गुच्छ होता है। साधारण गेंदा नामक फूल का पौधा इसी कुल मे है। परतु इस कुल के पौधो मे वडी भिन्नता होती है। अधिकाश पौधे शाक के समान है। किंतु ससार के उष्ण भागो में झाडियाँ और वृक्ष भी इस कुल मे पाए जाते है। कुछ पौधे आरोही होते है। पत्तियाँ वहुधा गुच्छो मे होती है। जिन पौधो मे तने लवे होते है, उनमे पत्तियाँ साधारणत एकातर होती है। जड वहुधा मोटी होती है और कभी कभी उसमे कद होता है, जैसे डालया (Dahlia) मे। कुछ पौधो के तनो मे दूध के सदृश रस रहता है। जैसा पहले वताया गया है, फूल शीर्षो (कैपिट्यूला, capitula) में एकत्र रहते है। ये चारो ओर हरे निपत्रो (ब्रैक्ट, Bract) से घिरे रहते है। जब फूल कलिकावस्था मे रहता है तो इन्ही से उसकी रक्षा होती है। ये ही वाह्यदल-पुज (कैलिक्स, calyx) का काम देते है। ये फूल के शीर्ष परागण के लिये अत्युत्तम रूप से व्यवस्थित होते है। फूलो के एक साथ एकत्र रहने के कारण किसी एक कीट के आ जाने से अनेक का परागण हो जाता है। वर्तिका (स्टाइल, style) की जड पर मकरद निकलता है और दलपुज नलिका (कौरोला ट्यूव, corolla tube) के कारण वर्षा से अथवा ओस से वहने नही पाता। छोटे होठ के कीट भी इस मकरद को प्राप्त नही कर सकते, क्योकि दलपुज नलिका लवी होती है।

फूल का जीवनेतिहास दो भागो में विभक्त किया जा सकता है। आरभ मे फूल नर का काम करते है और अत मे नारी का। इस प्रकार इन फूलो मे साधारणत परपरागण होता है, स्वयपरागण नही। परतु कुछ फूलो मे एक तीसरी अवस्था भी होती है, जिसमे वर्तिकाग्र (स्टिग्मा, stigma) पीछे मुड जाता है और वचे खुचे परागणो को, जो नीचे की वर्तिका (स्टाइल) पर पडे रहते है, छू देता है। यदि परपरागण नही हुआ रहता तो इस प्रकार स्वय परागण हो जाता है।

फलो के वितरण की विधियाँ भी अनेक होती है। कुछ फूलो मे वीज मे रोएँ लगे रहते है, जिससे वे दूर दूर तक उड जाते है। कुछ मे काँटे होते है, जिनसे वे पशुओ की खाल मे चिपककर अन्यत्र पहुँच जाते है। कभी कभी

बीज अपने स्थान पर ही पडे रहते हैं और पौधे को झटका लगने पर इधर उधर बिखर जाते हैं।

इस परिवार के कुछ सदस्य आर्थिक लाभ के हैं, जैसे लैक्ट्यूका सैटाइवा (Lactuka Sativa), चिकरी (सिकोरियम, cichorium), हाथी चोक (आर्टिचोक, Artichoke)। बहुत से सदस्य अपने सुदर फूल के कारण उद्यान मे उगाए जाते है, जसे जिनिआ, सूरजमुखी, गेंदा, डालिया इत्यादि। कुछ ओषधि के भी काम में आते हैं। आरटीमिजिया वल्गेरिस (Artimisia vulgaris) से 'सैंटोनिन' दवा बनती है। पाइरेथ्रम से कीट मारने का चूर्ण बनाया जाता है। यह पुष्प प्रसिद्ध गुलदाउदी (क्राइसैंथिमम, Chrysanthemum) की प्रजाति का है। पार्थेनियम की एक जाति से एक प्रकार का रबर प्राप्त होता है।

इस कुल को हिंदी मे सग्रथित कुल कह सकते हैं।

कंबरलैंड १ सयुक्त राज्य, अमरीका, के मेरीलैंड प्रात मे, पोटोमैक नदी के किनारे समुद्र से ६४१ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह रेल द्वारा देश के अन्य भागो से जुडा हुआ है। १८५० ई० मे ओहायो नहर बन जाने से इसका सबध जार्जटाउन से हो गया, इस प्रकार यह नगर दो राजकीय मार्गो से सबधित है। इस शहर के पश्चिम मे दिनरोज नामक एक सुदर गॉर्ज है, जिसमे से पश्चिम जाने का रास्ता है। उद्योग धधो एव जनसख्या की दृष्टि से यह मेरीलैंड प्रात का दूसरा नगर है। जनसख्या ३६,४०० (१९२८)। यहाँ रेलवे का एक कारखाना भी है। इसी स्थान से मेरीलैंड प्रदेश का बालू, चूना, मिट्टी एव फल बाहर भेजा जाता है।

२ ओहायो नदी की एक सहायक नदी जो कबरलैंड के पठार से निकलकर दक्षिणी केचुकी एव उत्तरी टेनेसी प्रात मे बहती हुई ओहायो टेनेसी नदी में मुहाने से करीब २० मील उत्तर ओहायो नदी मे मिलती है। इसका बहावक्षेत्र १८,०८० वर्गमील है। यह ६९३ मील लबी है तथा मुहाने से करीब ४६१ मील तक नाव चलाने योग्य है। नैशविल, क्लार्कविल एव टेना इसके तट के प्रमुख नगर हैं।

[रा० वृ० मि०]

कंबुज, कंबोज कबोडिया का प्राचीन सस्कृत नाम। भूतपूर्व इडोचीन-प्रायद्वीप मे सर्वप्राचीन भारतीय उपनिवेश की स्थापना फूनान प्रदेश मे प्रथम शती ई० के लगभग हुई थी। लगभग ६०० वर्षो तक फूनान ने इस प्रदेश में हिंदू सस्कृति का प्रचार एव प्रसार करने मे महत्वपूर्ण योग दिया। तत्पश्चात् इस क्षेत्र मे कबुज या कबोज का महान् राज्य स्थापित हुआ जिसके अद्भुत ऐश्वर्य की गौरवपूर्ण परपरा १४वी सदी ई० तक चलती रही। इस प्राचीन वैभव के अवशेष आज भी अग्कोरवात, अग्कोरथोम नामक स्थानो में वर्तमान हैं।

कबोज की प्राचीन दतकथाओ के अनुसार इस उपनिवेश की नीव 'आर्य देश' के राजा कबु स्वायभुव ने डाली थी। वह भगवान् शिव की प्रेरणा से कबोज देश मे आए और यहाँ बसी हुई नाग जाति के राजा की सहायता से उन्होने इस जगली मरुस्थल मे एक नया राज्य बसाया जो नागराज की अद्भुत जादूगरी से हरे भरे, सुदर प्रदेश मे परिणत हो गया। कबु ने नागराज की कन्या मेरा से विवाह कर लिया और कबुज राजवश की नीव डाली। यह भी सभव है कि भारतीय कबोज (कश्मीर का राजौरी जिला तथा सवर्ती प्रदेश—दे० 'कबोज') से भी इडोचीन मे स्थित इस उपनिवेश का सबध रहा हो। तीसरी शती ई० मे भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बसनेवाले मुरुडो का एक राजदूत फूनान पहुँचा था और सभवत कबोज के घोडे अपने साथ वहाँ लाया था। कबोज के प्रथम ऐतिहासिक राजवश का सस्थापक श्रुतवर्मन् था जिसने कबोज देश को फूनान की अधीनता से मुक्त किया। इसके पुत्र श्रेष्ठवर्मन् ने अपने नाम पर श्रेष्ठपुर नामक राजधानी बसाई जिसके खडहर लाओस मे वाट्फू पहाडी (लिंगपर्वत) के पास स्थित हैं। तत्पश्चात् भववर्मन् ने, जिसका सबध फूनान और कबोज दोनो ही राजवशो से था, एक नया वश (रूमेर) चलाया और अपने ही नाम पर भवपुर नामक राजधानी बसाई। भववर्मन् तथा इसके भाई महेद्रवर्मन् के समय से कबोज का विकास-युग प्रारभ होता है। फूनान का पुराना राज्य अब जीर्णशीर्ण हो चुका था और शीघ्र ही इन नए दुर्धर्ष साम्राज्य में विलीन हो गया। महेद्रवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र ईशानवर्मन् गद्दी पर बैठा। इस प्रतापी राजा ने कबोज राज्य की सीमाओ का दूर दूर तक विस्तार किया जिससे कबोडिया और कोचीन-चीन का सपूर्ण प्रदेश उसके अतर्गत हो गया। उसने भारत और चपा के साथ राजनयिक सबध स्थापित किए और ईशानपुर नाम की एक नई राजधानी का निर्माण किया। ईशानवर्मन् ने चपा के राजा जगद्धर्म को अपनी पुत्री ब्याही थी जिसका पुत्र प्रकाशधर्म अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् चपा का राजा हुआ। इससे प्रतीत होता है कि चपा इस समय कबोज के राजनीतिक प्रभाव के अतर्गत था। ईशानवर्मन् के बाद भववर्मन् द्वितीय और जयवर्मन् प्रथम कबोज नरेशो के नाम मिलते हैं। जयवर्मन् के पश्चात् ६७४ ई० में इस राजवश का अत हो गया। कुछ ही समय के उपरात कबोज की शक्ति क्षीण होने लगी और धीरे धीरे ८वी सदी ई० में जावा के शैलेंद्र राजाओ का कबोज देश पर आधिपत्य स्थापित हो गया। ८ वी सदी ई० का कबोज का इतिहास अधिक स्पष्ट नही है किंतु ९ वी सदी का प्रारभ होते ही इस प्राचीन साम्राज्य की शक्ति मानो पुन जीवित हो उठी। इसका श्रेय जयवर्मन् द्वितीय (८०२–८५४ ई०) को दिया जाता है। उसने अगकोर *वश की नीव डाली और कबोज को जावा की अधीनता से मुक्त किया।* उसने सभवत भारत से हिरण्यदाम नामक ब्राह्मण को बुलवाकर अपने राज्य की सुरक्षा के लिये तात्रिक क्रियाएँ करवाई। इसी विद्वान् ब्राह्मण ने देवराज नामक सप्रदाय की स्थापना की जो शीघ्र ही कबोज का राजधर्म बन गया। जयवर्मन् ने अपनी राजधानी क्रमश कुटी, हरिहरालय और अमरेद्रपुर नामक नगरो मे बनाई जिससे स्पष्ट है कि वर्तमान कबोडिया का प्राय समस्त क्षेत्र उसके अधीन था और राज्य की शक्ति का केंद्र धीरे धीरे पूर्व से पश्चिम की ओर बढता हुआ अतत अग्कोर के प्रदेश में स्थापित हो गया था।

जयवर्मन् द्वितीय को अपने समय में कबुजराजेद्र और उसकी महारानी को कबुजराजलक्ष्मी नाम से अभिहित किया जाता था। इसी समय से कबोडिया के प्राचीन नाम कबुज या कबोज का विदेशी लेखको ने भी प्रयोग करना प्रारभ कर दिया था। जयवर्मन् द्वितीय के पश्चात् भी कबोज के साम्राज्य की निरतर उन्नति और वृद्धि होती गई और कुछ ही समय के बाद समस्त इडोचीन प्रायद्वीप में कबोज साम्राज्य का विस्तार हो गया। महाराज इद्रवर्मन् ने अनेक मदिरो और तडागो का निर्माण करवाया। यशोवर्मन् (८८९–९०८ ई०) हिंदू शास्त्रो और सस्कृत काव्यो का ज्ञाता था और उसने अनेक विद्वानो को राजाश्रय दिया। उसके समय के अनेक सुदर सस्कृत अभिलेख प्राप्य हैं। इस काल मे हिंदू धर्म, साहित्य और कला की अभूतपूर्व प्रगति हुई। यशोवर्मन् ने कबुपुरी या यशोधरपुर नाम की नई राजधानी बसाई। धर्म और सस्कृति का विशाल केंद्र अग्कोर थोम (दे० 'अग्कोर थोम' लेख) भी इसी नगरी की शोभा बढाता था। 'अग्कोर सस्कृति' का स्वर्णकाल इसी समय से प्रारभ होता है। ९४४ ई० मे कबोज का राजा राजेद्रवर्मन् था जिसके समय के कई बृहद् अभिलेख सुदर सस्कृत काव्यशैली में लिखे मिलते हैं। १००१ ई० तक का समय कबोज के इतिहास में महत्वपूर्ण है क्योकि इस काल मे कबोज की सीमाएँ चीन के दक्षिणी भाग को छूती थी, लाओस उसके अतर्गत था और उसका राजनीतिक प्रभाव स्याम और उत्तरी मलाया तक फैला हुआ था।

सूर्यवर्मन् प्रथम (मृत्यु १०४९ ई०) ने प्राय समस्त स्याम पर कबोज का आधिपत्य स्थापित कर दिया और दक्षिण ब्रह्मदेश पर भी आक्रमण किया। वह साहित्य, न्याय और व्याकरण का पडित था तथा स्वय बौद्ध होते हुए भी शैव और वैष्णव धर्मो का प्रेमी और सरक्षक था। उसने राज्यासीन होने के समय देश मे चले हुए गृहयुद्ध को समाप्त कर राज्य की स्थिति को पुन सुदृढ करने का प्रयत्न किया। उत्तरी चपा को जीतकर सूर्यवर्मन् ने उसे कबोज का करद राज्य बना लिया किंतु उसे शीघ्र ही दक्षिण चपा के राजा जयहरि वर्मन् से हार माननी पडी। इस समय कबोज में गृहयुद्धो और पडोसी देशो के साथ अनबन के कारण काफी अशाति रही।

जयवर्मन् सप्तम (अभिषेक ११८१ ई०) के राज्यकाल मे पुन एक बार कबोज की प्राचीन यश पताका फहराने लगी। उसने एक विशाल सेना बनाई जिसमे स्याम और ब्रह्मदेश के सैनिक भी समिलित थे। जयवर्मन् ने अनाम पर आक्रमण कर उसे जीतने का भी प्रयास किया किंतु निरतर

युद्धो के कारण शनै शनै कबोज की सैनिक शक्ति का ह्रास होने लगा, यहाँ तक कि १२२० ई० मे कबोजो को चपा से हटना पडा। किंतु फिर भी जयवर्मन् सप्तम की गणना कबोज के महान् राज्यनिर्माताओ मे की जाती है क्योकि उसके समय मे कबोज के साम्राज्य का विस्तार अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। जयवर्मन् सप्तम ने अपनी नई राजधानी वर्तमान अग्कोर थोम मे बनाई थी। इसके खडहर आज भी ससार के प्रसिद्ध प्राचीन अवशेषो मे गिने जाते है। नगर के चतुर्दिक् एक ऊँचा परकोटा था और ११० गज चौडी एक परिखा थी। इसकी लबाई साढे आठ मील के लगभग थी। नगर के परकोटे के पाँच सिहद्वार थे जिनसे पाँच विशाल राजपथ (१०० फुट चौडे, १ मील लबे) नगर के अदर जाते थे। ये राजपथ, बेयोन के विराट् हिंदू मदिर के पास मिलते थे, जो नगर के मध्य मे स्थित था। मदिर मे ६६६२५ व्यक्ति नियुक्त थे और इसके व्यय के लिये ३४०० ग्रामो की आय लगी हुई थी। इस समय के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कबोज मे ७६८ मदिर तथा १०२ चिकित्सालय थे और १२१ वाहनी (विश्राम) गृह थे।

जयवर्मन् सप्तम के पश्चात् कबोज के इतिहास के अनेक स्थल अधिक स्पष्ट नही है। १३वी सदी मे कबोज मे सुदृढ राजनीतिक शक्ति का अभाव था। कुछ इतिहासलेखको के अनुसार कबोज ने १३वी सदी के अतिम चरण मे चीन के सम्राट् कुबलेखाँ का आधिपत्य मानने से इनकार कर दिया था। १२९६ ई० मे चीन से एक दूतमडल अग्कोर थोम आया था जिसके एक सदस्य शू-ता-कुआन ने तत्कालीन कबोज के विषय मे विस्तृत तथा मनोरजक वृत्तात लिखा है जिसका अनुवाद फ्रासीसी भाषा मे १९०२ ई० मे हुआ था। १४वी सदी मे कबोज के पडोसी राज्यो मे नई राजनीतिक शक्ति का उदय हो रहा था तथा स्याम और चपा के थाई लोग कबोज की ओर बढने का निरतर प्रयास कर रहे थे। परिणाम यह हुआ कि कबोज पर दो ओर से भारी दबाव पडने लगा और वह इन दोनो देशो की चक्की के पाटो के बीच पिसने लगा। धीरे धीरे कबोज की प्राचीन महत्ता समाप्त हो गई और अब यह देश इडोचीन का एक साधारण पिछडा हुआ प्रदेश बनकर रह गया। १९ वी सदी मे फ्रासीसियो का प्रभाव इडोचीन मे बढ चला था, वैसे, वे १६ वी सदी मे ही इस प्रायद्वीप मे आ गए थे और अपनी शक्ति बढाने के अवसर की ताक मे थे। वह अवसर अब आया और १८५४ ई० मे कबोज के निर्बल राजा अकडुओग ने अपने देश को फ्रासीसी राज के हाथो मे सौप दिया। नोरदम (नरोत्तम) प्रथम (१८५८–१९०४) ने ११ अगस्त, १८६३ ई० को इस समझौते को पक्का कर दिया और अगले ८० वर्षो तक कबोज या कबोडिया फ्रेच-इडोचीन का एक भाग बना रहा। (कबोडिया, फ्रेच Cambodge का रूपातर है। फ्रेच नाम कबोज या कबुजिय से बना है।) १९०४-४१ मे स्याम और फ्रासीसियो के बीच होनेवाले युद्ध मे कबोडिया का कुछ प्रदेश स्याम को दे दिया गया किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् १९४५ ई० मे यह भाग उसे पुन प्राप्त हो गया। इस समय कबोडिया मे स्वतत्रता आदोलन भी चल रहा था जिसके परिणामस्वरूप फ्रास ने कबोडिया को एक नया सविधान प्रदान किया (मई ६, १९४७)। किंतु इससे वहाँ के राष्ट्रप्रेमियो को सतोष न हुआ और उन्होने १९४९ ई० (८ नवबर) मे फ्रासीसियो को एक नए समझौते पर हस्ताक्षर करने पर विवश कर दिया जिससे उन्होने कबोडिया की स्वतत्र राजनीतिक सत्ता को स्वीकार कर लिया, किंतु अब भी देश को फ्रेच यूनियन के अतर्गत ही रखा गया था। इसके विरुद्ध कबोडिया के प्रभावशाली राजा नोरदम सिहानुक ने अपना राष्ट्रीय आदोलन जारी रखा। इनके प्रयत्न से कबोडिया शीघ्र ही स्वतत्र राष्ट्र बन गया और ये अपने देश के प्रथम प्रधान मत्री चुने गए।

धर्म, भाषा, सामाजिक जीवन

कबोज वास्तविक अर्थ मे भारतीय उपनिवेश था। वहाँ के निवासियो का धर्म, उनकी सस्कृति एव सभ्यता, साहित्यिक परपराएँ, वास्तुकला और भाषा--सभी पर भारतीयता की अमिट छाप थी जिसके दर्शन आज भी कबोज मे दर्शक को अनायास ही हो जाते है। हिंदू धर्म और वैष्णव सप्रदाय और तत्पश्चात् (१००० ई० के बाद) बौद्ध धर्म कबोज के राजधर्म थे और यहाँ के अनेक सस्कृत अभिलेखो को उनकी धार्मिक तथा पौराणिक सास्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण भारतीय अभिलेखो से अलग करना कठिन ही जान पडेगा। उदाहरण के लिये राजेद्रवर्मन् के एक विशाल अभिलेख का केवल एक अश यहाँ प्रस्तुत है जिसमे शिव की वदना की गई है

> रूप यस्य नवेन्दुमडितशिख त्रय्या प्रतीत पर
> बीज ब्रह्महरीश्वरोदयकर भिन्न कलाभिस्त्रिधा।
> साक्षादक्षरमामनन्ति मुनयो योगाधिगम्य नमस्
> ससिद्धयै प्रणवात्मने भगवते तस्मै शिवायास्तु व ॥

पुराने अरब पर्यटको ने कबोज को हिंदू देश के नाम से ठीक ही अभिहित किया है। कबुज की राजभाषा प्राचीन काल मे सस्कृत थी, उसका स्थान धीरे धीरे बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण पाली ने ले लिया और आज भी यह धार्मिक क्षेत्र मे यहाँ की मुख्य भाषा बनी हुई है। कबुज भाषा मे सस्कृत के हजारो शब्द अपने कबुजी या ख्मेर रूप मे आज भी पाए जाते है (जैसे--तेप्दा=देवता, शात्स=शासन, सुओर=स्वर्ग, फीमेग्रन=विमान)। ख्मेर लिपि दक्षिणी भारत की पल्लव और पूर्वी चालुक्य लिपियो के मेल से बनी है। कबोज की वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। अग्कोर थोम का बेयोन मदिर दक्षिण भारत के मदिरो से बहुत मिलता-जुलता है। इसके शिखर मे भी भारतीय मदिरो के शिखरो की स्पष्ट झलक मिलती है। इस मदिर और एलोरा के कैलास मदिर के कलातत्व, विशेषत मूर्तिकारी तथा आलेख्य विषयो और दृश्यो मे अद्भुत् साम्य है

कबोज की सामाजिक दशा का सुदर चित्रण, शू-ता-कुआन के वर्णन (१३ वी सदी का अत) मे इस प्रकार है --

"विद्वानो को यहाँ पकि (पडित), भिक्षुओ को शू-कू (भिक्षु) और ब्राह्मणो को पा-शो-वेई (पाशुपत) कहा जाता है। पडित अपने कठ मे श्वेत धागा (यज्ञोपवीत) डाले रहते है, जिसे वे कभी नही हटाते। भिक्षु लोग सिर मुडाते और पीत वस्त्र पहनते है। वे मास मछली खाते है पर मद्य नही पीते। उनकी पुस्तके तालपत्रो पर लिखी जाती है। बौद्ध भिक्षुणियाँ यहाँ नही है। पाशुपत अपने केशो को लाल या सफेद वस्त्रो से ढके रहते है। कबोज के सामान्य जन श्याम रग के तथा हृष्टपुष्ट है। राजपरिवार की स्त्रियाँ गौर वर्ण है। सभी लोग कटि तक शरीर विवस्त्र रखते है और नगे पाँव घूमते है। राजा पटरानी के साथ झरोखे मे बैठकर प्रजा को दर्शन देता है।

"लिखने के लिये कृष्ण मृग का चमडा भी काम मे आता है। लोग स्नान के बहुत प्रेमी है। यहाँ स्त्रियाँ व्यापार का काम भी करती है। गेहूँ, हल्दी, चीनी, रेशम के कपडे, राँगा, चीनी बर्तन, कागज आदि यहाँ व्यापार की मुख्य वस्तुएँ है।

"गाँवो मे प्रबध करने के लिये एक मुखिया या मयिची रहता है। सडको पर यात्रियो के विश्राम करने के लिये आवास बने हुए है।"

[वि० कु० मा०]

कबोडिया--कबोज का अर्वाचीन नाम है। यह हिंद चीन प्रायद्वीप का एक देश है जो सन् १९५५ ई० मे फ्रासीसी आधिपत्य से मुक्त हुआ है। १९वी शताब्दी के पूर्व यह प्रदेश ख्मेर राज्य का अग था किंतु १८६३ ई० मे फ्रासीसियो के आधिपत्य मे आ गया। द्वितीय विश्वयुद्ध मे कबोडिया पर जापान का अधिकार था।

कबोडिया का क्षेत्रफल १,८१,००० वर्ग मील है। इसकी पश्चिमी और उत्तरी सीमा पर स्याम तथा लाओ, और पूर्वी सीमा पर दक्षिणी वियतनाम देश है। दक्षिण-पश्चिमी भाग स्याम की खाडी का तट है। कबोडिया तश्तरी के आकार की एक घाटी है जिसे चारो ओर से पर्वत घेरे हुए है। घाटी मे उत्तर से दक्षिण की ओर मीकाग नदी बहती है। घाटी के पश्चिमी भाग मे तागले नामक एक छिछली और विस्तृत झील है जो उदाँग नदी द्वारा मीकाग से जुडी हुई है।

कबोडिया की उपजाऊ मिट्टी और मौसमी जलवायु मे चावल प्रचुर परिमाण मे होता है। अब भी विस्तृत भूक्षेत्र श्रमिको के अभाव मे कृषिविहीन पडे है। यहाँ की अन्य प्रमुख फसले तबाकू, कहवा, नील और रबर है। पशुपालन का व्यवसाय विकासोन्मुख है। पर्याप्त जनसख्या मछली पकडकर अपनी जीविका अर्जित करती है। चावल और मछली कबोडिया की प्रमुख निर्यात की वस्तुएँ है। इस देश का एक विस्तृत भाग बहुमूल्य वनो से आच्छादित है। मीकाग और टोनलेसाप के सगम पर स्थित प्नॉम पेन कबोडिया की राजधानी है। बडे बडे जलयान इस नगर तक आते है। यह नगर कबोडिया के विभिन्न भागो से सडको द्वारा जुडा है। [प्र० व०]

कंबुजीय प्रथम ईरानी नरेश कुरुष प्रथम का पुत्र था और द्वितीय कुरूष द्वितीय का। विख्यात कबुजीय द्वितीय है। पिता की मृत्यु के पश्चात् इसने उसी की विजयनीति अपनाई और सबसे पहले मिस्र को हस्तगत कर लेने के लिये चढाई की। ईरानी सेनाओ के समुख टिकने की क्षमता मिस्री सेनाओ मे नही थी, यद्यपि पेलूजियम मे एक छोटा सा युद्ध हुआ जिसमें अमसिस का पुत्र समतिक तृतीय पराजित हुआ और मेफिस भागा। कबुजीय ने वहाँ तक उसका पीछा किया और मेंफिस पर अधिकार कर लिया। उसने फराऊन को कैद करके ईरान भेज दिया और स्वय सिंहासनारूढ हुआ। मिस्र पर अधिकार करने का रहस्य सिंहासनारूढ होने तथा मिस्री देवताओ की पूजा करने मे था। कबुजीय ने दोनो किया। उसने मिस्री नाम भी धारण कर लिया। मिस्र विजय के उपरात उसने कार्थेज विजय के लिये सेनाएँ भेजी जो रास्ते मे ही नष्ट हो गई। यह दक्षिण मिस्र के कुछ खोए हुए प्रदेशो को भी पुन प्राप्त करना चाहता था किंतु इस अभियान मे भी उसकी सेनाएँ नष्ट हो गई। उसके दिमाग मे इन हानियो का कारण "मिस्र का जादू" जम गया। इसी बीच उसे खबर मिली कि फारस मे विद्रोह उठ खडा हुआ है। कबुजीय मिस्र का शासनभार एक सामत आर्यंदेस के ऊपर छोडकर शीघ्र वापस आया। सीरिया पार करते हुए अकस्मात् उसकी मृत्यु हो गई। [च० भा० पा०]

कंबोज उत्तरापथ मे गाधार के निकट स्थित प्राचीन भारतीय जनपद। इसकी ठीक ठीक स्थिति दक्षिण पश्चिम कश्मीर के पुँछ के इलाके के अतर्गत मानी जा सकती है। प्राचीन सस्कृत एव पाली साहित्य मे कबोज और गाधार का नाम प्राय साथ साथ आता है। जिस प्रकार गाधार के उत्कृष्ट ऊन का वर्णन ऋग्वेद मे मिलता है (१,१२६) उसी प्रकार कबोज के कबलो का उल्लेख यास्क के निरुक्त में हुआ है (२,२)। वास्तव मे यास्क ने 'कबोज' शब्द की व्युत्पत्ति ही सुदर कबलो का उपभोग करनेवाले या विकल्प मे सुदर भोजन करनेवाले लोग—इस प्रकार की है। गाधार और कबोज इन दोनो जनपदो के अभिन्न सबध की परपरा से ही इनका सान्निध्य सिद्ध होता है। गाधार अफगानिस्तान (कदहार) का सवर्ती प्रदेश था और इसी के पडोस मे पूर्व की ओर कबोज की स्थिति थी।

वाल्मीकि रामायण मे कबोज का वाल्हीक और वनायु जनपदो के साथ वर्णन है और इन देशो मे उत्पन्न श्रेष्ठ काले घोडो से अयोध्या नगरी को भरी पूरी बताया गया है (वाल० ६,२२)। महाभारत में अर्जुन की दिग्विजय के प्रसग मे परमकाबोज का लोह और ऋषिक जनपदो के साथ उल्लेख है (सभा० २७, २५)। (ऋषिक यूची का रूपातरण जान पडता है। यूची जाति का निवासस्थान दक्षिण-पश्चिम चीन या चीनी तुर्किस्तान के अतर्गत था। प्रसिद्ध बौद्ध सम्राट् कनिष्क का रक्तसबध इसी जाति के कुशान नामक कबीले से था।) द्रोणपर्व मे सात्यकि द्वारा काबोजो, यवनो, शको, किरातो और बर्बरो आदि की दुर्मद सेना को हराने और उनके मुडित मस्तको और लबी दाढियो का चित्रमय उल्लेख है (११९, ४५-४८)—"हे राजन्, सात्यकि ने आपकी (धृतराष्ट्र की) सेना का सहार करते हुए हजारो काबोजो, शको, शबरो, किरातो और बर्बरो के शबो से रणभूमि को पाटकर वहाँ मास और रुधिर की नदी बहा दी थी। उन दस्युओ के, शिरस्त्राणो से युक्त,
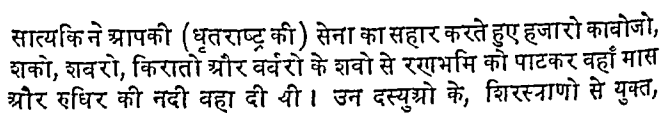
मुडित और लबी दाढियोवाले सिरो से रणभूमि पखहीन पक्षियो से भरी हुई सी दिखाई दे रही थी।" महाभारत के युद्ध मे कावोजो ने कौरवो का साथ दिया था। यह द्रष्टव्य है कि कावोजादि की आकृति सवधी जिन विशेषताओ का वर्णन महाभारत के इस प्रसग मे है वे आज भी इस प्रदेश के निवासियो मे विद्यमान है। महाभारत मे कावोजो के राजपुर नामक नगर का भी उल्लेख है जिसे कर्ण ने जीता था (द्रोण० ४,५)।

कनिंघम ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रथ 'एशेट जियोग्रफी ऑव इडिया' (पृ० १४२) मे राजपुर का अभिज्ञान दक्षिण-पश्चिम कश्मीर के राजौरी नामक नगर (जिला पूँछ, कश्मीर) के साथ किया है। इस प्रकार कवोज देश की अवस्थिति का ज्ञान हमे प्राय निश्चित रूप से हो जाता है। राइस डेविड्स ने इस प्रदेश की पूर्ववौद्धकालीन द्वारका नामक नगरी का उल्लेख किया है। लूडर्स के अभिलेखो (सख्या १७६, ४१२) मे कबोज जनपद के एक दूसरे स्थान नदिनगर का भी उल्लेख है जिसकी स्थिति का ठीक पता नही।

प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने, जो स्वय कवोज के सहवर्ती प्रदेश के निवासी थे, 'कवोजाल्लुक्' सूत्र से (अष्टाध्यायी ४, १, १७३) इस जनपद के वारे मे अपनी जानकारी प्रकट की है। पतजलि ने भी महाभाष्य मे कवोज का उल्लेख किया है।

सिकदर के आक्रमण के समय (३२७ ई० पू०) कवोज प्रदेश की सीमा के अतर्गत उरशा (जिला हजारा) और अभिसार (जिला पुँछ) नामक छोटे छोटे राज्य वसे हुए थे।

पालि ग्रथ अगुत्तरनिकाय मे भारत के १६ महाजनपदो मे कवोज की भी गणना की गई है (१,२१३, ४,२५२–२५६–२६१)। अशोक के अभिलेखो मे कावोजो का उल्लेख, सीमावर्ती यवनो, नाभको, नाभपक्तियो, भोजपितिनको और गधारो आदि के साथ किया गया है (शिलालेख १३)। इस धर्मलिपि से ज्ञात होता है कि यद्यपि कवोज जनपद अशोक का सीमावर्ती प्रात था तथापि वहाँ भी उसके शासन का पूर्ण रूप से प्रचलन था। विद्वानो का मत है कि शाहवाजगढी (जिला पेशावर) और मानसेहरा (जिला हजारा) मे प्राप्त अभिलेखो से, अशोक के समय मे (मध्य तृतीय शताव्दी ई० पू०), क्रमश गाधार और कवोज जनपदो की स्थिति का ज्ञान होता है।

महाभारत के वर्णन मे कवोज देश के अनार्य रीति रिवाजो का आभास मिलता है। भीष्म० ६,६५ मे कावोजो को म्लेच्छजातीय वताया गया है। मनु ने भी कावोजो को दस्यु नाम से अभिहित किया है तथा उन्हे म्लेच्छ भाषा वोलनेवाला वताया है (मनुस्मृति १०, ४४-४५)। मनु की ही भाँति निरुक्तकार यास्क ने भी कावोजो की वोली को आर्य भाषा से भिन्न कहा है और इस तथ्य के प्रमाण मे उन्होने उदाहरण भी दिया है (११-२)। इसी प्रकार भूरिदत्त जातक मे भी कावोजो के अनार्याचरण तथा अनार्य धर्म का उल्लेख है।

चीनी यात्री युवानच्वाग ने (मध्य ७वी सदी ई०) भी राजपुर के सवर्ती प्रदेश के निवासियो को भारत के आर्यजनो की सास्कृतिक परपरा के वहिर्गत माना है और उन्हे उत्तर-पश्चिम की सीमावर्ती असभ्य जातियो के अतर्गत वताया है। युवानच्वाग ने राजपुर को चीनी भाषा मे होलोशिपुलो लिखा है (दे० युवानच्वाग, वाटर्स १, २८४)। किंतु इसके साथ यह वात भी ध्यान देने योग्य है कि कवोज मे बहुत प्राचीन काल से ही आर्यो की वस्तियाँ विद्यमान थी। इसका स्पष्ट निर्देश वशब्राह्मण के उस उल्लेख से होता है जिसमे कावोज औपमन्यव नामक आचार्य का प्रसग है। यह आचार्य उपमन्यु गोत्र मे उत्पन्न, मद्रगार के शिष्य और कवोज देश के निवासी थे। कीथ का अनुमान है कि इस प्रसग मे वर्णित औपमन्यव कावोज और उनके गुरु मद्रगार के नामो से उत्तरमद्र और कवोज देशो के सनिकट सवध का आभास मिलता है। (दे० वैदिक इडेक्स–कवोज)। पालि ग्रथ मज्झिमनिकाय से भी कवोज मे आर्य सस्कृति की विद्यमानता के वारे मे सूचना मिलती है।

महाभारत मे कवोज देश के कमठ और सुदक्षिण नामक राजाओ के नाम मिलते हैं—(सभा० ४,२२, उद्योग० १६६ १)। किंतु कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि चतुर्थ शताव्दी ई० पू० मे कावोज में सघ या गणराज्य की स्थापना भी की गई थी। अर्थशास्त्र (पृ० ३१८) मे कावोजो को वार्ताशस्त्रोपजीवी सघ अर्थात् कृषि और शस्त्रो से जीविका अर्जन करनेवाले सघ की सज्ञा दी गई है। महा० ७, ८६, ३८ मे भी 'कवोजाना च ये गणा', ऐसा वर्णन मिलता है।

सस्कृत के काव्य ग्रथो मे भी कबोज के विषय मे अनेक उल्लेख मिलते है, उदाहरणार्थ, कालिदास ने रघुवश मे रघु की दिग्विजययात्रा के प्रसग मे कावोजो पर उनकी विजय का सुदर वर्णन इस प्रकार किया है–(रघु० ४,६९)–'रघु के प्रभाव को सहने में असमर्थ कवोज-निवासियो को अपने देश के अखरोट के वृक्षो, जिनसे रघु की सेना के मदमत्त हाथियो की शृखलाएँ वाँधी गई थी,की भाँति ही विनत होना पडा।' यह द्रष्टव्य है कि कालिदास के समय मे भी आज ही की तरह भारत के इस प्रदेश के अखरोट प्रसिद्ध थे।

इतिहासकार कल्हण के अनुसार कश्मीर नरेश ललितादित्य ने उत्तरापथ के अन्य कई देशो के साथ कवोज को भी जीता था। उसके वर्णन मे भी कवोज के परपरा से प्रसिद्ध घोडो का उल्लेख है (४,१६३)। इस वर्णन से यह भी प्रमाणित होता है कि भारतीय इतिहास के प्राय मध्यकाल (११वी-१२वी सदी ई०) तक कवोज देश के नाम का प्रचलन था तथा इसकी सीमाएँ भी प्राय पूर्ववत् ही थी, किंतु यह जान पडता है कि तत्पश्चात् धीरे धीरे इस जनपद का विलय कश्मीर राज्य मे हो जाने से इसकी पृथक् सत्ता का अत हो गया और इसके साथ ही इसका नाम भी विस्मृति के गर्त मे जा पडा। फिर भी अभी तक कवोज के नाम की स्मृति काफिरिस्तान के निकटवर्ती प्रदेश के कुछ कवीलो के नामो, जैसे कवोजी, कमोज, और कामोजे आदि मे सुरक्षित है (दे० एलफिस्टन ऐन एकाउट ऑव दि किंगडम ऑव कावुल, जिल्द २, पृ० ३७५)।

टि०—नेपाली परपरा मे कवोज देश के नाम से तिव्वत का अभिधान किया जाता रहा है (दे० फूशे इकोनोग्राफीक बुद्धीक, पृ० १३४), किंतु उपर्युक्त तथ्यो से यह भली भाँति प्रमाणित होता है कि इस जनपद की स्थिति प्राचीन भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा के निकट ही रही होगी। यह तथ्य उनकी वोली से भी, जो ईरानी भाषा की ही एक शाखा थी, सिद्ध है (दे० ग्रियर्सन जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९११, पृ० ८०२)। [वि० कु० मा०]

कंस मथुरा के राजा उग्रसेन का पुत्र। पुराणो के अनुसार इसके रूप मे कालनेमि दानव उत्पन्न हुआ था। मगधनरेश जरासध की पुत्री से इसका विवाह हुआ था। कस शस्त्रज्ञान तथा वलपराक्रम मे हैहयनरेश कार्तवीर्य (सहस्रार्जुन) के समान था। पिता को कारावास मे डाल स्वय राजा वन वैठा, तत्पश्चात् मत्रियो ने इसका राज्याभिषेक किया। अपनी वहिन देवकी का विवाह इसने वसुदेव से किया। इसी अवसर पर आकाशवाणी सुनकर कि देवकी का पुत्र ही उसकी मृत्यु का कारण होगा, वह देवकी को मार डालने के लिये उद्यत हुआ। एक एक करके देवकी के छ पुत्रो का उसने वध भी किया। फिर वसुदेव द्वारा लाई हुई गोप कन्या को भी मार डालने का प्रयास किया किंतु इसके हाथ से छूटते ही आकाशमार्ग मे स्थित होकर उसने कस से कहा, "तुम्हारी मृत्यु का कारण व्रज मे उत्पन्न हो गया !" कस ने व्रज के गोपो को विभिन्न प्रकार से सताया तथा कृष्ण को मार डालने का प्रयास किया। कृष्ण ने सभा मे विराजमान कस को मत्रियो तथा परिवार सहित मार डाला। [च० भा० पा०]

ककड़ी विश्वास किया जाता है कि ककडी की उत्पत्ति भारत से हुई। इसकी खेती की रीति विलकुल तरोई के समान है, केवल उसके वोने के समय में अतर है। यदि भूमि पूर्वी जिलो मे हो, जहाँ शीत ऋतु अधिक कडी नही होती, तो अक्टूबर के मध्य मे वीज वोए जा सकते हैं, नही तो इसे जनवरी मे वोना चाहिए। ऐसे स्थानो मे जहाँ सर्दी अधिक पडती है, इसे फरवरी और मार्च के महीनो मे लगाना चाहिए। इसकी फसल वलुई दुमट भूमियो मे अच्छी होती है। इस फसल की सिंचाई सप्ताह मे दो वार करनी चाहिए। ककडी मे सवसे अच्छी सुगध गरम शुष्क जलवायु मे आती है। इसमे दो मुख्य जातियाँ होती हैं—एक मे हलके हरे रग के फल होते है तथा दूसरी मे गहरे हरे रग के। इनमे पहली को ही लोग पसद करते है। ग्राहको की पसद के अनुसार फलो की चुनाई तरुणावस्था मे अथवा इसके वाद करनी चाहिए। इसकी माध्य उपज लगभग ७५ मन प्रति एकड है। ककडी को 'कुकुमिस मेलो वैराइटी यूटिलिसिमस' (Cucumis melo var utilissimus) कहते है जो 'कुकरविटेसी' (Cucurbitaceae) वग के अतर्गत आती है। [य० र० मे०]

ककुत्स्थ विकुक्षि के पुत्र जो इक्ष्वाकु के पौत्र और वैवस्वत मनु के प्रपौत्र थे। देवासुर सग्राम मे इन्होने वृषरूपधारी इद्र के ककुद् अर्थात् डील (कूवड) पर सवार होकर राक्षसो को पराजित किया था। इसी कारण वे ककुत्स्थ कहलाए। इनके पुत्र अनेना और पौत्र पृथु हुए। कूर्म तथा मत्स्य पुराणो मे इनके एक पुत्र का नाम सुयोधन भी दिया है।

(२) इसी नाम के भगीरथ के भी एक पुत्र थे जिनके पुत्र प्रवृद्ध हुए। प्रवृद्ध के पुत्र शखन और शखन के सुदर्शन हुए। [रा० द्वि०]

कच देवताओ के गुरु वृहस्पति के पुत्र। देवासुर सग्राम मे जब बहुत से असुर मारे गए तव दैत्यो के गुरु शुक्राचार्य ने उन्हे अपनी सजीवनी विद्या द्वारा पुनर्जीवित कर दिया। यह देख वृहस्पति ने कच को शुक्राचार्य के पास यह सजीवनी विद्या सीखने भेजा। शुक्राचार्य की कन्या देवयानी कच से प्रेम करने लगी और जब असुरो ने उनका वध करना चाहा तव उसने उन्हे बचाया। अत में देवयानी ने कच से विवाह का प्रस्ताव किया, पर कच ने इसे ठुकरा दिया। तव देवयानी ने कच को शाप दे दिया कि तुम्हारी सीखी हुई विद्या तुम्हारे काम न आएगी। इसपर कच ने भी देवयानी को शाप दिया कि कोई ब्राह्मण तुमसे विवाह न करेगा। यह कथा विस्तारपूर्वक महाभारत के आदि पर्व मे दी हुई है। [रा० द्वि०]

कचनार के छोटे अथवा मध्यम ऊँचाई के वृक्ष भारतवर्ष मे सर्वत्र होते हैं। लेग्यूमिनोसी (Leguminosae) कुल और सीजलपिनिआयडी (Caesalpinioideae) उपकुल के अतर्गत वॉहिनिया प्रजाति की समान, परतु किंचित् भिन्न, दो वृक्षजातियो को यह नाम दिया जाता है, जिन्हे वॉहिनिया वैरीगेटा (Bauhinia variegata) और वॉहिनिया परप्यूरिया (Bauhinia purpurea) कहते है। वॉहिनिया प्रजाति की वनस्पतियो मे पत्र का अग्रभाग मध्य मे इस तरह कटा या दवा हुआ होता है मानो दो पत्र जुडे हुए हो। इसीलिये कचनार को युग्मपत्र भी कहा गया है।

वॉहिनिया वैरीगेटा मे पत्र के दोनो खड गोल अग्रभागवाले और तिहाई या चौथाई दूरी तक पृथक्, पत्रशिराएँ १३ से १५ तक, पुष्पकलिका का घेरा सपाट और पुष्प वडे, मद सौरभ वाले, श्वेत, गुलावी अथवा नीलारुण वर्ण के होते हैं। एक पुष्पदल चित्रित और मिश्रवर्ण का होता है। अत पुष्पवर्ण के अनुसार इसके श्वेत और लाल दो भेद माने जा सकते हैं। वाहिनिया परप्यूरिया मे पत्रखड अधिक दूर तक पृथक्, पत्रशिराएँ ६ से ११ तक, पुष्पकलिकाओ का घेरा उभरी हुई सधियो के कारण कोणयुक्त और पुष्प नीलारुण होते हैं।

सस्कृत साहित्य मे दोनो जातियो के लिये 'काचनार' और 'कोविदार' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। किंतु कुछ परवर्ती निघटुकारो के मतानुसार ये दोनो नाम भिन्न भिन्न जातियो के हैं। अत वाहिनिया वैरीगेटा को काचनार और वाहिनिया परप्यूरिया को कोविदार मानना चाहिए। इस दूसरी जाति के लिये आदिवासी वोलचाल मे, 'कोइलार' अथवा 'कोइनार' नाम प्रचलित है, जो निस्सदेह 'कोविदार' के ही अपभ्रश प्रतीत होते हैं।

आयुर्वेदीय वाङ्मय मे भी कोविदार और काचनार का पार्थक्य स्पष्ट नही है। इसका कारण दोनो के गुणसादृश्य एव रूपसादृश्य हो सकते है। चिकित्सा में इसके पुष्प तथा छाल का उपयोग होता है। कचनार कषाय, शीतवीर्य, और कफ, पित्त, कृमि, कुष्ठ, गुदभ्रश, गडमाला एव व्रण का नाश करनेवाला है। इमके पुष्प मधुर, ग्राही और रक्तपित्त, रक्तविकार, प्रदर, क्षय एव खाँसी का नाश करते हैं। इसका प्रधान योग 'काचनारगुग्गुल' है जो गडमाला मे उपयोगी होता है। कोविदार की अविकसित पुष्पकलिकाओ का शाक भी वनाया जाता है, जिसमे हरे चने (होरहे) का योग वडा स्वादिष्ट होता है।

कुछ लोगो के मत मे काचनार को ही 'कर्णिकार' भी मानना चाहिए। परतु सभवत यह मत ठीक नही है। (देखे कर्णिकार)। [व० सिं०]

कचहरी मध्यकालीन सामतवादी युग मे कचहरी उस स्थान को कहते थे, जहाँ पर सम्राट्, उसके सामत अथवा अन्य अधिकारी विभिन्न विषयो पर अपने निर्णय देते थे। वर्तमान शासन प्रणाली मे प्रत्येक राज्य न्यायिक प्राविधि द्वारा अधिकार दायित्व सबधी विवादो के समाधान एव विधि की अधिकृत व्याख्या के लिये पृथक् सगठन की स्थापना करता है। इन सस्थाओ के लिये, एव उस स्थान के लिये जहाँ न्यायप्रशासन होता है कचहरी शब्द का प्रयोग होता है। [र० कु० मि०]

कचारी असम राज्य के उत्तरी असम-भूटान-सीमावर्ती कामरूप और दरग जिले वर्तमान कचारी या 'वडा' कवीले का मुख्य निवास स्थान हैं। सन् १६३१ की जनगणना मे कचारियो की सख्या ३,४२,२६७ थी किंतु १६५१ मे वह घटकर २,७१,५२४ रह गई। इस कमी का मुख्य कारण कचारियो का हिंदू जातिव्यवस्था मे प्रवेश है। असम राज्य की कुछ नदियो एव प्राकृतिक विभागो के नाम कचारी मूल के हैं जिससे अनुमान होता है कि अतीत मे कचारी कवीले का प्रसार सपूर्ण असम मे रहा होगा। सन् १६११ मे फादर एडल ने वास्तविक कचारियो के पडोसी राभा, मेछ, धीमल, कोच, मछलिया, लालुग तथा गारो कवीलियो की गणना भी वृहद् कचारी प्रजाति (रेस) के अतर्गत की थी और असम के १०,००,००० व्यक्तियो को इस श्रेणी मे रखा था। किंतु वाद की जनगणनाओ और नृतात्विक अध्ययन के प्रकाश में यह मत तर्कसगत प्रतीत नही होता।

कचारी मगोल प्रजाति के हैं। मोटे तौर पर इनका पारिवारिक जीवन पडोसी हिंदुओ से अधिक भिन्न नही है। जीवननिर्वाह का मुख्य साधन कृषि है। दो प्रकार का धान, 'मैमा' और 'मैसा', दाल, रुई, ईख और तवाकू इनकी प्रधान फसले हैं। हाल मे ये चाय वगान और कारखानो में मजदूरी पेशे की ओर भी आकृष्ट हुए हैं। खान पान मे खाद्यान्नो के अतिरिक्त सुअर के मास, सूखी मछली ('ना ग्रान') और चावल की शराव 'जू' का इनमे अधिक प्रचलन है। कुछ समय पूर्व तक कचारियो में दूध पीना ही नही वरन् छूना भी वर्जित था। मछली मारना पुरुष तथा स्त्री दोनो का धधा है। किंतु सामूहिक आखेट मे केवल पुरुष ही भाग लेते हैं। रेशम के कीडे पालना और कपडा वुनना स्त्रियो का काम है। समाज मे स्त्रियो का स्थान सामान्यत उच्च है।

कचारी वहुत से वहिर्विवाही (एक्सोगैमस) और टोटमी कुलो (क्लैन्स) मे विभाजित हैं। प्रत्येक कुल के सदस्यो द्वारा टोटमी पशु का वध वर्जित है। कवीली अतर्विवाही विधान अचल नही है। निकटवर्ती राभा, कोच और सरनिया कवीलो से विवाह सभव है किंतु प्रतिष्ठित नही। विधुर अपनी छोटी साली से विवाह कर सकता है और विधवा अधिकतर अपने देवर से विवाह करती है। सामान्यतया एकपत्नी कचारियो मे भी अधिक धनी वर्ग के पुरुष या सतानहीन व्यक्ति बहुपत्नीत्व अपनाते हैं। विवाह के लिये पति पत्नी दोनो की पारस्परिक समति आवश्यक है। शादी विवाह और सपत्ति से सबधित सभी झगडो का निर्णय गाँव के गण्यमान्य व्यक्तियो की सभा के हाथ मे होता है।

कचारियो के धर्म का सर्वप्रधान लक्षण आत्मावाद, अर्थात् भूत प्रेत आदि मे विश्वास है। इस विश्वास के मूल मे भय की भावना है। कचारी पृथ्वी, वायु और आकाश मे दैवी शक्तियो का वास मानते हैं जिन्हे वे 'मोदई' की सज्ञा देते हैं। इसमे अधिकाश दुरात्माएँ हैं जिन्हे व्याधि, अकाल, भूकप आदि दुर्घटनाओ के लिये उत्तरदायी ठहराया जाता है। पूर्वजपूजा और प्रकृतिपूजा के छिटपुट प्रमाण मिलते हैं किंतु इनका कचारी धार्मिक विश्वासो मे अधिक महत्व नही है। कचारियो मे विशुद्ध कवीली देवी देवताओ की सख्या वहुत कम रह गई है और अनेक हिंदू देवी देवता अपना लिए गए हैं। कवीली देवी देवताओ मे १६ गृहदेवता हैं और ६५ ग्राम देवता जिनकी पूजा गाँव से १५-२० गज दूर स्थित वाँसो या पेडो के झुरमुट (थानसाली) मे की जाती है। जन्म, नामकरण तथा विवाह के अवसरो पर इनकी आराधना ग्राम का पुजारी 'देउरी' या 'देवदाई' करता है। गाँव के ओझा का काम भविष्यवाणी और मामूली झाड फूंक द्वारा इलाज करना है। हेजा और महामारी से गाँववालो की रक्षा 'देवदानी' कहलानेवाली आत्माओ के वशीभूत स्त्रियाँ करती हैं। साधारणत मृतक का दाह-कर्म-सस्कार किया जाता है किंतु अधिक धनी वर्ग मे शव गाडने की प्रथा पाई जाती है। कचारी विश्वास है कि मृत्यु का अर्थ केवल शारीरिक अवस्था मे परिवर्तन है और मृतक की आत्मा नष्ट न होकर परिवर्तित रूप मे वची रहती है।

स०ग्र०--रेवरेड सिडनी ऐडल दि कचारीज, लदन, १६११, सी० ए० सोपिट ऐन हिस्टॉरिकल ऐंड डेस्क्रिपटिव एकाउट ऑव दि कचारी

ट्राइव्स इन दि नार्थ कचार हिल्स, शिलाग, १८५५, सेन्सस ऑव इडिया रिपोर्ट्स, १९३१ तथा १९५१। [र० जै०]

कचूर हल्दी के समान एक क्षुप है जो जिंजीवरेसी (Zingiberaceae) कुल का है। इसे 'करक्यूमा ज़ेडोरिया (Curcuma zedoaria) कहते हैं। पूर्वोत्तर भारत तथा कन्नडा आदि समुद्रतटवर्ती प्रदेशो मे यह स्वत उगता है और भारत, चीन तथा लका मे इसकी खेती भी की जाती है। इसके लिये कर्चूर, पटकचोरा आदि कचूर से मिलते जुलते नाम भी प्रचलित हैं।

इसका क्षुप ३–४ फुट ऊँचा, पत्रकोषो का वना हुआ, नकली काड और १–२ फुट लवे, आयताकार, लवाग्र, लवे पत्रनाल से युक्त रहता है। पत्तियाँ चिकनी और मध्यभाग मे गुलावी छायावाली होती हैं। पत्तियो के निकलने से पहले ही ६"×३" नाप की मजरी निकलती है, जिसमे पुष्प विनाल, हलके पीले रग के और विपत्र (ब्रैक्ट) रक्ताभ, अथवा भडकीले लाल रग के, होते हैं। इस प्रजाति मे वास्तविक काड भूमिगत होता है। कचूर का भूमिगत आधार भाग शक्वाकार (कॉनिकल) होता है जिसकी वगल से मोटे, मासल तथा लवगोल प्रकद (rhizome) निकलते हैं और इन्ही से फिर पतले मूल निकलते हैं, जिनके अग्रभाग कदवत् फूले रहते हैं। प्रकद भीतर से हलके पीले रग के और कर्पूर के सदृश प्रिय गधवाले होते हैं। इन्ही के कटे हुए गोल-चिपटे टुकडे सुखाकर व्यवहार मे लाए जाते हैं और वाजार मे कचूर के नाम से विकते हैं।

इसके मूलाग्रकदो मे स्टार्च होता है, जो 'शटीफूड' के नाम से वाजार मे मिलता है। वच्चो के लिये अरारूट तथा वार्ली की तरह यह पौष्टिक खाद्य का काम देता है। इसका उत्पादन वगाल मे एक लघु उद्योग वन गया है। कचूर के चूर्ण और पतगकाष्ठ के क्वाथ से अवीर वनाया जाता है। चिकित्सा मे कचूर को कटु, तिक्त, रोचक, दीपक, तथा कफ, वात, हिक्का, श्वास, कास, गुल्म एव कुष्ठ मे उपयोगी माना गया है।

आयुर्वेद के सहिताग्रथो मे कचूर का नाम नही आया है। केवल निघटुओ मे सहितोक्त 'शठी' के पर्याय रूप मे, अथवा स्वतत्र द्रव्य के रूप मे, यह वर्णित है। ऐसा मालूम होता है कि वास्तविक शठी के सुलभ न होने पर पहले इस कचूर का प्रतिनिधि रूप मे उपयोग प्रारभ हुआ और वाद मे कचूर को ही शठी कहा जाने लगा। कचूर को ज़ेडोरी (Zedory), इसकी दूसरी जाति करक्यूमा सीसिया (Curcuma caesia) को काली हल्दी, नरकचूर और व्लैकजेडोरी तथा तीसरी जाति वनहरिद्रा (करक्यूमा ऐरोमैटिका, Curcuma aromatica) को वनहल्दी अथवा येलो जेडोरी भी कहते हैं। [व० सि०]

कच्चान (स० कात्यायन) वुद्ध भगवान् के एक परम ऋद्धिमान् शिष्य, जिनकी प्रशसा में कहा गया है 'ये आयुष्मान् महाकात्यायन, वुद्ध द्वारा प्रशसित, सब्रह्मचारियो द्वारा प्रशसित और शास्ता द्वारा सक्षेप में कहे हुए उपदेश का विस्तार से अर्थविभाग करने मे समर्थ हैं। (म० नि०–मधु पि० सुत्त)।

१९वी सदी मे व्रह्मदेश मे लिखे गए 'गधवसो' के अनुसार महाकच्चान की छ रचनाएँ हैं—१ कच्चायन गधो, २ महानिरुत्ति गधो, ३ चुल्लनिरुत्ति गधो, ३ नेत्ति गधो, ५ पेटकोपदेस गधो और ६ वण्णनेत्ति गधो। किंतु न तो इन ग्रथो के कर्ता वुद्ध के समकालीन उक्त महाकात्यायन हैं, और न वे सव किसी एक ही ग्रथकार की रचनाएँ हैं। नेत्ति गध या नीति प्रकरण अनुमानत प्रथम शती के आसपास की रचना है, और उसमे वुद्ध के उपदेशो का वर्गीकरण, पाठो के शास्त्रीय नियम, मतव्यो की नाना दृष्टियो से सूचियाँ तथा शव्दो की व्याख्या एव तात्पर्य का निर्णय उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रथ पर पाँचवी सदी मे धम्मपाल द्वारा नेत्तिप्रकरण-अत्थसवण्णा नामक अट्ठकथा लिखी गई। पेटकोपदेस मे नेत्तिकरण के विषय को कुछ भिन्न रीति से वुद्ध शासन के चार आर्यसत्यो के अनुसार व्यवस्थित किया गया है। इसके कर्ता कच्चान या महाकच्चान पृथक् ही प्रतीत होते हैं। वण्णनीति ग्रथ की कोई विशेष प्रसिद्धि नही है। शेप तीन रचनाएँ व्याकरण विषयक हैं।

कच्चान व्याकरण पालि भाषा का प्राचीनतम उपलव्ध व्याकरण है, जिसमे कुल ६७५ सूत्र हैं। इसकी रचना मे सस्कृत के कातत्र व्याकरण तथा अष्टाध्यायी एव उसकी काशिकावृत्ति का अनुसरण पाया जाता है। अत इसका रचनाकाल ७वी सदी से पूर्व नही हो सकता। इसपर विमलवुद्धि द्वारा मुखमत्तदीपनी नामक टीका तथा न्यास ११वी सदी मे रचा गया, और उसपर छप्पद आचार्य ने १२वी सदी मे न्यासप्रदीप नामक टीका लिखी। छप्पद की कच्चान व्याकरण पर अलग से भी सुत्तनिद्देस नामक एक टीका है। तत्पश्चात् इस व्याकरण पर स्थविर सघरक्षितकृत सवधचिंता, सद्धम्मसिरीकृत सद्दत्थ-भेद-चिंता, वुद्धप्रिय दीपकरकृत रूपसिद्धि, धर्मकीर्तिकृत वालावतार व्याकरण, नागित्तकृत सद्दत्थजालिनी, महायास कृत कच्चायनभेद और कच्चायनसार, क्यच्वाकृत सद्दविंदु तथा वालप्पवोधन, अभिनव चुल्लनिरुत्ति, कच्चायनवदना और धातुमजूषा नामक टीकाएँ भिन्न भिन्न कर्ताओ द्वारा क्रमश १७–१८वी सदी तक रची गई, और उनपर भी अनेक ग्रथ टीका टिप्पणी के रूप मे लिखे गए। इससे कच्चान व्याकरण के महत्व एव प्रचार का पता चलता है। [ही० ला० जै०]

कच्ची सड़कें प्राचीन काल से ही पगडडियाँ वनने लगी थी। परतु सभ्यता के विकास के साथ ही चौडी कच्ची सडकें वनने लगी। मोहनजोदेडो (सिंध) की खुदाई से पता चला है कि ३,००० ई० पू० मे भी चौडी कच्ची सडकें वनने लगी थी और उनमे पानी की निकासी का भी अच्छा प्रवध रहता था। मौर्यकाल (लगभग ६०० ई०) मे सडक वनाने और उसकी देखरेख की कला समुन्नत अवस्था मे पहुँच गई थी। उस काल मे कहा जाता था कि राजपथ कछुए की पीठ के समान कडा और ढालू हो और उसकी चौडाई कम से कम १६ हाथ हो। सैनिक उपयोग तथा वाणिज्य के लिये महत्वपूर्ण सडकें ३२ हाथ चौडी वनाई जाती थी। १६ वी शताव्दी तक महत्वपूर्ण सडको का एक जाल सा विछ गया था, जिसमे सर्वविख्यात सडक उत्तरापथ की थी। सन् १५४० से १५५५ तक शेरशाह सूरी ने इसी को दोवारा सुधारकर वगाल से पेशावर तक वनवाया था। अग्रेजी शासनकाल मे इसे ही ग्रैंड ट्रक रोड कहा गया। ये सव सडकें वस्तुत कच्ची ही थी।

सन् १९५९ मे भारत मे कुल ३,९३,००० मील लवी सडकें थी। इनमे कच्ची सडकें २,५३,८०० मील थी। कच्ची सडकें ही यातायात के वढ जाने पर पक्की वना दी जाती हैं। इसलिये उनका पथनिर्णय और ज्यामितिक आकल्पन (डिज़ाइन), अर्थात् उनकी चौडाई, वक्रो की गोलाई, चढाई, उतराई की ढलान इत्यादि, के निर्णय उन्ही सिद्धातो पर किए जाते हैं जिनपर पक्की सडकें वनाई जाती हैं। जहाँ पुल वनाने की आवश्यकता होती है वहाँ पुल भी वैसी ही सामर्थ्य के वनाए जाते हैं जैसे पक्की सडको पर।

यातायात से मिट्टी के धूल मे वदल जाने के कारण और वर्षा मे कीचड और फिसलन हो जाने के कारण कच्ची सडकें तेज चाल की गाडियो के लिये खराव मौसम मे ठीक नही रहती। कभी कभी तो वैलगाडियो तक का इनपर चलना कठिन हो जाता है। इसलिये जनता इन्हे पसद नही करती। किंतु पक्की सडक वनाने मे लागत वहुत आती है, अत सभी सडकें पक्की नही वनाई जा सकती।

कच्ची सड़क का निर्माण—सडक के पथ का निर्णय हो जाने पर सर्वेक्षण से उसकी इच्छित चौडाई के दोनो ओर लकीरें लगाई जाती हैं और फिर इच्छित समतल और ढाल के अनुसार उसमे मिट्टी की कटाई और भराई की जाती है। कच्ची सडको के लिये यह कटाई और भराई न्यूनतम रखी जाती है और जहाँ तक हो सकता है सडक को दोनो ओर की प्राकृतिक भूमि से ९ इच से अधिक ऊँचा या नीचा नही रखा जाता। भारत मे यह काम मजदूर गैंती, फावडे से ही कर लेते हैं, परतु विदेशो मे यह काम मिट्टी खोदनेवाली मशीनें करती हैं जिन्हे मोटर ग्रेडर कहते हैं। भारत मे भी जहाँ मजदूर मिलने मे दिक्कत होती है, या जहाँ काम वहुत शीघ्रता से कराना होता है, जैसे सेना के लिये, वहाँ मोटर ग्रेडर काम मे लाए जाते हैं। इन मशीनो मे उनके आगे पैनी धारवाली इस्पात की चौडी पट्टी लगी होती है। भूमि पर इन ग्रेडरो को चलाने से वगल की मिट्टी खुरचकर वीच मे पड जाती है और इस प्रकार सडक का वीच का भाग ऊँचा हो जाता है और सडक के दोनो ओर इच्छित ढाल तथा पानी वहने के लिये नाली भी वन जाती है। इन मोटर ग्रेडरो की सहायता से सडक का निर्माण शीघ्रता से इच्छित लवाई, चौडाई तथा ढालवाला हो जाता है। वर्षा मे सडक के खराव हो जाने पर और अधिक यातायात से भी ढाल विगड जाने पर हल्के ग्रेडर सडक को फुर्ती से ठीक कर देते हैं। यह कार्य मजदूरो के शारीरिक परिश्रम से इतना अच्छा

नही हो सकता। जहाँ सडक के बाँध की ऊँचाई अधिक होती है वहाँ मजदूर भी ठीक काम कर सकते है, जैसा आगे बताया गया है।

रेखांकन(alignment)--नवीन सडको की लकीर लगाने मे ये सिद्धात प्रयुक्त होते है

क दो स्थानो के बीच की सडक लबाई मे यथासभव छोटी से छोटी होनी चाहिए।

ख सडक ऐसे गाँवो और कस्बो मे से होकर निकलनी चाहिए जिससे उस क्षेत्र के वाणिज्य, उद्योग तथा कृषि की समस्त आवश्यकताओ की अधिक से अधिक पूर्ति हो सके।

ग सडको मे उतार चढाव बहुत तीव्र न होना चाहिए। मैदानो मे उतार या चढाव साधारणत सौ लबाई में एक ऊँचाई का, और अधिक से अधिक तैंतीस लबाई मे एक ऊँचाई का, होना चाहिए। पहाडो पर उतार चढाव साधारणत बीस में एक का और अधिक से अधिक चौदह मे एक का रहना चाहिए।

घ वक्रता यथासभव कम होनी चाहिए। वक्रता की न्यूनतम त्रिज्या कम से कम ३०० फुट हो। साधारणत यह लगभग १,००० फुट होनी चाहिए।

ड सडक के बीच से दोनो ओर ढाल रहनी चाहिए। जिससे वर्षा का पानी उसपर से सरलतापूर्वक वह जाय।

च सडक के लिये छोडी हुई भूमि कम से कम ४० फुट और अधिक से अधिक १५० फुट चौडी रहनी चाहिए।

पास पडोस की भूमि से सडक कुछ ऊँची होनी चाहिए। जहाँ बाढ आती हो वहाँ जल के उच्चतम स्तर से सडक कम से कम डेढ फुट ऊँची होनी चाहिए। सडक के बाँध के पार्श्वो की ढाल दो पडे और एक खडे के अनुपात में हो, जैसा चित्र मे दिखाया गया है।
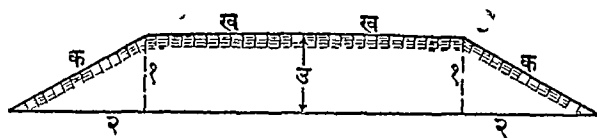
कच्ची सडक का नमूना (अनुप्रस्थ काट)

क=पार्श्व की ढाल, ख=सडक, उ=ऊँचाई।

सडको के बाँध बनाने, अर्थात् भराव करने के लिये, मिट्टी के काम की मान्यताएँ--सडक के आसपास के ऊँचे स्थानो को, या गड्ढे खोदकर, मिट्टी ले ली जाती है। ये गड्ढे साधारणत एक फुट से अधिक गहरे न हो और यथासभव बराबर चौडाई के हो, एक दूसरे से सबद्ध हो तथा ऐसा प्रबध रहे कि बरसात मे उनमे पानी न रुके। गड्ढे बेढगे न हो और इधर उधर न खोदे जायँ।

यदि यात्रिक कुटाई न की जाय तो मान लेना चाहिए कि निम्नलिखित अनुपात में मिट्टी बैठेगी

बलुई मिट्टी--एक इच प्रति फुट ऊँचाई

दोमट (लोम) मिट्टी--डेढ इच प्रति फुट ऊँचाई

चिकनी तथा काली मिट्टी--दो इच प्रति फुट ऊँचाई

यदि मिट्टी ढालू पृष्ठ पर डाली जाय तो पृष्ठ को सीढीनुमा बना देना चाहिए। बगल की ढाल यथासभव दो पडे और एक खडे के अनुपात मे हो और वह प्राकृतिक विश्राम कोण से किसी भी दशा मे अधिक न हो। दोमट मिट्टी के लिये साधारणत दो क्षैतिज और एक ऊर्ध्वाधर के अनुपात मे बगली ढाल बनाई जाती है और अच्छी तरह कूटी हुई चिकनी मिट्टी तथा बजरीवाली मिट्टी के लिये $1\frac{1}{2}$ १ की ढाल दी जा सकती है।

पानी की निकासी--सडक के भराव से पानी की निकासी का प्रबध करना अत्यत महत्वपूर्ण है। अधिक आर्द्रता से भार सहन करने की शक्ति घट जाती है। फिर, चिकनी मिट्टी और काली मिट्टी पर अधिक पानी पडने से भूमि फल उठती है और सूखने पर सकुचित हो जाती है। ये दोनो बातें हानिकर है। अत यह परमावश्यक है कि कच्ची सडको के पृष्ठ से पानी के शीघ्र बह जाने के लिये सडक के बीच की ऊँचाई किनारो की अपेक्षा १ ३ के अनुपात मे रखीजाय। बगल मे इस नाप और इस ढाल की नालियाँ रखी जायँ कि महत्तम प्रत्याशित वर्षा का जल भी शीघ्रता से बह जाय।

देखरेख--यदि नया बाँध बाँधा गया हो और उसकी ऊँचाई १० फुट से अधिक हो तो वर्षा से उसकी रक्षा के लिये बगल में गिरनेवाले जल को बगल मे बनी नालियो मे गिरने देना चाहिए। ये नालियाँ कही दूर जाकर पानी को बहा दे। बाँध कही कटकर बह न जाय, अत ऊपरी चार इच मे खादयुक्त मिट्टी हो, जिसमें उपयुक्त घास बो दी जाय। ढालो पर सरपत रोपी जा सकती है। सडक की कोर पर दूब जमाई जा सकती है।

यदि सडक कही कट या फट जाय तो उसकी मरम्मत तुरत करनी चाहिए। कभी कभी सडक पर पडी लीको को भी भर देना चाहिए और कुटाई करके चौरस कर देना चाहिए।

वृक्षरोपण--सडको के अगल बगल छायादार वृक्षो के रोपने की प्रथा है। इससे गर्मी मे यात्रियो को छाया मिलती है और फल तथा लकडी से कुछ आय भी हो जाती है। पेडो की छाया से यात्रा का कष्ट बहुत कुछ मिट जाता है। पार्श्ववर्ती वृक्षावली का गाडी चालक के मस्तिष्क पर शातिप्रद प्रभाव पडता है और उसकी थकान कम होती है। यदि सडक का बाँध ३२ फुट चौडा हो, तो वृक्षो की पक्तियाँ सडक के मध्य भाग से ३० फुट अथवा अधिक दूरी पर हो। वृक्षो के बीच की दूरी वृक्षो की किस्म पर निर्भर है। परतु साधारणत वे ४०-४० फुट पर लगाए जाते है। यदि वृक्ष बडे और बहुशाखी हो, तो उनके बीच की दूरी ६० फुट तक बढा दी जा सकती है। छोटे पेडो के लिये यह दूरी ३० फुट तक भी रखी जा सकती है। निम्नलिखित वृक्ष इस काम के लिये उपयोगी है --शीशम, आम, अर्जुन, तुन, इमली, जामुन, पाकड, नीम इत्यादि। इनमें से आम और शीशम उत्तर भारत के मैदानो मे अधिक लोकप्रिय है।

नीरसता मिटाने और सौंदर्यवृद्धि के लिये कही कही फूलवाले अथवा सुदर आकृतिवाले वृक्ष भी लगा दिए जाते है, विशेषकर नगरो के आसपास अथवा महत्वपूर्ण पुलो के समीप। निम्नलिखित वृक्ष इस काम के लिये उपयोगी हैं--अमलतास, कचनार, गुलमोहर, जेकोराडा, मौलसिरी (मौलिश्री, बकुल) अशोक, यूकालिप्टस (Eucalyptus) इत्यादि।

यदि सडक के रास्ते मे नाला या नदी पडे तो उसपर उपयुक्त पुल बनाना चाहिए। यह पुल इतना ऊँचा हो कि घोरतम वर्षा में भी सुगमतापूर्वक इसपर से जल बह जाय। पुलो का आकल्पन यह ध्यान रखकर करना चाहिए कि वे सडक पर चलनेवाली भारी गाडियो का बोझ निरापद रूप से सहन कर सकें। साधारणत इडियन रोड्स काग्रेस के वर्ग **बी** के सिद्धातो के अनुसार इन पुलो और पुलियो का आकल्पन करना चाहिए। यदि सडक की एक बगल की भूमि ऊँची तथा दूसरी ओर की नीची हो तो थोडी थोडी दूर पर पुलियाँ बना देनी चाहिए, जिसमे वर्षा का जल सुगमता से पार हो सके। ऊँची ओर की भूमि का सर्वेक्षण करके पता लगा लेना चाहिए कि वर्षा का कितना जल एक ओर से दूसरी ओर जाएगा और पुलियो की नाप उसी के अनुसार रखनी चाहिए। [का० प्र०]

कच्चे मकान

सभवत मिट्टी ही सबसे पुरानी वस्तु है, जिसका उपयोग मनुष्य घर बनाने के लिये करता है। अनत काल से मिट्टी से दीवारे बनाई जाती रही है, जो टेढी मेढी होती थी और धूप मे भली प्रकार से सुखाई हुई ईटो की बनी, सीधी भी। ऐसे मकान दक्षिण और मध्य अमरीका, दक्षिण यूरोप, अफ्रीका, फारस तथा निकटवर्ती देश मिस्र और भारत, अर्थात् ससार के प्राय सभी भागो, मे मिलते है।

कच्चा माल--मकानो आदि की रचना मे प्राय चिकनी मिट्टी का ही प्रयोग होता है। किंतु कई स्थानो में मिट्टी मे दृढता एव सुघट्चता लाने के लिए रेत भी मिला दी जाती है। यद्यपि सूखने पर मिट्टी सिकुडती है, तथापि सिकुडन के कारण ईटो के छोटी पडने के अतिरिक्त अन्य कोई हानि नही होती। ऐसा भी विश्वास है कि सूखने पर ईटो के सिकुड जाने से उनकी दाब के प्रति सहनशीलता मे वृद्धि हो जाती है। फलत इन ईंटो से बनी दीवारे अधिक बोझ सँभाल सकती है। विश्व के कतिपय ऐसे भागो मे जहाँ मिट्टी मे रेत मिलाने की परपरा नही है, थोडा सा भूसा या सूखी घास मिला दी जाती हे, जिससे मिट्टी की पुष्टता मे वृद्धि हो जाय और वह सूखने पर चटखे नही।

जलवायु की परिस्थितियाँ--अल्प वर्षावाले स्थानो मे ही अधिक कच्चे मकान बनाए जाते है। कारण यह है कि वहाँ की मिट्टी की बनी हुई ईंटो में

कच्चे मकान (देखे पृष्ठ ३१२)

मिट्टी की दृढ ईंटें बनाई जा रही है

मिट्टी की दृढ दीवार बनाने के लिये तख्ते खडे किये है

कच्चे मकान (देखें पृष्ठ ३१२)
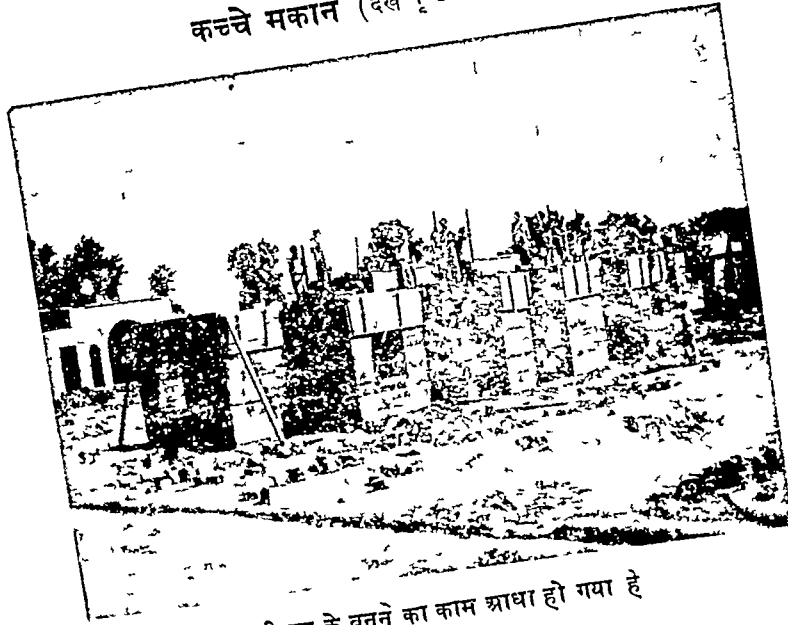
दीवार के बनने का काम आधा हो गया है

मिट्टी तथा सीमेंट का पूर्ण निर्मित, दृढ़ीकृत, कच्चा भवन

० २ से लेकर १ टन प्रति वर्ग फुट तक की दाव की सहनशीलता होती हे, जो शुष्कावस्था मे एकमजिले मकानो के लिये पर्याप्त होती है। अधिक वर्षा-वाले स्थानो में उचित प्रकार की छतोवाले मकान वनाए जा सकते है।

मिट्टी सानना—इसका पुराना ढग यह है कि एक गड्ढा खोद लिया जाता है और आवश्यकतानुसार पर्याप्त जल डाल दिया जाता है। ढेले तोडने के लिये दो दिन तक मिट्टी को पैरो से गूँधा जाता है। तव इस सुघट्य मिट्टी से मानक नाप की ईंटे वना ली जाती है। मिट्टी और पानी को एकरूप सानने के लिये आजकल इजनचालित चक्की का भी प्रयोग किया जाता है, जिसे पग मिल कहते है। इजन के अतिरिक्त पग मिल पशुओ द्वारा भी चलाई जा सकती है।

पायना—कच्ची ईंटो को पाथने के लिये मिट्टी का चौरस, कडा फर्श चाहिए। साधारणतया साँचे मे वालू छिडक दी जाती है जिससे उसमे ईंट न चिपके। कच्ची ईंटो की नाप कई वातो पर निर्भर होती हे, उदाहरणत भीत की मोटाई, मजदूर अधिक से अधिक कितना वोझ उठा सकता है, इत्यादि। काम मे लाने के पूर्व इन ईंटो को लगभग एक महीने तक धूप मे सुखाना आवश्यक है। भारत के कुछ गाँवो मे कच्ची ईंटे वनाने के लिये भमि पर सुघट्य मिट्टी वाछित मोटाई मे फैला दी जाती है और उसे वाछित नापो मे काटकर टुकडे टुकडे कर दिया जाता है। इस प्रकार वनाई गई ईंटो का आकार ठीक नही रहता और वहुधा वे ऐंठ जाती है। इन दोपो का निराकरण मोटी सधियो से हो जाता है। इस प्रकार ईंटे वनाने मे यह गुण है कि कोई भी परिवार अपनी सुविधा के अनुसार ऐसी ईंटे वना सकता है। इन ईंटो को वनाने के लिये कच्चा माल पास मे ही मिल जाता है और वनानेवाले मे किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नही होती। अत लडके वच्चे सभी इस कार्य मे सहायता कर सकते है। कच्ची ईंटो से वने मकानो मे यह दोष होता है कि वे वहुत टिकाऊ नही होते और उनके पृष्ठ पर वार वार पलस्तर करना पडता है, अन्यथा उनके गिर जाने का डर रहता है। फिर, आस पास की भूमि से पानी की निकासी अच्छी होनी चाहिए, अन्यथा दीवाल की नीव के वैठ जाने का भय रहता है।

कच्ची ईंटो के बनाने में सुधार—विज्ञान की प्रगति के साथ मृत्तिका विज्ञान मे भी उन्नति हुई है। कच्ची ईंटे अच्छी वन सकें, इसके लिये कई प्रकार के प्रयत्न किए गए है। इनका सक्षिप्त व्योरा नीचे दिया जाता है

१ **मिट्टी को ठोस करना** (कपैक्शन, Compaction, सघनन)· प्रयोगो से पता चला है कि सूखी ईंटो की पुष्टता उतनी ही अधिक होगी जितना अधिक मिट्टी के कण परस्पर सटे रहेंगे। इस गुण को सघनन (कपैक्शन) कहते है। अधिक सघनन से आर्द्रावस्था मे भी ईंटे अधिक स्थायी होती है। वाजार मे अव कई एक मशीने आ गई है, जिनसे ईंटो को पाथते समय उनमे अधिक सघनन आ जाता है। सघनन की मात्रा मिट्टी मे पानी की मात्रा पर निर्भर है। इसलिये पाथते समय मिट्टी मे जल की मात्रा पर पूर्ण नियत्रण रखना आवश्यक है। प्राचीन रीतियो से कच्ची ईंटे पाथने के समय ३० प्रति शत आर्द्रता की आवश्कता रहती है। परतु प्राचीन विधियो से वनी सूखी ईंटो मे लगभग १ टन प्रति वर्ग फुट की ही पुष्टता रहती है। इसकी तुलना मे मशीन से पाथने मे कुल ८–१० प्रति शत आर्द्रता की आवश्यकता पडती है। प्रयोगो से पता चला है कि मिट्टी को अच्छी तरह सानकर और मशीन से ठीक प्रकार से दवाकर वनाई ईंटो मे सूखने पर पुष्टता लगभग ८–१० टन प्रति वर्ग फुट होती है।

२. **वधक** (वाइडर, binder) **मिलाना**

बिटुमेन—कच्ची ईंटो की जल प्रतिरोधक शक्ति विटुमेन से बहुत वढाई जा सकती है। पाथनेवाली मिट्टी मे ३ से ५ प्रति शत तक विटुमेन मिलाना पर्याप्त होता है। प्रयोगो से ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार वनी ईंटे पर्याप्त जलाभेद्य होती है और उनसे वनी भीतो पर पलस्तर करने की कोई आवश्यकता नही रहती।

सीमेंट—मिट्टी मे सीमेंट मिलाने से पानी की क्रिया से कच्ची ईंटो के नम हो जाने की प्रवृत्ति वहुत कम हो जाती है। किंतु सीमेंट की सफलता इसपर निर्भर है कि मिट्टी मे कितना सीमेंट मिलाया गया है और ईंटो के वनाने मे कितना सघनन उत्पन्न किया गया है। प्रयोगो से पता चला है कि

यदि पर्याप्त सघनन किया जाय और मिट्टी मे छोटे वडे कण उचित मात्रा मे रहे तो ३ से ५ प्रति शत तक सीमेंट से पर्याप्त स्थायित्व आ जाता है। यहाँ तक कि जहाँ ईंटो का पकाना वहुत व्ययसाध्य होता है वहाँ सीमेंट मिलाकर ईंट पाथने का काम किया जा सकता है।

जलाभेद्य पलस्तर—मशीनो की सहायता से कच्ची ईंटो को सीमेंट या विटुमेन मिलाकर वनाने और स्थायी करने का कार्य गाँवो मे प्रचलित होने मे अभी कुछ समय लगेगा, किंतु यह सुधार तो तुरत किया जा सकता है कि कच्ची दीवारो पर जलाभेद्य पलस्तर कर दिया जाया करे। भारत की कई अनुसधान सस्थाओ ने इस काम के लिये कई रीतियाँ वताई है। इनमे सीमेंट के साथ काठकोयला, सावुन तथा अन्य पदार्थ अथवा विटुमेन के मिश्रण और घोल आज भी प्रयुक्त होते है। इन रीतियो की तुलनात्मक जाँच भारत की केंद्रीय सडक अनुसधान सस्था (सेंट्रल रोड रिसर्च इस्टिट्यूट) ने की है। परीक्षण मे निम्नोक्त कार्य किए गए है (१) १४४ घटे तक १५–२० मील प्रति घटे के वेग से दीवालो पर पानी का सतत छिडकाव, (२) उपरिलिखित ढग से रात्रि के समय उतने ही वेग से छिडकाव और दिन मे धूप लगने देना। यह कार्य दो महीने तक चालू रखा गया, अर्थात् छिडकाव और सुखाने के ६० चक्र जारी रखे गए।

पता चला कि विटुमेन और पानी के पायस (इमल्शन) से सर्वाधिक सतोपप्रद परिणाम निकलता है। विटुमेन का मट्टी के तेल के साथ घोल (कटवैक, Cut back) इससे कुछ ही कम सतोपजनक था। विटुमेन के पायस से जलाभेद्य पलस्तर बनाने की रीति इस प्रकार है—१० घन फुट अच्छी मिट्टी और २० सेर छोटे कटे भूसे को एक मे मिला दिया जाय, फिर इसमे पर्याप्त जल मिलाकर सात दिनो तक सडने दिया जाय। पर, जैसा साधारण मिट्टी के पलस्तर मे किया जाता है, वीच वीच मे पैर या फावडे से इसे अच्छी तरह उलटा पलटा जाय। पलस्तर करने के दो घटे पूर्व इसमे विटुमेन पायस डाल दिया जाता है और फावडे से अथवा पैरो से गूँधकर अच्छी तरह मिला दिया जाता है।

कच्ची दीवार पर पानी छिडककर १/२ इच मोटा पलस्तर लगाना चाहिए और उसे करनी से रगडकर पृष्ठ को चिकना कर देना चाहिए। यदि यह काम उष्ण ऋतु मे किया जाय तो पलस्तर पर कभी कभी पानी छिडकना चाहिए, अन्यथा पलस्तर के चटख जाने का डर रहता है। जव पलस्तर थोडा सूख जाय तव उसपर एक वार गोवरी करनी चाहिए, अर्थात् गाय के गोवर तथा मिट्टी और पानी के मिश्रण से लेप कर देना चाहिए। इस मिश्रण के लिये नुस्खा निम्नोक्त है

मिट्टी	एक घन फुट
गोवर	दस सेर
पायस (जनता)	दो सेर

स०ग्र०—एलवर्ट हव्वैल अर्थ व्रिक कस्ट्रक्शन (ए पव्लिकेशन ऑव एड्यूकेशन डिविजन, डब्ल्यू० एस० ऑफिस ऑव इडियन अफेयर्स), जे० एस० लॉङ्ग ऐडोवे कस्ट्रक्शन (वुलेटिन न० ४७२, यूनिवर्सिटी ऑव कैलिफोनिया, वर्क्ले, कैलिफोर्निया), अर्थ फॉर हाउसेज, १ ६५५ (हाउसिग ऐड फाइनैस एजेसी, वाशिगटन २५, डी० सी०), वाटरप्रूफ रेंडरिंग्स फॉर मड वाल्स (ए पव्लिकेशन ऑव एन० वी० ओ०, नई दिल्ली, १६५८), दि वर्किंग ऑव "लैडक्रीट" मेशीन फॉर मेकिंग स्टैविलाइज्ड सॉयल हाउसेज (एन० वी० ओ०, जरनल, मार्च, १६५६), स्पेसिफिकेशस फॉर दि यूस ऑव रैम्ड सीमेंट-सॉयल इन विल्डिंग कस्ट्रक्शन। [ह० ल० उ०]

कच्छ का रन (खाड़ी)

कच्छ राज्य के उत्तर तथा पूर्व मे फैला हुआ एक नमकीन दलदल का वीरान प्रदेश है। यह २२°५५′ उ० अक्षाश से २४°४३′ उ० अक्षाश तक तथा ६८°४५′ पू० देशातर से ७१°४६′ पू० देशातर तक लगभग २३,३०० वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल मे फैला हुआ है। यह समुद्र का ही एक सँकरा अग है जो भूचाल के कारण सभवत अपने मौलिक तल से ऊपर उभड आया है और परिणामस्वरूप समुद्र से पृथक् हो गया हे। सिकदर महान के समय यह नौगम्य झील था। उत्तरी रन, जो लगभग २५७ किलोमीटर लवा (पश्चिम से पूर्व) तथा १२८ किलोमीटर चौडा (उत्तर से दक्षिण) है, अनुमानत लगभग १८,१२२ वर्ग किलोमीटर मे फैला है। पूर्वी रन

अपेक्षाकृत छोटा है। इसका क्षेत्रफल लगभग ५,१७८ वर्ग किलोमीटर है। मार्च से अक्टूबर मास तक यह क्षेत्र अगम्य हो जाता है। सन् १८१९ ई० के भूकप मे उत्तरी रन का मध्य भाग किनारो की अपेक्षा अधिक ऊपर उभड गया। इसके परिणामस्वरूप मध्य भाग सूखा तथा किनारे पानी, कीचड तथा दलदल से भरे हैं। ग्रीष्म काल मे दलदल सूखने पर लवण के श्वेत कण सूर्य के प्रकाश मे चमकने लगते है। [न० प्र०]

कच्छ प्रदेश

१९४७ ई० के पहले पश्चिमी भारतीय राज्यसघ का एक छोटा सा राज्य था। यह अब नवनिर्मित महा-गुजरात राज्य का एक अग है। इसका क्षेत्रफल १६,७२४ वर्गमील है। इसके पूर्व एव उत्तर मे कच्छ की रन, दक्षिण मे कच्छ की खाडी एव पश्चिम मे अरब सागर है।

कच्छ प्रदेश का अधिकाश भाग पहाडी एव जगली है। सपूर्ण प्रदेश ज्वालामुखी भूचाल के प्रभाव मे है। मुख्य फसले गेहूँ, जौ, ज्वार, दाल एव कपास हैं। इस प्रदेश मे पानी की कमी, वर्षा की अनिश्चितता एव भूकप की बहुलता के कारण अकाल अधिक पडते हैं। गर्मी के दिनो मे यहाँ का तापक्रम १००° फा० से १०५° फा० तक हो जाता है। छोटी छोटी पहाडी नदियाँ हैं जो वर्षा के अतरिक्त अन्य मौसिमो मे सूखी रहती हैं। उपर्युक्त भौतिक कठिनाइयो के कारण यहाँ की आबादी कम है। १९५१ ई० मे यहाँ की जनसख्या ५,६७,६०६ थी। [रा० वृ० सिं०]

कछुआ

उरगो के एक गण परिवर्मिगण (किलोनिया, Chelonia) का प्राणी है। यह जल और स्थल दोनो स्थानो मे पाया जाता है। जल और स्थल के कछुए तो भिन्न होते ही हैं, मीठे तथा खारे जल के कछुओ की भी पृथक् जातियाँ होती हैं।

कछुओ का गोल शरीर कडे डिब्बे जैसे आवरण से ढका रहता है। इस कडे आवरण या खोल से, जिसे 'खपडा' कहा जाता है, इनकी चारो टाँगे तथा लबी गरदन बाहर निकली रहती हैं। यह खपडा कडे पर्तदार शल्को से ढका रहता है। इसका ऊपरी भाग प्राय उत्तल (उभरा हुआ) और निचला भाग चपटा रहता है। ऊपरी भाग को उत्कवच (कैरापेस, carapace) और नीचेवाले को उदरवर्म (प्लैस्ट्रन, plastron) कहते है। कुछ कछुओ का ऊपरी भाग चिकना रहता है, परतु कुछ कडे शल्क इस प्रकार एक दूसरे पर चढे रहते हैं जैसे प्राय मकानो पर खपडे छाए रहते है। ये खपडे कई टुकडो के जुडने से बनते हैं, जो सुदृढता से परस्पर जुडे रहते है। ऊपर और नीचे के खपडे भी बगल में सुदृढतापूर्वक एक दूसरे से सयोजित रहते है।
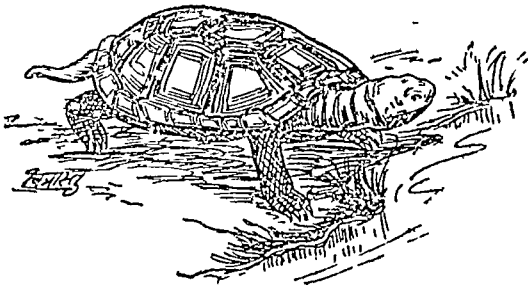
कछुआ

कछुओ के खपडो की बनावट उनकी रहन सहन के अनुसार ही होती है। सूखे मे रहनेवाले कछुओ के खपडे ऊँचे, और गोलाई लिए रहते हैं। जिसके भीतर वे अपनी गरदन और टाँगो को सरलता से सिकोड लेते हैं। किंतु पानी के कछुओ के खपडे चपटे होते हैं, क्योकि उन्हे अपनी टाँगो को शीघ्र भीतर बाहर करने की आवश्यकता नही पडती।

खपडो की भाँति उनकी अँगुलियो की बनावट पर भी उनकी रहन सहन का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पडता है। स्थलकच्छपो की अँगुलियाँ जहाँ आपस में ऐसी गुँथी रहती है कि हम उनकी सख्या केवल उनके नखो से ही जान पाते हैं, वही जलकच्छपो की अँगुलियाँ भिन्न होकर भी बत्तखो के समान आपस मे एक प्रकार की झिल्ली से जुडी रहती हैं। समुद्री कच्छपो के अगले पैरो की अँगुलियाँ और अँगूठे एक ही में जुडकर पतवार-नुमा हो जाते हैं और उनमे नखो की सख्या भी कम रहती है।

कछुओ के मुँह मे दाँत नही होते, किंतु उनके स्थान पर एक कडी हड्डी का चद्राकार पट्ट (प्लेट) सा रहता है, जिसकी धार बहुत तीक्ष्ण होती है। इसी के द्वारा वे अपना भोजन सुगमता से काट लेते हैं। स्थलकच्छप शाकाहारी होते हैं और जलकच्छपो मे अधिक सख्या उन्ही की है जो मास मछलियो और घोघे कटुओ से अपना पेट भरते हैं।

कछुओ के साँस लेने का ढग भी अन्य उरगो से भिन्न होता है। वे उभयचरो के समान साँस लेते हैं। उनके फेफडे मे वायु एक ऐसे अवयव की सहायता से पहुँचती है जो उनकी गरदन और मुख के निचले भाग को सिकोडता और फैलाता रहता है। चलते समय या तैरते समय गरदन और टाँगो के आगे पीछे गतिमान होने से उन्हें साँस लेने मे सुविधा हो जाती है। पानी में रहनेवाले कुछ कछुए अपनी गुदा से पानी में घुली हुई वायु को उसी प्रकार सोख लेते हैं जैसे मछलियाँ अपने गलफडो से पानी में घुले आक्सिजन को सोख लेती हैं।

कछुए कोई स्पष्ट ध्वनि नही करते, किंतु जोडा बाँधते समय नर का एक प्रकार का कर्कश स्वर और स्त्री की फुफकार कभी कभी सुनाई पडती है। इनकी सतानवृद्धि अडो द्वारा होती है, जिन्हे स्त्री एक बार रेत मे गाड कर फिर उनकी चिंता नही करती।

ससार मे लगभग २२५ जातियो (species) के कछुए हैं, जिनमें सबसे बडा समुद्री कछुआ सामान्य चर्मकश्यप (Dermochelys coriacea) होता है। यह समुद्री कछुआ लगभग ८ फुट लबा और ३० मन भारी होता है। इसकी पीठ पर कडे शल्को की धारियाँ सी पडी रहती हैं, जिनपर खाल चढी रहती है। इसका निवासस्थान उष्णप्रदेशीय सागर हैं और इसका मुख्य भोजन मास, मछली और घोघे कटुए हैं। अन्य कछुओ की भाँति इस जाति के मादा कछुए भी रेत मे अडे देते हैं।

शेष कछुओ को इस प्रकार तीन श्रेणियो मे बाँटा गया है

१ **मृदुकश्यप** (ट्रिओनीकॉइडी, Trionychoidea)—इस श्रेणी मे वे जलकच्छप आते हैं जिनके ऊपरी खपडे पर कडे शल्क या पट्ट नही होते।

२ **गुप्तग्रीवा** (क्रिप्टोडिरा, Cryptodira)—इस श्रेणी मे वे जल और स्थल कच्छप आते हैं जिनके ऊपरी खपडे पर खाल से ढके हुए कडे शल्क या पट्ट रहते हैं और जो अपनी लबी गरदन को सिकोडते समय उसे अग्रेजी के अक्षर S के समान वक्राकार कर लेते हैं। इस श्रेणी में सबसे अधिक कछुए हैं।

३ **पार्श्वग्रीवा** (प्ल्यूरोडिरा, Pleurodira)—इस श्रेणी मे क्रिप्टोडिरा श्रेणी जैसे ही जल और स्थल के कछुए है, किंतु उनकी गरदन उत्कवच के भीतर सिकुड नही सकती, केवल बगल मे घुमाकर उत्कवच के नीचे कर ली जाती है।

हमारे देश मे कछुओ की लगभग ५५ जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें साल, चिकना, चितरा, छतनहिया, रामानदी, बाजठोंठी और सेवार आदि प्रसिद्ध कछुए हैं (देखे **उरग** के अतर्गत)। [सु० सिं०]

कज़बेक

रूस महादेश के उत्तरी ओसेशियन एव दक्षिणी ओसेशियन राज्य की सीमा पर काकेशस पर्वत के मध्य मे १६,५४१ फुट ऊँची एक प्रज्वलित ज्वाला मुखी पर्वत की चोटी है। तेरेक इस प्रदेश की प्रधान नदी है जो इस पर्वत के निचले भाग मे स्थित आठ सयुक्त हिमानियो से निकलती है। इस चोटी पर सर्वप्रथम १८६८ ई० मे डगलस विलियम फ्रेशफील्ड अपने तीन साथियो के साथ चढे थे। [रा० वृ० सिं०]

कज़ाकिस्तान

राज्य मे गणतत्र की स्थापना सन् १९२० मे हुई थी तथा सन् १९३६ मे यह सोवियत सघ का एक अग बनाया गया। इस गणतत्र का क्षेत्रफल लगभग २७,३४,९०० वर्ग किलोमीटर तथा जनसख्या ९१,००,००० है। लगभग ६० प्रतिशत जनसख्या कज़ाको की है। बहुत दिनो तक यहाँ के निवासी पशुपालन का कार्य करते थे तथा अपने पशुओ के झुड को साथ लिए यायावर के रूप मे घूमते तथा खेमो मे रहा करते थे।

यह राज्य पश्चिम मे वोलगा के निचले भाग से लेकर पूर्व मे सीक्याग की सीमा तक तथा उत्तर मे ट्रास साइवीरियन रेलवे से लेकर दक्षिण मे तियेनशान पर्वत तक, एक वृहत् वृक्षहीन मैदान के रूप मे फैला है। यहाँ की जलवायु शुष्क और वनस्पति घास है। यहाँ की मुख्य नदियाँ सर दरिया, इर्तिश, युराल, इलि तथा इशिम हैं। कृपियोग्य भूमि इस राज्य के केवल उत्तरी, पश्चिमी तथा दक्षिणी भागो मे है। उत्तरी भाग के काली मिट्टीवाले क्षेत्र मे अन्न, दक्षिणी क्षेत्र मे रुई तथा अन्य औद्योगिक फसले और तियेनशान पर्वत की तलहटी मे फल उत्पन्न किए जाते है। इस राज्य की कृपि मे निम्नलिखित फसले मुख्य हैं--गेहूँ, ज्वार, चुकदर, तवाकू, रुई, धान इत्यादि। यहाँ के पशुधन मे भेड, लवी सीगवाली गाय, घोडा तथा ऊँट उल्लेखनीय हैं। यह राज्य खनिज सपत्ति की दृष्टि से सुसपन्न है। ताँवा, सीसा, जस्ता, निकेल, क्रोमाइट, मैंगेनीज तथा ऐंटीमनी पर्याप्त मात्रा मे उपलव्ध है। एवा मे खनिज तेल तथा कारागाडा मे कोयले की अपार राशि है।

सोवियत सघ मे समिलित होने पर इस घास के मैदान मे अनेक खानो, नगरो तथा कारखानो का विकास हुआ। अनेक रेलमार्ग भी वनाए गए जिनका इस क्षेत्र के आर्थिक विकास मे वहुत वडा हाथ है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व के १५ वर्षो मे ५,०३० किलोमीटर लवे रेलमार्गो का निर्माण हुआ। खाद्य सवधी उद्योग वहुत विकसित हुए हैं जैसे, चीनी, मक्खन, आटा तथा मास उद्योग और फल, सब्जी, मछली इत्यादि को डब्बो मे निर्यातार्थ भरने का उद्योग। तवाकू तथा चमडे के उद्योग भी उल्लेखनीय हैं। राज्य का सवसे वडा औद्योगिक नगर वाल्कश है। अल्मा-अता इस राज्य की राजधानी तथा मुख्य सास्कृतिक केंद्र है। अक्टूबर, १९१७ की क्राति के वाद राज्य मे कई नहरे तथा वाँध वनाए गए और मरुभूमि का कुछ भाग कृपियोग्य भूमि मे परिणत हो गया। [न० प्र०]

कटक उडीसा राज्य का एकमात्र प्रसिद्ध नगर हे। यह महानदी के त्रिकोण (डेल्टा) पर स्थित है तथा रेल द्वारा कलकत्ता एव मद्रास से मिला हुआ है। यह उडीसा का सवसे पुराना नगर तथा लवी अवधि तक इस प्रात की राजधानी रहा हे। १९५१ ई० मे इसकी जनसख्या १,०२,५०५ थी। हिंदूकाल मे वारावती का किला, जिसका अवशेप अव भी महानदी के किनारे है, नगर का मुख्य केंद्र था। मुस्लिम काल मे लालवाग महल का निर्माण हुआ। इससे किले का महत्व घट गया, क्योकि शासनसचालन लालवाग महल से होने लगा। अव रेलवे लाइन के वनने से शहर का विस्तार पूरव की तरफ वढ रहा है। उडीसा की राजधानी का स्थानातरण भुवनेश्वर हो जाने से कटक का प्रशासकीय महत्व कम हो गया है। राजधानी का स्थानातरण हो जाने पर भी यह उडीसा राज्य की सास्कृतिक राजधानी है। औद्योगिक दृष्टि से कटक कम विकसित है। हथकरघा से कपडा वुनना, लकडी के सामान वनाना यहाँ के मुख्य उद्योग धधे हैं। यहाँ कालेजो की सख्या सात है तथा शिक्षा का प्रसार तेजी से हो रहा है।

यहाँ की सडके नियोजित नही हैं, अतएव स्थान स्थान पर काफी सँकरी हैं। डाक तार की व्यवस्था अच्छी है। साइकिल एव साइकिल रिक्शा आवागमन के मुख्य साधन हैं। एक व्यक्तिगत कपनी द्वारा विद्युच्छक्ति की पूर्ति की जाती है पर घरेलू कार्य के लिये वहुत कम लोग विजली का उपयोग करते हैं।

भारत के अन्य नगरो की तरह इस नगर के सुधार की भी योजना चल रही है जिसके अतर्गत वर्तमान नगरसीमा के वाहर एक औद्योगिक क्षेत्र वसाने की व्यवस्था है। [रा० लो० सिं०]

कटांगा प्रदेश यह वेल्जियम कागो के एलीजावेथविले प्रात का एक जिला है। इसके दक्षिण-पश्चिम मे उत्तरी रोडेशिया, उत्तर-पश्चिम मे टैंगैन्यीका, जो एलीजावेथविले का एक जिला है, तथा पूरव मे लूआलावा नामक इसी प्रदेश का एक अन्य जिला है। इसका सपूर्ण क्षेत्रफल ४९,४५८ वर्गमील है तथा आवादी सन् १९४१ मे १,७२,१७३ स्वदेशी, ५,०७८ यूरोपियन जिनमे ३,७०७ वेल्जियन, ६७४ इटालियन, १८९ ग्रीक, तथा १५७ ब्रिटिश थी।

यह सपूर्ण जिला कटागा नामक पठार पर वसा है। इसी पठार से प्रसिद्ध नदी कागो निकलकर अटलाटिक महासागर मे गिरती है। इस पठार पर वहनेवाली नदियो मे कागो, वुकामा तथा लूआलावा मुख्य हैं जो यातायात के लिये भी प्रयुक्त होती हैं। यहाँ की जलवायु प्रधानत दक्षिणी अफ्रीका के किस्म की है। यह पठार पशुपालन तथा कृपि के योग्य है। सपूर्ण कटागा जिला अपने खनिज पदार्थो के लिये विश्वविख्यात है। कटागा तथा उत्तरी रोडेशिया के मध्य मे ताँवे के खान का एक क्षेत्र है जिसका अनुमित भाडार ११,५०,००,००० टन से भी अधिक है। इसके उत्पादन का महत्व विगत कुछ वर्षो से रेलो के निर्माण के कारण अधिक वढ गया है। इसका उत्पादन सन् १९३९ ई० मे १,२२,६०० टन था जो १९४४ मे वढकर १,७०,००० टन हो गया।

मोयरो झील के समीप टिन का उत्पादन होता है। इसका उत्पादन सन् १९४० मे करीव ८,००० टन था। जस्ता, युरेनियम, कोयला, लोहा, सोना, प्लैटिनम तथा हीरा अन्य उल्लेखनीय खनिज वस्तुएँ हैं।

विगत वर्षो मे नई नई रेलवे लाइनो तथा यातायात के अन्य साधनो के निर्माण के फलस्वरूप इस जिले की यथेष्ट उन्नति हुई है। यहाँ की इमारतो तथा क्रीडास्थलो का निर्माण दक्षिणी अफ्रीका के नमूने पर हुआ है। सन् १९४१ ई० मे यहाँ पर श्वेत जातियो के करीव ३,००० लोग निवास करते थे। यहाँ के उद्योग धधो मे मुख्यत विदेशी पूँजी लगी हुई है। [व० सिं०]

कटिहार विहार प्रात के पूर्वोत्तर भाग मे पूर्णिया जिला के सदर सव डिविज़न का एक नगर हे (स्थिति २५° ३४′ उ० तथा ८७° ३५′ पू०)। रेल यातायात की दृष्टि से इसका अधिक महत्व है। यह पूर्वोत्तर रेलवे तथा पूर्वोत्तर सीमा रेलवे का सधिस्थान (जक्शन) है। भारतीय रेलवे के आधुनिक क्षेत्रीकरण के पहले भी यह वी० एन० डब्ल्यू० तथा ई० वी० रेलवे का सधिस्थान रह चुका है। यहाँ से रेल की एक शाखा दक्षिण की ओर गगा नदी के किनारे स्थित मनिहारी घाट तक जाती है। मनिहारी घाट से सँकरी गली तक गगा मे स्टीमर चलता है। इस प्रकार पूर्व रेलवे से भी सवध स्थापित हो जाता है। कटिहार से चावल और सरसो का निर्यात अधिक मात्रा मे होता हे। भेड के व्यापार के लिये भी यह स्थान प्रसिद्ध है। यहाँ गडेरियो की एक वस्ती है जहाँ कवल वनाए जाते हैं। जनसख्या ४२,३६५ (१९५१) है। [न० प्र०]

कटी-संहतियाँ यात्रिकी मे उन दडो (छडो) के समूह को कहते हैं जो एक दूसरे से हिंज द्वारा जुडे रहते हैं और जिनसे कोई विशेष प्रकार की गति प्राप्त होती है। कटी-सहतियो के उदाहरण अनेक यत्रो मे देखे जा सकते हैं। पैंटोग्राफ नामक यत्र मे चार
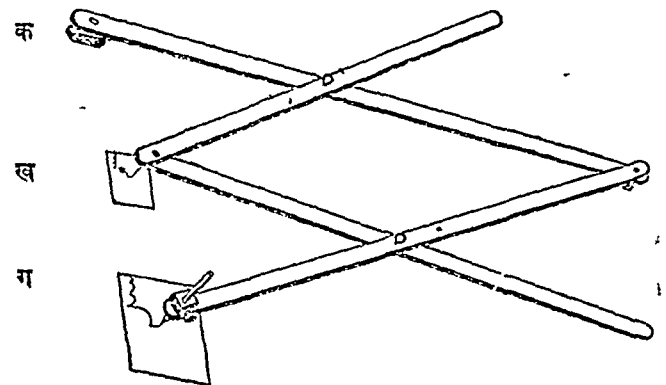
चित्र १. पैंटोग्राफ

छड रहते हैं जो एक दूसरे से हिंज द्वारा जुडे रहते हैं। इसमे विंदु क को स्थिर रखा जाता है और सुई ख को किसी वक्र पर फेरा जाता है। तव पेंसिल ग उस वक्र का प्रर्वावत अथवा लघ्वाकार चित्र उतार देता है। इस प्रकार इस यत्र को दिए हुए चित्र से वडा अथवा छोटा चित्र खीचने के काम मे लाया जाता है।

वाट का ऋजु-लेखक--इन दिनो जव यत्र के किसी भाग को ऋजु रेखा मे चलाना रहता हे तव ऐसा प्रवध किया जाता है कि वह भाग दो

स्थिर ऋजु भागों के बीच फिसले। वाष्प इंजन के आविष्कारक वाट के समय में उस प्रकार की युक्ति ठीक नहीं बन पाती थी, क्योंकि ऐसी युक्ति में बहुत सी शक्ति घर्षण द्वारा नष्ट हो जाती थी। इसलिये वाट ने १७८४ ई० में एक युक्ति की उपज्ञा की जिसे 'वाट्स पैरालेल मोशन' (वाट की समांतर गति) कहते हैं।

यदि तीन छड़ें, क ख, ख ग और ग घ बिंदुओं ख तथा ग पर हिंजों द्वारा जुड़ी हों और बिंदुओं क तथा घ पर स्थिर हिंज हों तो हमें वाट की युक्ति मिल जाती है। यदि छड़ ख ग पर एक बिंदु च ऐसा लिया जाय कि क ख/ग घ=च ग/ख च तो बिंदु च छड़ों के समतल में केवल एक प्रकार से चल सकेगा, वह अँग्रेजी अंक 8 लिख सकेगा जो बहुत सँकरा होगा। वस्तुत इस सँकरी आकृति के मध्य भाग प्राय ऋजु रहते हैं। इसलिये
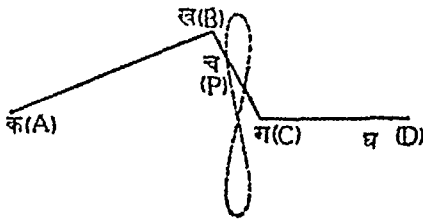
चित्र २ वाट की समांतर गति

हम कह सकते हैं कि बिंदु च लगभग ऋजु रेखा में चलता है। वाट ने उसका उपयोग इंजन का पिस्टन चलाने में किया, परतु सुविधा के लिये उसने तीन अतिरिक्त छड़ें जोड़ ली थीं, जिससे च की गति पैंटोग्राफ के सिद्धांत पर अन्यत्र पहुँच जाती है।

१९वीं शताब्दी के आरंभ में वाट के ऋजु-लेखक में सुधार करने की चेष्टा की गई। फ्रांस की सेना के एक लेफ्टिनेंट पोसेलिए ने छ छड़ों की कटी-सहति बनाई जिससे एक बिंदु शुद्ध ऋजु रेखा में चलता था। इसे
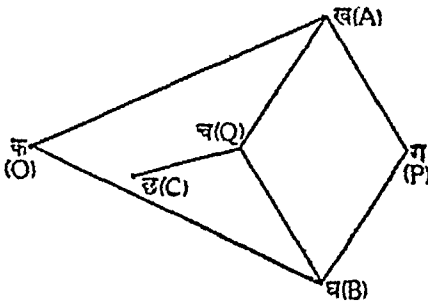
चित्र ३ पोसिलिए की कटी सहति

चित्र ३ में दिखाया गया है। इसमें ख ग=ग घ=घ च=च ख और क ख=क छ। बिंदु च और छ को स्थिर रखा जाता है, च छ की लंबाई क छ के बराबर रहती है। च अब केवल क के परित एक वृत्त में चल सकता है, उसे इस वृत्त में चलाने पर बिंदु ग सरल रेखा में चलता है।

पोसेलिए की कटी-सहति में ७ छड़ें रहती हैं। लोगों ने सोचा कि कम छड़ों से काम चलाया जाय तो अच्छा होगा। गणितज्ञ चेबिचफ (Tchebichoff) ने 'सिद्ध' कर दिया कि पाँच अथवा इससे कम छड़ों की सहतियों से ऋजु-रेखात्मक गति प्राप्त नहीं हो सकती, परंतु उसका प्रमाण अशुद्ध निकला, क्योंकि १८७७ ई० में हार्ट ने पाँच छड़ों की कटीसहति की उपज्ञा की जिससे सरल रेखा खींची जा सकती थी (देखें प्रोसीडिंग्स, लंदन मैथेमैटिकल सोसायटी, १८७७)।

अन्य कई कटीसहतियाँ बनी हैं जिनसे शाक्व, समविभव वक्र आदि खींचे जा सकते हैं।

सं० ग्रं०—ए० बी० केंप हाउ टु ड्रॉ ए स्ट्रेट लाइन (१८७७)।

[गो० प्र०]

कठ यह ऋषि का नाम पाणिनि के अष्टाध्यायी में प्राप्त होता है। एक मुनिविशेष का भी नाम 'कठ' था। यह वेद की कठ शाखा के प्रवर्तक थे। पतंजलि के महाभाष्य के मत से कठ वैशंपायन के शिष्य थे। इनकी प्रवर्तित शाखा 'काठक' नाम से भी प्रसिद्ध है। आजकल इस शाखा की वेदसंहिता नहीं प्राप्त होती। काठक शाखाध्यायी भी 'कठ' कहलाते हैं। इनसे सामवेद के कालाप और कौथुम शाखीय लोगों का मिश्रण हुआ। वाल्मीकि रामायण में कठकालाप एक स्थान पर प्रयुक्त है (ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमानवा, अयो० ३२।१८)। कठोपनिषद् से भी इनका संबंध है। यह कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अंतर्गत आता है। सिकंदर के विजयाभिमान के इतिहासकारों ने भी इनका 'कथोई' नाम से उल्लेख किया है। कठ जाति के लोग इरावती (रावी) नदी के पूर्वी भाग में बसे हुए थे जिसे आजकल पंजाब में 'माझा' कहा जाता है। सिकंदर के आने पर कठों ने अपनी राजधानी संगल (अथवा साँकल) के चारों ओर रथों के तीन चक्कर लगाकर शकटव्यूह का निर्माण किया और यूनानी आक्रमणकारी से डटकर लोहा लिया। पीछे से पुरु की कुमक प्राप्त होने पर ही विदेशी साँकल पर अधिकार कर सका। इस युद्ध में कठों का विनाश हुआ किंतु इस अवसर पर सिकंदर इतना खीझ उठा कि साँकल को जीतने के बाद उसने उसे मिट्टी में मिला दिया। कठों के संघ में प्रत्येक बच्चा संघ का माना जाता था। संघ की ओर से वहाँ गृहस्थों की संतान के निरीक्षक नियत होते थे। सुंदरता के वे विकट रूप से पोषक थे। इनकी चर्चा करते हुए ग्रीक इतिहासकारों ने लिखा है कि इस दृष्टि से कठ स्पार्ता नगर के निवासियों से बहुत मिलते थे। एक महीने की अवस्था के भीतर वे जिस बच्चे को दुर्बल अथवा कुरूप पाते उसे मरवा डालते थे। युद्ध-कौशल में उनकी ख्याति सभी जातियों में अधिक थी। ओनेसिक्रितोज़ के अनुसार जाति में सर्वांगसुंदर व्यक्ति को राजा बनाते थे।

[चं० भा० पा०]

कठपुतली अत्यंत प्राचीन नाटकीय खेल जो समस्त सभ्य संसार में—प्रशांत महासागर के पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक—व्यापक रूप से प्रचलित रहा है। यह खेल गुड़ियों अथवा पुतलियों (पुत्तलिकाओं) द्वारा खेला जाता है। गुड़ियों के नर मादा रूपों द्वारा जीवन के अनेक प्रसंगों की, विभिन्न विधियों से, इसमें अभिव्यक्ति की जाती है और जीवन को नाटकीय विधि से मंच पर प्रस्तुत किया जाता है।

कठपुतलियाँ या तो लकड़ी की होती हैं या पेरिस-प्लास्टर की या कागज की लुगदी (पेपर मैशे) की। उनके शरीर के भाग इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि उनसे बँधी डोर खींचने पर वे अलग अलग हिल सकें।

यूरोप में अन्य नाटकों की भाँति कठपुतलियों के नाटक भी होते हैं। विशेषत फ्रांस में तो इस खेल के लिये स्थायी रंगमंच भी बने हुए हैं जहाँ नियमित रूप से इनके खेल खेले जाते हैं। एक छोटे से रंगमंच पर कठपुतलियाँ अपना नाटक करती हैं। वे चलती हैं, नाचती हैं और प्रत्येक काम ऐसी सफाई से करती हैं मानो वे सजीव हों। यह तनिक भी नहीं जान पड़ता कि ये डोर द्वारा चलाई जा रही हैं। इन कठपुतलियों से जो मंतव्य प्रकट कराना होता है उसको परदे के पीछे छिपे हुए आदमी माइक्रोफोन द्वारा इस खूबी से कहते हैं मानो ये गुड़ियाँ आप ही बोल रही हों। चलनेवाली डोर बहुत पतली और काली होती है, पृष्ठभूमि का परदा भी काला रहता है, इसलिये डोर दिखलाई नहीं पड़ती। एक व्यक्ति साधारणत छ डोरें चलाता है (देखें चित्र ४)। अधिक से अधिक वह आठ चला सकता है। जब रंगमंच पर कठपुतलियों की संख्या अधिक होती है तब
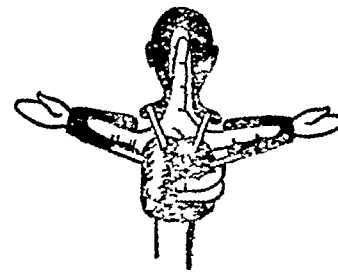
चित्र १ अँगुलियों से चलनेवाली कठपुतली (पीछे से)
चालक की अँगुलियों की स्थिति दिखाई है।

उनको चलाने के लिये कई व्यक्ति रहते हैं (देखें चित्र ५)।

कठपुतलियाँ चार प्रकार की होती हैं। एक ऐसी जिनको हाथ में पहनकर चलाया जाता है। ये भीतर से खोखली होती हैं जिसमें चलाने-

कठपुतली (देखें पृष्ठ ३१६)

जावा की कठपुतली

जावा मे, चमडे से मढी, रँगी तथा अलकृत कठपुतलियो से रामायण तथा महाभारत पर आधृत नाटको के छायाचित्र दिखाए जाते है जो बहुधा कई रातो तक चलते रहते है। साथ के सगीत वाद्यो मे मृदग प्रमुख होता है। कठपुतलियो को गति देने का काम सलग्न छडियो से लिया जाता है। कठपुतलियो की मूर्ति शैली जावा की विशेपता है, जिस पर भारतीय सस्कृति की छाप स्पष्ट है।

वाला अपना हाथ उनके भीतर डाल सके और अपनी अँगुलियो से कठपुतली का सिर तथा हाथ हिला सके (देखे चित्र १)। भारत मे अधिकतर ऐसी ही कठपुतलियाँ होती है। राजस्थान के पेशेवर कठपुतली चलानेवाले खुले स्थान मे बच्चो के सामने ही खडे होकर उनको चलाते है और बोलते भी जाते है। परतु यूरोप मे इनके लिये भी रगमच होता है। चलानेवाले इन कठपुतलियो को अपने सिर से ऊँचा उठाकर नचाते है और रगमच का फर्श बहुत नीचा होने के कारण वे स्वय दिखाई नही पडते। ऐसा जान पडता है कि कठपुतलियाँ आप ही चल फिर और बोल रही है (देखे चित्र २)।

चित्र २. अँगुलियो से चलनेवाली कठपुतली (सामने से)

दूसरे प्रकार की कठपुतलियाँ, जो यूरोप मे बहुत प्रचलित है, डोर द्वारा नचाई जाती हैं। कठपुतली नचानेवाले रगमच से बहुत ऊपर दर्शको से छिपकर बैठते है और उनके हाथो मे कठपुतलियो की डोरे रहती है जिनसे वे रगमच पर लटकी रहती है। एक कठपुतली मे कई डोरे बँधी रहती है, जिनके द्वारा उनके सिर, हाथ, पैर हिलाए जा सकते है। कठपुतलियो की इन छोटी मोटी नाटयशालाओ मे सपूर्ण नाटक अभिनीत होते हैं और स्त्री, पुरुष और पशु सभी काम करते है। वे नाचते है, गाते है, घोडा चलाते है, मोटर चलाते है, तात्पर्य यह कि प्रत्येक काम, जो मनुष्य कर सकता है, ये भी कर सकते है। बच्चे बूढे सभी उनके नाटको से बहुत प्रसन्न होते है।

तीसरे प्रकार की कठपुतलियाँ डोर से नही वरन् तीलियो से चलाई जाती है। डोरीवाली कठपुतलियाँ ऊपर से नीचे लटकाई जाती है,
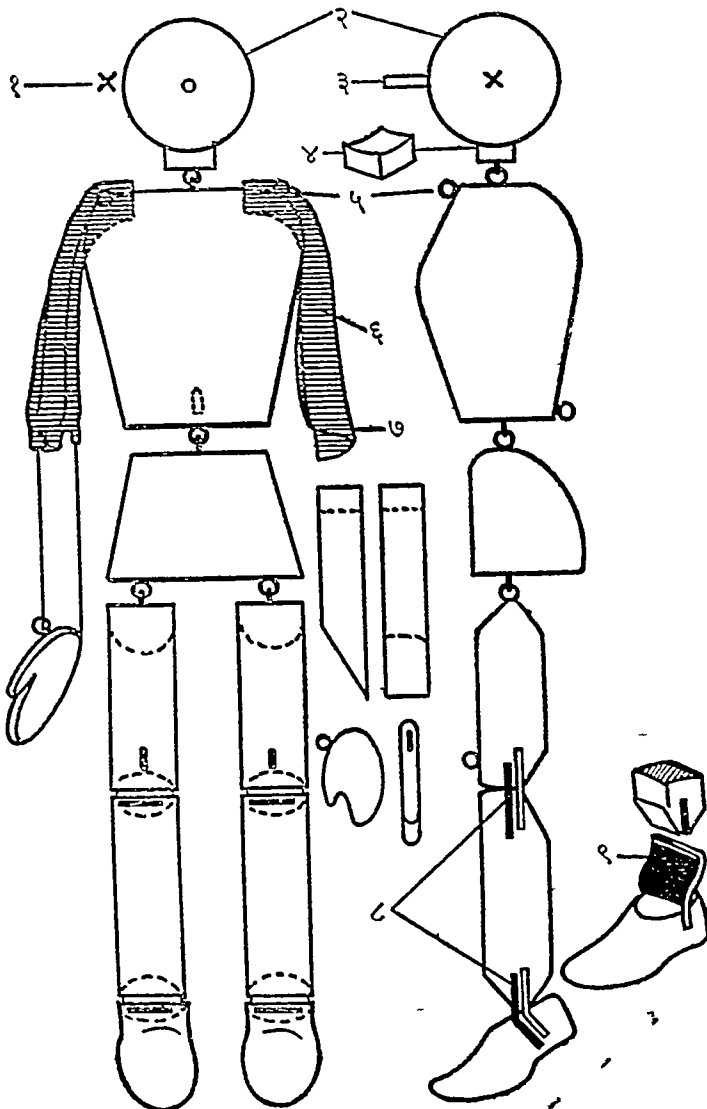
चित्र ३. तागे से चलनेवाली कठपुतली की रचना

१ सिरवाली डोर के चिपकाने का स्थान, २ सिर (इसके लिये पिंग पाग की गेद प्रयुक्त की जा सकती है), ३ नाक के लिये दियासलाई की तीली, ४ गले के लिये काठ का टुकडा, ५ गोल अँकुडा, ६ कपडे की बनी ऊपरी बाँह, ७ कील, ८ फीते का ठुकडा, ९ पाँव की रचना (काट बडी करके दिखाई है)।
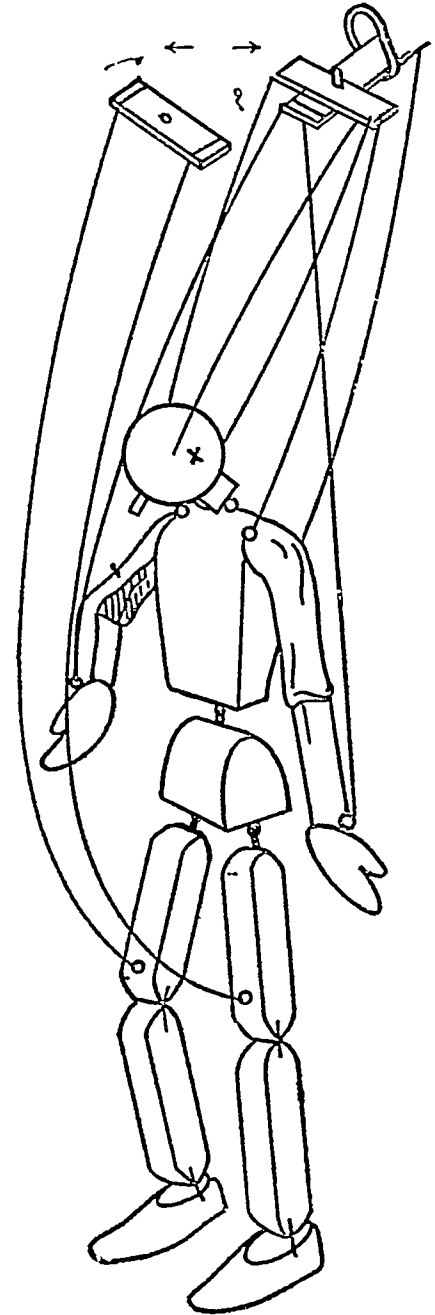
चित्र ४. डोरो का नियंत्रण करने की रीति

१ नियत्रण के लिये पट्ट।

तीलीवाली कठपुतलियाँ नीचे से ऊपर उठाई जाती है। चलानेवालो के लिये बना फर्श बहुत नीचा होता है जिसमे वे दिखाई न दे। एसी कठपुतलियाँ चीन तथा जापान मे अधिक प्रचलित ह।

चौथे प्रकार की कठपुतलियाँ छायारूपको मे काम आती है। ये गत्ते (कार्डबोर्ड) से काटकर बनाई जाती हैं, इसलिय चिपटी होती हैं। भी तीलियो द्वारा नचाई जाती है। इनका नाच एक सफेद परदे के पीछे होता है जिसपर पीछे से प्रकाश डाला जाता है। कठपुतलियाँ प्रकाश और परदे के बीच मे रहती है और उनकी परछाइयाँ परदे पर पडती है। सामने बैठे हुए लोग यह छायानाटक देखते है। यद्यपि छायानाटक मे केवल परछाइयाँ काम करती है तथापि यह बडा प्रभावशाली होता है। इसमे बोलनेवालो के सलाप कला की दृष्टि से बहुत उच्च स्तर के होते है।

यूरोप मे एक अन्य विधि भी कठपुतली के खेलो मे जहाँ तहाँ प्रयुक्त होती है--चुबक की विधि। चुबक के सयोग से पुतलियाँ अपने आप सचालित भावावेगो को प्रकट करती हुई, चलती फिरती नाचती जाती हैं। इसमे सूत्रधार की अपेक्षा नही होती।

पुत्तलिकाओ के रागविन्यास, हाव भाव, कथोपकथन आदि प्रकट करने के लिये पृष्ठभूमि मे रहकर सूत्रधार सूत्रो अथवा लकडियो (तीलियो) द्वारा उनका सचालन करते है। पुतलियो के परस्पर स्नेह, सघर्ष, वाद-

चित्र ५ कठपुतलियो को चलाने के लिये कई व्यक्ति एक साथ काम करते हैं

विवाद आदि सूत्रधार ही ध्वनित करते है। जहाँ पक्ष और प्रतिपक्ष के लिये भिन्न सूत्रधार नही होते, वहाँ एक ही व्यक्ति अपना स्वर बदलकर दोनो पक्षो का कार्य सपन्न करता है, जो स्वाभाविक ही बडे अभ्यास और कौशल द्वारा ही सपादित हो सकता है।

भारतीय कठपुतलियो का यूरोपीय कठपुतलियो की अपेक्षा बहुत अधिक प्राचीन इतिहास है, किंतु सचालनतत्र की दृष्टि से वे यूरोपीय कठपुतलियो की तुलना मे प्राथमिक और सरल हैं। भारत मे कठपुतलियो के खेल का सबसे प्राणवत और वैविध्यपूर्ण प्रदर्शन राजस्थानी नट ही करते है। वे स्वय चलते फिरते रगमच है और देश के विभिन्न प्रातो मे घूमकर अपने खेलो का प्रदर्शन करते है। [इ० अ०]

इतिहास--कठपुतलियो का यह खेल कला की उन विधाओ मे से है जिन्होने अन्य कलाओ को जन्म भी दिया है और जो स्वय भी समानातर रूप से जीवित रही हैं। अनेक विद्वानो का मत है कि नाटक का आरभ कठपुतली के खेल से ही हुआ। डा० पिशेल इन विद्वानो मे अग्रणी हैं और उनका विचार है कि कठपुतली के खेल की उत्पत्ति भारत मे ही हुई जहाँ से वह बाद में पाश्चात्य देशो मे फैला। अपने **'थियरी आव पपेट शो'** मे उन्होने सस्कृत नाटक की आदिम उत्पत्ति इसी खेल से मानी है। इसमे सदेह नही कि नर्तन और गायन के अतिरिक्त कठपुतलियो का प्रधान कार्य कथोपकथन अथवा 'डायलाग' प्रस्तुत करना है। नाटको का केद्र अथवा प्रधान पक्ष भी 'डायलाग' द्वारा ही सपन्न होता है जिससे उनका आदि रूप 'डायलाग' ही माना गया है। ऋग्वेद मे सरमा और पणियो, यम और यमी, पुरूरवा और उर्वशी, इद्र और शची, वृषाकपि और इद्राणी के सवाद इसी प्रकार के डायलाग है जो प्राथमिक नाट्यभूमि प्रस्तुत करते है। कुछ आश्चर्य नही यदि कठपुतली का खेल वेदो का समकालीन रहा हो। उसके आदिम रगमच पर भी इसी प्रकार के अथवा इन्ही डायलागो की पहले अभिव्यक्ति हुई होगी। पुत्तलिका शब्द का प्रयोग निस्सदेह अत्यत प्राचीन है क्योकि वेदो मे भी इसका उपयोग हुआ है। अथर्ववेद मे शत्रु का पुतला बनाकर मत्र द्वारा जलाने और इस विधि से पुरश्चरण कर उसका विनाश सपन्न करने का उल्लेख हुआ है और ऋग्वेद मे इद्राणी का अपनी सपत्नी का **'उपनिषत्सपत्नीबाधनम्'** मत्र द्वारा मारक प्रसग भी इसी दिशा में सकेत करता है। मध्यकाल की सिंहासनबत्तीसी और सिंहासनपचीसी की पुतलियो का प्रश्न करना कठपुतली के खेल से, अपनी अलौकिक क्षमता के बावजूद, बहुत दूर नही है। सस्कृत के प्रसिद्ध समीक्षक, नाटककार और कवि राजशेखर ने सीता की नाचती और कथोपकथन करती पुत्तलिका का उल्लेख किया है जिससे प्रगट है कि कठपुतली का खेल केवल लोकसमत ही नही था बल्कि उसका साहित्य मे भी प्रसगत वर्णन प्राय हुआ करता था। आज भी वह खेल समूचे देश मे पूर्ववत ही लोकप्रिय है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानो का यह मत है कि कठपुतली के खेल का समारभ सभवत यूरोप मे ही हुआ जहाँ से पहले वह चीन और वहाँ से बेर्यरिंग स्ट्रेट की राह अमेरिका पहुँचा। अमरीकी इडियनो मे निस्सदेह कोलबस के वहाँ पहुँचने मे पूर्व ही यह खेल प्रचलित था। इसमे सदेह नही कि प्राय तीन सौ ई० पू० के लगभग ग्रीक साहित्य मे सूत्र द्वारा सचालित पुतलियो का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष उल्लेख हुआ है। पहली सदी ई० के आसपास के ग्रीस और इटली के बच्चो की समाधियो मे भी डोरियो से सचालित पुतलियो के नमूने मिले है। कठपुतली का खेल पश्चिम मे मूलत आविष्कृत होकर पीछे पूर्व के देशो मे गया अथवा पूर्व के देशो मे आविष्कृत होकर वह यूरोपीय देशो मे गया--यह प्रसग निश्चय विवादास्पद है, पर इसमे सदेह नही कि कम से कम कठपुतलियो का वह खेल जिसे अग्रेजी मे **'पपेट शैडो प्ले'** कहते है, उसका आरभ एशिया मे ही हुआ जहाँ से वह यूरोप और अमेरिका पहुँचा। १७ वी सदी से जिन छायाचित्रो के प्रदर्शन में कठपुतलियो का उपयोग होने लगा, वह इसी सास्कृतिक सक्रमण का परिणाम था। जहाँ तक सूत्रसचालित पुत्तलिकाओ का नाटक से सबध है, यह प्राय निर्विवाद है कि वह प्रसग जितना भारतीय वातावरण द्वारा प्रमाणित है, उतना और कही नही। सस्कृत नाटको के आरभ मे जिन 'सूत्रधार' और 'स्थापक' नामक दो पात्रो का उपयोग होता है, वे निस्सदेह कठपुतली के खेल से भी प्रथमत सबधित रहे थे। सूत्रधार का अर्थ है डोरी को पकडनेवाला, डोरियो द्वारा पुतलियो का सचालन करनेवाला, स्थापक उसका सहायक होता था जो पुतलियो और आनुषगिक वस्तुओ को मच पर प्रस्तुत करता था। इन दोनो पात्रो का कठपुतली के खेल और सस्कृत नाटक मे एकश प्रयोग, दोनो ही रगभूमि की एकता को प्रमाणित करते है।

यूरोप के मध्यकालीन धार्मिक नाटको का भी कठपुतली के खेल से घना सबध था। धार्मिक नाटको को सूत्रो द्वारा सचालित कठपुतलियो के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जाता था। इन पुत्तलिका-नाटको को फ्रेंच मे 'मारियोनेत' (Marionettes) कहते थे, क्योकि उसमे ईसा की माता कुमारी मेरी की भी एक कठपुतली के रूप मे भूमिका हुआ करती थी। 'मारियोनेत' का अर्थ ही है 'नन्ही मेरी'।

मध्यपूर्व के इस्लामी देशो मे मूर्तियो का विरोध होने के कारण कठपुतलियो की छाया आकृतियो के खेल बडे लोकप्रिय हुए और वे उस अभाव की भी पूर्ति कर लिया करते थे। उनसे पूर्व रोमनो ने तो कठपुतलियो के खेल के लिये अपना रगमच ही साजा था जो रोमन साम्राज्य के पतन के बाद भी अपनी अनेक परपराओ के साथ सदियो जीवित रहा। इटली के पुनर्जागरण काल मे कठपुतलियो का जो खेल फिर लोकप्रिय हुआ उसकी सज्ञा 'पोर्चिनेला' (Porcinella) थी जिसे फ्रास मे 'पोर्चिनेल' कहते थे। फ्रास से वह खेल १६६० ई० के लगभग इग्लैंड पहुँचा और वहाँ उसकी सज्ञा सक्षिप्त होकर 'पच' रह गई। अग्रेजी का जगद्विख्यात् कार्टूनपत्र 'पच' का नामकरण उसी का परिणाम था।

यूरोप मे तो यह रगमच इतना लोकप्रिय हुआ कि उसके लिये महान् नाटककारो ने वहाँ खेले जाने के लिये स्वतत्र नाटक लिखे। इस प्रकार का एक नाटक स्वय गेटे ने अपने १२वे जन्मदिन पर लिखा था। इसी प्रकार लेविस कैरो, हास क्रिश्चियन हैंडर्सन और लिंकन ने अपने अपने कठपुतली रगमचो के लिये नाटक लिखे। लदन मे कठपुतली कला के जितने विद्वान् लेखक हैं, उतने कम देशो में हैं। पेरिस मे जो स्थायी रगमच

हैं उनमें कठपुतलियो के नाटक बडी सफलता से खेले जाते हैं और उनमें दर्शको की भीड भी खासी हुआ करती है। व्यग्य नाटककार लमसिए द नविल के नाटक इस दिशा मे बडी सख्या में दर्शको को आकृष्ट करते हैं और वहाँ के अन्य कठपुतलियो सबधी रगमच, थियात्र और कबरे भी, असाधारण रूप से इन खेलो को प्रस्तुत करने मे सफल हुए हैं। जर्मनी के ड्रेसडन नगर में कठपुतलियो का एक बडा सग्रहालय भी है और चेकोस्लोवाकिया के प्राग नगर में कठपुतली-प्रशिक्षण-केंद्र भी हैं जहाँ विश्वभर से आए हुए छात्रो को तीन वर्ष के कोर्स के अनुसार कठपुतली कला की सैद्धातिक और व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है। यूरोप में कठपुतली कला में निरतर प्रयोग हो रहे हैं, और यह आज वहाँ की सूक्ष्म और प्राणवान् कलाओ में मानी जाती है। [भ० ना० उ०]

कठिनी (क्रस्टेशिया)

जीवजगत् मे सधिपाद जीवो (फाइलम आर्थ्रापोडा, Phylum Arthropoda) का एक मुख्य विभाग है, जिसके बडे केकडे (Crabs), झीगे (Prawns), चिगट (श्रृप, Shrimp), प्रचिगट (क्रेफिश, cray-fish),
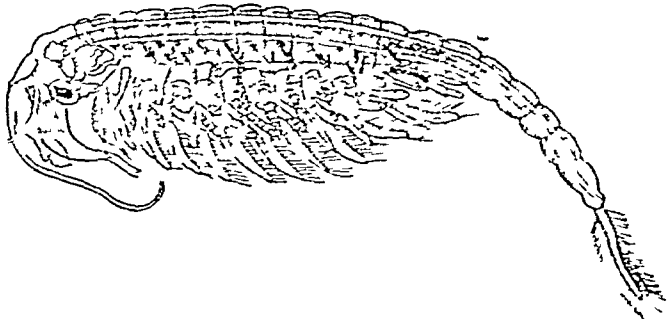
चित्र १. क्लोमपाद (ब्रेंकिपस, Branchipus)
इसके खड के अवयव एक समान हैं।

महाचिगट (लॉब्स्टर, lobster), खडावर (बार्नेकिल, barnacle), काष्ठ यूका (वुडलाउस, wood louse) तथा जलपिशु (वाटर फ्ली, water flea) इत्यादि है, परतु इसके सबसे छोटे जीवो
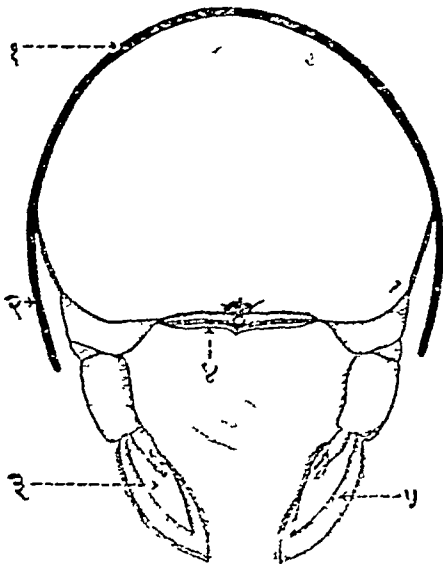
चित्र २ झींगे के उदरखड की काट
नीचे की ओर प्रतिपृष्ठ पर एक जोडी द्विशाखी अवयव (Biramus appendages) हैं।
१ पृष्ठ पट्ट (टर्गम, tergum), २ फुफ्फुसावरण (प्ल्यूरा, pleura), ३ अतरुपाग (एडोपोडाइट, endopodite), ४ उरोस्थि (स्टर्नम, sternum), ५ बहिरुपाग (एक्सोपोडाइट, exopodite)।

को देखने के लिये अणुवीक्षण यत्र का सहारा लेना पडता है। कठिनी की भिन्न भिन्न जातियों के आकार प्रकार मे बहुत ही अतर होता है जिस कारण इसकी सक्षिप्त परिभाषा देना अत्यत कठिन है। कठिनी का प्रत्येक लक्षण, विशेषकर इसके पराश्रयी तथा उच्च विशेष जीवो में तो, पूर्ण रूप से किसी न किसी प्रकार बदल जाता है।

क्रस्टेशिया शब्द का उपयोग प्रारभ में उन जीवो के लिये किया जाता रहा है जिनका कवच कठोर तथा नम्य हो। इसके विपरीत दूसरे जीव वे हैं जिनका कवच कठोर तथा भगुर होता है, जैसे सीप तथा घोघे इत्यादि। परतु अब यह ज्ञात है कि सब सधिपाद जीवो का बहिःककाल (Exoskeleton) कठोर तथा नम्य होता है। इस कारण अब कठिनी को अन्य लक्षणो से पृथक् किया जाता है। इस वर्ग के जीव प्राय जलनिवासी होते हैं और ससार मे कोई भी ऐसा जलाशय नही है जहाँ इनकी कोई न कोई जाति न पाई जाती हो। इस कारण कठिनी वर्ग के जीव प्राय जलश्वसनिका (गिल्स, gills) अथवा त्वचा से श्वास लेते हैं। इनमे दो जोडी श्रृगिका (Antennae) जैसे अवयव मुख के सामने और तीन जोडी हनु (mandibles) मुख के पीछे होते हैं।

कठिनी वर्ग के मुख्य परिचित जीव तो झीगें और केकडे हैं जिनका उपयोग मानव अपने खाद्य रूप मे करता है, परतु इनसे कही अधिक आर्थिक महत्व के इसके निम्न जीव, ऐंफिपाड्ज, (Amphipods), आइसोपाड्ज, (Isopods) इत्यादि, हैं जो उथले जलाशयो में समूहो मे रहते हुए समार्जक का काम करते हैं। इन निम्न जीवो का भोजन दूसरे जीव तथा वनस्पतियो की त्यक्त वस्तुएँ हैं और साथ ही यह स्वय उच्च प्राणियो, जैसे मत्स्य इत्यादि, का भोजन बनते हैं। इसके कई तलप्लावी सूक्ष्म जीव ऐसे भी हैं जिनके समूह मीलो तक सागर के रग को बदल देते हैं, जिससे मछुओ को उचित मत्स्यस्थानो का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यह मत्स्य का भोजन बनकर और साथ ही मछुओ की सहायता करके आर्थिक लाभ पहुँचाते हैं।
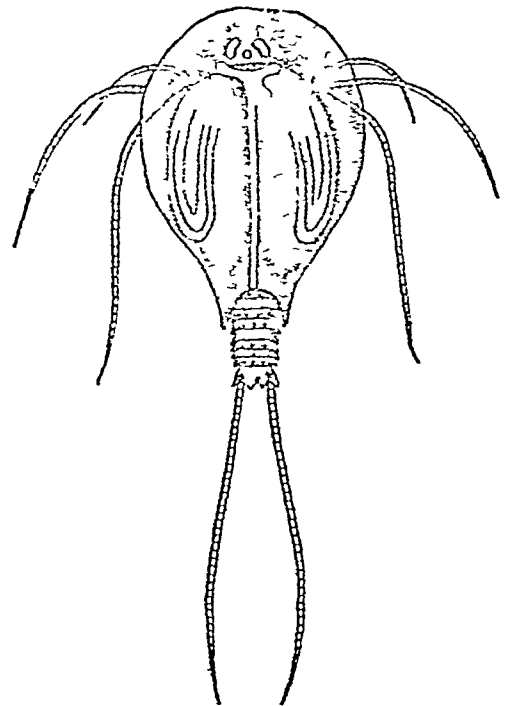
चित्र ३ अंडलवर्म (एपस, Apus)
ढाल की आकृति के पृष्ठवर्म मे इसके शरीर का बडा भाग ढका रहता है।

बाह्य रचना—इस वर्ग के जीवो का कवच दूसरे सधिपाद जीवो के समान ही खडो के समूहो मे विभाजित रहता है, परतु इनमे से प्राय कुछ खड एकीभजित भी होते हैं। प्रत्येक खड कवच अँगूठी के समान होता है, जो अपने अगले तथा पिछले खड के साथ नम्य इटेगुमेंट (Integument) से

जुडा रहता हे । प्रत्येक खड का चाप सदृश पृष्ठीय (dorsal) पट्ट, टर्गम Tergum) तथा सकीर्ण प्रतिपृष्ठीय (ventral) पट्ट, स्टर्नम् (Sternum) कहलाता है और टर्गम के दोनो पार्श्व भाग, जो पट्टो के रूप मे रहते है, प्लूरा (Pleura) कहलाते हैं। प्रत्येक खड के स्टर्नम के साथ एक जोडी अग जुडे रहते हैं। शरीर का अतिम खड, जिस पर गुदा होती है, अगहीन रहता है और टेल्सन (Telson) कहलाता है। आधुनिक कठिनी मे कोई भी ऐसा जीव नही मिलता जिसमे प्रत्येक खड एक दूसरे से स्पष्टतया पृथक् हो। उदाहरणार्थ, झींगे के शरीर के अग्रभाग का कवच अविभाजित तथा नालाकार होता है और कैरापेस (Carapace) कहलाता है। इसके खडो की सख्या का अनुमान इस भाग के साथ जुडे अवयवो की सख्या से लगाया जाता है। इस भाग में सयुक्त खडो की सख्या कम से कम छ मानी गई है जिसमे नैत्रिक खड भी समिलित हैं। इस भाग को सिर कहते हैं। जब इस भाग मे इससे अधिक खड समिलित रहते हैं तब इसके बादवाले खडो के अवयव अगले अवयवो से पूर्णत पृथक् होते हैं। सिर के पीछे के खडो को शरीर के दो भागो, वक्ष (Thorax) तथा उदर (Abdomen) मे बाँटा गया है, जिनको उनके विभिन्न अवयव एक दूसरे से पृथक् करते हैं। परतु उच्च कठिनी मैलाकॉस्ट्राका (Malacostraca) इत्यादि मे वक्षके खड सिर मे समिलित हो जाते है। तब इस सयुक्त भाग को शीर्षोवक्ष (Cephalothorax) के नाम से अभिहित करते हैं। इस प्रकार कैरापेस का रूप
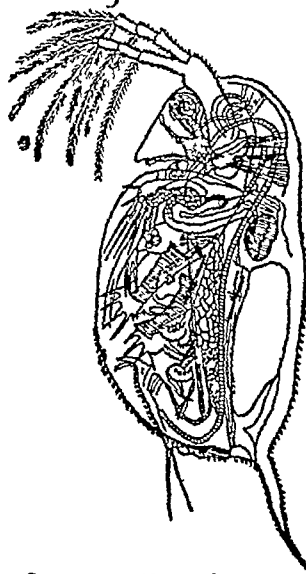
चित्र ४ जलपिशु (डैफनिआ, Daphnia)
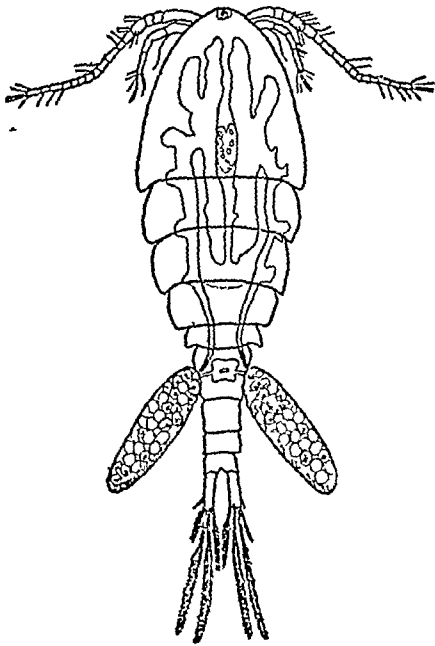
चित्र ५. स्वच्छद प्लावित अरित्रपाद (कोपीपोडा, Copepoda) मध्याक्ष (साइक्लॉप्स, Cyclops) की मादा।

भी भिन्न भिन्न कठिनी जीवो मे अनेक प्रकार का पाया जाता हे। यह ब्रैंकिओपोडा (Branchiopoda) और ऑस्ट्राकोडा (Ostracoda) मे बाइवाल्व कवच के रूप मे शरीर तथा अगो को पूर्णतया ढके रहता है, सिरीपीडिआ (Cirripedia) मे यह मासल प्रावार के आकार का होता है और इसे पुष्ट करने के लिये कैल्सियमयुक्त (Calcified) पट्ट भी स्थित रहते हैं। ये तो इसके कुछ विशेष रूप हैं, परतु साधारण नालाकार रूप के कैरापेस मे वक्ष के एक से लेकर सारे खड सिर में समिलित हो सकते हैं। कैरापेस विभिन्न कठिनियों मे से प्राय सभी में पाया जाता है। केवल ऐनोस्ट्राका (Anostraca) ही ऐसे जीव हैं जिनमे कैरापेस नही होता।
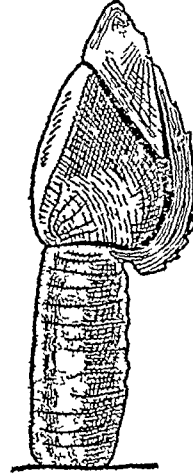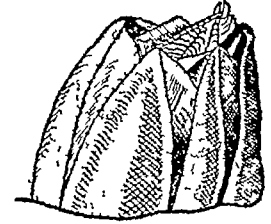
चित्र ६. दो खडावर (Barnacles)

(क) शश (लीपस, Lepus) तथा (ख) शैल खडावर (बैलानस, Balanus) दोनो वयस्क अवस्था मे मूलवद्ध रहते है।

कठिनी के शरीर की सपरिवर्तित चरम सीमा इसके पराश्रयी तथा स्थगित जीवो में पाई जाती है। खडावर अपनी प्रौढावस्था मे अपने सिर से मूलवद्ध रहते हैं और साथ ही उनमे रेडियल सममिति की ओर प्रवृत्ति होती है जिसका कारण इनका स्थगित जीवन है। पराश्रयी जीवो में शरीरखड लुप्त हो गए है और शरीर का आकार भी पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया है। इसका उदाहरण राइजोसेफाला (Rhyzocephala) है, जिसमे कठिनी के लक्षण तो क्या, सधिपाद जीवो का भी कोई लक्षण प्रौढावस्था में नही दिखाई देता।

अवयव (Appendages)—कठिनी जीव मुख्यत जलनिवासी है। इस कारण अनुमान किया जाता है कि इस वर्ग के पूर्वज का शरीर समान खडो में विभाजित था और प्रत्येक खड पर एक जोडी अग जुडे थे। इनका प्रत्येक अवयव प्रचलन, भोजनप्राप्ति, श्वसन तथा ज्ञानग्रहण आदि

चित्र ७. कठिनी के विभिन्न अवयव

(क) झींगे का प्रथम उदर अग, (ख) अनुत्कवच (ऐनैस्पिडीज़, Anaspides) का द्वितीय वक्ष अग तथा (ग) अडलवर्म (एपस, Apus) का दसवाँ वक्ष अग।

सब कार्य साथ साथ करता था। ट्राइलोबाइटा (Trilobita) मे अवयवों की ऐसी ही व्यवस्था मानी गई है, परतु यह उपवर्ग लुप्त हो गया है। अभी तक आधुनिक कठिनी मे किसी भी ऐसे जीव का पता नही चला जिसके अवयवों मे ये चारो कार्य साथ होते हो। इसके सिर के अग तो भिन्न भिन्न विशेष कार्यो के लिये उपयुक्त होते है, परतु ब्रैकिओपोडा के धड के अवयव एक समान होते है और कुछ सीमा तक माना जा सकता है कि इनसे ये चारो कार्य होते ह। अन्यथा अगो की विशेषता कठिनी मे कई उपायो से उन्नति कर गई है, क्योकि यह विदित है कि जो अग कुछ कठिनियो मे एक कार्य करते हैं वे ही किसी दूसरी कठिनी मे उसके विपरीत कोई अन्य कार्य करते हैं। कठिनी के भीतर का विकास मुख्यत इन अगो के ही कर्तव्य के नियत्रण पर आधारित है।

चाहे कठिनी के अवयव किसी भी कार्य के लिये उपयोजित हो और उनके आकार मे चाहे कितनी ही विभिन्नता क्यो न हो, इनकी बनावट मुख्यत द्विशाखी (biramus) होती है। प्रत्येक अवयव का आधारित वृत्त द्विखडी होता है और इसे स्पिपॉड या प्रोटोपोडाइट (Protopodite) कहते हैं और इसके ऊपरी खड से दो शाखाएँ एडोपोडाइट (Endopodite) और एक्सोपोडाइट (Exopodite) निकलती है। इस प्रकार के मूल आधारित अवयव को स्टीनोपोडियम (Stenopodium) कहते हैं। ऐसे साधारण द्विशाखी अवयव कोपीपॉड (Copepod) के प्लवन पद, मैलाकॉस्ट्राका के उदर अग इत्यादि हैं और ऐसे ही अग पूर्वज डिभ (लार्वा) मे भी, जिसे नॉप्लिअस (Nauplius) कहते हैं, पाए जाते हैं। इसी प्रकार के अवयव दूसरे कठिनी जीवो मे विशेष कार्यो के लिये विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं।

सिर के अवयव—कठिनी मे नेत्र दो प्रकार के होते हैं मध्यम (median) तथा सयुक्त (compound) नेत्र। अति सरल मध्यम नेत्र नॉप्लिअस और अनेक वयस्क कठिनियो मे रहते है, परतु मैलाकॉस्ट्राका मे ये लुप्त हो जाते है और इनमे सयुक्त नेत्र ही कार्यशील नेत्र होते हैं। सयुक्त नेत्र प्राय एक जोडी होते हैं, जो कुछ जीवो मे अवृत (sessile) और कई एक मे वृतयुक्त (stalked) रहते हैं। नेत्रवृत (*Eye-stalk*) को सिर का अवयव माना गया है, परतु यह सदेहात्मक है। कारण, परिवर्धन मे यह दूसरे अगो से बहुत पश्चात् उदित होते हैं।
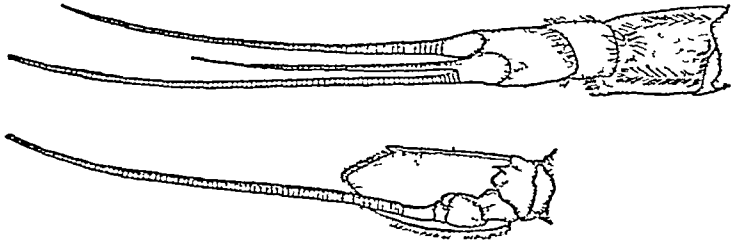
चित्र ८. झींगे की बाईं तथा द्वितीय शृगिका (Antenna)

प्रथम शृगिकाएँ (ऐटेन्यूल्ज़, Antennules), जो मुख के सामने रहती है, दूसरे खड के अवयव मानी गई है। यह नॉप्लिअस तथा सब उपजातियो के जीवो मे, केवल मैलाकॉस्ट्राका के अतिरिक्त, एकशाखी होती हैं। इनका मुख्य कार्य सवेदक है, परतु अनेक डिभो और वयस्क कठिनियो मे ये प्लवन के कार्य मे भी आती है और अनेक नर शृगिका से मादा को पकडते भी हैं। सिरीपीडिया मे सिमेट ग्रथिग्रो (Cement-glands) के छिद्र इन्ही अवयवो पर होते है, जिनकी सहायता से इनके वयस्क स्थगित होते हैं। यद्यपि द्वितीय शृगिका (ऐटेना) मुख के आगे स्थित रहती है, तथापि वास्तव मे इसका स्थान मुख के पीछे था। नाप्लिअस में इसका स्थान मुख के पार्श्व मे रहता है और यह भोजन को मुख की ओर लाने मे सहायता देती है। इसके शेष कार्य प्रथम शृगिका के समान होते हैं। मेलाकॉस्ट्राका मे इसकी एक शाखा बहुसधिमान कशाग (फ्लैजेलम, Flagellum) के आकार की होती है और इसका कार्य केवल सवेदन ग्रहण है, परतु दूसरी शाखा का आकार चपटे पट्ट के समान होता है और यह प्लवन में सतोलन का कार्य भी करती है।

नॉप्लिअस तथा वयस्क कोपीपोडा, आइसोपोडा (Isopoda) इत्यादि मे अधोहनु (मैंडिबल, Mandible) भी द्विशाखी होते हैं और भोजनप्राप्ति मे सहायता करते हैं, परतु बहुतेरे कठिनियो मे अधोहनु शक्तिमान हनु का रूप धारण कर लेते हैं और इनकी सतह दाँत और कडो (Spines) से सुसज्जित होती है। पराश्रयी कठिनी के अधोहनु वेधन के लिये नलाकार शुड (Proboscis) के सदृश होते हैं। उपजभक (मैक्सिलूला, Maxillula) तथा उपजभ (मैक्सिला, Maxilla), या प्रथम और द्वितीय मैक्सिला, सदा पत्तियो के समाम चपटे होते हैं और इनके वृतोपाग (प्रोटोपोडाइट, Protopodite) पर हनु की शाखिकाएँ स्थित रहती हैं। ये तीनो मुख के पिछले हनु हैं।

चित्र ९ झींगे के मुख के अग
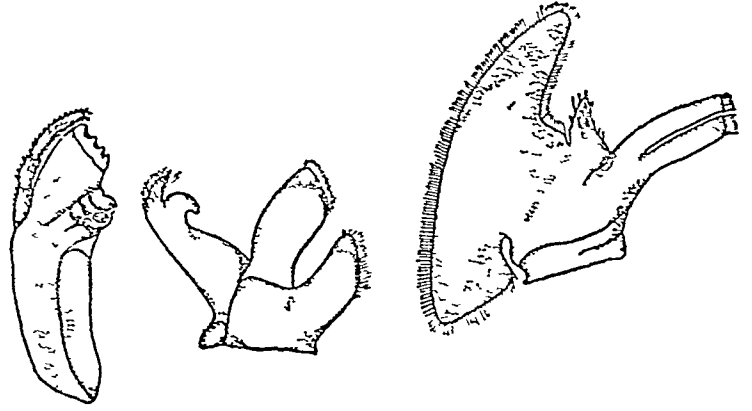
बाइ ओर जभ (मैंडिबल, mandible), मध्य मे उपजभक (मैक्सिलूला, maxillula), दाहिनी ओर उपजभ (मैक्सिला, maxilla)।

अन्य अवयव—सिर के पीछेवाले अगो में ब्रैंकिओपोडा, कोपीपोडा इत्यादि मे आपस मे कोई विशेष भिन्नता नही होती और ये अग मुख्यत एक समान होते हैं। इनका आकार मेलाकॉस्ट्राका के उपजभक (मैक्सिलूला) और उपजभ (मैक्सिला) से मिलता जुलता होता है। इस प्रकार के अवयवो को फिल्लोपोडिया (Phyllopodea) कहते हैं। परतु मेलाकॉस्ट्राका के धड के अगो को दो भागो में विभाजित किया जाता है—आठ जोडी वक्ष के अवयव (Thoracic appendages) तथा छ जोडी उदर के अवयव (Abdominal appendages)। ये एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न होते हैं। वक्ष के अवयव मुख्यत गति करने के काम मे आते हैं और इसी कारण इनके एडोपोडाइट (Endopodite), जो इस कार्य मे प्रमुख भाग लेते हैं, उसी प्रकार परिवर्तित हो जाते हैं, परतु इनके एक्सोपोडाइट (Exopodite), जो प्लवन मे उपयोगी होते हैं, इनमे लुप्त हो गए हैं। वक्ष के पूर्व एक अथवा दो जोडी अवयव प्राय पदहनु (Foot-jaws) के आकार के होते है जिस कारण इन्हे अनुपाद (मैक्सीलीपीड्ज़ Maxillipedes) नाम दिया गया है। उदर के अग सदा द्विशाखी और प्लवन मे उपयोगी होते हैं। अतिम उदराग (टेल्सन, telson) के सहयोग से पूंछ मीनपक्ष (tail-fin) का आकार धारण करके जीव को विशेष प्रकार से उलटने मे सहायता देती है।

श्वसन—अधिकतर निम्न कठिनी शरीरतल से ही साँस लेते हैं, परतु जिन जीवो का बहि ककाल (Exoskeleton) अधिक कठोर हो गया है वे श्वसन कार्य अपने उन शरीरस्थानो से करते हैं जहाँ का तल क्षीण रह गया है, जैसे कैरापेस (Carapace) का अस्तर, अथवा यह काम विशेष इद्रियो द्वारा होता है, जिनको जलश्वसनिका (गिल्ज़) कहते हैं। जलश्वसनिका वक्ष (Thorax) या उसके अगो पर स्थित शाखिकाएँ (branchlets) हैं जिनका आकार चपटा होता है और जिनकी सूक्ष्म भीतो के भीतर रुधिर प्रवाहित होता रहता है। डेकापोडा (Decapoda) मे जलश्वसनिकाएँ अपनी स्थिति के आधार पर तीन श्रेणियो मे रखी गई हैं—वक्षागमूल की शाखिकाएँ (Podobranch), वक्षागो के समीप की शाखिकाएँ (Arthrobranch) तथा ब्रैकियल मडल (Pleurobranch) के भीतरी भाग जो केरापेस से ढके रहते हैं। थलनिवासी कठिनी, जैसे केकड़े इत्यादि, वायुश्वसन के लिये अनुकूलित होते ह—इनके ब्रैकियल मडल

के अस्तर का तल फेफडो का कार्य करता है। अन्य जीवो मे, जैसे आइसोपोडा (Isopoda), काष्ठयूका (wood-lice) इत्यादि मे, उदरागो में शाखाविन्यस्त वायु भरी नलिकाएँ पाई जाती हैं, जो कीट तथा अन्य स्थलजीवो की श्वासनलियो (trachea) के समान होती हैं।

आहारतत्र (Digestive system)—कठिनियो मे आहारनली (Alimentary canal) प्रतिपृष्ठ मुख से लेकर अत तक पूर्ण शरीर मे सदैव सीधी रहती है। परतु इस वर्ग के कुछ ऐसे जीव भी हैं जिनमे यह न्युदेष्टित (twisted) अथवा कुडलित भी पाई जाती है। अन्य सधिपाद जीवो के समान यह भी तीन भागो मे विभाजित रहती है। अग्रात्र (स्टोमोडिअम, Stomodaeum) तथा पश्चात्र (प्रॉक्टोडिअम, Proctodaeum), जिनके छिद्र मुख तथा गुदा हैं और जिनका आतरिक तल काइटिन (chitin) से, जो वाह्य शरीर के काइटिन के साथ सलग्न रहता है, आच्छादित रहते हैं। तीसरा भाग मध्यात्र (mesenteron, midgut) है, जो इन दोनो के मध्य मे रहता है। अगात्र की पेशियाँ प्रवल होती है और इनके अतरीय तल पर वाल, कॉटे तथा दाँत इत्यादि विकसित रहते हैं। मेलाकॉस्ट्राका मे यह भाग आमाशय वनाता है, जिसमें जठर, पेषणी तथा छानन उपकरण खाद्य रसो को कणो से अलग करने के लिये विशेष साधन रहते हैं। परतु पेषणी तथा छाननी प्राय हृदीय (कार्डियक, cardiac) तथा निजठरीय (पाइलोरिक, Pyloric) विभागो मे पृथक् रहते है। मध्यात्र के अगले सिरे पर एक जोडी या अधिक यकृत (hepatic) उडुक (सीकम, Caecum) रहते हैं जिनका काय अवशोषण तथा स्राव है और जिनमें से शाखा निकलकर यकृत भी वना सकती है। डेकापोडा मे यकृत ग्रथि (Hepato-pancreas) प्राय सारे आवश्यक एज़ाइम (enzyme) वनाती हैं और साथ ही अपनी गुहा से वचित पदार्थो का शोषण भी करती है। इसी मे भोजन ग्लाइकोजन (glycogen) के रूप में सचित होता है। कुछ डेकापोडा मे मध्यात्र वहुत छोटी होती है जिसके कारण आहारनली केवल अग्र तथा पश्च आत्र की वनी विदित होती है। पराश्रयी कठिनी जीवो मे आहारनली या तो नाममात्र को होती है अथवा उसका विलकुल अभाव होता है।

चित्र १०. नर झींगे के मध्य से अनुदैर्घ्य काट

आहार तत्र, धमनियाँ तथा तत्रिकाएँ विशेषकर दिखाई गई हैं। १ हृदय, २ वृषण (Testis), ३ अध्यात्रिक (supra-intestinal) धमनी, ४ उरोस्थि (स्टर्नल) धमनी, ५ मध्यात्र, ६ प्रतिपृष्ठीय तत्रिका रज्जु (ventral nerve cord), ७ गुदा (Anus) ८ पुच्छखड (टेल्सन), ९ मस्तिष्क, १० आमाशय, ११ मुख, १२ यकृत ग्रथि (Hepato-pancreas)।

रुधिरवाही तत्र—(Blood vascular system) अन्य सधिपाद जीवो की भाँति कठिनियो मे भी रुधिर शरीरगुहा (Haemocoele) तथा गतिकाओ (Sinuses) मे प्रवाहित होता है। हृदय भी अन्य सधिपादो की भाँति आहारनली के पृष्ठीय हृदयावरण (Pericardium) के भीतर स्थित रहता है। ब्रैकिओपोडा, आस्ट्रकोडा (Ostracoda) तथा कुछ मेलाकॉस्ट्राका मे हृदय प्राय शरीर की पूरी लवाई के वरावर होता है और शरीर के अतिम खड के अतिरिक्त प्रत्येक खड मे इसमे एक जोडी कपाटयुत अध्र (valvular ostia) होता है, जो हृदयावरण से जा मिलता है। अन्य कठिनियो मे हृदय की लवाई प्राय कम होती है। धमनियाँ हृदय से निकलकर रुधिरस्थानो मे खुलती हैं, जहाँ से रुधिर शरीर के प्रत्येक भाग तथा अग से होता हुआ हृदयावरण मे आता है। रुधिर को आक्सीजनयुक्त करने के लिये जलश्वसनिका इसी भाग में स्थित रहती है। अनेक कठिनी ऐसे भी हैं जिनमे हृदय नही होता, जैसे सिरीपीडिया (Cirripedia), कोपीपोडा इत्यादि और इनमे रुधिरवहन शरीर तथ आहारनली के सचालन की सहायता से होता है।

कठिनियो का रुधिर हलका तरल पदार्थ होता है जिसमें ल्यूकोसाइट (Leucocyte) भी रहते हैं। मेलाकॉस्ट्राका के रुधिर में हीमोसाइआनिन (hemocyanin) मिला रहता है और ऐंटोमेस्ट्राका में हीमोग्लोविन (hemoglobin) भी उपस्थित रहता है।

उत्सर्जन तत्र (Excretory system)—कठिनी की मुख्य उत्सर्जन इद्रियाँ शृगिका सवधी (ऐंटेनैल, antennal) तथा उपजभ सवधी (मैक्सीलरी, maxillary) दो जोडी ग्रथियाँ हैं जो इन्ही नामो के अगो के आस्थानो पर खुलती हैं। दोनो ग्रथियो का पूर्ण विकास कभी भी किसी जाति की एक अवस्था मे एक साथ नही मिलता, अतएव जीवन के इतिहास मे भिन्न भिन्न अवस्थाओ मे एक के पश्चात् दूसरी ग्रथि कार्यशील होती है। उदाहरणार्थ, झीगे तथा दूसरे दशपादो (डेकापोडा, Decapoda) की वयस्क अवस्था मे शृगिका सवधी ग्रथि कार्यशील होती है और इनके डिंभ (लार्वा) मे उपजभ सवधी। परतु अधिकतर कठिनियो में इसके विपरीत दशा होती है। इनमे इन दोनो ग्रथियो की रचना एक समान होती है।

प्रत्येक ग्रथि मे तीन मुख्य भाग होते हैं (१) अतस्यून (एड सैक, end sac), जो देहगुहा (सीलोम, Coelome) का अवशेष तथा क्षीण भीतवाला भीतरी भाग है, (२) उत्सर्गी नलिका (Excretory duct) तथा (३) परिवर्तित वहिर्गमन प्रणाली (Ureter), जो अतस्यून से जुडी रहती है और जिसका एक भाग ग्रथिमान भीतवाली (Glandular plexus) उत्सर्गी नलिका है। उत्सर्गी नलिका का अधर भाग तथा वहिर्गमन प्रणाली दोनो वडी होकर सग्राही मूत्राशय (Renal sac) वनाती हैं।

तत्रिका तत्र (Nervous system)—केंद्रीय तत्रिकातत्र का सामान्य रूप भी अन्य सधिपाद जीवो की भाँति होता है। मस्तिष्क का सयोग प्रतिपृष्ठीय तत्रिकारज्जु के साथ परिग्रसिका सयोजक (Oesophageal connective) के द्वारा रहता है। प्रतिपृष्ठीय तत्रिका रज्जु गुच्छिकाओ (गैंग्लिया, Ganglia) की एक दोहरी शृखला है

जिनका आपस मे योग सयोजको (Connectives) तथा समामिलो (कमिशुर्स, Commissures) से होता है। प्राय चार जोडी भ्रूणीय गुच्छिकाएँ (Embryonic ganglia) आपस मे मिलकर मस्तिष्क बनाती हैं और नेत्र गुच्छिका (Optic ganglia) भी इसी मे समिलित है।

कठिनी मे तत्रिकातत्र की अवस्था मे सधिपादो की आदर्श दशा से लेकर अत्यत सकेंद्रीय दशा तक की पूर्ण श्रेणी मिलती है। आदिम ब्रैंकिओपोडा मे प्रतिपृष्ठ गुच्छिकाओ की शृखला (Ventral ganglionic chain) सीढियो के आकार की होती है जैसी कुछ ऐनीलिड्ज़ (Annelids) मे पाई जाती है और जिसमे शृखला के दोनो भाग एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। अन्य कठिनी समूहों मे प्राय शृखला के दोनो भागो का आपस मे सरोहण हो जाता है, साथ ही, गुच्छिकाएँ भी एक दूसरे के समीप आकर सायुज्जित हो जाती हैं। इस श्रेणी की अतिम दशा मे, जो केकडो मे पाई जाती है, केवल गुच्छिकाओ का एक समूह ही दिखाई देता है।
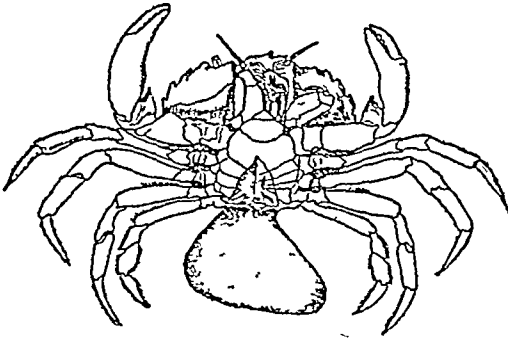
(क) (ख)

चित्र ११. दो पराश्रयी कठिनी

(क) पराश्रयी अरित्रपाद कौंड्रोकैंथस (Chondrocanthus) की मादा। इसमे अडो की एक जोडी लबी थैलियाँ हैं तथा इसके पश्च भाग मे छोटा सा नर चिपका हुआ है। (ख) केकडे के पश्च भाग मे अलकपाद स्यूनिका (सिरिपीडिया सैकुलाइना, Cirripedia sacculina) चिपकी हुई है।

जननतत्र (Genital system)—स्वतत्र तथा कर्मण्य जीवो के समान बहुधा कठिनी मे भी लिंग पृथक् होते है, परतु सिरीपीडिआ तथा अनेक पराश्रयी आइसोपोडा के जीव द्विलिंगी भी होते हैं। ये पूर्वपुपक्व (प्रोटैंड्रस, protandrous) होते हैं जिनमे पुल्लिग अगो का परिवर्धन (development) स्त्रीलिंग अगों से पहले होता है। सिरीपीडिआ मे सूक्ष्म सपूरक नर भी परजीवियो के समान इस जाति के साधारण अथवा द्विलिंगी जीवो के साथ प्राय चिपके रहते हैं, क्योकि इनके पुल्लिग अग पूर्णरूप से गर्भाधान (निषेचन क्रिया) नही कर सकते। अनेक ब्रैंकिओपोडा तथा आस्ट्रेकोडा मे अनिषेक जनन (पारथेनोजेनेसिस, parthenogenesis) भी होता है। लैंगिक द्विरूपता (sexual dimorphism) भी इनमें सामान्यत पाई जाती है। नर मे मादा को पकडने के लिये विशेष अग भी रहते हैं, जो शरीर के किसी भाग से सपरिवर्तित होकर इस कार्य के लिये उपयोगी हो जाते हैं। उच्च दशपादो मे नर प्राय स्त्री से बडे होते हैं, परतु अन्य समूहो मे व्यवस्था इसके विपरीत होती है।

- दोनो लिंगो के जननपिंड (Gonads) सदा एक जोडी नाल इद्रियाँ होती हैं, जो आहारनली के पृष्ठ पर (dorsal) एक दूसरे से जुडी रहती हैं। ये साधारण अथवा शाखायुक्त भी हो सकती हैं और इनसे नलिकाएँ उत्पन्न होकर शरीर के प्राय मध्य में बाहर की ओर खुलती हैं। सिरीपीडिया मे और कुछ क्लैडोसिरा (Cladocera) के नर मे यह छिद्र शरीर की सीमा पर रहते हैं, परतु इनकी मादा में यह छिद्र वक्ष के प्रथम खड पर स्थित रहते हैं और मेलाकॉस्ट्राका मे भी दोनो लिगो में छिद्र इसी स्थान पर रहते हैं।

भ्रूण तत्व (Embryology)—कठिनी के अडजनन से जो डिंभ (लार्वा) बहुलसख्या में उत्पन्न होते हैं वे वयस्क से पूर्णत भिन्न होते हैं। वयस्क अवस्था धारण करने के पूर्व जीव को विभिन्न डिंभो की एक श्रेणी पार करनी पडती है जिसमे प्रथम डिंभ नॉप्लिअस लार्वा कहलाता है। प्रत्येक कठिनी इस अवस्था को अवश्य पार करता है चाहे वह स्वच्छद प्लावित (free swimming) अवस्था मे उत्पन्न हो अथवा भ्रूणित (embryonic) में। प्रारूपिक अवस्था मे यह डिंभ अखडित (unsegmented) अडाकार होता है, जिसमे तीन जोडी अवयव रहते हैं और जो वयस्क के ऐटेन्यूल्ज़ (antennules), ऐंटेनी (antennae) और मैंडिबल्ज (mandibles) बन जाते हैं। इसके प्रथम जोडी अग साधारण एकशाखी (uniramus) होते हैं, परतु दूसरी तथा तीसरी जोडी द्विशाखी (biramus) होते हैं, और ये सब नाप्लिअस को प्लवन मे सहायता देते हैं। द्विशाखी अवयव भोजन को मुख में पहुँचाने का कार्य भी करते हैं। इसमे सयुक्त नेत्र नही होते परतु मध्यम नेत्र अवश्य रहते हैं। इसके मुख के सामने एक बडा सा उदोष्ठ (लेब्रम, Labrum) रहता है। डिंभ में आत्र के तीनो भाग, अग्रात्र (Fore-gut), मध्यात्र (Midgut) तथा पश्चात्र (Hindgut) रहते है। आस्ट्राकोडा मे नॉप्लिअस अडजनन (hatching) के समय सपरिवर्तित होता है, क्योकि इसमे बाइवाल्व (Bivalved) कैरापेस परिवर्धित रहती है।
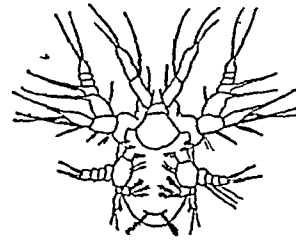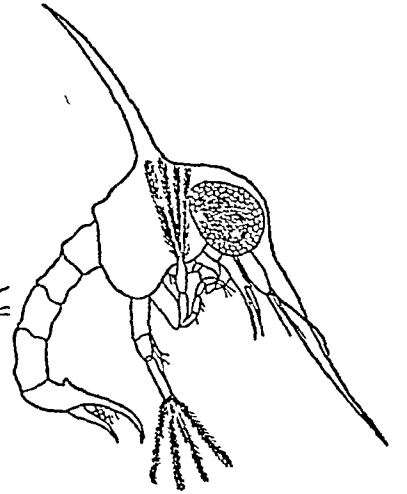
(क) (ख)
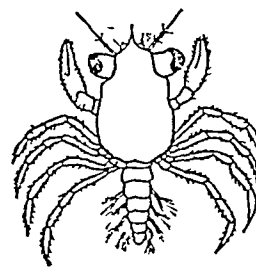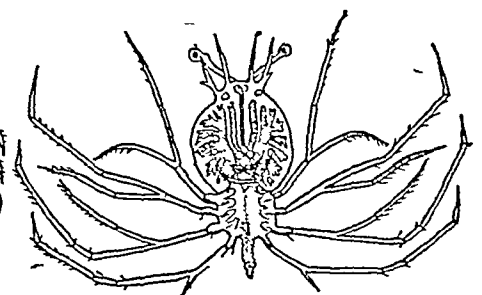
(ग) (घ)

चित्र १२ विभिन्न प्रकार के डिंभ (लार्वा)

(क) न्युपाग (नॉप्लिअस, Nauplius), (ख) जीवक (जोइया, Zoea), (ग) महाक्ष (मेगालोपा, Megalopa) तथा (घ) काचकर्क (फिल्लोसोमा, Phyllosoma)।

निम्न जाति के कठिनियो मे नॉप्लिअस का परिवर्धन क्रमश होता है, जिसमे खड एक एक करके, पीछे से आगे, अतिम खड (टेल्सन) मे जुडते जाते हैं। तब इन खडो मे अवयव उत्पन्न होने लगते हैं। इस प्रकार इसकी अवस्था अन्य रूपो मे परिवर्तित हो जाती है जिनमे मेटानॉप्लिअस (Metanauplius), साइप्रिस (Cypris), जोइआ (Zoea), फिल्लोसोमा (Phyllosoma), मेगालोपा (Megalopa) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। अधिकतर ये सारी अवस्थाएँ स्वच्छद तलप्लावी होती ह। केवल अलवण

जल (Fresh water) के प्रॅचिगट (Crayfish) तथा नदियो के भीगे ही ऐसे जीव हैं जिनके परिवर्धन में विशेष रूपातर नही होता।

वर्गीकरण (classification)—इस वर्ग के जीवो की रचना मे दूसरे वर्गो से कही अधिक अनेकरूपता पाई जाती है। इस कारण इनका वर्गीकरण, जिसमे आपस की समानताओ पर विशेष ध्यान रखा जाता है, अति जटिल है। इस वर्ग को निम्नलिखित उपवर्गो मे विभाजित किया गया है जिनके साथ उनके मुख्य गणो (आर्डर्स) के नाम भी अकित हैं

वर्ग कठिनी

उपवर्ग ब्रैंकिओपोडा—(Branchiopoda)
 गण ऐनोस्ट्राका (Anostraca), नोटोस्ट्राका (Notostraca), कौंकोस्ट्राका (Conchostraca) तथा क्लैडोसिरा (Cladocera)।

उपवर्ग औस्ट्राकोडा—(Ostracoda)
 गण माइओडोकोपा (Myodocopa) तथा पोडोकोपा (Podacopa)

उपवर्ग कोपीपोडा—(Copepoda)
 गण साइक्लोपाइडिआ, (Cyclopidea), लरनीओपोडाइडिया (Lernaeopodidea), केलीगाइडा (Caligida), केलेनाइडा (Calaniida) इत्यादि।

उपवर्ग ब्रैंक्यूरा—(Branchiura)
 गण आर्गुलाइडिया (Argulidea)।

उपवर्ग सिरीपीडिया—(Cirripedia)
 गण थोरैसिका (Thoracica), ऐक्रोथोरैसिका (Acrothoracica), ऐस्कोथोरैसिका (Ascothoracica), एपोडा (Apoda) तथा राइज़ोसेफाला (Rhizocephala)।

उपवर्ग मेलाकॉस्ट्राका—(Malacostraca)
 विभाग फिल्लोकेरीडा (Phyllocarida)—गण निवेलिएशि (Nebaliacea)
 विभाग सिंकेरिडा (Syncarida)—गण ऐनैसपिडेशिया (Anaspidacea)
 विभाग पेराकैरिडा (Peracarida)—गण माइसिडेशिया (Mysidacea), कुमेसिया (Cumacea), टैनाइडेशिया (Tanaidacea), आइसोपोडा (Isopoda) तथा ऐंफिपोडा (Amphipoda)।
 विभाग यूकेरीडा (Eucarida)—गण युफॉसिएशिया (Euphausiacea) तथा डेकापोडा (Decapoda)।
 विभाग हॉप्लोकेरीडा (Hoplocarida)—गण स्टोमैटोपोडा (Stomatopoda)। [रा० कृ० मे०]

कडलोर भारत का एक नगर है जो मद्रास राज्य के दक्षिणी अर्काट जिले में मद्रास नगर से १६० कि० मी० तथा पाडिचेरी से १९ कि० मी० की दूरी पर मद्रास त्रिचनापल्ली सडक पर स्थित है। यहाँ की जलवायु अच्छी है। यह आसपास के जिलो का स्वास्थ्यवर्धक केद्र है। पोनेयर तथा गदिलम नदियाँ इस नगर से बहती हुई समुद्र में गिरती हैं। इसका नाम सभवत 'कुदल-उर' का विकृत रूप है, जिसका अर्थ दो नदियो का सगम है। १८८४ ई० मे बाढ का पानी नगर के बीच से बहने लगा था। यहाँ से गन्ना और तेलहन बाहर भेजा जाता है। यह नगर सत डेविड के किले के लिये प्रख्यात है जो खडहर के रूप में गदिलम नदी के किनारे स्थित है। इस किले का निर्माण एक हिंदू व्यापारी ने कराया था। सन् १६७७ ई० में यह शिवाजी के हाथ मे चला आया। तब से इसका नाम सत डेविड का किला हो गया। सन् १७५६ ई० मे रॉबर्ट क्लाइव यहाँ का गवर्नर नियुक्त किया गया। १७५८ ई० में फ्रासीसियो ने इसको अपने अधिकार में कर लिया। १७८५ ई० में यह पुन अग्रेजो के हाथ मे चला आया। १९०१ ई० में इसकी जनसख्या ५२,२१६ थी जो १९५१ मे बढकर ६९ ०८४ हो गई। बाफ्ता की बुनाई यहाँ का मुख्य उद्योग है। जेल के कैदी दरी, गमछे तथा अन्य सूती कपडे बुनते हैं। यहाँ दो महाविद्यालय हैं। [रा० वृ० सि०]

कणाद जैन ग्रथ **उत्तराध्ययन सूत्रवृत्ति** (अध्ययन ३) में अतिरजिका नामक राजा के शासनकाल मे इनकी उत्पत्ति बताई जाती है। इनके विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं, इन्हें कणभुक, कणभस भी कहा गया है। कणाद नाम पडने का कारण यह बताया जाता है कि ये अपना जीवनयापन शिलोछ वृत्ति से (मार्ग अथवा खेत के 'कण' उठाकर) करते थ (न्यायकदली पृ० २)। कुमारलात के ग्रथ **सूत्रालकार** मे उनको 'उलूक' कहा गया है। आर्यदेव के शतशास्त्र के टीकाकार चित्सान के अनुसार वैशेपिक दर्शन के प्रवर्तक का नाम उलूक था, वे बुद्ध से ८०० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे। ये दिन मे ग्रथ की रचना करते और रात में भिक्षा के लिये निकलते थे, इसीलिये इनका नाम उलूक पडा। कहते हैं, उन्होने एक लाख श्लोको में वैशेपिक शास्त्र बनाया। श्रीधर की कदली टीका पर टीका लिखनेवाले जैन लेखक राजशेखर ने एक पुरानी जनश्रुति का उल्लेख किया है कि ईश्वर कणाद ऋषि की तपस्या से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होने उलूक के रूप में प्रकट होकर ऋषि को वैशेपिक मे माने गए द्रव्यादि छ पदार्थो का उपदेश दिया। कणाद ने भगवान् महेश्वर को प्रसन्न कर उनकी कृपा से शास्त्र पाया (प्रशस्तपादभाप्य, कदली सहित, पृ० ७)। प्रशस्तपाद ने कणाद ऋषि का नाम कश्यप भी लिखा है जो गोत्रनाम प्रतीत होता है (वही, पृ० २००)। सभवत शिव की तपस्या से शास्त्र पाने के कारण गौतम तथा कपिल के साथ इनको भी पाशुपत कहा गया है (पाशुपतसूत्र, पृ० ३)। इनके जीवन के बारे मे अन्य बातो का पता नही मिलता। [च० भा० पा०]

कणाद वैशेषिक दर्शन के आदिप्रवर्तक थे। इन्होने **वैशेषिकसूत्र** की रचना की जो दस अध्यायो मे विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय मे दो आह्निक हैं। 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार करने के कारण कणाद के दर्शन का नाम वैशेपिक पडा। कुछ विद्वानो का मत है कि कणाद का दर्शन अन्य दर्शनो से, विशेप रूप से साख्य दर्शन से, अधिक युक्तिसगत है अत इसका नाम वैशेषिक हुआ (डा० उई वैशेपिक फिलासफी, पृ० ३–७)। कणाद का दूसरा नाम उलूक या औलूक्य था, इससे इनके दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहते हैं। श्रीहर्ष ने **नैषध** (२२।३६) मे इनके दर्शन को औलूक सज्ञा दी है। वायुपुराण के अनुसार कणाद द्वारिका के समीप प्रभास मे उत्पन्न हुए थे और सोम शर्मा के शिष्य थे। इनका एक अन्य नाम 'काश्यप' भी था। उदयनाचार्य न किरणावली में इन्हे कश्यप मुनि का पुत्र बतलाया है।

वैशेपिक सूत्रो का रचनाकाल निर्धारित करना कठिन है। बोड्स के अनुसार वैशेपिकसूत्रो का रचनाकाल तृतीय शतक विक्रमपूर्व का है (तर्कसग्रह की प्रस्तावना, पृ० ४०) गार्वे ने वैशेपिक को न्याय की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन माना है (दि फिलॉसफी आव ऐंशेंट इडिया, पृ० २०)। अश्वघोष ने अपने सूत्रालकार में वैशेपिक को बुद्ध का पूवकालीन माना है। दासगुप्त कतिपय तर्को के आधार पर वैशेपिक सूत्रो को बुद्ध के पूर्व का ही सिद्ध करते हैं (एस० एन० दासगुप्त ए हिस्ट्री आव इडियन फिलासफी, पृ० २८२)।

कणाद का दर्शन बाह्यार्थवादी है। यह बाह्य पदार्थो को सत्य मानता है। उन्हे चेतना से स्वतत्र मानता है। कणाद ने छ पदार्थो का प्रतिपादन किया है। ये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेप और समवाय। पदार्थ का अर्थ है नाम धारण करनेवाली वस्तु अर्थात् वह वस्तु जो ज्ञेय तथा अभिधेय हो। कणाद ने 'अभाव' को पदार्थ रूप से स्वीकार नही किया है। वैशेपिक दर्शन मे 'अभाव' को पदार्थ की सज्ञा पीछे दी गई।

द्रव्य गुण और कर्म का आश्रय तथा किसी कार्य का समवायि कारण होता है (वै० सू० १, १, १५)। द्रव्य नौ प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन। गुण द्रव्य मे रहता है, उसका स्वय कोई गुण नही होता। वह सयोग एव विभाग का कारण भी नही होता (१, १, १६)। कणाद के अनुसार गुण '१७ प्रकार के हैं। पीछे के आचार्यो ने सात गुणो को और जोडकर उनकी सख्या २४ निर्धारित की है। कर्म द्रव्य में रहता है, गुणरहित है तथा सयोग और विभाग का कारण होता है (१, १, १७)। कर्म पाँच प्रकार के माने

गए हैं। सामान्य का अर्थ है जाति अथवा वस्तुओं में पाई जानेवाली समानता। जैसे दो व्यक्तियों के रंग आदि में भेद होने पर भी उनमें एक समानता पाई जाती है जिससे उन्हें मनुष्य कहा जाता है। कणाद के अनुसार सामान्य एवं विशेष बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं (१, २, ३)। विशेष वस्तुओं को एक दूसरे से पृथक् करता है। विशेष के कारण से ही एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भेद व्यक्त होता है। विशेष नित्य द्रव्यों, जैसे पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन में रहते हैं। विशेष नित्य तथा अनंत है। दो वस्तुओं में रहनेवाले नित्य संबंध को समवाय कहते हैं। कणाद केवल उपादान कारण तथा उसके कार्य के संबंध को समवाय कहते हैं।

वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। कणाद पृथ्वी, जल, तेज और वायु के नित्य परमाणुओं के संयोग से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। परमाणु स्वत शांत तथा निष्पंद अवस्था में रहते हैं। किंतु प्राणियों के अदृष्ट के द्वारा परमाणुओं तथा मन आदि में स्पंदन होता है जिससे सृष्टि का प्रारंभ होता है (५ २ १३)। वृक्षों में जल का जाना, अग्नि की ज्वाला का ऊपर को उठना, वायु का तिरछा बहना आदि अदृष्ट से ही नियंत्रित होता है (५ २ ६)। पीछे के आचार्यों ने अदृष्ट के अनुसार ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में स्पंदन तथा उसके कारण जगत् की उत्पत्ति माना है। अदृष्ट ही प्राणियों के जन्म मरण के चक्र का मूल कारण है। उसके अभाव में मोक्ष की प्राप्ति होती है। अदृष्ट के अभाव में संयोग का अभाव तथा पुन उसका प्रादुर्भाव न होना मोक्ष है (५ २ १८)। अदृष्ट के अभाव में कर्मबंधन नष्ट हो जाते हैं। आत्मा का शरीर, मन आदि से तादात्म्य समाप्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा को दु खों से आत्यंतिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है।

सं० ग्रं०—ए० बी० कीथ इंडियन लाजिक ऐंड एटामिजम, ए० ई० गफ दि वैशेषिक अफारिज्म्स ऑव कणाद, कावेल एवं गफ सर्वदर्शन-संग्रह, जे० सी० चैटर्जी दि हिंदू रियलिजम, उई (Ui) दि वैशेषिक फिलासफी, नंदलाल सिनहा दि वैशेषिक सूत्राज ऑव कणाद, फैडेगन दि वैशेषिक सिस्टम, एस० एन० दासगुप्त ए हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलासफी, भाग १, एस० राधाकृष्णन इंडियन फिलॉसफी, भाग १।

[रा० श० मि०]

कण्व प्राचीन भारत में इस नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध महर्षि कण्व थे जिन्होंने मेनका के गर्भ से हुई विश्वामित्र की कन्या शकुंतला को पाला था। दुष्यंत एवं शकुंतला के पुत्र भरत का जातकर्म इन्होंने ही संपादित किया था। दूसरे कण्व ऋषि कडु के पिता थे जो अयोध्या के पूर्व स्थित अपने आश्रम में रहते थे। रामायण के अनुसार वे राम के लंका विजय करके अयोध्या लौटने पर वहाँ आए और उन्हें आशीर्वाद दिया। तीसरे कण्व पुरुवंशी राजा प्रतिरथ के पुत्र थे जिनसे काण्वायन गोत्रीय ब्राह्मणों की उत्पत्ति बतलाई जाती है। इनके पुत्र मेधातिथि हुए और कन्या ईलिनी। चौथे कण्व ऐतिहासिक काल में मगध के शुंगवंशीय राजा देवभूति के मंत्री थे जिनके पुत्र वसुदेव हुए। इन्होंने राजा की हत्या करके सिंहासन छीन लिया और इनके वंशज काण्वायन नाम से डेढ़ सौ वर्ष तक राज करते रहे। पाँचवें कण्व पुरुवंशीय राजा अजामीढ के पुत्र थे और छठे महर्षि कश्यप के पुत्र। सातवें महर्षि घोर के पुत्र थे जिन्होंने ऋग्वेद के अनेक मंत्रों की रचना की है। इनके अतिरिक्त छ सात और कण्व हुए हैं जो इतने प्रसिद्ध नहीं हैं।

[रा० द्वि०]

कत्था भारत में एक सुपरिचित वस्तु है जो मुख्य रूप से पान में लगाकर खाने के काम आता है। कभी कभी ओषधि और रंग के रूप में भी इसका प्रयोग होता है। कत्था खैर (आकेशा कैटिचू, Acacia catechu) नामक वृक्ष की भीतरी कठोर लकड़ी से निकाला जाता है। खैर के वृक्ष भारत भर में, विशेषतया सूखे क्षेत्रों में, पाए जाते हैं। खैर का वृक्ष वनस्पति विज्ञान में, अकेशा कैटिचू विल्ड कहा जाता है। यह पंजाब, जम्मू और कश्मीर, उत्तर प्रदेश में गढ़वाल और कुमाऊँ, बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तरी कनारा और दक्षिण में गंजाम तक पाया जाता है। पूर्वी हिमालय तथा आसाम की ओर इन खैर के वृक्षों के होने की सूचना नहीं है।

खैर की लकड़ी से कत्था निकालने का उद्योग बहुत पुराना है। खैर से कत्था निकालने का काम प्राय वे लोग करते हैं जो पीढ़ियों से इसे करते आए हैं। ये लोग 'खैरवा' या 'खाई' कहलाते हैं और उत्तरी भाग में गोंडा
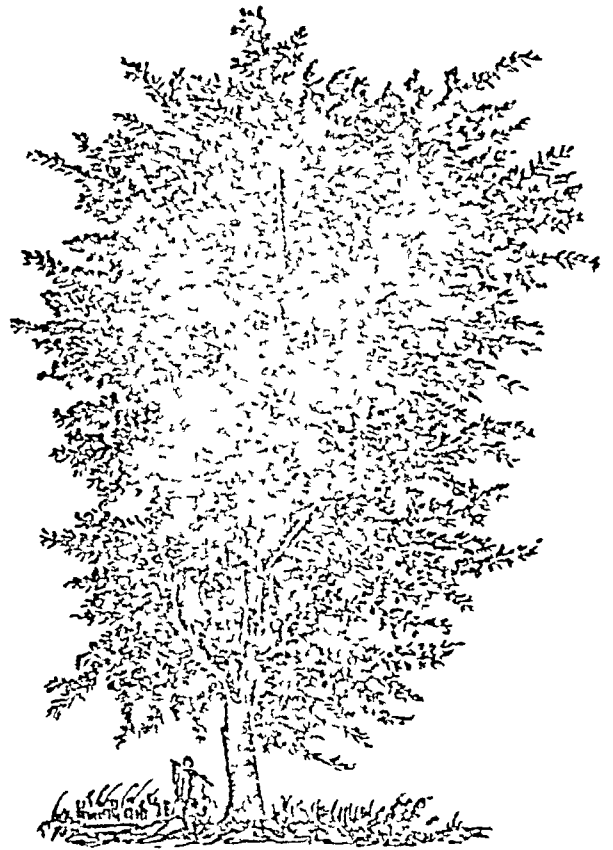
चित्र १ खैर का वृक्ष आकेशा कैटिचू

और बहराइच जिले के निवासी अथवा पहाड़ी होते हैं। कत्था कुटीर उद्योग के करनेवाले दूर दूर फैले हुए हैं। इन व्यक्तियों द्वारा प्रति वर्ष कितना कत्था तैयार किया जाता है, इसके विषय में ठीक आँकड़े प्राप्य नहीं हैं। अनुमान है कि ये लोग प्रति वर्ष २–२॥ हजार टन कत्था तैयार करते हैं। कत्था बनाने का काम कुछ संगठित कारखानों में भी किया जाता है। ये कारखाने अधिकतर उत्तर प्रदेश, बंबई और मध्य प्रदेश में स्थित हैं। इनके द्वारा प्रति वर्ष १–१॥ हजार टन कत्था तैयार किया जाता है।

कारखाने में बने कत्थे में जल में विलेय पदार्थ ३०० प्रति शत, अविलेय (अधिकतम) ०७५ प्रति शत, नमी ६२५ प्रति शत और कैटिचीन (अंतर से) ६० ० प्रति शत होता है। जलाने पर यह कत्था राख (अधिकतम) ० ५० प्रति शत देता है।

पुरानी विधि—देश के विभिन्न भागों में सब मिलाकर लगभग ५०,००० खैर के वृक्ष प्रति वर्ष कत्था बनाने के लिये काटे जाते हैं। जो वृक्ष २५–३० वर्ष पुराने होते हैं और जिनकी मोटाई १ फुट (३० सें० मी०) या अधिक होती है वे इस काम के लिये प्रयुक्त होते हैं। गिराने के बाद वृक्षों के दो तीन फुट (६० से १०० सें० मी०) लंबे बोटे बना लिए जाते हैं और उनपर से छाल और मुलायम लकड़ी उतार दी जाती है। इनका उपयोग ईंधन के रूप में किया जा सकता है। भीतरवाली लाल लकड़ी को छोटे छोटे टुकड़ों में काट लिया जाता है, जो आकार में लगभग एक वर्ग इंच (लगभग साढ़े छ वर्ग सें० मी०) होते हैं। इनको मिट्टी की हाँड़ियों में रखकर पानी के साथ खौलाया जाता है। हाँड़ियों को एक लंबी भट्ठी के ऊपर पंक्ति में रखा जाता है। खौलने से लकड़ी का घुलनशील भाग पानी में आ जाता है। निष्कर्षण की इस क्रिया को कई घंटों तक किया जाता है और तीन से लेकर पाँच बार तक दुहराया जाता है। इन छिपटियों (टुकड़ों) से लाल रंग का जो निस्सार मिलता है उसे ताजी छिपटियों पर डालते और उबालते हैं। इस काम को उस समय तक दुहराते हैं जब तक कि इच्छित सघनता का घोल

तैयार नहीं हो जाता। गर्म निष्कर्ष को मलमल मे छान लेते हैं और छनित को मिट्टी के वर्तनों में उस समय तक गाढा करते हैं जव तक वह चाशनी के समान नहीं हो जाता।

चित्र २ छिपटियों से कत्था निष्कर्षित करने की विधि

इस प्रकार सांद्र वनाए हुए निष्कर्ष को ठढा किया जाता है और फिर महीन रेत मे गढे वनाकर अथवा मिट्टी के वर्तनों पर टोकरी रखकर उनमे उडेल दिया जाता है। अव इसको टाट से ढककर कुछ सप्ताहो के लिये छोड देते हैं जिसमे कत्था अलग हो जाता है। जव निष्कर्ष को टोकरी में रखा जाता है तब घुलनशील टैनीनें (tannins) वर्तन में छन जाती हैं और अशोधित कत्था टोकरी में ऊपर रह जाता है। जव निष्कर्ष रेत मे गढो में भरा जाता है तो ये टैनीनें रेत मे चली जाती हैं और कत्था ऊपर रह जाता है। ऊपर की ठोस वस्तु को उठा लेते हैं। उसे दवाकर सिल्लियाँ वनाते हैं। इनको छोटी सिल्लियों और अत मे टिकियो के रूप मे काट लेते हैं। इसके वाद कत्थे के टुकडो को कई सप्ताह तक छाया मे सुखाया जाता है और वाजार मे भेजा जाता है। सूखे पेड की अपेक्षा ताजे कटे हुए पेडो से अधिक कत्था मिलता है। कत्था वनाने का काम मौसमी है। यह वर्ष में लगभग ६० दिन चलता है और औसतन एक भट्ठी से, ताजे वृक्षो का प्रयोग करने से २५–३० वोरी कत्था मिलता है। एक वोरी मे लगभग दो मन (लगभग ७५ किलोग्राम) माल होता है।

पुरानी विधि की कमियाँ—इस विधि मे जो क्रियाएँ काम मे लाई जाती हैं उनके कारण कत्था उद्योग मौसमी उद्योग वन गया है। यह वर्ष में ६० दिन से अधिक नही चलाया जा सकता। वाजार के योग्य माल तैयार करने मे सव मिलाकर दो तीन महीने का समय लग जाता है। भीतरी लकडी का जो निष्कर्ष तैयार होता है उसमे पानी की मात्रा अधिक होती है। उसे सांद्र वनाने के लिये देर तक उवालना पडता है जिससे माल का गुण खराव होता है और कैटिचीन की मात्रा मे कमी आती है। अशोधित कत्थे में पर्याप्त पानी होता है और उसे सूखने मे अधिक समय लगता है। इसमे कत्थे मे फफूंद लग जाती है, उसका रग विगड जाता है और माल घटिया हो जाता है। निष्कर्ष का जो घुलनशील अग रेत मे सीझ जाता है उसमे एक पदार्थ होता है, जो कच कहलाता है। कच एक उपयोगी पदार्थ है। यह उद्योगों मे काम आता है और वेचा जा सकता है। कत्था वनाने की इस पुरानी विधि में कच को प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया जा सकता।

कत्था वनाने की विधि में सुधार—सुधरी विधि मे खैर के भीतर की कठोर लकडी की वारीक छिपटियाँ वनाई जाती हैं और उनका निष्कर्ष ताँवे के पात्रो में तैयार किया जाता है। छिपटियाँ पात्र के सपर्क मे न आएँ, इसलिये उनको ताँवे के तार मे वने हुए पिंजडो में रखकर पात्र के भीतर लटकाया जाता है। प्रत्येक पिंजड में लगभग १२ सेर (११ किलोग्राम) छिपटी रखी जाती है और उसको लगभग ३० सेर (२८ किलोग्राम) पानी से डेढ से लेकर दो घटे तक निष्कर्षित किया जाता है। निष्कर्षण की क्रिया को ३० सेर (२८ किलोग्राम) साफ पानी के साथ लगभग आध घटे तक दुहराया जाता है और इसके वाद इसी प्रकार तीसरी वार निष्कर्षता की क्रिया की जाती है। इस अंतिम निष्कर्ष को नई छिपटियो के पहले निष्कर्षण के लिये काम में लाया जाता है। विभिन्न निष्कर्षो को मिलाकर ताँवे के खुले वर्तन मे उस समय तक सांद्र वनाते हैं जव तक घोल का घनत्व १.०७–१.१३ नही हो जाता। इस काम मे साधारणत लगभग तीन घटे लगते हैं।

इस सांद्र निष्कर्ष को ठढा होने देते हैं। यदि इसमें कत्थे के कुछ रवे डाल दिए जाते हैं तो कत्थे के मणिभित (क्रिस्टेलाइज) होने की क्रिया शीघ्र हो जाती है। कत्थे के मणिभ अलग होकर तली पर जम जाते हैं और ऊपर के घोल (मातृद्रव) से अलग कर लिए जाते हैं। आवश्यक होने पर कत्थे के मणिभो की दूसरी फसल प्राप्त करने के लिये इस द्रव को सांद्र वनाकर फिर पहले की तरह रवे प्राप्त किए जा सकते हैं।

कत्थे के अलग निकाले हुए मणिभो को पानी में लेकर हाथ से चलाए जानेवाले फिल्टर प्रेस में छान लिया जाता है। इससे मातृद्रव कत्थे से अलग हो जाता है। फिल्टर प्रेस मे कत्था कैनवैस से चिपक जाता है। उसे कैनवैस पर से स्टेनलेस इस्पात या निकेल की खुरचियो द्वारा खुरचा जाता है और लकडी के हत्थे से चलानेवाले स्क्रू प्रेस मे दवाकर यथासभव अधिक से अधिक पानी निकाल दिया जाता है। कत्थे की सिल को हाथ से वाछित आकार की छोटी टिकियो में काट लेते हैं और इन टिकियो को तारो की जाली की आलमारियो मे छाया मे सूखने दिया जाता है। इन टिकियो को खुली धूप मे सुखाना ठीक नही होता। इससे कैटिचीन को हानि पहुँचती है, वह विच्छिन्न हो जाता है और उसका रग गहरा पड जाता है। छाया मे सुखाने के वाद टिकियो को अंतिम रूप से एक गर्म-हवा-पेटी मे ४०° सें० पर सुखाया जाता है। इस पेटी को गर्म करने के लिये वे वेकार गैसे काम मे लाई जाती हैं जो निसारक पात्रो और सांद्रण की कडाहियो के चूल्हो से आती हैं। इस रीति से माल का एक घान तैयार करने में लगभग एक सप्ताह का समय लगता है।

कत्थे को दुवारा मणिभीकृत करने के वाद जो मातृद्रव वचता है उसको ताँवे की खुली कडाही मे इच्छानुसार गाढा कर लिया जाता है, फिर इस सांद्र तरल को लकडी के चौखटो मे भर दिया जाता है। इससे जो पदाथ मिलता है वह कच कहलाता है। कच कत्था उद्योग का उपजात है।

इस विधि से कत्था शीघ्र तैयार होता है। वह लकडी मे से पर्याप्त मात्रा मे भली प्रकार निकल आता है। इस विधि से कत्था वनाने का काम किसी उपयुक्त स्थान पर पूरे वर्ष किया जा सकता है। पुरानी विधि में मिट्टी की हाँडियो की टूट फूट से जो हानि होती है वह इस विधि में नही होती। इस विधि से जो कत्था तैयार होता है वह पुरानी रीति से तैयार किए गए कत्थे की अपेक्षा हल्का होता है, उसका रग और स्वाद वढिया होता है और उसमें कैटिचीन का अग ६५–७० प्रति शत होता है।

वडा उद्योग—वडे पैमाने पर कत्था निकालने की विधि मो तौर से वैसी ही होती है जैसी छोटे पैमाने पर काम मे लाई जाती है। अतर इस वात का है कि वडे कारखानों मे यान्त्रिक साधन काम मे लाए जाते हैं। वडे वडे लट्ठो को शक्ति से चलनेवाली मशीनो द्वारा काटकर छिपटियाँ वनाई जाती हैं और उनको ताँवे के ऑटोक्लेवो (Autoclaves) मे हल्के से दवाव के नीचे निष्कर्षित किया जाता है। निष्कर्ष को निर्वात (वैकुअम) मे सांद्रित करके लगभग एक सप्ताह तक ठढी टकियो में रखते हैं। इससे कत्थे के रवे वनकर अलग हो जाते हैं। इसको फिल्टर प्रेसो मे छान लेते हैं। फिर सिल्लियो और वर्गाकार टिकियो मे काटकर ऐसे कमरो में सुखाते हैं जिन्हे गरम हवा से गरम किया जाता है। निष्कर्षित लकडी के वोझ पर कत्थे की प्राप्ति ४ सेर ४.५ प्रतिशत होती है। मातृद्रव को सांद्रित करके लकडी के चौखटो मे ढाल दिया जाता है। उसके ठढा होने पर यहा 'कच' जम जाता है।

परख और मानक—वाजार मे विकनेवाले साधारण कत्थे में वहुत मिलावट होती है। रेत, मिट्टी और राख तो उसमे मिली ही रहती हैं, इनके अतिरिक्त कत्थे का वोझ वढाने के लिये चीनी मिट्टी, सेलखडी, मड, गोद, लाल मिट्टी और लोहे के लाल आक्साइड के समान रगदार पदार्थ मनमाने ढग से मिलाए जाते हैं।

इस सवध में सारणी १ में कुछ सुझाव दिए जा रहे हैं, जो कत्थे की मानक विशिष्टताएं निर्धारित करने मे सहायक सिद्ध हो सकते हैं

जगल में कत्थे की भट्ठियो का सामान्य दृश्य

खैर के लट्ठे के छोटे-छोटे टुकडे किए जा रहे हैं

छोटे टुकडे हाँडियो में पकाने के लिये भरे जा रहे हैं

लबी भट्ठी पर खैर की कतरन पकाई जा रही है

कत्था (देखें पृष्ठ ...)

(... की ... सदगोपान द्वारा आविष्कृत नुमाइशी ...)

खैर के लट्ठों के छोटे-छोटे टुकडे काटे जा रहे है

मार्गदर्शी सयत्र का साधारण दृश्य
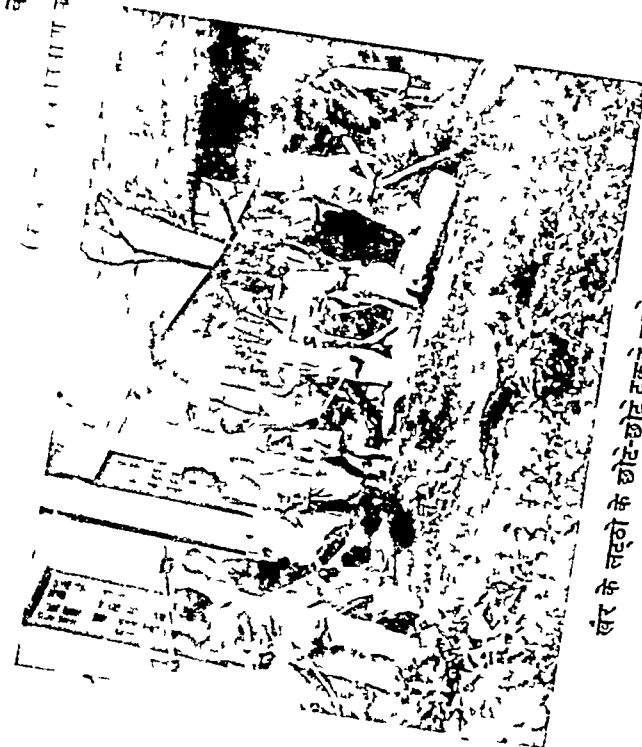
तावे के वरतनो मे खौलते पानी द्वारा खैर के टुकडे निष्कर्षित किए जाते है तथा विशेष प्रकार की भट्ठियो पर तावे की कढाइयो मे द्रव को सघनित करते है।

कत्था अलग किया जा रहा है

मणिभीकरण के पश्चात् निस्पदन दाबक (filter press) द्वारा टैनिन से कत्था अलग कर लेते है।

सारणी १–कत्थे की मानक विशिष्टताओ के सबध में सुझाव

विशिष्टता	वर्णन
रग	हल्का कत्थई ।
बनावट	तोडने पर बहुत हल्के कत्थई रग के रवेदार पदार्थ की, बहुत से नन्हे नन्हे छेदोवाली, बनावट दिखाई दे ।
सूक्ष्मदर्शी के नीचे	जब माल को थोडे से पानी मे घोला जाय तो उसमे स्पष्ट रूप से सुई की आकृति के रवे (मणिभ) दिखाई दे ।
विलेयता	माल खौलते पानी मे पूर्णतया घुल जाय और घोल ठढा होने पर रवेदार रूप मे जम जाय ।
रग अभिक्रिया	जब उसे हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड और पोटैशियम क्लोरेट के आधिक्य से उपचारित किया जाय तब एक क्लोरीनीकृत प्रतिस्थापन-पदार्थ मिले, जिसका रग सोडियम सल्फाइड मिलाने पर बैगनी लाल हो जाय ।

कच––कत्था बनाने की पुरानी देशी विधि मे कच प्राप्त नही किया जाता। सुधरी विधि मे कच उपलब्ध किया जाता है और उसकी मात्रा कत्थे की मात्रा से २–२॥ गुनी होती है। कत्था बनान के सभी सगठित कारखानो मे कच तैयार किया जाता है। इसकी मात्रा ४–५ हजार टन प्रति वर्ष होती है।

आकेशा कैटिचू (किस्म असली) के अतिरिक्त सिक्किम, तराई, बगाल, असम और कुछ सीमा तक मैसूर तथा नीलगिरि मे खैर की एक किस्म मिलती है जो कैटिचुआइडीज़ कहलाती है। इससे बर्मा मे कच निकाला जाता है। यह कच पेगू कच के नाम से बिकता है। खर की तीसरी किस्म सुदरा या लाल खैर कहलाती है। लाल खर के वृक्ष दक्षिण और पश्चिम भारत में दूर दूर बिखरे हुए पाए जाते हैं। इन वृक्षो से दक्षिण मे कच या श्यामल कत्था तैयार किया जाता है।

कच छोटे घनाकार टुकडो में बिकता है। इन टुकडो का रग लोहे के जग के समान कत्थई या धुँधला नारगी होता है। कच मे कमावक (टैनिन) पदार्थ ५३–५८, अ-कमावक अश ३०–३३, अघुलनशील ०.५–१.५ और नमी १२–१४ प्रति शत पाई जाती है। लोवीबौड पैमाने पर उसका रगमान लाल ८–१० पीला १८–२० होता है।

सं०ग्र०––सद्गोपाल कत्था उद्योग का विकास (विज्ञान प्रगति, जिल्द ७, अक ८, १९५८)। [स०]

कथासाहित्य (संस्कृत)

सस्कृत भाषा मे निबद्ध कथाओ का प्रचुर साहित्य है जो सैकडो वर्षो से मनोरजन करता हुआ उपदेश देता आ रहा है। पश्चिमी देशो मे कथाएँ तीन श्रेणियो मे विभक्त की जाती हैं––१ फेअरीटेल्स (परियो की कहानियाँ) २ फेबुल्स (जतुकथाएँ) तथा ३ डायडेक्टिक टेल्स (उपदेशमयी कहानियाँ)। सस्कृत साहित्य मे इन तीनो प्रकार की कहानियो के उदाहरण मिलते है जो कथासाहित्य से सबद्ध ग्रथो के आलोचन से स्पष्ट हो जाता है।

'कथा' का मूल स्रोत, कथाओ के मूल स्रोत की खोज के लिये वैदिक सहिताओ का अनुशीलन आवश्यक है। ऋग्वेद की मत्रसहिता मे अनेक रोचक कहानियो की सूचना मिलती है जिनका परिबृहण शौनक ने 'बृहद्देवता' मे, षड्गुरुशिष्य ने 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' की वेदार्थदीपिका मे, यास्क ने निरुक्त मे, सायण ने अपने वेदभाष्यो मे तथा स्याद्विवेद ने 'नीतिमजरी' (रचनाकाल १५वी शती का अत) मे किया है (देखिए 'आख्यान')। यही से ये कथाएँ पुराणो के माध्यम से होकर जनता के मनोरजन तथा शिक्षण के निमित्त लौकिक सस्कृत साहित्य मे अवतीर्ण हुई ।

प्रधान ग्रथ––इस साहित्य के प्रधान ग्रथो का सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है

क पचतत्र––सस्कृत की कहानियो का यही सर्वश्रेष्ठ तथा प्राचीन सग्रह है। ग्रथकार का उद्देश्य आरभ से ही रोचक कथाओ के द्वारा नीति तथा सदाचार का शिक्षण रहा है। दक्षिण मे महिलारोप्य नामक नगर मे अमरकीर्ति राजा के मूर्ख पुत्रो को नीति तथा व्यवहार की शिक्षा देने के लिये विष्णु शर्मा ने इस ग्रथरत्न का प्रणयन किया। इसके अनेक सस्करण भिन्न भिन्न शताब्दियो मे तथा भारत के भिन्न भिन्न प्रातो मे होते रहे हैं जिनका सागोपाग अध्ययन कर जर्मनी के प्रसिद्ध सस्कृतज्ञ डा० हर्टेल ने इसके विकास की चार श्रेणियाँ बतलाई हैं। पचतत्र का सबसे प्राचीन रूप 'तत्राख्यायिका' मे सुरक्षित है जिसका मूल स्थान कश्मीर है। पचतत्र के विभिन्न चार सस्करण आज उपलब्ध है––१ पचतत्र का पहलवी (पुरानी फारसी) अनुवाद, २ गुणाढ्य की बृहत्कथा मे अतर्निविष्ट रूप, ३ दक्षिणी पचतत्र, नेपाली पचतत्र तथा हितोपदेश के द्वारा निर्दिष्ट सस्करण, ४ वर्तमान परिवर्धित जैन सस्करण। 'तत्राख्यायिका' या 'तत्राख्यान' मे कथाओ की रूपरेखा बहुत ही परिमित है। नीतिमय पद्यो का सकलन बहुत ही सक्षिप्त तथा औचित्यपूर्ण है। पहलवी अनुवाद का यही मूल रूप है जिसकी रचना चतुर्थ शती मे की गई थी। आजकल उपलब्ध पचतत्र पूर्णभद्र नामक जैन विद्वान् के परिबृहण और परिवर्धन का परिणत फल है। इन्होने १२५५ विक्रमी (११९९ ई०) मे मूल ग्रथ का आमूल सशोधन किया तथा नीति के पद्यो का समावेश कर इसे भरा पूरा बनाया। पचतत्र से प्राचीनतर कहानियो का सग्रह 'बौद्धजातकों' मे उपलब्ध होता है जो सख्या मे ५५० हैं तथा जिनमे भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्मोकी कथाएँ दी हैं। पालि भाषा मे निबद्ध होने से उनकी समीक्षा यहाँ नही की जा सकती। केवल मूलस्रोत के रूप मे उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा।

इन कहानियो का रूपगत वैशिष्ट्य यह है कि एक बडी कहानी के भीतर छोटी कहानियाँ एक के भीतर एक उसी रूप मे गूँथी गई हैं जिस प्रकार चीन देश के बाक्स मे बडे बाक्स के भीतर छोटे बाक्स एक के भीतर एक बनाए जाते हैं। पचतत्र के पाँचो प्रकरणो मे पाँच ही मुख्य कहानियाँ ह जिनके भीतर अवातर कहानियाँ प्रसग के अनुसार निविष्ट की गई ह।

ख हितोपदेश––सस्कृत के कथासाहित्य मे अत्यत लोकप्रिय ग्रथ है। रोचक होन के अतिरिक्त भाषा की दृष्टि से इतना सरल तथा सुबोध है कि भारत मे तथा पश्चिमी देशो मे सस्कृत भाषा सीखने के लिये यह पहली पुस्तक है। इसके रचयिता नारायण पडित हैं जिनके आश्रयदाता बगाल के राजा धवलचद्र थे। रचना का काल १४वी शती है।

ग बृहत्कथा––पैशाची भाषा मे निबद्ध प्राचीन ग्रथ है जिसकी कहानियो की जानकारी हमे इसके सस्कृत अनुवादो से होती है (देखिए 'गुणाढ्य')।

घ वेताल पचविंशति––(वैतालपचीसी)–इस कथाचक्र का सबध राजा विक्रमादित्य के अलौकिक तथा शौर्यमडित जीवन से है। कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामजरी मे ये पचीसो कहानियाँ प्राय एक रूप मे उपलब्ध होती हैं। इसके अनेक लोकप्रिय सस्करण सस्कृत गद्य-पद्य मे मिलते हैं। शिवदास रचित 'पचविंशति' मे कथाएँ अधिकतर गद्य मे वर्णित हैं, परतु बीच बीच मे उसे श्लोको के उद्धरणो से परिपुष्ट किया गया है। जभलदत्त का सस्करण बिल्कुल गद्यात्मक है। कहानियो मे स्थल स्थल पर अतर होने पर भी यह सस्करण कश्मीरी सस्करण से विशेष मिलता है। ये कहानियाँ मनोरजक, ज्ञानवर्धक और कौतूहलजनक हैं जिनमे राजा विक्रमादित्य की अलोकसामान्य चातुरी तथा वीरता का वर्णन बडे सुदर ढग से किया गया है।

ङ सिहासन द्वात्रिंशिका (सिहासनबतीसी) भी राजा विक्रम के चरित से सबद्ध है और इसीलिये इसका नाम 'विक्रमचरित' भी है। जैन मुनि क्षेमकर का सस्करण उत्तरी वाचनिका का प्रतिनिधि माना जाता है जिसके ऊपर बगाली सस्करण आश्रित है। दक्षिण भारत मे ये ही कहानियाँ 'विक्रमचरित' नाम से प्रख्यात हैं। डा० हर्टेल की दृष्टि मे जैन विवरण ही मूल ग्रथ के समीप आता है, परतु डा० एड्गर्टन के विचार से दक्षिणी वाचनिका ही मौलिक तथा प्राचीनतर है। दोनो सस्करण १३वी शती से प्राचीन नही हो सकते, क्योकि दोनो मे हेमाद्रि (१३ शतक) के 'दानखड' का उल्लेख मिलता है।

च शुकसप्तति––की कहानियाँ कम रोचक नही हैं जिनमे कोई सुग्गा अपने गृहस्वामी के परदेश चले जाने पर परपुरुषो के आकर्षणजाल से अपनी स्वामिनी को बचाता है। इसकी विस्तृत वाचनिका के लेखक कोई चितामणि भट्ट हैं जिनका समय १२ शतक से पूर्ववर्ती होना चाहिए, क्योकि उन्होने इस ग्रथ मे पूर्णभद्र के द्वारा सस्कृत 'पचतत्र' का स्थान स्थान पर उपयोग किया है।

इन कथाओ के अतिरिक्त अनेक जैन तथा बौद्ध कहानियो के सग्रह उपलब्ध है। जैन लोग कहानियो की रचना मे बडे पटु थे और इस साहित्यिक काव्यरूप को उन्होने अपने धर्मप्रचार का समर्थ साधक बनाया था। भरटक द्वात्रिंशिका तथा कथारत्नाकर की कहानियाँ इसी कोटि की हैं। 'जैन प्रबंधो' मे भी लोकप्रिय कहानियाँ खोजी जा सकती हैं। बौद्ध साहित्य में कथा-साहित्य का एक विशाल सग्रह है जो 'अवदानो' के नाम से प्रख्यात है (देखिए 'अवदान')। मध्ययुग में भी कहानियो की रचना होती रही है। ऐसी कहानियो का मध्ययुगीन सग्रह मैथिलकोकिल विद्यापति (१४वी शती) के मनोरम ग्रथ 'पुरुषपरीक्षा' में उपलब्ध होता है। इस प्रकार सस्कृत का कथा साहित्य नाना ग्रथो मे अपना वैभव बिखेर रहा है तथा अपने प्रभाव से विश्व के शिष्ट साहित्य को अपना अनवरत ऋणी बना रहा है।

भारतीय कहानियो की विदेशयात्रा—सस्कृत का कथासाहित्य और विशेषत पचतत्र, भारत की विश्वसाहित्य को देन है। ये कहानियाँ भारत के निवासियो का ही शिक्षण और मनोरजन नही करती, प्रत्युत विश्व के सभ्य साहित्य का अग बनकर नाना देशो के निवासियो का भी मनोरजन करती हैं। भारतीय कथा की विदेशयात्रा की यह रामकहानी बडी ही रोचक तथा शिक्षाप्रद है। फारस के प्रसिद्ध सम्राट् खुसरो नौशेरवाँ (५३१ ई०–५७९ ई०) के राज्यकाल मे पचतत्र की कहानियाँ पहलवी भाषा (पुरानी) में प्रथमत ५३३ ई० में अनूदित की गईं। अनुवादक का नाम था हकीम बुरजोई। प्रथम तत्र के शृगालबधुओ—करटक और दमनक—के नाम पर यह अनुवाद 'कलेलाह–व–दिमनाह' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ५६० ई० मे 'बुद' नामक एक ईसाई सत ने इस पहलवी अनुवाद को सीरियक भाषा मे रूपातरित किया। ७५० ई० में सीरियन से अरबी अनुवाद करने का श्रेय प्राप्त है 'अब्दुल्ला-बिन-अलमुकफ्फा' को, जो स्वय तो मुसलमान था, परतु जिसका पिता पारसी था। इस अनुवाद के भी अनेक अनुवाद लैटिन, ग्रीक, स्पेनिश, इतालीय, जर्मन तथा अग्रेजी भाषाओ मे भिन्न भिन्न शताब्दियों में होते रहे और इस प्रकार ये कहानियाँ १६वी शती से पूर्व ही यूरोप के विभिन्नदेशो मे घर कर गईं। उन देशो के निवासियो को इनके भारतीय होने का तनिक भी भान नही था। ये 'विदापई' की कहानियो क नाम से सर्वत्र विख्यात हो गईं। यूनान के प्रख्यात कथासग्रह 'ईसप फेबुल' तथा अरब की मनोरजक कहानियो (अलिफलैला) की आधारभूत ये ही भारतीय कथाएँ हैं। यूरोप तथा अरब के निवासी इन्हे अपने साहित्य की निधि मानते थे। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि भगवान् बुद्ध ईसाई सतो की श्रेणी में विराजने लगे। यूरोप के मध्ययुग की एक विख्यात कहानी थी—बरलाम और जोजेफ की कहानी जिसमे जोजेफ ने अपने उपदेशो से बरलाम नामक राजा को ईसाई मत मे दीक्षित कर लिया। इसमें जोजेफ नाम 'बुदसफ' के रूप मे 'बोधिसत्व' का ही अपभ्रश है और जोजेफ स्वय बुद्ध ही है। यह कम आश्चर्य की बात नही है कि इन्ही कहानियो की कृपा से बुद्ध अपने से विरोधी धर्म के मान्य सत के रूप में ईसाई धर्म मे विराजते हैं।

यह तो हुई मध्ययुग मे भारतीय कथाओ की पश्चिमी देश की यात्रा। इससे भी पहले सुदूर प्राचीन काल में भी हिब्रू (यहूदी) लोगो को इन कहानियो का परिचय मिल चुका था। 'सुलेमान का न्याय' (सालोमस जजमेट) के नाम से प्रसिद्ध कहानी का मूल भी भारतीय है। बाइबिल की अनेक कथाएँ मूलत भारतीय हैं। प्रसिद्ध यूनानी सम्राट् सिकदर के विषय की वह लोकप्रिय कहानी भी भारतीय ही है जिसमे उसकी माता के तीव्र पुत्रशोक को कम करने के लिये किसी तत्ववेत्ता ने ऐसे घर से सरसो लाने को कहा था जहाँ किसी की कभी मृत्यु नही हुई थी। ऐसी सरसो की खोज मे निराश होने पर ही उस वृद्ध को देह की नश्वरता की व्यावहारिक शिक्षा मिली थी। यह कथा भी भगवान् बुद्ध द्वारा 'किसा गोतमी' (कृशा गौतमी) को दिए गए उपदेश को प्रतिध्वनित करती है। इतना ही नही, षष्ठ शती से पूर्व ही ये भारतीय कथाएँ चीन देश के दो अत्यत प्राचीन विश्वकोशो में अनूदित की गई उपलब्ध होती हैं। फलत समस्त सभ्य ससार के लोग प्राचीन तथा मध्ययुग मे इन भारतीय कहानियो से आनद उठाते थे और अपने जीवन को सुखमय बनाते थे। मध्ययुग का एक प्रख्यात कथाचक्र था जो इटली देश के कवि पेत्रार्क के विश्वविश्रुत कथाग्रथ 'डेकामेरॉं' में आज भी सुरक्षित है। आलोचको से यह बात परोक्ष नही है कि शेक्सपियर के अनेक नाटको की कथावस्तु इसी रोचक ग्रथ से गृहीत है। डेकामेरॉं की अधिकाश कहानियाँ भारतवर्ष की कहानियो का किंचित् परिवर्धित तथा परिवर्तित रूप हैं। 'शुकसप्तति' की कहानियाँ भी फारस मे बहुत ही प्रख्यात और लोकप्रिय थी। १३२९–३० मे हाफिज और सादी के समकालीन एक लेखक ने 'तूतीनामा' के नाम से फारसी में इसका अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका तुर्की भाषा में अनुवाद सौ वर्ष के भीतर ही किया गया। १८वी शती में कादिरी नामक लेखक ने इसका नया अनुवाद तैयार किया। इस फारसी अनुवाद की बहुत-सी कहानियाँ यूरोप मे फैल गईं। जर्मनी के प्रसिद्ध प्राच्यविद् डा० थिओ-डोर बेनफी ने बडे अध्यवसाय से भारतीय कहानियो की इस यात्रा का सागोपाग विवरण प्रस्तुत किया है। फलत विश्वसाहित्य को भारतवर्ष की देनो मे कथाओ की देन बडी ही व्यापक, रोचक तथा लोकप्रिय है।

स० ग्र०—मूल ग्रथ पूर्णभद्र का पचतत्र सपादक डा० हर्टेल, हार्वर्ड ओरिएटल सीरीज़ (ग्र० स० ११), तत्राख्यायिका उसी सीरीज़ में १३वाँ ग्रथ, हार्वर्ड (अमरीका), शिवदास की 'वेताल पचविंशति' स० हाइन-रिश ऊली, लाइपज़िग, १८८४, जभलदत्त की वेतालपचविंशति स० एमेनाड, मूल तथा अग्रेजी अनुवाद, १९३४, विक्रमचरित स० एड्गर्टन, हा० ओ० सी०, १९२६, शुकसप्तति डा० स्मिड, मूल तथा जर्मन अनुवाद, लाइपज़िग, १८९३ तथा १८९८।

विवेचक ग्रथ—कीथ हिस्ट्री ऑव क्लासिकल सस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड, इसका हिंदी अनुवाद, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६०, दासगुप्त और दे हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता, बलदेव उपाध्याय सस्कृत साहित्य का इतिहास (षष्ठ स०) काशी, १९६०, (ब० उ०)

कदपानल्लूरुह

मद्रास राज्य मे, तिनेवेली जिले के तेनकासी ताल्लुक का एक प्रमुख कस्बा है। इसकी स्थिति ९° ४' उ० अ० तथा १७° २०' पू० दे० है। सन् १९०१ ई० तक इस कस्बे की जनसख्या केवल १३,१३९ थी, जो सन् १९५१ ई० में बढकर ३८,०६० हो गई।

प्रारभ से ही यह कस्बा अपने हथकरघा उद्योग के लिये जनपद मे प्रसिद्ध रहा है। यहाँ कपडा बुनने का काम जुलाहो द्वारा होता है पहले इस कस्बे का प्रबध एक पचायत सघ द्वारा होता था, परतु अब एक छोटी नगरपालिका इसका स्वायत्त शासन देखती है। [ब० प्र० रा०]

कद्रू (कद्रु)

दक्ष प्रजापति की कन्या, महर्षि कश्यप की पत्नी। पौराणिक इतिवृत्त है कि एक बार महर्षि कश्यप ने कहा, 'तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो'। कद्रू ने एक सहस्र तेजस्वी नागो को पुत्र रूप मे माँगा (म० भा० आदि १६–८)। श्वेत उच्चैः श्रवा घोडे की पूँछ के रग को लेकर कद्रू तथा विनता मे विवाद छिडा। कद्रू ने उसे काले रग का बताया। हारने पर दासी होने की शर्त ठहरी। कद्रू ने अपने सहस्र पुत्रो को आज्ञा दी कि वे काले रग के बाल बनकर पूँछ में लग जायँ। जिन सर्पो ने उसकी आज्ञा नही मानी उन्हें उसने शाप दिया कि पाडववशी बुद्धिमान् राजर्षि जनमेजय के सर्पसत्र में प्रज्वलित अग्नि उन्हें जलाकर भस्म कर देगी। शीघ्रगामिनी कद्रू विनता के साथ उस समुद्र को लाँघकर तुरत ही उच्चैः-श्रवा घोडे के पास पहुँच गई। श्वेतवर्ण के महावेगशाली अश्व की पूँछ के घनीभूत काले रग को देखकर विनता विषाद की मूर्ति बन गई और उसने कद्रू की दासी होना स्वीकार किया। कद्रू, विनता तथा कद्रू के पुत्र गरुड की पीठ पर बठकर नागलोक देखने गए। गरुड इतनी ऊँचाई पर उडे कि सर्प सूर्य ताप से मूर्छित हो उठे। कद्रू ने मेघवर्षा के द्वारा तापशमन करने के लिये इद्र की स्तुति की। [च० भा० पा०]

कनकमुनि

गौतमबुद्ध के पूर्ववर्ती एक बुद्ध। प्राचीन बौद्ध साहित्य में गौतमबुद्ध के छ पूर्ववर्ती बुद्धो अथवा तथागतो मे इनका उल्लेख मिलता है। महावस्तु, कर्मविभग आदि कुछ ग्रथो मे इनका कोनाकमुनि अथवा कोनाकमन के नाम से भी उल्लेख किया गया है। इनका नाम, बौद्ध विश्वास के अनुसार, कनकमुनि इसलिये पडा कि इनके जन्म के समय जबूद्वीप भर मे स्वर्णवर्षा हुई थी। इनका जन्मस्थान सोदवती था। इनके पिता सैन्यदत्त और माता उत्तरा थी। अपने पुत्र के जन्म के पश्चात् ये अपने तीस हजार अनुयायियो के साथ राज्य छोडकर चल पडे और इन्होने भिक्षुधर्म स्वीकार कर लिया। कुछ काल की तपस्या

के पश्चात् इन्हे वोधि अथवा ज्ञान प्राप्त हो गया। इन्होने गौतमबुद्ध के आविर्भाव के विषय मे भी भविष्यवाणी की थी। ये प्रागैतिहासिक युग के माने जाते हैं। मेजर फोर्ब्स ने गौतमबुद्ध के पूर्ववर्ती तीन बुद्धो का काल-निर्धारण करने का प्रयत्न किया है (जर्नल आव एशियाटिक सोसाइटी, जून, १८३६)। उनके अनुसार ऋकुच्छद ३१०१ ई० पू० बुद्ध हुए थे। इस कालगणना के अनुसार कनकमुनि ने २०९९ ई० पू० और काश्यप ने १०१४ ई० पू० बुद्धत्व की प्राप्ति की थी। किंतु स्वाभाविक ही यह सर्वसमत मत नही है। कनकमुनि का **मजुश्रीमूलकल्प, दिव्यावदान, महावस्तु, लकावतार, ललितविस्तर, कर्मविभग** आदि अनेक प्राचीन वौद्ध ग्रथो मे अन्य तथागतो, विशेष रूप से, ऋकुच्छद और काश्यप के साथ, उल्लेख हुआ है। [रा० श० मि०]

कनपेड़ (कर्णफेर, गलसुआ अथवा मम्प्स) एक सक्रामक रोग है, जो पाव्य विषाणु (छन सकने योग्य विषाणु, filterable virus) के कारण होता है। वैसे तो यह रोग किसी भी अवस्था के मनुष्य को हो सकता है, किंतु वालको मे यह अधिक होता है। इस रोग मे कान के आगे तथा नीचेवाली कर्णमूल-ग्रथियाँ (पैरोटिड ग्लैड्स, parotid glands) सूज जाती है। रोगी को १०१°-१०२° फा० ज्वर हो जाता है। कभी कभी ताप १०४°–१०५° फा० भी हो जाता है। परतु साधारणत ज्वर का ताप १०२° फा० रहता है। ज्वर प्राय एकाएक होता है या शीत-कपन से आरभ करके। रोगी की कर्णमूल ग्रथियो पर और मुख के भीतर लाली हो जाती है। उसे सिर पीडा, निर्वलता और अरुचि भी हो जाती है। वह वेचैनी मे अडवड वकने लगता है। गले मे सूजन होने के कारण ग्रीवा को घुमाने और खाद्य पदार्थ चवाने, मे पीडा होती है। सामान्यत पहले एक पार्श्व की ग्रथियो मे सूजन होती है और एक आध दिन के उपरात दूसरे पार्श्व मे भी सूजन हो जाती है, अथवा दोनो ओर साथ ही साथ सूजन आरभ होती है। ज्वर तथा सूजन की तीव्रता तीन चार दिन तक रहती है और एक सप्ताह मे रोगी ठीक हो जाता है।

रोग का उद्भवनकाल (इनक्यूवेशन पीरियड, incubation period) साधारणत २१ दिन का होता है, किंतु कभी कभी यह अवधि घटकर केवल १४ दिन की या वढकर ३५ दिन तक की भी हो जाती है। कनपेड प्राय रोगी की नाक के स्राव, राल या थूक से वायु द्वारा फैलता है। यह अति सक्रामक रोग है। स्कूलो, छात्रावासो तथा सैनिक छावनियो मे तीव्रता से फैलता है। इस रोग मे सवसे अच्छी वात यह होती है कि ग्रथियो मे पूयस्राव नही होता और इससे मृत्यु भी नही होती।

इसका सक्रमणकाल २१ दिन है। अत वच्चो को स्कूल, अथवा युवको को कालेज या विश्वविद्यालय, या अपने काम पर, रोग प्रारभ होने से तीन सप्ताह तक नही जाना चाहिए। घर मे एक वच्चे को रोग हो जाने पर माँ की असावधानी से परिवार के प्राय सव वच्चे इससे पीडित हो जाते हैं। यह रोग शीतकाल मे अधिक होता है।

उपद्रव—वृषणशोथ (आरकाइटिस, Architis), डिंवशोथ, अग्न्याशयशोथ (पैंक्रिऐटाइटिस, Pancreatitis) मूत्र मे ऐल्व्युमिन और मेनिनजीज (meninges) का प्रदाह (सूजन) हो जा सकता है।

चिकित्सा—रोग के प्रारभ मे मुख की स्वच्छता का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। रोगी का विस्तर गर्म रखना चाहिए और जव तक सूजन दूर न हो जाय हल्का भोजन, दूध, चाय और फल का रस देना चाहिए। ए० पी० सी० नामक टिकिया (टैवलेट) दिन मे तीन वार, या सल्फाडाइजीन टिकिया दिन मे चार वार देना लाभदायक है। इकथिआल-वेलाडोना–ग्लिसरीन (Ichthyol-belladona-glycerine) का सूजन पर लेप करना, उसपर गरम घी लगा रेड का पत्ता रखकर और उसके ऊपर रूई रखकर वाँध देना भी वहुत हितकर है। [क० दे० व्या०]

कनफूशस् इतिहासकार **स्जेमा चिएन** के मतानुसार कनफूशस् का जन्म ५५० ई० पू० मे हुआ। उनका जातीय नाम **कुग** था। **कुग** फूत्से का लातीनी स्वरूप ही कनफूशस् है जिसका अर्थ होता है "दार्शनिक कुग"। वर्तमान **शातुग** कहलानेवाले प्राचीन **लू** प्रदेश का वह निवासी था, और उसका पिता **शू-लियागहीह त्साऊ** जिले का सेनापति

था। कनफूशस् का जन्म अपने पिता की वृद्धावस्था मे हुआ जो उसके जन्म के तीन वर्ष के उपरात ही स्वर्गवासी हो गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका परिवार वडी कठिन परिस्थितियो मे फँस गया, जिससे उसका वाल्यकाल वडी ही आर्थिक विपन्नता मे व्यतीत हुआ। परतु उसने अपनी इस निर्धनता को ही आगे चलकर अपनी विद्वत्ता तथा विभिन्न कलाओ मे दक्षता का कारण वनाया। जव वह केवल पाँच वर्ष का था तभी से अपने साथियो के साथ जो खेल खेलता उसमे धार्मिक सस्कारो तथा विभिन्न कलाओ के प्रति उसकी अभिरुचि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती थी। १९ वर्ष की अवस्था मे **सुग** नामक प्रदेश की एक कन्या से उसका विवाह हो गया। विवाह के दूसरे वर्ष उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ और उसके पश्चात् दो कन्याएँ। विवाह के थोडे ही दिन पश्चात् **त्साऊ** नामक जिले के स्वामी के यहाँ, जो की जाति का प्रधान था, उसे नौकरी मिल गई।

२२ वर्ष की अवस्था मे कनफूशस् ने एक विद्यालय की स्थापना की। इसमे ऐसे युवक और प्रौढ शिक्षा ग्रहण करते थे, जो सदाचरण एव राज्य-सचालन के सिद्धातो मे पारगत होना चाहते थे। अपने शिष्यो से वह यथेष्ट आर्थिक सहायता लिया करता था। परतु कम से कम शुल्क दे सकनेवाले विद्यार्थी को भी वह अस्वीकार नही करता था, किंतु साथ ही ऐसे शिक्षार्थियो को भी वह अपने शिक्षाकेंद्र मे नही रखता था जिनमे शिक्षा और ज्ञान के प्रति अभिरुचि तथा वौद्धिक क्षमता नही होती थी। ५१७ ई० पू० मे दो **सिअन** युवक अपने जातीय प्रधान के मृत्युकालीन आदेश के अनुसार कनफूशस् की शिष्यमडली में समिलित हुए। उन्ही के साथ वह राजधानी गया, जहाँ उसने राजकीय पुस्तकालय की अमूल्य पुस्तको का अवलोकन किया और तत्कालीन राजदरवार मे प्रचलित उच्च कोटि के सगीत का अध्ययन किया। वहाँ उसने कई वार ताओवाद के प्रवर्तक **लाओत्से** से भेट की और उससे वहुत प्रभावित भी हुआ।

जव कनफूशस् लौटकर **लू** प्रदेश मे आया तो उसने देखा प्रदेश मे वडी अराजकता उत्पन्न हो गई है। मन्त्रियो से झगडा हो जाने के कारण उक्त प्रदेश का सामत भागकर पडोस के **त्सी** प्रदेश मे चला गया है। कनफूशस् को ये सव वाते रुचिकर नही लगी और वह भी अपनी शिष्यमडली के साथ **त्सी** प्रदेश को चल दिया। कहा जाता है, जव वे लोग एक पर्वत के वीच से जा रहे थे तव उन्हे वहाँ एक स्त्री दिखाई दी जो किसी कब्र के पास वैठी विलाप कर रही थी। कारण पूछने पर उसने वताया कि एक चीते ने वहाँ पर उसके श्वसुर को मार डाला था, इसके वाद उसके पति की भी वही दशा हुई और अव उसके पुत्र को चीते ने मार डाला है। इसपर उस स्त्री से यह प्रश्न किया गया कि वह ऐसे वन्य तथा भयकर स्थान मे क्यो रहती है तो उसने उत्तर दिया कि उस क्षेत्र मे कोई दमनकारी सरकार नही है। इसपर कनफूशस् ने अपने शिष्यो को वताया कि क्रूर एव अनुत्तरदायी सरकार चीते से भी अधिक भयानक होती है।

कनफूशस् को **त्सी** मे भी रहना नही रुचा। वहाँ के शासक के दरवारियो ने उसकी वडी आलोचना की, उसे अगणित विचित्रताओ से भरा हुआ अव्यावहारिक तथा आत्माभिमानी मनुष्य वताया, फिर भी वहाँ का शासक सामत उसका वहुत आदर करता था और उसने उसे राजकीय आय का वहुत वडा भाग समर्पित करने का प्रस्ताव किया। किंतु कनफूशस् ने कुछ भी लेना स्वीकार न किया और स्पष्ट रूप से कह दिया कि यदि उसके परामर्शो पर राज्य का सचालन न किया गया तो उसे किसी भी प्रकार की सहायता या प्रतिष्ठा स्वीकृत न होगी। असतुष्ट मन से वह **लू** प्रदेश को पुन लौट आया और लगभग १५ वर्ष तक एकात जीवन व्यतीत करता हुआ स्वाध्याय मे दत्त-चित्त रहा। ५२ वर्ष की अवस्था मे उसे **चुगतू** प्रदेश का मुख्य न्यायाधीश वना दिया गया। उसके इस पद पर आते ही जनता के व्यवहार मे आश्चर्य-जनक सुधार दिखाई देने लगा। तत्कालीन सामत शासक ने, जो विगत भागे हुए सामत का छोटा भाई था, कनफूशस् को अधिक उच्च पद प्रदान किया और अत मे उसे अपराध विभाग का मत्री नियुक्त कर दिया। इसी समय उसके दो शिष्यो को भी उच्च एव प्रभावशाली पद प्राप्त हो गए। अपने इन शिष्यो की सहायता से कनफूशस् ने जनता के आचार एव व्यवहार मे वहुत अधिक सुधार किया। शासन का जैसे कायापलट हो गया, वेईमानी और पारस्परिक अविश्वास दूर हो गए। जनता मे उसका वडा आदर समान होने लगा और वह सवका पूज्य वन गया।

कनफूशस् के इस बढते हुए प्रभाव से त्सी के सामत और उसके मत्रिगण आतकित हो उठे। उन्होने सोचा कि यदि कनफूशस् इसी प्रकार अपना कार्य करता रहा तो सपूर्ण राज्य मे लू प्रदेश का प्रभाव सर्वाधिक हो जायगा और त्सी प्रदेश को बडी क्षति पहुँचेगी। पर्याप्त विचारविमर्श के पश्चात् त्सी के मत्रियो ने सगीत एव नृत्य मे कुशल अत्यत सुदर तरुणियो का एक दल लू प्रदेश को भेजा। यह चाल चल गई। लू की जनता ने इन विलासिनी रमणियो का खूब स्वागत किया। जनता का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट होने लगा और उसने सत कनफूशस् के परामर्शो तथा आदर्शो की अवहेलना आरभ कर दी। कनफूशस् को इससे बडा खेद हुआ और उसने लू प्रदेश छोड देने का विचार किया। सामत भी उसकी अवहेलना करने लगा। किसी एक बडे बलिदान के पश्चात् मास का वह भाग कनफूशस् के पास नही भेजा जो उसे नियमानुसार उसके पास भेजना चाहिए था। कनफूशस् को राज्यसभा छोड देने का यह अच्छा अवसर मिला और वह धीरे धीरे वहाँ से अलग होकर चल दिया। यद्यपि वह बडे बेमन से जा रहा था और यह आशा करता था कि शीघ्र ही सामत की बुद्धि सन्मार्ग पर आ जायगी और वह उसे वापस बुला लेगा किंतु ऐसा हुआ नही और इस महात्मा को अपने जीवन के ५६वे वर्ष म इधर उधर विभिन्न प्रदेशो मे भटकने के लिये चल देना पडा।

१३ वर्ष तक कनफूशस् विभिन्न प्रदेशो का भ्रमण इस आशा से करता रहा कि उसे कोई ऐसा सामत शासक मिल जाय जो उसे अपना मुख्य परामर्शदाता नियुक्त कर ले और उसके परामर्शो पर शासन का सचालन करे जिससे उसका प्रदेश एक सार्वदेशिक सुधार का केद्र बन जाय, किंतु उसकी सारी आशाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई। शासकगण उसका समान करते थे, उसको प्रतिष्ठा एव आदर समान तथा राजकीय सहायता देने के लिये उद्यत थे, किंतु कोई उसके परामर्शो को मानने और अपनी कायप्रणाली मे परिवर्तन करने के लिये तैयार न था। इस प्रकार १३ वर्ष भ्रमण करने के पश्चात् अपन जीवन के ७९ वे वर्ष में कनफूशस् फिर से लू प्रदेश मे वापस लौट आया। इसी समय उसका एक शिष्य एक सैनिक अभियान मे सफल हुआ और उसने प्रदेश के महामत्री को बताया कि उसने अपने गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा और ज्ञान के आधार पर ही उक्त सफलता प्राप्त की। इस शिष्य ने महामत्री से कनफूशस् को पुन उसका पद प्रदान करने की प्रार्थना की और वह मान भी गया, किंतु कनफूशस् ने दुबारा राजकीय पद ग्रहण करना स्वीकार नही किया और अपने जीवन के अतिम दिनो को अपनी साहित्यिक योजनाओ की पूर्ति तथा शिष्यो को ज्ञानदान करने मे लगा देना उसने अधिक श्रेयस्कर समझा। ४८२ ई० पू० मे उसके पुत्र का स्वर्गवास हो गया, किंतु जब ४८१ ई० पू० मे उसके अत्यत प्रिय शिष्य **येनह्यइ** की मृत्यु हो गई तब वह बहुत ही शोकाकुल हुआ। उसके एक और शिष्य **त्जे लू** की भी मृत्यु कुछ समय पश्चात् हो गई। एक दिन प्रात काल वह अपने द्वार पर टहलते हुए कह रहा था

> **ऊँचा पर्वत अब नीचे गिरेगा**
> **मजबूत शहतीर टूटनेवाली है**
> **बुद्धिमान मनुष्य भी पौधे के समान नष्ट हो जायँगे।**

उसका शिष्य **त्जे कुग** यह सुनकर तुरत उसके पास आया। कनफूशस् न उससे कहा कि पिछली रात मैंने एक स्वप्न देखा है, जिससे मुझे सकेत मिला कि मेरा अत अब निकट है। उसी दिन से कनफूशस् ने शैया ग्रहण की और सात दिन पश्चात् वह महात्मा इस लोक से विदा हो गया। उसके अनुयायियो ने बडी धूमधाम से उसके शरीर को समाधिस्थ किया। उनम से बहुत से तीन वर्ष तक उसी स्थान पर शोकप्रदर्शन के लिये बैठे रहे और उसका सर्वप्रिय शिष्य **त्ये कुग** तो अगले तीन वर्ष भी उसी स्थान पर जमा रहा। कनफूशस् की मृत्यु का समाचार सभी प्रदेशो मे फैल गया और जिस महापुरुष की उसके जीवनकाल मे इतनी अवहेलना की गई थी, मृत्यु के उपरात वह सर्वप्रशसा और आदर का पात्र बन गया। **कुइफाउ** नगर के बाहर **कुग** समाविस्थल से अलग कनफूशस् की समाधि अब भी विद्यमान है। समाधि के सामने सगमर्मर का एक चौखटा लगा हुआ है जिसपर यह अभिलेख अकित है

प्राचीन महाज्ञानी सतगुरु, सपूर्ण विद्याओ में पारगत, सर्वज्ञ नराधिप।

कनफूशस् की रचनाएँ—कनफूशस् ने कभी भी अपने विचारो को लिखित रूप देना आवश्यक नही समझा। उसका मत था कि वह विचारो का वाहक हो सकता है, उनका स्रष्टा नही। वह पुरातत्व का उपासक था, क्योकि उसका विचार था कि उसी के माध्यम से यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। उसका कहना था कि मनुष्य को उसके समस्त कार्यकलापो के लिये नियम अपने अदर ही प्राप्त हो सकते है। न केवल व्यक्ति के लिये वरन् सपूर्ण समाज के सुधार और सही विकास के नियम और स्वरूप प्राचीन महात्माओ के शब्दो एव कार्यशैलियो मे प्राप्त हो सकते है। कनफूशस् ने ऐसा कोई लेख नही छोडा जिसमे उसके द्वारा प्रतिपादित नैतिक एव सामाजिक व्यवस्था के सिद्धातो का निरूपण हो। किंतु उसके पौत्र **त्जे स्जे** द्वारा लिखित **'औसत का सिद्धात'** (अग्रेजी अनुवाद, **डाक्ट्रिन ऑव द मीन**) और उसके शिष्य **त्साँग सिन** द्वारा लिखित **'महान् शिक्षा'** (अग्रेजी अनुवाद **दि ग्रेट लर्निंग**) नामक पुस्तको मे तत्सबधी समस्त सूचनाएँ प्राप्त होती है। **'बसत और पतझड'** (अग्रेजी अनुवाद, **स्प्रिग ऐंड आटम**) नामक एक ग्रथ, जिसे लू का इतिवृत्त भी कहते है, कनफूशस् का लिखा हुआ बताया जाता है। यह समूची कृति प्राप्त है और यद्यपि बहुत छोटी है तथापि चीन के सक्षिप्त इतिहासो के लिये आदर्श मानी जाती है।

शिष्य मडली—कनफूशस् के शिष्यो की सख्या सब मिलाकर प्राय तीन हजार तक पहुँच गई थी, किंतु उनमे से ७५ के लगभग ही उच्च कोटि के प्रतिभाशाली विद्वान् थे। उसके परम प्रिय शिष्य उसके पास ही रहा करते थे। वे उसके आसपास श्रद्धापूर्वक उठते बैठते थे और उसके आचरण की सूक्ष्म विशेषताओ पर ध्यान दिया करते थे तथा उसके मुख से निकली वाणी के प्रत्येक शब्द को हृदयगम कर लेते और उसपर मनन करते थे। वे उससे प्राचीन इतिहास, काव्य तथा देश की सामाजिक प्रथाओ का अध्ययन करते थे।

सामाजिक और राजनीतिक विचार—कनफूशस् का कहना था कि किसी देश मे अच्छा शासन और शाति तभी स्थापित हो सकती है जब शासक, मत्री तथा जनता का प्रत्येक व्यक्ति अपन स्थान पर उचित कर्तव्यो का पालन करता रहे। शासक को सही अर्थो मे शासक होना चाहिए, मत्री को सही अर्थो मे मत्री होना चाहिए। कनफूशस् से एक बार पूछा गया कि यदि उसे किसी प्रदेश के शासनसूत्र के सचालन का भार सौंपा जाय तो वह सबसे पहला कौन सा महत्वपूर्ण कार्य करेगा। इसके लिये उसका उत्तर था—'नामो मे सुधार'। इसका आशय यह था कि जो जिस नाम के पद पर प्रतिष्ठित हो उसे उस पद से सलग्न सभी कर्तव्यो का विधिवत् पालन करना चाहिए, जिससे उसका वह नाम सार्थक हो। उसे उदाहरण और आदर्श की शक्ति मे पूर्ण विश्वास था। उसका विश्वास था कि आदर्श व्यक्ति अपने सदाचरण से जो उदाहरण प्रस्तुत करते है आम जनता उसके सामने निश्चय ही झुक जाती है। यदि किसी देश के शासक को इसका भली भाँति ज्ञान करा दिया जाय कि उसे शासन कार्य चलाने मे क्या करना चाहिए और किस प्रकार करना चाहिए तो निश्चय ही वह अपना उदाहरण प्रस्तुत करके आम जनता के आचरण मे सुधार कर सकता है, और अपने राज्य को सुखी, समृद्ध एव सपन्न बना सकता है। इसी विश्वास के बल पर कनफूशस् ने घोषणा की थी कि यदि कोई शासक बारह महीने के लिये उसे अपना मुख्य परामर्शदाता बना ले तो वह बहुत कुछ करके दिखा सकता है और यदि उसे तीन वर्ष का समय दिया जाय तो वह अपने आदर्शो और आशाओ को मूर्त रूप प्रदान कर सकता है।

कनफूशस् ने कभी इस बात का दावा नही किया कि उसे कोई दैवी शक्ति या ईश्वरीय सदेश प्राप्त होते थे। वह केवल इस बात का चितन करता था कि व्यक्ति क्या है और समाज मे उसके कर्तव्य क्या है। उसने शक्तिप्रदर्शन, असाधारण एव अमानुषिक शक्तियो, विद्रोह प्रवृत्ति तथा देवी देवताओ का जिक्र कभी नही किया। उसका कथन था कि बुद्धिमत्ता की बात यही है कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण उत्तरदायित्व और ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन करे और देवी देवताओ का आदर करते हुए भी उनसे अलग रहे। उसका मत था कि जो मनुष्य मानव की सेवा नही कर सकता वह देवी देवताओ की सेवा क्या करेगा। उसे अपने और दूसरो के सभी कर्तव्यो का पूर्ण ध्यान था, इसीलिये उसने कहा था कि बुरा आदमी कभी भी शासन करने के योग्य नही हो सकता, भले ही वह कितना भी शक्तिसपन्न हो। नियमो का उल्लघन करनेवालो को तो शासक दड देता ही है,

कबीर (देखें पृष्ठ ३४६)

मध्यकालीन सत कबीर कपडे को बुनाई करते हुए

(काशी नागरीप्रचारिणी सभा के सौजन्य से प्राप्त)

कनिष्क (देखे पृ० ३३१)

कनिष्क की एक कुषाणकालीन मूर्त्ति
(मथुरा संग्रहालय से)

परन्तु उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उसके सदाचरण के आदर्श प्रस्तुत करने की शक्ति से बढ़कर अन्य कोई शक्ति नहीं है।

स० ग्र०—जे० लेगी दि लाइफ ऐंड टीचिंग्स आव कनफ़ूशस् (भाग १), आर० के० डगलस कनफ़ूशनिज़्म ऐंड ताओइज़्म, एच० ए० गाइल्स कनफ़ूशनिज़्म इन दि नाइंटीथ सेंचुरी, डब्ल्यू० ई० सूथिल दि एनालेक्ट्स आव कनफ़ूशस्, एन० एम० डासन दि एथिक्स आव कनफ़ूशस्, डब्ल्यू० जे० क्लेनेल दि हिस्टारिकल डेवलपमेंट आव रिलीजन इन चाइना, लिन यू तांग दि विज़डम आव कनफ़ूशस्।

[श्री० स०]

कनफ़ूशीवाद

कनफ़ूशस् के दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों पर आधारित मत को कनफ़ूशीवाद या कुंगफ़ुत्सीवाद, नाम दिया जाता है। कनफ़ूशस् के मतानुसार भलाई मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य को यह स्वाभाविक गुण ईश्वर से प्राप्त हुआ है। अत इस स्वभाव के अनुसार कार्य करना ईश्वर की इच्छा का आदर करना है और उसके अनुसार कार्य न करना ईश्वर की अवज्ञा करना है। कनफ़ूशीवाद के अनुसार समाज का सगठन पाँच प्रकार के सबधो पर आधारित है (१) शासक और शासित, (२) पिता और पुत्र, (३) ज्येष्ठ भ्राता और कनिष्ठ भ्राता, (४) पति और पत्नी, तथा (५) इष्ट मित्र। इन पाँच मे से पहले चार सबधो मे एक ओर आदेश देना और दूसरी ओर उसका पालन करना निहित है। शासक का धर्म आज्ञा देना और शासित का कर्तव्य उस आज्ञा का पालन करना है। इसी प्रकार पिता, पति और बडे भाई का धर्म आदेश देना है और पुत्र, पत्नी एव छोटे भाई का कर्तव्य आदेशो का पालन करना है। परतु साथ ही यह आवश्यक है कि आदेश देनेवाले का शासन औचित्य, नीति और न्याय पर आधारित हो। तभी शासित गण से भी यह आशा की जा सकती है कि वे विश्वास तथा ईमानदारी से आज्ञाओ का पालन करेंगे। पाँचवे, अर्थात् मित्रो के सबध मे पारस्परिक गुणो का विकास ही मूल निर्धारक सिद्धात होना चाहिए। जब इन सबधो के अतर्गत व्यक्तियो के रागद्वेष के कारण कर्तव्यो की अवहेलना होती है तभी एक प्रकार की सामाजिक अराजकता की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य मे अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियो का अनुसरण करने का स्वाभाविक गुण है। यदि किसी समाज मे आदर्श शासक प्रतिष्ठित हो जाय तो वहाँ की जनता भी आदर्श जनता बन सकती है। कुशल शासक अपने चरित्र का उदाहरण प्रस्तुत करके अपने राज्य की जनता का सर्वतोमुखी सुधार कर सकता है। उसके अपने चरित्रबल के प्रभाव से समस्त राज्य सुखी, समृद्ध तथा उचित सबधो का पालन करनेवाले मनुष्यो से भरपूर हो सकता है। कनफ़ूशीवाद की शिक्षा मे धर्मनिरपेक्षता का सर्वागपूर्ण उदाहरण मिलता है। कनफ़ूशीवाद का मूल सिद्धात इस स्वर्णिम नियम पर आधारित है कि "दूसरो के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम उनके द्वारा अपने प्रति किए जाने की इच्छा करते हो।"

[श्री० स०]

कनिंघम, सर एलेग्ज़ैंडर

भारतीय पुरातत्त्व, ऐतिहासिक भगोल तथा इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान्। जन्म इग्लैंड मे सन् १८१४ ई० मे। भारत मे अग्रेजी सेना मे कई उच्च पदो पर रहे और १८६१ ई० मे मेजर जनरल के पद से सेवानिवृत्त हुए। मृत्यु १८९३ ई० मे हुई।

अपने सेवाकाल के प्रारभ ही से भारतीय इतिहास मे इनकी काफी रुचि थी और इन्होने भारतीय विद्या के विख्यात शोधक जेम्स प्रिंसेप की, प्राचीन सिक्को के लेखो और खरोष्ठी लिपि के पढने मे पर्याप्त सहायता की थी। मेजर किट्टो को भी, जो प्राचीन भारतीय स्थानो की खोज का काम सरकार की ओर से कर रहे थे, इन्होने अपना मूल्यवान् सहयोग दिया। १८६२ ई० मे कनिघम को भारतीय पुरातत्व का सर्वेक्षक बनाया गया और कुछ ही वर्ष पश्चात् उनकी नियुक्ति (उत्तर भारत के) पुरातत्व-सर्वेक्षण-विभाग के महानिदेशक के रूप मे हो गई। इस पद पर वे १८८५ ई० तक रहे।

पुरातत्व विभाग के उच्च पदो पर रहते हुए कनिघम ने भारत के प्राचीन विस्मृत इतिहास के विषय मे काफी जानकारी ससार के सामने रखी। प्राचीन स्थानो की खोज और अभिलेखो एव सिक्को के सग्रहण द्वारा उन्होने भारतीय अतीत के इतिहास की शोध के लिये मूल्यवान् सामग्री जुटाई और विद्वानो के लिए इस दिशा मे काम करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। कनिघम के इस महत्वपूर्ण और परिश्रमसाध्य कार्य का विवरण पुरातत्व विषयक रिपोर्टो के रूप में, २३ जिल्दो मे, छपा जिनकी उपादेयता आज प्राय एक शताब्दी पश्चात् भी पूर्ववत् ही है।

कनिघम ने प्राचीन भारत मे आने वाले यूनानी और चीनी पर्यटको के भारतविषयक वर्णनो का अनुवाद तथा सपादन भी बडी विद्वत्ता तथा कुशलता से किया है। चीनी यात्री युवानच्वाग (७वीं सदी ई०) के पर्यटन-वृत्त का उनका सपादन, विशेषकर प्राचीन स्थानो का अभिज्ञान, अभी तक बहुत प्रामाणिक माना जाता है। १८७१ ई० मे उन्होने 'भारत का प्राचीन भूगोल' (एशेंट ज्योग्रैफी ऑव इडिया) नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी जिसका महत्व आज तक कम नही हुआ है। इस शोधग्रथ मे उन्होने प्राचीन स्थानो का जो अभिज्ञान किया था वह अधिकाश मे ठीक साबित हुआ, यद्यपि उनके समकालीन तथा अनुवर्ती कई विद्वानो ने उसके विषय मे अनेक शकाएँ उठाई थी। उदाहरणार्थ, कौशावी के अभिज्ञान के बारे मे कनिघम का मत था कि यह नगरी उसी स्थान पर बसी थी जहाँ वर्तमान कोसम (जिला इलाहाबाद) है, यही मत आज पुरातत्व की खोजो के प्रकाश मे सर्वमान्य हो चुका है। किंतु इस विषय मे वर्षो तक विद्वानो का कनिघम के साथ मतभेद चलता रहा था और अत मे वर्तमान काल मे जब कनिघम का मत ही ठीक निकला तब उनकी अनोखी सूझ बूझ की सभी विद्वानो को प्रशसा करनी पडी है।

[वि० कु० मा०]

कनिष्क

कुषाण वश का प्रमुख सम्राट् कनिष्क भारतीय इतिहास मे अपनी विजय, धार्मिक प्रवृत्ति, साहित्य तथा कला का प्रेमी होने के नाते विशेष स्थान रखता है। विम कथफिस के साथ इसका न तो कोई सबध था, और न उसकी मृत्यु के बाद ही यह सिंहासन पर बैठा। कदाचित् इन दोनो के राज्यकाल के आतरिक समय मे क्षत्रपो ने स्वतत्रता घोषित कर थोडे समय तक राज्य किया। इस सम्राट् के लेखो से प्रतीत होता है कि अपने राज्यकाल के प्रथम तीन वर्षो मे उसने उत्तरी भारत मे पेशावर से सारनाथ तक जीता और उसकी ओर से खरपल्लान और वनस्पर क्रमश महाक्षत्रप तथा क्षत्रप के रूप मे शासन कर रहे थे। कुमारलात की **कल्पनामडटीका** के अनुसार इसने भारतविजय के पश्चात् मध्य एशिया मे खोतान जीता और वहीं पर राज्य करने लगा। इसके लेख पेशावर, माणिक्याल (रावलपिंडी), सुयीविहार (बहावलपुर), जेदा (रावलपिंडी), मथुरा, कौशावी तथा सारनाथ मे मिले हैं, और इसके सिक्के सिंध से लेकर बगाल तक पाए गए हैं। कल्हण ने भी अपनी '**राजतरगिणी**' मे कनिष्क, झुष्क और हुष्क द्वारा काश्मीर पर राज्य तथा वहाँ अपने नाम पर नगर बसाने का उल्लेख किया है। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्राट् कनिष्क का राज्य कश्मीर से उत्तरी सिंध तथा पेशावर से सारनाथ के आगे तक फैला था। किवदतियो के अनुसार कनिष्क पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर अश्वघोष नामक कवि तथा बौद्ध दार्शनिक को अपने साथ ले गया था, और उसी के प्रभाव मे आकर सम्राट् की बौद्ध धर्म की ओर प्रवृत्ति हुई। इसके समय मे कश्मीर के कुडलवन विहार अथवा जालधर मे चतुर्थ बौद्ध सगीति प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वसुमित्र की अध्यक्षता मे हुई। हुएनसाग के मतानुसार सम्राट् कनिष्क की सरक्षता तथा आदेशानुसार इस सगीति मे ५०० बौद्ध विद्वानो ने भाग लिया और त्रिपिटक का पुन सकलन-सस्करण हुआ। इसके समय से बौद्ध ग्रथो के लिये सस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ और महायान बौद्ध सप्रदाय का भी प्रादुर्भाव हुआ। कुछ विद्वानो के मतानुसार गधार कला का स्वर्णयुग भी इसी समय था, पर अन्य विद्वानो के अनुसार इस सम्राट् के समय में उपर्युक्त कला उतार पर थी। स्वय बौद्ध होते हुए भी सम्राट् के धार्मिक दृष्टिकोण मे उदारता का पर्याप्त समावेश था और उसने अपनी मुद्राओ पर यूनानी, ईरानी, हिंदू तथा बौद्ध देवी देवताओ की मूर्तियाँ अकित करवाई, जिससे उसके धार्मिक विचारो का पता चलता है। 'एक सद् विप्रा बहुधा वदति' की वैदिक भावना को उसने क्रियात्मक स्वरूप दिया।

इतने विस्तृत साम्राज्य के शासन के लिये सम्राट् ने क्षत्रप तथा महाक्षत्रपो की नियुक्ति की जिनका उल्लेख उनके लेखो में है। स्थानीय शासन

संबंधी 'ग्रामिक' तथा 'ग्राम कूट्टक' और 'ग्रामवृद्ध पुरुष' और 'सेना संबंधी', 'दडनायक' तथा 'महादडनायक' इत्यादि अधिकारियो का भी उसके लेखो में उल्लेख है।

निश्चित रूप से कनिष्क की तिथि निर्धारित करने का प्रयास अभी भी हो रहा है। फ्लीट, केनडी इत्यादि विद्वान् इसे ५८ ई० पू० संवत् का निर्माता मानते हैं। रैप्सन, टामस तथा कुछ अन्य विद्वान् इसके अभिषेक की तिथि ७८ ई० में रखते है, और उनके अनुसार इसी सम्राट् ने शक संवत् चलाया था। मार्शल, कोनो तथा स्मिथ ने कनिष्क का राज्यकाल ई० की दूसरी शताब्दी मे रखा है और इसके अभिषेक की तिथि लगभग १२५ ई० निर्धारित की है। बेगराम में खुदाई कराने पर गिर्शमान को तीन तिथियो का लेख मिला और उन्होंने कनिष्क के शासनकाल का प्रथम वर्ष १४२-३ ई० मे माना है। कनिष्क ने २४ वर्ष तक राज्य किया। अफगानिस्तान मे कनिष्क का एक लेख यूनानी भाषा मे ३१ सं० का मिला। आरा में कनिष्क का ४१ सं० का एक लेख पहले मिला था। इन दोनो को कनिष्क द्वितीय ही मानना चाहिए, पर यह विषय विवादास्पद है। यदि शक संवत् का प्रवर्तक कनिष्क प्रथम ही है तो निःसंदेह उसे संवत् को प्रचलित करने का श्रेय प्राप्त है, जो प्रायः दो हजार वर्षो से भारत में राष्ट्रीय संवत् के रूप में हिंदुओं की कुंडली आदि में प्रयुक्त होता रहा है और जिसे प्रायः इसी रूप में स्वतंत्र भारतीय सरकार ने स्वीकार किया है।

सं० ग्रं०--स्टेनकोनो कारपस इंस्क्रिप्शन इंडिकेरम्, भाग २, रैप्सन कब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, भाग १, मजूमदार ऐंड पुसालकर दी एज आव इंपीरियल यूनिटी, नीलकंठ शास्त्री ए कांप्रीहेसिव हिस्ट्री आव इंडिया, गिर्शमान बेगराम, स्मिथ अर्ली हिस्ट्री आव इंडिया, बैं० पुरी कुषाणकालीन भारत (अप्रकाशित)। [बैं० पु०]

कनेक्टिकट १ नदी यह उत्तरी कनेक्टिकट झील से निकलकर वरमाट राज्य एवं न्यू हैंपशायर राज्य की सीमारेखा बनाती हुई मैसाचुसेट्स एवं कनक्टिकट राज्यो में बहती हुई लांग आइलैंड साउंड में गिरती है। इसकी लंबाई ३४५ मील तथा इसका बहाव क्षेत्र ११,०८५ वर्ग मील में है। इसकी घाटी बड़ा उत्पादक क्षेत्र है। इस नदी पर अनेक बाँध, जलविद्युत् पैदा करने के लिये, बनाए गए हैं।

२ राज्य संयुक्त राज्य, अमरीका, का एक प्रात है जिसकी स्थिति ४०° ५४' उत्तर अ० से ४२° ३, उत्तर अ० एवं ७१ ४७' पश्चिम दे० से ७३° ४३' पश्चिम दे० तक है। इसका क्षेत्रफल ५,००९ वर्गमील एवं जनसंख्या १९४० ई० मे १७,९,२४२ थी।

इसके मध्य में कनेक्टिकट नदी बहती है। इस प्रदेश की ढाल उत्तर से दक्षिण की ओर करीब २० फुट प्रति मील है तथा इसका समुद्रतट करीब १०० मील लंबा है जिसमें अनेक अच्छे बंदरगाह हैं। यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है। इस राज्य के लगभग आठ प्रति शत लोग नगरो में रहते हैं। तंबाकू यहाँ की प्रमुख खेती है। दुग्धोत्पादन, मुर्गी पालन, मछली मारना यहाँ के प्रमुख व्यवसाय हैं। [रा० वृ० सिं०]

कन्नड भाषा तथा साहित्य कन्नड तथा कर्नाटक शब्दो की व्युत्पत्ति के संबंध में यदि किसी विद्वान् का यह मत है कि 'करिदु+नाडु' अर्थात् 'काली मिट्टी का देश' से कन्नड शब्द बना है तो दूसरे विद्वान् के अनुसार 'कपितु नाडु' अर्थात् 'सुगंधित देश' से 'कन्नाड' और 'कन्नाडु' से 'कन्नड' की व्युत्पत्ति हुई है। कन्नड साहित्य के इतिहासकार आर० नरसिंहाचार ने इस मत को स्वीकार किया है। कुछ वैयाकरणो का कथन है कि कन्नड संस्कृत शब्द 'कर्नाट' का तद्भव रूप है। यह भी कहा जाता है कि 'कर्णयो अटति इति कर्नाटक' अर्थात् जो कानो में गूँजता है वह कर्नाटक है।

प्राचीन ग्रंथो में कन्नड, कर्नाट, कर्नाटक शब्द समानार्थ में प्रयुक्त हुए हैं। महाभारत में कर्नाट शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है (कर्नाटकश्च कुटाश्च पद्मजाला सतीनरा, सभापर्व, ७८, ९४, कर्नाटका महिषिका विकल्पा मूषकास्तथा, भीष्मपर्व ५८-५९)। दूसरी शताब्दी में लिखे हुए तमिल 'शिलप्पदिकारम्' नामक काव्य मे कन्नड भाषा बोलनेवालो का नाम 'करुनाडर', बताया गया है। वराहमिहिर के बृहत्संहिता, सोमदेव के 'कथा सरित्सागर' गुणाढ्य की पैशाची 'बृहत्कथा' आदि ग्रंथो मे भी कर्नाट शब्द का बराबर उल्लेख मिलता है।

अंग्रेजी में कर्नाटक शब्द विकृत होकर कर्नाटिक (Karnatic) अथवा केनरा (Canara) फिर केनरा से केनारीज़ (Canarese) बन गया है। उत्तरी भारत की हिंदी तथा अन्य भाषाओं में कन्नड शब्द के लिये कनाडी, कन्नडी, केनारा, कनारी का प्रयोग मिलता है।

आजकल कर्नाटक तथा कन्नड शब्दो का निश्चित अर्थ में प्रयोग होता है--'कर्नाटक' प्रदेश का नाम है और 'कन्नड' भाषा का।

कन्नड भाषा तथा लिपि

द्राविड भाषापरिवार की भाषाएँ पंचद्राविड भाषाएँ कहलाती हैं। किसी समय इन पंचद्राविड भाषाओं में कन्नड, तमिल, तेलुगु, गुजराती तथा मराठी भाषाएँ संमिलित थी। किंतु आजकल पंचद्राविड भाषाओं के अंतर्गत कन्नड, तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा तुलु मानी जाती है। वस्तुतः तुलु कन्नड की ही एक पुष्ट बोली है जो दक्षिण कन्नड जिले में बोली जाती है। तुलु के अतिरिक्त कन्नड की अन्य बोलियाँ हैं--कोडगु, तोड, कोट तथा बडग। कोडगु कुर्ग में बोली जाती है और बाकी तीनो का नीलगिरि जिले मे प्रचलन है। नीलगिरि जिला मद्रास राज्य के अंतर्गत है।

रामायण-महाभारत-काल में भी कन्नड बोली जाती थी, तो भी ईसा के पूर्व कन्नड का कोई लिखित रूप नही मिलता। प्रारंभिक कन्नड का लिखित रूप शिलालेखो मे मिलता है। इन शिलालेखो मे हल्मिडि नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख सबसे प्राचीन है, जिसका रचनाकाल ४५० ई० है। ७वी शताब्दी में लिखे गए शिलालेखो मे बादामि और श्रवण बेलगोल के शिलालेख महत्वपूर्ण हैं। प्रायः ८वी शताब्दी के पूर्व के शिलालेखों में गद्य का ही प्रयोग हुआ है और उसके बाद के शिलालेखो मे काव्यलक्षणो से युक्त पद्य के उत्तम नमूने प्राप्त होते हैं। इन शिलालेखो की भाषा जहाँ सुगठित तथा प्रौढ है वहाँ उस पर संस्कृत का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार यद्यपि ८वी शताब्दी तक के शिलालेखो के आधार पर कन्नड में गद्य-पद्य-रचना का प्रमाण मिलता है तो भी कन्नड के उपलब्ध सर्वप्रथम ग्रंथ का नाम 'कविराजमार्ग' है जिसका रचनाकाल सन् ८१५-८७७ के बीच मे माना गया है। 'कविराजमार्ग के उपरांत कन्नड में ग्रंथनिर्माण का कार्य उत्तरोत्तर बढा और भाषा निरंतर विकसित होती गई। कन्नड भाषा के विकासक्रम की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं जो इस प्रकार हैं १ अतिप्राचीन कन्नड (८वी शताब्दी के अंत तक की अवस्था), २ हळे गन्नड--प्राचीन कन्नड (९वी शताब्दी के आरंभ से १२वी शताब्दी के मध्य काल तक की अवस्था), ३ नडु गन्नड--मध्य- युगीन कन्नड (१२वी शताब्दी के उत्तरार्ध से १९वी शताब्दी के पूर्वार्ध तक की अवस्था), और ४ होस गन्नड--आधुनिक कन्नड (१९वी शताब्दी के उत्तरार्ध से अबतक की अवस्था)।

चारो द्राविड भाषाओ की अपनी पृथक् पृथक् लिपियाँ हैं। डॉ० एम० एच० कृष्ण के अनुसार इन चारो लिपियो का विकास प्राचीन अशोकालीन ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शाखा से हुआ है। बनावट की दृष्टि से कन्नड और तेलुगु में तथा तमिल और मलयालम में साम्य है। १३वी शताब्दी के पूर्व लिखे गए तेलुगु शिलालेखो के आधार पर यह बताया जाता है कि प्राचीन काल मे तेलुगु और कन्नड की लिपियाँ एक ही थी। वर्तमान कन्नड की लिपि बनावट की दृष्टि से देवनागरी लिपि से भिन्न दिखाई देती है, किंतु दोनो के ध्वनिसमूह मे अधिक अंतर नही है। अंतर इतना ही है कि कन्नड में स्वरो के अंतर्गत 'ए' और 'ओ' के ह्रस्व रूप तथा व्यजनो के अंतर्गत वर्त्स्य 'ल' के साथ साथ मूर्धन्य 'ल' वर्ण भी पाए जाते हैं। प्राचीन कन्नड मे 'र' और ळ प्रत्येक का एक एक मूर्धन्य रूप का प्रचलन था, किंतु आधुनिक कन्नड मे इन दोनो वर्णो का प्रयोग लुप्त हो गया है। बाकी ध्वनि समूह संस्कृत के समान है। कन्नड की वर्णमाला मे कुल ४७ वर्ण हैं। आजकल इनकी संख्या बावन तक बढा दी गई है।

कन्नड साहित्य

कन्नड साहित्य के इतिहास पर जितने छोटे बडे ग्रंथ रचे गए हैं उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं १ सन् १८७५ में रे० एफ० किट्टल द्वारा लिखी

नागवर्मा के 'छंदोवुधि' नामक ग्रंथ की प्रस्तावना, २ एपिग्राफिया कर्नाटिका म बी० एल राइस का लेख, ३ आर० नरसिंहाचार का लिखा हुआ 'कर्नाटक कविचरित' (तीन भागो में, १९०७), ४ ई० पी० राइस की 'ए हिस्ट्री ऑव केनरीस लिटरेचर' (अंग्रेजी मे), ५ डा० आर० एस० मुगलि का 'कन्नड साहित्य चरित्रे' (१९५३), ६ श्री एम० मरियप्प भट्ट का 'सक्षिप्त कन्नड साहित्य चरित्रे' (१९०१)। इन इतिहासो म कन्नड साहित्य के इतिहास का कालविभाजन भिन्न भिन्न आधारो पर किया गया है। किसी ने १२वी शताब्दी के मध्यकाल तक जैन युग, १२वी शताब्दी के मध्यभाग से १५वी शती के मध्यभाग तक 'वीरशैव युग', १५ वी शताब्दी के मध्यभाग से १९वी शताब्दी के पूर्वार्ध तक 'ब्राह्मण युग' और उसके बाद के काल को आधुनिक युग माना है, और किसी विद्वान के अनुसार आरभकाल १०वी शताब्दी तक, धर्म-प्राबल्य-काल, (१०वी शताब्दी से १९वी शताब्दी तक जैन कवि, वीरशैव कवि, ब्राह्मण कवि), तथा नवीन काल। काव्य शैलियो के आधार पर किसी ने चपू, वचन, रगले, षटपदि, एव नवीनकाल कहा है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अब तक लिखे गए कन्नड साहित्य के इतिहासो में डा० आर० एस० मुगलि का लिखा हुआ 'कन्नड साहित्य चरित्रे' कई दृष्टियों से सर्वोत्तम है। अत यह कह सकते हैं कि मुगलि का कालविभाजन सर्वाधिक मान्य है जो इस प्रकार है १ पपपूर्व युग (सन् ९५० तक), २ पप युग (सन् ९५० से सन् ११५० तक), ३ बसवयुग (सन् ११५० से १५०० तक), ४ कुमारव्यास युग (सन् १५०० से १९०० तक) और ५ आधुनिक युग (सन् १९०० से)। प्रो० मुगलि ने प्रत्येक युग के सर्वाधिक प्रतिभासपन्न कवि के नाम से उस युग का नामकरण करते हुए मोटे तौरपर सारे साहित्य को मार्ग युग, सक्रमण युग, देशी युग के रूप मे विभाजित किया है।

पपपूर्व युग—'कविराज मार्ग' कन्नड का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रथ है। चपू शैली मे लिखा हुआ यह रीतिग्रथ प्रधानतया दडी के 'काव्यादर्श' पर आधारित है। इसका रचनाकाल सन् ८१५-८७७ के बीच माना जाता है। इस बात में विद्वानो मे मतभेद है कि इसके रचयिता मान्यखेट के राष्ट्रकूट चक्रवर्ती स्वय नृपतुग थे या उनका कोई दरबारी कवि। डा० मुगलि का यह मत है कि इसके लेखक नृपतुग के दरबारी कवि श्रीविजय थे। कविराज मार्ग का प्रतिपाद्य विषय अलकार है। ग्रथ तीन परिच्छेदो मे विभाजित है। द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेदो मे क्रमश शब्दालकारो तथा अर्थालकारो का निरूपण उदाहरण सहित किया गया है। प्रथम परिच्छेद में काव्य के दोषादोष (गुण, दोष) का विस्तार किया गया है। साथ ही ध्वनि, रस, भाव, दक्षिणी और उत्तरी काव्यपद्धतियाँ, काव्यप्रयोजन, साहित्यकार की साधना, साहित्यविमर्श के स्वरूप आदि का सक्षेप मे परिचय दिया गया है। कन्नड भाषा, कन्नड साहित्य, कन्नड प्रदेश, कर्नाटक की जनता की संस्कृति आदि कई बातो की दृष्टि से कविराज मार्ग एक अत्यत महत्वपूर्ण ग्रथ है।

इस काल का दूसरा ग्रथ है 'वड्डाराधने' जिसमे १९ जैन महापुरुषो की कहानियाँ गद्य मे निरूपित हैं। इसके लेखक तथा रचनाकाल के सबध में यही समझा जाता हे कि शिवकोट्याचार्य नामक जैन कवि ने इसे सन् ९००-१०७० के बीच रचा था। यह प्राकृत के 'भगवती आराधना' नामक ग्रथ के आधार पर रचा गया है और इसमें उत्तम काव्य के गुण मिलते हैं। इस ग्रथ की सबसे बडी महत्ता यह है कि इसमें कन्नड के गद्य का सर्वप्रथम रूप प्राप्त होता है।

उपर्युक्त दो ग्रथो के अतिरिक्त अब तक इस काल का अन्य कोई ग्रथ उपलब्ध नही हुआ है।

पप युग—कन्नड साहित्य के इतिहास मे पप का काल विशेष महत्वपूर्ण है, जो 'स्वर्णयुग' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस काल का दूसरा नाम है 'जैन युग', क्योकि इस अवधि में कन्नड साहित्य की श्रीवृद्धि करनेवालो में जैन मतावलबी कवियो का विशेष हाथ रहा। इन जैन कवियो मे प्रत्येक ने प्रधानतया दो प्रकार के काव्य रचे—एक जैन धर्म सबधी काव्य अथवा धार्मिक काव्य, दूसरे लौकिक काव्य अथवा शुद्ध काव्य। धार्मिक काव्य की वस्तु किसी तीर्थंकर या महापुरुष की कहानी होती थी और लौकिक काव्य मे पौराणिक काव्यो के कथानकों का चित्रण होता था। इस प्रकार दो दो ग्रथ रचने का उद्देश्य एक ओर जैन धर्म के तत्वो का प्रचार करना था और दूसरी ओर संस्कृत के लोकप्रिय महाकाव्यो का कन्नड मे प्रतिरूप प्रस्तुत करके लोगो को अपने धर्म की ओर आकर्षित करना था। ये जैन कवि सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओ के विद्वान् थे, साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे और प्रतिभासपन्न कवि भी। इन कवियो ने आवश्यक परिवर्तन के साथ पौराणिक कथानको को अपने धर्म के अनुकूल अवश्य बनाया, किंतु उनकी मौलिकता को नष्ट न होने देकर रोचकता को बनाए रखा। जैन कवियो की रचनाओ से कन्नड भाषा और साहित्य का बडा उपकार हुआ। इस अवधि में चपू काव्यशैली का विशेष प्रचार हुआ। इस समय के धार्मिक काव्यो में अद्भुत तथा शात और लौकिक काव्यो मे वीर तथा रौद्र रसो की विशेष रूप से अभिव्यजना हुई। उपर्युक्त दो प्रकार के काव्यो के अतिरिक्त छद, रस, अलकार, व्याकरण, कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विभिन्न विषयो पर भी ग्रथ लिखे गए। इस प्रकार इस युग मे कन्नड साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

इस युग के प्रमुख कवि तीन थे—पप, पोन्न तथा रन्न जो 'रत्नत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। महाकवि पप अथवा आदि पप ने दो काव्य रचे—'आदिपुराण' और 'विक्रमार्जुनविजय' अथवा 'पपभारत'। आदिपुराण में जिनसेनाचार्य कृत सस्कृत पूर्वपुराण के आधार पर प्रथम तीर्थकर वृषभनाथ का जीवनचरित् चित्रित किया गया है और 'विक्रमार्जुनविजय' मे महाभारत के कथानक का निरूपण किया गया है। ये दोनो चपूकाव्य हैं। पप कन्नड के आदिकवि माने जाते हैं। इनका समय सन् ९४१ के लगभग माना जाता है।

पोन्न पप के समकालीन थे। उन्होंने तीन ग्रथ रचे थे—'शातिपुराण', 'जिनाक्षरमाला' तथा 'भुवनैकरामाभ्युदय'। अतिम ग्रथ उपलब्ध नही हुआ है। रन्न की मुख्य रचनाएँ दो हैं—'अजितपुराण' तथा 'साहस भीमविजय' अथवा 'गदायुद्ध'। गदायुद्ध के नायक भीम हैं। गदायुद्ध मे वीररस की अनूठी व्यजना हुई है। इसी काव्य से रन्न की कीर्ति अचल हुई है।

पप युग के अन्य कवियो में चाउडराय, नागवर्म (प्रथम) दुर्गसिंह, चद्रराज, नागचद्र, नागवर्म (द्वितीय) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। चाउडराय का 'चाउडरायपुराण' प्राचीन कन्नड गद्य का सुदर नमूना है। नागवर्म प्रथम के दो ग्रथ प्राप्त हुए हैं। 'कर्नाटक कादबरी' तथा 'छंदोवुधि'। 'कर्नाटककादबरी' बाण की कादबरी का कन्नड प्रतिरूप है। यह चपू शैली मे है। प्रो० मुगलि का मत है कि कन्नड मे अनूदित जितने ग्रथ हैं उनमें नागवर्म (प्रथम) की कर्नाटककादबरी सर्वश्रेष्ठ है। चद्रराज और श्रीधराचार्य नागवर्म (प्रथम) के समकालीन कवि हैं। चद्रराज का कामशास्त्र पर लिखा हुआ 'मदनतिलक' नामक ग्रथ और श्रीधराचार्य का 'जातकतिलक' नामक ज्योतिष ग्रथ, दोनो उत्तम कृतियाँ हैं। इसी काल मे दुर्गसिंह ने, जो भागवत सप्रदाय के कवि थे, सस्कृत 'पचतत्र' का अनुवाद प्रस्तुत किया।

११वी और १२वी शताब्दियो के बीच एक अन्य प्रसिद्ध कवि हुए, जिनका नाम नागचद्र था। क्योकि इन्होने पपभारत से प्रेरणा पाकर रामायण की रचना की, इसलिये इनका दूसरा नाम 'अभिनव पप' पडा। नागचद्र ने भी पूर्ववर्ती जैन कवियो की भाँति दो काव्य रचे—'मल्लिनाथपुराण' तथा 'रामचद्रचरितपुराण' अथवा 'पपरामायण'। पपरामायण ही कन्नड के उपलब्ध रामकथा सबधी काव्यो मे सबसे प्राचीन है।

पपयुग मे महाकवियो का आविर्भाव हुआ और उन्होने अपनी महान् कृतियो से कन्नड को समृद्ध बनाया। यद्यपि इस काल में बडे बडे कलात्मक प्रौढ काव्यो का निर्माण हुआ, तो भी समाज के साधारण लोगो के जीवन के साथ साहित्य का सपर्क नही था। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय के कवि राजाओ के आश्रय मे रहते थे और वे जो कुछ लिखते थे, या तो अपने आश्रयदाता राजाओ का यश गाने के लिये लिखते थे, या दरबार के अन्य पडितो के बीच वाहवाही लूटने के लिये अथवा अपने धर्म का प्रचार करने के लिये। इसका परिणाम यह हुआ कि बोलचाल की भाषा साहित्य सर्जन के लिये उपयुक्त नही समझी गई। सर्वत्र सस्कृत का प्रभाव पडा। चपू शैली मे जो प्रौढ काव्य रचे गए वे साधारण जनता की वस्तु न होकर पडितो तक सीमित रहे।

बसव युग—१२वी शताब्दी के उत्तरार्ध से १५वी शताब्दी तक का काल बसव युग कहलाता हे। इस युग का दूसरा नाम 'क्रातियुग' है। इस समय कर्नाटक में धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक, ऐसा कोई क्षेत्र नही था जो क्राति से अछूता रह सका हो। इस क्राति के उन्नायक बसव, बसवण्ण अथवा बसवेश्वर थे, इसलिये इस युग का नाम बसव युग पडा।

इस काल में संस्कृतनिष्ठ कन्नड के स्थान पर बोलचाल की कन्नड साहित्य के निर्माण के लिये उपयुक्त समझी गई और संस्कृत की काव्य-शैली के बदले देशी छदो को विशेष प्रोत्साहन दिया गया। पिछली शताब्दियो मे जैन मतावलबियो का साहित्यक्षेत्र मे सर्वाधिकार था। इस युग मे भिन्न भिन्न मतावलबियो ने साहित्य के निर्माण मे योग दिया। साहित्य की श्रीवृद्धि मे भक्ति एक प्रबल प्रेरक शक्ति के रूप मे सहायक हुई।

१२वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे बसवेश्वर का अविर्भाव हुआ। उन्होने वीरशैव मत का पुन सघटन करके कर्नाटक के धार्मिक एव सामाजिक जीवन में बडी उथल पुथल मचाई। बसव तथा उनके अनुयायियो ने अपने मत के प्रचार के लिये बोलचाल की कन्नड को माध्यम बनाया। वीरशैव भक्तो ने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार एव नीति पर निराडबर शैली मे अपने अनुभव की बाते सुनाई, जो वचन साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन वीरशैव भक्तो अथवा शिवशरणो के वचन एक प्रकार के गद्यगीत है। शिवशरणो ने साहित्य के लिये साहित्य नही रचा। उनका मुख्य उद्देश्य अपने विचारो का प्रचार करना ही था। उनके विचारो मे सरलता थी, सचाई थी और सच्चे जिज्ञासु की रसमग्नता थी। इसलिये उनकी वाणी मे साहित्यिक सौष्ठव अपने आप आ गया। इन शिवशरणो के वचनो ने कर्नाटक मे वही कार्य किया जो कबीर तथा उनके अनुयायियो ने उत्तर भारत मे किया।

बसव ने भक्ति का उपदेश दिया और इस भक्ति की साधना में वैदिक कर्मकाड, मूर्तिपूजा, जाति पाँति का भदभाव, अवतारवाद, अधश्रद्धा आदि को बाधक ठहराया। जातिरहित, वर्णरहित, वर्गरहित समाज के निर्माण द्वारा उन्होने आध्यात्मिक साधन का मार्ग सर्वसुलभ बनाना चाहा। बसव के समकालीन वीरशैव भक्तो मे अल्लमप्रभु, अक्कमहादेवी, चेन्न-बसव तथा सिद्धराम प्रमुख है।

इन वचनकार शिवशरणो के अतिरिक्त वीरशैव मतावलबी बहुत से ऐसे कवि हुए जिन्होने भक्तिभावप्रधान नाना प्रकार के काव्यग्रथ देशी छदो का प्रयोग करते हुए प्रस्तुत किए। १२वी और १३वी शताब्दियो के बीच तीन श्रेष्ठ कवि हुए—हरिहर, राधवाक और पद्मरस। इस काल के जैन कवियो मे नेमिचद्र, बधुवर्मा, जन्न, मल्लिकार्जुन, केशिराज, रट्टकवि और कुमुदेदु मुनि के नाम उल्लेखनीय है।

१३वी शताब्दी मे कर्नाटक की धार्मिक स्थिति मे फिर से उथल पुथल हुई। एक ओर कर्नाटक रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित श्रीवैष्णव सप्रदाय से प्रभावित हुआ और दूसरी ओर उसमे मध्वाचार्य के द्वैत मत की भक्ति की नई लहर चली। इन दोनो वैष्णव सप्रदायो द्वारा चलाई गई भक्तिधारा से कन्नड साहित्य मे नूतन शक्ति का सचार हुआ। परिणामस्वरूप पौराणिक महाकाव्यो के कथानको का कन्नड मे नए सिरे से विशुद्ध मूल रूप मे निरूपण हुआ। इस अवधि मे रुद्रभट्ट नामक एक वैष्णव कवि हुए जिनका 'जगन्नाथविजय' कन्नड का सर्वप्रथम वैष्णव प्रबध काव्य माना जाता है। यह चपू शैली मे लिखा गया है और इसकी कथावस्तु कृष्णकथा है।

कुमारव्यास युग—१५वी शताब्दी से १६वी शताब्दी के अत तक का काल कुमारव्यास युग कहलाता है। इस अवधि में विजयनगर के सम्राटो तथा मैसूर के राजाओ ने कन्नड सहित्य की श्रीवृद्धि मे विशेष हाथ बँटाया। वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा बढी जिसकी प्रतिक्रिया कन्नड साहित्य मे भी दिखाई पडी। वैष्णव धर्म द्वारा प्रचारित भक्ति साहित्य-सर्जन मे प्रेरक शक्ति के रूप मे प्रकट हुई। साहित्य जनता के अति निकट सपर्क मे आया। इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि नार्णप्प (नारणप्प) ह जो अपनी लोकप्रियता के कारण 'कुमार-व्यास' के अभिधान से प्रख्यात हुए। कुमारव्यास भागवत सप्रदाय के प्रमुख कवि थे।

नार्णप्प अथवा कुमारव्यास की जन्मतिथि, जन्मस्थान तथा उनके रचनाकाल के सबध में विद्वानो मे मतभेद है। प्रो० मुगलि के अनुसार १४वी और १५वी शताब्दियो के बीच कुमारव्यास जीवित थे। कुमारव्यास ने 'कन्नड भारत' अथवा 'गदुगिन भारत' और 'ऐरावत' नामक दो काव्य लिखे थे, ऐसा माना जाता है। लेकिन ऐरावत के उनकी कृति होने मे सदेह प्रकट किया गया है। 'कन्नड भारत' मे व्यासरचित महाभारत के प्रथम दस पर्वों की कथा का निरूपण किया गया है। यद्यपि पप ने अपने 'पप भारत' द्वारा भारत की सारी कथा का कन्नड प्रतिरूप प्रस्तुत किया था तो भी वह कुमारव्यास के कन्नड भारत की तरह लोकप्रिय नही हो सका। इसके दो कारण है—एक यह है कि पप भारत मे पाडित्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी और दूसरा यह कि उसमे जैन धर्म का रग भी चढा था।

कुमारव्यास के कन्नडभारत के उपरात महाभारत, रामायण और भागवत के कथानको के आधार पर बहुत से उत्तम काव्य पट्पदि शैली मे प्रस्तुत किए गए। कुमारव्यास के दिखलाए हुए मार्ग पर चलकर नरहरि अथवा कुमारवाल्मीकि नामक कवि ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर कन्नड में 'तोरवेरामायण' की रचना की। यह भी भक्तिप्रधान प्रबध काव्य है, जो प्राचीन कन्नड की एक सरस कलाकृति है। भागवत मतावलबी कवियो मे तिम्मण्ण कवि, चाटु विट्ठलनाथ, लक्ष्मीश तथा नागरस के नाम उल्लेखनीय है। कुमारव्यास से प्रेरणा पाकर तिम्मण्ण कवि ने महाभारत के अतिम आठ पर्वो की कथा का निरूपण 'कृष्णराज भारत' नामक अपने काव्य मे किया। सबसे पहली बार समग्र भागवत का कन्नड पद्यानुवाद चाटु विट्ठलनाथ नामक भागवत कवि ने प्रस्तुत किया। लगभग इसी काल मे एक अत्यत प्रतिभासपन्न कवि हुए जिनका नाम लक्ष्मीश था। इनका लिखा हुआ 'जैमिनि भारत' अनुपम काव्य है जिसमे महाभारत के कतिपय रोचक प्रसगो का सुदर एव मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। लोकप्रियता की दृष्टि से कर्नाटक में कुमारव्यास के भारत के बाद जैमिनि भारत का स्थान है। नागरस नामक कवि ने भगवद्गीता के अपने 'वासुदेवकथामृतसार' नामक कन्नड पद्यानुवाद प्रस्तुत किया।

जिस प्रकार इस अवधि मे कुमारव्यास, कुमारवाल्मीकि, लक्ष्मीश जसे भागवत सप्रदाय के कवियो ने भारत, रामायण, भागवत आदि महाकाव्यो से कथावस्तु लेकर कन्नड मे भक्तिप्रधान प्रबध काव्यो का प्रणयन किया, उसी प्रकार माध्वमतावलबी भक्तो ने बोलचाल की कन्नड में गीत, भजन, कीर्तन रचकर भक्ति का सदेश कर्नाटक के घर घर म पहुँचाया। इन भक्तो की परपरा का आरभ १३वी शताब्दी में नरहरितीर्थ द्वारा हुआ था। इस समय इन भक्तो की एक बडी मडली जुट गई थी जो प्रधानतया दो भागो मे विभाजित थी। एक दल का नाम था 'व्यासकूट' और दूसरे का 'दासकूट'। इन दोनो मे अतर यही था कि वे भक्त व्यासकूट के कहलाते थे जो अधिकाश ब्राह्मण थे और जो अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिये सस्कृत को ही उपयुक्त समझते थे, एव वे भक्त दासकूट के माने जाते थे जिनमे सभी जातियो के लोग समिलित थे और जो कन्नड के माध्यम से भजन, कीर्तन रचते थे। सप्रदाय की तत्व सबधी बातो मे 'व्यासकूट' तथा 'दासकूट' के भक्तो मे कोई अतर नही था। इन दोनो दलो के भक्त कर्नाटक मे हरिदास के नाम से प्रसिद्ध है। इन हरिदासो ने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति, प्रेम, लोकव्यवहार आदि विषयो पर सरस, किंतु व्याकरणबद्ध कन्नड मे हजारो पद रचकर कन्नड साहित्य का भाडार भरा। हरिदासो की परपरा १९वी शती तक चलती है। हरिदासो के गीतो का कन्नडभाषी जनता पर गहरा और व्यापक प्रभाव पडा है। इन हरिदासो मे पुरदरदास, कनकदास जगन्नाथदास आदि प्रमुख है।

१७वी शताब्दी मे मैसूर के राजा चिकदेवराय के आश्रय में रहते हुए कतिपय वैष्णव कवियो ने उत्तम काव्यो का निर्माण किया। इन कवियो मे तिरुमलार्य, चिकुपाध्याय, सिंगरार्य, होन्नम्मा, हेळवन कट्टे गिरियम्मा, महालिंगरग कवि के नाम उल्लेखनीय है। इसी समय पहली बार श्रीवैष्णव सप्रदाय का प्रभाव कन्नड साहित्य पर प्रत्यक्ष रूप मे दिखाई पडा। 'चिकदेवराय 'विन्नप' तथा 'गीतगोपाल' नामक अपनी रचनाओ मे तिरुमलार्य ने श्री वैष्णव सप्रदाय के साथ साथ ऐकातिक भक्ति का निरूपण किया है। हदिबदेयधर्म' होन्नम्मा का एक सुदर काव्य है जिसमे सतीधर्म (गृहिणी धर्म) का प्राजल भाषा मे वर्णन किया गया है। महालिंगरग कवि के लिखे हुए 'अनुभवामृत' मे शकर के अद्वैत सिद्धात का सार सरस कन्नड मे प्रस्तुत किया गया है। चिकदेवराय स्वय अच्छे कवि थे।

इस युग मे वीरशैव मतावलबी भक्तो एव कवियो ने भी नाना प्रकार के ग्रथ रचकर कन्नड की सेवा की।

इनमे कुछ शतक शैली मे लिखे गए है। वचन शैली के अतिरिक्त कुछ गद्य ग्रथ भी लिखे गए और सागत्य, त्रिपदि, वृत्त, चपू, गीत आदि छदो का

विशेष प्रयोग किया गया। किंतु इस लंबी अवधि में जितने वचनकार हुए वे इने गिने ही हैं।

चरितकाव्य प्रस्तुत करनेवाले वीरशैव कवियों में चामरस, विरूपाक्ष पंडित और षडक्षरदेव अग्रगण्य थे। चामरस के लिखे काव्यों में 'प्रभुलिंगलीले' श्रेष्ठ चरितकाव्य है। 'प्रभुलिंगलीले' में अल्लम प्रभु के जीवनवृत्त का विस्तार किया गया है। वीरशैव कवियों में श्रेष्ठ प्रबंध काव्य रचनेवालों में हरिहर के बाद चामरस का नाम आदर के साथ लिया जाता है। विरूपाक्ष पंडित का लिखा हुआ चेन्नबसव पुराण भी उत्तम प्रबंध काव्य है, जिसमें प्रसिद्ध वीरशैव भक्त चेन्नबसव की कहानी कही गई है। हरिहर के 'बसवराजरगले' तथा चामरस के 'प्रभुलिंगलीले' जैसे चरितकाव्यों में मतधर्म तथा काव्यधर्म का जैसा सुंदर समन्वय हुआ है, वैसा 'चेन्नबसवपुराण' में नहीं हो पाया है।

पंप युग में जैन कवियों ने अपने श्रेष्ठ प्रबंध काव्यों के द्वारा कन्नड में चंपूशैली को अत्यंत लोकप्रिय बनाया। लेकिन आगे चलकर इस शैली का उपयोग कम होता गया। कुमारव्यास युग में फिर से यह शैली अपनाई गई। इसे अपनानेवाले कवि जैन नहीं अपितु वीरशैव थे। १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में षडक्षरदेव नामक एक प्रतिभासपन्न वीरशैव कवि ने चंपू शैली में तीन प्रबंध काव्य रचे जिनके नाम 'राजशेखरविलास', 'शबरशंकरविलास' तथा 'वृषभेंद्रविजय' हैं। 'राजशेखरविलास' तथा 'शबरशंकरविलास' में शिवलीला से संबंध रखनेवाली कहानियों का वर्णन किया गया है। 'वृषभेंद्रविजय' की कथावस्तु बसव का जीवनवृत्त है।

इस युग में एक महान् वीरशैव मत का अवतार हुआ। उनका असली नाम क्या था, इसका कुछ पता नहीं लगा है। इनका साहित्यिक उपनाम 'सर्वज्ञ' था। इन्होंने 'त्रिपदि' नामक छंद में अपनी अमृत वाणी सुनाई है। प्रत्येक छंद 'सर्वज्ञ' शब्द के साथ समाप्त होता है और हिंदी के दोहे की तरह स्वतंत्र अर्थ रखता है।

इस अवधि में जैन धर्म का प्रभाव लुप्त हो चला था। फिर भी कुछ जैन मतावलंबी कवियों ने अपनी शक्ति भर कन्नड की सेवा की। जैन कवियों ने प्रचलित देशी काव्यशैलियों में काव्यरचना की। ऐसे कवियों में भास्कर, तेरकणांबि, बोम्मरस, शिशुमायण, तृतीयमंगरस, साल्व कवि तथा रत्नाकरवर्णि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें रत्नाकरवर्णि सर्वश्रेष्ठ है, जिनकी कृतियों में 'भरतेशवैभव' मुख्य है। प्रथम तीर्थकर आदिदेव के पुत्र भरत और बाहुबलि के उज्वल चरित्रों का वर्णन ही 'भरतेशवैभव' की कथावस्तु है। पंप, हरिहर, कुमारव्यास जैसे कन्नड के महाकवियों की श्रेणी में रत्नाकरवर्णि का नाम भी लिया जाता है।

इस युग की अंतिम अर्थात् १९वीं शताब्दी में कुछ अच्छे कवि हुए। देवचंद्र नामक जैन कवि ने 'रामकथावतार' लिखकर जैन रामायण परंपरा को आगे बढ़ाया। मैसूर के राजा मुम्मुडि कृष्णराज ओडियर के दरबारी कवियों में केंपुनारायण तथा बसवप्प शास्त्री ने संस्कृत एवं अंग्रेजी के कुछ नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करके कन्नड में नाटक साहित्य के निर्माण के लिये अनुकूल वातावरण तैयार किया। कालिदास के शाकुंतल आदि नाटकों का बसवप्प शास्त्री ने इतनी सफलता से अनुवाद किया कि वे 'अभिनव कालिदास' के नाम से प्रसिद्ध हुए। केंपुनारायण ने 'मुद्रामंजूष' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। नंदवंश की कहानी इसकी कथावस्तु है जिसपर मुद्राराक्षस का प्रभाव लक्षित होता है। यही कन्नड का सर्वप्रथम उपन्यास है।

१९वीं शताब्दी के अंत में मुद्दण नामक एक सफल कवि हुए जिन्होंने तीन सरस काव्य लिखे 'अद्भुत रामायण', 'रामपट्टाभिषेक' और 'रामाश्वमेध'। 'अद्भुत रामायण' और 'रामाश्वमेध' दोनों गद्य ग्रंथ हैं। इनके गद्य की यह विशेषता है कि प्राचीन कन्नड की प्रौढता एवं मधुरता के साथ साथ आधुनिक कन्नड की सरलता का परिचय मिलता है।

आधुनिक युग—भारतीय जीवन के इतिहास में १९वीं शती का उत्तरार्ध अत्यंत महत्वपूर्ण है। चूँकि इस समय समान परिस्थितियों तथा प्रभावों से सारा भारतीय जीवन मथित तथा आंदोलित हुआ था, अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कन्नड साहित्य की गतिविधि की कहानी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों की कहानी से कुछ भिन्न नहीं है।

आधुनिक कन्नड साहित्य को प्रधानतया चार भागों में विभाजित किया जा सकता है जो इस प्रकार है

(१) १९०० तक प्रथम उत्थान,
(२) १९०१ से १९२० तक द्वितीय उत्थान,
(३) १९२१ से १९४० तक तृतीय उत्थान, तथा
(४) १९४० से अब तक चतुर्थ उत्थान।

आधुनिक कन्नड का प्रथम उत्थान गद्य के साथ प्रारंभ होता है जिसके निर्माण में ईसाई मिशनरियों (प्रोटेस्टेंट) की सेवा उल्लेखनीय है। कहा जाता है, १८०९ में रेवरेंड विलियम केरी ने बाइबिल का अनुवाद प्रस्तुत किया। लगभग १८३१ में बळ्ळारि तथा मंगलोर में मिशनरियों द्वारा मुद्रणालय स्थापित किए गए जिनके कारण कन्नड ग्रंथों की छपाई में सहायता मिली। प्रायः सन् १८२३ में प्रकाशित कन्नड बाइबिल ही आधुनिक कन्नड का सर्वप्रथम गद्य ग्रंथ है। तदुपरांत ईसाई पादरियों ने अपने धर्म के प्रचार के हेतु कन्नड में पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित कराई जिनमें 'सभापत्र', 'सत्यदीपिके' तथा 'कर्नाटक' मुख्य हैं। १९वीं शती की अंतिम तीन दशाब्दियों में कन्नड भाषा तथा साहित्य के अभिवर्धन के लिये महत्वपूर्ण कार्य हुआ। इधर दक्षिण कर्नाटक में मैसूर के राजाओं के प्रोत्साहन के फलस्वरूप मैसूर में प्राच्य पुस्तकालय तथा उधर धारवाड में कर्नाटक विद्यावर्धक संघ की स्थापना हुई। इन दोनों संस्थाओं की ओर से प्राचीन शिलालेखों तथा पांडुलिपियों के संग्रह, संपादन तथा प्रकाशन का कार्य प्रारंभ हुआ। बी० एल० राइस तथा आर० नरसिंहाचार ने अनथक प्रयत्न करके 'दि एपिग्राफिया कर्नाटिका' का बारह भागों में प्रकाशन कराया। राइस ने भट्टाकळंक के 'शब्दानुशासन' नामक प्राचीन व्याकरण ग्रंथ का संपादन किया और उसकी प्रस्तावना में कन्नड साहित्य के इतिहास की रूपरेखा अंग्रेजी में पहली बार प्रस्तुत की। मंगलोर के बासेल मिशन के तत्वावधान में रेवरेंड एफ० किट्टल नामक एक जर्मन पादरी ने १८ वर्ष निरंतर परिश्रम करके कन्नड पंडितों के सहयोग से 'कन्नड अंग्रेजी वृहत्-कोश' प्रकाशित कराया, साथ ही कन्नड के प्राचीन ग्रंथों का संग्रह एवं संपादन कार्य प्रारंभ किया। इसी अवधि में मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से फोर्ट सेंट कालेज में कन्नड सिखाने के उद्देश्य से पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित की गईं। इस प्रकार यद्यपि कन्नड भाषा तथा साहित्य के पुनरुद्धार के लिये स्तुत्य उद्योग हुआ, तो भी स्कूल कालेजों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण कन्नड के प्रति जनता में जैसा आदर होना चाहिए था वैसा नहीं उत्पन्न हुआ।

१९०० से १९२१ ई० तक का काल अधिक निश्चित और विविध उपलब्धियों का काल है। पहली बार आर० नरसिंहाचार ने सन् १९०७ में कन्नड साहित्य का एक वृहत् इतिहास 'कर्नाटक कविचरिते' तीन भागों में प्रकाशित किया जिसमें एक सहस्र वर्षों के कन्नड के समस्त कवियों तथा उनकी कृतियों का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत हो गया। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इस इतिहास में कवि और काव्य का मूल्यांकन आधुनिक आलोचना पद्धति के आधार पर किया गया है, फिर भी यह निश्चित है कि कन्नड साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध कार्य के लिये 'कर्नाटक कविचरिते' द्वारा एक निश्चित आधारशिला प्रस्तुत हो गई। सन् १९१५ में ई० पी० राइस ने अंग्रेजी में हिस्ट्री ऑव कनरीज़ लिटरेचर लिखकर पाश्चात्य दृष्टिकोण से कन्नड साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार प्रथम उत्थान में राइस के 'दि एपिग्राफिया कर्नाटिका' के प्रकाशन के फलस्वरूप आधुनिक दृष्टिकोण से साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन प्रारंभ हुआ और नरसिंहाचार के 'कर्नाटक कविचरिते' के निर्माण से कन्नड के साहित्यकारों की जीवनियों तथा उनकी कृतियों के आलोचनात्मक अध्ययन की निश्चित पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसी समय एक ओर बेंगलोर में कन्नड साहित्य परिषद् का जन्म हुआ और दूसरी ओर मैसूर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इन दोनों संस्थाओं के आश्रय में कन्नड भाषा एवं साहित्य के संवर्धन के लिये नया परिवेश प्रस्तुत हुआ।

सन् १९२१ से १९४० तक की अवधि में कन्नड का आधुनिक काल अपने स्वर्णयुग में प्रवेश करता है। इस तृतीय उत्थान के प्रारंभ में प्रो० बी० एम० श्रीकंठय्या, जो कर्नाटक में 'श्री' अभिधान से लोकप्रिय हैं, कन्नड भाषा और साहित्य में नवोदय के अग्रदूत हुए। पाश्चात्य साहित्य के

प्रभाव मे कन्नड मे भी आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाएँ प्रस्फुटित हो सर्वतोमुखी उन्नति में सहायक हुईं। नाटक, उपन्यास, जीवनी, आलोचना, निबंध आदि सभी विधाएँ अपने सच्चे रूप में विकसित होने लगीं जिनके परिणामस्वरूप कन्नड का साहित्य सशक्त होकर जीवन को सही अर्थ में प्रतिबिंबित करने लगा।

कन्नड में आधुनिक कविता का प्रारभ एक प्रकार से अंग्रेजी कविता के अनुवाद तथा अनुकरण के साथ साथ हुआ। विशेष रूप से बी० एम० श्रीकंठय्या का अंग्रेजी कविताओं का कन्नड अनुवाद 'इंगलीषु गीतेगलु' नवयुवकों के लिये भाषा, वस्तु-विधान, शैली, छंद एवं अलंकारयोजना की दृष्टि से पथप्रदर्शक बन गया। इसी समय कर्नाटक के विविध भागों मे कवियो की खासी मंडलियाँ स्थापित हुईं, धरती का प्रेम तथा राष्ट्रीयता का पूरा भावलोक व्यक्त हुआ। प्रगाथा, विसापिका, गीतिकाव्य, सॉनेट गीत और भजन, वर्णनात्मक कविता, खंडकाव्य, वीरकाव्य, रोमास, दार्शनिक कविता, गद्यगीत और स्वागतभाषण—ये और अन्य काव्यविभाग उत्कृष्ट आनंद और उच्च प्रेरणा से विकसित हुए। इस दल के कवियों में अनुभूति की गहराई, व्यापकता तथा कृतियों के परिमाण की दृष्टि से कुवेंपु (के० वी० पुट्टप्पा) तथा अंबिकातनयदत्त (द० रा० बेंद्रे) सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। लगभग बीस कवितासंग्रह तथा रामायणदर्शन नामक अतुकांत महाकाव्य कुवेंपु की अमरकीर्ति के आधारस्तंभ हैं। प्रधानतया बेंद्रे ने गीत ही रचे हैं। 'गरि', 'सखीगीत', 'नादलीले', 'अरळु मरळु' उनके गीतसंग्रहों में मुख्य हैं।

सन् १९३० में जिस प्रगतिशील आंदोलन का सूत्रपात हुआ उसने इस समय के साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला। कविता के क्षेत्र में भी नई शक्ति का संचार हुआ। नए छंद और नए रचनाविधान की प्रतिष्ठा हुई।

आधुनिक कन्नड साहित्य में छोटी कहानी सबसे अधिक लोकप्रिय है। मास्ति वेंकटेश अयंगार (श्रीनिवास) आधुनिक कन्नड कहानी साहित्य के पिता माने जाते हैं। उनकी कहानियों में दार्शनिकता, देशभक्ति, ऐतिहासिकता, ग्रामीण जीवन के चित्र, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पारिवारिक चित्रण आदि तत्वों का बड़ा ही सुंदर समावेश हुआ है। कहानी के वस्तुविधान तथा शिल्पविधान की दृष्टि से इस समय कन्नड की कहानी में विकासक्रम का स्पष्ट परिचय मिलता है।

कन्नड मे बँगला और मराठी उपन्यासों के अनुवाद के साथ उपन्यास साहित्य के निर्माण मे नई प्रेरणा का संचार हुआ। बी० वेंकटचार ने बंकिमचंद्र के उपन्यासों का सफल अनुवाद प्रस्तुत किया। गलगनाथ ने अनुवाद के अतिरिक्त 'माधव करुण विलास' तथा 'कुमुदिनी' नामक दो मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे। फिर भी, गुल्वाडि वेंकटराव का लिखा 'इंदिरादेवी' (१८९९) तथा एम० एस० पुट्टण्णा का लिखा 'माडिदुण्णो महाराया' कन्नड के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माने जाते हैं। इस अवधि में कन्नड मे विशिष्ट उपन्यास लिखे गए जिनके कई उदाहरण आज भी मिलते हैं, जैसे बटगेरि के 'सुदर्शन' मे सामाजिक शिष्टाचार के उपन्यास, ए० एन० कृष्णराव के 'सन्ध्याराग' मे चरित्रप्रधान उपन्यास, कस्तूरि के 'चक्रदृष्टि' मे व्यंग्यप्रधान उपन्यास, देवुड के 'अंतरंग' मे मनोवैज्ञानिक उपन्यास, शिवराम कारंत के 'मरळि मण्णिगे' में कालप्रधान उपन्यास, मुगलि के 'कारणपुरुष' मे समस्याप्रधान उपन्यास। मास्ति का 'चेन्नबसव' नामक, के० वी० अय्यर का 'शांतला' तथा ए० एन० कृष्णराव का 'नटसार्वभौम', त० रा० सु० का 'हंसगीते', के० वी० पुट्टप्पा का 'कानूर सुब्बम्म हेग्गडति', कारंत के 'बेट्टद जीव' और 'चोमनदुडि गोकाक' का 'समरस वे जीवन' आदि उपन्यास अपने विशिष्ट गुणों के कारण कन्नड भाषाभाषियों के जीवन, संस्कृति तथा इतिहास के सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। मिर्जी अण्णाराव, बसवराज कट्टीमानि, कुळकुंद, शिवराव, इनामदार और पुराणिक भी आधुनिक कन्नड के समर्थ उपन्यासकार हैं। कारंत का 'मरलि मण्णिगे', के० वी० अय्यर का 'शांतला', त० रा० सु० का 'हंसगीते' का हिंदी रूपांतर प्रकाशित हो चुका है। कुवेंपु का 'कानूर सुब्बम्म हेग्गडिति' अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है।

जिस प्रकार हिंदी के नाटक साहित्य और रंगमंच का मूल रूप रामलीला, कृष्णलीला, रामधारी मंडलियों के रूप में पाया जाता है उसी प्रकार कन्नड के नाटक तथा रंगमंच का मूलरूप 'यक्षगान', 'बयलाट', 'ताळमद्दले' के रूप मे प्राप्त होता है। यक्षगान के लिये लिखे गए नाटक प्राय पद्य मे पाए जाते हैं। कन्नड के प्राचीन साहित्य के अंतर्गत सन् १६८० मे लिखा हुआ सिंगरार्य का 'मित्रविंदा गोविंद' कन्नड का सर्वप्रथम नाटक माना जाता है। यह हर्ष की 'रत्नावली नाटिका' के आधार पर लिखा हुआ रूपक है। आधुनिक कन्नड मे पहले पहल संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इन अनुवादकों मे बसवप्प शास्त्री, नंजनगूड, श्रीकंठ शास्त्री, एवं गहरिण कृष्णाचार्य, रामशेष शास्त्री, अनंतनारायण शास्त्री, कवितिलक अप्पा शास्त्री, नरहरि शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय अनूदित नाटको में उत्तररामचरित, रत्नावली, वेणीसंहार, विक्रमोर्वशीय, मुद्राराक्षस, नागानंद, मृच्छकटिक, हरिश्चंद्र, शाकुंतल आदि मुख्य हैं। अनुवाद करने की कला में बसवप्पा शास्त्री ने इतनी सफलता पाई कि उन्हें तत्कालीन मैसूर के महाराज ने 'अभिनव कालिदास' की उपाधि से पुरस्कृत किया। आगे चलकर अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद होने लगा। इसी समय कुछ नाटक कंपनियाँ भी स्थापित हुईं जिनके लिये विशेष रूप से पौराणिक तथा कुतूहलवर्धक सामाजिक नाटक लिखे गए। ऐसे नाटको मे कृष्णलीला, रुक्मिणीस्वयंवर, लंकादहन, कृष्णपारिजात, सदारमे, कबीरदास, जलंधर मुख्य हैं। कर्नाटक के प्रसिद्ध नट ए० वी० वरदाचार तथा गुब्बिवीरण्णा द्वारा स्थापित नाटक कंपनियों के आश्रय मे रंगमंच की ही नहीं, नाट्य साहित्य की भी विशेष वृद्धि हुई।

अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप कन्नड के नाटक साहित्य पर पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव पड़ा। आधुनिक कन्नड के प्रमुख साहित्यकारों ने भी नाटक रचकर उसकी श्रीवृद्धि में योग दिया। नाटक की वस्तुओं मे विविधता दिखाई देने लगी। शेरिडन, और स्कर वाइल्ड, इब्सन जैसे पाश्चात्य लेखकों का अनुकरण करके कन्नड में बड़े ही सुंदर, व्यंग्यात्मक, हास्य-रस-प्रधान नाटक रचे गए। ऐसे नाटको म टी० पी० कैलासम के 'होमरूल' तथा 'टोल्लुगट्टि', श्रीरंग का 'हरिजन्वार', कारंत का 'गर्भगुडि' कुवेंपु का 'रक्ताक्षि' आदि नाम उल्लेखनीय हैं। दुःखांत नाटकों में बी०एम०'श्री' के 'अश्वत्थामन' और 'गदायुद्ध' तथा कुवेंपु के 'बेरल्गेकोरल' मुख्य कहे जा सकते हैं। रोमांटिक एवं सुखांत नाटको मे गोकाक के 'युगांतर' जैसे नाटक पठनीय हैं। आधुनिक कन्नड मे एकांकी, गीतिनाटक, अतुकांत पद्यनाटक, संगीतरूपक (ऑपेरा), रेडियो नाटक आदि नाटक के विविध रूपों का भी प्रचलन हुआ है।

निबंध आधुनिक कन्नड साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। आधुनिक युग के द्वितीय उत्थान मे आलूर वेंकटराव के 'कर्नाटक गतवैभव' तथा पंडित तारानाथ के 'धर्मसंभव' जैसे विचारात्मक ग्रंथों द्वारा आधुनिक कन्नड की गंभीर गद्यशैली का मार्ग प्रशस्त हुआ। डी० वी० गुंडप्पा के 'साहित्यशक्ति', स० स० मालवाड के 'कर्नाटक-संस्कृति-दर्शन', सिद्धवनहल्लि कृष्णशर्मा के गांधी साहित्य मे विचारप्रधान गद्यशैली निखरने लगी। व्यंग्यात्मक निबंधों के लिये जी० पी० राजरत्नम्, ना० कस्तूरि, कारंत, बल्लारि बीचि की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। पी० टी० नरसिंहाचार के भावनाचित्र, प्रो० ए० लु न० मूर्तिराव के हगएगनसुगलु एवं वामन भट्ट के कोदंडन उपन्यास गलु जैसे निबंधों में लघु वार्तालाप के सुंदर नमूने मिलते हैं। बेंद्रे के रेखाचित्र, टी० एन० श्रीकंठय्या और ए० एन० कृष्णराव के आलोचनात्मक निबंध, पुट्टप्पा के वर्णनात्मक निबंध, गोकाक के पत्रात्मक तथा भौगोलिक सांस्कृतिक निबंध, मोटे तौर पर यह दर्शाते हैं कि इस क्षेत्र में कितनी और कैसी उपलब्धियाँ हुई हैं। डी० वी० गुंडप्पा के 'गोखले', पुट्टप्पा के 'विवेकानंद', मधुरचेन्न के 'प्रिल्यूड', मास्ति के 'रवींद्रनाथ ठागूर' राजरत्नम् के 'दस वर्ष', दिवाकर के 'सेरेमने', गोकाक के 'समुद्रदाचेयिंद' आदि ग्रंथो में क्रमश क्लासिकल जीवनचरित्, रोमांटिक साहित्यिक तथा सौंदर्यात्मक जीवनवृत्त, साहित्यिक डायरी, आदि निबंध के विविध रूपों के सुंदर नमूने हैं। वी० सीतारामय्या के 'पंपा यात्रे', कारंत के 'अबुविंद और बरामक्के', मान्वि नरसिंहराव के निबंध इत्यादि प्रवास संबंधी साहित्य के आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

लगभग ३० वर्ष पहले बच्चों का विश्वकोश 'बालप्रपंच' लिखकर संभवत भारतीय भाषाओं के साहित्यों के समुख एक नूतन आदर्श उपस्थित

करने का श्रेय कन्नड के महान् लेखक शिवराम कारत को मिलना चाहिए। उन्होने 'ईजगत्तु' के नाम से अपने विश्वकोश के प्रथम भाग का प्रकाशन कराया है और अन्य भागो के सपादन कार्य मे अब वे निरतर लगे हुए है।

रेवरेड एफ० किट्टल, बी० एल० राइस तथा आँर० नरसिहाचार जैसे विद्वानो ने कन्नड के प्राचीन ग्रथो का शोध, सपादन तथा प्रकाशन कार्य ही नही किया अपितु आधुनिक काव्यविमर्श की भी परपरा चलाई। अग्रेजी तथा प्राचीन सस्कृत काव्यशास्त्र का गभीर अध्ययन करके कन्नड मे आलोचना साहित्य के लिये निश्चित मार्गदर्शन करनेवालो मे डी० वी० गुडप्पा, मास्ति वेकटेश अयगार, ए० आर० कृष्णशास्त्री तथा एम० गोविद पै मुख्य कहे जा सकते हैं। डी० वी० गुडप्पा का 'जीवनसौदर्य मतु साहित्य' और 'साहित्यशक्ति', मास्ति का तीन भागो मे प्रकाशित 'विमर्शे', ए० आँर० कृष्ण शास्त्री का भाषणगळु मत्तु लेखनगळु', आधुनिक कन्नड के आलोचना साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। डॉ० ए० वेंटकसुब्बय्या तथा एम० गोविंद पै ने अपने शोधपूर्ण निबधो मे कन्नड के प्राचीन कवियो के कालनिर्णय, वस्तुनिरूपण, भाषास्वरूप आदि पर गभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। कन्नड साहित्य परिषद् की छमाही पत्रिका 'परिषत्पत्रिके' तथा मैसूर विश्वविद्यालय की त्रैमासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध कर्नाटक' मे कन्नड के कवि और काव्य पर आलोचनात्मक लेख गत पच्चीस तीस वर्षो से बराबर प्रकाशित होते आ रहे हैं। मैसूर विश्वविद्यालय तथा कन्नड साहित्य परिषद् के तत्वावधान मे पप, कुमारव्यास, नागचद्र, रन्न आदि प्राचीन कवियो पर उत्तम विमर्शात्मक ग्रथ प्रकाशित हुए हैं। साथ ही अन्यान्य साहित्य सघो की ओरसे छोटे बडे आलोचनात्मक निबधो केसग्रह निकाले गए हैं। पी० जी० हलकट्टि, आँर० आँर० दिवाकर, एम० आर० श्रीनिवासमूर्ति जैसे विद्वानो ने क्रमश 'वचनशास्त्रसार', 'वचनशास्त्ररहस्य', 'वचनधर्मसार', तथा 'भक्ति भडारि बसवण्ण' नामक ग्रथो मे वीरशैव भक्त कवियो तथा उनकी कृतियो का गभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। मुलिय तिम्मप्पया का 'नाडोजपप', शि० शि० बसवनाल का 'प्रभुलिगलीले', कुदणगार का 'हरिहर देव', महादेवियकक, आँर० सी० हिरेमठ का 'महाकविराघवाक', के० वी० राघवाचार का 'यशोधरचरित', ए० आँर० कृष्णशास्त्री का 'सस्कृत नाटकगलु', टी० एन० श्री कठय्या का 'भारतीय काव्यमीमासे' और 'काव्यसमीक्षे' कुवेपु के 'साहित्यविहार' तथा 'तपोनदन', 'विभूतिपूजे' बेद्रे का 'साहित्यसशोधने', गोविंद पै का 'कन्नड साहित्यद प्राचीनते', बेटगेरि का 'कर्नाटक दर्शन', आँर० एस० पचमुखी का 'हरिदास साहित्य', डा० कर्कि का 'छदोविकास', डी० एल० नरसिहाचार द्वारा सपादित 'शब्दमणिदर्पण', आँर० एस० मुगळि का 'कन्नड साहित्य चरित्र' आदि ग्रथ ऐसे महत्वपूर्ण है जिनके अध्ययन से कन्नड भाषा एव साहित्य की व्यापकता तथा गहराई पर स्पष्ट प्रकाश पडता है। सन् १९४७ मे मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से एक बृहत् अग्रेजी-कन्नड-कोश प्रकाशित हुआ। शिवराम कारत का कन्नड अर्थकोश तथा डी० के० भारद्वाज का कन्नड-अग्रेजी-कोश उल्लेखनीय हैं। मैसूर राज्य सरकार तथा भारत सरकार के अनुदान से कन्नड-साहित्य - परिषद् की ओरसे एक बृहत् कन्नड कोश का सपादन कार्य चल रहा है।

आधुनिक कन्नड मे शिशु साहित्य के निर्माण के लिये भी प्रशसनीय कार्य हुआ है। इस दिशा मे पहले पहल पजेमगेशराव ने 'बाल-साहित्य-मडल' नामक सस्था की स्थापना करके बालसाहित्य की वृद्धि मे योग दिया। कुवेपु, जी० पी० राजरत्न, दिनकर देसाई, होइसल, देवुडु नरसिह शास्त्री, आदि अनेक कन्नड आधुनिक के लेखको ने बच्चो के लिये सुदर गीत रचकर शिशुसाहित्य को लोकप्रिय बनाया है। कर्नाटक मे बच्चो की शिक्षा के लिये शिशुविहार जगह जगह स्थापित हुए हैं। 'अखिल कर्नाटक मक्कलकूट', 'चिक्कबरकणज' जैसी बच्चो की सस्थाओ के कारण शिशुसाहित्य के सृजन मे विशेष प्रोत्साहन मिला है। मक्कल पुस्तक, नम्मपुस्तक, कद, चदमामा, जैसी बच्चो की मासिक पत्रिकाओ के नाम उल्लेखनीय है।

कन्नड के लोकगीतो तथा लोककलाओ के अध्ययन का कार्य भी प्रारभ हुआ है। कर्नाटक मे गत तीन सौ वर्षो से अत्यत लोकप्रिय लोककला 'यक्षगान' पर शिवराम कारत का लिखा हुआ 'यक्षगान' बयलाट एक महत्वपूर्ण ग्रथ है जिसपर भारत सरकार ने पाँच सहस्र रुपए का पुरस्कार प्रदान किया है। मास्ति वेकटेश अयगार ने अपने 'पापुलर कल्चर इन कर्नाटक' मे कन्नड के लोकसाहित्य का सुदर परिचय दिया है। ग्रामगीतो के भी कई सग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमे बेद्रे का 'गरतिय रहाडु', एल० गुडप्पा का 'हल्लियपदगलु', बी० एन० रगस्वामी तथा गोरूर रामस्वामयगार का 'हल्लियहाडुगलु', मतिगट्ट कृष्णमूर्ति का 'हल्लियपदगलु' का० रा० कृ० का 'जनपदगीतेगलु' उल्लेखनीय है।

विगत साठ सत्तर वर्षो से कन्नड मे अध्यात्म, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, शिक्षा, प्राणिशास्त्र, गणित, आरोग्य, वैद्यक, शस्यशास्त्र, कृषि, चित्रकला, सगीतकला आदि विभिन्न विषयो पर ग्रथनिर्माण का कार्य हुआ है। इधर कुछ वर्षो से हाई स्कूलो तथा कालेजो की पढाई के लिये कन्नड को माध्यम के रूप मे स्वीकार किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न विषयो पर कन्नड मे पाठ्य पुस्तके भी तैयार की जा रही है।

आधुनिक कन्नड साहित्य की श्रीवृद्धि मे कन्नड की पत्रपत्रिकाओ का सहयोग कुछ कम महत्व का नही है। मगलोर के बासेल मिशन के पादरियो को कन्नड मे सर्वप्रथम पत्रिका प्रकाशित करने का श्रेय दिया जाता है। इन पादरियो ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिये सन् १८५६ मे 'कन्नडवार्तिक' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरभ किया। अग्रेजी भाषा तथा साहित्य के प्रचार के साथ साथ कर्नाटक के विभिन्न प्रदेशो से अनेक पत्रपत्रिकाओ का सपादन प्रारभ हुआ। मैसूर के एम० वैकटकृष्णय्या के परिश्रम के फलस्वरूप कन्नड मे पत्रिका चलाने के कार्य मे विशेष प्रोत्साहन मिला। कन्नड की प्रारभिक पत्रिकाओ मे हितबोधिनी, सुदर्शन, आर्यमतसजीवनी, कर्नाटक काव्यमजरी, कर्नाटक काव्यकलानिधि, सुवासिनी, वाग्भूषण, विवेकोदय, सद्गुरु सद्बोधचद्रिके, धनुर्धारी, मधुरवाणी, श्रीकृष्णसूक्ति तथा साधवी के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् १९२१ के सर्वेक्षण के अनुसार कर्नाटक के विभिन्न प्रदेशो से कुल ६६ पत्रपत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थी। आजकल की दैनिक पत्रिकाओ मे सयुक्त कर्नाटक, प्रजावाणी, जनवाणी, तामिलनाडु तथा नवभारत मुख्य हैं। प्रजामत, कर्मवीर, जनप्रगति आदि साप्ताहिक पत्र लोकप्रिय हैं। कहानी सबधी पत्रिकाओ मे कतेगार, कथाजलि, कथाकुज, कोरवजी तथा मासिक पत्रिकाओ मे जीवन, कस्तूरि, जय कर्नाटक आदि उल्लेखनीय है।

आधुनिक कन्नड के प्रथम तथा द्वितीय उत्थान मे राष्ट्रीयता का स्वर मुखरित हुआ। उसके बाद समाजसुधार तथा दलित जातियो के उद्धार की भावना जोर पकडने लगती है। पौराणिक विषयो तथा पात्रो का मानवीकरण एक महत्वपूर्ण विषय है। प्रकृति के प्रति रोमाटिक दृष्टिकोण पूरी तरह से व्यक्त हुआ है। नवीन लेखन के कई महत्वपूर्ण सिद्धातो मे एक आत्माभिव्यजना है। मनुष्य के व्यक्तित्व की महानता तथा उसकी पवित्रता पर सर्वत्र आग्रह दिखाई देता है। लेखको के लिये यह नया साक्षात्कार था कि साहित्य व्यक्तित्व की अभिव्यजना होकर स्वय पूर्णता को प्राप्त होता है। गीत और निबध, उपन्यास और नाटक इत्यादि भी इसी व्यक्तिवाद से अनुप्राणित हुए हैं। यथार्थवादी लेखको ने सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सस्थाओ के झूठे विश्वासो तथा खोखलेपन का पर्दा फाश किया है। प्रगतिशील साहित्यकारो ने प्रधानतया समाज की दुर्व्यवस्था की समस्या को मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर हल करने का प्रयत्न किया है। रूढिवादी लेखक अपने सुप्रतिष्ठित विश्वास के मूल्य मे आस्था रखते हैं। लेखको का एक वर्ग वह है जिसने काव्यात्मक धार्मिक अनुभूतियो की सुदर व्यजना की है। ऐसे भी कतिपय लेखक हैं जिनका चरम उद्देश्य सौदर्यजगत् मे साहसपूर्ण अभियान है। लेखको की एक आस्तिक धारा भी है जिसमे नीति तथा विचारपूर्ण दार्शनिकता की ध्वनि मुखरित है। इस धारा के लेखको पर रामकृष्ण परमहस, विवेकानद एव अरविंद के जीवनदर्शन का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। इस दल की कृतियो मे बुद्धिवाद और रहस्यवाद, सौदर्यवाद और समाजवाद, कर्म और ज्ञान जैसे परस्पर विरोधी तत्वो, का समाहार हुआ है। इस प्रकार विविध विचारधारा के लेखको ने साहित्य की विभिन्न विधाओ के माध्यम से कन्नड भारती को सजाया है। इन विभिन्न विचारधाराओ से जिस साहित्यसगम की सृष्टि हुई है उसके समष्टिरूप मे से एक मानवतावादी उज्वल जीवनदर्शन प्रकाशित हुआ है जिसका कालातर मे व्यापक प्रभाव अवश्य लक्षित होगा। [हि०]

कन्नौज उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले का एक नगर, गगा की वाईं ओर ग्रड ट्रक सडक से ३ कि० मी० दूरी पर स्थित है। (स्थिति २७°३′ उ० तथा ७९°५६′ पू०)। किसी समय गगा नदी इस नगर के पार्श्व से वहती थी। रामायण में इस नगर का उल्लेख मिलता है। तॉलेमी ने ईसा के काल मे कन्नौज को कनोगिज़ा लिखा है। पाँचवी शताब्दी मे यह गुप्त साम्राज्य का एक प्रमुख नगर था। छठी शताब्दी मे श्वेत हूणो के आक्रमण से यह काफी विनष्ट हो गया था। चीनी यात्री युवानच्वाङ ने, जो हर्षवर्धन के समय भारत आया था, इस नगर का उल्लेख किया है। (दे० कान्यकुब्ज)। ११वी शताब्दी के आरभिक काल मे मुसलमानो के आक्रमण के कारण यह नगर काफी विनष्ट हुआ। ११९४ ई० मे मुहम्मद गोरी ने इस नगर पर अपना स्वत्व जमाया। 'आइने अकवरी' द्वारा ज्ञात होता है कि अकवर के समय मे यहाँ सरकार का मुख्य कार्यालय था। प्राचीन काल के भग्नावशेष आज भी लगभग छ कि० मी० व्यास के अर्धवृत्तीय क्षेत्र मे वर्तमान हैं। इस नगर के निकट कई मसजिदे, कब्रे तथा समाधियाँ हैं जिनमें वालापीर तथा शेख मेहँदी की समाधियाँ उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान काल मे यह नगर गुलावजल, इत्र एव अन्य सुगधित पदार्थ वनाने के लिये प्रसिद्ध है। १९५१ ई० में इस नगर की आवादी २३,१३८ थी। (दे० कान्यकुब्ज) [रा० लो० सिं०]

कन्या कुमारी यह मद्रास राज्य के सुदूर दक्षिण में भारत का एक पवित्र तीर्थस्थल है। यह भारतीय प्रायद्वीप के अतिम विंदु पर स्थित है। यही से पश्चिमी घाट के पहाड उत्तर की ओर फैले हुए हैं। समुद्रतट पर पश्चिमी घाट पर्वत की अतिम नोक पर कन्याभल देवी का मदिर है। वदरगाह न होने के कारण केवल छोटी नावे चलती हैं। इसी के नाम पर भारत एव लका के वीच के जलविस्तार को कन्याकुमारी जलडमरूमध्य कहते हैं। [रा० वृ० सिं०]

कन्हेरी पश्चिमी भारत के दरीमदिरो मे से एक। कन्हेरी का यह गिरिमदिर ववई से लगभग २५ मील दूर सालसेट द्वीप पर अवस्थित पर्वत की चट्टान काट कर वना वौद्धो का चैत्य है। हीनयान सप्रदाय का यह चैत्यमदिर आध्र सत्ता के प्राय अतिम युगो मे दूसरी स० ई० के अत मे निर्मित हुआ था। यह वना प्राय कार्ली की परपरा में ही है, उसी का सा इसका चैत्य हाल है, उसी के से स्तभो पर युगल आकृतियाँ इसमें भी वैठाई गई हैं। दोनो मे अतर मात्र इतना है कि कन्हेरी की कला उतनी प्राणवान् और शालीन नही जितनी कार्ली की है। कार्ली की गुफा से इसकी गुफा कुछ छोटी भी है। फिर, लगभग एक तिहाई छोटी यह गुफा अपूर्ण भी रह गई है। इसकी वाहरी दीवारो पर जो वुद्ध की मूर्तियाँ वनी हैं, उनसे स्पष्ट है कि इसपर महायान सप्रदाय का भी वाद मे प्रभाव पडा और हीनयान उपासना के वाद कुछ काल वौद्ध भिक्षुओ का सवध इससे टूट गया था जो गुप्त काल आते-आते फिर जुड गया, यद्यपि यह नया सवध महायान उपासना को अपने साथ लिए आया, जो वुद्ध और वोधिसत्वो की मूर्तियो से प्रभावित है। इन मूर्तियो मे वुद्ध की एक मूर्ति २५ फुट ऊँची है।

कन्हेरी के चैत्यमदिर का प्लान प्राय इस प्रकार है—चतुर्दिक् फैली हुई वनसपदा के वीच वहती जलधाराएँ, जिनके ऊपर उठती हुई पर्वत की दीवार और उसमे कटी कन्हेरी की यह गहरी लवायत गुफा। वाहर एक प्रागण नीची दीवार से घिरा है जिसपर मूर्तियाँ वनी है और जिससे होकर एक सोपानमार्ग चैत्यद्वार तक जाता है। दोनो ओर द्वारपाल निर्मित हैं और चट्टानी दीवार से निकली स्तभो की परपरा वनती चली गई है। कुछ स्तभ अलकृत भी हैं। स्तभो की सख्या ३४ है और समूची गुफा की लवाई ८६ फुट, चौडाई ४० फुट और ऊँचाई ५० फुट है। स्तभो के ऊपर की नर-नारी-मूर्तियो को कुछ लोगो ने निर्माता दपति होने का भी अनुमान किया है जो सभवत अनुमान मात्र ही है। कोई प्रमाण नही जिससे इनको इस चैत्य का निर्माता माना जाय। कन्हेरी की पश्चिमी भारत के प्रधान वौद्ध दरीमदिरो में गणना की जाती है, और उसका वास्तु अपने द्वार, खिडकियो तथा मेहरावो के साथ कार्ली की शिल्पपरपरा का अनुकरण करता है। [च० भा० पा०]

कपाल अथवा खोपड़ी मानव शरीर अस्थिपजर का वना हुआ है। अस्थि के ऊपर मासपेशी तथा त्वचा का आवरण रहता है। अस्थिपजर शरीर को आकृति प्रदान करता तथा पुष्टि देता है, इसके अतिरिक्त शरीर के कोमल अग, जैसे मस्तिप्क, फुफ्फुस, यकृत, प्लीहा आदि को सुरक्षित रखता है। मासपेशियाँ भी इन्ही अस्थियो के सहारे एक दूसरे से सवधित रहती हैं।

खोपडी का आशय उन अस्थियो से है जो शिर तथा चेहरे को आकृति प्रदान करती हैं। मानव कपाल अस्थियो से वना हुआ है। यह गुवज के समान उभरा हुआ कुछ चपटा, गोल तथा अडे के आकार का होता है। निचले जवडे (मैंडिवल, mandible) को छोडकर, जो केवल ततुओ द्वारा जुडा रहता है, कपाल की सभी अस्थियाँ प्रौढावस्था मे आपस मे पूर्णरूपेण जुडी रहती हैं। कपाल के सभी जोड अचल होते हैं। कपाल की अस्थियो के टुकडो के किनारे आरे के दाँतो की भाँति होते हैं। एक अस्थि दूसरी अस्थि के खाँचे मे पूर्ण रूप से ससक्त होती है। इस प्रकार इनमे किसी प्रकार की सापेक्ष गति नही होती। कपाल में अनेक गड्ढे तथा छिद्र होते हैं तथा उनमें सवधित मासपेशियाँ और स्नायु रहती हैं। नासिका गुहा में श्वास तथा गध सवधी सस्थान रहता है। मुख मे स्वाद तथा भोजन की पाचन क्रिया आरभ होती है। शखास्थि मे सतुलन तथा श्रवण सस्थान स्थित रहता है।

नवजात शिशुओ में कपाल की अस्थियाँ पूर्ण रूप से सयुक्त नही होती। फलत कपाल में खाली स्थान होते हैं जिन्हे हम त्वचा को छूकर ज्ञात कर सकते हैं। परतु वडे होने पर अस्थियाँ वढकर इन रिक्त स्थानो को ढक लेती है। जन्म के समय कपाल शरीर के अनुपात मे वडा होता है। चेहरा
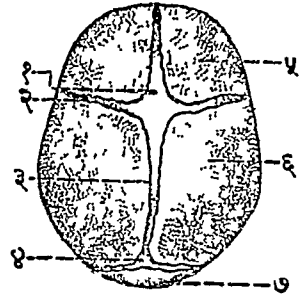
चित्र १ नवजात शिशु का कपाल (ऊपर से)

१ आगे का विवर, २ कॉरोनैल सीवनी, (Coronal suture) ३ सैजिटैल सीवनी, (Sagittal suture) ४ पीछे का विवर, ५ ललाटास्थि, ६ पार्श्विकास्थि, (Parietal bone) ७ अनुकपालास्थि (Occipital bone)

कपाल के अनुपात मे छोटा होता है। जैसे जैसे आयु वढती है, चेहरा वडा होता जाता है तथा कपाल और शरीर का अनुपात भी ठीक होता जाता है। कपाल के ऊपरी गोलार्ध पर, जन्म के समय अस्थियो का पूर्ण रूप से निर्माण न होने के कारण, रिक्त स्थानो पर कडे वधकततु रहते हैं। इन अस्थियो के सिरे पर आरे की भाँति दाँते उपस्थित नही रहते। कुछ स्थानो पर रिक्त स्थान अधिक वडे होते हैं जिन्हे फॉण्टानेल (Fontanelle) कहते हैं। ये पार्श्विकास्थि (पैरीयटल वोन, Parietal bone) के चारो सिरो पर पाए जाते हैं। इनमे सवसे वडा आगे का फॉण्टानेल होता है जो वर्गाकार होता है। यह ललाटास्थि तथा पार्श्विकास्थि के वीच में रहता है। यह लगभग १८ मास की आयु मे वद हो जाता है। पीछे का (posterior) फॉण्टानेल त्रिकोणाकार होता है जो पार्श्वास्थि तथा पीछे की अस्थि के वीच मे स्थित रहता है। यह १६ मास की आयु मे वद हो जाता है। इस प्रकार जन्म से लेकर प्रौढावस्था तक कपाल की अस्थियो के आकार प्रकार मे परिवर्तन होते रहते हैं। परिणामस्वरूप इन अस्थियो से तथा दाँतो से आयु का पता लगाने मे वहुत कुछ सहायता मिल सकती है जैसे

(१) प्रथम वर्ष की आयु के पश्चात् आगे के फॉण्टानेल को छोडकर सभी रिक्त स्थान वद हो जाते है। शखास्थि के चारो भाग आपस मे जुड जाते हैं तथा नीचे के जवडे की अस्थि के दोनो भाग भी आपस मे जुड जाते हैं। (२) इसी प्रकार २० वर्ष की आयु के पश्चात् कपाल की सभी सीवनियाँ (टाँके) अदृश्य हो जाती हैं। (३) कपाल से लिंग का ज्ञान भी हो सकता है। नारी का सपूर्ण कपाल और उसकी अलग अलग अस्थियाँ भी पुरुष के कपाल की अपेक्षा छोटी होती हैं। परतु, फिर भी कपाल की अस्थियो द्वारा लिंग का निर्वारण कठिन कार्य है।

कपाल की अस्थियो का वर्गीकरण—कपाल को दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं (१) मस्तिष्क का डिब्बा (Cranium), (२) चेहरे को वनानेवाली अस्थियाँ (Facial bones)।

मस्तिष्क का डिब्बा—यह आठ चपटी अस्थियो का वना हुआ रहता है। आठो अस्थियाँ आपस मे जुडकर एक वक्स वनाती हैं जिसके
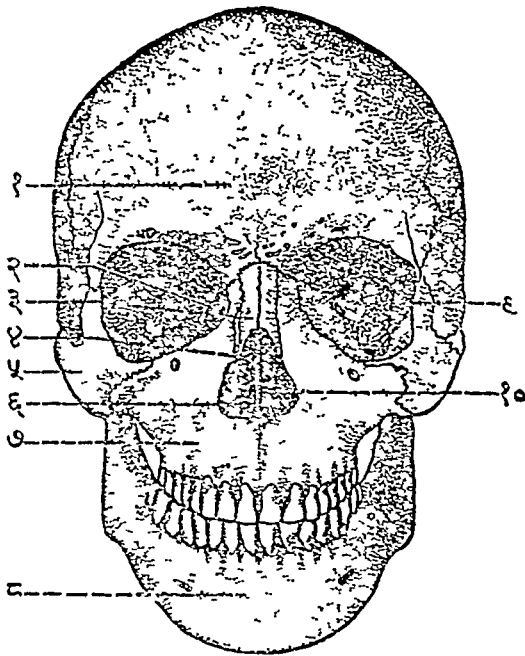
चित्र २ **कपाल (सामने से)**

१ ललाटास्थि (Frontal bone), २ आश्रवास्थि (लैक्रिमल वोन, Lachrymal bone), ३ नास्यास्थि (Nasal bone), ४ कौंका, वीच का (Superior concha), ५ गडास्थि (Zygomatic), ६ कौका नीचे का (Inferior concha), ७ ऊर्ध्वहन्वस्थि (मैक्सिला, Maxilla), ८ अघोहन्वस्थि (मैडिवल, Mandible), ९ नेत्रगुहा (Eye socket), १० नासारध्र (Nasal cavity)

भीतर शरीर का सवसे महत्वपूर्ण अग मस्तिष्क सुरक्षित रहता है। अस्थियो का विवरण इस प्रकार है

(अ) **ललाटास्थि**—सामने की अस्थि को ललाटास्थि कहते हैं। यह अकेली एक अस्थि है। इसी अस्थि के द्वारा मानव ललाट (माथा) या मस्तिष्क वनता है। जन्म के समय यह अस्थि ललाट सीवनी द्वारा दो भागो मे विभक्त रहती है। प्रथम वर्ष की आयु मे यह जोड विलीन होने लगता है और सात वर्ष की आयु तक पूर्णत विलीन हो जाता है। यह जोड आजीवन रह भी सकता है।

(आ) **पार्श्विकास्थि**—ललाटास्थि के पीछे कपाल की छत मे दो अस्थियाँ होती हैं जिन्हे पार्श्विकास्थियाँ कहते हैं। ये अस्थियाँ कपाल की छत मे अगल वगल, एक वाईं ओर तथा दूसरी दाहिनी ओर स्थित रहती हैं। वीच मे मिलकर ये कपाल की छत वनाती हैं। सिर के आकार के अनुसार ये अस्थियाँ कुछ गोलाकार लिए मुडी रहती है। इस अस्थि के चार किनारे होते है।
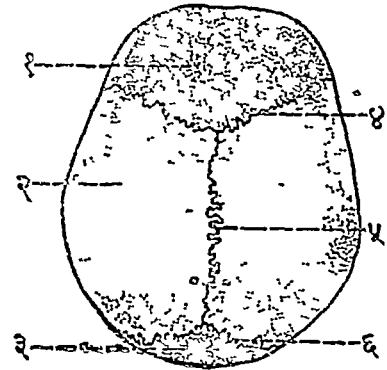
चित्र ३ **कपाल (ऊपरसे)**

१ ललाटकीय अस्थि, २ पार्श्विकास्थि, ३ अनुकपाल अस्थि, ४ कॉरोनैल सीवनी, ५ सैजिटैल सीवनी, ६. लैम्डाएड (Lambdoid) सीवनी।

(इ) **शखास्थि** (Temporal bone)—दो अस्थियो द्वारा कनपटी का भाग वना हुआ है। इन अस्थियो को हम कनपटी की अस्थियाँ या शखास्थि कहते है। कर्ण के दोनो ओर के छिद्र इन्ही अस्थियो मे होते है। दोनो ओर की इन अस्थियो मे एक पतली नली होती है, जिसे कर्णनली कहते हैं। यह मध्यकर्ण तक जाती है। कर्ण के छिद्र के पीछे यह अस्थि कुछ आगे की ओर निकली रहती है, जिसमे नीचे के जवडे के दोनो ओर के सिरे हिलने डुलनेवाले जोडो से जुडे रहते हैं। इस अस्थि के भीतरी भाग से कुछ त्रिकोण के आकार की अस्थि उठी रहती है, जिसके कारण कर्ण का आतरिक भाग सुरक्षित रहता है।

(ई) **अनुकपालास्थि**—कपाल का पिछला भाग अनुकपालास्थि द्वारा वना हुआ है। कपाल के पीछे के भाग मे स्थित होने के कारण इसे खोपडी
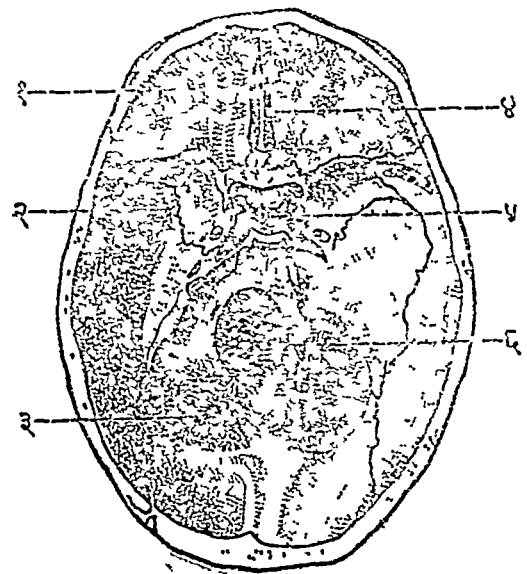
चित्र ४ **कपाल की तली**

१ अगला विवरक, २ मध्यविवरक, ३ पिछला विवरक, ४ घ्राणतत्रिकाछिद्र, ५ पिट्यूटरी ग्रथिस्थान, ६ वडा रध्र

के पीछे की अस्थि भी कहते है। अनुकपालास्थि ऊपर की ओर दोनो पार्श्विकास्थियो से जुडी रहती है। इसके नीचे की ओर एक महाछिद्र होता है। इस छिद्र द्वारा सुषुम्ना निकलकर मेरुदड की नली मे जाती है। महाछिद्र के दोनो ओर दो किलो की भाँति अस्थियाँ निकली रहती है, जिन्हे काडिल्स (Condyles) कहते हैं। अनुकपालास्थि के काडिल मेरुदड पर इस खूबी से

रचे रहते हैं कि मनुष्य अपने सिर को आसानी से आगे झुका सकता है। इस अस्थि का बीच का भाग स्पज के समान होता है। इसकी मोटाई सर्वत्र एक सी नही होती, उभडे हुए स्थानों पर तथा पूर्वीय आवारित भाग पर सबसे मोटी होती है, निचले भाग पर सबसे पतली होती है और यहां पर पारदर्शक भी हो सकती है।

(उ) जतूकास्थि (Spheroid bone)—इस अस्थि का आकार तितली की भाँति होता है। इस अस्थि में मध्य का भाग (शरीर) और दो पख (छोटे तथा बडे) होते हैं। ये पख शरीर के दोनो पार्श्वो मे होते हैं। यह अस्थि कपाल के निचले तथा अगल वगल के भाग का निर्माण करती है। यह अस्थि कपाल की अनेक अस्थियों से जुडी रहती है।

(ऊ) झर्झरास्थि (Ethmoid bone)—इस अस्थि में अनेक छिद्र होते हैं। इन छिद्रो द्वारा स्नायुसूत्र निकलकर नासिका में प्रवेश करते हैं। यह अस्थि नासिका की छत तथा नाक के गड्ढो की दीवार का कुछ भाग बनाती है। यह अस्थि जतूकास्थि से जुडी रहती है।

(ऋ) चेहरे की अस्थियाँ (Facial bones)—चेहरे मे कुल चौदह अस्थियाँ होती हैं। इन्ही चौदह अस्थियो से मिलकर चेहरा बनता है। कपाल की अस्थियों के जोडो की भाँति चेहरे की अस्थियो का जोड भी प्राय स्थिर तथा अचल होता है। केवल निचले जवडे के जोड चल या हिलने डुलनेवाले होते हैं। चेहरे की अस्थियो का विवरण निम्नाकित है

(क) नीचे के जवडे की अस्थि (Mandible)—यह गिनती मे एक होती है। यह अस्थि चिवुक बनाती है। इसके ऊपरी किनारो में सोलह
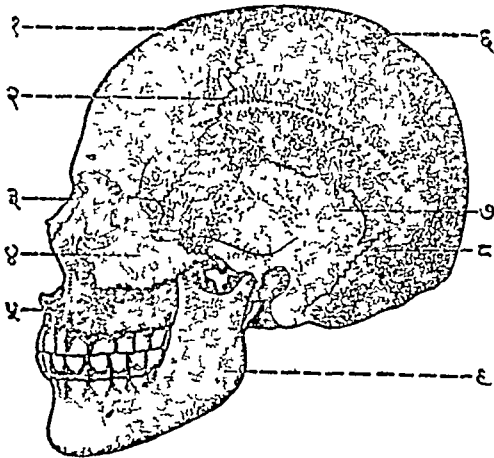
चित्र ५ कपाल (वगल से)

१ ललाटास्थि २ कॉरोनेल सीवनी (Coronal suture), ३ नासास्थि, ४ गडास्थि, ५ ऊर्ध्वहन्वस्थि (Maxillary bone), ६ पार्श्विकास्थि, ७ शखकास्थि (Temporal bone), ८ अनुकपालास्थि (Occipital bone), ९ अधोहन्वस्थि (Mandibular bone)।

दाँतों के लिये गड्ढे होते हैं। यह चेहरे की सबसे पुष्ट अस्थि होती है। कपाल की सभी अस्थियों में केवल नीचे के जवडे की सधि ही चल सधि बनाती है। इसी के कारण जवडा ऊपर नीचे और इधर उधर घूम सकता है। मनुष्य अपना भोजन सुगमतापूर्वक इस चल सधि के कारण ही चवा सकता है। इस सधि का निर्माण भ्रूण म डेढ मास के लगभग आरभ होता है। जन्म के समय यह अस्थि दो भागो मे विभक्त रहती है और चिवुक के पास सौत्रिक-ततु (Fibrous tissue) द्वारा जुडी रहती है। प्रथम वर्ष की समाप्ति के वाद इस अस्थि के दोनो भाग आपस में पूर्ण रूप से जुड जाते हैं। युवावस्था में अस्थि शरीर के ऊपर तथा नीचे के किनारो के मध्य मे 'मानसिक छिद्र' (Mental foramen) रहता है। वच्चो में यह छिद्र ऊपर के किनारे की अपेक्षा नीचे के किनारे के अधिक समीप रहता है। वृद्धावस्था में दाँतो के गिर जाने पर कोपगत उपात (Alvelar margin) का शोषण हो जाता है, फलत मानसिक छिद्र नीचे के किनारे की अपेक्षा ऊपर के किनारे के अधिक समीप हो जाता है।

ख ऊपर के जबडे की अस्थियाँ (Maxilla,)—ये गिनती में दो होती हैं। ये अस्थियाँ मुंह की छत का कुछ भाग बनाने में सहायक होती हैं। प्रत्येक अस्थि के निचले भाग मे १६ गड्ढे होते हैं जिनमे दाँत फँसे रहते हैं। ये चेहरे की मुख्य अस्थियाँ हैं। इन अस्थियों से कपोलास्थि विवर बनता है। युवावस्था मे इसकी ऊँचाई ३५ सेंटीमीटर, चौडाई २५ से० मी० तथा गहराई ३० सेंटीमीटर होती है। यह विवर भ्रूण मे चौथे मास में बनना आरभ होता है तथा जन्म के समय यह बहुत छोटा रहता है। प्रथम दतोत्पत्ति के समय यह कुछ बढता है, परतु द्वितीय दतोत्पत्ति के समय मुख्य रूप से बढता है।

ग नासिका की अस्थियाँ (Nasal bones)—ये अस्थियाँ गिनती मे दो होती हैं। ये अस्थियाँ बीच मे मिलकर दोनो नथुनो की बाहरी दीवार बनाती हैं। ऊपर की ओर ये ललाटास्थि (फ्रटल वोन, frontal bone) से तथा पार्श्व मे जवडे की अस्थि से सयुक्त रहती हैं। नीचे की ओर ये नासिका की उपास्थि (कार्टिलेज, cartilage) से जुडी रहती हैं। इसकी बाहरी सतह पर एक छिद्र होता है जिसमें से एकशिरा निकलती है। इसकी भीतरी सतह पर एक लबी प्रसीता (ग्रूव, groove) होती है जिसमे से पूर्व झर्झर रक्त वाहिनियाँ तथा नाडी (Anterior ethmoidal vessel and nerve) निकलती है। नासिका की अस्थि का निर्माण भ्रूणावस्था मे तीसरे मास से प्रारभ होता है।

घ कपोलास्थियाँ (Molar and cheek bones)—ये गिनती मे दो होती है। चेहरे मे ये गालो के उभरे हुए भाग बनाती हैं। ये वास्तव मे स्वतत्र अस्थियाँ नही हैं। ये ऊपर के जवडे की अस्थि उर्ध्वहन्वस्थि (Maxilla) के प्रवर्धन मात्र हैं।

ङ मृदु अस्थियाँ (Spongy bones)—ये गिनती में दो होती हैं। ये अस्थियाँ नाक के भीतर होती हैं। इनकी आकृति सीपी की भाँति होती है और ये स्पज के समान कोमल होती हैं। इन अस्थियो पर गुलावी रग की श्लेष्मिक कला चढी रहती है।

च अश्रु अस्थियाँ (Lachrymal bones)—ये गिनती मे दो होती है। ये अस्थियाँ नेत्रकोटर की भीतरी दीवाल मे नासिका की ओर लगी रहती है। इनमें छिद्र होता है। इन्ही छिद्रो द्वारा अश्रु नेत्र से नासिका मे चला जाता है। यह अस्थि पीछे की ओर झर्झरास्थि से तथा आगे की ओर जवडे की अस्थि से सयुक्त रहती है। इस अस्थि का निर्माण भ्रूण (intra-uteric life) म १२वे सप्ताह के लगभग प्रारभ होता है।

छ नासिका के पर्दे की अस्थि (Vomer bone)—यह केवल एक होती है और दोनो नथुनो के बीच में स्थित रहती है। इसी अस्थि द्वारा मानव नासिका दो नथनो मे विभक्त रहती है। [के० दे० गा०]

कपास प्राचीन काल से चीन रेशम के लिये, मिस्र सन तथा भारत कपास के लिये प्रसिद्ध रहा है। मोहनजोदडो में प्राप्त हुए कपडो से पता चलता है कि कपास भारत में ईसामसीह से लगभग ४,००० वर्ष पूर्व उगाई जाती रही होगी। ढाका तथा मसलीपटम की बारीक मलमलो की कहावतें अब तक प्रसिद्ध ह।

अँग्रेजो की नीति के कारण भारत केवल कपास पैदा करनेवाला देश बना दिया गया और यहाँ की हस्तकला समाप्त कर दी गई, परतु इस नीति से यह लाभ हुआ कि यहाँ कपास की पैदावार बढ गई और उससे उपार्जित धन से कपडो की मिलें बनाई गई। सन् १९५५-५६ में ४६५ मिले यहाँ काम करने लगी और फिर भारत का कपडा विदेशो को जाने लगा। आजकल भारत का स्थान ससार मे कपडा पैदा करनेवाले देशो मे दूसरा है।

जातियाँ—कपास मालवेसी (Malvaceae) कुल में आती है। शाखा गोसिपियम (Gossypium) है। इसका पौधा भूमध्य रेखा तथा समशीतोष्ण भागो में पैदा होता है। कपास की जातियाँ की चार शाखाएँ, गोसिपियम आरवोरियम, (G arboreum) गोसिपियम हर्वेसियम, (G herbaceum) गोसिपियम हिरसुटम (G hirsutum)

तथा गोसिपियम बारबेडेंस (G barbadense) हैं। पहली तीन शाखाओं की कपास की जातियाँ भारत में तथा चौथी शाखा की कपास विदेशों में पैदा होती है।

कपास की खेती—

जलवायु . कपास की अच्छी खेती के लिये पालारहित २०० दिन का समय, गरम ऋतु, पर्याप्त नमी तथा चुनाई के समय सूखी ऋतु की आवश्यकता है। ७०° से ११०° फारेनहाइट ताप तथा १० इंच से १०० इंच तक वर्षा में यह पैदा हो सकती है। लगभग २५ इंच वर्षा इसके लिये अधिक उत्तम है। भारत में लगभग ९० प्रति शत कपास वर्षा के भरोसे बोई जाती है।

भूमि भूमि के अनुसार कपास के क्षेत्रों को तीन भागों में, (१) गंगा सिंधु के मैदान की कछार भूमि, (२) मध्य भारत की काली भूमि तथा (३) दक्षिणी भारत की लाल भूमि, में विभाजित किया गया है।

जुताई गुडाई इत्यादि : कपास के लिये दो तीन जुताई पर्याप्त है, परंतु खरपतवार से बचाने के लिये पाँच छ निराई तथा गुडाई अति आवश्यक है।

बोने का समय देश के विभिन्न भागों में वर्षा के समय तथा परिमाण पृथक् पृथक् है, इसलिये बुआई नवंबर, दिसंबर तथा जनवरी को छोड़कर प्रत्येक मास में किसी न किसी प्रदेश में होती रहती है।

बीज छिड़कवाँ अथवा कतारों में, १२ इंच से ३६ इंच की दूरी पर, कपास की जाति अथवा भूमि की उर्वरता के अनुसार ५ से २० पाउंड तक प्रति एकड़ बोया जाता है।

खाद : कपास के लिये ४०-४५ पाउंड नाइट्रोजन प्रति एकड़ अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

सिंचाई भारत का केवल लगभग १० प्रति शत कपास का क्षेत्र सिंचाई से बोया जाता है। इसके कारण कपास की पैदावार कम होती है, क्योंकि सिंचाई से बोई हुई कपास की पैदावार वर्षा से बोई गई फसल की अपेक्षा दुगुनी तिगुनी तक हो जाती है। सिंचाई से बोने के पश्चात् पहली सिंचाई ३०-४० दिन के उपरांत करनी चाहिए।

बीमारियाँ तथा कीड़े : कपास के मुख्य रोग उकठा (विल्ट, Wilt), मूलगलन (रूट रॉट, Root-rot) तथा कलुआ (ब्लैक आर्म, Black arm) हैं। उकठा के लिये रोगमुक्त जाति बोना, मूलगलन के लिये कपास के बीच में दालवाली फसलें बोना और ब्लैक आर्म के लिये ऐग्रोसन नामक दवा का बीज पर उपयोग करना लाभदायक है।

मुख्य कीड़े कर्पासकीट (बोल वर्म), जैसिड तथा पत्तियामोड़ (लीफ रोलर) हैं। कर्पासकीट के लिये बीज को मई जून की तीव्र धूप में सुखाना या बीज पर मेथिल ब्रोमाइड का उपयोग करना और अन्य दोनों के लिये पौधे पर डी० डी० टी० अथवा बी० एच० सी० का छिड़काव लाभदायक सिद्ध हुआ है।

चुनाई तथा उपज देशी कपासों में ४-७ और अमरीकी कपासों में १०-१५ दिन के अंतर से प्राय ३ से ८ तक चुनाई की जाती है।

भारत में कपास की प्रति एकड़ औसत उपज ९० पाउंड रुई है। सबसे अधिक उपज पंजाब की है (१८५ पाउंड)।

उन्नतिशील जातियाँ—भारत के लगभग ६० प्रति शत क्षेत्रफल में उन्नत जातियाँ जैसे विजय, जरीला, जयाधर, लक्ष्मी, कारुगनी, एच १४, ३२० एफ, ३५११, सुयोग इत्यादि बोई जाती हैं, जो अनुसंधान द्वारा निकाली गई हैं।

क्रय विक्रय तथा ओटाई—बहुत से प्रदेशों में किसानों को उनकी कपास का उचित पैसा नहीं मिलता, क्योंकि उनके तथा मिलवालों के बीच में कई और खरीददार होते हैं। गुजरात में किसानों की अपनी सहकारी समितियाँ हैं जो कपास के क्रय विक्रय का प्रबंध करती हैं। बंबई, मद्रास, मध्यप्रदेश, पंजाब और मैसूर में नियंत्रित बाजार हैं जिनसे किसानों को काफी सुविधाएँ मिलती हैं। हाल ही में केंद्रीय तथा प्रदेशीय गोदाम बना दिए गए गए हैं जिनमें कपास की सुरक्षा तथा क्रय विक्रय का प्रबंध किया जायगा।

भारत में बंबई रुई व्यवसाय का सबसे बड़ा संगठित केंद्र है और ईस्ट इंडिया कॉटन ऐसोसिएशन रुई के व्यापार के लिये सरकार से स्वीकृत संस्था है।

कपास की ओटाई मशीन से की जाती है, रुई की एक एक गाँठ लगभग पाँच मन की होती है। यह बहुत दबाकर बाँधी जाती है, जिसमें इधर उधर भेजने में सुविधा रहे।

कपास उत्पादन—संसार के लगभग ६० देशों में कपास उत्पन्न की जाती है, परंतु ८० प्रति शत से अधिक अमरीका, रूस, चीन, भारत, मिस्र, ब्राजील तथा पाकिस्तान में होती है। दूसरे विश्वयुद्ध से पहले सन् १९३८-३९ में भारत में कपास का क्षेत्रफल २ ३ करोड़ एकड़ था जिसकी उपज ३६ ६ लाख गाँठ थी जो घटकर सन् १९४८-४९ में १ ४ करोड़ एकड़ क्षेत्रफल तथा १७ ६७ लाख गाँठ हो गई। सन् १९४९-५० से केंद्रीय सरकार ने कपास का उत्पादन बढ़ाने की योजनाएँ बनाई जिसके कारण क्षेत्रफल फिर बढ़कर लगभग २ करोड़ एकड़ हो गया। क्षेत्रफल के हिसाब से भारत का स्थान सर्वप्रथम है, परंतु उपज में चौथा है। इस बात में प्रथम तीन देश क्रमानुसार अमरीका, रूस तथा चीन हैं।

कपड़ा उद्योग—यह भारत का सबसे बड़ा उद्योग और भारतीय आय का मुख्य साधन है। सन् १९५५-५६ में भारत में कपड़े की ४६५ मिलें हो गईं, जिनमें लगभग ५३० करोड़ गज कपड़ा बना और १७८ करोड़ गज करघों द्वारा बनाया गया है।

भविष्य की योजनाएँ—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक रुई उत्पादन का लक्ष्य ६५ लाख गाँठों का तथा ८४० करोड़ गज कपड़ा प्रति वर्ष बनाने का था। यह प्रति मनुष्य १८ गज ऐसी अवस्था में पड़ता है जब १०० करोड़ गज कपड़ा बाहर भेजा जाय। उस समय लगभग ६ लाख गाँठें लंबे रेशेवाली कपास की बाहर से मँगाई जाती थी और उतनी ही छोटे रेशेवाली गाँठें बाहर भेजी जाती। लंबे रेशेवाली कपासों का उत्पादन भारत में आरंभ हो गया है और, आशा है, शीघ्र ही इनका मँगाना बंद हो जायगा।

संसार में कपास की वर्तमान उपज लगभग ४७ करोड़ गाँठ (प्रति गाँठ ३९२ पाउंड) प्रति वर्ष है। [सो० बी० सिं०]

कपिल सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक। इनके समय और जन्मस्थान के बारे में निश्चय नहीं किया जा सकता। बहुत से विद्वानों को तो इनकी ऐतिहासिकता में ही संदेह है। पुराणों तथा महाभारत में इनका उल्लेख हुआ है। कहा जाता है, प्रत्येक कल्प के आदि में कपिल जन्म लेते हैं। जन्म के साथ ही सारी सिद्धियाँ इनको प्राप्त होती हैं। इसीलिये इनको आदिसिद्ध और आदिविद्वान् कहा जाता है। इनका शिष्य कोई आसुरि नामक वंश में उत्पन्न वर्षसहस्रयाजी श्रोत्रिय ब्राह्मण बतलाया गया है। परंपरा के अनुसार उक्त आसुरि को निर्माणचित्त में अधिष्ठित होकर इन्होंने तत्वग्राम का उपदेश दिया था। निर्माणचित्त का अर्थ होता है सिद्धि के द्वारा अपने चित्त को स्वेच्छा से निर्मित कर लेना। इससे मालूम होता है, कपिल ने आसुरि के सामने साक्षात् उपस्थित होकर उपदेश नहीं दिया अपितु आसुरि के ज्ञान में इनके प्रतिपादित सिद्धांतों का स्फुरण हुआ, अत ये आसुरि के गुरु कहलाए। महाभारत में ये सांख्य के वक्ता कहे गए हैं। इनको अग्नि का अवतार और ब्रह्मा का मानस पुत्र भी पुराणों में कहा गया है। **श्रीमद्भागवत** के अनुसार कपिल विष्णु के पंचम अवतार माने गए हैं। कर्दम और देवहूति से इनकी उत्पत्ति मानी गई है। बाद में इन्होंने अपनी माता देवहूति को सांख्यज्ञान का उपदेश दिया जिसका विशद वर्णन **श्रीमद्भागवत** के तीसरे स्कंध में मिलता है।

कपिलवस्तु, जहाँ बुद्ध पैदा हुए थे, कपिल के नाम पर बसा नगर था और सगर के पुत्र ने सागर के किनारे कपिल को देखा और उनका शाप पाया तथा बाद में वही गंगा का सागर के साथ संगम हुआ। इससे मालूम होता है कि कपिल का जन्मस्थान संभवत कपिलवस्तु और तपस्याक्षेत्र गंगासागर था। इससे कम से कम इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि बुद्ध के पहले कपिल का नाम फैल चुका था। यदि हम कपिल के शिष्य आसुरि को **शतपथ ब्राह्मण** के आसुरि से अभिन्न मानें तो कह सकते हैं कि कम से कम ब्राह्मणकाल में कपिल की स्थिति रही होगी। इस प्रकार ७०० वर्ष ई० पू० कपिल का काल माना जा सकता है।

सांख्यशास्त्र का उद्देश्य तत्वज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञकर्म के द्वारा अपवर्ग की प्राप्ति बतलाई गई है। कर्मकांड के विपरीत ज्ञानकांड को महत्व देना सांख्य की सबसे बड़ी विशेषता है। उपनिषदों में ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ माना गया है। यद्यपि अधिकांश

उपनिषदो में ब्रह्म को चरम सत्ता और ससार को उसी का परिणाम या विवर्त बतलाया गया है, परतु कुछ उपनिषदो मे, मुख्य रूप से **श्वेताश्वसर** में साख्य के सिद्धातो का प्रतिपादन मिलता है। परतु यह प्रतिपादन क्रमबद्ध रूप मे नहीं है, केवल कुछ ऐसे सिद्धातो की ओर सकेत करता है जिनका आगे चलकर साख्य सिद्धात मे समावेश हो गया। कपिल को आदिसिद्ध अथवा सिद्धेश कहने का अर्थ यह है कि सभवत कपिल ने ही सर्वप्रथम ध्यान और तपस्या का मार्ग बतलाया था। उनके पहले कर्म ही एक मार्ग था और ज्ञान केवल चर्चा तक सीमित था। ज्ञान को साधना का रूप देकर कपिल ने त्याग, तपस्या एव समाधि को भारतीय सस्कृति मे पहली बार प्रतिष्ठित किया।

कपिल ने क्या उपदेश दिया, यह कहना कठिन है। **'तत्वसमाससूत्र'** को उसके टीकाकार कपिल द्वारा रचित मानते हैं। सूत्र छोटे और सरल हैं। इसीलिये मैक्समूलर ने उन्हें बहुत प्राचीन बतलाया। परतु इस-पर न तो कोई बहुत प्राचीन टीका उपलब्ध होती है और न किसी पुराने ग्रथ में इसका उल्लेख मिलता है। ८ वी शताब्दी के जैन ग्रथ **'भगवदज्जुकीयम्'** मे साख्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है--**अष्टौ प्रकृतय, षोडश विकारा, आत्मा, पचावयवा, त्रैगुण्यम्, मन, सचर, प्रतिसचरश्च,** (आठ प्रकृतियाँ, सोलह विकार, आत्मा, पाँच अवयव, तीन गुण, मन, सृष्टि और प्रलय) ये साख्यशास्त्र के विषय हैं। **'तत्वसमाससूत्र'** मे भी ऐसा ही पाठ मिलता है। साथ ही **तत्वसमाससूत्र** के टीकाकार भावागणेश कहते हैं कि उन्होने टीका लिखते समय पचशिख लिखित टीका से सहायता ली है। रिचार्ड गार्वे के अनुसार पचशिख का काल प्रथम शताब्दी होना चाहिए। अत **भगवदज्जुकीयम्** तथा भावागणेश की टीका को यदि प्रमाण मानें तो **'तत्वसमाससूत्र'** का काल ईसा की पहली शताब्दी तक ले जाया जा सकता है। इसके पूर्व इसकी स्थिति के लिये सबल प्रमाण का अभाव है। **साख्यप्रवचनसूत्र** को भी कुछ टीकाकार कपिल की कृति मानते हैं। **कौमुदीप्रभा** के कर्ता स्वप्नेश्वर **'साख्यप्रवचनसूत्र'** को पचशिख की कृति मानते हैं और कहते हैं कि यह ग्रथ कपिल द्वारा निर्मित इसलिये माना गया है कि कपिल साख्य के प्रवर्तक हैं। यही बात **'तत्वसमास'** के बारे मे भी कही जा सकती है। परतु साख्यप्रवचनसूत्र का विवरण माधव के **'सर्वदर्शनसग्रह'** मे नहीं है और न तो गुणरत्न में ही इसके आधार पर साख्य का विवरण दिया है। अत विद्वान् लोग इसे १४ वी शताब्दी का ग्रथ मानते हैं।

साख्य मे प्रकृति और पुरुष ये दो तत्व मानें गए हैं। प्रकृति को सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणो से निर्मित कहा गया है। त्रिगुण की साम्यावस्था, प्रकृति और इनके वैषम्य से सृष्टि होती है। सृष्टि मे कुछ नया नही है, सब प्रकृति से ही उत्पन्न है। ससार प्रकृति का परिणाम मात्र है। सत्कार्यवाद और परिणामवाद के प्रवर्तक के रूप मे साख्य की प्रसिद्धि है। पुरुष के सनिधि मात्र से प्रकृति मे वैषम्य होने से सृष्टि होती है। प्रकृति जड है, पुरुष चेतन, प्रकृति कर्ता है, पुरुष निष्क्रिय। लँगडे और अधे के सयोग की तरह पुरुष और प्रकृति का सयोग है। पुरुष चेतन है और अपना बिंब प्रकृति मे देखकर अपने को ही कर्ता समझता है और इसी अज्ञान के बधन मे पडकर दु ख भोगता है, मोह को प्राप्त होता है। जिस समय पुरुष को ज्ञान हो जाता है कि वह कर्ता नही है, निर्लिप्त, कूटस्थ साक्षी मात्र है, प्रकृति का नाट्य उसके लिये समाप्त हो जाता है। अज्ञान-जन्य कर्मबध से मुक्त होकर अपने केवल रूप को जान लेना कैवल्य या मोक्ष है और यही परम पुरुषार्थ है। मुक्त होने पर मुक्त पुरुष के लिये प्रकृति महत्वहीन है परतु अन्य ससारी पुरुष के लिये वह सत्य है क्योकि प्रकृति का नाश नही होता। यही कारण है कि साख्य मे नाना पुरुष माने गए हैं। पुराणों तथा **'साख्यप्रवचनसूत्र'** के अनुसार पुरुषो के ऊपर एक पुरुषोत्तम भी माना गया है। यह पुरुषोत्तम या ईश्वर पुरुष को मोक्ष देता है। परतु प्राचीनतम उपलब्ध साख्य ग्रथ **'साख्यकारिका'** के अनुसार ईश्वर को साख्य में स्थान नहीं है। स्पष्टत कपिल भी निरीश्वरवादी थे, सेश्वर साख्य का विकास बाद में हुआ।

साख्य में पचीस तत्व माने गए हैं। पुरुष, पुरुष की सनिधियुक्त प्रकृति से महत् या बुद्धि, बुद्धि से अहकार, अहकार से पाँच तन्मात्राएँ अथवा सूक्ष्म भूत और मन, पांच तन्मात्राओ से पांच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ और पाँच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। इनमे से प्रकृति किसी से उत्पन्न नही है, महत्, अहकार और तन्मात्राएँ ये सात प्रकृति से उत्पन्न हैं और दूसरे तत्वो को उत्पन्न भी करते हैं। बाकी सोलह तत्व केवल उत्पन्न है, किसी नए तत्व को जन्म नही देते। अत ये सोलह विकार माने जाते हैं, प्रकृति अविकारी है, महत् आदि सात तत्व स्वय विकारी हैं और विकार उत्पन्न भी करते हैं।

कपिल ने सर्वप्रथम विकासवाद का प्रतिपादन किया और ससार को एक क्रम के रूप मे देखा। ससार को स्वाभाविक गति से उत्पन्न मानकर इन्होने ससार के किसी अति प्राकृतिक कर्ता का निषेध किया। सुख दु ख प्रकृति की देन है तथा पुरुष अज्ञान में बद्ध है। अज्ञान का नाश होने पर पुरुष और प्रकृति अपने अपने स्थान पर स्थित हो जाते हैं। अज्ञाननाश के लिये ज्ञान की आवश्यकता है अत कर्मकाड निरर्थक है। ज्ञानमार्ग का यह प्रवर्तन भारतीय सस्कृति को कपिल की देन है। यदि बुद्ध, महावीर जैसे नास्तिक दार्शनिक कपिल से प्रभावित हो तो आश्चर्य नही। आस्तिक दार्शनिको में से वेदात, योग और पौराणिक स्पष्ट रूप मे साख्य के निगुण वाद और विकासवाद को अपनाते हैं। इस प्रकार कपिल प्रवर्तितसाख्य का प्रभाव प्राय सभी दर्शनो पर पडा है।

स० ग्र०—विज्ञानभिक्षु साख्यप्रवचनभाष्य (रिचार्ड गार्वे द्वारा सपादित), ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका, सुरेंद्रनाथ दासगुप्त हिस्ट्री आव इडियन फिलासफी, भाग १, एस० राधाकृष्णन् इडियन फिलासफी, भाग २, चक्रवर्ती ओरिजिन ऐंड डेवेलपमेंट आव साख्य, ए० बी० कीथ साख्य, उदयवीर शास्त्री साख्य शास्त्र का इतिहास। [रा० पा०]

कपिलवस्तु

शाक्य गण की राजधानी, जिसमें गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। विंसेंट स्मिथ के मत से यह बस्ती जिले का पिपरावा नामक स्थान है जहाँ बुद्ध की अस्थियो पर शाक्यो द्वारा निर्मित स्तूप पाया गया है। पर अधिकतर विद्वान् कपिलवस्तु नैपाल के तिलौरा-कोट को मानते हैं जो नैपाल की तराई के प्रधान नगर तौलिहवा से दो मील उत्तर की ओर है। बुद्ध शाक्य गण के राजा शुद्धोदन और महामाया के पुत्र थे। उनका जन्म लुबिनी वन में हुआ जिसे अब रुम्मिनदेई कहते हैं। रुम्मिनदेई तिलौराकोट (कपिलवस्तु) से १० मील पूर्व और भगवानपुर से दो मील उत्तर है। यहाँ अशोक का एक स्तभलेख मिला है जिसका आशय है कि भगवान् बुद्ध के इस जन्मस्थान पर आकर अशोक ने पूजा की और स्तभ खडा किया तथा 'लुम्मिनीगाम' के कर हलके किए।

गौतम बुद्ध ने बाल्य और यौवन के सुख का उपभोग कर २९ वर्ष की अवस्था मे कपिलवस्तु से महाभिनिष्क्रमण किया। बुद्धत्व-प्राप्ति के दूसरे वर्ष वे शुद्धोदन के निमत्रण पर कपिलवस्तु गए। इसी प्रकार १५वाँ चातुर्मास भी उन्होने कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम मे बिताया। यहाँ रहते हुए उन्होंने अनेक सूत्रो का उपदेश किया, ५०० शाक्यो के साथ अपने पुत्र राहुल और वैमात्र भाई नद को प्रव्रज्या दी तथा शाक्यो और कोलियो का झगडा निपटाया।

बुद्ध से घनिष्ठ सबध होने के कारण इस नगर का बौद्ध साहित्य और कला में चित्रण प्रचुरता से हुआ है। इसे बुद्धचरित काव्य मे 'कपिलस्य वस्तु' तथा ललितविस्तर और त्रिपिटक मे 'कपिलपुर' भी कहा है। दिव्यावदान ने स्पष्टत इस नगर का सबध कपिल मुनि से बताया है। ललितविस्तर के अनुसार कपिलवस्तु बहुत बडा, समृद्ध, धनधान्य और जन से पूर्ण महानगर था जिसकी चार दिशाओ मे चार द्वार थे। नगर सात प्राकारो और परिखाओ से घिरा था। यह वन, आराम, उद्यान और पुष्करिणियो से सुशोभित था और इसमे अनेक चौराहे, सडकें, बाजार, तोरणद्वार, हर्म्य, कूटागार तथा प्रासाद थे। यहाँ के निवासी गुणी और विद्वान् थे। सौंदरानंद काव्य के अनुसार यहाँ के अमात्य मेधावी थे। पालि त्रिपिटक के अनुसार शाक्य क्षत्रिय थे और राजकार्य 'सथागार' में एकत्र होकर करते थे। उनकी शिक्षा और सस्कृति का स्तर ऊँचा था। भिक्षुणीसघ की स्थापना का श्रेय शाक्य स्त्रियो को है।

फाह्यान के समय तक कपिलवस्तु में थोडी आबादी बची थी पर युआन्च्वाड के समय में नगर वीरान और खँडहर हो चुका था, किंतु बुद्ध के जीवन के घटनास्थलो पर चैत्य, विहार और स्तूप एक हजार से अधिक सख्या में खडे थे। [कृ० दे०]

कपूर (दे० 'कर्पूर' लेख)

कपूरकचरी ज़िंजीबरेसी (Zingiberaceae) कुल की एक क्षुप जाति है जिसे हेडीचियम स्पाइकेटम (Hedychium spicatum) कहते हैं। यह उपोष्णदेशीय (subtropical) हिमालय, नेपाल तथा कुमाऊँ में ५-७ हजार फुट की ऊँचाई तक स्वत उत्पन्न होता है। इसके पत्र साधारणत लगभग एक फुट लबे, आयताकार अथवा आयताकार-भालाकार, (oblong lancedate) चिकने और काड पर दो पक्तियो मे पाए जाते हैं। काड के शीर्ष पर कभी कभी एक फुट तक लबी सघन पुष्पमजरी बनती है, जिसमे पुष्प अवृत और श्वेत तथा निपत्र (bracts) हरित वर्ण के होते हैं। इसके नीचे भूमिशायी, लबा, और गाँठदार प्रकद (rhyzome) होता है जिसके गोल, चपटे कटे हुए और शुष्क टुकडे बाजार मे मिलते हैं। कचूर की तरह इसमे ग्रथामय मूल (nodulose roots) नही होते और गध अधिक तीव्र होती है।

ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन आयुर्वेदाचार्यो ने जिस शटी या शठी नामक औषधद्रव्य का सहिताओ मे प्रचुर उपयोग बतलाया है, वह यही हिमोद्भवा कपूरकचरी है। परतु इसके अलभ्य होने के कारण इसी कुल के कई अन्य द्रव्य, जो मैदानो में उगते हैं और जो गुण मे शठी तुल्य हो सकते है, सभवत इसके स्थान पर प्रतिनिधि रूप मे ग्रहण कर लिए गए हैं। इनमे कचूर, चद्रमूल (कैंपफेरिया गालैंजा, Kaempferia galanga) तथा वनहरिद्रा (करक्यूमा ऐरोमैटिका, Curcuma aromatica) मुख्य हैं। इसीलिये इन सभी द्रव्यो के स्थानीय नामो मे प्राय कचूर, शठी, तथा कपूरकचरी आदि नाम मिलते हैं, जो भ्रम पैदा करते हैं। निघटुओ के शठी, कर्चूर, गधपलाश, मुरा तथा एकागी आदि नाम इन्ही द्रव्यो के प्रतीत होते है।

आयुर्वेद मे शटी (ठी) को कटु, तिक्त, उष्णवीर्य एव मुख के वैरस्य, मल एव दुर्गंध को नष्ट करनेवाली और वमन, कास-श्वास, व्रण, शूल, हिक्का और ज्वर मेउपयोगी माना गया है। [व० सिं०]

कपूरथला नगर पजाव के कपूरथला नामक पूर्व राज्य का प्रमुख नगर एव राजधानी था। (स्थिति ३१° २३' उ० तथा ७५° २५' पू०)। यह व्यास नदी से लगभग १७ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह नगर सभवत ११वी शताब्दी मे जैसलमेर के राजपूत राजा राणा कपूर द्वारा स्थापित हुआ था। मुगल साम्राज्य के छिन्न भिन्न होने पर एक मुसलमान सरदार ने इस नगर को अपने अधीन कर लिया था, जिसे सन् १७८० ई० मे सरदार जस्सासिंह ने पुन छीन लिया। इस नगर मे राजप्रासाद के अतिरिक्त और भी अनेक सुदर भवन हैं। यहाँ की नगरपालिका की मुख्य आय चुगी से होती है। यहाँ रणधीर महाविद्यालय के अतिरिक्त कई माध्यमिक शिक्षा सस्थाएँ भी हैं। इस नगर की जनसख्या सन् १९४१ ई० मे २६,०६७ थी। [न० प्र०]

२ कपूर थला राज्य सिंधु-गगा के मैदानी भाग मे पूर्वी पजाव राज्यसघ का एक सिक्ख राज्य था जो जालधर से ८ मील पश्चिम व्यास नदी के किनारे, उत्तर मे होशियारपुर जिला से लेकर दक्षिण मे सतलज नदी तक, बसा हुआ था। इस राज्य का क्षेत्रफल ६५२ वर्ग मील तथा जनसख्या ३,७८,३८० थी। बीच दोआवा मे पडने के कारण यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ है, किंतु यहाँ नहरे नहीं हैं। वर्षा आवश्यकतानुसार पर्याप्त नही होती, अतएव कुओ द्वारा सिंचाई करके ही कृषि की जाती है। यह राज्य साधारणत दो भागो मे विभक्त था जिसका एक भाग व्यास नदी के किनारे उत्तर-पूरब से लेकर दक्षिण-पश्चिम, सतलज नदी तक, फैला था। यह भाग राज्य के शेष भाग से इस्टर बैइन नदी द्वारा विभक्त था। यह भूखड अपनी अच्छी जलवायु तथा उपजाऊ भूमि के कारण कृषि के लिये विशेष महत्वपूर्ण है। इस भाग में कपास, ईख, गेहूँ, जौ तथा तबाकू की अच्छी उपज होती है। राज्य का दूसरा शेष भाग 'भुग इलाका' था जिसमे छोटे छोटे गाँव बसे हुए हैं। यहाँ कुओ द्वारा सिंचाई करके कुछ गेहूँ, जौ उत्पन्न कर लिया जाता है। सिवालिक पर्वत से निकलनेवाली छोटी छोटी तीव्रगामिनी बरसाती नदियो द्वारा इस प्रदेश का सपूर्ण क्षेत्र प्राय प्रवाहित रहता है, किंतु ये नदियाँ दीर्घजीवी नही हैं अतएव सिंचाई के लिये अनुपयुक्त है। इस राज्य को पूर्वी पजाव प्रदेश मे समिलित कर लिया गया है। (कृ० प्र० सिं०)

कपोत कोलबिडी (Columbidae) गण के प्रसिद्ध पक्षी हैं। इनकी दो जगली जातियो—नील शैलकपोत (ब्लू रॉक पिजन, Blue rock pigeon) तथा शैल कपोतक (रॉक डव, कोलबिडस पालवस, Rock dove, Columbidus palumbus)—से मनुष्यो ने बहुत सी पालतू जातियाँ निकाली हैं, जो चार श्रेणियो मे विभक्त की जा सकती है

१—बुद्बुदक कपोत (पाउटर, Pouters)—जिनकी ग्रासनली (गलेट, gullet) बडी और अन्नग्रह (क्रॉप, crop) से अलग रहती है। अन्नग्रह को फुलाकर ये बडा कर सकते ह।

२—वाहक कपोत (कैरियर, Carrier)—जिनमे तीन प्रकार के कपोत बहुत प्रसिद्ध है (क) साधारण वाहक (Carrier), जिनकी चोच लबी और आँख का घेरा नगा रहता है। (ख) विराट् (रट, Runts), जिनका कद बडा और चोच लबी तथा भारी होती है। (ग) कटक (बार्ब्स, Barbs), जिनकी चोच छोटी और आँख का घेरा नगा रहता है। इसकी बहुतेरी उपजातियाँ फैली हुई हैं।

३—व्यजनपुच्छ (फैनटेल, Fantails), जिनमे चार तरह के कपोत प्रसिद्ध हैं (क) टरबिट (Turbit) और उलूक (आउल, Owl), जिनकी चोच छोटी और मोटी तथा गले के पख तिरछे रहते हैं। (ख) गिरहबाज (टबलर, Tumbler), जो उडते उडते उलटकर कलैया खाते रहते हैं। (ग) झल्लरीपृष्ठ (फ्रिलबैक, Frill-back), जो अपनी पूँछ के पख ऊपर की ओर छत्राकार उठा सकते हैं। साधारण बोलचाल मे इन्हे लक्का कहते हैं। (घ) जैकोबिन, (Jacobin) जिनके गले के पख कठेनुमा उभरे रहते हैं।

४—भृगवाकु (ट्रपेटर, Trumpeters), जिनके गले के नीचे के पख आगे की ओर घूमे रहते हैं। इनकी बोली बहुत कर्कश होती है।

लगभग ३,००० ई० पू० से मनुष्यो द्वारा कबूतरो के पालने का पता (मिस्र देश के भित्तिचित्रो से) चलता है। उसके बाद ईरान, बगदाद तथा अरब के अन्य देशो मे भी कबूतर पालने का प्रचलन था। सन् १८४८ की फ्रास की क्रांति मे कबूतरो का उपयोग सदेशवाहक के रूप मे किया गया था। विज्ञान के इस युग मे भी इनकी उपयोगिता कम नही हुई है और इनकी टाँगो अथवा पीठ पर एक पोली नली मे पत्र रखकर आज भी लडाई मे इनका उपयोग होता है।

ससार भर मे बेलजियम कबूतरो का सबसे अधिक शौकीन देश है। वहाँ इनकी उडान पर घोडो की दौड के समान बाजी लगती है। लगभग सभी गाँवो मे कबूतरो के क्लब स्थापित हैं। हमारे देश मे भी गिरहबाज,
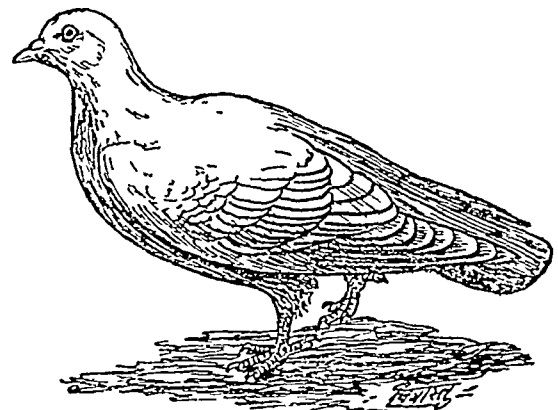
कपोत (कबूतर)

लक्का, मुक्खीलोटन, अबरसरे, चीना, शिराजी, गोला आदि अनेक जातियो के कबूतरो को शौकीन लोग पालते हैं।

जगली कबूतरो मे नीलशैल जाति ससार के प्राय सभी देशो मे फैली हुई है, यह लगभग १५ इच लबा सिलेटी रग का पक्षी है जिसके नर तथा मादा एक जैसे होते हैं। ये दाना और बीज चुगनेवाले पक्षी हैं जो झुडो में

रहते हैं। मादा साल में दो वार भूमि पर या किसी छेद मे घोसले के नाम पर दो चार तिनके रखकर दो सफेद अडे देती है। वच्चे कुछ दिनो तक विना पख के असहाय रहते हैं। उनके मुँह में अपनी चोच डालकर माँ बाप एक प्रकार का रस भर देते हैं जो उनके शरीर के भीतर की अन्नग्रह थैली मे एकत्र हो जाता है और सुगमता से पचता है।

इनके अतिरिक्त न्यूगिनी के विशाल किरीटधारी कबूतर (जायट क्राउड पिजन, Giant crowned pigeon) भी कम प्रसिद्ध नही हैं। ये कद मे सबसे वडे होते हैं और इनके सिर पर पखीनुमा कलँगी सी रहती है।

एक अन्य जाति, निकोवार कवूतर, भी वहुत प्रसिद्ध है। यह अपने गले की लवे पखो की हँसली के कारण वडी आसानी से पहचाना जाता है। इसके शरीर के भीतर की पेषणी (गिजर्ड, Gizzard) भी विचित्र होती है।

एक अन्य जाति के कवूतर सन् १९१४ ई० तक पाए जाते थे, परतु अव वे पृथ्वी से लुप्त हो गए हैं। ये यात्री कवूतर (पैसेंजर पिजन, Passenger pigeon) कहलाते थे। जव ये हजारो के वडे वडे समूहो में उडते थे तो आकाश काला हो जाता था। ये फाख्ता (पडुक) के वरावर होते थे और इनका रग गाढा सिलेटी तथा पूंछ लवी होती थी।

कबूतरो के ही वर्ग के हारिल भी चिरपरिचित पक्षी हैं, जो हरे और धानी रग के तथा वहुत सुदर होते हैं। इनकी कई जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमे 'कोकला' सवसे प्रसिद्ध है। ये सव अपने स्वादिष्ट मांस के लिये भी प्रसिद्ध हैं। [सु० सिं०]

कपोतक (डव, Dove) एक पक्षी है, जो कवूतरो (कोलविडी गण, Order columbidae) का निकट सवधी है। यह पँडकी, फाखता, पडुक और सिरोटी के नाम से भी प्रसिद्ध है। वैसे तो इसकी कई जातियाँ सारे ससार मे फैली हुई हैं, परतु उनमे निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध हैं

१—घवर (रिंग डव, Ring Dove)—यह कद मे सव कपोतको से वडा और राख के रग का होता है जिसके गले में काला कठा सा रहता है।

२—काल्हक (टर्टिल डव, Turtle Dove)—यह घवर से कुछ छोटा और भूरे रग का होता है। इसके ऊपरी भाग पर काली चित्तियाँ और चिह्न पडे रहते हैं।

३—चितरोखा (स्पॉटेड डव, Spotted Dove)—यह काल्हक से कुछ छोटा, परतु सवसे सुदर होता है। इसके अगले ऊपरी काले भाग
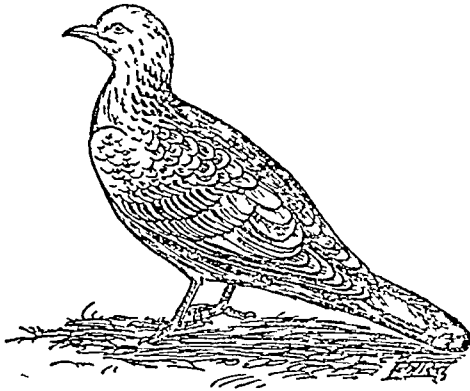
कपोतक

में सफेद विंदियाँ और पिछले भूरे भाग मे कत्यई चित्तियाँ पडी रहती हैं।

४—टुटरूँ (ब्राउन डव, Brown Dove)—यह उपर्युक्त तीनो कपोतको से छोटा होता है। इसका ऊपरी भाग भूरा और छाती से नीचे का भाग सफेद रहता है। गले पर काली पट्टी रहती है जिसपर सफेद विंदियाँ रहती हैं।

५—ईंटकोहरी (रेड टर्टल डव, Red Turtle Dove)—इसका रग ईंट जैसा और कद सवसे छोटा होता है। पूंछ के नीचे का भाग सफेद और गले में काला कठा रहता है।

६—स्टॉक डव (Stock Dove)—यह घवर से कुछ छोटा होता है, परतु रग उससे कुछ गाढा होता है। इसके गले मे घवर की तरह कठा नही रहता। इसकी मादा पेडो के कोटरो में अडे देती है।

७—कॉलर्ड (Collared) या वारवरी डव (Barbary Dove)—यह उतरी अमेरिका का प्रसिद्ध कपोतक है जिसके शरीर का रग चदन के समान और गले मे काला कठा रहता है।

८—शैल कपोतक (रॉक डव, Rock Dove)—इनमे हमारे पालतू कवूतर उत्पन्न किए गए हैं।

९—विलापी कपोतक (मोर्निंग डव, Mourning Dove)—यह छोटे कद का होता है।

कपोतक १२ इच तक लवे, भोले भाले पक्षी हैं। इनकी प्रकृति, स्वभाव तथा अन्य वाते कपोतो से मिलती जुलती हैं। कपोत की तरह ये भी अनाज और वीज आदि से अपना पेट भरते हैं और इन्ही की भाँति इनका अडा देन का समय भी साल मे दो वार आता है। तव मादा अपने मचाननुमा, तितरे वितरे घोसले मे दो सफेद अडे देती है। [सु० सिं०]

कबड्डी भारत का प्रसिद्ध एव प्राचीन जन खेल है, जिसे ग्रामो और नगरो के आवालवृद्ध प्राय अपनी अवस्था के लोगो की टोलियाँ वनाकर खेलते हैं। किसी मुहल्ले के चौक म, खुले मदान म उद्यान मे अथवा किसी खाली खेत म जली लकडी के वुझे कोयले, खडिया के टुकडे अथवा ककडी से समान आकारवाले (आयताकार अथवा
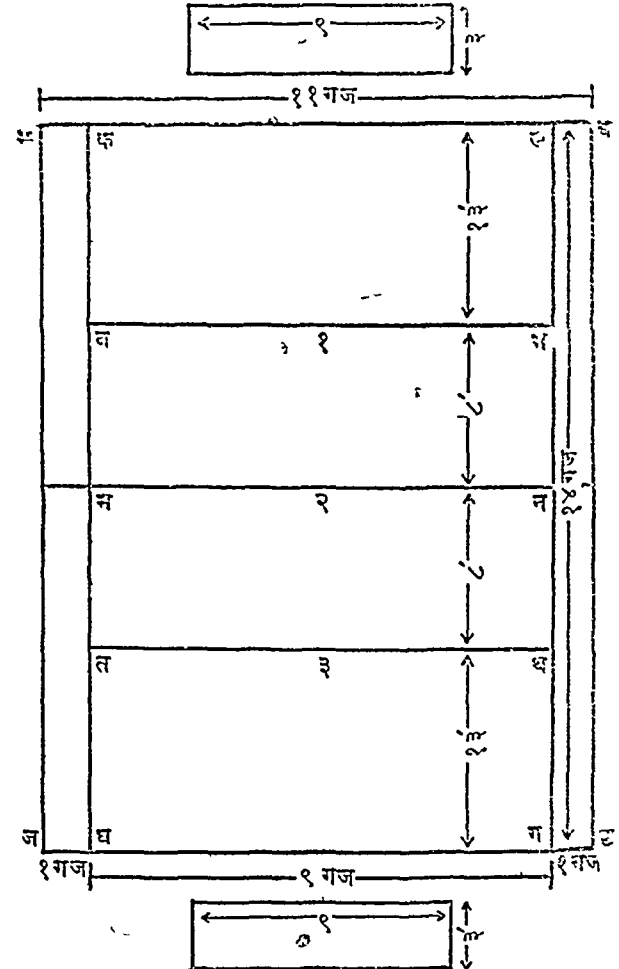
कबड्डी का पाला

वृत्ताकार) पाले खीच लिए जाते हैं। दोनो के ठीक वीच मे एक रेखा चौडाई की ओर खीचकर इसे दो भागो मे वाँट लेते हैं। साधारणत चौडाई इतनी रहती है कि प्रत्येक खिलाडी के वीच आधे हाथ का अतर छूटा रहे। आधी लवाई से चौडाई सवा या डेढ गुना अधिक रखी जाती है। फटने के भय से कमीज आदि उतारकर, जाँघिया, लगोट या नेकर पहने और

कई वार धोती या पाजामे को ही ऊपर खोसकर खिलाडी पाले मे उतर पडते हैं।

खेल प्रारभ होने से पूर्व किसी सिक्के या सपाट ककडी को उछालकर 'टॉस' कर लिया जाता है। टॉस जीतनेवाली टोली का एक सिरे का पहला आदमी एक ही साँस मे जोर से 'कवड्डी', 'कवड्डी' वोलता हुआ, उछलता कूदता दूसरी टोली के पाले मे जाकर और विपक्षी दल के अधिकाधिक व्यक्तियो को छूकर, उनकी पकड मे आने से पूर्व ही, 'कवड्डी', 'कवड्डी' कहता हुआ मध्यरेखा तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। अभियान में सफल होनेवाले इस खिलाडी द्वारा छूए हुए विरोधी पक्ष के व्यक्ति पाले से वाहर वैठा दिए जाते है। इन्हे 'मरे हुए खिलाडी' (मरे हुए से हारने का अभिप्राय है) कहा जाता है। किंतु यदि 'कवड्डी', 'कवड्डी' का स्वर अलापनेवाला स्वय ही दूसरे दलवालो के द्वारा पकडा जाय और मध्यरेखा तक पहुँचने के पहले उसकी साँस टूट जाय, या किसी प्रतिपक्षी को छूकर मध्यरेखा तक पहुँचने से पहले ही साँस टूट जाय, तो वह 'मर' जाता है। उसे अव खेलने का अधिकार नही रहता।

इस प्रकार वारी वारी से दोनो ओर के एक एक खिलाडी विपक्षी दल मे पहुँचकर अपना शौर्य दिखाते है। खिलाडी कभी स्वय मरता है, कभी दूसरो को मारता है, कभी खाली हाथ अपने पाले मे लौट आता हे। मरने जीने (जागने) की यह क्रिया तव तक चलती रहती है जव तक एक दल के सभी व्यक्ति 'मर' कर पाले से वाहर नही वैठ जाते। जो टोली हार जाती है उसके जिम्मे एक पाला हो जाता है। 'मरे' हुए खिलाडी उसी क्रम से 'जीते' हैं (जीने से अभिप्राय है पाले से वाहर निकाले हुए व्यक्तियो का पाले मे आकर पुन खेलने लगना) जिस क्रम से वे मरे रहते हैं। जीनेवालो की सख्या विरोधी पक्ष के मरे हुए खिलाडियो की सख्या के अनुसार होती है। पराजित टोली के जिम्मे पाला होने पर जव खेल दोवारा प्रारभ होता है तव दोनो ओर के मृत खिलाडी पुन जी उठते है। प्राय दो वार के खेल मे तव हार जीत का निर्णय हो जाता है, परतु चार छ पालो तक भी, अथवा जव तक खिलाडी पूर्णतया थक न जायँ तव तक यह खेल चलता रहता है।

क्रिकेट, फुटवाल, हाकी के सदृश कवड्डी प्रतियोगिता भी स्कूलो, कालेजो और विश्वविद्यालयो में होने लगी है। खेल को वैज्ञानिक वनाने के लिये कुछ नियम भी वन गए हैं, जो प्राय इस प्रकार हैं

दोनो वर्गो मे सात सात खिलाडी रहते हैं। वडे पाले मे दोनो दलो का अलग अलग एक पाला रहता है। प्रत्येक ओर का पाला ११ गज लवा और सात गज चौडा होता है। चौडाई की ओर दोनो पार्श्वो मे एक एक गज स्थान छोड दिया जाता है। इसे प्रकोष्ठ (Lobby) कहते है। चौडाई के सात गज के अर्थात् २१ फुट के स्थान को इस प्रकार वाँटा जाता है। मध्यरेखा (Middle अथवा March Line) से ८ फुट की दूरी पर, मध्यरेखा के समातर व्यत्यास रेखा (वॉक लाइन, Baulk line) खिंची रहती है। इस प्रकार व्यत्यास रेखा से सीमारेखा १३ फुट की दूरी पर रह जाती है। ९० पाउड से ११० पाउड तक के कनिष्ठ खिलाडियो (Junior players) तथा महिलाओ की कवड्डी प्रतियोगिता मे पाला थोडा छोटा होता है। इस पाले की लवाई प्रत्येक ओर ९ गज और चौडाई ६ गज होती है। लवाई की माप मे से एक एक गज प्रकोष्ठ दोनो ओर छूटा रहता है। मध्यरेखा अथवा प्रस्थानरेखा से व्यत्यास रेखा ७ फुट की दूरी पर होती है।

टॉस जीतनेवाले दल पर निर्भर है कि वह स्वय अपने पाले से कवड्डी खेलनेवाले को दूसरे पाले मे भेजकर खेल का प्रारभ करे या विरोधी पक्ष के खिलाडी को अपनी ओर वुलाकर। पुराने खेल के समान ही एक पक्ष का खिलाडी (आक्रमणकारी Raider) प्रस्थान (मध्य) रेखा से दूसरे पक्ष की ओर जाने और पुन लौटने तक, विना दूसरी साँस लिए, 'कवड्डी', 'कवड्डी' लाक्षणिक शब्द (Count) का निरतर उच्चारण करता रहता है। नए नियमो के अनुसार प्रत्येक खिलाडी को विपक्षी दल के पाले की व्यत्यास रेखा अवश्य पार करनी पडती है। खिलाडियो को छूने और पकडने के वही नियम हैं। सघर्ष (पकड धकड, Struggle) प्रारभ होने पर यदि खिलाडी चाहें तो प्रकोष्ठो का उपयोग कर सकते हैं। जो आक्रमणकारी खिलाडी 'कवड्डी' आदि लाक्षणिक शब्द का प्रयोग नही कर पाता, उसे अधिनिर्णायक (Referee) वापस लौटा देता है और प्रतिरक्षक वर्ग के खिलाडी (Anti-raider) को खेलने के लिये भेजता है। वारी वारी से प्रत्येक दल प्रतिरक्षक का कार्य करता है। यदि अधिनिर्णायक की चेतावनी पर भी आक्रमणकारी नियम का पालन नही करता तो दूसरे वर्ग को एक अश (Point) दे दिया जाता है। पकडे गए आक्रमणकारी का श्वासावरोध करने का प्रयास प्रतिरक्षको द्वारा नही होना चाहिए, न उसे सीमारेखा से वाहर ढकेलना ही चाहिए। ऐसी स्थिति मे आक्रमणकारी को जीवित माना जाता है। वाहर निकाला हुआ मृत प्रतिरक्षक भी आक्रमणकारी को नही पकड सकता। यदि ऐसा हो तव भी आक्रमणकारी जीवित रहता है। प्रत्येक आक्रमणकारी अपनी वारी से ही जाता है। अधिनिर्णायक के विचार मे यदि इस नियम का वार वार भग हुआ हो तो प्रतिपक्ष को एक पाइट दे दिया जाता है। यदि कोई दल सपूर्ण विरोधी दल को पराजित करने मे सफल हो जाता है तो विजयी पक्ष को क्रीडावधि मे प्राप्त अशो के अतिरिक्त पाले (लोना) के दो अधिक अश और मिल जाते हैं। पराजयासन्न दल के एक दो खिलाडी शेष रहने पर विजय की आशावाले दल का अग्रणी (Captain) वाहर वैठे हुए विरोधी दल के खिलाडियो को पुन पाले मे वुला सकता है। ऐसी दशा मे भी विजयाशावाले दल को पहले से उपलब्ध अशो के अतिरिक्त पाले के दो और अश मिल जाते हैं।

यह खेल वीस मिनट की अवधि में दो वार खेला जाता है। महिलाओ और कनिष्ठो के लिये खेल के वीच मे ५ मिनट का अतराल (interval) रहता है। एक खेल के वाद पाले वदल दिए जाते हैं। खेल के अत मे जिस दल के अशो की सख्या सर्वाधिक होती है वही विजयी घोषित किया जाता हे। ग्रथि (Tie) पडने पर प्रत्येक खेल के लिये पाँच पाँच मिनट का अतिरिक्त समय दिया जाता है। इस अतिरिक्त समय मे उभयपक्षो मे उतने ही खिलाडी विद्यमान रहते है, जितने ग्रथि पडने के समय थे। यदि किसी कारणवश कोई खेल पूरा नही होता तो खेल दोवारा होता है। किसी खिलाडी को चोट लगने पर उस दल का अग्रणी "खेल स्थगित" (Time out) की घोपणा कर देता है। यह स्थगन दो मिनट से अधिक नही होना चाहिए। यदि अधिनिर्णायक यह समझे कि खिलाडी को गहरी चोट आई हे तो आहत खिलाडी के स्थान पर अतिरिक्त (extra) खिलाडी रखा जा सकता है।

किसी दल मे एक दो खिलाडियो की कमी होने पर भी कवड्डी का खेल प्रारभ हो सकता है, किंतु खेल पूरा होने पर ये अनुपस्थित खिलाडी भी 'मृत' गिने जायँगे और इनके अश विजयी वर्ग को मिलेंगे। अनुपस्थित खिलाडी खेल प्रारभ होने पर अधिनिर्णायक की अनुमति से ही खेल मे भाग ले सकते हैं। अनुपस्थित खिलाडियो के स्थानापन्न (Substitute) कभी भी रखे जा सकते हैं, किंतु खेल की समाप्ति तक (आहत खिलाडी को छोडकर) इन स्थानापन्नो का परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि खेल दोवारा खेला जाय तो यह आवश्यक नही है कि पहलेवाले खिलाडी ही रहे।

खिलाडियो का न्यूनतम परिधान वनियान और नेकर है। नेकर के नीचे जाँघिया या लगोट होना चाहिए। खिलाडी आवश्यकतानुसार सीधे तल्लेवाले कैनवेस के जूते और मोजे भी धारण कर सकता है। प्रत्येक खिलाडी के कपडे पर सख्या लगी रहनी चाहिए। वह किसी प्रकार की धातु नही पहन सकता। शरीर पर तैल या कोई मृदु पदार्थ भी नही मल सकता। खिलाडियो के नाखून भी भली भाँति कटे रहने चाहिएँ। खेल के समय अग्रणी या नेता के अतिरिक्त अन्य कोई अनुदेश भी नही दे सकता। उसका अनुदेश भी केवल अपने दलवालो के लिये होता है।

[न० क०]

कवावचीनी नाम से कालीमिर्च सदृश सवृत फल वाजार मे मिलते हैं। इनका स्वाद कटु-तिक्त होता है, किंतु चवाने से मनोरम तीक्ष्ण गध आती है और जीभ शीतल मालूम होती हे। इसे ककोल (ल्ल), सुगधमरिच, शीतलचीनी और क्यूवेव (Cubeb) भी कहते हैं। यह पाइपरेसिई (Piperaceae) कुल को पाइपर क्यूवेवा (Piper Cubeba) नामक लता का फल है जो जावा, सुमात्रा तथा वोर्निओ मे स्वत पैदा होती है। लका तथा दक्षिण भारत के कुछ भागो मे भी इसे उगाया जाता है।

कवावचीनी की लता आरोही एव वर्षानुवर्षी, काड स्पष्ट तथा मोटी सधियो से युक्त और पत्र चिकने, लवाग्र, सवृत और स्पष्ट शिराओवाले तथा अधिकतर आयताकार होते हैं। पुष्प अवृत, द्विक्षयक (dioecious) और शूकी (स्पाइक, spike) मजरी से निकलते हैं। व्यवहार के लिये अपक्व परतु पूर्ण विकसित फलो को ही तोडकर सुखाया जाता है। ये गोलाकार, सूखने पर गाढे भूरे रग के किंतु धूलिधूसरित, व्यास मे लगभग चार मिलीमीटर और एक बीजवाले होते हैं। फलत्वक् के ऊपर सिलवटो का जाल बना होता है। फल के शीर्ष भाग पर त्रिरश्म्याकार (ट्राइरेडिएट, triradiate) वर्तिकाग्र (स्टिग्मा, stigma) और आधार पर लगभग चार मिलीमीटर लबी वृत सदृश बाह्यवृद्धि उपस्थित रहती है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा मे इसका उपयोग बहुत कम होता है, परतु नव्य चिकित्सा पद्धति मे इसका बहुत महत्व है। इसे कटु तिक्त, दीपक-पाचक, वृष्य तथा कफ, वात, तृषा एव मुख की जडता और दुर्गंध दूर करनेवाली कहा गया है। श्लेष्मल कलाओ, विशेषत मूत्र मार्ग, गुदा एव श्वासमार्ग की श्लेष्मल कलाओ पर इसकी उत्तेजक क्रिया होती है। पुराने सुजाक (पूयमेह), अर्श तथा पुराने कफरोग में उत्तेजक, मूत्रजनक, पूतिहर, वातनाशक, दीपक और कफघ्न गुणो के कारण इसका प्रचुर उपयोग होता है। कवावचीनी मे ५–२० प्रति शत उडनेवाला तैल होता है, जिसमे टरपीन (Terpene), सेस्क्वि-टरपीन (Sesqui-Terpene) तथा केडिनीन (Cadinene) आदि श्रेणी के कई द्रव्यो का मिश्रण होता है। [ब० सिं०]

कबाल (Cabal) किसी समिति के आपसी सबधो में गुप्त षड्यत्र के लिये इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। इग्लैंड का चार्ल्स द्वितीय, पाँच अतरग मन्त्रियो के परामर्श से कूटनीति के गुप्त मामले तथा महत्वपूर्ण विदेशी मामलो को तय किया करता था। ये पाँच मत्री थे—क्लिफर्ड, आर्लिंग्टन, बकिंघम, आशले और लाडरडेले। इन्ही पाँचो के नामो के पहले अक्षरो को मिलाकर कबाल शब्द निर्मित हुआ है, साधारणत ऐसा माना जाता है, किंतु है यह सयोग मात्र, क्योकि इस शब्द की व्युत्पत्ति फ्रेंच शब्द कबाल (Cabale) से हुई है। कबाल कैबिनेट का अग्रगामी माना जाता है। कबाल की शक्ति देखकर राज्य के अन्य व्यक्ति इससे ईर्ष्या करने लगे तथा कबाल शब्द का प्रयोग कुत्सित भाव से होने लगा। [शु० ते०]

कबीर का नाम कबीरदास, कबीर साहब एव सत कबीर जैसे रूपो में भी प्रसिद्ध है। ये मध्यकालीन भारत के स्वाधीनचेता महापुरुष थे और इनका परिचय, प्राय इनके जीवनकाल से ही, इन्हे सफल साधक, भक्त कवि, मतप्रवर्तक अथवा समाज-सुधारक मानकर, दिया जाता रहा है तथा इनके नाम पर कबीरपथ नामक सप्रदाय भी प्रचलित है। कबीरपथी इन्हें एक अलौकिक अवतारी पुरुष मानते हैं और इनके सबध मे बहुत सी चमत्कारपूर्ण कथाएँ भी सुनी जाती हैं। इनका कोई प्रामाणिक जीवनवृत्त आज तक नही मिल सका है, जिस कारण इस विषय में निर्णय करते समय, अधिकतर जनश्रुतियो, साप्रदायिक ग्रथो और विविध उल्लेखो तथा इनकी अभी तक उपलब्ध कतिपय फुटकल रचनाओ के अत साक्ष्य का ही सहारा लिया जाता रहा है। फलत, इस सबध मे तथा इनके मत के भी विषय मे बहुत कुछ मतभेद पाया जाता है।

कबीर की मृत्युतिथि निश्चित करनेवालो के तीन प्रमुख मतो मे से एक उसे माघ सुदी ११, सवत् १५७५ ठहराता है तो दूसरा उसे अगहन सुदी ११ सवत् १५०५ तक ले जाता है और तीसरा उसे इन दोनो के बीच, सवत् १५५२ के किसी मास में, रखना चाहता है। इसके सिवाय, एक चौथे मत के अनुसार, हम उसे किसी निश्चित तिथि, मास या सवत् तक निरुद्ध न करके, उसे किसी शताब्दी या उसके किसी चरण तक ही ले जा सकते हैं। प्रथम तीन मतो का आधार जहाँ परपरागत उक्तियाँ मात्र हैं, वहाँ चौथा, प्राप्त सामग्रियो का, युक्तिसगत परिणाम भी निकालना चाहता है और, तदनुसार, कबीर की मृत्यु के, विक्रमी सवत् की १६वी शताब्दी के प्रथम चरण में, होने का अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार, कबीर की जन्मतिथि को भी परपरागत ज्येष्ठ पूर्णिमा, चद्रवार, सवत् १४५५ के कुछ पहले तक ले जाया जा सकता है और इन्हे हम प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति का कनिष्ठ समसामयिक भी ठहरा सकते हैं।

कबीर की जाति के सबध मे भी प्रधानत दो मत प्रसिद्ध हैं जिनमे से एक इन्हे हिंदू बतलाकर इनके कोरी होने का अनुमान करता है। इसे माननेवालो मे से कुछ के अनुसार ये किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और इनकी उस माता ने, अपनी लाज बचाने के उद्देश्य से, इन्हे काशी के निकटवर्ती लहरतारा तालाब के पास त्याग दिया जहाँ से नीरू और नीमा नामक जुलाहा दपति ने अपने घर लाकर इनका पालन पोषण किया और, इसी कारण, ये पीछे 'जुलाहा' कहलाकर भी प्रसिद्ध हुए। परतु दूसरा मत इन्हे जन्मजात जुलाहा मानता है और सत रैदास जैसे अनेक पुराने लोगो के कथनो (जैसे, 'आदिग्रथ', रागु मलार २) के आधार पर, इनके मुसलमान तक भी होने का निर्णय करता है। इसके अतिरिक्त एक तीसरा मत भी प्रचलित है जिसके अनुसार कबीर का जुलाहा कुल, किन्ही धर्मांतरित हिंदू कोरियो का ही रहा होगा अथवा वह किसी ऐसी 'जुगी' वा जोगी जाति का होगा जो नाथपथी भी रही होगी। परतु इसके लिये पर्याप्त प्रमाणो की कमी दीखती है।

कबीरपथी कबीर को बहुधा अविवाहित मानते हैं, किंतु अन्य लोग इनकी पत्नी का 'लोई' नाम तक निश्चित कर देना चाहते हैं और, इसी प्रकार इनके पुत्र कमाल और पुत्री कमाली तथा किसी निहाल और निहाली तक की चर्चा की जाती है। इनकी रचनाओ (जैसे, आदि ग्र०, गौड ६) में 'लोई' शब्द का उल्लेख भी पाया जाता है जिसका प्रयोग 'लोग' के अर्थ मे भी किया गया माना जा सकता है और इसी प्रकार, ऐसे दो अन्य शब्दो 'धनियाँ' एव 'रमजनियाँ' (वही, आतमा ३३) की भी प्रासगिक व्याख्या की जा सकती है। परतु वही पर पाए जानेवाले 'लरिकी लरिकन खैलो नाहि' तथा अन्यत्र (वही, गूजरी २) के 'ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई' से इनका सतानयुक्त होना भी सिद्ध किया जा सकता है। इनकी पैतृक जीविका कपडे की बुनाई थी जिसके आधार पर इनके परिवार का भरण पोषण तथा साधुओ की अतिथिसेवा करना कठिन था, अतएव इन्हे आर्थिक कष्ट ही रहा। कबीर, कदाचित् पढे लिखे नही थे, किंतु बहुश्रुत अवश्य थे और इनकी रचनाएँ साखी, सबद एव रमैनी आदि के रूपो मे पाई जाती हैं।

कबीर ने अपने किसी गुरु के नाम का कही स्पष्ट उल्लेख नही किया है, किंतु बहुमत स्वामी रामानद को इनका गुरु मानने के पक्ष मे दीख पडता है। कुछ लोगो के अनुसार शेख तकी भी इनके 'पीर' रहे होगे, किंतु 'बीजक' (रमैनी ४८ और ६३) मे उनके प्रति इनकी श्रद्धा प्रकट होती नही जान पडती। उनसे अधिक समान ये किसी 'पीताबर पीर' के प्रति प्रदर्शित करते जान पडते हैं (आ० ग्र० आतमा १३), किंतु उनका भी इनका गुरु होना प्रमाणित नहीं होता। कबीर का देशाटन करना तथा दूर दूर तक जाकर वहाँ सत्सग करना और उपदेश देना भी प्रसिद्ध है। परतु ये अधिकतर काशी मे ही रहे जिसे अथवा जिसके निकटवाले किसी स्थान को इनकी जन्मभूमि भी मान लेने की परपरा चली आती है। फिर भी कुछ लोग (आ० ग्र० रामकली ३ के आधार पर) इसके मगहर होने का भी अनुमान करते हैं जो तर्कसगत नही प्रतीत होता। इसी प्रकार उसका बेलहरा होना सिद्ध नही है। कबीर के मृत्युस्थान का मगहर होना प्राय सर्वसमत सा है जिसे कभी कभी कुछ लोग मगह वा मग्गह समझने की भी भूल कर देते हैं।

कबीर की रचनाओ के उपलब्ध सग्रहो मे से सिखो का 'आदिग्रथ', 'कबीर ग्रथावली' तथा 'कबीरबीजक' अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। परतु तीनो के अतर्गत सगृहीत इनकी बानियो मे न्यूनाधिक पाठभेद पाया जाता है तथा उनके, सख्या मे कम या अधिक, होने का भी अतर स्पष्ट है। फिर भी, उनके तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन के आधार पर इनके मूलसिद्धात एव साधना के विषय में, कुछ न कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। इनकी रचनाओ द्वारा यह भी नही जान पडता कि ये किसी सिद्धात का निरूपण करने अथवा उसके प्रति विशेष आग्रह प्रदर्शित करने की चेष्टा कर रहे हैं। ये अधिकतर प्रचलित मतो की समीक्षा करते, उनकी त्रुटियो के प्रति सब किसी का ध्यान आकृष्ट करते तथा अपनी अनुभूति एव विचारपद्धति के अनुसार कहते मात्र दीख पडते हैं। ये दूसरो को भी स्वानुभूति एव आत्मचितन पर ही आश्रित रहने का परामर्श देते हैं और, इस प्रकार, ये विचारस्वातत्र्य के समर्थक भी जान पडते हैं।

इनकी परमतत्व विषयक धारणा इनके द्वारा प्रयुक्त 'अगम', 'अकथ' 'अनुपम' एव 'अविगत' जैसे शब्दो से स्पष्ट है। ये इस सबध मे 'वो है तैसा वो ही जानै, ओही आहि आहि नहिं आनै' (क० ग्र० रमैणी ६) तथा 'जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ' (वही, रमैणी ३) जैसे वाक्य भी प्रयुक्त करते हैं जिनके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि ये उसके विषय में कुछ भी कथन करना अनावश्यक एव व्यर्थ तक समझते होगें। परतु फिर भी ये उसे 'गुन अतीत', 'गुनविहून' वा 'निरगुन' भी ठहराते है तथा उसके लिये कभी 'आतम', कभी 'निजपद', कभी 'सहज' वा 'सुनि' (शून्य) अथवा 'ब्रह्म' जैसे शब्दो तक के प्रयोग करते हैं और उसे 'करता' वा 'सिरजनहार' तक कह डालते हैं। इन्होने उनका वर्णन 'विराट्' जैसा भी किया है (श्रा० ग्र०, भैरउ २०) तथा उसे विष्णु, नरसिंह और कृष्ण जैसा सगुण और अवतारी रूप भी दे डाला है। इन्होने जगत् को उसकी 'लीला' बतलाया है तथा उसकी माया को विश्वमोहिनी तथा कभी कभी 'साँपिनि' वा 'डाइनि' तक भी ठहरा दिया है।

इस प्रकार इनका वह 'सति', वेदात के 'ब्रह्म' जैसा प्रतीत होता हुआ भी कोरा 'चैतन्य' या भावात्मक 'सच्चिदानद' मात्र नही है। उसका रूप सर्वथा अनिर्वचनीय होने पर भी, उसे जीवात्मा से स्वरूपत अभिन्न कहा जा सकता है और उसे कोई अनुपम व्यक्तित्व भी प्रदान किया जा सकता है। वह सबका नियामक है, किंतु इस्लाम के 'अल्लाह' जैसा शाहशाह अथवा शासक भी नही है, प्रत्युत सहृदय और दयालु है। जीवात्मा उसे 'भरम करम' के कारण अपने से पृथक् मान बैठता है और जन्मातर के फेर में पडकर, दुःख उठाता है। उसे अपने भीतर और बाहर सवत्र अनुभव करता और, उसके प्रति प्रेमाभक्ति का भाव प्रदर्शित करते हुए, निरतर 'सहज समाधि' में लीन रहना ही सबका ध्येय होना चाहिए। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये कबीर मन की चचलता को दूर कर 'सुरति' का 'अनहद सबद' में लगाए रहना आवश्यक मानते हैं तथा, आत्मशुद्धि के साथ सभी प्राणियो को तत्वत अभिन्न समझते हुए 'सहज सील' के अनुसार व्यवहार करने का आदर्श भी चित्रित करते हैं।

वैसी दशा में, अपने जीवन मे ही, आमूल परिवर्तन आ जाता है, 'प्रेम ध्यान' की 'नारी' लग जाती है और ससार मात्र के साथ आत्मीयता का बोध होने लगता है। कबीर के अनुसार यही स्थिति किसी सच्चे 'सत' की भी है जिसके गुणो मे निर्वैरता, निष्कामता, भगवद्भक्ति और विषयो के प्रति अनासक्ति की गणना होती है। इनकी दृष्टि मे, जब सभी एक ही 'ज्योति' से उत्पन्न हैं तो, आपस में भेदभाव का होना न्यायसगत नही है। मानव समाज के अतर्गत पाए जानेवाले साम्प्रदायिक भेद अथवा ऊँच नीच, ब्राह्मण शूद्र वा धनी-निर्धन-परक भेदभाव को सर्वथा त्याज्य समझना उचित है, क्योकि 'ये सभी वर्तन एक ही मिट्टी के बने हैं और उनका बनानेवाला भी एक है तथा वही सबके भीतर, काठ के भीतर अग्नि की भांति, व्याप्त है।' (क० ग्र०, पद ५५)। इसी कारण ये वैसी बाहरी वेशभूषा, धार्मिक विडबना एव मूर्तिपूजन, व्रतादि को भी हेय ठहराते हैं जिनसे पारस्परिक अतर तथा दभ पाखड की प्रवृत्ति जागृत हो सकती है। इस प्रकार ये एक ऐसे जीवनादर्श की प्रतिष्ठा करते प्रतीत होते हैं जिसके अनुसार भूतल ही स्वर्ग के रूप में परिणत हो जा सके।

कबीर की रचनाओ का मूल रूप उनके उपलब्ध पाठो मे पूर्णत सुरक्षित नही जान पडता और, इनके सभवत अशिक्षित होने तथा इस बात से भी कि इनके समसामयिक धर्मोपदेशकप्राय किसी न किसी मिश्रित भाषा का प्रयोग किया करते थे, उसके विशुद्ध न होने की ही अधिक सभावना है। फिर भी हम उनमे पुरानी 'हिंदवी', पूर्वी हिंदी, आदि के प्रयोग विशेष मात्रा मे पाते हैं और उसपर पछाँही बोलियो का भी प्रभाव लक्षित होता है। इनकी रचनाएँ व्याकरण एव पिंगल के नियमो का यथेष्ट अनुसरण करती नही जान पडती और उनमें कई शब्दो के विकृत रूप मिलते हैं। परतु इनकी रचनाशैली मे एक विशिष्ट ओज और चुटीलापन पाया जाता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। इसके सिवाय, इनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीको एव रूपकादि के कारण, उसमें एक अपूर्व स्पष्टता और सरसता आ जाती है जो इनकी कविसुलभ प्रतिभा की ओर सकेत करती है। कबीर एक ओर जहाँ अपनी गूढ और गभीर अनुभूतियो की अभिव्यक्ति मे पटु हैं वहाँ, दूसरी ओर, ये 'मति का भोरा' व्यक्ति की कटु आलोचना करना भी जानते हैं।

कबीर का व्यक्तित्व विलक्षण था और उनकी बानियो मे भी हमे अधिकतर निरालेपन के ही उदाहरण मिलते हैं। उनके मत की सार्वभौमिकता का पता इससे चलता है कि कुछ लोग जहाँ उन्हे शाकराद्वैत का समर्थक मानते हैं वहाँ दूसरे परम वैष्णव के रूप में देखते हैं, इसी प्रकार, जहाँ किसी को उनपर बौद्ध सिद्धो और नाथपथियो का प्रभाव लक्षित होता है तो दूसरे उन्हें सूफियो ही नही ईसाइयो तक से प्रभावित पाने लगते हैं। उनके मार्ग पर पीछे सतो की एक पृथक् परपरा चल निकली जिसके अनुसार 'सतमत' की विचारधारा प्रवर्तित हुई और 'सतसाहित्य' का निर्माण भी हुआ, किंतु ऐसे सतो के नामो पर जो विभिन्न पथ वा सप्रदाय स्थापित हुए उनके द्वारा उन उच्चादर्शो का सम्यक् पालन न हो सका जो कबीर को अभीष्ट थे।

स० ग्रं०—'आदिग्रथ', 'गुरुग्रथ साहिब' (अमृतसर), 'कबीर-ग्रथावली' (वाराणसी), 'कबीर बीजक' (बाराबकी), परशुराम चतुर्वेदी : 'उत्तरी भारत की सतपरपरा' और 'कबीर साहित्य की परख' (प्रयाग), हजारीप्रसाद द्विवेदी . 'कबीर' (बबई), ब्रह्मलीन मुनि 'सद्गुरु श्रीकबीरचरितम्' (बडोदा) आदि। [प० च०]

कबीला

भारत में कबीली जनसख्या के विषय में स्पष्ट और सुलझे विचारो का अभाव रहा है। 'कबीला' शब्द की परिभाषा के विषय में भी विद्वानो में मतैक्य नही है। फलस्वरूप जनगणना रिपोर्टो में भी जहाँ कुछ कबीलो को जातियो की सूची मे रखा गया है, बहुत सी नीची जातियो को भी कबीलो मे समिलित कर लिया गया है। इस सबध में एक जनगणना से दूसरी जनगणना में भी विषमता पाई जाती है। एक जनगणना के अनुसार समस्त भारतीय कबीलो का धर्म 'आत्मावाद' की श्रेणी में आता है किंतु उसकी अगली जनगणना में ही कबीली धर्म की सर्वथा पृथक् श्रेणी बना दी गई है। वास्तव में मूल प्रश्न यह है कि 'कबीला' कहते किसे हैं ? इस शब्द की अब तक दी गई परिभाषाओ से अधिक न्यायसगत सभवत नूतन किंतु गुणात्मक परिभाषा है। इस नवीन परिभाषा के अनुसार कबीला निश्चित भौगोलिक सीमा के भीतर वास करनेवाला ऐसा अतर्विवाही सामाजिक समूह है जिसमें कार्यो का विशिष्टीकरण नही पाया जाता। समान भाषा या बोली द्वारा सगठित और कबीली अधिकारियो द्वारा प्रशासित यह समूह अन्य कबीलो और जातियो से सामाजिक दूरी मानता है किंतु जातिव्यवस्था की भाँति सामाजिक द्वेष जैसी भावना से अछूता है। कबीले की अपनी परपराएँ, विश्वास एव रीतियाँ होती हैं और प्रजातीय तथा भौगोलिक संश्रयन से उद्भूत सजातीयता की भावना कबीले के सदस्यो मे बाह्य प्रभावो से प्रतिरक्षा को जन्म देती है। कबीला अनुसूचित हो सकता है और नही भी। कबीले मे पर-सस्कृति-धारण की प्रक्रिया या तो पूर्णरूपेण सपन्न हो चुकी होती है या आशिक रूप मे ही।

प्रजातीय आधार पर भारतीय कबीलो को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी मे मगोलीय मूल के नागा, कूकी, गारो तथा अन्य असमी कबीले या अल्मोडा जिले के भोटिया आदि कबीले आते हैं। दूसरी श्रेणी के अतर्गत मुडा, सथाल, कोरवा आदि पुरा-ऑस्ट्रेलीय कबीले और तीसरी श्रेणी में विशुद्ध आर्य मूल के निचले हिमालयवासी खस कबीले या हिंद-आर्य-रक्त की प्रधानता लिए किंतु मिश्रित प्रकार के भील आदि कबीले रखे जा सकते हैं। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भारतीय कबीलो का वर्गीकरण तीन पृथक् भाषापरिवार के समूहो मे किया जा सकता है। ये समूह क्रमश मुडा, तिब्बती-बर्मी और द्रविड भाषापरिवारो के हैं। कुछ कबीले अपनी मूल बोली त्याग कर हिंदी बोलने लगे हैं। कुछ मुडा कबीले इस श्रेणी में आते हैं। मूल रूप से मुडा भाषापरिवार की बोली बोलनेवाले गुजरात के भीलो ने भी अपने अधिवासानुसार गुजराती या मराठी अपना ली है। निश्चित भौगोलिक सीमाओ में बसे इन कबीलो के अतिरिक्त नट, भाँटू, साँसी, करवाल और कजर आदि ऐसे खानाबदोश कबीले हैं जो हाल तक अपराधोपजीवी थे किंतु जिन्हे अब कठोर नियत्रण और कठिन नियमो से मुक्त कर दिया गया है। सभी श्रेणियो के इन कबीलो की कुल जनसख्या लगभग तीन करोड है किंतु अनेक कबीलो ने जातिनाम और जातिगत व्यवसाय अपना लिए हैं। इसीलिये हाल की जनगणना ने इनकी सख्या लगभग दो करोड ठहराई है। पुनर्वास की समस्या को ध्यान मे रखते हुए

सास्कृतिक पदानुसार कबीलो को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है १ सास्कृतिक दृष्टि से ग्राम्य व नगर समूहो से दूर कबीले, अर्थात् वे जो प्राय सपर्कविहीन हैं, २ नगर सस्कृति से प्रभावित वे कबीले जिनमे सपर्को के फलस्वरूप समस्याग्रो का बीजारोपण हुआ है, और ३ ग्राम्य तथा नगरसमूहो के सपर्क में आए वे कबीले जिनमे ऐसी समस्याएँ या तो उठी ही नही, अथवा सफल पर-सस्कृति-धरण (अकल्चरेशन) के कारण अब नही रही। सास्कृतिक सपर्को के प्रसग मे भारतीय कबीलो को अनुकूलक (अडैप्टिव) और सात्मीकारक (ऐसीमिलेटेड), इन दो श्रेणियो में बाँटा जा सकता है। अनुकूलक कबीले तीन प्रकार के हो सकते हैं—सहभोजी, समजीवी और पर-सस्कृति-धारक। सहभोजिता का अर्थ पडोसी समूहो के साथ समान आर्थिक कार्यो में भाग लेना है। समजीविता शब्द का प्रयोग कबीलो की आर्थिक और सास्कृतिक आत्मनिर्भरता के अर्थ मे किया गया है। पर-सस्कृति-धरण का तात्पर्य सास्कृतिक लक्षणो की एकतरफा स्वीकृति से है, अर्थात् पर-सस्कृति-धारक कबीले वे हैं जो अपने से सभ्य पडोसी समूहो के रीति रिवाज ग्रहण करते हैं। इस वर्गीकरण में उन कबीलो की गणना नही हुई जो बाह्य सस्कृतियो के सपर्क से अछूते छूट गए हैं। किंतु वास्तविकता यह है कि भारत में सास्कृतिक सपर्को का 'शून्य विंदु' (जीरो प्वाइंट) है ही नही। दूसरे शब्दो मे, सभी कबीले अपने से अधिक उन्नत सस्कृतियो के सपर्क मे आए हैं और परिणामस्वरूप या तो समस्याग्रसित हैं अथवा सपर्क स्थिति से समायोजन स्थापित कर अपेक्षाकृत सतोषप्रद जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

अधिकाश भारतीय कबीलो का निवास वनो में है और वे वन्य प्राकृतिक साधनो पर ही निर्भर करते हैं। कोचीन के कदार, त्रावणकोर के मलयातरम्, मद्रास के पलियान और वायनाद के पनियन ऐसे ही कबीले हैं। कुछ कबीलो की अर्थव्यवस्था खाद्य पदार्थो के सचयन और पिछडी कृषि के बीच की है। इन कबीलो मे प्रमुख मध्यप्रदेश के कमार और इसी राज्य मे मांडला क्षेत्र के बैगा तथा दक्षिण में बिसन पहाडियो के रेड्डी हैं। उपर्युक्त दोनो श्रेणियो के कबीलो पर शासन की वन सबधी नीतियो का गहरा प्रभाव पडता है। भारतीय कबीलो की तीसरी आर्थिक श्रेणी में देश की अधिकाश कबीली जनसख्या को रखा जा सकता है। यह श्रेणी उन कबीलियो की है जिनके जीवनोपार्जन का मुख्य साधन कृषि है किंतु जिन्होने वनो की निकटता के कारण सचयन व्यवसाय को दूसरे मुख्य धधो के रूप मे अपना लिया है। उत्तरी-पूर्वी एव मध्य भारत के प्राय सभी कबीले इस श्रेणी मे आते हैं।

ब्रिटिश सरकार ने कबीली जनसख्या के प्रति निर्हस्तक्षेप की नीति अपनाकर उसे अपने भाग्य पर छोड दिया था। इसके विपरीत वर्तमान शासन की नीति सक्रिय हस्तक्षेप की है। भारत सरकार कबीलो के प्रति उपादेय और गतिमान नीति अपनाने के लिये वचनबद्ध है। किंतु यह समझ लेना आवश्यक है कि कबीलो का स्तर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे भिन्न हो जाता है और कुशल नीतिनिर्धारण के पूर्व स्थानीय दशाओ का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है। विगत भूलें भविष्य की पथप्रदर्शक होती हैं। अब तक शासन की ओर से कबीली पुनर्वास जैसे विशाल कार्य के दार्शनिक आधार का स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत नही किया गया है और यह तब तक सभव नही जब तक भारतीय कबीलो के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त नही हो जाती। कबीली कार्यक्रमो मे परपरागत सस्कृति के सरक्षण और सुचारु एव सगठित रूप से परिवर्तनो के बीजारोपण पर समान रूप से बल दिया जा रहा है। कबीली जनता में नवोदित सामाजिक चेतना और सरकारी प्रयत्नो द्वारा लाभान्वित होने की आकाक्षा भारतीय कबीली समस्याओ के प्रसग मे दो नए दिशासकेत हैं। कबीलो को उनकी वर्तमान पिछडी दशा से उबारकर उन्हें ग्राम्य सस्कृतियो के अनुरूप बनाने का कार्य अत्यत सतर्कतापूर्वक सपन्न किया जाना चाहिए। यदि प्रगति की योजना इस प्रकार की गई तो भावी भारतीय सस्कृति मे जीवनयापन के केवल दो प्रारूप होगे—ग्राम्य और नागरिक, एव समाज वैज्ञानिको का दायित्व यह होगा कि वे इन दो प्ररूपो के बीच की खाई को दृढ पुलो द्वारा पाटने का प्रयत्न करे।

ब्रिटिश शासन ने भी समय समय पर आदिवासी जनसख्या की ओर ध्यान दिया था। कभी कभी सरकार के पास हिंसात्मक विद्रोहो की सूचना पहुँचती थी। ऐसे अधिकाश विद्रोहो का मूल प्राय तीन कारणो मे होता था (१) कबीली भूमि से कबीलियो का निष्कासन, (२) कबीली प्राकृतिक साधनो का बाहरी लोगो द्वारा उपभोग, और (३) साहूकारो तथा विदेशी खिलौनो और आभूषणो के विक्रेताओ द्वारा शोषण। शासन की ओर से इन कठिनाइयो को दूर करने की समुचित व्यवस्था नही थी और यदि कभी कबीलियो के कष्ट की सुनवाई होती भी थी तो वह किन्हीं उदार और सहानुभूतिपूर्ण शासको की व्यक्तिगत रुचि के फलस्वरूप। ईसाई मिशनरियो को अपने कार्यकलापो में शासन का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता था और शासन की ओर से उन्हे अनेक अधिकार भी मिले हुए थे। इस प्रकार कबीली समस्या से सरकार चितामुक्त थी और मिशनरी मनमाने हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण कर रहे थे। किंतु जब पहाडिया लोगो ने हिंदू जमीदारो के विरुद्ध विद्रोह का नारा लगाया तो ब्रिटिश सरकार ने शातिस्थापना के लिये अपनी सेना भेजी। विद्रोही नेताओ को सनदें देकर प्रतिहिंसा की ज्वाला शात की गई। शातिस्थापना के हित में पहाडिया क्षेत्र के चारो ओर अवकाशप्राप्त और सामर्थ्यहीन सैनिको को बसने के लिये प्रोत्साहित किया गया। कालातर से व्यवहार और दडविधियाँ भी कबीली नेताओ के अधिकार क्षेत्र में आ गई। न्याय और अनुशासन में सुधार हुआ और शासन ने कबीले को विशेष व्यवहार के योग्य समझा। फलस्वरूप सन् १७८२ मे राजमहल पहाडियाँ साधारण न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से निकाल ली गईं। सन् १७९६ मे पहाडिया क्षेत्र का नया नामकरण 'दमानीको' हुआ और इसके प्रशासन के लिये नई न्यायविधि स्वीकृत हुई। यह सपूर्ण क्षेत्र एक समहर्ता के प्रशासनाधिकार में आ गया जिसके शासन में भारत के अन्य भागो मे प्रचलित विधि से कोई सबध नही था। इसी समय छोटा नागपुर और सथाल परगना मे भी असतोष की आग सुलग रही थी। जमीदारो ने कई बार शासन से सशस्त्र हस्तक्षेप की माँग की थी। सन् १८८६ मे विख्यात सथाल विद्रोह भडक उठा। सथाल परगना को एक पृथक् जिला बना दिया गया और सन् १८५५ के ३८ वें विनियम के अनुसार यह 'अविनियमित' क्षेत्र घोषित कर दिया गया। फोर्ट विलियम, फोर्ट सेंट जाज और बबई की प्रबधकारिणी परिषदो के तत्वावधान मे अनेक नए अधिनियम पारित हुए। सन् १८६१ के इडिया काउसिल ऐक्ट के अनुसार स्थानीय प्राधिकारो द्वारा बनाए गए 'अविनियमित' सबधी नियमो को मान्यता दे दी गई। सन् १८७० के भारत सरकार अधिनियम द्वारा सपरिषद् महाशासक को ऐसे क्षेत्रो के लिये नियम बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ जहाँ ब्रिटिश भारत के अन्य भागो में प्रचलित व्यवहार तथा दड प्रक्रिया सीमित रूप मे लागू होती थी। सन् १८७४ मे भारतीय विधान मडल मे स्वीकृत १४ वे जिला अनुसूचित अधिनियम द्वारा स्थानीय शासन को अधिनियम में निर्दिष्ट क्षेत्रो मे विधि लागू करने के नए अधिकार प्राप्त हुए। स्थानीय शासन को अधिकार मिला कि वह उन कानूनो का स्पष्टीकरण करे जो ब्रिटिश भारत के अन्य भागो की भाँति इन क्षेत्रो मे लागू नही होते थे। यदि आवश्यकता पडने पर सशोधित अथवा सीमित रूप मे ब्रिटिश भारत के अन्य भागो मे प्रचलित कोई कानून इन क्षेत्रो मे लागू किया गया तो उसकी अधिसूचना केंद्र को देना अनिवार्य था। किंतु इस विशिष्ट शासनव्यवस्था ने भी कबीली कठिनाइयो को हल नही किया। पहाडी कबीलो मे भू-स्वामित्वहरण रोकने के निमित्त मद्रास सरकार ने सन् १९१७ मे एक कानून बनाकर कबीलियो को उपलब्ध उधार पर व्याज की दर निश्चित करने का प्रयत्न किया।

सन् १८७६ में ही सथाल परगना में व्यक्तिगत रूप से अथवा अदालतो के आदेश द्वारा भूमि का विक्रय और हस्तातरण अवैध घोषित कर दिया गया था। मोटफोर्ड समिति ने १९१९ के अधिनियम की ५२वी धारा मे कबीलो के प्रति शासन की स्थिति को स्वीकार कर लिया। इस धारा के अनुसार पिछडे क्षेत्रो का दो भागो में विभाजन किया गया—(१) पूर्णत अपवर्जित क्षेत्र, और (२) अशत अपवर्जित क्षेत्र। सन् १९३५ मे रक्षात्मक उपायो द्वारा कबीली जनसख्या मे सुधार की चेष्टा की गई। नवीन भारतीय सविधान में कबीलो के प्रति शासन के रक्षणात्मक उत्तरदायित्व पर और अधिक जोर दिया गया है। उनकी स्थिति मे सुधार के लिये नए उपाय ढूंढे गए हैं और उनके उत्थान की दिशा मे शासन अभूतपूर्व रूप से क्रियाशील है। इन क्षेत्रो मे शिक्षा, सामुदायिक विकास, सामाजिक कल्याण तथा पारिवारिक स्वच्छता आदि के लिये समुचित प्रबध हो रहे हैं। कबीलो के प्रति विशेष व्यवहार की नीति के अतिरिक्त शासन ने राजकीय सेवाओ में

भी कबीलियो के लिये कुछ स्थान सुरक्षित कर दिए हैं। इस कार्य के लिये अनुसूचित कबीलो एव जातियो का विभाग बनाया गया है जिसकी अध्यक्षता एक आयुक्त करता है। यह विभाग उन समस्याओ से जूझ रहा है जो कबीलियो को त्रस्त किए हुए हैं। कबीली पुनर्वास के इन प्रयत्नो की सफलता या असफलता के विषय मे इतना शीघ्र कुछ भी कहना सभव नही। किंतु इसमे सदेह नही कि यह प्रयत्न कबीलो की वर्तमान दशा मे सुधार और उन्हे समझने की इच्छा से प्रेरित हुए है। [धी० ना० म०]

कमकर (कामगार) प्रतिकर वह क्षतिपूर्ति जो श्रमिक अथवा कमकर (कामगार) को उसके अगभग आदि हानियो के बदले मिला करती है। पहले यह पूर्ति श्रमिको को अप्राप्य थी, पर आज विधित यह स्वीकार कर ली गई है। वर्तमान समय मे ससार के सभी देशो मे औद्योगीकरण का प्रचार बडी तेजी से हो रहा है। उत्पादन प्रणाली मे मशीनो तथा यात्रिक शक्तियो का प्रयोग उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। आधुनिक औद्योगिक प्रक्रियाएँ बडी जटिल होती जा रही हैं। तापक्रम, स्वच्छ वायु, रोशनी, आर्द्रता आदि का उचित प्रबध न रहने से कारखाने के अदर काम करना कष्टदायक होता है। औद्योगिक दुर्घटनाएँ मशीन-उत्पादन-प्रणाली की विशेष परिणाम हैं। यह ठीक है कि "अपनी सुरक्षा पहले" (सेफ्टी फर्स्ट) जैसे नियमोवाले इश्तहार लगाकर, अथवा आग बुझाने के साधन आदि रखकर सुरक्षा का प्रयत्न किया जाता है, तथापि सुरक्षा के पर्याप्त साधनो के अभाव और खतरनाक मशीनो के प्रयोग मे वृद्धि के कारण सभी औद्योगिक देशो में ऐसी दुर्घटनाओ की सख्या बढती ही जा रही है। इन दुर्घटनाओ के कारणो मे मशीनो का तेजी से चलना, श्रमिको की अकुशलता तथा जटिल मशीनो को चलाने की अनभिज्ञता, उनकी लापरवाही, काम करते करते थक जाना, या आवश्यक सावधानी न बरतना, आदि गिनाए जा सकते हैं। वास्तव मे दुर्घटनाओ की सभावना सदैव बनी रहती है क्योकि एक ओर उत्पादन की गति दिन पर दिन तीव्र होती जा रही है और दूसरी ओर मशीनो का आकार और भी विशाल तथा उनकी रचना और भी जटिल होती जा रही है।

दुर्घटनाएँ होने का अर्थ है—आकस्मिक मृत्यु या स्थायी अथवा अस्थायी पगुता। पगुता के कारण श्रमिक की उपार्जन शक्ति तो समाप्त हो ही जाती है साथ ही कुशल श्रमिक की आकस्मिक मृत्यु या उसका आजीवन पगु रह जाना उद्योग और राष्ट्र के लिये भी हानिकर है। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ऐसी आकस्मिक विपत्तियो के समय उसके आश्रितो का क्या होगा? उनकी देखभाल कौन करेगा और उनके व्यय का क्या प्रबध होगा? क्या समाज की कोई व्यवस्था इन प्रश्नो का समाधान कर सकती है कि उसके आश्रितो को लालन पालन मे कम से कम उस समय तक कोई कष्ट न हो जब तक उसके आश्रित योग्य होकर कमाने लायक न हो जायँ। शारीरिक क्षतियो के अलावा कभी कभी कुछ उद्योग धधो मे उनसे सबधित रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे शीशे के कारखाने मे काम करनेवालो को रक्तपित्त और रुई के कारखानो मे काम करनेवालो को दमा का रोग हो जाता है। ऐसे रोगो का एक उल्लेख भारतीय कमकर प्रतिकर (श्रमिक क्षतिपूर्ति) अधिनियम की तीसरी सूची मे किया गया है। ऐसी अवस्था मे इस प्रकार की योजनाओ की बहुत आवश्यकता है जो मिल मालिको को ऐसी व्यवस्था करने के लिये बाध्य करे जिसमे इस प्रकार की दुर्घटनाएँ कम से कम हो और दुर्घटना होने पर क्षतिपूर्ति की जाय। इसी आवश्यकता का अनुभव करके ससार के सभी उन्नतिशील देशो ने इन परिस्थितियो से बचने के लिये बहुत से उपाय निकाले। दुर्घटनाओ, बीमारी, सामयिक असमर्थता, मृत्यु या आकस्मिक विपत्ति के समय श्रमिको के आश्रितो की देखभाल की योजना को सयुक्त रूप से "कमकर प्रतिकर" (वर्कमेस कापेसेशन) योजना कहा जाता है। वर्तमान काल मे सभी प्रगतिशील देशो मे श्रमिको के कल्याण के लिये बहुत से कानून बनाए गए हैं। इस प्रकार की औद्योगिक दुर्घटनाओ की क्षतिपूर्ति प्रत्येक देश के श्रमविधान का आवश्यक अग है तथा अनेक देशो मे सामाजिक बीमा योजना के अतर्गत समिलित कर दी गई है। इस दिशा मे अतर्राष्ट्रीय श्रमिक सघ के प्रयत्न सराहनीय हैं। इस सघ ने बहुत से ऐसे कनवेशन पारित किए हैं जिनसे प्रतिकर से सबध रखनेवाले श्रमविधानो के सिद्धात निश्चित होते हैं।

आर्थिक तथा मानवीय दोनो दृष्टियो से प्रतिकर प्रदान करने के सिद्धात का समर्थन किया जा सकता है। इससे श्रमिको मे सावधानी तथा सुरक्षा की भावना पैदा होती है और उनकी कार्यशक्ति मे वृद्धि होती है। साथ ही औद्योगिक कार्य का अनाकर्षण कम होता है और कार्य के प्रति उनकी रुचि बढती है। इन प्रकार की योजनाएँ मालिको का भी ध्यान सुरक्षा के प्रति आकर्षित करती हैं। इस व्यवस्था के कारण ही वे श्रमिको को चिकित्सा आदि की उचित सुविधाएँ प्रदान करते हैं। इस व्यवस्था के द्वारा मानव व्यक्तित्व के मूल्य को भी स्वीकृति मिलती है, इसी आधार पर इस धारणा का विकास होता है कि श्रमिक बाजार की कोई वस्तु नहीं है जिसे जब चाहे खरीदा बेचा जा सके। प्रत्युत मूलत वह ऐसा प्राणी है जिसके सुख, दुख कष्ट इत्यादि की वे ही सीमाएँ हैं जो किसी भी अन्य व्यक्ति की। अब यह भी सैद्धातिक रूप से मान लिया गया है कि कार्य चाहे बडा हो या छोटा, व्यवसाय चाहे खतरनाक हो या न हो, चाहे औद्योगिक, वाणिज्य सबधी हो या कृषि सबधी और चाहे श्रमिक औद्योगिक दुर्घटना का शिकार हो या व्यवसाय जनित बीमारी का—सभी अवस्थाओ मे प्रतिकर का अधिकार वैसा ही बना रहता है।

प्रतिकर के रूप मे दी जानेवाली धनराशि साधारणत कमकर को लगी हुई चोट के स्वभाव तथा उसकी औसत मासिक मजदूरी पर निर्भर करती है। इस उद्देश्य के लिये क्षतियो को तीन भागो मे बाँटा जाता है (१) ऐसी चोट जिससे आकस्मिक मृत्यु हो जाय, (२) स्थायी और पूर्ण अथवा आशिक पगुता उत्पन्न करनेवाली चोट, (३) अस्थायी पगुतावाले आघात। भारत मे ऐसा प्रतिकर अधिनियम सर्वप्रथम १९२३ मे (इडियन वर्कमेस कापेनसेशन ऐक्ट) पारित हुआ, तदुपरात १९२६, १९२९, और १९३१ के शाही कमीशन की सिफारिशो के फलस्वरूप १९३४, १९३६, १९४२, १९४६ और १९४८ मे सशोधन होते रहे जिससे उसके क्षेत्र मे काफी विस्तार हो गया है। किसी वयस्क की मृत्यु पर अधिनियम मे दी हुई दरे निम्नतम वेतनवर्ग (अर्थात् दस रुपया प्रति माह से कम) के व्यक्तियो पर ५०० रु० से लेकर उच्चतम वेतन वर्ग (अर्थात् ३०० रु० प्रति माह से अधिक) वाले व्यक्तियो पर ४,५०० रु० तक हैं। किसी व्यक्ति की स्थायी और पूर्ण पगुता पर इस प्रकार के प्रतिकर की दर वेतन के अनुसार ७०० रु० से लेकर ६,२०० रु० तक है। अस्थायी पगुता पर श्रमिको को उनके वेतन के अनुसार उनके मासिक वेतन की आधी राशि दी जाती है। ये दरे अल्पवयस्क तथा वयस्क दोनो के लिये समान हैं। हर्ष की बात है कि भारत मे अधिकतर मिलमालिको ने इन नियमो को कार्यान्वित करने मे अपना सहयोग दिया है। इग्लैंड मे प्रथम कमकर प्रतिकर अधिनियम १९०६ मे पारित किया गया जिसमे मिल मालिकों से क्षति सबधी भुगतान कराने का प्रबध किया गया। हर्जाना उस व्यक्ति को दिया जाता है जो अपने काम के दौरान मे किसी निर्दिष्ट बीमारी या दुर्घटना के कारण अपनी साधारण मजदूरी कमाने मे असमर्थ है। अमेरिका मे इस प्रकार की सुविधाओ के लिये बडी व्यापक व्यवस्था है। प्रत्येक प्लाट के "बीमारी और दुर्घटना बीमा" द्वारा उसे नकद भुगतान का लाभ मिलेगा। अस्पताल की देखभाल या आपरेशन को आवश्यकता होने पर "अस्पताल बीमा" से सहायता मिलेगी तथा व्यावसायिक रोग से ग्रस्त हो जाने पर उसे राज्य द्वारा मालिको के चदे से स्थापित कोष से सहायता मिलेगी। चोट यदि स्थायी रूप से पगु बना देती है तो "व्यावसायिक पुनर्वास कोष" (वोकेशनलरि-हैबिलिटेशनल फड) तथा सघीय सरकार उसे ओषधि सबधी, शल्य सबधी और "साइकियाट्रिक" चिकित्सा की सुविधा देगी, और उसे नए काम के लिये प्रशिक्षित किया जायगा। इसके अतिरिक्त सयुक्तराष्ट्र मे बहुत सी व्यक्तिगत समाज-कल्याण एजेसियाँ हैं जो परिवारो पर मुसीबत आने पर सहायता देती हैं। 'सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाएँ' भी असमर्थता की रोकथाम की प्रधान साधन हैं। वास्तव मे ऐसी सुविधाओ की अधिकाधिक उपलब्धि से ही राज्य सचमुच जनहितकर राज्य (वेल्फेयर स्टेट) बन सकता है।

ऐसी व्यापक व्यवस्थाओ के बावजूद दुर्घटनाएँ हो ही जाती हैं। मूलत समाज का प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि ऐसी दुर्घटनाएँ न्यूनतम हो। इसके लिये बचाव सबधी इश्तहारो का अधिक से अधिक प्रचार, मशीनो की आड, रक्षात्मक पोशाको के प्रबध इत्यादि की आवश्यकता है। नए तथा अनभिज्ञ श्रमिको को रक्षा के उपाय भली प्रकार समझा देने चाहिए। और यदि दुर्घटनाएँ हो ही जायँ तो क्षतिपूर्ति की व्यवस्था शीघ्र से शीघ्र होनी

चाहिए, अन्यथा इसका महत्व समाप्त हो जाता है। सभी प्रकार की दुर्घटनाओं की सूचना तत्काल उच्चाधिकारियों को दे दी जानी चाहिए। प्रशासनात्मक कार्यवाही का यथासंभव सरल होना तथा क्षतिपूर्ति के मामलों का शीघ्र ही निपटारा हो जाना उचित है।

[भू० कु० मु०]

कमरहाटी चौबीस परगना, पश्चिमी बंगाल की बैरकपुर तहसील का एक प्रमुख नगर है। यह हुगली नदी के बाएँ किनारे पर कलकत्ता से लगभग १२ मील उत्तर स्थित है (स्थिति २२°४०' उ० अ० तथा ८८°२३' पू० दे०)। इस नगर की जनसंख्या १९०१ में लगभग १३,२१६ थी जो बढ़कर १९५१ में ७७,२५१ हो गई।

सन् १८९८ ई० तक यह नगर बडनगर नगरपालिका द्वारा शासित होता था, परंतु बाद में इसकी एक अलग नगरपालिका बना दी गई। इस नगर में तीन मंदिर, एक काली का, दूसरा कृष्ण का तथा तीसरा महादेव का, विशेष दर्शनीय है। यहाँ अनेक छोटे स्कूल, एक कालेज एवं औषधालय भी है।

[व० प्र० रा०]

कमल भारत का सबसे प्रसिद्ध फूल है। संस्कृत में इसके नाम हैं—कमल, पद्म, पंकज, पंकरुह, सरसिज, सरोज, सरोरुह, सरसीरुह, जलज, जलजात, नीरज, वारिज, अंभोरुह, अंबुज, अंभोज, अब्ज, अरविंद, नलिन, उत्पल, पुंडरीक, तामरस, इंदीवर, कुवलय, वनज आदि आदि। फारसी में कमल को नीलोफर कहते हैं और अंग्रेजी में इंडियन लोटस या सेक्रेड लोटस, चाइनीज़ वाटर-लिली, ईजिप्शियन या पाइथागोरियन बीन। इसका वनस्पति वैज्ञानिक लैटिन नाम नीलंबियन न्यूसिफेरा (Nelumbian nucifera) है।

कमल का वृक्ष (कमलिनी, नलिनी, पद्मिनी) पानी में ही उत्पन्न होता है और भारत के सभी उष्ण भागों में तथा ईरान से लेकर आस्ट्रेलिया तक पाया जाता है। कमल का फूल सफेद या गुलाबी रंग का होता है और पत्ते लगभग गोल, ढाल जैसे, होते हैं। पत्तों की लंबी डंडियों और नसों से एक तरह का रेशा निकाला जाता है जिससे मंदिरों के दीपों की बत्तियाँ बनाई जाती हैं। कहते हैं, इस रेशे से तैयार किया हुआ कपडा पहनने से अनेक रोग दूर हो जाते हैं। कमल के तने लंबे, सीधे और खोखले होते हैं तथा पानी के नीचे कीचड में चारों ओर फैलते जाते हैं। तनों की गाँठों पर सेक जडें निलती हैं।

कमल के पौधे के प्रत्येक भाग के अलग अलग नाम हैं और उसका प्रत्येक भाग चिकित्सा में उपयोगी है—अनेक आयुर्वेदिक, ऐलोपैथिक और यूनानी ओषधियाँ कमल के भिन्न भिन्न भागों से बनाई जाती हैं। चीन और मलाया के निवासी भी कमल का ओषधि के रूप में उपयोग करते हैं।

कमल के फूलों का विशेष उपयोग पूजा और शृंगार में होता है। इसके पत्तों को पत्तल के स्थान पर काम में लाया जाता है। बीजों का उपयोग अनेक ओषधियों में होता है और उन्हें भूनकर मखाने बनाए जाते हैं। तनों (मृणाल, बिस, मिस, मसीडा) से अत्यंत स्वादिष्ट शाक बनता है।

भारत की पौराणिक गाथाओं में कमल का विशेष स्थान है। पुराणों में ब्रह्मा को विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल से उत्पन्न बताया गया है और लक्ष्मी को पद्मा, कमला और कमलासना कहा गया है। चतुर्भुज विष्णु को शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाला माना जाता है। भारतीय मंदिरों में स्थान स्थान पर कमल के चित्र अथवा संकेत पाए जाते हैं। भगवान् बुद्ध की जितनी मूर्तियाँ मिली हैं, प्रायः सभी में उन्हें कमल पर आसीन दिखाया गया है। मिस्र देश की पुस्तकों और मंदिरों की चित्रकारी में भी कमल का प्रमुख स्थान है। कुछ विद्वानों की राय है कि कमल मिस्र से ही भारत में आया।

भारतीय कविता में कमल का निर्देश और वर्णन बडी प्रचुरता से पाया जाता है। सुंदर मुख की, हाथों की और पैरों की उपमा लाल कमल के फूल से और आँख की उपमा नील-कमल-दल से दी जाती है। कवियों का यह भी विश्वास है कि कमल सूर्योदय होने पर खिलता है और सूर्यास्त होने पर मुँद जाता है। कमल के तने (मृणाल, बिस) का वर्णन हंसों और हाथियों के प्रिय भोजन के रूप में किया गया है। कमल के पत्तों से बने हुए पंखे तथा मृणालखंड विरहिणी स्त्रियों की संतापशांति के साधन वर्णित किए गए हैं। कामशास्त्र में स्त्रियों का विभाजन चार वर्गों में किया गया है जिनमें सर्वश्रेष्ठ वर्ग पद्मिनी नाम से अभिहित है।

[मो० सिं०]

उद्यान में कमल—यदि उद्यान में कमल लगाने की इच्छा हो तो सबसे अधिक संतोषजनक रीति यह है कि सीमेंट की बावली बनाई जाय। प्रबलित (reinforced) कंक्रीट, या प्रबलित ईंट और सीमेंट, से पेंदा बनाया जाय। इसमें लंबाई और चौडाई दोनों दिशा में लोहे की छडें रहें जिसमें इसके चटखने का डर न रहे। दीवारें भी प्रबलित बनाई जायँ। तीन फुट गहरी बावली से काम चल जायगा। लंबाई, चौडाई जितनी ही अधिक हो उतना ही अच्छा होगा। प्रत्येक पौधे को लगभग १०० वर्ग फुट स्थान चाहिए। इसलिये १०० वर्ग फुट से छोटी बावली बेकार है। बावली की पेंदी में पानी की निकासी के लिये छेद रहे तो अच्छा है जिसमें समय समय पर बावली खाली करके साफ की जा सके। तब इस छेद से नीची भूमि तक पनाली भी चाहिए।

बावली की पेंदी में ९ से १२ इंच तक मिट्टी की तह बिछा दी जाय और थोडा बहुत पीट दिया जाय। इस मिट्टी में सडे गोबर की खाद मिली हो। मिट्टी के ऊपर एक इंच मोटी बालू डाल दी जाय। यदि बावली बडी हो तो पेंदी पर सर्वत्र मिट्टी डालने के बदले १२ इंच गहरे लकडी के बडे बडे बक्सों का प्रयोग किया जा सकता है। तब केवल बक्सों में मिट्टी डालना पर्याप्त होगा। इससे लाभ यह होता है कि सूखी पत्ती दूर करने, या फूल तोडने के लिये, जब किसी को बावली में घुसना पडता है तब पानी गंदा नहीं होता और इसलिये पत्तियों पर मिट्टी नहीं चढने पाती। कमल के बीज को पेंदी की मिट्टी में, मिट्टी के पृष्ठ से दो तीन इंच नीचे, दबा देना चाहिए। वसंत ऋतु के आरंभ में ऐसा करना अच्छा होगा। कहीं से उगता पौधा जड सहित ले लिया जाय तो और अच्छा। बावली सदा स्वच्छ जल से भरी रहे।

नई बनी बावली को कई बार पानी से भरकर और प्रत्यक बार कुछ दिनों के बाद खाली करके स्वच्छ कर देना अच्छा है, क्योंकि आरंभ में पानी में कुछ चूना उतर आता है जो पौधों के लिये हानिकारक होता है। पेंदी की मिट्टी भी चार, छ महीने पहले से डाल दी जाय और पानी भर दिया जाय। पानी पहले हरा, फिर स्वच्छ हो जायगा। बावली में नदी का, अथवा वर्षा का, या मीठे कुएँ का जल भरा जाय। शहरों के बंबे के जल में बहुधा क्लोरीन इतनी मात्रा में रहती है कि पौधे उसमें पनपते नहीं। बावली ऐसे स्थान में रहनी चाहिए कि उसपर बराबर धूप पड सके। छाँह में कमल के पौधे स्वस्थ नहीं रहते।

[भ० दा० व०]

कमाल अतातुर्क मुस्तफा कमाल पाशा को आधुनिक तुर्की का निर्माता कहा जाता है। उनका जन्म १८८१ में सलोनिका में एक किसान परिवार में हुआ। ११ साल की उम्र में ही वह इतने दुर्दांत मान लिए गए थे कि उन्हें साधारण विद्यालय से निकाल देना पडा, और वह सलोनिका में सैनिक विद्यालय के विद्यार्थी हो गए। वहाँ भी उनका वही स्वभाव बना रहा। पर उन्हें सैनिक विद्या में दिलचस्पी रही।

१७ साल की उम्र में मोनास्तीर के उच्च सैनिक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्हें सब-लेफ्टिनेंट का पद देकर कुस्तुंतुनिया के स्टाफ कालेज में भेज दिया गया।

वहाँ वह अध्ययन के साथ साथ बुरी संगत में घूमते रहे। कुछ काल तक उद्दंड जीवन बिताने के बाद वह 'वतन' नामक एक गुप्त क्रांतिकारी दल के सदस्य और थोडे ही दिनों में नेता बन गए। 'वतन' का उद्देश्य एक तरफ सुल्तान की तानाशाही और दूसरी तरफ विदेशियों के षड्यंत्रों को मिटाना था। एक दिन दल की बैठक हो रही थी कि एक गुप्तचर ने खबर दे दी और सबके सब षड्यंत्रकारी अफसर गिरफ्तार करके जेल भेज दिए गए। प्रचलित कानून के अनुसार उन्हें मृत्युदंड दिया जा सकता था, पर दुर्बलचित्त सुल्तान को भय था कि कहीं ऐसा करने पर देश में विद्रोह न भडक उठे, अतः उसने सबको क्षमाप्रदान करने का निश्चय किया।

इस प्रकार कमाल छूट गए और द्रूज जाति के विद्रोह को दबाने के लिये दमिश्क भेजे गए। वहाँ कमाल ने अच्छा काम किया, पर कुस्तुंतुनिया लौटते ही उन्होंने 'वतन' दल का पुनरारंभ कर दिया। इस बीच उन्हें यह ज्ञात हुआ कि मकदूनिया में सुल्तान के विरुद्ध खुला विद्रोह होनेवाला है। इसपर कमाल

ने छुट्टी ले ली और वह जाफा, मिस्र, एथेंस होते हुए वेश बदलकर विद्रोह के केंद्र सलोनिका पहुँचे। पर वहाँ वह पहचान लिए गए। फिर वह ग्रीस होते हुए जाफा भागे। पर तब तक उनकी गिरफ्तारी का आदेश वहाँ पहुँच चुका था। अहमद बे नामक एक अफसर पर कमाल को पकडने का भार था, पर अहमद स्वय वतन का सदस्य था, इसलिये उसने कमाल को गिरफ्तार करने के बजाय उन्हे गाजा मोर्चे पर भेज दिया और यह रिपोर्ट भेज दी कि वह छुट्टी पर गए ही नही थे।

यद्यपि कमाल सलोनिका मे बहुत थोडे समय तक रह पाए थे, फिर भी वह समझ गए थे कि उसे ही विद्रोह का केंद्र बनना है, इसलिये बडे प्रयत्नो के बाद १९०८ मे उन्होने अपना स्थानातरण वहाँ करा लिया।

यहाँ अनवर के नेतृत्व मे दो साल पहले ही 'एकता और प्रगति समिति' नाम से एक क्रातिकारी दल की स्थापना हो चुकी थी। कमाल फौरन इसके सदस्य बन गए, पर नेताओ से उनकी नही बनी। फिर भी समिति काम करती रही। इस दल के एक नेता नियाजी ने केवल कई सौ आदमियो को लेकर तुर्की सरकार के विरुद्ध विद्रोह बोल दिया। थी तो यह बडी मूर्खता की बात, पर देश तैयार था, इसलिये जो सेना उससे लडने के लिये भेजी गई, वह भी उससे जा मिली। इस प्रकार देश मे अनवर का जयजयकार हो गया। अब यह सम्मिलित सेना राजधानी पर आक्रमण करने की तैयारी कर रही थी। सुल्तान ने इन्ही दिनो कुछ शासनसुधार भी किए, फिर भी विद्रोह की शक्तियाँ काम करती रहीं, पर जब विद्रोह सफल हो चुका तब सुल्तान अब्दुल हमीद ने सेना के कुछ लोगो को यथेष्ट घूस देकर मिला लिया, जिससे सैनिको ने विद्रोह करके अपने अफसरो को मार डाला और फिर एक बार इस्लाम, सुल्तान और खलीफा की जय के नारे बुलद हुए।

इन दिनो अनवर बर्लिन मे थे। वह जल्दी ही लौटे और उन्होने अब्दुल हमीद को सिंहासनच्युत करके प्रतिक्रियावादियो के बीसियो नेताओ को फाँसी पर चढा दिया और क्रातिकारी समिति के हाथ मे शक्ति आ गई। अब्दुल हमीद का भाजा सिंहासन पर नाममात्र के लिये बिठाया गया।

अब कमाल अनवर के विरुद्ध षड्यत्र करते रहे क्योकि उनके विचार से अनवर अव्यावहारिक व्यक्ति थे, आदर्शवादी अधिक थे। अनवर ने इस समय होनेवाले विदेशी आक्रमणो को भी प्रतिहत किया और इससे उनकी ख्याति और बढी।

इसके बाद अनवर ने अपने सर्व इस्लामी स्वप्न को सत्य करने के लिये कार्य आरभ किया और उन्होने इसके लिये सबसे पहला काम यह किया कि तुर्की सेना को सगठित करने का भार एक जर्मन जनरल को दिया। कमाल ने इसके विरुद्ध आदोलन किया कि यह तो तुर्की जाति का अपमान है। इसपर कमाल सैनिक दूत बनाकर सोफिया भेज दिए गए।

इसी बीच महायुद्ध छिड गया। इसमे अनवर सफल नही हो सके, पर कमाल ने एक युद्ध मे कुस्तुतुनिया पर अधिकार करने की ब्रिटिश चाल को व्यर्थ कर दिया और इसके बाद उनकी जीत पर जीत होती चली गई। फिर भी महायुद्ध मे तुर्की हार गया। कमाल दिन रात परिश्रम करके विदेशियो के विरुद्ध आदोलन करते रहे। १९२० मे सेव्र की सधि की घोषणा हुई पर इसकी शर्तें इतनी खराब थी कि कमाल ने फौरन ही एक सेना तैयार कर कुस्तुतुनिया पर आक्रमण की तैयारी की। इसी बीच ग्रीस ने तुर्की पर हमला कर दिया और स्मरना मे सेना उतार दी जो कमाल के प्रधान केंद्र अगोरा की तरफ बढने लगी। अब कमाल के लिये बडी समस्या पैदा हो गई, क्योकि इस युद्ध मे यदि वे हार जाते तो आगे कोई सभावना न रहती। उन्होने बडी तैयारी के साथ युद्ध किया और धीरे धीरे ग्रीक सेना को पीछे हटना पडा।

इस बीच फ्रास और रूस ने भी कमाल को गुप्त रूप से सहायता देना शुरु किया। थोडे दिनो मे ही ग्रीक निकाल बाहर किए गए। ग्रीको को भगाने के बाद ही अग्रेजो के हाथ से बाकी हिस्से को निकालने का प्रश्न था। देश उनके साथ था, इसके अतिरिक्त ब्रिटेन अब लडने के लिये तैयार नही था। इस कारण यह समस्या भी सुलझ गई।

कमाल ने देश को प्रजातत्र घोषित किया और स्वय प्रथम राष्ट्रपति बने। अब राज्य लगभग निष्कटक हो चुका था, पर मुल्लाओ की ओर से उनका विरोध हो रहा था। इस पर कमाल ने सरकारी अखबारो मे इस्लाम के विरुद्ध प्रचार शुरु किया। अब तो धार्मिक नेताओ ने उनके विरुद्ध फतवे दिए और यह कहा कि कमाल ने अगोरा मे स्त्रियो को पर्दे से निकाला है और देश मे आधुनिक नृत्य का प्रचार किया है, जिसमे पुरुष स्त्रियो से सटकर नाचते है, इसका अत होना चाहिए। हर मस्जिद से यह आवाज उठाई गई। तब कमाल ने १९२४ के मार्च मे खिलाफत प्रथा का अत करते हुए और तुर्की को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित करते हुए एक विधेयक रखा। अधिकाश ससदसदस्यो ने इसका विरोध किया, पर कमाल ने उन्हे धमकाया। इसपर विधेयक पारित हो गया।

पर भीतर भीतर मुल्लाओ के विद्रोह की आग सुलगती रही। कमाल के कई भूतपूर्व साथी मुल्लाओ के साथ मिल गए थे। इन लोगो ने विदेशी पूँजीपतियो से धन भी लिया था। कमाल ने एक दिन इनके मुख्य नेताओ को गिरफ्तार कर फाँसी पर चढा दिया। कमाल ने देखा कि केवल फाँसी पर चढाने से काम नही चलेगा, देश को आधुनिक रूप से शिक्षित करना है तथा पुराने रीति रिवाजो को ही नही, पहनावे आदि को भी समाप्त करना है।

कमाल ने पहला हमला तुर्की टोपी पर किया। इसपर विद्रोह हुए, पर कमाल ने सेना भेज दी। इसके बाद उन्होने इस्लामी कानूनो को हटाकर उनके स्थान पर एक नई सहिता स्थापित की जिसमे स्विटजरलैंड, जर्मनी और इटली की सब अच्छी बाते शामिल थी। बहुविवाह गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। इसके साथ ही पतियो से यह कहा गया कि वे अपनी पत्नियो के साथ ढोरो की तरह व्यवहार न करके बराबरी का बर्ताव रखे। प्रत्येक व्यक्ति को वोट का अधिकार दिया गया। सेवाओ मे घूस लेना निषिद्ध कर दिया गया और घूसखोरो को बहुत कडी सजाएँ दी गई। पर्दा उठा दिया गया और पुरुष पुराने ढग के परिच्छद छोडकर सूट पहनने लगे।

इससे भी बडा सुधार यह था कि अरबी लिपि को हटाकर रोमन लिपि की स्थापना की गई। कमाल स्वय सडको पर जाकर रोमन वर्णमाला पढाते रहे।

इसके साथ ही कमाल ने तुर्की सेना को अत्यत आधुनिक ढग से सगठित किया। इस प्रकार तुर्क जाति उनके कारण आधुनिक जाति बनी। जब १९३८ मे नवबर मास मे मुस्तफा कमाल अतातुर्क की मृत्यु हुई तब आधुनिक तुर्की के निर्माता के रूप मे उनका नाम ससार मे चमक चुका था।

सं० ग्रं०—जान गुथर इन साइड यूरोप, वन हड्रेड ग्रेट लाइव्ज—दी होम लायब्रेरी क्लब। [म० गु०]

कमिशन (आयोग) कोई कर्तव्य या दायित्व किसी व्यक्ति को सौंपने की क्रिया, या इस प्रकार सौंपा हुआ कार्य या दायित्व, अथवा विशेष रूप से कोई अधिकार, या प्रपत्र जो इस प्रकार के अधिकार किसी व्यक्ति को किसी पद पर कार्य करने के लिये प्रदान करता है, कमिशन (आयोग) कहलाता है। इस प्रकार यह शब्द सेना पर प्रभुत्व हेतु ऐसे लिखित अधिकार के लिये प्रयुक्त होता है जो किसी राष्ट्र का सर्वोच्च शासक, अथवा राष्ट्रपति, सशस्त्र सेना के प्रमुख सेनापति के रूप मे पदाधिकारियो को प्रदान करता है। इस शब्द का उपयोग इसी प्रकार के अन्य ऐसे अधिकारपत्रो के हेतु भी होता है जो शातिव्यवस्था के लिये आवश्यक होते है।

सेना आयोग—सेना का आयोग किसी सैनिक कार्यालय मे देशसेवा के हेतु कार्य करने का प्रमाणपत्र होता है। इस प्रकार के प्रामाणिक व्यक्ति आयुक्त अधिकारी कहे जाते है। ये आयोग किसी देश की किसी सैनिक सस्था में प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् दिए जाते है। भारत मे स्थल सेनाधिकारियो को दो प्रकार के आयोग प्रदान किए जाते है। भारतीय आयोग और कनिष्ठ आयोग (जूनियर कमिशन)। कनिष्ठ आयोग की विशेषता यह है कि यह केवल भारत मे ही सैनिक अधिकारियो को प्रदान किया जाता है। अन्य देशो मे ऐसा नही किया जाता। यह अग्रेजो द्वारा प्रारभ किया गया था, क्योकि वे प्रत्यक्ष नियत्रण में और सेना के अन्य पदो मे सर्कप रखने मे असमर्थ थे। किंतु पदाधिकारियो के राष्ट्रीयकरण

के पश्चात् भी कनिष्ठ आयोग को समाप्त नही किया गया। अधिकारियो को भारतीय आयोग उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे अन्य देशो मे और इसके लिये कुछ प्राथमिक योग्यताएँ अनिवार्य होती है। १८७१ ई० के पूर्व तक इग्लैंड में सेना के कुछ सगठनो, यथा अभियता, तोपखाना और इसी प्रकार के कुछ अन्य सैनिक प्राविधिक सगठनो को छोडकर शेष आयोगो को क्रय किया जा सकता था। शातिकाल मे, भारत और इग्लैंड मे, जिन सैनिको को आयोग नही प्राप्त हुआ रहता, उन्हे नियमित प्राविधिक शिक्षा प्राप्त करके, परीक्षा उत्तीर्ण करके, उचित सस्तुति होने पर, आयोग प्रदान कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त आयोग प्राप्त करने के अन्य क्षेत्र विश्वविद्यालयो और कालेजो के केडेट कोर, प्रमुख आरक्षिक अधिकारी वर्ग, और प्रादेशिक सेना है। सयुक्त राष्ट्र सेना में, वेस्ट प्वाइट को छोडकर, नीचे के पदो से ही तरक्की दी जाती है। उन नागरिको को भी आयोग प्रदान किया जाता है जो परीक्षा मे उत्तीर्ण होते है, किंतु ऐसा तभी सभव है जब विशेष रूप से शिक्षा सस्थाओ के प्रशिक्षण कोर (corps) उनकी सस्तुति करे।

युद्धकाल मे आयोग प्राप्त करने के लिये अनिवार्य योग्यताएँ शिथिल कर दी जाती है। शातिकाल मे आयोग प्राप्त करने के लिये प्रशिक्षण और उच्च प्राविधिक परीक्षाओ मे उत्तीर्ण होना अनिवार्य होता है, किंतु युद्धकाल मे योग्य व्यक्तियो को बिना प्रशिक्षण और बिना प्राविधिक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए भी आयोग प्रदान किया जाता है।

जब किसी नौसेना अधिकारी को किसी युद्धपोत के उपयोग का निर्देश दिया जाता है तब इस आज्ञापत्र को भी आयोग कहा जाता है। जब युद्धपोत सैनिको तथा शस्त्रो से सुसज्जित करके युद्ध के लिये तैयार किया जाता है तब कहा जाता है कि युद्धपोत आयोजित कर दिया गया है।

विधानानुसार न्यायालय मे गवाह की उपस्थिति अनिवार्य न समझकर जब न्यायाधीश कुछ मनोनीत सदस्यो की उपस्थिति मे किसी अन्य स्थान पर गवाही लेने की आज्ञा देता है तब इस प्रकार के मनोनीत सदस्यो के वर्ग को भी आयोग कहा जाता है।

जब कोई व्यक्ति अपने कार्यालय के कुछ कार्यो को सपन्न करने का कुछ विशेष व्यक्तियो को अधिकार दे देता है तब वह व्यक्तिवर्ग, जो शिष्टमडल की भाँति इन कार्यो का निर्वाह करता है, साधारण रूप से आयोग कहलाता है और ये व्यक्ति उस आयोग के सदस्य कहे जाते है।

अतर्राष्ट्रीय आयोगो की भी नियुक्ति होती है। ये आयोग सबद्ध राष्ट्रो द्वारा उनके बीच के झगडो को सुलझाने, सीमारेखा का निर्णय करने, या अन्य समस्याएँ सुलझाने के लिये भी नियुक्त होते है।

व्यवसाय मे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अभिकर्ता के रूप मे कार्य करने का आयोग प्रदान करता है। सामान या वस्तुएँ बिक्री के लिये अभिकर्ता को सौप दी जाती है। बिक्री से प्राप्त धन का कुछ प्रति शत अभिकर्ता को पारिश्रमिक के रूप मे दिया जाता है। इस प्रति शत पारिश्रमिक को अग्रेजी मे कमिशन कहते है, परतु हिंदी मे इसे दस्तूरी (आढत) कहते है। पारिश्रमिक की दर व्यवसायी और अभिकर्ता के बीच लिखित, या मौखिक रूप से तय की जाती है।

जाँच आयोग—किसी विधि (कानून) को लागू करने के लिये आवश्यक सूचनाएँ और तथ्य एकत्र करने के निमित्त विधि आयोग की योजना की जाती है, जैसा इस शताब्दी के पूर्वार्ध मे भारतीय विधि आयोग मे किया गया था। सामाजिक, शैक्षिक आदि विशेष मामलो की जाँच करने के लिये जो आयोग सगठित किए जाते है उनका नामकरण नियुक्ति की शर्तो के आधार पर किया जाता है। अधिकारपत्र मे जाँच सबधी विषयो का भली भाँति स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। आयोग निर्माण करने के अधिनियमो आदि की व्याख्या करनेवाले इस अधिकारपत्र को निर्देश कहते है।
[दा० दा० ख०]

कमेनियस जॉन एमॉस

(१५९२-१६७० ई०)—मोराविया (अब चेकोस्लोवाकिया) के एक महान् शिक्षाविद्, धर्मशास्त्रवेत्ता, और तत्वज्ञानी। आधुनिक शिक्षा की निगमन विधि और ज्ञान के क्षेत्र मे अतर्राष्ट्रीय सहकारिता के विचारो की पूर्वकल्पनाएँ उनके ग्रथो मे है। उनको आधुनिक शिक्षाविज्ञान का जन्मदाता और विश्वविवेक का अग्रदूत कहा जाता है। उनके जीवन का महत्वपूर्ण भाग जर्मनी, पोलैंड, हगरी, स्वीडेन और हालैंड मे व्यतीत हुआ। उन्होने १४० से अधिक ग्रथ लिखे। उनके प्रमुख ग्रथो में 'द ग्रेट डाइडैक्टिक', 'लैबरिंथ ग्राव दि वर्ल्ड ऐंड दि पैराडाइज ग्राव दि हार्ट, ए गाइड फॉर इन्फैंट स्कूल्स', 'ओरबिस पिक्टस' और 'आयनुआ लिंगुआरम रिसरेटा' है। कमेनियस शिक्षा को जीवन में पूर्णता प्राप्त करने का अनत शक्तिशाली साधन मानते थे। वे बालक के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करने के पक्षपाती थे और उनका कहना था कि सफल शिक्षण का एकमात्र रहस्य प्राकृतिक नियमो का अनुपालन है। प्राग के कमेनियस सस्थान में कमेनियस के विचारो पर अनुसधान करने की विशेष सुविधाएँ है।

स० ग्र०—एम० ए० कीटिंग कमेनियस, मैकग्रो हिल, न्यूयार्क (१९३८), यूनेस्को कोरियर, (नवबर, १९५७ अक), २, प्लेस डी० फाटेनाय, पेरिस ७, फ्रास। [म० द० श०]

कम्यून

की परपरा अति प्राचीन है, इसका सबध आदिम और ईसाई कम्यूनिज्म से भी पूर्व एस्रायली 'किबूतो' से रहा है। इन किबूतो मे सपत्ति पर सामूहिक स्वामित्व रहता रहा है। आज भी इस्रायल मे राष्ट्रीय सस्था के रूप में किबूतो का नए सिरे से निर्माण हुआ है। इस व्यवस्था मे प्रत्येक सदस्य अपनी अर्जित सपत्ति किबूत को सौंप देता है, और बदले मे केवल जीवनयापन के लिए आवश्यक सहायता उससे प्राप्त करता है। (दे० किबूत लेख)।

वैधिक अर्थ मे मध्ययुग के सभी नगर कम्यून थे। कम्यून की उत्पत्ति का प्रमुख कारण तत्कालीन विकसित होते हुए व्यावसायिक तथा श्रमिक वर्ग की नवीन आवश्यकताओ की पूर्ति तथा उनकी सामान्य रक्षा के लिये आवश्यक सगठन था। इनका इतिहास ११वी शताब्दी से स्पष्ट रूप मे मिलता है, जब वाणिज्य और व्यवसाय के लिये भौगोलिक दृष्टि से सर्वाधिक लाभप्रद क्षेत्रो मे इनकी स्थापना हुई। इनके निवासियो की सामाजिक स्थिति अन्य लोगो से इसलिये भिन्न थी कि उन्होने कृषि के स्थान पर वस्तुओ के उत्पादन तथा विनिमय को जीविकोपार्जन का साधन बनाया था। कम्यून की उत्पत्ति सामतवादी सगठनो के बीच हुई क्योकि इन सगठनो ने जब नवोदित व्यावसायिक वर्ग की आवश्यकताओ की अवहेलना की तब विवश हो उस वर्ग को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये अपने साधन अपनाने पडे। प्रारभ मे कम्यून का सगठन पूर्ण रूप से वैयक्तिक था, वह केवल उन्ही लोगो से सबधित था जो उसमे स्वेच्छा से समिलित होने के लिये तैयार थे और इस सगठन के हेतु शपथ ग्रहण करते थे। १२वी शताब्दी के अत मे कम्यून वैयक्तिक न होकर क्षेत्रीय हो गए जिसके फलस्वरूप नगर के सभी निवासियो को उसके अधीन रहने की शपथ लेनी अनिवार्य हो गई। मध्ययुगीन समाज के विभाजित तथा स्थानीय होने के कारण कम्यूनो के स्वरूप मे स्थान तथा परिस्थितियो के अनुसार विभिन्नताएँ थी, यद्यपि इन विभिन्नताओ के होते हुए भी कुछ सामान्य लक्षण भी थे।

फ्रास के कम्यून आदोलन का अभिप्राय बडे नगरो को देश मे स्थापित केंद्रीय सत्ता के नियत्रण से मुक्ति दिलाना था। इस मुक्तिप्राप्ति के ढगो के विषय मे वहाँ दो मत थे। एक यह कि देश को विभिन्न स्वायत्तशासित कम्यूनो में बाँट दिया जाय और उन सबके सामान्य हितो का प्रतिनिधान करनेवाली किसी सघीय परिषद् मे प्रत्येक कम्यून अपने अपने सदस्य भेज सके। कम्यून विषयक यह सिद्धात साम्यवादी सिद्धात है, और इसी सिद्धात को पेरिस के कम्यून ने अपनाया था। दूसरे, कम्यून पूरे देश मे अपने विचारो की निरकुशता स्थापित करे और देश पर आधिपत्य जमाने के लिये उन नगरो को सगठित करे जो उसके आदर्शो के प्रति सवेदनशील हो। यह विचार पेरिस के क्रातिकारी दल के एक वर्ग में प्रचलित था क्योकि तत्कालीन परिस्थितियाँ इस विचार को बल प्रदान करने मे सहायक थी। इस विचार के समर्थको ने बाहरी शत्रु से आतकित देश के लिये तत्कालीन सरकार की निरर्थकता इस आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा

की कि वह अनुशासन और शासनप्रबंध के पुराने तथा असामयिक ढंगों पर चलनेवाली सरकार थी जब कि समयानुसार आवश्यकता थी अपने को स्वयं संगठित कर सकने के लिये जनशक्ति की स्वतंत्रता की, सार्वजनिक सुरक्षा के लिये जनमत द्वारा निर्वाचित एक समिति की, प्रांतों के लिये आयुक्तों की, तथा देशद्रोहियों के मृत्युदंड की उचित व्यवस्था की।

सन् १८७१ ई० का पेरिस कम्यून एक क्रांतिकारी आंदोलन था जिसका प्रमुख महत्व फ्रांस के सामंतशाही आधिपत्य से पेरिस के सर्वहारा वर्ग द्वारा अपने को स्वतंत्र करने के प्रयत्नों में है। सन् १७९३ ई० के कम्यून के समय से ही पेरिस के सर्वहारा वर्ग में क्रांतिकारी शक्ति पोषित हो रही थी जिसने समय असमय उसके प्रयोग के निष्फल प्रयत्न भी किए थे। २ सितंबर, सन् १८७० में तृतीय नेपोलियन की हार के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली राजनीतिक परिस्थितियों ने पेरिस और सामंतशाही फ्रांस के बीच के संघर्ष को और बढ़ा दिया। ४ सितंबर को गणतंत्र की घोषणा के साथ राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार (गवर्नमेंट आव नेशनल डिफेंस) की स्थापना हुई और दो सप्ताह बाद ही जर्मन सेना ने पेरिस पर घेरा डाल दिया जिससे आतंकित हो पेरिस ने गणतंत्र स्वीकार कर लिया। परंतु मास पर मास बीतने पर भी जब घेरा न हटा तब भूख और शीत से व्याकुल पेरिस की जनता ने पेरिस के एकाधिनायकत्व में लवी आँ मास (levee en masse) की चर्चा प्रारंभ कर दी। सितंबर में ही नई सरकार के पास स्वायत्तशासित कम्यून की स्थापना की माँग भेज दी गई थी, इधर युद्ध की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नए सैन्य जत्थों का संगठन, श्रमिकवर्ग के लोगों की भर्ती तथा उन्हें अपने अफसरों को नामजद करने के अधिकार की प्राप्ति के फलस्वरूप भी पेरिस के सर्वहारा वर्ग की शक्तियाँ बढ़ गई थी। फरवरी, सन् १८७१ ई० में इन सर्वहारा सैन्य जत्थों ने परस्पर मिलकर एक शिथिल संघ की तथा २० आरोंदिस्मों (arondissmonts) में प्रत्येक से तीन प्रतिनिधियों के आधार पर राष्ट्रीय संरक्षकों की एक केंद्रीय समिति (कोमिती द ला गार्द नात्सियोनाल) की स्थापना की।

२८ जनवरी को जर्मन सेना तथा राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार के बीच किंचित् काल के लिये इस उद्देश्य से युद्ध स्थगित करने की संधि हुई कि फ्रांस को राष्ट्रीय संसद (नेशनल असेंब्ली) के निर्वाचन का अवसर प्राप्त हो सके जो शांतिस्थापना या युद्ध के चलते रहने पर अपना निर्णय दे। परंतु सामंतशाही फ्रांस की भावनाओं का प्रतिनिधान करनेवाली इस संसद् ने सर्वहारा वर्ग को और अधिक क्रुद्ध किया। उसने महँगे दामों में केवल युद्धसमाप्ति को ही नहीं स्वीकार किया वरन् फ्रांस की राजधानी वरसाई में स्थानांतरित कर पेरिस वासियों को अपमानित भी किया और कुछ ऐसे प्रस्ताव पास किए जो पेरिसवासियों के हितों के लिये घातक थे। पेरिस के स्वायत्तशासन संबंधी आंदोलन को आघात पहुँचाने के आशय से राष्ट्रीय संरक्षक समिति की सैन्य शक्तियाँ कम करने के हेतु १८ मार्च को सरकार द्वारा उसकी तोपों पर आधिपत्य प्राप्त करने के निष्फल प्रयत्न ने दोनों के बीच होनेवाले संघर्ष को क्रांतिकारी आंदोलन का रूप दे दिया जिसमें सरकारी सेना ने राष्ट्रीय संरक्षकों पर वार करना अस्वीकार कर दिया। फलतः सरकार-पक्ष के अनेक नेता मारे गए और शेष ने वारसाई में भागकर शरण ली। इस प्रकार किसी विशेष संघर्ष के बिना नगर राष्ट्रीय संरक्षक समिति के आधिपत्य में आ गया जिसने तुरंत अंतरिम सरकार की स्थापना की तथा २६ मार्च को पेरिस कम्यून के प्रतिनिधियों के निर्वाचन का प्रबंध किया। ९० प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिये लगभग दो लाख व्यक्तियों ने मतदान दिया। अंतरिम सरकार के रूप में अपना कार्य समाप्त कर चुकने के कारण राष्ट्रीय संरक्षक समिति ने राजनीतिक कार्य से अवकाश ग्रहण कर लिया और इस प्रकार अंततः पेरिस नगर अपने हित में अपना शासनप्रबंध स्वयं करने का अवसर पा सका।

१८ मार्च की क्रांति केवल राष्ट्रीय सुरक्षा सरकार और उसकी संसद् के ही नहीं वरन् केंद्रीकरण की उस संपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध थी जिसके कारण न केवल स्थानीय प्रबंध केंद्रीय सत्ता द्वारा नियंत्रित था, वरन् प्रांतों द्वारा आरोपित प्रतिक्रियावादी सरकार ने पेरिस तथा अन्य बड़े नगरों का सामाजिक और राजनीतिक विकास अवरुद्ध कर रखा था। क्रांतिकारियों के अनुसार इन सबका केवल एक उपचार था केंद्रीय सत्ता के कार्यों को न्यूनतम करना ताकि स्थानीय संगठनों को न केवल अपने प्रबंध के लिये वरन् अपने समाज के संपूर्ण संगठन एवं विकास के लिये भी सर्वाधिक संभावित शक्तियाँ प्राप्त हो सकें, दूसरे शब्दों में, फ्रांस को स्वशासित कम्यूनों के संघ में बदलना। १९ अप्रैल को प्रकाशित पेरिस कम्यून के घोषणापत्र के अनुसार कम्यून के अधिकार थे—बजट पास करना, कर निश्चित करना, स्थानीय व्यवसाय का निर्देशन, पुलिस, शिक्षा एवं न्यायालयों का संगठन, कम्यून की संपत्ति का प्रबंध, सभी अधिकारियों का निर्वाचन, उनपर नियंत्रण तथा उन्हें पदच्युत करना, वैयक्तिक स्वतंत्रता की स्थायी सुरक्षा; नागरिक सुरक्षा का संगठन आदि। इस दृष्टि से यह अधिकारपत्र ऐसे समाजवाद की घोषणा करता है जो पूरे आंदोलन का वास्तविक आधार है। कम्यून सिद्धांत पूर्ण रूप से पेरिस, लियों तथा एक या दो अन्य बड़े नगरों के हितों की दृष्टि से प्रतिपादित किया गया था और इसलिये फ्रांस के अधिकतर भाग में यह लागू नहीं हो सकता था। इसके पीछे यह विचार था कि ग्रामों के कृषक तथा छोटे नगरों के निवासी अभी इतने योग्य नहीं हैं कि वे अपना सामान्य स्थानीय प्रबंध भी स्वयं कर सकें। इसलिये उन्हें वित्त, पुलिस, शिक्षा, तथा सामान्य सामाजिक विकास का उत्तरदायित्व तुरंत नहीं सौंपा जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि फ्रांस पर पेरिस का आधिपत्य क्रांतिकारियों के कम से कम एक भाग का उद्देश्य अवश्य था, दूसरे कम्यून सिद्धांत में प्रारंभ से ही एक अंतर्विरोध विद्यमान था। इस सिद्धांत ने पेरिस तथा अन्य प्रगतिशील नगरों को अप्रागतिक प्रांतों के नियंत्रण से मुक्त कर उनके लिये स्थानीय स्वायत्तशासन घोषित किया था, परंतु प्रांत इस सिद्धांत को, जैसा कि स्वयं सिद्धांत की प्रस्तावना में वर्णित है, स्वीकार करने के योग्य प्रगतिशील न थे। फलतः उन्हें इस आंदोलन में सम्मिलित होने के लिये पेरिस की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। दूसरे शब्दों में, कम्यून सिद्धांत की स्थापना के लिये यह अनिवार्य था कि उसे पहले नष्ट कर दिया जाय। जाकोबे (Jacobins) एक बार पुनः स्वतंत्रता के देश में प्रकट होता है और स्थानीय स्वायत्तशासन एक केंद्रीय सत्ता द्वारा आरोपित होती है तथा राजधानी से प्राप्त बल के आधार पर स्वतंत्र संघ की नींव डाली जाती है।

शासनप्रबंध के लिये कम्यून की परिषद् ने अपने को दस आयोगों में विभक्त किया था। वे आयोग थे—वित्त, युद्ध, सार्वजनिक सुरक्षा, वैदेशिक संबंध, शिक्षा, न्याय, श्रम और विनिमय, खाद्य, सार्वजनिक सेवा, तथा सामान्य कार्यकारिणी संबंधी। प्रारंभ से ही कम्यून ने समाजवादी सिद्धांत अपनाने की घोषणा की थी, परंतु व्यवहार रूप में जिस सरकार की प्रायः सभी शक्तियाँ अपने शत्रु को नष्ट करने में ही प्रमुख रूप से व्यय हुई हों उसके लिये, दो मास की छोटी अवधि में क्रांतिकारी आर्थिक संगठन कर पाना असंभव था। कम्यून ने सैद्धांतिक रूप से स्थानीय स्वायत्तशासन को स्वीकार किया था, परंतु व्यवहार में उसकी प्रवृत्ति समस्त फ्रांस पर पेरिस की सरकार आरोपित करना था। उदाहरणार्थ, अप्रैल में पेरिस कम्यून ने स्वतंत्रता को फ्रांसीसी गणतंत्र का प्रथम सिद्धांत मानकर, और यह स्वीकार कर कि धार्मिक मतों का बजट इस सिद्धांत के प्रतिकूल है क्योंकि वह नागरिकों को उस धार्मिक विश्वास के प्रचार के लिये आर्थिक सहायता देने के लिये बाध्य करता है जो उनका नहीं है, तथा यह विचार कर कि पोप स्वतंत्रता के आदर्श के विरुद्ध राजतंत्र द्वारा किए गए अपराधों में सहायक हुआ है, यह आज्ञप्ति जारी की कि चर्च राज्य से अलग कर दिया जाय और धार्मिक मठों की संपत्ति राष्ट्र की संपत्ति घोषित कर दी जाय। अतः पेरिस की कम्यून परिषद् ने यद्यपि सैद्धांतिक रूप से केवल पेरिसवासियों के हितों का प्रतिनिधान स्वीकार किया था, तथापि स्वतंत्रता के नाम पर समस्त फ्रांस के पोप पर लागू होनेवाली आज्ञप्ति उसी ने जारी की।

कम्यून के अल्प जीवन तथा प्रशासकीय एवं आर्थिक सुधारों को कार्यरूप में परिणत करने की उसकी असफलता का प्रमुख कारण था ऐसे नेताओं की कमी जो विभिन्न तत्वों के परस्पर संबद्ध एवं सृजनात्मक कार्यक्रमों को निर्धारित कर सकें। अल्प समय में ही व्यावहारिक प्रशासन संबंधी न्यो-जाकोबे (Neo-Jacobins) की अक्षमता प्रकट हो गई। १८ मार्च की क्रांति के ठीक ६४ दिन बाद वरसाई के सैन्य जत्थे पेरिस में घुस पड़े। भयंकर युद्ध के अनंतर २२ अक्तूबर को कम्यून की संसद् विनष्ट हो गई।

फिर भी १८ मार्च की इस क्रांति को तत्कालीन समाजवादी संगठनों ने समाजवादी आदर्श के लिये की गई सर्वहारा वर्ग की क्रांति के रूप में स्वीकार किया और इस प्रकार कम्यून सिद्धांत समाजवादी दर्शन का एक अंग बन गया। इसमें संदेह नहीं कि कम्यून सिद्धांत ने वर्गसंघर्ष एवं समाजवादी विचारधारा के प्रचार में यथेष्ट योग दिया। जिस तत्परता, वीरता और बलिदान की भावना से पेरिस कम्यून ने विदेशी विजेताओं और उनसे मिले फ्रेंच देशद्रोहियों से पेरिस की सड़कों पर 'बैरिकेड' बनाकर इंच इंच जमीन के लिये लोहा लिया था, वह स्वदेशरक्षा संबंधी युद्धों में अमर हो गया है। उसने सोवियत राज्यक्रांति से प्राय आधी सदी पहले पेरिस में सर्वहाराओं का पहला राज कायम किया। पर इसका मूल्य उसे रक्त से चुकाना पड़ा। यदि अराजकतावादी विचारक बाकूनिन ने कम्यून आंदोलन में अपने राज्यविहीन संघवाद का संकेत पाया तो प्रिंस क्रोपाटकिन ने सन् १८७१ की क्रांति को जनक्रांति की संज्ञा दी तथा मार्क्स ने अपने साम्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति के लिये उसे अपने एक महत्वपूर्ण ग्रंथ का विषय चुना और रूसी नेता लेनिन, त्रोत्स्की आदि ने उसके महत्व को स्वीकार किया।

हाल में साम्यवादी चीन ने कम्यून व्यवस्था अपनाई है जिसे वहाँ के कृषकों ने समाजवादी चेतना के आधार पर आंदोलन के रूप में प्रारंभ किया है। चीन में कम्यून समाजवादी निर्माण के लिये साम्यवादी दल द्वारा निर्धारित नीति के पोषक तथा समाजवाद से साम्यवाद की ओर क्रमिक विकास के लिये आवश्यक संगठन माने जाते हैं। ७ अगस्त, सन् १९५८ ई० को जनता के इन कम्यूनों के लिये अस्थायी संविधान का जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया उसके अनुसार जनता का कम्यून समाज की मूलभूत इकाई है जिसमें श्रमिक साम्यवादी दल तथा जनता की अधीनता स्वीकार करते हुए स्वेच्छा से संमिलित होते हैं। इसका कार्य समस्त औद्योगिक तथा कृषि संबंधी उत्पादन, व्यवसाय, तथा सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक कार्यों का प्रबंध करना है। इसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था को संगठित करना और उसे साम्यवादी व्यवस्था में परिणत करने के लिये आवश्यक परिस्थितियों का सृजन करना है। इसकी पूर्ण सदस्यता १६ वर्ष से अधिक के सभी व्यक्तियों को प्राप्त है और उन्हें कम्यून के विभिन्न पदों पर निर्वाचित होने, मतदान करने तथा उसके प्रबंध का निरीक्षण करने का अधिकार है। कृषकों के सहकारी संगठन जब भी कम्यून में मिलें तब उन्हें अपनी समस्त सामूहिक संपत्ति कम्यून के अधीन करनी होगी और उनके ऋण कम्यून द्वारा चुकाए जायँगे। इसी प्रकार कम्यून के सदस्य बनने पर व्यक्तियों को अपनी निजी संपत्ति तथा उत्पादन के समस्त साधनों को कम्यून को सौंपना होगा। कम्यून राजकीय व्यवसाय के प्रमुख अंग, वितरण तथा क्रय-विक्रय-विभाग की, तथा जनता के बैंक की एजेंसी के रूप में ऋण विभाग की स्थापना करेगा। उसकी अपनी नागरिक सेना होगी। कम्यून का सर्वोच्च प्रशासकीय संगठन उसकी कांग्रेस होगी जो उसके सभी महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करेगी और निर्णय देगी और जिसमें जनता के सभी अंगों के प्रतिनिधि होंगे। यह कांग्रेस एक प्रबंधक समिति का निर्वाचन करेगी जिसके सदस्यों में कम्यून के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष भी होंगे। इस समिति के अधीन, कृषि, जल, वन, पशुपालन, उद्योग तथा यातायात, वित्त, खाद्य, वाणिज्य सुरक्षा, नियोजन एवं वैज्ञानिक अनुसंधान, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक कार्य संबंधी विभाग होंगे। विभिन्न स्तरों पर प्रबंधकीय संगठनों द्वारा कम्यून एक केंद्रीय नेतृत्व की, चिकित्सालय तथा सार्वजनिक सांस्कृतिक एवं खेलकूद के केंद्रों की, वृद्धों और अपाहिजों के लिये उचित प्रबंध की, स्त्रियों की प्रगति के लिये उनके योग्य घरेलू उद्योग धंधों की, श्रमिकों के दैनिक वेतन तथा खाद्यान्न की व्यवस्था करेगा। पूरे कम्यून में प्रशासन की जनतंत्रात्मक व्यवस्था लागू होगी।

सं०ग्रं०—एल्टन, जी० दि रिवोल्यूशनरी आइडिया इन फ्रांस, १७८९-१८७१, लंदन, १९२३, डिकिन्सन, जी० एल० रिवोल्यूशन ऐंड रिऐक्शन इन माडर्न फ्रांस, लंदन, १८९२, पिरेन, एच० मेडीवल सिटीज, प्रिंस्टन, १९२५, पीपुल्स कम्यून्स इन चाइना, फारेन लैंग्वेजेज प्रेस, पेकिंग, १९५८, मेटलैंड, एफ० डब्ल्यू० टाउनशिप ऐंड बरो, कैंब्रिज, १८९८, मैसन, ई० एस० दि पेरिस कम्यून, न्यूयार्क, १९३०। [रा० अ०]

कयामत ईसाइयों का विश्वास है कि कयामत के दिन अर्थात् काल के अंत में ईश्वर सभी मनुष्यों का न्याय करेगा (अरबी शब्द 'कयामत' इब्रानी धातु 'कूम' से संबंध रखता है, 'कूम' का अर्थ है खड़ा होना, न्याय करना)।

बाइबिल के प्रारंभ से ही इसका बारबार उल्लेख मिलता है कि ईश्वर मनुष्यों को पाप के कारण दंड देता है। यहूदी जाति ईश्वर के दिन की प्रतीक्षा करती थी—उस दिन ईश्वर भलों को पुरस्कार और बुरों को दंड देकर पृथ्वी पर अपना राज्य स्थापित करनेवाला था। अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में ईश्वर के दिन के अवसर पर मृतकों के पुनरुत्थान का उल्लेख मिलता है। दानियाल नबी के ग्रंथ (दे० १२, २) में पहले पहल कहा गया है कि काल के अंत में कुछ लोग अनंत जीवन के लिये और कुछ लोग अनंत दंड पाने के लिये जी उठेंगे किंतु काल के अंत में सभी मनुष्यों का पुनरुत्थान स्पष्ट रूप से बाइबिल के पूर्वार्ध में प्रतिपादित नहीं किया गया है। फिर भी ईसा के जीवनकाल में पुनरुत्थान पर विश्वास व्यापक रूप से यहूदियों में प्रचलित था।

बाइबिल के उत्तरार्ध में ईश्वर के दिन के विषय में माना गया है कि काल के अंत में (कयामत के दिन) सभी मनुष्य पुनरुज्जीवित होंगे तथा ईसा न्यायकर्ता के रूप में प्रकट होकर भलों को स्वर्ग का पुरस्कार तथा बुरों का नरक का दंड प्रदान करेंगे। [आ० वे०]

करंज नाम से प्राय तीन वनस्पति जातियों का बोध होता है जिनमें दो वृक्ष जातियाँ और तीसरी लता सदृश फैली हुई गुल्म जाति है। इनका परिचय निम्नांकित है

(१) **नक्तमाल**—प्रथम वृक्ष जाति को, जो प्राचीनों का संभवत वास्तविक करंज है, संस्कृत वाङ्मय में नक्तमाल, करंजिका तथा वृक्ष करंजादि और लोकभाषाओं में डिढोरी, डहरकरंज अथवा कणझी आदि नाम दिए गए हैं। इसका वैज्ञानिक नाम पोंगैमिया ग्लैब्रा (Pongamia glabra) है, जो लेग्यूमिनोसी (Leguminosae) कुल एवं पैपिलिओनेसी (Papilionaceae) उपकुल में समाविष्ट है। यद्यपि परिस्थिति के अनुसार इसकी ऊँचाई आदि में भिन्नता होती है, परंतु विभिन्न परिस्थितियों में उगने की इसमें अद्भुत क्षमता होती है। इसके वृक्ष अधिकतर नदी नालों के किनारे स्वत उग आते हैं, अथवा सघन छायादार होने के कारण सड़कों के किनारे लगाए जाते हैं।

इसके पत्र पक्षवत् संयुक्त (पिन्नेटली कंपाउंड, Pinnately compound), असम पक्षवत् (इंपेरी-पिन्नेट, Impari-pinnate) और पत्रक गहरे हरे, चमकीले और प्राय २-५ इंच लंबे होते हैं। पुष्प देखने में मोती सदृश, गुलाबी और आसमानी छाया लिए हुए श्वेत वर्ण के होते हैं। फली कठोर एवं मोटे छिलके की, एक बीजवाली, चिपटी और टेढ़ी नोक वाली होती है। पुष्पित होने पर इसके मोती तुल्य पुष्प रात्रि में वृक्ष के नीचे गिरकर बहुत सुंदर मालूम होते हैं। 'करंज' एवं 'नक्तमाल' संज्ञाओं की सार्थकता और काव्यों में प्रकृतिवर्णन के प्रसंग में इनका उल्लेख इसी कारण होता है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा में मुख्यत इसके बीज और बीजतैल का प्रचुर उपयोग बतलाया गया है। इनका अधिक उपयोग व्रणशोधक एवं व्रणरोपक, कृमिघ्न, उष्णवीर्य तथा चर्मरोगघ्न रूप में किया जाता है।

(२) **चिरबिल्व**—भिन्न जाति एवं कुल का होने पर भी चिरबिल्व नाम-रूप-गुण तीनों बातों में नक्तमाल से बहुत कुछ मिलता जुलता है। यह अल्मेसी (Ulmaceae) कुल का होलोप्टीलिया इंटेग्रिफोलिया (Holoptelia integrifolia) नामक जाति का वृक्ष है, जिसे चिरबिल्व, करंजक वृक्ष या वृद्धकरंज तथा उदकीर्य और लोकभाषाओं में चिलबिल, पापड़ी, कंजू तथा कणझो आदि नाम दिए गए हैं।

इसके वृक्ष प्राय बहुत ऊँचे और मोटे होते हैं और नदी नालों के सन्निकट अधिक पाए जाते हैं। छाल धूसर वर्ण की और पत्तियाँ प्राय अंडाकार और लंबाग्र होती हैं। ताजी छाल और काष्ठ में तथा मसलने पर पत्तियों में तीव्र दुर्गंध आती है। जाड़ों में पत्रमोक्ष हो जाने पर नंगी शाखाओं पर सूक्ष्म हरित पुष्पों के गुच्छे निकलते हैं और ग्रीष्म में बहुत हलके, पतले चिपटे तथा

सपक्ष वृत्ताकार फलों के गुच्छे बन जाते हैं, जो सूखने पर वायु द्वारा प्रसारित होते हैं। द्विखंडित पक्ष के बीच में एक बीज बंद रहता है जिसे निकालकर ग्रामीण बालक चिरौंजी की भाँति खाते हैं। बीजों से तेल भी निकाला जा सकता है। प्रथम श्रेणी के करंज के सदृश इनके पत्र, बीज तथा बीजतैल चिकित्सोपयोगी माने जाते हैं, किंतु आजकल इन्हें प्रयोग में नहीं लाया जाता। शोथ, व्रण तथा चर्मरोगों में इनका उपयोग ग्रामीण चिकित्सा में पाया जाता है।

(३) कटकरंज—यह एक काँटेदार लता सदृश फैला हुआ गुल्म है जिसे विटपकरंज, कटकीकरंज, प्रकीर्य और लोकभाषा में कंजा, सागरगोटा तथा नाटा करंज कहते हैं। इसका एक नाम 'फीवर नट' (Fever nut) भी है। आधुनिक ग्रंथकारों ने इसे ही आयुर्वेदीय साहित्य का 'पूति (ती) क' एवं 'पूतिकरंज' भी लिखा है। किंतु करंज के सभी भेदों में न्यूनाधिक पूति (दुर्गंध) होने के कारण किसी वर्गविशेष को ही पूतिकरंज कहना संगत नहीं प्रतीत होता।

कटकरंज लेग्यूमिनोसी कुल एवं सेज़ैलपिनिआयडी उपकुल का सेज़ैलपिनिया क्रिस्टा (Caesalpinia crista) नाम का गुल्म है जिसकी काँटेदार शाखाएँ लता के समान फैलती हैं। काँटे दृढ़मूलक, नीचे अथवा पत्रदंड पर प्रायः टेढ़े होते हैं। पत्तियाँ द्विपक्षवत् (बाइपिन्नेट, bipinnate) और पत्रक लगभग एक इंच तक बड़े होते हैं। हलके पीले पुष्पों की मंजरियाँ नक्तमाल के फलों के आकार की होती हैं, किंतु फल काँटों से ढँके रहते हैं और उनमें दृढ़ कवचवाले तथा धूम्रवर्ण के प्रायः दो दो बीज होते हैं। बीज, बीजतैल एवं पत्ती का चिकित्सा में अधिक उपयोग होता है। कटकरंज उत्तम ज्वरघ्न, कटु, पौष्टिक, शोथघ्न और कृमिघ्न द्रव्य है और सूतिकाज्वर, शीतज्वर, यकृत् एवं प्लीहा के रोग तथा कुपचन में इसके पत्ते का रस, या बीजचूर्ण का उपयोग होता है। यद्यपि निघंटुओं में करंज के तीन भेद बताए गए हैं, तथापि चिकित्साग्रंथों में अनेक बार 'करंजद्वय' का एक साथ उपयोग बतलाया गया है। करंजद्वय से कहाँ किन किन भेदों का ग्रहण होना चाहिए, इसका निर्णय प्रसंग तथा व्यक्तिगत गुणों के अनुसार किया जा सकता है।

[ब० सिं०]

करंजा

१ अकोला जिले के मुर्तजापुर नामक ताल्लुके का एक प्रमुख नगर है। इसकी स्थिति २०° २९' उ० अ० तथा ७७° ३०' पू० दे० है। सन् १९५१ ई० में इसकी जनसंख्या २२,०९८ थी।

इस नगर का नाम एक संत के नाम पर पड़ा है। कहा जाता है, उस संत को अंबादेवी का अभय वरदान मिला था। आज भी एक सरोवर तथा मंदिर उस संत से संबंधित बताए जाते हैं। इस नगर के बाहर अनेक भग्नावशेष हैं जो इसके प्राचीन इतिहास पर अस्पष्ट प्रकाश डालते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि पहले इस नगर के चारों ओर प्राचीर था जो समतल सा हो गया है। यह नगर एक पक्की सड़क द्वारा मुर्तजापुर से संबद्ध है।

२ इसी नाम का एक प्रायद्वीप बंबई पत्तन से लगभग छह मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। इसकी लंबाई करीब आठ मील तथा चौड़ाई चार मील है। इसका अधिक भाग पठारी है। यहाँ का मुख्य उद्यम चावल की खेती करना, मछली मारना और मदिरा तथा नमक बनाना है। इस प्रायद्वीप की मुख्य बस्ती यूरान है।

[ब० प्र० रा०]

करण

अनेक कारणों में से जो असाधारण और व्यापारवान् कारण होता है उसे करण कहते हैं। इसी को प्रकृष्ट कारण भी कहते हैं। असाधारण का अर्थ है कार्य की उत्पत्ति में साक्षात् सहायक होना। दंड, जिससे चाक चलता है, घड़े की उत्पत्ति में व्यापारवान् होकर साक्षात् सहायक है, परंतु जंगल की लकड़ी करण नहीं है क्योंकि न तो वह व्यापारवान् है और न साक्षात् सहायक। नव्य न्याय में तो व्यापारवान् वस्तु को करण नहीं कहते। उनके अनुसार वह पदार्थ जिसके बिना कार्य ही न उत्पन्न हो (अन्य सभी कारणों के रहते हुए भी) करण कहलाता है। यह करण न तो उपादान है और न निमित्त वस्तु, अपितु निमित्तगत क्रिया ही असाधारण और प्रकृष्ट कारण है। प्रत्यक्ष ज्ञान में इंद्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष (संबंध) करण है अथवा इंद्रियगत वह व्यापार जिससे अर्थ का सन्निकर्ष होता है, नव्य मत में करण कहलाता है।

सं० ग्रं०—अन्नंभट्ट : तर्कसंग्रह और दीपिका, केशव मिश्र : तर्कभाषा।

[रा० पा०]

करद

नगर बंबई राज्य के सतारा जिले में इसी नाम के ताल्लुक का मुख्यालय है। इसकी स्थिति १७° १७' उ० अ० तथा ७४° ११' पू० दे० है। यह नगर कृष्णा तथा कोयना नदियों के संगम पर सतारा नगर से ३१ मील दक्षिण-पूर्व में बसा है। इस नगर की जनसंख्या १९०१ में ११,४९९ थी जो बढ़कर १९५१ में २५,७२१ हो गई। इस नगर का स्वायत्त शासन १८८५ ई० में आरंभ हुआ और अब यह एक सुव्यवस्थित नगरपालिका द्वारा शासित होता है। यहाँ की बौद्धकालीन गुफाएँ मुसलमान-कालीन मस्जिदें और नवीन मंदिर आकर्षण के विशेष केंद्र हैं। कुछ लोग इसे करदाह या करहाक्कादा के नाम से भी जानते हैं।

[ब० प्र० रा०]

करनाल

नगर पूर्वी पंजाब के इसी नाम के जिले के शासन का मुख्यालय है। यह २९° ४२' १७'' उत्तरी अक्षांश तथा ७७° १' ४५'' पूर्वी देशांतर पर स्थित है। जनसंख्या ५७,९०६ (१९५१)। यह नगर यमुना नदी के प्राचीन किनारे के ऊँचे भाग पर स्थित है। पहले नदी इसके समीप बहती थी, किंतु अब यहाँ से ७ मील पूर्व हटकर बहती है। १२ फुट ऊँचे परकोटे से यह नगर घिरा हुआ है। इस नगर के समीप से ही पश्चिमी यमुना नहर जाती है जो गंदे पानी के निकास में अवरोध उत्पन्न करती है। इसी कारण यह नगर मलेरिया का घर बना रहता है।

दंतकथा के अनुसार इस नगर को महाभारत के राजा कर्ण ने बनाया था। यहीं पर नादिरशाह ने मुगल बादशाह मुहम्मदशाह को हराया था। इसके बाद यह क्रमशः जिंद के राजाओं, मरहठों और लदवा के सिक्ख राजा गुरुदत्तसिंह के अधिकार में आता रहा। १८०५ ई० में अंग्रेजों ने इसपर अपना अधिकार कर लिया।

इसका विशाल किला बहुत समय तक अंग्रेजों के अधिकार में रहा और क्रमानुसार कारागार, सैनिकों का निवासस्थान, दरिद्रालय और जिला विद्यालय के कार्य में आता रहा।

नगर की सड़कें अधिकांशत: पक्की, परंतु टेढ़ी मेढ़ी और सँकरी हैं। यहाँ देशी कपड़ा बनता है जो यहीं पर प्रयोग में आ जाता है। कंबल और जूते बाहर भेजे जाते हैं। कंबल व्यवसाय में अधिक लोग लगे हुए हैं। यह नगर दिल्ली तथा अंबाला से विशेष संबंधित है।

[मु० प्र० सिं०]

करनिर्धारण

शासन द्वारा समाज में व्यवस्था बनाए रखने एवं समस्त प्रजा की कल्याणकारी आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से लगाए गए अनिवार्य उद्ग्रहण को 'कर' कहते हैं। कर की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उसका व्यक्तिगत प्रत्यावर्तन (Quid pro quo) नहीं होता, अर्थात् उसके बदले में करदाता को व्यक्तिगत कुछ प्राप्त करने का अधिकार नहीं होता। विनिमय के भाव का अभाव कर की कल्पना का सर्वविशिष्ट अंग है।

कर, शुल्क, मूल्य और अनुज्ञप्ति में अंतर—कर की इसी परिभाषा के कारण जल, विद्युत्, डाक, तार आदि विशिष्ट सेवाओं को प्राप्त करने के लिये दी जानेवाली धनराशि को कर नहीं कह सकते। वह मूल्य की श्रेणी में गिनी जायगी। कारण, एक तो यह मूल्य देना प्रत्येक के लिये अनिवार्य नहीं और दूसरे मूल्य एवं उसके द्वारा प्राप्त सेवा में विनिमय का भाव प्रत्यक्ष ही अवलक्षित होता है (Quid pro quo)। इसी प्रकार शुल्क (फी), एवं अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) भी कर से भिन्न हैं। पथशुल्क (टॉल टैक्स), गृहशुल्क (हाउस टैक्स), जलशुल्क (वाटर टैक्स) श्वपच शुल्क (स्कैवेंजिंग फी) आदि प्रत्येक व्यक्ति को देना अनिवार्य नहीं। पथ, गृह, जल श्वपच आदि का लाभ जो उठाना चाहते हैं उन्हें ही यह शुल्क देने पड़ते हैं। इसी प्रकार मादक पदार्थों का विक्रय करने के लिये जो अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) दी जाती है उसके प्रतिदान में राज्य कुछ धनराशि लेता है। यहाँ भी अनुज्ञप्ति की प्राप्ति का एतदर्थ प्रदत्त धनराशि से प्रत्यक्ष संबंध है। इसीलिये अनुज्ञप्ति भी कर की परिभाषा में नहीं आती। कारण,

कर किन्ही सेवाओ का मूल्य या शुल्क नही होता। कर तो वास्तव मे व्यक्ति के ऊपर शासन की सार्वभौम सत्ता एव शक्ति का प्रतीक है। इस शक्ति के आधार पर ही शासन व्यक्ति पर उद्ग्रहण आरोपित कर सकता है, व्यक्ति उसका आनुपातिक प्रत्यावर्तन नही माँग सकता। जिन उद्ग्रहणो का आनुपातिक प्रत्यावर्तन करने के लिये शासन बाध्य हो, वे मूल्य, शुल्क या अनुज्ञप्ति भले ही हो, पर वे कर तो निश्चय ही नही हैं।

इतिहास––कर उतना ही प्राचीन है जितना राज्य। परतु कर के रूप एव वे सिद्धात जिनके आधार पर उनका निर्धारण होता है, समय समय पर परिवर्तित होते रहे हैं। ये सैद्धातिक परिवर्तन मुख्यत दो कारणो से हुए हैं।

(१) **नागरिको के प्रति राज्य का कर्तव्य**––प्रत्येक समाज जिस राज्य का निर्माण करता है, उस राज्य से कुछ अपेक्षाएँ भी रखता है। राज्य उन अपेक्षाओ के अनुरूप ही उस समाज के प्रति अपने कर्तव्यो का निर्धारण करता है। ये अपेक्षाएँ समय समय पर परिवर्तित होती रहती हैं। उदाहरणस्वरूप प्राचीन या मध्यकाल मे अधिकतर राज्यो का मुख्य आदर्श केवल व्यवस्था की स्थापना और राजतत्र से सबधित व्यक्तियो को अधिकाधिक सुख देना होता था। शासित वर्ग की सुख सुविधाओ का प्रबध करना राज्य का कर्तव्य नही था। ऐसे राज्य नागरिको के सामाजिक एव आर्थिक जीवन मे कम से कम हस्तक्षेप करने की नीति मे विश्वास रखते थे (Policy of Laissez-Faire)। इस सिद्धात के अनुसार स्पष्ट है कि राज्य को अधिक धन की आवश्यकता नही पडती थी अतएव अधिक कर भी नही लगाए जाते थे और जो कर लगाए भी जाते थे उनके पीछे शासित वर्ग के कल्याण की भावना निहित नही होती थी।

धीरे धीरे समाज के प्रति राज्य के कर्तव्य की कल्पनाएँ बदलने लगी और यह विश्वास किया जाने लगा कि नागरिको को सुख, समृद्धि और सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करना राज्य का कर्तव्य है। इन कल्पनाओ का पूर्ण विकसित रूप लोककल्याणकारी राज्य का आदर्श है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना की कल्पना प्रजातत्रवादी शासनतत्र के आविर्भाव का परिणाम है। इस आदर्श को कार्यान्वित करने के लिये स्पष्टत राज्य को अधिक धन की आवश्यकता हुई। परिणामस्वरूप न केवल करो की सख्या मे वृद्धि आवश्यक हो गई प्रत्युत इस प्रकार के करो की खोज भी करनी पडी जो समाज के धनी एव निर्धन, दोनो ही वर्गो से, उनकी क्षमता के अनुसार कर लेते हुए भी उन्हे समान सामाजिक एव आर्थिक स्तर पर लाने मे सफल हो। आयकर, व्ययकर, मृत्यु कर, सपत्तिकर, दानकर आदि इसी खोज के परिणाम हैं।

(२) **समाज की बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था**––करप्रणाली की रूपरेखा पर समाज की आर्थिक स्थिति का सीधा प्रभाव पडता है। कृषिप्रधान राज्य मे स्पष्टत अधिकतर कर कृषिकर्म करनेवाले नागरिको से ही वसूल किए जायँगे। यही कारण है कि सामती युग मे भूराजस्व करप्रणाली का मुख्य आधार था। मध्यकालीन यूरोप मे अधिकतर देशो में कृषि के स्थान पर व्यापार की प्रधानता हो गई। परिणामस्वरूप भूराजस्व के अतिरिक्त आयात, निर्यात कर एव पथशुल्क का आविर्भाव हुआ। औद्योगिक क्राति का प्रारभ होने के बाद करप्रणाली के मुख्य आधार उद्योग सबधी कर हो गए। विभिन्न प्रकार के उत्पादशुल्क (एक्साइज़ ड्यूटीज) एव क्रय-विक्रय-कर इसी औद्योगिक आर्थिक प्रणाली की देन हैं।

करो के प्रकार––यो तो करो के अनेक प्रकार हैं, परतु सर्वप्रमुख वर्गीकरण प्रत्यक्ष एव परोक्ष करो का है। प्रत्यक्ष कर वे हैं जो जिस व्यक्ति पर लगाए जाएँ उसके द्वारा उनके भार का स्थानातरण न हो सके। परोक्ष कर प्रत्यक्ष मे तो एक व्यक्ति पर लगाए जाते हैं परतु वह व्यक्ति उस कर को एकत्र करने का माध्यम मात्र होता है क्योकि वह उस कर के भार को स्वय वहन नही करता वरन् तुरत उसका स्थानातरण कर देता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष एव परोक्ष कर के वर्गीकरण का मुख्य आधार स्थानातरण की क्षमता है। यदि करभार स्थानातरित किया जा सकता है तो वह कर परोक्ष है। कारण, वह व्यक्ति जिसपर करभार स्थानातरित किया गया है, यह नही जानता कि वह परोक्ष रूप में कर दे रहा है। इसके विपरीत यदि करभार स्थानातरित नही किया जा सकता तो स्पष्ट है कि वही व्यक्ति, जिसपर कर आरोपित किया गया है, उस कर को देगा और जानेगा कि वह कर दे रहा है। उदाहरणार्थ आयकर, व्ययकर, दानकर, सपत्तिकर, मृत्युकर आदि प्रत्यक्ष कर हैं क्योकि जिस व्यक्ति पर ये कर आरोपित किए जाते हैं वह पूर्णत दूसरो से इन्हें किसी भी रूप में वसूल नही कर सकता। इसके विपरीत उत्पादशुल्क, क्रय-विक्रय-शुल्क, आयात-निर्यात-कर आदि परोक्ष कर हैं। जिन व्यापारियो पर ये आरोपित होते हैं वे मूल्य के साथ साथ अपने ग्राहको से इनको भी वसूल लेते हैं।

प्रत्यक्ष कर के स्थानातरित न हो सकने के गुण का परिणाम यह है कि शासन यदि चाहे तो उनका उपयोग किसी वर्गविशेष पर करभार अधिक या कम करने मे कर सकता है। परोक्ष कर का उपयोग इस रूप में नही हो सकता क्योकि बराबर स्थानातरित होते रहने के कारण यह अनुमान लगाना कठिन है कि अततोगत्वा उस कर का भार किसने अधिक वहन किया। यही कारण है कि किसी भी लोककल्याणकारी शासन की करप्रणाली मे प्रत्यक्ष करो को अधिक महत्व दिया जाता है और जहाँ तक सभव होता है परोक्ष करो को कम से कम रखने का ही प्रयास किया जाता है। क्योकि प्रत्यक्ष करो के द्वारा ही धनिक वर्ग से, मध्यम एव निम्न वर्ग की तुलना मे, अधिक धनराशि उद्ग्रहीत हो सकती है और करप्रणाली को प्रगतिशील रूप देते हुए समस्त नागरिको की सामाजिक एव आर्थिक समता के आदर्श की उपलब्धि सभव है। इसका यह तात्पर्य नही है कि परोक्ष करो का कोई उपयोग नही है। वास्तव मे राज्य के जनोन्नति के प्रयासो में अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है। यह समस्त धन प्रत्यक्ष करो से प्राप्त नही हो सकता। एतदर्थ परोक्ष करो का सहारा लेना ही पडता है, विशेषरूप से इसलिये कि उनके द्वारा धनप्राप्ति भी हो जाती है, साथ ही परोक्ष रूप मे होने के कारण उद्ग्रहण के प्रति स्वाभाविक विरोध की प्रक्रिया भी तीव्र नही हो पाती।

करो के अन्य वर्गीकरण विशेष महत्वपूर्ण नही हैं। सक्षेप मे वे हैं––(क) मूल्याधार या नाप तौल के आधार पर––कुछ वस्तुओ पर कर मूल्य के प्रतिशत पर लगता है, कुछ पर उनकी तौल के आधार पर, जैसे १ रुपया प्रति किलोग्राम, या ३० नए पैसे प्रति गज। (ख) आवश्यकता के आधार पर––जैसे सामान्य और आपत्कालीन कर (ग) स्थायित्व के आधार पर, जैसे स्थायी और आपत्कालीन कर, उदाहरणार्थ, अतिरिक्त लाभकर, व्यापारिक लाभकर आदि, जो युद्धकाल मे भारत मे भी लगाए गए थे। (घ) क्षेत्राधिकार के आधार पर––जैसे, राष्ट्रीय, प्रातीय तथा स्थानीय। (ङ) आनुपातिक आधार पर––इस आधार पर करो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है––आनुपातिक, प्रगतिशील एव प्रतिगामी। आनुपातिक कर उसे कहते हैं जो व्यक्ति की कर-देय क्षमता की चिता किए बिना प्रत्येक व्यक्ति से समान अनुपात से लिया जाता है। प्रगतिशील कर उसे कहते हैं जो कर-देय-क्षमता को ध्यान मे रखते हुए अधिक क्षमतावालो से अधिक और कम क्षमतावालो से कम लिया जाय। उदाहरण स्वरूप आयकर, व्ययकर आदि। प्रतिगामी कर प्रगतिशील का उल्टा होता है। अर्थात् जिन लोगो की कर देने की क्षमता कम है उन्हे अधिक और जिनकी क्षमता अधिक है, उन्हे कम कर देना होता है। फ्रास मे सन् १७८९ की राज्यक्राति से पूर्व इसी प्रकार की करप्रणाली विद्यमान थी जहाँ अमीर सामतो को कर 'नही' के बराबर देना होता था जब कि निर्धन कृषक कर-भार से दबे हुए थे। आजकल इस प्रकार के प्रतिगामी कर का शुद्ध उदाहरण प्राप्त होना कठिन है, परतु वास्तव मे अतिम प्रभाव की दृष्टि से सारे ही परोक्ष कर प्रतिगामी होते हैं। इस दृष्टि से सभी आनुपातिक कर भी प्रतिगामी की श्रेणी मे ही आ जाते हैं। इसलिये करो का वास्तविक वर्गीकरण आनुपातिक, प्रगतिशील और प्रतिगामी के रूप मे नही अपितु प्रगतिशील और प्रतिगामी के ही रूप मे होना चाहिए।

करनिर्धारण के आदर्श––करनिर्धारण राज्य द्वारा होता है। अतएव किस राज्य मे करनिर्धारण कैसा हो, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उस राज्य के आदर्श क्या हैं। यदि राज्य स्वय को नागरिको की शाति, व्यवस्था और देश की सुरक्षा मात्र के लिये उत्तरदायी समझता है तो स्पष्ट है कि ऐसा राज्य देश की आर्थिक एव सामाजिक स्थिति में परिवर्तन लाने की

तनिक भी उत्सुकता न दिखाएगा। ऐसे राज्य में कर राज्य के लिये धन एकत्रित करने के साधन मात्र होंगे, उनका अन्य कोई उद्देश्य नहीं होगा। यह बात दूसरी है कि जो कर लगाए जायँ वे स्वयं अपनी प्रतिक्रिया द्वारा समाज के जीवन पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव छोड़ जायँ पर राज्य का उद्देश्य करप्रणाली द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करना नहीं था। राज्य के कर्तव्यादर्श की यह विचारधारा अब बहुत पुरानी हो चुकी है।

१९वीं तथा २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध में पाश्चात्य देशों में औद्योगिक क्रांति के कारण जब आर्थिक प्रगति तीव्रता से हो रही थी, उस समय उन राज्यों की करप्रणाली का मुख्य उद्देश्य उत्पादन में सहायता प्रदान करना था।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सभी देशों के राजनीतिक एवं आर्थिक चिंतन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। अभी तक अधिकतर पाश्चात्य देशों के अर्थविदों एवं राजनीतिज्ञों का ध्यान केवल राष्ट्र की संपत्ति बढ़ाने में था। इस बढ़ती हुई राष्ट्र की संपदा का राष्ट्र के विभिन्न वर्गों में वितरण किस प्रकार हो रहा है, इस ओर राज्य का ध्यान बिल्कुल नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि पूँजीवादी अर्थनीति के कारण अधिकतर देशों में विभिन्न वर्गों में असमानता एवं विषमता बढ़ती गई। साथ ही, चूँकि पूँजीवादियों का मुख्य उद्देश्य लाभ की प्राप्ति था, इसलिये जब कभी उनके लाभांश में कमी होने का अंदेशा होता था, वह उत्पादन से एकदम हाथ खींच लेते थे और उत्पादित वस्तुओं को जला देने या समुद्रतल में डुबा देने में भी संकोच नहीं करते थे। १९३० में जब विश्वव्यापी महान् आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ तब उद्योगपतियों ने अपनी मिलों में ताले डाल दिए। राष्ट्रों का उत्पादन एकदम गिर गया, भयानक बेकारी चारों ओर फैल गई। आर्थिक वितरण की विषमता के कारण राष्ट्र की संपत्ति का अधिकांश उद्योगपतियों के पास था अतएव उन्हें अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ा। परंतु मध्यम एवं निम्न वर्ग के लोग मर मिटे। इन सब परिस्थितियों को देखकर समाजशास्त्रियों एवं अर्थविदों ने अपनी विरोध की आवाज ऊँची की और कहा कि राज्य को स्वयं ऐसी स्थिति में आर्थिक जीवन में प्राण डालने का प्रयास करना चाहिए एवं बेकारी तथा वितरण की समस्या को सदा के लिये दूर कर देना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप लोककल्याणकारी राज्य की भावना का प्रादुर्भाव हुआ और राज्य के नागरिकों के प्रति कर्तव्यादर्श परिवर्तित हुए। राज्य की अर्थनीति को, करनीति जिसका एक अंतरंग भाग है, एक नई दिशा मिली और अर्थनीति का मुख्य उद्देश्य हो गया—(१) सब कार्य कर सकने योग्य व्यक्तियों को कार्य दिलाना (फुल एंप्लायमेंट) एवं (२) संपूर्ण समाज की सुख समृद्धि को अधिकतम करना (मैक्सिमम सोशल ऐडवैंटेज)। आजकल के सभ्य कहे जानेवाले सभी राष्ट्रों की अर्थनीति के यही दो आदर्श हैं। इन आदर्शों की पूर्ति के लिये जहाँ यह आवश्यक है कि राष्ट्र की आय अधिक से अधिकतर होती चले, वहाँ यह भी आवश्यक है कि यह बढ़ती हुई राष्ट्रसंपदा सब वर्गों में समान रूप से वितरित हो। यही कारण है कि जहाँ आजकल की करप्रणालियों में उत्पादन को प्रोत्साहन देने की व्यवस्था होती है वहाँ साथ ही इस बात का भी प्रबंध होता है कि धनिक वर्गों से अधिकाधिक धन कर द्वारा लेकर राज्य उसका व्यय लोकमंगल के कार्यों में करे जिसका अधिक लाभ उन वर्गों को प्राप्त हो जिनसे या तो कम कर लिया जाता है या बिल्कुल ही नहीं लिया जाता।

ऐसी सुव्यवस्थित करप्रणाली का निर्माण सरल नहीं है, जो राज्य के आदर्शों को पूर्णरूप से कार्यान्वित कर सके। अर्थशास्त्रियों ने सुव्यवस्थित करप्रणाली की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है। वे ये हैं (क) **लचीलापन**। करव्यवस्था ऐसी हो कि उससे आवश्यकतानुसार धनराशि का उद्ग्रहण कम या अधिक किया जा सके, (ख) **स्थायित्व**। करप्रणाली में शीघ्र परिवर्तन नहीं होने चाहिएँ। उसमें स्थायित्व का अंश रहना आवश्यक है अन्यथा करप्रशासन में बहुत कठिनाइयाँ होंगी, (ग) **सारल्य**। करव्यवस्था इतनी सरल हो कि जनसाधारण सुगमता से उसे समझ सके और अपने करभार का अनुमान लगा सके, (घ) **समानता तथा न्यायपरता**। यह नितांत आवश्यक है कि कोई नागरिक यह न अनुभव करे कि किसी वर्ग के साथ पक्षपात किया जा रहा है और स्वयं उसके साथ अन्याय या असमानता का व्यवहार किया गया है। यदि करव्यवस्था में वर्गविशेष के साथ पक्षपात होगा तो निश्चय ही समाज में अगति होगी। (ङ) **मितव्ययता**। करप्रणाली इस प्रकार की हो कि करनिर्धारण करने एवं एकत्र करने में कम से कम व्यय हो।

संक्षेप में किसी भी अच्छी करव्यवस्था में कर इस प्रकार लगाए जायँ कि वे उत्पादन में बाधक न हों, उनके वसूल करने में कम से कम व्यय हो, उनके कारण नागरिकों में विरोध की भावना न उदित हो और सामाजिक दुर्गुणों का उदय न हो। यदि सामाजिक हित का प्रोत्साहन करव्यवस्था के द्वारा किया जाता है, नागरिकों को यह विश्वास हो जाता है कि करव्यवस्था न्यायसंगत है और उसके कारण उत्पादनक्षमता बढ़ती है तथा बेकारी की समस्या का निराकरण होता है, तो ऐसी आदर्श व्यवस्था में नागरिक को कर देने में भी उत्साह होता है।

करव्यवस्था में करप्रशासन का महत्व बहुत बड़ा है। करप्रशासन के बुरे होने पर करों के प्रति जनता में घृणा और क्रोध की भावना उत्पन्न होती है। इसीलिये यह कहा गया है कि करव्यवस्था के अच्छे या बुरे होने में विधायिका का हाथ १० प्रति शत और प्रशासन का ९० प्रति शत रहता है।

करनिर्धारण की तीन स्थितियाँ होती हैं। पहली स्थिति में विधायिका कर के नियम और अधिनियम बनाती है जिनके आधार पर प्रशासन करनिर्धारण करता है। दूसरी स्थिति करनिर्धारण की है जिसमें प्रशासक व्यक्तिविशेष की स्थिति (स्टेटस) पर ध्यान देते हुए विधायिका द्वारा निश्चित किए हुए नियमों एवं अधिनियमों के आधार पर उस व्यक्तिविशेष का करभार निर्धारित करते हैं। तीसरी स्थिति कर का उद्ग्रहण करने की है जिसमें निर्धारित कर को प्रशासन व्यक्ति से उद्ग्रहीत करता है। कर न देने की स्थिति में करप्रणाली में दंड का विधान भी होता है। दंड अधिकतर आर्थिक होता है किंतु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कारागार में बंदी बना दिए जाने का भी विधान होता है। करनिर्धारण एवं करोद्ग्रहण दोनों प्रशासन का उत्तरदायित्व है। इन कार्यों का सुचारु, निर्भीक एवं न्यायपूर्ण ढंग से संपादन करने में ही प्रशासन की कुशलता है।

(देखिए आयकर, दानकर, मृत्युकर, व्ययकर, संपत्तिकर)

सं० ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, एनसाइक्लोपीडिया आव सोशल साइंसेज, ह्यू डाल्टन पब्लिक फाइनैंस, आइ० एस० गुलाटी कैपिटल टैक्सेशन इन इंडिया। [रा० च० पा०]

करमकल्ला एक प्रकार का शाक है, जिसमें केवल कोमल पत्तों का बँधा हुआ संपुट होता है। इसे बंदगोभी और पातगोभी भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसका नाम है कैबेज। यह जंगली करमकल्ले (ब्रैसिका ओलेरेसिया, *Brassica oleracea*) से विकसित किया गया है। शाक के लिये उगाया जानेवाला करमकल्ला मूल प्रारूप से बहुत भिन्न हो गया है, यद्यपि फूल और बीज में विशेष अंतर नहीं पड़ा है।

करमकल्ले के लिये पानी और ठंडे वातावरण की आवश्यकता है। इसको खाद भी खूब चाहिए। बीच में दो चार दिन गर्मी पड़ जाने से भी करमकल्ले का संपुट अच्छा नहीं बन पाता। संपुट बनने के बदले इसमें से शाखाएँ निकल पड़ती हैं, जिनमें फूल तथा बीज उगने लगते हैं। करमकल्ला पाला नहीं सहन कर सकता। पाले से यह मर जाता है। यद्यपि ऋतु ठंडी होनी चाहिए, तो भी करमकल्ले के पौधों को दिन में धूप मिलना आवश्यक है। छाँह में अच्छे पौधे नहीं उगते।

जैसा ऊपर कहा गया है, करमकल्ले के लिये खूब खाद चाहिए, परंतु किसी विशेष प्रकार की खाद की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तक कि ताजे गोबर से भी यह काम चला लेता है, किंतु सड़ा गोबर और रासायनिक खाद इसके लिये अधिक उपयोगी हैं। अन्य पौधों में अधिक खाद देने से फूल अथवा फल देर में तैयार होते हैं। इसके विपरीत करमकल्ला अधिक खाद पाने पर कम समय में ही खाने योग्य हो जाता है। पानी में थोड़ी भी कमी होने से पौधा मुरझाने लगता है और उसकी वृद्धि रुक जाती है। पर इसकी जड़ में पानी लगने से पौधा सड़ने लगता है। भूमि से पानी की निकासी अच्छी होनी चाहिए, जिसमें पानी जड़ों के पास एकत्र न होने पाए। भूमि दोरसी हो, अर्थात् उसमें चिकनी मिट्टी की भाँति बँधने की प्रवृत्ति न हो। जो भूमि पानी मिलने के पश्चात् बँधकर कड़ी हो जाती है वह करमकल्ले के लिये उपयुक्त नहीं होती। मिट्टी कुछ बलुई हो। इतने पर भी भूमि की

कराची के उत्थान में सर चार्ल्स नेपियर का काफी हाथ रहा जिनके योजनानुसार १८५४ई० मे नेपियर मोल का निर्माण हुआ और वर्तमान पत्तन की रूपरेखा स्थापित हुई। कुछ ही वर्ष बाद अमरीका के गृहयुद्ध के कारण रूई का भाव अधिक बढ गया और नगर को इस व्यापार से काफी आय हुई। सन् १८६३–६४ ई० के कराची के व्यापार का मूल्य १८५७–५८ ई० के व्यापार के मूल्य का २८ गुना हो गया। १८७८ ई० मे निर्मित रेलो द्वारा नगर का सबध पजाब के भीतरी भागो से भी हो गया जिससे यहाँ के व्यापार मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। सक्खर बाँध से सिंचाई का प्रबध होने पर कराची की निकटवर्ती पृष्ठभूमि अधिक उपजाऊ सिद्ध हुई और उसने नगर की उन्नति को विशेष प्रभावित किया।

कराची को व्यापार सबधी एक और सुविधा थी। यह पत्तन निकट-वर्ती पत्तन बबई की अपेक्षा, स्वेज मार्ग द्वारा, लदन से करीब २०० मील निकट था। इस कारण उत्तर-पश्चिमी भारत के आयात निर्यात का एक बडा भाग इस पत्तन से होता था। १९१८ ई० और १९३९ ई० के बीच अतर्राष्ट्रीय वायुमार्ग की वृद्धि के कारण नगर की महत्ता और भी बढी। मिट्टी के तेल की खानो की निकटता, समुद्रतल से कम ऊँचाई पर स्थित विस्तृत मैदान, तथा बाढ आदि से सुरक्षा, कम ऊँचाई पर के बादलो की प्राय न्यूनता, इत्यादि बाते इसे वायुमार्ग का केंद्र बनाने मे यथेष्ट सहायक सिद्ध हुई है।

कराची का औद्योगिक विकास अधिक नही हो पाया है। यहाँ के मुख्य उद्योगो मे मौरीपुर मे नमक बनाने का उद्योग, आटे की मिले तथा सीमेंट के कारखाने मुख्य है। परतु अब लोहे के कई कल कारखाने तथा रुई की गाँठे बाँधने के कारखाने भी खुल गए है।

नगर की सबसे बडी कठिनाई पीने के पानी का दुर्लभत्व है। पानी नलकूपो द्वारा प्राप्त किया जाता है। परतु विभाजन के कुछ दिन पूर्व सिंधु नदी पर ९० मील लबा एक बाँध बनाकर पानी की समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया गया था। पानी की कमी के कारण नगर की सफाई करने तथा धरातल के नीचे नालियो द्वारा गदगी बहाने मे भी कठिनाई होती है।

कराची आधुनिक युग का नगर है। सडके अपेक्षाकृत चौडी है तथा इमारतो मे नवीनता है। कुछ इमारते अच्छी है। कॉटन एक्सचेंज, एसेबली हाउस, हवाई अड्डा आदि का निर्माण अर्वाचीन शैली पर हुआ है।

पजाब के नहरी क्षेत्रो मे गेहूँ के उत्पादन की वृद्धि से कराची से गेहूँ का निर्यात अधिक बढ गया। गेहूँ के अतिरिक्त तेलहन, रूई, ऊन, चमडे तथा खाल, हड्डी आदि वस्तुएँ यहाँ से निर्यात की जाती है। आयात की वस्तुओ मे मशीने, मोटर गाडियाँ, पेट्रोल, चीनी, लोहा तथा लोहे के सामान मुख्य है।

विभाजन के कारण कराची मे शरणार्थी बडी सख्या मे पहुँचे जिन्हे अस्थायी तथा स्थायी रूप मे बसाना नगर के लिये कठिन समस्या बन गई। जनसख्या सहसा अत्यधिक बढ गई। सन् १९२१ ई० मे जनसख्या २,१६,८८३ थी। यह बढकर १९४१ ई० मे ३,५९,४९२ तथा १९५१ ई० मे १०,००,९०० हो गई। नगर के विस्तार, कई नियोजित उपनगरो की स्थापना, उद्योग धधो की वृद्धि आदि से भी इस समस्या का पूरी तरह समाधान नही हो पाया है। अत आजकल भी कराची की सडको पर सोनेवालो की सख्या बहुत बडी है। बहुतो ने सडको पर ही टेढे सीधे घेर घारकर मकान बना लिए है तथा दुकाने खोल रखी है, जिसके कारण नगर का स्वरूप बडा विकृत हो गया है।

बदरगाह की पृष्ठभूमि विशेष विस्तृत है। इसके अतर्गत सपूर्ण सिंध, बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा पश्चिमी पजाब के क्षेत्र समिलित है। [उ० सिं०]

करीमनगर आध्र प्रदेश का एक नगर है। यहाँ से करीमनगर जिले तथा ताल्लुके का प्रबध होता है। नगर मनेरी नदी पर स्थित है (स्थिति १८°२६' उ० अ० तथा ७९° ८' पू० दे०)। इस नगर मे जिले की कचहरियाँ, अस्पताल, स्थानीय शासन सबधी कार्यालय, कई पाठशालाएँ एव विद्यालय स्थापित है। १९०१ ई० मे इसकी जनसख्या ५,७५२ थी, जो बढकर १९५१ मे २३,८३६ हो गई।

करीमनगर जिला अधिकतर पहाडी है। इसका धरातल प्राचीन युग की चट्टानो, आद्यकल्पीय पट्टिताश्म (आर्कियन नाइस) तथा गोडवाना आदि से बना है। जिले के अधिकतर भागो मे नाइस चट्टाने मिलती है। यहाँ की जलवायु गरम और तर है। अधिकतम ताप १००° से ११०° फा० तक तथा न्यूनतम (दिसबर) ६०° फा० होता है। वार्षिक वर्षा का औसत ३३'' है।

जिले का बहुत बडा भाग जगल से ढका है जिसमे हिरन से लेकर शेर तक अनेक जगली जानवर रहते है। [उ० सिं०]

करुणा चित्त की एक भावना अथवा वृत्ति। यह दुखी जीवो के प्रति दया अथवा सहानुभूति के रूप मे व्यक्त होती है। भारतीय दर्शनो मे इस वृत्ति के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। इसे मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिये तथा चित्त मे शाति तथा समत्व की प्राप्ति के लिये आवश्यक माना गया है। पतजलि ने **योगसूत्र** मे करुणा का मैत्री, मुदिता और उपेक्षा के साथ उल्लेख किया है। जैन आचार्य उमा-स्वामी ने **तत्वार्थाधिगम सूत्र** मे करुणा का मैत्री, प्रमोद और माध्यस्थ वृत्तियो के साथ उल्लेख किया है। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार बोधिसत्वो का हृदय करुणा से ओतप्रोत रहता है और वे प्राणिमात्र के दु खो को दूर करने के लिये कृतसकल्प होते है। [रा० श० मि०]

करूर त्रिचनापली से ४८ मील दूर कावेरी और अमरावती नदी के सगम के निकट अमरावती नदी के तट पर स्थित है। (स्थिति १०° ५८' उ० अ० और ७८° ८' पू० दे०, जनसख्या १९५१ मे ४२,१५५)। यह दक्षिण भारत का एक प्राचीन नगर है जो १०वी शताब्दी मे चोलो के अधिकार मे था और अगले ६०० वर्षो तक विजयनगर राज्य का एक अग था। १६वी शताब्दी के मध्य काल मे यह मदुरा के नायको के हाथ मे चला गया। १७८३ ई० मे यह नगर ईस्ट इडिया कपनी के हाथ मे आया और १७८४ ई० की सधि के अनुसार मैसूर को वापस कर दिया गया। १७९९ ई० मे अग्रेजो ने पुन नगर पर अधिकार कर लिया और तब से यह बराबर अग्रेजो के अधिकार मे रहा। १८०१ ई० मे इसे महत्वपूर्ण सैनिक केंद्र बनाया गया।

यहाँ पर पीतल एव ताँबे के कुछ कार्य होते है। लकडी का काम, पत्थर का काम, चूडी बनाने का उद्योग, टोकरी बनाने का उद्यम तथा कपडे बुनने के काम भी होते है। रेलवे लाइन पर बसे तथा कई सडको का केंद्र होने के कारण यह व्यापारी नगर बन गया है।

यह नगर एक धार्मिक स्थान भी है। नगर मे यत्रतत्र कई शिवालय है। यहाँ का सबसे प्रसिद्ध मदिर पशुपतीश्वर स्वामी का है जिसमे पाँच फुट का शिवलिंग स्थापित है।

नगर का सबसे बडा दोष अत्यत घना बसा होना है। सडके पतली तथा टेढी मेढी है और इमारते पुरानी शैली पर बनी हुई है। [उ० सिं०]

करेला कडुए स्वादवाला प्रसिद्ध भारतीय फल शाक है, जिसके फल का तरकारी के रूप मे और पत्रशाक अथवा पत्रस्वरस का चिकित्सा मे प्रयोग होता है। यह लता जाति की स्वयजात और कृपिजन्य वनस्पति है, जिसे कुकरबिटेसी (Cucurbitaceae) कुल के मोमोर्डिका चरशिया (Momordica charantia) के अतर्गत वर्गीकृत किया गया है। इसे कारवेल्लक, कारवेल्लिका, करेल, करेली तथा काँरले आदि नामो से भी अभिहित किया जाता है।

करेले की आरोही अथवा विसर्पी कोमल लताएँ, झाडियो और बाडो पर स्वयजात अथवा खेतो मे बोई हुई पाई जाती है। इनकी पत्तियाँ ५–७ खडो मे विभक्त, ततु (टेंड्रिल, tendril) अविभक्त, पुष्प पीले और फल उन्नत मुलिकावाले (ट्यूबर्किल्ड, tubercled) होते है।

कटुतिक्त होने पर भी रुचिकर और पथ्य शाक के रूप मे इसका बहुत व्यवहार होता है। चिकित्सा मे लता या पत्र स्वरस का उपयोग दीपन, भेदन, कफ-पित्त-नाश तथा ज्वर, कृमि, वातरक्त, और आमवातादि मे हितकर माना जाता है। [ब० सिं०]

करोटिमापन मानव की विभिन्न जातियो के कपाल (करोटि) आकार और रूप मे भिन्न होते है और उनका अध्ययन करोटि-मापन का विषय है जो नृतत्वशास्त्र की शाखा है। करोटि का ठीक ठीक मापन ही करोटिमापन की मूलभूत तकनीक है और कालावधि मे इससे ही

नापने की विधि निकली है । इस विधि मे भूचिह्न (लैंडमार्क्स) और अनुस्थिति के धरातल (प्लेन्स आव ओरिएंटेशन) सश्लिष्ट रहते हैं। इन सबकी अतर्राष्ट्रीय समझौतो के द्वारा सही सही व्याख्या की हुई होती है। इस अर्थ मे करोटिमापन किसी भी तरह की करोटि पर लागू होता है, किंतु, चूंकि इसका उपयोग अत्यत गहन रूप से मानव करोटि पर हुआ है, अत यह मानव-शरीर-मापन के वृहत्तम क्षेत्र का एक अश है।

रेखीय मापन के अतिरिक्त करोटि गह्वर की धारकता भी नापी जाती है जिसमे उसमे के मस्तिष्क का अच्छा निर्देश मिलता हे। औसत मानव की करोटि धारकता १४५० घ० से० मी० से अधिक होती है और उसे दीर्घकरोटि कहते हैं । करोटि की चौडाई से लबाई का अनुपात $\left(\frac{\text{चौडाई}}{\text{लबाई}} \times १०० \right)$ करोटि निर्देशाक निर्धारित करता है और यदि यह निर्देशाक ८० से ऊपर रहता है तो करोटि का वर्गीकरण चौडा होता है, ७५ और ८० के बीच का मध्यम और ७५ से कम होने पर लबा।

मानव-शरीर-मापन की शाखा के रूप मे करोटिमापन का एक प्रतिरूप भी हे जो जीवित व्यक्तियो के शिरोमापन से सबध रखता है, और जिसे प्राय शिरोमापन कहते हैं। इनमे विभेद महत्वपूर्ण है, क्योकि यद्यपि बहुतेरे भूचिह्नो तथा मापो का दोनो मे प्रयोग होता है तथापि शिरोमापन मे मापे कुछ बडी रहती हैं क्योकि वे चर्म तथा अन्य ततुओ के ऊपर से ली जाती हैं।

सामान्यत मानव-शरीर-मापन के समान ही करोटिमापन का उद्देश्य वस्तुपरक मीट्रिक अको मे विवरण देना होता है जिन्हे कोई भी कही आँक सके और तुलना मे उपयोग कर सके। इसके अतिरिक्त, चूंकि करोटि में भिन्नता रहती है, करोटिमापन करनेवालो का लक्ष्य सामान्यत विभिन्न प्रकारो के कपालो की श्रेणियो का मापन होता है जिससे प्रत्येक के लिये औसत अक प्राप्त हो सके। इसके लिये वे समुचित साख्यिकी विधियो का प्रयोग करते हैं।

जे० एफ० ब्लूयेनबाख करोटिमापन के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके अनुशीलन ने जातियो के प्ररूपो को स्थिर करने मे करोटि के रूपो के महत्व का उद्घाटन किया। स्विडन के आड्रेज अडाल्फ केजियस (१७९६–१८६०) ने कैरोटिक निर्देशाक का आविष्कार किया और सँकरे करोटि को दीर्घ करोटि (डोलीको-सेफैलिक) और चौडे को लघुकरोटि (ब्रैकी-सेफैलिक) सज्ञा दी।

करोटिमापन ने १९वी शती मे, विशेषत फ्रास के पाल ब्रोका के नेतृत्व में अत्यधिक प्रगति की। १८८२ के फ्रैंकफुर्त समझौते की एक विशिष्ट बात थी करोटिमापन की मापो के लिये करोटियो का मानक निर्धारित करना। इसे फ्रैंकफुर्त क्षैतिज (फ्रैंकफुर्त हारिजाटल) अथवा एफ० एच० कहते हैं। उसके बाद मनुष्य की करोटि के विश्लेषण के अधिक प्रयोग किए गए। यद्यपि ये बहुसख्यक नही हैं तथापि करोटिमापन के अध्ययन के विषय मे बहुत महत्व के हैं। इसके अतिरिक्त चूंकि यह अनुसधान प्राय अपूर्ण हैं और विश्व मे इतने व्यापक रूप से छितराए हुए हैं कि केवल कुछ ही लोग असली नमूनो को देख सकते हैं, इसलिये यह आवश्यक है कि उपयोगी मापे उपलब्ध हों ताकि कोई भी उनकी तुलना कर सके। जब अतीत और वर्तमान मे मनुष्य के ककालीय अवशेष सबधी करोटिमापन की आधार सामग्री कालानुक्रम से रखी जाती है, तब एक विकासक्रम प्रत्यक्ष होता है। सामान्यत मानव करोटि पिछले दस लाख वर्षो मे प्रकटत मस्तिष्क का आकार बढने के कारण अधिक बडी, अधिक गोल और अधिक पतली हो गई है।

[श्या० च० दु०]

करोल, कैरल

(Carol) साधारणत, मनुष्य या पक्षी का आल्हादमय गान, विशेषत, क्रिस्मस का धार्मिक गान। व्युत्पत्ति Choraula (लातीनी) या Khoraules (यूनानी)—सामूहिक नृत्यगान का वेणुवादक, Corolla (लातीनी)—चक्र या वृत्त।

करोल का उदय फ्रास के करोल (Carole) नामक लोकप्रिय सामूहिक नृत्य से माना जाता है जिसके महत्वपूर्ण अग कविता और सगीत भी थे। १२वी सदी मे इसके माध्यम से फ्रास ने मध्ययुगीन यूरोप के लोकजीवन, साहित्य और मस्कृति को प्रभावित किया। यूरोप मे मसीही धर्म के प्रचार के पूर्व, प्रकृतिपूजा के युग मे, प्रजनन सबधी कर्मकाडा, लीलाओ, सामूहिक उत्सवो और भोजो के अवसर पर नृत्यगान का आयोजन होता था। मसीही धर्म के प्रचार के बाद चर्च के नाक भौ सिकोडने के बावजूद यह लोकपरपरा हवेलियो से लेकर साधारण झोपडियो तक करोल (Carole) के रूप मे जीवित रही। उत्सवो, सतदिवसो और क्रिस्मस इत्यादि के नैश जागरण के अवसर पर जनता इस सामूहिक नृत्यगान का आयोजन स्वय चर्च के अहाते मे ही करती रही।

करोल (Carole) मे समूह का नायक एक के बाद दूसरी नई पक्ति को गाता जाता था और उनके बीच बाकी लोग एक दूसरे का हाथ पकडकर चक्रनृत्य करते हुए टेक या धुन की पक्तियाँ गाते थे। इन गानो मे भोज के लिये आखेट मे मारे गए सुअर के सिर, होली और आइवी की बोलियो के रूप मे क्रमश युवको और युवतियो के केलिमय विवाद, आपानक, गडेरियो के वेणुवादन इत्यादि का प्रमुख उल्लेख प्रकृतिपूजा के युग की देन था। फ्रास के चारण कवियो ने सयमित प्रेम से इन गीतों के रूप को निखारने का प्रयत्न किया, लेकिन प्रकृतिपूजा के युग के प्रतीक अपनी जगह पर कायम रहे। १४ वी सदी तक इसी प्रकार के नृत्यगान, आपानक और प्राय असयमित क्रीडाओ के आयोजन के साथ क्रिस्मस का पर्व मनाया जाता रहा।

विवश होकर पादरियो को करोल (Carole) पर धार्मिक रग चढाना पडा। इग्लैंड मे इस दिशा में सबसे बडा प्रयत्न सत फ्रासिस के अनुयायी पादरियो का रहा। इस प्रकार १५वी सदी मे करोल (Carole) के नृत्य गान से नृत्यमुक्त क्रिस्मस करोल (Carol) का जन्म हुआ। किंतु पहले के लौकिक या धर्मनिरपेक्ष और प्रेमपरक गीतो की रचना भी होती रही। ऐसे गीत हेनरी अष्टम और वायट ने भी लिखे। करोल (Carol) के दो रूपो—धर्मनिरपेक्ष और क्रिस्मस सबधी या धार्मिक—के विकसित होने के बावजूद उनके बीच की विभाजक रेखा प्राय बहुत अस्पष्ट है। उदाहरणार्थ, बहुत से गीत ऐसे हैं जिनमे कुमारी मरियम को विटप, पुष्प या मधुमास की देवी के रूप मे चित्रित किया गया है। 'देयर इज़ ए फ्लावर स्प्रग ऑव ए ट्री', 'ऑव ए रोज, लव्हली रोज', 'देयर इज़ नो रोज़ ऑव् सच वर्चू' आदि गीतो मे कुमारी मरियम या तो स्वय गुलाब का फूल है या गुलाब का पौधा जिसकी डाल पर ईसा जैसा गुलाब का फूल खिलता है। कुछ मे कुमारी मरियम को पुत्र के वध पर विलाप करती हुई माँ के रूप मे चित्रित किया गया है।

ये करोल (Carol) १५वी सदी की अग्रेजी कविता की बहुत बडी उपलब्धि हैं। उन्होने प्रवाहपूर्ण छदो मे धर्म के सूक्ष्म सिद्धातो को नाटकीय शैली और चित्रमयी भाषा में सजीव कर दिया। उनमे लोकगीतो की स्वाभाविक सरलता और सगीतमाधुर्य है। इन गीतो का प्रभाव १६वी सदी के अत और १७वी सदी के प्रारभ के अनेक अग्रजी गायक कवियो पर पडा।

स० ग्र०—दि अर्ली इगलिश कैरल (सपादक, गीन), इगलिश लिटरेचर ऐट दि क्लोज ऑव् दि मिडिल एजेज (आक्सफर्ड हिस्ट्री ऑव् इग्लिश लिटरेचर)।

[च० व० सिं०]

कर्कट

या कैंसर एक रोग का नाम है जिसमे किसी अग के ऊतक की कोशिकाओ मे असीम रूप से कोशिका विभजन की अस्वाभाविक क्षमता आ जाती है, जिसके कारण कोशिकाए निरतर बढती रहती हैं। उद्गम स्थान से बढकर धीरे धीरे आसपास के अगो मे रोग उसी प्रकार प्रवेश करने लगता है जैसे केकडे की टाँगे। इस समानता के कारण ही प्राचीन चिकित्सको ने इस रोग का नाम कर्कट या कैंसर रखा।

शुक्राणु तथा डिब के सयोग से गर्भस्थापन होने पर भ्रूण की उस एक कोशिका से बारबार नियमित कोशिकाविभजन द्वारा ही गर्भ का आकार बढता है तथा कोशिकाओ के विभेदन से पृथक् पृथक् ऊतक रचना होती है। जीवन का प्रमुख मूलाधार कोशिकाओ के नियमित बढने का गुण है, जो उनके बारबार विभजन तथा विभेदन द्वारा होता रहता है। इसी क्रिया द्वारा शरीर के विविध अगो का निर्माण तथा वृद्धि होती है। परतु शरीर मे वृद्धि नियमित तथा निर्धारित रूप मे होती है और एक सीमा के बाद वृद्धि रुक जाती है।

बाल्यावस्था से युवावस्था तक कोशिका विभजन की क्रिया बहुत अधिक मात्रा मे होती है, क्योकि शरीर के सब अग बढते रहते हैं। वृद्धावस्था में

करमकल्ला (देखे पृष्ठ ३५७) **तथा उद्रोध** (देखे पृष्ठ ८७)

करमकल्ला (cabbage)

गगा नदीपर बना नरौरा उद्रोध

कर्कट (देखे पृष्ठ ३६०)

स्तन कर्कट

चर्म कर्कट

जिह्वा कर्कट

कर्कट कोष

शिश्न कर्कट

कर्कट कोष

स्तन कर्कट

शिश्न कर्कट

बढने की क्रिया प्राय रुक जाती है, फिर भी कोशिकाविभजन धीरे धीरे चलता रहता है, क्योकि इस अवस्था मे जो कोशिकाएँ पुरानी या नष्ट हो जाती है उनको बदलने के लिये नई कोशिकाओ की आवश्यकता पडती है। इसलिये कोशिकाविभजन तथा विभेदन की क्रिया बराबर चलती रहती है, परतु आवश्यकतापूर्ति के पश्चात् क्रिया अपने आप बद हो जाती है। इसी क्रिया द्वारा घाव भरते हैं।
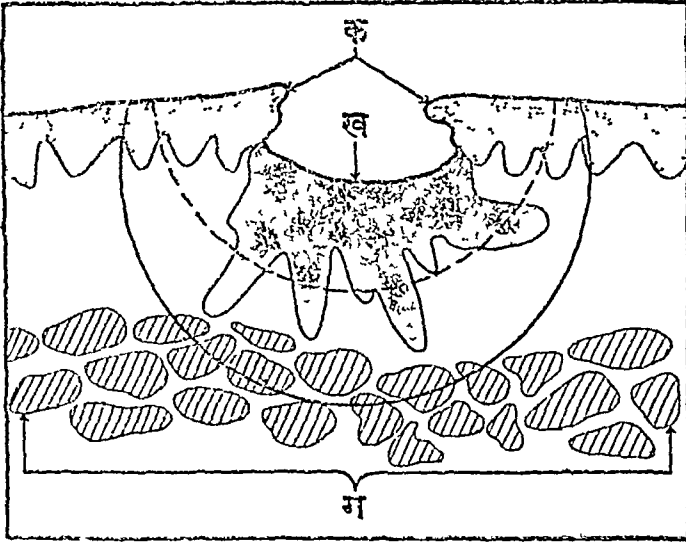
केकडे की टाँगो के सदृश कर्कट का फैलना

क स्वस्थ त्वचा, ख कर्कट का त्वचा मे प्रवेश, ग त्वचा की चर्वी, टूटी रेखा अशुद्ध शल्य, पूरी रेखा, शुद्ध शल्य। कर्कट रोग त्वचा मे वडी गहराई तक प्रवेश कर गया है। टूटी रेखा तक शल्यक्रिया द्वारा काटने के उपरात भी कर्कट को जडे गहराई मे बच जायँगी, जिससे कर्कट रोग वहाँ से फिर बढने लगेगा। पूरी रेखा से शल्यक्रिया द्वारा अर्वुद का निकालना आवश्यक है।

कर्कट रोग मे विशेष कोशिकाओ मे वृद्धि के रुकने की क्षमता लुप्त हो जाती है, जिससे उद्गम स्थान मे अर्वुद बन जाता है। यह धीरे धीरे बढकर पडोसी अगो मे प्रवेश करके उनका नाश करता या उन्हे दबाता है। इस क्रिया मे अर्वुद से जो कर्कट कोशिकाएँ पृथक् हो जाती है, वे रक्तवमनियो, शिराओ तथा लसिकाग्रथियो द्वारा बहुधा शरीर के दूरस्थ अगो मे जाकर स्थापित हो जाती हैं और वहाँ निरतर बढती और फैलती रहती हैं। इस वृद्धि से शरीर को कुछ लाभ नही होता, केवल हानि होती है। ये कर्कट-कोशिकाएँ शरीर की पोषक वस्तुओ को चूसती रहती है जिससे अन्य अगो का स्वास्थ्य, उनकी कोशिकाओ को पर्याप्त पोषण न मिलने से, बिगड जाता है।

कर्कट कोशिकाओ मे कोशिकाविभजन की अनियमित क्रियाशीलता के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भौतिक, रासायनिक तथा रचनात्मक विपरीतियाँ (जैसे अनियमित समसूत्रण, विभेदन के बदले अपरिपक्वन आदि) रहती है और सूक्ष्मदर्शी यत्र से इन कोशिकाओ की ऊनकपरीक्षा द्वारा ये सरलता से पहचान ली जाती है। परतु कर्कटकोशिकाओ के स्वभाव मे यह विभिन्नता क्यो होती है, इसका कारण अभी तक ज्ञात नही हुआ है।

अर्वुद या ट्यूमर दो प्रकार के होते हैं (देखे अर्वुद) (१) अघातक अर्वुद तथा (२) घातक अर्वुद। घातक अर्वुद को कर्कट का पर्यायवाची समझा जा सकता है। घातक तथा अघातक अर्वुदो मे यह अतर होता है कि यद्यपि अघातक अर्वुद मे भी कोषसख्या की वृद्धि करने की प्रवृत्ति होती है तथापि घातक अर्वुद के समान न तो इसके कोष दूसरे पडोसी अगो मे प्रवेश करते हैं और न हो रक्तवमनियो, शिराओ या लसिकाग्रथियो द्वारा शरीर के दूसरे अगो मे स्थापित होते हैं। वे केवल उद्गम ऊकत मे ही सीमित रहते हैं और उनकी प्रत्येक कोशिका की रचना मूल कोशिका की रचना के समान होती है।

कर्कट के दो भेद है (१) वाहिच्छदीय ऊतक (एपिथीलियल टिशू, Epithelial tissue) मे उत्पन्न होनेवाले घातक अर्वुद, जैसे श्लेष्मक चोल, अघ श्लेष्मक चोल, लस्य चोल आदि, कारसिनोमा (Carcinoma) कहलाते है। (२) योजी ऊतको (कनेक्टिव टिशू, Connective tissue) मे उत्पन्न होनेवाले घातक अर्वुद, जैसे ककाल ऊतक, अतरालित ऊतक, कार्स्थ ऊतक, पेशी-ऊतक, चेता-ऊतक सारकोमा (Sarcoma) कहलाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शरीर मे जितने प्रकार की ऊतके हैं उतने ही प्रकार के कर्कट भी है।

सूक्ष्मदर्शी द्वारा कर्कटकोशिकाओ के अध्ययन से प्रत्येक की जाति पहचानी जा सकती है, जिससे भविष्य का ठीक ठीक अनुमान किया जाता है। इससे चिकित्सा की रीति चुनने मे बडी सुविधा मिलती है।

कर्कट रोग कोशिकाओ के अनियमित तथा असीमित विभाजन की क्रिया है। जीवशरीर के प्रत्येक भाग मे, जहाँ भी नियमित विभाजन से कोशिका वृद्धि होती रहती है, वहाँ इस रोग की सभावना रहती है। वस्तुत, प्राणिवर्ग तथा वनस्पति वर्ग दोनो के ही सब सदस्यो मे कर्कट रोग पाया जाता है। वैसे तो कर्कट रोग स्त्री तथा पुरुष और सभी आयु, जाति, देश और समाज मे विस्तृत है, फिर भी कई असमानताएँ प्रत्यक्ष हैं, जिनसे कर्कट के विस्तार की समस्या का अध्ययन हो सकता है--चीन निवासियो मे नाक कान के कर्कट की तथा मलाया निवासियो मे यकृत के कर्कट की अधिकता, जापान निवासियो मे आमाशय के कर्कट के रोगियो की आयु मे औरो से १० वर्ष की कमी, यहूदियो मे जननेंद्रियो के कर्कट की न्यूनता, और विशेष उद्योग मे विशेष प्रकार के कर्कट की अधिकता देखी जाती है। प्रश्न यह उठता है कि इन विभिन्नताओ का महत्व तथा कारण क्या है? क्या रोग अशत अथवा पूर्णतया वातावरण, वश, रहन सहन, जलवायु आदि पर निर्भर है?

यो तो घातक अर्वुद शिशु से लेकर वृद्ध तक किसी भी अवस्था के मनुष्यो मे मिलता है, तथापि यह रोग मुख्यत अधेड या वृद्धो में प्राय ४० वर्ष की अवस्था के बाद सबसे अधिक मात्रा मे देखा जाता है। कुछ विशेष जाति के कर्कट विशेष अवस्था मे मिलते है, जैसे ग्लायोमा रेटिना, (Glioma retina), विल्म ट्यूमर (Wilm's tumour) या एम्ब्रियोनल कारसिनोमा, (Embryonal carcinoma), न्युरोब्लैस्टोमा (Neuroblastoma) बाल्यावस्था मे, टेराटोमा (Teratoma) तथा सेमिनोमा (Seminoma) युवावस्था मे तथा सारकोमा सभी अवस्थाओ मे (यूविंग ट्यूमर बाल्यावस्था मे)।

कर्कट रोग का कारण अभी तक ठीक ठीक ज्ञात नही हो सका है परतु इस विषय मे अध्ययन तथा अनुसधान बहुत वेग से चल रहा है। इस विषय पर आधुनिक ज्ञान प्राप्त होने मे सूक्ष्मदर्शी यत्र तथा अब इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी यत्र से बहुत सहायता मिल रही है। जोहन्न मुलर (Johann Muller), वारशाव, राऊस, शोप, यामाजीवा, इचिकावा, किन्नावे, वारबर्ग आदि विद्वानो की कर्कट सबधी विभिन्न समस्याओ पर खोजे उल्लेखनीय हैं।

कर्कट के अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि प्रयोगशाला मे जतुओ मे कर्कट उत्पन्न करने तथा उसे बढाने की रीति एव साधन अपने वश मे हो। इसके कई साधन हैं --

(१) ऊनक सवर्धन--अनुकूल वातावरण मे कर्कट के जीवित टुकडो को पूति अदूषित (ऐसेप्टिक) व्यवस्था मे काटकर टेस्ट ट्यूब मे, उचित पोषक पदार्थ मे, उचित ताप पर उगाने से कर्कटकोशिकाएँ विभाजन द्वारा बढने लगती हैं तथा आवश्यकता पडने पर अध्ययन के लिये उपलब्ध रहती हैं।

(२) कर्कट प्रवर्धको का प्रयोग--कई रासायनिक द्रव्यो मे ऐसी क्षमता है कि उनके प्रयोग द्वारा शरीर मे कर्कट उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के पदार्थो को कर्कटजन (Carcinogen) कहते हैं। त्वचा पर इनके लेप से, सूची द्वारा शरीर मे प्रविष्ट करके, अथवा वायु मे मिलाकर साँस द्वारा फुप्फुस मे पहुँचाने पर कुछ समय बाद कर्कट रोग प्राय हो जाता है। इससे प्रयोगशाला मे कर्कट का अध्ययन किया जा सकता है।

(३) **चुने हुए जतुओ की सतति**—प्रयोगशाला मे अतर अभिजनन (inter breeding) तथा चयन अभिजनन (selective breeding) के हेतु प्राय चूहे तथा खरगोश के विशेष वर्ग लिए जाते हैं। इन अभिजनन रीतियो से ऐसे वश उत्पन्न होते हैं जिनमे स्वय कर्कट रोग उत्पन्न होने की स्वाभाविक क्षमता बडी मात्रा मे हो जाती है। इनसे कर्कट सबधी अध्ययन और अनुसधान मे बहुत सुगमता होती है।

(४) **प्रतिरोपण** (Transplantation)—किसी जतु की जीवित कर्कटकोशिकाओ को उसी जाति के दूसरे जतु के शरीर मे उचित वातावरण में प्रतिरोपित कर देने से नए जतु के अग मे कर्कटकोशिकाएँ विभजन क्रिया करने लगती है। इस रीति से भी कर्कटकोशिकाएँ प्रयोगशाला मे इच्छानुसार उत्पन्न की जा सकती हैं।

कर्कट अनुसधान के क्षेत्र मे जिन विषयो पर अध्ययन हो रहा है उनमे से मुख्य ये हैं कोशिका की बाह्य तथा आतरिक रासायनिक क्रिया के अध्ययन मे स्टिरायड, कोप-हारमोन, कोप-प्रोटीन, कोप-विकार, विटामिन, रासायनिक ओपधियो का अध्ययन, जैसे नाइट्रोजन मस्टर्ड, विविध प्रकार के अत स्रावो का अध्ययन जैसे पीयूप-ग्रथि-रस, अवटुका-ग्रथि-रस तथा पौरुष-ग्रथि-रस का प्रभाव, जीव-भौतिक-अध्ययन, भौतिक-रसायन-अध्ययन, विकिरण समस्थानिक पदार्थो के प्रभाव का अध्ययन, आदि।

एक सिद्धात के अनुसार कर्कट के उद्गम का कारण किसी एक कोशिका का गुरुपरिवर्तन (Mutation) है, जिससे नवीन कोशिका की सब वशज कोशिकाओ मे यह दोपपरपरा चलती रहती है। इस गुरुपरिवर्तित कोशिक की पहचान यह है कि इसके पित्र्य-सूत्र (जीन, Gene) की सख्या (स्मरण रहे कि पित्र्य-सूत्र पर ही वशावली की विशेषता निर्भर रहती है) निर्धारित सख्या से भिन्न होगी, कोशिका का आकार, परिमाण और विशेष रगो मे रँग उठने की क्षमता बदल जायगी तथा कोशिका की रासायनिक सरचना मे भिन्नता मिलेगी।

अनेक रोगी बतलाते है कि अर्बुद उत्पन्न होने से पूर्व उस स्थान पर चोट लगी थी। इसलिये चोट लगने तथा अर्बुद उत्पन्न होने में कुछ सबध की सभावना है, परतु यह विषय भी अभी तक बहुत जटिल बना हुआ है। मुँह मे चूना, सुपाडी तथा तवाकू रखने की आदत, टेढे पैने दाँतो से गाल में बहुत दिनो तक रगड लगकर व्रण होना, नकली दाँतो की दाव से, जो उचित प्रकार मसूडो पर नही बैठते है, मसूडो पर व्रण हो जाना, गर्भाशयग्रीवा, जिसमे बहुत समय तक व्रण बना हो, शिश्न, जिसकी त्वचा बहुत कसी हो या खुल न पाए, काश्मीरियो की अँगीठी जिसे वे छाती पर कपडे के नीचे शरीर गरम रखने के लिये बहुधा रखते हैं और जिससे त्वचा प्राय बारबार जल जाती है, कुछ ऐसे उद्योग जिनमे विशेष खनिज तेल से कपडे तर हो जाते हैं और शरीर का कोई अग तेल से भीगा रहता है, इत्यादि कितने ही उदाहरण हैं जिनमे कर्कट रोग की सख्या बहुत बढी हुई पाई जाती है। ये इस बात की पुष्टि करते हैं कि इन सबका कर्कटोत्पत्ति से बहुत निकट सबध है। सन् १७७५ मे परसीवल पॉट (Percivall Pott) ने अपना मत प्रगट किया कि इगलैंड मे अडकोप-कर्कट की सख्या चिमनी की सफाई करनेवालो मे बहुत बडी मात्रा मे इसलिये मिलती थी कि इन मजदूरो की जाँघो मे कोयले की गर्द भर जाती थी। सन् १९१८ मे जापान के यामाजीवा तथा इचिकावा ने घोषित किया कि खरगोश के कान पर बारबार अलकतरा लगाने से उस स्थान पर चर्मकर्कट उत्पन्न हो जाता है।

कई ऐसी रासायनिक वस्तुएँ अब मिली है, जिनके प्रयोग से शरीर में कर्कट उत्पन्न हो जाता है। इन वस्तुओ को कर्कटजन कहते हैं। बेंज़ोपाइरीन, डाइबेंज़ोथ्राइसिन, मेथिल कोलेथ्रिन आदि ऐसी वस्तुएँ हैं। इनकी रासायनिक रचना मे तथा कोलेस्ट्रोल, और स्टिरायड हारमोनो की बनावट मे बहुत समानता है और इन हारमोनो के प्रयोग से प्रयोगशाला के पशुओ मे कर्कट उत्पन्न किया गया है, जिससे कर्कटजनन से इन पदार्थो का सबध ज्ञात होता है। इसी प्रकार त्वचा पर, या शरीर के अन्य भाग पर, एक्सरे किरण, परावैंगनी किरण तथा गामा किरण के अधिक समय तक पडने पर प्राय उस स्थान पर कुछ समय के उपरात कर्कट उत्पन्न हो जाता है। एक्स-रे तथा रेडियम आविष्कार के तत्काल पश्चात्, जब इन किरणो का हानिकर प्रभाव ज्ञात नही था और इस कारण इनसे सुरक्षित रहने पर ध्यान नही दिया जाता था, एक्स-रे से काम करनेवाले कितने ही वैज्ञानिको तथा डाक्टरो का कुछ समय बाद ककट के कारण अत हुआ। ककट उत्पत्ति मे परजीवी कीडो तथा वाइरसो को भी एक कारक समझा जाता है। इसी प्रकार आनुवंशिकता तथा स्तन के दूध द्वारा भी कर्कट उत्पत्ति का अश सतति तक पहुँचना सभव समझा जाता है। विविध ग्रथिरसो तथा प्रकिण्वो का भी कर्कट उत्पत्ति से गहरा सबध माना जाता है।

कई उद्योगो मे कुछ ऐसे बाह्य तथा आतरिक कारण रहते हैं जिनसे कर्कटोत्पत्ति होती है।

शरीर के कई अगो मे कभी कभी ऐसा रोग या असाधारण अवस्था देखी जाती है जिसका उचित व्यवस्था द्वारा निवारण न करने पर उस अग मे आगे चलकर कर्कट उत्पन्न हो जाता है, परतु उचित उपचार करने पर कर्कट की शका मिट जाती है। इन अवस्थाओ को पूर्वककटी दशा (precancerous condition) कहते हैं। पित्ताशय की पथरी, जिह्वा तथा मुँह के भीतर की त्वचा का सूखा रहना, गर्भाशयग्रीवा मे शीघ्र न अच्छा होनेवाला व्रण, त्वचा पर मस्सा (वार्ट), इत्यादि कुछ ऐसी दशाएँ हैं जिनमे, यदि वे चलती रहे तो, कुछ दिनो बाद ककट होने की सभावना रहती है।

कर्कट रोग की विश्वव्यापकता सब देशो के मृत्यु तथा ककट के आँकडा के अध्ययन मे प्रत्यक्ष हो जाती है। भारतीय आँकडे अभी सपूर्ण नहीं है। इन आँकडो के अध्ययन से रोगियो मे कर्कट रोग की जातियाँ, किस आयु मे किस जाति का रोग होता है, किस अग मे कर्कट रोग किस सख्या मे होता है, किस उद्योग में किस जाति का कर्कट रोग अधिक पाया जाता है, स्त्री तथा पुरुष मे रोगियो की सख्या कितनी है, रोग की कौन सी चिकित्सा अधिक सफल है, इत्यादि विविध महत्वपूर्ण विषयो पर उचित प्रकाश पडता है।

इन आँकडो द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि ससार मे कर्कट रोगियो की सख्या दिनोदिन बढती जा रही है। इस वृद्धि का कारण ढूढना स्वाभाविक है।

आधुनिक चिकित्सा की सुगमता तथा विकास, नई ओपधियो के आविष्कार, स्वास्थ्यविकास तथा सक्रामक-रोग-निरोधक उपाय, स्थानिक रोगो पर नियत्रण, बाल-कल्याण, रोगनिदान की सुविधाओ आदि के कारण मृत्युसख्या पहले से घटती जा रही है। शिशु-मृत्यु सख्या तथा सक्रामक रोग जनित मृत्युसख्या प्रति दिन घटती जा रही है। इन सबका अर्थ यह है कि मनुष्य का आयु बढती जा रही है जिससे वृद्धो की सख्या बढ रही है। कर्कट रोग मुख्यत युवावस्था के बाद ही उत्पन्न होता है। इसलिये अब कर्कट रोग उत्पन्न होने की आयु तक अधिक मनुष्य जीवित रहते हैं और सभवत इसीलिये कर्कट रोगियो की सख्या भी बढती जा रही है।

दूसरा कारण यह भी है कि कर्कट-रोग-निदान मे आधुनिक साधनो की सुलभता के कारण रोग की पहचान अधिक सख्या मे होने लगी है, अन्यथा पहले कर्कट के रोगियो की मृत्यु का कारण अन्य रोग समझा जाता था तथा कर्कट रोग की आलेखित मृत्युसख्या अल्प रहती थी।

ऊपर के कारणो से यह स्पष्ट है कि अब कर्कट रोग की रोकथाम की समस्या पहले से अधिक गभीर, बडी तथा आवश्यक होती जा रही है। इसके निवारण के लिये कुछ बाते नीचे दी जा रही हैं

(१) कर्कट रोग से सबधित आधुनिक ज्ञान की उचित जानकारी साधारण जनता तथा चिकित्सको को दी जाय।

साधारण जनता को कर्कट रोग का ज्ञान कराने के लिये अधविश्वास तथा अज्ञान दूर करना, पत्रिकाओ मे इस विषय पर सरल लेख, गाँवो मे उचित प्रचार, विद्यार्थियो की पाठ्य पुस्तको मे पृथक् पृथक् श्रेणियो के अनुरूप उपयुक्त पाठ तथा जनसामान्य में प्रचारार्थ पोस्टर, स्वास्थ्य प्रदर्शिनी, रेडियो कार्यक्रम, भाषण आदि की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

इस विषय पर विशेष शिक्षा के लिये विविध पद्धतियो के आयुर्वैज्ञानिक (मेडिकल) विद्यार्थियो तथा चिकित्सको के निमित्त विशेष छात्रवृत्तियो का भी आयोजन होना चाहिए।

(२) कर्कट रोगियो के निदान तथा चिकित्सा के लिये विशेष सस्थाओ का सघटन इतनी अधिक सख्या मे होना आवश्यक है कि समस्त रोगियो को आधुनिक सुविधाएँ तथा कर्कट विशेषज्ञो की देखरेख सुलभ हो सके। साधारण चिकित्सालयो मे भी पृथक् कर्कट विभाग का सयोजन आवश्यक है जिससे निदान शीघ्रता तथा सरलता से हो जा सके।

(३) कर्कट विषयक भिन्न भिन्न समस्याओ पर अनुसधान के लिये विशेष सस्थाएँ होनी चाहिए जिन्हे पर्याप्त धनराशि, विशेषज्ञ तथा आधुनिक साधन उपलब्ध हो।

अन्य रोगो की भाँति कर्कट रोग मे भी उचित चिकित्सा के लिये यह आवश्यक है कि रोग का शीघ्र, ठीक तथा पूरा निदान हो। कर्कट रोग के निदान मे जितना ही विलब होगा, उतना ही निरोग होने की सभावना घटती जायगी, क्योकि यह रोग बहुत वेग से पडोसी तथा दूरस्थ अगो मे फैलता है।

कर्कट के प्राय ५० प्रति शत रोगियो का केवल देखकर तथा ठोक बजाकर निरीक्षण करने मात्र से ही अनुभवी चिकित्सक ठीक निदान कर सकता है। २५ प्रति शत रोगियो के निदान मे साधारणत सुलभ यत्रो द्वारा परीक्षण की आवश्यकता पडती है तथा शेष २५ प्रति शत रोगियो मे ही विशेष यत्रो से परीक्षा करनी पडती है।

निदान के लिये सबसे पहले रोग के सबध मे रोगी से सविस्तार विवरण लिया जाता है। फिर लक्षण देखे जाते है तथा रोगग्रस्त अग की परीक्षा की जाती है। इसके पश्चात् विशेषज्ञो द्वारा रक्त, मल, मूत्र, आमाशय-रस आदि की भौतिक तथा रासायनिक परीक्षा, एक्स-रे परीक्षा, अर्बुद का ऊतक-सवर्धन आदि कराया जाता है। इससे कर्कट रोग का सपूर्ण निदान तथा विस्तार एव रोग का वर्गीकरण ज्ञात हो जाता है। इनके आधार पर चिकित्सा की विधि निश्चित की जाती है।

अन्य रोगो के विपरीत, कर्कट रोग उत्पन्न होने पर, सभव है बहुत समय तक रोगी को कष्ट न अनुभव हो, क्योकि रोग बिना कष्ट दिए बढता जाता है। इससे रोगी का ध्यान रोग की ओर आकृष्ट नही हो पाता। कुछ समय बाद रोग के लक्षण प्रकट होने लगते है, पहले उस अग मे जिसमे विकार होता है, आगे चलकर आसपास की तत्रिकाओ, रक्तधमनियो, ग्रथियो तथा दूसरे अगो मे। तब अर्बुद के दबाव तथा अत सचरण के कारण प्राकृतिक क्रियाओ मे विकार उत्पन्न होने के लक्षण प्रकट होते है। पृथक् पृथक् अगो के लक्षण भी भिन्न भिन्न होते है। इनका सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हे

त्वचा का कर्कट आरभ मे साधारण व्रण अथवा फोडे के रूप मे उत्पन्न होता है। यह शीघ्र ही ठीक हो जाने के बदले दिन प्रति दिन बढता जाता है, दबाने से रक्त निकलता है, व्रण के किनारे कडे होकर बाहर उठ आते है और ग्रथियाँ बढने लगती है। प्रारभ के 'लक्षण' (काले चिह्न) आकार मे बढने लगते है।

जिह्वा के कर्कट मे जिह्वा मे व्रण या दरारे बन जाती है, जो आरभ मे पीडा नही देती, फिर भोजन निगलने मे धीरे धीरे अडचन बढने लगती है। जिह्वा मोटी होने लगती हे और उसे मुँह से बाहर निकालने अथवा हिलाने डुलाने मे असुविधा होती है। कान मे दर्द होता है और गले की ग्रथियाँ बढ जाती है।

कठ (लैरिक्स, Larynx) के कर्कट मे स्वर मे भारीपन आ जाता है, फिर गला बैठ जाता है। साँस लेने मे कष्ट होता है, खाँसी का दौरा आता है और दम घुटने लगता है।

फुफ्फुस के कर्कट मे खाँसी, दम फूलना, खाँसी मे रक्त आना, दुर्बलता और भार घटना मुख्य लक्षण है।

ग्रासनली के कर्कट मे भोजन निगलने मे अडचन अनुभव होती हे। पहले तो सूखा तथा ठोस आहार निगलने मे, फिर कुछ समय बाद तरल पदार्थ निगलने मे भी अडचन होती है। इसलिये रोगी को पूरा पोषण नही मिल पाता और वह दुर्बल होने लगता है।

आमाशय के कर्कट मे रोगी का भार धीरे धीरे घटने लगता है। भोजन के बाद वमन हो जाता है तथा अजीर्ण रहता है।

गुदा के कर्कट मे बवासीर, मलत्याग के समय गुदा मे रक्त आना तथा मरोड कभी कब्ज और फिर पतले दस्त मुख्य लक्षण है।

स्तन के कर्कट मे स्तन मे गाँठ उत्पन्न होकर धीरे धीरे बडी होने लगती है, चूचुक से तरल रस या रक्तमय रस निकलता हे, दोनो स्तनो के आकार मे विभिन्नता आ जाती है। आरभ मे रोगी को कोई कष्ट नही अनुभव होता, रोग बढ जाने पर व्रण हो जाता है।

गर्भाशयग्रीवा के कर्कट मे अधिक रक्तस्राव, पीला रसस्राव, दुर्गंध, सभोग के बाद रक्तस्राव, सभोग के समय कष्ट, ये सब मुख्य लक्षण है।

पुरुषग्रथि के कर्कट मे मूत्रत्याग मे अवरोध होने लगता हे, जो दिन प्रति दिन बढता जाता है। बार बार मूत्रत्याग की आवश्यकता तथा पेडू मे पीडा मुख्य लक्षण है।

शिश्न के कर्कट मे शिश्न का चमडा नही खुल पाता, व्रण या अर्बुद हो जाता है जो धीरे धीरे बढने लगता है, छूने से रक्त आता है तथा व्रण के ओष्ठ फूलगोभी के समान फैलते है। धीरे धीरे लिंग विकृत हो जाता है और ऊरु सधि मे लसिकाग्रथि बढ जाती है।

कर्कट के नियत्रण का पहला चरण है, कर्कट की उत्पत्ति को रोकना। उन प्रतिकूल वातावरणो पर नियत्रण रखना उचित है जिनसे कर्कट रोग उत्पन्न होने की सभावना का ज्ञान हो चुका हे। विशेष उद्योगो मे, जिनमे कर्कटजन रासायनिक या भौतिक वस्तुओ का उपयोग होता है,परिस्थितियो को यथासभव निरापद बनाना आवश्यक है। रेडियम लवण मिश्रित रगो से रँगाई, अति-धूम्रपान-निषेध, नकली दाँतो को ठीक बनाना, मस्से तथा पित्ताशय रोगो की उचित चिकित्सा, गर्भाशयग्रीवा के व्रण या शोथ की चिकित्सा, शिश्न के कसे चमडे को काटना, मुँह मे चूना, तबाकू तथा सुपारी रखे रहने के निषेध इत्यादि पर उचित ध्यान देना उपयोगी है।

कर्कट रोग उत्पन्न हो जाने पर रोग की उचित चिकित्सा तुरत होनी चाहिए, अन्यथा रोग असाध्य हो जाता हे।

यदि अर्बुद छोटा हो और ऐसे भाग मे उत्पन्न हो कि शल्यक्रिया द्वारा कर्कट का पूरा भाग, आसपास के थोडे स्वस्थ भाग के साथ काटकर निकाला जा सके, तब शल्यचिकित्सा मुख्य विधि होगी। आधुनिक साधनो द्वारा गुर्दा, फुफ्फुस, गर्भाशय, स्तन, गुदा, अडकोष, शिश्न, ग्रासनली इत्यादि मे शल्यक्रिया सभव है।

कर्कट रोग मे एक्स-रे, रेडियम तथा रेडियो-आइसोटोपो द्वारा बहुधा चिकित्सा की जाती है। एक्स-रे तथा रेडियम अथवा आइसोटोपो से निकली रश्मियो मे यह गुण है कि उचित मात्रा मे इनके प्रयोग से कर्कटकोशिकाओ की या तो मृत्यु हो जाती हे, या उनका विभाजन रुक जाता है। इससे रोग या तो सर्वदा के लिये मिट जाता हे, या बहुत समय के लिये दब जाता है। सभी वर्ग की कर्कटकोशिकाओ पर इन रश्मियो का नाशकारी प्रभाव एक समान नही होता। जिन कर्कटकोशिकाओ पर इन रश्मियो का नाशकारी प्रभाव अधिक मात्रा मे होता हे उनसे उत्पन्न रोगो मे रश्मिचिकित्सा अधिक फलदायक होती है। परतु कई प्रकार के व्रणो पर इन रश्मियो का प्रभाव नही के बराबर होता हे। ये रश्मियाँ पडोस के सामान्य कोशिकाओ पर भी हानिकर प्रभाव डालती है, जिससे इस बात का ध्यान सर्वदा रखना पडता है कि कर्कट कोशिकाओ का नाश करने की चेष्टा मे स्वस्थ कोशिकाओ का भी नाश अधिक न हो।

शल्यक्रिया द्वारा अर्बुद को काट फेकने और घाव के भर जाने के उपरात भी रश्मिचिकित्सा कराते रहना आवश्यक होता है। इसका उद्देश्य यह है कि कर्कट की जो जडे शल्यक्रिया के बाद भी उस अग मे बच गई हो वे रश्मिचिकित्सा से नष्ट हो जायँ। जब रोग इतना बढ जाता है कि शल्यक्रिया की सभावना नही रह जाती, अथवा ऐसे अग मे रोग उत्पन्न होता है कि शल्यक्रिया सभव नही होती, तब रश्मिचिकित्सा ही मुख्यत बच जाती है। इसी प्रकार जब कर्कटकोशिकाए दूसरे अगो मे प्रकट हो जाती है तब रश्मिचिकित्सा तथा रासायनिक द्रव्यो का ही सहारा लिया जा सकता है, यद्यपि इनसे क्षणिक लाभ ही होता है। कर्कट रोग की चिकित्सा मे कुछ विशेष हारमोनो का भी उपयोग होता है, जैसे टेस्टोस्टि-रोन, ईस्ट्रोजेन, नाइट्रोजन-मस्टर्ड इत्यादि।

रोगी की मानसिक शाति, शारीरिक शक्ति, उचित निद्रा, पीडा-निवारण, उचित पोषण आदि पर यथोचित ध्यान रखना भी चिकित्सा का अनिवार्य अग है। (चित्रो के लिये देखे फलक)

स० ग्र०—एल० वी० एकरमैन ऐंड जे० ए० डी० रिगेटो कैंसर डायग्नोसिस, ट्रीटमेंट ऐंड प्रॉग्नोसिस, ग्रोबरलिंग दि रिडल ग्रॉव कैंसर, वरनार्ड ऐंड राब स्मिथ केटल्स पैथॉलोजी ग्रॉव ट्यूमर्स ।
(उ० श० प्र०)

कर्कोट, कर्कोटक कश्मीर का एक राजवश, जिसने गोनद वश के पश्चात् कश्मीर पर अपना आधिपत्य जमाया। 'कर्कोट' पुराणो में वर्णित एक प्रसिद्ध नाग का नाम है। उसी के नाम पर इस वश का नाम पडा। गोनद वश का अतिम नरेश वालादित्य पुत्रहीन था। उसने अपनी कन्या का विवाह दुर्लभवर्धन से किया जिसने कर्कोट वश की स्थापना लगभग ६२७ ई० मे की। इसी के राजत्वकाल मे प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान्च्वाग भारत ग्राया था। उसके तीस वर्ष राज्य करने के पश्चात् उसका पुत्र दुर्लभक गद्दी पर बैठा और उसने ५० वर्ष तक राज किया। फिर उसके ज्येष्ठ पुत्र चद्रापीड ने राज्य का भार सँभाला। इसने चीनी नरेश के पास दूत भेजकर अरब आक्रमण के विरुद्ध सहायता माँगी थी। अरबो का नेता मुहम्मद विन कासिम इस समय तक कश्मीर पहुँच चुका था। यद्यपि चीन से सहायता नही प्राप्त हो सकी तथापि चद्रापीड ने कश्मीर को अरबो से आक्रात होने से वचा लिया। चीनी परपरा के अनुसार चद्रापीड को चीनी सम्राट् ने राजा की उपाधि दी थी। सभवत इसका तात्पर्य यही था कि उसने चद्रापीड के राज्यत्व को मान्यता प्रदान की थी। कल्हण की राजतरगिणी के अनुसार चद्रापीड की मृत्यु उसके अनुज तारापीड द्वारा प्रेषित कृत्या से हुई थी। चद्रापीड ने साढे आठ वर्ष राज किया। तत्पश्चात् तारापीड ने चार वर्ष तक अत्यत क्रूर एव नृशस शासन किया। उसके वाद ललितादित्य मुक्तापीड ने शासनसूत्र अपने हाथ मे लिया।

७३३ ई० मे ललितादित्यने चीनी सम्राट् के पास सहायतार्थ दूत भेजा। सहायता न प्राप्त होने पर भी उसने पहाडी जातियो—कवोज, तुर्क, दरद, खस तथा तिब्वतियो—को पराजित कर कश्मीर में एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना की। ललितादित्य ने कन्नौज के यशोवर्मन् को भी पराजित किया। गौड नरेश ने विना लडे ही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया और उपायने में हाथी प्रदान किए। दक्षिण मे विजय कर ललितादित्य कावेरी तट तक पहुँचा था। पश्चिम मे सप्त कोकणो को पराजित किया था। प्राग्ज्योतिष, स्त्रीराज्य, तथा उत्तर कुरु की भी विजय की। इन विजयो के वर्णन मे कहाँ तक ऐतिहासिक तथ्य है, यह कहने की आवश्यकता नही। इसमे असाधारण अतिरजन है। ३६ वर्ष तक राज्य करने के वाद उसकी मृत्यु हुई। उसके वाद उसके दो पुत्र कुवलयापीड तथा वज्रापीड गद्दी पर वैठे। वज्रापीड ने लगभग ७६२ ई० मे शासन प्रारभ किया। राज्य के अनेक मनुष्यो को उसने म्लेच्छो के हाथ वेच दिया और ऐसे कार्य प्रारभ किए जिनसे म्लेच्छो को लाभ हो। ये म्लेच्छ सभवत सिंध के अरव थे। हिशाम-इब्न-अम्र-अअतगलवी (सिंध का गवर्नर ७६२-७७२ ई०) ने कश्मीर पर धावा मारा था और अनेक दास कैदियो को पकड लाया था। यह आक्रमण वज्रापीड के ही काल मे हुआ होगा। वज्रापीड के तीन पुत्र पृथिव्यापीड, सग्रामापीड और जयापीड थे। पृथिव्यापीड गद्दी पर वैठने के सात ही दिन के वाद मर गया। तव जयापीड विनयादित्य ने शासन सँभाला। अपने दादा मुक्तापीड की भाँति दिग्विजय के लिये वह प्राची चला। इधर उसके वहनोई जज्ज ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। यह हाल सुनकर सेना ने विनयादित्य का साथ छोड दिया। अकेला विनयादित्य पुंड्रवर्धन पहुँचा। दैवयोग ने उसने एक सिंह मारकर वहाँ के राजा को प्रसन्न किया और उसकी कन्या से विवाह किया। आसपास के नरेशो को जीतकर अपने श्वसुर को उनका नेता वनाया। इसके वाद कान्यकुब्ज के नरेश (सभवत इद्रराज) को पराजित करते हुए वह वापस लौटा। जज्ज मारा गया। इस प्रकार तीन वर्ष के पश्चात् वह विजयी होकर सिंहासनारूढ हुआ। ३१ वर्ष शासन करने के वाद कुछ ब्राह्मणो के षड्यत्र मे वह मारा गया। इसके दरवार को अलकृत करनेवाले कवियो मे क्षीर, भट्ट उद्भट, दामोदर गुप्त इत्यादि थे। उसका राज्यकाल ल० ७७० ई० से ८०० ई० तक माना जाता है। इसके वाद ललितादित्य (जयापीड का पुत्र), सग्रामादित्य द्वितीय (पृथिव्यापीड), ने शासन किया। इसकी मृत्यु के समय चिप्पट जयापीड (वृहस्पति) वालक था। मामाओ ने राज्य सँभाला और मिलकर वृहस्पति का वध कर दिया, किंतु वे स्वय आपस में लडने लगे थे। इसी अवस्था में राजा को कठपुतली की भाँति वैठाकर उन्होने ४० वर्ष तक राज्य किया। साम्राज्य का शासन इस प्रकार ढीला पड गया। अतिम नरेश उत्पलापीड को राज्यच्युत करके मत्री ने अवतिवमन् को गद्दी पर वैठाया और कर्कोट वश का अत हुआ।

[च० भा० पा०]

कर्ण पुराणानुसार सूर्य से उत्पन्न कुती के प्रसिद्ध पुत्र जिन्हे इद्र ने एक विशेष शक्ति प्रदान की थी। इनके दो नाम और हैं—वसुषेण एव वैकर्तन। इनकी और दुर्योधन की वडी मैत्री थी। दुर्योधन ने इन्हें अगदेश का राजा घोषित कर दिया था और द्रौपदी के स्वयवर मे ये ब्राह्मणवेशधारी अर्जुन द्वारा परास्त हुए थे। द्रोणाचार्य ने जव कर्ण को ब्रह्मास्त्र की शिक्षा देने से इनकार कर दिया तव वे परशुराम के पास जाकर यह विद्या सीखने लगे। पर जव उन्हें ज्ञात हुआ कि कर्ण ने झूठ वोल, ब्राह्मण वनकर गुरु को धोखा दिया है तव परशुराम ने कर्ण को शाप दे दिया। दिग्विजय करने के लिये वाहर जाकर दुर्योधन के लिये कर्ण ने वहुत सा धन एकत्र किया। महाभारत के १६वे दिन द्रोणाचार्य के मारे जाने पर ये डेढ दिन के लिये कौरवो के सेनापति रहे, और १७वे दिन अर्जुन के हाथ से इनकी मृत्यु हुई।

[रा० द्वि०]

कर्णचेदि लगभग सन् १०४१ मे चेदीश्वर गागेयदेव की मृत्यु हुई और उसका पुत्र कर्ण गद्दी पर वैठा। राज्य के पहले सात वर्षो मे उसने अनेक दिशाओ में विजय प्राप्त की। पूर्व में उसने वगाल के राजा गोविंदचद्र को हराया और उसके स्थान पर वीरवर्मा को वैठाकर उसके पुत्र जातवर्मा से अपनी कन्या वीरश्री का विवाह किया। दक्षिण में काची प्रदेश को उसने लूटा। पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम पर और गुजरात के राजा भीमदेव प्रथम पर भी इसने सन् १०४८ से पूर्व आक्रमण किया।

सन् १०४८ के वाद उसने केवल विजय ही प्राप्त नही की, अपने राज्य का चारो ओर विस्तार भी किया। मालवे में उस समय परमार राजा भोज प्रथम का राज्य था। भोज के हाथो अपने पिता गागेयदेव की पराजय का वदला लेने के लिये कर्ण ने गुजरात के राजा भीमदेव प्रथम से मिलकर मालवे पर पूर्व और पश्चिम दिशाओ से आक्रमण किया। भोज की इसी समय मृत्यु हो गई। भीम और कर्ण ने इस स्थिति का लाभ उठाकर मालवे की राजधानी धारा को जीत लिया और भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह परमार को भी सभवत सिंहासन से उतार दिया। कर्ण ने मालवे की वहुत सी भूमि आत्मसात् कर ली। भीम को गज, अश्व, मडपिकादि से सतुष्ट होना पडा। सन् १०५१ के आस पास कर्ण ने चदेल राजा देववर्मा को भी परास्त किया और जिझौती को अपने राज्य मे मिला लिया। उत्तर-पश्चिमी वगाल मे गौडाधिपति विग्रहपाल तृतीय उससे हारा। किंतु कर्ण ने अपनी कन्या यौवनश्री का विग्रहपाल से विवाह किया और इस प्रकार शत्रुता मित्रता मे परिवर्तित हो गई। सन् १०५२ मे भारत का वहुत सा भूभाग कर्ण के अधीन था, और आसपास के राजा उससे मेलजोल वढाने मे अपनी कुशल समझते थे। इसी चक्रवर्तित्व की स्थापना के लिये सभवत कर्ण ने अपना पुनरभिषेक किया।

जीवन के उत्तरार्ध मे कर्ण की यह समृद्धि वहुत कुछ क्षीण हो गई। परमार राजा जयसिंह ने चालुक्यराज सोमेश्वर की शरण ग्रहण की और चालुक्य राजकुमार विक्रमादित्य ने कर्ण को हराकर जयसिंह को एक वार फिर गद्दी पर विठाया। चदेल राज्य भी कर्ण के हाथो से निकल गया। देववर्मा के उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मा ने कर्ण को हराकर जिझौती की पराधीनता समाप्त की।

अपने राज के अतिम दिनो मे कर्ण ने मालवे के परमार राज्य की समाप्ति का फिर प्रयत्न किया। सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु के वाद उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर द्वितीय ने मालवराज के मित्र अपने भाई विक्रमादित्य की वढती शक्ति से शकित होकर कर्ण से सधि की और मालवे पर आक्रमण कर दिया। जयसिंह परमार हारा और अपना राज्य खो वैठा। सोमेश्वर को शायद मालवराज्य का दक्षिणी भाग और अवशिष्ट भाग कर्ण को मिला हो। किंतु इस वार भी कर्ण अधिक समय तक मालवे को अपने अधिकार में

न रख सका। उदयादित्य परमार ने सन् १०७३ के लगभग कर्ण को हराया और मालवे में पुन परमार राज्य की स्थापना की। इसके कुछ समय बाद ही कर्ण ने राज्य का त्याग कर अपने पुत्र यश कर्ण को सिंहासनारूढ किया।

कर्ण कलचुरि वंश का सबसे प्रतापी शासक था। उसने अनेक राजाओं को हराया। किंतु कर्ण केवल योद्धा ही नही, भारतीय संस्कृति का भी पोषक था। काशी मे उसने कर्णमेरु नाम का द्वादशभूमिक मंदिर बनाया। प्रयाग मे कर्णतीर्थ का निर्माण कर उसने अपनी कीर्ति को चिरस्थायी किया। उसने विद्वान् ब्राह्मणों के लिये कर्णावती नामक ग्राम की स्थापना की और काशी को अपनी राजधानी बनाया। ब्राह्मणों को उसने अनेक दान दिए और अपने कर्ण नाम को सार्थक किया। उसके दरबार के अनेक कवियो मे विशेष रूप से वल्लण, नाचिराज, कर्पूर, विद्यापति और कनकामर के नाम उल्लेख्य हैं। कश्मीरी कवि बिल्हण को भी उसने सत्कृत किया था।

सं०ग्रं० वी० वी० मिराशी कार्पस इस्क्रिप्शनम् इंडिकैरम, प्रस्तावना भाग, एच० सी० राय डाइनैस्टिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इंडिया, जिल्द २, आर० डी० बैनर्जी हैहयाज ऑव त्रिपुरी ऐंड देयर मान्यूमेंट्स, हीरालाल मध्यप्रदेश का इतिहास, ना० प्र० सभा, काशी।

[द० श०]

कर्णिकार एक वृक्षविशेष का नाम है जो पुष्पित होने पर वनश्री की शोभा बढाता है और जिसके पुष्पो एव मंजरियो को महिलाएँ कर्णाभरण के रूप मे प्राचीन काल से उपयोग करती रही हैं। साहित्य मे इसीलिये इसका जहाँ तहाँ उल्लेख मिलता है।

आयुर्वेदीय संहिताओ मे कर्णिकार का नाम नही मिलता, परंतु निघंटुओ मे यह प्राय आरग्वध (अमलतास) का एक भेद अथवा पर्याय माना गया है। अमरकोष के टीकाकार ने इसकी लोकसंज्ञा 'कठचंपा' बतलाई है, जो मुचकुंद अथवा कचनार दोनो ही हो सकता है। भावप्रकाश के रचयिता "पांगारा इति लोके प्रसिद्ध" कहकर पारिभद्र (फरहद) को कर्णिकार मानते हैं। इस प्रकार विभिन्न मतो के अनुसार चार वृक्ष जातियो—अमलतास, कचनार, मुचकुंद और फरहद—को कर्णिकार माना जा सकता है।

काव्य मे कर्णिकार के जिस रूपरंग की ओर संकेत किया गया है उससे ज्ञात होता है कि इसके पुष्पो को 'हेमद्युति' अर्थात् स्वर्णवत् पीतवर्ण होना चाहिए। अमलतास की मंजरियो मे पीतवर्ण के सुकोमल पुष्प रहते हैं, जिन्हें कर्णाभरण के रूप मे पहन भी सकते हैं। कचनार, पारिभद्र और मुचकुंद के पुष्प भी कर्णफूल के सदृश प्रयुक्त होते रहे हैं। संभव है, उपयोगसादृश्य के कारण उन्हे भी 'कर्णिकार' कह दिया गया हो, क्योकि कही कही इसे 'हुतहुताशनदीप्ति' भी कहा गया है। कचनार तथा पारिभद्र के पुष्पो को यह विशेषण दिया जा सकता है। सभी बातो पर विचार करने पर अमलतास को ही वास्तविक कर्णिकार कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

[ब० सिं०]

कर्तव्य और अधिकार सी० डी० बर्न्स की उक्ति है, "फ्रांस की क्रांति ने कोई दान नही माँगा, उसने मनुष्य के अधिकारो की माँग की।" अधिकार ऐसी अनिवार्य परिस्थिति है जो मनुष्य के विकास के लिये आवश्यक है। यह व्यक्ति की माँग है जिसे समाज, राज्य तथा कानून नैतिक मान्यता देते हैं और उनकी रक्षा करना अपना परम धर्म समझते हैं। अधिकार वे सामाजिक परिस्थितियाँ तथा अवसर हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास के लिये आवश्यक होती हैं। इन्हे समाज इसी कारण से स्वीकार करता है और राज्य इसी आशय से इनका संरक्षण करता है। अधिकार उन कार्यो की स्वतंत्रता का बोध कराता है जो व्यक्ति और समाज दोनो के ही लिये उपयोगी सिद्ध हो।

१७वी और १८वी शताब्दी के यूरोपीय राजनीतिज्ञो का यह अटल विश्वास था कि मनुष्य के अधिकार जन्मसिद्ध तथा उनके स्वभाव के अंतर्गत हैं। वे प्राकृतिक अवस्था मे, जब समाज की स्थापना नही हुई थी तब, मनुष्य को प्राप्त थे। एथेंस के महान् विचारक अरस्तू का भी यही विचार था। १७८९ मे फ्रांस की क्रांति के उपरांत फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने मानवीय अधिकारो की उद्घोषणा की। जिन मौलिक तत्वो को लेकर फ्रांस ने क्रांति का कदम उठाया था उन्ही सब तत्वो का समावेश इस घोषणा मे किया गया था। इस घोषणा के परिणामस्वरूप फ्रांस के सामाजिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक जीवन मे और तज्जनित सिद्धांतो मे परिवर्तन हुआ। मानवीय अधिकारो की घोषणा का प्रभाव आधुनिक संविधानो पर स्पष्ट ही है। यूरोपीय जीवन, विचार, इतिहास और दर्शन पर इस घोषणा की अमिट छाप है। इस घोषणा मे प्रत्येक मनुष्य के लिये स्वतंत्रता, संपत्तिसुरक्षा एवं अत्याचार का विरोध करने के अधिकार को मौलिक अधिकार की मान्यता प्रदान की गई। मानवीय अधिकारो की उद्घोषणा का बडा व्यापक प्रभाव रहा है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक अर्थात् मनुष्य जीवन से संबंधित सभी क्षेत्रो पर इन विचारो का प्रभाव सुस्पष्ट है। समाजवादी दर्शन ने इन अधिकारो का क्षेत्र और भी विस्तृत कर दिया है। सोवियत संघ ने अपने सामाजिक अधिकारो मे इन अधिकारो को प्रमुख स्थान दिया है। सन् १९४६ मे जब फ्रांस ने अपने संविधान की रचना की तब इन श्रेष्ठतम अधिकारो को स्थान देते हुए उसने और भी नए सामाजिक अधिकारो का समावेश संविधान की धाराओ मे किया। आधुनिकतम सभी संविधानो मे इन अधिकारो का समावेश है। नागरिक के मूल अधिकारो मे इनकी गणना है। यह जाति और नरनारी की समानता का युग है। नागरिक अधिकारो मे इन्हे भी स्थान प्राप्त हो गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी इन मानवीय अधिकारो की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर एक विस्तृत सूची बनाई। नागरिक अधिकारो के संबंध मे बदलती हुई सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया की छाप उसपर स्पष्ट है। १० दिसंबर, १९४८ को संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अपनी साधारण सभा मे सार्वभौम मानवीय अधिकारो को घोषित किया। यह सूची ४८ सदस्य राज्यो के बहुमत से पारित हुई। मनुष्य जीवन के जितने भी आधुनिक मूल्य हैं उन सारे मूल्यो का समाहार इस सूची मे किया गया है।

सामान्यत कर्तव्य शब्द का अभिप्राय उन कार्यो से होता है, जिन्हे करने के लिये व्यक्ति नैतिक रूप से प्रतिबद्ध होता है। इस शब्द से यह बोध होता है कि व्यक्ति किसी कार्य को अपनी इच्छा, अनिच्छा या केवल बाह्य दबाव के कारण नही करता है अपितु आंतरिक नैतिक प्रेरणा के ही कारण करता है। अत कर्तव्य के पार्श्व मे सिद्धांत या उद्देश्य की प्रेरणा है। उदाहरणार्थ संतान और माता पिता का परस्पर संबंध, पति-पत्नी का संबंध, सत्यभाषण, अस्तेय (चोरी न करना) आदि के पीछे एक सूक्ष्म नैतिक बंधन मात्र है। कर्तव्य शब्द मे 'कर्म' और 'दान' इन दो भावनाओ का संमिश्रण है। इसपर निःस्वार्थता की अस्फुट छाप है। कर्तव्य मानव के किसी कार्य को करने या न करने के उत्तरदायित्व के लिये दूसरा शब्द है। कर्तव्य दो प्रकार के होते हैं—नैतिक तथा कानूनी। नैतिक कर्तव्य वे हैं जिनका संबंध मानवता की नैतिक भावना, अंत करण की प्रेरणा या उचित कार्य की प्रवृत्ति से होता है। इस श्रेणी के कर्तव्यो का संरक्षण राज्य द्वारा नही होता। यदि मानव इन कर्तव्यो का पालन नही करता तो स्वयं उसका अंत करण उसको धिक्कार सकता है, या समाज उसकी निंदा कर सकता है किंतु राज्य उन्हे इन कर्तव्यो के पालन के लिये बाध्य नही कर सकता। सत्यभाषण, संतान का संरक्षण, सद्व्यवहार, ये नैतिक कर्तव्य के उदाहरण हैं। कानूनी कर्तव्य वे हैं जिनका पालन न करने पर नागरिक राज्य द्वारा निर्धारित दंड का भागी हो जाता है। इन्ही कर्तव्यो का अध्ययन राजनीतिशास्त्र मे होता है।

हिंदू राजनीति शास्त्र मे अधिकारो का वर्णन नही है। उसमे कर्तव्यो का ही उल्लेख हुआ है। कर्तव्य ही नीतिशास्त्र के केंद्र हैं।

अधिकार और कर्तव्य का बडा घनिष्ठ संबंध है। वस्तुत अधिकार और कर्तव्य एक ही पदार्थ के दो पार्श्व हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का अमुक वस्तु पर अधिकार है, तो इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि अन्य व्यक्तियों का कर्तव्य है कि वे उस वस्तु पर अपना अधिकार न समझकर उस पर उस व्यक्ति का ही अधिकार समझें। अत कर्तव्य और अधिकार सहगामी हैं। जब हम यह समझते हैं कि समाज और राज्य मे रहकर हमारे कुछ अधिकार बन जाते हैं तो हमें यह भी समझना चाहिए कि समाज और राज्य मे रहते हुए हमारे कुछ कर्तव्य भी हैं। अनिवार्य अधिकारो का अनिवार्य कर्तव्यो से नित्यसंबंध है।

फ्रास के क्रातिकारियो ने लोकप्रिय सप्रभुता के सिद्धात को ससार मे प्रसारित किया था। समता, स्वतत्रता, भ्रातृत्व, ये क्रातिकारियो के नारे थे ही। जनसाधारण को इनका अभाव खटकता था, इनके विना जनसाधारण अत्याचार का शिकार वन जाता है। आधुनिक सविधानो ने नागरिको के मूल अधिकारो की घोषणा के द्वारा उपर्युक्त राजनीतिदर्शन को सपुष्ट किया है। मनुष्य की जन्मजात स्वतत्रता को मान्यता प्रदान की गई है, स्वतत्र जीवन-यापन के अधिकार और मनुष्यो की समानता को स्वीकार किया है। आज ये सब विचार मानव जीवन और दर्शन के अविभाज्य अग हैं। आधुनिक सविधान निर्माताओ ने नागरिक के इन मूल अधिकारो को सविधान मे घोषित किया है। भारतीय गणतत्र सविधान ने भी इन्हें महत्वपूर्ण स्थान दिया है। [शु० ते०]

कर्नाटक नाम प्राचीन मद्रास प्रेसीडेसी के पूर्वी घाट तथा कारोमडल तट के वीच वसे भाग को अग्रेजो ने दिया। साधारणतया कर्नाटक प्रदेश से देश के उस भाग का वोध होता है जो पूर्वी और पश्चिमी घाटो के वीच दक्षिण में पालघाट से उत्तर मे वीदर तक फैला हुआ है और जहाँ प्राय कन्नड भाषा वोली जाती है। शासन के विचार से आजकल कर्नाटक प्रदेश में वेलगांव, धारवाड, वीजापुर, और कोल्हापूर जिले समिलित हैं।

यह प्रदेश दक्षिण भारत के पूर्वी तट पर ६०० मील की लवाई तथा ५० से १०० मील की चौडाई मे विस्तृत था। इसका विस्तार उत्तर मे गुंटूर सरकार से दक्षिण में कुमारी अतरीप तक था। कोलरून नदी द्वारा, जो त्रिचनापल्ली नगर से होकर वहती है, कर्नाटक के दो मुख्य भूभाग होते थे। दक्षिण का भाग दक्षिणी कर्नाटक तथा उत्तरी भाग उत्तरी कर्नाटक के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रकार सीमावद्ध कर्नाटक के अतर्गत नेल्लोर, चिंगलेपुट, दक्षिणी अर्काट, तजौर, मदुरा, तिन्नेवेली के समुद्रतटीय प्रदेश तथा भीतरी भाग के उत्तरी अर्काट और त्रिचनापल्ली प्रदेश समिलित थे।

प्राचीन काल मे यह प्रदेश पाड्य तथा चोल राज्यो मे विभाजित था। पाड्य राज्य मदुरा और तिन्नेवेली प्रदेशो मे विस्तृत था और चोल राज्य कारोमडल के किनारे पदुकोट्टई तक फैला था। इन प्रदेशो मे विकसित तमिल सभ्यता उच्च श्रेणी की थी। इस प्रदेश की सपन्नता का मूलाधार यहाँ का मोती निकालने का उद्योग था।

चौथी शताव्दी मे इस प्रदेश मे पल्लवो का राज्य हुआ जो अगली चार शताव्दियो तक चलता रहा। उन्होंने काची (काजीवरम्) को अपनी राजधानी वनाया। तत्पश्चात् यह पुन चोलो तथा पाड्यो के हाथ मे चला गया।

१५वी शताव्दी के प्रारभ मे यह सपूर्ण प्रदेश विजयनगर साम्राज्य के अतर्गत था। विजयनगर के राजाओ के वलहीन हो जाने पर १७वी शताव्दी मे यह प्रदेश तीन छोटे छोटे हिंदू राज्यो मे विभाजित हो गया जिन्होंने मदुरा, तजौर तथा काची को अपनी अपनी राजधानियाँ वनाई। १७वी शताव्दी के अत में औरगजेव की सेनाओ ने इस प्रदेश पर हमले किए और जुल्फिकार अली अर्काट का नवाव वनाया गया। तत्पश्चात् यह प्रदेश मुसलमानो, मरहठो, फ्रासीसियो तथा अग्रेजो की राजनीति का सघर्षक्षेत्र वन गया, जिसमे अग्रेज अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए पर इन्होंने एक सधि के अतर्गत यह राज्य १८०१ ई० में नवाव को सौंप दिया। किंतु १८५३ ई० मे ईस्ट इडिया कपनी ने इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया। [उ० सिं०]

कर्नूलु आध्र प्रदेश का प्रसिद्ध नगर है। यह कर्नूलु जिले का मुख्य प्रशासकीय केंद्र है। (स्थिति १५° ५०′ उ० और ७८° ४′ पू०) यह नगर तुगभद्रा तथा हिंद्री नदी के सगम पर समुद्र के धरातल से ६०० फुट ऊँची एक चट्टानी भूमि पर स्थित हे। यहाँ एक व्राच रेलवे लाइन मिलती है।

कर्नूलु व्यापारिक केंद्र तथा गल्ले की मडी है। यहाँ पर कपडे तथा दरियाँ वनाने और चमडा सिझाने का काम अच्छा होता है। नगर मे रूई दावक (cotton presses) के कई कारखाने हैं। नगर की जनसख्या ६०,२२२ (१९५१) थी जिनमे मे करीव ५० प्रति शत मुसलमान थे। आध्र प्रात के निर्माण पर कर्नूलु कुछ काल के लिये इस प्रदेश की राजधानी भी था।

कर्नूलु जिले का विस्तार ७,६३४ वर्ग मील तथा उसकी जनसख्या (१९५१) १२७०,८४३ है। जिले मे कई समातर पहाडियाँ मिलती हैं जिनमे नलामलै तथा ऐलामलै की पहाडियाँ मुख्य हैं। तुगभद्रा एव कृष्णा मुख्य नदियां हैं। मुख्य फसलें, रूई, दाल, तेलहन, चावल तथा अन्य अन्न हैं। कपडे की वुनाई, रूई की गाँठें वाँधना, तेल निकालना यहाँ के मुख्य उद्योग हैं। [उ० सिं०]

कर्पास कीट (Cotton Boll Weevil) कपास के पौधे, फूल और ढेढ को क्षति पहुँचानेवाला एक प्रकार का घुन है। यह देखने मे अनाज में लगनेवाले घुन के सदृश होता है। इसकी लवाई लगभग चौथाई इच, रग पीला भूरा अथवा खाकी होता है जो आयुवृद्धि, के साथ काला पड जाता है। इसका थूथन पतला और नाप में शरीर की लवाई का आधा होता है। पख आस पास सटे हुए और चिकने होते है, जिनपर शरीर के अक्ष के समातर पतली धारियाँ होती हैं। कर्पास कीट की अगरचना की एक विशेषता यह भी है कि इसकी ऊर्विका (फीमर, Femur) मे दो काँटे (स्पर, Spur) होते हैं, भीतरी काँटा वाहरी काँटे की अपेक्षा लवा होता है और मध्य जाघ मे केवल एक ही काँटा होता है (देखे चित्र १)। कर्पास कीट का आदिस्थान मेक्सिको या मध्य अमरीका है।
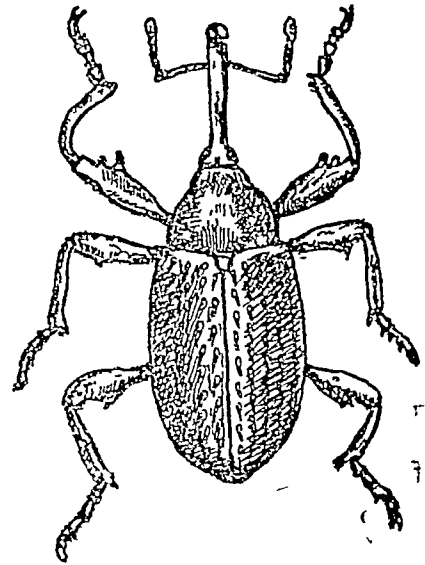
चित्र १ कपास की ढोडी का घुन (आवर्धित)

एक वयस्क कर्पास कीट (पृष्ठीय दृश्य)

वयस्क अवस्था मे यह कीट सूखी पत्तियो के नीचे, कपास के डठलो के ढेरो के नीचे, वृक्षो की खोखली छालो तथा खलिहान आदि मे शीतकाल व्यतीत करता है। कपास जव फूलने लगता है तव प्रौढ कीट सुरक्षास्थल से वाहर निकलते है और कपास की कोमल पत्तियो पर आक्रमण कर देते हैं। इन कीटो को कपास की कलियाँ वहुत प्रिय हैं। छ दिनो के वाद कर्पासकीट कपास के पुष्पो या कलियो मे गड्ढा वनाने लगते हैं और इन गड्ढो मे अडे देते चलते हैं। प्रत्येक नारी १०० से ३०० तक अडे दे सकती है। जव ढेढ वनना आरभ होता है तव वे ढेढ (डोडा) में अडे देने लगते हैं। केवल तीन दिनो मे ही अडो से मक्षिजातक (ग्रव) अथवा डिंभ (लार्वा) निकल आते हैं। डिंभ दो सप्ताह तक कली या ढेढी से ही भोजन प्राप्त करते हैं और दो तीन वार त्वचाविसर्जन करके लगभग आधा इच लवे हो जाते हैं (देखे चित्र स० २ ख तथा ग)। उस समय इन कीटो का रग श्वेत, शरीर की आकृति मुडी हुई तथा झुर्रीदार और मुँह तथा सिर का रग भूरा होता है। डिंभ अपने जन्मस्थान कली या डोडा (ढेढी) से वाहर नही आता और वहीं पर वह प्यूपा वन जाता हे (देखे चित्र २ घ)। प्यूपा अवस्था लगभग तीन से पाँच दिनो की होती है। तदुपरात कीट की वयस्क अवस्था आ जाती है। वयस्क कीट कली या डोडा को काटकर वाहर चले आते हैं। जन्मस्थान से वाहर निकलने के अनतर मैथुन के तीन चार दिनो वाद ही नारी अडे देने लगती है। इनका जीवनचक्र अधिक से अधिक १५–२५ दिनो का होता है

अडावस्था——→डिंभावस्था ——→प्यूपावस्था——→वयस्कावस्था
३ दिन ७–१४ दिन ३–५ दिन
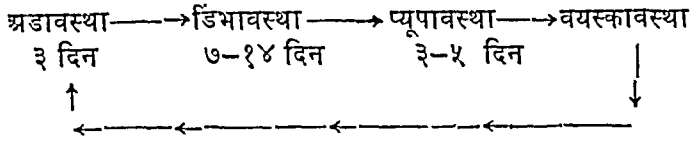
अतएव स्पष्ट है कि एक वर्ष मे केवल दो या तीन से लेकर आठ या दस पीढी ही उत्पन्न हो सकती है। कपास के पूर्णतया पक जाने पर ये कीट २० से ५० मील तक के क्षेत्र मे इधर उधर फैल जाते हैं। शीत ऋतु आने पर ये पुन सुरक्षित स्थानो मे निष्क्रियावस्था (हाइबर्नेशन, hibernation) मे पडे रहने के निमित्त चले जाते है।

कर्पास कीट की वृद्धि की सभी अवस्थाएँ कपास की कली या ढेढी (डोडा) मे ही होती है। परतु वयस्क कीट भोजन ढूँढते समय अपने पतले दातो को पौधो मे चुभाकर उनका रस चूस लेता है। इसका प्रभाव यह होता है कि कलियाँ मुरझा जाती और सूखकर गिर पडती है। अडो मे से उत्पन्न होनेवाले मक्षिजातक (Grub) कलियो या डोडो (Bolls) के भीतर के कोमल ततुओ को खाते रहते हैं जिससे पुष्प मुरझा जाते हैं और यदि डोडा वनता भी है तो उसमे रुई के रेशे कम होते हैं।

इस हानिकारक कीट के डिंभ मुख्यत कपास पर ही अवलवित रहते है, परतु वयस्क कीटो के सवध मे ज्ञात हुआ है कि ये भिंडी (Okra), गुलखैरा (Hollyhock), पटसन (Hibiscus) आदि भी खाते हैं। इस कीट की एक जाति जगली कपास खाकर भी जीवित रहती है।

साधारणतया ये कीट शीत ऋतु मे कम हानि पहुँचाते है, किंतु जव कपास पूर्णतया पक जाती है तव इनपर नियत्रण अनिवार्य हो जाता है। सफल नियत्रण के लिये निम्नलिखित साधनो मे से किन्ही दो या तीन का एक साथ प्रयोग करना चाहिए।

कर्पास कीट का नियत्रण .

(१) **मुरझा कर गिरें हुए पौधो को शीघ्र नष्ट कर देंना**—जव यह ज्ञात हो जाय कि प्राय सभी कलियो मे छेद हो चुके हैं तव अविलव पौधो को काटकर और डठलो को टुकडे टुकडे करके जला देना अथवा हल चलाकर गहराई मे दवा देना चाहिए। छिद्रित कलियो से कपास नही प्राप्त हो सकती। उपर्युक्त प्रकार की तत्परता वरतने से हजारो घुनो को वयस्क अवस्था मे पहुँचने से रोका जा सकता है। इन कीटो को कलियाँ ही प्रिय होती हैं और आक्रात कलियो से अच्छे ढेढ नही वन सकते, इसलिये आवश्यक है कि ढेढ वनने से पूर्व ही आक्रात पुष्प तोड लिए जायँ।

(२) **शीघ्र फसल तैयार करना**—शीघ्र फसल तैयार करने के लिये निम्नाकित साधनो का प्रयोग किया जा सकता है (क) शीघ्र फसल तैयार करनेवाले वीज का प्रयोग, (ख) खेत तैयार हो जाने पर यथाशीघ्र वीज वोना तथा (ग) खेत मे खाद डालकर खेत की उर्वरा शक्ति को वढाना।

(३) **विष चूर्ण का छिडकाव**—कीटनाशक विपो मे कैल्सियम आर्सिनेट का चूर्ण तैयार फसल पर छिडकने से कीटो का सहार हो जाता है। यदि उचित ढग और सावधानीपूर्वक चूर्ण का छिडकाव हो तो प्रचुर लाभ हो सकता है। उचित ढग से तात्पर्य है (क) छिडकाव के लिये अच्छे यत्रो का प्रयोग, (ख) ४० प्रति शत आर्सेनिक पेंटाक्साइड युक्त कैल्सियम आर्सिनेट के चूर्ण का प्रयोग, (ग) यथासभव चूर्ण का छिडकाव रात्रि मे होना चाहिए। यदि दिन मे किया जाय तो वातावरण मे आर्द्रता होनी चाहिए, (घ) चार पाँच दिनो के अतर से दो या चार सेर प्रति एकड चूर्ण तीन या चार वार छिडका जाय, (ङ) कलियाँ लगते ही एक या दो सेर प्रति एकड चूर्ण छिडका जाय, (च) सक्रमण दस प्रति शत से कम हो जाने पर चूर्ण का छिडकाव स्थगित कर देना चाहिए। भूमि यदि वलुई हो तो कैल्सयम आर्सिनेट मे समान मात्रा मे चूने का घोल मिलाना आवश्यक है।

अमरीका जैसे प्रगतिशील देशो मे सन् १९२३ से ही विशेष वायुयानो द्वारा विपचूर्ण का छिडकाव वहुत ही सफलतापूर्वक हो रहा है। विशेष ढग से निर्मित ये वायुयान कपास के सिरो से ५ से २५ फुट तक की ऊँचाई पर ८० से १०० मील प्रति घटे की गति से उडकर विशेष यत्रो द्वारा २०० से २५० फुट की चौडाई मे चूर्ण छिडकते हैं। इस प्रकार एक घटे मे लगभग ५०० एकड भूमि पर विपचूर्ण का छिडकाव हो जाता है। वायुयान द्वारा छिड़का हुआ विप विद्युत् आकर्पण के कारण पत्तो पर भली भाँति चिपक जाता है। इस प्रकार अमरीका मे विप छिडकने का औसत व्यय लगभग ५ रुपया प्रति एकड पडता है।
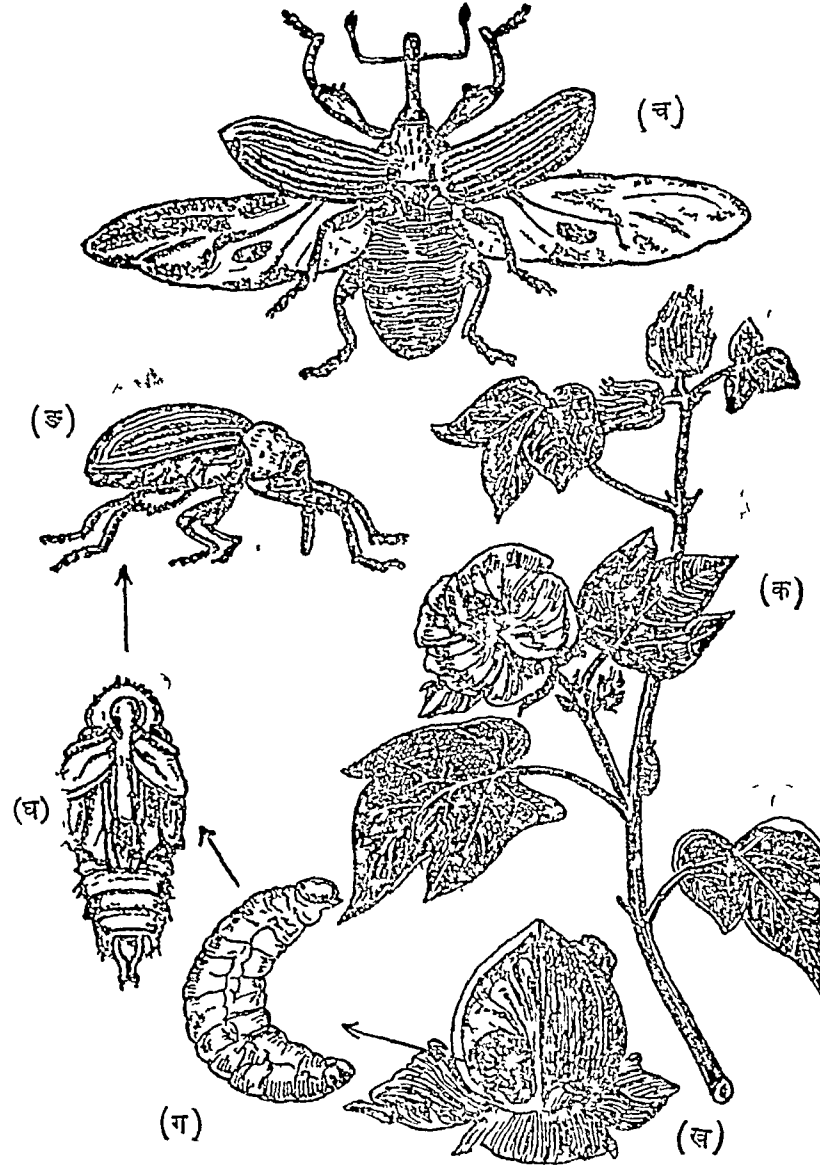
चित्र २ कर्पास कीट का जीवनचक्र

क कपास के पौधे की डोडा सहित एक डाली, ख डोडा जिसमे डिंभ (larva) वैठा है। (काटकर दिखाया है), ग आधा इच लवा डिंभ, घ कर्पास कीट का प्यूपा, ङ तथा च वयस्क कर्पास कीट (ङ पख मुडे हुए, च पख फैले हुए)।

(४) **कली लगने से पूर्व छिडकाव**—पौधो मे जव प्रथम वार कली लगने लगें और प्रति एकड २० से अधिक कीट दिखाई पडे तव प्रत्येक पौधे के सिरे पर विष का विलयन या चूर्ण तुरत छिडकना चाहिए। विप विलयन वनाने के लिये आधा सेर कैल्सियम आर्सिनेट मे पाँच सेर जल मिलाकर फेटना चाहिए और छिडकने के समय अच्छे प्रकार के पाँच सेर शर्वत को विलयन मे मिलाकर, कूँची से पौधो के सिरे पर लेप कर देना चाहिए। ध्यान रहे, जिन पौधो पर विप लगाया गया हो उन्हे पशुओ को न खिलाया जाय। (भृ० ना० प्र०)

कर्पूर उडनशील वानस्पतिक द्रव्य है, जो तीन विभिन्न वर्गो की वनस्पति से प्राप्त होता है। इसीलिये यह तीन प्रकार का होता है (१) चीनी अथवा जापानी कपूर, (२) भीमसेनी अथवा वरास कपूर, (३) हिंदुस्तानी अथवा पत्रीकपूर। कपूर को सस्कृत मे कर्पूर, फारसी मे काफूर और अग्रेजी मे कैंफर कहते है।

(१) **जापानी कपूर :**—यह एक वृक्ष से प्राप्त किया जाता है जिसे सिनामोमम कैंफोरा (Cinnamomum camphora) कहते है।

यह लॉरेसी (Lauraceae) कुल का सदस्य है। यह वृक्ष चीन, जापान तथा फारमोसा का आदि निवासी है, परतु कपूर के उत्पादन के लिये अथवा बागों की शोभा के लिये अन्य देशों में भी उगाया जाता है। भारत में यह देहरादून, सहारनपुर, नीलगिरि तथा मैसूर आदि मे पैदा किया जाता है। भारतीय कर्पूर वृक्ष छोटे, उनकी पत्तियाँ २॥ से ४ इच लबी, आधार से कुछ ऊपर तीन मुख्य शिराओं से युक्त, अधारपृष्ठ पर किंचित् श्वेताभ, लवाग्र और मसलने पर कर्पूरतुल्य गधवाली होती हैं। पुष्प श्वेताभ, सौरभ-युक्त और सशाख मजरियों में निकलते हैं।

जापानी कपूर—जापान आदि मे लगभग पचास वर्ष पुराने वृक्षो के काष्ठ के आसवन (distillation) से कपूर प्राप्त किया जाता है। किंतु भारत मे यह पत्तियो से ही प्राप्त किया जाता है। कपूर के पौधो से बार बार पत्तियाँ तोडी जाती है, इसलिये वे झाडियो के रूप मे ही बने रहते हैं। इस जाति के कई भेद ऐसे भी हैं जो साधारण दृष्टि से देखने पर सर्वथा समान लगते हैं, परतु इनमे कपूर से भिन्न केवल यूकालिप्टस आदि गधवाले तेल होते हैं, जिनका आभास मसली हुई पत्तियो की गध से मिल जाता है। कपूरयुक्त भेदो के सर्वाग मे तेलयुक्त केशिकाएँ होती है जिनमे पीले रग का तेल उत्पन्न होता है। इससे धीरे धीरे पृथक् होकर कपूर जमा होता है।

भीमसेनी कपूर—जिस वृक्ष से यह प्राप्त होता है उसे ड्रायोबैलानॉप्स ऐरोमैटिका (Dryobalanops aromatica) कहते हैं। यह डिप्टरो-कार्पेसिई (Dipterocarpaceae) कुल का सदस्य है जो सुमात्रा तथा बोर्निओ आदि मे स्वत उत्पन्न होता है। इस वृक्ष के काष्ठ मे जहाँ पाले होते हैं अथवा चीरे पडे रहते हैं वही कपूर पाया जाता है। यह श्वेत एव अर्धपारदर्शक टुकडो मे विद्यमान रहता है और खुरचकर काष्ठ से निकाला जाता है। इसीलिये इसे अपक्व और जापानी कपूर को पक्व कर्पूर कहा गया है। यह अनेक बातो में जापानी कपूर से सादृश्य रखता है और उसी के समान चिकित्सा तथा गधी व्यवसाय में इसका उपयोग होता है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यह पानी मे डालने पर नीचे बैठ जाता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा मे यह अधिक गुणवान भी माना गया है। आजकल भीमसेनी कपूर के नाम पर बाजार मे प्राय कृत्रिम कपूर ही मिलता है, अत जापानी कपूर का उपयोग ही श्रेयस्कर है।

पत्री कपूर—भारत मे कपोजिटी (compositae) कुल की कुकरौंधा प्रजातियो (Blumea species) से प्राप्त किया जाता है, जो पर्णप्रधान शाक जाति की वनस्पतियाँ होती हैं।

उपर्युक्त तीनो प्रकार के कपूर के अतिरिक्त आजकल अमरीका तथा ब्रिटेन आदि मे सश्लिष्ट (synthetic) कपूर भी तैयार किया जाता है।

कपूर उत्तम वातहर, दीपक और पूतिहर होता है। त्वचा और फुफ्फुस के द्वारा उत्सर्जित होने के कारण यह स्वेदजनक और कफघ्न होता है। न्यूनाधिक मात्रा मे इसकी क्रिया भिन्न भिन्न होती है। साधारण औषधीय मात्रा में इससे प्रारभ मे सर्वांगिक उत्तेजन, विशेषत हृदय, श्वसन तथा मस्तिष्क, मे होता है। पीछे उसके अवसादन, वेदनास्थापन और सकोच-विकास-प्रतिबधक गुण देखने मे आते है। अधिक मात्रा मे यह दाहजनक और मादक विष हो जाता है। (ब० सिं०)

कर्बला (अथवा मशहदुलहुसेन) इराक का एक नगर जो कूफा से ८ लीग (ल० २४ मील या ३९ किलोमीटर) उत्तर-पश्चिम, बगदाद से ५० मील दक्षिण-पश्चिम तथा फरात नदी से ६ मील पश्चिम स्थित है। मुहम्मद साहब के पौत्र और अली के पुत्र हुसेन के सन् ६१ हिजरी (६८० ई०) मे शहीद होने के स्थल तथा उनकी समाधि के रूप मे विख्यात है। वर्तमान शिया मुसलमानो के लिये कर्बला प्रसिद्ध धार्मिक स्थान है और मशहदे अली या नजफ अशरफ से भी अधिक महत्व रखता है। यह इराक के प्रधान केंद्रो में से है तथा शियो की तीर्थयात्रा का मुख्य केंद्र है।

कर्बला का तीर्थस्थान पहले पहल किसने बनवाया, यह ज्ञात नही, परतु तीसरी सदी हिजरी (नवी स० ई०) मे यहाँ कोई स्मारक अवश्य रहा होगा, ऐसा अनुमान है, क्योकि सन् २३६ हि० (८५० ई०) में खलीफा मुतवक्किल ने इसे गिरवा देने की आज्ञा प्रदान की और शियो के कोपभाजन बने। उन्होंने इस पवित्र स्थान पर लोगो को जाने से भी रोका। यह स्थान कब तक ध्वस्त रहा, यह ज्ञात नही है, परतु ३६८ हि० (९७९ ई०) मे बुवहिद सुल्तान अदूद् उद् दौला ने एक सुदर तथा बृहत् मकबरा बनवाया जो निस्सदेह पहलेवाले भवन का विस्तारमात्र है और जिसका उल्लेख भूगोलशास्त्री इस्तखरी और इब्न हाकल ने इससे कुछ ही पहले किया था। इब्न बतूता के अनुसार समाधि का पवित्र अग्रिम भाग, तीर्थयात्री भवन में पदार्पण करते ही जिसका चुबन करते थे, ठोस चाँदी का बना था। भवन में सोने और चाँदी के दीपको से प्रकाश किया जाता था और द्वार पर रेशमी परदे पडे रहते थे। (इब्न बतूता २।९९)।

कर्बला वर्तमान इराक के पश्चिमी भाग का एक प्रात है। पहले यहाँ किसी प्रकार की उपज नही होती थी और बहुत कम चरागाहे तथा जलस्रोत थे। अब कर्बला की तीव्र गति से उन्नति हो रही है। एक नहर के द्वारा इस नगर का सबध फरात नदी से जोडा गया है। कई प्रकार के फल, खजूर, कुज आदि की उपज होने लगी है। नगर के एक भाग मे चौडी सडकें भी बनाई गई हैं, जिससे इस भाग मे पाश्चात्य सभ्यता की झलक मिलती है। परतु मध्य भाग अभी भी प्राचीन खडहरो और गदगी से भरा हुआ है, सडकें और गलियाँ भी सँकरी हैं। इसका क्षेत्रफल ६१०० वर्ग मील और जनसख्या २,१७,००० है। [मो० या०]

कर्म साधारण बोलचाल की भाषा मे 'कर्म' का अर्थ होता है क्रिया। व्याकरण मे क्रिया से निष्पाद्यमान फल के आश्रय को कम कहते है। 'राम घर जाता है' इस उदाहरण मे 'घर' गमन क्रिया के फल का आश्रय होने के नाते 'जाना' क्रिया का कर्म है।

दर्शन मे 'कर्म' एक विशेष अर्थ मे प्रयुक्त होता है। जो कुछ मनुष्य करता है उससे कोई फल उत्पन्न होता है। यह फल शुभ, अशुभ अथवा दोनो से भिन्न होता है। फल का यह रूप क्रिया के द्वारा स्थिर होता है। दान शुभ कर्म है पर हिंसा अशुभ कर्म है। यहाँ कर्म शब्द क्रिया और फल दोनो के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह बात इस भावना पर आधारित है कि क्रिया सर्वदा फल के साथ सलग्न होती है। क्रिया से फल अवश्य उत्पन्न होता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि शरीर की स्वाभाविक क्रियाओ का इसमे समावेश नही है। आँख की पलको का उठना, गिरना भी क्रिया है, परतु इससे फल नही उत्पन्न होता। दर्शन की सीमा मे इस प्रकार की क्रिया का कोई महत्व इसलिये नही है कि वह क्रिया मन प्रेरित नही होती। उक्त सामान्य नियम मन प्रेरित क्रियाओ में ही लागू होता है। जान बूझकर किसी को दान देना अथवा किसी का वध करना ही सार्थक है। परतु अनजाने मे किसी का उपकार कर देना अथवा किसी को हानि पहुँचाना क्या कर्म की उक्त परिधि में नही आता? कानून में कहा जाता है कि नियम का अज्ञान मनुष्य को क्रिया के फल से नही बचा सकता। गीता भी कहती है कि कर्म के शुभ अशुभ फल को अवश्य भोगना पडता है, उससे छुटकारा नही मिलता। इस स्थिति मे जाने अनजाने की गई क्रियाओ का शुभ अशुभ फल होता ही है। अनजाने मे की गई क्रियाओ के बारे मे केवल इतना ही कहा जाता है कि अज्ञान कर्ता का दोष है और उस दोष के लिये कर्ता ही उत्तरदायी है। कर्ता को क्रिया मे प्रवृत्त होने के पहले क्रिया से सबधित सभी बातो का पता लगा लेना चाहिए। स्वाभाविक क्रियाओ से अज्ञान मे की गई क्रियाओ का भेद केवल इस बात मे है कि स्वाभाविक क्रियाएँ बिना मन की सहायता के अपने आप होती हैं पर अज्ञानप्रेरित क्रियाएँ अपने आप नही होती—उनमे मन का हाथ होता है। न चाहते हुए भी आँख की पलकें गिरेंगी, पर न चाहते हुए अज्ञान मे कोई क्रिया नही की जा सकती है। क्रिया का परिणाम क्रिया के उद्देश्य से भिन्न हो, फिर भी यह आवश्यक नही है कि क्रिया की ही जाय। अत कर्म की परिधि में वे सारी क्रियाएँ और फल आते हैं जो स्वाभाविक क्रियाओ से भिन्न हैं।

क्रिया और फल का सबध कार्य-कारण-भाव के अटूट नियम पर आधारित है। यदि कारण विद्यमान है तो कार्य अवश्य होगा? यह प्राकृतिक नियम आचरण के क्षेत्र मे भी सत्य है। अत कहा जाता है कि क्रिया का कर्ता फल का अवश्य भोक्ता होता है। बौद्धो ने कर्ता को क्षणिक माना है परतु इस नियम को चरितार्थ करने के लिये वे क्षणसतान मे एक प्रकार की एकरूपता मानते हुए कहते हैं कि एक व्यक्ति की सतान दूसरे व्यक्ति की सतान से भिन्न है। अत क्षणभेद होने से भी व्यक्तित्व मे भेद नही होता, अत व्यक्ति पूर्वनिष्पादित क्रिया का उत्तर काल मे भोग करता ही है। यदि हम यह न

मानें तो कहना पडेगा कि किसी दूसरे के द्वारा की गई क्रिया का फल कोई दूसरा भोगता है जो तर्कविरुद्ध है। यदि इस नियम पर पूर्ण आस्था हो तो तर्क हमें इसके एक अन्य निष्कर्ष को भी स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है। यदि सभी क्रियाओं का फल भोगना पडता है तो उन क्रियाओं का क्या होगा जिनका फल भोगने के पहले ही कर्ता मर जाता है ? या तो हमें कर्म के सिद्धात को छोडना होगा या फिर, मानना होगा कि कर्ता नही मरता, वह केवल शरीर को बदल देता है। भारतीय विचारकों ने एक स्वर से दूसरा पक्ष ही स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि मरना शरीर का स्वाभाविक कर्म है, परतु भोग के लिये यह आवश्यक नही है कि वही शरीर भोगे जिसने क्रिया की है। भोक्ता अलग है और वह कर्मफल का भोग करने के लिये दूसरा शरीर धारण करता है। इसी को पुनर्जन्मवाद कहते हैं। मृत्यु शरीर की आनुषगिक स्वाभाविक क्रिया है जिसका कर्म पर कोई प्रभाव नही होता। अत कर्म के सिद्धात को पुनर्जन्म से अलग करके नही रखा जा सकता।

इतना ही नही, जब क्रिया का सबध फलभोग के साथ माना जाता है तब यह भी मानना पडेगा कि भोग—जो शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार सुखमय या दु खमय होता है—अवश्यभावी है। उससे बचा नही जा सकता, न तो उसको बदला जा सकता है। फल के क्षय का एकमात्र उपाय है उसको भोग लेना। इस जन्म में प्राणी जैसा है वह उसके पूर्व जन्मो की क्रियाओ का फल मात्र है। फल एक शक्ति है जो जीवन की स्थिति को नियत्रित करती है। इस शक्ति का पुज भी कर्म कहा जाता है, और कुछ लोग इसे भाग्य या नियति भी कहते हैं। नियतिवाद में माना गया है कि प्राणी नियति से नियत्रित अत परवश है। वह स्वय कुछ नही करता। परतु पूर्वजन्मो की क्रिया का फल भोगने के अलावा वह इस जन्म मे स्वतत्र कर्ता भी है, अत पूर्व कर्मो को भोगने के साथ ही वह भविष्य के लिये कर्म करता है। इसी मे उसका स्वातत्र्य है। आचार के लिये स्वतत्रता परमावश्यक है और प्राय सभी भारतीय दार्शनिक इसे मानते हैं। क्रिया, क्रियाफल तथा क्रियाफल का समूह, जिसे अदृष्ट भी कहते हैं, भारतीय दर्शन में कर्म शब्द से अभिहित होता है।

पहले कहा गया है कि मन प्रेरणा कर्म का आवश्यक उपकरण है। मन-प्रेरणा के शुभ या अशुभ होने से ही कर्म शुभ या अशुभ होता है। डाक्टर रोगी की भलाई के लिये उसकी चीरफाड करता है। यदि इस चीरफाड से रोगी को कष्ट होता है तो डाक्टर उसका उत्तरदायी नही हैं। डाक्टर शुभ कर्म कर रहा है। अत दु ख, जो अशुभ मन प्रेरणा से की गई क्रिया का फल है, तभी दूर हो सकता है जब मन को अशुभ प्रभावो से बचाया जाय। सर्वदा शुभ कर्म करना सर्वदा शुभ सोचने से ही हो सकता है। कष्ट से बचने का यही एक उपाय है। परतु शुभ कर्म करनेवाले व्यक्ति को फलभोग के लिये जन्म लेना ही होगा, चाहे स्वर्ग मे, चाहे पृथ्वी पर। जन्म लेना अपने आपमे महान् कष्ट है क्योकि जन्म का सबध मृत्यु से है। मृत्यु का कष्ट दु सह कष्ट माना गया है। अत यदि इस कष्ट से भी छुटकारा पाना है तो जन्म की परपरा को भी समाप्त करना होगा। इसके लिये शुभ कर्मो का भी परित्याग आवश्यक है क्योकि बिना उसके जन्म से मुक्ति नही है। अत शुभाशुभ परित्यागी ही वास्तविक दु खमुक्त हो सकता है।

क्या शुभाशुभ परित्याग सभव है ? शरीर रहते यह सभव नही मालूम होता। पर एक उपाय है। मन के शोधन से यह सिद्ध हो सकता है। यदि मन मे किसी फल की आकाक्षा के बिना, पलक उठने गिरने की तरह, सारी क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से की जायँ तो उनसे शुभ अशुभ फल उत्पन्न नही होगे और जन्म मृत्यु से भी छुटकारा मिल जायगा। निष्काम कर्म का यही आदर्श है। इसके विपरीत सारे कर्म—जो शुभ अशुभ होते हैं—सकाम कर्म हैं और वे बधन के कारण हैं।

कर्म के इस सिद्धात के साथ स्वर्ग नरक की कल्पनाएँ भी जुडी हैं। शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप सकल सुखो से पूर्ण स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत नरक की प्राप्ति होती हैं। स्वर्ग नरक मे भी शुभ अशुभ कर्म की मात्रा के अनुसार अनेक स्तर माने गए है, जैसे पृथ्वी पर अनेक स्तर हैं। कर्म के सिद्धात को मानने पर स्वर्ग नरक की कल्पना को भी मानना आवश्यक हो जाता है।

जिन्हें हम शुभ कर्म कहते हैं वे पुण्य तथा अशुभ कर्म पाप कहलाते हैं। पुण्य और पाप मुख्यत क्रिया के फल का बोध कराते हैं। ये कर्म तीन प्रकार के होते हैं। नित्यकर्म वे हैं जो न करने पर पाप उत्पन्न करते हैं, किंतु करने

पर कुछ भी नही उत्पन्न करते। नैमित्तिक कर्म करने से पुण्य तथा न करने से पाप होता है। काम्य कर्म कामना से किए जाते हैं अत उनके करने से फल की सिद्धि होती है। न करने से कुछ भी नही होता। चूँकि तीनो कर्मो में यह उद्देश्य छिपा है कि पुण्य अर्जित किया जाय, पाप से दूर रहा जाय, अत. ये सभी कर्म मन प्रेरित हैं। जन्म से छुटकारा पाने के लिये नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का परित्याग अत्यत आवश्यक माना गया है।

[रा० पा०]

कर्मयोग

इसका प्रतिपादन गीता मे विशद रूप से हुआ है। भारतीय दर्शन मे कर्म बधन का कारण माना गया है। किंतु कर्मयोग मे कर्म के उस स्वरूप का निरूपण किया गया है जो बधन का कारण नही होता। योग का अर्थ है समत्व की प्राप्ति (समत्व योग उच्यते)। सिद्धि और असिद्धि, सफलता और विफलता मे सम भाव रखना समत्व कहलाता है। योग का एक अन्य अर्थ भी है। वह है कर्मो का कुशलता से सपादन करना (योग कर्मसु कौशलम्)। इसका अर्थ है, इस प्रकार कर्म करना कि वह बधन न उत्पन्न कर सके। अब प्रश्न यह है कि कौन से कर्म बधन उत्पन्न करते हैं और कौन से नही ? गीता के अनुसार जो कर्म निष्काम भाव से ईश्वर के लिये किए जाते हैं वे बधन नही उत्पन्न करते। वे मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति मे सहायक होते हैं। इस प्रकार कर्मफल तथा आसक्ति से रहित होकर ईश्वर के लिये कर्म करना वास्तविक रूप से कर्मयोग है और इसका अनुसरण करने से मनुष्य को अभ्युदय तथा नि श्रेयस की प्राप्ति होती है।

गीता के अनुसार कर्मो से सन्यास लेने अथवा उनका परित्याग करने की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मो का केवल परित्याग कर देने से मनुष्य सिद्धि अथवा परमपद नही प्राप्त करता। मनुष्य एक क्षण भी कर्म किए बिना नही रहता। सभी अज्ञानी जीव प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम, इन तीन गुणो से नियत्रित होकर परवश हुए कर्मो मे प्रवृत्त किए जाते हैं। मनुष्य यदि बाह्य दृष्टि से कर्म न भी करे और विषयो मे लिप्त न हो तो भी वह उनका मन से चितन करता है। इस प्रकार का मनुष्य मूढ और मिथ्या आचरण करनेवाला कहा गया है। कर्म करना मनुष्य के लिये अनिवार्य है। उसके बिना शरीर का निर्वाह भी सभव नही है। भगवान् कृष्ण स्वय कहते हैं कि तीनो लोको में उनका कोई भी कर्तव्य नही है। उन्हे कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनी नही रहती। फिर भी वे कर्म मे सलग्न रहते हैं। यदि वे कर्म न करे तो मनुष्य भी उनके चलाए हुए मार्ग का अनुसरण करने से निष्क्रिय हो जायँगे। इससे लोकस्थिति के लिये किए जानेवाले कर्मो का अभाव हो जायगा जिसके फलस्वरूप सारी प्रजा नष्ट हो जायगी। इसलिये आत्मज्ञानी मनुष्य को भी, जो प्रकृति के बधन से मुक्त हो चुका है, सदा कर्म करते रहना चाहिए। अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार फलप्राप्ति की आकाक्षा से कर्म करता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी को लोकसग्रह के लिये आसक्तिरहित होकर कर्म करना चाहिए। इस प्रकार आत्मज्ञान से सपन्न व्यक्ति ही, गीता के अनुसार, वास्तविक रूप से कर्मयोगी हो सकता है।

स० ग्र०—शकराचार्य श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य, तिलक गीता-रहस्य, अरविंद एसेज आन दि गीता, भाग १–२। [रा० श० मि०]

कर्मवाद

कर्म और उसके फल का अनिवार्य सबध है। व्यक्ति अच्छे और बुरे जो भी कर्म करता है उसके अनुरूप भविष्य मे उसे सुख अथवा दु ख की प्राप्ति होती है। इसी को कर्मसिद्धांत अथवा कर्मवाद कहते हैं। चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शन कर्मवाद का एक स्वर से प्रतिपादन करते है और इसको जीवन के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

कर्मवाद की उत्पत्ति—कर्मवाद की प्रथम अनुभूति वैदिक यज्ञ के विधान मे होती है। वैदिक विश्वास के अनुसार यदि यज्ञ का विधिवत् सपादन किया जाय तो उससे एक अदृश्य शक्ति उत्पन्न होती है। इसे अदृष्ट अथवा अपूर्व कहते हैं। यही उचित अवसर आने पर यज्ञ के वाछित फल को उत्पन्न करती है। इस प्रकार यज्ञ का फल मनुष्य को अवश्य प्राप्त होता है। इस कर्म और फल के सबध की सार्वभौम नियम के रूप मे अभिव्यक्ति सर्वप्रथम ऋग्वेद के ऋत के सिद्धात मे मिलती है। ऋत समस्त विश्व मे व्याप्त है तथा उसका सचालन और नियत्रण करता है। यह

जगत् की भौतिक तथा नैतिक व्यवस्था का आधार है। देवता तथा मनुष्य सभी इसका पालन करते हैं। वरुण ऋत के अधिष्ठाता माने गए हैं। वह पाप करनेवालो को घोर अधकार के गह्वर मे डालते है जहाँ से उनका प्रत्यावर्तन नही होता। इसी प्रकार अच्छे कर्म करनेवालो को सर्वोत्तम सुखो की प्राप्ति होती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मृत्यु के उपरात जीव को दो अग्नियो के मध्य से होकर जाना पडता है। वे अशुभ कर्म करनेवालो को जलाती है पर शुभ कर्म करनेवालो को नही।

कर्मवाद और नैतिक व्यवस्था—कर्म का शाश्वत तथा सार्वभौम नियम जगत् की नैतिक व्यवस्था का आधार है। इसका और अधिक स्पष्ट रूप मे प्रतिपादन उपनिषदो मे किया गया है। बृहदारण्यक के अनुसार मनुष्य का कर्म ही उसके साथ जाता है। आत्मा का जैसा चरित्र एव व्यवहार होता है वह वैसा ही हो जाता है। छादोग्य के अनुसार सुदर चरित्रवाले व्यक्ति अच्छी योनि प्राप्त करते है, जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य योनि, और निंद्य चरित्रवाले व्यक्ति नीच योनियो में जन्म लेते हैं, जैसे कुत्ते, सुअर, चाडाल आदि। कौपीतकी उपनिषद् मे कर्मनियम का स्पष्ट उल्लेख है कि जीव अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कीडे, पतगे, मछली, पक्षी, सिंह, सर्प और मनुष्य आदि योनियो में जन्म लेते है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन मे अव्यवस्था तथा सयोग के लिये कोई स्थान नही है। प्राणियो का जन्म, उनका विकास, उनके सुख दु ख आदि की अनुभूति कर्म के द्वारा नियन्त्रित होती रहती है। उन्हें उनके कर्मानुसार फल की प्राप्ति अवश्य होती है।

कर्मवाद और दु ख तथा असमानता—कर्मनियम के जीवन की नैतिक व्यवस्था का आधार होने के कारण उससे अनेक समस्याओ का हल भी प्राप्त हो जाता हे। जीवन दु खमय है। वह अनेक प्रकार की बुराइयो तथा विपमताओ से भरा हुआ है। इन सबका कारण क्या है? भारतीय दार्शनिक विचारधारा के अनुसार इनका मूल कारण कर्म है। बौद्ध दार्शनिक नागसेन के अनुसार कर्मो के अतर के कारण ही सभी मनुष्य समान नही होते। कुछ अधिक आयुवाले, कुछ कम आयुवाले, कुछ स्वस्थ, कुछ रोगी, कुछ धनी कुछ निर्धन आदि होते हैं। वेदात के अनुसार ईश्वर जीवो के कर्मानुसार ही उन्हे विभिन्न फल प्रदान करता है। इसमे उसका कोई पक्षपात नही है। इसी प्रकार अन्य भारतीय दर्शन भी दु ख, असमानता, पुनर्जन्म आदि समस्याओ का समाधान कर्मसिद्धात के द्वारा करते हैं।

कर्मवाद और अदृष्ट, अपूर्व, आश्रव तथा अविज्ञप्ति रूप—कर्म और उसके फल का अनिवार्य सवध मानने मे एक तार्किक कठिनाई उपस्थित होती है। वह यह हे कि कर्म और उसके फल मे वहुधा अधिक समय का अतर देखा जाता है। यह भी सभव है कि वर्तमान जीवन मे किए हुए कर्मो का फल मनुष्य को दूसरे जन्म मे भोगना पडे। इस प्रकार समय का इतना अधिक अतर होने के कारण कर्म और फल का सवध कैसे सभव है? भारतीय दर्शन अदृष्ट, अपूर्व, आश्रव तथा अविज्ञप्ति रूप आदि सिद्धातो के द्वारा इस समस्या का हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। न्याय के अनुसार, व्यक्ति द्वारा किए हुए कर्मो से उत्पन्न पुण्य और पाप के समूह को अदृष्ट कहते हैं। यह अदृष्ट आत्मा के साथ सयुक्त रहता है और अवसर आने पर सुख दु ख आदि फलो को उत्पन्न करता है। मीमासको के अनुसार, यज्ञ आदि जो किए जाते हैं वे यज्ञकर्ता की आत्मा में एक अदृश्य शक्ति उत्पन्न करते है जिसे अपूर्व कहा जाता है। यह अपूर्व आत्मा मे रहता है और कालातर मे यज्ञ का अभीप्सित फल उत्पन्न करता है। जैन दर्शन मे कर्म और फल के सवध की व्याख्या जीव मे पुद्गल कर्मो अथवा कर्म पुद्गल के आश्रव के सिद्धात के द्वारा की गई है। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार प्राणियो के अदर एक अत्यत सूक्ष्म और अदृश्य शक्ति कार्य करती रहती है जिसे अविज्ञप्ति रूप कहते हैं। यही उनके द्वारा किए हुए शुभ अशुभ कर्मों का तदनुसार फल उत्पन्न करती हे। इस प्रकार अदृष्ट, अपूर्व, आश्रव तथा अविज्ञप्ति रूप तत्व कर्म और फल के वीच सेतु का कार्य करते हैं।

कर्मवाद और कर्मस्वातत्र्य—अव प्रश्न यह उठता है कि क्या कर्म का सिद्धात मनुष्य के कर्मस्वातत्र्य का विरोधी है? क्या मनुष्य पूर्वजन्म में किए हुए अथवा इसी जन्म मे किए हुए पहले के कर्मो से इतना वँध गया है कि वह स्वतत्र रूप से कार्य नही कर सकता? भारतीय दर्शन इस मत को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार मनुष्य कर्म करने मे पूर्ण रूप से स्वतत्र है। पूर्व के कर्म मनुष्य के अदर विशेप प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर सकते हैं पर उसे किसी विशेप प्रकार का कार्य करने के लिये वाध्य नही कर सकते। मनुष्य अच्छे वुरे जो भी कर्म करता है उसके लिये नैतिक दृष्टि से वह पूर्ण रूप से जिम्मेदार है। इस प्रकार कर्मवाद अथवा कमसिद्धात का मनुष्य के सकल्प की स्वतन्त्रता तथा उसके कर्मस्वातत्र्य से किंचिन्मात्र भी विरोध नही है। कर्मस्वातत्र्य के कारण ही मनुष्य योग आदि आध्यात्मिक मार्गो का अनुसरण कर कर्मनियम का अत मे अतिक्रमण कर जाता है और दु ख तथा जन्ममरण के वधन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

स०ग्र०—ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक, छादोग्य, कौपीतकी तथा कठोपनिपद, अभिधर्मकोश, मिलिंदप्रश्न, तत्वार्थसूत्र, वलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, मैकडनेल वेदिक माइथालाजी, आर० डी० राणाडे ए कास्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिपदिक फिलासफी, एस० एन० दासगुप्त हिस्ट्री ऑव इडियन फिलासफी, भाग १, एस० राधाकृष्णन् इडियन फिलासफी, भाग १-२।

[रा० श० मि०]

कर्षण (जुताई)

वह कृपिकार्य है जिसमें भूमि को कुछ इचो की गहराई तक खोदकर मिट्टी को पलट दिया जाता है, जिससे नीचे की मिट्टी ऊपर आ जाती है और वायु, पाला, वर्पा और सूर्य के प्रकाश तथा उष्मा आदि प्राकृतिक शक्तियो द्वारा प्रभावित होकर भुरभुरी हो जाती है। एकदम नई भूमि को जोतने के पहले पेड पौधे काटकर भूमि स्वच्छ कर ली जाती है। तत्पश्चात् किसी भी भारी यत्र से जुताई करते हैं जिससे मिट्टी कटती है और पलट भी जाती है। इस प्रकार कई वार जुताई करने से एक निश्चित गहराई तक मिट्टी फसल उपजाने योग्य वन जाती है। ऐसी उपजाऊ मिट्टी की गहराई साधारणत एक फुट तक होती है। उसके नीचे की भूमि, जिसे गर्भतल कहते हैं, अनुपजाऊ रह जाती है। इस गर्भतल को भी गहरी जुताई करनेवाले यत्र से जोतकर मिट्टी को उपजाऊ वना सकते है। यदि यह गर्भतल जोता न जाय और हल सर्वदा एक निश्चित गहराई तक कार्य करता रहे तो उस गहराई पर स्थित गर्भतल की ऊपरी सतह अत्यत कठोर हो जाती है। इस कठोर तह को अग्रेजी मे प्लाऊ पैन (Plough pan) कहते हैं। यह कठोर तह कृपि के लिये अत्यत हानिकारक सिद्ध होती है, क्योकि वर्पा या सिंचाई से खेत में अधिक जल हो जाने पर वह इस कठोर तह को भेदकर नीचे नही जा पाता। अत मिट्टी मे अधिक समय तक जल भरा रहता है और अनेक प्रकार की हानियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन हानियो से वचने के लिये उस कठोर तह (प्लाऊ पैन) को प्रत्येक वर्ष तोडना अत्यत आवश्यक हो जाता है। मिट्टी के कणो के परिमाण पर मिट्टी की वनावट (texture) और उनके क्रम पर मिट्टी का विन्यास (structure) निर्भर है। जुताई से वनावट तथा विन्यास मे परिवर्तन करके हम मिट्टी को इच्छानुसार शस्य उत्पन्न करने योग्य वना सकते हैं।

वीज वोने के लिये उच्च कोटि की मिट्टी प्राप्त करने के निमित्त सर्वप्रथम मिट्टी पलटनेवाले किसी भारी हल का उपयोग किया जाता है। तत्पश्चात् हलके हल से जुताई की जाती है जिसमे वडे ढेले न रह जायँ और मिट्टी भुरभुरी हो जाय। यदि वडे वडे ढेले हो तो वेलन (रोलर) या पाटा का उपयोग किया जाता हे, जिससे ढेले फूट जाते हैं। जुताई के किसी यत्र का उपयोग मुख्यत मिट्टी की प्रकृति तथा ऋतु की दशा पर निभर है। वीज वोने के पहले अतिम जुताई अत्यत सावधानी से करनी चाहिए, क्योकि मिट्टी में आर्द्रता का सरक्षण इसी अतिम जुताई पर निर्भर है और वीज के जमने की सफलता इसी आर्द्रता पर निर्भर है। यह आर्द्रता मिट्टी की केशिका नलियो द्वारा ऊपरी तह तक पहुँचती है। ये केशिका नलियाँ कणातरिक छिद्रो से वनती हैं। ये छिद्र जितने छोटे होंगे, केशिका नलियाँ उतनी ही पतली और सँकरी होगी और कणातरिक जल मिट्टी मे उतना ही ऊपर तक चढेगा। इन छिद्रो और इसलिये केशिका नलियो के आकार का उपयुक्त या अनुपयुक्त होना जुताई पर निर्भर है।

हल से खेत को जोतना ही जुताई नही कही जा सकती। हल चलाने के अतिरिक्त गुडाई, निराई, फावडे से खोदना, पाटा या वेलन (रोलर) चलाना इत्यादि कार्य जुताई मे समिलित है। इन सव क्रियाओ का मुख्य

कर्पास कीट (देखे पृष्ठ ३६६) तथा कंपोजिंग (देखे पृष्ठ ३००)
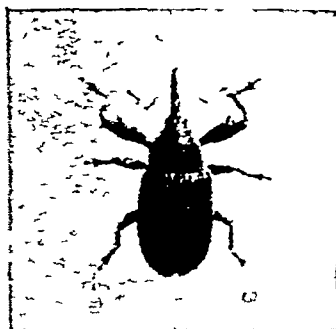
कर्पास कीट

रुई के डोडे में कर्पास कीट का डिंभ
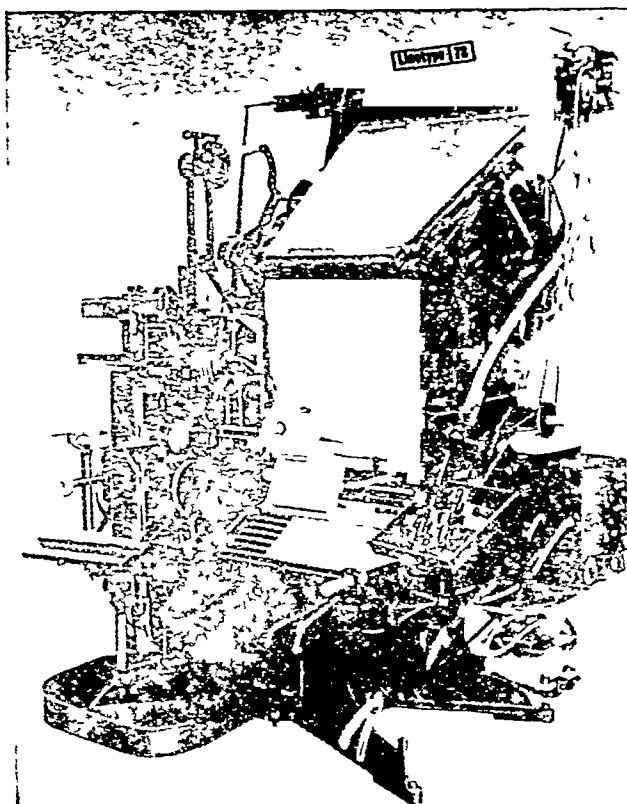
लाइनोटाइप मशीन
(देखे कपोजिंग)

कलकत्ता (देखे पृष्ठ ३७१) तथा औरगाबाद (देखे पृष्ठ २७७)
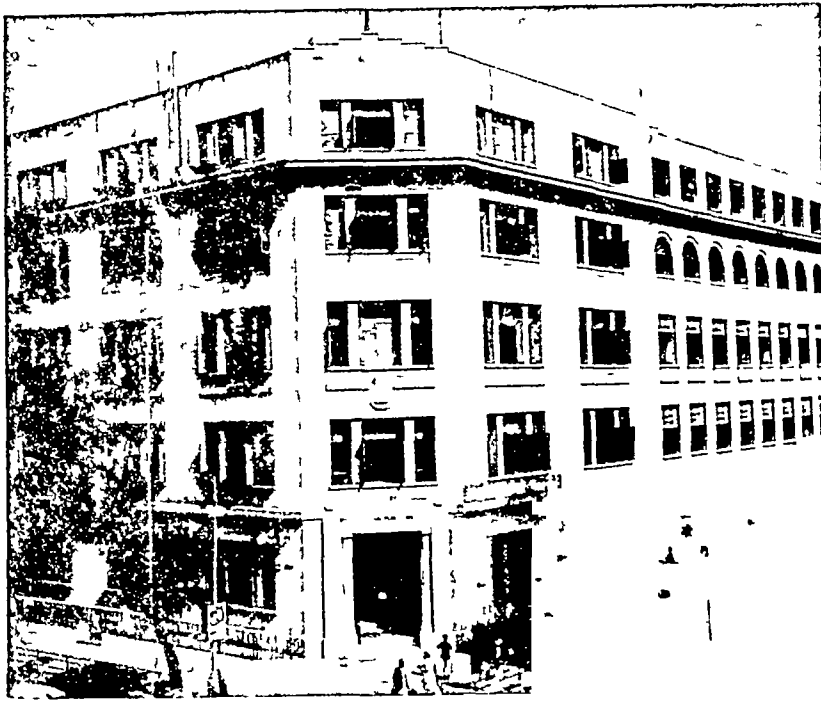
स्वास्थिकी तथा लोकस्वास्थ्य की अखिल भारतीय सस्था, कलकत्ता
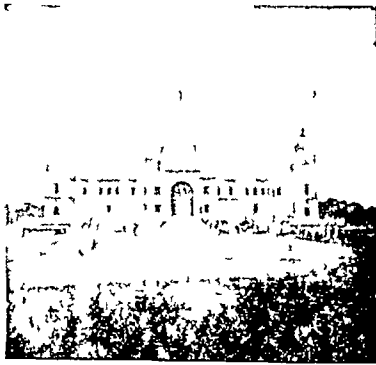
विक्टोरिया मेमोरियल

कलकत्ता के इस सुदर भवन मे मूल्यवान् चित्र सुरक्षित है।

बीबी का रौजा

बादशाह औरगजेब की पत्नी, बीबी रबिया उद्दुर्रानी दिलरस बानू, की स्मृति मे यह सन् १६६० ई० मे औरगाबाद मे बनवाया गया था।

जैन मदिर

कलकत्ता के दर्शनीय स्थानो मे यह एक है।

(तीनो छोटे चित्र भगवान दास वर्मा से प्राप्त)
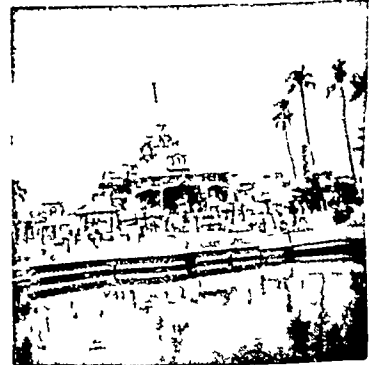
अभिप्राय यही है कि मिट्टी भुरभुरी और नरम हो जाय और पौधे के सफल जीवन के लिये मिट्टी मे उपयुक्त परिस्थिति प्रस्तुत हो जाय। पौधो के लिये जल, वायु, उचित ताप, भोज्य पदार्थ, हानिकारक वस्तुओ की अनुपस्थिति तथा जडो के लिये सहायक आधार की आवश्यकता पडती है। ये सारी वस्तुएँ कर्षण द्वारा प्राप्त की जाती है और शस्य की सफलता इसी बात पर निर्भर रहती है कि ये उपयुक्त दशाएँ किस सीमा तक मिट्टी मे सरक्षित की जा सकती है। अस्तु, कर्षण के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है (१) खेतीवाले क्षेत्र के खरपतवार सब नष्ट हो जाने चाहिए। (२) मिट्टी भुरभुरी हो जाय जिससे उसमे जल,वायु, ताप और प्रकाश का आवागमन और सचालन सफलतापूर्वक हो सके। (३) लाभदायक जीवाणु भली भाँति अपना कार्य प्रतिपादन कर सके। (४) मिट्टी भली प्रकार वर्षा का जल सोख और धारण कर सके। (५) पौधो की जडे सुगमतापूर्वक फैलकर पौधे के लिये भोजन प्राप्त कर सकें। (६) हानिकारक कीडो के अडे, बच्चे ऊपर आकर नष्ट हो जायँ। (७) खेत मे डाली हुई खाद मिट्टी मे भली भाँति मिल जाय। (८) विलायक (घोलक) शक्तियाँ अपना कार्य भली प्रकार कर सकें जिससे पौधो को प्राप्त होने योग्य विलेय तत्व अधिक मात्रा मे उपलब्ध हो।

जल, वायु, और ताप मे अत्यत घनिष्ठ सबध है। यदि मिट्टी मे जल की मात्रा अधिक होगी तो वायु की मात्रा कम हो जायगी, तदनुसार ताप कम हो जायगा। इसके विपरीत यदि मिट्टी अधिक शुष्क है तो ताप अधिक हो जायगा। ये तीनो आवश्यक दशाएँ मिट्टी की जोत (टिल्य, tilth) पर निर्भर है। यदि जोत उत्तम है, तो मिट्टी में जल, वायु तथा ताप भी उचित रूप में है। यदि मिट्टी मे जल अधिक या न्यून मात्रा मे हो, तो उत्तम जोत प्राप्त नही हो सकती। अधिक जल के कारण मिट्टी चिपकने लगती हे और ऐसी मिट्टी की जुताई करने से जोत नष्ट हो जाती है। जब मिट्टी सूखने लगती है तब एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि यदि उस समय जुताई की जाय तो उत्तम जोत प्राप्त होती है। मटियार मिट्टी जब सूख जाती है तब उसमे ढेले बन जाते है जिनको तोडना कठिन हो जाता है।

जुताई कई प्रकार की होती है, जैसे गहरी जुताई, छिछली जुताई, अधिक समय तक जुताई, ग्रीष्म ऋतु की जुताई, हलाई या हराई की जुताई, मध्य से बाहर की ओर या किनारे से मध्य की ओर तथा एक किनारे से दूसरे किनारे की ओर जुताई। हर प्रकार की जुताई मे कुछ न कुछ विशेषता होती है। गहरी जुताई से मिट्टी अधिक गहराई तक उपजाऊ हो जाती है और यह गहरी जानेवाली जडो के लिये अत्यत उपयुक्त होती है। छिछली जुताई झकडा जडवाले और कम गहरी जानेवाली जड के पौधो के लिये उत्तम होती है। अधिक समय तक तथा ग्रीष्म ऋतु की जुताई से मिट्टी मे प्रस्तुत हानिकारक कीडे तथा उनके अडे नष्ट हो जाते है। खरपतवार भी समूल नष्ट हो जाते है और मिट्टी की जलशोषण या जलधारण शक्ति अधिक हो जाती है। यदि खेत बहुत बडा हे तो उसे हलाई या हराई नियम से कई भागो मे बाँटकर जुताई करते है (हराई उतने भाग को कहते है जितना एक बार मे सुगमता से जोता जा सकता है)। खेत यदि समतल न हो और मध्य भाग नीचा हो, तो मध्य से बाहर की ओर, और यदि मध्य ऊँचा हो, तो किनारे से मध्य की ओर जुताई करनी चाहिए। खेत एक ओर ढालुआ हो तो नीचे की ओर से ढाल के लबवत् जुताई आरभ करके ऊँचाई की ओर समाप्त करना चाहिए। ऐसा करने से खेत धीरे धीरे समतल हो जाता है तथा मिट्टी भी भली प्रकार जुत जाती है। परतु यह कार्य देशी हल से नहीं किया जा सकता। इसके लिये मिट्टी पलटनेवाला हल होना चाहिए। इसमे मिट्टी पलटने के लिये पख लगा रहता है। यही कारण है कि देशी हल को वास्तव में हल नही कहा जा सकता, क्योकि हल की परिभाषा है वह यत्र जो मिट्टी को काटे और उसे खोदकर पलट दे। देशी हल से मिट्टी कटती है, परतु पलटती नही। इसको हल की अपेक्षा कल्टिवेटर (Cultivater) कहना उचित है।

जुताई के कुछ सिद्धात है जिनका उपरिलिखित नियमो की अपेक्षा प्रत्येक दशा में पालन करना कृपक का कर्तव्य हे। उपयोग से पहले हल का भली भाँति निरीक्षण कर लेना चाहिए। उसका कोई भाग ढीला न हो। जूए मे उसको आवश्यक ऊँचाई पर लगाएँ। यह ऊँचाई बैलो की ऊँचाई पर निर्भर है। जुताई करते समय हल की मुठिया दृढतापूर्वक पकडनी चाहिए ताकि हल सीधा और आवश्यक गहराई तक जाय। कूँडो (हल रेखाओ) को सीधी और पास पास काटना चाहिए अन्यथा कूँडो के बीच बिना जुती भूमि (अँतरा) छूट जाती है। देशी हल से जुताई करने मे अँतरा अवश्य छूटता है, जिसको समाप्त करने के लिये कई बार खेत को जोतना पडता है। खेत की मिट्टी अधिक गीली या सूखी न हो। अधिक गीली मिट्टी से कटे टुकडे पीछे कडे कडे ढोके हो जाते है और सूखी मिट्टी पर हल मिट्टी को काट नही पाता। उसमे इतनी आर्द्रता हो कि वह भुरभुरी हो जाय। हल चलाते समय कटी हुई मिट्टी भली भाँति उलटती जाय और पास का, पहले बना, खुला हुआ कूँड उस मिट्टी से भरता जाय। जोतने के पश्चात् खेत समतल दिखाई पडे और खरपतवार नष्ट हो जायँ। जुताई करते समय हल का फार मिट्टी के ऊपर न आए। पहली जुताई के बाद प्रत्येक बार खेत को इस प्रकार जोतना चाहिए कि दूसरी जुताई द्वारा कूँड लबवत् कटे। सफल कर्षण के लिये इन सिद्धातो का पालन आवश्यक है।

जुताई के लिये कोई विशेष समय निश्चित नही किया जा सकता। यह कार्यकाल स्थान की जलवायु तथा फसल की किस्म पर निर्भर है। जलवायु के अनुसार वर्ष को खरीफ, रबी और जायद मे विभक्त किया जाता है तथा इन्ही के अनुसार फसले भी विभाजित होती है। खरीफ की फसल वर्षा ऋतु मे, रबी की फसल जाडे मे तथा जायद की फसल ग्रीष्म ऋतु मे होती है। प्रत्येक ऋतु की फसल बोने के पहले और काटने के बाद खेत को जोतना अत्यत आवश्यक है। यदि कोई फसल न भी उगानी हो तो खेत को बिना जुते नही छोडना चाहिए। फसल काटने के बाद खेत को तुरत जोतना चाहिए। रबी की फसल काटने के बाद यदि जायद फसल न बोनी हो, तो खेत को मार्च के अत या अप्रैल के आरभ से खरीफ की फसल बोने तक कई बार जोतना चाहिए। यह कर्षण क्रिया अधिकाश ग्रीष्म ऋतु मे होनी चाहिए, जिससे मिट्टी भली प्रकार जुत जाय। इस प्रकार उसमे वर्षा के जल को धारण करने की अधिक क्षमता आ जायगी। इसी तरह खरीफ की फसल कटने और रबी की फसल बोने के बीच के लगभग दो महीनो मे खेत को आठ या दस बार भली भाँति जोतना आवश्यक है। खेत मे आर्द्रता की कमी होने पर बोने से पूर्व पलेवा करना (ढेलो को चूर करना) आवश्यक है (पलेवा करने मे मिट्टी को तमले से उठाकर फेका जाता है जिससे ढेले गिरने की चोट से चूर हो जाते हैं)।

कार्य और प्रयोग के अनुसार जुताई के यत्र, चार भागो मे विभाजित किए गए है (१) हल, (२) हैरो (harrow) और कल्टिवेटर (Cultivater), (३) पाटा और बेलन, (४) अन्य छोटे छोटे यत्र, जैसे खुरपी, रेक (rake), हैंड हो (hand hoe) इत्यादि। इनका उपयोग आवश्यकतानुसार समय समय पर करना चाहिए। इन चारो विभागो के यत्रो के उपयोग का मुख्य अभिप्राय यही है कि कर्षण के नियमों तथा सिद्धातो का पालन करके खेत की जोत अत्युत्तम कर ली जाय और फसल की सफलता के लिये सारे उपयुक्त साधन और वातावरण उपस्थित रहे।

स०ग्र०—एन्साइक्लोपीडिया ऑव ऐग्रिकल्चर सॉयल, इट्स प्रॉपर्टीज़ ऐंड मैनेजमेट। (ज० रा० सिं०)

कलकत्ता गगा के मुहाने से ८० मील उत्तर हुगली के बाएँ किनारे पर स्थित भारत का द्वितीय व्यापारिक नगर एव बदरगाह तथा पश्चिमी बगाल प्रदेश की राजधानी है। (स्थिति २०° ३४' उ० अ० और ८८° २४' पू० दे०, ज० स० (१९५१) २,५४८,६७७) यह नगर समुद्र के धरातल से २० फुट की ऊँचाई पर हुगली के किनारे, उत्तर से दक्षिण, करीब ६ मील की लबाई तथा २-३ मील की चौडाई मे विस्तृत है। इसकी पश्चिमी सीमा हुगली नदी से तथा पूर्वी सीमा वृत्ताकार नहर, खारी झील (साल्ट लेक) तथा निकटवर्ती दलदली भूमि द्वारा निर्धारित होती है।

जलवायु—कलकत्ता की जलवायु आर्द्रोष्ण है। यहाँ का औसत वार्षिक ताप ७९° फा० है। सबसे गरम मास, मई का होता है जिसका औसत तापमान ८६° फा० और सबसे ठडा मास, जनवरी है जिसका औसत तापमान ६५° फा० है। वार्षिक वर्षा का औसत ६६", मूल वर्षाकाल जून से सितबर तक, जुलाई और अगस्त मास में सर्वाधिक वर्षा, करीब १३" प्रत्येक मास मे होती है। नवबर से फरवरी तक यहाँ की जलवायु साधारणतया

सुखप्रद रहती है, परंतु वर्षाकाल मे जुलाई से सितंबर तक नमी तथा ताप की अधिकता के कारण जलवायु कुछ कष्टप्रद हो जाती है।

ऐतिहासिक विकास—कलकत्ता की स्थापना १६८६ ई० मे ईस्ट इंडिया कंपनी के गवर्नर जॉब चार्नाक द्वारा हुई जिसने मुगलो के हस्तक्षेप के भय से कंपनी के हुगली में स्थापित कारखाने हटाकर सुटानाटी ग्राम (अब कलकत्ता का एक भाग) मे पुन स्थापित किए। धीरे धीरे यह नवीन बस्ती नदी के किनारे स्थित उस समय के कालीकाता ग्राम तक फैल गई। सन् १६९८ ई० में कंपनी ने सुटानाटी, कालीकाता तथा गोविंदपुर गाँवो को औरंगजेब के पुत्र राजकुमार आजिम से खरीद लिया। यही तीन गाँव आज के विशाल कलकत्ता नगर के केंद्रबिंदु बने। कलकत्ते के अंग्रेजो द्वारा बंगाल का व्यापारिक केंद्र चुने जाने के दो मुख्य कारण थे—प्रथम हुगली नदी द्वारा गंगा के उपजाऊ मैदान के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करने मे सुविधा थी, दूसरे कलकत्ता हुगली नदी के तट पर उस स्थल पर स्थित था जहाँ तक समुद्री जहाज सुगमता से पहुँच सकते थे।

सन् १७०७ ई० तक कलकत्ता ने एक नगर का रूप धारण कर लिया था जिसमे सैनिको के आवास के अतिरिक्त एक अस्पताल तथा एक चर्च भी स्थापित हो गए थे। सन् १७४२ ई० मे नगरवासियो ने मरहठो के आक्रमण से नगर की रक्षा के लिये एक खाईं (नहर) की खोदाई आरंभ की जिसका दक्षिणी भाग कभी पूरा न हो सका। यह नहर आज की सरकुलर रोड के समातर जाती थी।

सन् १७५६ ई० मे बंगाल के नवाब शुजाउद्दौला द्वारा नगर पर आक्रमण किए जाने के फलस्वरूप नगर को भारी क्षति पहुँची। प्लासी के युद्ध के पश्चात् ईस्ट इंडिया कंपनी अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई और क्लाइव ने वर्तमान फोर्ट विलियम की नीव डाली जो १७७३ ई० तक बनकर तैयार हुआ। "उस समय नगर मे केवल ७० मकान थे और वर्तमान किले के स्थान पर जंगल था तथा वर्तमान चौरंगी मे बाँस के कुंज तथा धान के खेत थे। किले के निर्माण के पश्चात् आसपास के जंगल साफ कर लिए गए जिसके फलस्वरूप वर्तमान मैदान का निर्माण हुआ।" सन् १७७६ ई० मे वर्तमान बड़े अस्पताल की स्थापना की गई और उसके दक्षिण की ओर चौरंगी सडक पर यूरोपीय बस्तियाँ स्थापित होने लगी।

सन् १८५२ ई० मे इस नगर मे नगरपालिका की भी स्थापना की गई और तब से नगर की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। सन् १८३७ ई० मे नगर की जनसंख्या २,२९,७०० थी जो १८८१ ई० मे ४, ०१,६७१ तक पहुँच गई। तदुपरात नगर की जनसंख्या की वृद्धि इस प्रकार होती रही—१९०१ मे ९,२०,९३३, १९२१ मे १०,३१,६९७, १९४१ मे २१,०८,८९१ तथा १९५१ में २५ ४८,६७७।

सन् १८५८ ई० मे, जब अंग्रेजी सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी से भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ मे ले ली, कलकत्ता अंग्रेजी भारत की राजधानी बना और उसे यह श्रेय १९१२ तक प्राप्त रहा जब भारत की राजधानी दिल्ली को स्थानातरित की गई।

सन् १९०५ ई० मे लार्ड कर्जन के बंगविच्छेद के निश्चय ने नगर मे स्वदेशी आंदोलन की नीव डाली और कलकत्ता भारतीय राजनीति का अखाडा बना। १९०६ ई० मे दादा भाई नौरोजी के सभापतित्व में अखिल भारतीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन यही हुआ जिसमे स्वराज्य की माँग की गई। सन् १९२० ई० का कांग्रेस अधिवेशन, जिसमे महात्मा गांधी ने अंग्रेजी सरकार के विपक्ष मे अहिंसात्मक युद्ध करने का निश्चय किया, इसी नगर में हुआ था। तब से कलकत्ता राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक तथा कलात्मक, सभी आंदोलनो में अग्रणी रहा।

द्वितीय महायुद्ध मे कलकत्ता 'मित्रसेना' का बहुत बडा केंद्र था जहाँ से चीन, बर्मा तथा भारत की सीमाओ की रक्षा होती थी। सन् १९४२ ई० मे कलकत्ता मे जापानी विमानो ने प्रथम बार गोले बरसाए तथा १९४३ ई० मे नगर मे भीषण अकाल पडा जिसमे हजारो व्यक्तियो की मृत्यु का अनुमान किया जाता है। सन् १९४७ ई० मे, विभाजन के पश्चात्, पूर्वी पाकिस्तान से लाखो शरणार्थियो ने इस नगर मे प्रवेश किया। इनके अस्थायी आवास का प्रबंध नगर को करना पडा था।

नगर की रूपरेखा—हुगली नदी पर दो स्थलो पर पुल बाँधकर कलकत्ता को शेष भारत से संबंधित कर दिया गया है। उत्तर की ओर विलिंग्टन पुल द्वारा पूर्वी रेलवे (पुरानी ईस्ट इंडियन रेलवे) की हावडा बर्दवान कॉर्ड हुगली को पारकर नगर को उत्तर पूर्व से अर्धवृत्ताकार घेरती हुई हावडा से करीब ४ मील पूर्व स्थित स्यालदह रेलवे स्टेशन तक पहुँचती है। यहाँ पर पूर्व क्षेत्रीय अन्य रेलवे भी मिलती हैं। हावडा पूर्वी तथा मध्य रेलमार्गो का जंकशन है जिसे एक विशाल पुल द्वारा कलकत्ता से संबंधित किया गया है। २,१५० फुट लंबा यह पुल १९४३ ई० में बनकर तैयार हुआ। यह फौलाद का बना हुआ पुल है और केवल दो खंभो पर आधारित है। यह पुल (कैंटिलिवर ब्रिज) इस प्रकार के पुलो में लंबाई के विचार से संसार में तीसरा स्थान ग्रहण करता है। इसके निर्माण में करीब ५५,००,००० रुपए तथा २६,००० टन फौलाद खर्च होने का अनुमान है। इस पुल के निर्माण के पूर्व नदी पर एक तैरता हुआ पुल था जिसे जहाज आने पर बीच से तोडकर हटा लिया जाता था। इसकी लंबाई १,५३० गज थी। यह १८७४ ई० से १९४३ ई० तक उपयोग मे आता रहा।

हावडा का पुल भारत के पुलो मे सबसे अधिक व्यस्त पुल है। केंद्रीय स्टैटिस्टिकल इंस्टीट्यूट द्वारा १९४६ ई० मे की गई गणना के अनुसार इस पुल को नित्य हर प्रकार की २७,००० सवारियाँ, एक लाख पैदल मनुष्य तथा १,५७० मवेशी पार करते हैं। पुल पर गमनागमन का भार (ट्रैफिक लोड) प्रतिदिन ९५,४०० टन होता है।

हावडा (पश्चिम) और स्यालदह (पूर्व) जंकशनो को करीब ४ मील लंबी हैरिसन रोड मिलाती है। इन स्टेशनो के बीच का क्षेत्र कलकत्ते का सबसे बडा व्यापारकेंद्र है। धर्मतल्ला स्ट्रीट स्यालदह स्टेशन के दक्षिण से प्रारंभ होकर हुगली नदी के किनारे स्थित हाईकोर्ट तथा राजभवन तक पहुँचती है। हुगली के किनारे की ओर कलकत्ते का सबसे बडा क्रय-विक्रय केंद्र 'इंडिया एक्सचेंज' है। इसके दक्षिण डलहौज़ी स्क्वायर मे नगर का महत्वपूर्ण पार्क, बाजार, कार्यालय तथा जनरल पोस्ट आफिस, टेलीग्राफ आफिस, कस्टम हाउस, बंगाल प्रदेशीय मंत्रालय आदि इमारतें खडी हैं। डलहौजी स्क्वायर के दक्षिण कलकत्ता का 'मैदान' नदी से १¾ मील की दूरी तक विस्तृत है, जिसमे सार्वजनिक उपवन, अनेक खेलकूद के मैदान, रेसकोर्स आदि मनोरंजन के क्षेत्र मिलते हैं। फोर्ट विलियम तथा महारानी विक्टोरिया स्मारक इसी मैदान में पडते हैं। मैदान के पश्चिमी भाग में नदी के किनारे किनारे स्ट्रैंड रोड तथा पूर्व की ओर चौरंगी रोड जाती है इन सडको पर कलकत्ता की कुछ भव्य इमारतें तथा यूरोपीय बस्तियाँ है। मैदान के उत्तर की ओर एस्प्लनेड से कैनिंग स्ट्रीट तक कलकत्ता के व्यापार तथा व्यवसाय प्रधान क्षेत्र विस्तृत हैं। धर्मतल्ला स्ट्रीट के दक्षिण चौरंगी और सर्कुलर रोड के बीच मे कलकत्ते का न्यू मार्केट स्थापित है। इसके दक्षिण वेलेज़्ली स्क्वायर मिलता है जिसके दक्षिण में अधिकाश सरकारी कार्यालय, म्यूज़ियम, क्लब, सर्वे आफिस, इत्यादि हैं। कलकत्ते का यह भाग अपेक्षाकृत नया बसा है।

कलकत्ता शिक्षा का भी बहुत बडा केंद्र है। कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना १८५७ ई० मे हुई। इससे संबंधित बहुत से महाविद्यालय भी हैं जहाँ स्नातक कक्षाओ तक की शिक्षा दी जाती है। इन विद्यालयो में प्रेसिडेंसी कालेज, मुस्लिम कालेज, संस्कृत कालेज आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त मेडिकल कालेज तथा गवर्नमेंट स्कूल ऑव आर्ट्स नगर की मुख्य शिक्षा संस्थाएँ है।

नगर प्रारंभ से ही विभिन्न संस्थाओ का केंद्र रहा है। एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल की स्थापना १७८४ ई० मे हुई। बोटैनिकल गार्डेन, शिवपुर की स्थापना १७८६ ई० मे हुई। अलीपुर में एशिया का सबसे बडा चिडियाघर स्थापित है। चौरंगी के भारतीय संग्रहालय मे भारत के प्राचीन कालीन विशेषकर बुद्ध तथा हिंदू युग के शिल्प और वास्तु के सुदर एवं दुर्लभ नमूने संगृहीत हैं। धार्मिक संस्थाओ में काली जी का मंदिर, जैन मंदिर, स्वामी विवेकानंद का बेलूर मठ, रामकृष्ण परमहंस का दक्षिणेश्वर मंदिर, महाबोधि सभा का 'धर्मतीर्थक विहार' आदि मुख्य हैं।

बंदरगाह एवं व्यापार—कलकत्ते का बंदरगाह उत्तर में श्रीरामपुर से लेकर दक्षिण मे बजबज तक फैला हुआ है। इस बीच में लगातार अवतरणियाँ (जेट्टी), गोदाम तथा व्यावसायिक कार्यालय स्थापित हैं। बंदरगाह मे आयात निर्यात की सुविधा के लिये खिदिरपुर डाक नं० १

और न० २ मे २६ वर्थ, किंग जार्ज डाक में ५ आयात वर्थ, १ निर्यात वर्थ और पेट्रोल के लिये एक अलग वर्थ, गार्डेन रीच मे ५ वर्थ, कलकत्ता जेट्टी मे ६ वर्थ तथा वजवज मे पेट्रोल के गोदाम की व्यवस्था है। जहाजो की मरम्मत के लिये खिदिरपुर डाक मे ३ तथा किंग जार्ज डाक मे २ शुष्क नौ स्थान (ड्राई डॉक) स्थापित किए गए है। इन सुविधाओ से युक्त कलकत्ते का बदरगाह प्रतिवर्ष १० लाख टन वस्तुओ का आयात निर्यात करने मे समर्थ है।

कलकत्ता वदरगाह की सवसे वडी असुविधा यह है कि हुगली नदी की तलहटी मे कीचड जमा हो जाता है जिसे साफ करने मे प्रतिवर्ष ३० लाख रुपए से अधिक खर्च होता है।

कलकत्ते की पृष्ठभूमि वहुत विस्तृत क्षेत्र मे है। आसाम की चाय, विहार का कोयला, अभ्रक तथा मैगनीज, वगाल का जूट, उडीसा का लौह, मध्यप्रदेश की लाख, उत्तर प्रदेश तथा विहार का तेलहन आदि कलकत्ता से वाहर जाते है तथा मशीने, मोटरकार, साइकिल, लोहा तथा फौलाद, खाद्यान्य, कागज आदि तैयार वस्तुएँ इन प्रदेशो को भेजी जाती है।

इसकी पृष्ठभूमि मे देश के महत्वपूर्ण औद्योगिक केंद्र समिलित है। हुगली घाटी मे कलकत्ते से ४० मील के भीतर भारत के अधिकाश जूट के कारखाने, कागज के कारखाने, चर्म उद्योग, वस्त्र उद्योग, इजीनियरिंग उद्योग आदि स्थापित है। १५० मील के भीतर ही दामोदर घाटी की कोयले की तथा समीप की लोहे की खदानो पर आश्रित जमशेदपुर का लोहे का कारखाना है। नवगठित दामोदर घाटी आयोग (दामोदर वैली कारपोरेशन) से प्राप्त अनेक सुविधाओ से कलकत्ता के विकास मे और भी सहायता मिलेगी। [उ० सिं०]

कलचुरी

कलचुरी प्राचीन भारत का विख्यात राजवश। कलचुरी शब्द के विभिन्न रूप—कटच्छुरी, कलत्सूरि, कलचुटि, कालच्छुरि, कलचुर्य तथा कलिचुरि प्राप्त होते है। विद्वान् इसे सस्कृत भाषा का न मानकर तुर्की के कुलचुर शब्द से मिलाते है जिसका अर्थ उच्च उपाधियुक्त होता है। अभिलेखो मे ये अपने को हैहय नरेश अर्जुन का वशधर वताते है। इन्होने २४८-४९ ई० से प्रारभ होनेवाले सवत् का प्रयोग किया है जिसे कलचुरी सवत् कहा जाता है। पहले वे मालवा के आसपास के रहनेवाले थे। छठी शताब्दी के अत मे वादामी के चालुक्यो के दक्षिण के आक्रमण, गुर्जरो के समीपवर्ती प्रदेशो पर आधिपत्य, मैत्रको के दवाव तथा अन्य ऐतिहासिक कारणो से पूर्व जवलपुर (जावालिपुर ?) के आसपास बस गए। यही लगभग नवी शताब्दी मे उन्होने एक छोटे से राज्य की स्थापना की। अभिलेखो मे कृष्णराज, उसके पुत्र शकरगण, तथा शकरगण के पुत्र बुधराज का नाम आता है। उसकी मुद्राओ पर उसे परम माहेश्वर कहा गया है। शकरगण शक्तिशाली नरेश था। इसने साम्राज्य का कुछ विस्तार भी किया था। वडौदा जिले से प्राप्त एक अभिलेख मे निरिहुल्लक अपने को कृष्णराज के पुत्र शकरगण का सामत वतलाता है। लगभग ५९५ ई० के पश्चात् शकरगण के वाद उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र बुधराज हुआ। राज्यारोहण के कुछ ही वर्ष बाद उसने मालवा पर अधिकार कर लिया। महाकूट-स्तभ-लेख से पता चलता है कि चालुक्य नरेश मगलेश ने इसी बुधराज को पराजित किया था। इस प्रदेश से कलचुरी शासन का ह्रास चालुक्य विनयादित्य (६८१-९६ ई०) के बाद हुआ।

त्रिपुरी के आसपास चदेल साम्राज्य के दक्षिण भी कलचुरियो ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था। त्रिपुरी के कलचुरियो के वश का प्रथम व्यक्ति कोकल्ल प्रथम था। अपने युग के इस अद्भुत वीर ने भोज प्रथम प्रतीहार तथा उसके सामतो को दक्षिण नही वढने दिया। इनकी निधियो को प्राप्त कर उसने इन्हे भय से मुक्त किया। अरवो को पराजित किया तथा वग पर धावा मारा। चदेलो से वैवाहिक सबध स्थापित कर अपने साम्राज्य को दृढ किया। इसके १८ पुत्रो का उल्लेख मिलता है किंतु केवल शकरगण तथा अर्जुन के ही नाम प्राप्त होते है। शकरगण ने मुग्धतुग, प्रसिद्ध धवल तथा रणविग्रह विरुद धारण किए। इसने राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय से मिलकर चालुक्य विजयादित्य तृतीय पर आक्रमण किया किंतु दोनो को पराजित होना पडा। प्रसिद्ध कवि राजशेखर इसके दरवार से भी सबधित रहे। इसके बाद इसका छोटा भाई युवराज सिंहासनारूढ हुआ। विजय के अतिरिक्त शैव साधुओ को धर्मप्रचार करने मे सहायता पहुँचाई। युवराज के वाद उसका पुत्र लक्ष्मणराज गद्दी पर वैठा। इसने भी पिता की भाँति राज्यविस्तार के साथ साथ शैव धर्म के प्रचार का प्रयास किया। उसके वाद उसका अनुज युवराज गद्दी पर बैठा, इसने त्रिपुरी की पुरी को पुनर्निर्मित करवाया। इसी के राज्यकाल से राज्य मे ह्रास होना प्रारभ हो गया। चालुक्य तैलप द्वितीय, और मुज परमार ने इनकी शक्ति को छिन्न भिन्न कर दिया। मुज ने त्रिपुरी पर विजय प्राप्त कर ली। उसके वापस जाने पर मत्रियो ने युवराज द्वितीय को राजकीय उपाधि नही धारण करने दी और उसके पुत्र कोकल्ल द्वितीय को गद्दी पर वैठाया। इसने साम्राज्य की शक्ति को कुछ दृढ किया, किंतु इसके बाद धीरे धीरे राजनीतिक शक्तियो ने त्रिपुरी के कलचुरियो के साम्राज्य का अत कर दिया।

उत्तर मे गोरखपुर जिले के आसपास कोकल्ल द्वितीय के जमाने मे कलचुरियो ने एक छोटा सा राज्य स्थापित किया। इस वश का प्रथम पुरुष राजपुत्र था। इसके वाद शिवराज प्रथम, शकरगण ने राज्य किया। कुछ दिनो के लिये इस क्षेत्र पर मलयकेतु वश के तीन राजाओ, जयादित्य, धर्मादित्य, तथा जयादित्य द्वितीय ने राज किया था। सभवत भोज प्रथम प्रतिहार ने जयादित्य को पराजित कर गुणावोधि को राज्य दिया। गुणावोधिदेव के पुत्र भामानदेव ने महीपाल प्रतिहार की सहायता की थी। उसके वाद शकरगण द्वितीय मुग्धतुग, गुणसागर द्वितीय, शिवराज द्वितीय (भामानदेव), शकरगण तृतीय तथा भीम ने राज किया। अतिम महाराजाधिराज सोढदेव के वाद इस कुल का पता नही चलता। सभवत पालो ने इनकी शक्ति को छिन्न भिन्न कर दिया। [च० भा० पा०]

कलन, अवकल तथा अनुकल

कलन, अवकल तथा अनुकल (Calculus, differential and integral) गणित की एक विशेष शाखा है जिसमे वीजगणित की छ मूल क्रियाओ—जोडना, घटाना इत्यादि—के अतिरिक्त सीमा-क्रिया का प्रयोग विशेष रूप से होता है। इस क्रिया का प्रयोग १७ वी शताब्दी के परार्ध मे आरभ हुआ। इससे वीजगणित और ज्यामिति से भिन्न गणित की एक नवीन शाखा कलन का जन्म हुआ। वैसे तो तव भी सीमा की कल्पना विलकुल नई न थी, क्योकि ज्यामिति मे वृत्त का क्षेत्रफल उसके अतर्लिखित वहुभुज की सीमा मानकर किया जाता था तथा वेलन और शकु का घनफल समपार्श्व और सूचीस्तभ की सीमा मानकर। उदाहरणार्थ, यदि किसी वृत्त मे एक वहुभुज-क्षेत्र अतर्लिखित हो और इसकी भुजाओ की सख्या को हम वढाते चले जायँ तो वृत्त और वहुभुज क्षेत्र के क्षेत्रफल मे अतर घटता चला जायगा। जैसे जैसे भुजाओ की सख्या अनत की ओर प्रवृत्त होगी, वहुभुज अपनी चरम सीमा मे वृत्त हो जायगा। इसी प्रकार वीजगणित मे भी आवर्त दशमलव का मान ज्ञात करते समय, या किसी अनत श्रेणी का योगफल ज्ञात करते समय, सीमा का प्रयोग होता था, जैसे श्रेणी

$$१ + \frac{१}{२} + \frac{१}{२^२} + \frac{१}{२^३} +$$

$$\left[1 + \frac{1}{2} + \frac{1}{2^2} + \frac{1}{2^3} + \quad . \right]$$

के म (m) पदो का योगफल

$$य_म = २ - \frac{१}{२^{म-१}} \left[S_m = 2 - \frac{1}{2^{m-1}} \right]$$

यदि म (m) अनत की ओर प्रवृत्त हो तो $य_म$ (S_m), स्वय २ (2) की ओर प्रवृत्त होगा।

वीजगणित और ज्यामिति के इन गिने चुने उदाहरणो मे सीमा का प्रयोग तो होता था, परतु निर्दोष ढग से नही। कलन मे सीमा का प्रयोग वडे निर्दोष ढग से होता है। इसमें दो सीमाओ का विशेष अध्ययन करते है। एक अवकलज और दूसरी निश्चित समाकलन।

अवकलज — यदि र=फ (य) [y=f (x)] स्वतत्र चर य (x) का कोई एकमानीय (सिंगल-वैल्यूड, single valued) फलन हो तो परतत्र चर र (y) का स्वतत्र चर य (x) के सापेक्ष अवकलज

$$= \underset{\triangle य \to 0}{\text{सीमा}} \frac{फ(य+\triangle य)-फ(य)}{\triangle य}$$
$$\left[\lim_{\triangle x \to 0}\right] \frac{f(x+\triangle x)-f(x)}{\triangle x}$$

यदि यह सीमा विद्यमान हो।

$\triangle$य ($\triangle x$) का अर्थ है य (x) के मान मे स्वेच्छ छोटी से छोटी वृद्धि और $\triangle$र ($\triangle y$) का अर्थ है य (x) के मान मे $\triangle$य ($\triangle x$) की वृद्धि के फलस्वरूप र (y) के मान मे सगत वृद्धि अर्थात् $\triangle र = फ(य+\triangle य) - फ(य)$ [$\triangle y=f(x+\triangle x)-f(x)$]। यहाँ $\triangle$ और य (x) का अलग अलग कोई अर्थ नही है। पूरा $\triangle$य ($\triangle x$) ही एक चिह्न है, जो य (x) के मान मे स्वेच्छ छोटी से छोटी वृद्धि प्रदर्शित करता है। अत ऊपर दी गई सीमा को

$$\underset{\triangle य \to 0}{\text{सी}} \frac{\triangle र}{\triangle य} \left[\lim_{\triangle x \to 0} \frac{\triangle y}{\triangle x}\right]$$ भी लिख सकते हैं।

यदि ऊपर दी हुई सीमा विद्यमान हो तो उसे

$$\frac{तार}{ताय} \text{ अथवा } तार/ताय \left[\frac{dy}{dx} \text{ या } dy/dx\right]$$

से प्रदर्शित करते हैं। इस चिह्न में अक्षर ता, य, र, ताय, तार (d, x, y, dx, dy) का अलग अलग कोई अर्थ नही है। पूरा तार/ताय ऊपर दी हुई सीमा का मान द्योतित करता है तथा र (y) का य (x) के सापेक्ष अवकलज कहलाता है। तार (dy) और ताय (dx) का केवल एक परिस्थिति मे अलग अलग अर्थ लिया जाता है, जिसको जानने के लिये कलन की विशिष्ट पुस्तके द्रष्टव्य है। तार/ताय [dy/dx] साधारणत अवकल गुणाक कहलाता है। अवकलज ज्ञात करने की क्रिया को अवकलन करना या अवकल ज्ञात करना कहते हैं। जैसे, मान ले र = य^म [$y=c^m$], तो अवकल गुणाक

$$\frac{तार}{ताय} = \underset{\triangle य \to 0}{\text{सी}} \frac{(य+\triangle य)^म - य^म}{\triangle य}$$
$$= \underset{\triangle य \to 0}{\text{सी}} \frac{1}{\triangle य}\left\{य^म + म\,य^{म-1}(\triangle य) + \frac{म(म-1)}{2!} य^{म-2}(\triangle य)^2 + \quad + (\triangle य)^म - य^म\right\}$$
$$= \underset{\triangle य \to 0}{\text{सी}} \left\{म\,य^{म-1} + \frac{म(म-1)}{2!} य^{म-2}(\triangle य) + (\triangle य) \text{ के और ऊँचे घात}\right\}$$
$$= म\,य^{म-1}$$
$$\left[\frac{dy}{dx} = \lim_{\triangle x \to 0} \frac{(x+\triangle x)^m - x^m}{\triangle x}\right.$$
$$= \lim_{\triangle x \to 0} \frac{1}{\triangle x}\left\{x^m + mx^{m-1}(\triangle x) + \frac{m(m-1)}{2!}x^{m-2}(\triangle x)^2 + \quad (\triangle x)^m - x^m\right\}$$
$$= \lim_{\triangle x \to 0}\left\{mx^{m-1} + \frac{m(m-1)}{2!}x^{m-2}(\triangle x) + \triangle x \text{ के और उच्च घात}\right\}$$
$$\left. = mx^{m-1}\right]$$

इसी प्रकार यदि र = ज्या य ($y=\sin x$),

$$\text{तो } \frac{तार}{ताय} = \text{कोज्या } य \quad \left[\frac{dy}{dx} = \cos x\right]$$

$$\text{तथा } र = क\ [y=c], \text{ तो } \frac{तार}{ताय} = 0 \left[\frac{dy}{dx} = 0\right]$$

अवकल गुणाक ज्ञात करने की अनेक विधियाँ अवकल कलन की पुस्तका मे दी रहती है जिनसे किसी फलन का अवकल गुणाक सुगमता से ज्ञात हो सकता है। गणित में अवकल गुणाक बहुत उपयोगी है। विज्ञान की अन्य शाखाओ मे भी इसका अधिकाधिक प्रयोग हो रहा है। सच पूछिए तो आधुनिक युग के विज्ञान की उन्नति कुछ सीमा तक कलन पर ही निभर है। इसका प्रयोग वक्रो के स्पर्शी, उनके महत्तम अल्पतम विंदु, उनकी वक्रता, अवगुठन (एनवेलप, envelope) इत्यादि तथा परिवर्तनशील राशियो की तात्कालिक परिवर्तन दर तथा उनके पारस्परिक सबध इत्यादि निकालने मे होता है।

स्पर्शी—अवकल गुणाक का अर्थ वक्र के स्पर्शी से सुगमता से विकसित हो सकता है। मान ले आसन्न चित्र वक्र र=फ (य) [$y=f(x)$] का रेसाचित्र है। वक्र पर व (P) कोई विंदु है। म (Q) कोई अन्य विंदु है।
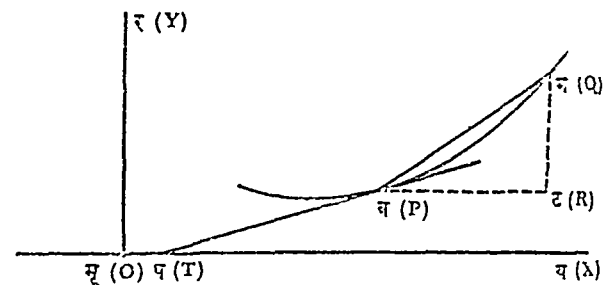
रेखा व म (PQ) खीचें। इसे विंदु व (P) पर इस प्रकार घुमाए कि विंदु म (Q) विंदु व (P) की ओर आए और मव (PQ) को इतना घुमाए कि विंदु म (Q) विंदु प (P) पर पहुँच जाय, तो छेदन रेखा व म (PQ) की सीमा विंदु व (P) पर की स्पर्शी होगी।

साथ ही $\angle$ म व ट (QPR) की सीमा $\angle$ व प य (PTX) होगी। मान ले विंदु व(P) के नियामक य, र, [x,y] हैं तथा म(Q) के (य+तय, र+तर) [$x+\delta x, y+\delta y$] है। यहाँ त र=म ट ($\delta y=QR$) और तय=वट ($\delta x=PR$)। नियामक ज्यामिति से रेखा व म (PQ) का समीकरण निम्नलिखित है

$$रा - र = \frac{र+तर-र}{य+तय-य}(या-य) = \frac{तर}{तय}(या-य)$$
$$\left[Y-y = \frac{y+\delta y-y}{x+\delta x-x}(X-x) = \frac{\delta y}{\delta x}(X-x)\right]$$

यहाँ या (X) और रा (Y) चालू नियामक हैं।

यदि विंदु म (Q) विंदु व (P) की ओर अग्रेसारित हो तो इस समीकरण का रूप निम्नलिखित होगा

$$रा - र = \frac{तार}{ताय}(या-य) \quad \left[Y-y = \frac{dy}{dy}(X-x)\right]$$

$$\text{क्योकि } \underset{तय \to 0}{\text{सी}} \frac{तर}{तय} = \frac{तार}{ताय} \quad \left[\lim_{\delta x \to 0} \frac{\delta y}{\delta x} = \frac{dy}{dx}\right]$$

उस अवस्था मे रेखा व म (PQ) रेखा व प (PT) को ढक लेगी तथा $\angle$ म व ट (QPR), $\angle$ व प य (PTX) के बराबर होगा। तथा समानता

$$\text{स्प } \angle \text{ मवट } \frac{म\,ट}{व\,ट} = \frac{तर}{तय} \quad \left[\tan QPR = \frac{QR}{PR} = \frac{\delta y}{\delta x}\right]$$

अपनी चरम सीमा मे

$$\text{स्प व प य} = \frac{तार}{ताय} \left[\tan PTX = \frac{dy}{dx}\right]$$

हो जायगी अर्थात् $\frac{तार}{ताय}$ $\left[\frac{dy}{dx}\right]$, उस कोण की स्पर्शज्या है जो कि उस विंदु पर की स्पर्शी य—अक्ष के साथ बनाती है। इस कोण को जानकर स्पर्शी आसानी से खीची जा सकती है। मान ले परवलय

$$४\ र = य^२\ [4Y=x^2]$$

के विंदु (२, १) पर स्पर्शी खीचना है तो यहाँ $\frac{तार}{ताय} = \frac{१}{२}$ य $\left[dy/dx=\frac{1}{2}x\right]$ जिसका मान दिए विंदु पर १ है। अब विंदु (२, १) से ऐसी रेखा खीचे जिसकी प्रवणता १ हो। यही उस विंदु पर परवलय की स्पर्शी है।

परिवर्तन दर—किसी परिवतनशील राशि की तात्कालिक परिवर्तन दर के विवेचन से भी अवकलज का भाव विकसित किया जा सकता है। मान ले कोई कण विंदु का (A) से चलना प्रारभ करता है और उसका वेग प्रति क्षण वढता रहता है, तो प्रश्न उठता है कि पथ के किसी विंदु खा (B) पर कण का वेग कैसे नापा जाय।

का (A) खा (B) गा (C)

यदि कण समान वेग से चलता तो विंदु खा (B) से किसी अन्य विंदु गा (C) तक जाने का समय नाप लेते तथा दूरी खा गा (BC) को उससे भाग देकर कण का वेग निकाल लेते। पथ के प्रत्येक विंदु पर कण का वेग समान होता तो ऐसा किया जा सकता था, परतु कण का वेग हमारे प्रश्न मे प्रत्येक विंदु पर भिन्न है। यदि विंदु का (A) से खा (B) की दूरी द (s) तथा खा (B) से गा (C) की दूरी द' (d) हो तथा का (A) से खा (B) तक चलने का समय स (t) तथा खा (B) से गा (C) तक चलने का समय स' (t') हो तो द'/त' (s'/t') विंदु खा (B) से गा (C) तक का मध्यमान (औसत) वेग होगा। यह विंदु खा (B) पर के वेग से अधिक तथा गा (C) पर के वेग से कम होगा। यदि हम समय स' (t') को अत्यत अल्प रखे तो भी खा (B) विंदु पर का वेग ठीक ज्ञात नही हो सकता। द'/स' (s'/t') उसका केवल लगभग मान ही वतलाएगा। ठीक ठीक मान तव तक ज्ञात नही हो सकता जव तक समय स' (t') शून्य के वारवर न हो जाय। परतु स' (t') को शून्य करते ही द' (s') भी शून्य हो जाता है और इसलिये द'/स', [s'/t',] का मान निकल ही नही सकता। इस कठिनाई से वचने के लिये वेग की परिभाषा यो दी जाती है

कण का विंदु खा (B) पर वेग

$$= \underset{स'\to ०}{सीमा} \frac{द'}{स'} = \frac{ताद}{तास} \left[\lim_{s'\to 0} \frac{s'}{t'} = \frac{ds}{dt} \right]$$

यह स्पष्ट है कि समय स (t) मे चली हुई दूरी स (t) के मान पर निर्भर है, अर्थात् स (t) का एक फलन है, अर्थात् द=फ (स) [s = f (t)], जिससे ताद/तास [ds/dt] का मान किसी भी समय स (t) पर कण के वेग का मान होगा। इसी प्रकार यदि समय स (t) पर कण का वेग व (v) हो तो

$$त्वरण = \frac{ता\ व}{ता\ स} = \frac{dv}{dt}\ ।$$

महत्तम अल्पतम मान—किसी वक्र र = फ (य) [y=f(x)], के रेखाचित्र पर विचार करे
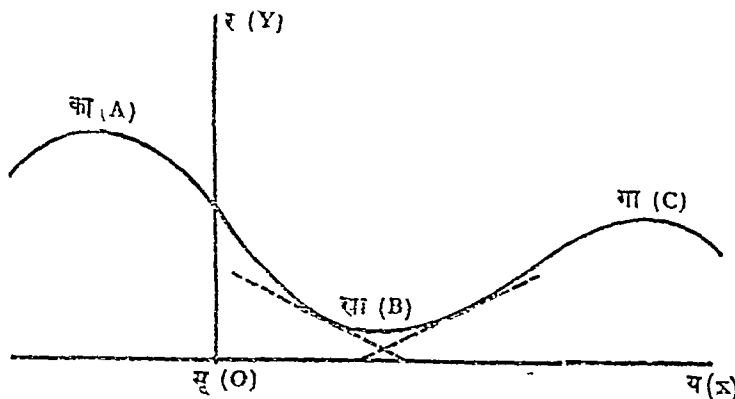
इस चित्र के विंदु का (A), गा (C) राशि र (y) के महत्तम मान प्रदर्शित करते है और खा (B) अल्पतम मान। विंदु का (A) और गा (C) पर वक्र का ऊपर उठना रुक जाता है और नीचे उतरना आरभ हो जाता है। विंदु खा (B) पर इनके विपरीत उतरना रुक जाता है और ऊपर उठना प्रारभ हो जाता है। ज्यो ज्यो वक्र ऊपर उठता है त्यो त्यो स्पर्शी की प्रवणता (अर्थात् स्पर्शी और य— (x—) अक्ष के वीच के कोण की स्पर्शज्या, जिसका मान तार/ताय [dy/dx] है) घटती जाती है और नीचे उतरने पर वढती जाती है। क्योकि ऊपर उठते समय स्पर्शी और य— (x—) अक्ष के वीच का कोण न्यून कोण है, अत इसकी स्पर्शज्या अर्थात् तार/ताय [dy/dx] का मान धन होगा और उतरते समय वह कोण अधिक कोण होगा अर्थात् तार/ताय [dy/dx] ऋण होगा। अत विंदु का और गा पर तार/ताय [dy/dx] का मान धन से ऋण की ओर जाएगा। इस क्रिया मे वह एक स्थान पर अवश्य शून्य के वरावर होगा। वही स्थान महत्तम विंदु होगा। इसी प्रकार खा पर तार/ताय [dy/dx] का मान ऋण से धन मे वदल जायगा अर्थात् उस विंदु पर उसका मान शून्य होगा। अत महत्तम और अल्पतम विंदुओ पर

$$\frac{तार}{ताय} = ० \left[\frac{dy}{dx} = 0\right]$$

इस सवध से उन विंदुओ का पता लगाया जा सकता है। उदाहरण एक छड २० फुट लवी है, उसका ऐसा आयत वनाए जिसका क्षेत्रफल महत्तम हो।

मान ले आयत की एक भुजा य (x) है, तो दूसरी २०—य (२०—x) होगी और उसका क्षेत्रफल

$$र = य\ (२० - य) = २० य - य^२\ [y = x\ (20 - x) = 20x - x^2]$$

महत्तम के लिये

$$तार/ताय = २० - २य = ०\ \ [dy/dx = 20 - 2x = 0]$$

$$अत\ \ \ \ य = १०\ \ [x = 10],$$

अर्थात् जव छड वर्ग के रूप मे होगा तव क्षेत्रफल अधिकतम होगा।

अवकलज के अन्य प्रयोग अवकल कलन की पुस्तको मे मिलेगे।

अनुकल—किसी दिए हुए फलन के अनुकल के दो मुख्य अर्थ होते है। एक तो ऐसा फलन जिसका अवकलज वह दिया हुआ फलन हो और दूसरा, एक विशेष श्रेणी के पदो के योग की सीमा। इस दशा मे यह सीमित अनुकल कहलाता है।

यदि एक फलन दूसरे फलन का अवकल गुणाक हो तो दूसरा फलन पहले का अनुकल कहलाता है। जैसे ऊपर वताया जा चुका है कि $य^म$ (x^m) का अवकल गुणाक $मय^{म-१}$ है, अत $य^म$ (x^m) फलन $मय^{म-१}$ $[m\, x^{m-1}]$ का एक अनुकल है। एक अनुकल इसलिये कहा जाता है कि यदि $य^म + क$, $[x^m + c]$ का अवकलज निकाले तो वह भी $म\, य^{म-१}$, $[mx^{m-1}]$ ही होगा। अत $य^म + क$, $[x^m + c]$ फलन $म\, य^{म-१}$, $[m\, x^{m-1}]$ का पूर्ण अनुकल है, जिसका $य^म$ (x^m) एक विशेष रूप है। इस विचार को

$$\int मय^{म-१}\ ताय = य^म + क,\ \left[\int m\ x^{m-1}\ dx = x^m + c\right]$$

से प्रदर्शित करते है और पहले को "अनुकल $मय^{म-१}$ ताय वरावर है $य^म + क$" के पढते है।

सीमित अनुकल—मान ले, फ (य) [f (x)] स्वतत्र चर य (x) का कोई फलन है, जिसका अतराल क, ख [a, b] मे प्रत्येक विंदु पर केवल एक मान है। मान ले चित्र मे मूका = क, मूखा = ख [OA = a, OB = b]।

अतराल को विंदु $वा_१$ (P_1), $वा_२$ (P_2), . . $वा_{म-१}$ $[P_{m-1}]$ से म (m) भागो मे वाँटो। यहाँ
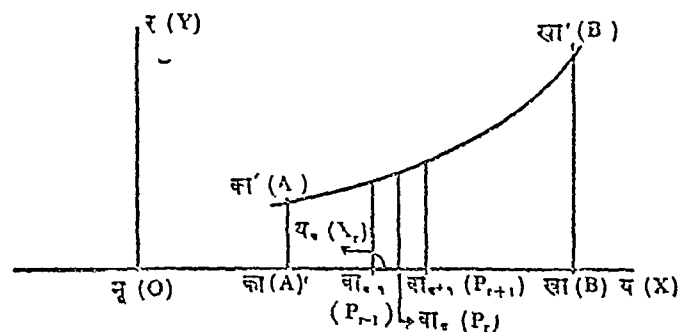
मू का < मू वा$_1$ < मू वा$_2$ < < मू वा$_च$ < म वा$_{च+1}$ < < मू खा
$[OA < OP_1 < OP_2 < \quad < OP_r < OP_{r+1} < \quad < OB]$
मान ल च वाँ (r वाँ) अतराल वा$_{च-1}$ वा$_च$ $[P_{r-1} P_r]$ है तथा वा$_{च-1}$ वा$_च$ = त य$_च$, $[P_{r-1} P_r = \delta x]$। इस अतराल में कोई विंदु य$_च$ (x_r) लो जिसपर फलन का मान फ (य$_च$) $[f(x_r)]$, है। फिर मान लो कि

यो $= \sum_च$ फ(य$_च$) (वा$_{च-1}$ वा$_च$) $= \sum_च$ फ (य$_च$) त य$_च$
$$[S = \sum_r f(x_r) P_{r-1} P_r = \sum_r f(x_r)\, \delta x_r]$$

यदि यो (S) की सीमा जब सबसे बडा अतराल त य$_च$ (δx_r) शून्य की ओर तथा म (m) अनत की ओर अग्रसर होता है, विद्यमान है, तो यो (S) का चरम मान फ(य) $[f(x)]$ का क (a) से ख (b) तक सीमित अनुकल कहलाता है। इसे

$$\int_क^ख \text{फ (य) ताय} \quad \left[\int_a^b f(x)\, dx\right]$$

से प्रदर्शित करते है तथा इसे "य के सापेक्ष फ (य) का क से ख तक अनुकल" पढते है। समाकल चिह्न ∫ अंग्रेजी अक्षर S का विगडा रूप है जो अंग्रेजी में योगफल के पर्याय (Sum) का पहला अक्षर है। अनुकलन की पुस्तको मे यह बताया गया है कि किन किन परिस्थितियो मे यह सीमा विद्यमान होती है। उनमे से एक परिस्थिति यह है कि फ (य) $[f(x)]$ अविच्छिन्न हो।

यदि $\frac{\text{ता फा (य)}}{\text{ताय}}$ = फ(य) $\left[\frac{d F(x)}{d x} = f(x)\right]$ तो

$\int_क^ख$ फ(य) ताय = फा (ख) − फा (क) $\left[\int_a^b f(x)\, dx = F(b) - F(a)\right]$

इस प्रमेय द्वारा सीमित अनुकल का मान ज्ञात होता है।

निश्चित समाकल बहुत उपयोगी है। इसका एक प्रयोग है क्षेत्रफल निकालना, जिसका उदाहरण नीचे दिया हुआ है।

मान ले कि आसन्न चित्र वक्र र = फ (य) $[y = f(x)]$ का रेखाचित्र है
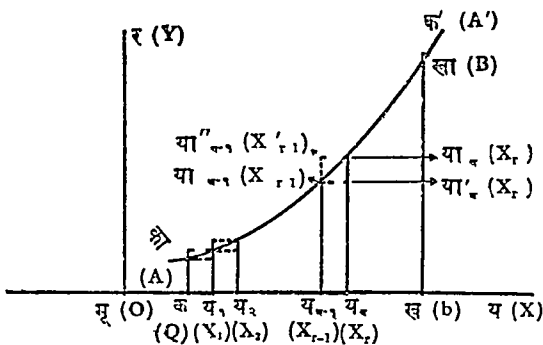
रेखाएँ य = क तथा य = ख खीची गई है, जो वक्र को विंदुओ का और खा पर काटती है। तो क्षेत्र क ख खा का का क्षेत्रफल

$$\int_क^ख \text{फ (य) ताय} \quad \left[\int_a^b f(x)\, dx\right]$$

है। अतराल क (a), ख (b) को म (m) भागो में वाँटें। प्रत्येक विभाजक विंदु य$_1$, य$_2$, ($x_1, x_2,$) से र — (y —) अक्ष के समातर रेखाएँ खीचें जो वक्र को या$_1$, या$_2$ (X_1, X_2) पर काटे। या$_1$, या$_2$ (X_1, X_2) य — (x —) अक्ष के समातर रेखाएँ खीचे। तो प्रत्येक अतराल, जैसे य$_{च-1}$, य$_च$ (x_{r-1}, x_r) पर दो आयत बनेगे जिनमे से स्पष्टतया एक क्षेत्र य$_{च-1}$ य$_च$ या$_च$ या$_{च-1}$ ($x_{r-1}\, x_r\, X_r\, X_{r-1}$) से छोटा और दूसरा बडा होगा, अर्थात्

आयत य$_{च-1}$ या′$_च$ < क्षेत्र य$_{च-1}$ य$_च$ या$_च$ या$_{च-1}$ < आयत य$_{च-1}$ या$_च$
$$[\text{Rect } x'_{r-1} X'_r < \text{Area } x_{r-1} x_r X_r X_{r-1} < \text{Rect } x_{r-1} X_r]$$
जिन आयताकार क्षेत्रो मे क्षत्रफल क ख खा का रेखाओ य = य$_1$, य = य$_2$, ($x = x_1$, $x = x_2$,) से विभाजित है उन सबके लिये ऐसी ही असमानताएँ लिखकर जोडने से

$\sum$(य$_च$ − य$_{च-1}$) फ (य$_{च-1}$) < क्षेत्र क ख खा का < $\sum$(य$_च$ − य$_{च-1}$) फ (य$_च$)
$$[\sum (x_r - x_{r-1}) f(x_{r-1}) < \text{Area } abBA < \sum (x_r - x_{r-1}) f(x_r)]$$
अब दाहिने पक्ष की सीमा जब म → ∞ ($m \to \infty$)

= सी$_{म \to \infty}$ $\sum$ फ (य$_च$) (य$_च$ − य$_{च-1}$)

= $\int_क^ख$ फ (य) ताय

$$[Lt_{m \to \infty} \sum f(x_r)\, (x_r - x_{r-1})$$
$$= \int_a^b f(x)\, d_x]$$

और बाएँ पक्ष की सीमा जब म → ∞ ($m \to \infty$)

= सी$_{म \to \infty}$ $\sum$ फ (य$_{च-1}$) (य$_च$ − य$_{च-1}$)

= $\int_क^ख$ फ (य) ताय

$$[Lt_{m \to \infty} \sum f(x_{r-1})\, (x_r - x_{r-1})$$
$$= \int_a^b f(x)\, d_x]$$

अत क्षेत्र क ख खा का ($a\, b\, B\, A$) का क्षेत्रफल भी

= $\int_क^ख$ फ (य) ताय

$$= \int_a^b f(x)\, d_x$$

इसी प्रकार पिंडो के आयतन, पृष्ठो के क्षत्रफल और वक्रो की लबाई इत्यादि का मान निकालते हैं। [भ्र० ला० श०]

कलन (परिमित अंतरों का)

यदि कुछ राशियाँ परस्पर आश्रित हो तो उनकी युगपद् वृद्धियो के अनुपातों का अध्ययन जिस विज्ञान का विषय है, उसी का नाम परिमित अतर कलन है। साधारणतया इसका उपयोग सांख्यिकी सिद्धात और अवलोकन सिद्धात मे होता है। इसके विपरीत अवकल कलन मे उन सीमाओ का अध्ययन किया जाता है जिनकी ओर उक्त अनुपात तब अग्रसर होते ह जब वृद्धियाँ अत्यल्प हो जाती है।

वृद्धियो के लिये हम इस सकेतलिपि का प्रयोग करेंगे

$$\Delta \text{व}_य = \text{व}_{य+\Delta य} - \text{व}_य, \quad \frac{\Delta \text{व}_य}{\Delta य} = \frac{\text{व}_{य+\Delta य} - \text{व}_य}{\Delta य}$$

$$\left[\Delta u_x = u_{x+\Delta x} - u_x, \quad \frac{\Delta}{\Delta x} = \frac{u_{x+\Delta x} - u_x}{\Delta x}\right]$$

$\frac{\Delta \text{व}_य}{\Delta य}$ $\left(\frac{\Delta u_x}{\Delta x}\right)$ एक वास्तविक भिन्न है, किंतु अवकल कलन की राशि $\frac{\text{ताव}}{\text{ताय}}$ $\left(\frac{du}{dx}\right)$ कोई वास्तविक भिन्न नही है, और न ताव (du) और ताय (dx) का एक दूसरे से स्वतत्र अस्तित्व ही है।

यदि Δय (Δx) को मान १ दिया जाय, Δव$_य$ = व$_{य+1}$ − व$_य$ ($\Delta u_x = u_{x+1} - u_x$) माना जाय, तो जब Δय = ट ($\Delta x = h$) तो

$$\frac{\Delta \text{व}_य}{\Delta य} = \frac{\text{व}_{य+ट} - \text{व}_य}{ट} \quad \left[\frac{\Delta u_x}{\Delta x} = \frac{u_{x+h} - u_x}{h}\right]$$

य (x) के किसी फलन के अतरो के अतर को द्वितीय अतर कहते है।

यथा $\quad \Delta \Delta \text{व}_य = \Delta^2 \text{व}_य, \quad \Delta \Delta^{स-1} \text{व}_य = \Delta^स \text{व}_य$
$\quad \Delta \Delta u_x = \Delta^2 u_x, \quad \Delta \Delta^{n-1} u_x = \Delta^n u_x$

यदि $व_य = य^३$ ($u_x = x^3$) तो हमे निम्नलिखित सारणी प्राप्त होगी

य के मान	१	२	३	४	५	६
[values of x	1	2	3	4	5	6]
$व_य$	१	८	२७	६४	१२५	२१६
[u_x	1	8	27	64	125	216]
$\Delta व_य$	७	१९	३७	६१	९१	
[Δu_x	7	19	37	61	91]	
$\Delta^२ व_य$	१२	१८	२४	३०		
[$\Delta^2 u_x$	12	18	24	30]		
$\Delta^३ व_य$	६	६	६			
[$\Delta^3 u_x$	6	6	6]			

$\Delta व_य = (य+१)^३ - य^३ = ३ य^२ + ३ य + १,\ \Delta^२ व_य = \Delta (३ य^२ + ३ य + १) = ६ य + ६,\ \Delta^३ व_य = ६$

$[\Delta u_x = (x+1)^3 - x^3 = 3x^2 + 3x + 1,\quad \Delta^2 u_x = \Delta (3x^2 + 3x + 1) = 6x + 6,\ \Delta^3 u_x = 6]$

यदि $व_य$ (u_x) य (x) के स वे (n^{th},/—) घात का, कोई परिमेय, पूर्णांक फलन हो तो उसका स वाँ (n th) अंतर इस प्रकार निकलेगा

$व_य = क य^स + ख य^{स-१} + \quad [u_x = a x^n + b x^{n-1} + \quad]$

$\Delta व_य = क (य+१)^स + ख (य+१)^{स-१} + \ldots - क य^स - ख य^{स-१} - \ldots$

$[\Delta u_x = a(x+1)^n + b(x+1)^{n-1} + \quad - a x^n - b x^{n-1} - . \ ]$

अर्थात् $\Delta व य = क स य^{स-१} + ख_१ य^{स-२} + ख_२ य^{स-३} +$

$[\Delta u_x = a n x^{n-1} + b x^{n-2} + b_2 x^{n-3} + \ .]$

जिसमें $ख_१, ख_२,$ ($b_1, b_2,$) अचर हैं। अत $\Delta व_य$ (Δu_x) (स−१) वें [$(n-1)^{th}$] घात का फलन है।

अत मे, $\Delta^स व_य = क स$ (स−१) (स−२) ३ २ १

$[\Delta^n u_x = a n (n-1) (n-2) \ldots 3\ 2\ 1]$

और $\Delta^स य^स = स !$ $[\Delta^n x^n = n!]$

२ प्रारंभिक फलनो के अतर

(१) यदि $व_य = य (य-१) (य-२) \quad (य-म+१)$

$[u_x = x (x-1) (x-2) \quad (x-m+1)]$

$\Delta व_य = म य (य-१) (य-२) \quad (य-म+२)$

$[\Delta u_x = m x (x-1) (x-2) \quad (x-m+2)]$

इस सबध मे निम्नलिखित सकेत लिपि प्रयुक्त होती है, जिसका नाम क्रमगुणन सकेतलिपि है

$य (य-१) (य-२) \quad (य-म+१) = य^{(म)}$

$[x(x-1) (x-2) \quad (x-m+1) = x^{(m)}]$

हमे प्राप्त है

$\Delta य^{(म)} = म य^{(म-१)}$ $[\Delta x^{(m)} = m x^{(m-1)}]$

अत $\Delta^२ य^{(म)} = म (म-१) य^{(म-२)}$ $[\Delta^2 x^{(m)} = m (m-1) x^{(m-2)}]$

$\Delta^स य^{(म)} = म (म-१) \quad (म-स+१) य^{(म-स)}$

$[\Delta^n x^{(m)} = m (m-1) \quad (m-n+1) x^{(m-n)}]$

(२) यदि $व_य = \dfrac{१}{य(य+१) \quad (य+म-१)},\ \Delta व_य = \dfrac{-म}{य(य+१) \quad (य+म)}$

$\left[u_x = \dfrac{1}{x(x+1) \quad (x+m-1)},\ \Delta u_x = \dfrac{-m}{x(x+1) \quad (x+m)}\right]$

यदि $य^{(-म)} = \dfrac{१}{य(य+१) \quad (य+म-१)}$

$\left[x^{(-m)} = \dfrac{1}{x(+1) \quad (x+m-1)}\right]$,

हमे प्राप्त है $\Delta य^{(-म)} = -म य^{(-म-१)}$ $[\Delta x^{(-m)} = -m x^{(-m-1)}]$

उत्तरोत्तर पगो से हमे प्राप्त होगा

$\Delta^स य^{-म} = (-१)^म म (म+१) \quad (म+स-१) य^{(-म-स)}$

$[\Delta^n x^{(-m)} = (-1)^m m (m+1) \quad (m+n-1) x^{(-m-n)}]$

इसी प्रकार के और भी उदाहरण दिए जा सकते है।

(३) क्रमगुणितों म प्रसार

यदि $फ (य) = क + ख य + ग य^{(२)} + \quad ट य^{(म)}$

$[\phi(x) = a + b x + c x^{(2)} + . \ h x^{(m)}]$

तो $\Delta फ (य) = ख + २ ग य + ३ घ य^{(२)} + . . म ट य^{(म-१)}$

$[\Delta\phi(x) = b + 2 c x + 3 d x^{(2)} + \quad m h x^{(m-1)}]$

$\Delta^म फ (य) = म (म-१) \quad २\ १\ ट।$

$[\Delta^m \phi(x) = m(m-1) \quad \ldots 2\ 1\ h]$

यदि हम इनमे से प्रत्येक मे म = ० ($x = 0$) रखें तो हमे प्राप्त होगा,

$फ(०) = क,\ \Delta फ(०) = ख,\ \Delta^२ फ(०) = २ग,. \ \Delta^म फ(०) = १\ २\ \ म ट।$

$[\phi(0) = a,\ \Delta\phi(0) = b,\ \Delta^2\phi(0) = 2c, . . \ \Delta\phi(0) = 1\ 2\ .\ m h]$

$$अत\ फ (म) = फ(०) + \Delta फ(०) म + \frac{\Delta^२ फ(०)}{२!} य^{(२)} + \frac{\Delta^३ फ(०)}{३!} य^{(३)} + . .$$

$$\left[\phi(x) = \phi(0) + \Delta\phi(0) x + \frac{\Delta^2\phi(0)}{2!} x^{(2)} + \frac{\Delta^3\phi(0)}{3!} x^{(3)} + \ .\right]$$

४. $व_य$ (u_x) और अतर श्रेणी के पदो मे $व_{य+स}$ (u_{x+n}) का प्रसार।

हमे हस्तगत है

$$व_{य+स} = व_य + स \Delta व_य + \frac{स(स-१)}{२!} \Delta^२ व_य + \frac{स(स-१)(स-२)}{३!} \Delta^३ व_य + \ldots\ldots$$

$$\left[u_x + h = u_x + n \Delta u_x + \frac{n(n-1)}{2!} \Delta^2 u_x + \frac{n(n-1)\ (n-2)}{3!} \Delta^3 u_x + \ \ldots\right]$$

५ घा—सकेतलिपि (E—notation)

$घा\ व_य \equiv व_{य+१}$ $[E u_x \equiv u_{x+1}]$

Δ वितरणशील है $\Delta (व_य + भ_य + \quad) = \Delta व_य + \Delta भ_य +$

$[\Delta (u_x + v_x + \quad) = \Delta u_x + \Delta v_x + \quad]$

Δ किसी अचर गुणाक के प्रति व्यत्ययशील है।

$\Delta क\ व_य = क\ \Delta व_य$ $[\Delta a u_x = a \Delta u_x]$

$\Delta^स \Delta^ग व_य = \Delta^{स+ग} व_य$ $[\Delta^m \Delta^n u_x = \Delta^{m+n} u_x]$

$घा = १ + \Delta$ $[E = 1 + \Delta]$

$$घा\ व_य = व_{य+१} = व_य + \frac{ताव_य}{ताय} + \frac{१}{२} \frac{ता^२ व_य}{ताय^२} + \ . = घ^{\frac{ता}{ताय}} व_य$$

$$\left[E\ u_x = u_{x+1} = u_x + \frac{du_x}{dx} + \frac{1}{2}\frac{d^2 u_x}{dx^2} + \quad = e^{\frac{d}{dx}} u_x\right]$$

$व_{य+१} = घा\ व_य$ $[u_{x+1} = E\ u_x]$

$व_{य+२} = घा^२ व_य$ $[u_{x+2} = E^2 u_x]$

$व_{य+स} = घा^स व_य = (१+\Delta)^स व_य$ $[u_{x+n} = E^n u_x = (1+\Delta)^n u_x]$

सं० ग्रं०—वूल ट्रिटिज ऑन दि कैलक्युलस ऑव फाइनाइट डिफरेसेज

[ना० गो० श०]

कलविंकक ईरान के साहित्योद्यान का प्रसिद्ध गायक पक्षी है। यह अपने मधुर स्वर के कारण उर्दू फारसी के कवियो द्वारा साहित्य में अमर हो गया है। यह अरब और ईरान में बुलबुल हजार दास्ताँ तथा यूरोप में नाइटिंगेल के नाम से प्रसिद्ध है।

कविकल्पना के अनुसार मादा बुलबुल विरह से व्याकुल होकर अपने सीने को काँटो से दबाकर गाती है। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि अन्य पक्षियो के जोडा बाँधने के समय नर ही नारी को रिझाने के लिये बहुत मीठे स्वर मे बोलता है।

यह यूरोप के दक्षिणी भाग मे पर्याप्त सख्या मे मिलता है, परतु उत्तरी भाग मे बहुत कम या बिल्कुल नही दिखाई पडता। इसकी कई जातियाँ हैं जिनमे ल्युसीनिया मेगारिका (Luscinia megarhyncha) सबसे प्रसिद्ध है। यह जाडो में ईरान, अरब, न्यूबिया, अबीसीनिया, अल्जीरिया तथा गोल्ड कोस्ट तक पहुँच जाता है। कलविंकक छोटा सा ४–५ इच लबा पक्षी है, जिसके नर और मादा एक ही तरह के होते हैं। इसके शरीर का ऊपरी भाग कत्थई और नीचे का राखीपन लिए सफेद रहता है। सीने का रग गाढा और दुम का चटक तथा चमकीला होता है। दूसरा

कलविंकक

कलविंकक (ल्युसीनिया फिलोमैला, Lucinia Philomela) पहले से कद मे कुछ बडा और रग मे उससे चटकीला होता है। यह यूरोप के पूर्वी भाग का निवासी है। तीसरा कलविंकक (ल्युसीनिया हैफिजी Lucinia hafizi) ईरान और अरब का प्रसिद्ध बुलबुल हजार दास्ताँ है, जो इन्ही देशो के आमपास पाया जाता है।

कलविंकक को ईरान मे ठीक ही "बुलबुल हजार दास्ताँ" का नाम मिला है, क्योकि वह बिना दम तोडे, लगातार, घटे घटे भर तक गाता है। वह कई प्रकार मे, हमारे यहाँ के लाल दुमवाले बुलबुल से भिन्न पक्षी है। वह कीटभक्षी पक्षी है जो हमारे देश की ओर नही आता, परतु भारत के शौकीन लोग इसे सैकडो रुपए तक खर्च करके बाहर से मँगवाते हैं और पिंजरो मे पालते हैं।

अन्य पक्षियो की भाँति इसके नर नारी समय आने पर घास फूस, पत्तियो और पतली जडो से अपना ढीला ढाला सा घोसला किसी झाडी में, पृथ्वी पर, अथवा किसी नीची डाल पर, बनाते हैं। नारी इसमे गाढे जैतूनी रग के ४–५ अडे देती है।

चरखी की जाति के दो पक्षी भी "चीनी नाइटिंगेल" तथा "जापानी नाइटिंगेल" के नाम से प्रसिद्ध है, पर वे कलविंकक से भिन्न होते हैं।

[सु० सिं०]

कला शब्द का प्रयोग शायद सबसे पहले भरत के 'नाट्यशास्त्र' में ही मिलता है। पीछे वात्स्यायन और उशनस् ने क्रमश अपने ग्रथ 'कामसूत्र' और 'शुक्रनीति' मे इसका वर्णन किया।

कला का अर्थ अभी तक निश्चित नही हो पाया है, यद्यपि इसकी हजारो परिभाषाएँ की गई है। प्रगट है कि यह शब्द इतना व्यापक है कि विभिन्न विद्वानो की परिभाषाएँ केवल एक विशेष पक्ष को छूकर रह जाती हैं। भारतीय परपरा के अनुसार कला उन सारी क्रियाओ को कहते हैं जिनमें कौशल अपेक्षित हो। यूरोपीय शास्त्रियो ने भी कला मे कौशल को महत्वपूर्ण माना है।

'कामसूत्र', 'शुक्रनीति', जैन ग्रथ 'प्रबधकोश', 'कलाविलास', 'ललितविस्तर' इत्यादि सभी भारतीय ग्रथो में कला का वर्णन प्राप्त होता है। अधिकतर ग्रथो मे कलाओ की सख्या ६४ मानी गई है। 'प्रबधकोश' इत्यादि में ७२ कलाओ की सूची मिलती है। 'ललितविस्तर' में ८६ कलाओ के नाम गिनाए गए है। प्रसिद्ध कश्मीरी पडित क्षेमेंद्र न अपने ग्रथ 'कलाविलास' मे सबसे अधिक सख्या मे कलाओ का वर्णन किया है। उसमे ६४ जनोपयोगी, ३२ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सबधी, ३२ मात्सर्य-शील-प्रभाव मान सबधी, ६४ स्वच्छकारिता सबधी, ६४ वेश्याओ सबधी, १० भेषज, १६ कायस्थ तथा १०० सार कलाओ की चर्चा है। सबसे अधिक प्रामाणिक सूची 'कामसूत्र' की है।

यूरोपीय साहित्य मे भी कला शब्द का प्रयोग शारीरिक या मानसिक कौशल के लिये ही अधिकतर हुआ है। वहाँ प्रकृति से कला का काय भिन्न माना गया है। कला का अर्थ है रचना करना अर्थात् वह कृत्रिम है। प्राकृतिक सृष्टि और कला दोनो भिन्न वस्तुएँ हैं। कला उस कार्य मे है जो मनुष्य करता है। कला और विज्ञान मे भी अतर माना जाता है। विज्ञान मे ज्ञान का प्राधान्य है, कला मे कौशल का। कौशलपूर्ण मानवीय कार्य को कला की सज्ञा दी जाती है। कौशलविहीन या भोडे ढग से किए गए कार्यो को कला में स्थान नही दिया जाता।

'कामसूत्र' के अनुसार ६४ कलाएँ निम्नलिखित है

(१) गायन, (२) वादन, (३) नर्तन, (४) नाट्य, (५) आलेख्य (चित्र लिखना), (६) विशेषक (मुखादि पर पत्रलेखन), (७) चौक पूरना, अल्पना, (८) पुष्पशय्या बनाना, (९) अगरागादिलेपन, (१०) पच्चीकारी, (११) शयन रचना, (१२) जलतरग बजाना (उदक वाद्य), (१३) जलक्रीडा, जलाघात, (१४) रूप बनाना (मेक अप), (१५) माला गूँथना, (१६) मुकुट बनाना, (१७) वेश बदलना, (१८) कर्णाभूषण बनाना, (१९) इत्र आदि सुगधद्रव्य बनाना, (२०) आभूषणधारण, (२१) जादूगरी, इद्रजाल, (२२) असुदर को सुदर बनाना, (२३) हाथ की सफाई (हस्तलाघव), (२४) रसोई काय, पाक कला, (२५) आपानक (शर्बत बनाना), (२६) सूचीकर्म, सिलाई, (२७) कलाबत्तू, (२८) पहेली बुझाना, (२९) अत्याक्षरी, (३०) बुझौवल, (३१) पुस्तकवाचन, (३२) नाटक प्रस्तुत करना, नाटकाख्यायिका दर्शन, (३३) काव्य-समस्या-पूर्ति, (३४) बेत की बुनाई, (३५) सूत बनाना, तुर्क कर्म, (३६) बढईगीरी, (३७) वास्तुकला, (३८) रत्नपरीक्षा, (३९) धातुकर्म, (४०) रत्नो की रगपरीक्षा, (४१) आकर ज्ञान, (४२) बागवानी, उपवनविनोद, (४३) मेढा, पक्षी आदि लडवाना, (४४) पक्षियो को बोली सिखाना, (४५) मालिश करना, (४६) केश-मार्जन-कौशल, (४७) गुप्त-भाषा-ज्ञान, (४८) विदेशी कलाओ का ज्ञान, (४९) देशी भाषाओ का ज्ञान, (५०) भविष्यकथन, (५१) कठपुतली नर्तन, (५२) कठपुतली के खेल, (५३) सुनकर दोहरा देना, (५४) आशुकाव्य क्रिया, (५५) भाव को उल्टा कर कहना, (५६) धोखा धडी, छलिक योग, छलिक नृत्य, (५७) अभिधान, कोशज्ञान, (५८) नकाब लगाना (वस्त्रगोपन), (५९) द्यूतविद्या, (६०) रस्साकशी, आकर्षण क्रीडा, (६१) बालक्रीडा कर्म, (६२) शिष्टाचार, (६३) मन जीतना (वशीकरण), और (६४) व्यायाम।

'शुक्रनीति' के अनुसार कलाओ की सख्या असख्य है, फिर भी समाज मे अति प्रचलित ६४ कलाओ का उसमे उल्लेख हुआ है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की व्याख्या करते हुए जयमगल ने दो प्रकार की कलाओ का उल्लेख किया है—(१) कामशास्त्र से सबधित कलाएँ, (२) तत्र सबधी कलाएँ। दोनो की अलग अलग सख्या ६४ है। काम की कलाएँ २४ हैं जिनका सबध सभोग के आसनो से है, २० द्यूत सबधी, १६ कामसुख सबधी और ४ उच्चतर कलाएँ। कुल ६४ प्रधान कलाएँ है। इसके अतिरिक्त कतिपय साधारण कलाएँ भी बताई गई हैं।

'शुक्रनीति' के अनुसार गणना इस प्रकार हैं :—

(१) नर्तन (नृत्य), (२) वादन, (३) वस्त्रसज्जा, (४) रूपपरिवर्तन, (५) शैय्या सजाना, (६) द्यूत क्रीडा, (७) सासन रतिज्ञान, (८) मद्य बनाना और उसे सुवासित करना, (९) शल्य क्रिया, (१०) पाक कार्य, (११) बागबानी, (१२) पाषाण, धातु आदि से भस्म बनाना, (१३) मिठाई बनाना, (१४) धात्वोषधि बनाना, (१५) मिश्रित धातुओ का पृथक्करण, (१६) धातुमिश्रण, (१७) नमक बनाना, (१८) शस्त्रसचालन, (१९) कुश्ती (मल्लयुद्ध), (२०) लक्ष्यवेध, (२१) वाद्यसकेत द्वारा व्यूहरचना, (२२) गजादि द्वारा युद्धकर्म, (२३) विविध मुद्राओ द्वारा देवपूजन, (२४) सारथ्य, (२५) गजादि की गतिशिक्षा, (२६) बर्तन बनाना, (२७) चित्रकला, (२८) तालाब, प्रासाद आदि के लिये भूमि तैयार करना, (२९) घटादि द्वारा वादन, (३०) रगसाजी, (३१) भाप के प्रयोग—जलवाटवग्नि सयोगनिरोधै क्रिया, (३२) नौका, रथादि यानो का ज्ञान, (३३) यज्ञ की रस्सी बटने का ज्ञान, (३४) कपडा बुनना, (३५) रत्नपरीक्षण, (३६) स्वर्णपरीक्षण, (३७) कृत्रिम धातु बनाना, (३८) आभूषण गढना, (३९) कलई करना, (४०) चर्मकार्य, (४१) चमडा उतारना, (४२) दूध के विभिन्न प्रयोग, (४३) चोली आदि सीना, (४४) तैरना, (४५) बर्तन माँजना, (४६) वस्त्रप्रक्षालन (सभवत पालिश करना), (४७) क्षौरकर्म, (४८) तेल बनाना, (४९) कृषिकार्य, (५०) वृक्षारोहण, (५१) सेवाकार्य, (५२) टोकरी बनाना, (५३) काँच के बर्तन बनाना, (५४) खेत सीचना, (५५) धातु के शस्त्र बनाना, (५६) जीन, काठी या हौदा बनाना, (५७) शिशुपालन, (५८) दडकार्य, (५९) सुलेखन, (६०) ताबूलरक्षण, (६१) कलामर्मज्ञता, (६२) नटकर्म, (६३) कलाशिक्षण, और (६४) साधने की क्रिया।

प्रगट है कि इन कलाओ में से बहुत कम का सबध ललित कला या फाइन आर्ट्स से है। ललित कला—अर्थात् चित्रकला, मूर्तिकला आदि—का प्रसग इनसे भिन्न और सौदर्यशास्त्र से सबधित है। (उसकी सामग्री के लिये देखे 'ललित कला' लेख।) [रा० च० शु०]

कलापक्ष [हायमेनोप्टेरा (Hymenoptera), हायमेन (hymen) =एक झिल्ली, टेरोन (pteron) =एक पक्ष] के अतर्गत चीटियाँ, बर्रे, मधुमक्खियाँ और इनके निकट सबधी तथा आखेटि पतग (उसे देखे) आते हैं। लिनीयस ने १७५८ ई० मे हायमेनोप्टरा नाम उन कीटो को दिया जिनके पक्ष झिल्लीमय होते हैं तथा जिनकी नारियो मे डक होता है। इन कीटो के लक्षण ये है—पक्ष झिल्लीमय, प्राय छोटे और पारदर्शक होते हैं तथा पक्षो का नाडीविन्यास (Venation) क्षीण होता है। अग्रपक्ष की तुलना मे पश्चपक्ष बडा होता है। पश्चपक्ष अग्रपक्ष के पिछलेवाले किनारे मे ठीक ठीक समा जाता है। अग्रपक्ष का पिछला किनारा मुडा रहता है जिसमें पश्चपक्ष के अगले किनारे वाले काँटे (Hamuli) फँस जाते हैं। ये काँटे बहुत ही छोटे तथा एक पक्ति मे होते हैं। कुछ जातियो की नारियाँ पक्षविहीन भी होती हैं, उदाहरणत डेसीबेबरिस अरजेटीपेस (Dasybabris argenti) मे, किंतु नर सदैव पक्षवाले होते हैं। इनके मुखभाग चबाकर खानेवाले (chewing type) या चबाने चाटनेवाले (chewing lapping type) होते हैं। मैडिबल तो चबाने या काटने का कार्य करते है, किंतु लेबियम प्राय एक प्रकार की जिह्वा सी बन जाता है, जिससे पतग भोजन चाटता है। वक्ष के अग्र और मध्य खड का समेकन हो जाता है। उदर प्राय पतला होकर कमरसा बन जाता है और इसके प्रथम खड का वक्ष से सदा ही समेकन रहता है। नारियो में अडरोपक (ovipositor) सदा पाया जाता है, जो काटने तथा छेदने और रक्षक तथा आक्रामक शस्त्र के रूप मे डक मारने का कार्य करता है। इनमे पूर्ण रूपातरण होता है। डिंभ या तो इल्लियो के आकार के या बिना टाँगोवाले होते हैं। उदर की टाँगे, जो पूर्वपाद (Proleg) कहलाती है, पाँच जोडी से अधिक होती है। कलापक्ष की बहुत सी जातियाँ समाजो मे रहती है।

कलापक्ष सर्वाधिक विकसित कीटगणो मे से एक गण है। इस गण की महत्ता केवल इसलिये नही है कि इसकी रचना पूर्ण रीति से हो चुकी है, वरन् इसलिये भी है कि इसमे अत प्रवृत्ति का अद्भुत विकास मिलता है। इसके जीवन के विषय मे पर्याप्त अध्ययन द्वारा ज्ञात हुआ है कि इस कीटगण मे समाज का विकसन किस प्रकार हुआ। कलापक्ष की लगभग ६०,००० जातियो का पता चला है। इनमे से अधिकाश जातियाँ अन्य गणो की जातियो की भाँति एकाकी (Solitary) जीवन ही व्यतीत करती हैं, केवल कुछ ही जातियो मे सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति विकसित हुई है। ये जातियाँ बडे बडे समाजो मे रहती हैं, जैसे मधुमक्खियाँ, बर्रे और चीटियाँ। कलापक्ष की सहस्रो जातियाँ पराश्रयी (parasitic) होने के कारण मनुष्य के लिये बहुत लाभदायक है, क्योकि ये अनेक हानिकारक कीटो को नष्ट कर देती है।

शरीररचना—कलापक्ष सूक्ष्म से लेकर मझोली नाप तक के होते है। दृष्टि तीक्ष्ण होती है, क्योकि इनके नेत्र सयुक्त तथा बडे होते हैं और प्राय तीन सरल नेत्र भी पाए जाते हैं। दोनो लिंगों की शृ गिकाओ मे बहुत भेद रहता है। मधुमक्खी तथा बर्रो के नरो की शृ गिकाओ मे प्राय तेरह खड होते हैं और नारियो की शृ गिकाओ मे बारह खड। क्रकचमक्षी (सॉफ्लाई, Sawfly) के मुखभाग साधारण रूप के होते है और काटने का ही कार्य कर सकते हैं। अधिकतर कलापक्षो मे मैडिबल भोजन काटने के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करते है, जैसे मधुमक्खियाँ अपने छत्ते के लिये मोम ढालने का कार्य मैडिबल से ही करती है। कुछ मधुमक्खियो की जिह्वा बहुत लबी होती है। कतिपय मधुमक्खियो की जिह्वा उनके शरीर की लबाई से भी अधिक होती है। किसी किसी मे अधरोष्ठ (लेबियम, Labium) की स्पर्शनियाँ और ऊर्ध्व हन्वस्थि (मैक्सिला, Maxilla) भी जिह्वा के अनुसार ही लबी हो जाती है और सब मिलकर एक स्पष्ट शुड बना देती है। उदर के दूसरे खड के आकोचन के कारण कमर बन जाती है। पक्षो के नाडीविन्यास मे बहुत भेद पाए जाते है। क्रकचमक्षी मे नाडीविन्यास भली प्रकार विकसित रहता है। कुछ पराश्रयी कलापक्षो के अग्रपक्ष मे केवल एक ही शिरा (वेन, Vein) होती है और कभी वह भी लुप्त हो जाती है। अग्रपक्षो के तल (base) पर छोटे शल्कि के आकार की खपडियाँ (टेगुली, Tegulae) होती हैं, जो कलापक्ष के वर्गीकरण मे एक महत्वपूर्ण लक्षण मानी जाती है। नारियो मे अडरोपक पूर्ण रूप से विकसित रहता है। लाक्षणिक अडरोपक मे तीन जोडी कपाट (वाल्व, Valve) होते है, एक जोडी कपाट मिलकर डक बन जाते है, दूसरी जोडी डक का खोल या म्यान और तीसरी जोडी डक की स्पर्शनियाँ होती हैं। क्रकचमक्षी का अडरोपक अडरोपण के अतिरिक्त पौधो मे अडा रखने के लिये छोटे छोटे छेद भी बनाता है, आखेटि पतग और इसके सबधी इसको अन्य कीटो पर आघात के लिये भी प्रयुक्त करते हैं। मधुमक्खियाँ, बर्रे और कुछ चीटियाँ इसको डक मारने के काम मे लाती है। डक मारने की प्रकृति इन कीटो के अतिरिक्त अन्य किसी भी कीट मे नही पाई जाती।

जनन और विकसन—जनन के सबध मे अत्यत रोचक बात यह है कि इन कीटो मे अधिकतर अनिषेक जनन होता है। मधुमक्खियो मे अनिषिक्त अडो मे से केवल नर ही उत्पन्न होते हैं। द्रुस्फोट बरटो (गॉल वास्प, Gall wasp) के अनिषिक्त अडो से नर और नारी दोनो ही उत्पन्न होते हैं। अनिषिक्त अडो की पीढी और ससेचित अडो की पीढी, एक के पश्चात् एक, क्रमानुसार उत्पन्न होती रहती है। कुछ द्रुस्फोट बरटो मे नर सभवत उत्पन्न ही नही होते। क्रकचमक्षी और भुजततु बरट (कैलसिड, Chalcid) मे भी अधिकतर अनिषेक जनन ही होता है।

जीवन—सिमफायटा (Symphyta) के डिंभ शाकभक्षी होते हैं। जो डिंभ खुले मे रहकर पत्तियाँ खाते हैं, वे इल्लियाँ कहलाते हैं। इनके उदर पर छ जोडी या इससे अधिक टाँगे होती हैं, किंतु पौधो और काष्ठ को छेदनेवाले डिंभो मे टाँगे नही पाई जाती और वक्ष की टाँगे भी क्षीण होकर गुटिका के आकार की बन जाती है। ऐपोक्रिटा (Apocrita) के डिंभ प्राय अपने भोजन के सपर्क मे ही अडे से निकलते है, अत इनको भोजन की खोज नही करनी पडती। इस कारण इनमे अध पतन (डिजेनेरेशन, degeneration) हो जाता है। इनमे टाँगे तो होती ही नही और अन्यान्य विशिष्ट ज्ञानेद्रियो का भी पूर्ण अभाव रहता है। पराश्रयी कलापक्षो मे प्राय अतिरूपातरण (हाइपरमेटामॉर्फोसिस, hypermetamorphosis) होता है, अत डिंभ भी कई प्रकार के होते हैं और एक दूसरे मे अत्यधिक भेद रहता है। उन पराश्रयी

कलापक्षो में जो अपने अडे पोपक से दूर रखते है, अडो से निकले हुए डिंभ बहुत क्रियाशील होते है, क्योकि तभी वे पोपको के पास पहुँच सकते है। पोपक पा जाने के पश्चात् ये पदविहीन डिंभ का आकार धारण कर लेते है। इस प्रकार के डिंभ साधारणतया सभी ऐपोक्रिटा मे पाए जाते है। कुछ जातियाँ वाह्य पराश्रयी (external parasite) होने के कारण अपने मुखभागो से अपने पोपक की देह छेदकर अपना भोजन प्राप्त करती है, किंतु अधिकतर पराश्रयी कलापक्ष आतरिक परजीवी है। आतरिक परजीवियो की नारी अपना अडरोपक पोपक के भीतर घुसाकर एक अडा रख देती है, किंतु जव पोपको की कमी होती है तब एक एक पोषक के भीतर एक से अधिक भी अडा रख दिया जाता है। कुछ परजीवी इतने छोटे होते है कि किसी अन्य कीट के अडे के भीतर ही अपना विकसन पूरा कर लेते है। कुछ परजीवी अपने अडे अन्य कीटो के डिंभ और प्यूपा के भीतर भी रखते है, किंतु प्रौढ के भीतर अडा रखनेवाले परजीवियो की सख्या बहुत थोडी है। पोपक की अत मे मृत्यु हो जाती है। खोदाई करनेवाले वरट अन्य कीटो को पकडकर अपने डिंभो को खिलाते है। ये पकडे हुए कीट प्रत्येक अडे के साथ घरौंदा बनाकर रख दिए जाते है। जव अडे से डिंभ निकलता है तव उसको अपने समीप ही भोजन मिल जाता है। मधुमक्खियाँ केवल पुष्पपराग और पुष्पमकरद ही खाती है और अपने डिंभो के लिये इन्हे एकत्र कर लेती है। इस प्रकार ये कीट अपनी सतान का ध्यान रखते है। सतान का ध्यान रखने की यह प्रवृत्ति अन्य कीटो में नही है। इसी प्रकार इन कीटो के कुछ समुदायो मे सामाजिक जीवन का विकास हुआ है। डिंभ पूर्ण अवस्था को पहुँचने पर कोष (कोकून, cocoon) के भीतर प्यूपा बन जाते है।

सबसे बडे कलापक्ष खोदाई करनेवाले वरटो में मिलते है। इनमे से कोई कोई वरट तीन इच तक लवा होता है। सबसे छोटे कलापक्ष अन्य कीटो के अडो के भीतर रहनेवाले परजीवी हैं। अप्सरा (फेयरी फ्लाइ, Fairy fly) नामक परजीवी केवल ० २१ मिलीमीटर लवा होता है। अधिकतर कलापक्ष भूमि पर रहने और हवा मे उडनेवाले है। केवल अप्सराएँ ही पानी में रहती है। ये अन्य जलवाले कीटो के अडो या डिंभो पर अडा रखने के लिये अपने पक्षो की सहायता से शीघ्रतापूर्वक तैरती रहती हैं। पराश्रयी जातियो की सख्या इस गण की शेप जातियो की सख्या की तुलना में बहुत अधिक है। भूमि पर रहनेवाले कीटो का कोई भी गण इनके आक्रमण से वचा नही है। भूमि मे गहराई पर छेद करके, या ठोस काष्ठ मे, रहने वाले डिंभ भी इनसे वच नही पाते। जिन परजीवियो को वृक्षो के भीतर रहनेवाले पोषको तक अपना अडा पहुँचाने के लिये अपना अडरोपक वृक्षो के भीतर प्रविष्ट करना पडता है उनका अडरोपक बहुत लवा होता है। खोदाई करनेवाले वरट अपने घोसले मे अन्य कीट या मकडियाँ जमा करके रखते है। इन्हे साधारणत डक मारकर केवल निश्चल कर दिया जाता है। कुछ वरट अपने आखेट को मार भी डालते है। किंतु मरा हुआ शिकार सडता नही है, इसलिये ऐसा अनुमान है कि डक मारते समय जो विप शिकार मे पहुँचता है वह शिकार को सडने नही देता।

मधुमक्खियाँ, वर्रे और कुछ चीटियाँ अपना डक अपनी रक्षा के लिये प्रयुक्त करती है। इनके डक की जड पर विशेष प्रकार की बडी ग्रंथि होती है, जिसका स्राव डक मारते समय शत्रु मे प्रविष्ट हो जाता है। यह स्राव शत्रु में क्षोभ उत्पन्न करता है। चीटियो के स्राव मे फॉर्मिक अम्ल होता है।

घोसला या छत्ता बनाना भी कलापक्षो का एक गुण है। खोदाई करनेवाले वरट केवल सादा सा ही बिल धरती मे बना लेते है। कुछ भ्रमरो का घोसला सुरगाकार कई शाखाओवाला होता है। कुछ भ्रमर काष्ठ को छेदकर या वृक्षो के खोखले तनो मे अपना घोसला बनाते है। वर्रे सूखी लकडी को चवा चवाकर और चवाई हुई लकडी मे अपनी लार मिलाकर एक प्रकार का कागज तैयार कर लेती है और इसी कागज का उपयोग अपना छत्ता बनाने मे करती है। सामाजिक मधुमक्खियाँ अपने शरीर से मोम का उत्सर्जन करती है और इसे अपने छत्ते बनाने के काम मे लाती है। कुछ कलापक्ष अपने घोसले नही बनाते, वल्कि दूसरी जातियो के बनाए घोसलो मे ही रहने लगते है। ऐसे कलापक्ष अधिवासी इनक्विलाइन (inquiline) कहलाते है। छत्तेवासियो द्वारा अपने डिंभो के लिये लाया गया भोजन भी कभी कभी अधिवासियो के डिंभ खा जाते है। कुछ अधिवासी कलापक्ष ऐसे भी है जो छत्ते वासियो के डिंभो को भी खा जाते है और इस प्रकार वास्तविक परजीवी बन जाते है। कलापक्षो का सबसे रोचक लक्षण है इनका सामाजिक जीवन। (देखे सामाजिक कीट)।

हानि और लाभ——सिमफायटा उपगण की जातियो के तथा क्रकचमक्षियो के डिंभ अत्यधिक हानिकारक होते है। अथेलिया प्रॉक्सिमा (Athelia proxima) नामक क्रकचमक्षी के डिंभ पत्ती खाते है और इस प्रकार मूली, सरसो आदि को हानि पहुँचाते है। ऐपोक्रिटा उपगण की केवल थोडी सी ही जातियाँ हानिकारक है, अधिकतर जातियाँ लाभदायक है। ईकोफायला स्मारग्डीना (oecophylla smaragdina) आम आदि फलो के वृक्षो के लिये हानिकारक है। ये अपने घोसले इन वृक्षो पर पत्तियो से बनाते है। डोरीलस ओरिएटैलिस (Dorylus orientalis) ईख को हानि पहुँचाता है। परतु ऐपोक्रिटा से मनुष्य को अनेक लाभ है। मधुमक्खियाँ और इनके सबधी अनेक फलदार वृक्षो तथा पौधो के फूलो का परागण करते है। एक बहुत ही सुदर उदाहरण अजीर का कीट (ब्लैस्टोफागा, Blastophaga) है। मधुमक्खियाँ (एपिस डोरसेटा और एपिस इडिका, Apis dorsata and Apis Indica) मधु और मोम देती है। पराश्रयी कलापक्ष भी अत्यत लाभदायक सिद्ध हुए है, क्योकि मनुष्य हानिकारक कीटो को नष्ट करने मे उनका उपयोग करने लगा है। ट्राइकोग्रामा माइन्यूटम (Trichogrima minutum) और फेनुरस बेनीफीसियस (Phanurus beneficiens) ईख के भीतर रहनेवाले कीटो के अडो मे अपने अडे रखकर उनका नाश कर देते हैं। स्टेनोब्रेकॉन निसिविली (Stenobracon nicivillei) इन कीटो के डिंभो के परजीवी है। टेट्रास्टिकस पायरीली (Tetrastichus pyrillae) ईख के फतिंगो के अडो का परजीवी है। ये सब परजीवी ईख के इन हानिकारक कीटो को नष्ट करने मे उपयुक्त होते है। ऐफीलिनस माली (Aphelinus mali) सेब की ऊनी लाही (woolly aphis) को नष्ट करने के लिये कश्मीर मे उपयोग किया गया है।
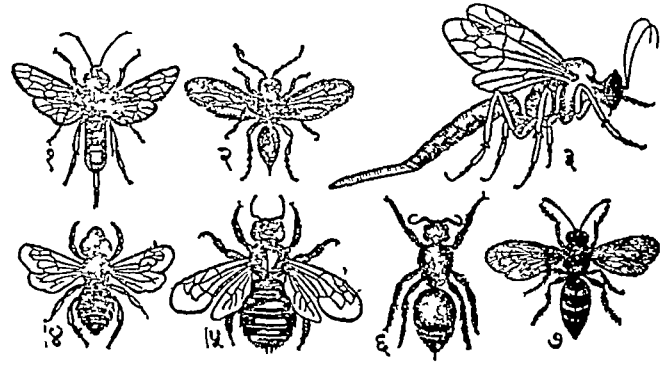
विविध कलापक्ष

१ शृगपुच्छ या काष्ठवरह (सिरिसिडी, Siricidae horntail), लवाई ३० मि० मी०, २ गुलावमाजू का वर्रे (सिनिपिडी, Cynipidae Rose-gall wasp), ३ स्त्री आखेटि पतग (पिम्प्ला पोमोरम, Ichneumon fly pimpla pomorum), ४ पर्णकर्तक मधुमक्खी (मेगाकिलिडी, Megachilidae Leafcutter bee), लवाई १२ मि० मी०, ५ तक्षक मधुमक्खी (ज़ाइलोकॉपिडी, Xylocopidae carpenter bee), लवाई १२ से० २० मि० मी०, ६ पखहीन या मखमली वर्रे (म्यूटिलिडी, Mutilidae Velvet ant, Sphaerophthalma), लवाई १२ मि० मी०, ७ मृदालेपक वर्रे (स्फेसिडी, Sphecidae Mud-dauber wasp, Sphecius)।

भौगोलिक वितरण——कलापक्ष बहुत शीतल भागो के अतिरिक्त प्राय सारे ससार मे पाए जाते है। मधुमक्खियाँ केवल उन्ही देशो में मिलती है जहाँ फूलवाले पौधे उगते हैं, क्योकि इनका

जीवन फूलो पर ही निर्भर होता है। तक्षक मधुमक्खी (Carpenter bee) की अधिकतर जातियाँ उष्ण प्रदेशो तक ही सीमित हैं, किंतु गुंज-मधुमक्खी (बंबल बी, Bumble bee) की जातियाँ समशीतोष्ण भागो में भी पाई जाती हैं।

भूवृत्तीय वितरण—कलापक्ष के पूर्वज प्र कलापक्ष थे जिनकी उत्पत्ति अवर गिरियुग (लोअर परमियन, Lower Permian) मे हुई थी और जिनके कुछ अस्तित्वावशेष कानसस के अवर गिरियुग की चट्टानो मे पाए जाते हैं। कलापक्ष का विकास सबसे पहले उत्तर महासरट (अपर-जूरैसिक, upper Jurrasic) युग मे हुआ और इनके अस्तित्वावशेष बवेरिया की इस युग की चट्टानो मे मिले हैं। तृतीयक (टरशियरी, Tertiary) युग में इस गण की चीटियाँ, मधुमक्खियाँ तथा कुछ अन्य जातियाँ भी उत्पन्न हो गई थी। ये जातियाँ आधुनिक जातियो से लगभग मिलती जुलती थी।

वर्गीकरण—*कमर की स्थिति या अभाव के आधार पर कलापक्ष दो* उपगणो मे विभाजित किए गए हैं। सिमफायटा (Symphyta) उपगण मे उदर के अगले खड अन्य खडो की भाँति ही चौडे होते हैं और पूरी चौडाई द्वारा वक्ष से जुडे रहते हैं, अर्थात् इनमे कमर का अभाव रहता है। इनका अडप्रस्थापक छेद करने या काटने का कार्य करता है और डक का काम कभी नही देता। दूसरे उपगण ऐपोक्रिटा (Apocrita) मे उदर के अगले खड अन्य खडो की तुलना मे बहुत पतले होते हैं और इस प्रकार कमर बन जाती है। इनमे अडप्रस्थापक ही प्राय डक का काम देता है।

सं० ग्रं०—आर० इ० स्नॉडग्रास ऐनाटोमी ऐंड फिज़ियालॉजी ऑव दि हनी बी (१९५६), रामरक्षपाल कीटो मे सामाजिक जीवन (१९५६), ए० डी० इस ए जेनरल टेक्स्ट बुक ऑव एटोमॉलोजी, रिवाइज्ड बाई ओ० डब्ल्यू० रिचर्ड् स ऐड आर० जी० डेविस (१९५७), एच्० एम० लेफराय इडियन इसेक्ट लाइफ (१९०९), टी० वी० आर० अय्यर ए हैंडबुक ऑव इकोनामिक एटोमॉलोजी फॉर साउथ इडिया (१९४०)।   (रा० र०)

क़लाख् कलाह, कला—प्राचीन असीरिया अथवा असुर देश का नगर जो मोसुल से लगभग १९ मील दक्षिण दजला और उपरली जाब नदियो के सगम पर कभी बसा था। असुरो की प्राचीन राजधानी 'असुर' और पश्चात्कालीन राजधानी निनेवे के बीच की सदियो मे कला उनकी राजधानी रहा। सभवत इसका निर्माण १३६५ ई० पू० में हुआ था। और जब राजधानी बदलकर राजनीतिक कारणो से निनेवे चली गई तब भी कला (कलाख्) का महत्व बना रहा क्योकि, चदेल राजाओ के कालिंजर की तरह, वही नगर असुर सैन्य शक्ति का सर्वदा केंद्र रहा। असुरो के साम्राज्य मे जितने भी ऐसे सैनिक षड्यत्र हुए जिनका सबध असुर देश से था, सब इसी कला मे रचे गए।

पिछली खुदाइयो मे कलाख् के विविध राजाओ द्वारा निर्मित अनेक राजप्रासादो के खडहर मिले हैं। इन खडहरो की शिल्पकला प्राचीन सभ्यता मे मूर्धन्य है। लदन के ब्रिटिश म्यूजियम में रखे पखधारी विशाल सिंह कलाख् से ही प्राप्त हुए थे। पखधारी सिंह और वृषभ, असुर राजाओ के महलो के द्वार पर, द्वारपालो के जोडे की तरह, प्रतिष्ठित होते थे। कलाख् सभवत सभ्यता का प्राचीनतम नगर था जिसके चारो ओर परकोटा खिचा था। इसी गढनुमा रूप के कारण अरबी मे 'किला' शब्द का दुर्ग के अर्थ मे प्रयोग हुआ जो मध्यपूर्व के सभी देशो और पाकिस्तान, भारत आदि मे इसी अर्थ मे रूढ हो गया है। पिछले युगो की काहिरा की प्रसिद्ध मस्जिद अल्-किला का नाम इसी नगर के नाम पर पडा है। पहले भारत और अब पाकिस्तान का 'कलात' भी इसी नगर से, 'सज्ञा' की दृष्टि से, सबधित है। ईरानी शब्द 'कलई', जिसका उपयोग भारत मे भी सामान्य रूप से होता है, इसी नगर के नाम से सबधित है। ईरानियो ने असुरो और उनकी राजधानी कला (कलाख्) का पराभव करके भी बहुत कुछ उनसे सीखा था और उनसे वे असाधारण प्रभावित हुए थे। असुरो का अपने अभिलेखो मे यह दावा करना कि राष्ट्रो द्वारा हमारे शिल्पियो के लिये इतनी माँग आ रही है कि हम उसे पूरा नही कर सकते—क़ला की खुदाइयो में मिली अगणित शिल्प सामग्री से बहुश प्रमाणित है। भारतीय वास्तु और लक्षण साहित्य मे मय असुर का नाम शिल्पाचार्यो के रूप में प्रस्तुत और स्वीकृत हुआ।

कलात पहले ब्रिटिश भारत का और इसके उपरात पाकिस्तान का एक स्वतत्र राज्य था, जो १२ अप्रैल, १९५२ ई० से बलूचिस्तान के अन्य स्वतत्र राज्य, लास बेला, खरान, और मकरान के साथ पाकिस्तान मे समिलित कर लिया गया। कलात राज्य का क्षेत्रफल ५९,०९८ वर्ग मील था और जनसख्या २,८३,००० थी (१९५१)। १९४७ ई० मे पाकिस्तान के निर्माण के उपरात भी कलात एक स्वतत्र राज्य था और बलूचिस्तान के उपर्युक्त तीनो स्वतत्र राज्यो पर भी सामान्यत कलात का खान ही राज्य करता था। पाकिस्तान मे समिलित होने पर एक आज्ञा द्वारा पाकिस्तान सरकार ने कलात के वर्तमान खान को, अपने अतिम समय तक के लिये, उपर्युक्त राज्यो के अध्यक्ष पद पर रहने की स्वीकृति दे दी है। तदुपरात अध्यक्ष का चुनाव शासको की एक सभा द्वारा हुआ करेगा।

इस राज्य का मुख्य नगर कलात है जो क्वेटा से ८८ मील दक्षिण २९°२' उ० अ० और ६६°३५' पू० देशातर पर समुद्रतल से ६,७८० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। जनसख्या २,४६३ है (१९४१)। यह नगर दीवारो से घिरा है, परतु अब इनके बाहर भी आबादी का विस्तार हो गया है। कलात के खान का राजभवन एक दर्शनीय गढ के भीतर स्थित है, परतु नगर के अधिकाश गृह मिट्टी द्वारा निर्मित हैं। उपर्युक्त गढ के चारो ओर स्थित घाटियाँ घनी बसी हैं जिनमे ऊँचाई की अधिकता तथा तापक्रम की विषमता होते हुए भी खेती खूब होती है। यह नगर कुज़दर, गडावा, नुश्की, क्वेटा और अन्य नगरो को जानेवाले यात्रीमार्गो का केंद्र है। इस नगर पर १८३९ ई० मे अग्रेजो ने अपना अधिकार जमाया था।

(सु० प्र० सि०)

कलाल अर्थात् शराब बनाने एव बेचनेवाले। इनको कल्यपाल और कलवार भी कहा जाता है। इस प्रकार का व्यापार करनेवालो की प्राचीन काल मे कोई विशेष जाति नही थी। वह समाज कर्मसिद्धात पर आधारित था। किंतु कालातर मे जन्मना सिद्धात के जोर पकड़ने के कारण एव श्रमणो का भी भारतीय समाज पर प्रभाव होने के कारण क्रमश इनका भी एक वर्ग बना और ये हेय दृष्टि से देखे जाने लगे, अछूत तक समझे जाने लगे। कलाल अथवा कलवार का छुआ पानी पीने मे आज भी कहीं कहीं लोगो को आपत्ति होती है। समाज की इस छुआछूत की भावना के बीच इन लोगो के आत्मस्वातत्र्य की भावना दबने लगी थी। परिणामस्वरूप इस बिरादरी के कई विचारको ने इससे त्राण पाने के हेतु प्रयास किया। क्षत्रिय होना समानित समझा जाता था। फलत कलवारो के इतिहास की खोज की जाने लगी और बिरादरी सभा उसके 'हैहय क्षत्रिय' होने के निष्कर्ष पर पहुँची। अब उस सभा ने कलालो को क्षत्रिय घोषित किया।

कलालो को प्राचीन काल मे 'शौंडिक' कहते थे। शौंडिक शुंडिक से बना है। शुंडिक मद्य चुआने के शुडाकृतिक भबके को कहते हैं और भबके (घडे) से मद्य चुआनेवाले व्यक्ति को शौंडिक। शौंडिक के रूप में इनका उल्लेख रामायण, महाभारत, स्मृतियो, धर्मशास्त्रो, और पुराणो आदि मे हुआ है। 'शूँडी' कलालो की एक उपजाति का नाम भी है। पाणिनि ने शौंडिक नामक आय का उल्लेख किया है। मद्य विभाग से प्राप्त आय का यह नाम था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि इस प्रकार का व्यापार करनेवाले व्यक्तियो को लाइसेंस दिया जाता था और उनसे दैवसिकमत्ययम् (लाइसेंस फीस) लिया जाता था।

मोनियर विलियम्स ने अपनी 'ए सस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी' मे शौंडिको को सकर वर्ण का कहा है। उन्होंने लिखा है—कुछ लोगो के मतानुसार वे कैवर्त पिता और गाधिक माता की सतान थे; दूसरो के अनुसार वे निष्ठ्य पिता और शूद्रा माँ की सतान थे। मनुस्मृति उनका उल्लेख जातियो (सकर) में करती है, किंतु महामहोपाध्याय डा० गगानाथ झा ने मनुस्मृति पर टिप्पणी लिखते हुए शौंडिको को 'द्विज' कहा है। व्यावसायिक लाभ के लिये अनेक जाति के लोगो ने इस पेशे को स्वीकार किया होगा, क्योकि कलालो मे चालीस उपजातियाँ हैं, सभवत इन्ही किन्ही कारणो से पुरानी परिभाषा में इसको सकर कहा गया। सत्य क्या है, यह तो कहा नही जा सकता क्योकि यह तो एक व्यवसाय था जिसको लाभ की दृष्टि से सपूर्ण देश मे किया जाता था। किंतु डा०

मोनियर विलियम्स का यह कहना कि वे निष्ठ्य पिता और शूद्रा मा की सतान थे, ठीक नही लगता। वैश्य भी 'द्विज' कहे गए है। पर, चूँकि वे शराब बनाने और बेचने का व्यवसाय करते थे, कालातर मे, श्रमण-विचारधारा से अनुप्राणित होने के कारण समाज की दृष्टि मे वे हेय और अस्पृश्य समझे जाने लगे। शिक्षा दीक्षा से उनका सबध टूट चला था। परिणाम स्वरूप ही, आज भी, कई राज्यो मे उनको 'पिछडे वर्ग' मे गिना जाता है। भारतीय सविधान मे भी उनका परिगणन 'अनुसूचित' जातियो मे हुआ है। [प्र० कु० जा०]

कलिंग कलिंग नाम देश (जनपद), राज्य और नगर तीनो के लिये प्रयुक्त हुआ है। कलिंग देश वैतरणी और गोदावरी नदियो के बीच पूर्वी समुद्रतट के भूखड को कहते है। समय समय पर कलिंग देश की सीमा घटती वढती रही है। कभी कभी इसकी सीमा गगा के मुहाने से गोदावरी तक विस्तृत थी पर अधिकतर महानदी और गोदावरी नदियो के बीच मे सीमित थी। (दे० मानचित्र, पृ ३०८)

प्राचीन साहित्य और अभिलेखो मे कलिंग का उल्लेख प्राच्य जनपदो और राज्यो मे हुआ है। पाणिनि के अनुसार कलिंग एकराज जनपद था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे अग और कलिंग के हाथी श्रेष्ठ कहे गए हैं। महाभाष्य, महाभारत, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण, भागवतपुराण, रघुवश, बृहत्सहिता, दशकुमारचरित और काव्यमीमासा मे भी कलिंग का उल्लेख हुआ है। कलिंग देश मौर्यो के पूर्ववर्ती मगधसम्राट् नद के साम्राज्य का अग था। पर मौर्य चद्रगुप्त और बिंदुसार के काल मे यह स्वतत्र हो गया। प्लिनी ने तत्कालीन कलिंग राज्य की शक्तिशालिनी सेना का वर्णन किया है। सम्राट् अशोक ने भीषण युद्ध कर कलिंगविजय की, जिसका मार्मिक वर्णन उसके अभिलेखो मे हुआ है। उसके काल मे कलिंग की राजधानी तोसली थी जिसकी ध्वनि धौली (भुवनेश्वर से ५ मील दक्षिण) नाम मे, जहाँ अशोककालीन अभिलेख और विशाल गजमूर्ति प्राप्त हुई है, जीवित है। ई० पू० दूसरी या प्रथम शताब्दी मे खारवेल कलिंग का प्रतापी राजा हुआ। अभिलेखो मे खारवेल को कलिंगाधिपति और कलिंगचक्कवती कहा गया है और उसकी राजधानी को कलिंगनगर, जिसको शिशुपालगढ नामक प्राचीन स्थान, (भुवनेश्वर से $1\frac{1}{2}$ मील दक्षिण-पूर्व) से अभिन्न माना गया है। अभिलेखो के अनुसार कलिंग नगर के द्वार, प्राकार, भवन और उपवन तूफान मे नष्ट हो गए थे, इनकी खारवेल ने मरम्मत करवाई और नहर तथा मदिर बनवाकर नगर की शोभा बढाई। चौथी सदी मे कलिंग छोटे छोटे राज्यो मे बँटा था जो गुप्त साम्राज्य मे समिलित कर लिए गए। पाँचवी शती मे मध्य कलिंग मे पितृभक्त कुल के तथा दक्षिण कलिंग मे माठर और वासिष्ठ वशो के राजा क्रमश सिंहपुर (वर्तमान सिंगुपुरम्, श्रीकाकुलम् के निकट) और पिष्टपुर (वर्तमान पिठापुरम्, जिला पूर्व गोदावरी) से राज करते थे। पर इनसे अधिक पराक्रमी गग राजा थे जिनका कलिंग पर ६ठी से ८वी सदी तक और बाद मे १०वी से १३वी सदी तक अधिकार रहा। ६ठी और ७वी सदियो मे थोडे काल के लिये शशाक और हर्षवर्धन की भी यहाँ सत्ता रही। उसी समय यहाँ चीनी यात्री युआनच्वाङ आया जिसका वृत्तात उपलब्ध है। गगो की राजधानी कलिंगनगर थी जिसकी पहिचान वशधारा नदी पर स्थित श्रीकाकुलम् जिले के मुखलिंगम् और कलिंग-पत्तनम् से की गई है। इनकी दूसरी राजधानी दतपुर मे थी जो इन दोनो स्थानो के बीच मे है। महावस्तु के अनुसार दतपुर कलिंग का प्रधान नगर था। स्पष्ट है कि समय समय पर कलिंग में छोटे बडे अनेक राज्य हुए जिनकी राजधानियाँ विभिन्न स्थानो मे थी। कलिंग के प्राय सभी राजा अपने को 'कलिंगाधिपति' और अधिकतर गग राजा 'त्रिकलिंगाधिपति' कहते थे। 'त्रिकलिंग' के सही अर्थ के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है।

बर्मा और मलय द्वीप मे भी कलिंग शब्द प्रचलित है। मलय साहित्य में क्लिंग भारत को कहते है जिससे ज्ञात होता है कि एशिया के द्वीपातरो में भारतीय सस्कृति के प्रसार मे कलिंग का बहुत बडा हाथ रहा है। [कृ० दे०]

कलियुग प्राचीन पौराणिक परपरा मे सृष्टि के सपूर्ण काल को आनुश्रुतिक और ज्योतिष परपराओ के आधार पर चार युगो मे बाँटा गया—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि मूलत ये चारो युग देशजीवन की विशेषताओ की लाक्षणिक रूप से अभिव्यक्ति मात्र करते थे और उनके एक एक श्लोको के अनुसार शयन करता हुआ कलि है, जँभाई लेता हुआ द्वापर, उठता हुआ त्रेता और चलता हुआ कृत अर्थात् सतयुग है। पुराणो से भी इसी स्थिति की पुष्टि होती है। गुप्तवशी राजाओ के आसपास तक के इतिहास का वर्णन कर चुकने के बाद भविष्य के इतिहास का अत करते हुए वे कलियुगी राजाओ और कलियुग के अनेक दोषो का वर्णन करते है तथा मानव जीवन की गिरी हुई एक अवस्थाविशेष की ओर निर्देश करते है। कल्कि अवतार द्वारा उस गिरी हुई दशा का अत होगा, यह उनकी भविष्यवाणी है। प्रसिद्ध ज्योतिषी और गणितज्ञ आर्यभट्ट ने महाभारत युद्ध का समय और उसी के अत के साथ कलियुग का प्रारभ ३,१०२ ई० पू० में निश्चित किया था, जिसकी स्वीकृति रविकीर्ति ने अइहोड के लेख (६३३ ई०) मे की। परतु वृद्ध गर्ग, वराहमिहिर और कल्हण जैसे कुछ अन्य गणितज्ञ ज्योतिषियो और इतिहासलेखको ने उसका प्रारभ महाभारत युद्ध के ६३५ वर्ष पूर्व माना। स्पष्ट ही परपराओ मे भेद है। कुछ ऐसे भी विद्वान् है जो कलियुग का प्रारभ मनुवैवस्वत के युग से मानते है। लेकिन साधारण विश्वास यही है कि महाभारत युद्ध के अत तथा कृष्ण की मृत्यु और पाडवो के हिमगलन के साथ ही कलियुग का प्रारभ हुआ और परीक्षित इस युग के सबसे पहले राजा थे। पुराण ग्रथ भी भविष्य के कलियुगी राजाओ का वर्णन वही से शुरू करते है। परतु उसके प्रारभ की ठीक ठीक तिथि निश्चित करने में निर्णय सबधी अनेक भेद इसलिये होगे ही कि महाभारत युद्ध का काल ही अभी निश्चित नही। उसका समय अनेकानेक विद्वानो द्वारा अलग अलग निश्चित किया गया है। [वि० पा०]

कलिल के लिये अँग्रेजी मे कॉलायड (colloid) शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द ग्रीक भाषा के कोला शब्द से बना है जिसका अर्थ सरेस होता है। सन् १८६१ ई० मे एक अँग्रेज वैज्ञानिक, टामस ग्राहम, ने देखा कि ऐल्ब्यूमिन, सरेस, गोद, माँड, सिलिसिक अम्ल और इसी प्रकार के अन्य पदार्थ जल मे घोले जाने पर जैव झिल्ली के छिद्रो से छनकर नही निकल पाते। इसके विपरीत शर्करा, यूरिया, सोडियम क्लोराइड इत्यादि के जलविलयन जैव झिल्ली के छिद्रो से निकल जाते है। पूर्व प्रकार के पदार्थ अधिकाश में अमणिभीय रूप मे मिलते है और दूसरे प्रकार के पदार्थ साधारणत मणिभीय रूप मे पाए जाते है। इस गुण के आधार पर जल मे विलेय पदार्थो का दो वर्गो मे विभाजन किया गया एक वे पदार्थ, जो मणिभीय थे और जल मे विलयन के पश्चात् जैव झिल्ली के छिद्रो से बहिर्गत हो सकते थे, क्रिस्टलॉयड (crystalloid) कहलाए, और दूसरे वे, जो अमणिभीय थे और जल मे घोलने पर जैव झिल्ली के छिद्रो से निकलने मे समर्थ नही हो सकते थे, कलिल कहलाए। किंतु अब यह सिद्ध हो गया है कि शर्करा और सोडियम क्लोराइड आदि मणिभीय पदार्थ भी उपयुक्त माध्यम मे कलिल के रूप मे प्राप्त किए जा सकते है।

कलिलावस्था में कलिल कण एक अविच्छिन्न माध्यम में बिखरे रहते है। इस प्रकार कलिलो मे दो सघटक रहते है। नीचे की सूची मे पहला नाम माध्यम का और दूसरा नाम वितरित पदार्थ का है

(१) ठोस+ठोस (माणिक के रग का काँच, कुछ मिश्र धातुएँ)
(२) ठोस+द्रव (जेली)
(३) ठोस+गैस (ठोस फेन)
(४) द्रव+ठोस (आलबन या suspension)
(५) द्रव+द्रव (पायस)
(६) द्रव+गैस (फेन, झाग)
(७) गैस+ठोस (धुआँ, अतरिक्ष धूलि)
(८) गैस+द्रव (कुहरा, बादल)

कलिलकणो का आकार विशेष महत्वपूर्ण है। आकार में कलिलकण अणुओ से बडे होते है, किंतु ऐसे सभी कणो से, जो सूक्ष्मदर्शी से देखे जा सकते है, ये आकार में छोटे रहते है। इनका विस्तार 10^{-5} से० मी० से 10^{-7} से० मी० तक होता है।

यद्यपि ऊपर दी गई सूची के प्रत्येक मेल के कलिल प्राप्त किए जा सकते हैं, फिर भी (४) और (५) प्रकार के कलिल अधिक प्रयुक्त होते हैं और इन्ही का अध्ययन भी अधिक विस्तारपूर्वक किया गया है। जल के माध्यम मे वितरित ठोस या द्रव के कलिल को सौल (Sol) कहा जाता है। कार्बनिक और अकार्बनिक दोनो प्रकार के पदार्थ अनेक रूपो मे कलिलावस्था मे पाए जाते हैं। वैज्ञानिक या प्राविधिक, कदाचित् ही कोई ऐसी शाखा हो जिसमे कलिलो का महत्वपूर्ण उपयोग न होता हो। अपनी इसी महत्ता के कारण कलिल विज्ञान का विकास विशेष रूप से होता गया है।

कलिलो का वर्गीकरण——कलिलो के गुणो मे भेद होने की दृष्टि से उन्हे दो प्रधान वर्गो मे विभाजित किया गया है। पहले वर्ग मे धात्वीय प्रकार के कलिल, जैसे स्वर्ण कलिल आदि, हैं और दूसरे वर्ग मे प्रोटीन प्रकार के कलिल हैं, जैसे जिलेटीन आदि। इनके विशेष गुण निम्नलिखित हैं

	धात्वीय प्रकार के कलिल	प्रोटीन प्रकार के कलिल
(१)	अप्राकृतिक अकार्बनिक कलिल।	प्राकृतिक कलिल।
(२)	सांद्रण साधारणत तनु।	सांद्रण बढाना सभव है।
(३)	आस्थिर और विद्युद्विश्लेष्यो के प्रति सवेदनशील।	विद्युद्विश्लेष्यो के अधिक सांद्रण से अवक्षिप्त किए जा सकते हैं।
(४)	अवक्षेपण पर रूक्ष कणो का निर्माण होता है।	जेली के रूप मे अवक्षेपण होता है।
(५)	अवक्षिप्त पदार्थ को पुन कलिल मे परिवर्तित करना असभव।	अवक्षिप्त पदार्थ को पुन कलिल रूप देना सभव।
(६)	कलिल माध्यम के प्रति विशेष बधुता नही दिखाता। इससे फूलता नही।	कलिल माध्यम के प्रति विशेष बधुता दिखाता है और फूल जाता है।
(७)	श्यानता लगभग वही होती है जो साधारणत माध्यम की होती है।	श्यानता माध्यम से अधिक होती है।
(८)	तीव्र प्रकाशकिरण के प्रभाव से उच्च टिंडल प्रभाव दिखाता है।	तीव्र प्रकाशकिरण के प्रभाव से विशेष टिंडल प्रभाव नही दिखाता।

इन दोनो प्रकार के कलिलो के लिये जिन शब्दो का विशेष प्रयोग होता है वे हैं जलसत्रासी (hydrophobic) और जलप्रेमी (hydrophilic)। इन्हे अँग्रेजी मे क्रमानुसार लायोफोबिक (lyophobic) और लायोफिलिक (lyophilic) भी कहा जाता है। यह वर्गीकरण पूर्णरूपेण सतोषजनक नही कहा जा सकता, क्योकि कतिपय कलिलो के कुछ गुण दोनो चरम वर्गो के अपेक्षित गुणो के मध्यवर्ती होते हैं। इस प्रकार के जलकलिलो मे कुछ धात्वीय ऑक्साइडे या हाइड्रॉक्साइडे, कुछ अविलेय फास्फेट, मॉलिब्डेट, टगस्टेट इत्यादि है। कुछ लोग कलिलो को आलवाभ और पायसाभ के दो वर्गो मे विभाजित करते हैं। इनके अतिरिक्त कलिलो का एक तीसरा वर्ग भी है जो अब विशेष महत्वपूर्ण हो गया है। यह वर्ग कलिलीय विद्युद्विश्लेष्य कहलाता है। साबुन का जलकलिल इसका लाक्षणिक उदाहरण है। इन जलकलिलो मे विद्युच्चालकता भी होती है। परिष्कारको के रूप मे अब इनका अधिक उपयोग होने लगा है।

ब्राउनीय गति——कलिलो मे अतिसूक्ष्मदर्शी (ultra-microscope) की सहायता से ब्राउनीय गति को देखा जा सकता है। विलयनो मे यह क्रिया नही होती। जब एक तीव्र किरणावली केंद्रित करके जलकलिल के मध्य से भेजी जाती है तब किरणपथ दृश्याभ हो जाता है और वहिर्गत किरणें ध्रुवत्व प्राप्त कर लेती है। इसके कारण हैं कलिलकणो के आकार और प्रकाश के तरगदैर्घ्य मे समानता तथा वितरित पदार्थ के वर्तनांक का अविच्छिन्न माध्यम के वर्तनांक से अधिक होना। शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी की सहायता से टिंडल के प्रभाव द्वारा कलिलकणो को देखा जा सकता है।

इस प्रकार देखे जाने पर कलिककण प्रकाशित तारो की भाँति दिखाई पडते हैं। साथ ही इनकी गति तीव्र, अनियमित और निरतर होती है। इस गति को ही ब्राउनियन गति कहते हैं। इसी गति से पदार्थो के गत्यात्मकता-सिद्धात के विचारो की प्रायोगिक पुष्टि हुई है। आवोगाड्रो नियताक को इस सिद्धात के अनुसार निकालने पर यह सिद्ध हो गया है कि प्रायोगिक त्रुटि का विचार करके इस विधि से निकाले गए आवोगाड्रो-नियताक के मान अन्य विधियो से निकाले गए इस नियताक के मान से साम्य रखते हैं। पेरिन ने मैस्टिक गोद के कलिल पर परीक्षा करके आवोगाड्रो नियताक का मान $६ ५ \times १०^{२३}$ निकाला है। प्रयोग मे उपयुक्त मैस्टिक गोद के कलिल कणो का अर्धव्यास $६ ५ \times १०^{-४}$ था।

कलिल-निर्माण-विधियाँ——अनेक प्राविधिक विधियो के लिये कलिल निर्मित करना आवश्यक है। जलसत्रासी कलिल ही सरलता से बनाए जा सकते है, क्योकि जलप्रेमी कलिल उत्क्रमणीय है। जलसत्रासी कलिलो के निर्माण के लिये कई विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। इन विधियो को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है——(१) एकीकरण और (२) विघटन। पहली विधि मे आणवीय आकार के कणो को धीरे धीरे तब तक बढाया जाता है जब तक वे कलिलो का आकार नही प्राप्त कर लेते और उनके अधिक बढने की गति किसी स्थायित्व प्रदान करनेवाले पदार्थ की उपस्थिति से, अथवा किसी जलप्रेमी कलिल के मिला देने से, नियत्रित कर दी जाती है। इस विधि से कई धातुएँ, हाइड्राक्साइडे, अविलेय लवण तथा फोटोग्राफी मे काम आनेवाली रजत हैलाइडे कलिलावस्था मे निर्मित की गई हैं। दूसरी विधि से बडे बडे कणो को छोटे छोटे कणो मे विभाजित किया जाता है। ब्रेडिग विधि मे धातुओ के बडे टुकडो को विद्युत् आर्क की सहायता से तोडकर धात्वीय कलिल प्राप्त किए जाते हैं। इस कारण इस विधि को विघटन की विधि कहा जाता है, किंतु वास्तव मे ये कलिल भी एकीकरण की विधि से ही बनते हैं। आर्क के उच्च ताप पर धातु वाष्पीकृत हो जाती है। फिर वाष्प के अति सूक्ष्म कण एकीकृत होकर कलिलकणो का आकार प्राप्त कर लेते हैं। वास्तव मे विभाजन द्वारा कलिल बनाने का प्रमुख साधन कलिल-मिल है। इस यत्र मे दो प्लेटे, जो एक दूसरे के अत्यत समीप रहती हैं, परस्पर विपरीत दिशा मे घूमती हैं। वितरित किया जानेवाला पदार्थ उचित माध्यम के साथ इन दोनो प्लेटो के बीच से भेजा जाता है। इस प्रकार कण छोटे होकर कलिल कणो का आकार ग्रहण कर लेते हैं।

दोनो मे से किसी भी विधि से निर्मित कलिलो के शोधन के लिये उन्हे मणिभाभ पदार्थ से अपोहन (डायालिसिस, dialysis) द्वारा पृथक् किया जाता है। ऐसा करने के लिये कलिल को पार्चमेट या सेलोफेन के झोले मे रखा जाता है। इस झोले को अब शुद्ध विलायक मे रख दिया जाता है। यह विलायक ही कलिल का माध्यम होता है। वैद्युत् अपोहन से शोधन अधिक पूर्ण और शीघ्र सपन्न किया जा सकता है।

कलिलो का स्थायित्व (Stability)——जलप्रेमी कलिल अत्यत स्थायी होते हैं और विद्युद्विश्लेष्य की लघुमात्राओ के प्रति निष्क्रिय होते है। इनका स्थायित्व उनकी माध्यम मे विलेयता के कारण होता है। इन कलिलकणो का बाह्य तल माध्यम के अणुओ से ढका रहता है। इस प्रकार बाह्यतल की मुक्त ऊर्जा नगण्य रहती है। इससे ये कण आकार मे बढने मे असमर्थ रहते है। इसके अतिरिक्त यह देखा गया है कि जलप्रेमी कलिल माध्यम का अतरतलीय तनाव कम कर देते हैं। इस प्रभाव से भी कलिलो का स्थायित्व नियत्रित रहता है।

जलसत्रासी कलिलो का स्थायित्व कलिलकणो पर स्थित आवेश के कारण होता है। कलिल कणो के बाह्य तल पर आवेश का सृजन उनके द्वारा अधिशोषित आयनो के कारण होता है। किसी विद्युद्विश्लेष्य के मिलाने पर कलिलकणो के तल पर का आवेश क्षीण हो जाता है और धीरे धीरे ऐसी स्थिति आ जाती है जब विद्युद्विश्लेष्य की निम्नतम सांद्रता पर कलिल कणो का तल एकीकरण की शक्तियो का विरोध कर पाने मे असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार विद्युद्विश्लेष्य का वह निम्नतम सांद्रण, जो किसी कलिल की एक निश्चित मात्रा के अवक्षेपण मे समर्थ होता है, कलिल का अवक्षेपण मान कहा जाता है। साधारणत विद्युद्विश्लेष्य के उस आयन की सयोजकता, जो कलिलकण के आवेश के विपरीत हो, जितनी ही अधिक होती है, विद्युद्विश्लेष्य की अवक्षेपण शक्ति भी उतनी ही अधिक प्रबल होती है।

जलसत्रासी कलिलो को विद्युद्विश्लेष्यो से सुरक्षित रखने के लिये उनमे जलप्रेमी कलिल मिला दिए जाते हैं। इस विधि को सरक्षण विधि कहते हैं। स्वर्णकलिल को जिलेटिन की सूक्ष्म मात्रा से अवक्षिप्त किया

जा सकता है, किंतु इस प्रोटीन की अधिक मात्रा इस कलिल को स्थायित्व प्रदान करती है।

जिगमोडी के अनुसार किसी कलिल सरक्षक का स्वर्णमान कलिल सरक्षक के मिलीग्रामो की वह सख्या है जिसकी उपस्थिति मे स्वर्ण के १० घन सेंटीमीटर प्रामाणिक कलिल को सोडियम क्लोराइड के ऐसे १ घन से० मी० विलयन द्वारा, जिसका सांद्रण १० प्रति शत हो, अवक्षिप्त किया जा सके। कलिल का सरक्षण विशेष महत्व रखता है और अत्यत प्राचीन समय से इसका व्यवहार होता रहा है।

कलिलो का वद्युत गुण—यह पहले ही कहा जा चुका है कि कलिल कणो पर आवेश रहता है। कलिल पर आवेश का प्रकार ज्ञात करने के लिये सरल अवशोषण प्रयोग किए जा सकते हैं। धनात्मक कलिल सिलिका जेली द्वारा और ऋणात्मक कलिल ऐल्यूमीनियम हाइड्राक्साइड द्वारा अवशोषित कर लिए जाते हैं। जलसत्रासी कलिल के स्थायित्व के लिये आवेश का स्थान प्रमुख है। आवेश का प्रकार पदार्थ के भौतिक स्वभाव पर और कलिल को स्थायित्व प्रदान करनेवाले विद्युद्विश्लेष्य पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, यदि रजत आयोडाइड के सौल को ले तो उसपर आवेश का प्रकार धनात्मक या ऋणात्मक दोनो ही हो सकता है। यदि कलिल में रजत नाइट्रेट का सूक्ष्म आधिक्य हुआ तो सौल धनात्मक होगा। इसके विपरीत यदि पोटैसियम आयोडाइड का अधिक्य हुआ तो सौल ऋणात्मक हो जायगा। यह देखा गया है कि धनात्मक रजत आयन के अधिमान्य अधिशोषण के कारण रजत आयोडाइड कलिल का आवेश धनात्मक और आयोडाइड के ऋणात्मक आयन के अधिशोषण के कारण इस कलिल का आवेश ऋणात्मक हो जाता है।

कलिलीय तल पर आवेश की मात्रा और विभव धन-विद्युत्-सचारण (कैटाफोरेसिस, cataphoresis) द्वारा परिमापित किए जाते हैं। सौल को यू नली मे भरा जाता है जिसमे दो प्लैटिनम के विद्युदग्र रहते हैं। अब सौल मे दिष्ट विद्युद्धारा प्रवाहित की जाती है। यदि कण धनाग्र की ओर वढते हैं तो उनपर ऋणात्मक विद्युत् आवेश रहता है और यदि वे ऋणाग्र की ओर वढते हैं तो उनपर धनात्मक आवेश रहता है। विद्युत् क्षेत्र मे कणो की इस प्रकार की गति धन-विद्युत्-सचारण कहलाती है। यह गति उपयुक्त प्रकाशीय विधियो द्वारा सुविधापूर्वक मापी जा सकती है। वेग के मापन द्वारा विद्युद्विभव की गणना की जा सकती है। इस विभव को साधारणत वैद्युत्-गत्यात्मक-विभव कहा जाता है। यह वद्युत्-गत्यात्मक विभव उस समय भी देखा जाता है जव विद्युद्विश्लेषीय विलयन को किसी सरध्र तनुपट से होकर भेजा जाता है। दो अन्य सबधित क्रियाओ पर भी अनुसधान किए गए हैं। ये हैं धाराविभव और अवक्षेपण विभव।

वैद्युतिक गत्यात्मक विभव नर्न्स्ट वैद्युत् रासायनिक विभव सेभिन्न है। अब सिद्ध हो गया है कि वैद्युतिक रासायनिक विभव वह विभव है जो वितरित कला (फेज़) और वितरण माध्यम के मुख्य आयतन के बीच होता है। वैद्युतिक-गत्यात्मक विभव वह विभव है जो उस वितरित कला से सलग्न द्विक तल के स्थिर भाग और वितरण माध्यम के मुख्य आयतन के बीच होता है। वितरित कला से सलग्न द्विकतल का वास्तविक स्वभाव अब भी कल्पना का विषय है। फिर भी यह ज्ञात कर लिया गया है कि वैद्युत् गत्यात्मक विभव उपस्थित आयनो से विशेष प्रभावित होता है।

कलिलो की रसाकर्षण दाब (ऑस्मॉटिक प्रेशर, osmotic pressure)—गैस के नियम कलिल विलयनो पर ठीक बैठते है, इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। किसी कलिल की रसाकर्षण दाब की गणना नीचे लिखे समीकरण द्वारा की जा सकती है

$$\text{दा} = \text{र ता}\frac{\text{मा}}{\text{नि}} \quad \left[P=RT\frac{n}{N}\right]$$

जहाँ मा (n) वितरित पदार्थों की प्रति एकक आयतन में मात्रा तथा नि(N) आवोगैड्रो नियताक है। अब चूँकि मा(n) कण के आकार का प्रतिलोमानुपाती होता है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कलिल की रसाकर्षण दाब कम होनी चाहिए और वितरण की मात्रा के आधिक्य के साथ इसकी मात्रा भी वढनी चाहिए। इस प्रकार साधारणत सौलो की रसाकर्षण दाब कम ही होती है और जब रसाकर्षण दाब अधिक हो जाती है तो वह मुख्यत अशुद्धियो के कारण ही होती है।

रसाकर्षण दाब का मापन अर्धपारगम्य झिल्ली की सहायता से किया जाता है। विद्युद्विश्लेपण के असमान वितरण से कुछ कलिलो में डोनन-सतुलन नामक क्रिया के कारण जटिलता उत्पन्न होती है। इस तनुपट सतुलन की क्रिया का अध्ययन कागो रेड नामक रग, साबुन तथा अन्य कई कलिलीय विद्युद्विश्लेष्यो पर किया गया है। इन स्थितियो में कलिलीय पदार्थ विद्युद्विश्लेष्य के समान व्यवहार करता है। जब किसी आयन का आकार कलिलकणो के आकार के समान होता है तब तनुपट (membrane) के दोनो ओर विभव का सृजन होता है, जिसे तनुपट विभव कहते हैं। कई प्रोटीन सौलो में तनुपट-विभव सदैव ही उत्पन्न हो जाता है और जीवित सेलो पर आवेश इस तनुपट सतुलन के कारण ही होता है।

कलिलकणो का आकार और रूप—अति सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखने से कलिलकणो का आकार या रूप नही देखा जा सकता। फिर भी कलिलकणो की सख्या गिनी जा सकती है, तब वितरित पदार्थ के पूर्ण आयतन के मान से एक कण का औसत आयतन ज्ञात किया जा सकता है। किंतु जब सौल निर्माण किया जाता है तब उसमे कई आकार के कण उपस्थित रहते हैं।

कलिल कणो का रूप गोलाकार, दडाकार, दीर्घवृत्ताकार या परतदार हो सकता है। कलिलकणो का रूप ज्ञात करने के लिये कई विधियाँ विकसित की गई हैं जो प्रकाशीय गुणो पर आधारित हैं।

जलप्रेमी कलिलो के गुण—इन कलिलो की विशेपता है वितरण माध्यम की श्यानता पर प्रभाव डालना। श्यानता अधिकतर वढ जाती है और वितरित पदार्थ की मात्रा की वृद्धि के साथ शीघ्रता से वढती जाती है। एक विशेष सांद्रण के पहुँचने पर श्यानता इतनी वढ जाती है कि कलिल जेली का रूप ग्रहण कर लेता है। सौल के अवक्षेपण से भी जेली प्राप्त की जा सकती है। जेली का उपयोग सीमित सा है और जिलेटिन, ऐगर ऐगर, स्टार्च आदि के सौलो को शीतल करके जो अर्धपारदर्शक जेलियाँ बनाई जाती हैं उन्हें ही जेली की सज्ञा दी जाती है। अधिकाँश जलप्रेमी कलिल शीतलीकरण पर या गर्म करने पर जेली बनाते हैं। कई अकावनिक जलसत्रासी कलिल भी विशेष परिस्थितियो में जेली के रूप में प्राप्त किए जा सकते हैं। इस प्रकार से कई जलीय हाइड्राक्साइडो, अविलेय फास्फेटो, मोलिब्डेटो की जेलियाँ प्रयोगशाला में बनाई गई हैं। जेली साधारणत तरलमोचन का गुण प्रदर्शित करती है। अधिक समय तक रखने पर जेली सिकुडती तथा चटक जाती है और जेली में बँधा हुआ जल बाहर निकल आता है।

जेलियाँ—जेलियो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है प्रत्यास्थ तथा दृढ। प्रत्यास्थ जेलियाँ साधारणत जिलेटिन, ऐगर आदि प्राकृतिक कलिलो से बनती हैं, किंतु अधिकाश अकार्बनिक जेलियाँ, जिनमे सिलिसिक अम्ल भी रहता है, दृढ व्यवहार दिखाती है। कुछ जेलियो का स्वभाव विचित्र होता है। वे हिलाने पर, आदोलित करने पर, या कर्णातीत तरगो के प्रभाव से पुन सौल में परिवर्तित हो जाती हैं। किंतु यदि अब उन्हे स्थिर रख दिया जाय तो वे फिर जेली बन जाती हैं। यह क्रिया कई बार दुहराई जा सकती है। इस क्रिया को स्पर्शबोध (थिक्सोट्रॉपी, thixotropy) कहते हैं।

जलप्रेमी कलिलो मे प्रोटीनो के सौलो पर विशेष खोजे हुई हैं। इसका कारण है इनका शारीरिक रसायन शास्त्र में महत्व। प्रोटीनो के जो सौल प्राकृतिक अवस्था में पाए जाते हैं वे साधारणत ऋणात्मक आवेशवाले होते हैं। अधिकाश सौल अम्लीय बनाए जाने पर धनात्मक आवेश प्राप्त कर लेते है। इस प्रकार एक विशेष पी एच (p_H) पर प्रोटीन के सौल पर कोई भी आवेश नही होगा। इसे समविद्युत् बिंदु (आइसो-इलेक्ट्रिक प्वाइंट, Iso-electric point) कहते हैं। इसी से प्रोटीन की पहचान होती है। रासायनिक गुणो मे प्रोटीन उभयधर्मी (ऐंफोटेरिक, amphoteric) होता है क्योकि इसमे नाहा, (NH_2) और काओऔहा ($COOH$) दोनो समूह रहते हैं। इस गुण के कारण प्रोटीन बफर का काम देता है। जतुओ के जीवन मे इस गुण का विशेष महत्व है। प्रोटीनो में जलसत्रासी कलिलो को स्थायित्व प्रदान करने का सामर्थ्य रहता है और इनकी स्वर्णसख्या की सहायता से कई रोगो के निदान मे सहायता मिलती है।

उपयोग—कलिलो के समस्त उपयोगो की गणना सभव नही। अधिकाश जैविक तरल पदार्थ, जैसे रक्त आदि, कलिलीय स्वभाव के होते हैं। कैल्सि-यम-साबुन के रूप मे कैल्सियम, स्वर्ण, लौह, वग (राँगा) मैंगनीज, रजत इत्यादि धातुएँ, या उनके अविलेय यौगिक कलिल के रूप मे ओषधियो मे प्रयुक्त होते हैं।

आहार विज्ञान मे कलिलीय पदार्थो पर विचार करना पडता है। ह्यूमस और चिकनी मिट्टी के कलिलीय गुण भूमि की उर्वरता और उसके भौतिक गुणो पर विशेष प्रभाव डालते हैं। रंगे कार्बनिक कलिल हैं और कपडा उद्योग भी कलिलीय उद्योग ही है। छीट के निर्माण मे उपयुक्त होने-वाले रग और छपाई कलिलीय गुणो के कारण ही सपन्न होती है। कुछ अभिकारको मे सेल्यूलोसीय पदार्थ के कलिलीय गुणो पर ही कृत्रिम रेशम का निर्माण आधारित है। साबुन और अपक्षालक कलिलीय पदार्थ हैं और अनेक वस्तु-समूह, यथा चिपकानेवाले पदार्थ, प्लास्टिक, रबर, स्नेहक पदार्थ, तैल रग इत्यादि मे कलिलीय गुण पाए जाते हैं। काच, मृत्तिका तथा सीमेट उद्योग कलिलीय विज्ञान से विशेष रूप से सबद्ध हैं। हमारे अधिकाश आहार, जैसे प्रोटीने, स्टार्च के रूप मे कार्बोहाइड्रेट, वसा आदि भी गुण मे कलिलीय हैं। कलिल रसायन की तकनीक हमारे अनेक भोज्य पदार्थ बनाने मे आवश्यक होती है जैसे पावरोटी, मक्खन, जेली, जाम, पेय, आइसक्रीम आदि। (स० घो०)

कलीनिन सोवियत सघ मे स्थित कलीनिन प्रदेश का मुख्य नगर है और वॉल्गा नदीतट पर मॉस्को नगर से ९६ मील उत्तर-पश्चिम ५६° ५०' उ० अक्षाश और ३५° ३०' पू० देशातर पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम त्विवर है। यह महत्वपूर्ण औद्योगिक केंद्र है और यहाँ की निर्मित वस्तुओ मे लोहे एव इस्पात के सामान, सूती कपडा और चमडे का सामान उल्लेखनीय है। कलीनिन प्रदेश और कलीनिन नगर की जनसख्या क्रमानुसार ३ २,११, ४३९ और २, १६, १३१ थी (१९३९ ई०)। पहले यह प्रदेश एक स्वतत्र राज्य था, परतु १९४० ई० मे मॉस्को प्रदेश के साथ मिला दिया गया। इसका वर्तमान नाम मिखाइल ईवानोविच कलीनिन के समान हेतु रखा गया है। [सु० प्र० सिं०]

कलीनिनग्राद सोवियत सघ मे स्थित कलीनिनग्राद प्रदेशका मुख्य नगर है। यह ५४°४४' अक्षाश और २०°३१' पू० देशातर पर बाल्टिक सागरतट पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम कोनिग्ज-बर्ग है। यह नगर प्रेगल नदी पर इसके मुहाने से ४॥ मील दूर स्थित है। १९०१ ई० मे यहाँ एक नहर के निर्माण से अब बडे स्टीमर भी बाल्टिक सागर से आ जा सकते हैं। यह महत्वपूर्ण औद्योगिक नगर है। यहाँ की निर्मित वस्तुओ मे लोहे एव इस्पात के सामान, तागा, ऊनी कपडे और रासायनिक पदार्थ उल्लेखनीय हैं। नगर की स्थापना १२५५ ई० मे हुई थी। इसका वर्तमान नाम मिखाइल ईवानोविच कलीनिन के समानार्थ रखा गया था। विश्वविख्यात दार्शनिक काट का जन्म इसी नगर मे १७२४ ई० मे हुआ था। इसकी कुल जनसख्या ३, ६८, ४३३ थी (१९३९)। [सु० प्र० सिं०]

कलीम अथवा मिर्जा अबू तालिब १७वी शती ई० का भारतवर्ष का अत्यत प्रसिद्ध फारसी कवि हुआ है। उसका जन्म हमदान मे हुआ किंतु वह अधिक समय काशान मे रहा, अत उसे काशानी तथा हमदानी दोनो ही कहा जाता है। मुगल शाहशाह सम्राट् जहाँगीर (१६०५–१६२७ ई०) के समय मे वह दक्षिणी भारत के कई स्थानो की सैर करता हुआ उत्तरी भारत पहुँचा किंतु १६०९ ई० मे वह पुन अपने देश चला गया। परतु भारत की याद उसके हृदयपट से कभी न मिट सकी और वह शीघ्र ही भारत लौट आया और आजीवन यही निवास करता रहा।

जहाँगीर के दरबार मे तो उसे अधिक उन्नति न प्राप्त हो सकी क्योकि नूरजहाँ बेगम उसकी शायरी से प्रभावित न थी, किंतु शाहजहाँ (१६२८-१६५६ ई०) ने उसे अत्यधिक आश्रय प्रदान किया। शाहजहाँ के साथ १६४५ ई० मे वह कश्मीर पहुँचा और वह प्रदेश उसे इतना पसद आया कि उसने वही निवास करने की अनुमति ले ली और १६५२ ई० मे वही उसकी मृत्यु हुई। शाहजहाँ ने उसे मलिकुश्शुअरा (कवियो के सम्राट्) की उपाधि प्रदान की। उसने शाहजहाँ के दरबार की अनेक छोटी छोटी घटनाओ के सबध मे कविताएँ लिखी और 'पादशाहनामा' अथवा 'शाहजहाँनामा' नामक एक बृहत् काव्य की भी रचना की जिसमे शाहजहाँ के राज्य का सक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण दिया है।

कलीम को भारतवर्ष से तो अत्यधिक प्रेम था ही, साथ ही हिंदी से भी उसे बड़ी रुचि थी। उसने अपनी कविताओ मे अनेक हिदी शब्दो का प्रयोग किया है। धोबी, चपा, गुडहल, नीम जैसे शब्दो के प्रयोग उसने अपने शेरो मे बडी सुदरता से किए हैं। भारत के अनेक व्यवसायो, कारीगरियो, फूलो, तथा फलो के विषय मे भी उसने कविताओ की रचना की। उसके दीवान मे गजल, कसीदे तथा मसनवियाँ, सभी प्रकार की कविताएँ मिलती हैं और उसके शेरो की सख्या लगभग २४ हजार बताई जाती हैं। उसका दीवान नवलकिशोर प्रेस (लखनऊ) से १८७८ ई० मे प्रकाशित हो चुका है।

स०ग्र०—मौलाना शिबली नोमानी शेरुल अजम, भाग ३, स्प्रैंगर ए कैटलाग ऑव दि मैनस्क्रिप्ट्स ऑव दि लाइब्रेरीज ऑव किंग ऑव अवध, रियु कैटलाग ऑव दि परशियन मैनस्क्रिप्ट्स इन दि ब्रिटिश म्युजियम। [सैं० अ० अ० रि०]

कलोल १ गुजरात राज्य के महेसाणा जिले के दक्षिण भाग मे स्थित एक ताल्लुका हे जो क्षेत्रफल मे २६७ वर्ग मील है। इस ताल्लुके का मुख्य नगर कलोल है जो २३° १५' उ० अक्षाश और ७२° ३२' पू० देशातर पर पश्चिम रेल मार्ग की दिल्ली-अहमदाबाद शाखा के अहमदाबाद—महेसाणा खड पर, अहमदाबाद नगर से १५ मील उत्तर स्थित हे। कुल जनसख्या २२,४३२ (१९५१) थी। यह नगर खाद्यान्न के व्यापार का महत्वपूर्ण केंद्र है।

२ गुजरात राज्य के पचमहाल जिले के दक्षिण-पश्चिम भाग मे स्थित एक ताल्लुका है जो क्षेत्रफल मे ४१४ वर्ग मील है। इस ताल्लुके का मुख्य नगर कलोल है जो २२° २५' उ० अक्षाश और ७३° ३०' पू० देशातर पर पश्चिम रेल मार्ग की दिल्ली—बबई शाखा के बडौदा—गोध्रा खड पर बडोदरा नगर से लगभग ३८ मील उत्तर-पूर्व स्थित है। [सु० प्र० सिं०]

कल्प (१) इस नाम के चार व्यक्ति हुए हैं जिनमे एक राजा उत्तानपाद के पुत्र प्रसिद्ध भक्त ध्रुव के पुत्र थे। इनकी माता शिशुपाल की कन्या भ्रमी थी। इनकी विस्तृत कथा श्रीमद्भागवत मे दी हुई है। इनके भाई का नाम वत्सव था। दूसरे कल्प यदुवशी वसुदेव के पुत्र थे जिनकी माता का नाम उपदेवा था। उपदेवा के दस पुत्र हुए जिनमे कल्प के अतिरिक्त राजन्य तथा वर्ष भी थे। इनकी कथा भी भागवत मे है। तीसरे कल्प हिरण्यकशिपु की बहन सिंहिका के तेरह पुत्रो मे से एक थे। इनके पिता का नाम विप्रचित्ति था। इनकी कथा मत्स्यपुराण मे है। चौथे कल्प एक महर्षि थे जिनकी कथा स्कदपुराण मे मिलती है। इन्होने सिधुपति विश्वावसु की एक कन्या को पाला था जिसका विवाह नेपाल के राजा दुर्दर्श से हुआ।

(२) सृष्टिक्रम और विकास की गणना के लिये कल्प हिंदुओ का एक परम प्रसिद्ध मापदड है। जैसे मानव की साधारण आयु सौ वर्ष है, वैसे ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की भी आयु सौ वर्ष मानी गई है, परतु दोनो गणनाओ मे बडा अतर है। ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहलाता है, उसके बाद प्रलय होता है। प्रलय ब्रह्मा की एक रात है जिसके पश्चात् फिर नई सृष्टि होती है। चारो युगो के एक चक्कर को चतुर्युगी अथवा पर्याय कहते हैं। १००० चतुर्युगी अथवा पर्यायो का एक कल्प होता है। ब्रह्मा के एक मास मे तीस कल्प होते हैं जिनके अलग अलग नाम है, जैसे श्वेत वाराह कल्प, नील लोहित कल्प आदि। प्रत्येक कल्प के चौदह भाग होते हैं और इन भागो को मन्वतर कहते हैं। प्रत्येक मन्वतर का एक मनु होता है, इस प्रकार स्वायभुव, स्वारो-चिष् आदि चौदह मनु हैं। प्रत्येक मन्वतर के अलग अलग सप्तर्षि, इद्र तथा इद्राणी आदि भी हुआ करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के आज तक ५० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, ५१ वे वर्ष का प्रथम कल्प अर्थात् श्वेतवाराह कल्प प्रारभ हुआ हे। वर्तमान मनु का नाम वैवस्वत मनु है और इनके २७ चतुर्युगी बीत चुके हैं, २८ वे चतुर्युगी के भी तीन युग समाप्त हो गए हैं, चौथे अर्थात् कलियुग का प्रथम चरण चल रहा है।

युगो की अवधि इस प्रकार हे—सत्युग १७,२८,००० वर्ष, त्रेता १२, ९६,००० वर्ष, द्वापर ८,६४,००० वर्ष और कलियुग ४,३२,००० वर्ष।

अतएव एक कल्प चार अरब बत्तीस करोड (४,३२,००,००,०००) वर्ष का हुआ। [रा० द्वि०]

कल्पना (इमेजिनेशन) विगत प्रत्यक्षज्ञानात्मक अनुभवो (पास्ट पर्सेप्चुअल एक्स्पीरिएन्सेज) का बिंबो और विचारो (इमेजेज ऐंड आइडियाज़) के रूप में, विचारणात्मक स्तर पर, रचनात्मक नियोजन कल्पना है। कल्पना की मानसिक प्रक्रिया के अंतर्गत वास्तव में दो प्रकार की मानसिक प्रक्रियाएँ निहित है—प्रथम, विगत सवेदनशीलताओ का प्रतिस्मरण, बिंबो एव विचारो के रूप अर्थात् स्मृति, द्वितीय, उन प्रतिस्मृत अनुभवो की एक नए सयोजन में रचना। लेकिन कल्पना मे इन दोनो प्रकार की क्रियाओ का इतना अधिक समिश्रण रहता है कि न तो इनका अलग-अलग अध्ययन ही किया जा सकता है और न इनकी अलग अलग स्पष्ट अनुभूति ही व्यक्तिविशेष को हो पाती है। इसी कारण कल्पना को एक उच्चस्तरीय जटिल प्रकार की मानसिक प्रक्रिया कहा जाता है।

कल्पना एव चिंतन की मानसिक प्रक्रियाओ की प्रकृति इतनी अधिक समान होती है कि साधारण भाषा मे कभी कभी इनका पर्यायवाची शब्दो के रूप में प्रयोग किया जाता है। समानता की दृष्टि से, दोनो ही क्रियाओ मे विगत अनुभवो का प्रतिस्मरण तथा उनका नया सयोजन तैयार करना है, एव दोनो ही क्रियाएँ व्यक्ति की असतुष्ट आवश्यकताओ और इच्छाओ की सतुष्टि का मार्ग खोजने के लिये उत्पन्न होती है। लेकिन दोनो के उद्देश्य भिन्न होते है। कल्पना अवास्तविक, अतार्किक एव काल्पनिक रचनात्मक हल आवश्यकताओ की सतुष्टि के लिये खोजती है, चिंतन का उद्देश्य हमेशा तार्किक एव वास्तविक हल खोजना है और इसीलिये इसे तार्किक (रीजनिंग) क्रिया के नाम से भी पुकारा जाता है। चिंतन की क्रिया तब तक प्रारभ नही होगी जब तक कोई वास्तविक समस्या आवश्यकताओ की सतुष्टि के मार्ग मे उपस्थित न हो। लेकिन कल्पना अवास्तविक और काल्पनिक समस्याओ की उपस्थिति से भी प्रारभ हो सकती है।

कल्पना को भी दो प्रकारो मे बाँटा जाता है। प्रथम प्रकार की कल्पना के अंतर्गत दिवास्वप्न और मानसिक उडाने आती है जिनकी सहायता से व्यक्ति एक काल्पनिक जगत् का निर्माण करता है, जो वास्तविक जगत् की तुलना मे उसकी आवश्यकताओ की सतुष्टि के लिये अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार की कल्पना से सभी सामान्य व्यक्ति लाभान्वित होते है तथा अपनी भौतिक असमर्थता के मानसिक कुप्रभाव से अपनी रक्षा करते है। किंतु इस प्रकार की कल्पना की बारबारता मानसिक रोगियो का एक प्रधान लक्षण बन जाती है जिसके फलस्वरूप विचित्र भ्रमो (डेल्यूजन्स) का निर्माण होता है। दूसरे प्रकार की कल्पना सृजनात्मक (क्रिएटिव) नाम से अभिहित होती है जिसके अंतर्गत ऐसी काल्पनिक उडाने गिनी जाती है जिनके द्वारा साहित्यिक, कलात्मक, वैज्ञानिक, सृजनात्मक रचनाकार्य होते है। सृजनात्मक रचनाएँ प्रतिभाशाली व्यक्ति ही कर पाते है। सृजनात्मक कल्पना का विश्लेपण करते हुए प्रतिभाशाली हेलमहोल्त्स (Helmholtz), प्वांकार (Poincare), ग्रैहम वैलेस (Graham Wallis) आदि ने इसकी चार अवस्थाएँ बताई है—तैयारी (प्रिपरेशन), निलायन (इन्क्यूबेशन), उच्छ्वसन (इस्पिरेशन) तथा प्रमापन (वेरिफिकेशन)। प्रथम अवस्था मे सृजनकर्ता विभिन्न तथ्यो तथा निरीक्षणो को एकत्रित करके अपनी समस्या और उद्देश्य की वास्तविकता की परीक्षा करता है। दूसरी अवस्था मे कोई स्पष्ट प्रगति दृष्टिगत नही होती लेकिन, वास्तव में, विभिन्न उपकल्पनाओ (हाइपाथेसेस) का आतरिक मनन चलता रहता है। सबसे महत्वपूर्ण तीसरी अवस्था ही है जिसमे दैवी प्रेरणा सी प्राप्त होती है और सृजन कार्य हो जाता है। अगर यह सृजन कार्य वैज्ञानिक उपकल्पना के रूप में है तो उसकी सत्यता को प्रमाणित (वेरिफाई) करना होता है तथा, अगर वह साहित्यिक वा कलात्मक सृजन कार्य है तो उसे, अपने अपने प्रकाशन के माध्यमो से व्यक्त करना होता है। मनोवैज्ञानिक रौसमैन (Rossman, १९३१), मनके (Meinecke), तथा प्लैट (Platt) और बेकर (Baker, १९३१), ने अनुसधानकर्ताओ एव वैज्ञानिकों मे, एव सी० पैट्रिक (१९३५), महोदया ने कवियो एव चित्रकारो से जो तथ्य प्राप्त किए है वे सृजनात्मक कल्पना की इन चारो अवस्थाओ का समर्थन करते है।

कल्पना के शारीरिक आधार के सबध मे भी दो प्रकार के सिद्धात प्रचलित है। पहला, केंद्रीय सिद्धात (सेंट्रल थियरी) के अनुसार, जो प्राचीन सिद्धात है, कल्पना मस्तिष्क की जटिल क्रियाओ पर आधारित है और उसका ही एक अग है। दूसरा प्रेरक या परिधि सिद्धात (मोटर ऐंड पेरिफेरल थियरी) के नाम से प्रसिद्ध है जिसके अनुसार कल्पना चूकि एक व्यवहार है इसलिये इसके अतर्गत भी साधारण व्यवहार की ही भांति ज्ञानेंद्रियो, मस्तिष्क तथा मासपेशियो की शारीरिक क्रियाएँ होती है। इस सिद्धात का समर्थन विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रयोगो के माध्यम से जैकबसन (१९३२), मैक्स (१९३५), शा (१९४०), आसेरिंस्की और क्लाइतमान (१९५३) आदि ने किया है और यही सिद्धात दिनोदिन अधिक मान्य होता जा रहा है। [ओ० प्र० क०]

कल्माषपाद इक्ष्वाकुवशीय नरेश ऋतुपर्ण के पौत्र तथा सुदास के पुत्र (सौदास)। इनका अन्य नाम मित्रसह भी था। इनकी रानी मदयती थी जिन्हे इन्होने वसिष्ठ की सेवा मे अर्पित किया (म० भा० शाति० २३४-३०)। पौराणिक इतिवृत्त है कि एक समय वन से मृगया से लौटते हुए तग रास्ते पर वसिष्ठपुत्र शक्ति मुनि से मार्ग देने के प्रश्न पर विवाद हुआ। राजा ने मुनि का तिरस्कार किया। शक्ति मुनि ने इन्हें राक्षस होने का शाप दिया। विश्वामित्र ऋषि से प्रेरित किंकर नामक राक्षस ने इनके शरीर मे प्रवेश किया। राक्षस-स्वभाव-युक्त होने का शाप एक तपस्वी ब्राह्मण ने भी दिया था जिससे इन्होने अपने रसोइए को मनुष्य का मास देने को प्रेरित किया। राक्षस स्वभाव से युक्त होकर शक्ति तथा वसिष्ठ के अन्य पुत्रो का भक्षण कर लिया। इसी अवस्था मे इन्होने मैथुन के लिये उद्यत एक ब्राह्मण का भक्षण कर लिया था अत ब्राह्मणपत्नी आंगिरसी ने इन्हे अपनी पत्नी से समागम करते ही मृत्यु होने का शाप दिया। वसिष्ठ ने राक्षस योनि से इनका उद्धार मत्रपूत जल छिडककर किया और पुन ब्राह्मणो का अपमान न करने का आदेश दिया। वसिष्ठ ने इनकी पत्नी के गर्भ से अश्मक नामक पुत्र उत्पन्न किया। [च० भा० पा०]

कल्याण महाराष्ट्र राज्य मे थाना जिले का एक दक्षिणी ताल्लुका जो क्षेत्रफल मे २६७ वर्ग मील है। इस ताल्लुके का मुख्य नगर कल्याण है जो १९° १४′ उ० अ० और ७३° १०′ पू० दे० पर उल्हास नदी के तट पर स्थित है। मुबई नगर से ३३ मील उत्तर-पूर्व और 'मध्य रेल मार्ग' यहाँ दो मुख्य शाखाओ मे विभक्त हो जाता है। मुबई नगर के समीप स्थित होने के फलस्वरूप कल्याण नगर की जनसख्या तीव्र गति से बढ रही है और १९४१–५१ के दशक मे लगभग दुगनी हो गई है। कुल जनसख्या ५८,९०० है (१९५१)। मुख्य उद्योग धान साफ करना और ईंटे बनाना है, समीपवर्ती क्षेत्रो में जमीन से पत्थर खोदने का कार्य भी होता है। इस नगर के औद्योगीकरण की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। इसकी उत्तम खाडी नौका विहार एव मछली पकडने के लिये अनुकूल है। यहाँ पर मुसलमानो का मेला मई के महीने मे हर वर्ष बडे धूमधाम से लगता है।

कल्याण नगर का नाम प्राचीन शिलालेखो में भी मिलता है जो सभवत पहली, दूसरी, पाँचवी या छठी सदी ई० काल के है। ईसा काल की आरभिक शताब्दियों में यह नगर एक राज्य की राजधानी और समुद्रवर्ती व्यापार का केंद्र था। १४ वी सदी ई० के आरभ मे मुसलमान शासको ने इसका नाम बदलकर इसलामाबाद कर दिया। १५३६ ई० मे पुर्तगालियो ने इस पर आधिपत्य जमाया। १७८० ई० मे अंग्रेजो ने मराठो से जीतकर इस नगर को अपने अधीन कर लिया। (कृ० प्र० सि०)

कल्लिदाहकुरिच्चि मद्रास राज्य मे तिरुनेलवेली जिले के अ... समुद्रम् ताल्लुक का एक नगर है जो ८°४१′ ... अ० और ७७°२७′ पू० दे० पर ताम्रपर्णी नदीतट पर स्थित ... कुल जनसख्या २०,०१९ थी (१९५१)। यहाँ का सूती वस्त्रोद्योग महत्व... है। समीपवर्ती क्षेत्र कृषि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और यह नगर खाद्य... के सग्रह और वितरण का मुख्य केंद्र बन गया है। (कृ० प्र० सि०)

कल्हण (११५० ई०) विश्वविख्यात ग्रथ राजतरगिणी (११... ५० ई०) का रचयिता कल्हण कश्मीर के महाराज हर्ष (१०८९–११०१) के महामात्य चपक का पुत्र था और सगीतमर्मज्ञ ...

का अग्रज। मख ने श्रीकंठचरित (११२८-४४) (स० २५, श्लो० ७८-२०) में कल्याण नाम के इसी कवि की प्रौढता को सराहा है और इसे महामंत्री अलकदत्त के प्रश्रय में 'बहुकथाकेलिपरिश्रमनिरकुश' घोषित किया है।

वास्तव में कल्हण एक विलक्षण महाकवि था। उसकी 'सरस्वती' रागद्वेष से अलेप रहकर 'भूतार्थचित्रण' के साथ ही साथ 'रम्यनिर्माण' में भी निपुण थी, जभी तो बीते हुए काल को 'प्रत्यक्ष' बनाने में उसे सरस सफलता मिली है। 'दुष्ट वैदुष्य' से बचने का उसने सुरुचिपूर्ण प्रयत्न किया है और 'कविकर्म' के सहज गौरव को प्रणाम करते हुए उसने अपनी प्रतिभा का सचेत उपयोग किया है। इतिहास और काव्य के सगम पर उसने अपने 'प्रबंध' को शात रस का 'मूर्धाभिषेक' दिया है और अपने पाठको को **राजतरगिणी** की अमद रसधारा का आस्वादन करने को आमन्त्रित किया है।

सच तो यह है कि कल्हण ने 'इतिहास' (इति ह आस) को काव्य की विषयवस्तु बनाकर भारतीय साहित्य को एक नई विधा प्रदान की है, और राष्ट्रजीवन के व्यापक विस्तार के साथ साथ मानव प्रकृति की गहराइयो को भी छू लिया है। शात रस के असीम पारावार में शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स और करुण आदि सभी रस हिलोरे लेते दिखाए गए हैं, और बीच बीच में हास्य और व्यंग के जो छीटे उडते रहते हैं वे भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। **क्षेमेंद्र** के बाद कल्हण ने ही तो सामयिक समाज पर व्यंग कसकर संस्कृत साहित्य की एक भारी कमी को पूरा करने में योग दिया है।

इतिहासकार के नाते नि सदेह कल्हण की अपनी सीमाएँ हैं, विशेषकर प्रारंभिक वंशावलियो और कालगणना के बारे में। उसके साधन भी तो सीमित थे। पर खेद की बात है कि अपनी विवशता से सतर्क रहने के बजाय उसने कुछ लोकप्रचलित अंधविश्वासो को अयुक्तियुक्त मान्यता दी, जैसे **रणादित्य** के ३०० वर्ष लबे शासन की उपहास्य अनुश्रुति को। किंतु यह भी कम सराहनीय नही कि चौथे तरंग के अंतिम भाग से अपने समय तक अर्थात् ३८८६ लौकिक शक (८१३-१४ ई०) से ४२२५ लौ० शक (११४६-५० ई०) तक उसकी कालगणना और इतिहास सामग्री विस्तृत और विश्वसनीय है। अपने पूर्ववर्ती 'सूरियो' के ११ ग्रथो और 'नीलमत' (पुराण) के अतिरिक्त उसने प्राचीन राजाओ के 'प्रतिष्ठाशासन', 'वास्तुशासन', 'प्रशस्तिपट्ट', 'शास्त्र' (लेख आदि), भग्नावशेष, सिक्के और लोकश्रुति आदि पुरातात्विक साधनों से भी यथेष्ट लाभ उठाने का गवेषणात्मक प्रयास किया है, और सबसे बडी बात यह कि अपने युग की अवस्थाओ और व्यवस्थाओं का निकट से अध्ययन करते हुए भी वह अपनी टीका टिप्पणी में बेलाग है। और तो और, अपने आश्रयदाता महाराज **जयसिंह** के गुणदोष-चित्रण (तरंग ८, श्लो० १५५०—) में भी उसने अनुपम तटस्थता का परिचय दिया है। उसी के शब्दो में 'पूर्वापरानुसधान' और 'अनीर्ष्य (अर्थात् ईर्ष्या शून्य) विवेक' के बिना गुणदोष का निर्णय समीचीन नही हो सकता।

सभवत इसीलिये कल्हण ने केवल राजनीतिक रुपरेखा न खीचकर सामाजिक एव सास्कृतिक परिवेश की झलकियाँ भी प्रस्तुत की हैं, और चरित्रचित्रण में सरस विवेक से काम लिया है। मातृगुप्त और प्रवरसेन, नरेंद्रप्रभा और प्रतापादित्य तथा अनगलेखा, खख और दुर्लभवर्धन (तरंग ३) अथवा चद्रापीड और चमार (तरंग ४) के प्रसगो में मानव मनोविज्ञान के मनोरम चित्र झिलमिलाते हैं। इसके अतिरिक्त बाढ, आग, अकाल और महामारी आदि विभीषिकाओं तथा धार्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक उपद्रवो में मानव स्वभाव की उज्वल प्रगतियो और कुत्सित प्रवृत्तियो के साभिप्राय सकेत भी मिलते हैं।

कल्हण का दृष्टिकोण बहुत उदार था, माहेश्वर (ब्राह्मण) होते हुए भी उसने बौद्ध दर्शन की उदात्त परपराओ को सराहा है और पाखडी (शैव) तात्रिको को आडे हाथो लिया है। सच्चे देशभक्त की तरह उसने अपने देशवासियो की बुराइयो पर से पर्दा सरका दिया है और एक सच्चे सहृदय की तरह देशकाल की सीमाओ से ऊपर उठकर सत्य, शिव और सुदर का अभिनदन तथा प्रतिपादन किया है।

समूचे प्राचीन भारतीय इतिहास में जो एक मात्र वैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ है वह है कल्हण की राजतरगिणी। अपनी कुछ कमजोरियो के बावजूद कल्हण का दृष्टिकोण प्राय आज के इतिहासकार जैसा है। स्वय तो वह समसामयिक स्थानीय पूर्वाग्रहो के ऊपर उठ ही गया है, साथ ही घटनाओ के वर्णन में अत्यत समीचीन अनुपात रखा है। विवरण की सक्षिप्तता सराहनीय है।

स० ग्र०—एम० ए० स्टीन कल्हणाज राजतरगिणी, आर०एस० पडित रिवर आव किंग्स, गोपीकृष्ण शास्त्री द्विवेदी हिंदी राजतरगिणी, यू० एन० घोषाल स्टडीज इन इडियन हिस्ट्री ऐंड कल्चर, पाडेय रामतेज शास्त्री राजतरगिणी (हिंदी अनुवाद)। [पृ० पु०]

कवक (फ़ंगस, Fungus) जीवों का एक विशाल समुदाय है जिसे साधारणतया वनस्पतियों में वर्गीकृत किया जाता है। इस वर्ग के सदस्य पर्णहरिम (क्लोरोफिल, chlorophyll) रहित होते हैं और इनमें प्रजनन बीजाणुओ (स्पोर, spore) द्वारा होता है। ये सभी सूकाय (थैलॉयड, thalloid) वनस्पतियाँ हैं, अर्थात् इनके शरीर के ऊतको (टिशूज, tissues) में कोई भेदकरण नही होता, दूसरे शब्दो में, इनमें जड, तना और पत्तियाँ नही होती तथा इनमें अधिक प्रगतिशील पौधो की भाँति सवहनीयतंत्र (वैस्क्यूलर सिस्टम, vascular system) नही होता। पहले इस प्रकार के सभी जीव एक ही वर्ग कवक के अतर्गत परिगणित होते थे, परतु अब वनस्पति विज्ञानविदो ने कवक वर्ग के अतिरिक्त दो अन्य वर्गो की स्थापना की है जिनमे क्रमानुसार जीवाणु (बैक्टीरिया, bacteria) और श्लेष्मोर्णिका (स्लाइम मोल्ड, slime mold) हैं। जीवाणु एककोशीय होते हैं जिनमे प्रारुपिक नाभिक (टिपिकल न्यूक्लियस, typical nucleus) नही होता तथा श्लेष्मोर्णिका की बनावट और पोषाहार (न्यूट्रिशन, nutrition) जतुओ की भाँति होता है। कवक अध्ययन के विज्ञान को कवक विज्ञान (माइकॉलोजी, mycology) कहते हैं।

कुछ लोगो का मत है कि कवक की उत्पत्ति शैवाल (ऐलजी, algae) में पर्णहरिम की हानि होने से हुई है। यदि वास्तव में ऐसा हुआ है तो कवक को पादप सृष्टि (प्लाट किंग्डम, plant kingdom) में रखना उचित ही है। दूसरे लोगो का विश्वास है कि इनकी उत्पत्ति रगहीन कशाभ (फ्लैजेलेटा, flagellata) या प्रजीवा (प्रोटोजोआ, protozoa) से हुई है जो सदा से ही पर्णहरिम रहित थे। इस विचारधारा के अनुसार इन्हे वानस्पतिक सृष्टि में न रखकर एक पृथक् सृष्टि में वर्गीकृत किया जाना चाहिए।

चित्र १ कडुवा लगी हुई गेहूँ की बाली

वास्तविक कवक के अतर्गत कुछ ऐसी परिचित वस्तुएँ आती हैं जैसे गुँधे हुए आटे (dough) से पावरोटी बनाने में सहायक एककोशीय खमीर (यीस्ट, yeast), बासी रोटियो पर रूई की भाँति उगा फफूँद, चर्म को मलिन करनेवाले दाद के कीटाणु, फसल के नाशकारी रतुआ तथा कडवा (रस्ट ऐंड स्मट, rust and smut) और खाने योग्य एव विषैली खुंभियाँ (मश्रूम्स, mushrooms)।

पोषाहार (न्यूट्रिशन, nutrition)—पर्णहरिम की अनुपस्थिति के कारण कवक कार्बन डाइ-ऑक्साइड और जल द्वारा कार्बोहाइड्रेट निर्मित करने में असमर्थ होते हैं। अत अपने भोज्य पदार्थो की प्राप्ति के लिये अन्य वनस्पतियो, जतुओ तथा उनके मृत शरीर पर ही आश्रित रहते हैं। इनकी जीवनविधि और सरचना इसी पर आश्रित है। यद्यपि कवक कार्बन डाइ-ऑक्साइड से शर्करा निर्मित करने में पूर्णतया असमर्थ होते हैं तथापि ये साधारण विलेय शर्करा से जटिल कार्बोहाइड्रेट का सश्लेषण कर लेते हैं, जिससे इनकी कोशिकाभित्ति (सेल वॉल, cell wall) का निर्माण होता है। यदि इन्हे साधारण
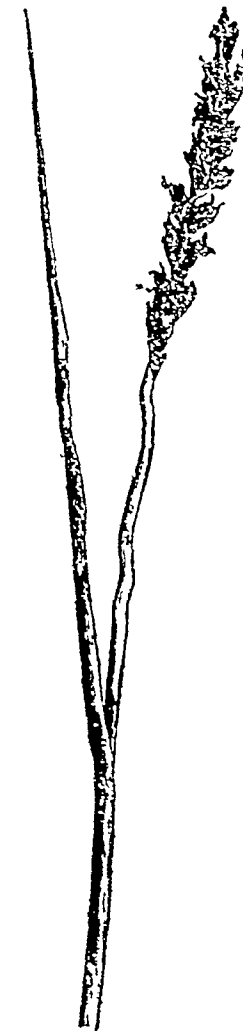
कार्बोहाइड्रेट और नाइट्रोजन यौगिक (नाइट्रोजेनस कपाउड, nitrogenous compound) दिए जायँ तो कवक इनसे प्रोटीन और श्रतत (प्रोटोप्लाज्म protoplasm) निर्मित कर लेते हैं।

मृतोपजीवी (सैप्रोफाइट, saprophyte) के रूप मे कवक या तो कार्बनिक पदार्थो, उत्सर्जित पदार्थ (वेस्ट प्रॉडक्ट, waste product) या मृत ऊतको को विश्लेषित करके भोजन प्राप्त करते हैं। परजीवी (parasite) के रूप मे कवक जीवित कोशो पर आश्रित रहते है। सहजीवी (सिमबाइ आँण्ट, symbiont) के रूप मे ये अपना सबध किसी अन्य जीव से स्थापित कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप इस मैत्री का लाभ दोनो को ही मिल जाता है। इन दोनो प्रकार की भोजन-रीतियो के मध्य मे कुछ कवक आते है जो परिस्थिति के अनुसार अपनी भोजनप्रणाली बदलते रहते है।

रहन सहन और वितरण--कवक की जातियो की सख्या लगभग ८० से ६० हजार तक है। सभवत कवक सबसे अधिक व्यापक है। जलीय कवक मे एकलाया (Achlya), सैप्रोलेग्निया (Saprolegnia), मिट्टी में पाए जानेवाले म्यूकर (Mucor), पेनिसिलियम (Penicillium), एस्परजिलस (Aspergillus), फ्यूज़ेरियम (Fusarium) आदि, लकडी पर पाए जानेवाले मेरुलियस लैक्रिमैन्स (Merulius lachrymans), गोवर पर उगनेवाले पाइलोवोलस (Pilobolus) तथा सॉरडेरिया (Sordaria), वसा मे उगनेवाले यूरोटियम (Eurotium) और पेनिसिलियम की जातियाँ हैं। ये वायु तथा अन्य जीवो के शरीर के भीतर या उनके ऊपर भी पाए जाते है। वास्तव मे विश्व के उन सभी स्थानो मे कवक की उत्पत्ति हो सकती है जहाँ कही भी इन्हे कार्बनिक यौगिक की प्राप्ति हो सके। कुछ कवक तो लाइकेन (lichen) की सरचना में भाग लेते है जो कडी चट्टानो पर, सूखे स्थानो मे तथा पर्याप्त ऊँचे ताप मे उगते हैं, जहाँ साधारणतया कोई भी अन्यजीव नही रह सकता।

कवक की अधिकाधिक वृद्धि विशेष रूप से आर्द्र परिस्थितियो मे, अँधेरे मे या मद प्रकाश मे होती है। इसीलिये छत्रक अधिक सख्या मे आर्द्र और उष्ण तापवाले जगलो मे उगते हैं।
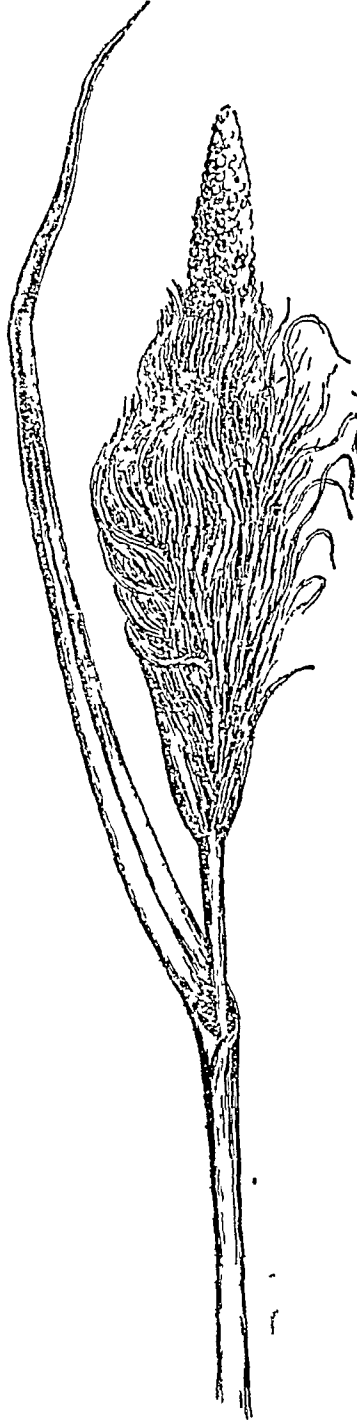
चित्र २ बाजरे की हरी बाली का रोग कवक से उत्पन्न होता है।

वानस्पतिक शरीर की सरचना—कुछ एककोशिकीय जातियो, उदाहरणार्थ खमीर, के अतिरिक्त अन्य सभी जातियो का शरीर कोशिकामय होता है, जो सूक्ष्मदर्शीय (माइक्रोस्कोपिक) रेशो से निर्मित होता है और जिससे प्रत्येक दिशा मे शाखाएँ निकलकर जीवाधार (substratum) के ऊपर या भीतर फैली रहती हैं। प्रत्येक रेशे को कवकततु (hypha) कहा जाता है और इन कवकततुओ के समूह को कवकजाल (माइसीलियम, mycelium) कहते हैं। प्रत्येक कवकततु एक पतली, पारदर्शी नलीय दीवार का बना होता है, जिसमें जीवद्रव्य का एक स्तर होता है या जो जीवद्रव्य से पूर्णतया भरा होता है। ये शाखी या अशाखी रहते हैं और इनकी मोटाई ० ५ म्यू से लेकर १०० म्यू तक होती है (१ म्यू= एक मिलीमीटर का हजारवाँ भाग)।

जीवद्रव्य या तो अटूट पूरे कवकततु मे फैला रहता है जिसमें नाभिक (nucleus) विना किसी निश्चित व्यवस्था के बिखरे रहते हैं, अन्यथा कवकततु दीवारो या पट (सेप्टम, septum) द्वारा विभाजित रहते है जिससे सरचना बहुकोशिकीय होती है। पहली अवस्था को बहुनाभिक (सीनो सिटिक, coenocytic) तथा दूसरी को पटयुक्त (सेप्टेट, septate) अवस्था कहते हैं। प्रत्येक कोशिका में एक दो या अधिक नाभिक हो सकते है।

अधिकाश कवक के ततु रगहीन होते हैं, किंतु कुछ मे ये विभिन्न रगो से रँगे होते है।

साधारण कवक का शरीर ढीले कवकततुओं से निर्मित होता है किंतु कुछ उच्च कवकों के जीवनवृत्त की कुछ अवस्थाओ मे उनके कवकजाल घने होकर सघन ऊतक बनाते है जिसे सजीवितक (प्लेक्टेनकिमा, plectenchyma) कहते हैं। सजीवितक दो प्रकार का हो सकता है--दीर्घितक (प्रोसेंकिमा, prosenchyma) और कूटजीवितक (स्यूडोपैरेंकिमा, pseudoparenchyma)।

दीर्घितक ढीला ऊतक होता है, जिसमे प्रत्येक कवकततु अपना अपनत्व बनाए रखता है। कूटजीवितक मे सूत्र काफी घने होते हैं तथा वे अपना ऐकात्म्य खो बैठते हैं और काटने पर उच्चवर्गीय पौधो के जीवितक कोशा (पैरेंकिमा सेल्स parenchyma cells) के समान दिखाई पडते हैं। इन ऊतको से विभिन्न प्रकार के वानस्पतिक और प्रजनन विन्यास (रिप्रॉडक्टिव स्ट्रक्चर, reproductive structure) का निर्माण होता है। कवक की बनावट चाहे कितनी ही जटिल क्यो न हो, पर वे सभी कवकततुओ द्वारा ही निर्मित होते हैं। ये ततु इतने सघन होते हैं कि वे ऊतक के रूप मे प्रतीत होते हैं, किंतु कवको में कभी भी वास्तविक ऊतक नही होता।
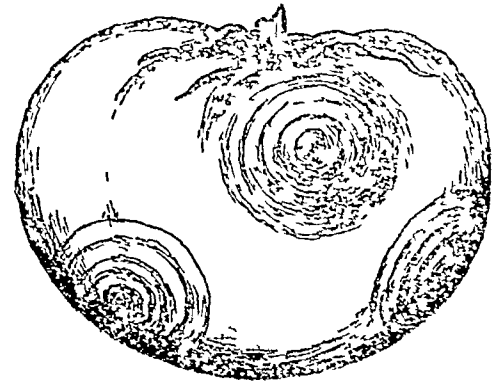
चित्र ३ टमाटर कवको के उगने के कारण सडता है।

कोशिकाभित्ति (सेलवाल, cellwall) की रासायनिक सरचना एवं कोशिका विज्ञान (साइटॉलोजी, cytology)—कुछ जातियो को छोडकर कवको की कोशिकाभित्तियो की रासायनिक व्याकृतियाँ (केमिकल कपोजिशन, chemical composition) विभिन्न जातियो मे भिन्न भिन्न होती हैं। कुछ जातियो की कोशिकाभित्तियो मे सेलुलोस या एक विशेष प्रकार का कवक सेल्यूलोस पाया जाता है तथा अन्य जातियो मे काइटिन (chitin) कोशिकाभित्ति के निर्माण के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी होता है। कई

कवको मे कैलोस (callose) तथा अन्य कार्बनिक पदार्थ भी कोशिका-भित्ति मे पाए गए है।

कवकततु मे नाभिक के अतिरिक्त कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म, cytoplasm) तैलबिंदु तथा अन्य पदार्थ उपस्थित रहते है, उदाहरणार्थ कैल्सियम ऑक्सलेट, (calcium oxalate) के रवे, प्रोटीन कण इत्यादि। प्रत्येक जाति मे प्रोटोप्लास्ट (protoplast) हरिमकणक (क्लोरोप्लास्ट, chloroplast) रहित होता है। यद्यपि कोशिकाओ मे स्टार्च का प्रभाव होता है, तथापि एक दूसरा जटिल पौलिसैकेराइड ग्लाई-कोजन (polysaccharide glycogen) पाया जाता है।

मृतोपजीवी (सैप्रोफाइट, saprophyte) कवक के कवकततु आधार के निकट सस्पर्श मे आकर अपना भोजन अपने रेशो की दीवार से विसरण (डिफ्यूजन, diffusion) द्वारा प्राप्त करते है।
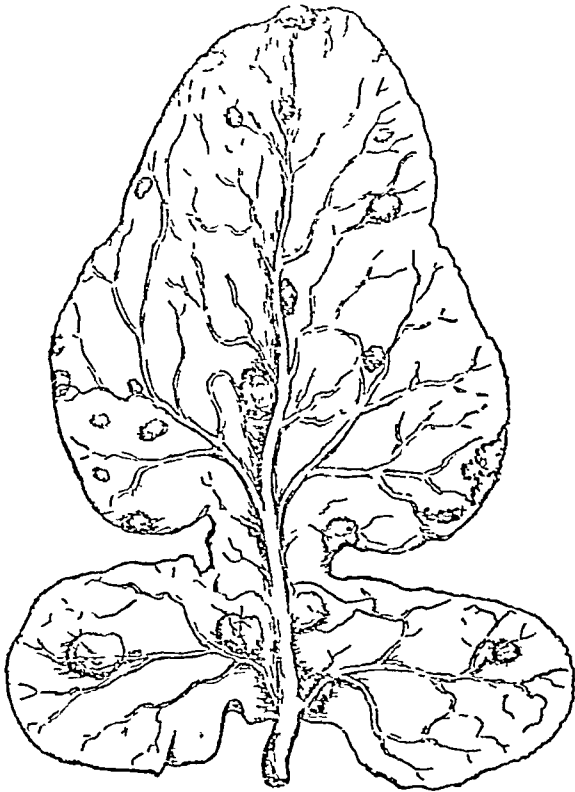
चित्र ४ सरसो में श्वेत धब्बे कवको से उत्पन्न होते ह।

पराश्रयी (पैरासाइट, parasite) कवक जतुओ और वनस्पतियो की कोशिकाओ से पोषित होते है और इस प्रकार ये अपने पोषक को हानि पहुँचाते है, जिसके कारण वनस्पतियो एव जतुओ मे व्याधियाँ उत्पन्न होती है। कवकजाल प्राय पोषको के धरातल पर अथवा पोषको
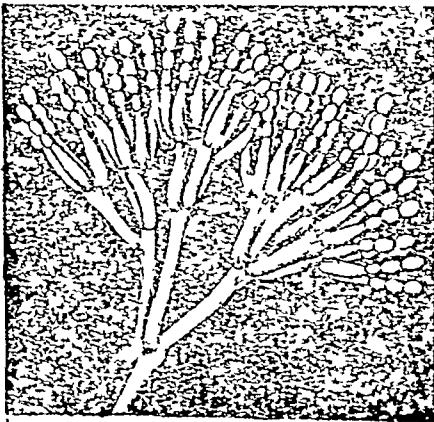
चित्र ५ पेनिसिलियम का सूक्ष्मदर्शी द्वारा दिखाई पडनेवाला रूप।

के भीतरी स्थानो मे अत कोशिका, (इटरसेलुलर, intercellular) या पोषको के कोशो को छेदकर (कोशिकाभ्यतरी, इट्रासेलुलर, intracellular) उगते है। कवकततु के अग्रभाग से एक प्रकार के एजाइम (enzyme) का स्राव होता है जिससे इन्हे कोशकाभित्ति के वेधन तथा विघटन मे सहायता प्राप्त होती है। अत कोशिकाततु एक विशेष प्रकार की शाखाओ को पोषक कोशिकाओ मे भेजते है जिन्हे आशोषाग (हॉस्टोरिआ, haustoria) कहते है। ये आशोषाग अति सूक्ष्म छिद्रो द्वारा कोशिकाभित्ति (सेल वॉल, cell wall) मे प्रवेश करते है। ये विशेषित अवशोषक अग (ऐब्जॉर्बिंग ऑर्गन्स, absorbing organs) होते है, जो विभिन्न जातियो मे विभिन्न प्रकार के होते है। जतुओ मे पाए जानवाले पराश्रयी कवको मे अवशोषकाग नही पाए गए है।

सदा पराश्रयी (ऑब्लिगेट पैरासाइट, obligate parasite) अपना भोजन कोशिकाओ के जीवित जीवद्रव्य से ही प्राप्त करते है, किंतु वैकल्पिक पराश्रयी (फैकलटेटिव पैरासाइट, facultative parasite) अधिकतर पराश्रयी जीवन व्यतीत करते है परतु कभी कभी मृतोपजीवी रूप से भी अपना भोजन प्राप्त करते है।

विभिन्न कवको के लिये विभिन्न खाद्य सामग्री की आवश्यकता होती है। कुछ कवक सर्वभोजी होते है तथा किसी भी कार्बनिक पदार्थ से अपना भोजन प्राप्त कर सकते है, जैसे ऐस्परजिलस (Aspergillus) और पेनिसिलियम। अन्य कवक अपने भोजन मे विशेष दुस्तोष्य होते है। कुछ सदा पराश्रयी के पोषण के लिये जीवित प्रोटोप्लाज्म की ही नही वरन् किसी विशेष जाति के आधार की भी आवश्यकता होती है।

कीटो द्वारा कवक की खेती—दक्षिणी अफ्रीका मे कुछ चीटियाँ तथा दीमके कवको का केवल आहार ही नही करती वरन् उनको उगाती भी है। ये जीव विशेष प्रकार के कार्बनिक पदार्थो को इकट्ठा कर अपने घोसलो मे विछाते है जिनपर कवक अच्छी तरह उग सके। कुछ दशाओ मे ये कवको का रोपण करते है। विद्वानो का ऐसा विचार है कि एक जाति की चीटी अपना विशेष कवक उत्पन्न करती है।
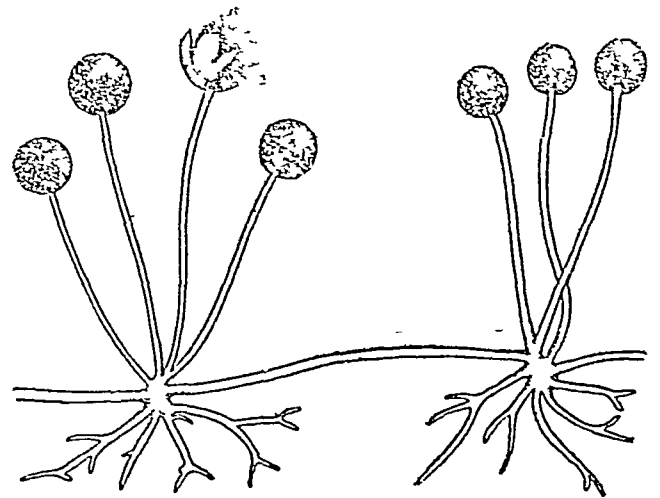
चित्र ६ रोटी की फफूँद (Rhizopus)

(वास्तविक से अनेक गुना बडे पैमाने पर)

कीटो पर उगनेवाले कवक (कीटपरजीवी, एटोमोजीनस फजाइ, Entomogenous fungi)—अनेक कवक कीटो पर ही उगते है। एटोमॉफ्थोरा (Entomophthora) की कई जातियाँ कीटाश्रयी है। एटोमॉफ्थोरा मस्की (Entomophthora muscae) साधारण मक्खियो पर आक्रमण करता है। कवकजाल से मक्खियो का पूरा शरीर भर जाता है और बीजाणुओ के परिपक्व होने पर वे प्रक्षिप्त होकर मृत मक्खी के चारो ओर वृत्ताकार क्षेत्र मे फैल जाते है। कॉर्डिसेप्स (Cordyceps) की कई जातियाँ कीटो पर ही आश्रित रहती है। कॉर्डिसेप्स मिलिटैरिस (Cordyceps militaris) प्यूपा (pupa) और इल्ली (कैटरपिलर, caterpillar) पर आश्रित रहता है। एक कवक बोवेरिया

वैमियाना (Beauveria bassiana) रेशम के कीटे की मुख्य व्याधि श्वेतमारी (मस्करडीन, Muscardine) के लिये उत्तरदायी है।

हिंसाजीवी कवक (प्रिडेशस फंजाइ, Predaceous fungi)—कवक की कुछ जातियाँ मिट्टी और जल में रहती हैं। ये जातियाँ अपने भोजन के लिये अमीवा, सूत्रकृमि (नेमाटोड्स, Nematodes) एवं अन्य छोटे छोटे भूमीय जंतुओं को ग्रहण करती हैं। इन मांसाहारी कवकों में कुछ का कवकजाल चिपकनेवाला होता है जैसे ट्राइकोथेसियम साइटॉस्पोरियम (Trichothecium cytosporium) में, परंतु कुछ दूसरे कवक अपने शिकार को पकड़ने के लिये विशेष प्रकार की युक्तियों का उपयोग करते हैं, उदाहरणार्थ डेक्टीलेरिया ग्रैसिलिस (Dactylaria gracilis) में संकुचित वलय (कॉन्स्ट्रिक्टिंग रिंग्स, Constricting rings) तथा सोमरस्टोर्फिया (Sommerstorffia) में चिपकनेवाली खूँटियाँ होती हैं। कवकतंतु कुंडली बनाकर सूत्रकृमि के चारों ओर चिपट जाते हैं और उसे चूस डालते हैं। कवक विज्ञान में कवकतंतुओं द्वारा प्रचूषण का यह एक विचित्र और आश्चर्यजनक उदाहरण है।

सहजीवन (सिंबिऑसिस, Symbiosis)—कवक उच्च वनस्पतियों से सहजीवन का संबंध स्थापित कर कवकमूलता (माइकॉरिज़ा, Mycorrhiza) बनाते हैं। इस सहजीवन संबंध की स्थापना पेड़ों, झाड़ियों तथा पर्णांगोद्भिद (टेरिडोफाइट्स, Pteridophytes) और हरितोद्भिद (ब्रायोफाइट्स, Bryophytes) से भी होती है।

चित्र ७ खुंबी (मौरकेला एस्क्यूलेंटा, Morchella esculenta)

कवक नीले तथा हरे शैवाल (ऐलजी, Algae) के साहचर्य से लाइकेन की स्थापना करते हैं। कवक और इन जीवों का यथार्थ संबंध अभी तक स्पष्ट ज्ञात नहीं हो सका है।

प्रतिजीविता (ऐंटिबायोसिस, Antibiosis)—कवक प्रायः ऐसे जटिल कार्बनिक (ऑर्गैनिक, organic) उत्सर्गी पदार्थों (मल आदि) का उत्पादन करते हैं जो दूसरों की वृद्धि पर प्रभाव डालते हैं। इसकी क्रिया कभी कभी उत्तेजक होती है, जैसे कैण्वक (बायॉस, bios) नामक पदार्थ की, परंतु अधिकतर इनका कार्य निरोधी होता है। इस दशा को प्रतिजीविता (antibiosis) कहते हैं। इस क्रिया के ज्ञान से ही रोगाणुनाशी पदार्थों (antibiotics) का आविष्कार हुआ है।

प्रजनन (Reproduction)—कवकों में प्रजनन कार्य विशेष रूप से अलैंगिक (asexual) और लैंगिक (sexual) दोनों रीतियों से होता है, किंतु अधिकांश कवकों में इनमें से केवल एक ही रीति से होता है।

प्रजननांग के निर्माण में या तो संपूर्ण सूकाय (शरीर) एक या अनेक प्रजनन अंग में परिवर्तित हो जाता है या केवल इसका कोई भाग। इनमें से पूर्व भाग को एकफलिक (होलोकार्पिक, holocarpic) और अपर भाग को बहुफलिक (यूकार्पिक, eucarpic) कहते हैं।

अलैंगिक प्रजनन (Asexual reproduction)—सबसे साधारण प्रकार के जनन में एक या अधिक कोशिकाएँ पृथक् होकर स्वतंत्र रूप से बढ़ती हैं और नए कवकसूत्र को जन्म देती हैं। यद्यपि दैहिक रूप से ये बीजाणुओं के समान आचरण करती हैं, परंतु उनसे भिन्न होती हैं और इनको चिपिटो-बीजाणु (ओइडिया, oidia) या खमीर (यीस्ट) में कुड्मल (बड, bud) या कुड्मलाणु (जेम्मा, gemma) नाम दिया जाता है।

बीजाणु (Spores) सूक्ष्म होते हैं और इनके आकार तथा संरचनाएँ भिन्न भिन्न जातियों के लिये विभिन्न होती हैं। ये बीजाणु जन्म देनेवाले सूत्रों से आकार प्रकार, रंग, उत्पत्तिस्थान और ढंग में भिन्न होते हैं। फिर, ये बीजाणु स्वयं अलग अलग आकार, प्रकार और रंग के होते हैं और पटयुक्त (सेप्टेट, septate) वा पटरहित (असेप्टेट, aseptate) रहते हैं। प्रायः ये अति सूक्ष्म होते हैं और बहुत कम दशाओं में ये बिना सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) के देखे जा सकते हैं।
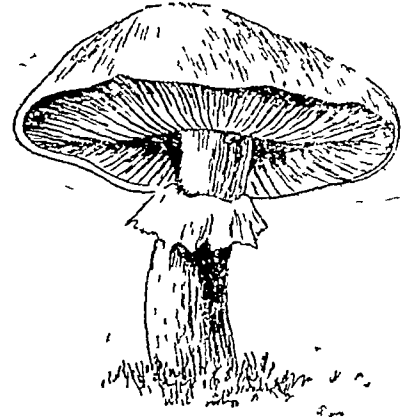
चित्र ८ छत्रक

बीजाणु एक विशेष प्रकार के थैले या आवरण में निर्मित होते हैं जिन्हें बीजाणुधानी (स्पोरेंजिअम, sporangium) कहते हैं। जब ये बीजाणु चर (मोटाइल, motile) होते हैं तब इन्हें चलजन्यु (ज़ूस्पोर्स, zoospores) कहते हैं। इनमें एक या दो कशाभ (फ्लैजेलम, flagellum) हो सकते हैं। यदि बीजाणु किसी कवकसूत्र (हाइफा, hypha) के शीर्ष से कटकर पृथक् होते हैं तब ये कणी (कोनिडिआ, conidia) कहलाते हैं और सूत्र तब कणीधर (कोनिडिओफोर, conidiophore) कहलाता है।
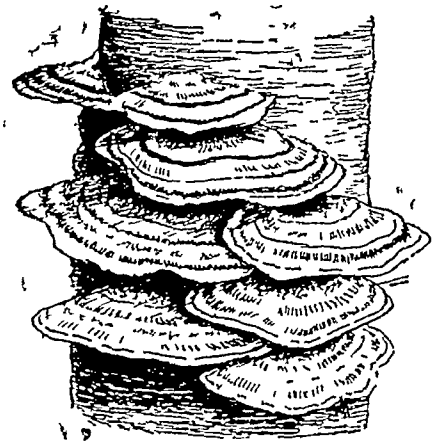
चित्र ९ लकड़ी पर उगनेवाला कवक

कणीधरों में बहुत भिन्नता होती है। ये बहुत छोटे तथा सरल से लेकर लंबे तथा शाखित तक होते हैं। ये व्यवस्थाविहीन, एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र होते हैं अथवा विशेष रूप से विभिन्न संरचनाओं में संघटित रहते हैं।

१ जब ये कणीधर इकट्ठे होकर विस्तीर्ण तल्प (गद्दी, cushion) का निर्माण करते हैं तब मृतोपजीवी कवक में ये स्पोरोडोकिया (Sporodochia) और परोपजीवी कवक में प्रगुच्छक (एसरव्युलस, acervulus) कहलाते हैं। जिस ऊतक से इनका जन्म होता है उसे घनकाय (स्ट्रोमा, stroma) कहते हैं।

२ दूसरी दशा मे सजीवितक (प्लेक्टेनकाइमा, plectenchyma) एक खोखली गुहा बनाता है जिसकी आतरिक दीवाल से कणी निकले रहते हैं। इस पिंड को पलिवा (पिक्निडिआ, pycnidia) कहते हैं और उन बीजाणुओ को पलिघावीजाणु (पिक्निडिओस्पोर, pycnidiospore) कहते है।

३ जब कणीधर एक समूह मे युक्त होते है तब इन्हे मार्जनीकाय (कोरिमीआ, coremia) कहते हैं।

पूर्वोक्त सभी प्रकार के बीजाणुओ की उत्पत्ति एकल कवकजाल (हैप्लॉयड माइसीलिअम, haploid mycelium) पर होती है और ये बीजाणु उचित वातावरण मे प्रजनन का कार्य करते हैं। इनकी उत्पत्ति बहुत अधिक सख्या मे होती हे और ये वायु, जल, कीटाणु और अन्य साधनो द्वारा दूर दूर तक वितरित हो जाते हैं।

एक प्रारूपिक बीजाणु एक या दो परतो से आवृत होता है जिसके कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म, cytoplasm) मे साधारणतया एक नाभिक होता है तथा खाद्य सामग्री तैलविंदु के रूप मे एकत्रित रहती है। अकुरण के समय आवरण का एक भाग निकलकर एक अकुरनाल (जर्म ट्यूब, germ tube) बनाता है जो बढकर एक सूत्र बन जाता है। यह सूत्र विभाजित होकर कवकजाल (mycelium) को जन्म देता है।

कभी कभी मोटे और बडे आवरण के बीजाणु भी बनते हैं। इन्हे कचुक बीजाणु (क्लैमाइडोस्पोर्स, chlamydospores) कहते हैं।

लैंगिक प्रजनन (Sexual reproduction)—लैंगिक प्रजनन मे दो अनुरूप नाभिको का समेल होता है। इस विधि मे तीन अवस्थाएँ होती हैं १ जीवद्रव्य-सायुज्यन (प्लाज्मोगामी, plasmogamy) इस क्रिया से दो एकल नाभिक (हैप्लॉयड न्यूक्लियस, haploid nucleus) एक कोशिका मे आ जाते हैं। २ नाभिक-सायुज्यन (कैरिओगामी, karyogamy) इसमे दोनो एकल नाभिक मिलकर एक द्विगुणित निषेचनज (डिप्लॉइड ज़ाइगोट, diploid zygote) नाभिक का निर्माण करते हैं। ३ अर्धसूत्रण (मायोसिस, meiosis) इसके द्वारा द्विगुणित युक्त नाभिक विभाजित होकर चार एकल नाभिको को जन्म देते हैं।

कवको के लैंगिक अगो को युग्मकधानी (गैमिटैंजिआ, gametangia) कहते हैं। ये युग्मकधानी विभिन्न लैंगिक कोशिकाओ को निर्मित करते हैं, जिन्हे युग्मक (गैमीट, gamete) कहते हैं या कभी कभी इनमे केवल युग्मक नाभिक (गैमीट न्यूक्लिअस, gamet nucleus) ही होता है। जब युग्मक धानी और युग्मक आपस मे आकार प्रकार मे समान होते हैं तब इस प्रकार की दशा को समयुग्मकधानी (आइसोगामिटैंजिअम, isogametangium) और समयुग्मक (आइसोगैमीट, isogamete) कहते हैं। जब ये बनावट, आकार प्रकार मे भिन्न होते हैं तब इन्हे विषमयुग्मकधानी (हेटेरोगैमिटैंजिआ, heterogametangia) और विषमयुग्मक (हेटेरोगैमीट, heterogamete) कहते हैं। पुरुष युग्मकधानी (मेल गैमिटैंजिअम, male gametangium) को पुधानी (ऐथेरिडियम, Antheridium) और स्त्री युग्मकधानी को स्त्रीधानी (ओओगोनियम, Oogonium) कहते हैं।

निम्नलिखित कई साधनो द्वारा लैंगिक नाभिक एक कोशिका मे आ जाते हैं जिससे नाभिक सायुज्य हो सके

१ दो युग्मक, जो आकार मे समान या भिन्न होते हैं और जिनमे दोनो ही या एक चलायमान होता है, मिलकर निषेचनक (जाइगोट, Zygote) का निर्माण करते हैं।

२ लिंगसगम (ओओगैमी, oogamy) इसमे पुधानी (ऐथेरिडियम, antheridium) पुरुष नाभिक को एक छिद्र या निषेचन नाल (फर्टिलाइज़ेशन ट्यूब, fertilization tube) द्वारा स्त्रीधानी (ओओगोनियम, oogonium) मे भेजता है।

३ युग्म सगम (जाइगोगैमी, Zygogamy) इसमे दो अभिन्न अखड कोशिकाओ (सीनोसाइटिक गैमिटैंजिआ, coenocytic gametangia) का योजन होता है।

४ प्रशुक्र जन्युता (स्परमैटाइज़ेशन, spermatisation) इसमे पुजन्यु, जो सूक्ष्म, एकनाभिक नर पिंड होता है, किसी भी स्त्री युग्मकधानी (फीमेल गैमिटैंजिआ, female gametangia) या विशेष सग्रहणशील (रिसेप्टिव, receptive) कवकततु अथवा दैहिक (सोमैटिक, somatic) कवकतत्रो तक ले जाए जाते हैं और वहाँ पुजन्यु की अतर्वस्तुएँ एक छिद्र द्वारा स्त्री इद्रिय मे पहुँचती हैं।

५ दैहिक सगम (सोमैटोगैमी, somatogamy) उच्चवर्गीय कवको मे लैंगिक अग नही होते, उनमे देहकोशिका (सोमैटिक सेल, somatic cell) ही लैंगिक कार्य करती है।

अधिकतर शैवल कवको (फाइकोमाइसिटीज़, Phycomycetes) मे नाभिक सगम (कैरियोगैमी, Karyogamy) जीवद्रव्य सगम (प्लाज्मोगैमी, plasmogamy) के तुरत बाद होता है और इससे शुक्राड (ओओस्पोर, oospore) या युग्मनज (जाइगोस्पोर्स, Zygospores) बनते हैं। इनके उद्भेदन के समय अर्धसूत्रण (मायोसिस, meiosis) होती है और फिर या तो सीधी देह (सोमा, Soma) बनती है या एक बीजाणुधानी (स्पोरेंजिअम, sporangium)। इसमे बीजाणु बनते हैं। जिनके उद्भेदन से देह बनती है।

उच्चवर्गीय कवक अर्थात् ऐस्कोमाइसिटीज (Ascomycetes) तथा बेसिडिओमाइसिटीज (Basidiomycetes) मे नाभिक सगम के लिये जो नाभिक निकट आते हैं वे तुरत सगमित नही होते, बल्कि वे जोडे के रूप मे साथ रहते हैं जिसे युग्माष्टि (डाइकैरियन, dikaryon) कहते हैं। इनमे क्रमिक सयुग्मित कोशिकाभाजन (conjugate cell division) होता है जिसके फलस्वरूप युग्माष्टिक कोशिकाएँ (डाइकैरियॉटिक सेल्स, dikaryotic cells) बनती हैं।

कुछ कवको मे नाभिको का सायुज्यन एक विशेष कोशिका मे होता है। ऐस्कोमाइसीटीज़ मे यह विशेष अग एक थैले के रूप मे विकसित होता है जिसे ऐस्कस (Ascus) कहते हैं। ऐस्कस मे अर्धसूत्रण (meiosis) होती है जिसके फलस्वरूप पहले चार और बाद मे आठ नाभिक होते हैं जो आठ धानीबीजाणुओ मे आयोजित होते हैं। ये ऐस्कस बीजाणु एकल (haploid) होते हैं और ऐस्कस मे व्यवस्थित होते हैं।

बेसीडिओमाइसीटीज़ मे वे कोशिकाएँ, जिनमे नाभिक सायुज्यित होते हैं, बेसीडियम (basidium) का रूप धारण करती हैं जिसमे अर्धक (माइऑटिक, meiotic) विभाजन के पश्चात् चार नाभिक बनते हैं। इसी समय बेसिडियम मे से चार कणीवृत (स्टरिगमेटा, sterigmata) निकलते हैं जिनके सिरे पर एक नाभिक चला जाता है और वही बेसिडियम बीजाणु (बेसिडिओस्पोर, basidiospore) का निर्माण होता है। इस प्रकार ये बेसिडियम बीजाणु बाह्यत बेसिडियम पर आयोजित होते हैं। कुछ अधिक उच्च बेसिडियोमाइसीटीज़ अपने बेसिडियम एक विशेष फलन काय मे बनाते हैं जिसे बेसीडिओ काय (बेसीडिओकार्प, basidiocarp) कहते हैं।

वर्गीकरण—अधिकाश लेखक कवको को निम्नलिखित चार वर्गों मे बाँटते हैं

१ फाइकोमाइसिटीज (Phycomycetes)—इसमे कवकसूत्र बहुनाभिक एव अखड कोशिकावाले (coenocytic) होते हैं तथा परिपूर्ण अवस्था या तो शुक्राड (ओओस्पोर, oospore) या युग्मनज (जाइगोस्पोर, zygospore) वाली होती है।

२ ऐस्कोमाइसिटीज़ (Ascomycetes)—इसमे कवकसूत्र पटयुक्त (सेप्टेट, septate) होते हैं। कोशिका एकनाभिक या बहुनाभिक तथा इनकी परिपूर्ण अवस्था ऐस्कस होती है जिसमे ऐस्कस बीजाणु होते हैं।

३ बेसिडियोमाइसीटीज़ (Basidiomycetes)—इसमे कवकसूत्र पटयुक्त, कोशिका प्राय द्विनाभिक तथा परिपूर्ण अवस्था बेसिडियम होती है जिसपर बेसिडियम बीजाणु (बेसिडियोस्पोर) होते हैं।

४ ड्यूटरोमाइसीटीज़ (Deuteromycetes)—यह एक कृत्रिम वर्ग है जिसके सदस्यो का पूरा जीवनवृत्त ज्ञात नही है। इसमे प्राय लैंगिक अवस्था की जानकारी नही रहती।

आर्थिक महत्व—कवको के आहारपोषण को देखने से ज्ञात होता है कि इनकी तथा हमारी आवश्यकताओ मे असाधारण समानता है। ये न केवल मनुष्य के भोज्य पदार्थ पर हाथ साफ करते हैं, वरन् मनुष्य, जीव-

club root) प्लाज्मोडिओफोरा ब्रासिकी (plasmodiophora brassicae) नामक कवकजीव द्वारा फैलता है जो पातगोभी की जड मे होता है ।

यह वर्ग तीन उपवर्गो मे विभाजित है

(क) **ऐक्रेसीना** (Acrasina)—इसमे एकक एककोशिकीय होते हैं, किंतु वे प्लाज्मोडियम का निर्माण कर सकते हैं, यद्यपि कोशिकाओ का कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म, cytoplasm) मिलकर एकरूप नही वनता । उदाहरण डिक्टियोस्टेलियम (Dictyostelium) ।

(ख) **प्लाज्मोडियोफोरिना** (Plasmodiophorina)—इसके
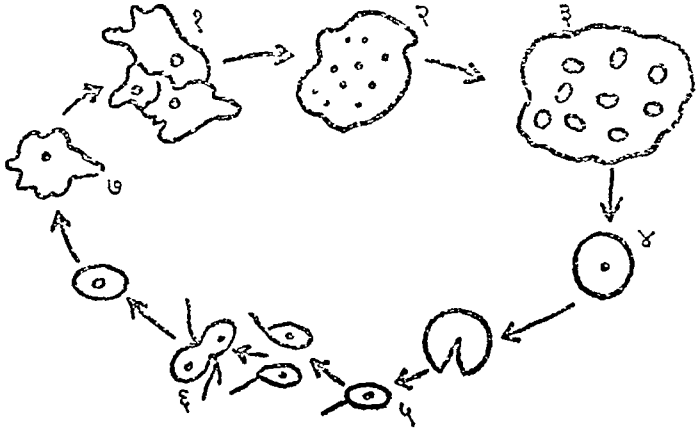
डाइडिमियम डाइफॉर्मी (Didymium difforme) **नामक कवकजीव का जीवनचक्र**

१ एकत्रित कवकजीव, २ प्रौढ, ३ वीजाणुनिर्माण, ४ एक वीजाणु, ५ कशिका (फ्लैजेलूला), ६ सयुग्मन, ७ वच्चे कवकजीव ।

अतर्गत आनेवाले कवकजीव परजीवी होते हैं और वयस्क अवस्था मे प्लाज्मोडिया होते है । ये वीजाणु नही वनाते । इसका उदाहरण प्लाज्मोडियोफ़ोरा है ।

(ग) **यूमाइसेटोजोइना** (Eumycetozoina)—इसके अतर्गत स्वतत्र जीवन व्यतीत करनेवाले कवकजीव आते है । इसके प्लाज्मोडियम गमनशील होते हैं और वीजाणुओ की उत्पत्ति करते है । उदाहरण, वाधामिया (Badhamia) । (भू ना० प्र०)

कवचपट्ट

इस्पात की उन चादरो को कहते हैं जो जहाजो की रक्षा के लिये उनके चारो ओर मढी रहती है । ये चादरे वडी मोटी होती हैं, उदाहरणत १४ इच, इसलिये इन्हे चादर न कहकर पट्ट कहा जाता है ।

जहाजो को कवचपट्टो से सुरक्षित करने की कल्पना वडी पुरानी है । २५० ई० पू० मे प्रसिद्ध प्राचीन वैज्ञानिक आर्किमिडीज ने अपने देश के राजा हीरो के लिये पीतल के सिक्कडो और मोटी रस्सियो से सुरक्षित पोत वनवाया था । १८४० ई० मे ब्रिटेन ने लोहे के पत्रो से जहाजो को मढने के प्रयोग किए, परतु पहले लौह-पत्र-रक्षित पोत फ्रासवालो ने वनाए, जो १८५५ की लडाई मे वहुत उपयोगी सिद्ध हुए । इसके वाद अन्य देशो मे कई जहाज वने जिनपर लोहे के पट्ट चढे थे । ये लगभग १ इच मोटे होते थे । धीरे धीरे पट्टो की मोटाई वढाई जाने लगी । १८५७ मे ४ इच मोटे पट्टो का उपयोग हुआ, १८६६ मे ६ इच का, १८८१ मे २४ इच का ।

स्वभावत खोज होने लगी कि किस धातु के पट्ट से अधिकतम सुरक्षा होती है । ढलवाँ लोहे, इस्पात और पिटवाँ लोहे मे पिटवाँ लोहा ही अधिक अच्छा निकला और पहले इसी धातु का उपयोग किया जाता था । यद्यपि इस्पात पिटवाँ लोहे से अधिक कडा अवश्य होता है, तथापि चोट खाने पर वह चटख जाता है । अधिक चिमडापन लानेके लिये मुख पर इस्पात और पीठ पर पिटवाँ लोहा लगाने की प्रथा चली । पहले दोनो को जोडने मे कठिनाई पडती थी, परतु कुछ समय मे एक अच्छी रीति निकली जिसमे पिटवाँ लोहे के पट्ट पर अतितप्त पिघला इस्पात ढाल दिया जाता है । इससे पिटवाँ लोहे का ऊपरी पृष्ठ पिघल जाता है और जोड सच्चा वनता है, परतु अधिक सफलता कैप्टेन टी० जे० ट्रेसिडर की विधि से मिली (सन् १८८७), जिसमे इस्पात के पत्र को ही एक ओर कडा कर दिया जाता था और दूसरी ओर नरम रखा जाता था । इसके लिये तप्त इस्पात को पानी की धार से एक ओर शीतल किया जाता था । इससे अच्छा पट्ट वनाने की रीति १८९१ ई० मे अमरीका के एक व्यक्ति हार्वी ने आविष्कृत की । इस रीति के अनुसार पिटवाँ लोहे के दो पट्टो के वीच चूर्ण कार्वन रखकर उन्हे दो या तीन सप्ताह तक तप्त रखा जाता था । इससे प्रत्येक पट्ट का एक पृष्ठ इस्पात हो जाता था और एकाएक शीतल करने पर अत्यत कडा हो जाता था । इस प्रकार के वने पट्ट पहले से वहुत अच्छे होते थे, परतु तव भी उनमे यह त्रुटि थी कि पीठ पर्याप्त चिमडी नही होती थी । १८९४ ई० मे जर्मनी के प्रसिद्ध क्रुप कारखाने ने निकेल तथा क्रोमियम मिश्रित इस्पात के पट्ट वनाए जो एक ओर हार्वी की रीति से कडे कर दिए जाते थे । ये पट्ट अपने से ढाई गुने मोटे पिटवाँ लोहे के पट्ट के समान पुष्ट होते थे । अव भी जहाजो की वगल को दृढ करने के लिये इसी विधि से कवचपट्ट वनते हैं । लगभग १६ इच की मोटाई से साधारण सुरक्षा मिल जाती है ।

सन् १९१४–१८ के विश्वयुद्ध मे जहाजो की छतो को भी कवचित करने की आवश्यकता पडी, क्योकि ऊपर से हवाई जहाजो से गोलियाँ वरसती थी या वम गिरते थे और अधिक दूरस्थ तोपो के गोले भी ऊँचाई से गिरते थे । छत के लिये वहुत चिमडे कवचपट्टो की आवश्यकता पडती है । निकेल तथा क्रोमियम पडे इस्पात यहाँ भी लगाए जाते हैं, परतु उनका पृष्ठ विशेष कठोर नही किया जाता ।

पट्टो के भेदन प्रतिरोध का सूत्र निम्नलिखित है

मो^{2}=**भा वे**^{3}/**अ व्य**, [$T^2=WV^3/CD$]

जहाँ **मो** (T) (इच मे) कवचपट्ट की मोटाई है, **भा** (W) (पाउड मे) तोप के गोले का भार है, **वे** (V) (फुट प्रति सेकड) उसका वेग है और **व्य** (D) (इच मे) उसका व्यास । **अ** (C) एक अचर है जिसका मान पिटवाँ लोहे के लिये निम्नलिखित सूत्र से प्राप्त होता है

लघु **अ**=८ ८४१० । [$\log C=8\ 8410$]

इस्पातो के लिये **अ** का मान भिन्न होता है । क्रुप का सूत्र इससे भिन्न था, परतु दोनो सूत्रो से उत्तर लगभग एक ही निकलता है ।

कवचित यान

(आर्मर्ड कार, armoured car) ऐसी गाडियो को कहते हैं जिनपर इस्पात की चादर इसलिये चढी रहती है कि उसके भीतर बैठे व्यक्ति सुगमता से घायल न किए जा सके । ये गाडियाँ तीन प्रकार की होती हैं । प्रथम, साधारण मोटरकार के सदृश गाडी होती है, जिसमे गद्दे इत्यादि से छिपी इस्पात की ऐसी चादरें और शीशे लगे होते हैं कि पिस्तौल या रिवाल्वर के दागने पर उसकी गोली भीतर नही घुस सकती । अमरीका मे जव सडको पर दिन दहाडे डकैतियाँ होने लगी तो धनी लोग ऐसी गाडियाँ वनवाकर व्यवहार करने लगे । पुलिस मे भी इसका उपयोग होने लगा । अव जहाँ भी सुरक्षा आवश्यक होती है व्यक्तियो के आने जाने के लिये ऐसी गाडियाँ काम मे लाई जाती है ।

द्वितीय प्रकार के यानो का भी प्रयोग सर्वप्रथम अमरीका मे हुआ । इनके ऊपर अधिक सुदृढ इस्पात का कवच होता है और ये चारो ओर से वद होते हैं । इनका उपयोग धन, सोना या अन्य वहुमूल्य वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिये किया जाता है । वको और अन्य व्यापारियो के लिये, जिन्हे मूल्यवान् वस्तुएँ भेजनी होती है, ये वहुत उपयोगी सिद्ध हुई है । इनके अदर दो या अधिक हथियारवद मनुष्य अतिरिक्त सुरक्षा के लिये वैठते है ।

तृतीय प्रकार के कवचित यानो का प्रयोग सेना मे किया जाता है । सेना की विशिष्ट आवश्यकताओ के अनुरूप तरह तरह की कवचित मोटरगाडियो की परीक्षा की गई और उनमे सुधार किए गए । इन यानो के कवच को वदूके या मशीनगने नही छेद सकती, परतु टैंको के विरुद्ध प्रयोग की जानेवाली वदूको और तोपो के आगे यह कवच भी नही टिक सकता । इसीलिये ये गाडियाँ शीघ्रगामी वनाई जाती हैं, जिसमे भागकर वच सके ।

छोटी गाडियों में शस्त्रों से सुसज्जित चार सैनिक तथा बडी में दस बारह रहते हैं। इनमें एक छोटी तथा एक बडी मशीनगन के सिवाय बहुधा
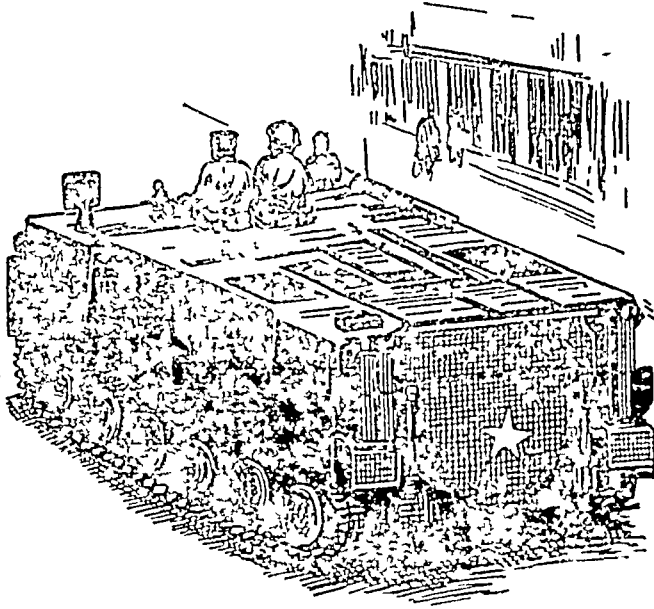
कवचित यान

हवाई जहाजों पर चलानेवाली तोप रहती है। सैनिकों के पास हथगोले (Hand grenade) आदि भी रहते हैं।

यों तो वर्तमान शताब्दी के आरंभ से कवचित यानों का थोडा बहुत प्रयोग होने लगा था, किंतु सेना में इनका व्यापक प्रचार प्रथम विश्वयुद्ध से हुआ।

सं०ग्रं०—आर० जे० इक्स "फोर डिकेड्स ऑव मेकैनिज़ेशन", आर्मी ऑर्डनैंस (१९३७)। [भ० दा० व०]

कवलाहार मुनि का छठा बाह्य तप अवमौदर्य (खुराक से कम खाना) है। भगवतीसूत्र, गाथा २११ में मुनि का अधिकतम आहार ३२ और आर्यिका (साध्वी) का २८ कवल (कौर) बताया है। एक कवल का उत्कृष्ट प्रमाण ५० चावलों का भात है। इस प्रकार कवलों में प्रमाण होने के कारण कवलाहार मुनि के आहार का पर्यायवाची है। आगम में किए गए मुनि के आहार के नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार और मानसाहार भेदों से भी यही स्पष्ट है।

मूल मान्यता यही है कि केवली (जीवन्मुक्त) के कवलाहार नहीं होता है क्योंकि उनके शरीर की स्थिति के लिये नोकर्म-कर्माहार ही पर्याप्त होते हैं। उत्तर काल में सवस्त्र मुक्ति के समान केवली के कवलाहार की भी कल्पना की गई। फलत कवलाहार दिगंबर तथा श्वेतांबर संप्रदायों की मुख्य तीन भिन्नताओं में से भी एक है। [सु० च० गो०]

कवाध कवाद, कबात या कोवाद, फारस के ससानी वंश के दो राजाओं के नाम।

कवाध प्रथम (४८७–५३१ ई०), फीरोज का पुत्र, अपने चाचा वलास की जगह गद्दी पर बैठा। कवाध के दीर्घ राज्यकाल का पहला वीरकार्य उन बर्बर खज्रों के विरुद्ध सफल अभियान था जो तुर्की जाति के थे और कोहकाफ लाँघ कूर की घाटी में प्राय धावे किया करते थे।

मजदक द्वारा स्थापित सामूहिक सत्तावादी संप्रदाय की सहायता करने के कारण कवाध को प्राय अपना सिंहासन ही छोडना पडा। उसे गद्दी से उतार दिया गया और सूसियाना के प्रसिद्ध गढ में (जिसे साधारणत विस्मृति का गढ कहते हैं) कैद कर दिया गया (४९८-५०१ ई०)। उसका उत्तराधिकार उसके भाई जमास्प को मिला। कवाध अपनी पत्नी की मदद से कैद से निकल भागा। उसने अपनी गद्दी पर भी फिर से अधिकार कर लिया। इस बार उसने मजदकों के संबंध में बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार किया, उनसे अपनी संरक्षा हटा ली और उनमें से बहुतों को बाद में मरवा तक डाला।

रोम के साथ ससानियों का जो मित्रता संबंध अब तक चला आ रहा था, उसे कवाध ने तोड दिया। दोनों ओर से एक दूसरे पर लगातार धावे होते रहे और इन धावों ने दोनों पक्षों को कमजोर कर भावी अरब विजयों के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया। श्वेत हूणों के साथ कवाध का संघर्ष प्राय दस वर्ष (५०३–५१३ ई०) चलता रहा और उसने उनकी शक्ति प्राय नष्ट कर दी। कवाध दूरदर्शी और शक्तिमान शासक था। तबरी का कहना है कि कवाध ने जितने नगर बसाए उतने किसी अन्य नृपति ने नहीं बसाए। उसकी मृत्यु के समय ईरान की शक्ति और मान चोटी पर थे।

कवाध द्वितीय खुसरू परवेज का पुत्र था जो ६२८ ई० की फरवरी में, पिता के गद्दी से उतारे जाने के बाद, सिंहासनारूढ हुआ। गद्दी पर बैठते ही उसने रोम के सम्राट् हिराक्लियस से संधि कर ली। कवाध द्वितीय ६२८ ई० में मरा।

सं० ग्रं०—पर्सी साइक्स : ए हिस्ट्री ऑव पर्शिया, (दो भाग, लंदन, १९५८)। [मो० या०]

कब्बाणी कावेरी नदी की एक प्रमुख सहायक नदी है। इसे कपिनि या कपिला भी कहते हैं। इसका उद्गम स्थान पश्चिमी घाट पर्वत पर उत्तरी विनाद में है। मैसूर जिले के दक्षिण-पश्चिम कोण पर यह मैसूर प्रांत में प्रवेश करती है। यह नदी हेगददेवकोट तालुक से होकर पूर्वोत्तर दिशा में टेढी मेढी चाल से बहती हुई बेलातुर के निकट पूर्व की ओर मुड जाती है। नुगु तथा गुंदल नामक इसकी दो सहायक नदियाँ दक्षिण से आकर मिलती हैं। तिरुमकुदल नर्सिपुर में कब्बाणी कावेरी नदी में मिल जाती है। यह संगम स्थान बडा ही पवित्र माना जाता है।

कब्बाणी, जिसकी लंबाई लगभग २४० किलोमिटर है, निरंतर बहती रहनेवाली नदी है। इस नदी से लगभग ५१ किलोमीटर लंबी रामपुर नहर निकाली गई है जिससे लगभग १,४०० एकड भूमि सींची जाती है। [न० प्र०]

कशेरुकदंडी (वर्टेब्रेट, Vertebrate) प्राणिसाम्राज्य के कॉर्डेटा (Chordata) समुदाय का सबसे बडा उपसमुदाय है, जिसके सदस्यों में रीढ की हड्डियाँ या पृष्ठवंश विद्यमान रहते हैं। निम्नलिखित गुणोंवाले सभी कॉर्डेटा इसमें परिगणित होते हैं

१ जो करोटि (स्कल, skull) वाले होते हैं।
२ जिनके वयस्क में नोटोकॉर्ड का स्थान कशेरुकाएँ ले लेती हैं।
३ जिनके मस्तिष्क की रचना जटिल होती है।
४ जिनका हृदय तीन या चार खंडों में बँटा रहता है।
५ जिनमें शाखांगों के दो जोडे पखों (फिन, Fin) या हाथ-पैर के रूप में होते हैं।
६ जिनके शरीर में लाल रक्तकण पाए जाते हैं।
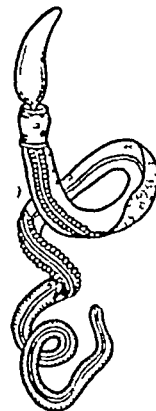
कशेरुकदंडी दो प्रकार के हैं ऐग्नेथा (Agnatha) तथा ग्नेथोस्टोमेटा (Gnathostomata)। एग्नेथा की एकही श्रेणी है—चक्रमुखी (साइक्लोस्टोमेटा, (Cyclostomata)। चक्रमुखी प्राणी जबडे रहित और चूषक मुख (सक्टोरियल माउथ, suctorial mouth) वाले होते हैं जिसमें कादर दाँत लगे रहते हैं। ये जलचर होते हैं। इनकी त्वचा चिकनी और शल्करहित होती है। पख अयुग्म होते हैं। छ से लेकर चौदह जोडी तक गलफड होते हैं। ककाल कास्थिजातिक (calcified) होता है। लैंप्रि (Lamprey) तथा हैग (Hag) मछलियाँ इसके उदाहरण हैं।

चित्र १ अवर्ध ग्रैवेय (Balanoglossus) वर्ग एटराप्न्यूस्टा (Enteropneusta)

स्ने गोम्टोसेटा कशेरुकदंडी जबड़ेवाले प्राणी हैं। ये पाँच वर्गों मे विभक्त हैं, जिनका परिचय निम्नोक्त है
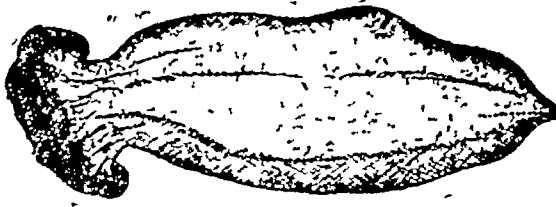
चित्र २ समुद्रोद्गारी (Sea-squirt)
वर्ग जलोद्गारी (Ascidiacea)।

१ मत्स्य (Pisces)—इस श्रेणी मे सभी प्रकार की मछलियाँ आती हैं। मछलियाँ जलवासी जीव हैं और गलफड़ो द्वारा श्वसन करती है।

चित्र ३ मीनलागी (Lamprey)

वर्ग चूषमुख (Cyclostomata)।

गलफड जीवन पर्यंत उपस्थित रहते है। साधारणतया त्वचा शल्को से ढकी रहती है। प्रचलन के लिये अंस तथा श्रोणि पख (पेक्टोरल ऐड
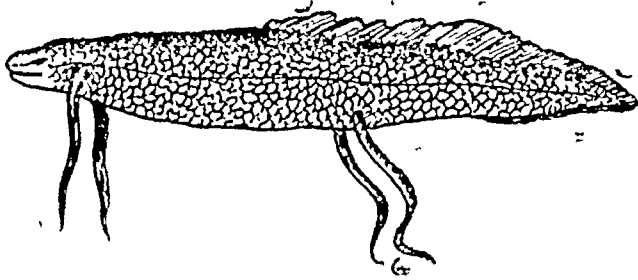
चित्र ४ फुप्फुस मीन (Lung fish)
वर्ग मीन (Pisces)।

पेल्विक फिन्स, pectoral and pelvic fins) और अयुग्म पृष्ठीय (dorsal), औदरिक तथा पुच्छ पख होते है। पखो मे ककालीय पखरश्मियाँ होती है। इनके अतिरिक्त अधिकतर मछलियो में वातवस्ति (एयर ब्लैडर, air bladder) उपस्थित होती है। हृदय एक अलिद तथा एक निलय, दो खडो मे बँटा रहता है। इस श्रेणी के उदाहरण शार्क, कतला, रोहू, मृगल, टेंगडा, सिंघी तथा केवड इत्यादि मछलियाँ हैं।

चित्र ५ दश पृथिका (Sting ray)
वर्ग मीन (Pisces)।

२ उभयचर (ऐंफीबिया, Amphibia)—ये मछली तथा उरग दोनो श्रेणियो के बीच के प्राणी है, जो जल तथा स्थल दोनो ही पर रह सकते हैं। इनकी त्वचा प्राय कोमल, नम तथा चिकनी होती है और उन पर किसी प्रकार के शल्क नहीं होते। इनमें अधिकाश अपनी बेगची (tadpole) अवस्था मे गलफड़ो द्वारा और वयस्क अवस्था मे फुप्फुसो द्वारा श्वसन करते हैं, किंतु कुछ जीवन-पर्यंत गलफड़ो द्वारा ही श्वसन करते हैं। शाखाग कभी पख के रूप मे नहीं होते। शाखाग जब वर्तमान होते है तो उनकी रचना
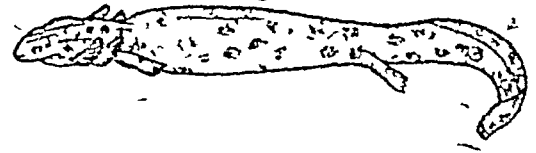
चित्र ६ सरटिका (Newt)
वर्ग उभयचर (Amphibia)।

पचागुलिक होती है जो चलने फिरने तथा तैरने के लिये होते हैं तथा उनमे किसी प्रकार के नाखून नही होते। हृदय मे दो अलिद और एक निलय होता
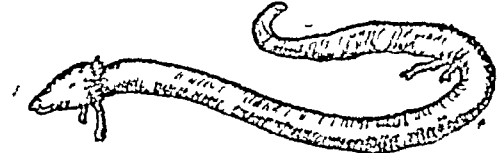
चित्र ७ गुहासर्पिका (Proteus)
वर्ग उभयचर (Amphibia)।

है। इनके जीवन मे प्राय रूपातरण होता रहता है। इस श्रेणी के उदाहरण सैलामैंडर (Salamander), दादुर, मेटक तथा सिसीलियन हैं।

३ उरग (रेप्टीलिया, Reptilia)—इस श्रेणी के प्राणियो के पैर इतने छोटे होते है कि चलते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो ये पेट के बल रेंग रहे हो। उरग शीतरक्तीय कशेरुकदडी हैं। इनकी त्वचा शृंगी
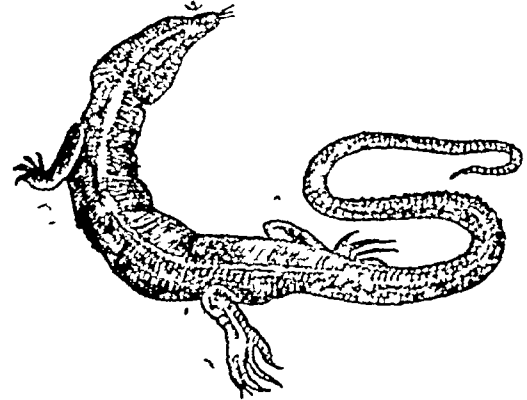
चित्र ८ वेदार (Varanus)
वर्ग उरग (reptilia)।

(horny) शल्को से ढकी रहती है और कुछ मे इन शल्को के स्थान पर शृंगी या अस्थि पट्टिकाएँ होती हैं। हृदय मे दो अलिद और अपूर्ण रूप मे,
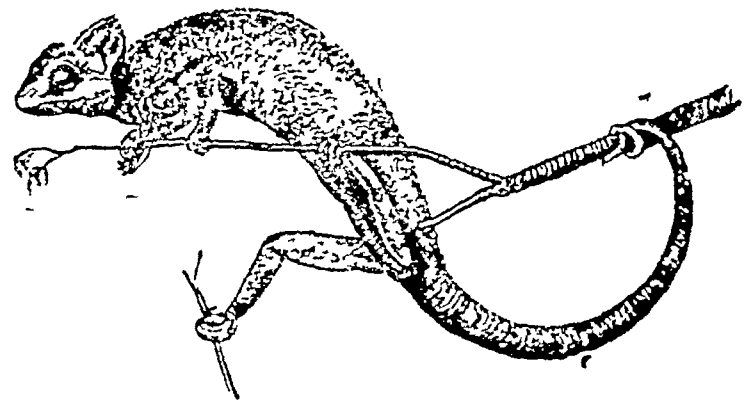
चित्र ९ गिरगिट (Chameleon)
वर्ग उरग (Reptilia)।

दाएँ तथा बाएँ मे विभाजित, निलय होता है, किंतु मगरमच्छ मे निलय पूर्ण रूप से दो खडो में बँटा रहता है। इस श्रेणी मे छिपकलियाँ, गिरगिट, साँप, कछुए, मगरमच्छ तथा नक्र इत्यादि आते है।

४ पक्षी (एवीज, Aves)—इस श्रेणी मे वे जतु सम्मिलित है जिन्हे हम पक्षी कहते है। ये उष्णरक्तीय, दो पैरोवाले जतु होते है। इनका शरीर परो से ढँका होता है। अग्रशाखाग डैनो मे परिवर्तित होते है। ऊर्ध्व तथा अधोहन्विकाएँ मिलकर चोच बनाती है, जो एक शृगी छाद (Horny sheath) से ढकी रहती है। इन्हे दाँत नही होते। हृदय पूर्ण रूप से चतुष्कोष्ठीय (दो अलिंद तथा दो निलय) होता है। इस श्रेणी के अतर्गत सभी प्रकार की चिडियाँ, जैसे कौवे, गौरैया, चील, बाज, मुर्गा, बत्तख, शुतुरमुर्ग, नीलकठ, कोयल, मोर, बुलबुल इत्यादि आते है।

चित्र १० किविफ (Kiwi) वर्ग पक्षी (Aves)।

५ स्तनधारी (मैमेलिया, Mammalia)—इस श्रेणी मे वे कशेरुकदडी जतु आते है जिनकी मादा स्तनोवाली होती है। बच्चों के पोषण के लिये स्तनो से दूध स्रावित होता है। नर मे वृषण अडकोष मे स्थित होते है। इनके अतिरिक्त स्तनधारियो के शरीर पर बाल पाए जाते है, शरीर के मध्य अनुप्रस्थ दिशा मे फैला हुआ एक महापट डायफ्राम, (diaphragm) हृदय चतुष्कोष्ठीय तथा कान का बाहरी छिद्र कर्ण-

चित्र ११ बकरी (Goat) वर्ग स्तनधारी (Mammalia)।
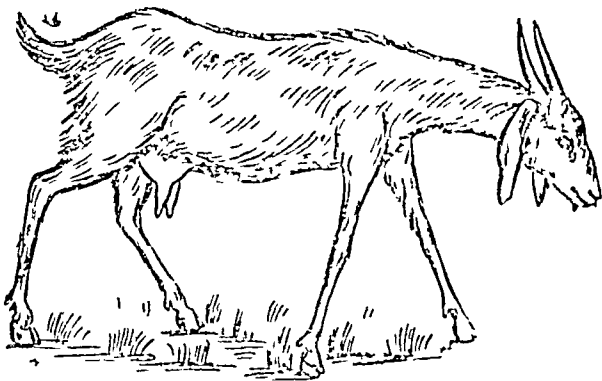
शष्कुली से ढका होता है। ये उष्णरक्तीय तथा वायुश्वसनीय प्राणी है। इनके लाल रक्तकणो मे केद्रक का अभाव होता है। साधारणतया बच्चे पूर्ण विकसित अवस्था मे ही मादा के शरीर से बाहर निकलते है। इस श्रेणी के उदाहरण बनचोचा, चीटीखोर, कगारू, बकरी, भेड, गाय, भैंस, कुत्ता, सियार, भालू, शेर, हाथी, ह्वेल, खरगोश, गिलहरी, बदर तथा मनुष्य इत्यादि है। [भृ० ना० प्र०]

कशेरुकदंडी-भ्रूण-तत्व

(वर्टेब्रेट एब्रिऑलोजी, Vertebrate embryology) प्रत्येक कशेरुकदडी अपना जीवन एक ससेचित अडे के रूप मे आरभ करता है। ससेचन की क्रिया अडे के कोशिकाद्रव्य के भीतर एक शुक्राणु के प्रवेश करने से होती है। शुक्राणु का केवल सिर ही कोशिकाद्रव्य के भीतर प्रवेश करता है। यथार्थ शुक्राणु का सिर केवल केद्रक का ही बना होता है, इसमे कोशिकाद्रव्य की मात्रा बहुत ही कम होती है। अडे और शुक्राणु के केद्रक का एक दूसरे से समेकन होता है। सयुक्त केद्रक के विभाजन के साथ ही कोशिकाद्रव्य का विभाजन भी होता रहता है। ससेचन से दो कार्य सिद्ध होते है। एक तो इस क्रिया से नर और मादा के आनुवशिक पदार्थ एकत्र होते है, दूसरे इस क्रिया से अडे का उद्दीपन होता है जिससे एक सजटिल परन्तु समन्वित विधि की एक श्रेणी आरभ होती है, जिसे भ्रूणीय विकास कहते है।

युग्मज खडीभवन योक की मात्रा पर निर्भर रहता है। कम योकवाले या योक रहित अडे पूर्णभाजित (होलोब्लास्टिक, holoblastic) और योक के प्राचुर्यवाले अडे अपूर्णभाजित (मेरोब्लास्टिक, meroblastic) होते है। सरीसृपो और पक्षियो के अडे योक से परिपूर्ण होते है। उनमें युग्मन विभाजन की रेखा अडे के कोशिकाद्रव्य-काय ध्रुव (पोल, pole) की सीमा के आगे नही पहुँचती। ऐसे जतुओ मे ब्लैस्टोडर्म का विकास योक के ऊपर होता है। एंफीबिया में पूरा युग्मज विभाजित होता है परतु जतुध्रुव (ऐनिमल पोल, animal pole) की अपेक्षा वेजिटल पोल (vegital pole) की कोशिकाएँ अधिक शीघ्रता से विभाजित होती है।

मोरुला (Morula) और ब्लैस्ट्यूला (Blastula)—बार बार विभाजित होने के कारण युग्मज एक कोशिका समूह में परिणत हो जाता है जिसे मोरुला कहते है। धीरे धीरे मोरुला के भीतर तरल पदार्थ से भरी हुई एक गुहा उत्पन्न होती है, जिसे ब्लैस्टोसील (Blastocoele) और इस श्रेणी के भ्रूण को ब्लैस्ट्यूला कहते है।

गैस्ट्रुलेशन (Gastrulation)—एंफिऑक्सस (Amphioxus) में ब्लैस्ट्यूला की भित्ति केवल एक कोशिकास्तर की बनी होती है। इस कारण गैस्ट्रुलेशन की विधि सरल होती है। ब्लैस्ट्यूला की भित्ति एक विशेष स्थान पर भीतर की ओर बैठने लगती है, जिसे अतर्गमन (इनवैजिनेशन, invagination) कहते है। ब्लैस्टोसील गुहा के भीतर भित्ति के डूबने से उत्पन्न गुहा के किनारे एक दूसरे के समीप आने लगते है। इस प्रकार एक छिद्र बनता है जिसे ब्लैस्टोपोर (Blastopore) कहते है। इस नई गुहा को, जिसमे ब्लैस्टोपोर खुलता है, आर्कॅटेरॉन (Archenteron) कहते है। ब्लैस्टोपोर भ्रूण के पश्च भाग पर स्थित होता है।

अब दोनो प्राथमिक जननस्तर (जर्म लेअर, germ layer) स्थापित हो गए। छोटी कोशिकाओ से बना बाहरी स्तर बहिर्जनस्तर (Ectoderm या Epiblast) है और आर्कॅटेरॉन की भित्ति को बनानेवाला आतरिक स्तर अतर्जनस्तर (Endoderm अथवा Hypoblast) है। हाइपोब्लास्ट की कोशिकाएँ एपिब्लास्ट की कोशिकाओ से अधिक बडी होती है। ब्लैस्ट्यूला मे ही गैस्ट्रुलेशन से ये दोनो प्रकार की कोशिकाएँ पहचानी जा सकती है। जतुध्रुव के क्षेत्र मे स्थित कोशिकाएँ आकार में छोटी और वेजिटल पोल पर स्थित कोशिकाएँ आकार में बडी होती है। पहली श्रेणी की कोशिकाओ से एपिब्लास्ट और दूसरी से हाइपोब्लास्ट बनता है। गैस्ट्रुलेशन से केवल इनके पारस्परिक स्थानीय सबध में अतर उत्पन्न होता है। ब्लैस्ट्यूला मे हाइपोब्लास्ट कोशिकाओ के ऊपर की दो या तीन पक्ति की कोशिकाएँ न्यूरल प्लेट (Neural plate) की कोशिकाएँ है। ये ही आगे चलकर तत्रिका कोशिकाएँ (नव सेल्स, nerve cells) बन जाती है। अतर्जनस्तर के किनारेवाली दो तीन पक्तियो की कोशिकाओ से नोटोकॉर्ड (Notochord) बनता है और इन्ही के समीप मध्यजनस्तर (मेसोडर्म, Mesoderm) की कोशिकाएँ होती है।

गैस्ट्रुलेशन के पश्चात् आर्कॅटरॉन की छत पर स्थापित कोशिकाओ से नोटोकार्ड बनता है। नोटोकॉर्ड और अतर्जनस्तर (एडोडर्म) के बीच की कोशिकाएँ दोनो ओर खोखली धानी बनाती है। यह धानी मेसोडर्म या मेसोब्लास्ट की है।

ऐसिडिऐन (Ascidian) मे गैस्ट्रुलेशन का अतर इतना ही है कि इन जतुओ के अडे मोजेइक होते है, अर्थात् अडे के प्रत्येक भाग के भविष्य का निर्णय ससेचन के पूर्व ही हो जाता है। इनके कोशिकाद्रव्य स्थानानुसार भिन्न प्रकार के होते है। केद्रक के चारो ओर का कोशिकाद्रव्य रगहीन हाइग्रालाइन (Hyaline) होता है। शेष कोशिकाद्रव्य कणिकामय और भूरा होता है और कार्टेक्स पर एक पतला स्तर कणिकामय पीले कोशिकाद्रव्य का होता है। हाइअलाइन कोशिकाद्रव्य उन कोशिकाओ मे जाता है जिनका एपिब्लास्ट और न्यूरल पट्ट बनता है। भूरा कणिकामय कोशिकाद्रव्य अतजनस्तर कोशिकाओ मे और पीला कोशिकाद्रव्य मध्यजनस्तर कोशिओ मे जाता है।

मेढक मे गैस्ट्रुलेगन इससे कुछ भिन्न रूप मे होता है। मेढक के ब्लैस्टयूला मे ऊपरी कोशिकाएँ छोटी और काली तथा नीचे की बडी बडी, योक से भरी हुई और रगहीन होती हैं। इन ऊपरी और निचले प्रदेशो के बीच एक अत स्थ प्रदेश भी होता है। निचली कोशिकाओ की अपेक्षा ऊपरी भाग की कोशिकाएँ अधिक शीघ्रता से विभाजित होती हैं, फलत ये छोटी कोशिकाएँ बडे आकारवाली निचली कोशिकाओ के ऊपर सरक आती है। इस विधि को एपिबोली (Epiboly) कहते हैं। ऊपरी कोशिकाओ की सख्या तथा आकार मे वृद्धि के कारण ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त और भी एक घटना होती है। भ्रूण के भावी पश्च पृष्ठ (डॉरसो पॉस्टीरियर, dorso posterior) तल पर एक ग्रूव बनती है। यह प्रारभिक अवस्था का ब्लैस्टोपोर है। इस ग्रूव मे से अनेक कोशिकाएँ भीतर की ओर चली जाती हैं, जिससे ग्रूव अधिक गहरा हो जाता है और एक नई गुहा उत्पन्न हो जाती है। यह गुहा आर्केंटरॉन है और भ्रूण अब गैस्ट्रुला की अवस्था मे है।

भ्रूण के भीतर प्रवेश करनेवाली कोशिकाएँ अत स्थ क्षेत्र से आती हैं। ब्लैस्टयूला के भीतर प्रस्तुत गुहा, ब्लैस्टोसील, इन कोशिकाओ के भीतर प्रवेश करने से और आर्केंटरॉन के फैलाव के कारण दबकर आगे तथा नीचे की ओर हटने लगती है और अत स्थ क्षेत्र के भीतर प्रविष्ट कोशिकाएँ आर्केंटरॉन की छत बनाती हैं। ब्लैस्टोपोर का ग्रूव दाहिने और बाएँ फैलता है। फिर यह ग्रूव दोनो ओर से आकर नीचे मिल जाता है और एक वृत्ताकार छिद्र का रूप धारण कर लेता है। इसी बीच निचले ध्रुव की बडी बडी कोशिकाएँ भी ब्लैस्टोपोर से भीतर प्रवेश करती है, यहाँ तक कि ये सब कोशिकाएँ भ्रूण के भीतरी भाग मे प्रवेश कर जाती हैं। किंतु कुछ समय तक इन बडी कोशिकाओ का एक समूह ब्लैस्टोपोर के मुँह मे स्थित रहता है जिसे योक प्लग कहते हैं। इस समय तक ब्लैस्टोसील पूर्णत लुप्त हो चुका होता है। आर्केंटरॉन की छत की कोशिकाएँ मध्यजनस्तर (मेसोडर्म) और छत के मध्य की कोशिकाएँ नोटोकॉर्ड बनाती हैं। मध्य के समीप दाएँ बाएँ की कोशिकाओ के सोमाइट बनते हैं और दोनो किनारो की कोशिकाएँ पार्श्व पट्ट (लैटरल प्लेट, lateral plate) बनाती हैं। आर्केंटरॉन के भूमितल की कोशिकाएँ एडोडर्म स्तर बनाती हैं। ये कोशिकाएँ एक नालिका (ट्यूबूल, tubule) बनाती हैं। यह नालिका (ट्यूबूल) ही आहार नाल (एलिमेंटरी कैनाल, alimentary canal) है। गैस्ट्रुलेशन के पश्चात् छोटी छोटी कोशिकाएँ अर्थात् अतर्जनस्तरीय (एडोडर्म) कोशिकाएँ ही बाहर रह जाती है और मध्यजनस्तरीय और अतर्जनस्तरीय कोशिकाएँ भ्रूण के भीतर स्थित हो जाती हैं।

ब्लैस्टयूला के विशेष भाग के अतर्गमन (इन्वैजिनेशन, invagination) और उसके सभावी भाग्य का निर्णय ऐफिबिया (Amphibia) की कई जातियो मे किया जा चुका है। यूरोडीला (Urodela) मे ब्लैस्टयूला के निचले ध्रुव (पोल) की कोशिकाओ का अतर्गमन होता है और इनसे आहार नली (गट, Gut) बनती है। एक बालेन्दु क्षेत्र मे, जो कि मध्य मे चौडा और पीछे से दोनो ओर अत्यत पतला होता है और ब्लैस्टोपोर के डॉर्सल किनारे से ऊपर स्थित होता है, भावी नोटोकॉर्ड बनाने वाला द्रव्य प्रस्तुत रहता है। ब्लैस्टोपोर के ऊपरी किनारे का ऊपरी क्षेत्र गैस्ट्रुला का ओष्ठ कहलाता है। इसको ऑर्गेनाइजर (organiser) भी कहते हैं। नोटोकॉर्ड उत्पन्न करनेवाले क्षेत्र के दाहिने और बाएँ के क्षेत्र सोमाइट (Somite) उत्पन्न करनेवाले क्षेत्र हैं। सभावी अतर्जनस्तर (एडोडर्म) के चारो ओर का पार्श्व पट्ट (लैटरल प्लेट) मध्यजनतस्र (मेसोड) बनानेवाली कोशिकाओ का क्षेत्र है। सभावी नोटोकॉर्ड सोमाइट, पार्श्व-पट्ट-क्षेत्र के ऊपर पूँछ के मध्यजनस्तर का क्षेत्र है। इन क्षेत्रो की कोशिकाएँ अतर्गमन के पश्चात् गैस्ट्रुला के भीतर प्रवेश करती है। सभावी मध्यजनस्तर क्षेत्र के ऊपरी किनारे की रेखा, जो अतर्गमन की परिसीमा भी अकित करती है, ब्लैस्टयूला की मध्य रेखा के समातर नही जाती। यह पृष्ठीय तल की ओर मध्य के ऊपर जाती है और प्रतिपृष्ठ (वेंट्रल, ventral) तल की ओर उसके नीचे।

अतर्गमन की परिसीमा बतानेवाली रेखा के ऊपरी क्षेत्र का अधिकाश भाग, जो पूरा पृष्ठीय तल घेरता है और कुछ कुछ प्रतिपृष्ठ तल की ओर झुका होता है, सभावी न्यूरल पट्ट का क्षेत्र है जिससे मस्तिष्क और मेरुरज्जु (स्पाइनल कोर्ड, spinal cord) उत्पन्न होते हैं। प्रतिपृष्ठ तल का क्षेत्र एपिडर्मिस (Epidermis) बनाता है। मेढक के ब्लैस्टयूला के विभिन्न क्षेत्रो का सभावी भाग्य इसी प्रकार का होता है, किंतु ब्योरे मे कुछ भिन्न। सरीसृपो और पक्षियो के ब्लैस्टोडर्म (Blastoderm) के विभिन्न भागो के सभावी भाग्य का चित्र ऐफिबिआ के प्रतिरूप से भिन्न होता है, परतु इनमे कुछ समानता भी होती है। सभावी नोटोकॉर्ड के मध्यजनस्तर का क्षेत्र अग्रस्थित न्यूरल पट्ट क्षेत्र और पश्चवर्ती अतर्जनस्तर क्षेत्र के बीच मे होता है। इसके दाहिने बाएँ सोमाइटिक मध्यजनस्तर का क्षेत्र होता है। पक्षियो मे सभावी अतर्जनस्तर का क्षेत्र बहुत छोटा होता है। गैस्ट्रुलेगन की गति के पश्चात् इन सब क्षेत्रो की कोशिकाएँ अपने निश्चित स्थान पर पहुँचकर विकसित होने लगती है।

मॉनोट्रीमो (Monotremes) के अतिरिक्त स्तनधारी जतुओ के अडे योक विहीन होते हैं [मॉनोट्रीमो के अडो मे योक होता है और मार्सुपियल (marsupial) के अडो मे भी योक होता है, परतु यह शीघ्र ही लुप्त हो जाता है]। इनमे युग्मज विभाजन सपूर्ण होता है। लगातार विभाजन से युग्मज, समानाकार कोशिकाओ का एक समूह बन जाता है। यह समूह शीघ्र ही दो भागो मे विभक्त हो जाता है, एक बाह्य कोशिकास्तर और दूसरा आतरिक कोशिकासमूह। पहले को ट्रोफोब्लास्ट (Trophoblast) और दूसरे को भ्रूणगुच्छ (एम्ब्रिओनल नॉट, Embryonal Knot) कहते हैं। भ्रूण के आतरिक भाग मे एक गुहा होती है। भ्रूणगुच्छ के नीचे और ट्रोफोब्लास्ट के नीचे चारो ओर कोशिकाओ का एक स्तर उत्पन्न होता है। भ्रूणगुच्छ के नीचे की कोशिकाएँ अतर्जनस्तर बनाती है और ट्रोफोब्लास्ट के नीचेवाली परिधि का अतर्जनस्तर। अब भ्रूण मे एक प्रिमिटिव स्ट्रीक उत्पन्न होता है।

पक्षियो के अडो मे योक की मात्रा अधिक होती है। अत हाइआलिन (hyaline) कोशिकाद्रव्य एक ध्रुव पर सकीर्ण क्षेत्र मे पाया जाता है। मेरोब्लास्टिक (meroblastic) युग्मज खडन से इस ध्रुव पर कोशिकाओ का एक छोटा समूह उत्पन्न हो जाता है। इसे ब्लैस्टोडर्म कहते हैं। ब्लैस्टोडर्म मे कोशिकाओ के बाह्य स्तर के आतरिक स्तर से पृथक् (डिलेमिनेशन) हो जाने पर क्रमश बहिर्जनस्तर तथा अतर्जनस्तर बनते हैं। उक्त दोनो स्तरो का अतराल खडीभवन गुहा (सेगमेटेशन कैविटी, segmentation cavity) है। ऐफिऑक्सस (Amphioxus) तथा ऐफिबिआ (Amphibia) की भाँति पक्षियो मे अतर्गमन (इन्वैजिनेशन) नही होता। इनमे गैस्ट्रुलेगन की विधि भिन्न है। ब्लैस्टोडर्म के मध्य का क्षेत्र पेलुसिडा (Pellucida) कहलाता है। यह ब्लैस्टोडर्म के बाहरी क्षेत्र से, जिसे ओपाका कहते हैं, विभिन्न होता है। पेलुसिडा क्षेत्र के भीतर एक लबी रेखा उत्पन्न होती है जो कोशिकाओ के अधिक सख्या मे एकत्र होने के कारण बनती है। प्रिमिटिव स्ट्रीक वह स्थान है जहाँ एपिब्लास्ट (Epiblast) की कोशिकाएँ भ्रूण के भीतर प्रवेश करती है और नोटोकोर्डल सोमाइट और पार्श्व पट्ट (लैटरल प्लेट, lateral plate) बनाती हैं। स्तनधारी जतुओ के ब्लैस्टोडर्म का प्रिमिटिव स्ट्रीक भी इसी प्रकृति का होता है। इस लिये प्रिमिटिव स्ट्रीक को ऐफिबिआ के ब्लैस्टोपोर के समान समझा जाता है।

प्रारभ मे उरगो मे भ्रूण का परिवर्धन पक्षियो के समान होता था, किंतु अतर्गमन (इन्वैजिनेशन) ऐफिबिआ के सदृश होता है। गहन कोशिका विभाजन के कारण पेलुसिडा क्षेत्र के मध्य मे एक रेखा उत्पन्न हो जाती है, जिसे प्रिमिटिव नॉट या प्रिमिटिव पट्ट (प्लेट, plate) कहते है। इस क्षेत्र मे अतर्गमन होने से अर्थात् कोशिकाओ का तल नीचे दबने से एक गुहा बन जाती है। इस गुहा के द्वार को ऐफिबिआ के भ्रूण के ब्लैस्टोपोर के समान और गुहा को आर्केंटरिक गुहा के समान समझा जा सकता है।

लैंप्रि (Lamprey) मे युग्मज खडन (होलोब्लास्ट) होता है और ब्लैस्टयूला के भागो का आगिक चित्र और गैस्ट्रुलेशन ऐफिबिआ के समान ही होता है।

योक की अधिकता के कारण मछलियो मे युग्मज खडन मेरोब्लास्टिक होता है और भ्रूण योकसमूह के ऊपर एक कोशिकासमूह के रूप में परिवर्धित होता है। परतु ब्लैस्टोडर्म क्रमश नीचे की ओर फैलता हुआ अत मे सपूर्ण योक को घेर लेता है। इस फैलाव के साथ ही सभावी मध्यजनस्तर (मेसोडर्म) कोशिकाओ का अतर्गमन भी होता है। सैमन (Salmon) मछली के ब्लैस्ट्यूला के भाग्य चित्र (diagram of presumtive fate) पर पूरे क्षेत्र का अधिकाश भाग सभावी मेसोडर्मल और न्यूरल ऊतको (टिशू, tissue) से घिरा हुआ पाया जाता है। अतर्जनस्तर और मध्यजनस्तर एक साथ उत्पन्न होते हैं, किंतु ब्लैस्टोडर्म का पश्च किनारा अतस्तुन्न (tucked in) होता है।

डिपनोआन सिरेटोडस (Dipnoan ceratodus) मे ब्लैस्टोमीर (Blasomere) छोटे बडे होते है, किंतु युग्मज खडन (होलोब्लास्टिक) होता है। ब्लैस्टोपोर की उत्पत्ति ऐंफिबिआ के सदृश होती हे।

अगविकास (आर्गैनोजेनेसिस, Organogenesis)—गैस्ट्रुलेशन के उपरात शास्त्रीय भ्रूणतत्व के तीनो प्राथमिक भ्रूणीय स्तर, वहिर्जनस्तर, अतर्जनस्तर और मध्यजनस्तर निश्चित रूप से स्थापित हो जाते हैं। सपरीक्षात्मक भ्रूणतत्व ने यह सिद्ध कर दिया है कि वहिर्जनस्तर और मध्यजनस्तर अर्तानमेय हैं। ऐंफिबिया मे वहिर्जनस्तर गैस्ट्रुला के वाहरी तल पर होता है। प्रतिपृष्ठ के वहिर्जनस्तर और मध्यजनस्तर के वाहरी भाग त्वचा, उसके उपाग (अपेडेजेज, appendages) और उसकी ग्रथियो को उत्पन्न करते है। गैस्ट्रुलेशन के पश्चात् नोटोकॉर्डल मध्यजनस्तर के ऊपर स्थित कोशिकाओ का विभेदीकरण आरभ हो जाता है और यह क्षेत्र न्यूरल पट्ट में परिणत हो जाता है, जो क्रमश नीचे की ओर दवने लगता है। साथ ही न्यूरल पट्ट के दोनो ओर के किनारे ऊपर उठने लगते है। अत मे दोनो किनारो के ऊपर की ओर एक दूसरे से मिल जाने पर उनमे समेकन हो जाता है, फलत न्यूरल पट्ट एक नली में परिणत हो जाता है, जिसे न्यूरल नली कहते हैं। इस तत्रिकानाल के आगे का भाग मस्तिष्क और तत्सवधी ज्ञानेद्रियो के सवेदक भाग और कपाल तत्रिकाओ को उत्पन्न करता हे। पीछे के भाग से मेरुरज्जु और उसकी तत्रिकाएँ उत्पन्न होती हैं। दूसरे पृष्ठवशी जतुओ मे भी तत्रिकानाल की उत्पत्ति इसी प्रकार होती हे।

तत्रिका नाल के नीचे के मध्यजनस्तर से नोटोकॉर्ड वनता है। निचली श्रेणी के कुछ पृष्ठधारी जतुओ मे नोटोकॉर्ड प्रौढावस्था मे भी पाया जाता है, किंतु ऊँची श्रेणी के जतुओ मे नोटोकॉर्ड चारो ओर से कशेरुको से घिर जाता है और अत मे नष्ट हो जाता है। नोटोकॉर्ड के दाहिने और वाएँ दोनो ओर की कोशिकाएँ डॉर्सल मेसाब्लास्टिक सोमाइट वनाती है।

सोमाइट को माइओटोम (Myotome) भी कहते हैं। इसके वाहरी भाग क्यूटिस लेअर (cutis layer) से त्वचा का डर्मल भाग उत्पन्न होता है। यह खोखला होता है और इसकी गुहा को (माइओसील, myocoele) कहते है। इसकी भीतरी दीवार के ऊपरी भाग से वने माइओमियर (myomere) से मासपेशियाँ उत्पन्न होती हैं। आतरिक भित्ति के नीचे का भाग स्क्लियरोटोम (Sclerotome) वनाता है जिससे कशेरुक वनते हैं। सारे मेसोब्लास्टिक सोमाइट एक दूसरे से पृथक् दोनो ओर एक श्रेणी मे स्थापित होते हैं। परतु पार्श्वपट्ट (लैटरल) एक दूसरे से पृथक् नही होते। दोनो पक्षो के पार्श्व पट्ट नीचे की ओर प्रसारित होकर आहारनाल के नीचे एक दूसरे के समीप आते है। यहाँ निश्चित स्थान पर इनके किनारो से हृदय, रक्त की नालियाँ और रक्तकोशिकाएँ वनती है। डॉर्सल सोमाइट और पार्श्व पट्ट को मिलानेवाले भाग से वृक्क और इसकी मूत्रनालियाँ उत्पन्न होती हैं। वहिर्जनस्तर से आहारनाल और उससे सवद्ध ग्रथियाँ तथा फेफडे उत्पन्न होते है।

फीटल झिल्लियाँ (Foetal membranes)—ऐंफिबिया मे ब्लैस्टोमीयर के कोशिकाद्रव्य मे योक प्रस्तुत होता हे जिसके आधार पर भ्रूणीय परिवर्तन होता है। परतु उरगो और पक्षियो मे ब्लैस्टोडर्म योक के वाहर होता है। इसी से पोपक पदार्थ रुधिर की नालियो के द्वारा ही ब्लैस्टोडर्म तक पहुँच सकता है, जिसकी आवश्यकता परिवर्तन में पडती है। पक्षियो का ब्लैस्टोडर्म फैलकर योक पुज को चारो ओर से घेर लेता है। इस प्रकार थैले के समान वने भाग को योक कोप (सैक) कहते हैं। ब्लैस्टोडर्म शीघ्र ही दो भागो मे विभक्त हो जाता है वे हैं—भ्रूणीय और भ्रूणातीत भाग। भ्रूणातीत भाग मे रक्त की केशिकाएँ (कैपिलरीज़, capillaries) उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार वैस्क्युलस (visculous) क्षेत्र की उत्पत्ति होती है। इस क्षेत्र की शिराएँ पूरे योक कोप मे फैलकर योक का शोपण करती हैं और इन्ही के द्वारा यह पोपक पदार्थ ब्लैस्टोडम को पहुँचता हे। उरगो मे भी यही यत्र पाया जाता है। स्तनधारी जतुओ मे योक नही होता परतु भ्रूणीय परिवर्धन के समय योक कोप (सैक, sac) उत्पन्न अवश्य होता हे। इसके अतिरिक्त उरगो, पक्षियो और स्तनधारियो मे दो फीटल झिल्लियाँ भी वनती हैं, जिनको उल्व (ऐम्निओन, Amnion) और ऐलैंटोइस (Allantois) कहते हैं।

पक्षियो मे एक उल्व भज (ऐम्निओटिक फोल्ड Amniotic fold) भ्रूण के दोनो ओर तथा आगे और पीछे उत्पन्न होता है। भज (फोल्ड, fold) चारो ओर से आकर भ्रूण के डॉर्सल पक्ष के ऊपर एक दूसरे से मिलते हैं और इनका समेकन हो जाता है। इस भजमे वहिर्जनस्तर और मध्यजनस्तर दोनो होते हैं। भज के समेकन के कारण भ्रूण के ऊपर एक गुहा वन जाती है, यह उल्व गुहा है। इस गुहा की भित्ति का आतरिक स्तर वहिर्जनस्तरका वना होता है और वाहरी मध्यजनस्तर का। इस गुहा मे एक तरल पदाथ भरा रहता है जिसे उल्व-तरल (ऐम्निओटिक फ्लूइड, Amniotic fluid) कहते हैं। उल्व के ऊपर एक और झिल्ली होती है, जिसे सरडस झिल्ली कहते हैं। यह एक वाहरी स्तर, वहिर्जनस्तर, और आतरिक मध्यजनस्तर की वनी होती है। इसके और उल्व के वीच की गुहा को अतिरिक्त भ्रूण (Extra embryonic coelome) कहते हैं। अडे के चारो ओर परिवर्धन के पूर्व ही एक विटेलिन (viteline) झिल्ली होती हैं। सरडस झिल्ली के उत्पन्न होने पर इसका और विटेलिन झिल्ली का समेकन हो जाता है।

ऐलैंटोइस मध्यात्र के पिछले भाग से एक डाइवर्टिकुलम (Diverticulum) के रूप मे उत्पन्न होता है और यह अतिरिक्त भ्रूण सीलोम के भीतर प्रसारित होता है। ऐलैंटोइस की भित्ति का आतरिक स्तर अतर्जनस्तर का वना होता है और वाहरी मध्यजनस्तर का। यह क्रमश भ्रूण के चारो ओर फैलता है। और अत मे योक कोप की ओर इसका सीरस झिल्ली (मेम्ब्रेन, membrane) और विटेलिन झिल्ली से समेकन हो जाता है। उल्व से भ्रूण की रक्षा होती है और ऐलैंटोइस मे गुर्दे का उत्सर्जित पदार्थ एकत्रित होता हे और इसके द्वारा श्वसन की क्रिया भी होती है।

उरगो मे भी उल्व और ऐलैंटोइस इसी विधि से वनते हैं। इस सवध मे इनमे और पक्षियो मे कोई अतर नही होता। अधिकाश स्तनधारी जतुओ में भी उल्व इसी प्रकार वनता है। यह ट्रॉफोब्लास्टिक (trophoblastic) कोशिकाओ और मध्यजनस्तर कोशिकाओ का वना होता है। इसके वनने से इसके ऊपर एक कोरिऑन (Chorion) या सवज़ोनल (subzonal) झिल्ली भी उत्पन्न हो जाती है जिसे पक्षियो के भ्रूण की सेरस झिल्ली के समान समझा जाता है। परतु कुछ स्तनधारियो मे उल्व की उत्पत्ति की विधा कुछ विभिन्न होती है। इनमे भ्रूणीय वहिर्जनस्तर मे एक गुहा उत्पन्न होती है। यह उल्वगुहा है और इसकी भित्ति उल्व है।

स्तनधारी जतुओ मे ऐलैंटोइस की उत्पत्ति पक्षियो के समान ही है। यह आहारनाल के पश्चात के कुछ आगे से एक डाइवर्टिक्युलम के रूप मे उत्पन्न होता है और भ्रूण के ऊपर चारो ओर फैल जाता है। किसी किसी स्तनधारी मे यह कुछ निश्चित स्थानो तक ही फैलता है।

उरग और पक्षी अपने अडे शरीर के वाहर निकाल देते हैं और परिवधन की पूरी क्रिया मादा के शरीर के वाहर होती है। परतु स्तनधारियो मे [मॉनोट्रीम्स (Monotremes) के अतिरिक्त] परिवर्धन गर्भाशय के भीतर ही होता है। भ्रूण गर्भाशय की भित्ति से सटा होता है। कोरिओन झिल्ली से विली (Villi) उत्पन्न होते हैं और यह जननी के गर्भाशय की श्लेष्मिक झल्ली मे प्रवेश कर जाते हैं और उसके भीतर प्रस्तुत क्रिप्टी में स्थान पाते हैं। कोरिआन के विली मे ऐलैंटोइस के मध्यजनस्तर और रुधिर वाहिकाएँ भी प्रवेश करती हैं। कोरिओनिक विली की शाखाएँ गर्भाशय की दीवार में

दूर तक फैल जाती हैं और इनकी रुधिरवाहिकाओं और गर्भाशय की रुधिरवाहिकाओं में घनिष्ठ संबंध स्थापित हो जाता है। इनकी केशिकाएँ (Capillaries) एक दूसरे से मिल जाती हैं। इनकी भित्तियाँ इतनी पतली होती हैं कि इनके बीच से आहार और गैसों का विनिमय बड़ी सुगमता से हो जाता है। इस पूरी संरचना को प्लासेंटा (Placenta) कहते हैं। प्लासेंटा के द्वारा भ्रूण को आहार और आक्सिजन पहुँचता है और मल का उत्सर्जन होता है।

प्लासेंटा (Placenta)—कई प्रकार के होते हैं। कृंतकों (Rodents) में ऐलैंटोइस और कोरिओन का संबंध एक सीमित क्षेत्र में ही स्थापित होता है और विली केवल इसी स्थान पर उत्पन्न होते हैं। यह डिसकॉइडल (discoidal) प्लासेंटा कहलाता है। कुछ स्तनधारियों में कोरिओन तल से उत्पन्न होता है। ऐसे प्लासेंटा को डिफ्यूज (diffuse) प्लासेंटा कहते हैं। ऐसे प्लासेंटा के विली यदि किसी सीमित स्थान पर ही शेष रह जाते हैं और अन्य जगहों पर नष्ट हो जाते हैं तो इसको जोनरी (zonary) कहते हैं। यदि विली कई एक समूहों में प्रस्तुत हों तो इसे कॉटिलीडनेरी (cotyledonary) प्लासेंटा कहा जाता है। यदि विली एक सीमित प्रतिपृष्ठ क्षेत्र में ही पाए जाते हैं तो इन्हें मेटा डिसकॉयडल प्लासेंटा के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रसूति (पार्चुरिशन, parturition) के समय पूरा प्लासेंटा और जननी के गर्भाशय की श्लेष्मिक भिल्ली (म्यूकस मेंब्रेन, mucous membrane) का कुछ भाग भी गर्भाशय से बाहर निकल आता है। ऐसे प्लासेंटा को डेसिडुएट (deciduate) कहते हैं। यदि जननी के गर्भाशय की श्लेष्मिक भिल्ली का कोई भाग प्लासेंटा के साथ बाहर न निकले तो उसे मेटाडेसिडुएट प्लासेंटा कहते हैं। कुछ स्तनधारियों में जननी का पूरा प्लासेंटा और कुछ भ्रूण प्लासेंटा भी गर्भाशय के भीतर ही रह जाता और शोषित हो जाता है। इसे कॉण्ट्राडेसिडुएट (contra-deciduate) प्लासेंटा कहते हैं। [मु० ला० श्री०]

कश्मीर (३२° १७′ उ० से ३६° ५८′ उ० अक्षांश और ७३° २६′ पू० से ८३° ३०′ पूर्व देशांतर तक) भारतवर्ष का धुर उत्तरी राज्य है। इसमें जम्मू (पुंछ सहित), कश्मीर, लद्दाख बल्तिस्तान एवं गिलगित के क्षेत्र संमिलित हैं। इस राज्य का अनुमानित क्षेत्रफल ८२,२५८ वर्ग मील एवं कुल जनसंख्या ४,०२१,६१६ (१९४१) थी। यहाँ के निवासियों में अधिकांश मुसलमान हैं, किंतु उनकी रहनसहन, रीति रिवाज एवं संस्कृति पर हिंदू धर्म की पर्याप्त छाप है, जिससे उनका कुछ दशाब्दियों पहले ही धर्मपरिवर्तन हुआ है। पाकिस्तान अधिकृत क्षेत्र को छोड़कर १९६१ की प्रथमांकित गणना के अनुसार कश्मीर की जनसंख्या ३,७००,००० है। कश्मीर के सीमांत क्षेत्र पाकिस्तान, अफगानिस्तान, सिंक्यांग तथा तिब्बत से मिले हुए हैं। कश्मीर भारत का महत्वपूर्ण राज्य है।

कश्मीर के अधिकांश क्षेत्र पर्वतीय हैं। केवल दक्षिण-पश्चिम में पंजाब के मैदानों का क्रम चला आया है। कश्मीर क्षेत्र में प्रधानतया दो विशाल पर्वतश्रेणियाँ हैं। सुदूर उत्तर में कराकोरम तथा दक्षिण में हिमालय-जस्कर श्रेणियाँ हैं जिनके मध्य सिंधु नदी की सँकरी घाटी समाविष्ट है। हिमालय की प्रमुख श्रेणी की दक्षिणी ढाल की ओर संसारप्रसिद्ध कश्मीर घाटी है जो दूसरी ओर पीर पंजल की पर्वतश्रेणी से घिरी हुई है। पीर पंजल पर्वत का क्रम दक्षिण में पंजाब की सीमावर्ती नीची तथा अत्यधिक विदीर्ण तृतीय युगीन पहाड़ियों तक चला गया है।

प्राकृतिक दृष्टि से कश्मीर को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है

१ जम्मू क्षेत्र की बाह्य पहाड़ियाँ तथा मध्यवर्ती पर्वतश्रेणियाँ,

२ कश्मीर घाटी,

३ सुदूर बृहत् मध्य पर्वत-श्रेणियाँ जिनमें लद्दाख, बल्तिस्तान एवं गिलगित के क्षेत्र संमिलित हैं,

कश्मीर का अधिकांश भाग चिनाव, झेलम तथा सिंधु नदी की घाटियों में स्थित है। केवल मुज़ताघ तथा कराकोरम पर्वतों के उत्तर तथा उत्तर-पूर्व के निर्जन तथा अधिकांश अज्ञात क्षेत्रों का जल मध्यएशिया की ओर प्रवाहित होता है। लगभग तीन चौथाई क्षेत्र केवल सिंधु नदी की घाटी में स्थित है। जम्मू के पश्चिम का कुछ भाग रावी नदी की घाटी में पड़ता है। पंजाब के समतल मैदान का थोड़ा सा उत्तरी भाग जम्मू प्रांत में चला आया है। चनाब घाटी में किश्तवाड़ तथा भद्रवाह के ऊँचे पठार एवं नीची पहाड़ियाँ (कंडी) और मैदानी भाग पड़ते हैं। झेलम की घाटी में कश्मीर घाटी, निकटवर्ती पहाड़ियाँ एवं उनके मध्यस्थित सँकरी घाटियाँ तथा बारामूला-किशनगंगा की संकुचित घाटी का निकटवर्ती भाग संमिलित है। सिंधु नदी की घाटी में जस्कर तथा रुपशू सहित लद्दाख क्षेत्र, बल्तिस्तान, अस्तोद एवं गिलगित क्षेत्र पड़ते हैं। उत्तर के अर्धवृत्ताकार पहाड़ी क्षेत्र में बहुत से ऊँचे दर्रे हैं। उसके निकट ही नंगा पर्वत (२६,१८२ फुट) है। पंजल पर्वत का उच्चतम शिखर १५,५२३ फुट ऊँचा है।

झेलम या विहत (Behat), वैदिक काल में वितस्ता तथा यूनानी इतिहासकारों एवं भूगोलवेत्ताओं के ग्रंथों में हाईडसपीस के नाम से प्रसिद्ध है। यह नदी वेरिनाग से निकलकर कश्मीरघाटी से होती हुई बारामूला तक का ७५ मील का प्रवाहमार्ग पूरा करती है। इसके तट पर अनंतनाग, श्रीनगर तथा बारामूला जैसे प्रसिद्ध नगर स्थित हैं। राजतरंगिणी के वर्णन से पता चलता है कि प्राचीन काल में कश्मीर एक बृहत् झील था जिसे ब्रह्मासुत मारीचि के पुत्र कश्यप ऋषि ने बारामूला की निकटवर्ती पहाड़ियों को काटकर प्रवाहित कर दिया। इस क्षेत्र के निवासी नागा, गांधारी, खासा तथा द्रादी (Daradae) कहलाते थे। खासा जाति के नाम पर ही कश्मीर (खसमीर) का नामकरण हुआ है। पीरपंजल तथा हिमालय की प्रमुख पर्वतश्रेणियों के मध्यस्थित क्षेत्र को कश्मीर घाटी कहते हैं। यह लगभग ८५ मील लंबा तथा २५ मील चौड़ा बृहत् क्षेत्र है। इस घाटी में चबूतरे के समान कुछ ऊँचे समतल क्षेत्र मिलते हैं जिन्हें करेवा कहते हैं। धरातलीय दृष्टि से ये क्षेत्र अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

कश्मीर घाटी में जल की बहुलता है। अनेक नदी नालों और सरोवरों के अतिरिक्त कई एक झीलें हैं। वुलर मीठे पानी की भारतवर्ष की विशालतम झील है। कश्मीर में सर्वाधिक मछलियाँ इसी झील से प्राप्त होती हैं। स्वच्छ जल से परिपूर्ण डल झील तैराकी तथा नौकाविहार के लिये अत्यंत रमणीक है। तैरते हुए छोटे छोटे खेत सब्जियाँ उगाने के व्यवसाय में बड़ा महत्व रखते हैं। कश्मीर अपनी अनुपम् सुषमा के कारण नंदन वन कहलाता है। भारतीय कवियों ने सदा इसकी सुंदरता का बखान किया है।

पीरपंजल की श्रेणियाँ दक्षिण-पश्चिमी मानसून को बहुत कुछ रोक लेती हैं, किंतु कभी कभी मानसूनी हवाएँ घाटी में पहुँच कर घनघोर वर्षा करती हैं। अधिकांश वर्षा बसंत ऋतु में होती है। वर्षा ऋतु में लगभग ९.७″ तथा जनवरी-मार्च में ८.१″ वर्षा होती है। भूमध्यसागरी चक्रवातों के कारण हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र, विशेषतया पश्चिमी भाग में, खूब हिमपात होता है। हिमपात अक्टूबर से मार्च तक होता रहता है। भारत तथा समीपवर्ती देशों में कश्मीर तुल्य स्वास्थ्यकर क्षेत्र कहीं नहीं है। पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण यहाँ की जलवायु तथा वनस्पतियाँ भी पर्वतीय हैं।

कश्मीर घाटी की प्रसिद्ध फसल चावल है जो यहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन है। मक्का, गेहूँ, जौ और जई भी क्रमानुसार मुख्य फसलें हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न फल एवं सब्जियाँ यहाँ उगाई जाती हैं। अखरोट, बादाम, नासपाती, सेब, केसर, तथा मधु आदि का प्रचुर मात्रा में निर्यात होता है। कश्मीर केशर की कृषि के लिये प्रसिद्ध है। शिवालिक तथा मरी क्षेत्र में कृषि कम होती है। इन क्षेत्र में विभिन्न स्थानों पर अच्छी कृषि होती है। जनवरी और फरवरी में कोई कृषि कार्य नहीं होता। यहाँ की झीलों का बड़ा महत्व है। उनसे मछली, हरी खाद, सिंघाड़े, कमल एवं मृणाल तथा तैरते हुए बगीचों से सब्जियाँ उपलब्ध होती हैं। कश्मीर की मदिरा मुगल बादशाह बाबर तथा जहाँगीर को बड़ी प्रिय थी किंतु अब उसकी इतनी प्रसिद्धि नहीं रही। कृषि के अतिरिक्त, रेशम के कीड़े तथा भेड़ बकरी पालने का धंधा भी यहाँ पर होता है।

इस राज्य में प्रचुर खनिज साधन हैं किंतु अधिकांश अविकसित हैं। कोयला, जस्ता, ताँबा, सीसा, बाक्साइट, सज्जी, चूना पत्थर, खड़िया मिट्टी, स्लेट, चीनी मिट्टी, अदह (ऐसबेस्टस) आदि तथा बहुमूल्य पदार्थों में सोना, नीलम आदि यहाँ के प्रमुख खनिज हैं।

श्रीनगर का प्रमुख उद्योग कश्मीरी शाल की बुनाई है जो बाबर के समय से ही चली आ रही है। कश्मीरी कालीन भी प्रसिद्ध औद्योगिक उत्पादन है। किंतु आजकल रेशम उद्योग सर्वप्रमुख प्रगतिशील धंधा हो गया है। चाँदी का काम, लकडी की नक्काशी तथा पाप्ये-माशे (Papier-Mache) यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। पर्यटन उद्योग कश्मीर का प्रमुख धंधा है जिससे राज्य को बडी आय होती है। लगभग एक दर्जन औद्योगिक सम्थान स्थापित हुए हैं परतु प्रचुर औद्योगिक क्षमता के होते हुए भी बडे उद्योगो का विकास अभी तक नहीं हो पाया है। अच्छी सडको के विकास एव अधिक मात्रा मे सस्ती बिजली की प्राप्ति इस दिशा मे इस राज्य की मुख्य आवश्यकताएँ हैं।

पर्वतीय धरातल होने के कारण यातायात के साधन अविकसित हैं। पहले बनिहाल दर्रे (९२९० फुट) से होकर जाडे मे मोटरे नही चलती थी किंतु दिसबर १९५६ ई० में बनिहाल सुरग के पूर्ण हो जाने के बाद वर्ष भर निरतर यातायात सभव हो गया है। पठानकोट द्वारा श्रीनगर को नई दिल्ली से नियमित हवाई सबध है। लेह तक भी जीप के चलने योग्य सडक निर्मित हो गई है। वहाँ भी एक हवाई अड्डा है।

समुद्रतल से ५,२०० फुट की ऊँचाई पर स्थित श्रीनगर जम्मू-कश्मीर की राजधानी तथा राज्य का सबसे बडा नगर है। इसकी जनसख्या २,८४,००० (१९६१ ई०) है। इस नगर की स्थापना सम्राट् अशोकवर्धन ने की थी। यह झेलम नदी के दोनो तट पर बसा हुआ है। डल झील तथा शालीमार, निशात आदि रमणीक बागो के कारण इस नगर की शोभा द्विगुणित हो गई है। अत इसकी गणना एशिया के सर्वाधिक सुदर नगरो में होती है। अग्निकाड, बाढ तथा भूकप आदि से इस नगर को अपार क्षति उठानी पडती है। यहाँ के उद्योग धंधे राजकीय हैं। कश्मीर घाटी तथा श्रीनगर का महत्व इसलिये भी अधिक है कि हिमालय के पार जानेवाले रास्तों के लिये ये प्रमुख पडाव हैं।

जम्मू नगर की जनसख्या १,०८,००० है। यह जम्मू प्रात का सबसे बडा नगर तथा जम्मू-कश्मीर राज्य की जाडे की राजधानी है।

सिंधु-कोहिस्तान क्षेत्र में नगा पर्वत ससार के सर्वाधिक प्रभावशाली पर्वतों मे से एक है। सिंधु के उस पार गिलगित का क्षेत्र पडता है। रूसी प्रभावक्षेत्र से भारत को दूर रखने के हेतु अग्रेजी सरकार ने कश्मीर के उत्तर में एक सकरा क्षेत्र अफगानिस्तान के अधिकार मे छोड दिया था। गिलगित तथा सीमावर्ती क्षेत्रो मे जनसख्या बहुत कम है—१,८०,००० वर्ग मील मे कुल १२ हजार। प्रति वर्गमील कृषि क्षेत्र पर आबादी का घनत्व १३०० है। गिलगित से चारो ओर पर्वतीय मार्ग जाते हैं। यहाँ पर्वतक्षेत्रीय फसले तथा सब्जियाँ उत्पन्न की जाती हैं। बृहत् हिमालय तथा जस्कर पर्वत-श्रेणियो के क्षेत्र मे जनसख्या कम तथा घुमक्कडी है। १५,००० फुट ऊँचाई पर स्थित कोर्जोक नामक स्थान ससार का उच्चतम कृषकग्राम माना जाता है। लद्दाख एव बल्तिस्तान क्षेत्र मे लकडी तथा ईंधन की सर्वाधिक आवश्यकता रहती है। बल्तिस्तान मे अधिकाशत मुसलमानो तथा लद्दाख मे बौद्धो का निवास है। अधिकाश लोग घुमक्कडो का जीवन यापन करते हैं। इन क्षेत्रों का जीवन बडा कठोर है। कराकोरम क्षेत्र मे श्योक से हुजा तक के छोटे से भाग मे २४,००० फुट से ऊँचे ३३ पर्वतशिखर वर्तमान हैं। अत उक्त क्षेत्र को ही, न कि पामीर को, 'ससार की छत' मानना चाहिए। अनेक कठिनाइयो मे भरे इन क्षेत्रो से किसी समय तीर्थयात्रा के प्रमुख मार्ग गुजरते थे।

अक्तूबर, १९४७ ई० मे कश्मीर राज्य का विलयन भारत मे हुआ। पाकिस्तान अथवा तथाकथित आजाद कश्मीर सरकार, जो पाकिस्तान की प्रत्यक्ष सहायता तथा अपेक्षा मे स्थापित हुई, आक्रामक के रूप में पश्चिमी तथा उत्तरपश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्रो को अधिकृत किए हुए है। भारत ने यह मामला १ जनवरी, १९४८ को ही राष्ट्रसघ मे पेश किया था किंतु अभी तक निर्णय खटाई मे पडा है। उधर लद्दाख मे चीन ने भी लगभग १२,००० वर्गमील क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया है। भारत सरकार तथा जनता की ओर से प्रस्तुत चीनी आक्रमण का घोर विरोध हुआ है।

१९४७ के बाद कश्मीर ने विभिन्न क्षेत्रो मे प्रचुर प्रगति की है। इसके सर्वांगीण विकास के लिये भारत सरकार द्वारा पूरी सहायता दी जा रही है। [शा० ला० का०]

कश्मीरी भाषा और साहित्य

क्षेत्रविस्तार १०,००० वर्ग मील, कश्मीर की वितस्ता घाटी के अतिरिक्त उत्तर में जोजीला और बजल तक तथा दक्षिण मे बानहाल से परे किश्तवाड (जम्मू प्रात) की छोटी उपत्यका तक। कश्मीरी जम्मू प्रात के बानहाल, रामबन तथा भद्रवाह में भी बोली जाती है। कुल मिलाकर बोलनेवालो की सख्या १५ लाख से कुछ ऊपर है। प्रधान उपभाषा किश्तवाड की 'कश्तवाडी' है।

नामकरण—कश्मीरी का स्थानीय नाम का'शुर है, पर १७वी शती तक इसके लिये 'भाषा' या 'देशभाषा' नाम ही प्रचलित रहा। सभवत अन्य प्रदेशो मे इसे कश्मीरी भाषा के नाम से ही सूचित किया जाता रहा। ऐतिहासिक दृष्टि से इस नाम का सबसे पहला निर्देश अमीर खुसरो (१३ वी शती) की नुह-सिपिह्र (सि० ३) मे सिंधी, लाहौरी, तिलगी और माबरी आदि के साथ साथ मिलता है, जिससे इसके उद्भव और विकास की दिशा का भी पता चलता है। स्पष्टत यह दिशा वही है जो पजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, बगाली, हिंदी और उर्दू आदि भारतीय भाषाओ की रही है।

उद्भव—ग्रियर्सन ने जिन तर्को के आधार पर कश्मीरी के 'दारद' होने की परिकल्पना की थी, उन्हे फिर से परखना आवश्यक है, क्योंकि इससे भी कश्मीरी भाषा की कई गुत्थियाँ सुलझ नही पाती। घोष महाप्राण के अभाव मे जो दारद प्रभाव देखा गया है वह तो सिंधी, पश्तू, पजाबी, डोगरी के अतिरिक्त पूर्वी बँगला और राजस्थानी में भी दिखाई पडता है, पर क्रियापदो के सश्लेषण में कर्ता के अतिरिक्त कर्म के पुरुष, लिंग और वचन का जो स्पर्श पाया जाता है उसपर दारद भाषाएँ कोई प्रकाश नही डालती। सभवत कश्मीरी भाषा 'दारद' से प्रभावित तो है, पर उद्भूत नही।

लिपि—१५वी शती तक कश्मीरी भाषा कवल शारदा लिपि मे [illegible] जाती थी। बाद मे फारसी लिपि का प्रचलन बढता गया और अब इसी का एक अनुकूलित रूप स्थिर हो चुका है। सिरामपुर से बाइबल का सर्वप्रथम कश्मीरी अनुवाद शारदा ही मे छपा था, दूसरा फारसी लिपि मे और कुछ एक सस्करण रोमन मे भी निकले। देवनागरी को अपनाने के प्रयोग भी होते रहे हैं।

ध्वनिमाला—कश्मीरी ध्वनिमाला मे कुल ४६ ध्वनिम (फोनीम) हैं।

स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ,
अ', आ', उ', ऊ', ए', ओ',

मात्रा स्वर —इ,-उ,-ऊ

अनुस्वार अ

अत स्थ स्वर —य , -व

व्यजन क, ख, ग, ङ, च, छ, ज, च, छ, ज, ञ,
ट, ठ, ड, त, थ, द, न, प, फ, ब, म,
य, र, ल, व, श, स, ह

इ, ई, उ, ऊ और ए के रूप पदारभ मे यि, यी, वु, वू और ये' हो जाते हैं। च, छ, और ज दततालव्य हैं और छ ज का महाप्राण है। पदात अ बोला नही जाता।

कारक—कश्मीरी कारको मे सश्लेषणात्मकता के अवशेष आज भी दिखाई पडते हैं, जैसे—

सु जोग्न ∠* सो जनो ∠* स जनो, तिम ज'न्य ∠* तें जने (ते जना),
त'म्य ज'न्य ∠*तेऽ जनेऽ (तेन जनेन), तिमव, जन्यव ∠* तै जनै (तै जनै), कर्म, सप्रदान, अपादान और अधिकरण मे प्राय सबध के मूल रूप मे ही परसर्ग जोडकर काम निकाला जाता है, यद्यपि नपु० के अधिकरण (एक०) मे प्राचीन रूपो की झलक भी मिलती है। सबध का मूल रूप यो है—तस ज'निस ∠*तस्स जनस्स ∠तस्य जनस्य, तिमन ज्न्यन ∠* तेणाँ जनेणा (तेषा जनानाम्)।

नपु० मे—तथ गरस ∠*तद् घरस्स, तमिग रु' ∠*तम्हादो घरदो, तमि गरुक ∠' घरको (गृहक), तमि गरि ∠ घरे (गृहे)।

क्रियापद—कश्मीरी क्रियापदो मे भारतीय-आर्य विशेषताओ के ऊपर बहुत ही विलक्षण प्रभाव पडता गया है, जिनसे कुछ विद्वानो को उनके अभारतीय होने का भ्रम भी हुआ है। लिंग, वचन, पुरुष और काल के अनुसार एक एक धातु के सैकडो रूप बनते हैं, जैसे—

अखरोट वृक्ष की पत्तियाँ और फल

कश्मीर मे इसकी लकडी की अनेक उपयोगी तथा सुदर नक्काशीवाली वस्तुएँ बनाई जाती है ।
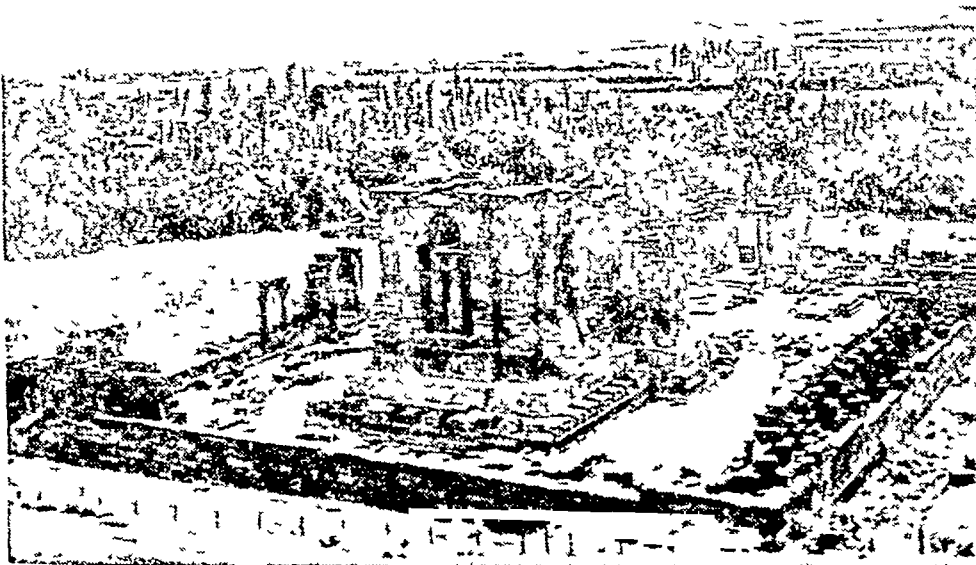
कश्मीर के ऐतिहासिक मार्तंड मदिर के भग्नावशेष

(भगवतशरण उपाध्याय के सौजन्य से)

कश्मीर (देखें पृष्ठ ३९९)
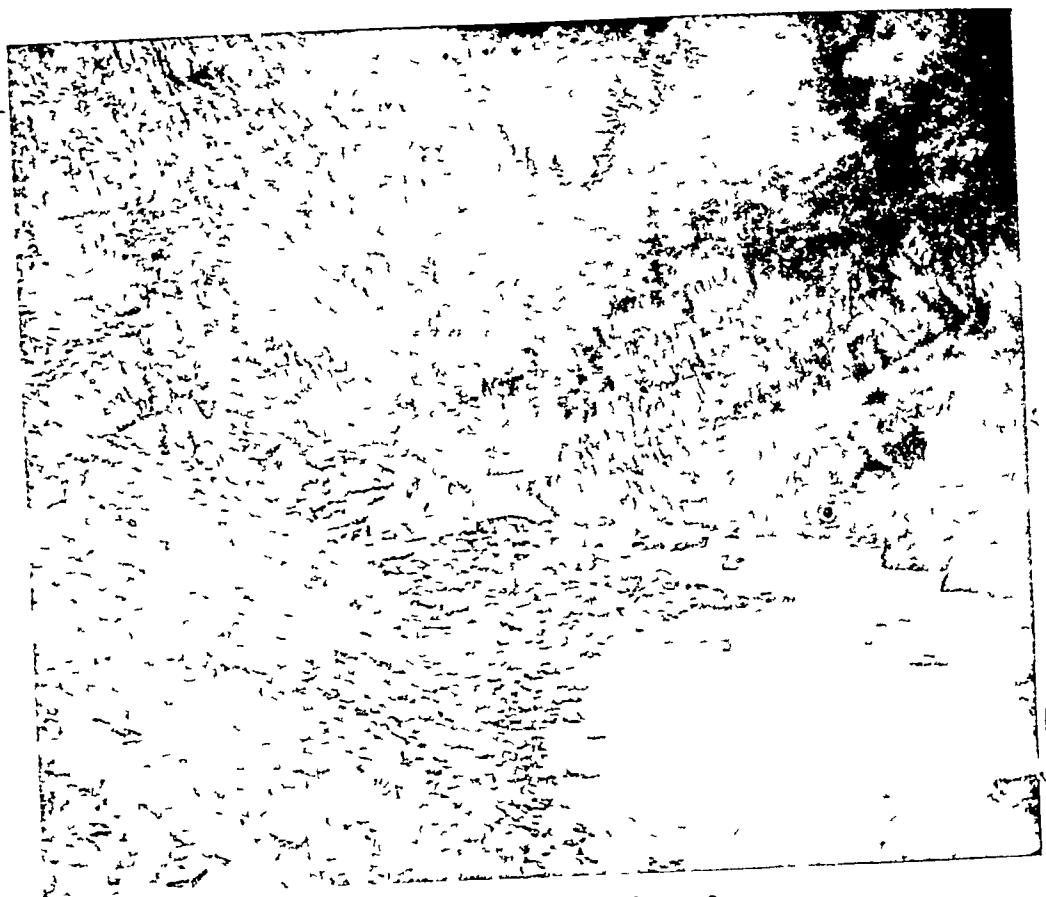
सिंधु घाटी में वेगवती सिंधु नदी

८,२०० फुट ऊँचे सोनमर्ग का एक सामान्य दृश्य
(दोनों चित्र चन्द्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा)

वुछ ∠वीक्षस्व, वुछान छु ∠वीक्ष (म) ाण अस्ति (वह देखता / देख रहा है), वुछान छुम (वह मुझे देखता / देख रहा है), वुछान छम (वह मुझे देखती / देख रही है।) —छुहम (तू मुझे है),—छुसथ (मैं तुम्हें हूँ),—छुसन (मैं उसे हूँ), वुछन (मैं उसे देखूँगा); वुछथ (मैं तुझे देखूँगा), वुछुय (तुमने देखा), वुछथस (तुमने मुझे देखा। तुमने उसके लिये देखा), वुछयन (तुमने उसे देखा), वुछिय (तुमने उन्हें देखा), वुछुंथ (तुमने उस (स्त्री०) को देखा), वुछयथ (तुमने उन (स्त्रियो) को देखा), वुछुयम (तुमने मेरा / मेरे लिये देखा); वुछ्यम (तुमने मेरे / मेरे लिये देखे), वुछुंथम (तुमने मेरी / मेरे लिये देखी), वुछियम (तुमने मेरी / मेरे लिये देखीं), आदि—आदि।

क्रियापदो की यह विलक्षण प्रवृत्ति सभवत मध्य एशियाई प्रभाव है जो खुरासान से होकर कश्मीर पहुँचा है।

साहित्यारभ—कश्मीरी साहित्य का पहला नमूना 'शितिकठ' के महानयप्रकाश (१३वी शती) की 'सर्वगोचर देशभाषा' में मिलता है। सभवत शैव सिद्धो ने ही पहले कश्मीरी को शैव दर्शन का लोकसुलभ माध्यम बनाया और बाद में धीरे धीरे इसका लोकसाहित्य भी लिखित रूप धारण करता गया। पर राष्ट्रीय और सास्कृतिक आश्रय से निरतर वचित रहने के कारण इसकी क्षमताओ का भरपूर विकास दीर्घकाल तक रुका ही रहा। कुछ भी हो, १४वी शती तक कश्मीरी भाषा बोलचाल के अतिरिक्त लोकदर्शन और लोकसस्कृति का भी माध्यम बन चुकी थी और जब हम लल-वाख (१४०० ई०) की भाषा को 'बाणासुरवध' (१४५० ई०) की भाषा से अधिक मँजा हुआ पाते हैं तो मौखिक परपरा की गतिशीलता में ही इसका कारण खोजना पडता है।

लोकसाहित्य—कश्मीरी लोकसाहित्य में सतवाणी, भक्तिगीत (लीला, नात आदि), अध्यात्मगीत, प्रणयगीत, विवाहगीत, श्रमगीत, क्रीडागीत, लडीशाह (व्यग विनोद आदि), तथा लोककथाएँ विशेष रूप से समृद्ध हैं। 'सूफियाना कलाम'—नाम की सगीतकृतियो में भी लोक साहित्य का स्वर स्पष्ट सुनाई पडता है।

अस्तु, विकासक्रम की दृष्टि से कश्मीरी साहित्य के पाँच काल माने जा सकते हैं

१ आदिकाल (१२५०–१४०० ई०) इस काल मे सतो की मुक्तक वाणी प्रधान रही जिसमें शैव दर्शन, तसव्वुफ, सहजोपासना, सदाचार, अध्यात्मसाधना, पाखडप्रतिरोध तथा आडवरत्याग का प्रतिपादन तथा प्रवचन ही अधिक रहा, सवेदनशील अभिव्यक्ति कम। इस काल की रचनाओ मे से शितिकठ का महानयप्रकाश, किसी अज्ञात शैव सत का छुम्म सप्रदाय ललद्यद के वाख, नुदर्योश के श्लोक तथा दूसरे येशो ('ऋषियो') के पद ही अब तक प्राप्त हो सके हैं। इनमें से भी प्रथम दो रचनाओ में कश्मीरी छदो को सस्कृत के चौखटे में कसकर प्रस्तुत किया गया है, हाँ, छुम्म सप्रदाय में कश्मीरी छदो से अधिक कश्मीरी 'सूत्र' पाए जाते हैं जो शैव सिद्धो द्वारा कश्मीरी भाषा के लोकग्राह्य उपयोग की ओर निश्चित सकेत करते हैं

२ प्रबधकाल (१४००–१५५० ई०) इस काल की इतिवृत्तप्रधान रचनाओ में पौराणिक तथा लौकिक आख्यानो को काव्य का आश्रय मिला। विशेषकर सुल्तान ज़ैन-उल्–आबिदीन (बडशाह) (१४२०–७० ई०) के प्रोत्साहन से कुछ चरितकाव्य लिखे गए और सगीतात्मक कृतियो की रचना भी हुई। सुल्तान के जीवन पर आधारित एक खडकाव्य और एक दृश्यकाव्य भी रचा गया था, पर खेद है, इनमें से अब कोई भी रचना उपलब्ध नही। केवल भट्टावतार का बाणासुरवध प्राप्त हुआ है जो हरिवश में वर्णित उषा अनिरुद्ध की प्रणयगाथा पर आधारित होते हुए भी स्वतत्र रचना है, विशेषकर छदयोजना में। इस काल की एक ही और रचना मिलती है, वह है सुल्तान के पोते हसनशाह के दरबारी कवि गणक प्रशस्त का सुख-दुखचरित जिसमे आश्रयदाता की प्रशस्ति के पश्चात् जीवन की रीतिनीति का प्रतिपादन है।

३ गीतिकाल (१५५०–१७५० ई०)—लोकजीवन के हर्षविषाद का विश्वजनीन भावचित्रण इस गीतिप्रधान काल की मनोरम विशेषता है। इसके 'अथ' और 'इति' हब खातून (१६ वी शती) और अर्निमाल (१८वी शती) हैं जिनके वेदनागीतो में लोकजीवन के विरह मिलन का वह करुण मधुर सरगम सुनाई पड़ता है जो एक का होते हुए भी प्रत्येक का है। १६०० ई० के आसपास इस सरगम से सूफी रहस्यवाद का स्वर भी (विशेषकर हबीबुल्लाह नौशहरी) की गीतिकाओ में फूट पडा और १६५० ई० के लगभग (साहिब कौल के कृष्णावतार में) लीलाकाव्य की भी उद्भावना हुई। 'सूफियाना कलाम' का अधिकांश इसी काल में रचा हुआ जान पड़ता है। छदोविधान में नए प्रयोग भी इस काल की एक विशेष देन हैं।

४ प्रेमाख्यान काल (१७५०–१९०० ई०)—इस काल मे प्रबध और प्रगीत के सयोजन से पौराणिक प्रणयकाव्य और प्रेममार्गी (सूफी) मसनवी काव्य परिपुष्ट हुए। एक ओर रामचरित, कृष्णलीला, पार्वती-परिणय, दमयती स्वयवर आदि आख्यानो पर मार्मिक लीलाकाव्य रचे गए तो दूसरी ओर फारसी मसनवियो के रूपांतरण के अतिरिक्त अरबी, उर्दू और पजाबी प्रेमाख्यानो से भी सामग्री ली गई, इसके साथ ही कुछ ऐसे धार्मिक प्रगीतो की भी रचना हुई जिनमे लौकिक तथा अलौकिक प्रेम के सश्लिष्ट चित्रण के साथ साथ पारिवारिक वेदना का प्रतिफलन भी हुआ है। इस काल की रचनाओ में विशेष उल्लेखनीय ये है—रमज़ान बट का अकनदुन, प्रकाशराम का रामायन, महमूद गामी के शीरीन खुसरव, लैला मजनूँ और युसुफ जुलेखा, परमानद के राधा स्वयवर, शॅवलगन और सोदामचर्यय, वलीउल्लाह मत्तू तथा ज़रीफशाह की सहकृति हीमाल; मकबूल शाह क्रालवारी की गुलरेज; अज़ीज़ुल्लाह हक्कानी की मुमताज़ बेनज़ीर, कृष्ण राज़दान का शॅवलगन, तथा लॅस्ययन बठ नागाम 'बुलबुल' का नलदमन।

५. आधुनिक काल (१९००)—इस काल मे कश्मीर के सामाजिक सास्कृतिक जीवन ने भी आधुनिकता की अँगडाई ली और भारत के दूसरे प्रदेशो की (विशेषकर पजाब की) साहित्यिक प्रगति से प्रभावित होकर यहाँ के कवियो ने भी नई जागृति का स्वागत किया। धीरे धीरे कश्मीरी कविता का राष्ट्रीय स्वर ऊँचा होता गया और सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन की नई गतिविधि का सजीव सगीत भी गूँज उठा। वहाब परे के शाहनामा, मकबूल के ग्रीस्त्यनामा और रसूल मीर की गजल ने इस जागरण काल की पूर्वपीठिका बाँधी, महजूर ने इसकी प्रभाती गाई और आजाद ने नवीन चेतना देकर इसे दूसरे प्रदेशो के भारतीय साहित्य का सक्रिय सहयोगी बना दिया।

उत्तरोत्तर विकास की दृष्टि से इस आधुनिक काल के चार चरण हैं. (१) १९००–१९२०, (२) १९२०–१९३१, (३) १९३१–१९४७, (४) १९४७—से आगे। पहले चरण मे सूफी पदावली की घिसी पिटी परपरा ने ही मानववाद की हल्की सी गूँज पैदा की और ऐतिहासिक (इतिवृत्तात्मक) मसनवियो ने अपने युग का परोक्ष चित्रण भी प्रतिबिंबित किया। दूसरे चरण मे देशभक्ति की भावना अँगडा उठी और तीसरे में राजनीतिक तथा राष्ट्रीय चेतना का निखार हुआ और मानववाद का स्वर ऊँचा होता गया। चौथे चरण में कश्मीरी कविता ने कई करवटें ली। पहले दो वर्षो तक शत्रु के प्रतिरोध और नई आजादी के सरक्षण की उमग ही गूँजती रही। उसके पश्चात् नए कश्मीर के निर्माण की मूलभूत अपेक्षाओ को पूरा करने के लिये आर्थिक प्रजातत्र की स्थापना और विश्वशाति की प्रतिष्ठा पर जोर दिया जाने लगा। ऐसे महत्वपूर्ण विषयो पर कविताएँ ही नही, गीतिनाट्य और नृत्यगीत भी रचे गए। लोकगीतो की शैली को अपनाने के नए नए प्रयोग भी हुए और छदोविधान में भारी परिवर्तन आया। दूसरे चरण में प्रकृतिचित्रण की जो प्रवृत्ति जाग उठी थी वह इस चौथे चरण में एक नई कलात्मकता से अनुप्राणित हुई और प्राकृतिक परिवेश में सामाजिक सास्कृतिक चित्रण की एक सश्लिष्ट शैली का विकास हुआ। 'महजूर' और 'आजाद' के बाद 'मास्टर जी', 'आरिफ', 'नादिम', 'रोशन', 'राही', 'कामिल', 'प्रेमी' और 'अलमस्त' ने इस दिशा में विशेष योग दिया। आजकल 'फिराक', 'चमन', 'बेकस', 'आज़िम', 'कुदन', 'साकी' और 'खयाल' विशेष साधनाशील हैं। 'फाज़िल', 'अबारदार' और 'फानी' भी अपने-अपने रग मे प्रगीतो की सर्जना कर रहे हैं।

कश्मीरी गद्य पत्रकारिता के अभाव से विकसित नही हो पा रहा है। रेडियो और कुछ (अल्पायु) मासिको का सहारा पाकर यद्यपि नाटक, कहानी, वार्ता और निबध अवश्य लिखे जा रहे हैं, पर जब तक कश्मीरी का कोई दैनिक या साप्ताहिक नही निकलता, कश्मीरी गद्य का विकास सदिग्ध ही रहेगा। फिर भी, लिखनेवालो की कमी नही है। कहानीकारो में

अख्तर मुहीउद्दीन, अमीन कामिल, सोमनाथ जुत्शी, अली मुहम्मद लोन, दीपक कौल, अवतारकृष्ण रहबर, सूफी गुलाम मुहम्मद, हृदय कौल भारती, उमेश कौल और वनसी निर्दोष विशेष सक्रिय है। नाटककारो में 'रोशन', 'जुत्शी', 'लोन', पुस्कर भान और 'कामिल' तथा उपन्यासकारो में 'अख्तर', 'लोन' और 'कामिल' के नाम लिए जा सकते है। प्रकाशन की सुविधा मिले तो वीसो उपन्यास छप जायँ। कश्मीरी भाषा को स्कूलो के शिक्षाक्रम मे अभी समुचित स्थान नही मिल सका है। कश्मीरी भाषा और साहित्य के समुचित विकास में यह एक वहुत वडी वाधा है।

स० ग्र०—कश्मीरी भाषा और उसका साहित्य (चतुर्दश-भाषा-निवधावली, पृ० १२३-४४), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५७, कश्मीरी लिटरेचर (कटेपोरेरी इडियन लिटरेचर), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९५७, कश्मीरी (आज का भारतीय साहित्य), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९५८, कश्मीर शब्दामृतम्, एशियाटिक सोसायटी वगाल, कलकत्ता, १८९८, लिंग्विस्टिक सर्वे आॅव इडिया, खड ८, भाग २, कश्मीरी लिरिक्स (राइन मिस्री), श्रीनगर, १९४५, कश्मीरी (भाषा तथा साहित्य), हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमडल लिमिटेड, वाराणसी, सवत् २०१५। [पृ० ना० पु०]

कश्यप इस नाम के कई वीर, विद्वान् तथा ऋषि हुए हैं जिनमे एक १६ प्रजापतियो में परिगणित हैं। इन्होने दक्ष की ६० कन्याओ मे से आठ से विवाह किया जिनमें दिति, अदिति तथा दनु आदि थी। अदिति के गर्भ से सव मिलाकर ३३ देवता हुए जिनमें १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र तथा दोनो अश्विनीकुमार हैं। यह मरीचि-पुत्र कश्यप हैं जो महर्षि और ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा माने जाते हैं। दूसरे कश्यप के पुत्र विवस्वान् और विवस्वान् के मनु हुए। ये महर्षि कही उत्तर में रहते थे और इनकी पत्नी मनु से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति हुई। इन्ही की दूसरी पत्नी अनला से फल देनेवाले वृक्षो की सृष्टि वतलाई जाती है। तीसरे कश्यप ब्रह्मा के पौत्र थे जो, रामायण के अनुसार, राम के अयोध्या लौटने पर उन्हें आशीर्वाद देने वहाँ गए थे।

हरिहर पुराण मे किसी चौथे कश्यप की १३ पत्नियाँ लिखी हैं जो दक्ष की कन्याएँ थी। इसी के अनुसार कश्यप ने अपनी पत्नी अदिति के पुण्यक व्रतार्थ कल्पवृक्ष की सृष्टि की थी। कही कही इनकी स्त्रियो की सख्या १२ दी हुई है। पाँचवें कश्यप सभवत लिंगपुराण में निर्दिष्ट महर्षि थे। लिंगपुराण में लिखा है कि वाराह कल्प के १९वे द्वापर में महादेव जी ने जब गोकर्ण नाम से अवतार लिया था तो उनके चार पुत्र हुए थे जिनमें एक कश्यप थे। वे सभी परम योगी हुए। धमशास्त्र प्रणेता कश्यप छठे थे, जिन्हे परशुराम ने २१ वार पृथ्वी को नि क्षत्रिय करके दान में दे दिया था। इनकी कथा वाराहपुराण में दी हुई है। सातवे कश्यप की कथा विष्णुपुराण मे है। इनकी स्त्री दिति की कई सताने देवासुर सग्राम में नष्ट हो गईं तो इन्हे इद्रविनाशी एक पुत्र की प्राप्ति का वरदान मिला। इद्र को जव यह ज्ञात हुआ तो दिति के गर्भ मे प्रवेश कर उसने भ्रूण के ४९ खड कर डाले। इन्ही खडो से ४९ मरुतो की उत्पत्ति हुई।

वामनपुराण के अनुसार एक कश्यप का पुत्र मुर नामक दानव था जिसे मारकर श्रीकृष्ण ने मुरारि नाम प्राप्त किया। नवे कश्यप की कथा श्रीमद्भागवत में है जिसमें लिखा है कि इन्होने वैश्वानर दानव की चार कन्याओ में से दो, पुलोमा तथा कालका, से व्याह किया और उनसे पोलोम एव कालकेय नामक ६० सहस्र युद्धकुशल पुत्र हुए। इन सवको अकेले अर्जुन ने मार डाला था। [रा० द्वि०]

कश्यप संहिता कश्यप या काश्यप के नाम से तीन सहिताएँ मिलती हैं १ कश्यप सहिता या वृद्धजीवकीय तत्र, इसको नेपाल देशवासी, राजगुरु हेमराज शर्मा, ने १९३८ ई० में प्रकाशित किया है। यह प्राचीन विलुप्त सहिता है, इसमें स्थान स्थान पर पाठ खडित हैं। इसका सवध वाल-रोग-चिकित्सा से है। इसमें देशो के नाम, भूगोल तथा वहुत से नए शब्द आए है। २ कश्यप सहिता—यह मद्रास प्रात से प्रकाशित हुई है, इसका विषय विप से सवधित है, इसमें गारुडी विद्या, विषहर प्रयोग है। ३ कश्यप सहिता—यह उमा-महेश्वर-प्रश्नोत्तर के रूप मे है और चिकित्सा सबधी है। यह छोटी सी पुस्तक है, जो तजौर पुस्तकालय मे है।

काश्यप शब्द गोत्रवाची भी है, मूल ऋषि का नाम कश्यप प्रतीत होता है। मत्स्य पुराण मे मरीच के पुत्र कश्यप को मूल गोत्रप्रवर्तक कहा गया है, परतु आगे चलकर कश्यप मारीच भी कहा है। चरकसहिता में कश्यप पृथक् लिखकर 'मारीचिकाश्यपौ' यह लिखा है [चरक० सू० अ० १।८, १२]। चरकसहिता में फिर 'मारीचि कश्यप' पाठ भी है (चरक० शा० अ० ६।२१)। इसमें मारीच कश्यप का विशेषण है। इसी प्रकार चरक के एक पाठ में 'काश्यपो भृगु' यह पाठ आया है (चरक, सू० अ० १।८)। इसमें काश्यप गोत्रोत्पन्न भृगु का उल्लेख है। इस प्रकार काश्यप शब्द जहाँ गोत्रवाची है, वहाँ व्यक्तिवाची भी मिलता है।

उपलब्ध कश्यपसहिता—वृद्धजीवकीय तत्र मे 'इति ह स्माह कश्यप' या 'इत्याह कश्यप', 'इति कश्यप', 'कश्यपोऽब्रवीत्' आदि वचन मिलते हैं, इससे इनका आचार्य होना स्पष्ट है। कही पर कश्यप के लिये मारीच शब्द भी आया है। (भोजन कल्पाध्याय—३, पृष्ठ १६८, षडकल्पाध्याय—३, पृष्ठ १४८)। इससे स्पष्ट होता है कि मारीच कश्यप शब्द के लिये ही आया है। अनुमान होता है, मरीचि का पुत्र कश्यप था, जिससे आगे कश्यप गोत्र चला।

गालव ऋषि गुरुदक्षिणा में घोडो को देने के लिये काशीपति दिवोदास के पास गए थे, मार्ग मे उनको हिमालय की तराई में मारीच कश्यप का आश्रम मिला था (महा० उद्योग० १०७।३–१५)। कश्यप सहिता में भी कश्यप का स्थान गगाद्वार मे वताया गया है (हुताग्नि होत्रमासीन गगाद्वारे प्रजापतिम्—लशुनकल्पाध्याय—३, पृष्ठ १३७)।

कश्यप ने आयुर्वेद का अध्ययन आयुर्वेद परपरा मे इद्र से किया था। कश्यप सहिता में वृद्ध कश्यप के मत का भी उल्लेख मिलता है (वमन विरेचनीयाध्याय, पृष्ठ ११६)। इसके आगे ही अपना मत दिखाने के लिये 'कश्यपोऽब्रवीत्' पाठ है। इससे प्रतीत होता है कि वृद्ध कश्यप और सहिताकार कश्यप भिन्न व्यक्ति हैं। ऋक् सर्वानुक्रम में कश्यप और काश्यप के नाम से वहुत से सूक्त आए हैं। इनमे कश्यप को मरीचिपुत्र कहा है (वेदार्थदीपिका, पृ० ९१)।

इस प्रकार से कश्यप या काश्यप का सवध मारीच से है। सभवत इसी मारीच कश्यप ने कश्यपसहिता की रचना की है।

महाभारत में तक्षक-दश-उपाख्यान में भी कश्यप का उल्लेख आता है। इन्होंने तक्षक से काटे अश्वत्थ को पुनर्जीवित करके अपनी विद्या का परिचय दिया था (आदि पर्व० ५०।३४)। डल्हण ने काश्यप मुनि के नाम से उनका एक वचन उद्धृत किया है, जिसके अनुसार शिरा आदि मे अग्निकर्म निषिद्ध है। माधवनिदान की मधुकोष टीका मे भी वृद्ध काश्यप के नाम से एक वचन विप प्रकरण में दिया है। ये दोनो कश्यप पूर्व कश्यप से भिन्न हैं। सभवत इनको गोत्र के कारण कश्यप कहा गया है। अष्टागहृदय मे भी वृद्ध कश्यप और कश्यप नाम से दो योग दिए गए हैं। ये दोनो योग उपलब्ध कश्यपसहिता से मिलते हैं (कश्यप सहिता—उपोद्घात, पृष्ठ ३७–३८)। [अ० दे० वि०]

कषाय भारतीय दर्शन में इस शब्द का प्रयोग विशेष रूप से राग, द्वेष आदि दोषो के लिये हुआ है। छादोग्य उपनिषद् के अनुसार मृदित कषाय (जिनका कषाय नष्ट हो गया है) नारद को भगवान् सनत्कुमार ने अविद्यारूप तम के पार परमार्थतत्व को दिखलाया। शकराचार्य के मत से ज्ञान, वैराग्य और अभ्यास से कषाय का नाश होता है। बौद्ध दर्शन में इस शब्द का प्रयोग अशुद्धि, पतन तथा क्षय के अर्थ में हुआ है। उसके अनुसार कषाय पाँच प्रकार के हैं—आयु, दृष्टि, क्लेश, सत्व तथा कल्प। कषायो के कारण आयु क्षीण होती है, मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है, क्लेश होते हैं, प्राणियो का ह्रास होता है तथा ससार के एक कल्प अथवा युग का क्षय होता है। जैन दर्शन में कषाय के मुख्य चार भेद—क्रोध, मान, माया तथा लोभ माने गए हैं। इनके कारण जीव में पुद्गल कणो का आश्रव होता है और वह कर्मवधन से अधिकाधिक ग्रस्त होता जाता है। जीव की कषाय सहित तथा कषायरहित, ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कषायो का विनाश होने पर ही जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। [रा० श० मि०]

कश्मीर (देखे पृष्ठ ३९९)
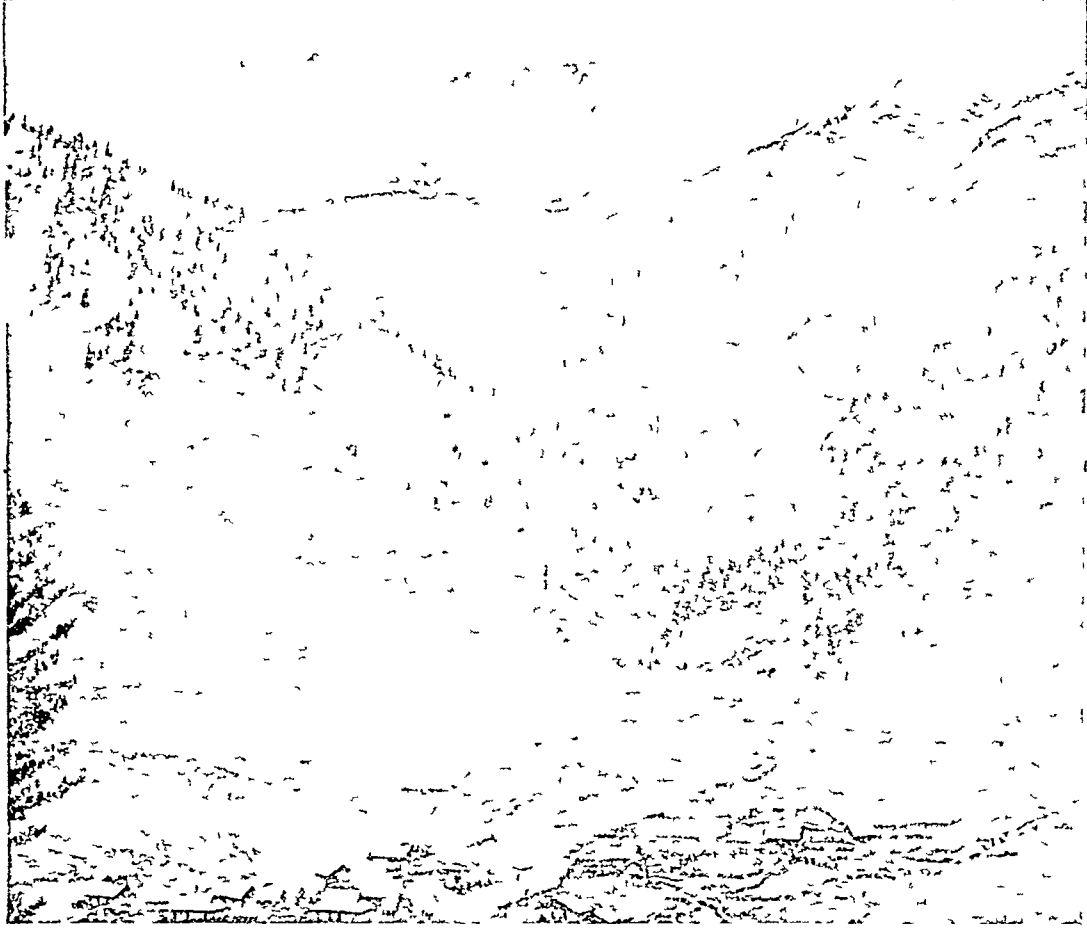
२०,००० फुट ऊँचे हरमुख के निकट की पवत श्रेणी

सोनमर्ग के निकट का ग्लेशियर

(दोनो चित्र चन्द्रगुप्त विद्यालकार द्वारा)

कश्मीर (देखें पृष्ठ ३९९)
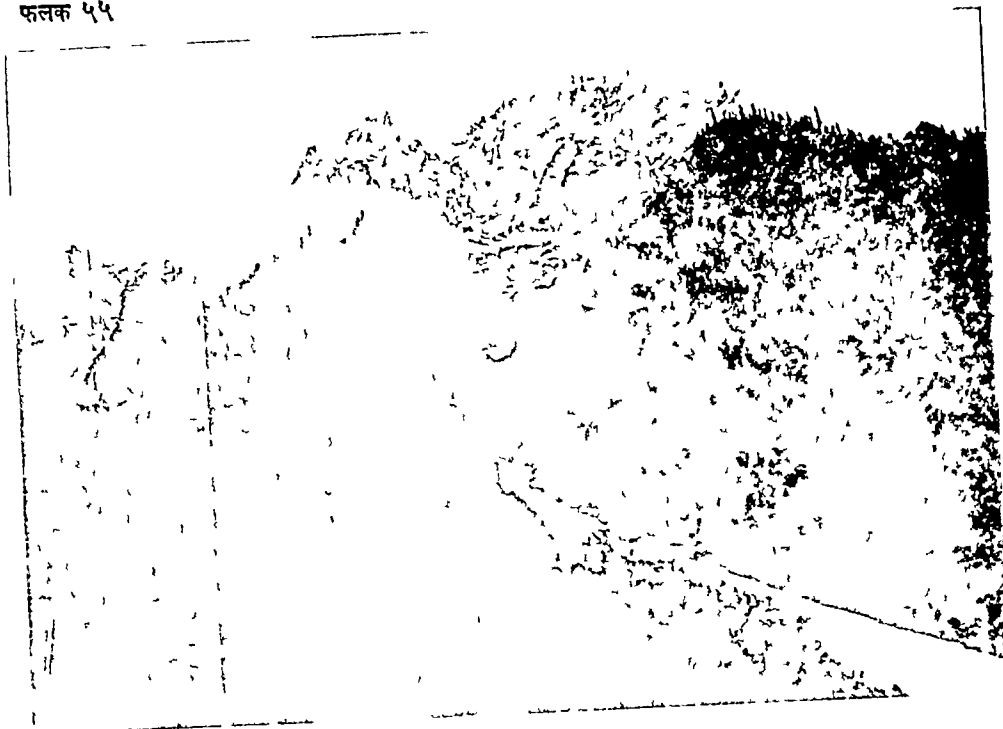
हिमशिखरों से निकलकर आती हुई सिंधु नदी
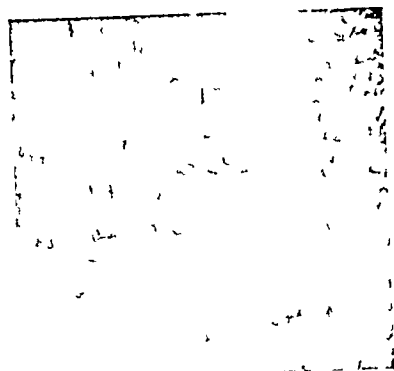
प्राकृतिक दृश्य

सूर्य मंदिर के अवशेष
(तीनो छोटे चित्र भगवान दास वर्मा से प्राप्त)

एक चश्मा

श्रीनगर के निकट डल झील

(दोनो बड़े चित्र चन्द्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा)

कसाई अफ्रीका की प्रसिद्ध नदी कागो की एक सहायक नदी है, जो कागो के बाएँ किनारे पर स्थित टैनलीपूल से कुछ मील उत्तर मिलती है। इसके सगम को क्वा मुहाना कहते है (स्थिति ३° १०' उ० अ० तथा १६° १६' पू० दे०)। कसाई की भी अनेक उपशाखाएँ हैं जिनमें क्वागो तथा सकुरु विशेष उल्लेखनीय हैं। कसाई नदी प्रणाली की लगभग सब नदियाँ ऐंगोला प्रदेश की पहाडियो से निकलती है तथा उत्तर या उत्तर-पश्चिम की ओर बहती हैं। ये पहाडियाँ आद्य कल्प पुजक (आर्कियन मैंसिफ) की चट्टानो से बनी हैं। फलस्वरूप इन नदियो पर अनेक सुदर जलप्रपात बन गए हैं। कसाई नदी की पूरी लबाई लगभग १,२०० मील है जिसमे लगभग १०० मील ही नौपरिवहन के उपयुक्त है। [व० प्र० रा०]

क़सीदा अरबी शब्द, जिसका अर्थ है, भरा हुआ, ठोस, गूदेदार। शायरी की भाषा मे कसीदा उस नज्म (कविता) को कहते हैं जिसके शेर हमवजन और हमकाफिया हो और विषय क्रमबद्ध हो। इसके अतिरिक्त उसमे किसी व्यक्ति की तारीफ या हजो (निंदा) की जाय। कसीदे मे शेरो की सख्या कम से कम १५ अनिवार्य है, अधिक की कोई सीमा नही है। अरब में कविता कसीदो से शुरू हुई और ईरान ने उसका अनुगमन किया। इसलिये फारसी मे भी कसीदो से ही काव्य का आरभ है। कसीदे का पहला शेर, जिसके दोनो मिस्रे हमकाफिया हो, 'मत्ला' कहलाता है। मत्ले के बादवाला शेर, जिसके दोनो मिस्रे हम-काफिया हो जेब-ए-मत्ला (मतले का भूषण) या हुस्न-ए-मतला (मतले का सौदर्य) कहलाता है। मत्ले के दोनो मिस्रो का हमकाफिया होना जरूरी है, बाकी शेरो का सिर्फ दूसरा मिस्रा हमकाफिया होता है। कसीदा तीन भागो मे विभक्त होता है। (१) तशबीब, (२) गुरेज, (३) दुआ। शुरू के कुछ शेर, जो तारीफ या हजो से पहले इश्किया तरीके (प्रेम-व्यजक शैली) पर लिखे जाते हैं, तशबीब या तम्हीद कहलाते हैं। गुरेज़ वह भाग है जहाँ से असली मज़मून शुरू होता है, और उस व्यक्ति का जिक्र आता है जिसकी तारीफ या हजो करनी है। इसी को तखल्लुस भी कहते हैं। दुआ उस अतिम भाग को कहते हैं जहाँ कसीदा खत्म होता है। अतिम शेर को मक्ता कहा जाता है। कसीदे के बहुत से प्रकार हैं जिनमे अधिकतर मदहिया (प्रशसात्मक), हजविया (निंदात्मक), इश्किया (प्रेमात्मक), मरसिया (शोकात्मक) और बहारया (बसत वर्णनात्मक) इत्यादि हैं। कसीदे के इतिहास में अबूतमाम (अरबी), अनवरी, खाकानी, रशीद वत्वात (फारसी), सौदा और जौक (उर्दू) आदि के नाम अति प्रसिद्ध हैं। [मु० म०]

कसीदाकारी सुई से किसी भी वस्त्र पर किया गया अलकरण "कसीदा" है। इसे हिंदी मे "सुईकारी", "कसीदा-कारी" या "सूचीकर्म" कहते हैं, गुजराती मे इसका नाम "भरत" है तथा अग्रेजी मे "एब्रॉयडरी"।

कसीदे का प्रचार प्राय तभी हुआ होगा जब मनुष्य ने वस्त्र बुनने की कला ढूँढ निकाली होगी। उसकी अलकरणप्रिय प्रवृत्ति ने उसे बर्तन-भाँडो जैसी नित्य उपयोगी वस्तुओ की भाँति वस्त्रो पर भी कुछ सज्जा करने को प्रेरित किया होगा। रुचिभेद, स्थानभेद तथा स्तरभेद के अनुसार तरहो और कसीदे के लिये प्रयुक्त वस्त्रो मे भी भेद होता गया। ठडे स्थानो के लोग मोटे अथवा ऊनी कपडो पर कसीदा करते और गर्म स्थानो के लोग सूती वस्त्रो अथवा महीन रेशम पर। कुछेक अपवादो को छोडकर निर्धन लोग सूती वस्त्रो पर सूती अथवा रेशमी धागो से, तथा सपन्न लोग रेशमी या मखमली कपडो पर रेशम और जरी का काम करते या करवाते।

कसीदे का प्रचार सभी देशो मे दीर्घकाल से रहा है। यूरोप, चीन, जापान, ईरान और मिस्र आदि सभी जगह कसीदे का कोई न कोई रूप अवश्य मिलता है। लेकिन सभी जगह कसीदे का उत्पत्तिकाल जानने का कोई प्रामाणिक आधार नही है। पुरातत्ववेत्ताओ ने इस सबध मे जो खोज की है उससे प्राचीन वस्त्र मिले अवश्य हैं पर इनकी सख्या बहुत कम है। जलवायु के सहयोग से कुछ स्थानो के कसीदे दूसरे स्थानो से जरा अधिक दिन टिके रहे पर इनसे भी उन देशो के कसीदे का क्रमिक इतिहास पूर्ण रूप से सुलझ नही पाता। प्राचीन कसीदो के लुप्त हो जाने का एक विशेष कारण यह भी है कि कही भी हो, वस्त्रो को दीर्घ काल तक सुरक्षित रखना कठिन ही है, अधिकाश तो स्वय ही नष्ट हो जाते हैं। सूती वस्त्रो पर बने बहुत से कसीदे तो इसलिये नष्ट हुए कि कीमती न होने से उनकी सुरक्षा आवश्यक नही समझी गई, जरी आदि के कसीदो को फट जाने पर या अन्य कारणो से जलाकर सोनाचाँदी निकाल ली गई।

भारत के अतिरिक्त स्लाव देशो, जर्मनी, फ्लडर्स (फ्लेमिश), इटली, फ्रास, रूस, इग्लैंड, चीन, जापान, ईरान और तुर्की के कसीदे विख्यात हैं। स्थानभेद से तथा विभिन्न कालो मे इनकी शैलियाँ भी विभिन्न रही।

यूरोप मे स्लाव देशो के कसीदे सबसे प्राचीन, सुरुचिपूर्ण और रग-बिरगे हैं। यहाँ कट्टम के टाँको का काम (क्रास स्टिच) तथा पजाब की "फुलकारी", कर्नाटक की "कसूती" और बिहार के "दो मुहे" कसीदो से मिलताजुलता "स्ट्रेट स्टिच" काम ही अधिक मिलता है और सूती या ऊनी कपडो पर सूती या रेशमी धागो से किया गया है। इनके प्रारभिक कसीदो मे सफेद, लाल और काला रग प्रधान होता था पर अब रग-बिरगापन बढ गया है। डिजाइनो मे विशेष परिवर्तन इतने दीर्घ काल मे भी नही हुआ। ये डिजाइन अधिकतर ज्यामितिक होते हैं पर बीच बीच मे पशु पक्षियो की आकृतियाँ भी प्रयुक्त हुई हैं।

सारे यूरोप मे अभी तक "स्लाव" देशोवाला उपर्युक्त कसीदा अन्य कसीदो के साथ अवश्य मिलता है।

लगभग १०वी सदी के बाद से जर्मनी, स्पेन आदि यूरोपीय देशो मे मनुष्य, पशु और पक्षियो की आकृतियुक्त, तथा फूल पत्तो के अलकरण से सजे कसीदे मिलने शुरू हो जाते हैं। इनका पूर्वरूप क्या था, यह कहना कठिन हे, पर लगता है, तब स्लाव देशो जैसा कसीदा ही सारे यूरोप मे प्रचलित रहा होगा।

कालक्रम से कसीदे मे प्रयुक्त टाँको मे भी विविधता बढती गई। तभी जजीर (चेन), मुरसुरे (सैटीन), तहरीर (स्टेम), रफ़ूगरी (डार्निग), कच्ची कढाई (रनिग स्टिच), काज (बटन होल), लपेटवाँ (इटर्लाक) और मरोडीदार (नाटेड) आदि प्रमुख टाँको का प्रयोग आरभ हुआ।

प्रत्येक देश मे कुछ टाँके विशेष प्रिय रहे हैं, जैसे चीनजापान में मुरसुरे और कच्ची कढाई के टाँके, स्पेन मे लपेटवाँ टाँके, और इग्लैंड में कट्टम के टाँके अधिक प्रचलित रहे। बात असल मे यह है कि प्रत्यक देश की रुचि के अनुसार तरहे (डिज़ाइस) भी भिन्न होती हैं और उन्हें साफ-साफ बनाने के लिये उचित टाँको की मदद से ही काढना पडता है।

जैसे चीनी और जापानी लोग बेलबूटो की तरहो के अतिरिक्त ऐसे कसीदे भी बनाते हैं जिनमे दृश्य और पशु पक्षी आदि चित्रो की भाँति बनाए जाते हैं। इनमे रूपरेखा को बडी सुघडाई से काढा जाता है। यह कसीदा धीरे धीरे पिछले सौ डेढ सौ वर्षो में सारे ससार मे फैल गया और चीनी कसीदे के नाम से ही विख्यात है। इस प्रकार के कसीदे को वास्तव मे चित्र ही मानना चाहिए। इसका प्रयोग भी दीवार पर टाँगन के लिय ही होता है।

सभी जगह कसीदो का अधिकतर प्रयोग रोजमर्रा इस्तेमाल मे आनेवाले वस्त्रो मे ही हुआ है। स्त्रियो की पोशाक, बच्चो के कपडे, चादर, तकियो के गिलेफ और पर्दो के लिये ही अधिकाश कसीदे किए जाते हैं। इस श्रेणी के घरेलू कसीदे बनाने की विधि लडकियाँ माँ से या पडोस की किसी स्त्री से सीखती थी। अभी हाल तक प्राय प्रत्येक माँ अपनी बेटी को अपने बनाए कसीदे युक्त वस्त्र विवाह के अवसर पर भेट देती थी।

दूसरी तरह के कसीदे धार्मिक अथवा राजकीय प्रयोग की वस्तुओ पर किए जाते रहे हैं। धार्मिक स्थानो मे प्रयुक्त पिछवई, वेदी ढकने के और देवताओ के पहनने के वस्त्र आदि पर कसीदे होते रहे हैं। इनका रूप नित्य प्रयोग के घरेलू कसीदो से भिन्न होता है क्योकि या तो इनपर केवल बेलबूटो के अलकरण होते हैं या धर्मविशेष के देवी देवताओ से सबधित आख्यानादि का चित्रण उनपर होता है। भक्त जन स्वय बनाकर या दूसरो से बनवाकर इन्हे धार्मिक स्थानो को भेट देते हैं। इसी प्रकार राजाओ आदि के प्रयोग की वस्तुओ पर, जैसे चोगे, चँदोवे, मसनद, गद्दी, पख और परदो वगैरह पर प्रतिष्ठा और रुचि के अनुरूप उनके ऐश्वर्य प्रदर्शन

के लिये कारचोवी कसीदा किया जाता रहा है। यरोप के धार्मिक कसीदो में फ्लेमिश कसीदा १५ वी-१६ वी सदी मे सबसे आगे था।

स्लाव और रूसी प्रदेशो के प्राचीन कसीदो की तरहो में अक्सर क्रास या ऐसे अन्य चिह्न बने मिलते है जिनका आशय सुरक्षा होता था। पत्नी अपने पति के वस्त्रो पर उसकी सुरक्षा के लिये इसका ध्यान अवश्य रखती थी। नवीनतम खोजो से ऐसे अनेक प्रतीको का रहस्य स्पष्ट होता जा रहा है।

अन्य देशो की भाँति भारतीय कसीदे का ठीक उत्पत्तिकाल जानने का हमारे पास कोई प्रामाणिक आधार नही है। हमारे पुरातत्ववेत्ताओ को अभी तक, मिस्र और चीनी तुर्किस्तान की भाँति १६वी सदी से पुराने नमूने नही मिले है, लेकिन इस बात के प्रमाण मिलते है कि भारत में कसीदा बडे प्राचीन काल से ही बनता आ रहा है।

भारतीय कसीदा—आज से चार पाँच हजार वर्ष पूर्व के मोहनजोदडो से प्राप्त एक मिट्टी के खिलौने पर अकित वस्त्र को भली भाँति देखने से लगता है कि वह कसीदा ही होगा। ऋग्वेद में हिरण्यपेशस् शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह भी तत्कालीन कसीदाकारी की ओर ही सकेत करता है जिसमें सोने के तारो का उपयोग हुआ करता था। यदि ईसा से ६०० वर्ष पूर्व बौद्धकाल के व्यापार को देखे, तो विदित होगा कि महीन कपडे यत्र, हथियार, किमखाब, कसीदे, कालीन, इत्र और हाथीदाँत की चीजें और सोना भारतीय व्यापार की मुख्य वस्तुएँ थी। मेगस्थनीज़ (ल० ३२० ई० पूर्व) ने भी भारतीय सूती परिधानो का वर्णन करते हुए लिखा है–"ये सोने के काम के होते है जिनमें नाना प्रकार के रत्नो का भी प्रयोग होता है।" गुप्तकाल में कालिदास और पीछे बाणभट्ट के साहित्य से भारतीय परिधानो के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है।

मुगलकाल के चित्रो से भी कुछ कपडो पर बन कसीदो की जानकारी हमें मिलती है। भारतीय कारीगर बहुत से कसीदे १७वी-१८वी सदी में बाहर भेजते रहे। यूरोप और निकटवर्ती पूर्वी देशो को अनेक प्रकार के कसीदे यहाँ से जाते थे।

खानाबदोश जातियो ने इस कला का प्रसार विशेष रूप से किया। कसीदे को एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाकर फैलाने का श्रेय इन्ही को है। हमारी खेतिहर जातियो ने हमें सर्वश्रेष्ठ कसीदा दिया है। पजाब की फुलकारी, सिंध, कच्छ और काठियावाड के जजीरे और शीशेदार काम तथा बगाल के काँथे खेतिहर लोगो की देन है। लखनऊ की चिकनकारी तथा दिल्ली, बनारस, आगरा, सूरत और हैदराबाद का कारचोबी का काम सपन्न लोगो के लिये बनाया गया। इनमे दक्षता अधिक होती है, पर खेतिहर लोगो और बनजारो के कसीदे में सरलता और सौंदर्य अधिक रहता है।

ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा सामाजिक उथल पुथल और विदेशी प्रभाव के कारण भारत में अनक देशी विदेशी शैलियाँ हमें देखने को मिलती है। कश्मीरी 'मुरमुरे के टाँको का काम' चीनी काम से मिलता है जो शायद तिब्बत की राह यहाँ आया। पजाब की फुलकारी बलोचिस्तान के काम से मिलती है। सिंध, कच्छ और काठियावाड की लपेटवाँ शैली स्पेन और जर्मनी से ली हुई जान पडती है। चिकनकारी विलायती सूती कसीदो से मिलती है। कर्नाटक की "कसूती" और बिहार का "दो-मुहाँ" काम स्लाव देशो से मिलता जुलता है। लेकिन भारतीय कसीदाकारो ने उन्हें ऐसे ढग से अपना लिया है कि उनपर भारतीयता की छाप लग गई है। मुगलकाल से भारतीय कसीदो की विधि और तरहो में ईरानी असर बढता गया।

भारतीय कसीदो के विभिन्न प्रातीय रूप है। इनमे प्रमुख है:

१ **कश्मीरी कसीदा**—यहाँ के कसीदो मे "सोज़नकारी", "गव्वा" और "जजीरे का काम" प्रसिद्ध है। "सोज़नकारी" या "रफूगरी टाँको" से कश्मीरी लोग शाल दुशालो पर फूल पत्तियाँ, मनुष्य और पशु पक्षियो की आकृतियाँ बनाते हैं। यह काम बडे सूक्ष्म टाँको से किया जाता है। "गव्वा" ऊनी रग बिरगी कतरनो को जोडकर बनाया जाता है। आसन-बिछौने आदि पर यह काम होता है। जजीरे के मोटे टाँको से नम्दो पर अलकरण किया जाता है और शाल दुशालो पर ऊनी या जरी के धागो से जजीरे के ही महीन टाँको का काम होता है।

२ **पजाब की फुलकारी**—वैसे "फुलकारी" का अर्थ है फूलदार या बेल बूटो का काम, पर पजाब मे सूती चादरो और ओढनो पर किए गय कसीदे को ही फुलकारी कहते है। जाट लोग ही यह काम अधिक करते है। कुसुमी लाल या नीले खद्दर पर रेशमी धागो से फुलकारी काढ़ी जाती है। काम हल्का भारी होने से, इनको तीन विभिन्न नामो से अभिहित किया जाता है **१ फुलकारी** इसमें बूटियाँ थोडी थोडी दूर पर बनाई जाती है। **२ बाग** इसमें पूरी जमीन, ज्यामितिक नमूनो से भर दी जाती है और ३ चोप इस काम को केवल किनारो पर ही किया जाता है।

फुलकारी सदा उलटी तरफ से धागो को गिनकर की जाती है। अधिकाश फुलकारियाँ माँ द्वारा बेटी को दिए जाने के लिए बनाई गई।

३. **कच्छी और काठियावाडी कसीदा**—इन दोनो स्थानो का कसीदा इतना एक सा दीखता है कि शीघ्र अलग अलग पहचानना सरल नही। कच्छी कसीदे को "कनबी" काम या "भरत" कहते है। खेतिहर लोग (जिन्हें "कनबी" कहते) इस काम को ज्यादा करते हैं। भुज इसका प्रधान केंद्र है। आम तौर से कच्छी कसीदे मे बहुत बारीक जजीर के टाँका का प्रयोग अधिक होता है जिनके बीच कभी कभी शीशे भी जडे रहते है। कच्छी कसीदा साटन, रेशमी या सूती कपडे पर ही होता है। जमीन सफेद, केसरिया, काली या अधिकतर लाल होती है।

काठियावाडी कसीदे में मरमुरे और जजीर के टाँको का प्रयोग तोरण, ओढने, चोलियाँ, लहँगे और जानवरो की झूल आदि बनाने के लिये होता है। कच्छी काम की अपेक्षा यह काम मोटा होता है।

४ **उत्तर प्रदेश की चिकनकारी**—यह सफेद मलमल पर सफेद सूती धागे से की जाती है तथा लखनऊ, रामपुर और बनारस में अधिक होती है। तरहो मे फूल पत्तियो की बूटियो का ही प्रयोग किया जाता है। इसमें तेपची (स्टम स्टिच), बखिया (बैंक स्टिच), मुर्री या मरोडी (नाटेड) और जाली आदि टाँके बरते जाते है। उत्तर भारत की ग्रीष्म ऋतु के लिए यह है भी बहुत हलका फुलका कसीदा। कुर्ते, टोपियाँ, कुरतियाँ और साडियाँ ही इस कसीदे से सजाई जाती हैं।

५. **कर्नाटक की कसूती**—"कसूती" शब्द का अर्थ कसीदा है। कर्नाटक में घर घर "कसूती" की जाती है। बेलगाँव, धारवाड और बीजापुर इसके केंद्र हैं। कसूती में अनेक रगो का प्रयोग होता है। तरहा में पालना, नदी, तुलसी का थाँवला, हाथी, हिरन, मोर, हस और तोते आदि अधिक रहते है। गहरे रग की जमीन पर ही इसे बनाया जाता है। गवती (स्ट्रोक स्टिच), नेगी (स्ट्रेट स्टिच) और मेथी (क्रास स्टिच) आदि टाँको का ही प्रयोग इसमें विशेषकर होता है।

६. **कारचोबी काम**—यह दो प्रकार का होता है १ जरदोजी यह काम सबसे कीमती होता है। इसमे कारीगरी और काम अधिक रहता है, **२ कामदानी** इसमें काम घना नही होता। कारचोबी में सोने चाँदी के धाग, जसे 'कलाबत्तू' तथा 'सलमा', और आकृतियाँ, जैसे 'बादला'—जिसमें चाँद सितारे बन होते है, प्रयुक्त होता है। शामियाने, हाथी घोडो की झूल, चोगे, कुरतियाँ, टोपियाँ, आसन, छत्तर और जूते आदि वैभवसूचक वस्तुएँ ही इस कसीदे में बनाई जाती है। दिल्ली, बनारस, लखनऊ, पटना, सूरत और हैदराबाद इसके मुख्य केंद्र है।

उपर्युक्त शैलियो के अतिरिक्त बगाल का **काँथा**, जिसमें पुरानी साडियो को आपस में सीकर सूती धागो से कसीदा किया जाता है, चबा (हिमाचल प्रदेश) और काँगडा के रुमाल, जिनमें सूती कपडे पर रेशम से विवाह, रास और शिकार आदि के चित्र इस प्रकार काढे जाते है कि काम दोनो तरफ एक सा दीखे, बजारो का शीशेदार अथवा मनको का काम और बिहार का '**दोमुंहा**' काम भी प्रसिद्ध है। बिहार, उडीसा और रामपुर का **कटवाँ** काम (एप्लीक वर्क) भी महत्वपूर्ण हैं। इसमें विभिन आकृतियो को काटकर दूसरे कपडे पर सिल दिया जाता है। दक्षिण भारत में कसीदा बहुत कम किया गया।

कुछ काल पूर्व तो भारतीय कसीदा यूरोपीय प्रभाव के कारण कला की दृष्टि से बडी दयनीय अवस्था को पहुँच गया था पर इधर उसके सुधारने का भरपूर प्रयास हो रहा है। [ज० मि०]

कसीदाकारी (देखे पृष्ठ ४०३)

कश्मीरी शाल, १९ वी शताब्दी
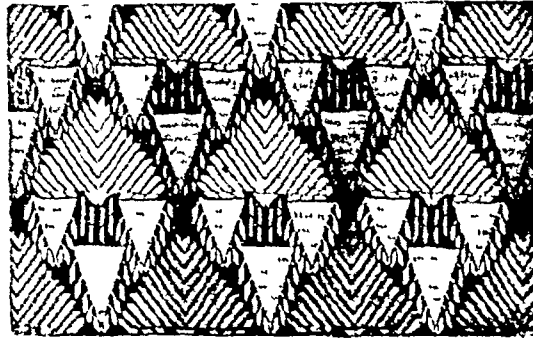
'ककडी बाग', हजारा जिला (पंजाब), १९वी शताब्दी
(दोनो चित्र जगदीश मित्तल द्वारा)
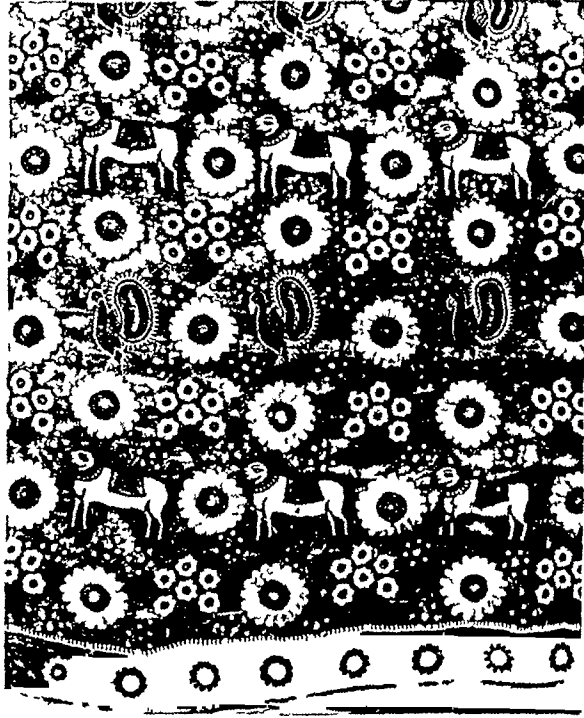
कसीदाकारी (देखें पृष्ठ ४०३)

झूल, कच्छ, १९वीं शताब्दी
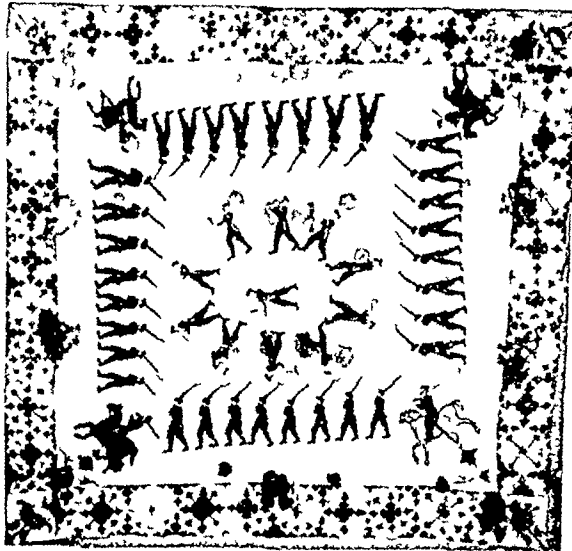
'फौज', चंबा रुमाल, १९वीं शताब्दी उत्तरार्ध
(जगदीश मित्तल के संग्रह से)
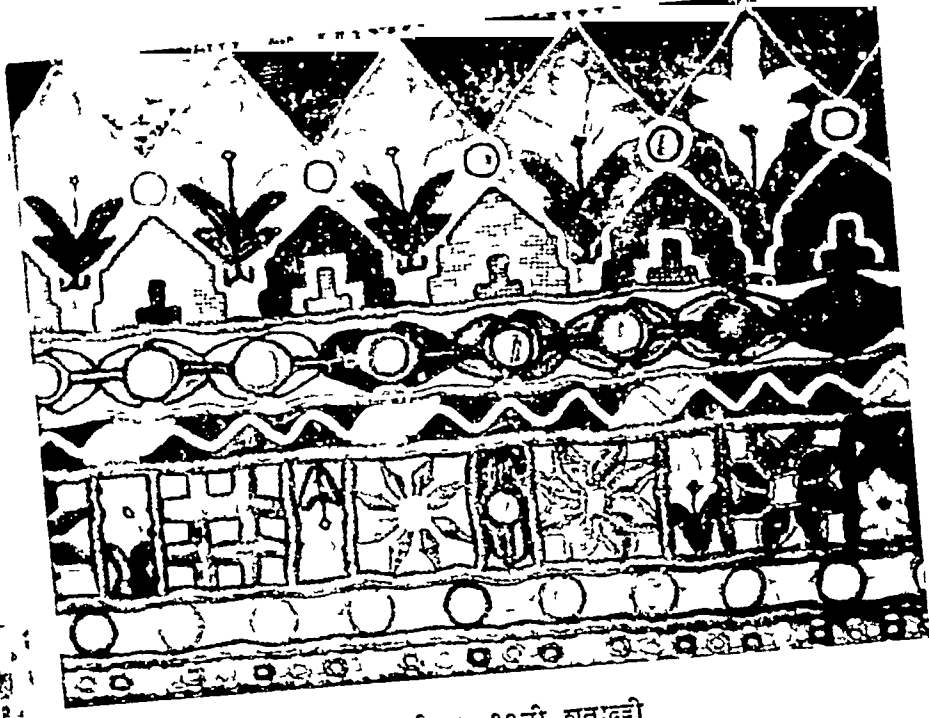
कसीदाकारी (देखें पृष्ठ ४०३)

घाघरा, सिंध, १९वीं शताब्दी
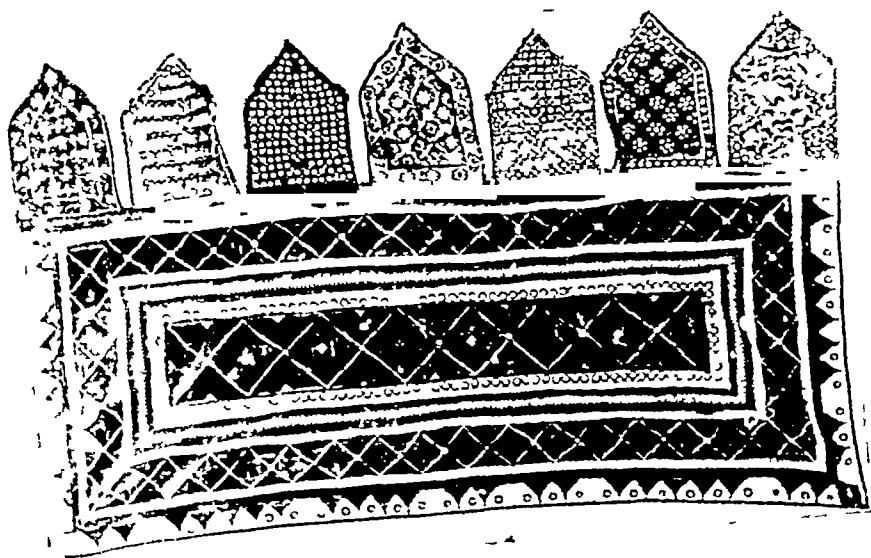
तोरण, काठियावाड, १९वीं शताब्दी
(दोनों चित्र जगदीश मित्तल द्वारा)
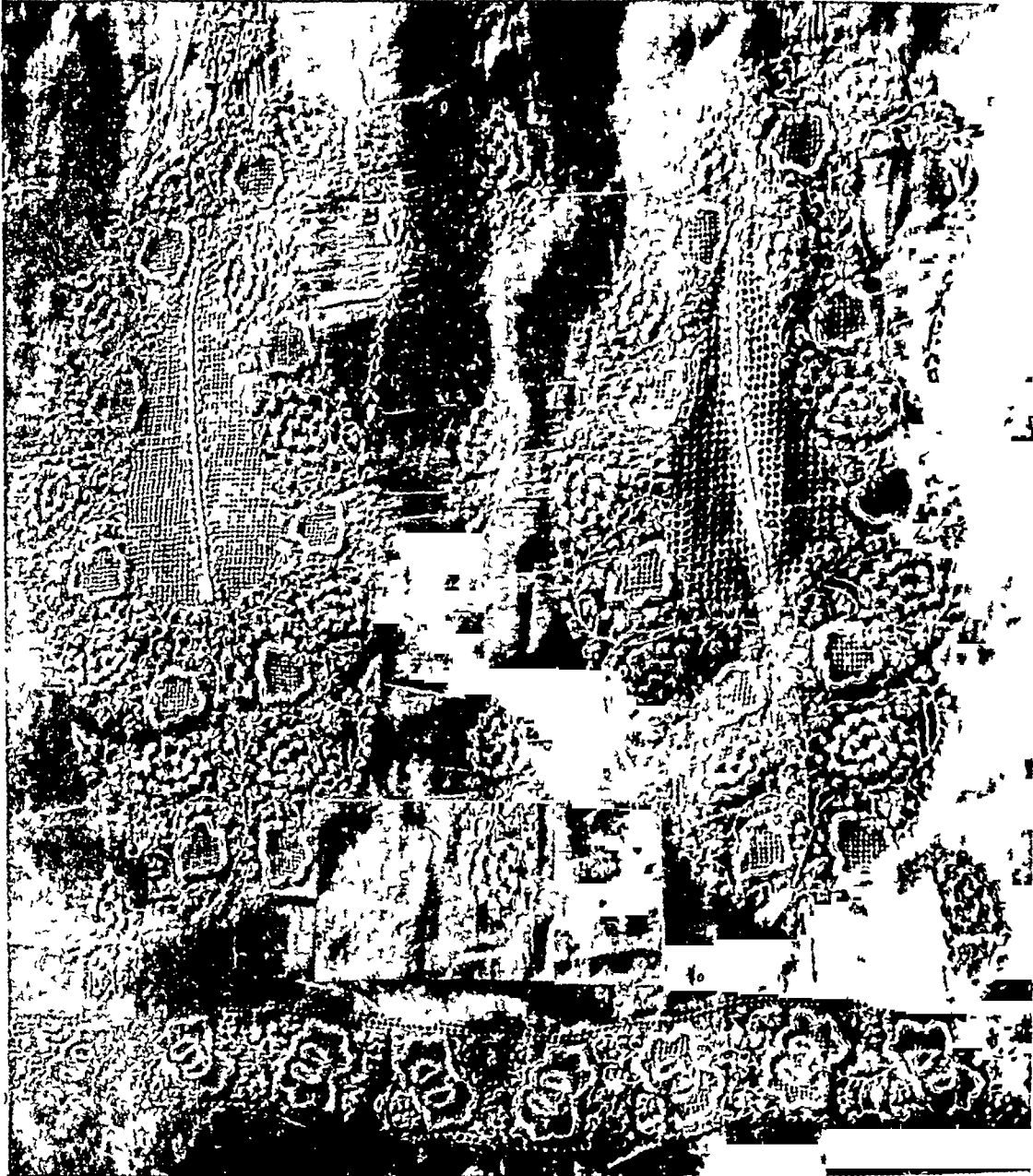
कसीदाकारी (देखे पृष्ठ ४०३)

चिकनकारी की ओढनी, लखनऊ, १९वी शताब्दी
(इडियन म्यूजियम, कलकत्ता का सग्रह)

कसीदाकारी (देखें पृष्ठ १०३)
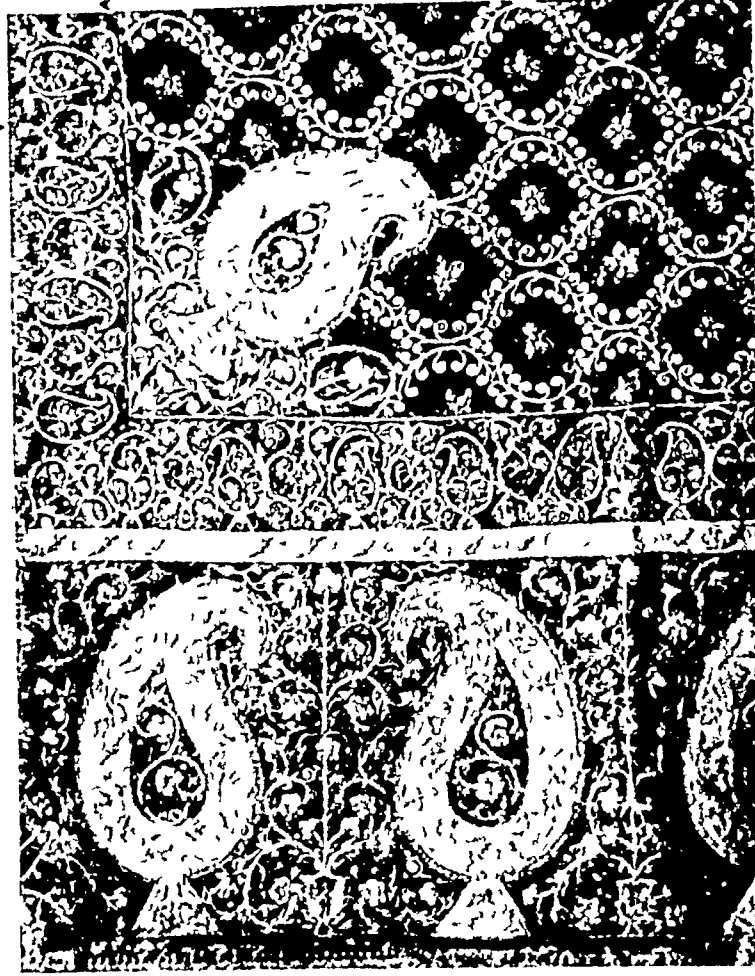
जरदोजी काम सूरत १९वी शताब्दी
(बड़ौदा संग्रहालय)
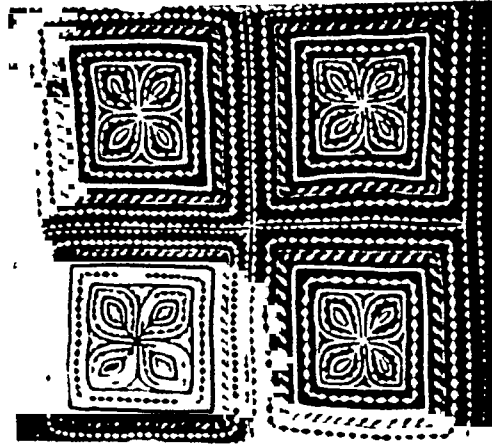
कटवाँ (एपलिक) काम, बिहार, १९वीं शताब्दी
(दोनों चित्र जगदीश मित्तल द्वारा)

कसीदाकारी (देखे पृष्ठ ४०३)
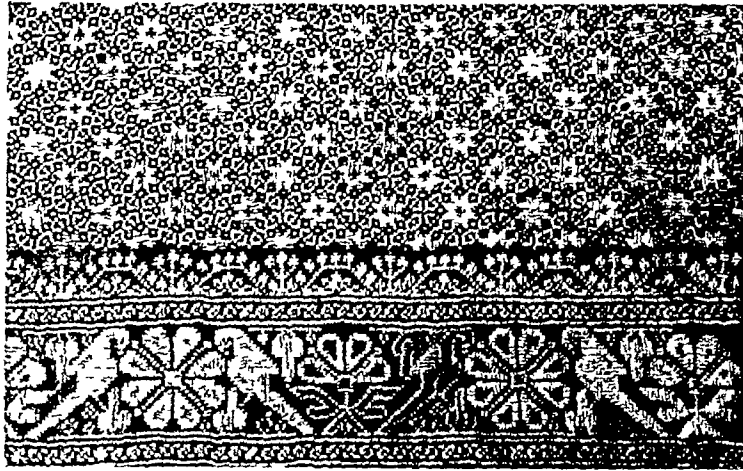
कट्टम के टाँको से बना कच्छी लहँगा, १९वी शताब्दी
(जगदीश मित्तल के सग्रह से)

काँथा, बगाल १९वी शताब्दी
(जगदीश मित्तल के सग्रह से)

कसूर पश्चिमी पाकिस्तान के लाहौर जिले का एक नगर है जो ३१° ५′ उ० अ० और ७४° २५′ पू० दे० पर व्यास नदी की प्राचीन तलहटी के उत्तर तट पर लाहौर नगर से ३४ मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। कुल जनसख्या ५३,१०१ है (१९४१)। यहाँ मुसलिम काल में सिधु नदी के उत्तर से पठान आकर वस गए थे। यहाँ से कपास और अनाज अन्य स्थानो को भेजा जाता है और सूती कपडा तथा चमडे का सामान वनाने का उद्योग होता है। [रा० ना० मा०]

कसौली पूर्वी पजाव के शिमला जिले की एक छावनी तथा स्वास्थ्य-शाला है जो उप-हिमालय प्रदेश मे पहाडी की चोटी पर स्थित है। जनसख्या ४,००७ (१९५१ ई०)। यह अवाला नगर से ४५ मील उत्तर तथा शिमला नगर से ३२ मील दक्षिण-पश्चिम मे ३०° ५३′ १३″ उत्तरी अ० तथा ७७° ०′ ५२″ पूर्वी दे० पर स्थित है। यहाँ पर १८४४-४५ ई० मे विज़ा राज्य की भूमि पर छावनी का निर्माण हुआ और उसी वर्ष सैनिको के रहने का स्थान भी वन गया। गर्मी के मौसम मे प्रति वर्ष यहाँ वाहर से यात्री आते है। कसौली पहाडी सुवाठी समूह का ही एक शिखर है जो समुद्र की सतह से ६,३२२ फुट ऊँचा है। यहाँ के रमणीक दृश्य के एक ओर दक्षिण-पश्चिम के मैदानी भाग तथा दूसरी ओर हिमालय की वर्फीली पक्तियाँ है। इसकी स्थापना सैनिक छावनी के रूप में हुई थी, किंतु इस समय यह एक स्वास्थ्यवर्धक और पर्य टक केंद्र के रूप मे अधिक प्रसिद्ध हो गया है। यात्रियो की सुविधा के लिये ग्रीष्मकाल मे होटलो का प्रवध रहता है, किंतु पानी के वितरण की व्यवस्था ठीक नही है। यहाँ उपकमिश्नर का प्रधान कार्यालय है। गर्मी के मौसम मे अवाला के कमिश्नर का प्रधान कार्यालय भी यहाँ आ जाता है। यहाँ का व्यापार यात्रियो की तथा छावनी के सैनिको की आवश्यकताओ तक ही सीमित है।

लारेस सैनिक-आश्रय-स्थान यहाँ से तीन मील की दूरी पर सनावर नगर में स्थित है। उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध पैस्टर (Pasteur) सस्था की स्थापना कसौली मे १९०१ ई० मे पागल पशुओ द्वारा काटे गए लोगो की चिकित्सा के लिये की गई थी। १९०६ ई० मे यहाँ एक केंद्रीय अनुसधान-शाला स्थापित की गई जिसमे भारतवर्ष मे उत्पन्न विशेष रोगो का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया जाता है। [सु० प्र० सिं०]

कस्ट्रमा सोवियत सघ मे स्थित उत्तरी यूरोपीय रूस के कस्ट्रमा प्रात का मुख्य नगर है जो ५७° ४५′ उ० अ० और ४०° ५८′ पू० दे० पर वॉल्गा नदी के वाएँ किनारे, वॉल्गा और उसकी सहायक, कस्ट्रमा, नदी के सगम पर स्थित है। कुल जनसख्या १,२१,२०५ है (१९३९)। यहाँ गिरजाघरो की सख्या ३८ से भी अधिक है। इस नगर का दुर्ग प्राचीन काल मे युद्ध के समय बहुधा मॉस्को के राजकुमारो का आश्रयस्थल रहा है। एक भव्य गिरजाघर, जो १२३९ ई० में निर्मित और १७७३ ई० मे पुन निर्मित हुआ, प्राचीन रूसी शिल्पकला का महत्वपूर्ण स्मारक है। प्राचीन काल में कई वार यह नगर सैनिक आक्रमणो द्वारा ध्वस्त हुआ। १६वी शताब्दी से ही यह नगर लिनेन कपडे के लिये विख्यात है। मुख्य उद्योगो मे लकडी चीरना, आटा पीसना, सूती और लिनेन कपडा वनाना, चमडे का सामान, तवाकू और लकडी का सामान बनाना है। [कृ० प्र० सिं०]

कस्तूरी एक प्रसिद्ध सुग धित द्रव्य है, जो एक प्रकार के मृग से प्राप्त होता है (देखे **कस्तूरीमृग**)। यह विभिन्न स्थलो मे विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। सस्कृत मे इसे कस्तूरी, मृगनाभि, मृगमद, कश्मीर मे रौस, हिमाचल में विजौरी और रौसा, नेपाल मे वीना, लद्दाख मे रिवजा, तिव्वत मे ला, लव, लहारचे, चीन मे शे-ही एग, अरव मे मिस्क, ईरान मे मुश्क और अग्रेजी मे मस्क कहते है।

कस्तूरी के सवध मे अनेक भ्रातियाँ प्रचलित थी, पर अब यह सिद्ध हो गया है कि कस्तूरी का नाफा एक पतली झिल्ली से वनी, वडे से निंवू की नाप की ग्रथि की थैली के रूप मे, पेट मे नार की गाँठ के ऊपर गढे मे सटा हुआ पाया जाता है। इस पतली झिल्ली की थैली के ऊपर, इसके रक्षार्थ अधिक कडी झिल्ली की वनी दूसरी थैली होती है। उदर की वाह्य त्वचा और कस्तूरीग्रथि के वीच मे से निकलते हुए शिश्न की अग्रत्वचा की झिल्लीदार थैली का मुख कस्तूरी के नाफा के छिद्रद्वार से २० मिलीमीटर की दूरी पर खुलता है। इस प्रकार कस्तूरी का नाफा उदर की वाह्य त्वचा और आँतो के वीच मे, किंतु वाह्य त्वचा से सटा हुआ, पेट के वाहर उठा रहता है। इस झिल्ली की थैली मे एक मोटी सुई सा छिद्र पतले और सफेद वालो से ढँका रहता है। यह छिद्र शिश्न की अग्रत्वचा के मुखद्वार के सामने रहता है। दवाने से इस छिद्र में से थोडी सी कस्तूरी वाहर निकल आती है। इस छिद्र के चारो ओर वर्तुलाकार नरम वालो के घने से चक्कर पडे रहते है। कस्तूरी-मृग को जीते-जी झाडियो और पत्तियो से ढँपे गड्ढो अथवा जालो में फाँसकर, अथवा शिकार द्वारा मारकर, पकडा जाता है। मृग को मारते ही उसका नाफा अलग से काटकर सी दिया जाता है। इसके छिद्रद्वार को जलाकर अथवा मुहरवद करके रखा जाता है। नाफा के निकटवर्ती शिश्न के भाग को साधारणतया काट दिया जाता है।

लगभग १० वर्ष की आयु के कस्तूरीमृगो के नाफो मे कस्तूरी की मात्रा अधिकतम रहती है। अल्पवयस्क और वूढे मृगो के नाफो मे कस्तूरी की मात्रा कम रहती है। प्राय प्रत्येक नाफे मे १० ग्राम से लेकर ४५ ग्राम तक कस्तूरी की मात्रा रहती है। वढिया नाफो की कस्तूरी छोटी छोटी गोलियो के रूप मे पाई जाती है। कस्तूरी के नाफो को धूप मे सुखाकर, अथवा तवो के ऊपर सेककर, अथवा गरम तेल मे सुखाकर वेचन के लिये रखा जाता है। कस्तूरी का रग गहरे वैंगनी और गहरे लाल से लेकर काला तक होता है। कस्तूरी स्पर्श करने पर चिकनी, कागज पर पीला धव्वा लगानेवाली तथा पानी मे ५० प्रति शत और ऐल्कोहल मे १० से २० प्रति शत विलेय होती है। यह १५ प्रति शत तक जलाश और जलाए जाने पर ८ प्रति शत तक राख का अश देती है।

वाजारो मे साधारणतया पाँच प्रकार की कस्तूरी वेची जाती है, (क) सर्वोत्तम कस्तूरी तिव्वत, शीकाग और इडोचीन की पहाडियो मे पाए जानेवाले मृगो की होती है। ससार मे विकनेवाली कुल कस्तूरी में से इस प्रकार की कस्तूरी (टॉनक्विन मस्क, Tonquin musk) का अश ८५ प्रति शत तक कहा जा सकता है, (ख) मगोलिया के वाहरी पहाडी इलाके और दक्षिण साइवीरिया से प्राप्त कस्तूरी को कैवरडाइन मस्क (Cabardine musk) के नाम से घटिया समझकर वेचा जाता है, (ग) युन्नान नामक कस्तूरी, (घ) आसामी तथा नेपाली कस्तूरी और (च) कश्मीरी कस्तूरी।

विशुद्ध कस्तूरी का भाव चार से पाँच रुपया प्रति ग्राम होने के कारण प्राय सदैव इसमे मिलावट की जाती है। सूखा हुआ रुधिर, मिट्टी इत्यादि से नकली नाफो मे कस्तूरी के नाफो की झिल्ली इत्यादि मिलाकर धोखा-घडी की जाती है। अभी तक कस्तूरी की वैज्ञानिक जाँच की कोई विधि प्रयोग मे नही लाई जा सकी है।

कृत्रिम कस्तूरी—कुछ ऐसे रासायनिक द्रव्य हैं जिनकी गध कस्तूरी से मिलती जुलती है। ऐसे द्रव्यो को मस्क जाइलीन, मस्क अब्रेट्टी और मस्क कीटोन कहते है। इनमे वह पदार्थ नही है जिससे कस्तूरी की गध होती है। पर कस्तूरी की सी गध होने के कारण सस्ते गधवाले द्रव्य के रूप मे इनका उपयोग आज अधिकता से होता है।

कस्तूरी के रासायनिक सघटको में से मुख्यतया मस्कोन (Muscone) का २ प्रति शत अश ही कस्तूरी के विशिष्ट गध का मूल कारण समझा जाता है। १९६२ ई० मे जगद्विख्यात रसायनज्ञ रुजिका की अनुपम खोजो के आधार पर मस्कोन का सघटन यह माना गया है.

```
काहा,                    C H3
 |                        |
काहा———————काहा₂          C H———————C H2
 |            \           |            \
(काहा₂)₁₂————का औ        (C H2)12————CO
```
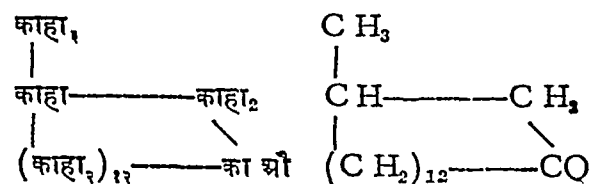
गत ३० वर्षो के अनुसधानो से यह सिद्ध हो चुका है कि कस्तूरी के समान गधवाले जातव पदार्थ कस्तूरी मृग के अतिरिक्त आठ प्रकार के अन्य जतुओ से भी प्राप्त होते है। इनके अतिरिक्त सुवुल, लताकस्तूरी (मुश्कदाना), जटामासी इत्यादि अनेक वनस्पतियो मे भी कस्तूरी जैसे गधद्रव्यो के होने की सभावना पाई गई है। पूना की राष्ट्रीय रसायनशाला मे, कमला

(नारगी) के तेल, सरसो के तेल, ओलीइकाम्ल, लाख इत्यादि के उपयोग से मस्कोन जैसे कई रसायनक बनाने मे सफलता प्राप्त हुई है।

स० ग्र०—अर्नेस्ट ज० पैरी दि केमिस्ट्री ऑव एसेंशिअल ऑयल्स ऐंड आर्टिफिशल पर्फ्यूम्स, वॉल्यूम २, स्कॉट ग्रीनवुड ऐंड सस, लदन (१९२२), वाई० आर० नेव्स ऐंड जी० मैंजुयर नैचुरल परफ्यूम मेटीरियल्स, रीइनहोल्ड पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, न्यूयॉर्क (१९४७), विलियम ए० पाउचर पर्फ्यूम्स, कॉस्मेटिक्स ऐंड सोप्स, वॉल्यूम १, चपमैन ऐंड हॉल लि०, लदन (१९४१), स्वामी प्रणवानद मस्क ऐंड मस्क डीअर, हिमाचल टाइम्स, देहरादून, ऐनुअल नवर, जून १९५६, वॉल्यूम ८, न० २३। [सद्०]

आयुर्वेद में कस्तूरी—आयुर्वेद के प्राचीन ग्रथो और गधशास्त्र सबधी साहित्य में कस्तूरी और कस्तूरी के उपयोगो का विस्तृत वर्णन मिलता है। आयुर्वेदिक ग्रथो मे यह तिक्तकटु, पौष्टिक, वीर्यस्तभक, स्फूर्तिदायक, बलवर्धक, कफ, वात, पित्त और दुर्गधनाशक कहा गया है। आमाशय, हृदय, ज्ञानेंद्रिय और मस्तिष्क के लिये बलवर्धक, बाजीकर और आक्षेपहर होता है। हृदय एव मस्तिष्क की दुर्बलता, हृदय की धडकन, वातिक उन्माद, अपस्मार एव कुकुरखाँसी आदि वातिक, श्लेष्मिक और आक्षेपयुक्त रोगो मे इसका उपयोग होता है। अनुपम और प्रबल गध के कारण अगरागो में इसका उपयोग मिलता है। [ब० सिं०[

कस्तूरीमृग नामक पशु मृगो के अग्युलेटा (Ungulata) कुल (शफि कुल, खुरवाले जतुओ का कुल) की मॉस्कस मॉस्क्फिरस Moschus Moschiferus नामक प्रजाति का जुगाली करनेवाला शृगरहित चौपाया है। प्राय हिमालय पर्वत के २,४०० से ३,६०० मीटर तक की ऊँचाइयो पर तिब्बत, नेपाल, इडोचीन और साइबीरिया, कोरिया, कासू इत्यादि के पहाडी स्थलो मे पाया जाता है। शारीरिक परिमाण की दृष्टि से यह मृग अफ्रीका के डिक डिक नामक मृग की तरह बहुत छोटा होता है। प्राय इसका शरीर पिछले पुट्ठे तक ५०० से ७०० मिलीमीटर (२० से ३० इच) ऊँचा और नाक से लेकर पिछले पुट्ठो तक ७५० से ९५० मिलीमीटर लबा होता है। इसकी पूँछ लगभग बालविहीन, नाममात्र को ही (लगभग ४० मिलीमीटर की) रहती है। इस जाति की मृगियो की पूँछ पर घने बाल पाए जाते है। जुगाली करनेवाले अन्य पशुओ के समान इस मृग के ऊपरी जबडे में आगे का काटनेवाला चौडा दाँत (इनसिजर, incisor) नही रहता। केवल चबाने मे सहायक दाँत (चौभड और चौभड के पूर्व वाले दाँत) होते है। नर मृगो के ६० से ७५ मिलीमीटर लबे दोनो सुवे दाँत (कैनाइन, canine) ऊपर से ठुड्ढी के बाहर तक निकले रहते है। इसके अगोपाग लबे और पतले होते है। पिछली टाँगें अगली टाँगो से अधिक लबी होती है। इसके खुरो और नखो की बनावट इतनी छोटी, नुकीली और विशेष ढग की होती है कि बडी फुर्ती और तेजी से भागते समय भी इसकी चारो टाँगे चट्टानो के छोटे छोटे किनारो पर टिक सकती है। नीचे से इसके खुर पोले होते है। इसी से पहाडो पर गिरनेवाले रुई जैसे हल्के हिम में भी ये नही धँसते और कडी से कडी जमी वर्फ पर भी नही फिसलते। इसकी एक एक कुदान १५ से २० मीटर तक लबी होती है। इसके कान लबे और गोलाकार होते है तथा इसकी श्रवणशक्ति बहुत तीक्ष्ण होती है। इसके शरीर का रग विविध प्रकार से बदलता रहता है। पेट और कमर के निचले भाग लगभग सफेद ही होते है और बाकी शरीर कत्थई भूरे रग का होता है। कभी कभी शरीर का ऊपरी रग सुनहरी झलक लिए ललछौह, हल्का पीला या नारगी रग का भी पाया जाता है। बहुधा इन मृगो की कमर और पीठ पर रगीन धब्बे रहते है। अल्पवयस्को में धब्बे अधिक पाए जाते है। इनके शरीर पर खूब घने बाल रहते है। बालो का निचला आधा भाग सफेद होता है। बाल सीधे और कठोर होते हुए भी स्पर्श करने मे बहुत मुलायम होते है। बालो की लबाई ७६ मिलीमीटर के लगभग होती है।

कस्तूरीमृग पहाडी जगलो की चट्टानो के दर्रो और खोहो में रहता है। साधारणतया यह अपने निवासस्थान को कडे शीतकाल मे भी नही छोडता। चरने के लिये यह मृग दूर से दूर जाकर भी अत में अपनी रहने की गुहा में लौट आता है। आराम से लेटने के लिये यह मिट्टी मे एक गड्ढा सा बना लेता है। घास पात, फूल पत्ती और जडी बूटियाँ ही इसका मुख्य आहार है। ये ऋतुकाल के अतिरिक्त कभी भी इकट्ठे नही पाए जाते और इन्हे एकातसेवी पशु ही समझना चाहिए। कस्तूरीमृग के आर्थिक महत्व का कारण उसके शरीर पर सटा कस्तूरी का नाफा ही उसके लिये मृत्यु का दूत बन जाता है (देखें कस्तूरी)।

स० ग्र०—कस्तूरी नामक लेख मे बताए गए सदर्भग्रथ कस्तूरी मृग की जानकारी के लिये भी उपयोगी है। [सद्०]

कहानी साधारणत गद्य या पद्य में रचित मौखिक या लिखित कहानी, विशेषत गद्य मे लिखित आधुनिक छोटी कहानी (शार्ट स्टोरी), जिसके लिये कभी कभी गल्प, आख्यायिका या लघुकथा शब्द भी प्रयुक्त होते है।

कहानी की इन परिभाषाओ के आधार पर उसे साहित्यिक अभिव्यक्ति का सबसे पुराना और सबसे नया माध्यम कहा जा सकता है। सबसे पुराना इसलिये कि मानव समाज और भाषा के उदय के साथ ही आखेटक की आप बीती कहने और परबीती सुनने की सहज इच्छा से इसका जन्म हुआ। सबसे नया इसलिये कि सजग कलात्मक सृष्टि के रूप में इसका उदय पश्चिम में १९वी सदी मे हुआ। कथानक, पात्र, सवाद और न्यूनाधिक मात्रा में उद्देश्य या नैतिक शिक्षा के उभयनिष्ठ रहने के बावजूद नई कहानी और पुरानी कहानी मे रूप और आत्मा का आधारभूत अतर है।

कहानी के सबसे प्रारभिक रूपो में लोककथाओ, पौराणिक आख्यायिकाओ, पशु पक्षियो के आधार पर रचित गल्पो और धार्मिक या नैतिक गूढाख्यानो की गणना होती है। ऐसी रचनाओ में वेदो, पुराणो और महाभारत की कथाएँ, मिस्र की लोककथाएँ, यूनान के ईसप की पशु पक्षियो की कथाएँ, इब्रानी (हिब्रू) भाषा में यहूदियो के धर्मग्रथ ओल्ड टेस्टमेंट की कथाएँ, बुद्ध और ईसा के प्रवचनो की गूढाख्यायिकाएँ इत्यादि विशेष उल्लेखनीय है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के प्रसिद्ध कथासग्रह कथासरित्सागर, बृहत्कथा, पचतत्र, हितोपदेश, जातक, जैन कथाएँ, शुकसप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशिका, कथार्णव, प्रबधकोश, प्रबधचिंतामणि आदि है।

पश्चिम मे यूनान की अनेक कथाएँ रोम पहुँची। यूनान और रोम की सस्कृति के पतन के बाद कथा की परपरा ईसाई धर्म के प्रवचनो और मध्ययुगीन यूरोप के प्रेम और साहसिक यात्राओ या अभियानो के वृत्तातो मे जीवित रही। पुराने कथासग्रहो मे फारसी और अरबी के सहस्ररजनीचरित और अलिफलैला अत्यत लोकप्रिय है। यूरोप मे कथा के विकास मे फ्रास के चारणो और इटली के लघु-उपन्यास-लेखको का महत्वपूर्ण योगदान था। १४वी सदी मे प्रणीत इटली के बोकाच्चो का 'देकामेरान' नामक सग्रह, अश्लीलता के बावजूद, यूरोपीय कथाकारो के लिये प्रवाह और रोचकता का आदर्श बन गया। लघु उपन्यासो में रूप की सुघडता नही थी, लेकिन उनमे वृत्तात को अकृत्रिम और सरल ढग से प्रस्तुत किया जाता था। यूरोप मे १९वी सदी के प्रारभ तक कथा साहित्य लघु उपन्यासो या लोककथाओ की पद्धति पर ही चलता रहा। अक्सर ऐसी कथाओ को लबे उपन्यासो की घटनाओ के अतराल में क्षपक के रूप मे समाविष्ट कर दिया जाता था।

कथा मे प्रयोग की दृष्टि से इग्लैंड मे एडीसन और स्टील के निबध और स्केच और बौज के स्केच भी काफी महत्वपूर्ण थे। लेकिन न तो पहले की कथाएँ और न ये निबध और स्केच आधुनिक कहानी के प्रतिरूप कहे जा सकते है।

१९वी सदी के प्रारभ मे जर्मनी मे हाफमन, जैकब, ग्रिम और टीक, अमरीका में इर्विंग और हाथार्न, फ्रास में मेरिमिए, गोतिए और बाल्ज़ाक, रूस में पुश्किन इत्यादि ने आधुनिक कहानी की रचना की, लेकिन उसे स्वतत्र और विशिष्ट साहित्यिक विधा मानकर प्रयोग करने की दृष्टि से रूसी लेखक निकोलाई गोगोल (१८०९-१८५२) और अमरीकी लेखक एडगर एलेन पो (१८०९-१८४९) आधुनिक कहानी के प्रवर्तक माने जाते है। गोगोल ने कहानी को रोमास की जगह जनसाधारण के जीवन का यथार्थ प्रदान किया। पो की कहानियो की विशेषता रोमाचकारी रहस्य, अलौकिकता, भूत-प्रेत-सबधी अधविश्वास और रक्तरजित आतक से

उत्पन्न मानसिक तनाव है। पो ने आधुनिक कहानी के रचनाविधान के मूल सिद्धात एव उसके प्रभाव की एकता या केंद्रीयता की स्थापना की। उसके अनुसार "पूरी रचना मे ऐसा एक शब्द भी नही होना चाहिए जिसकी प्रवृत्ति, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, किसी पूर्वनिश्चित उद्देश्य की ओर न हो।"

इस प्रकार पुरानी कथाओ की कपोलकल्पित घटनाओ और चरित्रो के प्रति वाह्य और सकुचित नैतिक दृष्टिकोण के स्थान पर आधुनिक कहानी ने जीवन के यथार्थ और चरित्रो के अतर्द्वद्वो की अनुभूति को महत्व दिया। यथार्थ और मनोविज्ञान आधुनिक कहानी के पाए कहे जा सकते है। आधुनिक कहानी घटनाओ या व्यक्तियो का रोचक वर्णन मात्र नही, वल्कि व्यक्ति और समाज के जीवन के अर्थ को पकड़ने और खोलने का प्रयत्न है।

पो का तात्कालिक प्रभाव फ्रासीसी लेखको पर पडा, जिनमे वोदलेयर, फ्लावेर और दोदे उल्लेखनीय हैं।

ससार के दो महत्तम कहानीकार, फ्रास के मोपासाँ और रूस के चेखव, १९वी सदी की ही उपज है। दोनो ने ही किसानो और मध्य या निम्न-वर्गीय बुद्धिजीवियो और कर्मचारियो के जीवन की विविध असमर्थताओ और लघु व्यग्यो का चित्रण किया, दोनो मे ही जीवन के प्रति गहरा औत्सुक्य है, दोनो मे ही निराशा और विषाद का दृष्टिकोण है। लेकिन इन समानताओ के वावजूद दोनो दो तरह के कहानीकार हैं। मोपासाँ के चरित्र वासनाओ के और चेखव के चरित्र वौद्धिक प्रमाद, स्वप्नभग और नियति के शिकार है। मोपासाँ मे अपने चरित्रो के प्रति अतिरजित और प्राय कृत्रिम भावुकता है, चेखव जीवन को रासायनिक वस्तुनिष्ठता के साथ देखता है, किंतु उसकी आत्मा मे गहरी सहानुभूति और करुणा है। मोपासाँ मे अक्सर नाटकीय अतो के वावजूद वर्णन की सरलता और स्वाभाविकता है, चेखव की विशेषता स्वच्छ, सयमित, निश्छल, व्यजनात्मक और प्रहसनयुक्त शैली और भाषा है। रचना मे प्रयासहीन कलात्मक चारुता और जीवन के निर्मम और निर्लिप्त सत्य के अकन की दृष्टि से चेखव मोपासाँ से बढकर है। चेखव के अनुसार "कहानी मे प्रारभ और अत नही होना चाहिए।" ससार के अधिकाश कहानीकारो ने इन्ही दोनो से दीक्षा ली।

चेखव के समकालीन अन्य महान् रूसी कहानीकारो मे तोल्स्तोइ, तुर्गनेव, गोर्की, दास्तोएव्स्की, गार्शिन, आद्रेयेव, कोरोलेको आदि है। सूक्ष्म अतर्दृष्टि, गहरी सामाजिक चेतना और मानवतावादी दृष्टिकोण मे रूसी कहानीकार वेजोड हैं।

पो के वाद पूरी १९वी सदी मे अनेक अमरीकी कहानीकारो का उदय हुआ, जिनमे मेल्विल, ओ'व्रायन, व्रेट हार्ट, ऐंब्रोज वीयर्स, सारा ओर्न जिवेट, मेरी विल्किंस फ्रीमन, ओ' हेनरी, जैक लडन, हेनरी जेम्स, थियोडोर ड्रेजर स्टीफेन क्रेन के नाम अत्यत प्रसिद्ध है। अमरीकी कहानियो में अधिकाशत कलात्मक सौंदर्य के स्थान पर उस युग के अमरीकी जीवन के अनुरूप वेग है, उनमे अनुभूतियो की गहराई न होकर अधिकतर पत्रकारिता और गद्य का झीनापन है। अमरीका मे काफी वडी सख्या में ऐसे कहानीकार भी हुए जिन्होने ओ'हेनरी के यात्रिक अनुकरण के सहारे प्रभाव के चमत्कार को ही अपना धर्म वना लिया।

इग्लैंड मे कहानी का विकास १९वी सदी के अतिम वर्षों मे हुआ। अक्सर इस विलवित विकास का दोष उस काल के इग्लैंड मे थोथी नैतिकता और लातीनी वहुल शैली के प्रभुत्व को दिया जाता है। इग्लैंड से पहले अमरीका में कहानी के उदय और विकास का श्रेय अमरीका मे रूढियो के अभाव, वेगवान जीवन और प्रहसन की क्षिप्र और जीवत शैली को दिया जाता है। १९वी सदी के अतिम दशक मे 'सिक्स पेनी' पत्रिकाओ के प्रचलन ने इग्लैंड मे कहानी के लिये विस्तृत पाठकवर्ग तैयार किया। इसमे सदेह नही कि आधुनिक औद्योगिक और व्यावसायिक जीवन की व्यस्तता तथा व्यापक जन साक्षरता ने कहानी को सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यिक माध्यम वना दिया है।

पो और मोपासाँ से प्रभावित स्टीवेसन और किपलिंग ने इग्लैंड मे कहानी का नेतृत्व किया। उसके युग के वाद के प्रसिद्ध कहानीकारो में जिसिंग, जार्ज मूर, आस्कर वाइल्ड, वेल्स, जेम्स, कानन डायल, कानराड, पी० जी० वुडहाउस, गाल्सवर्दी, वेनेट, माम आदि है। इनके समानातर यूरोप की अन्य भाषाओ मे भी कहानी का विकास हुआ।

२०वी सदी मे यूरोप और अमरीका मे कहानीकारो ने साधारणत पो और ओ' हेनरी की चमत्कारिक कथानकवाली शैली के स्थान पर यथार्थ-वाद या प्रकृतिवाद का अनुसरण किया है। उनकी कहानियो मे व्यक्तिगत शैली का भी वहुत वडा महत्व है। उदाहरणार्थ, जेम्स ज्वायस, कापर्ड, कैथरीन मैंसफील्ड, टामस मान, शेरवुड ऐंडर्सन, कैथरीन ऐन पोर्टर का उल्लेख किया जा सकता है। कुछ लेखको मे यह प्रवृत्ति इतनी आगे वढ गई है कि उन्होने कहानी के 'कहानीपन' को सर्वथा त्याज्य कहा है। शेरवुड ऐंडर्सन के अनुसार कथानक "कहानी का विष है"। इस सदी मे कहानी के विकास की एक और अत्यत महत्वपूर्ण दिशा 'समाजवादी यथार्थवाद' है जिसका प्रवर्तक गोर्की था। समाजवादी देशो के कहानीकारो के अतिरिक्त अन्य देशो के अनेक कहानीकारो ने इस दृष्टिकोण को अपना-कर मेहनत करनेवालो की जिंदगी के यथार्थ चित्रण के साथ साथ उनकी भावी आशा आकाक्षाओ को भी अभिव्यक्ति दी है।

भारतीय भाषाओ ने आधुनिक कहानी की प्रेरणा पश्चिम से ही ली। यहाँ प्रारभ मे मोपासाँ, चेखव, तुर्गनेव, तोल्स्तोइ आदि प्रसिद्ध कहानीकारो के अनुवाद वहुत व्यापक पैमाने पर हुए। सवसे पहले यह प्रभाव बँगला पर पडा, जिसने रवींद्रनाथ ठाकुर और शरच्चद्र चट्टोपाध्याय जैसे विश्वकोटि के कहानीकार उत्पन्न किए। हिंदी मे आधुनिक कहानी का उदय २०वी सदी के दूसरे दशक मे हुआ और उसके सवसे वड रचनाकार प्रेमचद को ससार के वडे वडे कहानीकारो के समकक्ष रखा जा सकता है। दक्षिण भारत की भाषाओ का कहानी साहित्य भी अत्यत समृद्ध है, वास्तव मे आज भारत की प्रत्येक विकसित भाषा में कहानी सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम है।

एशिया की अन्य भाषाओ मे भी, विशेषत चीनी और जापानी में, कहानी का ऊँचा स्थान है। लू सुन को चीन का गोर्की कहा जाता है। जापान का सवसे प्रसिद्ध कहानीकार आकुतागावा है।

इतने वडे पैमाने पर रची जाने के कारण कहानी मे वस्तु और रूप की असाधारण विविधता है। इसलिये विधा के रूप मे अक्सर कहानी की "अनत तरलता" का उल्लेख किया जाता है।

कहानीकारो मे आग्रहो की भिन्नता के वावजूद साधारणीकरण की प्रणाली से कहानी के प्रधान तत्व ये हैं **विषयवस्तु और कथानक, चरित्र, कथोपकथन, वातावरण, शैली, जीवनदर्शन।** इन्ही तत्वो से उपन्यास की भी रचना होती है, लेकिन इनके वारे मे कहानीकार और उपन्यासकार के रुख अलग अलग होते हैं। इस प्रकार उपन्यास और कहानी मे तत्वो की समानता किंतु विधाओ का अतर होता है।

सतही तौर पर देखने से उपन्यास और कहानी मे सवसे वडा अतर लवाई का है। पो, वेल्स आदि कई कहानीकारो के अनुसार कहानी वस इतनी लवी हो कि पद्रह वीस मिनट से लेकर घटे दो घटे में पढकर खत्म की जा सके। इसका यह अर्थ नही कि उपन्यास को काट छाँटकर कहानी मे और कहानी को खीच तानकर उपन्यास मे वदल दिया जा सकता है। उपन्यासकार जीवन को उसके विशाल परिवेश से सलग्न कर देखता है जव कि कहानीकार उसके किसी छोटे किंतु अर्थपूर्ण क्षण या खड से ही सतुष्ट हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि कहानी मे चरित्रो की भीड या एक चरित्र के भी वहुमुखी विकास की गुजाइश नही होती। इतना ही नही, घटना, चरित्र और वातावरण किसी भी कहानी मे समान रूप से महत्वपूर्ण नही हो सकते। कहानीकार उनमे से किसी एक पर ही जोर देता है और वह भी अत्यत छोटी परिधि मे रहकर। अनेक कहानियो मे समय अचल सा लगता है, जिससे उनके कथानक मे आदि और अत या उनके वीच की अवस्थाओ का ही लोप हो जाता है। एकाग्रता और लक्ष्य और प्रभावावित्ति की दृष्टि से ही कहानी और गीति या सानेट के रचना-विधानो को मूलत समान कहा गया है।

कहानी का कथोपकथन या सवाद भी एकाग्रता के सिद्धात से ही अनुशासित होता है। वह नपा तुला, सक्षिप्त और साकेतिक होता है। उपन्यास की तरह उसमे लवे व्याख्यानो या विवादो के लिये स्थान नही। भाषाचमत्कार के स्थान पर उसका साध्य चरित्र का प्रस्फुटन होता है।

कहानी के वातावरण की सृष्टि चरित्र की श्राकृति, वेशभूषा, भाषा, परिस्थिति, देशकाल, मानसिक उथल पुथल श्रादि की श्रन्विति का फल होता है। कुशल कहानीकार के निकट ये साधन वाह्य, निरर्थक या सदर्भहीन सज्जा मात्र न होकर चरित्र की कुजियाँ होते ह। उपन्यास इनके सूक्ष्म से सूक्ष्म श्रवयवो की श्रोर ध्यान देता है। कहानी इनके उस श्रश भर को ही ग्राह्य समझती है जो वस्तु श्रौर चरित्र को श्रालोकित करने के लिये श्रावश्यक है।

शैलियो की श्रनेकरूपता के कारण कहानी वहुत ही लचकदार साहित्यिक माध्यम है। वार्ता, वर्णन, पत्रलेखन, सवाद श्रौर डायरी कहानी की मुख्य शैलियाँ हैं। कभी कभी कहानी श्रौर निवध, रेखाचित्र श्रौर रिपोर्ताज की विभाजक रेखा विलकुल धुँधली पड जाती है। साहित्येतर माध्यमो मे चलचित्र श्रौर चित्रकारी ने कहानी के तकनीक को काफी प्रभावित किया है।

कहानी के छोटे श्राकार का यह श्रर्थ नही कि उसका जीवनदर्शन भी श्रनिवार्यत श्रकिंचन या उपेक्षणीय होगा। श्राकार की लघुता के वावजूद कहानी महान् विचारो का वहन कर सकती है। नाविक के तीर की तरह कहानी गभीर घाव कर सकती है। कहानी के खडचित्रो में भी श्रागे श्रौर पीछे का प्रसार हो सकता है, जिसमे लेखक का सम्यक् जीवनदर्शन होता है। कहानीकार श्रपने जीवनदर्शन को सैंद्धातिक स्थापनाश्रो में नही प्रगट करता है, उसका दृष्टिकोण घटनाश्रो के श्रातरिक सवधो से भी ध्वनित होता है। लेखक का दृष्टिकोण वस्तु श्रौर चरित्र की कुछ विशेषताश्रो के उभरने श्रौर दवने मे भी व्यक्त हो जाता है। इसलिये कहानी को उद्देश्यहीन मनोरजन समझना गलत है। साहित्यिक श्रौर साहित्येतर विधाश्रो से पुष्ट श्रपनी श्रनेकरूपता के कारण कहानी वडे ही सहज ढग से श्राधुनिक जीवन के नए श्रौर प्रतिनिधि तत्वो को ग्रहण कर लेती है। जीवन की व्यस्तता श्रौर पत्रपत्रिकाश्रो के व्यापक प्रचलन से भी श्रधिक शायद यही उसकी लोकप्रियता का कारण है।

स० ग्र०—एस० श्रो'फाश्रोलेन द शॉर्ट स्टोरी, एच० ई० वेट्स द माडर्न शार्ट स्टोरी, ए क्रिटिकल सर्वे। [च० व० सि०]

कहावत, लोकोक्ति

कहावत जनता की उक्ति होती है। लोक उसे श्रपनी करके मानता है, इसीलिये वह लोकोक्ति कहलाती है। विद्वानो ने कहावत की श्रनेक परिभाषाएँ दी हैं। किसी ने उसे श्रनुभव की दुहिता कहा है, किसी ने ऐसे सूत्रवाक्य का नाम दिया है जिसमे जीवन का श्रनुभव सचित रहता है, किसी ने उसे ज्ञान के सागर की गागर कहा है, किसी ने उसे कालातीत वताया है, एसा 'फर्नीचर (साज-सज्जा) जिसमे काल की दीमक नही लग पाती।' किंतु सच तो यह है कि किसी उक्ति मे चाहे श्रन्य कितने ही गुण क्यो न हो, जब तक वह लोक की उक्ति नही होगी, लोकोक्ति या कहावत नही कहला सकेगी।

सक्षेप, सारगर्भिता तथा सप्राणता—इन तीनो का कहावत के सवध म प्राय उल्लेख किया जाता है किंतु ऐसी गनेक उक्तियाँ मिलती है जिनमे उक्त तीनो गुणो के होते हुए भी लोकोक्ति के श्रनिवार्य गुण लोकप्रियता का श्रभाव पाया जाता है जिसके कारण वे लोकोक्ति के रूपमे व्यवहृतनही हो पाती। इसलिये इन तीनो गुणो का यह सिद्धात सामान्यत श्रच्छी कहावतो के सवध में यद्यपि लागू होता है, तथापि लोकप्रियता ही कहावत मात्र का श्रनिवार्य गुण है। वेदात की पारिभाषिक शब्दावली का श्राश्रय लेकर कहा जा सकता है कि उक्त तीन गुणो का सवध कहावत के तटस्थ लक्षण से है जब कि लोकप्रियता कहावत का स्वरूपलक्षण है। वस्तुत सक्षेप, सारगर्भिता, सप्राणता तथा लोकप्रियता, इन चारो तत्वो के कारण ही किसी उक्ति को सामान्यत कहावत का गौरव प्राप्त होता है

यद्यपि परिभाषा करना वडा कठिन है, कहावत की एक साधारण परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है श्रपने कथन की पुष्टि मे, शिक्षा या चेतावनी देने के उद्देश्य से, किसी वात को किसी की श्राड मे कहने के श्रभिप्राय से, श्रथवा उपालभ देने श्रौर व्यग्य कसने श्रादि के लिये श्रपने मे स्वतत्र श्रर्थ रखनेवाली जिस लोकप्रचलित तथा सामान्यत सारगर्भित, सक्षिप्त एव चटपटी उक्ति का लोग प्रयोग करते हैं, उसे लोकोक्ति श्रथवा कहावत का नाम दिया जा सकता है।

'कहावत' शब्द की व्युत्पत्ति के सवध में विद्वानो में ऐकमत्य नही है। कथावत्, कथावृत्त, कथावस्तु, कथापत्य, कथावार्ता श्रादि श्रनेक शब्द विद्वानो द्वारा सुझाए गए हैं जिनसे उक्त शब्द का निर्वचन किया जा सकता है। यह भी सभव है कि यह शब्द सस्कृत के किसी मूल रूप से व्युत्पन्न न हो, इसके निर्माण में उर्दू फारसी शब्दरचना का कुछ हाथ हो। स्वर्गीय श्राचार्य केशवप्रसाद मिश्र का मत था कि 'कह्' धातु के श्रागे 'श्रावत' प्रत्यय लगकर 'कहावत' शब्द वना है, जो वहुतो को ग्राह्य नही है।

व्युत्पत्तिशास्त्री श्रथवा वैयाकरण किसी शब्द के मूल रूप का श्रन्वेषण करते समय पहले इस वात का निर्णय कर लेना भूल जाते हैं कि वह मूल रूप उस भाषाविशेष में प्रचलित भी था श्रथवा नही। कथावत्, कथावस्तु, कथावृत्त, कथापत्य श्रादि से यद्यपि 'कहावत' शब्द व्याकरण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है तथापि सस्कृत साहित्य में लोकोक्ति के श्रर्थ मे इन शब्दों का प्रयोग देखने में नही श्राता। इसलिये जव तक सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा श्रपभ्रश श्रादि में लोकोक्ति के श्रर्थ में प्रयुक्त 'कहावत' शब्द के मूल रूप का पता नही चलता, तव तक इस प्रकार की व्युत्पत्तियाँ उट्टकणा मात्र ही मानी जायेंगी। हाँ, निष्कर्ष के रूप में दो विकल्प यहाँ रखे जा सकते हैं—

१ यदि 'कहावत' शब्द सस्कृत के किसी शब्द से भारतीय भाषाश्रो मे श्राया है तो 'कथावार्ता' एक ऐसा शब्द है जिससे उसका घनिष्ठ सवध जान पडता है। 'कथावार्ता' का प्राकृत रूप 'कहावत्ता' भी ध्वनि श्रौर श्रर्थ दोनो की दृष्टि से 'कहावत' के श्रत्यधिक निकट है। दूसरी वात यह है कि 'कथावार्ता' शब्द 'कथावत्' श्रादि की तरह कोई कल्पित शब्द नही है, यह प्रयोग में भी श्राता है।

२ यदि 'कहावत' शब्द सादृश्य के श्राधार पर प्रचलित हुश्रा है तो 'लिखावट', 'सजावट' श्रादि के सादृश्य पर 'कहावट' (कहावत) शब्द का वन सकना श्रसभाव्य नही है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राजस्थानी भाषा मे कथन के श्रर्थ मे, कुवावट, कुहावट श्रादि शब्द वोलचाल में श्राज भी प्रयुक्त होते हैं।

सस्कृत में कहावत के लिये श्राभाणक, प्रवाद, लोकोक्ति, लोकप्रवाद, लौकिकी गाथा, लौकिक न्याय तथा प्रायोवाद श्रादि शब्दो का प्रयोग हुश्रा है। वाल्मीकि रामायण मे कहावत के श्रर्थ मे प्रवाद, लोकप्रवाद तथा लौकिकी गाथा जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा,

प्रवाद सत्य एवाय त्वा प्रति प्रायशो नृप।
पतिव्रताना नाकस्मात्पतन्त्यश्रूणि भूतले॥ ६।१११४।६७
लोकप्रवाद सत्योऽय पडितै समुदाहृत॥
श्रकाले दुर्लभो मृत्यु स्त्रिया वा पुरुषस्य वा॥ ५।२५।१२
कल्याणी वत गाथेय लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नर वर्षशतादपि॥ ६।१२६।२

कालिदास ने श्रपने मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में कहावत के लिय 'लोश्रवाश्रो' (लोकवाद) तथा 'लोश्रप्पवाश्रो' (लोकप्रवाद) शब्दो का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

१ हजे णिउणिए सुणामि वहुसो मदो किल इत्थि श्राजणस्स विसेण मण्डण त्ति। श्रवि सच्चो एसो लोश्रवाश्रो। (तृतीय श्रक)

निपुणिका—मैं वहुत सुना करती हूँ कि मदिरा पीने से स्त्रियाँ वहुत सुदर लगने लगती हैं। यह लोकवाद क्या सच है ?

२ जोसिणीए—श्रत्थि क्खु लोश्रप्पवादो श्राश्रामि सुह दुक्ख वा हिम्र श्रसमवत्था कहेदि त्ति। (पचम श्रक)

ज्योत्सनिका—यह लोकप्रवाद है कि श्रपना मन श्रागे श्रानवाले सुख या दुःख सभी वता देता है।

पालि साहित्य मे कहावत के लिये 'भासितो' शब्द का व्यवहार हुश्रा है।

श्रपभ्रश मे 'श्रहाणउ' (श्राभाणक) शब्द कहावत के श्रर्थ में व्यवहृत हुश्रा है किंतु इस भाषा मे भी ऐसा कोई शब्द नही मिलता जिसे 'कहावत' शब्द का पूर्वरूप कहा जा सके।

कुछ श्राधुनिक भारतीय भाषाश्रो से 'कहावत' शब्द के पर्यायो का श्राकलन यहाँ किया जा रहा है

भाषा	पर्याय
तमिल	पजुमोलि
तेलुगु	सुमेतु

कस्तूरीमृग (देखें पृष्ठ ४०६) तथा कंगारू (देखें पृष्ठ २६५)
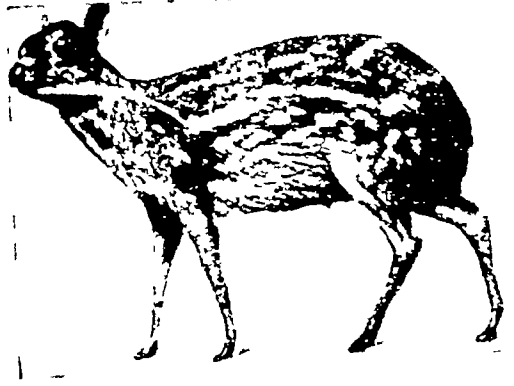
कस्तूरीमृग

कस्तूरी का नाफा

लकड़ी के एक कुंदे पर ओपासम, मारस्यूपियल (कंगारू) जाति का एक प्राणी, तथा उसका बच्चा।
(अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्टरी के सौजन्य से)

कागडी (देखें पृष्ठ ४०६)
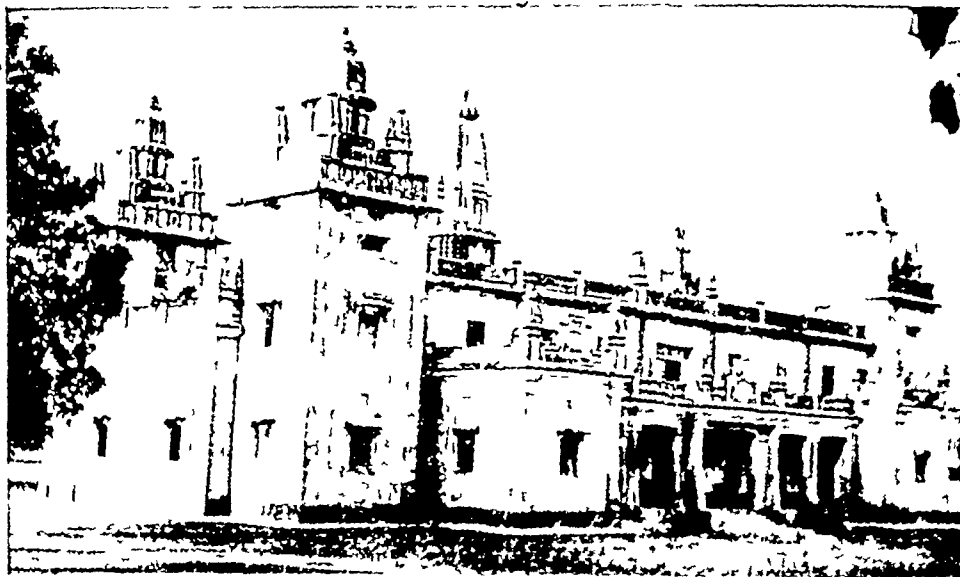
विश्वविद्यालय का वेदमंदिर जिसकी विशाल गैलरियों (दीर्घाओं) में पुरातत्व संग्रहालय अवस्थित है
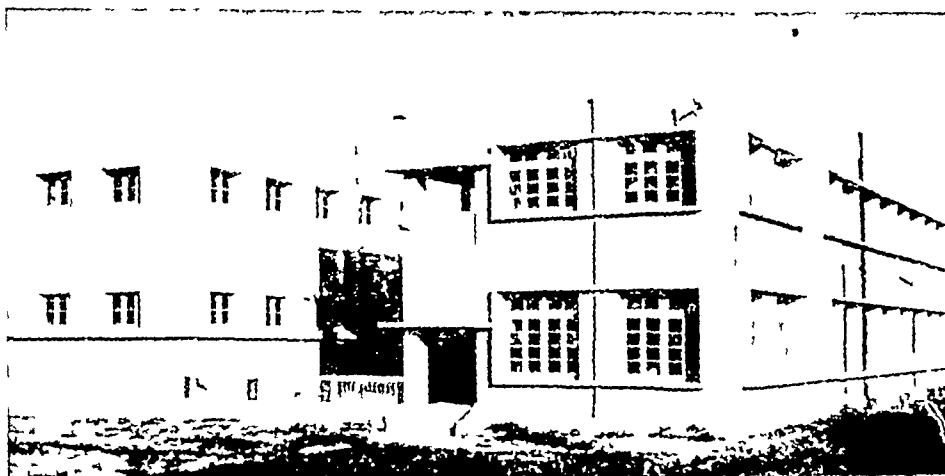
विश्वविद्यालय का जीवविज्ञान (बायोलॉजी) ब्लॉक
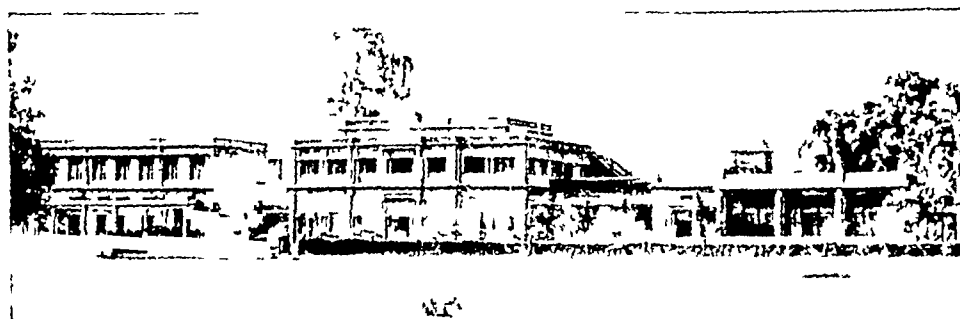
विश्वविद्यालय का आयुर्वेद महाविद्यालय भवन
(तीनों फोटो रामेश वेदी द्वारा)

मलयालम	पजुमचोल
मराठी	म्हण, म्हणणी, आरणा, आहणा, न्याय, लोकोक्ति ।
वँगला	प्रवाद, वचन, प्रवचन, लोकोक्ति, प्रचलित वाक्य ।
गुजराती	कहेवत, कहेणी, कहेती, कथन, उखाणु ।
हिंदी	कहावत, कहनावत, कहाउत, कहनूत, उपखान, पखाना, लोकोक्ति ।
उर्दू	जर्वु ल मिस्ल ।
लहँदी	अखाण ।
गढवाली	पखाणा ।
मिकिर भाषा (असमी)	लवीर, लवरिम ।
राजस्थानी	ओखाणो, कहवत, कैवत, कुवावत, कुवावट
मालवी	केवात ।

लोकोक्तियाँ जनसमुद्र के विखरे हुए रत्न हैं। किसने ये रत्न विखेरे, इस सवध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता, फिर भी इतना निश्चित है कि एकात मे वैठकर कहावतो का निर्माण नही किया गया, प्रत्युत जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकताओ ने कहावतो को जन्म दिया है। कितावो की आँखो से देखनेवाले निरे वुद्धिविलासी व्यक्ति कहावतो के निर्माता नही थे, कहावतो के रचयिता जीवन के द्रष्टा थे। क्या हुआ यदि किसी कहावत के निर्माता ने कोई पुस्तक नही पढी, जीवन की पुस्तक से उसने जो पाठ पढा था, सूक्ष्म निरीक्षण, सामान्य वुद्धि और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सत्य का जो साक्षात्कार उसने किया था, वही एक मनोरम लोकोक्ति के रूप मे प्रकट हो गया। कहावत का जन्मदाता तो विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो गया किंतु उससे उद्भूत वह अमर वाक्य कालसमुद्र की लहरियो पर अमिट होकर तैरता रहा। किंतु कोई कहावत कव जन्मी और किसने उसको जन्म दिया, इसका कुछ पता नही चल सकता।

ससार के सभी देशो और जातियो मे कहावतो का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। दुनिया की शायद ही कोई ऐसी भाषा हो जिसमे कहावतो का प्रयोग न हुआ हो। ईसामसीह ने कहावतो द्वारा शिक्षा दी—वाइविल मे कहावतो (प्रावर्व्स) का एक विशद प्रकरण ही है। गौतमवुद्ध ने उपदेश के लिये लौकिकी गाथाओ का प्रयोग किया—जातक कथाएँ उसी सदर्भ मे प्रस्तुत हुई। स्वय अरस्तू जैसे सुविख्यात दार्शनिक ने सर्वप्रथम कहावतो का सग्रह किया। इस प्रकार अत्यत प्राचीन काल से कहावतो को अमित समान मिलता रहा है। ऐसी लोकोक्तियाँ, जिनका सत्य पुराना नही पडा है, जीवनरूपी व्याकरण के लिये पाणिनि के सूत्रो की भाँति ही उपयोगी हैं।

कहावतो के अध्ययन का महत्व अव प्रतिदिन वढता जा रहा है। लोगो को अव इस तथ्य की प्रतीति होने लगी है कि पुराने सिक्को और शिलालेखो के अन्वेषण की भाँति ही कहावतो का अन्वेषण और अध्ययन भी वाछनीय है। कहावतो के तुलनात्मक अध्ययन से अनुभव की समानता और सास्कृतिक एकता पर भी अच्छा प्रकाश पडता है। क्या साहित्य, क्या भाषाविज्ञान, क्या नृतत्वशास्त्र, सभी दृष्टियो से कहावते महत्वपूर्ण हैं।

स० ग्र०—आर० सी० ट्रेंच लेसस इन प्रावर्व्स, एस० जी० चैंपियन : रेशल प्रावर्व्स, जे० लाग प्रीफेस टु ईस्टर्न प्रावर्व्स एड एल्लेम्स, एच० स्मिथ . प्रावर्व्स ऐंड कामन सेइग्स फ्रॉम दि चाइनीज, डिज़रेली दि फिलॉसफी आव प्रावर्व्स, जमशेद जी नशरवानजी पेतीत कहेवत माला, सुशीलकुमार दे वाग्ला प्रवाद, यशवत रामकृष्ण दाते और चिंतामण गणेश कर्वे महाराष्ट्र वाक्सप्रदाय कोश, कन्हैयालाल सहल राजस्थानी कहावते—एक अध्ययन, कन्हैयालाल सहल राजस्थानी कहावते; आशाराम दुलीचद शाह गुजराती कहेवत सग्रह। [क० स०]

कांगड़ा पजाव का ऐतिहासिक नगर तथा जिला है। कागडा जिला ३१° २०' से ३३° उ० अ० तक तथा ७५° ३६' से ७८° ४४' पू० दे० तक विस्तृत है। इसका क्षेत्रफल ८६७५ वर्ग मील तथा जनसख्या ९२७,०६३ है (१९५१)। इसका अधिकतर भाग पहाडी है। इसके उत्तर और पूर्व मे क्रमानुसार लघु हिमालय तथा वृहत् हिमालय की हिमाच्छादित श्रेणियाँ स्थित हैं। पश्चिम में सिवालिक (शिवालिक) तथा दक्षिण मे व्यास और सतलज के मध्य की पहाडियाँ है। वीच मे कागडा तथा कुल्लू की सुदर उपजाऊ घाटियाँ हैं। कागडा चाय और चावल तथा कुल्लू फलो के लिये प्रसिद्ध है। व्यास नदी (विपासा) उत्तर-पूर्व मे रोहताग से निकलकर पश्चिम मे मीर्थल नामक स्थान पर मैदानी भाग मे उतरती है। काँगडा जिले मे कडी सर्दी पडती है परतु गर्मी मे ऋतु सुहावनी रहती है। इस ऋतु में वहुत से लोग शैलावास के लिये यहाँ आते हैं। जगह जगह देवस्थान हैं अत काँगडा को देवभूमि के नाम से भी अभिहित किया गया है। हाल ही मे लाहुल तथा स्पीत्ती प्रदेश का अलग सीमात जिला वना दिया गया है और अव काँगडा का क्षेत्रफल ४,२८० मील रह गया है।

काँगडा नगर ३२°६' उ० अ० तथा ७६°१६' द० पू० दे० पर लगभग २,३५० फुट की ऊँचाई पर, पठानकोट से ५२ मील पूर्व स्थित है। हिमकिरीट धौलावार पर्वत तथा काँगडा की हरी भरी घाटी का रमणीक दृश्य यहाँ से दृष्टिगोचर होता है। यह नगर वाणगगा तथा माँझी नदियो के वीच वसा हुआ है। दक्षिण मे पुराना किला तथा उत्तर मे व्रजेश्वरी देवी के मदिर का सुनहला कलश इस नगर के प्रधान चिह्न हैं। एक ओर पुराना काँगडा तथा दूसरी ओर भवन (नया काँगडा) की नई वस्तियाँ हैं। काँगडा घाटी रेलवे तथा पठानकोट-कुल्लू और धर्मशाला—होशियारपुर सडको द्वारा यातायात की सुविधा प्राप्त है। काँगडा पहले नगरकोट के नाम से प्रसिद्ध था और ऐसा कहा जाता है कि इसे राजा सुसर्माचद ने महाभारत के युद्ध के वाद वसाया था। छठी शताव्दी मे नगरकोट जालधर अथवा त्रिगर्त राज्य की राजधानी था। राजा ससारचद (१८वी शताव्दी के चतुर्थ भाग मे) के राज्यकाल मे यहाँ पर कलाकौशल का वोलवाला था। 'काँगडा कलम' विश्वविख्यात है और चित्रशैली मे अनुपम स्थान रखती है। काँगडा किले, मदिर, वासमती चावल तथा कटी नाक की पुन व्यवस्था और नेत्र-चिकित्सा के लिये दूर दूर तक विख्यात था। १९०५ के भूकप मे नगर विल्कुल उजड गया था। तत्पश्चात् नई आवादी वसाई गई। १९५१ मे नगर की जनसख्या ४,९२८ थी। यहाँ पर देवीमदिर के दर्शन के लिये हजारो यात्री प्रति वर्ष आते हैं तथा नवरात्र मे वडी चहल पहल रहती है। [शा० ला० का०]

कांगड़ी हरिद्वार के निकट गगा के पूर्वी तट पर दूसरी ओर विजनौर जिले मे वसा हुआ एक वहुत छोटा गाँव है। वर्तमान शताव्दी के आरभ मे इस गाँव के पास स्वामी श्रद्धानद जी (तत्कालीन महात्मा मुशीराम—१८५७–१९२६ई०) ने एक गुरुकुल की स्थापना की। यह उस समय के शिक्षा जगत् मे एक सर्वथा नवीन और क्रातिकारी प्रयत्न था। व्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री रैम्जे मैकडोनल्ड के शव्दो मे "मेकाले के वाद भारत मे शिक्षा के क्षेत्र मे जो सवसे महत्वपूर्ण और मौलिक प्रयत्न हुआ है, वह गुरुकुल है।" अत इसे देश और विदेश मे असाधारण ख्याति प्राप्त हुई। गुरुकुल कागडी शिक्षाविषयक एक विशिष्ट विचारधारा का प्रतीक वन गया।

१९वी शताव्दी मे भारत मे दो प्रकार की शिक्षापद्धतियाँ प्रचलित थी। पहली पद्धति व्रिटिश सरकार द्वारा अपने शासन की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये विकसित की गयी सरकारी स्कूलो और विश्वविद्यालयो की प्रणाली थी और दूसरी सस्कृत, व्याकरण, दर्शन आदि भारतीय वाङमय की विभिन्न विद्याओ को प्राचीन परपरागत विधि से अध्ययन करने की पाठशाला पद्धति। दोनो पद्धतियो मे कुछ गभीर दोष थे। पहली पद्धति मे पौरस्त्य ज्ञानविज्ञान की घोर उपेक्षा थी और यह सर्वथा अराष्ट्रीय थी। इसके प्रवल समर्थक तथा १८३५ई० मे अपने सुप्रसिद्ध स्मरणपत्र द्वारा इसका प्रवर्तन कराने वाले लार्ड मेकाले (१८००–१८५९ ई०) के मतानुसार "किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की आलमारी के एक खाने मे पडी पुस्तको का महत्व भारत और अरव के समूचे साहित्य के वरावर" था। अत सरकारी शिक्षा पद्धति मे भारतीय वाङमय की घोर उपेक्षा करते हुए अग्रेजी तथा पाश्चात्य साहित्य और ज्ञान विज्ञान के अध्ययन पर वल दिया गया। इस शिक्षा पद्धति का प्रधान उद्देश्य मेकाले के शव्दो मे "भारतीयो का एक ऐसा समूह पैदा करना था, जो रग तथा रक्त की दृष्टि से तो भारतीय हो, परतु रुचि, मति तथा आचार विचार की दृष्टि से अग्रेज हो"। इसलिये यह शिक्षापद्धति भारत के राष्ट्रीय और धार्मिक आदर्शों के प्रतिकूल थी। दूसरी शिक्षा प्रणाली, पडितमडली में प्रचलित पाठशाला पद्धति थी।

इसमे यद्यपि भारतीय वाङमय का अध्ययन कराया जाता था, किंतु उसमे नवीन तथा वर्तमान समय के लिये आवश्यक पश्चिमी ज्ञान विज्ञान की घोर उपेक्षा थी। उस समय देश की बडी आवश्यकता पौरस्त्य एव पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान का समन्वय करते हुए दोनो शिक्षा पद्धतियो के उत्कृष्ट तत्वो के सामजस्य द्वारा एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास करना था। यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन करने मे गुरुकुल कागडी ने बडा सहयोग दिया।

गुरुकुल के सस्थापक महात्मा मुशीराम पिछली शताब्दी के भारतीय सास्कृतिक पुनर्जागरण मे असाधारण महत्व रखने वाले आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानद (१८२४–१८८३ ई०) के सुप्रसिद्ध ग्रथ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में प्रतिपादित शिक्षा सबधी विचारो से बडे प्रभावित हुए। उन्होने १८९७मे अपने पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' द्वारा गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के पुनरुद्धार का प्रवल आदोलन आरभ किया। ३० अक्तूवर १८९८ को उन्होंने इसकी विस्तृत योजना रखी। नववर १८९८ ई० मे पजाव के आर्यसमाजो के केंद्रीय सगठन आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव स्वीकार किया और महात्मा मुशीराम ने यह प्रतिज्ञा की कि वे इस कार्य के लिये, जव तक तीस हज़ार रुपया एकत्र नही कर लेगे, तव तक अपने घर मे पैर नही रखेगे। तत्कालीन परिस्थितियो मे इस दुस्साध्य कार्य को अपने अनवरत उद्योग और अविचल निष्ठा से उन्होंने आठ मास मे पूरा कर लिया। १६ मई १९०० को पजाव के गुजरावाला स्थान पर एक वैदिक पाठशाला के साथ गुरुकुल की स्थापना कर दी गयी।

किंतु महात्मा मुशीराम को यह स्थान उपयुक्त प्रतीत नही हुआ। वे शुक्ल यजुर्वेद के एक मत्र (२६।१५) "उपह्वरे गिरीणा सगमे च नदीना। धिया विप्रो अजायत" के अनुसार नदी और पर्वत के निकट कोई स्थान चाहते थे। इसी समय नजीवावाद के धर्मनिष्ठ रईस मुशी अमनसिंह जी ने इस कार्य के लिये महात्मा मुशीराम जी को १२०० वीघे का अपना कागडी ग्राम दान किया। हिमालय की उपत्यका में गगा के तट पर सघन रमणीक वनो से घिरी कागडी की भूमि गुरुकुल के लिय आदर्श थी। अत यहाँ घने जगल साफ कर कुछ छप्पर वनाये गये और होली के दिन सोमवार ४ मार्च १९०२ को गुरुकुल गुजरावाला से कागडी लाया गया।

गुरुकुल का आरभ ३४ विद्यार्थियो के साथ कुछ फूस की झोपडियो मे किया गया। पजाव की आर्य जनता के उदार दान और सहयोग से इसका विकास तीव्रगति से होने लगा। १९०७ ई० मे इसका महाविद्यालय विभाग आरभ हुआ। १९१२ ई० मे गुरुकुल कागडी से शिक्षा समाप्त कर निकलने वाले स्नातको का पहला दीक्षात सस्कार हुआ। इस समय सरकार के प्रभाव से सर्वथा स्वतत्र होने के कारण इसे चिरकाल तक ब्रिटिश सरकार राजद्रोही सस्था समझती रही। १९१७ ई०में वायसराय लार्ड चेम्जफोर्ड के गुरुकुल आगमन के वाद इस सदेह का निवारण हुआ। १९२१ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा ने इसका विस्तार करने के लिये वेद, आयुर्वेद, कृषि और साधारण (आर्ट्‌स्) महाविद्यालयो को वनाने का निश्चय किया। १९२३ ई० मे महाविद्यालय की शिक्षा और परीक्षा विषयक व्यवस्था के लिये एक शिक्षा पटल वनाया गया। देश के विभिन्न भागो मे इससे प्रेरणा ग्रहण करके, इसके आदर्शो और पाठविधि का अनुसरण करने वाले अनेक गुरुकुल स्थापित हुए।

२४ सितम्वर १९२४ ई० मे गुरुकुल पर भीषण दैवी विपत्ति आयी। गगा की असाधारण वाढ ने गगातट पर वनी इमारतो को भयकर क्षति पहुँचायी। भविष्य मे वाढ के प्रकोप से सुरक्षा के लिये १ मई १९३० ई० को गुरुकुल गगा के पूर्वी तट से हटा कर पश्चिमी तट पर गगा की नहर पर हरिद्वार के समीप वर्तमान स्थान में लाया गया। १९३५ ई० में इसका प्रवध करने के लिये आर्य प्रतिनिधि सभा पजाव के अतर्गत एक पृथक् विद्या सभा का सगठन हुआ।

गुरुकुल शिक्षा पद्धति की प्रमुख विशेषताये ये हैं—विद्यार्थियो का गुरुओ के सम्पर्क मे, उनके कुल या परिवार का अग बनकर रहना, ब्रह्मचर्य पूर्वक सरल एव तपस्यामय जीवन विताना, चरित्र निर्माण और शारीरिक विकास पर बौद्धिक एव मानसिक विकास की भाँति पूरा ध्यान देना, शिक्षा मे सस्कृत को अनिवार्य वनाना, वैदिक वाङमय के अध्ययन पर वल देना, शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हिंदी को वनाना, सस्कृत, दर्शन, वेद आदि प्राचीन विषयो के अध्ययन के साथ आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान और अग्रेजी की पढाई तथा राष्ट्रीयता की भावना। आजकल ये विशेषताये सर्वमान्य हो गयी हैं, किंतु इस शताब्दी के आरभ मे ये सभी विचार सर्वथा क्रातिकारी, नवीन और मौलिक थे। गुरुकुल कागडी का सवसे वडा कार्य अपने क्रियात्मक परीक्षण द्वारा इन विचारो को सर्वमान्य वनाना था। पहले यह असभव समझा जाता था कि हिंदी उच्च शिक्षा एव वैज्ञानिक विषयो के अध्यापन का माध्यम वन सकती है। गुरुकुल ने सर्वप्रथम आधुनिक भारत मे इस विचार को अपने परीक्षण द्वारा सभव वनाया। यहाँ के अध्यापको तथा प्राध्यापको ने रसायन, भौतिक विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, मनोविज्ञान, विकासवाद आदि विषयो पर हिंदी मे पहली पुस्तके लिखी। मातृभाषा द्वारा शिक्षा के इस परीक्षण को देखने के लिये १९१८ ई० मे कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान डा० सैडलर, सर आशुतोष मुकर्जी, श्री निवास-शास्त्री आदि महानुभाव यहाँ पर पधारे और महाविद्यालय विभाग की शिक्षा के लिये अग्रेजी का माध्यम अनिवार्य रूप से वनाये रखने के सबध मे उनके एव देश के अन्य शिक्षा शास्त्रियो के विचारो मे मौलिक परिवतन हुआ। गुरुकुल ने सभी राष्ट्रीय और समाज सुधार के आदोलनो मे प्रमुख भाग लिया, हिंदी साहित्य को अनेक यशस्वी पत्रकार, लेखक और साहित्यिक प्रदान किये, सस्कृत एव वैदिक वाङमय के अनुशीलन, अध्ययन अध्यापन को विलक्षण प्रोत्साहन दिया।

सप्रति गुरुकुल कागडी मे वेदवेदाग, सस्कृत, दर्शनशास्त्र, इतिहास, राजनीति, आयुर्वेद, कृषि तथा वैज्ञानिक विषयो की उच्च शिक्षा का प्रवध है। इसके लिय वेद महाविद्यालय, आर्ट्‌स् महाविद्यालय, आयुर्वेद महाविद्यालय, कृषि विद्यालय और विज्ञान महाविद्यालय व्यवस्थित हैं। विद्यालय का पाठ्यक्रम दस वर्ष का है, इसमे ८ से १० वर्ष तक के बालक लिये जाते हैं। जिन्हें विद्यालय आश्रम मे रहना पडता है, उन्हें सस्कृत व्याकरण आदि ग्रथ प्राचीन विषयो के साथ गणित, विज्ञान अग्रेजी आदि आधुनिक विषयो का अध्ययन करना पडता है। दस वर्ष की शिक्षा और परीक्षा के उपरात अधिकारी की उपाधि दी जाती है। इसके वाद महाविद्यालयो मे स्नातक परीक्षा का चार वर्ष का पाठ्यक्रम है। वेद तथा आर्ट्‌स महाविद्यालयो मे वेद, वेदाग और दर्शन के अध्ययन के साथ इतिहास, राजनीति, मनोविज्ञान आदि अर्वाचीन विषयो का अध्ययन कराया जाता है और स्नातक वनने पर वेदालकार, विद्यालकार, आयुर्वेदालकार की उपाधियाँ दी जाती हैं। इसके वाद विभिन्न विषयो में दो वर्ष का स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम है जिसे पास करने पर वाचस्पति की उपाधि दी जाती है। विशिष्ट विषयो का अनुसधान तथा विद्वानो को समानित करने की उपाधि विद्यामार्तंड है।

गुरुकुल की प्रवध व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान मुख्याधिष्ठाता या उप कुलपति का है। यह विद्यासभा द्वारा पाँच वर्ष के लिये नियत किया जाता है। इसकी देख-रेख मे विभिन्न महाविद्यालयो के प्रधानाचार्य या प्रिन्सिपल अपना कार्य करते हैं। उपकुलपति की सहायता के लिये सहायक मुख्याधिष्ठाता या प्रस्तोता होता है। इसके अतिरिक्त गुरुकुल कागडी के उद्योग विभाग के नियत्रण के लिय एक व्यवसाय पटल है। गुरुकुल कागडी का सवसे वडा उद्योग गुरुकुल फार्मेसी है, जिसमे आयुर्वेद की दवाइयाँ शास्त्रोक्त एव प्रामाणिक रूप से तैयार की जाती हैं। गुरुकुल की अर्थव्यवस्था के नियत्रण के लिये एक वित्तसमिति है।

स्वतत्रता प्राप्ति के वाद गुरुकुल कागडी द्वारा प्रदान की जाने वाली विद्यालकार, वेदालकार, आयुर्वेदालकार आदि उपाधियो को केंद्रीय तथा प्रातीय सरकारो ने तथा विभिन्न विश्वविद्यालयो ने मान्यता प्रदान की। १९६१ ई० मे आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब से पृथक् स्वतत्र सस्था के रूप मे गुरुकुल कागडी का सगठन वना और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इसे विश्वविद्यालय जैसी सस्था स्वीकार किया।

[ह० द० वे०]

कांगो नदी विश्व की समस्त नदियो मे, दक्षिणी अमरीका की ऐमेजन को छोडकर सवसे अधिक लवी है। इसकी सपूर्ण लवाई २,९०० मील है। इसका प्रवाहक्षेत्र १४,२५,००० वर्ग मील है। इस प्रवाहक्षेत्र में प्रति वर्ष ४०" से १००" तक जलवृष्टि होती है। नदी

अपने मुहाने पर ७ मील चौडा रूप धारण कर समुद्र मे गिरती है। यह समुद्र में प्रति सेकेड २० लाख घन फुट कीचड युक्त पानी गिराती है जो सपूर्ण मिसिसिपि के औसत का चौगुना है। इसका कीचड युक्त पानी समुद्री किनारे से १०० मील दूर तक तथा ४,००० फुट की गहराई तक समुद्री जल से अलग रूप मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

यह नदी मध्य अफ्रीका के ४,६५० फुट की ऊँचाई से निकलकर पश्चिम दिशा मे २,६०० मील की यात्रा समाप्त करके समुद्र मे गिरती है। अपने यात्रा पथ मे यह भारतवर्ष की गगा नदी की तरह कई नामो से पुकारी जाती हे, उदाहरणार्थ उत्तरी रोडेशिया मे चवेजी तदुपरात लूआ पूला (Lua Pula) नाम से विख्यात है। यह नदी २०० फुट की ऊँचाई से गिरकर स्टैनली जलप्रपात का सृजन करती है। इसके पश्चात् यह बहुत वडी नदी का रूप धारण कर लेती है जो ६८० मील चद्राकार रूप मे वहती हुई भूमध्य रेखा को दो वार आर पार करती है।

इसकी सहायक नदियो मे कसाई तथा उवागी विशेष उल्लेखनीय हैं। इस नदी मे ४,००० लघु द्वीप हैं। इसमे छोटी छोटी वाष्पचालित नौकाएँ भी चलाई जाती हैं। इसका निचला जलप्रवाह २८ स्थलो पर विघटित होकर जलशक्ति उत्पादक स्थानो का सृजन करता है। यहाँ पर शिकार खेलने योग्य भयकर जगली जानवर पाए जाते हैं क्योकि इस नदी का अधिकाश मार्ग घने तथा अभेद्य जगलो से घिरा हुआ है। इसमे सैकडो जातियो की मछलियाँ मिलती हैं तथा तटीय प्रदेश मे दुर्लभ कीडे मकोडो की प्राप्ति होती है।

भूगर्भीय तत्वो के आधार पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह नदी सुदूर भूत काल में उत्तर की ओर, जहाँ पर इस समय उजाड सहारा रेगिस्तान हैं, वहती थी। नदी का वर्तमान मुहाना नवीन प्रतीत होता है।

दीर्घ काल तक यह नदी यात्रियो के लिये पहेली बनी रही। सर्वप्रथम इसके मुहाने पर सन् १४८२ ई० मे डायगोकाओ नामक पुर्तगाली यात्री का आगमन हुआ तथा उसने यहाँ पर एक स्तभ (पडराओ) खडा किया। तव से इस नदी को रीओ डी पडराओ के नाम से पुकारा जाने लगा। कालातर में पुर्तगाली अन्वेषको ने इसको जैरे नाम प्रदान किया। अतिम तथा विश्वविख्यात नाम कागो पडा।

प्रदेश वेल्जियम सरकार के अधीनस्थ अफ्रीका मे एक उपनिवेश राज्य हे। इस प्रदेश का क्षेत्रफल ७,०२,०४० वर्ग मील है। इसके पूर्व मे रुआडा, यूरूडी, उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर मे फ्रेंच भूमध्य अफ्रीका, तथा उत्तरीपूर्व मे ऐंग्लो इजिप्शियन सूडान तथा यूगाडा, पूर्व मे टैंगान्यिका झील और दक्षिण-पूर्व तथा दक्षिण मे उत्तरी रोडेशिया तथा दक्षिण-पश्चिम मे अगोला स्थित है। इसकी पश्चिमी सीमा ऐटलाटिक महासागर से २५ मील दूर रह जाती है। कागो नदी पर स्थित लियो पोल्डविल इस समूचे उपनिवेश राज्य की राजधानी है। मतादी तथा वोमा प्रसिद्ध नगर तथा क्रमश समुद्री तथा अतर्देशीय जल यातायात के प्रमुख केंद्र हैं। स्टैनलेविल तथा एलिजावेथविल भी इस राज्य के सुप्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र हैं जिनकी विगत वर्षो मे काफी उन्नति हुई है।

यह पूर्व प्रदेश कागो तथा उसकी सहायक नदियो की द्रोणी मे बसा है। इसका कुछ उत्तरी भाग नील नदी के द्रोणीक्षेत्र मे भी आता है। उत्तर-पूर्व तथा अलवर्ट और एडवर्ड झीलो के मध्य का भूभाग ज्वालामुखी चोटियो से भरा पडा है। इसमे सबसे ऊँची चोटी माउट रूवेजोरी है, जिसकी ऊँचाई १६,७६१ फुट है। प्रदेश का अधिकाश भूभाग घने तथा अभेद्य जगलो से भरा है जिनके मध्य कही-कही उपजाऊ तथा कृषि योग्य भूमि भी मिलती है। अत्यधिक गर्मी तथा नम वातावरण के कारण प्रदेश की जलवायु शीत प्रदेश मे रहनेवालो के स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद नही है। इस भाग मे अक्टूबर-नववर मे तथा फरवरी से मई तक काफी वर्षा होती है।

यहाँ के जगलो से वहुमूल्य लकडियाँ, जसे कुदार (एवनी, सागौन, महोगनी इत्यादि तथा रवर की प्राप्ति होती है। जगली पशुओ मे जिराफ, हाथी शेर, भैंसा तथा गोरिल्ला विशेष उल्लेखनीय है। यह प्रदेश खनिज वस्तुओ, जैसे मैंगनीज़, जस्ता, लोहा, सीसा, चाँदी, सोना तथा यूरेनियम से भरा पडा है। विश्व की सुप्रसिद्ध यूरेनियम की खानो मे यहाँ की भी एक खदान गिनी जाती है। यह एलिजावेथविल से ७० मील दूर, उत्तर-पश्चिम मे, शिंकोलाववे नाम से प्रसिद्ध है।

यहाँ के अधिकाश निवासी वाटू जाति के है। उत्तरी भाग मे असल नीग्रो जाति के लोग हैं। पूर्वीय भाग मे कुछ सूदानी तथा बौनी जाति (पिग्मी) के भी पाए जाते हैं। साम्राज्यवादी जातियो मे वेल्जियम वासी, अग्रेज तथा अरब हैं जो अपनी अपनी सभ्यता, भापा तथा रहन सहन के साथ निवास कर रहे हैं। यहाँ पर ईसाई प्रचारमडल (मिशन) स्वास्थ्य तथा शिक्षा के प्रचार मे काफी प्रभावशाली कार्य कर रहे हैं। लगभग एक तिहाई जनता शिक्षा प्राप्त कर रही है।

यहाँ की प्राकृतिक पैदावार कसावा, केला, मक्का, मटर, कपास, धान, कदा, आलू तथा सारघम हैं। औद्योगिक उपजो मे कहवा, इमारती लकडी तथा नारियल विशेष उल्लेखनीय हैं।

यहाँ का प्रमुख व्यापार मुट्ठी भर लोगो के हाथो मे ही है। यातायात के लिये ६,८६४ मील लबा जलमार्ग, ६०,००० मील लवी सडके तथा २,९४७ मील लवी रेलवे लाइन उपलब्ध हैं।

यद्यपि यह प्रदेश १५वी शताब्दी से ही यात्रियो को ज्ञात था परतु सन् १८७६ के पूर्व इस भूभाग पर अधिकार जमाने का कोई प्रभावशाली प्रयत्न नही किया गया। वेल्जियम के महाराज लियोपोल्ड द्वितीय ने सर्वप्रथम अफ्रीका मे खोज तथा सभ्यता के प्रचार के निमित्त अतर्राष्ट्रीय सहयोग समिति की स्थापना की। सन् १८८४-८५ ई० मे उपर्युक्त राजा की प्रभुता के अधीन यह एक स्वतत्र राज्य बनाया गया। सन् १९०४ –०५ ई० मे कागो अतर्राष्ट्रीय जाँच समिति का निर्माण किया गया जिसके निर्णयानुसार २८ नववर, सन् १९०७ ई० को यह वेल्जियम राज्य में मिला लिया गया। इसके वाद से वेल्जियम कागो उपनिवेश राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। फलस्वरूप सरकार यहाँ के लोगो के स्वास्थ्य, शिक्षा, रहन सहन, आचार विचार तथा यातायात के साधनो के सवध मे यथेष्ट विचार करने लगी। इस प्रदेश ने प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धो मे अधिक उन्नति कर ली तथा यह अतर्राष्ट्रीय आकर्षण का प्रमुख केंद्र बना रहा। थोड़े दिन पहले इसे प्रजातत्र राष्ट्र घोषित किया गया, परतु तभी से यहाँ का वातावरण अशात हो गया है। शातिस्थापना के लिये सयुक्त राष्ट्र सघ (यू० एन० ओ०) सचेष्ट है।

[रा० लो० सिं०]।

कांग्रेस या अंतर्राष्ट्रीय महासभा

(इटरनैशनल काफ्रेंस अथवा काग्रेस) अतर्राष्ट्रीय महासभा का अभिप्राय अतर्देशीय प्रतिनिधियो की उस सभा से है जो अतर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर विचार, परामर्श तथा समाधान के हेतु बुलाई गई हो। इन सभाओ के उद्देश्य कई प्रकार के हो सकते हैं, पारस्परिक मतविरोध समाधान अथवा अतर्राष्ट्रीय विधि मे नवीन नियम की योजना या सशोधन, और कभी किसी विशेष भूप्रदेश की वस्तुस्थिति सवधी निश्चय—इन सभी प्रश्नो के स्पष्टीकरण के लिये ऐसी महासभाएँ नियोजित होती हैं। उदाहरणार्थ १९१४ ई० की शिमला काफ्रेंस भारत-चीन-सीमा निश्चित करने, १८९९ ई० एव १९०७ ई० की हेग काफ्रेंसे स्थल सवधी युद्ध कालीन विधिनियम अनुवद्ध करने तथा १८१५ ई० मे वियना काग्रेस स्विट्जरलैंड को तटस्थता प्रदान करने के लिये बुलाई गई थी। सभा मे भाग लेनेवाले देश अपने नियुक्त प्रतिनिधियो द्वारा सभा के अधिवेशन मे भाग लेते हैं। सभा मे एक राज्य की ओर से गणना मे एकत्र मत प्रदान की ही व्यवस्था मानी जाती है चाहे उस राज्य के प्रतिनिधियो की सख्या कितनी ही हो। कुछ समय से कुछ व्यक्ति पर्यवेक्षक के रूप मे भी सभा मे बैठते हैं, किंतु उन्हे मताधिकार नही प्राप्त होता। १९४५ ई० मे सयुक्त राष्ट्रसघ अधिकारपत्र स्वीकरण के लिये सैनफ्रासिस्को मे जो महासभा नियोजित हुई थी उसमे ५० राज्यो के प्रतिनिधियो के अतिरिक्त अनेक अतर्राष्ट्रीय सस्थाओ को पर्यवेक्षक रूप मे आमत्रित किया गया था।

यदि कोई राज्य किसी प्रश्न के लिये ऐसी महासभा नियोजित करना चाहता है तो वह कुछ अन्य राज्यो को आमत्रित करता है। वे राज्य इसकी स्वीकृति तभी देते हैं जव यह स्पष्ट कर लेते हैं कि कौन अन्य राज्य सभा मे समिलित किए जायँगे और कौन नही। तदुपरात राज्यो के प्रतिनिधि पूर्वनिश्चित समय तथा स्थान पर एकत्र हो प्रत्यय पत्रो का परस्पर विनिमय करते हैं। अधिकतर पोषित देश के वैदेशिक विभाग के सचिव को ही सभा का प्रधान निर्वाचित कर लिया जाता है। सैनफासिस्को की महत्वपूर्ण महासभा मे चार मुख्य राज्यप्रतिभू शक्तियाँ थी। इन चारो के प्रतिनिधियो

ने क्रमश महासभा का प्रधानत्व ग्रहण किया था। सभा की कार्यसुगमता के लिये कुछ प्रारंभिक समितियाँ बनाई जाती हैं जो वादविवाद की विषय-सामग्री पहले से व्यवस्थित कर लेती हैं। वादविवाद के उपरात मतदान होता है जिसमें सर्वसमति से विषय का समर्थन अनिवार्य होता है, अन्यथा बहुमतप्राप्त प्रस्ताव उन देशो को आबद्ध नही करते, जो अपना मत प्रस्ताव के विरुद्ध देते हैं। यदि प्रस्ताव का सर्वसमति से समर्थन हो जाता है तो वह लिखित रूप मे सबके हस्ताक्षरो सहित सभा का "फाइनल ऐक्ट" (सर्वात्य कृत्य) अथवा "जेनरल ऐक्ट" (सामान्य कृत्य) कहलाता है।

स० ग्र०—ओपनहाइम इटरनैशनल ला, यूइन–ली–लिऐंग ह्वाट इज़ ऐन इटरनैशनल काफ़ेस (अमेरिकन जर्नल ग्राव इटरनैशनल ला, १९५०, पृष्ठ ३३३) [सु० कु० अ०]

कांग्रेस, अमरीकी

काग्रस लातीनी शब्द है जिसका अर्थ 'साथ आना' है। काग्रेस शब्द का प्रयोग पहली बार १७वी शताब्दी मे किया गया था। जब किसी देश के सम्राट् या उसके पूर्णशक्ति-प्राप्त महादूत किसी गभीर अतर्राष्ट्रीय समस्या का समाधान करने के लिये कृतसकल्प होकर समिलित होते है तब ऐसी सभा को काग्रेस कहते है। विद्वानो की मडली को भी काग्रेस कहा जा सकता है। सयुक्तराज्य अमरीका के सघीय एव सघागो की व्यवस्थापिका सभाओ के लिये काग्रेस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

सयुक्तराज्य अमरीका का सविधान सघीय सविधान है। इस सविधान मे शक्तिसतुलन एव अधिकारविभाजन के सिद्धात को मान्यता दी गई है। सविधान निर्माताओ ने सयुक्त राज्य अमरीका की विधिनिर्माण की सत्ता को एक काग्रेस के अधीन रखा है, जिसके सिनेट और हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ नाम के दो सदन हैं। राष्ट्रीय कनवेशन में अत्यधिक मतभेद रहा। अत में सविधान निर्माताओ ने अपनी व्यावहारिक कुशलता का परिचय देते हुए यह निर्णय किया कि हाउस ग्राव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ का सगठन राष्ट्रीय आधार पर किया जाय तथा सिनेट को सघागो की स्वतत्र अस्तित्व की भावना को बनाए रखने की दृष्टि से सगठित किया जाय। अत सिनेट एव हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ का समिलित रूप ही काग्रेस है। सविधान निर्माताओ ने सिनेट के सगठन में सघागो की स्वतत्रता की भावना को एव हाउस ऑव रिप्रेज़ेटेटिव्ज़ के सगठन मे राष्ट्रीय एकता की भावना को यथायोग्य स्थान दिया है। इस प्रकार काग्रेस के सगठन में विरोधी भावनाओ का सुदर समन्वय दिखलाई पडता है। सयुक्तराज्य अमरीका ने सघीय विधान मडल का नाम काग्रेस इसलिये रखा कि यह शब्द सघात्मक सरकार का परिचायक है। यह सत्य है कि साधारणतया काग्रेस के सगठन एव अधिकारो मे बहुत ही कम परिवर्तन हुआ है। सविधान निर्माताओ ने काग्रेस के सगठन एव अधिकारो के सबध मे जो कल्पना की थी, उसका पूर्ण आभास वर्तमान काग्रेस मे है।

सेनेट एव हाउस ऑव रिप्रेज़ेटेटिव्ज़ के प्रतिनिधियो का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन से होगा। सयुक्त राज्य अमरीका के २१ वर्ष से अधिक वय के प्रत्येक स्त्री पुरुष को निर्वाचन मे मतदान का अधिकार हैं। सेनेट के सदस्यो की योग्यता यह है कम से कम ३० वर्ष की वय का हो, नौ बरस की सयुक्त राज्य की नागरिकता हो तथा उस राज्य का निवासी हो जिससे वह चुना जानेवाला हो। हाउस ग्राव रिप्रेज़ेटेटिव्ज के सदस्यो के लिये यह योग्यता है कम से कम २५ साल की वय का हो, सात वर्ष की सयुक्त राज्य की नागरिकता हो तथा उस सघातरित राज्य का निवासी हो जहाँ से उसका निर्वाचन होनेवाला हो।

सेनेट के सदस्यो का कार्यकाल छ बरस के लिये निर्धारित है। किंतु प्रति दूसरे वर्ष एक तिहाई सदस्यो का नया निर्वाचन होता है। सयुक्तराज्य की सेनेट का निर्माण प्रत्येक राज्य के दो दो प्रतिनिधियो से होता है जो उसकी जनता द्वारा छ वर्ष के लिये चुने जाते है। हाउस ग्राव रिप्रेज़ेटेटिव्ज़ सयुक्त-राज्य के विधानमडल का अधिक प्रतिनिधि सदन है। हाउस ऑव रेप्रेज़े-टेटिव्ज़ के सदस्यो की सख्या सघातरित राज्य की आबादी के अनुसार निर्धारित की गई है अर्थात् ३००,००० व्यक्तियो के पीछे एक प्रतिनिधि चुना जाता है। परतु यह भी शर्त है कि प्रत्येक सघातरित राज्य का कम से कम एक प्रतिनिधि अवश्य निर्वाचित हो। इस प्रकार सघवाद के सिद्धात के अनसार प्रत्येक सघातरित राज्य का समान प्रतिनिधित्व आवश्यक था। अत सेनेट के सगठन में इस सिद्धात का प्रतिपादन किया गया है और हाउस ऑव रिप्रेज़ेटेटिव्ज़ जनतत्र तथा सपूर्ण राष्ट्र की एकता का प्रतीक है।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि ऐसे राष्ट्रीय विषयो के अधिकार जिनका सविधान में उल्लेख नही है और जो काग्रेस के लिये वर्जित नही हैं, काग्रेस के दोनो सदनो को समान रूप से प्राप्त हैं। परतु कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो उसके दोनो सदनो को न देकर केवल एक ही सदन को दिए गए हैं। अत काग्रेस के अधिकारो का अध्ययन तीन क्षेत्रो मे किया जा सकता है—(१) हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के विशेषाधिकार, (२) सेनेट के विशेषाधिकार तथा (३) काग्रेस के अधिकार।

हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के विशेषाधिकार निम्नाकित हैं (१) आयसबधी विधेयको का प्रारभ, (२) महाभियोग आरोपण, (३) निर्धारित अवस्था में राष्ट्रपति का निर्वाचन। सेनेट के विशेषाधिकार हैं (१) उपराष्ट्रपति का निर्वाचन, (२) महाभियोग का निर्णयन, (३) राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियो का पुष्टीकरण, (४) विदेशी राज्यो के साथ की गई सधियो का पुष्टीकरण।

काग्रेस के दोनो सदनो के वर्णित विशेषाधिकारो के अतिरिक्त कुछ अधिकार ऐसे हैं जो दोनो सदनो को समान रूप से प्राप्त हैं और दोनो सदन मिलकर सविधान के अतर्गत इनका प्रयोग करते हैं। ये अधिकार निम्न-लिखित हैं (१) काग्रेस के दोनो सदनो को दो तिहाई बहुमत से सविधान में सशोधन के प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार, (२) दोनो सदनो का अपने अपने निर्वाचनो के समय, स्थान तथा निर्वाचन के ढग को निश्चित करना, (३) सघीय कार्यपालिका के विभिन्न विभागो तथा विभिन्न सघीय पदाधिकारियो के पदो के निर्माण का अधिकार, (४) काग्रेस के दोनो सदनो के विविध विषयो की जाँच का अधिकार, (५) न्याय सबधी कतिपय अधिकार भी काग्रेस के अतर्गत हैं, (६) परराष्ट्र-सबध-सचालन तथा अतर्राष्ट्रीय मामलो से सबद्ध कतिपय अधिकार, (७) काग्रेस को १३ विषयो मे विधिनिर्माण का अधिकार है। काग्रेस के अधिकार आदेशात्मक नही हैं। 'काग्रेस इन विषयो पर विधि बना सकेगी'—ऐसे शब्दो का प्रयोग सविधान मे किया गया है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट ही है कि काग्रेस केवल विधिनिर्माण की सस्था नही है। यह सविधाननिर्माता है तथा कार्यपालिका एव न्यायापलिका सबधी भी कुछ अधिकार इसे प्राप्त हैं।

मोटे तौर से देखते हुए यह ज्ञात होता है कि दोनो भवनो के अधिकार समान हैं। प्रत्येक विधेयक का दोनो भवनो मे पारित होना आवश्यक है। प्रजातत्र की भावना को जागरूक रखने के लिये यह नितात आवश्यक है कि धन विधेयको का प्रारभ हाउस ऑव रिप्रेज़ेटेटिव्ज़ मे हो। प्रजा-तत्र प्रणाली में निष्ठा रखनवाले सभी देशो मे यह परपरा है कि धन विधेयक तथा वार्षिक आय व्यय के ब्यौरे के लिये प्रथम सदन ही अधिक अधिकारी हो। किंतु ससार के अन्य दूसरे सदनो की तुलना में यह कहा जा सकता है कि सयुक्त राज्य अमरीका का दूसरा सदन बहुत शक्तिशाली और प्रभावशाली सिद्ध हुआ है क्योकि एक ओर यह अपनी अनुमति एव मत्रणा के अधिकार द्वारा राष्ट्रपति को निरकुश होने से रोकता हैं और दूसरी ओर यह हाउस ऑव रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़ के आवेशपूर्ण तथा कम विवेकशील विधेयको को रोकने मे सहायक होता है। [शु० ते०]

कांग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय

इस महान् भारतीय सस्था (इडियन नैशनल काग्रेस) का जन्म सन् १८८५ मे हुआ। सन् १९६१ तक इसके ६६ अधिवेशन हो चुके हैं। इसको स्थापित करनेवालो ने उस समय कदाचित् यह कल्पना भी न की होगी कि वे जिस छोटे से बीज को रोप रहे हैं, वह समय पाकर इतना विशाल वृक्ष हो जायगा जिसकी छाया मे इस महादेश के नए इतिहास की रचना का कार्य पूरा होगा। पिछले ७६ वर्षो का काग्रेस का इतिहास वास्तव मे समूचे देश का इतिहास है। इस युग मे जिस प्रकार यह देश जागा, और पतन के गढे से निकलने का उसने प्रयत्न किया, उसका प्रतिबिंब ही काग्रेस का इतिहास है। जिस अनुपात मे इस राष्ट्रीय सस्था ने प्रगति की है उसी अनुपात में देश भी उन्नति करता गया है। दोनो का सबध कुछ इस प्रकार अन्योन्याश्रित रहता है कि जिस सीमा तक भारत जाग्रत

हुआ है उस सीमा तक काग्रेस भी जागरूक रही है और जब जब काग्रेस कुठित हुई है तब तब हमारा देश भी कुठाग्रस्त होता गया है, झिझकता, रुकता गया है। काग्रेस को अखिल भारतीय, शुद्ध राष्ट्रीय, और खालिस राजनीतिक सस्था बनाने की कल्पना पहले पहल किसके मन मे उठी, यह कहना तो कठिन है परतु तत्कालीन परिस्थितियो से स्पष्ट है कि यह दृष्टि अथवा प्रेरणा वस्तुत एकातिक अथवा वैयक्तिक न थी, सामूहिक थी, कारण कि जब काग्रेस स्थापित हुई तब सारे देश में, उसके विभिन्न भागो के अनेक मूर्धन्य दूरदर्शी देशभक्तो के मन में यह भावना अकुरित हो चुकी थी।

भारत के कल्याण और पुनरुद्धार के लिये यह आवश्यक है कि एक सर्वभारतीय राजनीतिक सस्था स्थापित की जाय, इस प्रकार की भावना जिन लोगो में उत्पन्न हुई थी उनमे केवल भारतीय ही नही थे। देश की गतिविधि को पहचाननेवाले ऐसे कुछ अग्रेज भी थे जिन्हे यह आभास मिल रहा था कि सारे देश मे अग्रेजी राज्य के विरुद्ध जो असतोष फैला हुआ है, उसे यदि बाहर निकलने का कोई मौका न दिया गया और उसे बाहर आने देने का कोई उपाय न निकाला गया तो यह व्यापक असतोष किसी दिन भीषण ज्वाला के रूप मे धधक उठेगा। वे समझते थे कि इससे अग्रेजी राज्य भी भयानक खतरे मे पड जायगा। ऐसे ही विदेशी दूरदर्शियो में श्री ए० सी० ह्यू म भी एक सज्जन थे, जो इडियन सिविल सर्विस के सदस्य थे। श्री ह्यू म ने अवकाश ग्रहण करने के बाद इस दिशा में अपना प्रयत्न आरभ किया और भारत में फैले असतोष को प्रकट रूप से मार्गप्रदान करने के उद्देश्य से, सारे देश की राजनीतिक सस्था स्थापित करने की योजना बनाई। कहा जाता है कि श्री ह्यू म ने सिपाही विद्रोह का भी जमाना देखा था। उनके मन में यह आशका पैदा हुई थी कि यदि कोई उपाय न किया गया और जनता की अशाति विद्रोह का रूप धारण करने से न रोकी गई, तो सिपाही विद्रोह की पुनरावृत्ति हो जा सकती है।

कदाचित् इस प्रयास मे श्री ह्यू म को तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन की सहमति और आशीर्वाद प्राप्त था। यह भी कहा जाता है कि श्री ह्यू म ने इग्लैंड जाकर वहाँ कुछ लोगो से, विशेषत भारत से पेंशन पानेवाले ऐंग्लो इडियनो से भी राय बात की और सबकी सलाह और सहमति के बाद इस योजना को कार्यान्वित करने का सूत्रपात किया। सन् १८८४ मे लार्ड डफरिन से मिलने के बाद इन दोनो ने यह निश्चय किया कि अगले वर्ष, सन् १८८५ मे, सारे देश का एक समेलन बुलाया जाय। यद्यपि श्री ह्यू म को काग्रेस का जनक कहा जा सकता है, तथापि इसका अर्थ यह नही है कि तत्कालीन भारत के नेता, सारे देश की राजनीतिक सस्था स्थापित करने के विचार से प्रभावित नही थे।

सन् १८५७ में भारतीय स्वतत्रता के लिये सिपाही विद्रोह के रूप में जो सघर्ष हुआ वह सफल न हो सका। उस समय देश में ईस्ट इडिया कपनी का राज्य स्थापित था और अग्रेजी साम्राज्यवाद विकराल रूप धारण कर चुका था। व्यापारी कपनी के रूप में आई हुई अग्रेजो की शक्ति ने बिखरते हुए भारतीय राष्ट्र को अपनी कुटिलनीति की चोटो से ध्वस्त करने में सफलता पाई थी। डलहौजी की नीति ने बडे बडे जागीरदारो, राजाओ और नवाबो की हैसियत और समान को लूट लिया था। अग्रेजो की अर्थनीति लूट खसोट की थी। फलत भारत के सभी वर्ग और समुदाय निर्धन हो रहे थे। इन्ही परिस्थितियो की प्रतिक्रिया १८५७ के विद्रोह में प्रगट हुई।

अग्रेजो ने इस विद्रोह को बलपूर्वक दबा दिया और अपने भयकर दमन से भारत की बची खुची शक्ति को बुरी तरह चूर कर दिया। इसके बाद ईस्ट इडिया कपनी की अमलदारी खतम हुई और भारत का शासन ब्रिटिश पार्ल्यामेंट के अधीन हुआ। अग्रेजो ने शायद यह कल्पना की थी कि उनके दमन की सफलता भारत को शताब्दियो के लिए कुचल देने मे समर्थ हुई है। परतु उनकी यह धारणा गलत निकली। १८५७ के बाद, यद्यपि भारत मूछित पडा रहा, तथापि उसकी मूर्च्छा जल्दी ही टूटी और उसमे सक्रियता तथा जागृति के लक्षण दिखाई देने लगे।

१८५७ से १८८५ के बीच की राजनीति मे मुख्य रूप से दो विचारधाराएँ उल्लेखनीय हैं। एक विचार उन लोगो का था जो हिंसात्मक सगठन कर अग्रेजी राज को पूर्णरूपेण समाप्त कर देने की बात सोच रहे थे। दूसरा उनका जो यह मानते थे कि अग्रेजी राज का अत तो न होना चाहिए पर वैध उपायो से ब्रिटिश शासन के अधीन देश को स्वशासन का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यह सही है कि लार्ड डफरिन से पूर्व के भारत के वायसराय लार्ड रिपन ने अपनी नीति से हिंसात्मक सगठनो को रोक दिया था तथापि असतोष की आग भीतर ही भीतर सुलग अवश्य रही थी।

दूसरे विचार के लोगो मे अधिकतर अग्रेजी पढे लिखे लोगो का प्रभाव था जो अग्रेजी शासन के अनेक लाभो को स्वीकार करते हुए और अपने को राजभक्त मानते हुए भी वैध उपायो द्वारा देश में अपने देश के शासन को प्राप्त करने की इच्छा रखते थे। उन्हे अग्रेजो की नेकनीयती पर भी विश्वास था और वे यह भी समझते थे कि धीरे धीरे माँगकर अग्रेजो से अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेना सभव होगा।

वैध उपायो से स्वराज्य प्राप्त करने की विचारधारा का लोकप्रिय होना स्वाभाविक भी था। क्योंकि शस्त्र और हिंसा के द्वारा अग्रेजी राज्य समाप्त करने की कोशिश जब बेकार हुई तब देश के सामने दो ही मार्ग हो सकते थे, या तो राष्ट्र मृतप्राय हो जाता या, यदि उसमे जीवन बाकी होता तो, वह वैध उपायो का आश्रय लेता। भारत मरा नही था। इसका सबूत यही है कि उसने एक मार्ग से विफल होने पर भी दूसरे सक्रिय उपाय का अवलबन किया। भारत के कतिपय तत्कालीन नेता इस दिशा में अग्रसर हुए और देश के विभिन्न भागो में प्रदेशीय सगठन स्थापित हुए। १८७० में पूना सार्वजनिक सभा कायम हुई। १८७६ मे कलकत्ते में सुरेंद्रनाथ बनर्जी और आनदमोहन बोस के उद्योग से इडियन एसोसिएशन नामक सस्था का जन्म हुआ और बदरुद्दीन तैयबजी तथा फिरोजशाह मेहता ने बबई मे १८८५ के आसपास बबई प्रसिडेंसी एसोसिएशन स्थापित किया। इस प्रकार प्रातीय स्तर पर वैध आदोलन करनेवाले कुछ राष्ट्रीय सगठन १८८५ से पूर्व भी स्थापित हो चुके थे। इनके सचालक भारतीय नेता थे। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी का इडियन ऐसोसिएशन बगाल के बाहर भी कार्य करने लगा था, जिससे पता चलता है कि सुरेंद्र बाबू ने सारे देश के लिये एक राजनीतिक सगठन स्थापित करने की कोशिश आरभ कर दी थी। दादाभाई नौरोजी ने, जिनके नेतृत्व में फिरोजशाह मेहता, तैलग तथा तैयब जी आदि कार्य कर रहे थे, इग्लैंड में भी ईस्ट इडिया ऐसोसिएशन के नाम से एक सगठन बना लिया था जो वहाँ भारत की ओर अग्रेज जनता का ध्यान आकृष्ट करता रहता था।

प्रगट है कि श्री ह्यू म के अतिरिक्त तत्कालीन प्रमुख भारतीय नेता भी सारे देश के लिये एक राष्ट्रवादी, देशव्यापी राजनीतिक सगठन की स्थापना करने की कोशिश मे लग चुके थे। इसी भूमिका मे सन् १८८४ के दिसबर मे मद्रास के अड्यार नामक स्थान पर थियोसाफिकल सोसाइटी का वार्षिक अधिवेशन भी हुआ। कहा जाता है कि इसी अवसर पर सन् १८८५ के दिसबर में इडियननैशनल यूनियन की एक अड्यार कान्फ्रेंस करने का विचार साकार हुआ। यही कान्फ्रेंस इडियन नेशनल काग्रेस के रूप मे अवतरित हुई। थियोसाफिकल सोसाइटी के इस अधिवेशन मे देश भर से प्रतिनिधि आए थे जिनमे श्री ह्यू म के सिवाय सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, दादाभाई नौरोजी, काशीनाथ त्र्यबक तैलग आदि प्रमुख लोग भी थे। परस्पर विचार विनिमय के बाद इन लोगो ने यह निश्चय किया कि यह कान्फ्रेंस १८८५ के दिसबर में पूने में हो जिसमे देश के सभी प्रातो के प्रतिनिधि समिलित हो। इनकी ओर से एक गश्ती चिट्ठी भी घुमाई गई जिसमें कान्फ्रेंस का उद्देश्य विभिन्न प्रातो के कार्यकर्ताओ मे परस्पर परिचय कराना तथा अगले वर्ष के लिये राजनीतिक कार्यक्रम को स्थिर करना बताया गया। इस प्रकार काग्रेस के जन्म की भूमिका तैयार हुई। १८८५ में पूना में यह अधिवेशन हैजे की बीमारी के कारण न हो सका।

भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का पहला अधिवेशन १८८५ में बबई के गोकुलदास तेजपाल सस्कृत कालेज के भवन मे उमेशचद्र बनर्जी के सभापतित्व मे हुआ। देश के विभिन्न भागो के ७२ प्रमुख व्यक्तियो ने इसमें भाग लिया। अधिवेशन में ९ प्रस्ताव पास हुए जिनसे ब्रिटिश सरकार से विभिन्न क्षेत्रो मे सुधार की माँग की गई। उस समय अध्यक्ष ने काग्रेस के उद्देश्यो की घोषणा इन शब्दो मे की थी (क) साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागो मे देशहित के लिये लगन से काम करनवालो की परस्पर

निकटता और घनिष्टता वढाना, (ख) राष्ट्रीय ऐक्य की उन समस्त भावनाओ का पोषण परिवर्धन जो लार्ड रिपन के चिरस्मरणीय शासन-काल में उद्भूत हुई, (ग) उन उपायो और दिशाओ का निर्णय करना जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देशहित के कार्य करे। इसी अधिवेशन में सस्था का नाम इडियन नैशनल काग्रेस रखा गया।

आरभ में काग्रेस का उद्देश्य शुद्ध राजनीतिक न था। वह सव प्रकार के सामाजिक सुधारो का काम भी अपने हाथ मे लेना चाहती थी। पर १८८६ मे कलकत्ते में काग्रेस के द्वितीय अधिवेशन के अध्यक्ष पद से दादा-भाई नौरोजी ने यह घोषणा की कि काग्रेस शुद्ध राजनीतिक सस्था है और उसका विवादग्रस्त सामाजिक प्रश्नो से कोई सबध नही है। इस प्रकार प्रति वर्ष दिसवर मे काग्रेस का अधिवेशन देश के विभिन्न स्थानो मे होने लगा। अपनी स्थापना से लेकर सन् १९०५ तक काग्रेस का इतिहास प्रकट रूप से घटनाप्रधान नही है। जो सघटन कालातर में विदेशी प्रभुसत्ता को समाप्त करके भारत की जनता के प्रतिनिधि के रूप में विदेशी शासको से शासन की वागडोर छीन लेने मे समर्थ हुआ, उसका यह शैशव-काल था। अपने आरभिक दिनो में काग्रेस मूलत विदेशी सरकार से सुविधाओ की माँग करनेवाले व्यक्तियो का सगठन थी। उस समय कोई भी उसपर 'गरम' या 'अविनयी' होने का आरोप नही लगा लकता था। १८९९ के अपने लखनऊ अधिवेशन मे काग्रेस ने अपना ध्येय वैध उपायो से भारतीय साम्राज्य के निवासियो के स्वार्थो और हितो को वढाना घोषित किया। यद्यपि आरभ के २० वर्षों की अवधि घटनाओ की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नही रही, तथापि राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि इस बीच तैयार हो गई।

इतिहास साक्षी है कि कोई हुकूमत क्यो न हो, वह अपने अधिकार के सवध में रचमात्र भी हस्तक्षेप सहन नही कर सकती। काग्रेस, जो लार्ड डफरिन के आशीर्वाद और श्री ह्यू म की प्रेरणा से अवतरित हुई थी, वह भी उपर्युक्त सत्य का अपवाद नही रह सकी। लगता है कि जैसे जैसे काग्रेस का प्रभाव शिक्षित समुदाय पर वढने लगा और देश का ध्यान उसकी ओर खिचने लगा,वैसे ही वैसे भारतीय अग्रेज सरकार का विरोध भी वढने लगा। काग्रेस का जन्म हुए तीन वर्ष भी न वीते होगे कि अधिकारियो की भौहे टेढी होने लगी। सन् १८८८ मे इलाहाबाद के काग्रेस अधिवेशन का विरोध अधिकारियो द्वारा हुआ। अधिवेशन के लिये स्थान मिलना भी कठिन हो गया था। अब काग्रेस की ओर धीरे धीरे अग्रेजी सरकार भी सशक दृष्टि से देखने लगी थी। उसकी यह सशक दृष्टि ही भारत के लिये वरदान सिद्ध हुई। ज्यो ज्यो अग्रेजी सरकार सशक होती गई, काग्रेस के निश्चयो की उपेक्षा करती गई, उसकी माँगो को ठुकराती गई, अपनी शासन नीति को कठोर करती गई, भारतीयो के साथ भेदमूलक वर्ताव करती गई और अपनी अर्थनीति से देश का दोहन करके भारत को दरिद्रता के गढे मे ढकेलती गई, त्यो त्यो उन लोगो का विश्वास भी शनै शनै अग्रेजो की नेकनीयती से उठता गया जो अब तक यह समझते थे कि अग्रेज उदार हैं, वे भारत की माँग स्वीकार करके उसे स्वशासन का अधिकार प्रदान करेंगे और भारत की सद्भावना का आदर करने में कुछ उठा नही रखेंगे। ऐसे लोग यहाँ तक समझते थे कि भारत मे अग्रेजो का राज्य, भगवान् की महती कृपा का फल है जो भारत का कल्याण करने के लिये ही व्यक्त हुआ है। इस काल अग्रेज सरकार की भारतीय नीति ऐसे लोगो का विश्वास डिगाने और उनकी मोहनिद्रा समाप्त करने मे सफल हुई।

जहाँ काग्रेस की छोटी से छोटी माँग भी ठुकराई गई, वहाँ देश के नागरिको के साधारण अधिकार छीननेवाले कई कानून भी वनाए गए। फल यह हुआ कि काग्रेस द्वारा सरकार का कुछ विरोध भी तगडा होने लगा और देश मे ऐसे तत्व उत्पन्न होने लगे जिनका प्रार्थनाओ तथा आवेदन-पत्रो की नीति से विश्वास उठने लगा। इसी वीच, काग्रेस वलसचय न कर पावे, इसके लिये एक और नीति भी वरती गई। मुसलमानो को काग्रेस से अलग रखने की चेष्टा उसी समय से आरभ हुई। अग्रेजो की इस नीति को सफल वनाने में सर सैयद अहमद खाँ से वडी सहायता मिली। सर सैयद अहमद खाँ मुसलमानो को राजनीति से पृथक् रखना चाहते थे। वह यह समझते थे कि १८५७ के विरोध के कारण सरकार मुसलमानो से नाराज है क्योकि मुसलमानो ने उसमे वहुत बड़ा हिस्सा लिया था। फलत उनका विचार था कि मुसलमान अगर काग्रेस मे शरीक होगे तो सरकार उनसे और अधिक नाराज होगी और मुसलमान उन सुधारो से लाभ न उठा सकेगे जो काग्रेस के आदोलनो के फलस्वरूप भारतवासियो को प्राप्त होगे। काग्रेस की सवसे वडी विशेषता यह है कि वह अपने जन्म से लेकर आज तक विशुद्ध राष्ट्रवादी सस्था रही है। राष्ट्रीयता के लिये आरभिक अनुभूति ही काग्रेस के जन्म का कारण हुई। उसने जन्म से ही कन्याकुमारी से लेकर काश्मीर तक देश को एक माना है और इस देश में वसनेवाले सभी वर्गो, सप्रदायो, जातियो और समूहो को इस देश की सतान स्वीकार किया है। अग्रेजो ने सदा इसके इस राष्ट्रीय स्वरूप को तोडने की चेष्टा की।

अग्रेजी सरकार की इन तमाम खामियो ने लोगो का विश्वास डिगा दिया जिसके फलस्वरूप काग्रेस मे ऐसे तत्व आने लगे जो प्रार्थना की नही, अपितु अधिकार की भाषा में वोलन लगे थे। स्वभावत जिस सघटन को शासको ने असतोष के विकल्प के रूप में प्रश्रय दिया था, उसका यह परिवर्तित रूप उन्हे सह्य नही हुआ। वगाल के मध्यम वर्ग मे शिक्षा का प्रसार राज-नीतिक कारणो से अपेक्षाकृत पहले होने के कारण वहाँ राष्ट्रीय चेतना भी अधिक उग्र थी। कुछ हिंसात्मक घटनाएँ भी घटी। अत इस चेतना को आरभ मे ही दवा देने के उद्देश्य से १९०५ मे वगाल को दो हिस्सो में वाँट दिया गया।

यह जमाना लार्ड कर्जन का था जो भारतीयो को घृणा की दृष्टि से देखता था। स्पष्ट है कि वगभग विदेशी शासको ने राष्ट्रीय चेतना के हनन के उद्देश्य से किया था। किंतु इसकी प्रतिक्रिया काग्रेस के स्वरूप को आमूल परिवर्तित करने का कारण वनी। आवेदनपत्रो का युग समाप्त हुआ। काग्रेस के जीवनक्रम मे यह पहला वडा महत्वपूर्ण मोड था जिसने भारत के राजनीतिक जीवन मे एक नए युग का सूत्रपात किया। वगभग के विरोध में न केवल वगाल में, वल्कि सपूर्ण देश में आदोलन होने लगा। १९०६ में कलकत्ता काग्रेस के सभापति दादाभाई नौरोजी ने काग्रेस के उद्देश्यो की घोषणा करते हुए कहा "हमारा सारा आशय केवल एक शब्द स्वशासन या स्वराज्य मे आ जाता है।" तभी से लोकमान्य का 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' यह तेजस्वी उद्घोष भी देश में गूँज उठा।

अतरराष्ट्रीय परिस्थितियो का भी काग्रेस का स्वरूप वदलने मे हाथ रहा। १९०४ मे जापान के हाथो रूस की पराजय ने एशियाई देशो में जो आत्मविश्वास उत्पन्न किया उसका प्रभाव भारत पर भी पडा। कल-कत्ता काग्रेस ने स्वदेशी, विदेशी का वहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य का जो कार्यक्रम अपनाया उससे न केवल विदेशी सत्ता को क्षोभ हुआ, अपितु काग्रेस भी नरम और गरम दो दलो मे वँट गई। इसी विचारभेद का परिणाम था कि १९०७ मे काग्रेस का सूरत अधिवेशन सफल न हो सका। इसके वाद १९१५ तक काग्रेस के नेतृत्व की वागडोर यद्यपि नरम विचार के व्यक्तियो के ही हाथो मे रही, तथापि उग्र भावनाओ के व्यक्ति भी राष्ट्रीय चेतना को बढाते रहे। नरम विचारो के व्यक्तियो ने एक ओर विदेशी सत्ता से अनुनय विनय का क्रम जारी रखा तो दूसरी ओर शासन ने उग्र विचारवादियो का कठोरता के साथ दमन आरभ कर दिया। लोकमान्य बालगगाधर तिलक पर, जो उग्र विचारवादियो के नेता थे, राजद्रोह का मुकदमा चलाकर उन्हे छ वर्ष के लिये जेल मे बद कर दिया गया।

दमन से सदा क्राति की भावना को प्रेरणा ही मिलती है। अत १९०६-१९११ तक की अवधि में जहाँ विदेशी सत्ता ने राष्ट्रीय चेतना को दवाने के लिये खुलकर अत्याचार किए, वही इस अवधि मे देश में पहला जोरदार आदोलन भी हुआ और सरकार को १९११ मे वगभग का आदेश वापस लेना पडा। ४ अगस्त, १९१४ को प्रथम महायुद्ध छिड गया और शासन की ओर से युद्धकालीन स्थिति के नाम पर नवीन दमनकारी उपाय काम में लाए जाने लगे। १९१४ में तिलक के रिहा होकर आ जाने से फिर उग्र विचारो को प्रश्रय मिलने लगा। १९१५ मे ववई काग्रेस में इस वात की आवश्यकता अनुभव की गई कि राष्ट्र की माँग सयुक्त रूप से उपस्थित करने के लिये मुस्लिम लीग से, जिसे ब्रिटिश सरकार अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिये वरावर प्रोत्साहन देती आई थीं, विचार विमर्श किया जाय।

१९१६ की लखनऊ काग्रेस राष्ट्रीय सघटन के इतिहास में निर्णायक सिद्ध हुई। नरम और गरम दल एक दूसरे के निकट आए और

यह माँग की गई कि भारत का दर्जा बढाकर उसे "पराधीन देश के बदले साम्राज्य के स्वशासित उपनिवेशो के समान भागीदार बना दिया जाय।" अम्बिकाचरण मजूमदार इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। इसी अधिवेशन मे प्रसिद्ध कांग्रेस-लीग-समझौता पहले पहल हुआ जिसके द्वारा स्वशासन प्राप्त होने पर मुसलमानो को प्रतिनिधान का अधिकार देने की व्यवस्था निर्धारित की गई। प्रथम महायुद्ध में आश्वासन के बावजूद मित्रराष्ट्रो ने मुसलिम देशो के साथ जो व्यवहार किया था उसने मुसलमानो की भी आँखें खोल दी। मुसलिम लीग की स्थापना मिंटो के जमाने में ही (१९०६ में) हो गई थी पर लीग न केवल कांग्रेस से अलग रही, वरन् मुसलमानो को भी राष्ट्रीय चेतना से अलग रखने की बराबर कोशिश करती रही। इस प्रकार नरम और गरम को एक करके तथा मुसलिम लीग को साझीदार बनाकर देश के स्वशासन का अधिकार प्राप्त करने का यह प्रयास कांग्रेस के जीवन का दूसरा मोड था। अब कांग्रेस अधिक शक्तिशाली और व्यापक सघटन के रूप में अवतरित होने जा रही थी। इन्ही दिनो लोकमान्य तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेंट के प्रयत्नो से होमरूल लीग की स्थापना हुई। होमरूल आदोलन का दमन करने के लिये विदेशी सत्ता ने भी कोई प्रयत्न उठा नही रखा, प्रमुख नेता जेलो में बद कर दिए गए। किंतु अब कांग्रेस आवेदनपत्रो के युग से आगे बढ रही थी, अत नेताओ को जेल से छुडाने के लिये सत्याग्रह की भाषा मे बातें होने लगी। भारतरक्षा के नाम पर युद्धकालीन काले कानूनो का जोर था और लोकप्रिय आदोलनो को बलपूर्वक दबाया जा रहा था।

भारत के इतिहास में इस समय विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हुई। बगभग का आदोलन सन् १९१२ तक समाप्त हो गया था पर उस समय जो क्रातिकारी प्रवृत्तियाँ जग चुकी थी वे जाग्रत बनी रही। सन् १९१४ मे यूरोप में प्रथम महायुद्ध का आरभ हो चुका था। युद्ध के कारण देश मे अशाति फैली हुई थी। अब तक अंग्रेजी सरकार की नीति की सारी पोल भी खुल चुकी थी। बगभग के आदोलन के समय सरकार ने जो दमन किया था उसे भी लोग भूले नही थे। ब्रिटिश सरकार की अतरराष्ट्रीय नीति के फलस्वरूप भारत के आसपास के देशो मे और विशेषकर निकट पश्चिम के इस्लामी राष्ट्रो में पश्चिमी शक्ति के विरुद्ध उग्र भावनाएँ जाग चुकी थी। इन सबका प्रभाव भारत के राजनीतिक जीवन पर व्यापक रूप से पड रहा था। लोगो के मन में महायुद्ध के अवसर से लाभ उठाने की भावना भर चली थी। फलत भारत मे और भारत के बाहर विप्लव-वादियो के प्रचड सगठन कायम हो रहे थे और उनकी गतिविधि भी तीव्र हो रही थी। भारत के कुछ विप्लववादी जर्मनी की सहायता से इग्लैंड के शासन को समाप्त करना चाहते थे। अमेरिका मे गदर पार्टी की स्थापना हुई थी जिसकी ओर से बहुत से विप्लववादी विप्लव करने के लिये भारत आए। बगाल और पजाब में विशेषकर षड्यत्रकारी सगठन कायम हुए और जगह जगह इनके द्वारा राजनीतिक डकैतियाँ और हत्याएँ भी हुई।

इन सबने मिलकर क्राति की व्यापक योजना बनाई। विदेशो से भी बहुत से हथियार देश मे आए और उन्हे अधिकाधिक लाने का प्रबध किया गया। क्राति का दिन निश्चित कर दिया गया और यह तय हुआ कि २१ फरवरी, १९१५ को एक साथ ही देश के विभिन्न भागो मे विद्रोह की आग सुलगाई जाय। पर यह योजना असफल रही। सरकार को इसका पता लग गया और उसने एक साथ ही धावा बोलकर व्यापक गिरफ्तारियाँ आरभ कर दी। इतिहास को अभी दूसरा मार्ग पकडना था अत क्रातिकारियो का यह प्रयास असफल हुआ।

अब अंग्रेजी सरकार को खुलकर दमन करने का मौका मिल गया। युद्धकालीन स्थिति में सुरक्षा के नाम पर 'डिफेंस ऑव इडिया ऐक्ट' पास किया गया जिसके अनुसार बहुत से विप्लवकारी नजरबद कर लिए गए। सरकारी दमन का प्रहार इतना तीव्र था कि सारे देश मे आतक छा गया। इस प्रहार ने एक प्रकार से तत्कालीन विप्लवकारी शक्तियो की कमर ही तोड दी। सरकार ने केवल विप्लवकारियो का ही दमन नही किया प्रत्युत प्रत्यक्ष रूप से चलनेवाले खुले आदोलनो पर, स्थिति से लाभ उठाकर सफाया कर देने के विचार से हाथ लगाया। होमरूल के आदोलन को दबाने के लिये सन् १९१७ में श्रीमती ऐनी बेसेंट नजरबद कर ली गई। इस प्रकार सरकारी दमनचक्र देश की उमडती हुई राजनीतिक चेतना को जड़ से समाप्त कर देने के प्रयत्न में सलग्न था। सरकार की इस नीयत का स्पष्ट रूप तब प्रकट हुआ जब युद्ध के समाप्त होने पर 'डिफेंस ऑव इडिया ऐक्ट' की अवधि को समाप्त कर देने के बजाय रौलट कमीशन नियुक्त किया गया, जिसके सुपुर्द यह काम हुआ कि वह षड्यत्रो की जाँच करके विद्रोहो को दबाने के लिये नए कानून बनाने के सबध मे सिफारिश करे। इस कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने सन् १९१९ मे केंद्रीय व्यवस्थापक सभा मे दो बिल पेश किए और ये नए दमनकारी कानून बने।

अब देश की स्थिति यह थी कि एक ओर तो वैध उपायो से स्वराज्य प्राप्त करने की नीति निष्फल हो चुकी थी और दूसरी ओर क्रातिकारियो का सपूर्ण उन्मूलन हो चुका था। विदेशी सरकार की नीयत और नीति भी स्पष्ट हो चुकी थी। उसके आश्वासन और लडाई के जमाने में किए गए वादे, सभी झूठे साबित हो चुके थे। इसके विपरीत भारत की गुलामी की जजीरो को जकड देने और देश की जागृति के बचे खुचे अश को समाप्त कर देने की योजना काले कानूनो के रूप में कार्यान्वित की जा रही थी। सारा राष्ट्र असहाय पडा था। जो परिस्थिति थी उसमे चुपचाप आत्म-समर्पण कर देने के सिवाय कोई दूसरा विकल्प दिखाई नही दे रहा था।

ऐसे ही समय देश के सकटकाल मे भारत के राजनीतिक आकाश मे एक नए सूर्य का उदय होने के लक्षण दिखाई देने लगे। मोहनदास करमचद गाधी दक्षिण अफ्रीका मे सफलता प्राप्त करने के उपरात सन् १९१५ में भारत आए। महायुद्ध प्रारभ हो चुका था और दक्षिण अफ्रीका मे सत्याग्रही गाधी जी उस युद्ध मे अंग्रेजो की मदद के समर्थक थे। वे यद्यपि आते ही कांग्रेस में प्रमुख भाग नही ले रहे थे और न उन्होने होमरूल के आदोलन में ही योगदान किया, तथापि निलहे गोरो के अत्याचार के विरुद्ध चपारन के किसानो का नेतृत्व करके नए प्रकार की युद्धशैली की आजमाइश वे करने लगे थे। रौलट ऐक्ट से गाधी जी के हृदय को बडी चोट लगी। उन्होने यह घोषणा की कि यदि ये काले कानून बनाए गए तो वे इन्हें तोडने के लिये बाध्य होगे और सत्याग्रह का युद्ध छेड देगे। गाधी जी की इस घोषणा ने देश मे नई जान फूंक दी। ऐसे समय जब सारा राष्ट्र अपने को चारो ओर से असहाय पा रहा था और जब उद्धार के सभी मार्ग अवरुद्ध दिखाई दे रहे थे, गाधी जी के रूप में नए प्रकाशपुंज को पाकर वह खिल उठा। दुनिया के इतिहास ने अब तक प्रतिरोध का एक ही उपाय देखा था—बलसचय करके शस्त्र द्वारा आततायी सत्ता का विनाश करने में सफल होना अथवा स्वय पराभूत होने पर उसके समुख सिर झुका देना। विद्रोह, प्रतिरोध अथवा सघर्ष का कोई दूसरा उपाय मानव जगत् ने तब तक नही जाना था। गाधी जी एक नई पद्धति और नया प्रकार लेकर उपस्थित हुए सत्य और अहिंसा, त्याग और बलिदान के आधार पर सत्याग्रह के रूप मे एक प्रचड और प्रखर प्रतिरोध को उत्पन्न किया जा सकता है, जो सशस्त्र विद्रोह का पराभाव कर विकल्प होने मे सर्वथा समर्थ है। अब देश को नई आशा, नया उत्साह, नई ज्योति और नई दिशा दिखाई पड़ी। रौलट ऐक्ट का विरोध करने के लिये गाधी जी ने इस नई युद्ध नीति का प्रयोग किया। सत्याग्रह की तैयारी के सिलसिले मे उन्होने सारे देश का भ्रमण किया और लोगो से सत्याग्रह करने की प्रतिज्ञा ली। ३० मार्च १९१९ को उन्होने सारे देश में हडताल और उपवास आदि करने की अपील की। बहुत से स्थानो मे ३० मार्च को ही सफल हडताल हुई, पर सभी जगह सूचना न पहुँचने के कारण गाधी जी ने यह तिथि बदलकर ६ अप्रैल कर दी। गाधी जी के द्वारा जनजागृति का जो विशाल रूप प्रकट हुआ वह अंग्रेजी सरकार के लिये असह्य हो उठा।

फिर क्या था, सरकारी दमनचक्र चल पडा। गोली बरसाना साधारण बात हो गई। १३ अप्रैल को जलियाँवाला बाग में जो रोमाचकारी घटना घटी वह भारत के राष्ट्रीय आदोलन को एक नई दिशा की ओर मोड देने में समर्थ हुई। इसके बाद उस महान् गाधीयुग का सूत्रपात हुआ जिसने आज के भारत की रचना की। गाधी जी देश के जीवन में नए युग के प्रवर्तक के रूप मे चमक उठे। पजाब की घटनाओ ने ब्रिटिश निरकुशता का जो नग्न रूप प्रगट किया उसने सारे देश के कण कण को भारत की घृणित, पराधीन स्थिति का ज्ञान पूरी तरह करा दिया। चारो ओर देश में घोर असतोष व्याप्त हो गया। धीरे धीरे देश के नेतृत्व की बागडोर गाधी जी के हाथो में आ गई। कांग्रेस ने पजाब के हत्याकाड की जाँच के लिये एक कमेटी बनाई जिसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने पर उसने पजाब में जो कुछ

हुआ था उनके लिये कुछ अधिकारियो को दड देने की माँग की। उधर सरकार ने भी जाँच कमेटी वैठाई थी जिसका परिणाम असतोप को और वढाने में ही सहायक हुआ। सरकारी जाँच कमेटी ने अधिकारियो की नीयत में कोई दोप न पाते हुए उनकी थोडी वहुत विवेकहीनता स्वीकार की और एक प्रकार से उन्हें निर्दोप ही सिद्ध कर देने का प्रयास किया। सन् १६१६ में अमृतसर में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में काग्रेस का जो अधिवेशन हुआ और उसमें पजाव की घटनाओ के सवध में काग्रेस में जो माँग की गई, उसे स्वीकार करना तो दूर रहा केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में इडेम्निटी ऐक्ट वनाकर सरकारी अधिकारियो को सुरक्षा प्रदान कर दी गई।

यह स्थिति देश के लिये असह्य हो उठी। पजाव में जो कुछ किया गया था वह न केवल अत्याचार था वल्कि सारे भारतीय राष्ट्र का उद्दड अपमान था। गाधी जी तत्कालीन भारत की भावना और आकाक्षा की प्रतिध्वनि के रूप में राष्ट्रीय जीवन के मच पर उतरे थे। वे देश की स्थिति से अत्यत क्षुव्ध हुए। उधर युद्ध की समाप्ति के वाद अग्रेजो ने तुर्की के खलीफा के साथ जो वर्ताव किया उससे भारत के मुसलमान वहुत ही क्रुद्ध थे। खिलाफत का प्रश्न जुड जाने से अव सारे देश मे एक स्वर से अग्रेजी सरकार के प्रति क्षोभ प्रगट किया जाने लगा। इस व्यापक जनजागृति और क्षोभ की प्रतिक्रिया गहरे रूप में काग्रेस पर हुई। गाधी जी ने १ अगस्त, १६२० से व्यापक असहयोग आदोलन आरभ करने की घोपणा की। देश में नई जान आयी और प्रचड जन आदोलन की भूमिका प्रस्तुत हो गई। सितवर, १६२० में कलकत्ते में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में काग्रेस ने अपने विशेप अधिवेशन में गाधी जी के असहयोग के प्रस्ताव को स्वीकार किया। उसी वर्ष नागपुर मे श्री विजयराघवाचारी की अध्यक्षता में काग्रेस के साधारण वार्पिक अधिवेशन मे गाधी जी के असहयोग का प्रस्ताव वडे उत्साह के साथ वहुत वडे वहुमत से स्वीकृत हुआ।

नागपुर काग्रेस का यह ऐतिहासिक अधिवेशन काग्रेस के जीवन में वहुत ही महत्वपूर्ण और वडा मोड है जिसने राष्ट्रीय जागृति को महान् भारतीय जनजीवन के मूल तक पहुँचा दिया। काग्रेस का स्वरूप भी ऊपर से नीचे तक वदल गया। यह राष्ट्रीय सस्था अव तक मध्यम वर्ग के पढे लिखे और सुशिक्षित वर्गो का सगठन वनी हुई थी और इसमें अग्रेजी भापा और देश के हिमायतियो का ही प्राधान्य था। वही काग्रेस अव सहसा जनसगठन का रूप ग्रहण करने जा रही थी। काग्रेस के विधान में भी अव परिवर्तन आवश्यक था, और परिवर्तन किया गया। उसका द्वार सवके लिये खोल दिया गया और जनवर्ग के प्रवेश के लिये मार्ग प्रस्तुत कर दिया गया। काग्रेस का लक्ष्य शातिमय तथा उचित उपायो से स्वराज्य प्राप्त करना घोपित किया गया। सत्य और अहिंसा पर आधारित असहयोग और सत्याग्रह को राष्ट्रीय ध्येय की पूर्ति के लिये साधन घोपित किया गया। भारत की राजनीति अव भारत के लाखो गाँवो में वसनेवाले करोडो किसानो और दलित प्राणियो की ओर मुड चली। काग्रस मे हिंदी का समावेश हुआ, उसे राष्ट्रीय पताका मिली, तेजस्वी नेता प्राप्त हुआ। उसका ध्येय स्पप्ट हुआ, मार्ग निर्धारित हुआ और नई क्रातिशैली तथा साधन उपलव्ध हुए। गाधी जी ने स्वदेशी के प्रयोग और चरखे की प्रतिष्ठा करके करोडो दलित और शोपित वर्गो के हृदय में नई आशा का सचार कर दिया। यह निश्चय हुआ कि काग्रेस के एक करोड सदस्य वनाए जायें और एक करोड रूपया एकत्रित किया जाय जिससे काग्रेस अपना सदेश लेकर दूर दूर तक गरीवो की झोपडियो में भी पहुँच सके। १६२१ में अहमदावाद काग्रेस ने, जिसके मनोनीत अध्यक्ष देशवधु चित्तरजन दास की गिरफ्तारी के कारण अध्यक्ष पद का भार हकीम अजमल खाँ ने उठाया, सामूहिक सविनय अवज्ञा आदोलन की योजना स्वीकार की। इस प्रकार गाधी जी के नेतृत्व में काग्रेस ने उस विशाल भारतीय जन-आदोलन का सूत्रपात किया जो कालातर में सैकडो वर्षो से इस देश पर लदी हुई ब्रिटिश सत्ता का उन्मूलन करने में समर्थ हुआ। गाधी जी सदा साधन पर ही अधिक जोर दिया करते थे। उनका कहना था कि सविनय अवज्ञा आदोलन का आधार अहिंसा है जिसके विना उसका चलाया जाना सर्वथा असभव है। यही कारण है कि कुछ दिनो तक चलने के वाद जव गोरखपुर जिले के चौरी चौरा नामक स्थान में हिंसात्मक कार्य हो गया तो गाधी जी ने सविनय अवज्ञा आदोलन को उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न होने तक के लिये स्थगित कर दिया। एक वार इससे देश का उत्साह मद पड गया। सरकार ने भी आदोलन को रुकते देखकर गाधी जी को गिरफ्तार कर लिया और राजद्रोह के अभियोग में उन्हे छ वर्ष की सजा देकर जेल भेज दिया।

जव आदोलन का पहला जोर कम हुआ, तव पुन लोगो का ध्यान कौसिलो में प्रवेश करके उनके माध्यम से स्वराज्य की लडाई जारी रखने की ओर गया। इसके लिये स्वराज्य पार्टी वनाई गई। १६२३ की कोकोनाडा काग्रेस ने कौसिल प्रवेश को स्वीकार कर लिया। १६२५ में काग्रेस में दो विचारधाराएँ स्पप्ट रूप से दिखाई देने लगी थी। एक वर्ग के लोग रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास करते थे और दूसरे कौसिलो के भीतर से सघर्प जारी रखने में। पर १६२८ आते आते यह प्रकट हो गया कि कौसिलो के माध्यम से विदेशी सत्ता से मुक्ति नही मिल सकती। देश में फिर वातावरण वदलने लगा। भारत में किस सीमा तक उत्तरदायी शासन का सिद्धात लागू किया जाय इसकी जाँच के लिये साइमन कमीशन को यहाँ भेजने की घोपणा नववर, १६२७ में ब्रिटिश सरकार ने की। काग्रेस की माँग की इससे रचमात्र भी पूर्ति होते न देखकर कमीशन का वहिप्कार करने का निश्चय किया गया। फरवरी, १६२८ में जव साइमन कमीशन भारत आया तव देश भर में उसका वहिप्कार हुआ। इसी वीच काग्रेस की ओर से भावी शासनव्यवस्था का रूप निर्धारित करने के लिये मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में नेहरू कमेटी की स्थापना की गई। दिसवर १६२८ की कलकत्ता काग्रेस ने इस कमेटी की रिपोर्ट को स्वीकार किया और यह घोपणा की कि यदि ब्रिटिश सरकार ने एक वर्ष के भीतर इसे स्वीकार न कर लिया तो जनता को पूर्ण स्वतत्रता की प्राप्ति के लिये करवदी और अहिंसात्मक असहयोग आरभ करने के लिये सघटित किया जायगा। जव ब्रिटिश सरकार ने इसकी ओर ध्यान नही दिया तो दिसवर, १६२६ में लाहौर काग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता की घोपणा कर दी गई और निश्चय किया गया कि अव से काग्रेस अपनी सारी शक्ति देश को हर प्रकार के विदेशी आधिपत्य से मुक्त करने में लगाएगी। लाहौर काग्रेस के अध्यक्ष जवाहरलाल नहरू थे। इस अधिवेशन में काग्रेस के उद्देश्य को परिवर्तित करते हुए यह घोपणा की गई कि काग्रस का लक्ष्य देश में पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना है जिसका अर्थ ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण सवध विच्छेद है। इस स्वाधीनता की प्राप्ति का साधन समस्त शातिमय और उचित उपायो का अवलवन ही होगा। २६ जनवरी, १६३० को सपूर्ण देश में स्वाधीनता की प्रतिज्ञा की गई। (यह स्वाधीनता की प्रतिज्ञा का दिवस इसके वाद प्रति वर्प मनाया जाता रहा है और अव यही स्वाधीन भारत में गणतत्र दिवस के रूप में मनाया जाता है।)

१६२६ की घोपणा के वाद पुन देश के वातावरण में राजनीतिक चेतना प्रकट होने लगी। जनजागृति का यह नया रूप देखकर काग्रेस ने व्यापक विधि से सविनय अवज्ञा आदोलन का निश्चय किया और उसके सचालन का सपूर्ण भार महात्मा गाधी को सौंप दिया। महात्मा गाधी ने नमक कानून भग कर आदोलन आरभ करने का निश्चय किया और १२ मार्च, १६३० को वे स्वय इसके लिये दाडी की ओर चल पडे। ५ अप्रैल, को समुद्र के किनारे इस स्थान पर नमक वटोरकर उन्होंने सरकारी कानून भग किया। उसी रात गाधी जी गिरफ्तार कर लिए गए और इसके वाद ही सपूर्ण देश में नमक कानून का उल्लघन, शराव और विदेशी वस्त्र की दूकानो पर धरना आदि के रूप में आदोलन फैल गया। जितना व्यापक आदोलन था उतना ही उग्र सरकार का दमनचक्र चला। किंतु काग्रेस की उपेक्षा करके भारत के प्रश्न का निपटारा करने के प्रयत्नो में असफल होने के वाद ब्रिटिश सरकार का रुख वदला। काग्रेस के नेता जेलो से रिहा कर दिए गए। मार्च, १६३१ में गाधी जी और तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन के वीच समझौता हुआ। मार्च में ही कराची में काग्रेस का वार्पिक अधिवेशन सरदार वल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन की विशेपता उस प्रस्ताव के कारण है जिसे काग्रेस ने देश के भावी आर्थिक ढाँचे को निर्धारित करते हुए जनता के मौलिक अधिकारो की घोपणा के रूप में स्वीकार किया। इस प्रस्ताव द्वारा काग्रेस ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह देश की कोटि कोटि भूखी नगी जनता के लिये

ही स्वराज्य के संघर्ष का संचालन कर रही है। इसमें प्रथम बार कांग्रेस ने मौलिक अधिकारों का प्रस्ताव स्वीकार करके यह भी घोषणा की कि स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस के मत में देश के नागरिकों के क्या अधिकार होंगे।

प्रकट रूप से समझौता करने पर भी सरकार ने अपनी नीति वास्तव में बदली नहीं और समझौते की शर्तों का बराबर उल्लंघन होता रहा। गांधी जी गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये लंदन गए। पर वहाँ भी हरिजनों, मुसलमानों आदि के प्रश्न को लेकर नई समस्याएँ खड़ी की गई। गांधी जी के स्वदेश लौटने से पहले ही कांग्रेस के बड़े बड़े नेता फिर जेलों में बंद कर दिए गए। कांग्रेस को पुन असहयोग आंदोलन आरंभ करना पड़ा। १९३२-३३ में जेलें सत्याग्रहियों से भर गई। गांधी जी ने जेल में ही हरिजनों की समस्या को लेकर अनशन आरंभ किया और सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया। सविनय अवज्ञा आंदोलन का जोर समय बीतने के साथ कम होता देखकर गांधी जी ने उसे वापस ले लिया। सरकार ने इसमें अपनी विजय देखी और यह सिद्ध करने के लिये कि कांग्रेस का प्रभाव समाप्त कर दिया गया है, नवबर, १९३४ में केंद्रीय असेंबली का चुनाव कराने की घोषणा की। कांग्रेस ने इस चुनौती को स्वीकार किया, वह चुनाव में सम्मिलित हुई और विदेशी सरकार की आशा के प्रतिकूल उसे सफलता प्राप्त हुई।

इसके बाद १९३५ के इंडिया ऐक्ट के अनुसार कांग्रेस ने प्रांतों के निर्वाचन में भाग लिया और ८ प्रांतों में उसे बहुमत प्राप्त हुआ। बहुमत-वाले प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल बनाने का निश्चय किया गया और जुलाई, १९३७ में मंत्रिमंडल बने। इंडिया ऐक्ट की सीमित परिधि में भी मंडलों के कार्यों में बाधाएँ आती रहीं, पर द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ होने तक कोई ऐसा बड़ा संकट, जो इन सीमित अधिकारों के मंत्रिमंडलों का ससमान चलना असंभव कर दे, उपस्थित नहीं हुआ। १ सितंबर, १९३९ को हिटलर के पोलैंड पर आक्रमण करने पर द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हुआ और ब्रिटिश सरकार ने भारत की केंद्रीय धारा सभा और प्रांतों के मंत्रि-मंडलों की उपेक्षा कर यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध इस युद्ध में स्वेच्छा से सम्मिलित है। कांग्रेस फासिस्तवाद का विरोध आरंभ से करती आई थी, पर देश के प्रतिनिधियों की उपेक्षा करके उसे युद्ध में सम्मिलित घोषित करने की नीति का उसने विरोध किया। युद्ध-कालीन संकट के नाम पर वाइसराय और गवर्नरों का हस्तक्षेप भी अत्यधिक होने लगा था। फलत २२ अक्तूबर, १९३९ को कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिए। जगत् की बदलती हुई राजनीतिक स्थिति में मंत्रिमंडलों की परिधि से बाहर आकर कांग्रेस के लिये चुपचाप बैठना संभव नहीं था। फलत १५ सितंबर, १९४० को कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का निश्चय किया और १० अक्तूबर, १९४० से व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ हो गया। अक्तूबर, १९४१ तक यह सत्याग्रह पूरे वेग से चला। बाद में बदली हुई युद्धस्थिति के कारण कांग्रेस ने पुन स्थिति का सिंहावलोकन किया। जापान के युद्ध में आ जाने से भारत के लिये बाहरी आक्रमण का भी संकट उपस्थित हो गया था। भारत का सामरिक महत्व देखकर ब्रिटिश सरकार के सहयोगी राष्ट्र भी उसपर समस्या का समाधान करने के लिये जोर डालने लगे थे।

मार्च, १९४२ के अंत में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि बन भारतीय नेताओं से परामर्श करने के लिये दिल्ली आए। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों में कांग्रेस की माँग स्वीकार नहीं की गई थी और ऐसी बातों का उल्लेख हुआ था जो यदि स्वीकार कर ली जाती तो भारत के अनेक टुकड़े हो जाते। जो तात्कालिक संकट देश के सामने उपस्थित था उसका सामना करने के लिये भारत को कोई अधिकार नहीं मिल रहे थे। फलत क्रिप्स की यात्रा का कोई परिणाम नहीं निकला। इतना अवश्य स्पष्ट हो गया कि भारत को अधिकार देने के बदले ब्रिटिश सरकार उसे जापानी आक्रमण के सामने अरक्षित छोड़ सकती है। बर्मा से हटने तथा भारत के पूर्वी भागों को खाली करने की योजना से यह प्रकट था। कांग्रेस इस स्थिति की निरपेक्ष दर्शक नहीं बन सकती थी। इस देश में अंग्रेजों की उपस्थिति से भारत पर बाहरी आक्रमण की अधिक आशंका थी। अधिकारों से वंचित होने के कारण भारतवासी अपने देश की रक्षा करने में असमर्थ थे। अत गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' का नारा लगाया, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस अंग्रेजों से जब हटने के लिये कह रही है तब उनके स्थान पर किसी अन्य का स्वागत नहीं करेगी। प्रत्येक आक्रमणकारी का सामना किया जायगा। कांग्रेस ने देश में बढ़ते हुए असंतोष को संघटित किया और 'भारत छोड़ो' आंदोलन आरंभ करने का निश्चय करने के लिये ७ अगस्त, १९४२ से बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। ब्रिटिश सरकार क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद से ही दमन की पूरी तैयारी कर चुकी थी। अत ९ अगस्त, १९४२ को प्रात काल बंबई में ही गांधी जी तथा अन्य प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिए गए और कांग्रेस संघटन गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। इसके साथ ही देश में व्यापक आंदोलन आरंभ हो गया। यह अवसर था जब कांग्रेस के उच्च नेताओं की गिरफ्तारी के बाद जनता ने अपने हाथ में नेतृत्व ले लिया।

कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्य अहमदनगर के किले में बंद थे और गांधी जी पूनास्थित आगा खाँ महल में। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को बदनाम करने के लिये उसके नेताओं की अनुपस्थिति में जो प्रचार आरंभ किया, उसका गांधी जी ने जेल से ही पत्रव्यवहार में विरोध किया। इस प्रकार जहाँ जनता बाहर संघर्षरत थी, भीतर बंद होने पर भी नेतागण अपना कार्य करते जा रहे थे। फरवरी, १९४३ में गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार के मिथ्या आरोपों का खंडन करने के लिये कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्यों से न मिलने देने के विरोध में २१ दिन का अनशन किया। अप्रैल, १९४४ में गांधी जी जेल में ही बीमार पड़े और उनकी दशा चिंताजनक देखकर ६ मई, १९४४ को उन्हें रिहा कर दिया गया। छूटते ही गांधी जी ने यह घोषित किया कि ८ अगस्त, १९४२ के प्रस्ताव का सविनय अवज्ञा संबंधी अंश अब स्वत समाप्त हो गया है क्योंकि १९४४ में हम १९४२ को वापस नहीं ला सकते। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि प्रस्ताव का शेष अंश, जो राष्ट्रीय माँग से संबंधित है, यथावत् विद्यमान है। रिहा होते ही गांधी जी ने सांप्रदायिक एकता के लिये भी प्रयत्न किया, जो सदा से कांग्रेस का ध्येय रहा है। सितंबर १९४४ में वे मुसलिम लीग के नेता श्री मुहम्मद अली जिन्ना से भी मिले। पर यह वार्ता लीग की नीति के कारण सफल नहीं हो सकी।

इस बीच यूरोप में युद्ध की स्थिति बदल चली थी और अंग्रेजों के पक्ष को सफलताएँ प्राप्त होने लगी थीं। अत विश्व के समक्ष भारतीय नेताओं को अनिश्चित अवधि तक बंद रखने का औचित्य सिद्ध करना ब्रिटिश सरकार के लिये कठिन हो गया। फलत मार्च, १९४५ में वाइसराय को वार्ता के लिये लंदन बुलाया गया और लौटने पर लार्ड वेवल ने १४ जून, १९४५ को ब्रिटिश सरकार की भारत संबंधी नीति की घोषणा की तथा १५ जून, १९४५ को कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्य भी जेल से रिहा कर दिए गए।

वाइसराय ने जो घोषणा की उसके अनुसार २५ जून, १९४५ से शिमला में राजनीतिक नेताओं का सम्मेलन आरंभ हुआ। पर ब्रिटिश सरकार तथा मुसलिम लीग की नीति के कारण वह सफल नहीं हो सका और जुलाई, १९४५ के मध्य में इसकी असफलता की घोषणा कर दी गई।

७ मई, १९४५ को जर्मनी के बिना शर्त आत्मसमर्पण करते ही द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो गया। ब्रिटेन में आम चुनाव हुआ और उसमें श्री चर्चिल के कंजरवेटिव दल के स्थान पर मजदूर दल को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। मजदूर सरकार ने भारत में भी नए चुनाव कराने की घोषणा की और कांग्रेस संघटन से प्रतिबंध हटा लिया। सितंबर, १९४५ में कांग्रेस कार्य-कारिणी की बैठक हुई। भारत की स्थिति का अध्ययन करने के लिये दिसंबर, १९४५ में ब्रिटेन से पार्लमेंट के सदस्यों का एक प्रतिनिधिमंडल भारत भेजा गया। १५ फरवरी, १९४६ को लंदन में यह घोषणा की गई कि भारतीय शासनविधान के निर्माण के संबंध में नेताओं से विचार विनिमय करने के लिये ब्रिटिश मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों का एक मिशन भारत आएगा। २३ मार्च, १९४६ को इस मिशन के सदस्य भारत पहुँचे। लगभग तीन महीने यह मंत्रिमिशन इस देश में रहा और उसने अलग अलग तथा सम्मिलित रूप से भारतीय नेताओं से बात की। १६ जून, १९४६ को इस मंत्रिमंडल ने भारत के राजनीतिक भविष्य के संबंध में घोषणा की और

अतरिम सरकार की स्थापना की चर्चा की। पर्याप्त विचार विमर्श के उपरात काग्रेस ने अतरिम सरकार मे समिलित होना स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग आरभ में उसमें समिलित नही हुई।

२ सितबर, १९४६ को अतरिम नेहरु सरकार का जन्म हुआ। काग्रेस और वाइसराय दोनो की इच्छा थी कि लीग भी अतरिम सरकार और ब्रिटिश घोपणा के अनुसार बननेवाली सविधान परिषद्, दोनो मे, सहयोग की भावना से समिलित हो। १५ अक्तूवर, १९४६ को लीग भी अतरिम सरकार में तो समिलित हो गई, पर उसने अलग पाकिस्तान की स्थापना की माग जारी रखी। सरकार में समिलित होने के वाद उसके प्रतिनिधि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये गुप्त और प्रकट रूप से कार्य करते रहे। देश मे दगे हुए और समिलित रूप से शासन का सचालन असभव सा हो गया। अत मे ३ जून, १९४७ को ब्रिटिश सरकार ने एक और योजना की घोषणा की जिसमें विभाजन के वाद भारत को सत्ता हस्तातरित करने का अपना निश्चय वताया। ४ जुलाई, १९४७ को ब्रिटिश पार्लमेंट में एक विल पेश हुआ जो 'इडियन इडिपेंडेस ऐक्ट, १९४७' कहलाता है। इसमें भारत को दो भागो मे विभाजित करके १५ अगस्त, १९४७ को सत्ता हस्तातरण की व्यवस्था की गई।

१४ अगस्त सन् १९४७ को अर्ध रात्रि के वाद, अग्रेजी गणना के अनुसार १५ अगस्त का प्रारभ हुआ और ठीक उसी समय लार्ड माउटवेटन के द्वारा तत्कालीन भारत की अतरिम सरकार के प्रधान मत्री जवाहरलाल नेहरू को ब्रिटिश सत्ता सौप दी गई। १४ अगस्त, १९४७ को रात के १२ वजे तक, ३५ करोड नरनारियो से भरा जो देश सदियो से गुलाम था, वह १२ वजते ही स्वाधीन हो गया। १८५७ में जिस क्राति का सूत्रपात हुआ और १८८५ में जन्म ग्रहण कर राष्ट्रीय चेतना की जिस वागडोर को काग्रेस ने अपने हाथो मे लिया वह ९० वर्ष का क्रातियुग सन् १९४७ में समाप्त हुआ। काग्रेस का लक्ष्य सिद्ध हुआ और कई सौ वर्षो के वाद भारत की जनता ने स्वतत्रता की आवहवा में साँस ली। सन् १८८५ मे पैदा हुआ छोटा सा सगठन एक ऐसी वलवती सस्था के रूप में वढा जो भारत की विशाल जनता की इच्छाओ और भावनाओ का प्रतीक वनने में सफल हुई। स्वराज्य के जिस लक्ष्य को दादाभाई नौरोजी ने पहले पहल घोपित किया, लोकमान्य तिलक ने जिसे देश का जन्मसिद्ध अधिकार घोपित करके सप्राण वनाया, उसी की ससिद्धि काग्रेस ने गाधी जी के नेतृत्व मे प्राप्त की। स्वय इस सस्था मे आत्मनिर्भरता और राष्ट्राभिमान भरकर गाधी जी ने उसे भारत की प्रतिनिधि सस्था वनाया। १५ अगस्त, १९४७ को वह अपना लक्ष्य प्राप्त करने मे सफल हुई और स्वतत्र भारत की जनता की सेवा में अपने को उत्सर्ग कर देने की दूसरी प्रतिज्ञा लेकर अग्रसर हुई।

भारत की स्वतत्रता के साथ साथ देश पर विपत्ति के वादल भी मँडराए। एक ओर स्वाधीनता मिली, दूसरी ओर भारत का विभाजन हुआ। देश के लिये विभाजन का परिणाम वडा भयकर सिद्ध हुआ। उत्तर भारत के वहुत वडे हिस्से मे साप्रदायिक दगो, हत्याओ, लूटपाट और खूनखरावी से तवाही आ पडी। लाखो लोग वेघरवार के हुए। प्रदेश के प्रदेश उजड गए और न जाने कितनो ने अपनी जान गँवाई। भाई ने भाई के खून से देश को रँग डाला और ऐसा प्रतीत होने लगा कि स्वतत्रता का वीज, जो अभी अभी वोया गया है, अकुरित होने से पूर्व ही झुलस कर राख हो जायगा। वडी कठिनाई से इस रक्तपात को रोका गया। इस कठिन समय में भी काग्रेस ने अपनी राष्ट्रवादिनी प्रवृत्ति का सुदर परिचय दिया और दृढतापूर्वक उस राष्ट्रीयता की डगमगाती नैया की पतवार पकड रखी। इस समय काग्रेस और देश को जो वडा भारी वलिदान करना पडा उसकी पूर्ति कभी नही हो सकती। गाधी जी ने साप्रदायिकता के इस जहर को शात करने में अपने प्राणो की आहुति दे डाली। उन्होने दासता से निकालकर हमें स्वतत्र वनाया था। राष्ट्र को अधकार से प्रकाश की ओर ले जाने में सफलता प्राप्त की थी। अहिंसा, प्रेम और राष्ट्रीयता के अपने आदर्श के लिये उन्होंने अपना वलिदान किया और सकटकाल में काग्रेस उनके लोकोत्तर नतृत्व से वचित हो गई।

देश एक वार पुन दुख और निराशा के गर्त मे जा गिरा। पर काग्रेस का सुदृढ नेतृत्व पुन उसकी सहायता और सेवा करने मे समर्थ था। काग्रेस ने स्वाधीनता की अपनी पुरानी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के वाद, देश के लिय अपने दूसरे दायित्व को पूरा करने का कदम उठाया। सदा से यह राष्ट्रीय सस्था देश की गरीवी, अज्ञता और शोपण तथा विपमता मिटाने की चेष्टा करती रही है। स्वतत्रता की प्राप्ति तो हो गई, पर देश को सुखी एव सपन्न करने का महान् कार्य अभी वाकी पडा था। गाधी जी के नेतृत्व के अभाव में यद्यपि इस भार को उठाना उसके लिये कठिन हो रहा था, तथापि आत्मविश्वास और सेवा के जिस मन से गाधी-जी ने उसे अनुप्राणित किया था, उनके उसी सदेश ने उसे वल प्रदान किया। सत्ता हस्तातरित करते हुए भारत का भावी सविधान वनाने के के लिये सविधान परिषद् की स्थापना की योजना स्वीकार की गई थी। काग्रेस का सदा से यह मत था कि स्वतत्र भारत का सविधान वनाने के लिये सविधान परिपद् ही उपयुक्त प्रकार हो सकता है। सन् १९३६ में लखनऊ काग्रेस के अध्यक्ष पद से भापण करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि 'हमारा सविधान वनाने के लिए सविधान सभा ही एकमात्र उचित और लोकतत्रीय ढग हो सकता है।' तव से काग्रेस वरावर इस निश्चय को दोहराती आई थी।

१६ मई, १९४६ को ब्रिटेन के मत्रिमडल कमीशन ने जो घोपणा की थी उसमे भारत का सविधान वनाने के लिये सविधान परिपद् का उल्लेख किया गया था। फलत सविधान परिपद् की प्रथम वैठक ९ दिसवर, १९४६ को हुई। १५ नववर, १९४९ को सविधान स्वीकृत हुआ और इसके द्वारा भारत सर्वप्रभुतासपन्न स्वतत्र गणराज्य घोपित किया गया। २६ जनवरी, १९५० को हमारा यह सविधान लागू कर दिया गया। २६ जनवरी, १९३० को जिस स्वाधीनता की घोपणा काग्रेस ने की थी, सन् १९५० के उसी २६ जनवरी को स्वतत्र भारतीय गणराज्य का जन्म हुआ। इस वीच जहाँ एक ओर लाखो शरणार्थियो को पुन वसाने और शाति स्थापित करने का कार्य हो रहा था, वही दूसरी ओर दृढतापूवक भारत की एकता की नीव डाली जा रही थी। भारत के सैकडो देशी रजवाडो के राज्य धीरे धीरे विशाल भारतीय सघ में विलीन किए गए। आश्चर्य यह है कि अपने ढग का यह अनूठा विलीनीकरण काग्रेस के नेतृत्व में वनी हुई केद्रीय सरकार ने शाति और सहयोग के साथ कर डाला। स्वतत्र भारत मे काग्रेस के सामन नवीन लक्ष्य स्थापित करने का प्रश्न भी उपस्थित था। पहले यह निश्चय किया गया कि शाति और वैध उपायो से भारत की कोटि कोटि भूखी एव नगी जनता के लिये सहकारिता के आधार पर कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना काग्रेस का लक्ष्य है। आगे चलकर इसी लक्ष्य की निश्चित और सही सही व्याख्या की गई। १९५५ मे आवडी मे काग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमे स्पष्ट रूप से यह घोपणा की गई कि काग्रेस देश मे समाजवादी समाज की स्थापना करना अपना लक्ष्य निर्धारित करती है। समाजवाद के साथ साथ वह लोकतात्रिक शासनव्यवस्था मे विश्वास करती है और नए सिरे से यह एलान करती है कि उक्त लक्ष्य की सिद्धि का उसका साधन शातिमय होगा। फलत काग्रेस ने अपनी मौलिक प्रवृत्ति को प्रगट किया। प्रजातात्रिक, समाजवादी शासनव्यवस्था उसका लक्ष्य है और शातिमय तथा विधेय मार्ग उसके साधन है। राष्ट्र की एकता और असाप्रदायिक हुकूमत वह आधार है जिसपर नवीन भारत के निर्माण का प्रयत्न करने का उसने निश्चय किया एव जिस सविधान की रचना हुई उसकी प्रस्तावना में काग्रेस की इन्ही मूल प्रवृत्तियो का समावेश किया गया।

सविधान की भूमिका में कहा गया "हम भारत के लोग, भारत को प्रभुतासपन्न, लोकतत्रात्मक गणराज्य वनाने के लिये तथा उसके समस्त नागरिको को विना किसी भेदभाव के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तथा न्यायविचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतत्रता प्रदान करने के लिये तथा अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये और व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता के लिये पारस्परिक वधुभाव वढाने के हेतु दृढसकल्प होकर अपने सविधान को अगीकार करते है और आत्मार्पित करते है।" इस प्रकार नए भारत और उसके भविष्य की कल्पना का जन्म हुआ।

सन् १९५१-५२ मे सपूर्ण भारत मे नवीन सविधान के अनुसार प्रथम आम चुनाव हुए। ससार में कही भी, इससे पूर्व इतने वडे पैमाने पर लोकतत्रात्मक ढग से ऐसा चुनाव नही हुआ था। भारत के लगभग १९

करोड बालिग स्त्री पुरुषो को, बिना किसी भेदभाव के, इस चुनाव मे मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ। काग्रेस ने भी चुनाव मे भाग लिया और जनता ने उसे बहुत बडी विजय प्रदान कर उसके प्रति अपने विश्वास की घोषणा की। नए आम चुनाव के बाद देश मे स्थिरता आई। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व मे केद्र की सरकार ने भारत की अनेक समस्याओ का समाधान करन के लिये नियोजित कदम उठाने का निश्चय किया। काग्रेस ने अपन प्रस्तावो द्वारा पचवर्षीय योजनाओ की रूपरेखा स्थिर की और इस प्रकार प्रथम पचवर्षीय योजना प्रचालित हुई। ११ मार्च, सन् १९५६ को प्रथम पचवर्षीय योजना की समाप्ति हुई तथा दूसरी पचवर्षीय योजना का प्रारभ हुआ। दूसरी पचवर्षीय योजना के समाप्त होने पर तृतीय योजना का आरभ सन् १९६१ के मार्च से हुआ।

सन् १९५७ मे दूसरा आम चुनाव हुआ जिसमे पुन काग्रेस के प्रति भारतीय राष्ट्र ने अपना विश्वास प्रकट करके उसे केद्र मे और प्राय सभी राज्यो में बहुमत प्रदान किया। द्वितीय पचवर्षीय योजना की सफल समाप्ति ने देश की चतुर्मुखी उन्नति के लिये नीव रखी। तीसरे आम चुनाव का समय निकट आने के साथ तृतीय पचवर्षीय योजना प्रारभ हुई। इस आम चुनाव मे भी काग्रेस की ही विजय हुई। यद्यपि काग्रेस के नेतृत्व मे देश का विश्वास प्राप्त करके सगठित हुई प्रदेश और केद्र की सरकारे राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक जीवन को नए ढाँचे में ढालने का प्रयत्न कर रही है, तथापि काग्रस के सामने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये बहुत बडी मजिल तय करने का काम बाकी है। राजनीतिक स्वतत्रता केवल साधन है, और साध्य है आर्थिक और सामाजिक स्वाधीनता। देश के करोडो नरनारियो के जीवन का स्तर ऊँचा करने और उनके विपन्न तथा दु खी जीवन को समुन्नत बनाने का काम बडा है। इस आर्थिक और सामाजिक क्राति की सफलता शातिमय और लोकतत्रात्मक साधनो से प्राप्त करना और भी अधिक बडा तथा अपूर्व कार्य है। महान् विभिन्नताओ और विभदो के इस देश में सभी अगो को एक मौलिक एकता मे परस्पर बाँधकर सुदर और सुसस्कृत महान् भारतीय राष्ट्र को विश्व के मच पर प्रतिष्ठित करना और जगत् के विभिन्न राष्ट्रो से बधुभाव बनाए रखकर ससार मे ऐसी मानव सस्कृति की स्थापना मे योगदान करना जिसमे प्रत्येक राष्ट्र और व्यक्ति निर्भय होकर जीवन का लक्ष्य पूरा कर सके और भी बडा काम है। काग्रेस इन्ही लक्ष्यो की सिद्धि के लिये बार बार गत १० वर्षो से घोषणा करती रही है तथा उसकी पूर्ति के प्रयास मे सलग्न रही है। उसने अग्रेजी राज्य से सत्ता छीनी पर गाधी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित काग्रेस ने उस सत्ता को अपने दल के हाथ मे न रखकर भारतीय जनसमाज को समर्पित कर दिया। भविष्य ही यह बताएगा कि जनता की सेवा के लिये उसन जो लक्ष्य निर्धारित किए हैं उनकी ससिद्धि मे वह किस सीमा तक सफल होती है। [क० त्रि०]

कांचीपुरम्

कांचीपुरम् मद्रास नगर से ४५ मील दूर पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम मे अरक्कोणम् तथा चिंगलपेट को मिलानेवाली रेलवे लाइन पर स्थित है। (स्थिति १२° ५०′ अ०, ७९°४२′ पूर्व दे०) इसकी जनसख्या सन् १९०१ ई० मे ४६,१६४ के लगभग थी जिसमे लगभग ४४,६८४ (बहुसख्यक) हिंदू थे। शेप जनसख्या मुसलमानो, ईसाइयो तथा जैनियो की थी जो क्रम से १३१३, ४९ तथा ११८ थे। इस नगर को काची या काजीवरम् भी कहते हैं। यह दक्षिणी भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध नगरो में से एक है और पल्लव राजाओ की राजधानी रह चुका है। चीन का प्रसिद्ध यात्री युवान च्वाङ् भी सातवी शताब्दी मे इस नगर मे आया था। उसके कथनानुसार यह उस समय शिक्षा, न्याय, वीरता इत्यादि का केद्र था और छ मील के घेरे मे फैला हुआ एक बडा नगर था। उपर्युक्त यात्री के समय यहाँ पर जैनियो का काफी प्रभाव था तथा ब्राह्मण एव बौद्ध अल्पसख्या मे थे। पिछले दोनो धर्मो का प्रभाव लगभग समान था। यह नगर चोल वश की भी राजधानी उस समय तक बना रहा जब तक मुसलमानो ने इसपर सन् १३१० ई० मे आक्रमण कर अपने अधीन नही कर लिया। इसके उपरात यह नगर विजयनगर राज्य की बढती हुई शक्ति का भी शिकार बना, परतु इनका आधिपत्य बहुत अधिक समय तक न रह सका और मुसलमान राजाओ ने इस पर पुन सन् १६४६ ई० मे अपना आधिपत्य जमा लिया। कुछ वर्षो के लिये इसपर मराठो का भी अधिकार हो गया था, परतु शीघ्र ही औरगजेब के सैनिको ने इसे जीत लिया। मुगलो न इसको सन् १७५२ ई० तक अपने अधीन रखा। इसी वर्ष लार्ड क्लाइव ने इसको ईस्ट इडिया कपनी के अधिकार मे ले लिया। अग्रेजो तथा फ्रासीसियो मे कालातर में इसके लिये दो दो, एक एक साल के बाद आपस मे काफी छीना झपटी होती रही। इस प्रकार औरगजेब के हाथो से निकल जाने के बाद यह नगर अग्रेजो तथा फ्रासीसियो के प्रलोभन का विशेष केद्र बना रहा।

यह नगर हिंदुओ का दक्षिणी भारत स्थित प्रमुख तीर्थस्थान है। यह भारत के सात मोक्षदायी नगरो मे से एक है तथा मदिरो और पवित्र समाधि स्थलो से भरा पडा है। यहाँ अत्यत पुराना जैनियो का प्रसिद्ध मदिर तिरुप्परुत्तिकुनरम् नामक बस्ती से दो मील दूर दक्षिण की दिशा मे स्थित है इसको पिल्लापलैयम् कहते हैं। इसका कलात्मक निर्माण, पत्थर पर की गई कारीगरी, मदिरो की चित्रकारी तथा रँगाई दर्शनीय है। इसका निर्माण चोलवश के राजाओ न उस समय कराया था जब यह राज्य उन्नति की पराकाष्ठा पर था। विजयनगर राज्य द्वारा इन कलात्मक मदिरो तथा अन्य दर्शनीय स्थलो का जीर्णोद्धार कराने तथा नवीन मदिरो के निर्माण कार्य के लिये १४वी, १५वी, तथा १६वी शताब्दियो मे यथेष्ट धन व्यय किया गया। यहाँ के विष्णु तथा शिवमदिरो का निर्माण पल्लव राजाओ ने कराया था।

विजयनगर राज्य के सबसे प्रबल राजा श्री कृष्णदेव ने अपने समय मे दो बडे मदिरो का निर्माण कराया था। इन मदिरो के अतिरिक्त बहुत से छोटे छोटे समाधिस्थल तथा विश्रामगृहो का निर्माण भी इसी वश के राजाओ ने कालातर मे कराया। यहाँ का सबसे बडा मदिर बहुत ही सुदर कगूरो से सुसज्जित है। इसमे एक बहुत बडा कमरा है जिसमे ५४० अलकृत स्तभ, अच्छे अच्छे ओसारे तथा सरोवर भी है, इन सबका निर्माण किसी व्यवस्थित योजना के अनुसार नही हुआ है। इसकी क्रमहीन बनावट के विषय मे फर्गुसन नामक एक विद्वान् ने कहा है, "मदिरो के सभी कगूरे एक दूसरे के सामने नही है। इसकी दीवारे आपस मे एक दूसरे के समातर नही हैं और वे साधारणत समकोण पर भी नही मिलती।"

काचीपुरम् को सन् १८६६ ई० मे नगरपालिका का रूप दिया गया, जिसकी आय प्रधानत मकानो तथा भूमिकरो द्वारा होती थी। सन् १८९५-९६ मे यहाँ पर जलदायगृह (वाटर वर्क्स) की व्यवस्था की गई यह दो वर्षो मे अर्थात् सन् १८९८ ई० मे २,५६,००० रुपए की लागत से बनकर तैयार हुआ। यहाँ जल की प्राप्ति वेगवती नदी के सहायक एक सोते से होती है। यहाँ की सूती तथा रेशमी साडियाँ सुप्रसिद्ध हैं।

[व० सिं०]

कांट, इमानुएल

कांट, इमानुएल (१७२४-१८०४) जर्मन वैज्ञानिक, नीतिशास्त्री एव दार्शनिक। उसका वैज्ञानिक मत 'काट-लाप्लास' परिकल्पना (हाइपॉथेसिस) के नाम से विख्यात है। उक्त परिकल्पना के अनुसार सतप्त वाष्पराशि नेबुला से सौरमडल उत्पन्न हुआ। काट का नैतिक मत 'नैतिक शुद्धता' (मॉरल प्योरिज्म) का सिद्धात, 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य' का सिद्धात अथवा 'कठोरतावाद' (रिगॉरिज्म) कहा जाता है। उसका दार्शनिक मत 'आलोचनात्मक दर्शन' (क्रिटिकल फिलॉसफी) के नाम से प्रसिद्ध है।

वह जर्मनी के पूर्वी प्रशा प्रदेश के अतर्गत, कोनिग्ज़बर्ग नगर मे घोडे का साधारण साज बनानेवाले के घर २२ अप्रैल, सन् १७२४ ई० को पैदा हुआ था। उसकी प्रारभिक शिक्षा अपनी माता की देखरेख मे हुई थी, जो अपने समय के 'पवित्र मार्ग' (पायटिज्म) नामक धार्मिक आदोलन से बहुत प्रभावित थी। अतएव, अल्पायु से ही वह धर्मानुमोदित आचरण, सरल, सुव्यवस्थित एव अध्यवसायपूर्ण जीवन मे रुचि रखने लगा था। फलत, १६ वर्ष की आयु मे, 'कॉलेजियम फीडेरिकियेनम' की शिक्षा समाप्त कर, वह कोनिग्जबर्ग के विश्वविद्यालय मे प्रविष्ट हुआ, जहाँ छ वर्ष (१७४६ ई० तक) उसन भौतिकशास्त्र, गणित, दर्शन एव धर्मशास्त्र का अध्ययन किया।

विश्वविद्यालय छोडन के बाद काट नौ वर्षो के लिये, कोनिग्जबर्ग से साठ मील दूर, जुड्स्केन (Judschen) नामक गाँव को चला गया।

वहाँ वह दो तीन परिवारो में अध्यापन कार्य कर अपनी जीविका चलाता और भौतिकशास्त्र तथा दर्शन में स्वाध्याय करता रहा। इस बीच उसके बहुत से लेख तथा लघुग्रथ प्रकाशित हुए, जिनमे से दो—"जीवित शक्तियो के उचित अनुमान पर विचार (थाट्स अपॉन द ट्रू एस्टिमेशन ऑव लिविंग फोर्सेज" १७४७ ई०) तथा "सामान्य प्राकृतिक, इतिहास एव आकाश-सबधी सिद्धात (जनरल नैचुरल हिस्ट्री ऐंड थ्योरी ऑव हेवेन" १७५५ ई०) विशेष उल्लेखनीय है। इनमें से प्रथम प्रकाशन मे, उसने रीने द कार्त्त (१५९६-१६५० ई०) तथा गॉटफ्रीड विल्हेल्म लीवनित्स (१६४६-१७१६ ई०) के सत्ता सवधी विचारो का तथा दूसरे मे न्यूटन तथा लीवनित्स के यात्रिक एव प्रयोजनतावादी विचारो में समन्वय करने का प्रयत्न किया था। उसने 'डाक्टर लेजेंस' की उपाधि के निमित्त आवश्यक प्रवध भी १७५५ ई० मे प्रस्तुत कर दिया था और कोनिग्ज़वर्ग विश्वविद्यालय ने उसे उक्त उपाधि प्रदान कर उसकी योग्यता प्रमाणित की थी। किंतु उसकी व्यक्तिगत समस्याओ में कोई परिवर्तन न हुआ। विश्वविद्यालय ने उसके नौ वर्ष के परिश्रम से प्रसन्न होकर उसे विशिष्ट व्याख्याता (प्राइवेट डोज़ेंट) नियुक्त कर लिया था, किंतु इस कार्य के लिये उसे वेतन कुछ भी नही मिलता था।

काट ने, विषम परिस्थितियो के वावजूद, १७६६ ई० तक विश्वविद्यालय की अवैतनिक रूप से सेवा की। १७५८ ई० में उसने तर्क और दर्शन के मुख्य अध्यापक पद के लिये प्रार्थना की थी, किंतु वह असफल रहा। १७६६ ई० मे उसे अध्यापन के साथ साथ सहायक पुस्तकालय प्रवधक भी नियुक्त किया गया और अव उसे दस पौंड वार्षिक वेतन मिलने लगा। चार वर्षों तक काट ने इस रूप में भी काम किया, किंतु उसने अध्ययन, चितन और लेखन कार्य जारी रखा। 'प्राइवेट डोज़ेंट' नियुक्त होने के वाद से १७७० ई० तक उसके पाँच प्रकरण ग्रथ प्रकाशित हुए—(१) "न्याय के चार आकारो की मिथ्या सूक्ष्मता" (ऑन द फाल्स सट्‌लिटी ऑव द फोर सिलोजिस्टिक फिगर्स १७६२), (२) "दर्शन मे अभावात्मक परिमाण की धारणा के समावेश का प्रयत्न" (अटेंप्ट टु इट्रोड्यूस द नोशन ऑव नेगेटिव क्वाटिटी इटु फिलॉसफी १७६३), (३) "ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण" (ओन्ली पॉसिवूल् प्रूफ ऑव दि एग्जिस्टेंस ऑव गॉड १७६३), (४) "दर्शन के स्वप्नो द्वारा आत्मवादी के स्वप्नो की व्याख्या" (ड्रीम्स ऑव ए स्पिरिचुअलिस्ट एक्स्प्लेड वाइ द ड्रीम्स ऑव मेटाफिजिक १७६६), (५) "देश की वस्तुओ के भेद के प्रथम आधार पर" (ऑन द फर्स्ट ग्राउड ऑव द डिस्टिंक्शन ऑव ऑवजेक्ट्स् इन स्पेस १७६८)।

उपर्युक्त ग्रथो के शीर्षको से पता चलता है कि १७५५ और १७७० ई० के वीच का समय काट के विचारो के निर्माण का था। सन् १७७० ई० मे प्रकाशित लातीनी स्थापनालेख (डिज़र्टेशन)—"ससार की समझ और वुद्धि के आकार एव सिद्धात" (दी मुदी सेसिविलिस एत इतेलीजिविलिस फार्मा एत प्रिंसिपिइस") से उसका चितन व्यवस्थित रूप मे विकसित होता दिखाई देता है। इसी वर्ष, वह कोनिग्ज़वर्ग विश्वविद्या लय मे तर्क और दर्शन के उसी अध्यापक पद पर नियुक्त हुआ, जिसके लिये उसे १२ वर्ष पूर्व निराश होना पडा था। पहले से अव वह चितामुक्त भी हो गया था क्योकि उसे ६० पौड वार्षिक वेतन मिलने लगा था। उन दिनो इतना वेतन समानित अध्यापको को ही दिया जाता था। ग्रथो के प्रकाशन से भी कोई वडी धनराशि नही प्राप्त होती थी। अपने 'क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न' से काट को केवल ३० पौड आय हुई थी। किंतु, भौतिक सुखो की आकाक्षा न कर, १७९६ ई० तक वह सक्रिय रूप से ससार के ज्ञानकोश की अभिवृद्धि के निमित्त प्रयत्न करता रहा।

इन २६ वर्षो मे से आदि के १२ वर्ष उसने केवल एक पुस्तक "शुद्ध वुद्धि की समीक्षा" (क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न) के लिखने में व्यतीत किए उक्त ग्रथ १७८१ ई० में प्रकाशित हुआ था। काट के प्रौढ ग्रथों में यह सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक ग्रथ माना जाता है। इस काल के अन्य ग्रथ "प्रत्येक भावी दर्शन की भूमिका" (प्रोलेगोमेना टु एव्री फ्यूचर मेटाफिजिक १७८३), "नीतिदर्शन की पृष्ठभूमि" (द ग्राउड वर्क ऑव द मेटाफिज़िक्स ऑव मॉरल्स १७८६), "प्राकृतिक विज्ञान के दार्शनिक आधार" (मेटाफिज़िकल फाउडेशस ऑव नैचुरल साइस १७८७), "व्यावहारिक वुद्धि की समीक्षा" (क्रिटीक ऑव प्रैक्टिकल रीजन १७८८), "निर्णय की समीक्षा" (क्रिटीक ऑव जजमेट १७९०), "केवल वुद्धि द्वारा सीमित धर्म" (रिलीजन विदिन द लिमिट्स ऑव मिअर रीजन १७९३), तथा "शाश्वत शाति पर" (ऑन एवरलास्टिंग पीस १७९५)।

१७९६ ई० के वाद भी वह अध्ययन, चितन एव लेखन मे व्यस्त रहा किंतु उसके जीवन के ये आठ वर्ष वडी दयनीय दशा मे व्यतीत हुए। उसकी स्मृति इतनी क्षीण हो गई थी कि उसे छोटी मोटी वाते भी लिखकर याद रखनी पडती थी। स्वय अपने घर की देखभाल करने की शक्ति उसमें नही थी, विवाह उसने किया नही था, किंतु ४२ वर्ष के अध्यापन काल में उसने अपने सहयोगियो एव विद्यार्थियो पर अच्छा प्रभाव डाला था। अतएव, मित्रो एव शिष्यो से उसे अपने जीवन के अतिम भाग में काफी सहायता एव सहानुभूति प्राप्त हुई। सन् १८०१ ई० के वाद तो वह वहुत ही अशक्त हो गया था, किंतु अतिम तीन वर्षों में वेसियास्की नामक उसके शिष्य ने साथ रहकर अहर्निश उसकी देखभाल की।

आश्चर्य की वात है कि इस काल के लिखे हुए काट के सात ग्रथ उपलब्ध है—"नीतिदर्शन" (मेटाफिज़िक्स ऑव मॉरल्स १७९७), "नैतिक गुण के सिद्धात के दार्शनिक आधार" (मेटाफिज़िकल फाउडेशस ऑव द थ्योरी ऑव वर्चू १७९६-९७), "मानस शक्तियो का अतर्विरोध" (द कॉन्फ्लिक्ट ऑव फैकल्टीज़" १७९८), "व्यावहारिक दृष्टि से नृशास्त्र" (ऐंथ्रपॉलॉजी फॉम द प्रैक्टिकल प्वाइट ऑव व्यू १७९८), "तर्कशास्त्र" (लॉजिक १८००), "भौतिक भूगोल" (१८०२) तथा "शिक्षाशास्त्र" (पेडॉगॉजिक्स १८०२)।

इतना कार्य करने के वाद १२ फरवरी, १८०४ ई० को कोनिग्ज़वर्ग मे उसकी मृत्यु हुई। काट का व्यक्तिगत जीवन अटल नियमो से जकडा हुआ था। प्रात काल से सध्या तक उसके सभी काम निश्चित समय पर होते थे। भोजन के समय के सलाप के भी नियम थे। पाश्चात्य दार्शनिको में से अधिकाश भ्रमणशील रहे है, किंतु काट अपने नगर से जीवन भर में अधिक से अधिक साठ मील गया था। फिर भी उसका दृष्टिकोण सकुचित न था। वह केवल वौद्धिक चितक न था, उसने सुकरात और पाइथागोरस की भाँति जीवन मे अपने दार्शनिक विचारो को स्थान दिया था। हाइने नामक जर्मन कवि ने काट के दार्शनिक जीवन की प्रशसा में ऐसी वाते कही है जो उसे सनकी सिद्ध करती है, किंतु, उसके विचारो ने उत्तरवर्ती दर्शन को इतना प्रभावित किया है कि काट के अध्येता उसे दर्शन में एक नवीन युग का प्रवर्तक मानते है (देखिए काटीय दर्शन)।

[शि० न० श०]

कांटॉर, जॉर्ज (Georg Cantor, १८४५ ई०–१९१८ ई०) जर्मन गणितज्ञ थे। इनका जन्म ३ मार्च, १८४५ ई० को पीट्रोग्राड में एक यहूदी परिवार मे हुआ था। १८६३ ई० से १८६९ ई० तक इन्होने वर्लिन में गणित, दर्शन शास्त्र और भौतिकी का अध्ययन किया। १८६७ ई० में इनको अनिर्णीत समीकरण कय^2+खर^2+गल^2 =० ($ax^2+by^2+cz^2=0$) के हल से सवधित, गाउस द्वारा अवशिष्ट एक कठिन समस्या के हल पर पीएच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। हाले (Halle) में ये १८६९ ई० में प्राध्यापक (लेक्चरर), १८७२ ई० मे गणित के असाधारण और १८७९ ई० मे साधारण प्रोफेसर नियुक्त हुए। १८७४ ई० में इनका प्रथम क्रातिकारी शोधपत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें इन्होने 'सख्याओ के काटॉर सिद्धात' की व्याख्या की थी। इस सिद्धात के अनुसार कोई अपरिमेय सख्या उस एक अनत अनुक्रम फ$_1$, फ$_2$, फ$_3$, फ$_n$, ($a_1, a_2, a_3, \ldots, a_n, \ldots$) से प्राप्त की जा सकती है, जिसमे यदि न (n) और म (m) के मान पर्याप्त हो, तो ।फ$_n$ – फ$_m$। < ε। (। $a_n - a_m$ । < ε।)। तदुपरात इन्होने इसपर अनेक महत्वपूर्ण शोधपत्र लिखे।

[रा० कु०]

कांटि ड निकालो (१४१९–१४४४), वेनिस नगर के श्रेष्ठ व्यवसायी परिवार में इनका जन्म हुआ था। यह प्रसिद्ध समन्वेषक और लेखक थे। १४१९ ई० में २५ वर्षों के लिये समन्वेषणार्थ वेनिस से इन्होने प्रस्थान किया। दमिश्क, अरब

का रेगिस्तान, मेसोपोटेमिआ, बगदाद, बसरा इत्यादि स्थानों का भ्रमण करते हुए ये भारत के पश्चिमी तट से होकर विजयनगर आए। इसके बाद ये सुमात्रा, मलाया से लौटने पर बगदाद और ब्रह्मदेश में अराकान तथा इरावती से आगे तक कई बार गए। कूलम, कोचीन, कालीकट, कँबे, अदन, जिद्दा और कैरो होते हुए १४४४ में यह वेनिस पहुँचे। तत्कालीन भारतीय जीवन, वेशभूषा, शिष्टाचार, रीति-रिवाज तथा सामाजिक जातियों का इन्होंने रोचक वर्णन किया है।

[र० श० पां०]

कांटीय दर्शन इमानुएल कांट (१७२४-१८०४) का दर्शन, जिसे "आलोचनात्मक दर्शन" (क्रिटिकल फ़िलॉसफ़ी), "आलोचनावाद" (क्रिटिसिज्म), "परतावाद" (ट्रैन्सेंडेंटलिज्म), अथवा "परतावादी प्रत्ययवाद" (ट्रैन्सेंडेंटल आइडियलिज्म) कहा जाता है। इस दर्शन में ज्ञानशक्तियों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। साथ ही, १७ वीं और १८वीं शताब्दियों के इंद्रियवाद (सेंसेशनलिज्म) एवं बुद्धिवाद (इंटेलेक्चुअलिज्म) की समीक्षा है। विचारसामग्री के अर्जन में इंद्रियों की माध्यमिकता की स्वीकृति में कांट इंद्रियवादियों से सहमत था, उक्त सामग्री को विचारों में परिणत करने में बुद्धि की अनिवार्यता का समर्थन करने में वह बुद्धिवादियों से सहमत था, किंतु वह एक का निराकरण कर दूसरे का समर्थन करने में किसी से सहमत न था। कांट के मत में बुद्धि और इंद्रियाँ ज्ञान संबंधी दो भिन्न संस्थान नहीं हैं, बल्कि एक ही संस्थान के दो विभिन्न अवयव हैं। कांट के दर्शन को "परतावाद" कहने का आशय उसे इंद्रियवाद तथा बुद्धिवाद से 'पर' तथा प्रत्येक दार्शनिक विवेचन के लिये आधारभूत मानना है। उसके दर्शन में बुद्धि द्वारा ज्ञेय विषयों का नहीं, स्वयं बुद्धि का परीक्षण किया गया है और बहुत ही विशद रूप में। यूरोपीय दर्शन के विस्तृत इतिहास में, प्रथम और अंतिम बार, कांट के माध्यम से, ज्ञानशक्तियों ने स्वयं की व्याख्या इतने विस्तार से प्रस्तुत की है।

इस प्रकार की व्याख्या का प्रथम निर्देश यूनानी दर्शनकाल में सुकरात से प्राप्त हुआ था। उसने कहा था "अपने आपको जानो", किंतु उसके बाद अपने आपको जानने के जितने प्रयत्न किए गए सबका पर्यवसान अपने से बाह्य वस्तुओं के ज्ञान में ही होता रहा। आधुनिक काल के प्रारंभ में फ्रांसीसी विचारक देकार्त (१५९६-१६५०) ने फिर बलपूर्वक कहा— (१) इंद्रियाँ विश्वास के योग्य नहीं, वे भ्रम उत्पन्न करती हैं, (२) बुद्धि भी निरपेक्ष विश्वास के योग्य नहीं, वह असत् निर्णयों को सत् सिद्ध कर देती है; किंतु (३) 'मैं विचार करता हूँ, अतएव मैं हूँ,' एक ऐसी प्रतीति है, जिसके खंडन का प्रत्येक प्रयत्न उसकी सत्यता का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। पर, किसी विचारक ने इस ज्ञानाधिकरण 'मैं', अथवा बुद्धि के जटिल संस्थान की छानबीन नहीं की। युग की प्रवृत्तियाँ गणित और भौतिक-विज्ञान के प्रभावों से आक्रांत थीं। टाइकोब्राही और कोपरनिकस ने गणित के सहारे सदा से संसार के केंद्र में बैठी हुई पृथ्वी को धकेलकर उसके स्थान पर सूर्य को बैठा दिया था। दूसरी ओर गैलीलियो ने पीज़ा के झुके हुए स्तंभ की चोटी से पत्थरों को गिराकर, पृथ्वी की द्विविध गति का अनुसंधान किया था। यूरोपीय विचारक इन्हीं दोनों प्रभावों के अंतर्गत दो दलों में बँटकर, ज्ञानसाम्राज्य पर बुद्धि अथवा इंद्रियों के एकाधिकार का समर्थन कर रहे थे। एक ओर जर्मन दार्शनिक गॉटफ्रीड विल्हेल्म लीबनिज़ (१६४६-१७१६) के अनुयायी थे दूसरी ओर अंग्रेज विचारक, जॉन लॉक (१६३२-१७१४) के समर्थक थे। किंतु, युग की दशा देखकर स्काटलैंड के संदेहवादी कहे जानेवाले विचारक डेविड ह्यूम (१७११-७६) ने फिर पूछा, कारणता (कॉज़ेलिटी) के समर्थन का आधार कहाँ है? घटनाओं के जाल में केवल पूर्वापर संबंध, सहगमन आदि के अतिरिक्त कुछ भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

इस बार, कांट की प्रतिभा जागी और उसने बुद्धि का परीक्षण प्रारंभ किया। १७७० ई० से १७८१ ई० तक उसने शुद्ध बुद्धि के कार्यों पर चिंतन कर, 'क्रिटीक डर रीनेन वेरनुन्फ़्ट' के माध्यम से घोषित किया कि शुद्ध बुद्धि ऐंद्रिक प्रदत्तों का संश्लेषण करती है। इसीलिये, प्रत्येक वैज्ञानिक निर्णय का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर बौद्धिक एवं ऐंद्रिक दो प्रकार के तत्व उपलब्ध होते हैं। उक्त समीक्षा के प्रथम भाग में उसने ऐंद्रिक बोध का विवेचन करते हुए, इंद्रियों द्वारा बाह्य जगत् से लाई हुई सामग्री और उनके बोध के स्वभाव में, सन्निविष्ट रूप में, अंतर किया। उसने बताया कि बाह्य वस्तुएँ इंद्रियों पर जो प्रभाव डालती हैं, वह देश और काल के परिच्छेदों से मुक्त होता है, किंतु, ऐंद्रिक बोध इन परिच्छेदों के बिना संभव नहीं। इस प्रकार उसने निर्णीत किया कि ये बोध के दो रूप हैं, जिन्हें प्रत्येक बोधसामग्री को इंद्रियद्वारों में प्रवेश करते ही ग्रहण करना पड़ता है। कांट ने देश और काल को अवांतर आकार स्थिर करते हुए, प्रागनुभवीय (आप्रायोरी) तत्व कहा।

बाह्य जगत् से आई हुई सामग्री में इतना रूपांतर हो चुकने पर बुद्धि का दूसरा विभाग, अर्थबोधविभाग (वरस्टैंड) अपना काम प्रारंभ करता है। इस विभाग के कार्यों का विवेचन बुद्धिसमीक्षा के दूसरे भाग, 'पर विश्लेषण' (ट्रैन्सेंडेंटल अनालिटिक) में किया गया है। वह देश और कालबोध से युक्त सामग्री पर १२ उपाधियों का आरोप करता है। कांट ने अर्थबोध की १२ उपाधियों को चार समूहों में विभाजित किया। एकता (यूनिटी), बहुता (प्लूरैलिटी), और समष्टि (टोटैलिटी) की उपाधियाँ परिमाणसूचक हैं, सत्ता (रीअलिटी), निषेध (निगेशन) और ससीमता (लिमिटेशन) की उपाधियाँ गुणसूचक हैं, व्याप्ति-अधि इत्तत्व (इन्हेरेंस सब्सिस्टेंस), कारणता निर्भरता (कॉज़ेलिटी डिपेंडेंस) और सामूहिकता (कम्यूनिटी) संबंधसूचक हैं, संभावना असंभावना (पॉसिबिलिटी इम्पॉसिबिलिटी), अस्तित्व अनस्तित्व (एक्ज़िस्टेंस नॉन-एक्ज़िस्टेन्स), अनिवार्यता आकस्मिकता (नेसेसिटी कांटिंजेंसी) प्रकारता (माडलिटी) का बोध कराती हैं।

उपर्युक्त १२ उपाधियों के आरोप के फलस्वरूप १२ प्रकार के बौद्धिक निर्णय उपलब्ध होते हैं—(१) सामान्य (युनिवर्सल), (२) विशिष्ट (पर्टीक्युलर) तथा (३) एकबोधक (सिंग्युलर) परिमाण संबंधी निर्णय हैं (४) स्वीकृतिबोधक (अफ़र्मेटिव), (५) निषेधबोधक (नेगेटिव) तथा (६) असीमताबोधक (इन्फ़िनिट) निर्णय गुणबोध कराते हैं, निरपेक्ष (कैटेगॉरिकल), सापेक्ष (हाइपोथेटिकल) तथा वैकल्पिक (डिस्जंक्टिव) संबंध बोध कराते हैं और समस्यामूलक (प्रॉब्लेमैटिक), वर्णनात्मक (एसर्टारिक) तथा संदेहसूचक (एपोडिक्टिक) निर्णय प्रकारता (माडलिटी) का बोध कराते हैं।

इस प्रकार कांट ने स्थिर किया कि बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करने में बुद्धि ऐंद्रिक सामग्री में इतना रूपांतर कर देती है कि इंद्रियद्वारों में प्रविष्ट होने के पश्चात् जगत् का रूप पहले जैसा नहीं रह जाता। अतएव, उसे बुद्धिगत वस्तु और बाह्य वस्तु में भेद करना पड़ा। बुद्धि के अनुशासन से मुक्त वस्तु को उसने 'न्यूमेना' और उक्त अनुशासन में जकड़ी हुई वस्तु को 'फ़ेनॉमिना' संज्ञा दी। इस अंतर का तात्पर्य यह दिखाना था कि बौद्धिक रूपांतर के पश्चात् सत्य ज्ञेय वस्तु प्रातिभासिक हो जाती है।

अब तीसरे भाग में, जिसे उसने 'परद्वैतिकी' (ट्रैन्सेंडेंटल डायलेक्टिक) शीर्षक दिया था, उसने बताया कि इंद्रियों की सहकारिता के अभाव में साधनहीन शुद्ध बुद्धि ईश्वर, आत्मा तथा विश्वसमष्टि का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। किंतु, कांट का उद्देश्य बुद्धि को उक्त विषयों के ज्ञान में अक्षम सिद्ध कर 'अज्ञानवाद' (एग्नास्टिसिज्म) का प्रवर्तन करना नहीं था। अतएव कांट ने सात वर्ष अपने शुद्ध बुद्धि की समीक्षा के अंतिम निर्णय पर अथक चिंतन किया। अंत में उसे बुद्धि के आगे बढ़ने का मार्ग दिखाई दिया। फलत, सन् १७८८ ई० में, उसने दूसरी समीक्षा-पुस्तक प्रकाशित की। यह "व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा" (क्रिटीक डेर प्रैक्टिस्केन वेरनुन्फ़्ट) थी।

सात वर्ष पूर्व, शुद्ध बुद्धि के लिये आत्मा, परमात्मा और विश्वसमष्टि के जो अगम क्षेत्र थे, उनमें व्यावहारिक बुद्धि ने, नैतिक अनुभव का पाथेय लेकर, प्रवेश किया। कांट की व्यावहारिक बुद्धि शुद्ध बुद्धि की भाँति बाह्य प्रकृति के तथा अपने स्वभाव के नियमों से सीमित न थी। वह स्वतंत्र बौद्धिक व्यक्ति की बुद्धि थी, जो स्वत: अपना नियमन करने में समर्थ थी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यावहारिक बुद्धि के सिद्धांत से कांट हाब्स (१५८८-१६७९) के व्यक्तिवाद का समर्थन करना चाहता था। उसने व्यावहारिक बुद्धि को स्वशासन की स्वतंत्रता प्रदान की थी, किंतु

ऐसे नियमो के अनुसार, जिनका अनुसरण वैश्व मानव के लिये उचित हो।

काट के दर्शन के इस स्तर को समझने के लिये एक ओर परमार्थ और व्यवहार का भेद समझने की और दूसरी ओर सैद्धातिक और नैतिक बुद्धि के भेद को समझने की आवश्यकता है। वह परमार्थ को ज्ञानात्मक व्यापार की परिधि से 'पर' मानता था, इसीलिये सैद्धातिक चिंतन की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए उसने सिद्ध किया कि ज्ञानव्यापार का विषय बनते ही परमार्थ, जो सत्य है, 'व्यवहार' मे, जो प्रातिभासिक है, परिणत हो जाता है। किंतु, उसकी दृष्टि मे नैतिक चिंतन सैद्धातिक चिंतन से दूरगामी है, क्योकि वह सैद्धातिक प्रतिबधो से मुक्त है। इसलिये, नैतिक चिंतन उन विषयो तक पहुँच सकता है जो सैद्धातिक चिंतन के लिये दुरूह है। काट जिसे व्यावहारिक बुद्धि कहता है, सचमुच वह नैतिक बुद्धि है, बौद्धिक मानव की स्वतत्र सकल्प शक्ति है। इसी प्रसग मे काट ने आत्मा के अमरत्व की और ईश्वर के अस्तित्व की पुन स्थापना की है। सैद्धातिक चिंतन इन अस्तित्वो के बिना भी अपना काम चला सकता है, किंतु इनकी कल्पना के बिना नैतिक चिंतन के पैर नही जम सकते। अमर आत्मा की स्वीकृति में शाश्वत जीवन की स्वीकृति है, ईश्वर की स्वीकृति कर्मफलदाता की स्वीकृति है। इनका सैद्धातिक मूल्य भले ही कुछ न हो, किंतु नैतिक मूल्य बहुत बडा है। नैतिक चिंतन में बुद्धि का कार्य आचरण की समस्या पर विचार करना है। इसीलिये काट ने इसे व्यावहारिक बुद्धि कहा था। किंतु वह अनेक बुद्धियो का समर्थन नही कर रहा था। वह दिखाना चाहता था कि विषयभेद से बुद्धि भिन्न रूपो मे विकसित होती है, भिन्न नियमो के अनुसार कार्य करती है।

प्रकृति के वैज्ञानिक विवेचन में वह इद्रियो की सहकारिता की अपेक्षा करती है और अपने चौदह नियमो का प्रयोग करती है। वहाँ वह किसी ऐसी सत्ता का समर्थन नही करती, जो उसके चतुर्दश अनुबधो के अनुशासन मे न आ सके। नैतिक चिंतन में प्रवृत्त होते ही वह सकल्प का रूप ले लेती है और कर्म का पोषण करने वाली सत्ताओ मे विश्वास करती है।

काट की तीसरी समस्या 'सुदर' के आस्वाद में प्रवृत्त बुद्धि की गतिविधि के निरूपण की थी। यह कार्य करने के लिये उसने 'निर्णय की समीक्षा' (क्रिटिक डर उरथील्स्क्रैफ्ट) प्रस्तुत की। इसके प्रकाश मे आने का समय १७९० ई० था। काट के अनुसार 'सुदर' की ओर उन्मुख होते ही बुद्धि 'निर्णय' का रूप ले लेती है। वह 'निर्णय' को शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि के बीच की कडी मानता था। उसने प्रकृति को शुद्ध बुद्धि का विषय ठहराया था और प्रकृति के सत्य का अवगाहन एव अनिवार्यता का अनुसधान उद्देश्य बताया था। व्यावहारिक बुद्धि अथवा सकल्प का विषय 'शुभ' (गुड) तथा उद्देश्य स्वतत्रता का अनुभव था। अब वह निर्णय का विषय रसानुभूति बताता है और इस अनुभूति को अनिवार्यता तथा स्वतत्रता के मध्य की स्थिति मानता है। स्पष्टत, निर्णय में वह यथार्थ और आदर्श का गठबधन कराना चाहता था। उसके विचार को समझने के लिये हमे सुदर सबधी कल्पना को ज्ञान और सकल्प के बीच रखना होगा। वह 'सुदर' को ज्ञान मात्र की वस्तु नही, सुखद वस्तु मानता था, किंतु उस सुख को जो 'सुदर' के प्रेक्षण से उत्पन्न होता है वह ससर्गवर्जित मानता था। उसने 'सुदर' की परिभाषा में गुण, परिमाण और प्रकारता का समावेश तथा सबध का निषेध किया है। इस प्रकार की रसानुभूति शुद्ध बुद्धि तथा नैतिक आचरण के बिना सभव नही। इसीलिये, वह 'सुदर' की कल्पना को ज्ञान और सकल्प के बीच का निर्णय कहता है।

काट की इस सर्वांगीण समीक्षा का उत्तरवर्ती विचारधाराओ पर जितना प्रभाव पडा उतना किसी आधुनिक मत का नही। उसके स्वतत्रता के विचार ने फिक्टे, शेलिंग और हेगेल को प्रभावित किया। काट के ज्ञेय और ज्ञात वस्तु के स्वभावभेद ने शोपेनहार को प्रभावित किया। लोत्ज़े का प्रयोजनमूलक प्रत्ययवाद (टीलियालॉजिकल आइडियलिज्म) काट के ही दर्शन का फल था। उसके मनोवैज्ञानिक एव व्यवहारवादी विचारो को लेकर लैंग, सिमेल और वाईहिंगर ने अपने मतो का विकास किया। कोहेन, नैट्रॉप, रिकर्ट, हसेरल, हाइडेगर, कैसिरर की आलोचना पद्धतियाँ काट के ही सकेतो पर आधारित हैं। अग्रेज विचारक केयर्ड, ग्रीन तथा ब्रैडले ने हेगेल के माध्यम से काट के प्रभाव को अपने मतो में आत्मसात् किया था। फ्रास मे काट का प्रभाव देखने के लिये रिनूवियर का अध्ययन किया जा सकता है।

स० ग्र०—एन० के० स्मिथ ए कमेंट्री टु काट्स क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न, १९१८, ए० सी० ईविंग काट्स ट्रीटमेंट ऑव कॉज़ैलिटी, १९२४, ए० डी० लिड्ज़े काट, १९३४, एच० जे० पेटन काट्स मेटाफिज़िक्स ऑव एक्सपीरियंस, दो भाग, १९३६, द कैटेगॉरिकल इपरेटिव—ए स्टडी आव काट्स मॉरल फिलॉसफी, १९४८, ह्विटने एड बॉवर्स द हेरिटेज आव काट, १९३९। [शि० न० श०]

कांडला

कच्छ की खाडी के पूर्वी किनारे पर २३° उ० अ० तथा ७०° १३' पू० दे० पर स्थित सुरक्षित प्राकृतिक पत्तन है। यहाँ पर जलयानो के आने जाने तथा रुकने के लिये पर्याप्त स्थान है। कराची पत्तन के पाकिस्तान मे चले जाने से पैदा हुई कमी को पूरा करने के लिये १९४९ मे हैंबर्ग बदरगाह के नमूने पर काडला का निर्माणकाय प्रारभ हुआ। पुराना पत्तन सन् १९३१ में वर्तमान स्थान से दो मील की दूरी पर कच्छ राज्य द्वारा बनाया गया था। १९५५ में काडला भारत का छठा बडा बदरगाह घोषित किया गया। इसकी २,७५,००० वर्गमील पृष्ठभूमि मे कच्छ, उत्तरी गुजरात, राजस्थान, पजाब, कश्मीर तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश समिलित हैं। अब तक १५ करोड रुपया पत्तन तथा गाधीधाम नगर के निर्माणकार्य मे व्यय हो चुका है। यह पत्तन सभी आधुनिक सुविधाओ से सपन्न है। २,७०० फुट लबी गहरे पानी की जेटी है, जहाँ चार बडे जहाज एक साथ खडे हो सकते हैं। राडार द्वारा ३० मील तक जहाजो के आने जाने का निरीक्षण किया जा सकता है। बिजली तथा पानी की सुविधा है। पत्तन के निकट ही गाधीधाम नगर की योजना ७,००० एकड भूमि पर बनाई गई है। अभी तक यहाँ की जनसख्या ४०,००० है, जिसमें पश्चिमी पाकिस्तान से आए हुए सिंधी शरणार्थियो का बाहुल्य है।

काडला बदरगाह से प्रति वर्ष दस लाख टन से ऊपर का आयात निर्यात होता है। १९५९-६० मे आयात ८ लाख टन और निर्यात ३ लाख टन के लगभग था। यहाँ का मुख्य निर्यात कच्चा लोहा, मूँगफली तथा तेल, कपास, कपडा, दाल, खाल और नमक, तथा आयात पेट्रोल, कपास, सीमेंट, लोहा, इस्पात, अनाज, कोयला और रासायनिक पदार्थ हैं। काडला उत्तर पश्चिमी भारत का भावी समुद्री द्वार बन सकता है, पर इसकी पूर्ति मे अभी कतिपय न्यूनताएँ हैं, जैसे पास का पृष्ठप्रदेश उन्नत नही है तथा यह क्षेत्र केवल एक छोटी लाइन द्वारा काडला से मिला हुआ है। नई योजनाओ मे अहमदाबाद से काडला तक राष्ट्रीय सडक तथा बडी लाइन बनाने की व्यवस्था है। साथ ही साथ स्वतत्र व्यापारक्षेत्र और पत्तनन्यास (पोर्टट्रस्ट) भी स्थापित किए जा रहे हैं। इससे काडला को प्रोत्साहन मिलेगा। [शा० ला० का०]

कांपटन, आर्थर हॉली

का जन्म अमरीका के वूस्टर नामक नगर मे १० सितबर, १८९२ ई० को हुआ। इनकी शिक्षा पहले वूस्टर विद्यालय मे और फिर प्रिंस्टन विश्वविद्यालय में हुई। प्रिंस्टन विश्वविद्यालय ने इन्हें सन् १९१६ मे पीएच० डी० की उपाधि प्रदान की। कापटन (कॉम्पटन) सन् १९२० से १९२३ तक वाशिंगटन विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रधानाध्यापक रहे, तत्पश्चात् शिकागो विश्वविद्यालय मे इनकी नियुक्ति हुई। सन् १९४५ में कापटन वाशिंग्टन विश्वविद्यालय के कुलपति हुए। विश्वविद्यालयो में काम करने के साथ ही 'जेनरल इलेक्ट्रिक कपनी' को इन्होने गवेषणा कार्य में सन् १९२६ मे १९४५ तक महत्वपूर्ण सहायता दी। द्वितीय महायुद्ध के समय, सन् १९४२ से १९४५ तक, ये 'मेटालर्जिकल ऐटॉमिक प्रोजेक्ट' के सचालक रहे।

कापटन का प्रमुख कार्य एक्स-रे के सबध में है। एक्स-रे के गुणधर्म कतिपय क्षेत्रो में विद्युच्चुबकीय तरगो के समान होते हैं (देखिए 'एक्स-रे की प्रकृति')। किंतु एक्स-रे किरणो का प्रकीर्णन (स्कैटरिंग, scattering) होने के पश्चात् प्रकीरित एक्स-रे के तरगदैर्घ्य में परिवर्तन हो जाता है। इसको 'कापटन परिणाम' कहते हैं (देखिए 'कापटन परिणाम')। इस महत्वपूर्ण आविष्कार के कारण सन् १९२७ मे कापटन को विश्वविख्यात नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस परिणाम के अतिरिक्त एक्स रे पर

सपूर्ण परावर्तन, व्याभग-झर्झरी (डिफ्रैक्शन ग्रेटिंग, diffraction grating) से एक्स-रे का वर्णक्रम, इत्यादि विषयो में इनके कार्य सुप्रसिद्ध हैं। अतरिक्ष किरण (कॉस्मिक रेज, cosmic rays) सबधी क्षेत्र में भी इनके आविष्कार महत्वपूर्ण हैं। कापटन की प्रकाशित रचनाओ में एलिसन की सहायता से लिखा हुआ ग्रथ एक्स-रेज़ थीयरी ऐंड प्रैक्टिस विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

स० ग्र०—नील्स एच० डी० वी० हीथकोट नोबेल प्राइज़विनर्स इन फिज़िक्स। [दे० र० भ०]

कांपटन परिणाम

उच्च कपन सख्या के विद्युच्चुबकीय विकिरण की पदार्थ के साथ वह अत क्रिया (इटरऐक्शन, interaction) है जिसमें मुक्त इलेक्ट्रानो से प्रकीर्ण (स्कैटर, scatter) होकर फोटान की ऊर्जा में ह्रास हो जाता है और उनके तरग-आयाम में वृद्धि हो जाती है।

इस परिणाम के स्पष्टीकरण के लिये १९२३ ई० में कापटन और डेवाई न स्वतत्र रूप से यह धारणा अपनाई कि किसी दिशा में चलते हुए फोटान में जो ऊर्जा और सवेग होता है उनका कुल या केवल थोडा सा भाग वह फोटान एक इलेक्ट्रान को एक ही टक्कर (कलिज्ह्न, collision) होने पर दे सकता है। इससे प्रकीर्ण फोटान की ऊर्जा [ऊ = प्ल आ ($E=h\nu$), जिसमें प्ल (h) प्लैंक स्थिराक है और आ (ν) विकिरण की कपन सख्या है] आपाती फोटान की ऊर्जा से कम होती है और फोटान से सबधित तरगआयाम बढ जाता है। स्पष्टत यह फोटान-इलेक्ट्रान-टक्कर प्रतिरूप (photon-electron collision model) विकिरण के तरगवाद (वेव थीयरी) के एकदम प्रतिकूल है।

सन् १९२४ ई० में बोर (Bohr), क्रेमर्स और स्लेटर ने एक दूसरे प्रतिरूप का सुझाव रखा जो तरगवाद पर आधारित था। इस प्रतिरूप में ऊर्जास्थिरता और सवेगस्थिरता के नियम विकिरण और इलेक्ट्रान की किसी एकाकी अत क्रिया में लागू न होकर अनेक टक्करो के साख्यिकीय माध्य (statistical average) पर ही लागू होते हैं। अतएव आपाती विकिरण टामसन के तरगवादी प्रतिरूप के अनुरूप सतत (continuously) प्रकीर्ण होता है, पर साथ में कभी कभी एक प्रतिक्षेप (recoil) इलेक्ट्रान भी प्रकीर्णक से निकलता है। यह प्रतिरूप कापटन परिणाम के कारण तरगआयाम में वृद्धि का स्पष्टीकरण करने में सफल तो अवश्य हुआ, पर अतत कुछ प्रायोगिक परिणामो के आधार पर यह अमान्य हो गया और मान्यता कापटन एव डेवाई के फोटान-इलेक्ट्रान-टक्कर प्रतिरूप को ही मिली।

कापटन-डेवाई प्रतिरूप के अनुसार प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान और प्रकीर्ण विकिरण का उत्पादन साथ ही साथ होना आवश्यक है। इस युगपदीयता (Simultaneity) में क्वाटम यात्रिकी के अनुसार समय अनिश्चितता (time uncertainty) लगभग $१०^{-११}$ सेकड है और नवीनतम प्रयोगो मे युगपदीयता समय इस सीमा के पर्याप्त निकट ($\sim १०^{-११}$ सेकड तक) पहुँच चुका है।

कापटन-डेवाई के फोटान प्रतिरूप मे ऊर्जा और सवेग की स्थिरता का उपयोग करके प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान और प्रकीर्ण फोटान की दिशाओ मे एक यथार्थ सबध मिलता है। आधुनिक प्रयोगो से इस सबध की सतोषजनक पुष्टि होती है।

डिरैक (Dirac) की क्वाटम यात्रिकी के सिद्धातो के अनुसार विद्युच्चुबकीय क्षेत्र और एक इलेक्ट्रान के बीच अत क्रिया का स्पष्टीकरण पूर्णत भिन्न रूप से किया गया है। इस प्रतिरूप मे अत क्रिया की प्रारभिक और अतिम स्थितियो के अतिरिक्त एक मध्यम (intermediate) स्थिति भी होती है, जिसमें केवल सवेग ही स्थिर रहता है, ऊर्जा नही। इस अत स्थ स्थिति मे एक इलेक्ट्रान एक फोटान को उत्सारित (emit) कर सकता है या एक फोटान का अवशोषण (absorption) कर सकता है। अत कापटन परिणाम मे दो विकल्पो की शक्यता है

(१) इलेक्ट्रान पहले आपाती फोटान को प्रचूषित कर लेता है और अत स्थ स्थिति मे कोई फोटान उपस्थित नही रहता। अतिम स्थिति तक पहुँचन पर इलेक्ट्रान एक भिन्न ऊर्जा का (प्रकीर्ण) फोटान उत्सारित कर देता है।

(२) इलेक्ट्रान पहले एक भिन्न ऊर्जा का (प्रकीर्ण) फोटान उत्सारित कर देता है। अत अत स्थ स्थिति मे दो फोटान उपस्थित रहते हैं। अतिम स्थिति तक पहुँचने पर इलेक्ट्रान आपाती फोटान का अवशोषण कर लेता है।

इन दोनो विकल्पो का विचार करके इलेक्ट्रान से विद्युच्चुबकीय विकिरण के प्रकीर्णन का अध्ययन किया गया है और उससे जो निष्कर्ष निकले हैं (क्लाइन तथा निशीना के प्रकीर्णन क्रॉस सेक्शन के सूत्र) वे आधुनिक प्रयोगो द्वारा ऊर्जा के पर्याप्त विस्तार के लिये सिद्ध किए जा चुके हैं। कापटन-डेवाई के निष्कर्ष इन सामान्य निष्कर्षो के विशेष रूप हैं।

कापटन विचलन (shift) और प्रकीर्ण फोटान की ऊर्जा—यदि प्रकीर्ण पदार्थ मे हम इलेक्ट्रान को पूर्णतया स्वाधीन (अपरिबद्ध) और स्थिर माने और यदि आपाती फोटान की ऊर्जा प्ल आ$_०$ ($h\nu_0$) हो और प्रकीर्ण फोटान की ऊर्जा प्ल आ$'$ ($h\nu'$) हो, तो ऊर्जा स्थिरता और सवेग स्थिरता के नियमो का उपयोग करके हमे निम्नलिखित समीकरण मिलते हैं

$$\left.\begin{array}{l}\text{प्ल आ}_० + \text{द्र}_० \text{ प्र}^२ = \text{प्ल आ}' + \dfrac{\text{द्र}_० \text{ प्र}^२}{\sqrt{(१-\text{व}^२)}} \\ \left[h\nu_0 + m_0 c^2 = h\nu' + \dfrac{m_0 c^2}{\sqrt{1-\beta^2}}\right]\end{array}\right\} \quad (१)$$

$$\left.\begin{array}{l}\dfrac{\text{प्ल आ}_०}{\text{प्र}} = \dfrac{\text{प्ल आ}'}{\text{प्र}} \text{ कोज्या त} + \dfrac{\text{द्र}_० \text{ व प्र}}{\sqrt{(१-\text{व}^२)}} \text{ कोज्या थ} \\ \left[\dfrac{h\nu_0}{c} = \dfrac{h\nu'}{c}\cos\phi + \dfrac{m_0 \beta c}{\sqrt{1-\beta^2}}\cos\theta\right]\end{array}\right\} \quad (२)$$

$$\left.\begin{array}{l}० = \dfrac{\text{प्ल आ}'}{\text{प्र}} \text{ ज्या त} + \dfrac{\text{द्र}_० \text{ व प्र}}{\sqrt{(१-\text{व}^२)}} \text{ ज्या थ} \\ \left[0 = \dfrac{h\nu'}{c}\sin\phi - \dfrac{m_0 \beta c}{\sqrt{1-\beta^2}}\sin\theta\right]\end{array}\right\} \quad (३)$$

जिनमे द्र$_०$ (m_0) इलेक्ट्रान का स्थिर द्रव्यमान (rest mass) है, वे (=व प्र) अर्थात् $\nu (=\beta c)$ प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान का वेग है, त(ϕ)
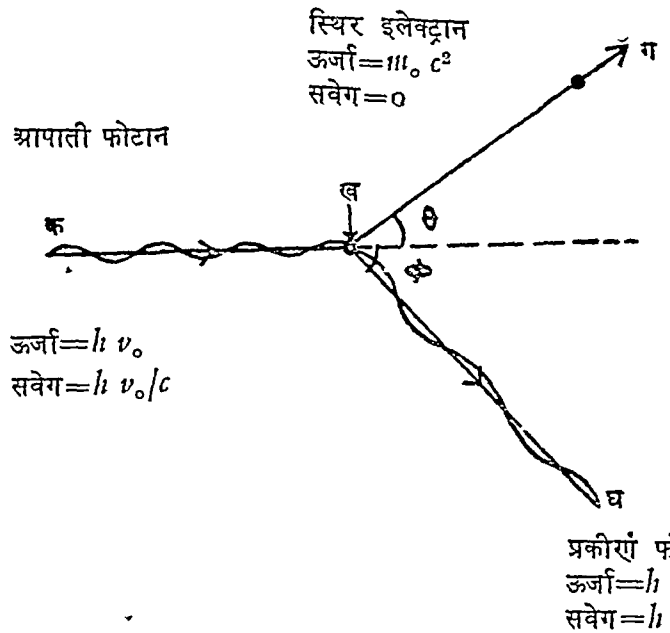
कापटन प्रकीर्णन

प्रकीर्णन कोण है और थ (0) प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान की दिशा और आपाती फोटान की दिशा के बीच का कोण है।

इन मूल समीकरणों के उपयोग से हमे निम्नलिखित निष्कर्ष मिलते हैं

कापटन-विचलन—

$$\text{दे}'-\text{दे}_\circ=\frac{\text{प्र}}{\text{आ}'}-\frac{\text{प्र}}{\text{आ}_\circ}=\frac{\text{प्ल}}{\text{द्र}_\circ\,\text{प्र}}\,(१-\text{कोज्या त}) \qquad (४)$$

$$\left[\lambda'-\lambda_\circ=\frac{c}{v'}-\frac{c}{v_\circ}=\frac{h}{m_\circ c}\,(1-\cos\phi)\right]$$

विकीर्ण फोटान की ऊर्जा—

$$\text{प्ल आ}'=\frac{\text{प्ल आ}_\circ}{१+\text{ण}(१-\text{कोज्या त})} \qquad (५)$$

$$hv'=\frac{h\,v_\circ}{1+\alpha\,(1-\cos\phi)}$$

$$\text{जिसमें ण}=\frac{\text{प्ल आ}_\circ}{\text{द्र}_\circ\,\text{प्र}^2}\quad\left[\alpha=\frac{h\,v_\circ}{m_\circ c^2}\right]$$

प्रतिक्षिप्त इलेक्ट्रान की गतिक ऊर्जा—

$$\text{ऊ}_{\text{गतिज}}=\text{प्ल आ}_\circ-\text{प्लआ}'\quad\left[E_{kin}=h\,v_\circ-h\,v'\right] \qquad (६)$$

$$\text{ऊ}_{\text{गतिज}}=\text{प्ल आ}_\circ\frac{\text{ण}(१-\text{कोज्या त})}{१+\text{ण}(१-\text{कोज्या त})} \qquad (७)$$

$$\left[E_{kin}=h\,v_\circ\frac{\alpha\,(1-\cos\phi)}{1+\alpha(1-\cos\phi)}\right]$$

$$\text{ऊ}_{\text{गतिज}}=\text{प्ल आ}_\circ\frac{२\,\text{ण कोज्या}^२\,\text{थ}}{(१+\text{ण})^२-\text{ण}^२\text{कोज्या}^२\text{थ}} \qquad (८)$$

$$\left[E_{kin}=h\,v_\circ\frac{2\,\alpha\,\cos^2\theta}{(1+\alpha)^2-\alpha^2\cos^2\theta}\right]$$

प्रकीर्णन कोणो त (ϕ) और थ (θ) का परस्पर सबध निम्नाकित है

$$\text{कोस्प थ}=(१+\text{ण})\,\text{स्प}\,\tfrac{१}{२}\,\text{त} \qquad (९)$$

$$[\cot\theta=(1+\alpha)\tan\tfrac{1}{2}\phi]$$

समीकरण (४) से आपाती फोटान और प्रकीर्ण फोटान के तरग-आयामो का अतर, जिसे कापटन विचलन (shift) कहते है, ज्ञात होता है। यह कापटन विचलन केवल प्रकीर्णन कोण पर निर्भर रहता है, आपाती फोटान की ऊर्जा पर बिलकुल नही।

क्लाइन-निशीना सूत्र—डीरैक की क्वाटम यात्रिकी के आधार पर क्लाइन और निशीना ने कापटन परिणाम के लिय अवकल प्रकीर्णन अनुप्रस्थ काट (differential scattering cross-section) ता (ई^ढ), $d\ (e^\sigma)$, ज्ञात किया, जिसकी परिभाषा हम

$$\text{ता (ई}^\text{ढ}\text{)},\ [d\ (e^\sigma)]=\frac{\text{पुन विकिरण शक्ति}}{\text{आपाती ऊर्जा}}\ \text{से कर सकते है।}$$

यदि हम आपाती विकिरण पूर्णतया अनभिस्पदित (unpolarized) लें और प्रकीर्ण फोटान को प्रकीर्णन कोणो त (ϕ) और त+तात ($\phi+d\phi$) के बीच बने ठोस कोण ता ठो ($d\,\Omega$) से जाने दें तो क्लाइन और निशीना के अनुसार

$$\text{ता(ई}^\text{ढ}\text{)}=\tfrac{१}{२}\,\text{गा}_\circ^२(\text{आ}'/\text{आ}_\circ)^२(\text{आ}_\circ/\text{आ}'+\text{आ}'/\text{आ}_\circ-\text{ज्या}^२\,\text{त})$$

$$\text{ता ठो}\ \frac{\text{सेंमी}^२}{\text{इलेक्ट्रान}} \qquad (१०)$$

$$\left[d(e^\sigma)=\frac{\gamma_\circ^2}{2}\left(\frac{v'}{v_\circ}\right)^2\left(\frac{v_\circ}{v'}+\frac{v'}{v_\circ}-\sin^2\phi\right)d\Omega\ \text{cm}^2/\text{electron}\right] \qquad (10)$$

जिसमें गा$_\circ$ = इ^२/द्र$_\circ$प्र^२, $\gamma_\circ=e^2/m_\circ c^2$

और ता ठो=२π ज्या त ता त ($d\Omega=2\pi\ \sin\phi\ d\phi$)

इस समीकरण का अनुकलन (Integration) करने पर हमें समस्त प्रकीर्णन अनुप्रस्थ काट (total scattering cross-section) ज्ञात होता है

$$\text{ई}^\text{र}=\pi\text{गा}_\circ^२\left\{\frac{१}{\text{ण}}\,\text{लघु}\,(१+२\,\text{ण})+\frac{४}{\text{ण}^२}-\frac{२(१+\text{ण})}{\text{ण}^३}\right.$$

$$\left.\text{लघु}\,(१+२\text{ण})+\frac{२(१+\text{ण})}{(१+२\text{ण})^२}\right\} \qquad (११)$$

$$\left[e^\sigma=\pi\,\gamma_\circ^2\left\{\frac{1}{\alpha}\log\,(1+2\alpha)+\frac{4}{\alpha^2}-\frac{2(1+\alpha)}{\alpha^3}\log(1+2\alpha)+\frac{2(1+\alpha)}{(1+2\alpha)^2}\right\}\right] \qquad (11)$$

समीकरण (१०) और (११) प्रयोगो द्वारा सत्यापित किए जा चुके है और इनकी सफलता डिरैक की इलेक्ट्रान थीयरी की सत्यता का पहला बडा प्रमाण है, क्योकि दूसरे बडे प्रमाण, पॉज़िट्रान, का आविष्कार कई वर्षो के उपरात हुआ।

परिबद्ध इलेक्ट्रानो से कापटन प्रकीर्णन—कापटन तथा डेबाई और क्लाइन तथा निशीना के समीकरण इसी धारणा पर आधारित है कि इलेक्ट्रान प्रारभ मे अपरिबद्ध और स्थिर है। यह धारणा केवल सयोजी (valence) इलेक्ट्रानो के लिये ही मान्य है पर अधिक बधकारी ऊर्जा (binding energy) वाले इलेक्ट्रानो, जैसे के—या एल—छद (*K*— or *L*— shell) के इलेक्ट्रानो, के लिये मान्य नही है।

प्रयोगो से यह देखा गया है कि कापटन प्रकीर्ण विकरण को यदि किसी एक प्रकीर्णन कोण पर मापा जाय तो उसका केवल एक तरगआयाम नही मिलता, एक निश्चित विस्तार में तरगआयाम मिलता है। यह तरग-आयाम का विस्तार (breadth) प्रकीर्णक के के—तथा एल— (*K*– तथा *L*–) इलेक्ट्रानो के सवेग के कारण होता है।

परिबद्ध इलेक्ट्रानो और नाभिक के बीच जो बधकारी ऊर्जा होती है उसके कारण अधिकतम सभावी कापटन विचलन में कुछ त्रुटि △ दे ($\Delta\lambda$) उत्पन्न हो जाती है जो बधकारी ऊर्जा की अनुपाती होती है

$$\text{दे}''-\text{दे}_\circ=\frac{\text{प्ल}}{\text{द्र}_\circ\,\text{प्र}}\,(१-\text{कोज्या त})-\Delta\,\text{दे} \qquad (१२)$$

$$\left[\lambda''-\lambda_\circ=\frac{h}{m_\circ c}\,(1-\cos\phi)-\Delta\lambda\right]$$

$$\text{और}\ \Delta\,\text{दे}=\frac{\text{खबा दे}_\circ^2}{\text{प्ल प्र}}\quad\left[\Delta\lambda=\frac{bB\lambda_\circ^2}{hc}\right] \qquad (१३)$$

जहाँ दे'' (λ'') अधिकतम सभावी प्रकीर्ण तरग आयाम है और ख (b) एक स्थिराक है।

स० ग्र०—ए० एच० कापटन तथा एस० के० ऐलिसन एक्स-रेज इन थीयरी ऐंड एक्सपेरिमेंट (डी० वान नोस्ट्रैंड क०, न्यूयार्क, १९४८), आर० डी० एवान्स दि ऐटोमिक न्यूक्लियस (मैकग्रॉ हिल बुक क०, न्यूयार्क, १९५५), हाडबुख डर फिज़ीक, खड ३४ (स्प्रिन्गर वरलाग, बर्लिन, १९५८)। (ज० सिं०)

कांपटी महाराष्ट्र राज्य में नागपुर जिले का एक नगर है जो नागपुर नगर से उत्तर-पूर्व १० मील की दूरी पर कनहन नदी के दाहिने किनारे, २१° १३′ उ० अक्षाश और ७९° १२′ पू० देशातर पर दक्षिण-पूर्व-रेलमार्ग पर स्थित है। इस नगर की स्थापना एक सैनिक छावनी के रूप मे १८२१ ई० में हुई थी। यह काली मिट्टी के उपजाऊ मैदानी क्षेत्र में स्थित है। इस नगर का उच्चतम स्थान समुद्रतल से ९९६ फुट की ऊँचाई पर है। उत्तर के सतपुडा प्रदेश से नागपुर को आनेवाली व्यापारिक सामग्री के लिये कापटी नगर अपनी अनुकूल स्थिति के कारण वितरक केंद्र रहा है। परतु रेलमार्गो के विस्तार और सैनिक केंद्र के महत्व में न्यूनता आ जाने के कारण इसका पूर्वकालीन व्यापारिक महत्व बहुत कम रह गया है। कुल जनसख्या १८८१ ई० मे ५१,००० थी।

यह सन् १९५१ में ३१,२६८ रह गई है। नगर में रुई से विनौला निकालनेवाली कई मिलें हैं। [कृ० प्र० सिं०]

कांपिल्य, कंपिला कापिल्य या वर्तमान कपिला (जिला फर्रुखाबाद, उ० प्र०) की गणना भारत के प्राचीनतम नगरों में है। इसके नाम का सर्वप्रथम उल्लेख यजुर्वेद की तैत्तरीय संहिता में 'कापिल' रूप में मिलता है। बहुत संभव है, पुराणों में वर्णित पंचालन रेश भृम्यश्व के पुत्र कपिल या कापिल्य के नाम पर ही इस नगरी का नामकरण हुआ हो। महाभारत काल से पहले पंचाल जनपद गंगा के दोनों ओर विस्तृत था। उत्तर-पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण पंचाल की कापिल्य थी। दक्षिण पंचाल के सर्वप्रथम राजा अजमीढ का पुराणों में उल्लेख है। इसी वंश में प्रसिद्ध राजा नीप और ब्रह्मदत्त हुए थे। महाभारत के समय द्रोणाचार्य ने पंचालनरेश द्रुपद को पराजित कर उससे उत्तर-पंचाल का प्रदेश छीन लिया था। इस प्रसंग के वर्णन में महाभारत (१,१३७,७३–७४) में कापिल्य को दक्षिण पंचाल की राजधानी बताया गया है। उस समय दक्षिण पंचाल का विस्तार गंगा के दक्षिण तट से चंबल नदी तक था। ब्रह्मदत्त जातक में भी दक्षिण पंचाल का नाम कपिलरट्ठ या कापिल्य राष्ट्र है। बौद्ध साहित्य में कापिल्य का बुद्ध के जीवनचरित के संबंध में वर्णन मिलता है। किंवदंती के अनुसार इसी स्थान पर बुद्ध ने कुछ आश्चर्यजनक कार्य किए थे, जैसे स्वर्ग में जाकर अपनी माता को उपदेश देने के पश्चात् वह इसी स्थान पर उतरे थे। चीनी यात्री युवानच्वांग ने भी ७वीं सदी ई० में इस नगर को अपनी यात्रा के प्रसंग में देखा था। वर्तमान कंपिला में एक अति प्राचीन ढूह आज भी राजा द्रुपद का कोट कहलाता है एवं बूढ़ी गंगा के तट पर द्रौपदीकुंड है जिससे, महाभारत की कथा के अनुसार, द्रौपदी और धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ था। कुंड से बड़े परिमाण की, संभवत मौर्यकालीन, ईंटें निकली हैं। कंपिला के मंदिरों से अनेक प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। कंपिला बौद्धधर्म के समान जैनधर्म की भी कुछ दिनों तक केंद्र रह चुकी है, जैसा कि यहाँ से प्राप्त तीर्थंकरों की अनेक प्रतिमाओं तथा जैन अभिलेखों से सूचित होता है। कापिल्य के कपिलनगर, कपिल्लनगर और कपिला नाम साहित्य में उपलब्ध हैं। इसका अपभ्रंश रूप कापिल भी मिलता है। कापिल्य नगरी प्राचीन काल में काशी, उज्जयिनी आदि की भाँति ही प्रसिद्ध थी और प्राचीन साहित्य में इसे अनेक कथाओं की घटनास्थली बताया गया है, जैसे महाभारत, शांतिपर्व (१३९,२) में राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया की कथा को कापिल्य में ही घटित कहा गया है।

प्राचीन किंवदंती के अनुसार प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर का जन्म कापिल्य में ही हुआ था। [वि० कु० मा०]

काँसा (संस्कृत कांस्य) संस्कृत कोशों के अनुसार श्वेत ताँबे अथवा घंटा बनाने की धातु को कहते हैं। विशुद्ध ताँबा लाल होता है, उसमें राँगा मिलाने से सफेदी आती है। इसलिये ताँबे और राँगे की मिश्रधातु को काँसा या कांस्य कहते हैं। साधारण बोलचाल में कभी कभी पीतल को भी काँसा कह देते हैं, जो ताँबे तथा जस्ते की मिश्रधातु है और पीला होता है। ताँबे और राँगे की मिश्रधातु को फूल भी कहते हैं। इस लेख में काँसा से अभिप्राय ताँबे और राँगे की मिश्रधातु से है। अंग्रेजी में इसे ब्रॉन्ज़ (bronze) कहते हैं।

काँसा ताँबे की अपेक्षा अधिक कड़ा होता है और कम ताप पर पिघलता है। इसलिये काँसा सुविधापूर्वक ढाला जा सकता है। १६ भाग ताँबे और १ भाग राँगे की मिश्रधातु बहुत कड़ी नहीं होती। इसे नरम गन-मेटल (gun metal) कहते हैं। राँगे का अनुपात दुगुना कर देने से कड़ा गन-मेटल बनता है। ७ भाग ताँबा और १ भाग राँगा रहने पर मिश्रधातु कड़ी, भंगुर और सुस्वर होती है। घंटा बनान के लिये राँगे का अनुपात और भी बढ़ा दिया जाता हैं, साधारणत ३ से ५ भाग तक ताँबे और १ भाग राँगे की मिश्रधातु इस काम के लिये प्रयुक्त होती है। दर्पण बनाने के लिये लगभग २ भाग ताँबा और एक भाग राँगे का उपयोग होता था, परंतु अब तो चाँदी की कलईवाले काँच के दर्पणों के आगे इसका प्रचलन मिट गया है। मशीनों के धुरीधरों (bearings) के लिये काँसे का बहुत प्रयोग होता है, क्योंकि घर्षण (friction) कम होता है, परंतु धातु को अधिक कड़ी कर देने के उद्देश्य से उसमें कुछ अन्य धातुएँ भी मिला दी जाती हैं। उदाहरणत, २४ अथवा अधिक भाग राँगा, ४ भाग ताँबा और ८ भाग ऐंटिमनी प्रसिद्ध 'बैबिट' मेटल है जिसका नाम आविष्कारक आइज़क बैबिट (Issac Babbitt) पर पड़ा है। इसका धुरीधरों के लिये बहुत प्रयोग होता है। काँसे में लगभग १ प्रतिशत फास्फोरस मिला देने से मिश्रधातु अधिक कड़ी और चिमड़ी हो जाती है। ऐसी मिश्रधातु को फॉस्फर ब्रॉन्ज़ कहते हैं। ताँबे और ऐल्युमिनियम की मिश्रधातु को ऐल्युमिनियम ब्रॉन्ज़ कहते हैं। यह धातु बहुत पुष्ट होती है और हवा या पानी में इसका अपक्षरण नहीं होता।

कांसुल प्रजातंत्रयुगीन रोम के उच्चवर्गीय न्यायाधीशों की पदवी। प्राचीन राजतंत्र के पतन के साथ ही इस पद का उत्कर्ष हुआ। रोमन राजनीति एवं समाज में न्याय की जिस आदर्श भावना ने जन्म लिया था उसी ने इस राजकीय पद के अधिकार की रक्षा की। जिन दो पदाधिकारियों ने राजा के स्थान को ग्रहण किया उनमें से एक प्रधान तथा दूसरा न्यायाधीश बना, परंतु जिस सहकारिता की भावना ने राजतंत्र का अंत किया था, उसने एक तीसरे पद को जन्म दिया—कांसुल यानी सहाधिकारी अथवा सहभागी के पद को। सहकारिता के आधार पर स्थापित रोमन प्रजातंत्र का यह प्रथम स्वरूप था। प्रत्येक पद एवं वर्ग में दो कर्मचारियों की नियुक्ति होती थी, प्रत्येक पदाधिकारी उच्च शासन के समस्त अधिकारों का उपभोग तथा उसके अनुसार शासन कर सकता था, परंतु उसके सहयोगी की संमति के अभाव में उसकी नीति एवं आदेश व्यर्थ सिद्ध हो सकते थे। इसके अतिरिक्त इस पद का जीवन भी अवधि की परिधि से बाँधा गया था। पदकाल की समाप्ति पर ये दोनों ही पदाधिकारी, अन्य दो पदाधिकारियों को, जो उनके स्थान पर नियुक्त होते थे, अपने अधिकार सौंप देने के हेतु बाध्य थे। चूँकि इनकी नियुक्ति का आधार जनता द्वारा उनका चुना जाना था, अत ये जनता की संमति के प्रति कृतज्ञ होते थे। इस युग में कोमीशिया नामक एक संघ था जो इन पदाधिकारियों का चुनाव करता था। कांसुल का पद आरंभ में केवल उच्च वर्ग के महानुभावों के लिये सुरक्षित था। फिर उच्च वर्ग एवं साधारण जनता में इस पद के लिये संघर्ष हुआ, परिणामत ३६७ ई० पू० में एक नियम बना जिसके अनुसार दो में से एक कांसुल साधारण वर्ग से चुना जाने लगा।

कांसुल के अधिकार, जैसे जैसे नियम बनते गए वैसे ही वैसे सीमित होते गए, उदाहरणार्थ उसके निर्णय पर अपील करने का नियम, प्रधान के अधिकारों की वृद्धि तथा नियम और कानूनों का प्रकाशन। साधारण जनता के अधिकारों की रक्षा के हेतु उनके प्रतिनिधियों की नियुक्ति तथा नए न्यायाधीशों की नियुक्ति द्वारा भी कांसुल के अधिकारों पर आघात पहुँचा, क्योंकि कांसुल के कुछ उत्तरदायित्व उन्हें सौंप दिए गए। इन सीमाओं एवं बंधनों के परिणामस्वरूप कांसुल का कार्य बहुत थोड़ा सा रह गया। अत यह स्वाभाविक था कि उसका कार्य साधारणतया शासन के कार्यों के निरीक्षण की ओर उन्मुख हो जाता। और ये कांसुल वास्तव में राज्य के प्रमुख पदाधिकारी हो गए। उन्होंने सिनेट की स्वीकृति से, जिसके वे प्रमुख कर्मचारी थे, नियंत्रण रखा। इस सभा के ये सबसे नियमित सदस्य थे, उसके अंतर्गत हुए वादविवाद को ये घोषणा का रूप देते, तथा सिनेट द्वारा स्वीकृत नियमों को जनता के समुख प्रकाशित करते, विदेशों में स्वदेश का प्रतिनिधान करते तथा सिनेट के समुख विदेशी राजदूतों को प्रस्तुत करते। उन्हें दीवानी तथा फौजदारी के न्याय संबंधी अधिकार भी प्राप्त थे, वैसे ही, धन संबंधी मामले भी, जैसे सरकार और प्रजा के बीच, तथा इटली नगर राज्यों के मध्य। फौजदारी के तीन प्रकार के मामलों में उन्हें न्याय का अधिकार था साधारण अपराधों के विरुद्ध नियमों को कार्यान्वित करना, तथा जब सिनेट या जनता किसी आयोग का निर्माण करती थी तब आयोग के सदस्य कांसुल होते थे। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार किसी अपराध की जाँच भी कांसुल ही करता था। ऐसे विषय में यह संभव था कि उसकी सहायता के लिये हेराल्ड्स् की एक समिति भी रहे।

कासुल रोम में तथा रोम से बाहर स्थित रोमन शासन के भी प्रधान माने जाते थे। अत यह नितात आवश्यक था कि प्रशासन सबधी विभाग निश्चित कर दिए जाते। इस विभागीय वितरण के तरीके भिन्न भिन्न थे, जैसे विदेशी युद्ध दोनो कासुलो का उत्तरदायित्व था। ऐसी स्थिति में स्थायी सेना को दोनो मे बराबर बराबर बाँट दिया जाता था। और जब दोनो सेनाओ को एक दूसरे की सहायता करनी पडती तब ये दोनो कासुल एक एक दिन की बारी से सेना की अध्यक्षता करते थे। कैने (कान) के युद्ध मे तथा तीसरी और दूसरी शताब्दी ई० पू० में की गई विजयो मे यही पद्धति अपनाई गई। इटली उस समय कासुल का प्रात माना जाता था। परतु जब इटली में युद्ध समाप्ति के पश्चात् शाति की स्थापना हुई तब दोनो कासुलो ने अपने राजकीय तथा सैनिक क्षेत्र बाँट लिए। इन विभागो को वे या तो समझौते द्वारा निश्चित करते या गोटी डालकर। कुछ काल पश्चात् कासुल के कर्तव्य निश्चित करने का अधिकार सिनेट के हाथो मे चला गया। परतु राजकीय पदाधिकारी, जिनके ऊपर शासन का भार था, साम्राज्य की सैनिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने मे असमर्थ रहे। अत सेना की अध्यक्षता को स्थायी करने की प्रवृत्ति बढने लगी। अपने शासन की अवधि समाप्त करने के बाद ये शासक एक वर्ष के लिये देश के बाहर प्रातीय शासन सँभालने के लिये जाने लगे। कभी कभी तो ये नियुक्तियाँ कुछ अधिक काल के लिय नियमपूर्वक की जाती थी। ५२ ई० पू० में बने एक नियम के अनुसार देश के भीतर एव विदेशी प्रातो के शासन की अवधि मे पाँच वर्ष का अतर आवश्यक कर दिया गया। प्रारभ के राजतत्रीय शासन के अतर्गत भी प्रजातत्र के सिद्धातो को ही आधार माना गया था। अत कासुल के पद की प्रतिष्ठा पूर्ववत् बनी रही तथा एक अध्यक्ष की मृत्यु और दूसरे के चुनाव के मध्य काल में कासुल शासन के प्रमुख का पद भोगता रहा। सिनेट के अध्यक्षो के रूप मे सिनेट के न्याय सबधी अधिकारो का भी उन्होने उपभोग किया। यह अधिकार उनकी स्थिति की श्रेष्ठता का द्योतक है और सभव है कि सिनेट मे की गई अपील भी कासुल को ही सौप दी जाती रही हो। धन एव व्यक्ति की सरक्षणता के क्षेत्र मे उन्होने राज्य के अध्यक्ष का भी प्रतिनिधान किया। कासुल का पद विशेषतया सेना की अध्यक्षता की आधारशिला था। इनका पदकाल घटता गया, यथा आरभिक अधिनायकतत्र काल में कासुल की अवधि छ मास थी, उसके पश्चात् चार मास एव दो मास हो गई। जनवरी मे नियुक्त कासुल 'आर्दिनरी' कहलाते थे तथा अन्य 'सफेक्ती'। कोस्तातीन के शासनकाल तक यह अतर बना रहा। आर्दीनरी सम्राट् के द्वारा मनोनीत होते थे, सफेक्ती सिनेट के द्वारा, परतु सम्राट् इस नियुक्ति पर भी अपनी स्वीकृति देता था। यह पद अब भी साम्राज्य द्वारा प्रदत्त महत्तम समान था। परतु जैसे जैसे इस पद का बाह्य समान बढता गया, वास्तविक अधिकार घटता गया। कासुल द्वारा पदग्रहण एक जुलूस से प्रारभ होता था। उसमें जनता द्वारा मनोरजनार्थ विभिन्न खेलो का आयोजन होता था, तथा भेंट और उपहार बाँटे जाते थे। परतु सिनेट, जिसकी वे अध्यक्षता करते थे, अब केवल रोम की नगरपालिका सभा के रूप में रह गया था। उनके द्वारा किए हुए न्याय का मूल्य घट गया था। अतिम कासुल ई० ५४१ का बासीलियस है, परतु सम्राट् इस पदवी को कुछ काल तक भोगते रहे। [प० उ०]

कासेपीसियो

चिली देश के दक्षिणी भाग के मध्य में स्थित इसी नाम के प्रात का मुख्य नगर है, जो ३६° ४८' द० अक्षाश और ७३° ५' प० देशातर पर स्थित है। यह बियो बियो (Bio Bio) नदी के दाहिने तट पर मुहाने से ७ मील ऊपर और सैंटियागो नगर से दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम रेल मार्ग द्वारा ३५५ मील की दूरी पर स्थित है। चिली देश के नगरो मे महत्व की दृष्टि से इस नगर का तृतीय स्थान है। कुल जनसख्या ८५,६३८ (१९४०) है। यह नगर सपन्न कृपिप्रदेश के मध्य मे स्थित व्यापारिक केद्र है और व्यापार का अधिकाश यहाँ से रेलमार्ग द्वारा ८ मील की दूरी पर कासेपीसियो की खाडी पर स्थित टालक्वानो (Talcahuano) बदरगाह से होकर गुजरता है। वाणिज्य की अधिकाश सामग्री कृषि सबधी है। इस नगर के समीपवर्ती क्षेत्रो में मुख्यत गेहूँ, आटा, मदिरा, ऊन, गाय-बैल, माँस, चमडा, कोयला और लकडी इत्यादि वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। औद्योगिक व्यवसायो मे आटा पीसना, लकडी चीरना, मेज़ कुर्सी, कपडा, चमकदार सामान, धातु की वस्तुएँ, रासायनिक पदार्थ, गाडियो के डब्बे और माहिड़े बनाना है।

कासेपीसियो नगर समतल मैदानी प्रदेश मे समुद्रतल से थोडी ही ऊँचाई पर स्थित है। सडकें चौडी है और समान क्रम से फैली है। यहाँ एक विश्वविद्यालय भी है। इस नगर की स्थापना पैड्रो डी वालडीविया ने १५५० ई० मे की थी। पहले यह टालक्वानो की खाडी पर स्थित था, जहाँ अब पैको (Penco) नगर स्थित है।

कासेपीसियो नगर १५७०, १७३० और १७५१ ई० में भूकपो में नष्ट हो गया। फलस्वरूप १७५५ ई० मे इसकी स्थापना पुराने स्थल से ७ मील हटकर वर्तमान रूप मे हुई। १९३९ ई० के भूकप से वर्तमान नगर को विशेष क्षति पहुँची थी। [रा० ना० मा०]

कांस्टेबुल, जान

अंग्रेज दृश्यचित्रकार, जिसका जन्म ११ जून, १७७६ को सफोक के पूर्वी वर्गहाल्ट मे हुआ था। पिता धनी थे जिनकी डडहम और फ्लैटफोर्ड मे कई पनचक्कियाँ चलती थी। जान पिता का द्वितीय पुत्र था। १७ वर्ष की आयु मे डेडहम ग्रामर स्कूल की पढाई समाप्त कर वहाँ की चक्कियो की व्यवस्था में लगा दिया गया। बाल्यावस्था से ही उसे चित्रकारी मे दिलचस्पी थी और वह इसे अपन अवकाश के समय में निरतर सीखता रहा। एसे ही समय में सर जार्ज ब्यूमाट से उसका परिचय हुआ। उनके यहाँ के चुने हुए चित्रो का उसके ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पडा। चित्रकला में उसकी बढती हुई रुचि देखकर उसके पिता ने सन् १७९५ मे जोसेफ फ़िग्टन से, जो प्रसिद्ध दृश्य-चित्रकार था, सलाह लेने के लिये उसे लदन भेजा। जोसेफ ने उसकी मौलिकता को पहचाना और उसे कुछ आधारभूत बाते भी बताई। प्रसिद्ध कलाचार जे० टी० स्मिथ से उसने एचिग सीखा। कुछ वर्ष तक वह चित्रकला की साधना मे डूबा रहा। चित्रकारो से पत्रव्यवहार करता तथा कभी कभी उनसे मिलने भी जाता। इस साधना की अवधि कुछ लदन मे बीती, कुछ सफोक मे। आखिरकार १७९९ की फरवरी में उसने चित्रकला को अपने जीवन का अग बना लिया। रायल अकादमी का वह विद्यार्थी बना जिसके अध्यक्ष बेंजामिन वेस्ट ने उसे बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होने जान को चित्रकला का अध्यापन स्वीकार करने से भी मना किया और इस तरह उसकी मौलिकता को उत्साह मिला। वेस्ट, गेसबरो तथा गिरतीन का प्रभाव उसकी कला पर बहुत पडा। सन् १८०६ से १८०९ तक वह अधिकतर रेनाल्ड तथा हाप्नर की नकल करता रहा। इनका प्रभाव भी उसकी चित्रकला पर गहरा पडा। तैलचित्र बनाना भी उसने सीखा और कुछ दिन उसने अपन इस अर्जित ज्ञान को प्रकृति के जीवित रगो के साथ जोडने मे बिताया।

'डेडहम घाटी' में जान की कला की अपनी विशेषता दिखाई देती है जो १८११ मे प्रदर्शित हुई। १८१६ में पिता की मृत्यु के पश्चात् विवाह कर वह लदन के रसेल स्क्वायर मे बस गया। यही उसके बहुत से प्रशसनीय चित्रो का निर्माण हुआ। जैसे 'फ्लैटफोर्ड मिल', 'ए काटेज इन कार्नफील्ड', 'दी ह्वाइट हॉर्स' तथा 'स्टेटफोर्ड मिल', आदि। १८१९ में उसे रायल अकादमी की सदस्यता मिली, १८२१ मे प्रसिद्ध चित्र 'दी हेवाइन' का निर्माण हुआ जिस पर उसे स्वर्णपदक प्रदान किया गया।

सन् १८२७ में उसे २० हजार पौड की एक सपत्ति मिली परतु उसी वर्ष उसकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। पत्नी की मृत्यु उसके जीवन की सबसे बडी हानि सिद्ध हुई। इस चोट को वह जीवनपर्यंत न भूल सका। वह दस वर्ष और जीवित रहा। चित्रकार का जीवन पूर्ववत् चलता रहा, तूलिका अपना कार्य करती रही। 'दि सेनोटाफ' तथा 'अरडेल मिल ऐंड कैसल' उसके अतिम चित्र थे। जान के अतिम दिन गठिया तथा मानसिक शिथिलता में बीते। ३१ मार्च, १८३७ को उसकी मृत्यु हुई। उसकी समाधि हैंपस्टेड गिरजाघर के मैदान मे आज भी देखी जा सकती है। कास्टेबुल वर्तमान दृश्यचित्रकला में अपनी मौलिकता के कारण बहुत ऊँचा स्थान रखता है। चूँकि वह पूर्वी इग्लैंड का निवासी था जहाँ हरे भरे चरागाह, सुदर क्षितिज, गाँव और रग बिरगे बादलो से भरा आकाश था, वहाँ की प्रकृति ने उसकी कला पर बहुत प्रभाव डाला। यही नही, बल्कि उसके हृदय को इतना रग डाला कि जान के चित्रो में प्रयुक्त रग चित्रकला

कांस्य कला (देखे पृष्ठ ४२७)

प्राचीन ईरानी कास्य मुखाकृति

उत्तर पश्चिम ईरान से प्राप्त २००० ई० पू० की खोखली ढाली हुई एक कास्य मुखाकृति

(जोजेफ ब्रूमर के संग्रह से)
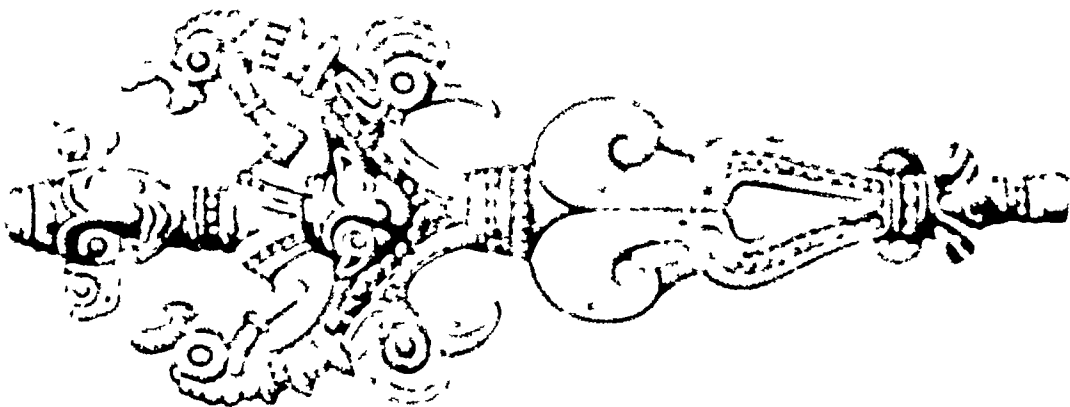
के क्षेत्र मे प्रयुक्त आकाश के रगो मे अपना सर्वथा एकाकी स्थान रखते हैं। १८२५ मे जब 'सलो' मे उसने अपने चित्रो का प्रदर्शन किया, उसकी शैली ने फ्रास के चित्रकारो को बहुत प्रभावित किया तथा इसके प्रभाव से वहाँ एक नई शैली का जन्म हुआ। किसी पूर्ववर्ती का सहारा उसने कभी नही लिया, बल्कि वही रग उसकी तूलिका पर चढे जो उसके चक्षुओ ने स्वय देखे। आकाश का निरतर बदलता हुआ चित्र उसकी आँखो से उतर, हृदय को छूता, तूलिका से फिसल पडता। प्रकृति का यह स्वाभाविक चित्रण ही उसकी कला की देन है। प्रकृति के जीवित चित्रण के लिय जिन रगो का प्रयोग उसने किया वे खुरदरे हैं, साधारण चिकने तथा चमकदार चित्रो से सर्वथा भिन्न। परतु जिस जीवन को इन रगो ने निखारा है वह अन्यत्र कही नही मिल सकता। [प० उ०]

कांस्टैंटाइन यह अल्जीरिया मे अपने नाम के विभाग (प्रदेश) की, जिसका क्षेत्रफल ३३,८०६ वर्ग मील तथा जनसख्या सन् १९४८ मे ३१,०२,३९६ थी, राजधानी है। प्राचीन काल मे इसका किर्ता नाम विख्यात था। यह अल्जीरिया से २०० मील पूर्व-दक्षिण-पूर्व दिशा मे एक चट्टानी प्रायद्वीप पर जिसकी ऊँचाई समुद्र की सतह से २१,६२ फुट है, स्थित है। अरबवासियो द्वारा बनवाई गई पत्थर की पक्की दीवार से यह शहर चारो तरफ से घिरा हुआ है। रोमन लोगो ने इसमे कालातर मे ४ अत्यत सुदर प्रवेश ारो का निर्माण कराया। सन् १८३०-३६ ई० में एक सुप्रसिद्ध महल का निर्माण कराया गया, जिसमे इस समय फ्रेंच राज्यपाल का निवास है। नगर ऊनी तथा चमडे के उद्योगो के लिये प्रसिद्ध है।

नगर की स्थापना फिनीशियन जाति के लोगो द्वारा हुई। राजनैतिक उथल-पुथल होते रहन के कारण यह नगर सतोषजनक उन्नति नही कर सका। सन् ३१३ ई० में कॉस्टैंटाइन प्रथम ने इसको अपने नाम पर फिर से बसाया। यहाँ अरब, तुर्क, तथा मूर वासियो मे उस समय तक युद्ध होते रहे जब तक पूर्ण रूप से यह फ्रेंच वासियो के अधिकार मे (सन् १८३७ ई०) नही आ गया। सन् १९४२ मे द्वितीय महायुद्ध के समय इसपर सयुक्त राज्य अमरीका का अधिपत्य हो गया था। इस नगर की जनसख्या सन् १९४८ मे १,१८,७७४ थी। [व० सि०]

कांस्टैंस झील जर्मनी स्विट्जरलैंड तथा आस्ट्रिया राज्योकी सीमाओ से घिरी हुई यह झील मध्य यूरोप मे समुद्र की सतह से करीब १३०९ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसमे गिरनेवाली नदियो मे राइन प्रमुख है जो इसके दक्षिण-पूर्वी सीमा मे स्थित आस्ट्रिया राज्य से ब्रेजेट्स तथा स्विस राज्यो की सीमा के मध्य मे आकर इसमें गिरती है। यह झील उत्तर-पश्चिम की दिशा मे बोडानरूक प्रायद्वीप द्वारा दो भुजाओ के रूप मे विभाजित हो जाती है। इस झील की सबसे अधिक चौडाई १० ५ मील, क्षेत्रफल २०४ वर्गमील तथा सबसे अधिक गहराई ८२७ फुट है।

इसका जल गाढा हरा तथा स्वच्छ है। कभी कभी इसमे एकाएक काफी बाढ आती है जो बर्फ के पिघलने से नदियो मे अधिक पानी आ जाने के कारण होती है। ऐसे अवसरो पर आसानी से पानी ३ फुट से १२ फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाता है। प्रमुख झील केवल अत्यत ठढक के दिनो में ही जमती है। आसपास मत्स्य उद्योग काफी उन्नत दशा मे है। भूमि उपजाऊ है तथा आसपास का देशसुदर बगीचो, ग्रामो तथा नगरो से परिपूर्ण है। इन प्रसिद्ध नगरो के बीच चलनेवाली छोटी छोटी वाष्पचालित नावें झील की सुदरता मे चार चाँद लगा देती हैं। [व० सि०]

कांस्य कला कासा मनुष्य ने कैसे बनाना सीखा, यह कहना कठिन है (देखिए कांसा)। कदाचित ताँबा गलाने के समय उसके साथ मिली हुई खोट के गल जाने के कारण यह अकस्मात् बन गया होगा क्योकि काँसे की वस्तुएँ तो सुमेर, मिस्र, ईरान, भारत, चीन के प्रागैतिहासिक युग के सभी स्थानो से प्राप्त हुई हैं परतु इन सभी स्थानो के उस प्राचीन युग के काँसे की मूल विविध धातुओ के परिमाण मे अतर है। जैसे भारत के एक प्रकार के काँसे मे ताँबा ९३ ०५ भाग, जस्ता २ १४, निकेल ४ ८० भाग तथा आरसेनिक मिला है। दूसरी भाँति के काँसे मे टिन सुमेर, ईरान इत्यादि के स्थानो की भाँति प्राप्त हुआ है। इस मिली हुई धातु से कारीगर को वस्तुओ को ढालने में बडी सरलता हुई तथा इस मिश्रित धातु की बनी कुल्हाडी खालिस ताँबे की बनी कुल्हाडी से कही अधिक धारदार तथा कडी बनी। ऐसा अनुमान होता है कि इस धातु के कारीगरो का अपना एक जत्था प्रागैतिहासिक युग मे बन गया जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर अपने धधे का प्रचार करता था। पाषाण की बनी हुई कुल्हाडियाँ इन काँसे की कुल्हाडियो के समक्ष फीकी पड गयी। इन्होंने इसी धातु से प्रागैतिहासिक पशु आकृतियाँ भी बनाई। इन्ही कारीगरो ने कुल्हाडी बनाते बनाते चमकते हुए आभूषण भी बनाने प्रारभ किये जिनके सब से उत्कृष्ट युग के नमूने हमे जूडे के काँटो के रूप मे हडप्पा, मोहनजोदेडो, खुरेब, हिसार, सूसा, छागर बाजार, लुरिस्तान, ऊर इत्यादि स्थानो से प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार काँसे के बने कडे हडप्पा, मोहनजोदेडो, चान्हूदेडो, हिसार, सूसा, सियाल्क, चीन, कीश, ऊर तथा मिस्र से मिले हैं। अँगूठियाँ भी इस धातु की बहुत सुदर बनी हुई मिली है। लूरिस्तान की बनी एक अँगूठी के ऊपर तो बडे ही सुदर पशु अकित हैं।

काँसे को जब कारीगर गलाकर ढालने लगे तो इन्होने विविध आकृतियाँ भी बनानी प्रारभ की। जूडे के काँटो के मस्तक पर बने प्रागैतिहासिक युग के पशुओ की आकृतियाँ दर्शनीय हैं। हडप्पा से प्राप्त एक काँटे पर एक बारहसिंघा और उस पर आक्रमण करता हुआ एक कुत्ता दिखाया गया है, खुरेब से प्राप्त एक काँटे के मस्तक पर ऊँट, हिसार से प्राप्त काँटे पर हस, छागर बाजार से प्राप्त काँटे पर बदर इत्यादि। काँसे की इसके पश्चात् बडी बडी मूर्तियाँ भी बनने लगी। इनमे सबसे मुख्य तो इस काल क सुमेर के अन्निपाद के गौ देवी के मदिर के चबूतरे पर बने दो साँड तथा एक सिंह के मुख की चील हैं जो अपन पजो मे दो सिंह के बच्चो को पकडे हुए है। साँडो के शरीरो पर तिपतिया की उभाडदार आकृतियाँ बनी हैं। मोहनजोदेडो से प्राप्त काँसे की एक ठोस स्त्री मूर्ति भी दर्शनीय है। इस काल मे प्राय मूर्तियाँ ढाल कर बनाई जाती थी। (दे० चित्र)

प्रागैतिहासिक युग मे काँसे के कारीगरो ने छोटी गाडियाँ भी बनाई जो खिलौनो की भाँति व्यवहार मे आती थी। इस प्रकार की एक बडी सुदर गाडी जिस पर उसका चलाने वाला भी बैठा है हमे हडप्पा से प्राप्त हुई है।

काँसे पर उभाडदार काम की हुई वस्तुएँ सबसे बढिया लूरिस्तान से प्राप्त हुई हैं जिसमे एक तरकश पर बना काम तो देखते ही बनता है।

काँसे के बरतन भी इस काल बने। ऐसे बरतन ईरान, सुमेर, मिस्र तथा भारत के मोहनजोदेडो, हडप्पा तथा लोथल से प्राप्त हुए हैं। ये भी प्राय ढालकर या पत्तर को पीट कर बनाये जाते थे। पीछे चलकर इन पर उभाडदार काम भी दिखाई देने लगता है जो कदाचित् मिट्टी पर काम बनाकर उस पर पत्तर रखकर पीट कर बनता था।

पीछे इस मिश्रित धातु की विविध वस्तुयें बनी। भारत मे भी तक्षशिला से कटोरी के आकार के मसीह पात्र प्राप्त हुए हैं जिन पर ढक्कन लगा हुआ है जिनमे कलम से स्याही लेने के हेतु छेद बना है। ऐसी धातु की बनी घटियाँ भी यहाँ से प्राप्त हुई हैं। बहुत सी छोटी छोटी चीजो मे यहाँ धर्मचक्र के आकार की बनी पुरोहित के डडे की मूठ, मुर्गे की मूर्ति तथा मनुष्य की मूर्तियाँ इत्यादि बहुत सी मिली हैं। यहाँ एक स्त्री की ठोस मूर्ति, जो कमल पर खडी है, बडी ही सुदर है। यह कला ईरान की कला से बहुत प्रभावित ज्ञात होती है क्योकि ईरान मे काँसे के बने बारहसिंघे प्राय हखमनी काल के मिल चुके हैं तथा काँसे के बरतन भी उसी काल के प्राप्त हुए हैं

काँसे का बना ई० पू० द्वितीय शताब्दी का एक चीता जिसके पैर मे पहिये लगे है, उज्जैन के पास नागदा से भी प्राप्त हुआ है। सिद्धार्थ की काँसे की बनी मूर्ति दक्षिण के नागार्जुन कोडा से खुदाई मे प्राप्त हुई है। यह प्राय ईसा की प्रथम शताब्दी की है।

इग्लिस्तान मे सिक्के भी काँसे के बने जिसमे प्राय ९५ प्रतिशत ताँबा, ४ प्रतिशत टिन तथा १ प्रतिशत जस्ता है। प्राचीन फीनीशिया के लोगो ने भी काँसे पर बडा सुदर काम किया। प्राचीन चीन मे काँसे पर बडी सुदर खुदाई का काम बना। यहाँ प्राय अजगर के आकार की खुदाई

के काम मे मुख्यता दी गयी। यहाँ के काँसे के दर्पण, घटे तथा मूर्तियाँ उल्लेखनीय है। ईरान में कारीगरो ने काँसे पर खुदाई करके बडे सुदर वेल-बूटे बनाये।

पीछे काँसे के वरतनो पर ईरानियोने चाँदी से पच्चीकारी करना भी प्रारभ कर दिया। इस प्रकार के सुदर वरतन प्राय ईसा की १३वी और १४वी शताब्दी के जो प्राप्त हुए हैं वे दर्शनीय है। इनमे ईरान के स्त्री-पुरुषो को वगीचो मे क्रीडा करते हुए दिखाया गया है। काँसे की जालीदार कटाव के काम की लालटेनें भी अरव मे प्राय ईसा की ८वी शताब्दी की वनी हुई मिली है।

और धातुओ के प्राप्त हो जाने पर भी आज काँसे का उपयोग मनुष्य के जीवन में कम नही हुआ है। इसके वनाने की विधि मे कुछ अतर करके वैज्ञानिको ने विविध प्रकार के काँसे प्रस्तुत कर दिये है। आज मूर्ति वनाने के हेतु जो काँसा वनता है उसमें ८५ प्रतिशत ताँवा, ११ प्रतिशत जस्ता तथा ४ प्रतिशत टिन रहता है। एक दूसरे प्रकार का काँसा जो विद्युत् के तार वनाने के काम मे आता है उसमे ८७ प्रतिशत तावा, ६ प्रतिशत टिन तथा ५ प्रतिशत फासफोरस रहता है। यह साधारण काँसे से कडा होता है।

आज आभूषण वनाने के हेतु एक प्रकार के काँसे का व्यवहार किया जाता है जिसका रग सुनहरा होता है। इस धातु को अलूमिनम तथा ताँवा विविध भाग मे मिलाकर वनाया जाता है। इस पर खुदाई का काम वडा सुदर वनता है। जर्मनी मे इस प्रकार का काँसा वहुत व्यवहार में आता है और वहाँ के वने इस काँसे के आभूषण आजकल यूरोप और अमरीका मे वहुत पहिने जा रहे हैं।

इस प्रकार काँसा मनुष्य के उपयोग मे सभ्यता के प्रारभ से लेकर आज तक आता रहा है। भले ही इसका रग वदल गया हो या इसकी दूसरी उपयोगता हो गयी हो, परतु यह मनुष्य का निरतर साथी रहा है और आगे भी कदाचित् वना रहेगा।

स० ग्र०—पिगट, स्टुअर्ट प्रीहिस्टारिक इडिया, चाइल्ड, गॉर्डन ह्वाट हैपेंड इन हिस्ट्री ?, पोप, आर्थर उफम मास्टर्पीसेज़ ऑव पर्शियन आर्ट, मार्शल, सर जान द इडस वैली सिविलाइजेशन।

[रा० गो० च०]

का प्राचीन मिस्रियो के धर्म मे द्वितीय आत्मा, जिसका चित्र उनकी लिपि में दो ऊपर उठाए हाथो के रूप मे लिखा मिलता है। प्राचीन मिस्री प्राय तीन आत्माओ में विश्वास करते थे। एक तो शरीर के मरने के साथ ही मर जाया करती थी, पर दो—का और वई—शारीरिक मृत्यु के वाद भी जीवित रहती थी। 'का' का जन्म शरीर के साथ ही होता था जो जीवनकाल में शरीर की रक्षा करती थी और उसके मर जाने पर भी स्वय जीवित रह जाती थी। (देखिए, वई)। [भ० श० उ०]

काइआनाइट (Kyanite) अथवा साइआनाइट (Cyanite) एक खनिज है जो प्राय ऐल्यूमिनियम सिलिकेट (ऐ२ सि ओ५, $Al_2 Si O_5$) है। यह नीले चिपट त्रिप्रवणिक (triclinic) मणिभो और मणिभ समुदाय के रूप में प्राप्त होता है। इसके निक्षेप सिंहभूमि जिले के उत्तरी भाग मे खर्सवान में लप्सावुरू नामक स्थान पर स्थित है। इसके अतिरिक्त वाडिया, वाकरा, उपेरवेडा, मोहनपुर, उपारसोली आदि में भी इसका खनन किया जाता है। लप्सावुरू के काइआनाइट निक्षेप ससार के सर्वाधिक विशाल निक्षेप हैं, जिनमें दस फुट की गहराई तक ५ से ७ लाख टन तक खनिज होने का अनुमान है। उडीसा मे वोनाई तथा ढेंनकनाल आदि स्थानो में काइआनाइट के कुछ लघु निक्षेप मिले है। आध्र प्रदेश के नेल्लोर जिले तथा मध्यप्रदेश के भडारा जिले में काइआनाइट युक्त कुछ शिलाएँ प्राप्त हुई है। खर्सवान, सरायकेला, घाटशिला (विहार) तथा मैसूर के निक्षेपो मे आजकल खनन कार्य किया जा रहा है। सन् १९५७ मे २३,५०४ टन काइआनाइट का उत्पादन हुआ जिसका मूल्य ५४,६८,००० रुपए हुआ। इसमे से अधिकाश भाग विदेशो को निर्यात कर दिया गया। भारत से इग्लैंड, अमरीका, वेल्जियम तथा जर्मनी आदि देशो को काइआनाइट भेजा जाता है। गत वर्षों से भारत मे भी तापरोधी उपकरणो मे इसका उपयोग होने लगा है, जिससे भविष्य मे देश की आतरिक माँग में वृद्धि होने की पूर्ण सभावना है। काइआनाइट में अनेक गुण होने के कारण इसका उपयोग तापरोधक के अतिरिक्त सीमेंट तथा मिट्टी के वरतनो, गैस तथा तेल के तदूरो (ovens), वकभाडो (retorts), घरियो (crucibles), अपवारित आष्ट्रो (muffle furnaces) तथा अनेक प्रकार के छोटे मोटे उद्योगो में किया जाता है। [वि० सा० दु०]

काइन वाइविल में आदम और हव्वा के ज्येष्ठ पुत्र का नाम काइन (अर्थात् लाभ) रखा गया है। काइन का ईश्वर पर अधूरा विश्वास था अत ईश्वर ने काइन की अपेक्षा उसके भाई हाविल के वलिदान को अधिक पसद किया था। यह देखकर काइन ने ईर्ष्यावश अपने अनुज हाविल का वध किया था। फलस्वरूप ईश्वर ने काइन को यायावर की तरह पृथ्वी पर भटकने का शाप देने के साथ साथ उसे पश्चात्ताप करने का भी अवसर प्रदान किया था। काइन उन विधर्मी मनुष्यो का प्रतीक है जो भक्तो से ईर्ष्या करते हैं।

वाइविल के वृत्तात में काइन-विषयक अनेक परपरागत दतकथाओ का सहारा लिया गया और उसमें यायावर जातियो की सभ्यता का भी चित्रण हुआ है। इस वृत्तात की मुख्य धार्मिक शिक्षा इस प्रकार है—(१) आदम के कारण इस पृथ्वी पर पाप का प्रवेश हुआ था (दे० आदिपाप), जिससे काइन ने अपने पिता की अपेक्षा और घोर पाप किया था, (२) सवज्ञ एव परमदयालु ईश्वर पाप का दड देकर पश्चात्ताप के लिये भी समय देता है, (३) मनुष्य द्वारा निष्कपट हृदय से चढाया हुआ वलिदान ही ईश्वर को ग्राह्य है, (४) मनुष्य को यह अधिकार नही है कि वह किसी दूसरे मनुष्य का वध कर सके। [आ० वे०]

काइफ़ांग (नगर) होनान प्रात की राजधानी है और ह्वागहो नदी के किनारे ३४° ४८' उत्तर अक्षाश ११४° २९' पूव देशातर पर स्थित है। यह रेलो एव व्यापारो का वहुत वडा केंद्र है। इसकी मुख्य व्यापारिक वस्तुए रेशम और रुई की वनी हुई चीजे, फल, पशु और नमक है।

यह नगर प्राचीन समय में भी राजधानी था। चारो ओर से सडको के आकर मिलने के कारण यह पश्चिमी राज्यो का नगर द्वार रहा है। यहा पर अधिक सख्या मुसलमानो की है। यहूदियो की वस्तियो के भग्नावशेष यहाँ आज भी मिलते हैं। पास के प्रदेश मे गेहूँ, ज्वार, वाजरा एव कपास की खेती होती है तथा घोडे, खच्चर, सूअर और भेड पाले जाते हैं। यह नगर ह्वागहो नदी की वाढ से ग्रसित है। यहाँ की जनसख्या सन् १९५१ में लगभग २,४४,८४४ थी। [वि० रा० सिं०]

काउंटी न्यायालय वर्तमान काउटी न्यायालय सर्वप्रथम काउटी न्यायालय अधिनियम १८४६ के अतर्गत स्थापित किए गए थे। आजकल ये न्यायालय अन्य अधिनियम द्वारा सशोधित काउटी न्यायालय अधिनियम, १९३४, से नियत्रित होते है। ये व्यवहार विषयक लघु विवादो मे अपना निर्णय देते है। इनके न्यायाधीश लार्ड चासलर द्वारा उन वकीलो मे से नियुक्त किए जाते हैं जो सात वर्ष तक वकालत कर चुके है। निर्धारित मूल्यो के अनुवध (कांट्रैक्ट) से सवधित ऋण और किसी त्रुटि (टार्ट) से सवधित हानि के विवाद, निर्धारित वार्षिक मूल्य अथवा लगान (अथवा किराया) की भूमि के विवाद, और न्याय्यता (ईक्विटी) और प्रमाण (प्रोवेट) विषयक निर्धारित मूल्य के विवाद इन न्यायालयो के द्वारा तय किए जाते है। कुछ काउटी न्यायालयो को परिमित नौकाधिकरण (ऐडमिरल्टी) विषयक क्षेत्राधिकार भी प्राप्त हैं। ये किसी भी मूल्य के उन विवादो को भी तय करते हैं जो दोनो पक्षो की समिलित राय से उनके समक्ष प्रस्तुत किए गए हो अथवा उच्च न्यायालय के द्वारा प्रेषित किए गए हो। इन न्यायालयो को विभिन्न अधिनियमो के अतर्गत, जिनमें दिवाला, किराया, रहन और कृषि आदि से सवधित अधिनियम उल्लेखनीय हैं, विशेष क्षेत्राधिकार भी प्राप्त हैं। इन न्यायालयो की प्रक्रिया सरल है और विवादो मे उच्च न्यायालय की अपेक्षा व्यय भी कम होता है। इसलिए ये न्यायालय अति लोकप्रिय हो गए हैं। विधि सवधी प्रश्नो पर इन न्यायालयो के निर्णय के विरुद्ध अपील-न्यायालय (कोर्ट ऑव अपील) मे अपील की जा सकती है। [जि० कु० मि०]

काउत्स्की, कार्ल (१८५४-१९३८) इस जर्मन मार्क्सवादी का जन्म १० अक्तूबर सन् १८५४ ई० को प्राग मे हुआ था। यह मार्क्स का मित्र तथा प्रिय शिष्य था और एगेल्स की मृत्यु के बाद इस को ही मार्क्सवादी दर्शन का सबसे बडा व्याख्याकार माना जाता था। सन् १८८३ ई० मे इसने एक समाजवादी पत्र निकालना प्रारभ किया जो सन् १९१७ तक निकलता रहा। सन् १८९१ ई० की एरफुर्ट योजना के प्रवर्त्तक के रूप मे इसने मार्क्सवादी विचारधारा को रूपातरित करने के आदोलन का विरोध किया। सन् १९१४ ई० मे प्रथम महायुद्ध के प्रारभ होने पर इसने शातिवादी दृष्टिकोण अपनाया और सन् १९१७ ई० मे इडिपेंडेट सोशल डिमोक्रेटिक पार्टी मे समिलित हुआ। यह रूसी क्राति के सर्वथा विरुद्ध था तथा लेनिन, त्रात्स्की आदि रूसी नेताओ के विरुद्ध इसने काफी प्रचार किया। इसने अपनी पुस्तक 'डिक्टेटरशिप ऑव दि प्रालिटेरियट' मे लेनिन के सिद्धातो तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना का खडन किया और यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि रूसी-क्राति पूँजीपतियो की क्राति है। यह सन् १९३४ ई० मे जेकोस्लोवाकिया का नागरिक बना परतु रहता वियना ही मे था, और वही से आस्ट्रिया के समाजवादी दल का निर्देशन करता रहा। मार्च सन् १९३२ ई० मे, जब जर्मन सेनाओ ने आस्ट्रिया मे प्रवेश किया तब, इसने जकोस्लोवाकिया मे भाग कर शरण ली। परतु शीघ्र ही इसे वहाँ से आटर्डम भागना पडा जहाँ १७, अक्टूबर सन् १९३८ ई० को इसका निधन हो गया। [रा० अ०]

काउनित्स-रीतबर्ग, वेंत्सेल आंतोन (१७११-९४) आस्ट्रिया का चासलर और राजनीतिज्ञ। काउट मार्क्स उलरिख का पुत्र। सम्राट् चार्ल्स षष्टम् की मृत्यु के बाद उसने साम्राज्ञी मारिया थेरेसा का मत्रित्व स्वीकार किया और १७४४ मे वह बेल्जियम का राज्यपाल बना दिया गया। आया-ला-शापेल की शाति-काग्रेस मे जिस रीति से उसन आस्ट्रिया के अधिकारो का प्रतिनिधान किया, उससे वह यूरोप के प्रधान राजनीतिज्ञो मे गिना जाने लगा। साम्राज्ञी ने प्रसन्न होकर उसे अपना विशिष्ट परामर्शदता बनाया और अपनी सारी योजनाओ को, कार्य रूप मे परिणत करने के लिए, उसे सौंप दिया। प्राय ४० वर्ष काउनित्स पूर्वी और मध्य यूरोपीय राजनीति पर छाया रहा। उसकी नीतिका परममत्र था आस्ट्रिया के राजकुल के अधिकारो की रक्षा करता। वह फ्रासीसी राज्यक्राति को समुचित रूप से समझ न सका फिर भी उसके विरोध मे उसने मेटर्निक की नीति का समर्थन किया। वह १७९४ मे मरा। [च० भा० पा०]

काकति, बाणीकांत बाणीकात काकति का जन्म नवबर, १८९४ ई० को कामरूप जिले के बाटीकुरिहा ग्राम हुआ। इनके पिता का नाम ललितराम काकति, माता का लाहोवाला काकति तथा पत्नी का कनकलता था। १९१८ मे इनकी नियुक्ति कॉटन कालेज मे अध्यापक पद पर हुई। उक्त कालेज मे अध्यापन कार्य करते हुए इन्होने असमिया भाषा, इसके गठन और क्रमपरिवर्तन विषय पर शोध प्रबध लिखकर कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'पी-एच०डी०' की उपाधि प्राप्त की। ये दो वर्ष तक कॉटन कालेज के प्रधानाचार्य भी रहे। अवकाश प्राप्त करने के कुछ दिनो पश्चात् इनकी नियुक्ति गौहाटी विश्वविद्यालय के डीन, फैकल्टी ऑव आर्ट्स, पद पर हुई और मृत्युपर्यत ये इसी पद पर कार्य करते रहे। कामरूप अनुसधान समिति के पुनर्गठन का श्रेय इन्ही को है। १५ नवबर १९५२ को शनिवार के दिन इनका निधन हुआ।

इनकी रहन-सहन सर्वसाधारण से भिन्न न थी। सत्य तथा ईश्वर में इनका अगाध विश्वास था, किंतु ये किसी कार्य को ईश्वर के भरोसे न छोडते थे। कठोर परिश्रम द्वारा व्यक्ति अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है, इस सिद्धात मे इनकी आस्था थी। स्पष्टवादिता और कठोर सत्य बोलने के कारण कुछ लोग इनसे अप्रसन्न भी रहते थे।

इन्होंने असमिया भाषा, साहित्य और सस्कृति की एकनिष्ठ सेवा की। साहित्यचर्चा इनके जीवन का एकमात्र व्रत था। आधुनिक असमिया समालोचको में काकति को सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। साधारण असमिया शब्दो का प्रयोग इनकी शैली की विशेषता है, कही कही इनकी भाषा गद्यसुलभ काव्य मे परिणत हो गई है और उसमे छदो की झनकार सुनाई देती है।

इनके ग्रथो के नाम इस प्रकार हैं--पुरणि कामरूपर धर्मर धारा; कलिता जातिर इतिवृत्त, पुरणि असमिया साहित्य विष्णुइट मिथ्स ऐंड लीजेंड्स, मदर गॉडेस कामाख्या, साहित्य आरु प्रेम, असमिया भाषा, इसका गठन और क्रमपरिवर्तन, लाइफ ऐंड टीचिंग ऑव शकरदेव, स्टडीज फ्राम असमिज हिस्ट्री, तथा परिवला। [ला० शु०]

काकतीय राजवंश ११९० ई० के बाद जब कल्याण के चालुक्यो का साम्राज्य टूट कर बिखर गया तब उसके एक भाग के स्वामी वारगल के काकतीय हुए, दूसरे के द्वारसमुद्र के होएसल, और तीसरे के देवगिरि के यादव। स्वाभाविक ही यह भूमि काकतीयो के अन्य शक्तियो से सघर्ष का कारण बन गई। काकतीयो की शक्ति प्रोलराज द्वितीय के समय विशेष बढी। उसके पौत्र गणपति ने दक्षिण मे काची तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। गणपति की कन्या रुद्रमा इतिहास मे प्रसिद्ध हो गई है। उसकी शासन नीति के प्रभाव से काकतीय साम्राज्य की समुनति हुई। वेनिस के यात्री मार्कोपोलो ने रुद्रमा की बडी सराहना की है। प्रतापरुद्रदेव प्रथम और द्वितीय, काककीय राजाओ, को दिल्ली के सुल्तानो से भी सघर्ष करना पडा। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा भेजी सेना को १३०३ ई० मे काकतीय प्रतापरुद्रदेव से हार कर लौटना पडा। ४ वर्ष बाद यादवो की पराजय से उत्साहित होकर मुसलमान फिर काकतीय नरेश पर चढ आए। सुल्तान का उद्देश्य वारगल के राज्य को दिल्ली की सल्तनत मे मिलाना न था--उस दूर के राज्य का, दूरी के ही कारण, समुचित शासन भी दिल्ली से सभव न था--वह तो मात्र प्रतापरुद्रदेव द्वारा अपना आधिपत्य स्वीकार कराना और उसका अमित धन स्वायत्त करना चाहता था। उसने अपने सेनापति मलिक काफूर को आदेश भी दिया कि यदि काकतीय राजा उसकी शर्ते मान ले तो उसे वह बहुत परेशान न करे। प्रतापरुद्रदेव ने वारगल के किले मे बैठकर मलिक काफूर का सामना किया। सफल घेरा डाल काफूर ने काकतीय नरेश को १३१० मे सधि करने पर मजबूर किया। मलिक काफूर को काकतीय राजा से भेट मे १०० हाथी, ७००० घोडे और अनत रत्न तथा ढाले हुए सिक्के मिले। इसके अतिरिक्त राजा ने दिल्ली के सुल्तान को वार्षिक कर देना भी स्वीकार किया। अलाउद्दीन की मृत्यु पर फैली अराजकता के समय प्रतापरुद्रदेव द्वितीय ने वार्षिक कर देना बद कर दिया और अपने राज्य की सीमाए भी पर्याप्त बढा ली। शीघ्र ही तुग्लक वश के पहले सुल्तान गियासुद्दीन ने अपने बेटे मुहम्मद जौना को सेना देकर वारगल जीतने भेजा। जौना ने वारगल के किले पर घेरा डाल दिया पर हिंदुओ न जी तोडकर उसका सामना किया तो उसे बाध्य होकर दिल्ली लौटना पडा। चार महीने बाद सुल्तान ने वारगल पर फिर आक्रमण किया। घमासान युद्ध के बाद काकतीय नरेश ने अपने परिवार और सरदारो के साथ आत्मसमर्पण कर दिया। राजा दिल्ली भेज दिया गया और काकतीय राज्य पर दिल्ली का अधिकार हो गया। जौना ने वारगल का सुल्तानपुर नाम से नया नामकरण किया। वैसे काकतीय राज्य दिल्ली की सल्तनत में मिला तो नही लिया गया पर उसकी शक्ति सर्वथा टूट गई और उसके पिछले काल के राजा श्रीविहीनहो गए। वारगल की पिछले काल की एक रानी ने तेलगाना को शक्ति तो नही पर शालीनता निश्चय प्रदान की जब उसकी अस्मत पर हाथ लगाने का साहस करनेवाले मुसलमान नवाब के उसने छक्के छुडा दिए। तेलगाना का अधिकतर भाग निजाम के अधिकार मे रहा है और उसकी राजधानी वारगल रही है।

काकिनाड एक नगर तथा समुद्री बदरगाह है। यह आध्र प्रदेश के पूर्व गोदावरी जिले मे इसी नाम के ताल्लुक का मुख्यालय है। (स्थिति १६° ५७' उ० अ० तक्ष ८२°१४' पू० दे०)। सन् १९५१ ई० मे इसकी जनसख्या ९९,९५२ थी।

वर्तमान नगर की नीवें १७वी सदी मे डचो ने डाली थी। जब यह नगर सन् १८२५ ई० मे अग्रेजो के अधिकार में चला गया तो इसका विकास धीमा हो गया। यह समुद्र तटीय रेलवे की एक उपशाखा द्वारा कलकत्ता से मद्रास जानेवाले मुख्य रेलमार्ग से मिला हुआ है। इसका बदरगाह अर्धप्राकृतिक है, जिसका विकास एक सीमा तक ही हो सका है। समुद्र तट से प्राय ४॥ मील अदर आने के बाद माल लादा तथा उतारा जा रहा है। इस बदरगाह से निर्यात की जानेवाली वस्तुओ मे कपास, तिलहन, तबाकू तथा दाल मुख्य है। आयात मुख्यत उपभोग की वस्तुएँ, जैसे कपडा, मिट्टी

का तेल और चावल आदि है। नगर का मुख्य धंधा चावल साफ करना, तवाकू की वस्तुएँ वनाना, आदि है। यहाँ अनेक शिक्षा सस्थाए और औषधालय हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय भारतभूमि पर हुए जापानी हवाई हमले का पहला वम यही गिरा था। [ब० प्र० रा०]

काकेशिया सोवियत सघ का एक विशाल प्रायद्वीप, तुर्की और ईरान के उत्तर, कालासागर और कैस्पियन सागर के मध्य में स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग ८०,००० वर्ग मील है तथा जन सख्या १,१०,००,००० है। इसके उत्तर में वृहत् काकेशस तथा दक्षिण में लघु काकेशस पर्वत है। इन दोनो पर्वत श्रृखलाओ के मध्य काकेशिया की समतल भूमि है जिसके उत्तर की ओर कूवन और टेरेक नामक दो प्रमुख नदियाँ वहती हैं। काकेशस प्रदेश के अधिकाश लोग यही निवास करते हैं। यहाँ की जलवायु उष्ण कटिवधीय है। काले सागर की नम हवाओ के फलस्वरूप पश्चिमी तटवर्ती भाग को सोवियत कैलिफोर्निया की सज्ञा मिली है। अतएव यह भूखड उपोष्ण कटिवधीय अन्न और फल के लिये पूर्ण उपयुक्त है। इसकेप्राय विपरीत परिस्थिति मे पूर्वी तटवर्तीय प्रदेश है जहाँ मध्यएशिया की मरुभूमि से शुष्क हवाएँ आकर इसे अर्ध मरुभूमि में परिवर्तित कर देती है। अत यहाँ की कृषि सिंचाई पर निर्भर रहती है। इस भूभाग की मुख्य उपज कपास है।

यहाँ की पर्वतमालाएँ खनिज पदार्थों से भरी है तथा इनमें पशुपालन की भी सुविधा है। इस प्रदेश की नदियाँ तीव्रगामिनी हैं अतएव गमनागमन के लिये अनुपयोगी हैं। परतु इनसे पर्याप्त जलविद्युत् शक्ति मिलती है। अधिकाश भाग पर्वतीय होने के कारण यातायात के साधनो की दृष्टि से उपयुक्त नही है फिर भी यहाँ की तीन प्रमुख रेलवे लाइनें इसे सोवियत सघ के अन्य भागो से मिलाती है और समुद्रीय यातायात भी पर्याप्त उन्नति पर है। यूरोप और एशिया के सनिकट होने के फलस्वरूप इस प्रदेश में जातीय विभिन्नता है। प्राय तीस प्रमुख जातियाँ यहाँ निवास करती है। इस प्रायद्वीप का शासन अठारह प्रशासनिक खडो में होता है।

रूस के सपूर्ण तेल का आधा भाग यही से निकाला जाता है। अतएव यहाँ का मुख्य उद्योग तेल निकालना और उसे शुद्ध करना है। तेल की ससारप्रसिद्ध खान वाकू तथा मैकाप और ग्रोजनी इसी प्रदेश मे स्थित हैं। ससार का सर्वश्रेष्ठ मैंगनीज़ उत्पादक स्थान, गोर्जिया भी यही है। इसके अतिरिक्त अन्य खनिज पदार्थ भी यहाँ मिलते हैं। इस प्रदेश का मुख्य निर्यात पेट्रोल, कपास, मैंगनीज़ तथा अन्य खनिज पदार्थ है। निर्यात मे फल का भी विशेष महत्व है। खाद्यान्न के लिये इसे कूवन समभूमि पर निर्भर रहना पडता है। [कृ० प्र० सिं०]

काक्स, डेविड (१७८३-१८५९) अग्रेज चित्रकार डेविड काक्स का नाम कास्टेवुल जैसे श्रेष्ठ कलाकारो के साथ लिया जाता है। इग्लैंड के दृश्यो का चित्रण ही इनकी कृतियो में अधिक हुआ है। वर्मिंघम आर्ट गलरी तथा ब्रिटिश म्यूजियम में इनकी कृतियाँ आज भी देखी जा सकती हैं। इनके 'शाति और युद्ध' तथा 'क्लाईड वैली' नामक चित्र प्रसिद्ध है। [भा० स०]

काग (कॉर्क) वृक्षो के तनो मे वाह्यत्वचा (epidermis) के स्थान पर अवस्थित मृत कोशिकाओ के वने ऊतको का मोटा स्तर होता है। इनके कारण सामान्यत हवा और पानी पेड के भीतर नही जा सकता। प्राय सभी वृक्षो में काग पाया जाता है, परतु कुछ वृक्षो के तनो पर काग प्रचुर मात्रा मे वनता है, जैसे त्वक्षा-वजु (काग-ओक, Quercus suber occidentalis) मे। इनमें से समय समय पर यह व्यापार के लिये निकाला जाता है। यह पौधा फागेसी (Fagaceae) कुल का सदस्य है। त्वक्षा-वजु के वृक्ष ३० से ४० फुट तक ऊँचे होते हैं। ये दक्षिणी यूरोप तथा अफ्रीका के उत्तरी समुद्री तटो के देशज हैं। १५ से २० वर्षीय वृक्षो से काग निकलने लगता है। जून से अगस्त तक यह कार्य सपन्न होता है। भूमि से कुछ ऊपर और फिर शाखाओ के कुछ नीचे तने के चारो ओर गड्ढा काट दिया जाता है। इसके वाद काग को इन दोनो कटे भागो के वीच में से लवी पट्टियो के रूप मे निकाल लिया जाता है।

काग पूर्णतया कोशिकाओ से वना रहता है। प्राकृतिक काग के एक घन इच मे लगभग २०,००,००,००० सूक्ष्म, वायु से भरी हुई मृत कोशिकाएँ रहती है। काग का आपेक्षिक गुरुत्व केवल लगभग ०.२५ होता है। काग की उत्प्लावकता (buoyancy), सपीड्यता (compressibility), प्रत्यास्थता (elasticity), वायु और पानी की अप्रवेश्यता (imperviousness), उच्च घर्षण-गुणाक (coefficient of friction) न्यून उष्मा-चालकता आदि गुण इसकी विशिष्ट रचना के फलस्वरूप होते हैं।

१९वी शताव्दी के लगभग अत तक काग वोतलो के डाटो, प्लवो (floats), उत्प्लवो (buoys), टोपो और जूतो के तल्ले वनाने के काम आता था। इसके पश्चात् इसका उपयोग अनेक अन्य आवश्यक कार्यों में
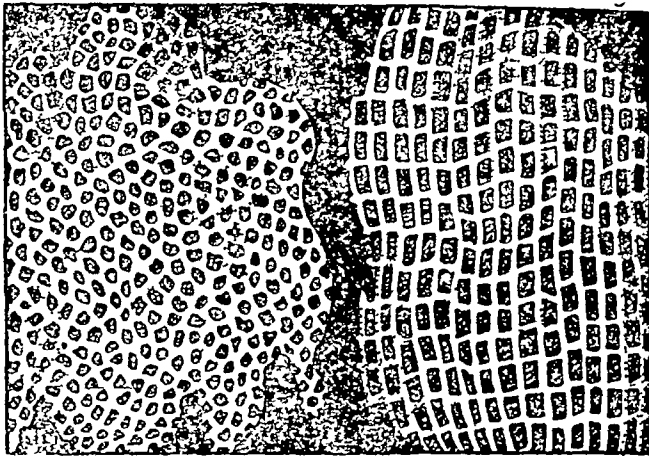
सूक्ष्म दर्शी यत्र की सहायता से दिखाई पडनेवाली काग की आतरिक रचना
(रॉबर्ट हुक ने सन् १६६५ में इसे पहली वार देखा था)।

भी होने लगा, जैसे अचालक काग दफ्तियो द्वारा शीत गोदामो के वनान मे तथा मोटरो के गैसकट और खाने पीने की वस्तुओ को पैक करने के लिये। [रा० कु० स०]

कागज पौधो मे सेल्यूलोस नामक एक सकीर्ण कार्वोहाइड्रेट होता है जो पौधो की कोशिकाओ की भित्ति वनाता है। कोशिकाएँ जीव की इकाइयाँ होती है। अत सेल्यूलोस पौधो के पजर का मुख्य पदाथ है।

सेल्यूलोस के रेशो को परस्पर जुटा कर एकसम पतली चद्दर के रूप में जो वस्तु वनाई जाती है उसे ही कागज कहते हैं। कागज मुख्य रूप से लिखने और छपाई के लिये उपयुक्त होता है।

कोई भी पौधा या पदार्थ, जिसमें सेल्यूलोस अच्छी मात्रा मे हो, कागज वनाने के लिय उपयुक्त हो सकता है। रुई लगभग शुद्ध सेल्यूलोस है, किंतु कागज वनाने मे इसका उपयोग नही किया जाता क्योकि यह महँगी होती है और मुख्य रूप से कपडा वनाने के काम मे आती है।

परस्पर जुटकर चद्दर के रूप में हो सकने का गुण सेल्यूलोस के रेशो मे ही होता है और इसी कारण कागज केवल इसी से वनाया जा सकता है। रेशम और ऊन के रेशो मे इस प्रकार परस्पर जुटने का गुण न होने के कारण ये कागज वनाने के काम मे नही आ सकते। जितना अधिक शुद्ध सेल्यूलोस होता है, कागज भी उतना ही स्वच्छ और सुदर वनता है। कपडो के चिथडे तथा कागज की रद्दी में लगभग शत प्रतिशत सेल्यूलोस होता है, अत इनसे कागज सरलता से और अच्छा वनता है। इतिहासज्ञो का ऐसा अनुमान है कि सवसे पहला कागज कपडो के चिथडो से ही चीन में वना था।

पौधो में सेल्यूलोस के साथ अन्य कई पदार्थ मिले रहते हैं, जिनमें लिग्निन और पेक्टिन पर्याप्त मात्रा में तथा खनिज लवण, वसा और रग पदार्थ सूक्ष्म मात्राओ मे रहते है। इन पदार्थो को जव तक पर्याप्त अश तक निकालकर सेल्यूलोस को पृथक् रूप मे नही प्राप्त किया जाता तव तक सेल्यूलोस से अच्छा कागज नही वनाया जा सकता। लिग्निन का निकालना विशेष आवश्यक होता है। यदि लिग्निन की पर्याप्त मात्रा सेल्यूलोस में विद्यमान रहती है तो सेल्यूलोस के रेशे परस्पर चद्दर के रूप में जुट नही पाते। विभिन्न पौधो से शुद्ध रूप में सेल्यूलोस प्राप्त करना कठिन होता है। आरभ में जव तक सेल्यूलोस को पौधो से शुद्ध रूप में प्राप्त करने की कोई अच्छी विधि ज्ञात नही
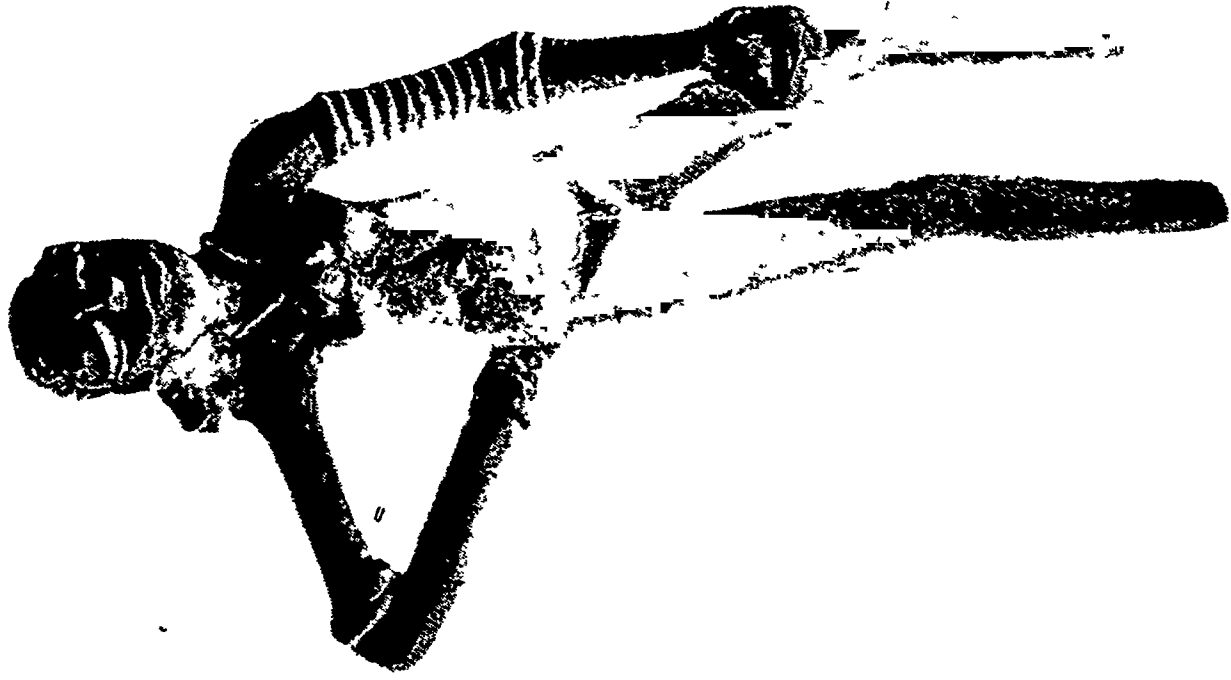
कांस्य कला (देखे पृष्ठ ४२७)

मोहन जोदेडो की नर्तकी की कास्य मूर्त्ति (ल० २५०० ई० पू०)
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)
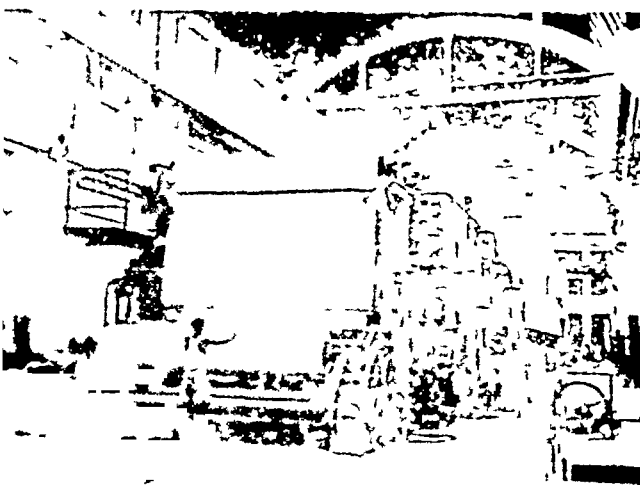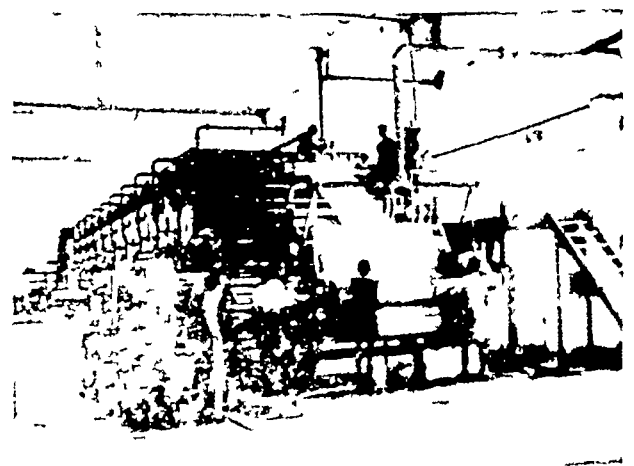
हो सकी थी, कागज मुख्य रूप से फट सूती कपडो से ही बनाया जाता था। चिथडो तथा कागज की रद्दी से यद्यपि कागज बहुत सरलता से और उत्तम कोटि का बनता है, तथापि इनकी इतनी मात्रा का मिल सकना सभव नही है कि कागज की हमारी पूरी आवश्यकता इनसे बनाए गए कागज से पूरी हो सके। आजकल कागज बनाने के लिये निम्नलिखित वस्तुओ का उपयोग मुख्य रूप से होता है चिथडे, कागज की रद्दी, बाँस, विभिन्न पेडो की लकडी, जैसे स्प्रूस और चीड, तथा विविध घासें जैसे सबई और एस्पार्टो। हमारे देश मे बाँस और सबई घास का उपयोग कागज बनाने के लिये मुख्य रूप से होता है।

कागज बनाने की पूरी क्रिया के कई अग है —(१) सेल्यूलोस की लुगदी (pulp) बनाना, (२) लुगदी को विरजित करना और इसके रेशो को आवश्यक अश तक महीन और कोमल करना तथा (३) अत में लुगदी को चद्दर के रूप में परिणत करना।

लुगदी बनाना—

चिथडो से लुगदी बनाना : सूती कपडो के चिथडो को झाडकर उनकी धूल निकालने के बाद उनमें मिले पत्थर के टुकडे और उनमे लगे बटन तथा हुक आदि निकाल दिए जाते हैं। रेशम, ऊन तथा कृत्रिम रेशम के टुकडो को भी छाँट कर निकाल दिया जाता है। इसके बाद चिथडो को गोलाई से घूमनेवाले कर्तक (rotary cutter) द्वारा लगभग एक एक इच छोटे टुकडो मे काट लिया जाता है और फिर एक ऐसे बेलनाकार वर्तन में डालकर घुमाया जाता है जिसमे तार की जाली लगी रहती है। यहाँ टुकडो की धूल झड कर जाली के नीचे गिर जाती है। अब टुकडो को गोल या लबे बलनाकार लोहे के वाष्पित्रो (boilers) मे भर दिया जाता है। वाष्पित्र मे चिथडो से तिगुना पानी भरकर इसमे दाहक सोडे की उपयुक्त मात्रा घुला दी जाती है। साधारणत कपडो मे लगे रग, माँडी, गदगी आदि का ध्यान रखते हुए दाहक सोडे की मात्रा, कपडे के भार के हिसाब से, एक प्रति शत से दस प्रति शत तक रखी जाती है। थोडा सोडियम सिलिकेट भी प्राय डाल दिया जाता है। इसकी उपस्थिति से कपडे की चिकनाई अधिक शीघ्रता से निकल जाती है। अब वाष्पित्र को २० से ५० पाउड दाब की भाप द्वारा गरम कर, टुकडो को भीतर भरे विलयन मे आवश्यकतानुसार २ से १२ घटे तक उबाला जाता है। दाहक सोडा सेल्यूलोस में उपस्थित अपद्रव्यो को घुला देता है।

उबालने के बाद दाहक (कास्टिक) सोडा द्राव को बहाकर वाष्पित्र मे से निकाल दिया जाता है और चिथडो को वाष्पित्र मे ही कई बार गरम पानी से धोया जाता है। इस फेंके गए द्राव में से दाहक सोडे को पुन प्राप्त करने का प्रबध भी कारखानो मे रहता है। अब वाष्पित्र में से टुकडो को एक आयताकार बडी नाँद में पहुँचाया जाता है और साथ ही इसमे पर्याप्त पानी भर दिया जाता है। इस नाँद मे लोहे के बहुत से छड इस प्रकार लगे रहते हैं कि घूमने पर वे कपडे के टुकडो को रगडते और मसलते हैं। टुकडो के रगडने और मसलने की क्रिया के बीच बीच मे नाँद का पानी निकालकर इसमें नया साफ पानी डालते रहते है। इस प्रकार नाँद में कपडे के टुकडे मसले जाकर और फिर पानी से धुलकर स्वच्छ लुगदी के रूप मे परिणत हो जाते हैं।

बाँस, एस्पार्टो तथा सबई घास से लुगदी बनाना . इन वस्तुओ को कर्तक द्वारा छोटे-छोटे टुकडो मे काटकर इस्पात के बने पाचक यत्र (digester) मे भर दिया जाता है और फिर इसमे २५ प्रति शत दाहक सोडा विलयन का चार गुना भाग, जिसमे थोडा सोडियम सल्फाइड भी घुला रहता है, डालकर ४५ पाउड के दाब की भाप द्वारा लगभग ५ घटे तक उबाला जाता है। बाँस तथा घास मे उपस्थित लिग्निन, पेक्टिन तथा अन्य अपद्रव्य दाहक सोडा विलयन मे घुल जाते हैं और विलयन का रग काला हो जाता है। इस विलयन को अब 'काला द्राव' (black liquor) कहते है। लिग्निन और पेक्टिन आदि के निकल जाने के बाद सेल्यूलोस के रेशे मुक्त होकर लुगदी के रूप में परिणत हो जाते हैं। उबालने की क्रिया की समाप्ति पर काले द्राव को पाचक यत्र से बाहर निकाल दिया जाता है और लुगदी को गरम पानी से कई बार धोया जाता है। सोडा मूल्यवान् पदार्थ है, अत काले द्राव मे से पुन दाहक सोडा प्राप्त किया जाता है और इसीको फिर नया विलयन बनाने के काम मे लाया जाता है।

लकड़ी से लुगदी बनाना · (क) सल्फेट विधि—यह विधि मुख्य रूप से चीड की जाति की लकडियो के लिये उपयोग मे आती है और इसके द्वारा बाँधने के काम मे आनेवाला कागज (kraft paper) बनाया जाता है। इस विधि के लिये सोडियम सल्फेट का विलयन, जिसमें थोडा दाहक सोडा भी घुला रहता है, उपयुक्त होता है। छाल निकालने के बाद लकडी को लगभग आधे इच छोटे टुकडो मे काटकर और इस्पात के बने पाचक यत्रो में भरकर दाहक सोडा मिश्रित सोडियम सल्फेट विलयन के साथ लगभग ५ घटे तक १००-१२० पाउड दाब पर उबाला जाताहै। लकडी में उपस्थित लिग्निन तथा अन्य अपद्रव्य क्षारीय सोडियम सल्फेट विलयन मे घुल जाते हैं और सेल्यूलोस लुगदी के रूप में बच रहता है। उबालने की क्रिया के बाद बचे काले द्राव को अलग निकाल दिया जाता है और लुगदी को कई बार पानी से धो लिया जाता है। इस काले द्राव में से सोडियम सल्फेट और दाहक सोडे को पुन प्राप्त किया जाता है, जिससे खर्च में कमी हो जाती है।

इस विधि मे उबालन का द्राव क्षारीय होता है, इस कारण यह द्राव लकडी में उपस्थित रोज़िन और अम्लो को घुला लेता है। अत इस द्राव की सहायता से ऐसी लकडियाँ लुगदी मे परिवर्तित की जा सकती हैं जिनमे रोज़िन बहुत रहता है। इस कारण यह विधि इन्ही लकडियो के लिये उपयुक्त होती है।

सल्फेट विधि मे एक कठिनाई यह है कि लिग्निन पदार्थ द्राव मे पूर्ण रूप से नही घुलता, जिसके फलस्वरूप लुगदी को विरजित करने मे कठिनाई होती है और इस कारण इस विधि द्वारा सफेद कागज बनाना सभव नही होता। इसीलिये यह विधि क्रैफ्ट कागज़ बनाने के लिये ही मुख्य रूप से उपयुक्त होती है। लिग्निन की कुछ मात्रा के बच रहने के कारण इस विधि से बनाया गया क्रैफ्ट कागज बहुत चिमडा और मजबूत होता है।

(ख) सल्फाइट विधि—इस विधि में लकडी के टुकडो को कैल्सियम और मैग्नीशियम बाइसल्फाइट के विलयन में उबाला जाता है। विलयन निम्नाकित विधि से बनाया जाता है :

गवक अथवा लौह माक्षिक (iron pyrites) को वायु मे जलाकर सल्फर डाइ-आक्साइड गैस बनाई जाती है और बनते ही इस गैस को तुरत ठढी कर साधारण ताप पर लाया जाता है। फिर इस गैस को चूने का पत्थर भरे एक मीनार मे नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित किया जाता है। इसी समय मीनार मे ऊपर से पानी भी बहुत धीमी गति से फुहारो द्वारा गिराया जाता है। सल्फर डाइ-आक्साइड जब नीचे से ऊपर को आता है तब ऊपर से गिरनेवाले इस पानी मे घुलकर सल्फ्यूरस अम्ल बनाता है। यह अम्ल तुरत चूने के पत्थर पर अभिक्रिया कर इसे कैलसियम बाइसल्फाइट मे परिणत कर देता है। चूने के पत्थर मे थोडा मैग्नीशियम कार्बोनेट भी अपद्रव्य के रूप मे उपस्थित रहता है। सल्फ्यूरस अम्ल की इस पर भी अभिक्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप मैग्नीशियम बाइ-सल्फाइट भी बनता है। इस प्रकार कैलसियम और मैग्नीशियम बाइ-सल्फाइट का एक विलयन प्राप्त होता है।

जिस लकडी से लुगदी बनानी होती है उसकी छाल निकालने के बाद उसे लगभग आधा इच छोटे टुकडो में काटकर इस्पात के बने पाचक यत्र मे भर दिया जाता है और फिर इसमे पूर्वोक्त विधि से बनाए गए कैल्सियम और मैग्नीशियम बाइ-सल्फाइट विलयन की उपयुक्त मात्रा भी भर दी जाती है। अब इस विलयन मे लकडी को १३०°–१३५° से० ताप पर लगभग २०–३० घटे तक उबाला जाता है। लकडी मे उपस्थितलिग्निन, पेक्टिन तथा अन्य पदार्थ बाइ-सल्फाइट विलयन मे घुल जाते है और सेल्यूलोस लुगदी के रूप में बच रहता है। जब क्रिया पूरी हो जाती है तो विलयन को निकाल कर अलग कर दिया जाता है और लुगदी को पानी से धो लिया जाता है।

लुगदी को विरजित करना—जिस पेड की लकडी या पौधे से लुगदी बनाई जाती है उसमें उपस्थित रग के कारण लुगदी में कुछ रग रहता है। क्रैफ्ट कागज़ बनाने के लिये लुगदी को बिना विरजित किए ही उपयोग में लाया जाता है, किंतु अच्छा सफेद कागज़ बनाने के लिये लुगदी को विरजित कर उसे सफेद करना आवश्यक होता है।

विरजन की क्रिया मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि लुगदी का रग तो निकल जाय, किंतु सेल्यूलोस पर विरजक का कोई हानिकारक प्रभाव न पड। इस काम के लिये साधारण रीति से कोई आम्लिक विरजक या

क्लोरीन का उपयोग किया जाता है। आम्लिक विरजक तथा क्लोरीन लुगदी में उपस्थित लिग्निन को तथा रग पदार्थ को ऐसे यौगिक में परिणत कर देते है जो पानी मे तो अविलेय होते है किंतु दाहक सोडे या सोडियम सल्फाइट विलयन में विलेय होते है। इन विरजकों का सेल्युलोस पर कोई विशेष हानिकारक प्रभाव नहीं पडता। अत लुगदी को इनके द्वारा उपचारित करने और फिर दाहक सोडा या सोडियम सल्फाइट विलयन द्वारा निष्कर्षित करने पर लुगदी में उपस्थित अविकाश लिग्निन और रग पदार्थ विना सेल्युलोस को कोई हानि पहुँचाए निकल जाते हैं। विरजित करने के वाद लुगदी को पानी से कई वार धो लिया जाता है।

लुगदी को पीट कर तथा कोमल वना कर कागज वनाने के उपयुक्त वनाना—विरजित करने और धोने के वाद लुगदी को पीटक (beater) में भेजा जाता है। पीटक एक अडाकार नाँद होती है, जिसमें लोहे का एक वेलन, पट्ट तथा कई डडे लगे रहते हैं। जव वेलन घूमता है तो लुगदी खिच कर डडो के वीच में वेलन पर आ जाती है। वेलन के घूमने से लुगदी विच्छिन्न हो जाती है और इसके सेल्यूलोस के रेशे टूट कर छोटे हो जाते है। सेल्यूलोस के रेशो को जितना महीन करने की आवश्यकता होती है उतना महीन उन्हे पीटक में कर लिया जाता है। जिस प्रकार का कागज़ वनाना होता है उसी के अनुसार लुगदी के रेशों को महीन किया जाता है। रेशे जितने महीन होते हैं वे उतने ही घने और मजबूत ढग से परस्पर जुट कर कागज़ की चद्दर वनाते हैं।

पीटक मे जव पीटने की क्रिया होती रहती है तभी जो भी रग आदि मिलाना होता है लुगदी में मिला दिया जाता है। यहीं पर लुगदी में चीनी मिट्टी तथा टाइटेनियम डाइ-आक्साइड आदि पूरक (filler) भी मिलाए जाते हैं। चीनी मिट्टी से कागज़ में चिकनापन आता है और टाइटेनियम डाइ-आक्साइड से कागज़ मे अधिक सफेदी तथा पारावता आती है।

पूर्वोक्त विधि द्वारा प्राप्त लुगदी से कागज़ वनाने पर उसमें महीन रध्र रहते हैं, जिनमें पानी शोपित करने का गुण होता है। अत ऐसे कागज़ पर स्याही फैलती है। इस कारण लिखने का कागज वनाने के लिय कुछ ऐसे पदार्थों का व्यवहार किया जाता है जो कागज़ के रध्रों को भरकर सतह को चिकना कर देते हैं। इन पदार्थों को सज्जीकारक कहते हैं और इनके द्वारा रध्रहीन वनाने की क्रिया को सज्जीकरण (sizing) कहते हैं।

जिलैटिन का उपयोग सज्जीकारक के रूप में हाथ का कागज वनाने के लिये बहुत प्राचीन काल से होता आया है। जिलैटिन द्वारा सज्जीकरण करने में कागज़ के ताव (sheet) को जिलैटिन के एक पतले विलयन में डुवोकर हवा में सूखने के लिये लटका दिया जाता है। इससे जिलैटिन की एक महीन पर्त कागज की सतह पर जम जाती है जिसके कारण कागज़ के रध्र भर जाते हैं और स्याही कागज पर नहीं फैलती। जिलैटिन की परत का एक लाभ यह भी होता है कि यह कागज़ के ताव को पुष्टता भी प्रदान करती है। सज्जीकरण की यह रीति हिसाव लिखनेवाला पुष्ट और टिकाऊ कागज वनाने में आज भी उपयुक्त होती है। जिलैटिन महँगा पदार्थ है, इस कारण साधारण प्रकार का कागज़ वनाने के लिये अन्य सस्ते सज्जीकारक उपयोग में लाए जाते हैं, जिनमें रोजिन अधिक प्रचलित है। रोजिन सज्जीकारक निम्नलिखित प्रकार से वनाया जाता है —

रोज़िन को क्षार विलयन की सीमित मात्रा से उपचारित कर पहले एक सफेद पायस (इमल्शन) के रूप में परिणत कर लिया जाता है और फिर इस पायस को पीटक मे ही लुगदी में मिला दिया जाता है। इसके वाद लुगदी में फिटकरी की उपयुक्त मात्रा मिला कर अभिक्रिया को थोडा आम्लिक रखा जाता है (पीएच ४ और ६ के वीच में)। फिटकिरी मिलाने पर एक महीन अवक्षेप वनता है जो रोजिन, ऐल्यूमिना और भास्मिक ऐल्यूमिनियम सल्फेट का मिश्रण होता है। यह अवक्षेप सेल्यूलोस के रेशों की सतह पर दृढता से चिपक जाता है और सेल्यूलोस को पानी के प्रति प्रतिसारक (repellent) वनाता है, जिसके फलस्वरूप इस लुगदी से वनाए गए कागज़ पर स्याही नहीं फैलती।

लुगदी को कागज़ में परिवर्तित करना—पीटक में लुगदी को पूर्वोक्त विधि से उपयुक्त रूप मे तैयार कर लेने पर कागज़ वनाने के लिये इसे केवल इच्छित मोटाई की चद्दर के रूप में परिवर्तित करना होता है। यह कार्य हाथ या मशीन द्वारा होता है। हाथ से यह काम करने के लिये लकडी का वना एक आयताकार चौखटा लिया जाता है जिस पर उपयुक्त वारीकी की जाली जडी रहती है। जिस नाप का कागज़ वनाना होता है उसी नाप का चौखटा लेना पडता है। जाली के ऊपर एक अन्य चौखटा वैठता है जिसकी ऊँचाई लगभग आध इच होती है। यह चौखटा जाली पर से हटाकर अलग किया जा सकता है। लुगदी को पानी में फेंट कर एक पतला आलवन वनाया जाता है। फिर चौखटे को इस आलवन में डुवाकर ऊपर उठा लिया जाता है। दूसरे चौखटे की ऊँचाई के अनुसार, लुगदी की एक नियत मात्रा इस प्रकार चौखटे की जाली पर पानी सहित आ जाती है। चौखटे को ऊपर उठाने पर पानी तो नीचे गिर जाता है, किंतु लुगदी जाली पर एक चद्दर के रूप में वच रहती है। जिस समय लुगदी के आलवन का पानी चौखटे की जाली में से गिरता रहता है उस समय चौखटे को थोडा हिलाते भी रहते हैं, जिससे सेल्यूलोस के रेशे परस्पर मिलकर ठीक से जुट जायँ। जव सारा पानी टपक कर निकल जाता है तव ऊपरी चौखटा हटा कर नीचे के चौखटे को एक गीले फेल्ट की चद्दर पर उलट कर कागज़ का ताव फेल्ट पर उतार दिया जाता है। नीचे वाले चौखटे, ऊपरी चौखटा लगाकर, फिर पहले की भाँति लुगदी के आलवन में डुवाए जाते है और कागज़ का दूसरा ताव वनाया जाता है। इसे पहले कागज़ के ऊपर फेल्ट की दूसरी चद्दर रख कर उतार दिया जाता है। इस रीति से कागज़ का एक के वाद दूसरा ताव वनाकर फेल्ट के टुकडो पर क्रम से रखते जाते हैं और जव पर्याप्त ऊँचा ढेर हो जाता है तव इस ढेर को एक दावक (press) में दवाया जाता है, जिससे कागजो का अधिकाश पानी निकल जाता है। अव इस ढेर में से प्रत्येक कागज़ का ताव अलग कर सूखने के लिय तार या डोरी पर टाँग दिया जाता है। सूखने के वाद कागज़ तैयार हो जाता है और सवको एकत्रित कर तथा चिकनाकर गट्ठे (वडल) के रूप में वाँध लिया जाता है। हाथ से कागज वनाने में वहुत मजदूरी लगती है। इसलिये इस विधि का उपयोग केवल सर्वोत्तम प्रकार का कागज वनाने में किया जाता है। ऐसा कागज चिथडे से वनाया जाता है और वहुत पुष्ट होता है। इसका उपयोग पत्र लिखने और चित्र खीचने में होता है।

वर्तमान समय में लुगदी से कागज़ मशीनो की सहायता से वनाया जाता है। इस विधि से कागज़ वनाने में भी वे सव क्रियाएँ आवश्यक हैं जो हाथ द्वारा कागज वनाने में। अतर केवल इतना होता है कि प्रत्येक क्रिया मशीन द्वारा पर्याप्त शीघ्रता से होती है। इस रीति में लुगदी का एक वहुत पतला आलवन वनाया जाता है और इसकी उचित मात्रा तार के वने एक अतहीन पट्टे पर उठा ली जाती है। जितना चौडा कागज़ वनाना होता है पट्टे की चौडाई भी उतनी ही रखी जाती है। यह पट्टा वरावर आगे वढता जाता है। पट्टा जैसे जैसे आगे वढता है इस पर उठाए हुए लुगदी के आलवन का पानी टपकता जाता है और लुगदी चद्दर के रूप में परिवर्तित होती जाती है। इस तार के पट्टे की दोनो वगलो पर दो इच चौडा रवर का पट्टा रहता है, जो तार के पट्टे के साथ साथ घूमता रहता है। रवर के पट्टे का काम तार के पट्टे के कागज के ताव को वगलो की ओर खिसकने से रोकना है। जव तार का पट्टा सिरे के पास पहुँचता है तो यह ऐसे सदूको के ऊपर से घूमकर नीचे को मुडता है जहाँ चूषण पप लगे रहते हैं। ये पप पट्टे वाले कागज़ के ताव का वहुत सा पानी चूस कर निकाल देते हैं। कुछ आगे इस सिरे पर दो वडे वेलन भी होते हैं, जिन पर फेल्ट मढा रहता है। जव पट्टा इन वेलनो के भीतर से होकर जाता है तो कागज़ के ताव पर वहुत दाव पडती है। इस दाव से ताव का कुछ और पानी निकल जाता है, साथ ही लुगदी के रेशे अधिक दृढता से परस्पर जुटकर जम जाते हैं। यहाँ से तार का पट्टा तो नीचे की ओर घूम कर पीछ की ओर चला जाता है, किंतु कागज़ का ताव रवर के दूसरे पट्टों की सहायता से आगे वढता है। आगे वढने पर ताव पुन फेल्ट मढे कई जोडी वेलनो के भीतर से होकर जाता है। ये वेलन कागज़ के ताव के शेष पानी को भी निकाल देते हैं और ताव को और अधिक जमा देते हैं। अव ताव को सुखाने के लिये उसे इस्पात के वने वडे वेलनो के ऊपर से ले जाया जाता है। ये वेलन कम दाव की भाप द्वारा साधारण ताप तक गरम किए जाते हैं और दो पक्तियों में व्यवस्थित रहते हैं। ताव क्रम से ऊपर की पक्ति के एक वेलन के ऊपर से होकर नीचे की पक्ति के वेलन के नीचे से होकर जाता है। इन गरम वेलनों से होकर वाहर निकलने पर कागज़ का ताव एकदम सूखा रहता है। तदुपरात इन तावो को

निष्पीडक बेलनो (calendering rollers) के बीच से निकाला जाता है। इससे कागज का पृष्ठ चिकना हो जाता है। इस क्रिया को निष्पीडन (calendering) कहते हैं। यदि बहुत चिकने कागज की आवश्यकता होती है तो इस्पात के बने कई चिकने निष्पीडक बेलनो के भीतर से कागज के ताव को निकाला जाता है। अब कागज़ के ताव को बडे पुलिंदे के रूप मे लपेट लिया जाता है।

निष्पीडक बेलनो से निकलने के बाद जो कागज प्राप्त होता है वह बहुत सूखा रहता है। सामान्य अवस्था मे लाने के लिये इसमे थोडी नमी शोषित कराना आवश्यक होता है। नमी शोषित कराने की क्रिया को आर्द्रताकरण (humidification) कहते हैं। इस क्रिया मे कागज को पोले बेलनो के
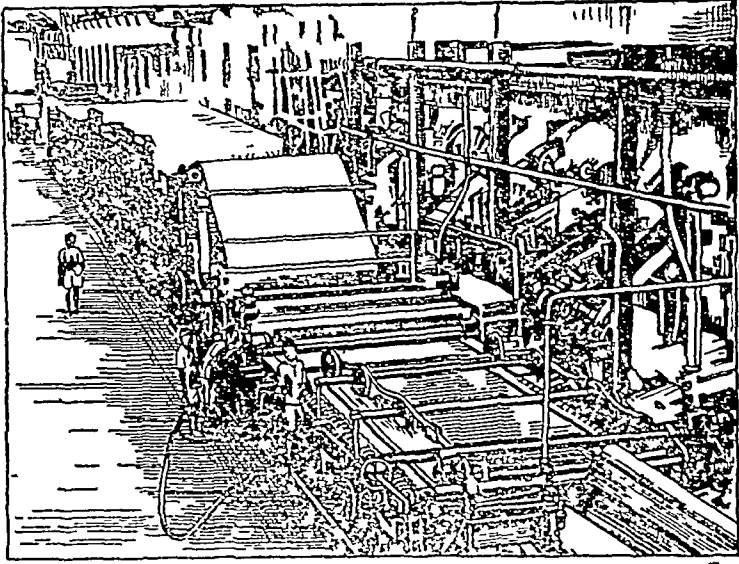
कागज बनानेवाली मशीन

ऊपर से, जो क्रम से व्यवस्थित रहते है, धीमी गति से भेजा जाता है। कक्ष का वायुमडल आर्द्र रखा जाता है, अत कागज आवश्यक आर्द्रता शोषित कर लेता है। आर्द्रताकरण के बाद कागज़ की लबी चादर को एक मशीन की समतल सतह पर खोल कर इच्छित नाप के ताव काट लिए जाते है और फिर इन तावो को गिनकर वेठन के कागज मे लपेटा और बाँधा जाता है। साधारणत प्रत्येक वडल मे ५०० ताव रखे जाते है और इतने को एक रीम कहते हैं। [स० प्र० ट०]

कागज़ चिपकाना पलस्तर की हुई दीवारो पर कभी कभी सफेदी या डिस्टेपर करने के बजाय रग बिरगा कागज चिपका दिया जाता है,जिससे दीवारो का सूनापन और नीरसता दूर हो जाती है और कमरा सुदर प्रतीत होने लगता है। कागज चिपकाने का प्रचलन इग्लैड आदि देशो मे बहुत है। भारत की तेज गरमी मे कागज बहुधा उखड जाता है। दीवारो की सजावट का कागज प्राय तीन प्रकार का होता है।

लुगदी से बने कागज की पृष्ठभूमि स्वाभाविक रग की होती है। छपाई द्वारा उसे चित्रित कर लिया जाता है। साटन कागज, साटन की भाँति चमकदार होता है। साधारण कागज पर रग करके उस पर खडिया (सेलखडी) से पालिश कर दी जाती है। बादलो की भाँति चित्रित, भडकीला तथा चमकीला होने से इसको 'अबरी' (फारसी अब्र, बादल) भी कहते है। इस पर आर्द्रता का विशेष प्रभाव पडता है, अत इसे सूखी दीवारो पर बहुत सावधानी से सादे कागज का अस्तर देकर लगाना चाहिए। चिकना होने के कारण अबरी पर धूल नही जमती और वह शीघ्र गदा नही होता। तीसरा रोएँदार कागज होता है। छापो द्वारा पहले सरेस से, फिर वार्निश से कागज पर आलेख (चित्र) कर दिए जाते है। फिर उनपर काग (कॉर्क) का चूर्ण या ऊन की बारीक कतरन छिडक दी जाती है,जो वार्निश में चिपक कर कागज के पृष्ठ को आकर्षक बना देती है। इसका उपयोग बडी सावधानी से किया जाता है। कही कही तो किरमिच (कैनवस) का कपडा लगाकर उसपर कागज का अस्तर चढाया जाता है। फिर उसके ऊपर यह कागज चिपकाया जाता है।

१६वी शताब्दी के अत मे जब पूर्व मे डच, अगेज, और फ्रासीसी व्यापारिक कपनियाँ स्थापित हुई, चीनियो ने अपने यहाँ उपयोग में आनेवाला कलापूर्ण और चित्रित कागज उन व्यापारियो को भेट किया। फलत, यूरोप में राजमहलो और सपन्न घरानो मे ज़री आदि के कपडो और ठप्पे लगे हुए चमडो के रूप मे प्रयुक्त होनेवाले बहुमूल्य आवरण के स्थान पर इन कागजो का उपयोग दीवारो को ढकने के लिये बहुत होने लगा। माँग बढने पर चिपकाने वाले कागज का बनना आरभ हो गया। फिर उन देशो मे भी भाँति भाँति के कागज बनने लगे। विक्टोरिया काल मे सजावट की प्रवृत्ति सीमा लाँघ गई, किंतु मशीन से बने कागज़ मे हाथ से बने चीनी कागज़ के समान चित्राकन सौदर्य तथा विविधता न आ पाई। अत इग्लैड मे १६वी शताब्दी के पश्चात् सजावट की इस प्रथा मे शिथिलता आ गई। अब फिर इस कला को सजीव बनाने के प्रयत्न हो रहे हैं। अब तो कुछ ऐसे कागज़ भी बनने लगे है जो पानी से धोकर साफ किए जा सकते है। इन पर प्लैस्टिक का लेप रहता है।

भारत मे कागज चिपका कर दीवारे सजाने का प्रचलन पहाडो पर था, किंतु अब दिन प्रति दिन घट रहा है। सजावट का कागज यहाँ नही बनता। इग्लैड, फ्रास और अन्य देशो से ही आता है।

स० ग्र०—एन० चौधरी इजीनियरिंग माटियरियल्स। [वि० प्र० गु०]

कागोशिमा ३१° ३१′ उत्तरी अक्षाश और १३° ३२′ पूर्वी देशातर पर जापान के क्यूशू द्वीप मे कागोशिमा की खाडी पर स्थित एक सुरक्षित पत्तन है। यह क्यूशू द्वीप के दक्षिणी तट का प्रमुख द्वार है। कागोशिमा प्रात (Prefecture) की राजधानी है और प्राचीन काल मे सत्सुमा जाति की राजधानी रहा। यह सत्सुमा बर्तनो के लिये अब भी प्रसिद्ध है। ऊनी रेयन और नाइलान कपडो की बुनाई का केंद्र भी यहाँ है। जनसख्या २,६५,६६४ (१६६०)। [कै० ना० सिं०]

काच गुप्तवश का शासक (?), जिसका नाम कुछ स्वर्णमुद्राओ पर खुदा मिलता है। इन मुद्राओ पर सामने बाएँ हाथ मे चक्रध्वज लिए खडे राजा की आकृति मिलती है। उसके बाएँ हाथ के नीचे गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि मे राजा का नाम 'काच' लिखा रहता है। मुद्रा पर वर्तुलाकार ब्राह्मी लेख 'काचो गामवजित्य दिव कर्मभिरुत्तमै जयति' मिलता है, जिसका अर्थ है 'पृथ्वी को जीतकर काच पुण्यकर्मो द्वारा स्वर्ग की विजय करता है।' सिक्के के पीछे लक्ष्मी की आकृति तथा 'सर्व्वराजोच्छेत्ता' (सब राजाओ को नष्ट करने वाला) ब्राह्मी लेख रहता है।

ये सिक्के गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के सिक्को से बहुत मिलते है। 'सर्व्वराजोच्छेत्ता' विरुद गुप्तवश के अभिलेखो मे समुद्रगुप्त के लिए प्रयुक्त हुआ है। अत कुछ विद्वान् समुद्रगुप्त का ही दूसरा नाम 'काच' मानकर उक्त सिक्को को उसी का घोषित करते है। परतु इसे ठीक नही कहा जा सकता। समुद्रगुप्त के सिक्को पर उसका नाम 'समुद्र' मिलता है न कि काच। दूसरे, चक्रध्वज चिह्न काच के अतिरिक्त समुद्रगुप्त या अन्य किसी गुप्त शासक के सिक्को पर नही मिलता।

हाल मे रामगुप्त नामक शासक की कुछ ताम्रमुद्राओ के मिलने से तथा उसका नाम साहित्य एव अन्य प्रमाणो से ज्ञात होने के कारण कुछ लोग इसी रामगुप्त को काच समझते है। परतु यह भी युक्तिसगत नही जान पडता। काच तथा रामगुप्त के सिक्के एक-दूसरे से नितात भिन्न है। प्रतीत होता है कि गुप्त शासक चद्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद काच नाम के किसी शक्तिशाली व्यक्ति ने पाटलिपुत्र की गुप्तवशी गद्दी पर अधिकार कर लिया और उसी ने काचाकित उक्त मुद्राएँ प्रचलित की। [कृ० द० वा०]

काच अथवा शीशा आकार्बनिक पदार्थो से बना हुआ वह पारदर्शक अथवा अर्धपारदर्शक पदार्थ है जिससे शीशी बोतल आदि बनती है। काच का आविष्कार ससार के लिये एक बहुत बडी घटना थी और आज की वैज्ञानिक उन्नति मे काच का बहुत अधिक महत्व है।

प्रकृति मे आबसीडियन (Obsidian) पाषाण पाया जाता है जो एक प्रकार का काच है। यह ज्वालामुखी पहाडो से निकलता है और इसके टुकडो मे तीव्र धार होती है। पाषाण युग मे बाण के सिरे, भालो की नोके एव चाकू के फल इसी के बनाए जाते थ। धातु युग मे इसी आबसीडियन पाषाण से शृगार की वस्तुएँ, जैसे दर्पण इत्यादि, बनाए गए।

किंवदती के अनुसार, मनुष्य को काच का पता तब चला जब कुछ व्यापारियो ने सीरिया मे फीनिशिया के समुद्र तट पर शोरो के ढेलो पर भोजन के पात्र चढाए। अग्नि के प्रज्वलित होने पर उन्हे द्रवित काच की

धारा बहती हुई दिखाई दी। यह काच बालू और शोरे के सयोग से बन गया था।

ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम बरतनो पर काच के समान चमक उत्पन्न करने की रीति का आविष्कार मेसोपोटामिया (इराक) मे ईसा के प्राय १२,००० वर्ष पूर्व हुआ।

प्राचीनतम काच साँचे मे ढले हुए तावीज के रूप मे मिस्र मे पाया गया है, जिसका निर्माणकाल ईसा से ७,००० वर्ष पूर्व माना जाता है।

ईसा से लगभग १,२०० वर्ष पूर्व, मिस्रवासियो ने खुले साँचो मे काच को दबाने का कार्य आरभ किया और इस विधि से काच की तश्तरियाँ, कटोरे आदि बनाए गए। ईसा के १,५५० वर्ष पूर्व से लेकर ईसा युग के आरभ तक मिस्र काचनिर्माण का केंद्र बना रहा।

फुंकनी द्वारा तप्त काच को फूंकने की क्रिया मानव का एक महान् आविष्कार था और इसका श्रेय भी फीनिशियावासियो को ही है। इस आविष्कार की अवधि ईसा से ३२०-२० वर्ष पूर्व है। इस आविष्कार द्वारा काच के अनेक प्रकार के खोखले पात्र बनाए जाने लगे। वस्तुत आजकल के काच निर्माण के आधुनिक यत्रो मे भी इसी क्रिया का उपयोग किया जाता है।

काच उद्योग का व्यापारिक विस्तार ईसा काल से आरभ होता है। इटली के रोम तथा वेनिस प्रदेशो में इसका निर्माण चरम सीमा पर पहुँचा।

अपनी आवश्यकताओ और वैज्ञानिक उन्नति के साथ प्रत्येक देश मे विभिन्न गुणो के काच के निर्माण मे उन्नति होती गई। काच उद्योग की आधुनिक उन्नति का बहुत कुछ श्रेय इग्लैंड, फास, जर्मनी और सयुक्त-राज्य (अमरीका) को है। उदाहरणत, सन् १५५७ ई० मे सीसयुक्त स्फटिक का लदन मे आविष्कार हुआ, सन् १६६८ मे पट्टिका काच ढालने की विधि का पेरिस मे आविष्कार हुआ, सन् १८८० में लेस (लेन्ज) आदि बनाने योग्य अनेक प्रकार के काचो का आविष्कार जर्मनी में शाट एव एबी द्वारा हुआ, १८७९ ई० मे न्यूयार्क प्रात के कार्निङ्ग नगर मे प्रथम विद्युद्दीपो का निर्माण हुआ, सन् १८९९ मे काच बनाने के लिये पूर्ण स्वचालित यत्र ओवेन का निर्माण हुआ, १९०१ ई० मे काच प्रदायक 'ब्रुक' नामक यत्र का निर्माण हुआ, सन् १९१५ मे ऊष्माप्रतिरोधक "पाइरेक्स" काच का निर्माण हुआ, जो तप्त करके ठढे पानी मे डुबा देने पर भी नही तडकता, सन् १९२८ मे निरापद काच (सेफ्टी ग्लास) का निर्माण हुआ जो चोट लगने पर चटख तो जाता है परतु उसके टुकडे अलग होकर छटकते नही। यह मोटरकारो मे लगाया जाता है, १९३१ ई० मे काच के धागो और वस्त्रो का निर्माण हुआ, सन् १९०२ मे, सयुक्त राज्य (अमरीका) के पिट्सबर्ग नगर मे और बेल्जियम मे "लिबी ओवेंस" और "फूरकाल्ट" प्रणालियो द्वारा चद्दरी काचो का निर्माण होना आरभ हुआ।

प्राचीन भारत मे भी महाभारत, यजुर्वेद सहिता, रामायण और योग वाशिष्ठ में काच शब्द का उपयोग कई जगह किया गया है। प्राचीन भारत में स्फटिक (Quartz) से बनी सामग्री उत्तम वस्तु मानी जाती थी। भारत के कई प्रदेशो मे प्राचीन काच के टुकडे प्राप्त हुए है। भारतीय काच का विवरण वास्तव मे १६ वी शताब्दी से आरभ होता है। उस समय यहाँ से अनिर्मित काच बहुत अधिक मात्रा मे यूरोप और उत्तरी इटली को निर्यात किया जाता था, यहाँ तक कि काच निर्माण के लिये रासायनिक पदार्थ भी वेनिस भेजे जाते थे। १९वी शताब्दी मे भारत के प्रत्येक प्रात मे काच की चूडियो, शीशियो और खिलौनो का निर्माण होता था।

आधुनिक भारतीय काच उद्योग सन् १८७० से आरभ हुआ और सन् १९१५ तक कितने ही काच के कारखाने खोले गए, पर वे सब असफल रहे। प्रथम विश्वयुद्ध मे भारतीय काच उद्योग को खूब प्रोत्साहन मिला। परतु युद्धोपरात भारतीय बाजार काच के विदेशी माल से भर गया, फलस्वरूप कई भारतीय कारखाने बद हो गए। काच उद्योग की जाँच और उन्नति के लिये उत्तर प्रदेश सरकार ने एक समिति का सगठन किया और उसकी सस्तुतियो को सरकार ने मान्यता दी। उसी समय से काच उद्योग मे बडी तीव्रता के साथ उन्नति हो रही है और अब भारत मे काच की सब प्रकार की वस्तुओ का निर्माण आधुनिक ढग मे हो रहा है।

आधुनिक वैज्ञानिक भाषा मे काच शब्द से (१) पदार्थ की एक विशेष 'काचीय' अवस्था समझी जाती है अथवा (२) वह पदार्थ समझा जाता है जो कुछ अकार्बनिक पदार्थो को ऊँचे ताप पर द्रवित करके बनाया जाता है। द्रव काच ही वास्तविक काच है, केवल द्रव काच के विद्युत् और प्रकाशीय गुण सब दिशाओ मे एक से होते है। द्रव काच को ठढा करने पर उसमे श्यानता (Viscosity) बढती है और वह धीरे धीरे बिना काचीय गुणो का साधारण ठोस काच बन जाता है।

काच बनाने के लिये उपयोग के अनुसार कई प्रकार के कच्चे माल विभिन्न मानाओ मे मिलाकर, ऊँचे ताप पर द्रवित किए जाते है। द्रवित काच को सिलिकेटो तथा बोरेटो का पारस्परिक विलयन कहा जा सकता है। इस विलयन मे ताप के अनुसार बहुत कुछ अवयव आक्साइडो में विमुक्त हो जाते है। विलयन मे वे अतिरिक्त आक्साइड भी होते है, जो रासायनिक यौगिको के निर्माण की आवश्यकता से अधिक मात्रा में होते है।

काच को 'अधिशीतलित' (Under-cooled) द्रव भी कहा जा सकता है, क्योकि द्रव अवस्था से ठोस अवस्था मे काच का परिवतन क्रमश होता है और ठोस काच मे उसकी द्रवावस्था के सभी भौतिक गुण, जैसे ऊष्माचालकता इत्यादि, होते है।

काच के उपादान—काच निर्माण के लिये मुख्य पदार्थ सिलिका (सिऔ$_2$, SiO_2) है और यह प्रकृति में मुक्त अवस्था एव सिलिकेट यौगिको के रूप मे पाया जाता है। प्रकृति मे सिलिका अधिकतर क्वाट्ज़ के रूप में पाया जाता है। इसका विशुद्ध रूप बिल्लौर पत्थर है। काच निर्माण के लिये सबसे उपयुक्त सामग्री बालू, बालुका प्रस्तर और क्वार्ट्जाइट (Quartzite) चट्टानें है। यदि पाने की सुविधा, प्राप्य मात्रा और ढुलाई बराबर हो तो बालू ही सबसे उपयुक्त पदार्थ है। काच निर्माण के लिये सबसे उपयुक्त वही बालू है जिसमे सिलिका की मात्रा कम से कम ९९ प्रति शत हो और फेरिक आक्साइड (Fe_2O_3) के रूप मे लोहा ० १ प्रति शत से कम हो। बालू के कण भी ० ५–० २५ मिली मीटर के व्यास के हो। अच्छे काच निर्माण के लिये बालू को जल द्वारा धो भी लिया जाता है। इलाहाबाद में शकरगढ और बरगढ के बालू के निक्षेप काच निर्माण के लिय अति उत्तम है और उत्तर प्रदेश सरकार ने वहाँ पर बालू धोने के कुछ यत्र भी लगा दिए है।

साधारण काच निर्माण के लिये कुछ क्षारीय पदार्थ जैसे सोडा ऐश (Sodium carbonate) का होना भी अति आवश्यक है। इस मिश्रण से द्रवणाक कम और द्रवण क्रिया सरल हो जाती है। केवल इन दो पदार्थो के द्रवण से जो काच बनता है वह जल काच (Water-glass) के नाम से प्रसिद्ध है, क्योकि यह जल मे विलेय है। काच को स्थायी बनाने के लिये कोई द्विसमाक्षारीय (dibasic) आक्साइड जैसे कैल्सियम आक्साइड (चूना) या सीस आक्साइड को भी मिलाना पडता है। रासायनिक नियम के अनुसार, जितने ही अधिक पदार्थ मिलाए जाते है द्रवणाक भी उतना ही कम हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ काच मे कुछ विशेष गुण उत्पन्न करता है और इन गुणो को ही ध्यान मे रखते हुए काच के मिश्रण बनाए जाते है।

कैल्सियम आक्साइड काच को रासायनिक स्थायित्व प्रदान करता है, पर अधिक मात्रा मे होने पर काच मे विकाचण (devitrification) होने की प्रवृत्ति आ जाती है। साधारण काच बालू, सोडा और चूना के मिश्रण से बनाया जाता है।

कैल्सियम आक्साइड के लिये काच मिश्रण मे चूना या चूना-पत्थर मिलाया जाता है। बोरिक अम्ल या सुहागा मिलाने से काच में विशेष भौतिक गुण उत्पन्न हो जाते है, जैसे न्यून प्रसार-गुणाक और अधिक तनाव सहनशीलता, तापीय सहन शक्ति एव अधिक जल-प्रतिरोधकता। इन गुणो के कारण तापमापी नली, लालटेन की चिमनी और भोजन पकाने के पात्र आदि आकस्मिक ताप परिवर्तन सहनेवाली वस्तुओ का निर्माण करने मे, बोरिक आक्साइड की मात्रा अधिक से अधिक और क्षार की मात्रा कम से कम रखी जाती है।

सोडियम कार्बोनेट के स्थान मे अन्य क्षार जैसे पोटैसियम कार्बोनेट का भी उपयोग विशेष काचो में किया जाता है। बहुधा क्षार, सल्फेट लवण के रूप मे प्रयुक्त होता है।

सीस आक्साइड के लिये अधिकतर लाल सीस (सिंदूर) का उपयोग किया जाता है। इस आक्साइड द्वारा काच का घनत्व और वर्तनाक दोनो बढते हैं और इस कारण ऐसा काच प्रकाशीय (optical) काचो, भोजन एव पीने के पात्रो और कृत्रिम रत्नो के निर्माण के उपयोग मे आता है। सीसयुक्त काच शीघ्र ही काटे और पालिश किए जा सकते हैं। पोटाश क्षार का सीसयुक्त काच सबसे अधिक चमकदार होता है।

ऐल्यूमिनियम आक्साइड (Al_2O_3), अधिकतर फेल्स्पार द्वारा काच मे समिलित किया जाता है। इस आक्साइड से काच मे उष्माजनित प्रसार, कठोरता, स्थायित्व, प्रत्यास्थता, तनन शक्ति, चमक, और अम्ल प्रतिरोधकता बढती है। इसके द्वारा काच मे समागता और वैज्ञानिक कार्यों में उपयोगी अन्य गुणो की वृद्धि होती है। यह आक्साइड काच का प्रसार गुणाक और मृदुकरण (annealing) ताप कम करता है। यह विकाचण को रोकता है और इसके प्रयोग से काच का द्रवण और शोध सरल हो जाता है।

जस्ता आक्साइड (ZnO) प्राय जस्ता कार्बोनेट ($ZnCO_3$) द्वारा काच मे समिलित किया जाता है। यह पदार्थ काच के प्रसार गुणाक को बहुत कम करता है। काच मे अधिक स्थायित्व एव उष्माजनित कम प्रसार उत्पन्न करने के कारण यह रासायनिक काच के निर्माण मे प्रयुक्त होता है। कुछ काचो मे मैग्नीशियम या बेरियम आक्साइड भी समिलित किया जाता है। कुछ पदार्थ काच मे विशेष रासायनिक गुण उत्पन्न करने के उद्देश्य से समिलित किए जाते हैं। सीस युक्त काचो में कुछ आक्सीकारक पदार्थ, जैसे पोटैसियम नाइट्रेट या शोरा का होना आवश्यक होता है।

काच के द्रवित होने पर उसमें गैस के बहुधा असख्य छोटे छोटे बुलबुले, जिनको 'बीज' कहते हैं, फँस जाते हैं। काच को इनसे मुक्त करने के लिये कुछ रासायनिक पदार्थो का उपयोग किया जाता है। ये पदार्थ द्रव काच में गैस हो जाते हैं और बीजो को अपने साथ काच के बाहर निकाल लाते हैं। इन पदार्थो को "शोधक द्रव्य" कहते हैं। साधारणत शोधक द्रव्य के लिये कार्बन ऐमोनियम लवण या आरसेनिक प्रयुक्त होता है। आलू, चुकदर और भीगी लकडी के टुकडे द्रवित काच मे डाल कर भी कही कही काच का शोधन किया जाता है।

भौतिक गुण—काच का उपयोग ऐसी कई प्रकार की वस्तुओ मे किया जाता है जिनमे विभिन्न भौतिक गुणो की आवश्यकता रहती है। काच के भौतिक गुणो मे भिन्नता विभिन्न आक्साइडो द्वारा लाई जा सकती है। भौतिक गुण काच मे उपस्थित प्रत्येक आक्साइड की आपेक्षिक मात्रा पर भी निर्भर करता है।

घनत्व—काच मे सबसे अधिक घनत्व सीस आक्साइड द्वारा आता है और सबसे कम बोरिक आक्साइड द्वारा।

वैद्युत गुण—काच की विद्युच्चालकता उसकी रचना, ताप एव वातावरण पर निर्भर होती है। आजकल काच का उपयोग अचालक (insulator) के लिये भी किया जा रहा है।

तापीय गुण—तप्त करने पर काच प्रसारित होता है, पर बोरिक आक्साइड एव मैग्नीसियम आक्साइड से काच में न्यूनतम प्रसार होता है और क्षारीय आक्साइड से अधिकतम प्रसार।

उष्मा चालकता—काच उष्मा का अधम चालक है, सिलिका तथा बोरिक आक्साइड से काच मे उष्मा-चालकता कम होती है। काच के अन्य भौतिक गुण, जैसे यग (Young) का प्रत्यास्थता-गुणाक, तनाव शक्ति, दृढता तथा तापीय सहनशीलता, काच मे पडे आक्साइडो पर निर्भर होते हैं। काच में इनके प्रभाव का वैज्ञानिक अध्ययन करके रासायनिक काच (जिस पर किसी रासायनिक पदार्थ या ताप का प्रभाव नही पडता), उष्माप्रतिरोधक काच, जो लाल तप्त कर एकदम बर्फ मे ठडे किए जा सकते हैं, और तापमापी काच का निर्माण किया जाता है।

पट्टिका काच की शक्ति के परीक्षण के लिये पट्टिका को चारो किनारो पर रखते हैं और ज्ञात भार के इस्पात के एक गोले को विभिन्न ऊँचाई से काच के मध्य मे स्वतत्रतापूर्वक गिरने देते हैं। जिस उँचाई से गोले को गिराने पर काच मे दरार पड जाय वह ऊँचाई काच की पुष्टता की मात्रिक माप होती है। बोतलो की पुष्टता की परीक्षा के लिये बोतलो के भीतर जल भर कर जल की दाब धीरे धीरे इतनी बढाई जाती है कि बोतल फट जायँ।

तापीय सहनशीलता—अचानक ताप परिवर्तन की उस मात्रा को, जिसे काच बिना टूटे सहन कर सके, काच की तापीय सहनशीलता कहते हैं। इस गुण के परीक्षण के लिये काच की वस्तुओ को जल मे विभिन्न तापो तक गरम कर बर्फ से ठढे किए गए जल मे अचानक डुबो देते हैं।

पाश्चरीकरण, भोजन बनाने के बरतन, लैंप की चिमनियाँ, रासायनिक काच और तापमापी की नली के लिये, उच्च तापीय सहनशीलतावाले काच की आवश्यकता होती है। काच मे अधिक तापीय सहनशीलता उत्पन्न करने के लिये सिलिका की मात्रा अधिक और क्षार की मात्रा कम होनी चाहिए और काच मे कुछ मात्रा मे जस्ता आक्साइड, बोरन आक्साइड और ऐल्युमिनियम आक्साइड भी होना चाहिए।

प्रकाशीय गुण—लैसो (लेंजो) मे प्रकाशीय गुण, जैसे उच्च वर्तनाक एव विक्षेपण भी, काच मे भिन्न आक्साइडो की मात्राओ पर निर्भर हैं और इसलिये सीस आक्साइड, बेरियम आक्साइड और कैल्सियम की मात्राओ को घटा-बढाकर प्रत्येक भाँति के विशेष वर्तनाक और विक्षेपण के बहुमूल्य काच तैयार किए जा सकते हैं।

पराबैंगनी (ultra-violet) प्रकाश के पारगमन के लिये पारद-वाष्पदीप का काच काचीय सिलिका का बनाया जाता है, क्योकि ये रश्मियाँ साधारण व्यापारिक काच के पार नही जा सकती हैं, परतु द्रवित क्वार्ट्ज़ के पार ये सरलता से जा सकती हैं।

श्यानता—काच निर्माण मे श्यानता भी एक आवश्यक गुण है, क्योकि काच का धमन (फूँकना), पीडन, कर्षण और बेलना, बहुत कुछ काच की श्यानता पर ही निर्भर रहते हैं, अभितापन मे विकृति को हटाना भी श्यानता से ही सीधा सबधित है। काच की श्यानता काच के आक्साइड अवयवो पर निर्भर करती है। सिलिका की मात्रा बढाने से काच का श्यानता-परास (रेंज) बढ जाता है, चूने की वृद्धि से श्यानता बढती है, परतु श्यानता-परास कम होता है। सोडा की मात्रा बढाने से श्यानता घटती है, पर श्यानता-परास बढता है।

विकृतियाँ—जब काच की वस्तु को गरम किया जाता है तो बाहर की सतह भीतर के भागो की अपेक्षा अधिक गरम हो जाती है और इसी प्रकार जब तप्त द्रवित काच को ठढा करके ठोस किया जाता है तब ठोस होते समय काच के बाहर की सतह भीतर की अपेक्षा अधिक ठढी हो जाती है। ताप मे अतर होने के कारण काच मे असमान प्रसार या आकुचन आ जाता है, जिसके फलस्वरूप उसके भीतर प्रतिबल उत्पन्न हो जाते हैं और काच में तदनुरूप विकृतियाँ आ जाती हैं।

निर्माण के समय काच तप्त रहता है, इसलिये ठढा होने पर काच की वस्तुओ मे प्रतिबल और विकृतियाँ आ जाती हैं। इनको हटाने की क्रिया को काच का अभितापन (annealing) कहा जाता है। इस विधि मे काच की वस्तुओ को फिर से काच को कोमल होनेवाले ताप से कुछ कम ताप तक एक समान तप्त कर दिया जाता है। इससे श्यानता के परिवर्तन के कारण काच विकृतियो से मुक्त हो जाता है। तब काच को बहुत धीरे-धीरे ठढा किया जाता है। व्यापारिक काच का अभितापन-परास ४२५° से ६००° से० तक होता है। यह अभितापन-परास भी काच के आक्साइड अवयवो पर निर्भर रहता है। अधिक क्षारयुक्त काच पर्याप्त निम्न ताप पर अभितापित किए जा सकते हैं। जटिल काच का, जैसे रासायनिक काच या उष्मा प्रतिरोधक काच का, अभितापन ताप बहुत ऊँचा होता है। प्रकाशीय काचो के अभितापन मे बहुत अधिक समय लगता है, क्योकि उनको बहुत धीरे धीरे ठढा करना होता है जिसमे वे प्राय विकृति हीन हो। ससार के सबसे बडे २०० इच व्यासवाले दूरवीक्षण यत्र के काच को ठढा करने मे एक वर्ष से ऊपर समय लगा था।

स्थायित्व—जिन काच पात्रो मे ओषधि, भोजन या पेय रखा जाता है, उनके काचो पर बहुत समय तक द्रवो की रासायनिक क्रिया होने की सभावना रहती है। सभी रासायनिक काच-वस्तुओ को जल, अम्ल और क्षार का सक्षारण (corrosion) सहना पडता है। द्वारवाले एव प्रकाशीय काचो को ऋतुक्षारण सहना पडता है। अत यह आवश्यक है कि इन

काचो में ऐसे गुण हो कि पूर्वोक्त सक्षारणो का उन पर न्यूनतम प्रभाव पडे।

काच का स्थायित्व काच के भिन्न ग्राक्साइड अवयवो की मात्राओ पर निर्भर है। स्थायित्व वढाने के लिये सर्वोत्तम पदार्थ जस्ता ग्राक्साइड है और इसके वाद ऐल्युमिनियम, मैग्नीसियम और कैल्सियम ग्राक्साइड है। क्षार की मात्रा अधिक होने पर काच का स्थायित्व घटता है। वोरिक ग्राक्साइड १२ प्रति शत तक काच का स्थायित्व वढाता है और तदुपरात स्थायित्व घटता है। क्षारीय ग्राक्साइड के स्थान में सिलिका वढाने से भी स्थायित्व मे वृद्धि आती है।

रगीन काच—रगीन काचो के निर्माण के लिये विभिन्न प्रकार के वर्णको को काच-मिश्रण में डाला जाता है। इनका व्योरा नीचे दिया जाता है।

काच का रग	वर्णक	वर्णक की मात्रा (प्रति १,००० भाग वालू)
पीला	कैडमियम सल्फाइड	२०-३० भाग
	गधक	५-१० ,,
भूरा (amber)	कार्बन	५-१० ,,
	गधक	२-४ ,,
हरा	क्रोमियम ग्राक्साइड	१-२ ,,
नीला	कोवाल्ट ग्राक्साइड	१-३ ,,
उपल	क्रायोलाईट	१००-१२० ,,
ग्रासमानी	क्यूप्रिक ग्राक्साइड	१०-२० ,,
लाल	स्वर्ण क्लोराइड	१-४ ,,
लाल	सिलीनियम	८-१५ ,,
	कैडमियम सलफाइड	१०-१५ ,,

काच निर्माण के लिये पिसे कच्चे पदार्थो को तौल कर खूव मिलाया जाता है और तदुपरात उन्हे भट्ठी में रखकर द्रवित किया जाता है।

कुछ आदर्श काचो की सरचना और उपयुक्त काचमिश्रण नीचे दिए जा रहे है

(१) धमनाड द्वारा निर्मित भारतीय काच .

सरचना		मिश्रण	
सिलिका (SiO_2)	७४%	वालू	१००० भाग
कैल्सियम ग्राक्साइड (CaO)	७%	चूना पत्थर	१६६ ,,
सोडियम ग्राक्साइड (Na_2O)	१९%	सोडा ऐश	४३९ ,,

(२) यत्र निर्मित चादरी काच .

सरचना		काच-मिश्रण	
सिलिका (SiO_2)	७२ ०%	वालू	१००० भाग
ऐल्युमिना (Al_2O_3)	१ ६%	ऐल्युमिना	२२ ,,
कैल्सियम ग्राक्साइड (CaO)	१० ४%	चूना पत्थर	२५७ ,,
सोडियम ग्राक्साइड (Na_2O)	१६ ०%	सोडा ऐश	३८० ,,

(३) पूर्ण मणिभ काच (crystal glass)

सरचना		काच मिश्रण	
सिलिका (SiO_2)	५२ ५%	वालू	१००० भाग
सीस ग्राक्साइड (PbO)	३३ ८%	लाल सीस	६६० ,,
पोटैसियम ग्राक्साइड (K_2O)	१३ ३%	पोटाश	३३० ,,
		शोरा	४० ,,

(४) यत्र निर्मित विद्युत्-प्रकाश-दीप के लिये काच

सरचना		काच-मिश्रण	
सिलिका (SiO_2)	७२ ५%	वालू	१००० भाग
ऐल्युमिना (Al_2O_3)	१ ६%	ऐल्युमिना	२२ ,,
कैल्सियम ग्राक्साइड (CaO)	४ ९%	चूना पत्थर	१२१ ,,
मैग्नीशियम ग्राक्साइड (MgO)	३ ५%	मैग्नेसाइट	१०१ ,,
सोडियम ग्राक्साइड (Na_2O)	१७ ५%	सोडा ऐश	४१३ ,,

(५) उष्मा प्रतिरोधक काच

सरचना		काच-मिश्रण	
सिलिका (SiO_2)	७३ ९%	वालू	१००० भाग
ऐल्युमिना (Al_2O_3)	२ २%	ऐल्युमिना	३० ,,
सोडियम (Na_2O)	६ ७%	सोडा ऐश	१५५ ,,
वोरिक ग्राक्साइड (B_2O_3)	१६ ५%	वोरिक अम्ल	३९५ ,,

(६) रासायनिक काच (पाइरेक्स)

सरचना		काच-मिश्रण	
सिलिका (SiO_2)	८० ६%	वालू	१००० भाग
ऐल्युमिना (Al_2O_3)	२ २%	ऐल्युमिना	२५ ,,
मैग्निशियम ग्राक्साइड (MgO)	० ३%	मैग्नेसाइट	८ ,,
वोरिक ग्राक्साइड (B_2O_3)	११ ९%	वोरिक अम्ल	२६२ ,,
सोडियम ग्राक्साइड (Na_2O)	३ ९%	सोडा ऐश	८३ ,,
पोटैसियम ग्राक्साइड (K_2O)	० ७%	पोटाश	१३ ,,

भारत मे काच निर्माण के ग्राकडे पृष्ठ ४३७ पर दिए जा रहे है।

[रा० च०]

काच तंतु

काच से पूर्णत निर्मित ततु के लिये काच ततु (glass fibre) शब्द का उपयोग होता है।

निर्माण विधि—प्लैटिनम धातु के वने प्यालो के पेंदे के अति सूक्ष्म छिद्रो से द्रवित काच अति सपीडित जल वाष्प, या वायु, द्वारा निकलने पर और शीघ्रता से खीचने पर काच ततु वनता है। कर्पण करने की गति प्राय ६,००० फुट प्रति मिनट होती है। प्रत्येक ततु की अनुप्रस्थ काट वृत्ताकार होती है और इसका व्यास ००००५ से ०००३ इच तक होता है, इसकी लवाई ६ से १५ इच तक होती है। छिद्रो के नीचे वाहकपट्ट (Conveyor) पर ततु सगृहीत होते है। इन सगृहीत ततुओ को ही काच की रूई (glass wool) कहा जाता है। काच की रूई को दवा और नमदे की भाँति जमा कर काच के वहुत कोमल कवल भी वनाए जाते है। काच वस्त्र के निर्माण के लिये आध इच के व्यास की काच की गोलियाँ वना ली जाती हैं। इन गोलियो को विद्युत भट्ठी मे द्रवित किया जाता है और प्लैटिनम धातु के प्यालो के अति सूक्ष्म छिद्रो से निकालकर ततुओ को अति शीघ्रता से और विना किसी ऐंठन के, कर्पण यत्र के तकुओ द्वारा खीचा जाता है। आधुनिक कर्पण प्रणाली मे अनेक (२०० से अधिक) ततुओ को मिलाकर एक ततु वनाया जाता है। इस ततु की लवाई असीम होती है। इस ततु को सूत कातने के यत्र पर लाया जाता है जहाँ पूर्वोक्त रीति से वने १०-१२ ततुओ को मिलाकर एव वटकर भिन्न प्रकार के काच के सूत वनाए जाते है। अत मे वुनने की साधारण मशीनो पर सूती और रेशमी वस्त्रो के सदृश ही वुने जाते हैं। ये वस्त्र देखने और छूने में, रेशमी वस्त्रो के समान होते हैं।

गुण—काच ततु पर रासायनिक अम्लो एव क्षारो का कोई प्रभाव नही पडता। काच की भाँति केवल हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल से इसका सक्षारण होता है। यह ६००° सें० तक के ताप को सहन कर सकता है और इस ताप पर यह कोमल हो जाता है। विना कते ततु की अपेक्षा कते ततु और उनकी अपेक्षा काच वस्त्र कही अधिक ताप सहन कर सकते हैं। काच ततु में किसी प्रकार के कीडे नही लगते और काच वस्त्र को अम्ल, सावुन अथवा केवल जल से धोकर साफ किया जा सकता है। रगीन काच से रगीन धागे और रगीन वस्त्र निर्मित हो सकते है। ये रग टिकाऊ एव पक्के होते हैं। काच ततु गरमी या ठढ रोकने के लिये भी उपयुक्त हैं, क्योकि ये उत्तम असचालक हैं। विशेष काच द्वारा उत्पादित काच ततु विद्युत् के लिये भी उत्तम पृथक्कारी (insulator) है। काच ततु ध्वनि को भी आगे वढने से रोकता है। उत्तम ध्वनि सहारक होने के कारण इसका उपयोग ध्वानिकी (Acoustics) में होता है। काच वस्त्रो से पर्दे, मेज के कपडे और नेकटाई आदि वनाए जाते हैं। काच ततु में तनाव शक्ति

बहुत अधिक होती है, अत किसी वस्तु में अधिक तनाव शक्ति लाने के लिये प्लास्टिक के भीतर काच ततु रख दिए जाते हैं और विशेष पीडन क्रिया से उसमें अधिक तनाव शक्ति आ जाती है। ऐसी वस्तुओ का उपयोग हवाई जहाज के काया निर्माण मे विशेष रूप से हो रहा है।

भारत मे किसी भी प्रकार के काच ततु का निर्माण अभी नही होता है।
[रा० च०]

भारत के योजना काल में काच और काच-बर्तन निर्माण के आंकडे

सन्	१९५०	१९५१	१९५२	१९५३	१९५४	१९५५	१९५६	१९५७	१९५८	१९५९
कूपी और कूपिका (bottle and phial) (टनो मे)	५१,८५०	५०,६४०	५०,२२०	४०,७५०	४७,८४०	१,५५,२७०	६२,४१३	७०,२३५	८२,५३०	१,००,५६८
स्तार काच (sheet glass) (टनो मे)	५,१००	५,८००	४,७८०	११,९९०	१७,९५०	२०,५४०	२४,८४८	२९,००६	३७,४८६	४१,७५७
(लाख वर्ग फुट)	(९ ६)	(१११)	(९ ०५)	(२२ ७)	(३३ ०)	(३८ ९)	(४७ ६२)	(५४ २२)	(१३ ८५)	(८० ५६)
भोजन के तथा निपोडित पात्र (table and pressed ware) (टनो मे)	१२,९५०	१५,३४०	१७,९२०	१७,६२०	२२,०५०	२५,४६०	२८,२१९	३१,७४९	३८,९६६	३६,५८२
लप (दीपक) के पात्र (lamp ware) (टनो मे)	१३,१५०	१६,३४०	१५,५८०	१२,४००	१२,६६०	१६,६९०	१९,८६७	१७,८९०	१९,५८९	१८,८०१
वैज्ञानिक काच-वर्तन (scientific glass ware) (लाख सख्या मे)	२,१४०	२,०००	१,५००	१,३२०	१,५१०	२,५००	३,३५७	३,११५	३,६६७	५,२०७
विद्युत् लट्टुओ के खोल (shells for lamps) (टनो मे)	—	६२०	७४०	७५०	१,०००	१,१६०	१,५२२	१,९४०	१,७८६	२,१०९
(लाख सख्या मे)	—	(१४ ०)	(१६ ७)	(१६ ९)	(२२ ५)	(२६ १)	(३५ ९२)	(३९ ९०)	(३० २६)	(३८ ८)
थर्मस फ्लास्क (thermos flasks) (टनो मे)	—	३३०	११०	२९०	१८०	३१५	३३०	२९९	४९४	८१०
(दर्जन)	--	(४५,९००)	(१५,३००)	(४०,२००)	(२५,०००)	(४३,७००)	(४८,३३६)	(५३,३६८)	(७१,९४४)	(१,२४,०९३)
विविध काच-वर्तन (टनो मे)	१,९९०	२,०८०	१,२३०	९६०	२,४५०	२,२७०	३,०३१	३,६३७	५,६९३	६,४५५
योग (टनो मे)	८७,१८०	९३,१५०	९२,०८०	८६,०८०)	(१,०५,६४०)	(१,२४,२०५)	(१,४३,५८७)	(१,५७,८७१)	(१,९०,२११)	(२,१२,२८९)

(६,७०,५०० वर्ग फुट निरापद काच (सेफ्टी ग्लास) को छोडकर)

[रा० च०]

काच निर्माण काच से अनेक वस्तुएँ बनती हैं। निर्माण के लिये काच का अर्ध द्रवित अवस्था मे होना आवश्यक है, क्योकि इसी अवस्था में काच का कर्षण, बेलन, पीडन एव धमन (फूंकना) हो सकता है। उपयुक्त मात्रा और गुण के विविध कच्चे मालो को मिलाकर मिश्रण को विशेष भट्ठी मे उच्च ताप (१३००°-१५००° सें०) पर द्रवित किया जाता है।

भट्ठियाँ—काच-द्रावण के लिये अग्निसह मिट्टी की ईंटो और सिलियों की भट्ठियाँ बनाई जाती हैं। ईंधन के लिये साधारणत कोयला, तेल या गैस का प्रयोग किया जाता है। घट-भट्ठी (Pot furnace) मे भट्ठी के भीतर अग्निसह मिट्टी (Fire clay) के खुले या बद पात्रो में काच द्रवित किया जाता है। कुड भट्ठी (Tank furnace) मे दहन कक्ष के फर्श और चारो ओर की दीवारों के निम्न भाग मे द्रवित काच रहता है। गैस, या तेल से तप्त कई प्रकार की पुनर्नियोजी (Regenerative) और पुनराप्त (Recuperative) भट्ठियाँ भी काच द्रावण के लिये प्रयुक्त होती हैं। प्रत्येक भट्ठी मे प्रति दिन सैंकडो टन उच्च गुणों का काच तैयार किया जाता है। काच के द्रवित हो जाने पर वस्तुओं के निर्माण से पूर्व इसे कुछ ठडा किया जाता है, जिससे निर्माण क्रिया के लिये उसमे उपयुक्त सुघटता आ जाय।

सुषिर (पोली) वस्तुओ का निर्माण—सुषिर वस्तुएँ, यथा बोतलो, विद्युत लट्टुओ, गिलासो इत्यादि का निर्माण हाथ से या यत्र द्वारा किया जाता है। हाथ से निर्माण मे कुशल कारीगर द्रवित काच को फुकनी पर सग्रह करता है। फुकनी ५ फुट लबी, तीन चौथाई से एक इच बाह्य व्यास और चौथाई इच छिद्रवाली, लोहे की नली होती है। फुकनी के एक सिरे

चित्र १ काच की शीशी बनाई जा रही है।

लोहे की चद्दर पर बेलकर शीशी को प्रारभिक रूप दिया जा रहा है। बाई ओर फूंकने वाला मनुष्य है।

पर द्रवित काच को डुबोकर, या लपेट कर, उपयुक्त मात्रा में भट्ठी के बाहर निकाला जाता है और नाड मे मुख द्वारा फूंक कर और काच के गोले को विशेष पट्टी पर बेलकर, सगृहीत काच को लोदे या गोले का रूप दिया जाता है, जिसका पारिभाषिक नाम निर्माण्य (parison) है। लोदा बनाना भी एक कला है, क्योकि इसका आकार और परिमाण वाछित वस्तु के सदृश होना चाहिए।

काच को धमन या पीडन द्वारा आकार मे लाने के लिये साधारणत लोहे के साँचो का प्रयोग होता है। धमन साचे दो अवतल भागो मे विभाजित होते हैं और ये भाग कब्जो से जुडे रहते हैं। निर्माण के पश्चात लोदे को धमन साँचे के भीतर रखकर धमनकर्त्ता अपनी पूरी शक्ति के साथ, फुकनी के ऊपरी सिरे मे मुख से फूंकता है और इस प्रकार लोदा फूल कर धमन साँचे के आकार का बन जाता है। इस विधि से विभिन्न प्रकार की पोली वस्तुएँ, जैसे बोतल इत्यादि बनाई जाती हैं। बोतल का कठ बनाने के लिये, बोतल को फुकनी से अलग कर लेते हैं। तब उसके ऊपरी सिरे को तप्त करके विशेष साँचो द्वारा दबाया और बेला जाता है। सभी उद्योगो की तरह काच उद्योगो मे भी यत्रो का प्रयोग होने लगा है और सब प्रकार की काच की वस्तुएँ अर्द्ध स्वचालित एव पूर्ण स्वचालित यत्रो द्वारा निर्मित की जा रही हैं।

अर्द्ध स्वचालित बोतल-निर्माण-यत्र—समुन्नत देशो मे इन यत्रो का उपयोग अधिक मात्रा मे होता है। ये यत्र सस्ते होते हैं और प्रत्येक देश मे बनाए जाते हैं।

साधारणत यत्र मे लोहे की ढलवाँ मेज पर बाईं ओर लोदावाला साँचा उलटा लगा रहता है। मेज के नीचे और लोदेवाले साँचे के निकट हस्तक (बेंट) से चलनेवाला वायु-बेलन (cylinder) होता है। हस्तक को सामने खीचने पर लोदेवाले साँचे मे निर्वात (vacuum) स्थापित हो जाता है और उसे पीछे हटाने पर साँचे से लोदा बाहर आ जाता है। लोदेवाले साँचे के ठीक नीचे छोटा कठवलय साँचा होता है। इस साँचे में ऊपरी ओर एक मज्जक (Plunger) होता है। बडे साँचे मे द्रवित काच सीमित मात्रा मे डाल देते हैं और मज्जक की सहायता से बोतल का कठ बना लेते हैं। हस्तक को इधर उधर चलाने से, लोदे का निर्माण होता है। मेज पर दाहिनी ओर धमन साँचा रहता है। लोदे को कठवलय साँचे सहित धमन साँचे के ऊपर रखा जाता है और धमन साँचे मे सपीडित वायु का प्रयोग कर बोतल का निर्माण किया जाता है।

काच प्रदायक यत्र—भट्ठी के अग्र भाग मे स्वचालित काच प्रदायक यत्र लगाने से आवश्यक मात्रा मे द्रवित काच किसी भी यत्र मे डाला जा सकता है। यह यत्र गिरते हुए काच स्रोत को द्रवित गोले के रूप मे परिणत कर देता है और ये गोले नीचे टिके हुए स्वचालित यत्रो के लोदेवाले साँचा मे स्वय ही पहुँच जाते है।

पूर्ण स्वचालित बोतल निर्माण यत्र—ये यत्र कई प्रकार के होते हैं, जिनमें मिलर, ओनील, लिंच, ओवेन, राइराट, मोनिश और वेस्टलेक कपनियो के निर्माण यत्र बहुत प्रचलित हैं। प्रत्येक मे अपनी अपनी विशेषताए हैं।

लिंच यत्र—इन यत्रो मे दो घूमनेवाली मेजे होती हैं। एक मेज पर ६ लोदेवाले उलटे साँचे और दूसरी पर ६ धमन साचे रहते हैं। द्रवित काच का गोला, काच प्रदायक यत्र द्वारा क्रमानुसार प्रत्येक लोदेवाले साँचे में गिरता है। लोदे के बन जाने के अनतर लोदे स्वय ही दूसरी मेज़ पर स्थित धमन साँचो मे चले जाते हैं और उस साँचे मे सपीडित वायु द्वारा फूके जाने पर बोतल तैयार हो जाती है। तब एक वायुचालित निष्कासक (take out) बोतल को उठाकर स्वचालित पट्टे पर रख देता है।

धमन यत्रो की भाँति पीडन यत्रो का भी प्रचलन है। इन यत्रा में काच को लोदेवाले साँचो मे ही स्वचालित मज्जक द्वारा पीडित कर कुछ पोली वस्तुएँ, जैसे गिलास, कलश, प्याले, टाइले (tiles), मसिपात्र, कलमदान, भस्मधानियाँ इत्यादि निर्मित की जाती हैं। साँचे से वस्तु की बाह्य रूपरेखा बनती है और भीतर का आकार मज्जक द्वारा तैयार होता है।

कुछ यत्रो मे, जैसे मोनिश एव ओवेन यत्रो मे काच-प्रदायक यत्रो की आवश्यकता ही नही पडती, क्योकि इन यत्रो के लोदेवाले साचे काच पिघलाने की भट्ठी से आवश्यक काच चूस लेते है और लोदा बनने पर उसको धमन साँचे मे डाल देते है।

पोली वस्तुओ को निर्माण के पश्चात् अभितापन भट्ठी मे रखा जाता है। इन भट्ठियो का ताप इतना होता है कि काच मे कुछ कोमलता आ जाए। साधारण काच के लिये यह ताप प्राय ४५०°-५५०° से० तक
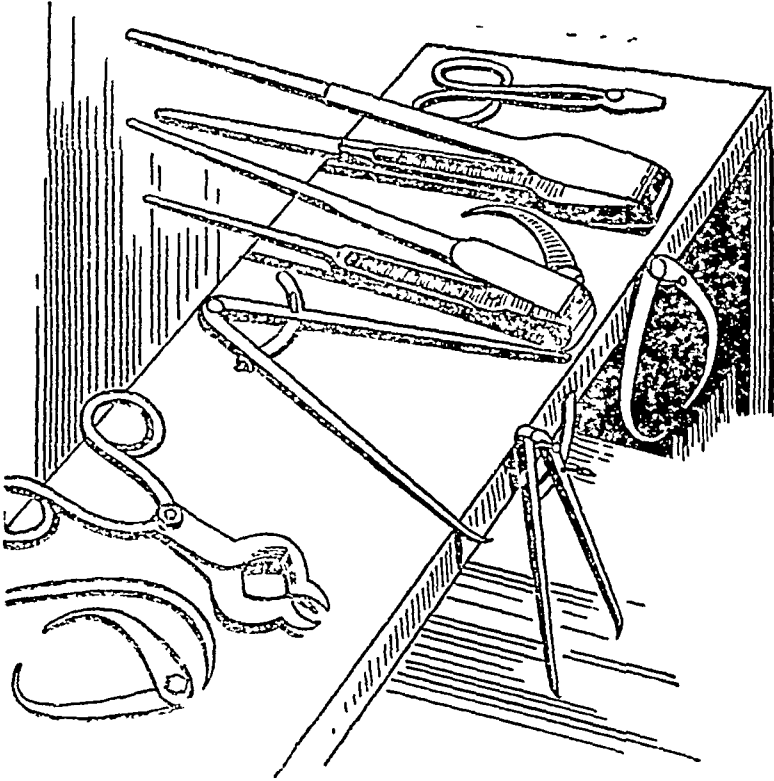
चित्र २ काच की वस्तुए बनाने के साधारण औजार

होता है। इस ताप पर काच की आतरिक विकृतियाँ दूर हो जाती है। तब काच को शनै शनै ठढा किया जाता है।

खिडकियो में लगनेवाला काच—यह दो प्रकार का होता है (१) चादरी काच, जो हाथ से बेलन के रूप मे, या भट्ठी से यत्र द्वारा, कर्पित कर पतली चादरो के रूप मे बनाया जाता है, (२) पट्टिका काच, जो ढालकर और बेलकर बनाया जाता है, परतु इनकी दोनो सतहो पर विशेष प्रणाली द्वारा पालिश की जाती है। कुछ देशो मे अब भी चादरी काच हाथ से बनाते है। इस विधि मे फुंकनी द्वारा मुख से फुंककर काच के विशाल पोले बेलन बनाए जाते है। तब इन्हे लबाई मे काटकर विशेष भट्ठी मे रखकर चिपटा एव अभितापित किया जाता है।

चादरी काच निर्माण के लिये यात्रिक प्रणालियो मे फूरकाल्ट कर्पण प्रणाली बहुत प्रचलित है। द्रवित काच मे तैरती हुई, अग्निसह मिट्टी से बनी एक ८ फुट लबी बेडी नली होती है। इस नली के माथे मे एक लबी दरार होती है और इस दरार से चौडे फीते के रूप मे द्रवित काच की अविराम धारा ऊपर की ओर निकलती है। दरार के दोनो ओर दो जल शीतित नलियाँ निकलते हुए काच को ठढा कर देती है। दरारवाली नली के ऊपर कर्षण यत्र होता है। काच की चादर समान गति से घूमते हुए एक जोडी ऐस्बेस्टस के बेलनो के बीच से होकर निरतर ऊपर बढती है और ऊपर से उपयुक्त लबाई की चादरे काट ली जाती है। इस बननेवाली चादर की चौडाई ३ से ६ फुट तक होती है। इन चादरो मे कुछ हल्की क्षैतिज रेखाएँ बन जाती है। इन चादरो को अलग से अभितप्त करने की आवश्यकता नही पडती।

पट्ट काच (*plate glass*)—पट्ट काच की सतहे बडी सफाई से समतल और परस्पर समातर बनाई जाती है। अच्छे दर्पण बनाने के लिये पट्ट काच ही उपयोग मे लाया जाता है। एक निर्माण विधि मे द्रवित काच के पात्र को उभरे किनारो की ढलवाँ लोहे की मेज पर एक लोहे के भारी बेलन के सामने उडेल दिया जाता है। बेलन के आगे बढने पर काच पीडन द्वारा मेज के ऊपरी स्थल मे फैलकर और दबकर, प्रारभिक पट्ट काच के रूप मे परिणत हो जाता है। अभितापन के पश्चात् पट्ट काच की दोनो ओर की सतहो को स्वचालित यत्र द्वारा बालू से घिसकर कुकुमी (rouge) से पालिश किया जाता है। दूसरी विधि मे पट्ट काच अविराम-स्रोत-प्रणाली द्वारा बनाया जाता है। इस विधि मे काच बडे अविराम कुडो मे द्रवित किया जाता है। काच की छिछली धारा एक ओष्ठ के ऊपर से बहकर दो बेलनो के मध्य से गुजरती है। यह काच पट्ट धीरे धीरे ठढा होकर स्वय ही अभितापित हो जाता है। इस पट्ट को काटकर लोहे की मेज पर पेरिस पलस्तर से जमा दिया जाता है। तब स्वचालित पेटी (belt) पर पट्ट आगे बढता है और घर्षक यत्र क्रम मे, बालू एव जल से, पट्ट को रगडते और कुकुमी तथा जल से पालिश करते है। इसी प्रकार पट्ट के दूसरी ओर भी घर्पण और पालिश की जाती है।

तार-जालिका युक्त पट्ट काच—इसके निर्माण के लिये काच की चादर को बेलते समय जस्ते की कलईदार लोहे की जाली उसमे डाल दी जाती है।

काच शलाका एव नली का हस्तकर्षण द्वारा निर्माण—फुंकनी के सिरे पर अधिक मात्रा मे द्रवित काच सगृहीत कर उसे दबाकर और बेलकर, बेलन के आकार का लोदा बनाया जाता है। तब लोदे को कोमलाक तक पुन तप्त कर एक लोह शलाका पर रखकर, उसमे एक दूसरी शलाका सयोजित की जाती है। सयुक्त होने के पश्चात् दो श्रमिक शलाकाओ को पकड कर विपरीत दिशाओ मे शीघ्रता से चलते है। इससे लोदा शलाका के रूप मे खिंच जाता है।

काच नली के निर्माण के लिये सगृहीत काच मे फुंकनी द्वारा मुख से फूंकने पर स्थूल दीवार का पोला बेलन बन जाता है। फिर इसे पूर्वोक्त रीति से खीचा जाता है। कर्पण की अवधि मे भी मुँह से निरतर फूंका जाता है।
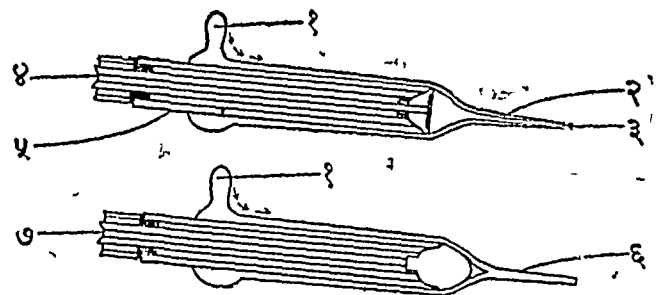
चित्र ३ काच की नली तथा शलाका कर्षण की स्वचालित रीति

१ काच, २ काच की नली, ३ कर्पण यत्र को, ४ वायु फूंकने का स्थान, ५ अग्निसह मिट्टी का घूमता हुआ वर्तुलाकार दड, ६ काच की शलाका, ७ यहाँ से वायु नही फूंकी जाती।

काच शलाका एव नली का निर्माण पूर्णत स्वचालित यत्र द्वारा भी किया जाता है। इन यत्रो मे सबसे अधिक प्रचलित डैनर यत्र है। इस यत्र मे काच की दो इच चौडी और आध इच मोटी धारा अक्ष पर घूमती

हुई पोली लोह शलाका पर गिरती रहती है। इस शलाका पर अग्निसह मिट्टी चढ़ी रहती है। शलाका के घूमते रहने के कारण काच शलाका के चारो ओर लिपट जाता है। शलाका को कुछ तिरछा रखा जाता है, इसमे काच शलाका के अत तक पहुँच जाता है। वहाँ से काच को खीचा जाता है। साथ ही शलाका मे से सपीडित वायु भी आती रहती है। इसमे काच नली के रूप मे खिंचता है। खीचनेवाला यत्र प्राय १०० फुट की दूरी पर रहता है। यत्र कर्षित नली का छिद्र एक समान होता है और दीवारो की मोटाई भी सर्वत्र समान होती है। हस्त कर्षित नली मे यह बात नही आ पाती। नली एव शलाका को अभितप्त करने की आवश्यकता नही होती, क्योकि १०० फुट की दूरी तय करने मे नली अपने आप धीरे धीरे ठढी हो जाती है।

चूडी निर्माण—चूडियाँ कई विधियो से वनाई जाती हैं। विशेप प्रचलित विधि यह है कि एक लोह शलाका पर द्रवित काच को सगृहीत किया जाता है और फिर अपने भार से लटके हुए काच को खीचकर उसे लोहे के एक क्षैतिज वेलन से जोडा जाता है। इस वेलन का व्यास चूडी के नाप का होता है और उसके नीचे कुछ अग्नि जलती रहती है। इस वेलन को घुमाने पर वेलन अनुप्रस्थ गति से थोडा आगे वढता जाता है। इसलिये ऊपर के वेलन से खिंचा काच सर्पिल रूप (spiral form) मे नीचेवाले वेलन पर लिपट जाता है। काच के सर्पिल को वेलन से निकाल कर, लवाई मे खरोच करने से, सर्पिल भाग खुले वलयो मे विभाजित हो जाता है। अव वलयो के सिरो को कोमलाक तक तप्त करके दवाने पर, सिरे जुड जाते हैं और चूडी तैयार हो जाती है। चूडियो को अभितप्त नही किया जाता। रगीन चूडियो के लिये रगीन काचो का उपयोग किया जाता है और दक्ष कारीगर विभिन्न प्रकार की कलात्मक चूडियाँ इस रीति से वना सकते हैं।

फेनसम काच (form glass)—इस काच मे नन्हे नन्हे वहुत से वुलवुले होते हैं। ये वुलवुले परस्पर अति निकट होने पर भी एक दूसरे से पूर्णत पृथक् रहते हैं। इसे वनाने के लिये चूर्ण किए हुए काच को कार्वनीय मिश्रण के साथ ७००°-९००° से० तक के ताप पर द्रवित किया जाता है। ताप के कारण कार्वन डाइ-आक्साइड गैस निकलती है। फलत काच फूल उठता है और वह फेन के समान हो जाता है। भवन निर्माण के लिये फेनसम काच उपयुक्त पदार्थ है। इसकी वनी ईंटो और शलाकाओ को आरी से काटा जा सकता है और इसमे कीले भी जडी जा सकती हैं। फिर ध्वनि भी इन ईंटो को सुगमता से पार नही कर सकती।

प्रकाशीय काच (optical glass)—उस काच को कहते हैं जिससे लैंस (लेज़), प्रिज़्म (त्रिपार्श्व) आदि वनाए जाते हैं। प्रकाशीय काच निर्माण के लिये स्वच्छ, समाग, स्थायी, और पूर्णतया रगहीन काच का होना आवश्यक है। इस काच के प्रकाश-नियताक (optical constants), जैसे वर्तनाक (refractive index) आदि, आवश्यकतानुसार होने चाहिए। समस्त आतरिक विकृतियाँ दूर करने के हेतु इस काच को पूर्णतया तपाया जाता है। काच-मिश्रण के लिये लोहरहित और सुनिश्चित रचना के कच्चे पदार्थो का उपयोग किया जाता है। उत्तम मिट्टी के वने वद पात्र मे स्थिर ताप पर काच को द्रवित किया जाता है। द्रवण और शोधन के पश्चात् काच को चलाया (विलोडित किया) जाता है। काच मे विलोडन क्रिया अग्निसह मिट्टी की वनी छडो द्वारा की जाती है। विलोडक छड द्रवित काच में ऊर्ध्वाधर रखकर उसको एक लौह शलाका से सवद्ध कर दिया जाता है और इस शलाका को यत्र से चलाया जाता है। काच मे छड के वृत्ताकार परिक्रमण से काच मे समागता आ जाती है। फिर विलोडक को वाहर निकाल लिया जाता है और पात्र को भी भट्ठी के वाहर निकालकर शीघ्र ठडा किया जाता है। तदनतर पात्र को तोड दिया जाता है। इससे काच कई टुकडो में विभाजित हो जाता है। शुद्ध एव निर्दोप टुकडो को साँचो मे रखकर साँचो को विद्युत् भट्ठी मे रख दिया जाता है। पिघलने के पश्चात् ठढा होने पर काच वाछित आकार का हो जाता है। कुछ विशेप स्थितियो में द्रवित काच को ढालनेवाली मेज पर उडेल कर और वेलकर पट्ट काच का रूप दिया जाता है। काच पट्ट एव आकार युक्त काच टुकडो का विद्युत् तापित विशेप भट्ठी मे पूर्णत अभितापन किया जाता है। इस कार्य में कई सप्ताह लग जाते हैं। अभितप्त काच को काटकर वालू से घिस कर और कुकुम से पालिश करके मनचाहे आकार के लैंस (लेंज) आदि बनाए जाते हैं।

[रा० च०]

काच लगाना

भवन निर्माण में प्राय दरवाजो, खिडकिया, झरोखो, या विभाजन परदो इत्यादि मे काच का व्यवहार किया जाता है।

काच लगाने का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि कमरे इत्यादि मे प्रकाश आए, परतु वर्षा और तप्त अथवा शीत पवन से रक्षा हो। किंतु मकान में अथवा उसके किसी भाग मे काच का प्रयोग प्रकाश कम करने के लिये अथवा परदा करने तथा सौदर्य वृद्धि के विचार से भी किया जाता है, क्योकि काच कई प्रकार के तथा रग विरगे भी होते हैं।

काच की मोटाई $\frac{1}{16}$ इच से लेकर साधारणत $\frac{1}{4}$ इच तक होती है (अधिकाश शीशे $\frac{1}{10}''$, $\frac{1}{8}''$, $\frac{3}{16}''$ तथा $\frac{1}{4}''$ मोटाई के होते हैं)। लवाई, चौडाई भी ३ फुट से ४ फुट तक किसी भी माप की मिल सकती है। वडे माप का काच महँगा पडता है तथा विशेप माँग पर मिलता है। खिडकिया मे लगाने के लिये ८"×१०", १०"×१२", १२"×१४" इत्यादि नाप के शीशे वाजार मे सुलभ रहते हैं।

काच लगाने के लिये दरवाजे या खिडकी के दिलहे मे खाँचा छोड दिया जाता है। इसी खाँचे मे उपयुक्त नाप का शीशा स्थान पर वैठाकर उसे विरजियो (छोटी कीलो) से फँसा दिया जाता है। फिर ऊपर से पोटीन लगा दी जाती है, जैसा नीचे चित्र च मे दिखलाया गया है। पोटीन आडी या तिरछी काट दी जाती है, जैसा चित्र से स्पष्ट है। पोटीन इसलिये लगाई जाती है कि शीशा ढीला न रहे, नही तो हिलने से वह खडखडाएगा और उसके टूट जाने की आशका रहेगी।

अधिक समय बीतने पर पोटीन का तेल सूख जाता है और तव वह भगुर हो जाती है। फिर धीरे धीरे पोटीन उखड जाती है, जिससे उसकी मरम्मत की आवश्यकता पड जाती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये पोटीन के स्थान पर लकडी की एक पतली डडी जडने की प्रथा भी अव चल पडी है। डडी उसी लकडी की होनी चाहिए जिस लकडी की खिडकी या दरवाजा हो तथा उसकी नाप ऐसी होनी चाहिए कि शीशे के ऊपर लगाने से वह पल्ले की लकडी से ऊँची न उठी रहे। लकडी की डडी पतली, छोटी कीलो से जडी जाती है और उसके किनारे की धार को रदे से मार कर कुछ गोल कर दिया जाता है (देखे चित्र ड)।

लकडी की डडी के दवाव से शीशा चटख न जाय इसके लिये डडी के नीचे उसी की चौडाई का पतला नमदा (felt) अथवा रवर की पट्टी भी लगा दी जाती है।

लकडी के दरवाजो तथा खिडकियो के अतिरिक्त अव लोहे अथवा ऐल्यूमिनियम धातु के भी दरवाजे इत्यादि वनने लगे हैं और उनमें भी शीशे लगाए जाते हैं। यहाँ भी काच लगाने की विधि प्राय उपर्युक्त विधि के ही समान रहती है, अतर केवल यह होता है कि काच लगाने का खाँचा दरवाजे मे पहले से ही बना हुआ रहता है जिस पर शीशा लगाकर या तो पोटीन लगाई जा सकती है, अथवा ऊपर एक L अथवा अन्य आकार की धातु की वनी वनाई डडी पेच से जड दी जाती है, जैसा चित्र ख में दिखाया गया है।

एक और रीति (जो इस देश मे कम प्रचलित है) सीसे के H आकार की पट्टियो के प्रयोग की है। इन पट्टियो को लकडी या धातु दोनो प्रकार के दरवाजो मे काच लगाने के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है, जैसा चित्र ग मे दिखाया गया है। सीसे की इन पट्टियो द्वारा काच पत्थर के खाँचा मे भी लगाया जा सकता है (देखिए चित्र घ)।

[का० प्र०]
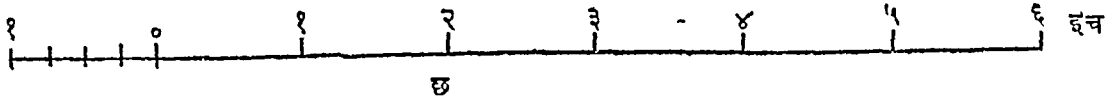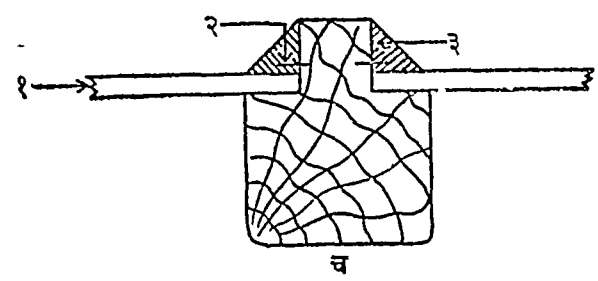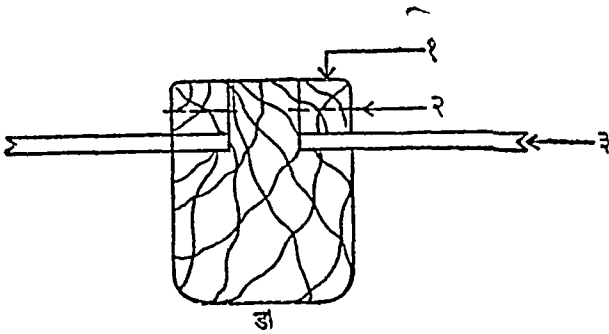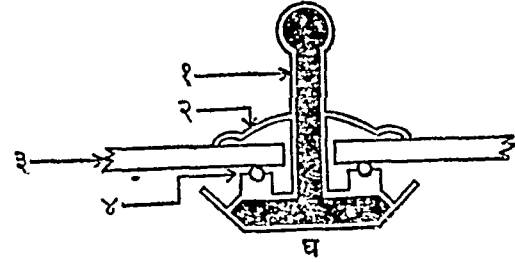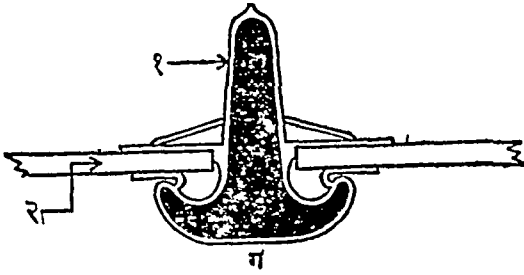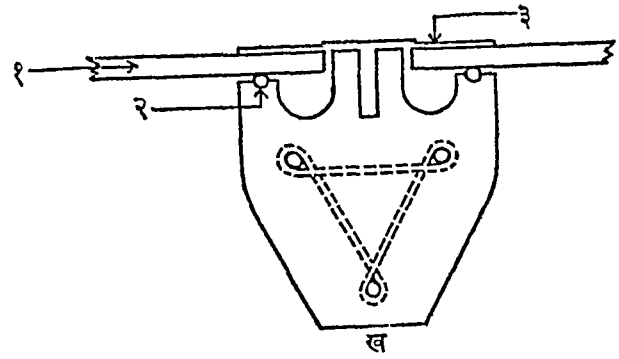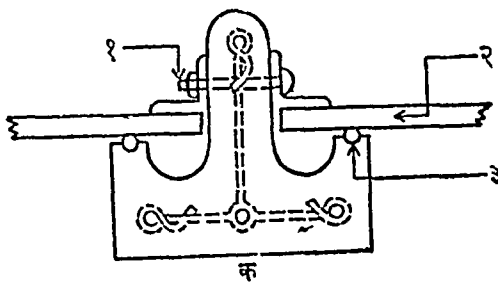
काच लगाने के गज़ों की किस्में

(क) लोहा प्रबलित पत्थर का गज (bar) १ धातु की चुटकी (clip) तथा ववले (bolt), २ काच, ३ ऐस्वेस्टस की डोरी। (ख) कक्रीट का गज १ काच, २. ऐस्वेस्टस की डोरी, ३ सीसे की टोपी। (ग) इक्लिप्स (eclipse) गज १ सीसा चढा धातु का गज, २ काच। (घ) वी० आइ० वार १ धातु का गज, २ सीसे का पतरा, ३ काच, ४ तेल लगी ऐस्वेस्टस की डोरी। (ङ) लकडी का गज १ गोला (beading), २ कीले, ३ काच। (च) लकडी का गज़ १ काच, २ कीले, ३ पोटीन। (छ) इचो मे लगभग अनुमाप।
[का० प्र०]

काचीन यह ब्रह्मदेश अथवा वरमा राज्य सघ का एक राज्य है। ब्रह्मदेश के सविधानानुसार २४ सितवर, १९४७ ई० को मितकीना एव भामो जिलो को मिलाकर इसका निर्माण किया गया। काचीन का क्षेत्रफल लगभग १५,५०० वर्गमील है। यह राज्य उत्तरी ब्रह्मदेश मे नागा एव पटकोई पहाडियो के पूर्व तथा सालविन नदी के पश्चिम मे स्थित हे। ईरावती तथा इसकी सहायक चाडविन नदियाँ इस राज्य के उत्तरी भाग से निकल कर दक्षिण की ओर बहती है। इस छिन्न भिन्न पहाडी एव पठारी क्षेत्र मे घने जगल है। पूर्वी भाग मे काचीन पहाडियाँ (६,००० मे ७,००० फुट) उत्तर-दक्षिण फैली हुई है। भामो तथा मितकीना इस राज्य के प्रमुख नगर है। भामो चीनी सीमा से २० मील की दूरी पर स्थित वरमा चीन व्यापार का मुख्य केद्र हे। मितकीना रेल द्वारा माडले और रगून से सवद्ध है। यहाँ से 'लेडो मार्ग' आसाम को जाता है। धान एव मक्का इस राज्य की मुख्य उपज है। इसके अतिरिक्त कपास, तवाकू, अफीम, मटर, तिलहन एव सब्जियाँ भी उगाई जाती है। यह क्षेत्र निर्माण काष्ठ के लिये प्रसिद्ध है जो नदियो द्वारा वहाकर माडले एव रगून के कारखानो मे पहुँचाया जाता है। ईरावती तथा अन्य नदियो की घाटियो मे सोना पाया जाता हे। [न० कि० प्र० सिं०]

क़ाज़ी इस्लामी राज्यो मे न्याय विभाग का मुख्य अधिकारी काजी होता है। प्रारभ मे न्याय विभाग की देखरेख खलीफा के अधीन होती थी जो पूरे इस्लामी राज्य का हाकिम होता था। मुसलमानो के प्रथम खलीफा हजरत अबू बक्र (६३२–६३४ ई०) ने अपने शासन काल मे न्याय विभाग को अपने अधिकार ही मे रखा अत उनके समय मे काजी की नियुक्ति की आवश्यकता न हुई। दूसरे खलीफा हजरत उमर (६३४–६४४ ई०) ने अन्य लोगो को काजी नियुक्त किया। इसका कारण यह था कि राज्य की सीमाये फैल गई थी और खलीफा के लिये पूरे राज्य की देखभाल के साथ साथ न्याय विभाग का सचालन असभव था। मदीने मे वे स्वय तथा अबू दरदा काजी के कार्य को सम्हालते थे। वसरे मे उन्होने शुरैह तथा कूफे मे

अबू मूसा अशअरी को काजी नियुक्त कर दिया था। अबू मूसा की नियुक्ति के समय हजरत उमर ने एक पत्र लिखा जिसे कजा विभाग, जिसका सबध काजियो से होता था, के आदेशो एव कार्यो का पूर्ण विधान सम झना चाहिए। इस पत्र मे वचन का पालन करने, न्याय की उपेक्षा न करने, पक्षपात न करने तथा शक्तिहीनो को सहारा देने पर वडा जोर दिया गया है। काजी के लिये यह भी आदेश था कि वह निर्णय देने के उपरात उस पर ठडे दिल से सोच-विचार करे। यदि न्याय किसी अन्य ओर ज्ञात हो तो न्याय का पालन करने मे किसी प्रकार का सकोच न करे। गवाही तथा उसके अनुसार न्याय करने पर भी वडा जोर दिया जाता था। उदाहरणत ऐसे व्यक्ति की गवाही स्वीकार करनी निषिद्ध थी जिसे किसी अपराध के दड में कोडे लग चुके हों या वह किसी गवाही के समय झूठा सिद्ध हो चुका हो।

यद्यपि खलीफाओ ने न्याय विभाग को काजी के सुपुर्द कर दिया था किंतु फिर भी महत्वपूर्ण निर्णय वे स्वय ही करते थे। खलीफाओ के शासन काल मे काजी को केवल अभियोगो के निर्णय का अधिकार था किंतु शनै शनै काज़ियो के अधिकार वढते चले गये और अन्य कार्य भी उन्हे सौंपे जाने लगे। यहाँ तक कि सर्वसाधारण के हितो की रक्षा भी उन्ही के सुपुर्द कर दी गई। पागलो, अधो, दरिद्रो एव मूर्खो को "धन-सपत्ति की देख-भाल, वसीअतो का पालन, वक्फो का प्रवध, विधवाओ के विवाह की व्यवस्था, मार्गो और घरो की देखभाल, दस्तावेजो की जाँच-पडताल, साक्षियो की छानवीन, अमीनो और नायवो की देखरेख काज़ी के ही सुपुर्द रहने लगी। कभी कभी सैनिक दस्ते भी जेहाद मे काजी के नेतृत्व मे भेजे जाते थे। भारतवर्ष मे भी देहली के सुल्तानो तथा मुगलो के राज्यकाल मे काजियो के सुपुर्द लगभग यही कार्य थे और सर्वोच्च काजी, काजि-उल-कुजजात कहलाता था।

स० ग्र०—(अरवी) मावद एहकामुस्सुलतानिया, इब्ने खलदून मुकद्दमा, (हिन्दी) रिजवी इब्ने खलदून का मुकद्दमा, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६१। [सै० अ० अ० रि०]

काटोवास नगर

रेवा नदी पर स्थित, पोलैंड का एक नगर, विथनी से पाँच मील दक्षिण पूर्व मे है। इसका सवध विथनी से रेल द्वारा कर दिया गया है। यह लौह उद्योग का प्रमुख नगर है, क्योकि इसके पास ही मे ऐंथ्रासाइट कोयले एव जस्ते की खाने है। यह नगर वडी तीव्रता के साथ उन्नति कर रहा है। इसका मुख्य कारण खानो की निकटता है। यह १८१५ ई० मे एक छोटा नगर था जिसने अव वडे नगर का रूप धारण कर लिया है। सन् १९५३ मे इस नगर का पुन नामकरण स्तालिनोगाद किया गया। यहाँ की जनसख्या १८७५ मे ११,३५१ थी जो १९३९ मे १,३४,०००, १९५० मे १,५६,००१ तथा १९५१ मे वढकर १,९९,९०० हो गई। [वि० रा० सिं०]

काठकोयला

हवा की अपर्याप्त मात्रा मे लकडी जलाने से उडनशील भाग गैस के रूप मे वाहर निकल जाता है और काली ठोस वस्तु, जिसे काठ कोयला कहते है, वच रहती है। यह कार्वन नामक तत्व का ही एक अशुद्ध रूप है, जिसमे कुछ अन्य तत्व भी अल्प मात्रा मे रहते हैं। लकडी से इसके भौतिक एव रासायनिक गुण भिन्न होते हुए भी उस लकडी की वनावट इसमे सुरक्षित रह जाती है जिससे यह प्राप्त किया जाता है। सूखी लकडी को ३१०° सें० तक तप्त करने पर पहले वह हल्के, तत्पश्चात् गाढे भूरे रग की तथा अतत काली और जलने योग्य हो जाती है। इससे अधिक ताप पर काठ-कोयला प्राप्त होता है। इस उष्माविघटन की क्रिया मे कुछ अति उपयोगी वस्तुओ का भी उत्पादन होता है। प्रथमत जल-वाष्प निकलता है, परतु ताप वढाने पर प्रारभिक विघटन से कार्वन मोनोक्साइड और कार्वन डाइआक्साइड भी मिलते हैं। अधिक ताप पर उष्मक्षेपक क्रिया प्रारभ होती हे और अलकतरा (टार), अम्ल तथा मेथिल ऐल्कोहल इत्यादि का आसवन होता है तथा काठ-कोयला शेप रह जाता हे। इस क्रिया के एक वार आरभ होने पर अभिक्रिया की उष्मा ही कार्वनीकरण की प्रक्रिया को चलाने के लिये पर्याप्त होती है और वाहर से उष्मा पहुँचाने की आवश्यकता नही पडती।

घरेलू अथवा दूसरे कार्यो में ईंधन के लिये काठकोयले का उपयोग वहुत प्राचीन है। व्यवसायिक मात्रा मे इसे तैयार करने की कई विधियाँ काम मे लाई जाती हैं। प्रारभिक विधि मे लकडी के टुकडो को एक गड्ढे या गोल ढेर मे इस प्रकार सजाकर एकत्रित कर लिया जाता है कि वीच मे धुआँ अथवा विघटन से वनी हुई गैस के निकलने के लिये माग रहे।
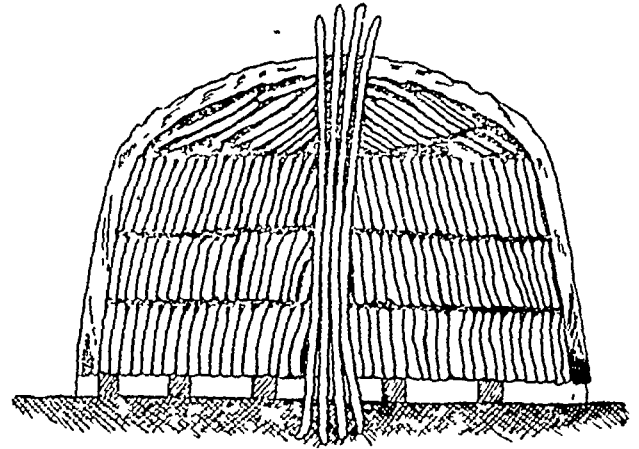
चित्र १ लकडी जलाकर कोयला वनाने की प्राचीन रीति

(श्री फूलदेव सहाय वर्मा की कोयला नामक पुस्तक से)

पूरे ढेर को घास फूस सहित मिट्टी और ढेले से ढक देते हैं। भीतर की लकडी जलाने के लिये चिमनी से जलती हुई लुआठी डाल दी जाती है तथा ढेर की जड मे स्थित, हवा के प्रवेश के लिये वने छिद्र खोल दिए जाते हैं। प्रारभ मे थोडी सी लकडी के जलने से उत्पन्न उष्मा शेप लकडी को जलाने में सहायक होती है। कई दिनो वाद, जव चिमनी से प्रकाशप्रद लौ के स्थान पर हल्की नीली लौ दिखाई देने लगती है तव नीचे के छिद्र
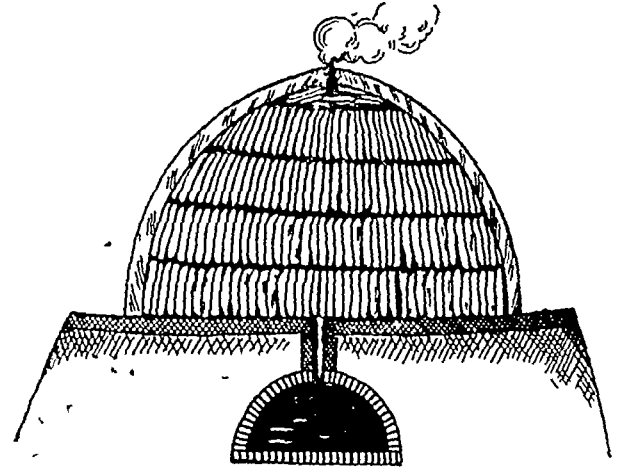
चित्र २ काठ कोयला वनाने की सुधारी रीति

ऊपर लकडी जलाकर कोयला वनाते हैं और नीचे गड्ढे में अलकतरे का सग्रह होता है।
(श्री फूलदेव सहाय वर्मा की कोयला नामक पुस्तक से)

वद कर, काठकोयले को ठढा होने के लिये छोड दिया जाता है। इस विधि मे लगभग २४ प्रति शत काठकोयला प्राप्त होता है, परतु वहुत से उपयोगी उडनशील पदार्थो के वायु मे मिल जाने से हानि होती है। कई देशो में, विशेषकर जहाँ लकडी सस्ती है, अभी भी इसी विधि द्वारा काठकोयला वनाया जाता है।

१८वी शताब्दी के बाद ईटो की बनी भट्ठियो और लोहे के वकभाडो (retorts) का उपयोग होने लगा। वकभाड को सामान्यतया बाहर से गरम किया जाता है तथा उत्पन्न गैस को सघनित्र (condenser) मे प्रवाहित कर उपयोगी उपजात एकत्रित कर लिया जाता है। बची गैस वकभाड को गरम करने के लिये प्रयुक्त की जाती है। प्राप्त पदार्थो से लकडी की स्पिरिट, पाइरोलिग्नियस अम्ल, जिससे मेथिल ऐल्कोहल, ऐसिटोन तथा ऐसीटिक अम्ल बनते है, तथा अलकतरा (tar) मिलता है। इन्हे आसवन द्वारा अलग कर लिया जाता है। कही कही इन बहुमूल्य उपजातो के लिये ही लकडी का कार्बनीकरण करते है। ऐसीटिक अम्ल तथा मेथिल ऐल्कोहल के अधिक उत्पादन के लिये पर्णपाती (पतझड वाले) वृक्षो की लकडी को प्राथमिकता दी जाती है। उत्पादन मूल्य घटाने के विचार से कुछ देशो मे नलिका-भट्टी अथवा लबी बेलनाकार लोहे की

चित्र ३—सविराम अमरीकी भट्टा

ईटो से यह बना भट्ठा मधुमक्खी के छत्ते के आकार का होता हे। शिखर से लकडी जलाई जाती हे। लकडी जलाकर पट्ट (क) से मिट्टी का लेप देकर मुँह बद कर देते हैं। इसके कुछ नीचे के मार्ग (ख) से लकडी डाली जाती है। भट्ठे के पेंदे के तल पर एक मार्ग (ग) होता है, जिससे कोयला निकाला जाता है। (ख) और (ग) लोहे के पट्ट के बने होते हैं। ये पट्ट ईटो से लोहे के एक चिपटे चक्कर द्वारा, मिट्टी से लेपकर, बद कर दिये जाते हैं। भट्ठे के चारो ओर सूराख (घ) होते हैं, जिन्हे आवश्यकतानुसार ईटो से बद कर सकते है, अथवा खुला रख सकते हैं। चूल्हे के पेंदे से निकास मार्ग (च) द्वारा गैसे और वाष्प निकलते है। इसमे एक वातयम (Damper) (छ) और पाशी (Trap) लगी रहती हे। ऐसे उपकरण मे अच्छी कोटि का कोयला बनता है। वाष्पशील अशो का सग्रह गौण महत्व का होता है। ठढे हो जाने पर इनसे कोयला निकाला जाता है। ठढे होने मे पर्याप्त समय लगता है।

ऊर्ध्वाधर भट्टी का उपयोग होता है और कार्बनीकरण से प्राप्त जलनशील गैस ही इन्हे गरम करने के काम मे लाई जाती है। अमरीका मे तो लकडी से भरे हुए रेल के डिब्बे वकभाड के भीतर प्रविष्ट कर दिए जाते है तथा क्रिया की समाप्ति पर बाहर निकाल लिए जाते है।

काठकोयला काले रग का ठोस पदार्थ हे, जो पीटने पर चूर हो जाता है। इसके सरध्र होने से इसमे शोषण की शक्ति बहुत होती हैं। यह वायुमडल से वाष्प तथा विविध प्रकार के गैसो की बडी मात्रा सोख लेता है। यह शक्ति काठकोयले को सक्रियकृत (activated) करने पर अत्यधिक बढ जाती है (नीचे देखे)। इसी कारण साधारण काठकोयले मे भी शोषित हवा की अच्छी मात्रा मिलती है। वैसे तो वायुरहित काठकोयले का वास्तविक आपेक्षिक घनत्व १ ३ से १ ९ के बीच होता है, परतु आभासी घनत्व ० २ से ० ५ के बीच मिलता है। काठकोयला भी लकडी की भाँति पानी पर तैरता है। लकडी की तुलना मे यह उन प्रभावो के प्रति अधिक अवरोधक है जिनसे लकडी सडती है अथवा उसका क्षय होता हे। इसी कारण लकडी के लट्ठो की ऊपरी सतह को जलाकर गाडने अथवा रखने से भीतर का भाग बहुत समय तक सुरक्षित रह जाता है।

काठकोयला हवा मे गरम करने पर रगहीन लौ देता हुआ जलता हे, जिसमे कार्बन डाइआक्साइड गैस बनती है तथा थोडी राख बच रहती है, जो क्षारीय होती है। इस क्रिया मे अत्यधिक गर्मी निकलती है, जिसके कारण ईंधन के रूप मे काठकोयले का अधिक उपयोग होता है। बारूद तथा आतिशबाजी के विभिन्न समिश्रणो मे काठकोयले के चूरे का उपयोग होता है। ईंधन के अतिरिक्त, विषैली गैसो से बचने के लिये गैसमास्क तथा उष्मा अवरोधक बनाने मे इसका प्रयोग होता है। गैसमास्क मे, अथवा घोलो से कुछ वस्तुओ को हटाने के लिये, काठकोयले का उपयोग इसकी शोषणशक्ति पर आश्रित है। कुछ वस्तुओ से अनिच्छित गध या रग दूर करने मे सक्रियकृत काठकोयला अत्यधिक प्रयुक्त होता है। ऐसे कोयले के रध्रो मे शोषित आक्सिजन से शोषित विषाक्त गैस की प्रतिक्रिया हो जाती है, जिससे विषाक्त गैस हानिरहित गैसो मे बदल जाती है।

सक्रियकृत काठकोयला (Activated charcoal)—आर० ऑस्ट्राइको ने सन् १९०० के कुछ पहले ही पता लगा लिया था कि भाप की धारा मे काठकोयले को चटक लाल ताप तक गरम करने से काठकोयले की शोषणशक्ति बहुत बढ जाती है। ऐसे काठकोयले को सक्रियकृत काठकोयला कहते हैं। सन् १९१६ के बाद सक्रियकृत काठ कोयला बनाने की कई रीतियाँ आविष्कृत हुई। द्वितीय महायुद्ध के गैस-मास्को के लिये अधिक सक्रियकृत काठकोयले की आवश्यकता पडी। तब अनुसधानो द्वारा पता लगा कि पत्थर के कोयले को विशेष ताप तक तप्त करके उसपर भाप प्रवाहित करने से सस्ते मे अच्छा सक्रियकृत कोयला प्राप्त हो सकता है।

स० ग्र०—जे० डब्ल्यू० मेलर ए कॉम्प्रिहेसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गेनिक ऐड थ्योरटिकल केमिस्ट्री (१९२२), जे० आर० पार्टिगटन ए टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गेनिक केमिस्ट्री, जे०एफ० थॉर्प तथा एम० ए० व्हाइटले थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री, फूलदेव सहाय वर्मा कोयला।

[वि० वा० प्र०]

काठमांडू हिमालय की पर्वतश्रृखला की दो शाखाओ के मध्य विस्तृत काठमाडू घाटी के केंद्र मे स्थित यह नगर काठमाडू प्रदेश तथा नेपाल देश की राजधानी है। भारत की सीमा से १२० किलोमीटर दूर, उत्तर की ओर, बागमती और विष्णुमती नदियो के सगम पर यह नगर बसा हुआ है। इसकी ऊँचाई समुद्र की सतह से ४,५०० फुट है।

१७वी शताब्दी मे भीममाला ने केवल काठ से बने हुए एक मदिर का निर्माण किया जिसका नाम काठमदिर रखा गया। काठमाडू नाम की उत्पत्ति तभी से कही जाती है (काष्ठमडप > काठमाडौ > काठमाडू)। ग्रीष्म ऋतु की यहाँ की जलवायु ग्रानदप्रद हे। यहाँ का औसत ताप तब लगभग ७५° फा० रहता है, किंतु जाडे के दिन कष्टप्रद होते हैं जब ताप कभी कभी ३२° फा० तक हो जाता है। नगर से प्रत्येक दिशा में हिमालय की वर्फीली चोटियाँ दिखाई पडती हैं। इस नगर मे कई जातियाँ निवास करती हैं जिनमे प्रमुख नेवारी, ठाकुरी, गुरग और गोरखा हैं। इस नगर की जनसख्या १,०६,५८० है। यहाँ के निवासियो के प्राय सभी कार्य धार्मिक विचारो से प्रभावित होते हैं। ये मुख्यत हिंदू तथा बौद्ध धर्मानुयायी हैं।

प्राकृतिक बाधाओ तथा कुछ राजनीतिक प्रतिबधो के फलस्वरूप इस नगर तथा नेपाल राज्य का विदेशो से अधिक सबध नही रहा। अतएव १९वी शताब्दी के अत तक नेपाल सुषुप्तावस्था मे ही पडा रहा। किंतु वर्तमान शताब्दी के मध्यकाल तक यहाँ पूर्ण जागृति हुई। स्वतत्र सत्ता की रक्षा के लिये अब इस देश ने धीरे धीरे ससार के कोने कोने से अपना सबध स्थापित कर लिया हे तथा यह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। यहाँ की निरक्षरता को दूर करने पर स्थानीय सरकार ने विशेष ध्यान दिया है। अब उच्च शिक्षा की व्यवस्था क्रमश हो रही है। इस समय इस नगर मे नवस्थापित त्रिभुवन विश्वविद्यालय तथा तीन उच्च विद्यालय हैं।

यहाँ के निवासी लघु उद्योग धधो मे बडे निपुण हैं। यहाँ का काष्ठ उद्योग विशेषतया उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त कपडे के जूते, छाता, हस्तकला की वस्तुएँ, बर्तन, कालीन, कढाई का काम, ऊनी वस्त्र इत्यादि तैयार करने तथा चर्म उद्योग मे यहाँ के कारीगर बडे कुशल हैं। यद्यपि यहाँ लोहे की खाने नही है, तथापि यह नगर भारत से लोहे का आयात करके घरेलू आवश्यक सामग्री का स्वय निर्माण करता रहा है। यहाँ की मुख्य उपज गेहूँ, चावल, फल तथा तरकारी हैं, किंतु भूमि तथा उपज की कमी के कारण इस नगर को खाद्यान्नो का आयात करना पडता है। यहाँ अनेक भव्य मदिर हैं जिनमे पशुपतिनाथ, बोधनाथ, स्वयभूनाथ तथा हनुमानढोक प्रस्तरस्मारक दर्शनीय हैं। पर्वतीय प्रदेश होने के कारण यहाँ अभी तक गमनागमन के साधनो की उन्नति नही हो पाई है। माल ढोने के लिये १४ मील लबा एक रज्जुपथ है जो आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भारत की सहायता से नवनिर्मित त्रिभुवन राजपथ, जिसकी लबाई २११ किलोमीटर है तथा जो काठमाडू को भारत के सीमात नगर रक्सौल से सबधित करता है, नेपाल देश के लिये उन्नति का मार्ग है। अब काठमाडू ससार के वायुमार्ग से भी सबधित हो गया है। [रा० लो० सिं०]

काठियावाड़

भारतवर्ष के पश्चिम तट का यह प्रायद्वीप, उत्तर-पश्चिम मे कच्छ की खाडी तथा दक्षिण-पूर्व मे कैबे की खाडी से घिरा हुआ हे। इसका क्षेत्रफल २१, ४३२ वर्ग मील है तथा जनसख्या लगभग ४०,००,००० है। इस प्रदेश की दो प्रमुख नदियाँ भादर और शतरजी हैं जो क्रमश पश्चिम और पूर्व की ओर बहती हैं। इस प्रदेश का मध्यवर्ती भाग पहाडी है। काठियावाड का उच्चतम बिंदु ३,६६६ फुट ऊँचा हे। वृत्ताकार गिरनार पर्वतसमूहो का दृश्य बडा विलक्षण है। काठियावाड की प्राय ५० प्रति शत भूमि कृषि के लिये उपयोगी है। यहाँ की मुख्य उपज कपास है और अधिकाश भूमि इसी के उत्पादन मे लगी हे। कैबे की खाडी पर स्थित भावनगर इस प्रदेश का मुख्य नगर और बदरगाह ह। इसके अतिरिक्त जामनगर, राजकोट, पोरबदर, जूनागढ आदि नगर भी उल्लेखनीय हैं। यहाँ चूने का पत्थर पर्याप्त रूप मे मिलता है जो आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर पर स्थित डिउ पुर्तगाल के अधीन है।

[कृ० प्र० सिं०]

काड़ी

कस्बा बटोदरा (बडौदा) जिले में इसी नाम के ताल्लुक का मुख्यालय है। स्थिति २३ १८' उ० अ० तथा ७२°२' पू० दे०। सन् १९०१ ई० मे इसकी जनसख्या करीब १३,०७० थी जो बढकर सन् १९५१ ई० में २०,३१३ हो गई।

सन् १९०४ ई० तक यह कस्बा इसी नाम की जागीर का मुख्यालय था। परतु जब जागीर जनपद मे मिला दी गई तो ताल्लुक का मुख्यालय यहाँ स्थापित कर दिया गया। इस कस्बे मे एक प्राचीन प्रासाद, अनेक स्कूल, कालेज, औषधालय एव कचहरी हैं। इस कस्बे का मुख्य धधा कपडा बुनना, कपडा रँगना एव पीतल के बर्तन बनाना आदि है।

[ब० प्र० रा०]

कातेना, विंसेंत्सो दी बिअगिओ

(१४७०-१५३१) वेनिस के एक प्रतिष्ठित परिवार मे चित्रकार कातेना का जन्म हुआ था। कलागुरु जोवानी बेलिनी से उसने चित्रकला सीखी। लिवरपूल, ड्रेसडेन, बुडापेस्ट और वेनिस के सत फ्रासिस और सत जेरोम चर्च मे 'मेदोना' सहित उसके सारे चित्र सुरक्षित हैं। वह व्यक्तिचित्रण मे विशेष कुशल था। गरीब चित्रकारो की लडकियो के विवाह मे दहेज देने के लिये उसने अपनी सारी सपत्ति वेनिस के चित्रकार गिल्ड को सौप दी। [भा० स०]

कातो, मार्कस पोर्सियस

(९५-४६ ई० पू०) रोमन दार्शनिक, जो राजनीति और युद्ध मे भी रुचि लेता था। पापे और जूलियस सीज़र के बीच हुए युद्ध मे उसने पापे का पक्ष लिया जिसकी पराजय होने पर उसने आत्महत्या कर ली। बताया जाता है, मरते समय तक अफलातून (प्लेटो) के 'डायलाग' का 'आत्मा की अमरता' वाला भाग पढता रहा, यद्यपि स्वय उसने भविष्य की अपेक्षा तत्कालकर्तव्य को सदैव अधिक महत्वपूर्ण समझा। इसी तरह राजनीति मे तो वह अराजकतावादी, सिद्धातत स्वतत्र राज्य का समर्थक था। उसकी मृत्यु के उपरात उसका चरित्र चर्चा का विषय बना—सिसरो ने 'कातो' लिखा और सीजर ने 'अतीकातो'। ब्रूतस ने कातो को सद्गुण और आत्मत्याग का आदर्श बताया। [श्री० स०]

कात्यायन

धर्मग्रथो से जिन कात्यायनो का परिचय मिलता है, उनमे तीन प्रधान हैं—(१) विश्वामित्रवशीय कात्यायन, (२) गोमिलपुत्र कात्यायन, तथा (३) सोमदत्तपुत्र वररुचि कात्यायन।

(१) विश्वामित्रवशीय कात्यायन मुनि ने कात्यायन श्रौतसूत्र, कात्यायन गृह्यसूत्र और प्रतिहारसूत्र की रचना की।

स्कदपुराण के नागर खड मे कात्यायन को याज्ञवल्क्य का पुत्र बतलाया गया है जिसमे उन्हे यज्ञविद्याविचक्षण कहा है। उस पुराण के अनुसार इन्ही कात्यायन ने श्रौत, गृह्य, धर्मसूत्रो और शुक्लयजु पार्षत् आदि ग्रथो की रचना की। वास्तव मे स्कदपुराण के यह कात्यायन विश्वामित्रवशीय कात्यायन हैं और यही कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के अगिरसायन की कात्यायन शाखा के जन्मदाता हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की कात्यायन शाखा विंध्याचल के दक्षिण भाग से महाराष्ट्र तक फैली हुई है। महाभाष्य से ज्ञात होता है कि कात्यायन वररुचि कोई दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। महाराष्ट्र मे व्याप्त कात्यायन शाखा इस प्रमाण का द्योतक है। शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य के बहुत से सूत्र कात्यायन के वार्तिको से मिलते हैं। इससे भी उक्त सबध की पुष्टि होती है।

स्कदपुराण मे याज्ञवल्क्य का आश्रम गुजरात मे बतलाया गया है। बहुत सभव है जब याज्ञवल्क्य मिथिला मे जा बसे हो तब उनके पुत्र कात्यायन महाराष्ट्र की ओर चले गए हो और वही कात्यायन वररुचि वार्तिककार का जन्म हुआ हो।

(२) गोमिलपुत्र कात्यायन ने छदोपरिशिष्टकर्मप्रदीप की रचना की ह। कुछ लोगो का अनुमान है कि श्रौतसूत्रकार कात्यायन और स्मृतिप्रणेता कात्यायन एक ही व्यक्ति हैं। परतु यह सिद्धात ठीक नही जान जान पडता। हरिवशपुराण मे विश्वामित्रवशीय 'कति' के पुत्र कात्यायन गण का नामोल्लेख है। कात्यायन गण मे वेदशाखा के प्रवर्तक अनेक व्यक्ति हुए हैं और इन्ही मे से एक याज्ञवल्क्य शुक्लयजु अर्थात वाजसनेयि शाखा के प्रवर्तक हैं। श्रौत सूत्रकार कात्यायन इसी वाजसनेयि शाखा के अनुवर्तक हैं। इसी से यह अनुमान होता है कि विश्वामित्रवशीय याज्ञवल्क्य के अनुवर्ती कात्यायन ऋषि ही कात्यायन श्रौतसूत्र के रचयिता हैं और गोमिलपुत्र कात्यायन स्मृतिकार हैं।

(३) वररुचि कात्यायन ही पाणिनीय सूत्रो के प्रसिद्ध वार्तिककार हैं। पुरुषोत्तमदेव ने अपने त्रिकाडशेष अभिधानकोश मे कात्यायन के ये नाम भी लिखे हैं--कात्य, पुनर्वसु, मेधाजित् और वररुचि। 'कात्य' नाम गोत्रप्रत्ययात है, महाभाष्य मे उसका उल्लेख है। पुनर्वसु नाम नक्षत्र सबधी है, 'भाषावृत्ति' मे पुनर्वसु को वररुचि का पर्याय कहा गया है। मेधाजित् का कही अन्यत्र उल्लेख नही मिलता। इसके अतिरिक्त, कथासरित्सागर और बृहत्कथामजरी मे कात्यायन वररुचि का एक नाम 'श्रुतधर' भी आया है। हेमचद्र एव मेदिनी कोशो मे भी कात्यायन के 'वररुचि' नाम का उल्लेख है।

वररुचि कात्यायन के वार्तिक पाणिनीय व्याकरण के लिये अति महत्वशाली सिद्ध हुए हैं। इन वार्तिको के बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा सा रह जाता। वार्तिको के आधार पर ही पीछे से पतजलि ने महाभाष्य की रचना की।

कात्यायन वररुचि के वार्तिक पढने पर कुछ तथ्य सामने आते हैं--यद्यपि अधिकाश स्थलो पर कात्यायन ने पाणिनीय सूत्रो का अनुवर्ती होकर अर्थ किया है, तर्क वितर्क और आलोचना करके सूत्रो के सरक्षण की चेष्टा की है, परतु कही कही सूत्रो मे परिवर्तन भी किया है और यदा कदा पाणिनीय सूत्रो मे दोष दिखाकर उनका प्रतिषेध भी किया है और जहाँ तहाँ कात्यायन को परिशिष्ट भी देने पडे हैं। सभवत इसी वररुचि कात्यायन ने वेदसर्वानुक्रमणी और प्रातिशाख्य की भी रचना की है। कात्यायन के बनाए कुछ भ्राजसज्ञक श्लोको की चर्चा भी महाभाष्य मे की गई है। कैयट और नागेश के अनुसार ये भ्राजसज्ञक श्लोक वार्तिककार के ही बनाए हुए हैं।

वार्तिककार कात्यायन वररुचि और प्राकृतप्रकाशकार वररुचि दो व्यक्ति हैं। प्राकृतप्रकाशकार वररुचि 'वासवदत्ता' के प्रणेता सुबधु के मामा होने से छठी सदी के हर्ष विक्रमादित्य के समसामयिक थे, जब कि पाणिनीय सूत्रो के वार्तिककार इससे बहुत पूर्व हो चुके थे।

अशोक के शिलालेख मे वररुचि का उल्लेख है। प्राकृतप्रकाशकार वररुचि का गोत्र भी यद्यपि कात्यायन का था, इसी एक आधार पर वार्तिककार और प्राकृतप्रकाशकार एक ही व्यक्ति नही माने जा सकते, क्योकि अशोक के लेख की प्राकृत से वररुचि की प्राकृत स्पष्ट ही नवीन मालूम पडती है। फलत अशोक के पूर्ववर्ती कात्यायन वररुचि वार्तिककार हैं और अशोक के परवर्ती वररुचि प्राकृतप्रकाशकार। मद्रास से जो 'चतुर्भाणी' प्रकाशित हुई है, उसमे 'उभयसारिका' नामक भाण को वररुचिकृत बतलाया गया है। वस्तुत यह वररुचि प्रसिद्ध वार्तिककार वररुचि नही है, क्योकि वार्तिककार वररुचि 'तद्धितप्रिय' नाम से प्रसिद्ध रहा है और 'उभयसारिका' मे तद्धितो के प्रयोग अति अल्प मात्रा मे हैं। सभवत यह वररुचि कोई अन्य व्यक्ति है।

हुयेनत्साग ने बुद्धनिर्वाण से प्राय तीन सौ वर्ष बाद हुए पालिवैयाकरण जिस कात्यायन की अपने भ्रमण वृत्तात मे चर्चा की है, वह कात्यायन भी वार्तिककार से भिन्न व्यक्ति है। यह कात्यायन एक बौद्ध आचार्य था जिसने 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थान' नामक बौद्धशास्त्र की रचना की है।

कात्यायन नाम का एक प्रधान जैन स्थावर भी हुआ है। आफ्रेक्ट की हस्तलिखित ग्रथसूची मे वररुचि और कात्यायन के बनाए अनेक ग्रथो की चर्चा की गई है। इन ग्रथो मे कितने वार्तिककार कात्यायन प्रणीत हैं, इसका निर्णय करना कठिन है। [द्वि० ना० मि०]

कात्यायनी

(१) याज्ञवल्क्य की स्त्री का नाम। इनकी दूसरी स्त्री का नाम मैत्रेयी था। बृहदारण्यक उपनिषद् मे कात्यायनी ससारी स्त्री के रूप मे अभिव्यक्त हुई है, मैत्रेयी इनके विरुद्ध, ससारविरक्त हैं।

(२) पार्वती का नाम। मत्स्यपुराण के अनुसार महिषासुर का वध करनेवाली सिंहवाहिनी देवी। इनके दस भुजाएँ तथा तीन नेत्र हैं। नवयौवन से सपन्न हैं तथा पूर्ण चद्र के सदृश इनका मुख है। ये त्रिशूल, चक्र, तीक्ष्ण बाण, शक्ति, परशु आदि अस्त्र शस्त्रो से युक्त दिखलाई जाती हैं। [रा० श० मि०]

कादंब, कदंब, राजकुल

यह दक्षिण का ब्राह्मण राजकुल था। कादबो की राजधानी उत्तर कनाडा मे वैजयती अथवा वनवासी थी। उनका उत्कर्ष पल्लवो के पडोस मे सातवाहनो के पतन के बाद हुआ। सभवत उनका सबध कभी कन्नौज के मौखरियो से भी रहा था। प्रारभिक कादबो ने वैजयती का राज्य चुटि-शातकर्णियो से छीना था और कुछ काल तक इन्हे पल्लव नरेशो के आधिपत्य मे भी रहना पडा था। वे मानव्य गोत्र के ब्राह्मण थे। उनकी राजधानी पर पुलकेशिन् द्वितीय चालुक्य ने सातवी सदी के आरभ मे अधिकार कर लिया। इस राजकुल के राजाओ--हरिवर्मन्, रविवर्मन्, और कृष्णवर्मन्--के ताम्रपत्र उत्तर कनाडा से मिले हैं।

कादिरी नगर

मद्रास प्रात के कुडप्पा जिले मे कादिरी नाम के ताल्लुके मे है। स्थिति १४°६' उ० अक्षाश तथा ७८°१०' पू० देशातर। यह नगर दक्षिण भारत का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यहाँ नरसिंह भगवान् का एक विशाल तथा प्राचीन मदिर है। लोकोक्ति है कि पहले यह सारा भाग जगल से ढका हुआ था जिसमे जगली जानवर घूमा करते थे। एक कादिरी के वृक्ष के नीचे चीटिओ की भित्तिका मे नरसिंह भगवान की यह मूर्ति मिली। फलस्वरूप यहाँ पर नगर का विकास हुआ तथा उस पेड के नाम पर ही नगर का नाम कादिरी रखा गया। प्रतिवर्ष जनवरी मे यहाँ मेला लगता है।

नगर अब दक्षिण रेलवे का एक स्टेशन है। यहाँ अनाज की बहुत बडी मडी है। लघु उद्योग धधे भी होते हैं। कुछ लोगो का कथन है कि यह हिंदू नगर कभी मुसलमानो के अधिकार मे था। परतु केवल कुछ मकबरो तथा मस्जिदो के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा प्रमाण नही मिलता। स्वतत्रता के बाद नगर के विकास मे सराहनीय वृद्धि हुई है। नगर का शासन नगरपालिका के अधीन है।

कादिरी ताल्लुका कुडप्पा जिले का उजाड पर्वतीय भाग है। भूमि अनुपजाऊ है। कुछ छोटी नदियाँ भी हैं जो सिंचाई के लिये उपयुक्त नही हैं। यहाँ की मुख्य फसले ईख, तथा कपास हैं। ताल्लुके का क्षेत्रफल १,१५८ वर्ग मील है। इसमे १३९ गाँव हैं तथा मुख्य नगर कादिरी है। [ह० ह० सिं०]

कादीस

१ दक्षिण स्पेन का प्रात है। यह १८३३ ई० मे सेविल प्रात के कुछ जिलो को अलग करके बनाया गया। क्षेत्रफल २,८२९ वर्ग मील, जनसख्या ७,९५,३१३ (१९५८) है। प्रात के दक्षिण तटीय भाग में विभिन्न सँकरी खाडियाँ पाई जाती हैं। उत्तरी समूचे भाग का पश्चिमी भाग समतल तथा उपजाऊ है। पूर्वी भाग पर्वतीय है जो जगलो से ढका हुआ है। यहाँ की जलवायु शीतोष्ण कटिबधीय है किंतु समुद्री प्रभाव के कारण सम है। भूमि उपजाऊ है जिसमे फल (अगूर तथा जैतून) पर्याप्त मात्रा मे पैदा होते हैं। जगलो से प्राप्त बहुमूल्य लकडियाँ तथा समुद्र से प्राप्त मछलियाँ प्रात की सपत्ति हैं। कादीस खाडी के पास समुद्र से नमक भी प्राप्त किया जाता है। यातायात का विकास समुचित नही है। यहाँ से फल, मछलियाँ तथा इमारती लकडियाँ बाहर भेजी जाती हैं। इस प्रात की राजधानी का नाम भी कादीस है। ला लीनिया (जनसख्या ३५,१०१), सैनलूकार (२८,४४६) सैनफरनैंडो (३२,३००) आदि अन्य नगर हैं जो अपने विशेष व्यवसायो तथा स्वच्छता के लिये प्रसिद्ध हैं।

२ स्पेन राज्य मे कादीस प्रात की राजधानी तथा इस देश का बहुत ही सुदर नगर तथा प्रसिद्ध बदरगाह है। जनसख्या १,०९,१५४ (१९५८) है। यह नगर सेविल से ९४ मील की दूरी पर एक पतले, सँकरे तथा पाँच मील तक समुद्र मे प्रलबित स्थलीय भाग पर स्थित है। अपनी इस सुरक्षित तथा सागरीय स्थिति के ही कारण यह नगर बहुत बडा व्यावसायिक केंद्र हो गया है। यहाँ की जलवायु समुद्री है। जाडा बहुत ही सुहावना होता है। जाडे का तापक्रम ५३° फा० तथा गर्मी का ७६° फा० रहता है।

सात मील की परिधि मे फैला हुआ यह नगर चारो तरफ से समुद्र से घिरा हुआ है, केवल एक तरफ से एक बडे मार्ग के समान सकीर्ण भूमि द्वारा मुख्य स्थलखड से मिला हुआ है। नगर के भव्य विशाल भवन एक ही आकार के तथा सुव्यवस्थित ढग से बने हुए हैं जिससे यह नगर देश के मुख्य सुदर नगरो मे गिना जाता है। [ह० ह० सिं०]

कादुसी, वातोलोमो (१५६०–१६१०) इटली का चित्रकार जो फ्लोरेंस में जन्मा और जिसने वही अपनी कलाशिक्षा ली। अपने समय के प्रचलित कलाकार अमानती से उसने वास्तुशिल्प तथा मूर्तिकला सीखी। चित्रकला की शिक्षा उसे प्रसिद्ध चित्रकार जुकेरो से मिली थी। जुकेरो प्राय चित्र बनाने के लिये दूर दूर से बुलाया जाता था,जो साथ ही कादुसी को भी सहायक के रूप मे ले जाया करता था। जुकेरो के साथ वह माद्रिद गया था जहाँ उसने एस्कोरियल पुस्तकालय के लिये चित्र बनाए तथा उस प्रसिद्ध राजमहल की दीवारो पर भित्तिचित्र लिखे। धीरे धीरे उसकी पहुँच राजदरबार तक हो गई और स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय का वह कृपापात्र बन गया। अधिकतर वह स्पेन मे ही रहा और वही उसकी मृत्यु भी हुई। उसके बनाए अधिकतर चित्र स्पेन में ही है। उसका सबसे प्रसिद्ध चित्र 'क्रूस से अवतरण' (ईसा का क्रास पर से उतारा जाना) है। यह साँ फेलिप अल रील नामक गिरजाघर (माद्रिद) मे सुरक्षित है। [रा० च० शु०]

कान (कर्ण, श्रवणेंद्रिय) मनुष्यो की खोपडी की जड मे दाएँ और बाएँ स्थित होते हैं। कान हमारे शरीर की पाँच विशेष ज्ञानेंद्रियो मे से एक है। इसी के द्वारा हम सुनते हैं। जब कोई ध्वनि उत्पन्न होती है तब वह तरगो के रूप में होती है। हमारा कान इन ध्वनितरगों को एकत्रित कर और स्नायविक प्रेरणा मे परिवर्तित कर उसे मस्तिष्क मे ले जाता है और इस प्रकार हमको ध्वनि का ज्ञान हो जाता है।

हमारा कान तीन भागो मे विभक्त रहता है—पहला वाह्य कर्ण, दूसरा मध्य कर्ण और तीसरा आतरिक कर्ण।

वाह्य कर्ण—इसके दो अश होते हैं—(१) कर्णपुट (Pinna), (२) कर्णकुहर (External Auditory Meatus)। कर्णपुट उपास्थि का बना होता है। इसका आकार सीपी जैसा होता है और इसके ऊपर खाल चढी रहती है। इसका मुख्य कार्य शब्दो का सग्रह करना है।

कर्णकुहर—कर्णपुट के भीतर की ओर लगभग सवा इच की टेढी-मेढी एक नली कर्णपटह तक जाती है। इस नली मे खाल की एक पतली तह होती है जिसपर अत्यत सूक्ष्म बाल होते हैं। श्रवण नली के भीतरी भाग मे कान का मैल निकालनेवाली कई ग्रथियाँ होती हैं जिन्हे 'कर्णमल स्नायविक ग्रथि' कहते हैं। इन ग्रथियो से एक प्रकार का मोम जैसा तरल पदार्थ निकलता रहता है जो कान के आतरिक भाग को चिकना रखता है। कान का मैल और कान के बाल अत्यत उपयोगी होते हैं। धूल के कण तथा अन्य किसी प्रकार के कीडे आदि इसके द्वारा वाह्य कर्ण मे ही रोक लिए जाते हैं।

ग्रथियो से निकलनेवाला गाढा तरल पदार्थ कभी कभी कर्णनली मे एकत्रित होकर जम जाता है, फलस्वरूप कान मे पीडा होने लगती है। बहुधा सुनाई भी कम पडने लगता है। इसका उचित उपचार कराना चाहिए।

मध्य कर्ण—यह कनपटी की हड्डियो से बने एक छोटे कोष्ठ मे स्थित होता है। इसके भीतर की दीवारे एक श्लैष्मिक झिल्ली द्वारा ढकी रहती हैं। इसकी बाहरी दीवार कर्णपटह से बनती है और भीतरी दीवार से अत कर्ण आरभ होता है।

इस कोठरी मे वायु भरी रहती है। इसकी भीतरी दीवार मे दो छोटे छोटे छिद्र होते हैं, जिनमे से एक गोल होता है और दूसरा अडाकार। मध्य कर्ण का ऊपरी और निचला भाग अस्थियो से निर्मित रहता है और एक छोटी अस्थि द्वारा मस्तिष्क से पृथक् कर दिया गया है।

मध्य कर्ण कठ-कर्ण-नली द्वारा कठ से भी सबधित रहता है। कर्ण-कठ-नली मध्य कर्ण मे उपस्थित वायु से कर्णपटह के दोनो ओर की वायु की दाब के सतुलन मे सहायता देती है। नाक और मुँह के छिद्रो को बद करने पर श्वास कर्ण-कठ-नली से होकर कर्ण से आने लगता है। सहसा बडी तीव्र ध्वनितरग उत्पन्न होने पर मध्य कर्ण की वायु कठ मे चली जाती है और इस प्रकार मध्य कर्ण और वाह्य कर्ण के मध्य कर्णपटह को क्षति पहुँचने से रोकती है।

मध्य कर्ण में कर्णपटह से लेकर आतरिक कर्ण तक तीन छोटी छोटी अस्थियाँ होती हैं। रचना के अनुसार ही इन अस्थियो का नामकरण हुआ है। सबसे पहली अस्थि, जो कर्णपटह के समीप है, मुगदर कहलाती है। इस अस्थि का आकार मुगदर की भाँति होता है। यह कर्णपटह की भीतरी सतह से जुडी रहती है। दूसरी अस्थि को निहाई और तीसरी अस्थि को रकाब कहते हैं।

रकाब नामक अस्थि निहाई और अत कर्ण को मिलाती है। ये तीनो अस्थियाँ एक सीधी रेखा मे स्थित रहती हैं और बधक ततुओ द्वारा परस्पर जुडी रहती हैं।

ध्वनितरगे कर्णपटह मे कपन उत्पन्न कर देती हैं। तत्पश्चात् कर्ण पटह से लगे हुए मध्य कर्ण की तीनो सूक्ष्म अस्थियो में भी कपन होने लगता है। इस प्रकार ध्वनि तरगे वाह्य कर्ण से मध्य कर्ण में पहुँचती हैं।

अत कर्ण—यह कर्ण का सबसे आवश्यक भाग है। अत कर्ण की रचना अत्यत विचित्र और जटिल है। यह कनपटी की अस्थियो से बने एक कोष्ठ मे सुरक्षित रहता है। अपनी बनावट की जटिलता के कारण यह 'घूमघुमैया' भी कहलाता है।

भीतरी कान उपास्थियो का बना होता है। पर विशेषता यह है कि उपास्थियो के बने घूमघुमैया के भीतर झिल्ली का घूमघुमैया रहता है। इन झिल्ली से बने कोष्ठो मे एक प्रकार का तरल पदार्थ भरा रहता है, जिसको अतर्लसिका कहते हैं।

जब ध्वनितरगे मध्य कर्ण की अस्थियो से टकराती हुई आतरिक कर्ण मे पहुँचती हैं उस समय अतर्लसिका मे भी एक प्रकार का कपन उत्पन्न हो जाता है। अत कर्ण मे मस्तिष्क से निकले हुए स्नायुओ के आठवें जोडे (श्रवण स्नायु) का जाल बिछा रहता है।

अत कर्ण भी तीन भागो मे विभाजित है। पहला कर्ण कुटी, दूसरा कोक्लिआ (Cochlea) और तीसरा अर्धचद्राकार नलिकाएँ।
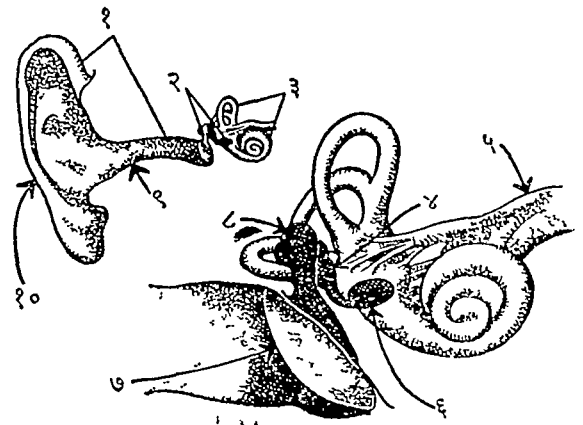
कान (कर्ण) की रचना

१ वाह्य कर्ण, २ मध्य कर्ण, ३ अतस्थ कर्ण, ४ निहाई (Incus), ५ सग्राहक तत्रिकाएँ, ६ रकाब (Stapes), जो अडाकार खिडकी से टिकी हुई रहती है, ७ कर्णपटह, ८ मुगदर (Malleus), ९ वाह्य नाल, १० कर्ण शष्कुली (Orifice)।

कर्णकुटी—यह भीतरी कान के घूमघुमैया के बीच का भाग है। इसके सामने 'कोक्लिआ' और पीछे की ओर अर्धचद्राकार नलिकाएँ स्थित होती हैं। इसकी दीवारो मे अडाकार छिद्र होते हैं, जिनमे मध्य कर्ण की रकाब नामक अस्थि का चौडा भाग ढक्कन के समान लगा रहता है।

कोक्लिआ (Cochlea)—इसकी आकृति घोघे या शख के समान होती है। यह कर्णकुटी के सामने नीचे की ओर, घडी की कमानी के समान मुडकर झुका सा रहता है। इसके अत के झिल्लीवाले भाग मे मस्तिष्क से निकली श्रवणस्नायु के सिरे का जाल बिछा रहता है।

अर्धचद्राकार नलिकाएँ—ये नलिकाएँ कर्णकुटी के पिछले भाग में जुडी होती हैं। ये गिनती में तीन होती हैं, जो एक दूसरी पर लब होती हैं। ये कर्णकुटी से पाँच छिद्रो द्वारा जुडी रहती हैं और तीन त्रिकोणो की आकृतियाँ बनाती हैं। इनके दो सिरे आपस मे जुडने के बाद कर्ण-

कुटी के एक छिद्र से जुडे रहते है। इन तीनो अर्धचद्राकार नलिकाओ का एक सिरा चौडा होता है और इसी सिरे मे श्रवणस्नायु की शाखाएँ फैली रहती है।

स्नायु के तार सवेदनशील होते है और वे लघु मस्तिष्क के केद्रो मे जाते है तथा शरीर की गति की सूचना लघु मस्तिष्क को देते है। इस प्रकार अर्धचद्राकार नलिकाएँ लघु मस्तिष्क से सबधित रहती है और शरीर के सतुलन का कार्य करती है। अर्धचद्राकार नलिकाओ मे किसी प्रकार की हानि या क्षति होने पर शरीर के सतुलन का कार्य विगड जाता है और मनुष्य चक्कर अनुभव करने लगता है।

ध्वनितरगो का कर्ण पर प्रभाव—जब कोई ध्वनि उत्पन्न होती है तो ध्वनि उत्पादक वस्तु का कपन वायु मे तरगे उत्पन्न करता है, जो प्रत्येक दिशा मे लगभग ११०० फुट प्रति सेकेड के वेग से आगे बढती है।

ध्वनितरगे हमारे कर्णपुट द्वारा एकत्र होकर कर्णनली मे प्रवेश करती है। कर्णनली से होती हुई ध्वनितरगे कर्णपटह झिल्ली (*Tympanic Membrane*) से जा टकराती है, जिसके फलस्वरूप कर्णपटह झिल्ली में कपन उत्पन्न होता है। कर्णपटह अपने स्पदन से ध्वनि की तीव्रता को बढा देता है। तत्पश्चात् कर्णपटह झिल्ली का कपन मध्य कर्ण की तीनो सूक्ष्म अस्थियो—मुगदर, निहाई और रकाव—मे कपन उत्पन्न करता हुआ आतरिक कर्ण की झिल्ली के तरल पदार्थ 'अतर्लसिका' मे भी लहरे उत्पन्न करता है।

अत कर्ण मे मस्तिष्क से निकली हुई श्रवणस्नायु का घना जाल विछा रहता है। कपन के कारण स्नायु के सिरे उत्तेजित हो जाते हैं। केद्रगामी स्नायु कर्ण के ध्वनि अनुभव को मस्तिष्क तक ले जाते है। इस प्रकार हमको शब्द सुनाई पडता है। कर्ण मे 'प्रसारक' और 'उत्थापिका' नाम की दो पेशियाँ होती है। ये ही दोनो पेशियाँ शब्दो को ठीक ठीक नियोजित करती है। कर्ण अस्थियाँ कपनो को उचित स्थान पर पहुँचाती हैं और कठ-कर्ण-नली से शब्दो का दवाव और सामजस्य ठीक रहता है। (क० दे० मा०)

कान, नाक और गले के रोग

कान के रोग—कान एक सुरग के समान है जो करोटि की शखास्थि मे भीतर की ओर चली गई है। इस सुरग का वाहरी छिद्र कान के वाहरी कोमल भाग के, जो कर्णशष्कुली कहलाता है, वीच मे खुलता है। शष्कुली का काम केवल शब्द की तरगो को एकत्र करके कान की सुरग मे पहुँचाना है।

इस सुरग मे तीन भाग है (१) पहिला वहि कर्ण है, जो शष्कुली के वीच मे प्रारभ होकर भीतर को चला गया है। यहाँ उसके अत मे एक पट्ट है। यह कर्णपटह कहलाता है। यह एक सीधा खडा हुआ पर्दा नही है, वरन् वीच मे भीतर को कुछ दबा हुआ और टेढा स्थित है। शब्द की तरगो से परदे मे कपन होने लगते हैं। इन परदे के दूसरी ओर एक छोटी कोठरी सी है, जो (२) मध्य कर्ण कहलाती है। इसमे तीन सूक्ष्म अस्थियाँ है, जो कर्णपटह के कपनो से स्वय हिलने लगती हैं और उनको कान के तीसरे भाग (३) अत कर्ण मे पहुँचाती है। इसमे भी दो भाग हैं। एक भाग कोक्लिआ (Cochlea) का श्रवण से सबध है और दूसरा भाग (अर्धवृत्ताकार नलिकाए) चलने फिरने, कूदने या गिरने के समय दिशाका ज्ञान कराता है। मध्य कर्ण से एक नली गले मे भी जाती है।

रोग—वहि कर्ण मे विद्रधि (फोडा) वनना साधारण रोग है। वहुत वार वहुत सी सूक्ष्म विद्रधियाँ वन जाती है, अथवा एक वडी विद्रधि वन सकती है। पीडा इस रोग का मुख्य लक्षण होता है। विद्रधि के फूटने पर कान से पूय निकलने लगती है, जिसको साधारणतया कान का *वहना कहते हैं। इस दशा मे हाइड्रोजन परआक्साइड मे शलाका पर लगी* हुई अवशोषक रूई को भिगोकर उससे पोछ दे। पेनिसिलिन लोशन कान मे डालना उपयोगी है।

मध्यकर्ण की विद्रधि (Otitis media) यह अधिक भयकर होती है। इससे मध्यकर्ण के ऊपर, या उसकी छत की पतली अस्थि मे, शोथ होकर उसके ऊपर स्थित मस्तिष्कावरण तथा मस्तिष्क मे शोथ और उससे वढ़कर विद्रधि वन सकती है। मध्य कर्ण मे उत्पन्न पूय को निकलने का रास्ता न मिलने के कारण वह कर्णपटह मे विदार कर देती है। झिल्ली के फटने से उसमे एक छोटा सा छिद्र वन जाता है, जिससे पूय वहने लगती है। किंतु पूय के पूर्ण रूप से न निकल सकने के कारण रोग ठीक नही होता। इस रोग मे दारुण पीडा होती है। ज्वर भी १०३° या १०४° फा० तक रहता है। ऐसी दशा मे कान के विशेषज्ञ डाक्टर की तुरत सलाह लेनी चाहिए। कर्णपटह मे विदार होने से पूर्व ही उसमे उचित स्थिति मे छोटा छेदन कर देन से पूय निकल जाती है और पेनिसिलिन के प्रयोग से रोग ठीक हो जाता है।

कर्णमूल शोथ (Mastoiditis)—कर्ण के पीछे की ओर निचले भाग मे जो अस्थि होती है उसमे शोथ और उससे विद्रधि वनने को कर्णमूल शोथ कहते हैं। यह रोग सदा मध्य कर्ण की विद्रधि से उत्पन्न होता है, विशेषकर जब कर्णपटह मे विदार होकर, या उसके छेदन से, पूय का निर्हरण पूर्ण नही होता। मध्य कर्ण से रोग का सक्रमण पीछे या नीचे की ओर अस्थि मे पहुँच जाता है और वहाँ शोथ तथा विद्रधि वनकर अस्थि गलने लगती है। रोग के दो रूप होते है (१) उग्र (acute) और (२) जीर्ण (chronic)।

उग्र रूप के विशेष लक्षण कान के पीछे और नीचे के भाग मे, जिसको कर्णमूल (Mastoid) कहते है, पीडा, दवाने से पीडा का वढना, शोथ, १०२° से १०४° फा० तक ज्वर और कान से पूय का निकलते रहना हैं। यदि मध्य कर्ण विद्रधि से कान के परदे (कर्णपटह) के फटने के पहिले ही से पूय निकल रही है तो पीडा और ज्वर वढने के साथ पूय की मात्रा का भी वढ जाना, इस उपद्रव के निश्चित लक्षण है।

यदि इसी अवस्था मे रोगी को वमन और प्रलाप होने लगे और ग्रीवा के पीछे की ओर की पेशियाँ सकोच से कडी पड जाय और सिर पीछे को खिंच जाय तो समझना चाहिए कि मस्तिष्क मे, या उसके नीचे कपाल के भीतर स्थित एक वडे शिरानाल (Sinus) मे, सक्रमण पहुँच गया है, जो जीवन के लिये अल्पकाल ही मे साघातिक हो सकता है।

जीर्ण रूप उग्र रूप के पश्चात् हो सकता है, या वह मध्य कर्ण विद्रधि से सक्रमण के विस्तार के प्रारभ ही से हो सकता है। इससे भी मस्तिष्क तथा कपाल मे ऊपर कहे हुए उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

एक्स-रे द्वारा रोग का निश्चय करने के पश्चात् शीघ्र ही शल्य क्रिया (operation) द्वारा चिकित्सा अभीष्ट है।

बधिरता—वच्चो मे प्राय टासिल और ऐडिनाएड (Adenoid) के शोथ से, जुकाम के वार वार होने से, कान मे विद्रधि आदि रोग से और विशेषकर खसरा (Measles) तथा स्कारलेट ज्वर से वधिरता उत्पन्न हो जाती है। यह रोग प्रौढावस्था मे अधिक होता है। और प्राय टासिल के शोथ, नासारध्रो मे अवरोध तथा नासागुहा के पास के वायुविवरो (air sinuses) के रोग का परिणाम होता है। कभी कभी पूर्ण वधिरता हो जाती है। किसी विशेषज्ञ द्वारा वच्चो, युवा या प्रौढो मे रोग के कारण को दूर करवाना आवश्यक है। कान वहने की सफल चिकित्सा से यह दशा ठीक हो जाती है।

कान में मैल—वहि कर्ण सुरग के चारो ओर की त्वचा तथा श्लेष्मल कला की ग्रथियो का स्राव सुरग मे जमा होकर सूख जाता है। कुछ व्यक्तियो मे स्राव वनता ही अधिक है। इसके एकत्र हो जाने से कान मे भारीपन, झनझनाहट तथा कुछ वधिरता उत्पन्न हो जाती है। साधारण खाने के सोडे को जल मे घोलकर उसको गरम करके कान मे डालने से उसमे मैल घुल जाती है, नही तो ढीली अवश्य हो जाती है। हाइड्रोजन परआक्साइड से भी वह ढीली होकर निकल जाती है।

नाक के रोग—नाक की लबी गुहा एक मध्य फलक द्वारा दो लबी सुरगो मे विभक्त है जो *नासारध्र कहलाती है। ये नासाग्र पर नथुने* नामक द्वारो से प्रारभ होकर ऊपर और तब पीछे की ओर मुडकर दो पश्चनासा द्वारो द्वारा कोमल तालु के पीछे खुलती है। इन सुरगो के पार्श्व मे सीप के समान दो दो छोटी अस्थियाँ है। सुरगे भीतर से श्लेष्मल कला से आच्छादित है जिसमे रक्तवाहिकाएँ और तत्रिका फैली हुई है।

रोग—सबसे साधारण रोग जुकाम कहलाता है जो प्रत्येक व्यक्ति को और किसी किसी को प्रत्येक दो या तीन महीने पर होता रहता है।

श्लैष्मिक कला मे सक्रमण के कारण शोथ हो जाता है और उससे गाढा, चिपचिपा श्वेत रग का स्राव निकलता है जिसको सिनक कहते हैं। दो तीन दिन मे यह पतला पड जाता है और फिर शोथ ठीक हो जाने से रोग जाता रहता है। सिर पीडा और शरीर मे बेचैनी के लिये ऐस्पिरीन लाभदायक है। यदि ज्वर हो तो शैया मे विश्राम करना उचित है। वनफशे के काढे का यद्यपि बहुत प्रयोग किया जाता है, तथापि उससे कोई लाभ नही होता, जो लाभ होता है वह स्वय ही होता है।

नकसीर (Epistaxis) का कारण नासासुरगो में कही पर श्लेष्मल कला मे व्रण (ulcer) बनना होता है। इसमे कोई रक्त-वाहिका फट जाती है। इसी से रक्त निकलता है। कभी कभी रक्त की अधिक मात्रा निकलती है। रोग कभी घातक नही होता। सुरग मे अवशोषक रूई के टुकडे को ऐड्रेनैलिन हाइड्रोक्लोर, १००० मे १, की शक्ति के लोशन मे भिगोकर सुरग मे भर देना चाहिए। यदि सुरग के अगले भाग मे व्रण होता है तो सामने से रुई भर देने से रक्त निकलना बद हो जाता है। किंतु पिछले भाग मे व्रण के होने पर रुई के टुकडे को गले के द्वारा सुरग के पश्चद्वार से पहुँचाना पडता है। एक पतले रबर के कैथिटर मे डोरा डाल, या बाँधकर, नासारध्र मे सामने से प्रविष्ट करते है। कैथिटर जब गले के भीतर पश्चद्वार से निकलता है तो उसके सिरे को चिमटी से पकडकर मुँह के मार्ग से खीच लिया जाता है। ऐड्रेनेलिन में भीगे हुए रुई के टुकडे को कैथिटरमे बँधे हुए डोरे मे बाँधकर कैथिटर को फिर सामने के द्वार से वापस लौटा लिया जाता है। रुई का टुकडा पश्चसुरग मे भर जाता है। तब डोरे के दोनो सिरो को बाँधकर छोड दिया जाता है।

नासा में अवरोध—मध्य फलक के टेढे होने अथवा पार्श्व मे स्थित सीपी के समान अस्थियो (शुक्तिकायो) के बढ जाने से, नासारध्रो मे कभी कभी अवरोध इतना बढ जाता है कि श्वास लेने मे कठिनाई होती है। इन दशाओ की चिकित्सा शल्य क्रिया द्वारा की जाती है।

गले के रोग—गले के भीतर की विस्तृत गुहा मुँह को चौडा कर और जीभ को दाबकर भीतर प्रकाश डालने से, दिखाई पडती है। स्वरयत्र को भी यही से देखा जाता है, जिसके लिये विशेषज्ञ विशेष यत्रो का प्रयोग करते है। इस प्रकार देखने से गले मे जिह्वा के पीछे दोनो ओर पार्श्व मे दो ग्रथियाँ दिखाई देती हैं, जो फूले हुए दानेदार पिंडो के समान हैं। इनको टान्सिल कहते है। ऊपर कोमल तालु के बीच मे मास का एक तिकोना प्रवर्ध लटकता हुआ दिखाई पडता है। यह घाँटी, काक या कौवा (अवला) कहलाता है। कोमल तालु के ऊपर नासा-सुरगो के पश्च भाग मे, विशेषत बालको मे, ऐडिनॉएड नामक पिंड भी बन जाते हैं।

टान्सिल मे प्राय सक्रमण हो जाता है, जिससे वे सूज जाते हैं। उनमे पूय भी पड सकती है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। कभी कभी शोथ उग्र हो जाता है, फिर दब जाता है। ऐसे ही आक्रमण होते रहते हैं। बालको मे टान्सिल शोथ बहुत होता है। सक्रमित होकर बढे हुए टान्सिलो को निकलवा देना ही उत्तम है।

ऐडिनॉएडो के कारण बच्चा श्वास नही ले पाता। मुँह खोलकर सोना और मुँह से श्वास लेना इसके विशेष लक्षण है। बच्चो पर इनका बहुत हानिकारक प्रभाव पडता हे। इनको भी आपरेशन द्वारा निकलवा देना उचित है। [मु० स्व० व०]

कानपुर

उत्तर प्रदेश का एक विशाल औद्योगिक नगर जो कानपुर जिले मे गगा नदी के दाहिने किनारे पर बसा हुआ है (स्थिति २६°२८' उ० अक्षाश तथा ८०°२१' पू० देशातर, जन-सख्या ९,४७,७९३ (१९६१)। यहाँ से ग्रैंड ट्रक सडक गुजरती है। यह नगर लखनऊ से लगभग ४२ मील तथा इलाहाबाद से १२० मील की दूरी पर है। नगर की उत्पत्ति के सबध मे अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं, किंतु कानपुर ग्राम, जिसका शुद्ध नाम कान्हपुर या कन्हैयापुर माना जाता है, और जिसे अब पुराना कानपुर कहते है, कितना प्राचीन है, इसका कुछ पता नही। नगर की उत्पत्ति का सचेदी के राजा हिंदूसिह से, अथवा महाभारत काल के वीर कर्ण से सबद्ध होना चाहे सदेहात्मक हो पर इतना प्रमाणित है कि अवध के नवाबो के शासनकाल के अतिम चरण मे यह नगर पुराना कानपुर, पटकापुर, कुरसवाँ, जुही तथा सीमामऊ गावो के मिलने से बना था। पडोस के प्रदेश के साथ इस नगर का शासन भी पहले कन्नौज तथा कालपी के शासको के हाथो मे रहा और बाद में मुसल-मान शासको के। १७७३ से १८०१ तक अवध के नवाब अलमास अली का यहाँ सुयोग्य शासन रहा। १७७३ की सधि के बाद यह नगर अग्रेजो के शासन मे आया, फलस्वरूप १७७८ ई० में यहाँ अग्रेजी छावनी बनी।

गगा के तट पर स्थित होने के कारण यहाँ यातायात तथा उद्योग धधा की सुविधा थी। अतएव अग्रेजो ने यहाँ उद्योग धधो को जन्म दिया तथा नगर के विकास का प्रारभ हुआ। सबसे पहले ईस्ट इडियाकपनी ने यहाँ नील का व्यवसाय प्रारभ किया। १८३२ में ग्रैंड ट्रक सडक के बन जाने से यह नगर इलाहाबाद से जुड गया। १८६४ ई० मे यह लखनऊ, कालपी आदि मुख्य स्थानो से सडको द्वारा जोड दिया गया। ऊपरी गगा नहर का निर्माण भी हो गया। यातायात के इन विकास से नगर का व्यापार पुन तेजी से बढा।

विद्रोह के पहले नगर तीन ओर से छावनी से घिरा हुआ था। नगर में जनसख्या के विकास के लिये केवल दक्षिण की निम्नस्थली ही अवशिष्ट थी। फलस्वरूप नगर का पुराना भाग अपनी सँकरी गलियो, घनी आबादी और अव्यवस्थित रूप के कारण एक समस्या बना हुआ है। १८५७ के विद्रोह के बाद छावनी की सीमा नहर तथा जाजमऊ के बीच मे सीमित कर दी गई, फलस्वरूप छावनी की सारी उत्तरी-पश्चिमी भूमि नागरिका तथा शासकीय कार्य के निमित्त छोड दी गई। १८५७ के स्वतत्रता सग्राम मे मेरठ के साथ साथ कानपुर भी अग्रणी रहा। नाना साहब की अध्यक्षता में भारतीय वीरो ने अनेक अग्रेजो को मौत के घाट उतार दिया। इन्होने नगर मे अग्रेजो का सामना जमकर किया किंतु सगठन की कमी और अच्छे नेताओ के अभाव मे ये पूर्णतया दबा दिए गए।

शाति हो जाने के बाद विद्रोहियो को काम देकर व्यस्त रखने के लिये तथा नगर की व्यावसायिक दृष्टि से उपयुक्त स्थिति का लाभ उठाने के लिये नगर मे उद्योग-धधो का विकास तीव्र गति से प्रारभ हुआ। १८५९ ई० में नगर मे रेलवे लाइन का सबध स्थापित हुआ। इसके पश्चात् छावनी की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये सरकारी चमडे का कारखाना खुला। १८६१ ई० मे सूती वस्त्र बनाने की पहली मिल खुली। क्रमश रेलवे सबध के प्रसार के साथ नए नए कई कारखाने खुलते गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् नगर का विकास बहुत तेजी से हुआ। यहाँ मुख्य रूप से बडे उद्योग धधो मे सूती वस्त्र उद्योग प्रधान है। चमडे के कारबार का यह उत्तर भारत मे सबसे प्रधान केंद्र है। ऊनी वस्त्र उद्योग तथा जूट की दो मिलो ने नगर की प्रसिद्धि को अधिक बढाया है। इन बडे उद्योगो के अतिरिक्त कानपुर मे छोटे मोटे बहुत से कारखाने हैं। प्लास्टिक का उद्योग, इजिनियरिंग के कारखाने, साबुन बनाने का धधा, आटा पीसने की मिले, शीशे के कारखाने, बिस्कुट आदि बनाने के कारखाने पूरे शहर मे फैले हुए हैं। १६ सूती और दो ऊनी वस्त्रो की मिलो के सिवाय यहा आधुनिक युग के लगभग सभी प्रकार के छोटे अथवा बडे कारखाने हैं।

नगर का आकार चतुर्भुज के समान हे जिसकी एक बडी भुजा गगा नदी का दाहिना किनारा है। अग्रेजो के आगमन काल से ही यहाँ का शासन नगरपालिका के द्वारा होता रहा। १९४३ ई० मे नगर की बढती हुई आवश्यकताओ के साथ इप्रूवमेट ट्रस्ट की स्थापना हुई। ट्रस्ट ने नगर के फैलाव तथा विकास को सुव्यवस्थित ढग से अग्रसर करने मे पर्याप्त काम किया है।

पिछले पाँच वर्षो में नगर के फैलाव के फलस्वरूप आजादनगर, किदवईनगर, अशोकनगर, सीसामऊ, काकादेव आदि बहिर्वर्ती क्षेत्रो का सुनियोजित विकास हुआ है। नगर के बीच से ग्रैंड ट्रक सडक यातायात के मेरुदड के समान गुजरती है।

योजना के फलस्वरूप मध्य शहर के सुधार के लिये सुनियोजित बाजारो, औद्योगिक क्षेत्रो तथा रहने के क्षेत्रो का पर्याप्त विकास हुआ है। कानपुर नगर उत्तर रेलवे का बहुत बडा जकशन हो गया है। नगर का

सवध प्राय देश के प्रत्येक भाग मे है तथा आधुनिक काल की प्राय सभी सुविधाएँ यहाँ सुलभ है।

देश के विभाजन के कारण शरणार्थी यहाँ भी अधिक सख्या में आए जिनके कारण अनेक समस्याएँ उठ खडी हुई है। विकास योजनाओ के अतर्गत उनके समाधान की भी व्यवस्था हो रही है।

लोगो का मुख्य पेशा उद्योग धधो से सबधित है। सपूर्ण जनसख्या के ९८ ७ प्रतिशत लोगों की जीविका व्यापार, उद्योग धधा, यातायात तथा नौकरी आदि है। केवल १ ३ प्रतिशत लोग कृषि से सबद्ध हैं। नगर निगम के हो जाने से यह आशा की जाती है कि कानपुर शीघ्र ही भारतवर्ष का एक विशाल, सुव्यवस्थित नगर हो जायगा।

कानपुर छावनी—कानपुर नगर मे ही है। जनसख्या ४५,१५३ (१९५१)। सन् १७७८ ई० मे अग्रेजी छावनी बिलग्राम के पास फैजपुर 'कपू' नामक स्थान से हटकर कानपुर आ गई। छावनी के इस परिवर्तन का मुख्य कारण कानपुर की व्यावसायिक उन्नति थी। व्यवसाय की प्रगति के साथ इस बात की विशेष आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि यूरोपीय व्यापारियो तथा उनकी दूकानो और गोदामो की रक्षा के लिये यहाँ फौज रखी जाय। अग्रेजी फौज पहले जुही, फिर वर्तमान छावनी मे आ बसी। कानपुर की छावनी मे पुराने कानपुर की सीमा से जाजमऊ की सीमा के बीच का प्राय सारा भाग समिलित था। कानपुर के सन् १८४० ई० के मानचित्र से विदित होता है कि उत्तर की ओर पुरान कानपुर की पूर्वी सीमा से जाजमऊ तक गगा के किनारे किनारे छावनी की सीमा चली गई थी। पश्चिम मे इस छावनी की सीमा उत्तर से दक्षिण की ओर भैरोघाट से सीसामऊ तक चली गई थी। यहाँ से यह वर्तमान मालरोड (महात्मा गाधी रोड) के किनारे किनारे पटकापुर तक चली गई थी। फिर दक्षिण-पश्चिम की ओर मुडकर कलेक्टरगज तक पहुँचती थी। वहाँ से यह सीमा नगर के दक्षिण-पश्चिमी भाग को घेरती हुई दलेलपुरवा पहुँचती थी और यहाँ से दक्षिण की ओर मुडकर ग्रैंड ट्रक रोड के समातर जाकर जाजमऊ से आनेवाली पूर्वी सीमा मे जाकर मिल जाती थी। छावनी के भीतर एक विशाल शस्त्रागार तथा यूरोपियन अस्पताल था। परमट के दक्षिण मे अग्रेजी पैदल सेना की बैरक तथा परेड करने का मैदान था। इनके तथा शहर के बीच मे काली पलटन की बैरके थी जो पश्चिम मे सूबेदार के तालाब से लेकर पूर्व मे क्राइस्ट चर्च तक फैली हुई थी। छावनी के पूर्वी भाग मे बडा तोपखाना था तथा एक अग्रेजी रिसाला रहता था। १८५७ के विद्रोह के बाद छावनी की प्राय सभी इमारते नष्ट कर दी गई। विद्रोह के बाद सीमा मे पुन परिवर्तन हुआ। छावनी का अधिकाश भाग नागरिको को दे दिया गया। इस समय छावनी की सीमा उत्तर मे गगा नदी, दक्षिण मे ग्रैंड ट्रक रोड तथा पूर्व मे जाजमऊ है। पश्चिम मे लखनऊ जानेवाली रेलवे लाइन के किनारे किनारे माल रोड पर पडनेवाले नहर के पुल से होती हुई फूलबाग के उत्तर से गगा के किनारे हार्नेस फैक्टरी तक चली गई है। छावनी के मुहल्लो—सदरबाजार, गोराबाजार, लालकुर्ती, कछियाना, शुतुरखाना, दानाखोरी आदि—के नाम हमे पुरानी छावनी के दैनिक जीवन से सबध रखनेवाले विभिन्न बाजारो की याद दिलाते हैं।

आजकल छावनी की वह रौनक नही है जो पहले थी। उद्देश्य पूर्ण हो जाने के कारण अग्रेजो के काल मे ही सेना का कैंप तोड दिया गया, पर अब भी यहाँ कुछ सेनाएँ रहती हैं। बैरको मे प्राय सन्नाटा छाया हुआ है। छावनी की कितनी ही बैरके या तो खाली पडी हुई है या अन्य राज्य-कर्मचारी उनमें किराए पर रहते हैं। मेमोरियल चर्च, कानपुर क्लब और लाट साहब की कोठी (सरकिट हाउस) के कारण यहाँ की रौनक कुछ बनी हुई है। छावनी का प्रबध कैंटूनमेंट बोर्ड के सुपुर्द है जिसके कुछ चुने हुए सदस्य होते है।

कानपुर जिला—उत्तरप्रदेश (भारतवर्ष) मे गगा यमुना के दोआबे के अधोमार्ग मे अवस्थित है। स्थिति २५° २६' उ० से २६° २८' उ० अक्षाश तथा ७९°३१' पू० से ८०°३४' पूर्वी देशातर, क्षेत्रफल २,३७२ वर्गमील, जनसख्या १९,३९,८९७ (१९५१)। आकार मे यह एक असम चतुर्भुज है जिसकी लबाई उत्तर से दक्षिण ७० मील तथा चौडाई पूर्व से पश्चिम ६४ मील है। जिले मे पानी के बहाव की ढाल पश्चिमोत्तर से दक्षिण-पूर्व की ओर है। यह समस्त भूभाग नदियो की लाई हुई दोमट मिट्टी के बिछाव से बना है। औसत ऊँचाई समुद्रतट से ४२० फुट से ४५० फुट तक है। इस जिले की मुख्य नदी गगा है तथा अन्य बडी नदियाँ यमुना, पाडो (पाडव), ईशान (ईसन) तथा उत्तरी नोन हैं। यमुना की सहायक नदियाँ दक्षिणी नोन, खिद और सेगुर हैं। जिले की भूमि स्वय एक दोआब है तथा इस दोआबे के अतर्गत और उसी की लबाई में अन्य पाँच छोटे छोटे दोआब हैं गगा-यमुना की सहायक नदियाँ इस भूमि मे इन्ही नदियो के समानातर बहती है और इन्ही से ये दोआबे बनते हैं।

जलवायु दोआबे के अन्य भागो की भाँति है। मार्च मास से लेकर वर्षा आरभ होने तक जलवायु शुष्क रहती है तथा मई, जून मे भयानक गर्मी पडती है। अक्टूबर के अत से ही जाडा पडने लगता है। जनवरी मे यथेष्ट जाडा पडता है। रात का तापक्रम ४०° फा० तक हो जाता है। प्राय पाला भी पड जाता है। गर्मी के दिनो मे तापक्रम ११५°–११८° फा० तक पहुँच जाता है। वार्षिक वृष्टि का वर्तमान औसत ३२ ८७" है। आखिरी ५० वर्षो मे केवल १९१८-१९ ई० मे वर्षा १४" से कम रही, अन्य वर्षो मे २८" से अधिक ही रही। जिले मे बाढ का भय अपेक्षाकृत कम रहा और यदि बाढ आई भी तो विशेषकर बिठूर तथा नवाबगज के बीच गगा के कछारी भाग मे, जहाँ नोन नदी का पानी गगा की बाढ के कारण रुक जाता है। जिले की सबसे भयकर बाढे सन् १९२४ ई० तथा १९४८ ई० मे आई जिनमे परमट, पुराने कानपुर आदि के कुछ भागो मे भी पानी भर गया था। जिले मे कभी वर्षा औसत से बहुत कम होती है, अत अकाल की सभावनाएँ होती रहती है।

जिले के सपूर्ण क्षेत्रफल के ६४% भूमि पर खेती बारी होती है तथा २२ २% भूमि खेती के लिये प्राप्त नही है। ऊसर भूमि १५ ५% है। जिले मे सिंचाई मुख्य रूप से नहरो (८८ ७%) तथा कुओ (८ ४%) से होती है। तालाब तथा झीले भी सिंचाई के साधन हैं। जिले की अधिकाश भूमि पर रबी की फसले होती हैं (कृषि का क्षेत्रफल रबी=५,९७,९४९ एकड, खरीफ=५,२०,१६७ एकड तथा फसल जायद ६,०३५ एकड (१९५१))। रबी की मुख्य उपज गेहूँ, जौ, चना, मटर, अरहर और सरसो आदि तथा खरीफ की उपज चावल, मक्का, ज्वार, बाजरा, कपास आदि हैं। गन्ने की खेती भी होती है।

क्षेत्रफल के अनुसार जिले का स्थान राज्य मे १९वाँ है, तथा जनसख्या के अनुसार आठवाँ। जनसख्या का घनत्व प्रति वर्ग मील ८१५ है जबकि उत्तर प्रदेश राज्य का घनत्व ५५७ है। घनत्व की इस उच्चता का कारण कानपुर नगर की जनसख्या का आधिक्य है। देहाती क्षेत्रो का घनत्व ५२१ ही है। यहाँ प्रति १००० पुरुषो पर स्त्रियो की सख्या ७९६ है। शिक्षित लोगो का औसत लगभग ३१% है। जिले की जनसख्या मे ५० वर्ष पूर्व से ५४ १% की वृद्धि हुई जबकि उत्तर प्रदेश मे केवल ३०% की ही वृद्धि थी। जानवरो की सख्या लगभग ८ ४ लाख है (१९५१), भेड, बकरियो की सख्या में पिछले बीस वर्षो मे पर्याप्त कमी हुई है। इसका एकमात्र कारण गोचर भूमि मे दिन प्रति दिन होनेवाली कमी ही है। सन् १९५१ मे कृषि पर निर्भर रहनेवाले लोगो का औसत ५१ ४% रहा जो १९२१ ई० मे ६९ २% था। इस भारी कमी का कारण कानपुर नगर का औद्योगिक विकास है। अत यह स्पष्ट है कि जिले का आर्थिक तथा सामाजिक स्वरूप कानपुर नगर से बहुत प्रभावित हुआ है।

सपूर्ण जनपद शासन की सुविधा के लिये, अकबरपुर, भोगनीपुर बिल्हौर, डेरापुर, घाटमपुर तथा कानपुर नामक छ तहसीलो मे विभक्त है। कानपुर तहसील का क्षेत्रफल ४१८ वर्ग मील है तथा जनसख्या ९,३२,१९३ (१९५१) है। [हृ० ह० सिं०]

कानानोर दक्षिण भारत के मद्रास राज्य मे मलाबार जिले का नगर है जो कालीकट से ५८ मील उत्तर मे तथा मद्रास से ४७० मील की दूरी पर स्थित है। प्राचीन काल मे यह हिंदू चेर राजाओ के अधीन था, फिर हैदरअली के शासन में आया। १६५६ ई० में डच लोगो का विशेष प्रभाव रहा जिन्होंने यहाँ के प्रसिद्ध किले को बनवाया जो इस

समय सेना के रहने का केंद्र हो गया। अंग्रेजो ने १७८३ ई० मे इसको अपने अधिकार में कर लिया। यहाँ के शासक ईस्ट इंडिया कंपनी को कर देने लगे। इसके बाद नगर का इतिहास भारत के भाग्य के साथ बदलता रहा। अधिकार के इस उलट पलट के कारण नगर का समुचित विकास न हो सका।

यहाँ सूती कपडे की मिलें तथा बिस्कुट बनाने के कारखाने हैं। इसके सिवाय लकडी के सामान बनाने का व्यवसाय, चमडे के उद्योग धंधे तथा अन्य बहुत से उद्योग धंधे होते हैं। यहाँ की जनसंख्या का अधिकांश व्यापार तथा उद्योग धंधो में लगा हुआ है। शिक्षा की समुचित व्यवस्था है। पीपल, नारियल, गरी का तेल तथा नारियल की जटा की रस्सियाँ यहाँ से बाहर भेजी जाती हैं। [ह० ह० सिं०]

कानूनगो यह तहसील का एक अधिकारी होता है। प्रत्येक गाँव के लिये एक रजिस्टर होता है जिसमें उन सब व्यक्तियो का विवरण होता है जो भूमि को जोतते बोते हैं या उसपर किसी और प्रकार से अधिकार किए हुए हैं। इस रजिस्टर मे राजस्व की रकम का भी विवरण होता है। प्रति वर्ष इस रजिस्टर से एक संशोधित रजिस्टर तैयार किया जाता है जिसको वार्षिक रजिस्टर कहते हैं। जिले मे इस प्रकार के वार्षिक रजिस्टरो का उचित नियंत्रण, रक्षण, निरीक्षण और शोधन कानूनगो का मुख्य कार्य है। इस प्रकार कानूनगो राजस्व विभाग का एक अधिकारी होता है और भारतीय दंडविधान के अर्थ मे नागरिक कार्यकर्ता (पब्लिक सर्वेंट) है। सरकार द्वारा प्रस्तावित अनेक अन्य कार्य भी कानूनगो करता है। [जि० कु० मि०]

कान्यकुब्ज उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले मे २७°३' उ० अक्षांश तथा ७९°५९' पूर्व देशातर पर स्थित नगर। इसे आजकल 'कन्नौज' कहते हैं। प्राचीन काल मे 'कान्यकुब्ज' नगर के अतिरिक्त प्रदेश का भी द्योतक था। चीनी यात्री हुएनत्सांग ने इस जनपद का विस्तार ४,००० ली (लगभग ६७० मील) लिखा है। प्रतीहार अभिलेखो मे कान्यकुब्ज प्रदेश की राजधानी का नाम 'महोदय' मिलता है। राजतरंगिणी में कान्यकुब्ज का विस्तार यमुनातट से कालिका नदी तक बताया गया है। पहले जैसे भारत पर आक्रमण करनेवाले राजा बिना मगध की राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार किए अपने को अकृतकार्य मानते थे, वैसे ही मध्यकाल में बिना कन्नौज पर अधिकार किए विदेशी विजेता अपने को असफल मानते थे। कुसुमपुर की 'श्री' अब 'महोदयश्री' कहलाने लगी थी, जिसे स्वायत्त करने की महत्वाकांक्षा जैसी विदेशियो मे थी वैसी ही देश के राजाओ मे भी प्रबल हो गई थी।

वाल्मीकीय रामायण मे चंद्रवंशीय राजा कुशनाभ द्वारा महोदय नगर की स्थापना की कथा है। उसके अनुसार जब राजा की एक सौ कन्याएँ वायुदेव के शाप से कुबडी हो गईं तब इस नगर का नाम 'कन्याकुब्ज' हुआ। कान्यकुब्ज तथा महोदय के अतिरिक्त नगर के नाम गाधिपुर, कुशस्थल, कुशिक आदि मिलते हैं। प्राचीन साहित्य मे कान्यकुब्ज के अनेक शासको के नाम दिए हैं। जह्नु नामक राजा के नाम पर गंगा की एक संज्ञा 'जाह्नवी' हुई। कुशनाभ के पौत्र विश्वामित्र की वसिष्ठ मुनि के साथ बहुत समय तक प्रतिस्पर्धा चली।

बुद्ध के समय से लेकर गुप्तकाल के अंत तक स्वतंत्र जनपद के रूप मे कान्यकुब्ज का उल्लेख नहीं मिलता है। उसके बाद कान्यकुब्ज उत्तर भारत के मौखरी राज्य का केंद्र बना, जिसका संस्थापक हरिवर्मा था। मौखरियो के सबसे प्रसिद्ध शासक ईशानवर्मा ने 'महाराजाधिराज' उपाधि ग्रहण की। उनकी बढती शक्ति के कारण मालवा के परवर्ती गुप्त शासक तथा बंगाल के गौड मौखरियो के विरोधी हो गए। थानेश्वर के प्रसिद्ध शासक हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री मौखरी राजा ग्रहवर्मा को ब्याही गई। मालवा के शासक देवगुप्त ने ग्रहवर्मा को मारकर राज्यश्री को कैद कर लिया। अंत मे कन्नौज के मंत्रियो ने राजनीतिक कारणो से अपना राज्य हर्षवर्धन को सौंप दिया।

हर्ष के समय कान्यकुब्ज उन्नति के शिखर पर आरूढ हुआ और एक बडे साम्राज्य की राजधानी बना। उस समय यहाँ आए हुए चीनी यात्री हुएनत्सांग ने नगर की समृद्धि की बडी प्रशंसा की। हर्ष के बाद यशोवर्मा कान्यकुब्ज का शासक हुआ। उसके बाद क्रमश आयुध, प्रतीहार तथा गाहडवाल राजवंशो का यहाँ अधिकार रहा। प्रतीहार वंश मे नागभट, मिहिरभोज, महेंद्रपाल आदि कई बडे शासक हुए। गाहडवालवंश में गोविंदचंद्र तथा उसके पौत्र जयचंद्र के समय कन्नौज की अच्छी उन्नति हुई। जयचंद्र को अपने पराक्रमी प्रतिद्वंद्वी चाहमाननरेश पृथ्वीराज तृतीय से युद्ध करना पडा। ११९३ ई० मे मोहम्मद गोरी ने जयचंद्र को परास्त कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

६ठी से १२वीं शताब्दी के अंत तक कान्यकुब्ज में धर्म, साहित्य और ललितकला का बडा विकास हुआ। समय समय पर यहाँ अनेक देवो के मंदिरो का निर्माण हुआ। बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध के कण्णकुज्ज (कान्यकुब्ज का पालिरूप) आने की चर्चा मिलती है। हुएनत्सांग ने यहाँ बौद्ध विहार होने तथा उनमे दस हजार भिक्षुओ के निवास का उल्लेख किया है। हर्षवर्धन उच्च कोटि का विद्वान् भी था। उसके राजकवियो में 'हर्षचरित' तथा 'कादंबरी' के प्रसिद्ध लेखक बाणभट्ट का नाम अग्रगण्य है। यशोवर्मा के राजकवि वाक्पति तथा भवभूति थे। प्रतीहार शासनकाल मे राजशेखर तथा गाहडवालकाल में लक्ष्मीधर एवं श्रीहर्ष संस्कृत के उद्भट लेखक और कवि हुए। प्रतीहारो के समय कान्यकुब्ज स्थापत्य तथा मूर्तिकला के लिये प्रख्यात था। कान्यकुब्ज नामक ब्राह्मणो की उत्पत्ति इसी स्थान से मानी जाती है, जहाँ से उनका विकास बंगाल तक हुआ। [कृ० द० वा०]

कापडवंज कस्बा खेडा जिला, गुजरात राज्य में इसी नाम के ताल्लुके का मुख्यालय है। इसकी स्थिति २३°१' उ० अ० तथा ७३°५' पू० दे० है। यह मध्यभारत तथा पश्चिमी तट को मिलानेवाले मुख्य रास्ते पर स्थित होने के कारण व्यापारिक केंद्र हो गया है।

इस कस्बे के पास बिखरे भग्नावशेष इसके प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। परतु यह विवादास्पद है कि इसकी नींव कब पडी। यहाँ का स्वायत्त शासन सन् १८६३ ई० से प्रारंभ हुआ। इस कस्बे के पास ही अनेक प्रकार के कीमती पत्थर निकाले जाते हैं। यहाँ के मुख्य उद्यम पत्थर की वस्तुएँ तैयार करना, काच के सामान बनाना, आदि हैं। व्यापार की मुख्य वस्तुएँ काच का सामान, अनाज तथा पत्थर निर्मित वस्तुएँ हैं। [ब० प्र० रा०]

कापरमाइन कैनाडा देश के मेकेंजी जिले की एक नदी जो १००० फुट की ऊँचाई पर स्थित प्वाइंट झील से निकलती है। यह नदी इस झील से निकलकर ग्रास झील तक दक्षिण की तरफ बहती है, पुन उत्तर पश्चिम को बहती हुई कारोनेशन की खाडी मे, जो आर्कटिक महासागर का ही एक भाग है, गिरती है। प्वाइंट झील स्थिति (११०°२०' पश्चिमी देशांतर तथा ६५° ५०' उ० अक्षांश) कैनाडा के उत्तरी-पश्चिमी इलाके मे स्थित है। नदी की कुल लंबाई लगभग ५२५ मील है। पर्वतीय एवं ऊबड खाबड स्थल मे बहने के कारण, इसमें प्रपात बहुत हैं, अत जलयातायात के लिये यह नितांत अनुपयुक्त है। इस नदी में पर्याप्त मछलियाँ पाई जाती हैं। इसके मुहाने पर कापरमाइन नाम का एक छोटा व्यावसायिक नगर बसा हुआ है। [ह० ह० सिं०]

कापालिक शैव संप्रदाय के अंतर्गत नकुलीश या लकुलीश को पाशुपत मत का प्रवर्तक माना जाता है। यह कहना कठिन है कि लकुलीश (जिसके हाथ मे लकुट हो) ऐतिहासिक व्यक्ति था अथवा काल्पनिक। इनकी मूर्तियाँ लकुट के साथ हैं, इस कारण इन्हें लकुटीश भी कहते हैं। डा० रा० गो० भंडारकर के अनुसार पाशुपत संप्रदाय की उत्पत्ति का समय ई० पू० दूसरी शताब्दी है। पाशुपत संप्रदाय से ही कालमुख और कापालिक शाखाएँ उद्भूत हुईं। कालमुख मुख्य रूप से राजदरबारो और नगरो मे सीमित रहा किंतु कापालिक मत दक्षिण और उत्तर भारत मे गुह्य साधना के रूप में फैला। कापालिको के देवता माहेश्वर थे। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह के अनुसार श्रीनाथ के दूतो ने जब विष्णु के चौबीस अवतारो के कपाल काट लिए तब वे कापालिक कहलाए। इससे तथा बहुत सी अन्य कथाओ के द्वारा वैष्णव संप्रदाय से कापालिक या शैव संप्रदाय का विरोध लक्षित होता है। वैसे, डा०

भडारकर के अनुसार, भक्तिवाद का प्रभाव शैववर्म पर पडा, आर्येतर जातियों में शिव जैसे देवता की उपासना प्रचलित थी किंतु वाद मे वैदिक देवता इद्र, रुद्र और आर्येतर स्रोत के देवता एक हो गए। भक्तिवादी उपासना मे शिव उदार और भक्तवत्सल चित्रित किए गए। गुह्य साधनाओ में शिव का आदिम रूप न्यूनाधिक रूप मे वर्तमान रहा जिसके अनुसार वे विलासी और घोर क्रियाकलापो से सवद्ध थे। कापालिक सप्रदाय पाशुपत या शैव सप्रदाय का वह अग है जिसमे वामाचार अपने चरम रूप मे पाया जाता है। कापालिक मत मे प्रचलित साधनाएँ बहुत कुछ वज्रयानी साधनाओ में गृहीत है। यह कहना कठिन है कि कापालिक सप्रदाय का उद्भव मूलत वज्रयानी परपराओ से हुआ अथवा शैव या नाथ सप्रदाय से। यक्ष-देव-परपरा के देवताओ और साधनाओ का सीधा प्रभाव शैव और बौद्धकापालिको पर पडा क्योकि तीनो मे ही प्राय कई देवता समान गुण, धर्म और स्वभाव के है। 'चर्याचर्यविनिश्चय' की टीका मे एक श्लोक आया है जिसमे प्राणी को वज्रधर कहा गया है और जगत् की स्त्रियो को कपालवनिता (अर्थात् 'कपालिनी)। 'ऐसा जान पडता है कि स्त्री-जन-साध्य होने के कारण यह साधना कापालिक कही गई।'

बौद्ध सप्रदाय मे सहजयान और वज्रयान मे भी स्त्रीसाहचर्य की अनिवार्यता स्वीकार की गई है और बौद्ध साधक अपने को 'कपाली' कहते थे (चर्या १०)। प्राचीन साहित्य (जैसे मालतीमाधव) मे कपाल-कुडला और अघोरघट का उल्लेख आया है। इस ग्रथ से कापालिक मत के सवध मे कुछ स्थूल तथ्य स्थिर किए जा सकते है। कापालिक मत नाथ सप्रदायियो और हठयोगियो की तरह चक्र और नाडियो मे विश्वास करता था। उनमे जीव और शिव मे अभिन्नता मानी गई है। योग से ही शिव का साक्षात्कार सभव है। शिव का शक्तिमयुक्त रूप ही समर्थ और प्रभावकारी है। शिव और शक्ति के इस मिलनसुख को ही कापालिक अपनी कपालिनी के माध्यम से अनुभव करता है जिसे वह महासुख की सज्ञा देता है। सोम को कापालिक (स+उमा) शक्तिसहित शिव का भी प्रतीक मानता है और उसके पान से उल्लसित हो योगिनी के साथ विहार करते हुए कैलासस्थित शिवउमावत् अपने को अनुभव करता है। मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा और मिथुन, इन पचमकारो के साथ कापालिको, शाक्तो और वज्रयानी सिद्धो का समानत सवध था और पूर्वमध्यकाल की साधनाओ मे इनका महत्वपूर्ण स्थान था। [मो० सिं०]

कापिज़ा, पीटर लीओ निडोविच

(१८९४) रूस के इस भौतिकिज्ञ का जन्म २६ जून, सन् १८९४ को क्रोस्टाड्ट मे हुआ। आपने प्रारभिक शिक्षा पेट्रोग्राड मे प्राप्त की। तदुपरात आप केंब्रिज मे स्वर्गीय लार्ड रदरफर्ड के विद्यार्थी रहे और परमाणु विघटन अनुसधान के क्षेत्र मे अत्यत प्रवल चुवकीय क्षेत्र उत्पन्न करने की तकनीकी क्रियाप्रणाली के विकास मे विशेष दक्षता प्राप्त की। सन् १९२४ मे आपकी नियुक्ति कैवेंडिश प्रयोगशाला मे चुवकीय अनुसधान के सहायक निर्देशक के रूप मे हुई और १९३२ ई० तक इस पद पर कार्य करते रहे। सन् १९३० से १९३५ तक आप रॉयल सोसाइटी की मॉण्ड प्रयोगशाला के अनुसधान प्रोफेसर रहे। सन् १९२९ मे आप रायल सोसाइटी के सदस्य चुने गए और १९४२ मे आपको फैरेडे पदक प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त भौतिकी का स्टैलिन पुरस्कार आपको सन् १९४१ मे और फिर १९४३ मे मिला। सन् १९४३ और १९४४ मे आप ऑर्डर ऑव लेनिन उपाधि से भी विभूपित किए गए।

सन् १९३४ मे आप जव छुट्टी पर स्वदेश (रूस) गए तो सोवियत सरकार ने आपको पुन देश से वाहर जाने की अनुमति नही दी। कापिजा के लिये मास्को मे कैवेंडिश प्रयोगशाला के टक्कर की प्रयोगशाला वनाई गई ताकि कापिज़ा सुचारु रूप से अपना अनुसधान कार्य चला सके। फलस्वरूप कापिज़ा कुछ ही समय उपरात मास्को की भौतिकीय समस्या सस्था (इस्टीटयूट फॉर फिजिकल प्रॉब्लेम्म) के निर्देशक नियुक्त कर दिए गए। तव से आप इसी पद पर कार्य कर रहे है।

आपका मुख्य कार्य 'चुवकत्व' तथा 'अत्यत ठढे ताप' से सवध रखता है। आपने ३,००,००० ओर्स्टेड तक का चुवकीय क्षेत्र उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है और हाइड्रोजन तथा हीलियम के द्रवीकरण के प्लाट की भी सफल डिज़ाइन दी है। [अ० प्र० स०]

कॉप्टिक

(कोप्ती), प्राचीन मिस्रियो के आधुनिक वशवर कोप्तो (किब्त, कुब्त) की भाषा। यह भाषा उस प्राचीन मिस्री से निकली थी जो स्वय चित्रलिपिक (हिरोग्लिफिक), पुरोहिती (हिरेतिक), देमोतिक आदि अनेक रूपो में लिखी गई। दीर्घकाल तक, ग्रीक भाषा के घने प्रभाव के वावजूद, कोप्ती अपनी निजता वनाए रही। अरवो की मिस्र विजय ने नि सदेह इस पर अपना गहरा साया डाला और अरवी प्राय इसे आत्मसात् कर गई। १६ वी सदी ईसवी तक पहुँचते-पहुँचते इसके अस्तित्व का लोप हो गया। दूसरी सदी ईसवी में देमोतिक से मिली-जुली वह जतर-मतर के उपयोग के लिये लिखी जाने लगी थी। तव तक उसका रूप प्राय शुद्ध प्राचीन था।

प्राचीन कोप्ती की अपनी अनेक जनवोलियाँ भी थी जिनमे तीन—साहीदी, अखमीमी और फायूमी—प्रधान थी। ग्रीक भाषा से प्रभावित इन वोलियो का उपयोग अधिकतर १३ वी सदी तक होता रहा, पर अरवी के वढते हुए प्रभाव और प्रयोग ने धीरे धीरे इनका अस्तित्व मिटा दिया। इनके धार्मिक साहित्यो की व्याख्या तक अरवी मे होने लगी। स्वय कोप्तो ने १०वी सदी से ही अरवी मे लिखना पढना शुरू कर दिया था यद्यपि कोप्ती का साहित्यिक व्यवहार एक अश मे १४वी सदी तक जहाँ तहाँ दीख जाता है। प्राय पिछले ३०० वर्षो से वोली जाने वाली भाषा के रूप मे कोप्ती का उपयोग उठ गया है।

साधारणत माना जाता है कि कोप्त जाति और भाषा का सवध मिस्र के उस कुफ्त गाँव से है जो नील नदी के पूर्वी तट पर प्राचीन थीव्ज़ से प्राय २५ मील उत्तर-पूर्व आज भी खडा है। कोप्त लोग ईसा की तीसरी-चौथी सदी मे ईसाई हो गए थे। वस्तुत प्राचीन मिस्री ईसाइयो का ही नाम कोप्त पडा और उनकी भाषा कोप्ती कहलाई। इसकी जनवोली साहीदी वियाई जनपद मे वोली जाती थी, जैसे अखमीमी अखमीम के पडोस मे और फायूमी *फायूम के आस पास मिस्र के मध्य भाग मे, मेंफिस तक। वोहाइरी नाम की* कोप्ती वोली डेल्टा के उत्तर-पश्चिमी भाग मे वोली जाती थी। इसमे लिखा ९वी सदी का ईसाई साहित्य आज भी उपलव्ध है।

कोप्ती का प्राय समूचा साहित्य धार्मिक है जो मूलत ग्रीक से अनूदित है। साहीदी, अखमीमी और फायूमी तीनो मे वाइविल की पुरानी और नई दोनो पोथियो के अनुवाद ४५० ई० से पूर्व ही प्रस्तुत हो चुके थे। धर्मेतर विपयो का वहुत थोडा साहित्य कोप्ती मे लिखा गया या आज वच रहा है। इसमे कुछ तो झाड फूंक या जतर मतर सवधी प्रयोग है, कुछ चिकित्सा से सवधित है, कुछ मे सिकदर और मिस्रविजेता प्राचीन ईरानी सम्राट् कवुजीय के जीवन की घटनाएँ है। १३वी-१४वी सदी मे कोप्ती का यह रूप भी अरवी के प्रभाव से मिट गया।

स० ग्र०—एल० स्टेर्न कोप्तिशे गामातिक, ए० पेरोन लेक्सिकम् कोप्तिकम्। [भ० श० उ०]

काफिरिस्तान

अफगानिस्तान का एक प्रात जिसके उत्तर मे वदख्शाँ का प्रदेश, उत्तर-पूर्व मे चित्राल की लूथो की घाटी, पूर्व मे चित्राल तथा दक्षिणपूर्व मे कुनार की घाटी है। (क्षेत्रफल—५००० वर्ग मील, स्थिति ३४° ३०' उ० से ३६° उ० अक्षाश तथा ७०° पू० देशातर से ७१° ३०' पू० दे०)। सन् १८८५-८६ से पहले इस पर्वतीय प्रदेश के वारे मे वहुत कम ज्ञान था। काफिर लोगो का यह देश १८९५ ई० तक पूर्ण रूप से स्वतत्र रहा। इसके पश्चात् कावुल के अमीर अव्दुर्रहमान ने इस भाग को अपने अधिकार में कर लिया तथा यहाँ के निवासियो को इस्लाम धर्म का समर्थक वना लिया।

देश मे विभिन्न सँकरी घाटियाँ है जो ऊँचे परिवर्तित चट्टानो मे वनी हुई पर्वतश्रेणियो द्वारा अलग अलग कर दी गई है। पूरा प्रदेश वहुत ही ऊँचा नीचा है। मैदान या समतल क्षेत्र नाममात्र के लिये भी नही है। सारा पर्वतीय क्षेत्र जगलो से ढका हुआ है। ढालो पर चरागाह है। यहाँ पर फल तथा तरकारियाँ पैदा की जाती है। नदियो मे पर्याप्त मछलियाँ पाई जाती है। घाटियो में फल, फूल तथा अन्न पैदा किए जाते है। यहा शराव भी वनाई जाती है। [रा० रा० सिं०]

काफी (अंग्रेजी मे कॉफी, अरबी कहवा) एक सदाहरित वृक्ष का बीज है, जो समशीतोष्ण देशो मे उत्पन्न होता है। वृक्ष या तो बीज से उगाए जाते है, या दाबकलम से। पाँच वर्ष में बिक्री के लिये अच्छे बीज मिलने लगते हैं। यों तो वृक्षो से लगभग ५० वर्ष तक बीज मिलते रहते हैं, परतु अधिकाशत पच्चीस तीस वर्ष के बाद नए वृक्ष लगाए जाते हैं। फल चुनने की सुविधा के लिये वृक्ष काट छाँटकर दस बारह फुट ऊँचाई के ही रखे जाते हैं। इस वृक्ष के फूल सफेद, सुगधमय और गुच्छो मे, पत्तियो की बगल में खिलते हैं। फूल कुछ ही दिनो में झड जाते हैं और उनके स्थान पर बदरियाँ (नन्हें फल) लगती हैं। ये बदरियाँ वृक्ष के डठलो पर गुच्छो मे लगती हैं। पकने पर बदरी गाढे लाल रग की हो जाती है। भीतर साधारणत दो बीज होते हैं, जो अडाकार परतु एक ओर चिपटे होते हैं और ये चिपटे तल एक दूसरे से प्राय सट रहते ह। बीज के ऊपर गूदा होता है। पकने पर साधारणत बदरियो को हाथ से ही चुना जाता है। पानी में बदरियो को भिगोकर गूदे को थोडा गलने दिया जाता है और तब उसे बहा दिया जाता है। फिर बीजो को आठ दस दिन तक धूप में सुखाया जाता है। तब मशीन मे डालकर बीज का छिलका छुडा दिया जाता है। इस रूप में प्रस्तुत बीज को हरी काफी (green coffee) कहते हैं, जो बाजार में बिकती है। भूनने और पीसने अथवा चूर्ण करने पर बाजार मे बिकनेवाली साधारण काफी बनती है।

वनस्पति विज्ञान में काफी — काफी के वृक्ष का, वानस्पतिक, वैज्ञानिक वर्गीकरण एग्लर के अनुसार निम्नलिखित है

वर्ग	—	द्विदली
उपवर्ग	—	सिमपिटैली (Sympetalae)
गण	—	रुबिऐलिस (Rubiales)
कुल	—	रुबिएसी (Rubiaceae)
श्रेणी	—	कॉफिया (Coffea)
जाति	—	कॉफिया अरेबिका (Coffea Arabica)
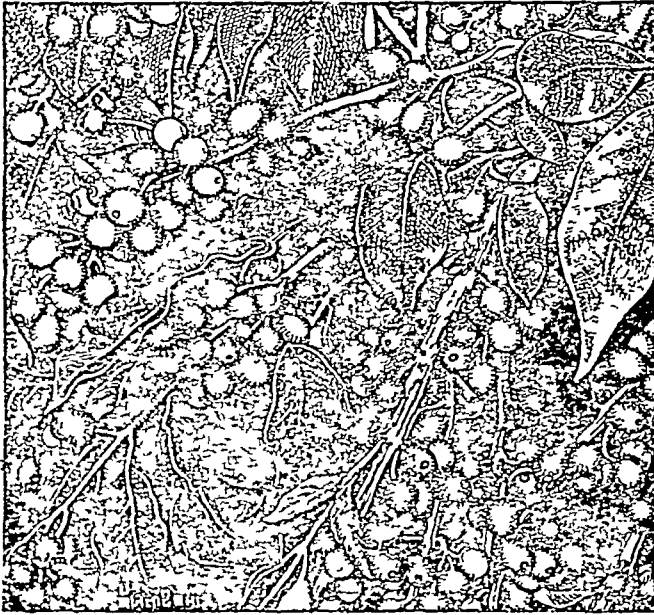
काफी का पौधा, पत्तियाँ तथा फल

कॉफिया श्रेणी में लगभग ४५ जातियाँ हैं, जिनमें से केवल चार के बीज पीने की काफी बनाने के काम आते हैं। अधिकतर (१० प्रति शत) कॉफिया अरेबिका का ही उपयोग होता है, परतु थोडी मात्रा मे कॉफिया लाइबेरिका (Coffea Liberica, लाइबेरियन काफी), कॉफिया स्टेनोफिला (Coffea Stenophylla) और कॉफिया रोबस्टा (Coffea Robusta) (कागो कॉफी) के बीज भी काम आते हैं। कॉफिया अरेबिका की पत्तियाँ लबी, अडाकार, तथा नुकीली होती हैं। ये चार से छ इच तक लबी और डेढ से ढाई इच तक चौडी तथा एक साथ दो पाई जाती हैं। इनका रग गहरा हरा होता है और पृष्ठ मोम जैसा जान पडता है। फूलने पर वृक्ष सुदर प्रतीत होता है। बदरी के भीतर हरापन लिए हुए दो भूरे बीज गूदे के अदर एक झिल्ली से आच्छादित रहते हैं, जिसे 'पार्चमेंट' कहते हैं और उसके भीतर दूसरा सूक्ष्म आवरण रहता है जिसे रजतचम (silver skin) कहते है।

काफी की खेती—जैसा पहले बताया गया है, काफी समशीतोष्ण देशो में, मुख्यत अफ्रिका मे, होती है। काफिया अरेबिका की खेती अधिकतर दक्षिणी ब्राजिल, जावा, तथा जमैका मे कम ऊँचाई पर की जाती है, परतु ऊँचे स्थानो मे (३,००० फुट से ६,००० फुट तक ऊँची पहाडियो पर) उत्पन्न काफी अति स्वादिष्ट और कम कडवी होती है। काफी के वृक्षो मे कई प्रकार के हानिकारक कीडे और रोग लगते हैं। लका के काफी पत्र-रोग हेमीलिया वैस्टैट्रिक्स (Hemileia vastatrix) ने, जो फफूँद जाति का एक रोग है, पुरानी दुनियाँ की उपज को बहुत कम कर दिया है। बदरियो के भीतर घुसकर रहनेवाला स्टेफैनोडोर्स कीडा भी बहुत हानिकारक है। बहुधा वृक्ष की जड मे भी रोग लग जाता है। सदा सतर्क रहने और बराबर उप चार करते रहने से ही नई दुनियाँ मे काफी का उत्पादन विशेष उन्नति कर गया है।

स्वाद की परख—यूरोप मे बीजो की आकृति देखकर ही माल खरीदा जाता है, परतु अमरीका मे काफी बनाकर और स्वाद परखकर काफी की श्रेष्ठता का निर्णय किया जाता है। यह काम व्यवसायी चखनेवाले करते हैं जो वर्षो के अनुभव के बाद ही सच्चे पारखी माने जाते हैं।

भूनना—बिना भूने बीजो के क्वाथ मे वह स्वाद नही होता जिसे जनता काफी का यथार्थ स्वाद मानती है। स्वाद और सुगध बीजो को भूनने से आती है। बीजो को बडे बडे ढोलो मे, जिन्हें नीचे से तप्त किया जाता है, लगभग २० मिनट तक भूना जाता है। इससे बीज भूरे हो जाते हैं। कुछ लोग अधिक भूनी काफी पसद करते है, इसलिये अधिक भूनी (काली) काफी भी बिकती है।

पिसाई—भूनी काफी, महीन पिसी, मोटी पिसी, चूर्ण और समूची सभी प्रकार की खरीदी जा सकती है। पीसने पर काफी की सुगध उडने लगती है और वायु के अधिक सपर्क से काफी की सुगध, जो शीघ्र ही उडनेवाले कैफिओल (Caffeol) से होती है, नष्ट हो जाती है। जितनी महीन काफी होगी उतना ही शीघ्र वह खराब होगी। इसलिये महीन पिसी काफी टीन के डिब्बो में, जिनके भीतर से हवा निकाल दी जाती है, बद करके बिकती है।

स्वादपारखी विशेषज्ञो का कहना है कि पीसने के दो घटे बाद स्वाद बदलने लगता है। उनके विचार में कुछ लोग काफी की केवल कडवाहट ही चख पाते हैं, श्रेष्ठ स्वाद नही, क्योकि वे बहुत दिनो पहले की पिसी, दफ्ती के डिब्बो मे रखी, काफी खरीदते है।

काफी बनाने की रीति—काफी बनाने की रीतियो का आधार यह है कि पिसी काफी को खौलते पानी के सपर्क मे उचित समय तक रखा जाय। चार रीतियाँ प्रचलित हैं एक रीति यह है कि पानी में काफी मिलाकर उसे आग पर रखा जाय, उबाल आते ही उतारकर चला दिया जाय और पाँच मिनट के बाद छान लिया जाय, या ऊपर से द्रव को दूसरे बरतन में ढाल लिया जाय। दूसरी रीति यह है कि काफी पर खौलता पानी डाला जाय। १० मिनट मे काफी छान ली जाय। छानने के पहले तीन चार बार मिश्रण को चलाना आवश्यक है। तीसरी रीति में विशेष बरतन की आवश्यकता होती है। ऊपर की टोकरी मे मोटी या पिसी काफी रख दी जाती है और उसपर तेज खौलता पानी छोडा जाता है। काफी बनकर और छनकर नीचे के बरतन मे पहुँच जाती है। छनना इतना घना हो कि काफी छ सात मिनट मे नीचे पहुँचे, शीघ्र छनने से पूरा स्वाद नही उतरता, देर लगने से कडवाहट बढ जाती है। चौथी रीति में भी विशेष बरतन की आवश्यकता होती है जिसमे एक के ऊपर एक, लोटे के आकार के, दो बरतन रहते हैं। बीच में छनना रहता है। नीचे के बरतन में पानी भरकर और ऊपर के बरतन में काफी रखकर बरतन आँच पर चढा दिया जाता है। खौलने पर आग की दाब के कारण एक नली द्वारा नीचे का पानी ऊपर चढ जाता है। थोडा ठढा होने पर पानी फिर नीचे उतर आता है। इसका छनना इतना घना रहे कि पानी के उतरने में छ सात मिनट लगें।

यह नगर, अफगानिस्तान राज्य के सभी प्रातो से तथा तुर्किस्तान, वोखारा, पाकिस्तान आदि से पक्की सडको द्वारा सवद्ध है। आधुनिक नगर का समुचित विकास वहाँ की सुनियोजित सडको, सुदर पुष्पवाटिकाओ तथा भव्य भवनो को देखने से प्रकट होता है। यहाँ दियासलाई, वटन, चमडे के सामान, जूते, सगमरमर की वस्तुएँ तथा लकडी के सामान वनाने के वहुत से कारखाने हैं। कावुल अपने ऊन तथा फल के व्यापार के लिये भी प्रसिद्ध है।

कावुल मे कुछ माध्यमिक विद्यालय, कावुल विश्वविद्यालय (स्थापित १९३२ ई०) तथा प्राध्यापकों के दो प्रशिक्षण केंद्र है। यहा आधुनिक युग की नगरसुलभ सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं।

कावुल प्रात पर्वतीय क्षेत्र है। क्षेत्रफल १०० वर्ग मील, जनसख्या २८, १७, २३४ (१९४८)। गेहूँ, जौ आदि फसलों के सिवाय कावुल घाटी अमूल्य फलो की निधि है। (दे० अफगानिस्तान)

कावुल नदी अफगानिस्तान की मुख्य नदी ३०० मील लवी है। नदी का प्राचीन नाम कोफेमा है। यह नदी हिंदूकुश पर्वत की सगलाग श्रेणी के उनाई दर्रे के पास से निकलती है। देश की राजधानी कावुल नगर इस नदी की घाटी में स्थित है। उद्गम स्थान से कावुल नगर तक नदी की लवाई ४५ मील है। अफगानिस्तान का मुख्य प्रात कावुल इस नदी के क्षेत्र से वना है जिसमें हिंदूकुश तथा सफेद कोह के वीच का भाग समिलित है। कावुल नगर के ऊपरी हिस्से में नदी का सारा पानी (विशेषकर गर्मियो में) सूख जाता है। पुन कावुल नगर से आधा मील पूर्व आने पर लोगार नाम की वडी नदी, जो १४,२०० फुट की ऊँचाई पर गुलकोह (गजनी पश्चिम) से निकलती है, कावुल नदी में मिलती है। नदी के मिलनस्थान से कावुल नदी तीव्रगामी तथा वडी नदी के रूप मे आग वढती है और हिंदूकुश से निकलनेवाली प्राय सभी नदियों के पानी को आगे वहाती है। कावुल नगर से नीचे आने पर इस नदी मे क्रमश पजशीर तथा टगाओ नदियाँ, तत्पश्चात् अलिगा तथा अलिशाग नदियो की सयुक्त धाराएँ मिलती हैं। आगे वढने पर सुरखाव और कुनार नदियाँ मिलती हैं। कावुल नदी की यह विशाल धारा मोहमद पहाडियो के गहरे, सँकरे कदरो में होती हुई पेशावर के उपजाऊ मैदान में प्रवेश करती है। अपने आखिरी भाग मे नदी स्वात तथा वारा नदियो के पानी को लेकर अटक के पास सिंध नदी मे मिल जाती है।

पवतीय प्रकृति की यह नदी अपने निम्न भाग मे जलालावाद के वाद से ही नौका चलाने के उपयुक्त है। इस नदी की घाटी वहुत ही उपजाऊ है। इसमे गेहूँ आदि अन्नो के साथ फल तथा तरकारियाँ प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती है। कावुल नदी पर सरोवी का विजलीघर स्थित है, जहाँ नदी पर वाँध वनाकर पानी से विजली पैदा की जाती है। इससे कावुल नगर लाभान्वित होता है। [ह० ह० सिं०]

काबेट, विलियम (१७६२–१८३५) का सघर्षमय जीवन ऐसे काल मे व्यतीत हुआ था, जो इग्लैंड ही नही, समस्त पाश्चात्य श्वेत जाति के इतिहास मे क्रातिपूर्ण युग माना जाता है। इसी काल मे अमरीका का स्वातत्र्य सग्राम हुआ और फ्रास मे राजनीतिक क्राति का विस्फोट, इसके वाद ही नेपोलियन का उदय हुआ और समस्त यूरोप मे उसकी विजयवाहिनी ने आतकपूर्ण वातावरण पैदा कर दिया। इन विप्लवात्मक परिवर्तनो का इग्लैड के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पर गहरा असर पडा और इसके फलस्वरूप पार्लमेंट सवधी सुधारो का क्रम आरभ हुआ। परतु इससे अधिक महत्वपूर्ण वह आर्थिक तथा औद्योगिक क्राति थी जो इग्लैड की परपरागत ग्राम तथा कृषि व्यवस्था का कलेवर ही ध्वस्त करने पर उतारू थी। पूंजीपतियो की लोलुपता तथा कुचक्रो के फलस्वरूप भूस्वामियो, कृषको तथा भूमिहीन श्रमिको का ह्रास और औद्योगिक जमीदारियो का विस्तार हो रहा था। विलियम कावेट ने अपने लवे जीवनकाल मे इन घातक परिवर्तनो का भरपूर विरोध किया क्योकि इनसे राष्ट्रीय शक्ति के मूल स्रोतों का ही शोषण हो रहा था।

वे स्वय कृषक वर्ग के प्रतिनिधि थे। उनका जन्म सन् १७६२ मे फार्नहैम गाँव के एक कृषक परिवार में हुआ था और उनका वचपन कृषि सवधी परिश्रमो तथा मनोरजनो के वीच व्यतीत हुआ। इसी समय उनके हृदय मे प्रकृति प्रेम का भी वीजारोपण हुआ जो उत्तरोत्तर वढता हुआ उनके लेखो मे काव्यमय होकर प्रस्फुटित हुआ। उनकी शिक्षा सुव्यवस्थित रूप से नहीं हो पाई परतु विद्याप्रेम इनका जन्मजात गुण था और वचपन ही में अपने जेब की समस्त पूंजी स्विफ्ट के प्रसिद्ध ग्रथ 'ए टेल आव् ए टव' पर लगाकर इन्होंने इसका आश्चर्यजनक परिचय दिया। स्वच्छद स्वभाव का यह नवयुवक गाँव के सकीर्ण दायरे में वँधकर रहना पसद न कर सका, इसलिये घर से भागकर यह सेना में भर्ती हुआ और कालातर में अमरीका के सवपपूर्ण वातावरण का अग वन गया। आठ वर्षों तक कावेट ने अमरीका मे उदार तथा प्रगतिशील सिद्धातो का निर्भीक रूप से प्रतिपादन किया फलस्वरूप उन्हें 'पीटर पारक्युपाइन' का सार्थक उपनाम दिया गया। परतु इसके साथ ही साथ वे अपने देश की राजनीतिक सस्थाओ का भी जोरदार समर्थन करते रहे। स्वदेश लौटने पर टोरी दल ने उनकी प्रतिभा को क्रय करने का भगीरथ प्रयत्न किया परतु कावेट किसी भी मूल्य पर विकने के लिये तैयार नही हुए। सन् १८०२ ई० में उन्होने 'दि पोलिटिकल रजिस्टर' नामक प्रसिद्ध पत्रिका का सपादन आरभ किया और वैधानिक सुधारो के पक्ष में अपनी प्रभावपूर्ण लेखनी को सर्वदा के लिये समर्पित कर दिया। सन् १८३२ में ओल्डम क्षेत्र से वे पार्लमेंट के सदस्य भी चुने गए और वहा के कृषकों तथा श्रमिको का आजीवन समर्थन करते रहे। कई वार सरकार से लोहा लेकर वे उसके कोपभाजन भी वने परतु उनका उत्साह अदम्य था और कटकाकीर्ण मार्ग पर चलने में वे काफी अभ्यस्त थे। सन् १८३५ में वे अस्वस्थ हुए परतु मृत्यु काल तक लिखते तथा काम करते रहे।

विलियम कावेट के लेखो का सग्रह पचास मोटी जिल्दो में हुआ है, जिनमे 'काटेज इकानोमी', 'ऐडवाइस टु यग मन', 'रूरल राइड्स' तथा 'लिगेसी टु वकर्स' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लेखो में विविध विषयो का समावेश है परतु इनके दो केंद्रविंदु हैं—राजनीति तथा देहाती जीवन सवधी प्रकृति-सौंदर्य। राजनीतिक लेखो में उन्होंने अन्याय तथा कुरीतियो के प्रति अपनी विदग्ध लेखनी का सचालन कर अपनी स्वाभाविक उग्रता तथा सघर्षप्रियता का परिचय दिया है, परतु 'रूरल राइड्स' के पृष्ठों में उनके प्रकृति प्रेम तथा काव्यमयी प्रतिभा की सुखद अभिव्यक्ति हुई है। उनकी ख्याति का स्थायी आधारस्तभ इन्ही साहित्यिक लेखो में है क्योकि उनके राजनीतिक तथा सामाजिक विचार ऐतिहासिक महत्व के ही रह गए हैं। समाजसुधारक के रूप में उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील नही था। रस्किन तथा मारिस के समान वे मध्यकालीन समाजव्यवस्था के समर्थक थे, जिनमें समस्त गाँव एक कुटुंव के समान रहता था और पारिवारिक जीवन परिश्रमजन्य सुखसाधनो से सपन्न था।

स० ग्र०—जार्ज सेंट्सवरी विलियम कावेट (एसेज़ इन इग्लिश लिटरेचर–सेकड सीरीज—१८९५), ई०जे० कारलाइल विलियम कावेट—ए स्टडी आव् हिज लाइफ ऐज शोन इन हिज राइटिंग्स—१९०४, दि लाइफ ऐंड लेटर्स आव् विलियम कावेट इन इग्लैंड ऐंड अमेरिका—दो भाग—१९१३। [वि० रा०]

कामंदकीय कामदकीय नीतिसार राज्यशास्त्र का एक ग्रथविशेष है। कामदकि अथवा कामदक इसके कर्ता का नाम है जिससे यह साधारणत कामदकीय नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में यह ग्रथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मूलत राजनीति विद्या, के सारभूत सिद्धातो का प्रतिपादन करता है। इस ग्रथ में कुल मिलाकर १९ अध्याय हैं।

इसके रचनाकाल के विषय मे कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नही है। विंटरनित्स के मतानुसार किसी कश्मीरी कवि ने इसकी रचना ईस्वी ७००-७५० के वीच की। डा० राजेंद्रलाल मित्र का अनुमान है कि ईसा के जन्मकाल के लगभग वालिद्वीप जानेवाले आर्य इसे भारत से वाहर ले गए जहाँ इसका 'कवि' भाषा मे अनुवाद हुआ। पीछे यह ग्रथ जावाद्वीप मे भी पहुँचा। छठी शताब्दी के कवि दडी ने अपने 'दशकुमारचरित' के प्रथम उच्छ्वास के अत मे 'कामदकीय' का उल्लेख किया है।

इसके कर्ता कामदकि या कामदक कव और कहाँ हुए, इसका भी कोई पक्का प्रमाण नही मिलता। इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति से पूर्व इस ग्रथ का लेखक हुआ था, क्योकि भवभूति ने अपने नाटक 'मालतीमाधव' में नीतिप्रयोगनिपुणा एक परिव्राजिका का 'कामदकी' नाम दिया है। सभवत नीतिसारकर्ता 'कामदक' नाम से रूढ हो गया था और नीतिसारनिष्णात व्यक्ति के लिये प्रयुक्त

काफी (देखे पृष्ठ ४५२)

काफी की बदरियाँ बटोरी जा रही है

अच्छी और बुरी बिनकर अलग कर रहे है
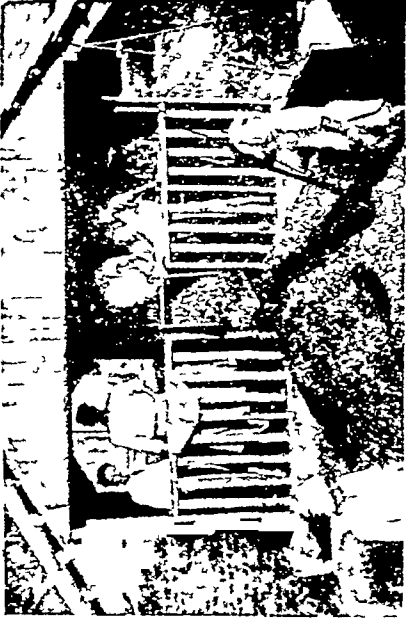
गूदा निकालने की मशीन में बदरियाँ डाली जा रही है

मशीन द्वारा गूदा निकाला जा रहा है
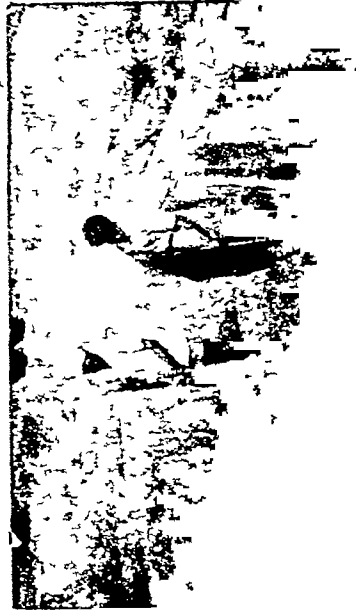
टकी में दली हुई त्वचा की सफाई हो रही है

नाली में काफी धोई जा रही है

काफी की त्वचा की सुखाई
बाई ग्रोर चलनी पर, मध्य मे मच पर, दाहिनी ग्रोर प्रागण में

काली (देखें पृष्ठ ४६४), **कामदेव** (देखें पृष्ठ ४५५) तथा **कार्तिकेय** (देखें पृष्ठ ४६९)
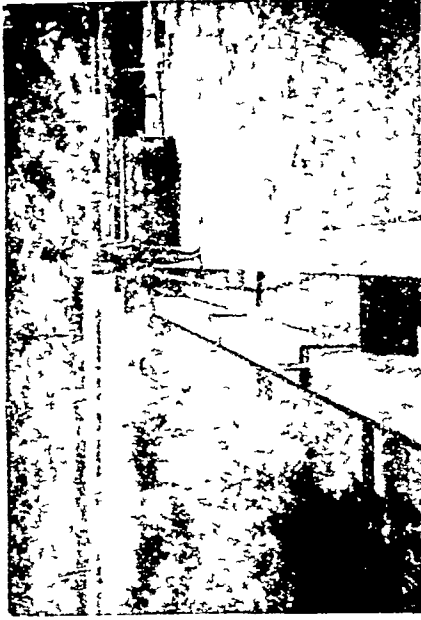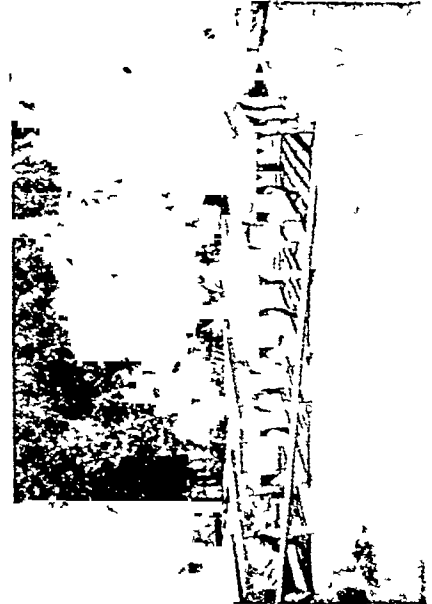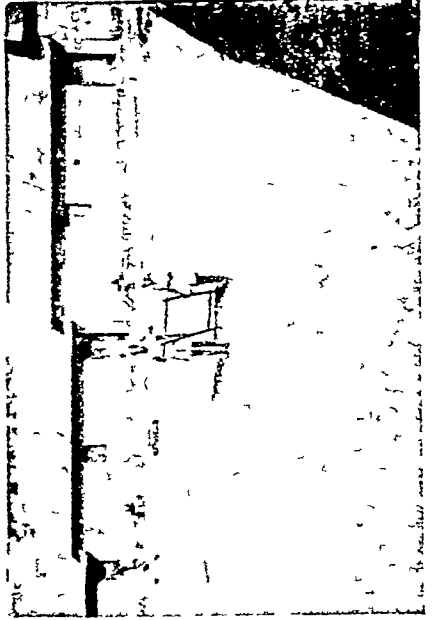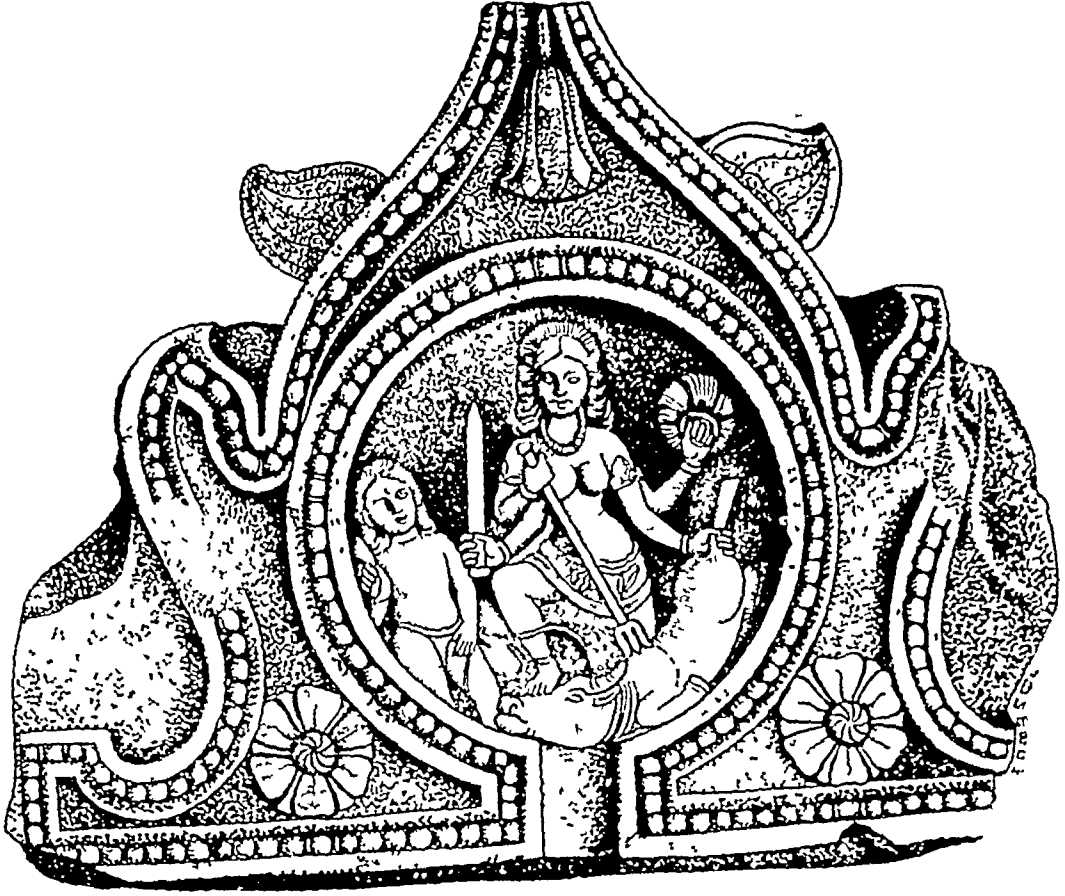
काली की एक प्राचीन मूर्ति की अनुकृति
(भगवतशरण उपाध्याय के सौजन्य से)

कामदेव की एक प्राचीन मूर्ति का रेखांकन
(वासुदेवशरण अग्रवाल के सौजन्य से)

कार्तिकेय
मोर पर आसीन पाँचवीं सदी की एक मूर्ति
(भारत सरकार के प्रेस सूचना केंद्र के सौजन्य से)

होने लगा था। कामदक की प्राचीनता का एक और प्रमाण भी दृष्टिगोचर होता है। कामदकीय नीतिमार की मुख्यत पाँच टीकाएँ उपलब्ध होती हैं उपाध्याय निरपेक्ष, आत्मारामकृत, जयरामकृत, वरदराजकृत और शकराचार्य कृत। [द्वि० ना० मि०]

काम प्रत्येक प्राणी के भीतर रागात्मक प्रवृत्ति की सज्ञा काम है। वैदिक दर्शन के अनुसार काम सृष्टि का मूल है। काम के लिये द्वद्वभाव आवश्यक है, अर्थात् सृष्टि के पूर्व मे जो एक अविभक्त तत्व था वह विश्व-रचना के लिये दो विरोधी भावो मे आ गया। इसी को भारतीय विश्वास मे यो कहा जाता है कि आरभ मे प्रजापति अकेला था। उसका मन नही लगा। उसने अपने शरीर के दो भाग किए। वह आधे भाग से स्त्री और आधे भाग से पुरुष बन गया। तब उसने आनद का अनुभव किया। स्त्री और पुरुष का युग्म सतति के लिये आवश्यक है और उनका पारस्परिक आकर्षण ही कामभाव का वास्तविक स्वरूप है। प्रकृति की रचना में प्रत्येक पुरुष के भीतर स्त्री और प्रत्येक स्त्री के भीतर पुरुष की सत्ता है। ऋग्वेद मे इस तथ्य की स्पष्ट स्वीकृति पाई जाती है, जैसा अस्यवामीय सूक्त मे कहा है--जिन्हें पुरुष कहते हैं वे वस्तुत स्त्री हैं, जिसके आँख है वह इस रहस्य को देखता है, अधा इसे नही समझता (स्त्रिय सतीस्ताँ उ मे पुस आहु पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्ध। ऋग्वेद, १।१६४।१६)

इस सत्य को अर्वाचीन मनोविज्ञान शास्त्री भी पूरी तरह स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि प्रत्येक पुरुष के मन मे एक आदर्श सुदरी स्त्री बसती है जिसे 'अनिमा' कहते हैं, और प्रत्येक स्त्री के मन मे एक आदर्श तरुण का निवास होता है जिसे 'अनिमस' कहते हैं। वस्तुत न केवल भावात्मक जगत् मे किंतु प्राणात्मक और भौतिक सस्थान मे भी स्त्री और पुरुष की यह अन्योन्य प्रतिमा विद्यमान रहती है, ऐसा प्रकृति की रचना का विधान है। कायिक, प्राणिक और मानसिक तीन ही व्यक्तित्व के परस्पर सयुक्त धरातल हैं, और इन तीनो मे काम का आकर्षण समस्त रागो और वासनाओ के प्रबल रूप में अपना अस्तित्व रखता है। अर्वाचीन शरीरशास्त्री इसकी व्याख्या यो करते है कि पुरुष मे स्त्रीलिंगी रक्ताणु (Female sex hormones) और स्त्री मे पुरुषलिंगी रक्ताणु (Male sex hormones) होते हैं। भारतीय कल्पना के अनुसार यही अर्धनारीश्वर है, अर्थात् प्रत्येक प्राणी मे पुरुष और स्त्री दोनो अर्ध अर्ध भाव से समिलित रूप से विद्यमान है और शरीर का एक भी कोष ऐसा नही जो इस योषा-वृषा-भाव से शून्य हो। यह कहना उपयुक्त होगा कि प्राणिजगत् की मूल रचना अर्धनारीश्वर सूत्र से प्रवृत्त हुई और जितने भी प्राण के मूर्त रूप हैं सबमे यह उभयलिंगी देवता ओत-प्रोत है। एक मूल पक्ष के दो भागो की कल्पना को ही 'माता पिता' कहते है। इन्ही के नाम द्यावा-पृथिवी और अग्नि-सोम हैं। द्यौ पिता, पृथिवी माता, यही विश्व के माता पिता हैं। प्रत्येक प्राणी के विकास का जो आकाश या अतराल है, उसी की सहयुक्त इकाई द्यावा पृथिवी इस प्रतीक के द्वारा प्रकट की जाती है। इसी को जायसी ने इस प्रकार कहा है

एकहि बिरवा भए दुइ पाता,
सरग पिता औ धरती माता।

द्यावा पृथिवी, माता पिता, योषा वृषा, स्त्री पुरुष का जो दुर्धर्ष पारस्परिक राग है, वही काम है। कहा जाता है, कि सृष्टि का मूल प्रजापति का ईक्षण अर्थात् मन है। विराट् मे एक केंद्र की उत्पत्ति को ही मन कहते हैं। इस मन का प्रधान लक्षण काम है। प्रत्येक केंद्र मे मन और काम की सत्ता है, इसीलिये भारतीय परिभाषा मे काम को मनसिज या सकल्पयोनि कहा गया है। मन का जो प्रबुद्ध रूप है उसे ही मन्यु कहते है। मन्यु भाव की पूर्ति के लिये जाया भाव आवश्यक है। बिना जाया के मन्यु भाव रौद्र या भयकर हो जाता है। इसी को भारतीय आख्यान मे सती से वियुक्त होने पर शिव के भैरव रूप द्वारा प्रकट किया गया है। वस्तुत जाया भाव से असपृक्त प्राण विनाशकारी हैं। अतृप्त प्राण जिस केंद्र मे रहता है उसका विघटन कर डालता है। प्रकृति के विधान मे स्त्री पुरुष का समिलन सृष्टि के लिये आवश्यक है और उस समिलन से जिस फल की निष्पत्ति होती है उसे ही कुमार कहते हैं। प्राण का बालक रूप ही नई नई रचना के लिये आवश्यक है और उसी मे अमृतत्व की शृखला की बार बार लौटनेवाली कड़ियाँ दिखाई पडती हैं। आनद काम का स्वरूप है। यदि मानव के भीतर का आकाश आनद से व्याप्त न हो तो उसका आयुष्यसूत्र उच्छिन्न हो जाय। पत्नी के रूप में पति अपने आकाश को उस से परिपूर्ण पाता है।

अर्वाचीन मनोविज्ञान का मौलिक अन्वेषण यह है कि काम सब वासनाओ की मूलभूत वासना है। यहाँ तक तो यह मान्यता समुचित है, किंतु भारतीय विचार के अनुसार काम रूप की वासना स्वय ईश्वर का रूप है। वह कोई ऐसी विकृति नही है जिसे हेय माना जाय।

इस नियम के अनुसार काम प्रजनन के लिये अनिवार्य है और उसका वह छदोमय मर्यादित रूप अत्यत पवित्र है। काम वृत्ति की बीभत्स व्याख्या न इष्ट है, न कल्याणकारी। मानवीय शरीर मे जिस प्रकार श्रद्धा, मेधा, क्षुधा, निद्रा, स्मृति आदि अनेक वृत्तियो का समावेश है, उसी प्रकार काम वृत्ति भी देवी की एक कला के रूप में यहाँ निवास करती है और वह चेतना का अभिन्न अग है। [वा० श० अ०]

कामदेव भारतीय गाथाशास्त्र के अनुसार कामदेव एक देवता की सज्ञा है। इसकी पत्नी का नाम रति है। कही कही पुराणो मे रति और प्रीति दोनो कामदेव की स्त्रियाँ कही गई हैं। मनुष्य की जो रागात्मक वृत्ति है और जो सब प्राणियो को अभिभूत करती है, उसे ही मूल रूप मे कामदेव माना गया है। देवो मे परिगणित होने के कारण कामदेव इद्र की सभा का एक सदस्य है। इद्र जब किसी का तप भग करना चाहता है तब काम को प्रेरित करता है। उर्वशी, मेनका, रभा आदि अप्सराएँ काम की विजय के साधन हैं। इनके द्वारा वह समाधि मे विघ्न उत्पन्न करता है। ये अप्सराएँ स्त्रीसौंदर्य की प्रतीक हैं। बसतऋतु और मलयानिल कामदेव के मित्र कहे गए हैं। काम को पुष्पधन्वा और पचबाण भी कहा गया है। रक्तकमल, अशोक, आम्रमजरी, नवमल्लिका और नीलोत्पल ये पाँच पुष्प कामदेव के पचबाण कहे जाते है। अथवा समोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तभन ये भी कामदेव के पचशर हैं।

कामदेव की एक सज्ञा अनग है। कथा यो है कि कामदेव का शरीर शिव की कोपाग्नि मे भस्म हो गया था, और तब से वह एक वृत्ति या भाव के रूप मे जीवित रहा, शरीर के रूप मे नही। इसीलिये वह मनोज या मनसिज कहलाता है। कालिदास ने 'कुमारसभव' काव्य मे शिव द्वारा मदनदहन का बहुत ही सुदर वर्णन किया है। वस्तुत इस कथा के मूल मे काम के विषय में जो भारतीय दर्शन का अभिमत था, उसी की व्याख्या की गई है। यहाँ के तत्वज्ञ काम को सृष्टि का आवश्यक अग मानते हैं और उसे देवता का समानित पद दिया गया है। देवता अमर और पवित्र होते हैं, किंतु हम लोक में यह भी देखते हैं कि कामवृत्ति मानव मे अनेक कुत्सित और विकृत रूप भी धारण कर लेती है। वह मानव हित की विरोधी है और इसलिये इष्ट नही। इस अधम वृत्ति को पवित्र करने या ऊर्ध्वमुखी करने के लिये तपश्चर्या आवश्यक उपाय है। पार्वती की तपश्चर्या और शिव की समाधि इसी ओर सकेत करती हैं। पार्वती ने शिव को पति रूप मे पाना चाहा। उन्हे रूप सौंदर्य का गर्व था और सोचती थीं कि हावभाव से ही शिव को आकृष्ट कर लेगी। वे हिमालय के देवदारु वन मे, जहाँ शिव अखड तप मे लीन थे, गई और उनकी सहायता के लिये देवो ने कामदेव को भी भेजा। उपयुक्त अवसर पर काम ने बाण चलाकर शिव की समाधि को भग कर दिया। शिव ने अपने नेत्र खोले। पार्वती का रूपप्रदर्शन सामने था ही, पर वह शिव को आकृष्ट न कर सका। शिव ने सोचा, समाधि भग का कारण अत करण मे नही, कही बाहर ही होना चाहिए। सामने वृक्ष पर उन्हे कामदेव दिखाई पडा। तब उनके तृतीय नेत्र से निकली हुई ज्वाला ने उसे भस्म कर दिया। अपने नेत्रो से इस प्रकार रूप को विफल होते देखकर पार्वती का गर्व खर्व हो गया और उन्होने भी तपस्या द्वारा शिव को पाने का मार्ग अपनाया। इसमे उन्हे सफलता मिली। इस कथा का तात्पर्य आध्यात्मिक है और वह यह कि काम की अधोमुखी वृत्ति को तपस्या और सयम द्वारा ऊर्ध्वमुखी बनाना आवश्यक है। शिव के मदनदहन से मिलता हुआ अभिप्राय बुद्ध के मारधर्षण की कथा मे है। मार को पराजित करके ही बुद्ध सबोधि की सिद्धि तक पहुँच सके।

प्राचीन भारतीय जीवन में कामदेव की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं और कामायतन या कामदेव के मदिरो मे उनकी पूजा होती थी (दे० चित्र कामदेव)। इस प्रकार का एक मदिर उज्जैनी मे था जिसका उल्लेख 'मृच्छकटिक' मे आया है। बाण ने लिखा है कि राज्यश्री के कौतुकगृह के

द्वार पर एक पार्श्व मे कामदेव और दूसरे मे रति और प्रीति के चित्र अंकित किए गए थे। मथुरा से प्राप्त एक मिट्टी के खिलौने पर कामदेव की मूर्ति उभारी गई है जो हाथ मे पाँच पुष्प बाण लिए खडा है। उसके पैरो के नीचे एक लेटे हुए पुरुष की मूर्ति है जिसकी पहचान शूर्पक नामक मछुवे से की गई है। लोककथा है कि राजकुमारी कुमुद्वती शूर्पक पर अनुरक्त हो गई पर शूर्पक ने कोई आसक्ति प्रकट न की। तब राजकुमारी ने कामदेव की पूजा की और वह शूर्पक को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल हुई। पुराणो की कथा के अनुसार कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामदेव के अवतार थे पर इस रूप मे उनकी मूर्ति या चित्र प्राप्त नही होता। कामदेव की पूजा का विशेष उत्सव वसतोत्सव कहलाता था और उस समय स्त्री और पुरुष विशेष समारोह से उनके मदिर मे जाकर उनकी पूजा करते थे। [वा० श० अ०]

कामपाला मध्य अफ्रीका में यूगाडा राज्य की राजधानी तथा यूगाडा का प्रधान व्यापारिक केंद्र है। यह नगर विक्टोरिया झील के पश्चिमोत्तर तट से सात मील की दूरी पर एव इटेबी से २५ मील पूर्वोत्तर ३,६०५ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। नगर में विभिन्न प्रकार के शासन सवधी कार्यालयो की सदर इमारते है। नगर के अदर बहुत सी छोटी छोटी पहाडियाँ हैं जिनमे मेंगो पहाडी पर ही मेत्सा के राजा के भव्य भवन हैं। कामपाला पहाडी के ऊपर एक पुराना किला है जिसको इस समय यूगाडा की कलात्मक रचनाओ तथा वहाँ के आदिवासियो की कृतियो को प्रदर्शित करने के लिये अजायबघर बना दिया गया है। देश की प्रसिद्ध केन्या और यूगाडा रेलवे लाइन, जो मोबासा से आती है, कामपाला में ही समाप्त होती है। यहाँ पूर्व अफ्रीका के विश्वविद्यालय का एक महाविद्यालय है। [ह० ह० सिं०]

कामरान (मीर्ज़ा) बाबर का पुत्र, उसके ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ से छोटा था। बाबर ने उसे अल्पावस्था मे ही कधार का राज्य प्रदान कर दिया था। वहाँ उसने बडी योग्यता से शासन किया। बाबर ने अपने जीवनकाल मे ही यह आदेश दे दिया था कि हुमायूँ तथा कामरान में राज्य का इस प्रकार विभाजन हो कि पाँच भाग कामरान को मिले तो छ भाग हुमायूँ को। इसके अतिरिक्त बाबर की यह भी इच्छा थी कि काबुल खालसे में समिलित रहे। बाबर की मृत्यु के बाद कामरान मीर्ज़ा ने अपने राज्य को विस्तृत करने का निश्चय कर लिया। उसने अपने छोटे भाई मीर्ज़ा अस्करी को कधार सौपकर लाहौर की ओर प्रस्थान किया और उसे युक्ति द्वारा जीत लिया। हुमायूँ ने भी सघर्ष उचित न देख उसे काबुल, कधार तथा पजाब दे दिए। जब हुमायूँ शेरशाह से युद्ध के लिये बगाल पहुँचा और उसके सबसे छोटे भाई हिंदाल ने विद्रोह करके देहली पर आक्रमण कर दिया तब कामरान भी लाहौर से देहली, फिर आगरे जा पहुँचा। २६ जून, १५३९ ई० को जब हुमायूँ शेरशाह से पराजित होकर आगरा पहुँचा तो कामरान तथा हुमायूँ की भेट हुई। शेरशाह से युद्ध में मुगुलो की ओर से नेतृत्व के लिये कामरान ने पहले तो असफल प्रयत्न किया फिर वह हुमायूँ का साथ छोडकर अपनी सेना सहित लाहौर की ओर चल दिया। १७ मई, १५४० ई० को हुमायूँ कन्नौज के युद्ध मे पराजित होकर आगरा होता हुआ काबुल की ओर बढा किंतु अभी वह चनाब नदी के तट पर ही था कि कामरान तथा अस्करी काबुल की ओर चल दिए और उन्होने काबुल पर अधिकार जमा लिया। कामरान ने गजनी आदि अस्करी मीर्जा को दे दिए। तदुपरात उसने बदख्शाँ पर आक्रमण कर मीर्ज़ा सुलेमान को अधीनता स्वीकार करने पर विवश कर दिया। हिंदाल को भी, जिसने कधार पर अधिकार कर लिया था, पराजित करके वह अपने साथ ले आया और अस्करी को कधार प्रदान कर दिया। तदुपरात मीर्जा सुलेमान के विरुद्ध बदख्शाँ पर पुन आक्रमण कर मीर्ज़ा सुलेमान तथा उसके पुत्र मीर्ज़ा इब्राहीम को बदी बना लिया।

१५४५ ई० मे हुमायूँ ईरान के शाह तहमास्प सफवी से सहायता लेकर कधार पहुँचा और उसे विजित कर लिया। १७ नववर, १५४५ ई० को काबुल भी जीत लिया। कामरान गज़नी होता थट्टा पहुँचा। अगले साल फिर गज़नी और काबुल पर अधिकार कर लिया। हुमायूँ तुरत काबुल पहुँचा और कई मास के घोर सघर्ष के उपरात उसने किला विजय कर लिया। कामरान जान छोडकर लडा किंतु उसे सफलता न मिली। भाग्य के अनेक उलटफेर के बाद अत में उसने हुमायूँ के प्रति १७ अगस्त, १५४८ ई० को आत्मसमर्पण कर दिया। कामरान क्षमायाचना करके हज की अनुमति लेकर बदख्शाँ से रवाना हुआ किंतु कुछ दूर जाकर लौट आया और २२ अगस्त, १५४८ ई० को हुमायूँ की सेवा मे उपस्थित हुआ। हुमायूँ ने उसे क्षमा कर कोलाब की जागीर प्रदान कर दी पर कामरान को इससे भी सतोष न हुआ और उसने फिर विद्रोह कर काबुल पर अधिकार जमा लिया। किंतु हुमायूँ ने पुन सेना सगठित करके कामरान से काबुल छीन लिया। हुमायूँ ने उसे बार बार क्षमा किया, अत मे भी क्षमा करना चाहा, किंतु अमीरो के अत्यधिक विरोध के कारण उसकी आँखो में सलाई फिरवा कर मक्का चले जाने की अनुमति दे दी (दिसबर, १५५३ ई०)। वह अपनी पत्नी के साथ मक्का पहुँचा और ५ अक्टूबर, १५५७ ई० को मर गया। कामरान बडा अच्छा कवि, वीर, दानी, योग्य शासक एव कट्टर सुन्नी था।

स० ग्र०—(फारसी) **बाबरनामा**, गुलबदन बेगम **हुमायूँनामा**, जौहर **तज़किरतुल वाकेआत**, बायजीद **तज़किरए हुमायूँ व अकबर**, (हिंदी)—सै० अ० अ० रिजवी **मुगुल कालीन भारत–बाबर** (अलीगढ, १९६०), **मुग़ुल कालीन भारत—हुमायूँ** (अलीगढ, १९६१, १९६२ ई०)। [सै० अ० अ० रि०]

कामरून (फ्रेंच) पश्चिमी अफ्रीका मे नाइजीरिया तथा फ्रेंच भू मध्यवर्ती अफ्रीका के बीच में स्थित एक राज्य है [क्षेत्रफल १,६२,८९२ वर्ग मील, जनसख्या ३२,२३,००० (१९५७)]। १९१६ ई० मे जर्मन अधीनस्थ कामरून एक सधि के फलस्वरूप ब्रिटिश कामरून [क्षेत्रफल ३,४८१ वर्ग मील, जनसख्या १४,३०,००० (१९५३)] तथा फ्रेंच कामरून दो भागो में बाँट दिया गया। फ्रेंच कामरून १ जनवरी, सन् १९६० ई० से पूर्ण स्वतत्र हो गया है। देश का अधिकाश दक्षिणी तथा मध्य भाग पठारी है। औसत ऊँचाई २,००० फुट है। पठारी भाग के उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम मे पर्वतीय श्रृखलाएँ है। उत्तर मे ऐदामावा तथा मदारा नामक ऊँचे पर्वत हैं। पश्चिम में कामरून का जाग्रत ज्वालामुखी पर्वत है। यहाँ की नदियो में सनागा, बेनुइ तथा लागोन आदि मुख्य हैं। देश की जलावायु उष्ण कटिबधीय है। तापक्रम ७५° फा० से अधिक रहता है। वर्षा साल भर होती है। पर्वतीय तथा पठारी भाग जगलो से ढँके हैं।

देश की आर्थिक दशा कृषि तथा जगलो पर आधारित है। ज्वार, बाजरा, सरघम, मक्का, मूँगफली, केला, नारियल, ककोआ, काफी, कपास तथा रबर यहाँ की मुख्य पैदावार हैं। पशुपालन का कार्य होता है। यहाँ से काफी, ककोआ, केला, इमारती लकडी आदि वस्तुएँ निर्यात की जाती हैं। आयात होनेवाली वस्तुओ मे शराब, गेहूँ, चावल, चीनी तथा मछली मुख्य हैं।

देश की राजधानी याऊडे (जनसख्या ५३,८३३) है। दउआला (जनसख्या १,१८,८५७) देश का प्रधान पत्तन, पुरानी राजधानी तथा सबसे बडा औद्योगिक नगर है। सडको का विकास उल्लेखनीय है। रेले कम है। [ह० ह० सिं०]

कामरूप असम का प्राचीन नाम। पुराणो तथा तत्रो में कामरूप को महापीठस्थान कहा गया है। योगिनीतत्र में इसका विस्तार करतोया से दिक्करवासिनी तक बताया गया है। तीसरी श० ई० के पूर्व का इतिहास पौराणिक कथा के रूप में प्राप्त होता है, जैसे यहाँ वराह विष्णु तथा पृथ्वी के पुत्र नरकासुर ने एक राजवश की स्थापना की। ७वी श० की एक जनश्रुति के अनुसार नरक तथा उसके पुत्र भगदत्त ने पुष्पवर्मा के पूर्व राज किया। पुष्पवर्मा के १२ अधिकारियो के नाम अभिलेखो मे प्राप्त होते हैं पुष्पवर्मा, समुद्रवर्मा (=दत्तदेवी अथवा दत्तवती), बलवर्मा (रत्नवती), कल्याणवर्मा (=गधर्ववती), गणपतिवर्मा (यज्ञवती), महेंद्रवर्मा (=सुव्रता), नारायणवर्मा (=देववती), मूतिवर्मा (विज्ञानवती), चद्रमुखवर्मा (=भोगवती), स्थितवर्मा (=नयनदेवी अथवा नयनशोभा), सुस्थितवर्मा (=श्यामादेवी अथवा ध्रुवलक्ष्मी)। सुस्थितवर्मा के दो पुत्र

सुप्रतिष्ठिनवर्मा तथा भास्करवर्मा थे जो हर्ष के समकालीन तथा मित्र थे। हर्ष जब चीनी यात्री को अपने यहाँ भेजने के सबब मे कुपित हो गया था तो मित्र के यहाँ चीनी यात्री, बीस हजार हाथी तथा तीस हजार नावें लेकर रवाना हुआ। हर्ष तथा इसमें फिर मित्रता हो गई थी।

भास्करवर्मा ने गौडो को पराजित कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसके बाद कामरूप के इतिहास में एक नए राजवश का उदय हुआ। भास्करवर्मा के वश से इसका क्या सबध था, कहना कठिन है। एक ताम्रपट्ट के अनुसार इस वश का सस्थापक शालभ अथवा प्रालभ था। राजवश के परिवर्तन के कारण पालो ने सफलतापूर्वक कामरूप पर आक्रमण किया। देवपाल ने वहाँ अपना कृपापात्र स्थापित किया। शालभ के पुत्र अथवा भतीजे हर्जरवर्मा को महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक कहा गया है। शालभ के बाद प्राय २१ नरेशो ने यहाँ लगभग ८०० ई० से १,००० ई० तक राज किया। उसके बाद का इतिहास, अग्रेजो के आने तक, अव्यवस्थित सा है।

कामरूप का नाम लोकसाहित्य में भरपूर आया है। पश्चिमी प्रदेशो के लोकगीतो मे अक्सर ही पत्नी अपने पति को कामरूप, असम या पूर्व बगाल जाते समय वहाँ की जदुई आकर्षक स्त्रियो से सावधान करती है। उनका विश्वास है कि पश्चिम के पुरुषो को वे स्त्रियाँ जादू से दिन में भेडा बनाकर रखती हैं और रात में उन्हें उनका प्रकृत रूप देकर उनके साथ सहवास करती हैं। शक्तिपूजा का तो यह प्रदेश केंद्र था ही, उसकी राजधानी प्राग्ज्योतिप (आधुनिक गौहाटी) में कामाख्यादेवी का प्रसिद्ध मंदिर भी था जो आज भी वहाँ अवस्थित है। [च० भा० पा०]

कामरो द्वीप

हिंद महासागर में मैडागास्कर द्वीप तथा अफ्रीका महाद्वीप के बीच में स्थित है (स्थिति १२° उ० अक्षाश तथा ४५° पूर्वी देशातर)। यह द्वीपसमूह फ्रासीसियो के शासन में है। क्षेत्रफल ८४६ वर्ग मील, जनसख्या १५,००,००० (अनुमानित)। इन द्वीपो की सरचना, मुख्य रूप से ज्वालामुखी के उद्गारो के ही कारण मानी जाती है। कुछ छोटे छोटे प्रवालो की सरचना के माने जाते है। यहाँ के निवासी मुख्य रूप से इस्लाम धर्मावलबी हैं। कुछ भारतीय तथा यूरोपियन लोग भी हैं। लोगो का मुख्य व्यवसाय जहाजरानी करना तथा निकटवर्ती द्वीपो के बीच व्यापार करना है। द्वीपसमूह में अनेक द्वीप समिलित हैं जिनमें चार मुख्य हैं .

१ ग्रेट कामरो या अगाजिया पश्चिम में स्थित सबसे बडा द्वीप है। इसका क्षेत्रफल ४४२ वर्गमील है। जनसख्या ६६,२६५ (१६३६) है। इसके दक्षिणी छोर पर करतोला नाम का जाग्रत ज्वालामुखी पहाड है। मध्य का भाग लावा से आच्छादित है। मुख्य नगर मोरोली है जहाँ फ्रासीसी प्रशासक निवास करता है।

२ अजौन या जोहन्ना ग्रेट कामरो के दक्षिण-पूर्व मे स्थित है। क्षेत्रफल १३८ वर्ग मील, जनसख्या ३६,०१०। धरातल का क्रमिक विकास मध्य की तरफ है। मोसामाड इसका मुख्य नगर है।

३ मायोही का क्षेत्रफल १३७ वर्ग मील, जनसख्या १७,४७७ है। द्वीप के चारो ओर प्रवाली भित्तियो का जमाव है। धरातल पर्वतीय है। मसापेरे यहाँ का मुख्य केंद्र है।

४ मोहिला—यह द्वीप प्रथमोक्त दो द्वीपो के मध्य में स्थित है। क्षेत्रफल ११२ वर्ग मील तथा जनसख्या ५,२३६ है। धरातल पर्वतीय है। मध्य के भाग की औसत ऊँचाई १,६०० फुट है। फाबुनी तथा नुमाचोआ मुख्य कस्बे हैं।

ग्रेट कामरो द्वीप अनुपजाऊ है। अन्य सभी द्वीपो मे धान, मक्का, आलू, कपास, वनीला, खजर आदि पैदा होते हैं। मुख्य पेशा खेती करना, नाविक का काम तथा मछली पकडना है। निवासियो के पास फलो के उद्यान तथा पशुधन भी हैं। [हि० ह० सिं०]

कामला (पीलिया)

रक्तरस में पित्तरजक (Bili-rubin) नामक एक रग होता है, जिसके आधिक्य से त्वचा और श्लेष्मिक कला मे पीला रग आ जाता है। इस दशा को कामला या पीलिया (Jaundice) कहते है। सामान्यत रक्तरस मे पित्तरजक का स्तर १० या इससे कम प्रति शत होता है, किंतु जब इसकी मात्रा २५ प्रति शत से ऊपर हो जाती है तब कामला के लक्षण प्रकट होते हैं। कामला स्वयं कोई रोगविशेष नही है, प्रत्युत कई रोगो मे पाया जानेवाला एक लक्षण है। यह लक्षण नन्हें नन्हें बच्चो से लेकर ८० साल तक के बूढो में उत्पन्न हो सकता है। वास्तविक रोग का निदान कर सकने के लिये पित्तरजक का उपापचय (Metabolism) समझना आवश्यक है।

रक्तसचरण में रक्त के लाल कण नष्ट होते रहते हैं और इस प्रकार मुक्त हुआ हीमोग्लोबिन रेटिकुलो-एडोथीलियल (Reticulo-endothelial) प्रणाली में विभिन्न मिश्रित प्रक्रियाओ के उपरात पित्तरजक के रूप में परिणत हो जाता है, जो विस्तृत रूप से शरीर में फैल जाता है, किंतु इसका अधिक परिमाण प्लीहा मे इकट्ठा होता है। यह पित्तरजक एक प्रोटीन के साथ मिश्रित होकर रक्तरस मे सचरित होता रहता है। इसको अप्रत्यक्ष पित्तरजक कहते हैं। यकृत के सामान्यत स्वस्थ अणु इन अप्रत्यक्ष पित्तरजक को ग्रहण कर लेते हैं और उसमें ग्लूकोरॉनिक अम्ल मिला देते हैं। यह मिश्रित पित्तरजक, जिसे साधारणत प्रत्यक्ष पित्तरजक कहते हैं, यकृत की कोशिकाओ में से गुजरता हुआ पित्तमार्ग द्वारा प्रत्यक्ष पित्तरजक के रूप मे छोटी आँतो की ओर जाता है। आँतो मे यह पित्तरजक यूरोबिलिनोजन में परिवर्तित होता है जिसका कुछ अश शोपित होकर रक्तरस के साथ जाता है और कुछ भाग, जो विष्ठा को अपना भूरा रग प्रदान करता है, विष्ठा के साथ शरीर से निकल जाता है।

यदि पित्तरजक की विभिन्न उपापचयिक प्रक्रियाओ मे से किसी में भी कोई दोष उत्पन्न हो जाता है तो पित्तरजक की अधिकता हो जाती है, जो कामला का कारण होती है। रक्त में लाल कणो का अधिक नष्ट होना तथा उसके परिणामस्वरूप अप्रत्यक्ष पित्तरजक का अधिक बनना बच्चो में कामला, नवजात शिशु मे रक्त-कोशिका-नाश तथा अन्य जन्मजात, अथवा अर्जित, रक्त-कोशिका-नाश-जनित रक्ताल्पता इत्यादि रोगो का कारण होता है। जब यकृत की कोशिकाएँ अस्वस्थ होती हैं तब भी कामला हो सकता है, क्योकि वे अपना पित्तरजक मिश्रण का स्वाभाविक कार्य नही कर पाती और यह विकृति सक्रामक यकृतप्रदाह, रक्तरसीय यकृतप्रदाह और यकृत का पथरा जाना (कडा हो जाना, Cirrhosis) इत्यादि प्रसिद्ध रोगो का कारण होती है। अतत यदि पित्तमार्ग में अवरोध होता है तो पित्तप्रणाली मे अधिक प्रत्यक्ष पित्तरजक का सग्रह होता है और यह प्रत्यक्ष पित्तरजक पुन रक्त में शोपित होकर कामला की उत्पत्ति करता है। अग्न्याशय, सिर, पित्तमार्ग तथा पित्तप्रणाली के कैंसरो में, पित्ताश्मरी की उपस्थिति में, जन्मजात पैत्तिक सकोच और पित्तमार्ग के विकृत सकोच इत्यादि शल्य रोगो में मार्गावरोध यकृत से बाहर होता है। यकृत के आतरिक रोगो मे यकृत के भीतर की वाहिनियो मे सकोच होता है, अत अप्रत्यक्ष पित्तरजक के अतिरिक्त रक्त मे प्रत्यक्ष पित्तरजक का आधिक्य हो जाता है।

अत कामला अनेक प्रकार की व्याधियो का लक्षण है और इसकी चिकित्सा उत्पादक कारणो के निर्मूलन से ही हो सकती है।

[शि० श० मि०]

कामशास्त्र

मानव जीवन के लक्ष्यभूत चार पुरुषार्थो मे 'काम' अन्यतम पुरुषार्थ माना जाता है। सस्कृत भाषा मे उससे सबद्ध विशाल साहित्य विद्यमान है। इस शास्त्र का आधारपीठ है महर्षि वात्स्यायनरचित कामसूत्र। सूत्र शैली मे निबद्ध, वात्स्यायन का यह महनीय ग्रथ विषय की व्यापकता और शैली की प्राजलता में अपनी समता नही रखता। महर्षि वात्स्यायन इस शास्त्र के प्रतिष्ठाता ही माने जा सकते हैं, उद्भावक नही, क्योकि उनसे बहुत पहले इस शास्त्र का उद्भव हो चुका था। कहा जाता है, प्रजापति ने एक लाख अध्यायो मे एक विशाल ग्रथ का प्रणयन कर कामशास्त्र का आरभ किया, परतु कालातर मे मानवो के कल्याण के लिये इसके सक्षेप प्रस्तुत किए गए। पौराणिक परपरा के अनुसार महादेव की इच्छा से 'नदी' ने एक सहस्र अध्यायो मे इसका सार अश तैयार किया जिसे और भी उपयोगी बनाने के लिये उद्दालक मुनि के पुत्र श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायो में उसे सक्षिप्त बनाया। इसके अनतर पाचाल बाभ्रव्य ने तृतीयाश मे इसको और भी

संक्षिप्त किया–डेढ सौ अध्यायो तथा सात अधिकरणो मे, कालांतर में सात महनीय आचार्यो ने प्रत्येक अधिकरण के ऊपर सात स्वतंत्र ग्रंथो का निर्माण किया—(१) **नारायण** ने ग्रंथ बनाया साधारण अधिकरण पर, (२) **सुवर्णनाभ** ने साम्प्रयोगिक पर, (३) **घोटकमुख** ने कन्या सम्प्रयुक्तक पर, (४) **गोनर्दीय** ने भार्याधिकारिक पर, (५) **गोणिकापुत्र** ने पारदारिक पर, (६) **दत्तक** ने वैशिक पर तथा (७) **कुचिमार** ने औपनिषदिक पर। इस पृथक् रचना का फल शास्त्र के प्रचार के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ और क्रमश यह उच्छिन्न होने लगा। फलत वात्स्यायन ने इन सातो अधिकरण ग्रंथो का साराश एकत्र प्रस्तुत किया और इस विशिष्ट प्रयास का परिणत फल **वात्स्यायन कामसूत्र** हुआ। इस प्रकार वर्तमान कामसूत्र को शताब्दियो के साहित्यिक सदुद्योगो का पर्यवसान समझना चाहिए, यद्यपि परंपरया घोषित कामशास्त्रीय ग्रंथो के इस अनंत प्रणयन के विस्तार को स्वीकार करना कठिन है।

कामशास्त्र के इतिहास को हम तीन कालविभागो में बाँट सकते हैं—पूर्ववात्स्यायन काल, वात्स्यायन काल तथा पश्चाद्वात्स्यायन काल। पूर्ववात्स्यायन काल के आचार्यो की रचनाओ का विशेष पता नही चलता। बाभ्रव्य के मत का निर्देश बडे आदर के साथ वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ मे किया है। घोटकमुख और गोनर्दीय के मत कामशास्त्र और अर्थशास्त्र मे उल्लिखित मिलते हैं। केवल दत्तक और कुचिमार के ग्रंथो के अस्तित्व का परिचय हमे भली भाँति उपलब्ध है। आचार्य दत्तक की विचित्र जीवनकथा कामसूत्र की जयमगला टीका मे है। उनका ग्रंथ 'वैशिक शास्त्र' सूत्रात्मक था जो ओकार से आरंभ होनेवाला बतलाया जाता है (शूद्रक-पद्मप्राभृतक भाण, श्लोक २४)। कुचिमार रचित तंत्र के पूर्णत उपलब्ध न होने पर भी हम उसके विषय से परिचित हैं। इस तंत्र में कामोपयोगी औषधो का वर्णन है जिनका सबंध बृहण, लेपन, वश्य आदि क्रियाओ से है। 'कुचिमारतंत्र' का हस्तलेख मद्रास से उपलब्ध हुआ है जिसे ग्रंथकार 'उपनिषद्' का नाम देता है और जिस कारण उसमें प्रतिपादित अधिकरण 'औपनिषदिक' नाम से प्रख्यात हुआ।

कामसूत्र—वात्स्यायन का यह ग्रंथ सूत्रात्मक है। यह सात अधिकरणो, ३६ अध्यायो तथा ६४ प्रकरणो में विभक्त है। इसमे चित्रित भारतीय सभ्यता के ऊपर गुप्त युग की गहरी छाप है, उस युग का शिष्ट-सभ्य व्यक्ति 'नागरक' के नाम से यहाँ प्रख्यात है। उसके रहने का ढग, मनोविनोद के साधन, दिनचर्या, अध्ययन, अध्यवसाय—इन सब विषयो का जीता जागता चित्र इतनी सुदरता से यहाँ दिया गया है कि कामसूत्र भारतीय समाजशास्त्र का एक मान्य ग्रंथरत्न बन गया है। ग्रंथ के प्रणयन का उद्देश्य है लोकयात्रा का निर्वाह, न कि राग की अभिवृद्धि। इस तात्पर्य की सिद्धि के लिये वात्स्यायन ने उग्र समाधि तथा ब्रह्मचर्य का पालन कर इस ग्रंथ की रचना की—

तदेतद् ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना।
विहित लोकयात्रार्थं न रागार्थोऽस्य सविधि ॥
(कामसूत्र, सप्तम अधिकरण, श्लोक ५७)

ग्रंथ सात अधिकरणो मे विभक्त है। प्रथम अधिकरण (साधारण) मे शास्त्र का समुद्देश तथा नागरक की जीवनयात्रा का रोचक वर्णन है। द्वितीय अधिकरण (साप्रयोगिक) रतिशास्त्र का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। पूरे ग्रंथ मे यह सर्वाधिक महत्वशाली खड है जिसके दस अध्यायो में रतिक्रीडा, आलिंगन, चुबन आदि कामक्रियाओ का व्यापक और विस्तृत प्रतिपादन है। तृतीय अधिकरण (कन्यासप्रयुक्तक) मे कन्या का वरण प्रधान विषय है जिससे सबद्ध विवाह का भी उपादेय वर्णन यहाँ किया गया है। चतुर्थ अधिकरण (भार्याधिकारिक) मे भार्या का कर्तव्य, सपत्नी के साथ उसका व्यवहार तथा राजाओ के अत पुर के विशिष्ट व्यवहार क्रमश वर्णित हैं। पचम अधिकरण (पारदारिक) परदारा को वश मे लाने का विशद वर्णन करता है जिसमें दूती के कार्यो का एक सर्वांगपूर्ण चित्र हमें यहाँ उपलब्ध होता है। षष्ठ अधिकरण (वैशिक) में वेश्याओ के आचरण, क्रियाकलाप, धनिको को वश में करने के हथकडे आदि वर्णित हैं। सप्तम अधिकरण (औपनिषदिक) का विषय वैद्यक शास्त्र से सबद्ध है। यहाँ उन औषधो का वर्णन है जिनके प्रयोग और सेवन करने से शरीर मे दोनो वस्तुओ की, शोभा और शक्ति की, विशेष अभिवृद्धि होती है। इन उपायो को वैद्यक शास्त्र में 'वृष्ययोग' कहा गया है।

रचना की दृष्टि से कामसूत्र कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के समान है—चुस्त, गभीर, अल्पकाय होने पर भी विपुल अर्थ से मडित। दोनो की शैली समान ही है—सूत्रात्मक। रचना के काल में भले ही अंतर है। अर्थशास्त्र मौर्यकाल का और कामसूत्र गुप्तकाल का है

कामसूत्र के ऊपर तीन टीकाएँ प्रसिद्ध हैं—(१) जयमगला प्रणेता का नाम यथार्थत यशोधर है जिन्होने वीसलदेव (१२४३–६१) के राज्यकाल मे इसका निर्माण किया। (२) **कदर्पचूडामणि** बघेलवशी राजा रामचद्र के पुत्र वीरसिंहदेव रचित पद्यबद्ध टीका (रचनाकाल स० १६३३—१५७७ ई०)। (३) **कामसूत्रव्याख्या**—भास्कर नरसिंह नामक काशीस्थ विद्वान् द्वारा १७८८ ई० में निर्मित टीका। इनमे प्रथम दोनो प्रकाशित और प्रसिद्ध हैं, परतु अंतिम टीका अभी तक अप्रकाशित है।

पश्चाद्वात्स्यायन काल—मध्ययुग के लेखको ने कामशास्त्र के विषय मे अनेक ग्रंथो का प्रणयन किया। इनका मूल आश्रय वात्स्यायन का ही ग्रंथरत्न है और रतिक्रीडा के विषय में नवीन तथ्य विशेष रूप से निविष्ट किए गए है। ऐसे ग्रंथकारो मे कतिपय की रचनाएँ ख्यातिप्राप्त हैं—(क) *पद्मश्री*—'नागरसर्वस्व'। ग्रंथकार बौद्ध है जो दामोदर गुप्त के 'कुट्टनीमत' का निर्देश करता है और 'शार्ङ्गधरपद्धति' में स्वयनिर्दिष्ट है। इसलिये इसका समय दशम शती का अंत मानना चाहिए। (ख) *कल्याणमल्ल*—अनगरग। अवध के किसी मुसलमान नवाब को प्रसन्न करने के लिये यह लिखा गया है। (ग) *कोक्कोक*—रतिरहस्य। पारिभद्र के पौत्र तथा तेजोक के पुत्र कोक्कोक की यह रचना कामसूत्र का सु दर सुबोध साराश प्रस्तुत करती है। राणा कुभकर्ण के द्वारा गीत गोविंद की टीका में उधृत होने के कारण इसका समय १३वी शती से पहले नही हो सकता। इसी विद्वान् का नाम सर्वसाधारण मे भ्रष्ट होकर 'कोका पडित' पड गया हे तथा उनकी रचना 'कोकशास्त्र' के नाम से प्रख्यात हो गई है। (घ) कविशेखर *ज्योतिरीश्वर*—पचसायक। अनेक प्राचीन कामशास्त्रीय ग्रंथो के आधार पर निर्मित यह ग्रंथ पर्याप्त लोकप्रिय रहा है।

इन बहुश प्रकाशित ग्रंथो के अतिरिक्त कामशास्त्र की अनेक अप्रकाशित रचनाएँ उपलब्ध हैं—*हरिहर* का रतिरहस्य (या शृंगारदीपिका), विजयनगर के राजा **प्रौढदेवराय** (१४२२–४८ ई०) की रतिरत्नदीपिका, तजोर के राजा **शाहजी** (१६८४–१७१०) की शृगारमजरी, अनत की कामसुधा, **मीननाथ** की स्मरदीपिका, **चित्रधर** का शृगारसार, आदि। इन ग्रंथो की रचना से इस शास्त्र की व्यापकता और लोकप्रियता का पता चलता है।

स० ग्र०—डा० आर० शिमट बाइत्रेगे सुर इन्दिशे इरोतिक (जर्मन ग्रंथ, लाइपजिग, १९११)। [ब० उ०]

कामा

यूरोपीय रूस में बहनेवाली वोल्गा नदी की मुख्य शाखा है। यह यूराल पर्वत के पश्चिमी पादप्रदेश मे मोलोटोव नगर के पश्चिम से निकलती है। क्रमानुसार उत्तर, पूर्व तथा दक्षिण की ओर मुडकर मोलोटोव पहुँचती है। फिर १,२०० मील दक्षिण-पश्चिम बहकर कजान के निकट वोल्गा मे गिरती है। यही सगम प्राचीन तातार राज्य का केंद्र था। नहर द्वारा कामा का सबध उत्तरी ड्वीना से हो जाने के कारण यूराल प्रदेश से बाल्टिक सागर तक यातायात का एक महत्वपूर्ण मार्ग खुल गया है। गर्मियो मे मोलोटोव तक बडे जलयान आ सकते हैं। मोलोटोव के निकट कामा के जल से विद्युत् उत्पादन भी होता है।

[प्रे० च० अ०]

कामाक्षी, कामाख्या

देवी अथवा शक्ति के प्रधान नामो मे से एक। पुराणो के अनुसार पिता दक्ष के यज्ञ में पति शिव का अपमान होने के कारण सती हवनकुड में ही कूद पडी थी जिसके शरीर को, कहते हैं, शिव कधे पर दीर्घकाल तक डाले फिरते रहे। सती के अंग जहाँ जहाँ गिरे वहाँ वहाँ शाक्त पीठ बन गए जो शाक्त तथा शैव भक्तो के परम तीर्थ हुए। इन्ही पीठो में से एक—कामरूप असम मे स्थापित हुआ, जो आज की गोहाटी के सामने कामाख्या नामक पहाडी

पर कायम है। समूचे असम और पूर्वोत्तर बगाल मे शक्ति अथवा कामाक्षी की पूजा का बडा माहात्म्य है। पश्चिमी भारत मे जो कामरूप की नारी शक्ति के अनेक अलौकिक चमत्कारो की बात लोकसाहित्य मे कही गई है, उसका आधार इस कामाक्षी का महत्व ही है। कामरूप का अर्थ ही है इच्छानुसार रूप धारण कर लेना, और विश्वास है कि असम की नारियाँ चाहे जिसको अपनी इच्छा के अनुकूल रूप मे बदल देती थी। असम के पूर्वी भाग मे अत्यत प्राचीन काल से नारी की शक्ति की अर्चना हुई है। महाभारत मे उस दिशा के स्त्रीराज्य का उल्लेख हुआ है। इसमे सदेह नही कि मातृसत्ताक परपरा का कोई न कोई रूप वहाँ था जो वहाँ की नागा आदि जातियो मे आज भी बना है। ऐसे वातावरण मे देवी का महत्व चिरस्थायी होना स्वाभाविक ही था और जब उसे शिव की पत्नी मान लिया गया तब शाक्त सप्रदाय को सहज ही शैव शक्ति की पृष्ठ-भूमि और मर्यादा प्राप्त हो गई। फिर जब वज्रयानी प्रज्ञापारमिता और शक्ति एक कर दी गई तब तो शाक्त गौरव का और भी प्रसार हो गया। उस शाक्त विश्वास का केंद्र गोहाटी की कामाख्या पहाडी का यह कामाक्षी पीठ है। कामाक्षी की कथा का उल्लेख कालिका पुराण मे विस्तृत रूप से हुआ है। [प० उ०]

कामायनी यह आधुनिक छायावादी युग का सर्वोत्तम और प्रतिनिधि हिंदी महाकाव्य है। जयशकर 'प्रसाद' की यह अतिम काव्य रचना १९३६ ई० में प्रकाशित हुई, परतु इसका प्रणयन प्राय ७-८ वर्ष पूर्व ही प्रारभ हो गया था। चिता से प्रारभ कर आनद तक १५ सर्गो के इस महाकाव्य मे मानव मन की विविध अतर्वृत्तियो का क्रमिक उन्मीलन इस कौशल से किया गया है कि मानव सृष्टि के आदि से अब तक के जीवन के मनोवैज्ञानिक और सास्कृतिक विकास का इतिहास भी स्पष्ट हो जाता है।

मानव के अग्रजन्मा देव निश्चित जाति के जीव थे। किसी भी प्रकार की चिता न होने के कारण वे 'चिर-किशोर-वय' तथा 'नित्यविलासी' देव आत्म-मगल-उपासना मे ही विभोर रहते थे। प्रकृति यह अतिचार सहन न कर सकी और उसने अपना प्रतिशोध लिया। भीषण जलप्लावन के परिणामस्वरूप देवसृष्टि का विनाश हुआ, केवल मनु जीवित बचे। देवसृष्टि के विध्वस पर जिस मानव जाति का विकास हुआ उसके मूल मे थी चिता जिसके कारण वह जरा और मृत्यु का अनुभव करने को बाध्य हुई। चिता के अतिरिक्त मनु मे दैवी और आसुरी वृत्तियो का भी सघर्ष चल रहा था जिसके कारण उनमें एक ओर आशा, श्रद्धा, लज्जा और इडा का आविर्भाव हुआ तो दूसरी ओर कामवासना, ईर्षा और सघर्ष की भी भावना जगी। इन विरोधी वृत्तियो के निरतर घात-प्रतिघात से मनु मे निर्वेद जगा और श्रद्धा के पथप्रदर्शन से यही निर्वेद क्रमश दर्शन और रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर अत मे आनद की उपलब्धि का कारण बना। यह चिता से आनद तक मानव के मनोवैज्ञानिक विकास का क्रम है। साथ ही मानव के आखेटक रूप से प्रारभ कर श्रद्धा के प्रभाव से पशुपालन, कृषक जीवन और इडा के सहयोग से सामाजिक और औद्योगिक क्राति के रूप में भौतिक विकास अत मे आध्यात्मिक शाति की प्राप्ति का उद्योग मानव के सास्कृतिक विकास के विविध सोपान हैं। इस प्रकार कामायनी मानव जाति के उद्भव और विकास की कहानी है।

प्रसाद ने इस काव्य के प्रधान पात्र मनु और कामपुत्री कामायनी श्रद्धा को ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप मे माना है, साथ ही जलप्लावन की घटना को भी एक ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार किया है। शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काड के आठवे अध्याय मे जलप्लावन सबधी उल्लेखो का सकलन कर प्रसाद ने इस काव्य का कथानक निर्मित किया है, साथ ही उपनिषद् और पुराणो मे मनु और श्रद्धा का जो रूपक दिया गया है, उन्होने उसे भी अस्वीकार नही किया, वरन् कथानक को ऐसा स्वरूप प्रदान किया जिसमे मनु, श्रद्धा और इडा के रूपक की भी सगति भली भाँति बैठ जाय। परतु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर जान पडता है कि इन चरित्रो के रूपक का निर्वाह ही अधिक सुदर और सुसयत रूप मे हुआ, ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में वे पूर्णत एकागी और व्यक्तित्वहीन हो गए है।

मनु मन के समान ही अस्थिरमति है। पहले श्रद्धा की प्रेरणा से वे तपस्वी जीवन त्याग कर प्रेम और प्रणय का मार्ग गहण करते है, फिर असुर पुरोहित आकुलि और किलात के बहकावे मे आकर हिंसावृत्ति और स्वेच्छाचरण के वशीभूत हो श्रद्धा का सुख-साधन-निवास छोड झझा समीर की भाँति भटकते हुए सारस्वत प्रदेश मे पहुँचते हैं, श्रद्धा के प्रति मनु के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध काम का अभिशाप सुन हताश हो किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं और इडा के ससर्ग से बुद्धि की शरण मे जा भौतिक विकास का मार्ग अपनाते हैं। वहाँ भी सयम के अभाव के कारण इडा पर अत्याचार कर बैठते हैं और प्रजा से उनका सघर्ष होता है। इस सघर्ष मे पराजित और प्रकृति के रुद्र प्रकोप से विक्षुब्ध मनु जीवन से विरक्त हो पलायन कर जाते हैं और अत मे श्रद्धा के पथप्रदर्शन मे उसका अनुसरण करते हुए आध्यात्मिक आनद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार श्रद्धा—आस्तिक्य भाव—तथा इडा—बौद्धिक क्षमता—का मनु के मन पर जो प्रभाव पडता है उसका सु दर विश्लेषण इस काव्य में मिलता है।

काव्य रूप की दृष्टि से कामायनी चिंतनप्रधान है, जिसमे कवि ने मानव को एक महान् सदेश दिया है। 'तप नही, केवल जीवनसत्य' के रूप मे कवि ने मानव जीवन मे प्रेम की महत्ता घोषित की है। यह जगत् कल्याणभूमि है, यही श्रद्धा की मूल स्थापना है। इस कल्याणभूमि मे प्रेम ही एकमात्र श्रेय और प्रेय है। इसी प्रेम का सदेश देने के लिये कामायनी श्रद्धा का अवतार हुआ है। प्रेम मानव और केवल मानव की विभूति है। मानवेतर प्राणी, चाहे वे चिरविलासी देव हो, चाहे देह और प्राण की पूजा मे निरत असुर, दैत्य और दानव हो, चाहे कलाप्रिय किन्नर और गधर्व हो, चाहे पशु और पक्षी हो, प्रेम की कला और महिमा वे नही जानते, प्रेम की प्रतिष्ठा केवल मानव ने की है। परतु इस प्रेम मे सामरस्य की आवश्यकता है। समरसता के अभाव मे यह प्रेम उच्छृखल प्रणय-वासना का रूप ले लेता है। मनु के जीवन मे इस सामरस्य के अभाव के कारण ही मानव प्रजा को काम का अभिशाप सहना पड रहा है। भेद-भाव, ऊँच नीच की प्रवृत्ति, आडबर और दभ की दुर्भावना सब इसी सामरस्य के अभाव से उत्पन्न होती हैं जिससे जीवन दु खमय और अभिशाप-ग्रस्त हो जाता है। कामायनी मे इसी कारण समरसता का आग्रह है। यह समरसता द्वद्व भावना मे सामजस्य उपस्थित करती है। ससार में द्वद्वो का उद्गम शाश्वत तत्व है—फूल के साथ काँटे, भाव के साथ अभाव, सुख के साथ दु ख और रात्रि के साथ दिन नित्य लगा ही रहता है। मानव इनमे अपनी रुचि के अनुसार एक को चुन लेता है, दूसरे को छोड देता है और यही उसके विषाद का कारण है। मानव के लिये दोनो को स्वीकार करना आवश्यक है, किसी एक को छोड देने से काम नही चलता। यही द्वद्वो की समन्वय स्थिति ही सामरस्य है। प्रसाद ने हृदय और मस्तिष्क, भक्ति और ज्ञान, तप, सयम और प्रणय, प्रेम, इच्छा, ज्ञान और क्रिया सबके समन्वय पर बल दिया है।

कला की दृष्टि से कामायनी छायावादी काव्यकला का सर्वोत्तम प्रतीक माना जा सकता है। चित्तवृत्तियो का कथानक के पात्र के रूप मे अवतरण इस काव्य की अन्यतम विशेषता है। और इस दृष्टि से लज्जा, सौंदर्य, श्रद्धा और इडा का मानव रूप मे अवतरण हिंदी साहित्य की अनुपम निधि है। [श्री० कृ० ला०]

कामेट हिमालय पर्वत की एक चोटी है जो कुमाऊँ खड मे सतलज के दक्षिण मे स्थित है। यह चोटी सिवालिक ललाट (फ्रांट) से उत्तर-पूर्व ३० मील की दूरी पर है। अलकनदा की दोनो आदि शाखाओ का उद्गम इस चोटी के क्रमश दाहिनी और बाई ओर से होता है। इसकी ऊँचाई समुद्र से २५,४४७ फुट है। इसके आसपास का दृश्य बडा मनोरम है। [मु० प्र० सिं०]

कॉमेडी सुखात नाट्य रचनाएँ हैं जिनका कथानक आनद, मनोरजन और हास्य के सहारे विकसित होता है। पात्रो के कार्यो और कथनो से भी आनद की ही उपलब्धि होती है। कॉमेडी का जन्म प्राचीन यूनान मे उल्लास के वातावरण मे हुआ तथा प्रारभिक अवस्था मे उसमे सगीत, अभिनय और उपहास का अनुपम समिश्रण होता था। मदिरा के देवता दियोनिसस के उपासक उन्मत्त होकर नृत्य और गान द्वारा अपने हृदय के भाव व्यक्त करते तथा अपनी श्रद्धा अर्पित करते थे। जलूस बनाकर वे इधर उधर घूमते थे और न केवल पारस्परिक विनोद मे मलग्न रहते

थे वरन् राह में मिलनेवालो का उपहास भी करते थे। इसी भाँति कॉमेडी का आविर्भाव हुआ। उसका विकास द्रुत गति से हुआ। एरिस्टोफेन्स के सुखात नाटको मे यूनानी कॉमेडी का विशिष्ट रूप द्रष्टव्य है।

सिसरो, होरेस प्रभृति रोमन विचारको ने कॉमेडी के स्वरूप और प्रयोजन पर प्रकाश डाला तथा प्लातस और तेरेन्स ने यथार्थ और व्यग्य को मिलाकर अनेक उत्कृष्ट कॉमेडियो की रचना की। मध्ययुग मे कॉमेडी शब्द अत्यत विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता था। उससे नाट्यरचनाओ के अतिरिक्त सुखात पद्यबद्ध कथाओ का भी बोध होता था। इसका प्रमुख उदाहरण है दाते विरचित 'ला कामेदिया दीवीने'। नवजागरण के युग में पुन कॉमेडी का सीधा सबध नाट्यसाहित्य और रगशाला से स्थापित हुआ तथा प्राचीन शास्त्रीय नाट्यरचनाओ का प्रचलन बढा। तत्पश्चात् शास्त्रीय तथा देशज प्रभावो के सयोग से एक नवीन प्रकार की कॉमेडी की सृष्टि हुई जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण शेक्सपियर के नाटको मे मिलता है। यह रोमैंटिक कॉमेडी कल्पना और भावना पर आधृत थी तथा पूर्वनिर्धारित नियमो की अवहेलना करती थी। इसकी प्रतिक्रिया में शीघ्र ही क्लासिकल कॉमेडी का पुनरुत्थान हुआ और बेन जान्सन ने उसका वह रूप प्रस्तुत किया जिसे 'कॉमेडी ऑव ह्यूमर्स' कहते है। इसमे मानव स्वभाव की दुर्बलताओ का अतिरजित चित्रण यथार्थ जीवन की पृष्ठभूमि मे हुआ है। आगे चलकर मोलियेर, इथरिज, काग्रीव आदि ने कृत्रिम उच्चवर्गीय सामाजिक जीवन को आधार बनाकर उन नाटको की रचना की जिन्हे 'कॉमेडी ऑव मैनर्स' कहते है। इन सुखात नाटको में कभी कभी अतिशय अश्लीलता मिलती है जो अनेक पाठको और दर्शको को अरुचिकर प्रतीत होती है। १८वी शताब्दी मे ऐसी भावनाप्रधान तथा नैतिकतासपन्न कॉमेडियो की रचना हुई जिनका नाम 'सेंटिमेटल कॉमेडी' पड गया है। १९वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे फ्रास तथा स्पेन मे रोमैंटिक कॉमेडी का चरमोत्कर्ष हुआ और प्राय तभी से यूरोप और अमरीका मे ऐसी म्युजिकल कॉमेडी का प्रचलन भी बढने लगा जिसमे सगीत और परिहास का अनियत्रित उपयोग होता है। आधुनिक काल में कॉमेडी की अनेक विशेषताएँ गभीर समस्यामूलक नाटको में समाविष्ट हो गई है तथा अनेक ऐसे सुखात नाटक लिखे गए है जिनका प्रत्यक्ष सबध कॉमेडी लेखन के पुराने आदर्शो से नही है। तब भी हम यह नही कह सकते कि वर्तमान युग मे कॉमेडी ने विशेष उन्नति की है अथवा उसका कोई नवीन चमत्कारपूर्ण रूप प्रगट हुआ है।

यह तो सर्वस्वीकृत है कि कॉमेडी का सीधा सबध मनोरजन और हास्य से है। कॉमेडी का यह प्रयोजन कभी भुलाया नही जा सकता। किंतु उच्च कोटि की कॉमेडी मे मनोरजन के अतिरिक्त एक गभीर अभिप्राय भी छिपा रहता है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में कॉमेडी को मानव जीवन मे मिलनेवाली कुरुपता तथा जीवन के हास्यास्पद व्यापारो का ऐसा अनुकरण माना है जिसमे दूसरो को पीडा पहुँचाने के उद्देश्य का नितात अभाव रहता है। कॉमेडी के माध्यम से जीवन का परिष्कार होता है तथा उसका बिगडा हुआ सतुलन पुन स्थापित होता है। अनेक परवर्ती विचारको ने अरस्तू के इस सिद्धात को मान्यता प्रदान की है और ससार के अनेक महत्वपूर्ण सुखात नाटक इसी आदर्श को ध्यान मे रखकर लिखे गए है। कोरी हँसी उत्पन्न करनेवाले सुखात नाटक कॉमेडी के उच्चतम आदर्श से च्युत होकर फार्स अर्थात् प्रहसन की कोटि मे स्थान पाते है। इस प्रकार उत्कृष्ट कॉमेडी, हाई कॉमेडी, जीवन की अभिव्यक्ति तथा समीक्षा है, प्राय उसी प्रकार जसे ट्रैजेडी। वह भी जीवन के गभीर तत्वो के समझने का प्रयास है, अत ट्रैजेडी और कॉमेडी का भेद अततोगत्वा मौलिक नही सिद्ध होता।

कॉमेडी में अनेक साधन उपयोग मे लाए जाते है, जिनमें प्रमुख है ह्यूमर अर्थात् स्नेहन हास्य, विट अर्थात् वैदग्ध्य, सटायर अर्थात् उपहास, आयरनी अर्थात् व्यग्य इत्यादि। इन सभी साधनो को अलग अलग अथवा मिलाकर काम मे लाया जाता है और फलत कुरूपताओ और दुर्व्यवस्थाओ का उद्घाटन तथा हास्य का आविर्भाव होता है। कॉमेडी के पाठक और प्रेक्षक क्यो हँसते है, इस प्रश्न को लेकर दीर्घकाल से वादविवाद चला आया है। आनद और मनोरजन के क्षणो में हँसी स्वाभाविक है, अत सामान्य मत यह है कि लोग आनदोद्रेक के कारण हँसते है, किंतु कुछ दार्शनिको का यह मत है कि हँसी अहकार के कारण उत्पन्न होती है। प्रेक्षक प्रच्छन्न रूप से अपनी तुलना उस पात्र से करता है जिसका स्वरूप अथवा व्यवहार हास्यास्पद है और अपने को अपेक्षाकृत सुदर, बुद्धिमान अथवा सतुलित आचरणवाला पाता है। इससे उसको सतोष प्राप्त होता है जो उसकी हँसी का कारण है। एक धारणा यह भी है कि कॉमेडी मे दूसरे की निंदा और भर्त्सना से मानव मन की छिपी हुई पाशविक प्रवृत्ति का परितोष होता है और यही आनद का कारण है। हम कह चुके है कि कॉमेडी के अनेक रूप है और अपने विभिन्न रूपो मे वह हास्य के विभिन्न कारणो से सबधित है। कॉमेडी के ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमें सहानुभूति और सहृदयता आद्योपात विद्यमान रहती है और उसके ऐसे रूप भी है जिनमें कटु हास्य और व्यग्य का प्राधान्य मिलता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कॉमेडी से उत्पन्न होनेवाले हास्य के जितने कारण दिए गए है, आशिक रूप मे वे सभी सत्य है।

सामाजिकता कॉमेडी का विशिष्ट गुण है। प्रारभ से ही इसका सबध सामान्य लोकजीवन से निरतर बना रहा है। वैयक्तिक जीवन की समस्याएँ भी कॉमेडी मे सामाजिक परिवेश मे ही निरुपित होती है। सामाजिक प्रभावो और शक्तियो का पारस्परिक द्वद्व किस प्रकार अत मे मिटकर एक समन्वित व्यवस्था उत्पन्न करता है, यही कॉमेडी का प्रतिपाद्य है। इसी तथ्य को व्यक्तिगत जीवन मे भी निरूपित किया जाता है। उदाहरणार्थ शेक्सपियर के नाटको मे कुछ देर के लिये पात्र बाधा और कठिनाइयो के कारण व्यग्र हो उठते हैं, किंतु शीघ्र ही बाधाएँ मिट जाती है और कथानक का अवसान प्रेम और परिणय में होता है।

स०ग्र०—एरिस्टाटल पोएटिक्स, मेरेडिथ, जार्ज आन दी आइडिया ऑव कॉमेडी ऐंड दि यूजेज ऑव दि कामिक स्पिरिट, निकॉल, एलरडाइस थियरी ऑव ड्रामा, बेट्‌ले ऐड मिलेट् ड्रामा।

[रा० अ० द्वि०]

कायसाँ (Caisson) धँसाई जानेवाली एक मजूषा है, जिसका सिरा और पेंदा खुला रहता है एव उसमे एक या एक से अधिक कूप या द्वार बने रहते है। यह सेतुस्तभ, बदरगाह, प्राचीर आदि के निर्माण मे आधारतल का काम देता है और समुद्र तथा नदियो की तलहटी मे नीव डालने के कार्यस्थल से पानी को दूर रखता है। मजूषा तब तक धँसाई जाती है जब तक उसका पेंदा नीव मे वाछित तल तक न पहुँच जाय। मजूषा लकडी, इस्पात, पत्थर या कक्रीट की बनाई जा सकती है। कायसाँ साधारणतया दो श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है, पहला खुला कायसाँ और दूसरा वायवीय कायसाँ। इसकी धँसान कूप में खुदाई या निष्कर्षण करके की जाती है। धँसाने मे घर्षण के कारण अवरोध होता है जिसका, तल मे पानी के फौवारे का उपयोग करके, निवारण किया जाता है। कुँआ खोदने या धँसाने मे बालू, चिकनी मिट्टी, गोल पत्थर तथा सूक्ष्म बालू के स्तरो से गुजरना पडता है। कुएँ को सीधा धँसाने के लिये, ताकि वह किसी तरफ न झुके और न अपने स्थान से ही हटे, पर्याप्त कौशल एव अनुभव की आवश्यकता होती है। बहुधा कुएँ के अत और बहि पार्श्व के निचले भाग में पानी के तल की दाब से नरम और हल्की धरती मे दरार पड जाती है, जिससे बालू बह जाता है और जलस्राव सोतो की भाँति हवा में ऊँचाई तक उठने लगता है जिससे उत्स्रुत-कूप की दशा का भान होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये बहुधा गोताखोरो द्वारा खुदाई कराई जाती है।

जहाँ पर जलयुक्त महीन कणवाली असंसजक (non-cohesive) मिट्टी के कारण उपर्युक्त ढग से खुली धँसान कठिम या असभव हो जाती है वहाँ पर वायवीय धँसान का सहारा लिया जाता है।

खुले कायसाँ के कुएँ शिखर और पेंदे मे खुले रहते है। वायवीय कायसाँ की सतह के तल में एक कार्यवाही कक्ष रहता है जिसके पेंदे मे वायुरोधक ढक्कन लग रहते है। इन ढक्कनो मे वायुबद कक्ष रहते है, जिनके द्वारा मनुष्य और सामग्रियाँ कार्यवाही कक्ष मे प्रवेश कर सकती है या कक्ष से हवा को बाहर निकाले बिना बाहर आ सकती है। हवा की दाब इतनी रखी जाती है जो कायसाँ के बाहर के पानी की दाब के समकक्ष या समस्तरीय हो।

जब कायसाँ अपने आधार स्थान तक पहुँच जाता है तब उसका तल

साफ किया जा सकता है और उसे तैयार कर उसका निरीक्षण करके उसकी धारणक्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है।

वायवीय कायसाँ का सबसे महत्वपूर्ण अवयव वायुबद कक्ष है जिसमे नियत्रित ढग से आवागमन की व्यवस्था रहती है। सपीडित वायु मे, विशेषत शरीर से दुर्बल व्यक्तियो का, प्रवेश सकटप्रद होता है। जब वायु की दाब अधिक हो तो वायु की दाब बिना कम किए सपीडित वायु से निकलना भी सकटप्रद है। इससे शरीर के ऊतको तथा रक्त मे बुलबुले बन सकते है, रक्तस्राव, ऐंठन, लकवा या मृत्यु तक हो सकती है। इसलिये वायवीय धँसान एक सौ दस फुट से अधिक गहराई के लिये नही करनी चाहिए। इससे अधिक गहराई के लिये खुली धँसान ही सभवत अधिक उपयुक्त है। [सी० वा० जो०]

कायस्थ

सवर्ण हिंदुओ की एक उपजाति जो प्रधानतया उत्तर भारत में उत्तर प्रदेश से बगाल तक निवास करती है। कायस्थो के कुछ भेद गुजरात, महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत मे भी बिखरे हुए है। कायस्थ प्राय पढने लिखने का पेशा करते रहे हैं। नवीन आर्थिक परिस्थिति में ये धीरे धीरे अन्य पेशे भी करने लगे हैं। कायस्थ शब्द की व्युत्पत्ति सदिग्ध है। उदाहरणार्थ कुछ लोग इसे 'कार्यस्थ' का बिगडा हुआ रूप समझते है, परतु चूँकि स्वय 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग इसी रूप मे हजार बारह सौ साल (याज्ञवल्क्यस्मृति, मुद्राराक्षस) से होता आया है, कार्यस्थ से कायस्थ का बनना विशेष अर्थ नही रखता।

शिलालेखो, ताम्रपत्रो तथा प्राचीन ग्रथो मे आए हुए उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि गुप्तकाल से यह शब्द बराबर व्यवहार मे आता रहा है। इन उल्लेखो से यह भी स्पष्ट है कि १२वी शताब्दी तक कायस्थ शब्द का प्रयोग किसी जातिविशेष के लिये नही, बल्कि राजकर्मचारियो अथवा अहलकार के अर्थ मे होता था, जो राजमत्री से लेकर साधारण लेखक तक हुआ करते थे और जिनके पदो पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अनेक वर्णो के लोग नियुक्त हो सकते और होते थे। उदाहरणार्थ रायबहादुर महामहोध्याय प० गौरीशकर हीराचद ओझा ने लिखा है —"ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि जो लोग लेखक अर्थात् अहलकारी का काम करते थे वे कायस्थ कहलाते थे। पहले कायस्थो का कोई अलग भेद नही था। कायस्थ अहलकार का ही पर्याय शब्द है जैसा कि आठवी सदी के कोटा के पास के कणसुवा के एक शिलालेख से पाया जाता है। पीछे से अन्य पेशेवालो के समान इनकी भी एक जाति बन गई।" (मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, पृ० ४७, ४८)।

उत्तर भारत तथा गुजरात मे कायस्थो की १२ मुख्य उपजातियाँ प्रसिद्ध है। उनके अतिरिक्त महाराष्ट्र मे एक चद्रसेनी प्रभु उपजाति भी मिलती है। कुछ लोग दक्षिण भारत के पटनलकरण उपजाति की भी कायस्थो मे गिनती करते है। बगाली कायस्थो का एक अलग ही वर्ग है। १९२१ की जनसख्या के अनुसार कायस्थ २१,७८,३९० थे। उत्तर भारत की कायस्थो की उपजातियाँ निम्नलिखित है —१ श्रीवास्तव, २ सक्सेना, ३ भटनागर, ४ माथुर, ५ कुलश्रेष्ठ, ६ अष्ठाना, ७ निगम, ८ गौड, ९ अबष्ठ, १० करण, ११ वाल्मीकि और १२ सूर्यध्वज। जनसख्या के अनुसार इनमे प्रथम स्थान पूर्वी उत्तर प्रदेश के श्रीवास्तव (३ लाख, ३९ हजार), द्वितीय स्थान बिहार के करण (१ लाख ४५ हजार) और तृतीय स्थान पश्चिमी उत्तर प्रदेश के सक्सेनो को (९० हजार) देना होगा। बगाली कायस्थो की समस्त उपजातियो की सख्या लगभग १० लाख ६४ हजार थी। जनश्रुति के अनुसार बगाल के कायस्थो के पूर्वपुरुष कन्नौज से गए हुए माने जाते है। ऊपर गिनाए कायस्थ उपवर्णो मे अनेक ब्राह्मणगोत्रीय है, यह उल्लेखनीय है, यद्यपि गोत्र मात्र वर्ण से नही, पाणिनि के सूत्र—विद्यायोनिसम्बन्धौ—के अनुसार गुरु के सबध से भी हुआ करता था।

कायस्थो की उपजातियो मे आपस मे खानपान तथा विवाह सबध नही होता रहा है किंतु धीरे धीरे ये प्रतिबध अब टूट रहे है। [खा० च०]

कायाकल्प

प्राचीन काल मे आयुर्वेद मे कायाकल्प चिकित्सा का महत्वपूर्ण स्थान था। जो व्याधि विविध चिकित्सा-विधियो से दूर नही हो पाती वह कायाकल्प चिकित्सा से समूल नष्ट हो जा सकती है, ऐसा कुछ चिकित्सको का विश्वास था।

आयुर्वेद दर्शन के अनुसार मानव शरीर जिन तत्वो से बना है उनकी शरीर में न्यूनता अथवा अधिकता से ग्रथियां और कोशिकाएँ विकृत हो जाती हैं जिससे रोगो की उत्पत्ति होती है। अत तत्वो की न्यूनता मे शरीर में यदि उन तत्वो को अथवा समान गुणधर्मवाले पदार्थो को प्रविष्ट या सेवन कराया जाय अथवा तत्वो की अधिकता मे किसी उपाय से उन्हे शरीर से बाहर निकाल दिया जाय तो तत्वो का सतुलन फिर स्थापित किया जा सकता है और उससे स्वास्थ्य, स्मृति, सौंदर्य आदि फिर से लौटाए जा सकते हैं और आकृति मे अभिनवता लाई जा सकती है।

कायाकल्प के दो भेद कहे गए हैं। एक को वातातपिक और दूसरे को कुटीरप्रावेशिक कहते हैं। पहले प्रकार का सपादन हर स्थान मे किया जा सकता है, पर दूसरे प्रकार के लिये एक विशेष प्रकार की निश्चित माप की कुटी बनाई जाती है जिसमें मनुष्य को कुछ निश्चित काल तक निवास करना पडता है। इन चिकित्साओ मे आहार का नियत्रण और उपयुक्त वानस्पतिक ओषधियो, पारद की पर्पटियो, दूध, मट्ठा (छाछ) आदि विभिन्न प्रकार के रसायनो का सेवन कराया जाता है। [गौ० कृ० गो०]

कायोत्सर्ग

मुनि के सामयिक, सस्तव, वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, ये 'षड् आवश्यक' कार्य है। कायोत्सर्ग का शब्दार्थ 'शरीर के ममत्व का त्याग' है। मूलाचार (अ० ७, गा० १५३) के अनुसार इसका लक्षण (परिभाषा) है—पैरो मे चार अगुल का अतराल देकर खडे हो, दोनो भुजाएँ नीचे को लटकती रहें और समस्त अगो को निश्चल करके यथानियम श्वास लेने (प्राणायाम) पर कायोत्सर्ग होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग ध्यान की शारीरिक अवस्था (समाधि) का पर्यायवाची है, जैसा "जिन सुथिर मुद्रा देख मृगगन उपल खाज खुजावते" से स्पष्ट है। सकल्प-विकल्प-रहित आतरिक थिरता को ध्यान (आत्मकायोत्सर्ग) कहा है। अपराधरूपी व्रणो के भैषजभूत कायोत्सर्ग के दैनिक, मासिक आदि अनेक भेद है। उत्कृष्ट कायोत्सर्ग एक वर्ष तक तथा जघन्य अतर्मुहूर्त (एक क्षण से लेकर दो घडी के पहिले तक) होता है। [खु० च० गो०]

कारखानों का निर्माण और उनकी योजना

बडे बडे कारखानो के लिये छाजनदार विस्तृत स्थान की आवश्यकता पडती है जिसमें बडी बडी मशीने रखी जा सकें तथा काम करनेवाले सब आदमी सुविधापूर्वक कार्य कर सकें। क्रेन इत्यादि से भारी सामान पहुँचाने के लिये कमरे पर्याप्त ऊँचे तथा चौडे भी रखने पडते हैं। कार्यकर्ताओ को अधिक से अधिक प्रकाश मिल सके (जिससे बिजली का खर्च कम हो) और प्रकाश भी ऐसा हो जिसके द्वारा गहरी परछाईं न पडे, इसकी भी व्यवस्था रहनी चाहिए।

कारखानो के निर्माण मे बडे बडे तथा ऊँचे कमरे बनाना प्राय आवश्यक ही होता है। बीच मे दीवार या पाया देने से रुकावट न पडे, इसलिये छत अधिकतर बडी बडी कैंचियो पर रखी जाती है। इसलिये अधिकाश छतें लोहे या ऐसबेस्टस की चादर की बनाई जाती है जिसमे उत्तरीय प्रकाश का भी प्रबध करना पडता है। उत्तरीय प्रकाश से अभिप्राय यह है कि कमरो की दिशा ऐसी रखी जाती है कि उत्तर दिशा में कैंची मे खडा ढाँचा देकर शीशा जड देने से आकाश से, उत्तर दिशा से, छत द्वारा कमरे मे प्रकाश आता है। प्रात काल से सायकाल तक उत्तर दिशा मे प्रकाश की तीव्रता मे अधिक परिवर्तन नही होता। अत कमरे मे भी प्रात से साय तक ऊपर मे प्राय समान प्रकाश आता है, जिससे परछाईं नही पडती। अधिक प्रकाश आने के लिये शीशे की खिडकियाँ भी बडी रखी जाती है।

कैंची प्राय ८-१० फुट की दूरी पर एक दूसरे के समातर रखी जाती है। अत यदि लबाई की दिशा मे स्थान की कमी न हो तो वाछित लबाई का कमरा बनाया जा सकता है। अपेक्षित चौडाई के लिये कैंची बहुत भारी और मँहगी पडे तो बीच में पायो की पक्ति देकर दूसरी कैंचियो की पक्ति भी रखी जा सकती है, अथवा कोई दूसरा कमरा बनाया जा सकता है।

मशीनो के चलने से पृथ्वी मे होनेवाले कपन के कारण दीवारो को धमक पहुँचती है, जिससे कमजोर दीवारो के ढह जान का भय रहता है। दूसरे, कारखानो की दीवारे वहुत कडी होती हैं और उनपर बोझ भी वहुत अधिक रहता है। तीसरे, आँधी चलने के समय हवा की दाव सहने की क्षमता भी उनमें होनी चाहिए। इन्ही कारणो से कारखानो की दीवारे साधारण मकानो की दीवारो से अधिक पुष्ट बनाई जाती है।

कारखानो का फर्श वहुत चिकना नही होना चाहिए, जिससे काम करनेवालो के फिसलने का डर न रहे। वैसे भी, फर्श अधिक कडा और दृढ होना चाहिए, जिससे मशीनो की घडघडाहट तथा भारी सामान के बोझ से क्षति न पहुँचे। फर्श की पुष्टता बढाने के लिये सीमेट मे कक्रीट की मात्रा बढा दी जाती है, अथवा सोडियम सिलिकेट या आइरोनाइट का उपयोग किया जाता है।

कारखानो मे भीतर की गदी तथा गीली हवा वदलने के लिये हवा बाहर फेकनेवाले बिजली के पखे छत के पास लगाए जाते हैं। इस प्रकार भीतर की गरम तथा गीली हवा बराबर शुद्ध हवा द्वारा बदलती रहती है।

कारखाने में सामान इत्यादि की चोरी रोकने के निमित्त तथा कर्मियो को विना आज्ञा के भीतर बाहर आने जाने से रोकने के लिये कई द्वारो के स्थान पर एक ही बडा द्वार बनाया जाता है, जिसपर प्राय चौकीदार रहता है। इस द्वार के अतिरिक्त आग लगने पर बच निकलने के लिये दूसरी ओर भी एक अन्य द्वार लगा देना आवश्यक है।

कारखाने की मशीनो की घडघडाहट के कारण वहुत अधिक शोर और आवाज होती है, इसलिये कारखाने को वस्ती से अलग नगर के एक किनारे पर रखना चाहिए। वहुत से कारखानो मे चिमनी से निकलनेवाला धुआँ भी विषाक्त गैस से भरा रहता है। इनसे बचने के हेतु भी कारखाने को आबादी से हटकर ही बनाना चाहिए।

वडे वडे कारखानो के निर्माण के लिये स्थान चुनते समय इस बात पर विचार कर लेना चाहिए कि पानी और बिजली पर्याप्त मात्रा में और सुविधापूर्वक मिल सके। इसके अतिरिक्त गदे पानी इत्यादि की निकासी भी समुचित और सस्ते उपायो से हो सके।

कारखाने का स्थान नियत करते समय यह भी विचार रखना चाहिए कि पास मे कच्चा माल उपयुक्त मात्रा में तथा मजदूर उचित मूल्य पर मिल जायँगे कि नही। जमीन के चुनाव के समय पानी तथा मिट्टी की जाँच भी इस विचार से करनी चाहिए कि पानी शुद्ध हे तथा भूमि के नीचे की परत वहुत ऊँची तो नही है और नीव डालने के लिये मिट्टी यथेष्ट दृढ है।

अत कारखाने के निर्माण के लिये उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त स्थान चुनते समय यह बात भी दृष्टि मे रहे कि भविष्य मे कारखाने के विस्तार के लिये पर्याप्त भूमि भी सरलता से और सस्ते दाम में मिल सके। यदि कारखाना मालिक बडा पूँजीपति हो तो प्रारभ मे ही अधिक जमीन खरीद लेना उचित होगा। [का० प्र०]

कारखानों में उत्पादन का इतिहास

प्रारभ में वस्तुएँ कारीगरो के घर पर ही बना करती थी, परतु जैसे जैसे कारीगरो द्वारा निर्मित वस्तुओ का उपयोग बढा वैसे वैसे वडे पैमाने पर निर्माण की आवश्यकता भी बढी। साहसी व्यापारी कारीगरो के घर सामान पहुँचाकर और उन्हे आर्थिक सहायता देकर सामग्री बनवाने लगे। परतु कारीगरो तक माल पहुँचाने और उनसे निर्मित सामग्री इकट्ठी करने मे बहुतसमय नष्ट होता था, काम बराबर अच्छे मेल का नही बनता था, कारीगर बहुधा समय पर काम पूरा नही करते थे और कारीगरो द्वारा माल दवाकर वैठ जाने का वडा भय रहता था। इसलिये साहसी व्यापारी वडे वडे भवन बनवाकर वही कारीगरो को बुलाने लगे और इसी से कारखानो की उत्पत्ति हुई। इसमें अवगुण यह था कि उपयुक्त भवन बनवाने मे वहुत सी पूँजी फँस जाती थी। यदि यत्रो की आवश्यकता होती थी तो उसमे भी पूँजी लगती थी। जब कारीगर दूर दूर से आते थे तव उनके रहने का भी प्रबध करना पडता था, फिर, कारीगरो के कार्य के निरीक्षण के लिये रखे गए व्यक्तियो का वेतन भी देना पडता था। इन सब अवगुणो के होते हुए भी कारखानो की सख्या बढने लगी। ग्रेट ब्रिटेन मे कारखानो का विकास सवसे पहले हुआ। सन् १७५६ ई० तक वहाँ कई छोटे मोटे कारखाने खुल गए थे। कालातर मे वाष्प इजन के आविष्कार (१७६६ ई०) के बाद कारखानो की वृद्धि वहुत शीघ्र हुई। इसी समय के लगभग इंग्लैंड के तीन व्यक्तियो (हारग्रीव्ज, आर्कराइट और क्रॉम्पटन) ने क्रमानुसार सूत कातने, कपडा बुनने और तागा वटने की मशीनो की उपज्ञा की और तब से कपडा वडे वडे कारखानो में बनने लगा। १९वी शताब्दी के मध्य तक अनेक प्रकार के कारखाने स्थापित हो गए थे, जैसे कागज, पुस्तको, काच, मिट्टी के वरतनो, धातु के वरतनो, इजनो, मशीनो, जूतो, लकडी की वस्तुओ, मक्खन, डिब्बाबदी, पावरोटी आदि के। उस शताब्दी के अत तक पाव रोटी, वाइसिकिल, मोटरकार, बिजली के सामान, रासायनिक पदार्थ, रबर आदि के भी कारखाने खुल गए।

यद्यपि ब्रिटेन ने मशीनो और कारीगरो का बाहर जाना वद कर रखा था, तो भी चोरी से कुछ मशीनें और अनेक कारीगर बाहर चले ही गए और यूरोप तथा अमरीका मे भी कारखाने बनने लगे। अमरीका में कारखानो की विशेष आवश्यकता थी, क्योकि वहाँ कारीगरो और श्रमिको की कमी थी। वहाँ मशीनो के निर्माण मे विशेष विकास हुआ और ऐसे अनेक यत्र बने जो प्राय स्वचालित थे।

प्रारभिक कारखाने छोटे होते थे क्योकि एक व्यक्ति अधिक पूजी नही लगा सकता था। लाख दो लाख रुपए की पूँजी प्राय एक सीमा थी। परतु १९वी शताब्दी के अत मे, साझे के कारखाने चलने लगे और कपनियो के विषय मे नियम बन जाने पर सीमित उत्तरदायित्व की कपनियाँ बडी शीघ्रता से खुलने लगी। श्रमिको की कमी भी तब पूरी होने लगी जब श्रमिको के स्वास्थ्य और सुख के लिये कानून बने। पहले श्रमिको को प्रति दिन १२ घटे काम करना पडता था। धीरे धीरे यह समय घटकर आठ घटे या इससे भी कम हो गया। साथ ही, श्रमिको के लिये न्यूनतम वेतन, छुट्टियो, आयुर्वैज्ञानिक उपचार, बीमा आदि के भी नियम बन गए। बालको से कारखानो मे काम कराना वद कर दिया गया। इनमे से कई सुविधाओ की प्राप्ति के लिये श्रमिको को कष्टप्रद हडतालें करनी पडी थी। अब विश्व के अधिकाश कारखानो के श्रमिक सुख से रहते हैं और विशेष मशीनो के कारण थोडे ही मानव श्रम से वहुत अधिक सामग्री की उत्पत्ति होती है, जिससे उपभोक्ता को कोई सामग्री वहुत महँगी नही पडती।

स० ग्र०—एच० डी० फ्रॉड्ज दि ट्रायफ ऑव दि फैक्टरी सिस्टम इन इग्लैंड (१९३०), वी० एम० क्लाक हिस्ट्री ऑव मैनुफैक्चरस इन दि यूनाइटेड स्टेट्स, ३ जिल्द (१९२९)।

कारडोवा

यूरोप मे दक्षिणी स्पेन का एक प्रात तथा उसकी राजधानी है। इसी नाम का एक अन्य नगर उत्तरी अमरीका के अलास्का राज्य के उत्तरी-पश्चिमी भाग मे भी स्थित है।

स्पेन का कारडोवा नगर ग्वॉडलक्विवर नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। सभवत यहाँ पर प्रथम बस्ती कार्थोजियन राज्यकाल मे हुई। १५२ ई० पू० में इसपर रोमन अधिकार हो गया। ७५६ ई० मे मूर शासक अब्दुर्रहमान ने इसे स्पेन की राजधानी वनाया। नगर मे रोमन दीवारो की नीवे तथा मूर काल की सँकरी और टेढी मेढी गलियाँ विद्यमान हैं। १८०८ ई० में फ्रासीसियो ने कारडोवा में जो लूटपाट की उसका प्रभाव उस शताब्दी के अत तक नही मिट सका।

नगर का मुख्य दर्शनीय भवन मेजक्विटा अर्थात् मसजिद है जो अब एक गिरजाघर है। यहाँ के मुख्य उद्योग शराब तथा कपडा बनाना हैं। यात्रियो से अच्छी आय होती है। ताँवा तथा तेल के निर्यात महत्वपूर्ण हैं। जनसख्या १,६५,४०३ (१९५०)।

कारडोवा प्रात की सीमाएँ उत्तर-पूर्व मे क्युडाडरियल, पूर्व में जेन, दक्षिण-पूर्व मे ग्रैनाडा, दक्षिण में मैलागा, दक्षिण-पश्चिम में सेविल तथा उत्तर-पश्चिम में वेडाजोज द्वारा निर्धारित होती है। क्षेत्रफल ५,३०० वर्ग मील, जनसख्या ७,८१,९०८ (१९५०)। ग्वॉडलक्विवर नदी के उत्तर का भाग सियराडी मोरेना की पर्वतीय पट्टी है तथा दक्षिण का भाग ला कैपिना का विशाल मैदान है।

पर्वतीय भाग मे पर्याप्त खनिज सपत्ति है तथा मैदान मे उपजाऊ मिट्टी है, परतु यहाँ के निवासियो के अज्ञान से किसी का सदुपयोग नही हुआ है। पर्वतीय भाग मे भेडें तथा सुअर पाले जाते हैं। मैदान मे

अनाज तथा फल उत्पन्न होते हैं और शराब तथा तेल तैयार किया जाता है। प्रात मे कोयला, चादी, सीसा तथा जस्ता भी निकाला जाता है। यहाँ के मुख्य नगर कारडोवा, लुसेना, पुंटे गेनिल, वेना तथा माटिला है। [प्रे० च० अ०]

कारण जो कार्य के पूर्व मे नियत रूप से रहता हो और अन्यथासिद्ध न हो उसे कारण कहते है। केवल कार्य के पूर्व में रहने से ही कारणत्व नही होता, कार्य के उत्पादन में साक्षात्कार सहयोगी भी उसे होना चाहिए। अन्यथासिद्धि (दे० अन्यथासिद्धि) मे उन तथाकथित कारणों का समावेश होता है जो काय की उत्पत्ति के पूर्व रहते है पर कार्य के उत्पादन में साक्षात् उपयोगी नही है। जैसे कुम्हार का पिता अथवा मिट्टी ढोनेवाला गधा घट रूप कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध हैं।

कार्य-कारण-सबध अन्वयव्यतिरेक पर आधारित है। कारण के होने पर कार्य होता है, कारण के न होने पर कार्य नही होता। प्रकृति मे प्राय कार्य-कारण-सबध स्पष्ट नही रहता। एक कार्य के अनेक कारण दिखाई देते हैं। हमे उन अनेक दिखाई देनेवाले कारणों में से वास्तविक कारण ढूंढना पडता है। इसके लिये सावधानी के साथ एक एक दिखाई देनेवाले कारणों को हटाकर देखना होगा कि कार्य उत्पन्न होता है या नही। यदि कार्य उत्पन्न होता है तो जिसको हटाया गया है वह कारण नही है। जो अत मे शेष बच रहता है वही वास्तविक कारण माना जाता है। यह माना गया है कि एक कार्य का एक ही कारण होता है अन्यथा अनुमान की प्रामाणिकता नष्ट हो जायगी। यदि धूम के अनेक कारण हो तो धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान करना गलत होगा। जहाँ अनेक कारण दिखाई देते है वहाँ कार्य का विश्लेषण करने पर मालूम होगा कि कार्य के अनेक अवयव कारण के अनेक अवयवो से उत्पन्न है। इस प्रकार वहाँ भी कार्यविशेष का कारणविशेष से सबध स्थापित किया जा सकता है। कारणविशेष के समूह से कार्यविशेष के समूह को उत्पन्न मानना भूल है। वास्तव मे समूह रूप में अनेक कारणविशेष समूहरूप में कार्य को उत्पन्न नही करते। वे अलग अलग ही कार्यविशेष के कारण है।

कार्य के पूर्व मे नियत रूप से रहना दो तरह का हो सकता है। कारण कार्य के उत्पादन के पहले तो रहता है परतु कार्य उस कारण से पृथक् उत्पन्न होता है। कारण केवल नवीन कार्य के उत्पादन में सहकारी रहता है। मिट्टी से घडा बनता है अत मिट्टी घडा का कारण है और वह कुम्हार भी जो मिट्टी को घडे का रूप देता है। कुम्हार के व्यापार के पूर्व मिट्टी मिट्टी है और घडे का कोई अस्तित्व नही है। कुम्हार के सहयोग से घडे की उत्पत्ति होती है अत घडा नवीन कार्य है जो पहले कभी नही था। इस सिद्धात को आरभवाद कहते हैं। कारण नवीन कार्य का आरभक होता है, कारण स्वय कार्य रूप में परिणत नही होता। यद्यपि कार्य के उत्पादन मे मिट्टी, कुम्हार, चाक आदि वस्तुएं सहायक होती है परतु ये सब अलग अलग कार्य (घडा) नही है और न तो ये सब समिलित रूप में घडा है। घडा इन सबके सहयोग से उत्पन्न परतु इन सबसे विलक्षण अपूर्व उपलब्धि है। अवयवो से अवयवी पृथक् सत्ता है, इसी सिद्धात के आधार पर आरभवाद का प्रवर्तन होता है। भारतीय दर्शन मे न्यायवैशेषिक इस सिद्धात के समर्थक है।

कार्य का कारण के साथ सबध दूसरी दृष्टि से भी देखा जा सकता है। मिट्टी से घडा बनता है अत घडा अव्यक्त रूप मे (मिट्टी के रूप मे) विद्यमान है। यदि मिट्टी न हो तो चूकि घडे की अव्यक्त स्थिति नही है अत घडा उत्पन्न नही होता। वस्तुविशेष ही कार्यविशेष के कारण हो सकते है। यदि कार्य कारण से भिन्न नवीन सत्ता हो तो कोई वस्तु किसी कारण से उत्पन्न हो सकती है। तिल की जगह बालू से तेल नही निकलता क्योंकि प्रकृति मे एक सत्ता का नियम काम कर रहा है। सत्ता से ही सत्ता की उत्पत्ति होती है। असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती—यह प्रकृति के नियम से विपरीत होगा। सान्ख्ययोग का यह सिद्धात परिणामवाद कहलाता है। इसके अनुसार कारण कार्य के रूप मे परिणत होता है, अत तत्वत कारण कार्य से पृथक् नही है।

इन दोनों मतो से भिन्न एक मत और है जो न तो कारण को आरभक मानता है और न परिणामी। कारण व्यापाररहित सत्ता है। उसमें कार्य की उत्पत्ति के लिये कोई व्यापार नहीं होता। कारण कूटस्थ तत्व है। परतु कूटस्थता के होते हुए भी कार्य उत्पन्न होता है क्योकि द्रष्टा को अज्ञान आदि बाह्य उपाधियों के कारण कूटस्थ कारण अपन शुद्ध रूप मे नही दिखाई देता। जैसे भ्रम की दशा में रस्सी की जगह सर्प का ज्ञान होता है, वैसे ही कारण की जगह कार्य दिखाई पडता है। अत कारणकार्य का भेद तात्विक भेद नही है। यह भेद औपचारिक है। इस मत को, जो अद्वैत वेदात में स्वीकृत है, विवर्तवाद कहते हैं। आरभवाद में कार्य कारण पृथक् हैं, परिणामवाद में उनमें तात्विक भेद न होते हुए भी अव्यक्त-व्यक्त-अवस्था का भेद माना जाता है, परतु विवर्तवाद मे न तो उनमे तात्विक भेद है और न अवस्था का। कार्य कारण का भेद भ्रात भेद है और भ्रम से जायमान कार्य वस्तुत असत् है। जब तक दृष्टि दूषित है तभी तक व्यावहारिक दशा में वे दोनो पृथक् दिखाई देते है। दृष्टिदोष का विलय होते ही कार्य का विलय और कारण के शुद्ध रूप के ज्ञान का उदय होता है।

कारण की तीन विधाएँ मानी गई है। (१) उपादान कारण वह कारण है जिसमे समवाय सबध से रहकर कार्य उत्पन्न होता है। अर्थात् वह वस्तु जो कार्य के शरीर का निर्माण करती है, उपादान कहलाती है। मिट्टी घडे का या तागे कपडे के उपादान कारण है। इसी को समवायि कारण भी कहते है। (२) असमवायि कारण समवायि कारण मे समवाय सबध से रहकर कार्य की उत्पत्ति मे सहायक होता है। तागे का रग तागे में, जो कपडे का समवायि कारण है, समवाय सबध से रहता है। और यही रग कपडे के रग का कारण है अत तागे का रग कपडे का असमवायि कारण कहा जाता है। समवायि कारण द्रव्य होता है, परतु असमवायि कारण गुण या क्रिया रूप होता है। (३) निमित्त कारण समवायि कारण मे गति उत्पन्न करता है जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है। कुम्हार घडे का निमित्त है क्योकि वही उपादान से घडे का निर्माण करता है। समवायि और असमवायि से भिन्न अन्यथासिद्धिशून्य सभी कारण निमित्त कारण कहे जाते है। अरस्तू के अनुसार कारण की चौथी विधा भी होती है जिसे वह प्रयोजक (फाइनल) कारण कहता है। जिस उद्देश्य से कार्य का निर्माण होता है वह उद्देश्य भी कार्य का कारण होता है। पानी रखने के लिये घडे का निर्माण होता है अत वह उद्देश्य घडे का प्रयोजक कारण है। इस चौथी विधा का निमित्त मे ही समावेश हो सकता है।

कारण के बारे मे आरभवाद का सिद्धात निमित्त कारण को महत्व देता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य का निर्माण होता है, यदि वह उद्देश्यस्थित वस्तुओ से पूर्ण हो जाय तो कार्य की आवश्यकता ही न रहेगी। अत निमित्त से पृथक् कार्य की स्थिति है और उसकी पूर्ति के लिये निमित्त उपादान में गति देता है। जीवो को उनके कर्मफल का भोग कराने के उद्देश्य से ईश्वर ससार का निर्माण करता है। परिणामवाद का जोर उपादान कारण पर है। गति वस्तु को दी नही जाती, गति तो वस्तु के स्वभाव का अग है। अत मुख्य कारण गति (निमित्त) नही अपितु गति का आधार (उपादान प्रकृति) है। अपने आप उपादान कार्य रूप में परिणत होता है, केवल अव्यक्तता के आवरण को दूर करने के लिये तथा सुप्त गति को उद्बुद्ध करने के लिये किसी निमित्त की आवश्यकता होती है।

कारण के बारे मे यदि क्षणिकवाद का उल्लेख न हो तो विषय अधूरा ही रह जायगा। उपादान और निमित्त भाव रूप होने के कारण बौद्धो के अनुसार क्षणिक है। उनकी स्थिति एक क्षण से अधिक नही रह सकती। ऐसी स्थिति में उपादान जब प्रतिक्षण बदलता है तो वह कार्य को कहाँ उत्पन्न कर सकेगा? अपने एक क्षण के जीवन में वह दूसरी वस्तु को उत्पन्न नही कर सकता। उत्पादन के लिये कम से कम चार क्षणों तक कारण की स्थिति आवश्यक है। प्रथम क्षण मे उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति, तृतीय क्षण मे दूसरी वस्तु का उत्पादन और चतुर्थ क्षण में नाश। परतु जब कारण चार क्षणों तक रह गया तो फिर उसका नाश कौन कर सकता है। परतु इससे यह न मानना चाहिए कि कारण नित्य है। यदि कारण नित्य है तो वह त्रिकाल में नित्य होगा, फिर कारण से कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी? यदि वस्तु नित्य है तो उसका आरभ कैसे होगा? न तो परिणामवाद और न आरभवाद इसका उत्तर दे

सकता है। विवर्तवाद तो हेय है क्योकि वह सारे ससार को भ्रम मानता है। अत क्षणिकवाद क्षणसतान को ही सत्य मानते हुए कहता है कि कारण-कार्य का सबध केवल क्रम का सबध (रिलेशन ऑव सीक्वेंस) है। क्षणसतान में जो पहला क्षण है वह कारण और बाद वाला क्षण कार्य कहा जा सकता है। इस क्रम के अतिरिक्त उनमें तात्विक कोई सबध नही है।

स०ग्र०—विश्वनाथ न्यायसिद्धातमुक्तावली, केशव मिश्र तर्कभाषा, उदयन किरणावली, वाचस्पति सांख्यतत्व कौमुदी, राधाकृष्णन इडियन फिलासफी, २ भाग, शातरक्षित तत्वसग्रह। [रा० पा०]

कारण शरीर वेदात मे जीव के तीन शरीर माने गए हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। अविद्या से युक्त आत्मा को जीव कहते हैं। जीव का स्थूल शरीर भौतिक तत्वो से निर्मित होता है। उसका सूक्ष्म शरीर ज्ञानेंद्रिय, कर्मेद्रिय, प्राण, मन और बुद्धि से निर्मित होता है। जीव का कारण शरीर अविद्या है। यह अपेक्षाकृत स्थायी होता है। स्थूल शरीर के नष्ट होने पर इसका विनाश नही होता। कारण शरीर विभिन्न जन्मो में जीव के साथ लगा रहता है। कारण शरीर से युक्त होने के कारण जीव को प्राज्ञ कहते हैं। कारण शरीर इसलिये कहलाता है कि प्रकृति का एक विशिष्ट रूप होने से यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर का कारण है क्योकि ये प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। जीव को जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है और उसे अपने आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है तब अविद्या से निर्मित कारण शरीर भी नष्ट हो जाता है। तब जीव जन्म मरण के बधन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। [रा० श० मि०]

कारदूच्ची, जूसूए इतालीय. कवि, आलोचक, देशभक्त राजनीतिज्ञ जूसूए कारदूच्ची का जन्म १८३५ मे हुआ। छोटी अवस्था मे ही उसने लातीनी तथा इतालीय कवियो की कृतियो का अध्ययन किया। कारदूच्ची को पिता की मृत्यु के पश्चात् अपने परिवार की भी देखरेख करनी पडी, किंतु उसका अध्ययन चलता रहा। १८६० में वह बोलोन विश्वविद्यालय में इतालीय साहित्य का अध्यापक नियुक्त हुआ और १९०४ तक उस पद पर कार्य किया। कारदूच्ची का सारा जीवन अध्ययन और राजनीति में बीता। १८९० में उसको सेनेटर मनोनीत किया गया। मृत्यु के कुछ समय पूर्व सन् १९०६ मे कारदूच्ची को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। राजनीति के क्षेत्र में प्रसिद्धि से वह दूर रहा किंतु समसामयिक इटली को एक राजनीतिक विचारधारा मे सूत्रबद्ध करने से उसका स्थान महत्वपूर्ण है।

स्वच्छदतावाद का कारदूच्ची ने विरोध किया। वह उसे पूर्ण रूप से विद्रोही विचारधारा की काव्यशैली समझता था। काव्य मे वास्तविकता का उसने समर्थन किया। कारदूच्ची प्राचीन काव्य तथा काव्यशास्त्र का गभीर विद्वान् था और उसके प्रथम काव्यसग्रह 'यूवेनीलिया' (१८५०–६०) की कविताओ मे प्राचीन युग की स्मृतियो से युक्त कविताएँ मिलती हैं। 'लेवियाग्राविया' (१८६१–७१) में तथा 'इन्नो आसताना' (शैतान के प्रति) मे मुक्त वातावरण के दर्शन होते हैं। 'ज्याबी एद एयोदी' व्यग्यपूर्ण गीतिकाव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसकी कविप्रतिभा के सबसे सुदर उदाहरण 'रीमे दुओवे' (नवीन कविताएँ १८६१–८७) तथा 'ओदी बारबरे' और 'रीमे ए रीतमी' की कविताओ में मिलते हैं। विभिन्न प्रकार के विषयो से सबधित कविताएँ इन सग्रहो में मिलती हैं, जिनमे प्रकृति के सुदर स्वाभाविक वर्णन, सगीत और गहन अनुभूति सभी कुछ मिलती है। उसकी सभी कविताओ में गभीर अध्ययन की झलक मिलती है। इतालीय साहित्य के इतिहास में कारदूच्ची का स्थान गद्यलेखक तथा आलोचक की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उसका गद्य अलकृत शैली का है, तर्क वितर्क से वह पूर्ण है। अनेक कवियो और प्राचीन लेखको की कृतियो का उसने सपादन भी किया तथा उनपर आलोचनाएँ लिखी। कारदूच्ची की आलोचनाएँ दे साक्तीस की कोटि की नही हैं। वह काव्यसमालोचना के सिद्धात का प्रतिपादन नही कर सका है। अपने पाठको को कवियो की कृतियो के रस से परिचित कराने का महत्वपूर्ण कार्य उसने अपनी आलोचनाओ के माध्यम से किया। ऐतिहासिक आलोचना की धारा का उसने सूत्रपात किया। पेत्रार्का, पोलीलिसियाते तथा अन्य प्राचीन कृतियो पर जो आलोचनाएँ कारदूच्ची ने लिखी उनका आज भी साहित्यिक मूल्य है। आज के इतालीय साहित्य में कदाचित् कवि की अपेक्षा साहित्यकार कारदूच्ची का अधिक महत्व है। [रा० सिं० तो०]

कार निकोबार भारत के निकोबार द्वीपसमूह का सबसे उत्तर में स्थित एक द्वीप है। क्षेत्रफल ४९ वग मील। धरातल मूँगे से ढका है। तट पर नारियल की पक्तियाँ हैं। वर्ष भर तीव्र वर्षा होती है। सूखे समय में गर्मी अधिक पडती है। मलेरिया अधिक होता है। यहाँ के निवासी व्यापारी प्रवृत्ति के हैं। यहाँ पर कुल निकोबार द्वीप के आधे नारियल उत्पन्न होते हैं, इसलिये यह द्वीप व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहाँ के निवासी बाँस की वस्तुएँ अच्छी बनाते हैं। प्रत्येक ग्राम में एक अल्दनम नामक कक्ष होता है जिसमें सभाभवन, विदेशियो की बस्ती, नारियल के कारखाने तथा श्मशानभूमि आदि रहती हैं। शवयात्रा के समय दो दल आपस में इस विवाद को लेकर मल्ल युद्ध करते चलते हैं कि शव को गाडा जाय या नही। [प्रे० च० अ०]

कारनेगी ट्रस्ट विश्वविश्रुत उद्योगपति ऐंड्रू कारनेगी (सन् १८३५–१९१९ ई०) के स्वस्थापित ट्रस्टो ने मानवतावादी दृष्टि से अंग्रेजी भाषाभाषी विश्व की साहित्य, कला, संस्कृति, शिक्षा एव समाजसेवा की दिशा में सेवा का उज्ज्वल दृष्टात उपस्थित किया है। कारनेगी स्काटलैंड के डनफर्मलिन् नामक स्थान में उत्पन्न हुए तथा १३ वर्ष की उम्र के बाद अमरीका चले गए। वहाँ अमरीकी पेन्सेलवेनियन काटन मिल में बाबिन ब्वाय (तागा उठानेवाला) के रूप में काम करने लगे। कालातर में वे पेनसेलवेनियन रेलवे बोर्ड के मत्री और युद्ध विभाग के अधिकारी नियत हुए। सन् १८६४ ई० में उन्होने उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश किया। तेल के व्यापार से अपना औद्योगिक जीवन आरभ कर सन् १८६५ मे ये लोहे और कोयले की खानो के स्वामी हो गए, फिर १८८८ ई० तक होम स्टील मिल, कोयले एव लोहे की खानो, ४२५ मील रेलवे लाइन और प्रपाती यातायात की एक लाइन खरीद ली। १९०१ ई० में यू० ए० स्टील कारपोरेशन में अपनी सस्थाओ के समेल (merger) के पश्चात् उन्होने अपना जीवन लोकसेवा के क्षेत्र में समर्पित कर दिया। वस्तुत लोकसेवा का कार्य उन्होने ३१ वर्ष की आयु से ही आरभ कर दिया था।

"पिट्सबर्ग कारनेगी इस्टीट्यूट" की स्थापना कारनेगी ने १८९५ ई० में स्थानीय लोगो की सुख सुविधा के लिये की। स्काटलैंड विश्वविद्यालय के हितार्थ "स्काटलैंड कारनेगी ट्रस्ट" (सन् १९०१ ई०) तथा उदात्त मानव मूल्यो के आधार पर व्यापक पैमाने पर खोज, शोध एव अनुसधान के लिये "वाशिंगटन कारनेगी ट्रस्ट" की स्थापना सन् १९०२ ई० में उन्होने की।

अमरीका निवासी होते हुए भी वे अपनी जन्मभूमि की सेवा से विमुख नही रहे और अपने जन्मस्थान डनफर्मलिन् के बच्चो के उन्नयन, विकास एव सवृद्धि के लिये "कारनेगी डनफर्मलिन् ट्रस्ट" की स्थापना की। उनके द्वारा वीर कार्यो को प्रोत्साहन, प्रवर्धन एव सरक्षण देने के लिये सन् १९०४ ई० मे "कारनेगी हीरो ट्रस्ट" की स्थापना की गई। सयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा तथा न्यू फाउडलैंड के शिक्षण प्रशिक्षण के विकास के लिये "कारनेगी फाउडेशन फार दि ऐडवासमेंट ऑव टीचिंग" की स्थापना हुई। युद्ध की सदा के लिये समाप्ति के उद्देश्य से, उसके कारण और परिणाम पर अनुसधान करने के लिये "कारनेगी एडाउमेंट फॉर इटरनैशनल पीस" नामक ट्रस्ट की १९१० ई० में उनके द्वारा हुई स्थापना विशेष महत्व रखती है।

"न्यार्क कारनेगी कारपोरेशन" ने ३१ करोड ५० लाख डालर का महत्वपूर्ण अनुदान सयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशो एव साम्राज्य के लोगो के लिये दिया। अपन जीवन के अतिम दिनो में एक करोड डालर से कारनेगी ने "कारनेगी यूनाइटेड किंगडम ट्रस्ट" की स्थापना की जिसका उद्देश्य परिवर्तित स्थितियो को ध्यान में रखते हुए ब्रिटेन, स्काटलैंड तथा आयरलैंड के विधानातर्गत राष्ट्रीय महत्व के लोको-

पयोगी कार्य करना है। सन् १९१७ ई० के रायल चार्टर के अतर्गत इनका सचालन होता है।

कारनेगी के ट्रस्टो द्वारा सगीत, साहित्य, कला, नाटक, रगमच, शिक्षा, पुस्तकालय, सग्रहालय, मातृ-शिशु-रक्षा, बाल तथा युवा क्रीडा-केंद्र, युवामगल, प्रौढोत्थान, ग्रामपुनर्निर्माण एव समाजसेवा आदि के क्षेत्रो में सतत सेवा का महत्वपूर्ण कार्य चल रहा है। अपने जीवनकाल में ४५ करोड डालर का दान इन महत्वपूर्ण ट्रस्टो को कारनेगी ने दिया था।

स० ग्र०—ए० कारनेगी आटोबायोग्राफी, सपादक, जे० सी० वानडिका, ब्रिटेन—ऐन आफिशल हैंड बुक, १९५९ सस्करण, सेंट्रल आफिस ऑव इनफारमेशन, लदन। [सु० पा०]

कारनेगी, डेविड

एक अन्वेषक था जो पश्चिमी आस्ट्रेलिया के मरुस्थलीय क्षेत्र में सोना तथा चरागाह की प्राप्ति के उद्देश्य से सन् १८९५ ई० से १८९७ ई० तक भ्रमण करता रहा। जुलाई, १८९६ ई० में इसने कुलगार्डी की सोने की खान से उत्तर मे किंबरले (Kimberley) के पठार तक लगभग ५,००० मील की यात्रा आठ मास मे तय की, किंतु यह सोना और चरागाह, दोनो की खोज में असफल रहा। इस यात्रा का सजीव वर्णन उसने अपनी 'स्पिनिफेक्स ऐंड सैंड' (Spinifex and Sand) नामक पुस्तक में किया है। इसके द्वारा पश्चिमी आस्ट्रेलिया के मरुस्थलीय क्षेत्र की विशेष जानकारी प्राप्त होती है। कारनेगी ने उक्त पुस्तक मे ३० फुट से ५० फुट ऊँचे बालू के टीलो के मिलने का उल्लेख किया है। ये इस मरुस्थलीय क्षेत्र मे २६° दक्षिण के उत्तर लगभग ४०० मील तक फैले हैं [न० प्र० सिं०]

कारनेय पियर

(१६०६-१६८४) इनका जन्म रुआँ में ६ जनवरी, सन् १६०६ को हुआ था। इनके पिता न्यायनिष्ठ मजिस्ट्रेट थे। आरभ मे ये मध्यवर्गीय (बूर्ज्वा) थे, किंतु अपनी सेवाओ के कारण कालातर मे कुलीन (नोबुल) बना दिए गए। इन्होंने जेसुइट स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। सन् १६२४ मे इन्होंने वकालत करने के लिये अपना नाम लिखवाया किंतु इनका व्यवसाय वकालत नही, काव्य था। इन्होंने सन् १६२९ मे 'मेलांज पोएतिक' और प्रथम सुखात नाटक 'मेलित' लिखा जो इनके निजी विफल प्रेमव्यापार पर आधारित है। इनके आरभिक छ सात सुखात नाटको मे कोई महान् गुण नही था, किंतु नवीनता एव आकर्षण के कारण उन्हें सफलता प्राप्त हुई। सन् १६४० मे एक मध्यवर्गीय महिला मारी द लामपियर से इन्होंने विवाह किया जिनसे छ सताने हुई।

रुआँ मे कॉरनेय की नाटक विषयक सफलता ने रिशलू का ध्यान आकृष्ट किया और कारनेय पेरिस जाकर 'पाले कारदिनाल थेआत्र' के रिशलू-कविमडल मे समिलित हो गए। इस प्रकार नाट्यशाला के नाटककारो से इनका निकटतर सपर्क हुआ। 'मेदे' इनका प्रथम दु खात नाटक है। इस युगप्रवर्तनकारी पुस्तक ने इन्हे प्रसिद्ध कर दिया। 'ल सिद' (१६३६) बहुत लोकप्रिय हुआ, किंतु अन्य नाटककार तथा रिशलू उनसे अप्रसन्न हुए और रिशलू के सकेत पर अकादेमी ने उसकी कटु आलोचना की। इससे उत्पन्न घृणा के कारण कॉरनेय तीन वर्ष के लिये रुआँ लौट आए।

'ल सिद' की आलोचना के पश्चात् 'कॉरनेय' रोमास तथा दु खात्मक सुखात नाटक को छोडकर विशुद्ध दु खात नाटक की ओर प्रवृत्त हुए। सन् १६४० और १६४३ के बीच लिखी हुई इनकी सर्वोत्कृष्ट पुस्तकें 'होरास', 'सिना' और 'पॉलियुत' हैं। सन् १६४३ और १६५२ के बीच इन्होंने १० नाटक लिखे जिनमें 'ला मॉर्त द पॉम्पे', 'रोदोगुन', 'आंद्रोमेद', 'निकोमेद' आदि सात दु खात नाटक तथा दो सुखात नाटक हैं। 'ल मातर' फ्रेंच सुखात नाटको का अग्रदूत है, जिसमे एक सफेद झूठ बोलनेवाले पात्र की व्यग्रता का सुदर चित्रण है। 'सुरन' को सफलता नही मिली। 'दॉन् सॉश दारागां' वीर रसपूर्ण सुखात नाटक है। सन् १६५९ और १६७४ के बीच इन्होंने ११ नाटक लिखे जिनमें 'ला त्वाज़ांदॉर', 'सेरतॉरियस', 'अतिला' और 'तित ए बेरेनिस' (रासिन के 'बेरेनिस' से उत्कृष्ट) मुख्य हैं। इनके परवर्ती नाटक इनके पूर्ववर्ती नाटको की तुलना में अच्छे नहीं हैं।

दो बार अस्वीकृत होने के पश्चात् सन् १६४७ मे ये अकादेमी के सदस्य चुने गए। कॉरनेय मध्यवर्गीय गुणो एव परिमितियो से युक्त प्रातीय (बोहीमियन नही) पुरुष थे। ये स्नेहपूर्ण एव कर्तव्यपरायण पुत्र, भाई तथा पिता थे। ये असुदर आकृति, कठोर रूप, अनाकर्षक व्यवहार, पवित्र प्रकृति और स्खलित स्वरवाले मनुष्य थे। यह धारणा भ्रात है कि इनका निधन निर्धनावस्था मे हुआ। इनका देहात ३० सितबर, सन् १६६४ को हुआ।

सन् १६२९ और १६७४ के बीच कॉरनेय ने ३३ नाटक लिखे, जिनमे ८ अत्यत उत्कृष्ट हैं। ये अनुपम लेखक थे। इनके आरभिक सुखात नाटको में आडबर तथा चपलता है, किंतु वे थकानेवाले नही हैं। इनके अतिम छ नाटक महत्वहीन हैं। इनके नाटको के कुछ अनुच्छेद एव उपकथाएँ विचार की उच्चता, गठन की समीचीनता तथा भाषा की उपयुक्तता की दृष्टि से अनुपम हैं, किंतु कही कही उनमे व्यर्थ बडे बडे शब्दो का प्रयोग भी हुआ है। इनकी कविताएँ नीरस तथा भद्दी हैं।

जब कॉरनेय पेरिस आए तब रिनेसाँ क्लैसिकल ड्रामा विलीन हो चुका था, करुण दु खात नाटक का अध पतन हो रहा था, और दु खपूर्ण सुखात नाटक लोकप्रिय था। कॉरनेय ने यही अतिम नाट्यप्रणाली अपनाई। इनके दु खात नाटक का अभिप्राय वीररसप्रधान रोमाटिक नाटक, जिसमे पात्रो की शक्ति का प्रदर्शन, सकल्प-शक्ति के विश्वास की व्याख्या तथा गौरव की श्लाघनीय खोज होती थी। कॉरनेय फ्रेंच क्लैसिकल दु खात नाटको के रचयिता थे। इन्होंने कार्यो में मनोविश्लेषण पर बल दिया। इनके पात्रो के विषय में यह भ्रात धारणा है कि वे 'सुदर विचार' हैं, जीवित मनुष्य नही। वस्तुत वे असाधारण मनुष्य हैं। जीवन की साधारण वस्तुओ के प्रति उनकी निश्चितता दर्शनीय है। ये नारी-चित्रण की अपेक्षा पुरुषचित्रण मे अधिक सफल हुए हैं।

कॉरनेय ने गुणो पर नही, वरन् सकल्प पर बल दिया है। वीरतापूर्ण चरित्र की उदात्तता इनके दु खात नाटको का प्रधान गुण है। 'ल सिद' में एक पुत्र के उदात्त एव वीरतापूर्ण कर्तव्यपालन तथा समान का, 'होरास' मे देशभक्ति का, 'सिना' मे कृपा का, 'पॉलियुत' मे विश्वास का और 'निकोमेद' में सैनिक वीरता का चित्रण है। इनके समस्त नाटको में आत्मा की उच्चता परिलक्षित होती है। सम्राटीय रोम, सामतीय स्पेन तथा मूर्ति-पूजा-सबधी पौराणिक कथाओ के द्वारा इन्होंने लुई चतुर्दश के फ्रास की आत्मा की अभिव्यक्ति की है। सम्राटीय रोम ने कॉरनेय को उनके नाटको के लिये विषय प्रदान किए। कठिन, पुष्ट, सकीर्ण, व्यावहारिक तथा अप्रगीतात्मक रोमन प्रतिभा फ्रेंच प्रतिभा के साथ मिलकर कॉरनेय की असाधारण प्रतिभा के अनुकूल हुई।

कॉरनेय शेक्सपियर की भाँति प्रगीतात्मक नाटक नही लिख सके। इनमे शक्सपियर जैसी व्यापकता और काव्यात्मक उच्चता का अभाव है। इनके नाटको में कल्पना की उडान नही, किंतु तर्क की प्रधानता है। इनके पात्र बडे ही तर्कवादी हैं। ये बौद्धिक सकट एव वीरतापूर्ण निर्णय का चित्रण करनेवाले नाटककार हैं। अरस्तू के सविनय का यथासभव पालन करते हुए इन्होंने अपने नाटको में समस्याओ, उनके समाधान एव अत का सुदर निदर्शन किया है। इनमें लक्ष्य की ओर घटनाओ का प्रतिबद्ध प्रवाह दर्शनीय है। इनके सवाद बडे ही मार्मिक एव विनोदपूर्ण हैं। वाक्प्रहार तथा उनके उत्तर एक दूसरे के पश्चात् बडी पटुता एव तडित्क्षिप्रता के साथ आए हैं। इन्होंने बडी सरलता से अलेग्ज़ैंड्रीन का प्रयोग किया है। इनके 'दिसकुर' एव 'एक्ज़ामें' नामक दु खात नाटको मे इनके नाटकीय सिद्धात एव प्रयोग की सक्षिप्त व्याख्या है। [मु० मो० दे०]

कारनो, एन० एल० एस०

(१७९६–१८३२)—यह फ्रांसीसी भौतिकीविद् थे और पेरिस में इनका जन्म हुआ था। १८१२ ई० मे ये एक बहुशिल्प शिक्षण सस्था मे भरती हुए पर अध्ययन छोडकर इन्होंने अभियता (Engineer) का पद ग्रहण किया। १८१९ ई० म ये सेना की एक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और इन्हें लेफ्टिनेंट का पद मिला। बाद ये गणित, रसायन, इतिहास, प्रौद्योगिकी, शासकीय अर्थव्यवस्था इत्यादि विषयों का अध्य-

यन किया। सगीत, ललितकला, व्यायाम विषयक खेलकूद, तैराकी, शस्त्र विद्या आदि मे भी इनका अच्छा अभ्यास था। १८२७ ई० मे ये कप्तान हुए और १८२८ ई० मे ही नौकरी छोड दी।

ये मौलिक एव गभीर विचारक थे। केवल एक ही पुस्तक ये प्रकाशित कर पाए जिसमे इनके वैज्ञानिक अनुसधानो की थोडी सी चर्चा है। इनके लेखो की पाडुलिपि सुरक्षित रखी थी जिससे पता लगा कि वे उष्मा की वास्तविक प्रकृति समझते थे। इसमे उन प्रयोगो का भी वर्णन मिलता है जिनमे वाद मे जूल तथा अन्य वैज्ञानिको ने उष्मा का यात्रिक तुल्याक निकाला। उष्मागतिकी के मौलिक सिद्धात के अनुसार उत्क्रमणीय इजन (Reversible Engine) की दक्षता उन तापो पर निर्भर करती है जिनके बीच वह कार्य करता है। यह सिद्धात कारनो की ही देन है अत "कारनो सिद्धात" के नाम से प्रसिद्ध है।

[र० श० पा०]

कारपेथियन मध्य यूरोप की पर्वतमेखला मे आल्प्स पर्वत के पूर्व में स्थित एक विशाल पर्वत है। यह पर्वतश्रेणी व्रातिस्लावा से आरशोवा तक फैली है तथा एक चाप के आकार की है जिसका उन्नतोदर भाग उत्तर-पूर्व की ओर है। लवाई तथा क्षेत्रफल मे यह आल्प्स के तुल्य है परतु ऊँचाई मे आधी है। सर्वोच्च शिखर गर्ल्सडार्फ-स्पिज़ (८,७३७ फुट) है। सरचना मे आल्प्स की भाँति मोडदार है तथा समवयस्क भी है, परतु इसकी हिमानियाँ, जलप्रपात तथा झीले आल्प्सवालो की अपेक्षा छोटी है। श्रेणी के मध्य भाग की चौडाई तथा ऊँचाई कम है, अत इसे पार करनेवाले मार्ग वही से होकर जाते है।

[प्रे० च० अ०]

कारफ़ू (कॉरफ़ू) भूमध्यसागर मे ऐड्रियाटिक सागर के द्वार पर स्थित आयोनियन द्वीपसमूह का दूसरा वडा द्वीप है। यह ग्रीस राज्य का एक विभाग है। क्षेत्रफल २२७ वर्ग मील तथा जनसख्या १,०५,००० (१९५१)। अधिकतर भाग पर्वतीय है। पैंटोक्रैटोरास शिखर की ऊँचाई लगभग ३,००० फुट है। जलवायु भूमध्यसागरीय है, अत मुख्य उपज नीवू, नारगी, जैतून का फल तथा तेल, अजीर तथा अगूरी शराब है। ईसा से कोई ६०० वर्ष पूर्व कॉरिंथियन उपनिवेश के रूप मे सर्वप्रथम मनुष्यो का वसना यहाँ प्रारभ हुआ। कॉरफ़ू की राजधानी कॉरफ़ू नगर है जो पूर्वी तट पर स्थित एक उत्तम वदरगाह भी है। नगर मे एक सग्रहालय है जो एक मध्यकालीन दुर्ग में स्थित है।

[प्रे० च० अ०]

कारबार ववई राज्य मे इसी नाम की तहसील का मुख्य नगर है। इसकी स्थिति १४ ४९' उत्तर अक्षाश तथा ७४°८' पूर्व देशातर है। यह गोवा से ५० मील दक्षिण-पश्चिम तथा ववई से ३९५ मील दक्षिण-पूर्व मे वसा है। प्राचीन कारवार नगर काली नदी पर नगर से तीन मील पूर्व की ओर वसा था। व्यापार की दृष्टि से यह काफी महत्वपूर्ण था।

१७वी शताब्दी के मध्य वीजापुर राज्य के कोई प्रमुख अधिकारी कारवार के राजस्व अधीक्षक हुआ करते थे। सन् १६६० मे यहाँ से अच्छी किस्म की मलमल का निर्यात प्रारभ हो गया था। अत यह स्थान व्यापारिक दृष्टि से यथेष्ट महत्वपूर्ण हो गया था, पर शीघ्र ही सन् १६७२ ई० मे आतरिक उलझनो के फलस्वरूप कारखानो को काफी क्षति उठानी पडी।

१७वी शताव्दी के अतिम दस वर्षो मे डच लोगो ने कारवार को अपने अधिकार मे कर लिया और प्राचीन व्यापार को नष्ट कर डाला। इसी काल मे मराठो द्वारा यहाँ सदाशिवगढ की स्थापना हुई, पर ये भी अधिक दिनो तक राज्य न कर सके और कारवार पुर्तगालियो के अधीन हो गया।

नए नगर का प्रादुर्भाव ववई राज्य के हस्तातरण के वाद हुआ। इसके पहले यह मछली पकडने का एक साधारण ग्राम था। वर्तमान नगर छ ग्रामो के सगठन से वना है। यहाँ नगरपालिका भी है। अव इसका सवध ववई से रेलो एव स्टीमरो द्वारा हो गया है। इसकी जनसख्या १६,७६४ (१९५१) है।

[वि० रा० सिं०]

कारबोनारी का अर्थ है लकडी का कोयला जलानेवाला। इस नाम को नैपोलियन महान् के समय के कुछ गुप्त दलो ने क्यो अपनाया, इस सवध मे वताया जाता है कि फ्रेंच जगलो में लकडी का कोयला जलानेवालो का एक गिल्ड (सघ) था। उसी के नमूने पर कारवोनारी समितियाँ वनी।

फ्रास और इटली मे कारवोनारी समितियो की विशेष प्रधानता रही। जौआखिम मुरात (१८०८-१८१५) के राज्यकाल मे कारवोनारी समितियाँ दक्षिण इटली मे कुछ हद तक शक्तिशाली हो गई। इनका उद्देश्य था विदेशी शासन से मुक्त होना तथा वैधानिक स्वतत्रता प्राप्त करना। वे चाहते थे कि विदेशी हट जायँ, भले ही उनके स्थान में बुरवोन वश के लोग या मुरात आ जायँ। प्रारभ मे मुरात ने कारवोनारी समिति के लोगो को सहायता भी दी, पर वाद को जव उसने अपनी स्थिति सँभाल ली, तव उसने १८१३ मे उनका निर्दयता के साथ दमन किया। पर मुरात का पुलिस मत्री मालगेल्ला कारवोनारी लोगो से भीतर भीतर मिला हुआ था। इसलिये समिति पूरी तरह दवाई नही जा सकी। इस समिति मे उच्च वर्ग के लोग, सरकारी कर्मचारी, सेना के अधिकारी तथा सैनिक, किसान, यहाँ तक कि पुरोहित भी शामिल थे। कुछ रहस्यपूण अनुष्ठान भी होते थे। जहाँ सदस्य रहते थ, उसे वेन्दिता (विक्री) कहते थे। सदस्य एक दूसरे को 'बुओनि कुजिनि' यानी अच्छा भाई (चचेरे, ममेरे इत्यादि) कहकर पुकारते थे। ईश्वर को ससार का ग्रैंड मास्टर और ईसा को अवैतनिक ग्रैंड मास्टर कहा जाता था। इनका झडा पहले लाल, नीला और काला था, आगे चलकर १८३१ मे वह लाल, सफेद और हरा हो गया।

प्रसिद्ध इतलियाई राजा फरदीनैंद ने पहले कारवोनारी लोगो की सहायता की थी, पर जव उसको अपने सवध मे विश्वास हो गया कि हमें कोई हटा नही सकता, तव वह उनके विरुद्ध हो गया। उसके पुलिस मत्री ने कारवोनारी लोगो को दवाने के लिये 'कालदेराई दैल कुतरापेजो' नाम से एक समिति वना दी जिसमें डाकुओ और गुडो को भरती कर दिया, फिर भी कारवोनारी समिति दवाई न जा सकी और उसकी रयाति वढती रही। वहुत से विदेशियो न इस समिति की सदस्यता स्वीकार की, जिनमें सवसे प्रसिद्ध विदेशी अग्रेज कवि लार्ड वायरन था।

इटली मे उनका पहला विद्रोह १८२० मे नेपुल्स के अचल मे हुआ। सेना भी एक हद तक इनसे मिली हुई थी और उसने विद्रोहियो का साथ दिया। विद्रोहियो का नारा था—ईश्वर, राजा और सविधान। राजा को दवना पडा और १३ जुलाई को सविधान देना पडा, पर कारवोनारी सरकार चलाने मे उतने सफल नही रहे। राजा ने आस्ट्रिया की विदेशी सेनाओ की सहायता से कारवोनारियो के जनरल पेपे को हरा दिया। राजा ने ससद् विसर्जित कर दी और दमन शुरू हुआ।

इसी प्रकार १८२१ के मार्च महीने मे इटली के पीदमोत प्रात मे कारवोनारियो द्वारा सगठित एक विद्रोह हुआ था। इसमें भी वडे लोग शामिल थे यहाँ तक कि अपने को राज्य, उत्तराधिकारी माननवाले चार्ल्स अल्वर्ट का विद्रोहियो के पृष्ठपोपक थे, पर विद्रोह सफल नही हुआ और विद्रोहियो मे से जो लोग पकडे गए, उन्हे लवी सजाएँ मिली।

फ्रास मे पहले पहल नेपोलियन की सेनाओ मे कारवोनारी लोगा का जोर हुआ। पहले यह दल सैनिक अफसरो मे गुप्त समिति के रूप में रहा, पर वाद को और लोग भी इसमे शरीक हो गए। १८२० के करीव फ्रास मे कारवोनारियो का वहुत जोर हुआ और कई विद्रोह हुए, पर य दवा दिए गए। वाद को इसी आदोलन की राख से कई और समितिया फ्रास मे वनी जिनमे वह समिति वहुत मशहूर हुई जिसका नाम है 'तू अपनी मदद कर, ईश्वर तेरी मदद करेगा'। कहा जाता है, फ्रेंच समद् के लाफ़ायेत आदि कई सदस्य कारवोनारी के प्रति सहानुभूति रखते थे। पिछले दिनो मे इसका सदस्य सम्राट् नैपोलियन तृतीय तक अपनी युवावस्था म रहा था।

इटली में कारवोनारी समिति का स्थान धीरे धीरे मात्सीनी और गारीवाल्दी की 'नवीन इटली' नामक समिति ने ले लिया। यद्यपि कारवोनारी समितियो का लक्ष्य स्पप्ट नही था और वे कभी कुछ कहती थी,

कभी कुछ, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि बाद को विद्रोहों तथा विद्रोहियों पर इस आंदोलन के शहीदों का बहुत बड़ा प्रभाव रहा।

[म० गु०]

कारवाँसराय

एक प्रकार की बड़ी आँगनवाली साजसज्जा रहित विश्रामशाला जहाँ कारवाँ आकर रुकते हैं। भारतवर्ष में अधिकतर काफिला शब्द का प्रयोग किया जाता है। एशिया तथा अफ्रीका के मरुस्थलीय प्रदेशों में व्यापारी तथा यात्री दल बनाकर चला करते हैं क्योंकि वहाँ की सड़कें सुरक्षित नहीं होतीं और निर्जन प्रदेशों से होकर जाती हैं। इस दल का एक वैतनिक नेता होता है जिसे काफिलाबशी या अमीर-ए-कारवाँ कहते हैं। यदि मार्ग में कारवाँ पर आक्रमण हो जाय तो मुस्लिम कानून के अनुसार आक्रमणकारी को प्राणदंड दिया जा सकता है। (हिदाया, २।१३१)

सराय अथवा सरा का अर्थ प्रासाद अथवा दुर्ग है। यह शब्द विशेषकर तातारों द्वारा प्रयुक्त हुआ था जब उन्होंने प्रासाद बनाने प्रारंभ किए थे। भारतवर्ष तथा फारस में आजकल कारवाँसराय ऐसे भवन को कहते हैं जिनके बीचोबीच एक बड़ा सा आँगन हो तथा चारों ओर कमरे बने हों जहाँ यात्री अपने बोझ ढोनेवाले पशुओं के साथ रुक सकें।

सं० ग्रं०—हाब्सन-जॉब्सन, लदन, १६०३, टी० पी० ह्यूज डिक्शनरी आव इस्लाम, लदन, १६३५। [मो० या०]

कारा-कुल

एशियाई ताजिक सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक में 'बड़ी' तथा 'छोटी' कारा-कुल दो झीलें हैं। कारा-कुल का अर्थ है काली झील। बड़ी कारा-कुल झील १२ मील लंबी तथा १० मील चौड़ी है। यह पामीर के पठार पर बदख़्शाँ पर्वत प्रदेश में समुद्र से १३,२०० फुट की ऊँचाई पर है। चारों ओर ऊँचे पर्वत हैं। उत्तर की ओर १४,०१५ फुट ऊँचे किजिल-अर्त दर्रे से यहाँ पहुँचते हैं। झील का जल बाहर नहीं जाता है। इसकी गहराई पूर्व में ४२ से ६३ फुट तथा पश्चिम में ७२६ से ७७६ फुट है।

छोटी कारा-कुल पामीर पर्वत के उत्तर-पूर्व तथा मुस्ताक दर्रे के उत्तर-पश्चिम में समुद्रतल से १२,७०० फुट ऊपर है। गहराई उत्तर में १००० फुट से अधिक है। [प्रे० च० अ०]

कारागांडा

रूस के कजाक सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक में स्थित एक नगर है। यह कारागाडा बेसिन की कोयले की खानों का मुख्य केंद्र है। कारागाडा सोवियत रूस के नवीनतम नगरों में एक है। सन् १९२६ में यह १५० व्यक्तियोंवाला एक ग्राम था पर अब विकसित होकर २,२०,००० जनसंख्या वाला बड़ा नगर हो गया है। रेलमार्गों द्वारा कारागाडा यूराल पर्वत के औद्योगिक प्रदेश तथा साइबेरिया क्षेत्र और बालखश झील के समीप ताँबा उत्पादन केंद्रों से संबद्ध है। अत कारागाडा से कोकिंग तथा अन्य कोटि के कोयले का पर्याप्त निर्यात होता है। कारागाडा अपने ही नाम के एक बड़े राजनीतिक विभाग, ओब्लास्ट, की राजधानी है। [प्रे० च० अ०]

कारा, जार्ज

(१७६६–१८१०) स्वतंत्र सर्बिया का निर्माता, प्रतिभासंपन्न, बहादुर सेनानी, शक्तिसंपन्न कठोर प्रकृति का शासक था। साधारण अपराध के लिये भी वह किसी को क्षमा नहीं करता था। क्रोधी इतना था कि, कहते हैं, उसने अपने पिता को भी, अपने साथ हंगरी भाग जाने के लिये सहमत न होने पर, कतल कर दिया था। उसने लगभग १२५ आदमियों को मौत के घाट उतारा होगा। उसका सारा जीवन बड़ा साहसपूर्ण रहा।

वह पेटिनी नामक किसान के घर पैदा हुआ था। उसने तुर्की ब्रिगेड में काम सीखने के बाद किसान के रूप में अपना जीवन शुरू किया और एक तुर्क की हत्या कर देने के कारण उसको आस्ट्रिया के सैनिक सीमांत प्रदेश में जाकर रहना पड़ा। सन् १७८८-९१ में सीमांत सेना में भर्ती होकर वह तुर्कों के विरुद्ध आस्ट्रिया की ओर से लड़ा। बाद में सेना से भागकर सर्बिया में तोपोला चला आया। वहाँ उसने पशु पक्षियों का व्यापार किया। फरवरी १८०४ में विद्रोही सेनाओं द्वारा मुखिया चुना गया। सर्बिया की लड़ाइयों में वह सैनिक नेता के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उसकी उपस्थिति मात्र से सर्बिया की सेनाओं में अपार उत्साह पैदा हो जाता था और हारती हुई भी वे विजयी हो जाती थीं। उसी के प्रभाव से आस्ट्रिया ने सर्बिया को तुर्कों के विरुद्ध अपना संरक्षित राज्य घोषित किया। रूस का प्रश्रय पाकर उसने सर्बिया को स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया। २६ दिसंबर, १८०६ को रूस ने उसको और उसके उत्तराधिकारियों को सर्बिया का स्वतंत्र शासक मान लिया।

उसके बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उसके कुछ प्रतिस्पर्धी भी पैदा हो गए। सन् १८१२ की बुखारेस्त की संधि के बाद तुर्कों ने सर्बिया पर फिर आक्रमण किया। कारा रोगशय्या पर पड़ा हुआ था। सर्बिया की सेनाओं के पराजित होने से उसे २० सितंबर, १८१३ को हंगरी में शरण लेनी पड़ी। राज में कुछ समय तक नजरबंद रहने के बाद वह होतिन में एकांत जीवन व्यतीत करने लगा और उसको रूस से पेंशन मिलने लगी। वह एकाएक १८१७ में सुरे दे रेवो में प्रकट हुआ। उसका उद्देश्य यूनानियों और बाल्कनों को मिलाकर एक नया विद्रोह खड़ा करना था, परंतु पाशा ने इसकी सूचना मिलने पर उसको जीवित या मृत रूप में गिरफ्तार करने की घोषणा की। सोते हुए उसकी हत्या कर दी गई और उसका सिर काटकर कुस्तुतुनिया भेज दिया गया। इसके बाद सर्बिया में एक सदी तक गृहकलह मची रही। [स० वि०]

कारावाज्जो, मिकेलांजेलो मेरिसी दा

सन् १५७३ में इटली के लोंबार्दी प्रांत में मीलान के समीप कारावाज्जो ग्राम ने एक ऐसे चितेरे को जन्म दिया जिसने इटली की कला में क्रांति पैदा कर दी। कारावाज्जो एक राजगीर का पुत्र था। ११ वर्ष की उम्र में वह मीलान भेजा गया जहाँ सीमाने पीतरत्सेनो की सरक्षा में उसे रहना पड़ा। १६ वर्ष की उम्र में वह रोम आया (लगभग १५६० में) जहाँ वह दे आरपिनो का शिष्य बना। परंतु कम उम्र के कारण उसे जीविकार्जन में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। उसका स्वभाव बड़ा क्रोधी था और बहुत ही शीघ्र वह उत्तेजित भी हो जाया करता था। इसी उत्तेजना के प्रभाव में १६०६ में उसने अपने एक विरोधी के प्राण तक ले लिये, परिणामत प्राणरक्षा के लिये उसे नगर छोड़कर भागना पड़ा। जीवन के शेष दिन उसने नेपुल्स, माल्टा तथा सिसिली में बिताए। इन अभाव के दिनों में भी सरकार निरंतर उसका पीछा करती रही। अपने इसी उत्तेजित स्वभाव के कारण वह जहाँ जाता, अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ा लेता। माल्टा से भी उसे शत्रुता के कारण ही सिसिली भागना पड़ा था। कुछ दिनों बाद वहीं उसे रोम द्वारा क्षमा का संदेश मिला। परंतु रोम की भूमि का दर्शन अब उसके भाग्य में न था। रोम लौटते समय राह में ज्वर का शिकार हो सन् १६१० में उसने इस संसार से विदा ले ली।

पितरत्सेनो आदि की शैली में अनाकर्षक रंगों का प्रयोग होता था, प्रकाश और छाया में बहुत गहरा अंतर हुआ करता था, कारावाज्जो ने इसे सुधारकर एक सर्वथा भिन्न और वैयक्तिक शैली को जन्म दिया। किंतु उसकी प्रारंभिक शैली पर सबसे स्पष्ट छाप वेस्कियाई शैली के कलाकारों की पड़ी। आधी लंबाई की मानव आकृतियाँ, सरल अभिव्यक्ति, स्थानीय और सुस्पष्ट श्वेत रंगों का प्रयोग, तथा भूमि एवं अवयवों का सम्यक् रूपायन उसकी प्रारंभिक कला की विशेषताएँ थीं। उसके माडल अधिकांश किशोर हैं। परंतु वह केवल बारोक शैली के क्षेत्र में ही अग्रणी नहीं था, कला के क्षेत्र में वह आधुनिक यथार्थवाद का स्रोत भी माना जाता है। उसकी प्रारंभिक कृतियाँ, जैसे 'फलों की टोकरी और किशोर', 'भविष्यवक्ता', 'संगीतरचना', 'बाकस' आदि यथार्थवादी शैली का ही निरूपण करती हैं। उसकी कला को विशेष मर्यादा देने का श्रेय कार्दिनल देल मोंते को है। उसी के बनवाए चित्रों से कारावाज्जो को विशेष यश मिला। उसकी सर्वोत्तम कृतियाँ—'संत मैथ्यू और देवदूत', 'संत मैथ्यू का आह्वान' तथा 'संत मैथ्यू का बलिदान'—ने १५६८ तथा १६०० के बीच एक प्रभावशाली मोड़ लिया जिसने रोम में धूम मचा दी। उसका झुकाव अब पारंपरिक धार्मिक विषयों की ओर बढ़ा परंतु उनमें उसने एक सर्वथा नवीन अभिव्यक्ति का समावेश किया। उसका आदर्श जनसाधारण का यथार्थ जीवन बना। प्रकाश और छाया का प्रभाव उसकी कृतियों में जीवन सत्ता तथा भावना को प्रखरता प्रदान

करता गया। प्रकाश और छाया का यह गहरा अंतर उसकी कला में स्पष्टता को सकेंद्रित कर चला। उसकी शैली के इसी रूप ने उसकी कृतियो को-वनामिकन कला के समकक्ष कर दिया है। उसके चित्र 'एमाउसमें भोज', 'मत पाल की मगुद्धि', 'सत पीतर की शूली' आदि इसी परपरा के है।

कारावाज्जो ने किशोरो के भडकीले वस्त्रो वाले आदर्श को छोड अपने चित्रफलक पर केवल एक धधकता लाल रग ही रखा। इस परपरा में कारावाज्जो के 'समाधीकरण', 'सत आन के साथ माता और शिशु', 'पवित्र कुमारी की मृत्यु' आदि आते हैं। कारावाज्जो चित्रकला के क्षेत्र में महान् क्रांतिकारी गिना जाता है। उसने प्राचीन पारपरिक गुरुओ की कभी परवाह नहीं की, परतु पुनर्जागरण काल के परिणामो से वह स्वय भी अछूता न बचा और न अपनी समकालीन प्रवृत्तियो की वह उपेक्षा ही कर सका। उसने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि प्रकृति ही उसका आदर्श रही है। परतु उसकी महत्ता इसमें नही है कि उसने प्रकृति से अपनी कला का सीधा सबध जोडा, बल्कि इसमें है कि धार्मिक विषयो को उसने जनजीवन पर ढालने की पूर्ण चेष्टा की और इसमे उसे सफलता भी मिली। उसने कला को समाज का दर्पण बनाया।

रोम की कला पर कारावाज्जो का प्रभाव गहरा तो पडा परतु वह क्षणिक सिद्ध हुआ। किंतु इटली के बाहर फ्रास और नीदरलैंड्स के कलाकारो पर यह प्रभाव गहरा एव स्थायी दोनो सिद्ध हुआ।
कुल ३७ वर्ष जीवित रहकर भी पाश्चात्य कला के इतिहास में कारावाज्जो ने अपना अमर स्थान बना लिया है। उससे पहले रोमन कलाकार धार्मिक अलौकिक कथाओ का आदर्श चित्रण उपस्थित करने मे ही अपनी सफलता समझते थे और प्रत्येक नए कलाकार को उसी साँचे में ढलकर निकलना होता था। कारावाज्जो प्रथम कलाकार है जिसने इस प्रकार की चहारदीवारी में रहना स्वीकार नही किया। उसे कथाओ से ज्यादा महत्वपूर्ण अपना अनुभव तथा दृष्टिकोण लगता था।

उसने वेनिस तथा रोम में कला शिक्षा प्राप्त की थी पर स्वाभाविक चित्रण की ओर वह विशेष रूप से आकृष्ट था। जिस किसी वस्तु को वह चित्रित करने बैठता उसकी यही चेष्टा रहती थी कि वह उसे बिलकुल वैसा ही रूप प्रदान करे जैसा वह देखने में आँखो को लगता है। वास्तव मे उसे प्रत्येक वस्तु के रूप, रग तथा आकार में सौदर्य दिखाई पडने लग गया था जो उससे पहले के चित्रकार नही देख पाते थे। पुराने कलाकार कल्पना और आदर्श मे ही सौदर्य पाते थे। कारावाज्जो के अधिकतर चित्रो में वस्तुओ को जैसा का तैसा चित्रित करने का प्रयास हुआ है। इस दृष्टि से उसका चित्र 'बोग्राय बिटेन बाइ अ लिज़ार्ड' अत्यत महत्वपूर्ण है और निश्चित रूप से प्रचलित कला से भिन्न एक नये दृष्टिकोण का सूत्रपात करता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि शास्त्रीय प्रचलित विषयो के अतिरिक्त भी ऐसे विषय चित्रकला के लिये हो सकते थे। शास्त्रीय धार्मिक प्रकार के चित्रो में भी वह प्रकाश और छाया का अद्भुत प्रयोग करता था। इन चित्रो के पात्रो को भी वह साधारण जन-जीवन से ही चुनता था। यही कारण था कि उस समय के कला रसिको तथा कलामर्मज्ञो का उसे कोपभाजन बनना पडा। वे उसपर कला को अश्लील बनाने का आरोप लगाते थे। कारावाज्जो ऐसी आलोचनाओ की तनिक भी परवाह न करता था और अक्सर उनको मुँहतोड जवाब देता था। कई बार ऐसे लोगो से उसका झगडा हो गया और जेल जाने की नौबत आई। वह माल्टा में कैद कर लिया गया जहाँ से एक दिन वह भाग निकला। वह नेपुल्स वापस आया और रोम जाने की तैयारी मे था। वहाँ उसे स्पेन की पुलीस ने राह मे रोक लिया। वह इस समय आर्थिक सकट में था और वही भूख तथा ज्वर से पीडित हो उसने दम तोड दिया।

१७वीं शताब्दी की सारी कला कारावाज्जो की प्रेरणा की प्रतीक है और एक नए युग का निर्माण करती है। [रा० च० शु०]

कारिकाल

भारत के मद्रास राज्य के तजोर जिले मे कावेरी नदी के मुहाने पर स्थित एक नगर है। क्षेत्रफल ५२ वर्ग मील। १७३९ में फ्रांसीसियो ने कुछ नेताओ के बदले इसे तजोर के राजा से छीन लिया। १७६० ई० में अंग्रेजो ने कारिकाल जीत लिया, परतु १७६५ ई० में लौटा दिया। १७६८ ई० में पुन जीतकर १८१७ ई० में अंतिम बार लौटा दिया। अत कारिकाल फ्रासीसियो के पाडिचेरी राज्य का एक अग था, जो १ नवबर, १९५४ ई० को भारत को हस्तातरित कर दिया गया। नगर में एक रेलवे स्टेशन तथा बदरगाह भी है, जिसका श्रीलका तथा मलाया से व्यापारिक सबध है। [प्रे० च० अ०]

कारू

दक्षिणी अफ्रीका का एक पठारी प्रदेश है जिसका अधिकाश भाग केप प्राविंस (दक्षिणी अफ्रीका) में है। इसके तीन प्राकृतिक विभाग हैं १ उत्तरी कारू अथवा हाई वेल्ड (४,०००–६,००० फुट) जो दक्षिणी अफ्रीका राज्य के मध्य मे है, २ बृहत् या मध्य कारू (२,०००–४,००० फुट) जो ज्वार्टबर्गेन से न्यूवेल्ड श्रेणी तक फैला है, तथा ३ लघु या दक्षिणी कारू (१,०००–२,००० फुट)। समस्त कारू की जलवायु शुष्क है तथा प्राकृतिक वनस्पति मे झाडियो का बाहुल्य है। भूमि का मुख्य उपयोग पशुचारण है। सिंचित भागो में अच्छी कृषि होती है। उच्चतम भूमि होने के कारण यहाँ के अनेक नगर उत्तम स्वास्थ्यकेंद्र हैं। [प्रे० च० अ०]

कारोतो

जोमानी फ्रासिसको (१४८०–१५४६) इतालवी चित्रकार, कारोतो ने मातुआ के सुप्रसिद्ध शिल्पी मोंतेन्या से कला की शिक्षा ली। अपने गुरु की अपेक्षा उसके चित्रो पर विंची और रफेल के चित्रों तथा रोमन शैली का विशेष प्रभाव पडा है। प्रकृतिचित्रण मे वह विशेष कुशल था। मोदेना की कला गैलरी मे सुरक्षित उसके सुप्रसिद्ध चित्र 'कुमारी और शिशु' में उसकी उक्त सश्लिष्ट शैली की अनुपम शक्तिमत्ता के दर्शन होते हैं। वेरोना और मातुआ के चर्च की दीवारो पर तथा आर्ट गैलरियों में उसके अनेक चित्र आज भी दर्शनीय हैं। [भा० श०]

कारोमंडल

भारत का दक्षिण-पूर्वी तट। पहिले यह नाम एक राजनीतिक विभाग का था, जिसका विस्तार कृष्णा नदी के मुहाने से दक्षिण मे केलीमियर अतरीप तक समुद्रतटीय मैदान में था। यह तटीय मैदान उत्तर से दक्षिण को चौडा होता जाता है। यह प्रदेश कर्नाटिक कहलाता हे। यहाँ की मिट्टी उपजाऊ है। इसमे कृष्णा तथा कावेरी नदी के डेल्टा समिलित हैं। यहाँ पर वार्षिक वर्षा ४० इच होती है, जिसका अधिकाश अक्टूबर से दिसबर तक लौटती हुई मानसून से होता हैं। यहाँ की मुख्य उपज चावल है। समुद्री मछलियाँ बहुतायत से पकडी जाती हैं। पूलीकट, मद्रास, पाडिचेरी, कड्डलोर, नेलोर तथा नेगापट्टम इस तट के मुख्य बदरगाह हैं। [प्रे० च० अ०]

कार्क

(कॉर्क) आयरलैंड गणतत्र का दूसरा बडा नगर है। ली नदी के मुहाने पर समुद्र से ११ मील दूर कार्क हार्बर से ऊपर की ओर यह एक द्वीपसमूह पर बसा है। यह राज्य का तीसरा बडा बदरगाह तथा महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र है। ली नदी मे इस नगर के एक मील ऊपर तक जलयान आ जाते हैं। कार्क ऊनी वस्त्र उद्योग का केंद्र है। ट्वीड के अतिरिक्त यहाँ दस्ताने, नकली रेशम, रासायनिक खाद तथा शराब बनाई जाती है। रबड तथा मोटर बनाने के कार्य भी उल्लेखनीय हैं। यूनिवर्सिटी, स्कूल तथा गिरजाघर के भवन दर्शनीय हैं। क्रामवेल ने १६४९ ई० में तथा मार्लबरो ने १६९० ई० मे नगर को जीता था। जनसख्या ७५,०००। [प्रे० च० अ०]

कार्टर, हावर्ड

मिस्री पुरातत्व अन्वेष्टा। १८७३ में इग्लैंड में जन्म हुआ। शिक्षा घर पर ही प्राप्त की। प्रोफेसर फ्लाइडर्स पेट्री आदि से पुरातत्व विद्या की शिक्षा ली तथा १८९० में मिस्री उत्खनन विभाग मे सहयोगी बनकर १८९९ तक इसी कार्य मे सलग्न रहा। कुछ दिनो पश्चात् इसी विभाग का वह इन्सपेक्टर जेनरल बना दिया गया तथा राजा मेतुहेतेप की समाधि की खोज की और कारनारवान के अर्ल के सहयोगी के पद पर कार्य करते हुए १९०० से १९२३ के बीच उसने बहुत सी समाधियो का पता लगाया। इन्ही में से एक तूतनखामन की समाधि भी थी। 'तूतनखामन की समाधि' नामक पुस्तक मे उसने अपनी खोजो का पूर्ण विवरण दिया है। [प० उ०]

कार्डिनल

रोमन काथलिक गिरजे के उच्चतम पदाधिकारी, जो गिरजे के प्रशासन मे परमाध्यक्ष (पोप) की सहायता करते हैं। वास्तव मे आजकल अधिकाश कार्डिनल इटली के बाहर रहकर धर्मप्रा

मात्र दे सकते हैं, दूसरे कार्डिनल स्थायी रूप से रोम में निवास करते हैं और गिरजे के प्रशासन में सक्रिय भाग लेते हैं। परमाध्यक्ष के मरने पर सभी कार्डिनल मिलकर उनका नवीन उत्तराधिकारी चुनते हैं।

काथलिक धर्म के परमाध्यक्ष ही ससार भर के पुरोहितो मे से नए कार्डिनलो की नियुक्ति करते हैं। इन नियुक्तियो में विभिन्न देशो के महत्व तथा काथलिको की सख्या का ध्यान रखा जाता है जिससे कार्डिनल मडल समस्त काथलिक ससार का प्रतिनिधान कर सके। जनवरी, १९५३ ई० में बबई के वर्तमान आर्चबिशप कार्डिनल नियुक्त हुए, इस नियुक्ति का ऐतिहासिक महत्व इसमे है कि ये प्रथम भारतीय कार्डिनल हैं। १५वी शताब्दी में कार्डिनलो की सख्या २४ थी। सन् १५५६ ई० से लेकर वह ७० तक सीमित रही किंतु वर्तमान परमाध्यक्ष ने उसे और बढा दिया है, आजकल (जनवरी, १९६१ ई०) इनकी सख्या ८९ है। नियुक्ति के बाद प्रत्येक कार्डिनल रोम जाकर परमाध्यक्ष से लाल टोपी (रेड हैट) ग्रहण करता है। सन् १६३० ई० मे कार्डिनलो को 'एमिनेंस' उपाधि दी गई थी।

'कार्डिनल' का अर्थ है मुख्य (लातीनी शब्द कार्दो का अर्थ है कब्जा)। कार्डिनलो के नियोजन का इतिहास इस प्रकार है द्वितीय शताब्दी ई० से लेकर रोम के आसपास के बिशपो को, रोम नगर के प्रधान गिरजाघरो के पुरोहितो को तथा कुछ उपयाजको को (ये दरिद्रो की देखभाल करते थे) कार्डिनल की उपाधि दी जाने लगी क्योंकि वे काथलिक धर्म के परमाध्यक्ष की विशेष सहायता करते थे। ११वी शताब्दी से इटली के बाहर से भी कार्डिनलो को बुलाया जाने लगा, किंतु उनका रोम मे निवास करना अनिवार्य समझा जाता था। इस कारण अधिकाश कार्डिनल शताब्दियो तक इतालवी थे। १४वी शताब्दी से कार्डिनलो को अपने अपने देश मे रहने की अनुमति दी जाने लगी।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विकास के कारण आज तक कार्डिनलो के तीन वर्ग हैं—(१) कार्डिनल बिशप जिनकी सख्या ६ तक सीमित है, इनमे से जो पहले कार्डिनल नियुक्त हुए हैं वही नए परमाध्यक्ष का अभिषेक करते हैं, (२) कार्डिनल प्रीस्ट (याजक), इस वर्ग में इटली के बाहर रहनेवाले सभी कार्डिनल समिलित हैं, (३) कार्डिनल डीकन (उपयाजक) जिनकी सख्या १४ तक सीमित है। [का० बु०]

कार्डिफ़ वेल्स का प्रमुख नगर है। यह ग्लेमार्गन काउटी मे टैफ नदी पर, उसके मुहाने से एक मील ऊपर स्थित है। क्षेत्रफल २८२ वर्गमील, जनसख्या (१९५१) २,४३,६२७। नगर मे रोमन तथा नार्मन राज्यकाल के दुर्ग तथा दीवारें वर्तमान हैं। १८५० ई० से १९१४ ई० तक कार्डिफ ससार का प्रमुख कोयला निर्यात करनेवाला बदरगाह था। यह कोयला कार्डिफ मे केंद्रित रेलमार्गो द्वारा एकत्रित होता है। नगर में तॉबा, टिन, एनैमेल, लोहा तथा इस्पात तैयार करने के उद्योग स्थापित हैं। शराब तथा बिस्कुट बनाने और आटा पीसने का कार्य भी होता है। कार्डिफ इजीनियरिंग का भी केंद्र है। नगर का गिरजाघर और न्यायालय, राष्ट्रीय सग्रहालय तथा वेल्स विश्वविद्यालय के भवन मुख्य दर्शनीय स्थान हैं। [प्रे० च० अ०]

कार्तवीर्य हैहयनरेश कृतवीर्य का पुत्र और माहिष्मती नगरी का राजा सहस्रबाहु अर्जुन। यह भृगुवशियो का यजमान था। ख्यातो के अनुसार मत्स्यीव के पुत्र ब्रह्मर्षि जमदग्नि का वध कार्तवीर्य के पुत्रो ने कर दिया था (म० भा०, वन० ११६-१८, शाति० ४९-५०)। जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने क्रुद्ध होकर कार्तवीर्य सहस्रार्जुन की सहस्र भुजाओ को काट डाला तथा कार्तवीर्य वश का सहार कर डाला (वही, शाति० ४९-५२-५३)। कार्तवीर्य अत्यत अत्याचारी राजा था (वही, वन० ११५-१२-१४)। दत्तात्रेय से वरदान पा चुकने के पश्चात् इसने अहकारपूर्ण शब्दो में ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया (वही, अनु० १५२-१५-२२), किंतु वायुदेव के समझाने पर इसने ब्राह्मणो की महत्ता स्वीकार की (वही, अनु० १५७-२४-२६)। एक बार इसने अभिमानवश समुद्र को बाणो से आच्छादित कर दिया था। [च० भा० पा०]

कार्तिकेय शिव के पुत्र। प्राचीन भारतीय साहित्य और पुरातत्व मे इनके अन्य नाम कुमार, षण्मुख, स्कद, शक्तिधर, महासेन, गुह, सुब्रह्मण्य आदि मिलते हैं। ये छ मातृकाओ से उत्पन्न कहे गए हैं। इनके वाहन मयूर तथा कुक्कुट हैं और आयुध शक्ति है। पुराणो के अनुसार अपने अमित पराक्रम के कारण ये देवताओ के सेनापति बनाए गए और उनके प्रबल शत्रु तारक का इन्होने वध किया।

प्राचीन मुद्राओ पर कार्तिकेय की आकृति मिली है। कुषाण शासक हुविष्क की एक प्रकार की स्वर्णमुद्रा पर इनके दो रूप, महासेन तथा स्कद, मिलते हैं। यौधेयगण की कुछ मुद्राओ पर हाथ मे भाला लिए, छ मुखवाले कार्तिकेय का चित्रण है और ब्राह्मी लेख 'यौधेय भगवतस्वामिनोब्रह्मण्य' या 'भगवतस्वामिनो ब्रह्मण्यदेवस्य कुमारस्य' लिखा है। महाभारत (२,३२,४-५) में यौधेयो के रोहितक जनपद को कार्तिकेय का प्रिय प्रदेश कहा गया है। उज्जयिनी की कुछ ताम्रमुद्राओ पर भी अनेक सिरवाले कार्तिकेय का अकन है। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम की एक प्रकार की स्वर्णमुद्रा मे कार्तिकेय को मयूर पर आसीन दिखाया गया है। (दे० चित्र)

भारतीय कला मे कुषाणकाल से कार्तिकेय की प्रतिमाएँ मिलती हैं। गुप्तकालीन कुछ उत्कृष्ट कलाकृतियो मे इन्हे फैलाए हुए पखवाले मयूर के ऊपर वीरवेश मे आसीन दिखाया गया है, जो कालिदास के वर्णन 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन' का मूर्तरूप है। कुछ प्रतिमाओ तथा मुद्राओ पर मयूर के स्थान पर कुक्कुट मिलता है। महाभारत (३, २३१, १९) मे इस रूप मे कार्तिकेय का वर्णन करते हुए लिखा है—"त्व क्रीडसे षण्मुख कुक्कुटेन यथेष्टनानाविध कामरूपी।"

उत्तरगुप्तकाल मे कार्तिकेय की स्वतत्र प्रतिमाओ के अतिरिक्त शिव के पार्श्वदेवता के रूप मे उनकी अनेक प्रतिमाएँ मिली हैं। कतिपय मूर्तियो में उन्हें सूर्य के पार्श्वचर देवता के रूप में मूर्त किया गया है। दक्षिण की मूर्तिकला मे कार्तिकेय की 'सुब्रह्मण्य' सज्ञा है। कुछ आगम ग्रथो मे स्कदविशाख को यक्षो आदि के समान लौकिक देवता कहा गया है। पुराणो मे कार्तिकेय तथा गणेश का एक साथ बहुधा उल्लेख मिलता है। कुछ ग्रथो में कार्तिकेय की पत्नी देवसेना का नाम आता है, जिसके साथ सुब्रह्मण्य की विवाहवाली प्रतिमाओ की सज्ञा 'देवसेना-कल्याणसुदरमूर्ति' हुई। दक्षिण भारत मे इस विग्रह की कुछ मनोहर कास्य प्रतिमाएँ भी मिली हैं। [कृ० द० वा०]

कार्थूसियन धर्मसंघ रोमन काथलिक गिरजे के इस सघ की स्थापना सन् १०८४ ई० में सत ब्रूनो और उनके छ साथियो द्वारा हुई थी। इस सघ की विशेषता यह है कि इसके सदस्य निरामिष भोजन करते हुए एकात के ध्यान, स्वाध्याय तथा उपवास मे अपना जीवन बिताते हैं। १२वी शताब्दी मे इस सघ की एक शाखा स्त्रियो के लिये भी स्थापित हुई थी। आजकल पश्चिमी यूरोप के देशो मे पुरुषो के लिये १८ तथा स्त्रियो के लिये ४ कार्थूसियन मठ स्थापित हैं। [का० बु०]

कार्थेज ससार के इतिहास मे जिन नगरराज्यो ने साम्राज्य बनाकर उसे भोगा है, उन्ही मे यह कार्थेज भी था। पर जहाँ ऐसे साम्राज्यनिर्माता नगर—एथेस, रोम, वेनिस आदि—आज भी कायम हैं, कार्थेज बस इतिहास की कहानी बनकर रह गया है, कारण, उस नगर के शत्रुओ ने उसका विध्वस कर उसपर हल चला दिया। भूमध्यसागर के दक्षिणी तट पर उत्तरी अफ्रीका की भूमि जहाँ सागर के जल मे विलीन हो जाती है, वही ट्युनिस की खाडी के तीर अतरीप मे विरसा के गढ मे लगा वह महानगर बसा था जिसके भग्नावशेष पुराविदो ने खोद निकाले हैं। आधुनिक अतरीप गामुर्त, अरबो का गाँव सीदी-बू-सईद और गोलेत्ता का बदर मिलकर जो त्रिभुज बनाते हैं, वही वह कार्थेज था जिसे फिनीकियो (फिनीशियो) ने बसाया और रोमनो ने उजाड डाला, जिसपर वदालो और विजातीयो ने शासन किया।

पर स्वय उस प्राचीन नगर कार्थेज ने प्राचीन जगत् पर अपनी शक्ति और सस्कृति का साका चलाया था। तब के ससार पर प्राय पाँच सौ साल तक उस समृद्ध नगर का आधिपत्य बना रहा। उसके उत्कर्ष काल मे प्राय दस लाख आदमी वहाँ निवास करते थे। जैसे आज की दुनिया में यहूदी

अर्थपति हैं, सदियो ससार का अर्थनिधान सँभालते रहे हैं, वैसे ही उनसे पहले फिनीकी भूमध्यसागरीय ससार के वाणिज्य और धन के स्वामी थे। थे भी वे मूलत यहूदी नस्ल के ही और लघु एशिया तथा लेवनान के उस भाग से जगत् के वणिक्पथो पर शासन करते थे जहाँ सिदन और तीर वसे है। फिनीकियो ने ससार को सिक्के दिए, वैकिंग और हुडियाँ दी, चेक दिए, और उन्होने भूमध्यसागर पर अपनी मडियो का घेरा कार्थेज को वसाकर पूरा किया।

उस नगर के निर्माण की कहानी भी दिलचस्प है। फिनीकी अनुश्रुतियो के अनुसार तीर की राजकुमारी एलिसा अपने भाई के अत्याचार से भागकर वहाँ पहुँची जहाँ ई० पू० १६वी सदी में ही कुछ सिदनी जा वसे थे। सिदनी-नूबियाई वस्तियो से एलिसा ने ई० पू० नवी सदी के मध्य कुछ भूमि खरीदी और ८१४–१३ ई० पू० के लगभग नए नगर का निर्माण आरभ किया। उसका नाम ही 'नया नगर' पडा, जिसके लिये प्राचीन फिनीकी शब्द 'कार्तहादाश्त्' व्यवहृत होता था, और जो ग्रीको और रोमनो के प्रयोग से विगडकर 'कार्थेज' वन गया। भारत मे जेतवन की खरीदारी में जैसे राजा जेत के कठिन मूल्य को श्रेष्ठी ने अपनी सपत्ति से चुकाया, वैसे ही एलिसा ने अपने विक्रेताओ को अपनी चातुरी से जीता। उन्होने कहा कि जितनी भूमि को वृषभ की खाल घेर ले, वस उतनी ही प्रस्तुत मूल्य में मिल सकती है। एलिसा ने वृषभ कटवा उसकी खाल उतरवा ली और उस खाल की पतली-पतली पट्टियाँ तैयार कर उनसे वोरसा की पहाडी घेर ली और इस प्रकार वह समूची पहाडी अपनी चतुर्दिक् भूमि के साथ एलिसा को मिल गयी। आज भी उस पहाडी गढ को 'विरसा' कहते है। उसी भूमि पर कभी कार्थेज कायम था।

कार्थेज का इतिहास समृद्धि और सघर्ष का है। वाणिज्य ने उसे समृद्धि दी और समृद्धि ने ऐश्वर्य दिया। और जव उसी की देखादेखी अन्य भी ऐश्वर्य को साधने चले तव दोनो महत्वाकाक्षाएँ परस्पर टकरा गई और दोनो मे सघर्ष छिड गया। कार्थेज का पहला सघर्ष सिसिली और परवर्ती द्वीपो के ग्रीको से हुआ, दूसरा रोमनो से। कार्थेज की कहानी इसी सघर्ष की कहानी है। और जव इस सघर्ष का आरभ हुआ तव वह महानगरी भूमध्यसागरवर्ती भूमि की स्वामिनी थी। जव छठी सदी ई० पू० मे खल्दी सम्राट् नेवूखदनेज्ज़ार ने प्रधान फिनीकी नगर तीर को विध्वस्त कर दिया तव उस प्राचीन नगर का समस्त वैभव कार्थेज को मिला। कार्थेज तव फिनीकी वाणिज्य, शक्ति और ऐश्वर्य का केंद्र वना।

कार्थेज का नेता माल्खस अपना वेडा और सेना लिए सिसिली पहुँचा और उस विशाल द्वीप को उसने ५५० ई० पू० मे ग्रीको से छीन लिया। १४ वर्ष वाद ही उसने कोर्सिका पर भी अधिकार कर लिया। उस सागरीय ससार के आधिपत्य में तव ग्रीक भी अपना भाग पाते थे जो माल्खस की चोट से तिलमिला उठे। सिसिली पर फिनीकी अधिकार ने कार्थेज का प्रभुत्व भूमध्यसागर पर स्थापित कर दिया। पर सार्दीनिया को न ले सकने के कारण माल्खस अपने नगरप्रभुओ के चित्त से उतर गया। उधर ग्रीको की पराजय ने कार्थेजियो और रोमनो को आमने सामने ला खडा किया। उनमे शाति कायम रखने के लिये ५०९ ई० पू० मे पहली सधि हुई।

पर गीको के साथ युद्ध वद न हुआ, चलता रहा। सार्दीनिया मे युद्ध के वीच ही, ४८५ ई० पू० मे, मागो का पुत्र हास्द्रुवाल मरा। उधर उसके भाई हामिल्कार को हिमेरा में उसी ऐतिहासिक वर्ष ग्रीको ने पराजित किया जिस ४८० ई० पू० में उन्होंने सलामिस में ईरानियो को धूल चटाई थी। पर इससे कार्थेजी निरुत्साहित नही हुए और हामिल्कार के पुत्र हान्नो ने हर्क्यूलिज के स्तभो (जिब्राल्टर) को लाँघ पश्चिमी अफ्रीकी समुद्रतट पर अपने उपनिवेश खडे किए। उधर सिसिली मे ग्रीको के साथ प्राय सौ साल युद्ध चलता रहा। ४०६ ई० पू० में हानिपाल और हिमिल्को ने कुछ प्रगति की पर उनके आक्रमण शीघ्र ग्रीको ने विफल कर दिए। साथ ही अगाथोक्लीज़ ने कार्थेज पर घेरा तक डाल दिया। पर उसकी मृत्यु के वाद कार्थेज ने फिर अपना आधिपत्य सिसिली पर स्थापित कर लिया। इस प्रकार ग्रीको और कार्थेजियो के सघर्ष में कार्थेज विजयी हुआ।

अगली सदियो की शक्ति के लिये कशमकश रोमनो और कार्थेजियो के वीच हुई। तीन तीन युद्ध सदियो लडे गए। इन युद्धो को प्यूनिक युद्ध कहते है। इनमें से पहला २६८ और २४१ ई० पू० के वीच हुआ। यह भी सिसिली पर आधिपत्य के लिये ही लडा गया, अतर केवल इतना था कि कार्थेज के प्रतिद्वद्वी अव ग्रीको के स्थान पर रोमन थे और वे नई शक्ति के पौरुष से उन्मद भी थे। पहला मोर्चा उन्ही के साथ रहा और सिसिली पर अधिकार कर उन्होने रेगुलस को कार्थेज जीत लेन के लिये अफ्रीका भेजा, पर कार्थेजियो ने स्पार्ता के जानिथिप्पस की सहायता से उसे पराजित कर पकड लिया। किंतु पानोरमस मे रोमन विजय (२५० ई० पू०) ने पासा पलटा और दोनो पक्षो में २४१ ई० पू० मे सधि हो गई। कार्थेज ने शाति की साँस ली। और अव युद्ध वद हो जाने से उसने जो सेना तोड देनी चाही तो सैनिको ने अपना वकाया वेतन माँगा, और न मिलने पर कार्थेज पर घेरा डाल दिया। हामिलकार वार्का की ही सूझ थी जिसने सहायता की और उसने नगर को घेरे से मुक्त कर घेरा डालनेवालो को काट डाला।

अव कार्थेज ने, सिसिली हाथ से निकल जाने पर, पश्चिम स्पेन की ओर रुख किया। नौ साल के अभियान के वाद २२८ ई०पू० मे स्पेन पर कार्थेज का अधिकार हो गया। तभी हामिल्कार की मृत्यु हो गई। उसका दामाद हास्द्रुवाल पुत्खर अव कार्थेज का नेता वना। उसने रोमनो से सधि कर ली। उसकी मृत्यु के वाद हामिल्कार के पुत्र हानिवाल को कार्थेज की सेना ने अपना नेता चुना। घर मे शाति और समृद्धि थी। कार्थेज जितना अनत धन का स्वामी था उतनी ही उसकी जनसख्या भी वढी और वढकर दस लाख हो गई। रोमनो की विजय का प्रतिशोध लेने की माँग हुई, और दूसरे प्यूनिक युद्ध का आरभ हुआ।

इस युद्ध मे हानिवाल ने जो अचरज के कारनामे किए उनसे स्वाभाविक ही उसकी गणना सिकदर के साथ ससार के असाधारण विजेताओ मे होती है। २१९ ई० पू० मे उसने सागुतुम जीता और स्पेन तथा गाल को रौंदता (२१८–१७ ई० पू०) अपने हाथियो की सेना से आल्प्स् की वर्फ जमी चोटियाँ लाँघता इटली के मैदानो मे उतर गया। युद्ध अव इटली की जमीन पर होने लगा, कार्थेज रोम की छाती पर था। मोर्चे पर मोर्चा सर करता हानिवाल २१६ ई० पू० मे कानाइ जा पहुँचा और उसे जीत लेने पर रोम की राह अरक्षित खुल गई। पर ठीक तभी कार्थेज के नगरस्वामी एक नई नीति अपना वैठे। उन्होने हानिवाल को सेना और युद्धखच भेजने से इन्कार कर दिया। हानिवाल विदेश मे था, शत्रुओ के वीच, जो अपने उदीयमान साम्राज्य के हृदय रोम की रक्षा के लिये कट मर रहे थे। उसका भाई हास्द्रुवाल अपनी सेना लिए उसकी मदद को स्पेन से चला, पर उसे हराकर रोमनो ने उसकी कुमक तोड दी। रोमनो न स्पेन पर फिर अधिकार कर लिया और सागर लाँघ, घूमकर, वे अफ्रीका जा पहुँचे। उनका नेता और हास्द्रुवाल का विजेता स्कीपिओ आफ्रिकानस युद्ध को इटली से अफ्रीका की जमीन पर खीच ले गया। अव जो अपने भाई की पराजय की सूचना हानिवाल को मिली, और उसने देखा कि स्वदेश से सहायता की सभावना भी नही, तो उसने सर्वस्व दाँव पर लगा दिया। उसने युद्धकौशल के कुछ आश्चर्यजनक मान रखे, पर २०२ ई० पू० मे जामा के युद्ध में हारकर वह सव कुछ खो वठा। फिर वह भागा, नगर नगर, राज राज, और अत में सवन शत्रुओ के शिकजे को तत्पर देख ग्रीस मे उसने जहर खाकर प्राण दे दिए। रोम और कार्थेज के वीच सधि द्वारा दूसरा प्यूनिक युद्ध समाप्त हुआ। कार्थेज का वह जहाजी वेडा, जिससे उसने सागर और सागरीय द्वीपो और देशो पर सदियो शासन किया था, तोड डाला गया और अफ्रीका को छोड उसका सारा वाहरी साम्राज्य छीन लिया गया। पर कार्थेज फिर भी मरा नही। उसने फिर शक्ति सचित की, और उसकी जनसख्या फिर सात लाख तक जा पहुँची। तीसरे प्यूनिक युद्ध का आरभ हुआ। यह केवल तीन वर्ष चला। वड वलिदानो के वाद, १४६ ई० पू० में, वह नगर जीता जा सका। हास्द्रुवाल अपने दीवानो के साथ एश्मून के मदिर में डट जूझ गया। फिर तो नगर का सहार शुरू हुआ, लूट और हत्या की सीमाएँ मिट गई, नगर को गिराकर उसपर हल चला दिया गया। रोम और कार्थेज के युद्ध वद हो गए।

१२२ ई० पू० मे रोम के सिनेट ने कार्थेज को फिर से उपनिवेश के रूप में वसाना चाहा। कार्थेज वसाया भी गया, पर उसे उजडते भी देर न लगी। जूलियस और ओगुस्तस सीज़र दोनो ने वारी वारी वहाँ अपनी सेनाएँ भेजी, फिर वदालो का उमपर अविकार हुआ। गाइसेरिक के नेतृत्व में वे जिब्राल्टर का जलडमरूमध्य लाँघ वहाँ पहुँचे और वचे खुचे नगर को

लटा। फिर वहीं से उस वदालराज ने रोमन साम्राज्य और इटली पर अपने सहार के घाव किए। अब कुछ काल कार्थेज वदालों के ही अधिकार में रहा, पर समृद्ध विजेता नगर के रूप में नहीं, केवल जलदस्युता का आधार बनकर। रोमन साम्राज्य अब तक दो भागों में बँट चुका था। पूर्वी भाग की राजधानी विजानियम थी जहाँ से चलकर रोमन सेनापति वेलिसारियस ने अतिम वदाल राजा को पराजित कर कार्थेज पर अधिकार कर लिया। कार्थेज पर फिर एक वार रोमनों का आधिपत्य हुआ और वेलिसारियस ने नगर की प्राचीरें खडी कर उसे नवजीवन दिया।

पर नगर का वह जीवन दीर्घकालिक न हो सका। अरव की मरुभूमि से जो तूफान उठा वह पश्चिम की ओर आसमान पर छाता चला गया। सीरिया और फिलिस्तीन, मिस्र और त्यूनीसिया एक एक कर अरबों के कदमो में लोटते गए। हस्सन-इब्न-ए-नोमान ने ६९७ ई० में कार्थेज पर वगैर लडाई के अधिकार कर लिया। रोमन जेनरल इयोनिस ने उनके पीठ फेरते ही नगर को फिर स्वतत्र कर लिया और उसकी रक्षा के लिये कटिवद्ध हुआ। पर हसान शीघ्र लौटा, उसने विजातीनी सेना को पराजित कर नगर को मिट्टी में मिला दिया। इस प्रकार ६९८ ई० में कार्थेज ससार के मानचित्र से मिट गया, केवल राहगीरों से उसके साम्राज्य के उदय, विकास और सहार की कहानी कहते रहने के लिये रोमनों के वनाए नहरों के टूटे स्तभ खडे रह गए।

कार्थेज का शासन राजसत्तात्मक न था, अभिजातसत्तात्मक अथवा वहुसत्ताक था। प्रधान कुलों से प्रतिवर्ष शासन के लिये दो 'सोफेतिस' चुन लिए जाते थे। इन्हें अनेक वार भी चुना जा सकता था। हानिवाल २३ वर्षों तक सोफेतिस रहा था। इनका नियत्रण दस सदस्यों की एक समिति करती थी जो सिनेटरों में से चुनी जाती थी। सिनेट के सदस्यों की सख्या ३०० थी। सिनेटर सभ्रात और धनी कुलों से चुने जाते थे। इनके अतिरिक्त एक जनसभा भी थी पर उसके अधिकार अत्यत सीमित थे।

कार्थेजियों के धार्मिक विश्वास प्राय वे ही थे जो फिनीकियों के थे। छोटे छोटे अनेक देवताओं के ऊपर तीन प्रधान देवता थे—१ वाल-अमोन अथवा मोलोख, २ तानित, जो चद्रमा से सवधित आकाश की देवी थी, और ३ एश्मून, नगर का देवता। मोलोख क्रूर देवता था जिसे वालकों की वलि भी दी जाती थी। उसकी विशाल मूर्ति की भुजाओं मे वच्चे डाल दिए जाते थे जो एक एक कर, नीचे के अग्निज्वाल मे गिरते जाते थे। पीछे, सिसिली के ग्रीकों से सवध होने के कारण कार्थेज में ग्रीक देवताओं की उपासना भी एक अश में होने लगी थी। अपोलो का एक मदिर नगर के बीच खडा था और देल्फी की भविष्यवाणी के लिये भी नगर अपनी समस्याएँ और चढावा भेजा करता था।

स० ग्र०—स्मिथ, आर० बी० कार्थेज ऐंड द कार्थेजियस्, चर्च, ए० जे० दि स्टोरी ऑव कार्थेज, ह्यूवक, पियर कार्थेज।

[भ० श० उ०]

कार्नवाल इग्लैंड के दक्षिण-पश्चिमी तट पर स्थित एक काउटी है। यह एक प्रायद्वीप के आकार की है जिसकी लवाई ७५ मील तथा चौडाई ४५ मील है। क्षेत्रफल १,३५६ वर्गमील, जनसख्या (१९५१) ३,४५,४४२। फालमाउथ स्थान पर जनवरी का औसत तापमान ४४.५° फा० तथा वार्षिक वर्षा ४३.६ इच है। कार्नवाल के मुख्य खाद्यान्न जई तथा मिश्रित अन्न हैं। यहाँ का मत्स्योत्पादन भी महत्वपूर्ण है। टिन का उत्पादन प्राचीन काल से हो रहा है। ताँवा उत्पन्न करने में कार्नवाल की गणना यूरोप के मुख्य क्षेत्रों में होती है। फालमाउथ पर जलयान सुधारे जाते हैं। हेल, पेजेस, पेनरीन तथा ट्रुरो मुख्य वदरगाह हैं।

[प्रे० च० श्री०]

कार्नवालिस (१७३८-१८०५) अभिजात कुल में उत्पन्न, कार्नवालिस के प्रथम अर्ल का ज्येष्ठ पुत्र चार्ल्स कार्नवालिस ३१ दिसवर, १७३८ को लदन में जन्मा। उसका व्यक्तित्व असाधारण नहीं था। न उसमें उच्चकोटीय प्रतिभा थी और न मौलिकता ही। किंतु वह ईमानदार, कर्तव्यनिष्ठ, दृढनिश्चयी, सयत और सरलमती होने के कारण सर्वत्र स्नेह और समान का पात्र वना। वह योग्य सेनानायक भी था, और कुशल नायक भी। उच्चस्तरीय विद्यालयों में शिक्षा समाप्त कर, उसने सेना में प्रवेश किया। १७६१ मे उसने जर्मनी में युद्ध में भाग लिया। १७६२ मे अपने पिता का उत्तराधिकार ग्रहण कर वह अर्ल वना। अमरीका के स्वतत्रता सग्राम मे अग्रेजी सेना का नेतृत्व ग्रहण कर उसने अमरीकी सेना को केम्डन तथा गिलफर्ड हाउस मे परास्त किया, किंतु यार्कटाउन के युद्ध मे पराजित हो उसे आत्मसमर्पण करना पडा (१९ अक्तूबर, १७८१)। इस पराजय से अग्रेजी सत्ता अमरीका मे समाप्त हो गई। १७८६ में वह ब्रिटिश भारत का गवर्नर जनरल तथा सेनापति नियुक्त हुआ। टीपू के विरुद्ध युद्ध में, प्रथम प्रयास की असफलता के पश्चात्, कार्नवालिस ने स्वय सेना का नेतृत्व ग्रहण किया। आरभ मे तो उसे वाछित सफलता नहीं मिली, किंतु, अतिम प्रयास मे उसने वगलोर अधिकृत कर (१७९१), सिरिंगापट्टम पर घेरा डाला, जिससे टीपू सधि करने पर विवश हुआ (१७९२), तथा उसे आधा राज्य अग्रेजों को समर्पित करना पडा। कार्नवालिस ने अवध की समस्या मे भी सफल हस्तक्षेप किया। उसने अडमान तथा पेनाग में अग्रेजी उपनिवेश स्थापित किए। चीन को प्रथम अग्रेज प्रतिनिधिमडल भेजा। नेपाल से व्यावसायिक सधि की तथा असम मे अँगेजी व्यवसाय को प्रोत्साहित किया।

भारत के शासकीय क्षेत्र मे कार्नवालिस ने, ब्रिटिश-सिविल-सर्विस को भ्रष्टाचार से परिष्कृत कर सुदृढ किया। चुगी विभाग मे अनेक उपादेय सुधार किए। पुलिस तथा जेल विभागों को सुसगठित करने का प्रयास किया तथा ईस्ट इडिया कपनी की आर्थिक व्यवस्था दृढ की। कृषि शासन में भी उसने महत्वपूर्ण सुधार किए। इस क्षेत्र मे उसका सर्वप्रसिद्ध कार्य वगाल मे इस्तमरारी वदोवस्त की स्थापना था। इससे, यद्यपि जमीदारों को नवीन वैधानिक अधिकार प्राप्त हुए, किंतु किसानों को अमित आघात सहने पडे। उसके सर्वोत्कृष्ट सुधार न्याय के क्षेत्र मे थे। ये अडतालिस रेग्यूलेशन 'कार्नवालिस कोड' के नाम से प्रख्यात हैं, जो कार्नवालिस की स्थायी कीर्ति है। किंतु, कार्नवालिस की शासकीय नीति मे दो मूल दोष थे। प्रथमत, जातीयता की भावना से प्रभावित हो उसने, सिद्धातत भारतीयों को उच्च पदों से सर्वथा वचित रखा। द्वितीय, उसने न्याय-विधान का आवश्यकता से अधिक आग्लीकरण किया। १७९३ में कार्नवालिस स्वदेश लौटा तथा मारक्विस की पदवी से विभूषित हुआ। १७९७ मे वह फिर गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। किंतु विद्रोह दमन करने के लिये वाइसराय नियुक्त हो वह आयरलैंड भेज दिया गया। वहाँ हवर्ट को पराजित कर (१७९८) उसने शाति स्थापित की और अतत लोकप्रिय शासक प्रमाणित हुआ। १८०५ मे वह एक वार फिर गवर्नर-जनरल वनाकर भारत भेजा गया। किंतु, गाजीपुर मे उसकी मृत्यु हो गई (५ अक्तूबर, १८०५)। वहीं उसका मकवरा निर्मित हुआ।

स० ग्र०—डब्लू० एम० सेट्टन कार दि मार्क्विस आव कार्नवालिस, चार्ल्स रॉस कार्नवालिस करेस्पाडेस, ए० एस्पिनाल कार्नवालिस इन वगाल, केब्रिज हिस्ट्री आव इडिया, जिल्द ५, एफ० डी० अस्कोली अर्ली रेवेन्यू हिस्ट्री आव वगाल ऐंड दि फिफ्थ रिपोर्ट।

[रा० ना०]

कार्नाक दक्षिणी मिस्र मे नील नद के पूर्वी तट पर जो प्राचीन नगर थीव्ज के भग्नावशेष हैं उनके उत्तरी भाग को कार्नाक और दक्षिणी भाग को लुक्सोर कहते हैं। कार्नाक और लुक्सोर दोनों अपने प्राचीन मदिरों के लिये प्रसिद्ध हैं। चहारदीवारी से घिरे हुए तीन मदिरों के खडहर कार्नाक मे आज भी खडे हैं। इनमें सवसे उत्तर का खडहर देवता मेतू के मदिर का है जिसका निर्माण आमेनहोतेप तृतीय ने कराया था। जो भाग इनका वच रहा है वह तोलेमी राजाओं के समय वना था। वह वस्तुत प्रवेशद्वार मात्र है। इस मदिर के दक्षिण में देवी मूत का मदिर है। उसे भी फराऊन आमेनहोतेप तृतीय ने ही वनवाया था। यह पहलेवाले से पर्याप्त वडा है। इसके पीछे तभी की वनी एक पवित्र झील भी है। सवसे वडा मदिर, जो देवता आमेन का है, मूत के मदिर से दक्षिण की ओर खडहर के रूप मे खडा है। इसकी चहारदीवारी तीनों में सवसे प्रशस्त है, प्राय १५०० फुट वर्गाकार। देवता आमेन की पत्नी का नाम मूत और पुत्र का खान्सू था। खान्सू का अपना मदिर भी आमेन के मदिर की चहारदीवारी के भीतर ही है। मूत के मदिर से आमेन के मदिर तक

मेपमूर्तियो के बीच से राह चली गई है। मेंतू का मदिर इन मदिरो से पृथक् है।

आमेन के मदिर की विशेषता उसके 'स्तभो का हॉल' है जो ससार के आश्चर्यों में गिना जाता है और जिसका निर्माण सेती प्रथम तथा रामसेज द्वितीय न कराया था। [प० उ०]

कार्पस क्रिस्टी सयुक्त राज्य, अमरीका के टेक्सास राज्य के दक्षिण-पूर्वी भाग मे न्यूसेस नदी के मुहाने के निकट स्थित एक नगर है। जनसख्या १,०८,२८७ (१९५०)। यह एक वदरगाह भी है जहाँ गहरे पानीवाले जलयान आ सकते हैं। २१ मील लबी एक जलधारा इसके पोताश्रय को मेक्सिको की खाडी से मिलाती है। सडको, रेलो तथा वायुमार्गो द्वारा कार्पस क्रिस्टी का सवध अनेक नगरो से है। यहाँ पर वायु तथा नौसेना के शिक्षणकेद्र भी है। प्रारभ मे यहाँ पर स्पेनवालो की वस्ती थी, परतु मेक्सिको के युद्ध के पश्चात् सयुक्त राज्य का नगर वस गया। [प्रे० च० अ०]

कार्पाचो, वित्तारिओ (१४५०-१५२३) वेनिस के श्रेष्ठ चित्रकारो की परपरा मे है। वेनिस अकादमी मे 'सत उर्सुला' की चित्रमाला सुप्रसिद्ध है तथा 'सत उर्सुला का पिता से विछोह' नामक चित्र उस शैली का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। रस्किन ने सान जिअर्गीओ की सराय में चित्रित उसकी कृतियो की ओर रसिको का ध्यान आकर्पित किया। ४० से लेकर ६९ वर्ष तक की आयु के बीच चित्रित उसकी कलाकृतियाँ अनुपम है। उसका वास्तविक नाम स्कारपोत्सा था। [भा० स०]

कार्बधातुक यौगिक (Organometallic Compounds) उन रासायनिक वस्तुओ को, जिनमे एक या अधिक हाइड्रोकार्वन मूलक धातु या उपधातु (metalloid) से ऋजु सयोजित होते है, कार्वधातुक यौगिक कहते हैं। प्रकृति मे ये अप्राप्य है, पर प्रयोगशाला में सश्लेपित इन यौगिको की सख्या वहुत वडी है।

फ्रैंकलैंड ने सर्वप्रथम १८४९ ई० में डाइ-एथिल जस्ता नामक एक कार्वधातुक यौगिक का पृथक्करण किया और उसकी सरचना निर्धारित की। वाद मे वहुत से धातुओ और उपधातुओ के सयोग से वहुत से यौगिको का सश्लेषण किया गया। इन यौगिको ने आधुनिक रसायन की उन्नति में महत्वपूर्ण योग दिया है, जैसे टेट्रा-एथिल सीस (Lead) एक महत्व का प्रत्याघात (antiknock) है, जिसका उपयोग मोटर ईंधन मे होता है। ये यौगिक कई प्रकार के है, जिन्हे साधारणत दो भागो मे विभाजित किया जाता है (१) 'सरल' कार्वधातुक यौगिक, जिनमें कार्वनिक समूह आर (R) (ऐल्किल, ऐरिल आदि) धातु से सयोजित हैं और (२) कार्वधातुक यौगिक 'मिश्रित', जव आर (R) और एक्स (X) (हैलोजन, हाइड्राक्सिल, हाइड्रोजन आदि) दोनो ही धातु से सवद्ध हो।

इन यौगिको का सश्लेपण प्राय जस्ता, मैग्नीशियम, पारद आदि धातुओ और ऐल्किल आयोडाइडो की अभिक्रिया से होता है। विशेष क्रियाशील होने के कारण इनका उपयोग रासायनिक सश्लेपण की क्रियाओ मे अधिकता से होता है। सोडियम मेथिल सोकाहा ($NaCH_3$) जैसे सोडियम ऐल्किल की प्राप्ति, पारद ऐल्किलो पर सोडियम की अभिक्रिया से, होती है। शुद्ध रूप में ये अमणिभीय पदार्थ है, जो भिन्न भिन्न विलायको मे अविलेय है। गर्म करने पर विना द्रवित हुए ही विच्छेदित होते है।

जस्ता-ऐल्किल—इनकी प्राप्ति जस्ता और ऐल्किल आयोडाइडो की अभिक्रिया से होती है। जस्ते को जस्ता-ताम्र-युगल (Zinc-copper couple) के रूप मे उपयोग करने से अभिक्रिया अधिक क्रियाशील होती है। पहले जस्ता ऐल्किल आयोडाइड की उत्पत्ति होती है, जो आसवन पर विच्छेदित होकर जस्ता ऐल्किल मे परिवर्तित होता है

$$\text{का}_2\ \text{हा}_5\text{आ} + \text{य} = \text{का}_2\ \text{हा}_5\ \text{य आ}$$

$$C_2H_5I + Zn = C_2H_5ZnI$$
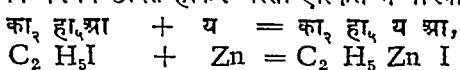
(एथिल आयोडाइड) + (जस्ता) = जस्ता एथिल आयोडाइड

$$२\text{का}_2\ \text{हा}_5\text{य आ} \longrightarrow \text{य}\ (\text{का}_2\ \text{हा}_5)_2 + \text{य आ}_2$$

$$2\,C_2H_5ZnI \longrightarrow Zn\,(C_2H_5)_2 + ZnI_2$$
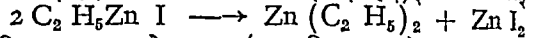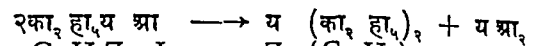
डाइथिल जस्ता आयोडाइड (डाइएथिल-जस्ता) + जस्ता आयोडाइड

ये जस्ता-ऐल्किल रगहीन तथा दुर्गधमय द्रव है जो उवलने पर विच्छेदित हो जाते हैं ये हवा मे शीघ्र ही जल उठते है और चमडी में कप्टप्रद फफोले उत्पन्न करते है।

कार्व-मैग्नीशियम यौगिक—सश्लेपण के हेतु मैग्नीशियम का उपयोग सर्वप्रथम वार्वीर (Barbier) ने १८९९ ई० मे किया, किंतु इसका महत्व वताने का श्रेय उनके शिष्य विक्टर ग्रीनयार्ड को है। ग्रीनयाड ने दिखाया कि मैग्नीशियम शुप्क ईथर की उपस्थिति मे वहुत से कावनिक हैलोजन यौगिको से अभिक्रिया करके आर मैग एक्स (RMgX), जिसमें आर (R)=ऐल्किल अथवा एरिल समूह और एक्स (X)=हैलोजन है, यौगिक वनाता है। इनके असाधारण क्रियाशील होने के कारण इनका महत्व सश्लिष्ट रसायन मे अतुलनीय है। (विशद वर्णन के लिये देखें 'ग्रीनयार्ड के अभिकर्मक')। लीथियम ऐल्किलो की प्राप्ति शुष्क ईथर के माध्यम में ऐल्किल हैलाइडो और लीथियम की अभिक्रिया से होती है। गुणधम मे ये ग्रीनयार्ड अभिकर्मको के ही समान है और इनका भी उपयोग सश्लेपण के हेतु किया जाता है। ताम्र, रजत और स्वर्ण के कार्वधातुक यौगिको—क्रमश फेनिल ताम्र, का$_6$ हा$_5$—ता (C_6H_5—Cu), फेनिल रजत, का$_6$ हा$_5$—र (C_6H_5—Ag) और फेनिल स्वर्ण, का$_6$ हा$_5$—स्व (C_6H_5—Au)—की प्राप्ति भी ग्रीनयार्ड अभिकर्मको की सहायता से ही होती है। एक सयोजी (monovalent) ताम्र, स्वर्ण और रजत यौगिको का लाक्षणिक गुण यह है कि ये पूर्णरूप से R—R यौगिक तथा धातु (M) में विच्छेदित हो जाते है

$$२\text{का}_6\ \text{हा}_5\ \text{धा} \longrightarrow \text{का}_6\ \text{हा}_5\text{—का}_6\ \text{हा}_5 + २\text{धा}$$

$$2C_6H_5M \longrightarrow C_6H_5\text{—}C_6H_5 + 2M$$

(फेनिल-ताम्र, रजत या स्वर्ण) → (डाइफेनिल) + (धातु)
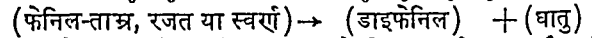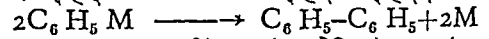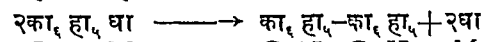
कैडमियम के यौगिक शुप्क कैडमियम क्लोराइड और ग्रीनयाड अभिकर्मक के सयोग से प्राप्त होते है

$$\text{का हा}_3\ \text{मै}_\text{ग}\ \text{क्लो} + \text{कै}_\text{ड}\text{क्लो}_2 \rightarrow \text{का हा}_3\ \text{कै}_\text{ड}\ \text{क्लो} + \text{मै}_\text{ग}\ \text{क्लो}_2$$

$$CH_3MgCl + CdCl_2 \rightarrow CH_3Cd\ Cl + MgCl_2$$
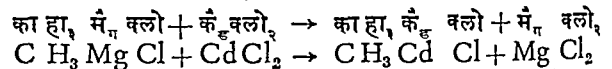
टेट्रा-मेथिल सीस, मिश्रधातु और एथिल जैसे सीस-ऐल्किल क्लोराइड से प्राप्त करते है। थोडी मात्रा में यह पेट्रोल मे मिश्रित किया जाता है जो प्रत्याघात (ऐंटिनाक) का काम करता है।

पारद मे हाइड्रोकार्वनो के कार्वन के साथ अथवा कावनिक मूलको के साथ सयुक्त होने की विशेष क्षमता है। सोडियम सरस (Sodium Amalgam) सीघे ही एथिल आयोडाइड और ब्रोमोवेंज़ीन से अभिक्रिया करता है और पारद डाइ-एथिल पा(का$_2$हा$_5$)$_2$ [$Hg(C_2H_5)_2$] (क्वथनाक १५९° सें०) और पारद डाइफेनिल, (का$_6$ हा$_5$)$_2$ पा [$(C_6H_5)_2Hg$] (गलनाक १२० सें०) उत्पन्न होता है। वहुत से क्रियाशील पदार्थो, जैसे सौरभिक समाक्षारो या फेनिल के सजात केवल मरक्यूरिक ऐसीटेट के साथ गरम करने पर ही प्राप्त हो जाते है। आर्सेनिक, ऐंटिमनी और विस्मथ के यौगिको का भी विशेष महत्व है, क्योकि उनमे से वहुत से अद्भुत ओपधि गुणवाले सिद्ध हुए है। पोटैशियम ऐसीटेट और आर्सेनिक ट्राइ-आक्साइड के आसवन से एक सधूम द्रव, कैकोडिल आक्साइड [(का हा$_3$)$_2$ आ$_र$]$_2$ओ [$(CH_3)_2As]_2O$] (क्वथनाक १५०° सें०) प्राप्त होता है। कैकोडिल मूलक (का हा$_3$)$_2$ आ$_र$ [$(CH_3)_2As$] भी काफी स्थायी है। कैकोडिल आक्साइड के हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ आसवन पर कैकोडिल क्लोराइड (डाइ-मेथिल आर्सीन क्लोराइड) (का हा$_3$)$_2$ आ$_र$ क्लो [$(CH_3)_2AsCl$] की प्राप्ति होती है। मेथिल डाइक्लोरोआर्सीन काहा$_3$आ$_र$क्लो$_2$ [CH_3AsCl_2] का प्रयोग युद्ध में विपैली गैस के लिये किया जाता है। ऐंटिमनी के यौगिक भी गुणधर्म मे इनसे वहुत मिलते है। कार्ववग यौगिक गुणधर्म मे सीस यौगिको से मिलते हैं। स्टैनस क्लोराइड और मैग्नीशियम एथिल ब्रोमाइड से वग डाइएथिल व(का$_2$हा$_5$)$_2$ [$Sn(C_2H_5)_2$] एक तैल प्राप्त होता है। इसी भाँति वग डाइ फेनिल व (का$_6$ हा$_5$)$_2$ [$Sn(C_6H_5)_2$] एक चटकीले पीले चूर्ण के रूप मे (गलनाक १३०° सें०) प्राप्त होता है।

स० ग्रं०—श्मिट (Schmidt) आर्गेनिक केमिस्ट्री, हेनरी गिलमैन आर्गनिक केमिस्ट्री । [शि० मो० व०]

कार्बन एक तत्व है, जो स्वतत्र तथा सयोजित दोनो रूपो मे मिलता है। स्वतत्र कार्बन के विभिन्न अपर रूप हीरा, ग्रैफाइट तथा कोयला हैं। हवा के कार्बन डाइ-ग्राक्साइड में, पानी मे घुले कार्बोनेट मे और सगमरमर, खडिया, अनेक चट्टानो तथा कई प्रकार के खनिज पदार्थो मे सयोजित कार्बन रहता है। जीवधारी, वनस्पति, पेट्रोलियम तथा सभी कार्बनिक वस्तुओ का एक अत्यावश्यक अवयव कार्बन है।

साधारण ताप पर कार्बन सामान्यत अक्रिय है, परतु तप्त करने पर यह बहुत सी वस्तुओ से सयोग करता है। आक्सिजन से क्रिया मे कार्बन मोनो-आक्साइड तथा डाइ-आक्साइड बनता है

$$\text{का} + \tfrac{1}{2}\,\text{औ}_2 = \text{का औ}, \quad \text{का} + \text{औ}_2 = \text{का औ}_2$$

$$C + \tfrac{1}{2} O_2 = C\,O, \quad C + O_2 = C\,O_2$$
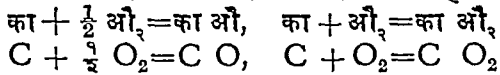
उच्च ताप पर कार्बन द्वारा कई धातुओ के आक्साइड का अवकरण हो जाता है। उच्च ताप पर आक्सिजन से सयुक्त होने की प्रवृत्ति के कारण ही यह ईंधन के लिये तथा धातुकर्म में सरल अवकारक के लिये अत्यधिक प्रयुक्त होता है। अति उच्च ताप पर यह हाइड्रोजन से भी क्रिया करता है और फलस्वरूप हाइड्रोकार्बन बनते हैं।

यौगिको मे कार्बन की सामान्यतया चतु सयोजकता रहती है तथा वलय अथवा शृ खला मे दूसरे कार्बन परमाणु से भी सयोग करना इसका विशेष गुण है। इसीलिये असख्य कार्बनिक यौगिक उपलब्ध है।

कई प्रकार के कार्बनिक यौगिको को, जैसे लकडी का चूर, चीनी, पत्तियो इत्यादि को, अपर्याप्त वायु मे गरम करने से वे झुलस जाते है और वाष्प तथा दूसरी वाष्पशील वस्तुएँ बाहर निकल जाती हैं। अत मे काली वस्तु बच रहती है जो विशुद्ध कार्बन रहता है, अथवा अल्प मात्रा मे दूसरे यौगिको सहित, प्राय विशुद्ध कार्बन रहता है। इसी प्रकार तेल के जलने से या धुएँ से प्राप्त काजल भी कार्बन है। रग रूप मे हीरा कार्बन का रूप नही प्रतीत होता परतु कोयला, काजल, ग्रैफाइट की भाँति यह भी वस्तुत कार्बन का ही एक अपर रूप है। इन सभी प्रकार की वस्तुओ को वायु मे पूर्णतया जलाने पर कार्बन डाइ-आक्साइड गैस ही मिलती है। मात्रात्मक विचार से पूर्वोक्त सभी वस्तुओ से भार भी बराबर ही मिलता है। कार्बन के ये विभिन्न अपर रूप होते हुए भी उनके रग, रूप, मणिभ सरचना तथा दूसरे भौतिक गुणधर्म अत्यत भिन्न होते हैं।

रगहीन तथा रगीन दोनो प्रकार के हीरे मिलते हैं, यह अत्यत कडी मणिभ वस्तु है। विशेष प्रकार से काटने पर, जिससे आतरिक पूर्ण परावर्तन अधिक हो, यह अत्यत चमकदार हो जाता है और मणियो की भाँति उपयुक्त होता है। इसका घनत्व ३ ३—३ ५ है और इसका वर्तनाक तथा विक्षेपक शक्ति अधिक होती है। कुछ प्रकार के हीरो का रग कैथोड-रे, ऐल्फा-रे, अथवा अल्ट्रावायलेट-रे में रखने पर बदलता है। काले रग के हीरे (कारबोनेडो तथा बोर्ट) मणियो के लिये अनुपयुक्त होते हैं, परतु अत्यत कडे होने के कारण ये बहुमूल्य घर्षक हैं। काच काटने, पतला तार खीचने के ठप्पे बनाने, चट्टान छेदने, हीरा अथवा दूसरी मणियो को काटने, अथवा उनपर पालिश करने के यत्र बनाने मे काले हीरे का उपयोग होता है।

एक्स-रे-द्वारा हीरे के मणिभ (crystal) के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि कार्बन के प्रत्येक परमाणु कार्बन के दूसरे चार परमाणुओ से सबधित हैं। इनके सयोजकता-बध समचतुष्फलक के अनुसार व्यवस्थित होते है, दो निकटवर्ती कार्बन परमाणु मे दूरी केवल १ ५४ आगस्ट्रम है तथा षड्भुज वलय की चौडाई २ ५१ आगस्ट्रम है। इस सरचना के कारण ही हीरा अत्यत कडी वस्तु हो जाता है।

ऐसा अनुमान होने पर कि पिघले हुए तप्त पदार्थ मे कार्बन के विलयन को अत्यधिक दाब पर ही ठढा करने से हीरा बनेगा, लोगो ने इस विधि द्वारा कार्बन से हीरा बनाने का प्रयत्न किया है। इस्पात के सुदृढ खोल मे कार्बन को उच्च ताप पर पिघले लोहे मे घुलने दिया जाता है। तब खोल को अचानक ठढा किया जाता है। इससे भीतर स्वत अत्यधिक दबाव प्राप्त होता है। लोहे को अम्ल मे घुला देने पर हीरा निकलता है, परतु नन्हे नन्हे टुकडो मे।

कार्बन का दूसरा रूप है ग्रैफाइट जो काले रग का कोमल, चिकना तथा चमकदार ठोस पदार्थ है। इसे कागज पर घिसने से काला चिह्न बन जाता है। इसलिये यह लिखने की पेंसिल बनाने मे प्रयुक्त होता है। इसकी विद्युत् तथा उष्मा सचालकता अधिक है, इन गुणो के कारण यह विद्युत् मोटरो के विद्युद्ग्राही कूर्च (ब्रश), आर्क लैप की बत्ती, सूखी बैटरी तथा विद्युद्विश्लेषण (electrolysis) मे प्रयुक्त विद्युदग्र के लिये उपयोगी होता है। धातुओ को पिघलाने की कई प्रकार की घरियाँ भी इससे बनाई जाती हैं। व्यावसायिक मात्रा मे ग्रैफाइट बनाने के लिये कोयला अथवा कार्बनयुक्त दूसरी उपयुक्त वस्तु को बालू (या ऐसे ही किसी अन्य आक्साइड) के साथ विद्युत् आर्क की विशेष प्रकार की भट्ठियो मे लगभग २००० ° सें० तक गरम किया जाता है। इस प्रक्रिया मे पहले कारबाइड बनता है जिसके विघटन से सिलिकान वाष्पित हो जाता है और कार्बन, ग्रैफाइट के रूप मे, बच रहता है। इस प्रक्रिया से अति शुद्ध ग्रैफाइट प्राप्त होता है जिसका उपयोग विशेषकर विद्युतीय कार्यो में होता है। ग्रैफाइट का कलिल विलयन पानी मे 'ऐक्वाडाग' नाम से अथवा तेल मे 'आयलडाग' नाम से किसी सतह को विद्युच्चालकता प्रदान करने के लिये, या स्नेहन (Lubrication) के लिये बहुत प्रयुक्त होता है। यद्यपि ग्रैफाइट अम्ल या क्षार के तनु विलयन के प्रति अक्रिय है, तथापि अति आक्सीकारक वस्तु से यह क्रिया करता है। गाढे सल्फ्यूरिक तथा नाइट्रिक अम्ल और पोटैसियम क्लोरेट की क्रिया मे ग्रैफाइट से ग्रैफिटिक अम्ल (या आक्साइड) बनता है।

एक्स-रे विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि ग्रैफाइट के मणिभ मे कार्बन परमाणु एक ही समतल मे व्यवस्थित होते हैं और एक षड्कोण के कोनो पर स्थित रहते हैं। दो अगल बगल के कार्बन परमाणु की दूरी १ ४२ आगस्ट्रम, वलय की चौडाई २ ४६ आगस्ट्रम तथा दो निकटतम समतलो की परस्पर दूरी ३ ४० आगस्ट्रम होती है।

काठकोयला लकडी के तथा अस्थिकोयला (animal charcoal) हड्डी के कार्बनीकरण से प्राप्त होता है। व्यावसायिक मात्रा में इन्हे तैयार करने पर अनेक बहुमूल्य उपजात भी मिलते हैं। काठकोयले का उपयोग मुख्यत ईंधन के लिये तथा अस्थिकोयले का उपयोग गैस या रग के अवशोषक के रूप मे होता है। काजल और कालिख (carbon black) तेल या पेट्रोलियम को अपर्याप्त वायु मे जलाने पर प्राप्त होता है।

प्राकृतिक गैस से इसी प्रकार गैस-कालिख (gas black) प्राप्त किया जाता है। यह गाढे काले रग का महीन चूर्ण है जिसका उपयोग काली स्याही, वार्निश तथा रबर को सुदृढ करनेवाले पदार्थो के रूप मे होता है। पत्थर के कोयले मे कार्बन के साथ दूसरी वस्तुएँ भी पर्याप्त मात्रा मे होती हैं। इसका भडार कई देशो मे पाया गया है। विभिन्न प्रकार के कोयलो मे कार्बन की मात्राएँ भिन्न होती हैं। भारी मशीनो के लिये ईंधन के रूप मे साधारणत पत्थर का कोयला ही प्रयुक्त होता है। इसे बद भट्ठी मे गरम कर कई बहुमूल्य रासायनिक पदार्थ प्राप्त किए जाते हैं तथा बचा हुआ कोक घरेलू कामो मे ईंधन के लिये प्रयुक्त होता है।

कार्बन से सयोजित धातु के यौगिको को कारबाइड कहते हैं जो साधारणतया कठिनाई से ही उच्च ताप पर बनते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं एक तो पानी से सरलता से क्रिया करते हैं। इस क्रिया मे हाइड्रोकार्बन बनता है। उनके उदाहरण हैं कैलसियम, ऐलूमिनियम, इत्यादि के कारबाइड।

$$\text{कै का}_2 + \text{२हा}_2\text{औ} = \text{कै (औ हा}_2) + \text{का}_2\,\text{हा}_2$$

$$Ca\,C_2 + 2H_2\,O = Ca\,(O\,H_2) + C_2\,H_2$$
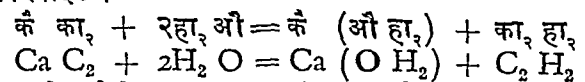
दूसरे वर्ग के सदस्य अति कठोर होते हैं तथा उष्मसह वस्तुएँ बनाने मे काम आते हैं (जैसे टाइटेनियम, ज़रकोनियम, वैनेडियम और टगस्टन के कारबाइड)।

स० ग्रं०—जे० एफ० थॉर्प तथा एम० ए० ह्विटले थॉर्प्स् डिक्शनरी ऑव ऐप्लायड केमिस्ट्री, जे० आर० पारटिंगटन ए टेक्स्ट बुक ऑव इनार्गेनिक केमिस्ट्री, जे० डब्ल्यू० मेलर ए काम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज़ ऑन इनॉर्गनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२)। [वि० वा० प्र०]

कार्वन के ग्राक्साइड ये ग्राक्सिजन से सयोजित कार्वन के यौगिक है। इनमें मुख्य तीन (१) कार्वन डाइ-ग्राक्साइड, (२) कार्वन मोनो-ग्राक्साइड, तथा (३) कार्वन सब-ग्राक्साइड साधारण ताप पर गैसीय है। इनके अतिरिक्त ठोस ग्राक्साइड का$_4$ ओ$_3$ (C_4O_3), का$_8$ ओ$_3$ ($C_8 O_3$) तथा का$_{12}$ ओ$_9$ ($C_{12} O_9$) भी वर्णित है।

कार्वन डाइ-ग्राक्साइड--यह गैस स्वतत्र रूप में प्रचुरता से मिलती है। वैसे तो वान हेलमाट ने पहले पहल इसे तैयार किया और जोज़ेफ ब्लैक तथा वर्गमैन द्वारा इसकी परीक्षा हुई, परतु लेवाज़िए ने इसकी कार्वन का ही एक ग्राक्साइड होने की पहचान की तथा कोयले एव हीरे को जलाकर इसकी व्याकृति भी ज्ञात की। कोयले के जलने, प्राणियो के श्वास निकालने तथा कितने ही प्रकार के कार्वनिक पदार्थो के सडने में कार्वन डाइ-ग्राक्साइड बनता है जो वायुमडल की हवा में मिल जाता है। कही कही पृथ्वी से (ज्वालामुखीवाले स्थानो में) भी यह गैस निकलती है अथवा कुछ झरनो के पानी मे ही यह घुली रहती है। साधारण हवा मे इसका प्रति शत ० ०३-० ०४ है, परतु अत्यत कारोवारी नगरो मे, भट्ठो तथा विभिन्न प्रकार की सवारियो मे कोयला या पेट्रोल जलने से इसकी मात्रा अधिक रहती है। वनस्पतियो द्वारा इसकी वडी मात्रा का व्यय होने से हवा मे इसका सतुलन स्थिर रहता है।

खडिया अथवा सगमरमर पर अम्ल की क्रिया से यह गैस सरलता से प्राप्त की जा सकती है

कै का ओ$_3$ + २हा क्लो = कै क्लो$_2$ + का ओ$_2$ + हा$_2$ ओ

$$CaCO_3 + 2HCl = CaCl_2 + CO_2 + H_2O$$
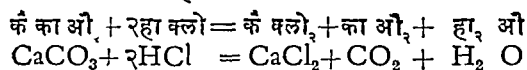
गधक का अम्ल प्रयुक्त करने पर सगमरमर की सतह को अल्पविलेय कैलसियम सल्फेट घेर लेता है जिससे थोडी देर मे क्रिया रुक जाती है, परतु खडिया के महीन चूरे में क्रिया चलती रहती है। प्राप्त गैस को पानी अथवा सोडियम वाइकार्वोनेट के विलयन से प्रवाहित करने पर, साथ मे आया हुआ अम्ल निकल जाता है तथा कैलसियम क्लोराइड, फास्फरस पेटाक्साइड इत्यादि से इसे सुखाया जा सकता है। इससे सल्फर डाइ-ग्राक्साइड दूर करने के लिये पोटैसियम परमैगानेट के विलयन से प्रवाहित करते है।

सरलता से विघटित होनेवाले कार्वोनेट या वाइकार्वानेट को गरम करके भी यह गैस प्राप्त की जाती है।

२सोहा का ओ$_3$ = सो$_2$ का ओ$_3$ + का ओ$_2$ + हा$_2$ ओ

$$2NaHCO_3 = Na_2CO_3 + CO_2 + H_2O$$
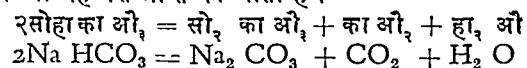
वास्तव मे इस विधि द्वारा शुद्ध कार्वन डाइ-ग्राक्साइड गैस मिलती है।

व्यापारिक मात्रा मे कार्वन डाइ-ग्राक्साइड कोयले को जलाकर अथवा चूने का पत्थर, डोलोमाइट तथा मैगनेसाइट को गरम कर प्राप्त करते हैं। किण्वन अथवा अन्य रासायनिक प्रक्रियाग्रो मे प्राप्त उपजात से अथवा प्राकृतिक स्रोतो से भी यह एकत्र की जाती है। गरम कोयले पर हवा प्रवाहित करने से कार्वन डाइ-ग्राक्साइड के साथ मोनो-ग्राक्साइड भी वनता है। कोयले की उपस्थिति मे कार्वन मोनो-ग्राक्साइड का आगे डाइ-ग्राक्साइड तक पूर्णत ग्राक्सीकरण नही हो पाता, इसलिये अधिक हवा के साथ इस गरम गैसीय मिश्रण को उष्मसह ईटो के बने दहनकक्ष (combustion chamber) मे फिर प्रवाहित किया जाता है। फलत कार्वन मोनोग्राक्साइड के साथ ही हाइड्रोजन तथा हाइड्रोजन सल्फाइड का (जो कोयले अथवा हवा में पानी के कारण तथा कोयले में विद्यमान गधक के कारण वन जाते है) भी ग्राक्सीकरण हो जाता है। मिश्रण को ठढा कर पानी तथा चूने के पत्थर की सहायता से साफ कर लिया जाता है जिससे इसमे से सल्फर डाइ-ग्राक्साइड तथा धूल निकल जाती है। तदुपरात पोटैसियम कार्वोनेट के विलयन से मार्जन करने पर कार्वन डाइ-ग्राक्साइड गैस नाइट्रोजन, ग्राक्सिजन अथवा दूसरी गैसो से अलग कर ली जाती है। विलयन को गरम करने से शुद्ध गैस वाहर निकलती है तथा पुन उपयोग के लिये विलयन वच रहता है। हाइड्रोजन प्राप्त करने के लिये जल गैस के उपयोग में वचे हुए कार्वन मोनो-ग्राक्साइड से कार्वन डाइ-ग्राक्साइड मिलता है। इसके लिये जल गैस अतिरिक्त वाष्प के साथ उत्प्रेरक पर प्रवाहित की जाती है तथा कार्वन मोनो-ग्राक्साइड के ग्राक्सीकरण से प्राप्त कार्वन डाइ-ग्राक्साइड गैस पानी मे अधिक दवाव पर घुलाकर अलग कर ली जाती है।

वहुत सी वस्तुग्रो के उत्पादन की प्रक्रियाग्रो मे कार्वन डाइ-ग्राक्साइड की आवश्यकता चूने के पत्थर को गरम करके प्राप्त होनेवाली गैस से पूरी की जाती है। इसके लिये विशेष प्रकार की भट्ठी का उपयोग होता है जो वाहर से उत्पादक (Producer) गैस द्वारा भीतर कोयला जलाकर गरम की जाती है। विभिन्न प्रकार के सोडावाटर तथा दूसरे साधारण उपयोगो के लिये कार्वन डाइ-ग्राक्साइड लोहे के सुदृढ सिलिडरो मे प्राप्य है।

कार्वन डाइ-ग्राक्साइड रगहीन है। यह नशीली नही है, किंतु इसकी अधिक मात्रावाली हवा मे साँस लेने से दम घुटने लगता है। जलने की प्रक्रिया मे यह अतिम उत्पाद है जिससे यह जलने में सहायक नही है और आग वुझाने मे इसका उपयोग होता है। जलते हुए सोडियम, पोटैसियम या मैग्नीशियम इस गैस में जलते रहते है। इस गैस को चूने के पानी अथवा वेरियम हाइड्राक्साइड के विलयन में प्रवाहित करने से अवि लेय कार्वोनेट का सफेद अवक्षेप प्राप्त होता है, जो अधिक गैस की उपस्थिति में कैलसियम वाइकार्वोनेट वनने से पुन घुल जाता है। इस क्रिया का उपयोग इस गैस की उपस्थिति को पहचानने में होता है। पानी में घुले हुए वाइकार्वोनेट को गरम करने पर विघटन से प्राप्त कार्वोनेट का सफेद ठोस पदार्थ विलयन से वाहर आ जाता है। इस विधि द्वारा पानी का अस्थायी भारीपन दूर किया जाता है।

यह हवा से भारी है। इसका आपेक्षिक घनत्व १ ३८३३ (ग्राक्सिजन = १) या घनत्व १ ९७६७ ग्राम प्रति लीटर है (०° से० तथा ७६० मि० दवाव पर)। यह पानी में थोडा विलेय है और ऐसा विलयन अम्लीय गुण देता है। विलेयता दाव वढाने पर अत्यधिक वढ जाती है, जिसका उपयोग दूसरी गैसो से इसे पृथक् करने में किया जाता है। यह ऐल्कोहल में भी विलेय है। कार्वन डाइ-ग्राक्साइड गैस काठकोयले मे अवशोपित होती है तथा वल्कनीकृत रवर से विसारित (diffused) होती है। इसके द्रवीकरण मे विशेप कठिनाई नही होती। ठढक तथा दवाव के प्रभाव से वडी मात्रा में द्रव कार्वन डाइ-ग्राक्साइड वनाया जाता है। इसका चरम ताप ३१ १° से०, दाव ७३ ० वायुमडल तथा द्रव का घनत्व ० ४६० ग्राम घ० सें० है। अधिक दाव के द्रव के विस्तार से ठोस कार्वन डाइ ग्राक्साइड प्राप्त होता है। इसे सूखी वर्फ कहते है। इसका गलनाक ५६ ६ (५ २ वायुमडल दाव पर) है। यह व्यावसायिक मात्रा में आयताकार अथवा वेलनाकार वडे वडे टुकडो में उलपव्व है। इसका उपयोग सरलता से कावन डाइ-ग्राक्साइड गैस उपलव्व करने के अतिरिक्त प्रशीतन (refrigeration), खाद्य वस्तु को अधिक समय तक सुरक्षित रखने तथा निम्न ताप प्राप्त करने मे होता है। यह कुछ महँगा होते हुए भी साफ रहने तथा खाद्य पदार्थ के साथ अच्छी तरह मिलाए जा सकने एव कार्वन डाइ-ग्राक्साइड के वायुमडल मे कीटाणुग्रो से सुरक्षित होने के कारण पानी की वफ की तुलना मे अच्छा पडता है।

कार्वन मोनो-ग्राक्साइड—यह रगहीन तथा विषैली गैस है। यह मोटर के कारवुरेटर, घरो मे जलनेवाली भट्ठियो तथा तवाकू के धुएँ में मिलता है। ग्राक्सिजन, हवा या जलवाष्प द्वारा उच्च ताप पर कार्वन के आशिक ग्राक्सीकरण से तथा हाइड्रोजन, कार्वन या कुछ धातुग्रो द्वारा कार्वन डाइ-ग्राक्साइड के अवकरण से यह गैस प्राप्त होती है। कावन द्वारा कुछ धातुग्रो के ग्राक्साइड या कार्वोनेट के अवकरण अथवा कारवाइड वनाने की क्रिया से भी यह वनता है। प्रयोगशाला मे यह फारमिक अम्ल या सोडियम फारमेट पर अम्ल की क्रिया द्वारा सरलता से वनाया जा सकता है। आक्सैलिक अम्ल से ऐसी क्रिया मे कार्वन डाइ-ग्राक्साइड भी वनता है। यह गैस ज्वलनशील होने के कारण ईधन के लिये अधिक मात्रा में तैयार की जाती है। व्यावसायिक प्रक्रियाग्रो में प्रयुक्त गैसीय ईधन, जैसे कोयला गैस, जल गैस, कारवुरेटेड जल गैस, तथा उत्पादक गैस मे यह दूसरी गैसो के साथ मिश्रित ही उपयुक्त की जाती है।

कार्वन मोनो-ग्राक्साइड गैस का घनत्व १ २५० ग्रामलीटर (०° सें० ७६० मि० मी० पर) या आपेक्षित धनत्व ० ८७४६ (ग्राक्सिजन=१) है। इसका चरम ताप --१३९° से०, दाव ३४ ६ वायुमडल तथा घनत्व ० ३११ ग्राम घन सेटीमीटर है। इसका गलनाक –२०७° सें०

तथा क्वथनाक –१६०° से०है। पानी मे यह गैस थोडी विलेय है तथा ताप वढाने से विलेयता कम होती है। गैस की वहुत कम मात्रावाली हवा मे साँस लेने से सिर दर्द होने लगता है तथा अधिक मात्रा से मृत्यु हो जाती है। रुधिर के हेमोग्लोविन से इसकी क्रिया होने के कारण यह अत्यत हानिकारक है। कार्वन मोनो-ग्राक्साइड युक्त हवा मे कार्य करने के लिये गैस-त्राण तथा साँस लेने के लिये 'ग्राक्सिजन वैग' का उपयोग किया जाता है।

कार्वन मोनो-ग्राक्साइड की क्रिया कई रासायनिक वस्तुग्रो, जैसे ग्राक्सिजन, जलवाष्प, हाइड्रोजन ग्रादि से होती है। कई प्रकार की वस्तुग्रो के उत्पादन मे यह महत्वपूर्ण प्रारभिक यौगिक है। हाइड्रोजन से इसकी क्रिया मेथेन, मेथिल ऐलकोहल, फॉर्मैल्डिहाइड इत्यादि वनाने के विचार से व्यावसायिक महत्व रखती है। कार्वन मोनो-ग्राक्साइड क्लोरीन से फासजीन तथा कुछ धातुग्रो से कारवोनिल वनाता है। पैलेडस क्लोराइड के तनु विलयन से ग्रवकरण के कारण धातु ग्रलग होती है। इस क्रिया द्वारा इस गैस की उपस्थिति जानी जा सकती है। क्युप्रस क्लोराइड के ऐमोनियामय विलयन मे यह गैस सयोजित हो जाती है तथा हाइड्रोक्लोरिक ग्रम्ल के विलयन से सफेद ग्रवक्षेप, ता क्लो, का ओ, २हा,ओ $[CuCl, CO_2, H_2O]$ प्राप्त होता है। इसके द्वारा ग्रायोडीन पेंटाक्साइड से ग्रायोडीन मुक्त हो जाता है। कार्वन मोनो-ग्राक्साइड की मात्रा ज्ञात करने के विचार से ये क्रियाएँ महत्वपूर्ण हैं।

कार्वन सव-आक्साइड—डील्स तथा वुल्फ ने इसे पहले पहल तैयार किया। मैलोनिक ग्रम्ल ग्रथवा उसके एस्टर को फास्फोरस पेंटाक्साइड की ग्रधिक मात्रा के साथ ३००° से० तक न्यून दाव पर गरम करने पर यह प्राप्त होता है। डाइ-एसीटिल टारटारिक एनहाइड्राइड के वाष्प को गरम प्लैटिनम ततु (filament) पर ग्रथवा गरम पाइरेक्स नली मे प्रवाहित करने से भी यह वनता है। यह विषैली गधयुक्त गैस है तथा सरलता से ही द्रव मे परिणत की जा सकती है। द्रव का क्वाथनाक ७° तथा हिमाक १११ ३° से० है। खूव स्वच्छ वर्तन मे रखी रहने पर यह गैस साधारण ताप पर स्थायी रहती है परतु नमी ग्रथवा पारे की वाष्प की उपस्थिति मे इसके वहुलकीकरण से लाल पदार्थ प्राप्त होता है। इस क्रिया मे वर्तन की सतह का ग्रधिक प्रभाव है। सव-ग्राक्साइड तथा उसका वहुलक दोनो ही गरम करने पर कार्वन डाइ-ग्राक्साइड तथा मोनो-ग्राक्साइड देते हैं।

यह गैस पानी से मिलकर मेलोनिक ग्रम्ल वनाती है। ग्रमोनिया तथा ऐमिनो से भी यह क्रिया करती है जिसमे ऐमाइड वनते हैं। सूखे हाइड्रोजन क्लोराइड तथा व्रोमीन से भी इसी प्रकार के यौगिक वनते हैं। फार्मिक तथा ऐसीटिक ग्रम्ल से प्राप्त यौगिको के गुणधर्म मिश्रित ऐन-हाइड्राइड के होते हैं। इसी प्रकार वहुत से रासायनिक यौगिको से इसकी क्रिया होती है, जैसे सल्फर डाइ-ग्राक्साइड तथा हाइड्रोजन सल्फाइड इत्यादि से।

स० ग्र०—जे० डव्ल्यू० मेलर, ए काम्प्रिहेसिव ट्रीटिज ग्रॉन इन-ग्रार्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री, जे० एफ० थॉर्प तथा एम० ए० ह्विटले थार्प्स डिक्शनरी ग्रॉव ऐप्लाइड केमिस्ट्री, जे० ग्रार० पार्रटिंगटन, ए टेक्स्ट वुक ग्रॉव इनग्रार्गेनिक केमिस्ट्री। (वि० वा०प्र०)

कार्बन डाइ-सल्फाइड

यह गधक से सयोजित कार्वन का यौगिक है। १७९६ मे लैंपेडियस (Lampadius) ने इसका पता लगाया ग्रौर इसकी व्याकृति वैक्वेलिन ने ज्ञात की। यह गरम कार्वन पर गधक का वाष्प प्रवाहित करने से वनता है का + २ग = का ग, $[C+2S=CS_2]$ ग्रौद्योगिक परिमाण मे इसके उत्पादन के लिये भी मूलत इसी क्रिया का उपयोग होता है। ढलवाँ लोहे ग्रथवा मिट्टी के वने भभके मे काठ कोयला ८००°-९००° से० तक गरम किया जाता है तथा गधक का वाष्प नीचे से, कोयले से होकर प्रवाहित किया जाता है। गैसीय उत्पाद से सघनित्र मे प्रवाहित कर कार्वन डाइ-सल्फाइड प्राप्त की जाती हे। इसमे कुछ ग्रन्य यौगिक भी रहते है, जो आसवन द्वारा दूर कर लिए जाते हैं। कार्वन डाइ-सल्फाइड के ग्रधिक उत्पादन के लिये गधक का ग्रतितप्त वाष्प ग्रावश्यक होता है। इसके लिये कार्वन से क्रिया होने के पहले ही वाष्प को ग्रधिक गरम कर लिया जाता हे। टेलर की विधि मे, जिसमे विद्युत् भट्ठी का उपयोग होता है, गधक के पिघलने से प्राप्त वाष्प भभके के भीतर ही ग्रतितप्त होकर कोयले से क्रिया करती है। इन भभको मे तापसह ईंटो का ग्रथवा इसी प्रकार की दूसरी वस्तुग्रो का ग्रस्तर ग्रावश्यक होता हे जिससे उच्च ताप पर गधक या कार्वन डाइ-सल्फाइड की लोहे के वने वर्तन से क्रिया न हो सके।

साधारण ताप पर कार्वन डाइ-सल्फाइड रगहीन तथा ग्रति उडन-शील द्रव है। इसकी गध ग्ररुचिकर होती है परतु सावधानीपूर्वक ग्रासवन से प्राप्त द्रव मे मीठी गध रहती है। इसके ठोस होने तथा उवलने का ताप क्रमश –११६° से० तथा ४६ २५° से० है। द्रव का ग्रापेक्षिक घनत्व ०° से० पर १ २९२३ है। कार्वन डाइ-सल्फाइड विषैला हे ग्रौर ग्रगूर की लताग्रो पर कीडे तथा गेहूँ के एलिवेटर मे चूहो को मारने के लिये प्रयुक्त होता है।

कार्वन डाइ-सल्फाइड का वाष्प जलनशील है तथा ग्राक्सिजन के साथ इसके वाष्प का मिश्रण धडाके के साथ जलता है। कार्वन डाइ-सल्फाइड वहुत सी रासायनिक वस्तुओ से क्रिया करता है। हाइड्रोजन की क्रिया मे हाइड्रोजन सल्फाइड वनता है। उवलते हुए कार्वन डाइ सल्फाइड मे क्लोरीन की क्रिया से कार्वन टेट्रा-क्लोराइड प्राप्त होता है। गरम पोटैशियम या ताँवे से यह विघटित होता है जिससे धातु के सल्फाइड वनते है। कार्वन डाइ-सल्फाइड के साथ जलवाष्प ग्रथवा हाइड्रोजन सल्फाइड गरम ताँवे पर प्रवाहित करने से मीथेन प्राप्त होता है।

यह पानी मे लगभग ग्रविलेय है (०° से० पर १०० मिलीलिटर पानी मे ०२०४ ग्राम) परतु ऐल्कोहल, ईथर इत्यादि से मिश्रित होता है। कार्वन डाइ-सल्फाइड मे चर्वी, गधक, फास्फोरस, ग्रायोडीन, रवर इत्यादि घुल जाते हैं जिसके कारण विलायक के रूप मे इसका ग्रधिक उपयोग होता है। नकली रेशम वनाने तथा रवर उद्योग मे भी इसका ग्रत्यधिक उपयोग है।

स० ग्र०—'कार्वन के ग्राक्साइड' मे वर्णित (१) थॉर्प तथा ह्विटले ग्रौर (२) पार्रटिंगटन के ग्रथ। (वि० प्र० वा०)

कार्बनप्रद तंत्र और युग

(Carboniferous System and Period) उन शैलो के समुदाय को कहते है जिससे पत्थर का कोयला ग्रौर उसी प्रकार के कार्वन-मय पदार्थ मिलते हैं। जिस युग मे यह तत्र वना उसे कार्वनप्रद युग कहते हैं (देखे खड १, पृष्ठ ९२ का चित्र)। सन् १८२२ ई० मे डव्ल्यू० डी० कानीबियर ने इस तत्र का नाम कार्वनिफरस इसलिये रखा कि इसके ग्रतर्गत समस्त इग्लैड का कोयला ग्रा जाता है। इस तत्र के ग्रतर्गत विश्व की ग्रधिकाश मुख्य कोयला खाने भी ग्रा जाती हैं। इस दृष्टि से भी यह नाम सर्वथा उचित प्रतीत होता है। कार्वनप्रद युग ग्रौर गिरियुग (Permian) मे कई वाते समान होने के कारण कुछ विद्वान् इन दोनो युगो का एक ही नामकरण करते है, जैसे एनथ्रैकोलियिक, कार्वोपरमियन, पैलियो-परमियन ग्रथवा परमो-कार्वनिफरस।

इस युग के पादप विशेष महत्व के है। इनकी ग्रत्यधिक वृद्धि हुई ग्रौर इनके कारण इस युग के कार्वन का निर्माण हो सका। इस युग के स्थल-पादपो मे पर्वाग (fern), पर्वाग के ही समान टेरिडोस्पर्म (Pteridosperm) साइकाडोफिलिकल, लाइकोपॉड (lycopod) ग्रौर ग्रश्वपुच्छ (equisetum), प्रजाति की प्रधानता थी।

इस तत्र मे पादछिद्रगण (foraminifera) नामक जीव शैल-निर्माण ग्रौर स्तरनिर्माण के रूप मे पहली वार महत्वपूर्ण हुए। प्रवाल भी महत्व के हैं जिनमे से लान्सडेलिया तथा लियॉस्ट्रोशन महत्वपूर्ण हैं ग्रौर जिनका एक निश्चित स्तरनिर्माण है। स्थल सधिपादो (ग्रार्थ्रो-पोडा) मे भीमकाय कीट थे, व्याधिपतग (ड्रैगन फ्लाइ) के पखो का फैलाव उन दिनो २॥ फुट का था जिससे यह प्रकट होता है कि उस युग का वातावरण ग्रधिक घना था, परतु पखो का यह ग्राकार वायु मे प्रतिद्वद्विता के ग्रभाव के कारण भी हो सकता हे, क्योकि उस समय पक्षियो का प्रादुर्भाव नही हुग्रा था। व्राइयोजोग्रा (हरिता जीवा) नामक प्राणी प्राय वहुतायत मे थे जिनमे से फेनेस्टेला कहलानेवाली प्रजाति ग्रति व्याप्त थी। वाहुपाद (Brachiopoda) भी प्रचुर सख्या मे थे ग्रौर उनमे स्पीरीफेरा ग्रौर प्रोडक्टस प्रजातियाँ ग्रधिक थी। उदरपाद (Gastiopod) मे वेलरोफान सुविस्तृत प्रजाति थी ग्रौर फलकक्लोमा मे यरेडिसमा प्रजाति

उत्तर कार्बनप्रद युग में सुविस्तृत थी। शीर्षपादो (Cephalopoda) में गोनियाटाइटीज (Goniatites) अधिक थे।

पृष्ठवंशी जीवो में चौपायो का प्रादुर्भाव उल्लेखनीय है। अभी हमें उनके पादचिह्नो का ही ज्ञान है।

भारत के कार्बनप्रद शैल अवर, मध्य और उत्तर भागो मे विभक्त किए गए हैं। अवर और मध्य कार्बनप्रद शैलो के अवसादन के उपरात, भारत के भौतिक इतिहास मे विशाल क्रातियाँ घटित हुईं, जिनके परिणामस्वरूप स्थल और समुद्र के वितरण में विशेष परिवर्तन हुए।

कैंब्रियन युग के बाद आनेवाले सुपुरा कल्प के प्रारभ में प्रायद्वीपीय भारत के बाहर के स्थल और समुद्र का पुन विस्तरण हुआ। फलत उस विशाल भूखड में, जहाँ पर आज हम विशाल हिमालय को देखते है, टेथिस नाम से प्रसिद्ध एक सागर फैल गया। इसका विस्तार स्पेन से लेकर चीन तक लगातार था। इस टेथिस सागर ने उत्तर यूरेशिन महाद्वीप को दक्षिण गोडवाना महाद्वीप से पृथक् कर रखा था।

यूरोप मे रूस एक ऐसा देश है जहाँ पर कार्बनप्रद शैलो का विकास अन्य स्थानो की अपेक्षा पहले हुआ है। ब्रिटेन में इस युग के शैलो का दो भागो में विभाजन किया गया है जो दो विभिन्न कालो मे बने है। ब्रिटेन की भाँति, अमरीका मे भी ये शैल दो भागो मे विभक्त है। एशिया मे ये शैल हिंदचीन, चीन, मगोलिया, जापान, साइबेरिया आदि देशो मे मिलते है।

भारतवर्ष में अवर तथा मध्य कार्बनप्रद शैल स्पीती और कश्मीर में मिलते है। उत्तर कार्बनप्रद शैलो का अत्युत्तम विकास सॉल्ट रेज (Salt Range) मे हुआ है। [रा० ना०]

कार्बोनिक अम्ल और कार्बोनेट

पानी तथा कार्बन डाइ-आक्साइड की क्रिया से कार्बोनिक अम्ल बनता है। कार्बन डाइ-आक्साइड गैस पानी मे घुलती है तथा दाब बढाने पर इसकी विलेयता बढ जाती है। विलयन को गरम कर घुली हुई गैस अशत अथवा पूर्णत बाहर निकाली जा सकती है। इस विलयन में हल्का अम्लीय स्वाद होता है तथा इससे नीला लिटमस लाल होता है। कार्बोनिक अम्ल द्विसमाक्षारीय (Dibasic) है और दो स्तरो मे विघटित होता है

हा$_2$ का औ$_3$ $\rightleftharpoons$ हा$^+$ + हा का औ$_3^-$, हा का औ$_3$ $\rightleftharpoons$ हा$^+$ + का औ$_3^-$

$H_2CO_3 \rightleftharpoons H^+ + HCO_3^-$, $HCO_3^- \rightleftharpoons H^+ + CO_3^-$।
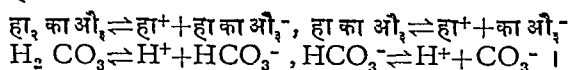
यह अम्ल निर्बल है तथा उपर्युक्त दोनो स्तरो के आयन विघटन का साम्य स्थिराक क्रमश ३ ०४×१०$^{-७}$ (१८° से० पर) तथा ६ ४×१०$^{-११}$ (२५° से० पर) है। इसी कारण सबल क्षार से बने इसके लवण जलविश्लेपित होते है और जलीय विलयन क्षारीय होता है।

सो$_2$ का औ$_3$ + हा$_2$ औ $\rightleftharpoons$ सो औ हा + सो हा का औ$_3$

$[Na_2CO_3 + H_2O \rightleftharpoons NaOH + NaHCO_3]$
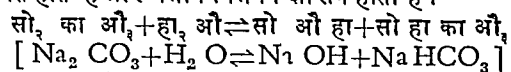
इस अम्ल से दो प्रकार के लवण प्राप्त होते है साधारण कार्बोनेट जैसे सो$_2$ का औ$_3$ $[Na_2CO_3]$, कै का औ$_3$ $[CaCO_3]$ तथा बाइ-कार्बोनेट अथवा ऐसिड कार्बोनेट जैसे सो हा का औ$_3$ $[NaHCO_3]$, कै (हा का औ$_3$) $Ca[HCO_3]_2$

कार्बोनेट प्रचुर मात्रा मे पाए जाते है। बहुत से धातुओ के कार्बोनेट तो खनिज रूप मे भी मिलते है जैसे विदराइट बे का औ$_3$ $(BaCO_3)$, अल्स्टोनाइट बे का औ$_3$ $(BaCO_3)$, कै का औ$_3$ $(CaCO_3)$, स्ट्राटियानाइट स्ट्रॉ का औ$_3$ $(SrCO_3)$, कैलसाइट, अरागोनाइट, डोलोमाइट मै$_\text{ग}$ का औ$_3$, $[MgCO_3]$, कै का औ$_3$ $[CaCO_3]$, मलाकाइट ता का औ$_3$ ता (औ ह)$_2$ $[CuCO_3, Cu(OH)_2]$, अजूराइट (२ता का औ$_3$, ता का औ हा) $[2CuCO_3, Cu(OH)_2]$, सेरूसाइट सी का औ$_3$ $[PbCO_3]$ इत्यादि।

अधिकतर धातुएँ कार्बोनेट बनाती है। इनमे बहुत से कार्बोनेट सफेद रग के होते है परतु कुछ रगीन भी होते है, जैसे ताँबे का (नीला, हरा), निकल का (हरा) इत्यादि। इनमे कुछ तो क्षारीय कार्बोनेट होते है, जैसे ता का औ$_3$ ता (औ ह)$_2$ $[CuCO_3\ Cu(OH)_2]$ तथा अन्य साधारण अथवा बाइकार्बोनेट। अधिकतर धातुओ के कार्बोनेट पानी मे अविलेय होते है। इस प्रकार के कुछ कार्बोनेट विलेय लवण के जलीय विलयन से विलेय (अलकली) कार्बोनेट की क्रिया द्वारा सरलता से प्राप्त किए जा सकते है। चूने के पानी से भी कार्बन डाइ-आक्साइड गैस प्रवाहित करने पर कैलसियम कार्बोनेट प्राप्त होता है, जो गैस की अधिक मात्रा होने पर पुन बाइ-कार्बोनेट बनने से घुल जाता है।

गरम करने पर कार्बोनेट का साधारणतया विघटन होता है जिसमे कार्बन डाइ-आक्साइड गैस प्राप्त होती है। अम्ल की क्रिया से भी यह गैस मिलती है तथा अम्ल से सबधित लवण बनता है। कार्बन डाइ-आक्साइड गैस की आवश्यकता इन्ही क्रियाओ द्वारा पूरी की जाती है।

परकार्बोनेट—पोटैसियम कार्बोनेट के सतृप्त विलयन को –१०° से –१५° से० पर विद्युद्विश्लेपण करने मे धनाग्र आक्सीकरण से हल्के-नीले-सफेद रग का अवक्षेप प्राप्त होता है। इसे ठढे पानी द्वारा शीघ्रता से धोकर तथा फास्फोरस पेंटाक्साइड पर सुखाकर पोटैसियम पर-कार्बोनेट पो$_2$ का$_2$ औ$_6$ $[K_2C_2O_6]$ प्राप्त किया जा सकता है।

यह सूखा रखने से साधारण ताप पर पर्याप्त स्थायी है, परतु पानी द्वारा इसका विघटन होता है जिससे आक्सिजन निकलता है। यह पोटैसियम आयोडाइड से आयोडीन तुरत ही मुक्त करता है। ऐल्कोहल तथा पोटैसियम पराक्साइड पर कार्बन डाइ-आक्साइड की क्रिया से एक अन्य प्रकार का पोटैसियम परकार्बोनेट मिलता है जो विद्युद्विश्लेषण से प्राप्त लवण से पोटैसियम आयोडाइड की क्रिया मे भिन्नता रखता है।

सोडियम पराक्साइड और ऐल्कोहल पर कार्बन डाइ-आक्साइड की क्रिया से प्राप्त सोडियम परकार्बोनेट सो$_2$ का$_2$ औ$_6$ $[Na_2C_2O_6]$ फिर सोडियम पराक्साइड से सयुक्त होने पर सोडियम पर-मोनो-कार्बोनेट सो$_2$ का$_2$ औ$_4$ $[Na_2C_2O_4]$ बनाता है।

स० ग्र०—'कार्बन डाइ-सल्फाइड' में उल्लिखित ग्रथ देखें।

[वि० वा० प्र०]

कार्बोनिल

(धातु के) कार्बन मोनो-आक्साइड से सयोजित धातु के यौगिक है। इनमें अति महत्वपूर्ण निकल कार्बोनिल है जिसे पहले पहल मॉड, लैंगर और क्विके ने ज्ञात किया। उसके बाद ही दूसरी धातुओ, विशेपकर लोहा, कोबाल्ट, रूथेनियम इत्यादि, के कार्बोनिल बनाए गए। इस श्रेणी के कुछ यौगिक उद्योग मे प्रयुक्त होने के कारण अधिक मात्रा मे बनाए जाते है। साधारणतया सूक्ष्म रूप से विभाजित धातु पर कार्बन मोनोक्साइड गैस की प्रत्यक्ष क्रिया से कार्बोनिल प्राप्त होता है। अधिकतर उच्च दाब की गैस तथा ताँबे या चाँदी की उपस्थिति का उपयोग होता है। विशेप परिस्थितियो मे अन्य विधियो का भी उपयोग होता है। भारी धातुओ के महत्वपूर्ण कार्बोनिल अपने गुणधर्म के अनुसार दो भागो में विभक्त किए जा सकते है। पहला वाष्पशील पदार्थ जो बेंज़ीन ऐसे अध्रुवीय विलायक मे विलेय है, जैसे निकल का टेट्रा-कार्बोनिल नि (काऔ)$_4$ $[Ni(CO)_4]$ तथा लोहा, रूथेनियम और आसमियम के पेंटाकार्बोनिल तथा दूसरे अवाष्पशील ठोसपदार्थ, जैसे लोहा तथा रूथेनियम के नोनाकार्बोनिल और कोबाल्ट, इरीडियम इत्यादि के कार्बोनिल।

अवकृत निकल धातु को ठढा कर, कार्बन मोनो-आक्साइड प्रविष्ट करने से गैस की अच्छी मात्रा शीघ्र ही शोपित हो जाती है तथा निकल कार्बोनिल बनता है

नि + ४ का औ $\rightleftharpoons$ नि (का औ)$_4$ $[Ni + 4CO \rightleftharpoons Ni(CO)_4]$
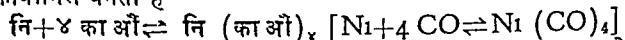
इस क्रिया मे गर्मी निकलती है। इस रासायनिक सतुलन के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि गैस की अधिक दाब का उपयोग कार्बोनिल बनने के पक्ष में है और साधारण से अधिक ताप पर भी बहुत विघटन नही होता। वास्तव मे औद्योगिक उत्पादन के लिये १०० वायुमडल या अधिक दाब का ही उपयोग होता है। निकल कार्बोनिल रगहीन द्रव है। इसका क्वथनाक ४३ २ से० तथा द्रवणाक –२५° से० है। ताप बढने पर कार्बोनिल का विघटन होता है जिसमें निकल धातु तथा कार्बन प्राप्त होते है। इस उष्मा विघटन की क्रिया माड विधि में अपद्रव्यो से निकल अलग करने तथा शुद्ध निकल (विशेपकर कोबाल्ट रहित) प्राप्त करने के लिये, महत्वपूर्ण है। निकल कार्बोनिल बहुत सी रासायनिक वस्तुओ से क्रिया करता है। हैलोजन की क्रिया से तुरत विघटन होता है जिसमें निकल का लवण तथा कार्बन मोनो-आक्साइड बनता है

नि (का औ)$_4$ + ब्रो$_2$ = नि ब्रो$_2$ + ४ का औ
[$Ni(CO)_4 + Br_2 = NiBr_2 + 4CO$] ।
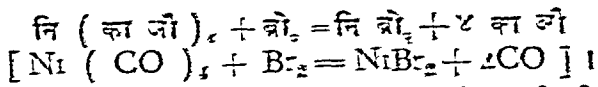
सूखे हाइड्रोजन क्लोराइड या दूसरे हाइड्रोजन हैलाइड से भी लवण प्राप्त होता है। आक्सीकारक वस्तुएँ अथवा नम हवा द्वारा भी इसका विघटन होता है। डेवर फ्लास्क अथवा दूसरी वस्तुओं में शुद्ध निकल प्लेटिंग तथा इलेक्ट्रोप्लेटिंग में उपयुक्त एलेक्ट्रोड के हेतु विशुद्ध निकल प्राप्त करने के लिये निकल कार्बोनिल के उपयोग का सुझाव प्रस्तुत किया गया है। इसकी कम मात्रा भी अति जहरीली है।

सूक्ष्म रूप से विभाजित लोहे पर कार्बन मोनो-आक्साइड की क्रिया से लोहे का पेंटाकार्बोनिल प्राप्त होता है। गैस की उच्च दाब पर यह क्रिया समुचित वेग से होती है और ऐसी स्थिति में धातु ढेर में होने पर भी क्रिया संभव होती है। इसी कारण कार्बन मोनो-आक्साइड या ईंधन की गैस को अधिक दाब पर संचित करने के लिये लोहे के बने भांडार या संचालन की नली में कुछ पेंटाकार्बोनिल रहता है। इसे अधिक मात्रा में बनाने के लिये १००—२०० वायुमंडल तक दाब का उपयोग होता है। ताँबे की थोड़ी मात्रा की उपस्थिति में क्रिया कम ताप पर ही होती है।

लोहे का पेंटाकार्बोनिल साधारण ताप पर पीले रंग का द्रव है। इसका क्वथनांक १०२° सें० तथा द्रवणांक –२०° सें० है। कार्बोनिल के वाष्प को गरम करने से विघटन होता है और स्वतंत्र लोहा सतह पर दर्पण के रूप में जमा हो जाता है। इसमें कुछ कार्बन भी (कार्बन मोनो-आक्साइड के विघटन से प्राप्त) रहता है। शुद्ध फेरिक आक्साइड के साथ इस प्रकार प्राप्त लोहे को पुनः गलाकर अति शुद्ध लोहा प्राप्त होता है। ऐसे लोहे का उपयोग विविध रासायनिक प्रक्रियाओं में उत्प्रेरक के लिये तथा ट्रांसफार्मर के कोर एवं चुंबक बनाने में होता है।

प्रकाश के प्रभाव से लोहे के कार्बोनिल का फोटो-रासायनिक विघटन होता है जिसमें लोहे का नोनाकार्बोनिल बनता है। यह यौगिक भी गरम करने पर विघटित होता है। लोहे के पेंटाकार्बोनिल के क्षारीय विलयन में अम्ल की क्रिया से अति शक्तिशाली अवकारक आयरन कार्बोनिल हाइड्राइड बनता है। हैलोजन की क्रिया से कार्बोनिल हैलाइड मिलता है। दोनों ही यौगिकों (कार्बोनिल तथा उसके हैलाइड) से पिरिडीन एथिलीन डाइ-एमिन या इसी प्रकार के दूसरे रासायनिक यौगिकों द्वारा कार्बन मोनो-आक्साइड प्रतिस्थापित होता है। कार्बन मोनो-आक्साइड का धातु से सीधा सवर्ग बंधक (कोआरडिनेट लिंक) द्वारा संबंध ज्ञात करने के विचार से यह क्रिया महत्वपूर्ण है। इस धातु का दूसरा कार्बोनिल (टेट्रा-कार्बोनिल) पेंटाकार्बोनिल की भाँति ही गुण देता है परन्तु यह यौगिक कुछ अधिक क्रियाशील होता है।

कोबाल्ट कार्बोनिल को$_2$ (का औ)$_8$ [$Co_2(CO)_8$] नारंगी रंग का ठोस पदार्थ है जो गरम करने पर विघटित होता है तथा ५२° सें० पर कोबाल्ट का एक अन्य कार्बोनिल को$_4$ (का औ)$_{12}$ [$Co_4(CO)_{12}$] बनाता है। लोहे के कार्बोनिल हाइड्राइड के समान ही कोबाल्ट का यौगिक भी प्राप्त होता है। नाइट्रिक आक्साइड से कोबाल्ट का नाइट्रोसो-कार्बोनिल मिलता है।

लोहे के यौगिक की भाँति रुथेनियम पेंटा-कार्बोनिल, कार्बन मोनो-आक्साइड गैस की अधिक दाब पर क्रिया द्वारा प्राप्त होता है। यह रु आ$_2$ २का औ [$Ru\,I_2\,2CO$] से भी चाँदी की उपस्थिति में इसी क्रिया द्वारा बनाया जा सकता है। प्रकाश द्वारा इस कार्बोनिल का भी विघटन होता है जिसमें रुथेनियम का नोनाकार्बोनिल बनता है।

ऊर्ध्वपात क्रोमियम के क्लोराइड या टंग्स्टन हेक्सा-क्लोराइड पर कार्बन मोनो-आक्साइड की उपस्थिति में ग्रीनयार्ड प्रतिकर्मक की क्रिया द्वारा क्रमशः क्रोमियम या टंग्स्टन के कार्बोनिल क्रो (का औ)$_6$ [$Cr(CO)_6$] और ट (का औ)$_6$ [$W(CO)_6$] बनते हैं। मालिब्डिनम कार्बोनिल भी इसी प्रकार अथवा अवकृत धातु पर कार्बन मोनो-आक्साइड की क्रिया से प्राप्त होता है। इन सभी कार्बोनिलों से, गरम करने पर, विघटन से प्राप्त धातु का दर्पण मिलता है। इनमें क्रोमियम कार्बोनिल अधिक स्थायी है जो १४०° के ऊपर ही विघटित होता है।

क्षारीय धातु के कार्बोनिल दूसरे ही प्रकार के यौगिक हैं। पोटैसियम को कार्बन मोनो-आक्साइड गैस में गरम करने से प्राप्त यौगिक अति विस्फोटक होता है।

सं० ग्रं०—देखें 'कार्बन डाइ-आक्साइड' में वर्णित ग्रंथ।

[वि० वा० प्र०]

कार्बोहाइड्रेट

कार्बोहाइड्रेट केवल कार्बन हाइड्रोजन तथा आक्सिजन से बने रहते हैं और इन यौगिकों में हाइड्रोजन और आक्सिजन प्रायः उसी अनुपात में रहते हैं जिस अनुपात में पानी में। इसीलिये, फ्रांसीसी रसायनज्ञों ने इनका नाम कार्बन के हाइड्रेट अथवा कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) रखा। प्रकृति में उपलब्ध बहु-हाइड्राक्सी ऐल्डिहाइड तथा कीटोन और इनके संजात कार्बोहाइड्रेट के नाम से जाने जाते हैं, जिनमें शर्करा, रुई, सेल्यूलोस, रेयन, स्टार्च, रक्त-शर्करा तथा ग्लिसरोल के संजात विशेष महत्वपूर्ण हैं। सामान्यतः कार्बोहाइड्रेट सूत्र का$_x$ (हा$_2$औ)$_y$ [$C_x(H_2O)_y$] से व्यक्त का सकते हैं, जैसे द्राक्ष शर्करा (ग्लूकोस) का सूत्र का$_6$ हा$_{12}$ औ$_6$ ($C_6H_{12}O_6$) है और इक्षु शर्करा (केन शूगर) का सूत्र का$_{12}$ हा$_{22}$ औ$_{11}$ ($C_{12}H_{22}O_{11}$) है। अब ऐसे भी कार्बोहाइड्रेट मिले हैं जिन्हें कार्बन के हाइड्रेटवाले सूत्र से व्यक्त नहीं किया जा सकता, जैसे रैमनोस का सूत्र का$_6$ हा$_{12}$ औ$_5$ ($C_6H_{12}O_5$) है। ये मानव का मुख्य खाद्य पदार्थ हैं और सैद्धांतिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से इनका महत्व अत्यधिक है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति और वितरण संसार के भोजन, अर्थव्यवस्था तथा राजनीति पर विशेष प्रभाव डालनेवाले होते हैं।

कार्बोहाइड्रेटों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है :

१. मॉनोसैकाराइड (Monosaccharide)—जिनका जलविश्लेषण से अवकलन नहीं होता। ये कार्बोहाइड्रेट के सरल एकक हैं।

२. डाइसैकाराइड और ट्राइसैकाराइड (Disaccharide and Trisaccharide)—ये जलविश्लेषण पर दो और तीन मॉनोसैकाराइडों के अणु देते हैं।

३. पॉलीसैकाराइड (Polysaccharide)—ये मॉनोसैकाराइडों के कई अणुओं के संयोग से बने रहते हैं। इनका सामान्य सूत्र (का$_6$ हा$_{10}$ औ$_5$)$_n$ ($C_6H_{10}O_5)_n$ है।

मीठे स्वाद और मणिभ होने के कारण मॉनो, डाइ और ट्राइ-सैकाराइडों को शर्करा (शूगर) भी कहा जाता है।

मॉनोसैकाराइड—इन्हें इनके रासायनिक गुणों के आधार पर ऐल्डिहाइडीय ऐल्कोहल और कीटोनीय ऐल्कोहल में विभाजित किया जाता है। इन्हें क्रमानुसार ऐल्डोस (Aldose) और कीटोस (Ketose) कहा जाता है। पुनः इनका वर्गीकरण कार्बन की परमाणुसंख्या के विचार से किया जाता है, जैसे बायोस (२ कार्बन परमाणु), ट्रायोस (३ कार्बन), पेंटोस (५ कार्बन), हेक्सोस (६ कार्बन) इत्यादि। इस भाँति ग्लिसरैल्डिहाइड का हा$_2$ औ हा का हा औ हा का हा औ ($CH_2OHCHOHCHO$) एक ऐल्डोट्रायोस है और डाइ-हाइड्रॉक्सि ऐसिटोन का हा$_2$ औ हा का औ का हा$_2$ औ हा ($CH_2OHCOCH_2OH$) एक कीटोट्रायोस है। अब हम कुछ प्रमुख मॉनोसैकाराइडों का विवेचन करेंगे।

ग्लूकोस—इसे द्राक्षशर्करा, अंगूरी शर्करा अथवा डेक्स्ट्रोस भी कहते हैं। यह फ्रुक्टोस के साथ अंगूर में, मधु में तथा अन्य मीठे फलों में मिलता है। ग्लूकोस और फ्रुक्टोस ही ऐसे हेक्सोस हैं जो प्रकृति में मुक्त रूप में पाए जाते हैं।

ग्लूकोस की उत्पत्ति पॉलीसैकाराइडों, जैसे चीनी, स्टार्च और सेल्यूलोस के जलविश्लेषण से होती है। औद्योगिक प्रणाली में स्टार्च को तनु सल्फ्यूरिक अम्ल से उबालकर ग्लूकोस प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्राप्त ग्लूकोस का विशेष उपयोग मिठाइयों और आसव उद्योग में होता है।

इसे ऐसीटिक ऐनहाइड्राइड के साथ गरम करने पर पेंटा-ऐसीटिल ग्लूकोस प्राप्त होता है जिससे ज्ञात होता है कि ग्लूकोस के अणु में पाँच हाइड्रॉक्सिल समूह स्थित हैं। रासायनिक क्रिया में यह ऐल्डिहाइड की भाँति तीव्र अवकारक है। यह फेलिंग विलयन को अवकृत करता

है तथा ऐल्डिहाइड की भाँति हाइड्रोसायनिक अम्ल, हाइड्रॉक्सिल-ऐमिन तथा फेनिल हाइड्रैजीन से अभिक्रिया करता है। इसे जब हाइड्रोजन से अवकृत करते हैं तो हेक्सा-हाइड्रिक ऐल्कोहल, सार्बिटाल (नीचे सूत्र २ देखें) प्राप्त होता है। इसे पुन हाइड्रोजन-आयोडाइड से अवकृत करके सामान्य (नार्मल) हेक्सेन का सजात, का हा₃ का हा₂ का हा₂ का हा₂ का हा अ (का हा₃) [$CH_3\ CH_2\ CH_2\ CH_2\ CHI\ (CH_3)$] प्राप्त होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह ऋजुशृंखल यौगिक है और ग्लूकोस का एक सरल सूत्र (नीचे सूत्र १ देखें) दिया जा सकता है।

(१) ग्लूकोस	(२) सार्बिटल	(३) ग्लूकोनिक अम्ल	(४) सैकरिक अम्ल
का हा औ	का हा₂ औ हा	का औ औ हा	का औ औ हा
का हा औ हा	का हा औ हा	का हा औ हा	का हा औ हा
का हा औ हा	का हा औ हा	का हा औ हा	का हा औ हा
का हा औ हा	का हा औ हा	का हा औ हा	का हा औ हा
का हा औ हा	का हा औ हा	का हा औ हा	का हा औ हा
का हा₂ औ हा	का हा₂ औ हा	का हा₂ औ हा	का औ औ हा

ग्लूकोस	सार्बिटल	ग्लूकोनिक अम्ल	सैकरिक अम्ल
CHO	CH_2OH	COOH	COOH
CHOH	CHOH	CHOH	CHOH
CHOH	CHOH	CHOH	CHOH
CHOH	CHOH	CHOH	CHOH
CHOH	CHOH	CHOH	CHOH
CH_2OH	CH_2OH	CH_2OH	COOH

ग्लूकोस ब्रोमिन-जल से आक्सीकृत होकर ग्लूकोनिक अम्ल (३) तथा अंत मे सैकेरिक अम्ल (४) में परिवर्तित हो जाता है। फेनिल हाइड्रैजीन के साथ ग्लूकोस (१ १ अणुमात्रा में) ग्लूकोस फेनिल हाइड्रैज़ोन देता है

का हा₂ औ हा (का हा औ हा)₄ का हा औ+हा₂ ना ना हा का₆ हा₅
=का हा₂ औ हा (का हा औ हा)₄ का हा ना ना हा का₆ हा₅+हा₂ औ

$$CH_2OH\ (CHOH)_4\ CHO + H_2NNHC_6H_5$$
$$= CH_2OH\ (CHOH)_4\ CHNNH\ C_6H_5 + H_2O$$
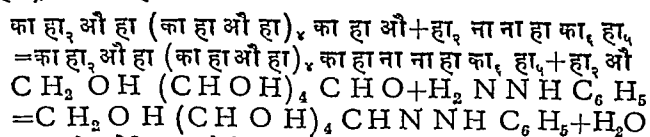
ग्लूकोस फेनिल हाइड्रैज़ोन (सूत्र क) को अधिक फेनिल हाइड्रैज़ीन के साथ गरम करने से वह इस भाँति आक्सीकृत होता है कि –का हा औ (–CHO) समूह के सनिकट का –का हा औ हा (–CHOH) समूह –का औ (–CO) समूह (सूत्र ख) मे परिवर्तित हो जाता है और फिर नए फेनिल हाइड्रैज़ीन अणु से सघनित होकर ग्लूकोसाज़ोन (सूत्र ग) बना लेता है।

क: काहा₂ औहा | (का हा औ हा)₃ | का हा औ हा | का हा=ना ना हा का₆ हा₅ + का₆ हा₅ नाहानाहा₂
ग्लूकोस फेनिल हाइड्रैज़ोन

ख: का हा₂ औ हा | (का हा औ हा)₃ | का=औ | का हा=ना ना हा का₆ हा₅ + का₆हा₅नाहा₂+नाहा₃
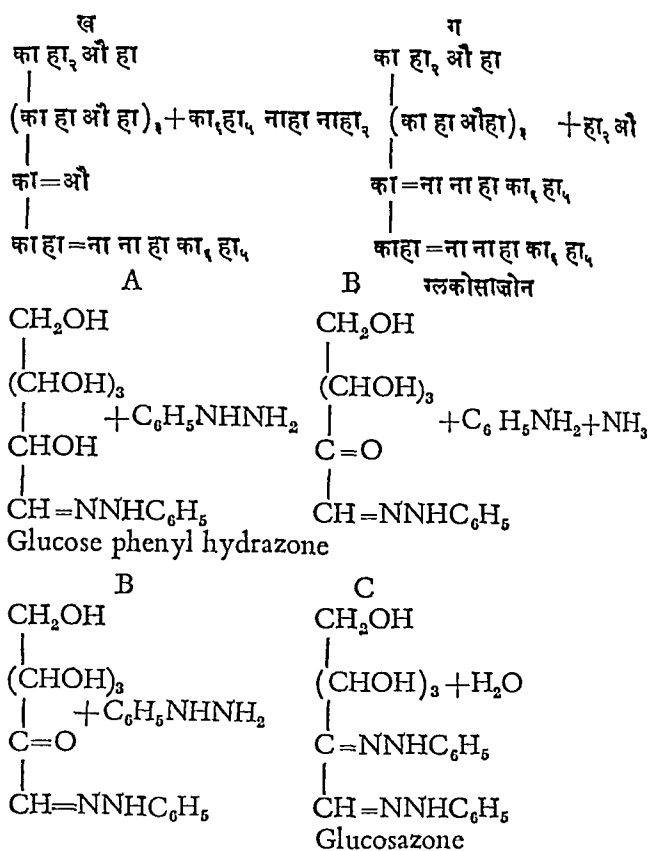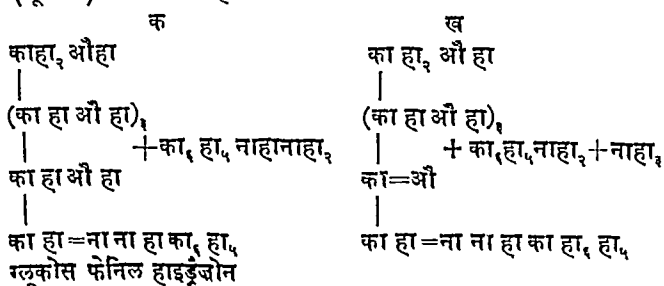
कार्बोहाइड्रेटो का विन्यास—कार्बोहाइड्रेटो के विन्यास निश्चित करने के लिये जो सिद्धात अपनाए गए हैं उनको समझने के लिये ऐसी शर्करा का अध्ययन हम करेंगे जिसमें केवल एक ही असमित कार्बन

का हा=औ	CH=O
का हा औ हा	CHOH
का हा₂ औ हा	CH_2OH
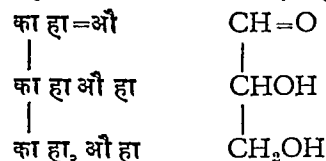
परमाणु हो। ग्लिसरैल्डिहाइड मे मध्य का कार्बन परमाणु असमित है और इसके दो विन्यास समावयविक रूप द–(d–) और व–(l–) ही सभव हैं। सर्वसमति के अनुसार दक्षिणावर्त रूप को, जिसे द–(d–) रूप कहते हैं, –औहा (–OH) समूह को कार्बन की दाहिनी ओर रखकर दर्शाते हैं। इस बात को कि –हा (–H) और –औहा (–OH) वाला समूह पृष्ठ की सतह से ऊपर है और –काहाऔ (–CHO) तथा –काहा₂औहा (–CH_2OH) वाला समूह पृष्ठ की सतह से नीचे है, दा (+) [D(+)] विन्यास कहते हैं और इस रूप के ग्लिसरैल्डिहाइड को दा(+) [D (+)] ग्लिसरैल्डिहाइड।
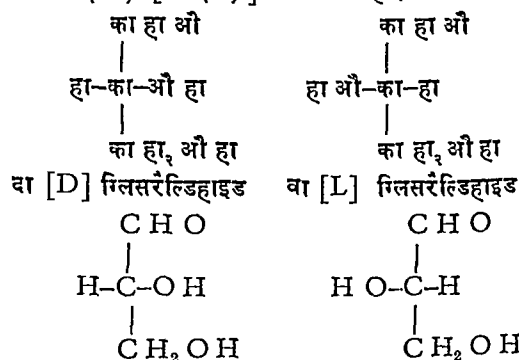
दा (D) और वा (L) अणुविन्यास की दशा के सकेत हैं तथा (+)

और (–) घूर्णन की दिशा बताते हैं। वे अणु जो इस दा विन्यास से संबंधित हैं दा माला में आते हैं और इन अणुओं की घूर्णनदिशा (+) या (–) कुछ भी हो सकती है।

जब दा ग्लिसरैल्डिहाइड काहाना (NCN) की सहायता से अगले सजातीय में परिवर्तित किया जाता है तो द्वि-विन्यास समावयव दा (–) एरिथ्रोस तथा दा (–) थ्रियोस प्राप्त होते हैं

```
   का हा औ              का हा औ               का हा औ
   |                    |                     |
हा–का–औ हा          हा–का–औ हा  तथा  हा औ–का–हा
   |                    |                     |
 का हा₂ औ हा        हा–का–औ हा           हा–का–औ हा
                        |                     |
                     का हा₂ औ हा          का हा₂ औ हा।
दा (+) ग्लिसरैल्डीहाइड,   दा–एरीथ्रोस,      दा–थ्रियोस
   CHO                  CHO                  CHO
   |                    |                    |
 H–C–OH              H–C–OH    तथा       HO–C–H
   |                    |                    |
   CH2OH             H–C–OH               H–C–OH
                        |                    |
                       CH2OH                CH2OH
```
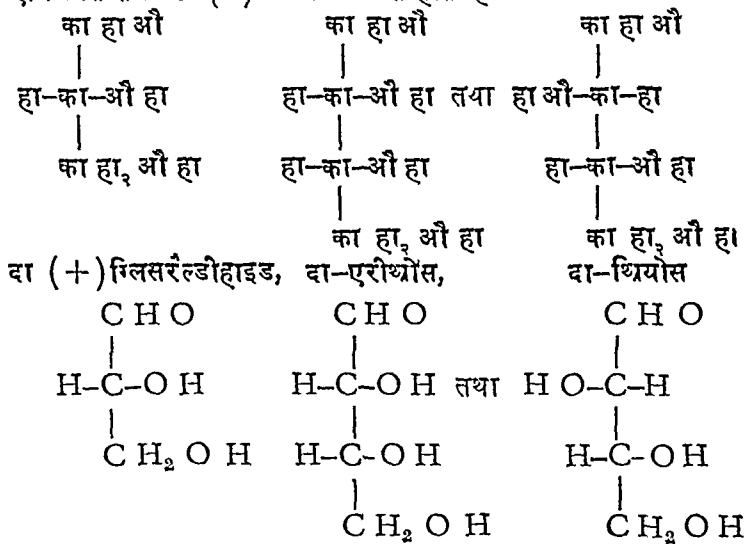
सभी मॉनो-सैकराइडे जो दा (+) ग्लिसरैल्डिहाइड से संबद्ध हैं अर्थात् जिनमे

```
     |                       |
 हा–का–औ हा              H–C–OH
     |                       |
  का हा₂ औ हा               CH2OH
```
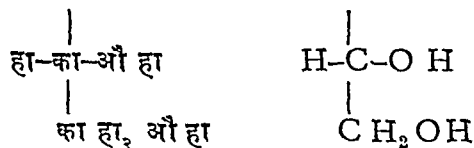
समूह विद्यमान है दा माला मे आते हैं। इसी भाँति पेंटोस की दा माला मे चार रूप और हेक्सोस की दा माला मे आठ रूप संभव हैं।

कीटोस, हाइड्रैज़ीन के साथ ओसाजोन बनाते हैं और इसलिये इनके एल्डोसों के संबंध से इनका विन्यास निर्धारित किया जाता है। जैसे ग्लूकोस और फ्रुक्टोस से एक ही ओसाजोन प्राप्त होता है। इसलिये इन दोनो यौगिकों में संख्या ३, ४ और ५ कार्बन परमाणु के विन्यास एक ही होंगे।

```
      ¹का हा औ                 ¹का हा₂ औ हा
       |                        |
  हा–²का–औ हा                 ²का=औ
       |                        |
 हा औ–³का–हा              हा औ–³का–हा
       |                        |
  हा–⁴का–औ हा              हा–⁴का–औ हा
       |                        |
  हा–⁵का–औ हा              हा–⁵का–औ हा
       |                        |
      ⁶का हा₂ औ हा              ⁶का हा₂ औ हा
       ग्लूकोस                   फ्रुक्टोस
       ¹CHO                     ¹CH2OH
       |                         |
  H–²C–OH                       ²C=O
       |                         |
 HO–³C–H                     HO–³C–H
       |                         |
  H–⁴C–OH                     H–⁴C–OH
       |                         |
  H–⁵C–OH                     H–⁵C–OH
       |                         |
      ⁶CH2OH                    ⁶CH2OH
```
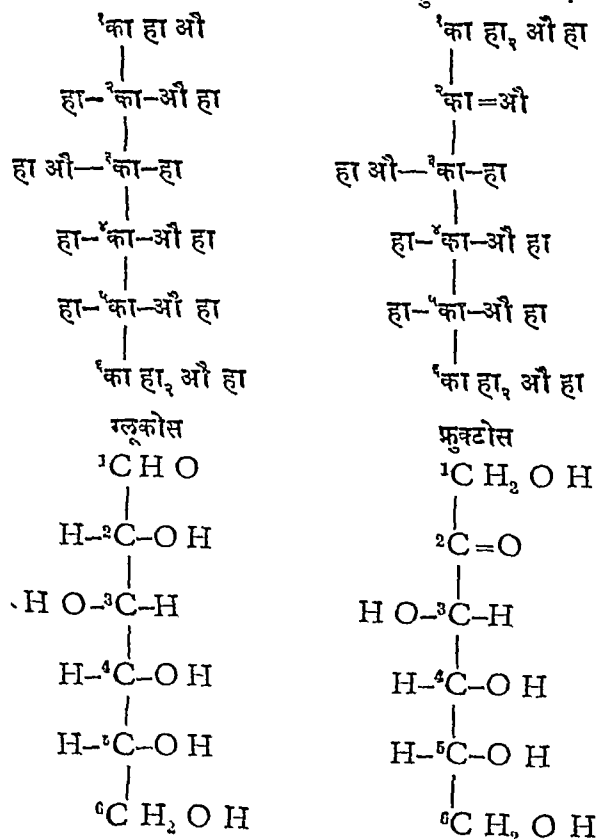
ग्लूकोस की अणुरचना—ग्लूकोस का उपर्युक्त सूत्र बहुत से प्रेक्षणों का समाधान नहीं करता। शिफ (Schiff's) के अभिकर्मक से ग्लूकोस की परख नहीं हो पाती। ग्लूकोस सोडियम सल्फाइट के साथ योगशील यौगिक नहीं बनाता और मेथिल ऐलकोहल के साथ ऐल्डिहाइड की भाँति ऐसीटल नहीं बनाता। रखने पर ग्लूकोस के अभिनव विलयन का विशिष्ट घूर्णन परिवर्तित होता रहता है और फिर एक निश्चित मान पर स्थायी हो जाता है। ग्लूकोस और मेथिल ऐल्कोहल की एकाणुक अभिक्रिया से दो समावयवयी प्राप्त होते हैं जिससे ज्ञात होता है कि ग्लूकोस अणु का एक–औ हा (–OH) समूह अभिक्रिया में भाग लेता है और कार्बन ५ के हाइड्रॉक्सिल समूह के द्वारा एक संवृत शृंखल यौगिक बनाता है। कार्बन संख्या १, जिससे–काहाऔ (–CHO) समूह संबद्ध है, फिर एक असममित कार्बन परमाणु में परिवर्तित हो जाता है और इसीलिये मेथिल ग्लूकोसाइड के दो समावयवयी (तृतीय और चतुर्थ) उत्पन्न होते हैं। इसी कारण ग्लकोस के भी दो समावयवी, जिन्हें प्रथम (I) या ऐल्फा और द्वितीय (II) या बीटा कहते हैं, संवृतशृंखल सूत्र से इंगित किए जाते हैं.

अस्थायी (Labile) शर्करा अथवा गामा–शर्करा––यद्यपि फुक्टोस मे छ परमाणुचाक्रिक की पुष्टि होती है, फिर भी कुछ प्रेक्षणो से ज्ञात होता है कि इक्षु शर्करा और इन्यूलिन मे फ्रुक्टोस के पाँच परमाणुचाक्रिक हैं। अब यह ज्ञात है कि साधारण शर्करा मे भी इस भाँति का अस्थायी चाक्रिक वैसी ही दशा मे सभव हो सकता है।

सश्लेषण––प्रयोगशाला मे ग्लूकोस जैसे कार्बोहाइड्रेट का, जिसमे चार असमित कार्बन परमाणु हो, सश्लेषण विशेष कठिन और महत्व-पूर्ण है। साधारण सश्लेषणो मे, जिनमे प्रकाशीय सक्रिय अभिकर्मको का उपयोग नही किया जाता, एक निष्क्रिय मिश्रण प्राप्त होता है। फार्मैल्डि-हाइड पर क्षार की अभिक्रिया से निम्नलिखित क्रियाएँ हो सकती हैं

का हा₂ औ (१) फार्मैल्डीहाइड —क्षार→ का हा औ | का हा₂ औ हा (२) ग्यायकोल ऐल्डीहाइड

ऐल्डोलसघनन

↓ का हा₂ औ

का हा औ | का हा औ हा | का हा₂ औ हा (३) द–च–ग्लिसरैल्डीहाइड —समावयवीकृत हो→ का हा₂ औ हा | का=औ | का हा₂ औ हा (४) डाइहाइड्राक्सिऐसिटोन

CH_2O (1) —Alkali→ CHO | CH_2OH (2)

Aldol condensation

↓ CH_2O

CH=O | CHOH | CH_2OH (3) d-l-glyceraldehyde —Isomerised→ CH_2OH | C=O | CH_2OH (4) Dihydroxy–acetone

का हा औ | का हा औ हा | का हा₂ औ हा (३) + का हा₂ औ हा | का=औ | का हा₂ औ हा (४)

(ऐल्डोल-सघनन)

↓

का हा₂ औ हा | का=औ | का हा औ हा | का हा औ हा | का हा औ हा | का हा₂ औ हा + का हा औ | का हा औ हा | का हा औ हा | का हा औ हा | का हा औ हा | का हा₂ औ हा

(हेक्सोसो का मिश्रण)

CH=O | CHOH | CH_2OH + CH_2OH | C=O | CH_2OH

Aldol condensation

↓

CH_2OH | C=O | CHOH | CHOH | CHOH | CH_2OH + CH=O | CHOH | CHOH | CHOH | CHOH | CH_2OH

Mixture of Hexoses

एमिल फिशर ने ठीक इसी भाँति सश्लेपण किया और बहुत ही सूक्ष्म मात्रा मे दा–ग्लूकोस प्राप्त किया। बहुत कुछ ऐसी ही अभिक्रिया से प्रकृति में कार्वोहाइड्रेटो का सश्लेपण होता है।

डाइसैकाराइड—मुख्यत इनका अणुसूत्र का$_{12}$ हा$_{22}$ औ$_{11}$ ($C_{12}H_{22}O_{11}$) होता है और जलविश्लेपण पर ये दो हेक्सोस एकको में विच्छिन्न होते हैं। सभी डाइसैकाराइड जलविश्लेपण पर एक अणु ग्लूकोस अवश्य देते हैं। पौधो से कुछ ऐसे भी डाइसैकराइड प्राप्त हुए हैं, जैसे विसियानोस (Vicianose) जो जलविश्लेपण पर एक हेक्सोस और एक पेटोस अणु उत्पन्न करते है।

इक्षु शर्करा, सुक्रोस, सैकरोस या शर्करा (cane sugar)—यह ईख के रस, चुकदर, नीरा, मक्का मे तथा बहुत से पौधो मे पाई जाती है। औद्योगिक प्रणाली मे इसे ईख के रस तथा चुकदर से ही प्राप्त करते हैं।

यह एक रगहीन मणिभीय मीठा पदार्थ है और पानी मे विलेय है। इसका गलनाक १६०°सें० है। इसका जलीय विलयन दक्षिणावर्त होता है। तनु अम्लो के साथ गरम करने पर जलविश्लेपित होकर ग्लूकोस और फ्रुक्टोस के मिश्रण मे परिवर्तित हो जाता है। ग्लूकोस भी इसी शर्करा की भाँति दक्षिणावर्त है, परन्तु फ्रुक्टोस का वामावर्तन इतना अधिक है कि जलविश्लेपण से प्राप्त सपूर्ण मिश्रण वामावर्त होता है। इस मिश्रण को अपवृत शर्करा (Invert sugar) कहते हैं।

इक्षु शर्करा का आण्विक सूत्र का$_{12}$ हा$_{22}$ औ$_{11}$ ($C_{12}H_{22}O_{11}$) है और यह मोनो-सैकाराइडो के गुणधर्म से वचित है। यह ऐसीटिक ऐन-हाइड्राइड की अभिक्रिया से आठ ऐसीटिल समूहो के साथ यौगिक वनाती है। हावर्थ और साथियो ने सिद्ध किया हे कि इसकी रचना डी–ग्लूको-पाइरैनोसिडो डी–फ्रुक्टो-फ्यूरैनोसाइड हे
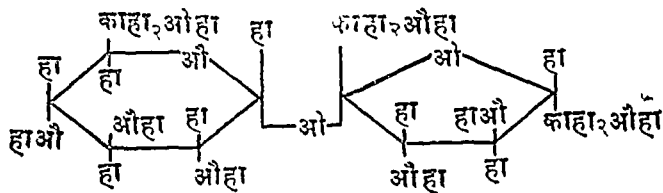
इक्षु शर्करा
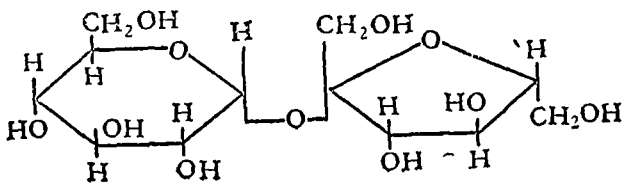
Cane sugar

दुग्ध शर्करा, लैक्टोस अथवा लैक्टोवायोस—यह जानवरो के दुग्ध मे रहती है। औद्योगिक विधि में इसे छेने के पानी से प्राप्त करते हैं। यह एक अणु पानी के साथ कडा मणिभ वनाती है जो १४०° पर अजल होकर २०५° पर विच्छेदन के साथ पिघलता है। हावर्थ और साथियो ने सिद्ध किया है कि इसकी आण्विक सरचना निम्नलिखित है ४—(बीटा–दा–गैलेक्टोसाइडो)–दा–ग्लूकोपाइरानोस [β-D-galacto-sido-D-glucopyranose]।

दुग्ध शर्करा सुगमता से किण्वित होकर लैक्टिक अम्ल मे परिवर्तित हो जाती है। दूध के खट्टे होने का यही कारण है।

यव्य शर्करा या माल्टोस (Malt sugar)—स्टार्च पर डायस्टेस एजाइम की क्रिया से माल्टोस की प्राप्ति होती है। स्टार्चयुक्त भोजन की पाचन क्रिया मे यह अत वर्ती की भाति उत्पन्न होता है, क्योकि लार में स्थित टाइआलिन (Ptyalin) एजाइम स्टार्च को माल्टोस में परिवर्तित कर देता है।

इसके छोटे नुकीले मणिभ १००° पर पिघलते हैं। यह तीव्र दक्षिणावर्त है और जलविश्लेपण पर केवल दा–ग्लूकोस देता है। इसकी आण्विक सरचना निम्नलिखित है
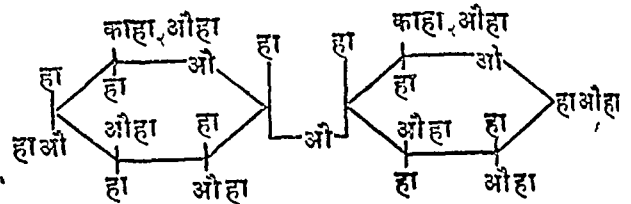
यव्य शर्करा
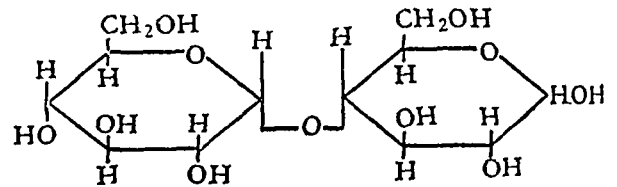
Malt Sugar

कुछ और डाइसैकाराइड, जैसे सेलोवायोस, (Cellobiose), जेन शियोवायोस (Gentiobiose) और रुटिनोस (Rutinose) भी पाए जाते हैं।

ट्राइसैकाराइड—इस समूह की बहुत थोडी ही शर्कराएँ प्राप्त हो सकी है और उनमें सबसे प्रमुख रैफिनोस है। यह आस्ट्रेलिया की क्षीरी (Manna) का मुख्य अश है।

जलविश्लेपण पर रैफिनोस दो अणु जल के साथ समान अनुपात मे डी–फ्रुक्टोस, डी–ग्लूकोस और डी–गैलेक्टोस के मिश्रण में विच्छिन्न होता है।

पालीसैकाराइड—इन यौगिको को साधारणत (का$_6$ हा$_{10}$ औ$_5$)$_च$ [$(C_6H_{10}O_5)_n$] सूत्र से प्रदर्शित किया जाता है। किलियानी ने इनका उचित सूत्र (का$_6$ हा$_{10}$ औ$_5$)$_च$ हा$_2$औ [$(C_6H_{10}O_5)_n H_2O$] बताया है जिसमें च (n) का मान निश्चित रूप से नही ज्ञात है। अधिकाश पॉलीसैकाराइड अमणिभीय तथा स्वादहीन होते है और कुछ पानी में भी अविलेय हैं। जलविश्लेपण पर ये मोनो-सैकाराइडो मे विच्छिन्न हो जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि डाइ-और ट्राइ-सैकराइडो की भाँति ये हेक्सोसो और पेटोसो की इकाइयो से बने हैं।

स्टार्च—यह प्रचुर मात्रा मे वनस्पतियो में पाया जाता है। इसे आलू (२०%), चावल (७५%), गेहूँ (६०%), मक्का (६५%) तथा सावूदाने से प्राप्त करते है। सूक्ष्मदर्शी से देखने पर यह समाग नही दिखाई देता। इसमे एक नाभिक के चारो ओर कई सकेद्र वृत्त दिखाई देते हैं। पानी के साथ गरम करने पर ये सूक्ष्म दाने उसमें टूटकर मिल जाते हैं और ठढा करने पर कुल मिश्रण लेई का रूप ले लेता है। स्टार्च आयोडीन के साथ एक विशेप गाढा नीला रग देता है और इसी क्रिया से आयोडीन को परखा जाता है।

स्टार्च श्वेत, आर्द्रताग्राही, स्वादहीन तथा रगहीन चूर्ण है। वास्तव मे स्टार्च के दाने दो समान पॉलीसैकाराइडो से वने होते हैं। एक ऐमाइलोस होता है जो दाने के भीतरी भाग मे रहता तथा जलविलेय होता है। दूसरा ऐमाइलो-पेक्टिन होता है जो कोशिका की झिल्ली में विद्यमान रहता है। यही पानी के साथ फूलकर कलिल (कलॉयड) बनाता है। स्टार्च पर डायस्टेस एजाइम की अभिक्रिया से माल्टोस प्राप्त होता है, जो एक डाइसैकराइड है। पूर्ण जलविश्लेषण से सपूर्ण ग्लूकोस की प्राप्ति होती है। अम्लो या एजाइमो की सयमित क्रिया से स्टार्च और माल्टोस की अतर्वती अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमे से प्रत्येक को डेक्स्ट्रिन कहा जाता है।

अणु सरचना—हावर्थ और उनके साथियो ने वताया कि स्टार्च का अणु ऐल्फाग्लूकोपाइरैनोस एकको की शृ खला है। इस शृ खला का एक खड निम्नलिखित है

स्टार्च अणुसूत्र श्रखला का एक खड

(One part of the starch molecular formula)

स्टार्च के अणु मे लगभग २८ ग्लूकोपाइरैनोस एकक (अणुभार, ५,०००) होते हैं।

सेल्यूलोस—प्राप्य पॉलीसैकराइडो मे यह सवसे अधिक सकीर्ण है। वनस्पतियो से प्राप्त वहुत सी वस्तुओ को सेल्यूलोस के नाम से जाना जाता है। इसका शुद्ध रूप रुई मे प्राप्य है। उसी प्रकार का सेल्यूलोस सन, हेंप, लकडी, भूसे इत्यादि मे हैं।

यह सभी साधारण विलायको मे अविलेय है। अमोनियाकृत (अमोनियेटेड) कापर-हाइड्राक्साइड के विलयन मे यह शीघ्र घुल जाता है। परतु तनुकरण पर फिर अवक्षेप के रूप मे निकल आता है। ठढे साद्र सल्फ्यूरिक अम्ल की अभिक्रिया से सेल्यूलोस पहले फूलता है, फिर धीरे धीरे विलीन हो जाता है। विलयन को पानी से तनु करने पर स्टार्च की भाँति एक पदार्थ अवक्षिप्त हो जाता है। इसे एमीलायड कहते हैं। सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ जलविश्लेषण पर सेल्यूलोस पहले सेलोडेक्सट्रिन फिर सेलोवायोस और अत मे ग्लूकोस देता हैं।

कार्वनिक पदार्थो मे सेल्यूलोस का महत्व सर्वश्रेष्ठ है। इसका कुछ प्रमुख उपयोग कपडा, कागज, विस्फोटक, कृत्रिम रेशम, फिल्म तथा सेल्यूलायड उद्योग मे होता है।

अणुसरचना—हावर्थ और साथियो ने वताया है कि सेल्यूलोस का अणु लगभग २०० वीटा ग्लूकोपाइरैनोस एकको के सयोग से वना होता है (अणुभार ३२,०००)।

ग्लाइकोजेन—यह प्राणियो की मासपेशियो मे तथा दूध देनेवाले प्राणियो के यकृत मे मिलता है। यह आयोडीन के साथ लाल रग देता है और शीघ्र ही जलविश्लेषित होकर ग्लूकोस देता है।

इन्यूलिन—यह पौधो मे उनके सचित भोजन के रूप मे जमा रहता है और उसी से प्राय स्टार्च का रूप ले लेता है। यह केवल फ्रुक्टोस एकको के ही सयोग से वना है जो ऑक्सैलिक अम्ल के जलविश्लेषण से फ्रुक्टोस देता है। [शि० मो० व०]

कार्मेलीय (कार्मेलाइट) धर्मसंघ

रोमन काथलिक गिरजे के महान् धर्मसघो मे से एक। इसके प्रवर्तक वेर्थोल्द क्रूसेद (क्रूसयुद्ध) मे भाग लेने के वाद १२ वी शताव्दी मे दस साथियो के साथ कार्मेल नामक पर्वत पर साधना करने लगे थे। येरुसलम के विशप ने सन् १२१० ई० मे इस सघ की नियमावली को औपचारिक अनुमोदन प्रदान किया था। मुसलमानी विजयो के कारण ये धर्मसघी यूरोप मे आकर वसने लगे। वहाँ वे फ्रासिस्की, दोमिनिकी आदि भिक्षुक सघियो की तरह व्यक्तिगत साधना करने के अतिरिक्त उपदेश और धर्मशिक्षा देने का कार्य भी करने लगे। यह धर्मसघ अत्यत लोकप्रिय वनकर समस्त यूरोप में फैल गया। १५वी सदी मे स्त्रियो के लिये इस धर्मसघ की एक शाखा की स्थापना हुई थी। दो महान् रहस्यवादियो अर्थात् अविला की सत तेरेसा तथा जॉन अव दि क्रॉस की प्रेरणा से इस सघ का १६वी सदी में सुधार हुआ था जिसके फलस्वरूप आजकल पुरुषो तथा स्त्रियो दोनो के सघो की दो दो शाखाएँ पाई जाती हैं। प्राचीन कार्मेलीय सघ अपेक्षाकृत कम लोकप्रिय है—स्त्रियो के मठो मे १००० से कम तथा पुरुषो के मठो मे २००० से कुछ अधिक सदस्य हैं। नवीन कार्मेलीय सघ मे १०,००० से अधिक स्त्रियाँ तथा लगभग ३५०० पुरुष रहते हैं। इस सघ की स्त्रियाँ अपने मठ के वाहर नही जा सकती हैं। वँगलोर, कलकत्ता, मँगलूर आदि भारत के दस स्थानो में इस सघ की सन्यासिनियो के लिये मठ स्थापित हो चुके हैं जहाँ अविला की सत तेरेसा का नियम लागू है। [का० वु०]

कार्यालय

किसी व्यवसाय, व्यवस्था, शासन या कार्यविशेष के सवध मे अधिकारी व्यक्ति के निर्देशन मे आवश्यक लिखापढी, लेखाजोखा, लेनदेन, आयातनिर्यात आदि के लिखित विवरण प्रस्तुत करने के कार्य जहाँ होते हैं उसे कार्यालय कहते हैं। २०वी शताव्दी मे "कार्यालय" सस्था का अमित विस्तार हुआ है।

सरकारी, अर्धसरकारी, व्यावसायिक, शैक्षणिक, साहित्यिक आदि कार्यभेद से कार्यालय भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं और उनके सघटन एव कार्यो मे कार्यविशेष के अनुसार यद्यपि थोडा वहुत अतर होता हैं, तथापि कार्यो के मूलभूत उद्देश्य प्राय समान होते हैं जिन्हे सक्षेप मे निम्नाकित रूप मे समाहित किया जा सकता है

१—व्यवसाय या कार्यविशेष की भिन्न भिन्न शाखा प्रशाखाओ और उनके सव विभागो के समस्त कार्य ठीक ढग से होते रहने के लिये उनमे परस्पर जो सहयोग और सहायता आवश्यक हो उनके लिये वाछित निर्देशो का व्योरेवार नियमन।

२—निर्देशो की सम्यक् पूर्ति के उद्देश्य से आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न आँकडो, सूचनाओ, तथ्यो, सदर्भो आदि का सकलन।

३—उपर्युक्त सामग्री का यथोचित विश्लेषण विभाजन करके ऐसी योजनाओ का निर्धारण जिनके अनुसार न्यूनतम श्रम, समय और वित्त का उपयोग करके अधिकतम प्रतिफल की प्राप्ति हो सके।

४—अभिलेखो (रेकार्ड्स) को प्रस्तुत करना, आगत कागजपत्रो को उपयुक्त ढग से यथोचित नत्थियो (फाइलो) मे सरक्षित करना और प्रेषणार्थ प्रस्तुत सामग्री को यथोचित रीति से शीघ्रतापूर्वक भेजना।

सभी प्रकार के कार्यालयो के कर्तव्य और अधिकार उपर्युक्त चतु सूत्री योजना मे समाहित हैं। कार्यसचालन, लेखाजोखा, हानिलाभ, चिंतन परामर्श आदि इन्ही के विस्तार हैं। कार्यालयो की स्थापना, सघटन, कर्मचारियो, उपकरणो आदि के सवध मे ज्ञातव्य वाते सक्षेप मे नीचे दी जा रही हैं।

सघटन—कार्यालयो की स्थापना का श्रीगणेश उनके सघटन से होता है। सतर्कता और सावधानी से सघटित कार्यालय ही न्यूनतम श्रम, समय और पूँजी द्वारा अधिकतम प्रतिफल की व्यवस्था कर सकता है। अतएव व्यवसाय वा कार्यविशेष के स्वामी अथवा आयोजक को चाहिए कि कर्मचारीमडल का चयन करते समय इस वात का पूरा ध्यान रखे कि उनमे अपने कर्तव्यो का निर्वाह करने की अधिकतम क्षमता है। तदनतर दूसरी सर्वाधिक आवश्यकता इस वात की है कि भिन्न भिन्न कार्याधिकारियो और उनके सहयोगी एव निम्नस्थ कर्मचारियो के अधिकारो एव कर्तव्यो को वहुत स्पष्ट रूप से और पर्याप्त विस्तार के साथ परिभाषित कर दिया जाय।

कर्मचारीमडल—कार्यालय का समस्त कार्य उसके कर्मचारी ही करते है। अत प्रत्येक कर्मचारी यदि अपनी सपूर्ण योग्यता और शक्ति का पूरा पूरा उपयोग नही करता तो उसका परिणाम अच्छा नही होता। कर्मचारी का जब तक हार्दिक और मानसिक योग काम के प्रति नही होता, काम भी ठीक ढग से नही होता। अत आयोजको को चाहिए कि उनकी नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानातरण आदि मे पूरी सावधानी वरते जिसमे कर्मचारी अपने को उपेक्षित न समझे।

स्थान एव साजसज्जा—कार्यालयो का स्थान प्रशस्त होना चाहिए। टेढे तिरछे न वैठकर यदि कर्मचारी क्रमानुसार सीधी पक्ति मे वैठ सके तो और अच्छा है। प्रकाश और वायु का भी यथोचितप्रवध होना चाहिए।

नही अपितु आध्यात्मिक विकास पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त, समाज मे बढती हुई धनलोलुपता के भी वे कट्टर शत्रु थे और 'सादा जीवन, उच्च-विचार' का सदैव समर्थन करते रहे।

उनकी शैली उनके व्यक्तित्व के समान ही बेढगी परतु प्रभावशाली है उसमे माधुर्य तथा स्निग्धता का अभाव है और बहुत से वाक्य बिना सिर पैर के जतु के समान फैले हुए दिखलाई पडते हैं, परतु तीव्रता तथा ओज उनमे कूट कूटकर भरे हैं।

स० ग्र०—ह्यू वाकर दि लिटरेचर ऑव दि विक्टोरियन इरा, कैंजामियाँ कार्लायल। [वि० रा०]

कार्लाइल यह इग्लैंड की कबरलैंड काउटी मे, ईडेन नदी पर, उसके मुहाने से ८ मील ऊपर स्थित एक नगर है, जिसमे नगरपालिका भी है। क्षेत्रफल ९.५ वर्ग मील, जनसख्या ६७,७९८ (१९५१)। यहाँ पर मानव आवास का प्रारभ एक अग्रेजी ग्राम के रूप मे हुआ। पहली शताब्दी मे रोमन निवासियो ने इसे एक नगर का रूप दिया। ९वी शताब्दी मे डेन जाति के आक्रमण के फलस्वरूप इस नगर का बहुत विनाश हुआ। ११वी शताब्दी मे इग्लैंड के विलियम रूफस ने यहाँ पर एक दुर्ग तथा नगर की दीवारे बनवाई। आजकल कार्लाइल ग्रेट ब्रिटेन के प्रमुख रेल केद्रो मे से एक है। यहाँ के मुख्य उद्योग वस्त्र, बिस्कुट तथा धातु के डिब्बे बनाना है। गिरजाघर, सग्रहालय तथा कलामदिर दर्शनीय है। [प्रे० च० अ०]

कार्ली महाराष्ट्र राज्य मे पूना जिले के मावल तालुका मे बबई-पूना-मार्ग पर स्थित (१८°४५' उ०, ७३°२९' पू०) एक ग्राम। यह पश्चिमी घाट के हीनयानीय बौद्ध चैत्य गुहाओ मे विख्यात और प्रधान है। बौद्ध वास्तु और मूर्तिकला के क्षेत्र मे गुहामदिरो मे प्रमाण माना जाता है। इसका निर्माण प्रसिद्ध भाजा दरीमदिर के बाद ही पहली सदी ई० पू० के लगभग हुआ होगा। पर्वत की चट्टान को कोरकर यह लबायत गुहा बनी है और लकडी की डाटो के साथ इसकी आतरिक छत दर्शनीय है।

सामने कभी प्राय पचास फुट ऊँचे दो सिहस्तभ खडे थे, जिनकी बनावट अधिकतर अशोकीय स्तभो की तरह थी। बरामदे मे सामने रेलिंग का आभास उत्पन्न करनेवाला बहिरग है और दाहिनी ओर अत्यत सुदर आवी ऊँचाई के हाथी दीवार मे उभारे गए है। प्रवेश के तीन द्वार हैं जिनमे से बीच का बौद्ध पुरोहितो के लिये था। ऊपर रोशनी के लिये मेहराबदार खिडकी बनी है जिससे अत्यत मृदु आलोक भीतर पसर जाता है। चैत्य-कक्ष गहरा लबा है, पर्वत की कोख मे गहरा चला गया है। लबाई उसकी १२४ फुट, चौडाई ४६॥ फुट और ऊँचाई ४० फुट है। दोनो ओर की दीवारो से भीतर की ओर की दूरी पर लगातार स्तभो का अविराम सिलसिला चला गया है। स्तभो की सख्या ३७ है जिनमे १५—१५ दोनो ओर हैं और ७ गहराई मे अर्धगोलाकार। स्तभो का सौंदर्य असामान्य है, उनमे से प्रत्येक के शीर्ष पर दो दो गजमस्तक है और प्रत्येक गजमस्तक पर मिथुन-प्रतीक कोरे गए है। मिथुनो की परपरा अपनी चेष्टाओ और आकृतियो मे सर्वथा समान नही है, प्रत्येक मे रच मात्र अतर डाल दिया गया है जिससे उनकी एकरूपता सह्य हो सके। स्तभो के शीर्ष पीछे की ओर प्राय इन्ही प्रतीको को वहन करते है, अतर बस इतना है कि गजमस्तको के स्थान पर वहाँ अश्वो के अग्रार्ध निर्मित है।

स्तूप सामने, चैत्यगृह की गहराई मे, स्तभो के अर्धवृत्त के आगे खडा है और उसका निर्माण हर्मिका, छत्र आदि से सयुक्त, परपरा के अनुकूल ही, हुआ है। पिछले प्राय हजार बरसो से सभवत इस चैत्यमदिर की पूजा बद रही है पर आज भी इसमे प्रवेश करने पर उसी शाति का अनुभव होता है जैसा इसके समृद्धिकाल मे हुआ करता था। [च० भा० पा०]

कार्ल्स रूये जर्मनी के वर्टेमबर्ग—बेडन प्रात मे फ्रैंकफुर्त ऑन मेन—बेसल रेलमार्ग पर हीडेलबर्ग से ३३ मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित एक नगर है। जनसख्या १,९८,८४० (१९५०)। बेडन के कार्ल विल्हेल्म ने १७१५ ई० मे यहाँ पर अपना आखेटकेद्र बनाया था। उसी के चारो ओर यह नगर बस गया। द्वितीय विश्वयुद्ध मे अग्रेजी वायुसेना के आक्रमण से कार्ल्स रूये का मुख्य भवन, श्लास, आग से ध्वस्त हो गया था। पिछले सौ वर्षो मे यहाँ पर्याप्त औद्योगीकरण हुआ है। रेल के इजन, गाडियाँ, मशीने बनाना यहाँ के मुख्य उद्योग है। एक नहर बन जाने से कार्ल्स रूये राइन नदी पर मैक्सो से सबद्ध हो गया है। [प्रे० च० अ०]

कार्सटेंज़ पूर्वी द्वीपपुज के अतर्गत न्यूगिनी के पश्चिमी भाग मे स्थित नसाऊ पर्वतश्रेणी (Nassau Range) का सर्वोच्च शिखर है जो १६,४०४ फुट ऊँचा है। (स्थिति ४° दक्षिण अ०, १३७° १२' पूर्व दे०) इसके निकट आयडेनबर्ग (Idenburg) एव विलहेलमिना (Wilhelmina) नामक दो अन्य चोटियाँ हैं जो क्रमश १५,७५० फुट तथा १५,५८५ फुट ऊँची है। इस प्रदेश मे हिमरेखा की ऊँचाई १४,६०० फुट है। अत कार्सटेज पर्वत पर हिमनदियाँ मिलती है। [न० कि० प्र० सिं०]

कॉर्सिका भूमध्यसागर मे ४१°२०' से ४३° उ० अ° तथा ८°३०' से ९° ३०' पूर्व देशातर तक फैला हुआ एक द्वीप है। राजनीतिक दृष्टि से यह फ्रास का एक विभाग है। इसका शिखर ८,८९१ फुट ऊँचा सिंटो पर्वत है। जलवायु भूमध्यसागरीय तथा प्राकृतिक वनस्पति माकी नामक झाडी है। ईसा की प्रारभिक शताब्दियो मे यह रोमन प्रात था जिसमे राजनीतिक बदी रखे जाते थे। द्वीप का क्षेत्रफल ३,३६७ वर्ग मील तथा जनसख्या २,०२,५८९ (१९५४) है। कृषि की मुख्य उपज अगूर, नीबू, तबाकू और साग भाजी हैं। जैतून के वृक्ष भी यहाँ लगाए जाते है तथा भेड, बकरी और रेशम के कीडे पाले जाते हैं। लोहा, ताँबा एव सुरमा की खाने है। सिगार, गैलिक एसिड तथा सेवई (मैकारोनी) बनाने के उद्योग मुख्य है। अजैकियो राजधानी है। [प्रे० च० अ०]

काल भारतीय धर्म तथा दर्शन मे काल की अतुलनीय महिमा प्रतिपादित की गई है। इस विश्व का सर्वश्रेष्ठ मूल तत्व काल माना जाता है जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय सपन्न होता है। काल की सर्वश्रेष्ठ तत्व के रूप मे प्रतिष्ठा अथर्ववेद के दो सूक्तो (१९ काड, ५४ तथा ६३ सूक्त) मे प्रतिपादित की गई है

> काले मन काले प्राण काले नाम समाहितम्।
> कालेन सर्वा नन्दनन्त्यागतेन प्रजा इमा ॥
> (अथर्व० १९।६३।७)

यथार्थवादी दर्शन काल की व्यावहारिक तथा पारमार्थिक उभयविध सत्ता मानते हैं, परतु आदर्शवादी दर्शन काल की पारमार्थिक सत्ता का निषेध करते हैं। लोकव्यवहार मे वर्तमान, भूत तथा भविष्य की कल्पना मान्य है। इस व्यवहार की प्रतीति का असाधारण कारण 'काल' ही है। ज्येष्ठत्व तथा कनिष्ठत्व की कल्पनासिद्धि काल के ऊपर आश्रित होती है। 'देवदत्त जेठा है' तथा 'उसका अनुज यज्ञदत्त कनिष्ठ है'—इस प्रतीति की सत्यता काल की सिद्धि का हेतु है। काल की सत्ता का प्रमाण अनुमान है। भावकार्य होने से परत्व (ज्येष्ठत्व) तथा अपरत्व (कनिष्ठत्व) असमवायी कारणविशिष्ट होते हैं। दोनो का यह असमवायी कारण काल तथा पिंड का सयोग है और इस सयोग के आश्रय होने से **न्यायमत** मे काल की अनुमानजन्य सिद्धि होती है। जन्य अर्थात् उत्पन्न होनेवाले पदार्थो का काल जनक माना जाता है (जन्याना जनक काल—भाषापरिच्छेद)। काल वस्तुत एक है, परतु उपाधि के कारण वह अनेकविध प्रतीत होता है। यह उपाधि है सूर्य की क्रिया। इसी क्रिया के हेतु शीघ्रता, विलबित, भूत, वर्तमान, भविष्य, क्षण, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, सवत्सर तथा युग आदि अवयवो की कल्पना की और मानी जाती है। काल एक, विभु तथा नित्य माना जाता है। न्यायमत मे काल मे पाँच गुण होते हैं एकत्व सख्या, परम महत् परिमाण, पृथक्त्व, सयोग तथा विभाग। काल सब कार्यो की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का कारण होता है। न्याय मत मे काल अतीद्रिय होता है अर्थात् उसका ज्ञान इद्रियो से जन्य नही होता, परतु मीमासा के आचार्य प्रभाकर के मत मे काल षडिंद्रियवेद्य है—उसका ज्ञान छहो इद्रियो से उत्पन्न होता है।

वस्तुत यह अतराल ४ वर्ष का ही है। इसीलिये गणितज्ञ और ज्योतिषी लोग इस कालगणना के स्थान मे अन्य प्रकार की गणना का उपयोग करते हैं। वह इस प्रकार है कि वे लोग १ ई० सन् के पूर्व के वर्ष को ० (शून्य) वर्ष कहते हैं और उनके पूर्व के वर्ष को १ ई० पू० कहते हैं। इस प्रणाली से किसी भी ई० पू० वर्ष और किसी भी ई० वर्ष के बीच मे व्यतीत हुए वर्षों की सख्या त्रुटिरहित होगी। इस प्रणाली मे ई० सन् ० (शून्य) के पश्चात् के वर्षों के आगे + (धन) सज्ञा लगाते है और ई० सन् के पूर्व के वर्षों के आगे — (ऋण) चिह्न लगाते हैं।

विभिन्न सवतो के वर्षों के भीतर के मास और दिन की गणनापद्धति के लिये देखे "पचाग और पचागपद्धति" शीर्षक लेख। यहाँ हम केवल वर्ष-गणना तक का वर्णन करेगे।

सामान्य मान्यता यह है कि ईसवी सन् ईसा मसीह के जन्म से गिना जाता है, परतु कतिपय विद्वानो के मतानुसार उसमे लगभग ४ वर्ष की भूल है।

ई० सन् की गणना में एक महत्वपूर्ण प्रसग है जिसपर ध्यान न देने से कालगणना में १३ दिन तक की भूल होने की सभावना हैं। आजकल सामान्यत ई० सन् वर्ष मे ३६५ दिन होते हैं और प्रति चार वर्षो मे एक वर्ष ३६६ दिन का होता है। शताब्दियो के वर्षो मे ४ शताब्दियो मे केवल एक शताब्दी मे ३६६ दिन होते हैं। शताब्दियो के दिनो की यह विशिष्ट व्यवस्था प्राचीन काल मे नही थी। १५८२ ई० तक शताब्दी सहित सब वर्षो मे प्रति चार वर्ष मे एक वर्ष ३६६ दिन का गिना जाता था।

३६५ दिन के वर्ष को सामान्य वर्ष तथा ३६६ दिन के वर्ष को अधि-वर्ष (Leap Year) कहते है।

१५८२ ई० सन् मे पोप ग्रेगरी ने ई० सन् मे दो सुधार किए। प्रथम सुधार यह था कि शताब्दियो के दिनो की व्यवस्था नवीन रूप से की गई, जो आजकल प्रचलित है। व्यवस्था यह हुई कि जिस शताब्दी को ४०० से निःशेष विभाजित किया जा सके वही अधिवर्ष है, अन्य सब शता-ब्दियाँ सामान्य वर्ष हैं। यह नियम ज्योतिष के आधुनिक यत्रो से नापे गए सूक्ष्म सायन (ट्रॉपिकल) वर्षमान के अनुसार किया गया है। इस नियम की उपेक्षा से ईसवी सन् के आरभ से १५८२ ई० सन् तक १० दिन की भूल एकत्रित हुई थी। उस भूल को दूर करने के लिये तारीखो मे १० दिन बढाए गए। इस नई व्यवस्था को नवीन पद्धति और पूर्व की पद्धति को प्राचीन पद्धति कहते हैं। कालक्रमविज्ञान मे सन् १५८२ ई० के ४ अक्टूबर तक की घटनाओ को प्राचीन पद्धति से व्यक्त किया जाता है और उसके पश्चात् की घटनाओ को नवीन पद्धति से।

नवीन पद्धति का आरभ १५८२ ई० मे पोप ग्रेगरी ने किया। इसलिये इसको ग्रेगोरियन पद्धति कहते हैं। इस पद्धति को भिन्न भिन्न ईसाई देशो मे भिन्न भिन्न वर्षो मे स्वीकार किया गया। इससे इन देशो का इतिहास पढते समय इस बात को ध्यान मे रखना आवश्यक है। कालक्रम विज्ञान मे इस अव्यवस्था का प्रवेश न हो जाय इस हेतु इस विषय के विद्वानो ने सर्वसमति से निर्णय किया है कि १५८२ ई० के ४ अक्टूबर तक की सब ऐतिहासिक घटनाओ को प्राचीन पद्धति से और उसके बाद की सब घटनाओ को नवीन पद्धति से व्यक्त किया जाय।

जूलियन दिनाक—नई शैली, पुरानी शैली, छूटे हुए दिन, अधिवर्ष आदि की झझटो से बचने के लिये ज्योतिषी (और कभी कभी इतिहासज्ञ भी) बहुधा जूलियन दिनाक से समय सूचित करते हैं। इस पद्धति का आरभ फ्रेंच ज्योतिषी स्केलियर ने किया था। इस पद्धति मे १ जनवरी, सन् ४७१३ ई० पू० से आरभ करके दिन लगातार गिने जाते हैं और दिन का आरभ स्थानीय मध्याह्न से होता है। उदाहरणत जूलियन दिनाक २४,३७,८९२ १२३ का अर्थ है १५ अगस्त १९६२ के मध्याह्न से ० १२३×२४ घटे बाद। नाविक पचागो मे प्रत्येक दिन का जूलियन दिनाक दिया रहता है।

परिशिष्ट मे विविध सवतो का प्रारभ ई० सन् मे बताया गया है। उसकी सहायता से उस सवत् मे दिए हुए किसी काल को हम ई० सन् मे सामान्यत व्यक्त कर सकते हैं। सामान्यत इसलिये कहा गया है कि उस सवत् का वर्षमान, मासगणना और दिनगणना का गणित जहाँ तक हम नही जानते वहाँ तक ई० सन् के ठीक दिनाक का निर्णय हम नही कर सकते।

परिशिष्ट मे केवल एक ही सवत् ऐसा है जिसका वर्षमान ई० सन् के वर्षमान से बहुत भिन्न है वह हिजरी सन् है, जिसके वर्ष का माध्य मान ३५४ ३७ दिन है। कुछ अन्य सवत् सौर चाद्र मान के हैं, किंतु दो तीन वर्ष मे अधिकमास बढाकर वे प्राय ई० सन् के तुल्य हो जाते हैं। फिर भी थोड़े दिनो का अतर रह जाता है। इन सवतो का वर्षारभ ई० सन् के कौन से मास मे होता है इसे भी परिशिष्ट में बताया गया है। इससे सामान्यत, लगभग एक मास के भीतर, ई० सन् का मास भी ज्ञात हो जायगा।

उदाहरणत, उत्तर भारत के विक्रम सवत् १९३२ के श्रावण मास में ई० सन् का कौन सा वर्ष और मास आएगा, यह हम परिशिष्ट से ज्ञात कर सकते हैं। परिशिष्ट मे यह बताया गया है कि इस सवत् का वर्षारभ ई० सन् के −५७ वर्ष के अप्रैल मास मे हुआ था। इस हिसाब से इस विक्रम सवत् के १९३२ वर्ष का प्रारभ अर्थात् चैत्र मास +१८७५ के अप्रैल मे हुआ था। इससे इस वर्ष का श्रावण मास ई० सन् १८७५ के अगस्त मे हुआ होगा। इसमे अधिक इस परिशिष्ट से हम नही जान सकते। ई० सन् का मास और दिनाक भी निश्चित रूप से जानने के लिये हमे विक्रम सवत् के मास और दिन की गणित पद्धति से भी परिचित होना चाहिए, जिसे **'पंचांग और पचांगपद्धति'** शीर्षक लेख में बताया गया है।

परिशिष्ट

क्रमाक	सवत्	सवत् का प्रारभ ई० सन् में*	वर्षमान	वर्षारभ	प्रचार का प्रदेश या वर्ग
१	जूलियन	—४७१२ जनवरी*	सौर	१ जनवरी	ज्योतिषी
२	कलियुग	—३१०१ फरवरी*	चाद्र–सौर (अमात)	चैत्र शुक्ल	हिंदू
३	सप्तर्षि	—३०७५ अप्रैल*	चाद्र–सौर (अमात)	चैत्र शुक्ल	कश्मीर
४	विक्रम (अमात)	— ५७ नवबर*	चाद्र–सौर (अमात)	कार्तिक शुक्ल	गुजरात
५	विक्रम (पौर्णिमात)	— ५७ अप्रैल*	चाद्र–सौर (पौर्णिमात)	चैत्र कृष्ण	उत्तर भारत
६	शक (शालिवाहन)	+ ७८ अप्रैल	चाद्र–सौर (अमात)	चैत्र शुक्ल	दक्षिण भारत
७	वलभी	+ ३१८ नवबर	चाद्र–सौर (अमात)	कार्तिक शुक्ल	सौराष्ट्र ई० सन् ४०० से १३०० तक
८	विलायती	+ ५९२ सितबर	सौर	१ कन्या	उडीसा
९	अमली	+ ५९२ अक्टूबर	चाद्र–सौर	भाद्रपद शुक्ल १२	उडीसा
१०	बगाली	+ ५९३ अप्रैल	सौर	१ वैशाख	बगाल
११	हिजरी	+ ६२२ जुलाई	चाद्र	१ मुहर्रम	मुसलमान
१२	कोलम (उत्तर)	+ ८२५ सितबर	सौर	१ कन्या	उत्तर मलाबार
१३	कोलम (दक्षिण)	+ ८२५ सितबर	सौर	१ सिंह	दक्षिण मलाबार

* इस स्तभ के प्रथम पाँच अक गणितिक पद्धति के हैं। ऐतिहासिक पद्धति से ये अक अनुक्रम से ४७१३ ई० पू०, ३१०२ ई० पू०, ३०७६ ई० पू०, ५८ ई० पू० और ५८ ई० पू० हैं। ऊपर देखिए।

[ह० प्रा० भ०]

कालनेमि विरोचन का पुत्र। पौराणिक परंपरा के अनुसार कंस पूर्वजन्म में कालनेमि असुर था। देवासुर संग्राम में कालनेमि ने भगवान् हरि पर अपने सिंह पर बैठे ही बैठे बड़े वेग से त्रिशूल चलाया। पर हरि ने उस त्रिशूल को पकड़ लिया और उसी से उसको तथा उसके वाहन को मार डाला। एक अन्य पौराणिक प्रसंग के अनुसार युद्ध में उसने अनेक प्रकार की माया फैलाई और ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। वह तारकामय में हरि के चक्र के द्वारा मारा गया। [रा० श० मि०]

कालबाख, विल्हेल्म वान (१८०५–१८७४) डुसेलडर्फ अकादमी के कोर्नेलिस से कलाध्ययन कर अपने गुरु के साथ सन् १८२५ में यह जर्मन चित्रकार म्यूनिख पहुँचा, और वहाँ सन् १८४९ से जीवन के अंतिम क्षण तक वह अकादमी का निर्देशक रहा। 'जुरुसलेम का विनाश', 'हूणों से युद्ध' और 'सालेमिस का सागरी युद्ध' के भव्य भित्तिचित्रों में उसने नाटय रूपों का अद्भुत अंकन किया।

उसका भतीजा फ्रेड्रिक अगस्त वान कालबाख (सन् १८५०–१९२०) ऐतिहासिक दृश्यों तथा व्यक्तिचित्रों का कुशल चितेरा था जो म्यूनिख अकादमी का निर्देशक भी रहा। [भा० श०]

कालमापी (Chronometer) एक विशेष प्रकार की घड़ी है, जो बहुत सच्चा समय बताती है। इसकी सहायता से समुद्र में जहाज का देशांतर ज्ञात किया जाता है। कालमापी ग्रिनिच के स्थानीय समय से मिलाकर रखा जाता है, जिससे जहाज पर ग्रिनिच समय तुरंत जाना जा सकता है। षष्ठक (Sextant) से सूर्य की स्थिति नापकर जहाज जिस स्थान पर है वहाँ का स्थानीय समय ज्ञात किया जा सकता है। स्थानीय समय और ग्रिनिच समय के अंतर से देशांतर की गणना की जा सकती है। देशांतरों में एक अंश का अंतर पड़ने पर स्थानीय समयों में चार मिनट का अंतर पड़ता है।

देखने में कालमापी एक साधारण बड़ी घड़ी के समान होता है। यह एक चक्र से दो धुरीवरों द्वारा लटका रहता है। चक्र स्वयं दूसरे दो धुरीवरों द्वारा लटका रहता है। धुरीवरों की जोड़ियाँ एक दूसरी से समकोण बनाती हैं। कालमापी इस प्रकार इसलिये लटकाया जाता है कि जहाज के हिलने डोलने पर भी वह सर्वदा क्षैतिज रहे। सबदा क्षैतिज स्थिति में रहने से कालमापी अधिक सच्चा समय बताता है। कालमापी की बालकमानी साधारण घड़ी की तरह सर्पिल न होकर कुंतलाकार (helical) होती है। इसका कालमापी विमोचक (escapement) भी साधारण घड़ी से भिन्न प्रकार का होता है। (विमोचक उस युक्ति को कहते हैं जिसके कारण घड़ी का चक्रसमूह लगातार न चलकर रुक रुककर चलता है और टिक टिक की ध्वनि उत्पन्न होती है। इसी के द्वारा प्रधान कमानी की ऊर्जा बालकमानी में जाती है जिससे वह रुकने नहीं पाती।)

देशांतर ज्ञात करने के लिये सच्ची घड़ी बनाने का पहला प्रयास विख्यात वैज्ञानिक क्रिश्चियन हाइगेन्स ने १६६२–७० में किया था, पर उनकी बनाई घड़ियों में ताप के घटने बढ़ने तथा जहाज के हिलने डोलने के कारण बहुत अंतर पड़ जाता था और समय अधिक सचाई से नहीं नापा जा सकता था। १७१४ में ब्रिटिश सरकार ने ऐसा कालमापी बनाने के लिये, जो प्रति दिन तीन सेकंड से अधिक तेज या सुस्त न हो, २०,००० पाउंड (लगभग ढाई लाख रुपए) के पुरस्कार की घोषणा की। यह पुरस्कार जॉन हैरिसन ने जीता जिसने १७२९–६० में चार कालमापी बनाए, परंतु हैरिसन को कालमापी बनाने में मूल्य बहुत अधिक पड़ता था। पेरिस के पियर लरूआ ने १७६५ में और इंग्लैंड के जॉन आर्नोल्ड और टामस अर्नशा ने १७८५ में जो कालमापी बनाए वे आधुनिक यंत्रों से बहुत कुछ मिलते जुलते थे।

आधुनिक कालमापी का प्रयोग ठीक से करने पर वह बहुत ही सच्चा समय बताता है। दिन भर में एक सेकंड से अधिक अंतर नहीं पड़ने पाता। इस सूक्ष्म अंतर के कारण महीनें भर चलने के बाद भी जहाज की गणना की स्थिति और सच्ची स्थिति में आठ मील से कम ही अंतर पड़ने पाता है। प्राचीन समय में सच्चे कालमापियों का महत्व बहुत अधिक था, क्योंकि उनके अभाव में लंबी यात्रा करना असंभव होता था। परंतु अब रेडियो संकेतों द्वारा सच्चे ग्रिनिच समय का पता दिन में कई बार मिलता रहता है और कालमापियों का बहुत सच्चा रहना पहले जैसा महत्वपूर्ण नहीं रह गया है। [च० प्र०]

कालमेह ज्वर (Black water fever or malarial hemoglobinuria) अथवा मलेरियल हीमोग्लोबिन्यूरिया। यह ज्वर घातक तृतीयक मलेरिया के कई आक्रमण के उपरांत उपद्रव के रूप में होता है। इसमें मूत्र का रंग काला या गहरा लाल हो जाने से इसका नाम कालमेह ज्वर रखा गया है। इस रोग में रक्त के कणों में से तीव्रता से हीमोग्लोबिन पृथक् हो जाता है (hemolysis), जिससे मूत्र काला हो जाता है, ज्वर आ जाता है, कामला और रक्तन्यूनता हो जाती है तथा वमन होने लगता है। ज्वर प्राय सर्दी लगने पर होता है। कमर में पीड़ा और आमाशय में कुछ कष्ट हो जाता है। २४ घंटे में रक्त में ५० प्रति शत की कमी हो जाती है और रक्तचाप कम हो जाता है। रोग के दो रूप होते हैं—मृदु और तीव्र। मृदु में ज्वर जाड़ा लगकर आता है। मूत्र में रक्त होता है। ज्वर बहुत तीव्र नहीं होता। रोगी तीन चार दिन में ठीक हो जाता है और तब मूत्र निर्मल हो जाता है। तीव्र रूप में ज्वर बड़ी तीव्रता से आता है और बहुत अधिक हो जाता है। बार बार ज्वर का आक्रमण होता है। रोगी अत्यंत निर्बल हो जाता है। साधारणत मूत्र पर्याप्त नहीं आता या बंद हो जाता है। मस्तिष्क ठीक काम नहीं करता, रोगी मूर्छित हो जाता है (uremia) और अंत में उसकी मृत्यु हो जाती है।

कालमेह ज्वर अधिकतर उन्हीं स्थानों में होता है जहाँ मलेरिया उग्र रूप में बराबर पाया जाता है, जैसे भारतवर्ष, उष्ण अफ्रीका, दक्षिण-पूर्वीय यूरोप, दक्षिणी अमरीका और दक्षिण-पूर्वीय एशिया तथा न्यु-गाइना आदि।

यदि रोगी के रक्त की परीक्षा आक्रमण के आरंभ में की जाय तो उसमें घातक तृतीयक मलेरिया के जीवाणु मिल जाते हैं। कहा जाता है कि कालमेह ज्वर कुनैन और कैमोक्वीन अधिक काल तक देने से हो जाता है। रिलैप्सिंग ज्वर और यलो फीवर से इसका भेद समझना चाहिए।

चिकित्सा—रोगी को बिस्तर पर रखना चाहिए। जब मलेरिया ज्वर हो तब उसकी पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिए और कुनैन आवश्यकता से अधिक मात्रा में न दें या पैलुड्रिन का उपयोग करें। [क० दे० व्या०]

कालयवन यवनराज का अत्यंत शक्तिशाली पुत्र। नारद से यादवों की वीरता की प्रशंसा सुनकर एक विशाल म्लेच्छ सेना लेकर उनसे युद्ध करने गया। कृष्ण को बिना शस्त्र के अपनी ओर आते देखकर रथ से कूदकर उनका पीछा किया। कृष्ण भागते हुए एक पर्वत की गुफा में घुस गए जहाँ मांधाता के पुत्र राजा मुचुकुंद सोए हुए थे। कालयवन भी उसमें घुस गया और मुचुकुंद को कृष्ण समझकर पैर से मारा। मुचुकुंद ने जगने पर जैसे ही उसपर दृष्टिपात किया, वह भस्म हो गया। [रा० श० मि०]

काललिख (Chronograph) वह यंत्र है जिसके द्वारा पास पास घटित होनेवाली दो घटनाओं के समय का अंतर ज्ञात किया जा सकता है। वस्तुत यह अंतर एक मानचित्र या फीते पर अंकित हो जाता है।

ज्योतिष के कामों में प्रयुक्त किए जानेवाले काललिख अधिकतर निम्नलिखित सिद्धांत पर बने रहते हैं एक बेलनाकार ढोल पर कागज लपेट दिया जाता है। ढोल को समगति से केवल इतने वेग से घुमाया जाता है कि वह प्रति मिनट एक या दो पूरे चक्कर लगाए। एक लेखनी इस कागज के ऊपर इस प्रकार लगी रहती है कि ढोल के घूमने से वह कागज पर रेखा खींचती जाती है। लेखनी भी मंद समगति से पेंच द्वारा एक ओर हटती जाती है। इसलिये कागज पर खिंची रेखा सर्पिलाकार होती है। कलम एक विद्युच्चुंबक से संबद्ध रहती है। इस विद्युच्चुंबक में घड़ी द्वारा प्रति सेकंड एक विद्युद्धारा क्षण भर के लिये आती रहती है जिससे लेखनी प्रति सेकंड

क्षण भर के लिये एक ओर खिंच जाती है। इसलिये कागज पर खिंची रेखा मे प्रत्येक सेकड का चिह्न बन जाता है। अब किसी विशेष घटना के

क ख ग

प्रति सेकड के चिह्न घटना विशेष का चिह्न

घटने पर बटन दबाने से वही लेखनी हटकर उस घटना के समय को भी अकित कर देती है। चिह्नो के बीच की दूरी नापने से घटना के समय का पता सेकड के सौवे भाग तक चल सकता है।

कभी कभी कागज चढे बेलनाकार ढोल की जगह कागज के फीते की रील का प्रयोग करते है। फीते को समगति से लेखनी के नीचे से ले जाते है। इसमे सुविधा यह होती है कि यत्र छोटा होता है, किंतु असुविधा यह है कि फीते पर के समय के लेखे को सुरक्षित रखना और बाद मे प्रयोग करना कठिन होता है। कभी कभी एक के स्थान पर दो लेखनियो का उपयोग किया जाता है, एक सेकड अकित करने के लिये और दूसरी घटना का समय। इसमे दोष यह होता है कि प्रत्येक लेखनी के किनारे हटने मे भिन्न भिन्न समय लग सकता है और इस कारण नापे हुए समय मे थोडी त्रुटि पड सकती है। यदि भिन्न भिन्न यत्रो द्वारा प्राप्त घटनाओ का समय ज्ञात करना है तो दो से अधिक लेखनियो का भी उपयोग किया जा सकता है। प्रत्येक लेखनी का विद्युच्चुबक एक भिन्न यत्र द्वारा चालित होता है।

आजकल ऐसे भी काललिख बने है जिनमे मिनट, सेकड और सेकड के शताश के चिह्न एक घूमते हुए चक्र द्वारा, जिसमे छापे के टाइप लगे रहते है, कागज पर छाप दिए जाते है। छापनेवाला चक्र एक नियत्रक द्वारा समान वेग से घूमता है और घडी द्वारा इस वेग पर नियत्रण रखा जाता है। घटना के समय को अकित करने के लिये छोटी हथौडी रहती रहती है जो बटन दबाने पर शीघ्रता से कागज पर चोट मारकर हट जाती है। इससे वह अक जो उस क्षण हथौडी के समुख रहता है कागज पर छप जाता है। इस प्रकार घटना का समय बिना किसी नाप के ज्ञात हो जाता है, परतु लेखनी या हथौडी से चिह्नो को अकित करने मे कुछ समय लगता है और नाप मे कुछ त्रुटि की सभावना रहती है। अत बहुत सूक्ष्म नापो के लिये ऐसे काललिख बनाए गए है जिनमे विद्युत्-स्फुल्लिग द्वारा घटनाक्रम अकित किया जाता है।

गति-काललिख—बदूक या तोप की गोली की गति नापने के लिये दो पर्दे रखे जाते है। गोली के एक पर्दे से दूसरे पर्दे तक पहुँचने के समय को नापकर गोली की गति निम्नलिखित सूत्र से जानी जा सकती है

$$\text{गति} = \frac{\text{पर्दो के बीच की दूरी}}{\text{समय}}$$

। पर्दो के बीच की दूरी नापने मे कोई कठिनाई नही पडती, परतु समय की नाप बडी सूक्ष्मता से होनी चाहिए। यदि गति २,००० फुट प्रति सेकड हो तो १०० फुट दूरी पार करने मे गोली को कुल १।२० सेकड लगता है। यदि हम चाहे कि गति की गणना मे एक फुट प्रति सेकड से अधिक अतर न पडे तो दूरी की नाप मे $\frac{1}{2}$ इच से अधिक अतर न पडना चाहिए और समय की नाप मे १।४०,००० सेकड से अधिक अतर न पडना चाहिए।

भिन्न भिन्न प्रकार के पर्दो का उपयोग होता है। एक प्रकार का पर्दा दो विद्युच्चालक पत्रो के बीच पृथक्कारी रखकर बनाया जाता है। जब गोली पर्दे को छेदती है तो दोनो चालक पर्दो मे गोली द्वारा सपर्क हो जाता है और उस क्षण विद्युत्सकेत चल पडता है। ये पर्दे बार बार प्रयुक्त किए जा सकते है, पर इनमे असुविधा यह रहती है कि पर्दे मे घुसने से गोली की गति मे अतर पड जाता है।

दूसरे प्रकार के पर्दों मे विद्युच्चुबकीय प्रेरण का प्रयोग किया जाता है। पर्दे के स्थान पर बिजली के तार के वृत्त लगे रहते है। गोली साधारण गोली न होकर चुबकित गोली होती है। जब यह गोली तार के वृत्त मे से होकर जाती है तो तार मे विद्युत् उत्पन्न होती है जिससे सकेत मिल जाता है।

प्रकाश-वैद्युत पर्दों का भी प्रयोग किया जाता है। टेलिफोटो लेस (लेज़) द्वारा गोली (और पृष्ठ भाग मे आकाश) का चित्र एक प्रकाश-

वैद्युत सेल पर डालते है। जब लेस के सामने से गोली जाती रहती है तो प्रकाश के कम हो जाने से सेल मे विद्युद्धारा भी कम हो जाती है। ज्यो ही गोली का पिछला भाग पार होता है प्रकाश फिर बढ जाता है और साथ ही विद्युद्धारा भी। एकाएक बढती हुई इस विद्युद्धारा से सकेत भेजा जा सकता है।

गोली का वेग नापने के लिये कागज लपेटे ढोल का प्रयोग भी किया जा सकता है। साधारणत ढोल प्रति सेकड ६० चक्कर लगाता है। गोली पर्दे को जब पार करती है तब उस समय के सकेत द्वारा उत्पन्न स्फुल्लिग कागज को अकित कर देता है। एक दूसरे प्रकार के काललिख मे ढोल पर साधारण कागज न लगाकर फोटोग्राफी का कागज लगाते है। ढोल अँधेरे बक्स मे घूमता है और साथ ही धीरे धीरे एक किनारे हटता जाता है। दोलनलेखी धारामापी के दर्पण से परावर्तित प्रकाशकिरण एक छिद्र मे से जाकर फोटो के कागज पर रेखा खीचती जाती है। जब पर्दे से सकेत आता है तो धारामापी का दर्पण घूम जाता है और परावर्तित प्रकाशकिरण छिद्र की सीध मे नही रहती। प्रकाश न पहुँचने से रेखा उस स्थान पर कटी सी जान पडती है। एक दूसरे धारामापी द्वारा प्रति १।१००० सेकड एक चिह्न इस रेखा पर बनता जाता है, इससे नापने मे सुविधा होती है।

दूसरे महायुद्ध मे समय नापने के लिये रेडियो वाल्वो के परिपथो का भी प्रयोग हुआ। इन यत्रो मे तीन भाग होते है। पहले भाग मे एक दोलक होता है जिससे प्रति १।१,००,००० वे सेकड पर विद्युत्स्पदन भेजा जाता है। दूसरे भाग मे यत्र को चलाने और बद करने का प्रबध रहता है। पहले पर्दे से सकेत आने पर यत्र अपने आप चलने लगता है और दूसरे पर्दे से सकेत आने पर यत्र स्वत बद हो जाता है। तीसरे भाग मे विद्युत्स्पदनो को गिनने का प्रबध रहता है। इनकी गिनती से पता चल जाता है कि दोनो सकेतो के बीच कितना समय बीता।

[च० प्र०]

कालविन, जान

(१५०९-१५६४) धर्माचार्य और सुधारक। कालविन का जन्म फ्रास के उत्तरी भाग मे स्थित पिकार्दी प्रात के नोयो नगर मे १० जुलाई, १५०९ को हुआ। छोटी उम्र मे ही उसके सयमित आचरण और धर्ममय जीवन को देखकर उसके पिता जरार शोविन ने अपने पुत्र को पौरोहित्य की शिक्षा दिलाना निश्चित किया। नगर के एक कुलीन मित्र परिवार मे कालविन ने धर्मशास्त्र का अध्ययन आरभ किया। अपनी अद्भुत योग्यता के कारण बारह वर्ष की अवस्था मे ही नगर के गिरजाघर मे उसने चैपलेन का पद प्राप्त कर लिया। १५२३ के अगस्त मास मे वह देश की राजधानी पेरिस गया और चैपलेन के पद से मिलनेवाली आय से लगभग पाँच वर्षो तक मार्श और मोताग के महाविद्यालयो मे उसने धर्मशास्त्र का नियमित रूप से अध्ययन किया। वहाँ साथियो से विचार विनिमय मे उसने अपनी प्रखर बुद्धि और तर्कशक्ति का अच्छा परिचय दिया। सितबर १५२७ मे नोयो के एक गिरजाघर मे पुरोहित के सहायक के पद पर उसकी नियुक्ति हो गई।

पेरिस में अपने ही नगर के एक पुराने साथी पीयर राबर्ट से, जो आगे चलकर ओलिवेतन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, कालविन का घनिष्ठ सपर्क रहा। राबर्ट धर्म के मामले मे सुधारवादी था। उसके विचारो का कालविन पर प्रभाव पडा। उसकी प्रेरणा से कालविन ने बाइबिल का फ्रेंच भाषा मे अनुवाद किया जिसने प्रचलित धर्मव्यवस्था के सबध मे उसके मन मे शकाएँ उत्पन्न कर दी। शीघ्र ही कालविन ने रोम की पूजा-पद्धति के बारे मे प्रतिकूल विचार व्यक्त किए। नोयो के गिरजाघर का धर्माधिकारी कालविन के धर्मविरोधी विचारो से सहमत नही हो सकता था। कालविन को अपने पद पर बने रहना कठिन प्रतीत हुआ। इन्ही दिनो उसके पिता का यह विचार हुआ कि धर्मशास्त्र की अपेक्षा कानून का अध्ययन उसके लिये अधिक लाभदायक होगा। पिता के विचार का कालविन ने स्वागत किया। कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिये मार्च, १५२८ मे वह ऑर्लेआँ के विश्वविद्यालय मे प्रविष्ट हो गया। कानून के अतिरिक्त अन्य शास्त्रो, विशेषकर प्राचीन साहित्य, का उसने अध्ययन किया। थोडे ही समय मे अपने पाडित्य का उसने ऐसा परिचय दिया कि

उससे कभी कभी शिक्षक का कार्य भी लिया जाने लगा। ओर्लेआँ से कालविन बूर्जे के विश्वविद्यालय मे गया जहाँ उसने यूनानी भाषा और बाइबिल के नवीन टेस्टामेंट के मूल पाठ का अध्ययन किया। इस अध्ययन ने रोम की धर्मव्यवस्था के विरुद्ध उसके विचारो को और पुष्ट कर दिया। १५३१ मे पिता की मृत्यु के कारण उसको बूर्जे छोडना पडा। वह कुछ समय पेरिस मे रहा और इब्रानी भाषा का अध्ययन किया। घर की व्यवस्था के कार्य से उसको नोयो भी जाना पडा। १५३२ के अत तक वह वही रहा। इस वर्ष ही प्राचीन रोम के एक प्रसिद्ध लेखक सेनेका की कृति क्लेमेंशिया की उसकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लातीनी मे प्रकाशित हुई। १५३३ के आरभ मे कालविन दूसरी बार ओर्लेआँ गया। अगस्त में वह नोयो लौट आया और दो मास ही वहाँ रहा। अक्टूबर में वह पुन पेरिस चला आया और वही रहने लगा। प्रचलित धर्मव्यवस्था के खडन और नई धर्मव्यवस्था के प्रतिपादन और व्यवहार के सबध मे उसके विचार अब तक काफी परिपक्व हो चुके थे। उसकी यह निश्चित धारणा हो गई कि उसको अपना सपूर्ण जीवन विशुद्ध ईसाई धर्म की शिक्षा और प्रसार मे लगाना चाहिए। उसने इस पवित्र कार्य को दैवी प्रेरणा और आदेश माना। उसने कैथोलिक धर्म का परित्याग किया और प्रोटेस्टेट मत ग्रहण कर लिया। अपने मत के धार्मिक प्रवचनो के रूप मे उसने एक पुस्तक भी उसी वर्ष प्रकाशित की। इस बीच कालविन के एक मित्र विश्वविद्यालय के रेक्टर निकोलस कोप ने एक पवित्र दिवस पर पेरिस के एक गिरजाघर में सुधारवादी मत के समर्थन में व्याख्यान दिया। कालविन उसके विचारो से अत्यत प्रभावित हुआ। रोम के चर्च और उसमे आस्था के विरुद्ध उसने प्रकाश्य रूप से अपने विचार पेरिस मे कई स्थानो पर व्यक्त किए। कोप और कालविन दोनो पर धर्म-विरोधी प्रचार का अपराध आरोपित हुआ। दोनो ही पेरिस से अन्यत्र चले गए। कालविन कुछ समय नोयो में रहा। अभियोग उठा लिए जाने की सूचना मिलने पर वह फिर पेरिस लौट आया। उसके कार्यो पर राज्य और धर्म विभाग के अधिकारियो की सजग दृष्टि लगी रही। पेरिस मे रहना उसके लिये कठिन हो गया। १५३४ के आरभ मे छद्म नाम से वह अगुलेम गया और वहाँ के गिरजाघर के पुस्तकालय में धर्म ग्रथो का मननपूर्वक अध्ययन किया। वह प्वातू और सेटोन भी गया और सभी स्थानो पर उसने धर्मसुधार के विचारो का प्रचार किया। इस बीच फ्रास के राजा फ्रासिस की बहन नेवार की रानी मारगरेत ने कालविन को आश्रय दिया। सुधारवादी मत के प्रति उसकी सहानुभूति थी और उसका निवासस्थान सुधार के समर्थको का आश्रयस्थल बना हुआ था। कालविन मई मास मे फिर पेरिस आया। वह गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ समय तक उसे कारागार में भी रहना पडा। सुधारवादियो के प्रति फ्रासिस के बढते हुए अत्याचार को देखकर कालविन ने फ्रास त्याग देना ही उचित समझा। उसने अपने सभी पदो को छोड दिया और पच्चीस वर्ष की आयु मे अपने पितृदेश फ्रास से विदा लेकर वह १५३४ मे स्विटजरलैंड के बाल नगर चला गया। एक वर्ष पूर्व पेरिस से भागकर उसका सुधारवादी मित्र कोप भी इस नगर मे ही गया था।

फ्रास मे राजतत्र द्वारा सुधारवादियो के दमन से कालविन बहुत क्षुब्ध था। उनके सबध मे राजा की इस धारणा से कि ये केवल धर्म सुधार नही चाहते, राज्य के विरोधी हैं, कानून और सपत्ति के शत्रु हैं, सघर्ष करानेवाले तथा पथभ्रष्ट हैं—वह सहमत नही था। धर्मसुधार के समर्थक जर्मनी के कुछ मित्र राजाओ की इस शिकायत पर कि फ्रास मे सुधारवादियो पर अत्याचार होता है, फ्रासिस ने उनके सबध मेंयह मत व्यक्त किया था। उन्हें इस लाछन से मुक्त करने और धर्मसुधार के समर्थन मे कालविन ने विशुद्ध ईसाई धर्म पर एक पाडित्यपूर्ण पुस्तक 'इस्टीटयूट ऑव क्रिश्चियन रिलीजन' लातीनी भाषा मे लिखी। पुस्तक का अधिकाश अगुलेम के प्रवासकाल मे १५३४ मे लिखा गया था। १५३५ में यह पुस्तक बाल नगर से लेखक के नाम के बिना ही प्रकाशित हुई। अगले वर्ष कालविन ने अपने नाम से पुस्तक प्रकाशित कराई और उसमें एक प्रस्तावना भी जोड दी। १५४० मे कालविन ने फ्रेच भाषा मे भी पुस्तक का सस्करण निकाला। उसने यह पुस्तक फ्रास के राजा को समर्पित की। उसको आशा थी कि फ्रासिस पुस्तक मे व्यक्त विचारो से प्रभावित होगा और सुधारवादियो के मत को अपना लेगा। कालविन की यह आशा तो पूरी नही हुई पर उसकी पुस्तक का धर्मसुधार के कार्यो पर आशातीत प्रभाव पडा। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि एक शताब्दी से ऊपर तक इसके कई सस्करण प्रकाशित हुए। २५-२६ वर्ष की आयु में लिखी गई ऐतिहासिक तथ्यो और अकाटच तर्को से परिपूर्ण यह पुस्तक भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट, प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रसार और स्थायित्व में अत्यत सहायक हुई। इसने कालविन के विचारो को यूरोप के भिन्न भिन्न देशो मे पहुँचा दिया।

पुस्तक प्रकाशित होने के बाद कालविन इटली गया। वहाँ धर्मसुधार के कार्य मे कुछ प्रगति हो चुकी थी। फेरारा की डचेज रेनी ने उसका सम्मानपूर्ण सत्कार किया। इटली से वह पेरिस गया। वहाँ उसने अपनी पैतृक जायदाद बेच दी और स्विटज़रलैंड मे बसने के विचार से वह शीघ्र ही पेरिस से चल दिया। उसको उस देश के प्रसिद्ध नगर जिनीवा होकर जाना पडा। फ्रास के सुधारवादी विलियम फैरेल और विरैट के प्रयत्नो से उस नगर ने प्रोटेस्टैंट मे अपना लिया था पर उसकी नीव पक्की नहीं हुई थी। विरैट जिनीवा से चला गया था। फैरेल ने कालविन से विरैट का स्थान लेने और वही रहकर धर्मसुधार के पवित्र कार्य में उसकी सहायता करने का अनुरोध किया। जिनीवा को अपना कार्यक्षेत्र बनाने की कालविन की इच्छा न थी किंतु इस सुस्पष्ट कर्तव्य की उपेक्षा के कारण उसपर दैवी प्रकोप के आघात की बात जब फैरेल ने कही तब कालविन ने अन्यत्र बसने का विचार त्याग दिया। वह कुछ दिनो के लिये बाल नगर गया, पर सितबर, १५३६ मे जिनीवा वापस आ गया और उस नगर को अपने कार्यो का केंद्र बना लिया। उस समय से वह फ्रासीसी प्रोटेस्टेंटो का प्रमुख पथप्रदर्शक और परामर्शदाता बन गया। उसका इतना अधिक प्रभाव उनपर पडा कि १६ शताब्दी के मध्य तक वे कालविन वादी कहे जाने लगे।

कालविन अब अपनी सपूर्ण शक्ति से परम उत्साहपूर्वक धमसुधार के अभीष्ट कार्य की पूर्ति मे जुट गया। फैरेल के सहयोग से उसने धार्मिक विश्वासो और सिद्धातो का विवरण तैयार किया और उनको मानना तथा उनके अनुसार आचरण करना नगर के सभी निवासियो के लिये अनिवाय कर दिया। जिनीवा के नागरिको ने इस धर्मव्यवस्था तथा नगरशासन के नियमो के पक्ष में अपनी स्वीकृति दी। नियमो का बधन सभी कार्यो, व्यक्तियो और सस्थाओ पर समान रूप से लागू था। नियमो के कडाई से पालन पर आरभ से ही कालविन ने ध्यान दिया और नियमो में चूक करनेवालो के लिये उसने कठोर दड की व्यवस्था की। उसका कडा अनुशासन जिनीवा वासियो को सह्य न हो सका, उन्होने उसका सगठित विरोध किया और दो वर्ष के अदर ही, १५३८ में, उसको और फैरेल को नगर छोडने के लिये बाध्य किया। कालविन स्ट्रासबर्ग चला गया और वहाँ के एक धर्मसमुदाय मे धर्माचार्य का कार्य करने लगा, पर जिनीवा पर उसकी दृष्टि सदा लगी रही। वह पत्रो द्वारा वहाँ के निवासियो को निरतर प्रोत्साहित करता रहा। कालविन के विरोधी नगर की स्थिति को न सँभाल सके। वहाँ अव्यवस्था बढती गई। नगरवासियो ने यह अनुभव किया कि शासनहीनता की अपेक्षा कठोर शासन अधिक श्रेयस्कर है। उन्होने कालविन को जिनीवा लौट आने और नेतृत्व सँभालने का निमत्रण दिया। १५४१ के सितबर मे वह पुन जिनीवा आ गया और शीघ्र ही नगर के आध्यात्मिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। स्ट्रासबर्ग में कालविन ने एक विधवा से विवाह किया। १५४२ मे उनका एक पुत्र हुआ पर वह कुछ दिनो ही जीवित रहा। कालविन की पत्नी आदर्श गृहिणी थी। १५४९ मे उसकी भी मृत्यु हो गई। जीवन के अतिम क्षण तक वह जिनीवा मे ही रहा।

कालविन के मत से आरभ के तीन सौ वर्षो का पवित्र ईसाई धर्म ही सच्चा ईसाई धर्म था। उसकी पुन प्रतिष्ठा और उसके अनुसार सबका आचरण उसको अभीष्ट था। वह चाहता था कि व्यक्ति का जीवन पूर्णत सयमित, पवित्र और नैतिक आदर्शो से प्रभावित हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रोटेस्टैट धर्मशास्त्र की रचना, उसके अनुसार जीवन की व्यवस्था और जिनीवा को अपनी उदात्त कल्पना के अनकरा आदर्श नगर

का रूप देने में उसने अपना जीवन अर्पित कर दिया। अपने सादे, पवित्र और अनुशासित जीवन, लेखो और उपदेशो द्वारा कालविन ने जनजीवन को प्रभावित किया। उसके अनुयायियो की सख्या बढती गई। इग्लैंड, स्कॉटलैंड, फ्रास, नेदरलैंड, पोलैंड आदि के सुधारवादियो से पत्रव्यवहार द्वारा उसका सपर्क था। धर्मोपदेशो की शिक्षा के लिये उसने जिनीवा में एक विद्यालय स्थापित किया और नगर मे कई पाठशालाएँ खोली जहाँ प्रश्नोत्तर के रूप में सर्वसाधारण को धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। १५५६ मे उसने जिनीवा मे ही विश्वविद्यालय की स्थापना की जो शीघ्र ही धर्म-सुधार आदोलन का एक प्रमुख केंद्र बन गया। विदेशो से अनेक विद्यार्थी और जिज्ञासु शिक्षाप्राप्ति और शकासमाधान के लिये विश्वविद्यालय मे आते थे।

कालविन पवित्र धार्मिक जीवन का कट्टर समर्थक था। भ्रष्ट और अपवित्र आचरण को वह सदा दडनीय मानता था। पतित व्यक्तियो के लिये उसने कठोर दड की व्यवस्था की थी। उसने शासन की जो व्यवस्था की वह धर्मतत्रीय थी। वह सर्वोपरि और सर्वशक्तिमान थी। शासन की धर्मेतर व्यवस्था उसको कार्यान्वित करने का साधन मात्र थी। वह व्यवस्था न केवल उसके मत के माननेवालो पर लागू थी, वरन् समाज के अन्य सदस्यो के लिये भी वह अनिवार्य थी। मानव का व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन इस व्यवस्था से अनुशासित था। रहन सहन, खान पान, आमोद प्रमोद, भेंट उपहार, सामाजिक व्यवहार, धार्मिक कर्तव्य आदि सभी के सबध मे स्पष्ट नियम थे, जिनका अत्यत सूक्ष्मता से पालन कराया जाता था। शासन के लिये कालविन ने १८ व्यक्तियो की एक समिति (कसिस्ट्री) स्थापित की थी जिसमे छ धर्माधिकारी और १२ अन्य वयोवृद्ध अधिकारी थे। प्रति सप्ताह इस समिति की बैठक होती थी जिसमें नियमविरुद्ध आचरण करनेवालो का विचार होता था और उन्हे कठोर दड दिया जाता था। समिति की जागरूक दृष्टि से ओझल रहना किसी के लिये सभव न था। अपने मत के प्रोटेस्टैंट विरोधियो के लिये भी उसकी व्यवस्था मे कोई स्थान न था। रोमन धर्म के प्रोटेस्टैंट विरोधी सर्विटेस का, जो जिनीवा मे आश्रय पाने के लिये आया था, जीवित ही जलाया जाना उसका प्रमाण है। यद्यपि कालविन ने उसके प्राणदड का समर्थन नही किया था, तथापि उसको दड दिलाने मे उसने उत्साहपूर्वक भाग लिया था। कालविन ने जिनीवा नगर में अपनी इस व्यवस्था का सफलतापूर्वक प्रयोग किया। उसके जीवनकाल मे ही जिनीवा प्रोटेस्टैंट धर्म का सुदृढ गढ बन गया। वही से यूरोप के अन्य देशो मे कालविन के मत का प्रचार और प्रसार हुआ।

कालविन की धर्मव्यवस्था के अनुयायी कालविनवादी और उसकी धर्म-सिद्धात-प्रणाली कालविनवाद के नाम से प्रसिद्ध है। कालविन जीवन के अतिम क्षण तक निरतर कार्य करता रहा। अपने स्वास्थ्य और सुख की उसने कभी चिता न की। ज्वर, सधिवात, दमा आदि रोगो से जर्जर, क्षीणकाय कालविन ने ६ फरवरी, १५६४ को अत्यत कठिनाई से अपना अतिम धर्मोपदेश दिया। उसकी शारीरिक स्थिति उत्तरोत्तर खराब होती गई। २७ मई को ५५ वर्ष की आयु मे अपने परमप्रिय विश्वस्त मित्र बेजा की गोद मे उसकी मृत्यु हुई। ईसाई धर्म के सुधारको मे कालविन का विश्व के इतिहास मे प्रमुख स्थान है। [त्रि० प०]

काला आजार

यह रोग काला ज्वर, काला रोग, सरकारी बीमारी, साहेब रोग, बर्दवान ज्वर, डमडम ज्वर, ट्रॉपिकल स्प्लीनो मेगैली या (ग्रीस मे) पोनस के नाम से प्रसिद्ध है।

यह एक प्रकार का सक्रामक ज्वर है जो बालू मक्षिका (Sand Fly) के काटने से फैलता है। इस ज्वर का कारण लीशमैन डानोवन् वॉडीज या लीशमैनिया डानोवनाई नामक जीवाणु होते हैं। लीशमैन और डानोवन, दो वैज्ञानिको ने काला आजार के जीवाणु की खोज की। इससे इस जीवाणु का नाम इन्ही वैज्ञानिको के नाम पर रखा गया है।

काला ज्वर देश देशातरो मे फैला हुआ है। भारतवर्ष मे यह विशेष रूप से हिमालय की तराई, असम, बगाल, उडीसा और बिहार में होता है। उत्तर प्रदेश के पूर्वीय भाग मे, इलाहाबाद और लखनऊ तथा मद्रास मे भी यह पाया जाता है। बर्मा, चीन, अफ्रीका, सूडान, मिस्र, सिसली, तुर्किस्तान, बलगेरिया, हगरी, पैलेस्टाइन, चेकोस्लोवाकिया, दक्षिणी फ्रास, पुर्तगाल, ग्रीस, रूस और दक्षिणी अमरीका में भी काला आजार पाया जाता है।

इस रोग का कोई निश्चित उद्भवनकाल नही है। यह प्राय एक से छ महीने तक का होता है। कभी कभी एक या दो साल तक भी बढ जाता है।

लक्षण—रोग का आरभ धीमे धीमे ज्वर या ज्वर के तीव्र आक्रमण से होता है। जब एकाएक तीव्रता मे ज्वर आता है तब उसके पहले सर्दी लगती है और कभी कभी वमन होता है। इस ज्वर की मुख्य पहचान यह है कि चौबीस घटे मे दो बार ज्वर चढता उतरता है। ऐसा ज्वर दो सप्ताह से डेढ दो मास तक नित्य रहता है, तदनतर कुछ काल तक ज्वर बिलकुल नही रहता किंतु प्लीहा और यकृत दोनो बहुत बढ जाते हैं। पहले ये कोमल रहते है पर बाद मे कडे हो जाते हैं। भूख ठीक लगती है, जिह्वा साफ रहती है परतु पाचन शक्ति निर्बल हो जाती है। शरीर की ग्रथियाँ बढ जाती हैं और शरीर का रग भी काला पडने लगता है। जब ज्वर नही रहता तब पसीना बहुत आता है। फिर ज्वर जाडे के साथ तीव्रता से आता है। इसी प्रकार से बार बार महीनो ज्वर आने और उतरने से रोगी अत्यत निर्बल होकर हड्डियो का ककाल मात्र रह जाता है। इसको लोग प्राय मलेरिया ज्वर समझकर कुनैन का प्रयोग करते हैं परतु उससे कुछ लाभ नही होता। हाथ पैर मे दर्द रहने से गठिया की सभावना होती है। शरीर मे शोथ आ जाता है। रक्त की न्यूनता हो जाती है। हृदय फैल जाता है। नित्य ज्वर १०२ डिग्री के लगभग रहता है। सिर के बाल रूखे हो जाते हैं, बिखरे रहते हैं और झडने लगते हैं। रक्तस्राव होने की सभावना रहती है। चेहरे और त्वचा का रग अधिक काला हो जाता है। अत मे पेचिश, फोडे फुसी, जलोदर आदि रोग होकर शरीरात हो जाता है।

निदान—काला आजार की पहचान करने मे इस रोग और मलेरिया, ल्युकीमिया, आत्रिक ज्वर (Typhoid), पुनरावर्ती ज्वर (Relapsing fever), अडुलैंट ज्वर तथा बैंटीज रोग के भेद पर ध्यान देना चाहिए। यदि प्लीहा, लसीका ग्रथि या यकृत के रस को सूक्ष्मदर्शी मे देखे तो इस रोग के जीवाणु मिल सकते है। फिर फार्मेलि जेल परीक्षा तथा यूरिया स्टिबमीन परीक्षा का उपयोग किया जा सकता है। यदि आरभ ही से ठीक निदान करके ओषधि की जाय तो ६५ प्रति शत रोगी अच्छे हो सकते हैं।

चिकित्सा—प्रतिषेधक उपाय उपयोगी है। दीवारं और फर्श के गड्ढे भरवा दे और मकान मे सर्वत्र डी० डी० टी० छिडके। रोगी झोपडी में हो तो रोगी को हटाकर झोपडी को जला देना चाहिए। यूरिया स्टिबमीन उपचार (ब्रह्मचारी) सबसे उपयोगी सिद्ध हुआ है। आयुर्वेद मे काला आजार (काल ज्वर) की कोई निश्चित चिकित्सा नही हैं।

[क० दे० व्या०]

काला पहाड़

के वश, कृतित्व, तथा जीवनावधि के सबध मे मतसाम्य नही है, किंतु प्रतीत होता है, वस्तुत इतिहासप्रसिद्ध काला पहाड उपनामधारी दो अलग व्यक्ति थे, जिनके जीवनकाल और कार्यक्षेत्र विभिन्न थे। काला पहाड प्रथम (वास्तविक नाम, मोहम्मद खाँ फार्मुली), सुल्तान बहलोल लोदी का भागिनेय था। सभवत हुसैनशाह शर्की के विरुद्ध युद्ध मे सहायक होने के उपलक्ष मे सुलतान द्वारा, पुरस्कार स्वरूप, उसे अवध का प्रदेश तथा कुछ अन्य परगने प्राप्त हुए थे। पहले वह बारबकशाह का सेनापति था, किंतु, उत्तराधिकार युद्ध में उसके पराजित होने पर काला पहाड विजयी भ्राता सिकदर लोदी का सामत बन गया। इब्राहीम लोदी के शासन के अतिम काल मे उसकी मृत्यु हुई। ख्यातनामा सेनानी होते हुए भी कृपण स्वभाव के कारण उसने अमित धन सचित किया था।

काला पहाड द्वितीय (उपनाम राजू) यद्यपि अफगान इतिहासकारो द्वारा अफगान जाति का ही बताया गया है, तथापि सभवत वह जन्म से ब्राह्मण था। प्रेमवश धर्मपरिवर्तन कर लेने के बाद वह इतिहास मे धर्माध मूर्तिभजक के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। तात्कालिक जनश्रुति के अनुसार वह अत्यत भयावह और निर्दय व्यक्ति था तथा उसके

आगमन पर देवप्रतिमाएँ स्वत कॉंप उठती थी। वह बगाल नरेश सुलेमान कर्रानी का सेनापति था। मात्र लूट मार और जिहाद की भावना से प्रेरित हो प्रथमत उसने विहार पर आक्रमण किया। जब जाजपुर से अफगान सेना प्रसिद्ध जगन्नाथ मदिर पहुँची तब पहले तो सर्वसाधारण को उसके आगमन का विश्वास ही न हुआ, फिर अवविश्वासवश देव-प्रतिमा के प्रभाव से सुरक्षित समझने के कारण बचाव की विशेष सैनिक तैयारियाँ भी नही की गई। मदिर का विध्वस कर आक्रमणकारियो ने इतना धन लूटा कि प्रत्येक सैनिक को एक या दो स्वर्णमूर्तियाँ हाथ लगी। तत्पश्चात् सेना ने असम की ओर अभियान किया। कूचविहार नरेश नरनारायण के सेनापति शुक्लध्वज (चीलाराय) को परास्त कर, कामाख्या तथा हाजो के सुप्रसिद्ध अनेक मदिरो तथा अन्य मदिरो को ध्वस्त करता हुआ काला पहाड बगाल लौट गया। मुगल सम्राट् अकबर द्वारा बगाल पर आक्रमण होने पर अन्य सामतो के साथ काला पहाड ने घोडा-घाट पर मुगल सेना को पीछे खदेड दिया। किंतु, तृतीय आक्रमण पर, राजमहल में खाने आजम अजीजकोका के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसकी मृत्यु हो गई।

स० ग्र०—नियामतउल्ला हिस्ट्री ऑव दि अफगान्स (डार्न द्वारा सपादित), रियाजुस्सलातीन (मौलवी अब्दुस्सलाम द्वारा सपादित), ईलियट ऐंड डाउसन दि हिस्ट्री ऑव इडिया, (खड ४, ५, ६), रमेशचद्र मजुमदार हिस्ट्री ऑव बगाल, सुधीद्रनाथ भट्टाचार्य ए हिस्ट्री ऑव दि मुगल नार्थ-ईस्ट फ्रटियर पालिसी, अवधबिहारी पाडे दि फर्स्ट अफगान एपायर इन इडिया, सैयद अतहर अब्बास रिजवी उत्तर तैमूर कालीन भारत (प्रथम भाग), दरगराज वशावली, पुरानी असम बुरजी (Puranı Asam Buranjı)। [रा० ना०]

कालाहारी

कालाहारी दक्षिणी अफ्रीका के मध्य मे स्थित एक विशाल मरुस्थल है। इसका उत्तरी भाग उष्ण कटिबध में है। धरातल की ऊँचाई २,००० से ३,००० फुट तक है। दक्षिण-पूर्व में उच्च कारू का पठार तथा दक्षिण-पश्चिम में अन्य पठार, जो ५,००० फुट ऊँचे हैं, इसे घेरे हुए हैं। वार्षिक वर्षा का औसत ५ से १० इच तक है। न्यून वर्षा तथा तीव्र वाष्पीकरण के कारण यहाँ स्थायी नदियाँ या झीले नही हैं। प्रदेश की मुख्य नदी, ऑरेंज, का उद्गम अन्यत्र है तथा स्थानीय शाखाएँ वर्ष मे कुछ दिनो के लिये ही सजल रहती हैं।

भूमि पर घास का अपूर्व आवरण है तथा विस्तृत क्षेत्र बालुकामय है। दक्षिणी भाग मे इसेलबर्ग आकृति की नग्न पहाडियाँ हैं। धरातल पर पानी का अभाव है पर भूमि के नीचे थोडी ही गहराई पर जल उपलब्ध हो जाता है। यहाँ का कुरुमान सोता दक्षिणी अफ्रीका मे विख्यात है। ऑरेंज नदी का ४०० फुट ऊँचा ऑगरेबीज जलप्रपात भी उल्लेखनीय है। ऑरेंज के जल को प्रीस्का और उपिंगटन के बीच तथा हार्टबीस्ट और ऑरेंज नदियो के सगम से ऊपर दो बाँध बनाकर सिंचाई के लिये निकाला गया है।

कालाहारी मरुस्थल के निवासी अधिकतर भेड पालते हैं तथा चारे की खोज में यायावर जीवन व्यतीत करते हैं। इन लोगो में 'बुशमेन' एव हाटेनटाट जातियाँ विख्यात हैं तथा ग्रिका उल्लेखनीय हैं। [प्रे० च० अ०]

कालिंजर

कालिंजर का प्रसिद्ध गिरिदुर्ग बाँदा नगर से दक्षिण ३५ मील की दूरी पर स्थित है। स्थान अत्यत प्राचीन है और राजनीतिक एव धार्मिक इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पद्मपुराण, वामनपुराण, शिवपुराण और महाभारत आदि में इसका उल्लेख इसकी धार्मिक महत्ता का द्योतक है। यहाँ चट्टान काटकर बनाई नीलकठ महादेव की विशाल प्रतिमा है। हिरण्यबिंदु, कोटितीर्थ, पातालगगा, सीताकुड आदि तीर्थो ने इसकी पवित्रता को बढाया है। श्री कालभैरव की विशालकाय मूर्ति पर जटाजूट आदि में सर्पो के हार और वलय दर्शनीय हैं। अनेक भव्य चतुर्मुख शिवलिंग भी यहाँ मिले हैं।

मौखरि वश के राज्यकाल में कालिंजर सभवत एक मडल के रूप में था। प्रतिहारो के समय मे यह कान्यकुब्ज की भुक्ति के अतर्गत था। जब प्रतिहारो की शक्ति क्षीण होने लगी तो चदेलों, चेदियों और राष्ट्रकूटो ने इसे अपने अधिकार मे लाने का प्रयास किया। अतत चदेलराज यशोवर्मन् ने इसे जीत लिया। चदेलो के समय के अवशेष यहाँ काफी सख्या में मिले हैं।

परपरा से यह प्रसिद्ध है कि कालिंजर के दुर्ग का निर्माण चदेल वश के सस्थापक राजा चद्रवर्मन् ने करवाया था, किंतु इस कथन मे विशेष सत्यता प्रतीत नही होती। आरभ मे यह स्थान केवल तीर्थ के रूप मे था, और यहाँ के सबसे प्राचीन अभिलेख मदिरो और मूर्तियो पर हैं। किंतु यह स्थान दुर्ग के लिये भी उपयुक्त है। अत इस प्रदेश के किसी प्राचीन शासक ने इस स्थान पर दुर्ग बनवाया होगा। चदेलो ने यशोवमन् के समय सर्वप्रथम इस दुर्ग को हस्तगत किया। उनके समय कालिंजर के दुर्ग और नगर दोनो की ही पर्याप्त वृद्धि हुई। जब महमूद गजनवी ने बुदेलखड पर आक्रमण किया तो इसी दुर्ग मे रहकर चदेलराज विद्याधर ने दो बार उसके विजयप्रयास को विफल किया था। सन् १२०३ में परमाल चदेल को हराकर कुतुबुद्दीन ने कालिंजर को जीत लिया और यहाँ के अनेक मदिरो को नष्टभ्रष्ट किया। किंतु चदेलो ने कुछ समय के बाद दुर्ग वापस ले लिया और दिल्ली के सुल्तानो को सन् १२३४ और १२५१ मे फिर इसपर आक्रमण करना पडा। सन् १५३० मे हुमायूँ ने इसपर घेरा डाला। सन् १५४५ में शेरशाह कालिंजर के सामने ही बारूद के फटने से मर गया। इसके बाद यह मुगलो, बुदेलो और मराठो के हाथो होता हुआ अग्रेजो के हाथ लगा। अब यह उत्तर प्रदेश राज्य का अग है। वहाँ बाँदा से कालिंजर सडक के रास्ते जाना पडता है। लगभग २३ मील पक्की सडक और उसके बाद कच्चा रास्ता है। [द० श०]

कालिंपोंग

कालिंपोंग प० बगाल के दारजीलिंग जिले मे २६° ५१' उ० अ० से २७° १२' उ० अ० तथा ८८° २८' पू० दे० से ८८° ५३' पू० दे० तक फैला हुआ पहाडी क्षेत्र है। क्षेत्रफल ४१२ वर्ग मील। इसके पूर्व मे नी-चू तथा दी-चू, पश्चिम मे तिस्ता तथा उत्तर मे सिक्किम राज्य है। १८६५ ई० मे यह भाग भारत ने भूटान से जीत लिया था। कालिंपोग का धरातल पर्वतश्रेणियो से कटा फटा है। ये श्रेणियाँ उत्तर मे रिशि-ला के निकट कोई १०,००० फुट की ऊँचाई से घटकर दक्षिणी मैदान की ओर ३०० फुट से १,००० ऊँची रह जाती हैं। इनके शिखर तथा घाटियो की तलहटियाँ सुरक्षित वनो से ढकी हैं। पहाडी ढालो के मध्य का भाग (२,०००–६,००० फुट) साधारण कृषि के लिये सुरक्षित है। यहाँ की मुख्य उपज मक्का है। लगभग तीन चौथाई कृषिक्षेत्र मे मक्का की खेती होती है। कृषि के लिये पहाडी ढालो पर बहुत से खेत सीढी नुमा बनाए जाते हैं। कृषको से लगान इकट्ठा करने का कार्य मुखिया (मडाल) करता है। वही सडकें बनवाने का भी कार्य करता है। दुवार (तराई) के कृषक अपनी उपज तिब्बत के मार्ग मे पेडाग तथा चेल घाटी के सिरे पर सोवारी नामक बाजारो मे ले जाते हैं। तिब्बत के साथ व्यापार का मुख्य बाजार कालिंपोग है जो इस प्रदेश का मुख्य नगर है।

कालिंपोग तिब्बत से आयात होनेवाली वस्तुओ, विशेषकर ऊन, का विख्यात व्यापारिक केंद्र है। यहाँ पर यूरोपियन तथा यूरेशियन निर्धन बच्चो की शिक्षा के लिए 'सेंट ऐंड्रूज कॉलोनियल होम' १९०० ई० में स्थापित हुआ था। यहाँ का चर्च आव स्काटलैंड मिशन का गिरजाघर तथा स्कूल दर्शनीय है। [प्रे० च० अ०]

कालिदास

कालिदास सस्कृत का मूर्धन्य कवि और नाटककार।

निवास और कार्यकाल—कालिदास ने भी अन्य अनेक भारतीय कृतिकारो की ही भाँति अपने निवासस्थान अथवा कार्यकाल की ओर सकेत नही किया, जिससे इन दोनो विषयो पर किसी प्रकार की भी जानकारी आज उपलब्ध नही। परतु यह स्थिति महान् साहित्यकारो को देशकालातीत भी कर दिया करती है और महाकवि कालिदास भी देश और काल की सीमाओ को लाँघ गए हैं। उन्हे अनेक प्रातो ने अपना निवासी घोषित किया है।

कालिदास के स्थान और कार्यकाल के सबध मे अनेकानेक मत हैं जिनपर विस्तृत विचार यहाँ सभव नही। बगाल, उडीसा, मध्यप्रदेश और कश्मीर सभी को उनका निवासस्थान होने का श्रेय मिला है, यद्यपि उनका

मध्यप्रदेश अथवा कश्मीर का होना ही अधिक सभव जान पड़ता है। 'ऋतुसहार' में उन्होंने जिन षड्ऋतुओं के साथ अपने घनतम ज्ञान का परिचय दिया है वे विशेषकर मध्यप्रदेश की ही हैं। 'मेघदूत' के निर्वासित नायक का प्रवास जिस रामगिरि पर है, उसकी पहचान विद्वानों ने नागपुर के पास रामटेक से की है। मेघ को रामगिरि से उत्तरोत्तर भेजते हुए कवि ने मार्ग का जो सविस्तर परिचय दिया है उसमें उसका मध्यप्रदेश के छोटे बड़े सभी स्थानों का घनिष्ट ज्ञान प्रकट है। महत्व की बात यह है कि कवि जहाँ उत्तरापथ के स्थानों की ओर सकेत मात्र करता है, मध्यप्रदेशीय स्थलों के वर्णन में वह रागविभोर हो उठता है। जो स्थान सीधी राह में नहीं पड़ता वहाँ भी वह अपने दूत मेघ को खीच ले जाता है। ऐसी ही नगरी उज्जयिनी का वर्णन कवि बड़े स्नेह और श्रद्धा से करता है जहाँ पहुँचने का मार्ग वस्तुत 'वक्र' है। इसी कारण अनेक विद्वानों ने उज्जयिनी को ही कालिदास का निवासस्थान माना है। कश्मीर को कालिदास की जन्मभूमि माननेवाले विद्वानों का अपने मत के प्रति विशेष आग्रह इस कारण है कि हिमालय के प्रति कवि का बड़ा आकर्षण है। 'कुमारसभव' का समूचा कथानक और 'मेघदूत' का उत्तरार्ध हिमालय से सबधित है। 'रघुवश', 'शाकुतल' और 'विक्रमोर्वशी' के भी अनेक स्थलों की भूमि वही पर्वत है। इस मत के माननेवालों का इसके अतिरिक्त यह भी कहना है कि रामगिरि 'मेघदूत' के नायक का आखिर प्रकृत आवास नही, निर्वासित यक्ष का प्रवासस्थल मात्र है, उसका जन्मजात आवास और कार्यस्थल तो हिमालय में था। कुछ आश्चर्य नहीं जो कालिदास कश्मीर अथवा किसी हिमालयवर्ती प्रदेश में जन्म लेकर मध्यप्रदेश की ओर स्वेच्छया अथवा मजबूरी से चले गए हों। परपरया उनका विक्रमादित्य की राजसभा में उज्जयिनी में रहना स्वीकार किया जा सकता है जिसके लिये यह आवश्यक नहीं कि उन्हें उस नगरी का जन्म से नागरिक होना भी माना जाय। कालिदास रहे चाहे जहाँ के हों, मध्यप्रदेश में उनका निवास दीर्घकाल तक रहा होगा, इसमें सदेह नहीं।

कवि का कार्यकाल निश्चित करना आसान नहीं, यद्यपि साधारणत वह काल पाँचवी सदी ईसवी माना गया है। कवि इतना लोकप्रिय हो गया था कि अनेक पश्चात्कालीन कवियों ने उसका नाम अपना लिया और इस प्रकार संस्कृत में तीन तीन कालिदासों के होने की सभावना प्रस्तुत कर दी। पर विशिष्ट विद्वानों का मत है कि चाहे अन्य कालिदास भी पिछले काल में हुए हों, प्रसिद्ध कालिदास पहले कालिदास थे, चद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समकालीन, जो 'रघुवश' आदि काव्यों और 'शाकुतल' आदि नाटकों के प्रणेता थे। विद्वानों द्वारा अनुमित उनका कालप्रसार ईसा पूर्व दूसरी सदी से सातवीं सदी ईसवी तक है। इन दोनों सदियों को कवि के कार्यकाल का बहिरग मान काल के इस बड़े अतर को छोटा कर सकना कठिन न होगा। प्राचीनतम सीमा कवि का नाटक 'मालविकाग्निमित्र' द्वितीय शताब्दी ई० पू० में इसलिये खीच देता है कि उसका नायक अग्निमित्र उस सेनापति पुष्यमित्र शुग का पुत्र था जिसने मौर्यों के अतिम राजा बृहद्रथ को १८० ई०पू० के लगभग मारकर शुगवश की प्रतिष्ठा की थी। इससे यदि कालिदास अग्निमित्र के समकालीन भी हुए तो उनका समय १५० ई० पू० के पहले नहीं हो सकता। इस काल की बाहरी सीमाएँ एहोल अभिलेख प्रस्तुत करता है जो ६३४ ई० का है और जिसमें कवि का नामोल्लेख हुआ है।

परपरा के अनुसार कालिदास ५६ ई० पू० के किसी विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे, पर ऐतिहासिक विवेचन से पता चलता है कि न तो प्रथम सदी ई० पू० में कोई विक्रमादित्य ही हुए और न नवरत्नों में गिनाए जानेवाले क्षपणक आदि व्यक्ति ही परस्पर समकालीन थे। इस सबध में विशेषत बौद्ध भिक्षु अश्वघोष के 'बुद्धचरित' में कालिदास के 'रघुवश' और 'कुमारसभव' के सभावित अवतरणों की ओर सकेत किया गया है। पर कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण किया या अश्वघोष ने कालिदास का, इसका भी स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में अभी निर्णय नहीं किया जा सकता। कालिदास की कृतियों के निम्नलिखित आतरिक प्रमाणों से, इसके विपरीत, ५वीं सदी ई० में ही कवि को रखना अधिक युक्तियुक्त लगता है। गुप्तकाल में सपादित पौराणिक आख्यानों और परपराओं और तभी अनत सख्या में प्रसूत देवमूर्तियों का उल्लेख, भारतीय कला में प्राय पहली बार कुषाण काल में निर्मित क्रमश मकर तथा कच्छप पर खड़ी चमरधारिणी गगा-यमुना की मूर्तियों का वर्णन, मान गुप्तकालीन मूर्तियों की उँगलियों की जालग्रथित (शाकुतल, अक ७—जालग्रथितागुलि कर, देखिए मानकुँवर बुद्धमूर्ति के अतिरिक्त अनेक और, लखनऊ सग्रहालय) स्थिति का उल्लेख, कुषाण-गुप्त-युगीन बुद्धमूर्तियों की अखड समाधि से प्रभावित कवि द्वारा 'कुमारसभव' में शिवसमाधि का वर्णन, गुप्त सम्राटों के अभिलेखों-मुद्रालेखों तथा कालिदास की भाषा में घनी समता, कवि की रचनाओं में वर्णित शाति और समृद्धि, प्राय तीसरी सदी ईसवी के वात्स्यायन के कामसूत्रों का कवि पर अमिट प्रभाव, ग्रीक ज्योतिष के जामित्र आदि पारिभाषिक शब्दों का उपयोग, ५वीं सदी ईसवी में वक्षुनद की घाटी में बसनेवाले हूणों की रघु द्वारा पराजय का उल्लेख—सभी कालिदास की गुप्तकालीनता प्रमाणित करते हैं।

कुमारगुप्त प्रथम के शासन के अत में पुष्यमित्रों और हूणों ने गुप्तकालीन शाति नष्ट कर दी। इससे कवि के कार्यकाल का अत ४४६ ई० में (४५० ई० के पुष्यमित्रों तथा स्कदगुप्त के युद्ध के पहले) रखा जा सकता है। परतु यदि कुमारगुप्त और स्कदगुप्त दोनों की ओर कवि ने अप्रत्यक्ष रूप से सकेत किया है तब सभवत वह स्कदगुप्त के जन्म तक जीवित रहा। कालिदास ने बहुत लिखा है और स्वाभाविक ही उनका कृतित्व दीर्घकालिक रहा होगा। यदि वे अस्सी वर्ष तक जीते रहे तब इस गणना के आधार पर उनकी मृत्यु ४४५ ई० के लगभग हुई होगी और तब उनका जन्म ३६५ ई० के लगभग मानना होगा। इस प्रकार समुद्रगुप्त के शासनकाल में जन्म लेकर उन्होंने चद्रगुप्त द्वितीय के समूचे शासन और कुमारगुप्त के शासन के अधिकतर काल तक अपनी लेखनक्रिया जाग्रत रखी होगी। अत उन्होंने स्कदगुप्त का जन्म भी देख ही लिया होगा, क्योंकि पुष्यमित्रों की पराजय करते समय स्कद की आयु कम से कम २० वर्ष की अवश्य रही होगी। इस प्रकार यदि कालिदास ने २५ वर्ष की अवस्था में अपना कविकार्य आरभ किया होगा तो उनका पहला काव्य 'ऋतुसहार' ३९० ई० के लगभग लिखा गया होगा और उनका रचनाकाल प्राय उस अवधि के अधिकतर भाग पर निर्भर रहा होगा जिसे हम साधारणत भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहते हैं।

कवि कार्य—कालिदास की प्राय सर्वसमत कृतियाँ सात हैं, तीन नाटक और चार काव्य। 'अभिज्ञान शाकुतल', 'विक्रमोर्वशी' और 'मालविकाग्निमित्र' नाटक हैं, 'रघुवश', 'कुमारसभव', 'मेघदूत' तथा 'ऋतुसहार' काव्य। 'अभिज्ञान शाकुतल' संस्कृत नाट्य साहित्य का चूडामणि है। नाट्यसाहित्य के समीक्षकों ने इसे ससार के साहित्य की सुदरतम कृतियों में गिना है। इसके सात अकों में कवि ने महाभारत की कथा का नाटकीय नवनिर्माण किया है। राजा दुष्यत कण्व के आश्रम में शकुतला से गधर्व विवाह करता है पर शाप से उसकी चेतना विस्मृत हो जाती है जिससे वह उस पत्नी का परित्याग कर देता है। दीर्घ आत्मसताप के पश्चात् उसकी स्मृति लौटती है और पुत्र भरत के माध्यम से काश्यप के आश्रम में पति पत्नी का सयोग होता है। रचना अत्यत मार्मिक है, अभिव्यक्त भावनाएँ नितात कोमल हैं। 'विक्रमोर्वशी' त्रोटक है और इसका कथानक ऋग्वेद से लिया गया है। इसके घटनाचक्र का प्रसार पृथ्वी से स्वर्ग तक है और उसका विकासशिल्प असाधारण एव सुखात है। प्रतिष्ठान का नृपति ऐल पुरुरवा उर्वशी की दैत्य केशी से रक्षा करता है और दोनों प्रणयसूत्र में बँध जाते हैं। विरह का अत्यत हृदयस्पर्शी और करुण वर्णन चौथे अक में हुआ है जब राजा तरुलताओं से प्रिया का पता पूछता है। घटनाओं का अनुक्रम अनुपम सहज है। ऋग्वेद के पुरुरवा उर्वशी का करुण विरह सहज सह्य हो जाता है जब कवि दोनों को पुत्र के साथ दीर्घकाल के लिये एकत्र कर देता है। 'मालविकाग्निमित्र', कवि की नाटकों की दिशा में, सभवत पहली रचना है। इसमें कवि ने प्राय ६०० वर्ष पहले के पुष्यमित्र शुग के पुत्र बहुपत्नीक राजा अग्निमित्र और उसकी प्रेयसी मालविका के प्रणय का विवरण है। विदर्भराज की भगिनी मालविका दस्युता के परिणामस्वरूप विदिशा के राजा अग्निमित्र के प्रासाद में अज्ञात रूप से शरण लेती है। नाटकीय विधि से रहस्य खुलता है और दोनों का प्रणय परिणय में परिणत होता है। नाटक में सगीत और अभिनय का शास्त्रीय कथोपकथन प्रस्तुत है।

'रघुवश' १९ सर्गो का महाकाव्य है जिसमे कालिदास ने वाल्मीकि रामायण की पद्धति से काव्यरचना की है और रामायण तथा पुराणो की सूर्यवंशीय ख्यातों को अत्यन्त कुशलता एव सूक्ष्मता से सर्गबद्ध कर दिया है। राजा दिलीप से अग्निवर्ण तक का पौराणिक इतिहास इसमें काव्यबद्ध है। इसके प्रधान पुरुष राजा रघु है जिनके नाम पर इस प्रबध का नाम पडा। महाकाव्य शैली की कृतियो में 'रघुवश' पहला और आदर्श रचना है। स्थल स्थल पर इसमें प्रसाद गुण और वैदर्भी वृत्ति के चमत्कार प्रगट है। 'कुमारसभव' महाकाव्य है पर सभवत कवि उसको पूरा नही कर सका था और इसी कारण विद्वान् केवल इसके पहले आठ सर्गो को ही प्रामाणिक मानते हैं। इसका कथानक हिमालय की उपत्यका मे खुलता है और उमा तथा शिव के विवाह से सबधित है। विवाह तारकासुर के वधार्थ कुमार कार्तिकेय के जन्म के लिये होता है पर काव्य कुमार के जन्म से पहले ही, शिव पार्वती की सहवासक्रीडा के बाद ही, समाप्त हो जाता है। उमा के सौंदर्योल्लास का भजन शिव के मदनदहन से होता है और जब कठिन तप से उमा का मानस पवित्र हो जाता है तब शिव स्वय उनके प्रति आत्मनिवेदन कर उनका पाणिग्रहण करते है। 'शाकुतल' के गाधर्व पर 'कुमारसभव' का यह प्राजापत्य आचार गार्हस्थ्य की चारुता की विजय प्रतिष्ठित करता है। काव्य प्राकृतिक सौंदर्य के वर्णनो से ओतप्रोत है। 'मेघदूत' की पाश्चात्य समीक्षको ने भूरिभूरि प्रशसा की है। अनेकानेक यूरोपीय भाषाओ मे इसका अनुवाद हुआ है। यह खडकाव्य है, लिरिक, जो प्राय १२० मदाक्राता छदो मे सपन्न हुआ है। सस्कृत में तो इस काव्य का बारबार अनुकरण हुआ ही है, इसी की छाया में प्रसिद्ध जर्मन कवि शिलर ने अपनी 'मेरिया स्टुअर्ट' की रचना की है। 'ऋतुसहार' कालिदास की सभवत प्राथमिक कृति है। यह छ सर्गो मे भारत की षड्ऋतुओ का क्रमिक वर्णन करता है, मधुर और जीवत। ऋतुओ के प्राणवान् चित्र एक के बाद एक काव्यपट पर उतरते जाते है और निसर्ग अपने सभी रूपो मे खुलता चला जाता है। काव्य का प्रमुख विषय प्रकृति ही है पर ऋतुओ का इतना मासल एकन रूपायन कवि ने कभी नही किया।

कालिदास की रचनाओ मे तत्कालीन ज्ञान का अनत भडार खुल पडा है। समसामयिक साहित्य, शासन और राजनीति, समाज तथा जनविश्वास, धर्म और राजनीति, ललित कला और वास्तुशिल्प, भूगोल तथा विज्ञान, सभी कवि की कृतियो मे असामान्य रूप से प्रतिबिंबित हुए हैं जिससे स्वय उसके असाधारण ज्ञान तथा सावधि समृद्धि पर प्रकाश पडता है। ससार के किसी कवि ने कभी अपने देश की वास्तविक तथा आदर्श स्थिति का इस मात्रा मे अपनी कृतियो में उल्लेख नहीं किया।

कालिदास की अन्य सस्कृत कवियो से विशिष्टता उनकी सहज शैली तथा प्रसाद गुण मे है। भाषा के ऊपर किसी सस्कृत कवि का इतना अधिकार नहीं। कवि की सारी रचनाएँ उस वैदर्भी शैली मे सपन्न हुई हैं जिसकी स्तुति दडी ने अपने 'काव्यादर्श' मे की है। कालिदास की उपमाएँ अपनी सूक्ष्मता और औचित्य के कारण जगत्प्रसिद्ध हैं। कल्पना उनकी अनन्यसाधारण और अद्भुत गतिमान् है। मानव हृदय के ज्ञान की सूक्ष्मता मे यह कवि सर्वथा अनुपम है, भावो तथा आवेगो के वर्णन मे अद्वितीय। अपने नाटको में कवि ने सस्कृत की परपरा के अनुकूल ही सस्कृत और प्राकृतो का उपयोग किया है। गद्य के लिये वह शौरसेनी का उपयोग करता है, पद्य के लिये महाराष्ट्री का। 'अभिज्ञान शाकुतल' में नागरिक और धीवर मागधी बोलते है पर स्याला शौरसेनी बोलता है।

अपनी रचनाओ मे कवि ने अत्यत कुशलता से निम्नलिखित छदो का उपयोग किया है आर्या, श्लोक, वसततिलका, शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, प्रहर्षिणी, शालिनी, रुचिरा, स्रग्धरा, रथोद्धता, मजुभाषिणी, अपरवक्त्रा, औपच्छदसिका, वैतालिकी, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रिता, पृथ्वी, मदाक्राता, मालिनी, वशस्थ, शिखरिणी, हारिणी, इद्रवज्रा, मत्तमयूर, स्वाती, त्रोटक और महामालिका।

कृतियो की उत्तरोत्तर प्रौढता के विचार से उनका क्रम सभवत निम्नलिखित प्रकार से होगा ऋतुसहार, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी, रघुवश, कुमारसभव, मेघदूत और अभिज्ञान शाकुतल। उनकी एक और रचना 'कुन्तेश्वरदौत्य' का उल्लेख मिलता है पर उनकी कोई प्रति अभी उपलब्ध नहीं है।

कालिदास का स्थान भारतीय समीक्षको ने तो सस्कृत साहित्य मे सर्वोच्च माना ही है, विदेशी पारखियो की राय में भी उनका स्थान ससार के विशिष्टतम कवियो और नाटककारो में है। सर विलियम जोन्स ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुतल' का जो अग्रेजी अनुवाद पाश्चात्य ससार को भेंट किया तो उसका प्रभाव उस जगत् पर वैसे ही पडा जैसे वेधशाला के अन्वीक्षको पर आकाश मे नए नक्षत्र के दर्शन का पडता है। उन कृति का पश्चिम के महान् साहित्यकारो के कृतित्व पर भी अविलब प्रभाव पडा। गेटे ने अपने 'फाउस्ट' मे शाकुतल के शिल्प का और शिलर ने अपने 'मेरिया स्टुअर्ट' मे मेघदूत के शिल्प का उपयोग किया। गेटे ने शाकुतल के प्रभाव से वशीभूत हो जो रागात्मक उद्गार निकाला, वह अमर वाणी बन गया।

स० ग्र०—वी० वी० मीराशी कालिदास (मराठी और हिंदी), के० सी० चट्टोपाध्याय दि डेट ऑव कालिदास, मोनियर विलियम्स शाकुतल, एस० पी० पडित विक्रमोर्वशी, वेबर मालविकाग्निमित्र, सी० एच० टानी मालविकाग्निमित्र, एस० पी० पडित रघुवश, टी० एच० ग्रिफिथ कुमारसभव, के० बी० पाठक मेघदूत, हुल्श मेघदूत, एम० आर० काले ऋतुसहार, बी० एस० उपाध्याय इडिया इन कालिदास। [भ० श० उ०]

काली (क) हिंदुओ की एक देवी। इनकी उत्पत्ति के विषय मे अनेक कथाएँ प्राप्त है। मार्कंडेय पुराण के अनुसार भगवती चडिका के ललाट से इनकी उत्पत्ति हुई थी। चडवध के समय असुरो से युद्ध करते करते भगवती का वर्ण कृष्ण हो गया था। उसी समय उनके ललाट देश से करालवदना काली देवी का आविर्भाव असि, पाश आदि शस्त्रो से युक्त हुआ (मार्कंडेय पुराण ८७।५)। अस्त्रशस्त्रो से सुसज्जित देवी के आविर्भाव की कल्पना यूरोप मे भी पाई जाती है। यूनानी देवी मिनर्वा का आविर्भाव भी इसी प्रकार हुआ था। बृहन्नीलतत्र मे काली की उत्पत्ति की दूसरी कथा दी गई है। असुरो के द्वारा पराजित होने पर देवताओ ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शरण ली किंतु इन तीनो ने अपने को असमर्थ पाकर महाकाली से प्रार्थना की। महाकाली ने तारिणी की सहायता से द्वादश देवियो की उत्पत्ति की जिनमें काली का नाम सर्वप्रथम आया है (बृहन्नीलतत्र, द्वादश पटल)। स्पष्टत यहाँ काली को महाकाली का ही एक रूप माना गया है। मार्कंडेय पुराण में महाकाली को लक्ष्मी के तीनो रूपो में से एक माना गया है। कालीपूजा का इतिहास शक्तिपूजा के इतिहास मे अधिक प्राचीन नही है। द्वितीय शताब्दी ई० पू० से पहले कालीपूजा के अस्तित्व का प्रमाण नही प्राप्त होता। प्रथम तो सभवत शक्तिपूजा की समन्वयात्मक प्रवृत्ति में कालीपूजा को भी समिलित कर लिया गया होगा, बाद मे इनकी तात्रिक पूजा, तथा इनके दर्शन का विकास हुआ होगा।

(ख) **काली के प्रकार और मूर्तियाँ**—पुराणो तथा आगम ग्रथो में काली के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं। महाकाली, दक्षिणाकाली, भद्रकाली, श्मशानकाली, गुह्यकाली, रक्षाकाली इत्यादि। ये रूप काली के ही हैं किंतु उपासनाभाव के अनुसार इनके स्वरूप तथा नाम में भेद कर लिया गया है।

महाकाली

मेघाङ्गी विगताम्बरा शवशिवारूढा त्रिनेत्रा परा
कर्णालम्बितबालयुग्मशुभदा मुण्डस्रजामालिनीम्।
वामेऽधोर्ध्व कराम्बुजे नरशिर खड्ग च सव्येतरे
दानाभीति विमुक्तकेशनिचया वन्दे महासुन्दरीम्।
(बृहन्नीलतत्र, त्रयोदशपटल)

दक्षिणाकाली

ब्रह्मोपेन्द्र शिवास्थिमुण्ड रशना ताम्बूल रक्ताधरा
वर्षामिघनिभा निगलमुसले पद्मामिपाशाङ्कुशान्।
शङ्ख साहियुग वर दशभुजे सबिभ्रती प्रेनगा
देवी दक्षिणकालिका भगवती रक्ताम्बरा ताम्बरे।
(देवीरहस्य, परिशिष्ट ७)

भद्रकाली

मुण्ड विश्वम्य कर्तुं करकमलतले धारयन्ती हसन्ती,
नाह तृष्णा वदन्ती सकल जनमिद भक्षयन्ती सदैव ।
श्यामा विष्णु गिरीश भ्जनिवह वलाच्छूल प्रोत वहन्ती
ध्यायेऽहं भद्रकाली नव जलदनिभा प्रेतमध्यामनस्थाम् ।
(देवीरहस्य, परिशिष्ट ७।२३)

इनको विश्वकर्ता (ब्रह्मा) का मुड हाथ मे लिए हुए प्रेत सस्थित वताया गया है। किंतु इसमे इनकी मूर्ति का स्पष्टीकरण नही होता। प्रतिमालक्षण मे उनके अष्टादश भुजा होने का वर्णन है (प्र० ता० पृ० २२४)

गुह्यकालिका —यह नेपाल में अधिक पूजी जानेवाली देवी हैं। शक्तिसगम तंत्र के कालीखड मे गुह्यकाली शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। विश्वसार तत्र में इनकी उपासना की कथा, दीक्षाप्रणाली, मत्र तथा पूजापद्धति का वर्णन प्राप्त होता है।

श्मशानकालिका —शक्तिसगम तत्र मे उन्हे एकादश गुणो से युक्त वताया गया है। यदा रुद्र गुणा जाता श्मशान कालिका भवेत् (कालीखड, प्रथम पटल ६१)

वशीकरण कालिका—चतुर्दश गुणो से युक्त काली के स्वरूप को वशीकरणकालिका कहा गया है चतुर्दश गुणा जाता वशीकरण कालिका, वही ६२)

सिद्धिकालिका—पड्गुणों युक्त देवी का नाम सिद्धिकाली वताया गया है। (यदा पड्गुणिता शक्ति सिद्धिकाली प्रकीर्तिता, वही ५८), इसके अतिरिक्त शक्ति के जितने भी स्वरुप प्राप्त होते हैं उन्हे भी काली का ही भेद ग्रथो मे गिनाया गया है।

पूजा और दर्शन—काली की पूजा का वर्णन अनेक तत्रो पुराणो मे प्राप्त होता है। कालीतत्रम्, श्यामारहस्य, वृहन्नीलतत्र, देवीभागवतम्, कालिकापुराण मारकंडेय पुराण इत्यादि इनमे प्रमुख हैं। वृहन्नीलतत्र में कालीपूजा के सवध मे प्रत्येक दिन मे पड् ऋतुओ का अवसान माना गया है। इनमे तात्रिक पट्कर्म करने का आदेश दिया गया है। सुरा को मत्र से शुद्ध करके सेवन करने का विवान भी आदिष्ट है। कालीपूजा मे सुरापान अत्यत आवश्यक वताया गया है। इस स्थल पर काली को चतुर्भुजा कहा गया है। इन चारो हाथो की विशेष आयुधमुद्राएँ होती हैं। दो हाथो से वर तथा अभय मुद्राएँ प्रदर्शित होती हैं। अन्य दो हाथो में खड्ग त‍ा मुडमाला होती हे, गले में मुडमाला सुशोभित होती है, (वृहन्नीलतत्र, पष्ठ पलट)। काली की पूजा कार्तिक के कृष्णपक्ष में, विशेषकर रात्रि में, अधिक फलप्रद वताई गई है। (वही, सप्तदश पटल)। पूजा में कालीस्तोत्र, कवच, शतनाम (वही, त्रयोविंश पटल), सहस्रनाम (वही, द्वाविंश पलट) का भी विवान है।
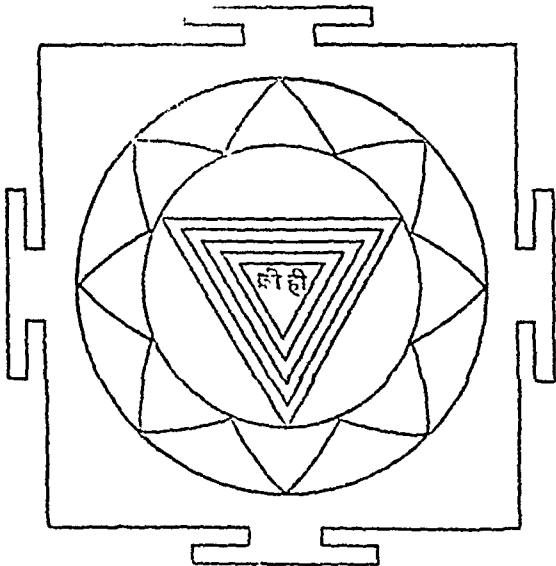
कालीतत्व की मीमासा करने पर इस पूजापद्धति का एक दर्शन भी परिलक्षित होता है जिसका विकास पुराणो तथा पुराणोत्तर साहित्य में किया गया है। इसके अनुसार अखिल ब्रह्माड का प्रत्येक कण इस शक्ति के विना शव स्वरुप है (शक्तिसगमतत्र, काली खड, ११२८)। उसका विव ही माया है तथा शिव उसका मन है (वही, ११३०)। सृष्टि के उत्पादनार्थ उस परम शक्ति ने शिव की भर्तृ रूप से कल्पना कर ली (वही, ११३३)। कई युगो तक विपरीत रति करने के पश्चात् एक विंदु की सृष्टि हुई, जिससे महालावण्यमयी एक सुदरी उत्पन्न हुई। उसका नाम महाकाली हुआ। महाकाल अथवा कालतत्व जिसके द्वारा मोहित किया गया है, वही काली है। यह अनादिरूपा है अनादिरूपा श्रीकाली मायोत्पादन तत्परा। कालो मोहवश यात श्रीकाली मायया शिवे (वही, ११४३)। ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता उसी से उत्पन्न हैं। वही, ११६६ ब्रह्म विष्णवादयो देवि तत्रोत्पन्ना महेश्वरि)।

कालीयत्र—कालीयत्र का वर्णन अनेक स्थानो पर प्राप्त होता है। कालीतत्र मे इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है

आदौ यत्र प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमरता व्रजेत ।
आदौ त्रिकोण विन्यस्य त्रिकोण तवहिर्न्यसेत् ।
ततौ वै विलिखेन्मत्रो त्रिकोणत्रयमुत्तमम् ।
वित्त लिख्य विविवल्लिखेत् पद्म खुलक्षणम् ।
ततो वृत्त विलिख्यैव लिखेद् भूपूरमेककम् ।
चतुरस्र चतुर्द्वारमेव मण्डलमालिखेत् ।
कालीतत्रम्, १,४०–४३।

इसके अनुसार यत्र इस प्रकार वनेगा। इस यत्र का कालीपूजा मे विशेष स्थान है।

स० ग्र०—कालीतत्रम्, कालीविलासतत्र, सपादक पार्वतीचरण तर्कतीर्थ, देवीरहस्य, वृहन्नीलतत्रम्, शक्तिसगम तत्रम् (कालीखड), द्विजेंद्रनाथ शुक्ल, हिंदू कैनन्स ऑफ आइकौनोग्राफी।

[च० भा० पा०]

कालीजीरी

एक वाणीद्रव्य है जिसका उपयोग चिकित्सा में होता है। इसे अरण्यजीरक, वनजीरक, करजीरी अथवा कडवी जीरी भी कहते हैं। यह कपोज़िटी कुल के वर्नोनिया ऐंथलमिंटिका (Vernonia anthelmintica) नामक क्षुप का फल (वीजतुल्य) है।

इसका क्षुप २–७ फुट ऊँचा, एक वर्षायु और रूखडा (खरस्पर्श) होता है। पत्तियाँ लवाग्र, ऊपर की ओर क्रमश छोटी और शल्याकृति (lanceolate) तथा छोटे वृतवाली होती हैं। फीके जामुनी रग के सूक्ष्म नलिकाकार पुष्प मुडकाकार गुच्छो मे निकलते हैं, जिनको घेरे हुए निपत्रावलियो का कई निचक्र (involucre) होता है। फल फीके, काले रग के, लवे, ऊपर की ओर कुछ स्थूल और शीर्ष पर अस्थायी रोम (pappus hairs) तथा सूक्ष्म स्थायी वल्कच्छदो (स्केल) से युक्त रहते हैं।

करजीरी तिक्त, शीतवीर्य तथा व्रण और कृमिनाशक होती है। दीपक, वातनाशक, ज्वरघ्न और चर्मरोगनाशक के रूप मे यह उपयोगी वतलाई गई है। कुछ ग्रथकार इसे प्राचीन ग्रथो मे उल्लिखित सोमराजी समझते हैं और कही कही आदिवासियो मे इसका 'सेवराज' नाम भी प्रचलित है, परतु अधिकतर 'सोमराजी' को प्रसिद्ध कुष्ठघ्न द्रव्य 'वाकुची' (Psoralia corylifolia) का ही पर्याय माना जाता है। [व० सिं०]

कालीन और उसकी बुनाई

कालीन (अरवी कालीन) अथवा गलीचा (फारसी गालीच) उस भारी विछावन को कहते हैं जिसके ऊपरी पृष्ठ पर साधारणत ऊन के छोटे छोटे किंतु वहुत घने ततु खडे रहते हैं। इन ततुओ को लगाने के लिये उनकी वुनाई की जाती है, या वाने में ऊनी सूत का फदा डाल दिया जाता है, या आधारवाले कपडे पर ऊनी सूत की सिलाई कर दी जाती है, या रासायनिक लेप द्वारा ततु चिपका दिए जाते हैं। ऊन के वदले रेशम का भी प्रयोग कभी क ी होता है परतु ऐसे कालीन वहुत महँगे पडते हैं और टिकाऊ भी कम होते हैं। कपास के सूत के भी कालीन वनते हैं, किंतु उनका उतना आदर नहीं होता। कालीन की पीठ के लिये सूत और पटसन (जूट) का उपयोग होता है। ऊन के ततु मे लचक का अमूल्य गुण

कालीनो के मुखपृष्ठ के लिये विशेष उपयोगी होता है। फलस्वरूप जूता पहनकर भी कालीन पर चलते रहने पर वह बहुत समय तक नए के समान बना रहता है।

ताने के लिये कपास की डोर का ही उपयोग किया जाता है, परन्तु बाने के लिये सूत अथवा पटसन का। पटसन के उपयोग से कालीन भारी और कडा बनता है, जो उसका आवश्यक तथा प्रशसनीय गुण है। अच्छे कालीनो मे सूत की डोर के साथ पटसन का उपयोग किया जाता है।

कालीन बुनने के पहले ही ऊन को रँग लिया जाता है। इसके लिये ऊन की लच्छियो को बाँस के डडो मे लटकाकर ऊन को रग के गरम घोल में डाल दिया जाता है और रग चढ जाने पर उन्हे निकाल लिया जाता है। आधुनिक रँगाई मशीन द्वारा होती है। कुछ मशीनो में (चित्र २) रँगाई प्राय हाथ की रँगाई के समान ही होती है, किंतु रग के घोल को पानी की भाप द्वारा गरम किया जाता है और लच्छियाँ मशीन के चलने से चक्कर काटती जाती हैं। दूसरी मशीनो मे ऊन का धागा बहुत बडी मात्रा में ठूँस दिया जाता है और गरम रग का घोल समय समय पर विपरीत दिशाओ मे पप द्वारा चलता रहता है। ऐसी मशीने हाल मे ही चली हैं। कालीन मे प्रयुक्त होनेवाले ऊन के धागे की रँगाई तभी सतोषजनक होती है जब रग प्रत्येक ततु के भीतर बराबर मात्रा मे प्रवेश करे। इसका अनुमान ततु के बाहरी रग से सदैव नही हो पाता और अच्छी रँगाई के लिये कुछ धागो की गुच्छी काटकर देख ली जाती है। अच्छे कालीन के लिये सतोषजनक
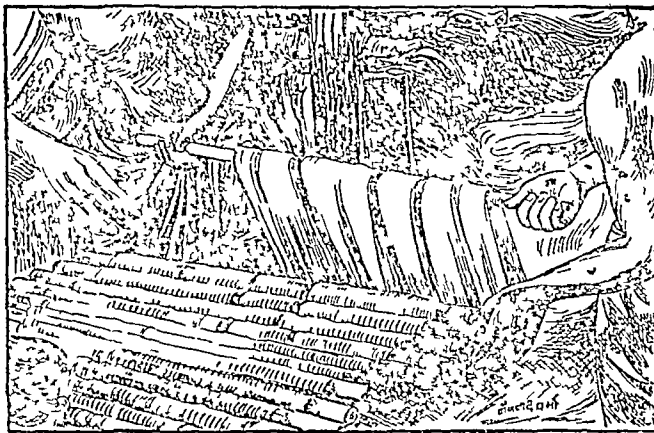
चित्र १ रँगने के पहले सूत धोकर साफ किया जाता है

रँगाई उतनी ही आवश्यक है जितनी पक्की और ठोस बुनाई। कीमती कालीनो के लिये पूर्णतया पक्के रगो का उपयोग आवश्यक होता है। साधारण कालीनो के लिये रग को प्रकाश के लिये तो अवश्य ही पक्का होना चाहिए और धुलाई के लिये जितना ही पक्का हो उतना ही अच्छा।

ऊन के ऊपर प्राकृतिक चर्बी रहती है जिससे रग भली भाँति नही चढता। इसलिये ऊन को साबुन और गरम पानी मे पहले धो लिया जाता है। साबुन के कुछ दुर्गुणो के कारण सकलित प्रक्षालको (synthetic detergents) का प्रयोग अब ऊन की धुलाई मे अधिक होने लगा है।

हाथ से बुनाई—ससार भर मे हाथ की बुनाई प्राय एक ही रीति से होती है। ताने ऊर्ध्वाधर दिशा मे तने रहते हैं। ऊपर वे एक बेलन पर लपेटे रहते हैं जो घूम सकता है। नीचे वे एक अन्य बेलन पर बँधे रहते हैं। जैसे जैसे कालीन तैयार होता जाता है, वैसे वैसे उसे नीचे के बेलन पर लपेटा जाता है, जैसा साधारण कपडे की बुनाई में होता है। ताने के आधे तार (अर्थात् डोरे) आगे पीछे हटाए जा सकते हैं और उनके बीच बाना डाला जाता है। इस प्रकार गलीचे की बुनाई उसी सिद्धात पर होती है जिसपर साधारणत कपडे की होती है, परन्तु एक बार बाना डालने के बाद ताने के तारो पर ऊन का टुकडा बाँध दिया जाता है। टुकडा काटकर बाँधना और लबे धागे का एक सिरा बाँधकर काटना, दोनो प्रथाएँ प्रचलित हैं। बँधा हुआ टुकडा लगभग दो इच लबा होता है और अगल बगल के दो तारो में फदे द्वारा फँसाया जाता है। फदा डालने की दो रीतियाँ हैं। एक तुरकी और एक फारसी जो चित्र ३ से स्पष्ट हो जायँगी। ऊन के फदो की एक पक्ति लग जाने के बाद बाने के दो तार (अर्थात् डोरे) बुन दिए जाते हैं। तब फिर ऊन के फदे बाँधे जाते हैं और बाने के तार डाले
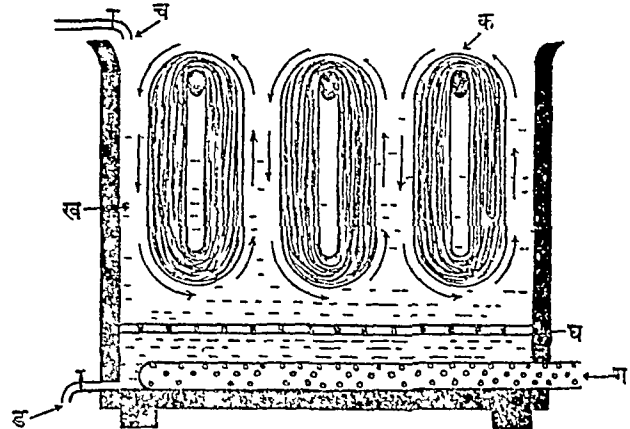
चित्र २ साधारण ऊन रँगने की मशीन

क ऊन की लच्छी, ख रग का विलयन, ग पानी की भाप, घ भाप को सीधा लच्छियो पर टकराने से रोकनेवाला भूठा पेंदा, ङ खाली करने का रास्ता, च पानी का नल।

जाते हैं। प्रत्येक बार बाने के तार पड जाने के बाद लोहे के पजे से ठोककर उनको बैठा दिया जाता है, जिससे कालीन की बुनाई गफ हो। बाना डालने की रीति में थोडा बहुत परिवर्तन हो सकता हे जिससे कालीन के गुणो में कुछ परिवर्तन आ जाता है। आजकल साधारणत कालीन बहुत चौडे बुन जाते हैं। इसलिये इनको बुनते समय तानो के सामने कई एक कारीगर बैठते हैं और प्रत्येक लगभग दो फुट की चौडाई मे ऊन के फदे लगाता है।
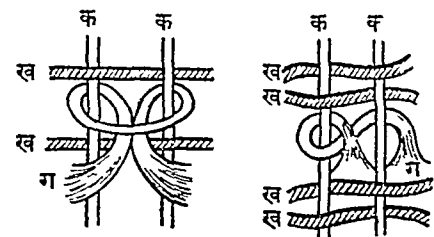
चित्र ३ तुरकी फदा फारसी फदा

क ताना, ख बाना, ग फदा।

कारीगर अपने सामने आलेखन (Design) रखे रहते हैं और उसी के अनुसार रगो का चुनाव करते हैं। फदे लगाने की रीति से स्पष्ट है कि ऊन के गुच्छे कालीन के पृष्ठ से समकोण पर नही उठे रहते, कुछ ढालू रहते हैं। हाथ से बुने कालीनो का यह विशेष लक्षण है।

कालीन बुने जाने के बाद ऊन के गुच्छे के छोरो को कैंची से काटकर ऊन की ऊँचाई बराबर कर दी जाती है (देखें चित्र ५)। आवश्यकतानुसार ततुओ को न्यूनाधिक ऊँचाई तक काटकर उभरे हुए बेलबूटे आलेखन के अनुसार बनाए जा सकते हैं। ऐसे कालीनो में यद्यपि ऊन की हानि हो जाती है परतु सुदरता बढ जाती है और ये अधिक पसद किए जाते हैं।

कुछ कालीन दरी के समान, किंतु ऊनी बाने से, बुने जाते हैं। इनका प्रचलन कम है।

हाथ से बने प्रथम श्रेणी के कालीन मशीन से बने कालीनो की अपेक्षा बहुत अच्छे होते हैं। हाथ से प्रत्येक कालीन विभिन्न आलेखन के अनुसार

और विभिन्न नाप, मेल अथवा आकृति का बुना जा सकता है। ये सब सुविधाएँ मशीन से बने कालीनो मे नही मिलती। कालीन मे प्रति वर्ग इंच ऊन के ६ से लेकर ४०० तक गुच्छे डाले जा सकते हैं। साधारणत २०, २५ गुच्छे रहते है। भारत, ईरान, मिस्र, तुर्की और चीन हाथ के बने कालीनो के लिये प्रसिद्ध हैं। भारत मे मिर्जापुर, भदोही (बनारस), कश्मीर, मसूलीपट्टम आदि स्थान कालीनो के लिये विख्यात हैं और इन सब कालीनो मे फारसी गाँठ का ही प्रयोग किया जाता है।

मशीन से कालीन की बुनाई—मशीन की बुनाई कई प्रकार की होती है। सबसे प्राचीन ब्रुसेल्स कालीन है। इसमे कालीन के पृष्ठ पर ऊन के धागो का कटा सिरा नही रहता, दोहरा हुआ धागा रहता है। बुनावट ऐसी होती है कि यदि ऊन पर्याप्त पुष्ट हो तो एक सिरा खीचने पर एक पंक्ति का सारा ऊन एक समूचे टुकडे मे खिंच जायगा।

चित्र ४ जुलाहा घर में करघे पर कालीन बुन रहा है

फिर कई रंगो का आलेखन रहने पर कई रंगो के ऊन का उपयोग किया जाता है और जहाँ आलेखन मे किसी रंग का अभाव रहता है वहाँ उन रंगो के धागे कालीन की बुनावट मे दबे रहते हैं। केवल उसी रंग के धागे के
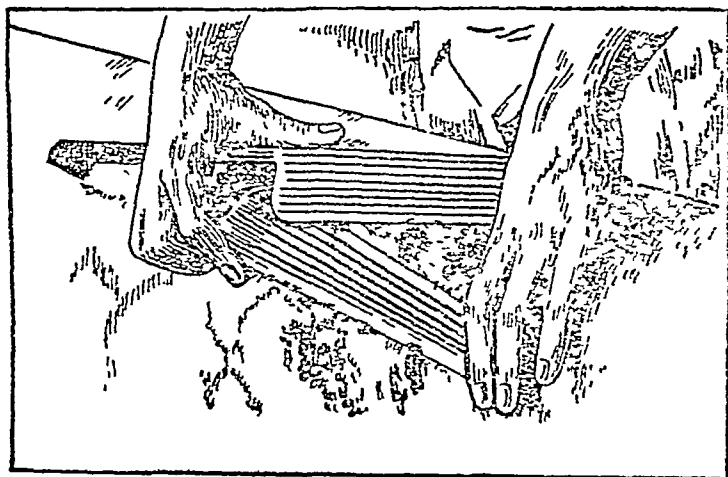
चित्र ५ तैयार कालीन के रोएँ कैंची से काटकर बराबर किए जा रहे हैं

फदे बनते है जो कालीन के पृष्ठ पर दिखलाई पडते है। इन कारणो से पाँच से अधिक रंगो का उपयोग एक ही कालीन में कठिन हो जाता है। बारबार एक ही प्रकार के बेलबूटे डालने के लिये छेद की हुई दफ्तियो का प्रयोग किया जाता है, जैसे सूती कपडे मे बेलबूटे बनाते समय।

चित्र ६ से विदित होगा कि ब्रुसेल्स कालीन के ऊपर निकले हुए दोहरे धागे ऊनी ताने (ख) के हिस्से हैं। इस कालीन मे तीन रंग के ऊनी
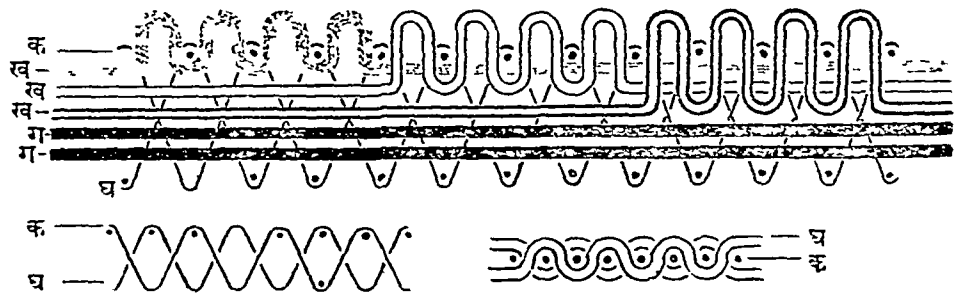
चित्र ६ तीन फ्रेमवाले ब्रुसेल्स की काट

क सूती ताना, ख ऊनी ताना, ग भराऊ या मृत ताना, घ बाना।

धागो का उपयोग हुआ है। सूती ताना (क) बाने (घ) की सहायता से कालीन का बिना हुआ आधार बनाता है। भराऊ या मृत ताने (ग) का उपयोग केवल कालीन को भारी बनाने के लिये किया जाता है और आवश्यक न होने पर इनका उपयोग नही किया जाता।

ऊन का सिरा कटा न रहने के कारण ये कालीन बहुत अच्छे नहीं लगते। ऊनी धागो का अधिकांश बुनाई के बीच दबा रहता है। इस प्रकार भार बढाने के अतिरिक्त वह किसी काम नही आता और कालीन का मूल्य बेकार बढ जाता है। इन कालीनो का प्रचलन अब बहुत कम हो गया है।

विल्टन कालीन—विल्टन कालीन की प्रारंभिक बुनावट वैसी ही होती है जैसी ब्रुसेल्स कालीन की, परंतु बुनते समय ऊन के फंदो के बीच धातु का तार डाल दिया जाता है जिसका सिरा चिपटा और धारदार होता है। जब इस तार को खीचा जाता है तब ऊन के फंदे कट जाते है और पृष्ठ वैसा ही मखमली हो जाता है जैसा हाथ से बुने कालीन का होता है। मखमली पृष्ठ देखने मे सुंदर और स्पर्श करने मे बहुत कोमल होता है। तार खीचने का काम स्वयं मशीन बराबर करती रहती है।

विल्टन कालीन मे ऊनी मखमली पृष्ठ के गुच्छे ब्रुसेल्स कालीन के दोहरे धागे की अपेक्षा अधिक दृढता से बुनाई मे फँसे रहते हैं। ये कालीन बहुधा ब्रुसेल्स की अपेक्षा घने बुने जाते हैं और इनमे तौल बढाने का प्रयत्न नही किया जाता। कोमलता और कारीगरी के कारण मूल्य अधिक होने पर भी ये कालीन पसंद किए जाते हैं। सस्ते कालीनो की खपत अधिक होने के कारण सस्ते ऊनी विल्टन बनने लगे, जिनमे सस्ते ऊनी धागे का उपयोग होता है। एकरंगे विल्टन सबसे सस्ते पडते है और उन लोगो को, जो एकरंगा कालीन पसंद करते है, ये कालीन बहुत अच्छे लगते हैं।

चौडे विल्टन कालीन बनाने मे तारवाली रीति से असुविधा होती है। इसलिये फंदे बनाने और उनको काटने मे धातु के तार की जगह धातु के अंकुशो (Hooks) का उपयोग होने लगा है।
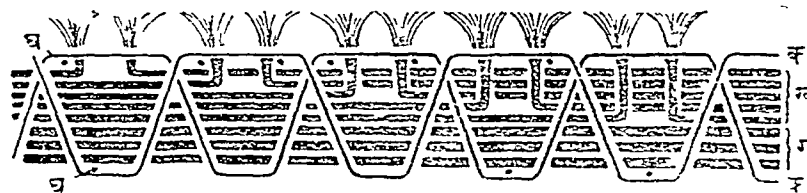
चित्र ७ पाँच फ्रेम वाले विल्टन की काट

क सूती ताना, ख ऊनी ताना, ग भराऊ ताना, घ बाना।

एक्समिन्स्टर कालीन—मशीन से बने कालीनो मे यद्यपि ये कालीन (टफ्टेड को छोडकर) सबसे नए हैं, तथापि बुनावट मे ये पूर्व देशीय (ईरान, भारत, चीन इत्यादि के) कालीनो के बहुत समीप है। समानता इस बात मे

है कि ये ऊन के धागो के गुच्छो से वने होते है, यद्यपि गुच्छे मशीन द्वारा डाले जाते हैं और उनमे गाठे नही पडी रहती। एक्समिन्स्टर कालीन की विशेषता यह है कि गुच्छे खडी पक्तियो मे ताने के वीच डाले जाते हैं। ये डालने से पहले या वाद में काटे जाते हैं और वाने से बुनावट मे कसे रहते है। प्रत्येक गुच्छा कालीन की सतह पर दिखाई पडता है और आलेखन का अग रहता है। गुच्छो का कोई भी भाग ब्रुसेल्स और विल्टन कालीनो की तरह छिपा नही रहता और इस प्रकार व्यर्थ नही जाता। फदे का कम ने कम भाग वाने से दवा रहता है।

इग्लैंड मे इनके वुनने की कला १९वी शताव्दी के अत मे अमरीका से आई और तव से दिनो दिन इसका विकास होता गया। इस कालीन की वुनावट मे खर्च कम पडता है और सामान (ऊनी, सूती, पटसनी धागा) भी कम लगता हे। वुनावट विशेष सघन सुदर जान पडती हे और ऐसे कालीनो के वनाने मे असख्य आलेखनो और रगो के समावेश की सभावना रहती है। अन्य कालीनो के समान इनमें भी कई मेल होते हैं, परतु वुनावट में विशेष भेद नही होता। भेद केवल गुच्छो के ततुओ की अच्छाइ, सघनता और उनको फँसाने की विधि मे होता है।
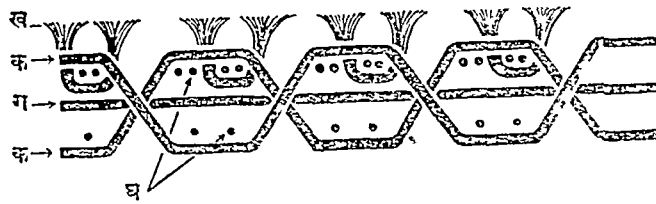
चित्र ८ इपीरियल एक्समिन्स्टर की काट

क ताना, ख गुच्छे, ग भराऊ ताना, घ दोहरा वाना।

एक्समिन्स्टर कालीनो की वनावट चित्र ८ मे प्रदर्शित की गई है। अलग अलग कपनियो के कालीनो मे थोडा वहुत भेद होते हुए भी साधारणतया दोहरे लिनेन का या सूती ताना, सूती भराऊ वाना और पटसन का दोहरा वाना प्रयुक्त किया जाता है।

आधुनिक मशीनें—पहले मशीन से वने कालीन वहुत चौडे नही होते थे। चौडे कालीनो के लिये दो या अधिक पट्टियो को जोडना पडता था, किंतु अव वहुत चौडे कालीन भी मशीन पर बुने जा सकते है। प्राय सव प्राचीन आलेखनो की प्रतिलिपि वनाई जा सकती है और इस प्रकार समय समय पर कभी एक, कभी दूसरा आलेखन फैशन में आता रहता है।

इसके अतिरिक्त कालीन वनाने की मशीन, कालीन की वनावट और धागो को रँगने की विधि में दिनोदिन उन्नति हो रही है। नियत समय मे अधिक से अधिक माल तैयार करना और कम से कम श्रम के साथ तैयार करना, यही ध्येय रहता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ वाद ही सयुक्त राष्ट्र (अमरीका) के दक्षिणी भाग मे मिलाई द्वारा कालीन वनाने की मशीन का आविष्कार हुआ। इनसे 'गुच्छित' (tufted) कालीन वनते हैं। दिन प्रति दिन गुच्छित कालीनो की मशीनो मे उन्नति हो रही है। अनुमान किया जाता है कि १५ वर्ष वाद ससार के ७५ प्रति शत कालीन गुच्छित कालीन के सिद्धात से वनेंगे। इस समय अमरीका के वाजार मे ये कालीन वहुत वडी मात्रा मे विकते है। गुच्छित कालीनो की मशीनो की माल तैयार करने की क्षमता वहुत अधिक होती है और मशीन लगाने का प्रारभिक खर्च अधिक होते हुए भी सस्ते कालीन तैयार होते हैं।

इन कालीनो के मुखपृष्ठ और पीठ को एक साथ नही वनाया जाता। मुखपृष्ठ के फदे या तो सिलाई द्वारा पहले से वनी हुई पीठ पर टाँक दिए जाते हैं या गुच्छे रासायनिक लेप द्वारा पीठ के कपडे पर चिपका दिए जाते हैं। द्वितीय विधि मे तप्त करने की कुछ क्रिया के अनतर चिपकानेवाला पदार्थ पक्का हो जाता है और गुच्छे दृढता से पीठ पर चिपक जाते हैं। ऊन के फदो के दोनो ओर एक एक पीठ चिपकाकर और फदो को वीचोवीच काटकर एक ही समय में दो कालीन भी तैयार किए जा सकते है।

कालीन वनते समय ही आलेखनो का वन जाना, या कालीन वन जाने के वाद मुखपृष्ठ का रँगा जाना, या छपाई द्वारा आलेखन उत्पन्न करना, इन सव दिशाओ मे भी गुच्छित कालीनो मे वहुत प्रगति हुई है।

कालीन की उत्तमता—ऊपर कई वर्गो के कालीनो का वर्णन किया गया है। किसी भी वर्ग के कालीन के विषय मे यदि कोई अकेला शब्द है जिससे उसके सपूर्ण गुण, दोष, श्रेणी और मूल्य का ज्ञान होता है तो वह कालीन की क्वालिटी है। क्वालिटी प्रधानत कालीन के मुखपृष्ठ पर ऊनी गुच्छो के घनेपन पर निर्भर रहती है। इस प्रकार ऊँची क्वालिटी, मध्य क्वालिटी, नीची क्वालिटी, कालीन के व्यापार मे साधारण शब्द है। घने वुने हुए कालीन के लिये साधारणतया वढिया और लवी ऊन का पतला धागा आवश्यक होता है। कीमती ऊन के अधिक मात्रा मे लगने के साथ उच्च श्रेणी का ताना वाना आवश्यक होता है। वढिया पतले धागे के उपयोग और गाँठो के पास पास होने से कालीन तैयार होने में समय अधिक लगता है। इस प्रकार ऊँची क्वालिटी के कालीन का मूल्य अधिक होता है।

कालीन की क्वालिटी एक वर्ग इच में गाँठो की सख्या से प्रदर्शित की जाती है। यद्यपि यह प्रथा तव तक सतोषजनक नही होती जव तक यह भी निश्चय न कर लिया जाय कि गाँठें इकहरे धागे से डाली गई हैं या दोहरे *अथवा तिहरे धागे से। उदाहरणत, तिहरे धागे से वना कालीन* दोहरे धागे से वने कालीन की अपेक्षा, प्रति वर्ग इच कम गाँठो का होने पर भी, घना हो सकता है।

मिर्जापुर तथा भदोही मे कालीनो की क्वालिटी सूचित करने की प्रथा "क वीस × ख वुतान" सूत्र से सूचित की जाती है। इस क्वालिटी के कालीन मे ४०×क गाठें प्रति गज चौडाई मे और ८×ख गाँठे प्रति गज लवाई मे होगी, अर्थात् कालीन के मुखपृष्ठ पर ३२०×क×ख गाँठे प्रति वर्ग गज होगी। यदि क=४ और ख=२५ हो तो गाँठे प्रति वर्ग गज ३२,००० होगी।

आँकडे

(सन् १९५९-६० मे हुए ऊनी कालीन उद्योग के सर्वेक्षण की प्रतिवेदन के अनुसार)

	कालीन निर्माण	कारखानो की सख्या
१	उत्तर प्रदेश	११६
२	पजाव	६
३	जम्मू और कश्मीर	१६
४	दिल्ली	१
	योग	१४२

सन् १९५८ मे उत्तर प्रदेश मे वने कालीनो की विक्री

		मात्रा (लाख वर्ग गज)	मूल्य (लाख रुपयो मे)
१	विदेशी वाजार	१५ १८	३९० १४
२	भारतीय वाजार	० ४९	१३ ३८
	योग	१५ ६७	४०३ ५२

सन् १९५६-५८ में उत्तर प्रदेश से निर्यात किए गए कालीनो का देशानुसार विवरण

(मात्रा गाँठो मे, प्रत्येक गाँठ मे १२५ वर्ग गज, मूल्य—लाख रुपयो मे)

देश	१९५६		१९५७			
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
१	२	३	४	५	६	७
१ इग्लैंड	१२,०४२	२१९ ०५	१२,८९५	२३३ ३५	१३,७६९	२६२ १०
२ अमरीका	१,६१४	४८ ५४	२,१७१	६५ ६४	२,०६२	५७ ०९
३ कैनेडा	१,९९४	४८ २१	१,८१४	४३ ८२	२,१९२	५२ ७१
४ आस्ट्रेलिया	९१३	११ २४	९४४	११ ७६	७९३	११ १५
५ सिंगापुर	५०८	९ २३	६६२	१२ ६२	६३७	११ १२
६ अन्य	१,३८०	२५ ६५	१,४५२	२७ ५४	१,१०३	१६ ७१
योग	१८,४५१	३६१ ९२	१९,९३८	३९४ ७३	२०,५५६	४१० ८५

विभिन्न करप्रक्षेत्रो (custom zones) से ऊनी वस्तुओ के निर्यात की मात्रा (वर्ग गजो मे) और मूल्य (रुपयो मे)

कालीन, छोटे गालीचे, चटाइयाँ, और पर्दे

(कला की छोटी वस्तुओ को छोडकर)

	१९५७		१९५८	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
कलकत्ता	१७,६७,८८९	३,९०,१८,३७०	१७,०१,८६१	४,२६,४३,८७१
मद्रास	३४,२६६	६,१७,३८८	४१,६६३	८,००,०३६
कोचीन	१,७६५	१८,०११	४,००३	५२,६३२
ववई	१,३६,०७५	१६,४१,११४	९८,६३०	१२,४८,१५७
दिल्ली	१,००३	३२,४९३	१,९४८	३५,५४८
पटना	२०	२००	—	—
योग	१९,४४,०१८	४,१३,२७,५७६	१८,४८,१०५	४,४७,८०,२४४

सन् १९५७ और १९५८ मे भारत के विभिन्न प्रक्षेत्रो से विदेशो को निर्यात किए गए ऊनी कालीनो और फर्श के लिये अन्य ऊनी विछावनो की मात्रा (हड्रेडवेटो मे) और मूल्य (रुपयो मे) का लेखा

	१९५७		१९५८	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
कलकत्ता	४०	२३,४६६	—	३२०
मद्रास	१,६४०	५,३२,१२६	१,३८४	३,८०,५८१
कोचीन	६	१,९२८	—	—
ववई	७,२१५	१,२८,६८७	४३६	३,३६,२७७
दिल्ली	३	१,६५३	७०	२२,३१८
पटना	३	१,०९८	—	—
योग	८,९०७	६,८६,५६१	१,८९०	७,४२,४९६

[वा० कृ० कि०]

काली नदी

उत्तर प्रदेश मे इस नाम की दो नदियाँ हैं। पूर्वी काली नदी मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलदशहर, अलीगढ, एटा तथा फर्रुखावाद जिलो में होकर वहती है। इसका उद्गम मुजफ्फरनगर जिले मे २९°१९' उ० अ० तथा ७७°४८' पू० दे० है जहाँ यह नागन के नाम से विख्यात है। मुजफ्फरनगर तथा मेरठ जिलो मे इसका मार्ग अनिश्चित रहता है। परतु बुलदशहर पहुँचकर यह निश्चित घाटी में वहती है तथा वर्ष भर इसमे जल रहता है। यहाँ इसे काली नदी कहते हैं जो 'कालिंदी' का पारसी लेखको द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश रूप है। यहाँ पर इसकी दिशा दक्षिण के वजाय दक्षिण-पूर्व हो जाती हे। इसी ओर चलती हुई काली नदी कन्नौज से कुछ पहले ही गगा मे मिल जाती है। वुलदशहर से एटा तक काली नदी मे वर्षा तथा नहर से इतना अधिक जल प्राप्त होता है कि पहले यह भाग वाढग्रस्त हो जाता था। अव सिंचाई विभाग ने इस समस्या का उचित उपाय कर दिया है। एटा जिले मे लोअर गगा नहर इस नदी के ऊपर से नदरई ऐक्वेडक्ट द्वारा वहती है। काली नदी की कुल लवाई ३१० मील है।

पश्चिमी काली नदी उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले मे शिवालिक से १६ मील दक्षिण (३०° उ० अ०, ७७°४५' पू० दे०) से निकलकर दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिण की ओर सहारनपुर तथा मुजफ्फरनगर जिलो मे वहती है। मेरठ जिले की उत्तरी सीमा पर यह हिंडन नदी मे समा जाती है।

[प्रे० च० अ०]

कालीनिन, मिखाइल इवानोविच

(१८७५–) रूस के एक छोटे से गाँव मे इनका जन्म हुआ था और खेती से ही इनके कुटुवियो का उदरनिर्वाह होता था। किंतु अपने साहस, वुद्धि और सगठन के वल से ये रूस के राजनीतिक जीवन की एक कडी वन गए। इन्होने प्रारभिक शिक्षा गाँव की एक छोटी सी पाठशाला मे पाई और गरीवी के कारण छोटी उम्र मे ही इन्होने युद्धसामग्री तैयार करनवाले एक कारखाने में नौकरी कर ली। तत्पश्चात् १६ वर्ष की उम्र मे ये सेंट पीटर्सवर्ग नौकरी के निमित्त पहुँचे। १८९८ मे ये सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी के सदस्य वन गए। यही से इनके राजनीतिक जीवन का प्रारभ हुआ। इस राजनीतिक दल मे मजदूरो की सख्या अधिक मात्रा मे थी। अपने क्रातिकारी और समाजवादी विचारो के कारण इन्हे कई वार जेल की यात्रा करनी पडी। विशेष रूप से जव जव ये साइवेरिया भेजे गए तव तव इन्हे वडी यातनाएँ भुगतनी पडी। परतु कारावास से छूटने पर ये अपना राजनीतिक कार्य पूर्ववत् करते रहे। १९१२ मे जव इन्हे तीसरी वार साइवेरिया भेजा गया तव कालीनिन गुप्त रूप से वहाँ से भागकर सेंट पीटर्सवर्ग लौट आए। यहाँ पर ये अवैध रूप से रहे और अपना क्रातिकारी कार्य पूर्ववत् करते रहे। फरवरी, १९१७ और अक्टूवर, १९१९ की रूसी क्राति मे इन्होने सक्रिय रूप से भाग लिया। १९१९ मे कालीनिन रूसी साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के सभापति वनाए गए। ये आजन्म पीडित किसानो के हितसाधन के लिये प्रयत्नशील रहे, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते थे और जिनके लिये उनके हृदय मे वहुत सहानुभूति थी। इनके द्वार सदा ही किसानो के लिये खुले रहते थे और ये वडी सहृदयता से उनकी समस्या समझने और सुलझाने का प्रयत्न किया करते थे।

[शु० ते०]

काली मिर्च

वनस्पति जगत् मे पिप्पली (Piperaceae) कुल के मरिचपिप्पली (Piper nigrum Linn) नामक लता सदृश वारहमासी पौधे के अधपके और सूखे फलो का नाम काली मिर्च है। पके हुए सूखे फलो को छिलको से विलगाकर सफेद गोल मिर्च बनाई जाती है।

काली मिर्च के पौधे का मूल स्थान दक्षिण भारत ही माना जाता है। भारत से वाहर इडोनेशिया, वोर्नियो, इडोचीन, मलय, लका और स्याम इत्यादि देशो में भी इसकी खेती की जाती है। विश्वप्रसिद्ध भारतीय गरम मसालो मे, ऐतिहासिक और आर्थिक दोनो दृष्टियो से, काली मिर्च का वहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। आयुर्वेदिक ग्रथों मे इसका वर्णन और उपयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। ग्रीस, रोम, पुर्तगाल इत्यादि ससार के विभिन्न देशो के सहस्रो वर्ष पुराने इतिहास में भी इसका वर्णन मिलता है। १५वी शती मे वास्को-डि-गामा द्वारा समुद्रमार्ग से भारत के सुप्रसिद्ध मलावार के तटवर्ती इलाको की खोज का मुख्य कारण भी काली मिर्च के व्यापार का आर्थिक महत्व ही था।

आज काली मिर्च अतर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण पदार्थ है। ससार के कुल देशो मे काली मिर्च का उत्पादन गत महायुद्ध से पूर्व के ९६,५२५ मीटरी टनो से गिरकर लगभग ४५,७२५ मीटरी टनो पर पहुँच गया है। इस भारी कमी का मुख्य कारण गत महायुद्ध मे इडोनेशिया की काली मिर्च की खेती का सर्वनाश ही समझना चाहिए। अतर्राष्ट्रीय व्यापार मे केवल भारत का उत्पादन ही महायुद्ध से पूर्व के १८,८०० मीटरी टनो से वढकर २५,४०० मीटरी टनो से ऊपर पहुँचा है।

काली मिर्च का पौधा त्रावणकोर और मलावार के जगलो मे वहुलता से उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त त्रावणकोर, कोचीन, मलावार, मैसूर, कुर्ग, महाराष्ट्र तथा असम के सिलहट और खासी के पहाडी इलाको मे वहुताश मे उपजाया भी जाता है। दक्षिण भारत के वहुत से भागो मे इसकी खेती घर घर होती है। वास्तव मे काली मिर्च के भारतीय क्षेत्र का विस्तार उत्तर मलावार और कोकण से लेकर दक्षिण मे त्रावणकोर कोचीन तक समझा जाना चाहिए। १९५५–५६ के आँकडो के अनुसार केरल, मद्रास और मैसूर मे लगभग ८५,८०० हेक्टेयर भूमि मे २७,४५० मीटरी टन काली मिर्च पैदा की गई।

काली मिर्च का पौधा हरे भरे वृक्षो और दीमक से वचे रहनेवाले अन्य आश्रयो पर लता की तरह चढकर खूव पनपता है। इसकी लताएँ स्थूल एव पुष्ट, काडग्रथियाँ स्थूल और कभी कभी मूलयुक्त और पत्तियाँ चिकनी, लवाग्र, सवृत, अडाकार तथा १०-१८ सें० मी० लवी और ५-१२ सें० मी० चौडी होती है। यह वारहमासी पौधा साधारणतया २५-३० वर्ष तक फलता फूलता रहता है, कही कही तो ६० वर्ष से भी अधिक तक फलता देखा गया है। यह पौधा समुद्रतट से १,०७० मीटर की ऊँचाई तक होता है। इसे वर्षा द्वारा ही जल की प्राप्ति होती है। स्वभावत यह पौधा नमी प्रधान और २,०३२ मिलीमीटर से अधिक वार्षिक वर्षा तथा १०° सें० से ४०° सें० तक के तापवाले इलाको में ही पनप सकता है। पौधो के विस्तार के लिये इनकी कलमे काटकर वोई जाती

है। ऊँचे पेडो के आश्रय से काली मिर्च के पौधे ३० से ४५ मीटर तक ऊँचे चढ जाते है किंतु फलो को सुगमतापूर्वक उतारने के लिये इन्हे साधारणतया ६-९ मीटर तक ही बढने दिया जाता है।

काली मिर्च की लता
काली मिर्च तोडी जा रही है।

कालीमिर्च के गहरे हरे रग के घने पौधो पर जुलाई के बीच छोटे छोटे सफेद और हल्के पीले रग के फूल उग आते है और आगामी जनवरी से मार्च के बीच इनके नारगी रग के फल पककर तैयार हो जाते है। फल गोल और व्यास मे ३-६ मि० मी० होता है। साधारणतया तीसरे वर्ष के पश्चात् पौधे फलने लगते है। सातवें वर्ष से पौधो पर फलो के १०० से १५० मिलीमीटर लबे गुच्छे अधिकतम मात्रा में लगने प्रारभ होते है। सूखने पर प्रत्येक पौधे से साधारणतया ४ से ६ किलोग्राम तक गोल मिर्च मिल जाती है। इसके प्रत्येक गच्छे पर ५०-६० दान रहते है। पकने पर इन फलो के गुच्छो को उतारकर भूमि पर अथवा चटाइयो पर फैलाकर हथेलियो से रगडकर गोल मिर्च के दानो को अलग किया जाता है। इन्हें ५-६ दिनो तक धूप मे सूखने दिया जाता है। पूरी तरह से सूख जाने पर गोल मिर्च के दानो के छिलको पर सिकुडने से झुर्रियाँ पड जाती है और इनका रग गहरा काला हो जाता है। इडोनेशिया, स्याम आदि देशो मे पूर्णतया पके फलो को उतारकर पानी मे भिगोने से, छिलको से विलगाकर, सफेद गोल मिर्च के रूप मे तैयार किया जाता है। सफेद गोल मिर्च तेजी और कडवाहट मे काली मिर्च से कम प्रभावशाली होती है। पर स्वाद अधिक रुचिकर होता है। भारत से प्रति वर्ष लगभग २० करोड रुपए की लागत की काली मिर्च विदेशो मे भेजी जाती है। इस निर्यात मे अमरीकी डालरो का भाग लगभग ६४ प्रति शत से अधिक ही है।

इसके दानो मे ५ से ९ प्रति शत तक पिपेरीन (Piperine), पिपेरिडीन (Piperidine) और चैविसीन (Chavicine) नामक ऐल्केलायडो के अतिरिक्त एक सुगंधित तैल १ से २ ६ प्रति शत तक, ६ से १४ प्रति शत हरे रग का तेज सुगधित गधावशेष, ३० प्रति शत स्टाच इत्यादि पाए जाते है।

काली मिर्च सुगधित, उत्तेजक और स्फूर्तिदायक वस्तु है। आयुर्वेद और यूनानी चिकित्साशास्त्रो में इसका उपयोग कफ, वात, श्वास, अग्निमाद्य, उन्निद्र इत्यादि रोगो में बताया गया है। भूख बढाने और ज्वर की शाति के लिये दक्षिण में तो इसका विशेष प्रकार का 'रसम' भोजन के साथ पिया जाता है। भारतीय भोजन में मसाले के रूप में इसका न्यूनाधिक उपयोग सर्वत्र होता है। पाश्चात्य देशो में इसका विशिष्ट उपयोग विविध प्रकार के मासो की डिब्बाबदी मे, खाद्य पदार्थो के परिरक्षण के लिये और मसाले के रूप मे भी किया जाता है।

स०ग्र०—के० आर० कीर्तिकर तथा बी० डी० वसु इडियन मेडिसिनल प्लाट्स, खड ३, आर० एन० चोपडा इत्यादि चोपडाज इडिजिनस ड्रग्स ऑव इडिया, बी० मुकर्जी दि इडियन फारमेस्युटिकल कोडेक्स, खड १, आर० एन० चोपडा इत्यादि ग्लासरी ऑव इडयिन मेडिसिनल प्लाट्स, अर्नेस्ट गुथर दि एसेंशियल ऑयल्स, खड ५, एन० एस० व्यासकर मूस आयुर्वेदिक फ्लोरा मेडिका, खड १, के० आर० दामले इत्यादि रिपोर्ट ऑव दि स्पाइसेज़ एक्वायरी कमेटी, पी० एब्राहम पेपर कल्टिवेशन इन इडिया, डब्ल्यू० ए० पाउचर परफ्यूम्स, कास्मेटिक्स ऐंड सोप्स, खड १, वाइ० आर० नेव्ज तथा जी० मजुयर नैचुरल परफ्यूम मेटीरिअल्स, अर्नेस्ट पेरी दि केमिस्ट्री ऑव एसेंशियल ऑयल्स ऐंड आर्टिफिशल परफ्यूम्स, खड १। [सद्०]

काली सिंध नदी मध्यप्रदेश एव राजस्थान की सीमा पर बहनेवाली चवल नदी की एक शाखा है। इसका उद्गम विंध्याचल की उत्तरी ढाल पर २२° ३६' उ० अ० तथा ७६° २५' पू० दे० पर बरझिरी ग्राम में है। अपने प्रथम १८० मील में यह मुख्यत मध्यप्रदेश के शाजापुर जिले में तथा उसकी पूर्वी सीमा पर उत्तर की ओर बहती है। उसके पश्चात् यह ४५ मील और बहकर राजस्थान के कोटा जिले मे पिपरा के पास २५° ३२' उ० अ० तथा ७६° १९' पू० दे० पर चवल नदी मे मिल जाती है। काली सिंध की चार मुख्य शाखाएँ हैं, मध्यप्रदेश में लकुदर तथा राजस्थान मे पारवान, उजर तथा अहू। काली सिंध की धारा शुष्क ऋतु में बहुत पतली हो जाती है, परतु यह सदावाहिनी है। इसके ऊपरी भाग मे जल का उपयोग सिंचाई के लिये किया गया है। निचले भाग में किनारे बहुत ऊँचे होने के कारण ऐसा उपयोग अभी सभव नही हुआ है। भोपाल-उज्जैन तथा बीना-कोटा रेलवे लाइनें काली सिंध को क्रमश शाजापुर तथा कोटा जिलो में पुल द्वारा पार करती हैं। अनेक सडकें भी पुल (कॉज़वे) द्वारा काली सिंध के पार जाती हैं। भारत के प्राचीन साहित्य में तथा अबुलफजल के वर्णन में काली सिंध को इस क्षेत्र की मुख्य नदियो में से एक कहा गया है। इसके तट पर सारगपुर तथा गगरौन मुख्य स्थान हैं। [प्रे० च० अ०]

कावासाकी जापान के हाशू (Honshu) द्वीप मे टोकियो की खाडी के पश्चिमी तट पर स्थित टोकियो नगर से लगभग १५ मील दक्षिण मे एक औद्योगिक नगर है जिसकी जनसख्या ६,३२,७४५ (१९६० ई०) है। यहाँ इस्पात का कारखाना है। यह जहाज निर्माण का बहुत बडा केंद्र है। इसके अतिरिक्त बिजली का सामान, रसायन, वायुयान, रेल इजन (विद्युत्, तेल तथा वाष्पचालित), मोटर गाडियाँ एव कृषियत्रो का निर्माण भी किया जाता है। यहाँ १२वी शताब्दी मे निर्मित एक प्राचीन मदिर दर्शनीय है। [न० कि० प्र० सिं०]

कावूर, केमिल बेंसो (१८१०-१८६१) इटली का राजनीतिज्ञ, जिसका जन्म १ अगस्त, १८१० ई० को पीदमात सेवॉय राज्य के त्यूरॉं नामक स्थान मे हुआ। सामत घराने मे जन्म लेकर उसने अपना जीवन अपने राज्य की सेना में इजीनियर के रूप मे आरभ किया। परतु १८३१ ई० में चार्ल्स एलबर्त के पीदमात के सिंहासन पर आरूढ होने पर उसने सेना से त्यागपत्र दे दिया।

अपने जीवन के प्रारभिक काल से ही वह उदारवादी विचारधारा से प्रभावित था और निरकुशता तथा धार्मिक कट्टरता से घृणा करता था। अध्ययन तथा विदेशभ्रमण ने उसे नए युग के नवीन आदर्शो तथा तथ्यो से परिचित कराया। तात्कालिक औद्योगिक क्राति तथ. प्रजातत्र के उदय से

यूरोप के समाज पर गहरा प्रभाव पडा था। कावूर अपने युग की घटनाओ के महत्व को भली भाँति समझता था।

जुलाई, १८३० ई० की फ्रासीसी क्राति के पश्चात् वह सावैधानिक अथवा नियत्रित राजतत्र का समर्थक हो गया। उसके अनुसार इस राज्य-प्रणाली के आधार से प्राचीन राजतत्र को नए युग के योग्य बनाया जा सकता था। अतएव वह रूढिवादियो तथा जनतत्रवादियो का समान रूप से विरोध करता था।

यूरोप के इतिहास मे उसका महत्व अपने देश इटली की स्वतत्रता एव एकता स्थापित करने मे है। यद्यपि इस कार्य मे मात्सीनी तथा गारीवाल्दी जैसे देशभक्तो ने उसे अपना सहयोग दिया, परतु कावूर की कार्यकुशलता तथा कूटनीति ही इस जटिल समस्या को हल कर सकी। १८४८ की क्राति के समय पीदमात मे राष्ट्रीय महासभा का सगठन हुआ। कावूर इसका सदस्य निर्वाचित हुआ। उसने १८४८ के शासनविधान के निर्माण मे अपनी क्षमता का परिचय दिया। १८५० ई० मे कावूर पीदमात का व्यवसायमत्री नियुक्त हुआ और दो वर्ष बाद वह प्रधान मत्री बना, और बनते ही कावूर ने अनुभव किया कि इटली का उद्धार केवल पीदमात की शक्ति के बल पर नही किया जा सकता। इस कार्य के लिये सपूर्ण इतालवी राज्यो का सहयोग तथा विदेशी सहायता की भी परमावश्यकता होगी।

अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने कूटनीति का सहारा लिया। इग्लैंड तथा फ्रास के साथ क्रीमिया के युद्ध मे भाग लेकर उसने इन प्रबल राज्यो को आस्ट्रिया के विरुद्ध करने का सफल प्रयत्न किया। क्रीमियाई युद्ध की समाप्ति पर पेरिस की सधिपरिषद् (१८५६ ई०) मे कावूर समिलित हुआ। इस अवसर का लाभ उठाकर इटली की समस्या को यूरोप की समस्या बना देने तथा आस्ट्रिया के विरुद्ध यूरोपीय राज्यो की सहानुभूति प्राप्त करने का कार्य कावूर की कूटनीति का ही फल था।

परतु इस समय शातिपूर्ण ढग से इटली की समस्या का हल असभव था। १८१५ की वियना की सधि को भग किए बिना आस्ट्रिया को इटली से नही हटाया जा सकता था। परतु १८४८ ई० की क्राति से भयभीत यूरोप के राज्यो मे १८१५ की वियना सधि का सशोधन करने का साहस नही था। ऐसा करने से उन्हे क्रातिकारी आदोलनो के पुनरुत्थान का भय था।

अतएव अब इटली को स्वतत्र करने के लिये कावूर के प्रयत्नो का दूसरा अध्याय प्रारभ हुआ। कावूर आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध को अनिवार्य समझता था। फ्रास के सहयोग से उसने आस्ट्रिया को सैनिक शक्ति से पराजित करने की योजना बनाई। फ्रास के सम्राट् नेपोलियन तृतीय तथा कावूर के बीच हुए समझौते के अनुसार फ्रास ने इटली की सैनिक सहायता करन का वचन दिया। उत्तरी इटली से आस्ट्रिया के शासन का अत होने पर नीस और सेवॉय प्रदेशो को, जो फ्रास तथा इटली के मध्य स्थित थे, फ्रास को दे देने का भी निश्चय हुआ। इटली के राज्यो मे कावूर ने क्रातिकारी दलो को प्रोत्साहन देना प्रारभ किया। 'कारबोनारी' तथा 'युवक इटली' आदि समस्त क्रातिकारी सगठनो से उसको सहयोग मिला।

कावूर का प्रोत्साहन पाकर लोवार्दी तथा वीनीशिया के क्रातिकारियो ने आस्ट्रियाई शासन का विरोध करना प्रारभ कर दिया। इसके अतिरिक्त पीदमात मे निरतर प्रशा का अनुकरण करके सैनिक शक्ति का सगठन भी आरभ कर दिया गया। आस्ट्रिया के शासक इन विरोधो से घबरा गए और कावूर को यह आदेश दिया कि नई भर्ती सेना को तोड दिया जाय। परतु कावूर तो इसी अवसर की प्रतीक्षा मे था। अतएव १८ अप्रैल, १८५६ ई० को आस्ट्रिया की ओर से युद्धघोषणा कर दी गई। कावूर को अपना ध्येय सफल होने की पूर्ण आशा थी। परतु नेपोलियन तृतीय ने इस समय अपनी नीति बदल दी। अपने राज्य के निकट एक शक्तिशाली राष्ट्र का उदय उसे फ्रास के लिये वाछनीय दृष्टिगोचर नही होता था। इसके अतिरिक्त फ्रास का सम्राट् पोप के विरुद्ध भी कोई ऐसा कार्य नही करना चाहता था जिससे स्वदेश के कैथोलिक उसके विरुद्ध हो जायँ। कावूर अकेला ही युद्ध चलाना चाहता था। परतु पीदमात के राजा विक्तर एमानुएल द्वितीय से इस विषय मे मतभेद हो जाने से उसने अपना त्यागपत्र दे दिया। परतु कावूर द्वारा सचालित इस युद्ध के परिणामस्वरूप १० नवबर, १८५६ को ज्यूरिच मे हुई सधि के अनुसार लोवार्दी, परमा, मोदेना, तथा तुस्कानी प्रदेश पीदमात के अधिकार मे आ गए।

जनवरी, १८६० ई० मे कावूर पुन प्रधान मत्री हुआ। अब एकता एव स्वतत्रता स्थापित करने के लिये कावूर ने नई कूटनीति का सहारा लिया। इग्लैड से मैत्री कर उसने फ्रास के प्रभाव को हटाने का प्रयत्न किया। इग्लैड ने इटली के आतरिक झगडो मे दखल न देने की नीति की घोषणा की।

फ्रास के भय को समाप्त करके कावूर ने आस्ट्रिया के शासन को पूर्ण रूप से इटली से समाप्त करने का प्रयत्न आरभ कर दिया। विक्तर एमानुएल की ओर से लडने की घोषणा करते हूए गारीबाल्दी ने दक्षिण इटली के सिसिली एव नेपुल्स नामक प्रदेशो पर अधिकार कर लिया। यद्यपि कावूर गारीबाल्दी के क्रातिकारी ढग का समर्थन नही करता था और उसे गारीबाल्दी की सैनिक शक्ति से एकता भग होने का भी भय था, परतु गारीबाल्दी के महान् सहयोग के कारण वह सफल हुआ और ये प्रदेश पीदमात के राजा की अधीनता मे आ गए। रोम को छोडकर पोप का सारा राज्य भी पीदमात मे मिला लिया गया।

इस प्रकार कावूर की कूटनीति के बल से वीनीशिया तथा रोम को छोड समस्त इटली राष्ट्रीय एकता के सूत्र मे बँध गया। १८ फरवरी, १८६१ को इटली की राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन हुआ। अपने कार्य को पूर्ण करके १८६१ मे ही कावूर की मृत्यु हो गई। यद्यपि इटली की स्वाधीनता तथा एकता स्थापित करने मे अनेक महान् आत्माओ ने अपना सहयोग दिया परतु यह निश्चित है कि कावूर की कूटनीति से ही इटली यूरोप की सहानुभूति प्राप्त कर सका। स्वाधीनता के पश्चात् एकता स्थापित करने का महान् रचनात्मक कार्य भी उसकी कुशल नीति का ही फल था। इसी से कावूर इटली के देशभक्त राजनीतिज्ञो मे अग्रणी समझा जाता है।

स० ग्र०—ए० जी० ह्वाइट अर्ली लाइफ ऐंड लेटर्स ऑव कावूर (१८१०-१८४८), ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, हमफ्री, मिलफोर्ड, १६२५, ए० जी० ह्वाइट दि पोलिटिकल लाइफ ऐंड लेटर्स ऑव कावूर (१८४८-१८६१), लडन, एच० एम० १६३०, दि काउटेस एविलिन मार्टिननगो सेसारेस्को कावूर, मैकलिमन ऐंड क० लिमिटेड, सेट मार्टिन स्ट्रीट, लडन, १६१४, विलियम रॉस्को टेअर, दि लाइफ ऐंड टाइम्स ऑव कावूर, वोस्टन ऐंड न्यूयॉर्क, हाउटन मिफलिन कपनी, दि रिवरसाइड प्रेस केंब्रिज, १६११। [दे० रा० सिं०]

कॉवेंट्री इग्लैड के वॉरिकशिर प्रदेश मे कॉवेंट्री जिले का मुख्य नगर है, जो ५२° २४′ उ० और १° ३२′ प० पर लदन नगर से रेल द्वारा ६४ मील उत्तर-पश्चिम, एवन नदी की सहायक नदियो शेरबोर्न और रेडफोर्ड ब्रुक के सगम पर स्थित है। इस नगर की गणना इग्लैड के प्राचीनतम नगरो मे की जाती है। यह पूर्वकाल मे दीवारो द्वारा घिरा था और एक समय अपने सुदर गिरजाघरो, के लिये प्रसिद्ध था कुल जनसख्या २,५८,२११ है (१६५१)। नवबर, १६४० ई० और अप्रैल, १६४१ ई० मे नात्जी वायुसेना के आक्रमणो ने नगर को अत्यधिक क्षति पहुँचाई थी। १२१६ ई० मे भी यह नगर ऊन, कपडे और टोपियो के व्यापार तथा रेशम की रँगाई का प्रसिद्ध केंद्र था। वर्तमान उद्योगो मे बाइसिकिल, मोटर गाडियाँ, वायुयान, तार और टेलीफोन सबधी यत्र, मशीनो के औजार, युद्धसामग्री और रेयन उद्योग उल्लेखनीय हैं। यहाँ सडक, रेल और नहर मार्गो की प्रचुरता है। (सु० प्र० सिं०)

कावेरी दक्षिणी भारत की ४७५ मील लबी एक नदी है जो पश्चिमी घाट मे (अरब सागर से केवल २० मील दूर) कुर्ग की पहाडियो से निकलकर दक्षिण-पूर्व मे मैसूर एव मद्रास राज्यो से प्रवाहित होकर डेल्टा बनाती हुई बगाल की खाडी मे गिरती है। कुर्ग एव पश्चिमी मैसूर मे यह एक पहाडी झरना मात्र है तथा इसका मार्ग पथरीला है। मैसूर नगर से १२ मील उत्तर-पश्चिम कावेरी तथा इसकी सहायक हेमवती और लक्ष्मणतीर्थ की त्रिवेणी पर एक बाँध बनाकर कृष्णराजसागर जलतडाग का निर्माण किया गया है, जिससे ६२,०००

एकड भूमि की सिंचाई होती है। कापिनी तथा शमशा नदियाँ पठार की अन्य सहायक नदियो मे प्रमुख हैं। आगे चलकर कावेरी मैसूर नगर से ३५ मील पूर्व शिवसमुद्रम् द्वीप द्वारा दो भागो मे विभक्त हो जाती है। यहाँ ३२० फुट ऊँचे जलप्रपात हैं जिनके द्वारा जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है। मद्रास राज्य मे प्रवेश करने पर भवानी नदी, जो नीलगिरि पर्वत से निकलती है, कावेरी की सहायक बनती है। त्रिचनापल्ली के निकट यह पुन सेरिंगम (Seringam) द्वीप द्वारा दो प्रमुख शाखाओ मे विभक्त हो जाती है। इसकी दक्षिणी शाखा का नाम 'कोलरून' है। यहाँ से तजौर का सुप्रसिद्ध उर्वर डेल्टा प्रदेश आरभ होता है जो दक्षिण भारत का उद्यान कहा जाता है। यह उत्तम प्रकार का चावल उत्पन्न करने के लिये प्रसिद्ध है।

डेल्टा प्रदेश की सिंचाई प्रणाली अत्यत प्राचीन है। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व निर्मित एक बाँध अभी तक अच्छी स्थिति मे विद्यमान है। सन् १९३४ ई० मे 'कालरून' पर १७६ फुट ऊँचे तथा २,२५० फुट लबे मेटूर बाँध का निर्माण कर ६०,००,००० एकड भूमि सीचने की व्यवस्था की गई थी। दोनो राज्यो मे कावेरी नदी से लगभग १३ लाख एकड भूमि सीची जाती है। नहरो एव प्रशाखाओ की कुल लबाई क्रमश १,५०० मील तथा २,००० मील है। कावेरी का औसत वार्षिक जलसचार १२० लाख एकड फुट है जिसमें से सन् १९६० ई० तक लगभग २०० लाख एकड फुट जल उपयोग में लाया जा चुका है। सिंचाई के अतिरिक्त जोग, कृष्णराजसागर, शिवसमुद्रम्, मेटूर आदि स्थानो पर जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है। यह नदी बहुत ही पवित्र मानी जाती है अत इसे दक्षिणी गगा कहते है। [न० कि० प्र० सि०]

काव्य (व्युत्पत्ति) "कवि की कृति या भाषामयी सृष्टि को 'काव्य' (लोकोत्तरवर्णना निपुणस्य कवेरिद कर्म भावो वा काव्यम्) कहते है।"

लौकिक साहित्य की परपरा में वाल्मीकि आदिकवि हैं, रामायण आदिकाव्य है, व्यास पुराणकवि हैं, एव महाभारत पुराणकाव्य है। अर्थवैशिष्टयपूर्ण, प्रतिभा से उद्भासित, कल्पना से आकलित, भाव से उन्मिषित शब्दमयी सृष्टि का सर्जक 'कवि' है। इस वाणीमयी सृष्टि के—काव्यत्व के आविर्भावार्थ, उसका (काव्य का) प्रतिभाप्रेरित होना, कल्पना और भावना से अनुप्राणित होना, वर्णन और अभिव्यजन की निपुणता से चारुतासपन्न होना तथा देश, काल और समाज का अनुसरण करनेवाले लोकशास्त्र के कलाशिल्पी द्वारा निर्मित होना आवश्यक है, क्योकि कवि ही अपने काव्यलोक की सर्जना का स्वच्छद प्रजापति है। वह द्रष्टा भी है और स्रष्टा भी।

'कवि'—शब्द सापेक्ष्य परपरालब्ध उक्त अर्थ के अतिरिक्त भी, भारत और पश्चिम के आचार्यों ने काव्य के परिचेय लक्षणो का आख्यान किया है। अधिकाश भारतीय आचार्यो ने, ऐसा लगता है, विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ को काव्य का दृश्य कलेवर माना है। मुख्य और आत्मस्थानी तत्व इससे कुछ अन्य है। काव्य की आत्मा वही तत्व है जिसका निर्धारण और निरूपण करते हुए भारतीय आचार्यो के मतानुसारी शास्त्रीय सप्रदाय ही चल पडे।

इन सप्रदायो के लक्षण सूचित करते हैं कि कुछ आचार्यो ने बाह्य उपादानो (गुण, रीति, शब्दार्थालकारो) को काव्य में प्रमुख माना तो दूसरो ने रस, ध्वनि आदि आभ्यतर तत्वो को। इन लक्षणो के अलावा साहित्यशास्त्रियो ने अपने आलोचनाग्रथो मे 'काव्य' का परिचायक अभिज्ञानलक्षण भी बताया है। उनके प्रतिपाद्य का विश्लेषण करने पर निष्कर्ष निलकता है कि कुछ ने विशिष्ट प्रकार के 'शब्द' को और कुछ ने विशिष्ट प्रकार के 'शब्द और अर्थ के युगल' को 'काव्य' माना हे। 'विशिष्ट शब्द अर्थ के युगल' को काव्य माननेवालो मे प्रथम भरत मुनि हैं। दृश्य काव्य के सदर्भ मे उन्होने शुभ (श्रव्य या पाठच) काव्य की विशिष्टता बताई है। वही अलकार और रस के मूल तत्वो का सकेत मिलता है। भरत के अनतर भामह, रुद्रट और उद्भट ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के सिद्धात को मानकर शब्द और अर्थ के साहित्यमात्र को काव्य बताया एव गुणसपन्न शब्दार्थयुगल को ही वे 'काव्य' मानते हैं। वक्रतापूर्ण कविव्यापार से सपन्न एव काव्यरसिको को प्रसन्न करनेवाले शब्दार्थ के साहित्य की सर्जना को 'कुतक' ने भी काव्य माना है। 'मम्मट' का मत मानते हुए 'हेमचद्र' ने भी दोषरहित, गुणसहित, कही सालकार और कही अनलकृत शब्द-अर्थ-युगल को ही 'काव्य' स्वीकार किया है। 'प्रतापरुद्रीय' और 'अलकारचद्रिका' नामक ग्रथो में भी प्राय यही मत अगीकृत है। इस धारा का विश्लेषण करने पर दो आचार्यो के लक्षणो की प्रधानता लक्षित है। प्रथम हैं भामह, जिन्होने निर्विशेष रूप से शब्द और अर्थ के सहभाव मे काव्यत्वनिर्देश किया (यद्यपि उनके ग्रथ में, भेदक वैशिष्टय का निरूपण किया गया है), अन्य भेदक गुणधर्मो का नही। रुद्रट, 'उद्भट आदि ने उसी का अनुसरण किया। वामन ने आगे बढकर, शब्दार्थ मे गुणालकार के परिष्करण को काव्यत्व के लिये स्पष्टत अपेक्षित माना। उनके मत मे 'अलकार' का व्यापक अर्थ यहाँ गृहणीय है, न कि सकुचित अर्थ। गुण भी केवल शब्द के ही नही, रीतिवादी वामन ने यहाँ अर्थ के भी माने गए हैं। **द्वितीय प्रमुखता** 'मम्मट' के लक्षण की है, जिसे थोडे हेर-फेर के साथ, हेमचद्र आदि ने ग्रहण कर लिया। काव्यसामान्य के लक्षण मे समानता दिखाई देने पर भी इनके ग्रथो का अध्ययन सूचित करता है कि काव्यचित्र की इनकी धारणाओ (कसेप्शस) मे प्राय अतर है। वामन रीति को आत्मा और शब्द-अर्थ को शरीर मानते है तो 'ध्वनिकार' के मत से 'ध्वनि' और उसमे भी 'रसध्वनि' काव्य की आत्मा है तथा शब्दार्थ उसके प्रत्यायक उपकरण हैं। मम्मट भी रस को अगी या आत्मस्थानीय तत्व मानते हैं और गुणो को उसके धर्म। निष्कर्ष यह कि इन आचार्यो के अपने अपने विषयविस्तार में विविधता है। कोई बाह्य अग का मुख्यत परिचायक है और आतर तत्व का सक्षेपत, जैसे—दडी, वामन, रुद्रट आदि, तो दूसरे—आनदवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि—आभ्यतर तत्व का गभीर अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। **विशिष्ट शब्दमात्र के काव्यत्वसमर्थको** मे दडी प्रथम हैं। इन्होने इष्ट-अर्थ-युक्त पदावली को 'काव्य' (काव्य तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली) कहा है। 'अग्निपुराण' भी इसे ही मानता है, पर मम्मट के समान काव्य का गुणसहित, दोषरहित और स्फुटालकारयुक्त होना वहाँ आवश्यक है। काव्य मे रस की महत्ता माननेवाले शौद्धोदनि और केशव मिश्र ने 'रसादि से युक्त सुखविशेषकारक भणिति' को काव्य माना है। जयदेव के 'चद्रालोक' मे—'निर्दोष लक्षणवाली, रीतिगुणभूषिता और वृत्तियोवाली वाणी, को ही 'काव्य' बताया गया है। यहाँ 'काव्य' के बाह्यागो के साथ साथ वृत्तियो और रसादि की भी महनीयता स्वीकृत है। 'साहित्यदर्पण' मे विश्वनाथ ने 'रसात्मक वाक्य' को ही काव्य माना है। रस के अतगत रस, रसाभास, भाव, भावाभास आदि भी अतर्भुक्त है। काव्यलक्षण में दोषराहित्य एव गुणसाहित्य को विशेषण न मानकर उन्होने गुणदोषो को काव्य के उत्कर्षक-अपर्षक रूप में ग्रहण किया है। पडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द' को ही काव्य का पद दिया है। 'रमणीय' से यहाँ 'लोकोत्तर आनद' का अर्थ अभिप्रेत है। इस रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। 'विशिष्ट शब्दवादी' धारा मे शब्दप्रतिपाद्य अर्थ को कही 'इष्टार्थरूप' माना है तो कही 'अलकाररूप' मे, कही उसे 'रसात्मक' कहा है तो कही 'रमणीय'। भोजराज के लक्षण मे दोषहीनता, गुणयुक्तता, सालकृतता के साथ रसयोग तो आवश्यक है, पर यह स्पष्ट नही होता कि वे शब्दवादी है या शब्दार्थवादी। सभवत वे शब्दार्थवादी ही हैं। कुतक ने केवल 'विशिष्ट अर्थ' को काव्य माननेवाले तीसरे वाद का भी सकेत किया है। साराश यह कि विभिन्न आचार्यों के विविध मतो मे रीति, गुण, अलकार, रस, भाव आदि प्राय सभी तत्व—उपादान और उपकरण तो हैं पर एक ने यदि किसी तत्व को सर्वप्रधान और अन्य को सहायक माना तो दूसरे ने इतर को प्रधान और अन्य को सहायक। मम्मट ने कविभारती के (काव्य की अभिनदना के सदर्भ में) काव्य का कुछ व्यापक स्वरूप उपस्थित करते हुए कहा है—'कवि की सर्जना, नियतिकार स्रष्टा की सृष्टि से सर्वथा स्वतत्र है, सृष्टिनियम के बधनो से मुक्त। वह सौदर्यानद एव कलात्मक सुखानुभूति से अतबहि ओतप्रोत है, नवनव रसभावो की मनोहारिता से पूर्ण।' सामान्यत कारयित्री प्रतिभा से सपन्न कवि के रचनाविशेष को भारतीय आलोचका ने काव्य माना है। वहाँ गद्य पद्य का भेद नही है। स्थूलत उसके दो भेद है, (१) श्रव्य काव्य और (२) दृश्य काव्य। प्रथम के पुन तीन भेद हैं—(क) गद्यकाव्य (कथा, आख्यायिका आदि), (ख) पद्यकाव्य

(महाकाव्य, खडकाव्य)—जो दोनो एक प्रकार से प्रबंध काव्य के ही भेद है—(मुक्तक आदि), (ग) चपू (गद्य-पद्य-उभयात्मक)। द्वितीय के अतर्गत रगमच पर अभिनेय सवादात्मक समस्त नाट्यविधाओ का समावेश है। यहाँ यह स्मरणीय है कि छदोबद्ध पद्यमात्र काव्य नही है। आवश्यक और उपकारक उपादानो के योग से ही पद्य को काव्य की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। यह भी स्मरणीय है कि सस्कृत मे केवल पद्यात्मक कविकृति को ही 'काव्य' नही मानते अपितु 'कादबरी' जैसी गद्यात्मक रचना भी 'काव्य' कही गई है। आधुनिक हिंदी मे 'गद्यकाव्य' नामक विधा भी गद्य मे ही निर्मित होती है। मात्राओ और वर्णो पर आधारित छदो के न रहने पर भी लयपूर्ण साहित्योक्ति को कविता कहते है। वर्ण-मात्रा-बधन-रहित पर लय (यति-बध-रहित) पर लय (रिद्म) और आरोहावरोहमयी भाषा मे स्वच्छद छद या निर्बंध छद की कविता आज प्रचलित है जो पद्यात्मक नही—गद्याभास होती है। अत 'स्वच्छद छद' और 'निर्बंध' गद्याभास रचना भी उपर्युक्त वैशिष्ट्यसपन्न होने से कविता मानी जाती है। कोटिस्तर की दृष्टि से मम्मट ने (तथा साहित्यदर्पण मे भी) काव्य के तीन भेद कहे हैं—(१) उत्तम, (ध्वनिकाव्य), जहाँ वाच्य और लक्ष्य अर्थो की अपेक्षा व्यग्यार्थ प्रधान और चारुतर हो, (२) मध्यम, जहाँ व्यग्यार्थ का गौण स्थान हो और वाच्य अलकारादि मुख्य और रम्यतर हो, तथा (३) अवर (या अधम, चित्रकाव्य), जहाँ मुख्यत शब्द और अर्थ के अलकार या अलकारो का ही प्राधान्य और चमत्कार हो, व्यग्यार्थ का नही। ये ही भेद विभेद प्राय आगे भी मान्य रहे। 'पडितराज ने एक और भेद जोडकर कमबेश उसे ही स्वीकार कर लिया है। वस्तुत देखा जाय तो 'ध्वन्यालोक' का 'रसवाद', मम्मट का समर्थन पाकर प्रमुख रूप से चलता रहा। भोज ने 'शृगार' को रसमूल मानकर रस सिद्धात मे एक नई कडी जोडी पर वह मत चला नही। काव्य-निर्माण के उद्भावक हेतु का विचार करते हुए (१) 'शक्ति' (काव्य-कल्पना की क्षमतायुक्त प्रज्ञा या प्रतिभा), (२) 'निपुणता' (व्युत्पत्ति, शास्त्रज्ञानजन्य योग्यता) और (३) 'अभ्यास'—इन तीनो को समुचित रूप से उद्भव कारण बताया गया है। पर किसी किसी आचार्य ने इस समन्वित तत्व को ही 'प्रतिभा' सिद्ध करते हुए उसे ही उद्भवहेतु माना है। 'कारयित्री प्रतिभा' से काव्यसर्जना और 'भावयित्री प्रतिभा' से समीक्षा-क्षमता प्राप्त होती है। मम्मट द्वारा निर्दिष्ट काव्यप्रयोजन की सीमा व्यापक तथा व्यावहारिक है। उनके अनुसार काव्य का निर्माण यश के लिये, धन के लिये, अशिव की निवृत्ति और शिव की साधना के लिये, व्यवहारज्ञान के निमित्त, कातासमित मधुर-मनोहर उपदेश और शिक्षा के लिये तथा ब्रह्मास्वादसहोदर काव्यानद का आस्वादन करने के लिये होता है।

पाश्चात्य आलोचको की दृष्टि से काव्यकला पाँच ललित कलाओ मे सर्वप्रमुख है। माध्यम की स्थूलता एव इंद्रियमूलकता के कारण 'वास्तु' और 'मूर्ति' कलाओ की प्रभावव्याप्ति मे शत्वरता कम है। 'चित्र' और 'सगीत' कलाओ की वर्णयोजना और स्वरयोजना मे स्थूलता, पूर्वोक्त कलाओ की अपेक्षा कुछ कम है, पर गतिशीलता भी अधिक नही है। परतु काव्यकला (या साहित्यकला) शब्दमाध्यम से जिन अर्थचित्रो या भावचित्रो की उद्भावना करती है उनमे सबसे अधिक शत्वरता है, अतएव प्रभावव्याप्ति भी व्यापकतर तथा अधिक सशक्त है। काव्य का सबध भाव और अनुभूति, चेतना और सवेदना, प्रतिभा और कल्पना से होने के कारण वह मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र की निरूपण-सीमा से आश्लिष्ट है तथा कलाविद्या होने से सौंदर्यशास्त्र की विवेचन-परिधि भी उसका सस्पर्श करती है। साहित्य का एक रूप होने से साहित्य-शास्त्रीय आलोचना और मानव-समाज-सपृक्त होने से सामाजिक शास्त्र भी उसके विनियोग-उपयोग का विचार करते हैं। फलत पश्चिम के दार्शनिको, सौंदर्यशास्त्रियो, मनोवैज्ञानिको, साहित्यालोचको और सामाजिकशास्त्रज्ञो ने नाना दृष्टिबिंदुओ से, बडी गहराई के साथ काव्य का अनुशीलन किया है। उन्होने काव्य के बाह्य-आभ्यतर उपकरणो और निर्माणप्रेरणाओ के साथ साथ रचनाशिल्प, अभिव्यक्तिशैली, प्रभाव की प्रक्रिया एव सीमा आदि का विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसी सदर्भ से उन विचारको ने काव्य के लक्षण और उसकी परिभाषाएँ भी अनेक रूपो मे दी हैं। (ललित) कला को, काव्य को प्लेटो ने 'वस्तु की अनुकृति की अनुकृति' कहते हुए उसे अमूर्त शाश्वत सत्ता के अवास्तविक, पर गोचर आकृति का अनुकरण बताया है तथा धार्मिकता और नैतिकता से विरुद्ध और अनत्य का प्रचारक तथा अशिव मानकर उसे समाज के लिये निषिद्ध घोषित किया है। अरस्तू ने काव्य को वस्तुसत्ता की अनुकृति मानते हुए भी उसे 'सुदर' तथा 'सुखद' माना। उन्होने प्लेटो के अर्थ से भिन्न 'अनुकृति' का तात्पर्य ग्रहण करते हुए 'अनुकृति' को पुन सर्जना (रिक्रियेशन) का रूप प्रदान किया। नृत्य, गान और चित्रकला के समान अनुकृतिमूलक होकर भी, काव्यकला अपने माध्यम, प्रयोजन और अनुकरणप्रक्रिया की भिन्नता के कारण, उनसे भिन्न है। 'अनुकृति' को 'काव्य' माननेवाले इन दार्शनिको के मत से काव्य का स्वरूप सत्तात्मक न होकर असत्तात्मक (या अभावात्मक) आधार पर स्थित है। अत असत्य या भ्राति भी उसे कह सकते हैं। सिडनी का कथन है कि 'काव्य तो अनुकरण की ही कला है, या अलकृत भाषा में कह सकते हैं कि वह ऐसा बोलता हुआ चित्र है जो शिक्षा और आनद देता है।' इसी ढग की बात कालरिज ने भी कही है—'काव्य सत्यान्वेषी, सत्यशोधी विज्ञान का उलटा है। उसका उद्देश्य आनद देना है, सत्य नही।' उन्होने यह भी बताया कि 'सुष्ठुतम शब्दो की उत्कृष्टतम या चारुतम योजना ही काव्य है।' मेकाले ने भी काव्य मे अलीकचित्र (इल्यूज़न) को महत्व देते हुए कहा है—'काव्य उस कला को कहते हैं जिसमे शब्दो का विनियोजन इस ढग से किया जाय कि वे कल्पना में अलीकचित्र की सर्जना करें।' चित्रकार रगो से जो प्रभाव उत्पन्न करता है वही काव्यकार शब्दो से करता है। इन मतो के अनुसार काव्य, प्राय असत्य या अलीकचित्र उत्पन्न करता है जिनसे कभी शिक्षा मिलती है, कभी आनद और कभी दोनो। दूसरी ओर वान नाफ काव्य को 'सत्य की सवेदना का मुखर प्रयास' मानते हैं। कैंपबेल भी उसे 'सत्य का मुखर स्वरूप' स्वीकार करते हैं। ओ० डब्ल्यू० हेल्म के अनुसार 'काव्य का लक्ष्य सत्य की उज्वल ज्योति का प्रकाशन है, पर उसे प्रभावशाली बनाने के लिये उसमे इंद्रधनुष की सी मोहक रगीनी भी आवश्यक है'। इस परिचय में साध्यनिर्देश के साथ साथ साधनशिल्प का भी सकेत है। जानसन का कहना है कि 'काव्य छदोमयी निर्मिति है। उसमे कल्पनासहकृत विवेक द्वारा सत्य का, आनद के साथ सयोजन स्थापित होता है'। इन लक्षणो से काव्य मे 'सत्य' का सपर्क सूचित होता है। मिल ने बताया है—'काव्य उन विचारो और शब्दो (शब्दो अर्थो) को कहते हैं जिनमें सहज और आयासहीन ढग से भाव (और आवेग) घुले मिले हों'। यहाँ काव्य मे भावतत्व का स्पष्टत समावेश लक्षित है। हैज़लिट भावना के साथ कल्पना को भी आवश्यक बताते हैं। उनके मत से 'कल्पना' और भावावेग की भाषा ही काव्य है।' ले हट का कथन है—'सत्य, सौंदर्य और शक्ति के वेगमय भावो का अभिव्यजन ही काव्य है और इस अभिव्यक्ति में विचारो को आत्मसात् करके कल्पना और भावना द्वारा उन्हे स्पष्ट किया जाता है'। यहाँ सत्य, सुदर, शक्ति, कल्पना, भावना—इन सभी तत्वो के समन्वय से 'काव्य' का सर्जन माना गया है। कारलाइल के मत से भी 'मनोवेगयुक्त सगीतमय भाषा मे मानव के अतस्तल की साकार एव कलामय अभिव्यक्ति काव्य है'। मैथ्यू अर्नाल्ड यद्यपि काव्य को 'जीवन की समीक्षा' मानते है तथापि वे कहते है कि 'काव्य, मानववाणी की उस अभिव्यक्ति का सर्वाधिक पूर्णतम रूप है जिसे प्रकट करने की क्षमता मनुष्य के शब्दो को ही हो सकती है'।

एडगर ऐलेन पो ने 'सौंदर्य की लयपूर्ण सर्जना को ही काव्य माना है।' 'भावना के अतिभार से मुक्त वाङमयप्रवाह को काव्य कहते हुए कैंब्रेल ने काव्य मे भावतत्व की सर्वाधिक महत्ता प्रतिष्ठित की है। रस्किन कहते हैं कि 'कल्पना द्वारा उदात्त भावो के लिये उदात्त भूमिका को जो सकेत मिलता है, वही काव्य है'। इस लक्षण मे कल्पना और भावना का सहकृत महत्व प्रतिपादित है। कोर्टहोप के मत से 'छदोमयी भाषा मे कल्पनाप्रवण विचारो और अनुभूतियो' की समुचित अभिव्यक्ति द्वारा आनदसर्जना की कला ही काव्य है।' वाट डैंटन भी मानते है कि 'भावुकतामयी और लयपूर्ण भाषा मे मानव अत करण की मूर्त और कलात्मक अभिव्यक्ति ही काव्य है।' अनेक परिभाषाओ और लक्षणो की चर्चा करने के अनतर हडसन ने 'साहित्य को जीवन की व्याख्या' मानते हुए इस साहित्यविधा के विषय मे कहा है—'इसमे (काव्य मे) जीवन के तथ्यो, अनुभूतियो और समस्याओ की

ऐसी विवृति होती है जिसमें भावनाओ और कल्पनाओ की सर्वाधिक प्रमुखता रहती है।' इन आचार्यों के अलावा कवियो ने भी काव्य के रूपपरिचय को लेकर अपने मत व्यक्त किए हैं। 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' में शेक्सपियर ने कहा है—'कल्पनालोक मे विहार करती हुई कविदृष्टि भूतल से स्वर्ग तक का साक्षात्कार करती रहती है। कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओ को आकार देती है तथा उसकी लेखनी अस्तित्वहीन वायवी वस्तुओ को मूर्त बनाकर उसे नाम और ग्राम प्रदान करती है।' इस कथन मे कवि की प्रतिभा-जुष्ट कल्पना को प्रमुखता दी गई है। पर उनके परवर्ती कवि मिल्टन ने कहा है कि 'काव्य को सरल, सहज, इद्रियानुभूतिमूलक एव भावावेगमय' होना चाहिए। उन्होने लौकिक भावानुभूतियो का महत्व स्वीकार किया है। वर्ड्स्वर्थ ने कल्पना नही, भावना को ही महत्व देते हुए कहा है—'प्रवलतर अनुभूतियो का स्वच्छद और सवेग प्रवाह ही काव्य है।' इसके स्रोत हैं, शातिमय क्षणो मे स्मृतिपथागत भावावेग।' रोमैंटिक कवि 'शेली' कल्पना को ही मुख्य तत्व मानकर कहते हैं—'कल्पना की अभिव्यक्ति को काव्य की सामान्य परिभाषा कह सकते है।' पर उन्होने उक्त अभिव्यक्ति को सदा 'आनदसपृक्त' माना है। कला, सौदर्य और तज्जन्य निरपेक्ष आनद का निषेध करके, समाजदृष्टि के समर्थक तोल्स्तोइ ने, काव्य का एक निर्दिष्ट लक्ष्य मानते हुए कहा है—'काव्य (कला), मानव एकता का वह साधन है जो मानव मानव को रागात्मक सहअनुभूति द्वारा परस्पर सबद्ध करता है।' पर इस लोक-प्रेम-प्रचारक अतिवाद से पूर्णत भिन्न और विपरीत वेनेदेत्तो क्रोचे का अतिवाद है जब वे केवल अभिव्यजना को कला या काव्य कहते हैं। अभिव्यजना को वे 'सहजानुभूतिरूप' मात्र मानते हैं, न उससे कम, न अधिक। उनके यहाँ प्रातिभज्ञान (इट्यूशन) और कल्पना का अतिआग्रहपूर्ण महत्व है। इसी प्रकार मन शास्त्र की दृष्टि से मानसशास्त्री फ्रायड 'सामाजिक प्रतिबधो के कारण, मानव मन की दमित, स्वप्नसकाश वासनाओ की विशिष्ट अभिव्यक्ति को काव्य' मानते हैं। काव्य मे समाजवादी धारा के समर्थक 'प्रगतिवादी' समीक्षको के अनुसार—'सतत गतिशील समाज के सामाजिक यथार्थ को पहचानकर, स्वस्थ एव प्रगतिशील तत्वो की, जनवर्ग के उत्थान एव कल्याण के लिये, जनबोध्य भाषा में विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति ही काव्य है।' हिंदी के प्रमुख आधुनिक एव पाश्चात्य पद्धति के आलोचक रामचद्र शुक्ल ने काव्य के परिचय के सदर्भ मे कहा है—'जैसे आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा है, वैसे ही हृदय की मुक्तावस्था रसदशा है। हृदय की उस मुक्तिसाधना के लिये वाणी जो शब्दविधान करती आई है उसे कविता (काव्य) कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।' इस प्रकार शुक्ल जी के अनुसार भावयोग की साधना के शब्दविधान के विधाविशेष को काव्य कहना चाहिए जिसका तात्पर्य होगा 'ब्रह्मास्वादसहोदर रस का आस्वादन कराना'।

काव्य की इन विभिन्न परिभाषाओ और लक्षणो के मतसार का परिशीलन करने से कई बाते सामने आती हैं। काव्य की आरभिक अवस्था में छद की प्राय अनिवार्यता थी। सभी साहित्य के आरभिक काव्य (प्राय भारत का ही नही, वरन् विश्व के आद्यतम उपलब्ध साहित्य, ऋग्वेदसहिता की ऋचाएँ छदो मे ही हैं) छदोबद्ध ही मिलते हैं। देवो की स्तुति, ऋक्सामगान, जादू-टोने के मत्र तत्र से सबद्ध साहित्य के आदिम रूप में पद्यो और पद्यात्मक काव्यो का ही आविर्भाव हुआ। चमत्कार, विस्मय, कुतूहल, भय, श्रद्धाधिक्य आदि उसके प्रेरक थे। भारतीयो के वैदिक मत्र, मिस्रवासियो के मृत्युसबधी मत्र, चीनियो के प्राण और शक्तिदाता गेय मत्र—सभी देशो मे सर्वप्रथम गिरा पद्यमय ही थी, वह अपनी आदिम अवस्था मे सगीतसहजात थी। यूनान की आरभिक कविता भी पद्यमय ही रही, यद्यपि काव्यभेद का निर्देश करते हुए नाटक को भी उसका ही एक भेद बताया गया है। अत छद, आरभ मे ही काव्य का अनिवार्य अग था, यद्यपि आज उसका रूप, काव्य के 'स्वच्छद' और 'निर्बंध छद' की उद्भावना के कारण 'लय' या 'लयात्मक गतिमयी भाषा' ने ले लिया है। हिंदी, बँगला, आदि आधुनिक भाषाओ में 'गद्यकाव्य' नामक एक काव्यविधा का अस्तित्व देखते हुए कहा जा सकता है कि अब छद या लय काव्य का अनिवार्य तत्व नही रहा। आरभ मे सर्वत्र काव्य की सत्ता मौखिक (लिखित नही) ही थी, अत वह निश्चित रूप से कठस्थ करने की सुविधा के कारण गेय और छदोबद्ध था।

काव्य के तत्व—कल्पना और सकल्प, भावना और रागात्मक अनुभूति, विवेक और बुद्धि, काव्य के अतरतत्व हैं। प्रतिभा और भावुकता से उनका उद्भावन और परिकलन होता है। देश, काल, समाज और प्रचलित काव्य विधान-शैली के स्वर काव्य मे प्रतिध्वनित होते रहते हैं। रचनाविधान और शैलीशिल्प, अभिव्यक्तिकौशल और भाषाप्रवाह उसके बाह्य उपकरण एव साधन हैं। कल्पनाप्रवण सामाजिक के चित्तपट पर अर्थचित्रो और भावचित्रो का प्रतिबिंबन करने के कारण काव्यकला जहाँ एक ओर चित्रकला की सीमा से सपृक्त है, वही दूसरी ओर ध्वन्यात्मक लययोजना के कारण सगीतकला की परिधि का भी स्पर्श करती है। पर काव्यकला उन दोनो से अत्यत दूरगामी भी है। भावचित्रो की सतत गतिमत्ता तथा मूत अमूत उभय प्रतिभाओ के उपस्थापन में सर्वाधिक समर्थ है।

काव्य के उद्देश्य—प्रारभिक काल में यूनान के काव्यगायको द्वारा प्रसारित मौखिक काव्य का उद्देश्य आनदसर्जना थी, शिक्षा नही। पर आगे चलकर उसका उद्देश्य होमर और हीसियद तक आते आते, शिक्षण और उपदेशन ही हो गया, विशेषत धार्मिक उपदेश और नीतिशिक्षा। अरस्तू ने पुन काव्य को 'सुदर' और 'आनदप्रद' माना। प्रेरणादायकता भी उद्देश्यो मे थी। लोगिनुस के मत से काव्य का लक्ष्य है 'अहता से मुक्त मानवात्मा का उदात्तीकरण या उन्नयन'। रसवादियो की साधारणीकरण-अवस्था से या शुक्ल जी की भावयोग की दशा से उसका कुछ कुछ साम्य है। यह उन्नयन या उदात्तीकरण काव्य में कल्पनाभावित सौंदर्य के माध्यम से साध्य है। इसीलिये डी० क्विसी ने, शास्त्रविज्ञान के वाङ्मय को 'ज्ञानात्मक' कहकर पृथक् करते हुए काव्य को 'शक्तिमय साहित्य' कहा है। इसी प्रकार स्वात सुख, लोकमगल की भावना, सत्य का प्रकाशन, शिवत्व का सपादन और सौंदर्य के उद्बोधन द्वारा आनदनिष्पादन आदि काव्य के उद्देश्य रहे—कभी पृथक् पृथक्, कभी समुदित। हृदयपरिष्कार, आत्माभिव्यक्ति, व्यष्टिगत मनोरजन, कलात्मक सौंदर्यास्वादन में से एक या अनेक को भी समय समय पर काव्यसाध्य कहा गया है। 'कला कला मात्र के लिये' कहकर उसका लक्ष्य अन्यनिरपेक्ष कलासुखास्वादन मात्र भी घोषित किया गया। अत करण में, वासनारूप से मुद्रित अथवा अचेतन मन में दमित होकर सुपुप्त और विकारजनक वासनाओ का अभिव्यजन या विवेचन भी उसका प्रयोजन बताया गया। शोषित, पीडित सर्वहारा वर्ग मे क्रातिभाव और यथार्थ शक्ति के उद्बोधन को भी एक वर्ग उसका लक्ष्य मानता है। साराश यह कि 'सत्य, शिव, सुदर (आनद)' अथवा स्वात सुख, लोकहित और सत्यदर्शन—इस त्रिबिंदुचक्र की परिधिरेखा के आसपास, काव्य के प्रमुख प्रयोजन का निर्देश होता रहा। कभी उद्देश्यकथन के शब्द साधारण होते और कभी वही बात कुछ घुमा-फिराकर कही जाती थी।

काव्यभेद—पाश्चात्य आलोचको ने आरभ में (प्लेटो और अरस्तू के काल से ही) काव्य के तीन भेदो का उल्लेख किया है—(१) एपिक (प्रबध महाकाव्य), (२) लिरिक (गीति काव्य) तथा (३) ड्रैमेटिक (नाट्य काव्य—(अ) ट्रैजेडी, (आ) कामेडी)। आगे चलकर नाटक के अलग हो जाने पर काव्य के दो रूपो की कल्पना की गई (१) वर्णनात्मक ('आब्जेक्टिव' या 'नैरेटिव' अर्थात् वस्तुप्रधान वा विषयप्रधान, इतिवृत्तात्मक अथवा विषयनिष्ठ) और (२) अनुभूतिप्रधान ('सब्जेकटिव' या 'लिरिक' अर्थात् आत्मानुभूतिप्रधान, या विषयिप्रधान अथवा विषयिनिष्ठ)। प्रथम काव्यप्रभेद में बाह्य एव गोचर वस्तुजगत् की वर्णनदृष्टि प्रमुख रही है। काव्य के वर्णन में कवि की व्यक्तिगत अनुभूति, भावना और विचारसरणि का अभिव्यजन न होकर बाह्य एव दृश्य जगत् के वर्णन को और उन्ही के माध्यम से व्यक्त अनुभूतियो और विचारो को प्रधानता दी जाती है। इसे हम 'प्रबध' काव्य कह सकते हैं। इसका प्रथम भेद 'एपिक' या महाकाव्य है। इसके भी दो उपभेद हैं (क) एपिक आव ग्रोथ अर्थात् परपराविकसित महाकाव्य, जैसे महाभारत, श्रीमद्भागवत (कुछ अशो मे वाल्मीकि रामायण), आल्हखड, पृथ्वीराजरासो, आदि, (ख) एपिक ऑव आर्ट्स कवि की प्रतिभामयी कला से उद्भावित—जैसे, शिशुपालवध, नैषधचरित, रामचरितमानस, साकेत आदि। वर्णनात्मक काव्य का दूसरा उपभेद 'बैलड' है जिसे 'पद्यात्मक कहानी' नाम दिया जा सकता है। प्रबधात्मक खडकाव्य भी इसे कह सकते हैं। इसमे वीरता या प्रेम की गाथा रहती है, जिसमे युद्ध, साहसिक काय, शौर्य आदि का मनोहर चित्रण होता है। इनके अतिरिक्त छदात्मक

प्रेमगाथा (मेट्रिकल रोमान्स) आदि भेद भी हैं, पर उनका महत्व सामान्य ही रहा। काव्य का दूसरा प्रभेद 'लिरिक' काव्य है—जिसे हिंदी में प्रगीत काव्य या गीति काव्य कहते हैं। (जिसका यह नाम 'लीरे' नामक वाद्यविशेष के साथ गाए जाने के कारण पडा)। इस काव्यविधा में कवि की अंतर्मुखीनता का प्राधान्य होने से, प्रेरणा का स्रोत कवि की आत्मानुभूति, वैयक्तिक चिंतन और स्वभावना होती है और उसकी अभिव्यक्ति में भी उन्हीं की प्रधानता रहती है। उसका वर्णन बाह्य दृश्य जगत् की अपेक्षा अंतर्जगत् और बहिर्जगत् के प्रति आत्मसंवेदनात्मक अधिक होता है। पश्चिम में इस विधा के अनेक उपभेद हैं (क) 'ओड'—संबोधगीत, (ख) 'सानेट'—चतुर्दशपदी, (ग) 'एलेजी'—करुणवेदनागीत (शोकगीत), (घ) 'सटायर'—व्यंग्यगीत। 'रिफलेक्टिव'—विचारात्मक, तथा 'डायेडेक्टिक'—नीत्युपदेशात्मक, आदि भेद विशेष महत्व के नहीं हैं। प्रगीतकाव्यों तथा वर्णनात्मक काव्यों के बीच पूर्णत: स्पष्ट विभाजनरेखा संभव नहीं है, क्योंकि दोनों प्रकार के तत्व अंशत: दोनों विधाओं में मिलते ही हैं। विभाजक कारण केवल तत्वविशेष की मुख्यता है। इनके अतिरिक्त 'नाट्यकाव्य' को भी तृतीय भेद माना जाता है—जो 'अभिनेय' न होने के कारण 'पाठ्य नाटक' या 'संवादात्मक काव्य' कहा जा सकता है।

सं० ग्रं०—बूचर एरिस्टाटल्स थियरी ऑव पोएट्री ऐंड फाइन आर्ट्स, एवरक्राँबी थियरी ऑव पोएट्री, एल्डेन इंग्लिश वर्स, इंट्रोडक्शन टु पोएट्री, आइ० सी० ऐंडर्सन लॉ ऑव वर्स एस० डानियल पोएट्स ऐंड डिफेंस ऑव राइम, ए० ई० डॉड्स रोमैंटिक थियरी ऑव पोएट्री, सी० ल्यूड्स दि प्रिंसिपुल्स ऑव इंग्लिश पोएट्री, एच० मोरे पोएट्स ऐंड देयर आर्ट, एम० लाग पोएट्री ऐंड इट्स फॉर्म्स, डब्ल्यू० एच० हडसन ऐन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑव लिटरेचर, आर० ए० स्काँट जेम्स मेकिंग ऑव लिटरेचर, टी० जिल्बी पोएटिक एक्सपीरिएंस, ए० आर० ऐंट्विसल दि स्टडी ऑव पोएट्री, टी० एस० इलियट दि यूस ऑव पोएट्री, सी० काडवेल इल्यूज़न ऐंड रियलिटी, आइ० ए० रिचर्ड्स प्रिंसिपुल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज्म, लोंगिनुस ऑन दि सब्लाइम, सेंट्सबरी हिस्ट्री ऑव इंग्लिश क्रिटिसिज्म, । काणे इंट्रोडक्शन टु साहित्यदर्पण, एस० के० दे इंडियन पोएटिक्स, श्यामसुंदरदास साहित्यालोचन, बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र, मम्मट काव्यप्रकाश, विश्वनाथ साहित्यदर्पण। [क० प० त्रि०]

काव्यप्रकाश संस्कृत में अलंकारशास्त्र या आलोचनाशास्त्र का एक नितांत प्रौढ पांडित्यमय ग्रंथ। इसके लेखक राजानक मम्मट हैं। ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पूर्वजों के विषय में हम विशेष नहीं जानते, परंतु किंवदंती है कि इनके दो अनुज थे जिनमें महावैयाकरण कय्यट ने पातंजल महाभाष्य की व्याख्या के लिये 'प्रदीप' का प्रणयन किया तथा वेदभाष्यकार उव्वट ने शुक्लयजुर्वेद की माध्यंदिन संहिता का प्रसिद्ध भाष्य लिखा जो इन्हीं के नाम पर 'उव्वटभाष्य' कहलाता है। मम्मट के समय का निर्णय अंतरंग तथा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम भली भाँति कर सकते हैं। माणिक्यचंद्र का 'काव्यप्रकाशसंकेत' इस ग्रंथ का सर्वप्रथम व्याख्याग्रंथ माना जाता है और इसकी रचना व्याख्याकार के लेखानुसार १२१६ विक्रमी (=११६० ईस्वी) में हुई। मम्मट ने 'उदात्त' अलंकार के उदाहरण में महाराजा भोज (११वीं शती का पूर्वार्ध) की दानशीलता का वर्णनपरक एक पद्य दिया है जिससे निश्चित है कि वे भोजराज से अर्वाचीन तथा माणिक्यचंद्र से प्राचीन थे। फलत: उनका समय ११वीं सदी का अंत तथा १२वीं का आरंभ (लगभग १०७५–११२५ ई०) मानना उचित है।

ग्रंथ का रूप—काव्यप्रकाश के तीन अंग हैं—कारिका (१४२ कारिकाएँ), वृत्ति (गद्यात्मक) तथा उदाहरण। इनमें उदाहरण तो निश्चित रूप से प्राचीन नाना ग्रंथों से संगृहीत हैं। कारिका तथा वृत्ति के रचयिता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। बंगाल के पंडितों में यह प्रवाद है कि मम्मट ने केवल वृत्तिग्रंथ का प्रणयन किया था, 'कारिका' तो भरतमुनि की रचना है। परंतु इस प्रवाद में तथ्य नहीं, कुछ कारिकाएँ भरत के नाट्यशास्त्र से अवश्य ली गई हैं, परंतु उनकी संख्या छ या सात से अधिक नहीं है। फलत: मम्मट दोनों अंशों के प्रणेता हैं—कारिकाओं के भी तथा वृत्ति ग्रंथ के भी। दोनों के समान कर्तृत्व होने का अंत:प्रमाण ग्रंथ के दशम उल्लास में स्वत: उपलब्ध होता है। मम्मट की एक कारिका है जिसमें कहा गया है कि 'मालारूपक' मालोपमा के सदृश ही होता है (मालातु पूर्ववत्... निरंगतु शुद्ध माला तु पूर्ववत्—काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, कारिका ९४) परंतु मालोपमा का वर्णन कारिका में है ही नहीं। वह तो वृत्ति में ही किया गया है। ऐसी दशा में 'माला तु पूर्ववत्' का क्या तात्पर्य है? इससे यही प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति कारिका तथा वृत्ति के प्रणयन का कर्ता है जो साथ साथ लिखता गया है। इसलिये अवांतर कारिका में पूर्ववर्ती वृत्ति का उल्लेख किसी प्रकार भी अनुचित या असमंजस नहीं माना जा सकता।

काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में 'परिकर' अलंकार तक ही मम्मट की रचना है। शेष ग्रंथ को (अर्थात् ग्रंथ की अंतिम २४॥ कारिकाओं को) अल्लट (या अलक) नामक काश्मीरी विद्वान् ने लिखकर पूरा किया, इस काश्मीरी पंडित परंपरा का उल्लेख राजानक आनंद ने काव्यप्रकाश की 'सारसमुच्चय' नामक अपनी टीका में किया है। इसका अनुसरण अवांतर टीकाकारों ने भी किया है। अर्जुनवर्मदेव ने अपनी 'अमरुकशतक टीका' में एक पते की बात लिखी है कि अलक (अल्लट) ने सप्तम उल्लास के प्रणयन में भी मम्मट का हाथ बटाया था और काव्यप्रकाश के दोनों रचयिताओं को वे दोषदृष्टिवाला बतलाते हैं (काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी)। इन निर्देशों से यह निष्कर्ष निकालना असंभव नहीं है कि मम्मट को काव्यप्रकाश के सप्तम तथा दशम उल्लासों की रचना में अल्लट का सहयोग प्राप्त हुआ था।

टीकासंपत्ति—काव्यप्रकाश की टीकासंपत्ति अतुलनीय है। इतनी टीकाएँ किसी भी अलंकार ग्रंथ के ऊपर विरचित हुई थीं, इनका पता नहीं चलता। टीकाओं की संख्या तो लगभग ७० के आ सकती है। ग्रंथ तो कारिकाबद्ध है, परंतु यह सूत्रग्रंथ के समान ही विपुलार्थमंडित, गंभीर तथा रहस्यमय है। इसलिये इसके गंभीर अर्थ की व्याख्या के लिये नवीन व्याख्याग्रंथों की रचना नितांत स्वाभाविक है। सच तो यह है कि प्राचीन काल में काव्यप्रकाश पर टीकाप्रणयन विद्वत्ता का मापदंड माना जाता था। तभी तो 'अलंकारसर्वस्व' जैसे नूतन अलंकार ग्रंथ के प्रणेता राजानक रुय्यक ने और 'साहित्यदर्पण' जैसे सर्वांगपूर्ण आलोचना ग्रंथ के निर्माता विश्वनाथ कविराज ने काव्यप्रकाश के ऊपर व्याख्या लिखे बिना अपने प्रखर पांडित्य को भी अधूरा समझा। प्रमुख टीकाकारों में हैं—माणिक्यचंद्र सूरि (संकेत टीका, रचनाकाल ११६० ई०), चंडीदास (१३वीं शती, दीपिका), गोविंद ठक्कुर (काव्यप्रदीप, १४वीं शती का अंतभाग), भीमसेन दीक्षित (सुधासागर या सुबोधिनी, रचनाकाल १७२३ ई०), जयतभट्ट (दीपिका, र० का० १२९४ ई०), विश्वनाथ कविराज (काव्यप्रकाशदर्पण, १४वीं शती), कमलाकर भट्ट (१७वें शतक का पूर्वार्ध), परमानंद चक्रवर्ती (विस्तारिका, १४वीं शती)।

विषयविवेचन—काव्यप्रकाश में दस उल्लास (परिच्छेद) हैं जिनमें काव्य के स्वरूप, भेद, तथा काव्यांग (जैसे गुण, दोष, अलंकार, रस, ध्वनि) का विशेष विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रथम उल्लास में काव्य के हेतु, लक्षण तथा प्रकार का वर्णन है। द्वितीय में शब्दशक्ति का विवेचन किया गया है। तृतीय में शाब्दी व्यंजना है। चतुर्थ में रस, भाव तथा ध्वनिभेदों का वर्णन है। पंचम में 'व्यंजना' को स्वतंत्र शब्दशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का आयोजन है। षष्ठ में चित्रकाव्य का सामान्य वर्णन है। सप्तम में काव्यदोषों का बडा सांगोपांग विवेचन है। अष्टम में काव्यगुण के लक्षण तथा प्रकार का वर्णन है। नवम तथा दशम में क्रमश: शब्दालंकार और अर्थालंकार का निरूपण उदाहरणों के साथ बडी व्यापकता से किया गया है। इस सामान्य विवरण से भी ग्रंथ की गंभीरता, व्यापकता तथा युक्तिमत्ता का किंचित् परिचय मिल जाता है।

वैशिष्ट्य—काव्यप्रकाश ध्वनिवाद के उत्थान के अनंतर लिखा गया ग्रंथ है। नवीन होने के कारण 'ध्वनि' के सिद्धांतों का आलोचकों ने बडी अंतरंगता के साथ खंडन प्रस्तुत किया। इन विरुद्ध मतों का तर्क तथा युक्ति के बल पर प्रबल खंडन करने का श्रेय आचार्य मम्मट को दिया जाता है और इसी कारण वे 'ध्वनिप्रस्थापन परमाचार्य' की महत्वपूर्ण उपाधि से मंडित किए गए हैं। काव्यप्रकाश में काव्यालोचना की विविध पद्धतियों का जो समन्वय है, वह अलंकार के इतिहास में एक नितांत महत्वपूर्ण घटना है। प्राचीन आचार्यों की आलोचना एकांगी है। कोई अलंकार के विवेचन में प्रस्तुत है, तो कोई रीति के, कोई रस का विवेचक है, तो कोई ध्वनि का।

परंतु काव्य के व्यापक रूप को दृष्टि में रखकर पूर्ववर्ती समस्त आलोचना शैलियों का सामजस्य उपस्थित करना काव्यप्रकाश का निजी वैशिष्ट्य है।

स० ग्र०—पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑव अलकार शास्त्र, परिवर्धित स०, बवई, १९५५, एस० के० दे सस्कृत पोएटिक्स, दो भाग, लदन, बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम खड, काशी, स० २००७ तथा द्वितीय खड, काशी, स० २०१४, डा० सत्यव्रतसिंह, हिंदी काव्यप्रकाश, काशी, १९६०। (व० उ०)

काशगर (४९°३०' उ० अ०, ७५° ६३' पूर्व दे०) चीन देश के सीक्याग (Sinkiang) प्रात के पश्चिमी भाग का एक प्रमुख व्यावसायिक नगर एव मरूद्यान है, जो यारकद नगर से १०० मील उत्तरपश्चिम किज़िलदरिया पर बसा है। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व इस नगर की स्थापना हुई थी। इस नगर के उत्तर-पूर्व में थ्यॉनशान, पश्चिम में अलाई तथा दक्षिणपूर्व में सारीकोल पर्वतमालाएँ हैं। इसकी ऊँचाई समुद्रतल से लगभग ४,००० फुट है तथा जनसख्या ८०,००० है। तकलामकान की पश्चिमी सीमा पर स्थित होने के कारण यह नगर प्राय वर्ष भर शुष्क और लगभग २०० दिनो तक धूल से आक्रात रहता है। यहाँ से वाणिज्यपथ पूर्व मे तुर्फान, पश्चिम में समरकद तथा दक्षिण में गिलगिट एव श्रीनगर जाते हैं। मरूद्यान का क्षेत्रफल लगभग १,००० वर्ग मील है, जिसमें सिंचाई द्वारा गेहूँ, मक्का, जौ, चावल, कपास, फल एव सब्जियो की खेती होती है। यहाँ दरियो एव कपडो का निर्माण और जरी का काम होता है तथा ऊन, रूई, रेशम, चाय और भेडो का व्यापार किया जाता है। इस नगर का नवीन चीनी नाम 'शूफू' (Shufu) है। (न० कि० प्र० सिं०)

काशिका पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' पर ७वी शताब्दी ई० में रची गई प्रसिद्ध वृत्ति। इसमें बहुत से सूत्रो की वृत्तियाँ और और उनके उदाहरण पूर्वकालिक आचार्यों के वृत्तिग्रथो से भी दिए गए हैं। केवल महाभाष्य का ही अनुसरण न कर अनेक स्थलों पर महाभाष्य से भिन्न मत का भी प्रतिपादन हुआ है। काशिका में उद्धृत वृत्तियो से प्राचीन वृत्तिकारो के मत जानने मे बडी सहायता मिलती है, अन्यथा वे विलुप्त ही हो जाते। इसी प्रकार इसमे दिए उदाहरणो प्रत्युदाहरणों से कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यो की समुपलब्धि हुई है जो अन्यत्र दुष्प्राप्य थे। इस ग्रथ की एक विशेषता यह भी है इसमें गणपाठ दिया हुआ है जो प्राचीन वृत्तिग्रथो में नही मिलता।

यह जयादित्य और वामन नाम के दो विद्वानो की समिलित कृति है। चीनी यात्री ईत्सिंग और भाषावृत्ति-अर्थविवृत्ति के लेखक सृष्टिधराचार्य, दोनो ने काशिका को न केवल जयादित्य विरचित लिखा है, वरन् अनेक प्राचीन विद्वानो ने काशिका के उद्धरण देते समय जयादित्य और वामन दोनो का उल्लेख किया है। उनके अपने अपने लिखे अध्यायो पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रौढ मनोरमा की शब्दरत्नव्याख्या मे प्रथम, द्वितीय, पचम तथा षष्ठ अध्याय जयादित्य के लिखे एव शेष अश वामन का लिखा बतलाया गया है। परतु काशिका की लेखनशैली को ध्यान पूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि आरभ के पाँच अध्याय जयादित्य विरचित हैं और अत के तीन वामन के लिखे हैं। कुछ ठोस प्रमाणो के आधार पर यह मान लिया गया है कि जयादित्य और वामन ने सपूर्ण अष्टाध्यायी पर अपनी भिन्न भिन्न सपूर्ण वृत्तियो की रचना की थी। पर यह अभी रहस्य ही है कि कब और कैसे कुछ अश जयादित्य के और कुछ वामन के लेकर यह काशिका बनी। फिर भी यह प्रमाणित है कि वृत्तियो का यह एकीकरण विक्रम सवत् ७०० से पूर्व ही हो चुका था।

काशिका पर बहुत से विद्वानो ने व्याख्याग्रथ लिखे हैं। प्रमुख व्याख्याकार ये हैं जिनेद्रबुद्धि, इदुमित्र, महान्यासकार, विद्यासागर मुनि, हरदत्त मिश्र, रामदेव मिश्र, वृत्तिरत्नकार और चिकित्साकार। [द्वि० ना० मि०]

काशिराज (१) वायु, विष्णु मत्स्य आदि पुराणो के अनुसार इनका राज्य अनावृष्टि से पीडित था। श्वफल्क के आने से वहाँ वृष्टि हुई। इसके फलस्वरूप काशिराज ने अपनी कन्या गादिनी का श्वफल्क से विवाह कर दिया। इनकी दूसरी कन्या जयती वृषभ को ब्याही गई। (२) विष्णुपुराण के अनुसार काश के पुत्र का नाम। भगवद्गीता मे काशिराज का उल्लेख पाडवसेना के महारथियो में हुआ है। [रा० अ० मि०]

काशी वाराणसी, बनारस, भारत की जगत्प्रसिद्ध प्राचीन नगरी जो गगा के वाम (उत्तर) तट पर उत्तर प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी कोने मे वरुणा और असी नदियो के गगासगमो के बीच बसी हुई है। इस स्थान पर गगा ने प्राय चार मील का दक्षिण से उत्तर की ओर घुमाव लिया है और इसी घुमाव के ऊपर इस नगरी की स्थिति है। इस नगर का प्राचीन वाराणसी नाम लोकोच्चारण से बनारस हो गया था जिसे उत्तर प्रदेशीय सरकार ने शासकीय रूप से पूर्ववत् वाराणसी कर दिया है।

हरिवशपुराण के अनुसार काशी को बसानेवाला भरतवशी राजा 'काश' था। कुछ विद्वानो के मत में काशी वैदिक काल से भी पूर्व की नगरी है। शिव की उपासना का प्राचीनतम केंद्र होने के कारण ही इस धारणा का जन्म हुआ जान पडता है, क्योंकि सामान्य रूप मे शिवोपासना को पूर्ववैदिककालीन माना जाता है। वैसे, काशी जनपद के निवासियो का सर्वप्रथम उल्लेख हमे अथर्ववेद की पप्पलादसहिता में (५,२२,१४) मिलता है। शुक्लयजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में (१३,५,४,१९) काशिराज धृतराष्ट्र का उल्लेख है जिसे शतानीक सत्राजित् ने पराजित किया था। बृहदारण्यकोपनिषद् में (२, १, १, ३, ८, २) काशिराज अजातशत्रु का भी उल्लेख है। कौषीतकी उपनिषद् (४, १) और बौधायन श्रौतसूत्र में काशी और विदेह तथा गोपथ ब्राह्मण में काशी और कोसल जनपदो का साथ साथ वर्णन है। इसी प्रकार काशी, कोसल और विदेह के सामान्य पुरोहित जलजातूकण्य का नाम शाखायन श्रौतसूत्र में प्राप्य है। काशी जनपद की प्राचीनता तथा इसकी स्थिति इन उपर्युक्त उल्लेखो से स्पष्ट हो जाती है। वाल्मीकि रामायण में (किष्किधा काड ४०, २२) सुग्रीव द्वारा वानरसेना को पूर्वदिशा की ओर भेजे जाने के सदर्भ में काशी और कोसल जनपद के निवासियो का एक साथ उल्लेख किया गया है—'मही कालमही चापि शैलकानन शोभिता। ब्रह्ममालान्विदेहाश्च मालवान्काशिकोसलान्'। महाभारत मे काशी जनपद के अनेक उल्लेख हैं और काशिराज की कन्याओ के भीष्म द्वारा अपहरण की कथा तो सर्वविदित ही है (आदि पर्व, अध्याय १०२)। महाभारत के युद्ध में काशिराज ने पाडवो का साथ दिया था।

बौद्ध काल मे, गौतम बुद्ध के जन्म के पूर्व तथा उनके समय में काशी को बहुत प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। अगुत्तरनिकाय में काशी की भारत के १६ महाजनपदो में गणना की गई है। जातक कथाओ में काशी जनपद का अनेक बार उल्लेख आया है, जिससे ज्ञात होता है कि काशी उस समय विद्या तथा व्यापार दोनो का ही केंद्र थी। अकित्तजातक में बोधिसत्व के १६ वर्ष की आयु में वहाँ जाकर विद्या ग्रहण करने का उल्लेख है। खडहालजातक में काशी के सुदर और मूल्यवान् रेशमी कपडो का वर्णन है। भीमसेनजातक मे यहाँ के उत्तम सुगधित द्रव्यो का भी उल्लेख है। जातककथाओ से स्पष्ट है कि बुद्धपूर्वकाल में काशी देश पर ब्रह्मदत्त नाम के राजकुल का बहुत दिनो तक राज्य रहा। इन कहानियो से यह भी प्रकट है कि काशी नगरनाम के अतिरिक्त एक देश या जनपद का नाम भी था। उसका दूसरा नगरनाम वाराणसी था। इस प्रकार काशी जनपद की राजधानी के रूप मे वाराणसी का नाम धीरे धीरे प्रसिद्ध हो गया और कालातर मे काशी और वाराणसी ये दोनो अभिधान समानार्थक हो गए। काशी और वहाँ प्रचलित शिवोपासना का उल्लेख महाभारत में भी है—ततो वाराणसी गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम्—वनपर्व, ८४,७८। कहा जाता है 'वाराणसी' नाम वरुणा और असी नदियो पर इस नगरी की स्थिति होने से पडा है। कीथ के अनुसार (दे० वैदिक इडेक्स—'काशी') वरुणा नदी का उल्लेख अथर्ववेद के इस मत्र मे है—'वारिद वारयातै वरुणावत्यामधि। तत्रामृतस्यासिक्त तेना ते वारये विषम्' (४,७,१)। युवजयजातक मे वाराणसी के ब्रह्मवद्धन (=ब्रह्मवर्धन), सुरूधन, सुदस्सन (=सुदर्शन), पुप्फवती (=पुष्पवती) और रम्म (=रम्या ?) एव सखजातक में मालिनी आदि नाम मिलते हैं। लोसकजातक मे वाराणसी के चारो ओर की खाई या परिखा का वर्णन है। गौतम बुद्ध के समय मे काशी राज्य कोसल जनपद के अतगत था। कोसल की राजकुमारी का मगधराज बिंबिसार के साथ विवाह होने के समय काशी को दहेज मे दे दिया गया था। बुद्ध ने अपना सर्वप्रथम उपदेश वाराणसी के सनिकट सारनाथ मे दिया था जिससे उसके तत्कालीन धार्मिक

नया सांस्कृतिक महत्व का पता चलता है। बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु ने काशी को मगध राज्य का अभिन्न भाग बना लिया और तत्पश्चात् मगध के उत्कर्षकाल में उसकी यही स्थिति बनी रही। बौद्ध धर्म की अवनति तथा हिंदू धर्म के पुनर्जागरण काल में काशी का महत्व संस्कृत भाषा तथा हिंदू संस्कृति के केंद्र के रूप में निरंतर बढ़ता ही गया, जिसका प्रमाण उस काल लिखे गए या पुन संपादित पुराणों द्वारा प्राप्त होता है। स्कंदपुराण में तो स्वतंत्र रूप से काशी के माहात्म्य पर 'काशीखंड' नामक अध्याय लिखा गया। पुराणों में काशी को सप्त मोक्षदायिनी पुरियों में स्थान दिया गया है। चीनी यात्री फाह्यान (चौथी शती ई०) और युवानच्वांग अपनी यात्रा के दौरान में काशी आए थे। युवानच्वांग ने सातवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में यहाँ लगभग ३० बौद्ध विहार और १०० हिंदू मंदिर देखे थे। नवीं शताब्दी ई० में जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपने विद्याप्रचार से काशी को भारतीय संस्कृति तथा नवोदित आर्य धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र बना दिया। काशी की यह सांस्कृतिक परंपरा आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।

हमारे इतिहास के मध्य युग में मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् उस समय के अन्य सांस्कृतिक केंद्रों की भाँति काशी को भी दुर्दिन देखना पड़ा। ११९३ ई० में मुहम्मद गौरी ने कन्नौज को जीत लिया, जिसमें काशी का प्रदेश भी, जो इस समय कन्नौज के राठौड़ राजाओं के अधीन था, मुसलमानों के अधिकार में आ गया। दिल्ली के सुल्तानों के आधिपत्यकाल में भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं को काशी के ही अंक में शरण मिली। कबीर और रामानंद के धार्मिक और लोकमानस के प्रेरक विचारों ने उसे जीता जागता रखने में पर्याप्त सहायता दी। मुगल सम्राट् अकबर ने हिंदू धर्म की प्राचीन परंपराओं के प्रति जो उदारता और अनुराग दिखाया, उसकी प्रेरणा पाकर भारतीय संस्कृति की धारा जो बीच के काल में कुछ क्षीण हो चली थी, पुन वेगवती हो गई और उसने तुलसीदास, मधुसूदन सरस्वती और पंडितराज जगन्नाथ जैसे महाकवियों और पंडितों को जन्म दिया एवं काशी पुन अपने प्राचीन गौरव की अधिकारिणी बन गई। किंतु शीघ्र ही इतिहास के अनेक उलटफेरों को देखनेवाली इस नगरी को औरंगजेब की धर्मांधता का शिकार बनना पड़ा। उसने हिंदू धर्म के अन्य पवित्र स्थानों की भाँति काशी के भी प्राचीन तथा प्रसिद्ध मंदिरों को विध्वस्त करा दिया। मूल विश्वनाथ के मंदिर को तुड़वाकर उसके स्थान पर एक बड़ी मसजिद बनवाई जो आज भी वर्तमान है। मुगल साम्राज्य की अवनति होने पर अवध के नवाब सफदरजंग ने काशी पर अधिकार कर लिया, किंतु उसके पौत्र ने इसे ईस्ट इंडिया कंपनी को दे डाला। वर्तमान काशीनरेश के पूर्वज बलवंतसिंह ने अवध के नवाब से अपना संबंधविच्छेद कर लिया था। इस प्रकार काशी की वर्तमान रियासत का जन्म हुआ। चेतसिंह, जिन्होंने वारेन हेस्टिंग्स से लोहा लिया था, इन्हीं के पुत्र थे। स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् काशी की रियासत भारत राज्य का अविच्छिन्न अंग बन गई है।

काशी में इस समय लगभग १५०० मंदिर हैं, जिनमें से बहुतों की परंपरा इतिहास के विविध कालों से जुड़ी है। इनमें विश्वनाथ, संकटमोचन और दुर्गा के मंदिर भारत भर में प्रसिद्ध हैं। विश्वनाथ के मूल मंदिर की परंपरा अतीत के इतिहास के अज्ञात युगों तक चली गई है। वर्तमान मंदिर अधिक प्राचीन नहीं है। इसके शिखर पर महाराजा रणजीतसिंह ने सोने के पत्तर चढ़वा दिए थे। संकटमोचन के मंदिर की स्थापना गोस्वामी तुलसीदास ने की थी। दुर्गा के मंदिर को १७वीं शती में मराठों ने बनवाया था। घाटों के तट पर भी अनेक मंदिर बने हुए हैं। इनमें सबसे प्राचीन गहड़वालों का बनवाया राजघाट का 'आदिकेशव' मंदिर है। प्रसिद्ध घाटों में दशाश्वमेध, मणिकर्णिका, हरिश्चंद्र और तुलसीघाट की गिनती की जा सकती है। दशाश्वमेध घाट पर ही जयपुर नरेश जयसिंह द्वितीय का बनवाया हुआ मानमंदिर या वेधशाला है। दशाश्वमेधघाट तीसरी सदी के भारशिव नागों के पराक्रम का स्मारक है। उन्होंने जब जब अपने शत्रुओं का पराजित किया तब तब यहाँ आकर यज्ञ का अवभृथ स्नान किया। इस प्रकार के दस अश्वमेधों से संबंधित काशी का यह घाट दशाश्वमेध नाम से विख्यात हुआ। नवीन मंदिरों में भारतमाता का मंदिर प्रसिद्ध है। आधुनिक शिक्षा के केंद्र काशीविश्वविद्यालय की स्थापना महामना मदनमोहन मालवीय ने १९१६ ई० में की, वैसे, प्राचीन परंपरा की संस्कृत पाठशालाएँ तो यहाँ सैकड़ों ही हैं। भारत की सांस्कृतिक राजधानी होने का गौरव इस प्राचीन नगरी को आज भी प्राप्त है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि काशी ने भारत की सांस्कृतिक एकता के निर्माण तथा संरक्षण में भारी योग दिया है। भारतेंदु आदि साहित्यकारों तथा नागरीप्रचारिणी सभा जैसी संस्थाओं को जन्म देकर काशी ने आधुनिक हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाया है।

वाराणसी के घाटों का दृश्य बड़ा ही मनोरम है। भागीरथी के धनुषाकार तट पर इन घाटों की पंक्तियाँ दूर तक चली गई हैं। प्रातःकाल तो इनकी छटा अपूर्व ही होती है। पुरानी कहावत के अनुसार शामे अवध अर्थात् लखनऊ की शाम और सुबहे बनारस यानी वाराणसी का प्रातःकाल देखने योग्य होता है। यहाँ की छोटी छोटी और असाधारण रूप से सँकरी गलियाँ तथा उनमें स्वच्छंद विचरनेवाले साँड़ अपरिचितों के लिये कुतूहल की वस्तु हैं। [वि० कु० मा०]

काशीरामदास

काशीरामदास का स्थान बँगला महाभारत के अनुवाद कर्ताओं में अत्यंत उच्च है। इनके पूर्व दो अन्य प्रसिद्ध महाभारत रचयिता हो चुके हैं, एक संजय और दूसरे श्रीकरनंदी। काशीरामदास के महाभारत का आदर पश्चिम बंगाल में बहुत है। कृत्तिवास के समान ही इनकी ख्याति बंगाल के जनकवि के रूप में है। इसमें संदेह नहीं कि काशीरामदास को अपने पूर्ववर्तियों की महाभारत संबंधी रचनाओं से बहुत सहायता मिली है परंतु उनकी मौलिकता में इतने पर भी अंतर नहीं आता। काशीरामदास का महाभारत व्यासरचित संस्कृत महाभारत का अविकल अनुवाद नहीं है। इसमें कुछ पुराणों के उपाख्यान और कुछ पूर्ववर्ती महाभारतों के उपाख्यान हैं। इन उपाख्यानों को अपनी मौलिक प्रतिभा एवं कल्पना द्वारा सुंदर काव्य रूप में उपस्थित किया है। अलंकारों का प्रयोग, भाषा एवं भावों का माधुर्य, इन सबने मिलकर काशीरामदास के महाभारत को अत्यंत लोकप्रिय बना दिया है।

काशीरामदास का जन्म १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था। अपने महाभारत के प्रारंभ में कवि ने अपना कुछ परिचय दिया है। इसके अनुसार इंद्राणी नामक देश के सिंगि ग्राम में इनका पैतृक निवास था। इंद्राणी वर्दवान जिले के उत्तरांश में स्थित परगना है। काशीराम के प्रपितामह का नाम कमलाकांत, पितामह का सुधाकर एवं पिता का प्रियंकर था। इनके बड़े भाई का नाम श्रीकृष्णदास अथवा श्रीकृष्णकिंकर था। इनके एक छोटे भाई भी थे जिनका नाम गदाधर था। काशीराम के दोनों भाई भी कवि थे। श्रीकृष्णदास अथवा श्रीकृष्णकिंकर की एक रचना 'श्रीकृष्णविलास' नाम से प्राप्त है। इनके छोटे भाई गदाधर के नाम से 'जगन्नाथमंगल' या 'जगतमंगल' नामक एक रचना मिलती है। इसमें कवि ने कई पीढ़ियों तक अपने पूर्वपुरुषों की नामावली दी है। प्रपितामह, पितामह, पिता के नाम काशीरामदास ने भी दिए हैं। इस परिचय में इस बात का उल्लेख मिलता है कि इन लोगों के प्रपितामह उड़ीसा में रहने लगे थे। काशीरामदास ने 'भारतपुराण' पाँचाली छंद में रचा, इस बात का भी उल्लेख इसमें है।

काशीराम संपूर्ण पर्वों का अनुवाद नहीं कर पाए थे, ऐसा कहा जाता है, वे केवल आदि पर्व, सभा पर्व एवं विराट् पर्व का अधिकांश लिख पाए थे कि उनकी मृत्यु हो गई। इसका समर्थन उनके भाई के पुत्र नंदरामदास की उक्ति से होता है, जो इनके नाम से प्राप्त महाभारत के उद्योग पर्व के प्रारंभ में है। इसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि मेरे 'खुल्ल तात' काव्य संपूर्ण न कर पाए। मृत्यु के समय उन्हें इसका अत्यंत दुःख था और मेरे यह आश्वासन देने पर कि मैं उसे समाप्त करूँगा, वे मुझे आशीर्वाद देकर स्वर्ग चले गए। उन्हीं के प्रसाद से मैंने यह पुराण रचा है। [रा० कु०]

कासगंज

कासगंज पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एटा जिले में कासगंज तहसील का प्रधान नगर है। (स्थिति २७° ४८' उ० अ० तथा ७८° ३९' पू० दे०) यह ऊँची भूमि पर स्थित है और इसके जल का निकास लगभग एक मील दूर दक्षिण-पश्चिम में प्रवाहित होनेवाली काली नदी में होता है। यहाँ दो सुंदर बाजार हैं जो चौक में समकोण पर मिलते हैं। १८६८ ई० में यहाँ नगरपालिका स्थापित हुई। यह नगर क्षेत्रीय उपजों, विशेषतया अन्न, चीनी, कपास, आदि का निर्यातक तथा विभिन्न आयात

वस्तुओं का प्रमुख वितरक केंद्र है। यहाँ चीनी साफ करने का उद्योग विकसित हुआ है और कपास के बिनौले निकालने तथा उसकी गाँठे बाँधने का उद्योग भी है। कासगज एटा जिले का प्रधान व्यापारिक नगर है। १८६१ मे इसकी जनसख्या १६,०५० थी, जो १९५१ मे बढकर ३१,५५४ हो गई। [शा० ला० का०]

कासेल (५१ ३०' उत्तर अ०—९° ३०' पूर्व दे०) फ्रैंकफर्ट–ऑन-मेन से ६० मील तथा गॉटिंजन से ३५ मील दक्षिण-पश्चिम मे फुल्डा नामक नदी पर स्थित जर्मनी का एक नगर है जिसकी स्थापना सन् ६१३ ई० मे हुई थी। यहाँ पर सुदर चित्रशाला, अजायबघर तथा पुस्तकालय है। आधुनिक काल मे यहाँ विभिन्न प्रकार के उद्योग विकसित हो गए है जिनमे विज्ञान सबधी औजार, धातु की वस्तुएँ, रेल के डब्बे एव इजिन, कागज, दस्ताने तथा पिआनो बनाने के धधे प्रमुख है। [शा० ला० का०]

काहिरा (अग्रेजी काइरो, अरबी अल काहिरा) अफ्रीका महाद्वीप का सबसे बडा नगर नील नदी के दाहिने किनारे पर नदी तथा उत्तर-पश्चिमी पहाड के अतिम छोर के मध्य मे स्थित है। यद्यपि इस समय इसके प्राचीन रूप मे यथेष्ट परिवर्तन हो गया है, फिर भी पतली पतली गलियो के दोनो तरफ विभिन्न प्रकार के रगबिरगे मकानो का पाया जाना साधारण बात है। मकान अधिकतर पीले रग के चूने के पत्थरो से बने है। सभी बाजारो मे लोहार, सोनार, मोची तथा बेलबूटो का कार्य करनेवालो की दूकाने दृष्टिगोचर होती है। यहाँ के सर्वप्रसिद्ध बाजार खान-अल-खलीली तथा कसेरा (ब्रास वर्कर्स) बाजार है। आधुनिक काहिरा के पश्चिमी भाग में यूरोपीय सदर बस्ती इस्माइलिया नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ की सबसे प्रसिद्ध औद्योगिक गली मुस्की है। सपूर्ण नगर मे २५० से भी अधिक मसजिदे है। सबसे अच्छी मसजिद का निर्माण सन् १३५७ ई० मे सुल्तान हसन नाम से हुआ। यहाँ की सबसे पुरानी मसजिद का निर्माण ९वी शताब्दी मे अहमद इब्न तुलुन ने कराया था।

यह इस्लामी जगत् का सुप्रसिद्ध नगर तथा शिक्षाकेंद्र है। यहाँ के विख्यात विश्वविद्यालय अल अजहर में सभी मुसलमानी देशो के विद्यार्थी शिक्षार्थ आते है। शहर की उत्तरी दीवार मे बाब अलनस (विजय द्वार) नामक फाटक से प्रति वर्ष बहुत से लोग मक्का को जाते है। यहाँ पर मुसलमानो की मसजिद के अतिरिक्त ग्रीस तथा जेविस के गिरजाघर भी दर्शनीय है।

वर्तमान नगर के इस्माइलिया महल में मिस्र का राजनिवास तथा आब्दीन महल मे ससदीय, शासकीय तथा आतिथ्य कार्य सपन्न किया जाता है। यहाँ पर एक अरब अजायबघर तथा राजकीय पुस्तकालय भी है। यहा से शैलाल, अलेक्जैंड्रिया, इस्माइलिया, पैलेस्टाइन, बेरूत तथा सीरिया तक रेलवे लाइनो का निर्माण कर दिया गया है। यातायात भी प्रधानत इसी नगर मे होता है।

इस नगर का निर्माण जोहार नामक एक फौजी अफसर ने सन् ११६९ ई० में मिस्र को जीतकर किया था। सन् ११७६ ई० में सलादीन नामक सुलतान ने इसके चारो तरफ पत्थर की पक्की दीवार का निर्माण कराया। सन् १५१७ से १७९८ तक इस नगर पर तुर्को का आधिपत्य रहा। अतिम वर्ष मे नेपोलियन ने इसको अपने अधिकार मे कर लिया। सन् १८०१ मे फिर इसपर तुर्को तथा अग्रेजो का आधिपत्य स्थापित हो गया। द्वितीय महायुद्ध के समय यह ब्रिटिश फौजी दफ्तर का प्रधान केंद्र था। तब से यह नगर कई विश्वप्रसिद्ध अधिवेशनो और सम्मेलनो का केंद्र बनता रहा। [व० सिं०]